॥ श्रीः ॥

वाजसनेयिश्रीशुक्लयजुर्वेद-संहिता ।

(माध्यन्दिनीयशाखापाठसमेता.)

मुरादाबादनिवासिपण्डितकुलतिलकश्रीसुखानन्दमिश्र-
सूनुभारतधर्ममहामण्डलमहोपदेशकविद्यावारिधिश्रीम-
त्पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतसर्वाङ्गोपाङ्गसमलंकृत-

मिश्रभाष्यसहिता ।

सेयं
क्षेमराज—श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिना
मुम्बय्यां
(खेतवाडी ७ वीं गली खम्बाटा लेन)
स्वकीये "श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशिता ।

द्वितीयं संस्करणम् ।

संवत् १९६९, शके १८३४.

अस्य ग्रन्थस्य सर्वेऽधिकारा राजनियमतः "श्रीवेङ्कटेश्वर" यन्त्रा-
लयाध्यक्षेण स्वायत्तीकृताः सन्ति ।

[illegible]

अस्मत्के मुद्रणालये वेद-वेदान्त-धर्मशास्त्र-प्रयोग-योग-सांख्य-ज्योतिष-पुराणेतिहास-वैद्यक-मन्त्र-स्तोत्र-कोश-काव्य-चम्पू-नाटकालंकार-संगीत-नीति-कथाग्रंथाः बहवः स्त्रीणां चोपयुक्ता ग्रंथाः, बृहज्ज्योतिषार्णवनामा बहुविधविषयचित्रितो ऽपूर्वग्रंथः संस्कृतभाषया, हिन्दीभाषया चान्यतरभाषाग्रन्था-स्तत्तच्छास्त्रार्थबोधकाः, चित्राणि, पुस्तकमुद्रणोपयो-गिन्यो धातुमयाक्षरमालाः, स्वस्वलौकिकव्यवहारोपयोगिचित्र-विचित्रलिखितपत्रपुस्तकानि च; मुद्रयित्वा प्रकाश्यन्ते सुलभेन मूल्येन विक्रयाय । येषां मुद्रणालयस्थितपुस्तका-नुपलब्धये एवं नव्यतया स्वस्वपुस्तकानि मुद्रयितृभिः सुलभयोग्यमौल्येन दीसमाक्षरैः स्वच्छोत्तमोत्तमपत्रेषु मुद्रि-तपुस्तकानां स्वस्वमनोऽनुसारेणोपलब्धये च पत्रिकाद्वा-रैतैः प्रेरणीयोऽस्ति । अधिकमस्मदीयसूचीपुस्तकानां भिन्न-भिन्नविषयाणां ज्ञापनेन " श्रीवेङ्कटेश्वरसमाचार " पत्रिकाप्रा-णद्वारा च ज्ञेयमितिशम् ।

KHEMRAJ SHRIKRISHNADAS,

"SHRI VENKATESHWAR" STEAM PRESS

BOMBAY.

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) यन्त्रालयाध्यक्ष-मुम्बई.

हिज़् हायनेस महाराजा रामेश्वरसिंहबहादुर-
दरभङ्गाधीश भारतधर्ममहामंडलाध्यक्ष.

MOST RESPECTFULLY DEDICATED

TO

His Highness Maharaja

Rameshwar Singh Bahadur

OF

Darbhunga

The Life-President of

'Bharat Dharm Mahamundal'

BY

Pundit Jwala Parasad Misra Mahopdeshak'

MORADABAD.

समर्पणम् ।

सकलराज्यश्रीनिकेतनाय प्रभुमंत्रोत्साहादिसमस्तशक्ति-
निवासाय श्रीसरस्वत्या एकायतनाय प्रजारंजनदक्षाय
गोब्राह्मणप्रतिपालकाय भारतधर्मस्थापकाय दरभ-
ङ्गाधिपाय श्रीमहाराजरामेश्वरसिंहवीरेत्याख्याय
विज्ञतिरियं यद्भवदीयेन भव्येन चारित्रेण नव्येन
गुणोत्कर्षेण महासारेण देशोत्साहेनातिविपु-
लेन सनातनधर्मप्रचारेण हृतान्तःकरणोयं
जनोऽनादिसिद्धसर्ववर्णाश्रमधर्मादिप्र-
तिपादकग्रन्थस्योपहारं भाष्यादियो-
जनयोपहारीकरोतीदं हिन्दीभाष्य-
कर्ता नाम्नायं ज्वालाप्रसादाख्यः ।

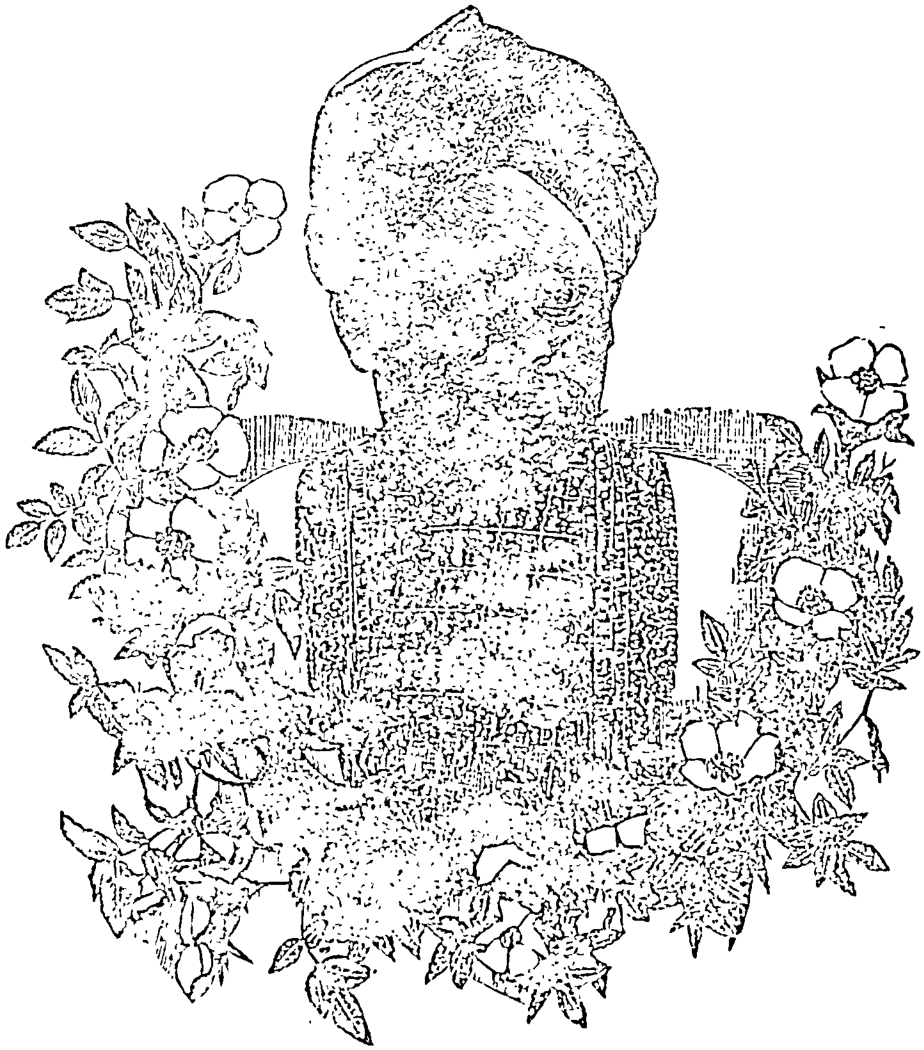

पंडितवर्य श्रीज्वालाप्रसादमिश्र महोपदेशक,

मुरादाबाद.

॥ श्रीः ॥

धन्यवादः ।

अहो प्रज्ञावन्तो महान्तः सन्तः । प्रायो न भवतामविदितं यतो विशालेऽस्मिन्विश्वस्मिन्वर्णद्वयमात्रतः संघटितस्यास्य वेदशब्दस्यार्थगांभीर्यं न केनाप्युच्चारयितुं शक्यत इति । येन धर्मार्थौ सञ्चीयेते येन निर्वाणपद्वी सम्पाद्यते किं प्रायो लौकिकालौकिकेत्याद्यनेकनिःश्रेयसपरंपरापारवारिधिरपीदमेव गण्यते, परंचार्वाचीनतनानां कलिप्रभावविभर्जितप्रज्ञानामज्ञानां जनानां तदर्थसरणीदुरूहत्वेन प्रतिपाद्यत इति च यजुःसंहिताज्ञानसंपादनसारग्राहिणो जना भवेयुरित्यप्ययं कायकल्पद्रुम उत्पथगानुसारी न भवेदित्यत एव सुधाप्रतिस्पर्धिकटाक्षनिक्षेपपुरःसरं सकलकाव्यकोषन्यायव्याकरणवेदादिविद्यानिर्भरांतरङ्गैर्मुरादाबादपत्तननिवासिभिःश्रीमज्ज्वालाप्रसादमिश्रपण्डितप्रवरैर्विरचय्य यजुःसंहिताभाष्यं केवलमक्षरज्ञानाश्चाल्पमतयोपि भारतीयजनास्तत्तारत गामिनः कृतास्तदिदं निरीक्ष्य विदुषामन्तरङ्गान्यमन्दानन्दमनुभवेयुः किमु ! अहो निरवद्यमेवाद्यदिनमारभ्य भारतीयप्रजानां भूरिभाग्यप्रभावमह : प्रादुर्भूत एवेति किमु संशयावसरः । वताद्य निर्विवादं विज्ञापयामो वयं देताहशानां प्रज्ञावतां महतां सतां प्रादुर्भावः परोपकारार्थं लोकानुग्रहार्थमेव परंच दुर्विभाव्येऽस्मिन्कार्यगौरवे श्रीमज्ज्वालाप्रसादमिश्राणां पण्डितशिरोमणीभूतानां कोटिशः सानंदधन्यवादसमर्पणमेव समुत्सहतेन्तरङ्गमस्माकम् । अन्यथा तु तदुपकृतिशतैरपि न पारयामो वयम् "यजुःसंहिताभाष्य-" नामकस्यास्य पुस्तकस्य श्रवणमननाध्ययनावलोकनवाचनचतुरगणामिन्द्रियग्रामः सानन्दं सत्पात्रतां प्राप्स्यतीति निःसंशयम् ।

तदिदं विचार्य सनातनधर्मानुयायिप्रजाभिरात्मकार्यगौरवसाधनायास्यैव ग्रन्थस्य संग्रहं कृत्वात्मजन्मसाफल्य श्रीमज्ज्वालाप्रसादपण्डितवर्यपरिश्रमकातार्थ्यं च कुर्युरितिं सानन्दं प्रार्थयते—

क्षेमराज-श्रीकृष्णदासः

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम) मुद्रणालयाध्यक्षः, मुम्बयीस्थः

अथ यथार्थ गृहचित्र ।

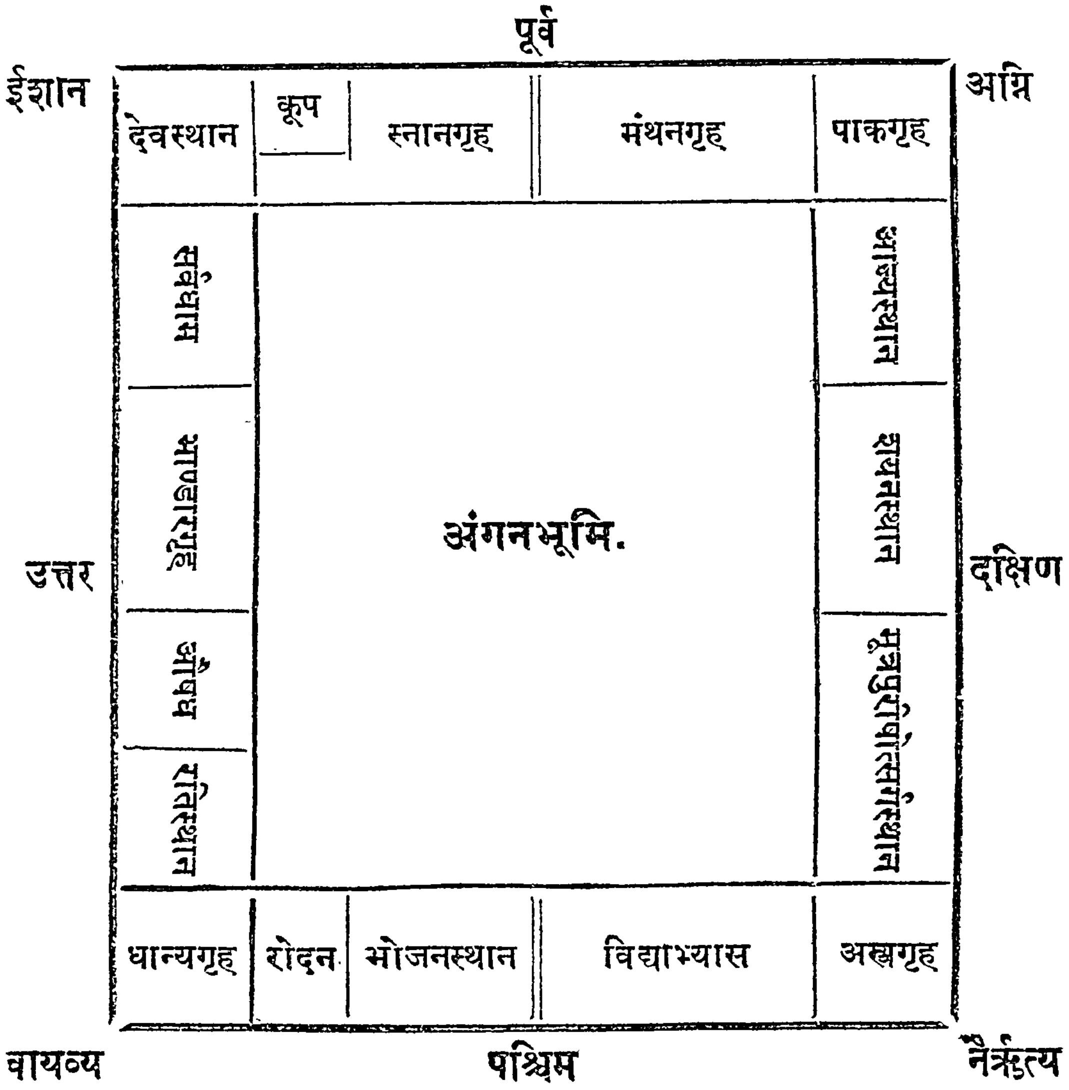

अभावे यथाशक्त्या लग्नादिकं वीक्ष्य शुद्धगृहं विधेयमिति ॥

अथ तिलक नाम मण्डल चित्र ।

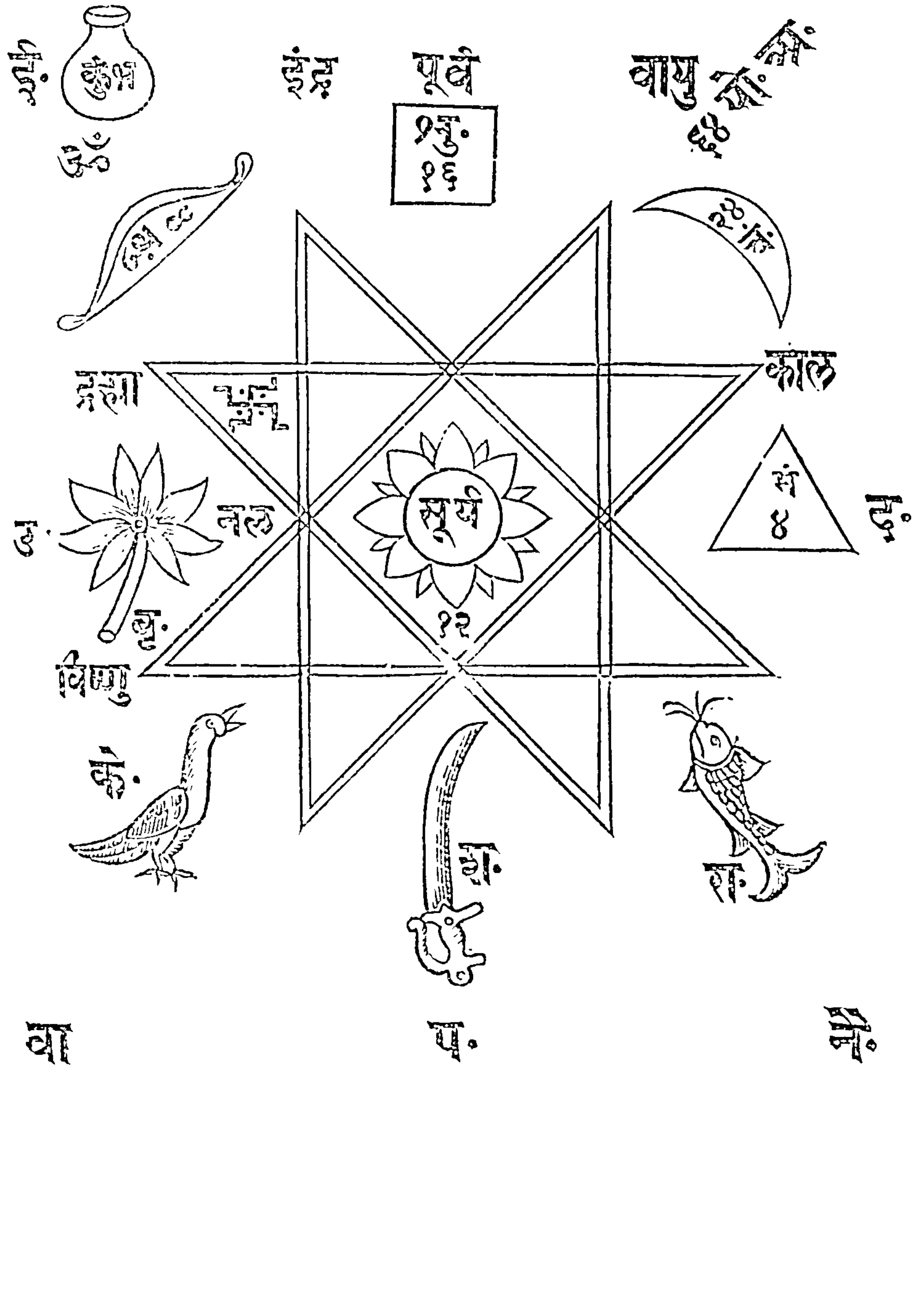

अथ पंचाग्निकुंडचित्र ।

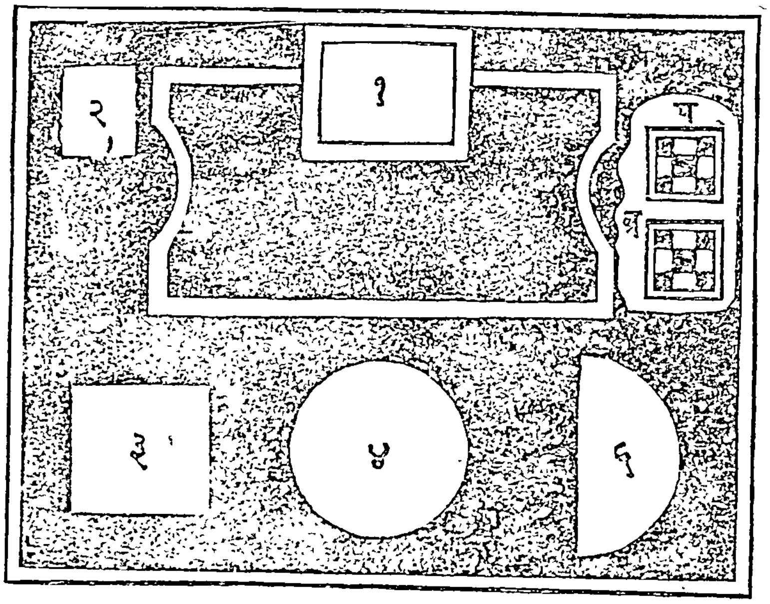

आहवनीयकुण्डम् १ आवसथ्यकुण्डम् २ सभ्यकुण्डम् ३ गार्हपत्यकुण्डम् ४ दक्षिणाग्निकुण्डमिति ५. ब्रह्मासनम्. यजमानासनम्.

अथ पात्राणामाकृतयः ।

आज्यस्थाली १

चरुस्थाली २

प्रणीतापात्रम् ३

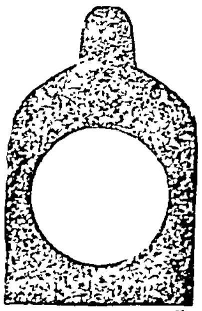

पुरोडाशपात्रम् ४

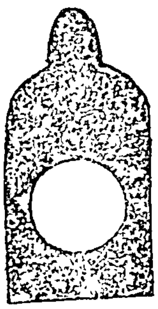

स्रुवः ५

उपभृत्स्रुक् ६

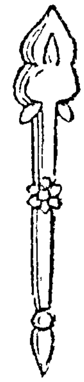

ध्रुवास्रुक् ७

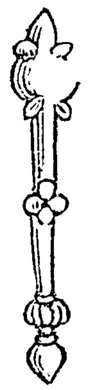

पुष्करस्रुक् ८

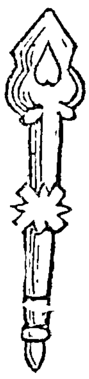

अग्निहोत्रहवनी ९

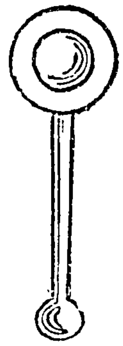

वैकङ्कतस्रुवः १०

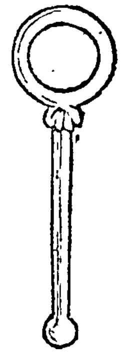

उलूखलम् ११

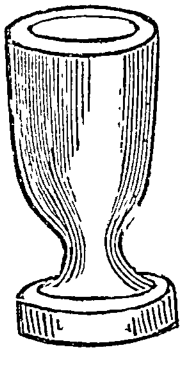

मुसलम् १२

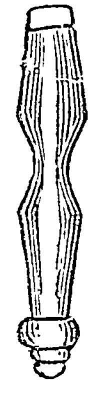

शूर्पम् १३

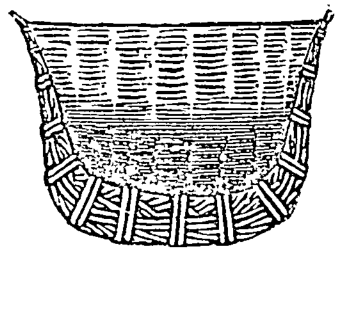

१४ शम्या

१५ स्फ्यः

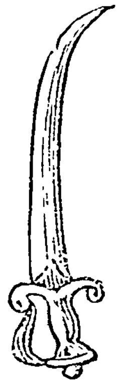

१६ शृतावदानम्

१७ उपवेषः

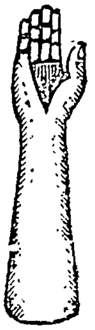

१८ कूर्चः

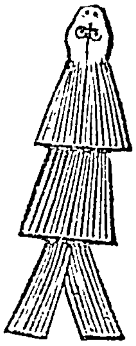

१९ दृषत्

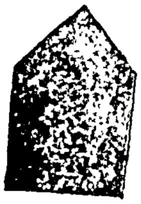

२० उपलः

२१ षड्वर्तम्

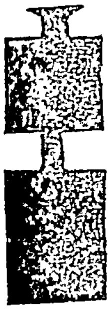

२२ अभ्रिः

२३ अरणिः

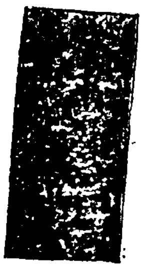

२४ उत्तरारणिः

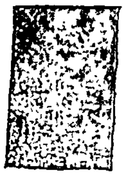

२५ मोविली

२६ प्रमन्थः

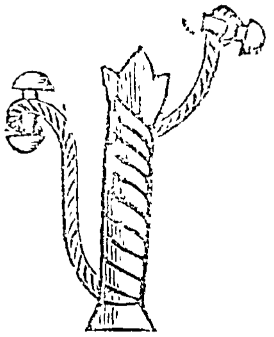

२७ नेत्रम्

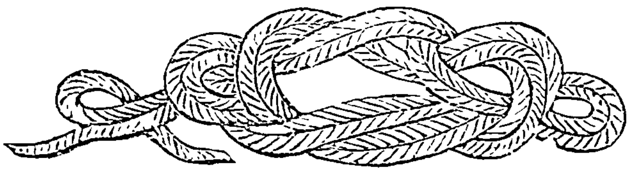

२८ अंतर्धानकटः

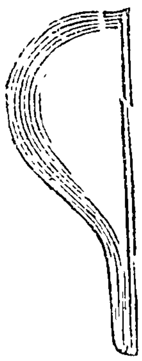

२९ हविर्धानपात्री

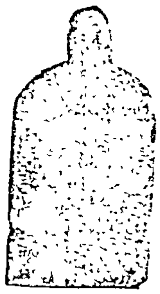

३० प्राशित्रहरणम्

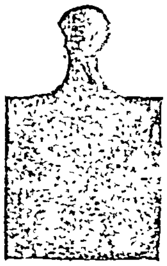

३१ चमसः

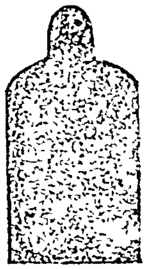

३२ इडापात्री

३३ यजमानासनम्

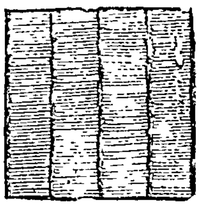

३४ पत्न्यासनम्

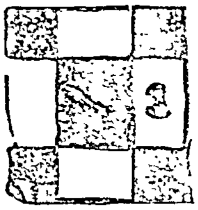

३५ होत्रासनम्

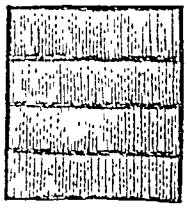

३६ ब्रह्मासनम् ।

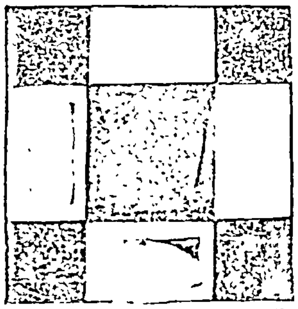

३७ यजमानस्यपात्री ।

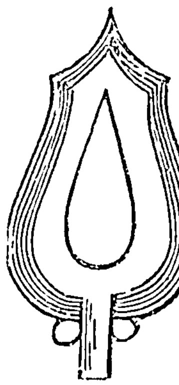

३८ पत्नीपात्री ।

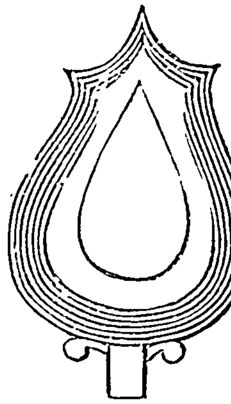

३९ कृष्णाजिनम् ।

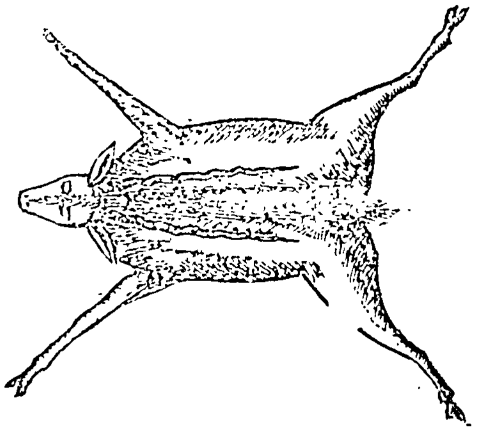

सर्वतोभद्र.

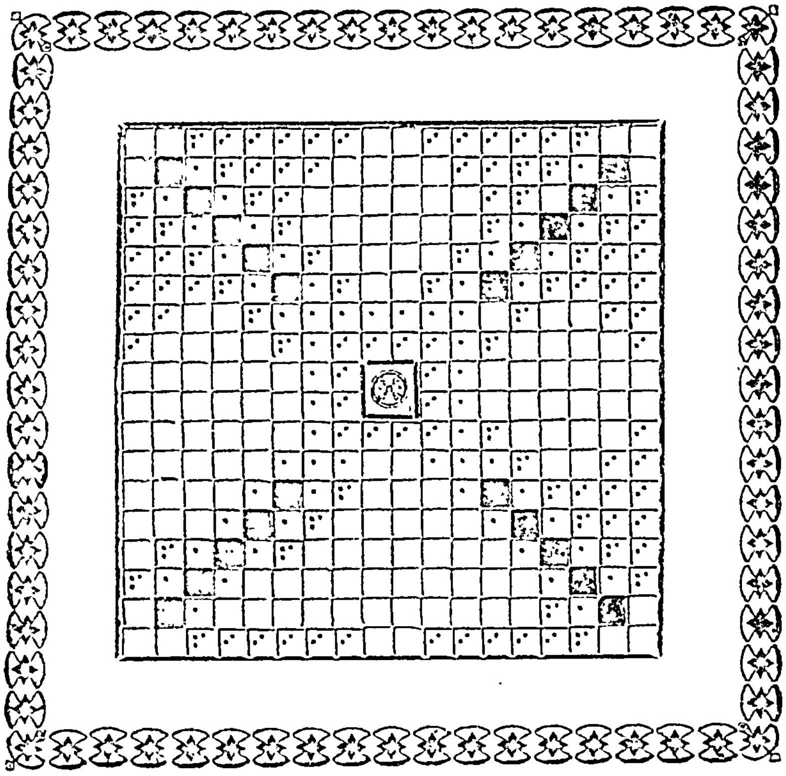

नांदीमुखश्राद्ध विवाहके प्रथम करना चाहिये। नांदी-श्राद्ध श्राद्धविवेक वा अन्य ग्रंथसे देखलें।

॥ श्रीः ॥

यजुर्वेदसंहितामिश्रभाष्य-भूमिका ।

इस जगत्‌में सबका हितकारक प्रत्यक्ष यदि कोई सार पदार्थ है तो वेद है, यदि किसी पदार्थको ग्रहण करने योग्य कहकर परिचय दिया जाय तो वेदके सिवाय और कुछ वस्तु नहीं है, कल्याणकारी यदि कोई अविनश्वर सम्पत्ति अन्वेषण कीजाय तो एकमात्र वेद ही ऐसी सम्पत्ति है, वर्णाश्रमियोंका धर्ममूल यदि कुछ है तो यह वेद ही है.वेद ही आर्यधर्मकी भित्ति और एकमात्र अवलम्बन है,सब जाति और सब धर्मकी परम शत्रुरूप पापिनी राक्षसी नास्तिकता प्रायः सर्वत्र ही उपस्थित है, इससे यदि रक्षापानेका कुछ उपाय है तो वेद है,सनातन सिद्धान्तका वेद ही एक-मात्र आगम परोक्ष वस्तु धर्मादिकोंका निर्भ्रान्त सूचनकरनेवाला एकमात्र वेद है, पुरातन राजर्षि महर्षि आदि इस वेदके प्रभावसे ही संसारी सुख सम्पत्तिके सर्वथा अधिकारी होकर भी परात्पर ब्रह्मकी प्राप्तिमें समर्थ हुए हैं. गोभिल, आश्वलायन, मनु प्रभृति महर्षिगण इस वेदके ही विधि निषेध वाक्योंका स्मरण और अनुशी-लन करके सूत्र संहिता तथा स्मृति शास्त्र रचना कर गये हैं, मार्कण्डेय व्यासादि उपदेष्टाओंने वेदके ही आख्यायिका भागको पल्लवित करके विविध विस्तृत इति-हास पुराणका प्रचार किया है. कठ, वाल्मीकि प्रभृति महर्षियोंने वेदको ही कवि-ताका आश्रय करके आदिकवि नाम पाया है, याज्ञवल्क्य तथा पाणिन्यादि मुनि-जनोंने जिसके बोधकी सरलताके निमित्त बहुत समयतक चेष्टा करके व्याकरण शास्त्रका प्रचार किया है. स्थौलाष्ठीवी, शाकपूणि, यास्क प्रभृति ऋषियोंने जिसका शब्दार्थ हृदयङ्गम करानेके निमित्त अंग शास्त्रका प्रचार किया है, जिसके भावगत विवादकी मीमांसा करनेके निमित्त जैमिनिप्रभृति महामुनियोंने जन्मपर्यन्त शिष्य-परम्पराका आयास प्राप्त किया है, महर्षि कपिलादि योगीगण ईश्वरादिविषयमें चाहे जैसा अभिप्राय प्रकाश करें तथापि एकमात्र वेदकी दुहाई देनेसेही आस्तिक-शिरोभूषण हुए हैं, बौद्धादिशास्त्रप्रणेतागण विज्ञान परलोक स्वर्ग नरक प्रभृति मानकर भी इस वेदकी अवमाननासे ही चिरकालके निमित्त आस्तिक समाजसे तिरस्कृत हुए हैं, जिस वेदकी रचनाका अनुकरण करके अनेक आधुनिक ग्रंथ आर्या-वर्त देशके ललाटकर्मरेखाकी समान आजपर्यन्त देदीप्यमान हो रहे हैं, जिसके द्वारा शिक्षाको प्राप्तकर पुरातन आर्यगण अनेक अस्त्र, शस्त्र, व्योमयान, धूमयानादि निर्माण करके अपनी कुशलताका परिचय देगये हैं, जिनकी सन्तान उसके मूल अन्वेषणमें इस समयपर्यन्त स्तब्ध हुई बैठी है, इस आर्यभूमिमें सहस्रों वार

जलविप्लव राष्ट्रक्रान्ति परिवर्तनकारी अमोघ कारणोंके व्यतीत होनेपर भी अबतक जो वेद दृढ [illegible] मूलसे यथावत् सर्वत्र समुज्ज्वल रहा था, जिसके अनुशासनमें अन्त्योपाय आर्य्यजनोंके गर्भाधानप्रभृति अन्त्येष्टिपर्यन्त संस्कार अवश्य ही करने होते हैं, अब भी जिसका शासन प्रत्येक आर्यगणोंके मनमें दृढ अंकित हो रहा है, जिसके कारण आदि सृष्टिमें विश्वम्भरकी एकही भाषा होरही थी, वर्णाश्रमोंका जीवनसर्वस्व वेद आर्यगणोंको सर्वथा अनुशीलनीय है, इसको कौन स्वीकार न करेगा, और इस प्रकारके अस्वीकारकारीको आर्यधर्मसे च्युत करनेमें कौन उपेक्षा करेगा ? हम आज इसी सनातन आर्यधर्मके मर्यादारूप परम पवित्र अनादि वेदके अनुशीलनमें सर्व साधारणकी प्रवृत्ति करानेके निमित्त देशीयभाषामें यथा-ज्ञान अनुवाद करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ।

इस देशीय भाषाके भाष्यसे यदि और कुछ उपकार न होगा तो यह तो अवश्यही होगा कि, पुरातन समयमें दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, यज्ञादिकोंका अनुष्ठान किस प्रकारसे होता था, किसी प्रकार भी हो एक बार तो भ्रातृगणके सोत्साह नयनाञ्चलावलोकित होनेसे ही मेरा श्रम सफल होजायगा और उनको अपनी भाषाके साथ देवभाषाका ज्ञान प्राप्त हो जायगा,यह हमारा स्थिर सिद्धान्त है कि इस महान् उद्योग, महत्कार्य, बडे परिश्रम, बडी क्षमता, बडे व्ययसे वेदधर्ममें उत्तेजकता प्राप्त होगी ।

आस्तिक जनोंमें भला बुरा विधि निषेध अपनी बुद्धिसे कल्पना नहीं किया जाता है किन्तु जिसकी वेदमें विधि हो वही धर्म और जिसका निषेध हो, वही अधर्म कहाता और अधर्मसे अधोगतिकी प्राप्ति होती है, इस कारण सज्जनोंके श्रेय-साधनके निमित्त सर्व साधारणके बुद्धिगम्य होने योग्य वेदार्थ करनेमें प्रवृत्त होतेहैं.

वेद-ऋक्, यजु, साम, अथर्व इन चार अंशोंमें विभक्त है, पद्यमय रचनावलि ऋक्, गीतिमय रचनावलि साम, और शेष यज्ञमय गद्यपद्य रचनाका नाम यजु है, इस प्रकार रचनाके अनुसार वेद विभागसे पूर्व इस समस्त रचनाका नाम त्रयी विद्या है, इन्हीका एक अंश प्रत्यक्ष फलप्रद मोहन उच्चाटनादि उपयोगी यज्ञादिके प्रकरणमें स्वतंत्ररूप अथर्वके नामसे विख्यात है अर्थात् बृहदंशको त्रयी विद्या और लघु अंशको अथर्व कहते हैं, इन्ही अंशोंका वेदव्यासजीने पृथक् विभाग किया है, यहां यह भी जान लेना उचित है कि जिस समय त्रयी विद्यासे यज्ञका व्यवहार होता है, उस समय अथर्वकी आवश्यकता नहीं होती, और अथर्वके अनुसार यज्ञानुष्ठान करनेसे त्रिभागीकृत बृहदंशकी आवश्यकता नहीं होती अर्थात् त्रयी कर्म परस्पर सापेक्ष हैं, इसी कारण शास्त्रोंमें जहां तहां त्रयीका

उल्लेख किया है, जैसा कि अश्वमेध यागमें ऋक् यजु साम इन तीनों भागोंसे व्यवहार होता है, और तीनों एकत्र दुर्लभ हैं इस कारण तीनों भागोंको उपस्थित करना होता है पर अथर्वकी अपेक्षा नहीं होती इसी प्रकार अथर्ववेदीय श्येनादि यागानुष्ठानमें प्रयोजनीय गीति ऋक् यजुके मन्त्र एकत्र अथर्वमें ही सन्निविष्ट प्रयुक्त हैं इससे इसमें त्रिभागीकृत बृहद्दंशकी अपेक्षा नहीं होती, इससे त्रयी विद्याके कर्मसे अथर्व वेदके कृत्य भिन्न हैं ।

इसप्रकारसे यह चार वेद कहाते हैं, अब यह विचार कर्तव्य है कि प्रथम हमको किस वेदका अवलम्बन करना चाहिये, जिसमें धन्य यशके देनेवाले प्रशस्त पारलौकिकादि कार्योंका अनुष्ठान भलप्रिकारसे देदीप्यमान हो रहा हो और पुरातन पुरुषोंका भी जिसमें क्रम प्राप्त हो, यह विचार कर प्रथम त्रयी विद्यामें ही परिश्रम करनेमें प्रवृत्त हुए हैं ।

इन तीनों वेदोंमें ज्ञान कर्म उपासना कहीं मिश्रित कहीं अमिश्रित भावसे विद्यमान है, उनमें ज्ञान अवलम्बन करके पूर्वापरका निर्णय और कर्म लेकर पूर्वापरका अनायास ही निर्णय करनेवाले, तथा अन्तःकरणकी शुद्धिमें यजर्वेदीय मन्त्रोंका प्रयोग ही यज्ञमें भित्ति रूपसे संस्थापित हुआ है, कारण कि यज्ञके अनुष्ठानकी भूमि यजुर्वेद ही प्रस्तुत करनेमें समर्थ है, ऋग्वेदी इस भित्तिपर चित्र कर्म करनेवाला, और सामवेदी उस यज्ञके उपास्य देवताकी स्तुति करनेवाला है, इससे इस सामके द्वारा रंजित देहमें मणिमुक्ताहीरकादि आभरण स्वरूप है, यही बात सर्व वेदभाष्यकार सायनाचार्य सामवेदभाष्यकी भूमिकामें कहते हैं—

"जाते देहे भवत्यस्य कटकादि विभूषणम् ।
आश्रितस्मणिमुक्तादि कटकादि यथा तथा ॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम् ।
सामाख्यमणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः" ॥

इसीप्रकार ऋग्वेदके दशम मण्डलमें ८ अष्ट० २ अध्यायकी अन्तिम ऋक्में इसीका प्रकाश किया है । यथा—

"ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः" ॥

---

१ बहुवचन देनेका तात्पर्य यह कि, अध्वर्यु प्रभृति तीन ऋत्विजके सहकारी होते हैं । यज्ञमें सोलह जनोंका वरण होता है, उनमें यजमान—यज्ञकरनेवाला । ब्रह्मा कार्यका देखनेवाला, यह दो इनसे व्यतिरिक्त १४ और उनमें अध्वर्यु, होता, उद्गाता यह तीन प्रधान ऋत्विक् और नेता, पोता, प्रस्तोता आदि उनके सहकारी होते हैं ।

अर्थात् अध्वर्यु पदमें प्रतिष्ठित यजुर्वेदी ऋत्विग्गजन यज्ञका शरीर निर्म्माण करते हैं. होतृपदमें आरूढ ऋग्वेदी ऋत्विग्गण स्तोत्र शस्त्रादि लक्षणात्मक ऋङ्मन्त्रसमूह पाठकर यज्ञको पुष्ट करते हैं. उद्गातृ पदको प्राप्त सामवेदी ऋत्विक् शाक्वरी प्रभृति ऋचा सामगान रूपसे परिणत करते यज्ञकी शोभा सम्पादन करते और त्रिवेदज्ञ ब्रह्मा नामक सबका देखनेवाला ऋत्विक् इन ऋत्विग्गणके दोष अदोषके प्रति लक्ष्य करके दोष दूर करता है ।

इस प्रकारसे सम्पूर्ण यज्ञोंकी मूलभूमि यजुर्वेद है यह बात सिद्ध हुई परन्तु सब यज्ञोंकी विधि केवल इसी वेदमें है ऐसा नहीं है, गवामयनसत्रकी विधि सामवेदमें विशेष रूपसे कही है, इसमें उसका बहुत थोडा वर्णन है, इस यजुमें उसका विधान नहीं है केवल देहमात्र कहीगई है इससे यह जानना कि ऋगादिमें यज्ञ है पर यजुर्वेदमें वह विधान विशेष रूपसे है, ऋग्वेदमें यजु सामके विधानको छोडकर दूसरे यज्ञोंके भी विधान हैं जिस प्रकार यजुर्वेदीय यज्ञमें अध्वर्युका कृत्य है ऋग्वेदी और सामवेदीय यज्ञमें भी इसी प्रकार अध्वर्युके कृत्यकी आवश्यकता होती है. परन्तु वह यजुर्वेद विहित मूल यज्ञके अनुकरणसे ही सम्पन्न होते हैं, जिसमें सर्व अंगकी विधि हो उसको प्रकृतियाग वा मूलयाग कहते हैं ॥ और जिसमें अधिकांश वा स्थूलांश मूलयज्ञकी सदृश इस यागके निमित्त विशेष विशेष विधान हो किसी स्थलविशेषमें कुछ भेद दीखता हो उसको विकृतियाग कहते हैं, यजुर्वेदमें अध्वर्युके सम्पूर्ण मन्त्र श्रुत हुए हैं, इससे प्रायः समस्त प्रकृतियाग यजुर्वेदीय हैं ऋग्वेदमें उस उस यज्ञमें व्यवहार योग्य ऋचा और साममें उसीके व्यवहार योग्य गीति मन्त्र विहित हुए हैं ।

इस प्रकारसे वेदत्रयमें प्रथम कर्मकाण्डका मूलभूत यजुर्वेद ही प्रथम अवलम्ब जानकर प्रथम इसीका व्याख्यान करते हैं ।

इस यजुर्वेदकी १०१ शाखा अध्यापकगणोंके अध्यापनभेद शैलीभेद और देशभेदके कारण हैं, गुरुके निकट अध्ययन कर जिन जिन्होंने स्वदेशमें उन उन शाखाओंका प्रचार किया है वे वे शाखा उन्हींके नामसे विख्यात हैं किसी किसी मन्त्रका एक चरण किसी के दो चरण भेदको प्राप्त होगये हैं किसी शाखामें कोई २ मंत्र है ही नहीं उन शाखाके शासन करनेवालोंने जिस प्रकारसे अपने शिष्योंको उपदेश किया है वह उसी नामसे अवतक प्रसिद्ध हैं, यह शाखायें भी प्रायः इतनी ही बृहत् हैं, कितनी एक प्रायः लुप्त होगई हैं चरणव्यूहके समयमें ८६ मिलती थीं और भाष्यकारके समय १०१ प्राप्त थीं, इनमें किन्हीं २

शाखाओंमें तो मंत्रोंके बहुत ही भेद हैं, अर्थात् दूसरे प्रकारके विदित होते हैं, कठशाखा पृथक् ही है और किन्ही २ शाखाओंमें केवल पाठमात्रका भेद है, परन्तु औख्या, आपस्तम्बी, बौधायनी, सत्याषाढी, हिरण्यकेशी, औखेया (औधेया) यह पांच प्रकारकी खाण्डिकेयकी समष्टिमें युक्त होकरही यह छः तैत्तिरीय शाखा-नामसे प्रसिद्ध हैं और इनमें परस्पर मंत्रोंका इतना अधिक भेद है कि, जैसे कृष्ण और शुक्ल इसीसे इन तैत्तिरीय शाखाओंको कृष्ण यजु और दूसरे भेदको शुक्ल यजु कहते हैं और भुक्त अन्न वमन करनेसे जिस प्रकार विकृत और विमिश्रभाव युक्त दृष्ट होता है, शुक्ल यजुके सम्बन्धमें कृष्णयजुको इसी प्रकार कहा है, इसी कारण गुरुदोषसे याज्ञवल्क्यद्वारा यह वान्त हुआ है इस प्रवादका आविर्भाव हुआ है, अर्थात् मूल मंत्रोंसे उसमें बहुत भेद पडगया है, अस्सी शाखा सम्पन्न शुक्ल यजुके मध्यमें वाजसनेयि ऋषिने भिन्न देशीय सत्रह शिष्योंको सप्तदश प्रकारसे अध्यापन और व्यवहार कराया इस कारण अध्यापन और व्यवहारके भेदसे सत्रह शाखाओंका आविर्भाव हुआ वे जाबाली, काण्वी, माध्यन्दिनी, शीपिया, तापनीया, कापाली, पौण्ड्रवत्सी, आवटिकी, पामावटिकी [वा परमावटिकी] पाराशरीया, वैधेया, वैनेया, औधेया, गालवी, वैजवी, कात्यायनीया, और सत्रहवीं वाजसनेयिसंहिता नामसे प्रसिद्ध है, इनमें भाष्यकारोंने प्रायः माध्यंदिनी शाखाका ही अवलम्बन करके भाष्य प्रणयन किये हैं और इसी शाखाका ब्राह्मण भी पूर्ण रूपसे प्राप्त है तथा यह मूल संहिता यजुका शुद्ध स्वरूप है, इस कारण हम भी इसी शाखाके भाष्य अनुवाद में प्रवृत्तहुए हैं, कण्वशाखामें और इसमें बहुत थोडा भेद है ।

इससे यह भाष्य उसका भाष्य और यह अनुवाद उसका अनुवाद है इसमें प्रथम अध्यायसे लेकर दूसरे अध्यायकी २८ कण्डिका पर्यन्त दर्शपौर्णमास याग है, उसके परे अध्यायके अवशिष्ट भागमें पिण्डपितृयज्ञ तीसरे अध्यायमें अग्न्या-धान अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान चातुर्मास्य, चतुर्थ अध्यायमें अष्टमा-ध्यायकी ३२ कण्डिकापर्यन्त अग्निष्टोम यज्ञ उसके परे पांच कण्डिकामें षोडशी-याग, अध्यायके अवशिष्ट अंशमें द्वादशाहादि, नवम अध्यायकी ३४ कण्डिका पर्यन्त वाजपेययाग, ३ कण्डिकासे दशम अध्यायकी ३० कण्डिका पर्यन्त राजसूययज्ञ, ३१ से अध्यायके शेष पर्यन्त चरकसौत्रामणि, एकादशसे १८ अष्टादशाध्यायपर्यन्त अग्निचयनादि, १९ से २१ अध्यायतक सौत्रामणि याग, २२ से २५ के शेष पर्यन्त अश्वमेधयज्ञ श्रुत हुआ है, २६ से शेष पर्यन्त पूर्व यज्ञोंका ही परिशेष भाग है, इनमें दर्श पौर्णमास और पितृयज्ञ यह इष्टि नामसे विख्यात हैं । अग्न्याधान प्रभृति होत्र नामसे प्रसिद्ध हैं, अग्नि-ष्टोमादि दूसरे यज्ञ पाशुक कहलाते हैं ।

हमारे जीवनसर्वस्व यह धर्मरूप महामणि किसी समय हमारे प्रतिगृह प्रतिकोणमें शिरोरत्नरूपसे देदीप्यमान थी, सर्वत्रही वेदकी ध्वनि प्रतिध्वनित होरही थी, असंख्य यज्ञ प्रतिवर्ष सम्पादित होते थे, किसी प्रकारकी किसीको शंका नहीं थी. देश आस्तिकता तथा धर्मकर्मके प्रभावसे भरा पुरा होरहा था, द्विजातियोंको सार्थ सस्वर वेद संहितायें कण्ठाग्र थीं, पर समय कभी एकरूप नहीं रहता, कालक्रमसे वैदिक क्रियाकाण्ड अज्ञानान्धकारमें मग्न होने लगा, जहां सब ही वेदज्ञ थे, वहां अब बड़े यत्नसे एक वेदज्ञ मिलता है, सो भी सार्थ वेद नहीं. पाठमात्रका ज्ञाता मिलता है, यदि इस समय सामगानेवालेकी आवश्यकता हो तो उसका मिलना कठिन ही पड़ जायगा काशीसे कान्यकुञ्जतक जो देश वेदविद्याका भंडार था, वहां अब वाराणसीमें ही एक दो विद्वान् वेदज्ञ पाये जाते हैं. सुयोग्य विद्वानोंको सम्प्रदायके आग्रहोंने ऐसा दृढ बन्धनमें आवृत किया है कि, वेद क्या है इस ओर कभी उनका ध्यान भी नहीं होता. कैसे खेदकी बात है कि, एक २ सम्प्रदायी ग्रंथोंपर २० वीस वीस टीके वन जांय और ईश्वरीय ज्ञान सबके मूलभूत वेदके अर्थविस्तार करनेके निमित्त दो चार भाष्य भी प्रस्तुत न होसकें, आज इस सुविस्तीर्ण भारतसाम्राज्यमें सुवेदज्ञ विद्वानोंका प्रायः अभाव कहनेमें अत्युक्ति न होगी. इस विषयमें बहुत कहना अरण्यरोदनमात्र है तो भी हम यदि भ्रान्तिपूर्ण नहीं हैं तो किसी प्रकार भी यदि कालकी चक्रगतिसे वह सुषमापूर्ण वैदिकसमय फिर उदयको प्राप्त हो, और सब प्रकारसे ईश्वरके धर्मकी सर्वत्र उन्नति हो इसी निमित्त सम्पूर्ण विद्वानोंको वेदधर्मके विस्तारमें प्रयास करना चाहिये, यही हमारा और सब महानुभावोंका कर्तव्य है और राजा प्रजाके मङ्गलका हेतु है।

वेदज्ञ और वेद धर्मके प्रायः अभाव होनेसे ही इस देशमें अनेक प्रकारके मतमतान्तरोंका विवाद चल पडा है. जिनकी निरन्तर चर्चाके कारण विद्यानुरागियोंको वेदधर्मपर विचार करनेका अवसर ही नहीं मिलता है, और परस्परके विवाद वैर तथा फूटसे ईश्वर और महाराज की दृष्टिमें तुच्छ होरहे हैं.

अब इससे अधिक और क्या दुःखकी बात होगी कि इष्टियज्ञकी बात तो बड़ी कठिन है द्विजातियोंमेंसे नित्यअनुष्ठानीय संध्यादि पंचयज्ञ तकका लोप होगया है, जहां वेदादिकर्म सम्पादन और अध्ययनसे पदवी प्राप्त थी वहां अब वेदका प्रेम भी भुला दिया है !

जब इस प्रकार वेदधर्म हमसे बहुत दूर होगया तब वेदके नामसे स्वार्थपरायण पुरुषोंने अनेक अर्थ कल्पनाकर अपने प्रयोजन साधनकरनेके निमित्त वेदार्थका

अनर्थ करदिया, और इस समय एकाध वेदकी टीका ऐसी छपादिया है जिसमें यज्ञादिका विषय सनातन परिपाटीका सर्वथा ही लोपकरके परमपवित्र वेदार्थको नवीन सभ्यतासे दूषित किया है जिस सभ्यतामें शौच, यज्ञानुष्ठान, पूजन, जप, तपआदिका लेश भी नहीं है केवल भोले मनुष्योंके मन लुभानेके निमित्त ही मानो यह प्रयत्न कियागया है. वेदार्थ किस प्रकार किन साधनोंसे होता है इस बातकी ओर उन्होंने किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं दिया है, शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष के आश्रय किये विना कभी वेदार्थ होना संभव नहीं है, किस पद-को अक्षर को किस प्रकार उच्चारण करना यह शिक्षा है, इस मंत्रको किस कार्यमें लाना यही कल्प है, शब्दसिद्धि तथा स्वरज्ञान यह व्याकरणका प्रयोजन है, अर्थ न वदलजाय इसी कारण प्रत्येक मंत्रके साथ बराबर स्वरोंके चिह्न किये गये हैं, स्व-रोंकी ओर ध्यान न करके वेदार्थ करना वडाही भ्रम है यद्यपि स्वरके विना कोई भी वाणी नहीं कही जासकती. अकारादि वर्ण मात्र ही किसी न किसी स्वरके आधीन हैं, इससे वे स्वरनाम से ही विख्यात हैं, कण्ठ तालुआदिक स्थानसे ऊर्ध्व-भागगत उच्चारण होनेसे उदात्त, नीचभागसे उच्चारण होनेसे अनुदात्त और दो-नोंके मिश्र भागसे उच्चारण होनेसे स्वरित होता है । इससे कोई पदभी उदात्त अनु-दात्त स्वरितभेदसे शून्य नहीं है, जैसे मृत्तिकारहित भूमिको कोई धारण नहीं कर-सकता इसीप्रकार स्वरवर्णको स्वरशून्य कर कोई उच्चारण नहीं करसकता, व्याक-रण शास्त्रके अनुसार तीन प्रकारकी अशुद्धि होती है, वर्णकी अशुद्धि और मा-त्राकी अशुद्धि, स्वरकी अशुद्धि यह दोष प्रकृत अर्थके बोधमें व्याघात होते हैं वह अर्थ अनर्थ रूपसे प्रतिपादक होते हैं, यथा सकलके स्थानमें शकल लिख जाय तौ सबका अर्थ न होकर खण्डका अर्थ हो जायगा, तौ यह अनर्थ अर्थ हो जाय-गा, इसीप्रकार एक मात्रा ह्रस्व, दो मात्रा दीर्घ, और त्रिमात्रा प्लुतके उच्चारणमें व्यतिक्रम हो तौ भी अशुद्ध हो जायगा, और उदात्तादि स्वरके व्यतिक्रमसे भी अशुद्धि दोष होगा, यथा देवदास इस पदमें समास है, तौ देवका दास इस अर्थमें षष्ठीतत्पुरुष, देव है दास जिसका इस अर्थमें बहुव्रीहि, देव नामक दास इस अर्थमें कर्मधारय समास होता है, तब क्या निर्णय किया जाय, इसके निर्णय करनेका उपाय स्वरही है, देवदास इस शब्दमें चार स्वर हैं, इनमें यदि दूसरा स्वर उदात्त उच्चारित हो तो यह बहुव्रीहि, यदि चतुर्थ उदात्त उच्चारित हो तो तत्पुरुष, दूसरा और चौथा दोनों ही उदात्त उच्चरित हो तौ कर्मधारय होता है, इसी प्रकार दन्त्यसकारके उच्चारण स्थलमें तालव्य वा मूर्धन्यका अनियम उच्चारण करनेसे दोष होता है, ह्रस्वके उच्चारणमें दीर्घादि उच्चारणसे दोष होता है यथा

"दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्" ॥

जो शब्द वर्ण मात्रा वा स्वरसे मिथ्या प्रयुक्त होता है वह उस अर्थको न कहकर वाणीरूप वज्र होकर यजमानको नष्ट करता है जैसे इन्द्रशत्रु इसमें स्वरका अपराध होनेसे इन्द्रने वृत्रको मारा इससे व्याकरणमें जैसी मात्रा, वर्ण-शुद्धिकी आवश्यकता है इसीप्रकार स्वरशुद्धिकी भी बडी आवश्यकता है उदात्तका चिह्न नहीं है स्वरित (।) खडी पाईका चिह्न है अनुदात्तका (–) चिह्न है । [यह क्रम समस्त संहितामें जानना] तब जो भाष्य स्वरज्ञानके विना केवल कपोलकल्पना किया जाय तथा अंगोंसे रहित हो उससे क्या कभी श्रेयकी संभावना होसकती है? कभी नहीं. ऐसे वेदांगशून्य टीके वा भाष्यसे किसी प्रकार सत् अर्थ प्राप्त होनेकी संभावना नहीं है, और ऐसे ही स्वर कल्प ज्योतिष [मुहूर्तादि] अंगहीन भाष्योंमें देवाराधन, भजन, पूजन, श्राद्ध, अवतार, नामस्मरण, अघमर्षण, स्वर्गादि लोक, पातिव्रत्य, ध्यान, धारणा, समाधि आदि प्राचीन सनातन धर्मोंका लोप होकर कमेटी, रेल, तार, एक स्त्रीके एकादश पति, खान पानकी एकता, जाति बन्धनका ह्रास, यज्ञका लोप, तिब्बतके आर्य, शिखासे बुद्धिलोप आदि विषय दिखाई देने लगे हैं, यह किस कल्प शिक्षा और ब्राह्मण भागके अनुसार हैं सो बतानेवाला कोई भी नहीं है, इन विषयोंमें संस्कृत भाषाशून्य पुरुषही अपने अनुकूल वेदार्थको देखकर उसके माननेमें शिर हिला देते हैं. और कुछ थोडी समझके पुरुष वेदमें लोकवादके सिवाय कोई अलौकिक बात नहीं कुछ चमत्कार नहीं ऐसा कहकर उदासीन हो जाते हैं, तथा इनमेंही एक कोटी ऐसी है कि जो वेदार्थको अपनी बुद्धिके अनुकूल पाया तो कहा कि, ठीक है, यदि उनके स्वभावके विरुद्ध हुआ तो कह दिया कि यह बनाया अर्थ है ठीक नहीं, करना धरना कुछ नहीं चलो छुट्टी होगई, इस प्रकारसे शुद्ध सनातन परंपराक्रमागत वेदधर्मका ह्रास संस्कृत विद्याकी न्यूनताके साथ साथही होता चलाजाता है, और रही सही वेद नामकी जो श्रद्धा थी वह भी गुप्त होती जाती है. कारण कि, वेदार्थ करनेके निमित्त पाश्चात्त्य अनुकरणकी ऐनक लगाई जाती है ।

इस प्रकार वेदधर्मका ह्रास देखकर बहुत समयतक मनमें ही विचार करता रहा कि किस प्रकार द्विजातियोंके हृदयमें फिर वेदधर्मकी मुर्झाई हुई शाखा हरित होकर पल्लवित होजाय, किस प्रकार वैदिक दृढ पुरातन रीतियें कर्मरेखाकी समान भारतीयोंके हृदयमें अंकित होजाय, किस प्रकारसे यह आलस्य त्यागकर कर्मकाण्डके प्रेमी होजाँय और गौरवयुक्त वेदधर्मकी मर्यादा पालन करें तो

सत्संग और संस्कृत विद्याकी उन्नतिके विना और कोई उपाय समझमें नहीं आया, परन्तु संस्कृतकी उन्नति क्या आज हो सकती है अठारह करोड भारतवासियोंके लिये वरावर कहा जाता है कि इनकी मा मर गई है, यह बूढी माकी ठठरी छातीपर आजतक चरण रखते हैं तो क्या इनमें कोई एकभी ऐसा माईका लाल नहीं है जो बुढापेमें इस अपनी माताका पालन पोषण करे, इस समय भारतजननी बडी अभागी है पर धन्य न्यायपरायण श्रीमान् सर एन्टूनीमेकडानल जी. सी. एस. आइ. लेफ़टिनेन्ट गवर्नर महोदय कि तुमने अपने दरवारमें इस बूढी को आसन दिया और धिक् है उन भारतीय सन्तानोंको जो अवभी माता का पक्ष न करके कहते हैं कि यह वाहर भीतरसे एकसी न्हाई धोई, माला तिलकधारिणी,पवित्र स्थल देवोद्यानविहारिणी हाथमें सुमिरनी ले खडाऊंपर चढनेवाली तख्तपर वैठनेवाली काली बुढिया हमारी माता होनेके योग्य नहीं है, तव ऐसे होटलके विहार समयमें सत्संग तथा संस्कृतका अध्ययन वडा कठिन हो रहा है, तव फिर दुरूह विचारमें पड़कर यह विचार किया कि वेदके पुरातन भाष्योंका अनुवाद करके ही आस्तिक सज्जनोंके सन्मुख धराजाय तव यह विचार आया कि ऐसा होनेसे तो वेद अधिकारी अनधिकारी सवहीके हस्तगत होनेसे फलभेदकी आशंका है ऐसा समझकर फिर यही विचार किया कि जव इस समय अधिकारी अनधिकारी सवही चाहैं जौनसा मुद्रित ग्रन्थ लेसक्ते हैं, फिर इस अमूल्य वेदविद्यासे आस्तिक अधिकारी पुरुष क्यों वंचित रक्खेजायं, कारण कि इस समय विदेशी अशुद्ध अनुवाद और नवीन सामाजिक अनर्गलअनुवादसे श्रद्धावान् पुरुष भी वंचित होकर वेदको गौरवकी दृष्टिसे नहीं देखते, और उन प्रमाणशून्य उलटे अनुवादोंसे अनर्थकोही अर्थ समझनेलगे हैं तव यही विचार किया कि सर्व साधारण के समझने योग्य इस का देशभाषामें भाष्यकरके सत्य सनातन वैदिक धर्मको महात्माओंके सन्मुख उपस्थित कियाजाय जिस वैदिक धर्मके कारण यह संसार पूर्व कालमें धनअन्नसे परिपूर्ण था उसका दर्शन इस भाष्यके अवलोकनसे अवश्य होगा और एकवार इसका प्रभाव अधिकारी सज्जनोंके मनपर अवश्य पडेगा कारण कि यज्ञकर्म त्रिवर्ण के सिवाय अन्य करनेके अधिकारी नहीं हैं, जिससे कि उन्हींके गर्भाधानसे लेकर सव वैदिक संस्कार हैं, इससे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यही वैदिक कर्मके अधिकारी हैं, और वही इन यज्ञीय कर्मोंको ग्रहण करसकते हैं वेदका यथायोग्य अविकल अनुवाद कर वोधगम्य करना अति कठिन काम है, इससे टीकोंका अवलम्बन करना होता है परन्तु यह दुःखका विषय है कि इस समय इस यजुर्वेद संहितापर केवल उव्वट, महीधरको छोडकर कोई पूर्ण प्राचीन भाष्य प्राप्त

नहीं होता और यदि कहीं २ कुछ २ प्राचीन टीका पाई जाती हैं परन्तु उनका आदर्श मूलकी समान दुर्बोध है इस कारण उसमेंभी अर्वाचीन टीकाकारोंकी अनुकूलता प्रार्थनीय है, परन्तु नितान्त पश्चात्तापका विषय है कि आजकलके टीकाकार लोग साम्प्रदायिकता और दार्शनिकतादिदोषसंयुक्त हैं और बहुतसे ऐसे भी हैं कि जिन्होंने विज्ञानादिसे अनभिज्ञ होनेके कारण किसी २ स्थलको प्रौढतादिके द्वारा त्रुटि पूर्ण करनेमें त्रुटि नहीं रक्खी है, सिद्धान्त यह है कि यदि कभी अर्थशास्त्र रणशास्त्र, विज्ञान शास्त्र, चिकित्साशास्त्र, शिल्पशास्त्र, द्युशास्त्र, भूशास्त्र, गीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि विविध शास्त्रोंका जाननेवाला कोई पूर्णप्रज्ञ इस वेदरूप सागरके मथनेको कटिबद्ध हो तो वही इसका यथार्थ टीका या अनुवाद करनेमें समर्थ होगा, परन्तु उस समयभी इस कारण से कि आकाशचरें वस्तुको मन कभी ग्रहण नहीं कर सकता न मस्तिष्क ऐसी वस्तुको स्थान देताहै, बुद्धि भी उसको चलायमान करनेमें समर्थ नहीं होती इत्यादि २ अंशोंकी अपूर्णता रह जायगी, कि जो उसके समयमें भी स्पष्ट न होगी इस यजुसंहिताके टीकाकारोंके समयमें पुरीष्य [गेस] अग्निका व्यवहार न होनेसे इसकी व्याख्या करनेके समय प्रौढतादिके बलसे जैसे तैसे अपना कार्य निकाल लिया है [समस्त अग्निचयनप्रकरण विशेष कर एकादश अध्यायकी नौमी कण्डिकाका भाष्य देखो ऐसेही वैद्युताग्नि विषयको भी ३३ अ० ६१ कण्डिकाके व्याख्यानमें देखने योग्य है और भी अनेक स्थान हैं टीका और अनुवाद मिलाकर देखनेसे जाने जायँगे] इन्हीं समस्त कारणोंसे टीकाकारोंके अनुमोदन कियेहुए मार्गसेही मन्त्रोंका अनुवाद किया है तथापि जहां २ वैदिकभावकी स्पष्ट उपलब्धि हुई है वहांपर टीकाकारोंके अनुरोधको सर्वथा अङ्गीकार नहीं किया है ऐसा नहीं किंतु वह लिखकर नीचे टिप्पणीमें उस भावको खोल दिया है ।

किसी भी वैदिक शब्दका बनावटी पर्याय नहीं दिया है किन्तु टीकेमें वह शब्द लिखकर टिप्पणीमें विशेषरूपसे उसकी व्याख्या करदी है ऐसे पारिभाषिक शब्दोंकी एक स्थानमें व्याख्या लिखकर फिर वही शब्द. आनेसे वैसी व्याख्या नहीं की है यदि ऐसा किया जाता तो भाष्य बहुत बढ जाता.

इस भाष्यके निर्माण करनेमें तैत्तिरीय संहिता,उपनिषद्,शतपथ ब्राह्मण भाग,कात्यायन कल्पसूत्र याज्ञवल्क्यशिक्षा, आश्वलायनसूत्र, अनुक्रमणिका, सायनभाष्य, उव्वटभाष्य, महीधरभाष्य, निरुक्त, निघण्टु, व्याकरण, तथा खण्डित वैशंपायन भाष्य, हरदत्तकृतटीका,यजुर्यज्ञीयपद्धति, पिंगल, सूर्यसिद्धान्तादि ग्रन्थोंकी सहायता लीगई है और इन्हीं ग्रन्थोंका प्रमाण अध्यायादि क्रमसे बराबर लिख दिया है जिसके अवलोकनसे उन २ ग्रन्थोंमें वह प्रमाण मिल सक्ते हैं भाष्यका क्रम

यह रक्खा है कि अध्यायके पहिले अनुवाकसूत्र लिखकर फिर कण्डिका तथा उसके मंत्रोंकी संख्या, फिर मंत्रके उपरान्त उसका ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, कात्यायन कल्पसूत्रका अनुवाद लिखकर विधि, फिर मंत्रका अन्वययुक्त पदार्थ, भावार्थ, विशेष उपदेश, तत्त्वविचार, अध्यात्मअर्थ, पश्चात् शतपथ, निरुक्त आदि ग्रंथोंके प्रमाण, यज्ञरीति, ऋत्विगादिका विचार, इतनी बातें प्रत्येक मंत्रके साथ आवश्यकतानुसार लिखी हैं जिस मंत्रका पदार्थ कठिन होगया है उसके खोलनेको भावार्थ लिखा है, तथा यज्ञीय शब्दोंका टिप्पणीमें विवरण करदिया है, एक पुरुष-सूक्तके पढनेसेही भाष्यकी बहुतसी बातोंका भेद खुल जायगा ।

उपरोक्त ग्रंथोंकी सहायतासे तथा गुरुके चरणकमलोंकी कृपासे बहुतसे सनातनधर्मी महात्माओंकी प्रेरणासे मैंने यह भाषामें वेदार्थका विवरण करके इसका नाम मिश्रभाष्य रक्खा है और वेद ईश्वरीय ज्ञानका कैसा अथाह सागर है यहभी इसमें दिखा दिया है कारण कि बुद्धिमान् आस्तिक पुरुषको इसके एक २ मंत्रमें अनेक गूढ रहस्य लक्षित हो सकते हैं, इसका प्रत्येक मंत्र ध्यानसे पढने योग्य है, कि इसमें कैसी २ तत्त्वविद्या भरी हैं, तथापि मैं मुक्तकंठसे यह बात कहनेमें नहीं संकोच करता हूं कि जैसे कोई सागरमेंसे जलकी एक बूंद उठाले इसी प्रकार अपार वेदार्थ रूप सागरसे महानुभावोंके कहे मार्गसे एक बिन्दुरूप वेदार्थ ग्रहण कर मैंने सज्जनोंके सन्मुख उपस्थित किया है, आशा है कि सज्जन इसको अवलोकन कर और इसके अनुसार आचरण कर अवश्य परम सुखके भागी होंगे ।

यदि इस संहिताका आदिसे अन्ततक मन लगा कर पाठ किया जाय तो अनेक दिव्य चमत्कृत ज्ञानका अन्तःकरणमें अनुभव होसकता है, जो कहनेमें नहीं आता इस संहिताके उपयोगी और भी अनेक उपकरण इसमें संयुक्त किये हैं यथा उपोद्घात [वैदिकविषयक मीमांसा तथा अनेक उपयुक्त विषय इसमें देखने ही योग्य हैं] सोमका विवरण, अध्यात्मयज्ञ, यज्ञीय पात्रोंका विवरण निर्माण मान आदि, यजुः संहिताके पद अक्षरोंका मान, अकारादि क्रमसे मंत्र, सूची, विषयसूची, याज्ञवल्क्यशिक्षा, वेदपारायणविधि यह सब सानुवाद लिखे हैं, और कात्यायनअनुक्रमणिका आदि विषय भी परिशिष्टमें सम्मिलित कर दिये हैं ।

इस प्रकार यह यजुर्वेदका मिश्रभाष्य सम्पूर्ण रूपसे अलकृत कर सनातनधर्म-प्रचारक, परोपकारी विद्वन्मण्डलीमण्डन, जगद्विख्यात "श्रीवेङ्कटेश्वर" यंत्रालया

ध्यक्ष सेठजी श्रीयुत खेमराज श्रीकृष्णदासजी श्रेष्ठिवर्यके निमित्त मुद्रित करनेको अर्पण किया है, कि जो अनेक प्रकारके धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंको छापकर सदा हमारे उत्साहको बढाते और दान मानसे सन्तुष्ट करते रहे हैं ।

पाठक महाशयोंसे प्रार्थना है कि यदि कहीं मात्रा अक्षरकी अशुद्धि पावैं तौ कृपाकर उसे सुधारलैं, कारण कि सज्जन गुणग्राही होते हैं मैं स्वयं अशुद्धिसे भरा हूं कारण कि-"जेहि मारुत गिरि मेरु उडाहीं । कहो तूल केहि लेखे माहीं"।"आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि । न हि सद्वर्त्मना गच्छन्स्खलितेष्वप्यपोद्यते" ॥

सज्जनोंका अनुगृहीत-ज्वालाप्रसाद मिश्र,
दिनदारपुरा-मुरादाबाद.

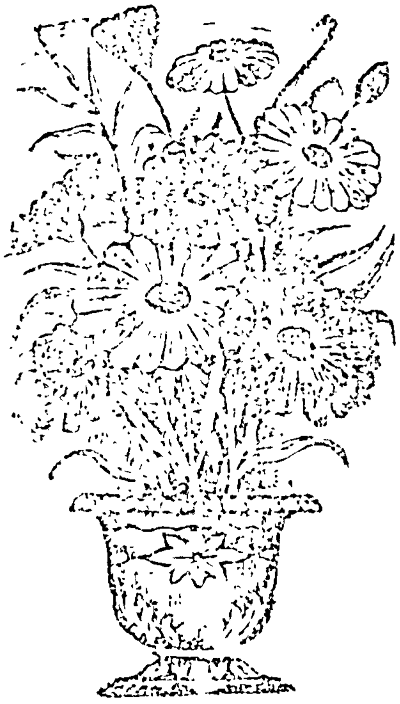

अथ यज्ञपात्राणि कात्यायनसूत्रे ।

वैकङ्कतानि पात्राणि १ खादिरःस्रुवः २ स्फ्यश्च ३ पालाशी जुहूः ४ आश्वत्थ्युपभृत् ५ वारणान्यहोमसंयुक्तानि ६ बाहुमात्र्यः स्रुचः पाणिमात्रपुष्करास्त्वग्बिलाहंसमुखप्रसेका मूलदण्डा भवन्ति ७ अरत्निमात्रःस्रुवोऽङ्गुष्ठपर्ववृत्तपुष्करः ८ स्फ्योऽस्याकृतिः ९ आदर्शाकृति प्राशित्रहरणम् चमसाकृति वा १० चत्वालोत्करावन्तरेणसञ्चरः ११ प्रणीतोत्करावीष्टिषु १२

कातीये यज्ञपात्राणि सर्वाणि वैकङ्कतानि यथा उलूखलमुसलकूर्चेडापात्रीशम्याशृतावदानमेक्षणभ्रूयुपवेशान्तर्धानकटप्राशित्रहरणषड्वर्तब्रह्मयजमानासनहोतृषदनादीनि ।

अर्थ–यज्ञपात्र सामान्यतः विकङ्कत [बेहली, कंटाय] वृक्षके होने चाहिये यह स्वादुकण्टक और ग्रन्थिल कहाता है, चीतेके पैरकी समान इसकी जड़ होती है १ खैरका स्रुव २ तथा इसीकी सामान्य इष्टिमें स्फ्य होती है ३ जिससे अग्निमें आहुति दीजाती है, वह जुहू ढाककी बनानी चाहिये ४ जुहूके निकट धरी जाती है यह उपभृत् पीपलकी होनी चाहिये ५ उलूखल मूसल आदि होमसे पृथक् कार्यमें आनेवाले यज्ञपात्र सामान्यतः वरना वृक्षके होने चाहिये ६ जो एकस्थानमें निश्चल धरा रहे वह ध्रुवा विकङ्कतका होना चाहिये, तीनों स्रुवे बाहुमात्र[डेढ़हाथ] लम्बे हों, हाथके चुल्लूके बराबर मुखकी गहराईवाले त्वच भागकी ओरसे खुदे मुखवाले चीरी लकडीके भीतरसे जिनका मुख न खुदा हो हंसके मुखकी समान वृत गिरनेके निमित्त एक ढालू नाली जिनमें बनी हो मूल अर्थात् काष्ठके अग्रभागकी ओर जिनका दण्ड [मुख] हो ऐसे तीनो स्रुवे बनावे ७ स्रुवा चौबीस अंगुल लम्बा हो अंगुष्ठके पोरे प्रमाण गहरा और उतनाही गोलाकार मुख हो ८ तल्वारकी आकृतिवाली [दुधारा खांडा] स्फ्य बनावे ९ दर्पणके समान गोल वा चमस तुल्य चतुष्कोण प्राशित्र प्रहरण बनावे १० उत्तर वेदी जिनमें बनाई जाती है ऐसे चत्वालवाले वरुणप्रवास महाहविष् पशुयाग और सोमयागोंमें चत्वाल और उत्करके बीचसे सबके निकलनेका संचर मार्ग होता है ११ दर्शपौर्णमासादि इष्टियोंमें प्रणीता और उत्करके मध्यसे संचर मार्ग माना जाता है १२

ऊखल मूसल कूर्च इडापात्री पुरोडाशपात्री शम्या शृतावदानमेक्षण अभ्रि उपवेष अन्तर्धानकट, प्राशित्रहरण, षड्वर्त, ब्रह्मा यजमान और होताके आसन यह अहोम

मैंने य पात्र बननेके बनाने चाहियें क्रमसे लक्षण—"उलूखलं च मुसलं स्वायतं सुदृढं तथा । इच्छाप्रमाणे भवतः शूर्पं वैणवमेव च॥" अन्यच्च—"खादिरं मुसलं कार्यं पालाशः स्यादुलूखलः।यद्वोभौ वारणौ कार्यौ तदभावेऽन्यवृक्षजौ॥कौशः कूर्चो बाहुमात्रो मकराकार उच्यते । इच्छाप्रमाणा तु दृषत्प्रोक्ता पाषाणसंभवा ॥ उपलो वर्तुलः प्रोक्तो वितस्तिपरिमाणकः।इडापात्री तथा चान्यारत्निमात्रा प्रकीर्तिता ॥ प्रोक्ता हविर्धानपात्री विपुला द्वादशाङ्गुला । पिष्टपात्री च सैवोक्ता चतुरस्रा प्रकीर्तिता ॥ पुरोडाशस्य पात्री तु चतुरस्रा समानतः । खातेन वर्तुलेनैव युता यज्ञे प्रशस्यते॥शम्या प्रादेशमात्रीस्यात्खादिरः स्फ्यःप्रकीर्तितः।खड्गाकारोऽरत्निमात्रो वज्ररूपो मखे स्मृतः ॥ अङ्गुष्ठपर्वमात्रं तु तीक्ष्णाग्रं पृथुवक्त्रकम्।शृतावदानं प्रादेशमात्रदीर्घमुदाहृतम्॥ इध्मजातीयमिध्मार्धप्रमाणं मेक्षणं भवेत्।अभ्रिस्तीक्ष्णमुखा ज्ञेया खादिरारत्निसम्मित॥ उपवेशोऽरत्निमात्रो हस्ताकारस्तु खादिरः।अन्तर्धानकटः प्रोक्तो द्वादशाङ्गुलसम्मितः॥अर्द्धचन्द्रसमाकारःकिंचिदुच्छ्रितशीर्षकः।षडङ्गुलप्रमाणन्तु षड्वृत्तं चतुरस्रकम्॥ तथा चोभयतः खातं वारणं तत्प्रचक्षते ।यजमानासनं पत्न्या आसनं च पृथकपृथक् ॥ होत्रासनं तथा ब्रह्मासनं विस्तारयोगतः।अरत्निमात्राण्येतानि कथितानि मनीषिभिः॥

अर्थ—उलूखल मूसल काष्ठके होने चाहियें पत्थरके नहीं अच्छे पुष्ट और दृढ बने हों. लंबाई इच्छानुसार करै, अथवा नाभिमात्र ऊंचे करै, खैरका मूसल और ढाकका उलूखल बनावै, कहीं गूलरका बनाना लिखा है अथवा दोनो वरना वृक्षके बनावै, यह न हो तो अन्य यज्ञीय वृक्षके हों पर वरना मुख्य है, छाज बांसका ही हो सिरकी आदिका नहीं, कुशाका कूर्च बाहुमात्र मकराकार बनावै, अग्निहोत्रमें अग्निहोत्रहवणी व स्रुव कूर्चपर धरी जाती है, शिल पत्थरकी इच्छानुसार बनावै,लोढा गोल एक बिलस्तके परिमाणका हो, इडापात्री दो प्रादेश २४ अंगुल लम्बी, बीचमें संकुचित पतली निर्माण करै, भागपरिहरणके समयमें इसमें सब पुरोडाशादि हवियोंके अंश लेकर यजमानोंको ऋत्विज पांच भाग धरके उपह्वान करते हैं, इसीको पंचावत्त इडा कहते हैं दूसरी हविष धरनेकी बडी पात्रीको पिष्टपात्री कहते हैं, पुरोडाशपात्री १२ अंगुल लम्बी चौडी समचतुष्कोण अर्थात् जिसके भीतर सब ओर छः अंगुल अवकाश हो यह कितनीही हों, अर्थात् जिस इष्टिमें जितने पुरोडाश हों उतनीही पुरोडाश पात्री रक्खे, शम्या बारह अंगुल लंबी हो जिसे गाडीके जुएमें लगाते हैं जो लोक में सैला कहाता है, यह इष्टियोंमें हविष पीसते समय उत्तरको अग्रभागकर शिलके नीचे लगाईजाती है, और सोमयागमें सोम ले चलनेके समय शकटमें बैल जोतने के समय लगाई जाती है, यह खैरकी होती है, और स्फ्य खड्गके आकार अरत्नि (२४अंगुल) लंबा वज्ररूप होता है शृतावदान एक प्रादेशमात्र लंबा अंगुष्ठके पोरुएभर जिसका मुख मोटा चौडा हो अग्रभाग इतना तीक्ष्ण हो कि जिससे पक पुरोडाशके

टुकडे होसकें, इसीसे इसकी घृतावदान संज्ञा है, सामिधेनी ऋचाओंमें चढानेवाली समिधा जिन २ ढाक बेल कंभारी आदि वृक्षोंकी होती है उन्ही काष्ठोंमेंसे किसीका प्रादेश मात्र लम्बा अग्रभाग करके उसमें करछीके सदृश गोल अंगुष्ठके पोरुएकी समान व्यासवाला चरूके अवदान करनेका पात्र मेक्षण कहाता है, एक अरत्नि मात्र लम्बी अग्रभागमें तीक्ष्ण अभ्रि, वेदी खोदनेके निमित्त बनानी चाहिये, यह भी खैरकी हो, कपालोपधानादिके समय अग्निके अंगार संभालनेके निमित्त हस्ताकार खैरका एक अरत्निमात्र लम्बा उपवेश बनावै, आधे चन्द्रमाकी समान बारह अंगुलका अन्तर्धानकट कुछ ऊंचे शीर्षवाला बनावै, पत्नीसंयाजमें देवपत्नियोंको आहुति देते समय यह गार्हपत्य कुण्डसे पूर्वमें कियाजाता है, दोनोओर खानोंवाला बारह अंगुल लम्बा षड्वत्त होता है, इसमें आग्नीध्रके भोजनको द्यावा पृथिवी सम्बंधी दो भाग रक्खेजाते हैं, यजमानासन, पत्न्यासन, होत्रासन, ब्रह्मासन यह चौवीस अंगुल लम्बे हों, चतुष्कोण हौं बरनाके बनेहों, सब पात्र मूल जाननेके निमित्त मूलकी ओर कुछ गोल और मोटे रहैं, अग्रभागकी ओर वैसा चिह्न न हो ।

नित्य अग्निहोत्रहोमके निमित्त अग्निहोत्रहवणीनामक स्रुव विकङ्कत का होना चाहिये पौर्णमासादि इष्टियोंमें यही प्रोक्षणीपात्र होता है, अग्निहोत्रहोमका स्रुव विकङ्कतकाही हो, पौर्णमासादिक स्रुव खैरका हो सोमयागमें ग्रहचमस और द्रोणकलशादिपात्र विकङ्कतके होने चाहिये उनमें हविर्धान [सोम ले चलनेका शकट] अधिषवण [सोमकूटनेकी चौकी] परिप्लवा संभरणीआदि होमसे भिन्न कार्योंके पात्र वरनाकेही हों, षोडशीयागका पात्र खदिरका हो, अश्वदाभ्यग्रहग्रहणका पात्र गूलरका हो, वाजपेययागमें ११ सोमग्रहपात्र और सत्रह १७ सुराग्रहपात्र वरणाकेही होतेहैं, कोई सुराग्रहपात्र मट्टीके कहते हैं, [सुरा लौकिक मद्य नहीं है यह एकप्रकारका शुद्धआसवरस पुष्टिकारक है.] यज्ञपार्श्व ग्रन्थमें यज्ञके चमस नाम सोम पीनेके पात्रोंका इसप्रकार वर्णन है.

"चमसानां प्रवक्ष्यामि दण्डाः स्युश्चतुरंगुलाः ।
त्र्यंगुलस्तु भवेत्स्कंधो विस्तारश्चतुरंगुलः ॥
विकंकतमयाः श्लक्ष्णास्त्वग्बिलाश्चमसाःस्मृताः ।
[दशांगुलमिता दीर्घाश्चतुरंगुलविस्तृताः ॥
चतुरङ्गुलखाताश्च दण्डास्तु द्व्यङ्गुला मताः ।
षडङ्गुलमितोच्छ्रायास्तेषां दण्डेषुलक्षणम् ॥]
अन्येभ्योवापिवाकार्यातेषांदण्डेषुलक्षणम् ।
होतुर्मण्डलएवस्याद्ब्रह्मणश्चतुरस्रकः ॥

उद्गातुस्त्रयस्रिः स्याद्याजमानः पृथुःस्मृतः ।
प्रशास्तुरुपतष्टः स्यादुत्तष्टोब्रह्मशंसिनः ॥
पोतुरग्रेविशाखीस्यान्नेष्टुःस्याद्द्विगृहीतकः ।
अच्छावाकस्यरास्नाव आग्नीध्रस्यमयूखकः ॥
इत्येतेचमसाःप्रोक्ताऋत्विजांयज्ञकर्मणि ।
पलाशाद्वावटाद्वान्यवृक्षाद्वाचमसाःस्मृताः ॥"
"नैयग्रोधाश्चमसाश्चतुरस्राः प्रस्थोदकग्राहिणः ॥"
इति निगमेविशेषः । स्मृत्यर्थसारे–
"समित्पवित्रंवेदंचमुसलोलूखलंग्रहान् ।
नाभ्युखासन्दुपरवाञ्छम्याः स्रुक्पुष्कराणिच ॥
शाखास्वरुविषाणानिचरूणांमेक्षणानिच ।
कुर्यात्प्रादेशमात्राणि महावीरास्त्रयस्तथा ॥
द्रोणकलशः पलशतग्राही पारिप्लवाकृतिः ।
जानुमात्रमुलूखलंपालाशम्, पञ्चविंशतिपलमिडापात्रम् ।
मुसलंखादिरंत्र्यरत्नि । अरत्निप्रमाणाहवदित्यादि" ॥

अर्थ–सब चमसोंकी डंडी चार अंगुल होनी चाहिये. उनकी डंडीके समीप तीन अंगुलके स्कंध हों, उनकी लम्बाई चार अंगुल हो यह सब विकङ्कतके हों, चिकने बनेहों, उनमें त्वचाकी ओरसे गढा खुदाहुआ हो [सब चमस दश अंगुल लम्बे चार अंगुल चौडे चार अंगुल खातवाले दो उंगलके दण्ड और छः अंगुल ऊंचे हों] अथवा अन्य यज्ञीय वृक्षोंसे बनेहों पर उनके डंडोंमें ऐसे चिह्न करने चाहिये जिससे विदित होजाय कि, यह अमुक ऋत्विजका है, होताका गोलाकार, ब्रह्माका चतुष्कोण, उद्गाताका त्रिकोण, यजमानका हाथकी बराबर लम्बा, प्रशास्ताका नीचेसे छिन्न, ब्राह्मणाच्छंसीका ऊपरसे छिन्न, पोताका अग्रभागमें विशाखावाला, नेष्टाका अग्रभागमें गृहीत [जिसमें सब ओर दुहरी रेखा हों] अच्छावाकका रास्नाव, आग्नीध्रका मयूखके अग्रभागमें तीक्ष्ण हो, यह सब चमस यज्ञकर्ममें पलाश वा अन्य वृक्षोंके बनायेजांय, निगदमें इतना विशेष है कि, न्यग्रोधवृक्षसे बने चौकोन सेरभर जल-समाने योग्य चमस हो, तथा समिध पवित्रवेद मूसल, उलूखल ग्रह नाभि हण्डी चौकी, उपरव, शम्या । स्रुचोंके मुख, शाखा, स्वरु, कृष्णविषाणा, चरुओंके मेक्षण [कर्छी] तीनों महावीर, यह सब प्रादेशमात्र बनावे सौपल रस समानेवाला तौवेके आकार द्रोणकलश बनावे, जानुमात्र वा सवाहाथ लम्बा ढाकका उलूखल

यज्ञमें बनावै, पच्चीस पल रस समानेवाला इडापात्र बनावै, खदिरका मुसल ३ अरत्नि ढाई हाथका लम्बा हो, २० वा चौवीश अंगुलकी शिल होनी चाहिये ।

"आज्यस्थाली तैजसी वा मृन्मयी वा प्रकीर्तिता ।
द्वादशांगुलविस्तीर्णा प्रादेशोच्चा शुभा स्मृता ॥
आज्यस्थालीसमानैव चरुस्थाली प्रशस्यते ।
प्रणीता वारणा ग्राह्या द्वादशांगुलसम्मिता ॥
खातेन हस्ततलवदाकृत्या पद्मपत्रवत् ।
खादिरो बाहुमात्रस्तु जुहूस्रुक्संज्ञकः स्रुवः ॥
अरत्निमात्रो हंसास्यो वर्तुलोंगुष्ठपर्ववत् ।
अर्धपर्वप्रणाल्या च युक्तो नासाकृतिर्भवेत् ॥
उपभृत्स्रुग्ध्रुवास्रुक्च पुष्करस्रुक्तथैव च ।
अग्निहोत्रस्य हवणी तथा वैकङ्कतः स्रुवः ॥
एते चान्ये च बहवः स्रुवभेदाः प्रकीर्तिताः ।
वर्तुलास्याः शंकुमुखाः पर्वखाताः समानकाः ॥
अश्वत्थो यः शमीगर्भः प्रशस्तोर्वीसमुद्भवः ।
तस्य या प्राङ्मुखी शाखा उदीची चोर्ध्वगापि वा ॥
अरणिस्तन्मयी प्रोक्ता तन्मध्ये चोत्तरारणिः ।
सारवद्दारवं चात्रमोविली च प्रशस्यते ॥
संसक्तमूलो यः शम्याः स शमीगर्भ उच्यते ।
अलाभे त्वशमीगर्भादाहरेदविलम्बितः ॥
चतुर्विंशतिरंगुष्ठैदर्घ्यं षडपि पार्थिवम् ।
चत्वार उच्छ्रये मानमरण्योः परिकीर्तितम् ॥
अष्टांगुलः प्रमस्थः (प्रमन्थः) स्याच्चात्रं स्याद्द्वादशांगुलम् ।
ओविलीद्वादशैव स्यादेतन्मन्थनयंत्रकम् ॥
अंगुष्ठांगुलमानं तु यत्रयत्रोपदिश्यते ।
तत्रतत्र बृहत्पर्वग्रन्थिभिर्मिनुयात्सदा ॥
गोवालैः शणसंमिश्रैस्त्रिवृत्तममलात्मकम् ।
व्यामप्रमाणं नेत्रं स्यात्प्रमथ्यस्तेन पावकः ॥
मूर्द्धाक्षिकर्णवक्त्राणि कन्धरा चापि पंचमी ।
अंगुष्ठमात्राण्येतानि द्व्यंगुलं वक्ष उच्यते ॥
अंगुष्ठमात्रं हृदयं त्र्यंगुष्ठमुदरं स्मृतम् ।

एकांगुष्ठा कटिर्ज्ञेया द्वौ बस्ती द्वौ च गुह्यकम् ।
ऊरू जंघे च पादौ च चतुस्त्र्येकैर्यथाक्रमम् ।
अरण्यवयवा ह्येते याज्ञिकैः परिकीर्तिताः ॥
यत्तद्गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते ।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याणकृदुच्यते ॥
यजमानस्य पात्री च पत्नीपात्री तथैव च ।
मखे कृष्णाजिनं ग्राह्यं तदखण्डं विशिष्यते ॥

अर्थ–आज्यस्थाली चांदी वा मट्टीकी बनावे जो विस्तारमें बारह अंगुलकी प्रादेशमात्र ऊंची हो, आज्यस्थालीकी समानही चरुस्थाली होती है, प्रणीतापात्र वरनेका बनावे, यह बारह अंगुलका हो हथेलीकी समान खुदाहुआ आकृतिमें कमलपत्रकी समान हो, जुहूसंज्ञक स्रुवा खैरका बनाहुआ बाहुमात्र लम्बा हो, २४ अंगुल लम्बा हो अंगुष्ठके पोरुएके समान गहरा हंसके मुखकी समान घृत गिरनेके निमित्त डाढ़नालीसे युक्त नासिकाकी समान आकृति हो, उपभृत्स्रुक् ध्रुवास्रुक्. पुष्करस्रुक्, अग्निहोत्रहवणी, वैकंकतस्रुव यह तथा औरभी अनेक स्रुवोंके भेद हैं यह गोलमुख शंकुमुख पर्वमें खुदेहुए समानही होते हैं । अब अरणीको कहते हैं, जो पीपल अच्छी भूमिमें उत्पन्न हुआ हो उसके मध्यमें शमीका वृक्ष उगा हो उसकी जो पूर्व उत्तर वा ऊपरको गई शाखा हो उसकी अरणी होती है उसीके मध्यकी उत्तर अरणी होतीहै और रचे हुए सारवाले काष्ठकी ओविली बनती है,जो शमीके मूलका काष्ठ है उसको शमीगर्भ कहते हैं, यदि शमीगर्भ न मिले तो ऊपरकेही काष्ठकी निर्माण करे २४ अंगुष्ठ लम्बी और छः अगुल चौडी हो, और चार अंगुलकी ऊंची हो यह अरणीका मान कहा है । अठारह अंगुलका प्रमन्थ होता है, १२ अंगुलका चात्र हो, ओविली१२ अगुलकी हो इस प्रकार यह मन्थन यन्त्र बनता है जहां जहां अंगुष्ठ अंगुलका मान दिया है वहां वहां बडे पोरुएकी ग्रन्थिसे प्रमाण माने, गोवाल और सन मिलाकर तिलडी रस्सी करे यह रस्सी व्याममात्र*बडीहो इससे अग्नि मथी जाती है शिर,नेत्र,कान,मुख,कन्धे यह सब एक अंगुष्ठमात्र हों, छाती दो अंगुलकी, अंगुष्ठ मात्र हृदय, तीन अंगुष्ठका उदर, एक अंगुष्ठकी कटि, दोकी वस्ती, अंगुष्ठका गुह्यस्थल, ऊरु, जंघा, चरण यह क्रमसे चार, तीन, एक अंगुष्ठके हैं, यह अरणीके अवयव यज्ञके ज्ञाताओंने कहे हैं, जो गुह्यस्थल है वही देवयोनि है, इससे जो अग्नि उत्पन्न होती है वह कल्याणकारी

* दोनों भुजाओंको मिलाकर जो घेरा बनता है उसे व्याम कहते हैं.

कहाती है, यजमानपात्री पत्नीपात्री अरत्निमात्रकी लेनी और यज्ञमें अखण्डित कृष्णाजिन मृगचर्म ग्रहण किया है, पीछे यज्ञपात्रोंकी आकृति और उनके नाम लिखे हैं । इति पात्रविचारः ।

यज्ञव्याख्या ।

द्रव्यं देवता त्यागः १ तदङ्गमितरत्समभिव्याहारप्रकरणाभ्याम् २ यजतय-श्चाऽफलयुक्तास्तदङ्गम् ३ तिष्ठद्धोमावषट्कारप्रदानायाज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः ४ उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः ५ ब्राह्मणा ऋत्विजो भक्ष्यप्रतिषेधादितरयोः ६ दर्शनाच्च ७ विगुणे फलनिर्वृत्तिरङ्गप्रधानभेदात् ८ ८ प्रायश्चित्तविधानाच्च ९ तथा च दृष्टम् १० दृष्टे तत्परिमाणम् ११ ऋचो यजूंषि सामानि निगदाः मन्त्राः १२ मिथः सम्बद्धम् १३ तेषामारम्भेऽर्थतो व्यवस्था तद्वच-नत्वात् १४ मन्त्रान्तैः कर्मादिसान्निपात्योभिधानात् १५ आवारे धारायां चादिसं-योगः १६ न आयुक्ताः १७ उपांशुप्रयोगः श्रुतेः १८ न सम्प्रैषाः १९ का० सू० अ० १ कं० २।३

अर्थ—पुरोडाशादि द्रव्य अग्नि आदि देवताओंके निमित्त त्यागना [आहुति-देना] यह यज्ञपदवाच्य है यही यज्ञ याग इष्टि और यज्ञादि कहाते हैं १ प्रधानयज्ञसे पृथक् अग्निउद्धरण, व्रतोपायन, ब्रह्मवरण, हविर्ग्रहण, हविःप्रोक्षणादि सब कृत्य उस प्रधान यज्ञके अंग हैं, कारण कि, ब्राह्मणभागमें इनको अंगरूपसे कहा और प्रधानका प्रकरण बांधा है २ पौर्णमासादि इष्टियोंसे भिन्न जिनका फल कुछ नहीं कहा है वे प्रयाज अनुयाजादि याग पूर्वाघारादिहोमभी प्रधान यज्ञके अंग हैं ३ जिनमें खड़े होकर होम कियाजाय और वषट्कार बोलनेपर त्यागवाक्यके अन्तके साथ जिनमें आहुति दीजाती है यथा [अग्नयेऽनुब्रू ३ हि] प्रैषके पीछे [अग्निर्मूर्द्धा०] इत्यादि होताके पढनेकी ऋचा, अनुवाक्य तथा [अग्निं यज] इत्यादि प्रैषके पढनेके पीछे [ये ३ यजामहे] से आरंभकर वौषट् पर्यन्त होताके पढनेकी ऋचा, याज्या कहीजाती है यह अनुवाक्या और याज्या जिनमें बोली जाती हैं वे यज्ञयागादि कहाते हैं ४ और बैठकर होम तथा स्वाहाकारसे जिनमें आहुती दीजाय वे होम हवनादि माने जाते हैं ५ अग्निहोत्रसे बचा दुग्ध ब्राह्मणोंसे भिन्न कोई न पिये, 'य एव कश्च पिबेत्त-द्वैना ब्राह्मणः पिबेत्' श० २।३।१।३९ कारण कि, क्षत्रिय वैश्यादिको यज्ञ कराने-का अधिकार नहीं है यह तथा 'प्रीणाति दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुश्रुवुषो-ऽनूचानान्' श० २।२।२।६ में लिखा है यज्ञमें ब्राह्मणोंको ही दक्षिणा दीजाती है अन्यको नहीं इससे वेही अधिकारी हैं ६ । ७ नित्य अग्निहोत्रादि कर्मके गौणा-

इसमें कोई त्रुटि रहजाय और उसका प्रधानभाग ठीकठीक होजाय तो फलसिद्धि होती है. कारण कि, गौण और मुख्य भिन्न २ हैं, गौणकी हानिसे मुख्यमें बाधा नहीं पड़ती ८ अंगहीन नित्यकर्ममें प्रायश्चित्त कहनेसे सिद्ध है कि, फल होता है ९ देखाभी है कि, दूध न हो तो चावल वा जौसे हवन करै यह नित्यकर्म जिस किसी प्रकारसे हो करै यह शाखान्तरमें कहा है, इससे सिद्धहै कि,कहे अंगों-मेंसे किसीके छूटजाने पर अंगहीनभी श्रौतकर्म कर्तव्य मानना चाहिये,पर काम्यकर्म अंगहीन न करै, और आरंभके उपरान्त अंगहीन होजाय तो प्रायश्चित्त करके पूरा करै १० यदि आधी इष्टि होनेपर वर्षा आदि होजाय वा मनोरथपूर्ति होजाय तो भी उस कर्मको पूराकर छोडे बीचमें न त्यागे ११ जिनके पाद अक्षर और अवसान नियत हैं वे ऋचा, जिनमें पाद अवसानका नियम नहीं वे इषेत्वा आदि यजु, गान कर उच्चारण होनेवाले अग्ना इ० वाक्य साम कहाते हैं मंत्रब्रा-ह्मणोंमें पढ़ेहुए अन्य ऋत्विजोंके जतानेके निमित्त कहेजानेवाले प्रैषवाक्य निगद कहाते हैं, यह वाक्य मंत्रही हैं उपांशु और निगद उच्चस्वरसे बोलेजाते हैं. प्रोक्षणीरासादय यजु० १ । २८ इध्मं बर्हिरुपसादय इत्यादि वाक्य संहिता और ब्राह्मणोंमें निगद कहाते हैं ११ यजुका जितना पदसमुदाय परस्पर एक दूसरेसे अन्वय सम्बन्ध रखनेवाला होता है वह एक वाक्य वा एक यजु कहाता है, और उतनाही वाक्य भिन्न २ एक एक कर्ममें विनियुक्त होताहै, यथा इषेत्वा, ऊर्जेत्वा, वायवस्थ, इत्यादि एक एक वाक्यको एक एक यजु जानना चाहिये १२ उन मंत्रोंका विनियोग करनेमें विधान किये विषयका वर्णन करनेरूप सामर्थ्यसे व्यवस्था करनी चाहिये अर्थात् जो मंत्र जिस अर्थको प्रका-शित करे उसीका विनियोग उस काममें करना चाहिये, कारण कि, वह उसी करने योग्य कर्मरूप अर्थको कहता है. इससे विनियोगकी अव्यवस्था नहीं इसीसे उस उस मंत्रके विनियोगका नियम निर्धारित हो जाता है यथा [घृता-च्यसि जुहूनाम्ना] इससे जुहूका आसादन करना १३ मंत्रपाठकी समाप्तियोंके साथ कर्मोंके आदिका संयोग करना चाहिये, कारण कि, उसके अर्थका उस मंत्रमें वर्णन है. समिदाधानादि मंत्र पढनेके अन्तमें तत्काल कर्म करनेलगे, अर्थात् मंत्रान्तके साथ कर्मके आरंभको मिलादे १४ स्रुवमें घी भरने आदि आघारोंमें और वसोर्धारामें कर्मारंभके साथही मंत्रपाठारम्भ करै १५ जहां मंत्र ब्राह्मणमें थोडे अक्षरोंमें मंत्रप्रतीक कहेहैं वहां पूरे मंत्र पढने चाहिये यथा [यस्मान्नजत इत्येषा] इत्यादि १६ यजुर्मंत्रोंका सामान्यतः धीरे प्रयोग करै,

जहां विशेष कुछ होगा वह लिखेंगे १७ निगदपदवाच्य सम्प्रेष यजु अन्तर्गत होनेपरभी उपांशु न बोले ऊंचे स्वरसे बोले १८ आपस्तम्ब कहते हैं—अन्यत्राश्रुत-प्रत्याश्रुतप्रवरसंवादसंप्रैषेभ्यः १९ आश्रुत [ओम् ३ आश्रावय] प्रत्याश्रुत [अस्तु श्रौ ३ षट्] प्रवर [अग्निर्देवो दैव्यो०] संवाद [संवदस्व अग्नानग्नीत्] तथा पूर्वोक्त संप्रेष निगद इनको छोड़ शेष यजु मंत्रोंको उपांशु बोलना चाहिये। अब इसके आगे यज्ञके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं।

अथातोधिकारः १ फलयुक्तानि कर्माणि २ अङ्गहीनाश्रोत्रियषण्ढशूद्रवर्जम् ३ ब्राह्मणराजन्यवैश्यानाꣳ श्रुतेः ४ स्त्रीचाविशेषात् ५ रथकारस्याधाने ६ निषादस्थपतिर्गावेधुकेऽधिकृतः ७ [कात्या० श्रौ० सू०] अ० १ कण्डिका १

श्रौतकर्मका किसको अधिकार है सो कहते हैं। १ अधिकारीको जिन कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये वे अभीष्ट स्वर्ग धन और पुत्रादि देनेवाले हैं, निष्फल कर्ममें कर्ताका विचार नहीं किया जाता, पर फलयुक्त कर्मोंमें तो विचार कर्तव्य ही है। २ उन अपूर्व फलवाले कर्मोंका आरंभ मनुष्य कर सकते हैं इससे वे अधिकारी हैं, काने अन्धे बहरेआदि अंगहीन वेदके अज्ञाता नपुंसक और शूद्र इनका यज्ञमें अधिकार नहीं है, कारण कि, इनसे वह कार्य सिद्ध नहीं होता। ३ मनुष्योंमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यको अधिकार है, कारण कि, इनको श्रौत कर्मका संस्कार है। ४ इनके साथसे ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्याभी यज्ञकी अधिकारिणी हैं, कारण कि, यज्ञमें इन तीन वर्णोंकी स्त्रियोंको कार्य करने होते हैं, यथा—अदब्धेन० पत्न्याज्यमवेक्षेत इत्यादि इस मंत्रसे पत्नी आज्यको देखे इत्यादि यहां वेद पढ़नेकी बात नहीं है, किन्तु यज्ञ करनेकी बात है। ५ वर्षाऋतुमें रथकार अग्न्याधान करे यह ब्राह्मण भागमें देखनेसे रथकारका अग्न्याधानादि श्रौतकर्ममें अधिकार है, यह सुधन्वा जाति है जो वर्णसंकर है क्षत्रियसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न माहिष्य वैश्यसे शूद्रामें उत्पन्न स्त्री करणी, करणीमें माहिष्य से उत्पन्न रथकार है, वा ब्रात्य वैश्यसे वैश्यकन्यामें उत्पन्न सुधन्वा होता है, आशय यह कि, यह संकर जाति है निषादको गावेधुक चरु बनाकर रुद्रयज्ञ करनेका अधिकार है गावेधुक गेहूंका बना पुरोडाश वा चरु, इस प्रकार मुख्य यज्ञोंका त्रिवर्णको और दो कर्मोंका रथकार और निषादको अधिकार है।

दीक्षाविधान।

यजमानको दीक्षामें सत्यवादी होकर नियमोंका पालन करना पडता है अर्थात् सत्यभाषण भूमिशयन पयोव्रतादि नियम करने होते हैं।

कण्डूयनस्वप्ननदीतरणावमर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रेषु च तत्कालात्पर्वतेषु का०सू० ।

यज्ञमें दीक्षित यजमान शरीरके खुजाने आदि कर्मभी मंत्रपूर्वक करे खुजाहट हो तो "विषाणे विष्यैतं" इस मंत्रसे खुजावे और काले हिरनके सींगसे खुजावे एकही वार मंत्र पढ़कर सब जगह खुजाले दीक्षासे ही यह सींग हाथमें धरा जाता है, सोते समय "अग्ने त्वं सुजागृहि" [४।१४] यह पढ़कर सोरहे, व्रत समय नदी तरनेकी आवश्यकता हो तो "देवीराप:" [८।२६] यह मंत्र पढ़ जलमें घुस वर्षा होते समय "उदन्तीर्वेलन्धत्त०" यह मंत्र पढ़े, अपवित्र दर्शनमें "अबद्धं मनः" यह मंत्र पढ़े तो प्रायश्चित्त होकर शुद्धि हो जाती है । यज्ञमें यजमान शास्त्रमें कहे सब नियमोंका पालन करे तो यज्ञ करनेका फल भली प्रकारसे प्राप्त हो जाता है । विशेष विधि कात्यायनसूत्रमें देखो ।

अथ न दीक्षितः काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेत गर्भो वा एष भवति यो दीक्षते यो वै गर्भस्य काष्ठेन वा नखेन वा कण्डूयेदपास्य स्मृतिमेत्यतो दीक्षितः पामनो भवितो-र्दीक्षितं वा अनुरेतांसि ततो रेतांसि पामनानि जनितोः स्वा योनी रेतो न हिनस्त्येषा वा एतस्य स्वा योनिर्भवति यत्कृष्णा विषाणा तथोहैनमेषा न हिनस्ति तस्माद्दीक्षितः कृष्णविषाणयैव कण्डूयेत नान्येन कृष्णविषाणायाः [श० का० ३] प्र० १ । ब्रा० ५ कण्डिका ३१ ।

अर्थ—अदीक्षित काष्ठ नखसे चाहें खुजाले. पर दीक्षित ऐसा न करे कारण कि यज्ञमें दीक्षा लेनेवाला गर्भके समान कोमल और विशेष रक्षाके योग्य होता है अर्थात् जैसे गर्भस्थबालक थोड़ी चोटसेभी मृतप्राय होजाता है, इसी प्रकार थोड़े अपचारसेभी यज्ञमें पूरा विघ्न मानाजाता है. जो गर्भस्थ बालक-को काष्ठ वा नखसे खुजावे तो वह दुर्गतिको प्राप्त होताहुआ मरजाय इसी प्रकार अन्य काष्ठादिके खुजानेसे दीक्षित खुजलीके रोगवाला होता है, और फिर उसके शुक्रादिसे उसके पुत्रादिमेंभी यही रोग फैलता है उसी वस्तुका कारण उसको नष्ट नहीं करता किन्तु रक्षा करताहै, जिस प्रकार अन्नसे बने शरीरोंका रक्षक अन्नही है, नाशक नहीं है, अजीर्णमें अन्न विष नहीं किन्तु वहां वैसा आचरण भोजन दुष्कर्म होकर विषसा दीखता है वैसे अपने कार्य वीर्यकोभी कृष्णविषाण नहीं बिगाड़ती यह यजमानके शुक्रका कारण है, अर्थात् इसमें कोई ऐसा विद्युत्तत्त्व है जो शुक्रादिके दोषोंका सर्वथा शान्त करने-वाला है, पार्थिव मनुष्यशरीर पृथ्वीमेंही सुरक्षित रहसकते हैं अन्तरिक्षमें नहीं इसी प्रकार कृष्णविषाण शुद्ध जंगलके अंशसे निर्मित शुद्ध हुए यजमानकी

रक्षा करती है परन्तु कारण होनेसे यजमानको दुःखका हेतु नहीं होती, इससे दीक्षित यजमान कृष्णविषाणसेही खुजावै । इसप्रकारसे यजमानको दीक्षामें रहना चाहिये, सावधान होकर नियमसे जो वैदिककर्म किये जाते हैं उनका फल अवश्य होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं इध्म और कुशके बांधनेकी रस्सी कुशोंसे ऐंठी विषम लड़की होनी चाहिये । उत्तरको अग्रभागवाली रस्सीपर पूर्वको अग्रभाग करके अठारह वा वीस इध्मकाष्ठ बांधनेको रक्खे । 'अष्टादशेध्मं परिधि वृक्षाणाम्' [का० श्रौ० सू० अ० १ कं० ३ सूत्र १८] ढाक वेहली आदि यज्ञीय वृक्षोंकी कि जिनकी परिधि बनानी है उनमेंसे किसी वृक्षके अठारह अरत्नीमात्र इध्मकाष्ठ रखने चाहिये, प्रकृति इष्टिमें जितनी सामिधेनी ऋचा हैं उनमें जितनी अधिक ऋचा बढाई जायँ इतनीही इध्म बढावे घटानेपर न घटावे, इसकी लम्बाई एक अरत्नि २४ अंगुल हो, सामधेनी अनुवचनमें चढाई जानेवाली लकडियोंका नाम इध्म हैं, यह प्रकृति इष्टिमें अठारह हों इनमें दो इध्म परिधिके परिधान उपरान्त मंत्रपूर्वक चढावे तथा १९ काष्ठ सामिधेनीके साथ दश ऋचाओंके साथ एक एक तथा ग्यारहवें प्रणव पर पांच इध्म एक साथ चढादे, और वचे इध्मको अनुयाजक निमित्त रखछोडे इसप्रकार सामिधेनी ऋचाओंके ३ इध्म सब इष्टिमें अधिक रहते हैं, पर सोमयागसंवंधी उपसदृइष्टिमें अनुयाज न होनेसे दोही इध्म अधिक रक्खे हैं, सामान्य समिध काष्ठ पवित्र और वेद यह प्रादेशमात्र लंबे हों, इध्म दो प्रादेश लंबे और परिधि तीन प्रादेशमात्र लंबी होनी चाहिये । अपरिमितं प्रणयनीयं त्रियूनम् २१ । कुशमुष्टिं सव्यावृतं वत्सजानुं त्रिवृतं भूतकार्यं वा पशुब्रह्मवर्चसान्नाद्यकामा यथासंख्यम् २ । मध्य मध्यमें अग्निको जलानेके निमित्त अपरिमित संख्यावाले पूर्वसे अधिक प्रयोजनके अनुसार इध्म रखसकताहै १। पशुकामनावाला यजमान एकमुष्टिकुशोंको दहना लपेट कर बछडेके घोडूकी समान वेद बनावै, ब्रह्मतेजकी इच्छावाला कुशमुष्टिको मेखलाके तुल्य त्रिवृत् लपेटकर वेद बनावै अन्नादिकी इच्छावाला अन्नरखनेके पात्र बौंडेसे बने कुठिलेके तुल्य कुशमुष्टिका वेद बनावे । प्रतिकर्मोद्धरणमप्रसंगे [का० सू० २६ ।] गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्निका प्रत्येक कर्मोंमें पृथक् २ उद्धरण करना चाहिये । पलाश, फल्गु, न्यग्रोध, पिलखन, अश्वत्थ, विकङ्कत, उदुम्बर, बिल्व, चन्दन, सरल, देवदारु, साल, खदिर, यह यज्ञीय वृक्ष हैं यह कीटादि निवासरहित उत्तम स्थानमें हुए लेना चाहिये कर्मकाण्ड दर्शपौर्णमाससे अश्वमेधतक वर्णन किया है, कात्यायन श्रौतसूत्र उसकी पद्धति वा कल्प है उसमें यह सब विचार विस्तार पूर्वक लिखे हैं । हमने कुछ उपयोगी सूत्र यहां लिखे हैं विशेष देखना हो तो कात्यायन श्रौतसूत्र देखलेना चाहिये, यह

विश्वासपूर्वक जान लेना चाहिये कि, यथायोग्य कर्मके सम्पादन करनेसें उसका निर्दिष्ट फल अवश्य होता है ।

ॐकारपूर्वं हि योगोपासनं यानि नित्यानि पुण्यतमानि कर्माणि दान-यज्ञतपःस्वाध्यायजपध्यानसन्ध्योपासनप्राणायाममहादैवपित्र्यमंत्रोच्चार-ब्रह्मारंभादीनि यच्चान्यत्किंचिच्छ्रेयस्तत्सर्वं प्रणवमुच्चार्य प्रवर्तयेत्समापयेच्च । स्वरितोदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदे । सर्वोदात्त एकाक्षर ओंकारो यजुर्वेदे । दीर्घोदात्त एकाक्षर ओंकारः साम्नि । संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर ओंकारोऽथर्वणवेदे छान्दोग्यपरिशिष्टे ।

ओंकारपूर्वक योगोपासना करनी तथा जितने नित्य नैमित्तिक पुण्यकर्म दान यज्ञ तप सन्ध्योपासन वेदपाठ जप ध्यान प्राणायाम होम दैवपित्र्यमन्त्रोच्चार ब्रह्मआरंभादि जो कुछ कल्याणकृत् कार्य हैं वह सब प्रथम ॐकार पढकर पछि मंत्र उच्चारण किया जाय इसीसे प्रत्येक मंत्रके आरंभमें ॐ लिखा है स्वरित उदात्त एकाक्षर ओंकार ऋग्वेदमें । सर्वोदात्त एकाक्षर ओंकार यजुर्वेदमें । दीर्घोदात्त एकाक्षर ओंकार साममें । संक्षिप्तोदात्त एकाक्षर ओंकार अथर्ववेदमें पढाजाता है परन्तु हमको यहां यजुर्वेदकी नियमावली लिखनी है इस्से विशेषकर यजुर्वेदकाही वर्णन किया है, अब यजुर्वेदके अध्याय शब्दादिक वर्णन करते हैं ।

सन्मूलो यजुराख्यवेदविटपो जीयात्स माध्यन्दिनिः
शाखा यत्र युगेन्द्रकाण्डसहिता यत्रास्ति सा संहिता ॥
यत्राभ्राब्धिलता विभान्ति शरशैलाङ्केन्दुभिर्ऋग्दलैः
पञ्चद्वीषुनभोंकवर्णमधुपैः खाग्न्यर्कगुंगुञ्जितैः ॥ १ ॥ यजुःकल्पतरौ ॥

इस वेदरूपी वृक्षकी १४ काण्डरूपी शाखा हैं लतारूप ४० अध्याय हैं पत्ते रूप १९७५ मंत्र हैं भ्रमररूप ९०५२५ अक्षर हैं गुंजाररूप १२३०८ अनुस्वाररूपी चिह्न हैं ।

मंत्रब्राह्मणयोर्वेदस्त्रिगुणं यत्र पठ्यते ।
यजुर्वेदः स विज्ञेयो ह्यन्ये शाखान्तराः स्मृताः ।

जहां मंत्रब्राह्मणात्मक वेदमें मंत्रब्राह्मणकी वेदसंज्ञाहै विधि ब्राह्मण विधेय मंत्र, तर्क अर्थवाद, इनसे युक्त यजुर्वेद कहाता है । यह तीनों इसीमें पढेजाते हैं इसका उपवेद धनुर्वेद है सब वेदांगोंको कहते हैं ।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

वेदके चरण छन्द हैं, कल्प हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका है, मुख व्याकरण है । छन्दमें पिङ्गलसूत्रोंके द्वारा यह बात जान लीजाती है कि, कौन छन्द है, हमने सब मंत्रोंके साथ यह छन्द लिखे हैं, लक्षणके लिये एक संक्षिप्त चक्र लिखते हैं । जिससे गायत्री छन्दआदिके भेद खुलते हैं ।

	छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्ति	त्रिष्टुप्	जगती
१	आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
२	दैवी	१	२	३	४	५	६	७
३	आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
४	प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
५	याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
६	साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
७	आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
८	ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

दैवी गायत्री छन्द एक अक्षरका, आसुरीगायत्री १५ का, प्राजापत्यागायत्री ८ का, याजुषी गायत्री ६ का, साम्नीगायत्री १२ का, आर्ची गायत्री १८ का, ब्राह्मीगायत्री ३६ का, आर्षीगायत्री २४ का, दैवी उष्णिगादि छन्दोंपर एक २ अक्षर बढावै आसुरीमें एक एक घटावै प्राजापत्यापर चार चार बढावै, याजुषीपर एक एक साम्नीपर दोदो, आर्चीपर तीन तीन ब्राह्मीपर छः छः आर्षीपर चार चार बढावै, यही ऊपर लिखे कोष्ठका विवरणहै, जहां एक छन्दकी संख्या दूसरे के समान हो यथा दैवी त्रिष्टुप याजुषी गायत्री आदि तो वहां निर्णयके निमित्त गायत्र्यादि छन्दोंके देवताओंसे जो कि अनुक्रमणिकाके चौथे अध्यायमें कहेहैं निर्णय करै पिङ्गल० खण्ड ३ । इसीसे इषेत्वा इसमंत्रका ३अक्षरका अनुष्टुप् छन्द मानागया ।

इति यज्ञीयविषयवर्णनम् ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

यजुर्वेदका उपोद्घातप्रकरण ।

अब जगदीश्वर परमात्माको सब प्रकारसे प्रणाम करके प्रथम यजुर्वेदकी व्याख्या की जाती है, कारण कि अध्वर्यु नामक प्रधान ऋत्विक सम्पूर्ण कार्योंको सम्पादन करता है, यदि कहो कि, सब स्थानमें प्रथम ऋग्वेदकाही नाम पढ़ा जाता है, इससे पहले ऋग्वेदकीही व्याख्या करनी उचित है, यथा-"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ३१।७॥" अर्थात् उस यज्ञ रूप सर्वहुत परमेश्वरसे ऋक् और साम उत्पन्न हुए, समस्त छन्द उत्पन्न हुए और उससे यजुः प्रकट हुआ, इस स्थलमें 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इस मंत्रसे प्रतिपादित यजनीय अर्थात् पूजनीय परमेश्वर "यज्ञो वै विष्णुः" इतिश्रुतेः, यज्ञ शब्दका अर्थभी सब जिसके उद्देश्यसे हवन करें वह परमेश्वर सर्वहुत शब्दका प्रतिपाद्य है। यद्यपि यागादिमें इन्द्र वरुण यम इत्यादि देवताओंके निमित्त यजन किया जाता है, तथापि एक परमेश्वरही इन्द्रादि अनेक देवताओंके रूपसे विराजित होनेसे इसमें कोई विरोध नहीं आता, इन्द्रादिके निमित्त हवन पूजनभी परमेश्वरकाही हवन पूजन है, मंत्रमें देखा जाता है कि-"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥" इति [ऋ० २।३।२२] अर्थात् इन्द्र वरुण मित्र अग्नि सुपर्ण गरुत्मान् अग्नि यम वायु एक सन्मात्र इत्यादि अनेकरूपसे ब्राह्मणगण उसको कहते हैं ।

वाजसनेयि शाखाध्यायी द्विजगण अपनी शाखामें पाठ करतेहैं "तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उह्येव सर्वे देवा इति" अर्थात् इसकी पूजा करो इसके उद्देश्यसे यज्ञ करो इत्यादि जो कुछ शास्त्र अथवा महर्षि

१ प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु कहाताहै यह यज्ञकार्यका नेता है यह जो करताहै यही यज्ञमें प्रकृष्ट कार्य है, यज्ञयागादिका विधान यजुर्वेदमें है, इसके जाननेकीही प्रथम आवश्यकता है, अध्वर्युका कार्य यज्ञहोमादिका तत्त्व समझकर पश्चात् मंत्रदर्शनार्थमें ऋग्वेदका पाठ करना होता है, होता मंत्र-पाठ करताहै वौषट्कार उच्चारण करताहै, याज्यानुवाक पाठकरताहै, फिर मंत्ररूप जान लेनेपर विना ऋग्वेदके काम नहीं चलता ।

२ अग्नि शब्द दो वार आयाहै लौकिक वैदिक दोनों प्रकारकी अग्निही इसका अर्थ है किसीके-मतमें दूसरा अग्नि शब्द यमका विशेषण है अर्थात् दीप्तिमान् यम ।

कहतेहैं, यह केवल एकमात्र देवताको लक्ष्यकरकेही कहतेहैं, यह सब एक देवताकी विभूति ही है, यह एकमात्र देवही सम्पूर्ण देवताओंमें विराजमान है इसकारण सबके द्वारा एक परमेश्वरही पूजित और हुत होताहै यह सिद्ध हुआ ।

केवल प्रथम पढ़ेजानेके कारणही ऋग्वेदकी श्रेष्ठता नहीं किन्तु यज्ञाङ्गकी दृढताभी ऋग्वेदही सम्पादन करता है, तीनों वेदोंमें बाहुल्यसे ऋग्मंत्र उच्चारण किये जातेहैं, अध्वर्यु जिन मंत्रोंको यज्ञमें पढ़ते हैं वे ऋग्वेदमें हैं, सामगान ऋग्मंत्रोंसेही होताहै, अथर्वसंहिताध्यायीभी बहु परिमाणसे ऋग्मंत्रही पाठ करते हैं, तैत्तिरीय शाखाध्यायी कहते हैं कि, "यद्वै यज्ञस्य साम्ना यजुषा क्रियते शिथिलं तद्यदृचा तद्दृढमिति" [तै०सं०६।५।१०] अर्थ यजु और सामद्वारा सम्पन्न होनेवाला अंश शिथिल है, ऋचाद्वारा जो सम्पन्न हो वह दृढ है । इससे प्रथम ऋग्वेदकी व्याख्या करनी चाहिये ।

सामवेदीय छन्दोग शाखाध्यायी गणने सनत्कुमारके प्रति नारदकी उक्तिमें ऋग्वेद का प्रथम उल्लेख और पश्चात् दूसरे वेदोंका उल्लेख किया है, नारदवाक्य यथा—" हे भगवन् ! + ऋग्वेद अध्ययन किया, यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेदभी अध्ययन किया है । " मुण्डकोपनिषद्में भी लिखा है " + ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद । " तापनीयोपनिषद्के मंत्रराजके चतुष्पाद्निर्णय प्रसंगमें " ऋक्, यजु, साम, अथर्व यह चार वेद अंग और शाखासहित चार पाद हैं " ॥ इस प्रकार क्रमिक पाठमें ऋग्वेदका प्रथम नाम लिखाहुआ देखा जाता है ॥ इस प्रकार सब वेद पुराणादि शास्त्रोंमें प्रथमपठित और यज्ञांगकी दृढतासम्पादक ऋग्वेदकी सबसे प्रथम व्याख्या करनाही उपयुक्त है ॥

---

१ यज्ञादि समस्त क्रिया अमंत्रक अनुष्ठान करनेसे फल नहीं होता जो कर्म मंत्रद्वारा आचरण किया जाता है वही फल देता है, और वे मंत्र प्रकृत रूप से ऋग्वेद में पाये जाते हैं, सामवेदमें स्वरसंयोगसे प्रकारान्तरसे उच्चारित होकर विकृत हो जातेहैं, यजुर्वेदमें जितने मंत्र हैं उनके अन्तमें स्वाहा वौषट् इत्यादि संयुक्त होनेसे उनका स्वरूप विकृत हुआ है, यथार्थ रूपसे मंत्र ऋग्वेद में है, इसीसे ऋक् यज्ञाङ्ग दृढकरताहै, कोई कहतेहैं ऋग्वेदमें पढेहुए मंत्रोंके माहात्म्यसे यज्ञके विघ्नादि शान्त होते हैं इसकारण ऋग् भली भांतिसे यज्ञाङ्ग दृढकरता है ।

+ ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणञ्चेति । + ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वण इति ।

२ आपत्तिकारीके मतका प्रथम उल्लेख करना प्राचीनरीति है, इसके पश्चात् अपना सिद्धान्त प्रकाश करना होता है । इस स्थानमें इसही नियमका प्रतिपालन किया है ।

जो लोग पूर्वोक्त मत प्रकाश करते हैं उनके प्रति यह बात कही जाती है कि, सब वेदोंके अध्ययन पारायण ब्रह्मयज्ञ जपादि सब प्रकारके विषयोंमें सब स्थानोंमे ऋग्वेदका प्रथम उल्लेख है, किन्तु समझना चाहिये कि उचित वेदका अर्थज्ञान यज्ञानुष्ठानमें ही उपयोगी है. वह यज्ञ यजुर्वेदमें विहित है. इस कारण अर्थज्ञानमें और अनुष्ठानांशमें यजुर्वेदका प्राधान्यहै (१) इस कारणसेही यजुर्वेदकी व्याख्या प्रथम करना उचित है । यजुर्वेदकी श्रेष्ठताके विषयमें ऋक्में स्वयंही कहा है कि ? यथा,–"ऋचांत्वःपोषमास्ते पुपुष्वान्, गायत्रंत्वो गायति शक्करीषु । ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्व" । [ऋ१०।८।१।२४] निरुक्तकार यास्कने इस ऋक्का तात्पर्य्य संक्षेपसे दिखाया है । उन्होंने कहा है, इस ऋक्में ऋत्विक् कर्म्मका नियोग अर्थात् किस ऋत्विक्को किस कार्य्यमें नियुक्त करना चाहिये सो कहा है । ऋक् मन्त्रके प्रथमपादकी व्याख्यामें उन्होंने कहा है । "होतानामक ऋत्विक् समस्तऋक् की पुष्टि सम्पादन करता है, अर्चनासाधन ऋक् है ।" संक्षेपसे यास्कके वाक्य का अर्थ यह है कि, होता नामक एक ऋत्विक् यज्ञसमयमें अपने वेदके सम्पूर्ण ऋक्मन्त्रोंकी पुष्टि करता है अर्थात् भिन्न २ स्थानोंमें पठित सबऋक् मन्त्रोंको एकत्र संकलित करके इस ऋक्समूहका नाम यह शस्त्र (२) इस प्रकारकी कल्पना करते हैं वही पुष्टिहै, होता इस पुष्टिकार्य्यमें नियुक्त होताहै"त्व" शब्दका अर्थ एक है,इस स्थानमें वह होताका विशेषण है, ऋक्शब्दसे अर्चना साधन यह अर्थ समझना जिसके द्वारा देवताविशेष अथवा कार्य्यविशेष अर्चित अर्थात् प्रशंसित हो, उसका नाम ऋक् है यही ऋक्शब्दकी व्युत्पत्ति है । यास्क संक्षेपसे द्वितीय पादका भी इसी प्रकार अर्थ करते हैं । "उद्गाता शक्करीमें गायत्र गान करता है । स्तुति कर्म्मबोधक गायतिसे गायत्र शक्करी शब्दसे, इन्द्र इन ऋचाओंके द्वारा अपने शत्रु वृत्रको वध करनेमें समर्थ हुआ था यही शक्करीका शक्करीत्व है" यास्ककी संक्षेपोक्तिका प्रकृत अर्थ यह है कि, उद्गातानामक ऋत्विक् गायत्र नाम स्तोत्र शक्करी संज्ञक ऋक् मंत्रमें गानकरता है, प्रत्येक धातुही बह्वर्थ है, इसकारण गायति धातु स्तुतिक्रियाबोधक है और उससे उत्पन्न गायत्र शब्द स्तुतिसाधन ऋक् समूहार्थ है । शक्करी शब्द शक्नोतिरूपविशिष्ट "शक" धातुसे उत्पन्न है इन इन समस्त ऋचाओंके द्वारा वृत्रविनाशमें समर्थ हुआ था, अतएव यह शक्करी है. शक्करी शब्दकी यह व्युत्पत्ति किसी ब्राह्म-

(१) सबसे प्रथम पठित ऋग्वेद, सबसे प्रथम अनुष्ठेय यजुर्वेद, ज्ञान सत्वमें अनुष्ठान किया जाता है इस कारण अर्थ ज्ञानार्थमें यजुर्वेदकी प्रथम आवश्यकता है । पाठक्रमकी अपेक्षा अर्थक्रम सर्वत्रही प्रबल है ।

(२) स्तुतिमंत्रसमूह ।

गमें * देखी जाती है । इसके अनन्तर तीसरे पादकी व्याख्यामें यास्क कहते हैं– "ब्रह्मानामका एक ऋत्विक् सामयिक उपस्थित प्रणयनादि कर्मोंकी अनुज्ञा प्रदान करै ब्रह्मा सर्वज्ञ है ।" यास्ककी उक्तिका अर्थ इस प्रकार है । ब्रह्मानामक एक-ऋत्विक् उस उस कालमें प्रस्तुत प्रणयनादि कर्मोंके उपस्थित होनेपर आज्ञादान करे । "हे ब्रह्मन् ! अपः प्रणयन करें" इसप्रकार पूंछनेपर "प्रणयन करो" इस-प्रकार अनुमति प्रदान करै । वह ब्रह्मा ऋक् यजुः सामवेदोक्त समस्त क्रियाका-काण्डमें अभिज्ञ होता है, इसकारण वह जिस कर्मके करनेमें जो ऋत्विक् समर्थ है उसकी सामर्थ्य जानकरही उस कार्यमें प्रेरणा करै और किसी कार्यमें कदाचित् भ्रम प्रमाद उपस्थित होनेपर समाधान करनेमें भी समर्थ है । वह क्षमता छन्दोग (१)गण अपने ग्रन्थमें संकलित करते हैं यथा, + इस यज्ञके दो प्रकारके मार्ग हैं, एक मनोरूप दूसरा वाक्रूप, उनमेंसे ब्रह्मा ऋत्विक् मनमनमें एक प्रकारका यज्ञमार्ग संस्कार करता है, अन्य प्रकार यज्ञमार्ग संस्कार कर्म्ममें होता, अध्वर्यु और उद्गाता नियुक्त होते हैं । समस्त यज्ञकर्म यथोचितप्रकारसे अनुष्ठान कर सकनेके निमित्त मनमनमें समस्त यज्ञप्रकार अनुसंधानकरना होता है, वाणीद्वारा तीनों वेदके मन्त्रपाठकरने होते हैं, होता आदि तीन ऋत्विक् मिलकर वागरूप यज्ञमार्गका संस्कार करते हैं, ब्रह्मा एकाकीही मनोरूप यज्ञमार्गका संस्कार करता है, इसकारण कहना चाहिये कि, ब्रह्माका कार्य भ्रमका दूरकरना और शक्तिके अनुसार ऋत्विक्को नियुक्त करनेकी क्षमता है । इसके पश्चात् मन्त्रके चतुर्थ पादकी व्याख्यामें यास्क संक्षेपसे कहते हैं । एक अर्थात् अध्वर्यु (२) जो अध्वर (यज्ञ) की योजना करे यज्ञका नेता यह अर्थ है यास्क महाशयके संक्षिप्त वाक्यका इसप्रकार अर्थ है अध्वर्यु नामक एकऋत्विक् यज्ञकी मात्रा अर्थात् स्वरूपविशेष प्रकारसे निष्पादित करता है जो निर्म्माण कियाजाय वही मात्रा अर्थात् स्वरूप है, उसके निष्पादनकरनेवाले अध्वर्युके नाम निरूपणसे समझलियाजाता है । (यास्कने कहा है अध्वर्यु अध्वरयु) अध्व-र्यु इसनाममें वैदिक प्रक्रियाके अनुसार अध्वर शब्दका अन्तःस्थ "अ" कार लुप्तहुआ है । इस "अ" कारके पुनर्वार सयुक्त करनेपर अध्वर्यु यह नाम सम्पन्न होगा । अध्वर योजितकरता है यही (अध्वरयु इस श-

---

* वेदके अंशविशेषका नाम ब्राह्मण है एप एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् चेति० (१) सामवे दाध्यायी छन्दोग शाखाभ्यासी गण ।

(२) यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः इस चतुर्थ पादमें "त्वः" शब्दका अर्थ जो एक है, वह एक अध्वर्यु, ऐसा यास्क कहते हैं ।

न्दके) अवयवका अर्थात् प्रत्येक पदांशका संकलित अर्थ है। अध्वरका नेता यह तात्पर्य है पदांशका संकलित अर्थ नहीं है। इस तात्पर्यके अभिप्रायसे ही अध्वर्युवेद अर्थात् अध्वर्य्यु कर्म्म जिस स्थानमें उपदिष्टहुआ है उस यजुर्वेदका याग निष्पादक द्योतक निर्वचन (१) यास्क दिखाते हैं। मनन करना होता है (२) इसकारण मंत्र, छादननिमित्तसे छन्द (३) स्तवनसाधन है इसकारण स्तोम, यागनिष्पादक होनेके कारण यजुः इसप्रकार नाम निर्वाचित हुआ है। यदि इसप्रकार अवधारित हुआ कि, यजुर्वेदयागस्वरूपनिष्पादक अध्वर्युनामक ऋत्विकका कार्य्यकलाप प्रतिपादन करता है और अध्वर्य्युसम्बंधि यजुर्वेदमें निष्पादित यज्ञशरीर अवलम्बन करके यज्ञमें अपेक्षित स्तोत्रशस्त्र (४) रूप दोनों यज्ञाङ्ग ऋग्वेद और सामवेदके द्वारा पूर्ण होते हैं, इसकारण यजुर्वेद ही उपजीव्य अर्थात् अवलम्बन है ऋक् और साम उपजीवी अर्थात् आश्रित है। इस कारण उपजीव्य यजुर्वेदकी सबसे प्रथम व्याख्या करनी उचित है। इसके अनन्तर ऋक् और साममेंसे पहिले किसकी व्याख्या करना आवश्यक है इस विषयमें विचारकरनेसे देखाजाता है कि साम ऋक्के आश्रित है, अतएव सामके आश्रयभूत ऋग्वेदकी सामकी अपेक्षा प्रथम व्याख्या करना ठीक है इसकारण यजुर्वेदकी व्याख्याके, पश्चात् ऋग्वेदकी व्याख्या करनी होती है।

इस समय वेदके अस्तित्वमें ही आपत्ति उठती है। आपत्तिकारी कहते हैं वेदही नहीं, वेदके अवान्तर विभाग ऋग्वेद आदि कहांसे आये ? (यदि कोई कहना चाहे वेद है, तो उससे पूंछते हैं) वेदनामक पदार्थ क्या है उसका

---

(१) "यजुर्यजतेः" यागनिष्पन्न करनेके कारण यजुःसंज्ञा यह निर्वाचन है। मन्त्रा मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात् नि० ७। १३।

(२) मनन अर्थात् मन मनमें चिन्ता करना मंत्रप्रयोग कालमें कर्त्तव्य अर्थ स्मरण कराके देना मीमांसकका यह मत है,-इस ग्रन्थमें आगे यह विषय प्रतिपादित होगा, मनमें चिन्ताकरने परही मंत्रके द्वारा अर्थ स्मरण होसकता है, मन मनमें आन्दोलन वा मनन व्यतीत केवल अन्यमनस्कभावसे होजाने पर मंत्रके द्वारा प्रयोगकालीन अर्थ स्मरण नहीं किया जासकता। इसकारण मंत्रका मनन चाहिये।

(३) आच्छादन और छादन यह दो बातें हैं। मंत्रका स्वरूप आच्छादन करनेमें छन्दही पारग है, किसी मंत्रके अन्तर्गत दो अथवा एक अक्षर स्खलित होनेपर छन्दोंद्वारा हम इसको समझसकते हैं कारण कि छन्दमें अक्षरनियम है। छन्दमंत्रको आच्छादनकररखता है जिससे उसका एक अंशभी स्खलित न होसके।

(४) प्रगीतसाध्य मंत्र साध्यति और अप्रगीत मंत्रसाध्य स्तुतिभेदसे स्तोत्र शस्त्रकी पृथकता दोनोंका कार्य्य ही स्तुति है। किसीकी गानद्वारा, किसीकी उससे विहीनमें।

कोइ लक्षण नहीं, इसनिमित्त कुछ प्रमाणभी नहीं । लक्षण (१) प्रमाण इन दोके न होनेपर कोई भी वस्तु सिद्ध नहीं होती । नैयायिक कहते हैं लक्षण और प्रमाणद्वारा वस्तुकी सिद्धि होती है । (इसकारण लक्षण और प्रमाण वक्तव्य है ।) यदि कहाजाय "प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन नैयायिकों के स्वीकार किये हुये चार प्रमाणोंमेंसे " आगम " नामक अन्तिम अर्थात् चौथा प्रमाणही वेद है, यही वेदका लक्षण है । सोभी नहीं होसकता कारण कि मनुआदि महर्षियोंके बनाये हुए स्मृति शास्त्रमें अतिव्याप्ति होती है (२) क्यों कि " समय कहनेमें सम्यक् परोक्षानुभव साधन आगम " इस प्रकार आगमका लक्षण है इसमें (मनुस्मृति आदिमें) भी है (३) यदि कहो "अपौरुषेय" यह विशेषण देनेसे कोई दोष नहीं आता, सो भी ठीक नहीं. कारण कि, वेदभी मनुस्मृत्यादिकी समान पौरुषेय है, परमेश्वररचित होनेके कारणही वेद पौरुषेय है । शरीरधारी जीव पुरुषरचित होनेके कारण स्मृति आदि पौरुषेय हैं वेद वैसे नहीं, अत एव "अपौरुषेय" ऐसाभी नहीं कहा जासकता, क्योंकि "सहस्रशीर्षा" इत्यादि वेदवाक्योंके द्वाराही ईश्वर शरीरधारी जीवविशेष होनेके कारण प्रतिपादित हुआ है । यदि कहाजाय कि जो शरीर अपने पूर्व जन्मोंके अर्जित कर्मका फलस्वरूप है उस प्रकारके शरीरधारी जीव रचित होनेपर पौरुषेय कहेंगे, नहीं तो नहीं, उस प्रकारका शरीर ईश्वरका नहीं है, केवल जीव सम्प्रदायकाही है, अतएव ईश्वररचित होनेपरभी पौरुषेय नहीं है । यह संगत नहीं, क्योंकि अग्नि वायु आदित्य आदि कर्म्म फल शरीरधारी जीवविशेषोंके

---

(१) लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः ।

(२) जिसका लक्षण निर्वचन करना होता है उसको "लक्ष्य" कहते हैं । लक्ष्यके अतिरिक्त स्थानमें यदि लक्षण पायाजाय तो लक्षणकी अतिव्याप्ति अर्थात् लक्ष्य छोडकर भी बाहर जाना होता है । यह दोष है, कारण कि कितनीही लक्ष्यके बाहर वस्तुएं भी लक्षणकी गड्डीमें पडगई हैं । मनुस्मृति वेद नहीं है किन्तु आगम है । इसकारण आगमको वेद कहनेसे वेदबहिर्भूत मनुस्मृतिभी लक्ष्य हुआ, यह अतिव्याप्ति है ।

(३) समयबलेन सम्यक्परोक्षानुभवसाधनम् । शब्द अथवा वाक्य अपरोक्षज्ञान नहीं उत्पन्न करासकता । पुत्रशब्द उच्चारण करने पर जो पुत्रबोध उत्पन्न होता है वह परोक्ष है अपरोक्ष होनेपर उच्चारणमात्रसे पुत्रको देखा जासकता है । भलीभांति परोक्षज्ञान कहनेका उद्देश्य यह है कि, इस परोक्षज्ञानमें कोई भ्रम नहीं हो इस कारण वह यथेष्ट है ।

द्वारा वेद उत्पादित है यह बात वेद स्वयंही कहता है। श्रुति यथा-* अग्निसे ऋग्वेद उत्पन्न हुआ था, वायुसे यजुर्वेद, सामवेद आदित्यसे उत्पन्न हुआ था। "ईश्वर अग्नि वायु आदिका प्रेरक है इस कारण अग्निसे उत्पन्न ऋग्वेदको ईश्वरने ही निर्माण किया था ऐसा कहाजाता है। (१) अत एव समय बलसे सम्यक् परोक्ष ज्ञानसाधन अपौरुषेय वाक्य वेद है" ऐसा लक्षण नहीं होसकता। मंत्र ब्राह्मण रूप शब्दसमूह वेद है यह भी वेदका लक्षण नहीं क्योंकि "इसप्रकार मंत्र इस प्रकार ब्राह्मण" यहभी अबतक निश्चय नहीं हुआ। (मंत्रब्राह्मणका स्वरूप निर्णय नहीं हुआ) इसकारण वेदका लक्षण नहीं, वेदकी विद्यमानतामें कोई भी प्रमाण नहीं देखाजाता (ऋग्वेदं भगवोध्येमि०) हे भगवन् ! ऋग्वेद अध्ययन किया है यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद भी अध्ययन किया है यह वेद-वाक्य वेदके अस्तित्वमें प्रमाण हैं यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि वह वाक्य भी वेदके अन्तर्गत है अतएव आत्माश्रय (२) दोषभयसे वेदके अस्तित्वमें वेदवाक्य प्रमाण स्वरूपमें गृहीत नहीं होसकता। कोई व्यक्ति चाहे कितनाही चतुर क्यों न हो परन्तु अपने कंधेपर स्वय नहीं चढसकता। वेदही द्विजाति-गणोंका परमकल्याणसाधन है + इत्यादि स्मृति वाक्यभी वेदके अस्तित्वमें प्रमाण नहीं हैं क्योंकि वहभी श्रुतिमूलक हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणद्वारा वेदका अस्तित्व प्रमाणीकृत होगा ऐसी शंका करनाभी अयोग्य है "वेद" कहकर जो एक लोक-प्रसिद्धि है वह सर्वजनीन होनेपरभी "आकाश नीला है" इत्यादि सर्वजनीन-भ्रमात्मक प्रत्यक्षकी समान भ्रममात्र है। इसकारण शून्य और प्रमाणरहित

---

* ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यादितिश्रुतेः ऐतरेयब्रा० ५ । ३२ परंतु शतपथमें अग्निवायु रवि तीन ज्योतियें लिखी हैं कि इनको तपाकर ब्रह्माने ऋक् यजुः साम प्रगट किये इससे यह ऋषि नहीं। देखो श० ११ । ५ । ८ । २

(१) ईश्वरका वेदनिर्म्मातृत्व और अग्न्यादिका वेदनिर्मातृत्व विभिन्न श्रेणीका है । अग्निआ-दिने स्वयंही किया या ईश्वरनें उनको प्रेरणा की थी । स्वयंमेंतो अग्नि, वायु आदि साक्षात् कर्ता हैं परमेश्वरकी परम्पराके न कहनेपर ईश्वर वेदरचयिता अग्न्यादि वेदरचयिता इन दोनों वाक्योंका अपने मतमेंही विरोध हुआ जाता है सो कैसे सम्भव हो सकता है । वादीकापूर्वपक्ष ठीक नहीं ।

(२) अपना अपनेके आश्रय होनेपर आत्माश्रय कहते हैं । वेदही प्रमाण फिर उसी प्रमाण द्वारा वेदरूप प्रमेयभी सिद्ध होता है । ऐसा नहीं होसकता । प्रमाण और प्रमेय लक्षण और लक्ष्य एक नहीं हैं । लक्ष्यगत असाधारण धर्म लक्षण है लक्षणका प्रतिपादित लक्ष्य है, इसीप्रकार प्रमाणकोभी समझना ।

+ वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः । याज्ञवल्क्य आचाराध्या० श्लो० ४० ।

वेदका सद्भाव (अस्तित्व) स्वीकार नहीं किया जासकता । यही इसस्थानमें पूर्वपक्ष है ।

इस पूर्वपक्षका उत्तर कहाजाता है, "मंत्रब्राह्मणरूप शब्दसमूह वेद है" यह लक्षण दोषशून्य है । इसकारणही यज्ञपरिभाषामें आपस्तम्बने कहा है मंत्र (१) और ब्राह्मण इन दोनोंका नाम वेद है मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूप आगे कथन किया जायगा, हम वेदको जिस प्रकार अपौरुषेयत्व कहते हैं इसकाभी पीछे निराकरण करेंगे । श्रुति, स्मृति, लोकप्रसिद्धि इत्यादि प्रमाण वेदविषयमें देखने चाहियें । जिस प्रकार घटादि वस्तु स्वप्रकाशक न होनेपर भी सूर्य्यादि स्वप्रकाशकसे विरोध नहीं रखतीं, इसी प्रकार मनुष्यादि जीवगण अपने कंधेपर न चढ सकनेपरभी, अकुंठितशक्ति वेद जिस प्रकार परप्रतिपादक हैं इसी प्रकार स्वप्रतिपादकभी हैं । इसी कारण सम्प्रदायज्ञोंने वेदकी अकुंठित शक्ति दिखाई है यथा, वेदवाक्यभूत, प्रेरणा (२) वर्त्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित दूरस्थित इत्यादि सर्वजातीय पदार्थ विदित करा सकता है । "इस कारण वेद मूलक स्मृति और स्मृतिमूलक जनप्रवादका प्रामाण्य दुर्वार है इस कारण लक्षण प्रमाणसिद्ध वेद किसीभी चार्वाकादि शत्रुद्वारा उच्छिन्न नहीं हो सकता । यह स्थिर हुआ ।

इस वेदके प्रामाण्यमें फिर भी आपत्ति होती है । आपत्तिकार कहते हैं,— वेदके नामसे कोईभी पदार्थ हो, तथापि उसकी व्याख्यानयोग्यता नहीं है । क्योंकि वेद अप्रमाण है अत एव उसकी व्याख्या करना अनुचित है । वेद प्रमाण नहीं होता, वेदमें प्रमाणका लक्षण दुःसम्पाद्य है । कोई २ कहते हैं जिससे भ्रम-शून्य ज्ञानका उदय हो वही प्रमाण है, दूसरेकी समान वह अज्ञात विषय समझादे वही प्रमाण है । यह दोनों ही वेदमें नहीं हो सकते । वेद मंत्र-ब्राह्मणात्मक है । उनमेंसे कितनेही मंत्र कोईभी अर्थ नहीं समझाते । जैसे "अम्यक् सात् इन्द्र ऋष्टिः" [ऋ० २ । ४ । ८] यह एक "याद्दश्मिन्धायि-तमपस्य याविदद्" [४ । २ । २३] और एक यह तथा "सृण्येवजर्भरीतुर्फरीतु" [८ । ६ । २] यह और इसी प्रकार "आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्म्मा" [८ । ४ । १४] इत्यादि और भी अनेक उदाहरण दिये जासकते हैं । इन मंत्रोंके द्वारा कोई एक अर्थभी समझमें नहीं आता । इन सबमें जब अनुभवही नहीं, तो "अनुभवका सम्पूर्णत्व" और उसका साधनत्व वहुत दूर चलागया । "अधोदेशमेंही था अथवा ऊपरमें था !" (३) इत्यादि वाक्य अर्थ होनेपर भी वह

(१) मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् स्तम्ब प्र० अ० । (२) चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः पू० मी० २ । (३) अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत् ८ । ७ । १७ ।

"पुरुष अथवा ठूंठ!" इत्यादि संदिग्ध वाक्यकी समान संदिग्ध अर्थज्ञापक होनेके कारण उनका प्रामाण्य नहीं १ "हे औषधे! इसकी रक्षा कर" यह मंत्र कुशविषयक है। २ "स्वधिते इसे मत मार" यह क्षुरविषयक, ३ "पाषाणसुनो" यह पाषाणविषयक है इन समस्त मंत्रोंमें अचेतन कुश क्षुर और पाषाणको चेतनकी समान सम्बोधन किया है, इसकारण "दो चन्द्र" इत्यादि वाक्यकी समान विपरीतार्थ समझानेके कारण अप्रमाण है। ४ "एकही रुद्र है, दूसरा नहीं" ५ "सहस्र रुद्र पृथिवीमें आधिपत्य करते हैं" यह मन्त्र दो व्याघात समझाते हैं। यदि कोई कहे "मैं आजीवन मौनी हूं" यह वाक्य जिस प्रकार उसकी चिरकालीन मौनता समझाकर स्वयं फिर मौनताका व्याघात घटाता है इसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों वाक्यभी इसीकारण अप्रमाण हैं। "आप उदन्तु" [तै० १।२।१] यह मन्त्र क्षौरसमयमें जलके द्वारा यजमानका मस्तक छेदन समझाता है। ६ "हे शुभिके तुम मेरा मुख शोभित करके मस्तकपर चढो।" यह मन्त्र विवाहसमयमें मंगलाचरणके निमित्त पुष्पकी बनी हुई शुभिकाका वधूवरके मस्तकपर अवस्थान समझाता है यह दो मन्त्र लोकप्रसिद्ध पदार्थ ही ज्ञापन करते हैं. अज्ञात पदार्थ ज्ञापक नहीं हैं। इसकारण मन्त्रभाग प्रदर्शित दोषसे प्रमाण नहीं होसकता॥

इस स्थानमें प्रत्युत्तर कहा जाता है—अम्यक् सात् इत्यादि मन्त्रका अर्थ यास्ककर्तृक निरुक्त ग्रन्थमें प्रतिपादित हुआ है। निरुक्त ग्रन्थके साथ जिनका परिचय नहीं है वे यदि मन्त्रार्थ न समझें तो उसमें मन्त्रका दोष नहीं होता॥ इस कारणसेही इस स्थानमें लौकिककी समान (आचार्य्यलोग) उल्लेख करतेहैं यथा,—ठूंठको अंधा नहीं देखता, यह ठूंठका अपराध नहीं है, द्रष्टा पुरुषका अपराध है। "अधोदेशमें" इत्यादि मन्त्र सन्देह नहीं कराता है किन्तु जगत्कारण परम वस्तुका अतिगंभीरत्व समझानेमेंही प्रवृत्त है। इसकारण गुरुशास्त्रपरम्परारहित व्यक्तियोंको दुर्बोध्यत्व:इस मन्त्रमें भङ्गचनुसार उपन्यस्त हुआ है। यह अभिप्राय ७ "कौन हठात् जान सकता है" इत्यादि मन्त्रमें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित हुआ है। ओषधि संबोधनज्ञापक मन्त्रमें अचेतन ओषधिको संबोधन नहीं किया है, ओषध्यभिमानि चेतन देवताको संबोधन किया गया है। वे समस्त अभिमानि देवता "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् शा० अ० २ पा० १ सू० ५": इस सूत्रसे भगवान् बादरायणकर्तृक सूत्रित हुए हैं। एकही रुद्रकी

---

१ ओषधे त्रायस्व यजुः। २ स्वधिते मैनंहिंसीः यजुः।३ शृणोत ग्रावाणः तैत्तिरी० १।३।१३ ४ एक एव रुद्रो न द्वितीयोवतस्थे। ५ असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् तै० ४।५। ११ यजु० १६।५४। ६ शुभिकेशिर आरोह० बौधाय० ७ कोअद्धावेद० ऋ० ८। ७। १७

महिमाबलसे तन्मूर्ति स्वीकार संभव है, अत एव परस्पर व्याघात नहीं होता । जलादि द्रव्यद्वारा मस्तकक्लेदनादि लोकप्रसिद्धि होनेपरभी, तदभिमानि देवताका अनुग्रह अप्रसिद्ध है । देवतानुग्रह मन्त्रका विषय होनेके कारण अज्ञातार्थव्यापकत्व है । अत एव अज्ञातार्थव्यापकत्वरूप प्रामाण्यलक्षणसत्त्वमें मन्त्रभागका प्रामाण्य स्थिर है । इस अभिप्रायसेही जैमिनिने मंत्राधिकरणमें मंत्रसमूहके विवक्षितार्थ सूत्रित किया है । उन सूत्रोंको उद्धृत करके क्रमसे व्याख्या की जायगी ।

उस प्रसंगमें पूर्वपक्ष सूत्रित करते हैं । सूत्र—तदर्थशास्त्रात् १ । जै० अ० १ पाद २ सूत्र ३१ से इसका अर्थ यह है कि मन्त्रका अर्थ ब्राह्मण वाक्य समझाता है, अतएव ब्राह्मणसत्त्वमें मंत्र अविवक्षितार्थ कार्य्य है मन्त्र जो अर्थ समझनेमें समर्थ है ब्राह्मण वाक्यका भी वही प्रतिपाद्य है, अतएव मन्त्रार्थ जिसका अर्थ ऐसा ब्राह्मण वाक्य ही तदर्थशास्त्र शब्दका अर्थ ब्राह्मणवाक्य है इसकारण उसको ही तदर्थप्रतिपादक कहनाचाहिये, अतः मन्त्र अविवक्षितार्थ हुआ देखा जाता है "उरु प्रथस्व" तै० [१ । १ । ८] यह मन्त्र पुरोडाशप्रथन समझाताहै । "पुरोडाश (१) प्रथन करै" यह ब्राह्मणवाक्य भी वही समझाता है । ऐसा होनेपर मन्त्रके द्वारा पुरोडाश प्रथन समझागया है, फिर उसी अर्थबोधनमें प्रवृत्त ब्राह्मणवाक्य अनर्थक होता है । मन्त्र यदि विवक्षितार्थ (२) न हो तो नियोग बोधनेके निमित्त ब्राह्मणवाक्य उपयोगी होता है । अत एव मन्त्रसमूह उच्चारणद्वाराही यागादिका उपकार सम्पादन करते हैं । इस स्थानमें प्रश्न हो सकता है कि, मन्त्र उच्चारणार्थ होनेपर उसका कोई भी दृष्ट फल नहीं । अदृष्ट फल कल्पना करना होता है, और अर्थबोधक होनेपर अर्थज्ञानही मन्त्रपाठका दृष्ट फल है । (दृष्ट फल संभव स्थानमें अदृष्ट फल कल्पना अन्याय्य है) अतएव ब्राह्मणवाक्य अनुवाद (कहे हुए का फिर कथन) स्वीकार करके भी मन्त्र अर्थबोधक है ऐसा मानना होगा । इस प्रश्नकी आशंका करके उत्तरमें सूत्र रचना की है, "वाक्यनियमादिति २" अर्थात् वाक्यमें क्रमनियम है इस कारण मन्त्र का उच्चारणही प्रयोजन है । "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत् इत्यादि निबद्ध मन्त्र पाठ करनेका नियम है । अर्थ प्रत्ययही यदि उद्देश्य हो तो वह "मूर्द्धा अग्निः ककुत्" इत्यादि विपरीत क्रमसे पाठ करना भी होगा इस कारण निर्दिष्ट क्रमसे पाठकी सफलतासम्पादनार्थमें उच्चारणही मन्त्रका प्रयोजन है, अर्थज्ञान नहीं यह कहना चाहिये । इस स्थानमें फिर शंका होती है पाठक्रमनियमका अदृष्ट

१ यज्ञसाधन पिष्टका विशेष ।

२ विवक्षितार्थः जिसका अर्थ विवक्षित है अर्थात् प्रतिपाद्य उसका अर्थ समझाना जिस वाक्यकी आवश्यकता है वह वाक्य विवक्षित है ।

फल स्वीकार करनेपरभी मंत्रपाठ अर्थ उत्पन्न करानेके निमित्त है । इस आशङ्का में पूर्वोक्त युक्ति होनेपरभी अपने मतकी रक्षा नहीं होती देखकर स्वतंत्र दोष कहा जाता है, बुद्धशास्त्रादिति ३। इसका अर्थ यह है कि, पूर्वमें जो समझागया है मंत्र उसकाही शासन है इस कारण मंत्र अर्थबोधक नहीं है, अग्निद्ग्नीत् विहर [तै० ६ । ३ । १] यह प्रैष (अनुज्ञा) वाक्य प्रयोगसमयमें पठित होताहै :। अग्नीध्र ऋत्विक् अग्निविहरण कार्य्य निजका कर्तव्य होनेके कारण स्वयं वेदाध्ययन करनेके समय में ही जानना है उस ज्ञात विषयका पुनर्वार मंत्रोच्चारणद्वारा शासन वृथा है । पादुकाविशिष्ट पादमें द्वितीयपादुका व्यवहारकी आवश्यकता नहीं होती। इस स्थानमें शङ्का की जा सकती है कि,–अग्नीध्र इस विषयके पाठकालमें विदित होनेपरभी प्रमादवश भूल जा सकते हैं, मंत्रद्वारा फिर स्मरण कराना होता है, इस आशङ्कामें पूर्वोक्त युक्ति दुर्बल हुई देखकर पर मतमें फिर दोष देते हैं, " अविद्यमानवचनात् ४ " ऐसा पदार्थ नहीं सोही समझाते हैं, अत एव अर्थबोध मंत्रोच्चारणका उद्देश्य नहीं है । "चत्वारि शृङ्गा" [ऋ० ३ । ८ । १०] इसके चार सींग, तीन पैर, दो मस्तक, सात हाथ इस प्रकार एक मंत्र है। किन्तु चार शृङ्गादिविशिष्ट कोईभी यज्ञसाधन द्रव्य नहीं, मंत्रपाठद्वारा जिसका स्मरण किया जाय। यदि कोई आपत्ति करे " इसप्रकार कोई देवता हो सकता है " तिसको समझानेके कारण दूसरा दोष सूत्रित करते हैं "अचेतनेऽर्थबन्धनात् ५ " अचेतन पदार्थमें चेतनोचित अर्थ निबन्ध करनेमें मंत्र अर्थ ज्ञापन नहीं कराता यह विदित हो जाता है। हे ओषधे ! इसकी रक्षाकरो, पाषाण गण श्रवण करो इत्यादि स्थलमें अचेतन पाषाणआदि पदार्थोंमें चेतनोचित श्रवण रक्षणादि धर्म निबद्ध किया गया है, यह अत्यन्तही अनुचित है । इस स्थलमें "अभिमानिव्यपदेश०" इस सूत्रमें व्यास सूत्रमें प्रतिपादित पाषाणाद्यभिमानिनी चेतनदेवतासम्बोधनका विषय है, अत एव पूर्वोक्त दोष नहीं हो सकता, ऐसी शङ्का करके स्वतंत्र दोष लिपिबद्ध करते हैं,–"अर्थविप्रतिषेधात् ६" मंत्रका अर्थ विप्रतिषिद्ध है अत एव अर्थबोधके निमित्त मंत्रपाठ नहीं है "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष०"[ऋ० १ । ६ । १६] यह मंत्र है । जो द्युलोक है वही अन्तरिक्ष है, ऐसा अर्थ विप्रतिषिद्ध है । इस स्थानमें " एकही रुद्र सहस्र रुद्र" इत्यादि वाक्यभी उदाहरणरूपमें गृहीत हो सकते हैं । कहा जासकता है " तुमही माता तुमही पिता " इत्यादि वाक्यमें जिस प्रकार पिता, माता रूपमें एकही व्यक्तिकी स्तुति की है इसीप्रकार द्युलोक अन्तरिक्षरूपमें अदितिकी स्तुति हो सकती है। इसी प्रकार एक रुद्र योगबलसे बहुतसे रूप धारण कर

सकता है। ऐसा होनेपर अर्थ विप्रतिषेध नहीं हुआ। इस आशङ्कासे अन्य दोष सूचित करते हैं। "स्वाध्यायवद् वचनात्" ७ स्वाध्याय ग्रहणकालमें जिस प्रकार मंत्रपाठ अर्थबोध नहीं कराता, इसी प्रकार कर्म्मकालमेंभी नहीं। पूर्णिका नामक कोई एक स्त्री मुशलके द्वारा अवघात करती है, माणवक कदाचित् उसके निकट अवघात मंत्रपाठ करता है, उसके अर्थप्रकाशकी विवक्षा नहीं, क्योंकि मुशलप्रहारके साथमें नियमपूर्वक वह मंत्रपाठ नहीं करता, अक्षर ग्रहण करनेके निमित्तही वह मंत्र और अन्य मंत्र पाठ करता है। इस स्वाध्यायाभ्यासकालमें पठित अवघात मंत्र जिस प्रकार पूर्णिकाके प्रति अर्थबोध नहीं जन्माता इसीप्रकार यज्ञसमयमें पठित होकरभी मंत्र अर्थज्ञान उत्पन्न नहीं करेगा। इस स्थानमें आपत्ति यह है कि, माणवककी अर्थविवक्षा नहीं केवल अक्षराभ्यासकीही आवश्यकता है। पूर्णिकाभी अर्थ जाननेमें असमर्थ है। किन्तु यज्ञमें अध्वर्य्युको अर्थकी विवक्षा है, बोधभी सम्भव है। इस आपत्तिके बलसे अपनी युक्ति दुर्बल होनेपर अन्य दोष सूत्रमें ग्रथित किया जाता है "अविज्ञेयात्" ८ अनेक मंत्रोंका कुछभी अर्थ समझमें नहीं आता, इसकारण अर्थबोध मंत्रका उद्देश्य नहीं है। कितनेही मंत्रोंका अर्थ समझमें नहीं आता। यथा "अम्यक् सात्" इत्यादि एक "सृण्येवजर्भरी" इत्यादि इस स्थानमें शङ्का हो सकती है कि, सब मंत्रोंका अर्थ निर्णय करनेके निमित्त निगम, निरुक्त, निघण्टु, व्याकरणादि शास्त्र हैं। इसकारण अर्थ समझा जासकताहै। इस शङ्काके उपस्थित होनेपर अन्यदोष सूत्रित करते हैं, "अनित्यसंयोगान्मंत्रानर्थक्यम्" ९ अनित्य वस्तु प्रतिपादित होनेसे मंत्रकी अनर्थकता है। इसकारण अर्थप्रतिपादन उद्देश्य नहीं है। "कीकटमें तुम्हारा वया नष्ट किया है" इत्यादि मंत्रमें कीकट जनपदका नाम पाया जाताहै, इसी प्रकार नैचाशाखनगर, प्रमगन्दराजा यह सब अनित्यपदार्थ मंत्रमें हैं। यदि प्रमगन्दराजारूप अर्थबोध कराना मंत्रका उद्देश्य हो तो यह मंत्र प्रमगन्द राजाके पूर्वका नहीं ऐसा समझा जाताहै। अतएव तदर्थ शास्त्रादि इन समस्त युक्तियों द्वारा यह सिद्ध हुआ कि, मंत्रका अर्थबोध करानेके निमित्त प्रयोग नहीं है, इसका उच्चारण अदृष्टार्थ है। इस मंत्रके उच्चारण करनेसे अदृष्ट उत्पन्न होताहै अर्थबोधही उसका लक्ष्य नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्षका मत है।

पूर्वपक्षका मत निबद्ध करके अब उस विषयमें सिद्धान्त सूत्रित करते हैं सूत्र यथा—"अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" १० लोकमें और वेदमें शब्दका अर्थ समान है।

---

१ किन्ते कृण्वन्ति कीकटेष्वितिः ऋ० ३। ३। २१॥ २ ऋ० ३। ३। २१ तैत्ति०४।१।१:

सूत्रमें "तु" शब्दद्वारा मंत्रसमूहका अदृष्टार्थ उच्चारण निषेध कियाहै । क्रिया-कारक सम्बंधमें प्रतीयमान वाक्यार्थ लोकमें और वेदमें उभयत्र एकरूप है । ऐसा होनेपर लोकमें जिसप्रकार, अर्थप्रत्यय उत्पन्न करानेके निमित्त वाक्य उच्चारण कियाजाताहै, इसी प्रकार वैदिकप्रयोगमें भी समझना चाहिये । मंत्रके द्वारा समझाहुआ अर्थ अनुष्ठान करनेमें शक्य है, अप्रकाशित अर्थात् अज्ञात अर्थ अनुष्ठान नहीं कियाजाता । इस कारण मंत्रोच्चारणका अर्थ प्रकाश नहीं एकमात्र प्रयोजन देखा जाताहै । इस स्थलमें प्रश्न हो सकताहै कि, "अग्निरसि" इत्यादि मंत्रद्वारा प्रतीत अग्न्यादान "चार मंत्रोंद्वारा अग्नि आदान करना चाहिये" इस ब्राह्मणवाक्यमें फिर विहित होताहै । यह विधान अर्थ प्रकाश नहीं है, मंत्रोच्चारणका उद्देश्य इस मतमें व्यर्थ होताहै । इस प्रश्नकी शंका उत्तरसूत्रमें बाध करते हैं । "गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ११" मंत्रके द्वारा प्रतीत विषयकाही ब्राह्मणवाक्यमें जो पुनः श्रवण है, वह केवल चतुःसंख्यारूप गुणविधानके निमित्तही उपयुक्त हुआहै । इस विधानके न होनेपर चार मंत्रोंमेंसे किसीकेद्वारा अग्नि आदान करना ही विधान होनेसे चारोंके द्वाराही आदान करना होगा । इस स्थानमें फिर एक शङ्का उदित होतीहै । "सत्यस्वरूप (पशु) की इस रशना (गलेकी रस्सी) का पूर्ववर्त्ती लोगोंने ग्रहण कियाहै" इस मंत्रद्वारा अश्वाभिधानी ग्रहण करनी चाहिये ।

इस स्थानमें मंत्रकी सामर्थ्यसे प्राप्त रशना ग्रहणका ब्राह्मणवाक्य पुनर्वार नियोजकरूपसे पठित हुआ है । "यह आपके मतमें व्यर्थ होता है । " इस शङ्काके समाधानमें उत्तर देते हैं,—"परिसंख्या १२ " इस स्थानमें परिसंख्या विधि कहनी चाहिये । गर्दभरशनाग्रहण इस मंत्रमें न करे इत्याकार निषेध परिसंख्या कहाता है इस कारणही "अश्वाभिधानीका ग्रहण इस मंत्रमें करना चाहिये" यह ब्राह्मणवाक्य है । यदि कहाजाय परिसंख्यामें तीन दोष हैं (१) "आदत्त" इस पदसे प्रतीत आदानरूप स्वार्थ परित्याग करती हैं, आदान निषेधरूप अन्यार्थ कल्पना की जाती है, रशना साधारणमें प्राप्त गर्दभ रशनाका आदान बाधित होता है यह दोष है । श्रुतार्थपरित्याग, अश्रुतार्थग्रहण, प्राप्तबाध, यह तीन दोष परिसंख्यामें हैं । तो प्रत्युत्तरमें हम कहते हैं गर्दभरशनाकी प्राप्ति नहीं है । आपके (गर्दभरशनाप्राप्तिपक्षके) मतमें इस मंत्रका रशनादानप्रकरणमें पाठ वृथा होजानेके कारण उस अनुपपत्ति निवारणके निमित्त "इस मंत्रके द्वारा ग्रहण करे" इस प्रकार वाक्य कल्पना करनी चाहिये प्रकरणबलसे कल्पित उस वाक्यद्वारा मंत्र और ग्रहणका सम्बंध स्थिर होनेपर

---

१ इमामगृभ्णन्रशना० इत्यादि तै० सं० ५ । १ । २ ।

इसके अनन्तर "ग्रहण कौन विषयका है" इस विषयका निरूपण करनेमें मंत्र-लिङ्ग (शब्दसामर्थ्य) रूप प्रमाणद्वारा "रशनामात्रका आदान" स्वीकार करके रशनात्वसामान्यमें गर्दभरशनाकी प्राप्ति कहनी होगी, यह अनेक विलम्बकी बात है "अश्वाभिधानी ग्रहण करे" इस प्रत्यक्ष वाक्यद्वारा मंत्र और ग्रहणका सम्बंध सिद्ध होनेपर लिङ्गप्रमाण सिद्ध रशनामात्र ग्रहण "अश्वाभिधानी" यह विधि श्रुतिद्वारा अश्वरशनारूपविशेषमें व्यवस्थित होती है, उससेही मंत्र आकांक्षाशून्य हो जाता है इस कारण गर्दभरशनाकी प्राप्तिही नहीं होती। प्राप्तिका बाध नहीं अत एव निषेधार्थभी कल्पित नहीं होता, विध्यर्थ भी परित्यक्त नहीं होता, तीन दोष क्योंकर हुए? गर्दभरशनाके इस अप्राप्तिरूप निषेध अभिप्रायसेही परिसंख्या यह सूत्ररचना किया है। इस स्थलमें फिर आपत्ति होती है कि, प्रथमविधायक ब्राह्मणका वैयर्थ्य जैसा था वैसाही रहा, उसकी गति क्या है? इस आपत्तिका उत्तर सूत्रित किया जाता है। "अर्थवादो वा १३" अर्थवाद कहाजाय। सूत्रका वाशब्द विफलतानिवारण करता है। "यज्ञपतिकोही प्रथित कराना चाहिये" यह अर्थवाद है। इस अर्थवादके साथ सम्बंध करनेके निमित्त ब्राह्मणमें विधि पढी गई है। फिर प्रश्न होता है—प्रथित करावे, इस प्रकार शब्दद्वारा प्रथनका अनुवाद करके "यज्ञपतिकोही" इत्यादि अर्थवाद द्वारा स्तुति करनी होगी, किन्तु वह प्रथन कहांसे प्राप्त है? इसका उत्तर कहाजाता है,—"मंत्राभिधानात् १४" मंत्रकथन है, उससे। अध्वर्य्यु पुरोडाशका उद्देश करके मंत्रमें "प्रथित हो" ऐसा कहता है। उस कथनसे अध्वर्य्युकर्तृक प्रथन प्राप्त हुआ है। जैसे लोकमें देखा जाता है कि, "कर" यह बात कहकर वही निश्चय कराताहै। इस स्थानमें अध्वर्यु "प्रथित होवे" कहता है, इस कारण वही प्रथित कराता है। पूर्वमें जो कहा है, अग्निर्मूर्द्धा इत्यादि मंत्रमें पाठक्रमकरनेकी उपपत्ति करनेके निमित्त मंत्र उच्चारण दृष्टार्थ है, इस बातके उत्तरमें कहाजाता है,—"अविरुद्धं परम् १५" वह इस पक्षमें भी अविरुद्ध हैं। दूसरे सूत्रमें (वाक्यनियमात्—इस सूत्रमें) जो क्रम पाठ नियम अदृष्टार्थ कहा है, वह हमारे पक्षमें भी विरुद्ध नहीं है। पाठक्रम नियमका अदृष्ट फल हम निवारण करना नहीं चाहते; यदि कहो तो क्या? और कुछ नहीं यह, मंत्रोच्चारणसे विदित हुआ अर्थज्ञान उच्चारणका दृष्टप्रयोजन है, इस कारण उपेक्षाका विषय नहीं है यही बात कहना चाहते हैं।

प्रोक्षणी आसादन कर यह प्रैषमंत्र ज्ञातअर्थ ज्ञापन कराता है, यह अन्याय है, क्योंकि जिस पैरमें जूता हो उसीमें दूसरा जूता धारण करना असम्भव है। यह

---

१ उरु प्रथस्वेति तै० अ० ३। २। ८। २ प्रोक्षणीरासादय तै० ब्रा० ३। २। ९

जो आपत्ति पूर्वमें कही गई है इस सूत्रमें उसका परिहार कियाजाता है। "सम्प्रैषेकर्म्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् १६" सम्प्रैषकर्म्ममें (प्रोक्षणी आसादनकर, इस प्रैषमंत्रद्वारा जानेहुए कर्म्ममें) दोष नहीं, जो अर्थ विदित है वह मंत्रके द्वारा स्मरण करने पर (मंत्रद्वारा ही स्मरण किया जाता है, ऐसा) नियमजनित अदृष्टरूप संस्कारविशेष उत्पन्न होता है। अतएव मंत्रद्वारा स्मरण करनेका फल नियमादृष्ट है, इस कारण मंत्रका स्मरण निष्फल नहीं है। पूर्वमें जो कहागया है "चारशृङ्ग" इत्यादि मंत्र असत् (जो नहीं) अर्थ बुझाता है, अतएव अर्थज्ञान के निमित्त मंत्रका उच्चारण नहीं है, इस तर्कके उत्तरमें सूत्र कहते हैं "अभिधानोऽर्थवादः" जो वाक्य असत् अर्थ समझावे ऐसा मनमें हो, उस वाक्यमें गौणरूपसे अन्यार्थका प्रतिपादन देखा जाता है। जैसे, कर्म्मके चार शृंग, होता, अध्वर्य्यु, उद्गाता और ब्रह्मा। कर्मके तीन पाद हैं, प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन और सायंसवन (तीसरा सवन)। कर्म्मके दो मस्तक हैं यजमान और उसकी स्त्री। गायत्रीआदि सात छन्द कर्मके सात हाथ हैं। ऋग्वेद सामवेद और यजुर्वेद द्वारा तीन प्रकारके बन्धन हैं। कर्म्म वृषभ—अर्थात् अभिलाषित वस्तु वर्षण करता है। "रोरवीति" शब्दकरता है अर्थात् स्तोत्र शस्त्रादिरूप शब्द वारंवार करता है। प्रौढ यज्ञकर्म्मरूप देवता मनुष्यगणमें आविष्ट हुआ है। इस स्थानमें (यज्ञकर्म्ममें) मनुष्य ही अधिकारी है। लोकमें भी इस प्रकारके गौण प्रयोग देखे जाते हैं। चक्रवाकरूपस्तननिविष्टा, हंसरूपदन्तपंक्तिधारिणी, काशरूपवस्त्रपरिधानकारिणी, शैवालकेशवती नदी शोभा पातीहै, इत्यादि प्रकारसे नदीकी स्तुति की है। इसी प्रकार हे ओषधे! रक्षाकर, पाषाणशकल श्रवण करो इत्यादि अचेतनविषयक सम्बोधनभी स्तुतिप्रतिपादक होनेके कारण योजना करने होंगे। ओषधिविषयमें स्तुतिप्रयोग यथा—जिस वपनमें ओषधिभी रक्षा करती है, उस स्थानमें वपनकर्त्ता रक्षा करता है, इस वातमें और क्या वक्तव्य है? (अर्थात् निश्चयही करतीहै) प्रस्तर श्रवणका स्तुतिपरत्व यथा—जो प्रातरनुवाक पाठ प्रस्तर (अचेतन होनेपर भी) श्रवण करते हैं, विद्वान् ब्राह्मणलोक जो उसको श्रवण करेंगे उसमें और वात क्या? इन सब मंत्रोंका इसी प्रकारसे स्तुतिप्रतिपादनही अभिप्राय है। अदिति द्युलोक, अदिति अन्तरिक्ष, इस स्थलमें जो विप्रतिषेध कहा गयाहै, उसका उत्तर इस सूत्रमें दिया जाताहै। सूत्र यथा,—"गुणादप्रतिषेधः स्यात् १८"गौण प्रयोग स्वीकार करनेपर प्रतिषेध नहीं है। जैसे "तुमही पिता, तुमही माता" इत्यादि स्थलमें एकही व्यक्ति पिता और माता (गौण प्रयोगमें) होसक्ताहै, उसमें विरोध नहीं; इस स्थानमें जो

द्युलोक है, वहीं अन्तरिक्ष होनेपर विरोध नहीं होता; इसी प्रकार एक रुद्र देवता (जिस कर्म्ममें एक रुद्रही देवता है) कर्म्ममें एक रुद्र, और जिस कर्म्ममें शत रुद्र वहां सौ हैं, ऐसे एक रुद्र और सौ रुद्रोंका विरोध दूर किया जाताहै। पूर्वमें कहागयाहै, माणवक जिस समय वेद पाठ करताहै, उस समय अवघात मंत्र पाठ करनेपर भी पूर्णिकाका किया हुया अवघात प्रकाश करनेकी इच्छा नहीं करता यज्ञमें भी इसी प्रकार जानों इस प्रश्नका उत्तर सूत्रमें कहा है। सूत्र "विद्यावचनम-संयोगात् १९" विद्या ग्रहण कालमें जिस अर्थका अप्रकाशन है, उसका यज्ञके साथ सम्बंध होनेसे उपपन्नता होतीहै। पूर्णिकाका अवघात यज्ञसम्बंधी नहीं है। (यज्ञका मंत्रपाठ यज्ञसम्बंधी अवघात प्रकाश करता है, अन्यत्र नहीं, यही तात्पर्य्य है।) माणवक यज्ञ नहीं करता है। यज्ञका उपकारक न होनेके कारण माणवकके अवघात मंत्रपाठमें अर्थविवक्षा नहीं है। "अम्यक् सात्" "सृण्येवजर्भरी" इत्यादि मंत्रका अर्थ न जानेजानेके कारण कुछ भी अर्थ नहीं रखता, इस कारण मंत्रद्वारा किसका स्मरण किया जायगा, यह जो युक्ति पूर्व दिखाई गई है, उसका उत्तर कहा जाता है। सूत्र–"सतः परमविज्ञानम् २०" अर्थात् विद्यमान अर्थ भी नहीं जाना जाता। अर्थ होनेपर भी अनवधान और आलस्यादि दोषसे वह नहीं जाना जाता निगम, निरुक्त, व्याकरण इत्यादिकी सहायतासे धातुसे अर्थ कल्पना करना चाहिये जैसे,–"जर्भरी तुर्फरीतु" इत्यादि अश्विनीकुमारका नाम है। उन सब नामोंमें द्विवचनान्तत्व देखा जाता है। इस सूक्तका नाम आश्विन सूक्त है अश्वि-युगलके सम्बधी सूक्तमें उनकाही वर्णन होना सम्भव है। "आश्विनोः कामप्रा" इत्यादि अश्वियुगलका नाम देखा जाता है। इसे मनमें करके ही निरुक्तकार यास्कने ऐसी व्याख्या की है। जर्भरी–दोनोभर्त्ता "तुर्फरीतु" अर्थ–हन्ता अर्थात् विनाशक तात्पर्य्याधीन अश्वियुगल भर्त्ताभी ठीक है, विनाशक भी ठीक है, इस प्रकारही इस अंशका अर्थ सम्पन्न हुआ है इसी प्रकार "अम्यक् सात्" इत्यादि स्थलमें भी अर्थ कल्पना करनी चाहिये आगे कहागया है प्रमंगद (प्रमंगद) आदि अनित्यपदार्थप्रतिपादक होनेके कारण वेदमन्त्रोंका अना-दित्व नहीं रहता, परन्तु आदिमत्ता दोषसें प्रामाण्यका भी संदेह होता है उस तर्कका इस सूत्रमें उत्तर दियाजाता है। "उक्तश्चानित्यसंयोग इति २१"–अर्थात् अनित्य संयोगसम्बन्ध कहागया है। मीमांसादर्शनके प्रथमपादके शेष

---

१ ऋ० ८। ६। २। १ नि० १३। ५

अधिकरणमें (१) यह अनित्यपदार्थप्रतिपादनदोष कहा गया है और उसका परिहारभी किया हुआ है। उस स्थानमें पूर्वपक्षमें वेदका पुरुषनिर्म्मातृत्व कहनेके निमित्त काठक कालापक (२) इत्यादि पुरुषसम्बंधजनितसंज्ञाको हेतुरूपमें उपन्यस्त करके "अनित्यदर्शन" रूप हेतु सूत्रित कियाहै। उसका अर्थ इसप्रकार है—ववर प्रवाहनिने कामना की थी, इत्यादिस्थानमें अनित्य ववरादि पदार्थ प्रतिपादन देखा जाताहै, जब वेद ववरका प्रतिपादक है, तो ववर वेदके पूर्ववर्त्ती हैं, वेदही उसका परकालीन है; अतएव वेद पौरुषेय और अनित्य है। इस आपत्तिका उत्तर उस स्थानमें सूत्रमें कहाहुआहै, यथा—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" सूत्रार्थ यह है कि, काठकआदि जो समस्त समाख्या हैं (३) वे प्रवचनके निमित्त हैं, रचनानिमित्त नहीं (४) आगे जो ववरादि अनित्यदर्शन कहे हैं, वह शब्द सामान्यमात्र हैं। उस स्थानमें ववरनामक कोईभी अनित्य व्यक्ति विवक्षित नहीं है। किन्तु शब्दका अनुकरणमात्र (ववर यह) है। ऐसा होनेपर ववर ऐसा शब्दकारी वायु ववर शब्दसे अभिहित होताहै। वह फिर प्रवाहनि, अर्थात्: प्रकृष्टरूपसे वहनशील है; इसीप्रकार दूसरे स्थानोंमेंभी कल्पना करनी चाहिये। ऐसा होनेपर किसी दोषकी सम्भावना नहीं (५) अत एव केवल विवक्षितार्थ अर्थबोधके निमित्त मंत्रप्रयोग किया जाता है। यदि कोई प्रश्न करे कि, अर्थ प्रकाश मंत्रोच्चारणका उद्देश्य होनेपर दृष्ट प्रयोजन साधित होता है (अर्थप्रकाशरूप दृष्ट प्रयोजन सम्भव होनेपर अदृष्टप्रयोजन कल्पना करना अन्याय है।) यह युक्तिमात्र है। इस स्थानमें कोईभी श्रौतलिङ्ग इसकी दृढता

---

(१) अधिकरण एक सम्पूर्ण प्रस्ताव है, पहिले विषय, इसके पश्चात् संशय, उसके अन्तमें पूर्वपक्ष, उसके अनन्तर उत्तर और संगति इनके द्वारा एक प्रस्ताव पूर्णरूपसे विचारित होताहै। इस विचार किये हुये सम्पूर्ण प्रस्तावका नाम एक अधिकरण है।

(२) कठविरचित होनेपर काठक नाम होना युक्तियुक्त है। "वाल्मीकीय" कहनेपर जैसे वाल्मीकिरचित समझाजाताहै, इस नामका पाठ करनेपर तद्रूप उक्त शाखा कठरचित समझना चाहिये, ऐसा संदेहमें पूर्वपक्ष है।

(३) समाख्या नाम है। वचन अर्थात् प्रकृष्टरूपसे कहना वा प्रचार करना। कोई एक विषय किसीकेभी द्वारा कथित होनेपर इसी प्रकार संज्ञा अथवा नाम प्रयुक्त होसकताहै।

(४) अथवा वेदमें जो निर्देश है तदनुसार वारंवार होनाभी है।

(५) आख्यायिकामें कुछभी नहीं, वह केवल बातकी बात है मीमांसक ऐसा कहते हैं। आख्यायिकाकी सत्यता स्वीकार कर्त्तव्य स्वीकार होनेपर वेदके प्रामाण्यमें सन्देह होसकताहै। इसको इस प्रकारभी जानना कि, यह आख्यायिका अध्यात्मउपदेशरूपभी होसकतीहै। वा जगत्के व्यापारकीभी प्रतिपादक है।

सम्पादन करता है, ऐसा नहीं देखा जाता । ऐसा होनेपर प्रश्नके उत्तरमें कहा जायगा "लिङ्गोपदेशश्च तदर्थवत् २२ " अर्थात् वाक्यमात्र जो अर्थवत् है, इस विषयमें लिङ्गोपदेश है । श्रुति है (आग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठेत) " आग्नेयी-ऋक् द्वारा अग्नीध्र स्थानमें उपस्थान करना चाहिये" उसका अर्थ इस प्रकार है, जिस ऋक् मंत्रका देवता अग्नि है, वह ऋक् आग्नेयी है, उसके द्वारा अग्नीध्रस्थानमें उपस्थान करे । इस स्थानमें यह उपस्थानउपदेशक ब्राह्मण वाक्य यथा– "अग्ने नय" इत्यादि ऋक् द्वारा उपस्थान करे । यह उपदेश मंत्र प्रतीक पाठ करके नहीं है, मंत्रमें आग्नेयीत्व लिङ्गप्रदर्शन करकेही यह उपदेश है । उस ऋक् में जब अग्नि प्रधानरूपसे प्रतिपादित होती है, उस समय उस ऋक्का देवता अग्निही होगा । ऐसा होनेपर आग्नेयी शब्दमें देवतावाची तद्धित प्रत्यय (वह इसका देवता है इस अर्थमें जो तद्धित प्रत्यय होती है) उपपन्न हुई समझा जाय इस प्रकारका उपदेश किया हुआ होनेके कारण मंत्रवाक्यका अर्थ है । (अर्थ न होनेपर तदर्थमें तद्धित प्रत्यय और उसके अनुसार नियोग इसको कुछभी नहीं हो सकते । मंत्र विवक्षितार्थ होनेके कारणही प्रयोगकालमें अर्थ स्मरण करनेके निमित्त मंत्रोच्चारण किया है ।) मंत्रकी अर्थविवक्षा है । इस विषयमें सूत्रमें अन्य एक हेतु दिखाते हैं । यथा–"ऊहः२३" अर्थात् ऊह देखाजाताहै इसकारणही मंत्र विवक्षितार्थ है । प्रकृतियागमें पठित मंत्रके विकृतियागमें (१) समवेतार्थरक्षा करनेके निमित्त तदुपयुक्त अन्यशब्द सन्निविष्टकरके पाठकरनेका नाम ऊह है । "अन्वेनं मातामन्यताम्" इति[तै० १।२।४] इत्यादि मंत्र यथार्थपशु विषयमें पढाजाताहै । वह मंत्र जब विकृतिमें पठित होगा, उस समय मंत्रमें ऊह करना होगा । प्रकृतिमें एक पशु, विकृतिमें दो पशु हैं, इस कारण प्रकृतिमें अन्वेनं यह एकवचनान्त पाठ है, विकृतिमें अन्वेनौ ऐसा द्विवचनान्त पाठ करना चाहिये । बहुत पशु होनेपर, अन्वेनान् ऐसा बहुवचनान्त ऊह करना चाहिये । इस "अन्वेनं" इत्यादि मंत्रका व्याख्यान ब्राह्मणमें इस प्रकार कहागया है (न माता वर्धते न पिता) "पिता वृद्धि नहीं पाता, माता वृद्धि नहीं पाती ।" इस स्थानमें विचारका विषय यह है कि, पितामाताकी शरीरवृद्धि क्या इस स्थानमें निषिद्ध हुई है ? अथवा शब्द (पितृ मातृ) वृद्धि है ? एकवचनान्त मातृशब्दका द्विवच-

(१) जिस यागप्रकरणमें समस्त वा अधिकांश अङ्गकर्म उपदिष्ट हुआहै, वह याग प्रकृति है,– जिसप्रकार सोमयाग । और जिस स्थानमें अल्प अङ्ग कर्म्मका उपदेश है वह यागविकृति है । प्रकृतिकी समान विकृति करे इस विधानको चोदक वाक्य कहतेहैं । इसके द्वारा प्रकृतियागके अङ्ग-समूह विकृतिमें उपस्थित होतेहैं । विकृति जैसे वाजपेय ।

नान्त "मातरौ" और बहुवचनान्तकरके "मातरः" ऐसा प्रयोग करनेपर शब्द वृद्धि होती है। शरीरवृद्धि निषेध नहीं किया जासकता। बाल्य, कौमार, यौवन इत्यादि आयुके अनुसार शरीरकी वृद्धि प्रत्यक्ष है। परिशेषमें शब्दवृद्धि ही अवशिष्ट है। मातृशब्द पितृशब्दकी विशेषरूपसे वृद्धि निषेध करनेसे दूसरे "एनं" इस शब्दकी अनुसारिणी वृद्धि सूचित होती है, इसस्थानमें यदि अर्थ विवक्षा न होती तो पशुके एकत्वमें एकवचन, द्वित्वमें द्विवचन और बहुत्वमें बहुवचन होनेका कारण क्या था ? अत एव मन्त्र विवक्षितार्थ है। इस विषयमेंही अन्य एक हेतु सूत्रित किया जाताहै। "विधिशब्दाच्च २४" अर्थात् विधिशब्दसेभी विवक्षितार्थ जाना जाता है। मन्त्र व्याख्यारूप वेदके ब्राह्मणभागान्तर्निविष्ट शब्दको विधिशब्द कहाजाता है। "शतं हि मा शतं वर्षाणि जीव्यास्मेत्येवैतदाहेति" इसप्रकार ब्राह्मणगत विधिशब्द पठित है। इसमें "शतंहिमा" यही व्याख्येय मन्त्रका प्रतीक भाग है। अवशिष्टांश मन्त्रकी तात्पर्य व्याख्या है। यदि शब्दका अर्थही विवक्षित न हो तो किस तात्पर्यकी व्याख्या करनी होगी ? अत एव मन्त्र विवक्षितार्थ है। कर्म्म अनुष्ठानकालमें मन्त्रका अर्थ प्रकाश करनेके निमित्तही मंत्र उच्चारण करना उचित है। इन श्लोकोंमें यह सिद्धान्त निबद्ध हुआ है। इन दोनों श्लोकोंका अर्थ यह है। उरु प्रथस्व इत्यादि मन्त्रोच्चारण करनेपर क्या अदृष्ट उत्पन्न होता है अथवा यागादिमें पुरोडाशप्रथनादि अर्थका बोध उत्पन्न होता है ? ब्राह्मण व्याख्यासे पुरोडाश प्रथम कहा गया है, अतएव मन्त्रके उच्चारणमें पुण्य उत्पन्न होता है यह बातही नहीं कही जासकती; क्योंकि अर्थज्ञान दृष्टप्रोजन है, पुण्यादि अदृष्ट, दृष्टफलकल्पना अदृष्टफलकल्पनासे उत्कृष्ट है; अतएव अर्थज्ञान मन्त्र उच्चारणका उद्देश्य है।

आपत्तिकारी कहते हैं, मन्त्रभागानुष्ठानके समय अर्थस्मारकत्वके कारण (अर्थस्मरणकरानेके कारण) प्रामाण्य हो, किन्तु ब्राह्मणभाग प्रामाण्यउपयुक्त नहीं है। ब्राह्मण दो प्रकारका है, विधि और अर्थवाद। आपस्तम्ब कहते हैं, कर्म्मकी प्रेरणा अर्थात् विधि ब्राह्मण है विधिरूप ब्राह्मणका शेषभाग अर्थवाद है। विधि भी दो प्रकारकी है, आवृत्तप्रवर्तक और अज्ञातज्ञापक।

---

१ मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ॥ यागेषूतपुरोडाशप्रथनादेश्च भासकाः ॥ १॥ ब्राह्मणेनापि तद्भानान्मन्त्राः ॥ पुण्यैकहेतवः। न तद्भानस्य दृष्टत्वाद्दृष्टं वरमदृष्टतः ॥ २ ॥ कर्मचोदना ब्राह्मणानि ब्राह्मणशेषोऽर्थवाद इति आपस्तम्बधर्मसूत्रे।

दीक्षणीयानामक इष्टिमें (१) * अग्निदेवताका पुरोडाश (२) निर्वापकरे, इत्यादिकर्म्मकाण्डगत विधि अप्रवृत्त कर्म्मकी प्रवर्त्तक है। और "सृष्टिके पूर्वमें यह दृश्यमान जगत् एक सन्मात्र आत्मा ही था" इत्यादि ब्रह्माण्ड (उपनिषद्) गत विधिसमूह अज्ञातज्ञापक है। उसमें कर्म्मकाण्डगत "जर्त्तिल यवागूसे अथवा गवीधुक यवागूसे होमकरे" इस समस्त विधिका प्रामाण्य नहीं है, क्योंकि अनुष्ठानके अयोग्य द्रव्य विधान करनेसे इस विधिका सम्यक् ज्ञानसाधनत्व नहीं है, अर्थात् इसके द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह असम्पूर्ण है। इस विधिमें जर्त्तिल यवागू विधान किया है, जर्तिलयवाग्वा जुहुयाद्गवीधुकयवाग्वेति० तै० सं०५।४।३ वाक्यशेषमें उस जर्त्तिलकेही योगमें अयोग्यत्व कथित हुआहै। जैसे "जर्त्तिल और गवीधुक आहुतिके अयोग्यहैं" (तै० सं० ५।४ ३।। अनाहुतिर्वै जर्तिलाश्च गवीधुकाश्चेति) उस स्थानमें अरण्यतिल (जर्त्तिल) और अरण्यगोधूमकी (गवीधुककी) आहुतिद्रव्यत्व निषिद्ध हुएहैं। इसकारण जर्त्तिलादि विधानकी बाधा उपस्थित होनेसे यह सब विधि अप्रमाण हैं। इस प्रकार ऐतरेय २।२३। तैत्तिरीयादि १।१।८। ब्राह्मणमें वह समस्त अंश आदर करनेके योग्य नहीं हैं। (क्यों कि उस स्थानमें) "वह इसप्रकारसे नहीं करना चाहिये" इस वाक्यसे अनेक विधिका निषेध कियाहै। और भी ऐतरेयब्राह्मण ५।३१। में अनुदित होमकी अनेक निन्दा करके, उदितमें (सूर्य-उदय होनेपर) होमकरे, इस बातका बारंवार सिद्धान्त कियाहै। इसी प्रकार तैत्तरीयगणभी २।१।२ ब्रा० में कहते हैं, सूर्य्य उदित न होनेपर जो होम-करेगा, उसके दोनोंही आग्नेय होंगे। अग्निसम्बन्धी होगा ऐसा कहनेमें होमकी प्रशंसा की है। अग्निसंबन्धी न होकर भस्म संबन्धी होनेपर(वह होम वृथा होजायगा। (लोकमें कहते हैं भस्म होम) फिर वही लोक उदित होममें दोष कहते हैं। सूर्य्य उदित होनेपर, प्रातःकालमें जो होमकरे,वह शून्य घरमें कुछ न पाकर फिर जाताहै, २।१।२ ऐसे अतिथिके निमित्त भोजन लेकर जानेका मत है। वास्तवमें अतिथि घरमें यत्न न पाकर चला जाताहै, फिर यत्न करना निन्दाजनक है। और भी अतिरात्रसंज्ञकयागमें (३) षोडशिग्रह (४) ग्रहण करनेकी विधि है।

---

(१) दीक्षणीया इष्टि ज्योतिष्टोमका अङ्ग है। दर्शपूर्णमास इष्टिकी विकृति है। इष्टिमें सामगान नहीं होता यागमें होता है, यागभी इष्टिका भेद यही है।

* आग्नावैष्णवं पुरोडाशं निर्वपन्ति ऐत०ब्रा०१।१+आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् ऐत०उ०।

(२) यज्ञीय हविविशेष। व्रीहि यवादि निर्मित पिष्टकाही पुरोडाश है इसको अग्निमें डालकर होम किया जाता है।

(३) ज्योतिष्टोमके सात संस्थाओंमेंसे अतिरात्र एक संस्थाका नाम है।

(४) ग्रह सोमरस रखनेके निमित्त पात्रविशेष, उनमेंसे षोडशी एक पात्रका नाम है।

वह "अतिरात्रमें षोड़शिग्रह ग्रहण न करे", निषेधके द्वारा बाधित होता है। ज्योतिष्टोमादि यागकेभी अनुष्ठानके पश्चात् स्वर्गादि फललाभ नहीं किया जाता। भोजनके पश्चात् तृप्तिकी अनुपलब्धि सम्भव नहीं। इसकारण यागान्तरमेंही स्वर्ग होना उचित था इसकारणही कर्मविधिमें प्रामाण्य संस्थापन करना दुष्कर है। अज्ञातज्ञापक ब्रह्मविधि समूहमेंभी परस्पर विरोधिताके होनेसे प्रामाण्य नहीं है। "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" सृष्टिके पूर्वमें दृश्यमान यह जगत् एक मात्र आत्मा रूपमें था, ऐतरेय शाखाध्यायिगण ऐसा कहते हैं, फिर यह पूर्वमें "असद्वा इदमग्र आसीत्" असत् था तैत्तिरीयगण ऐसा कहते हैं। इस विरोधसे बहुहेतुक वेदका समग्र विधिभाग अप्रमाण है।

ऐसी आपत्ति उपस्थित होनेपर कहीं, जर्तिलादि विधिका प्रामाण्य न हो क्योंकि इस विधिके प्रतिपाद्य कर्मका अनुष्ठान करना नहीं होगा, अनुष्ठेय अंशही प्रमाण है। अजाक्षीर (बकरीके दूध) से होम करे, इस वाक्यद्वारा विहित होमही इस स्थानमें अनुष्ठेय कर्म्म है। बकरीके दूधकी प्रशंसाके निमित्त जर्तिलादिकी निन्दा कीगई है (१)। जिसप्रकार गऊकी और अश्वकी प्रशंसा करनेके निमित्त गौ अश्वके अतिरिक्त दूसरे पशु नहीं हैं, "अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः" इति, इस अर्थवाद वाक्यसे छागआदिके पशुत्वकी निन्दा की है। उसीप्रकार इस स्थानमें भी ऐसा होनेपर, जैसे छागादिका यथार्थ पशुत्व है, इसीप्रकार जर्तिलादिविधिकी इस स्थानमें निन्दा करनेपर भी शाखान्तरमें उसकी प्रामाणिकता है, ऐसा कहनेपर उस शाखाध्यायीके निकटही प्रामाण्य होना चाहिये, दूसरेके निकट अप्रमाण होनेसे भी नहीं। जिसप्रकार गृहीके पक्षमें निषिद्ध परान्नभोजन गृहस्थाश्रममें अप्रमाण होनेपर भी, अन्यआश्रममें (भिक्षुकआदिका) प्रामाणिक होनेके कारण गृहीत होता है। इसीप्रकार सब स्थानोंकी परस्पर विरुद्ध विधि निषेधकी पुरुषभेदसे व्यवस्था करनी चाहिये। (जिसके प्रति विधि है, उसके प्रति निषेध नहीं है अधिकार भेदसे एक स्थानकी विधिके साथ दूसरे स्थानके निषेधका कोईभी विरोध नहीं होता।) जिसप्रकार मंत्रमें पाठभेद शाखाभेद व्यवस्थित हुआ है। तैत्तिरीयशाखीगण "वायवस्थोपायवस्थ" ऐसा मंत्रपाठ करते हैं। वाजसनेयिगण "उपायवस्थ" इस अंशका पाठ नहीं करते प्रत्युत शतपथब्राह्मणमें यह अंश उद्धृत करके निराकृत किया है। इसीप्रकार सूत्रवाकमंत्रमें अन्यशाखाका पाठ निरास करके

---

(१) निन्दाका उद्देश्य दूसरेकी प्रशंसा है। आचार्य्य कहते हैं "नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्तते इतरच्च प्रशंसितुम्।"

तैत्तिरीयोंने दूसरा पाठ ग्रथित किया है, "सूपावसाना च स्वध्यवसाना च" ऐसा कहनेपर यजमान विपदापन्न होगा । इस वाक्यसे यह पाठ निराकृत हुआ है । " सूपचरणा च स्वधिचरणा च " इसप्रकारही कहना उचित है, अन्यथा नहीं । इसप्रकार पाठान्तरका उपदेश दिया गया है । अनुष्ठाता पुरुषभेदसे इन सबमें व्यवस्था करनी चाहिये । जो मीमांसाकी बात नहीं सुनता, वह षोड़शिग्रहण में दोष देता है, पूर्वमीमांसामें दशम अध्यायके अष्टमपादमें षोड़शिग्रहण और षोड़शिग्रहण न करनेका विकल्प निर्णीत हुआ है । द्वितीयाध्यायके प्रथम पादमें कर्म विनाशके पश्चात् अनेक समयके अनन्तर प्राप्य स्वर्गादि फलकी सिद्धि करनेके निमित्त " अपूर्व निर्णय किया है । इसीप्रकार उत्तरमीमांसामें पहले अध्यायके चौथे पादमें "कारणत्वेन च आकाशादिषु यथा व्यपदिष्टोक्तेः" १४ इस सूत्रमें जगत्कारण परमात्मा है इस विषयमें श्रुतिकी विप्रतिपत्ति विनाश की है । उत्तरमीमांसामें दूसरे अध्यायके पहले पादमें आरम्भण अधिकरणमें "असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् १७" इस सूत्रमें तैत्तिरीय वाक्यगत असत् 'शब्दका "असदेव वा इदमग्रआसीत्" इसस्थानमें अर्थ "शून्य" नहीं है, किन्तु 'जगत्की अव्यक्तावस्था है" ऐसा निर्णीत हुआ है । इसीप्रकार जैमिनिने "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः १।१।२।" इस पूर्वमीमांसासूत्रमें विधिवाक्य धर्ममें प्रमाण है, ऐसी प्रतिज्ञा करके "औत्पत्तिकस्तु ५" इस सूत्रमें उसका समर्थन किया है । व्यासदेवने भी "शास्त्रयोनित्वात् १ । १ । ३।" इस सूत्रसे वेदान्तशास्त्रका ब्रह्ममेंही प्रामाण्य है, ऐसी प्रतिज्ञा करके "तत्तु समन्वयात्" इत्यादि सूत्रोंके द्वारा उसका समर्थन किया है। अतएव अमीमांसकको इन सब स्थानोंमें यह समस्त न्याय (तर्क) अनिवार्य्यही उठता है । अभिज्ञमीमांसकका ऐसा भाव नहीं होता । अत एव विधिभागका प्रामाण्य स्थिर हुआ ।

अर्थवादभागका प्रामाण्य महर्षि जैमिनिने बहुप्रयत्न स्वीकारकरके समर्थन किया है। उनके सूत्रोंकी व्याख्या की जायगी । पहिले पूर्वपक्ष लिखते हैं । सूत्र यथा– "+आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते" पू० मी०अ० १ पा० सू० १ समस्तवेदभागही क्रिया (कर्म्म) प्रतिपादनमें प्रवृत्त है, इसकारण जिस वेदभाग द्वारा कोई कर्म प्रतिपादित न हो, उस अर्थवादसमूहका प्रामाण्य नहीं है । वह अर्थवादसमूह वेदमें पढ़ागया है, यथा,– "उसने रोदन कियाथा, जो रोदन कियाथा वही रुद्रका रुद्रत्व है ।" "उसने अपनी वपा उखाड़ीथी ।" "देवै

+ यहांसे लेकर १८ सूत्र पूर्वमीमांसाके १ अध्यायके दूसरे पादके जाननें ।

१ "सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्" तै०सं० १।५।१। २ "स आत्मनो वपमुदक्खिदत्" तै०सं० २।१।१। ३ "देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन्" तै० सं० ६।१।५ ॥

गण देवयजन आरम्भ करके दिक् नहीं जानसकेथे । " इन समस्त वाक्योंका जब कोई भी विवक्षित अर्थ नहीं, तो यह सब अनित्य कहे जा सकते हैं। यद्यपि अनादि होनेके कारण स्वरूपतासे अनित्यत्व सम्भव नहीं, तथापि धर्म्मावबोधरूप नित्यकार्य्य न करनेसे अनित्यकाव्यालापादिके समान है, इसकारण अप्रमाण है। इस स्थानमें आपत्ति होती है, जो समस्त अर्थवाद वाक्य उद्धृत किये हैं, वे धर्म्मानुष्ठानके प्रमाण न होनेपर भी अपने प्रतिपाद्य अर्थमें प्रमाण होते हैं। स्वार्थ प्रतिपादन करनेपर उनका स्वतः प्रामाण्य अस्वीकार नहीं किया जायगा, ऐसी आशंका करके (पूर्वोक्त मतमें उनका अप्रमाण नहीं कहा गया इसकारण) अन्य कितनेही अर्थवाद वाक्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाणका विरोध देखकर, उनका अप्रमाण होनेके कारण अन्तमें उस दृष्टान्तमें सब अर्थवादही अप्रमाण हैं ऐसा कहा जासकेगा यह मनमें करके सूत्रमें कहाजाता है। "शास्त्रदृष्टविरोधाच्चेति २" शास्त्र-विरोध और दृष्टविरोध तथा शास्त्रदृष्टविरोध यह तीनप्रकारका विरोध अर्थवाद वाक्यमें पाया जाता है। जैसे-"स्तेनं मनोऽनृतवादिनी वाक्" अर्थात् स्तेन मन मिथ्यावादिनी वाक्" इस स्थानमें श्रुत मानसचौर्य्य और वाचिक मिथ्याकथन निषेध शास्त्रके साथ विरुद्ध होता है।"इसीप्रकार दिनमें अग्निका धूम देखाजाताहै लपट नहीं देखी जाती,इसी भाँति अग्निकी अर्चि रात्रिमें देखी जाती है, धूम नहीं देखाजाता" इस स्थानमें प्रत्यक्षविरोध है क्योंकि वास्तवमें देखाजाता है। (इस प्रत्यक्ष विरोधका नाम दृष्टविरोध है।) कौन उसको जानता है जो इस लोकमें है अथवा नहीं इस स्थानमें शास्त्रदृष्टके साथ विरोध है। (स्वर्गकामो यजेत) "स्वर्गकामनासे याग करना चाहिये" इत्यादि शास्त्रमें पारलौकिक फल देखा जाताहै। इस कारण विरोधनिबंधन अर्थवादका प्रामाण्य नहीं। "उसने रोदन किया था" इत्यादिका प्रयोजन होनेके कारण और "मनस्तेन"इत्यादि अर्थवादका शास्त्रदृष्टविरोध होनेसे अप्रामाण्य होनेपरभी फलप्रतिपादक अर्थवाद समूहका दोनोंकी अपेक्षा वैलक्षण्य होनेका कारण प्रामाण्य है, ऐसी आशंका करके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं, "तथाफलाभावात् ३।" इति। अर्थात् उसप्रकारका फल न होनेके कारण भी अप्रामाण्य है। जिसप्रकार अन्य प्रमाण विरुद्ध विषय अर्थवादवाक्य कहाता है, इसीप्रकार जो फल नहीं (हो नहीं सकता) वह भी अर्थवादवाक्य कहासकता है। जैसे गर्गत्रिरात्रब्राह्मणको लक्ष्य करके वेदमें कहा है "जो इसको जानता है उसका मुख शोभित होता है" "शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद" इति। इसस्थानमें प्रकृतपक्षमें शोभा नहीं पाता, अतएव फल वाक्य भी मिथ्या है। दर्श

पूर्णमास यज्ञका वेदाभिमर्शन उपलक्ष्य करके वेदमें श्रुत हुआ है "[1]इसकी सन्तानादि अन्नशाली होगी जो इसको जानता है" । जो लोग जानते हैं, उनका ऐसा फल हम नहीं देखपाते. ऐहिक समस्त फल वाक्य विसंवादके कारण अप्रमाण होनेपर भी पारलौकिक फलवाक्यसमूह प्रमाणरूपसे गृहीत होवेंगे यह आशंका-करके पूर्वपक्षवादी आशंकाके उत्तर सूत्रमें कहते हैं । सूत्र यथा—"अन्यानर्थक्यात् इति ४" अर्थात् अन्य समस्त वृथा होनेके कारण आमुष्मिक फल वाक्य भी अप्रमाण है । वेदमें पढा जाता है "[2]पूर्णाहुतिद्वारा समस्त फल प्राप्त होजाता है" । "[3]पशुबन्धयाजी सब लोकोंको जीतता है" ।"[4]जो अश्वमेधयज्ञ करता है वह मृत्यु और पापसे उत्तीर्ण होता है जो इसको जानता है वह भी उत्तीर्ण होता है ।" अग्न्याधानगत पूर्णाहुतिद्वारा समस्त काम्यफलकी प्राप्ति होनेपर अग्निहोत्रादि तत्परवर्त्ती सब कर्म वृथा होजाते हैं । इसीप्रकार निरूढ पशुबन्ध याग अनुष्ठान करनेपर यदि सब लोकोंको जीतलिया जाय तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञ वृथा हैं । अध्ययनकालमेंही अश्वमेध यज्ञका विषय जानकर उसके द्वारा ब्रह्महत्याके हाथसे मुक्ति पानेपर, अश्वमेधानुष्ठान व्यर्थ होता है । इसकारण परकालके फलवाक्यसमूहभी अनर्थक है । इस स्थानमें शंका होसकती है, फलवाक्यका प्रमाण न हो, किन्तु निषेधवाक्यसमूहोंके मध्यमें विरोध न होनेके कारण उनकाही प्रामाण्य स्थिर होताहै । इस शंकाके उत्तरमें पूर्वपक्षी कहते हैं, "अभागिप्रतिषेधात् ५" इति "पृथिवीमें अग्निचयन न करे, अन्तरिक्षमें न करे, द्युलोकमें न करे ।" इस निषेधमें अन्तरिक्षमें भी द्युलोककी निषेधभागिता नहीं है । उस स्थानमें अग्निचयनका प्रसंगही नहीं है । (प्रसंग न होनेपर निषेध वृथा है ।) निषेधवाक्यसमूहोंका प्रामाण्य न हो, किन्तु पूर्वपुरुषीय वृत्तान्तप्रतिपादक "प्रवाहणके पुत्र "बबर" ने कामना की थी" इत्यादिवाक्यका विरोध नहीं है, इसकारण प्रामाण्य सिद्ध होताहै । ऐसी आशंका करके पूर्ववादी आशंकाके उत्तरमें कहते हैं, "अनित्यसंयोगादिति ६" बबर आदि अनित्य पदार्थके (वस्तु व्यक्ति आदिके) साथ वेदवाक्यका संयोग अर्थात् प्रतिपाद्य प्रतिपादकता सम्बंध होनेपर यह वेदवाक्य बबरादिका पूर्ववर्ती नहीं है इसकारण, मनुष्योंके वाक्यकी समान पौरुषेय वाक्य होते हैं । अधिक कहनेका प्रयोजन नहीं देखते । सबप्रकारसेही अर्थवादका प्रामाण्य नहीं है । पूर्वपक्षका इस स्थानमेंही शेष है ।

---

१ आस्य प्रजायां वाजी जायते० तैत्ति० १ ।७।४ ॥२पूर्णाहुत्या सर्वान्कामानवाप्नोति ।३ पशुबन्धयाजी सर्वाँल्लोकानभिजयति । ४ तरति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।

यहांसे सिद्धान्त कहा जाता है। सिद्धान्त, वादीका सूत्र-"विधानात्त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थत्वेन विधीनां स्युः ७" विधिके साथ अर्थवादकी एकवाक्यता है, अर्थवाद विधिकी स्तुति करताहै, अतएव अर्थवादका प्रामाण्य है । सूत्रका "तु" शब्द अर्थवादका अप्रामाण्यनिवारण समझाता है" वायु क्षिप्रगामी देवता इत्यादि अर्थवादवाक्यके साथ "वायु देवताको श्वेतछागल आलम्भ करे । " इस विधिकी एकवाक्यता है इसकारण उसका धर्म्ममें प्रमाण है। अर्थवादवाक्य व्यतिरेकमें विधिवाक्यमें पदान्वय सम्पूर्ण होताहै अर्थ ज्ञान भी उत्पन्न होताहै, इसकारण उस अर्थवादकी उपयोगिता नहीं ऐसी शंका नहीं हो सकती । समस्त अर्थवाद पुरुष प्रवृत्ति आकांक्षाकारी विधिगणकी स्तुतिमें उपयुक्त होताहै । स्तुति (विधेय विषयकी स्तुति) द्वारा प्रलोभित व्यक्ति विधि प्रतिपादित विषयमें प्रवृत्त होताहै । अर्थवाद समूह भ्रम प्रमादवशते पठित होनेके कारण उपेक्षित होने उचित है, एकवाक्यता करनेके निमित्त इतना प्रयत्न क्यों ? ऐसे प्रश्नकी शङ्का करकेही सिद्धान्तवादी उत्तरमें कहतेहैं. "तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ८" अनध्यायके दिन छोड़कर नियमपूर्वक गुरुसम्प्रदायसे अध्ययनको सांप्रदायिक कहतेहैं. वह विधि और अर्थवाद दोनोंमेंही समान है इसकारण विधिकी समान अर्थवादका पाठभी भ्रम प्रमाद युक्त नहीं कहाजाता । शास्त्रदृष्ट विरोध है इससे अर्थवादमें अनुपपत्ति प्रदर्शित हुई उसका उत्तर क्या ? ऐसी आशंकाकरके सिद्धान्ती कहते हैं "अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्यते९" तन्त्र वार्तिकमें यह सूत्र तीन प्रकारसे व्याख्यात हुआ है। "अप्राप्तां च अनुपपत्तिः "अप्राप्ता चानुपपत्तिः" "अप्राप्तं च अनुपपत्तिम् " यह तीन प्रकारका पाठ उस स्थानमें गृहीत हुआ है। "स्तेन मन" इत्यादि स्थानमें शास्त्र विरोधादि अनुपपत्ति नहीं हो सकती।इसकारण प्रयोगमें नहीं कहा गया है । स्तेयादिका प्रयोग कहनेपर शास्त्रके साथ विरोध होता है। (क्योंकि शास्त्र चोरी आदि करनेका निषेध करता है ।) इस स्थानमें चोरी करनी चाहिये ऐसा प्रयोग उपदिष्ट नहीं हुआ है । किन्तु स्तेय शब्दार्थ कहा जाता है स्तेयशब्दार्थ इस स्थानमें प्रयोगभूत नहीं है। इसकारण शब्दार्थ वचनमात्रद्वारा शास्त्रविरोध नहीं होता, इसकारण यह अर्थवादही उपपन्न हुआ । इस स्थानमें आपत्ति हो सकती है कि विधिका स्तुति करनेवाला अर्थवाद है यह बात नहीं कही जाती क्योंकि वैयधिकरण्य है। (एककी स्तुति दूसरेकी विधि इसका नाम वैयधिकरण्य है)

१ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता—वायव्यं श्वेतमालभेत ।

"वेतस शाखा और अवकाविकर्षण करै ।" "जलसमूह मंगलदायक है" इस स्थानमें वेतसशाखा और अवकाका विधान है । यह अनुपपत्ति शंका मनमें करकेही सिद्धान्ती उत्तर कहता है, "गुणवादस्तु१०" अर्थात् इस स्थानमें गुणवाद विवक्षित है । सूत्रका "तु" शब्द वैयधिकरण्य दोष वारण करता है । इस स्थानमें गुणवादही वक्तव्य है । जैसे लोकमें देखा जाता है, काश्मीर देशीय देवदत्त काश्मीरदेश स्तुत होनेपर अपनेको भी मनमें स्तुत समझता है । इसप्रकार इस स्थानमें भी जल स्तुत होनेपरही जलसे उत्पन्न वेतस और अवका स्तुत होते हैं, क्योंकि वह शान्तजलसे उत्पन्न हैं । वह वेतस और अवका स्वयंभी शान्तहोकर यजमानका अनिष्ट प्रशमित करती हैं इसप्रकार गुणका वाद अर्थात् वचन इस स्थानमें अभिप्रेत है "उसने रोदन कियाथा" इस स्थानमें भी रजत पतित अश्रु-स्वरूप होनेके कारण रजत दान करनेपर घरमें रोदन होसकता है इस निबन्धनकी "बर्हिषि रजतं न देयम्" इस निषेधविधिके साथ एकवाक्यता होती है । इस स्थानमें रजतदानके अभावमें रोदनका भी अभाव होगा, यह रोदनाभावही इस स्थानका विवक्षित गुण है । उस गुणसेही रजतदान निवारणरूप विधि स्तुत होती है । यद्यपि रजतसे आंसू गिरे वह वाक्य अत्यन्त असत् है, तथापि कथित नियममें विधिकी स्तुति इस अर्थवादके द्वारा सम्पन्न होती है । "जो प्रजाकाम और पशुकाम होवे वह इस प्रजापति देवताको पवित्र छाग आलम्भ करै" तै० सं० २ । १ । १ इस विधिका शेष "उसने वपा उखाडी थी" इत्यादि[१] अर्थवाद है । प्रजापतिने अपनी वपा उखाडकर अग्निमें प्रक्षेप करनेके पश्चात् उससे उत्पन्न पवित्र पशुका आलम्भन अपने निमित्त करनेके पश्चात् प्रजा और पशु प्राप्तकिये थे । इस कारण यह तूपर पशु प्रजादिसम्पादक है । इस प्रकारके तूपर गुणका वाद अर्थात् कथन इस स्थानमें अभिप्रेत है । "आदित्यः प्रायणीयः चरुः" यह विधि "दिक् जाननेमें समर्थ नहीं हुएथे" इस दिङ् मोहज्ञापक अर्थवादके द्वारा स्तुत हुई है । जिस प्रकार यह अदिति देवता दिङ्मोह हटाकर दिग्विशेषमें यथार्थज्ञान उत्पन्न करा देता है, उसी प्रकार बहुकर्म समुदायरूप सोमयागमें अनुष्ठान विषयमें भ्रम दूर करता है इसमें और वक्तव्य क्या है ? इस प्रकार अदितिदेवतागत गुणका कथन इस स्थानमें (अभिप्रेत) विवक्षित है । अपने वपाका उखाड़ना और देवयजनाध्यवसानमें दिग्भ्रम यह दोही अर्थवाद हों वा न हों, सब प्रकारके अर्थवाद स्तुति करनेवाले स्वीकार करनेपर हमारी कोई भी हानि नहीं । हे वत्स ! तुम्हारी शिखा

१–वेतसशाखया चावकाभिश्च विकर्षत्यापो वै शान्ताः । तै० सं० । ५ । ४ । ४ ।

२–आदित्यः प्रायणीयश्चरु० तै० सं० ६ । १ । ७ । ४ ॥ ३–तै० सं ६ । १ । ५ । ४ ।

बढती है, श्रद्धाकरके गुडूची पानकरो, इन सब स्थानोंमें अविद्यमान शिखा-वृद्धि द्वाराभी लोकमें गुडूचीकी स्तुति करना देखाजाता है, पूर्वपक्षवादीने शास्त्र-विरोध दिखानेमें जो "स्तेनमन" इत्यादि उद्धृत किया है । उसका उत्तर सूत्रमें कहाजाता है । सूत्र यथा, "रूपात् प्रायात्" ११ । "सुवर्ण हाथमें होगा पश्चात् ग्रहण करेगा" इस विधिकी स्तुति करनेके निमित्त यह पूर्वोक्त स्तेनमन इत्यादि अर्थवाद कहागया है । जैसे लोकमें देखाजाता है, "ऋषिसे कार्य्य क्या ? देवदत्त की ही पूजाकरनी उचित है" इन समस्त वाक्योंमें देवदत्त पूजाकी स्तुति करनेके निमित्त ऋषिमें औदासीन्य उपन्यस्त कीगई है, ऋषिका पूज्यत्व निषेध करनेके निमित्त नहीं । इसी प्रकार इस स्थानमें भी हस्तमें सुवर्ण ग्रहणकी प्रशंसा करनेके निमित्त मनकी चौरता और वाक्यके मिथ्यावादित्वका उपन्यास किया है गुण वादमें शब्दकी अर्थ योजना करनी चाहिये । जैसे स्तेन अर्थात् प्रच्छन्न रूप है इसी प्रकार मनभी, इस स्थानमें प्रच्छन्न रूप गुण है । प्रायही वाक्य मिथ्या वलसे इस स्थानमें प्रायकत्व गुण है । हस्तप्रच्छन्नभी नहीं मिथ्या वहुल भी नहीं, इस कारण हस्तमें हिरण्यधारण प्रशस्त है, इस प्रकारकी स्तुति की गई है । दृष्ट विरोध दिखानेके निमित्त " दिनमें अग्निका धूम देखा जाता है" इत्यादि जो उदाहरण दिया गया है, उसके उत्तरमें कहा जाता है, "दूरभूयस्त्वात् १२" अर्थात् वहुत दूर होनेके कारण " देखा नहीं जाता" कहा गया है । "सूर्यःस्वाहा इस मंत्रसे प्रातःकालमें होमकरना चाहिये" इत्यादि दोनों विधिकी स्तुति करनेके निमित्त पूर्वोक्त अदर्शनज्ञापक अर्थवाद उक्त हुआ है । क्योंकि अर्चि दिनमें नहीं देखी जाती, इस कारण रात्रिमें अग्नि मंत्र प्रयोग करना चाहिये, सूर्य मंत्र दिनमें प्रयोग करना चाहिये.इसप्रकार उन दोनों मंत्रोंका स्तुतिविधान कियागया है । धूम और अर्चिका अदर्शनोल्लेख वहुदूरता गुणनिवन्धन है । वहुत पर्वतोंके स्थानमें वृक्षादिभी स्पष्ट रूपसे नहीं देखेजाते किन्तु उनको तृणसदृश देखाजानेके कारण दर्शन ज्ञान असम्पूर्ण अर्थात् वह दर्शनाभास है ।इस स्थानमें उसीप्रकार समझना चाहिये। (देखना कठिन है इसकारण प्रदर्शन कहागयाहै ।) दृष्टविरोध दिखानेके निमित्त पूर्वपक्षीने जो "हम ब्राह्मण अथवा अब्राह्मण हैं सो नहीं जानते" यह अर्थवाद वाक्य उद्धृत करके दिखायाहै,सिद्धान्ती सूत्रमें उसका उत्तर कहता है । सूत्र–जैसे "स्व्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् १३" अर्थात् स्त्रीका अपराध और जनयिताका शुभ्र देखाजानेके कारण, "हम नहीं जानते" यह दुर्ज्ञेयत्व (न जानना) कहा गयाहै । प्रवर

१ अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहा सायंजुहोति । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा इति प्रातः । ऐत० ब्रा० ५ । ३१ ॥

अनुमंत्रण कालमें "देवतागण पिता" इत्यादि कहना चाहिये । इस विधिका स्तुतिकारक "हम नहीं जानते" यह अर्थवादहै।यदि यजमान"देवतागण पिता" इत्यादि मंत्रसे प्रवरानुमंत्रणकरे, तो यजमान अब्राह्मण होनेपरभी ब्राह्मण होगा इसप्रकार प्रवरानुमंत्रणकी स्तुति कीजातीहै । "यह नहीं जानते" यह न जाननेकी बात कष्टसे जाननेके कारण प्रयुक्त हुई है । क्योंकि स्त्रियोंका व्यभिचारादि अपराध होसकताहै । उपपतिभी पुत्र उत्पन्न करा सकताहै । जब उपपति और पति दोनोंके ही औरससे पुत्रोत्पत्ति देखी जातीहै, तब अपना जन्म यह दोनों कौन जातीय हैं सो जाना नहीं जाता । इस अभिप्रायसेही (अपना जन्म दुष्ट अथवा अदुष्ट यह न जाना जानेके कारण) "नहीं जानते" प्रयोग कियाहै, इसकारण प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं कहाहै । अपना प्रत्यक्ष ब्राह्मणत्व निषेध करनेके निमित्त"नहीं जानते" ऐसा प्रयोग नहीं कियाहै । शास्त्रीय दर्शनका विरोध दिखानेके निमित्त "कौन उसको जानताहै जो इस लोकमें है" इत्यादि जो उदाहरण दियेगयेहैं, "आकालिकेप्सा १४" इस सूत्रमें उस युक्तिका उत्तर दियागयाहै। सूत्रका अर्थ यह है कि— "कौन उसको जानताहै" यह अनिश्चयरूपसे कहनेका कारण बहुत कालके अन्तमें स्वर्गप्राप्तिकी इच्छा । "चारों तरफसे द्वार रक्षा करे" इस प्राचीन वंश नामक यज्ञमंडपका द्वार प्रस्तुत करनेकी जो विधि है, कौन उसको जानताहै यह अर्थवादवाक्य इस द्वारविधिका शेषभाग है । वर्त्तमान समयमें द्वार निर्माणका प्रत्यक्ष फल धूमादि निर्गमन है, उस प्रत्यक्ष फलद्वारा द्वारविधिकी प्रशंसा कीजातीहै । स्वर्ग प्राप्तिरूप अदृष्ट फल बहुतकालके पश्चात् होगा, इस समय न होगा । उस फल पानेकी इच्छाही "कौन उसको जानताहै" इस संशयित भावसे कहनेका कारण है । जैसे भाविकालीन पुत्रपौत्रादिका वृत्तान्त निश्चय नहीं किया जासकता । इसीप्रकार होनेवाली स्वर्गप्राप्तिभी निश्चय नहीं कीजासकती इस कारणही "कौन जानताहै" यह अनिश्चय कहागयाहै । द्वारनिर्माणका अदृष्ट स्वर्गफल अनिश्चित होनेपरभी धूम परिहार प्रत्यक्ष फल होनेके कारण निश्चित है यह अभिप्राय है । दृष्ट विरोधप्रतिपादनके निमित्त "जो इसको जानताहै उसका मुख शोभित होताहै" यह जो दूसरा एक उदाहरण दियागयाहै, उसके उत्तरमें कहतेहैं । "विद्याप्रशंसा१५" यह केवल विद्याका प्रशंसा वाक्य मात्र है।गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण (वेदभाग) विषयक विधानका शेषभाग "जो इसको जानताहै" इत्यादि गर्गत्रिरात्र ब्राह्मण जाननाभी मुख शोभाका कारण है, अनुष्ठान मुख शोभाके हेतु हैं यह बात फिर कहनेकी आवश्यकता क्या ? इसप्रकार विद्याकी स्तुति की गई है । जैसे कर्णाभरणादिके द्वारा मुख शोभित होता है इसी प्रकार ज्ञानसम्पन्न

व्यक्तिका उत्साहप्रफुल्ल मुख शिष्यगणसे शोभितही होता है । इसकारण शोभा-सादृश्य गुणयोगनिबन्धन शोभित होताहै ऐसा कहा गयाहै। विरोध दिखानेके निमित्त "जो जानता है इसके पुत्रादि अन्न सम्पन्न होते हैं" यह जो दूसरा एक उदाहरण दिया गया है, यहभी वेदानुमंत्रण विधानका शेष भाग है । इस स्थानमें कैमुतिक न्यायके अनुसार पूर्वकी समान स्तुति समझनी होगी । (जो इसको जानता है उसकी सन्तानभी अन्नशाली होती है, जो अनुष्ठान करता है उसकी बात फिर क्या कहैं । यही इस स्थानका कैमुतिक न्याय है ।) वेदज्ञका पुत्र पितृशिक्षाके वशसे स्वयं विद्वान् होसकता है, विद्वान् व्यक्तिको प्रतिग्रह स्वीकार करनेसे अन्न प्राप्त होता है, यह गुण मनमें करकेही अन्नशाली होना कहा है । एक कार्य्यके सर्व फल प्रदान करनेपर दूसरे कर्म्म व्यर्थ होजाते हैं, यह प्रतिपादन करनेके निमित्त जो "पूर्णाहुतिद्वारा सर्वकाम (प्रार्थनीय वस्तु) पाई जाती है" यह उदाहरण प्रदर्शित हुआ है, उसके उत्तरमें सूत्र कहते हैं,–"सर्वत्वमाधिकारिकम् १६" सर्व: काम पाये जाते हैं, यह जो "सर्व" शब्द है, यह अधिकारिक अर्थात् प्रस्तावित विषयकी सम्पूर्णताबोधक है । यह अर्थवाद "पूर्ण होमकरे" इस विधि वाक्यका शेष भाग है । पूर्णाहुति समस्त कामप्राप्तिके हेतु है, इसकारण प्रशस्त है इसप्रकार आहुतिकी स्तुति की गई है । (अर्थवादका उद्देश्यही स्तुति है ।) जैसे सब ब्राह्मणोंको भोजन कराना होगा कहनेपर, घरमें निमंत्रित आये समस्त ब्राह्मण ऐसा समझाजाता है, जगत्के समस्त ब्राह्मण नहीं समझे जाते, इसीप्रकार पूर्णाहुतिद्वारा कर्मका साङ्गत्व सम्पादित होता है, इसकारण जिस कर्ममें जो फल संभावित है, वह समस्त फलही उस पूर्णाहुति द्वारा पाया जायगा । (एक कर्मकी पूर्णाहुति उस कर्मके सम्पन्न करनेके कारण उस कर्मका समस्त फल दे सकती है, दूसरे कर्मोंका फल नहीं दे सकती ।) पूर्णाहुति न देनेसे अग्न्याधान विफल होजाता है, वह विफलता पूर्णाहुतिद्वारा निवारित होती है, यह एक काम है, आधान समाप्त होनेपर आहवनीयादि अग्नि समस्त अग्निहोत्रादि कर्ममें उपयुक्त होती है यह दूसरा एक काम है, उस उस कर्मसे वह २ फल पाया जाता है यह और एक काम है । इसप्रकार बहु काम प्राप्ति अन्याहुतिमें भी है, पूर्णाहुतिमें सर्वकाम प्राप्ति होती है ऐसा क्यों कहा ? यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि दूसरी आहुतिमेंभी बहुतसे काम होनेसे हमारी कुछ हानि नहीं है । इससे पूर्णाहुतिकी स्तुति कोईभी हानि नहीं । इस स्थानमें प्रश्न होसकता है पूर्णाहुति अङ्गकर्म है, (प्रधानकर्म नहीं है) अङ्गकर्ममें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद है (वास्तव नहीं केवल प्रशंसित है) इस कारण स्तुतिमात्रबोधक है । (प्रकृतफल-

प्रतिपादक नहीं है ।) द्रव्यसंस्कार कार्य्य परार्थ अर्थात् अन्यके निमित्त है इस कारण द्रव्य संस्कार कर्म्ममें जो फलश्रुति है वह अर्थवाद अर्थात् "प्रशंसा मात्र है । "सूत्रमें महर्षि जैमिनीने यह निरूपण कियाहै । पूर्णाहुति अङ्ग कर्म है, उसका फलश्रुति अर्थवाद होवे, किन्तु "पशुवन्धयाजी सर्वलोक जयकरता है" इस स्थानमें पशुवन्ध विहित मुख्यकर्म है, सर्वलोकजय भी मुख्य फल है, इसकारण इसको अर्थवाद अर्थात् प्रशंसामात्र कहने नहीं बनता इसकारण पशुवन्ध यागमें समस्त फल पानेसे अन्यकर्म वृथा होते हैं, यह निवारण नहीं कियागया, इस आशङ्कासे सूत्रमें प्रत्युत्तर देतेहैं । सूत्र यथा "फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां: लोकवत्परिमाणत: (सारतो वा) फलविशेषः स्यात्।"१७ कर्मके द्वारा फल निष्पन्न होता है, किन्तु अन्यकर्मद्वारा उस फलकी दृढता अथवा परिमाणाधिक्य सम्पादित होता है। जैसे लोकमें देखाजाता है । यही सूत्रका अर्थ है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक इसके मध्यमें अन्यतम लोकाभिजयरूप फल पशुवन्धकर्मद्वारा निष्पन्न होता है, उस पृथिव्यादि जयरूप फलका कर्मान्तर द्वारा परिमाणाधिक्य सम्पादित होता है लोकमें जैसा देखाजाताहै, यह उसका दृष्टान्त है । जैसे एक मुद्राद्वारा खारी (परिमाणविशेष): परिमित शस्य मोल लेकर फिर अन्य मुद्राद्वारा औरभी कितने शस्य खरीदनेपर पूर्व शस्यके परिमाणकी वृद्धि होतीहै । अथवा एक स्वर्ण मुद्रामें एक साधारण वस्त्र पाया जाताहै, दो होनेपर उत्तम वस्त्र पाया जाताहै, इसीप्रकार अन्यकर्म्म द्वारा पशुवन्धकर्म्मके फलका परिमाणाधिक्य अथवा उत्कर्ष साधित होताहै । मनोगत ब्राह्मणहत्या पाप अश्वमेध ज्ञानमात्रसेही दूर होताहै, शरीरगत महत् ब्रह्महत्या पाप अश्वमेध अनुष्ठानद्वारा दूरीभूत होसकताहै, इसकारण "वेदन अर्थात् ज्ञानमात्रसेही फल होनेपर अनुष्ठान अनर्थक है" यह वात नहीं कही जासकती । अन्तरिक्षमें और स्वर्गमें अग्निचयनका निषेध करनेसे जो "अप्रसक्त अर्थात् असम्भावितका निषेध करना" यह दोष कहागयाहै फिर ववरने कामना कीथी इत्यादि स्थानमें जो वेदका अनित्यवस्तु-प्रतिपादकत्व दिखाया गया है इन दोनों दोषोंकोही उत्तर सूत्रमें कहाहै । "अन्त्ययोर्यथोक्तम्"१८ इसका अर्थ, शेष दो उदाहरणोंका (अप्रसक्त प्रतिषेध और अनित्य-प्रतिपादन) भी पूर्वोक्त उत्तर है । अन्तरिक्षमें चयन न करे, यह अन्तरिक्षमें अग्नि-चयनका निन्दारूप अर्थवादवाक्य "हिरण्य रखकर चयन करे" इस विधिका शेषभाग है । इसकारण इस स्थानमेंभी अर्थवाद विधिका स्तावक यह पूर्वोक्त उत्तरही यथेष्ट है । अन्तरिक्षमें अग्निचयनकी प्रसक्ति नहीं है, इसकारण उसका निषेध (सिद्ध वस्तुका उल्लेख) नित्यानुवाद होवे । जो स्वभावसे है

उसका उल्लेख करकेभी विधिकी स्तुति की जासकती है क्योंकि स्वभावसिद्ध वायुकी क्षिप्रगामिताका उल्लेख करके वायु देवताके पशुकी स्तुति की है। "ववर प्रवाहिणीने कामना की थी" इस स्थानमेंभी ववर नामक कोईभी मरणशील मनुष्य प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु ववर ध्वनियुक्त प्रकृष्टरूपसे वहनशील व्यावहारिक जगतमें नित्य वायुही इस स्थानका वक्तव्य अर्थ है। मीमांसादर्शनके प्रथम पादके शेष अधिकरणमें कहा गया है। अर्थवादका उक्तदोष परिहार किया गया अत एव उसका प्रामाण्य है। श्लोकोंमें यह समस्त रहस्य लिपिबद्ध किया गया है॥ "वायु क्षिप्रगामि देवताहै" इत्यादि अर्थवादवाक्य प्रतिपाद्य धर्ममें प्रमाण होनेके कारण परिगृहीत नहीं हो सकता, अथवा हो सकता है इस संशयमें विधि और अर्थवाद इनका अर्थ बोध उत्पन्न करानेमें कोईभी वाक्य (विधि अर्थवादकी और अर्थवाद विधिकी) किसीकीभी अपेक्षा नहीं रखता, इसकारण इनकी एकवाक्यता नहीं हो सकती,इसकारण धर्म्ममें इनका प्रामाण्य नहीं ऐसा पूर्वपक्ष है। सिद्धान्तवादी कहते हैं, विधि और अर्थवादकी परस्पर आकांक्षा है । विधि पुरुषार्थबोधक है, अर्थवाद कर्म्मका प्राशस्त्यबोधक है। (कर्म्म प्रशस्त है ऐसा जान लेनेपर कर्मकर्त्ता उत्साहके साथ प्रवृत्त होता है) जानना और प्ररोचित करना दोनोंही आवश्यक हैं, इसकारण अन्वयमें अपेक्षा न रहनेपर भी तात्पर्य्यसे अपेक्षा है. इसकारण धर्मप्रतिपादनमें अर्थवाद प्रमाण है। अतएव वेदमें विद्यमान मंत्र, विधि, अर्थवाद, इन तीनके अप्रामाण्य विषयमें कोईभी कारण, न होनेसे अर्थ बोधक वाक्यका स्वतः प्रामाण्य किया जानेके कारण, समस्त वेदकी प्रमाणता सिद्धि हुई।

इस समय तर्क होसकता है कि, वेदभी पुरुषरचित होनेके कारण वञ्चक पुरुषका वाक्य जिसप्रकार अप्रमाण है इसीप्रकार अप्रमाण होना चाहिये। जैमिनिने प्रथम पादमें पूर्वपक्षमें वेदका पौरुषेयत्व कहा है। जैसे, "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः। पू० मी० अ० १ पाद १ सू० २७ से १" अनेक वादी लोग वेदका सन्निकर्ष अर्थात् रचयिता पुरुषके साथ संबंध होना मानते हैं। कालिदासादिरचित रघुवंशादिके समुच्चयके निमित्त "वेदांश्च" यह "च" कार लिखा है। रघुवंशादिको दृष्टान्तरूपमें समुच्चित किया है। जैसे रघुवंशादि इदानीन्तन हैं, इसीप्रकार वेदभी अनादि नहीं है। इसकारणही वेदकर्त्तारूप पुरुष कहाजाता है।

---

१ वायुर्वाइत्येवमादेरर्थवादस्यमानता। नविधेयेस्तिधर्मेकिंकिंवासौ तत्र विद्यते ॥१॥ विध्यर्थवादशब्दानां मिथोपेक्षापरिक्षयात्। नास्त्येकवाक्यता धर्मे प्रामाण्यं संभवेत्कुतः ॥ २ ॥ विध्यर्थवादौसाकांक्षौ प्राशस्त्यपुरुषार्थयोः। तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता ॥ ३ ॥

वैयासिक महाभारत, वाल्मीकीय रामायण, इस स्थानमें जिसप्रकार महाभारतादिके कर्त्तारूपमें व्यासादिसे आख्यात हुए हैं, इसी प्रकार काठक, कौथुम, कालापक, तैत्तिरीय इत्यादि स्थलमेंभी उसी २ वेदांशके रचयिता होनेके कारण कठआदिक कहे जाते हैं, अतएव वेद पौरुषेय हैं । (वैयासिकका अर्थ व्यासकृत, इसीप्रकार काठकका अर्थ कठरचित, इसकारण कठरचित वेदभागका काठक नाम होनेपर वेदरचयिता पुरुष है ऐसा समझा जाता है ।) यदि कहा जाय नित्य वेद सबका अध्यापककी समान सम्प्रदायप्रवर्त्तक होनेके कारण काठकादि समाख्या हुआ है, (कठ जो वेदांश प्रचार करे, उसकाही काठक ऐसा भाव है) ऐसा होनेपर उस शंके के उत्तरमें अन्ययुक्तिप्रतिपादक सूत्र यथा—"अनित्यदर्शनाच्चेति २" वेदमें अनित्य जन्ममरणशाली ववरादि व्यक्तिकी बात है । (इस कारण वेद अनित्य है ।) ववर प्रवाहणीने कामना कीथी कुसुरुविन्द उद्दालकिने कामना कीथी इत्यादि वेदमें है । ऐसा होने पर ववरके पूर्वमें तथा पीछेका बना है । इस कारण वेद अनित्य है । वेदवाक्य पुरुषरचित है क्योंकि वह वाक्य, जैसे कालिदासादिका वाक्य पुरुषप्रणीत है उसी प्रकार है । यह अनुमानसमुच्चित करनेके निमित्त "दर्शनाच्च" यह "च" लिखा है ।

इसके पश्चात् जैमिनिने सिद्धान्त सूचित किया है "उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् ३" (तुशब्द पक्षान्तरप्रतिपादक होनेपरभी इस स्थानमें) उक्तन्तु यह "तु" शब्द वेदका अनित्यत्व निवारण करता है, क्योंकि वेदरूप शब्दको कठआदि व्यक्तिसे प्राचीनत्व और अनादित्व पूर्वमें सूत्र द्वारा कहाहै । औत्पत्तिकस्तु इस प्रथम अध्यायके प्रथम पादके पञ्चमसूत्रमें "औत्पत्तिक" शब्दद्वारा सम्पूर्ण शब्द उनका अर्थ, शब्द और अर्थका सम्बन्ध इन सबकी नित्यताप्रतिज्ञा करके तत्परवर्ती शब्दाधिकरण और वाक्याधिकरणद्वारा उसका प्रतिपादन किया है । काठक आदि आख्यायिका की गति क्या ! (किस अर्थमें काठक शब्द व्यवहृत हुआ है ?) यह आशंका करके सम्प्रदायप्रवर्त्तनद्वारा आख्या (नाम) उपयुक्त हो सक्ती है, यह उत्तर सूत्रमें कहते हैं । सूत्र—"आख्याप्रवचनात् । ४" प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट रूपसे कहने अथवा प्रचार करनेके निमित्तही ऐसा नाम है । (काठक अर्थ कठरचित नहीं है, कठप्रचारित है ।) आख्यायिकाकी गति इस प्रकारही होवे । उसके पश्चात ववरादि अनित्य वस्तु प्रतिपादन जो उदाहृत हुए हैं उनका उत्तर क्या है ? ऐसी आशंका करके आगे सूत्र कहते हैं, सूत्र—"परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ५" ववरादि जो कहे गये वह समस्त शब्द सामान्यमात्रही हैं । ववरनामक मनुष्य प्रतिपाद्य नहीं

१ कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत । तै० सं० ७ । २ । २ ।

है। ववर ध्वनियुक्त प्रकृष्ट प्रकारसे वहनशील वायु इस स्थान में ववर शब्दका अभिधेय है ऐसा कहाजासकता है। फिर प्रश्न होता है, वेदमें किसी स्थानमें ऐसा सुना जाता है "वनस्पतियोंने सत्र (यज्ञ) कियाथा" "सर्पोंने सत्र (यज्ञ) कियाथा" इस स्थानमें वृक्षगणोंका अचेतनत्वनिबन्धन और सर्पगण चेतन होनेपर भी विद्याहीन हैं इस कारण सत्रयज्ञका विधान उनका संभव नहीं होसकता। इस कारण "जरद्गवमत्तक गान करता है" इत्यादि वाक्यकी समान यह सम्पूर्ण वेदवाक्य उन्मत्तवाक्य अथवा बालकके वाक्यकी समान होनेके कारण कहाजासकता है वेद किसी (अर्वाचीन) मनुष्यके द्वारा रचागया है। यह आशङ्का करके उत्तरमें कहते हैं। "कृते चाविनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्" इसका अर्थ यह है कि वेद यदि किसीका कृत हो तो ज्योतिष्टोमादि कर्म्म स्वर्गसाधन रूपमें विनियुक्त नहीं हो सकते। न होकर भी दोष है, क्योंकि लौकिक वाक्योंकी समान इस वाक्यमें भी साध्य साधक समान है। यदि ज्योतिष्टोमादि वाक्य किसी पुरुषके द्वारा रचित होते तो ज्योतिष्टोमका स्वर्ग साधनत्वमें नियोग नहीं हो सकताथा। ज्योतिष्टोम स्वर्गसाधन है यह साध्य साधनभाव पुरुष नहीं जान सकता। किन्तु ज्योतिष्टोमका स्वर्गसाधनरूपमें विनियोग सुनाजाताहै। यथा— "ज्योतिष्टोमसे स्वर्ग फल सम्पादन करै।" (ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत) यह वाक्य उन्मत्त बालक वाक्यकी समान नहीं है; कारण कि, लौकिक विधिवाक्यकी समान भाव्य (फल) करण (साधन) और इतिकर्त्तव्यता (प्रणाली) यह तीन अंशयुक्त भावना विदित होजाती हैं। लोकमें जिसप्रकार "ब्राह्मणभोजन करावे" इस विधिमें, किस निमित्त ? (१) क्या देकर ? (२) किसप्रकारसे ? (३) यह तीन आकांक्षा उपस्थित होनेपर तृप्तिके उद्देशसे (१) ओदनद्रव्यसे, (२) शाक सूपादिपरिवेषण प्रणालीसे, (३) इसप्रकार कहाजाताहै, उसीप्रकार, ज्योतिष्टोम विधिमें भी स्वर्गके उद्देशसे, (१) सोम द्रव्यसे, (२) दीक्षणीया नामक इष्टि आदि अंग कर्म्मोपकारप्रणालीसे, (३) यह बात कहनेपर कैसे यह वाक्य उन्मत्त वाक्यसदृश होंगे ! वृक्षादिके सत्रानुष्ठान वाक्य भी उन्मत्त वाक्यसदृश नहीं हैं, क्योंकि सत्रकर्म्म भी ज्योतिष्टोमादिकी समान है, इसकारण उन्मत्त वाक्य नहीं है, सत्रभी ज्योतिष्टोमकी समान है, इसकारण वह भी उन्मत्त वाक्य नहीं हो सकता। न्यायवेत्ता पुरुष कहते हैं, शब्दसे जो कुछ जाना जाय अर्थात् जिस तात्पर्य्यसे शब्द प्रयुक्त है, वही शब्दका अर्थ है। ज्योतिष्टोमादि वाक्य भी विधायक हैं, इस कारण अनुष्ठानमें उनका तात्पर्य्य है[१]। "वनस्पतियोंने सत्र अनुष्ठान कियाथा" इन सब वाक्योंका प्रशंसा अर्थात् स्तुतिसे तात्पर्य है, क्योंकि यह

१ वनस्पतयः सत्रमासत। सर्पाः सत्रमासत।

अर्थवाद है । प्रशंसा अविद्यमान वस्तुके उल्लेखसेभी होसकती है । अचेतन अविद्वानोंने सत्र अनुष्ठान कियाथा, चेतन विद्वान् ब्राह्मणलोग करेंगे इसमें कहनाही क्या ? इस प्रकार सत्रकी स्तुति कीजातीहै । सूत्रमें जो "च" है वह पूर्वपक्षोक्त " वाक्यत्व" हेतुका कर्त्ता न मिलनेके कारण पराहति अर्थात् असमर्थता समझाताहै । इसकारण वेदका पौरुषेयत्व नहीं है । इस स्थानमें दो संगृहीत श्लोक हैं । उनका अर्थ यह है कि वेदवाक्य पौरुषेय है, अथवा नहीं ? इस संशयमें पूर्वपक्ष वेदवाक्य पौरुषेय है, क्योंकि उसमें "वाक्यत्व" धर्म है । काठक आदि समाख्या इस स्थानमें युक्त है । अन्य महाभारतादि वाक्य जिसप्रकार पौरुषेय हैं यहभी उसी प्रकार है यह दृष्टान्त है । उत्तरवादी कहता है,प्रवचननिमित्त काठकादि आख्या है। कर्त्ता न पाये जानेके कारण वाक्यत्व हेतु अनुपयुक्त है, अतएव वेद अपौरुषेय है । यदि प्रश्न कियाजाय, भगवान् बादरायणने वेदान्तसूत्रमें वेद ब्रह्मका कार्य्य है यह बात कहीहै । [शास्त्रयोनित्वात् अ० १ पा० १ सू० ३ इस सूत्रमें] ऋग्वेद आदिका कारण होनेसे ब्रह्म सर्वज्ञ है यही उस स्थानका सूत्रार्थ है । इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं, अच्छा, इससे वेदकी पौरुषेयता सिद्ध नहीं होती क्योंकि वेद मनुष्यनिर्मित नहीं है । ब्रह्मप्रणीतत्व रूप पौरुषेयत्व मनमें करके व्यावहारिक जगत्में आकाशादिककी समान वेदकी नित्यता बादरायणने देवताधिकरणमें "अत एव नित्यत्वम्" इस सूत्रमें कही है । "विरूपनित्यवाक्यद्वारा" यह श्रुति, और "आदि विनाशरहित नित्य वाक्य ब्रह्मसे प्रगट हुआ" यह स्मृति प्रमाण है । (यदि कोईभी मनुष्य वेदका कर्त्ता नहीं है, तो कर्त्ता का दोष वेदवाक्यमें संक्रमित है यह बात नहीं कही जाती ।) ऐसा होनेपर कर्त्ताकी दोषशंका उदित न होनेके कारण, मंत्रब्राह्मणात्मक वेदका प्रामाण्य निर्विघ्न है ।

इस स्थानमें प्रश्न हो सकताहै कि, वेद मंत्रब्राह्मणस्वरूप है यह बात नहीं कही जासकती, क्योंकि मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूप निर्वचन नहीं किया जासकता। तो यह प्रश्न उपयुक्त नहीं है । द्वितीय अध्यायके (मीमांसादर्शनके) प्रथम पादके सप्तम और अष्टम अधिकरणमें यह विषय निर्णीत हुआहै । सप्तमाधिकरण जैसे,-अग्न्याधानप्रकरणमें "अहे बुध्निय मंत्रं मे गोपाय" तै० ब्रा० १। २ । १ [अहे बुध्निय मंत्र मेरा रक्षाकर] इस प्रकार लिखा है । इस मंत्रका

१ पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता । काठकादिसमाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत् ॥ १ ॥ समाख्यानं प्रवचनाद्वाक्यत्वं तु पराहतम् । तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता ॥ २ ॥

२ वाचाविरूपनित्ययेतिश्रुतेः तै० सं० २ । ६ । ११ ॥ ३ अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा । अहे बुध्निय मंत्रं म इति मंत्रस्य लक्षणम् ॥ १ ॥ नास्त्यस्तिवास्यनास्त्येतदव्याप्त्यादेववारणात् । याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् । तेनुष्ठानस्मारकादौमंत्रशब्दं प्रयुञ्जते ॥ २ ॥

कोईभी लक्षण है अथवा नहीं ? यह संशय है । पूर्व पक्ष—लक्षण नहीं है, क्योंकि मंत्रका लक्षण कहने पर लक्षणका अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष निवारण नहीं किया जाता । सिद्धान्तवादी कहता है याज्ञिकगण जिनको मंत्र कहते हैं वही मंत्र हैं । यह लक्षण दोषशून्य हैं । याज्ञिकलोग कर्म्मानुष्ठान स्मारक आदि वाक्य समूहकोही मंत्र कहते हैं । विहित अर्थका अभिधायक वाक्य मंत्र है, इसप्रकार मंत्र लक्षण कहनेपर "वसन्तमें कपिञ्जल आलम्भ करै" यह मंत्र विधि अर्थात् विधायक होनेके कारण इस मंत्रमें मंत्र लक्षणकी अव्याप्ति होती है । मननहेतु मंत्र है यह बात कहनेपर भी ब्राह्मणवाक्यमें अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उसका (ब्राह्मणका) भी मनन आवश्यक है । जिसके शेषमें "असि" है वह मंत्र है उत्तम पुरुषान्त होनेपर मंत्र होताहै, इत्यादि लक्षणसमूहकी परस्पर अव्याप्ति होती है, अर्थात् एकमें दूसरा लक्षण नहीं रहता यह दोष होता है, यहभी नहीं कहाजासकता क्योंकि याज्ञिकलोग जिसको मंत्र कहते हैं वही मंत्र है यह लक्षण निर्दोष है । याज्ञिक समाख्यानमें अवगत होजानेसे जो अनुष्ठान स्मरण करादेते हैं वह समस्त मंत्र हैं । "उरु प्रथस्व" तै० सं० १ । १ । ८ इत्यादि मंत्रमें आमंत्रण अर्थात् सम्बोधन है । अग्निमीळेपुरोहितम् इत्यादि मंत्र स्तुतिरूप, इषेत्वा इत्यादि त्वान्त रूप । अग्न आयाहिवीतये इत्यादि आमंत्रणरूप तै० ब्रा० ३ । ५ । २ "अग्निदग्नीन् विहर" तै० सं० ६ । ३ । १ इत्यादि मंत्र प्रैष अर्थात् अनुज्ञा है । "अधः स्वित्" तै० ब्रा० २ । ८ । ९ इत्यादि मंत्र विचाररूप समझना । "अम्बे अम्बालिके" शु० यजु० २३ । १८ इत्यादि मंत्र परिवेदन समझना । "पृच्छामित्वा" शु० यजु० २३ । ६१ इत्यादि प्रश्नबोधक है । "वेदिमाहुः" तै० सं० ७ । ४ । १७ इत्यादि उत्तर प्रतिपादक हैं । मंत्रका ऐसा कोईभी अनुगत धर्म्म नहीं जिसको लक्षण कहा जाय । इसकारण समाख्याही लक्षण है । पूर्व आचार्य्योंने लक्षणकी आवश्यकता दिखाई है । यथा "पृथक् रूपसे पदार्थ निर्वाचन कर्त्तव्य होनेपर ऋषिगणभी शेष नहीं करसकते, लक्षणद्वाराही विद्वान् लोग विद्यमान सम्पूर्ण पदार्थोंका शेष दर्शन करते हैं ।"[1] (इसकारण महापुरुषोंका "मंत्र" यह संज्ञाही लक्षण है ।) अष्टमाधिकरणमें यथा "नास्त्येतत् ब्रह्मणः"[2] इत्यादि जो संग्रह कहा है, वह ब्राह्मणका लक्षण है अथवा नहीं ? यह संशय है (ब्राह्मण) का लक्षण नहीं यह पूर्व पक्ष है । क्योंकि वेदके यही भाग हैं यह कल्पना नहीं किया जा सकता । सिद्धान्त यह है कि मंत्र और ब्राह्मण, वेदके यही दो मात्र अंश हैं इसकारण जो मंत्रसे भिन्न है वही ब्राह्मण है ऐसा होसकता है । चातु-

---

१ ऋषयोपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ।

२ नास्त्येतद्ब्रह्मणोन्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा । नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः । मन्त्रश्च ब्राह्मणञ्चेति द्वौ भागौ तेन मंत्रतः । अन्यद्ब्राह्मणमित्येतद्भवेद्ब्राह्मणलक्षणम् ।

स्पोंस्यमें यह कहा है " एतद्ब्राह्मणानेव पञ्चहवींष्षि । " तै० ब्रा० १ । ७ । १ यह ब्राह्मणका लक्षण नहीं है। क्योंकि वेदभागकी इयत्ता अवधारण नहीं की जाती; इसकारण ब्राह्मण और अन्य भागमें लक्षणकी अव्याप्ति अतिव्याप्ति शोधन असम्भव है, यही पूर्वपक्षका मत है। पूर्वोक्त मंत्र एक भाग है। औरभी; कितनेही वेदभाग पूर्वाचार्य्यगणोंने उदाहरणार्थमें संग्रह किये हैं जैसे,–हेतु[1], निर्वचन, निन्दा, प्रशंसा, संशय, विधि, परक्रिया, पुराकल्प. अवधारण, कल्पना, यह, समस्त। "क्योंकि उनसे अन्न करना होता है" इत्यादि वेदांशहेतु है। "[2]वही दधिका दधित्व " यह निर्वचन है। "[3]माष अपवित्र है" यह निन्दा है। "वायु क्षिप्रगामी देवता है यह प्रशंसा है।"" उन्होंने संशय किया था होम करें अथवा न करें " इत्यादि संशय है " [6]औदुम्बर शाखा यजमानके समान होनी " यह विधान है ॥ " [7]मेरे निमित्त उड़द पकाता है" यह परकार्य्य है। " पूर्वमें ब्राह्मण लोक भीत हुए थे" इत्यादि पुराकल्प अर्थात् पुरातन कथा है। "जितने अश्वदान करे उतने वरुण देवताको चतुष्कपाल पुरोडाश निर्वापित करे" यह विशेषावधारण कल्पना है। ऐसे और भी उदाहरण दियेजासकते हैं। इनमें हेतु आदिका कोई एक भी ब्राह्मण है ऐसा नहीं कहा जासकता; क्योंकि मंत्रमें भी हेतु आदि वर्त्तमान हैं। " इन्द्रंवो वामुशन्तिहि" ऋ० १ । १ । ३ यह मंत्र हेतु प्रतिपादक है। "उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते" तै० सं० ५ । ६ । १ इत्यादि मंत्र निर्वचन हैं। "[10]अप्रचेताको वृथा अन्न प्राप्ति होती है" यह मंत्रनिन्दा है। "[11]अग्नि द्युलोकका मूर्द्धा है" यह मंत्र प्रशंसा है। "[12]अधो देशमें था अथवा ऊपरमें था" यह मंत्र संशयवाला है। "[13]वसन्तमें कपिञ्जल आलम्भ करे" यह मंत्र विधि है "[14]सहस्रमयुता ददत्" यह मंत्र परकृति है। "[15]देवताओंने यज्ञद्वारा यज्ञ याजन किया था " यह मंत्र पुराकल्प है। जिसमें इतिकरण अर्थात् इति शब्दका व्यवहार बहुल रूपसे है, वह भाग ब्राह्मण है, यह बातभी नहीं कही जासकती।

१ हेतुनिर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः । परक्रिया पुरा कल्पो व्यवधारणकल्पना। अन्नं क्रियत इतिहेतुः । २ तद्दध्नो दधित्वम् इति निर्वचनम् तै० सं० २ । ५ ३ ॥ ३ अमेध्या वै माषाः तै० सं० ५ । ८ । १ इति निन्दा । ४ वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति प्रशंसा । ५ तद्व्यचिकित्स जुहवानि. ३ माहौषामिति संशयः तै० ब्रा० २।१।२॥६ यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवतीति विधिः तै० सं० ६।२।१०॥७ माषानेवमह्यं पचन्तीति परकृतिः।८पुरा ब्राह्मणा अभैषुरिति तै०सं०१।५॥७ पुरा कल्पः। ९ यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत् विशेषावधारणकल्पना । तै० सं० २ । ३ । १२ ॥ १० मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः इतिनिन्दा इतिं ऋ० ८ । ६ । २३ । ११ अग्निर्मूर्धा दिवः० इति प्रशंसा ऋ० ६ । ३ । ३९ ॥ १२ अधःस्विदासीत् इतिसंशयः ८ । १७ । ४ ॥ १३ वसन्तायकपिञ्जलानालभते यजु० इतिविधिः २४ । २० ॥ १४ सहस्रमयुताददिदितिपरकृतिः । १५ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः यजु० ३१ । १६ इति पुराकल्पः ।

"इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्" इस ब्राह्मणकर्तृक गातव्यमंत्रमें अतिव्याप्ति होती है। क्योंकि इस मंत्रमें इतिकरण (इति अददा इति अयजथा इत्यादि) बाहुल्य है। 'इत्याह' इस वाक्यके द्वारा उपनिबद्ध वेदांश ब्राह्मण है यह बात भी नहीं कही जासक्ती। "राजा चित्वं भगं भक्षीत्याह" ऋ० ८।४।८ एवं "योवा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह" ऋ० ८।७।८ इन दो मंत्रोंमें "इत्याह" होनेके कारण ब्राह्मण लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है। आख्यायिका भागही ब्राह्मण है यह बात कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि यमयमीसंवाद सूक्त मंत्रमें अतिव्याप्ति होती है। ऋ० ७।६।६ (यमयमीसंवाद आख्यायिका होनेपरभी मंत्र है।) इस कारण ब्राह्मणका कोई लक्षण नहीं।

पूर्वपक्षीके इसप्रकार कहनेपर सिद्धान्ती कहता है, वेद; मंत्र और ब्राह्मण इन दो भागोंमें विभक्त है ऐसा अङ्गी करना होता है। मंत्रका लक्षण पूर्वमें कहा गया है, अवशिष्ट वेदभाग ब्राह्मण है ऐसा लक्षण हो सक्ता है। मंत्र और ब्राह्मणका लक्षण जैमिनी सूत्रमें कहा है। "तच्चोदकेषु मंत्राख्या, शेषे ब्राह्मणशब्दः" जै० अ० २ पा० १ सू० ३२।३३ कितनेही प्रेरणा करनेवाले वाक्योंकी मंत्र यह संज्ञा सम्प्रदायविद् व्यवहार करते हैं, "मंत्र अध्ययन करते हैं" इत्यादि। मंत्रे व्यतीत अन्य भागमें वही लोक ब्राह्मण शब्द व्यवहार करते हैं। यदि कहा जाय, ब्रह्मयज्ञप्रकरणमें। (अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः।) मंत्र ब्राह्मण भिन्न इतिहास आदि और भी कई वेद भागका उल्लेख है। जैसे, ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी यह कितनेही हैं। ऐसा नहीं हो सकता क्यों कि, विप्र परिव्राजक न्यायसे ब्राह्मण आदिक अन्तरनिविष्ट इतिहास आदिका पृथक् रूपसे उल्लेख किया है। (जैसे विप्र और परिव्राजक पृथक्भावसे वर्णित होनेपरभी परिव्राजक विप्रके अन्तर्गत हैं, इसीप्रकार इतिहास पृथक् कथित होनेपरभी ब्राह्मण अथवा मंत्रके अन्तर्भुक्त है,) "देवता और असुरगण युद्ध करतेथे।" "देवासुराः संयत्ता आसन्" यह वाक्य इतिहास है "यह जगत् पूर्वमें कुछभी न था" इस प्रकार जगत्की पूर्वावस्थासे आरम्भ करके सृष्टिप्रतिपादक वाक्य समस्त पुराण हैं। आरुणकेतुकचयन प्रकरणमें: कितनेही मंत्रोंको कल्प कहा गया है। इसके पश्चात् यदि बलि प्रदान करे, तो अग्निचयनमें यमगाथा गान करे, इस प्रकारके

१ यद्ब्राह्मणानीतिहासपुराणानि कल्पान् गाथानाराशंसीरिति तै० आ० अ० २ ॥ २ इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत् तै० ब्रा० २।२।९। योस्य कौष्ठ्यजगतः पार्थिवस्यैक इद्वशीइत्यादयः यमगाथा अरण्यकाण्डे पितृमेधप्रपाठके समाम्नाताः। इदं जना उपश्रुत इत्यादयखिलः कुंतापे उक्ताः। इन्हीं कथाओंको विस्तारकर सर्ग प्रतिसर्गादि संहित इतिहास पुराण प्रचरित हुए हैं इसीसे वेदमूलक हैं ॥

विहित मंत्र विशेष गाथा हैं । मनुष्यवृत्तान्तप्रतिपादक ऋचाओंका नाम नाराशंसी है । वेदका मंत्रब्राह्मणके अतिरिक्त दूसरा भाग नहीं, मंत्र और ब्राह्मणका स्वरूपभी कहा गया, इस कारण वेद मंत्र ब्राह्मण उभयात्मक है यह स्थिर हुआ ॥

मंत्रके अवान्तर विभाग सम्बंधमें उस पादमें इस प्रकार विचार किया गया है । यथा ऋक्, साम, यजु, इनका लक्षण नहीं हो सकता । क्योंकि साङ्कर्य्य (एकका लक्षण दूसरे में भी होना) दोष होता है । ऐसी आशङ्का करनेपर पादबद्ध मत्र ऋक् है, गीति मंत्र साम, प्रश्लिष्ट पठित मंत्र यजुः ऐसा लक्षण कहनेपर शंका नहीं हो सकती । उल्लिखित हुआहै–"अहे बुध्निय मंत्र को मेरे निमित्त रक्षाकर जो मंत्र त्रैविद ऋषिगण ऋक् यजु और सामरूपसे जानते हैं । " जो तीन वेदोंको जानतेहैं वे लोग त्रिवित् हैं, तत्सम्वन्धि पढानेवाले (समस्त पाठक) त्रैविद नामसे कहेजातेहैं, वह मन्त्रभागको ऋक्, यजु और साम इस तीन प्रकारका कहतेहैं, उस मन्त्रकी रक्षा करै । यही उक्त वाक्यका विशद अर्थ है । उस त्रिविध ऋक्, साम और यजुर्मंत्रका व्यवस्थित लक्षण नहीं, क्योंकि सांकर्य्यदोष परिहार नहीं किया जासकता । अध्यापक प्रसिद्ध ऋग्वेदमें पठित मन्त्रऋक् है ऐसा लक्षण कहना चाहिये, उस लक्षणमें शंका रहगई । "देवो वः सविता" तै० सं० १।१।५। यह मंत्र यजुर्वेदमें सम्प्रतिपन्न यजुर्मंत्रके मध्यमें पठित हुआ है, किन्तु वह मंत्र यजुः नहीं है, ब्राह्मणमें सवितृदेवताक ऋक् रूपमें उसका व्यवहार कियाहै । (इसकारण इसको ऋक् अथवा यजु क्या कहैं निश्चय नहीं होता ।) "यह सामगान करै" तै० आर० ७ अ० ऐसा उपक्रम करके यजुर्वेदमें कितने ही साम मंत्र कहे हैं "अक्षितमसि" इत्यादि तीन यजुमंत्र सामवेदमें पठित हुएहैं ॥ सामगानऋक् मंत्रमेंही करना होता है, सामके आश्रयभूत वह समस्तऋक् मंत्र सामवेदमें कहे हैं, इसकारण साम वेदमें ऋक् और यजु है, अत एव इनका लक्षण नहींहै सिद्धान्ती कहताहै–ऐसा कहना ठीक नहीं । असङ्कीर्ण लक्षण है । जिस वृत्तबद्ध (छन्दोवद्ध)मंत्रका प्रतिपाद अर्थात् चतुर्थपादकाही अर्थ होसकताहै(एक पादका अर्थ करनेमें अन्यपादकी अपेक्षा नहो) ऐसा मंत्र ऋक् है, जिनका गान करना होताहै, वे समस्त साम हैं, जिनमें छन्द नहीं गानभी नहीं केवल प्रश्लिष्ट पठितहैं उन सम्पूर्ण मंत्रोंको यजु कहते हैं । इस लक्षणमें कोईभी दोष नहीं । जैमिनिने तीन सूत्रोंमें यह तीन प्रकारके लक्षण कहे हैं । यथा, "जिसे मंत्रमें अर्थानुसार पादव्यवस्था की गई है (प्रतिपाद ऐसे भावमें स्थापित है, जिससे अर्थबोध उत्पन्न कराने

१ इदं जना उपश्रुत इत्यादयः ।

२ तेषामृक्मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या, शेषे यजुःशब्दः । मीमांसादर्शनम् ।

दूसरे पादकी अपेक्षा न रहे ।) वही ऋक् " "गीत मंत्रकी साम यह आख्याहै।" इनके अतिरिक्त शेष मंत्रोंका नाम यजु है। मंत्रका यह अन्तर्गत-श्रेणी विभाग अवलम्बन करकेही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, यह त्रैविध्य सम्पादित होते हैं। जिसमें ऋक् हों, उस वेदका नाम ऋग्वेद है–इत्यादि ।

उन वेदत्रय अथवा किसी एक वेदको अपनी बुद्धिके अनुसार उपनीत व्यक्ति अध्ययन करे। मनु० अ० ३ श्लो० २ में लिखाहै । वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।"तीन वेद, दो वेद अथवा एक वेद यथानियम अध्ययन करे।"यदि एक वेदपाठ करना हो तो पितृपितामह जिस वेदको पढते आये हैं उसी वेदका अध्ययनकरना ही उचित है। ऐसा मनमें करके ही"स्वाध्याय अध्ययन करे"इस विधिमें " स्वशब्द उल्लिखित हुआ है। " (स्वाध्यायका अर्थ पूर्वपुरुषपरम्परा प्राप्त वेद है।)

वह वेदाध्ययन नित्य काम्य नहीं हैइसकारणही पुरुषार्थानुशासनमें कहागया है, "वेदका अध्ययन नित्य है, क्योंकि न करनेसे पाप होताहै। " पातित्यका उल्लेख देखा जाता है यथा वेदाध्ययन पापनाशक पवित्र है, इसको जो परित्याग करता है उसका वाक्यमेंभी भाग्य नहीं, स्वर्गमें भी भाग्य नहीं, वह यदि दूसरे ग्रन्थादिकोंका श्रवणकरे, तौभी व्यर्थ करता है, क्योंकि उनके द्वारा सुकृतिका मार्ग नहीं जाना जासकता। इस कारण वेदाध्ययन करना चाहिये। "पाठ करनेवालेको उसके प्रयासाभिज्ञानसे सखाकी समान पालनकरता है इस कारण वेद सखिवत् हैं, अनेक द्रव्य यत्नादि साध्य यज्ञफलसम्पादनही उसका पालन है। वहभी उल्लिखित हुआहै, यथा–जिस २ यज्ञका अध्ययन करता है उसी२ यज्ञसे उसका अभिलषित सम्पादित होताहै, अग्नि, वायु और आदित्यका सायुज्य प्राप्त होता है यद्यपि यह ब्रह्मयज्ञ स्वाध्याय फल है, तथापि ग्रहणार्थक अध्ययन व्यतीत ब्रह्मयज्ञ सम्पन्न होना असम्भव है इस कारण उसका फल सम्पन्न नहीं होता। इसी प्रकार सखिवत् वेद–रूप सखाको जो पुरुष अध्ययन न करके परित्याग करता है, उसका वाक्यमेंभी भाग्य नहीं फलमेंभी भाग्य नहीं इसमें अधिक क्या कहें ? सम्पूर्ण देवता और परब्रह्मतत्त्वप्रतिपादक वेदवाक्य उच्चारण न करके परनिन्दा, मिथ्याकथन और कलह कारण लौकिक वाक्य जो सर्वदा सर्वत्र उच्चारण करते हैं उनका जो वाक्यमेंभी भाग्य नहीं यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इस कारण ही आम्नात

१ वेदस्याध्ययनं नित्यमनध्ययने पातात् यथा–॥ २ अपहतपाप्मास्वाध्यायोदेवपवित्रं वाएतत्तं योनुसृजतीति–तैत्तिरी० आ० २ अ० ॥ ३ यस्तित्याजसखिविदंसखायं नतस्यवाच्यपि भागो अस्ति ऋ० ८। २। २४ ॥ ४ यंयं क्रतुमधीते तेन तेन हास्य क्रतुनेष्टंभवत्यग्नेर्वायोरादित्यस्यसायुज्यं गच्छतीति तै० आ० २ अ० ॥

हुआ है" (नानुध्यायान्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्) "वेदाध्ययन छोड-कर लौकिक शब्द प्रयोग केवल वृथा वाक्यमात्र है । " वेदाध्ययन न करके यदि काव्य नाटक भी श्रवणकरे, तथापि वह श्रवण निरर्थक है उससे सुकृत मार्ग का ज्ञान नहीं होता । यह पूर्वोक्त वाक्यका अर्थ है । स्मृतिशास्त्रमें भी लिखा है " जो द्विज वेदाध्ययन न करके अन्य शास्त्रमें परिश्रम करता है, वह जीवित रहकरही वंशके सहित शीघ्र शूद्रत्वको प्राप्त होता है । "इसी प्रकार औरभी बहु-तसे उदाहरण हैं । इस स्थानमें तर्क होसकता है कि, वेदमें ही वेदाध्ययनकी विधि है, वेद पाठकरनेके पश्चात् वेदपाठकी विधि जानी जाती है, फिर अध्ययनविधि जानलेनेपर अध्ययनकी प्रवृत्ति होती है [ज्ञानके अतिरिक्त प्रवृत्ति नहीं होती]यह परस्पराश्रयदोष हुआ।[विधिज्ञान और अध्ययन दोनोंमेंही दोनों की अपेक्षा रहतीहै इस कारण कोईभी नहीं होसकता] सिद्धान्ती कहता है ठीक बात है ! गुरुमतानु-सारिगण इस निमित्तही, आचार्य्य अध्यापन करावे इस अध्यापन विधिसे माणव-कके अध्ययनको अध्यापनकी विधि नहीं है बडा प्रयास पाकर यह सिद्धान्त करते हैं । [अध्ययनकी विधिमें परस्पराश्रय दोष हुआ, इस कारण कहना चाहिये, "आचार्य्य पढावे । "यह बात कहनेसे छात्रका अध्ययन सिद्ध हुआ, क्योंकि छात्रके अध्ययनकरनेपर गुरु किसको अध्ययन करावे ? इस कारण गूढमतमें अध्यापनविधिप्रयुक्त अध्ययन है, अध्ययन अर्थात् सिद्ध, विहित नहीं है ।] अन्यमतावलम्बी प्रकाशात्मा आदि आचार्य्य गण, वेद अध्ययनके पूर्वमें भी पिता आदिके निकटसे अध्ययनविधिविषयक ज्ञान होना संभव है, जैसे उपन-यनके पूर्वमें भी पिता आदिके निकटसे संध्यावन्दनादिविषयक विधिका ज्ञान रहता है, इसी प्रकार समझना चाहिये, यह बात कहते हैं । जो कुछभी हो अध्यापन प्रसङ्गमें तात्पर्य्यसे अध्ययन आकर पडे, अथवा अध्ययनकीही विधि होवे, सर्वथाही द्विजातियोंको वेदाध्ययन करना उचित है ।

अध्ययन दृष्टार्थ [प्रत्यक्ष प्रयोजनवाला] है और अक्षरग्रहण पर्य्यन्त है यह पुरुषार्थानुशासनमें लिखा है । वह समस्त सूत्रभी उसकी अनुवृत्ति सहित उद्धृत करते हैं । अध्ययन जो दृष्टप्रयोजन है यही प्रतिपन्न करनेके निमित्त पूर्व पक्ष करते हैं । सूत्र यथा,--"अदृष्टार्थात्तु अधीतिर्विहितत्वात्, १"इसका अर्थ यह है कि, अध्ययन अदृष्टार्थके कारण विधान किया गया है । दृष्ट प्रयोजन निष्पादक

---

१ योनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् ॥ स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ मनु अ० २ श्लो० १६८ ॥

भोजनादिमें विधि नहीं देखी जाती, इस कारण अध्ययन अदृष्टार्थ है (इसका इष्ट प्रयोजन नहीं है) ऐसा जानना चाहिये । इस स्थानमें कोईभी "अदृष्ट" श्रुतिद्वारा प्रतिपादित नहीं होता है, ऐसा कहनेपर उसके उत्तरमें कहा जाता है "घृतकुल्याद्यतिदेशः स्वर्गकल्पनं वा २" अर्थात् घृतकुल्यादि रूप (घृतपुष्करिणी) में अर्थवादोक्त फलका अतिदेश करा जासकता है, अथवा स्वर्ग कल्पनाभी की जाती है । ब्रह्मयज्ञ जपाध्ययनका अर्थवाद नित्य अध्ययनका अतिदेश उस ब्रह्मयज्ञ जप अध्ययनके अर्थवादोक्त घृतकुल्यादि फल रात्रिसत्रकी समान अवलम्बन करके इस स्थानमें कल्पना की जासकती है । (१) जो लोग ब्रह्मयज्ञ जप अध्ययन अर्थवाद नित्याध्ययनमें अतिदेश करनेकी इच्छा नहीं करते, उनके मतमें रात्रिसत्रकी समान नहीं होता इस कारण विश्वजित् (२) की समान स्वर्ग फल कल्पना करनी होती है ।

इस स्थानमें शंका होसकतीहै कि, दृष्ट सम्भव होनेपर अदृष्ट फल कल्पना करना अन्याय है, इस स्थानमें संस्कार और प्राप्ति यह दो दृष्टफल हैं, इस कारण अदृष्ट स्वर्गादि फल कल्पना क्यों करें ? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं,–"अयुक्ते संस्कारप्राप्ती ३" अयुक्तमें संस्कार और प्राप्ति सम्भव नहीं होते । क्योंकि संस्कार युक्त स्वाध्याय किसीभी यज्ञमें प्रयुक्त होता नहीं देखाजाता । प्राप्ति स्वयंही अपुरुषार्थ है इसकारण इसका कोईभी फल नहीं होसकता । स्वाध्यायप्राप्ति अर्थज्ञानका कारण होनेसे पुरुषार्थ (पुरुष अर्थात् मनुष्यका अभिप्रेत) होसकताहै (इस कारण स्वाध्यायप्राप्तिको अपुरुषार्थ नहीं कहा जाता) ऐसी शंका करके उसका उत्तर सूत्रमें कहते हैं । विषक्रियानिवारणके निमित्त जो मन्त्र व्यवहार किये जाते हैं, वे समस्त जैसे अपना अर्थात् मन्त्र वाक्यका प्रतिपाद्य पदार्थको नहीं समझाते, क्यों कि उनकी उसस्थानमें आवश्यकता नहीं है । इसी प्रकार अध्ययनके अंगरूपमें विनियुक्त ज्योतिष्टोमयागादि प्रतिपादक वाक्यभी अपना अर्थ

---

(१) जिस स्थानमें विधिवाक्यमें फलश्रुति नहीं है, उस स्थानमें अर्थवाद वाक्योक्त फल विधिमें अतिदिष्ट होता है. अर्थात् इस विधिके अर्थवादमें जो समस्त फल लिखा है, वही विधिका फल माना जायगा । रात्रिसत्रनामक यागमें यह रीति स्वीकार की गई है, इस कारणही इसका नाम "रात्रिसत्रन्याय है ।" रात्रिसत्रमें जो स्वीकार किया गया है इस स्थानमें भी वही है, इस बातके समझानेसे कहना होता है कि, रात्रिसत्रन्यायानुसार इस स्थानमें व्यवस्था है ।

(२) जिस स्थानमें विधिवाक्य अथवा अर्थवादमें भी फलश्रुति नहीं है, उस स्थानमें सर्वसाधारण फल स्वर्ग कल्पना करनी होती है । विश्वजित् यागके विधिवाक्यमें और अर्थवादमें फलश्रुति नहीं, किन्तु स्वर्गकामो यजेत इस विधानके मतसे साधारण यागकी स्वर्ग फल सिद्धि है, वह साधारण फलही विश्वजित्का फल है इसका नाम विश्वजित् न्याय है ।

(ज्योतिष्टोम यागादि) प्रतिपादन नहीं करते । [विष निवारणके अंग मन्त्र जैसे निजार्थ नहीं समझासकते, इसी प्रकार अध्ययनके अंग ज्योतिष्टोम याग-बोधक वाक्यभी ज्योतिष्टोम यागादिका बोध उत्पन्न नहीं करासकते] फलतः ऐसा स्वीकार करनेपर सम्पूर्ण याग यज्ञ वेदवाक्योंके द्वारा प्रतिपादित नहीं होस-कते । सूत्र यथा–"अन्यांगंनार्थप्रमापकम् ४" जो अन्यका अंग है वह अपना-आप समझानेमें असमर्थ है । अध्ययनविधायक वेदवाक्य अपने द्वारा विहित अध्ययनकाही अंग है ऐसा स्वार्थमें प्रामाण्य कहाजाताहै इस कारण कहते हैं कि– "अध्ययनवाक्यमनन्यांगम् ५" अध्ययनविधायक वेदवाक्य अन्यका अंग नहीं है ।

इस स्थानमें यदि कहाजाय, अध्ययन अदृष्टार्थ होनेपर (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) इस स्थानमें कर्म्मकारक जो स्वाध्याय तद्गत फल न होनेमें अध्येतव्य यह कर्म्म-वाचक तव्य प्रत्ययके विरुद्ध होताहै । उसका उत्तर कहाजाताहै "सक्तुवत् करण-परिणामः । ६ सक्तून् जुहोति (सत्तुओंसे होम करे ।) इस स्थानमें कर्म्मकारक होनेके कारण प्रधान भूत जो सक्तु उसके उद्देशमें होमरूप संस्कार विधानको समझनेपरभी निविष्ट चित्तमें चिन्ता करनेपर देखाजाताहै, द्वितीया विभक्ति (स-क्तून् इस स्थानमें यद्यपि संस्कार्य्यत्व और प्राधान्य समझा देती है, तथापि होमद्वारा संस्कृत सक्तु भस्मीभूत होजानेसे उनकी अन्यत्र उपयोगिता नहीं रहती, संस्कृत पदार्थका अन्यत्र उपयोगी होनाही आवश्यक है, नहीं तो संस्कार करना वृथा है ।) इसकारणही बाध्य होकर कर्म्मकारकके द्वारा ज्ञापित द्वितीया विभक्ति होनेपरभी कर्म्मका प्राधान्य परित्याग करके, सक्तुद्वारा होम करे इसीप्रकार कर्म्म-का "करण परिणाम" करना होताहै । सक्तुको होम करना होताहै, ऐसा कर्म्म न होकर सक्तुद्वारा होम करना होताहै ऐसा करणपरिणाम कियागया इसी प्रकार इस स्थानमें कर्म्मगत फल संस्कार और प्राप्ति असंभव होनेके कारण स्वाध्याय अध्ययन करना चाहिये ऐसा न होकर स्वाध्यायके द्वारा अध्ययन करे, यह करण परिणाम करना उचित है. अध्ययन अदृष्टार्थ है यह पूर्वपक्ष प्रति-पादित हुआ ।

अब सिद्धान्त पक्षमें सूत्र कहा जाता है कि, दृष्ट फल संभव होनेपर अदृष्ट फल कल्पना करना उचित नहीं है । पूर्वपक्षके मतसे दृष्ट फल संभव नहीं है, सिद्धान्त मतमें दृष्ट फल असंभव नहीं है । सूत्र "दृष्टे तु नादृष्टम् ७" दृष्ट फल क्या है ? इस जिज्ञासासे कहते हैं,–"दृष्टौ प्राप्तिसंस्कारौ ८" प्राप्ति और संस्कार (जो पूर्वपक्षमें असंभव कहे गये हैं) दृष्ट फल हैं । अक्षरप्राप्ति (साक्षात् न होनेपरभी) परंपरासे पुरुषार्थ कहाते हैं । "प्राप्त्यर्थबोधः ९

अक्षरप्राप्ति-निमित्त बोध उत्पन्न होता है। भोजन करनेसे तृप्ति होती है न करनेसे नहीं होती, इस अन्वयव्यतिरेकसे भोजन और तृप्तिका सम्बंध अवगत होजाता है इस कारणही भोजनमें विधान दूर नहीं किया। स्वाध्यायकी वेलाभी अन्वयव्यतिरेकसे ज्ञात होजाती है,-इस कारण विधिकी आवश्यकता नहीं होती; इस कारण विधान व्यर्थ है ऐसी शंका नहीं कीजाती, क्योंकि व्रीहिगणोंके तण्डुल निष्पत्तिके निमित्त अवघात और नखद्वारा भूसी उतारकर फेंकदेना इत्यादि अनेक उपाय रहनेपरभी व्रीहिके अवघातद्वारा तण्डुल निष्पादन करना यह नियम विधान जैसे [नियम जन्य अदृष्टप्रतिपादक विधायक] अनर्थक नहीं होता, वैसेही इस स्थानमेंभी नियमार्थ विधान है यह बात कही जाती है। सूत्रमें यही कहते हैं-"विधिनिष्पत्त्या इति १०" ऊपर जो पूर्वपक्ष कहा है, संस्कृत स्वाध्यायका किसीभी यज्ञमें प्रयोग नहीं दीखता, इस कारण संस्कार सम्भव नहीं। उसके उत्तरमें कहा जाता है "संस्कारसिद्धिः क्रत्वध्ययनविधिद्वयोपादानात् ११" क्रतु और अध्ययन यह दोनों प्रकारकी विधि ग्रहण करनेपर ही संस्कार सिद्ध होता है। क्रतु अर्थात् यज्ञका विधान विषय ज्ञानकी अपेक्षा करता है, इस कारण विषयबोधमें स्वाध्यायको करता है, और अध्ययनविधि लिखित पाठ व्यतिरिक्त नियमित अध्ययनद्वारा स्वाध्यायका संस्कार प्रतिपादन करता है। अतएव दोनों विधिका उपादान करनेपर स्वाध्यायका संस्कार उपपन्न होता है। प्रश्न होसकता है कि, संस्कार एक अदृष्टातिशय है, वह स्वाध्यायगत नहीं होता है, "तव्य" प्रत्ययके द्वारा स्वपदप्राप्त प्रकृतिका अर्थ जो अध्ययन है, उससे उपरक्त जो भावना, उसकाही अपूर्व कथन होता है, ऐसा होनेपर स्वाध्यायका संस्कार किस प्रकार हुआ? उसके उत्तरमें कहाजाता है, "तव्यः कर्मगादृष्टवाचीति१२" 'तव्य' प्रत्यय इस स्थानमें कर्म्मगत अदृष्ट समझाता है। 'तव्य' प्रत्यय कर्म्मबोधक होनेके कारण, कर्म्मकारक स्वाध्याय, उस प्रकृति (धातु) का अर्थ जो अध्ययन उसकी अपेक्षाभी तव्य प्रत्ययके सन्निकृष्ट है, इस कारण तव्य प्रत्यय स्वाध्यायगत अदृष्टही समझाता है। अपूर्व धात्वर्थजन्य होनेपरभी धात्वर्थोपरक्त होगा ऐसा नियम नहीं है। जो दूसरेका अङ्ग है वह स्वार्थप्रतिपादनमें असमर्थ है, यह जो कहागया है वहभी अनुचित है। क्योंकि सम्पूर्ण स्वतंत्र अदृष्टके शेष (अङ्ग) होनेपरही ऐसा दोष होसकता है। इस स्थानमें अदृष्ट स्वाध्याय आश्रित है उसकी स्वाध्यायगत अक्षरकी सामर्थ्यसे सिद्ध अर्थज्ञान फल रहते अन्य फल कल्पना करना अन्याय है। इस कारण अदृष्ट प्रामाण्यका उपकारक है, प्रतिबन्धक नहीं, यही

सूत्रमें कहा है । "स्वतंत्रादृष्टशेषत्वान्न स्वार्थप्रमा प्रतिवध्यते १३" स्वतंत्र अदृष्टका शेष (अङ्ग) न होनेके कारण स्वार्थबोधमें वाधा नहीं । सक्तुन्याय दृष्टान्तमें कर्म्मकारक प्राधान्य परित्याग करनेपर स्वतंत्र अदृष्ट स्वीकार करना होता है । (ऐसा होनेपरही स्वतंत्र अदृष्ट शेष हुआ) इस शङ्कासे कहते हैं,– "यथाश्रुतोपपत्तेर्न सक्तुन्यायः १४" जैसी श्रुति है, उससे उत्पन्न होनेके कारण सक्तुन्याय इस स्थानमें अनावश्यक है । सक्तुन्यायकी गति न होनेके कारण श्रुत (कर्मप्राधान्य) परित्याग करके अश्रुत (कारण परिणाम) कल्पना किया है, इस स्थानमें वह उचित नहीं क्योंकि कर्म्मकारककी गति पूर्वमेंही दिखाई गई है ।

इस प्रकारसे अध्ययनविधान दृष्टार्थ है यह प्रतिपादनकरके अध्ययनकी विधि अर्थज्ञानपर्य्यन्त है यह मत निरास करनेके निमित्त पहले पूर्वपक्षका मत लिखते हैं, सूत्र यथा–"वैधमर्थनिर्णयं भट्टगुरुविधेः पुमर्थावसानात् १" अर्थात् कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु कहते हैं, फलवत् अर्थ निश्चय और वैध अर्थात् अध्ययनविधि प्रयुक्त है, क्योंकि सर्वत्रही विधिकी (विधानकी) पुरुषार्थमें पर्य्यवसान अर्थात् समाप्ति है । यदि कहाजाय, एकवार अध्ययन अथवा बहुवार अध्ययनसेभी अर्थज्ञान लाभ नहीं किया जासकता, ऐसा होनेपर शंकाके उत्तरमें कहते हैं, अध्ययनका विधान अर्थनिश्चयसिद्धिके निमित्त अर्थनिश्चयके कारण विचारको कल्पना करेगा । इस तात्पर्य्यका ज्ञापक सूत्र–"सविचारमाक्षिपेत् २" वह अर्थात् अध्ययनविधिविचार आक्षेप अर्थात् कल्पना करती है । इस स्थानमें तर्क होसकताहै कि, विधि केवल विधेय पदार्थ और उसके उपकारी पदार्थ इन दोनोंका प्रयोजक है कि, यह सर्वत्र नियम है; ऐसा होनेपर इस स्थानमें ऐसी कल्पना क्यों करनी चाहियें ? तर्कका उत्तर यह है कि "अविधेयानुपकार्य्याक्षेपोऽवघातावृत्तिवत् ३" जो अविधेय और अनुपकारी हैं उसकाभी आक्षेप होता है, जैसे अवघातकी आवृत्ति है । "व्रीहि अवघात करेगा" इस स्थानमें अवघात विधेय है, अवघातकी आवृत्ति वारम्वार करना विधेय नहीं है क्योंकि वह धातुका अर्थ नहीं है । आवृत्ति जो विधेयकी उपकारिणी है वह भी नहीं कहसकती, क्योंकि आवृत्ति व्यतीत एकवार मूसलघातकरनेपरही अवघात सिद्ध हुआ, ऐसी अवस्थामें भी तंडुलनिष्पत्तिके निमित्त विधि जैसी वृत्तिका आक्षेप करती है, इस स्थानमें भी वैसाही समझना चाहिये । शंका होसकती है, वेदमात्र जिसने पाठ किया है, उसको अर्थबोध न उत्पन्न करानेसे भी व्याकरणादि अंगसहित वेद अध्ययन करनेपर अर्थज्ञान उत्पन्न

होना सम्भव है, इसकारण उस व्यक्तिके प्रति विचार अनर्थक है; इसकारण अध्ययन विधि भी वह कल्पना नहीं करे। इस शङ्काके उत्तर में कहाजाता है कि, अर्थगत विरोधपरिहारके निमित्त विचारकी अपेक्षा है, इस तात्पर्य्यका बोध करानेवाला सूत्र यथा—"साङ्गाध्ययनात्तद्भावे विचारोऽर्थविरोधापत्तुत् ४" अर्थात् साङ्ग वेदपाठ करके भी ज्ञानोदयसे अर्थविरोध परिहारकी आवश्यकता होती है इसकारण विचार चाहिये। इस स्थानपर्य्यन्त पूर्वपक्ष शेष हुआ।

सिद्धान्त पक्ष कहाजाता है "प्राप्तेस्तु गवादिवत्पुमर्थत्वाद् विधिस्तदन्तः ५" प्राप्ति "गो" आदि की समान पुरुषार्थ, अतएव विधिप्राप्त्यन्त है जिसप्रकार फलस्वरूप दुग्धादिके हेतु गोआदि पुरुषके द्वारा प्रार्थित होते हैं, इसी प्रकार फलवत् अर्थज्ञानके कारण अक्षरप्राप्ति भी पुरुषार्थ है, इस निमित्त अध्ययन विधि अक्षर प्राप्तिपर्य्यंत जाननी चाहिये। शङ्का है कि, फलवत् अर्थज्ञानप्रयुक्त अक्षरप्राप्तिकी पुरुषार्थता है यह यदि कहाजाय, तो बोध होना ही मुख्य पुरुषार्थ है, इस निमित्त अध्ययनविधि बोधपर्य्यन्त होनेसे हानि क्या है? इस शङ्काके समाधानमें उत्तर यह है कि, "फलवद्बोधान्तत्वे अध्ययनाकात्स्न्यर्म् ६" अध्ययनविधि फलवत् बोधपर्य्यन्त होनेपर सम्पूर्णको अध्ययनकी आवश्यकता नहीं है। बोधका फल कर्म्मानुष्ठान है, ऐसा होनेसे, ब्राह्मणका बृहस्पतिसवादिमें अधिकार है, इससे ब्राह्मण उस वेदवाक्य का अध्ययनही करे। राजसूयादि वाक्य ब्राह्मणके द्वारा अधीत नहीं होते। क्योंकि जिसमें आवश्यकता नहीं उसमें प्रवृत्ति नहीं होती। (राजसूय राजा करे, ब्राह्मण न करे, उसके सीखने जानने में ब्राह्मणकी प्रवृत्ति क्यों होगी?) सिद्धान्तपक्षमें यह दोष नहीं है, यह बात सूत्रमें कहते हैं। जैसे "कृत्स्न प्राप्तिर्जपार्था ७" समस्त प्राप्ति जपार्थ है अनुष्ठानके निमित्त समस्त प्राप्ति नहीं चाहिये जपके निमित्त चाहिये (बोधके पक्षमें समस्त का पढना होसकता है यहां दोष है तो किन्तु) अध्ययन अवोधक होनेपर अर्थज्ञान भी सिद्ध नहीं होसकता यह शङ्का नहीं होसकती, क्योंकि प्रमाणका स्वभाव ही यह है कि, वह प्रमेय पदार्थ प्रतिपादन करता है, लौकिक जो विद्वद्वाक्य हैं, वह विधानके अतिरिक्त भी बोधजनक होते हुए देखे जाते हैं, यह बात सूत्रमें कहते हैं,—"लोकवत् नैजो बोधः ८" बोध स्वयं ही होता है, उसमें विधान की आवश्यकता नहीं। लोकमें ज्ञानीका वाक्य दृष्टान्तका स्थल है। इस समय कहाजासकता है, बोध यदि विधिका फल है, तो जो बोधकी कामना करता है उस व्यक्तिके उद्देशसे उसका विधान किया जा सकता है; इस कारण अधिकारी सुलभ होता है। इस शङ्काके

समाधानार्थ यथार्थ उत्तर :यह है कि, प्राप्तिपक्षमेंभी जो प्राप्तिकामना करताहै ऐसा उपनीत आठ वर्षका ब्राह्मण अधिकारी सुलभ है, यह उत्तर स्पष्टही प्रतीत होता है, इस कारण इस उत्तरको उपेक्षा करके बोध "काम्यवस्तु" नहीं, यह बात कहकर बोधके काम्यत्व पक्षमें (पूर्ववादीके पक्षमें) दोष दिया जाता है, जैसे,—"सोऽकाम्यः प्राग् बोध्यभानाभानयोः ९" बोध काम्य नहीं है, क्योंकि पूर्वमेंही बोध्य वस्तु का भान और अभान होता है। वेदाध्ययनके पूर्वमेंभी पिताआदिके उपदेशसे बोध्य अग्निहोत्रादि वेदोक्त पदार्थ ज्ञात हो सकते हैं, इस कारण अर्थबोध काम्य नहीं। (क्योंकि अध्ययनके प्रथमही उपदेशद्वारा सिद्ध हुआ है।) और यदि पूर्वमें किसी भी मतमें जाना न जाय, तो उस वस्तु-की कामनाभी नहीं हो सकती है। ज्ञात विषयमेंही कामनाके उदय होनेका नियम है। शङ्का हो सकती है कि, सामान्य प्रकारसे जो जाना जाता है, विशेष प्रकारसे उसकेही जाननेकी इच्छा होती है, अथवा पिताआदिके निकटसे विशेष रूपसे ज्ञात होनेपरभी, पिताआदिके उपदेशजनित ज्ञानका प्रामाण्य निश्चय करनेके निमित्त पुनर्वार समझनेकी कामना हो सकती है। इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा होनेपरभी अर्थज्ञानके उपदेशसे अध्ययनका विधान सम्भव नहीं है। सूत्रमें यही विशेष कहा जाता है। सूत्र यथा—"उद्देशायोगात् १०" अर्थात् उद्देश अनुपयुक्त है। अग्निहोत्रादि विशेष ज्ञानका एक बुद्धिद्वारा विशे-षाकारमें उद्देश सम्भव नहीं है क्योंकि यह विशेष ज्ञानसमूह अनन्त है। यदि सामान्यरूपसे उद्देश कहा जाय, तोभी सामान्यही विधिफल होता है, ज्ञान विशेष विधि फल नहीं होता। अत एव अर्थज्ञान सामान्य वा अर्थज्ञान विशे-षका उद्देश इस स्थानमें असम्भव है। प्रश्न हो सकता है कि, यदि अर्थबोध उद्देश करके उच्चारण न हो तो वेदके स्वार्थमें तात्पर्य्यही नहीं हो सकता। उत्तरमें सूत्र कहा जाता है कि, उपक्रम्य आदि लिङ्गद्वारा प्राप्त होनेवाला तात्पर्य्य शब्द बलसेही सिद्ध है। सूत्र यथा—"तात्पर्य्यशब्दात् ११" अर्थात् तात्पर्य्य शब्द सामर्थ्यसेही सिद्ध है। शब्दबलसे तात्पर्य सिद्ध होनेपर अर्थज्ञानके उद्देशसे लोकमें जो शब्दोच्चारण देखा जाता है, वह व्यर्थ होता है, ऐसाभी नहीं कहा जाता, क्योंकि पुरुषसम्बंधजनित दोषरूप प्रतिबन्धक परिहारके निमित्त अर्थज्ञानके उद्देशसे लोकमें शब्दोच्चारण देखा जाता है। सूत्रमें यह बातही कहते हैं—"उद्दिश्योच्चारणं दोषघ्नं लोके १२" (पुरुषका दोष वाक्यमें संक्रमित होता है वह तात्पर्य्यग्रहणका प्रतिबन्धक है, इस प्रतिबन्धक निरासके निमित्त लोकमें अर्थज्ञानके उद्देशसे शब्दोच्चारण करना होता है, तात्पर्य्य यह कि, शब्द-

बलसे सिद्ध होनेपरभी पुरुष दोषविनाशके निमित्त उद्देशसे उच्चारणकी आवश्यकता होती है।) इस स्थानमें शंका हो सकती है–बोधपर्य्यंत अध्ययन विधि न होनेपर प्रयोजकका अभाव होनेसे विचार शास्त्रकी प्रवृत्तिही नहीं होती इस शंकाके उत्तरमें कहा जाता है–" विचार उत्तरविधिप्रयुक्तउपपद्यत इति १३ " उत्तरविधिप्रयुक्त विचार उपपन्न होता है । क्रतुबोधआदि विधि साङ्ग वेदाध्ययन हेतुसे सब प्रकार प्रतिपन्न होनेपरभी, विरोधपरिहारपूर्वक प्रतिष्ठित निर्णय ज्ञानके अतिरिक्त अनुष्ठान करानेमें असमर्थ होकर निर्णयके निमित्त क्रतु-विचार प्रयोजित करती है। श्रवणविधि साक्षात् ब्रह्मविद्याका विधानही करती है। यदि ऐसा हो तो, श्रवणविधिका स्वविधेय प्रयोजकत्व (अपने द्वारा विधेय ब्रह्म-विचार, तत्प्रयोजकता श्रवणविधिकी ।) और क्रतु (यज्ञ) विधि विधेय पदार्थ का जो उपकारी तत्प्रयोजक वह सम्यक् प्रकारसे उपपन्न हुआ ।

अध्ययनविधिप्रयुक्त अध्ययन इस पक्षमें, उस विधानके यज्ञसे स्वर्गसिद्धि पर्य्यन्ततानिबन्धन यज्ञानुष्ठानभी प्रयुक्त होता है, इसकारण यज्ञविधानकी व्यर्थ-ता उपस्थित होतीहै। यदि प्रश्न कियाजायकि, अध्ययनविधिकी त्रैवर्णिक (ब्रा-ह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णोंके) अधिकारी विषयमेंही नित्यता है, इसकारण वह प्रयुक्त होनेपर विचार भी वही लब्ध होता है अन्यथा नहीं । ऐसा होनेपर इस प्रश्नविषयमें (हमारी) जिज्ञासा है। प्रथम–क्रतुविचारके त्रैवर्णिकमात्रमें नित्यता सिद्धिके कारण? अथवा ब्रह्मविचारका त्रैवर्णिकमात्रमें नित्यतासिद्धिनिबन्धन? इनमें प्रथम पक्ष (क्रतुविचारके त्रैवर्णिक मात्रमें नित्यता सिद्धिहेतुक यह पक्ष) हमारे पक्षमें भी समान है। यह बात कही जातीहै– "अतो नित्यः क्रतुविचारस्त्रै-वर्णिकमात्रस्येति १४ " अर्थात् इसकारणही त्रैवर्णिकमात्रका क्रतुविचार नित्य है। न करनेमें प्रत्यवाय (अनिष्ट) होनेके कारण, यज्ञ त्रैवर्णिकगणोंका नित्य है, इस कारण क्रतुविचारभी त्रैवर्णिक गणोंका नित्य है ऐसा तात्पर्य है। द्वितीयमें अनिष्टकी बात कही जाती है–"ब्रह्मविचारः पुनःपरमहंसस्यैव १५" ब्रह्मवि-चार परमहंसकाही है । नित्य इस अंशके संयोगमें जानना चाहिये । (ब्रह्मविचार परमहंसका नित्य है त्रैवर्णिकका नित्य नहीं है।) तर्क होती है कि, यदि अध्य-यन अक्षरग्रहणपर्य्यन्त हो तो अर्थज्ञान तो अविहित होजाता है, यह तर्क उपयुक्त होता है। क्योंकि अन्य वाक्यसे वह विहित हुआ है। (स्वाध्याय अध्ययनविधिसे नहीं ।) "ब्राह्मणको निष्कारण धर्म और समस्त वेद अध्ययन करना उचित है और जाननाभी उचित है" यही वह विधि है। इस विधिवाक्यमें "निष्कारण" शब्दके

१ ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदो ज्ञेयोऽध्येयश्चेति ।

द्वारा अध्ययन और ज्ञानमें " काम्यत्व " निरास किया गयाहै । अर्थज्ञानमें जिससे पुरुषकी प्रवृत्ति हो, शाखान्तरगत वैसे दो वाक्य निरुक्त शास्त्ररचयिता यास्क ने उद्धत कियेहैं । उसमें ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा है । (प्रशंसा श्रवणसे पुरुष उसमें प्रवृत्त होता है यही नियम है, इसकारण ज्ञानप्रशंसाश्रवणसे अर्थज्ञानमें पुरुषकी प्रवृत्ति हो सकती है ।) जैसे "जो वेद अध्ययन करके अर्थ नहीं जानता, वह स्थाणुकी समान भारवहनहीं करता है, जो अर्थ जानता है, वह समस्त कल्याण प्राप्त करता है, स्वर्गमें जाताहै, ज्ञानसे पापमुक्त होता है । जो ग्रहण कियाहै किन्तु जाना नहीं, वह शास्त्र फलदायक नहीं होता जैसे सूखा काठभी अग्निशून्य स्थानमें रखनेसे नहीं जलता इसीप्रकार।" इस मंत्रमें जो अर्थ जानता है इत्यादि अर्द्धांशद्वारा वेदार्थज्ञानकी प्रशंसा कीहै । अन्य अर्द्धत्रयद्वारा ज्ञानरहितकी निन्दा कीहै । [मूल दो श्लोक हैं, उसमें चार अर्द्ध (श्लोकार्द्ध) हैं, उनमें एकसे ज्ञानप्रशंसा अर्थात् एक श्लोकका अर्द्धांश ज्ञानप्रशंसा दूसरे एक पूर्ण श्लोक और एक श्लोकके अर्द्धद्वारा अज्ञाननिन्दा है ।] जो वेदार्थ जानताहै, वह इस लोकमें सम्पूर्ण कल्याण पाताहै । यह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके ज्ञानका फल तैत्तिरीय शाखाध्यायिगणने मंत्र उदाहरणके द्वारा और मंत्रतात्पर्यबोधक ब्राह्मणभागके द्वारा स्पष्टरूपसे प्रतिपादन कियाहै । मंत्र जैसे "आधुनिक वा प्राचीन चाहे जिसप्रकारका हो, वेदज्ञको जो लोग दूषित करते हैं, वह आदित्यको, अग्निको, हंसको दूषित करते हैं, जितने देवता हैं, सबही वेदविद् ब्राह्मणमें वास करतेहैं, वेदविद् ब्राह्मणको नमस्कार करे, अश्लील कीर्त्तन न करे, इन सम्पूर्ण देवताओंको वह प्रसन्न करताहै ।" वेदज्ञ पुरुष दो प्रकारके हैं, इस कालमें उत्पन्न चतुर्द्दशविद्यास्थानकुशल कोई उपाध्याय और पूर्वकालीन व्यासादि यह दो प्रकारके हैं । पंडित जो मनमें अपने समझते हैं ऐसे विद्या धन कुल माना-दिसे गर्वित जो मनुष्य पूर्वोक्त दोनों प्रकारके वेदविद् ब्राह्मणको विद्यादिमें दूषित करतेहैं, वे सबही पहिले आदित्यको दूषित करते हैं । सर्वदा गमन करताहै, (हनुधातु गत्यर्थ) इस अर्थमें हंस वायु । वेदज्ञ अग्नि आदिस्वरूप है यह बात श्रुति कहती है । यथा,–"(वेदविद्) अग्नि, वायु, और आदित्यकी सायुज्य-ताको प्राप्त होताहै ।" केवल यह तीन देवता वेदविद्में वास करतेहैं, ऐसा नहीं

१ स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम् । योर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा । यद्गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिंचित् ॥

२ ये अर्वाञ्चमुत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्त्यादित्यमेव ते परिवदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं तृतीयं च हंसमिति तै० आ० २ अ० ॥

३ अग्नेर्वायोरादित्यस्य सायुज्यं गच्छतीति तै० आ० २ अ० ॥

किन्तु सम्पूर्ण देवताही वेदविद् ब्राह्मणमें वास करते हैं । वेदविद् ब्राह्मणोंको देखकर अथवा स्मरण करके प्रतिदिन नमस्कार करै, उनका प्रकृत दोष होनेपर भी कीर्त्तन न करे, ऐसा होनेपर वेदज्ञपुरुषद्वारा स्मर्य्यमाण रूपसे उसके हृदयमें अवस्थित मंत्रार्थभूत सम्पूर्ण देवताओंकोही नमस्कार करनेवालेने प्रसन्न: किया । (वेदज्ञको नमस्कार करनेसे देवता प्रसन्न होते हैं ।) यह अध्ययनका फल है ऐसा नहीं कहा जासकता, क्योंकि "विद्वान्" कहागया है, नहीं तो "वेदपाठी" कहाजाता । (जो वेद जानता है ऐसे कहनेपर ज्ञानका फल समझा जाताहै,जो वेदपाठ करता है, ऐसा कहनेपर वेद अध्ययनका फल समझा जाता है ।) इस कारण प्राणियोंके द्वारा "देवतास्वरूप" होनेके कारण पूजित वेदज्ञ व्यक्तिको इस लोक और परलोक दोनोंमेंही शुभप्राप्ति उपपन्न हुई । जो वेद पढकर अर्थ नहीं जानता, वह पुरुष भारही वहन करता है, जैसे स्थाणु, यही उसका दृष्टान्त है । शाखारहित सूखी वृक्षकी जडको स्थाणु कहते हैं, वह स्थाणु जैसे बन्धनका काष्ठ करनेके उपयोगी है पुष्पफलादिके निमित्त उपयुक्त नहीं, इसी प्रकार केवल जो पाठ करता है, उसको (अर्थबोधरहित व्यक्तिको) व्रात्यत्व (एकजातीय पतितपन) ही नहीं होता, किन्तु अनुष्ठान और स्वर्गादि फल सिद्ध भी नहीं होता "किल" शब्द लोकप्रसिद्ध रूप अर्थ समझा देता है । लोकमें भी देखा जाता है, जो लोग अर्थ नहीं जानते और पाठ करते हैं, उनको जैसी धनादिप्राप्ति और सन्मान प्राप्ति है, उनकी अपेक्षा जो पुरुष अर्थज्ञ विद्वान् हैं उनको अधिक धन और सन्मान आदिकी प्राप्ति होती है, और भी जो वेदवाक्य आचार्य के निकटसे गृहीत है । किन्तु अर्थज्ञानशून्य पाठरूपसेही पुन: पुन: उच्चारित होता है, वह किसी कालमें भी अपना अर्थ प्रकाश नहीं करता । वह अग्निशून्य स्थानमें फेंकाहुआ सूखा काठ जैसे नहीं जलता वैसेही है, ऐसा होनेपर उस शब्दका वेदत्वही मुख्य नहीं हुआ, अर्थात् गौण होगया । अलौकिक पुरुषार्थ उपाय इसके द्वारा जाना जाता है [वेत्ति अनेन] वेदशब्दका अर्थ निर्वचन ऐसा शास्त्रमें है, "प्रत्यक्ष और अनुमानादि द्वारा जो उपाय नहीं समझाजाता, वही वेदके द्वारा जान लिया जाता है यही वेदका वेदत्व है । "[1]मुख्य वेदत्वसिद्धिके निमित्त वेदका अर्थ ज्ञातव्य है । और भी निरुक्तकार यास्कने इस स्थानमें अन्य एक उदाहरण उद्धृत किया है, यथा,-"[2]कोई देखकरके भी वेदवाक्यको नहीं देखते कोई सुनकर-

---

१ प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

२ उतत्व: पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्व: शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतोत्वस्मै तन्वं १ विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा: ऋ० ८ । २ । २३ ॥

के भी नहीं सुनते, जो व्यक्ति वेदार्थरहस्यकी मीमांसामें प्रवृत्त होता है, वेद उसके निकटही अपना शरीर प्रकाश करता है, जिसप्रकार पतिके प्रति कामयमाना सुवासा पत्नी अपने अङ्गोंको प्रकाशित करतीहै।''उदाहरण के पूर्वार्द्धका तात्पर्य उसने स्वयंही दिखाया है ''कोई २ वाक्यको देखकर भी नहीं देखते, इसको सुनकर भी नहीं सुनते, यह अर्द्ध अविद्वान् को कहता है ।''संक्षिप्त यास्कवाक्यका अर्थ यह है कि, जो व्यक्ति अर्थ नहीं जानता उसके प्रति पूर्वार्द्धद्वारा मंत्र कहते हैं, जिस किसी एकने वेद पाठमात्रही कररक्खा है, अर्थ नहीं जानता वह वेदवाक्य देखकरभी नहीं देखता एकवचन बहुवचन ज्ञात न होनेसे शुद्ध रूपसे पाठ करना भी असम्भव है। ''वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति स एव एनं भूतिं गमयति'' तै०सं०२।१।१ (१) इत्यादि स्थानमें अव्युत्पन्न व्यक्ति किस प्रकारसे क्या पाठ शुद्ध है उसका निर्णय करेगा ? (स कर्त्ता होनेपर गमयति क्रिया होगी स पदसे वायुको समझना चाहिये, इस कारण वायु इस स्थानमें जिस प्रकार द्वितीयाका एक वचन है उसीके अनुसार स इस स्थानमें प्रथमाका एकवचन होगा बहुवचन नहीं। आदित्यान् यह द्वितीयाका बहुवचन होनेके कारण " ते " इस स्थानमें भी बहुवचन होकर और ते कर्त्ता होनेसे गमयन्ति क्रिया हुई । यह व्याकरणकी व्युत्पत्ति है इसे अनभिज्ञ नहीं जानते ।) दूसरा कोईभी व्यक्ति व्याकरणादि सम्पूर्ण वेदान्त पढकर भी मीमांसामें अनभिज्ञ होनेके कारण वेदवाक्य सुनकरभी सम्यक् प्रकारसे श्रवण नहीं करता । जितने अश्व प्रतिग्रह करे, उतने वरुण देवताको चतुष्कपाल अर्थात् मृत्तिकापात्रमें यथाविधि संस्कृत हुए हों, ऐसे पुरोडाशनामक यज्ञमें व्यवहृत पिष्टक द्वारा याग करै । इस स्थानमें सब प्रकार व्याकरणादि शास्त्र पाठको विद्यामें समझना, जो अश्वप्रतिग्रह करै उसकाही यह यज्ञ करना उचित है, किन्तु मीमांसाशास्त्रका सूक्ष्म रहस्य विदित होनेपर समझा जायगा कि अश्वदान करै, यह यज्ञ उसकाही कर्तव्य है । (मूलमें ''प्रतिगृह्णीयात्'' (प्रतिग्रह करै) यह शब्द है, किन्तु परवर्त्ती वाक्यके साथ एकवाक्यता करके देखनेपर स्पष्टही प्रतीत होगा कि ''प्रतिगृह्णीयात्'' अर्थ प्रतिग्रहण करै ऐसा नहीं, प्रतिग्रहण करावे अर्थात् दान करे । णिच् प्रत्ययका अर्थ इसके मध्यमें संयोजित करना होगा, नहीं तो दूसरे वाक्योंके साथ विरोध उपस्थित होता है, इस कारणही युक्ति अवलम्बन करके दाताका यह यज्ञ यह सिद्धान्त होता है । यह मीमांसाशास्त्रपठनका फल है, इस कारण कहा गया है, मीमांसा न जाननेसे व्याकरणादिकी सहायतासे वेद नहीं समझा जाता ।) इस कारण द्विविध अविद्वानके प्रतिही यह बात कही गई । (मूलका मंत्र जो ४९ पृष्ठमें कहा गया है,

---

(१) वह अपने भागधेयसे वायुके प्रति उपधावित होता है वायु इसको समृद्धि प्राप्त करताहै । आदित्यगणोंके प्रति अपने भागधेयसे उपधावित होता है वे इसको समृद्धि प्रदान करते हैं ।

उतत्वः पश्यन् इत्यादि उसकेही) तृतीय पादका तात्पर्य्य विशेष रूपसे यास्क कहते हैं। "किसीकेभी प्रति तनु प्रकाश करता है, अर्थात् निजको विवृत करता है, इस वाक्यद्वारा अर्थका ज्ञान प्रकाश कहा जाता है।" संक्षिप्त यास्क वाक्यका अर्थ इस प्रकार है। यास्ककी व्याख्यामें "किसीकेभी" इस भी के स्थानमें संस्कृतमें "अपि" है उस यास्कलिखित "अपि" वेद वाक्यमें जो "इतो" शब्द है उसका अर्थ प्रकाश करता है। पूर्वोक्त अनभिज्ञ व्यक्तिसे पृथक् अभिज्ञ व्यक्तिकी बात इस पादमें कही गई है, उसको यह "अपि" अथवा "उतो" समझाता है। निपात (एक प्रकारके अव्यय) के अनेक अर्थ हो सकते हैं (इस स्थानमें उक्त अर्थ में व्यवहृत हुआ।) जो व्यक्ति व्याकरणादि वेदांगके द्वारा वेदवाक्य और मीमांसारहस्य शोधन करनेमें प्रवृत्त होता है, एक उसीके निकट वेद अपना तनु प्रकाश करता है। वेदार्थ प्रकाशनमें समर्थ सम्यक् ज्ञान इस तृतयि पाद रूप वाक्यद्वारा वेदमन्त्र कहते हैं ऐसा तात्पर्य्य है। यास्क चतुर्थपादका तात्पर्य्य कहते हैं यथा, "उत्तम वाक्यके द्वारा उपमा दीजाती है। जाया जिसप्रकार पतिकी कामनासे ऋतुकालमें सुवासा होती है उसीप्रकार; वह सुनता है इत्यादि वाक्यद्वारा अर्थज्ञव्यक्तिकी प्रशंसा कीजाती है।" यास्ककी संक्षेपोक्तिका मर्म यथा, उत्तम (चतुर्थपादरूप) वाक्यके द्वारा तृतीयपादोक्त पदार्थकी उपमा कही जाती है। मूल (वेद) में "उशती" शब्द है, उसकी व्याख्या (यास्ककी) कामयमाना है यद्यपि गृहकार्य्य करनेके समय स्त्री मलीन वस्त्रवाली होती है, तथापि स्वामिसंभोग कालमें वह कल्याण वस्त्र धारण करती है। ऋतुकालमें कामयमाना होती है (यही उसके वस्त्रपरिधानमें) हेतु है। पति जिस प्रकार इसको (पत्नीको) सब प्रकारसे, आदरकरके देखताहै, और उसकी बातोंको हितकारी जानकर श्रवण करता है, उसीप्रकार यह चौदह विद्यामें चतुर व्यक्ति वेदका रहस्य भलीभांति देखपाता है, वेदोक्तधर्म्म और ब्रह्म यह दो पदार्थ हितबुद्धिसे स्वीकारकरता है। यह वेदार्थज्ञाता व्यक्तिकी प्रशंसा कहीगई। औरभी एक ऋक् मन्त्र यास्कने उदाहरणमें दियाहै। (उतत्वम् इत्यादि मन्त्र है) उसका अर्थ यह है (कोई २ ऋक्मन्त्र पूर्वोक्त मन्त्रका अर्थ अधिक रूपसे निर्वाचन करता है अर्थात् उस ऋक्का अर्थ अतिशय प्रकारसे प्रतिपादन करता है। किसप्रकार ? इस प्रश्नके उत्तरमें कहाजाता है) औरभी अभिज्ञगण

—आदित्यानेव स्वेन भागधेयेनोपधावति त एवैनं भूतिं गमयन्ति तै० सं० २।३।१। यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदिति तै० सं० २।३।१२।

१ उतत्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पामिति ऋ० ८।२।२३।

कहते हैं, एक चौदह विद्यानिधान पंडित वेदवाक्यके सखित्वमें स्थितहोकर स्थैर्य्यद्वारा वेदोक्त अर्थरूप अमृत पानकरता है, ("सखिविदं सखायम्" ऋ० ८। २।२४। इत्यादि मन्त्रमें वेदका सखित्व कहा है।) अथवा स्वर्गलोकमें देवगणोंके सख्यमें अवस्थितरहकर अतिशयरूपसे अमृतपान करता है इसप्रकार पण्डित लोग कहते हैं। सभामें जो प्रगल्भ हैं वे लोगभी इस वेदज्ञव्यक्तिको विचलित नहीं करसकते, सबही वेदज्ञके साथ विवाद करनेमें असमर्थ हैं। जिसने केवल पाठमात्रही किया है, पुष्पफलरहित वाक्यको श्रवणही किया है वह अधेनुमायाके साथ विचरण करता है। पूर्वकाण्डोक्त धर्म्मका ज्ञान "पुष्प" और उत्तर काण्डके प्रतिपाद्यपदार्थका ज्ञान फल जिसप्रकार लोकमें देखाजाताहै, पुष्पफलका उत्पादक, उसी प्रकार वेदानुवचनादि धर्म्मज्ञान अनुष्ठान द्वारा फलरूप ब्रह्मज्ञानकी इच्छा उत्पन्न करा देता है। वेदमें है "उस परमात्माके (ब्रह्मके) वेदानुवचन यज्ञ, दान, और शरीरका अनिष्ट न करै ऐसी तपस्याके द्वारा ब्राह्मण लोग जाननेकी इच्छा करते हैं। फल जिसप्रकार तृप्तिका कारण है, ब्रह्मज्ञानभी उसी प्रकार कृतकृत्य होनेका उपाय है। श्रुति कहती है-[ब्रह्माहमस्मि] "मैं वही ब्रह्म हूं" इस प्रकारसे (ब्रह्मज्ञ) कृतकृत्य होताहै। जो व्यक्ति पूर्वोक्त धर्म पुष्प और ब्रह्मज्ञानफलरहित वेदपाठ करताहै वह अधेनुमायाके साथ विचरण करताहै। नवप्रसूति दुग्धदेनेवाली गौ "धिनोति" अर्थात् प्रीतिदान करती है इस व्युत्पत्तिबलसे धेनु कही जाती है। जिसने वेदपाठ किया है, अर्थ नहीं जाना, उसको वेदवाणी धर्मज्ञान, और ब्रह्मज्ञानरूप दुग्धदान नहीं करती अतएव वेदवाणी उसके पक्षमें धेनु नहीं अधेनु है। जब अधेनु है, तब माया हुई, क्योंकि ऐन्द्रजालिक निर्मित कृत्रिमधेनु, जैसे दुग्धदान नहीं करती; वेदवाणीने भी उसीप्रकार दुग्धदान नहीं दिया, इसकारण इसको अधेनुमाया कहते हैं। अविद्वान् व्यक्ति उस अधेनु मायाके साथ विचरण करता है, परम पुरुषार्थ लाभ नहीं करता; इसप्रकार अर्थहै। इसप्रकार यास्कमुनिने ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दाका उदाहरण विस्तृतरूपसे दिखाया है। "जिसकी प्रशंसा करनी होती है उसका विधान भी करना होता है" इस मीमांसायुक्तिके अनुसार अध्ययन विधिकी समान अर्थ ज्ञानकी भी विधि स्वीकार करनी होगी। नक्षत्रेष्टि काण्डनामक वेदभागमें और भी देखाजाताहै, प्रत्येक इष्टिमेंही (जिसमें सामगान नहीं है ऐसा यज्ञ इष्टि है) इष्टिका फल और इष्टि जाननेका फल समान भावसेही कहागयाहै। जैसे, "अग्नि जिसप्रकार अन्नाद (हविर्ग्राही) है यह भी मनुष्योंको उसप्रकारही होगी, जो इस हविद्वारा याग करताहै अथवा जो इसको

जानताहै"(१) (याग जाननेपर और याग करनेपर समान फल कहा।) अतएव याग जिसप्रकार फलके निमित्त विहित है, यागज्ञानभी उसीप्रकार है। इस रीतिका अनुसरण करनेसे समस्त ब्राह्मणोंमेंही अर्थज्ञानकी विधि देखीजाती है। प्रश्न होसकता है कि "विद्याप्रशंसा" इस मीमांसासूत्रमें जैमिनिने कहा है, याग यज्ञादि जाननेपर जो फल होना कहागया है वह अर्थवाद है। (प्रशंसा वाक्यमात्र है।) उसके उत्तरमें कहना चाहिये, चाहे होभी, प्रकृत जो फल विद्यमान उसके द्वाराभी स्तुति वा प्रशंसा की जासकती है। (जो गुण यथार्थ है, उसके उल्लेखसे भी प्रशंसा होती है, केवल जो अविद्यमान गुणोल्लेख प्रशंसा है वह नहीं।) दर्शपूर्णमासयागका अतिपात (समय अतिक्रमसे एकवार वैधकालमें बाद पडजानेपर) होनेपर प्रायश्चित्त (दोषशान्तिके निमित्त जो करना होता है) रूप वैश्वानरइष्टि विधान करनेसे विद्यमान यथार्थ स्वर्ग फलके द्वाराही स्तुति कीगई है।

जैसे, "स्वर्गफलके निमित्तही दर्शपूर्णमासयाग करना होता है।" (२) ज्ञान फल वाक्यका स्वार्थमेंभी तात्पर्य्य है, यही दिखानेके निमित्त आचार्य्य गणोंनेभी इसका उदाहरण दिया है। [नीचे मूल श्लोक हैं, इस स्थानमें उनका संक्षिप्त अनुवाद दिया जाता है] "(३) वाक्यकी अन्यपरता (अन्यबोधकता) उस वाक्यको अर्थवाद कहनेकी इच्छा करती है, " किन्तु, यथा वस्तु (विद्यमानवस्तु) प्रतिपादन करने के कारण अविद्यमान अर्थवाद नहीं है, अर्थात् अविद्यमान फलके द्वारा प्रशंसा नहीं है। स्वर्ग लोकके निमित्त दर्शपूर्णमास याग करे, इस अतिपात प्रायश्चित्तकी वैश्वानरेष्टिमें दर्शपूर्णमासके अविद्यमानफलके द्वाराही प्रशंसा कीगई है, इस स्थानमें भी उसी प्रकार, पाप श्लोक श्रवणकी जैसे अविद्यमानफलके द्वारा प्रशंसा है इस स्थानमें वह नहीं है।

इस स्थानमें फिर शङ्का होसकती है कि, यदि याग जनानेसे ही उसका फल पाया जाता है, तो यागका अनुष्ठान व्यर्थ है। इसके उत्तरमें कहना चाहिये कि,

---

(१) यथा ह वा अग्निर्देवानामन्नादः एवं ह वा एष मनुष्याणां भवति य एतेन हविषा यजते य उ च तदेवं वेदेति तै० ब्रा० ३।१।४।

(२) सुवर्गाय हि लोकाय दर्शपौर्णमासाविज्येते तै० सं० २।२।५।

अर्थात् दर्शपूर्णमासका फल स्वर्ग है, इस सूष्टिगत प्रशंसावाक्यमें यथार्थ फल उल्लेख करकेही प्रशंसा की गई है।

(३) इच्छाम्येवार्थवादत्वं वचसोन्यपरत्वतः। यथावस्त्वभिधायित्वान्नत्वभूतार्थवादता॥१॥इज्यते स्वर्गलोकाय दर्शादर्शौ यथा तथा। नत्वभूतार्थवादत्वं पापश्लोका श्रुतिर्यथा॥२॥

फलाधिक्य है (अनुष्ठानमें) इसकारण अनुष्ठान व्यर्थ नहीं है । जैमिनीय सूत्रभी उदाहरणमें दियाजाता है । "फलस्य कर्म्म निष्पत्तेः तेषां लोकवत् परिमाणतः सारतो वा फलविशेषः स्यात्" यह सूत्र है "जो अश्वमेध जानता है वह भी ब्रह्महत्यासे उत्तीर्ण होता है जो अश्वमेध करता है वह तो होताही है" इत्यादि प्रसङ्गमें हमने इसकी व्याख्या की है । सामवेदकी छान्दोग्यशाखामें केवल यज्ञानुष्ठानकी अपेक्षा यज्ञज्ञानसहित यज्ञानुष्ठानमें अधिक फल कहा है । जैसे "इसकारण जो जानता है और जो इसको नहीं जानता दोनोंही (अनुष्ठान) करते हैं, विद्या और अविद्याभिन्न, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद्द्वारा करता है वही वीर्य्यशाली होता है । (ज्ञानीका अनुष्ठान अज्ञानीके अनुष्ठानसे श्रेष्ठ है इससेही यह बात कही गई) यद्यपि समस्ताङ्गयुक्त उपासना इस स्थानमें विद्या शब्दके द्वारा कही गई है, तथापि समस्त विद्यामें (ज्ञानमें) ही यह युक्ति समानभावसे कार्य्यकारी है । यदि कोई कहना चाहे कि वेदनके (ज्ञानके) ऊपर इतनी भक्ति किसनिमित्त है ? उससे कहाजायगा कि, "ज्ञानका फल है, इस बातमें दूसरे पक्षकाही इतना द्वेष क्यों ? " ज्ञानकी प्रशंसा और अज्ञानकी निन्दा बहुत २ दिखाई गई है । निन्दा किसी स्थानमें नहीं पाई जाती । कर्म्मजन्य जो अदृष्ट उत्पन्न होता है, वह जैसे मरणान्तमें जीवके साथ जाता है, इसी प्रकार विद्या (ज्ञान) जन्य अदृष्ट भी जीवके साथ गमन करता है ।

वाजसनेयशाखाध्यायी गण कहते हैं—"विद्या और कर्म्म पुरुषके (परलोकमें) अनुगमन करते हैं, पूर्व ज्ञानभी अनुगमन करता है ।" अतएव अध्ययन जिस प्रकार विहित है, अर्थज्ञानभी उसी प्रकार है, इसकारण अर्थज्ञानके निमित्त वेदव्याख्या करनी उचित है ।

विषय, प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी इनके ज्ञान विना श्रोतृगणोंकी प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है, (जो सुनेगा वह अवश्य पहले, वह विषय क्या है उसको न जाननेपर सुनना नहीं चाहेगा, प्रयोजन क्या ? उसको न जाननेपर किसीकोभी कोई कार्य्य आवश्यक बोध नहीं होता । परस्परका सम्बन्धभी जानना चाहता है । इस विषयमें किसका अधिकार है यह न जाननेपर कोईभी अधिकार चर्चाकरनेमें प्रवृत्त नहीं होता, इसकारण यह समस्तही चाहता है) इस कारण विषयादि

---

१ तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते तै० सं० ५ । ३ । १२ ।

२ तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ।

३ तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा चेति तै० सं० ५।३।१२।

निरूपण करते हैं । यथा,—व्याख्यानका विषय वेद है । व्याख्यानका प्रयोजन वेदका अर्थ जानलेनेका है । वेदव्याख्यामें व्याख्यान उसकीही व्याख्या है, यही परस्परका सम्बन्ध है । जो ज्ञान लाभ करना चाहता है वही अधिकारी है । इसप्रकार विषयादि यद्यपि प्रसिद्ध हैं, तथापि वेदके विषयादि न होनेके कारण, वेदव्याख्याकाभी परम विषय नहीं होसकता । (वेदव्याख्यानका विषय, किन्तु वेदका यदि विषय न हो, तो वेद व्याख्यानका विषय यह बात अन्याय है ।) इसकारण वेदका विषय आदि प्रयोजन कहाजाता है । वेदके पूर्व काण्डका विषय धर्म्म और उत्तर काण्डका विषय ब्रह्म है । क्योंकि धर्म्म और ब्रह्म वेदव्यतीत अन्यको लभ्य नहीं । पुरुषार्थानुशासनमें कहा है "धर्मब्रह्मणी वेदैकवेद्ये" धर्म और ब्रह्म एक मात्र वेदगम्य हैं जैमिनिके मीमांसादर्शनमें प्रथमाध्याय प्रथमपादके द्वितीय (चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म्मः) सूत्रमें "धर्म्ममें वेदविधिही प्रमाण है" और "वेदविधिही प्रमाण" यह दोनों नियम साम्प्रदायिक गणोंने स्वीकार किये हैं । वेदविधिही जो एकमात्र प्रमाण है यह बात समझानेके निमित्त चतुर्थ सूत्रमें धर्म्म प्रत्यक्षका विषय नहीं, यह प्रतिपादित हुआ है । प्रत्यक्ष प्रमाण धर्मके बोधमें निमित्त नहीं होसकता क्योंकि विद्यमान वस्तुकी उपलब्धिमेंही प्रत्यक्ष प्रमाण योग्य है । धर्म्म कर्मानुष्ठानके पश्चात् उत्पन्न होताहै, इसकारण वह उत्पत्तिके पूर्वमें न होनेके कारण प्रत्यक्षके अयोग्य है । उत्पत्तिके परक्षणमेंभी धर्म्म प्रत्यक्ष नहीं होसका, क्योंकि धर्म्मका रूप नहीं । (रूपकोही चक्षु ग्रहण करता है) इस निमित्तही धर्म्मका नाम अदृष्ट है । हेतु न पाया जानेके कारण धर्म्मका अनुमानभी नहीं कियाजाता । यदि कहो, धर्म्मही सुखका हेतु है, अधर्म्मही दुःखका हेतु है, अतएव अनुमान किया जाता है, इसके उत्तरमें कहा जायगा कि, धर्म्म जो सुखका हेतु है यह बातभी वेदनेही कही है, इससे जानागया, चाहे जिसप्रकार हो वेदही एकमात्र धर्म्मका प्रमाण है ।

व्यासके (वेदान्तदर्शनके) तृतीय सूत्र "शास्त्रयोनित्वात्" ३ में (दूसरे प्रकारकी व्याख्यामें) ब्रह्म स्वतःसिद्ध और शास्त्रैकगम्य है ऐसा भाष्यकार शङ्कर स्वामीने व्याख्यान किया है । यथा, "शास्त्ररूप कारणसे ही ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति विनाशका कारण है यह ज्ञात होजाता है, यह अभिप्राय है ।" श्रुतिभी कहती है—"जो वेद नहीं जानता, वह ब्रह्मको मनन नहीं कर सकता ।" "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" इति तै० ब्रा० ३।१२।९ । इस स्थानमें पूर्वाचार्य्योंने इस प्रकार उत्पत्ति कही है, "रूपभी नहीं हेतु नहीं, इसकारण यह अन्य प्रमाण योग्य नहीं," अन्य प्रमाण लभ्य न होनेके कारण धर्म्म और ब्रह्म वेदगम्य वेदका विषय है । धर्म्म और ब्रह्मज्ञान वेदका साक्षात् प्रयोजन है । "सप्तद्वीपा वसुमती" "यह राजा जाता है"

इत्यादि वाक्यका ज्ञान जिस प्रकार पुरुषार्थ नहीं है इसी प्रकार धर्म्म और ब्रह्मज्ञान अपुरुषार्थ है, ऐसी शङ्का नहीं होसकती । धर्म्म प्रयुक्त पुरुषार्थ प्रशंसित होताहै । जैसे, "धर्म्म ही विश्व संसारकी प्रतिष्ठा है, इस कारण धर्म्मको परम कहा जाता है ।" परस्पर विवाद करते हुए दो पुरुषोंमेंसे राजाकी सहायतासे दुर्बलकी बलवानके निकट जयलाभ जिस प्रकार संघटित होती है, उसी प्रकार धर्म्मभी जय-हेतु है अतः धर्मप्रयुक्त पुरुषार्थ है । सृष्टिप्रकरणमें वाजसनेयी गणोंने कहा है,— "उसने श्रेयोरूप धर्मकी सृष्टि की थी जो इस क्षत्रका क्षत्र है वही धर्म्म है, उस धर्मसे श्रेष्ठ कुछभी नहीं, धर्म्मबलसे दुर्बल बलवान् को पराजय कर सकता है, जैसे दुर्बल राजाकी सहायतासे बलवान्को जीतता है ।" ब्रह्मवित् परम पुरुषार्थको प्राप्त होता है, "ब्रह्म जाननेसे वह ब्रह्म होता है," "आत्मज्ञानी शोकसे उत्तीर्ण होता है," इन समस्त श्रुतिवाक्योंमें ब्रह्मज्ञानप्रयुक्त पुरुषार्थ प्रसिद्ध है इस धर्म्म और ब्रह्मज्ञानकी इच्छावाला वेदमें अधिकारी है । किन्तु वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन त्रिवर्णका पुरुष हो स्त्री और शूद्रके ज्ञानमें अपेक्षा रहनेपरभी उपनयन न होनेके कारण वेदाध्ययनभी नहीं होसकता, इस कारण वेदमें (स्त्री शूद्रका) अधिकार नहीं, यह चिरप्रसिद्ध है । उनको धर्म्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान पुराणादिसे होगा । वेदाध्ययन द्वारा धर्म्म ब्रह्मज्ञानमें त्रिवर्णकाही अधिकार है । धर्म्म ब्रह्म प्रतिपादक वेद वेदप्रतिपाद्य धर्म्म और ब्रह्म, यह प्रतिपाद्यप्रतिपादक सम्बंध है । धर्म्म ब्रह्मज्ञानके साथ वेदका जन्यजनकभाव सम्बंध अर्थात् धर्म्मज्ञान और ब्रह्मज्ञान वेदजन्य है, वेद इस ज्ञानका जनक है । त्रिवर्ण पुरुषके साथ वेदका उपकार्य्यउपकारकसम्बंध है । वेद उपकारक, त्रैवर्णिक पुरुष उपकार्य्य हैं । वेदके चारों अनुबन्ध (विषयादि) निरूपण हुए, इस समय श्रोतागण सावधान चित्तसे वेदव्याख्यान सुननेमें प्रवृत्त होवें ।

अति गंभीर वेदका अर्थ जाननेके निमित्त शिक्षा आदि छः वेदाङ्ग प्रवृत्त हुएहैं, इन शिक्षा आदिको अपरा विद्या कहनेके कारण मुण्डकोपनिषद्में अथर्ववेदीय लोगोंने कहा है यथा—"ब्रह्मवादीलोग कहते हैं विद्या दो प्रकारकी है, परा और अपरा । जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्मज्ञान होजाय वही परा विद्या है ।"

---

१ धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद्धर्मं परमं वदन्तीति तै० आ० १० प्र० ।

२ तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत धर्मं तदेव क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान्बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथैव राज्ञैवमिति ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तै० आ० ८ प्र० । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति तरति शोकमात्मवित् ॥

३ द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम् अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

धर्म्मज्ञान ब्रह्मज्ञानका साधन है । साधनस्वरूप धर्म्मज्ञानका कारण होनेके कारण षडङ्गसहित कर्म्मकाण्ड [वेदका कर्म्मबोधक भाग] अपरा विद्या है । जो ब्रह्मज्ञान परम पुरुषार्थ है उसका ही कारण होनेसे उपनिषद् परा विद्या है । वर्ण, स्वर आदिका उच्चारणप्रकार जिस स्थानमें कहा गया है, वह शास्त्र शिक्षा है । तैत्तिरीय शाखाध्यायिगण उपनिषद्के प्रथममेंहीं कहते हैं,–"शिक्षा व्याख्या करेंगे । वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान यही शिक्षा अध्याय कहागया" तै० आ० ७ प्र० वर्ण०अकरादि । शिक्षाग्रन्थमें वह स्पष्ट रूपसे कहा गया है । (महेश्वरके मतमें ।) यह स्वयंभूने कहा है । स्वर–उदात्तादि । वहभी शिक्षाग्रन्थमें कहे गये हैं । जैसे,–"उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीन प्रकारके स्वर हैं ।"मात्रा–ह्रस्व दीर्घ आदि । वहभी शिक्षामें उक्त हुई हैं जैसे,–"ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, यह तीन मात्रा, यह कालनियम है ।" (स्वल्प कालमें ह्रस्व, उससे अधिक कालमें दीर्घ,और अत्यधिक अर्थात् गान और आह्वान आदिमें सुदीर्घकालस्थायी होनेपर प्लुत मात्रा होती है ।) बल अर्थ उत्पत्ति स्थान और उच्चारण प्रयत्न । शिक्षामें "वर्णके उच्चारणस्थान आठ हैं" इत्यादि कहा गया है (कौन वर्ण किस स्थानसे उच्चारित होता है सो व्याकरणमेंही देखा जाता है ।) "स्पर्श वर्णोंका उच्चारण प्रयत्न स्पृष्ट्व "यरलव" इत्यादिका उच्चारण ईषत्स्पृष्टप्रयत्न है इत्यादि शिक्षामें कहा है । सामशब्दका अर्थ साम्य, अतिद्रुत, अतिविलम्बित, गीत और शिरःकम्पनादि रहित और माधुर्य्यआदि गुणयुक्त उच्चारणकोही साम्य कहा जाता है । "गान करते करते पाठ करना, अति शीघ्र पाठ करना, शिर हिलाकर पाठ करना, अस्पष्ट पाठ करना अथवा दन्तद्वारा ओष्ठदंशनपूर्वक पाठ करना" इत्यादिही पाठदोष कहा गया है । "माधुर्य स्पष्टाक्षरता प्रभृति गुणभी कहे गये हैं । सन्तान शब्दको अर्थात् संहिता (सन्धि) "वायो + आयाहि" इस स्थानमें "आ" कार परे होनेके कारण "ओ" कारके स्थानमें "अव्" हुआ है । "इंद्राग्नी+आगतम्" इस स्थानमें आकार परे रहतेभी द्विवचनके "ई" कारके स्थानमें 'य' नहीं हुआ जैसा था वैसाही रहा यह सब संहिता है । यह विषय व्याकरणमें विशेष कहा है । वर्ण स्वर आदिकी विकलता उपस्थित होनेपर दोष होता है वह शिक्षामें कहा गया है । जैसे "स्वर और वर्ण अन्यथा प्रकारसे उच्चारित होनेपर मंत्र विकृत होता है, इस प्रकारके अन्यथा प्रयोगमें वह कोईभी अर्थबोध उत्पन्न नहीं करासकता, जैसे "इन्द्रशत्रु" इस स्वरमें स्वरभ्रमवशतः शब्दका यथार्थ अर्थ जानना असम्भव होता है जो प्रकृत मंत्र वाक्य वज्रकी समान यजमानकी हिंसा करता है । " (जब मंत्रके विकृत रूपसे उच्चारित होनेसे

यजमानका अनिष्ट होता है और अर्थबोध उत्पन्न नहीं: होता, तो स्वर मात्रादि ज्ञान रहनेपर हितमें विपरीत होजाता है) इसमें क्या कहना है ? "इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व" इस मंत्रमें इन्द्रशत्रु शब्दसे यदि इन्द्रका शत्रु अर्थात् विनाशक यह अर्थ विवक्षित हो तो तत्पुरुष समास होगा, तत्पुरुषमें 'समासस्य' इस सूत्रसे अन्तस्वर उदात्त होता है किन्तु इस स्थानमें आदि स्वर उदात्त प्रयुक्त हुआ है तौ यह बहुव्रीहि समास हुआ और इन्द्र है शत्रु अर्थात् घातक जिसका ऐसा अर्थ हुवा स्वरज्ञान न होनेसे विपरीत अर्थ होजाता है, इससे इस त्रुटिपरिहारके निमित्त शिक्षाकी आवश्यकता है[1] । आपस्तम्ब बोधायन आश्वलायन कात्यायन आदि सूत्रोंका नाम कल्पसूत्र है, इस शास्त्रमें याग प्रयोग कल्पित अर्थात् समर्थित होता है इसीसे इसको कल्प कहते हैं, यजुर्वेदके कल्पसूत्रमें संपूर्ण यज्ञोंका क्रमसे वर्णन किया है, ब्रह्मयज्ञादि जप पठन पाठनके अनुसार मंत्रकाण्ड प्रवृत्त हुआ है, यागानुष्ठानप्रणालीसे नहीं परन्तु यजुर्मन्त्र दर्शपौर्णमाससे अश्वमेधपर्यन्त क्रमसे पठित हुए हैं, परन्तु यह मंत्र किस कार्यके निमित्त है तथा किसप्रकार इसका अध्ययन है, यह मंत्रकाण्डमें कथन नहीं हुआ है परन्तु श्रुतिलिंग वाक्य प्रकरण प्रभृति प्रमाणके अनुसार कल्पसूत्रोंकी रचना हुई है, " इषे त्वा" इत्यादि मंत्रोंका क्रम अवलम्बन करके यागादि कर्मकी परिपाटी क्रमभावसे विधिबद्ध कीगई है, यदि ब्राह्मणकाण्डने दीक्षणीय इष्टि सर्व प्रथम कही है तौभी यह दीक्षणीय इष्टि दर्शपौर्णमास इष्टिकी विकृति है, इसीसे दर्शपौर्णमास इष्टिकी अपेक्षा करती है, कारण कि दर्शपौर्णमास कहेविना दीक्षणीय कहना सम्पूर्ण न होसके जिससे कि दर्शपौर्णमासकी अनेक क्रिया दीक्षणीयमें: आती है, इस प्रकार विधान दिखानेको कल्प सूत्र मंत्रके विनियोग द्वारा यज्ञानुष्ठान उपदेश करनेका उपकार करता है, यदि कहो कि, किन्हीं मंत्रोंका विनियोग नहीं कहागया इसका कारण क्या है, इसका उत्तर यह है कि, शाखान्तरमें वे सब मंत्र आम्नात हुए हैं, ब्राह्मणान्तरमें उनका विनियोग सिद्ध है एक शाखामें जो गुण (आदिकर्म) उपदिष्ट नहीं हुए हैं: कर्म निर्वाहके निमित्त वह सब एकत्र समाहृत कियेहैं, अर्थात् एकत्र विहित कर्म अन्यत्र विहित गुणकी अपेक्षा करते हैं, इसी निमित्त शाखान्तर्गत मंत्र अन्यत्र विनियुक्त होते हैं, मीमांसा शास्त्र देखनेसे यह भलीभांति विदित होसकता है, इसी कारण शिक्षाके सदृश कल्पसूत्रभी वेदार्थज्ञानमें सहायक होता है । कल्पसूत्रोंमें मंत्र विनियोगद्वारा यज्ञानुष्ठान उपदिष्ट हुआ है, इस शास्त्रके विना जाने यागादि विषयमें जो सन्देह रहजाता है, वह निवारण नहीं हो सकता इससे कल्पकी आवश्यकता है ।

१ शिक्षाकी टीका संहिताके अन्तमें है ।

व्याकरणभी प्रकृति प्रत्ययादिका उपदेश देकर पदस्वरूप और उसका अर्थबोध कराता है, इस निमित्त यह भी वेदार्थमें उपयोगी है, ऐन्द्रवायव ग्रह ब्राह्मणमें कहा है, "वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमान्नो वाचं व्याकुर्विति" इति तै० सं० ६ । ४ । ७ इसका अर्थ यह है कि "अग्निमीळे पुरोहितम्" इत्यादि वेदवाक्य पूर्वमें समुद्रध्वनिकी समान एकात्मक और अव्याकृत अर्थात् प्रकृति प्रत्यय पद वाक्यादिके विभाग करनेवाले ग्रन्थसे हीन थे, उस समय देवताओंने इन्द्रके समीप जाकर कहा इन वाक्योंकी हमारे निकट व्याख्या करो, इन्द्रने वरकी प्रार्थना की कि इन्द्र और वायु इन दोनोंके निमित्त यज्ञीय सोमरस एक पात्रमें ग्रहण किया जाय, देवताओंने कहा ऐसाही होगा, तब इन्द्रने उस अखण्ड वेदवाक्यको पद पदमें छिन्न करके प्रकृति प्रत्यय आदिका विभाग स्थापनकरके व्याख्या की, उसीभांति पाणिनि आदि महर्षिद्वारा प्रकृति प्रत्यय विभागके अनुसार व्याकृत होकर सबके द्वारा वेद पढा जाता है, इसी कारण इन्द्र और वायुको एक पात्रमें रस दिया जाता है, वररुचिने व्याकरणका प्रयोजन दिखाया है कि 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' रक्षा ऊह आगम लघु असन्देह यह के एक व्याकरणके प्रयोजन हैं, यह प्रयोजन तथा और भी कितने प्रयोजन महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें निरूपणं किये हैं, वेदकी रक्षाके निमित्त व्याकरण पढना उचित है. [रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमित्यादि] वर्णलोप वर्णागम वर्णविपर्य्यय इत्यादि व्याकरणविधि जिनको भली प्रकार आतीहै, वही भली प्रकारसे वेदका प्रतिपालन करसकते हैं, वेदार्थभी जान सकते हैं, ऊहभी व्याकरणद्वारा जाना जाता है, वेदके मन्त्र लिंग और सर्व विभक्ति द्वारा नहीं कहे गये हैं, इस कारण यज्ञकार्यके समय किस किस समय एक वचनके स्थानमें बहुवचन पुँल्लिगके स्थानमें स्त्रीलिंग इत्यादि व्यत्यय करनेकी आवश्यकता होतीहै, जो व्याकरण नहीं जानते वह अग्नि शब्दकी चतुर्थीके एकवचनके स्थानमें सूर्य शब्दकी चतुर्थीका एकवचनान्त प्रयोग करदें, अथवा एक लिंगके स्थानमें अन्य लिङ्ग वा एक वचनके स्थानमें अन्य वचन व्यवहार नहीं कर सकते, इससे वेदविषयमें व्याकरणकी बडी आवश्यकता है । आगममें कहा है 'आगमः खल्वपि–ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोध्येयो ज्ञेयश्च' ब्राह्मणको विनाकारणके भी षडंग वेद जानना और पाठकरना चाहिये, षडंगमें व्याकरणही प्रधान है, इसीसे सब अंगोंकी शुद्धि और अर्थज्ञान होताहै, प्रधानमें यत्न करनेसे फल होता है, अल्पसमयमें संक्षेपशिक्षाके निमित्तभी व्याकरण पढना चाहिये, बृहस्पतिने दिव्य सहस्र वर्षतक इन्द्रके निमित्त एक २ शब्दका रहस्य वर्णन किया पर पार नहीं पाया, जहां बृहस्पति वक्ता और इन्द्र छात्र

और दिव्य सहस्र वर्षका समय, जब वहां भी पार न पाया तब आज कल सौवर्षकी परमायु पर्यन्तभी पढकर प्रतिपद पाठका आगम कहां होसकता है, सन्देह निवारणके निमित्त भी व्याकरण अध्ययन करना चाहिये जैसे याज्ञिक पाठ करते हैं 'स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत' इति । तब यहां स्थूलानि पृषन्ति यस्याः सा स्थूलपृषती–जिसके स्थूलपृषत हैं ऐसा अर्थ करनेसे बहुव्रीहिसमास, अथवा स्थूला चासौ पृषती स्थूला और पृषती इस अर्थमें कर्मधारय समास होता है, इसको विना वैयाकरणके कोई स्थिर नहीं कर सकता, यदि समासान्त उदात्त स्वर है तो कर्मधारय और यदि पूर्वपदप्रकृति स्वर है तो बहुव्रीहि होगा, शब्दानुशासनमें इन सब वाक्योंका प्रयोजन देखा जाता है–ते सुराः, दुष्टः शब्दः,यदधीतम्,यस्तु प्रयुङ्क्ते, अविद्वांसः विभक्तिं कुर्वन्ति, यो वा इमाम् चत्वारि,उतत्वः सक्तुमिव सारस्वतीम् दशम्यां पुत्रस्य सुदेवो असि वरुण, महाभाष्यमें इतने वाक्योंकी प्रयोजन दिखानेको प्रतीक दी हैं क्रमसे उन वाक्योंके अर्थ करते हैं, "तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" अर्थात् असुर हेलयः २ यह शब्द करते पराभूत हुए इससे ब्राह्मण म्लेच्छ व्यवहार न करै, अपशब्द व्यवहार न करे, अपशब्द ही म्लेच्छ है [हेलि शब्द अपभाषा से गृहीत है, बहुवचनमें 'हेलयः' होता है मीमांसा शास्त्रमें इसका अभ्यास है] हम म्लेच्छ न हों इस कारण व्याकरण पढना चाहिये, 'दुष्टः शब्दः स्वरतो०' इसका अर्थ भूमिकामें पूर्व करचुके हैं आशय यह कि यदि यागादिमें उच्चारणके समय स्वर वा वर्णदोष होजाय तौ वह स्वार्थ प्रकाश न करके विपरीत अर्थ प्रकाश करता है,वह दोष करके यजमानकी क्षति करता है, इन्द्र शत्रु शब्द स्वरदोषयुक्त होनेसे प्रयुक्त हुआ, इससे अभिप्रेत अर्थ प्रकाश न करके अनिष्टरूप होगया,[इन्द्रशत्रु–इन्द्रका जो घातक यह अर्थ न होकर इन्द्र है घातक जिसका यह अर्थ होगया] प्रयोगके अनुसार उदात्तादिस्वर होता व्याकरण द्वारा तत्पुरुष न होकर बहुव्रीहि समास हुआ, ऐसा निश्चय है, इससे शिक्षाग्रन्थकी समान व्याकरणकाभी बडा प्रयोजन है, इसके ज्ञानसे दुष्ट प्रयोग न होगा [यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्] जो पढाहै और समझा नहीं वह किसी प्रकार फल नहीं देता, जैसे सूखा काष्ठ जलमें डालनेसे नहीं जलता है, इससे अर्थ ज्ञानके निमित्तभी व्याकरण पढनेका प्रयोजन है, [यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषे शब्दान्यथावद्व्यवहारकालेसोनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविदुष्यति चापशब्दैः] अर्थात् व्याकरणज्ञ कुशल पुरुष व्यवहारमें यथायोग्य शब्दोंका प्रयोग कर सकते हैं, जो अपशब्द नहीं प्रयोग करते उनको परलोकमें भी अनन्त जय प्राप्त

होती है, और जो वाक् योगके ज्ञाता हैं वे अपशब्दोंकाभी जानतेहैं। जैसे साधुशब्दके उच्चारणसे धर्म है इसी प्रकार अपशब्दके प्रयोगमें अधर्म है, अथवा (वाग्योगवित्) को अधिक अधर्म होता है, कारण कि उसको साधु शब्द थोडे और अपशब्द अधिक हैं एक गौशब्दके गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्यादि बहुतसे अपभ्रंश शब्द हैं वाग्योगविद् यदि अपशब्द जानकर व्यवहार करनेसे दूषित है तब अवाग्योगवित्का तो अज्ञान ही शरण है, अर्थात् अज्ञाता यदि अपशब्द बोले तो उसका दोष नहीं कारण कि वह अज्ञानवश ऐसा उच्चारण करता है, यदि कहो कि विना जाने क्या ब्रह्महत्याका दोष न होगा, अथवा सुरापान अनजानमें करके पतित न होगा, जैसे विना जाने इन कर्मोंका दोष है इसी प्रकार अज्ञानकृत कर्मका पाप है, तो अवाग्वित् दोषी क्यों नहीं, इसका उत्तर यह है कि जो वाग्व्यवहारमें अज्ञ हैं, और अपशब्द जानकर ही व्यय करते हैं, इससे जाना जाता है कि वाग्योगवित् और अवाग्योगवित् दोनों ही अपशब्दके प्रयोगमें दोषी हैं, इससे निष्कृति पानेके निमित्त सबकोही व्याकरण अध्ययनकी आवश्यकता है, जो वाग्योगविद् है ज्ञानही उसको शरण है, सो वह यदि जानकरभी अपशब्द व्यवहार करै तो उसको दोष है, इससे न जान सुनकर अपशब्द प्रयोग दोनोंको ही दूषण करता है, व्याकरणमें कुशल होनेसे नहीं होता इससे व्याकरण पढे।

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः। कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेदिति। जो अज्ञानी नामके प्रत्यभिवादनमें प्लुत व्यवहार नहीं जानते उनके बीचमें बैठा हुआ वेदज्ञ 'मैं स्त्री जनोंके बीचमें स्थित हूं' यह यथेच्छरूप से उच्चारण करै, प्लुतादिके व्यवहार विना स्त्रीसंज्ञा होती है, हम स्त्रीवत् न हों इस प्रयोजनके निमित्त व्याकरण पढना चाहिये, [याज्ञिकाः पठन्ति प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्तव्या इति] याज्ञिक कहते हैं प्रयाजोंको विभक्तिसहित उच्चारण करे, जिसको विभक्तिका ज्ञान नहीं वह प्रयाज विभक्तियुक्तकर उच्चारण नहीं कर सकता, इससे व्याकरणकी आवश्यकता है। [यो वा इमां पदशः स्वरशो वर्णशोऽक्षरशो वा वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति] अर्थात् जो वाक्यको पद पद स्वर २ वर्ण २ अक्षरमें विभाग करसके वह ऋत्विक् [ऋत्विक् कार्यका अधिकारी] होता है आर्त्विजीन होनेकी इच्छासे व्याकरण पढना चाहिये।

चत्वारि शृङ्गा० यजु० १७। ९१ [चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश]इसका अर्थ चार सींग, तीन चरण, दो शिर, सात हाथ, तीन प्रकारसे बंधा हुआ, शब्दशील वृषभ महोदेव मनुष्योंमें आविष्ट हुआ है,। नाम (शब्द) आख्यात

(क्रियापद) उपसर्ग (प्र परा आदि धातुके पूर्व रहनेवाले) निपात (अव्यय) विशेष यह चार प्रकारके पद ही जिसके चार शृङ्ग हैं, भूत, भविष्य, वर्तमान यह तीन कालही जिसके तीन चरण, सुप् (शब्दके उत्तर आनेवाली २१ सुआदि विभक्ति) तिङ् (धातुके उत्तर आनेवाली तिप् तस् आदि १८ विभक्ति) यही जिसके दो मस्तक हैं, प्रथमासे सप्तमी विभक्ति तक सात विभक्ति जिसके सात हाथ हैं उर, कण्ठ और शिर देशमें तीन प्रकारसे बद्ध हुआ है, यह काम-वर्षणकारी महादेव मनुष्योंमें आविष्ट हुआ है इस देवके साथ हमारा एकीभाव हो इसीसे व्याकरण अध्ययनकी आवश्यकता है, अथवा चार वाक्य अर्थात् परिमि-तपद चार शृङ्ग हैं यह जिसको विदित हैं वही ब्राह्मणोंमें मनीषी है, उसके निहित तीन प्रकारके (पद) व्यवहार न करे मनुष्यके चतुर्थ प्रकारके वाक्यही व्यवहार करे जो मनुष्य बोलतेहैं वही इन वाक्योंमें चतुर्थ है ।

"उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।उतो त्वस्मै तन्वं१विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः" ऋ० ८ । २ । २३ अर्थात् कोई वाक्यको देखकर भी नहीं देखते और कोई सुनकरभी नहीं सुनते, ऋतुकालमें सुवासा होकर पत्नी जिस प्रकारसे पतिके प्रति आत्मप्रकाश करती है, इसी प्रकार अभिज्ञव्यक्तिके प्रति वाक्य अपना स्वरूप प्रकाश करता है, "मूर्खके निकट वाक्य अपना निज स्वरूप गोपन करता है इससे वह उसको नहीं देख पाता, जैसे पत्नी पतिके निकट अपना स्वरूप प्रकाश करती है अन्यके निकट नहीं पूर्वार्द्धमें कोई देखकर भी नहीं देखते, यह अज्ञानीकी बात कही है परार्द्धमें पत्नी ऋतु काल इत्यादिसे विद्वान् की बात कहीहै, इससे वाक्य हमारे निकट अपना स्वरूप प्रकाश करे इस हेतु व्याकरण पढनेका प्रयोजन है ।

"सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत । अत्रासखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि" ऋ०८।२।२३ । अर्थ यह कि जैसे सूपमें सक्तु भली प्रकार धारण किये जाते हैं, इसी प्रकार ज्ञानवान् धीर पुरुष[प्रकृति प्रत्ययादिके विभागानुसार] प्रज्ञान बलसे जिस समय वाक्योंकी विवेचना करते हैं, वह उससमय उनके सखा होकर सख्यता प्राप्त करते हैं, इससे उनके वाक्योंमें भद्रा लक्ष्मी निवास करती है मूलमें सक्तु शब्द है उसकी व्युत्पत्ति सचते अर्थात् दुर्धाव होता है इसीसे सक्तु कहते हैं, कस धातुको विपरीत करनेसे सक् उससेही सक्तु शब्द बनता है "विकसति" विकसित होता है यही उसका अर्थ है, तितउना

---

१ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहात्रीणिनिहितानेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ऋ० २ । ३ । २२।

शूर्पद्वारा तितउशब्दका अर्थ ऊपरको गति जिसके द्वारा सक्तुओंकी ऊर्द्ध गति होती है इसीसे शूर्पको तितउ कहाजाता है, ध्यानवाले बुद्धिमान् प्रज्ञानद्वारा वाक्य संस्कार करते हैं, वही सख्यको प्राप्त होते हैं, आशय यह कि जो लोग प्रकृति प्रत्ययके विभागद्वारा वाक्यका संस्कार करते हैं, वही वैयाकरण हैं और शब्दोंकी सख्यता प्राप्त करते हैं, इसका हेतु यह कि इनके वाक्यमें भद्रा लक्ष्मी प्राप्त है इसीसे यह सख्यताको प्राप्त होते हैं [आहिताग्निरपशब्दं प्रयुञ्जानः प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेदिति प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्] इसका अर्थ यह है कि, आहिताग्नि अपशब्द प्रयोग करनेपर प्रायश्चित्तके निमित्त सारस्वती इष्टि अनुष्ठान करे । हम लोग प्रायश्चित्तके योग्य न हों इसकारण व्याकरण पढना चाहिये "दशम्यां पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरंतस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा कृतं नाम कुर्यात् न तद्धितान्तमिति" आश्वला० गृ० अ० १ इसका अर्थ यह है कि दशमी में (द्वादश रात्रि वा दशरात्रिमें इस प्रकार विकल्पका विधान शास्त्रमें है) उत्पन्न हुए पुत्रका नाम रक्खे वह नाम घोषवत् आदि (घोषवाला वर्ण जिसकी आदिमें है अन्तस्थ मध्यमें जिसके अन्तस्थ वर्ण है,) विसर्गान्त, दो स्वरयुक्त अथवा चार स्वर युक्त और कृदन्तयुक्त होना आवश्यक है, तद्धितान्त होना ठीक नहीं । विना व्याकरण जाने कृत् और तद्धितका निश्चय नहीं होता इस कारण व्याकरण पढना चाहिये । "सुदेवो असि वरुणस्येति सप्तसिन्धवः । अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव" इसका अर्थ यह है कि हे (शब्द) वरुण ! तुम सुदेव हो तुम्हारे सात समुद्र सात विभक्ति तालु इत्यादि स्थानोंसे निकलते हैं जैसे सुषिरसे ऊर्मि ककुद् जिह्वा, वह जहां पर हैं, वही काकुत् अर्थात् तालु । सूर्मिका अर्थ ऊर्मि (व्याकरणसेही वर्ण विभक्ति और स्थानादिका वृत्तान्त जाना जाता है ।) "शब्दार्थसम्बन्धसिद्धम्" इत्यादि द्वारा वार्तिकमें जो प्रयोजन कहा गया है, उसका भी यहां अनुसन्धान करना चाहिये (सिद्धान्त यह है कि व्याकरणका पढना अत्यावश्यक है नहीं तो वेद नहीं जाना जाता)।

अब निरुक्तशास्त्रका प्रयोजन कहते हैं, अर्थज्ञान विषयकी अपेक्षा न करके जिसमें सब पद उक्त हुए हैं, उसका नाम निरुक्त है गौः ग्मा इत्यादिसे आरंभ करके वसवो वाजिनः देवपत्न्यः । देवपत्न्यः यहांतक जो पद स्थापन किये हैं वह निरुक्त है इस ग्रन्थमें पदार्थ बोधके निमित्त दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, यह सुवर्णके नाम, यह पृथिवीके नाम इस प्रकारसे जहां स्पष्ट रूपसे कहा गया है फिर वहां अर्थबोधकी अपेक्षा नहीं है, इस निरुक्त शास्त्रके तीन काण्ड हैं यह अनुक्रमणिका भाष्यमें दिखायी गयी है—

"आद्यं नैघण्टुकं काण्डं द्वितीयं नैगमं तथा । तृतीयं दैवतञ्चेति सामाम्नायस्त्रिधा स्थितः ॥ गौराद्यपारपर्यन्तमाद्यं नैघण्टुकं मतम् । जहाद्युल्वमृबीसान्तं नैगमं सम्प्रचक्षते ॥ अग्न्यादिदेवपत्न्यन्तं देवताकाण्डमुच्यते । अग्न्यादि देवी ऊर्जाहुत्यन्तः क्षितिगतो गणः ॥ वाय्वादयो भगान्ताः स्युरन्तरिक्षस्य देवताः । सूर्यादिदेवपत्न्यन्ता द्युस्थाना देवता इति ॥ गवादिदेवपत्न्यन्तं समाम्नायमधीयते ।"

अर्थ–पहला नैघण्टुक काण्ड, दूसरा नैगम काण्ड, तीसरा दैवत काण्ड यह तीन प्रकारका आम्नाय निरुक्त शास्त्रमें कहा है गौसे आरंभ करके अपार पर्यन्त आद्य काण्ड अर्थात् नैघण्टुक काण्ड है, जहादिसे आरंभ करके ऋबीस पर्यन्त इसका नैगमकाण्ड कहाजाता है, अग्निसे आरंभ करके देवपत्नीपर्यन्त तीसरे काण्डका नाम देवताकाण्ड है, अग्निसे देवी ऊर्जाहुतीपर्यन्त क्षितिगण है, वायुसे भगपर्यन्त अन्तरिक्षके देवताओंका वर्णन है, सूर्यसे देवपत्नीपर्यन्त द्युस्थानके देवताओंका वर्णन है, गौसे देवपत्नीपर्यन्त तीनकाण्डमें निरुक्तशास्त्र वर्णन किया गया है, एक अर्थ की कहनेवाली पर्यायशब्दराशि प्रायः जिसमें उपदिष्ट है वह ग्रन्थ निघण्टु शब्द समझा जाताहै यह प्रसिद्ध है । तैसेही 'अमरसिंह' (अमरकोश) 'वैजयन्ती' 'हलायुध' इत्यादिमें निघण्टु नामका व्यवहार होताहै । ऐसेही यहांपर भी पर्याय शब्दोंका उपदेश दिया गया है, यह पहला काण्ड नैघण्टुक है, इस काण्डमें तीन अध्याय हैं, पहले अध्यायमें पृथिव्यादि लोक दिक् काल इत्यादि द्रव्यविषयक नाम कहे गयेहैं; दूसरेमें मनुष्यके अवयवादि द्रव्यविषयक नाम और तीसरेमें इन दोनों प्रकारके द्रव्योंका क्षुद्रत्व बहुत्व ह्रस्वत्वादि धर्मविषयक नाम कहे हैं । निगम शब्दका अर्थ वेद है, यास्कने 'इत्यपि निगमो भवति' ऐसा स्थान स्थानमें कहकर वेदवाक्य का अवतारण का है । प्रायः वेदमें जो सब शब्द वर्तमान हैं, चतुर्थाध्याय स्वरूप दूसरे काण्डमें (तीसरे अध्यायतक प्रथम काण्ड होनेपर चौथा अध्याय दूसरा काण्डही होता है) उनके विषयकोही उपदेश किया है । निरुक्त ग्रंथके पंचमाध्याय स्वरूप तीसरा काण्ड (प्रथम काण्डमें तीन अध्याय हैं दूसरेमें एक और तीसरेमेंभी एक : अध्याय है, इस ही कारणसे पांचवां अध्याय तीसरा काण्ड हुआ) दैवत है सो स्पष्टही समझमें आताहै, पांच अध्याय स्वरूप तीन काण्डवाले इस ग्रंथमें परस्पर निरपेक्षरूपसे समस्त पदार्थ कहे गये हैं इसकारण इसका नाम निरुक्त है । "समाम्नायः समाम्नातः" यहांसे आरंभ करके 'तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति' यहां तक बारह अध्यायोंसे यास्कने पूर्वोक्त

निरुक्त शास्त्रका व्याख्यान ग्रन्थ बनाया है, उसको भी निरुक्त कहते हैं । एक एक पदका सम्भावित अवयवार्थ उस ग्रंथमें निश्शेष प्रकारसे कहा गया है, यही निरुक्त शब्दकी व्युत्पत्ति है । (निश्शेषमें उक्त अर्थात् कहा गया है इस कारण ही निरुक्त नाम हुआ है,) इस ग्रंथमें नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, इन चार प्रकारके पदोंके विषयमें प्रतिज्ञा करके अनन्तर उच्चावच (अनेकप्रकारके) अर्थमें निपतित (व्यवहृत प्रयुक्त) होता है, इसी कारणसे "निपात नाम" यह स्वरूप निर्वाचन करके स्वयं ही उदाहरण दिया है । " न " यह निपात भाषामें प्रतिषेध (निषेध) अर्थमें: व्यवहार किया जाता है, वेदमें दोनों अर्थोंमें लगताहै । 'नेन्द्रं देवममंसत' यहां 'नकार' प्रतिषेधका अर्थ कहताहै "दुर्मदासोनसुरायाम्" इति यहांपर उपमा अर्थमें 'नकार' का व्यवहार हुआ है । लोकमें निषेधार्थक नकारका वेदमें निषेध और उपमा इन दोनों कार्योंका उदाहरण इस निरुक्त शास्त्रसे ही जाना जाता है । इस प्रकारसे और भी कहा है "सो प्रत्येक पदका विशेष निर्वचन हम भाष्यके उस उस अवसरपर कहैंगे" यह समस्त निर्वचन (निरुक्ति) अमूलक समझने योग्य नहीं । इस व्युत्पत्तिको समझानेके निमित्तही ब्राह्मणमें (वेदांश विशेषमें) किसी २ पदका निर्वचन दिखाया गयाहै यथा 'तदाहुतीनामाहुतित्वम्' "तमिन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते" इति ऐ० आ० अ० ४ खं० ३ "यदप्रथयत्तत्पृथिव्याः पृथिवीत्वम्" इति० तै० ब्रा० १।३।३ इत्यादि ब्राह्मण वाक्योक्त निर्वचन अपने निर्वचनके मूलरूपसे निरुक्तकारने स्थान २ में उद्धृत किये हैं । कितने एक निर्वचन बलसे सिद्ध होनेपर भी समस्त सिद्ध नहीं होते । इसी कारणसे ग्रंथकारने कहाहै की (यह निरुक्त शास्त्र विद्याका स्थान व्याकरणका सम्पूर्णत्व स्वार्थ साधक है) इस कारण वेदार्थज्ञानके निमित्त निरुक्त परमोपयोगी है ।

वेदार्थ जाननेके निमित्त छन्दके जाननेकी आवश्यता होतीहै स्थान स्थानमें छन्दोंका विधान है चार २ अक्षर बढानेसे उत्तरोत्तर छन्द बनजाते हैं ऐसे सात छन्द प्रातरनुवाकमें कथन किये हैं गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्यादि- अर्थात् गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति त्रिष्टुप् जगती यह सात छन्द हैं २४ अक्षरका गायत्री छन्द होता है उसमें चार और मिलाकर २८ का उष्णिक् छन्द होता है इस प्रकार उत्तरोत्तर चार २ अक्षरोंकी वृद्धि करनेसे अनुष्टुप् आदि छन्द होते हैं औरभी श्रुत हुआहै कि "गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात् त्रिष्टुब्भी राजन्यस्य जगतीभिर्वैश्यस्य" इति तैत्तिरीयब्राह्मणम् १ । १ । ९ गायत्रीसे ब्राह्मणका आधान करे, त्रिष्टुप् द्वारा क्षत्रियका और जगतीद्वारा वैश्योंका आधान-

करे मगण यगणादि द्वारा गायत्रीआदि छन्दोंका तत्त्व छन्दोग्रन्थके विना किसी प्रकारसे विदित नहीं होता कात्यायन अनुक्रमणिकामें कहाहै [यो ह वा अविदिता-र्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति वा पात्यते प्रमीयते वा पापीयान्भवति] जो कोई ऋषि छन्द दैवत ब्राह्मण आदिके विना जाने मंत्र द्वारा यज्ञ करताहै अथवा पढाता है वह स्थाणुत्वको प्राप्त होताहै गर्तमें पतित हो मृत हो अथवा पापी होताहै इससे प्रत्येक मंत्रके साथ उसका ऋषि छन्द देवता आदि जाननेकी आवश्यकता है, इसीके निमित्त छन्दोग्रन्थकी आवश्य-कता होती है ।

ज्योतिषका प्रयोजनभी उन्ही ग्रन्थोंमें श्रुत हुआहै यथा 'यज्ञकालार्थसिद्धयः' यज्ञकालकी सिद्धिके निमित्त ज्योतिषकी आवश्यकता है, कालका नियम भी श्रुत हुआ है यथा 'संवत्सरमेतद्व्रतंचरेत्' तै० आ० १ प्र० संवत्सरपर्यन्त यह व्रत करे 'सम्वत्सर मुख्यं भृत्वा० तै० सं ५ । ६ । ९ सम्वत्सरतक उखा अग्निधारण करे यह सब संवत्सर कालकी विधि है' "वसन्ते ब्राह्मणोग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः" तै० ब्रा० १ । १ । २ वसन्तमें ब्राह्मण अग्न्याधान करे, ग्रीष्ममें क्षत्रिय और शरदमें वैश्य अग्न्याधान करे यह सब ऋतुविधि हैं, "मासि-मासिसत्रपृष्ठान्युपयन्ति" महीने २ सब मंत्रपृष्ठ एक अनुष्ठान करे (मासिमास्यति-ग्राह्याग्रह्यन्त) महीने २ अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करे यह मासविधि है (यं कामयेत वशीयान् स्यादिति तं पूर्वपक्षे याजयेत्) जिसको वश करनेकी कामनाहो वह पूर्व पक्षमें यज्ञकरे यह पक्षविधि है (एकाष्टकायांदीक्षेरन् फल्गुनीपूर्णमासेदीक्षेरन्) एकाष्टकामें दीक्षा ले फाल्गुनी पूर्णिमाको दीक्षा ले यह तिथिविधि है (प्रातर्जुहोति सायंजुहोतीत्यादि) प्रभातमें होम करे संध्यामें होमकरे यह प्रातरादि कालका विधान है (कृत्तिकास्वग्निमादधीत) कृत्तिका नक्षत्रमें अग्न्याधान करे यह नक्षत्र-विधि है इससे समयका बोध करनेवाला ज्योतिष शास्त्र है ।

शिक्षादिषडङ्गकी समान पुराण स्मृति भी वेदार्थप्रतिपादक हैं याज्ञवल्क्यस्मृ-तिमें कहा है कि—"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्य-ल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति ।" अ० १ श्लो० ३ अर्थात् पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्र और अंगमिश्रित वेद यह मिलकर चतुर्दश विद्या धर्मका स्थान हैं । इतिहास और पुराणसे वेदका विस्तार करे अल्पश्रुतसे वेद भय करता है, कि यह मुझे प्रहार करेगा, और भी श्रुत हुआ है कि ऐतरेय, तैत्तिरीय कठादि, शाखाओंमेंभी उत्तम धर्म और ब्रह्मरूप अर्थके उपयोगी हरिश्चन्द्र नचिकेता प्रभृतिके उपाख्यान

उन उन इतिहास ग्रन्थोंमें स्पष्ट किये हैं, उपनिषदोंमें कहीहुई सृष्टि स्थिति लयादि ब्राह्म पाद्म वैष्णवादि पुराणोंमें स्पष्ट रूपसे कहीहै [सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितश्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्] सर्ग सृष्टि प्रतिसर्ग प्रलय अथवा मन्वन्तरमें अवान्तरसृष्टि, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित—'वंशमें उत्पन्न पुरुषोंके चरित्र' यह पुराणोंके पांच लक्षण हैं पुराणोंमें यह पांचों विषय अवगत होते हैं। इससे वह पांच लक्षणवाला है।

न्याय शास्त्रमें प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त आदि सोलह पदार्थोंका प्रतिपादन है, तौभी उसीके अनुसार यह वाक्य इस अर्थमें प्रमाण है और कुछ नहीं यही निर्णय करना पाया जाता है, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसामें वेदार्थका उपयोग स्पष्ट होता है, मनु अत्रिआदिकी रचित स्मृतियोंसे वेदोक्त संध्यावन्दनादिविधियोंका विस्तार पाया जाता है, [तद्‌ ह वा एते ब्रह्मवादिनः पूर्वाभिमुखाः सन्ध्यायां गायत्र्याभिमंत्रिता अप ऊर्ध्वं विक्षिपन्तीत्यादि तै० आ० २ प्र०] यह ब्राह्मण संध्यासमय पूर्वको मुखकर गायत्री पढ़ जल ऊपरको विक्षेप करते हैं [पंच वा एते महायज्ञाः सततं प्रजायन्ते] यह पांचयज्ञ निरन्तर किये जाते हैं, इत्यादि वेदवाक्य पंचमहायज्ञके विधायक हैं, इसीप्रकार और भी विधि देखीजाती हैं, इस प्रकारसे पुराणादिक वेदार्थज्ञानमें उपयोगी हैं, इसीसे इनको विद्याका स्थान कहा है. इन पुराणादिको चौदह विद्याओंके स्थानमें कहा है, यह विद्याग्रहणके विशेष अधिकारियोंको शाखान्तरके चार मंत्रों द्वारा निरुक्तने वर्णन किया है, यथा—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्यामिति०" विद्याअभिमानी देवता उपदेष्टा आचार्यके निकट आकर कहने लगी, कि हे ब्राह्मण! अनधिकारियोंको उपदेश न करके हमारी पालन कर मैं तुम्हारी निधिकी समान पुरुषार्थका हेतु हूं, जो हमसे और तुमसे द्वेष ईर्षा करै सरलतासे विद्याभ्यास न करै जो स्नान आचमनादि आचारका प्रतिपालन न करै, उस शिष्याभासके निकट हमको किसी प्रकार न बोलना, मैं तुम्हारेही हृदयमें स्थितहो फलवती होऊंगी। २ मंत्र "यआतृणत्यवितथेन कर्णावदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन्। तंमन्येतपितरंमातरंचतस्मैनद्रुह्येत्कतमच्चनाह" अर्थ—पूर्व मंत्रमें आचार्यका नियम कहकर इसमें शिष्योंके प्रति कहते हैं वितथ अर्थात् अनृतअपुरुषार्थ भूतलौकिक वाक्य उसके विपरीत सत्य वेदवाक्य अवितथ कहाते हैं इन्हीं वाक्योंसे जो आचार्य शिष्यके[१] कर्ण पूर्ण करते हैं [उपसर्ग वशसे दूसरा अर्थ यह होता है कि जो शिष्यको सर्वदा वेदवाक्य

१ नि० २।४।

सुनाते हैं और मन्दप्रज्ञावाले शिष्यको पहले आद्यमंत्र, पादमंत्र अथवा उसकाभी एक अंश पद ग्रहण कराकर मोक्षदायक अमृतरूप वेदार्थका दान करते हैं] ऐसे आचार्यको शिष्य मुख्य माता पिता रूप जाने, जन्मदाता पिता और गर्भधारिणी माता अधम मनुष्य शरीर प्रदान करनेसे अमुख्य है, यह अमृतदान करनेसे मुख्य है इस आचार्यके प्रति द्रोह वा अन्याय आचरण कभी न करे। ३ मंत्रः—"अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा। यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्" इति अर्थात् जो अधम ब्राह्मण गुरुद्वारा शिक्षित होकर विनय भक्ति रहित चिन्तन और शुश्रूषाद्वारा गुरुका आदर नहीं करते, वे अनादर करनेवाले निकृष्ट शिष्य गुरुकी कृपाके योग्य नहीं हैं, गुरु उनपर कृपा न करें अर्थात् जैसे गुरु उनकी पालना नहीं करता तैसे वे गुरूपदिष्ट वेद वाक्यभी शिष्यका पालन नहीं करते अर्थात् फल प्रदान नहीं करते। ४ मंत्र— "यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्च नाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्"—हे आचार्य जिसको पवित्र गुणोंसे युक्त सुशिष्य जानो और जो शिष्य तुमसे कभी द्रोह न करता हो उसी शिष्यके निमित्त अपनी धनरक्षकस्वरूप मुझ वेदविद्याको उपदेश करो, विद्या देवता द्वारा यह उपदेश जनाता है कि मुख्य शिष्यकोही विद्याका उपदेश देना चाहिये, इसीसे अधिकारियोंके निमित्त हम षडङ्गके अनुसार यजुर्वेदकी व्याख्याका आरंभ करते हैं॥ सायनाचार्यके उपोद्घात प्रकरणके आशयपर यह लेख लिखागयाहै।

इति उपोद्घातप्रकरणम्।

यज्ञभूमिका चित्र सोमयाग.

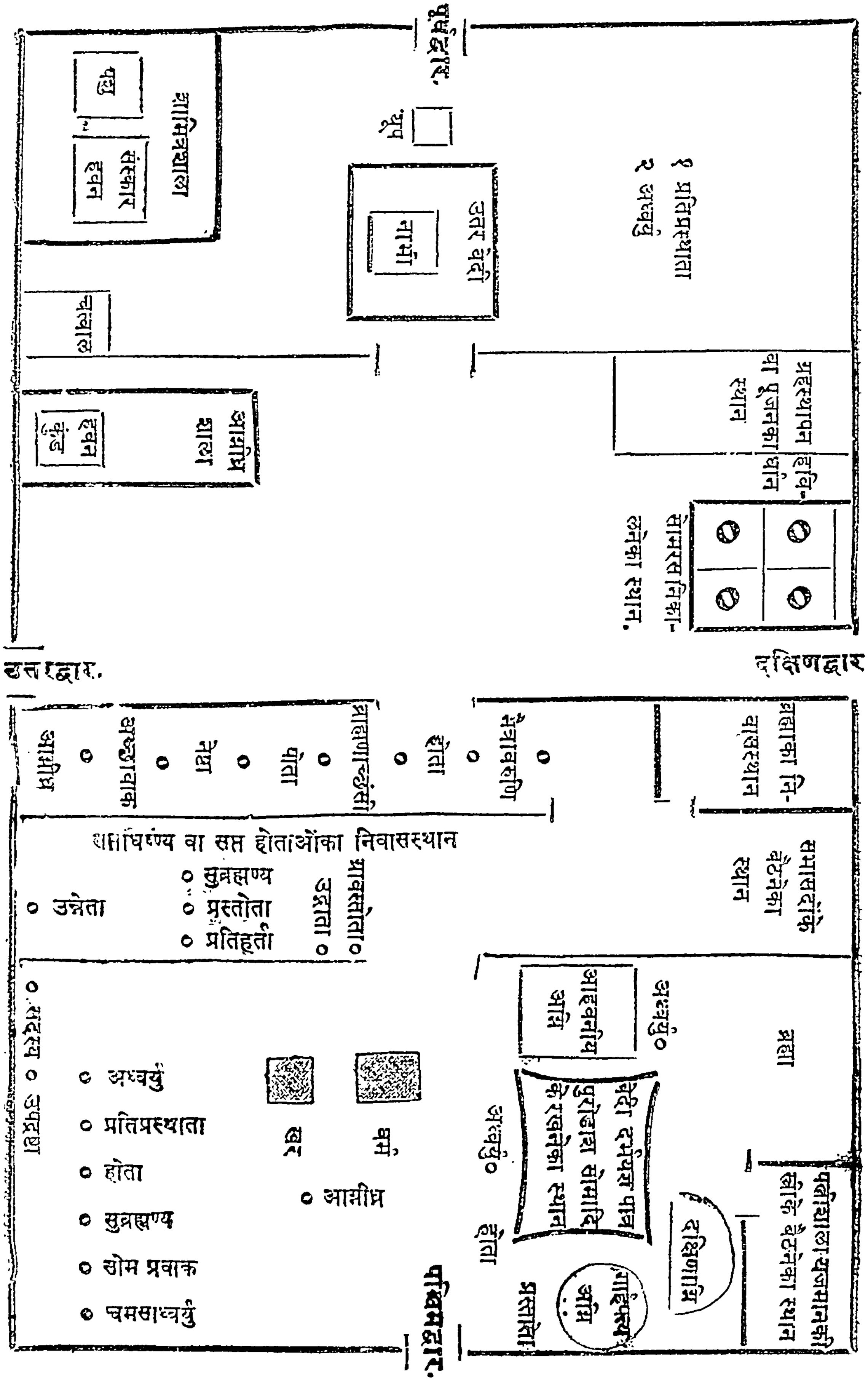

यज्ञविषयकसूची.

अध्याय.	विषय.	पृष्ठ.
१	दर्शपौर्णमास	१
	सोमाहरणादि	”
२	सोमाहरणादि	४७
	पिण्डपितृयज्ञ	७४
३	अग्न्याधान	७९
	अग्निहोत्र	८४
	उपस्थान	८६
	चातुर्मास्य	१०
४	अग्निष्टोम	१२२
	साधारणप्रकरण	”
५	सोमप्रकरण	१५८
६	अग्नीषोमीयपशुप्र०	२०९
७	ग्रहप्रकरण	२४९
८	तृतीयसवन	२९४
	षोडशीयाग	३१५
	द्वादशाहयाग	३१८
	गवामयनसत्र	३२१
९	वाजपेययज्ञ	३४१
	राजसूययज्ञ	३६८
१०	अभिषेकप्रभृति	३७४
	चरकसौत्रामणि	४१०
११	अग्निचयन	४१४
१२	उखाप्रकरण	४६६
१३	पुष्करपर्णोपधान	५२८
१४	द्वितीयादिचिति	५७२
१५	पंचमचिति	६१४
१६	रुद्राध्याय	६५५
१७	चित्यपरिषेकादि	६९५
१८	वसोर्धारादि	७५६
१९	सौत्रामणिका परिशिष्ट ...	८०६
२०	सौत्रामणिअभिषेकअवभृथस्नानादि	८६०
२१	पुरोनुवाकयाज्य	९०५
२२	अश्वमेधयज्ञ	९४७
	अश्वत्याग	९५२
२३	अश्वपुनर्ग्रहण	९६६
२४	यूपप्रकरण	१०११
२५	अश्वाङ्गहोमादि	१०३४
२६	अश्वमेधका शेष	१०६४
	अग्निष्टोमका परिशेष	”
२७	अग्निचयनका परिशेष.... ...	१०८२
२८	सौत्रामणिका परिशेष	११०५
२९	अश्वमेधका. परिशेष	११३२
३०	पुरुषमेध यूपप्रकरण	११६५
३१	पुरुषस्तुति	११८३
३२	सर्वमेध	१२१९
३३	पुरोरुक्प्रकरण	१२३०
३४	ब्रह्मयज्ञपाठ	१२८४
३५	पितृमेध	१३१४
३६	शान्तिपाठ	१३२६
३७	प्रवर्ग्यकाण्ड	१३३६
	महावीरनिर्माणादि	”
३८	घर्मदुघादोहनादि	१३५५
३९	घर्मप्रायश्चित्त	१३७४
४०	उपनिषत्	१३८३

ग्रंथसमाप्ति ।

श्रीः ।

यज्ञविधानके सिवाय अन्य उपयोगीविषयोंका वर्णन.

विषय	अ० मं.
गौअवध्य	१ । १
दूधछानना	१ । २
दहीजमाना	१ । ४
सत्यपरआरूढहोना	१ । ५
हिरण्यपाणि सविता	१ । २४
पृथिवीसेचन्द्रसम्बन्ध	१ । २८
पिण्डपितृयज्ञ	२ । २९-३४
गोदुग्धमहिमा	३ । १६
गोमहिमा	३ । २७
ईश्वरस्तुति	३ । २९-३०
गायत्री	३ । ३५
पुत्रादिप्राप्तिकीप्रार्थना	३ । ३७
जलाशयस्नानसेपापहानि	३ । ४८
मृत्युञ्जयमंत्र	३ । ६०
क्षौमवस्त्र	४ । २
मूत्रकरनेकीविधि	४ । १३
जागनेपरमंत्रपाठ	४ । १५
यन्त्ररचना	४ । १८
स्तुति	४ । ३१
बैलगाडी	४ । ३२
घोडागाडी	४ । ३२
वामनावतार	५।१५।१८ १९।२०
विष्णुकेदोनोंहाथ	५ । १९
अभिचारवर्णन	५ । २३
देवयजनवर्णन	५ । ३०
देवयानमार्ग	५ । ३३
स्तुति	५ । ३६-३७
आकाशकोनलिखना	५ । ४३
गायोंमेंदेवनिवास	६ । ३
स्तुतिप्रार्थना	६ । ४-५
स्तुति	६ । ३१
शण्ड	७ । १२
मर्कतत्त्वविद्या	७ । १६
गोदक्षिणा	७ । ४५
वंशप्रतिष्ठा	७ । ४६
विश्वकर्मा	८ । ४६
दक्षिणायनसेगमनागमन	८ । ६०
जलकासार	९ । ३
घोडेजोतना	९ । ५
रथपरचढनेकामंत्र	९ । १३
घोडोंकाचलाना	९ । १४-१५
परमात्माकीप्रार्थना	९ । २३-२९
जलोंकेभेद	१० । ३-४
यजमानकामंगल	१० । १६
यजमानकाअभिषेक	१० । १९
स्तुति	१० । २०
हंसादिईश्वरकेनाम	१० । २४
स्तुति	११।६-७।२६
गैसअग्निनिष्पादन	११ । १-२
स्तुति	अ०११मं०६७।७८।८०।८१
यजमानमेंबलतेजधारण	११ । १८
सूर्यकीकिरणोंसेरंग	१२ । ३
विषहरीविद्यागायत्रीगरुड़रूप०	१२ । ४
नष्टधनप्राप्ति	१२ । ८
पापनाशकमंत्र	१२ । ९
अग्निकीस्थितिकहांकहां	१२ । १८
अग्निकेतीनरूप	१२ । २०
पुरानेनयेयमगण	१२ । ४५
सबकोमिलकररहनाचाहिये	१२ । ५९
अलक्ष्मीकोदूरकरना	१२।६३-६८
कृषिविद्या	१२ । ६७
कृषिविधि	१२ । ६९
वैद्यक	१२ । ७५
पीपलपलाशगुण	१२ । ७९
वैद्यकलक्षणओषधिगुण	१२ । ८०

यज्ञविधानके सिवाय–

विषय	अ० मं.
यक्ष्मानाशमंत्र ...	... १२ । ८५
रोगोंकेनिदान ...	...१२।८६-८७
ओषधिमहिमा ...	{ १२।९०-९५ ९७-१०१
ब्राह्मणचिकित्साकरै	... १२ । ९६
ब्रह्मस्तुति... ...	... १२।१०२
हिरण्यगर्भसुवर्णप्रतिमा	... १३ । ३
त्रिशिराऋषिऋष्यादिमें	... १३ । १५
शिल्पविद्यामहलबनाना	...१३।१७-१८
कूर्म [कल्पमें] ...	... १३ । २७
मधुरूपस्तुति ...	... १३ । २७
पुण्यात्माओंकेलोक...	... १३ । ३१
कानोंकोबंदकरशब्दसुना	... १३ । ३९
प्रतिमा	... १३ । ४१
आश्वगौआदिकीरक्षा	...१३।४२-४४
हिंसानिषेध ...	...१३।४७-४८
दुशालेबनाना ...	... १३ । ४४
हिरण्यमयपुरुष (कल्प)	... १३ । ४६
विश्वकर्मा [समुद्ररचा]	... १४ । ९
रक्षाविधान ...	... १४ । १७
प्रतिमाछन्द ...	... १४ । १८
छन्दोंकाप्रयोजन ...	... १४ । १८
जगतरचना ...	...१४।२८-३१
अन्नकेगुण... ...	... १५ । ९
स्वर्गलोक... ...	...१५।१२-१४
अप्सराऋतु ...	...१५।१५-१९
प्रतिमा	... १५ । ६१
रुद्रकापापनाशकशरीर	... १६ । २
तीर्थ	... १६।४२।६१
शिवमाहात्म्य ...	... १६ । ००
आत्मोपनिषद्स्तुति...	...१७।१७-२२
उत्पत्ति (प्रश्नोत्तर)...	... १७ । २५
सृष्टि	... १७ । २८
विश्वकर्माकीसृष्टि ...	...१७।२२-२३
अजकीनाभिमेंकमल	... १७ । ३०
स्तुति	... १७ । ३१
सेनाचलाना ...	... १७ । ४०
बाणप्रयोगसेनाकाउत्साह	...१७।४२-४५
कवचधारणमंत्र ...	... १७ । ४९
ज्योतिदर्शन ...	... १७ । ५८
मूर्तिप्रतिष्ठा ...	... १७ । ५९
भूमिसेपृथक्स्वर्ग ...	... १७ । ६८
मरुद्गणोंकेनाम ...	...१७।८०-८५
स्तुति	... १७ । ९९
सर्वस्वयज्ञकेनिमित्त...	... १८ । १
बांधवोंकेसाथएकत्रभोजन	... १८ । ९
गणित	...१८।२४-२५
पशुओंकीअवस्था ...	...१८।२६-२७
स्तुति	१८।५६।५८।५९
स्वर्गदेवयान ...	... १८ । ६०
इष्टापूर्त	... १८ । ६०
स्वर्गजानेकेलक्षण ...	... १८।६४।६५
स्तुति	... १८ । ६६
पितर	१९।३६।३७।४६
पावनउपनिषद् ...	...१९।३९-४२
पितृलोक	... १९ । ४५
पितृवर्णन	...१९।४६-७०
पुरुषस्त्रीसंयोग ...	... १९ । ७६
सोमवर्णन ...	...१९।७२-७५
श्रद्धा अश्रद्धा ...	... १९ । ७७
शुद्धरससेवन ...	... १९ । ७९
वस्त्राभूषणनिर्माण ...	... १९ । ८०
गूढरूपक... ...	१९।८८-९५-९२
शिखाश्रीकेनिमित्त ...	... १९ । ९२
पापदूरकरना ...	...२०।१४-१७
स्नानकेगुण ...	...२०।१९-२०
भूमिगति (आवर्तन)	... २० । २३
पुण्यरूपपरलोक	... २० । २५
स्तुति	... २० । ३२
इन्द्रस्तुति... ...	...२०।३६-५२
मरुभूमि	... २० । ५३
सरस्वतीमंत्र ...	...२०।८५-८६

उत्तरार्द्ध ।

विषय	अ० मं.	विषय	अ० मं.
नावपरचढनाऔरउसका-बनाना	२१ । ६	ईश्वरपूजन	२९ । ९
यन्त्ररूपनौका	२१ । ७	अश्वकास्वर्गगमन	२९ । १७
सीसाधातुमारण	२१ । ३६	अग्निकेगुण	२९ । ३७
पागलकुत्तेकावध	२२ । ५	वर्मधारण	२९ । ३८
अवतारधारणकाशब्द ...	२२ । २०	धनुषधारण	२९ । ३९
ग्रहोंकाभ्रमण	२२ । २९	तरकस	२९ । ४२
सूची	२३ । ३५	घोडोंकाचलाना	२९ । ४४
ब्रह्मज्योति (ब्रह्मोद्य) ...	२३ । ४८	रथरथगुप्ति	२९ । ४५-४६
ब्रह्मज्ञान	२३ । ४९	रथपरबैठनेकामंत्र	२९ । ४७
अन्तर्यामी	२३ । ५२	कशाघातकामंत्र	२९ । ५०
माया	२३ । ५४	अश्वशास्त्रकासूत्र ... ... / अंगुलित्राण	२९।५१
ब्रह्मसेजगतबना	२३ । ६०	दुन्दुभीबजाना	२९ । ५५
ब्रह्माजीकाप्रादुर्भाव ...	२३ । ६३	रोजगारीऔरसंकरजाति ...	३० । ५-२२
पशुपक्षियोंकेभेद	२४ । १-४०	प्रश्नकरनेवाला	३० । १०
जम्भकागायत्री	२५ । ९	स्वर्गलोक	३० । १२
अलौकिकस्तुति	२६ । ११	प्रतिमानिर्माण	३० । १२
पवित्रस्थाननदीकेनिकटसिद्धि	२६ । १५	सतयुगद्वापरकलि	३० । १८
पंचाहुतिसेजन्म	२६ । १६	गौकोताडननिषेध	३० । १८
प्रार्थना	२६ । २०	बाजे और उनकाबजाना ...	३० । २०
मित्रतासेजीवनबिताना ...	२७ । ५	पुरुषसूक्त	३१ ।१००
यम, परलोकभयदूर ...	२७ । ९	उपासना	३२ । १
देवताकामंगलगान... ...	२७ । १५	नतस्यप्रतिमाकावि० ...	३२ । ३
प्रजापति और जगतरचना ...	२७ । २५	ब्रह्मओतप्रोतहै	३२ । ८
ईश्वरस्तुति	२७ । ३५-४०	ईश्वरमहिमास्तु०	३२ । ९-११
अवताररूप	२७ । ४१	सर्वमेधयाजीकीमुक्ति ...	३२ । ११-१२
सृष्टि	२७।४२-४४	मेधामांगना	३२ । १३
युगप्रजापति	२७ । ४५	सूर्यकालोकोंसेसम्बन्ध ...	३३ । ३५
खाथपानभोजन	२८ । २८	वायुद्वारारथचालन ...	३३ । ५५
स्वर्णकीअर्गला	२८ । ३८	धातुगलाकरपदार्थबनाना ...	३३ । ६०
द्वारनिर्माणविधि	२९ । ५	वैद्युताग्निप्रयोग	३३ । ६१
		आर्य दास अर्थ	३३ । ८१
		जलवायुकीशुद्धि	३३ । ८६

(४) यज्ञविधानकेसिवायअन्यउपयोगीविषयोंकावर्णन।

विषय	अ० मं.	विषय	अ० मं.
रोगशान्तिकरना	३३ । ८७	अपामार्गसेशुद्धि	३६ । ११
ब्रह्मज्योतिसेपापदूर ...	३३ । ९२	दुःस्वप्ननाश	३५ । ११
वाणी (प्रवह्लिका) ...	३३ । ९३	मृत्युकीसीमाकरनी ...	३५ । १५
मनकावर्णन	३४ । १-६	गौकीपूछपकड़ना	३५ । १८
सविताहिरण्यपाणिः ...	३४।२५-२६	पुनर्जन्म	३५ । २२
प्रातःस्मरण (ऐश्वर्य) ...	३४।३४-३८	शान्तिपाठ	३६-१-१७
विष्णु उपासना	३४ । ४४	उपासना	३६-१८-२४
स्वर्णधारणकेलाभ	३४।५०-५८	स्तुतिउपयोगीज्ञान... ...	३७-१४-२०
स्वर्णकाहाथमेंबांधना ...	३४ । ५२	तीनवर्णोंकेनाम	३८ । १४
ब्रह्मयाग	३४ । ५८	देवमहिमा...	३८ । १७
पितृमेध (अस्थिस्थापन) ...	३५ । १-६	व्रतविधान	३८ । २०
मृत्युनिवारण	३५ । ७	वेदान्तज्ञान	४० समस्त

इति ।

अथ वाजसनेयिमन्त्राणामकारादिक्रमेण सूचीपत्रम्,

मंत्र.	अ० खं० मं खं०
अंशुरंशुस्ते	५ । ७
अंशुनातेअंशु	२० । २७
अ६ंशुश्चमे	१८ । १९
अक्रन्कर्म	३ । ४७
अक्रन्ददग्नि	१२-६ । २१ । ३३
अक्षन्नमीमदन्त	३ । ५१
अक्षराजायकितव	३० । १८
अग्नआयू७ंषि	१९ । ३८ ॥ ३५ । १६
अग्नयेकव्यवाहनाय	२ । २९
अग्न इन्द्र वरुण	३३ । ४८
अग्नयेकुटरून्	२४ । २३
अग्नये गायत्राय	२९ । ६०
अग्नये गृहपतये	१० । २३
अग्नयेत्वामह्यम्	७ । ४७
अग्नयेऽनीकवते प्रथमजान्	२४ । १६
अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिः	२९ । ५९
अग्नयेपीवानम्	३० । २१
अग्नये स्वाहा सोमाय:	२२ । ६
अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहेन्द्राय	२२ । २७
अग्नाई पत्नीवन्त	८ । १०
अग्नावग्निश्चरति	५ । ४
अग्निन्तम्मन्ये	१५ । ४१
अग्निन्दूतम्पुरो दधे	२२ । १७
अग्नि युनज्मि	१८ । ५१
अग्नि स्तोमेन	२२ । १५
अग्नि हृदयेन	३९ । ८
अग्नि होतारम्मन्ये	१५ । ४७
अग्निः पशुरासीत्	२३ । १७
अग्निः पृथुर्धर्म्मणः	१० । २९
अग्निः प्रियेषु	१२ । ११७
अग्निमद्य होतारं	२१।५९॥२८। २३ ।२८।४६
अग्निरस्मि जन्मना	१९ । ६६
अग्निर्ऋषिः पवमानः	२६ । ९
अग्निरेकाक्षरेण	९ । ३१
अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः	३ । ९
अग्निर्ज्योतिषाज्योतिष्मान्	१३ । ४०
अग्निर्देवता वातो देवता	१४ । २०
अग्निर्मूर्द्धादिवः	३।१२॥ १३ । १४ ॥१५।२०
अग्निर्वृत्राणि	३३ । ९
अग्निश्च पृथिवीच	२६ । १
अग्निश्च आपश्च	१८ । १४
अग्निश्चम इन्द्रश्च	१८ । १६
अग्निश्चमेघर्मश्च	१८ । २२
अग्निष्वात्ताः पितरः	१९ । ५९
अग्निष्वात्तानृतुमतः	१९ । ६१
अग्निस्तिग्मेन शोचिषा	१७ । १६
अग्नीषोमयोरुज्जितिम्	२ । १५
अग्नेअच्छावदेहनः	९ । २८
अग्नेअंगिरः	१२ । ८
अग्ने गृहपते	२ । २७
अग्नेजातान् प्रणुदानः	१५ । १
अग्नेतमद्या	१५ । ४४॥ १७ । ७७
अग्नेतवश्रवः	१२ । १०६
अग्नेत्वन्नो	। ३ । २५ ॥ १५ । ४८ ॥ २५ । ४७
अग्नेत्वम्पुरीष्यः	१२ । ५९
अग्नेत्वंसुजागृहि	४ । १४
अग्नेऽदब्धायो	२ । २०
अग्ने क्विवोअर्णम्	१२ । ४९
अग्नेनय	५।३६॥७।४३॥ ४० । १६
अग्नेपत्नीरिहावह	२६ । २०
अग्नेपवस्व	८ । ३८
अग्ने पावकरोचिषा	१७ । ८
अग्नेप्रेहि प्रथमो	१७ । ६९
अग्नेब्रह्मगृभ्णीष्व	१ । १८
अग्नेऽभ्यावर्तिन्	१२ । ७
अग्नेयत्तेदिवि	१२ । ४८
अग्नेयत्तेशुक्रम्	१२ । १०४

मंत्र.	अ० मं०
अग्नेयुक्ष्वाहिये	१३ । ३६
अग्नेरनीकम्	८ । २४
अग्नेर्जनित्रमसि	५ । २
अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य	६ । २४
अग्नेवाजजिद्वाजम्	२ । ७
अग्नेवाजस्य गोमतस्‌ ...	१५ । ३३
अग्नेवेहोत्रम्	२ । ९
अग्ने व्रतपते व्रतश्चरि ...	१ । ५
अग्ने व्रतपते व्रतमन्त्रा० ...	२ । २८
अग्ने व्रतपास्ते	५ ।६।५।४०
अग्नेशर्द्धमहते	३३ । १२
अग्नेसहस्वपृतना	९ । ३७
अग्नेसहस्राक्ष	१७ । १७
अग्नेस्तनूरसि	१।१५॥५।१
अग्नेस्वाहाकृणुहि	२७ । २२
अग्नेपक्षविर्वायोग्	१४ । ४
अग्नेबृहन्नुषसा	१२ । १३
अग्रेणीरसि	६ । २
अङ्गान्यात्मान्	१९ । ९३
अंगिरसोनः	१९ । ५०
अचिक्रदद्वृषा	३८ । २२
अच्छायमेति	२७ । १४
अच्छिन्नस्यते	७ । १४
अजस्रमिन्दुम्	१३ । ४२
अजारे पिशंगिला	२२ । ५६
अजीजनोहिपव०	२२ । १८
अजोह्यग्नेरजनिष्ट	१३ । ५१
अतिनिहो अतिस्रियो ...	२७ । ६
अतिविश्वाः	१२ । ८४
अत्यन्याँ२॥ऽअगाम्	५ । ४२
अत्र पितरो मादयध्वम् ...	२ । ३१
अत्रातेरूपमुत्तमम्	२९ । १८
अथैतानष्टौ	३० । २२
अदब्धेभिः	३३।६९।८४
अदितिर्द्यौरदितिरन्त ...	२५ । २३
अदितिष्ट्वादेवी	११ । ६१
अदित्यास्त्वगस्य	४ । ३०
अदित्यास्त्वा पृष्ठे	१४ । ५
अदित्यास्त्वा मूर्धन्नाजिघर्मि ...	४ । २२
अदित्यैरास्नासि	१ । ३०
अदित्यैरास्नासीन्द्राण्यै ...	३८ । ३
अदित्यै रास्नास्य	११ । ५९
अदित्यैव्युन्दनमसि ...	२ । २
अदृश्रमस्य केतवो	८ । ४०
अद्भ्यःक्षीरंव्यपिवत्... ...	१९ । ७२
अद्भ्यःसम्भृतः	३१ । १७
अद्भ्यःस्वाहा	२२ । २५
अद्यादेवा उदिता	३३ । ४२
अधायथानः	१९ । ६९
अधाह्यग्ने क्रतोर	१५ । ४५
अधिन इन्द्रैषाम्	३३ । ४७
अधिपत्न्यसि	१५ । १४
अध्यवोचदधिवक्ता ...	१६ । ५
अध्वर्यो अद्रिभिः	२० । ३१
अनड्वान्वयः	१४ । १०
अनड्वाहमन्वारभामहे ...	३५ । १३
अनाधृषापुरस्तात्	३७ । १२
अनाधृष्यो जातवेदाः ...	२७ । ७
अनुतेशुष्मम्	३३ । ६७
अनुत्तमातेमघवन्	३३ । ७९
अनुत्वामातामन्यताम् ...	४ । २०
अनुत्वा रथो अनुमर्यो ...	२९ । १९
अनुनोऽद्यानुमतिर् ...	३४ । ९
अनुवीरैरनुपुष्यास्म... ...	२६ । १९
अनेजदेकम्मनसो	४० । ४
अन्तरग्नेरुचारवम्	१२ । ११
अन्तरामित्रावरुणा	२९ । ६
अन्तश्चरति रोचना ...	३ । ७
अन्तस्ते द्यावा पृथिवी ...	७ । ५

मन्त्र.	अ० मं०
अन्धन्तमःप्रविशन्ति ...	४० ।९।१२
अन्धस्थान्धो	३ । २०
अन्नपतेऽन्नस्य	११ । ८३
अन्नात्परिस्रुतोरसम् ...	१९ । ७५
अन्यदेवाहुःसम्भवाद् ...	४० । १०
अन्यदेवाहुर्विद्यायाः ...	४० । १३
अन्यवायोर्द्धमासानाम् ...	२४ । ३७
अन्यावोअन्याम्	१२ । ८८
अन्वग्निरुषसा	११ । १७
अन्विदनुमतेत्वम्	३४ । ८
अपश्यङ्गोपाम्	३७ । १७
अपाङ्गम्भन्त्स	१३ । ३०
अपान्त्वेमन्त्स	१३ । ५३
अपाम्पृष्ठमसि ...	११ । २९ ॥ १३ । २
अपाम्पेरुरस्य	६ । १०
अपाम्फेनेननमुचेः	१९ । ७
अपांरसम्	९ । ३
अपावमपकिल्विषम् ...	३५ । ११
अपातामश्विनाघर्मम् ...	३८ । १३
अपाधमदभिशस्ती... ...	३३ । ९५
अपामिदं न्ययनं	१७ । ७
अपारुंपृथिव्यै	१ । २६
अपितेषुत्रिषु	२३ । ५०
अपेतवीतविचसर्पता ...	१२ । ४५
अपेतोयन्तुपणयो	३५ । १
अपोअद्यान्वचारिष... ...	२० । २२
अपोदेवामधुमतीर्	१० । १
अपोदेवीरुपसृज	११ । ३८
अप्नस्वतीमश्विना	३४ । २९
अप्स्वग्नेसधिष्टव	१२ । ३६
अप्स्वन्तरमृतम्	९ । ६
अबोध्यग्निः समिधाः ...	१५ । २४
अभिगोत्राणिसहसा ...	१७ । ३८
अभित्यंदेवंसवितारम्	४ । २५
अभित्वाशूरनोनुमो... ...	२७ । ३५
अभिधासिभुवनमसि ...	२२ । ३
अभिप्रवन्तसमनेव	१७ । ९६
अभिभूरस्य	१० । २८
अभियज्ञङ्गृणीहिनो ...	२६ । २१
अभीमम्महिमा दिवम् ...	३८ । १७
अभीषुणः ...	२७ । ४१ ॥ ३६ । ६
अभ्यर्षत सुष्टुतिं ...	१७ । ९८
अभ्यादधामिसमिधम् ...	२० । २४
अभ्यावर्त्तस्वपृथिवी ...	१२ । १०३
अभ्रिरसिनार्य्यसि... ...	११ । १०
अमीषाञ्चित्तम्	१७ । ४४
अमुत्रभूयादध	२७ । ९
अमेवनःसुहवा	२६ । २४
अयमग्निः पुरीष्यो	३ । ४०
अयमग्निःसहस्रिणो... ...	१५ । २१
अयमग्निर्गृहपतिर् ...	३ । ३९
अयमग्निर्वीरतमो	१५ । ५२
अयमिह ...	३ । १५ ॥ १५ । २६॥ ३३ । ६
अयमुत्तरात्	१५ । १८
अयमुपर्यर्वाग्वसुः	१५ । १९
अयन्तेयोनिर्ऋत्वियो	२ । १४ ॥ १२।५२ ॥ १५ । ५६
अयन्दक्षिणाविश्वकर्मातस्यमनो	१३ । ५५
अयन्दक्षिणा विश्वकर्मातस्यरथस्व नश्च	१५ । १६
अयन्नो अग्निर् ...	५ । २७ ॥ ७ । ४४
अयम्पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्यचक्षुर्	१३ ।५६
अयम्पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्च	१५ । १७
अयम्पुरोभुवः	१३ । ५४
अयम्पुरोहरिकेशः	१५ । १५
अयंवाम्मित्रावरुणा... ...	७ । ९
अयंवेनश्	७ । १६
अयंसहस्रमृषिभिः	३३ । ८३

मन्त्र.	अ० मं०
अयं सो अग्निर्	१२ । ४७
अर्थेतस्थ	१० । ३
अर्द्धऋचैरुक्थानां	१८ । २५
अर्द्धमासाः परूंषिते... ...	२३ । ४१
अर्मेभ्यो हस्तिपम्	३० । ११
अर्य्यमणम्बृहस्पतिम् ...	९ । २७
अर्वाञ्चो अद्या	३३ । ५१
अवतत्यधनुष्ट्वं	१६ । १३
अवपतन्तीरवदन्	१२ । ९१
अवभृथनिचुम्पुणः ... ३ । ४८ ॥	८ । २७
अवरुद्रमदीमह्य	३ । ५८
अवसृष्टापरापत	१७ । ४५
अविर्नमेषो	१९ । ९०
अवेष्टा दंदशूका	१० । १०
अवोचाम कवये	१५ । २५
अश्मन्नूर्जम्	१७ । १
अश्मन्वतिरीयते	३५ । १०
अश्मा च मे	१८ । १३
अश्वानतङ्गामम्	१८ । ७४
अश्वत्थेवो ... १२ । ७९ ॥	३५ । ४
अश्वस्तूपरो	२४ । १
अश्वस्य त्वा	३७ । ९
अश्वावती	१२ । ८१
अश्वावतीर्गोमतीर्	३४ । ४०
अश्विनकृतस्यते	२० । ३५
अश्विनागोभिर्	२० । ७३
अश्विना धर्मम्	३८ । १२
अश्विना तेजसा	२० । ८०
अश्विना नमुचेः	२० । ५९
अश्विना पिबतम्	२० । ९०
अश्विना भेषजम्	२० । ६४
अश्विनाहविर्	२० । ६७
अश्विभ्याञ्चक्षुर्	१९ । ८९
अश्विभ्याम्पच्यस्व... ...	१० । ३१
अश्विभ्याम्पिन्वस्व... ...	३८ । ४

मन्त्र.	अ० मं०
अश्विभ्याम्प्रातःसवनम् ...	१९ । २६
अश्वो घृतेनत्मन्या	२९ । १०
अषाढं युत्सुपृतना... ...	३३ । २०
अषाढासि सहमाना ...	१३ । २६
अष्टौव्यख्यत्	३४ । २४
असङ्ख्यातासहस्राणि ...	१६ । ५४
असवेस्वाहा वसवे स्वाहा ...	२२ । ३०
असियमो अस्यादित्यो ...	२९ । १४
असुन्वन्तमयजमानम् ...	१२ । ६२
असुर्या नाम ते लोका ...	४० । ३
असौयस्ताम्रो	१६ । ६
असौ या सेना	१७ । ४७
असौयोऽवसर्पति	१६ । ७
अस्कन्नमद्य	२ । ८
अस्ताव्यग्नि	१२ । २९
अस्माकमिन्द्र	१७ । ४३
अस्मात्त्वमधि	३५ । २२
अस्मिन् महत्यर्णवे	१६ । ५५
अस्मेरुद्रामेहना	३३ । ५०
अस्मेवोऽस्त्विन्द्रियम् ...	९ । २२
अस्य प्रत्नामनु	३ । १६
अस्य जरासो	३३ । १
अस्येडिन्द्रो वावृधे... ...	३३ । ९७
अहः केतुना	३७ । २१
अहरहरप्रयावम्	११ । ७५
अहानिशम्भवन्तु नः ...	३६ । ११
अहाव्यग्ने हविरास्ये ...	२० । ७९
अहिरिव भोगैः	२९ । ५१
अहेरारावतान्	२४ । २५
अहुतमसि	१ । ९
आकूतिमग्निम्	११ । ६६
आकूत्यै प्रयुजे	४ । ७
आकृष्णेनरजसा ... ३३ । ४३ ॥	३४ । ३१
आक्रन्दयबलमोजो... ...	२९ । ५६
आक्रम्य वाजिनम्	११ । १९
आगत्य वाज्यध्वानम् ...	११ । १८

मन्त्र.	अ० मं०
आगन्मविश्ववेदसम्...	३ । ३८
आग्नेयः कृष्णग्रीवः...	२९ । ५८
आग्रयणश्चमे	१८ । २०
आवाये अग्निम्	७ । ३२
आच्याजानु	१९ । ६२
आच्छच्छन्दः	१५ । ५
आजङ्घन्ति	२९ । ५०
आजिघ्रकलशम्	८ । ४२
आजुह्वानईड्यो	२९ । २८
आजुह्वानः सुप्रतीकः	१७ । ७३
आजुह्वाना सरस्वती...	२० । ५८
आतम्भज	१२ । २७
आतत्तइन्द्रायः	३३ । २८
आतिथ्यरूपम्	१९ । १४
आतिष्ठन्तम्परि	३३ । २२
आतिष्ठ वृत्रहन्	८ । ३३
आतून इन्द्र	३३ । ६५
आते वत्सो	१२ । ११५
आत्मने मे	७ । २८
आत्मन्नुपस्थे	१९ । ९२
आत्मानन्ते	२९ । १७
आत्वाजिघर्मि	११ । २३
आत्वाहार्षम्	१२ । ११
आदित्यंगर्भम्	१३ । ४१
आदित्यैर्नो	२९ । ८
आधत्त पितरो	२ । ३३
आन इडाभिः	३३ । ३४ । ४७
आनइन्द्रो दूरादा	२० । ४८
आनइन्द्रो हरिभिः	२० । ४९
आनएतुमनः	३ । ५४
आना सत्यात्रिभिः	३४ । ४७
आनो नियुद्भिः	२७ । २८
आनोभद्राः	२५ । १४
आनो मित्रावरुणा	२१ । ८
आनो यज्ञं दिवि	३३ । ८५
आनो यज्ञम्भारती	२९ । ३३
आन्त्राणि स्थाली	१९ । ८६
आपतयेत्वा	५ । ५
आपये स्वाहा	९ । २०
आपवस्व	८ । ६३
आपश्चित्पिप्युः	३३ । १८
आपो अस्मान्मातरः	४ । २
आपोदेवीः	१२ । ३५
आपोहयद्	२७-२५॥३२ । ७
आपोहिष्ठामयोभुवः	११-५०॥३६ । १४
आप्यायस्वमदिन्तमम्	१२ । ११४
आप्यायस्व समेतु ते	१२ । ११२
आब्रह्मन् ब्राह्मणो	२२ । २२
आमन्द्रैरिन्द्र	२० । ५३
आमावाजस्य प्रसवो	९ । १९
आमूरज	२९ । ५७
आयंगौः पृश्नि	३ । ६
आयद्दिषे नृपतिम्	३३ । ११
आयन्तुनः पितरः सोम्यासो	१९ । ५८
आयातमुप	३३ । ८८
आयात्विन्द्रो	२० । ४७
आयासायस्वाहा	३९ । ११
आयुर्मे पाहि	१४ । १७
आयुर्यज्ञेन	९ । २१ ॥ १८। २९॥२२।३३
आयुष्मानग्ने	३५ । १७
आयुष्यंवर्चस्यं	३४ । ५०
आयोष्ट्वासदने	१५ । ६३
आरात्रिपार्थिवं	३४ । ३२
आरोदसी अपृणद्...	३३ । ७५
आवाचो मध्यमरुहद्	१५ । ५१
आवायोभूष	७ । ७
आविर्मर्याः	१० । ९
आविश्वतः	११ । २४

मंत्र.	अ० मं०
आवोदेवासः	४ । ५
आशुः शिशानो	१७ । ३३
आशुस्त्रिवृद्भान्तः	१४ । २३
आश्रावयेति	१९ । २४
आसन्दीरूपं	१९ । १६
आसीनासो	१९ । ६३
आसुतेसिञ्चत	३३ । २१
आसुष्वयंती	२९ । ३१
आहम्पितॄन्	१९ । ५६
इच्छन्ति त्वा	३४ । १८
इड एह्यदित ...	३ । २७ ॥ ३८ । २
इडाभिरग्निरीड्यः	२१ । १४
इडाभिर्भक्षानाप्नोति ...	१९ । २९
इडामग्ने	१२ । ५१
इडायास्त्वापदे	३४ । १५
इडेरन्ते हव्ये	८ । ४३
इदमापः	६ । १७
इदमुत्तरात्	१३ । ५७
इदम्पितृभ्यो	१९ । ६८
इदम्मेब्रह्म च	३२ । १६
इदंविष्णुर्विचक्रमे	५ । १५
इदं हवि ...	१७ । ४८
इन्दुर्दक्षः	१८ । ५३
इन्द्रआसान्नेता	१७ । ४०
इन्द्रन्दुरःकवष्यो	२० । ४०
इन्द्रं दैवीर्विशो	१७ । ८६
इन्द्रंविश्वा ...	१२-५६ ॥ १५-६१ ॥ १७-६१
इन्द्रःसुत्रामास्ववान्... ...	२० । ५१
इन्द्रःसुत्रामा हृदयेन ...	१९ । ८१
इन्द्रगोमन्निहायाहि	२६ । ४
इन्द्रघोषस्त्वा	५ । ११
इन्द्रंमरुत्व इह	७ । ३५
इन्द्रमिद्धरी	८ । ३५
इन्द्रवायूइमेसुता ...	७ । ८ ॥ ३३ । ५६
इन्द्रवायूबृहस्पतिम् ...	३३ । ४५
इन्द्रवायूसुसन्दृशा	३३ । ८६
इन्द्रश्चमरुतश्च	८ । ५५
इन्द्रश्चसम्राट्	८ । ३७
इन्द्रस्य क्रोडो	२५ । ८
इन्द्रस्य रूपम्	१९ । ९१
इन्द्रस्य वज्रो मरुताम् ...	२९ । ५४
इन्द्रस्य वज्रोऽसि ...	९ । ५ । १० । २१
इन्द्रस्य शुष्णो	१७ । ४१
इन्द्रस्यस्यूरसी	५ । ३०
इन्द्रस्यौजस्थ	३७ । ६
इन्द्राग्नी अपादियम् ...	३३ । ९३
इन्द्राग्नी अव्यथमानाम् ...	१४ । ११
इन्द्राग्नी आगतं	७ । ३१
इन्द्राग्नी मित्रावरुणा ...	३३ । ४९
इन्द्राग्न्योःपक्षतिः	२५ । ५
इन्द्रायत्वा ...	६ । ३२ ॥ ३८ । ८
इन्द्रायाहि चित्रभानो ...	२० । ८७
इन्द्रायाहि तूतुजान ...	२० । ८९
इन्द्रायाहि धियेषितो ...	२० । ८८
इन्द्रायाहि वृत्रहन् ...	२६ । ५
इन्द्रायेन्दु	२० । ५७
इन्द्रेमम्प्रतरां	१७ । ५१
इन्द्रेहिमत्स्य	३३ । २२
इन्द्रो विश्वस्य	३६ । ८
इन्द्रोवृत्रम्	३३ । २९
इन्धानास्त्वा	३ । १८
इयन्ते यज्ञिया	४ । १३
इयंवेदिः परो	२३ । ६२
इयत्यग्र आसीत्	३७ । ५
इयदस्यायुर्	१० । २५
इयमुपरि	१३ । ५८
इरज्यन्नग्ने	१२ । १०९
इरावती धेनुमती	५ । १६
इयग्रीवेभ्यः	३५ । १५
इमन्देवाः ...	९ । ४० । १० ॥ । १८

मंत्र.	अ० मं०
इमन्नोदेवा...	११ । ८
इमम्मा हिंसीरेकशफं	१३ । ४८
इमम्मा हिंसीर्द्विपादम्	१३ । ४७
इमम्मेवरुण	२१ । १
इमंसाहस्रं...	१३ । ४९
इमंस्तनमूर्जस्वन्तम्	१७ । ८७
इममूर्णायुम्	१३ । ५०
इमाउत्त्वा पुरूवसो...	३३ । ८१
इमान्तेधियम्	३३ । २९
इमागिर आदित्येभ्यो	३४ । ५४
इमातेवाजन्	२९ । १६
इमानुकम्भुवना	२५ । ४६
इमामगृभ्णन्नशना	२२ । २
इमामेअग्निष्टका	१७ । २
इमारुद्राय	१६ । ४८
इमौते पक्षावजरौ	१८ । ५२
इषमूर्जमहमितः	१२। १०५
इषश्चोर्जश्च	१४ । १६
इषिरोविश्वव्यचा	१८ । ४१
इषेत्वोर्जेत्वा	१ । १
इषेपिन्वस्वोर्जे	३८ । १४
इषेरायेरमस्व	१३ । ३५
इष्कर्त्तारमध्वरस्य	१२।११०
इष्कृतिर्नामवः	१२ । ८३
इष्टोअग्निराहुतः	१८ । ५७
इष्टोयज्ञो ...	१८ । ५६
इहरतिरिह	८ । ५१
इहैवाग्नेअधि	२७ । ४
ईडितोदेवैर्हरिवा	२० । ३८
ईदृक्षासएतादृक्षास...	१७ । ८४
ईदृङ् चान्यादृङ्च...	१७ । ८१
ईड्यश्चासि	२९ । ३
ईर्मान्तासः	२९ । २१
ईशानायपरस्वतस...	२४ । २८
ईशावास्यमिदं	४० । १

मंत्र.	अं० मं०
उच्छुष्माओषधीनाम्	१२ । ८२
उतनोहिर्बुध्न्यः	३४ । ५३
उतस्मास्य	९ । १५
उतेदानीम्	३४ । ३७
उत्क्रामममहते	११ । २१
उत्तमायामव	३४ । १४
उत्तिष्ठन्नोजसा	८ । ३९
उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते ...	३४ । ५६
उत्थायबृहती	११ । ६४
उत्सक्थ्या अव	२३ । २१
उत्साद्भ्यः	३० । १०
उक्ताः सञ्चरा एता	२४।१५।२४।१७
उक्ताः सञ्चराएताःशुनासीरीयाः	२४ । १९
उकथेभिर्वृत्रहन्तमा ...	३३ । ७६
उक्थाङ्कृणोतु	११ । ५७
उक्षासमुद्रो	१७ । ६०
उग्रंलोहितेन	३९ । ९
उग्रश्च भीमश्च (१७ । ८६) ...	३९ । ७
उग्राविघनिना	३३ । ६१
उच्चाते जातमन्धसो	२६ । १६
उदक्रमीद्...	११ । २२
उदग्ने तिष्ठ	१३ । १२
उदीचीमारोह	१० । १३
उदीरतामवर	१९ । ४९
उदुत्तिष्ठ ...	११ । ४१
उदुत्तमं वरुणस्य	१२ । १२
उदुत्यञ्जातवेदसम्७।४१।८।४१॥	३३ । ३१
उदुत्वाविश्वे १२ । ३१ ॥	१७ । ५३
उदेनमुत्तरा	१७ । ५०
उदेषाम्बाहू	११ । ८२
उदग्राभश्च...	१७ । ६४
उद्दिवंस्तभाना	५ । २७
उद्धर्षय मघवन्	१७ । ४२
उद्बुध्यस्वाग्ने १५ । ५४ ॥	१८ । ६१

मंत्र.	अ० मं०
उद्वयन्तमसस्परि	२० । २१
२७।१०॥३५।१४॥	३८ । २४
उन्नतऋषभो	२४ । ७
उपज्मन्नुप	१७ । ६
उपत्वाग्ने	३ । ४
उपनःसूनवो	३३ । ७७
उपप्रयन्तो अध्वरम् ...	३ । ११
उपप्रागाच्छसनं	२९ । २३
उपप्रागात्परमं	२९ । २४
उपप्रागात्सुमन्मे	२५ । ३०
उपयामगृहीतोऽसिध्रुवोऽसि ...	७ । २५
उपयामगृहीतोऽसिप्रजापतये...	२३ । २४
उपया० बृहस्पतिसुतस्य ...	८ । ९
उपया० मघवे ...	०
उपया० सावित्रोऽसि ...	८ । ७
उपया० सुशर्मासि	८ । ८
उपया० हरिरसि	८ । ११
उपया० इन्द्राय	७ । २२
उपया० अग्नये ...	८ ४७
उपया० अन्तर ...	७ । ४
उपया० अश्विभ्यां	२० । ३३
उपया० अग्रयणो	७ । २०
उपया० आदित्येभ्यः ...	८ । १
उपया० आश्विनं	१९ । ८
उपश्वासयपृथिवीम्	२९ । ५५
उपहूताइह	३ । ४३
उपहूताः पितरः	१९ । ५७
उपहूतोद्यौष्पितोप	२ । ११
उपह्वरे गिरीणाम्	२६ । १५
उपावसृजत्मन्या	२९ । ३५
उपावीरस्युप	६ । ७
उपास्मैगायता	३३ । ६२
उभापिबतम्	३४ । ३८
उभाभ्यान्देव	१९ । ४३
उभावासिन्द्राग्नी	३ । १३

मंत्र.	अ० मं०
उभेसुश्चन्द्र	१५ । ४३
उशन्तस्त्वा	१९ । ७०
उरुविष्णो... ... ...५ू	३८ । ४१
उशिक्त्वन्देव	८ । ५०
उशिक्पावको	१२ । २४
उशिगसि...	५ । ३२
उषस्तच्चित्र	३४ । ३३
उषासानक्तम् ...	२० । ६१
उषासानक्ता	२० । ४१
उपेयह्नी...	२१ । १७
उस्रावेतम्...	४ । ३३
ऊर्क्चमे	१८ । ९
ऊर्गस्यांगिरस्यस्य	४ । १०
ऊर्जंवहन्तीर	२ । ३४
ऊर्जोनपात	१२ । १०८
ऊर्जोनपातं	२७ । ४४
ऊर्ध्व ऊषुणः	११ । ४२
ऊर्ध्वमेनम्...	२३ । २७
ऊर्ध्वोमेना...	२३ । २६
ऊर्ध्वास्य समिधो	२७ । ११
ऊर्ध्वामारोह	१० । १४
ऊर्ध्वोभवप्रति	१३ । १३
ऋक्सामयोः	४ । ९
ऋचंवाचं	३६ । १
ऋचेत्वा	१३ । ३९
ऋचोनामास्मि	१८ । ६७
ऋजवेत्वा	३७ । १०
ऋजीतेपरि	२९ । ४९
ऋतञ्चमे	१८ । ६
ऋतं सत्यम्	११ । ४७
ऋतजिच्च	१७ । ८३
ऋतयेस्तेन...	३० । १३
ऋतवस्थ	२३ । ४०
ऋतवस्ते	२६ । १४
ऋतवस्थ	१७ । ३

मंत्र.	अ० मं०
ऋतश्चसत्यश्च	१७ । ८२
ऋतावानम्माहिषं	१२ । १११
ऋतावानं वैश्वा०	२६ । ६
ऋताषाडृतधामा	१८ । ३८
ऋतुथेन्द्रो	२० । ६५
ऋधगित्था	३३ । ८७
एकयाच	२७ । ३३
एकयास्तुवत	१४ । २८
एकस्त्वष्टुर्	२५ । ४२
एकस्मै स्वाहा	२२ । ३४
एकाचमे	१८ । २४
एजतुदशमास्यो	८ । २८
एणयह्नो मण्डूको	२४ । ३६
एतञ्जानाथ	१८ । ६०
एतन्तेदेव	२ । १२
एवंसधस्थ	१८ । ५९
एतत्तेरुद्रा	३ । ६१
एताअर्षन्ति	१७ । ९३
एतान्वःसुभगाः	२९ । ५
एताऐन्द्राग्ना	२४ । ८
एतावद्रूपं	१९ । ३१
एतावानस्य	३१ । ३
एदमगन्म	४ । १
एधोष्येधिषीमहि (१९।९)	२०।२३॥ ३८।२५
एनाविश्वान्यर्यआ	२५ । १८
एनावोअग्निम्	१५ । ३२
एभिर्नोअर्कैर्	१५ । ४६
एवच्छन्दो	१५ । ४
एवेदिन्द्रं	२० । ५४
एषच्छागा	२५ । २६
एषतेगायत्र	४ । २४
एषतेनिर्ऋते	९ । ३५
एषतेरुद्र	३ । ५७
एषवस्तोमो	३४ । ४८
एषस्यवाजी	९ । १४
एषाते अग्ने	२ । १४
एषाते शुक्र	४ । १७
एषावः सासत्या	९ । १२
एषोहदेवः	३२ । ४
एह्यूषु	३६ । १३
ऐन्द्रप्राणो	६ । २०
ओजश्चमे	१८ । ३
ओमासश्चर्षणी	७ । ३३
ओषधयः प्रति	११ । ४८
ओषधयः सम	१२ । ९६
ओषधीः प्रति	१२ । ७७
ओषधीरिति	१२ । ७८
कः स्विदेकाकी	२३।९।४५
ककुभःरूपं	८ । ४९
कत्यस्य विष्ठाः	२३ । ५७
कदाचन प्रयु०	८ । ३
कदाचनस्तरी	३।३४॥८।२
कन्याइव	१७ । ९७
कयात्वन्नऊत्या	३६ । ७
कयानश्चित्रः	२७।३९॥३६।४
कल्पन्तान्ते	३५ । ९
कवष्योन... ...	२०।६०॥ २१ । ३४
कस्त्वाच्छ्यति	२३ । ३९
कस्त्वा युनक्ति	१ । ६
कस्त्वा विमुञ्चति	२ । २३
कस्त्वासत्यो ...	२७।४०॥३६।५
काईमरे	२३ । ५५
काण्डात्काण्डात्	१३ । २०
कामङ्कामदुघे	१२ । ७२
कायस्वाहा	२२ । २०
कार्षिरसि	६ । २८
काव्ययोराजानेषु	३३ । ७२
कास्विदासीत्	२३।११।५३
किंस्वित्सूर्यसमं	२३ । ४७
किंस्विदासीद	१७ । १८

मंत्र.	अ० मं०
किंस्विद्वनं	१७ । २०
कुक्कुटोऽसि	१ । १६
कुतस्त्वामिन्द्र	३३ । २७
कुम्भोवनिष्टुर्	१९ । ८७
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	४० । २
कुलायिनी घृतवती	१४ । २
कुविदङ्ग ...	१०।३२ ॥ १९। ६ ॥ २३।३८
कृणुष्वपाजः	१३ । ९
कृष्णग्रीवा	२४।६।०।१४
कृष्णाभौमा	२४ । १०
कृष्णोस्याखरेष्ठो	२ । १
केतुङ्कृण्वन्	२९ । ३७
केष्वन्तःपुरुष	२३ । ५१
कोअस्यवेदभुवनस्य ...	२३ । ५९
कोऽदात्कस्माऽअदात् ...	७ । ४८
कोऽसि	७।२९॥२०।४
क्रमध्वमग्निना	१७ । ६५
क्रव्यादमग्निम्	३५ । १९
क्षत्रस्यत्वा	३८ । १९
क्षत्रस्ययोनिरसि	२० । १
क्षत्रस्योल्वमसि	१० । ८
क्षत्रेणाग्ने	२७ । ५
क्षपोराजन्नुत	१५ । ३७
खड्गोवैश्वदेवः	२४ । ४०
गणानान्त्वा	२३ । १९
गन्धर्वस्त्वा	२ । ३
गर्भोस्योषधीनाम्	१२ । ३७
गर्भो देवानां	३७ । १४
गायत्रच्छन्दोऽसि	३८ । ६
गायत्री त्रिष्टुप्	२३ । ३३
गायत्रेणत्वा	१ । २७
गावउपावत	३३।१९।७१
गृहामाबिभीत	३ । ४१
गोत्रभिदं	१७ । ३८
गोभिर्नसोम	२० । ६६

मंत्र.	अ० मं०
गोमद्धुणावत्या	२० । ८१
ग्रहाऊर्जाहुतयो	९ । ४
ग्रीष्मेणऋतुना	२१ । २४
घर्मैतत्ते	३८ । २१
घृतंघृतपावानः	६ । १९
घृतंमिमिक्षे	१७ । ८८
घृतवतीभुवनानाम्	३४ । ४५
घृताचीस्थो	२ । १९
घृताच्यसि	३ । ६
घृतेनसीता	१२ । ७०
घृतेनाक्तौ	६ । ११
घृतेनाञ्जन्तसम्पथो	२९ । २
चक्षुषः पिता	१७ । २५
चतस्रश्चमे	१८ । २५
चतुःस्रक्तिर्नाभिर्	३८ । २०
चतुस्त्रिंशत्तन्तवो	८ । ६१
चतुस्त्रिंशद् वाजिनी ...	२५ । ४१
चत्वारि शृङ्गात्रयो ...	१७ । ९१
चन्द्रमा अप्स्वन्तरा	३३ । ९०
चन्द्रमामनसो	३१ । १२
चित्तिञ्जुहोमि	१७ । ७८
चित्पतिर्मा	४ । ४
चित्रन्देवानाम् ...	७ । ४२ ॥ १३ । ४६
चिदसितया	१२ । ५३
चिदसिमनासि	४ । १९
चोदयित्री सूनृतानाम् ...	२० । ८५
जनयत्यैत्वा	१ । २२
जनस्यगोपा	१५ । २७
जनिष्ठाउग्रः	३३ । ६४
जवोयस्ते	९ । ९
जिह्वामे भद्रम्	२० । ६
जीमूतस्येवभवति	२९ । ३८
जुषाणोबर्हिर्	२० । ३९
ज्यैष्ठ्यञ्च	१८ । ४
ज्योतिरसि	५ । ३५

मंत्र.	अ० मं०
तम्पत्नीभिर्	१५ । ५०
तम्प्रत्नथा	७ । १२
तत्त्वायामि	१८ । ४९ ॥ २१ । २
तन्त्वाशोचिष्ठ	३ । २६
तन्त्वासमिद्भिर्	३ । ३
तंयज्ञम्बर्हिषि	३१ । ९
तंवोदस्म	२६ । ११
तच्चक्षुर्देवहितं	३६ । २४
ततो विराडजायत	३१ । ५
तत्सवितुर्वरेण्यम्	३ । ३५ । २२ । ९ ३० । २ ॥ ३६ । ३
तत्सूर्यस्य	३३ । ३७
तदश्विना	१९ । ८२
तदस्यरूपममृतं	१९ । ८१
तदिदास	३३ । ८०
तदेजति तन्नैजति	४० । ५
तदेवाग्निस्तदा	३२ । १
तद्विप्रासो	३४ । ४४
तद्विष्णोः परमम्	६ । ५
तनूनपाच्छुचि	२१ । १३
तनूनपात् पथ	२९ । २६
तनूनपादसुरो	२७ । १२
तनूपा अग्नेऽसि	३ । १७
तनूपाभिषजा	२० । ५६
तन्तुना रायस्पोषेण	१५ । ७
तन्नस्तरीयं	२७ । २०
तन्नोवातो	२५ । १७
तन्मित्रस्य	३३ । ३८
तपश्चतपस्यश्च	१५ । ५७
तपसे कौलालं	३० । ७
तपसे स्वाहा	३९ । १२
तमायतीमेऽसि	५ । ९
तमिद्गर्भं	१७ । ३०
तमिन्द्रम्पशवः	२० । ६९
तमीशानञ्जगतस्	२५ । १८
तमुत्वा दध्यङ्	११ । ३३
तमुत्वापाथ्यो	११ । ३४
तरणिर्विश्वदर्शतो	३३ । ३६
तवभ्रमास	१३ । १०
तवबायवृतस्पते	२७ । ३४
तवशरीरं	२९ । २२
तवायं	२६ । २३
तस्माअरङ्ग	११ । ५२ ॥ ३६ । १६
तस्मादश्वा	३१ । ८
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः	३१ । ७
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं	३१ । ६
तस्य वयं	२० । ५२
तस्यास्ते सत्यसवसः	४ । १८
ताअस्य सूददोहसः	१२ । ५५ ॥ १५ । ६०
ता उभौ चतुरःपदः	२३ । २०
तांसवितुर्	१७ । ७४
तान आवोढं	२० । ८२
तानासत्या	२० । ७४
तान्पूर्व्या	२५ । १६
ताभिषजा	२० । ७५
तिरश्चीनो	३३ । ७४
तिस्र इडा	२१ । १९
तिस्रस्त्रेधा	२० । ६३
तिस्रोदेवीर्बर्हिर्	२७ । १९
तिस्रोदेवीर्हविषा	२० । ४३
तीव्रान्घोषान्	२९ । ४४
तुभ्यन्ताअङ्गिर	१२ । ११६
तेअस्य योषणे	२७ । १७
ते आचरन्ती	२९ । ४१
ते आयजन्त	१७ । २८
तेजः पशूनां	१९ । ९५
तेजोऽसितेजो	१९ । ९
तेजोऽसिशुक्र	२२ । १
तेनो अर्वन्तो	९ । १७
तेहि पुत्रासो	३ । ३२

मंत्र.	अ० मं०
त्र्यादेवा	२० । ११
त्रातारमिन्द्रम्	२० । ५०
त्रिंशद्धाम	३ । ८
त्रिधाहित	१७ । ९२
त्रिपादूर्ध्व	३१ । ४
त्रिवृदसि	१५ । ९
त्रीणितआहुर्	२९ । १५
त्रीणिपदा	३४ । ४३
त्रीणिशतात्री	३३ । ७
त्रीन्त्समुद्रान्त	१३ । ३१
त्र्यंबकं यजामहे	३ । ६०
त्र्यवयो गायत्र्यै	२४ । १२
त्र्यविश्वसे	१८ । २६
त्र्यायुषञ्जमदग्नेः	३ । ६२
त्वमग्न ईडितः	१९ । ६६
त्वमग्नेद्युभिस्	११ । २७
त्वमग्ने प्रथमो	३४ । १२
त्वमग्ने व्रतपा	४ । १६
त्वमंग प्रशंसिषो	६ । ६७
त्वमिन्द्र प्रसूर्तिष्व	३३ । ६६
त्वमिमाओषधीः	३४ । २२
त्वमुत्तमास्योषधे	१२ । १०१
त्वन्नोअग्ने तव	३४ । १३
त्वन्नोअग्नेवरुणस्य	२१ । ३
त्वंथविष्ठ	१३ । ५२ ॥ १८ । ७७
त्वंसोमपितृभिः	१९ । ५४
त्वंसोम प्रचिकितो	१९ । ५२
त्वयाहितः	१९ । ५३
त्वष्टातुरीयो	२१ । २०
त्वष्टादधच्छुष्म	२० । ४४
त्वष्टावीरन्देवकाम्	२९ । ९
त्वामग्ने अङ्गिरसो	१५ । २८
त्वामग्नेपुष्करा	१५ । २२
त्वामग्ने यजमाना	१२ । २८
त्वामग्ने वृणते	२७ । ३
त्वामद्य ऋषे	२१ । ६१
त्वामिद्धिहवामहे	२७ । ३७
त्वां गन्धर्वा	१२ । ९८
त्वांचित्रश्रवस्तमम्	१५ । ३१
त्वांहिमन्द्रतम	३३ । १३
त्वेअग्नेस्वाहुत	३३ । १४
दंष्ट्राभ्याम्	११ । ५८
दक्षिणामारोह	१० । ११
दधिकाव्णो	२३ । ३२
दस्मायुवाकवः	३३ । ५८
दिग्भ्यः स्वाहा	३९ । २
दिवापृथिव्याः	२९ । ५३
दिवस्परि	१२ । १८
द्विविधा इमं	२८ । ११
दिविपृष्टो	३३ । ९२
दिवि विष्णुर्	२ । २५
दिवोमूर्धासि	१८ । ५४
दिवोवाविष्णउत	५ । १९
दीक्षायैरूपं	१९ । १३
दीर्घायुस्त	१२ । १००
दुरोदेवीर्दिशो	२१ । १६
दृंहस्वदेवी	११ । ६९
दृते दृंहमाज्योक्	३६ । १९
दृतेदृंहमामित्रस्य	३६ । १८
दृशानोरुक्म	१२ । १ । २५
दृष्ट्वापरिस्रुतो	१९ । ७९
दृष्ट्वारूपे	१९ । ७७
देवइन्द्रो	२१ । ५५ ॥ २८ । १९
देवन्देवंवो	३३ । ९१
देवंबर्हिः सरस्वती	२१ । ४८
देवंबर्हिरिन्द्रं	२८ । १२
देवं बर्हिर्वयो	२८ । ३५
देवंबर्हिर्वारितीनां	२१ । ५७
देवंबर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्र	२८ । २१
देवंबर्हिर्वारितीनां देवमिन्द्रंवयोधसम्	२८ । ४४
देवकृतस्यैनसो	८ । १३

मंत्र.	अ० मं०
देवश्रुतौ	५ । १७
देवसवितः... ...	९।१॥११।७॥ ३०।१
देवसवितरेषते	५ । ३९
देवस्त्वा सवितो	११ । ६३
देवस्याचेततो	२२ । ११
देवस्यत्वासवितुःप्रसवे	१।१०२१।२४॥५।२२।२६॥६।१।९।३०।३८॥११।९।२८।१८।३७॥२०।३॥२७।९॥३८।१
देवस्यसवितुर्म्मतिम् ...	२२ । १४
देवस्याहंसवितुः सवे ...	९।१०।१७
देवहूर्यज्ञआच	१७ । ६२
देवागातुविदो	८ । २१
देवादेवानगाम्भिषजा ...	२१ । ५३
देवादैव्याहोतारा	२८ । १७
देवादैव्याहोतारादेवमिन्द्रं वयोधसम्	२८।४०
देवानाम्भद्रासुमतिर् ...	२५ । १५
देवान्दिवमगन्	८ । ६०
देवायज्ञमतन्वत	१९ । १२
देवासोहि	३३ । ९४
देवीउषासानक्ता	२८ । ३७
देवी उषासानक्तेन्द्र... ...	२८ । १४
देवी उषासा अश्विना ...	२१ । ५०
देवी ऊर्जाहुतीदुघे	२१।५२।२८।१६।२९॥
देवी जोष्ट्री वसुधिती ...	२८।१५।३८
देवी जोष्ट्री सरस्वत्य ...	२१ । ५१
देवी द्यावापृथिवी	३७ । २
देवीराप एषवो	८ । २६
देवीरापः शुद्धा	६ । १३
देवीरापो अपान्नपाद ...	६ । २७
देवीर्द्वार इन्द्रम्	२८ । १३
देवीर्द्वारअश्विना	२१ । ४९
देवीर्द्वारो वयोधसम् ...	२८ । ३६
देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः ...	२८ । १८
देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्	२१।५४। २८।४१
देवेननो मनसा	३४ । २३

मंत्र.	अ० मं०
देवेभ्योहि	३३ । ५४
देवोअग्निः स्विष्टकृत् ...	२१ । ५८
देवोअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्र ...	२८ । २२
देवोअग्निःस्विष्टकृद्देवमिन्द्रंवयोधसम्	२८४५
देवो देवैर्व ...	२१ । ५६ ॥ २८ । २०
देवो नराशंसो	२८ । ४२
देवो वनस्पतिर्	२८ । ४३
देव्यो वम्र्यो	३७ । ४
देहिमेददामिते	३ । ५०
दैव्या अध्वर्य्यवस्त्वा ...	२३ । ४२
दैव्याभिमाना	२० । ४२
दैव्यायधर्त्रे	१७ । ५६
दैव्यावध्वर्य्यू ...	३३ । ३३ । ७३
दैव्या होतारा ऊर्ध्व... ...	२७ । १८
दैव्या होतारा प्रथमा ...	२९ । ३२
दैव्या होतारा भिषजा ...	२१ । १८
द्याम्मालेखी	५ । ४३
द्युभिरक्तुभिः	३४ । ३०
द्यौःशान्ति	३६ । १७
द्यौरासीत् ...	२३ । १२ । ५४
द्यौस्ते पृथिव्य	२३ । ४३
द्यौस्ते पृष्ठम्	११ । २०
द्रप्सश्चस्कन्द	१३ । ५
द्रविणोदाः	२६ । २२
द्रापे अन्धसस्पते	१६ । ४७
द्रुपदादिव	२० । २०
द्रवः सर्पिरासुतिः	११ । ७०
द्वारो देवीरन्वस्य	२७ । १६
द्विपदायाश्चतुष्पदा	२३ । ३४
द्वेविरूपे चरतः	३२ । ५
द्वेसृती अशृणव	१९ । ४७
धन्वनागा	२९ । ३९
धर्तादिवो	३७ । १६
धातारातिः	८ । १७
धाना करम्भः	१९ । २१

मंत्र.	अ० मं०	मंत्र	अ० मं०
धानानांरूपं	१९ । ४२	नमः सभाभ्यः	१६ । २४
धानावन्तं	२० । २९	नमः सिकत्याय	१६ । ४३
धान्यमसि	१ । २०	नमः सुतेनिर्ऋते	१२ । ६३
धामच्छदग्निः	१८ । ७६	नमः सेनाभ्यः	१६ । २६
धामन्ते विश्वं	१७ । ९९	नमः सोभ्याय	१६ । ३३
धूम्रान्वसन्तायालभते ...	२४ । ११	नमःस्रुत्याय	१६ । ३७
धूम्राव भ्रुनीकाशाः	२४ । १८	नमस्तआयुधाया	१६ । १४
धूरसि धूर्व	१ । ८	नमस्तक्षभ्यो	१६ । २७
धृष्टिरसि	१ । १७	नमस्ते अस्तु	३६ । २१
ध्रुवक्षितिर्ध्रुव	१४ । १	नमस्तेरुद्रमन्यवे	१६ । १
ध्रुवसदन्त्वा	९ । २	नमस्ते हरसे ...	१७।११॥३६।२०
ध्रुवासिधरुणा	१३ । १६	नमोगणेभ्यो	१६ । २५
ध्रुवासिधरुणेतो	१३ । ३०	नमोज्येष्ठाय	१६ । ३२
ध्रुवासि ध्रुवोयं	५ । २८	नमोधृष्णवे	१६ । ३६
ध्रुवोऽसिपृथिवीम्	५ । १३	नमोवम्लुशाय	१६ । १८
नक्तोषासा ...	१२ । २ ॥ १७ । ७०	नमो बिल्मिने	१६ । ३५
नक्षत्रेभ्यः	३२ । २८	नमो मित्रस्य	४ । ३५
नतं विदाथ	१७ । ३१	नमोरोहिताय	१६ । १९
नतद्रक्षांसि	३४ । ५१	नमोवः पितरो	२ । ६३
नतस्यप्रतिमाअस्ति... ...	३२ । ३	नमोवञ्चते...	१६ । २१
नतेदूरे परमा	३४ । १९	नमो वन्याय	१६ । ३४
नत्वावाँ २ ॥ ऽन्यो ...	२७ । ३६	नमोवात्याय	१६ । ३९
नदीभ्यः पौञ्जिष्ठ	३० । ८	नमोविसृजद्भ्यो	१६ । २३
नभश्च नभस्यश्च	१४ । १५	नमो वृक्ष्याय	१६ । ४४
नमआशवे	१६ । ३१	नमोऽस्तु नीलग्रीवाय ...	१६ । ८
नमउष्णीषिणे	१६ । २२	नमोऽस्तुरुद्रेभ्योयेऽन्तरिक्षे ...	१६ । ६५
नमः कपर्दिने	१६ । २९	नमोऽस्तुरुद्रेभ्यो ये दिवि ...	१६ । ६४
नमः कूप्याय	१६ । ३८	नमोऽस्तु रुद्रेभ्योये पृथिव्यां ...	१६ । ६६
नमः कृत्स्नाय	१६ । २०	नमोऽस्तु सर्पेभ्यो	१३ । ६
नमः पर्णाय	१६ । ४६	नमो हिरण्यबाहवे	१६ । १७
नमः पार्य्याय	१६ । ४२	नमो ह्रस्वाय	१६ । ३०
नमः शङ्गवे	१६ । ४०	नयतपरो	२० । ८२
नमः शम्भवाय	१६ । ४१	नराशंसः प्रति	२० । ३७
नमः शुष्क्याय	१६ । ४५	नराः शंसस्य महिमानं ...	२८ । २७
नमःश्वभ्य'...	१६ । २८	नमाय पुंश्चलूं	३० । २०

मंत्र.	अ० मं०
नवदशभिरस्तुवत	१४ । ३०
नवभिरस्तुवत	१४ । २९
नवविंशत्यास्तुवत	१४ । ३१
नवाउ एतन्म्नि ...	२३ । १६ । २५ । ४४
नहि तेषाममा	३ । ३२
नहि स्पर्शमविदन्	३३ । ६०
नानाहिवांहि देवहितं ...	१९ । ७
नाभा पृथिव्याः	११ । ७६
नाभिर्मे चित्तम्	२० । ९
नाभ्या आसीदन्त	३१ । १३
नार्यस्ते पत्न्यो	२३ । ३६
नाशयित्री बलासस्या ...	१२ । ९७
निक्रमणन्निषदनं	२५ । ३८
नियुत्वान् वायवा	२७ । २९
निवेशनःसंगमनो	१२ । ६६
निषसाद धृतव्रतो ...	१० । २७ । २० । २
निहोता होतृषदने	११ । ३६
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाःशर्वा ...	१६ । ५७
नीलग्रीवा शितिकण्ठा दिवं ...	१६ । ५६
नृत्तायसूतं...	३० । ६
नृषदेवेट्	१७ । १२
पञ्चदिशो देवीर्	१७ । ५४
पञ्चनद्याः सरस्वती ...	३४ । ११
पञ्चस्वन्तः...	२३ । ५२
प्रथस्पथः	३४ । ४२
पयः पृथिव्यां	१८ । ३६
पयसां शुक्रममृतं	१९ । ८४
पयसोरूपं...	१९ । २३
पयसोरेत	३८ । २८
परम्मृत्यो अनु	३५ । ७
परमस्याः परावती... ...	११ । ७२
परमेष्ठित्वासादयतु दिवस्पृष्ठेज्योतिष्मती	१५ । ५९
परमेष्ठी व्यचस्वतीं	१५ । ६४
परमेष्ठ्यभिधीत	८ । ५४
परस्या अधिः	११ । ७१
परितं दूडभो	३ । ३६
परितेधन्वनो	१६ । १२
परित्वा गिर्वणो	५ । २९
परित्वाग्नेपुरं	११ । २६
परिद्यावा पृथिवी	३२ । १२
परिणो रुद्रस्य	१६ । ५०
परिमाग्ने दुश्चरिताद् ...	४ । २८
परिवाजपतिः	११ । २५
परिवीरसि परित्वा ...	६ । ६
परितोषिञ्चता	१९ । २
परीत्यभूतानि	३२ । ११
परीमेगामनेषत	३५ । १८
परोदिवः परएना	१७ । २९
पवमानः सोअद्य	१९ । ४२
पवित्रेण पुनीहि	१९ । ४०
पवित्रेस्थो वैष्णव्यौ ...	१ । १२ ॥ १० । ६
पशुभिः पशूनाप्नोति ...	१९ । २०
पष्ठवाट् चमे	१८ । २७
पष्ठावाहोविराज	२४ । १३
पातन्नो अश्विना	२० । ६२
पावकयायश्चित	१७ । १०
पावकवर्चाः	१२ । १०७
पावकानः सरस्वती... ...	२० । ८४
पाहिनो अग्नएकया ...	२७ । ४३
पितानोऽसिपिता	३७ । २०
पितुंनुस्तोष	३४ । ७
पितृभ्यः स्वधायिभ्यः ...	१९ । ३६
पीवो अन्नारयिवृधः ...	२७ । २३
पुत्रमिव पितरा ...	१० । ३४ ॥ २० । ७७
पुनन्तुमादेवजनाः ...	१९ । ३९
पुनन्तुमा पितरः	१९ । ३७
पुनरासद्यसदनं	१२ । ३९
पुनरूर्जा	१२ । ९।४०
पुनर्नःपितरो	३ । ५५
पुनर्मनः पुनरायुः ...	४ । १५

मंत्र.			अ० मं०
पुनस्त्वादित्या	...	...	१२ । ४४
पुनातितेपरिस्रुतं	...	...	१९ । ४
पुरा क्रूरस्य	...	...	१ । २८
पुरीष्योसो अग्नयः	...	...	१२ । ५०
पुरीष्योऽसि	...	...	११ । ३२
पुरुषदस्मो...	...	...	८ । ३०
पुरुषएवेदं ...	...	...	३१ । २
पुरुषमृगश्चन्द्रमसो	...	...	२४ । ३५
पूर्णादर्विपरापत	...	...	३ । ४९
पूषणंवनिष्ठुना	...	...	२५ । ७
पूषन्तवव्रते...	...	...	३४ । ४१
पूषा पञ्चाक्षरेण	...	...	९ । ३२
पृच्छामित्वाचितये	...	...	२३ । ४९
पृच्छामित्वापर	...	...	२३ । ६१
पृथिवी देवयजन्यो	...	...	१ । २५
पृथिवीचमइन्द्रश्च	...	...	१८ । १८
पृथिवीच्छन्दो	...	...	१४ । १९
पृथिव्याअहं	...	...	१७ । ६७
पृथिव्याः पुरीषम्	...	...	१४ । ४
पृथिव्याः सधस्थाद्...	...	...	११ । १६
पृथिव्यै स्वाहा	...	...	२२ । २९
पृश्निस्तिरश्चीन	...	...	२४ । ४
पृषदश्वामरुतः	...	...	२५ । २०
पृष्टीर्मेराष्ट्रं	...	...	२० । ८
पृष्ठोदिवि	...	...	१८ । ७३
प्रघास्विनो	...	...	३ । ४४
प्रजापतयेच	...	...	२४ । ३०
प्रजापतयेत्वा	...	...	२२ । ५
प्रजापतये पुरुषान्	...	...	२४ । २९
प्रजापतिः सम्भृतः	...	...	३९ । ५
प्रजापतिर्विश्वकर्मा	...	...	१८ । ४३
प्रजापतिश्चरति	...	...	३१ । १९
प्रजापतिष्ट्वा	...	...	१३ । १७
प्रजापते नत्वदेता	...१० । २० ॥		२३ । ६५
प्रजापतेस्तपसा	...	...	२९ । ११
प्रजापतौत्वा	...	...	३५ । ६
प्रतद्विष्णुः...	...	...	५ । २०
प्रतद्वोचदमृतन्नु	...	...	३२ । ९
प्रतिक्षत्रे प्रति	...	...	२० । १०
प्रतिपदसि...	...	...	१५ । ८
प्रतिपन्थामप	...	...	४ । २९
प्रतिश्रुत्कायाः	...	...	३० । १९
प्रतिस्पशो ...	...	...	१३ । ११
प्रतीचीमारोह	...	...	१० । १२
प्रतूर्तं वाजिन्	...	...	११ । १२
प्रतूर्वन्नेह्य ...	...	...	११ । १५
प्रत्युष्टंरक्षः...	...	...	१ । ७-२९
प्रथमा द्वितीयैः	...	...	२० । १२
प्रथमा वां ...	...	...	२९ । ७
प्रनूनं ब्रह्मणस्पतिर् ...		...	३४ । ५७
प्रनोयच्छत्वर्यमा	...	...	९ । २९
प्रपर्वतस्य ...	...	...	१० । १९
प्रप्रायमग्निर्	...	...	१२ । ३४
प्रवाहवासिसृतं	...	...	२१ । ९
प्रमन्महे पवमानाय ...		...	३४ । १६
प्रमुञ्चधन्वनस्त्वं	...	...	१६ । ९
प्रयाभिर्यासिदाश्वां	...	...	२७ । २७
प्रवइन्द्राय बृहते	...	...	३३ । ९६
प्रवायुमच्छा	...	...	३३ । ५५
प्रवावृजे सुप्रया	...	...	३३ । ४४
प्रवीरया शुचयो	...	...	३३ । ७०
प्रवोमहे मन्दमानाया		...	३३ । २३
प्रवोमहे महि	...	...	३४ । १७
प्रसद्य भस्मना	...	...	१२ । ३८
प्रस्तरेण परिधिना ...		...	१८ । ६३
प्रागपागुदग्	...	...	६ । ३६
प्राचीनं बर्हिः	...	...	२९ । २९
प्राचीमनु...	...	...	१७ । ६६
प्राच्यैदिशे स्वाहा ...		...	२२ । २४
प्राणंमेपाहि	...	...	१४ । ८

मंत्र.	अ० मं०
प्राणदा अपानदा	१७ । १५
प्राणपा मे अपानपा	२० । ३४
प्राणश्च मे अपानश्च	१८ । २
प्राणायमेवर्चोदा	७ । २७
प्राणायस्वाहा... २२ । २३ ॥	२३ । १८
प्रातरग्निंप्रात	३४ । ३४
प्रातर्जितम्भग	३४ । ३५
प्रेताजयतानर	१७ । ४६
प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्	१२ । ३२
प्रेद्धो अग्ने	१७ । ७६
प्रैतु ब्रह्म ... ३३ । ८९ ॥	३७ । ७
प्रैतुवाजी	११ । ४६
प्रैषेभिः प्रैषान्	१९ । १९
प्रोथदश्वोनः	१५ । ६२
बट्सूर्य्यश्रवसा	३३ । ४०
बण्महाँ२॥ऽअसि	३३ । ३९
बर्हिषदः पितरः	१९ । ५५
बलंविज्ञाय	१७ । ३७
बह्वीनाम्पिता	२९ । ४२
बाहूमेबलं	२० । ७
बीभत्सायै	३३ । १७
बृहदिन्द्राय...	२० । ३०
बृहन्निदिध्म	३३ । ३४
बृहस्पते अति	२६ । ३
बृहस्पते परिदीया	१७ । ३६
बृहस्पते वाजंजय	९ । ११
बृहस्पतेसविता	२७ । ८
बोधामे अस्य	१२ । ४२
ब्रह्मक्षत्रंपवते	१९ । ५
ब्रह्मजज्ञानं...	१३ । ३
ब्रह्मणस्पतेत्वमस्य	३४ । ५८
ब्रह्मणे ब्राह्मणं	३० । ५
ब्रह्मसूर्य्यसमं	२३ । ४८
ब्रह्माणिमेमतयः	३३ । ७८
ब्राह्मणमद्य...	७ । ४६
ब्राह्मणासः पितरः	२९ । ४७
ब्राह्मणोऽस्यमुखम्	३१ । ११
भगएव भगवान्	३४ । ३८
भगप्रणेतर्भग	३४ । ३६
भद्रङ्कर्णेभिः...	२५ । २१
भद्रा उतप्रशस्तयो	१५ । ३९
भद्रोनो अग्निराहुतो ...	१५ । ३८
भद्रोमेऽसिप्रच्यवस्व ...	४ । ३४
भवतन्नः समनसौ ... ५ । ३ ॥	१२ । ६०
भायैदार्वाहारं	३० । १२
भुज्युः सुपर्णो	१८ । ४२
भुवो यज्ञस्य ... १३ । १५ ॥	१५ । २३
भूतायत्वा...	१ । ११
भूम्या आखून्	२४ । २६
भूरसि भूमिरस्य	१३ । १८
भूर्भुवःस्वः सुप्रजाः	३ । ३७
भूर्भुवःस्वः	३६ । ३
भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव	३ । ५
भेषजमसि	३ । ५९
मखस्य शिरोऽसि	३७ । ८
मघवेस्वाहा ... ७ । ३० ॥	२२ । ३१
मधुनक्त	१३ । २८
मधुमतीर्न	७ । २
मधुमान्नो	१३ । २९
मधुवाता ऋतायते	१३ । २७
मधुश्चमाधवश्च	१३ । २५
मध्वायज्ञन्नक्षसे	१७ । १३
मनसः काममाकूतिं ...	३९ । ४
मनस्त आप्यायतां	६ । १५
मनो जूतिर्जुषता	२ । १३
मनो नयेषु	७ । १७
मनोन्वाह्वामहे	३ । ५३
मनोमेतर्पयत	६ । ३१
मन्यवेयस्तापं	३० । १४
मयि गृह्णाम्यग्रे	१३ । १

मंत्र.	अ० मं०
मयियदिन्द्रियम्	३८ । २७
मयीदमिन्द्र	२ । १०
मयुः प्राजापत्य	३४ । ३१
मरुतां स्कन्धा	२५ । ६
मरुतो यस्यहि	८ । ३१
मरुत्वन्तं वृषभं	७ । ३६
मरुत्वां २॥ऽइन्द्र	७ । ३८
मर्माणिते वर्म्मणा	१७ । ४९
मशकान्केशैर्	२५ । ३
महाँ २ ॥ऽइन्द्रोनृवदा	७ । ३९
महाँ २ ॥ऽइन्द्रोय ओजसा	७ । ४०
महाँ २ ॥ऽइन्द्रो वज्रहस्तः	२६ । १०
महानाम्न्यो रेवत्यो...	२३ । ३५
महित्रीणामवोस्तु	३ । ३१
महीद्यौः	८ । ३२ । १३ । ३२
महीनाम्पयोऽसि	४ । ३
महीमूषु	२१ । ५
महीअग्नेः समिधानस्य	३३ । १७
महोअर्णः सरस्वती	२० । ८६
माच्छन्दः प्रमा	१४ । १८
मात इन्द्रते	१० । २२
मावाचते पिताचतेऽग्रे	२३ । २४
माताचते पिताचतेऽग्रे	२३ । २५
मातेव पुत्रम्	१२ । ६१
मात्वाग्निर्ध्वनयीद्	२५ । ३७
मात्वातपत्प्रिय	२५ । ४३
मानः शंसो	३ । ३०
मानः स्तोके तनये ...	१६ । १६
मानो महान्तमुत	१६ । १५
मानो मित्रो वरुणो ...	२५ । २४
मापो मौषधीर्	६ । २२
माभेर्मा संविक्थाः	१ । २३ ॥ ६ । ३५
मामाहिंसीज्जनिता...	१२ । १०२
मावो रिषत्	१२ । ९५
मासुभित्था	११ । ६८
माहिर्भूर्मा ...	६ । १२ ॥ ८ । २३
मित्रहुवे ...	३३ । ५७
मित्रः संसृज्य	११ । ५३
मित्रश्चमइन्द्रश्च	१८ । १७
मित्रस्य चर्षणी धृतो...	११ । ६२
मित्रस्यमा ...	५ । ३४
मित्रावरुणाभ्यान्त्वा...	७ । २३
मित्रोनएहि...	४ । २७
मित्रो न वाक्षरेण	९ । २३
मीढुष्टमशिवतम	१६ । ५१
मुखं सदस्य	१९ । ८८
मुञ्चन्तुमा...	१२ । ९०
मूर्द्धानंदिवो	७ । २४ ॥ ३३ । ८
मूर्द्धावयः...	१४ । ९
मूर्द्धासिराट्	१४ । २१
मृगोन भीमः	१८ । ७१
मेधांमेवरुणो	३२ । १५
मोषूण इन्द्रात्र	३ । ४६
यआत्मदा बलदा	२५ । १३
यइन्द्र इंद्रियं	२० । ६
यइमा विश्वा	१७ । १७
य इमे द्यावा पृथिवी	२९ । ३४
यएतावन्तश्च	१६ । ६३
यंक्रन्दसी अवसा	३१ । ७
यन्तेदेवीनिर्ऋती	१२ । ६५
यम्परिधिम्	२ । १७
यः प्राणतो...	२३ । ३ ॥ २५ । ११
यकासकौ ...	२३ । २२
यकोऽसकौ...	२३ । २३
यजानः सित्रा	३३ । ३
यजुर्भिराप्यन्ते	१९ । २८
यज्जाग्रतो ...	३४ । १
यज्ञयज्ञङ्गच्छ	८ । २२
यज्ञस्य दोहो	८ । ६२
यज्ञायज्ञावो	२७ । ४२

मंत्र.	अ० मं०
यज्ञेन यज्ञमयजन्त	३१ । १६
यज्ञो देवानाम् ...	८ । ४ ॥ ३३ । ६८
यते स्वाहा...	२१ । ८
यतोयतःसमीहसे	३६ । २२
यत्ते गात्रादग्निना	२५ । ३४
यत्ते पवित्रम्	१९ । ४१
यत्तेसादेमहसा	२५ । ४०
यत्तेसोम दिविज्योति ...	६ । ३३
यत्पुरुषं व्यदधुः	३१ । १०
यत्पुरुषेणहविषा	३१ । १४
यत्प्रज्ञानमुत	३४ । ३
यत्र धारा अनपेता	१८ । ६५
यत्र वाणाः सम्पतन्ति ...	१७ । ४८
यत्र ब्रह्मच...	२० । २५
यत्रेन्द्रश्च	२० । २६
यत्रौषधीः	१२ । ८०
यथेमांवाचं	२६ । २
यदक्रन्दः	२९ । १२
यदग्नेकानि	११ । ७३
यदत्त्युपजिह्विका	११ । ७४
यदत्रीरसं	१९ । ३५
यदद्यकच्च...	३३ । ३५
यदद्यसूर	३३ । २०
यदश्वस्यक्रविषो	२५ । ३२
यदश्वायवास	२५ । ३९
यदस्या अंहुभेद्याः	२३ । २८
यदाकूतात्	१८ । ५८
यदापिपेष	१९ । ११
यदापो अघ्न्याइति	२० । १८
यदाबध्नन्दाक्षायणा... ...	३४ । ५२
यदि जाग्रद्	२० । १६
यदिदिवा यदि	२० । १५
यदिमा वाजयन्नह	१२ । ८५
यदूवध्यमुदरस्य	२५ । ३३
यद्ग्रामे यदरण्ये ...	३ । ४५ ॥ २० । १७
यद्दत्तं यत्परा	१८ । ६४
यद्देवादेव	२० । १४
यद्देवासो	२३ । ३९
यद्धरिणो यवमत्ति	२३।२८।३१
यद्धविष्य	२५ । २७
यद्वाजिनो	२५ । ३१
यद्वातोअपो	२३ । ७
यद्वाहिष्ठन्त	२६ । १२
यन्त्राचमेधर्ता	१८ । ७
यन्त्रीराड्	१४ । २२
यन्निर्णिजा	२५ । ३६
यन्नीक्षणम्	२५ । ३६
यन्मे छिद्रम्	३६ । २
यमग्नेकव्यवाहन	१९ । ६४
यमग्नेपृत्सु	६ । २९
यमश्विनानमुचेः	१९ । ३४
यमश्विनासरस्वती	२० । ६८
यमायत्वांगिरस्वते	३८ । ९
यमायत्वामखाय	३७ । ११
यमाय यमसू	३० । १५
यमायस्वाहा	३९ । १३
यमेनदत्तम्...	२९ । १३
यवानाम्भागो	१४ । २६
यश्चिदापो	२७।२६॥३२।७
यस्तुसर्वाणि	४० । ६
यस्तुअद्यकृणवद्	१२ । २६
यस्तेअश्वसनि	८ । १२
यस्तेद्रप्स	७ । २६
यस्तेरसः	१९ । ३३
यस्ते स्तनः...	३८ । ५
यस्माज्जातन्न	३२ । ५
यस्मान्नजातः	८ । ३६
यस्मिन्त्सर्वाणि	४० । ७
यस्मिन्नश्वास	२० । ७८
यस्मिन्नृचः	३४ । ५

मंत्र.	अ० मं०
यस्यकूर्मोगृहे	१७ । ५२
यस्यप्रयाण...	११ । ६
यस्यायंविश्व	३३ । ८२
यस्यास्तेघोर	१२ । ६४
यस्येमेहिमवन्तो	२५ । १२
यस्यैतेयज्ञियो	८ । २९
यस्यौषधीः...	१२ । ८६
याइषवोयातु	१३ । ७
याओषधीःपूर्वा	१२ । ७५
या ओषधीः सोमराज्ञीर्वह्वीः ...	१२ । ९२
या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः	१२ । ९३
याँ २॥ऽआवह	८ । १९
याम्मेधान्देवगणाः ...	३२ । १४
याःफलिनी	१२ । ८९
याःसेनाअभीत्वरी	११ । ७७
यातेअग्ने ...	५ । ८
यातेघर्मम् ...	३८ । १८
याते धामानि परमाणि	१७ । ३१
याते धामानि हविषा	४ । ३७
यातेधामन्युश्मसि	६ । ३
याते रुद्रशिवा	...१६। २। ४९
यातेहेतिर्मीढुष्टम	१६ । ११
यामिषुङ्गिरिशन्त	१६ । ३
यावतीद्यावापृथिवी ...	३८ । २६
यावाङ्कशा ...	७ । ११
यावोदेवा ...	...१२ । २३ ॥ १८ । ४७
याव्याघ्रंविषूचिकोभौ	१९ । १०
याशतेन ...	१३ । २१
याश्चेदमुप ...	१२ । ९४
यास्ते अग्ने ...	१३ । २३ ॥ १८ । ४६
युक्तेनमनसा	११ । २
युक्त्वायसविता	११ । ३
युक्ष्वाहि केशिना	८ । ३४
युक्ष्वाहि देवहू	...१३ । ३७॥ ३३ । ४
युजेवांब्रह्म...	११ । ५

मंत्र.	अ० मं०
युञ्जते	५ । १४ ॥ ११ । ४ ॥ ३७ । २
युञ्जन्तिब्रध्न	२३ । ५
युञ्जन्त्यस्य	२३ । ६
युञ्जाथां रासभम्	११ । १३
युञ्जानः प्रथमम्	११ । १
युनक्तसीरा	१२ । ६८
युवन्तमिन्द्रा	८ । ५३
युवंसुरामम	...१० । ३३ ॥ २० । ७६
युष्मा इन्द्रो	१ । १३
यूपव्रस्काउत	२५ । २९
ये अग्निष्वात्ता	१९ । ६०
ये चेह पितरो	१९ । ६७
ये जनेषु	११ । ७९
ये तीर्थानि	१६ । ६१
येतेपन्थाः	३४ । २७
येत्वाहि हत्ये	३३ । ६३
ये देवा अग्निनेत्राः	९ । ३६
ये देवादेवानाम्	१७ । १३
येदेवादेवेष्व	१७ । १४
ये देवासो दिव्येकादश	७ । १९
येनऋषयस्तपसा	१५ । ४९
येनः पूर्वे	१९ । ५१
येनः सपत्ना	३४ । ४६
येन कर्माण्यपसो	३४ । २
येनद्यौरुग्रा	३२ । ६
येनवहसि	... १५ । ५५ ॥ १८ । ६२
येनसमत्सु	१५ । ४०
येनापावक	३३ । ३२
येनेदम्भूतं	३४ । ४
येऽन्नेषुविविध्यन्ति	१६ । ६२
येपथाम्पथि	१६ । ६०
येभूतानामधि	१६ । ५९
येरूपाणि प्रति	२ । ३०
येवाजिनम्परि	२५ । ३९
येवाऽमीरोचने	१३ ।

मन्त्र.	अ० मं०
येवृक्षेषु	१६ । ५८
येषामध्येति	३ । ४२
येसमानाः समनसः पितरो ...	१९ । ४५
येसमानाः समनसो जीवाः ...	१९ । ४६
योअग्निः कव्यवाहनः ...	१९ । ६५
योअग्निरग्नेरध्य	१३ । ४५
योअस्मभ्यम्	११ । ८०
योगेयोगे	११ । १४
योदेवेभ्यः	३१ । २०
योनः पिता...	१७ । २७
योभूतानामधि	२० । ३२
योरेवान्यो...	३ । २९
योवःशिवतमो ... ११ । ५१ ॥	३६ । १५
रक्षसाम्भागोऽसि	६ । १६
रक्षोहणम्वल	५ । २३
रक्षोहणोवो	५ । २५
रक्षोहा विश्व	२६ । २६
रजताहरिणीः	२७ । ३७
वाहणं	२९ । ४५
वह रथेतिष्ठन्नयति	२९ । ४३
रयिश्चमे रायश्चमे	१८ । १०
रश्मिनासत्याय	१५ । ६
राजन्तमध्वराणाम्... ...	३ । २३
राज्ञासिप्राचीदिग्	१४ । १३
राज्ञा०—गवसवस्ते	१५ । १०
रातिसत्पतिम्	२२ । १३
रायावयं ससवांसो	७ । १०
रायेनुयं	२७ । २४
रुचंनोधेहि...	१८ । ४८
रुचंब्राह्म	३१ । २१
रुद्राःसंसृज्य	११ । ५४
रूपेण वोरूप	७ । ४५
रेतोमूत्रं विजहाति	१९ । ७६

मन्त्र.	अ० मं०
रेवती रमध्वम् ... ३ । २१ ॥	६ । ८
रोहितोधूम्र	२४ । २
लांगलम्पवीरवत	१२ । ७१
लोकम्पृण... ... १२ । ५४ ॥	१५ । ५९
लोमभ्यः स्वाहा	३९ । १०
लोमानिप्रयति	२० । १३
वक्ष्यन्तीवेदा	२९ । ४०
वनस्पतिरवसृष्टो	२० । ४५
वनस्पतेऽवसृजा	२७ । २१
वनस्पते वीड्वंगो	२९ । ५२
वनेषुव्यन्तरिक्षं	४ । ३१
वयन्तेअद्य	१८ । ७५
वयन्नाम	१७ । ९०
वयंसोम	३ । ५६
वयंहित्वा	८ । २०
वरुणःक्षत्रम्	२० । ७२
वरुणः प्राविता	३३ । ४६
वरुणस्योत्तम्भनमसि ...	४ । ३६
वरूत्रीन्त्वष्टु	१२ । ४४
वर्षाभिर्ऋतुना	२१ । २५
वर्षाह्रूर्ऋतूनाम्	२४ । ३८
वसन्तायकपिञ्जलान् ...	२४ । २०
वसन्तेनऋतुना	२१ । २३
वसवस्त्रयोदशाक्षरेण ...	९ । ३४
वसवस्त्वा कृण्वन्तु... ...	११ । ५८
वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु ...	११ । ६५
वसवस्त्वाऽञ्जन्तु	२३ । ८
वसवस्त्वाधूपयन्तु	११ । ६०
वसुचमे वसतिश्चमे... ...	१८ । १५
वसुभ्यऋष्यान्	२४ । २७
वसुभ्यस्त्वा	२ । १६
वसूनाम्भागोऽसि	१४ । २५
वसोःपवित्रमसि	१ । २
वसो:०—सिशतधारम् ...	१ । ३
वस्व्यस्यति	४ । २१

मन्त्र	अ० मं०	मन्त्र	अ० मं०
[illegible]	३५ । २०	[illegible]	[illegible]
[illegible]	६ । १४	[illegible]	[illegible]
[illegible]	७ । १	[illegible]	१२ । १०
वाचस्पति... ...	८ । ४५॥ १७ । २३	विद्यां चाविद्यां	४० । १४
[illegible]...	३५ । ३	[illegible]	३० । [illegible]
वाजः पुरस्तादुत	१८ । ३४	[illegible]	१७ । २०
वाजश्च मे	१८ । १	वि न इन्द्र	८ । ४४॥ १८ । ७०
वाजस्यनुप्रसव	९ । २५	विपाजसा पृथुना	११ । ४९
वाजस्यनुप्रसवे ...	९ । ५॥ १८ । ३०	विभक्तारं हवामहे	३० । ४
वाजस्यमा प्रसवः	१७ । ६३	विभूरसि प्रवाहणो	५ । ३१
वाजस्येमम्प्रसवः	९ । २३	विभूमात्रा	२२ । १९
वाजस्येमाम्प्रसवः	९ । २४	विभ्राड् बृहत्	३३ । ३०
वाजायस्वाहा ...	१८ । २८॥ २२ । ३२	विमान एष दिवो	१७ । ५९
वाजेवाजेवत ...	९ । १८॥ २१ । ११	विमुच्यध्वम्	१२ । ७३
वाजो नः सप्त	१८ । ३२	विराडसि दक्षिणा	१५ । ११
वाजो नो अद्य	१८ । ३३	विराड् ज्योतिरधा	१३ । २४
वातम्प्राणेनापानेन	२५ । २	विवस्वानादित्यैष	८ । ५
वातरंहा भव	९ । ८	विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन	८ । ४६॥ १७ । २४
वातस्य जूतिम्	१३ । ४२	विश्वकर्मा [illegible]... ...	१७ । २२
वाताय स्वाहा	२२ । २६	विश्वकर्मा त्वा ...	१४ । १२ । १६
वातो वा मनो वा	९ । ७	विश्वकर्मा विमना	१७ । २६
वामम्य सवितर	८ । ६	विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट... ...	१७ । ३२
वायव्यैर्वायव्यान्या	१९ । २७	विश्वतश्चक्षुरुत	१७ । १९
वायुः पुनातु	३५ । ३	विश्वस्मै प्राणायापानाय ...	१३ । १९
वायुरग्रेगा...	२७ । ३१	विश्वस्य केतुः	१२ । २३
वायुरनिलममृतम्	४० । १५	विश्वस्य दूतम्	१५ । ३३
वायुष्ट्वा पचतैः	२३ । १३	विश्वस्य मूर्धन्नधि	१८ । ५५
वायोः पूतः ...	१० । ३१॥ १९ । ३	विश्वा आशा	३८ । १०
वायो ये ते	२७ । ३२	विश्वानि देव	३० । ३
वायो शुक्रो	२७ । ३०	विश्वा रूपाणि	१२ । ३
वार्त्रहत्याय	१८ । ६८	[illegible]	३७ । १८
विकिरिद्र विलोहित... ...	१६ । ५२	विश्वाभ्र[illegible] ...	१८ । ३१॥ ३३ । ५२
विज्यन्धनुः	१६ । १०	विश्वे देवा अंशुषु	८ । ५७
		विश्वे देवाः शृणुतेमं	३३ । ५३

मन्त्र.	अ० मं०
विश्वेदेवाश्चमसेषून्नीतो ...	८ । ५८
विश्वेदेवासआगत	७ । ३४
विश्वेभिः सोम्यम्	३३ । १०
विश्वेषामदिति	३३ । १६
विश्वोदेवस्य४ । ८ ॥ ११ । ६७ ॥	२२ । २१
विष्णोःकर्माणि ... ६ । ४ ।	१३ । ३३
विष्णोःक्रमोऽसि	१२ । ५
विष्णोररराटमसि	५ । २१
विष्णोर्नुकं	५ । १८
वीतंहविः	१७ । ५७
वीतिहोत्रन्त्वा	२ । ४
वृष्णऊर्मिरसि	१० । २
वेदाऽहमस्य	२३ । ६०
वेदाहमेतम्	३१ । १८
वेदेनरूपे	१९ । ७८
वेदोऽसियेन	२ । २१
वेद्याः वेदिः	१९ । १७
वेनस्तत् पश्यन्	३२ । ८
वैश्वदेवीपुनती	१९ । ४४
वैश्वानरस्यसुमतौ	२६ । ७
वैश्वानरो ...१२ । ७२ ॥	२६ । ८
व्यचस्वतीरुर्विया	२९ । ३०
व्रतङ्कृणुताग्नि	४ । ११
व्रतञ्चमऋतवश्च	१८ । २३
व्रतेनदीक्षामाप्नोति... ...	१९ । ३०
व्रीहयश्चमे	१८ । १२
व्रेशीनान्त्वा	८ । ४८
शश्चमेमयश्च	१८ । ८
शन्तेपरेभ्यो	२३ । ४४
शन्नोदेवी	३६ । १२
शन्नोभवन्तु ... ९ । १६ ।	२१ । १०
शन्नोमित्रः...	३६ । ९
शन्नोवातः...	३६ । १०
शंवातः शंहिते	३५ । ८
शतंवोअम्ब	१२ । ७६
शतमिन्नुशरदो	२५ । २२
शमितानोवनस्पतिः... ...	२१ । २१
शर्मचस्थो...	११ । ३०
शर्म्मास्यव...	१।१४।१९
शादन्दद्भिः	२५ । १
शारदेनऋतुना	२१ । २६
शिरोमेश्रीर्यशो	२० । ५
शिल्पावैश्वदेव्यो	२४ । ५
शिवेनवचसा	१६ । ४
शिवोनामाऽसि	३ । ६३
शिवोभव	११ । ४५
शिवोभूत्वा	१२ । १७
शुक्रन्त्वाशुक्रेण	४ । २६
शुक्रज्योतिश्च	१७ । ८०
शुक्रश्चशुचिश्च	१४ । ६
शुद्धवालः...	२४ । ३
शुनंसुफालः	१२ । ६९
शैशिरेणऋतुना	२१ । २८
श्नायन्तइवसूर्य्यम्	३३ । ४१
श्रीणामुदारो	१२ । २२
श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च	३१ । २२
श्रुधिश्रुत्कर्ण	३३ । १५
श्वात्राःपीताः	४ । १२
श्वात्रास्थ	६ । ३४
श्वित्रआदित्यानाम्	२४ । ३९
षडस्यविष्ठाः	२३ । ५८
षोडशीस्तोमः	१५ । ३
सहमानो	१५ । ३६
सइषुहस्तैः...	१७ । ३५
संक्रन्दनेना	१७ । ३४
सश्चेध्यस्वाग्ने	२७ । २
सञ्ज्ञानमसि	१२ । ४६
सन्तेपयांसि	१२ । ११३

मंत्र.	अ० मं०
सन्तेमनो ...	६ । १८
सन्तेवायु ...	११ । ३९
सन्त्वमग्ने ...	३ । १९
सन्धयेजारम्	३० । ९
सम्प्रच्यवध्वम्	१५ । ५३
सम्बर्हिरङ्क्तां	२ । २२
सम्भूतिञ्च ...	४० । ११
सम्मास्जामि	१८ । ३१
संवत्सरोऽसि	२७ । ४५
संवर्चसा...	२ । २४॥८।१४।१६
संवसाथां ...	११ । ३१
संवाम्मनांसि	१२ । ५८
संशितम्मे ...	११ । ८१
संशितोरश्मिना	२३ । १४
ससमिद्युवसे	१५ । ३०
संसीदस्व ...	११ । ३१
संसृष्टंवसुभिः	११ । ५५
संस्रवभागा	२ । १८
संहितासि...	३ । २२
संहितोविश्वसामा	१८ । ३९
सखायः संवा	१५ । २९
सजातोगर्भोऽसि	११ । ४३
सजूरब्दो ...	१२ । ७४
सजूर्ऋतुभिः	१४ । ७
सजूर्देवेन ...	३ । १०
सजोषाइन्द्र	७ । ३७
सत्यश्रवसे ...	१८ । ५
सत्यस्यऋद्धिः	८ । ५२
सत्वन्नश्चित्र	२७ । ३८
सत्वन्नोऽग्ने...	२१ । ४
सदसस्पतिमद्भुत	३२ । १३
सद्रुद्रवद् ...	१५ । ३४
सद्योजातो...	२९ । ३६
सधमादो ...	१० । ७

मंत्र.	अ० मं०
सनइन्द्राय...	२६ । १७
सनःपावक	१७ । ९
सनःपितेव...	३ । २४
सनोबन्धुः...	३२ । १०
सनोभुवनस्य	१८ । ४४
सपर्य्यगाच्छुक्र	४० । ८
समक्रुषयः...	३४ । ५५
समतेअग्ने ...	१७ । ८९
समास्यावन्	३१ । १५
समथमो ...	७ । १५
सबोधिसूरिः	१२ । ४२
समख्येदेव्या	४ । २३
समग्निरग्निना	३७ । १५
समध्वरायोषसो	३४ । ३९
समास्त्वाग्न	२७ । १
समितं सङ्कल्पेथाम्...	१२ । ५७
समिद्दिसिसूर्य्यस्त्वा ...	२ । ५
समिद्धइन्द्र	२० । ३६
समिद्धेऽअग्नावधि ...	१७ । ५५
समिद्धोअग्निः	२१ । १२
समिद्धो अग्निरश्विना	२० । ५५
समिद्धोअञ्जन्	२९ । १
समिद्धोअद्य	२९ । २५
समिधाग्नि	३ । १ ॥ १२ । ३०
समिन्द्रणोमनसा ...	८ । १५
समुद्रङ्गच्छ	६ । २१
समुद्रस्यत्वा	१७ । ४
समुद्रादूर्मि	१७ । ८९
समुद्रायत्वा	२८ । ७
समुद्रायशिशुमारान्	२४ । २१
समुद्रेते ...	८ । २५ ॥ २० । १९
समुद्रेत्वा ...	१२ । २०
समुद्रोऽसि नभस्वान्	१८ । ४५
समुद्रोऽसि विश्वव्यचा	५ । ३३

मंत्र.	अ० मं०
सम्यक्स्रवन्ति	१३।३८॥१७ । ९४
सम्राडसिप्रतीची	१५ । १२
सयक्षदस्य ...	२७ । १५
सरस्वतीमनसा	१९ । ८३
सरस्वतीयोन्याम्	१९ । ९४
सरोभ्योधैवरम्	३० । १६
सर्वेनिमेषा...	३२ । २
सविताते शरीराणि...	३५ । ५
सविताशरीरेभ्यः ...	३५ । २
सवितात्वाम्सवानां	९ । ३९
सविताप्रथमेऽहन्	३९ । ६
सवितावरुणो	२० । ७१
सवितुस्त्वाप्रसव	१ । ३१
सवित्राप्रसवित्रा	१० । ३०
सहदानुम्पुरुहूत	१८ । ६९
सहरय्या ...	...१२।१० । ४१
सहव्यवाडमर्त्यः	२२ । १६
सहश्वसहस्यश्च	१४ । २७
सहसाजातान्	१५ । २
सहस्तोमाः...	३४ । ४१
सहस्रशीर्षापुरुषः	३१ । १
सहस्रस्यप्रमाऽसि	१५ । ६५
सहस्राणिसहस्रशो ...	१६ । ५३
सहस्वमेअरातीः	१२ । ९९
साकंयक्ष्म ...	१२ । ८७
साविश्वायुः...	१ । ४
सिंहासिसपत्नसाहीं ...	५ । १०
सिंहासिस्वाहा	५ । १२
सिञ्चन्तिपरि	२० । २८
सिनीवालिपृथुष्टुके ...	३४ । १०
सिनीवालीसुकपर्दा...	११ । ५६
सिन्धुरवभृथायोद्यतः	८ । ५९
सिन्धोरिव प्राध्वने ...	१७ । ९५
सीदत्वम्मातु	१२ । १५

मंत्र.	अ० मं०
सीदहोतःस्वउ	११ । ३५
सीरायुञ्जन्ति	१२ । ६७
सीसेनतन्त्रम्मनसा ...	१९ । ८०
सुगव्यन्नोवाजी	२५ । ४५
सुगावोदेवाः	८ । १८
सुजातो ज्योतिषा ...	११ । ४०
सुत्रामाणम्पृथिवीम्...	२१ । ६
सुनावमारुहेयम्	२१ । ७
सुपर्णवस्तेमृगो	२९ । ४८
सुपर्णः पार्जन्य	२४ । ३४
सुपर्णोऽसिगरुत्माँ	१२ । ४
सुपर्णोऽसिगरुत्मान्	१७ । ७२
सुप्रजाः प्रजाः	७ । १८
सुबर्हिरग्निः	२१ । १५
सुभूःस्वयम्भूः	२३ । ६३
सुमित्रियानआपः ...	६ । २२ ॥ २० । १९ ३५ । १२ ॥ ३६ । २३॥३८ । २३
सुरावन्तम्बर्हिषदं	१९ । ३२
सुवीरो वीरान्	७ । १३
सुषारथिरश्वानिव ...	३४ । ६
सुषुम्णः सूर्य्यरश्मि ...	१८ । ४०
सुष्टुतिंसुमती	२२ । १२
सुसन्दृशंत्वा	३ । ५२
सुसमिद्धाय शोचिषे	३ । २
सूपस्थाअद्यदेवो	२१ । ६०
सूर्य्यएकाकी चरति	२३ । १० । ४६
सूर्य्यत्वचसस्थ	१० । ४
सूर्य्यरश्मिर्हरिकेशः...	१७ । ५८
सूर्य्यस्यचक्षुरारोहा	४ । ३२
सोअग्निर्योवसुर्गणे ...	१५ । ४२
सोमआगतो	८ । ५६
सोमंराजानमवसे	९ । २६
सोमः पवते	७ । २१
सोमस्मद्भ्यो	१९ । ७४

मंत्र.	अ० मं०
सोमराजन्विश्वाः	६ । २६
सोमस्यत्वा	१० । १७
सोमस्य त्विषिरसि... ...	१० । ५ । १५
सोमस्यरूपं	१९ । १५
सोमानं स्वरणं	३ । २८
सोमायकुलुङ्गः	२४ । ३२
सोमायलवान्	२४ । २४
सोमायहंसान्	२४ । २२
सोमोधेनुं	३४ । २१
सोमोराजा	१९ । ७२
सौरीवलाका	२४ । २३
स्तीर्णवर्हिः	२९ । ४
स्तोकानामिन्दु	२० । ४६
स्थिरोभव	११ । ४४
स्योनापृथिविनो ...	३५ । २१ ॥ ३६ । १३
स्योनाऽसि सुषदाऽसि ...	१० । २६
स्रुचश्चमे	१८ । २१
स्वगात्वा देवेभ्यः	२२ । ४
स्वतवांश्च	१७ । ८५
स्वयम्भूरसि	२ । २६
स्वयंवाजिंस्तन्वम्	२३ । १५
स्वराडसिसपत्नहा	५ । २४
स्वराडस्युदीची	१५ । १३
स्वर्णघर्मस्वाहा	१८ । ५०
स्वर्यन्तो नाऽपेक्षन्ते	१७ । ६८
स्वस्तिन इन्द्रो	२५ । १९
स्वाङ्कृतोऽसि	७ । २६
स्वादिष्ठयामदिष्ठया	२६ । २५
स्वादुषंसदः	२९ । ४६
स्वादीन्त्वा स्वादुना	१९ । १
स्वाहापूष्णेशरसे	३८ । १५
स्वाहाप्राणेभ्यः	३९ । १
स्वाहामरुद्भिः	३७ । १३
स्वाहायज्ञम्मनसा	४ । ६
स्वाहायज्ञं वरुणः	२१ । २२
स्वाहारुद्रायरुद्रहूतये ...	३८ । १६
स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह	१४ । ३
हंसः शुचिषत् ...	१० । २४ ॥ १२ । १४
हर्योधूमकेतवो	३३ । २
हविर्धानंयदश्विना	१९ । १८
हविष्मतीरिमा	६ । २३
हस्तआधायसविता	११ । ११
हिङ्कारायस्वाहा	२२ । ७
हिमस्यत्वा	१७ । ५
हिरण्मयेन	४० । १७
हिरण्यगर्भः	१३ । ४ ॥ २३ । १ ॥ २५ । १०
हिरण्यपाणिः	३४ । २५
हिरण्यपाणिमूतये	२२ । १०
हिरण्यरूपाउषसो	१० । १६
हिरण्यशृङ्गोऽयो	२९ । २०
हिरण्यहस्तो	३४ । २६
हृदेत्वा	६ । २५ ॥ ३७ । १९
हेमन्तेनऋतुना	२१ । २७
होताध्वर्युरावया	२५ । २८
हो०तनूनपातसुद्भिदं ...	२८ । २५
हो०तनूनपातमूतिभिः ...	२८ । २
होतायक्षत्तनूनपात्	२१ । ३०
हो०तिस्रो	२१ । ३७ ॥ २८ । ८
हो०त्वष्टारमिन्द्रम्	२८ । ९
हो०पेशस्वतीः	२८ । ३१
हो०प्रचेतसा	२८ । ३०
हो०प्रजापतिं	२३ । ६४
हो०समिधाग्निं	२१ । २९
हो०समिधानम्महद्	२८ । २४
हो०समिधेन्द्रमिड्	२८ । १
हो०सरस्वतीम्मेषस्य ...	२१ । ४४
हो०सुपेशसासुशिल्पे ...	२८ । २९
हो०सुपेशसोषे	२१ । ३५

विषय	अ० मं.	विषय	अ० मं.
हो० सुवर्हिषम्पूषणवन् ..	२८ । २७	हो० इन्द्रमृषभस्य	२१ । ४५
हो० सुरेतसम्	२१ । ३८	हो० ईडेन्यमीडितम् ...	२८ । २६
हो० सुरेतसन्त्वष्टारं ...	२८ । ३३	हो० उपेइन्द्रस्य	२८ । ६
हो० स्वाहाकृतीरग्निम् ...	२८ । ३४	हो० ओजोनवीर्य	२८ । ५
हो० अग्नि स्वाहा	२१ । ४०	हो० दुरोदिशः	२१ । ३४
हो० अग्निस्विष्टकृतम् ...	२१ । ४७	हो० दैव्या	२१ । ३६ ॥ २८ । ७
हो० अश्विनौछागस्य ...	२१ । ४१	हो० बर्हिरूर्णम्रदा	२१ । ३३
हो० अ० छागस्यहविषा ...	२१ । ४३	हो० बर्हिषीन्द्र	२८ । ४
हो० अ० सरस्वती	२१ । ४२	हो० वनस्पतिं ...	२१ ।३९॥ २८।१०। ३३
होताइडाभिरिन्द्रम् ...	२८ । ३	हो० वनस्पतिमभिः	२१ । ४६
हो० इडेडितः	२१ । ३२	हो० व्यचस्वतीः	२८ । २८
हो० इन्द्रंस्वाहा	२८ । ११	होतायक्षन्नराशंसम्... ...	२१ । ३१

॥ इति श्रीशुक्लयजुर्वेदसंहितामन्त्राणामकारादिसूची समाप्ता ॥

॥ श्रीः ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदसंहिता ।

(वाजसनेयिसंहिता-माध्यन्दिनीशाखा)

मिश्रभाष्यसहिता ।

विष्णुं शम्भुं गणेशञ्च ब्रह्माणं भारतीं तथा ॥
अम्बिकाम्बुद्धिदात्रीञ्च वन्दे विघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
इन्द्रादींल्लोकपालांश्च भाष्यकारान्गुरूनपि ॥
पितरौ शम्भुभक्तौ च श्रौतस्मार्तपरायणौ ॥ २ ॥
नत्वा सर्वान्मुनीन्दिव्यान्वेदमार्गप्रवर्तकान् ॥
सुखानन्दतनूजोऽहं भाष्यं कर्तुं समुद्यतः ॥ ३ ॥
जयन्ति ते गुरोः पूज्याः पादपद्मस्य पांसवः ॥
येषां प्रसादान्मन्दोऽपि महत्कर्म समारभे ॥ ४ ॥
वेदाङ्गानि समालोच्य तथ्यमर्थं करोम्यहम् ॥
स्वकल्पितत्वशङ्कात्र न कार्या पण्डितैरतः ॥ ५ ॥

दर्शपौर्णमासयज्ञविधिः ।

जब प्रतिपदातिथिको दर्शयाग करना होताहै तो इससे पहले दिन अमावस्यातिथिमें प्रातःकालके नित्यकार्य और अग्निहोत्र समाप्त करनेपर उस अग्निमें "ममाग्ने वर्चः०" ऋ० अष्ट० ८ अ० ७ वर्ग १९ इत्यादि मंत्रोंसे समिदाधान (अभिमंत्रित समिधाओंको अग्निमें स्थापन करना) करनेके उपरान्त वत्सापाकरण (गायोंके समीपसे बछडोंका पृथक करना) करै; दर्शयागमें[1] हवनके निमित्त

---

१ दर्शयाग जब कि अमावस्यामें चन्द्रसूर्यका परस्पर दर्शन होताहै इसमें जो याग कियाजाता है उसको दर्श कहते हैं, और पूर्णमासीके दिन जो इष्टि कीजातीहै उसको पौर्णमासयाग कहतेहैं, इसमें अग्निहोत्र करनेवालेका अधिकार है । इस कारण प्रथम अग्न्याधानके मंत्र कहने उचित थे, परन्तु अग्न्याधानमें पवमाननामक इष्टि करनी होतीहै, कारण कि पवमानइष्टिके विना अग्न्याधान नहीं होसकता. यह पवमानइष्टि दर्शपौर्णमासकी विकृति है, इससे दर्शपौर्णमासके विना ज्ञात हुए पवमानेष्टि नहीं होसकती, इस कारणसे तथा सोमयागमें भी दीक्षणीय, प्रायणीय आदिमें दर्शपौर्णमासकी आवश्य-

दहीकी आवश्यकता होती है, उसके निमित्त रात्रिमें दूध दुहै, इसीकारण प्रातः-कालमें भी नियमानुसार गोदोहन किया जाता है और फिर वत्सापाकरण किया जाताहै [कात्या० २ । १ । ३] इस वत्सापाकरण कार्यके साधन करनेको एक दण्डकी आवश्यकता होती है । इस कारण अध्वर्युनामक यजुर्वेदीयप्रधान ऋत्विजको पलाश (ढाक) की शाखा छेदन करनी चाहिये ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥ श्रीवेदपुरुषाय नमः ॥ अथानुवाकसूत्रम्-॥ इषेत्वैका, वसोः पवित्रं तिस्रोऽग्ने व्रतपते सप्त, पवित्रे स्थो द्वे, शर्म्मासि तिस्रो, धृष्टिरसि शर्म्मासि द्विकौ, देवस्य त्वा तिस्रो, देवस्य त्वा पञ्च, प्रत्युष्टꣳ रक्षस्तिस्रो, दशैकत्रिꣳशत ॥

ॐ इषेत्वोर्जेत्वावायवस्थदेवोवः सविताप्प्रार्प्पयतुश्रेष्ठतमायकर्म्मणऽआप्प्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्रायभागम्प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मामावस्तेनऽईशतमाघशꣳसोध्रुवाऽअस्मिन्गोपतौस्यातबह्वीर्य्यजमानस्यपशून्पाहि ॥ १ ॥ [१]

कण्डिका १-मन्त्र ५।

ऋष्यादि-(१) ॐइषे त्वेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋषिः वा प्राजापत्य

कता होती है, इसकारण पहले दर्शपौर्णमास मंत्रही कहे । दर्शयागमें तीन हवि होतीहैं. आठ कपालोंमें पकाया हुआ अग्निदेवतावाला दधि । इन्द्रदेवतावाला दधि। तथा इन्द्रदेवतावाला दूध। इस दही दूध आदि हविकी प्रतिपदाके दिन हवन करनेकी आवश्यकता होतीहै. इस कारण दर्शयागकी इच्छावाला अमावस्याको प्रभात ही उठकर अग्निहोत्रके उपरान्त अग्निमें समिदाधानरूप अन्वाधान करके दधि बनानेके निमित्त अमावस्याकी रातमें गाओंको दुहे ।

१ "ऋष्यादि-" इस शब्दसे-उस उस मंत्रके ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग-इतने विषय जानने ।

२ दर्शपौर्णमासके मंत्रोंका परमेष्ठी प्रजापति ऋषि है, और उव्वटभाष्यमें " परमेष्ठिनः प्राजापत्यस्यार्षं देवानां वा प्राजापत्यानाम्" ऐसा लिखाहै, इन दर्शपौर्णमासमन्त्रोंका प्रजापत्य (प्रजापतिका अपत्य) परमेष्ठी ऋषि है, अथवा प्रजापतिके पुत्र देवता ऋषि हैं. श्रुतिमें लिखाहै "परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्यद्दर्शपौर्णमासाविति तथा ते देवा अकामयन्त" इत्युपक्रम्य "तत एतं हविर्यज्ञं ददृशुर्यद्दर्शपौर्णमासाविति" इन प्रमाणोंसे परमेष्ठी प्राजापत्य ऋषि होताहै, सो दोनोंही जानने ।

ऋषिः। दैव्यनुष्टुप् छन्दः। शाखा देवता। पलाशशाखाछेदने विनियोगः। (२) ॐ ऊर्ज्जे त्वेत्यस्य पर० प्र० ऋ०। दैव्यनुष्टुप्छन्दः। शाखा देवता। पर्णशाखजूंकरणे विनियोगः। (३) ॐ वायवस्थेत्यस्य दैवीबृहतीछन्दः। वायुर्देवता। वत्सापाकरणे विनियोगः। (४) ॐ देवो व इत्यस्य स्वराड्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः। इन्द्रो देवता। गवामुपस्पर्शने विनियोगः। (५) ॐ यजमानस्येत्यस्य याजुषी बृहती छन्दः। शाखा देवता। अग्न्यगारे शाखोपगूहने विनियोगः॥

विधि-(१) प्रथममंत्रसे पलाशशाखा छेदनकरै [कात्यायनश्रौतसूत्र अध्याय ४ कण्डिका २ सूत्र १]। मंत्रार्थ-हेशाखे! (इषे) यज्ञका फल जो वृष्टि तिसके अर्थ[तिससे देश बहुत अन्नवाला होगा, इसी आशयसे यज्ञका अंग वत्सापाकरणक्रिया सिद्ध करनेको] (त्वा) तुझे छेदन करताहूं। विधि-(२)दूसरे मंत्रसे शाखादण्डमें लगीहुई धूरिको दूर करताहुआ यदि वह शाखा टेढी हो तो उसे सीधा करे[कात्यायनश्रौतसूत्र ४। २। १।३] मंत्रार्थ-हेशाखे! (ऊर्जे) रसके वा बलके अर्थ[यज्ञके फलसे देश बहुत रस और बलवाला होगा, इस कारण उस यज्ञके अंग वत्सापाकरणक्रियासिद्धिके निमित्त] (त्वा) तुझको सीधा और निर्मल करताहूं विधि-(३)तीसरे मंत्रसे बछडोंको इस दण्डद्वारा गौओंसे अलग करे[का०४।२।७] हे बछडो! तुम (वायवः) क्रीडापरवश (स्थ) हो, इस कारण पवनवेगसे अन्य-अन्यदिगन्तरोंमें मातासे पृथक् होकर गमन करो. [यह माताओंसे अलग करना दूधके निमित्त है] पवनदेवता तुम्हारे रक्षक हैं। विधि-(४) चौथे मंत्रसे गायोंको इस दण्डसे जहां कि इनका बछडोंके साथ समागम न हो ऐसे मार्गको दिखावे [का०४।२।९-१०]मंत्रार्थ-हे गायो! (सविता)सबके प्रेरक प्रकाशमान (देवता) दिव्यगुणयुक्त परमात्मा (वः) तुमको (श्रेष्ठतमाय) अतिश्रेष्ठ (कर्मणे) यज्ञकर्मके निमित्त बहुतसे तृणवाले वनमें (प्रार्पयतु) प्राप्त करावै. [कारण कि हमने यह आरंभ किया है] [फिर वत्सोंके अलग करनेके क्षोभनिवारण करनेके निमित्त गायोंको प्रबोधित करे] (अघ्न्याः) हे मारनेके अयोग्य अवध्य गायो! तुम क्षोभरहित चित्तसे तथा निश्शंकभावसे बहुतसे तृण अन्न भोजन करके (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (भागम्) भागयोग्य दूधको (आप्यायध्वम्) सब प्रकार बढाओ (प्रजावतीः) थोडे दिनकी ब्याई अनेक सन्तानवाली (अनमीवाः) कृमिदष्टआदि स्वल्परोगसे रहित (अयक्ष्माः) प्रबलरोगरहित (वः) तुम्हें प्रहार करनेको (स्तेनः) चोरआदि पापीगण (मा) न समर्थ हों (अघशंसः) व्याघ्रादि हिंसक जन्तु प्रहार करनेको (मा) नहीं (ईशत) समर्थ हों. और तुम (अस्मिन्) इस (गोपतौ) यजमानमें (ध्रुवाः) निरन्तर रहनेवाली (बह्वीः)

बहुत प्रकार (स्यात) होवें । विधि-(५) पांचवे मंत्रसे हाथका शाखादण्ड अग्न्यगारके संमुख ऊँचे स्थानमें स्थापित करै[का ०४।२।११] मन्त्रार्थ-हे पलाशशाखा ! तुम इस ऊँचे स्थानमें स्थित होकर चारों ओरसे रक्षा करती हुई इस (यजमानस्य) यजमानके (पशून्) पशुओंकी (पाहि) रक्षा करो ॥ ५ ॥ [१]

आशयः-यजुर्वेदमें कर्मकाण्डका विधान है, इस कारण प्रारंभमें दर्शपौर्णमास यज्ञका विधान करके मंत्र पढकर गायोंका लाना, लेजाना वर्णन करके संस्कारद्वारा अत्यन्त शुद्धि प्रतिपादन की है. और उन सब कार्योंमें परमात्माकी ही प्रेरणा मानी है. जब कि गौओंका वनगमन और उनको तृणदानभी मंत्रोंसे संस्कार कर किया जाता है, तो और पदार्थोंकी शुद्धिकी कितनी आवश्यकता है, यह सहजमेंही बोध हो सकता है, शुद्ध पदार्थको ही देवता स्वीकार करते हैं; अशुद्धमें रुचि नहीं करते. इस कारण सब प्रकार शुद्ध किये पदार्थ ही देवताओंको ने चाहिये ॥

यदि कहो कि पलाशशाखा आदिके सम्बोधन देनेसे क्या वह श्रवण करते हैं ? इनमें क्या लाभ है ? तो इसका उत्तर यह है कि यह सब जगत् ईश्वररूप है यथा "पुरुषऽएवेद६ँ सर्वम्" [३१ । २] तथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः"-[यजु ०३२।१]और "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"-(उपनि०)इन मंत्रोंके अनुसार सब जगत् ईश्वररूप होनेसे सम्पूर्ण परमात्माकेही सम्बोधन जानने चाहिये. कारण कि "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" सब वेद उसीको कहते हैं इसी कर्मसे उपासना सिद्ध होकर सर्वत्र ईश्वरका ज्ञान होनेको उसीके सम्बोधन जानने। व्यासजी कहते हैं कि, यद्यपि शाखादि अचेतन हैं, तथापि उनके अभिमानी देवताओंका उनसे ग्रहण होताहै " अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम"-[ब्रह्मसूत्र अ ० १।५] इस व्याससूत्र और "मृदब्रवीत्" तथा "आपोब्रुवन्" इन श्रुतियोंके अनुसार सब वस्तुओंमें देवता स्थित रहती है, इसी कारण शाखा, उखा, पय, स्नुक् आदि सबमें देवतापन प्राप्त है. इस कारण जडका सम्बोधन नहीं. यह सब चेतनके सम्बोधन जानने चाहिये. इसी प्रकारसे आगेके सब मंत्रोंमें यही व्यवस्था जाननी ॥

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"-[शतपथब्राह्मण ११ । ५ । ६ । ७]इस वचनसे अपनी शाखा अवश्य पढनी चाहिये, और वे मंत्र ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग तथा अर्थयुक्त जानने चाहिये, अन्यथा दोष और निष्फल होताहै "एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तरा श्वगर्तं वाऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान्भवति"[कात्यायनीया-

नुक्रमणिका १ । १] इस वचनसे इनके जाननेका फल श्रवण किया है "अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते"–[अनुक्र ०१। १] अर्थात् जो ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, अर्थ जानकर जप, हवन तथा अध्ययन करताहै, उसका वेद बलिष्ठ और फलप्रद होता है ॥

इस वाजसनेयिसंहितामें कुछ यजु और कुछ मंत्र (ऋचा) हैं. ऋचामें पाद्युक्त होनेसे आवश्यकीय छन्द हैं यजुमें एक अक्षरसे लेकर १०६ अक्षरतक पिङ्गलाचार्यने छन्दोंकी कल्पना की है, उससे अधिक " होतायक्षद्वनस्पतिम् "–[अ० २८। मं० १०] में छन्दकल्पना नहीं है. प्रथम अध्यायमें सब यजु हैं २८ अट्टाईसवीं ऋचा है । यजुकी एक कण्डिकामें कई २ मंत्र होते हैं. जिनका विवरण भाष्यमें करते जायँगे. प्रकृति विकृति दो प्रकारके कर्म हैं. जिसमें सम्पूर्ण अंगोंका उपदेश किया जाय वह प्रकृति, और जिसमें विशेष अंगमात्र कहे जाँय, और "प्रकृतिवद्विकृतिर्वक्तव्या" इस अतिदेशसे प्रकृतिसे अङ्गान्तर लिये जायँ, वह विकृति कहातीहै । प्रकृति प्रधान होनेसे प्रथम दर्शपौर्णमासका वर्णन किया है, प्रकृति तीन प्रकारकी है अग्निहोत्र, इष्टि और सोम ॥

हेतु और प्रमाण–" यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्तदस्या आहरन्त्या अपादस्तायत्यपर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञस्तत्पतित्वा पर्णोऽभवत् "–इति श्रुतेः [श० १ । ७। १ । ८ । २ । १०] पलाशशाखा छेदनका आशय यह है कि. एक समय गायत्रीकी अधिष्ठात्री देवताने पक्षीरूप धारण कर स्वर्गसे सोमवल्ली हरण की, उसका पत्र भूमिमें गिरकै उग गया उससे पलाश (ढाक) हुआ, ब्रह्मतेज संयुक्त होनेके कारणसेही यज्ञमें पलाशका व्यवहार होताहै, महर्षि कात्यायनने पलाश वा सेमलकी शाखा लेनेको 'छिनद्मि' क्रिया का अध्याहार किया है," पर्णशाखाञ्छिनत्ति शामीलीं वेषे त्वेत्यूर्जे त्वेति वा छिनद्मि– इति वोभयोः साकांक्षत्वात्संनमयामीति वोत्तर इति "–[का० ४ । २ । १ । ३]वर्षाके निमित्तही इषे त्वा कहाजाता है. यथा " वृष्ट्यैतदाह यदाहेषे त्वेति " [श० १।७।१ । २] इसके अनुसार वर्षाके निमित्तही यह कार्य है. वर्षासे रस होताहै [यो वृष्टादूर्ग्रसो जायते तस्मै तदाह"–[श० १ । ७। १। २ ।] अथवा इन दोनों मंत्रोंसे अध्वर्यु अन्नरसादि तथा बलकारक घृतरसादि यजमानमें स्थापन करताहै. तथाच " इषे त्वोर्जे त्वेत्याहेषमेवोर्जं यजमाने दधाति "–[तैत्तिरीय०] वायुमें बछडोंकी स्थिति पवित्रताके निमित्त है. जैसे वायु अपवित्र पदार्थोंको सुखाकर पृथ्वीको पवित्र करताहै, इसी प्रकार वत्सभी गोबरप्रदानसे पवनद्वारा भूमिको पवित्र करतेहैं. इससे वायुका सादृश्य कहाहै,जैसे मनुष्योंको गृहआदि बनानेकी सामर्थ्य है,

इस प्रकार पशुओंको नहीं है, अन्तरिक्षमें गमनसे अन्तरिक्षही पशुओंका देवता है उसका अधिपति वायु अपने अवयवरूप पशुओंकी रक्षा करताहै. इससे वायुरूप कहा. इस कारण पशुओंकी पालनाके निमित्त वायुदेवताका समर्पण करना कहा जाताहै । " वायवस्थेत्याह वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोऽन्तरिक्षदेवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान्परिददाति " [तैत्ति०] ॥

कर्म चार प्रकारके होतेहैं । प्रशस्त-परिवारादिका पोषण । अप्रशस्त-दुर्वृत्त चौर्यादि । श्रेष्ठ-वापीकूपनिर्माण । श्रेष्ठतम-यज्ञादि "यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म"-[श० १ । ७ । १ । ५] ॥

" ऊर्गित्यन्ननामोर्जयति इति सत् "-[निरु० ९ । २७ ।] "अघ्न्या अहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा"-[निरु० ११ । ४३ ।]

यज्ञके फलसे वर्षामें प्रमाण " अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥ "-[मनुः] अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यलोकमें उपस्थित होती है, आदित्यसे वर्षा होतीहै वर्षासे अन्नकी बहुतायत और उससे प्रजा होतीहै ।

उपदेशः-यज्ञके सभी संस्कार मंत्रपूर्वक करने चाहियें. और सब पदार्थोंमें ब्रह्मबुद्धि तथा देवताबुद्धि रखनी चाहिये, गायोंका सत्कार और उनकी पालना भली प्रकार करनी चाहिये, कारण कि यह यज्ञका प्रधान हेतु हैं ॥ कात्यायनसूत्रके अनुसार ऋष्यादिमें प्रत्येकमंत्रके आदिमें ॐकार लगाया जाताहै ॥

कण्डिका २-मन्त्र ३ ।

वसोः॑ प॒वित्र॑मसि॒ द्यौर॑सि पृथि॒व्य॑सि मा॒तरि॑श्वनो घ॒र्मो॑ऽसि वि॒श्वधा॑ऽअसि ॥ प॒र॒मेण॒ धाम्ना॒ दृꣳह॑स्व॒ मा ह्वा॒र्मा ते॑ य॒ज्ञप॑ति॒र्ह्वार्षीत् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसोः पवित्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषी उष्णिक्छन्दः । वायुर्देवता । पवित्रबन्धने विनियोगः । (२) ॐ द्यौरसीत्यस्य दैवीजगती छन्दः । उखा देवता । स्थाल्यादाने विनियोगः । (३) ॐ मातरिश्वन इत्यस्य जगतीछन्दः । उखा देवता । अधिश्रयणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे इस शाखादण्डमें कुशपवित्र बाँधकर स्थापन करे " एकत्रित कुशोंको पवित्र कहते हैं इन कुशोंसे यज्ञिय दुग्ध छानाजाता है " [का० ४ । २ । १५ । १६] मंत्रार्थ-हे दर्भमय पवित्र ! (वसोः) इन्द्रदेवताके निवास दुग्धके (पवित्रं) शुद्ध करनेवाले तुम

(असि) हो. इस स्थानमें स्थिति करो। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उखा (दूध औटानेका पात्र) ग्रहण करे [का० ४। २। १९] मंत्रार्थ-हे उखे ! तुम (द्यौः) जलके कारण वृष्टि देनेवाले द्युलोकरूप हो. अथवा तुम्हारी सहायतासे अधिकतर यजमानोंको द्युलोककी प्राप्ति होती है। इस कारण तुम द्युलोकरूपा (असि) हो (पृथ्वी) मृत्तिकासे बनी होनेसे पृथ्वीरूपा (असि) हो. [अर्थात् हांडाका आकाश द्युलोकरूप और मृत्तिका भूमिरूपहै।] विधि-(३) फिर गार्हपत्यनामक अग्निके उत्तरभागमें कुछेक अंगारे फैलाकर इस तीसरे मंत्रसे उनपर उखा स्थापन करै [का० ४। २। २०] मन्त्रार्थ-हे उखे ! तुम (मातरिश्वनः) वायुके (घर्मः) संचरणस्थान (असि) हो. अर्थात् तुम्हारे उदरमें आकाश है इससे वायुका स्थान अन्तरिक्ष तुम्हारे अधीन है, इससे तुमको अन्तरिक्षभी कहसकते हैं (विश्वधाः) हविद्वारा विश्व धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण तुम त्रिलोकरूप (असि) हो. और (परमेण धाम्ना) समस्त दुग्धधारणकी उत्कृष्ट सामर्थ्यवाले तेजसे युक्त तुम (दृꣳहस्व) अपने तेजमें दृढ हो. कारण कि छिद्रादि होनेसे दुग्ध गिरजायगा (माह्वाः) टेढी न होना. [कारण कि तुम्हारी दृढतामें न्यूनता वा वक्रता होते ही दूध गिर जायगा.] इससे यज्ञमें विघ्न होगा, इससें (ते) तुम्हारे यह (यज्ञपतिः) यज्ञके स्वामी यजमान हमपर विरक्त होसकते हैं इस कारण वे (मा) न (ह्वार्षीत्) विरक्त हों ॥ २ ॥

प्रमाणम्-"यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रमसि"-[श० १। ७। १। ९] "मातरिश्वा वायुर्मातर्य्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्य्याश्वनितीति वा" [निरु० ७। २६]

आशयः-उखाआदिकी शुद्धिसे यजमान त्रिलोकीका हित करता है. उखादिके व्याजसे उसके अधिष्ठात्री देवता द्रव्योंमें पवित्रता, स्थापन करते हैं, इस यज्ञसे पृथ्वीका प्रकाश, राज्य, प्राणवायुकी पवित्रता, प्रतापकी रक्षा, सब लोकमें सुखकी वृद्धि होनी तथा कुटिलतात्यागपूर्वक जगत्की अनुकूलता प्राप्त करनेके निमित्त परमात्मासे प्रार्थना है ॥ २ ॥

पश्चिमद्वारमें स्थापित अग्नि जहां प्रस्तोताका स्थान और प्रवर्ग्यका कार्य होता है वह गार्हपत्यअग्नि कहाती है ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र ३।

वसोः॑ प॒वित्र॑मसि श॒तधा॑रं॒ वसोः॑ प॒वित्र॑मसि स॒हस्र॑

धारम् ॥ देवस्त्वासविता पुनातुवसोः पवित्रेणशत धारेणसुप्वाकामधुक्षः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवसोः पवित्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषं छन्दः । वायुर्देवता । उखायां पवित्रस्थापने विनियोगः । (२) ॐ देवस्त्वेत्यस्य साम्नी त्रिष्टुप्छंदः । पयो देवता । पयसः पवित्रकरणे विनियोगः । (३) ॐकामित्यस्य दैवी बृहती छंदः । प्रश्नो देवता । दोग्धुः प्रश्नकरणे विनियोगः ।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उस पलाशशाखामें बँधे हुए कुछेक कुशपवित्र उखाके ऊपर स्थापन करे, इनका अग्रभाग उत्तरको होना चाहिये, इनसे दुग्ध छानकर पवित्र किया जाताहै [का० ४ । २ । २१] मंत्रार्थ-हे शाखा पवित्र ! (वसोः) इन्द्रदेवताके निवासके कारण दूधके शोधक ! तुम (पवित्रम्) पवित्रनामसे विख्यात (असि) हो. [अर्थात् पवित्रद्वारा दूध छाननेसे दुग्धमें तृणादिक नहीं जायँगे (वसोः) इन्द्रदेवताके निवासके कारण दूधके शोधक तुम इस उखाके ऊपर (शतधारम्) सैंकडों धारा (सहस्रधारम्) सहस्रों धारा विस्तार करो (पवित्रमसि) तुम पवित्र हो.[पवित्राछिद्रद्वारा उखामें सूक्ष्मछिद्रोंसे दूध गिरनेके कारण सहस्रधारा कहा।]
विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कुशासे ढकी उखामें दूध डाले [का० ४ । २ । २३।] मन्त्रार्थ-हे क्षीर ! (वसोः पवित्रेण शतधारेण) यज्ञसम्बंधी भलीप्रकार पवित्र शतधारावाले इस पवित्रसे तुम (सुप्वा) शोधित होओ, (सविता) सबकी प्रेरणा करनेवाला (देवः) प्रकाशमान परमात्मा (त्वा) तुमको (पुनातु) पवित्र करे । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे गाय दुहनेवालेसे पूछे [का० ४ । २ । २४] हे दुहनेवाले ! विद्यमान इन गायोंमेंसे तुमने (काम्) किस गौको (अधुक्षः) दुहा ॥३॥

प्रमाणम्-"शतधारं शतमिति वहुनामसु पठितम्"-[निघं०३।१।]"सविता वै देवानां प्रसविता"-[श०१।१।२७।] "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते"-[निरु०१०।४२।]

अभिप्राय-जो मनुष्य सब कार्यमें परमात्माका स्मरण करते हैं, उनके सब कार्य सिद्ध होते हैं, और उसकी प्रार्थनासे पवित्रता होती है, यज्ञीयपदार्थ देवताओंके सन्तुष्टिकारक होनेसे विशेषकर शोधे जाते हैं. सबका शोधक परमात्मा है, इस कारण उसीका स्मरण है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र ५ ।

साविश्वायुः साविश्वकर्मासाविश्वधायाः ॥ इन्द्रस्यत्वाभागः सोमेनातनच्मिविष्णोहव्यः रक्ष ॥ ४ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ सा विश्वायुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। दैवी बृहती छन्दः। गौर्देवता। प्रश्नोत्तरे वि०। (२) ॐ सा विश्वकर्मेत्यस्य दैवीपंक्तिश्छं०। प्रश्नोत्तरे वि०। (३) ॐ सा विश्वधाया इत्यस्य दैवी बृहती छं०। प्रश्नोत्तरे वि०। (४) ॐ इन्द्रस्य त्वेत्यस्य याजुषी जगती०। इन्द्रो दे०। क्षीरसोमयोर्मिश्रीकरणे विनियोगः। (५) ॐ विष्णोर्हव्यमित्यस्य याजुषी गायत्री छन्दः। पयो देवता। विष्णुप्रार्थने विनियोगः।

विधि-(१) असुक गाय दुही है गोदोहक के इस प्रकार कहने पर यह मंत्र पढे [का० ४। २। २५] मंत्रार्थ-(सा) जिस गौको तुम ने दुहा मैंने पूँछा है वह (विश्वायुः) यज्ञसम्बन्धी सम्पूर्ण ऋत्विजोंकी आयु बढानेवाली है तथा यजमानकी आयु बढातीहै। विधि-(२) इस प्रकार पूछनेपर दूसरा मंत्र पढे। [का० ४। २। २६।] मन्त्रार्थ-(सा) वह गौ (विश्वकर्मा) यज्ञके सम्पूर्ण कार्यका सम्पादन करनेवाली है, वा सम्पूर्ण क्रियाकाण्डकी सम्पादक घृतदुग्धसे विद्याकी प्रकाशक है। विधि-(३) इस प्रकार कहनेपर तीसरा मंत्र पढे। [का० ४। २। २७।] मंत्रार्थ-(सा) वही (विश्वधायाः) यज्ञके सब देवताओंकी पोषण करनेवाली है, अर्थात् हवि दुग्धादि देती है। विधि-(४) इस मंत्र से इन्द्रदेवताके निमित्त दूधको पृथक् करके अर्थात् औटाये दूधको अग्निसे उतारकर प्रातःकालके हवनसे शेषरहे कुछ गरम दूधमें सोमवल्लीके रसका आतञ्चन (जामन) दे। [का० ४। २। ३२] मन्त्रार्थ-हे क्षीर! (इन्द्रस्य) इस इन्द्रके (भाग) भाग (त्वा) तुझको (सोमेन) सोमवल्लीके रससे (आतनच्मि) आतंचन अर्थात् कठिन करता हूं। विधि-(५) पांचवे मंत्रसे इस दूधको यज्ञके गृहमें किसी स्थानमें सावधानीसे रक्षित करै [का० ४। २। ३४] मन्त्रार्थ-(विष्णो) हे चराचरमें व्याप्त सबके रक्षक परमेश्वर! (हव्यम्) यह हव्यभी तुम्हारी दृष्टिमें प्राप्त होनेसे रक्षाके योग्यहै, इस कारण इसकी (रक्ष) रक्षा करो॥४॥

अभिप्राय-यज्ञकी मुख्यक्रिया गौके अधीन है, इस कारण उसका गुण इसमें वर्णन किया है। सृष्टिकी उत्पत्ति पालन संहारके ब्रह्मा विष्णु महेश क्रमसे तीन देवता हैं। पालन करनेवाले विष्णु हैं। इस कारण रक्षामें विष्णुसे प्रार्थना की॥ ४॥

दूधको दही करनेके निमित्त जो अम्लादि द्रव्य दिया जाताहै उसको आतञ्चन (जामन) कहते हैं॥ ४॥

कण्डिका ५-मन्त्र २।

अग्ने॑ व्रतपते व्र॒तं च॑रिष्यामि॒ तच्छ॑केयं॒ तन्मे॑ राध्यताम्॥ इ॒दम॒हमनृ॑तात्स॒त्यमुपै॑मि॥ ५॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आर्ष्युष्णिक् छंदः। अग्निर्देवता। कर्मानुष्ठानेविनियोगः। (२) ॐइदमित्यस्य प्रजापति-र्ऋषिः। साम्नी गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। कर्मानुष्ठाने विनियोगः।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यजमान पूर्वभागमें स्थापित आहवनीय नामक अग्निको साक्षीपूर्वक जलस्पर्श करके यज्ञका भार ग्रहण करै [का० २। १। ११।] मंत्रार्थ-(व्रतपते) हे समस्त क्रियाकाण्डके अधिपति (अग्ने) सत्य उपदेशकर्ता ईश्वरसे व्याप्त अग्नि ! तुम्हारी अनुज्ञासे मैं (व्रतं) इस क्रियाभारको (चरि-ष्यामि) ग्रहण करताहूं (तत्) इस कार्यके करनेमें तुम्हारी कृपासे (शकेयम्) मैं समर्थ हूं (तत्) वह (मे) मेरी क्रिया (राध्यताम्) निर्विघ्नफलपर्यन्त सिद्ध हो। विधि-(२) इसी प्रकार दूसरे मत्रसे यजमान अग्निको साक्षीकर जलस्पर्श कर प्रतिज्ञासंकल्प करै। मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (अहं) मुझ यजमानने (अनृ-तात्) असत्यको त्यागकर वा अनृतरूप मनुष्यशरीरके भावसे (सत्यम्) सत्य वा देवशरीरका (उपैमि) आश्रय लिया. अर्थात् मैं इस यज्ञमें असत्यभाषणादि अनृत व्यवहार न करूंगा ॥ ५ ॥

प्रमाण-"अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः"-[श० १। १। १। २।] "इदमहम-नृतात्सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तत "-[श० १। १। १। ४] ॥ ५ ॥

विवरण-पश्चिमद्वारकी गार्हपत्यअग्निके पूर्वमें प्राचीनवर्हि नाम दक्षिण वेदी होती है. उसके पूर्व ओर स्थापित अग्निको आहवनीय अग्नि कहते हैं, यह होता-का प्रधान कार्य्यस्थान है ॥ ५ ॥

आशय-कर्मकाण्डमें यजुर्वेद प्रधान है, सब कर्मकाण्डोंमें संकल्प प्रथमाङ्ग है कारण कि "संकल्पमूलाः कामा वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः"-[मनु०अ०२] कामनासि-द्धिका मूल संकल्प है, और यज्ञ संकल्पसे होते हैं, और "यन्मनसा मनुते तद्वाचा व-दति" जो मनमें विचारता है वही वाणीसे कहता है, अर्थात् जो विचार पूर्ण दृढतासे मन और वाणीद्वारा कर्त्तव्य ठहराया जाता है, उसकी दृढ प्रतिज्ञा की जाती है, वह ठीक समर्थ अर्थात् सफल होता है, सफल होना ही संकल्पका अर्थ है, इसी कारण "ॐतत्सत्श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतम-न्वतरे० "इत्यादि प्रत्येक कार्यमें संकल्प पढा जाता है, यजुर्वेदमें मुख्य कर्म-काण्ड है. इसकारण इसके आरंभमेंही संकल्प करना चाहिये, सो इस मंत्रमें कहा गया है, प्रथम कण्डिकामें इसकारण न कहा कि आरंभमें संकल्पसे भी प्रथम अपेक्षावाले कर्मकाण्डरूप यज्ञका प्रधान भाग प्रयोजन कहा गया है. इसी कारण प्रथम प्राणियोंके जीवनाधार अन्न जलका [इष् ऊर्ज्] नामसे वर्णन

करके पीछे संकल्प लिखा है, 'इषू ऊर्ज' पदोंसे यह बात निकलती है कि, यजुर्वेदमें अन्न जल और उनके साधक प्रतिपादक वा कारणरूप यज्ञसम्बन्धिनी विद्याका पूर्णरूपसे वर्णन किया है. इसी कारण प्रथम उद्देश्य कहकर अर्थात् यज्ञरूप तत्त्वज्ञानका क्रम दिखलाकर इस मंत्रमें संकल्प किया है, और यहींसे शतपथब्राह्मणभाग आरंभ होता है। हाथमें जल लेनेका कारण यह है कि "अमेध्यो वै पुरुषः" [श०] यह पुरुष अमेध्य होताहै, अर्थात् धारणावती बुद्धिसे विपरीत होजाताहै, इसकारण "मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति" शुद्धबुद्धि होकर व्रत आचरण करताहूं "पवित्रं वा आपः पवित्रपूतो व्रतमुपायानीति तस्माद्वा अप उपस्पृशति"—[श०]जल पवित्र हैं, पवित्र होकर व्रत करना,इससे जलस्पर्श करना चाहिये, जलके स्पर्शसे शान्तिगुण आत्मामें प्रवेश करते हैं, इससे स्वस्थता होतीहै. शान्ति शरीरस्थित जलकाही गुण है, इसीसे क्रोध करने पर मुख सूखजाता है उसको शान्ति करनेको जल पूर्णसहायक है, इस कारण प्रतिज्ञासे शान्तिको बाह्य जलस्पर्शसे उत्तेजित करे जिससे मन वाणीके मिथ्यादि दोष प्रज्वलित शांतिमें हवन होजायँ कारण कि क्रोधादिमें अग्निके कणोंका सूक्ष्म अंश रहता है. उस जलसे वह शान्त हो जाता है, इसी कारण शान्तवचनोंसे क्रोध, सत्यसे मिथ्या, कोमलतासे कठोरता; सदा दब जाती है, इससे मेध्य होकर यजमान व्रतका आरंभ करे. अग्निको साक्षी करनेका आशय यह है कि, अग्नि सब पदार्थों में स्थायी है, जैसे सुवर्णआदिमें अग्निके परमाणु विशेषस्थायी हैं, मनुष्यके भीतर जहां ज्ञानकी शुद्धता वा प्रबलता अग्नितत्त्वका सूक्ष्म शुद्धांश है वहीं सत्यरूप व्रतभी स्थायी रहताहै, और शरीरस्थित वा बाह्य अग्निकी विषमता ही अनिष्ट अधर्म क्रोध दुःखरूप है, अग्निको सम करनेको उसमें जलरूप घृतकी आहुती दीजातीहै. अग्नि और सोम ये दो देवताही वेदमें मुख्यरूपसे वर्णन किये हैं, इन्हींसे अधिकतर संसारकी व्यवस्था चलती है, इनकी विषमता वा कोपमें अधर्म और समतामें धर्म बनता है, इसीसे यहां संकल्पमें इन दोनोंकी मुख्यता दिखाई है. अग्निके प्रधान होनेमें अग्निको व्रतपति कहा है. सत्य और अनृत दोही वस्तु संसारमें हैं, देवता सदा सत्य और मनुष्य चंचल होनेसे अनृतरूप हैं. सत्यव्यवहार कभी नहीं बदलता. अनृतमें सब प्रकारके दुःख और व्याकुलता होती है; यज्ञादि धर्मरूप है, इससे यजमानने देवरूप होकर सत्यव्यवहारकी प्रतिज्ञा की है. कारण कि, अग्निआदि देवता कभी अपने तत्त्वको नहीं छिपाते, सबको यथायोग्य अपना उपदेश करते हैं. और सत्यरूपका आशय यह है कि, यह इस भूमिरूपवेदीमें अग्न्यादि देवता प्राकृत नियमसे ही अनादिकालसे अनन्त समय पर्यन्त दिनरात मनुष्य पशु पक्षी आदिका लयरूप हवन कररहे हैं, यह इनका हवन-

रूप सत्यव्रत एकक्षणभी शान्त नहींहोता. इसीकारण यजमानकोभी एकरस होकर सत्यरूप व्रत ग्रहण करना चाहिये, दृढसंकल्प करनेसे जो अनुष्ठान होगा, उसका पूरा फल प्राप्तहोगा।इसप्रकार मंत्रोंके गू आशय हैं. आगे विस्तारभयसे संक्षेपसे लिखेंगे॥

कण्डिका ६-मन्त्र २ ।

कस्त्वा॑ युनक्ति॒ स त्वा॑ युनक्ति॒ कस्मै॑ त्वा युनक्ति॒ तस्मै॑ त्वा युनक्ति ॥ कर्म॑णे वां॒ वेषा॑य वाम् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छंदः । प्रजापतिर्देवता । अपां प्रणयने, आहवनीयसंप्रतिसादने च विनियोगः । (२) ॐ कर्मण इत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । स्रुक्छूर्पौ देवते । शूर्पादानेऽग्निहोत्रहवन्यादाने च विनियोगः ।

विधि-(१) इस प्रकारसे यजमान क्रियाभारादिको स्वीकार करके सब ऋत्विजोंके कार्य्य देखनेवाले ब्रह्माका वरण करके उसके निकट आपप्रणयन (यज्ञके सब उपकरणोंमें छिडकनेके निमित्त मंत्र पढकर जल प्रस्तुत करना) कार्य्यकी आज्ञा ले. ब्रह्मा इस विषयकी आज्ञा दे. और उससे कहे कि, जबतक फिर कुछ आज्ञा न दीजाय [पन्द्रहवीं कण्डिकामें हविके आवपन समयमें फिर आज्ञा दी जायगी] तबतक मौन रहो. यजमानको यह आज्ञा प्राप्त करलेनेपर अध्वर्यु एकपात्रमें जल ले, और आहवनीय अग्निके उत्तरभागमें पहले मंत्रसे उसको स्थापन करै [का० २ । ३ । २ । ३] मंत्रार्थ-ईश्वरसे व्याप्त जलोंके धारण करनेवाले हे पात्र ! (त्वा) तुमको (कः) कौन इस कार्य्यमें (युनक्ति) नियुक्त करते हैं (कस्मै) किस प्रयोजनके निमित्त (त्वा) तुमको (युनक्ति) नियुक्त किया जाता है (तस्मै) सब कर्म परमेश्वरकी प्रीतिके होने निमित्त करने चाहियें, इस कारण उस प्रजापति देवताके सन्तोषके निमित्त ही (त्वा) तुमको इस प्रकार से (युनक्ति) नियुक्त कियाजाता है । विधि-(२)दूसरे मंत्रसे शूर्प और अग्निहोत्रहवनी ग्रहण करै [का० २ । ३ । १०]मन्त्रार्थ-हे शूर्प! हे अग्निहोत्रहवनी! (कर्मणे) यज्ञीय कार्य्यके अर्थ (त्वाम्) तुमको ग्रहण कियाजाता है. तथा (वेषाय) अनेक कार्य्य (व्रीहिआदिका शकटसे पृथक् करना) में तुमको व्याप्त रहना होगा. इसके निमित्त ही (वाम्) तुमको ग्रहण करता हूँ ॥ ६ ॥

विवरण-शूर्प-छाजको कहते हैं, इसमें नाज लेकर ओखलीमें डालाजाता है फिर कूटकर निकाल भूसी अलग कर यज्ञकार्य्यमें वह धान्य लायाजाताहै ।

अग्निहोत्रहवनी–छकडेमें धरे धान्यका अलग करना और प्रोक्षणके निमित्त जल धारणादि इस कार्य्यकी है ॥

अभिप्राय–सत्यादिकार्योंकी प्रतिज्ञामें अभिमान न करे, किन्तु जो कुछभी यज्ञीयकार्य करे उसमें परमात्माकी ही प्रेरणा है ऐसा जाने. और जो कुछ मैं करताहूं परमात्माकी ही प्रीतिके निमित्त करताहूं ऐसा विचार करे। आदिसृष्टिमें कार्यनिर्वाहक शूर्पादिका विधान करना भी उसका उपदेश है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र २।

प्रत्युष्टꣳरक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः। उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐप्रत्युष्टमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आसुरी बृहती छन्दः। रक्षो देवता। अग्निहोत्रहवणीशूर्पयोः प्रतपने, रक्षोदहने च विनियोगः। (२) ॐ उर्वन्तरिक्षमित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छंदः। रक्षोघ्नो देवता। अन्तरिक्षगमने विनियोगः।

विधि–(१) ग्रहण किया हुआ यह शूर्प और अग्निहोत्रहवणी प्रथम अथवा दूसरे मंत्रसे कुछ अग्निमें तपावे [का० २। ३। ११।] मन्त्रार्थ– इनको तपानेसे (रक्षः) राक्षसजाति वा प्रत्येकबाधा वा अशुद्धता अथवा इसकी बिगाडनेवाली मलिनता (प्रत्युष्टम्) दग्ध हुई: (अरातयः) शत्रुगण भी (प्रत्युष्टाः) तपानेसे दग्धहुए [अथवा 'रा' दाने] हविदानके प्रतिबंधक शत्रुगण दग्ध हुए. इस तापसे शूर्पमें आश्रित (रक्षः) बाधा वा राक्षसजाति (निष्टप्तं) सब प्रकारसे दग्ध हुई (अरातयः) शत्रुगण भी (निष्टप्ताः) सम्पूर्णतः दग्ध हुए। विधि–(२) अनन्तर पुरोडाशनामक हविके पाक करनेको स्थापित गार्हपत्य नामक अग्निके पिछले भागमें आयेहुए धान्यशकटके निकट यह अगला मंत्र पढताहुआ गमन करें [का० २। ३। १२।] मन्त्रार्थ–मैं इस (उरु) बडे विस्तारवाले (अन्तरिक्षम्) आकाशका (अन्वेमि) अनुसरण करता हूं. मेरे गमनसमयमें दोनों ओरकी सब बाधा दूर हों ॥ ७ ॥

प्रमाण–" उर्विति बहुनामसु पठितम् "–[निघण्टु० ३। १।] राक्षसबाधा इस मंत्रसे अग्निद्वारा वस्तुओंको तपानेसे दूर होती हैं। इसका आशय यह है कि बहुत दिनोंकी रक्खी हुई वस्तुमें रोगका कारण कोई बाधा प्रवेश होजाती है, उसके धारण करनेसे रोग संक्रमित होते हैं, उनका दूर होना अग्निके तापसे संभव है.

तथा यज्ञियपात्रोंमें असुर भी गुप्तरूपसे अशुद्धता करनेको प्रविष्ट होते हैं, वा स्पर्श करते हैं । अग्निके तापसे उनका स्पर्शदोष दूर होकर वह वस्तु शुद्ध होजाती है, इसीसे अग्निमें तपाते हैं यज्ञ करनेवाले पुरुषको उचित है, कि-यज्ञविघ्नकारी दुष्ट शत्रुआदि नास्तिक जनोंका संसर्ग न करे, इनके तापित होनेका वर्णन है, यह यज्ञको देख दुःखी होतेहैं, इस कारण इनका निराकरण लिखा है, इसी वेदमंत्रका अवलम्बन करके भारतवासी चार २ महीने उपरान्त वा वर्षा के बीतनेमें अपने वस्त्रादिको धूपमें सुखाते हैं. वेदमें बाधाको बहुधा रक्षस् लिखा है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र २ ।

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः । देवानामसि वह्नितमꣳ सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषं छन्दः । अग्निर्देवता । शकटधुराभिमर्शने विनियोगः । (२) ॐ देवानामित्यस्य ह्वार्षीत् इत्येतदहुतमिति (९ मं) कण्डिकास्थपदपर्यन्तस्य प्र० ऋ० यजुषीछन्दः । शकटो देवता । उपस्तम्भनाभिमर्शने विनियोगः ॥

विधि-(१) उस धान्यके लानेवाले शकटके निकट जाकर उसके जुएको प्रथम मंत्रसे स्पर्श करे [का० २ । ३ । १२-१३] [इस व्रीहि आदिके लानेवाले शकटके धुर जुएके स्थानमें एक हिंसक अग्नि रहती है उसीकी प्रार्थना है ।] **मंत्रार्थ**-हे अग्ने ! तुम सब दोषनाशक अंधकारनाशक (धूः) हिंसक (अग्नि) हो, इस कारण (धूर्वन्तम्) पापी हिंसकोंकी (धूर्व) नष्टता करो. और (यः) जो पुरुष वा राक्षसादि यज्ञविघ्नद्वारा (अस्मान्) हमारी (धूर्वति) हिंसा करनेको उद्यत है (तम्) उसको भी (धूर्व) पीडित करो. (यम्) जिसको (वयम्) हम (धूर्वामः) नाश करनेकी इच्छा करें (तम्) उसको (धूर्व) हिंसा करो. [अर्थात् हम आलस्यादि शत्रुओंके नाशकी इच्छा करते हैं तुम उनको दूर करो, या सब प्रकार हमारे शत्रुओंको नष्ट करो] । **विधि**-(२)दूसरे मंत्रसे इस शकटके उपस्तम्भनके पिछले भाग ईषाको स्पर्श करे [का० २।३।१४]

१ दोनों बैलोंको गाडीसे अलग करते समय जो बाँसके दो डंडे इस अभिप्रायसे पृथ्वीपर टिकाये जाते हैं कि जुआ पृथ्वीपर न लगे उसे उपस्तम्भन (डैयें) कहते हैं ।

२ जुएसे टकडेतक जो लम्बा काष्ठ रहता है उसको ईषा (फड) कहते हैं ।

मंत्रार्थ-(१) हे शकटके ईषादण्ड ! (त्वं) तुम (देवानां) देवताओंकी भोज्य वस्तुके (वह्नितमम्) वाहक हो, इस कारण (सस्नितमम्) अतिशय पवित्र वा दृढ (पप्रितमम्) हविके उपयोगीधान्यसे परिपूर्ण इस शकटको तुम वहन करते हो. इसीसे (जुष्टतमम्) देवताओंके अतिशय प्रियपात्र (देवहूतमम्) देवताओंके आह्वान करनेवाले (असि) हो. [अर्थात् तुमको धान्यपूर्ण शकटमें लगा हुआ देखतेही देवगण तुम्हारे स्थानका अवलम्बन करते हैं, तुम जहां स्थित होते हो देवता भी वहां स्थित होते हैं] ॥ ८ ॥

प्रमाणम्-"अग्निर्वा एष धुर्यस्तमेतदत्येष्यन् भवतीति"-[श० १ । १ । २ । १० ।] तुर्वी थुर्वी दुर्वी धुर्वी हिंसार्थाः । धुर्वतेः क्विप् ।

अभिप्राय-यज्ञआदिमें तथा अन्यप्रकारमें भी अन्नको देख कर ईश्वरका स्मरण करना चाहिये, इसी कारण शुद्धताकी इच्छासे दुष्टजनोंकी निवृत्ति और श्रेष्ठ महात्माओंकी प्राप्ति तथा देवताओंकी प्रसन्नताके निमित्त अग्निरूप ईश्वरका इस मंत्रमें स्मरण कियाहै. उपासनाकी प्राप्ति करनेको विराट्रूपमें प्रत्येक वस्तु उसके अन्तर्गत होनेसे उसीके रूपमें वर्णन की है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र ४ ।

अह्रुतमसि हविर्धानन्दृꣳहस्व माह्वार्म्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ विष्णुस्त्वा क्क्रमतामुरु वातायापहतꣳरक्षो यच्छन्ताम्पञ्च ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विष्णुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । हविर्दे० । आरोहणे विनियोगः । (२) ॐ उरुवातायेत्यस्य दैवीपंक्तिश्छं० । हविर्देवता । हविःप्रेक्षणे विनियोगः । (३) ॐ अपहतमित्यस्य याजुषी गायत्री० । रक्षोदेव० । हविरभिमर्शने विनियोगः (४) ॐ यच्छन्तामित्यस्य दैवीपंक्तिश्छन्दः । हविर्दे० । हविर्ग्रहणे विनियोगः ॥

पूर्वमन्त्रशेषार्थ-हे ईषादण्ड ! तुम (अह्रुतम्)अकुटिल सीधे(असि) हो (हविर्धानम्) देवताओंके भोजनयोग्य हविको धारण किये हो (दृꣳहस्व) मैं आरोहण करूंगा, इस कारण दृढ हो. और (माह्वाः) कुटिल न होना (ते) तुम्हारे (यज्ञपतिः) अर्थात् यजमान (माह्वार्षीत्) वक्र न हों. [अर्थात् तुम्हारे टेढे होनेसे मेरे गिरपडनेसे यज्ञ में व्याघात उपस्थित होनेसे यजमान वक्र होंगे] ॥

१-"अह्रुतमसि हविर्धानन्दृꣳहस्वमाह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्-"इतना मन्त्रभाग इसके पहलेकी कंडिके उत्तरार्धमें "देवानामसि०-" इस मन्त्रमें अन्वित किया है, इसकारण इसके ऋषि, छंद, देवता और विनियोग पूर्वमन्त्रविभागमें जानने (यजु० भाष्य पृ०२६) इसीसे यहां "विष्णुस्त्वा" यहांसे ऋष्यादिकोंका उल्लेख कियागया है ।

विधि-(१) इस मंत्रसे शकटारोहण करै [का०२।३।१५] मन्त्रार्थ-हे शकट ! (विष्णुः) व्यापक यज्ञपुरुष (त्वा) तुमपर आरोहण करै [अर्थात् मैं समर्थ नहीं हूं]। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे शकटमें रक्खेहुए धान्यका ढकना अलग कर उसपर धानोंको फैलादे [का० २।३।१६] मन्त्रार्थ-हे शकट !(वाताय) वायुके प्रवेश करनेसे सूख जायँ इस कारणसे तुमको (उरु) विस्तार करता हूं, [अर्थात् वायुरूप प्राणके प्रवेशसे हवि मंत्रसे प्राणरूप की जाती है. कारण कि, वायुके प्रवेशसे रहित सब वस्तु वरुणदेवताकी होजाती हैं अर्थात् गीली होती हैं. वरुण बंधक होनेसे यज्ञके निरोधक हैं, उनकी निवृत्तिके निमित्त यह मंत्र है] विधि-(३) तीसरे मंत्रसे उन धानोंके साथ मिले हुए तृणादिको निकाल कर पृथक् करे [का० २ । ३ । ११-१२] मन्त्रार्थ-(रक्षः) यज्ञविघातक बाधा वा तृण (अपहतम्) दूर हुये । विधि-(४) चौथे मंत्रसे मुट्ठी बांध कर सब धानोंको उठाकर शूर्पमें रक्षण करना आरंभ करै [का० २।३।१९] मन्त्रार्थ-(पञ्च) हे पांचो उंगलियो ! तुम व्रीहिरूप हविको (यच्छन्ताम्) ग्रहण कर इस शूर्पमें धरो ॥ ९ ॥

प्रमाणम्-"यद्वै किञ्च वातो नाभिवाति तत्सर्वं वरुणदेवत्यमुरुवातायेत्याह वारुणमेवैतत्करोति"-[तित्तिरिवचनम् ।]

अभिप्राय-ईश्वरकी आज्ञा है कि यज्ञादि सम्पूर्ण कार्योंमें परमात्मासे सहायताकी प्रार्थना करनी चाहिये. यज्ञके कार्य यथायोग्य संपादित होनेसे यजमानका मंगल होताहै, यदि किंचित् भी उत्पात होजाय तो यजमानके अमंगलकी संभावना है. तथा अन्नादि वायुके स्पर्शसे शुद्ध होते हैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र ३ ।

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे᳖ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ अ॒ग्नये॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्य॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ जुष्टं॑ गृह्णामि ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं० । सविता देवता । हविरादाने विनियोगः (२) ॐ अग्नये जुष्टमित्यस्य प्राजापत्या गा० । लिङ्गोक्ता देवता । अग्नये हविरादाने विनियोगः । (३) ॐ अग्नीषोमाभ्यामित्यस्य याजुषी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । अग्नीषोमाभ्यां हविरादाने विनि० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे दोनों हाथोंसे धान्य ग्रहण करै [का० २। ३ ।२०। २२] मन्त्रार्थ-हे हविर्धान्यसमूह ! (सवितुर्देवस्य) सब जगत्की प्रेरणा करनेवाले परमात्माकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों

हाथों 'पहुँचा' से (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं. [अर्थात् मैं अपनी सामर्थ्यसे तुमको ग्रहण नहीं करता. किन्तु देवबलसे ग्रहण करता हूं] विधि–(२) दूसरे मंत्रसे चार मुट्ठी पृथक् करै । मन्त्रार्थ–(अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त यह (जुष्टम्) प्रिय अंश (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे फिर और चार मुट्ठी पृथक् करै । मन्त्रार्थ–(अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नीषोम नामक दो देवताओंके निमित्त यह (जुष्टम्) प्रिय अंश (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं ॥ १० ॥

अभिप्राय–विवरण–कंधेसे लेकर पहुंचेपर्यन्त भुजा कहलाती है, पांच अंगुलियोंसे युक्त अग्रभाग हस्त कहलाता है. अश्विनीकुमार देवताओंके अध्वर्यु हैं. पूषा देवताओंका भाग पूर्ण करता है. इस कारण हविके ग्रहणसाधनमें अपनी बाहुओंमें अश्विनीकुमारकी बाहुओंकी भावना करै. हाथोंमें पूषाके हाथोंकी भावना करै. अर्थात् सर्वात्मक अग्निकी हवि मनुष्य किस प्रकार सम्पादन करसकता है; इस कारण सविता देवताकी प्रेरणाका कथन किया. देवता सत्य, मनुष्य अनृत हैं. इस कारण सत्यरूप देवताओंके स्मरणसे हविका ग्रहण सत्यफलदायक होगा. देवताओंके स्मरण विना अनृतरूप मनुष्योंका अनुष्ठान निष्फल होगा. इससे देवताओंका स्मरण किया. हविग्रहण करते समय देवता अध्वर्युको सेवन करते हैं. परस्पर व्यत्यय न हो, इस कारण देवताओंका पृथक् नाम उच्चारण किया है ॥ १० ॥

प्रमाण–"सत्यं देवा अनृतं मनुष्याः" इति श्रुतेः [श० १ । १ । २ । १७] "अश्विनौ हि देवानामध्वर्यू पूषा हि देवानां भागधुक्" [श०] ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मन्त्र ५.

भूतायत्त्वानारातयेस्वरभिविख्येषन्दृꣳहन्तान्दु
र्य्याः पृथिव्यामुर्व्वन्तरिक्षमन्वेमि ॥ पृथिव्यास्त्वाना
भौसादयाम्यदित्याऽउपस्थेऽग्नेहव्यꣳरक्ष ॥११॥[७]

(१) ॐ भूतायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री च्छन्दः । हविर्देवता । व्रीहिशेषाभिमर्शने विनियोगः । (२) ॐस्वरित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्री०।सूर्यो देवता । प्राक्प्रेक्षणे विनियो०।(३) ॐदृꣳहन्तामित्यस्य प्र०ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । गृहं दैवतम् । शकटावरोहणे विनि० ।(४) ॐ उर्वन्तरिक्षमित्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या

गायत्री० । शकटो दे० । अन्तरिक्षगमने वि० । (५) ॐ पृथिव्या इत्यस्य ऋ०ऋ०साम्नीपंक्तिश्छं० । हविर्देवता । हविःसादने वि० ॥

विधि–(१) शेषको ग्रहण करै [का० २ । ३ । २३] मंत्रार्थ–हे शकटमें स्थित व्रीहिशेष ! (भूताय) ब्राह्मणोंके भोजन करानेके निमित्तही (त्वा) तुमको ग्रहण किया है (न) न कि (अरातये) आदान अर्थात् संचय करनेको ग्रहण किया है । विधि–(२) उस शकटमें स्थित रहकर ही वहांसे पूर्वमुख होकर दूसरे मंत्रका पाठ करता हुआ यज्ञभूमिका दर्शन करै [का० २।३।२४] मंत्रा०–यह मैं (स्वः) स्वर्गसाधन यज्ञभूमिको (अभिविख्येषम्) सब प्रकारसे देखताहूं । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे शकटसे उतरै [का० २ । ३ । २५] मं०–(पृथिव्याम्)-पृथ्वीमें वर्तमान (दुर्य्याः) यज्ञगृह (दृंहन्ताम्) दृढ हों. [अर्थात् मैं धान्यभार लेकर उतरता हूं, मेरे उतरनेसे भूमिमें किसी प्रकारका उत्पात न. हो] विधि–(४) चौथा मंत्र पाठ करके यज्ञभूमिके नाभिप्रदेशमें गमन करै [का०२।३। २६] मंत्रा०–मैं (उरु) इस विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) आकाशमें (अन्वेमि) गमन करता हू. दोनों ओरकी सम्पूर्ण बाधा दूर हों । विधि–(५)पांचवें मंत्रसे उस नाभिमें धान्योंकी रक्षा करै [का० २ । ३ । २७] मं०–हे धान्यसमूह हवि ! (पृथिव्याः) इस पृथ्वीकी (नाभौ) यज्ञीय नाभिके मध्यमें (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करता हूं (अदित्याः) माताकी (उपस्थे) गोदीमें रहनेके समान यत्नसहित रहो (अग्ने) हे अग्निदेव ! यह तुमसे आदि लेकर देवगणोंकी हव्य है तुम इस (हव्यम्) हव्यकी (रक्ष) रक्षा करो. जिससे किसीप्रकारका विघ्न न हो ॥ ११ ॥

प्रमाण–"यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः"–[श० १।१।२।२१।] 'स्वर्' शब्दका अर्थ यज्ञ, दिन, देव और सूर्यका है । दुरो द्वाराण्यर्हन्तीति दुर्याः गृहाः ।

विवरण–यज्ञगृहके पूर्वद्वारके प्रान्तमें स्थापित यूपस्तंभसे पश्चिममें बनी हुई उत्तरवेदीके मध्यभागको नाभि कहते हैं, जहां प्रतिहर्ताका कार्य स्थल होता है ।

अभिप्राय–परमात्माकी आज्ञा है कि यज्ञीयपदार्थोंसे विद्वान् महात्माओंका सत्कार करना चाहिये, कृपणता न करै. तथा सम्पूर्ण पदार्थोंकी रक्षामें ईश्वरकी प्रार्थना करै, वही अपने जनोंको पुत्रके समान पालन करता है । इस मन्त्रको विचारके साथ पढनेसे इस बातका भली प्रकारसे निश्चय हो सकता है, कि यज्ञमें किंचित् मात्रभी बाधा नहीं होनी चाहिये, जब कि धान्य लेकर भूमिमें कूदनेसे किसी प्रकारकी अशान्ति न होजाय इस प्रकारकी प्रार्थना है, तब

बुद्धिमान् जानसकते हैं, कि यज्ञमें कितनी सावधानी करनी होती है, जितेन्द्रिय होकर क्रोध आलस्यका त्याग कर यज्ञको पूर्ण श्रद्धासे सम्पादन करनेसे यथेष्टफल मिलता है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मन्त्र ३ ।

पवित्रेस्थोवैष्णव्यौसवितुर्वःप्प्रसवऽउत्पुना म्यच्छिद्रेणपवित्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिः ॥ देवी रापोऽअग्रेगुवोऽअग्रेपुवोग्रऽइममद्ययज्ञन्नय ताग्रेयज्ञपतिꣳसुधातुँय्यज्ञपतिन्देवयुवम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पवित्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैवीबृहतीछन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । पवित्रीछिदने विनियोगः । (२) ॐसवितुरित्यस्य प्रजा ० ऋ० । प्राजापत्या पंक्तिश्छंदः । आपो देवता । अपां पवित्रीकरणे वि० । (३) ॐ देवीराप इत्यारभ्य अवृणीध्वं वृत्रतूर्ये (कं० १३) इत्यन्तस्य प्रजा० ऋ० । याजुषं छं० । आपो दे० । उत्पूतजलपूर्णाग्निहोत्रहवन्यूर्ध्वचालने विनियोगः ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे कितने एक कुशोंमेंसे दो कुश दीर्घ समान करके छेदन करे, ये दो कुश छेदन करनेमें इनके अन्तर्गर्भमें अग्रभागमें शुष्कता न हो [का० । २ । ३ । ३२ ।] मन्त्रार्थ–(पवित्रे) हे पवित्र करनेवाले कुशद्वय ! तुम (वैष्णव्यौ) यज्ञसम्बन्धवाले (स्थः) हो । विधि–(२) फिर हविर्ग्रहणीसे जल लेकर इन दो कुशाद्वारा दूसरे मंत्रसे पवित्र करे । [का० २ । ३ ३३ ।] जिससे यज्ञकी हवि ग्रहण कीजाय वह हविर्ग्रहणी, वा अग्निहोत्रहवणी कहाती है । मं०–(आपः) हे जलो ! (सवितुः) सबके प्रेरणा करनेवाले परमात्मा सविता देवताकी (प्रसवे) प्रेरणा करनेसे (वः) आपको (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) शोधक वायुरूपसे (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) शुद्ध करनेवाली किरणोंसे तुल्य इस पवित्रसे (उत्पुनामि) मंत्रद्वारा पवित्र करता हूं । विधि–(३) फिर यही जलपूर्ण अग्निहोत्रहवणी बायें हाथमें लेकर इन्हीं कुशद्वयद्वारा तीसरे मन्त्रपाठकी समाप्तिपर्यन्त निरन्तर ऊपरको छिड़के [का० २ । ३ । ३९] मं०–(हे देवीः आपः) परमात्माके तेजसे प्रकाशमान जलो ! तुम (अद्य) आजके दिन (इमम्) इस वर्तमानयज्ञको (अग्रे, नयत) आगे प्रवृत्त अर्थात् निर्विघ्न समाप्त करो. कारण कि तुम (अग्रेगुवः) निरन्तर निम्नदेशमें गमन करते हो. तथा (अग्रेपुवः) प्रथम पवित्र करनेवाले हो, अथवा प्रथम सोमरसके पान करनेवाले हो. इस कारण हमारे (यज्ञपतिम्) यज्ञके अधिपति

यजमानको फलभोगनेके निमित्त प्रेरणा करो; कारण कि (सुधातुम्) दक्षिणादि-से यज्ञको पुष्ट करनेवाला विलक्षण धनी (यज्ञपतिं) यज्ञका पालन करनेवाला (देवयुवम्) देवताओंको यज्ञादिमें हविर्दान करनेकी इच्छा करता है, इस कारण इसको (अग्रेनयत) यज्ञमें अग्रेसर करो, जिससे यह हतोत्साह न हो ॥ १२ ॥

प्रमाण--"यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ" [श० १ । १ । ३ । १ ।] "योवा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्रम्" इति [श० १ । १ । ३ । ६] "इदंयुरिदं कामयमानम्" [निरु० ६ । ३१]

अभिप्राय-दूसरे मंत्रके विधानसे यही आशय है कि गायत्रीका अर्थ स्मरण करते हुए समस्तकार्य्य निजकर्तृत्वअभिमान दूर करके करने चाहियें, इससे आत्मा शुद्ध होगा. छिद्रशून्य वायु और सूर्यकिरण ये जैसे शोधक हैं. यह पदार्थ विद्यावाले जानते हैं. इस कारण इन दोनोंकाही शुद्ध करनेमें प्रधान दृष्टान्त ग्रहण किया है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र ४ ।

युष्मा इन्द्रोऽवृणीत वृत्रतूर्य्ये यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्रतूर्य्ये प्रोक्षिता स्थ ॥ अग्नये त्वा जुष्टम्प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यान्त्वा जुष्टम्प्रोक्षामि ॥ दैव्याय कर्म्मणे शुन्धध्वन्देवयज्यायै यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तच्छुन्धामि ॥ १३ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ युष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋष्यादि पूर्व (१२ कं०) सुक्तम् । (१) ॐ प्रोक्षितास्थेत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । आपो दे० । अपां प्रोक्षणे विनियोगः । (२) ॐ अग्नय इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृह० । लिङ्गोक्ता दे० । हविःप्रोक्षणे विनियोगः(३)।ॐ अग्नीषो-माभ्यामित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप्छं० । लि० दे० । हविःप्रोक्षणे विनि० । (४) ॐदैव्यायेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी छं० । पात्रं दैवतम् । यज्ञपात्रप्रोक्षणे विनियोगः ॥

विधि--इस मंत्रभागसे पूर्ववत् जल ऊर्द्धसंचालन करने चाहियें । मंत्रार्थ-हे जलो ! (इन्द्रः) इन्द्र देवता (वृत्रतूर्ये) वृत्रासुरवधके निमित्त होनेमें (युष्मा) तुमको (अवृणीत) सहायताके निमित्त स्वीकार करता हुआ

१ ॐ युष्मा इन्द्रो वृणीतेत्यस्य ऋषिः पूर्व (१२) मंत्रोक्तः प्रजापतिः । निचृदनुष्टुप्छंदः । इन्द्रो देवता । अपामूर्द्ध्वसंचालने विनियोगः । ऐसा पुस्तकांतरमें दीखताहै ।

(यूयम्) तुम भी वृत्रतूर्ये वृत्रवधके निमित्त उस (इन्द्रम्) इन्द्रदेवताको (अवृणीध्वम्) आत्मीयतामें स्वीकार करचुके हो [अर्थात् वृत्रके साथ जितने समयपर इन्द्रका संग्राम उपस्थित रहा उतने समयतक उसने तुमको आत्मीयतामें ग्रहण कियाथा, तुमनेभी उससे आत्मीयता स्वीकार की थी; इससे अबभी उनकी आत्मीयताके अनुरोधसे हमको इस महत् अनुष्ठानमें साहसी करो]

विधि-(१) इस मंत्रसे जलप्रोक्षण करे [का० २ । ३ । ३६] मं०-हे जलदेवी ! तुमसे यज्ञके समस्त पदार्थ प्रोक्षित होते हैं, इस कारण प्रथम तुमको (प्रोक्षिताःस्थ) प्रोक्षणकियाजाता है; [कारण कि संस्कारहीन दूसरेका संस्कार नहीं करसक्ते] । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अग्निभाग हवि प्रोक्षण करे, [का० २ । ३ । ३७ ।] विधि-(३) तीसरे मंत्रसेभी देवताका नाम लेकर हवि प्रोक्षण करे [का०७२ । ३८] मं०-हे हवि ! (अग्नये) अग्निदेवताके (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं (२) । हे हवि ! (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निसोमनामक देवताके (जुष्टम्) सेवनीय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं (३) । विधि-(४) कृष्णाजिन उलूखलादिको प्रोक्षण करे [का० २ । ३ । ३९] मं०-हे ऊखल मूसल प्रभृति यज्ञपात्रो ! (दैव्याय) तुम्हारा यह देवतागणका (कर्मणे) कार्य उपस्थित हुआ है । इस कारण इस कर्मके निमित्त (शुन्धध्वम्) इस प्रोक्षितजलसे शुद्ध हो (देवयज्यायै) इस देवसम्बन्धी यज्ञक्रिया दर्शकर्मके निमित्त शुद्ध होजाओ, और (अशुद्धाः) नीचजाति बढई आदिने (वः) तुम्हारा जो अंग (पराजघ्नुः) छेदन भेदन किया है उससे तुम अशुद्ध होगये हो इस कारण (तदिदम्) सो यह (वः) तुम्हारा अङ्ग (शुन्धामि) प्रोक्षणसे शुद्ध करता हूं ॥ १३ ॥

प्रमाण-"वृत्रतूर्य इति संग्रामनामसु पठितम्"-[निघं० २ । १७]

अभिप्राय-इस मंत्रका आशय यह है कि, देवरूप होकर देवताका यजन करे, स्वयं अशुद्ध किसीको शुद्ध नहीं कर सक्ता. इस कारण जलकाभी संस्कार करके पीछे यज्ञपात्रकी शुद्धि करे. अध्यात्म अर्थमेंभी परमात्मा से मन इन्द्रियोंके सुधार और पापनाशकी प्रार्थना है. इन्द्र और वृत्र, सूर्य और मेघका भी नाम है. यथा "वृत्र इति मेघनामसु पठितम्"-[निघं० १ । १०] परन्तु यहां जलशुद्धिमात्र प्रकरण है, इस कारण यह अर्थ नहीं किया जाता. शुद्धिमें नीचजातिका स्पर्श हुआ पदार्थभी प्रोक्षण करना लिखा है, फिर जो अस्पर्श जातिको वेदपाठादि और यज्ञकर्मका अधिकार कहते हैं, वे वेदविरुद्ध जानने चाहियें ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र ४ ।

शर्म्मास्यवधूतᳬ रक्षोऽवधूताऽअरातयोऽदित्यास्त्वगसि प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु ॥ अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐशर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः।दैव्यनुष्टुप् छं०। कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनादाने विनियोगः । (२) ॐअवधूतमित्यस्य प्र०। आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । रक्षो देवता । अरातिरक्षसामपहरणे विनियोगः । (३)ॐ अदित्या इत्यस्य प्रजा० । आसुर्यनुष्टु० । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनास्तरणे विनियोगः । (४) ॐ अद्रिरित्यस्य प्रजा० । याजुष्यनुष्टुप्० । उलूखलं दैवतम् ॥ उलूखलधारणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे कृष्णमृगचर्म हाथमें धारण करै [कात्या०२।४।१] मंत्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! तुम इस उलूखलके धारण करनेको (शर्म) सुखरूप वा उपयुक्त (असि) हो. [कृष्णमृगचर्म यह मानुषी नाम है, शर्म यह देवताओंका नाम है] । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस मृगचर्मको खोल कर झाड देना [का० २ । २ । २] मं०-(रक्षः) इस कृष्णाजिनमें तृण धूलि प्रभृति जो कुछ मलद्रव्य था और गुप्तरूपसे था वह (अवधूतम्) सब दूर हुआ (अरातयः) इस प्रकार इस यजमानके विद्वेषी शत्रुभी इससे (अवधूताः) पातित किये । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मृगचर्म भूमिपर बिछावे [का० २ । ४ । ३]मं०-हे कृष्णाजिन ! तुम (अदित्याः) इस अखण्ड पृथ्वीदेवताके (त्वक्) त्वचारूप (असि) हो. इस कारण (अदितिः) भूमि (त्वाम्प्रति) तुमको ग्रहण करके 'यह मेरी त्वचा है' इस प्रकार (वेत्तु) जाने । विधि-(४) चौथे मंत्रसे पातित मृगचर्मके ऊपर उलूखल स्थापित करै [का० २ । ४ । ४ । ९] मं०-हे उलूखल ! तुम यद्यपि (वानस्पत्यः) काष्ठके निर्मित हुये हो; परन्तु इस प्रकारसे दृढ हो कि (अद्रिः) पाषाणतुल्य (असि) हो । (पृथुबुध्नः) तुम्हारा मूलदेश स्थूलरूप है. [इस कारण मूसलके आघातके समय स्थिरतासे स्थिति कर सकते हो] । हे उलूखल ! इस कारण तुम (ग्रावासि) दृढतामें पाषाणतुल्य हो; (अदित्यास्त्वक्) नीचे बिछीहुई कृष्णाजिनरूप जो पृथ्वीकी त्वचा है वह (त्वाम् प्रति वेत्तु) तुम्हें आत्मीयभावसे जाने, अर्थात् निजशक्तिसे चैतन्य करै ॥ १४ ॥

प्रमाणगाथा-पहले यज्ञ देवताओंसे रूठकर कृष्णमृगका रूप धारण कर चलने लगा, तब देवताओंने यह जानकर उसकी त्वचा ग्रहण की; इस कारण यज्ञके

अङ्ग पूर्ण करनेको मृगचर्म बिछाते हैं "यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम"—[शतपथब्रा० १।१।४।१] "अदितिरिति पृथिवीनामसु पठितम्"—[निघं० १।१]

अभिप्राय—इसमें दुष्टजन्तु राक्षसआदिका निवारण तथा यजमानके शत्रुनिवारणकी प्रार्थना करके यज्ञीय सामग्रीके दृढ होनेके निमित्त ईश्वरसे विनयकी है तथा मृगचर्मकी शुद्धिमें हेतुवाद दिखायाहै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र ४ ।

अग्नेस्तनूरसि वाचोविसर्जनन्देववीतयेत्वागृह्णामि बृहद्ग्रावासिवानस्पत्यः सऽइदन्देवेभ्योहविः शमीष्वसुशमिशमीष्व ॥ हविष्कृदेहिहविष्कृदेहिहविष्कृदेहि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छं० । हविर्देवता । हविरावपने वि० । (२) ॐ बृहद्ग्रावेत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी जगती छं० । मुसलो देवता । मुसलादाने वि० । (३) ॐ सऽइदमित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषं छं० । मुसलो देवता । मुसलधारणे वि० । (४) ॐ हविष्कृदित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीपंक्तिश्छन्दः । वाग्वा पत्नी देवते । हविष्कृदाह्वाने वि० ॥

विधि–(१) तण्डुलआदि करनेको लाये और रक्षित हुए धान्य ग्रहण कर प्रथम मंत्रसे उलूखलमें डालै [कात्या० २।४।६] मंत्रार्थ–हे हविरूप धान्य ! तुम अग्निमें जब प्रक्षेप किये जाते हो तब अग्निकी ज्वाला बढती है, इस कारणसे तुम (अग्नेः) अग्निके (तनूः) शरीररूप (असि) हो. कारण कि तुम्हारी हवि डालतेही अग्निरूप होजाती हैं, और यह हवि (वाचोविसर्जनम्) यजमानका मौनव्रत त्यागन करनेसे 'वाचोविसर्जन' नामवाली है. [छठी कण्डिकामें जलके प्रणयन समय जो वाणी नियमित हुईथी, हविदानके समय उसका विसर्जन होता है] इस कारण (देववीतये) अग्निआदि देवताओंकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करता हू । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे मूसल ग्रहण करै [का० २।४।११] मं०–हे मूसल ! तुम यद्यपि (वानस्पत्यः) काष्ठके बने हो, तथापि (ग्रावासि) दृढतामें पाषाणके तुल्य हो. और दीर्घतामें (बृहत्) महान् हो. देवकार्यसिद्धिके– निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे मूसल उलूखलमें रक्षाको करै [का० २।४।१२]

सं०–(सः) सो हे मुसल ! तुम (देवेभ्यः) अग्निआदि देवताओंके उपकारके निमित्त (इदम्) इस व्रीहिरूप हविको (शमीष्व) भूसी आदिसे मुक्त करो (सुशमि) भली प्रकारसे इस कार्यको (शमीष्व) शान्त करो. जिससे चावलोंमें भूसी न रहे और अधिक टूट न जाँय [शान्ति दो प्रकारकी होती है, बाह्य और आन्तरिक. बाह्य तुष दूर करनेसे एक और अन्तरमालिन्य दूर करनेसे दूसरी. सो दोनों प्रकारका संस्कार करै] विधि–(४) चौथे मंत्रसे यजमान वा उसकी पत्नी अथवा उसकी आज्ञासे और जो यह तुषनिर्मुक्ति कार्य करै उनका आह्वान तीनवार करै [का० २ । ४ । १३] हे (हविष्कृत्) हवि प्रस्तुत करनेवाले ! (एहि) यहां आओ । (हविष्कृदेहि) हे हविका संस्कार करनेवाले ! यहां आओ (हविष्कृदेहि) हे हविका संस्कार करनेवाले ! यहां आओ [तीन वार उच्चारण करनेसे देवता मानते हैं, इस कारण तीन वार उच्चारण किया] ॥ १५ ॥

प्रमाण--शमु उपशमे व्यत्ययेन शपो लुक् । "तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके" इति ईडागमः [पा० ७ । ३ । ९५]

अभिप्राय--ईश्वरकी आज्ञा है कि सम्पूर्ण कार्य शान्तिसे निरभिमान मंत्रद्वारा करने चाहिये ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र ७ ।

कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वऽइषमूर्जमावद त्वया वयꣳ स
ङ्घातꣳ सङ्घातं जेष्म वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं
वेत्तु परापूतꣳ रक्षः परापूताऽअरातयोऽपहतꣳ रक्षो वा
युर्वो विविनक्तु देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रति
गृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना ॥ १६ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐकुक्कुट इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षीत्रिष्टुप् छन्दः । वाग्देवता । हविःकण्डने वि० । (२) ॐ वर्षवृद्धमित्यस्य प्र० । याजुषी गायत्रीछं० । शूर्पो देवता । शूर्पादाने वि० । (३) ॐ प्रतित्वेत्यस्य प्र० । याजुषीबृहती छंदः । हविर्देवता । हविरुद्वपने वि० । (४) ॐ परापूतमित्यस्य प्र० । आसुर्युष्णिक् छन्दः । रक्षो देवता । तुषाणामधःपातने वि० । (५) ॐ अपहतमित्यस्य प्र० । याजुषीगायत्री छं० । रक्षो दे० । कृष्णाजिनात्तुषनिरसने वि० । (६) ॐ वायुरित्यस्य प्र० । याजुष्युष्णिक् छन्दः । तण्डुलो देवता । स्थापितसतुषनिस्तुषयोः

पृथक्करणे वि० । (७) ॐ देव इत्यस्य प्र० । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । तण्डुलो देवता । पात्रीस्थतण्डुलाभिमन्त्रणे वि० ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त एक ऋत्विक् प्रथममंत्र पाठ करके शम्याद्वारा शिलापर दोवार और ऊपरके छोटे पत्थर (लोढे) पर एक बार आघात करे [का० २ । ४ । १५] मंत्रार्थ-(१) हे शम्यारूप यज्ञायुधविशेष ! तुम (कुक्कुटः) असुरोंके निमित्त कठोर शब्द करनेवाले (असि) हो, [अथवा असुर कहां हैं ? इस प्रकार जो उन्हें मारनेके निमित्त सर्वत्र संचरण करे वह कुकुट अथवा कुत्सित शब्द करनेसे कुकुट अथवा कुकुट पक्षीके समान असुरोंके भय देनेवाली ध्वनि करनेसे कुक्कुट कहा है] ऐसे होकरभी तुम देवताओंको (मधुजिह्वः) मधुरभाषी हो [मधुजिह्वनाम देवताओंका कोई भृत्यभी है] हे आयुध ! अपने शब्दसे हमारे अराति और असुरोंका हृदय विदीर्ण करते यजमानके निमित्त (इषम्, ऊर्ज्जम्, आवद) अन्नरस जिसप्रकार प्राप्त हो वैसा शब्द करो. वा यज्ञके फलसे देशमें अन्न और जल अधिक हो यही प्रार्थना है, वा तुम्हारे शब्दसे असुरोंके पराभव होनेसे उनका अन्नरस यजमानको प्राप्त हों. (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (वयम्) हम (सङ्घातं-सङ्घातं) असुरोंके साथ किये हुए संग्रामसमूहोंको (जेष्म) जीतैं । विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे शूर्प ग्रहण करे [का० २।४।१६] मं०-हे शूर्प ! तुम (वर्षवृद्धम्) वृष्टिके जलसे बढनेवाली बाँसकी शलाकाओंसे निर्मित हुए (असि) हो । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे उलूखलमें रक्खे हुए तुषहीन चावल इस छाजमें ग्रहण करे [का० २ । ४ । १७] हे हवि तण्डुल ! (वर्षवृद्धम्) तुम वृष्टिजलसे वृद्धिको प्राप्त हुए हो, और इसी प्रकारसे यह शूर्पभी वृद्धिको प्राप्त हुआ है, इस कारण (त्वा) तुमको (प्रतिवेत्तु) आत्मीय जानै. इसके साथ स्थित हो । विधि-(४) चौथे मन्त्रसे फटक कर यह भूसी चावलोंसे पृथक् करदे उडादे [का०२।४।१८] मं०-(रक्षः) भूसीआदि विरोधी द्रव्य और असुर (परापूतम्) दूर हुए अर्थात् जैसे भूसी पृथ्वीमें पटकी इसी प्रकार राक्षस पृथ्वीमें पातित किया. (अरातयः) हविके प्रतिकूल आलस्यादि और शत्रु (परापूताः) दूर हुए । विधि-(५) पांचवें मन्त्रसे हविमेंसे भूसी कंकरादि दूर करे [का०२। ४। १९] (रक्षः) हविसम्बन्धी समस्त बाधा (अपहतम्) दूर लेजाकर नष्ट की, अर्थात् भूसी आदि दूर फेंक दो । विधि-(६) छठे मन्त्रसे सूक्ष्म कण धूलि आदि उडादे [का० २।४।२०] मं०-हे तण्डुलो शूर्प चालनसे उठी हुई (वायुः) पवन (वः) तुमको (विविनक्तु) सूक्ष्मकणोंसे पृथक् करै । विधि-(७) सातवें मन्त्रसे भूसी आदि विहीन सम्यक् संस्कार किये चावलोंको अच्छिद्र अञ्जलिद्वारा शूर्पमेंसे दूसरे पात्रमें धरे [का० २ । ४ । २१]

भा०–हे चावलों ! (सवितादेवः) सब जगत्के प्रेरणा करनेवाले सविता देवता जो कि (हिरण्यपाणिः) सुवर्णके अलङ्कार धारण किये हैं वा सुवर्णमय हाथवाले हैं वे (अच्छिद्रेण पाणिना) अंगुली मिलेहुए छिद्ररहित अपने हाथोंसे (वः) तुमको (प्रतिगृभ्णातु) पात्रान्तरमें ग्रहण करैं ।

प्रमाण–"इषमित्यन्ननामसु पठितम्"–[निघं० २ । ७ ।] "संघात इति संग्रामनामसु पठितम्"–[निघं० २ । १७ ।] "ज्योतिर्वै हिरण्यम्" [शत०६।७।१ ।२।]

अभिप्राय–परमेश्वरकी आज्ञा है कि यज्ञसे अच्छी वृष्टि, आलस्यादिका नाश, यजमानके बलकी वृद्धि, संग्राममें जय और दुष्ट पदार्थोंका त्याग होता है; इस कारण यज्ञके योग्य प्राणियोंको अभिमानरहित होकर परमात्मामें स्थित सब पदार्थोंको देवरूप चिन्तन करना चाहिये ॥ १६ ॥

गाथा–इस कण्डिकाके पहले और सातवें मंत्रमें गाथाभी मिश्रित है. राजा मनुके यहां एक वृषभ था उसमें असुरघ्नी वाणी प्रविष्ट थी. जिस समय वह शब्द करता उसके सुनतेही असुर मरजाते थे, तब किलाताकुली नामक दो असुरऋत्विक् इस भयके दूर करनेके निमित्त छद्मवेश धारण कर मनुके पास जाकर उनसे आत्मीयता करके वञ्चित कर उस वृषभका यज्ञ करानेको कहा, तब देवताओंकी चातुरीसे वह वाणी उसमेंसे निकलकर मनुकी स्त्रीके मुखमें प्रविष्ट हुई तब फिर असुरोंको बडी चिन्ता हुई फिर कौशल कर उस पत्नीको यजन करानेको कहा तब वह वाणी उससे निकल कर यज्ञके पात्रोंमें प्रविष्ट हुई, और वह मन्त्र नष्ट न हुआ. तबसे ऋत्विकगण असुरोंके किये उपद्रव शान्त करनेके निमित्त इस शम्यासे पत्थर शिलापर दृढ आघात करते हैं, इसके शब्दसे वह असुरनाशक मंत्रका शब्द प्रगट होता है, जिससे कि असुर और उनका उपद्रव सब नाश होता है. इस कारण शम्याआदि यज्ञका आयुध कहीजाती है [श० १ । १ । ४ । १४] बह्वृचब्राह्मणमें लिखा है कि एक समय दैत्योंके प्राशित्र शस्त्रप्रहारसे सविता देवताके हस्त छिन्न हुए तब देवताओंने उनके सुवर्णके हस्त सम्पादन किये इस कारण हिरण्यपाणि कहा है ।

कण्डिका १७–मंत्र ४ ।

धृष्टिर॒स्यपा॑ग्नेऽअ॒ग्निमा॒माद॑ञ्जहि॒ निष्क्र॒व्याद॑ꣳ सेधा॑देव॒यजं॑ वह ॥ ध्रु॒वम॑सि पृथि॒वीन्दृꣳह ब्रह्म॒वनि॑ त्वा क्षत्र॒वनि॑ सजात॒वन्युप॑दधामि॒ भ्रातृ॑व्यस्य व॒धाय॑ ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐधृष्टिरित्यस्य प्र०ऋ०। दैवीबृहती छन्दः। उपवेषो देवता उपवेषादाने वि०।(२) ॐ अपाग्न इत्यस्य प्र०। प्राजापत्यानुष्टुप्०। उपवेषो दे०। अङ्गारापोहने वि०। (३) ॐ आदेवयजनमित्यस्य प्र०। दैवीजगती छं०। उपवेषो दे०। अङ्गाराहरणे वि०। (४) ॐ ध्रुवमित्यस्य प्र०। याजुषं०। कपालो देवता। अङ्गाराच्छादने वि० ॥

विधि–(१) प्रथम मन्त्रसे उपवेष ग्रहण करै [का० २। ४। २६] (ढाककी शाखाके मूलदेशसे छिन्न किया स्थूलांश काष्ठ उपवेष कहाताहै) मन्त्रार्थ–हे उपवेष ! तुम तीव्र अङ्गारोंको इधर:उधर चलानेमें समर्थ हो इस कारण (धृष्टिः) प्रगल्भ (असि) हो। विधि–(२) तीन अग्नि होतीहैं (आमात्) कच्चे पदार्थको खानेवाली लौकिकअग्नि; (क्रव्यात्) शवदाहमें मांसभक्षण करनेवाली चिताग्नि. और तीसरी (यागयोग्य) यजनकरने योग्य. इसमें देवताओंके उद्देश्यसे पक्वपुरोडाशादि हवि दीजाती है. सो तीन अंगारोंको गार्हपत्य अग्निसे प्राग्भागमें पृथक् करके यज्ञकी योग्यतासे हीन आमात् और क्रव्यात् अग्निके निवारणकरनेको गार्हपत्यअग्निके प्रति कहते हैं [का० २। ४। २६] मं०–(अग्ने) हे आहवनीय अग्ने ! (आमादमग्निम्) आमादूअग्निको (अपजाहि) त्यागन कर। तथा (क्रव्यादम्) क्रव्याद् अग्निको (निःषेध) विशेष करके दूर निवारण कर। विधि–(३) तीसरे मन्त्रसे तीसरी अग्निके आविर्भावकी प्रार्थना कर अंगार लावे [का० २। ४। २७] मं०–हे गार्हपत्य अग्नि ! (देवयजम्) देवताओंके यजनयोग्य तीसरे अंगारेको (आ वह) समीप लाओ. आविर्भूत कर। विधि–(४) फिर कितने एक अंगारोंको स्थापन कर चौथे मंत्रसे देवयजन अंगारेको कपाल (सिकोरे) से ढक कर रक्षा करें [का० ४। २। २७] मं०–हे कपाल! (त्वम्) तुम (ध्रुवमसि) स्थिर हो, इस स्थानमें दृढतासे स्थित रहो (पृथिवीम्) इस स्थानकी भूमिको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् पुरोडाश पाक करते समय तुम्हारे किये: व्यवधानसे पृथिवीकी दाहद्वारा शिथिलता न हो। किञ्च (ब्रह्मवनि) हविसिद्धिके निमित्त ब्राह्मणसे स्वीकारयोग्य (क्षत्रवनि) क्षत्रियोंसे स्वीकारयोग्य (सजातवनि) समानकुलमें उत्पन्न यजमानके ज्ञातिजनोंके पुरोडाश हवि प्रस्तुत करनेके योग्य (त्वा) तुमको (भ्रातृव्यस्य) शत्रु, असुर, वा पापके (वधाय) नाश करनेके निमित्त (उपदधामि) अंगारेपर स्थापन करता हूं, अर्थात् निर्विघ्न पुरोडाशके कार्य्यमें नियुक्त करता हूं ॥ १७ ॥

प्रमाण–अपजहि "व्यवहिताश्च" इति [पा० १। ४। ८२] क्रियापदोपसर्गयोर्व्यवधानम्।

अभिप्राय–इस मंत्रसे यह लिखाया है कि जो कार्य्य जिस योग्य है उसको उसी प्रकारसे करना. जैसे तीन अग्नि अपने २ कार्य्यमें पृथक् वरण की गई हैं, तथा ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य तीनवर्ण विशेष कर यज्ञ को सम्पादन करैं गार्हपत्य अग्नि हमारे यहां रहै ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र ६।

अग्नेब्ब्रह्मगृब्भ्णीष्ष्वधरुणमस्यन्तरिक्षन्दृꣳहब्ब्र
ह्मवनित्वाक्षत्रवनिसजातवन्युपदधामिब्भ्रातृव्य
स्यवधाय ॥ धर्त्त्रमसिदिवन्दृꣳहब्ब्रह्मवनित्वाक्ष
त्रवनिसजातवन्युपदधामिब्भ्रातृव्यस्यवधाय ॥
विश्श्वाब्भ्यस्त्वाशाब्भ्यऽउपदधामिचितस्त्थोर्द्ध्व
चितोभृगूणामङ्गिरसान्तपसातप्यद्ध्वम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ अग्न इत्यस्यप्र०ऋ० ।याजुषीउष्णिक्० । अग्निर्देवता । सव्याङ्गुल्या शून्येऽङ्गारोपनिधाने विनियोगः । (२) ॐ धरुणमित्यस्य प्र० । याजु० । कपालो देवता । मध्यमकपालस्य पश्चाद्द्वितीयकपालोपधाने विनियोगः । (३) ॐ धर्त्रमित्यस्य प्र० । आर्षी त्रिष्टुप्० । कपा० दे० । प्रथमस्य पूर्वभागे तृतीयकपालोपधाने विनियोगः । (४) ॐ विश्वाभ्य इत्यस्य प्र० । याजुषीत्रिष्टुप्० । कपा० दे० । प्रथमकपालस्य दक्षिणे चतुर्थकपालोपधाने विनियोगः ।(५) ॐ चित इत्यस्य प्र० । याजुषी गायत्री छं० । कपालो दे० । पुरोडाशकपालोपधाने विनियोगः । (६) ॐ भृगूणामित्यस्य प्र० । आसुर्य्यनुष्टुप्० । कपालो देवता । अङ्गारैः कपालाच्छादने विनियोगः ॥

विधिः–(१) प्रथम मंत्रको पढ़ कर वाम हाथकी अंगुलीसे एक अंगार शून्यमें स्थापित करै [का० २ । ४ । ३०] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे शून्यस्थानमें क्षिप्त अग्नि ! (ब्रह्म) हमारे द्वारा संपादन किये बृहत् यज्ञानुष्ठानको (गृभ्णीष्व) ग्रहण कर बाधा शून्य करो. [विघ्नकारी राक्षसवधद्वारा अनुग्रह करो, अथवा 'ब्रह्म' मुझ ब्राह्मणपर अनुग्रह करो] विधि–(२) दूसरे मन्त्रसे पूर्वमें स्थापित कपालके पीछे एक और कपाल स्थापन करै [का० २ । ४ । ३१] मं०–हे द्वितीय कपाल ! तुम (धरुणम्) पुरोडाशके धारण

करनेवाले (असि) हो. इस कारण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् पुरोडाशके पकानेसे उत्पन्न हुई अग्निसे अन्तरिक्षमें कोई उपद्रव उपस्थित न हो. [यद्यपि यह कपाल ज्वाला और अन्तरिक्षके मध्यमें व्यवधायक नहीं है, तथापि अन्तरिक्षदृढताके निमित्त कपालदेवतासे प्रार्थना है] (ब्रह्मवनि) ब्राह्मण (क्षत्रवनि) क्षत्रिय (सजातवनि) समानजातीय वैश्यसे स्वीकारयोग्य पुरोडाश हविके सम्पादन करने और (भ्रातृव्यस्य) शत्रु, असुर, पाप, वा बाधाके (वधाय) नाश करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (उपदधामि) नियुक्त करता हूं। विधि–(३) तीसरे मंत्रसे पूर्वस्थापित कपालके पूर्वभागमें तीसरे सिकोरेको स्थापित करै [का० २ । ४ । ३२] मं०–हे तृतीय कपाल ! तुम (धर्त्रम्) पुरोडाशके धारण करनेवाले (असि) हो. (दिवम्) द्युलोकको (दृंह) दृढ करो. अर्थात् ज्वालासे द्युलोकमें कोई उपद्रव न हो (ब्रह्मवनि क्षत्रवनि सजातवनि त्वा भ्रातृव्यस्य वधाय उपदधामि) ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन तीन वर्णोंसे सम्पादित पुरोडाश हवि प्रस्तुत करने और बाधा दूर करनेके कार्यमें तुमको नियुक्त करता हूं। विधि–(४) चौथे मंत्रसे पूर्व स्थापित कपालके दक्षिणभागमें चौथा कपाल स्थापित करै [का० २ । ४ । ३३] मं०–हे चतुर्थ कपाल ! (विश्वाभ्यः) सम्पूर्ण (आशाभ्यः) दिशाओंके दृढ करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (उपदधामि) स्थापन करता हूं। विधि–(५) पंचम मंत्रसे इन चारों कपालोंके उत्तरमें दो कपाल और दक्षिणमें दो कपाल ऐसे चार कपाल स्थापन करै [का० । २ । ४ । ३४] मं०–हे चारों कपालो ! तुम (चितःस्थ) पृथक् कपालके वृद्धिकारक अर्थात् सहायक हो. तथा ऊर्ध्वस्थित दूसरे कपालोंके उपकारी हो। विधि–(६) छठे मंत्रसे आठों कपालोंके नीचे चारों ओर अच्छी प्रकारसे अंगारे स्थापन करै [कात्या० २ । ४ । ३८] मं०–हे सम्पूर्ण कपालो ! तुम (भृगूणामङ्गिरसाम्) भृगु और अंगिरस वंशवाले देवर्षियोंके (तपसा) तपरूप अग्निसे (तप्यध्वम्) तप्त हो (इस अग्निका वही रूप ध्यान करै) ॥ १८ ॥

प्रमाण–"अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा" [निरु २ । १०]

अभिप्रायादि–इस मंत्रमें पुरोडाशके निमित्त कपाल स्थापन है. पहले चारोंमें तीन कपालके स्थापनसे यजमान तीन लोकका जय करता है चौथेसे सब दिशाओंको जय करताहै. आशय यह है कि, यह पुरोडाश लोकत्रयरूप होकर देवताओंको तृप्त करता है. तथा अग्निदेवताके निमित्त जो पुरोडाश किया जाताहै वह आठ कपालोंमें किया जाता है, इसी कारण अग्निको अष्टाकपाल कहते हैं.

(६) हे मंत्रका विशेष पहले अग्निका व्यवहार विशेषरूपसे नहीं जाना गयाथा; भृगुने प्रथम इसका व्यवहार प्रकाश किया है. इस कारण उनके तपसे तपना कहा. सामवेद छन्दआर्चिक प्रथम प्रपाठकका नवम और अठारहवां मंत्र देखो, और "प्राणो वा अंगिराः"–[श०] से प्राणभी कोई ग्रहण करते हैं. परमात्माकी आज्ञा है कि जब यज्ञसे श्रेष्ठकर्ममें त्रिलोक दिशा अन्तरिक्षादिकी शान्ति चिन्तन की जाती है, इसी प्रकार सब प्राणीमात्रका हित विचार करना चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र ६ ।

शर्मास्यवधूतꣳरक्षोवधूताऽअरातयोदित्या
स्त्वगसिप्रतित्त्वादितिर्वेत्तु॥धिषणासिपर्वतीप्र
तित्वादित्यास्त्वग्वेत्तुदिवस्कम्भनीरसिधिष
णासिपार्वतेयीप्रतित्वापर्वतीवेत्तुधान्यमसि॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐशर्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । दैव्यनुष्टुप् छन्दः । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनादाने विनियोगः । (२) ॐ अवधूतमित्यस्य प्र० । आसुर्यनुष्टुप छन्दः ! रक्षो देवता । अरातिरक्षसामपहरणे विनियोगः । (३) ॐ अदित्या इत्यस्य प्र० । आसुर्यनु० । कृष्णाजिनं दैवतम् । कृष्णाजिनास्तरणे विनियोगः । (४) ॐ धिषणेत्यस्य प्र० । आसुरीगायत्री छन्दः । तुष्टा देवता । कृष्णाजिने शिलास्थापने विनियोगः । (५) ॐ दिव इत्यस्य प्र० । याजुष्युष्णिक् छं० । शम्या देवता । दृषदः पश्चाद्भागेऽधस्ताच्छम्यास्थापने विनियोगः । (६) ॐ धिषणेत्यस्य प्र० । प्राजापत्या अनुष्टु० । उपला दे० । उपलाग्रहणे विनियोगः ॥

विधि–प्रथम मन्त्रसे तीसरे मंत्रतकको व्याख्या और कार्य चौदहवीं कण्डिकामें लिख चुके हैं. मृगचर्मग्रहण, राक्षसदूरीकरण, और मृगचर्मका बिछाना, ये तीन कार्य तीनों मंत्रोंसे करने [का० २ । ५ । २] मन्त्रार्थ–(१) हे कृष्णाजिन ! तुम शिलाके धारण करनेको (शर्म) सुखरूप वा उपयुक्त (असि) हो. मं०–(२)–(रक्षः) इस कृष्णाजिनमें तृण धूलिप्रभृति जो कुछ मलद्रव्य था और गुप्तरूपसे था वह (अवधूतम्) सब दूरहुआ (अरातयः) इसप्रकार इस यजमानके विद्वेषी शत्रुभी इससे (अवधूताः) पातित किये । मं०–(३) हे कृष्णाजिन ! तुम (अदित्याः) इस अखंड पृथ्वी देवताके (त्वक्)

त्वचारूप (असि) हो. इसकारण (अदितिः) भूमी (त्वां प्रति) तुमको ग्रहण करके 'यह मेरी त्वचा है' इसप्रकार (वेत्तु) जाने । विधि-(४) चौथे मंत्रसे बिछाये हुए कृष्णाजिनके ऊपर शिला स्थापन करै [का० २ । ५ । ३] मंत्रार्थ-(४) हे पीसनेकी आधारभूत शिल ! (पर्वती) पर्वतके खण्डसे उत्पन्न हुई तुम (धिषणासि) बुद्धिकर्मको व्याप्त वा धारण करनेवाली हो [पर्वत जिस प्रकार स्थिरभावसे वृक्ष गुल्मादिको धारण करते हैं. इसी प्रकार तुम तण्डुलोंको धारण करो] (अदित्याः) पृथ्वीकी (त्वक्) त्वचा यह मृगचर्म है. और तुम पृथ्वीके अस्थिरूप हो सो इसप्रकार परस्पर (त्वा) तुम्हारा परमभाव (प्रतिवेत्तु) दृढतासे जानकर आलिंगन करै । विधि-(५) पंचम मंत्रसे इस शिलाखण्डके पश्चाद्भागमें शम्या स्थापन करै [का० २ । ५ । ४ । मं०-हे शम्या ! तुम (दिवः) द्युलोककी (स्कम्भनीः) स्तम्भन करनेवाली (असि) हो [इस कारण इस शिलाको स्तम्भन करनेमें] अवश्य समर्थ हो [गिरनेसे रक्षा करै. इस कारण अन्तरिक्षरूपसे कहा] विधि-(६) छठे मंत्रसे शिलापर उपल ग्रहण करै [का०२।५।५] मं०-हे शिलवट्टे ! तुम (धिषणासि) पीसनेके व्यापार धारण करनेवाली हो । एवं (पार्वतेयी) पर्वतसे उत्पन्न हुई नीचेकी शिलाकी पुत्रीरूप हो. इस कारणसे (पर्वती) यह पर्वतकी शिला माताके समान (त्वा) तुमको (प्रतिवेत्तु) पुत्रीभावसे जानकर वक्षःस्थलमें धारण करै ॥ १९ ॥

प्रमाण-"अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे"-[श० १ । २ । १ । १६] "कनीयसी ह्येषा दुहितेव भवतीति"-[श० १ । २ । १ । १७]

अभिप्राय यज्ञके पदार्थोंको अपने विज्ञानसे एकत्र करके यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये. इससे विद्या, बल और बुद्धिकी वृद्धि होती है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र ७ ।

धान्यमसि धिनुहि देवान्प्राणाय त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धान्देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णात्वच्छिद्रेण पाणिना चक्षुषे त्वा महीनां पयोऽसि ॥ २० ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐधान्यमित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृहती छं०।हविर्देवता । शिलोपरि तण्डुलावपने वि० ।(२) ॐ प्राणायेत्यस्य प्र० । दैवी

पंक्तिश्छन्दः । हविर्दे० । पेषणे वि० । (३) ॐ उदानायेत्यस्य प्र० । दैवीपंक्तिश्छंद । हविर्दे० । पेषणे वि० । (४) ॐ व्यानायेत्यस्य प्र० । दैवी बृहती० । हविर्दे० । पेषणे वि० । (५) ॐ दीर्घामित्यस्य प्र० । आर्षी त्रिष्टुप्० । हविर्दे० । कृष्णाजिने पिष्टपातने वि० । (६) ॐ चक्षुष इत्यस्य प्र० । दैवी बृहती० । हविर्दे० । पिष्टेक्षणे वि० । (७) ॐ महीनामित्यस्य प्र० । दैवीत्रिष्टुप्० । आज्यं दैवतम् । पिष्यमाणेष्वाज्यनिर्वपण वि० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे शिलाके ऊपर चावलोंको ग्रहण करै [का० २।५।६] मंत्रार्थ–हे हवि ! तुम (धान्यमसि) धान्यसम्भूत तृप्ति करनेवाली हो. इस कारणसे (देवान्)अग्निआदि देवताओंको(धिनुहि)प्रसन्न प्रीतिमान् करो । विधि–(२–३–४) दूसरे तीसरे व चौथे मंत्रसे चावलोंको पीसै [का० २ । ५ । ६] मं०–(प्राणाय) हे हवि ! जो प्रकृष्टतासे सदा मुखमें चेष्टा करता है उसप्राणके वृद्धिके निमित्त मैं यजमान (त्वा) तुमको पीसता हूं (२). (उदानाय) ऊर्ध्वमें चेष्टा करनेवाले उदानकी वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको पीसताहूं (३). (व्यानाय) सब शरीरमें व्याप्त होकर चेष्टा करनेवाले व्यानकी वृद्धिके निमित्त मैं यजमान (त्वा) तुमको पीसताहूं [देवताओंकी सजीव हवि होती हैं, इस कारण इन मंत्रोंसे सजीव की-जाती है] (४) । विधि–(५) पांचवें मत्रसे ये चावल अच्छिद्र अंगुलीसे कृष्णाजिनपर गिरावे [का० २ । ५ । ७] मं०–हे हवि ! (दीर्घाम्) अविच्छि (प्रसितमनु) कर्मकी सन्ततिको विचार कर (आयुषे) यजमानकी आयुवृद्धिके निमित्त तुमको (धाम्) कृष्णाजिनपर धारण करता हूं । [यजमानकी आयु बढेगी तो कर्मका विस्तार होगा. वा हविके निमित्त कहते हैं कि हे हवि ! दीर्घ कृष्णाजिनपर दीर्घायुके निमित्त तुमको धारण करताहूं. पूर्व मंत्रसे प्राणदान कीहुई हविको अब दीर्घायुयुक्त किया] (हिरण्यपाणिः) सुवर्ण वा ज्योतिरूप वा मोक्षरूप हाथवाले (सविता देवता) सबके प्रेरक सविता देवता (अच्छिद्रेण) छिद्ररहित (पाणिना) हाथसे (प्रतिगृभ्णातु) तुमको ग्रहण करैं । विधि–(६) छठे मंत्रसे हविको निरीक्षण करै [का० २ । ५ । ८] मं०–हे हवि ! (चक्षुषे) यजमानकी चक्षुरिन्द्रियकी उत्कर्षता साधनके निमित्त (त्वा) तुमको देखताहूं । अथवा हे हवि ! तुमको चक्षुरिन्द्रिय देनेके निमित्त देखताहूं[सजीव हवि कर अब उसको नेत्रयुक्त किया] । विधि–(७) सातवें मंत्रसे इसमें गौका घी मिलावै [का० २ । ५ । ९] मं०–हे घृत ! तुम (महीनाम्) गौओंके (पयोसि) दूध हो [दूधसे उत्पन्न होनेसे घीको पय कहा है] ॥ २० ॥

प्रमाण—"महीति गोनाम"—[निघं० २ । ११] "अमृतं हिरण्यम्"—[श० ६ । ७ । १ । २]

अभिप्राय—यज्ञसे शुद्ध हुए पदार्थ वृद्धि, पराक्रम और दीर्घायु बढ़ानेके लिये समर्थ होते हैं. इस कारण यज्ञका अनुष्ठान निरन्तर परमेश्वरकी प्रार्थनापूर्वक करना चाहिये. यज्ञके पदार्थोंके सम्बोधनसे उनमें स्थित परमात्माकाही सम्बोधन जानना ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र ३ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ संवपामि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन ॥ सँ रेवतीर्जगतीभिः पृच्यन्ताँ सं मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्याबृहती छं० । सविता देवता । सपवित्रपात्र्यां पिष्टावपने विनियोगः । (२) ॐ संवपामीत्यस्य प्र० । दैवीबृहती छं० । हविर्देवता । पिष्टावपने विनियोगः । (३) ॐ समाप इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषं छं० । आपो देवता । उपसर्जन्यानयने, पवित्राभ्यामुपसर्जनीग्रहणे च विनियोगः ॥

विधि–(१–२) प्रथम और द्वितीय मंत्र पढकर पवित्रसंयुक्त पात्री (स्रुवाजुहूआदि) से यह पिसे चावल ग्रहण करे [का० २ । ५ । १०] मंत्रार्थ—हे पिष्ट ! (सवितुः) सबकी प्रेरणा करनेवाले परमात्मा (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंद्वारा (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंकी सहायतासे तुमको (संवपामि) पात्रीके मध्यमें डालता हूं । विधि–(३) अगले मंत्रसे इस पिष्टसमुदायमें उपसर्जनी शिल धोया हुआ जल मिलावे [का० २ । ५ । १२ । १३] इस जलको अध्वर्यु पवित्रीद्वारा ग्रहण करे । मंत्रार्थ—(आपः) हे उपसर्जनीभूत जल ! (ओषधीभिः) पिष्टरूप धान्यओषधियोंसे (सम्पृच्यन्ताम्) सम्यक् प्रकारसे मिलो. तथा (ओषधयः) ये पिसे हुए चावल (रसेन) उपसर्जनीभूत जलसे (सम्पृच्यन्ताम्) अच्छीप्रकार मिलो; क्यों कि जल ओषधियोंका रस है तथा (रेवतीः) इस उपसर्जनमें जो रेवतीनाम जलभाग है वह (जगतीभिः) इस पिष्टसमुदायमें जगतीनामके सहित (सम्पृच्यन्ताम्) अच्छी

प्रकार मिश्रित हो । (मधुमतीः) इस उपसर्जनमें जो मधुमती नाम जलका भाग है सो वह (मधुमतीभिः) इस पिष्टसमुदायके माधुर्य्यके सहित (सम्पृच्यन्ताम्) मिश्रित हो ॥ २१ ॥

प्रमाण-"रेवत्य आपो जगत्य ओषधय इति"-[श० १ । २ । २ । २ ।] "ओषधय ओषध्यन्तीति वौषत्येनाधयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा"-[निरु०९। २७] फलपाक होनेपर जिस सम्पूर्ण वृक्षका नाश होजाय उसे औषधी कहते हैं इस कारण धान्य गोधूम औषधी कहाते हैं ॥ २१ ॥

अभिप्राय-परमात्माकी आज्ञा है कि सब कार्यमें परमात्माकी सहायता मानकर उसको करना चाहिये और पदार्थोंके सम्मेलन व्यवहारकोभी भलीप्रकार जानना चाहिये ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र ८ ।

जनयत्यै त्वा संयौमीदमग्नेरिदमग्नीषोमयोरिषे त्वा घर्मोऽसि विश्वायुरुरुप्रथाऽउरुप्रथस्वोरु ते यज्ञपतिःप्रथतामग्निष्टे त्वचम्मा हिꣳसीद्देवस्त्वा सविताश्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐजनयत्यै त्वेत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । हविर्देवता । अप्पिष्टमिश्रीकरणे विनियोगः । (२-३) ॐ इद-मित्यस्य प्र० । दैवीबृहती० । हवि० । ॐ इदमित्यस्य प्र० । दैवी जगती० । हविर्दे० । पिण्डद्वयस्यालंभने विनियोगः । (४) ॐ इषे त्वेत्यस्य प्र० । दैव्यनुष्टप्छं० । आज्यं दैवतम् । आज्याधिश्रयणे विनियोगः । (५) ॐ घर्म इत्यस्य प्र० । याजुषीगायत्री० । पुरोडाशो देवता । पुरोडाशा-धिश्रयणे विनियोगः । (६) ॐ उरुप्रथा इत्यस्य प्र० । आर्षीगायत्री० । पुरोडा० दे० । पुरोडाशस्य पृथक्करणे विनियोगः । (७)ॐ अग्न इत्यस्य प्र० । प्राजापत्या गायत्री० । पुरोडाशो दे० । अद्भिरभिमर्शने विनि-योगः (८) ॐ देवइत्यस्य प्र० । प्राजापत्यानुष्टुप्० । पुरोडाशो देवता । पुरोडाशश्रपणे वि० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उपसर्जनी जलको पिष्टसमुदायमें भली प्रकार मिलावै [का० २ । ५ । १४] मंत्रार्थ-हे उपसर्जनी और पिष्टसमुदाय !

(जनयत्यै) पुरोडाश प्रस्तुत करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (संयौमि) भले प्रकारसे मिश्रित करता हूं. अथवा (जनयत्यै) यजमानके सन्तानउत्पत्तिके निमित्त तुमको मिलाता हू. [जैसे जल पिष्ट मिलते हैं; इस प्रकार शुक्रशोणित मिलनेसे प्रजा उत्पन्न होती है] विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे दो पिण्ड करके एक पिण्ड अग्निके भागके निमित्त रक्खे [का० २ । ५ । १५] मन्त्रार्थ-(इदम्) यह भाग (अग्नेः) अग्निसम्बन्धि हो, [ऐसा कह प्रथम पिण्ड स्पर्श करे] विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे अग्नीषोम नामक दोनों देवताओंको भाग निरूपण करे [कात्या०५।५।१७] मन्त्रार्थ-(इदम्) यह भाग (अग्नीषोमयोः) अग्नि सोम नामक दो देवताओंका है [ऐसा कह दूसरे पिण्डको स्पर्श करे] विधि-(४) चौथे मंत्रसे पूर्वस्थापित अष्टकपालमें पुरोडाशपाकके उपयुक्त गौका घी मिलावे [का० २ । ५ । १७] मन्त्रार्थ-हे आज्य ! (इषे) देवगणके अन्न प्रस्तुत करनेके निमित्त तथा वर्षाके निमित्त (त्वा) तुमको इस तप्त आठ कपालोंमें डालताहूं । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे तापे हुए घीमें पुरोडाश डाले [का० २ । ५ । १९] मन्त्रार्थ-हे पुरोडाश ! तुम (घर्मोसि) इस घृतके ऊपर देदीप्यमान हो. तथा (विश्वायुः) हमारा यजमान इस कार्यसे दीर्घायुको प्राप्त हो । विधि-(६) छठे मन्त्रसे आठ कपालोंमें तत्ते नये घृतमें डाले हुए पुरोडाशको चलाकर भूने [का० २ । ५ । २०] मन्त्रार्थ-हे पुरोडाश ! तुम स्वभावसेही (उरुप्रथाः) विस्तीर्ण हो. इस कारण अब भी (उरुप्रथस्व) इस कपालमें भी भले प्रकार विस्तृत अर्थात् व्याप्त हो. किञ्च (ते यज्ञपतिः) तेरा यह यजमान (उरु) विस्तीर्ण पुत्र पशु आदिसे (प्रथताम्) सबलोकमें प्रख्यात हो । विधि-(७) सातवें मंत्रसे इसमें जल डाले [का० ५ । २ । २१] हे पुरोडाश ! पक्व करनेमें प्रवृत्त हुई (अग्निः) पावक (ते) तेरी (त्वचम्) त्वचाके सदृश ऊपरके भागको (माहिंसीत्) विनाश न करे. अर्थात् अतिदाहसे श्यामता न हो जाय. [इसी अभिप्रायसे जलसेक करते हैं । अववात पेषण भूननेसे उत्पन्न हुआ हविका उपद्रव जलस्पर्शसे शान्त हो जाय, यह अभिप्राय है] विधि-(८) अष्टम मंत्रसे वारंवार संचालनपूर्वक भलीप्रकार पकावे [का० २ । ५ । २३] मन्त्रार्थ-हे पुरोडाश ! (सविताद्देवः) सर्वप्रेरक परमात्मा देवता (त्वा) तुमको (वर्षिष्ठे) अत्यन्त वृद्ध (नाके) द्युलोकमें वर्तमान नाकनामक अग्निमें (त्वा) तुमको (अधि) आश्रय करके (श्रपयतु) पाक करो. [मनुष्यके पाक करनेका कर्तृत्व न हो इस कारण देवताका स्मरण किया] स्वर्गमें नाकनामक अग्नि राक्षस विनाशीहै-[तैत्तिरीय०] ॥२२॥

प्रमाण-"अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं प्राह"-[निरु० १ । ३] ॥ २२ ॥

अभिप्राय-सुख, आरोग्य, बल, पवित्रता, पुत्र-पौत्र, पशु, धन सम्पत्ति सब यज्ञसे प्राप्त होती हैं, इस कारण यज्ञका कभी त्याग न करना चाहिये ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र ५।

माभेर्मासंविक्थाऽअतमेरुर्यज्ञोतमेरुर्यजमानस्यप्रजाभूयात्त्रितायत्त्वाद्वितायत्त्वैकतायत्त्वा ॥ २३ ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐमाभेरित्यस्य प्रजा० । याजुषीगायत्री० । पुरोडाशो दे० । पुरोडाशालम्भने विनियोगः । (२) ॐअतमेरुरित्यस्य प्रा० । आर्षीगायत्री छं० । पुरोडा० । आच्छादने विनियो० । (३) ॐत्रितायेत्यस्य प्रा० । दैवीबृहती छं० । त्रितोदे० । (४) ॐ द्वितायेत्यस्य प्र० । दैवीबृहती० । द्वितो देव० । (५) ॐएकतायेत्यस्य प्र० । दैवी पंक्तिश्छं० । एकतो दे० । मंत्रत्रयस्यापि पात्र्यंगुलिप्रक्षालने आप्तेभ्यो नियमने च विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यह पुरोडाश अग्निसे उतार कर उन तीनपात्रोंमें रक्षा करै [का० २ । ५ । ४२] मंत्रार्थ-हे पुरोडाश ! तुम [माभेः] भय मत करो (मासंविक्थाः) चंचल मत हो स्थिर रहो. अर्थात् चालन करते समय भूमिमें पतित न होना । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे भस्मद्वारा अथवा उपवेशद्वारा इस पुरोडाशको आच्छादित करै [का० २ । ५ । २५] (यज्ञः) यज्ञका हेतु पुरोडाश (अतमेरुः) भस्मआच्छादनसे ग्लानिरहित हो (यजमानस्य) यजमानकी (प्रजा) सन्तति (अतमेरुः) ग्लानिरहित (भूयात्) हो [यजमानके पुत्रपौत्रादिकोंको कभी दुःख न हो] । विधि-(३-४-५) तीसरे मंत्रसे लेकर पांचवेंतक पात्री और अंगुलीके धोनेसे पुरोडाश अंशमें मिश्रित जल देवत्रयको प्रदान करे. [का० २ । ५ । २६] मन्त्रार्थ-हे पात्री अंगुलीप्रक्षालनसे सम्पूतजल ! (त्रिताय) त्रितनाम देवताके तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको देता हूं । तथा (द्विताय) द्वितनाम देवताकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुम्हें देता हूं । (एकताय) एकतनाम देवताकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको देताहूं ॥ २३ ॥

गाथाप्रमाण-किसी समय किसी कारणसे भीत होकर अग्नि जलमें प्रवेश कर गये. देवता यह जानकर उनको वहांसे फिर लाये. जलवासके समय अग्निके वीर्यसे एकत द्वित और त्रित नामक तीन आप्त देवता हुए. तब यज्ञमें उनके भाग कल्पनाकी विवेचना होनेपर यज्ञमें पात्रीप्रक्षालनके जलका भाग उनके निमित्त निश्चित हुआ. [ब्राह्मणभाग-श० १ । २ । ३ । १] ॥ २३ ॥

अभिप्राय—जैसे यज्ञका जलमात्र भी निरर्थक न जानकर देवताओंके भागके निमित्त कल्पना किया जाता है, इस प्रकार परमेश्वरकी आज्ञा है कि संसारके यावन्मात्र पदार्थ यथायोग्य कार्यमें लाने चाहियें और पुत्र पौत्रादिकी वृद्धिके निमित्त यज्ञका अनुष्ठान करना चाहिये ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र २ ।

देवस्यँत्त्वा सवितुःप्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ आददेऽध्वरकृतन्देवेभ्यऽइन्द्रस्य बाहुरसिदक्षिणःसहस्रभृष्टिःशततेजावायुरसि तिग्मतेजाद्विषतोवधः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्या बृहती० । सविता देवता । स्फ्यादाने विनियोगः । (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्र० । प्राजापत्या जगती० । स्फ्यं दैवतम् । जपे विनियोगः ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे बायें हाथमें सतृण स्फ्य ग्रहण करै [का० २ ।६। १३]मंत्रार्थ–हे स्फ्य ! खुरपी कुदाली ! (सवितुः) सविता (देवस्य)देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमार देवताओंका भुजयुगल और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंकी सहायतासे (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं । (देवेभ्यः) देवताओंके तृप्तिसाधन उपकारके निमित्त (अध्वरकृतम्) यज्ञकार्य वेदीखननरूप व्यापारके अर्थ तुमको (आददे) ग्रहण करता हूं । **विधि**–(२) अगले मंत्रका पाठ करता हुआ तृणसहित स्फ्यको बायेंसे दहिने हाथमें ले [का० २ । ६ । १३] मंत्रार्थ–हे स्फ्य ! तुम (इंद्रस्य) इन्द्र देवताकी (दक्षिणः) दहिनी (बाहुरसि) भुजारूप हो. अर्थात् इन्द्रकी भुजाके समान तुममें बल प्राप्त हो; कारण कि तुम (सहस्रभृष्टिः) सहस्रों शत्रुओं असुरोंके नाशक (शततेजाः) अनेक प्रकार तेजोंसे दीप्यमान और केवल इन्द्रके बाहुके सदृश नहीं; किन्तु (वायुरसि) वायुके समान भी हो. तथा (तिग्मतेजाः) तीक्ष्णतेजयुक्त हो जैसे वायु अग्निका सहायक होकर तीव्रज्वाला उत्पन्न करता है, तीक्ष्णतेज युक्त होता है, इस प्रकार यह स्फ्य स्तम्बच्छेदनरूप कर्ममें तीव्रतेज कहाजाता है, तथा (द्विषतः) कर्मद्वेषी असुरादिकोंका (वधः) नाशक है [तुम्हारे प्रयोगसे इस यज्ञमें कोई उपद्रव न हो यह आशय है] ॥ २४ ॥

प्रमाण-"अध्वरो वै यज्ञो यज्ञकृतम्"-[श० १ । २ । ४ । ५] "सहस्रमिति बहुनामसु पठितम्"-[निघं० ३ । १ ।] "शतमिति बहुनामसु पठितम्"-[निघं० ३ । १] ॥ २४ ॥

अभिप्राय-यज्ञसे सम्पूर्ण जगत्का महान् उपकार है पूर्ववत् ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र ४ ।

पृथिवि देवयजन्न्योषध्यास्ते मूलम्मा हिᳩसिषं व्रजङ्गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्याम्पृथिव्याᳪ शतेन पाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मस्तमतो मा मौक् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृथिवीत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । याजुषी० । वेदिर्देवता । तृणाद्यपाकरणे विनियोगः । (२) ॐव्रजमित्यस्य प्र० । दैवी जगती० । पुरीषं दैवतम् । पुरीषग्रहणे विनियोगः । (३) ॐ वर्षत्वित्यस्य प्र० । दैवीपंक्ति० । वेदिर्देव० । वेदिप्रेक्षणे विनियोगः । (४) ॐबधानेत्यस्य याजुषी छं० । सविता देवता । उत्करे मृत्क्षेपणे विनियोगः ॥

विधि-(१) जिस स्थानमें यूपस्तम्ब खडा किया जाय उस स्थानके तृणादि दूर करे और इस प्रथम मंत्रको पढकर खनन करै [का० २ । ६ । १५ । १६] मंत्रार्थ-(पृथिवि) हे भूमि ! (देवयजनि) हे देवताओंके यजनयोग्य ! (ते) तुम्हारी (ओषध्याः) प्रियसन्तति ओषधीकी (मूलम्) मूलतृणादिको (माहिᳩसिषम्) मैं विनाश नहीं करता हूं । विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे पुरीषके[1] प्रति कहे [का० २ । ६ । १७] मं०-हे पुरीष ! तुम (गोष्ठानम्) गौओंके स्थान (व्रजम्) गोष्ठको (गच्छ) जाओ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वेदीका दर्शन करै [का० २ । ६ । १८] मं०-हे वेदी ! (ते) तुम्हारे निमित्त (द्यौः) द्युलोकाभिमानी सूर्य देवता (वर्षतु) जल सेचन करे । वर्षणसे खननजनित दुःख शान्त हो । विधि-(४) चौथे मंत्रको पाठकर (उत्खात) गढेके मध्यसे निकालीहुई मृत्तिकाको उत्कर गढे आदि स्थानमें फेंकदे [का० २ । ६ । १९] मं० हे देव ! (सवितः) सबको निज कार्यमें प्रेरणा करनेवाले प्रकाशरूप परमात्मन् ! (यः) जो कोई (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (वयं च) हम भी (यम्) जिससे (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, ऐसे दोनों प्रकारके शत्रुओंको (परमस्यां पृथिव्याम्) इस पृथ्वीकी

---

१ स्फ्यके प्रहारसे जो चारों ओर मृत्तिका उछलकर गिरती है उसे पुरीष कहते हैं ।

अन्तसीमा अन्धतामिस्र नरकमें (शतेन) सैंकडों (पाशैः) बन्धनोंसे [बधान] बांधलो और इस (तमसः) अन्धतामिस्रः नरकसे उसको कभी भी (मा) मत (मौक्) त्याग करो ॥ २९ ॥

प्रमाण-"अन्धे तमसि बधानेति यदाह परमस्यां पृथिव्याम्"-[श० १।२।४।१६] मौक् 'मुच मोक्षणे' इत्यस्माल्लोडर्थे लुङ्च्यडभावे च्लेः सिजादेशे "बहुलं छन्दसि" इतीडभावः। "वद व्रज हलन्ते" ति वृद्धिः, "संयोगान्तस्य लोपः" इति सिज्लुक् ॥२९॥

आशय-इसका गर्भित आशय यह है कि महात्माओंको उचित है, जो कोई उनके निमित्त कुछ उपकार करे वे उसके निमित्त प्रत्युपकार करें और जो असुरादि हों तथा खल कुटिल हों उनके दमनकी ईश्वरसे प्रार्थना करे यह भी विदितहै कि पृथिवीकी अन्त सीमामें विशेष अंधकार रहता है ॥ २९ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र ९।

अपाररुम्पृथिव्यैदेवयजनाद्वध्यासँव्रजङ्गच्छगो
ष्ठानँवर्षतुतेद्यौर्बधानदेवसवितःपरमस्याम्पृथि
व्याᳯंशतेनपाशैर्योऽस्मान्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्म
स्तमतोमामौक्॥ अररोदिवम्मापप्तोद्रप्सस्ते
द्याम्मास्कन्व्रजङ्गच्छगोष्ठानँवर्षतुतेद्यौर्बधानदेव
सवितःपरमस्याम्पृथिव्याᳯंशतेनपाशैर्योऽस्मा
न्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मस्तमतोमामौक्॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) ॐअपाररुमित्यस्य प्रजा०। आसुरीगायत्री छन्दः। असुरो देवता। उत्करे मृत्क्षेपणे विनियोगः। (२-३-४) व्रजंगच्छेति मंत्रत्रयस्य ऋष्यादिकं पूर्व-(२५) कण्डिकास्थ-(२-३-४) मन्त्रवत्। (५) ॐअररो दिवमित्यस्य प्रजा०। याजुषी०। असुरो दे०।-(६) ॐद्रप्स इत्यस्य प्र०। याजुषी छं०। असुरो दे०।-(७-८-९) एषां मन्त्राणामृष्यादि-(२५) कण्डिकास्थ-(२-३-४) मंत्रवत् ॥

विधि- (१) प्रथम मंत्रसे पूर्ववत् पुनः खनन करे [का० २। ६। २१] मंत्रार्थ-(पृथिव्यै देवयजनात्) पृथिवीसम्बन्धि देवयजनस्थानसे अर्थात् पृथिवीमें

स्थित इस वेदीके अभ्यन्तरमें स्थित यूपखण्डप्रोथनमें बाधा करनेवाले (अररुम्) अररु नाम असुरको(अपवध्यासम्)निकालकर वध करताहूं वा दूर करताहूं[गर्त खनन करनेके समय जो ईंटोंके खण्ड कंकर आदि निकलते हैं, उनको 'अररु' कहते हैं] विधि–(२–३–४) "व्रजं गच्छ" इत्यादि तीन मंत्रोंकी विधि–(२५) वीं कण्डिकामें कही हुई रीतिसे जाननी । इन मन्त्रोंसे पूर्ववत् खनन करे [का० २ । ६ । २२] विधि–(५) इससेभी खनन करे । मं०–हे(अररो)असुर (दिवम्) यज्ञके फलरूप द्युलोक श्रेष्ठस्थानको तू (मा) मत (पप्तः) प्राप्त हो । विधि–(६)इनमन्त्रोंके विधान–पूर्ववत् जानलेने [का० २।६।२३] मं०–हे वेदि ! (ते) तुम्हारा पृथ्वी रूप जो (द्रप्स) उपजीव्य रस है सो (द्याम्) द्युलोकको (मा) मत (स्कन्) गमनकरे । व्रजं गच्छ (७।८।९)" इत्यादि तीन मंत्रोंकी विधि और मन्त्रार्थभी (२५) वीं कण्डिकामें कहेहुए प्रकारसे जानने ॥ २६ ॥

प्रमाण–"द्यौर्वै सर्वेषां देवानामायतनम्"–[श० १४ । २ । ३ । ८] ॥२६॥

आशय–जिस प्रकार सम्पूर्ण बाधा निवारण कर यज्ञ आरम्भ करते हैं इसी प्रकार प्रत्येक कार्य बहुत सोच समझकर प्रारम्भ करना चाहिये और बाधा दूर होनेपर कार्य आरम्भ करे ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र ६ ।

गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा॒ परि॑गृह्णामि ॥ सु॒क्ष्मा चासि॑ शि॒वा चा॑सि स्यो॒ना चासि॑ सु॒षदा॑ चा॒स्यूर्ज॑स्वती॒ चासि॒ पय॑स्वती च ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐगायत्रेणेत्यस्य: प्र० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप् छं० । विष्णुर्देवता । पूर्वपरिग्रहे वि० । (२) ॐत्रैष्टुभेनेत्यस्य प्र० ऋ० । आसु० छं० । विष्णु० । पूर्वपरिग्रहे वि० । (३) ॐजागतेनेत्यस्य प्र० । आसु० । विष्णु० । पूर्वपरिग्र०वि० । (४) ॐसुक्ष्मेत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री० । वेदिर्देवता । उत्तरपरिग्रहे वि० । (५) ॐस्योनेत्यस्य प्र० । आसुरी जगती० । वेदिर्दे० । उत्तरपरिग्रहे वि० । (६) ॐऊर्जस्वतीत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । वेदिर्देवता । उत्तरपरिग्रहे वि० ॥

विधि–(१–२–३) प्रथमादि तीन मंत्रोंसे उसी गर्तके उत्तर दक्षिण और पश्चिमसे स्फ्यद्वारा पूर्व परिग्रह करें [का० २ । ६ । २९] **मंत्रार्थ**–हे सर्वव्यापक परमात्मन् विष्णो ! (त्वा) आपको (गायत्रेण छन्दसा) जपनेवालेकी रक्षा करनेवाले गायत्री छन्दसे भावित स्फ्यद्वारा तीनों दिशाओंमें (परिगृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रैष्टुभछन्दसे (त्वा) तुमको (परिगृह्णामि) ग्रहण करता हूं २ । (जागतेन) जगती (छन्दसा) छन्दसे (त्वा) तुमको (परिगृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् अजवानी करताहूं ३ । [अथवा छन्दोंके देवता तीनों दिशाओंमें असुरोंसे वेदीकी रक्षाकरै. पूर्वमें आहवनीय रक्षा करताहै. यथा हे वेदि ! उत्तरदिशामें गायत्रीछन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ १ । हे वेदी ! दक्षिण दिशामें त्रिष्टुप्छन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ २ । हे वेदी ! पश्चिमदिशामें जगती छन्दसे तुम्हारी रक्षा करता हूँ ३]। **विधि**–(४–५–६) चतुर्थ प्रभृति तीनमंत्रोंमे इसी गर्तकें उत्तर दक्षिण और पश्चिममें स्फ्यद्वारा उत्तर परिग्रह करें [का० २ । ६ । ३१] **मन्त्रार्थ**–हे वेदि ! तुम (सुक्ष्मा) प्रस्तर खण्ड आदि रहित होनेसे सुन्दर (च) भी (असि) हो (शिवा च) अररुप्रभृति असुरोंके उपद्रवशून्य होनेसे शान्तिरूप (असि) हो ४ । हे वेदि ! तुम (स्योनाच) सुखकी आधार (असि) हो तथा (सुखदा च) देवताओंके सुखसे बैठने योग्य भी (असि) हो ५ । हे वेदि ! तुम (ऊर्जस्वती) अन्नवाली (पयस्वती च) रस वा दुग्धयुक्त (असि) हो [अर्थात् तुमपर हवनीय अन्न और रस स्थापित किया जायगा] ६ ॥२७॥

प्रमाण–"ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्"–[श० १।२।३।६]

गाथा–प्रथम प्रजापतिके पुत्र देवता और असुरोंमें क्लेश हुआ उसमें देवता बलहीन हुए तब असुरोंने भूमि विभाग करके भोगी तब देवताओंने वामनरूप विष्णुको आगे करके दैत्योंसे कहा कि, हमको कुछ भूमिका भाग दो दैत्योंने हँस कर कहा कि, यह तुम्हारा आगेका विष्णुपुरुष जितने भूमिभागमें शयन करजायगा उतना भाग तुम्हारा होगा. देवता बोले–हमारे निमित्त यही बहुत होगा. ऐसा कहकर वे वामनरूप विष्णुको लिटा करके गायत्री आदि मन्त्रोंसे यज्ञभूमिको ग्रहण करते हुए. यज्ञ विष्णुरूप है, वे जहां स्थित हैं वही यज्ञभूमि कहाती है. "तैर्वेदि–

१ पूर्वपरिग्रह और उत्तरपरिग्रहका लक्षण यह है कि लक्ष्मण जानकीके चारी ओर रेखा खेंच कर रामके निकट गयेथे यह प्रसिद्ध है इस प्रकारकी रेखा करनेको परिग्रह कहते हैं, वेदी खनन करनेसे पूर्व यह इतनी है, ऐसा निश्चय करनेको दक्षिणादि तीन दिशाओंमें स्फ्यसे तीन रेखा करनेको 'पूर्वपरिग्रह' कहतेहैं, खननके पीछे जो तीन रेखा करते हैं उसे उत्तरपरिग्रह कहते हैं।

तत्वाद्वेदिरिति तद्वेमेर्नाम" [श० १ । २ । ५ । १–७] इस श्रुतिकथासे वेदीका ग्रहण होता है. छन्दोंसे उनके अधिष्ठात्री देवताओंका तथा विष्णु भगवान्का ध्यान ग्रहण होता है, "स्योनमिति सुखनाम"–[निघण्टु ३ । ६] ॥ २७ ॥

आशय–वेदी जिस प्रकार शुद्ध की जाती है उससे असुरादि दूर किये जाते हैं. इसी प्रकार मनरूपी वेदीसे कामक्रोधादि असुरोंको दूर करके उसमें धर्मका परिग्रह करना चाहिये, जिससे अधर्म प्रवेश न करसके, तब हृदय परमात्माकी स्थितिके योग्य होजाता है. श्रुतिका आशय यह है कि–जब हृदयमें कामादि वासना व्याप्त हो उस समय यदि किञ्चित्भी विष्णुसहित सत्पदार्थोंका स्मरण हो तो वह अभ्याससे कामादिकको दूर कर तेलकी बूंदके समान सर्वत्र फैलकर सर्व दोषोंको दूर कर देता है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मन्त्र ३ ।

पुराक्रूरस्य विसृपोविरप्शिन्नुदादायपृथिवीञ्जीवदानुम् । यामैरयँश्चन्द्रमसिस्वधाभिस्तामुधीरासोऽअनुदिश्ययजन्ते ॥ प्रोक्षणीरासादयद्विषतोवधोसि ॥ २८ ॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ पुराक्रूरस्येत्यस्य अघशंस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । चन्द्रो देवता । वेदिसमीकरणे विनियोगः । (२) ॐ प्रोक्षणीरित्यस्य अघशं०ऋ० । याजुष्युष्णिक्छ० । प्रैषो देव० । प्रक्षिप्यासादने विनियोगः । (३) ॐ द्विषत इत्यस्य अघ० । याजुषीगायत्री० । अभिचारिकं दैवतम् । स्फ्यप्रहरणे विनियोगः ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे विषमता निवारण करनेको वेदी सम्मार्जन कर अर्थात् समान (एकसी) करे [का० २ । ६ । ३२] [यज्ञमें वेदित्वको प्राप्त हुये विष्णु भगवान् से कहते हैं–]मंत्रार्थ–हे (विरप्शिन्) यज्ञमें वेदत्रयरूपसे अनेकविध शब्द करनेवाले विष्णो ! परमेश्वर आप कृपाकर सुनिये (विसृपः) अनेक योधाओंसे युक्त (क्रूरस्य) युद्धसे (पुरा) पूर्वकालमें देवता गण (जीवदानुम्) जीवोंके धारण करनेवाली सारभूत (याम्) जिस (पृथिवीम्) पृथ्वीको (उदादाय) ऊर्ध्व ग्रहण करके (स्वधाभिः) वेदोंके साथ (चन्द्रमसि) चन्द्रलोकमें (ऐरयन्) स्थापित करते हुए (धीरासः) बुद्धिमान्

(ताम्) उसी चन्द्रमामें स्थित पृथ्वीके (अनुदिश्य) दर्शनसे सम्पादन करके अर्थात् वही भूमि इस वेदिमें विद्यमान है. ऐसी भावना करके (यजन्ते) यज्ञ करते हैं। विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे आग्नीध्रको आदेश करै। मन्त्रार्थ-हे आग्नीध्र ! वेदी समान होगई, इस कारण इसके ऊपर (प्रोक्षणी) जिसके द्वारा जल छिडके जाते हैं उसको लाकर (आसादय) वेदीमें स्थापन करो। विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे स्फ्य त्याग करै [का० २ । ६ । ४२] मन्त्रार्थ-हे स्फ्य ! तुम (द्विषतः) शत्रुओंको (वधोऽसि) हिंसक हो. हमारे शत्रुका नाश कर ॥ २८ ॥

गाथा-इस मंत्रमें यह आख्यायिका गर्भित है. एक समय देवताओंका असुरोंके साथ संग्राम उपस्थित हुआ तब देवताओंनें परस्पर सम्मति की कि इस पृथ्वीका उत्कृष्ट देवयजन भाग चन्द्रमामें स्थापन करके युद्ध करें. यदि हमारी पराजय होगी तो देवयजनमें यज्ञ कर फिर दैत्योंको जीतेंगे. ऐसा विचारकर देवयजनरूप सार भागको चन्द्रमामें स्थापन करतेहुए वही कृष्णवर्ण इस समय भी दीखता है [श० १ । २ । ९ । १८] ॥ २८ ॥

प्रमाण-"विरप्शिन् विरप्शीति महन्नाम" [निघं० ३ । ३] विविधं रपति वेदत्रयरूपेण शब्दं करोतीति विरप्शी तत्सम्बुद्धौ "संग्रामो वै क्रूरम्"-[श० १ । २ । ३ । १९] "यां चन्द्रमसि ब्रह्मणा दधुः" इति ब्राह्मणभागे [श० १।२।३।१९] ब्रह्मणा वेदेन सहेत्यर्थः । "धीर इति मेधाविनामसु पठितम्" [निघं० ३ । १९]

अभिप्राय-चन्द्रमाका मन और अन्नसे सम्बन्ध विशेष है, इन कारणोंसे सूक्ष्म विचार करनेसे यह भी विदित होता है. जिसप्रकार बाह्य यज्ञ किये जाते हैं इसी प्रकार मानसिक यज्ञ किये जाते हैं, जैसे पृथ्वी चन्द्रमाके अधिक निकट होनेसे पृथ्वीपर उसका असर अधिक पडता है, इसी प्रकार अन्नका भाव मनपर अधिक पडता है जैसे बाह्यशत्रु निरस्त कर यज्ञ होता है इसी प्रकार कामादिशत्रु दूर कर मानसिक यज्ञ होता है इसमें नक्षत्र तारागण ईश्वरनिर्मित हैं. यह विद्या भी कथन करी है. इन सबके उत्पादक परमात्माके ध्यानकी विशेषता भी कथन की है इससे यह भी सिद्ध है कि चन्द्रमामें भूमिकी छायाहै भूमि और चन्द्रका विशेष सम्बन्धहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र ३ ।

प्रत्युष्टꣳ रक्षः प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तꣳ रक्षो निष्टप्ताऽअरातयः ॥ अनिशितोसि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ प्रत्युष्टꣳ रक्षः

---

१ अग्निमें निरन्तर समिध् प्रक्षेप करनेवाला होतृविशेष ।

प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टप्तᳬरक्षो निष्टप्ताऽअरातयः ॥ अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनं त्वा वाजेध्यायै सम्मार्ज्मि ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐप्रत्युष्टमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी बृहतीछं० । स्रुवो देवता । एकतः स्रुवप्रतपने वि० । (२) ॐनिष्टप्तमित्यस्य प्र० । आसुरी० । स्रुवो दे० । अन्यतः स्रुवप्रतपने वि० । (३) ॐअनिशित इत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या बृहतीछन्दः । स्रुवो देवता । स्रुवसंमार्जने वि० । (४) प्रत्युष्टमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी बृ० छं० । स्रुग्देवता । एकतः स्रुक्प्रतपने वि० । (५) ॐनिष्टप्तमित्यस्य प्रजा० ऋ० । आसु० छं० । स्रुग्दे० । अन्यतः स्रुक्प्रतपने वि० । (६) ॐअनिशितेत्यस्य प्र० ऋषिः।प्राजापत्या बृहती छं० । स्रुग्दे० । स्रुक्संमार्जने वि० ॥

विधि–(१–२) पहले और दूसरे मंत्रसे शूर्प और अग्निहोत्रहवनीको जिस प्रकार प्रतपन आदि किया था इसी प्रकार स्रुवको भी तपावै [का०२ । ६ । ४६] **मन्त्रार्थ**–(रक्षः प्रत्युष्टम्) इस तापसे राक्षसादि प्रत्येक बाधा सम्पूर्ण दग्ध हुई (अरातयः प्रत्युष्टाः) प्रत्येक शत्रुगण दग्ध हुए १ । (रक्षः निष्टप्तम्) इस तापसे यहांकी आश्रित सब बाधा और राक्षस दग्ध हुए (अरातयः निष्टप्ताः) शत्रुगण भी सब दग्ध हुए २ । **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसे स्रुवको सम्मार्जन करै [का० २ । ६ । ४६] **मन्त्रार्थ**–हे स्रुव ! तुम (अनिशितोसि) तीक्ष्णधारवाले नहीं हो अर्थात् हमारे विषयमें तीक्ष्ण उपद्रवकारी नहीं होते हो, तथा (सपत्नक्षित्) शत्रुओंके क्षय करनेवाले हो (वाजिनम्) देश यज्ञद्वारा बहुत अन्नयुक्त हो इस निमित्त तथा (वाजेध्यायै) यज्ञकी दीप्ति प्रकाश करनेके निमित्त तुमको अन्नवान् करनेको (सम्मार्ज्मि) प्रक्षालन करताहूं [शोधितस्रुवसे घृतग्रहण करनेसे अग्नि प्रदीप्त होती है, उसमें आहुतिफलभूत अन्न प्रकाशित होता है] **विधि**–(४–५) चौथे और पांचवें मंत्रसे तीन स्रुचीको तपा तपाकर वेदीमें स्थापन करनेको अध्वर्युको दे [का० २ । ६ । ४७ । ४८] म०–(प्रत्युष्टमिति) इस तापसे प्रत्येक बाधा दग्ध हुई प्रत्येक शत्रुगण दग्ध हुए ४ । इस तापसे निश्शेष इसके आश्रित बाधा दग्ध हुई सम्पूर्ण शत्रुगण भी दग्ध हुए ५ । **विधि**–(६) छठे मंत्रके भी तीसरेकी समान व्याख्यान है, केवल स्त्रीलिङ्गका निर्देश है स्रुव पुँलिङ्ग है उसका सम्मार्जन पहले और स्रुच स्त्री होनेसे पीछे (अनिशितासि) हे स्रुक्त्रय! तुम तीक्ष्णधार न होकर भी शत्रुनाशक हो, देश बहुत अन्नवाला हो, इसी कामनासे तुमको अन्नवान् करनेको सम्मार्जन करता हूं ॥ २९ ॥

प्रमाण–"यज्ञो हि देवानामन्नम्" इति श्रुतेः [श०५।१।१।२]"योषा वै स्रुग्वृषा स्रुवः" इत्यादिश्रुतेः [श० १ । ३ । १ । ९] अभिप्रायः पूर्ववत् ॥ २९ ॥

काण्डिका ३०–मन्त्र ४ ।

अदित्यै रास्नासि विष्णोर्वेष्पोस्यूर्ज्जे त्वादब्धेन त्वा चक्षुषावपश्यामि ॥ अग्नेर्ज्जिह्वासि सुहूर्देवे भ्यो धाम्नेधाम्ने मे भव यजुषेयजुषे ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअदित्या इत्यस्य प्रजा० ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । योक्त्रं दैवतम् । यजमानपत्नीकट्यां मेखलाबन्धने वि० । (२) ॐविष्णोरित्यस्य प्र० । दैवीपंक्तिश्छं० । योक्त्रं दैवतम् । दक्षिणपाशस्योत्तरत उद्गूहने वि० । (३) ॐ ऊर्जे इत्यस्य प्र० ऋ० । दैव्यनुष्टुप्० । आज्यं दैवतम् । आज्यद्रवीकरणे वि० । (४) ॐअदब्धेनेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी० । आज्यं दैवतम् । पत्न्या आज्ये मुखावेक्षणे वि० ॥

विधि–(१) गार्हपत्य अग्निके दक्षिणमें बैठी हुई यजमानपत्नीकी कमरमें तीन लडवाली पतली मूंजकी मेखला प्रथम मंत्रसे बांधे [का० २।७।१]मन्त्रार्थ–हे योक्त्र ! तुम (अदित्यै) भूमिकी (रास्नासि) मेखलारूप होती हो । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिणओरके पाशको उत्तरकी ओर प्रतिमुक्त कर उद्गूहन (मुक्त) करै [का०२।७।२–३]मन्त्रार्थ–हे दक्षिणपाश ! तुम (विष्णोः) इस सर्वव्यापी यज्ञकी (वेष्पोसि) व्यापक हो । विधि–(३)तीसरे मंत्रसे अग्निसे तपाकर आज्यको द्रव करै [का०२।७।४]मन्त्रार्थ–हे आज्य ! (ऊर्जे)उत्तम रस प्राप्तिके निमित्त(त्वा) तुमको द्रवीभूत करता हूं [द्रवीभूत घृत सुस्वादु होजाता है] विधि–(४)चौथे मंत्रसे यजमानकी पत्नी नीचेको मुखकर घृतदर्शन करै [का०२।७।४] मन्त्रार्थ–हे आज्य ! (अदब्धेन) प्रीतियुक्त (चक्षुषा) दृष्टिसे (त्वा) तुमको (अव पश्यामि) नीचा मुखकर देखती हूं. हे आज्य ! तुम (अग्नेः) अग्निकी (जिह्वासि) जिह्वा हो [कारण कि जब आज्य अग्निमें डाला जाता है तब जिह्वाके समान ज्वाला उठती है] और (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (सुहूः) सम्यक् प्रकारसे जिह्वाद्वारा बुलानेवाले हो । [ज्वालाको देखकर देवता आते हैं] इस कारण (मे) मेरे (धाम्ने धाम्ने) इस यज्ञफलके उपभोग स्थानसिद्धिके निमित्त तथा (यजुषे यजुषे) उस यज्ञसिद्धिके योग्य (भव) हो. अर्थात् प्रतियज्ञमें देवताओंको भलीप्रकार आह्वान करो तुम्हारी प्रीतिसेही देवता यज्ञस्थानमें आते हैं ॥ ३० ॥

प्रमाण–"यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः–[श०. १ । १ । २ । १३]॥ ३० ॥

आशय-यज्ञके करनेमें परमात्माने सब पदार्थोंके प्रयोगका वर्णन किया है इन पदार्थोंकी स्तुतिका यह फल है कि, अमुकामुक पदार्थ इस प्रकारसे प्रयोग-में लाने चाहिये. मनुष्योंको उचित है पदार्थोंके उपयोगको जानकर भली प्रकारसे यज्ञ सम्पादन करें ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र ४।

सवितुस्त्वा प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ सवितुर्वः प्रसवऽउत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ ३१ ॥

इति वाजसनेयिश्रीशुक्लयजुर्वेदसंहितायां प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सवितुरित्यस्य प्रजा० । साम्नीजगतीछन्दः । आज्यं दैवतम् । आज्यस्योत्पवने विनियोगः । (२) ॐ सवितुर्व इत्यस्य प्र० । प्राजापत्या पंक्तिश्छ० । आपो देवता । प्रोक्षण्याश्शोधने विनियोगः । (३) ॐ तेज इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप्० । आज्यं दैवतम् । आज्यावेक्षणे विनियोगः । (४) ॐ धामेत्यस्य प्र० । आर्ष्युष्णिक्छं० । आज्यं दैवतम् । स्रुवेणाज्यग्रहणे विनियोगः ॥

विधि-(१) प्रथममन्त्रसे आज्य शोधन करे [का० २ । ७ । ७ ।] मंत्रार्थ-हे आज्य ! (सवितुः) सविता देवताकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान मैं (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) वायुरूप पवित्र और (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्यकी किरणों द्वारा (त्वा) तुमको (उत्पुनामि) शोधन करता हूं । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे प्रोक्षणीको शोधन करे [का० २ । ७ । ८] मंत्रार्थ-हे प्रोक्षणी ! (सवितुः) सविता देवताकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिर्व उत्पुनामि) छिद्रशून्य वायु और सूर्यकी किरणों इन दोनों पवित्रों द्वारा तुमको शोधन करता हूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे घृतको देखे [का० २ । ७ । ९] मन्त्रार्थ-हे आज्य ! तुम (तेजोसि) शरीर में कान्ति करनेसे तेजस्वरूप हो (शुक्रम्) स्निग्धरूप होनेसे दीप्तिमान (असि) हो (अमृतमसि) विनाशरहित हो. अर्थात्

बहुत दिनोंतक स्थापित रहनेसे भी बासीआदिके दोषरहित हो। विधि–(४) चौथे मंत्रसे एक वार स्रुक्‌द्वारा और चार वार जुहूद्वारा आज्य ग्रहण करै [का० २।७। ११–१२] मन्त्रार्थ–हे आज्य ! तुम (धाम) स्थान हो अर्थात् देवता चित्तकी वृत्ति तुममें स्थापन करते हैं इससे देवताओंके आनन्दके स्थान हो तथा (नामासि) देवताओंके निकट तुम गृहीतनाम हो, अथवा अपने प्रति सबको नमातेहो [घृतको देखकर सबही खानेको नमते हैं.] तथा (देवानाम्) देवताओंके (प्रियम्) इष्ट अर्थात् अतिप्रिय हो (अनाधृष्टम्) सारयुक्त होनेसे तिरस्काररहित (देवयजनम्) देवताओंके यज्ञके प्रधान साधन (असि) हो इसकारण तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ३१ ॥

अभिप्राय–यज्ञ सूर्यकी किरण और वायुके साथ प्राप्त होकर सब जगत्‌को शुद्ध करता है, इन पदार्थोंके गुण जानने योग्य हैं. तथा घृतका व्यवहार विद्वानोंके और देवताओंके मध्यमें होना उचित है. यह बल पुष्टि और कान्तिको देताहै. यज्ञमें इसकी आहुति देनेसे आयु, बल, बुद्धि, कान्ति सब जगत्‌को प्राप्त होतीहैं॥ ३१॥

इति श्रीकान्यकुब्जवंशदिवाकरसकलगुणगणालंकृतश्रीमन्मिश्रसुखानन्दसूनुपण्डित-
ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये शाखाद्याज्यग्रहान्तः
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः २.

कण्डिका १–मं० ३ ।

अनुवाकसूत्रम् ॥ कृष्णोसिषड,–ग्नेवाजजित्तिस्रो, समीदस्य स्त्रीषोमयोः पञ्चका,–वग्नेदब्धायो चतस्रः, संवर्चसापञ्चा,–ग्नयेकव्यवाहनायपट्, सप्तचतुस्त्रिꣳशत् ॥

कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टं प्रोक्षामि बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐकृष्णोसीत्यस्य प्रजा० ऋषिः। आसुर्युष्णिक् छं०। इध्मं दैवतम्। इध्मप्रोक्षणे विनियोगः। (२) ॐ वेदिरित्यस्य

प्र० । आसुर्यनुष्टुप्० । लिंगोक्ता देवता । वेदिप्रोक्षणे विनियोगः । (३) ॐबर्हिरित्यस्य प्र० । प्राजापत्या उष्णिक्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । बर्हिःप्रोक्षणे विनियोगः ॥

विधि-(१) पूर्व स्थापित प्रोक्षणीको लेकर प्रथम [१ अ० छठी कण्डिकामें] कहे अनुसार होमीयकाष्ठको गांठ खोलकर प्रोक्षणकरै [का०२।७।१९]
मंत्रार्थ-हे इध्म ! प्रियकाष्ठखण्ड ! तुम (कृष्णोसि) कृष्णमृगरूप यज्ञ हो (आखरेष्ठः) तथा कठिन वृक्षसे उत्पन्न हुए हो. अथवा स्वर्गदाता वा आहवनीयमें स्थित होनेवाले हो. इस कारण (अग्नये) अग्निके प्रदान करनेके निमित्त (जुष्टम्) प्रिय (त्वाम्) तुमको शुद्धिके निमित्त जलसे (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे वेदीको प्रोक्षण करै [का० । २ ।.७ । १९]
मन्त्रार्थ-हे प्रियवेदि ! तुम (वेदिरसि) वेदि हो, इस कारण (बर्हिषे) कुशा धारण करनेके निमित्त (जुष्टम्) प्रियपूर्वक (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे कुशाकी ग्रन्थिको भलीप्रकार प्रोक्षण करै । मन्त्रार्थ-हे दर्भ ! तुम (बर्हिरसि) प्रभूत कुशसमूह होनेसे समर्थ हो, तुमको तीन स्रुक्के सहित अवलम्बन करना होगा इस कारण (स्रुग्भ्यः) स्रुचोंके धारणसे (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं ॥ १ ॥

प्रमाण-एक समय यज्ञ देवताओंसे अपक्रान्त हो अपनेको छिपानेके निमित्त कृष्णमृग होकर वनमें यज्ञीय तरुके मध्यमें प्रवेश करके कठिनवृक्षमें स्थित हुवा, इस कारण कृष्ण और आखरेष्ठ ये दो पद कहे हैं "यज्ञो ह देवेभ्योऽपचक्राम । स कृष्णो भूत्वा चचार" इत्यादिश्रुतेः [श० १ । १ । ४ । ९] अन्तोदात्त कृष्णशब्द वर्णवाची होताहै यह कृष्णशब्द आद्युदात्त होनेसे मृगवाची है ॥ १ ॥
भाव-काष्ठ वेदी और कुशके प्रोक्षणसे यज्ञीय शुद्ध पदार्थ देवताओंके भोज्य होते हैं. पृथ्वीरूप वेदीमें प्रजारूप कुशोंका धारण करना युक्तही है, यज्ञद्वारा सबको सुखप्राप्तिका उपदेश है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र ६ ।

अदि॑त्यै॒ व्युन्द॑नमसि॒ विष्णो॑स्तु॒पो᳖ऽस्यूर्ण॑म्रदसन्त्वा स्तृणामि स्वासस्थान्दे॒वेभ्यो॒ भुव॑पतये॒ स्वाहा॒ भुव॑नपतये॒ स्वाहा॑ भू॒ताना॒म्पत॑ये॒ स्वाहा॑ ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदित्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । प्राजापत्यागायत्री छं०।आपोदेवता । बर्हिर्मूलेषु प्रोक्षणीनिनयने वि० । (२) ॐ विष्णोरित्यस्य प्र० ऋ० । दैवीपंक्तिश्छं० । प्रस्तरोदे० । प्रस्तरग्रहणे वि० । (३) ॐऊर्णम्रदसमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्रीछं० । वेदिर्देव० । वेदिसंस्तरणे वि० । (४) ॐ भुवपतय इत्यस्य प्र० ऋ० । दैवी जगती० । अग्निर्देवता । स्कन्नाभिमर्शने वि० । (५) ॐभुवनपतय इत्यस्य प्र०ऋ०। प्राजापत्या गायत्री छं० । अग्निर्दे० । स्कन्नाभिमर्शने वि० । (६) ॐभूतानामित्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । अग्निर्देवता । स्कन्नाभिमर्शने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे अवशिष्ट प्रोक्षणीके जलसे वेदीके मूलमें प्रोक्षण करे [का० २ । ७ । २०] मंत्रार्थ–हे प्रोक्षणशेषजल ! तुम (अदित्यै) इस वेदिरूप भूमिको (व्युन्दनम्) विशेषरूपसे सींचनेवाले (असि) हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे कुशाकी पूली खोलकर बन्धनशून्य करे [का० २ । ७ । २१] मंत्रार्थ–हे कुशसमूह ! तुम (विष्णोः) यज्ञके (स्तुपोसि) शिखारूप हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे कुछ कुशाओंको वेदीपर बिछावे [का०२ ७ । २२] मंत्रार्थ–हे वेदि ! (ऊर्णम्रदसम्) ऊनके समान अतिकोमल हो [जैसे कि भूमिपर बैठनेको उसके कठिनता दूर करनेको कम्बल गलीचा आदि बिछाते हैं] (देवेभ्यः) देवताओंके (स्वासस्थां) सुखसे बैठने योग्य स्थानवाली (त्वा) तुझको (स्तृणामि) कुशोंसे आच्छादन करताहूं । विधि–(४–५–६) आज्य हवि ग्रहण करतेमें जो हवि वेदीसे बाहिर गिरे उस आज्यको चतुर्थप्रभृति तीन मंत्रोंसे अग्निके पार्षद भ्राता तीन देवताओंको दे । मंत्रार्थ–(भुवपतये) भुवपति देवताके उद्देशसे यह हवि (स्वाहा) प्रदान की । (भुवनपतये) भुवनपति देवताके निमित्त यह हवि (स्वाहा) प्रदान की (भूतानां पतये) भूतोंके पति देवताके उद्देशसे यह हवि (स्वाहा) प्रदान की ॥ ४–६ ॥ २ ॥

विशेष–' स्वाहा ' शब्द निपातन है और देवताओंको दानमें आता है । " स्वाहाकारश्च वषट्कारश्च देवा उपजीवन्ति " इति श्रुतेः ।

गाथा प्रमाण–पहिले कभी अग्निके भ्राता यज्ञभागमें विवाद कर अन्तमें वषट्कारके भयसे भीत होकर भूमिमें प्रविष्ट हुए उनके दुःखसे अग्निभी जलमें प्रविष्ट हुई, तब देवता इनको अभय देकर लाये, और अपने अधिकारमें स्थापित कर इनसे कहा कि वेदीकी परिधिके बाहिर जो कुछ हवि पतित होगी उसमें इन तीनों भाइयोंका अधिकार होगा । " अथ परिधीन् परिदधाति " इत्यादिश्रुतेः ।

" तथेति देवा अब्रुवन् यद्वाहिष्परिधि कन्त्स्यति " इत्यादिश्रुतेः [शत० १ । ३ । ३ । १३ । १६] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र ३.

गन्धर्वस्त्त्वा विश्श्वावसुः परिदधातु विश्श्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्श्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्म्मणा विश्श्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिडऽईडितः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गन्धर्वइत्यस्य प्रजापतिर्ऋ०।याजुषीगा०छं०।परिधि र्देवता । मध्यमपरिध्याधाने वि० । (२) ॐइन्द्रस्येत्यस्यप्र० ऋ० । याजुषीछं० । परिधिर्दे० । दक्षिणपरिध्याधाने वि० । (३) ॐमित्रावरुणा इत्यस्य प्र०ऋ० । यजुश्छं० । परिधिर्दे० । उत्तरपरिध्याधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे वेदीके ऊपर पश्चिम दक्षिण और उत्तर क्रमसे तीन परिधि प्रदान करे तहां प्रथम मन्त्रसे पश्चिम परिधिको रेखा संयुक्त करै [कात्या० २ । ८ । १] मंत्रार्थ-हे परिधि ! (विश्वावसुर्गन्धर्वः) सब विश्वमें निवास करनेवाला गन्धर्व (विश्वस्य) आहवनीयरूप विश्वकी (अरिष्ट्यै) हिंसा वा विघ्नके निवारण करनेके निमित्त (त्वा) तुमको (परिदधातु) आहवनीयके पश्चात् सब ओरसे स्थापन करै, और केवल अग्निकी ही परिधि नहीं (यजमानस्य) असुरोंसे रक्षा करनेको यजमानकी (परिधिरसि) परिधि हो, पश्चिम देशमें स्थापित हो (अग्निरिडः, ईडितः) आहवनीयके प्रथम भ्राता भुवपति नाम अग्निरूप होत्रादिसे स्तुतियोग्य हो[अर्थात् तुम अनेकोंके मध्य अग्निमय होनेसे स्वयं अग्निरूप हो हे स्तुतियोग्य तुम्हारी हम स्तुति करते हैं]

विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिण परिधिको रेखासंयुक्त करै । मंत्रार्थ-हे दूसरी दक्षिण परिधि ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (दक्षिणः) दहिनी (बाहुरसि) भुजा हो (विश्वस्यारिष्ट्यै) आहवनीयरूप विश्वके हिंसा और विघ्ननिवारण करनेके निमित्त (यजमानस्य परिधिरसि) यजमानकी परिधि अर्थात् रक्षक हो (अग्निरिडऽईडितः) आहवनीयके दूसरे भ्राता भुवनपति स्तुतियोग्य होत्रादिसे स्तुति कियागया २ ।

विधि-(३) तीसरे मंत्रसे उत्तर परिधि को रेखासंयुक्त करे । मन्त्रार्थ-हे तृतीय परिधे ! (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण नाम दो देवता वा वायु आदित्य (ध्रुवेण) स्थिर (धर्मणा) धारनेसे (उत्तरतः) उत्तर दिशामें (त्वा) तुझको (परिधत्ताम्) सब ओरसे स्थापन करें (विश्वस्यारिष्ट्यै) आहवनीयरूप विश्वकी रक्षा और विघ्नके निवारणके निमित्त वा संसारके सुखके निमित्त (यजमानस्य परिधिरसि) तुम यजमानके रक्षक हो (अग्निरिडईऽडितः) भूतोंका पति अग्निका तीसरा भाई स्तुतियोग्य होत्रादिसे स्तुति किया गया ॥ ३ ॥

भावार्थ-तीनों परिधियोंसे तीनों दिशाओंकी रक्षा होतीहै पूर्वदिशाके स्वयं सूर्य रक्षक हैं [श० २ । ३ । ४८ ।] श्रुत्यन्तरमें लिखाहै कि द्युलोकमें स्थित सोमकी रक्षा करनेको उसके पार्श्वमें सर्वत्र गन्धर्व रहते हैं। परिधि न करनेसे उसमें असुर प्रवेश करजातेहैं, और हिंसा करतेहैं रक्षणमें समर्थ होनेसे इन्द्रकी भुजारूप कहा है मंत्रोंके पाठसे गुप्तरूप विघ्न दूर होते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

वीतिहोत्रन्त्वा कवे द्युमन्तꣳ समिधीमहि ॥ अग्ने बृहन्तमध्वरे ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-ॐवीतिहोत्रमित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । गायत्रीछन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीये समित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकासे प्रथमपरिधिके ऊपर प्रज्वलित समित् स्थापन करे (यह ऋचा है) [का० २ । ७ । २] मंत्रार्थ-हे (कवे) क्रान्तदर्शी भूत भविष्य तथा दूरस्थित पदार्थोंका ज्ञान एक साथ रखनेवाले (अग्ने) अग्निदेवता (अध्वरे) यज्ञ करनेके निमित्त(वीतिहोत्रम्)पुत्रपौत्र धनादिकी समृद्धिके निमित्त वा होम करनेसे समृद्धि देनेवाले वा होत्रकर्ममें अभिलाषावाले (द्युमन्तम्) स्वयंप्रकाशमान (बृहन्तम्) महान् (त्वा) आपको (समिधीमहि) इस इध्मकाष्ठसे प्रदीप्त करते हैं ॥ ४ ॥

अभिप्राय-यह मंत्र परमात्माकीभी प्रार्थनाका है उन उन विशेषणयुक्त परमात्माको हम ज्ञानाग्नि प्रज्वलित कर जानते हैं [ऋ०अष्टक ४ । अध्याय १ । वर्ग १९] आगे इसी प्रकार जानो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र २ ।

समिदसि सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्याश्चिदभिशस्त्यै ॥ सवितुर्बाहू स्थऽऊर्णम्म्रदसन्त्वा स्तृ

णामिस्स्वासुस्स्थन्देवेब्भ्युऽआत्वावसवोरुद्राऽआ दित्याःसंदन्तु ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसमिदित्यस्य प्र० ऋ० । दैवीबृहती छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयेसमित्प्रक्षेपणे विनि० ।(२) ॐसूर्यइत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्रीछन्दः । लिंगोक्तादेवता । जपे वि० । (३) ॐसवितुरित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्रीछं० । विधृतिर्देवता । बर्हिस्तृणतिर्यङ्निधाने वि० । (४) ॐऊर्णम्रदसमित्यस्य प्र० ऋ० । आसुरी गायत्रीछं० । प्रस्तरो देवता । तृणोपरिप्रस्तरास्तरणे वि० । (५) ॐआत्वेत्यस्य प्र० ऋ० । आसुरीगायत्री छंदः । प्रस्तरोदेवता । प्रस्तरोपस्पर्शनेवि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे दूसरी परिधिसे समित् रक्षा करै फिर उस परिधिको स्पर्शन करै [का० २ । ८ । ३] मंत्रार्थ–हे इध्मकाष्ठ ! तुम (समिद्) अग्निको सम्यक् दीप्त करनेवाले (असि) हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रका पाठ करते हुए आहवनीयका निरीक्षण करै [का० २।८।४]हेआहवनीय (सूर्यः)सूर्य देवता (पुरस्तात्) पूर्व दिशामें (कस्याश्चिदभिशस्त्यै) जो कोई विघ्न उपस्थित हो उस सब प्रकारकी हिंसासे (त्वा) तुमको (पातु) रक्षा करै [और तीन दिशाओंमें तीन परिधि रक्षा करती हैं; पूर्वमें रक्षा न होनेसे सूर्यसे रक्षा की, तथा च श्रुतिः "गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्य्यमेव पुरस्तात् गोप्तारं करोति" इति श० १ । ३ । ४ । ८ ।] विधि–(३) तीसरे मन्त्रसे दो कुशा तिर्यग्भावसे स्थापित करै [का० २ । ८ । ९] मन्त्रार्थ–हे तृण! दोनों तुम (सवितुः) सविता देवताकी(बाहू स्थः) बाहुस्वरूप हो (अर्थात् प्रस्तर धारण करनेसे सवितादेवताकी भुजास्वरूप हो)३।विधि–(४)चौथे मन्त्रसे इन कुशाओंपर प्रस्तर (दर्भपूली)स्थापन करै [का० २ । ८ । १०] हे कुशसमूह ! (देवेभ्यः) देवताओंके (स्वासस्थम्) सुखसे ऊंचे स्थानमें बैठनेके निमित्त (ऊर्णम्रदसम्) ऊनकी समान कोमल (त्वा) तुमको (स्तृणामि) बिछाता हूं ४ । विधि–(५)इन बिछाये कुशोंको हाथसे स्पर्शकर पांचवां मंत्र पढै [का० २ । ८ । ११ ।] मन्त्रार्थ–(वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण प्रातः मध्याह्न सायम् इन तीनों सवनके अभिमानी तीनों देवता (आत्वा) सब ओरसे तुमपर (सदन्तु) स्थित हों॥५॥

आशय–समिधादिको इस प्रकार मंत्रोंसे अभिमंत्रित कर यज्ञकार्य करनेसे

देवता बलवान् होते हैं, कारण कि मंत्रोंमें देवताओंका निवास है इस कारण अन्न धन जनकी वृद्धिके निमित्त देवताओंकी उपासना करै ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र ६ ।

घृताच्च्यसि जुहूर्न्नाम्म्ना सेदम्प्रियेण धाम्म्ना प्प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्च्यस्युपभृन्नाम्म्ना सेदम्प्रियेण धाम्म्ना प्प्रियꣳ सदऽआसीद घृताच्च्यसि ध्रुवा नाम्म्ना सेदम्प्रियेण धाम्म्ना प्प्रियꣳ सदऽआसीद प्प्रियेण धाम्म्ना प्प्रियꣳ सदऽआसीद ॥ ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्ण्णो पाहि पाहि यज्ञम्पाहि यज्ञपतिम्पाहि माँय्यज्ञन्यम् ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐघृताचीत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप् छं० । जुहूर्देवता । प्रस्तरे प्रागग्रजुह्वासादने वि० । (२) ॐघृताचीत्यस्य प्र०ऋ० । साम्नीत्रि० । उपभृद्दे० । बर्हिष्युपभृदासादने वि० । (३) ॐघृताच्यसीत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्० । ध्रुवादेवता । बर्हिषिध्रुवासादने वि० । (४) ॐप्रियेणेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीजगती छं० । हविर्दे० । वेदिस्थहविरालम्भने वि० । (५) ॐध्रुवेत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । विष्णुर्देवता । वेदिस्थसर्वहविरालम्भने वि० । (६) ॐपाहीत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्री छं० । विष्णुर्देवता । हस्तेन हृदयालम्भने वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे वामहस्तसे युक्त दक्षिणहस्तसे प्रस्तरके ऊपर जुहू[1] स्थापित करै [का० २ । ८ । १२ । १३] मन्त्रार्थ–हे जुहु ! (जुहूनाम्ना) जुहूनामसे प्रसिद्ध तुम (घृताच्यसि) घृतपूर्ण होते हो सो तुम (प्रियेण धाम्ना) देवताओंके प्रिय घृतके साथ (इदम्) इस (प्रियम्) प्यारे (सदः) प्रस्तरनाम आसन पर (आसीद) बैठो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उपभृत्[2] स्थापन करै । मंत्रार्थ–हे उपभृत् ! तुम (नाम्ना उपभृत्) उपभृत्नामसे प्रसिद्ध (घृताच्यसि) घृतसे पूर्ण

१ जुहू एक प्रकारका स्रुक् होताहै यह पलाश (ढाक) का बनाया हुआ अर्धचन्द्र आकारवाला बाहुप्रमाण यज्ञपात्र होता है होम करनेमें साधक होता है । २ उपभृत् भी एक स्रुक् है जुहूके समीपमें रक्खे घृत धारण करै इसी कारण इसको उपभृत् कहते हैं ।

होते हो (सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳसद आसीद) इस समय देवताओंके प्रिय इस घृतसे परिपूर्ण हो इस प्रिय आसन प्रस्तरपर स्थित हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे ध्रुवा स्थापन करै । मन्त्रार्थ–(नाम्नाध्रुवा) तुम ध्रुवा नामसे प्रसिद्ध (घृताच्यसि) सर्वदा घृतसे सिञ्चित हो (सेदं प्रियेण धाम्ना प्रियꣳ सद आसीद) इस समय देवताओंके प्रिय इस घृतसे परिपूर्ण होकर इस प्रिय आसन प्रस्तरपर स्थित हो ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे पुरोडाश वेदीके ऊपर ग्रहण करै [का० २ । ८ । १९ ।] मन्त्रार्थ–हे हवि (प्रियेण धाम्ना) घृतके साथ (प्रियम्) प्रिय(सदः) इस पर (आसीद) स्थित हो ४ । विधि–(५) अवशिष्ट पुरोडाश प्रभृति देखते हुए पांचवां मंत्र पढे [का० २ । ८ । १९ ।]मन्त्रार्थ–हे (विष्णो) सर्वव्यापक परमेश्वर (ऋतस्य) फलके अवश्य प्राप्त होनेके कारण सत्यस्वरूप यज्ञकी (योनौ) स्थानमें जो हवियें (असदन्) स्थित हैं (ताः) उन हवियोंको (पाहि) रक्षा करो. केवल पुरोडाशकी ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण (यज्ञश्च) यज्ञकी भी (पाहि) रक्षा करो. (यज्ञपतिम्) यज्ञकर्ताको (पाहि) रक्षा करो. ५ । विधि–(६) छठे मंत्रसे आत्मरक्षाकी प्रार्थना करै [का० २ । ८ । २०] हे परब्रह्म परमात्मन् ! (यज्ञन्यम्) यज्ञके प्रवर्तक (माम्) मुझ अध्वर्युकी (पाहि) रक्षा करो ॥ ६ ॥

प्रमाण–"एतद्ध देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यम् इति श्रुतेः [श० २ । ३ । २ । १७] हूयते अनयेति जुहूः । "क्विप्‌ वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च" इति क्विप् दीर्घश्च ... "क्विपि द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च जुहोतेर्दीर्घश्च" [पा० क्र० ३ । २ । १७८ प० २ । ३] इति द्वित्वं दीर्घश्च ।

अभिप्राय–रक्षाके निमित्त परमात्मासे ही प्रार्थना करनी चाहिये कारण कि आत्मामें ईश्वरका सम्बन्ध है और वही सबका नियन्ता है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र ४ ।

अग्ने वाजजिद्वाजन्त्वा सरिष्यन्तं वाजजितꣳ सम्मार्ज्मि ॥ नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः सुयमे मे भूयास्तम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअग्नइत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयस्योपरिमध्यप्रदेशे त्रिः संमार्जने वि० । (२) ॐनमइत्यस्य

१ ध्रुवा भी स्रुक् है विकङ्कतवृक्ष के काष्ठ से निर्मित बाहुप्रमाण वटपत्राकृति यज्ञीयपात्र को ध्रुवा कहतेहै इसमें होमीय आज्य रखते है ।

प्र० ऋ०। दैवीपंक्तिश्छन्दः। देवा देवताः। आहवनीयप्रत्यञ्जलिकरणे वि०। (३) ॐस्वधेत्यस्य प्र० ऋ०। दैवी पंक्ति०। पितरोदेवताः। आहवनीयाद्दक्षिणतउत्तानाभ्यां पाणिभ्यां पितॄन्प्रत्यञ्जलिकरणे वि०। (४) ॐसुयमइत्यस्य प्र० ऋ०। आर्ष्युष्णिक् छं०। जुहूपभृतौ देवते। जुहूपभृदादाने वि०॥ ७॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे रज्जुमें बंधी समिध् लेकर उससे प्रत्येक परिधिके प्रदक्षिणक्रमसे तीन वार अग्निसम्मार्जन करै [का० ३। १। १३] मंत्रार्थ-(वाजजित् अग्ने) हे अन्नके जीतनेवाले अग्नि! (वाजंसरिष्यन्तम्) अन्नके उद्देशसे जाते हुए वा तुमसे अनेक अन्न उत्पन्न होंगे इस निमित्त (वाजजितम्) अन्नका प्रतिबंध निवारण करनेवाले वा अन्नके उद्देशसे जययुक्त (त्वा) तुमको (सम्मार्ज्मि) मार्जन [शोधन] करता हूं १। विधि-(२) आहवनीयके प्राङ्मुख हो हाथ जोड़ दूसरे मंत्रसे देवताओंको नमस्कार करै [का० ३। १ १९] जो देवता इस अनुष्ठानपर अनुग्रह करते हैं, उन (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (नमः) नमस्कार है २। विधि-(३) दक्षिणकी ओर मुखकर उत्तान अञ्जलिसे पितरोंको नमस्कार करै [का० ३, १, १९] जो पितृगण इस अनुष्ठानपर अनुग्रह पालन करते हैं (पितृभ्यः) उन पितरोंके निमित्त (स्वधा) स्वधा अन्न देते हैं [नमस्कार करते हैं] [स्वधाशब्द पितरोंके उद्देशसे जो द्रव्य दिया जाय उसके दानमें वर्तता है इन दोनों मंत्रसे देवता पितरोंका सत्कार किया गया] ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे जुहू और उपभृत् ग्रहण करै [का० २। ४। १६] हे जुहू! हे उपभृत्! तुम दोनों (मे) मेरे इस यज्ञमें (सुयमे) सावधान (भूयास्तम्) होवो जिस कारण तुममें स्थित घृत न गिरे इस प्रकार धारण करो॥७॥

प्रमाण-"वाजइत्यन्ननामसु पठितम्" [निघं० २। ७।] "स्वधेत्यन्ननामसु पठितम्" [नि० १। १२]

विचार-इस मंत्रमें देवता पितरोंका भेद प्रतिपादन किया है देवताओंको पूर्वमुख पितरोंको दक्षिणमुख हो नमस्कार करे इससे विदित हुआ कि पितृगण दक्षिण दिशामें निवास करते हैं और देवताओंसे भिन्न हैं॥ ७॥

कण्डिका ८-मन्त्र ३।

अस्कन्नमुद्य देवेभ्युऽआज्युꣳ संभ्रियासु मङ्‌घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषुं वसुमतीमग्ने ते च्छा

याऽउ॒प॒स्थे॒ष्ठं॒ वि॒ष्णो॒ स्थान॑मसी॒तऽइन्द्रो॑ वी॒र्य्य॒मकृ॒णोदू॒र्ध्वोऽध्वर॒ऽआस्था॑त् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअङ्घ्रिणेत्यस्य प्रजा० ऋ० । याजुषीत्रिष्टुप् छं० । विष्णुर्देवता । वेद्यारोहणे वि० । (२) ॐवसुमतीमित्यस्य याजुषी छं० । अग्निर्देवता । वेद्यामैशान्यभिमुखावस्थाने वि० । (३) ॐइत इन्द्र इत्यस्य याजुषी गायत्री छं० ।इन्द्रो देवता । आज्येनोत्तराघारहवने वि० ॥ ८ ॥

पूर्वमंत्रशेषार्थ-हे जुहू ! हे उपभृत् ! ऐसा होनेपर (अद्य) इस अनुष्ठानके दिनमें (देवेभ्यः) देवताओंके उपकारके निमित्त (आज्यम्) तुममें रक्खा हुआ घृत (अस्कन्नम्) भूमिमें जिस प्रकार न गिरे इस प्रकार (सम्भ्रियासम्) सम्यक् प्रकारसे पोषण वा धारण करता हूं [इस मंत्रभागका पूर्वमंत्रसे सम्बन्ध है]

विधि-(१) इस मंत्रसे वेदीपर आरोहण करे [का० ३, १, १६] मंत्रार्थ-(विष्णो) हे व्यापक यज्ञपुरुष (अंघ्रिणा) चरणद्वारा मैं (त्वा) तुमको (मा) नहीं (अवक्रमिषम्) आक्रमण करता हूं वेदीपर चरण रखनेका दोष मुझे प्राप्त न हो १ । विधि- (२) अगला मंत्र पढ़ कर प्रज्वलित अग्निके छायाभागमें स्थिति करे [का० ३ । १ । १९] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि ! (ते) तुम्हारी (छायाम्) छायावत् समीपवर्तिनी (वसुमतीम्) पृथ्वीमें (उपस्थेषम) बैठता हूं हे वसुमति ! तुम (विष्णोः) यज्ञका (स्थानमसि) स्थान हो । [यहां स्थित होकर यज्ञ किया जासकता है । आहवनीय के समीपवर्ती है इसके होनेसे भूमि को यज्ञस्थान कहा] अथवा हे अग्ने ! तुम्हारी (वसुमतीम्) धन प्राप्त करनेवाली छायाके आश्रयको लेता हूं तुम्हारी चरण छायामें निवास करूं. कारण कि तुम यज्ञका स्थान हो २। विधि-(३)अगले मंत्रसे हवन करे [का० ३,२,१] [पूर्व मंत्रमें जो यज्ञसम्बन्धि स्थान कहाहै वह देवताओंका विजयहेतु होनेसे इतनामसे कहा जाताहै देवयजनसे अतिरिक्त भूमि असुरोंके अधीन होने से वहां देवताओंके प्रभव न होनेसेभी यज्ञस्थान पराजयरहित है वही इस मंत्रमें कहा है] (इन्द्रः)इन्द्र(इतः)इस देवयजनस्थानसे उद्युक्त होकर (वीर्यम्)शत्रुवधरूप पराक्रम को(अकरोत्) करता हुआ इसी कारण (अध्वरः) यज्ञ (ऊर्ध्वः) उन्नत (आस्थात्)स्थित हुआ है । [आशय यह कि इन्द्र के पराक्रमसे शत्रुओं के किये विघ्न न होनेसे यज्ञ उन्नत होगा] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १ ।

अग्ने॒ वेर्हो॒त्रं वे॒र्दू॒त्य॒मव॑तां॒ त्वां द्यावा॑पृथि॒वीऽअ-

तुत्त्वन्द्यावांपृथिवीऽअंस्विष्टुकृद्देवेभ्यऽइन्द्रऽआज्ज्येन्हुविषांभूत्स्वाहासञ्ज्योतिषाज्ज्योतिः॥९॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्न इत्यस्य प्राजापत्य ऋ० । आर्षीजगती छं० । आज्यं दैवतम् । जौहवेनाज्येनध्रौवसमञ्जने वि० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-(१) (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (होत्रम्) होताके कर्मको अवश्य (वेः) जानो (दूत्यम्) अपने दूतपनके कार्यको अवश्यही (वेः) जान इस प्रकारके तुझको (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और भूमि (अवताम्) पालन वा रक्षा करैं. हे अग्ने ! (त्वं) तूभी (द्यावापृथिवी) लोकद्वय देवताकी (अव) रक्षाकर इस प्रकार अन्योन्यकी पालना होनेसे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र (आज्येन हविषा) हमारी दीहुई घृतरूप हविसे (देवेभ्यः) देवतोंके निमित्त (स्विष्टकृत्) संतुष्ट करनेवाला हो अर्थात् हम यह हवि देकर देवताओंको संतुष्ट करते हैं वह तुष्ट होकर हमारे इष्ट सिद्ध करें हमारा यज्ञ विकलतारहित हो (स्वाहा) यह आहुति अच्छी आहुति हो इन्द्रदेवताके उद्देशसे यह घृत दिया ।

विधि-अगले मंत्रसे जुहूद्वारा ध्रुवाको अञ्जित करै [का० ३,२,२] मंत्रार्थ-(ज्योतिषा) इस ध्रुवामें स्थित घृतकी ज्योतिके साथ (ज्योतिः) जुहूद्वारा सिच्यमानरूप ज्योति (सं-"गच्छतामित्यध्याहारः") प्राप्त हो ॥ ९ ॥

प्रमाण-"उभयं वा एतदग्निर्देवाना ᳪ होताच दूतश्च" इति [श०१।४।५।४] "अग्निमीडे पुरोहितम् होतारम्" इत्यादि [ऋ० १ । १ । १ । १ ।] "अग्निं दूतं" [साम० १ । १ । १ । ३ ।]

आशय-जिस प्रकार देवता और यज्ञकर्ता परस्पर सहायकारी होकर तज बलसंयुक्त होते हैं इसीप्रकार परस्पर मनुष्योंको एकको दूसरेका कार्य साधन करना चाहिये ।

कण्डिका ३-मन्त्र ३ ।

मयीदमिन्द्रऽइन्द्रियन्दधात्वस्मान्रायोमुघवानः सचन्ताम् ॥ अस्माकᳪसन्त्वाशिषःसत्त्या नःसन्त्वाशिषऽउपहूतापृथिवीमातोपुमाम्पृथिवीमाताह्वयतामुग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमयीदमित्यस्य प्राजापत्य ऋ० । यजुश्छं० । आर्षी

देवता । आशीःप्रार्थने वि० । (२) ॐउपहूतेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगा० छं० । पृथिवी देवता । भागप्राशने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रधान यज्ञ होचुकने पर पुरोडाशशेष भोजन करनेके समयमें होता यजमान को आशीर्वाद करे उस समय यजमान इस प्रकार जप करे [का० ३ । ४ । २१] मन्त्रार्थ-(इन्द्रः) परमऐश्वर्यवान् परमेश्वर (इदम्) इस प्रकार अपेक्षित (इन्द्रियम्) वीर्य पराक्रमको (मयि) मुझ यजमानमें (दधातु) स्थापन करैं अर्थात् मेरी इन्द्रिय सबल हौं. किञ्च (रायः) अनेक प्रकारके धन अर्थात् देवता मनुष्योंके भेदसे दो प्रकारके (मघवानः) धनवाले (अस्मान्) हम यजमानोंको (सचन्ताम्) सेवन करें (अस्माकम्) हमारे (आशिषः) सम्पूर्ण अभीष्ट (सन्तु) सिद्ध हों. किञ्च (नः) हमारी (आशिषः) प्रार्थना मनोरथ (सत्याः) सत्य (सन्तु) हौं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अग्नीध्र हुतशेष पुरोडाश भक्षण करे [का० ३ । ४ । १८ । १९ । २०] जिस समय होता द्यावापृथ्वीका उपह्वान करता है तब दोनों पुरोडाशोंमेंसे एक एक अंश छः छः भाग-करके अग्नीध्र को देता है वह उपहूता मंत्र से उसे भक्षण करता है । मन्त्रार्थ-(उपहूता) आराधना की हुई जो यह (पृथिवी) है सो जगत् की (माता) निर्माण करनेवाली है सो मुझसे आराधना की हुई (माता) पालन करनेवाली मातारूप पृथिवी (माम्) मुझको (उपह्वयताम्) हविशेष भक्षण करने की आज्ञा दे मेरी (अग्नीध्रात्) हे माता अग्निमें आहुतिप्रदान करनेसें जाठराग्नि अतिप्रदीप्त हुई है इस कारण से (अग्निः) अग्निरूपसे उस भाग को खाताहू (स्वाहा) जाठराग्नि में सुहुत हो ॥ १० ॥

प्रमाण-"मघमिति धननाम" [निघं० । २, १०] तद्विद्यते येषान्ते मघवानः ।

अभिप्राय-परमात्माकी प्रार्थना उपासना से ही मनुष्यों के सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध होते हैं इस कारण उस की आराधना करनी सब को उचित है ॥१०॥

कण्डिका ११-मन्त्र ४ ।

उपहूतो द्यौष्पितोप माम्द्यौष्पिता ह्वयतामग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ प्रतिगृह्णाम्यग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउपहूतइत्यस्यप्रजापतिर्ऋषिः। साम्नीत्रिष्टुप् छं०। द्यौर्देवता। स्वर्गह्वाने वि०। (२) ॐदेवस्येत्यस्यबृहस्पतिर्ऋषिः। प्राजापत्याबृहतीछं०। सविता देवता। स्वर्गह्वाने वि०। (३) ॐप्रतिगृह्णामीत्यस्य बृ० ऋ०। दैवीपंक्तिश्छन्दः। प्राशित्रं दैवतम्। प्राशित्रग्रहणे वि०। (४) ॐअग्नेरित्यस्य प्र० ऋ०। प्राजापत्यागायत्री छं०। प्राशित्रं दैवतम्। प्राशित्रभक्षणे वि०॥

विधि-(१)दूसराभी इसीप्रकार। मंत्रार्थ-(उपहूतः)आराधना किया हुआ (द्यौः) जगत्पालक सविता हमारा(पिता)पालक है(पिता) पालक पितारूप (द्यौः)सविता वा स्वर्ग (मा)मुझे(उपह्वयताम्)शेषभक्षण की अनुमति प्रदान करै(आग्नीध्रात् अग्निः स्वाहा) हे पितः! अग्निमें अनुक्षण समित्प्रदान करते २ जाठराग्नि अतिशय प्रदीप्त हुई है उस की तृप्ति के निमित्त यह सुन्दर आहुति हो १।विधि-(२) दूसरे मंत्र से ब्रह्मा प्राशित्रग्रहण करे [का० २,७. १६] मंत्रार्थ-(देवस्य त्वेति) हे प्राशित्र! सविता देवता की प्रेरणा अश्विनीकुमार की बाहुद्वय और पूषा देवताके दोनो हाथोंकी सहायतासे तुमको ग्रहण करता हूं २।विधि-(३)दांत न लगे इस प्रकार प्राशित्रभक्षण करे [का०२, २,१८] मंत्रार्थ-हे प्राशित्र!(अग्नेः) अग्निदेवता के (आस्येन) मुख से (त्वा) तुमको (प्राश्नामि) भक्षण करता हूं॥ ११॥

आशय-यजमान को उचित है कि समस्त यज्ञकार्य अहंकाररहित होकर करै ऐसा जाने कि यह जो कुछ होता है सो देवता ही करते हैं मैं कर्ता नहीं हूं तथा यज्ञका शेषभाग आत्माग्निकी उन्नति के निमित्त भक्षण करै, इससे सत्त्वगुण की वृद्धि होकर पापक्षय होनेसे परम पिता परमात्माके निकट प्राप्त होता है॥ ११॥

कण्डिका १२-मन्त्र १।

एतन्ते देवसवितर्यज्ञम्प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे॥
तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिन्तेन मामव॥ १२॥

ऋष्यादि-(१) ॐएतमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। यजुश्छं०। विश्वेदेवादेवता। ईश्वरप्रार्थने वि०॥ १२॥

विधि-(१)इस मंत्र से तेरहवें मंत्रतक ब्रह्मा सविता देवता की आराधनापूर्वक यजमान को समिदाधान की आज्ञा दे [का० १.२। २। २१।] मंत्रार्थ-हे (देव) दानादिगुणयुक्त हे (सवितः) सब के उत्पन्न प्रेरण करता (एतं यज्ञम्) इस समय किये जाते इस यज्ञ को (ते) तुम्हारे निमित्त यजमान (प्राहुः) अनुज्ञा

करते हैं, अर्थात् यज्ञ यह आपके निमित्त है ऐसा कहते हैं. और आपसे प्रेरित हुए इस यज्ञ में (ब्रह्मणे) ब्रह्माके निमित्त (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त कहते हुए "बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा" बृहस्पति देवताओंका ब्रह्मा है उससे अधिष्ठित होकर यह मनुष्य ब्रह्मत्व करता है. अर्थात् हे सवितः सब से प्रथम इस यज्ञ में यथाकर्तव्य उपदेश में बृहस्पति प्राप्तहुए हैं इस कारण वह तुम्हारे यज्ञीय ब्रह्मा हैं इतना यह यज्ञ आपहीके शिक्षानुसार होता है (तेन) इस कारणसे (यज्ञम्) इस यज्ञ की (अव) रक्षा करो (तेन) इसीकारण (यज्ञपतिम्) यजमान की (अव) रक्षा करो (तेन) तिसी कारण (माम्) मेरी (अव) रक्षा करो ॥ १२ ॥

अर्थात् मुझे ब्रह्मा को पालन करो, परमात्मा की प्रेरणासे सब कार्य होता है इस कारण रक्षा और प्रार्थना उसीसे करते हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १ ।

मनोजूतिर्जुषतामाज्ज्यस्स्य बृहस्प्पतिर्य्यज्ञमिमन्तनोत्वरिष्टंय्यज्ञꣳसमिमन्दधातु ॥ विश्श्वेदेवासऽइहमादयन्तामो३म्प्रतिष्ठ ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) मनोजूतिरित्यस्य ब्र० ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । ब्रह्मणोऽनुज्ञाने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) ब्रह्माको आज्ञा देवै । मन्त्रार्थ-सवितादेवताको (जूतिः) सर्वव्यापी (मनः) चित्त (आज्यस्य) यज्ञसम्बन्धी आज्य घृतको (जुषताम्) सेवन करै (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (तनोतु) विस्तार करो वह (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अरिष्टम्) हिंसारहित वा निर्विघ्न (सन्दधातु) सम्पूर्ण करो (विश्वेदेवासः) सम्पूर्ण देवता (इह) इस यज्ञकर्म-में (मादयन्ताम्) तृप्तिलाभ करें, यजमानके प्रति इस प्रकारसे प्रार्थना किये सविता देवता (ओ ३ म्प्रतिष्ठ) ऐसा ही हो ऐसी आज्ञा दें ॥ १३ ॥

भावार्थ-हमारी प्रार्थना स्वीकार करके परमात्मा तुम को समिदाधान की अनुमतिप्रदान करै कि जाओ समिदाधान में प्रवृत्त हो. मनुष्यों को श्रेष्ठ कार्योंमें परमात्माकी सहायता लेनी चाहिये । यहांपर ब्रह्मत्व पूर्ण हुआ ।

कण्डिका १४-मंत्र २ ।

एषातेऽअग्ग्नेसमित्तयावर्द्धस्स्वचाचप्प्यायस्स्व ॥ वृद्धि

र्द्धीमहिंचव्वयमाच्प्यासिषीमहि ॥ अग्ग्नेंवाजजिद्वा जंन्त्वासमृवाᳬंसंवाजुजितुᳬसम्मांर्ज्म्मि॥१४॥[५]

ऋष्यादि-(१) ॐएषातइत्यस्य प्र० ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । होत्रा समिद्दानमन्त्रणे वि० । (२) ॐअग्नइत्यस्य प्र० ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्देवता । अग्निसंमार्जने वि० ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे अग्निमें एक समित् प्रदान करै [का० ३ ५, २ (अग्ने) हे अग्नि ! (एषा) यह (ते) तुम्हारी (समित्) दीप्ति करनेवाली समिधा है (तया) इस समिधा के द्वारा तुम (वर्धस्व) वृद्धिको प्राप्त हो (आप्यायस्व च) हम सब को भी वृद्धि को प्राप्त करो, ऐसा होनेसे तुम्हारे प्रसाद से (वयम्) हम (वर्धिषीमहि) वृद्धि को प्राप्त होंगे (आप्यासिषीमहिच) और तुम्हारे तृप्त होनेसे हम अपने पुत्रपशुआदिकों की सब ओरसे वृद्धि करसकैंगे ।

विधि-(२) दूसरे मंत्रका पाठ करता हुआ अग्निसम्मार्जन करै । सातवें खण्डमें अग्नि का जैसे तीन परिक्रमा से सम्मार्जन किया था इस में परिक्रमण के विना ही एकवार मार्जन करै [का० ३, ५, ४] मन्त्रार्थ-(वाजजित् अग्ने) हे अन्न के जीतनेवाले अग्नि ! (वाजम्) अन्नके उद्देश से (ससृवाᳬंसम्) जाते हुए वा अन्न सम्पादन करते हुए (वाजजितम्) अन्न के जीतनेवाले (त्वा) तुम को (सम्मार्ज्मि) शोधन करता हूं ॥ १४ ॥

आशय-इस मंत्रसे आत्माग्नि प्रदीप्त करनेसे परमात्मा प्रसन्न हो मनुष्योंके मनोरथ पूर्ण करता है यह आशय गर्भित है ॥ १४ ॥

काण्डिका १५-मन्त्र ३ ।

अग्ग्नीषोमंयोरुज्जितिमनूज्जेषंवाजंस्यमाप्प्रसुवेन प्प्रोहांमि ॥ अग्ग्नीषोमौतमपंनुदतांय्योस्म्मान्द्वेष्टि यञ्चंव्वयन्द्विष्म्मोवाजंस्यैनम्प्रसुवेनापोहामि॥इन्द्रा ग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषंवाजंस्यमाप्प्रसुवेनप्प्रोहांमि॥ इन्द्राग्नीतमपंनुदतांय्योस्म्मान्द्वेष्टियञ्चंव्वयन्द्वि ष्म्मोवाजंस्यैनम्प्रसुवेनापोहामि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नीषोमयोरित्यस्य प्रजा० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता देवता । जुहूपभृतोर्व्यूहने वि० । (२) ॐइन्द्राग्न्योरित्यस्य आर्ष्युष्णिक्छं० । लिङ्गोक्तादेवता । प्रतीच्यामुपभृतोनिधाने विनि० । (३) ॐइन्द्राग्नीइत्यस्यआर्षीपंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्तादेवता । शत्रुनाशने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१-२) पहले और दूसरे मंत्रसे जुहू और उपभृत् को व्यूहन करे. व्यूहन का अर्थ स्थानच्युत अन्योन्य को विपरीत दिशा में रखकर उत्साहित करे, पश्चिमदिशा में स्थित जुहू को पूर्व दिशामें और पूर्वदिशा में स्थित उपभृत् को पश्चिम में स्थित करे [का० ३, ५, १७, १८] मन्त्रार्थ-(अग्नीषोमयोः) द्वितीयपुरोडाश के देवता अग्निसोम के (उज्जितिम् अनु) विघ्नरहित हवि स्वीकार करने से उत्कृष्ट विजय को अनुसरण करके (उज्जेषम्) उत्कृष्ट जय को प्राप्तहूं (वाजस्य) पुरोडाशादि अन्न के (प्रसवेन) अनुज्ञा करके (मा) में जुहूरूपधारी यजमान को (प्रोहामि) उत्साह देता हूं अर्थात् पुरोडाशादिने हमको उत्साहित किया है हम भी उस उत्साहसे जुहू और उपभृत् नामक दोनों स्रुक् को उत्साहित करते हैं १ । विधि-(२) उपभृत् को प्रतीचीदिशा में प्रेरणा करे । मन्त्रार्थ-(यः) जो शत्रु असुरादि (अस्मान्) हमारे यज्ञ नाश करनेके निमित्त हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है (यञ्च) जिस अनुष्ठानावरोधी शत्रु से (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम देवता उस को निराकृत करें (वाजस्य) पुरोडाशादि हविके (प्रसवेन) देवता की अनुज्ञासे हविको निर्विघ्न स्वीकार करनेके कारण (अपोहामि) इन दोनों स्रुक् को निराकरण [त्याग] करता हूं २ ।

विधि-(३) अगले दोनों मंत्र दर्शदेवताविषयक समान अर्थवाले हैं केवल प्रथम द्वितीय में (अग्नीषोम) देवता और इन दोनों मंत्रोंमें (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्निका वर्णन है अर्थ वही है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र ६ ।

वसुभ्यस्त्वा रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा सञ्जानाथान्द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्यावताम् ॥ व्यन्तु वयोक्तꣳ रिहाणा मरुताम्पृषतीर्गच्छ वशा पृ

त्रिंश्मभूर्त्वादिवङ्गच्छुततोनोवृष्टिमावह ॥ चक्षुष्पाऽअग्नेसिचक्षुर्म्मेपाहि ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवसुभ्यइत्यस्यप्र०ऋषिः। दैवीबृहतीछं०। परिधिर्देवता। जुह्वामध्यमपरिधिमार्जने वि०। (२) ॐरुद्रेभ्यइत्यस्य प्र०ऋ०। दैवीबृ० छं०। परिधिर्दे०। जुह्वादक्षिणपरिधिमार्जने वि०। (३) ॐआदित्येभ्य इत्यस्य प्र० ऋ०। दैवी पंक्ति०। परिधिर्दे०। जुह्वोत्तरपरिधिमार्जने वि०। (४) ॐसञ्जानाथामित्यस्य प्र० ऋ०। यजुश्छं०। प्रस्तरो दे०। हस्तेनप्रस्तरादाने वि०। (५) ॐव्यन्तुवयइत्यस्य प्र० ऋ०। प्राजापत्यागायत्रीछं०। प्रस्तरोदे०। प्रस्तरस्याग्रमध्यमूलानांजुहूपभृद्ध्रुवास्वञ्जने वि०। (६) ॐमरुतामित्यस्यप्र० ऋ०। बृहतीछं०। परिध्यग्निर्दे०। प्रस्तरात्पृथक्कृतस्यैकस्य कुशस्याग्नौ प्रक्षेपणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे मध्यम परिधि जुहूद्वारा घृत से सिक्त करे [का० ३।५।२४] मंत्रार्थ-हे मध्यम परिधि! (वसुभ्यः) वसुदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुम को घृतसे सिक्त करता हूं १। विधि-(२) दूसरे मंत्र से दक्षिण परिधि को सिक्त करै। मन्त्रार्थ-हे दक्षिणपरिधि ! (रुद्रेभ्यः) रुद्रदेवता की प्रीति के निमित्त (त्वा) तुम को घृतसिक्त करता हूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्र से उत्तरपरिधिको घृतसिक्त करै। मंत्रार्थ-हे उत्तरपरिधि ! (आदित्येभ्यः) आदित्यदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुम को घृतसिक्त करता हूं [तीनों परिधि के सींचने से तीनों सवन के देवता प्रसन्न होते हैं] ३। विधि-(४) चौथे मन्त्र से प्रस्तरग्रहण करै [का० ३. ६, ३] मन्त्रार्थ-(द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिवी ! द्युलोक भूलोक के अधिष्ठितदेवता ! (सञ्जानाथाम्) तुम ग्रहण किये हुये इस प्रस्तर को भली प्रकारसे जानो हे प्रस्तर ! (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवता वायु और सूर्य वा प्राण अपान वायु (त्वा) तुमको (वृष्ट्या) जलवर्षासे (अवताम्) रक्षा करै ४। विधि-(५) पांचवें मंत्र से ग्रहण किये हुए प्रस्तर के अग्रभाग में जुहू अधोभाग में उपभृत्नाम स्रुच् मूलभाग में ध्रुवा से घृताक्त करै [का० ३।६।४।७] (अक्तं रिहाणाः) घृतलिप्त प्रस्तर को आस्वादन करते हुए (वयः) अन्तरिक्षचारी देवतागण वा पक्षिरूप गायत्रीआदि छन्द (व्यन्तु)यथातथा 'प्रस्तर' लेकर विचरण करैं ५। विधि-(६) इस प्रस्तर (पूली) में से एक कुशा पृथक् करके नीचे

हाथसे छठे मंत्र से अग्नि में प्रक्षेप करे [का० ३ । ६ । ८] **मंत्रार्थ**- हे प्रस्तर ! तुम (मरुताम्) अन्तरिक्ष में मरुतोंकी (पृषतीः) विचित्र गति अवलम्बन कर (गच्छ) जाओ वा मरुत्देवतासम्बन्धिनी वाहनरूप चित्रवर्णता को प्राप्त हो. भाव यह कि अन्तरिक्ष को जाओ (वशा) स्वाधीना (पृश्निः) अल्पशरीरवाली गौ होकर (दिवं गच्छ) स्वर्ग को जा अर्थात् कामधेनु की समान तृप्तिकरी होकर स्वर्ग को जा वा पृथ्वी की मंगलकामनासे द्युलोक को गमन कर (ततः) स्वर्गप्राप्ति के अनन्तर (नः) हमारे निमित्त (वृष्टिमावह) भूलोक में वृष्टि को लाओ अथवा (वशापृश्निर्भूत्वा) पृथ्वी होकर स्वर्ग को जा अर्थात् पृथ्वीसम्बन्धी भागों को लेकर भूलोक को तृप्त कर. आशय यह है कि प्रस्तर अन्तरिक्ष में वाहनसहित मरुतों को तृप्तकर स्वर्ग में देवताओं को तृप्त कर आहुतिके परिणाम से पृथ्वी में वर्षा करे । इस मंत्रसे आत्माको हृदयस्थान पर स्पर्श करके आमचन करे[का० ३, ६, १९] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! जिस कारण से कि तुम (चक्षुष्पाः) नेत्रोंकी रक्षा करनेवाले तेजोरूप (असि) हो इस कारण (मे) मेरी (चक्षुः) नेत्रों की रक्षा करो. प्रस्तरप्रहरण में लगे हुए नेत्रों के उपद्रव दूर करो ॥

प्रमाण-"य एव वर्षस्येष्टे" [श० १, १, ३, १२] "यजमानो वै प्रस्तरः" इति श्रुतेः [१. ८. १, ४४] "इयं वै वशा पृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशा पृश्निः" इति श्रुतेः [श० १, ८, ३, १९]

गर्भित आशय-वर्षा का अधिपति वायु अध्यात्मगत प्राण उदानरूप मित्रावरुण देवताओंके नामसे कहा गया है वह प्रस्तररूप यजमान की रक्षा करे यजमान प्रस्तररूप है यदि सम्पूर्ण प्रस्तर अग्निमें प्रक्षेप किया जाय तो यजमान शीघ्र ही परलोकगामी हो इस कारण एक तृण निकालने में भी रक्षा की प्रार्थना करने से पूर्णायुतक जीता है, जहां इस का प्रस्तररूप दूसरा आत्मा गया वहां ही इसे प्रेरण करते हैं इस कारण तृण को एक मुहूर्त उपरान्त अग्नि में डालतेहैं यदि तृण न डाला जाय तो यजमान वहां न पहुंचे.

यज्ञसे देवता मनुष्य वायु की तृप्ति, अच्छी वर्षा. देशमें अरोगता होती है इस कारण यज्ञ का तीनों वर्णो को कभी त्याग न करना चाहिये ॥ १६ ॥

अस्य॑ परि॒धिस्य॑ गु॒र्प्त्यै धृ॒तस्थ्यु॑ऽअग्नेदेव॒पुणि॑भि॒र्गुह्य॑मानः ॥ तन्त॒ऽएतमनु॒जोषं॑भराम्यु॒षनेत्त्वदप॒चेतया॑ताऽअ॒ग्नेः प्रि॒यम्पाथो॒पी॑तम् ॥ १७ ॥

(१) ॐयंपरिधिमित्यस्य देवल ऋषिः । विराड्रूपात्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दे०। प्रथमपरिध्यनुप्रहरणे वि० । (२) ॐअग्नेरित्यस्य देवल ऋषिः । याजुषी छं० । अग्निर्देवता । युगपद्दक्षिणोत्तरपरिधिप्रहरणे वि० ॥

विधि-(१) पहले मंत्रसे मध्यमपरिधिको अग्निमें प्रक्षेप करे [का० ३ । । १७] (अग्नेदेव) हे आहवनीय देवता (पणिभिः) असुरोंसे (गुह्यमानः) घिरे हुए तुमने (यम्) जिस (परिधिम्) परिधिको असुरोंका उपद्रव निवारण करने के निमित्त पश्चिमदिशामें (पर्यधत्थाः) स्थापित किया (ते) तुम्हारे (जोषम्) प्रिय (तम्) उस (एतम्) इस परिधि को (अनुभरामि) तुम्हारे समर्पण करता हूं अर्थात् अग्नि में डालता हूं (एषः) यह परिधि (त्वत्) तुम्हारे सकाश से (न इत् अपचेतयाते) वियुक्त नहो अर्थात् वियोगको न जान कर तुममें ही स्थित रहे१।विधि-(२)दूसरी दोनों परिधि एकही कालमें दूसरे मंत्रसे अग्निमें प्रक्षेप करे । मंत्रार्थ-हे दक्षिण उत्तर परिधि ! तुम (अग्नेः) अग्निके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) भक्षणयोग्य अन्नके (इतम्) भावको प्राप्त हो अर्थात् आप अग्नि के अन्नभाव को प्राप्त हो ।

प्रमाण-"पाथ इत्यन्ननाम" [निघं० । ६ । ७] ॥ १७ ॥

काण्डिका १८-मन्त्र २ ।

संᳪस्रवभागास्स्थेषाबृहन्तः प्प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः ॥ इमांवाचमभिविश्वेगृणन्तऽआसद्यास्मिन्बर्हिषिमादयध्वᳪस्वाहावाट् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसᳪस्रवभागा इत्यस्य सोमशुष्म ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः । संस्रवहवने वि० । (२) ॐस्वाहावाडित्यस्य सोमशुष्मऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । हवने वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१)प्रथम मंत्र से घृतसे गीले प्रस्तर को अग्निमें हवन करे [का० ३।६।१८] मंत्रार्थ-हे विश्वेदेवा!तुम(सᳪस्रवभागाः)द्रवीभूत घृतके भोजन करनेवाले (इषा)घृतयुक्त भक्षणवाले अन्नसे(बृहन्तः)महान् हो और (प्रस्तरेष्ठाः च) प्रस्तरपर स्थित (परिधेयाः स्थ)परिधिसे प्रादुर्भूत अर्थात् परिधिके ऊपर रक्षित प्रस्तरपर बैठनेवाले हैं वे (विश्वेदेवाः)समस्त देवगण (इमाम्)इस मेरी(वाचम्)वाणीको (अभिगृणन्तः) सादर ग्रहण कर वर्णन करतेहुए कि यह यजमान सम्यक् यजन करता है इस प्रकार सब देव-

तोंके मध्यमें कथन करते हुए तुम (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) यज्ञ में (आसद्य) प्राप्त होकर (मादयध्वम्) तृप्त वा प्रसन्न हो१। विधि-(२)दूसरे मंत्रसे होम करदेवे । मंत्रार्थ-(स्वाहा वाट्) सम्यक् प्रकार से यह आहुति गृहीत हो सम्यक् प्रकारसेही आहुति स्वीकृत हो ॥ १७ ॥

आदरसे देने के निमित्त दोनो शब्दों का प्रयोग है यद्यपि स्वाहाकार वषट्कार भी दानार्थ हैं तथापि देवता परोक्षप्रिय हैं इस कारण प्रत्यक्ष परिहार के निमित्त वाट्शब्द का प्रयोग किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र २ ।

घृताचीस्त्थोधुर्य्यौपातᳬंसुम्नेस्त्थᳬंसुम्नेमाधत्तम् ॥ यज्ञनमश्चतऽउपचयज्ञस्यशिवेसन्तिष्ठस्व स्विष्टेमेसन्तिष्ठस्व ॥ १९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१)ॐघृताची इत्यस्य प्रजापतिर्ऋं० । अनुष्टुप्छं० । स्रुक्स्रुचौ देवते । अनसो धुरि जुहूपभृत्स्थापने वि० । (२) ॐयज्ञनमश्च त इत्यस्य शूर्पादय[1] ऋषयः । यजुश्छं० । यज्ञो देवता । वेद्यालम्भने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे जुहू और उपभृत् को शकट की धुरीपर रखदे [का० ३।६।१९] मंत्रार्थ-हे जुहू उपभृत् तुम (घृताची) घृत से युक्त वा घृत को प्राप्त करनेवाले (स्थ) हो (धुर्य्यौ) शकट के वहन करनेवाले दोनों बैलोंको वा धुरी को घृताक्त कर (पातम्) रक्षाकरो तुम (सुम्ने) सुखरूप (स्थ)हो (सुम्ने) सुख में अर्थात् परमानन्द में (मा) मुझ को (धत्तम्) स्थापन करो १।विधि-(२) दूसरे मंत्र से वेदी को स्पर्श करे [का० ३ । ६ । २१] मंत्रार्थ-हे (यज्ञ)वेदी ! (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः च) नमस्कार हो (उपच) तुम्हारी वृद्धि हो(यज्ञस्य) यज्ञके (शिवे) कल्याण में (सन्तिष्ठस्व) स्थित हो अर्थात् इस अनुष्ठान का न्यूनातिरिक्त दोष शान्त कर (मे) मेरे (स्विष्टे) सुन्दर याग में (संतिष्ठस्व) प्राप्त हो अर्थात् यह सुन्दर अनुष्ठान कहाजावे ॥ १९ ॥

प्रमाण-'नमः'और 'उप'शब्दके उच्चारणसे जो कुछ यज्ञमें न्यूनाधिक हुआ है उस की पूर्ति होती है. यथा-"स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति अथ यदूनं करोत्युपचोति तेन तदन्यूनं भवति"इति श्रुतेः । "यद्वै यज्ञस्य न्यूनातिरिक्तं तच्छिवं तेन तदुभयं शमयति" इति श्रुतेः ॥ १९ ॥

---

१ शूर्प पवमान कृषि उद्वलवान् धानान्तर्वान् पंच ऋषयः ।

अभिप्राय–मनुष्यों से कृत्यमें जोअपराध बनताहै सो यज्ञादिके नमस्कारसे दूर होता है इस कारण यज्ञादिमें बड़ी सावधानी करनी चाहिये ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र ३।

अग्नेऽदब्धायोऽशीतमपाहिमादिद्योःपाहिप्रसित्यैपाहिदुरिष्ट्यैपाहिदुरद्मन्याऽअविषन्नःपितुङ्कृणुसुषदायोनौस्वाहावाडग्नयेसंवेशपतयेस्वाहासरस्वत्यैयशोभगिन्यैस्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअग्नेदब्धायोइत्यस्य प्र० ऋषिः । यजुश्छं० । गार्हपत्याग्निर्देवता । अध्वर्युणा स्रुक्स्रुवग्रहणे वि० । (२) ॐअग्नयइत्यस्य प्र०ऋ०।याजुषी त्रिष्टुप्छं० । दक्षिणाग्निर्देवता । दक्षिणाग्नौ हवने वि० । (३) ॐसरस्वत्या इत्यस्य प्र०ऋ० । याजुषी त्रिष्टु० । लिङ्गोक्ता देवता । दक्षिणाग्नौ हवने वि० ॥ २० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्र से ध्रुवा स्रुक् द्वारा अध्वर्यु गार्हपत्य अग्नि में हवन करे [का० ३ । ७ । १७ ।] मन्त्रार्थ–(अदब्धायः) अहिंसक यजमानवाले वा यजमान के मंगलकारी (अशितम्) बहुभोजी वा सर्वत्र व्यापक (अग्ने) हे गार्हपत्य अग्नि ! (मा) मुझ को (दिद्योः) शत्रु के प्रेरण किये वज्र की समान आयुधसे (पाहि) रक्षा करो (प्रसित्यै) बंधन के हेतु जाल से मेरी (पाहि) रक्षा करो (दुरिष्ट्याः) अशास्त्रीय याग से मेरी (पाहि) रक्षा करो (दुरद्मन्याः) कुत्सित भोजन से मेरी (पाहि) रक्षा करो । किञ्च (नः) हमारे (पितुम्) अन्न जलको (अविषम्) विषरहित (आकृणु) करो (सुखदायोनौ) सम्यक् अवस्थानयोग्य घर में मुझ को स्थापन करो वा घरमें स्थित हमारे अन्न विषरहित हों (स्वाहावाट्) यह आहुति भलीप्रकार स्वीकार हो १। विधि–(२–३) स्रुवद्वारा दूसरे तीसरे मंत्र से दक्षिणाग्निमें हवन करे [का० ३ । ७ । १८] मन्त्रार्थ–(संवेशपतये) स्त्रीपुरुषों के अभिलापपूर्वक एकत्र शयन करनेको संवेश कहते हैं ऐसे संवेशपति (अग्नये) अग्नि के निमित्त (स्वाहा) सुन्दर आहुति हो अर्थात् इस आहुतिके फल से हम को संवेशका सुख लाभ हो । (यशोभगिन्यै) जीवित पुरुष की प्रशंसा को यश कहते हैं उस प्रख्यातयश की

भजनेवाली महोदया (सरस्वत्यै) वाग्रूप सरस्वती देवी के निमित्त (स्वाहा) यह सुन्दर आहुति है इस के फल से हम भी यशस्वी हों ॥ २० ॥

प्रमाण-"दभ्नोतिः हिंसाकर्मा" [निघं० २ । १९ । १] "आयुरिति मनुष्यनाम" [नि० २ । ३ । १७ ।] "दिद्युरिति वज्रनाम" [निघ० २।२० । १] "प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वेति यास्कः" [नि० ६ । २] "योनिरिति गृहनाम" [निघं० ३ । ४] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र २ ।

वेदो॑ऽसि॒ येन॒ त्वं दे॑व वेद दे॒वेभ्यो॑ वे॒दोऽभ॑व॒स्तेन॒ मह्यं॑ वे॒दो भू॑याः ॥ देवा॑ गातुविदो गा॒तुं वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त ॥ मन॑सस्पत इ॒मं दे॑व य॒ज्ञꣳ स्वाहा॒ वाते॑ धाः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वेदोसीत्यस्य प्र०ऋषिः । याजुषी छं० । वेदो देवता । वेदविमोचने वि० । (२) ॐ देवागातुविद इत्यस्य मनसस्पतिर्ऋषिः । त्रिपदाविराट् छन्दः । वातो देवता । योक्त्रविमोचने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्र से यजमानपत्नी वेद त्याग करै (कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थविशेष को वेद कहते हैं) यह वेदी बनाने से पहले ही प्रस्तुत किया जाता है [कात्या० ३ । ८ । १] **मन्त्रार्थ**-हे कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थ तुम (वेदोसि) ऋगादिरूप हो वा जाननेवाले हो (देव) हे प्रकाशात्मक (वेद) सब के ज्ञाता (येन) जिस कारणसे तुम यज्ञका समस्त वृत्तान्त आद्योपान्त जानते हो जिस कारण से (देवेभ्यः) देवताओं को वह समस्त ही (वेदोऽभवः) वृत्तान्त विदित करते हो (तेन) उसी कारण से (मह्यम्) मेरे निमित्त (वेदोभूयाः) मंगलसंवाद को विदित करो । **विधि**-(२) दूसरे मंत्र से यज्ञके आगे से देवगण को विसर्जन करै (कमरमें बँधे मुञ्जयोक्त्रका भी विसर्जन यहीं करे) [का० ३ । ८ । ४] **मन्त्रार्थ**-हे (गातुविदः) यज्ञ के जाननेवाले (देवाः) देवताओं! (गातुंवित्वा) हमारे यज्ञ के समस्त वृत्तान्त को जानकर (गातुमित) यज्ञ के प्रति आओ वा हमारे यज्ञ से सन्तुष्ट होकर अपने २ मार्ग को जाइये । हे (मनसस्पते) हे मनके अधिपतिचन्द्र वा हे मनके प्रवर्तक परमेश्वर हे देव (इमम्) इस अनुष्ठान किये हुए (यज्ञम्) यज्ञ को (स्वाहा) तुम्हारे अर्पण करता हूं आप इस यज्ञ को (वाते) वायुरूप देवतामें (धाः) स्थापित करो ॥ २१ ॥

प्रमाण-वायु में ही यज्ञ स्थित रहता है यही श्रुति कहती है । "वायुरेवाग्निस्तस्माद्यदेवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति" इति श्रुतेः ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र १।

सम्बर्हिरङ्क्ताᳬहविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः सम्मरुद्भिः॥ समिन्द्रो विश्वेभिर्देवेभिरङ्क्तान्दिव्यन्नभो गच्छतु यत्स्वाहा॥ २२॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सम्बर्हिरित्यस्य प्र० ऋषिः। विराड्रूपा त्रिष्टुप्छं०। बर्हिर्देवता। कुशहवने वि०॥ २२॥

विधि–(१) यह ऋचा है, इस मंत्रसे जुहूद्वारा कुशाका हवन करै [का० ३।८।५] मंत्रार्थ–(इन्द्र) परमैश्वर्यवान् इन्द्र (बर्हिः) कुशाओंको (हविषा) हविसंस्कारयुक्त (घृतेन) घृत से (समङ्क्ताम्) भली प्रकार लिप्त करो और केवल इन्द्र ही नहीं किन्तु (आदित्यैः) बारह आदित्यों के (सम्) साथ (वसुभिः) आठ वसुओंके (सम) साथ (मरुद्भिः) ४९ उनचास पवन देवताओंके (सम्) साथ (विश्वदेवेभिः) विश्वनामक देवगणों के साथ (समङ्क्ताम्) लिप्त करो वह बर्हि (यत्) जो (दिव्यम्) दिव्यप्रकाशात्मक (नभः) आदित्यलक्षणवाली ज्योति है तहां को (गच्छतु) प्राप्त हो (स्वाहा) यह बर्हि देवताके उद्देश से दिया॥ २२॥

प्रमाण–"नभ इत्यादित्यनामसु पठितम्" [निघं० १, ४]

कण्डिका २३–मन्त्र २।

कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै त्वा विमुंचति॥ पोषाय रक्षसाम्भागोसि॥ २३॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य प्र० ऋषिः। याजुषी गा० छं०। प्रजापतिर्देवता। प्रणीतानिनयने वि०। (२) ॐरक्षसामित्यस्य प्र० ऋ०। याजुषीगायत्री छं०। रक्षो देवता। उत्करे कणप्रक्षेपणे वि०॥ २३॥

विधि–पूर्वस्थापितपात्र (१, ६,) प्रथम मन्त्रसे विसर्जन करै [का० ३, ८ ६] मंत्रार्थ–"अध्वर्यु स्वयं आहवनीयकी परिक्रमा देकर वेदीके दक्षिणभागमें उत्तर की ओर मुखकर प्रणीतापात्रको लेकर वेदीके मध्यमें स्थापन कर किसी स्थानपर पलट दे" हे प्रणीतापात्र! (कः) कौन (त्वा) तुमको (विमुञ्चति) त्याग करता है (सः) वह प्रजापति (त्वा) तुमको त्याग करता है (कस्मै) किस प्रयोजनके निमित्त (त्वा) तुझको विमुक्त करता है (तस्मै) उस प्रजापतिदेवताके सन्तोषार्थ (त्वा) तुमको (विमुञ्चति) त्याग करता है (पोषाय) यजमानके पुत्रपौत्रादि पोषण करनेके निमित्त तुझे विसर्जन करताहूं॥ १॥

विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पुरोडाशके कपालसे चावल निकाल कर कृष्णाजिन-के अधोभागमें उत्कर में निक्षेप करै [का० ३, ८, ७] मंत्रार्थ-हे कणसमूह! तुम (रक्षसाम्) राक्षसोंके (भागोसि) भाग हो इससे यथेष्ट गमन करो "निकृष्ट अन्न निकृष्ट जातियोंको दिया" ॥ २३ ॥

प्रमाण-यज्ञको करके प्रणीतापात्रका विसर्जन न करनेसे यजमान की अप्रतिष्ठा होती है इस कारण अवश्य विसर्जन करै तथा च श्रुतिः " यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विसुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवति" इति श्रुत्यन्तरवचनात् ।

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

संव्वर्च्चसा पर्यसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सᳬशिवेन ॥ त्वष्टा सुदत्त्रो विदधातु रायोनुमार्ष्टु तन्न्वो यद्विलिष्टम् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-ॐसंवर्चसेत्यस्य प्र० ऋषिः । त्रिष्टुप् छं० । त्वष्टा देवता । पूर्णपात्रनिनयने वि० ॥ २४ ॥

विधि-यजमान अंजलिपुटसे पूर्णपात्र ग्रहण कर यह मंत्र पढै [का० ३, ८, ८,-१०] "अध्वर्यु आहवनीयकी परिक्रमा कर दक्षिण ओर बैठा हुआ उत्तरको मुख कर पूर्णपात्रको ले तथा यजमान अञ्जलीमें जल ले मुख शुद्ध करै" हम आज (वर्चसा) ब्रह्मतेजसे वा अन्नसे (समगन्महि) संयुक्त हो (पयसा) क्षीरादि रससे संगत हो (तनूभिः) अनुष्ठानमें समर्थ शरीरके अवयवोंसे संयुक्त हों अर्थात् अपने शरीरके तेज बल सौन्दर्यप्रभृतिकी उन्नति लाभ करैं, अथवा (तनूभिः) भार्यापुत्रादिकसे संगत हों (शिवेन) शान्तकर्म श्रद्धायुक्त (मनसा) मनसे संयुक्त हों (अर्थात् यज्ञमें जो तेजादि व्यय हुआ है वह इस प्रार्थनासे फिर पूर्ण होजाय) (सुदत्रः) विख्यात वदान्य. शोभन दानी (त्वष्टा) त्वष्टा देवता (रायः) हमारे निमित्त धनोंको (विदधातु) विधान करे और (यत्) जो (तन्वः) मेरे शरीरका (विलिष्टम्) दोषरूप न्यून अङ्ग है उसको (अनुमार्ष्टु) न्यूनत्व दूर कर शोधन करै. अर्थात् हमारे पापादि दोष दूर होकर शरीर निर्मल और ऐश्वर्य-वान् हो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र ७ ।

दिवि विष्णुर्व्यक्रᳬस्त जागतेन च्छन्दसा ततो निर्भक्तो योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मोन्तरिक्षे विष्णु

र्व्यक्रꣳस्तत्रैष्टुभेनच्छन्दसाततोनिर्भक्तोयोऽस्मा
न्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मः पृथिव्याँविष्णुर्व्यक्रꣳस्त
गायत्रेणच्छन्दसाततोनिर्भक्तोयोऽस्मान्द्वेष्टियञ्चव
यन्द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यैप्रतिष्ठायाऽअगन्मस्वः
सञ्ज्योतिषाभूम ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) दिविविष्णुरित्यस्य प्र० ऋषिः । याजुषी छं० । विष्णुर्दे० । वेदिदक्षिणश्रोणिदेशादारभ्य क्रमणे वि० । (२) अस्यै प्रतिष्ठाया इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी गा० छं० । विष्णुर्दे० । क्रमणे वि० । (३) ॐपृथिव्यामित्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगा०छं०। विष्णुर्दे०।क्रमणेवि०। (४) अस्मादन्नादित्यस्य प्र० ऋ० । दैवीबृहतीछं० । भागोदेवता । स्वभागावेक्षणेवि० । (५) अस्यैप्रतिष्ठाया इत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्रीछं० । भूमिर्दे० । वेदिभूवेक्षणेवि० । (६) अगन्मस्वरित्यस्यप्र० ऋ० । दैवीबृहती०।देवादेवताः।प्राग्दिक्प्रेक्षणेवि० । (७) संज्योतिषेत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषीगायत्री० । आहवनीयोदेवता । आहवनीयप्रेक्षणेवि० ॥ २५ ॥

विधि-(१-२-३)यजमान अपने आसनसे उठ वेदीपर दण्डायमान होकर धीरे २ कतिपय पद विचरण करे, अर्थात् दक्षिणदेशसे आरंभ कर तीन प्रदक्षिणा करे, और मनमें यह विचारे कि यज्ञपति विष्णुही यह चरण रखते हैं । प्रथमादि तीन मंत्रोंसे विष्णुक्रम क्रमण करे [का० ३ । ८ । ११]

मंत्रार्थ-(विष्णुः) यज्ञपुरुष सर्वव्यापी भगवान्ने (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दरूप स्वकीयचरणसे (दिवि) द्युलोकमें (व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः) ऐसा होनेपर (यः) जो (अस्मान्द्वेष्टि) हमसे द्वेष करता है और (यं च) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं वे दोनो प्रकारके शत्रु (निर्भक्तः) भागरहित करके निकाले गये १। (विष्णुः) यज्ञपुरुष सर्वव्यापी भगवान्ने (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्दरूप चरणसे (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षलोकमें व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः योस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः निर्भक्तः) ऐसा होनेपर जो हमसे द्वेष करता है वा हम जिससे द्वेष करते हैं वे दोनों प्रकारके शत्रु भागरहित कर अन्तरिक्षसे निकाले गये २। (विष्णुः) सर्वव्यापक यज्ञपुरुषने (गायत्रेण छन्दसा) गायत्रीछन्दरूप तीसरे चरणसे (पृथि-

व्याम्) पृथ्वीमें (व्यक्रंस्त) विशेष आक्रमण किया है (ततः योस्मानित्यादि०) ऐसा होनेपर जो हमसे द्वेष करता है वा हम जिससे द्वेष करते हैं वे दोनों प्रकारके शत्रु भागरहित कर इस पृथ्वीलोकसे बाहिर किये गये, अर्थात् उनको भाग न देकर दूर किया ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे यजमान अन्नभाग निरीक्षणा करै [का० ३।८।१३] मंत्रार्थ-जो यह अन्नका भाग देखा गया है (अस्मात्) इस (अन्नात्) अन्नसे [द्वेष्टि] वर्गको निराश किया ४ । विधि-(५) पञ्चम मंत्रसे यजमान भूमि निरीक्षण करे [का० ३ । ८ । १४] मंत्रार्थ-(अस्यै) इस आगे दृश्यमान यज्ञभूमिके (प्रतिष्ठायै) प्रतिष्ठाप्राप्तिके निमित्त ही [द्वेष्टि] वर्गको निराश किया गया ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे पूर्वदिशामें बैठा हुआ सूर्यको देखे [का० ३ । ८ । १५ ।] मंत्रार्थ-हम इस यज्ञके फलसे पूर्वदिशामें स्थित (स्वः) स्वर्ग वा सूर्यको (अगन्म) प्राप्त हुए ६ । विधि-(७) सप्तम मंत्रसे आहवनीय निरीक्षण करै [का० । ८ । १६] मंत्रार्थ-(ज्योतिषा) आहवनीय लक्षणरूप ज्योति वा ब्रह्मज्ञानसे हम (समभूम) संयुक्त हुए ७ ॥ २५ ॥

अभिप्राय-त्रिलोकीमें परमात्मा व्याप्त है और जिस प्रकार इस लोकमें गायत्रीसे उसकी उपासना करते हैं इस प्रकार दूसरे लोकोंमें पूर्वोक्तछंदोंसे उपासना होती है तथा द्वेष करनेवाला परमात्माके निकट प्राप्त नहीं हो सक्ता इस कारण किसीके साथ द्वेष नहीं करना चाहिये इसमें प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती देवता प्रसन्न नहीं होते हैं ।

कण्डिका-२६ मंत्र ३ ।

स्व॒यम्भूर॑सि॒ श्रेष्ठो॑ र॒श्मिर्व॑र्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ॥ सूर्य॑स्या॒वृत॒मन्वाव॑र्ते ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐस्वयम्भूरसीत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी छं० । सूर्यो देव० । सूर्यप्रेक्षणे वि० ।(२) ॐवर्चोदाअसीत्यस्य प्र० ऋ० । याजु० छं० । सूर्यो दे० । सूर्यप्रार्थने वि० । (३) ॐसूर्यस्येत्यस्य प्र० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सूर्यो देवता । सूर्यप्रदक्षिणीकरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१-२) प्रथम द्वितीय मंत्रसे सूर्यको अवलोकन करै [का०३ । ८ । १७] मन्त्रार्थ-हे सूर्य ! तुम (स्वयम्भूः) अकृतक स्वयं सिद्ध (असि) हो तथा (श्रेष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ (रश्मिः) मण्डलशरीराभिमानी हिरण्यगर्भ पुरुष श्रेष्ठ हो [सूर्यकी सात रश्मि हैं चारों दिशाओंमें चार एक ऊपर एक नीचे सातवां मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भ रश्मिपुञ्ज इसी कारण सप्तरश्मि सप्ताश्वआदि सूर्यके नाम हैं] जिस कारणसे कि तुम (वर्चोदा) तेजके देनेवाले (असि) हो

इस कारण (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) ब्रह्मतेजको (देहि) दो १ । २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्रदक्षिणा करे [का० ३ । ८ । १९] मन्त्रार्थ-(सूर्यस्य) सूर्यसम्बन्धिनी (आवृत्तम्) प्रदक्षिणा को (आवर्ते) आवर्तन करता हूं ३ ॥ २६ ॥

आशय-इस मंत्रसे सूर्यमें सगुण उपासनाका प्रभाव वर्णन किया है सूर्यमें उपासना करनेसे तेज बलकी वृद्धि होती है ॥ २६ ॥

कण्डिका-२७ मंत्र २।

अग्ने॑गृहपते सुगृहपतिस्त्वया॑ग्ने॒हङ्गृहप॑तिना भूयासꣳसुगृहपतिस्त्वम्मया॑ग्ने॒गृहप॑तिना भूयाः ॥ अस्थूरिणौगार्हपत्यानिसन्तुशतꣳहिमाःसूर्य॑स्यावृत॒मन्वावर्ते ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेगृहपत इत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्मी बृहती छं० । गार्हपत्याग्निर्देवता । गार्हपत्यप्रेक्षणे वि० । (२) ॐ सूर्यस्येत्यस्य याजुषीबृहती छं० । सूर्योदेवता । सूर्यप्रदक्षिणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे गार्हपत्यका उपस्थान करे [का० ३, ८, २१] मंत्रार्थ-(गृहपते)हे हमारे घरके पालक ! (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वया) आप को (गृहपतिना) गृहपति करके (अहम्) मैं (सुगृहपतिः) सुन्दर गृहपति (भूयासम्) होऊं तथा हे (अग्ने)हे अग्नि ! (त्वं) तू (मया गृहपतिना)मुझ गृहपालक द्वारा (सुगृहपतिः) श्रेष्ठ गृहपालक (भूयाः) हो [आशय यह कि तुम्हारे प्रमाद-से मैं गृहपति हो जाऊं और हमारे यत्नसे तुम गृहपालक होकर रहो और तुम्हारी कृपामें हमारा घर विरोधविवादरहित होनेपर] हे (अग्ने)हे अग्नि ! (नौ) हम दोनोंके (गार्हपत्यानि) परस्पर उपकार करनेसे स्त्रीपुरुषोंद्वारा किये हुए कर्म (शतम्) अनेक बहुत(हिमाः)हेमन्त वा वर्षोंतक (अस्थूरि) निरन्तर (सन्तु)हों अर्थात् जैसे बलीवर्दयुक्त शकट निरन्तर अव्यवहित चलता है तैसे हमारे गृहकार्य चलते रहें१।विधि (२) अगलेसे सूर्यकी परिक्रमा करे [का० ३, ८, २३] मंत्रार्थ-(सूर्यस्य) सूर्य-सम्बन्धिनी (आवृतम्) परिक्रमा को (आवर्ते) करता हूं ॥ २७ ॥

विवरण-पूर्वकालमें हेमन्त ऋतुसे नये वर्षका आरम्भ मानते थे इसी कारण वर्षके पहले मासका नाम आग्रहायण 'अर्थात् वर्षका पहला महीना' प्रसिद्ध है इस से हेमन्तसे बहुत वर्षोंका बोध होताहै श्रुतिमें बहुत स्थानों में 'शरत्' शब्दका

प्रयोग होता है उसका भी यही अभिप्राय है 'शरद्' कहनेसे वर्षका अन्त जानना शरद् बीचनेसे हेमन्त आती है, और 'शत' शब्द बहुवाची है युगोंमें अवस्थाका मान भिन्न २ है इस कारण पूर्णायु पर्यन्त ही अर्थ संगत होता है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र २ ।

अग्ग्ने॑व्व्रतपते॒व्व्रतम॑चारिषुन्तद॑शकुन्तन्मे॑राधी॒द मुहं॒य्य॑ऽएवास्म्मि॒सो॑ऽस्म्मि ॥ २८ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेव्रतपत इत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । व्रतविसर्जने वि० । (२) ॐइदमहमित्यस्य प्र०ऋ०।याजुषीपंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । यथावस्थाय कर्मसमापने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे स्वीकृत दर्शपौर्णमास व्रत विसर्जन करे [का० ३, ८, २९] मन्त्रार्थ-(अग्ने)हेअग्नि देवता! (व्रतपते) सम्पूर्ण व्रतके नायक वा कर्मपालक ! (व्रतम्) जो कर्मानुष्ठान (अचारिषम्) आचरण किया है अर्थात् यह जो व्रतानुष्ठान समाप्त किया है (तत्) सो (अशकम्) मैं उसके करनेमें असमर्थ था तुम्हारी कृपासे ही [शकितवान्] उस कर्मके करनेमें समर्थ हुआ (तत्) उस (मे) मेरे कर्मको तुमने भी (अराधि) सिद्ध किया १ । विधि-(२) दूसरे मन्त्र-पाठ से यथावस्थान करके कर्म समाप्त करे । मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (अहम्) मैं (यः) जो पहले (अस्मि) था (सः) वह (एव) ही मनुष्य (अस्मि)हूं२॥२८॥

आशय-व्रत पूर्ण करनेसे पहले "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इस के अनुसार जो यजमान अपने को देवरूप जानता था अब वह कर्मसमाप्ति होने पर अपने में वही मनुष्य भावना करनी चाहिये ॥ २८ ॥

दर्शपौर्णमासइष्टिमंत्र समाप्त हुए।

इस स्थल में यजुर्वेदीय ऋत्विक् अध्वर्यु प्रभृति के जो जो कर्तव्य हैं सो सो मंत्र कथन किये गये, इस के अन्य कर्तव्य दूसरे वेदों में देखने चाहिये, उन में भी दर्शपौर्णमासमें जो विशेष कर्तव्य है वह प्रकरणअनुसार श्रुत हुआ है, इस का भी परिशिष्ट २६ अध्यायमें इसके उत्तर खण्डमें प्रकाशित किया गया है।

कण्डिका-२९ मंत्र ३ ।

अथ पिण्डपितृयज्ञमन्त्राः । सर्वेषां प्रजापतिर्ऋषिः ।

अ॒ग्नये॑कव्य॒वाह॑नाय॒स्वाहा॒सोमा॑यपितृ॒मते॒स्वाहा ॥ अप॑हता॒ऽअसु॑रा॒रक्षा॑ᳪंसिवेदि॒षद॑: ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नयइत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषीगा० छं० । देवो देवता । मेक्षणेनचरुहवने वि० । (२) ॐ सोमायेत्यस्य प्र० ऋ० । याजु० छं० । देवो दे० । मेक्षणेन चरुहवने वि० । (३) ॐ अपहता इत्यस्य प्र० ऋ० । उष्णिक् छं० । असुरो देव० । दक्षिणेनोल्लेखने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१-२) सार चावलों को कुछेक पकाकर अभिघारण उद्वासन और देखने के पश्चात् उन की अग्नि में प्रथम और दूसरे मंत्रसे दो आहुति प्रदान करे [का० ४, १, ७] मंत्रार्थ-(कव्यवाहनाय) क्रान्तदर्शी पितृसम्बन्धी हवि को कव्य कहते हैं उस पितृसम्बन्धी पिण्डादि हवि के वहन करनेवाले (अग्नये) अग्निदेवता के निमित्त पितृगण के उद्देश से यह कव्य समर्पित करते हैं तुम्हारे निमित्त (स्वाहा) यह आहुति स्वाहुति हो (पितृमते) पितृसंयुक्त वा पितृगणके अधिष्ठान (सोमाय) सोमदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति स्वाहुति हो अर्थात् सोम के उद्देश से यह अग्निमें कव्य आहुति देते हैं । १ । २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे दक्षिणओर रेखा करे [का० ४. १, ८] मन्त्रार्थ-(वेदिषदः) वेदी में स्थित होनेवाले (असुराः) असुर तथा (रक्षा७ंसि) राक्षस (अपहताः) वेदीसे दूर किये गये. [असुर और राक्षस यह देवविरोधी राक्षसों की जाति है] ॥२९॥

कण्डिका-३० मंत्र १ ।

येरूपाणिंप्प्रतिमुञ्चमानाऽअसुराःसन्तःस्वधया चरन्ति ॥ पुरापुरोनिपुरोयेभरन्त्यग्निष्टाँल्लोका त्प्रणुदात्यस्मात् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये रूपाणीत्यस्य प्रजाप० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । कव्यवाहनाग्निर्देवता । रेखायाः परस्तादक्षिणे दक्षिणाग्न्येकदेशोल्मुक-निधाने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) वेदी के आगे एक उल्मुक (जलती लकडी) बुमाकर रख दे [का०४।१।९] मन्त्रार्थ-(स्वधया) पितरोंका अन्न हम भक्षण करजांय इस कारण से अपने (रूपाणि)रूपोंको (प्रतिमुञ्चमानाः) पितरोंकी समान करते (सन्तः) हुए (ये) जो (असुराः) असुर (चरन्ति) पितृयज्ञस्थान में विचरते हैं तथा (ये) जो असुर (परापुरः) स्थूल देह (निपुरः) सूक्ष्म देहों को अपना असुरत्व छिपाने के निमित्त (भरन्ति) धारण करते हैं (अग्निः) उल्मुकरूप अग्नि (अस्माल्लोकात्) पितृयज्ञरूप स्थानसे (तान्) उन असुरों को (प्रणुदतु) दूर हटावें ॥ ३० ॥

कण्डिका-३१ मंत्र २।

अत्रपितरोमादयध्वँ्यथाभागमावृषायध्वम् ॥
अमीमदन्तपितरोयथाभागमावृषायिषत ॥३१॥

ऋष्यादि-(१) ॐअत्र पितर इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । साम्नी बृहती छं० । पितरो देवताः । जपे विनि० । (२) ॐअमीमदन्तेत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नी बृ० छं० । पितरो दे० । जपे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) यजमान षडञ्जली कर चुके तब पिण्ड के सन्मुख श्वास रोककर जबतक न थके तबतक प्रथम मंत्रको जपै [का० १, १,१३,-१४] मंत्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! तुम (अत्र) इस कुशसमूहपर (मादयध्वम्) बैठकर प्रसन्न हो और हवियों में (यथाभागम्) अपने २ भागों को ही (आवृषायध्वम्) जिस प्रकार वृषभ यथेष्ट भोजन कर तृप्त हो जाता है इस प्रकार तुम इस हवि को स्वीकार कर तृप्तिपर्यन्त भोगो १। विधि-(२)दूसरे मन्त्रसे श्वासत्याग करै । मंत्रार्थ-(पितरः) जिन पितरों के प्रति भागस्वीकार करनेको कहा वे पितर (अमीमदन्त) अत्यन्त प्रसन्न होकर (यथाभागम्) अपने २ भाग को (आवृषायिषत) अंश के अनुसार ग्रहण कर तृप्त होने को स्वीकार करते हुए ॥ ३१ ॥

प्रमाण-"यथाभागमाशिषुरित्येवैतदाह" इति श्रुतिः [श० २,४,२,२२]

कण्डिका-३२ मंत्र ८ ।

नमो॑वः पितरो रसा॑य नमो॑वः पितरः शोषा॑य नमो॑ वः पितरो जीवा॑य नमो॑वः पितरः स्वधायै नमो॑वः पितरो घोरा॑य नमो॑वः पितरो मन्यवे नमो॑वः पितरः पितरो नमो॑वो गृहान्नः पितरो दत्तसतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो वास आधत्त ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१-६) ॐनमो व इति षण्मन्त्राणाम्प्रजापतिर्ऋषिः । याजु० बृहती छं० । षष्ठ्यार्षी उष्णिक्छं० । लिङ्गोक्ता देवताः । षड्भिर्मन्त्रैः षडञ्जलिदाने वि० । (७) ॐगृहान्न इत्यस्य प्र० ऋ० । साम्नीअनुष्टुप्छं० । पितरो देवताः । पिण्डानामुपरि सूत्रत्रयनिधाने वि० । (८) ॐएतद्व इत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजापत्यागायत्री० । पितरो देवताः । पिण्डानामुपरि सूत्रत्रयनिधाने वि० ॥ ३२ ॥

---

१ मंत्रकी सामर्थ्यको लिङ्ग कहते हैं ।

विधि-(१) प्रथमादि छः मन्त्रों से अञ्जलिकर पितरों को नमस्कार करे [का० ४, १, १९] मंत्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (रसाय) रसरूप वसन्त ऋतु को (नमः) नमस्कार है, अर्थात् आपके प्रसाद से वसन्त ऋतु के उदय से सब वस्तु रसवान् हों देशमें अच्छे प्रकार से वसन्त का प्रचार हो १ । (२) (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (शोषाय) ग्रीष्मऋतु को (नमः) नस्कार है अर्थात् आपके प्रसादसे ग्रीष्म भली प्रकार वर्ते (३) (पितरः) हे पितरो! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (जीवाय) प्राणियोंके जीवन स्वरूप वर्षाऋतु के लिये (नमः) नमस्कार है अर्थात् वर्षासे वस्तुमात्र सजीव होती हैं सो आपके प्रसाद से अच्छी वर्षा हो ३ । (४) (पितरः) हे पितरो । (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (स्वधायै) स्वधारूप शरदृऋतु के निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् आपके प्रसाद से श्रेष्ठ अन्न उत्पन्न करनेवाली शरद् व्याप्त हो ॥ ४ ॥ (५) (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (घोराय) जीवमात्र को विषम हेमन्त ऋतु को (नमः) नमस्कार है अर्थात् यह ऋतु भली प्रकार वर्ते ५ । (६) (पितरः) हेपितरो ! (वः) तुम्हारे सम्बंधी (मन्यवे) क्रोधरूप शिशिरके निमित्त (नमः) नमस्कार है "अर्थात् आपकी कृपा से शीतऋतु में भली प्रकार स्वास्थ्य लाभ करसके शीत ऋतु में विगाड न हो" (पितरः) हे षड्ऋतुरूप पितरो ! (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (पितरोनमोवः) हे पितरो ! आपको नमस्कार है, इस मंत्र से स्त्री को निरीक्षणकरे (पितरः) हे पितरो ! (नः) हमारे निमित्त (गृहान्) भार्या पुत्र पौत्रादिक गृहों को (दत्त) प्रदान करो (पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे निमित्त (सतः), यह विद्यमान प्रदेय वस्तु (देष्मः) देते हैं आशय यह कि दान करते हुए हमारा धन कभी क्षय न हो ७ । विधि-(८) अष्टम मंत्र से पितृपिण्डोंपर तीन सूत्र ऊन के वा साठवर्षसे अधिक अवस्था का यजमान अपनी छाती के वाल रखता है [का० ४, ७, १६-१८] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारे निमित्त (एतत्) यह (वासः) सूत्ररूप परिधेयवस्त्र (आधत्त) परिधानरूप हो ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"षड्ऋतवः पितरः" इति श्रुतेः "स्वधा वै शरत् स्वधा वै पितॄणामन्नम्" इति श्रुतेः । "एतद्व इत्युपास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णा दशा वा वयस्युत्तरे यजमानलोमानि वा" इति [का० ४ । ७ । १६ । १८]

आशय-दिव्य पितरों से इस मंत्र में प्रार्थना की है वेही सामर्थ्य और दिव्य गुणयुक्त होने से उपरोक्त कार्य सम्पादन करसक्ते हैं [जीतेहुए माता पिता विद्वानों का अर्थ जो दयानन्द पंडित करता है वह सर्वथा अशुद्ध है] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

आधत्त पितरो गर्ब्भङ्कुमारम्पुष्करस्त्रजम् ॥ यथेह पुरुषोसत् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआधत्तेत्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छन्दः । पितरो देवताः । पुत्रकामनया पत्न्या मध्यपिण्डप्राशने वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) पुत्रकामना रखनेवाली पत्नी वीचके पिण्ड को उठाकर भोजन करे [का० ४ । १ । २२] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (यथा) जिस प्रकार (इह) इस ऋतु में (पुरुषः) देवता पितर मनुष्यों को अपेक्षित अर्थ का पूर्ण करनेवाला (असत्) होवे इस प्रकार (पुष्करस्त्रजम्) पुष्करमालाधारी अश्विनीकुमारों की तुल्य मालाधारी रोगहीन सुन्दर (कुमारम्) पुत्ररूप (गर्भम्) गर्भ को (आधत्त) सम्पादन करो ॥ ॥ ३३ ॥

आशय-दिव्यगुणवाले पितर कृपा करके अपने श्राद्धादि करनेवालोंको इस विधिके अनुसार सन्तानदान में समर्थ होते हैं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतम्पयः कीलालम्परिस्रुतम् ॥ स्वधास्थ तर्प्पयत मे पितॄन् ॥ ३४ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐऊर्जंवहन्तीरित्यस्य प्र० ऋ० । त्रिपदाविराट् छं० । आपो देवताः । पिण्डानामुपर्यवनेजनावशिष्टोदकनिषिञ्चने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) कुशा के मार्जन से बचे जल को पिण्डोंपर सींचे [का० ४ । १ । १९ ।] मन्त्रार्थ-(ऊर्जम्) विविध प्रकार के स्वादिष्ट सार रस (अमृतम्) सबरोग मृत्युनाशक (परिस्रुतम्) पुष्पों से निकले सार (घृतम्) घृत (कीलालम्) सर्व बन्धन के दूर करनेवाले (पयः) दुग्ध के (वहन्तीः) धारण करने वाले जलो ! तुम (स्वधा स्थ) पितरोंकी हवि स्वरूप हो इस कारण (मे) मेरे (पितॄन्) पितरों को (तर्पयत) तृप्त करो १ ॥ ३४ ॥

भावार्थ-हे जलदेव ! अन्न घृत और दुग्ध वहन करनेवाली यही जलधारा तुम्हारे पितरों के उद्देश से देते हैं हमारे पितर इस से तृप्त हों ॥ ३४ ॥

इन दोनों अध्यायों का अर्थ दयानंदसरस्वतीने सर्वथा ब्राह्मणकल्पसूत्रमीमांसा के विरुद्ध किया है इससे वह माननीय नहीं है.

इति श्रीकान्यकुब्जकुलचूडामणिसकलगुणगणालंकृतश्रीमन्मिश्रसुखानन्दसूनुपण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये इध्मप्रोक्षादि-पित्र्यान्तो द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ३.

पिछले दो अध्यायों में दर्शपौर्णमासके मन्त्र कथन किये अब अमावस्यामें अग्न्याधानके मंत्र कहते हैं ।

समिधाग्निम्, भूर्भुवःस्वश्चतुष्कावग्निर्ज्योतिर्द्वे, उपप्रयन्तःषड्विꣳशतिर्भूर्भुवः स्वश्चतस्रो, गृहामा तिस्रः,प्रघासिनः पञ्च, पूर्णादर्विं द्वे, अक्षन्नमी मदन्त षडेषते, सप्तदश ॥ १० ॥

कण्डिका १–मंत्र १ ।

समिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ॥ आस्मिन्हव्याजुहोतन ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसमिधाग्निमित्यस्य आंगिरस ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अग्नौ समिदाधाने वि० ॥ १ ॥

विधि–चार ऋत्विजोंके भोजन करने योग्य चावल पकाकर उनका मांड निकालकर थाली में धरै, और उस उखामें स्थित अन्नके मध्यमें एक गढा करके उसमें घृत स्थापन करै,और उसमें घी भरै जब वह तेजाय तो उसमें तीन पीपलकी समिधा भिजोकर होता, उपहोता, आग्नीध्र, यह तीन ऋत्विक् यथाक्रमसे तीन कण्डिका पढ़कर अग्निमें आहुति प्रदान करैं [का० ४ । ७ । १]

मंत्रार्थ–हे ऋत्विजो ! तुम (समिधा) समिधा करके (अग्निम्) अग्निकी (दुवस्यत) परिचर्या करो (घृतैः) घृतोंके प्रदान से (अतिथिम्) आतिथ्यकर्मवाले पूजनीय अग्नि को (बोधयत) प्रज्वलित करो (अस्मिन्) इस प्रज्वलित अग्नि में (हव्या) अनेक प्रकार के हव्य पदार्थ (आजुहोतन) सब प्रकार से हवन करो ॥ १ ॥ [ऋ० ६ । ३ । ३६]

गूढार्थ–अध्यात्म पक्ष में इस मंत्र में यह उपदेश किया है कि प्राणरूप समिधा से आत्माग्नि की उपासना करनी, इन्द्रियों की शक्ति से उस की वृद्धि करनी और मनोवृत्तिरूप हविप्रदान करै यह अर्थ सब मन्त्रोंमें आसकते हैं ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

सुसमिद्धाय शोचिषे ॥ घृतन्तीव्रञ्जुहोतन ॥ अग्नये जातवेदसे ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसुसमिद्धायेत्यस्य वसुश्रुत ऋषिः । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । हवनाय ऋत्विजां प्रेरणे वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) होमके अर्थ ऋत्विजोंको प्रेरणा करै । मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! तुम (सुसमिद्धाय) अच्छी प्रकारसे दीप्तिमान् (शोचिषे) प्रज्वालित (जातवेदसे) जातप्रज्ञ अर्थात् सब कुछ जाननेवाले (अग्नये) अग्निदेवता के निमित्त (तीव्रम्) अतिस्वादु वा अधिक शुद्ध (घृतम्) घृतको (जुहोतन) प्रदान करो अर्थात् हवन करो ॥ २ ॥ [ऋ० ३ । ८ । २०]

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि ॥ बृहच्छोचा यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतन्त्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गायत्रीछं० । अग्निर्देवता । जपे विनियोगः ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस मन्त्रका जप करै । मंत्रार्थ-हे (अङ्गिरः)कम्पनस्वभाव अग्नि (तं) उक्तगुणयुक्त (त्वा) तुमको (समिद्भिः)यज्ञसम्बन्धिकाष्ठ और(घृतेन)संस्कार किये घृतसे (वर्द्धयामः) बढ़ाते हैं (यविष्ठ्य) हे चिरतरुण तुम सदा तरुण रहनेवाले (असि) हो (बृहत्) बडे वा वृद्धिको प्राप्त होकर (शोचा)प्रदीप्त हो॥३॥

प्रमाण-"अङ्गिरा उ ह्यग्निः"इति श्रुतेः[श० १, ४, १,२९] [ऋ०४।९।२३]

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्य्यत ॥ जुषस्व समिधो मम ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐउपत्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । सर्वान्प्रतिलक्ष्य कथने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे सबके प्रति लक्ष करके कथन करै [का० ४, ८, ६] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (हविष्मतीः)हविसे युक्त(घृताचीः) घृतमें डूबीहुई यह समिधा (त्वा) तुमको (उपयन्तु) प्राप्त हों (हर्य्यत) हे कान्तिमान् (मम) मेरी (समिधः) समिधाओंको (जुषस्व) प्रीतिसे सेवन करो ॥ ४ ॥

प्रमाण-"हर्यत आचक इति कान्तिकर्मसु पठितम्" [निघं०२, ६, १०]

कण्डिका ५-मन्त्र ५ ।

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥ तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐभूरिति प्रजापतिर्ऋ० । दैवीगायत्रीछं० । अग्निर्देवता । आहवनीयाधाने वि० । (२) ॐभुवइति प्र० ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । वायुर्देवता । आहवनीयाधाने वि० । (३) ॐस्वरिति प्र० ऋ० । दैवीगायत्री छं० । सूर्यो देवता । आहवनीयाधाने० । (४) ॐद्यौरिवेति प्र० ऋ० । याजुषी गा० छं० । लिङ्गोक्ता देवता । आहवनीयाधाने वि० ॥५॥

विधि-(१-२-३) स्फ्यद्वारा रेखा की हुई भूमिमें सम्भारों (जल सुवर्ण क्षारमृत्तिका मूषककी खोदी मृत्तिका और शर्करा एकपात्रमें पृथक्कर स्थित)को स्थापन कर उन पर शुष्क काष्ठ से प्रज्वलित अग्निको "भूर्भुवः" इन शब्दोंको उच्चारण करके स्थापन करे यह आहवनीय स्थापन है, इस प्रकार आठ अक्षरयुक्त होनेसे श्रुति में अग्निको गायत्रत्व कहाहै कारण कि गायत्रीसहित अग्नि प्रजापतिके मुखसे उत्पन्न हुई है [का-४, ९, १] तथा [का० ४, ९, १६] इन आधान मन्त्रोंमें (भूः) यह प्रथम व्याहृति है (भुवः) यह दूसरी और (स्वः) यह तीसरी है यह तीनों व्याहृति पृथ्वीआदि तीन लोकके नाम हैं, इनको उच्चारण कर प्रजापतिने तीन लोकोंकी रचनाकीहै इस कारण इनको स्थापन करते में त्रिलोकी का स्मरण करे, तो इन व्याहृतियोंकी महिमा होती है, अथवा भूर्भुवः स्वः इन तीन शब्दोंसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा आत्मप्रजा और पशुओंका ग्रहण है यह सब मेरे वशीभूत हों ऐसी प्रार्थना कर अग्नि में आधान करे । मंत्रार्थ-हे अग्नि! तुम भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक सर्वत्रही विद्यमान हो १-२-३ । विधि-(४) इध्म का पूर्वार्ध ग्रहण करे [का० ४, ९, १७] मन्त्रार्थ-(देवयजनि) हे देवताओं के यज्ञ करने योग्य पृथिवी ! (तस्यास्ते) उस तुम्हारी (पृष्ठे) देवयजन योग्य पृष्ठ पर (अन्नाद्याय) योग्य अन्न की सिद्धिके निमित्त अथवा अन्नादि लाभ कामना के निमित्त (अन्नादम्) अन्नके खानेवाले गार्हपत्यादिरूप (अग्निम्) अग्निको(आदधे)स्थापन करता हूं तुम्हारी पृष्ठपर अग्निको स्थापन करके (भूम्ना) बहुतायत से (द्यौरिव) द्युलोक की समान होजाऊं, जैसे द्युलोक तारकादिसे पूर्ण है, इस प्रकार मैं पुत्र पशु आदिसे बहुत हो जाऊं (वरिम्णा)बहुतों के आश्रयवाली (पृथ्वीव) पृथ्वी की समान होजाऊं, जैसे पृथ्वी उरु होनेसे सब प्राणियों को आश्रय देती है, इसी प्रकार में भी सब प्राणियोंका आश्रयरूप होजाऊं, अथवा यह अग्नि के विशेषण हैं कि महिमा से द्युलोक की समान अर्थात् जैसे ग्रह नक्षत्र से द्युलोक व्याप्त है इसी प्रकार अग्नि अनेकज्वालायुक्त है, वरिमा में पृथ्वी की समान जैसे पृथ्वी सब प्राणियों का आश्रय रूप है इसी प्रकार सब वस्तुओंका शोधक होनेसे अग्नि श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥

प्रमाणान्तर-"भूरिति वा अयं लोकः।भुव इत्यन्तरिक्षम्।सुवइत्यसौ लोकः। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि। मह इति ब्रह्म।ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद स वेद ब्रह्म" [तैत्तिरीय०अनु०५] अर्थ-तीन लोक, अग्नि, वायु, सूर्य, ऋक्, यजुः, साम, तीन वेद, प्राण, अपान, व्यान, यह सब तीनों व्याहृति हैं महरूप ब्रह्ममें स्थित हैं जो इन्हें जानता है वह ब्रह्म को जानता है यह संक्षेपसे वाक्य संग्रह किया है विस्तार तैत्तिरीय उपनिषद्में देखलेना॥ ५॥

कण्डिका ६-मन्त्र १।

आयङ्गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरम्पुरः॥ पितरञ्च प्रयन्त्स्वः॥ ६॥

ऋष्यादि-(१) ॐआयंगौरिति सर्पराज्ञीकद्रूर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निस्थापने वि०॥ ६॥

विधि-(१) अगले तीन मन्त्रों से क्रम से गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्निका स्थापन करे [का० ४। ९। १८। १९] इन तीनों मंत्रों का सर्पराज्ञी नाम है सर्पराज्ञी कद्रू पृथ्वीअभिमानी है।

मन्त्रार्थ-(अयम्) इस दृश्यमान अग्निने (गौः) यज्ञनिष्पत्तिके निमित्त यजमानके गृहों में जानेवाला (पृश्निः) चित्रवर्ण लोहित कृष्ण शुक्लादि ज्वालायुक्त होकर (आ अक्रमीत्) सब प्रकार आहवनीय गार्हपत्य दक्षिणाग्नि स्थानोंमें पादविक्षेप करते हुए (पुरः) प्राची दिशामें (मातरम्) पृथ्वीको (असदत्) प्राप्त किया अर्थात् आहवनीयरूप से प्राप्त किया तथा (स्वः) सूर्यरूपसे (प्रयन्) आदित्यरूप से स्वर्गमें सञ्चरण करते हुए (पितरञ्च) द्युलोककोभी (असदत्) प्राप्त किया अर्थात् मातापितारूप भूलोक द्युलोक में अग्नि विद्यमान है जिस के द्वारा जगत् पालन होता है॥ ६॥

प्रमाण-"स्वः सूर्यः" [निघं० १, ४, १। ऋ० ८। ८। ४७]

---

१ पंडित दयानन्दने इस मंत्रका अग्निदेवता लिखकरभी इसका अर्थ पृथ्वीका घूमना लिखा है जो किसी विनियोग सूत्र ब्राह्मण श्रुतिसे सिद्ध नहीं होता, इससे सर्वथा त्याज्य है।

कण्डिका ७–मं० १ ।

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती ॥ व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअन्तश्चरतीति प्र०ऋ० । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) आदित्यरूपसे अग्निकी स्तुति कर वायुरूपसे स्तुति करते हैं ।

मन्त्रार्थ–(अस्य) इस अग्निकी (रोचना) दीप्ति अर्थात् वायुनामा कोई शक्ति (प्राणात् अपानती) प्राणव्यापारके अनन्तर अपानव्यापारको करती हुई अर्थात् प्राण अपानकी सामर्थ्य बढ़ाती हुई (अन्तः चरति) द्यावा पृथ्वी वा शरीरके मध्यमें चलती है कारण कि यही जठराग्निरूप शरीरका जीवन है, इस के होनेसे ही प्राण अपान प्रवृत्त होते हैं, इस प्रकार वायु आदित्यरूप अपनी शक्तिसे जगत्के ऊपर अनुग्रह करके (महिषः) अग्नि (दिवम्) द्युलोकको भोग-स्थानके अनुष्ठान करनेके निमित्त (व्यख्यत्) विशेष करके प्रकाशित करता हुआ वा प्रकाश करता है ॥ ७॥

प्रमाण–"अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्" इति श्रुतेः ।

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

त्रिᳬशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ॥ प्रति वस्तोरहद्युभिः ॥ ८ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐत्रिंशद्धामेत्यस्य प्र०ऋ० । गायत्री छन्दः । अग्नि-र्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) इस मन्त्रसे अग्निका उपस्थान करे।मन्त्रार्थ–(वाक्)जो वेदवाणी (त्रिंशद्धाम) तीस मुहूर्तरूपस्थानोंमें (विराजति) शोभाको प्राप्त होती है स्तुति-को प्राप्त हुई वही वाणी (पतङ्गाय) अग्निके निमित्त (धीयते) उच्चारण की जाती है और केवल तीस ही स्थानों में नहीं किन्तु (प्रतिवस्तोः) प्रतिदिनकी स्तुतिलक्षणा वाणी (अहद्युभिः) यज्ञपारायणादि उत्सवोंसे प्राप्त हुई प्रतिदिन अग्निदेवताके निमित्त ही उच्चारण की जाती है औरोंके निमित्त नहीं अर्थात् सब कालमें सब प्रकार अग्निही स्तुतिके योग्य है ॥ ८ ॥

अथवा–जो वाणी तीसों दिन आलस्यरहित यजमानोंके मुखसे आहवनीयादि अग्निके स्थानमें उच्चारण की हुई विशेष करके विराजमान होती है वह अग्निके निमित्तही उच्चारण होती है अग्निको पतङ्ग इस कारण कहा है कि जिस प्रकार

पक्षी एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाता है इसी प्रकार अग्नि भी गार्हपत्य स्थानसे आहवनी स्थानको जाता है अथवा प्रतिदिन अग्निस्तुति कीजाती है ॥ ८ ॥

प्रमाण-"धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानि" इति [निरु० ९,२८, २९] "वस्तोः द्युः भानुरित्यहर्नामसु पठितम्" [निघं० १, ९, १] "सुपां सुलुक्" इत्यादिना [७, १, ३९] त्रिंशच्छब्दधामशब्दाच्च सुपो लुक् ।

अन्यस्थानोंमें अग्निके नाम लिखे हैं ।

लौकिकमें पावक । गर्भाधानमें मारुत । पुंसवनकर्ममें चमस । शुभ कर्मोंमें शोभन । सीमन्तमें अनल । जातकर्ममें प्रगल्भ । नामकरणमें पार्थिव । अन्नप्राशनमें शुचि । चूडाकरणमें सभ्य । व्रतादेशमें समुद्भव । गोदानमें सूर्य । केशान्तमें याजक । विसर्गमें वैश्वानर । विवाहमें बलद । आधानकर्ममें आवसथ्य । वैश्वदेवमें रुक्मक । गार्हपत्यमें गृह्याग्नि । शिवस्वरूपमें दक्षिणाग्नि । आहवनीयमें विष्णुस्वरूप । लक्षहोममें अभीष्टद । कोटिहोममें महाशन । ध्यानमें घृतार्चिष् । रुद्रादिमें मृड । शान्तिकर्ममें शुभकृत् । पौष्टिकमें वरद । अभिचारकर्ममें क्रोधन । वशीकरणमें वशकृत । वनदाहमें पोषक । उदरमें जाठराग्नि । शवभक्षणमें क्रव्याद । समुद्रमें वडवानल । प्रलयमें सम्वर्तक । इनमें आवसथ्य आहवनीय दक्षिणाग्नि अन्वाहार्य गार्हपत्य यह वैदिक अग्निहैं । सूर्यमें कापिल अग्नि । चन्द्रमामें पिंगल । मंगलमें धूमकेतु । बुधमें जठर । बृहस्पतिमें शिखि । शुक्रमें हाटक । शनैश्चरमें महातेजा । राहुकेतुमें हुताशन अग्नि है । जो जिसस्थान कर्मकी अग्नि है उसी [illegible] में उसीके नामसे वह कर्म करनेसे विशेष फल होताहै । [ऋ० ८ । ८ । ४७] ॥ ८ ॥

इत्यग्न्याधेयमन्त्राः ।

अथ अग्निहोत्रहोममन्त्राः ।

यह मंत्र प्रातःकाल और संध्याकालमें होम करनेके हैं।

अग्निर्ज्ज्योतिर्ज्ज्योतिरग्निः स्वाहा सूर्य्यो ज्ज्योतिर्ज्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा ॥ अग्निर्वर्च्चो ज्ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा सूर्य्यो वर्च्चो ज्ज्योतिर्वर्च्चः स्वाहा ॥ ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्यो ज्ज्योतिः स्वाहा ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐअग्निर्ज्योति० सूर्योज्योति० इति मंत्रद्वयस्य तक्षा ऋषिः । एकपदा गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । समिद्धोमे वि० । (३-४) ॐअग्निर्वर्च्च इति सूर्योवर्च्चइति द्वयोः प्रजापतिर्ऋ० । एकपदा गा० । लिङ्गो-

कात्ये० । समिद्धोमे वि० । (५) ॐज्योतिःसूर्यइत्यस्य जीवलश्चैलकिर्ऋ० । एकपदागा० । लिङ्गोक्ता देवता । हवने वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) सायंकालमें प्रदीप्त समिध् से हवन करे [का० ४, १४, १४] अग्निर्ज्योतिषामिति [अध्या० ३, २, १] कण्वशाखा के मंत्र से समित्प्रक्षेप करे ।

मन्त्रार्थ-(अग्निः) जो यह अग्नि देवता है वही (ज्योतिः)दृश्यमान ज्योतिःस्वरूप वा ब्रह्मज्योति है, और जो यह दृश्यमान (ज्योतिः) ज्योति वा ब्रह्मज्योति है वही (अग्निः) अग्निदेवता है (स्वाहा) ज्योतिरूप अग्निके निमित्त हविप्रदान की १ । विधि-(२) प्रातःकाल होमके मन्त्र । मन्त्रार्थ-(सूर्यः) यह जो सूर्यदेवता है वही (ज्योतिः)ब्रह्मज्योति है।"योसावादित्ये पुरुषः सोसावहम्"इति [यजु ०अ०४० मं०१७] (ज्योतिः)जो यह ज्योति है वही (सूर्यः) सूर्य है (स्वाहा) उनके निमित्त हवि दिया २ । [सूर्यसम्बन्धी तेज रात्रिको अग्निमें प्रवेश करता है इस कारण सन्ध्याका 'अग्निर्ज्योति' मंत्र है । उदयकाल में अग्निसम्बन्धी ज्योति सूर्यमें प्रवेश करती है इस कारण 'सूर्यो ज्योति' यह प्रातःकालका मंत्र है संध्याको सूर्य अग्निमें प्रवेश करता है इस कारण दूर से अग्नि रात्रि में दीखता है । "उभे हि तेजसी सम्पद्येते उद्यन्तं वादित्यमग्निरनुसमारोहति । तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे "इति तैत्तिरीयश्रुतेः] विधि-(३) ब्रह्मतेजकी कामना करने वाला इस तीसरे मंत्रसे संध्याकाल में हवन करे [का० ४, १४, १६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) जो अग्नि (वर्चः) अनन्यभूत ब्रह्मतेजसे युक्त है उसकी (ज्योतिः) ज्योति (वर्चः) अनन्यभूत तेजयुक्त है उस अग्निदेवके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ३ ॥ विधि-(४) ब्रह्मतेजकी कामनासे प्रातःकाल हवन करनेका मंत्र[का० ४, १५, ११] मन्त्रार्थ-(सूर्यः) जो सूर्य है वही (वर्चः) ब्रह्मतेज है (ज्योतिः) जो ज्योति है वही (वर्चः) तेज है उस सूर्यदेवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥४॥ विधि-(५)अथवा इस पांचवें मंत्र से प्रभात समय हवन करे । मन्त्रार्थ-(ज्योतिः)जो ज्योति है वही (सूर्य्यः) सूर्य्य है (यः) जो (सूर्य्यः) सूर्य्य है वही (ज्योतिः) ब्रह्मज्योति है (स्वाहा) उसके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ९ ॥

इन मंत्रों से प्रतिदिन आहुतिप्रदान करनेसे उपरोक्त फल प्राप्त होता है ।

प्रमाण-"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"-[यजु ७ । ४२] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र २ ।

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरात्र्येन्द्रवत्या ॥ जुषाणोऽ

अ॒ग्निर्वे॑तु॒स्वाहा॑ ॥ स॒जूर्दे॒वेन॑ सवि॒त्रा स॒जूरु॒षसेन्द्र॑व त्या जुषा॒णः सूर्यो॑ वेतु॒ स्वाहा॑ ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐसजूर्देवेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । एकपदा गायत्री० । लिङ्गोक्तादे० । हवने वि० । (२) ॐसजूर्देवेने त्यस्य प्र० ऋ० । एकपदा गायत्री छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । हवने विनि० ॥ १० ॥

विधि-(१)इस कण्डिकामें दो मंत्र विकल्पसे संध्या प्रातःकाल हवन करनेके हैं[का० ४,१४,९]मन्त्रार्थ-(सवित्रा)सबके प्रेरण करनेवाले(देवेन)सूर्यरूप परमेश्वरके संग (सजूः) समान प्रीति करनेवाले तथा (इन्द्रवत्या) इन्द्र है देवता जिसका ऐसे (रात्र्या) रात्रिदेवताके साथ (सजूः) समान प्रीति करनेवाले (जुषाणः)हमपर-भी प्रीति करनेवाले (अग्निः) अग्निदेवता (वेतु) इसको जाने (स्वाहा) इन अग्निदेवताके निमित्त श्रेष्ठ आहुति प्रदान की श्रेष्ठ होम हो १ । विधि-(२) प्रातःकाल हवन करनेका मंत्र । मन्त्रार्थ-(सवित्रा) सबके प्रेरक (देवेन) ज्योतिस्वरूप परमात्माके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाले (इन्द्रवत्या) इन्द्रदे-वतावाली (उपसा) उषाकालके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाले तथा (जुषाणः) हमपर प्रीति करनेवाले (सूर्यः) सूर्यदेवता (वेतु) आहुतिको ग्रहण करो वा हमारे कर्मको प्राप्त करो (स्वाहा) उनके निमित्त श्रेष्ठ होम हो [पूर्वार्धमें रात्रिदेवताके स्थानमें उखादेवता प्रयुक्त करना] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

उ॒प॒प्र॒यन्तो॑ऽअध्व॒रं मन्त्रं॑ वोचेमा॒ग्नये॑ ॥ आ॒रेऽ अ॒स्मे च॑ शृण्व॒ते ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउपेत्यस्य गौतम ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ।

विधि-(१) सायंकालकी आहुतिप्रदान कर चुकनेपर वत्सप्रीगोत्रमें उत्पन्न गौतमविरूपादि ऋषियोंके देखे हुए मंत्रोंसे इस ग्यारहवीं कण्डिकासे ३६ वीं कण्डिकासमाप्तिपर्यन्त पच्चीस कण्डिकाओंके मंत्र तीन तीन वार पाठ कर तीन तीन आहुति प्रदान करें इनसे आहवनीय और गार्हपत्य दोनों प्रकारकी अग्निका उपस्थान होता है । प्रथम आहवनीय उपस्थान हैं [का० ४, १२, १ । ३] मन्त्रार्थ-(यज्ञम्) यज्ञके प्रति (उपप्रयन्तः) गमन करतेहुए अथवा यज्ञ-

कार्यमें प्रवृत्त हम (अरेच) दूर (अस्मे) समीप (शृण्वते) सुन्तेहुए (अग्नये आग्नि देवताके निमित्त (मन्त्रम्) मनन करते ही रक्षा करनेवाले अथवा उच्चारण करते ही इष्टसिद्धि करनेवाले शब्दसमूहको (वोचेम) उच्चारण करते हैं [ऋ० १ । ९ । २१] ॥ ११ ॥

भावार्थ–अग्नि दूर हो वा निकट उसके प्रीतिसाधनके निमित्त यज्ञसाधनमें प्रवृत्त हुए हम कुछ मंत्र उच्चारण करते हैं, वह समस्त ही श्रवण करें । अध्यात्म-अर्थमें अग्निरूप परमात्मा है ॥ ११ ॥

प्रमाण–"आर इति दूरनामसु पठितम्"–[निघं० ३ । २६] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मन्त्र १ ।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ॥ अपाᳬं रेताᳬंसि जिन्वति ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निर्मूर्द्धेत्यस्य विरूप ऋषिः । निचृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ–(अयम्) यह(अग्निः)अग्निदेवता(दिवः)द्युलोकके शिरकी समान अर्थात् अग्निने द्युलोकके शिरकी समान प्रधानता लाभ कीहै जैसे शिर सब शरीरसे ऊपर है इसी प्रकार यह अग्निदेव अपने तेजसे आदित्यमें प्रवेश करके द्युलोकके ऊपर वर्तता है (ककुत्) अथवा जैसे बैलका स्कंध सब स्थानसे उन्नत होता है इस प्रकार अग्निने सर्वोन्नत स्थान लाभ किया है अथवा ककुद नाम महत्‌का है "ककुदमिति महन्नाम"–[निघं० ३, ३, १९] इससे यही जगत्‌का 'महान्' कारण है (पृथिव्याः) पृथ्वीका (पतिः) पालक है अर्थात् पृथ्वीलोकमें ककुद समान उच्छ्रित सर्वत्रही अग्निने आधिपत्य लाभ किया है यही अग्नि (अपाम्) जलोंके (रेतांसि) सारोंको (जिन्वति) पुष्ट करता है अर्थात् द्युलोकके गिरते हुए वृष्टिरूप जलोंके सारोंको व्रीहियवादिरूपसे परिणत करता है वा अन्तरिक्ष लोकमें वृष्टिके कारण मेघोंको पुष्ट करता है, वा आहुतिके परिणामसे वृष्टि उत्पन्न करता है "ते वा एते आहुती उत्क्रामतः" इत्यादिश्रुतेः । वाहक प्रकाशादिसे यह अग्नि पृथ्वीका पालक है । अध्यात्ममें अग्निरूप परमात्माकी प्रार्थना है [ऋ० । ३ । ३९] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १ ।

उभावामिन्द्राग्नीऽआहुवद्ध्याऽउभाराधसᳬं सह

सादयध्यै ॥ उभादातारविषाᳬरयीणामुभावा जस्यसातयेहुवेवाम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) उभावामिति भरद्वाज ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्राग्नी देवते । उपस्थाने वि० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(१) (इन्द्राग्नि) हे इन्द्र अग्नि दोनों देवताओ ! (वाम्) तुम (उभा) दोनोंको (आहुवध्यै) आह्वान करनेकी इच्छा करता हूं, किञ्च (उभा) तुम दोनोंको (सह) साथही (राधसः) हविलक्षणवाले धनसे (मादयध्यै) प्रसन्न करनेकी इच्छा करता हूं जिस कारणसे कि (उभा) तुम दोनो ही(इषाम्) अन्न और (रयीणाम्) धनोंके वा पानीके (दातारौ) देनेवाले हो (उभा)दोनों (वाम्) तुमको (वाजस्य) अन्नजलके (सातये) देनेके निमित्त (हुवे) आह्वान करता हूं ॥ १३ ॥

विशेष-"इन्द्र शब्दसे आहवनीय अग्नि जानना कारण कि वह यज्ञसाधकरूप ऐश्वर्यसे युक्त है अग्निशब्दसे गार्हपत्य अग्नि लेनी "अग्रे नीयत इत्यग्निः" इति यास्कव्युत्पत्तेः । दो अरणीसे अग्नि निकालकर प्रथम गार्हपत्यस्थानमें लाई जाती है इस कारण यह अग्नि कहाती है । [ऋ० ४ । ८ । १९] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

अयन्तेयोनिर्ऋत्वियोयतोजातोऽअरोचथाः ॥ तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथानोवर्द्धयारयिम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयन्तइत्यस्य देवश्रवोदेववाताऋषी । स्वराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ-(१)(अग्ने)हे आहवनिय अग्नि ! (ते) तुम्हारा (अयम्)यह(ऋत्वियः) ऋतुविशेषलब्ध गार्हपत्याग्नि (योनिः)उत्पत्तिस्थान है.सायं प्रातःकालमें आहवनीय स्थानमें प्रादुर्भूत होती है (यतः) जिस ऋतुकालसे युक्त गार्हपत्यसे (जातः)उत्पन्न हुए तुम (अरोचथाः) कर्मकालमें प्रदीप्त हो,हे अग्ने(तम्) उस गार्हपत्यको(जानन्) जानकर (आरोह) कर्मान्तरसाधनके निमित्त दक्षिणकुण्डमें आरोहण कर(अथ) इसके उपरान्त (नः) हमारे निमित्त (रयिम्) फिर यज्ञ करनेके निमित्त धनको (आवर्धय) सब प्रकार बढ़ाओ ॥ १४ ॥

विशेष—ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंको ऋतुविशेषमें यज्ञदीक्षाके निमित्त अग्निलाभ होती है वसन्तकालमें ब्राह्मण अग्निग्रहणके निमित्त दीक्षा ले, शरत्कालमें क्षत्रिय इत्यादि ॥ १४ ॥

कण्डिका १५—मंत्र १।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः ॥ यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ १५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअयमिहेत्यस्य वामदेव ऋषिः । जगती वा भुरिक् त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ—(१) (अयम्) यह अग्नि (होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला (यजिष्ठः) यज्ञोंमें स्थित वा अतिशय यज्ञ करानेवाला (अध्वरेषु) सोमयागादि में (ईड्यः) ऋत्विजोंसे स्तुतिको प्राप्त हुआ (इह) इस कर्मानुष्ठान स्थानमें (प्रथमः) मुख्य (धातृभिः) स्थापन करनेवालोंसे (आधायि) स्थापित किया गया है (अप्नवानः) पुत्रवान् "अप्नशब्दोऽपत्यनामसु पठितः" [निघं० २,२,७] (भृगवः) भृगुवंशोत्पन्न यज्ञविद्याके जाननेवाले मुनिगणोंने (विशेविशे) यजमानरूप मनुष्यके उपकारके निमित्त (चित्रं) विविध कर्मोपयोग्य होनेसे आश्चर्यरूप (विभ्वम्) व्यापक शक्तिसे युक्त (यम्) जिस अग्निको (वनेषु) वनोंमें (विरुरुचुः) प्रदीप्त किया है ॥ १५ ॥

प्रमाण—"विडिति मनुष्यनाम"—[निघं०२,३,९] [ऋ०३।५।६] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मन्त्र १।

अस्य प्रत्नामनु द्युतꣳ शुक्रं दुदुह्रेऽअह्रयः ॥ पयः सहस्रसामृषिम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐअस्यप्रत्नामित्यस्य अवत्सार ऋषिः । गायत्री छन्दः । गोग्निपयो देवता । उपस्थाने वि० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ—(१) (अह्रयः) संस्कारसे शुद्ध होनेके कारण अयोग्यताकी लज्जासे हीन सब विद्याओंके प्राप्त करनेवाले ऋषि (अस्य) इस अग्निकी (प्रत्नाम्) चिरन्तनकालीन (द्युतम्) कान्तिको (अनुसृत्य) अनुसरण करके (ऋषिम्) गायकेद्वारा (सहस्रसाम्) सहस्र २ कार्यके उपयोगी क्षीर दधि आज्य हविके

साधक (शुक्रम्) शुद्ध (पयः) दूधको (दुदुहे) दुहते हुए ॥ [सन्ध्या उपरान्त गोदुहनेके समय अग्निके प्रकाश न होनेके कारण दुहते समय कदाचित् दूधकी कोई धार भूमिमें गिर जाय इस शंकासे दुहनेवालेको लज्जा होती है और प्रकाश होनेसे गिरनेकी शंकारहित होनेसे गोदुहनेवालोंको (अह्रयः) लज्जाशून्य कहा. अथवा (अह्रयः) मलीन न होनेके कारण प्रशंसनीय गौएं इस अग्निकी चिरन्तन आत्मामें अनुरक्त हुई, शुक्ररूपसे परिणत कान्तिरूप दुग्धको क्षरण करती है, अर्थात् गौओंका दुग्ध शुक्ररूपसे परिणत हुई कान्ति है जो दुग्ध चातुर्मास्य सोमादियागका सम्पादक है अथवा (ऋषिम्) देखनेवाला है] [ऋ० ७ । १ । १०] ॥ १६ ॥

प्रमाण-"सा हैनानुदीक्ष्य हिङ्कारेत्युपक्रम्य ते देवा विदाश्चक्रुरेष साम्नो हिङ्कार इति तामुहाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येऽनया स्यामिति ताᳪं सम्बभूव तस्याᳪं रेतः प्रासिञ्चत्तत्पयोऽभवत्" इति श्रुतेः [श० २, २, ४, १५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

तनूपाऽअग्नेऽसि तन्वम्मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्म्मे देहि वर्च्चोदाऽअग्नेऽसि वर्च्चो मे देहि ॥ अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनन्तन्मऽआपृण ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतनूपाइत्यस्य अवत्सार ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ- (१) (अग्ने) हे अग्ने ! वा परमात्मन् ! तुम (तनूपाः)स्वभावसेही शरीरके रक्षक वा अग्निहोत्री शरीरियोंके रक्षक (असि) हो उदरमें अग्नि होनेसे जीर्ण शरीरके पालक हो इस कारण (मे) मेरे (तन्वम्) शरीरको (पाहि) पालन कर। (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (आयुर्दाः) आयुके देनेवाले (असि) हो (मे) मेरे निमित्त (आयुर्देहि) अपमृत्युको दूर कर पूर्ण आयु दो [अर्थात् जबतक उदरमें उष्णता रहती है तबतक पुरुष नहीं मरता] (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (वर्चोदाः) कान्तितेजके देनेवाले (असि) हो इस कारण (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) तेज (देहि) प्रदान कीजिये (अग्ने) हे अग्ने ! (मे) मेरे (तन्वाः) शरीरका (यत्) जो अंग चक्षुरादिरूप (ऊनम्) दृष्टिकी पटुता आदि वा बुद्धिआदि न्यून हो (तत्) उस अंगको (आपृण) सब प्रकारसे पूर्ण करो ॥ १७ ॥

भावार्थ-तेजकी प्रार्थनासे वैदिक अनुष्ठान प्रयुक्त तेज जानना जिसके दर्शनसे

यह कोई महान् विद्वान् तेजमें अग्निकी समान तपता है ऐसी बुद्धि मनुष्योंको होती है, अग्निके कार्योंका महा उपदेश इस मंत्रमें किया है. ॥ १७॥

कण्डिका १८–मन्त्र १ ।

इन्धानास्त्वा शतꣳहिमा द्युमन्तꣳसमिधीमहि ॥ वयस्वन्तो वयस्कृतꣳसहस्वन्तः सहस्कृतम् ॥ अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासोऽअदाभ्यम् ॥ चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐइन्धानास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋषिः । निचृद्ब्राह्मीपंक्तिर्वा महापंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । उपस्थाने विनियोगः ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ–(१) (अग्ने) हे अग्निदेव! (इन्धानाः) तुम्हारे अनुग्रहसे दीप्तिमान (वयस्वन्तः) अन्नवान् (सहस्वन्तः)बलवान्(अदब्धासः) किसीसे भी हिंसा वा पीड़ा न पानेवाले हम यजमान (द्युमन्तम्) कान्तिमान् (वयस्वन्तम्) अन्नवान् (सहस्वन्तम्) बलवान् (सपत्नदम्भनम्) शत्रुओंके हिंसक (अदाभ्यम्) किसीसे पीड़ा न पानेवाले (त्वा) तुमको (शतꣳहिमाः) शतवर्षपर्यन्त व पूर्णायुपर्यन्त (सꣳसिधीमहि) निरन्तर प्रदीप्त करैं [अर्थात् उक्त विशेषणसे युक्त अग्निदेवता यह सब वस्तु हमको प्रदान करैं पूर्वमन्त्रवत्]

चित्रावसोरात्रिदेवत्यं यजुर्ऋषिर्दृष्टम् ।

(चित्रावसो) विविध चन्द्र नक्षत्र अन्धकाररूपकी निवासरूप हे रात्रि!(स्वस्ति) कल्याणपूर्वक मैं यजमान (ते) तेरे (पारम्) समाप्तिको (अशीय) प्राप्तहूं अर्थात् जैसे मनुष्योंके सोजाने पर चोर गृहोंमें प्रवेश करजाते हैं इसी प्रकार इस देवयजनमें राक्षस न प्रवेश कर जायँ इस शंकासे उनके निवारणके अर्थ रात्रिसे प्रार्थना है ॥ १८ ॥

प्रमाण–" वय इति अन्ननाम "–[निघं० २, ७, ७ ।] " सह इति बलनाम–" [निघं० २, ९, १७ ।] " रात्रिर्वै चित्रावसुः साहीयꣳसंगृह्येव चित्राणि वसाति " इति श्रुतेः [श० २, ३, ४, २२] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मंत्र १ ।

सन्त्वमग्ने सूर्य्यस्य वर्च्चसागथाः समृषीणाꣳस्तुते

न ॥ सम्प्रियेणधाम्म्नासमहमायुषासंवर्च्चसासम्प्रजयासꣳरायस्पोषेणग्मिषीय ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसन्त्वमित्यस्य अवत्सारऋषिः । जगती छन्दः । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ १९ ॥

[द्वादशाक्षर चार चरणयुक्त जगती छंद होताहै]

विधि-(१)उपस्थान न करके पीछे बैठकर अगला मंत्र जपै [का० ४, १२, ४] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वम्) तुम रात्रिमें (सूर्यस्य) सूर्यके (वर्चसा) तेजसे (समगथाः) संगतिको प्राप्त हुए हो तथा (ऋषीणाम्)महर्षियोंके (स्तुतेन) स्तोत्रसे (सम्) संगतिको प्राप्त हुए हो बहुतसे मंत्र अग्निकी स्तुति करते हैं (प्रियेण) प्रिय (धाम्ना) आहुतियोंसे (समगथाः) संगतिको प्राप्त हुए हो जिस प्रकार तुम इन तीन वस्तुओंसे संगतिको प्राप्त हुए हो उसी प्रकार (अहम्) मैं (आयुषा)आपकी कृपासे अपमृत्युदोषरहित आयुसे (संग्मिषीय) संगतिको प्राप्त हूं तथा (वर्चसा) विद्याऐश्वर्यादिप्रयुक्त तेजसे (सम्) संगतिको प्राप्त हूं । (प्रजया) पुत्रादिसे (सम्) संगतिको प्राप्त करूं तथा(रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिसे (सम्) संगतिको प्राप्त हूं ॥ १९ ॥

प्रमाण-"तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह -इति श्रुतेः । [श०२, ३, ४, २४] "तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह" इति श्रुतेः [श० २, ३, ४, २४] "आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम" इति श्रुतेः [श० ३, ४, २४] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

अन्धस्स्थान्धोवोभक्षीयमहस्स्थमहोवोभक्षीयोर्ज्जस्स्थोर्ज्जंवोभक्षीयरायस्पोषस्स्थरायस्पोषंवोभक्षीय ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअन्धस्स्थेत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । भुरिग्बृहती छं० । गौर्देवता । गवोपसर्पणे वि० ॥ २० ॥

विधि-(१)दो कण्डिकाओंको पढकर गौके समीप गमन करें[कात्या०४,१२,९] मंत्रार्थ-हे गौओ ! तुम (अन्धस्थः) अन्नरूप हो क्षीराज्यादिरूप अन्नकी उत्पन्न करनेवाली हो इस कारण तुम्हारी कृपासे (वः) तुम सम्बन्धी (अन्धः) क्षीरघृतादिरूप अन्नको (भक्षिय) मैं सेवन करूं तथा तुम (महस्थः) पूज्यरूप हो इस कारण तुम्हारे प्रसादसे (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (महः) पूज्यताको

(भक्षीय) में प्राप्त करूं तथा तुम (ऊर्ज्जः) बलरूप (स्थ) हो अर्थात् तुम्हारा दुग्धादि बलकारक है इस कारण तुम बलरूप हो (वः) तुम्हारे प्रसादसे मैं (ऊर्ज्जम्) बलको (भक्षीय) सेवन करूं हे गौओ ! तुम (रायस्पोषस्थ) धनकी पुष्टिरूप हो "कारण कि बहुत व्यापारी घी दूध बेचकर धनसंग्रह करते हैं" (वः) तुम्हारे प्रसादसे मैं (रायस्पोषम) धनकी पुष्टिको (भक्षीय) सेवन करूं ॥ २० ॥

भावार्थ–गौओंका पूजन करना उनको चरणसे न छूना तथा गौओंके उपकार इस मंत्रमें दिखाये हैं महःशब्दसे श्रुतियोंमें दशवीर्यका वर्णन किया है यथा "गौर्वै प्रतिधुक् तस्यै श्रृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै वाजिनम्" इति श्रुत्युक्तानि । अर्थ–तत्कालका दूध, औटाया दूध, दुग्धमण्ड, दही, दधिरस, दधिपिण्ड, मक्खन, घी, फटा दूध, यह क्रमसे जानने. ऐसी दशवीर्यवाली गौके सेवनसे मनुष्य उपरोक्त गुण पूर्ण होते हैं यह तात्पर्य है ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १ ।

रेवतीरमध्वमस्मिन्योनावस्मिन्गोष्ठेऽस्मिँल्लोकेऽस्मिन्क्षये ॥ इहैव स्त मापगात ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐरेवतीरित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ० । उष्णिक्छन्दः । गौर्देवता । गवोपसर्पणे वि० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ–(१) (रेवतीः) हे धनवाली गायो धनप्राप्तिमें हेतुवाली होनेसे धनवान् कहा "पशवो वै रेवन्तः" इति श्रुतेः[२,३,४,२६] (अस्मिन्) इस दृश्यमान (योनौ) अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थानमें तथा (अस्मिन्) दोहनके उपरान्त इस (गोष्ठे) गोठमें तथा सदा (अस्मिन्) इस (लोके) लोकदर्शन यजमानकी दृष्टिविषयमें, रात्रिमें (अस्मिन्) इस यजमानके (क्षये) निवासस्थानमें (रमध्वम्) क्रीडा करो. किञ्च (इहैव) इसी यजमानके गृहमें (स्त) स्थित रहो इस स्थानसे कहीं (मा) मत (अपगात) जाओ ॥ २१ ॥

उपदेश–ईश्वरका, गौकी सेवा करना इस प्रकार चाहिये यह उपदेश है. घरमें गौको रखना सदैव चाहिये परन्तु कालकी करालगतिसे दूध न देनेवाली गौओं को ब्राह्मणादिवर्णभी केवल घरसे ही नहीं निकालते किन्तु विधर्मिओंके हाथ बेच देते हैं, क्यों न हो जब कि पंडित दयानंदने दूध न देनेवाली गौको गधीके बराबर कहा है क्या ऐसे कथन करनेवालोंपर परमात्माका कोप न होगा? ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र २।

सꣳहितासि विश्वरूप्प्यूर्ज्जामाविश गौपत्त्येन ॥ उपत्त्वाग्ग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्द्धिया वयम् ॥ नमो भरन्तऽएमसि ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसंहितेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छंदा ऋ० । भुरिगासुरीगायत्रीछन्दः । गौर्देवता । गवालंभने विनि० । (२) ॐउपत्वेत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीच्छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे गौको स्पर्श करै [का०४,१२.६] मंत्रार्थ-हे गौ! तुम (विश्वरूपी) विश्वरूपवाली वा शुक्लकृष्णादि विचित्र वर्णोंसे युक्त (सꣳहिता) दुधघृतरूप हविर्दानके निमित्त यज्ञकर्मोंमें संगतिवाली (असि) हो (ऊर्जा) क्षीरादिरसद्वारा (गौपत्येन) गोस्वामित्वमें (माम्) मुझमें सवप्रकारसे (आविश) प्रवेश करो अर्थात् हमारा गोस्वामित्व अविचलित रक्खो १। विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे गार्हपत्यमें गमन करै [का० ४, १२, ७.] मन्त्रार्थ-(दोषावस्तः) रात्रिमें भी निरन्तर निवास करनेवाले (अग्नि) हे अग्नि देवता! (वयं) हम यजमान (दिवे दिवे)प्रतिदिन (धिया) श्रद्धायुक्त बुद्धि से (नमोभरन्तः) तुमको नमस्कार करते हुए। यद्वा "नम इत्यन्ननाम" [निघं० ७ २१] तुमको हवि देते हुए (त्वा) तुम्हारे प्रति (उपएमसि) गमन करते वा प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १।

राजन्तमध्वराणाङ्गोपामृतस्य दीदिविम् ॥ वर्द्धमानꣳस्वे दमे ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐराजन्तमिति वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋ० । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ-(१) (राजन्तम्) दीप्तिमान् (अध्वराणाम्) यज्ञोंके (गोपाम्) रक्षा करनेवाले (ऋतस्य) सत्यवचन रक्षणवाले व्रतके (दीदिविम्) प्रदीप्तकरने वाले [आशय यह कि व्रत ग्रहण कर अग्निके समीप सत्य बोले] (स्वे)अपने(दमे) गृहमें (वर्द्धमानम्) सोम चातुर्मास्यादि यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त होतेहुए अग्निके निकट हम प्राप्त होतेहैं [पूर्वमंत्रसे क्रियापदकी अनुवृत्ति लेनी ऋ०१।१।२]॥२३॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ॥ सचस्वा नः स्वस्तये ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन इत्यस्य वैश्वामित्रो मधुच्छन्दा ऋषिः । विराड्गायत्री छं० । अग्निर्दे० । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ-(१) (अग्ने) हे गार्हपत्य अग्ने ! वा परमात्मन् ! (सः) वह पूर्वोक्त गुणसम्पन्न तुम (नः) हमको (सूपायनः) सुखसे प्राप्त होने योग्य (भव) हो (सूनवे) पुत्रके निमित्त (पिता) पिता (इव) जैसे भयके विना ही सुखसे प्राप्त होने योग्य होता है और (नः) हमारे (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (आसचस्व) इस कर्ममें युक्त हो वा सेवन करो [ऋ० १ । १ । २] ॥ २४ ॥

कण्डिका-२५ मन्त्र १ ।

अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ वसुरग्निर्वसुश्रवाऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्य सुबन्धुर्ऋषिः । भुरिग्बृहती छं० । अग्निर्दे० । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ-(१) (अच्छ) हे निर्मलस्वभाव ! (अग्ने) अग्निदेवता वा गार्हपत्य अग्नि ! (वसुः) वसुस्वरूप जनोंके निवासरूप तथा (अग्निः) आहवनीयादिरूपसे गमनशील तथा (वसुश्रवाः) धनदान करनेसे कीर्तिमान् (त्वम्) तुम (नः) हमारे (अन्तमः) सदा अतिसमीपवर्ति (उत त्राता) और रक्षण वा पालक (शिवः) शान्तरूप (वरूथ्यः) पुत्रादिसमूह वा घरके निमित्त हितकारी (आभव) सब प्रकारसे हो. हे (अच्छ) निर्मलस्वभाव अग्नि ! तुम (नक्षि) हमारे होमस्थानमें जाओ जब जब हम हवन करें तब तब हमारे स्थानमें आओ वा हमको व्याप्त करो और (द्युमत्तमम्) अतिदीप्तियुक्त (रयिम्) धनको (दाः) दीजिये। अध्यात्मपक्षमें परमात्मा ही निर्मल ज्योतिस्वरूप है उसीकी प्रार्थना समझनी ॥ २५ ॥

प्रमाण-"वरूथं गृहम्" [निघं० ३, ४.] " अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः " [निरु० ५, २८] अन्तमः अम गतौ भजने शब्दे अमति समीपं प्राप्नोतीत्यम् क्विप् अतिशयितोम् अन्तमः अम्शब्दात्तमप् पृषोदरादित्वेन [पा०६,३,१०९]साधुः॥२५॥

कण्डिका २६-मन्त्र १ ।

तन्त्वाशोचिष्ठदीदिवःसुम्नायनूनमीमहेसखिभ्यः ॥ सनोबोधिश्रुधीहवमुरुष्याणोऽअघायतःसमस्मात् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतन्त्वेत्यस्य सुबन्धुर्ऋ० । स्वराड्बृहती छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्यं प्रत्युपसर्पणे वि० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(१) (शोचिष्ठ) अत्यन्तकान्तिमान् (दीदिवः) सबके प्रदीप्त करनेवाले (तम्) पूर्वोक्तगुणसम्पन्न (त्वा) तुमको (सखिभ्यः) मित्रोंके निमित्त तथा धन (सुम्नाय) सुखके निमित्त (नूनम्) निश्चय ही (ईमहे) याचना करते हैं अथवा अपने मित्रोंके उपकार के निमित्त तुमको याचना करते हैं (सः) वह तुम (नः) हम अपने सेवकोंको (बोधि) जानो (हवम्) हमारे आह्वानको (श्रुधी) श्रवण करो (समस्मात्) सम्पूर्ण (अघायतः) पापोंसे वा शत्रुओंसे (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा करो ॥२६॥ इस कण्डिकामें भी अग्निरूप परमात्माकी प्रार्थना है 'तदेवाग्निः'-यजुर्वेदे उपासनामें यही मंत्र ईश्वरपर होता है [ऋ० ४ । १ । १६ ।] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र २ ।

इडऽएह्यदितऽएहि काम्याऽएत ॥ मयि वः कामधरणम्भूयात् ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इडऽएहीत्यस्य श्रुतबन्धुर्ऋ० । विराड्गायत्री छं० । गौर्देवता । गवोपसर्पणे वि० । (२) ॐकाम्याऽएतेत्यस्य मंत्रस्य श्रुतबन्धुर्ऋषिः । विराड्गायत्री छंदः । गौर्देवता । गवोपस्पर्शने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे गौके समीप गमन करे [का०४.१२.८]मंत्रार्थ-(इडे) हे पृथ्वीरूप गौ ! [दुग्धादिद्वारा मनुष्योंको भूमिकी समान पालन करनेसे पृथ्वीरूप कहा] (एहि) इस स्थानमें आगमन करो (अदिते) घृतद्वारा देवताओंको अदिति की समान पालन करनेवाली अदितिरूप गौ ! (एहि) इस स्थानमें आगमन करो । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गौको स्पर्श करे [का० ४, १२, ९] मन्त्रार्थ-(काम्याः) हे गौओ ! तुम सब साधनोंकी देनेवाली होनेसे सबके स्पृहा करनेके योग्य हो (एत) इस स्थानमें जाओ (वः) तुम्हारा (कामधरणम्)

जो अपेक्षित फलधारकत्व है अर्थात् हमको प्रदान करनेके निमित्त तुमने जो फल धारण किया है (तत्) सो (मयि) मुझ अनुष्ठान करनेवालेमें तुम्हारी कृपासे-(भूयात्) हो तुम्हारे प्रसादसे मैं अभीष्ट फलका धारणकरनेवाला हूं ॥ २१ ॥

प्रमाण-"इडेति पृथ्वीनामसु पठितम्"-[निघं० १, १] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र १।

ओंसोमानꣳस्वरणङ्कृणुहिब्रह्मणस्पते ॥ कक्षीवन्तंयऽऔशिजः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ओंसोमानमित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) अग्निका दर्शन कर पूर्वकी ओर बैठाहुआ यहांसे नौ मंत्रोंतक आहवनिय उपस्थान कर जप करे [का० ४, १२, १०] मंत्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) वेदके पाठक परमात्मन् ! (सोमानम्) सोमके अभिषव करनेवाले (स्वरणम्) स्तुतिरूपशब्दसे युक्त मुझको (कृणुहि) कीजिये अर्थात् धनप्रदानसे मुझको सोमयागका कर्ता तथा स्तुतिशब्दोंसे युक्त कीजिये जैसे (यः) जो (औशिजः) उशिकका पुत्र कक्षीवान् था उस (कक्षीवन्तम्)कक्षीवान् नाम ऋषिको सोमयागसे और स्तुतिरूप शब्दोंसे युक्त किया इसी प्रकार मुझे करो ॥ २८ ॥

अथवा-हे ब्रह्मणस्पते ! उशिक्से उत्पन्न कक्षीवान्* नाम हमको सोमके अभिषव का अधिकारी कर [१ । १ । ३४] ॥ २८ ॥

विशेष-कक्षीवान्के पिताका नाम दीर्घतमा माताका नाम उशिक् था । सोमलताके रस निकालनेको अभिषव कहते हैं इसका विवरण सोमप्रकरणमें प्रकाशित करेंगे ॥ २८ ॥

प्रमाण-यास्कमुनिरिमं मंत्रमेवं समाचष्टे " सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते कक्षीवन्तमिव यः औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिज उशिजः पुत्र उशिग्वष्टेः कान्तिकर्मणोपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्तं सोमानं सोतारं मां प्रकाशनवन्तं कुरु ब्रह्मणस्पते" [निरु० ६, १०] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र १।

ओंरेवान्योऽअमीवहावसुवित्पुष्टिवर्द्धनः ॥ सनः सिषक्तुयस्तुरः ॥ २९ ॥

---

* अथवा अश्वसम्बन्धिनी रज्जु जिसके हो वह कक्षीवान्,और कान्तिसे जो उत्पन्न हो वह उशिज यह ऋषियोंके वर्णन वैदिक हैं और चाहें उसमय होनेवाले हों पर वेदपुरुषके ज्ञानमें नित्य हैं।

ऋष्यादि-(१) योरेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देव० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २९ ॥

मंत्रार्थ-(१)(यः) जो ब्रह्मणस्पति वेदपालक जगदीश्वर (रेवान्)सब प्रकारके धनोंसे युक्त है (यः) जो (अमीवहा) रोगोंका वा संसारके जन्ममरण रोगोंका छुड़ानेवाला है तथा(वसुवित्)जो सब धन और पदार्थोंको जानता है तथा(पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिका बढानेवाला है (यः) जो (तुरः) शीघ्रकारी है क्षणमात्रमें सब कुछ करसक्ता है (सः) वह परमात्मा (नः) हमको (सिषक्तु) इन सबसे संयुक्त करो वा सेवन करो [ऋ० १ । १ । ३४] ॥ २९ ॥

अथवा इस मंत्रमें पुत्रकी प्रार्थना है.

जो पुत्र धनवान् व्याधिनाशक जयादिसे धन लेकर पुष्टिका बढानेवाला तथा शीघ्रकारी है ऐसा पुत्र अग्निरूप परमात्माकी कृपासे हमको प्राप्त हो ॥ २९ ॥

प्रमाण-"सचते सिषक्ति इति सेवमानस्य " [निरु० ३ २१] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

मा नः शꣳसो अररुषो धूर्तिः प्रणङ्मर्त्यस्य ॥ रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमानइत्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । ब्रह्मणस्पतिर्दे० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३० ॥

मंत्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) हे वेदादिके रक्षक वा पालक जगदीश्वर! (अररुषः)यज्ञसे विमुख कभी भी देवताओंके उद्देशसे वा पितरोंके उद्देशसे जो कुछ भी व्यय नहीं करते हव्य कव्य नहीं देते ऐसे (मर्त्यस्य) मनुष्यका (शंसः) अनिष्टचिन्तन (धूर्तिः) हिंसा वा द्रोह (नः) हमको (मा) मत(प्रणक्)सताओ हे जगदीश्वर! सब प्रकारसे (नः) हमको (आरक्ष) रक्षा करो [ऋ० १ । १। ३४] ॥३०॥

भावार्थ-परमात्माकी प्रार्थना करनी सबको उचित है तथा नास्तिक धूर्त और हव्य कव्यन करनेवालोंका संसर्ग कभी मत करो यह इस मंत्रका भाव है ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षम्मित्रस्यार्यम्णः ॥ दुराधर्षं वरुणस्य ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमहित्रीणामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । विराड्गायत्री० छं० । आदित्यो दे० । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ–१ (मित्रस्य) प्राणवृत्ति और दिवसका अधिष्ठात्री देवता मित्र (अर्यम्णः) चक्षु वा सूर्यके अधिष्ठात्री अर्यमा देवता (वरुणस्य) अपान और जलोंके अधिष्ठात्री देवता वरुण (त्रीणाम्) इन तीनों देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाली (महि) बृहत् (द्युक्षम्) कान्तिमान् सुवर्णादि द्रव्योंसे युक्त(दुराधर्षम्) तिरस्कार पानेको अशक्य (अवः)पालना रक्षा (अस्तु) हमको प्राप्त हो ॥३१॥

भावार्थ–मित्र, अर्यमा और वरुण यह तीन देवता महाशक्तिमान् हैं परमात्मा के भजन करनेवाले मुझको अपने २ अधिकारके पदार्थोंसे रक्षा करैं [ऋ० ८ । ८ । ४३] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र १।

नहितेषाममाचनना॒ध्व॑सुवा॒रणे॑षु ॥ ईशे॑रिपुर॒घश॑ꣳसः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नहितेषामित्यस्य सत्यधृतिर्वारुणिर्ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । आदित्यो देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ–जो ईश्वर और इन तीन देवताओंसे रक्षित हैं जो इनकी उपासना करते हैं (तेषाम्) उनको (अमा) घरमें (अध्वसु) मार्गमें (वारणेषु) दुर्गम गहन काननमें जहां चोर डाँकू व्याघ्रादि पथिकोंको निवारण करते हैं अथवा संग्रामोंमें (चन) भी स्थित यजमानके निमित्त उपद्रव करनेको (अघशंसः) पापकर्मा नृशंस (रिपुः) शत्रु (नहि ईशे) समर्थ नहीं होता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ–परमात्मा वा देवताओंसे रक्षित प्राणी घर वन चोर व्याघ्र शत्रु किसीसे तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता इस कारण सर्वदा उनसे रक्षाकी प्रार्थना करनी चाहिये [ऋ० ८ । ८ । ४३] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १।

तेहिपु॒त्रासो॒ऽअदि॑तेः॒प्रजी॒वसे॒मर्त्या॑य ॥ ज्योति॑र्यच्छ॒न्त्यज॑स्रम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐतेहीत्यस्य वारुणिः सत्यधृतिर्ऋषिः । विराड्गायत्री छं० । आदित्यो दे० । उपस्थाने वि० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ–(१) (हि) जिस कारणसे कि (ते) वे मित्र अर्यमा वरुणादि (अदितेः) अखण्डशक्तिरूप देवमाताके (पुत्रासः) पुत्र (मर्त्याय) इस मनुष्य-यजमानके निमित्त (अजस्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) अखण्डतेजको (प्रजीवसे) चिरजीवनके निमित्त (प्रयच्छन्ति) प्रदान करते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ-अखण्डशक्तिमान् देवमातासे उत्पन्न वे तीनों देवता मनुष्योंको उपरोक्त बलप्रदान करते हैं प्राणादिकी उत्पत्ति अदितिसे है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

कदाचनस्तरीरसिनेन्द्रसश्चसिदाशुषे ॥ उपोपेन्नुमघवन्भूयऽइन्नुतेदानन्देवस्यपृच्यते ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐकदाचनेत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । पथ्याबृहती छं० । इन्द्रो देवता । जपे वि० ॥ ३४ ॥

[जिसका तीसरा चरण बारह अक्षरका और तीन चरण आठ अक्षरके हों वह पथ्याबृहती छंद है । जपमें विनियोग है] ॥

मन्त्रार्थ-(१) (इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्त (कदाचन) कभी भी तुम (स्तरीः) हिंसक (न) नहीं (असि) हो (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानके (उपइन्नु) हविको शीघ्र (सश्चसि) सेवन करते हो (मघवन्) हे सब प्रकारके ज्ञानादिधनयुक्त जगदीश्वर ! (देवस्य) प्रकाशमान (ते) तुम्हारे (भूय इत्) बहुतसे (दानम्) दानको (नुइत्) शीघ्रही यजमान (उपपृच्यते) प्राप्त होता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ-हे परमात्मन् ! तुम अपने भक्तोंपर क्रोध नहीं करते किन्तु उनको पवित्र करतेहो हे मघवन् ! तुम्हारे आश्रित जन तुम्हारे दिये मुक्तिरूप धनको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गोदेवस्यधीमहि ॥ धियोयोनः प्रचोदयात् ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतत्सवितुरित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । निचृद्गायत्री छं० । सविता देव० । जपे वि० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ-(१) (तत्) उस (देवस्य) प्रकाशात्मक (सवितुः) प्रेरक अन्तर्यामी विज्ञानानन्दस्वभाव हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्न अथवा आदित्यके अन्तरस्थित पुरुष "योसावादित्ये पुरुषः" [यजु० अ० ४०] वा ब्रह्मके (वरणीयम्) सबसे प्रार्थना कियेहुये (भर्गः) सम्पूर्ण पापके वा सब संसारके आवागमन दूर करनेमें समर्थ सत्य ज्ञान आनंदादि तेजको हम (धीमहि) ध्यान करते हैं (यः) जो सविता देव (नः) हमारी (धियः) बुद्धियोंको सत्कर्मके अनुष्ठानके लिये (प्रचोदयात्) प्रेरणा करता है [ऋ० ३ । ४ । १०] ॥ ३५ ॥

अथवा—सविता देवके उस वरणीय तेजको हम ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा करता है वह सविताही है ॥ ३९ ॥

मण्डलपुरुषकी किरण भी भर्ग है वीर्यको भी भर्ग कहते हैं ।

प्रमाण—" वरुणाद्धवा अभिषिषिचानाद्भर्गोपचक्राम वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतेः । [श० ५, ४, ५, १] ॥ ३९ ॥

तथा च योगियाज्ञवल्क्यः ।

तच्छब्देन तु यच्छब्दो बोद्धव्यः सततं बुधैः ॥
उदाहृते तु यच्छब्दे तच्छब्दः स्यादुदाहृतः ॥ १ ॥
सविता सर्वभूतानां सर्वभावान्प्रसूयते ॥
सवनात्पावनाच्चैव सविता तेन चोच्यते ॥ २ ॥
दीव्यते क्रीडते यस्माद् द्योतते रोचते दिवि ॥
तस्माद्देव इति प्रोक्तः स्तूयते सर्वदैवतैः ॥ ३ ॥
चिन्तयामो वयं भर्गं धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
धर्मार्थकाममोक्षेषु बुद्धिवृत्तीः पुनः पुनः ॥ ४ ॥
भ्रस्ज पाके भवेद्धातुर्यस्मात्पाचयते ह्यसौ ॥
भ्राजते दीप्यते यस्माज्जगच्चान्ते हरत्यपि ॥ ५ ॥
कालाग्निरूपमास्थाय सप्तार्चिः सप्तरश्मिभिः ॥
भ्राजते यत्स्वरूपेण तस्माद्भर्गः स उच्यते ॥ ६ ॥
भेति भीषयते लोकान् रेति रञ्जयते प्रजाः ॥
गेत्यागच्छत्यजस्रं यो भगवान्भर्ग उच्यते ॥ ७ ॥
वरेण्यं वरणीयं च संसारभयभीरुभिः ॥
आदित्यान्तर्गतं यच्च भर्गाख्यं वा मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥
जन्ममृत्युविनाशाय दुःखस्य त्रिविधस्य च ॥
ध्यानेन पुरुषो यस्तु द्रष्टव्यः स सूर्यमण्डले ॥ ९ ॥

अर्थ—उसका तेज हम ध्यान करते हैं यहां तत् भर्गका विशेषण नहीं है तथापि तत्के प्रयोगसे ही यत्का प्रयोग प्राप्त होजाता है, यही इस श्लोकका आशय है

कि तत्के साथमें यत्शब्द सदा जानना ॥ १ ॥ सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भावों-का उत्पन्नकर्ता सवन और पवित्र करनेसे उसे सविता कहते हैं ॥ २ ॥ जिस कारण कि वह प्रकाशित होता क्रीडा करता आकाशमें दीप्तिमान् होता सब देवता-ओंसे स्तुतिको प्राप्त होता है, इस कारण उसे देव कहते हैं ॥ ३ ॥ हम उस भर्ग तेजका ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिवृत्तियोंको बारंबार धर्म अर्थ काम मो-क्षमें प्रेरणा करता है ॥ ४ ॥ भ्रस्ज धातु पकानेमें है जिस कारण यह पकाता शोभित दीप्तिमान् होता अन्तमें जगत्को हरण करता है ॥ ५ ॥ कालाग्निरूपमें स्थित होकर अग्नि सूर्यमें स्थित अपने रूपसे प्रकाशित होता है इस कारण उसको भर्ग कहते हैं ॥ ६ ॥ भकारसे सब लोकोंको भयभीत करता, रसे प्रजाको प्रसन्न करता है, गसे जो निरन्तर गमनागमन करता है इस कारण उसको भर्ग कहते हैं । परमार्थचिन्तामें सविता और भर्गमें भेद नहीं है ॥ ७ ॥ जिसकी संसारके भयसे भीत हुए प्राणी प्रार्थना करते हैं जो यह सूर्यके अन्तर्गत भर्ग है इसको मुमुक्षु जन्म मृत्यु और दैहिक दैविक भौतिक दुःखके नाश करनेके लिये ध्यान करते हैं वह पुरुष सूर्यमण्डलमें ध्यान करना चाहिये ॥ ८ ॥ ९ ॥

इस प्रकार गायत्रीका माहात्म्य वर्णन करके उसीके महाप्रभावमें सात व्याहृ-तियोंका विशेषण जानना । किस प्रकारका वह भर्ग है जो भूरादि सात लोकोंको व्याप्त कर स्थित होरहा है अर्थात् भूः (भूमि) भुवः (अन्तरिक्ष) स्वः(स्वर्गलोक)महः (महर्लोक) जनः (जनलोक) तपः (तपलोक) सत्यम् (सत्यलोक) इस प्रकार क्रमसे लोकोंको व्याप्त कर वह भर्ग इन सात लोकोंको दीपकी समान प्रकाश करता है, अथवा सात महाव्याहृतिही भूरादिका भर्गादिसे भेद करके प्रकाश करती हैं अर्थात् वह तेज कैसा है जो (आपोज्योतीरसोऽमृतंब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्) जल ज्योति रस अमृत ब्रह्म भूः भुवः स्वः ॐ रूप है ।

इसकी विशेष व्याख्या हमारे बनाये दयानंदतिमिरभास्करके गायत्रीप्रकर-णमें देखो ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १ ।

परि॑ ते दू॒डभो॒ रथो॒ऽस्माँ२ऽअ॑श्नोतु वि॒श्वतः॑ ॥ येन॒ रक्ष॑सि दा॒शुषः॑ ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपरित इत्यस्य वामदेव ऋ० । निच्यृद्गायत्री० । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(१) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारा (दूडभः) अप्रतिहत किसीसे जो

दमन न होसके स्वच्छन्दगतिवाला (रथः) रथ वा विज्ञान (अस्मान्) हमको (विश्वतः) सम्पूर्ण दिशाओंमें (पर्य्यश्नोतु) सब ओर स्थित हो (येन) जिस विज्ञानरूप रथसे तुम (दाशुषः) यजमानको (रक्षसि) रक्षा करते हो ॥ ३६ ॥

[परमात्मासे अपनी रक्षाके निमित्त निरन्तर प्रार्थना करनी चाहिये यह भाव है ।]

बृहदुपस्थान समाप्त हुआ ।

अथ क्षुल्लकोपस्थान अर्थात् संक्षेप उपस्थान (आयुर्दाहम्)

काण्डिका ३७–मंत्र ४ ।

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳫँ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ नर्य प्रजां मे पाहि शᳫँस्य पशून्मे पाह्यथर्य पितुं मे पाहि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ भूर्भुव इत्यस्य वामदेव ऋषिः । ब्राह्युष्णिक्छं० अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० । (२) ॐनर्येत्यस्य वामदेव ऋषिः यजुश्छं० । अग्निर्देवता । उपस्थाने वि० (३) ॐशᳫँस्येत्यस्य वामदेव ऋ० । यजुश्छं० । अग्निर्दे० । उप०वि० (४) ॐअथर्येत्यस्य मंत्रस्य वामदेव० । यजुश्छं० । अग्निर्दे० । उपस्थाने वि० । ॥ ३७ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे क्षुल्लकोपस्थान सम्पन्न करै [का० ४, १२, १२] अर्थात् अग्निहोत्र करने उपरान्त उपस्थान करै । **मंत्रार्थ**–हे अग्ने ! तुम (भूः भुवः स्वः) पूर्वोक्त तीन व्याहृतिरूप वा लोकत्रयात्मक हो तुम्हारे प्रसादसे मैं (प्रजाभिः) बन्धुभृत्यादिरूप साधु कुटुम्बादिसे (सुप्रजाः) प्रशंसित प्रजावान् कहाकर विख्यात हूं, तथा (वीरैः) जिस उद्देशसे सर्वगुणालंकृत वीर पुत्रलाभ करूं उन वीर पुत्रोंसे (सुवीरः) प्रशंसित पुत्रवाला होकर विख्यात हूं अर्थात् शास्त्रके अनुष्ठान करनेवाला सुन्दर पुत्र प्राप्त हो तथा (पोषैः) उत्कृष्ट और अधिक सम्पत्तियोंसे (सुपोषः) प्रशंसित सम्पत्तिमान् विख्यात (स्याम्) हूं १ । विधि–(२) नित्यअग्निहोत्री ग्रामान्तरगमनसमयमें दूसरे मंत्रसे गार्हपत्यउपस्थान करै । [का० ४, १२, १३] "आदित्यदष्टम" मंत्रार्थ–(नर्य) हे मनुष्योंके हितसाधक गार्हपत्य ! [कारण कि यही घरका अधिपति है] अग्ने ! (मे) मेरी (प्रजाम्) पुत्रादिप्रजाकी (पाहि) रक्षा कर २ । **विधि**–(३) तीसरे मंत्रसे आहवनीय उपस्थान करै । **मंत्रार्थ**–(शंस्य) अनुष्ठान करनेवालोंसे बारंबार प्रशंसाके योग्य आहवनीय ! (मे) मेरे (पशून्) गौआदि पशुओंकी (पाहि) रक्षा करना [आहवनीयमें अधिक आहुति दीजाती हैं इससे आहवनाय नाम है] । विधि–(४) चौथे मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान करै । मंत्रार्थ–

हे (अथर्य) निरन्तरगमनशील दक्षिणाग्नि! (मे) मेरे (पितुम्) पिताकी (पाहि) रक्षा करना । दक्षिणाग्नि गार्हपत्य अग्निसे सदा लाईजाती है और स्थापित की जाती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ-परमात्माकी आज्ञा है कि जब अग्निहोत्री किसी दूसरे स्थानमें जाय तो इस प्रकारसे प्रार्थना कर अग्निरूप मुझ परमात्माका उपस्थान करके गमन करे इससे मंगल होकर रक्षा होगी ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मन्त्र १।

आगन्म विश्ववेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् ॥
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥३८॥

ऋष्यादि-(१) ॐआगन्मेत्यस्य आसुरिर्ऋ० । अनुष्टुप्छं० । आहवनीयाग्निर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-परदेशसे आया हुआ नित्याग्निहोत्री प्रथम ही विना किसीसे मिले समिध् हाथमें ले अग्निशालामें प्रवेश कर प्रथम इस मंत्रसे आहवनीयोपस्थान करै [का० ४, १२, १८] मंत्रार्थ-हे (सम्राट्) सम्यक् प्रदीप्त (अग्ने) आहवनीय अग्नि ' हम प्रधानतः तुम्हारे उद्देशसे वा तुमहीको लक्ष करके (अभ्यागन्म) ग्रामान्तरसे आये हैं, कारण कि तुम (विश्ववेदसम्) विश्वके सब चरित्र जानते हो वा विश्वही तुम्हारा धन है तुम हमारे घरका समस्त वृत्तान्त जानते हो सर्वज्ञ हो तथा (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (वसुवित्तमम्) अत्यन्त धनके प्राप्त करानेवाले हो. कारण कि तुम अतिऐश्वर्यवान् हो हे अग्ने (द्युम्नम् सह) धन अन्न बलके सहित हमारे निकट (अभिआयच्छस्व) आइये हममें बल और यश स्थापित कीजिये ॥ ३८ ॥

[पक्षान्तरमें परमात्माकी प्रार्थना भी अग्निरूपसे जाननी ।]

प्रमाण-"द्युम्नम् द्योततेर्यशो वान्नं वा"-[निरु० ५. ५] "सह इति बलनाम"-[निघं० २, ९] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १।

अयमग्निर्गृहपतिर्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः ॥
अग्ने गृहपते भि द्युम्नमभि सहऽआयच्छस्व ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअयमग्निरित्यस्य आसुरिर्ऋ० । न्यङ्कुसारिणी बृहती० । गार्हपत्याग्निर्दे० । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ३९ ॥

[जिसका दूसरा पाद बारह अक्षरका तीन आठ अक्षरके हों वह न्यङ्कुसारिणी बृहती होतीहै । यहां तीसरा नौ अक्षरका है भुरिग्बृहतीभी है.]

विधि–(१)अनन्तर इस मंत्रसे गार्हपत्योपस्थान करै । मन्त्रार्थ–(अयम्) यह गार्हपत्यः)गार्हपत्य (अग्निः) अग्निही (गृहपतिः) हमारे घरका अधिपति है (प्रजायाः) (पुत्रपौत्रादिके अनुग्रह करनेको (वसुवित्तमः) प्रभूतऐश्वर्यवान् है वा धनयुक्त है (गृहपते) गृहपालक (अग्ने) हे अग्निदेवता ! आप (द्युम्नम्) धनको यश को (अभि) सब ओरसे और (सह अभि) बलको भी सब प्रकारसे (आयच्छस्व) दीजिये ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मन्त्र १ ।

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान्पुष्टिवर्द्धनः ॥ अग्ने पुरीष्याभिद्युम्नमभिसहऽआयच्छस्व ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअयमग्निरित्यस्य मन्त्रस्य आसुरिर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छं० । दक्षिणाग्निर्देव० । दक्षिणाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ४० ॥

विधि––(१) अनन्तर इस मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान करै मंत्रार्थ–अयम्) यह (अग्निः) दक्षिणाग्नि (पुरीष्यः) पशुओंका हितकारी (रयिमान्) धनी (पुष्टिवर्द्धनः) पुष्टिका बढ़ानेवाला है उसकी प्रार्थना करता हूं (पुरीष्य) हे पशुओंके हितकारी (अग्ने) दक्षिणाग्नि ! (द्युम्नम् अभि) सब ओरसे धनको (सहअभि) सब ओरसे बलको (आयच्छस्व) दीजिये ॥ ४० ॥

प्रमाण–"पशवो वै पुरीषम्"–इति श्रुतेः ।

कण्डिका ४१–मन्त्र १ ।

गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रतऽएमसि ॥ ऊर्जं बिभ्रद्वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐगृहामेत्यस्यआसुरिर्ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । वास्तुरग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४१ ॥

विधि–(१) अनन्तर आगेकी तीन कण्डिकाओंसे जप कर ग्रामान्तरसे आया हुआ घरमें प्रवेश करै [का० ४, १२, १२]

मंत्रार्थ-(गृहाः) हे गृहो ! वा गृहके अधिष्ठात्रीदेवताओ ! तुम (मा) मत (बिभीतः) डरो अर्थात् पालक यजमान घरसे बाहर गया है ऐसा जानकर मत डरो (माच) और मत (वेपध्वम्) कांपो. कदाचित् कोई शत्रु आकर घरविनाश करे इस भयसे मत कांपो जिस कारणसे हम (ऊर्ज्जम्) बलको (बिभ्रतः) धारण करनेवाले अक्षीण तुम्हारे निकट (एमसि) प्राप्त हुएहैं जैसे तुम बलयुक्त हो उसी प्रकार मैं भी (उर्ज्जम्) बलको (बिभ्रत्) धारण करताहुआ (सुमनाः) श्रेष्ठमनवाला (सुमेधाः) श्रेष्ठ बुद्धिसे युक्त (मनसा) दुःखरहित मनसे (मोदमानः प्रसन्न हुआ तुम (गृहान्) घरोंमें (ऐमि) प्राप्त हुआ हूं ॥ ४१ ॥

भाव-इन मंत्रोंको जपकर घरमें आनेसे यजमानको सदा मंगल होता है तथा घरसे कुटुम्बियोंका भी लक्ष्य है ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

येषा॑मुद्ध्येति॑ प्रवस॒न्येषु॑ सौमन॒सो ब॒हुः ॥ गृहानु॑प॑ह्वयामहे॒ ते नो॑ जानन्तु जान॒तः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येषामित्यस्य शंयुर्ऋ० । अनुष्टुप्० । वास्तुपतिरग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(१)(प्रवसन्) देशान्तरमें जाता हुआ यजमान (येषाम्) जिन गृहोंकी कुशल (अध्येति) चाहता है वा जिनको स्मरण करता है तथा(येषु)जिन गृहोंमें (बहुः)यजमान बहुत (सौमनसः) प्रीति करता है हम उन (गृहान्)गृहोंको(उपह्वयामहे) प्रीतिसे आह्वान करते हैं अर्थात् गृहके अधिष्ठात्री देवता हमारे निकट आवे [लक्षणा] (ते) वे घरके अधिष्ठात्री देवता हमारेद्वारा बुलाये हुए (जानतः)हमारे उपकारको जानते (नः) हमको (जानन्तु) यह कृतघ्न नहीं है ऐसा जाने ॥४२॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वयः॑ ॥ अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ॥ क्षेमा॑य वः॒ शान्त्यै॒ प्रप॑द्ये शि॒वꣳ श॒ग्मꣳ शं॒योः शं॒योः ॥४३॥[३]

ऋष्यादि-(१) ॐ उपहूता इत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋ० । भुरिग्जगती छं० । वास्तुपतिर्दे० । जपे वि० । (२) ॐ क्षेमायेत्यस्य शंयुर्बार्हस्पत्य ऋषिः । यजुश्छं० । वास्तुपतिर्देवता । गृहप्रवेशे वि० ॥ ४३ ॥

मंत्रार्थ-(१) (इह) यहां (नः) हमारी (गृहेषु) गृहोंमें (गावः) गौएं (उपहूताः) हमारी अनुज्ञासे सुखसे ठहरें (अजावयः) बकरी भेड़ आदि (उपहूताः) हमारी आज्ञासे सुखपूर्वक रहो (अथ) और (अन्नस्य) अन्नसम्बन्धी (कीलालः) रसविशेष (उपहूतः) हमारे घरोंमें समृद्ध हो ऐसी तुमसे प्रार्थना की थी १।

विधि-(२) फिर अगला मंत्र पढ घरमें प्रवेश करे [का० ४, १२, २३]

मन्त्रार्थ-हे गृहो! (क्षेमाय)विद्यमान धनकी रक्षणरूप क्षेमकामनाके निमित्त(शान्त्यै) अपने सम्पूर्ण अरिष्टशान्तिके निमित्त (वः) तुम्हारे समीप (प्रपद्ये)प्राप्त होता हूं (उशंय्योः) सब सुखोंके साधनोंके इच्छा करनेवाले मुझ यजमानका (शिवम्) कल्याण हो तथा (शंय्योः) परलोकके सुख चाहनेवाले मुझ यजमानका पारलौकिक (शग्मम्) सुख वा मंगल प्राप्त हो अर्थात् इन गृहोंमें गृहस्थाश्रमधर्म करते हुए मुझको उभयलोकमें कल्याणकी प्राप्ति हो ॥ ४३ ॥

प्रमाण-"कीलाल इत्यन्ननामसु पठितम्"-[निघं० २, ७] "शंयोः शमिति सुखनाम" [निघं० ३. ६. १९] "इदंयुरिदं कामयमान इति"-[निरु० ६, ३१] "शिवं शग्ममिति द्वे सुखनामनी"-[निघं० ३, ६, १८-२२]

आशय-परमात्माकी आज्ञा है कि द्विजाति जब कहीं घरसे बाहर जाय तब इस प्रकार अग्निकी प्रार्थना उपस्थानादि करे और जब आवैं तब भी यही विधान करे पीछे किसीसे साक्षात् करे परंतु काल ऐसा कराल है कि आते जाते देवताओंको अब प्रणामभी नहीं होता ॥ ४३ ॥

इत्युपस्थानमन्त्राः समाप्ताः ।

अथ चातुर्मास्यमन्त्राः ।

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः ॥ करम्भेण सजोषसः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रघासिन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । गायत्री छं० । मरुतो दे० । मरुदाह्वाने विनि० ॥ ४४ ॥

चातुर्मास्य नाम यज्ञके चार पर्व हैं । वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय उनमें वैश्वदेव और शुनासीरीयका इस स्थलमें उपदेश नहींहै अवशेष दोमें प्रथमका विधान करते हैं ।

विधि-(१) वरुणप्रघास नाम दूसरे पर्वके अनुष्ठानमें दक्षिण और उत्तर दोनों वेदियोंमें जब आहुतिप्रदान होचुके तब प्रतिप्रस्थाता यजमानकी पत्नीको

लाकर उससे प्रश्न करै कि तुम्हारा धर्म पूर्ण है कि नहीं यह सत्य कहो उसके सत्य कथन करनेपर ऋत्विक् यह मंत्र पढैं [का० ५, ५, १०]

मन्त्रार्थ–(रिशादसः) शत्रुकृतहिंसाको दूर करनेवाले (करम्भेण) दधिमिश्रित सक्तुके साथ (सजोषसः) प्रीति करनेवाले (च) तथा (प्रघासिनः) प्रघासनाम हविके भक्षण करनेवाले पापहारी (मरुतः) हे मरुद्गण (हवामहे) हम आपको बुलाते हैं ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मन्त्र १ ।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ॥ यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे स्वाहा ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐयद्ग्रामेइति प्रजा० ऋ० । स्वराडनुष्टुप्छं० । मरुतो देवता । दक्षिणाग्नौ करम्भपात्रहवने वि० ॥ ४५ ॥

विधि–यजमान और यजमानकी पत्नी दोनों एकत्र होकर करम्भ (दधिमिश्रित सक्तु) पूर्ण कितने एक करंभपात्र शूर्पके द्वारा मस्तकमें धारण कर वेदीके पूर्व और पश्चिमभागमें स्थित हो इस मंत्रसे दक्षिणाग्निमें हवन करैं [का० ५, ५, ११]

मन्त्रार्थ–(यत्) जो हमने (ग्रामे) ग्राममें निवास करते ग्रामोपद्रवरूप (एनः) पाप कियाहै (अरण्ये) वनमें मृगोपद्रव रूप (यत्) जो पाप किया है (यत्) जो (सभायाम्) सभामें असत्य वा महाजनतिरस्काररूप जो पाप किया है तथा (इन्द्रिये) जिह्वा उपस्थ इन्द्रियसे यत् जो कलञ्जभक्षण तथा परस्त्रीगमनरूप पाप (आचकृम) सब प्रकार भृत्यताडनादि किया है (तत्) उस (इदम्) इस पापको (अवयजामहे) आहुतिप्रदानकर नष्ट करता हूं (स्वाहा) यह पापनाशक देवताके निमित्त हवि प्रदान किया ॥ ४५ ॥

विवरण–जितनी सन्तति हों वा जितनी इच्छा हों उतने करम्भपात्र बनावे जौकी पिट्ठीसे बाटीके आकारके बनाने चाहिये । यह पापनाशक मंत्र है इसके द्वारा अवश्य पाप दूर होताहै ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मन्त्र १ ।

मोषूणऽइन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ॥ महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमोषूणइत्यस्य अगस्त्य ऋ० । भुरिक्पंक्तिश्छं० इन्द्रमरुतौ देवते । जपे विनियोगः ॥ ४६ ॥

विधि-(१) यजमान जपकरता है [कात्या० ५, ५, १२] मंत्रार्थ-(शुष्मिन्) हे बलवान् (इन्द्र) इन्द्रदेवता ! (अत्र) इस (पृत्सु) संग्रामोंमें वर्तमान (देवैः) सख्यताको प्राप्त हुए मरुत् देवताओंके सहित तुम (नः) हमको (मा) मत विनाश करो (सु) अच्छे प्रकार रक्षा करो अर्थात् हमारी लेशमात्र भी हानि न करो (ते) तुम्हारा (अवयाः) यज्ञीय भाग अवश्य ही पृथक् (हिस्म) स्थित है (मीढुषः) वर्षाके द्वारा जगत्को सींचनेवाले (हविष्मतः) हविके योग्य तुम्हारी (यव्याः) यवकी पिट्टीके बने करम्भपात्रोंसे निष्पन्न हुई होमकी क्रियासे (महश्चित्) निश्चयही पूजा करते हैं. किञ्च (गीः) हमारी स्तुति रूप वाणी (मरुतः) आपके सखा मरुत्देवताओंको (वन्दते) नमस्कार करती है अर्थात् "नमो मरुद्भ्यः" ऐसा कहनेसे भी आप हमपर कृपा करते हो। [ऋ० । २ । ४ । १९] ॥ ४६ ॥

विवरण-कोई ऐसा भी अर्थ करते हैं कि इन्द्रशब्द इस स्थानमें मेघचालक कोई विशेष तेजहै वृत्रही मेघ है मेघोंको चालन करना ही संग्राम है। करंभपात्रद्वारा करंभ ही प्रदान किया जाता है ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १।

अक्क्रुन्कर्म्मकर्म्मकृतः सुह व्वाचामयोभुवा ॥ देवेब्भ्यः कर्म्म कृत्वास्तम्प्रेत सचाभुवः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअक्रन्नित्यस्यागस्त्य ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता यजमान और उसकी पत्नीको करम्भपात्रके होमप्रदेशसे अपने स्थानको लेजाता हुआ यजमानसे यह मंत्र पढ़े [का० ५, ५, १३] मन्त्रार्थ-(कर्मकृतः) वरुणप्रघास अनुष्ठानरूप कर्म करनेवाले ऋत्विज (मयोभुवा) सुखरूप (वाचा) स्तुतिरूप वाणीके (सह) साथ (कर्म) वरुणप्रघास अनुष्ठानरूप कर्मको (अक्रन्) करचुके (सचाभुवः) परस्पर यजमान वा पत्नीके साथ इस कर्ममें स्थित हे ऋत्विजो ! (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (कर्म) वरुणप्रघासनामक अनुष्ठान (कृत्वा) करके (अस्तम्) घरको (प्रेत) जाओ ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"मय इति सुखनाम"-[निघं० ३, ६ ७] "अस्तमिति गृहनाम"-[निघं० ३, ४, ९] ॥ ४७ ॥

विवरण-प्रतिप्रस्थाता यज्ञीयकर्मचारी, कार्यविशेषमें आह्वान करनेवाला तथा सरोष जानेकी इच्छा करनेवाले यज्ञीयव्यक्तियोंको बुलाना उसका कार्य होताहै ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मन्त्र १ ।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः॥ अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ ४८ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐअवभृथेत्यस्य और्णवाभ ऋ० । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो दे० । अवभृथस्नाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे वरुणप्रघासपर्वके अन्तमें स्त्रीपुरुषको जलमें अवभृथस्नानक्रिया करावै [कात्या० ५, ५, ३०]

मन्त्रार्थ-(१) हे (निचुम्पुण) मन्दगति जलाशय (अवभृथ) अवभृथ नाम यज्ञ ! (निचेरुः) यद्यपि तुम अत्यन्तगमनशील (असि) हो तौभी इस स्थान में (निचुम्पुण) मन्दगति हूजिये. कारण कि, (देवैः) ज्ञानेन्द्रियद्वारा (देवकृतम्) ज्ञानपूर्वक जो कुछ हविके स्वामी देवताओंका (एनः) पाप किया है. वह इस जलाशयमें (अवयासिषम्) मैंने त्याग किया । तथा (मर्त्यैः) हमारे सहायभूत ऋत्विजोंसे (मर्त्यकृतम्) यज्ञदर्शनके निमित्त आये हुए मनुष्योंका अवज्ञारूप जो पाप है सो (अव) इस जलमें त्याग किया, यह हमारा किया पाप जिस प्रकार तुम्हें प्राप्त न हो इस प्रकार मन्द गमन करो । किञ्च हे (देव) अवभृथयज्ञ ! (पुरुराव्णः) विरुद्धफल देनेवाले (रिषः) वध वा हिंसासे हमारी (पाहि) रक्षा करो ॥ ४८ ॥

भावार्थ-मनुष्योंको पापनिवृत्तिके निमित्त और धर्मकी वृद्धिके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना करनी चाहिये वही इस मन्त्रमें जलरूपसे उपदेश है हे मन्दगति जलाशय ! यद्यपि तुम वेगसे गमन करते हो. किन्तु इस समय मन्दगति अवलम्बन करो यही प्रार्थना है अर्थात् हम तुम्हारे वेगसे व्याकुलीभूत न होकर आनन्दसे स्नान करें हम विश्वास करते हैं ज्ञानेन्द्रियद्वारा ज्ञानपूर्वक जो कुछ पाप किया है आज वह अवभृथक्रियासे सम्पूर्ण ही दूर वा प्रक्षालित होजाय. एवं मनुष्यस्वभाव मुकर अज्ञानसे जो कुछ पाप कियाहै वह भी प्रक्षालित हो हे देव परमात्मन् ! आपके प्रसादसे हम अनेक प्रकारसे अनिष्टकारी पापी शत्रुसे रक्षा पावैं; सदा हमारी रक्षाकरो हमसे कोई पाप किसी प्रकार न हो इस मंत्रसे यह भी पाया जाता है कि नदी जलाशयोंमें स्नान करनेसे भी पाप दूर होता है ॥ ४८ ॥

विवरण—नदी वा किसी जलाशयके निकट गमन करके जलके मध्यमें कलशी आदि स्नानपात्र अधोमुख स्थापन कर कुछ मन्त्र पढै फिर दम्पति को स्नान कराय लौटा लावै इसको अवभृथक्रिया कहते हैं, फिर यज्ञमण्डपमें उपस्थित करके ब्रह्मा अर्थात् सर्वयज्ञीय प्रधान कर्मचारी कर्मद्रष्टा उनसे पूछे तुमने 'सुस्नात'अच्छा स्नान किया ऐसे पूछनेवालेको सौस्नातिक कहते हैं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९—मन्त्र १ ।

पूर्णा दर्वि परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ॥ वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्ज शतक्रतो ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पूर्णादर्वीत्यस्यौर्णवाभ ऋ० । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । चरुग्रहणे वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१)अब साकमेधपर्वमें कुछ कथन करते हैं । दर्वीद्वारा स्थालीसे ओदन ग्रहण करे और पहले दूसरे मंत्रसे ग्रहण करै [का० ५, ६, ३४] मंत्रार्थ-(दर्वि) अन्नप्रदानसाधनभूत काष्ठादिनिर्मितपात्र ! तुम (पूर्णा)पूर्ण स्थालीके निकटसे अन्नको ग्रहण कर और पूर्ण होकर (परा) पूर्णतासे उत्कृष्ट हो (पत) इन्द्रके प्रति गमन करो (सुपूर्णा) कर्मफलसे सम्यक् पूर्ण होकर (पुनः) फिर (आपत) हमारे निकट आओ [इन्द्रके प्रति] (शतक्रतो) हे बहुकर्मा इन्द्र ! हमारे और तुम्हारे मध्यमें पण्यव्यवहार प्रवृत्त हो अर्थात् (वस्नेन) मूल्यकी समान (इषम्) अभीष्ट हविस्वरूप अन्न (ऊर्जम्) हविर्दानस्वरूप रसविशेष (विक्रीणावहै) परस्पर वेचैं [अर्थात् मैं तुमको हविर्दान करता हूं तुम मुझे बल और पुण्य दो।] ॥४९॥

कण्डिका ५०—मन्त्र १ ।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे ॥ निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देहिम इत्यस्यौर्णवाभ ऋषिः । भुरिगनुष्टुप् छन्दः । इन्द्रो देव० । हवने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१)इस मंत्रसे आहुति प्रदान करै [का०५,६,३८][मनमें यह कल्पना करै कि इन्द्र कहते हैं]मंत्रार्थ-हे यजमान ! तुम (मे) मुझ इन्द्रके निमित्त (देहि) प्रथम हविप्रदान करो (ते) तुझ यजमानके निमित्त (ददामि) पीछे अपेक्षित हविप्रदान करूंगा (मे) मुझ इन्द्रके निमित्त (निधेहि) प्रथम तू हविसंपादन कर (ते)

फिर मैं तुझ यजमानके निमित्त (निदधे) अपेक्षितफलको प्रदान करूंगा [यजमान कहता है] (निहारम्) मूल्यद्वारा क्रेतव्य पदार्थ अर्थात् हे इन्द्र मूल्यद्वारा क्रेतव्यरूप फल (मे) मेरे निमित्त (हरासि) प्रदान कीजिये (निहारम्) मूल्यभूत हविको (ते)तुम्हारे निमित्त (निहराणि) अत्यन्त समर्पण करता हूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार कृतकार्य हो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मन्त्र १ ।

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाऽअधूषत ॥ अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजा न्विन्द्र ते हरी ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्षन्नित्यस्य गोतम ऋषिः । विराट्पंक्तिश्छं० इन्द्रो देवता । पितृयजने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) साकमेधयज्ञमें पितृयज्ञकर्म करै इसके पश्चात् आहवनीयउपस्थान ५२ कण्डिकासे करना [का० ५. ९, २१] मंत्रार्थ-इस पितृयज्ञकर्ममें जो पितर हैं वे हमारे दिये हविस्वरूप अन्नको (अक्षन्) खाचुके (हि) जिसकारणसे कि (अमीमदन्त) प्रसन्नताको प्राप्तहुए और हमारी भक्तिको जानकर (प्रियाः) प्रीतियुक्त हो (अधूषत) अपना शिर कम्पित करतेहुए अथवा (प्रियाः) अपने शरीरको (अवाधूषत) कम्पितकरतेहुए किञ्च (स्वभानवः) स्वयं दीप्तियुक्त (विप्राः)वे बुद्धिमान् शास्त्रादिके ज्ञाता (नविष्ठया) नूतन (मती) बुद्धिसे युक्त हो (अस्तोषत) स्तुति करतेहुए अहो वडा स्वादु अन्न हमको दिया यह स्तुति है अर्थात् हमारी आहुतिआदिको स्वीकार कर कृतज्ञता प्रकाश की इस कारण (इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम भी सन्तुष्ट होकर इन पितृगणोंके सहित सम्मिलनके उद्देशसे (नु) शीघ्रही (ते) तुम अपने (हरी) हरितवर्णके दोनों घोडोंको (आयोज) जानेके निमित्त रथमें जोतो अर्थात् पितरोंकी तृप्तिसे सन्तुष्ट हो तुम्हें आना चाहिये ॥ ५१ ॥

तत्त्वविचार-समुद्रसे जल आहरण करनेसे इनका नाम हरि और इनकी अतिशीघ्र गति है, इन्द्रनामक तेजविशेषको वहन करनेसे अश्व कहाते हैं गतिकार्यका प्रधान उपयोगी मनही इस स्थलमें रथ है इसकारण ही मनका नामान्तर मनोरथ प्रसिद्ध है ऐसा तत्त्वविवेचक कहते हैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका-५२ मंत्र १ ।

सुसँन्दृशन्त्वा व्यम्मघवन्वन्दिषीमहि ॥ प्रनूनम्पूर्णवन्धुरस्तुतो यासि वशाँ २॥ऽअनुयोजान्विन्द्र ते हरी ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुसन्दृशमित्यस्य गोतम ऋ० । विराट्पंक्ति० । इन्द्रो देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे आहवनीय उपस्थान करना । मंत्रार्थ-हे (मघवन्) परमैश्वर्यवान् इन्द्र ! (वयम्) हम (सुसन्दृशम्) शोभन दर्शन वा अच्छीप्रकार देखनेवाले, अथवा समदर्शी अनुग्रहदृष्टिसे सबके देखनेवाले (त्वा) आपकी (वन्दिषीमहि) प्रार्थना करते हैं इस प्रकार हमसे (स्तुतः) स्तुति किये हुए तुम (वशान्) कामना करते हुए यजमानोंको (अनु) देखकर (नूनम्) अवश्य (प्रयासि) आओगे कारण कि, तुम (पूर्णवन्धुरः) हमारी कामना परिपूर्ण करनेके निमित्त पूर्णवन्धुर[1] हो [रथनीड अर्थात् रथसे संयुक्त एक रक्षित स्थान] अर्थात् स्तुतिकरनेवालोंको देनेयोग्य धनोंसे सम्पूर्ण रथनीड होकर जाते हो सो हे (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (ते) अपने वे (हरी) घोडे (आयोज) रथमें जोतो [ऋ० १ । ६ । ३] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र १ ।

मनो न्वाह्वामहे नाराशँ्सेन स्तोमेन ॥ पितॄणाञ्च मन्मभिः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमनोन्वित्यस्य बन्धुर्ऋ० । अतिपादनिच्यृद्गायत्री छं० । मनो देव० । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१) गार्हपत्यका उपस्थान करै [का० ५, ९, २२] मंत्रार्थ-हम (नाराशंसेन) मनुष्योंके योग्य अथवा मनुष्यसम्बन्धी (स्तोमेन) स्तोत्रोंसे (च) और (पितॄणाम्) पितरोंके (मन्मभिः) आकांक्षितस्तोत्रोंसे (नु) शीघ्र (मनः) मनको वा मनके अधिष्ठात्री देवताको (आह्वामहे) आह्वानकरते हैं [अर्थात् पितृयज्ञ अनुष्ठानमें जो हमारा मन पितृलोकको गया था उसे बुलाते हैं ॥] [ऋ० । ८ । १ । १९] ॥ ५३ ॥

---

१ बन्धनहेतु ।

विशेष-स्तोत्र दो प्रकारके होते हैं एक देवशंस और दूसरा नाराशंस जिनसे अन्तस्थदेवता इन्द्रादि वा द्युलोकस्थित सूर्यादिककी प्रशंसा प्रकाशको प्राप्त हो वह देवशंस, और जिससे नरलोकका शंसन हो वह नाराशंस बोलाजाय, मन नरलोककी शरीरान्तरी वस्तु इस मन्त्रसे प्रकाश पाती है इसकारण यह नाराशंस कहीजाती है ॥ ५३ ॥

कण्डिका-५४ मंत्र १ ।

आनऽएतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ॥ ज्योक् च सूर्य्यं दृशे ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआनऽएत्वित्यस्य बन्धुर्ऋषि० । विराड्गायत्री छं० । मनो देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ- (नः) हमारा (मनः) मन (क्रत्वे) यज्ञसंकल्पके निमित्त (दक्षाय) कर्मानुष्ठानमें उत्साहके निमित्त (ज्योक्) चिरकालतक (जीवसे) जीवनके निमित्त (सूर्यन्दृशे) चिरकालतक सूर्यके दर्शनके निमित्त (च) भी (आएतु) प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

भावार्थ-हमारे मन एकाग्र होकर यज्ञानुष्ठान निर्विघ्न समाप्त करैं, सब कार्यमें दक्षता प्रकाश करै, अधिक जीवनधनके उपयुक्त होकर और जगत्में सुर्य्यलुभ्य करै परमात्माकी आज्ञा है कि जब जो कार्य करो सब ओरसे मन हटाकर उसीमें लगाओ ॥ ५४ ॥

प्रमाण-"तदेव मनसा कामयत इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स तव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृध्यते स दक्षः" इति श्रुतेः ॥ ५४ ॥

कण्डिका-५५ मंत्र १ ।

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः ॥ जीवं व्रातं सचेमहि ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपुनर्न इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । निचृद्गायत्री छं० । मनो देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(१)(पितरः) हे पितरो! आपकी अनुज्ञासे (दैव्यः) देवसम्बन्धी(जनः) पुरुष (नः) हमारे (मनः) पूर्वोक्त मनको (पुनः) फिर (ददातु) इस कार्यके निमित्त दे अर्थात् प्रेरणा करै इस प्रकार अनुष्ठान कर हम आपके प्रसादसे (जीवम्) जीवनवन्त (व्रातम्) पुत्र पशु आदि गणको (सचेमहि) हम सेवन करैं ॥ ५५ ॥

अथवा–हमारा मन सब प्रकार पितरोंके अर्पित है उनकी प्रेरणासे हमारे निकट प्राप्त हो जिससे संसारकार्य करनेमें समर्थ हों [ऋ०।८।१।१९] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६–मन्त्र १ ।

वयꣳसोमव्रतेतवमनस्तनूषुबिभ्रतः ॥ प्रजावन्तः सचेमहि ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवयमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । दक्षिणाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ५६ ॥

विधि–(१) अनन्तर इस मंत्रसे दक्षिणाग्निका उपस्थान कर जप करै ।
मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम ! [पितृयज्ञका सोम देवता है सोमाय पितृमते स्वधा, इस मंत्रसे हवि दीजातीहै] (वयम्) हम यजमान (तव) तेरे (व्रते) व्रतसम्बन्धी कर्ममें वर्तमान हुए (तनूषु) आपके शरीरावयवमें वा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिमें (मनः) मन (बिभ्रतः) धारणकरते वा लगायेहुए आपहीकी कृपासे (प्रजावन्तः) पुत्रपौत्रादिसे युक्त हुए हम (सचेमहि) सेवन करते हैं वा सदा तुम्हारे सम्बन्धवाले हों ॥ ५६ ॥

आशय–हे चंद्र ! अनेक प्रकारके सुखदेनेवाले हम आपकी उपासनामें प्रवृत्त हुए हैं तुम्हारे प्रसादसे हम मनस्वी होकर प्रजा पशुसम्पत्ति अनेक सुखभोग करैं । यह पितृयाण मार्ग है चन्द्ररूपपरमात्माकी प्रार्थना है । "तदु चन्द्रमाः" वही चन्द्रमा है [यजु०] [ऋ० ८ । १ । १९] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र २ ।

एषते रुद्रभागःसहस्वस्राम्बिकयातञ्जुषस्वस्वाहैषतेरुद्रभागऽआखुस्तेपशुः ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐएषत इत्यस्य मन्त्रस्य बन्धुर्ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं०।रुद्रो दे० । अवदानहोमे वि० । (२) ॐ एष त इत्यस्य मन्त्रस्य याजुषी जगती छं० । रुद्रो देवता । पुरोडाशनिर्वपणे वि० ॥ ५७ ॥

विधि–(१) साकमेधके अङ्गभूत पितृयज्ञके शेषांश त्र्यम्बकयाग [चन्द्रयाग] आरम्भ होता है उसमें इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे अवदान हवन करै । कात्या० ५, १०, १२] मन्त्रार्थ–(रुद्र) विरोधियोंको पापियोंको अधर्मियोंको अन्यायियोंको उनके कर्मका फल देकर रुवानेवाले हे रुद्र देवता ! (ते) तुम्हारी (स्वस्रा) भगिनी (अम्बिकया) अम्बिकाके साथ (एषः) यह हमसे दिया

हुआ पुरोडाश (भागः) स्वीकार करनेके योग्य है (तम्) इस उस पुरोडाशको (जुषस्व) सेवन करो १ । विधि-(२) यजमानके जितने पुत्र पौत्रादि पुरुष हों प्रतिपुरुषका एक एक पुरोडाश निर्वपण कर फिर उनसे अधिक एक और पुरोडाश निर्वपण करै, उसे अतिरिक्त कहते हैं उसको न होमैं किन्तु मूसेके बिलके निकट जो मट्टी मूसेकी खोदी है उसपर 'एष ते भागः' इस मंत्रसे रखदे [कात्या० ५, १०, १३, तथा ५, १०, १, २] मन्त्रार्थ-(रुद्र) हे रुद्र (एषः) हमारे द्वारा अवकीर्ण [बखेरा हुआ] यह पुरोडाश (ते) तुम्हारा (भागः) सेवनीय है तथा (ते) आपका बिलमध्यमें रहनेवाला (आखुः) मूसा (पशुः) रक्षणीय पशु है इस कारण शेष भाग इसको भी देते हैं ॥ ५७ ॥

विशेष-अम्बिका नाम रुद्रकी बहन है उसके साथ रुद्रदेव विरोधियोंके मारने की इच्छा करते हैं सो यह क्रूरदेवता अम्बिकाके साथ उसे मारते हैं अर्थात् अम्बिका शरद्रूपको प्राप्त हो जरादिक उत्पन्न कर उस विरोधीको मारती है, रुद्र, अम्बिकाकी उग्रता इस हविसे शान्त होती है [२, ६, २, ९] केवल तत्त्ववादी कहते हैं रुद्रशब्द मेघगर्जनका आदिकारण विद्युदग्निविशेष है । अम्बिकाशब्दका प्रकृत अर्थ गमनशील अर्थात् जगत् है यही शरद्रूपसे रुद्रकी भगिनी होकर कार्यसाधन करती है रुद्राध्यायमें मेघऋतु आदिमें भी रुद्रका निवास लिखा है इससे यह भी होसक्ता है मेघनिर्याण होनेसे शरदृतु प्राप्त होती है वही उनकी भगिनी रूप है, प्राचीन कालमें शरत्के अन्तसे ही नवीन वर्ष प्रारम्भ होता था और एक वर्ष बीचनेसे शरीरमें परिवर्तन होता है वही जरा है, अथवा शरद्में वर्षाके उपरान्त एक नवीन ज्वर प्रारंभ होता है जो बडा कष्ट करता है, इसको ही अम्बिकाकृत जरा कहते हैं, इसमें बहुधा मनुष्य असावधानीसे मृतक होजाते हैं, इसके निमित्त हवन अवश्य करना चाहिये और इन्हीं रोगोंकी शान्तिके निमित्त चातुर्मास्यके अन्तर्गत यह भी हवन है, इस समय भी शरत्काल नवदुर्गोंमें जो हवन होता है वह अम्बिका देवीका ही विधान है परन्तु घरघर होनेसे बहुत उपकार होसक्ता है. इस मंत्रमें बडा गूढतत्त्व है बुद्धिमान् इसमेंसे बहुत कुछ जानसक्ते हैं, इस कारण दिग्दर्शन मात्र लिखा है ।

प्रमाण-तित्तिरिः"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकयेत्याह शरद्वा अस्याम्बिका सा भिया एषा हिनस्ति यꣳ हिनस्ति तयैवैनꣳ शमयति" इति ॥ १ ॥ "रुद्रो रौतीति रुतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा यदरुदत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति काठकं यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमिति हारिद्रविकम्" [निरु० १० । ५] [अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा तयास्यैष सह भागः" इति [श० २ । ६ । २ । ९] पशु मूषकको मृत्तिकापर भाग रखने और उसे रुद्रके समर्पण करनेसे यजमानकी सन्तानको रुद्रभय नहीं होता ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १।

अवरुद्रमदीमह्यवदेवन्त्र्यम्बकम्॥ यथानोवस्यसस्करद्यथानःश्रेयसस्करद्यथानोव्यवसाययात्॥५८॥

ऋष्यादि-(१) ॐअवरुद्रमित्यस्य बन्धुर्ऋषिः। विराट्पंक्तिश्छंदः। रुद्रो देवता। जपे वि० ॥ ५८॥

विधि-(१) आखूत्करस्थानसे आकर जप करै। मंत्रार्थ-(रुद्रम्) पापियोंको रुलानेवाले (त्र्यम्बकम्) तीन नेत्र, वा भूलोक अन्तरिक्षलोक द्युलोकरूप वा गमनशील वा जिनके नेत्रसे तीन लोक प्रकाशित होते हैं वा जिनके नेत्रप्रकाशसे तीन लोक आकृष्ट होते हैं अथवा तीन वेद तीन काल आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक ही जिनके नेत्र हैं ऐसे (देवम्) सर्गादिसे क्रीडाकरनेवाले शत्रुजेता प्राणियोंमें आत्मरूपसे वर्तमान द्युतिमान् स्तोत्रोंसे स्तुति किये हुए रुद्रदेवको (अव) और देवताओंसे पृथक् कर वा उत्कृष्ट जानकर (अदीमहि) सब दुःख नाश करते हैं वा उनके अनुग्रहसे अन्न भक्षण करते हैं वा त्रिनेत्र जानकर उनको भाग देते हैं (यथा) जिस प्रकार (नः) हमको वह (वस्यसस्करत्) उत्तम प्रकारसे निवास करनेवाले करैं (यथा) जिसप्रकार (नः) हमको (श्रेयसस्करत्) ज्ञातियोंमें श्रेष्ठतर करैं (यथा) जिसप्रकार (नः) हमको (व्यवसाययात्) सब कार्योंमें निश्चययुक्त करैं इस प्रकार इनका जप करते हैं [आशीर्वाद है] ॥५८॥

तत्त्वविचार-जिनकी अम्बिका भगिनी है वह त्र्यम्बक होते हैं तीनलोकमें गमन होनेसे अम्बिका विद्युदग्निविशेष रुद्रदेवताकी भगिनीस्थानीय है ॥ ५८॥

भावार्थ-तीनों कालोंमें एकरसरूप परमात्माको भजन करना सबको उचित है वह रुद्ररूपसे प्रार्थनीय है धनसम्पत्ति वही देता है तेजकी वृद्धि वही करता है ॥५८॥

कण्डिका ५९-मंत्र १।

भेषजमसि भेषजङ्गवेश्वाय पुरुषाय भेषजम्॥ सुखम्मेषाय मेष्यै॥५९॥

ऋष्यादि-(१) ॐभेषजमसीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः। स्वराड्गायत्री छं०। रुद्रो देवता। जपे वि० ॥ ५९॥

मंत्रार्थ-हे रुद्र ! आप (भेषजम्) औषधिवत् सम्पूर्ण उपद्रवके निवारण करनेवाले (असि) हो इस कारण हमारे (गवे) गौ (अश्वाय) घोडे (पुरुषाय) पुत्र पौत्र भ्राता परिजनके निमित्त (भेषजम्) सब रोग दूरकरनेको औषधि दो वा औषधिरूप प्रकाश करो तथा (मेषाय) मेष (मेष्यै) मेषी आदि पशुओंके उपद्रवरहित जीवनके निमित्त (सुखम्) सुखदायक अपना भेषजस्वरूप प्रकाश करो [इस मंत्रसे गृहपशुओंकी क्षेम प्राप्ति होती है ।] ॥ ५९ ॥

विशेष-पदार्थविद्यावाले यहां विद्युतका अर्थ करके कहते हैं. कि विद्युत् कितनी उत्कृष्ट भेषज है यह भेषजके व्यवसायी ही विशेषरूपमें जानसकते हैं ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मंत्र २ ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ॥ उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ॥ उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐत्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । वाड्ब्राह्मी त्रिष्टु-प्छं० । रुद्रो देवता । परिक्रमणे वि० । (२) ॐत्र्यम्बकमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । वाड्ब्राह्मी त्रिष्टुप् छंदः । रुद्रो देवता । कन्यायाः परिक्रमणे वि० ॥ ६० ॥

विधि-(१) जैसे पितृमेधमें पुत्रादिपुरुष अपनी वामऊरु ताडनकरके उलटी प्रदक्षिणा करते हैं तथा देवताकी सेवामें दहिनी जंघा ताडन करके तीन प्रदक्षिणा करते हैं इसीप्रकार इसमेंभी पुरुष प्रथम मंत्र जपकर तीन अग्निकी प्रदक्षिणा करते हैं [कात्या० ५, १०, १९, १६] मन्त्रार्थ-(सुगन्धि) दिव्यगन्धसे युक्त मर्त्यधर्महीन उभयलोकके फलदाता (पुष्टिवर्द्धनम्) धनधान्यादिसे पुष्टि बढानेवाले (त्र्यम्बकम्) पूर्वोक्त नेत्रत्रयसम्पन्न शिव शंकरको (यजामहे) पूजन करते हैं वह रुद्र हमको (मृत्योः) मृत्यु अपमृत्यु वा संसारके मरणसे (मुक्षीय) मुक्त करैं वा छुडावैं. जिसप्रकार (बन्धनात्) अपने बंधनसे (उर्वारुकमिव) पकेहुये कर्कटीफलकी समान अर्थात् जैसे पक्व फल अपनी ग्रन्थीसे टूटकर भूपतित होता है इस प्रकार शिवकी कृपासे जन्ममरण बंधनसे चिरमुक्त होजायँ और (अमृ-

तात्)स्वर्गरूप मुक्तिसे (मामुक्षीय) न छूटूं,अभ्युदयनिश्रेयस रूप दोनों फलसे भ्रष्ट न हूं १।विधि–(२)यजमानकी कन्या भी अगले मंत्रसे तीन परिक्रमा करैं[का०५, १०, १७] (पतिवेदनम्) पतिके प्राप्तकरनेवाले वा सम्पूर्ण गुणसंपन्न सुन्दर पतिके विधानकरनेवाले (सुगंधिम्) दिव्ययश सौरभपूर्ण धर्माधर्मके ज्ञाता (त्र्यम्बकम्) त्र्यम्बकदेव शिवको (यजामहे) पूजनकरती हैं (उर्वारुकम् इव) जैसे उर्वारुकफल (बन्धनात्) बन्धनसे छूट जाता है इस प्रकार (इतः) इस माता पिता भ्रातृ वर्गसे वा इनके गोत्रसे (मुक्षीय) छूटकर (अमुतः) विवाहउपरान्त पतिके समीपसे (मा) मत छुटाओ. आशय यह कि पिताके गोत्र और घरको छोडकर पति के गोत्र और घरमें शिवजीके प्रसादसे सदा निवास करैं २ ॥ ६० ॥

प्रमाण–"सा यदि त इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह मामुत इति पतिभ्यस्तदाह" इति श्रुतेः [२, ६, २, ४] ॥ ६० ॥

विशेष–पहला मंत्रही महामृत्युंजय कहलाता है इसको विधिपूर्वक शिवपूजन करके जप करनेसे अपमृत्यु निवारण होती है इसमें सन्देह नहीं और इस मंत्रसे भी विदित होता है कि मुक्त होकर फिर संसारमें नहीं आता [ऋ० । ५ । ४ । ३०] ॥ ६० ॥

कण्डिका–६१ मंत्र १।

एतत्ते रुद्रावसन्तेनपरोमूजवतोतीहि ॥ अवततधन्वापिनाकावसुःकृत्तिवासाऽअहिंसन्नःशिवोतीहि ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐएतत्त इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भुरिगास्तारपंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । स्थाण्वादौ वंशयष्टिसंसर्जने वि० । (२) ॐकृत्तिवासा इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । भुरिगास्तारपंक्तिश्छंदः । रुद्रो देवता । उदकोपस्पर्शने वि० ॥ ६१ ॥

[जिसके दोनों चरणोंमें बाहर अक्षर, आदिके दोनों पादोंमें आठ हों वह आस्तारपंक्ति है ।]

विधि–(१)त्र्यम्बकयागके हवनसे बचे हुए पुरोडाश (चावल जौं) आदिको बांध तृण बांसादिके बनेहुए मूति (टोकरे) नाम दो पात्रोंमें रखकर एक बांसकी लकडीके दोनों सिरोंमें उसको बांधकर कंधेपर रखकर उत्तराभिमुख कुछ दूर जाकर किसी ऊंचे स्थान वृक्ष बांसदंड अथवा वल्मीकपर जहां उसको गऊ न सूंघसकै इस मंत्रको पढकर स्थापन करै इससे गौओंको रोग न होगा [का० ५, १०,२१]

मन्त्रार्थ-हे (रुद्र) उक्तगुणसम्पन्न महादेव ! (एतत्) यह (ते) आपका (अवसम्) हविःशेषाख्यनाम भोजन है [देशान्तरको जातेहुए मार्गमें जो तडागादिके समीप बैठकर ओदनादि भक्ष्य खायाजाय उसे अवस कहते हैं](तेन) इसके साथ तुम (अवततधन्वा) हमारे विरोधियोंके निवारण होनेसे ज्या उतारेहुए धनुषको ले (पिनाकावसः) अपने पिनाक धनुषको वस्त्रमें छिपायें (मूजवतः) मूंजवान् नाम पर्वतके (परः) परभागवर्ती होकर (अतीहि) गमनकरो अर्थात् इस अपने भागको लेकर दीर्घ गन्तव्यपथ अतिक्रमण कर अपने निवासभूत मुंजवान् नाम पर्वतके शिखरपर उपस्थित हो "अथवा तुम्हारा निरन्तर विस्तृत धनुष है तुम अपने तेजसे (नाकः) अर्थात् स्वर्गपर्यन्त आच्छन्न करके गमनकरनेमें समर्थ हो तुमको किसीप्रकारकी सहायताकी आवश्यकता नहीं." [धनुष छिपाकर जानेका कारण यह कि प्राणी भयभीत न हों, अर्थात् रुद्रने अपना धनुष अब उतार लिया] १ ।

विधि-(२) वे दोनो मूर्ति वृक्षादिके ऊपर स्थापन करनेके उपरान्त वेदीके निकट आकर यजमान दूसरे मंत्रसे जलस्पर्श करे [का० ५, १०, २२, २३]

मंत्रार्थ-हे रुद्र! तुम(कृत्तिवासाः) चर्म्माम्बर धारणकिये हो वा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तर रहनेसे चर्माम्बरधारी हो (नः) हमारी (अहिंसन्) हिंसा न करते अर्थात् हमारी समस्त शारीरिक विपत्को अतिक्रम कर रक्षाके अभिप्रायसे (शिवः) हमारी पूजासे सन्तुष्ट वा कोपरहित होनेके कारण कल्याणस्वरूप होकर (अतीहि) अपने स्थानमें निवास करो वा पर्वतको अतिक्रम कर जाओ ॥ ६१ ॥

विशेष-शिवके धनुषका नाम पिनाक है गजचर्म धारण करनेसे कृत्तिवास है पौराणिक पदार्थविद्यावाले कहतेहैं पर्वतके ऊपर मेघोंके उदय होनेसे सदा इन्द्रधनुष देखाजाता है इसकारण वहां ही रुद्रका निवासस्थान कथनकिया है विद्युत् सम्पूर्णशरीरके चर्म्मान्तरवर्ती है इस कारण रुद्रको विद्युत्में होनेसे कृत्तिवास और महादेव कहा है ॥ ६१ ॥

"पं० दयानन्दने रुद्रका अर्थ यहां योधाका कियाहै सो सर्वदा हास्यसूचक है और त्याज्य है कारण कि कोई प्रमाण नहींहै ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

त्र्यायुषञ्जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ॥ यद्देवेषु त्र्यायुषन्तन्नोऽअस्तु त्र्यायुषम् ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐत्र्यायुषमित्यस्य नारायण ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । रुद्रो देवता । वपनादौ जपे वि० ॥ ६२ ॥

[जिसके चार पाद सतरह अक्षर हों वह उष्णिक् छंद है ।]

विधि-(१) अनन्तर यजमान मस्तक मुण्डित करावें क्षौरकर्मके समयके प्रथम इस मंत्रको जपै [कात्या० ५, २, १६] मंत्रार्थ-हे रुद्र ! (जमदग्नेः) जमदग्नि ऋषिकी जो (त्र्यायुषम्) बाल्य यौवन वृद्धावस्था हैं तथा (कश्यपस्य) कश्यपप्रजापतिकी जैसी (त्र्यायुषम्) तीनों अवस्था हैं (यह) जैसी (देवेषु) देवगणकी (त्र्यायुषम्) अवस्थाके चरित्र हैं (तत्) वह सब (त्र्यायुषम्) त्र्यायुष (नः) मुझ यजमानको (अस्तु) प्राप्त हो अर्थात् इन पूर्वोक्त महात्माओंकेसे चरित्र हमारे होजायं ॥ ६२ ॥

प्रमाणानि -"चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः" [श० । ८ । १ । २ । ३ ।] "कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः" इति [श० ७ । ४ । १ ।] भाव-इन प्रमाणोंके अनुसार नेत्र जमदग्नि और कश्यप कूर्मरूप ईश्वर है तो ईश्वरका तेज हमारी नेत्र इन्द्रियोंमें आवे. और योगके बलसे अनन्तकालतक हम जियें, वेदमें तीनों कालका कथन है इस कारण प्रथम मंत्रके अर्थमें भी संदेह नहीं है. वैदिक ऋषि नित्य है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र २ ।

शिवोनामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥ निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय ॥ ६३ ॥ १० [७]

इति संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐशिवो नामासीत्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिग्जगती छं० । क्षुरो देवता । क्षुरग्रहणे वि० । (२) ॐनिवर्तयामीत्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिग्जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । वपने वि० ॥ ६३ ॥

विधि-(२) प्रथम मंत्रसे लोहक्षुर ग्रहण करे [का० ५, ३, १७] मंत्रार्थ-सर्वव्यापी होनेसे क्षुरमें व्याप्त क्षुराधिष्ठित देव ! तुम (नाम) नामकरके (शिवः) शान्तस्वभाव कल्याणकारक (असि) हो (स्वधितिः) वज्र (ते) तुम्हारा (पिता) पालक रक्षक है (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है (मा) मुझको (मा) मत (हिंसीः) आघात करना १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पढ़कर मुण्डन करे [का० ५, २, १७] मंत्रार्थ-हे यजमान ! इस क्रियाके फलसे (आयुषे) जीवनके निमित्त (अन्नाद्याय) अन्नादि भक्षणके निमित्त (प्रजननाय) बहुतप्रजा (रायस्पो-

पाय) बहुत धनपुष्टि (सुप्रजास्त्वाय) उत्कृष्ट प्रजननसामर्थ्य (सुवीर्य्याय) प्रशंसनीय बलकी प्राप्तिके निमित्त (निवर्तयामि) मुण्डन करताहूं ॥ ६३ ॥ *

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयवाजसनेयिसंहितायां पण्डित ज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्र-भाषाभाष्ये अग्न्याधानादिपित्र्यान्तस्तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽध्यायः ४.

एदंद्वे, महीनाम्पयश्चतस्र, आकूत्या, ऋक्सामयो,-र्द्विकौ, व्रतंकृणुतषडे,-षतेचतस्रो,-वस्व्यसितिस्र, एषतेद्वे, शुक्रन्त्वाच्च तस्रो,-द्दित्यास्त्वगष्टौ, दशसप्तत्रिᳫशत् ॥ १० ॥

अग्निष्टोम.

कण्डिका १-मंत्र ४।

एदमगन्मदेवयजनम्पृथिव्यायत्रदेवासोऽअजुषन्तविश्वे ॥ ऋक्सामाभ्याᳫसन्तरन्तोयजुर्भीरायस्पोषेणसमिषामदेम ॥ इमाऽआपःशमुमेसन्तुदेवीरोषधेत्रायस्वस्वधितेमैनᳫहिᳫसीः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐएदमगन्मेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराड्ब्राह्मी जगती छं० । देवयजनदेवता । यज्ञशालाप्रवेशे वि० । (२) ॐआप इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मीजगती छंदः । आपो देवता । केशानामद्रीकरणे वि० । (३) ॐओषध इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मी पं० छं० । औषधिर्देवता । उदपात्रे क्षुरच्छिन्नकुशाग्रप्रक्षेपणे वि० । (४) ॐस्वधित इत्यस्य प्र० ऋ० । विराड्ब्राह्मी पं० छं० । क्षुरो देवता । क्षुरेण केशश्मश्रुवपने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) आधान अग्निहोत्र अग्न्युपस्थान चातुर्मास्यके मंत्र तीसरे अध्यायमें कथन किये अब चौथे अध्यायसे आठवें की ३२ बत्तीस काण्डिकापर्यन्त अग्नि-

* अथवा हे रुद्र तुम 'स्वधिति' अविनाशी होनेसे वज्रमय हो जिन आपका (शिवः) शिव नामहै सो आप मेरे (पितासि) पिताहो आपको प्रणाम है तुम मुझे मत मारना मैं तुमको अन्न प्रजा-तुवीर्य और धन प्राप्तिके अर्थ जपकर आपके आश्रयसे सब दुःखोंको दूरकरताहूं ॥ ६३ ॥

होमके मंत्र कथन कियेजाते हैं । सो चौथे अध्यायमें यजमानके संस्कारपूर्वक सोमक्रयमंत्र प्रधानतासे कहे जातेहैं सो आदिमें यजमान सोलह ऋत्विजोंको वरण करके अरणीमें अग्निको समारोपण कर प्रथम मंत्रसे यज्ञशालामें प्रवेश करे [का०७।१।३६] मन्त्रार्थ–हम(इदम्)इस(पृथिव्याः)पृथ्वीसम्बन्धी (देवयजनम्) देवयजनस्थानमें (आअगन्म)प्राप्तहुए हैं (यत्र)जिस देवयजनस्थानमें (विश्वेदेवाः)सम्पूर्णदेवता(अजुषन्त)प्रीतिसे स्थित हुए हैं (ऋक्सामाभ्यां)ऋक् और सामके मंत्रोंद्वारा(यजुर्भिः)तथा यजुर्मंत्रोंसे (सन्तरन्तः) समुद्रवद्गम्भीर सोमयागको सम्पादन करतेहुए (रायः) धनकी (पोषेण) पुष्टि और (इषा) अन्नद्वारा (सम्मदेम) प्रसन्न हों अर्थात् बल पुष्टिसाधन अतुल ऐश्वर्यलाभ करके तृप्त हों१।विधि–(२) अनन्तर यजमानके मस्तकके केश और श्मश्रुका मुण्डन हो उससे पहले इस दूसरे मंत्रसे जलद्वारा यजमानके बाल भिजोये जाय [का०७।२।९] मंत्रार्थ–(देवीः)दीप्तिमान् निर्मल (आपः) जल (मे) मेरे निमित्त (शमु) निश्चय कल्याणकारी (सन्तु)हों ।२॥विधि–(३) तीसरे मंत्रसे अचिरोत्पन्न कुशाओंको छेदनकर जलमें डाले क्षुरकी तीक्ष्णताकी परीक्षा करे [कात्या० ७, २, १०, १०] मंत्रार्थ–(ओषधे) हे कुशतृणदेवता ! तुम यजमानकी (त्रायस्व) क्षुरसे रक्षा करो [अर्थात् कुशद्वारा परीक्षित होकर यह क्षुर यजमानको कष्टकारी न हो] ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रको पढलेनेपर क्षौर करें । मंत्रार्थ–(स्वधिते) हे क्षुर ! (एनम्)इस यजमानको (माहिंसीः) मत मारो अर्थात् कष्ट न देना ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र २ ।

आपोऽअस्मान्मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु । विश्वꣳहि रिप्रम्प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरापूतऽएमि ॥ दीक्षातपसोस्तनूरसि तान्त्वा शिवाꣳशग्माम्परिदधे भद्रंवर्णम्पुष्यन् ॥ २ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐआपइत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । स्वराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । अप्सुस्नात्वाद्भ्य उद्गमने वि० । (२) ॐदीक्षातपसोरित्यस्य प्र० ऋ० । स्वराड्ब्राह्मी त्रि० छं० । वासो देवता । वासःपरिधाने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१)प्रथम मंत्रसे स्नान कर जलसे उद्गमन करे(का०७।२ । १९)मन्त्रार्थ–(मातरः) माताकी समान जीवनरक्षक (आपः)जल(अस्मान्)हमको (शुन्धयन्तु) पवित्र करें अर्थात् क्षौरकर्मनिमित्त अपहतिको दूर करें (घृतप्वः) क्षरित जलोंसे पवित्र

करनेवाले जलदेवता (घृतेन)क्षरित जलसे (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करें अथवा हम घृतसे परिप्लुत हुए हैं हमको जल पवित्र करें (हि) निश्चयही (देवीः) द्युतिमान् निर्मल (आपः) जल (विश्वम्) सम्पूर्ण (रिप्रम्) पापको वा मलको (प्रवहन्ति) दूरकरते हैं अर्थात् मस्तकके ऊपर दीयमान वा वहमान यह जलधारा हमारे सब पाप दूर करें, मैं (शुचिः) स्नानसे शुद्ध (आपूतः) स्नानादिसे तथा आचमनसे वाहर भीतर पवित्रहुआ (आभ्यः) इनसे (उतइत्-एमि) इस जलसे उत्थान करता हूं. १। विधि–(२) दूसरे मंत्रसे क्षौमवस्त्र धारण करै अथवा घरकी धुलीहुई पवित्र धोती धारण करै नीवी न करै. [का० । ७ । २ । १६ । १९] मंत्रार्थ–हे क्षौम ! तुम (दीक्षातपसोः) दीक्षणीय इष्टि तथा उपसदइष्टि दोनों प्रकारके यज्ञके (तनूः) अङ्गीभूत (असि) हो. अर्थात् दीक्षाभिमानी और तपोभिमानी देवताके शरीरवत् प्रिय हो (ताम्) उस दीक्षातपके शरीर वा देवताद्वयके शरीरभूत (शिवाम्) कल्याणकारक (शग्माम्) कोमल होनेसे सुखस्पर्श (त्वा) तुमको (भद्रम्) कल्याणयुक्त (कान्तिम्) कान्तिको (पुष्यन्) पुष्ट करताहुआ (परिदधे) मैं धारण करता हूं २ ॥ २ ॥

प्रमाण–"रिपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः"–[निरु० ४ । २१] [ऋ० । ७ । ६ । २४] ॥ २ ॥

विवरण–सन वा अलसीकी छालसे जो वस्त्र वनता है उसको क्षौम कहते हैं. दीक्षा प्रथम उपदेशको कहते हैं. जैसे सोमयागके मध्यमें अग्निष्टोम सोमयागमें जिसप्रकार सोमाहरणादि कियाजाता है; वह यहांसे ही उपदिष्ट है इसकारण इसको दीक्षणीय यज्ञ कहा ।

उपसद्–समीप प्राप्त जैसे राजसूयादिमें अग्निष्टोममें उपदिष्ट होकर ही वाजपेयादिमें अधिकार होताहै इससे और सोमाहरणादिके उपदेशकी अपेक्षा नहीं होती केवल कुछेक विशेषरनियम पालन करने होते हैं इसीप्रकार तप उपसदका नामान्तर मात्र है, तपशब्दका अर्थ नियम है ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र २ ।

म॒ही॒नां पयो॑ऽसि वर्चो॒दाऽअ॑सि॒ वर्चो॑ मे देहि ॥ वृ॒त्रस्या॑सि क॒नीन॑कश्चक्षु॒र्दाऽअ॑सि॒ चक्षु॑र्मे देहि ॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐमहीनामित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छं० । नवनीतं देवतम् । शरीराभ्यञ्जने वि० । (२) ॐवृत्रस्यासीत्यस्य प्र० ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छं० । अञ्जनं देवतम् । अक्ष्यञ्जने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) यज्ञशालाके पूर्वभागमें कुशासनपर बैठकर यजमान पावँसे लेकर मस्तकपर्यन्त अनुलोमक्रमसे गौका मक्खन प्रथम मंत्रसे मले [का० ७। २। ३३]. मन्त्रार्थ-हे गव्य नवनीत ! तुम (हीनाम्) गौओंके (पयः) दुग्धरूप हो. (वर्च्चोदाः) तेज सम्पादन करनेमें समर्थ (असि) हो इसकारण (मे) मेरे निमित्त (वर्च्चः) तेजको (देहि) सम्पादन कीजिये १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे त्रिककुत् पर्वतके अंजनके (अभावमें दूसरे अंजनको) अध्वर्युयजमानकी दहिनी आंखमें दोबार और बाँईमें तीनवार लगावे [का० । ७ । २ । ३४] मंत्रार्थ-हे अञ्जन ! तुम (वृत्रस्य) वृत्रासुरकी (कनीनकः) कनीनिका कालीपुतलीरूप (असि) हो (चक्षुर्दाः) चक्षुइन्द्रियके उत्कर्ष साधनमें समर्थ (असि) हो इस कारण (मे) मेरेनिमित्त (चक्षुः) चक्षुइन्द्रियकी उत्कृष्टता (देहि) प्रदान करो २ ॥ ३ ॥

प्रमाण-"महीति गोनामसु पठितम्"-[निघं० २, ११, ९] "यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीत्" इत्यादि श्रुतिः [३. १, २, १२] तथा च तित्तिरिः "इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनिका परापतत्तदेवाञ्जनमभवत्" इति। इन्द्रने वृत्रासुरको मारा उसकी कनीनिका गिरी वही अंजन हुआ।

विवरण-अनुलोम शरीरके लोम जिसप्रकार अपनी गतिपर अनुसृत हैं उनकी गति विरुद्ध नहीं है मस्तकआरंभ क्रमसे पादअंगुष्ठपर समाप्त होते हैं. ऊपरसे नीचेको अनुलोम इससे विपरीतक्रमको प्रतिलोम कहतेहैं।

त्रिककुत् नाम पर्वतश्रेणीसे उत्पन्न हुए अंजनको त्रिककुत् कहते हैं इस समय इसको ऐन्द्रजादि अथवा 'सातपुड' पर्वत कहते हैं। वृत्रशब्दसे द्युमण्डल आवरण कर्ता और चक्षुमध्यस्थ कृष्णबिन्दुको कनीनिका कहते हैं.

त्रिककुत् पर्वतके तीन अतिउच्च शिखर हैं मेघवृन्द चलतेसमय उससे छिन्नभिन्न हो गिरजाते हैं उनसेही यह अंजन उत्पन्न होता है. यही कृष्णवर्ण एवं इसी पर्वत पर मेघ निरन्तर गमन करते हैं. इसी कारण वृत्ररूप मेघकी कनीनिका वर्णन किया है और यही वैद्यक शास्त्रमें नेत्ररोगकी प्रधान औषधि कहीहै ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र ३।

चित्पतिर्म्मापुनातुव्वाक्पतिर्म्मापुनातुदेवोमासविताप्पुनात्वच्छिद्रेणपवित्रेणसूर्य्यस्यरश्मिभिः॥ तस्यतेपवित्रपतेपवित्रपूतस्ययत्कामः पुनेतच्छकेयम् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ चित्पतिर्मेत्यस्य मंत्रत्रयस्य प्र० ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । प्रजापतिसवितारौ देवते । नाभेरधोवमार्जने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके तीनोंमंत्रोंसे पृथक् पृथक् सात २ बार पाठकरके कुशपवित्रद्वारा शिरपर मार्जन करै [का० ७ । ३ । १] मन्त्रार्थ-(१-३) (चित्पतिः) ज्ञानके अधिपति वा मनके अधिष्ठात्रीदेवता (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) वायुरूपपवित्रसे तथा (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे (मा) मुझ यजमानको (पुनातु) पवित्र करो [वायुही अच्छिद्र और शुद्ध होनेसे पवित्र है अथवा आदित्यमण्डल ही शुद्ध और अच्छिद्र है] (वाक्पतिः) वाणीके अधिष्ठात्री देवता छिद्रशून्य वायु और सूर्य रश्मिद्वारा (मा) मुझको (पुनातु) पवित्र करै (सविता) सर्वान्तिर्यामी (देवः) देवता छिद्रशून्यवायु और अपनी ज्ञानरूप रश्मिद्वारा मुझे (पुनातु) पवित्र करै (पवित्रपते) हे पवित्रात्माके रक्षा करनेवाले परमात्मन् ! (तस्य) उस (पवित्रपूतस्य) पूर्वोक्त पवित्रपूत (ते) आपके पवित्र द्वारा मैं पवित्र हुआ हूं. हमारे अभीष्ट सिद्ध करो (यत्कामः) जिस कामनाको मैं (पुने) पवित्र हूं (तत्) आपकेप्रसादसे उसको (शकेयम्) करनेको समर्थ हूं, अथवा सोमयाग अनुष्ठानमें अपनेको मैं शोधन करता हूं उसके अनुष्ठानमें समर्थ हूं अन्तर्यामी देवता मुझे पवित्र करै ॥ १-२-३ ॥ ४ ॥

प्रमाण-"मनो वै चित्पतिरिति तित्तिरिः । प्रजापतिर्वै चित्पातिः" इति श्रुतेः । [३ । १ । २ । २२] ॥ ४ ॥

भावार्थ-सब अनुष्ठानमें पवित्र होकर मनुष्योंको प्रथम परमात्माकी उपासना करनी चाहिये जिससे कार्य करनेमें समर्थ हों ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

आवो॑ देवास ऽईमहे वा॒मं प्र॑य॒त्य॑ध्व॒रे ॥ आवो॑ देवा स ऽआ॒शिषो॑ य॒ज्ञिया॑सो हवामहे ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आवो देवास इति प्रजा० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । आशीर्देवता । यजमानं प्रत्याशीर्वाचने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अनन्तर अध्वर्यु यजमानको यह मंत्र पाठ करावै [का० ७ । ३ । ६]

मंत्रार्थ-(देवासः) हे देवताओ! (अध्वरे) इस यज्ञके (प्रयति) वर्तमान होनेके कारण (वामम्) आपके निकट वरणीय यज्ञके फलको (वः) आपसे (आईमहे) सब प्रकारसे प्रार्थना करते हैं (देवासः) हे देवताओ ! (यज्ञियासः) यज्ञसम्बन्धी

(आशिषः) फलोंको (आ) लानेके निमित्त (वः) आपको (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ५ ॥

प्रमाण—"ईमहे याचितकर्मसु पठितः"—निघं० ३ । १९ । १] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६—मन्त्र ४ ।

स्वाहा यज्ञं मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात्स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याᳪं स्वाहा वातादारभे स्वाहा ॥ ६ ॥ [४]

ऋष्यादि—(१–४) ॐस्वाहा यज्ञमित्यस्य मंत्रचतुष्टयस्य प्रजा० ऋ० । निचृद्बार्ष्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो दे० । अंगुलिसंकोचेनोत्पवने वि० ॥ ६ ॥

विधि—(१–४)इस काण्डिकामें स्थित चार मंत्रोंमें एक एक क्रमसे एक कालमें दोनों हाथकी चार अंगुलियोंको सकोडकर मुट्ठी बांधकर स्वाहा कहकर चौथे मंत्रसे मौन हो खोले [का० ७ । ३ । ७ । १०] मंत्रार्थ—हम (मनसः) चित्तसे (यज्ञम्) यज्ञकरनेमें (स्वाहा) प्रवृत्त हुए हैं (उरोः) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (स्वाहा) यज्ञलाभकरते हैं (द्यावापृथिवीभ्याम्) हम द्युलोक और भूलोकसे (स्वाहा) यज्ञलाभ करते हैं (वातात्) हम प्रवहमान वायुसे (स्वाहा) यज्ञलाभ करते हैं (आरभे) यज्ञको आरंभ करते हैं (स्वाहा) यह अनुष्ठान आरंभक्रिया सुसिद्ध हो १–४ ॥ ६ ॥

विशेष—इस मंत्रसे यह प्रगट होताहै कि यज्ञ त्रिलोकव्यापी है, अर्थात् जगतकी सम्पूर्ण वस्तुओंमें निवास करता है उपरोक्त वस्तुओंसे प्राप्त होता है और सावधान मनसे यज्ञ करना चाहिये.स्वाहाशब्द निपातन है ब्राह्मणके अनुसार अनेक अर्थ होते हैं सो यहां लिखे हैं, मन हृदय प्राण वाणी आदिके नियमसे यज्ञ आरंभ करै यह तात्पर्य है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७—मंत्र ५ ।

आकूत्यै प्रयुजेऽग्नये स्वाहा मेधायै मनसेऽग्नये स्वाहा दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहा ॥ आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवीऽउरोऽअन्तरिक्ष ॥ बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१-४) ॐआकूत्यैप्रयुज इत्यस्य प्रजाप० ऋ० । पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । औद्ग्रभणहवने वि० । (५) ॐआपोदेवीरित्यस्य प्र० ऋ० । आर्षी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । जपे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१-५) इस कण्डिकामें स्थित पांच मंत्र हैं पहले चार मंत्रोंसे अन्न ग्रहण कर फिर पंचम मंत्र और पर कण्डिकामें स्थित मंत्रसे स्थालीमेंसे स्रुवद्वारा दो उद्ग्रभण (कार्यारम्भसूचक) आहुति प्रदान करै [का० ७ । ३ । १६]

मंत्रार्थ-(आकूत्यै) यज्ञ करूं करूं इस प्रकार धारावाहिनी प्रबल इच्छा मनकी संकल्पपूर्तिके अर्थ (प्रयुजे) प्रेरक (अग्नये) अग्निके उद्देशसे यह आहुति दीजातीहै (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो १ । (मेधायै) श्रुतमंत्रकी धारणशक्तिकी सिद्धिके निमित्त (मनसे) मनके प्रवृत्त करनेवाले (अग्नये) अग्निके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो "मनके स्वास्थ्य होनेमें विद्याधारणकी शक्ति होती है २ । [जपकरै] (दीक्षायै) व्रतनियमदीक्षाके सिद्धकरनेवाले तथा (तपसे) तपके सिद्धकरनेवाले अर्थात् दीक्षा और तपके प्रवर्तक (अग्नये) अग्निदेवताके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो ३ । (सरस्वत्यै) मन्त्रोच्चारणशक्ति और (पूष्णे) पुष्टिके साधक (अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त यह आहुति दीजाती है (स्वाहा) यह आहुति सुसिद्ध हो ४ । (देवीः) हे प्रकाशमान (बृहतीः) बृहत् (विश्वशंभुवः) जगत्के आनंद करनेवाले (आपः) जलो ! (द्यावापृथिवी) हे द्युलोक भूमिके अधिष्ठात्री देवता (उरो अन्तरिक्ष) विस्तीर्ण अन्तरिक्ष तुम्हारे निमित्त और (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (हविषा) हवि (विधेम) देते हैं (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो॥५॥७॥

विवरण-यज्ञीय प्रथम उपदेशग्रहणको दीक्षा कहते हैं।दीक्षाग्रहणकर आरम्भ किये यज्ञसम्बन्धी नियमके पालनको तपश्चर्या कहते हैं । उच्चारित मंत्रके यथाभाव व्यवहाररक्षणको पुष्टि कहते हैं । जगत्पालक सूर्य वा ब्रह्म जगत्पति हैं ॥ ७ ॥

अभिप्राय-मनुष्योंको यज्ञानुष्ठान उत्साह बुद्धि सत्य वाणी धर्माचरणकी रीति तप धर्मानुष्ठान विद्यापुष्टियुक्त करना चाहिये, यज्ञ करनेसे उपरोक्त सब प्रकारकी सिद्धि होती है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १ ।

विश्श्वोदेवस्यंनेतुर्म्मर्तोवुरीतसुक्क्ख्यम् ॥ विश्श्वो राय॑ऽइषुध्यतिद्युम्नंवृणीतपुष्ष्यसेस्वाहा॑ ॥८॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वो देवस्येत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ०। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। सविता दे०। पंचमे द्रुघ्रणहवने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) पंचम औद्ग्रभण हवन करे। मंत्रार्थ-(विश्वः) सम्पूर्ण (मर्तः) जगत्के मनुष्योंके (नेतुः) कर्मानुसार फल प्राप्तकरानेवाले शिक्षक वा पालक (देवस्य) दानादिगुणयुक्त (सवितुः) सवितादेवताके (सख्यम्) भक्तिभावको (वुरीत) प्रार्थना करो (पुष्यसे) प्रजापालन वा ज्ञानकर्मउपासनाकी पुष्टिके निमित्त (द्युम्नम्) यश वा अन्नको (वृणीत) चाहो (विश्वः) सम्पूर्ण मनुष्य (राये) धनकी वा मुक्तिकी प्राप्तिके निमित्त (इषुध्यति) उस परमात्माकी प्रार्थना करते हैं (स्वाहा) उस सबके प्रेरकके निमित्त श्रेष्ठ हवन हो [ऋ० ४ । ३ । ८] ॥ ८ ॥

भावार्थ-क्या धनके निमित्त क्या बल क्या पुष्टि सम्पूर्ण इष्टिके साधक सम्पूर्ण मनुष्योंके नियन्ता 'एकमेवाद्वितीयम्' देवताका सख्यता प्रार्थना करते हैं, उन्हीके निमित्त यह हवि देते हैं यज्ञसाधनके निमित्त परमात्माकी सहायता प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ८ ॥

प्रमाण-"इषुध्यतिर्याच्ञाकर्मसु पठितः" [निघं० ३ । १९ । १४] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १।

ऋक्सामयोः शिल्पे स्थस्ते वामारभे ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः ॥ शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्तेऽअस्तु मा मा हिंसीः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋक्सामयोरित्यस्य मंत्रस्य आंगिरस ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छं०। कृष्णाजिनं दे०। हस्तेन कृष्णाजिनशुक्लकृष्णसंधिस्पर्शने वि०। (२) ॐ शर्मासीत्यस्यांगिरस ऋषिः। आर्षी पंक्तिश्छं०। कृष्णाजिनं देवतम्। कृष्णाजिनोपर्युपवेशने वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) यजमान और यजमानकी पत्नीके बैठनेके निमित्त दो मृगचर्म बिछाये जायँ उनके शुक्लकृष्ण रोमोंको संधिको हाथसे स्पर्श करे १। मंत्रार्थ-हे दोनों कृष्णाजिनकी शुक्लकृष्णरेखा! तुम (ऋक्सामयोः) ऋक्सामके मंत्रोंके अधिष्ठात्री देवताओंके (शिल्पे) चातुर्य्य रूप (स्थः) हो (ते) उन (वाम्) इसप्रकारकी तुमको (आरभे) स्पर्शकरताहूं (ते मा) इस प्रकारके वे मुझको (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञके (उदृचः) समाप्तिपर्यन्त (पातम्) रक्षाकरैं [अर्थात् जबतक यज्ञकी शेष ऋक् पठित न हो तबतक आश्रय प्रदानकरो]. विधि-(२) मृगचर्म

पर दहिनी जानुसे चढै पश्चिम भागमें दक्षिण जानुसे बैठे [का० २ । ३७ । ३ । ५४ ।] मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! तुम (शर्म) शरणदाता (असि) हो इसकारण (मे) मेरे निमित्त (शर्म) शरणको (यच्छ) दो अर्थात् तुम्हारा यह स्थान आधारस्वरूप है इसकारण मुझे तुम आधार हो (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझ यजमानको (माहिंसीः) पीडा मत दो ॥ ९ ॥

आख्यायिका-एक समय ऋक् सामके देवता देवताओंके यज्ञमें स्थित हो किसी कारणसे कृष्णमृगरूप धारण कर दूर स्थित हुए. मृगचर्ममें शुक्लवर्ण ऋक् है कृष्णरेखा साम है [कृष्णयजु० । ६ । १ । ३ ।] ॥ ९ ॥

प्रमाण-" यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । १ । ५]

"ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठमाने कृष्णमृगरूपं कृत्वापक्राम्यातिष्ठतामेष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनमस्यै साम्नो यत्कृष्णमिति" [तित्तिरिः ६ । १ । ३ ।] ॥ ९ ॥

भावार्थ-यज्ञमें शिल्पविद्या और मंत्रविद्याका अच्छीप्रकार अनुष्ठान कर परमात्माकी महिमा ध्यान करनेसे सब प्रकारके सुख प्राप्त होतेहैं जैसे परमात्मा सर्वत्र है इसीप्रकार उसकी विद्या है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र ६ ।

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्म्रदाऽऊर्जम्मयि धेहि ॥
सोमस्य नीविरसि विष्णोः शर्मासि शर्म यजमा
नस्येन्द्रस्य योनिरसि सुसस्याः कृषीस्कृधि ॥
उच्छ्रयस्व वनस्पतऽऊर्ध्वो मा पाह्यᳬहसऽआस्य
यज्ञस्योदृचः ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि-(१-४) ॐऊर्गसीत्यस्यांगिरस ऋषिः । कृधीत्यन्तस्य निचृदार्षी जगती छंदः । मेखलानीवीव कृष्णविषाणा देवताः । (१) परिधानवस्त्रमध्ये मेखलाबन्धने (२) विकिरणे (३) उष्णीषधारणे (४) उत्तरीयवस्त्रदशायां कृष्णविषाणाबन्धने च वि० । (५-६) ॐउच्छ्रयस्वे-त्यस्यांगिरस ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । मेखलादण्डादयो देवताः । (५) भार्चारेखाकरणे (६) दण्डस्योर्ध्वकरणे च वि० ॥ १० ॥

विधि(१)यजमान वेणीके आकार तिहरी सन और मूँजसे बनी मेखलाको धोतीके भीतर प्रथममंत्रसे धारण करे [का०७।३।३६।]मन्त्रार्थ–हे मेखला!तुम(आङ्गिरसी) अंगिरानामक ऋषियोंकी सम्बन्धवाली वा अग्निआदिपदार्थोंसे सिद्ध(ऊर्क्)अन्नरस रूप (ऊर्णम्म्रदाः) ऊनकी समान अतिकोमल(असि) हो(ऊर्जम्)अन्नरसको(मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे मेखलाका नीवीबंधन करे । (दोमुख एकत्रकरके ग्रन्थिबन्धनको नीवीबन्धनकहते हैं) [का०७ । ३ । २७] मंत्रार्थ–हे मेखला ! तुम (सोमस्य)सोमदेवताकी प्रियतम हमारी(नीविः) नीवीस्वरूप हो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे शिरपर पगडी धारण करे [का० ७ । ३ । ३८]हे उष्णीष ! तुम इस (विष्णोः) बहुव्यापीयज्ञकी (शर्म) कल्याण स्वरूप (असि) हो इसकारण (यजमानस्य) मुझ यजमानका (शर्म) सुख करो ३ ।विधि–(४)जिसमें तीन वा पांच रेखा हो ऐसे काले मृगके सींगको चौथे मंत्रसे उत्तरीय वस्त्रके किनारेमें बांधै इससे खुजानेका कार्यसंपादन करना होताहै तथा दक्षिणभौंहके ऊपर ललाटमें स्पर्शकरै [का० ७, ३, २९–३१] मंत्रार्थ–हे कृष्णविषाण ! तुम (इन्द्रस्य) जैसे इन्द्रकी (योनिः)स्थान हो इसीप्रकार मुझ यजमानको हो४।विधि–(५)पांचवें मंत्रसे विषाणसे वेदीके बाहर पूर्वमें रेखा करै [का० ७ । ३ । ३२] मंत्रार्थ–हे कृष्णविषाण ! तुम (कृषेः) हमारे देशकी कृषिको (सुशस्याः) सुन्दर धान्ययुक्त (कृधि) करो"इसी कारण भूमिको कुरेदता हूं"५। विधि–(६) छठे मंत्रसे यजमान अपने मुखके बराबर गूलरका दण्ड ग्रहणकर उसे खडाकरै [कात्या० ७, ४, १–२] मन्त्रार्थ–(वनस्पते) हे वनस्पति सम्भूतदण्ड ! (उच्छ्रयस्व) तुम उन्नत होओ (ऊर्ध्वः) ऊंचेहोकर (अस्य) इस (यज्ञस्य) यज्ञके (उदृचः) ऋक्समाप्तिपर्यन्त (मा) मुझको (अ॑ꣳहसः) पापसे (पाहि) रक्षा करो ६ ॥ १० ॥

आख्यायिका–एक समय अंगिरावंशी ऋषिगण स्वर्गलोकमें गमन करते समय मार्गमें आहारके निमित्त अन्नरसका विभाग करते हुए, उससे जो अवशिष्ट अन्नरस भूमिमें गिरा, उसीसे सन और मुंज दो तृण उत्पन्न हुए, इस कारण मुञ्जमयी सनयुक्त मेखला बनाते हैं इस कारण मेखलाको आंगिरसत्व कहा (तित्तिरिः) अदीक्षितकी पितृदेवता नीवी है दीक्षितकी सोमयागके निमित्त सोमसे नीवी कही गई है ।

एक समय यज्ञपुरुष दक्षिणादेवीको प्राप्त हुए, उसकी सम्भावनासे इन्द्र हुवा तब अन्यअन्यकी उत्पत्ति नहो यह विचार करइन्द्रने अपने उत्पत्तिस्थानको दक्षिणा से आच्छादितकर मृगमें धारण किया वह कृष्णविषाण हुई इससे इसको इन्द्रकी योनि कहाहै [तैत्तिरीय०] अध्यात्ममें यज्ञने महावाक् को ध्यानकिया, कि मेरा

इसके साथ संयोग हो,इन्द्ररूप यजमानने विचार किया कि इस यज्ञ और महावाक्के मिथुनसे वडा प्रतापी होगा वह मेरा तिरस्कार नकरे यह विचारा इन्द्रही गर्भ होकर मिथुनमें प्रविष्ट हुआ एक वर्षमें प्रगटहो विचारा कि यह योनि वडे योगयुक्त है जिसमें मैं स्थित हुआ और महान् हुआ अब कोई और इससे प्रकट नहो ऐसा विचारकर उसे सूर्य में धारण किया ॥ १० ॥

कण्डिका-११ मंत्र ३ ।

व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः॑ । दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकाम॒भिष्टये॑ ॥ वर्चोधां य॒ज्ञवा॑हसꣳ सुती॒र्था नो॑ऽअस॒द्वशे॑ ॥ ये दे॒वा मनो॑जाता मनो॒युजो॒ दक्ष॑क्रतवस्ते नो॑ऽवन्तु॒ ते न॑: पान्तु॒ तेभ्य॒: स्वाहा॑ ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐव्रतंकृणुतेत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । स्वराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो देवता । वाग्विसर्जने वि० । (२) ॐ दैवींधियमित्यस्याङ्गिरस ऋ० । प्राजापत्याजगती छं० । यज्ञो दे० । आचमने वि० (३) ॐये देवा इत्यस्यांगिर० ऋ० । प्राज्यापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निमित्रावरुणादित्यविश्वेदेवा देवताः । दुग्धप्राशने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) पूर्वमुखस्थित दीक्षित यजमान आहवनीयके सन्मुख हो तीनवार "व्रतं कृणुत" इस मंत्रको पढकर "अग्निर्ब्रह्म" इस एकवार पढे मंत्रसे वाग्विसर्जनकरे, ऋत्विक्जनोंको यज्ञानुष्ठानका आदेश करे [का० ११।४।१५]मन्त्रार्थ- हे ऋत्विग्गण ! (व्रतं कृणुत) दुग्धको दोहनादि सम्पादन करो वा व्रतानुष्ठान करो (दीक्षितके भोजन करनेको जो दुग्ध नियत है उसको व्रत कहते हैं)(अग्निः)यह यज्ञाग्नि (ब्रह्म) वेदत्रयरूप है (अग्निः) यह अग्नि (यज्ञः) यज्ञसाधनरूप है (वनस्पतिः) यज्ञयोग्य जो खदिरादि वनस्पति है (यज्ञियः) वहभी यज्ञस्वरूप है,कारण कि यज्ञके योग्य है "नहि मनुष्या यजेरन्यद्वनस्पतयो न स्युः" इति श्रुतेः [३ । २ । २ । ९] १ । विधि-(२)दूसरे मंत्रसे यजमान आचमन करे [का० ७ । ४ । ३२] हम (अभिष्टये) आरब्धअनुष्ठानकी सिद्धिके निमित्त (दैवीम्) देवसम्बन्धिनी वा देवताके उद्देशसे प्रवृत्त हुई (सुमृडीकाम्) सुन्दरसुखकी कारण (वर्चोधाम्) तेजकी धारण करनेवाली (यज्ञवाहसम्) यज्ञको निर्वाहकरनेवाली (धियम्)बुद्धिकी

(मनामहे) परमात्मासे प्रार्थना करतेहैं (सुतीर्थाः) इसप्रकारकी सर्व प्रशंसनीय बुद्धि (नः) हमारे (वशे) वशमें (असत्) हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मृन्मय पात्रमें यजमान दुग्धपान करे [७ । ४ । ३३] (ये) जो (मनोजाताः) दर्शन श्रवणादिइच्छारूप मनसे प्रादुर्भूत वा मनके प्रेरक (मनोयुजः) रूपादिके दर्शनकालमें मनसे युक्त (दक्षक्रतवः) कुशलसंकल्पवाले (देवाः) चक्षुरादि इन्द्रियरूप प्राण (ते) वे सब (नः) हमको (अवन्तु) यज्ञानुष्ठाके विघ्न दूरकर पालन करो (तेभ्यः) उन प्राणरूप देवताओंके निमित्त यह क्षीर (स्वाहा) सुन्दर आहुति हो ॥ ११ ॥

प्रमाण-"मनामहे इति याच्ञाकर्मसु पठितः"-[निघं० ३ । १९ । १६] "वागेवाग्निः प्राणोदानौ मित्रावरुणौ चक्षुरादित्यः श्रोत्रं विश्वेदेवाः"-इति श्रुतेः [श० ३, २, २, १३] ॥ ११ ॥

उपदेश-इस मंत्रसे यहभी प्रगट है कि क्षीरपानसे बुद्धि बढती और इन्द्रिय बलवती होती हैं. ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

श्वात्त्राः पीता भवत यूयमापोऽअस्माकमन्तरुद
रे सुशेवाः ॥ ताऽअस्मभ्यमयक्ष्माऽअनमी
वाऽअनागसः स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐश्वात्रा इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । जगती छं० । आपो देवताः । नाभिस्पर्शने वि० ॥ १२ ॥

विधि-इस मंत्रको पाठकर यजमान अपनी नाभिस्पर्श करे [का० ७ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ-(आपः) हे दुग्धरूप जलो ! (यूयम्) तुम (पीताः) मुझसे पान किये हुए (श्वात्राः) शीघ्रही जीर्ण (भवत) हो जाओ । किञ्च (अस्माकम्) हम पीनेवालोंके (अन्तरुदरे) उदरके अन्तर (सुशेवाः) सुखकारी हों (ताः)उपरोक्त गुणवाले दुग्ध जल (अयक्ष्माः) प्रबल रोगराजरहित (अनमीवाः) सामान्यरोगके निवर्तक (अनागसः) क्षुत्पिपासादिदोषहारक वा रहित(ऋतावृधः) यज्ञवृद्धिके कारण (देवीः)प्रकाशमान(अमृताः)मरणके निवर्तक वा स्वयंमरणधर्मरहित (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त उपकारको (स्वदन्तु) स्वादुत्वयुक्त हों॥१२॥

अथवा (ताः) वे (अमृताः) मरणधर्मरहित प्राणादि देवता (अपः स्वदन्तु) जलोंको स्वादुत्वयुक्त स्वीकार करें इत्यादि ॥ १२ ॥

प्रमाण-"क्षात्रमिति क्षिप्रनामसु अतनं भवति" इति यास्कः [निरु० ९, ३] "शेवमिति सुखनाम" [निघं० ३, ६, १७] ॥ १२ ॥

अभिप्राय-उपरोक्त मंत्रमें जल और दुग्धके गुण भी वर्णन किये हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र ३।

इयन्ते यज्ञिया तनूरपो मुञ्चामि न प्रजाम् ॥ अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत पृथिव्या सम्भव ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इयंत इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । प्राजापत्या गायत्री छं० । यज्ञो देवता । कृष्णविषाणया मृत्खण्डलघुपाषाणतृणकाष्ठाद्यन्यतम-ग्रहणे वि० । (२) ॐअपोमुञ्चामीत्यस्याङ्गि० ऋ० । याजुषी छं० । यजमानो देवता । मूत्रकरणे पुरीषकरणे वा वि० । (३) ॐ पृथिव्या सम्भवेत्यस्याङ्गि० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । पृथिवी दे० । मूत्रोपरि मृत्तिकाद्यन्यतमप्रक्षेपणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१)मूत्रकरनेके समय यजमान हिरनके काले सींगसे मट्टी वा कुछ तृण इस मंत्रको पाठकर ग्रहण करे [का० ७ । ४ । ६६] मंत्रार्थ-हे यज्ञपुरुष ! (इयम्) यह पृथ्वी (ते) तुम्हारा (यज्ञिया) यज्ञयोग्य (तनूः) देश है इसकारणसे यहां मूत्रअपहाति दूरकरनेको मट्टीका ढेला वा तृण ग्रहण करता हूं अथवा हे पृथ्वी ! यह लोष्ठरूप तुम्हारा यज्ञीय शरीर ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकर मूत्रादित्याग करे [का० ७ । ४ । ३७] मन्त्रार्थ-मैं (अपः) मूत्रको (मुञ्चामि) त्यागन करता हूं (न) न कि (प्रजाम्) वीर्यको. [कारण कि दुग्धपानकी विकृतिका जल ही त्यागयोग्य है न कि प्रजा उत्पत्तिका कारण वीर्य.]हे मूत्ररूप जल ! (अꣳहोमुचः)अशुचिरूप तुम (स्वाहाकृताः) क्षीरपानकालमें स्वाहारूपसे स्वीकार किये हुए थे विकाररूप होकर अब (पृथिवीम्) हमारे शरीरसे पृथक् होकर पृथ्वीमें (आविशत) प्रवेश: करो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे दुर्गन्धि दूरकरनेको वह ग्रहण की हुई मृत्तिका वा तृण मूत्रपर डालदे [का० ७, ४, ३८] मंत्रार्थ-हे लोष्टादि ! तुम (पृथिव्या) पृथिवीके साथ (सम्भव) एकीभावको प्राप्त हो ॥ १३ ॥

विशेष–परमात्माकी आज्ञा है कि जितनी वस्तु दुर्गन्धयुक्त हों उनको गर्तादिमें इस प्रकार निक्षेप करना चाहिये जिससे उनकी दुर्गन्धि न फैले रोगनिवृत्ति रहे ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

अग्ने॒ त्वꣳ सु जा॑गृहि व॒यꣳ सु म॑न्दिषीमहि ॥ रक्षा॑ णो॒ऽअप्र॑युच्छन्प्र॒बुधे॑ नः॒ पुन॑स्कृधि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्याङ्गिरस ऋषयः । अनुष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वेद्यधः शयने वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पढकर यजमान वेदीके अधोभागमें पूर्व दक्षिण कोनमें शयन करे [का० ७, ४, ३९] मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वं) तुम (सुजागृहि) सम्यक् निद्रारहित हूजिये (वयम्) हम (सुमन्दिषीमहि) सुखपूर्वक शयन करैं (अप्रयुच्छन्) अप्रमादपूर्वक (नः) हमको (आरक्ष) चारों ओरसे रक्षा करो (नः) हमको (पुनः) फिर (प्रबुधे) प्रबोधके निमित्त(कृधि) युक्तकरो[सोनेपर अग्निरूप परमात्माकी प्रार्थना राक्षसोंके नाशकरनेके निमित्त है जैसा तैत्तिरीयमें है कि " अग्निमेवाधिपं कृत्वा स्वपाते रक्षसामपहत्यै" इति] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

पुन॒र्मनः॒ पुन॒रायु॑र्म॒ऽआग॒न्पुनः॑ प्रा॒णः पुन॑रा॒त्मा म॒ऽआग॒न्पुन॒श्चक्षुः॒ पुनः॒ श्रोत्रं॑ म॒ऽआग॑न् ॥ वै॒श्वा॒न॒रोऽअद॑ब्धस्तनू॒पाऽअ॒ग्निर्नः॑ पातु दुरि॒ताद॑व॒द्यात् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुनर्मन इत्यस्याङ्गिरस ऋषयः । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । जाग्रता मंत्रजपे विनि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) फिर जागकर यह मंत्रपाठ करे [का० ७ । ४ । ४०] मंत्रार्थ–(मे) मुझ यजमानका (मनः) मन (पुनः) सुषुप्तिकालमें विलीन होकर फिर शरीरमें (आगन्) प्राप्तहुआ (आयुः) स्वप्नमें मेरी आयु नष्टप्राय होकर (पुनः) अब फिर प्राप्त हुई (प्राणाः) वेही प्राण (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्तहुए(मे) मेरी (आत्मा) जीवात्मा (पुनः) फिर प्राप्त हुई (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (पुनः) फिर प्राप्त हुई (मे) मेरी (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय (पुनः) फिर (आगन्) प्राप्त हुई (वैश्वानरः) सम्पूर्णपुरुषोंका उप-

कारक (अदब्धः) किसीसे भी हिंसा न पानेवाला (तनूपाः) हमारे शरीरोंका पालक (अग्निः) अग्निदेव (अवद्यात्) कहनेके अयोग्य निन्दित (दुरितात्) पापसे (नः) हमको (पातु) रक्षा करे अथवा दुर्यशरूप पापसे रक्षाकरे ॥ १५ ॥

प्रमाण-"सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति" इति श्रुतेः[श० ३।२।२।२३] ॥ १५ ॥

विवरण-सोतेमें सब इन्द्रिय अपने कारणमें लीन होजाती हैं उनके फिर यथास्थानमें प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रार्थना करी है. अग्नि ही जीवन है. इस कारण अग्निसे प्रार्थना की है। इस मंत्रसे यह बात भी प्रतीत होती है कि जिस प्रकारसे मनुष्य जागकर फिर इन्द्रियोंको प्राप्त होता है. इसी प्रकार पुनर्जन्ममें प्राप्त होताहै अपनी रक्षाके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र २।

त्वमग्ने व्रतपा ऽअसि देव ऽआ मर्त्येष्वा ॥ त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात् ॥ १६ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमग्न इत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्नीषोमौ देवते । क्रोधशमने जपे वि० । (२) ॐ रास्वेयदित्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिगार्षी छं० । सोमो देवता । अनुप्राप्तधनं स्पृष्ट्वा जपे वि० ॥ १६ ॥

विधि-यज्ञदीक्षित यजमान किसीकारणसे क्रुद्ध होजाय वा यज्ञविरुद्ध भाषण करै तब क्रोध शान्त होनेपर इस दोषके दूर करनेको प्रथम मंत्र जप करै [का० ७।९।१-२] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे प्रकाशात्मक अग्ने! (देवः) द्योतनात्मक (त्वम्) तुम (आमर्त्येषु) मनुष्यपर्यन्त सब प्राणियोंमें (व्रतपाः) यज्ञानुष्ठानके पालक (असि) हो (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (आ) सबप्रकारसे (ईड्यः) स्तुतियोग्य हो वा याचना और पूजनयोग्य हो अथवा हे अग्ने! तुम देवताओंसे लेकर मनुष्योंतक व्रतपालक हो. १। विधि-(२) आग्नेमें हवनके निमित्त लाये उपस्थित सुवर्णखण्डको स्पर्श करके यह मंत्र पाठकरै [का० ७।९।१६] मन्त्रार्थ-(सोम) हे सोम! (इयत्)इतना धन (रास्व) दीजिये (भूयः)फिरभी (आभर) धन दीजिये कारण कि (वसोः) धनके (दाता) देनेवाले (सविता) सविता (देवः) देवता (नः) हमको (वसु) धन (अदात्) प्रथम प्रदान करचुके हैं इसीकारण तुम भी वारंवार धन प्रदानकरो [ऋ० ९।८।३९]॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र २।

एषा तेशुक्रतनूरेतद्वर्च्चस्तया सम्भव भ्राजङ्गच्छ ॥ जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ एषात इत्यस्य वत्स ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । हिरण्याज्ये देवते । आज्ये दर्भतृणबद्धाज्यक्षेपणे वि० । (२) ॐ जूरसीत्यस्य वत्स ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छंदः । वाग्देवता । आज्यहोमे वि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) यज्ञशालाका द्वार रुद्ध करके ध्रुवामें स्थित घृतमेंसे जुहूको चार वार भरकर कुशाखण्डमें सुवर्णखण्डको बांधकर प्रथम मंत्रपाठपूर्वक अग्निमें निक्षेप करै [का० ७, ६, ७–८] मंत्रार्थ–(शुक्र) हे शुक्लवर्ण अग्ने ! (एषा) यह घृत (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर है (एतत्) इस घृतमें प्रक्षिप्यमाण सुवर्ण तुम्हारा (वर्च्चः) तेज है (तया) घृतरूप इस शरीरसे (सम्भव) एकीभावको प्राप्त हो तदनन्तर (भ्राजम्) सुवर्णमें प्राप्त कान्तिको(गच्छ)प्राप्त हो [इस मंत्रके पाठसे अग्निका तेजस्वी और घृतरूप शरीर कथन कियाहै "सतेजसमेवैनं सतनुं करोति" इति तैत्तिरीयश्रुतिः] अथवा हे शुक्र ! हे घृत ! यह सुवर्णलक्षणवाला तुम्हारा शरीर है यह तुम्हारी कान्ति है "समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम्" इति श्रुतेः [३ । २ । ४ । ९] इस हिरण्यलक्षणसे एकीभूत होकर भ्राज अर्थात् सोमको प्राप्त हो "सोमो वै भ्राड्" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४ । ९] विधि–(२) फिर इस कण्डिकाके अवशिष्ट अंश और अग्रिम कण्डिकाका आदि अंशको मिलाकर पाठकर हवन करै [का० ७।६।९] मंत्रार्थ–हे वाक् वाणी ! तुम (जूः) वेगवान् (असि) हो अथवा प्राणधारण कराने वा जीवन देनेवाली (मनसा) मनद्वारा (धृता) धारणकीहुई (विष्णवे) यज्ञकार्य सिद्धिके निमित्त वा यज्ञपुरुषके निमित्त (जुष्टा) प्रीतियुक्त हो "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः २ ॥ १७ ॥

विवरण–यज्ञमण्डपमें प्रकाशरूपसे सुवर्ण व्यवहार होताहै ऐसा जानकर दस्यु-जन उत्पात न करैं इस कारण द्वाररुद्धकी व्यवस्था की है. घृतकी आहुतिसे अग्निशिखा बढती है यह प्रत्यक्षसिद्ध है इस कारण घीको अग्निका शरीर कथन किया है ॥ अग्निका तेज सुवर्ण है यह तैत्तिरीयमें लेख है [३।२।४।८] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १।

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वा

हा ॥ शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतस्यास्त इत्यस्य वत्स ऋषिः । स्वराडार्षी बृहती छं० । वाक्यहिरण्ये देवते । वेद्यां तृणप्रक्षेपणे वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) अगले इस मंत्रसे कुशतृणबद्ध सुवर्णको जुहूमेंसे निकालकर वेदीके मध्यमें रक्खै [का० ७ । ६ । १०] मन्त्रार्थ-(तस्याः) उस (ते) तुम्हारी (सत्यसवसः) अव्यर्थप्रयुक्त वाणीके (प्रसवे) अनुज्ञामें वर्तमानमें (तन्वाः) शरीरके (यन्त्रम्) नियमनकी दृढताको (अशीय) प्राप्तकरूं (स्वाहा) यह घृत सुन्दर आहुति हो.

हे सुवर्ण ! तुम (शुक्रम्) कान्तिमान् (असि) हो (चन्द्रम्) आनंदकरनेवाले हो (अमृतम्) विनाशरहित (असि) हो (वैश्वदेवम्) सब देवताओंके सम्बन्धी (असि) हो [सुवर्णदानसे देवता संतुष्ट होते हैं सुवर्ण अग्निमें डालनेसे भस्म नहीं होता इस कारण विनाशरहित कहा] ॥ १८ ॥

विशेष-प्रथम मंत्रका यह आशयभी झलकताहै कि हे परमात्मन् ! आपकी कृपासे मैं अनेक प्रकारकी दृढतायुक्त यंत्ररचनाको प्राप्त करूं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी ॥ सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां पूषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐचिदसीत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । वाग्देवता । सोमक्रयणीगोस्तवने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) उन्नीस और वीस कण्डिकासे सोमक्रयणी मन्त्रपूत करै (जिसके पलटेमें सोमलता क्रयकरनेका उपक्रम किया जाय उस गौको सोमक्रयणी कहते हैं वाग्रूप अध्यारोपकल्पना कर सोमक्रयणी गौकी स्तुति करते हैं) [का०७।६।१९] मन्त्रार्थ-हे वाग्देवतारूप सोमक्रयणी ! तुम (चित् असि) चित्तस्वरूपा हो (मनासि) तुम मनकी स्वरूपा हो (धीरासि) बुद्धिस्वरूपा हो (दक्षिणासि) दक्षिणारूप हो (क्षत्रियासि) सोमक्रयसाधनमें क्षत्रिया हो (यज्ञियासि) यज्ञसम्बन्धी होनेसे यज्ञके योग्य हो (अदितिः असि) अखण्डित अदीन देवमातारूप

हो (उभयतः) प्रायणीय उदयनीय दो (शीर्ष्णी) शिरवाली हो (सा) सो इसप्रकार चिदादिरूप तुम (नः) हमारे इस यज्ञमें (सुप्राची) पूर्वमुखी (सुप्रतीची) पश्चिममुखी (एधि) हो (मित्रः) सूर्य (पदि) दक्षिणपादमें (त्वा) तुझको (बध्नीताम्) बांधे तथा (पूषा) पूषादेवता सूर्य अथवा पूषा पृथ्वी (अध्यक्षाय) यज्ञके स्वामी (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रसन्नताके अर्थ तुमको (अध्वनः) मार्गमें (पातु) रक्षाकरो ॥ १९ ॥

प्रमाण–(१)"यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रोवरुणा सोमो रुद्रः" इति [बृहदा० माध्य० १ । २ । १३ काण्व० १ । ४ । ११] "अदितिरदीना देवमातेति यास्कः–" [निरु० नै० ४ । २२]

"द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये"इति यास्कोक्तेः[निरु० १३ ।७]"सयदेनया समानं सद्विपर्यासं वदति" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४ । १६] "सुप्राचीन एधि सोमं नोऽच्छेहीत्येवैतदाह सुप्रतीचीन एधि सोमेन नः सह पुनरेहीत्येवैतदाह " इति श्रुतेः । [श० १ । ३ । २ । ४ । १७] "इयं वै पृथ्वी पूषा" इति श्रुतेः [श० ३ । २ । ४ । १९] ॥ १९ ॥

विवरण–यह गौ वास्तविक सुवर्णका मूल्य नहीं है यह मूल्यका प्रतिरूपमात्र है इस कारण यह सोमक्रयणी वाक्यमात्र ही जाने इससे इसको वाक्यदेवता वा वाङ्मय वा वाङ्मात्र कहा जाता है ॥ १ ॥

अन्तःकरण तीन प्रकार है चित्त मन बुद्धि इस स्थलमें इन तीनों वृत्तियोंसे सोमक्रयणी गौकी स्तुति होती है, अचेतनदेहादिसंघातमें चेतनता संपादन करनेवाली बाह्य वस्तुओंमें अथवा निर्विकल्परूप सामान्यज्ञानको उत्पन्न करनेवाली वृत्ति चित्त कहाती है अर्थात् किसी पदार्थको देखकर सबसे प्रथम हमने यह जो कुछ देखा है इस प्रकार जो चैतन्यज्ञान है यह चित्तका कार्य है कोई पदार्थ लोकमें देखकर यह ऐसा है वा नहीं ऐसी संकल्प विकल्पवाली वृत्ति मन कहलाती है यह इसी प्रकार है ऐसी निश्चयरूप वृत्ति बुद्धि वा धी कहलाती है जिस प्रकार इन हस्त पदादि दशइन्द्रियोंद्वारा वस्तुओंका बाह्यग्रहण सम्पादन होता है इसी प्रकार इन तीन वृत्ति (करण) द्वारा अन्तः ग्रहण संपादन होता है इसीकारण इसको अन्तः–करण कहते हैं ॥ २ ॥

बृहदारण्यमें लेख है कि इन्द्र वरुण सोम एवं चन्द्र यह चार देवता क्षत्रिय हैं सोमशब्दसे चन्द्र और सोमलता गृहीत है वेदमें सोमलता और चन्द्र देवता एकात्मस्वरूप सर्वत्र श्रुत हुए हैं सोमलता वा चन्द्रलता सोम वा चन्द्र यह दोनों-

ही क्षत्रिय हैं इस स्थलमें उनके पलटेकी प्रतिभूस्वरूप प्रदेय गौभी इसीके अनुसार क्षत्रिया है ॥ ३ ॥

द्विशीर्ष शब्दसे संवत्सरमें ज्योतिष्टोमादि सोमयाग लिया है यह याग दो भागमें विभक्त है पहले छः मासके मध्य आदि भागको प्रायणीय और दूसरे षण्मासमध्य शेषभागको उदयनीय कहते हैं यह प्रायणीय और उदयनीय दोनों काल इस यज्ञमें विशेष आदरणीय हैं इस कारण यह शीर्ष नामसे श्रुत हुए हैं इस कारण ऐसे यागको द्विशीर्ष कहते हैं तथा यज्ञस्वरूपमें स्तुतिको प्राप्त हुए हैं ॥ ४ ॥

प्रथम सोमक्रीत समय वेचनेवालेकी ओर प्राङ्मुखी पश्चात् यज्ञीय अन्यान्य ऋत्विगजनोंके प्रति प्रत्यङ्मुखी ॥ ५ ॥

प्राचीन वैदिक कालमें गौके गले में रस्सी नहीं बांधते थे इसमें दोष मानकर चरणमें रज्जु बांधतेथे ॥ ६ ॥

रक्षा करै अर्थात् आलोक प्रदान करै ॥ ७ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १ ।

अनु॑ त्वा मा॒ता म॑न्यता॒मनु॑ पि॒तानु॒ भ्राता॒ सग॑र्भ्यो॒ऽनु॒ सखा॒ सयू॑थ्यः ॥ सा दे॑वि दे॒वमच्छे॑ही॒न्द्राय॒ सोम॑ᳪं रु॒द्रस्त्वा व॑र्तयतु स्व॒स्ति सोम॑सखा॒ पुन॒रेहि॑ ॥ २० [४]

ऋष्यादि-(१) ॐअनुत्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । पूर्वार्धस्य साम्नी जगती छंदः । उत्तरार्धस्य भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । वाग्गावौ देवते । सोमक्रयणीगोस्तवने वि० । ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-हे गौ!वा हे वाक् !सोमआहरणमें प्रवृत्त हुई(त्वा)तुमको(माता)तुम्हारी माता (अनुमन्यताम्) आज्ञादे (पिता) पिता (अनु) आज्ञादे (सगर्भ्यः) सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) आज्ञा दे (सयूथ्यः) एक यूथ गोसमूहमें होनेवाले (सखा) मित्र (अनु) वत्सादि आज्ञा दे (देवि) हे दिव्यगुणयुक्त सोमक्रयणी ! (सा) सो तुम (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सोमम्) सोमलता (देवम्) देवताको (अच्छेहि) प्राप्त करनेको गमन करो (रुद्रः) रुद्रदेवता (त्वा) सोमग्रहणकर स्थित हुई तुझको (वर्तयतु) हमारे प्रति निवृत्त करैं अथवा रुद्र तुझको प्रवृत्त करैं कारण कि पशु रुद्राज्ञा नहीं अतिक्रमण करते (सोमसखा) सोमदेवके सख्यतायुक्त अर्थात् सोमसहित तुम (स्वस्ति) क्षेमपूर्वक (पुनः) फिर (एहि) हमारे यहां प्राप्त हो ॥ २० ॥

प्रमाण-" अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः " [निरु० नै०५।२८] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

वस्व्यस्यदितिरस्यादित्यासिरुद्रासिचन्द्रासि ॥ बृहस्पतिष्ट्वासुम्म्ने रम्ण्णातुरुद्रोवसुभिराचके ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वस्वीत्यस्य वत्स ऋषिः । विराडार्षी बृहती छं० । वाग्गावौ देवते । सोमक्रयण्यनुगमने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१)सोमक्रयणीको उत्तरकी ओर गमन कराते उसके पीछे पीछे गमन करके यह स्तुतिकरै[का० ७। ६ । १६]मंत्रार्थ-हे सोमक्रयणी! तुम (वस्वी) वसुदेवताकी शक्तिस्वरूप (असि) हो (अदितिः) देवमाता (असि) हो (आदित्या) द्वादशआदित्यरूप (असि) हो (रुद्रा) एकादशरुद्ररूपा (असि) हो (चन्द्रा) चन्द्ररूपा (असि) हो (बृहस्पतिः) बृहस्पतिदेवता (त्वा) तुमको (सुम्ने) सुखमें (रम्णातु) रमणकराओ (रुद्रः) रुद्रदेवता (वसुभिः) आठ वसुओंके सहित तुमको (आचके) रक्षाकरनेकी कामना करै॥ २१ ॥

प्रमाण-"रम्णातिः संयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वा"इति यास्कः [नै० १०,९] "आचक इति चकमान इति कान्तिकर्मसु पठितः" [निघं० २ । ६ । ११] अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, स्वर्ग, चन्द्र, नक्षत्र, यह आठ वसु हैं ॥२१॥

कण्डिका २२-मन्त्र ७ ।

अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्म्मिदेवयजनेपृथिव्याऽइडायास्पदमसिघृतवत्स्वाहा ॥ अस्म्मेरमस्वास्म्मेतेबन्धुस्त्वेरायोमेरायोमावयꣳशयस्पोषेणवियौष्ष्मतोतोराय ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य वत्स ऋषिः । ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । आज्यं दैवतम् । सप्तमपदे आज्यहवने वि० ॥ (२) ॐ अस्मेरमस्वेत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । स्थानं दैवतम् । स्फ्येन रेखात्रयकरणे वि० । (३) ॐ अस्मेते बंधुरित्यस्य वत्स ऋ० । ब्रा० पं० छं० । पदं दैवतम् । स्थाल्यां पदस्थमृत्क्षेपणे वि० । (४) ॐ त्वेराय इत्यस्य व०

ऋ० । ब्रा० पं० छं० । यजमानो देव० । यजमानाय पदप्रदाने वि० । (५) ॐ मेराय इत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । यजमानो दे० । यजमानेन पदग्रहणे वि० । (६) ॐमावयमित्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं०छं० अध्वर्युर्देव० । हृदयालंभने वि० । (७) ॐ तोत इत्यस्य व० ऋ० । ब्रा० पं० छं० । पत्नी दे० । यजमानेन पदे प्रदत्ते पत्न्या पाठकरणे वि० ॥२२॥

विधि-(१) सोमक्रयणीके पीछे षट् पद गमन करके सातवां पग जहां पडै, अर्थात् सोमक्रयणीके खुरका चिह्न जहां हो वहां किंचित् हिरण्यखण्ड स्थापन करके उसके ऊपर प्रथम मंत्रसे घृतकी आहुति दे [का० ७ । ६ । १७ । १८] मन्त्रार्थ-(अदित्याः) अखण्डित (पृथिव्याः)पृथ्वीके(मूर्धन्)शिररूप (देवयजने) देवताओंके यज्ञयोग्यस्थानमें हे घृत ! (त्वा) तुमको (आजिघर्मि) क्षरण करताहूं हे स्थानविशेष ! तुम (इडायाः) गौके (पदमसि) चरणचिह्न हो उस पदको (घृतवत्) घृतयुक्त, करनेको (स्वाहा) हवन करताहूं १ । विधि-(२)दूसरे मंत्रको पढ अध्वर्यु स्फ्यसे गौकी पदांकित भूमिमें तीन रेखाकरै [का०७।६।१९] मंत्रार्थ-हे सोमक्रयणीके पदचिह्न ! तुम (अस्मे) हममें (रमस्व) क्रीडाकरो २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे लिखितभूमिकी मट्टी सुवर्णको हटाकर हाथसे थालीमें डालै [का०७ । ६ । २०] मंत्रार्थ-हे सोमक्रयणीपदचिह्न ! (ते) तुम्हारे (अस्मे) हम (बन्धुः)बन्धुरूप हैं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे गौके उठायेपदके स्थान पर जल डालकर पद यजमानको प्रदानकरै[का०७।६।२१] मन्त्रार्थ-हे यजमान ! (त्वे)तुममें(रायः)धन इस पदरूपसे स्थित हो अथवा "पशवो वै रायः" इति श्रुतेः [श० ३ । ३ । १ । ८] तुममें पशु स्थित हों अथवा हे यजमान!यह तुम्हारा ऐश्वर्य है ४ । विधि-(५)पंचम मंत्र पढकर यजमान ग्रहण करै [का० ७ । ६।२२] मन्त्रार्थ- (मे) अवश्य यह हमारे (रायः) ऐश्वर्य हैं अथवा मुझ यजमानमें धन पदरूपसे स्थितहों मेरे पशु हों ५ । विधि-(६) छठा मंत्र पाठकर अध्वर्यु अपना हृदय स्पर्शकरै [का० ७ । ६ । २३] मंत्रार्थ-(वयम्) हम ऋत्विग्गण (रायः) धनकी (पोषेण) पुष्टिसे (मा) न (वियौष्म) वियुक्त हों अर्थात् ऐश्वर्यसे वंचित न हों ६। विधि-(७)अध्वर्यु यजमानसे मृत्पिण्डरूप पदको लेकर पत्नीको प्रदान करै और नेता (सहकारी अध्वर्यु) सप्तम मंत्र उसे पाठ करावै मंत्रार्थ-(तोतः) कुलवधूमें (रायः) धन वा पशु पदरूपसे स्थित हों अथवा तुममें धन स्थित हों ॥ २२ ॥

प्रमाण-"पृथिव्या ह्येष मूर्धा यद्देवयजनम्" इति तैत्तिरीयश्रुतिः ॥ २२ ॥

विवरण–जिस भूमिमें देवताओंकी प्रीतिसाधनके निमित्त पूजन यज्ञ किया-जाय उसे देवयजन कहते हैं १ ।

(१) मृत्के अन्तरमें प्रविष्ट वर्तुल त्रिकोण वा चतुरस्रादि प्रकार खननोपयोगी चिह्न ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मन्त्र १ ।

समख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा ॥ मा मऽआयुः प्रमोषीर्मोऽअहन्तव वीरं विदेय तव देवि सन्दृशि ॥ २३ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐसमख्य इत्यस्य वत्स ऋषिः । आस्तारपंक्तिश्छन्दः । वाग्देवता । यजमानतत्पत्न्योः परस्परसमंजने वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१) अनन्तर सोमक्रयणीकी दृष्टिके सहित यजमान पत्नीकी दृष्टियोग करे, अर्थात् वे दोनो परस्पर अवलोकन करैं उस समय यजमान पत्नीको यह आशीर्मंत्र पाठ करावे वा अध्वर्यु पाठ करावे. [का० ७ । ६ । २६]

मन्त्रार्थ–हे सोमक्रयणी ! (देव्या) प्रकाशमान (दक्षिणया) यज्ञियप्रधान दक्षिणाके योग्य (उरुचक्षसा) विशालनेत्र वा विस्तीर्ण दर्शनवाली तुम (धिया) प्रकाशित बुद्धिसे (समख्ये) भली प्रकार हमको देखती हो वा तुम्हारी विशाल बुद्धिसे मैं देखीगई (मे) मेरी (आयुः) अवस्था (मा) मत (प्रमोषीः) खण्डि-तकर (तव) तेरी (आयुः) जीवन (अहम्) मैं (मा उ) नहीं खंडितकरूं हूं (देवि) हे मंत्रपूत दिव्य गौ ! (तव) तेरे (सन्दृशि) सुन्दर दर्शनके फलसे (वीरम्) बलीपुत्रको (विदेय) प्राप्त करूं ॥ २३ ॥

विशेष–इस मंत्रसे यह बात प्रगट है कि विधिपूर्वक गौके पूजनसे पुत्रकी प्राप्ति होती है ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १ ।

एष ते गायत्रो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते त्रैष्टुभो भागऽइति मे सोमाय ब्रूतादेष ते जागतो भागऽइति मे सोमाय ब्रूताच्छन्दोनामानाᳫं साम्राज्यङ्गच्छे

तिस्रःसोमाय ब्रूतादास्माकोसि शुक्रस्ते ग्रह्यो वि
चितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ एष त इत्यस्य मन्त्रत्रयस्य वत्स० ऋ० ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । जपे वि० । (४) ॐ आस्माकोऽसीत्यस्य वत्स ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । सोमालंभने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१-२-३) यजमान अध्वर्युको लक्षकरके यह चार मंत्र पाठकरता क्रीत सोमको चार भाग करै [का० ७ । ७ । ८] मन्त्रार्थ-हे अध्वर्यु ! (सोमाय) सोमअधिष्ठात्रीदेवताके निमित्त (मे) मेरे (इति) इस प्रकारके वचन तुम (ब्रूतात्) निवेदन करो कि हे सोम ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह आगे दृश्यमान (भागः) भाग (गायत्रः) गायत्रीसम्बन्धी है. गायत्री छन्दके निमित्त तुम्हारा क्रय है अन्य निमित्त नहीं १ । हे अध्वर्यु ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह (भागः) भाग (त्रैष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्दसम्बन्धी है (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोम देवतामें कहो २ । हे अध्वर्यु ! (एषः) यह (ते) तेरा (भागः) भाग (जागतः) जगतीछन्दसम्बन्धी है (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोमदेवतासे (ब्रूतात्) कहो हे अध्वर्यु (छन्दोनामानाम्) तुम उष्णिक्प्रभृतिसमस्तछन्दोंके (साम्राज्यम्) आधिपत्यको (गच्छ) प्राप्तहो (इति) इस प्रकार (मे) मेरे वचन (सोमाय) सोमके अर्थ (ब्रूतात्) कहो ३ । विधि-(४) फिर यजमान पूर्वमुख बैठकर इस मंत्रसे सोम आलभन (स्पर्श) करै [का० ७ । ७।९] हे सोम ! क्रयमार्गसे प्राप्त हुए तुम (आस्माकः) हमारे (असि) हो (शुक्रः) यह शुक्रसंज्ञक सब (ते) तुम्हारे (ग्रह्यः) ग्रहणयोग्य है (विचितः) यह सब महात्मा तुम्हारे सारासार जाननेमें समर्थ हैं (त्वा) तुझको (विचिन्वन्तु) सारासार विचार कर तुम्हारे सार भागको संचय करैं ॥ २४ ॥

विशेष-जो सोमको छन्दोंका आधिपत्य देकर क्रयकरता है वह अपनोंके आधिपत्यको प्राप्त करता है । प्रमाण "यो वै सोमं राजानꣳ साम्राज्यलोकं गमयित्वा क्रीणाति गच्छति स्वानाꣳ साम्राज्यम्" इति [तैत्तिरीयश्रुतिः] गायत्र्यादिछन्दोंके लोक जहां रहते हैं वह छन्दलोक हैं वहां सोमका आधिपत्य है यह मंत्रसे प्रगट है गायत्रीसम्बन्धीका अर्थ यह कि आप अग्निदेवताके हव्य हो.सामवेदके दैवत ब्राह्मणमें कहा है कि गायत्रीछन्दके मंत्र प्रायशः अग्निजन्य हैं, त्रिष्टुप् छन्द इन्द्रदेवताका हव्य है जगतीछन्दसे विश्वेदेवा देवताओंके हव्य हैं । उष्णि-

कुछन्दसे सविता देवताकी आराधना, अनुष्टुप्से सोम, बृहतीसे बृहस्पति, विराट् छन्दसे मित्रावरुणकी हव्य वा आराधना है । ग्रहशब्दसे सोमरसके आधारका पात्र है, इन पात्रोंका नाम शुक्र इन्द्रवायव अग्नीषोमीय इत्यादि हैं । सारासारका ज्ञान यह कि कौन बस्ती असार और कौन रससे पूर्ण है यह परीक्षाकर पात्रोंमें रक्षा करै ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र ३ ।

अभित्यन्देवꣳसवितारमोण्ण्योः कविक्क्रतुमर्च्चा
मिसत्यसवꣳरत्नधामभिप्प्रियम्मतिङ्कविम् ॥
ऊर्द्ध्वायस्यामतिर्भाऽअदिद्युतत्सवीमनिहिर
ण्ण्यपाणिरमिमीतसुक्क्रतुः कृपास्स्वः ॥ प्रजा
भ्यस्त्वाप्प्रजास्त्वानुप्प्राणन्तुप्प्रजास्त्वमनु
प्प्राणिहि ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअभित्यमित्यस्य वत्स ऋषिः । विराट् ब्राह्मी जगती अथवा अष्टि छं० । सविता दे० । सोमराजमाने वि० । (२) ॐप्रजाभ्यस्त्वेत्यस्य वत्स ऋ० । निचृदार्षी गायत्री छन्दः । सविता देवता । उष्णीषेण ग्रन्थिबन्धने वि० । (३) ॐप्रजास्त्वेत्यस्य व० ऋ० । यजुश्छं० । ग्रन्थिमध्येंगुल्यैकच्छिद्रकरणे वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रको दशवार पाठकरते २ मस्तककी पगडी उत्तरीय वा अन्य शुद्धवस्त्रको द्विगुण वा चतुर्गुणकरके (रस्सीकी समान अमैठकर) उससे दश चुकटी सोम ग्रहणकरै [का० ७, ७, १२–१३] मंत्रार्थ–(तम्) उस (ओण्योः) द्यावापृथ्वीके मध्यमें वर्तमान (देवम्) दिव्यगुणयुक्त सर्वत्रदीप्तिमान् (कविक्रतुम्) बुद्धिके प्रदानकरनेवाले क्रान्तकर्मा (सत्यसवम्) अप्रतिहतक्रिया वा सिद्धप्रेरणावाले (रत्नधाम) रमणीयरत्नोंके धारक पोषक वा दाता वा रत्नरूपब्रह्मविद्याके धाम (अभि प्रियम्) समस्त चराचरके प्रियतम (मतिम्) मननयोग्य अनुपमकल्पनाशक्तिसम्पन्न (कविम्) क्रान्तदर्शी वेदविद्याके उपदेष्टा (सवितारम्) सविता सूर्य देवता अर्थात् सबके उत्पादक परमात्माको (अभ्यर्चामि) सबप्रकारसे पूजन करताहूं (यस्य) जिसकी (अमितिः) अपरिमेय (भाः) दीप्ति (ऊर्ध्वा) गगनमण्डलमें सबके ऊपर विराजती है (सवीमनि) आकाशमण्डलमें अनन्त नक्षत्र-

मण्डल (अविद्युतत्) जिनकी दीप्तिसे दीप्तिमान् हैं अथवा जिसकी आत्मप्रकाशरूप मति सर्वत्र विराजमान है जो सबको कर्मकी अनुज्ञा करता है (हिरण्यपाणिः) ज्योतिरूप हाथ वा प्रकाशमान व्यवहारवाले (सुक्रतुः) सिद्धसंकल्प तथा जिसकी (कृपाः) कृपासे (स्वः) स्वर्ग निर्मित हुआ है उस देवकी पूजा करता हूं १ । **विधि**-(२) दूसरे मंत्रसे उष्णीषके दोनो मुख मिला कर गांठ लगावै [का० ७, ७, १०] **मन्त्रार्थ**-हे सोम ! (प्रजाभ्यः) प्रजा तुमको देखकर सुखी होगी वा प्रजाके उपकारके निमित्त (त्वा) तुमको बांधताहूं २ । **विधि**-(३) तीसरे मंत्रसे गांठके मध्यमें अंगुलीदानपूर्वक एक छिद्र करै जिससे उष्णीषमें बद्ध सोमका श्वासरोध नहो [का० ७, ७, २२] **मन्त्रार्थ**-हे सोम ! (प्रजाः) प्रजा (त्वा) तुझको (अनुप्राणन्तु) श्वास लेतेहुए तुमको अनुसरण करके जीवित रहैं तथा हे सोम ! (त्वम्) तुम (प्रजाः) श्वासलेती प्रजाको (अनु) अनुसरण करो (प्राणिहि) श्वास लो अर्थात् तुम्हारा और प्रजाका कभी श्वासरोध न हो ३ ॥ २५ ॥

प्रमाण-"ओण्योरिति द्यावापृथ्वीनामसु-"[निघं० ३ । ३० । १५]

विशेष-विवर इस कारण करते हैं : कि वायु प्रवेश होता रहै वायुके प्रवेश विना शुष्क नष्ट होनेका भय है कपडा भग्न नहीं करै किन्तु उस ग्रन्थिको ही शिथिल करदे जिससे वायु आती जाती रहै ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र ३ ।

शुक्रन्त्वा शुक्रेण क्रीणामि चन्द्रञ्चन्द्रेणामृतममृतेन ॥ सग्मे ते गोरस्मे ते चन्द्राणि तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्ण्णः परमेण पशुना क्रीयसे सहस्रपोषम्पुषेयम् २६

ऋष्यादि-(१) ॐ शुक्रन्त्वेत्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । हिरण्यमालभ्य जपे वि० । (२) ॐ सग्मेत इत्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पं० छं० । लिङ्गोक्ता देवता । हिरण्येन सोमविक्रयिणोऽभिकंपने वि० । (३) ॐ अस्मेत इत्यस्य व० ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पं० छं० । सोमविक्रयिणः पुरतो गोद्रव्यनिधाने वि० (४) ॐ तपजस्तनूरसीत्यस्य व० ऋ० । भुरि० छं० । अजा दैवता । प्राङ्मुख्यजालम्भने वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) जितने परिमित सुवर्णसे सोमक्रय करना स्थिर किया है वह सोममूल्य सुवर्णखण्ड तथा सोमपुञ्ज स्पर्श करके प्रथम मंत्र पढै [का० ७।८।१६]

मन्त्रार्थ–हे सोम ! (चन्द्रम्) तुम आह्लाद करनेवाले (अमृतम्) स्वादुमें अमृतकी समान (शुक्रम्) दीप्तिमान् हो (त्वा) तुमको (शुक्रेण) दीप्तिमान् (अमृतेन) विनाशरहित (चन्द्रेण) आह्लादकारक सुवर्णसे (क्रीणामि) क्रय करताहूं १ । **विधि**–(२) दूसरे मंत्रसे यह सुवर्ण सोम बेचनेवालेको देकर उसे कंपित करे [का० ७ । ८ । १७] मन्त्रार्थ–हे सोमके बेचनेवाले! (गोः) सोमके मूल्यमें जो गौ तुझको दी थी वह (ते) तेरी गौ फिर लौटकर (अस्मे) यजमानके घरमें स्थित हो सुवर्ण तेरा हो न कि गौ २ । **विधि**–(३ (तीसरे मंत्रसे सोमविक्रेताको फिर सोममूल्यकी प्रतिभू एक गौ प्रदानकरै और दियेहुये सुवर्णको फेर ले [का०७ । ८ १९] मन्त्रार्थ–हे सोमविक्रेता ! (ते चन्द्राणि) तुमको जो सुवर्ण दिये हैं वे (अस्मे) हमारे पास आकर स्थित हों तुम्हारी गौही मूल्य हो सुवर्ण न हो ३ । **विधि**–(१४) चौथे मंत्रका प्रथमार्ध पाठकरते पश्चिमाभिमुख अजाके प्रति कहै और दूसरे आधेको पाठकरके सोमक्रेयको उत्तेजितकरै [का०७। ८। २० ।] मन्त्रार्थ–हे अजे ! तुम (तपसः) पुण्यका (तनूः) शरीर हो तथा (प्रजापतेः) प्रजापतिका (वर्णः) देह (असि) हो इसकारण अतिशय स्तुतियोग्य हो [सोमके प्रति] हे सोम ! (परमेण) उत्तमलक्षणवाले इस अजारूपी (पशुना) पशुद्वारा तुम (क्रीयसे) क्रय किये जाते हो तुम्हारे प्रसादसे (सहस्रपोषम्) पुत्र पशु आदि सहस्रोंकी पुष्टि जिस प्रकार हो तैसे (पुषेयम) मैं पुष्ट हूं वा पुष्ट करनेमें समर्थ हूं ४ ॥ २६ ॥

अथवा–हे अजे ! तुम प्रजापतिके शरीर हो कारण कि प्रजापतिसे उत्पन्न हुई हो प्रजापतिका रूप तुम हो त्रिगुण होनेसे कारण कि अजा प्रतिवर्ष तीनबार प्रसूत होती है इसमें प्रमाण "तपसो ह वा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा" इति श्रुतेः [श० ३ । ३ । ३।८] "सा यत्रिः संवत्सरस्य जायते तेन प्रजापतेर्वर्णः" इति [श० ३ । ३ । ३ । ९] स्वर्गमें स्थित यज्ञिय पदार्थ सोमके लेनेको अजाको लेकर गायत्री गईथी इस कारण अजाका पुण्य शरीर कहा ॥ २६ ॥

विशेष–हस्तमें सुवर्ण ग्रहण करके कोई दस्यु छीन न ले इस भयसे हस्त कम्पित होताहै अथवा अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिसे प्रसन्नताके कारण हाथ कम्पित होताहै ॥ २६ ॥

इस मंत्रमें सुवर्ण सोमका मूल्य और उसका स्वाद अमृतमय कहाहै.इससे विदित है कि सोम बहु मूल्य और स्वादिष्ठ पदार्थ है तथा यज्ञकालमें बहुसुवर्णव्यय होता था. सोमका वर्णन भूमिकामें देखो ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मन्त्र १।

मित्रो न॒ऽएहि॒ सुमि॑त्रधु॒ऽइन्द्र॑स्यो॒रुमावि॑श॒ दक्षि॑णमु॒शन्नु॒शन्त॑ᳪ स्यो॒नः स्यो॒नम् ॥ स्वान॒ भ्राजाङ्घा॑रे॒ बम्भा॑रे॒ हस्त॒ सुह॑स्त॒ कृशा॑नवे॒ते वः॑ सोम॒क्रय॑णा॒स्तान्र॑क्षध्वं॒ मा वो॑ दभन् ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमित्रोन इत्यस्य वत्स ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छन्दः । सोमो देव० । अजां दत्त्वा सोमग्रहणे वि० । (२) ॐउशन्नित्यस्य वत्स ऋ० । भुरि०छं० । सोमो दे० । दक्षिणोरौ वासोबद्धसोमनिधाने वि० । (३) ॐस्वानेत्यस्य वत्स ऋ० । भुरिं०छं० । सोमरक्षका देवताः । सोमविक्रयाधिदेवताभूतगन्धर्वेभ्यः सोमनिवेदने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) वाम हाथसे सोमविक्रेताको अजा प्रदानकरके प्रथम मंत्र पाठकरके दक्षिण हाथसे सोमग्रहण करे [का० ७ । ८ । २१] मन्त्रार्थ-हे सोम! तुम (मित्रः) सखा प्रीतियुक्त बंधुरूप अथवा रविरूप (सुमित्रधः) साधुमित्रवर्गके पालक (नः) हमारे प्रति (एहि) आगमनकरो १ । विधि-(२) अनन्तर अध्वर्यु यजमानकी दक्षिण ऊरुपर वस्त्र बिछाकर उसपर सोम स्थापन करे [का० ७ । ८ । २३] मन्त्रार्थ-हे सोम ! (उशन्) कान्तिमान् ऊरुकी इच्छा करनेवाले (स्योनः) सुखरूप तुम (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यवान् इन्द्ररूप यजमानकी (उशन्तम्) सोमकी इच्छा करनेवाली(स्योनम्) सुखकारी (दक्षिणम्) दहिनी (ऊरुम्) जंघामें (आविश) स्थित हो अर्थात् तुम इसकी इच्छा करो तुम्हारा इस प्रकार यह सम्बन्ध परस्पर सुखकारी होगा २ । विधि-(३) फिर सोम बेचनेवालेके ऊपर दृष्टिपात करके यह तीसरा मंत्र पाठ करे और गौआदि सोमके मूल्यको सोमविक्रयीके अधिदेवता भूतगन्धर्वोंको निवेदन करे [का० ७ । ८ । २४] मंत्रार्थ-(स्वान) शब्द उपदेश करनेवाले (भ्राज) प्रकाशमान (अङ्घारे) पापके शत्रु (बम्भारे) विश्वके पोषक वा विचारविरोधियोंके शत्रु (हस्त) सर्वदा प्रसन्न (सुहस्त) सुन्दर हाथवाले(कृशानो)दुर्बलके जिवानेवाले स्वानादि सोमरक्षक सात देवताविशेष (वः) तुम्हारे (एते) यह (सोमक्रयणाः) सोम क्रय करनेसे प्राप्त आगे स्थापित पदार्थ हैं (तान्) इनको (रक्षध्वम्) तुम रक्षा करो (वः) तुमको शत्रुगण (मा) न (दभन्) पीडा दें अर्थात् शत्रुओंकी बाधा हमको न हो हमारे पदार्थ अपहृत न हों ॥ २७ ॥

विवरण—सोमको बंधन करनेसे कदाचित् उसके अधिष्ठात्रीदेवता क्रोधकरें इस कारण बंधु कहकर स्तुति कीहै १ । देवताओंने सोमवल्ली क्रय करके इन्द्रकी दक्षिण ऊरुपर स्थापित कीथी इस कारण इस प्रसंगमें यजमानको भी इन्द्र कहा जाताहै [तैत्तिरीय] २ ॥ २७ ॥

प्रमाण—"वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध इत्याह शान्त्यै" [तैत्ति०१]"एष वा अत्रेन्द्रो भवति यद्यजमानः" इति श्रुतेः [श०३ । ३ । ३ । १०] "देवा वै सोममक्रीणंस्तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन् स खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेवमाह" इति [तित्तिरिः] । "स्वान भ्राजेत्याह ते चामुष्मिँल्लोके सोममरक्षन्" इति [तैत्तिरीयश्रुतिः] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८—मन्त्र २।

परि॑माग्ने॒ दुश्च॑रिताद्बाध॒स्वा मा॒ सुच॑रिते भज ॥ उदायु॑षा स्वा॒युषोद॑स्थाम॒मृताँ॒२ऽअनु॑ ॥ २८ ॥

ऋष्यादि—(१)ॐपरिमाग्न इत्यस्य वत्स ऋषिः । साम्नी बृहती छं० । अग्निर्देवता । उपविश्य जपे वि० । (२) ॐउदायुषेत्यस्य साम्नी उष्णिक् छं० । अग्निर्देवता । उत्थाय जपे वि० ॥ २८ ॥

अभिप्राय—पापसे निवृत्त होने और धर्ममें प्रवृत्त होनेको मनुष्योंको परमात्माकी प्रार्थना सत्यप्रेमसे करनी चाहिये वह सबका प्रेरक पापसे निवृत्तकर सुचरित्र कर देताहै सुचरित्रका उपदेश इस मंत्रमें है ॥ २८ ॥

विधि—(१) गृहीतसोम यजमान बैठाहुआही इस मंत्रका प्रथमार्द्धपाठ करै अनन्तर उठकर उत्तरार्द्धपाठ करै [का० ७ । ९।१ ।] मंत्रार्थ—(अग्ने) हे अग्निदेवता ! परमेश्वर ! (दुश्चरितात्) पापसे (मा) मुझे (परिबाधस्व) सब ओरसे निवारण करो मैं पापमें प्रवृत्त नहूं (सुचरिते) सदाचाररूप पुण्यमें (मा) मुझ यजमानको (आभज) सब प्रकारसे स्थापित करो १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे उत्थान करै [का० ७ । ९ । ३] मंत्रार्थ—(उदायुषा) उत्कृष्ट चिरजीवनलक्षणवाले आयुसे तथा (स्वायुषा) याग दानादिद्वारा शोभन आयुसे (अमृतान्) सोमादि देवताओंको लक्ष्य करके (अनु) वा अनुसरण करके (उदस्थाम्) मैने उत्थान किया ॥ २८ ॥

कण्डिका २९—मंत्र १ ।

प्रति॒ पन्था॑मपद्महि स्वस्ति॒गाम॑ने॒हस॑म् ॥ येन॒ विश्वाः॒ परि॒ द्विषो॑ वृ॒णक्ति॑ वि॒न्दते॒ वसु॑ ॥ २९ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) प्रतिपन्थामित्यस्य वत्स ऋषिः । निच्यृदार्प्यनुष्टुप्छन्दः । पथो दे० । शकटं लक्षीकृत्य गमने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) सोमकी गांठको मस्तकके ऊपर रखकर दोनों हाथ शरीर और वस्त्रके मध्यमें वा पीठकी ओर करके यह मंत्र पढकर शकटको लक्ष्यकर गमन करै । मंत्रार्थ-(स्वस्तिगाम्) क्षेमसे गमनकरनेके योग्य (अनेहसम्)-पापरूप चोरादिकी बाधासे रहित (पन्थाम्) मार्गको (प्रत्यपद्महि) प्राप्त होते हैं (येन) जिस मार्गसे गमन करनेसे पुरुष (विश्वाः) सम्पूर्ण (द्विषः) चोरादिको (परिवृणक्ति) सब प्रकारसे वर्जित करता है (वसु) धनको (विन्दते) प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

अभिप्राय-मनुष्योंको उचित है कि मार्गमें गमनकेलिये परमात्मासे प्रार्थना करैं जिससे निर्विघ्न प्राप्त हो. ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र ३।

अदि॑त्यास्त्वगसि॒ अदि॑त्यै॒ सद॒ऽआसी॑द ॥ अस्त॑भ्ना॒द् द्याम्वृ॑ष॒भोऽअ॒न्तरि॑क्ष॒मिमी॑त वरि॒माण॑म्पृथि॒व्याः ॥ आसी॑द॒द्विश्वा॒ भुव॑नानि स॒म्राड्विश्वेत्तानि॒ वरु॑णस्य व्र॒तानि॑ ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐअदित्यास्त्वगित्यस्य वत्स ऋ०।स्वाराड् याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनं दे० । कृष्णाजिनास्तरणे वि० । (२) ॐअदित्यै सद इत्यस्य वत्स ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । ग्रन्थिबन्धने वि० । (३) ॐअस्तभ्नादित्यस्य व० ऋ० । स्वाराड् ब्राह्मी० । वरुणो दे० । सोमालंभने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१)प्रथम मंत्रसे शकटके ऊपर मृगचर्म विछावे [का० ७।९।१]मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! इस शकटमें तुम(अदित्याः)अखण्डित पृथ्वीके(त्वक्)त्वचारूप(असि) हो १ । विधि (२) दूसरे मंत्रसे इसके ऊपर सोमकी गांठ रक्खे [का० ७।९।१]मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (अदित्यै) इस अदिति भूमिसम्बन्धी (सदः) स्थानमें (आसीद) सब प्रकारसे स्थित हो २ । विधि-(३) अनन्तर सोमको स्पर्श कर तीसरा मंत्र पाठ करै [का० ७।९।८] (वृषभः) श्रेष्ठ ब्रह्मरूप वरुण (द्याम्) द्युलोकको (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अस्तभ्नात्)स्थितकरता हुआ जिस्से कि वह पतित न हो (पृथिव्याः) पृथिवीके(परिमाणम्) विस्तारको(अमि-

मीत) जान्ताहै इतनी भूमि है इस परिमाणको जान्ता है (सम्राट्) सम्यक् प्रकाशमान ब्रह्म (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) संसारमें (आसीदत) प्रविष्ट हुआ है (विश्वा) सम्पूर्ण (इत्) ही (वरुणस्य) वरुणदेवके (व्रतानि) कर्म हैं अर्थात् जगन्निर्माणादि कर्म वह सदा करता है ३ ॥ ३० ॥

अभिप्राय-वर्षा करनेवाले वृष्टिप्रभृति कारण तेजविशेषको वृषभ कहते हैं यही परमात्माकी शक्ति है वृषभ देवताने द्युलोकको स्तंभित किया है इस समय किसी प्रकारका वृष्टिपातादि उपद्रव नहो एवं अन्तरिक्षको स्तंभित करो जिससे इस समय स्खलनादि कोई उत्पात उपस्थित नहो, और पृथ्वीकी विस्तृतताको भी परिमित करो अर्थात् चारोंओर दृष्टि तीक्ष्ण विधान करो किसी ओरसे कोई शत्रु आक्रमण नकरै, समस्त भुवन इस समय शान्तभाव अवलम्बन करै सम्राट्त्वको प्राप्तहो, यह समस्तक्रिया वरुणदेवताके सन्तोषके निमित्त होती है वरुण दुःखको आवरण करते हैं सो आगे कहते हैं ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

वनेषु व्यन्तरिक्षन्ततान वाजमर्वत्सु पयऽउस्रियासु ॥ हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात्सोममद्रौ ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवनेष्वित्यस्य वत्स ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छ० । वरुणो देवता । कृष्णाजिनेन सहोष्णीषवस्त्रशेषबन्धने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) उष्णीष वस्त्रके शेषभागको कृष्णाजिनके सहित दृढबंधने पर यह मंत्र जप करै [का० ७ । ९ । ९] मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुण देवने (वनेषु) वनमें प्राप्त हुए वृक्षाग्रोंमें वा जलमें (अन्तरिक्षम्) आकाशको (विततान) विस्तार किया है, यद्यपि सर्वगत अन्तरिक्ष है तथापि मूर्तद्रव्यके अभावसे अत्यन्त विस्तारित किया है (अर्वत्सु) घोडोंमें (वाजम्) बलको विस्तार किया है अथवा "वीर्यं वै वाजः पुमाꣳसोऽर्वन्तः" इति श्रुतेः [श० ३।३।४।७।] पुरुषोंमें वीर्यको विस्तार किया है तथा (उस्रियासु) गौओंमें "उस्रियाशब्दो गोनामसु पठितः" [निघंटु २ । ११ । ३] (पयः) दुग्धका विस्तार किया है (हृत्सु) हृदयोंमें (क्रतुम्) संकल्पशक्तियुक्त मनको विस्तार कियाहै (विक्षु) प्रजाओंमें (अग्निम्) जाठराग्निको विस्तार किया है (दिवि) द्युलोकमें (सूर्यम्) सूर्यको (अद्रौ) पर्वतोंमें (सोमम्) वल्लीरूप सोमको स्थापित किया है ॥ ३१ ॥

प्रमाण-"सोममद्रावित्याह ग्रावाणो वा अद्रयस्तेषु वा एष सोमं निदधाति" इति श्रुतेः। पर्वत पाषाणसन्धिमें सोमवल्ली उत्पन्न होती है जिसमें इन दोनों मंत्रोंमें कहे द्युलोकादिके स्तंभनकी शक्ति है उस वरुणरूप परब्रह्मकी हम प्रार्थना करते हैं यह भाव है ॥ ३१ ॥

अभिप्राय-जिसने समुद्रमें जलराशि और उसके गर्भमें अन्तरिक्ष विस्तार किया है, पुरुषजातिमें वीर्य स्थापित किया है, स्त्रीजातिके स्तनोंमें दुग्ध संचार किया है प्राणीमात्रके हृदयमें संकल्प उत्थापित कियाहै जीवमात्रके हृदयमें जाठराग्नि उद्दीपित की है, द्युलोकमें सूर्य स्थापित किया है पर्वतशिखरमें पाषाणकी संधिमें सोमवल्लीकी उत्पत्तिका नियम किया है, वही हमारा उपास्य है उसी को हम नमस्कार करते हैं [ऋ० ४ । ४ । ३०] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

सूर्य॑स्य॒ चक्षु॒रारो॑हा॒ग्नेर॒क्ष्णः क॒नीन॑कम् ॥ यत्रैत॑शेभि॒रीय॑से॒ भ्राज॑मानो विप॒श्चिता॑ ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसूर्यस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । कृष्णाजिनं दैवतम् । शकटस्योपरि युगसमीप एकतमकृष्णाजिनासञ्जने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे अश्वयुक्त शकटके ऊपर सम्मुख भागमें उस कृष्णाजिन आच्छादित उष्णीष वस्त्रमें दृढबंधेहुए सोमको अच्छी प्रकार स्थापित करै, अथवा आसनके लिये जो दो मृगचर्म हैं उनमेंसे एकको शकटके पूर्वभागमें युगके समीप ऊंचे दंडमें लगावे, यदि आसनका एक ही मृगचर्म हो तो उसकी ग्रीवाकी ओरके भागको पृथक् कर शकटके पूर्वभागमें लगावे [का० ७ । ९ । ९]

मंत्रार्थ-हे अपने उदरमें सोम रखनेवाले कृष्णाजिन ! तुम (सूर्यस्य) सूर्यके (चक्षुः) नेत्रमें आरोहणकरो तथा (अग्नेः) अग्निके (अक्ष्णः) नेत्रकी (कनीनकम्) तारापर (आरोह) आरोहण करो अर्थात् सूर्य और अग्निके दृष्टिपथमें गमन करो (यत्र) जहां इन दोनोंके दर्शनमें वा प्रकाशमें (विपश्चिता) सर्वज्ञ सूर्य अग्निद्वारा (भ्राजमानः) प्रकाशित हुआ (एतशेभिः) अश्वोंके द्वारा (ईयसे) गमन करता है ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"एष वास्य खलु रक्षोहणः पन्था योग्निश्च सूर्यश्च" इति [तित्तिरिः ।] सूर्य और अग्निकी दृष्टिका विषय होनेसे मार्गमें कुटिल पुरुष और राक्षसोंकी बाधा नहीं होती दिनमें सूर्य रात्रिमें अग्नि प्रकाश करती है १ । "एतश इत्यश्वनामसु पठितम्" [निघंटु १ । ४ । १०] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि परमात्माकी प्रार्थना करके सोमको राजमार्गसे प्रकाशमें लाना चाहिये ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १।

उस्स्रावेतन्धूर्षाहौयुज्येथामनुश्श्रूऽअवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ ॥ स्वस्तियजमानस्यगृहान्गच्छतम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐउस्रावेतमित्यस्य वत्स ऋषिः । ऊर्ध्वबृहती छंदः। अनड्वाहौ देवते । अनडुद्योजने वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१)इस मंत्रसे सोमवाही दूसरे शकटमें दो वृषभ योजना करे [का०७।९।९] मंत्रार्थ–(उस्रौ) हे अनड्वाहो ! (धूर्षाहौ) शकटधूरके धारण करनेमें समर्थ हो (अनश्रू) तुम शकटवहन क्लेशके कारण अश्रुपात न करना उत्साहसे रहना, (अवीरहणौ) सींगोंसे बालकोंको न मारनेवाले (ब्रह्मचोदनौ) ब्राह्मणोंको यज्ञमें प्रेरण करनेवाले (एतम्) इस शकटमें (युज्येथाम्) युक्त हूजिये (स्वस्ति) कल्याण वा मंगलपूर्वक (यजमानस्य) यजमानके (गृहान्) घरोंकूं (गच्छतम्) जाओ ॥ ३३ ॥

अर्थात्–तुमको शकटमें युक्त देखकर ऋत्विग्गण स्वस्थ होकर अपने २ कार्यविशेषमें मनोयोगी होंगे, अतएव तुम आकर सानन्द शकटमें युक्त हो तथा निरापद् यजमानके घरमें उपस्थित हों ॥ ३३ ॥

विशेष–यद्यपि मूलमें दूसरे पदका उल्लेख नहीं है, किन्तु इससे पहले मंत्रमें दो अश्वोंका उल्लेख है, इस मंत्रमें दो वृषभोंका उल्लेख है इससे यही जाना कि दो शकट होते हैं यह बात २१ कण्डिकामें आगे प्रतीत होगी ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र १।

भद्रोमेसिप्रच्च्यवस्वभुवस्पतेविश्श्वान्यभिधामानि॥मात्त्वांपरिपरिणोविदन्मात्त्वांपरिपन्थिनोविदन्मात्त्वावृकाऽअघायवोविदन् ॥ श्येनोभूत्त्वापरापतयजमानस्यगृहान्गच्छतन्नौसँस्कृतम् ॥ ३४॥

ऋष्यादि-(१) ॐभद्रोमेसीत्यस्य वत्स ऋ० । पूर्वस्य भुरिगार्षी गायत्री छं० । मात्वेत्यस्य भुरिगार्षी बृहती छं० । सोमो देवता । आलब्धसोमं यजमानं प्रति वाचने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ कर यजमान शकट चालन करे [७ । ९ । १९]

मन्त्रार्थ-(मे) हे सोम ! तुम हमारे निमित्त (भद्रः) कल्याणरूप (आसि) हो (भुवः पते) हे भूमिके वा यजमान अध्वर्यु आदिके पालक ! (विश्वानि)सम्पूर्ण (धामानि) पत्नीशालाप्रभृति समस्त स्थानोंको (अभिप्रच्यवस्व) सम्यक्प्रकार गमन करो (त्वा) तुमको (परिपरिणः) सब ओर फिरनेवाले तस्कर (मा) न (विदन्) जाने तथा हमारे मार्गमें लेजाते तुमको (परिपन्थिनः) यज्ञद्रोही (मा विदन्) नजानें (अघायवः) दूसरेका घातकरनेवाले (वृकाः) भेडिये वा विकर्तन-शील दुर्जन (त्वा) मार्गमें तुमको (मा विदन्) न प्राप्त हों (श्येनः)तथा श्येनकी समान वेगगामी होकर (परापत) द्रुत गमन कर (यजमानस्य) यजमानके (गृहान्) घरोंको (गच्छ) चलो (तत्) उन घरोंमें (नौ) हमारा तुम्हारा (संस्कृतम्)सब उपकरणसंयुक्त स्थान है तुम्हारे निमित्त संस्कृत स्थान है ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"प्रच्यवस्व भुवस्पत इत्याह भूतानाᳬह्येष पतिः" इति[तित्तिरिः] ॥ ३४ ॥

विशेष-इतने विधानसे यज्ञसाधक सोमक्रय किया जाता था, इस प्रकार शुद्धिसे देवता भाग ग्रहण करतेथे. अब हवनादिमें बजारसे घी बूरा, पूजाकी हीन सामग्री गली सडी लाकर देवताओंका प्रसन्न करना चाहते हैं, सो क्योंकर होसक्ते हैं. इस कारण देवताओंके निमित्त बहुत शुद्ध पदार्थ देने चाहियें ॥ ३४ ॥

सोमक्रयणी समाप्त ।

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

नमो॑ मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य॒ चक्ष॑से म॒हो दे॒वाय॒ तदृ॒तᳬ स॑पर्यत ॥ दू॒रे॒दृशे॑ दे॒वजा॑ताय के॒तवे॑ दि॒वस्पु॒त्राय॒ सूर्या॑य शᳬसत ॥ ३५

ऋष्यादि-(१)ॐनम इत्यस्य वत्स ऋ० । निचृदार्षी जगती० । सूर्यो दे० । अग्नीषोमीयं कृष्णसारंगं लोहितसारंगं वालभ्य जपे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता प्राचीनवंशा यज्ञशालाके सन्मुख जहां कि उत्तर वेदी प्रस्तुत होगी उस स्थानमें कृष्णसारंग उसके अभावमें लोहित मृग लेकर सोमागमनकी प्रतीक्षाकरे और सोमवाही दो शकटके उपस्थित होनेपर यह मृग(आल-

भन) लेकर यह मंत्रपाठ करे [का० ७ । ९ । २१–२२] मन्त्रार्थ–(मित्रस्य) दृश्यमान चराचरके एक मात्र मित्र (वरुणस्य) समस्त दुःखोंके आवरण करनेवाले अर्थात् वह मित्रवरुण देवतारूपसे वर्तमान जगत्के हितकारी किरणोंसे जगत्को आवरण करनेवाले देवताके (चक्षसे) सन्मुख तथा (महो देवाय) महा तेजरूप प्रकाशमान (दूरे दृशे) दूर वर्तमान प्राणियोंसे भी दीखनेवाले अथवा समस्त जगत्को दूरसेही देखनेवाले (देवजाताय) परब्रह्मसे उत्पन्न वा देवता जिनसे उत्पन्न हुए वा देवताओंपर अनुग्रह करनेको उत्पन्न हुए (केतवे) प्रज्ञारूप प्रज्ञानघन (दिवः पुत्राय) द्युलोकको पुत्रवत् प्रिय वा पुरुरक्षक वा द्युलोकके पालक अधिपति (सूर्याय) सूर्यदेवताके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तत्) वह (ऋतम्) सत्य अवश्य फलप्रद ज्योतिष्टोमरूप कर्म हे ऋत्विजो ! तुम (सपर्यत) अनुष्ठानसे सेवा करो सूर्यके निमित्त यज्ञ करो अथवा ऋत सूर्य्यरूप सत्यब्रह्मकी सेवाकरो (शंसत) सूर्यदेवताकी स्तुति करो शास्त्रोंको पढो कारण कि यज्ञानुष्ठानमें उनकी आवश्यकता होती है ॥ ३९ ॥

प्रमाण–"केतुरिति प्रज्ञानाम"–[निघं० ३ । ९ । १] "सपर्यतिः परिचरणकर्मा" [निघं० ३ । ५ । ३] ॥ ३९ ॥

विवरण–यज्ञशाला दो अंशमें विभक्त होती है प्राचीनवंशा और उदग्वंशा, उदग्वंशा इस समयतक निर्मित नहीं होती यह उत्तरवेदी निर्माणके उपरान्त निर्मित होती है ।

जिस प्रकार इस समय सन्मानार्थ तोपका शब्द करते हैं इस प्रकार सोमके सन्मान और आह्लादके कारण सोमागमनमें प्रथम मृग लेकर उपस्थित होते थे ।

स्तुतिमंत्र दोप्रकारके होतेहैं स्तोत्र और शस्त्र जो मंत्र सोमकार्यमें गाये जाते हैं वे स्तोत्र तथा गद्यपद्यमय स्तुतिको शस्त्र कहते हैं यह सूर्यरूपसे सोमकी प्रार्थना कीहै अध्यात्मपक्षमें परमात्माकी प्रार्थना है [ऋ० ७ । ८ । १२] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र ५ ।

वरु॑णस्योत्तम्भ॑नमसि॒ वरु॑णस्य स्कम्भ॒सर्ज॑नी स्थो॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑न्यसि॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑नमसि॒ वरु॑णस्यऽऋत॒सद॑न॒मासी॑द ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विराड्ब्राह्मी बृहती छं० । वरुणो देवता । विष्कम्भककाष्ठेनशकटप्रतिबन्धने वि० ।

(२) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋषिः । विराड्ब्रा० छं० । वरुणो देव० । शम्याया वृषभमोचने वि० । (३)ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो देवता । आसंदीस्पर्शने वि० । (४) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो देवता । आसन्द्यां मृगचर्मास्तरणे वि० । (५) ॐवरुणस्येत्यस्य वत्स ऋ० । विरा० छं० । वरुणो दे० । कृष्णाजिनोपरि वासोबद्धसोमस्थापने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) शालाके समीप शकटको पूर्वमुख खड़ा कर तिपाईसे बांधै[का० ७।९।२५] मंत्रार्थ-हे काष्ठदण्ड ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त इस शकटमें (उत्तम्भनम्) उत्तम्भनरूपसे व्यवहृत होते हो अर्थात् वस्त्रबद्ध सोमके उन्नमन हो न कि शकटके १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दोनों बैलोंको शम्यासे मुक्त करै [का० ७ । ९ । २६]मन्त्रार्थ-हे शम्ये ! तुम दोनो (वरुणस्य) वरुणकी (स्कम्भसर्ज्जनी) रोधकारिणी (स्थः) हो अर्थात् तुमही शकटमें बैलोंको रुद्धकर वहनकराती हो [प्रथम वरुणसे यहांभी वस्त्रबद्ध सोम लेना वरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तुमको उन्मुक्त करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्युआदि चारों ऋत्विज गूलरकी लकड़ीसे बनीहुई नाभिप्रमाणवाले पायोंसे युक्त अरत्निपरिमित[1] तथा दिव्य कार्पासतन्तुसे मण्डित मञ्चिकाको आसन्दी कहते हैं उसे सोम रखनेको शकटके समीप लावै और हाथसे स्पर्शकर रक्षाकरै [का० ७ । ९ । २७ । २८] मंत्रार्थ-हे आसन्दी ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताकी वा सोमकी प्रीतिके निमित्त (ऋतसदनी) यज्ञकी प्राप्तिका स्थान हो इस सोमवल्लीकी पोटलीके रक्षाका आधार हो ३ । विधि-(४)चौथे मंत्रसे मंचिकापर मृगचर्म बिछावै [का० ७ । ९ । २९] मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! तुम (वरुणस्य) बद्ध सोमके (ऋतसदनम्) यज्ञके निमित्त बैठनेका स्थान (असि) हो अथवा वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त तुमको लायाहूं इस सोमवल्लीकी पोटके रखनेके निमित्त आसन्दीपर तुमको बिछाता हूं ४ । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे मृगचर्मपर सोमवल्लीकी गांठको स्थापन करै [का० ७।९।३०] मंत्रार्थ-हे सोम ! तुम (वरुणस्य) वरुणदेवताके प्रीतिके निमित्त लाये गये हो इस (ऋतसदनम्) यज्ञके निमित्त उपवेशनस्थानरूप आसन्दी (चौकी पीढी) में स्थित मृगचर्मपर (आसीद) सुखसे स्थित हो ॥ ३६ ॥

विवरण-जुएके अन्तभागमें दो छिद्रकर उसमें दो कील जिनको लोकमें सैला

---

१ फैली कनिष्ठिकासे युक्त मुट्ठीसे उपलक्षित हाथ अरत्नि कहाताहै ।

कहते हैं उनको लगाकर जोत बांधदेनेसे बैल इधर उधर नहीं जासकते उन्हीं कीलोंको शम्या कहते हैं.

यह आसन्दी प्राचीनवंशा शालाके पूर्व उदग्वंशा शालाके स्थानमें रखकर उसके पहले प्रस्तुत किये उत्तर दक्षिणकी ओर दीर्घसोमिक वेदीके ऊपर रक्षाकरै इसके पूर्वही उत्तर वेदीके निर्माणका स्थान है. गूलरके काष्ठसे निर्मित "नाभि-परिमाणमें दीर्घ चारों दिशाओंमें अरत्निपरिमित प्रशस्त दीर्घकार्पासतन्तुओंसे मण्डित पीढीको आसन्दी कहते हैं" ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १ ।

यातेधामानिहविषायजन्तितातेविश्श्वापरिभूर स्तुयज्ञम् ॥ गयस्फानःप्रतरणःसुवीरोवीरहा प्रचरासोमदुर्यान् ॥ १० ॥ ॥ ३७ ॥ [८]

इति संहितापाठे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यात इत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । सोमो देवता । प्रवेश्यमानसोमप्रार्थने विनि० ॥ ३७ ॥

विधि–(१) सोमको स्थापित कर इस मंत्रसे प्रार्थना करै [का० ७ । ९ । ३२] मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (ते) तुम्हारा (या) जो (धामानि) प्रातः सवनादिको प्राप्तकर (हविषा) तुम्हारे रसरूप हविसे (यज्ञम्) यज्ञ वा यज्ञपुरुष ब्रह्मको (यजन्ति) ऋत्विक् पूजन करते हैं (ते) तुम्हारे (ता) वे (विश्वा) सम्पूर्णस्थान (परिभूः) तुमसे व्याप्त (अस्तु) हौं (गयस्फानः) गृहकी वृद्धि करनेवाले (प्रतरणः) यज्ञपारको प्राप्तकरानेवाले (सुवीरः) हम ऋत्विज वा यज-मानके पुत्रपौत्रादिसे सम्पन्न तुम (अवीरहा) वीरपुरुषोंको पालनेवाले (दुर्यान्) यज्ञगृहोंको (प्राचर) प्राप्त हूजिये ॥ ३७ ॥

भावार्थ–हे सोम ! ऋत्विग्गण तुमको लेकर जिस जिस स्थान पर जिस जिस समय यज्ञकार्य सम्पन्न करैं उसी उसी स्थानमें उसी उसी समय तुमको जिसप्रकार वहुतायतसे लाभकरसकैं ऐसा करो हे सोम ! तुम यजमानके गृहमें कल्याण वृद्धि करते हो तुम यजमानके परिवार तारनेको नौका हो तुम्हारे प्रसादसे यजमान पुत्रलाभ करै, तुम्हारी कृपासे शत्रु परास्त हों इस यज्ञगृहमें तुम प्रचारित हो [ऋ० १ । ६ । २२] ॥ ३७ ॥

प्रमाण-"दुर्या इति गृहनाम" [निघं० ३ । ४ । ९] "गय इति गृहनाम" [निघं० ३ । ४ । १] ॥ ३७ ॥

विशेष-यज्ञप्रकरणमें यह मंत्र सोमस्तुतिपर है पृथक् ईश्वरस्तुतिपरत्व जानना इस चतुर्थ अध्यायमें वृष्टिसंपादन, शिल्प यज्ञानुष्ठान अग्नि वायु जलका वर्णन, पुनर्जन्म, ईश्वरकी प्रार्थना, पूजन वृद्धिकी प्राप्तिके उपाय सूर्यमहिमा क्रय विक्रयविधि मित्रता चोरदस्युआदिका निवारण, आलोकमें गमन सुवर्णव्यवहार मित्रताआदि शालाप्रवेशसे प्रारंभकर सोमक्रीत कर शालाप्रवेशपर्यन्त वर्णन किया है. पं० दयानंदने इस अध्यायकी भी सर्वथा सूत्र और यज्ञविधिके विरुद्धही व्याख्या की है इस कारण वह अमान्य है ॥ ३७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदांतर्गतवाजसनेयिसंहितायां मंत्रभागे पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्र-कृतमिश्रभाषाभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पंचमोऽध्यायः ५.

सोमनिर्वपण.

चौथे अध्यायमें ऋत्विज्सहित यजमानके शालाप्रवेशसे सोमक्रय करके शाला आगमनतकके मंत्र कहेहैं अब पंचम अध्यायमें आतिथ्येष्टि हविर्ग्रहणादिके मन्त्र कथन करते हैं ।

अग्नेस्तनू,-रापतयेचतुष्कौ ततायनीद्धे, इन्द्रघोषस्तिस्रो, शुश्रतेद्वौ, देवस्यत्वाचतस्रो, देवस्यत्वापञ्च, विभूरसिचतस्रो, ज्योतिरसिषड्, उरुविष्णोतिस्रो, दशत्रिचत्वारिꣳशत् ॥

कण्डिका १-मन्त्र ५ ।

अ॒ग्नेस्त॒नूर॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा॒ सोम॑स्य त॒नूर॑सि॒ वि॒ष्ण॑वे॒ त्वाति॑थेराति॒थ्यम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा श्ये॒ना॒य॑ त्वा सोम॒भृते॒ विष्ण॑वे त्वा॒ग्नये॑ त्वा राय॒स्पोष॒दे विष्ण॑वे त्वा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेस्तनूरित्याद्यस्य मंत्रपञ्चकस्य गोतम ऋ० । स्वराड् ब्राह्मीबृहती छं० । विष्णुर्देवता । हविर्ग्रहणे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकामें पांच मंत्र हैं प्रति मंत्रको पांच पांच वार पाठ करके सोम (निर्वपण) खण्ड२करै.प्रतिपाठमें एक२खण्ड करै अर्थात् पच्चीस खण्ड करै [का० ८ । १ । ४] मन्त्रार्थ–हे सोम ! तुम (अग्नेः) अग्निके (तनूः) शरीर (असि) हो (विष्णवे) परमात्माकी प्रीतिके निमित्त(त्वा)तुमको खण्ड २ करताहूं १ । हे सोम ! तुम (सोमस्य) सोमनामक किसी देवराजाके भृत्य त्रिष्टुप्छन्दके अधिष्ठाताके तृप्तिकारण (तनूः) शरीर (असि) हो (त्वा) तुमको (विष्णवे)विष्णुदेवताकी प्रीतिके निमित्त खण्ड करता हूं २ । हे सोम!तुम (अतिथेः) यज्ञमण्डपमें आयेहुए अतिथिके(आतिथ्यम्) अतिथिसत्कारसे सन्तुष्ट करनेवाले हो अथवा अतिथिसंज्ञक सोमदेवराजके अनुचर जगतीछन्दके अधिष्ठाताका हे हवि ! तुम आतिथ्यनामक संस्काररूप हो (विष्णवे) विष्णुदेवताकी प्रीतिके अर्थ (त्वा) तुमको खण्ड २ करता हूं ३ । हे सोम! (सोमभृते) सोमाहरण करनेवाले (श्येनाय) शत्रुके दमनकरनेको श्येनवत् उद्योगी मुझ यजमानकी कल्याणकामनाके निमित्त यज्ञाधिष्ठात्री (विष्णवे) विष्णुदेवताकी प्रसन्नताके अर्थ (त्वा) तुमको खण्डशः करता हूं अथवा सोमराजाका अनुचर श्येननाम देवता है जो श्येनरूप धारण कर स्वर्गसे सोम लाया उस गायत्रीके अधिष्ठात्री श्येनके तथा विष्णुके निमित्त सोमको निर्वपण करता हूं ४ । हे सोम ! (रायस्पोषदे) धनसम्बन्धी पुष्टि सम्पादन करनेवाले अथवा पुण्य धन क्रयविक्रयादिसे अनेक प्रकारकी पुष्टिकर अपने राजाको पुष्ट करनेवाले अग्निसंज्ञक सोमदेवके अनुचर अनुक्त छन्दके अधिष्ठातादेव (अग्नये) अग्निके निमित्त (त्वा) तुझको निर्वपण करता हूं (विष्णवे) यज्ञके अधिष्ठात्री विष्णु देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको निर्वपण करता हूं ५ ॥ १ ॥

अभिप्राय–विष्णुही सोमराजा हैं उनको हविसे और उनके अनुचर अग्नि आदि देवताओंकी उनके द्वारा उनके सम्बन्धी गायत्रीआदि छन्दोंसे तृप्ति होती है इसमें प्रमाण–"यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोनुचराणि" इति–[तैत्तिरीय० ।] "सा यद्गायत्री श्येनोभूत्वा दिवः सोममाहरत्"–इति श्रुतेः [श० ३ । ४ । १ । १२] गायत्री श्येनरूपसे सोम लाई. प्रथम मंत्रमें गायत्रीछन्दके अधिष्ठात्री अग्निदेवताको सोमका अनुचर जानना चाहिये ॥ १ ॥

अग्निचयन ।

कण्डिका २-मन्त्र १ ।

अ॒ग्नेर्ज॒नित्र॑मसि॒ वृष॑णौ स्थऽउ॒र्वश्य॑स्या॒युर॑सि पु॒रूर॒वाऽअ॑सि ॥ गा॒य॒त्रेण॑ त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ त्रैष्टु॑भेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि॒ जाग॑तेन त्वा॒ छन्द॑सा मन्थामि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेर्जनित्रमित्यस्य पञ्चममन्त्रपर्यन्तस्य गोतम ऋषिः । आर्षीगायत्री छन्दः । शकलादि दे० । प्रथमस्य (१) वेद्यां शकलस्थापने वि० । (२) तस्मिञ्छकले दर्भतृणनिधाने वि० । (३) कुशतृणयोरुपर्यधरारणिनिधाने वि० । (४) अधरारण्युपर्युत्तरारणिनिधाने वि० । (५) अधरारण्यभिमुख उत्तरारणिनिधाने वि० । (६-७-८) ॐगायत्रेत्युत्तरस्य षष्ठमारभ्याष्टममन्त्रपर्यंतस्य मन्त्रत्रयस्य गोतम ऋ० । आर्षी गायत्री त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अरणिमन्थने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१)यज्ञसम्बन्धी वृक्षके खण्डको लेकर वेदीपर उत्तराग्र रक्खै अथवा सोमवल्लीके किसी एक खण्डको प्रथम मंत्रसे वेदीके ऊपर ग्रहण करै[का०५।१।२९] मंत्रार्थ-हे खण्ड ! तुम (अग्नेः) अग्निके (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण (असि) हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उस खण्डपर कुशतरुणको रक्खै [का० ५ । १ । २९] मन्त्रार्थ-हे कुशद्वय ! तुम (वृषणौ) सींचनेवाले अर्थात् अरणिकाष्ठमें अग्निजनन सामर्थ्यको देनेवाले (स्थः) हो २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे इन दोनों कुशाओंपर अधरारणि स्थापन करै [का० ५ । १ । ३०] मंत्रार्थ-हे अधरारणि ! नीचेकी अरणी!अग्निकी उत्पत्तिके निमित्त हमने तुमको स्त्रीरूपमें कल्पना किया है आजसे तुम (उर्वशी) उर्वशी नामवाली(असि)हो ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे आज्यस्थालीसे उत्तरारणि स्पर्श करै [का० ५ । १।३१] मंत्रार्थ-हे स्थालीगत आज्य ! तुम (आयुः) दो अरणि से उत्पन्न अग्निकी आयु(असि) हो ४ । विधि-(५)पंचम मंत्रसे नीचेकी अरणीके ऊपर उत्तर अरणि स्थापन करै[का० ५ । १ । ३२] मन्त्रार्थ-हे उत्तर अरणि ! अग्निके उत्पन्न करनेको हम तुमको उत्तररूपमें कल्पना करते हैं इस कारण तुम (पुरूरवाः) पुरूरवा नामवाली (असि) हो ५ । विधि-(६-७-८) छठे सातवें और आठवें मंत्रसे

अरणीद्वयको मन्थन करके अग्नि प्रकाश करै [का० ९ । २ ।२] मंत्रार्थ–हे अग्ने! (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) छन्दके अधिष्ठाता अग्नि देवताके बलसे (त्वा) तुझको मन्थनसे प्रगट करता हूं (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप्छन्दके अधिष्ठाता इन्द्रदेवताके बलसे (त्वा) तुझको (मन्थामि) दोअरणीके मध्यसे मथन करता हूं हे अग्ने! (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके अधिष्ठाता विश्वेदेवा देवताके बलसे (त्वा) तुमको दोअरणी मध्यसे (मन्थामि) मथन करता हूं ६–७–८ ॥ २ ॥

प्रमाण–"उर्वशी वा अप्सराः पुरूरवाः पतिरथ यत्तस्मान्मिथुनादजायत तदायुः" इति–[श० ३ । ४ । १ । २२] ॥ २ ॥

विवरण–जिस काष्ठखण्डसे अग्नि मथी जाती है उसको अरणी कहते हैं उसमें प्रथम स्थापित अरणिको अधरारणि कहते हैं यही स्त्रीस्थानीय है, एवं इसके ऊपर स्थाप्यमान अरणिको उत्तरारणि कहते हैं यही पुरुषस्थानीय है इसी स्त्रीका नाम उर्वशी और इसी पुरुषका नाम पुरूरवा है इस प्रकार स्त्रीपुरुष संयोगके मन्थनद्वारा अग्नि उत्पत्तिक्रियाको अग्निचयन कहते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र १ ।

भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ॥ मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐभवतन्न इत्यस्य गोतम ऋ०।आर्षी पंक्ति० । निर्मथ्याहवनीयावग्नी दे० । आहवनीये मन्थनोत्थाग्निप्रक्षेपणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे मथित अग्निको आहवनीय अग्निके सहित युक्त करै [का० ९ । २ । ३] मंत्रार्थ–(जातवेदसौ) हे दोनो अग्नि! (नः) हमारे कार्यसिद्धिके निमित्त (समनसौ) एकाग्रमन (सचेतसौ) समानचित्त (अरेपसौ) भ्रमप्रमादादिदोषशून्य अथवा हमपर पाप होनेसे भी कोप न करनेवाले (भवतम्) हूजिये (यज्ञम्) यज्ञको (माहिꣳसिष्ट) मतविनाश कीजिये (यज्ञपतिम्) यज्ञपति यजमानको (मा) मत क्षतग्रस्त होने दो (अद्य) अब (नः) हमको (शिवौ) कल्याणस्वरूप (भवतम्) हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मंत्र १ ।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टऽऋषीणां पुत्रोऽअभिशस्तिपावा ॥ स नः स्योनः सुयजा यजेह देवेभ्यो हव्यꣳ सदमप्रयुच्छन्त्स्वाहा ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नावग्निरित्यस्य गौतम ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । प्रक्षिप्ताग्नेरुपर्याज्यहवने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) आज्यस्थालीसे स्रुवद्वारा आज्य ग्रहण करके इस मंत्रसे अग्निमें आहुति प्रदान करै [का० ५ । २ । ६] मंत्रार्थ-(ऋषीणाम्) वेदविद् ऋत्विजऋषियोंके (पुत्रः) उत्पन्न कियेहुए ऋषिकुमार (वा) या (अभिशस्तिपा) वैकल्यनिमित्त अभिशापसे रक्षा करनेवाला वा दुष्टोंके आक्रमणसे रक्षक (अग्निः) मथित अग्नि (अग्नौ) आहवनीय अग्निमें (प्रविष्टः) प्रविष्ट हुआ (चरति) हविको भक्षण करता है हे अग्ने ! (सः) वह तुम (नः) हमको (स्योनः) सुखरूप होकर (सुजया) सुन्दर यागसे (इह) इस स्थानमें (सदम्) सदा (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित होकर (देवेभ्यः) इन्द्रादि देवतोंके निमित्त (हव्यम्) हवि (यज) उपस्थित करो (स्वाहा) तुम्हारे लिये घृतका श्रेष्ठ होम हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र २ ।

आपतयेत्त्वापरिपतयेगृह्णामितनूनप्त्रेशाक्क रायशक्क्वनऽओजिष्ठाय ॥ अनाधृष्टमस्यनाधृष्यन्देवानामोजोनभिशस्त्यभिशस्तिपाऽअन भिशस्तेन्यमञ्जसासत्यमुपगेषꣳस्वितेमाधाः ॥५॥

ऋष्यादि-(१) ॐआपतयेत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । वायुर्देवता । पात्रे द्विराज्यग्रहणे वि० । (२) ॐअनाधृष्टमित्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । आज्यं दैवतम् । वेदिश्रोणिस्थाज्यपात्रस्पर्शे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) व्रतप्रदान नाम पात्रमें स्रुवद्वारा इस मंत्रको पढकर दोवार आज्यग्रहण करै [का० ८ । १ । १९-२०] मंत्रार्थ-हे आज्य ! (त्वा) तुमको (परिपतये) सर्वज्ञ (तनूनप्त्रे) सब जगतके विस्तार करनेवाले आत्माके पौत्र (शाक्कराय) आकाशके पुत्र (शक्कने) सब कर्मोंमें समर्थ (ओजिष्ठाय) बलवान् (आपतये) सदागतिवायुदेवताके निमित्त(गृह्णामि)ग्रहण करताहूं अथवा हे आज्य! (त्वा)तुझको(आपतये)प्राणदेवताकी प्रीतिके निमित्त "प्राणो वा आपतिः प्राणमेव प्रीणाति" इति[तैत्तिरिः](परिपतये)इष्टप्राप्ति अनिष्टका निवारण चिन्तन कर सब ओरसे रक्षक मनकी प्रीतिके निमित्त तुझे ग्रहण करता हूं "मनो वै परिपतिर्मन एव प्रीणाति"

[तैत्तिरीयः] (तनूनप्त्रे) शरीरके पात न करनेवाली जठराग्निकी प्रीतिके निमित्त (शाक्कराय) शक्तिस्वरूपदेवताके निमित्त (शक्मने) शक्तिमान् पुरुषके सारके निमित्त तुझे ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) वेदीकी दक्षिणश्रोणीपर आज्यपात्र रखकर ऋत्विग्गण और यजमान सब मिलकर पात्रस्पर्शपूर्वक यह मंत्र उच्चारण करें [का० ८ । १ । २४-२६] मंत्रार्थ-हे आज्य ! तुम (अनाधृष्टम्) आजतक किसीसे तिरस्कार न पानेवाले (अनाधृष्यम्) आगे भी किसीसे तिरस्कार न पाने वाले हो आजपर्यन्त सबही तुमको पूज्य जान्ते हैं कारण कि तुमही पूजाके उपयुक्त हो तुम (देवानाम्) देवताओंके (ओजः) सारपदार्थ (अनभिशस्ति) तुम स्वयं अनिन्दनीय (अभिशस्तिपम्) हमको निन्दित कार्यसे रक्षा करनेवाले (असि) हो कारण कि घृतसे हविके सुस्वादित होनेपर कोई निन्दा नहीं करसक्ता इस कारण हे आज्य ! (आअञ्जसा) ऋजु सीधे मार्गसे (अनभिशस्त्येनम्) अनिन्दित मोक्षके प्राप्तकरानेवाले हो (सत्यम्) आज हम सरल अन्तःकरणसे तुमको स्पर्शकर शपथपूर्वक (उपगेषम्) यज्ञ अनुष्ठानका भार ग्रहण करते हैं हे आज्य ! अब (स्विते) शोभनमार्गवाले यज्ञकर्ममें (मा) मुझे (धाः) स्थापन कर अर्थात् हमको उत्कृष्ट मार्ग दिखा जिस मार्गसे आपत्तिरहित हो हम निरापद यज्ञानुष्ठान करसकें ॥ ९ ॥

प्रमाण-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूत आकाशाद्वायुः" इति [तैत्तिरीयारण्यक ८, १] परमात्मासे आकाश आकाशसे वायु उत्पन्न हुई इस कारण पहले मंत्रमें वायुको आत्माका पोता आकाशका पुत्र कहा है ।

पहले मन्त्रका भावार्थ-हे आज्य ! तुमको सदागति (वायु) देवताके उद्देशसे बहुव्याप्त प्रवाहशाली (जल) देवताके उद्देशसे शरीररक्षणकारी (अग्नि) देवताके उद्देशसे सर्वव्यापी (आकाश) के उद्देशसे हमारे आधारभूत (भूमि) देवताके उद्देशसे एवं इस सबमें अधिष्ठित ओजिष्ठ (आत्मा) देवताके उद्देशसे इस पात्रमें ग्रहण करते हैं ॥ ९ ॥

विवरण-जिस पात्रमें आज्य ग्रहणकर ऋत्विग्जन व्रतकार्य सत्यबद्ध होकर अनुष्ठान आरंभ करते हैं उस पात्रको व्रतदानपात्र कहते हैं ओज शरीरकी अष्टम धातु है यही शरीरका सार है इसको ही बल कहते हैं यही ओज जिसके ठीक है उसीको ओजिष्ठ कहते हैं.

---

१ वेदीके आग्नेय और ईशानकोणका अंश स्कन्धदेश है एवं वायव्य और नैर्ऋत्यकोणका अंश श्रोणीभाग कहा जाता है इसप्रकार इसी स्थलमें वेदीकी दक्षिण-श्रोणी कहनेसे वेदीका नैर्ऋत्यकोण जानना ।

कण्डिका६-मन्त्र १ ।

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे॑ व्रतपा या तव॑ तनूरि॒यꣳ सा मयि॒ यो मम॑ तनूरे॒षा सा त्वयि॑ ॥ स॒ह नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒र्मन्य॑ता॒मनु॒ तप॒स्तप॑स्पति॑ः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्न इत्यस्य गोतम ऋ० । विराड्ब्राह्मीपंक्तिश्छं० । अग्निर्देव० । आहवनीयगार्हपत्ययोः समिदाधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) यजमान आहवनीय अग्निमें एक समिधा प्रदानकर इस मंत्रसे दीक्षानुमति प्रदान करे [का० ८ । २ । ४] मन्त्रार्थ-हे (व्रतपाः) ज्योतिष्टोमादि व्रतके पालक (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वे) तुम (व्रतपाः) हमारे व्रतके पालक हूजिये (तव) इस प्रकारके व्रतपालक तुम्हारा (या) जो (तनूः) शरीर है (सा) वह (इयम्) यह शरीर (मयि) मुझमें प्राप्त हो (या) जो (मम) मेरा (तनूः) शरीर है (सा) सो (एषा) यह (त्वयि) तुममें हो (व्रतपते) हे व्रतपालक ! व्रतानुष्ठान कर्म (नौ) हम अग्नि और यजमानके (सह) सग प्रवृत्त हों (दीक्षापतिः) दीक्षाके पालक सोम ! (मे) मेरी (दीक्षाम्) दीक्षाको (अनुमन्यताम्) माने तथा (तपस्पतिः) उपसद्रूप तपके पति सोमदेवता (तपः) मेरे उपसदरूप तपको (अनु) माने ॥ ६ ॥

विवरण-(१) ज्योतिष्टोमादि यज्ञका प्रथम कार्य दीक्षा है यह सोमकी दीक्षा होकर ही पीछे समस्त कार्य होते हैं इस कारण इस मंत्रमें दीक्षाकी प्रार्थना होकर फिर सोमाप्यायन सोमकंडन आदि अनुष्ठान होता है.

(२) सोमयागमें किसी विशेष अग्निको उपसद् कहते हैं इसीकी उपासना उपसदतपस्या है सो आगे विदित होगा ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र २ ।

अꣳशुरꣳशुष्टे देव सोमाप्या॑यता॒मिन्द्रा॑यैकधन॒विदे॑ ॥ आ तुभ्य॒मिन्द्रः॒ प्याय॑ता॒मा त्वमिन्द्रा॑य प्याय॒स्व ॥ आप्या॑यया॒स्मान्त्सखी॑न्त्स॒न्या मे॒धया॑ स्व॒स्ति ते॑ देव सोम सु॒त्याम॑शीय ॥ एष्टा॒ रायः॒ प्रेषे भगा॑यऽऋ॒तमृ॑तवा॒दिभ्यो॒ नमो॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअꣳशुरꣳशु इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्षी बृहती छं० । सोमो दे० । सोमाप्यायने वि० । (२) ॐ एष्टराय इति वत्स ऋषिः । आर्षी जगती० । लिंगोक्ता देवता । सोमपरिचरणे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) ब्रह्मा उद्गाता होता अध्वर्यु अग्नीध्र यह पांचौ ऋत्विक् और छठा यजमान यह इस मंत्रको पढकर सोमको आप्यायन करैं, अर्थात् शुष्कसोमवल्लीको जलसेकादिद्वारा सजीव प्राप्त करैं [का० ८ । २ । ६] [प्रकृति ८४ अक्षर] मन्त्रार्थ-हे (देव सोम) हे सोमदेवता ! (ते) तुम्हारे (अंशुः) सम्पूर्ण अवयव (अꣳशुः) गांठ (एकधनविदे) एक सोमरूपी मुख्य धन प्राप्त करनेवाले अथवा सोम पर जिन घडोंसे जल छिडका जाता है वह एकधन सोमवृद्धिके निमित्त जलकुंभ लाये गये हैं इसके जाननेवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त(आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्त हो हे सोम (तुभ्यम्) तुम्हारे पानकरनेसे (इन्द्रः) इन्द्र (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्त हो (त्वम्) तुम (इन्द्राय) इन्द्रके पानके निमित्त (आप्यायस्व) सब प्रकारसे वृद्धिको प्राप्तहो "उभावेवेन्द्रश्च सोमं चाप्यायति" इति [तैत्ति०] (सखीन्) हे सोम ! सखाकी समान प्रीतिके विषय (अस्मान्) हम ऋत्विजोंको (सन्या) धनदान (मेधया) बुद्धिशक्तिद्वारा (आप्यायस्व) वृद्धिको प्राप्तकर (सोमदेव) हे दिव्यगुणयुक्त सोम ! (ते) तुम्हारे निमित्त (स्वस्ति) कल्याण हो तुम्हारे प्रसादसे मैं (सुत्याम्) सोमाभिषवक्रियाकी समाप्तिको (अशीय) प्राप्तकरूं १ । विधि-(२) फिर यह सकल ऋत्विग्गण अपने २ वामहाथको पत्थरके ऊपर चित्त हाथ करके निह्नवन (एक प्रकारकी वस्तुको अन्य प्रकार विकृत) कर परिचर्या करैं [का० ८ । २ । ९]मन्त्रार्थ-हे सोम!(एष्टाः) हमारे अपेक्षित (रायः) धन (प्रेषे) प्रेष्यमाण [जिसे तुम अवश्यही प्रेरण करो] (भगाय) ऐश्वर्यके निमित्त अथवा अन्न और ऐश्वर्यके निमित्त हमको प्राप्त करो अर्थात् ऐश्वर्य्यादि हमको प्राप्त हो (ऋतवादिभ्यः) अग्निहोत्रियोंको अथवा सत्य बोलनेवाले हमारा (ऋतम्) अवश्यभावियुक्त कर्म सम्पादन करो (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यावापृथ्वीके अभिमानी देवताओंको (नमः) नमस्कार हो हमारी विघ्नरहित कार्यकी प्राप्ति हो "द्यावापृथिव्यामेव नमस्कृत्यास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति" इति [तैत्तिरीयः] ॥ ७ ॥

भावार्थ-प्रेष्यमाण ऐश्वर्यसे प्रादुर्भूत अभीप्सित सम्पत्ति हमको प्राप्त हो हम इस समय सत्यवादी हैं इस कारण हमारी यह प्रार्थना अवश्य ही सत्य होगी द्युलोकसे भूलोकपर्यन्त सबको नमस्कार है ॥ ७ ॥

प्रमाण-"यद्देवस्य शुष्यति यन्म्लायते तदेवास्यै तेनाप्यायति" इति श्रुतेः [तैत्तिरी०] ॥ ७ ॥

विशेष-उलूखलमें मूसलद्वारा सोम कूटने अथवा हाथसे मलने और उस पर जल डालने आदि क्रियाओंको सोमाभिषव कहते हैं नमस्कार करनेसे लोकमें प्रतिष्ठा होती है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ३ ।

यातेऽअग्नेयꣳशयातनूर्वर्षिष्ठागह्वरेष्ठा ॥ उग्रंव चोऽअपावधीत्त्वेषंवचोऽअपावधीत्स्वाहा ॥ या तेऽअग्नेरजꣳशयातनूर्वर्षिष्ठागह्वरेष्ठा ॥ उग्रंव चोऽअपावधीत्त्वेषंवचोऽअपावधीत्स्वाहा ॥ या तेऽअग्नेहरिशयातनूर्वर्षिष्ठागह्वरेष्ठा ॥ उग्रंव चोऽअपावधीत्त्वेषंवचोऽअपावधीत्स्वाहा ॥८॥[४]

ऋष्यादि-(१) ॐयात इत्यस्य गोतम ऋ० । विराडार्षी बृहती छं० । अग्निर्देवता । परिध्याधानात्पूर्वमुपसदहवने वि० । (२-३) ॐयात इति द्वितीयतृतीययोर्वत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छं० । अग्निर्दे० । द्वितीयतृतीयदिनयोर्द्वितीयतृतीयोपसदहवने वि० ॥ ८ ॥

विधि- (१)जुहूआदिमें प्रस्तरको लगाकर परिधिपर स्थापनपूर्वक स्रुवासे उपसद् अग्निमें हवन करे पहले दूसरे और तीसरे दिन उपसद् देवताकी प्रीतिके निमित्त तीन आहुति दे [का० ८ । २ । ३९] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे उपसदनाम अग्ने!(या) जो (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर (अयःशया) लोहमय पुरमें निवासकारी है तथा (वर्षिष्ठा) देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला तथा (गह्वरेष्ठा) असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला है (उग्रंवचः) वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी उग्र वाणीको (अपावधीत्) नाशकारी है (त्वेषम्) असुरोंके कहे देवताओंपर आक्षेपरूप (वचः) प्रदीप्त वाक्यको (अपावधीत्) नष्ट करता हुआ (स्वाहा) इस प्रकारके उपकार करनेवाले तुम अग्निके निमित्त श्रेष्ठ होम हो. १ ।

विधि-(२) दूसरे दिनका दूसरा मंत्र [का० ८ । २ । ३८] (अग्ने) हे अग्निदेवता ! (या) जो (ते) तुम्हारा (रजःशया) रजत पुरमें वास करनेवाला (तनूः) शरीर है जो कि (वर्षिष्ठाः) देवताओंको अभिमत फलका वर्षानेवाला (गह्वरेष्ठा) असुरोंके विषम देशमें स्थित रहनेवाला है (उग्रं वचो अपावधीत्त्वेषं

वचो अपावधीत् स्वाहा) वह तुम्हारा शरीर दैत्योंकी छिन्धि भिन्धिरूप उग्र वाणीको नाश करता हुआ तथा असुरोंके कहे आक्षेपरूप वचनको विनाश करता हुआ इस प्रकारके उपकार करनेवाले अग्निके लिये श्रेष्ठहोम हो । **विधि**–(१) तीसरे दिनका मंत्र । **मन्त्रार्थ**–हे उपसद ! (अग्ने) अग्नि (या) जो (ते) तुम्हारा (हरिशया) सुवर्ण गृहमें वास करनेवाला (तनूः) शरीर है इत्यादि पूर्वोक्तके लिये श्रेष्ठ होम हो ॥ ८ ॥

आख्यायिका–एक समय देवताओंसे पराजित होकर असुरोंने तपकरके त्रिलोकीमें तीन पुर बनाये पृथ्वीमें लोहेका,अन्तरिक्षमें चांदीका, द्युलोकमें सुवर्णका तब देवताओंने अग्निकी उपासना की वह उपसदनामवाली हुई जब वह अग्नि उन पुरोंको जलानेको उनमें प्रविष्ट हुई और जलादिये तब वह तीन पुर अग्निके शरीर हुए इसमें प्रमाण "ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे अयस्मयीमेवास्मिन् लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवि" इत्यादिश्रुतेः [श० ३ । ४ । ४ । ३] असुरोंने पराजित होकर अन्न पान न प्राप्त करनेसे क्षुत्पिपासासे व्याकुल हो जो वचन बोले वह उग्र अथवा क्या हमने वीरहत्यादि महापातक किये हैं. ऐसे क्लेशके सन्तापादि वाक्य दीप्त कहाते हैं इसमें प्रमाण ["अशनायापिपासे ह वा उग्रं वच एनश्च वै वीरहत्यञ्च त्वेषं वचः" इति [तित्तिरिः]

यह कथा अध्यात्मपरत्व भी है जीवके स्थूल सूक्ष्म और कारण तीन शरीर हैं ज्ञानाग्नि उनको भस्मकर जीवके स्वरूपको प्राप्त करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ–हे अग्नि ! तुम्हारे जिस शरीरने इन गृहोंमें वास किया है वह शरीर हमको अभिमत फलदानमें समर्थ हैं, जो शरीर गह्वरादिमें प्रविष्ट है, वह शरीर हमारे उग्रवचन विनष्टकरैं, तथा हमारे कष्टके त्वेषवाक्य नष्टकरैं, अर्थात् महाआपत्ति मनका सन्ताप क्षुधापिपासाके क्लेश हमको प्राप्त न हों ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र १४ ।

तप्तायनीमेसिवित्तायनीमेस्यवतान्मानाथितादवतान्माव्यथितात् ॥ विदेदग्निर्नभोनामाग्नेऽअङ्गिरऽआयुनानाम्नेहियोस्याम्पृथिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामयज्ञियन्तेनत्वादधेविदेदग्निर्नभोना

स्माग्ग्नेऽअङ्गिरुऽआयुनानाम्नेहियोद्वितीयस्याम्पृ
थिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामयज्ञियन्तेनत्वादधेवि
देदग्ग्निर्न्नभोनामाग्ग्नेऽअङ्गिरुऽआयुनानाम्नेहिय
स्तृतीयस्याम्पृथिव्यामसियत्तेनाधृष्टन्नामयज्ञियु
न्तेनत्वादधे ॥ अनुत्त्वादेववीतये ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतप्तायनीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । पृथ्वी देवता । प्रथमरेखाकरणे वि० । (२) ॐ वित्तायनीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्षी गा० छं० । पृथ्वी दे० । द्वितीयरेखाकरणे वि० । (३) ॐअवतादित्यस्य गो० ऋ० । भुरि० छं० । पृथ्वी दे० । तृतीयरेखाकरणे वि० । (४) ॐ अवतादित्यस्य गोत० ऋ० । भुरि० छं० । पृथ्वी दे० । चतुर्थरेखाकरणे वि० । (५) ॐविदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । स्फयेन चात्वाले प्रहरणे वि० । (६) ॐअग्ने अङ्गिर इत्यस्य वत्स ऋषिः । निचृद्ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पुरीषप्रहरणे वि० । (७) ॐ योऽस्यामित्यस्य वत्स ऋ० । यजुश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (८) ॐ विदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देव० । स्फयेन चात्वाले प्रहरणे वि० । (९) ॐ अग्ने अंगिर इत्यस्य वत्स ऋ० । निचृद्ब्राह्मी जगती छं । लिङ्गोक्ता देवता । पुरीषप्रहरणे वि० । (१०) ॐयोऽस्यामित्यस्य वत्स० ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (११) ॐ विदेदग्निरित्यस्य वत्स ऋ० । भुरि० छं० । अग्निर्दे० । स्फयेन चात्वाले प्रहरणे वि० । (१२) ॐ अग्ने अंगिर इत्यस्य वत्स ऋ० । निचृद्ब्राह्मी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । पुरीषप्रहरणे वि० । (१३) ॐयोऽस्यामित्यस्य वत्स ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता देवता । उत्तरवेदिस्थाने मृन्निक्षेपणे वि० । (१४) ॐअनुत्वेत्यस्य वत्स ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । मृदमाहृत्य प्रक्षेपणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१)उत्तर वेदीके निर्माण करनेमें चत्वाल खनन करना होता है इन चार मंत्रसे बराबर सूत रखकर चारों दिशामें चार शम्या गाडकर स्फयद्वारा

चार चतुरस्र [चौकोन] रेखा करै, जिस स्थानमें वेदीनिर्माणके निमित्त मृत्तिका खोदीजाय उस स्थानको चत्वाल कहते हैं, यह चत्वाल प्राचीनवंश शालाके पूर्वमें उदग्वंशशालाके प्रस्तुत करनेको उपयुक्त स्थानत्यागकर उससे पूर्वमें निर्मित करै, पूर्वांशसे पश्चिमांशतक श्रेष्ठ हो चौदह मंत्र हैं [का० ९ । ३ । २० । २५] मंत्रार्थ-(१) हे पृथ्वी ! तुम (मे) हमारे ऊपर अनुग्रह करनेको (तप्तायनी) सन्तप्त दुःखी पुरुषोंको शरण देनेवाली वा निर्धनियोंके आश्रयवाली (असि) हो १ । दूसरी रेखा करै । (२) हे भूमि ! तुम (मे) मेरी दृष्टिमें (वित्तायनी) अनन्तरत्नकी आकर (असि) हो वित्तके निमित्त निर्धन पुरुषको प्राप्त होती हो जिससे वह कृषीआदिसे धन प्राप्त करताहै २।तीसरी रेखा करै (३) हे पृथ्वीदेवि ! (मा) मुझे (नाथितात्) याचनाकी वृद्धिसे (अवतात्) रक्षा करो अर्थात् हम याचना करके निर्वाह न करैं ३ । चौथी रेखा करै (४) हे पृथ्वी ! (मा) मुझे (व्यथितात्)मनकी पीडासे(अवतात्)रक्षाकरो जिससे हम मनोवेदनासे कातर न हों४। विधि-(५) पांचवें मंत्रसे स्फ्यद्वारा चार रेखाके अन्यतर चत्वाल खननकरै [का० २ । ३ । २६] मन्त्रार्थ-हे मृत्तिके ! हम तुमको खनन करते हैं (नभः) नभ (नाम) नामवाली (अग्निः) अग्नि (विदेत्) जानें अर्थात् तुम्हारा अधिष्ठात्री नभ नाम अग्नि यह वात जाने [अग्निका नाम लेकर खोदे] प्रमाण ".स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हराति"इति [श० ३ । ५ : १ । ३१] विधि-(६) छठे मंत्रसे गढेसे खोदी मृत्तिका निकाले [का० ९ । ३ । २७] मंत्रार्थ-(अङ्गिरः) हे कम्पनशील ! (अग्ने) अग्निदेव ! (आयुना) आयु (नाम्ना) नामसे तुम इस स्थानमें (एहि) आओ ६ । विधि-(७) सातवें मंत्रसे उत्तर वेदीके स्थानमें यह सब मृत्तिका निक्षेप करै [का० ३ । ५ । २८] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! जो तुम (अस्याम्) इस दृश्यमान (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (असि) रहते हो इस कारण (ते) तुम्हारा (यत्) जो रूप (यज्ञियम्) यज्ञके योग्य (अनाधृष्टम्) तिरस्कार अयोग्य अनिन्दनीय नाम है (तेन) उस नामसे (त्वा) तुमको (आदधे) इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ७ ॥ विधि-(८) अष्टम मंत्रसे अपर रेखा अवलम्बन कर स्फ्यद्वारा चत्वाल खनन करै [का०९।३।३०-३१] मंत्रार्थ-(नभः) हे मृत्तिके ! तुमको खनन करता हूं नभनामा अग्नि जानै पांचवें मंत्रवत् ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे गर्तसे खोदी मट्टी निकाले । मंत्रार्थ-(अङ्गिरः) कम्पनशीलादि छठे मंत्रवत् ९ । विधि-(१०) दशम मंत्रसे उत्तर वेदीके स्थानमें सब मृत्तिका निक्षेप करै । मन्त्रार्थ-हेअग्ने ! जिस कारण तुम (द्वितीयस्याम्) दूसरी (पृथिव्याम्)

पृथ्वी अर्थात् अन्तरिक्षमें(असि)हो इस कारण तुमको स्थापन करता हूं इत्यादि १०। विधि-(११) ग्यारहवें मंत्रसे और रेखा करै। मन्त्रार्थ-(अंगिरः) इत्यादि छठे और नभादि अष्टममंत्रवत् अर्थ जानना.११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे मृत्तिका निकाले। मन्त्रार्थ-सप्तम नवममंत्रवत् ॥१२॥विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे मृत्तिका निक्षेपकरै। मंत्रार्थ-हे अग्ने ! जिसकारण कि तुम (तृतीयस्याम्) तीसरा (पृथिव्याम्) पृथ्वी द्युलोकमें स्थित (असि) हो इस कारण यज्ञयोग्य नामवाले तुमको स्थापन करता हूं पूर्ववत् १३ । विधि-(१४) चौदहवें मंत्रसे चौथी रेखा खननमृत्तिका निकालना तथा मृत्तिकाप्रक्षेपादि सम्पूर्ण कार्य करै [का० ५ । ३ । ३२] मंत्रार्थ-हे मृत्तिके ! (देववीतये) देवाताओंकी प्रीतिके निमित्त उत्तर-वेदी प्रस्तुत होगी इस कारण पूर्ववत् (त्वा) तुझको (अनु) आहरणादि कर-ता हूं ॥ ९ ॥

विशेष-अग्निमें कम्पन स्वाभाविक है लपट सदा चलायमान रहती है इस कारण अग्निको (अङ्गिराः) कहते हैं। अगधातुसे दोनों शब्द बनते हैं॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र ३ ।

सि॒ᳬह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ कल्पस्व सि॒ᳬह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुन्धस्व सि॒ᳬह्य॑सि सपत्नसा॒ही दे॒वेभ्यः॑ शुम्भस्व ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ सिᳬह्यसीत्यस्य गोतम ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वेदिर्देवता । वेदिसमीकरणे वि० (२) ॐ सिᳬह्यसीत्यस्य गोतम ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । वेदिर्देवता । प्रोक्षणे वि० । (३) ॐसिᳬह्यसीत्यस्य मंत्रस्य गोतम ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वेदिर्देवता । सिकताप्रकिरणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे शम्याके द्वारा ठीक करके वेदीको चारों ओर मध्य भागमें समान करे [का० । ५ । ३ । ३० ।] मंत्रार्थ-हे वेदी ! तुम (सिंही) सिंहनीके समान होकर (सपत्नसाही) शत्रुओंका पराभव करनेवाली (असि) हो (देवेभ्यः) देवताओंके उपकारके निमित्त (कल्पस्व) उत्तर वेदीरूपसे समर्थ हो१। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे वेदीको प्रोक्षण करै [का० ५ । ३ । ३३] मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी!तुम (सिᳬह्यसि सपत्नसाही असि) सिंही हो शत्रुगण तुम्हारे प्रभावसे

तिरस्कृत हैं (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (शुन्धस्व) शुद्ध हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वेदीके कंकरआदि दूर करै । मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदि ! तुम (सिंᳲह्यसि सपत्नसाही असि) सिंही शत्रुगणोंका तिरस्कार करनेवाली हो इस कारण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके लिये (शुम्भस्व) सिकतादिरहित होनेसे शोभित हो ॥ १० ॥

प्रमाण-"वाक्पूर्वमसुरेभ्यः क्रुद्धा सिंही भूत्वा चचार" इति [श० ३ । ५।१। ३२]एक समय वाणी असुरोंसे क्रुद्ध हो सिंहीरूपसे विचरती थी ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ५ ।

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिँᳲ पुरस्तात्पातु प्रचेतास्त्वा रुद्रैᳲ पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्द्दक्षिणतः पातु विश्वकर्म्मा त्वादित्यैरुत्तरतः पात्विदमहन्तप्तं वार्बहिर्द्धा यज्ञान्निःसृजामि ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३-४) ॐ इन्द्रघोषस्त्वेत्यस्य मन्त्रचतुष्टयस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप् । उत्तरवेदिर्दे० । उत्तरवेदिचतुर्दिक्षु मार्जने वि० । (५) ॐ तप्तमित्यस्य गोतमऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टप्छं० । वेदिर्देवता । वेदेर्बहिर्देशे प्रोक्षणीशेषनिनयने विनि० ॥ ११ ॥

विधि-(१-२-३-४) इस कण्डिकाके चार मंत्रोंसे उत्तर वेदीके पूर्वादि चारों दिशाओंमें चारोंओर जलद्वारा हाथसे मार्जन करै [का० ५ । ४ । ११] मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी ! (इन्द्रघोषः) इन्द्र नामसे विख्यात देवता (वसुभिः) आठ वसु-ओंके सहित (त्वा) तुझको (पुरस्तात) पूर्वदिशाकी ओरसे (पातु) रक्षाकरैं१। (प्रचेताः) वरुणदेवता (रुद्रैः) एकादश रुद्रोंके साथ (पश्चात्) पश्चिमदि-शाकी ओरसे (त्वा) तुझे (पातु)रक्षाकरै २ । (मनोजवाः) मनकी समान वेग-वान् यम देवता (पितृभिः) दिव्यपितरोंके साथ (दक्षिणतः) दक्षिणकी ओरसे (त्वा) तुझको (पातु) रक्षा करैं ३ ।(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा देवता जगन्निर्माता (आदित्यैः) बारह आदित्योंके साथ (उत्तरतः) उत्तरकी ओरसे (त्वा)तुझको (पातु) रक्षाकरैं ४ । विधि -(५) पंचममंत्रसे मार्जनावशिष्ट जल वेदीबाहिर्भाग-में दक्षिण भागसे लगाहुआ निक्षेप करै [का० ५ । ४ । १२] मंत्रार्थ-(अहम्) मैं (तप्तम्)असुरनिवारणके निमित्त जिस जलसे प्रोक्षण किया था वह उग्ररूप

होनेसे तत कहाता है तत अर्थात् अग्राह्य (इदम्) यह (वाः) जल (यज्ञात्) यज्ञीयवेदीसे (वहिर्धाः) बाह्यप्रदेशमें (निःसृजामि) फेंकता हूं ॥ ११ ॥

रक्षामें प्रमाण-"असुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त तानिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्तादपानुदत्" इत्यादि [तित्तिरिः ।] एक समय असुर देवताओंके मारनेको आये तब देवसेनापतियोंने चारोंओरसे उनको निराकरण किया ॥ ११ ॥

कण्डिका-१२ मन्त्र ६ ।

सि॒ꣳह्य॑सि॒ स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑स्यादित्य॒वनि॒ स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑सि ब्रह्म॒वनिः॑ क्षत्र॒वनि॒ स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॑सि सुप्रजा॒वनी॑ रायस्पोष॒वनि॒ स्वाहा॑ सि॒ꣳह्य॒स्याव॑ह दे॒वान्यज॑मानाय॒ स्वाहा॑ भू॒तेभ्य॑स्त्वा ॥१२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिꣳह्यसीत्यस्य मन्त्रपञ्चकस्य गोतम० । भुरिग्ब्राह्मीपंक्तिश्छं० वेदिर्देवता । पंचाहुतिहवने वि० । (२) ॐभूतेभ्यस्त्वेत्यस्य गोतम ऋषिः । यजुः० । स्रुग्देवता । स्रुगूर्ध्वकरणे वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) वेदीकी दोनों श्रोणी और दोनों अंशमें तथा नाभिमें किञ्चित् २ सुवर्ण स्थापन करके उसके देखते २ अध्वर्यु जुहूमें आज्यको लेकर पांच मंत्रसे पांच आहुती दे [का० ५।४।१४] तहां पहली आहुति दक्षिण अंश आग्नेय कोणमें । मंत्रार्थ-हे उत्तरवेदी ! विक्रममें असुरोंके नाशकरनेको तुम(सिंही)सिंहीरूप (असि) हो(स्वाहा) तुम्हारे निमित्त यह हवि देतेहैं सुन्दररूपसे ग्रहण करो१। विधि-(२) दूसरी आहुति उत्तर श्रोणी वायुकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तम वेदी ! तुम (आदित्यवनिः) आदित्यगणोंको प्रीतिकरनेवाली (सिंही) सिंहीरूपा (असि) हो (स्वाहा) तुम्हारे निमित्त हवि देते हैं सुन्दररूपसे ग्रहण करो २ । विधि-(३) तीसरी आहुति दक्षिणश्रोणी नैर्ऋत्यकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तर वेदी ! तुम (ब्रह्मवनिः) ब्राह्मण क्षत्रिय जातिकी प्रीतिजनक, पराक्रममें (सिंही) सिंहीरूप (असि) हो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त दीजाती है ३ । विधि-(४)चौथी आहुति उत्तर अंश ईशानकोणमें दे । मंत्रार्थ-हे उत्तर वेदी ! तुम (सुप्रजावनिः)अच्छी प्रजा और(रायस्पोषवनिः)धन और पुष्टिकी देनेवाली पराक्रममें (सिंही)सिंहीरूप (असि) हो (स्वाहा)यह आहुति तुम्हारे निमित्त दीजाती है इसको

श्रेष्ठरूपसे स्वीकार करो ४ । विधि-(५) पांचवीं आहुति उत्तर वेदीके मध्यबिन्दु नाभिमें दे । मन्त्रार्थ-हे उत्तरवेदी ! तुम विक्रममें (सिंही) सिंहीरूपा (असि) हो (यजमानाय) यजमानके उपकारके निमित्त (देवान्) देवताओंको (आवह) यहां लाओ (स्वाहा) यह हवि तुमको दीजाती है सुन्दररूपसे ग्रहण हो । विधि-(६) छठे मंत्रसे वेदीके ऊपर जुहूको ग्रहणकरै [का० ५ । ४ । १५] मन्त्रार्थ-हे घृतयुक्त जुहू ! (भूतेभ्यः) जरायुजादि सब प्रकारके प्राणियोंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको वेदीके ऊपर ग्रहण करताहूं तुम जरायुजादिके भाग हो ६ ॥ १२ ॥

प्रमाण-"तेभ्योपक्रम्योत्तरवेदी सिंहीरूपं कृत्वोभयानन्तरातिष्ठत्" इति[तैत्ति०]. एक समय उत्तरवेदीदेवता वाक्देवतोंको छोड देवता असुर दोनोंके मध्यमें सिंही-रूपसे स्थित हुई थी वह आशय इस मंत्रमें है ॥ १२ ॥

आशय-यज्ञसे चराचरका उपकार होता है इस कारण यज्ञसाधन अवश्य है "भूतेभ्यस्त्वेतिस्रुचं गृह्णाति य एव देवा भूतास्तेषां तद्भागधेयं भवति तानेव तेन प्रीणाति" इति [तित्तिरिः] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र ४ ।

ध्रुवोसिपृथिवीन्दृꣳहध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षन्दृꣳहा च्युतक्षिदसिदिवन्दृꣳहाग्नेःपुरीषमसि ॥१३॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐध्रुवोसीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्दे० । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (२) ॐध्रुवक्षिदसीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्देवता । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (३) ॐअच्युतक्षिदित्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । परिधिर्दे० । वेदिनाभिपरिधाने वि० । (४) ॐ अग्नेरित्यस्य गोतम ऋ० । दैवी जगती० । संभारो देवता । गुग्गुलुप्रभृतिसंभारसमूहनिर्वपने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१-२-३) देवदारुकाष्ठकी बनी तीन परिधियोंके द्वारा उत्तर वेदीकी नाभिसे प्रथमके तीन मंत्रोंसे दर्शपौर्णमास इष्टिकी समान पश्चिम दक्षिण उत्तर तीन दिशाओंमें परिधि करै [का० ५ । ४ । १६] मंत्रार्थ-हे मध्यम परिधि ! तुम (ध्रुवः) स्थिर (असि) हो (पृथिवीम्) इस स्थलकी पृथ्वीको (दृꣳह) दृढकरो हे दक्षिण परिधि ! तुम (ध्रुवक्षित्) स्थिर यज्ञमें निवास करती (असि) हो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृꣳह) दृढकरो २ । हे उत्तरपरिधि ! तुम (अच्युत क्षित्) विनाशरहित यज्ञमें निवास करती (असि) हो (दिवम्) द्युलोकको (दृꣳह) दृढ-

करो आशय यह कि तीनो लोकोंका उत्पात नहो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे नाभिके मध्यविन्दुमें सम्भार (गूगल तेजपत्र भेडके वाल) स्थापन करें [का० ५ । ४ । १७] मन्त्रार्थ-हे सम्भार ! तुम (अग्नेः) अग्निके (पुरीषम्) पूरक हो "अग्नेर्ह्येतत् पुरीषं यत्संभाराः" इति [तैत्तिरी०] ॥ १३ ॥

कण्डिका-१४ मंत्र १ ।

युञ्जते॒ मन॑ऽउ॒त यु॑ञ्जते॒ धियो॒ विप्रा॒ विप्र॑स्य बृह॒तो वि॑प॒श्चित॑: ॥ वि होत्रा॑ दधे वयुना॒विदेक॒ऽइन्म॒ही दे॒वस्य॑ सवि॒तुः परि॑ष्टुति॒: स्वाहा॑ ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐयुञ्जतेमन इत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । स्वराडार्षी जगती छं० । सविता दे० । शालाद्वार्य्येऽग्नौ हवने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) इस समयतक यह आहवनीय गार्हपत्यरूपसे अवस्थितहै इस मंत्रसे इस अग्निमें आहुति प्रदान कर हविर्धानारम्भ करे अर्थात् मंडप वनाकर अध्वर्युशालामें प्रवेश कर आज्यका संस्कार कर चारवार ग्रहण किये आज्यको परिस्तरण समिदाधानपूर्वक अग्निमें आहुति दे [का० ८ । ३ । २९] मन्त्रार्थ-(बृहतः) वेदपाठसे महत्त्वको प्राप्त (विपश्चितः) विचक्षण सर्वज्ञ (विः ब्राह्मण यजमानके सम्बन्धी (विप्राः) ब्राह्मण ऋत्विगादि (होत्राः) हवनकरनेमें व्रती (मनः) मनको लौकिक चिन्तासे निवारण करके यज्ञचिन्तामें (युञ्जते) लगाते हैं (उत धियः) और इन्द्रियोंको भी यज्ञकार्यमें (युञ्जते) युक्त करते हैं (वयुनावित्) सव प्राणियोंकी मनोवृत्तिके जाननेवाले साक्षी (एकः) अद्वितीय उस एकहीने (इत् विदधे) इन ब्राह्मणोंकी मनोनियमनादि सामर्थ्यको रचा है जिस कारण कि (सवितुः) प्रेरक अन्तर्यामी (देवस्य) देवपरमात्माकी (परिष्टुतिः) सदा कहीहुई स्तुति (मही) महान् है (स्वाहा) उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं सुन्दर रूपसे ग्रहण हो [ऋ० ४ । ४ । २४] ॥ १४ ॥

आथर्वणिकाः-"यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः" इति । बृहदारण्यकेऽपि [४ । २ । २४ । का० ४ । ४ । २४] "स एव सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच" इति । श्वेताश्वतराश्च "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च" इति ॥ १४ ॥

अर्थान्तर-(विप्राः) ऋत्विज् (विपश्चितः) "यज्ञो वै विपश्चित्" इति श्रुतेः [श० ३ । ५ । ३ । ११] यज्ञकर्ममें मन बुद्धि और वाणीको लगाते हैं जो यज्ञ

(विप्रस्य) फलदान प्राप्त क्रियाकी शक्ति हैं सर्वसाधनसम्पन्न सात वषट् करनेवालोंको (विदधे) विधानकरता है उसमें (वयुनाविदेकः) त्रिवेदज्ञानवान् एक ब्रह्माही है सविता देवकी महान् स्तुति है ब्रह्मादि ऋत्विज जो कर्म करते हैं वह सविता देवताकी प्रेरणासे ही है ॥ १४ ॥

विवरण–वेदीके पूर्वदिशामें स्थापित अग्निको आहवनीय और पश्चिमस्थापित अग्निको गार्हपत्य कहते हैं, इस समय प्राचीनवंशाशालाके मध्यमें ऐष्टिक वेदी है उस शालाके आगे ३६ पद दीर्घ सोमकी वेदी करै उस वेदीके पूर्व स्थापित आहवनीय अग्निके पूर्व,उदग्वंशा शालाकी पूर्वसीमामें उत्तर वेदीनामक एक नवीन वेदी करें, इस प्रकार मध्यप्राप्तहुई इस आहवनीयको उत्तर वेदीके सम्बन्धसे गार्हपत्य कहते हैं.

आहवनीय अग्निके ईशान और अग्निकोणमें सोमादि हव्यवाही दोनों शकटकी रक्षा होतीहैं, इन शकटोंको हविर्धान अर्थात् देवगणके हव्यवाही शकट कहते हैं, यह वृष्टि वा धूपसे न विगडैं इस कारण इनकी रक्षाके निमित्त दो प्रकोष्ठका एक मण्डप निर्माण करै यह मण्डप उदग्वशाशालाकी पूर्णसीमामें उत्तर वेदीके किंचित् पश्चिममें सोमकी वेदीके दक्षिणमें निर्माण करै, इस स्थलमें प्रथम यही दो शकट प्राप्त करै, पीछे उसके ऊपर मण्डपरचना करै, इसका नाम हविर्धान मण्डप है, यहांसे आहुतिप्रदानक्रियाको हविर्धानके निमित्त प्रारंभ करते हैं यह दो शकट सावित्र होमके निमित्त हैं तदाह तैत्तिरिः–"सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयति" इति ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १।

इ॒दं विष्णु॒र्विच॑क्रमे॒ त्रे॒धा नि द॑धे प॒दम् ॥ समू॑ढमस्य पा॒ᳪं सु॒रे स्वाहा॑ ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इदंविष्णुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । शालाद्वार्येग्नौ हवने वि० ॥ १५ ॥

विधि– (१)उदग्वंशा शालाको दक्षिण ओर करके दक्षिण शकट [आहवनीय अग्निके आग्नेय कोणमें रक्षित] के निकट होकर पथिमध्यमें उसके दक्षिण चक्रमें यह मंत्र पढकर आहुति दे तात्पर्य यह कि घृतको संस्कार कर चारवार ग्रहण किये हुएको लेकर दक्षिण हविर्धानके दक्षिण चक्र मार्गमें सुवर्णको रखकर शालाद्वारकी अग्निमें होम करै [का० ८ । ३ । ३१] **मन्त्रार्थ–**(विष्णुः) सर्वव्यापी

त्रिविक्रमावतारधारी विष्णुने (इदम्) इस चराचर जगत्को (विचक्रमे) विभक्तकर आक्रमण किया है (त्रेधापदम्)प्रथम भूमि दूसरा अन्तरिक्ष और तीसरा द्युलोकमें पद (निदधे) धारण किया है अथवा वह सर्वव्यापक अग्नि वायु,सूर्यरूपसे व्याप्त है (पांसुरे) इस विष्णुके पदमें (समूढम्) सम्यक् प्रकार विश्वअन्तर्भूत है(स्वाहा) उस परमात्मा देवताके निमित्त हविर्दान करते हैं अथवा (अस्य विष्णोः) इन विष्णुका अद्वैताख्य पद वा स्वरूप (समूढम्) अकृतात्माओंको दुर्लक्ष्य है जैसे रजस्थलमें रक्खी हुई वस्तु नहीं देखीजाती है तदुक्तम् "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति [ऋ० १ । ७] ॥ १५ ॥

भावार्थ-सर्वव्यापी परमात्माने इस चराचरको आक्रमण किया है भूलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोकमें यथाक्रमसे अग्नि वायु और सूर्य पद स्थापन किये हैं इनका पद प्रत्येक रजोगुणरूप धूलिमें अन्तर्हित हुआ है हम इस पदके उद्देशसे यह आहुति प्रदान करते हैं सम्यक् प्रकार स्वीकृत हो ['वामनो ह विष्णुरास' श० १ । २ । ५ । ५ ।] वामनावतारकी कथा गर्भित है,निरुक्तकारका कथन-"यदिदं किंच विक्रमते विष्णुस्त्रिधा निधत्ते पदम् त्रेधाभावाय पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः । समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णनाभः । समूढमस्य पांसुरे प्यायनेऽन्तरिक्षे पदं न दृश्यतेऽपि वोपमार्थे स्यात्समूढमस्य पांसुर इव पदं न दृश्यत इति पांसवः पादैः सूयन्त इति वा पन्नाः शेरत इति वा पंसनं या भवन्तीति वा"-[निरु० १२ । १९ ।] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

इरा॑वती धेनु॒मती॒ हि भू॒तꣳ सू॑यव॒सिनी॒ मन॑वे दश॒स्या ॥ व्य॑स्कभ्ना॒ रोद॑सी विष्ण॒वेते॑ दा॒धर्त्थ॑ पृ॒थि॒वीम॒भितो॑ म॒यूखैः॒ स्वाहा॑ ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इरावतीत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुर्देव० । उत्तरशकटसंबंध्युत्तरचक्रमार्गे चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) आहवनीय अग्निके ईशानकोणमें रक्षित शकटको उत्तर शकट कहते हैं प्रतिप्रस्थाता और अध्वर्युके दियेहुए स्रुवा और स्थालीको लेकर उत्तर हविर्धानके दक्षिण चक्रमार्गमें सुवर्ण रखकर चारवार लिये हुए घृतको हवन करे [का० ८ । ३ । ३५] मन्त्रार्थ-(रोदसी) हे द्यावापृथ्वी! तुम इस यजमानके कल्याणार्थ (इरावती) अन्नशस्यवाली (धेनुमती) बहुत धेनुओंसे युक्त (सूयव

स्निर्ना) बहुत उत्कृष्ट खाद्यपदार्थवाली (मनवे) विज्ञानकी बढानेवाली अथवा यजमानको (दशस्या) यज्ञसाधनोंकी देनेवाली (भूतम्) हो (विष्णो) हे सर्व-व्यापी परमात्मन्! (एते) इन द्यावापृथ्वीको (व्यस्कभ्नाः) विभक्तकर स्तंभित किये हो. और (पृथ्वीम्) पृथ्वीको (मयूखैः) अपने तेजोंसे वा वाराहादि अनेक अवतारोंसे वा सर्वदिग्व्यापी अनुपम अमित किरणोंके प्रभावसे (अभितः) सब ओर से (दधर्थ) धारण कररहे हो (स्वाहा) उन विष्णुके निमित्त आहुति देते हैं [ऋ० ५ । ६ २४] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र ४।

देवश्श्रुतौ देवेष्वाघोषतम्प्राची प्प्रेतमध्वरङ्कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञन्नयतम्मा जिह्वरतम्॥ स्वङ्गोष्ठमावदतन्देवी दुर्य्येऽआयुर्म्मा निर्व्वादिष्टम्प्रजाम्मा निर्व्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन्पृथिव्याः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐदेवश्रुतावित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । अक्षधुरौ दे० । पत्न्याक्षधुराञ्जने वि० । (२) ॐप्राचीप्रेतमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । निचृदार्षी गायत्री छं० । हविर्धानं दैवतम् । हविर्धान-शकटाभिमन्त्रणे वि० । (३) ॐस्वंगोष्ठमित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । भुरि-गार्षी गायत्री छं० । अक्षखर्जने वि० । (४) ॐ अत्ररमेथामित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । याजुषी पं० छं० । वेदिनिकटे स्थापितशकटद्वयाभिमन्त्रणे वि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) जहां हविर्धाननामक शकट रक्षा करनेको मण्डप प्रस्तुत किया है उसके समीप हविर्द्धान द्वारमें शकटके उपस्थित होनेपर प्रतिप्रस्थाता (अध्वर्यु का प्रधान सहकारी ऋत्विक् इसको अध्वर्युसे आधी दक्षिणा मिलती है) यजमान-पत्नीको वहां उपस्थित करै पत्नी हुतशेष आज्य लेकर यह मंत्र पाठकर शकटकी धुरीके अग्रभागको सिक्तकरै [का० ८ । ३ । ३२]मन्त्रार्थ–हे अक्षधुरौ ! तुम (देवश्रुतौ) देवसभामें प्रसिद्ध (देवेषु) देवताओंमें (अघोषतम्) यह बात कि यजमान यज्ञ करता है ऊंचे स्वरसे कहो १ । विधि–(२) अनन्तर शकटके यथास्थानमें उपस्थित होनेसे यजमान यह मंत्र पाठ करके इसकी प्राङ्मुख दृढ-रूपसे रक्षा करै[का०८।४।३]मन्त्रार्थ–हे दोनों हविर्धान शकट! (अध्वरं कल्पयन्ती) इस यज्ञकर्मको समर्थन करते हुए (प्राची] पूर्वमुख (प्रेतम्) जाओ (यज्ञम्)

इस हमारे यज्ञको (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्वलोकवर्तीदेवताओंके निकट (नयतम्) प्राप्त करो (मा जिह्वरतम्) सावधान,कुटिल होकर भूमिपर पतित न होना २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यजमान अक्षको आघातकर शब्द करै [का० ८ । ४।४ ।] मंत्रार्थ-(देवी दुर्ये) गृहसदृश शकटद्वयरूपवाले दोनों देवता (स्वम्) अपने (गोष्ठम्) गोशालामें (आवदतम्) सब प्रकारसे कहो अर्थात् तुम्हारे वाहक पशुगणके रहने योग्य उपयुक्त स्थान भी यजमानके घरमें अपर्याप्त हैं इस प्रकार आदेश करो(आयु) यजमानकी जबतक आयु है तबतक पशु धन आदिसे रहित (मा)मत (निर्वादिष्टम्) उच्चारण करो (प्रजाम्) यजमानके पुत्रादिको (मानिर्वादिष्टम्) दुष्टवाक्य मत कहो यजमानकी आयु और प्रजावृद्धिकी अनुमति करो[आशय यह कि अक्षके शब्दसे आयु और प्रजानिराकरण न हो क्योंकि दोनो ओर बंधी अक्ष वरुणदेवतारूप दुष्ट वाक् है सो शापरूप वाक्यके परिहारार्थ इस मंत्रसे आशीर्वाद प्रार्थना किया है. तथा च श्रुतिः "वरुणो वा एष दुर्वागुभयतो बद्धो यदक्षः" इति [श० ३। ५ । ३ । १८] विधि-चतुर्थ मंत्रसे उत्तर वेदीके पश्चिममें तीन परिक्रमा हो जाने पर दोनो शकटको मध्यफलकारधास्थ करके स्थापन कर अभिमंत्रित करै [का० ८ । ४ । ५] मंत्रार्थ-हे शकटद्वय ! (पृथिव्याः) पृथ्वीके (अत्र) इस (वर्ष्मन्) भूमिके शरीरभूत विस्तीर्ण इस रमणीक देशमें (रमेथाम्) आनन्दसे वास करो ॥ १७ ॥

प्रमाण-"वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्" इति तित्तिरिः । "गृहा वै दुर्याः" इति श्रुतेः [श० ३ । ५ । ३ । १८]

शकटआदिका स्थापन धुरीको घृत लगाकर करना उचित है जिससे मोरचा आदि न लगे ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र २ ।

विष्णोर्नुकंवीर्य्याणिप्रवोचंयःपार्थिवानिविममेरजाᳪसि ॥ योऽअस्कभायदुत्तरᳫसधस्थंविचक्रमाणस्त्रेधोरुगायोविष्णवेत्त्वा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐविष्णोर्नुकमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । स्थूणानिखनने वि० । (२) ॐविष्णवे त्वेत्यस्यौतथ्योदीर्घतमा ऋ० । यजुश्छन्दः । विष्णुर्देवता । दक्षिणतः स्थूणोपनिघाते वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१)अध्वर्यु इस मंत्रसे दोनो हविर्धानको परिक्रमण कर दक्षिण हविर्धानको स्तंभपर स्थित करे शकट बांधनेके निमित्त स्थूणको अग्निकोणमें गाडे[का० ८।४।६।] मंत्रार्थ-(विष्णोः) सर्वव्यापी विष्णु भगवानके (नुकम्) किन किन (वीर्याणि) कर्मोंको(प्रवोचम्) मैं कहूं अर्थात् परमात्माकी क्या स्तुति करूं उसकी महिमा असीम है (यः) जिस परमात्माने (पार्थिवानि रजांसि)पृथ्वी अन्तरिक्ष द्युलोकादिस्थान वा सम्पूर्ण पार्थिव परमाणुतक (विममे) निर्माण किये हैं वा सब परमाणुतक गणित किये हैं (यः) जो परमात्मा (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन लोकमें अग्नि वायु सूर्य रूपसे तीन पद धारण करता हुआ और (उरुगायः) बहुत अर्थोंको वेदद्वारा उपदेश करनेवाला अथवा उरु गमनवाला वा महात्माओंसे स्तुतिको प्राप्त (उत्तरम्) ऊपरके (सधस्थम्) देवताओंके स्थानरूप द्युलोकको (अस्कभायत) स्तंभित किया है। विधि-(२) अग्निकोणमें स्थूणको गाडे [का० ८।४।७] मंत्रार्थ-हे स्थूणकाष्ठ ! (विष्णवे) सबमें व्यापक विष्णु देवताकी प्रसन्नताके निमित्त (त्वा) तुझे गाडता हूं ॥ १८ ॥

प्रमाण-"लोका रजांस्युच्यन्ते" [निरु०४।१९] [ऋ० २।२।२४] ॥१८॥

भावार्थ-जिस परमेश्वरने परमाणुओंसे सकल जगत्को निर्माण किया है और अन्तरिक्ष द्युलोकको ऊपर भागमें स्थापित किया है तथा अग्नि वायु सूर्यको त्रिलोकमें स्थापित किया है और तीन लोकमें जो अग्नि वायु सूर्यकी स्तुतिसे स्तुतिको प्राप्त होता है उस परमात्माकी अनन्त महिमा है उसकी स्तुति करनी सबको उचित है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १।

दिवोवाविष्णऽउतवापृथिव्यामहोवाविष्णऽउरोरुन्तरिक्षात् ॥ उभाहिहस्तावसुनापृणस्वाप्रयच्छदक्षिणादोतसव्याद्विष्णवेत्वा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदिवोवेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । निचृदार्षी जगती० । विष्णुर्देव० । हविर्धानोपस्तम्भने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता इस मंत्रसे उत्तर शकटको खडा करता हुआ भूमिमें पूर्ववत् स्तंभको खनन कर गाडे [का० ८।४।८-९] मन्त्रार्थ-हे (विष्णो) परमात्मन् ! (विष्णो) सर्वव्यापिन् ! (दिवः) इस महामण्डल द्युलोकसे (वा) तथा (पृथिव्याः) भूलोकसे (उत वा) और (महः) महान् (उरोः)

विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (वा) या लायेहुए (वसुना) धनसे (उभाहि) दोनोही अपने (हस्ता) हाथ (पृणस्व) पूर्ण करो तब धनपूर्ण (दक्षिणात्) दहिने (उत) वा (सव्यात्) वाम हस्तसे (आप्रयच्छ) अनेक प्रकारके धनरत्न हमको प्रदान करो [हे काष्ठस्तम्भ] (विष्णवे) विष्णुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको गाडता हूं ॥ १९ ॥

आशय-परमात्माकी प्रार्थना सबको करनी उचित है हे परमात्मन् ! कृपाकर हमको आप वामदहिने अपने दोनो हाथोंसे सब प्रकारके धन दान करो वा अपना ज्ञान दो हाथ वर्णन करनेसे साकारता है "अथाकारचिन्तनं देवतानां पुरुषविधाः स्युः" [निरु०] ॥ १९ ॥

सावधान-दयानन्दने अपने भाष्यमें भाषाका पदार्थ करते समय (हस्ता) यह शब्दही छोडदिया जिससे कोई परमात्माको हाथवाला न जानै ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ॥ यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐप्रतद्विष्णुरित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्० । विष्णुर्दे० । मध्यमच्छद्यालम्भने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) यह मन्त्र उच्चारण कर मध्यमछदिका अवलम्बन करै (मध्यमछदि गृहाच्छादक विस्तृत तृणसमूह) [का० ८ । ४ । १३] मन्त्रार्थ-(तत्) वह (भीमः) जिससे सब चराचर भीत होता है "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः" इति श्रुतेः । (मृगः) शुद्ध करनेवाला (कुचलः) पृथ्वीमें मत्स्यादिरूपसे विचरनेवाला(गिरिष्ठाः)गिरि वेदवाणी वा देहमें अन्तर्यामी रूपसे स्थित होनेवाला वा शिवरूपसे पर्वतपर स्थित[अथवा न इवार्थमें भी आता है] (गिरिष्ठाः) पर्वतमें स्थित (कुचरः) कुत्सिताचारी प्राणिवधसे जीनेवाले (भीमः) भयंकर (मृगोन) सिंहकी समान (विष्णुः) सर्वव्यापी परमात्मा (वीर्य्येण) साधारण वीरकर्मसे (स्तवते) स्तुतिको प्राप्त होता है (यस्य) जिस विष्णुके (ऊरुषु) महान् (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) पादप्रक्षेपस्थानवाले लोकोंमें (विश्वा) सम्पूर्ण प्राणिजात (अधिक्षियन्ति) निवास करते हैं ॥ २० ॥

अथवा (भीमः मृगोन) भयंकर नृसिंहरूपधारी अथवा अवतार धारणकर शत्रुरूप असुरोंके भयदाता विष्णु स्तुतिको प्राप्त होते हैं, यह मंत्र अवतारबोधक है [ऋ० २ । २ । २४ ।] ॥ २० ॥

भावार्थ-इन सर्वव्यापी देवताके विक्रमस्थान भूरादि पादत्रय हैं यह समस्त चराचरमें वास करते हैं इन विष्णुके प्रभावसे पृथ्वीचर गिरिगह्वरशायी भयानक सिंहकी समान यह विश्वमें सबसे स्तुतिको प्राप्त होने योग्य है. जैसे गिरिशायी सिंह सब मृगोंसे पूज्य और सबका राजा है इसी प्रकार परमात्मा विष्णु भी सब जीवोंके अधिपति और पूज्यहैं उनका शासन अनिर्वार्य और भयानक है. ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ५ ।

विष्णो॑र॒राट॑मसि॒ विष्णोः॒ श्नप्त्रे॑ स्थो॒ विष्णोः॒ स्यूर॑सि॒ विष्णो॑र्ध्रु॒वो॑ऽसि ॥ वै॒ष्ण॒वम॑सि॒ विष्ण॑वे त्वा ॥ २१ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐविष्णोरराटमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी उष्णिक्छ० । विष्णुर्देव० । हविर्धानोपरिमण्डपकरणे वि० । (२) ॐविष्णोरित्यस्यौतथ्योदीर्घतमा ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । रराटीप्रान्तावुपस्पृश्य जपे वि० । (३) ॐविष्णोरित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । विष्णुर्देवता । काष्ठमयसूचीप्रोतरज्ज्वा द्वारशाखासीवने वि० । (४) ॐविष्णोर्ध्रुवोऽसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । यजुश्छंदः । विष्णुर्देवता । परिपविणारम्भे रज्जुमूले ग्रन्थिकरणे वि० । (५) ॐवैष्णवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । याजुषी बृहती छं० । विष्णुर्देवता । प्राग्वंशहविर्धानं निष्पाद्यालम्भने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) दोनों हविर्धान शकटको दक्षिण उत्तर स्थापन करके उनके ऊपर आवरण करनेको मण्डप बनावे, और विष्णुदेवता होनेसे मंडपको भी विष्णु कहते हैं और विष्णुके सब अवयव होनेसे जैसे ललाट उत्त्र अवयव है उसी प्रकार हविर्धानमण्डपके पूर्वद्वारवर्ती स्तंभके मध्यमें एक कुशोंकी माला गूंथी जातीहै उस माला वा उसके बंधनाधार तिरछे बांसका सम्बोधन कर उसका ललाट रूप सम्बोधन कर वर्णन किया है [का० ८ । ४ । १९] मन्त्रार्थ-हे दर्भमालाधारवंश ! तुम (विष्णोः) यज्ञरूप विष्णुके (रराटम्) ललाटस्थानीय(असि) हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उच्छ्रायी ललाटके प्रान्तोंको स्पर्श करे [का०

४ । ८ । १६] मं०-हे रराटी अर्धवृत्ताकार तिर्यग्वंश दोनों तुम (विष्णोः) यज्ञरूप विष्णुके (श्नप्त्रे) ओष्ठसन्धिरूप (स्थः) होते हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु सूयेमें सुतली पिरोकर उससे रराटिके चारों थूणद्वारशाखाओंको सिये [का० ८ । ४ । १८] मंत्रार्थ-हे बृहत्सूची ! तुम (विष्णोः) यज्ञीय मण्डपकी (स्यूः) सूची (असि) हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे रज्जुकी ग्रन्थि दे [का० ८ । ४ । १९] मंत्रार्थ-हे ग्रन्थि ! तुम इस (विष्णोः) यज्ञीय विष्णुरूप मण्डपकी ग्रन्थि हो सुतरां (ध्रुवः) अतिदृढ (असि) हो ४ । विधि-(५) पांचवें मन्त्रसे प्राग्वंश (पूर्व पश्चिम लम्बायमानरूपसे स्थापित मण्डपकी छविके प्रधान अवलम्बन बृहत् बांस) को स्पर्श कर उनकी दृढता देखे [का० ८ । ४ । २१] मन्त्रार्थ-हे हविर्धान ! तुम (वैष्णवम्) विष्णुदेवता वाले होनेसे विष्णुरूप हो इस कारण (विष्णवे) सर्वव्यापक परमात्मा विष्णुकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको स्पर्श करता हूं "आशय यह कि तुम इस यज्ञीय मण्डपके छदि मध्यगत प्रधानवंश हो इस मण्डपकी दृढतापरीक्षाके अर्थ तुमको स्पर्श करता हूं परमात्माकी सत्तासे दृढरहो" अथवा यह सब जगत् विष्णु परमेश्वरके प्रकाशसे प्रगट होकर प्रकाशित है, यज्ञानुष्ठानके निमित्त उसीका आश्रय लेतेहैं । विष्णुरूपसे भावना है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र ४ ।

उपरव[1].

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ आददे नार्यसीदमहꣳ रक्षसां ग्रीवाऽअपि कृन्तामि ॥ बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवस्यत्वेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या बृहती० । अग्निर्दे० । अभ्र्यायूपावटवत्परिलेखने वि० । (२) ॐआददइत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषीगायत्री छं० । अग्निर्दे० । अवटार्थमभ्र्यादाने वि० । (३) ॐइदमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० ।

१ जिस स्थानमें सोम कूटा जाता है उस स्थानको उपरव कहते है इस स्थानमें चारों सीमाके कोनोंमें चार गर्तोंको ही उपरव कहते है ।

आसुरी उष्णिक् छं०। रक्षोघ्नो दे०। यूपावटपरिलेखने वि०। (४) ॐ बृहन्नसीत्यारभ्य (२३) कण्डिकास्थवैष्णवीमित्यन्तस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः। आर्षी पंक्तिश्छं०। उपरवो देवता। परिलेखनक्रमेणावटखनने वि०॥ २२॥

विधि-(१)प्रथम मंत्रसे काष्ठनिर्मित कुद्दाल ग्रहण करे यूपअवटकी समान चार गर्तोंको चिह्नित करे [का० ६। २। ८] तथा [८। ४। २५-५१ तक] मन्त्रार्थ-हे अभ्रि! (सवितुः देवस्य) सविता देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमारोंकी भुजायुगल (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (त्वा) तुझको उपरवकार्यमें (आददे) ग्रहण करताहूं १। विधि-(२) इस अभ्रिको खननोन्मुख करके दूसरे मंत्रसे दृढ़ मुष्टि करे मन्त्रार्थ-हे अभ्रे! तुम (नारी) हमारी उपकारिणी (असि) हो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अभ्रिद्वारा अग्निकोणसे आरंभ करके चार कोण अग्नि नैर्ऋत्य वायु और ईशानमें चार अवट (गर्त) खननके निमित्त परिलेखन करै यह प्रादेशमात्र प्रशस्त वर्तुलाकार निर्माण करै [का० ६। २। ८।] [प्रादेश-बिलस्तभर अंगूठेसे कनउंगलीतक] मन्त्रार्थ-(इदम्) यह जो मैं चार अवट प्रस्तुत करनेको चार परिलिखन करता हूं इसके द्वारा (अहम्) मैं (रक्षसाम्) यह यज्ञ विघ्नकारी राक्षसोंकी (ग्रीवा) गर्दन (आपिकृन्तामि)कृन्तन करता हूं३। विधि (४) चौथे मंत्रसे और परकण्डिकाके प्रथम मंत्रतक चारों ओर लिखनेके अनुसार बाहुपरिमाण चार अवट प्रस्तुत करै [का० ८। ५। ७] मन्त्रार्थ-हे घोरतरशब्दकारी उपरव! तुम (बृहत्) महान् हो (बृहद्रवाः) महाशब्द करनेवाले (असि) हो (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (बृहतीम्) इस प्रकार की उच्चध्वनिवाली (वाचम्) वाणीको (वद) कथन करो॥ २२॥

कण्डिका २३-मन्त्र ५।

रक्षोहणं वलगहनं वैष्णवीमिदमहन्तं वलगमुत्किरामि यम्मे निष्ट्यो यममात्यो निचखानेदमहन्तं वलगमुत्किरामि यम्मे समानो यमसमानो निचखानेदमहन्तं वलगमुत्किरामि यम्मे सबन्धुर्यमसबन्धुर्निचखानेदमहन्तं वलगमुत्किरामि यम्मे सजातो यमसजातो निचखानोत्कृत्याङ्किरामि॥ २३॥

ऋष्यादि-(१) ॐइदमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । निचृद्दार्षी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । उपरवेभ्यः पांसुनिष्कासने वि० । (२-३-४) ॐइदमहमित्यस्य मन्त्रत्रयस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । (५) ॐ कृत्यामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । सर्वेभ्य उपरवेभ्यः कृत्योत्किरणे वि० ॥ २३ ॥

पूर्वमंत्रशेषार्थ-जो पूर्वोक्त वाणी (रक्षोहणम्) यज्ञविघ्नकारी राक्षसोंकी विनाशक तथा (वलगहनम्) कृत्यानाशक अर्थात् पराजयको प्राप्त हुए राक्षसोंद्वारा इन्द्रादिके वधके निमित्त अभिचाररूपसे भूमिमें गाडेहुए अस्थिकेश नखादि पदार्थ "वलो वृणोतेरिति यास्कः" [निरु० ६ । २] जिसकेवधके निमित्त जो कृत्य किया जाय उसको आच्छादन कर चलानेवाली, उन वलगोंको बाहुमात्र नीचे खोदकर निकाले "तान्बाहुमात्रान्खनेत"इति श्रुतेः । [श०३।५।४।९] "असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान्यखनन् तान्बाहुमात्रे त्वविन्दंस्तस्माद्बाहुमात्रास्वायन्त"इति[तैत्तिरीय०][असुरोंके गाडे अभिचार एक हाथ खोदनेसे पाये इस कारण एक हाथ पर्यन्त खोदे] (वैष्णवीम्) विष्णुदेवयज्ञस्वरूपवाली है वह इन्द्रसे कहो। विधि-(१) इस मंत्रसे अग्निकोणके गर्तसे मृत्तिका निकाले [का० ८ । ५ । ८] मंत्रार्थ-(निष्ट्यः) अत्यन्त संघातरूपसे वर्तमान चाण्डाल आदि अथवा शरीरके सम्बन्धी आदिने (यम्)जो अथवा (अमात्यः) घरके कृत्यज्ञाता अमात्यमत्रीने सम्मतिदाताने किसी निमित्तसे क्रोधित होकर (यम्)जो अभिचार के निमित्त अस्थिकेशादि मेरे अनिष्टके निमित्त (निचखान) गाडे हैं (अहम्) मैं (तम्) उस (इदम्) इस (वलगम्) अभिचारको (उत्किरामि) उनके सहित निकालताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे नैर्ऋतकोणके अवटसे मृत्तिका निकाल कर फेंके । मन्त्रार्थ-(समानः) धनमें कुलशीलादि और मानसे समान (यम्) जो तथा (असमानः) न्यूनाधिकने" यं मे निचखान अहं तमिदं वलगमुत्किरामि" मेरी अहित चेष्टासे यदि कोई अभिचार स्थापित किया हो तो मैं इस उत्खातके सहित उसको भी उत्किरण करताहूं अर्थात् निकाल कर फेंकताहूं २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे वायुकोणकी मृत्तिका निकाले । मंत्रार्थ-(सबन्धुः) मातुलादि समान कुलके सम्बन्धीने (यम्) जो अथवा (अबन्धुः) असंबन्धीने (यम्) जो मेरे निमित्त अहित किया है इत्यादि पूर्ववत् ३ । विधि (४) चौथे मंत्रसे ईशानकोणके गर्तकी मृत्तिका निकाल फेंके । मन्त्रार्थ-(सजातः) समानजन्मा वा समवयस्क भ्राता आदिने (यम्) जो तथा (असजातः) न्यूनातिरेक

अवस्थाके ने जो उपचार किया है इत्यादि पूर्ववत् ४ । विधि-(५) पंचम मंत्रसे चारों अवटमेंसे यथाक्रमसे सव मृत्तिका निकाल डाले [का० ८ । ५ । ९] मन्त्रार्थ-हमारी अहित चेष्टासे शत्रुगणोंने जिस जिस स्थलमें कृत्या स्थापितकी है, वह सवही वलगरूप (कृत्याम्) इस अस्थिकेशादि शत्रुगणोंके कृत्यासहित (उत्किरामि) निकाल कर फेंकता हूं शत्रुगण शून्यमनोरथ हों ५ । २३ ॥

विवरण-भूमिकी एक हाथ मृत्तिका निकालकर फेंकनेसे फिर कोई दोष नहीं रहता है ॥ २३ ॥

गाथा-एक समय राक्षस इन्द्रसे हार गये तव उन्होंने मारणादि अभिचार भूमिमें गाडे तव इन्द्रके पीडित होनेसे यज्ञ कर गर्तमेंसे देवताओंने अस्थिकेशादि निकाले जिससे राक्षसगण विफलमनोरथ हुए ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र ४ ।

स्वुराडसिसपत्नुहासंत्रुराडस्यभिमातिहाजंनुराडसिरक्षोहासर्वुराडस्यमित्रुहा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐस्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । उपरवो दे० । उपरवावमर्शने वि०। (२)ॐसत्रराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । याजुषी बृहती छं० । उपरवो दे० । उपरवावमर्शने वि० । (३) ॐजनराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । उपरवो देवता । उपरवावमर्शने वि० । (४) ॐसर्वराडसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । उपरवो देवता । उपरवावमर्शने वि० ॥ २४ ॥

विधि(१-२-३-४) इन चारों मंत्रोंसे आग्नेयादिकोणमें यथाक्रमसे अध्वर्यु सजल हस्तसे उपरवोंको चिकन करै [का० ८ । ५ ।१३] यजमानके हाथसे स्पर्श करावै । मंत्रार्थ-हे प्रथम अवट ! तुम (स्वराट्) स्वयंही दीप्तिमान् हो इसकारण (सपत्नहा) शत्रुघाती (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हमारे शत्रु नष्ट हों ॥ १ ॥

हे द्वितीय अवट ! तुम (सत्रराट्) द्वादशाहादिसत्रोंमें दीप्तिमान् हो (अभिमातिहा असि) जो हमारे प्रति दर्प प्रकाश करै उसके तुम नाशक हो तुम्हारे प्रसादसे हम शत्रुशून्य हों ॥ २ ॥

हे तृतीय अवट ! तुम (जनराट्) इन यजमान ऋत्विक् सवके सन्मुख दीप्यमान (असि) हो (रक्षोहा) राक्षस असुरघाती हो तुम्हारे प्रसादसे रक्षोगणके विघ्न नष्ट हों ॥ ३ ॥

हे चतुर्थ अवट ! तुम (सर्वराट्) सर्वत्र दीप्यमान सबके अधिपति(अमित्रहा) शत्रुघाती (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हमारे अमित्र नष्ट हों ॥ ४ ॥ २४ ॥

विशेष-सोमयाग तीन प्रकारका होता है एकाह अहीन और सत्र जो एक दिनमें सम्पादन हो जाय वह एकाह, जो दो दिनसे अधिक द्वादशदिन पर्यन्त सम्पन्न हो वह अहीन और अधिक काल पर्यन्त जो स्थित रहै वह सत्र कहाता है [अवट-गर्त] २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र ७ ।

रक्षोहणो वो वलगहनः प्प्रोक्षामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोवनयामि वैष्णवान्रक्षोहणो वो वलगहनोवस्तृणामि वैष्णवान्रक्षोहणौ वां वलगहनाऽउपदधामि वैष्णवीरक्षोहणौ वां वलगहनौपर्यूहामि वैष्णवी वैष्णवमसि वैष्णवा स्थ ॥२५॥ [४]

ऋष्यादि-(१)ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । विष्णुर्दे० । प्रोक्षणे वि० । (२) ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उपरवो दे० । प्रोक्षणशेषजलावनयने वि० । (३) ॐ रक्षोहणो वामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । अवस्तरणे वि० । (४) ॐरक्षोहण इत्यस्यौतथ्य ऋ० । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उपरवो देव० । उपधाने वि० । (५) ॐवैष्णवामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छं० । विष्णुर्देवता । पर्यूहणे वि० । (६) ॐवैष्णवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । यजुश्छं० । विष्णुर्देवता । अधिषवणस्थापने वि० । (७) ॐवैष्णवास्थेत्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । दैवी बृहती छं० । पञ्चपाषाणनिधाने वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु यथाक्रमसे इन उपरवोंको जलसे प्रोक्षणकरे [का०८।५।२२-२३] अग्निकोणसे प्रारंभ करे। मंत्रार्थ-(रक्षोहणः) राक्षसोंके नष्ट करनेवाले (वलगहनः) अभिचारसाधनके नष्ट करनेवाले (वैष्णवान्) विष्णुदेवता सम्बन्धी (वः) तुम गर्तोंको मैं (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं. १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गर्त्तप्रोक्षणसे शेषजल अलग डालदे [का० ८ । ५ । २४] मन्त्रार्थ-(रक्षोहणः) राक्षसघाती (वलगहनः) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवान्)

विष्णुदेवतासम्बन्धी (वः) तुमको (अवनयामि) सींचकर शेष जल पृथक् करताहूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अवस्तरण [गर्तोंपर कुछ कुशाका बिछाना] करै। मन्त्रार्थ-(रक्षोहणः) राक्षसघाती (वलगहनः) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवाम्) विष्णुदेवताके सम्बन्धी (वः) तुम गर्तोंको मैं (अवस्तृणामि)कुशासे आच्छादन करताहूं ३। विधि-(४)चौथे मंत्रसे उपधान करै [का०८।९।२९]

मन्त्रार्थ-(रक्षोहणौ) राक्षसघाती (वलगहनौ) अभिचारसाधननाशक(वैष्णवी) विष्णुदेवताके सम्बन्धवाले (वाम्) सोम निचोडनेके तुम दोनो फलकको(उपदधामि) दो गर्तके ऊपर एक एक फलक स्थापित करताहूं ४।विधि-(५)पंचममंत्रसे पर्यूहण करै अर्थात् फलकका मुख जो गर्तके मध्यमें निविष्ट है उसके ऊपर गर्तके मुखमें मृत्तिका लगाकर यह दोनो फलक दृढ करै जिससे चलायमान नहीं हो। मन्त्रार्थ-(रक्षोहणौ) राक्षसविनाशी (वलगहनौ) अभिचारसाधननाशक (वैष्णवी) विष्णुदेवताके सम्बन्धि (वाम्) तुम दोनों फलकको (पर्य्यूहामि) पर्यूहण करताहूं५। विधि-(६) छठे मंत्रसे उसके ऊपर लोहितवर्ण अधिषवण स्थापन करै यह लालसे रंगका चर्म है इसपर सोम कंडन होता है इसको अधिषवण कहते हैं [का० ८ । ९ । २६] मन्त्रार्थ-हे अधिषवण ! तुम (वैष्णवम्) विष्णुदेवतासम्बन्धी यज्ञके प्रधान उपकरण (असि) हो ६। विधि-(७) सातवें मंत्रसे उसके ऊपर पांच पत्थर स्थापित करै इनसे सोम कूटाजाता है [का०८।९। २७] मन्त्रार्थ-हे ग्रावासमूह ! तुम (वैष्णवाः) यज्ञरक्षक विष्णुसम्बन्धी (स्थ) हो ॥ २९ ॥

विवरण-इन्द्र वा यजमान इन गर्त करनेमें प्रवृत्त हुए हैं इससे शत्रुगणके किये सम्पूर्ण अभिचार साधक प्रगट होजायं और फिर समर्थ न हो इस कारण गर्तको वलगहन कहा वस्तुतः पृथ्वीमें गर्त करते समय जो उसमेंसे अस्थिकेशादि निकालकर इधर उधर फेंक दिया है उसका कारण यह गर्तही है इस कारण गर्तकी वलगहन कह कर स्तुति कीहै

इन वलगोंके प्रकाश होनेसे राक्षसोंके मनोरथ पूर्ण न होसकैं इसकारण रक्षोहण कहा गर्तसे निकली ईट कंकर केश अस्थि प्रभृति भी रक्षस् शब्दसे ग्रहण करने योग्य हैं कारण कि अपवित्रमें राक्षस निवास करते हैं.

उपधानक्रियाका विवरण-वाँसका बना अधिषवण फलक उभयमुख सूचीवत् तीक्ष्णाग्र करै और फिर उसके ऊपर दो अंगुलके अंतरसे अरत्नि (समुष्टि हाथ) प्रमाण दीर्घ कुशा बिछावै इस अधिषवण फलकके सहित ग्रन्थि बंधन

---

१ इनपर सोम निचोडते हैं।

करै इस प्रकारके दोनोंको अधिपवण फलक कहते हैं, इस प्रकारके दो फलक बनाकर एक आग्नेयसे वायव्यकोणतक दूसरा उसके ऊपर ईशानसे नैर्ऋत्यकोण-तक इस गर्तसमूहसे प्रोथित करै, अर्थात् एकका एक अग्रभाग और दूसरा का अग्रभाग वायव्यकोणके गर्तके भीतर रहै, दूसरेका एक अग्रभाग ईशानकोण के गर्तके भीतर और अपरका अग्रभाग इस प्रथम फलकके मध्यभागके ऊपर होकर नैर्ऋत्यकोणके गर्तके भीतर रहै इन दोनों फलकके दोनो मुख गर्तके मध्य बाहु-प्रमाणतक प्रविष्टहो, और अपर मध्यअंश सम्पूर्णभूभागके ऊपर मृत्तिकाके सहित संलग्न रहै, इस समस्त क्रियाको उपधानक्रिया कहते हैं ॥ २९ ॥

औदुम्बरी प्रयोग.

सदोमण्डप अर्थात् प्राग्वंशा शालाके पूर्व और उदग्वंशाशालाकी शेष सी-मामें हविर्धानमण्डपके पश्चिम अर्थात् उदग्वंशाशालाके आदिभागके मध्यस्थलमें औदुम्बरी स्थापित होतीहै, इस औदुम्बरीके ऊपर अतिवृहत् आच्छादन मण्डप निर्मित होताहै यही सभामण्डप नामसे प्रसिद्ध है, इस समय यही भविष्यत्नामसे व्यवहृत होताहै.

कण्डिका २६-मन्त्र ७।

देवस्य॑त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ आद॑दे॒ नार्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑कृन्तामि ॥ यवो॑सि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयारा॑ती॒र्दि॒वे त्वा॒न्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा॒ शुन्ध॑न्ताँल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥२६॥

ऋष्यादि-(४) ॐयवोसीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आसु-री उष्णिक्छं० । यवो देवता । यवानोप्य प्रोक्षणे वि० । (५) ॐदि-वे इत्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । याजुषी जगती छं० । औदुम्बरी दे० । मूलमध्याग्रप्रोक्षणे विनि० । (६) ॐशुन्धन्तामित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋषिः । याजुषी पं० । पितरो देव० । अवटे शेषोदकासिंचने वि० । (७)ॐपितृसदनमित्यस्यौतथ्यो दी० ऋ० । दैवी जगती छन्दः । पितरो दे० । प्रागग्रोदगग्रदर्भास्तरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१-२-३) सभामण्डपके मध्यमें जिस स्थलमें यजमानके शरीरकी समान ऊंची गूलरकी शाखा गाडी जाय, वहां एक गर्त करना अवश्यहै इस कारण

२२ कण्डिकाकी समान इस मंत्रमें अभ्रिस्वीकार, दूसरे मंत्रसे दृढ मुष्टिधारण और तीसरे मंत्रसे परिलिखन करे २२ कण्डिकामें तीनों मंत्रोंका विनियोग और व्याख्या हो गई. जबतक गर्त खनन हो तबतक शाखा मण्डपके एक स्थानमें पडी रक्खे । मन्त्रार्थ–(१-२-३) हे अभ्रि ! सविता देवताकी प्रेरणासे इत्यादि. [८ । ९ । ३०–३२]

विधि (४) चौथे मंत्रसे इस गर्तके चारों ओर जल छिडककर गीली भूमिमें जौ बोवै [का० ६ । २ । १९] मन्त्रार्थ–हे शस्य ! तुम (यवः) यव (असि) हो इस कारण हमारे (द्वेषः) शत्रु वा दुर्भाग्यको (अस्मत्) हमसे (यवय) दूर वा पृथक् करो (अरातीः) हमारे शत्रुसमूहको (यवय) हमसे दूरकरो हमें सौभाग्य धन दो । विधि–(५) पांचवें मंत्रसे गूलरकी शाखाके तीन अंश अग्र मध्य और मूलमें जलपात्रमें जौ डालकर प्रोक्षण करै [का० ६ । २ । १९–१६] मंत्रार्थ–हे औदुम्बरीके अग्रभाग ! (दिवे) द्युलोककी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको प्रोक्षण करताहूं (अन्तरिक्षाय) हे उदुम्बरीके मध्यभाग ! अन्तरिक्षकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको प्रोक्षण करता हूं हे उदुम्बरीके मूलभाग ! (पृथिव्यै) पृथ्वीकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे प्रोक्षण करताहूं ५ । विधि–(६) प्रोक्षणसे अवशिष्ट जल इस छठे मंत्रसे उस गर्तमें डालै [का०६ । २ । १७] मन्त्रार्थ–(पितृषदनाः) जहां पितर निवास करतेहैं (लोकाः) वे लोक (शुन्धन्ताम्) इस जलसे शुद्ध होजायँ ६ । विधि–(७) सप्तम मंत्रसे इस गर्तके चारोंओर पूर्वाग्र और उत्तराग्र कुशा बिछावै [का० ६ । २ । १८] मन्त्रार्थ–हे कुशासमूह ! तुम (पितृषदनम्) पितृगणका आसन (असि) हो पितृगण इस स्थानमें सुखसे बैठेंगे ॥ ७ ॥ २६ ॥

प्रमाण–"क्रूरमिव वा एतत्करोति यत्खनति यत्पयाऽवनयति शान्त्यै तत्" इति [तैत्तिरीये] खननसे जो पृथ्वीमें क्रूरता होतीहै वह इससे शान्त हो । तथा इस मंत्रसे पितृलोक भी सूचित होता है ॥ २६ ॥

कण्डिका–२७ मंत्र ४ ।

उद्दिवꣳस्तभानान्तरिक्षम्पृण दृꣳहस्व पृथिव्यान्द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्म्मणा ॥ ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्य्यूहामि ॥ ब्रह्म दृꣳह क्षत्रन्दृꣳहायुर्दृꣳह प्रजान्दृꣳह ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउद्दिवमित्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । औदुम्बरी दे० । औदुम्बर्यूर्ध्वीकरणे वि० । (२) ॐद्युतान इत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । औदुम्बरी दे० । अवट औदुम्बरीप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐब्रह्मवनीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । भुरिक्साम्नी बृह० छ० । औदुम्बरी दे० । पांसुभिः पर्यूहणे वि० । (४) ॐब्रह्मेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । औदुम्बरी देवता । परितो दृढीकरणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे औदुम्बरीको खडा करे [का० ८ । ५ । ३३] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरी देवता ! (दिवम्) द्युलोकको (उत्तभान) स्तंभितकर अर्थात् हम तुमको उच्छ्रित करते हैं (अन्तरिक्षम्)अन्तरिक्षको (पृण) पूर्णकर [अवकाश परिपूर्ण हो] (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (दृꣳहस्व) दृढहो वा पृथ्वीको दृढकर १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गूलरशाखा गर्तमें रक्खे [का०८।५।३४] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! (द्युतानः) दीप्तिमान् (मारुतः) मरुत् देवता (ध्रुवेण) स्थिर (धर्मणा) धर्मसे (त्वा) तुमको इस गर्तमें (मिनोतु) प्रक्षेप करे तथा (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवता [सूर्य चन्द्र वा दिनरात] चिरकालतक तुमको रक्षा करते निजकर्तव्य साधन करे "इस समय प्रबल वायु न चले यह भाव है" विधि-(३) तीसरे मंत्रसे पांसुद्वारा पर्यूहण करे अर्थात् यूपकी समान मृत्तिका डालकर जलसे पूरित करे [का० ८ । ५ । ३५] मन्त्रार्थ-हे औदुंबरि ! (ब्रह्मवनि) ब्राह्मणजातिसे स्तवनीय (क्षत्रवनि) क्षत्रियजातिसे स्तवनीय (रायस्पोषवनि) वैश्यजातिसे स्तवनीय (त्वा) तुझको (पर्यूहामि) इस अवटमें पर्यूहण मृत्तिका डालकर दृढ करताहूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे मित्रावरुण सम्बन्धी दण्डके द्वारा चारों ओर तीनबार मट्टीको अवटके भीतर प्रवेशकर कूटे [का० ६ । ३ । ११] "यह दण्ड अ० १ का० १ में अग्न्यागारके सन्मुख उच्च देशमें रक्षित है." मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको (दृꣳह) दृढकरो (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिको (दृꣳह) दृढकरो (आयुः) आयुको (दृꣳह) दृढकरो (प्रजाम्) पुत्रादिको (दृꣳह) दृढकरो ४ ॥ २७ ॥

विवरण-ब्राह्मण क्षत्रियादिके आयु पुत्रादिकी वृद्धि हो गूलरके सन्निधानसे यह गुण हैं ॥ २७ ॥

विनियोग छोडकर परमात्माकी प्रार्थना है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र ३ ।

ध्रुवासि ध्रुवोयंयजमानोस्मिन्नायतनेप्रजयापु

शुर्भिर्भूयात् ॥ घृतेनंद्यावापृथिवीपूर्य्येथामिन्द्र स्यच्छुदिरसिविश्वजुनस्यच्छाया ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐध्रुवासीत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । औदुम्बरी दे० । औदुम्बर्यालम्भने वि० । (२) ॐघृतेनेत्यस्यौतथ्यो दीर्घतमा ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । द्यावापृथिवी दे० । औदुम्बरीविशाखे घृतेन हवने वि० । (३) ॐइन्द्रस्येत्यस्य साम्न्युष्णिक्छं० । इन्द्रो देवता । सदोमण्डपोपरि प्रावरणाय मध्यकटारोपणे वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१)औदुम्बरी स्पर्श कर प्रथम मंत्र पाठकरै [का० ८ । ५ । ३९] मंत्रार्थ-हे औदुम्बरि ! तुम (ध्रुवा) इस स्थलमें स्थिर (असि) हो (अयम्)यह (यजमानः) यजमान (अस्मिन्) इस (आयतने) स्थानमें तुम्हारे प्रसादसे (प्रजया) सन्तान (पशुभिः) पशुओंके सहित(ध्रुवः) सुखी (भूयात्) हो इस शरीरसे सुस्थिर हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अध्वर्यु औदुम्बरीके विशाखोत्पत्तिप्रदेशमें स्रुवाद्वारा घृतसे होम करै [का० ८ । ९ । ३७] मंत्रार्थ-इस हूयमान (घृतेन) घृतसे (द्यावापृथ्वी) द्युलोक और पृथ्वी (पूर्य्येथाम्) पूर्ण हो २ । विधि-(३) फिर तीसरे मंत्रसे सभामण्डपके ऊपर छादिआरोपण करै अर्थात् औदुम्बरी स्थापनके उपरान्त सदोमण्डप निर्माण कर उसके आवरणके निमित्त मण्डप मध्यमें प्रधान बांसके ऊपर वंश तृणादिसे बनी चटाईकी छत्त लगावै[का०८ । ९ । ६ । १०]मन्त्रार्थ-हे तृणमय कट ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्र अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न यजमानकी (छदिः) इस सभामण्डपकी छादक (असि) हो इसकारण तुम (विश्वजनस्य) यजमान ऋत्विगादि समस्तजनोंको (छाया) छायारूप हो अर्थात् तुम्हारी छायामें समस्त ऋत्विगादि बैठकर अपना २कर्तव्य अनुष्ठान करैंगे३॥२८॥

कण्डिका २९-मन्त्र १ ।

परित्त्वागिर्वणोगिरंऽइुमाभवन्तुविश्वतं॑ः ॥ वृद्धायुमनुवृद्धयोजुष्टाभवन्तुजुष्टयः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपरित्वेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । परितः सद आच्छादने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे छदिके ऊपर भलीप्रकारसे कुंटच्यवदारण करे [का० ८ । ६ । १२ मन्त्रार्थ-(गिर्वणः) हे स्तोत्र और शस्त्रसे स्तुतियोग्य सभाके अधिष्ठात्रीदेवता इन्द्र ! (इमाः) यह स्तोत्ररूप (अनुवृद्धयः) सवनक्रमसे वृद्धियुक्त [प्रातः सवनमें शनैः २ मध्यम सवनमें उच्चस्वर, महा उत्तान स्वरसे तीसरा सवन] (गिरः) स्तुतियें (त्वा) तुमको (विश्वतः) सब ओरसे (परिभवन्तु) कण्ठरूपसे ग्रहण करो (वृद्धायुम्) दीर्घायु मनुष्य यजमानादि वा मरुतवाले तुमको यह स्तुति दीर्घायुवाली हो (जुष्टयः) यह हमारी सेवा तुम्हारी (जुष्टा) प्रिया (भवन्तु) हों अर्थात् हमारी सेवासे तुम प्रसन्न हो [ऋ० १ । १ । २०] २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र ४ ।

इन्द्र॑स्य॒ स्यूर॒सीन्द्र॑स्य ध्रु॒वो᳖ऽसि ॥ ऐ॒न्द्रम॑सि वैश्वदे॒वम॑सि ॥ ३० ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐइन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । परिषीवणे वि० । (२) ॐइन्द्रस्येत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । ग्रन्थिकरणे वि० । (३) ॐ ऐन्द्रमित्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । दैवी बृहती छं० । इन्द्रो देवता । अभिमर्शने वि० । (४) ॐवैश्वदेवमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा दे० । आलंभने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) पूर्वादिके दक्षिणस्थूणादि प्रदक्षिणा क्रमसे चारों द्वारोंका परिषीवण (रस्सीमें ग्रन्थिदान) करै प्रथम मंत्रसे लम्पूजनी ग्रहण करै [का० ८ । ६ । १२] मंत्रार्थ-हे रज्जो ! तुम (इन्द्रस्य) सभाअधिष्ठात्री इन्द्रदेवताकी सम्बन्धिनी (स्यूः) सीवन (असि) हो तुमको इस छदिके ऊपर कुटी सीवनके अर्थ ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रन्थि दे । मंत्रार्थ-हे ग्रन्थि ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रसम्बन्धिनी होकर (ध्रुवः) स्थिर (असि) हो अर्थात् इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त तुम्हें प्रदान करता हूं अविचल भावसे स्थिति करो २ ।

विधि-(३) तीसरे मंत्रसे सभासम्बोधन । मंत्रार्थ-हे सभा ! तुम(ऐन्द्रम्)इन्द्रदेवताके प्रीतिसाधनके निमित्त मेरे द्वारा निर्मित (असि) हो ३ । विधि-(४) हविर्धान मण्डपके अपरपार्श्व वायुकोणमें और इस सभामण्डपके किंचित् बाहरे उत्तरभागमें आग्नीध्रनामक अग्निस्थान बनावै उसे इस चतुर्थ मंत्रसे स्पर्श करै [८ ।

१ अर्थात् परिवारकोंसे आच्छादन करे ।

६। १३-१४] मंत्रार्थ-हे आग्नीध्र ! तुम (वैश्वदेवम्) समस्तदेवताओंके आवाहन स्थानहो. ४॥ ॥ ३०॥

विवरण-सभाशब्दसे नव निर्मित सभामण्डप अर्थात् प्राचीनवंश शालाके मध्यमें ऐष्टिक वेदी पश्चिममें गार्हपत्य अग्नि दक्षिणमें दक्षिणाग्नि उत्तरमें प्रतिहार भूमि पूर्वमें आहवनीयाग्नि इस सम्पूर्ण स्थानका नाम देवयजन है, इसीको (देवानामोकः) नामसे कथन किया है यही देवमंदिर कहाजाता है इसीके पूर्वदिक् सन्मुखमें यह सभामण्डप प्रस्तुत होता है, इसी मण्डपमें ऋत्विगादिगणकी कार्यसभा है, इसीके अनुसार इस समय शिवालयादि और उसके सन्मुख सभामंडप बनानेकी रीति चली आती है.

यद्यपि इस सभामण्डपके मध्यमें होता आदि सब ऋत्विजोंका अग्निकुण्ड पृथक् २ निर्दिष्ट होताहै, उसके मध्यमें आग्नीध्र नामक एक ऋत्विक्काभी एक अग्निकुण्ड होताहै परन्तु यह उसीके अन्तर्गत वा समकक्षामें नहीं है जिस प्रकारसे आग्नीध्र और गार्हपत्य हैं इसी प्रकारसे यह भी एक प्रधान अग्निकुण्ड है.

धिष्ण्यप्रकरण।

कण्डिका ३१-मंत्र ४।

विभूर॑सि प्र॒वाह॑णो॒ वह्नि॑रसि हव्य॒वाह॑नः ॥ श्वा॒त्रो॑ऽसि॒ प्रचे॑तास्तु॒थो॑ऽसि वि॒श्ववे॑दाऽउ॒शिग॑सि॥३१॥

ऋष्यादि-(१) ॐविभूरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। प्राजापत्या गायत्री छन्दः। अग्निर्देव०। आग्नीध्रीयधिष्ण्यनिवापे वि०। (२) ॐ वह्निरसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। याजुषी बृहती छं०। अग्निर्देवता होतृधिष्ण्यनिवापे वि०। (३) ॐश्वात्रोसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। याजुषी गायत्री छं०। अग्निर्दे०। मैत्रावरुणधिष्ण्यनिवापे वि०। (४) ॐतुथोसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ०। दैवी जगती छं०। अग्निर्दे०। ब्राह्मणशंसिधिष्ण्यनिवापे वि०॥ ३१॥

विधि-(१) सभामण्डपके ईशानकोणमें आग्नीध्रधिष्ण्य प्रस्तुत करके उसके ऊपर यथाविधि अग्नि स्थापन करनेके अनन्तर इस प्रथम मंत्रसे उस अग्निका नामकरण करै [का० ८। ६। १९।] मन्त्रार्थ-हे आग्नीध्रधिष्ण्य! सबसे प्रथम तुमपर ही अग्नि स्थापन होती है यही अग्नि क्रमसे होतृधिष्ण्यादिमें गमन करेगी इसी कारण तुमसे अधिष्ठित अग्नि (विभूः) विविधरूपसे होनेवाली व्यापक (असि) है और तुम्हारे दक्षिण उत्तर ऋत्विग्गणका

गमनागमन मार्ग है इस कारण तुम्हारा दूसरा नाम (प्रवाहणः) प्रवाहण है १ । विधि-(२) इसके अनन्तर सभामण्डपमें जो प्रशस्तमार्ग है उसी पथके द्वारा दक्षिण पार्श्वमें एवं पूर्वस्थापित औदुम्बरीके अग्निकोणमें होतृधिष्ण्यनिर्माणादिके परे उसके ऊपर स्थापित अग्निका इस दूसरे मंत्रसे नामकरण करे [का० ८ । ६ । १८-२१] मन्त्रार्थ-हे होतृधिष्ण्य ! तुमसे अधिष्ठित अग्नि इस यज्ञका प्रधान कार्यनिर्वाहक है इस कारण तुम (वह्निः) वह्निनामसे प्रसिद्ध (असि) हो और सम्पूर्ण देवताओंके उद्देशसे दी हावे ही इसमें प्रदत्त होती है, इन समस्त हवियोंको वहन करनेसे (हव्यवाहनः) तुम्हारा नाम हव्यवाहन है २ । विधि-(३) इसी होतृधिष्ण्यसे दक्षिण मैत्रावरुणधिष्ण्यनिर्माणादि करके उसके ऊपर स्थापित अग्निका इस तीसरे मंत्रसे नामकरण करे । मन्त्रार्थ-हे मैत्रावरुणधिष्ण्य ! तुमसे अधिष्ठित यह अग्नि हमारी प्रकृतमित्र है इस कारण इसको (श्वात्रः) श्वात्र कहते हैं और यह होताके दोष आवरण करता है इस कारण इसको (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानवान् वरुण कहते हैं ३ । विधि-(४) सदोमण्डपके मध्यगत पथद्वारा उत्तर पार्श्व एवं होतृधिष्ण्यके भी उत्तर ब्राह्मणशंसि धिष्ण्य निर्माण करके उसपर अधिष्ठित इस अग्निका चतुर्थ मंत्रसे नामकरण करै मन्त्रार्थ-हे ब्राह्मणशंसी धिष्ण्य ! तुम स्थापित इस अग्निदेवताके प्रीति उद्देश प्रदक्षिणादिके विभाग करनेवाले हो अथवा ब्रह्मरूप हो इसकारण तुमको (तुथ) कहते हैं एवं जिस ऋत्विगादिको जिस रूपसे भागादि प्राप्त हो वह सब हे। जानते हो इसकारण तुम (विश्ववेदाः) विश्ववेद नामसे विख्यात (असि) हो "ब्रह्म वै तुथः" इति श्रुतेः [श० ४ । ३ । ४ । १५] ॥ ३१ ॥

विवरण-१ अग्निके आश्रय स्वल्पमृत्तिकासे निर्मित सामान्य वेदीको धिष्ण्य कहते हैं, आग्नीध्र, मैत्रावरुण, होता, ब्राह्मणशंसि, पोता, नेष्टा और अच्छावाक् इन सात ऋत्विक्को सात पृथक् पृथक् धिष्ण्य होती हैं, यहां सातों वेदी सभामण्डपके मध्यमें निर्मित होती हैं उसके मध्य दक्षिणभागमें दो और उत्तर भागमध्य प्राचीनवंशा शालासे उत्तर वेदी गमनागमनका मार्ग है १ ।

२ तैत्तिरीयश्रुतिमें कहाहै कि धिष्ण्यगत अग्निके दोदो नामकरणकी सदैव कालकी विधि है इस कारण यह आग्नीध्र अग्निविभु और प्रवाहण इस दोनामसे अर्चित होती है यह धिष्ण्य आग्नीध्र नामक ऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान है आग्नीध्र उद्गाता दूसरे सहकारी यह सामवेदी हैं इनकी दक्षिणा उद्गाताकी दक्षिणासे तिहाई होती है प्रमाण "ते वै द्विनामानो भवन्ति" इति श्रुतेः [श० ३ । ६ । २ । २४] "तान्देवा अब्रुवन्द्वे नामनी कुरुत" इति [तैत्ति०] २ ।

३ यह धिष्ण्य होतृनामऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान होता ऋग्वेदीय प्रधान ऋत्विक् अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्माके सहित इसकी तुल्य दक्षिणा है ३ ।

४ यह धिष्ण्य मैत्रावरुणनामक ऋत्विक्का प्रधान कार्यस्थान, मैत्रावरुण होताका प्रथम सहकारी ऋग्वेदी हैं यह होतासे आधी दक्षिणाका अधिकारी है ४ ।

५ यह धिष्ण्य ब्राह्मणशंसी नामक ऋत्विक्का प्रधानकार्यानुष्ठानस्थान है ब्राह्मणशंसी ब्रह्माका प्रथम सहकारी त्रिवेदवित् होताहै इसकी ब्रह्मासे आधी दक्षिणा होतीहै ५ ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र ९ ।

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुव
स्वाञ्छुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशा
नुः परिषद्योऽसि पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि ह
व्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः समुद्रोऽसि ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐउशिगसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । पोतृधिष्ण्यनिवापे वि० । (२) ॐ अङ्घारीत्यस्य मधुच्छं० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । नेष्टृधिष्ण्यनिवापे वि० । (३) ॐअवस्यूरसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छंदः । अग्निर्देवता । अच्छावाग्धिष्ण्यनिवापे वि० । (४) ॐ शुन्ध्यूरसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । मार्जालीयधिष्ण्यनिवापे वि० । (५) ॐसम्राडसीत्यस्य मधुच्छं० । याजुष्युष्णिक्छं० । आहवनीयो दे० । आहवनीयधिष्ण्यनिवापे वि० । (६) ॐ परिषद्योऽसीत्यस्य मधुच्छं० । याजुषी गायत्री० । बहिष्पवमानो दे० । बहिष्पवमानदेशधिष्ण्यनिवापे वि० । (७) ॐनभोऽसीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । याजुष्यनुष्टु० । चत्वालो देवता । चात्वालधिष्ण्यनिवापे वि० । (८) ॐमृष्टोऽसीत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । शामित्रो दे० । शामित्रधिष्ण्यनिवापे वि० । (९) ॐऋतधामेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । औदुम्बरिर्देव० । औदुम्बरिधिष्ण्यनिवापे वि० ॥ ३२ ॥

विधि–(१) ब्राह्मणशंसी धिष्ण्यके किंचित् उत्तरमें पोतृधिष्ण्य निर्माणादि करे, उसपर अधिष्ठित अग्निका इस मंत्रसे नामकरण करे । मन्त्रार्थ–हे पोतृधिष्ण्य

तुमपर स्थापित यह अग्नि अधिकतर सुसज्जित है इस कारण यह (उशिक्) कमनीय और (कविः) क्रान्तदर्शीनामवाली (असि) है १ । विधि-(२) पोतृधिष्ण्यके कुछ दूर नेष्टृधिष्ण्य निर्माणादि करे उसपर अधिष्ठित अग्निका इस दूसरे मंत्रसे नामकरण करे।मन्त्रार्थ-हे नेष्टृधिष्ण्य!तुमपर स्थापित यह अग्नि(अङ्घारिः) सोमरक्षक पापहारी और(बम्भारिः)यजमानके पालनकरनेवाली इन दोनो नामोंके योग्य (असि) हो २ । विधि-(३) नेष्टृधिष्ण्यके किंचित् दूर एवं मण्डपमध्यगत आग्नीध्रके किंचित् दक्षिण अच्छावाकधिष्ण्यनिर्माणादि करके उसपर अधिष्ठित अग्निका इस तीसरे मंत्रसे नामकरण करे । मन्त्रार्थ-हे अच्छावाकधिष्ण्य ! तुमपर स्थापित यह अग्नि पुरोडाशका भाग लाभकरती है पुरोडाश प्रधान हव्य अन्न है इस कारण (अवस्यूः) अन्नकी इच्छा करनेवाले (दुवस्वान्) हविवाले यह दोनाम तुम्हारे (असि) हैं ३ । विधि-(४) सदोमण्डपके मध्यमें इसीप्रकार होतृप्रभृति सप्तधिष्ण्य प्रस्तुत करके उनके नामकरण करे, इसके उपरान्त इस मण्डपके बाह्यदक्षिण कोण उत्तरकोणमें स्थापित आग्नीध्र अग्निके समसूत्रपातसे दक्षिण मार्जालीयधिष्ण्य निर्माण करके उससे अधिष्ठित इस अग्निका इस चतुर्थ मन्त्रसे नामकरण करे [का० ८ । ६ । २२] मन्त्रार्थ-हे धिष्ण्य ! तुममें स्थापित यह अग्नि समस्त ऋत्विगादिकी शोधक है, इस कारण (शुन्ध्यूः) शोधक और समस्त यज्ञपात्र धौत और मार्जन करनेसे (मार्जालीयः) मार्ज करनेवाली (असि) हैं ४ । विधि-(५) अनन्तर सभामण्डपके पूर्वभाग वर्ती उत्तरवेदीमें स्थित आहवनीय अग्निका नामकरण करे [का० ८ । ६ । २३] हे उत्तरवेदीके आहवनीय अग्ने ! तुम अनेक देवताओंकी तुष्टिसाधन आहुति ग्रहण करते हो इस कारण (सम्राट्) सम्यक् प्रकारसे दीप्तिमान् और (कृशानुः) पयोव्रतादि अनुष्ठानसे कृशतनु यजमानको अभीष्ट फलप्रदान करके अनुग्रह प्रकाश करतेहो इस कारण तुम कृशानु (असि) हो. ५ । विधि-(६) सदोमण्डपके पश्चिम एवं पैष्टिक वेदीके उत्तर बहिष्पवमान धिष्ण्य निर्माणादि करके छठे मंत्रसे उनका नामकरण करे । मन्त्रार्थ-हे बहिष्पवन ! जिस कारण कि तुम (परिषद्यः) परिषद्गणकी आधारभूमि हो इसकारण परिषद्य कहलातेहो (पवमानः) तुम्हारे आश्रयसे सबही पवित्र होते हैं इस कारण तुम पवमान नामवाले (असि) हो ६ । विधि-(७) सदोमण्डपके पूर्वद्वारमें स्थित उत्तरवेदीके समसूत्र उत्तर चत्वालमें प्रस्तुत हुआ है इस सप्तम मंत्रसे उसका नामकरण करे । मन्त्रार्थ-हे चत्वाल ! जिस कारण कि तुम शून्यगर्भ हो इसी कारण तुमको (नभः) नभ कहते हैं एवं ऋत्विग्गण तुमको प्रदक्षिण करके गमनागमन करते

हैं इस कारण (प्रतक्का) गमनरूप (असि) हो ७ । विधि-(८) इस चत्वालके दक्षिणमें निकटही शामित्रधिष्ण्य है इस अष्टम मंत्रसे उसका नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे शामित्रे ! तुम्हारेद्वारा हवि स्वादिष्ठ होजाती है इस कारण तुम (मृष्टः) मृष्ट अर्थात् पवित्र कहे जाते हो तथा हविके पाक कारण हो इस कारण तुम (हव्यसूदनः) हवि पाचक नामवाले (असि) हो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे सदोमण्डपके मध्य पश्चिमप्रान्तवर्ती उदुम्बरीका नामकरण करै । मंत्रार्थ-हे उदुम्बरि ! तुम (ऋतधामा) उद्गाताके प्रधान कार्यस्थान हो इस कारण ऋतधामा नामसे विख्यात हो तथा (स्वर्ज्योतिः) उन्नत होनेसे स्वर्गप्रकाशक वा सूर्यज्योति (असि) हो ९ ॥ ३२ ॥

विवरण-१ यह स्थान पोताका प्रधान कार्यस्थान है पोता उद्गाताका तृतीय सहकारी ऋत्विक् सामवेदी होता है इसकी उद्गातासे चतुर्थांश दक्षिणा है १ ।

२ यजु० ४ अ० २७ मंत्रमें अङ्घारी बम्भारी यह सोमरक्षक समस्त देवताओंके अन्तर्गत हैं पापनाशक होनेसे अङ्घारी । चराचरका पालन करनेसे बंभारी नामसे विख्यात है २ ।

३ यह नेष्टाका प्रधान कार्यस्थान है यह नेष्टा अध्वर्युका दूसरा सहकारी है इसकी अध्वर्युसे तृतीयांश दक्षिणा है ३ ।

४ यह अच्छावाक्का कार्यस्थान है अच्छावाक् होताका दूसरा सहकारी है यह होतासे तृतीयांश दक्षिणा पाता है ४ ।

५ अवस शब्द अन्नवाची उसकी इच्छा करनेसे (अवस्यू) दुवस् शब्दसे हव्य ग्रहण है ५ ।

६ यह स्थान अध्वर्युका प्रधान स्थान है अध्वर्यु यजुर्वेदीय प्रधान ऋत्विक् है इसकी होता आदिके तुल्य दक्षिणा है ६ ।

७ अग्निकी आधारभूमि स्वल्पवेदीको आहवनीय धिष्ण्य कहाजाता है यह प्रतिप्रस्थातानामक ऋत्विजोंका प्रधान कार्यस्थान है, यह ब्रह्मानामक प्रधान ऋत्विक्का द्वितीय सहकारी प्रतिहर्ता नामक ऋत्विक्का तुल्यपद है, इसकी दक्षिणा भी प्रतिहर्ताकी समान ब्रह्मासे तृतीयांश है इसका कार्यद्वारा रक्षण है ७ ।

८ यह धिष्ण्य सदोमण्डपके बाहर एवं यही स्थान ऋत्विक् गणके मन्त्रस्नानादि द्वारा पवित्र हुआ है इस कारण इसको बहिष्पवमान कहते हैं ८ ।

९ स्तवपाठकरनेके निमित्त संघटित ऋत्विक्मण्डलीको परिषद् कहते हैं ९ ।

१० यह चतुष्कोणरूप पुष्करिणीकी समान खातभूमि है इस गर्त्तकी खोदी हुई मृत्तिका लेकर समस्त वेदी निर्मित की जाती हैं १० ।

११ चत्वालके निकट दक्षिण पार्श्वमें बलिस्थान हैं इस स्थानमें गमनागमनका अन्य मार्ग नहीं इस कारण इस चत्वालको प्रदक्षिणा किया जाता है ११ ।

१२ इस स्थानमें बलिआहुति पक्व की जाती है १२ ।

१३ सामवेदीय प्रधान ऋत्विक् होता अध्वर्यु और ब्रह्माकी समान दक्षिणा पाता है इसका प्रधान कार्य सामगान, ऋतशब्दसे सामगान इसका जो धाम स्थान सो ऋतधामा उदुम्बरीका स्पर्श कर उद्गाता गान करै यह श्रुति विधान है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३१-मंत्र ६ ।

समुद्रोसि विश्वव्यचाऽअजोस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्रमा तिर स्वस्ति मेस्मिन् पथि देवयाने भूयान्मित्रस्य मा ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसमुद्रोसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । ब्रह्मासनं दे० । ब्रह्मासनविलोकने वि० । (२) ॐअजोसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । दैवी पंक्ति० । अग्निर्देवता । शालाद्वार्यविलोकने वि० । (३) ॐअहिरसीत्यस्य मधु० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । गार्हपत्याग्निर्दे० । प्राजहितविलोकने वि० । (४) ॐवागसीत्यस्य याजुषी बृहती छं० । सदो दे० । सदोविमर्शने वि० । (५) ॐऋतस्येत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । द्वार्यशाखा देवता । द्वार्यशाखाभिमर्शने वि० । (६) ॐअध्वनामित्यस्य मधुच्छंदा० ऋ०।निचृदार्षी गायत्री छं० । सूर्यो देवता । सूर्याभिमंत्रणे वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे ब्रह्मासन नामकरण करै"यह नामकरण सदोमण्डपके मध्य अग्निकोणप्रान्तमें उत्तर दक्षिणको दीर्घ हुई स्वल्प आठ वेदियोंका है" मंत्रार्थ-हे ब्रह्मासन धिष्ण्य ! तुम्हारे अधिष्ठाता ब्रह्मा चतुर्वेदवेत्ता ज्ञानका समुद्र है, इस कारण तुम उसके अधिष्ठानसे (समुद्रः) ज्ञानसागररूप हो तथा (विश्वव्यचाः) समस्त ऋत्विग्जनोंके यज्ञीय कृताकृत देखनेसे तुम विश्वव्यचा नामसे प्रसिद्ध (असि) हो ब्रह्मा सम्पूर्ण यज्ञभूमिके गुणदोषनिरीक्षण करनेसे विश्वव्यचा कहेजाते हैं. उसके कारण वेदीके भी यही विशेषण हैं जो इस योग्य हो वह यहां स्थिति करै. १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे शालाद्वार्यके धिष्ण्यके

ऊपर स्थापित अग्निका नामकरण करै । मन्त्रार्थ-हे शालाद्वार्यवर्ती अग्ने ! तुम आहवनीयरूपसे यज्ञप्रदेशमें गमन करती हो (एकपात्) एकही रक्षाकरनेवाली (असि) हो अथवा (अज) जन्मरहित (एकपाद्) जिसके सब संसार एक चरणमें है वा जो अद्वितीय पालक है "पादोस्य विश्वा भूतानि" [पुरुषसूक्त] उस परब्रह्मके तुष्टिसाधन होनेसे तुमको भी अज और एकपात् कहतेहैं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्राजहित धिष्ण्यमें स्थित अग्निका नामकरण करै। मंत्रार्थ-हे प्राजाहित अग्ने ! तुम्हारा क्षय नहीं इस कारण तुम (अहिः) क्षीणतारहित हो और तुम मूल अग्नि हो इस कारण (बुध्न्यः) मूलमें होनेवाले बुध्न्य नामसे विख्यात (असि)हो "स्तुतिः स्वनाम्ना कर्मणा वाथ रूपैः" इति ।

षोडशधिष्ण्यप्रकरण समाप्त ।

विधि-(४) चौथे मंत्रसे सदोमण्डपका हस्तसे मार्जन करै [का० । ८ । २२] मंत्रार्थ-हे सदोमण्डप ! तुम (वाक्) वाणी (असि)हो अर्थात् इस स्थानमें ऋत्विग्जन अपने२ कर्तव्य अनुष्ठानान्तर्गत मन्त्रवाक्य सकल सदाही प्रयोग करैंगें इस कारण तुम वाक्का अधिष्ठान होनेसे वाक् हो (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवका प्रधान स्थान होनेसे इन्द्ररूप (असि) हो ऋत्विग्गणका प्रधान कार्य सभा होनेसे (सदः) सभा (असि) हो ४ । विधि-(५) पंचम मंत्रसे द्वार प्रदेशमें दोनों ओर स्थापित कदलीस्तंभादि जलसे धोवै [का० ९ । ८ । २३] मन्त्रार्थ-(ऋतस्य) यज्ञके (द्वारौ) द्वारदेशमें स्थापित हे शाखे ! तुम (मा) मुझको (मा सन्ताप्तम्) किसी प्रकार सन्तापित न करना अर्थात् प्रवेश निष्क्रमणमें स्खलित न होना ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे यजमान देवयानमार्गके संस्कारार्थ सूर्यका अभिमंत्रण करै [का० ९ । ८ । २४ । २५] मंत्रार्थ-(अध्वपते) हे मार्गके पालक सूर्य ! हम किसी मार्गसे गमन करैं तुम (अध्वनाम्) मार्गोंके मध्यमें वर्तमान (मा) मुझको (प्रतिर) वर्द्धित करो किंच (अस्मिन्) इस (देवयाने) देवयान (पथि) मार्गमें (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (भूयात्) हो ६ ॥ ३३ ॥

यज्ञीय विवरण-१ शाला प्राचीनवंशा शाला उसका द्वारदेश, उदग्वंशा शालाका पश्चिम प्रदेश, इन दोनो शालाके मध्यमें प्राप्त धिष्ण्यपर स्थित आहवनीय अग्नि ही यह अग्नि है.

२ प्राचीनवंशा शालाके मध्य पश्चिममें किंचित् दक्षिणांशमें पत्नीशाला है, इस

---

१ अर्थात् मेरे यज्ञद्वारमें कोई विघ्न न हो द्वारपतनसे दस्युआदिका प्रवेश न हो ।

स्थलमें यजमानकी पत्नी सदा स्थित रहै, उसकेही पश्चिम यह प्राजहित धिष्ण्य-स्थित अग्नि है प्रजागणकी हितकारक अग्नि अर्थात् गार्हपत्य अग्नि प्राजहित है

३ प्राचीनवंशा शालाके मध्यगत ऐष्टिक वेदीके पूर्वभागमें स्थापित आहवनीय अग्निको गार्हपत्यत्व प्राप्त होताहै किन्तु यह गार्हपत्यत्व पूर्ववत् अवितथ ही है [१४ कण्डिका देखो] यहांतक कि इसका मान हीन नहीं होता इस कारण इसको अहि हीनताशून्य कहतेहैं.

४ अग्न्याधान कालमें सबसे प्रथम इस अग्निकाही आधान हुआहै पीछे क्रमसे और अग्निका आधानादि होताहै इस कारण मूलरूप यही है. [तीसरे अ० ७ । ८। कण्डिका देखो]

५ ऐन्द्र शब्दसे अमितऐश्वर्यवान् ईश्वर, वा ऐश्वर्यवान् यजमान, मेघचालक वायु सूर्य वा तेजविशेष ।

६ प्राचीनवंशा शालाके मध्यस्थ ऐष्टिक वेदीके उत्तरद्वारसे पूर्वाभिमुख होकर आहवनीय कुण्डके ईशान कोणमें किंचित् दक्षिणाभिमुख होकर फिर पूर्वमुख उदग्वंशा शालाके मध्यगत उदुम्बरीको दक्षिण करके सरल रेखाक्रमसे सदोमण्डपको मध्य देकर गमन करते वाम ओर ब्राह्मणशंसिधिष्ण्य दक्षिणमें होतृधिष्ण्य रक्षाकरते सदोमण्डपके बाहर उत्तराभिमुख होकर सदोमण्डपके ईशानकोणमें अधिष्ठित आग्नीध्र धिष्ण्यको दहिने हाथकी ओर करके फिर पूर्वाभिमुखसे सोमिक वेदीके उत्तर किंचित् जाकर चत्वालके पश्चिमओर सोमिक वेदीके पूर्वभागमें फिर दक्षिणाभिमुख चलकर यत्किंचित् वामओर तिरछे चलकर उत्तर वेदीके पश्चिम द्वारमें जो प्राप्त हुआ है इस मार्गको यज्ञमें देवयान मार्ग कहते हैं "इस देवयानमें सूर्य मंगलपूर्वक दृष्टि करें यह प्रार्थना है: देवता देवलोकसे जिस मार्ग-द्वारा गमन करते हैं वह देवयान मार्ग है और भूमिपर जब यज्ञस्थलमें गमनागमन करे तब उपरोक्त मार्ग उनसे अविष्ठित होनेसे देवयान मार्ग कहाता है"

जिस कारण कि सम्पूर्ण मार्ग शुष्क वा सरस सुवात वा कुवात प्रकाश वा अप्रकाश इन सबके कारण सूर्यही है इस कारण सूर्यको अध्वपति अर्थात् मार्गके शुभाशुभ कारणमें समर्थ कहा जाता है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र २ ।

मि॒त्रस्य॑मा॒ चक्षु॑षेक्षध्व॒मग्न॑यः॑सग॒राः॑सग॑रास्थ

सगरेण नाम्ना रौद्रेणानीकेन पात मऽग्नयः पिपृत मा गोपायत नमो वोऽस्तु मा मा हिᳬंसिष्ट ॥ ३४ ॥

(ऋष्यादि–(१) ॐमित्रस्येत्यस्य मधुच्छंदा ऋ०।याजुषी बृहती छं० । ऋत्विजो देवताः । ऋत्विगभिमन्त्रणे वि० (२) ॐअग्न इत्यस्य मधुच्छं०। निच्यृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । धिष्ण्यो देवता । धिष्ण्याभिमन्त्रणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे ऋत्विजोंका अभिमंत्रण करे अर्थात् उनके प्रति दृष्टिपूर्वक प्रार्थना करे [का० ९ । ८ । २६] मंत्रार्थ–हे ऋत्विग्गण ! (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) नेत्रोंसे (मा) मुझको (ईक्षध्वम्) अवलोकन करो, अर्थात् मित्र जिस प्रकार देखते हैं इस प्रकार तुम हमको देखो इस कार्यको स्वीकार करो । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे आठों धिष्ण्योंको अभिमंत्रण अर्थात् दृष्टिपातपूर्वक प्रार्थना करे [का०९।८।२७] मन्त्रार्थ–(सगराः) स्तुतिके सहित वर्तमान (अग्नयः) हे धिष्ण्यगत सम्पूर्ण अग्नियो (सगरेण नाम्ना) स्तुतिसहित धिष्ण्य इस नाम करके (सगराःस्थ) समान स्तुतिवाली हो (अग्नयः) हे अग्नियो ! (रौद्रेण) उग्र(अनीकेन) अपनी सेना वा मुखसे (मा) मुझको (पातम्) रक्षा करो अथवा रुद्रदेवताके मुखसे मेरी रक्षा करो (अग्नयः) हे अग्नियो (मा) मुझको (पिपृत) धनादिकोंसे पूर्णकरो (मा) मुझको (गोपायत) रक्षाकरो "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" इति [निरु० १० । ४२] अर्थात् मेरी निरन्तर रक्षा करो (वः) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझे (मावधिष्ट) मत मारना अर्थात् तुम्हारे द्वारा किसी प्रकार यज्ञविघ्न उपस्थित न हो ॥ ३४ ॥

विशेष आशय–सगर स्तुतियुक्त विभुप्रवाहण प्रभृति प्रत्येकके दोदो स्तुति नाम प्रसिद्ध हैं समान रूप स्तुतिका आशय यह कि आग्नीध्रीयधिष्ण्य, क्या होतृधिष्ण्य सबकाही समभावसे स्तुति की जाती है । १ अर्थात् जिस मार्गसे हम भीत होवें ऐसे मार्गसे हमारी रक्षा करो ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र ३ ।

ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानाᳬं समित् ॥ त्वᳬं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यऽउरु यन्तासि वरूथᳬं स्वाहा जुषाणोऽअप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐज्योतिरसीत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । विश्वेदेवा दे० । पृषदाज्येन समिदग्राञ्जने वि० । (२) ॐत्वंसोमेत्यस्य भृगुसुतऋतुर्ऋ० । अनवसाना गायत्री छं० । सोमो दे० । प्रचरण्यां स्रुचा सकृद्गृहीताज्याहुतिहवने वि० । (३) ॐजुषाण इत्यस्य भृगुसुत ऋतुर्ऋ० । एकपदा विराट् छं० । सोमो देवता । द्वितीयाज्याहुति-हवने वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त सोमानयनक्रिया (सोम लेकर शकटपर रक्षा करना) अनुष्ठित होती हैं इस कारण उसका पहला कृत्य पृषदाज्यहोम है । इस कारण प्रथम मंत्रसे पांचबार स्रुवमें पृषदाज्य ग्रहण करके उससे समिधाओंका अन्तभाग सिक्त करे [का० ९ । ४ । २६] (पृषदाज्यसे इस स्थलमें दधिबि-न्दुयुक्त घृत ग्रहण करना.) मन्त्रार्थ-हे आज्य ! तुम (विश्वरूपम्) सर्वरूप अथवा बहुत आहुतियोंके उपयुक्त होनेसे सर्वरूप (ज्योतिः) ज्योति प्रकाशरूप (असि) हो (विश्वेषां) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंके (समित्) दीपक प्रकाशक हो आज्य भोजन करही देवता प्रदीप्त होतेहैं उनके सन्तोषके निमित्त यह समिधाका अन्त सिक्त करताहूं । विधि-(२-३) दूसरे मंत्रसे पृषदाज्य समित् प्रचरनी जुहू (किसी होमसाधनका एक प्रकारका स्रुक्) से ग्रहण करके दोवार दूसरे और तीसरे मंत्रसे प्रदीप्त आहवनीय अग्निमें आहुति प्रदान करे [का० ८ । ७ । १] मंत्रार्थ-(सोम) हे ईश्वररूप सोमदेवता ! (त्वम्) तुम (अन्यकृतेभ्यः) हमारे विरोधि-योंसे प्रेरित (द्वेषोभ्यः) द्वेषी शत्रु वा दुर्भाग्य (तनूकृद्भ्यः) शरीरछेदक राक्ष-सोंके (यन्ता) दण्डदाता हो अर्थात् अनिष्टकारी चोरगण, अन्यरूप उपद्रवकारी द्वेषीवृन्द और तनूकृन्तक राक्षस वा दस्युदलके पक्षमें यमस्वरूप हो, और हमारे निमित्त (उरु) अत्यन्त (वरूथम्) बलरूप (असि) हो (स्वाहा) तुमको दी हुई यह हवि सुन्दररूपसे गृहीत हो । (जुषाणः) प्रीयमाण सोमदेवता (अप्तुः) मेरे दिये हुए इस (आज्यस्य) घृतका (वेतु) पानकरो (स्वाहा) हमारी दीहुई यह आहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १ ।

अग्ने॒ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽअ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान् ॥ यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्नेनयेत्यस्यागस्त्य ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। अग्नि-र्देवता। अग्निं प्रति गमने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) अग्नीध्रके प्रति गमन करते समय यजमान यह मंत्र पाठ करै [का० ८।७।६।] मन्त्रार्थ(अग्ने) हे विश्वज्योति! परमात्मन्! (देव) दिव्यगुण-सम्पन्न (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) मार्ग वा ज्ञानोंको (विद्वान्) जाननेवाले आप (अस्मान्) हम अनुष्ठान करनेवालोंको (राये) धन वा यज्ञफलके निमित्त (सुपथा) शोभन मार्गसे (नय) प्राप्तकरो किञ्च (अस्मत्) हम अनुष्ठान करने-वालोंसे (जुहुराणम्) अभिलषित क्रियाके प्रतिबन्धक (एनः) पापको(युयोधि) पृथक् करो (ते) आपके निमित्त (भूयिष्ठाम्) अत्यन्त (नमउक्तिम्)याज्यपर अनु-वाक्य लक्षणवाले हविरूप वचनको "नम इत्यन्ननाम" [निघं०२।७।२२] अथवा नमस्कारविषय उक्तिको (विधेम) सम्पादन करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ-हे विश्वज्योति! हम आपके प्रसादसे न्यायमार्गसे धनलाभ करैं, हे देव! आप विद्वान् हो आपके प्रसादसे हम भी सब पदार्थविषयक ज्ञान लाभ करैं हमको निन्दनीय कुटिल पापमार्गसे दूर रक्षा करो आपको अनेक २ नमस्कार हैं [ऋ० २।५।१०]॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १।

अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयम्मृधः पुरऽएतु प्रभिन्दन्॥ अयंवाजाञ्जयतुवाजसातावयꣳ शत्रूञ्जयतुजर्हृषाणः स्वाहा ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअयन्न इत्यस्यागस्त्य ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं० अग्निर्देवता आग्नीध्रीये धिष्ण्ये स्थापितेऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) सदोमण्डपके ईशानकोणमें निर्मित आग्नीध्रीय मण्डपमें स्थित धिष्ण्यके ऊपर अग्निस्थापनके अनन्तर इस स्थानमें ग्रावा (पत्थर) द्रोणकलश सोमपात्र रक्षण करै और फिर इस मंत्रसे अग्निमें घृतकी आहुति प्रदानकरै [का० ८।७।७-९] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमको (वरिवः) धन (कृणोतु) प्रदान करै (अयम्) यही अग्निदेव (मृधः) संग्राम

में (अभिन्दन्) द्वेषी सेनादलको छिन्नभिन्न करते करते (पुरः) अग्रसर (एतु) प्राप्तहो (अयम्) यह अग्नि (वाजसातौ) अन्नके विभाग करनेमें निमित्त(वाजान्) शत्रुबलाक्रान्त अन्नको (जयतु) हमारे देनेके निमित्त जयकरो (जर्हृषाणः) अत्यन्त प्रसन्न होताहुआ (अयम्) यह अग्नि (शत्रून्) शत्रुओंको (जयतु) जीतो अर्थात् यह आनन्दके सहकारी विनाही क्लेश हमारे सब अनिष्ट दूरकरै (स्वाहा) हमारी यह आज्यआहुति सुन्दर रूपसे गृहीत हो ॥ ३७ ॥

कण्डिका-३८ मंत्र १ ।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ॥ घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर स्वाहा ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउरुविष्णवित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । आहवनीयाग्निधिष्ण्यस्थापितेऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१)इस मंत्रसे उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीयाग्नि कुण्डमें आहुतिदे[का०८। ४।१९]मंत्रार्थ-(विष्णो) व्यापक आहवनीयाग्निरूपपरमात्मन् ! (उरुविक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादिके प्रति बहुत पराक्रम करो (क्षयाय) ब्रह्मगृहनिवासके निमित्त (नः) हमको (उरु कृधि) अधिकतर करो (घृतयोने) हे घृतसे वृद्धि पानेवाले (घृतम्) हूयमान इस घृतको (प्रपिब)विशेष कर पान करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (प्रतिर) अतिशय वृद्धिको प्राप्त करो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त देते हैं " अग्निर्यस्यै योनेरसृज्यत तस्यै घृतमुल्बमासीत् " इति श्रुतेः । "आशय यह कि हमारे निवासादि बृहत् हों" ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ३ ।

देव सवितरेष ते सोमस्तꣳ रक्षस्व मा त्वा दभन् ॥ एतत्त्वं देव सोम देवो देवाꣳ२ उपागा इदमहं मनुष्यान्त्सह रायस्पोषेण स्वाहा निर्वरुणस्य पाशान्मुच्ये ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवसवितरित्यस्यागस्त्य ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । सविता दे० । दक्षिणेन स्वास्तीर्णे कृष्णाजिने सोमनिधाने वि० ।

(२) ॐएतत्त्वमित्यस्यागस्त्य ऋषिः। प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं०। सोमो दे०। सोमोपस्थाने वि०। (३) ॐस्वाहेत्यस्यागस्त्य ऋ०। याजुषी त्रिष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता दे०। हविर्धानमण्डपान्निर्गमने वि०॥ ३९॥

विधि-(१) हविर्धानमण्डपके मध्यमें रक्षित दक्षिण शकटके ऊपर कृष्णाजिन विछाकर प्रथम मंत्रसे उसके ऊपर गांठबँधेहुए सोमको रक्खै [का० ८। ७। १७] मंत्रार्थ-(सवितः) हे सबके प्रेरक! (देव) दिव्यगुणयुक्त (एषः) यह (सोमः) सोम (ते) आपके अर्पित है आपकी प्रेरणासे इसको लाभ किया है इस कारण आपही (तम्) इस सोमको (रक्षस्व) रक्षाकरो (त्वा) सोमके रक्षक आपको (मा) मत (दभन्) कोई उपद्रव प्राप्तहो अर्थात् आपके प्रसादसे कोई दुरात्मा इसको नष्ट न करै १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस कृष्णाजिनपर गांठ खोलकर सोम फैलावे [का० ८। ७। १८] मंत्रार्थ-हे सोमदेव! (त्वम्) तुम (देवः) देवता हो इस कारण अपने (देवान्) देवताओंको (एतत्) इस समय यहां (उपागाः) प्राप्त करो (इदम्) यह (अहम्) मैं यजमान (रायस्पोषेण सह) धन और पुष्टिके सहित (मनुष्यान्) अपने ऋत्विगादि मनुष्योंके लिये इस स्थानमें प्राप्त हुआ हूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे हविर्धान मण्डपसे निर्गत होवे [का० ८। ७। १९] मंत्रार्थ-(स्वाहा) सोमरूप अन्न देवताओंको देकर, अथवा यह जो हमारा मन अवतक सोममें दत्तचित्त था सो अब मैं इससे (निर्) विरत होकर (वरुणस्य) वरुणदेवताके (पाशात्) पाशसे (मुच्ये) मुक्तहुआ ३॥ ३९॥

विवरण-इसी मंत्रसे यह स्पष्ट है कि देवजाती अन्य मनुष्यजाती अन्य हैं॥ ३९॥

कण्डिका ४०-मंत्र १।

अग्ने॑ व्रतपास्त्वे व्र॑तपा या तव॑ तनूर्म॒य्यभू॑दे॒षा सा त्वयि॒ यो मम॑ त॒नूस्त्वय्यभू॑दि॒यꣳ सा मयि॑। य॒था॒य॒थं नौ॑ व्रतपते व्र॒तान्यनु॑ मे दी॒क्षां दी॒क्षाप॑ति॒रम॑ꣳस्ता॒नु तप॒स्तप॑स्पतिः॥ ४०॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐअग्ने व्रतपा इत्यस्यागस्त्य ऋषिः। निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दे०। गाढतरमुष्टिमेखलकरणे वि०॥ ४०॥

विधि-(१) यजमानने पहले अग्निके सहित अपना शरीर परिवर्तित किया था अब इस मंत्रसे उसको प्रतिप्रदान करै [का० ८ । ३ । ४ ।] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (व्रतपाः) स्वभावसे सम्पूर्ण व्रतोंके पालन करनेवाले हो इस कारणसे अबभी (त्वे) तुम (व्रतपाः) मेरे व्रतके पालक हो हे अग्ने ! व्रतके प्रार्थनाकालमें (तव) तुम्हारे सम्बन्धका (या) जो (तनूः) शरीर (मयि) मुझमें (अभूत्) स्थित हुआ था (सा) वह (एषा) यह तुम्हारा शरीर (त्वयि) तुम्हाराही हो (या उ) और जो यह मेरा (तनूः) शरीर (त्वयि) तुझमें (अभूत्) स्थित था (सा) वह (इदम्) यह मेरा शरीर (मयि) मुझमें स्थित हो (व्रतपते) हे व्रतपालक ज्योतिष्टोमादियज्ञरक्षक अग्ने ! [वा सोम] (नौ) हमारे (व्रतानि) व्रतकर्मोंको (यथायथम्) यथायोग्य सम्पादन करो अर्थात् अनुष्ठानरूपव्रत मेरा और पालनरूप व्रत तुम्हारा हो (दीक्षापतिः) दीक्षापालक अग्निने (मे) मेरी (दीक्षाम्) दीक्षानियमको (अन्वमंस्त) अंगीकार कियाहै (तपस्पतिः) उपसद् तपके पालक अग्निने मेरा (तपः) व्रतपालन उपसदरूप तप (अनु) स्वीकार किया ॥ ४० ॥

आशय-निर्दोष अनुष्ठान करना मनुष्यका कर्तव्य है पूर्ण फलदान ईश्वरका कर्तव्य है ॥ ४० ॥ इस मंत्रमें शरीर परिवर्तनका विधान है ।

कण्डिका-४१ मंत्र १ ।

यूपप्रकरण ।

उ॒रु वि॑ष्णो॒ वि क्र॑मस्वो॒रु क्षया॑य नस्कृधि ॥ घृ॒तं घृ॑तयोने पिब॒ प्रप्र॑ य॒ज्ञप॑तिं तिर॒ स्वाहा॑ ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउरुविष्णवित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । विष्णुर्देवता । आहवनीये चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) यूपस्तंभछेदन करनेके निमित्त वनमें गमन करना होता है यह गमन सुफल हो इस कारण स्रुवमें चारबार आज्य ग्रहण करके इस मंत्रसे आहवनीय कुण्डमें हवन करै [का० ६ । १ । ३-४] मन्त्रार्थ-(विष्णो) व्यापक आहवनीयाग्निरूप परमात्मन् ! (उरुविक्रमस्व) हमारे शत्रु तथा कामादिके प्रति बहुत पराक्रम करो । (क्षयाय) ब्रह्मगृहनिवासके निमित्त (नः) हमको (उरुकृधि) अधिकतर करो (घृतयोने) घृतसे वृद्धिपानेवाले (घृतम्) हूयमान

---

१ अ० ५ मं० ६ देखो ।

इस घृतको (प्रपिब) विशेषकर पान करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (प्रतिर) अतिशय वृद्धिको प्राप्त करो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारे निमित्त देते हैं ॥४१॥

कण्डिका ४२-मंत्र ४ ।

अत्त्यन्न्याँ२ऽअगुन्नान्न्याँ२ ऽउपांगामुर्वाक्त्वाप रेब्भ्योविदम्पुरोवरेब्भ्यः ॥ तन्त्वांजुषामहेदेवव नस्प्पतेदेवयुज्ज्यायैदेवास्त्वांदेवयुज्ज्यायैजुष न्तांविष्णवेत्वा ॥ ओषधेत्रायस्स्वधिस्स्वधितेमैन ᳬहिᳬसीः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअत्यन्यामित्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । वनस्पतिर्दे० । यूपमभिमृश्याभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐ विष्णवेत्वेत्यस्यागस्त्य ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छं० । वनस्पतिर्देवता । घृताक्तेन स्रुवेण च्छेदनप्रदेशे यूप्यवृक्षोपस्पर्शने वि० । (३) ॐ औषध इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । कुशतरुणो दे० । कुशतरुणान्तर्धाने वि० । (४) ॐस्वधित इत्यस्यागस्त्य ऋषिः । दैवी जगती छं० । परशुर्देव० । परशुना प्रहरणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) हुतशेष आज्य ग्रहण कर तक्षा (बढई) के साहित वनमें गमन करे इस प्रथम मंत्रसे एक यूप्य वृक्ष जो पूर्वमुख हो उसको अभिमर्शन वा आभिमंत्रण करै [का०६।१।५-७] पलाश (ढाक) खैर बिल्वादि यूपके उपयुक्त वृक्षोंको (यूप्य) कहतेहैं इसके व्यतिरिक्त निम्बजम्बीरादिको अयूप्य कहते हैं अभिमर्शनका अर्थ घृतद्वारा वृक्षका अंग मर्दन कर मंत्रपाठ करे । मन्त्रार्थ-हे पुरोवर्ति यूपवृक्ष ! तुमसे (अन्यान्) व्यतिरिक्त अन्य अयूप्य वृक्षोंको जो कि सम प्रदेशमें जन्मादिके लक्षणसे रहित थे उनको (अत्यगाम्) अतिक्रमण करके आयाहूं (अन्यान्) यूपके अयोग्य वृक्षोंके समीप (न)नहीं (उपगाम्) गया (त्वा) तुझको (परेभ्यः) दूरवर्ती वृक्षोंसे (अर्वाक्) निकट जानकर (अवरेभ्यः) निकटोंसे (परः) श्रेष्ठ (अविदम्) पाकर तुम्हारे निकट आयाहूं(वनस्पते) हे वनके पालक ! (देव) हे देव ! दीप्यमान वृक्ष (देवयज्यायै) देवयजनकार्यके निमित्त (तम्) उस (त्वा) तुमको (जुषामहे) सेवन करतेहैं (देवाः) देवताभी (त्वा तुमको (देवज्यायै) देवयजन कार्यके निमित्त (जुषन्ताम्) सेवन करैं १

विधि-(२) इस मंत्रसे हुतशेष घृत जो स्रुवमें अध्याय ५. है उससे वृक्षको स्पर्श करै [का०६।१।११] मंत्रार्थ-हे यूपवृक्ष ! (त्वा) तुमको (विष्णवे) परमात्माकी प्रीतिके निमित्त वा यज्ञके निमित्त स्पर्श करताहूं "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे कुशान्तर्धान करै अर्थात् जिस स्थानसे दो खण्ड करै उस स्थानमें कुशावन्धनद्वारा चिह्नित करै जिससे अन्यस्थानमें कुठाराघात न हो [का० ६ । १ । १२] मंत्रार्थ-(औषधे) हे औषध ! कुठारके भयसे मुझे (त्रायस्व) रक्षाकर ३ । विधि-(४) अगले मंत्रसे यूप्यवृक्ष पर कुठाराघात करै [का० ६ । १ । १३] (स्वधिते) हे कुठार ! (एनम्) इस यूपके अन्य स्थानको (मावधीः) मत व्याघातकरो अर्थात् कुशचिह्नित स्थानसे निम्न वा ऊर्ध्व रक्षणीय भागमें आघात प्राप्त न हो ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र ५ ।

द्यां मा लेखीरन्तरिक्षम्मा हिꣳसीः पृथिव्या सम्भव ॥ अयꣳ हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः प्प्रणिनाय महते सौभगाय ॥ अतस्त्वन्देव वनस्पते शतवल्शो विरोह सहस्रवल्शा वि वयꣳ रुहेम ॥ ४३ ॥ [३] ॥ १० ॥

इति संहितायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यांमालेखीरित्यस्यागस्त्य ऋ० । निच्युत्साम्नी बृहती० । वनस्पतिर्दे० । पतच्छाखाभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐअयमित्यस्यागस्त्य ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । वनस्पतिर्देवता । छिन्नयूप वृक्षशोधने वि० । (३) ॐअतस्त्वमित्यस्यागस्त्य ऋ० । आर्षी बृहती छं० । वनस्पतिर्देवता । छेदनप्रदेशे सकृद्गृहीताज्येन हवने वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) जिस समय यह छिन्न वृक्षशाखा भूमिमें गिरती हो उस समय यह मंत्र पाठकरै [का० ६ । १ । १६] मंत्रार्थ-हे यूपवृक्ष ! (द्याम्) द्युलोकको (मालेखीः) मत हिंसा करो अर्थात् मत विगाडो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (माहिꣳसीः) मत नष्टकरो (पृथिव्याः) पृथ्वीके साथ (सम्भव) संगतिकर अर्थात् तीनों लोकोंमें शान्ति हो तुम पृथ्वीकी वस्तु हो इस कारण पृथ्वीके सहित संगत हो १ । विधि-(२) इस मंत्रसे वृक्षकी शाखाके पत्रादि छोटी शाखा पृथक् करै [का० ६ । १ । १८ । १९] मन्त्रार्थ-हे छिन्नवृक्ष ! (हि) अवश्यही कि (तेतिजानः) अत्यन्त तीक्ष्ण (अयम्) यह (स्वधितिः) कुठार (महते) वडे (सौभगाय)सौभाग्य दर्शनीयत्वादिके निमित्त वा शोभन यज्ञके निमित्त

(त्वा) तुझको (प्रणिनाय) यूपत्वमें प्राप्त करता है २ । विधि-(३) आज्यस्थालीसे एकबार लिये घृतको जुहूमें लेकर छेदनप्रदेशमें आहुति प्रदान करे [का० ६ । १ । २० । २१] मंत्रार्थ-(वनस्पते देव) हे वनस्पति देव ! (अतः) इस स्थानसे (त्वम्) तुम (शतवल्शः) सैंकडों अंकुरवाले होकर (विरोह) विशेषकर उपजो (वयम्) हम (सहस्रवल्शः) इस कार्यबल से सहस्र २ पुत्रपौत्रादि शाखारूप सम्पन्न हों ॥ ४३ ॥

भावार्थ-परमात्माकी आज्ञा है कि चराचरका उपकार करना मनुष्योंको सर्वथा उचित है वृक्षकी शाखा ग्रहण करनेको भी उसकी उन्नतिकी इच्छा करो ॥ ४३ ॥

इस अध्यायका अर्थ भी पंडित दयानन्दने विरुद्धही कियाहै कारण कि उनका अर्थ देखकर किसी यज्ञका निश्चयही नहीं होता कि क्या प्रकरण है केवल विजली विद्वान् और उपदेशकका पता मिलताहै ।

इस अध्यायमें आतिथ्यसे स्थाणुहोमपर्यन्त अनेक प्रकारके पदार्थोंके गुण ईश्वर महिमा, वाणीका महत्त्व, ब्रह्मउपासना, यज्ञयोग्य पंचभूतके कार्य, दुष्टोंका तिरस्कार, महात्माओंका सत्कार आदि वर्णन किया है ।

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतवाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वाला-
प्रसादकृतमिश्रभाषाभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः ६.

देवस्यत्वाषड्डपावीरसिपञ्च माहिःषट् सन्तेतिस्रःसमुद्रंगच्छ हविष्मतीर्द्विको हृदेत्वापञ्च देवस्यत्वाष्टावष्टौसतत्रिंशत् ।

पांचवें अध्यायमें आतिथ्यसे लेकर यूपनिर्माण पर्यन्तके मंत्र कहे अब छठे अध्यायमें यूपसंस्कारसे प्रारंभ कर सोमाभिषवउद्योग पर्यन्त मंत्र कथन करते हैं

उत्तर वेदीके पूर्व भागमें यज्ञशालाके पूर्वभागीय प्रतीहारभूमिके पश्चिम द्वारके निकट यूप गाडना होताहै इस कारण इस काण्डकाके प्रथम मंत्रसे अभ्रिस्वीकार, दूसरेसे दृढ मुष्टिकरण, तीसरेसे खोदना, चौथेसे यववपन, पांचवेंसे अग्र मध्य और मूलमें प्रोक्षण, छठेसे आसिचन, सातवेंसे कुशासन कार्य सम्पन्न होताहै. इस कण्डिकाका अर्थ ५ अ० २२ काण्डकामें पहल तीन मंत्र और शेष २६ कण्डिका देखनेसे विदित होगा, अधिक ऊंचे स्तम्भके दण्डायमानादि कार्य करनेको तीन अंशकरके कल्पना करते हैं जब यह स्थापन समय ऊपरको स्थापित किया जाताहै तब स्तंबाकार धारण करताहै [का०६ । २ । ८ । ६ । २ । १९-१८]

कण्डिका-१ मंत्र ३ ।

देवस्य॑त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ आद॑देना॒र्य॑सी॒दम॒हꣳ रक्ष॑सां ग्री॒वाऽअपि॑कृन्तामि ॥ य॒वो॑सि य॒वया॒स्मद्द्वेषो॑ य॒वयारा॑तीर्दि॒वे त्वा॒न्तरि॑क्षाय त्वा पृथि॒व्यै त्वा शुन्ध॑न्ताँल्लो॒काः पि॑तृ॒षद॑नाः पितृ॒षद॑नमसि ॥ १ ॥

देवस्यत्वेति व्याख्याता २६ क० ९ अध्यायमें ।

कण्डिका-२ मंत्र ४ ।

अ॒ग्रे॒णीर॑सि स्वावे॒शऽउ॑न्ने॒तॄणा॑मे॒तस्य॑ वित्ता॒दधि॑ त्वा स्थास्यति दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता मध्वा॑नक्तु सुपिप्प॒लाभ्य॒स्त्वौष॑धीभ्यः ॥ द्यामग्रे॑णास्पृक्षऽआन्तरि॑क्ष॒म्मध्ये॑नाप्राः पृथि॒वीमुप॑रेणादृꣳहीः ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअग्रेणीरित्यस्य शाकल्य ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । शकलो देवता । यूपावटे प्रथमशकलप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐदेवस्त्वेत्यस्य शाकल्य ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । यूपो देवता । आज्येन यूपम्रक्षणे वि० । (३) ॐसुपिप्पलाभ्यस्त्वेत्यस्य शाकल्य ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । चषालो दे० । यूपाग्र आज्यलिप्तचषालस्थापने वि० । ॐद्यामित्यस्य शाकल्य ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । यूपो देव० । यूपोच्छ्रयणे वि० ।

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यूपावटमें शकल यूपस्तम्बके मूलभागका खंभ डाले [का० ६ ।२।१९]मंत्रार्थ-हे यूपखण्ड ! (उन्नेतॄणाम्) ऊपरको उठानेवाले ऋत्विग्गणको (स्वावेशः) लघुहोनेसे सुखसे प्रवेश करने योग्य (अग्रेणीः) अग्रसर (असि) हो तुम (एतस्य) इस कर्मको (वित्तात्) जानो जो कि (त्वा) तुम्हारे ऊपर दूसरा और खण्ड (अधिस्थास्यति) स्थित होगा १ । विधि-(२) दूसर मंत्रसे इस शकलके ऊपरके भागमें घृत लिप्तकरे [का०६ । ३।२]मन्त्रार्थ-हे यूप ! (सावता देवः) सबके प्रेरक देव (मद्धा) मधुरघृतसे (त्वा) तुमको

(युनक्तु) सिंचित करैं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे चषालके आदिअन्त दोनों भाग घृतसे चिकने कर शकलके ऊपर स्थापन करै [का० ६ । ३ । ३-४] मन्त्रार्थ-हे चषाल ! (सुपिप्पलाभ्यः) सुन्दरफलसे युक्त (ओषधीभ्यः) व्रीहिआदि औषधियोंकी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको इस शकल नामक यूपांशके ऊपर स्थापन करताहूं । विधि-(४) चौथे मंत्रसे इसके ऊपर तीसरा रक्खै [का० ६ । ३ । ७ ।] मंत्रार्थ-हे यूप ! तुमने (अग्रेण) अग्रभागसे (द्याम्) द्युलोकको (अस्पृक्षः) स्पर्शकियाहै (मध्येन) मध्यभागसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आअप्राः) पूर्णकिया है (उपरेण) अधोभागसे (पृथ्वीम्) पृथ्वीको (अदृꣳहीः) दृढकिया है ॥ २ ॥

विवरण-पहले शकलका नाम आदिखण्ड, दूसरेका चषाल नाम मध्य खण्ड, तीसरेका यूपनामक अग्रभाग इस प्रकार खण्ड २ स्थापनकरनेमें क्लेश नहीं पडताहै अन्यथा एक साथ खडाकरनेमें कठिनाई पडै बलकरना पडै इस कारण लघु अक्लेश कहा, गायत्रीके अर्थसे सबही सविता देवताकी प्रेरणासे होताहै मेरा कर्तृत्व नहीं है ।

फल पक्क होजानेसे समस्त वृक्ष शुष्क होजाय उसको औषधि कहते हैं यथा धान्य गेहूं आदि ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र ३ ।

यातेधामान्युश्मसिगमध्यै यत्रगावोभूरिशृङ्गाऽअयासः ॥ अत्राहतदुरुगायस्यविष्णोः परमम्पदमवभारिभूरि ॥ ब्रह्मवनिन्त्वाक्षत्रवनिरायस्पोषवनिपर्यूहामि ॥ ब्रह्मदृꣳहक्षत्रन्दृꣳहायुर्दृꣳहप्रजान्दृꣳह ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐयात इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । यूपो देवता । अवटमध्ये यूपमूलप्रवेशने वि० । (२) ॐअत्राहेत्यस्य साम्न्युष्णिक्छं० । यूपो देवता । पांसुभिर्यूपावटपरिपूरणे वि० । (३) ॐब्रह्मवनित्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निच्यृत्प्राजापत्या बृहती छंदः । यूपो देवता । पांसुपूरितं गर्तं परितो दण्डेन कुट्टने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यूपको गर्तमें भली प्रकार दृढतासे गाड दे [का० ६ । ३ । ८] मन्त्रार्थ-हे यूप ! (या) जो (ते) तेरे (धामानि) स्थान (गमध्यै)

गमन करनेको हम (उश्मसि) कामना करैं (यत्र) जहां (भूरिशृंगाः) सूर्यदेवताकी अति प्रकाशमान (गावः) किरणजाल (अयासः) विस्तार होते वा वर्तते हैं "प्रज्वलन्नामसु शृंगाणीति पठितम्" [निघं० १ । १४ । ११](अह) वा (उरुगायस्य) महान् गमनवाले अथवा महात्माओंसे स्तुतिको प्राप्त होनेवाले वा सामगानसे उच्चरूप स्तुतिको प्राप्त होनेवाले (विष्णोः) व्यापक परमात्माका (तत्) वह (परमम्) उत्कृष्ट (पदम्) स्थान (भूरि) वडे आदित्यमण्डललक्षणवाले (अत्र) इसस्थानमें ही (अवभारि) शोभित होताहै अथवा इन्हीं स्थानोंमें शोभितहोताहै वह यह यज्ञीय उत्कृष्ट स्थान तुम्हाराही है १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पांसुपर्यूहण करै [का० ६ । ३ । १० । ११] [मृत्तिका डाले] मन्त्रार्थ-हे यूप! तुम (ब्रह्मवनि) ब्राह्मण जातिसे स्तवनीय (क्षत्रवनि) क्षत्रिय जातिसे स्तवनीय (रायस्पोषवनि) वैश्यजातिसे स्तवनीय हो (त्वा) तुमको इस अवटमें (पर्य्यूहामि) पर्यूहण करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे मित्रावरुणदंडद्वारा चारों ओर तीनवार पर्य्यूहण करें अर्थात् डंडेसे मट्टी ठोकदे । मन्त्रार्थ-हे यूप ! (ब्रह्मदृꣳह) ब्राह्मण जातिकी दृढता सम्पन्न कर (क्षत्रन्दृꣳह) क्षत्रिय जातिकी दृढता सम्पन्नकर (आयुर्दृꣳह) वैश्य जातिकी दृढता सम्पन्नकर यजमानकी आयुको दृढकर (प्रजान्दृꣳह) सन्तानकी दृढता सम्पन्नकर ॥ ३ ॥

पक्षान्तरमें परमात्माकी प्रार्थना है. यह भी भावहै कि जहां बहुतसी गऊहैं वहां परमात्माका निवासहै यथा व्रज आदि.

कण्डिका ४-मंत्र १.

विष्णोः॒ कर्म्मा॑णि पश्यत॒ यतो॑ व्र॒तानि॑ पस्प॒शे ॥ इन्द्र॑स्य॒ युज्यः॒ सखा॑ ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । निचृद्दार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्देवता । यजमानेन पठने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु शकल नाम यूपका मध्यभाग यजमानको स्पर्शकराकर यह मंत्र पाठ करावै [का० ६ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! (विष्णोः) यज्ञके अधिष्ठातृ देव परमात्माके (कर्म्माणि) सृष्टि संहारादि चरित्रोंको (पश्यत) देखो (यतः) जिनकर्मोंसे (व्रतानि) तुम्हारे लौकिक वैदिक कर्मोंको (पस्पशे) निर्माण किया है, वह विष्णु (इन्द्रस्य) इन्द्रके (युज्यः) वृत्रवधादि कर्ममें अनुरूप (सखा) मित्र हैं अथवा हे ऋत्विग्गणो ! यह दृश्यमान समस्त पदार्थ ही

सर्वव्यापी विष्णु देवताके कार्य्यकौशलकी अपूर्व परीक्षा देते हैं, इनके कार्य प्रभावसे हमारी यह कार्यजाति स्वतः ही आबद्ध हुई है वह देदीप्यमान इस समस्त पदार्थके ही उपयुक्त सखा हैं अथवा यज्ञरूप विष्णुके वे कार्य देखो जिसने आधान सोमादि कर्म अपनेमें बद्ध किये हैं जिस व्रतमें अग्नि वायु सूर्यको निज२कर्ममें बद्ध किया है ॥ ४ ॥

काण्डिका ५-मंत्र १।

तद्विष्णोः॑ पर॒मम्प॒दꣳ सदा॑ पश्यन्ति सू॒रयः॑ ॥ दि॒वी॑व॒ चक्षु॒रात॑तम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतद्विष्णोरित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । विष्णुर्दे० । चषालं प्रदर्श्य वाचने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु चषाल नाम मध्यभाग यजमानको दिखाकर यह मंत्र पाठ करावै [का० ६ । ३ । १३] मन्त्रार्थ-(सूरजः) वेदान्तपारगामी विद्वान् (विष्णोः) सर्वव्यापी परमात्माके (तत्) उस (परमं पदम्) मोक्षस्वरूप परमपदको (सदा) सदाही सर्वत्र (पश्यन्ति) देखते हैं (दिवि) निरावरण आकाशमें (चक्षुरिव) चक्षुकी समान (आततम्) व्याप्त है वा आकाश में चक्षुरूप आदित्यमण्डल विस्तार किया है "चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्य"[७ अ०४२ का०] और "तच्चक्षुर्देवहितम्" [३६ अ०का० २४] [ऋ० १ । २ । ७ ।] ॥ ५ ॥

काण्डिका ६-मंत्र ३।

प॒रि॒वीर॑सि॒ परि॑ त्वा॒ दैवी॒र्विशो॑ व्ययन्ता॒म्परी॒मं यज॑मान॒ꣳ रायो॑ मनु॒ष्या᳚णाम् ॥ दि॒वः सू॒नुर॑स्ये॒ष ते॑ पृथि॒व्याँल्लो॒कऽआ॑र॒ण्यस्ते॑ प॒शुः ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐपरिवीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । यूपो देवता । यूपावेष्टने वि० । (२) ॐ दिवःसूनुरसीत्यस्य दीर्घ० ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । स्वरुर्देवता । स्वरुशकलावसर्जने वि० । (३) ॐएषत इत्यस्य दीर्घ० ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । यूपो देवता । वाषष्ठयूपदक्षिणभागेऽनष्टाग्नीकृतयूपनिधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे इस यूपमें नाभिपरिमाण उच्चस्थानमें तीन लडवाली त्रिव्यामा [दोनों भुजा फैलानेका जितना स्थान है वह व्याम कहा जाता है इससे तिगुनी] कुशाद्वारा एक रज्जु बनावे जो यूपमें तीनबार लिपट जाय [का० ६ । ३ । १९] मंत्रार्थ-हे यूप ! तुम (परिवीः) रज्जुसे चारोंओरसे वेष्टित (असि) हो अथवा हमसे परिवारित हो (दैवीः) देवसम्बन्धिनी (विशः) मरुद्गणादि प्रजा (त्वा) तुझे (परिव्ययन्ताम्) चारों ओरसे घेरें,अथवा यज्ञसम्बन्धी मनुष्यगण वा पशु तुमको भली प्रकारसे वेष्टित करें (मनुष्याणाम्) मनुष्यसम्बन्धी (रायः) धन (इमम्) इस मनुष्य श्रेष्ठ यजमानको (परि) चारों ओरसे वेष्टित करे १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अग्निष्ठके उत्तर भागमें स्वरू अवगूहन करे[का० ६।३।१७ ।] मन्त्रार्थ-हे स्वरु ! तुम (दिवः) स्वर्गके (सूनुः) पुत्र (असि)हो [आशय यह द्युलोकसे वर्षा वर्षासे वृक्ष वृक्षसे यूप यूपसे स्वरू होताहै इससे पुत्रवत् कहा]२। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वर्षिष्ठ यूपके दक्षिणभागमें वितष्ट नामक बारह यूप स्थापन करे । मन्त्रार्थ-हे यूप ! (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (एषः) यह (ते) तुम्हारा (लोकः) आश्रयस्थान है (आरण्यः) वनमें होनेवाले (पशुः) पशु (ते) तुम्हारे हैं ३ ॥ ६ ॥

प्रमाण-"दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः" इति श्रुतेः । "पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ति" इति श्रुतेः [श० ३ । ७ । ३ । ४] ॥ ६ ॥

विवरण-अग्निष्ठ यूपका प्रथम भाग यही है, शकल नामसे प्रसिद्ध है यह आठ अस्रि (आठपल) की निर्मित होती है उसमें यह अग्नि ऊपर वेदीमें स्थित अग्निके सन्मुख होताहै इसी पश्चिम भागवाली अस्रिको अग्निष्ठ कहाजाता है इसके उत्तर भाग अर्थात् शामित्र वेदी दक्षिण भागमें स्वरुकाष्ठ रक्खाजाता है बोध होताहै स्तम्बानिर्माणके समय गढनेके समय पहला गिरा यूपका टुकडा यही है यह भी नलिका यूपकाही एक विशेष अंश है इसको शामित्र वेदीके नीचेके स्थानमें गुप्तरूपसे रक्षा करे ।

वर्षिष्ठका अर्थ अतिशय प्रवृद्ध है इस स्थानमें बारह यूप वा यूपांशोंका व्यवहार होताहै प्रथम खण्ड आठकौन होनेसे उसकी आठ संख्या गिनी हैं नौमा चषाल और दशमा अग्र ग्यारहवां स्वरु और बारहवां वितष्ट [काष्ठखण्ड] है इनके बीचमें वितष्टके सम्बन्ध स्वरु [पहला गिरा काष्ठखण्ड] ही वृद्ध है इस कारण इसकोही वर्षिष्ठ कहते हैं ॥ ६ ॥

काण्डिका ७-मन्त्र १ ।

उपावीरस्युपदेवान्दैवीर्विशुःप्रागुरुशिजोवह्नितमान्॥ देवंत्वष्टर्वसुंरमहव्यातेस्वदन्ताम्॥ ७ ॥

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग.

जो क्षत्रियजाति अतिशय आखेट व्यवहारमें प्रवृत्त है उनके निवृत्त करनेके निमित्त वेदमें अग्नीषोमीय पशुप्रयोग दीखताहै और यह यज्ञ सोमयागका अंगभूत है इसमें पशुका संस्कार होताहै [तैत्तिरीय कृष्णयजु० काण्ड० ६ प्रपा० १ अनुवाक ९ में लिखाहै] "आसोम वहन्त्यग्निनाप्रतिष्ठते । तौ सम्भवन्तौ यजमानमभि संभवतः । यदग्नीषोमीयं पशुमालभते । आत्मनिष्क्रय एव सः" । इति । जिससमय ऋत्विक् प्राग्वंशशालामें अग्निके समीप सोम लातेहैं उस समय अग्नि सोम यजमानको देखकर संगति प्रकट करतेहैं उस समयसे दीक्षित हुआ यजमान अपने देहको यज्ञार्थ समर्पित मान्ताहै, यह जो अग्नि सोमदेवतावाला पशु लियाजाता है यह मानो यजमान अपनी आत्माका निष्क्रय मूल्यही देता है. इस स्थानमें छागपशुका ही ग्रहण है यथा "अजं पशुमुपाकरोतीति, अग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोनुब्रूहि" इत्यादयः श्रुतयः । इस प्रकार छागद्वारा यह हवि सम्पादन होती है [निरुक्त] अग्नीषोमीयका आशय यह कि जिस पशुका अग्नि और चन्द्रके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है केवल उसी पशुको सोमयागमें ग्रहण करना चाहिये, इससे अन्य पशुओंका निषेध होगया, यज्ञके सिवाय अन्यस्थलमें पशुप्रयोगका दोष है, इस वचनसे यथेच्छाचारकी निवृत्ति की है, और शास्त्रोंमें भी जहां इस प्रकार कथन है, वहां स्वाभाविक हिंसाशीलोंको प्रतिबंध डालकर उनके कामचारका संकोच किया है, जैसे जो पशुमें अत्यन्त प्रीति हो तो वह यज्ञके निमित्त ही लेना, और वह भी विख्यात सोमादिमें ही लेना, और वहभी अग्नीषोमीय ही पशुहो अन्य नहीं, वह भी क्षत्रियोंकोही लेना औरको नहीं इत्यादि नियम बांधकर अतिप्रवृत्तिवालोंका संकोच किया है, इससे पशुकृत्यकी विधि है यह नहीं जान्ना, जो बालक अतिशय खेलकूद में लगाहो, एक साथ उसके मनकी प्रवृत्ति रोकनेसे न रुकैगी, कुछ नियमकर दिये जायं कि यदि तू खेलै तो अपना पाठ पढकर खेललिया कर सो भी अच्छे लड़कोंके साथ, सो भी नियत समयतक खेलो, इस

---

१ अग्नि और सोमात्मक जगत् है, इस कारण जगत्के उपकारको अग्नीषोमात्मक (रतूबत-हरारत) रूप पशु लेते हैं यह पशुरूपसे अलंकृत कियाहै इस स्थलमें अग्नीषोमका वर्द्धन और प्रयोग पशुरूप के अलंकारसे लिखाहै.

प्रकार खेलनेमें संकोच करते २ विद्या और संगति के कारण कुछ दिनोंमें वह आपही खेलना छोड देगा, इसीप्रकार जो निगमागम प्रवृत्तिवालोंको एक साथ निवृत्त करैं तो उनका यथोचित शासन नहीं होता, उससे अच्छा परिणाम न निकले इस कारण कुछ नियम लिखकर इसमें संकोच कियाहै, वालकको खेलनेका नियम बांधनेसे माता पिताका खिलाना आशय नहीं किन्तु खिलाना छुडानेसे आशय है.

वास्तविक रीतिसे वेद यद्यपि निवृत्तिका ही निरूपण करता है परन्तु जवतक उसका विचार न कियाजाय तवतक विधानसा दीखताहै, तलस्पर्शकरतेही पूर्ण निवृत्ति दीखतीहै, प्रथम तो यह वाक्य विधिरूप है ऐसा नहीं कहसकते, कारण कि जो क्रिया अत्यन्त अप्राप्त हो उसे प्राप्त करनेके निमित्त जो वाक्य हों वे विधिवाक्य कहलातहैं. जैसे सन्ध्या अग्निहोत्रादि क्रिया, जो किसी रीतिसे प्राप्त नहीं होती उनके प्राप्त करनेके निमित्त मंत्र विधिवाक्य कहाते हैं, सुरामांसादि तो विना विधिकेभी प्राप्तहैं. इससे इनके निरूपण करनेवाले वाक्य विधि नहीं है और नियमवाक्य भी नहीं है. जो क्रिया एकपक्षमें अप्राप्तहो उसे प्राप्त करनेके निमित्त वाक्य नियम वाक्य कहातेहैं, जैसे यज्ञमें उपयोगी व्रीहिको कूटकर छडना. यह नियमवाक्य है. भूसा दूर करनेको जिस पक्षमें व्रीहिको नखसे छीलें उस पक्षमें उलूखलमें डालकर छडना अप्राप्त है, इससे एक पक्षमें अप्राप्त क्रिया दूसरे वचनसे प्राप्त की गई, व्रीहिको छडना चाहिये यह नियमवाक्य है, इस प्रकार मद्य आमिष रतिकी रीति सदा प्राप्त है किसी पक्षमें अप्राप्त नहीं, इस कारण इनके कहनेवाला वाक्य नियमवाक्य नहीं है, और परिसंख्यारूप भी इन वाक्योंको नहीं कह सकते, कारण कि जहां दोनों क्रियाओंकी एक साथ प्राप्ति हो, वहां एककी निवृत्तिके तात्पर्यवाले वाक्यको परिसंख्यावाक्य कहते हैं, जैसे सोमयागी राजाको अग्नीषोमीय ही पशु लेना अन्य नहीं ऐसे अभिप्रायवाले वाक्य परिसंख्या कहाते हैं, यद्यपि हुतशेष आमिषका सूंघना वा भक्षण करना, ऋतुमें भार्यागमन, सौत्रामणिमें आसवपान, इन वाक्योंको परिसंख्या कहनेमें कोई अडचड नहीं, परन्तु परिसंख्या कहनेमें भी स्वार्थत्याग परार्थकल्पना परार्थवाद यह तीन दोष आपडते हैं, ऋतुमें भार्यागमन करना जिस वाक्यका ऐसा अर्थ है उसका त्याग हुआ यह स्वार्थत्याग दोष आया, ऋतुविना प्रसंग नहीं करना इस दूसरे अर्थसे परार्थकल्पना दोष आया, इसी प्रकार स्वाभाविक रीतिसे प्राप्तका बाध हुआ, यह प्राप्त बाधका दोष आया, यही सुरा और आमिषमें दोष प्राप्त है, इस कारण यह परिसंख्यावाक्य भी नहीं है इन वाक्योंकी व्यवस्था इस प्रकारसे है कि यह वाक्य नियमरूप है, किन्तु

इनमें एक पक्षमें अप्राप्तिकी प्राप्ति करने रूप फल न होनेसे वे नियमद्वारा फलितार्थ परिसंख्यारूप होते हैं. इससे यह प्राप्त हुआ कि, ऋतुमें भार्यागमन, हुतशेष आमिषको तथा सौत्रामणिके अन्तमें सुराको सूंघे वा पान करै तो दोष है, ऐसी दृढ आज्ञारूप यह वाक्य नहीं है किन्तु उतने अवकाश मिलने रूप है कि जिससे न ब्रह्मचर्य होसके वह ऋतुकालमें स्वभार्यागमन करनेको विवाह करै, जिसको आमिषके विना न सरै वह हुतशेष आमिष स्वीकार करै, तथा जिसको मद्यविना न सरै वह यज्ञान्तमें ऋत्विजोंके निर्मित सुरा महौषधियोंके रसको सेवन करै, जहांतक बने वहांतक इनके त्यागमें-ही मधुरतापूर्वक वेदका आशय है, कामना होनेपर जो ऋतुस्नातासे संयोग न करै उसमें कामनापरत्व दोप है, वेदकी यह आज्ञा नहीं कि भक्षणही करो किन्तु यदि यज्ञ करते २ चित्त शुद्ध होजाय तो सूंघले, अधिक अरुचि होय तो न सूंघे यह अभिप्राय है. इस कर्मकी वेदमें प्रशंसा नहीं कीहै किन्तु इसी प्रसंगपर २० कण्डिकामें कहा है कि हमने जो पशुके साथ कुत्सित व्यवहार किया है वह पाप हमारा दूर हो, तथा हमारे घर पशु आदि बहुत रहैं इससे प्रगट है कि जिनको उपदेश का अवसर नहीं मिलता उनको इस प्रकार उपदेश प्राप्त होकर शीघ्र लगसकता है. कारण कि, इस समय यजमान सावधान तथा व्रतमें स्थित है, फिर आगे उपासना और ज्ञानमें तो इसका सर्वथा ही निषेध है इस कारण निवृत्ति है. देखो इस समय राज्यकी ओरसे मदकारक वस्तुओंपर बहुत बढा हुआ कर है, और उसके क्रय करनेके भी नियम हैं. इसका तात्पर्य यह है कि, इस कार्यकी न्यूनता हो जाय यदि इनमें प्राणी स्वच्छन्द करदिये जांय तो इसके प्रचारका ठिकाना न रहै । ऐसेही विचारसे महर्षियोंने सूत्र बद्धकर यह नियम कुछ मंत्रोंके साथ संगठित किया है जो कि पाठकोंको देखनेसे विदित होगा कि वेदमंत्रोंके साथ कितना सूक्ष्मरीतिसे इसका सम्बन्ध है, धर्म अधर्मका ज्ञान हमको वेदसे होता है इस कारण जो कुछ वेदमें कर्तव्य लिखा है वही धर्म है जिसका निषेध है वह अधर्म है इसमें कथन की आवश्यकता नहीं है,वेदमें जो कर्तव्य है सो अशुद्ध भी शुद्ध है तद्व्यतिरिक्त संस्कारशून्य है जैसे ज्वरकी औषधि ज्वरके ही उपयोगी है अतिसारको वही अनुपयोगी है इसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य जो कर्म श्रेयस्कर माना है वह वेदके प्रतिकूल करनेसे शुभदायक नहीं होता अथवा इस भूमिरूप वेदीमें जो प्राकृतिक नित्य हवन यज्ञ होता रहता है यह यज्ञमें उसका सूक्ष्म रूपसे दर्शन है ।

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः" [यजुः २३।११] वेदीही पृथ्वीका अन्त है जहां सर्वत्र यज्ञ हो रहे हैं यह यज्ञ भुवनकी नाभि है सह-

ब्रचतुर्युगी वीचनेपर परिमित कालको इसकी छुटी होती है उसीका रूप यज्ञ है, जिसमें सूक्ष्ममें सब कुछ दिखाया जाता है ।

पशुओंके स्वर्ग गमनका उपाय नहीं है,तथा प्राणियोंपर उपकार करना ही महात्माओंका कर्तव्य है. कारण कि, तुरीयावस्था प्राप्त होनेसे प्राणीकी स्वर्गप्राप्ति वा मुक्ति होजाती है, नादसे पशुओंमें भी तुरीया प्रगट होती है. इसीसे बीनसे सर्प मृग पकड लिये जाते हैं, तुरीयामें सुख दुःखका ज्ञान नहीं रहता है, ऐसे समयमें ही पशु स्वर्ग गमन करते हैं. जिस समय सामदेवका नाद होता है. यथायोग्य प्रयोगसे ब्रह्माऋत्विक् जान लेतेथे कि, इस समय इसको तुरीया प्राप्त हुई, उसी समय उसको परलोकगमनकी आज्ञा देते थे, जिससे वह स्वर्गको गमन करतेथे. दूसरे पशुओंकेही निमित्त यह किया है. मनुष्यादिके निमित्त नहीं, जैसे रमणका विधान भार्यामें है अन्यमें नहीं अथवा यह चिकित्सा है वन्ध्यगुणयुक्त अग्नीषोमीय पशुकी चिकित्सा है, चिकित्साके निमित्त शरीरखण्डनका दोष नहीं इसी प्रकार यज्ञीय पशु पुनर्जीवित होकर दिव्यदेह धारणकर स्वर्गमें गमन करते थे वह इसी प्रसंगके मंत्रमें दिखावेंगे तुरीयाकी प्राप्ति न होने और तपका प्रभाव न होनेसेही कलियुगमें इन यज्ञोंकी अधिकाई नहीं है, उपासना ज्ञानमें यह कृत्य रहता ही नहीं, ब्राह्मण वैश्योंको दूसरे यज्ञ हैं आगे ऋषि कल्पसूत्रोंके अनुसार मंत्र लिखते हैं वेदका लेख शिरोधार्य है यह सिद्धान्त है.

ऋष्यादि-(१) ॐउपावीरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवीपंक्तिश्छन्दः । तृणं दैवतम् । तृणादाने वि० । (२) ॐउपदेवानित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी बृहती छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । तृणेन पशूपस्पर्शने वि० । (३) ॐद्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छं० । त्वष्टा देवता । प्रार्थने वि० । (४) ॐहव्या इत्यस्य मेधा० ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । पशुर्देवता । प्रार्थने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे तृणग्रहण करे [का० ६ । ३ । १९] मन्त्रार्थ-हे तृणसमूह ! तुम (उपावीः) निकटमें उपस्थित होनेवाले अथवा समीपमें रक्षा करनेवाले अथवा पशुके सखा (असि) हो तुमको देखकर पशु समीप आतेहैं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे यह तृणसमूह मेध्यपशुके मुखमें स्पर्श कराकर क्रमसे यथेच्छ स्थानमें लेजाय [का० ६ । ३।२०] मन्त्रार्थ-(देवीर्विशः) दिव्यगुणयुक्त यह पशु (देवान्) अग्नीषोमादिदेवताओंके (उपप्रागुः) समीपमें गमन करें जो कि देवता (उशिजः) महाबुद्धिमान् (वह्नितमान्) अग्निद्वारा हविकी इच्छा करनेवाले अथवा यजमानकी स्वर्ग प्राप्तिमें श्रेष्ठ हैं आशय यह कि जो देवता हविकी

कामना करते और यजमानको स्वर्ग प्राप्ति करातेहैं उनके समीप पशुओंने आगमन कियाहै २। विधि-(३) त्वष्टाकी प्रार्थनाकरै। मंत्रार्थ-(देवत्वष्टः) हे त्वष्टादेवता ! तुम (वसु) इस अपने, पशुरूप धनमें (रम) रमण करो अर्थात् अपने कार्यमें प्राप्त करो ३। विधि-(४) पशुको संबोधित करै। मंत्रार्थ-हे पशो ! (ते) तुम्हारी (हव्या) हवि (स्वदन्ताम्) स्वादवाली हो अर्थात् देवता हवियोंको स्वीकार करै ॥ ४ ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र २।

रेवतीरमध्वं बृहस्पते धारया वसूनि ॥ ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षा मानुषः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐरेवतीरमध्वमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। बृहस्पतिर्देव०। पशुप्रार्थने वि०। (२) ॐऋतस्येत्यस्य निचृत्प्राजापत्या बृहती छं०। पशुर्देवता। पशुबन्धने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पशुकी प्रार्थना करै। मन्त्रार्थ-(रेवतीः) हे क्षीरादिकधनवाले पशुओ ! (रमध्वम्) यजमानके यहां सदा रमण करते रहो (बृहस्पते) हे परमात्मन् ! हमारे यहां (वसूनि) अनेक प्रकारके पशु आदि धन (धारय) निश्चल कीजिये "ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु" इति श्रुतेः [३। ७। ३। १३] विधि-(२) दूसरे मंत्रसे तीन लडीवाली कुशाकी रस्सी दो व्यामप्रमाण परिमित लम्बी इस पशुके सींगमें नागफांस बंधनसे बांधै इस बंधनकी गांठ वा मुख दक्षिण शृंगकी ओर हो, दूसरा आधा पाठ करके इसे शामित्र अर्थात् शमन करनेवाले पुरुषको समर्पण करै [का० ६। ३। २६] मन्त्रार्थ-(देवहविः) हे देवताओंके हविरूप ! (ऋतस्य) अवश्य होनेवाले फलसे युक्त यज्ञके (पाशेन) पाशसे (त्वा) तुझको (प्रतिमुञ्चामि) बांधताहूं और कर्मबंधनके पाशसे यज्ञद्वारा मुक्तकरताहूं (मानुषः) मनुष्य (धर्षा) तुझको शमन करनेमें समर्थ है ॥ ८ ॥

विवरण-यज्ञीय पशु मंत्रके प्रभावसे कर्मबंधनसे मुक्त हो स्वर्गमें जाते हैं ॥ ८ ॥

प्रमाण-"रेवन्तो हि पशवः" इति श्रुतेः [श० ३। ७। ३। १३] ॥ ८ ॥

---

१ टेढे फैले २ हाथके सहित बाहुओंके अन्तरको व्याम कहते हैं-"व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम्" इत्यमरः।

कण्डिका ९-मंत्र २ ।

देवस्यत्वा सवितुःप्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णोहस्ताभ्याम् । अग्नीषोमाभ्याञ्जुष्टन्नियुनज्मि ॥ अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योनुत्वामातामन्यतामनुपितानुभ्रातासगर्भ्योनुसखासयूथ्यः ॥ अग्नीषोमाभ्यान्त्वाजुष्टम्प्रोक्षामि ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐदेवस्य त्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यूपे पशुबंधने वि० । (२) ॐअद्भ्यस्त्वेत्यस्य दीर्घत० ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । पशुर्देवता । पशुप्रोक्षणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पशुको उस यूपमें बंधन करै [का० ३ ।६ ।२७।]
मंत्रार्थ-(सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणासे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम) दोनों भुजा और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम) दोनों हाथोंसे (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम देवताके(जुष्टम्) प्रीतिपात्र (त्वा) तुझको (युनज्मि)बंधन वा नियुक्त करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे औषधी तृणद्वारा जल ग्रहण करके पशुको प्रोक्षण मार्जन करै [का० ६ । ३ । ३०] मंत्रार्थ-(अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और सोम देवताकी (जुष्टम्) प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको (अद्भ्यः) जल और (ओषधीभ्यः)ओषधियोंसे (प्रोक्षामि)प्रोक्षण करता हूं (त्वा) तुझको तेरी (माता) माता वा भूमि (अनुमन्यताम्)इस कार्यमें आज्ञा दो (पिता) पिता वा द्युलोकरूप पिता (अनु) आज्ञा दो (सगर्भ्यः) समानगर्भमें हुआ सहोदर (भ्राता) भाई (अनु) आज्ञा दे (सयूथ्यः) समान यूथके होनेवाले(सखा) मित्र (अनु) आज्ञा दे तृण जलसे पशुकी पुष्टि है इस कारण तृणधारक भूमि माता और जलधारक द्युलोक पिता है और दोनोंहीसे प्रोक्षण करते हैं ॥ ९ ॥

प्रमाण-"अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति" [तैत्तिरीय०] ॥ ९ ॥

विशेष-मंत्रपूर्वक प्रोक्षण करनेसे शुद्धि होती है प्रत्येक वस्तु जो यज्ञकार्यके उपयोगी हो उसको प्रोक्षण करना चाहिये जहां पशुकृत्य न हो इसी मंत्रसे अन्य वस्तु प्रोक्षण कर सकते हैं ॥ ९ ॥

काण्डिका १०—मन्त्र १।

अपाम्पेरुरस्यापो॑देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देवह॒विः॥ सन्ते॑ प्राणो वाते॑न गच्छता॒ꣳ सम॑ङ्गानि॒ यज॑त्रैः सं य॒ज्ञप॑तिरा॒शिषा॑॥ १०॥

ऋष्यादि—(१) ॐअपांपेरुरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। याजुषी गायत्री छं०। पशुर्देवता। पशोर्मुखाधःप्रोक्षणीधारणे वि०। (२) ॐआपोदेवीरित्यस्यासुरी गायत्री छं०। आपो दे०। पशोरुदरहृदयप्रदेशे प्रोक्षणे वि०। (३) ॐसन्तइत्यस्य भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं०। पशुर्देवता। आज्येन पश्वंगम्रक्षणे वि०॥ १०॥

विधि—(१) जिस तृणमुष्टिद्वारा प्रोक्षण किया है इस मंत्रको पढकर वह तृण जलके सहित पशुके मुखमें दे [का० ६। ३। २१] मन्त्रार्थ—हे पशु! तुम (अपाम्) जलोंके (पेरुः) पीनेवाले (असि) हो इस कारण इस जलको पान करो १। विधि—(२) दूसरे मंत्रसे पशुका हृदय प्रोक्षण करै [का० ६। ३। ३२] मंत्रार्थ—(आपो देवीः) यह दिव्य जल तुझको (स्वदन्तु) आस्वादन करैं (चित्) जिस कारण कि (देवहविः) देवताओंकी हवि (स्वात्तम्) आस्वादित हुई (सत्) सुन्दर देवताओंके योग्य होजाती है. [आशय यह कि जलदेवता तुमको आस्वादन करैं जिस कारण कि पहले तुमने इनके पदार्थ आस्वादन किये हैं इस कारण देवयोग्य हविनामसे गृहीत हुए] २। विधि—(३) इसके उपरान्त उत्तराधार होम करनेपर तीसरे मंत्रसे भागक्रमसे पशुके ललाट दोनों कंधे और श्रोणी भागमें जुहूसे घी लगावे [का० ६। ४। २] ललाटमें घृत लगानेका मंत्र। मन्त्रार्थ—हे पशो! (ते) तेरे (प्राणः) प्राण (वातेन) बाह्यपवनके साथ (सङ्गच्छताम्) सम्मिलित हों॥ ३॥ [दोनों कंधोंपर घृत लगावै] तेरे (अङ्गानि) कंधे आदि अंग (यजत्रैः) यज्ञकार्यके उपयोगमें (सम्) संगतिको प्राप्त हों॥ ४॥ [श्रोणीभागमें घी लगावै.] (यज्ञपतिः) यजमान (आशिषः) आशीर्वादके सहित (सम्) संगति प्राप्त करै॥ १०॥

प्रमाण—"उपरिष्टात्प्रोक्षत्युपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति पाययत्यन्तरत एवैनं मेध्यं करोति" इति श्रुतेः [तैत्तिरी०] अर्थात् प्रोक्षणसे पवित्रता होती है. वेदमें जिसको जिस प्रकार पवित्र करना कहाहै उसको वैसेही पवित्र करनेसे शुद्धता होजाती है।

अध्यात्मपक्ष—भूतात्मा ब्रह्मज्योतिरसका पान करनेवाला है ब्रह्मज्योतिरूप जल उसे भक्षण करैं जिस कारण कि ईशकी हविश्रेष्ठ भक्षित होती ब्रह्मरूप होतीहै

हे भूतात्मन् ! तुम्हारे प्राण समष्टि प्राणसे अंगदेवताओंसे संयुक्त हो आत्मारूप यजमान योगयज्ञके फलको प्राप्त हो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र ५ ।

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाᳬ रेवति यजमाने प्रियं धाऽआविश । उरोरन्तरिक्षात्सजूर्देवेन वातेनास्य हविषस्त्मना यज समस्य तन्वा भव ॥ वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐघृतेनाक्तावित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुष्यनुष्टुप्छं० । स्वरुशासौ देवते । असिस्वरुभ्यां पशोर्ललाटस्पर्शने वि० । (२) ॐरेवतीत्यस्य मेधा० ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । वाग्दे० । मंत्रवाचने वि० । (३) ॐवर्ष इत्यस्य मेधा० ऋ० ।आसुर्यनुष्टुप्छं० ।तृणं दैवतम् । शामित्रस्य पश्चात्प्रागग्रतृणस्पर्शने वि० । (४-५) ॐदेवेभ्य इतिद्वयोर्मेधा०ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । यज्ञो देवता । आहवनीये आज्यहवने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) शमिताद्वारा दीहुई शास [द्विधाकारी छुर] और यूपसे स्वरुको लेकर इसको जुहूके मध्य घृतसे लिप्तकर इनके द्वारा पशुका ललाट स्पर्श करै [का० ६ । ४ । १२] मंत्रार्थ-हे स्वरुशास ! तुम (घृतेन) घृतके द्वारा (अक्तौ) सिक्तहुए (पशून्) पशुओंको (त्रायेथाम्) यज्ञके प्रभावसे रक्षाकरो बहुवचन आदरके निमित्त है अथवा निर्दिष्ट स्थानसे अन्य स्थानमें लगनेसे रक्षा करो अथवा इसको पशुजन्मसे उद्धार करके रक्षाकरो जिससे इसको निकृष्टयोनि

---

१ इसपर निरुक्तकार कहतेहैं-

"औषधे त्रायस्वैनं स्वधिते मैनं हिंसीरित्याह हिंसन्नथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति०" [निरु०अ०१ पा० ५ खं० १] "आम्नायवचनादहिंसा प्रतीयते" [अ० १ पा० ५ खं० २ निरु०] हे औषधे ! इसकी रक्षाकरो हे स्वधिते ! इसको मतमारो यह कहकर फिरभी औषधीको छेदन करते और छुर प्रहार करते हैं इस विप्रतिषिद्धार्थ वचनका निरुक्तकार स्वयंही उत्तर देतेहैं कि 'आम्नायवचनादहिंसा' कि वेदवचनसे ही यह अहिंसा प्रतीत होतीहै कारण कि हिंसाकरते भी वेद 'मैनं हिंसीः' कहताहै यह हिंसा और यह अहिंसाहै यह ज्ञानभी तो वेदसेही होताहै और वह वेद सम्पूर्ण जगत्के कल्याणके निमित्त उद्यत हुआ कर्त्ताको इस कार्यमें नियुक्तकरताहै फिर यह हिंसा किसप्रकार होसकती है यह प्रत्यक्ष अहिंसा है, कारण कि औषधि वनस्पति पशु मृग पक्षी सरीसृप भलीप्रकार उपयुक्त हो यज्ञमें परम उत्कर्षताको प्राप्त होतेहैं इस कारण यह अभ्युदयही है हिंसा नहीं यह हिंसा नहीं किन्तु यज्ञ अनुग्रह करताहै इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध है जो वेद कर्तव्य कर्म कहता है वह धर्म है ।

प्राप्त नहो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र यजमान पाठ करै [का० ६ । ५ ।११] मंत्रार्थ-(रेवति) हे धनयुक्त हमारे निमित्त आशीर्वाक्! "वाग्वै रेवती" इति श्रुतेः [श०३ । ८ । १ । १२] (यजमाने) इस यजमानमें (प्रियम्) अभीष्टको(धाः) प्रधान करो (आविश)ज्ञानप्रदानके निमित्त मुझ यजमानमें प्रवेश कर और(वातेन) वायु (देवेन) देवताके साथ (सजूः) समान प्रीतिवाली होकर (उरोः) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षात्) आकाशमें व्याप्तहोकर (अस्य) इस (हविषस्त्मना) स्वयं हवि-शाले यज्ञमें (यज) यजनकर वा प्रवृत्त हो (अस्य) इस पशुके (तन्वा) शरीरसे (सम्भव)एकीभावको प्राप्तहो(आशय यह कि, हे रेवती वाक्! तुम ही यजमान और पशुरूप होकर आत्माद्वारा यजनकरो)२। विधि-(३) कृतकार्य होनेपर पशुका भूमि-स्पर्श निवारण करनेको पूर्वाग्र तक तृण पृथ्वीपर डाले [का० ६ । ५ । १९] मन्त्रार्थ-(वर्षो) हे वर्षासे उत्पन्नहुए तृण ! तुम (वर्षीयसि) अतिविस्तीर्ण (यज्ञे) यज्ञमें (यज्ञपतिम्) यजमानको (धाः) धारण करो ३ । विधि-(४-५) इन दोनों मंत्रोंसे आहुतिदे [का० ६ । ५ । २४] मन्त्रार्थ-(देवेभ्यः) देवता-ओंके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो (देवेभ्यः स्वाहा) देवताओंके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ४-५॥ ११ ॥

प्रमाण-"पुरस्तात् स्वाहाकृतयोन्ये देवा उपरिष्टात्स्वाहाकृतयोऽन्ये स्वाहा देवेभ्यः स्वाहा" इति [तैत्तिरी०] दोवार स्वाहा कहनेसे पृथक् पृथक् देवताओंका ग्रहणकरै, अध्यात्ममें हे मन ! और बुद्धि ! तुम दोनों इन्द्रियशक्ति समूहसे लिप्त होते भूतात्माके अंगप्राणादिकी रक्षाकरो शेषअर्थ महावाक् सम्बन्धमें है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र २ ।

माहिर्भूर्म्मा पृदाकुर्न्नमस्त आतानानर्वा प्रेहि ॥
घृतस्य कुल्ल्याऽउप ऽऋतस्य पत्थ्याऽअनु ॥१२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ माहिर्भूरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवी जगती छं० । रज्जुर्देवता । चात्वाले पशुबन्धनरज्जप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐ नमस्त इत्यस्य मे० ऋ० । प्राजापत्या पंक्तिश्छन्दः । यज्ञो देवता । पत्न्या वहने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१)पशु बांधनेकी रज्जु 'नियोजनी' को दूनी लडी करके वपाश्रपणके दोनों काष्ठद्वारा चत्वालमें डाल दे [का० ६ । ६ । २६] मंत्रार्थ-हे नियोजनी ! इस चत्वालमें डाली हुई तुम (अहिः) सर्पाकार (पृदाकुः) अजगराकार (मा) मत (भूः) होना आशय यह कि तुमको कोई सर्पाकार पडा देखकर सर्पका भ्रम न करै १ । विधि-(२) अनन्तर प्रतिप्रस्थाता पत्नीशालासे 'पान्नेजन'

हाथमें लिये यजमानपत्नीको इस दूसरे मंत्रका पाठ करलावे [जिस कलशके जलसे पशुके पाद आदि सब अंग धोये जाते हैं उस कलशेको पान्नेजन कहते हैं] [का०६।६।१]"यज्ञो वा आतानो यज्ञꣳहि तन्वत" इति श्रुतेः [श०३ । ८ । २ । २] मंत्रार्थ-(आतान) हे विस्तीर्ण यज्ञदेव ! (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है (अनर्वा) शत्रुरहित होकर (प्रेहि) समाप्तिपर्यन्त यहां गमन करो अर्थात् विद्यमान रहो अथवा हे यजमानपत्नि ! इस समय यह विस्तृत यज्ञशाला शत्रुशून्य है इस कारण (ऋतस्य) यज्ञके (पथ्याः) देवयान मार्गकी (घृतस्य) घृतकी (कुल्याः) नदीवत् धाराको (अनु) देखकर (उपप्रेहि) आगमन करो आशय यह कि घृतकुल्यासदृश यज्ञमार्गमें आओ ॥ १२ ॥

प्रमाण-"ईर्यति वधार्थमित्यर्वा नास्त्यर्वा यस्यासावनर्वा" । "अनर्वप्रेही-त्यसपत्नेन प्रेहि" इति श्रुतेः।"अनर्वा प्रेहीत्याह भ्रातृव्यो वा अर्वा भ्रातृव्यापनुत्त्यै" इति [तित्तिरिः]।

आशय-घृतकुल्या कहनेका आशय यह कि इस यज्ञमें इतना घृत हुत हुआ है कि यज्ञवाटमें घृतने नहरकी समान आकार धारण किया है.

एक पात्रमें वपा रखकर दूसरेसे उसको इस प्रकार ढक देना कि उसमें वायु प्रवेश न हो फिर उसको पाक करे यह पाकके यन्त्र वपाश्रपणी कहाते हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र २ ।

देवीरापꣳ शुद्धा वोढ्वꣳ सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयम्परिवेष्टारो भूयास्म ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । साम्न्यनुष्टुप्छन्दः । आपो देवता० । जल प्रार्थने वि० । (२) ॐदेवेष्वित्यस्यासुरी गायत्री छं० । आशीर्देवता । आशीर्वचने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१-२) प्रथम मंत्रसे पान्नेजन पात्रमें जल ग्रहण करके जलकी प्रार्थना करै और दूसरे मंत्रसे आशीःप्रार्थना करे । मंत्रार्थ-(देवीः) हे दिव्यगुणयुक्त (आपः) जलो ! तुम (शुद्धाः)स्वभावसे शुद्ध (सुपरिविष्टाः)पान्नेजन पात्रमें सब ओरसे व्याप्त (देवेषु) देवताओंमें (वोढ्वम्) स्थितियोग्य इस पशुको देवताओंके प्रति प्राप्त करो अर्थात् देवकार्यसिद्धिके निमित्त हम पशुसाधन करते हैं इस कारण इस पान्नेजन पात्रमें प्रवेश करो और (वयम्) हम भी(सुपरिविष्टाः)तुम्हारे प्रसादसे सब प्रकार देवकार्यमें प्रविष्ट होते हैं उन देवताओंके द्वारा तृप्त होकर

(परिवेष्टारः) उन देवताओंके निमित्त सब प्रकार हवि देनेवाले (भूयास्म) हों । पक्षान्तरमें योगीके भूतात्माकी देवत्वमें प्राप्ति हो ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र ८ ।

वाचन्तेशुन्धामिप्प्राणन्तेशुन्धामिचक्षुस्तेशुन्धा
मिश्रोत्रन्तेशुन्धामिनाभिन्तेशुन्धामिमेढ्रन्तेशुन्धा
मिपायुन्तेशुन्धामिचरित्राँस्तेशुन्धामि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१–७) ॐ वाचं ते शुन्धामीत्यादिमन्त्रसप्तकस्य मेधातिथिर्ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । पशुर्देवता । पत्न्याद्भिर्मृतस्य पशोः प्राणाद्युपस्पर्शने वि० । (२) ॐचरित्रानित्यस्य मेधाति० ऋ० । दैवी-जगती छन्दः । पशुर्देवता । पशुपादोपस्पर्शने वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१-८) पत्नी शान्त पशुके समीपमें उपस्थित होकर पान्नेजन पात्रके जलसे उसके आठ अंग शोधन करे अर्थात् जल छिडकदे [का० ६ । ६ ।२। ३]
मंत्रार्थ–हे पशो! मैं (ते) तेरी (वाचम्) वागिन्द्रियको) शुन्धामि) शोधन करती हूं (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण वायुको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरी (चक्षुः) चक्षु इन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करतीहूं (ते) तेरी (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरी(नाभिम्) नाभिको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरे) मेढ्रम्) जननेन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करतीहूं (ते) तेरी (पायुम्) गुदेन्द्रियको (शुन्धामि) पवित्र करती हूं (ते) तेरे (चरित्रान्) चरणोंको अथवा सब इन्द्रिय और कर्तव्य कर्मोंको (शुन्धामि) पवित्र करतीहूं । इससे पवित्र किया ॥ १४ ॥

इस मंत्रका अन्यत्र भी विनियोग होता है.

कण्डिका १५–मन्त्र ९ ।

मनस्तऽआप्प्यायतांवाक्तऽआप्प्यायताम्प्रा
णस्तऽआप्प्यायताञ्चक्षुस्तऽआप्प्यायताᳬंश्रोत्र
न्तऽआप्प्यायताम् ॥ यत्तेक्क्रूरंयदास्थितन्त
तऽआप्प्यायतान्निष्ट्यायतान्तत्तेशुद्ध्यतुशमहो
भ्यः ॥ ओषधेत्रायस्वस्वधितेमैनᳬंहिᳬं
सीः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मनस्त इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। दैवी जगती छं०। पशुर्देवता । पशोःशिरआद्यनुषेचने वि० । (२) ॐवाक्त इत्यस्य मेधा०ऋ०। दैवी त्रिष्टुप्छं० । पशुर्देवता । पशोरङ्गप्रोक्षणे वि० । (३-४-५) ॐप्राणइत्यादित्रयाणां मंत्राणां मेधा० ऋ० । दैवी जगती० । पशुर्दे० । पशोरङ्गप्रोक्षणे वि० । (६) ॐयत्त इत्यस्य मे० ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्छं० । पशुर्दे० । पशोरवशिष्टांगप्रोक्षणे वि० । (७) ॐशमित्यस्य मे०ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । पशोः पश्चात्सेचने वि० । (८) ॐ ओषध इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । यजुश्छंदः । तृणं दैवतम् । पशोर्नाभिरग्रे तृणनिधाने वि० । (९) ॐस्वधितइत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । यजुश्छंदः । अग्निर्देवता । पशूदरत्वग्भेदने वि० १५ ॥

विधि-(१-५)इसके पीछे यजमान और अध्वर्यु दोनों इस पान्नेजनके शेष जलसे इस पशुके मस्तकप्रभृति सब शरीरको पांच मंत्रोंसे भली प्रकार धोवैं[का०६ । ६। ४-५]मन्त्रार्थ-हे पशो ! (ते)तेरे (मनः) मन (आप्यायताम्) शान्तहो (ते) तेरी (वाक्) वाणी (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरे (प्राणः) प्राण (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरी (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (आप्यायताम्) शान्त हो (ते) तेरे (श्रोत्रम्) श्रोत्र(आप्यायताम्) शान्त हो १-५।विधि-(६) छठा मंत्र पढकर सर्वाङ्ग सिंचन करे [का०६ । ६ । ६] (ते) तुम्हारे सम्बन्धमें (यत्) जो (क्रूरम्) बन्धन निरोधादि हमने किया है (यत्) जो (ते) तुम्हारे विषय (आस्थितम्) शामित्र छेदनादि कर्तव्य है (तत्) वह (आप्यायताम्) शान्त हो (तत्) वह सब (निष्टयायताम्) संघात दोषशून्य हो अथवा जो न्यूनता है वह दोषशून्य हो (ते) तुमको (शुध्यतु) शुद्ध करे अर्थात् तुम शुद्ध हो६। विधि-(७) सातवें मंत्रसे इस पान्नेजनके शेष जलसे पशुकी जंघा प्रोक्षण करै [का० ६ । ६ । ७] (अहोभ्यः) चिरकालपर्यन्त (शम्) इस यजमानका कल्याण हो वा चिरकालपर्यन्त हमको और पशुको सुख हो ७ । विधि-(८) आठवे मंत्रसे पशुको उठाकर इसकी नाभिके अग्रभागमें चार अंगुलके व्यवधानसे इस मंत्रसे तृणबंधन करै [का० ६ । ६ । ८]मंत्रार्थ-(ओषधे)हे ओषधि तृण इस पशुकी (त्रायस्व) रक्षा करो ८। विधि-(९) नववें मंत्रसे मौन होकर इस तृणबद्ध स्थानमें घी लगाकर शाससे वहां उदरके समीपकी त्वचा भेदन करै [का०६ । ६ । ९] मंत्रार्थ-(स्वधिते) हे शास ! (एनम्) इस पशुको (मा) मत (हिंसीः) मारना अर्थात् इस चिह्नसे व्यतिरिक्त प्रदेशमें इसको न आघात पहुँचाना ॥ १५ ॥

विशेष-यदि यह कार्य वेदको अभिमत होता तो निष्ठुरताकी शान्ति करनेकी

आवश्यकता न होती इसीसे आन्तरिक भाव विदित होता है मंत्रकी सामर्थ्यको ही लिङ्ग कहते हैं ॥ १५ ॥

पक्षान्तरमें हे इन्द्रियशक्तिसमूह ! संसारसे रक्षाकरो । हे मन ! इस भूतात्माको संसारबंधनसे मत नाश करो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६—मन्त्र ७ ।

रक्षसाम्भागोऽसि निरस्तꣳ रक्षऽइदमहꣳ रक्षोऽभिति
ष्ठामीदमहꣳ रक्षोऽवबाधऽइदमहꣳ रक्षोऽधमन्तमो
नयामि ॥ घृतेन द्यावापृथिवी प्प्रोर्णुवाथां वायो
वेस्तोकानामग्निराज्ज्यस्य वेतु स्वाहा स्वाहाकृ
तेऽऊर्द्ध्वनभसम्मारुतङ्गच्छतम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ रक्षसामित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी गायत्री छं०।लिङ्गोक्ता देवता । रक्तेन तृणाञ्जने वि०। (२) ॐनिरस्तमित्यस्य मेधा० ऋ०।दैवी पंक्तिः। रक्षोहणं दैवतम्। उत्करे तृणमूलप्रक्षेपणे वि०। (३) ॐइद-मित्यस्य मेधा०ऋ०।निचृद्राष्र्यनुष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवता । उत्करक्षिप्ततृ-णाभिष्ठाने वि०। (४) ॐघृतेनेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । याजुषी जगती छं० । द्यावापृथिवी देवते । वपां निष्कास्य प्रच्छादने वि० ।(५) ॐवा-योवेरित्यस्य मे० ऋ० ।याजुषी गायत्री छं०।वायुर्देवता।आहवनीये वाम-हस्तधृततृणाग्रप्रक्षेपणे वि० । (६)ॐअग्निरित्यस्य मेधा० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । अग्निर्देवता । वपाभिहवने वि० ।(७)ॐस्वाहाकृत इत्यस्य मेधा० ऋ० । आसुरी गायत्रीछं० । वपाश्रपण्यौ देवते। अग्नौ वपाश्रपणी-प्रक्षेपणे वि० ॥ १६ ॥

विधि—(१) नाभिके अग्रभागमें जो तृण बांधा है अध्वर्यु बायें हाथसे उसका अग्रभाग और दहिने भागसे मूलभाग ग्रहण करके उसे दुहराकर नाभिके रक्तमें भिजोवे [का० ६ । ६ । १०] मन्त्रार्थ—हे रक्तालिप्त तृण ! तुम (रक्षसाम्) राक्षसोंका (भागः) भाग (असि) हो १। विधि—(२) दूसरे मंत्रसे इस तृणको उत्करमें डालदे [का० ६ । ६ । १०] (रक्षः)विघ्नकारी राक्षसगण (निरस्तम्) दूर हुए २। विधि—(३) अध्वर्युके फेंकेहुए तृणके ऊपर स्थित हो यजमान यह मंत्र पाठ करे [का० ६ । ६ । ११] मन्त्रार्थ—जो तृण अध्वर्युने त्यागन किया

है सो (अहम्) मैं (इदम्) इस (रक्षः) राक्षसगणके ऊपर (अभितिष्ठामि) चरणसे आक्रमण कर स्थित होता हूं और (अहम्) मैं (इदम्) इस (रक्षः) राक्षसगणको (अवबाधे) विनाश करताहूं (अहम्) मैं (इदम्) इस राक्षसगणको (अधमम्) निकृष्ट (तमः) नरकको (नयामि) प्राप्त करताहूं ३ । **विधि**-(४) फिर यत्किंचित् वसा लेकर इसके पूर्वभाग वपाश्रपणीमें ग्रहण कर उसमें घृत मिलाय चौथे मंत्रसे उसे उत्तर भागसे ढकदे [का० ६ । ६ । १२] **मंत्रार्थ**-(द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवी रूप यह दोनो पात्र (घृतेन) घृतसे (प्रोर्णुवाथाम्) परस्पर आच्छादित हैं ४ । **विधि**-(५) पांचवें मंत्रसे अध्वर्यु बायें हाथमें रक्खेहुए तृणके अग्र वपाबिन्दु ग्रहण कर आहवनीय अग्निमें डालैं [का० ६ । ६ । १५] **मन्त्रार्थ**-(वायो) हे वायुदेवता ! (स्तोकानाम्) सबके सार इन बिन्दुओंको (वेः) जानकर पानकरो ५ । **विधि**-(६) छठे मंत्रसे स्रुवद्वारा वपा लेकर धारापातसे आहवनीय अग्निमें डालै [का०६।६।१७।] **मन्त्रार्थ**-आहवनीय (अग्निः) अग्निदेवता (आज्यस्य) इस घृतको (वेतु) जानकर पानकरो (स्वाहा) यह आहुतिं भलीप्रकार गृहीत हो । **विधि**-(७) इसके उपरान्त इस अग्निमें विशाखा (द्विशृंगा) नामक वपाश्रपणी पात्र उत्तराग्र करके और दूसरी एकशृंगा श्रपणीको इस मंत्रसे अग्निमें डालदे [का० ६ । ६ । २८] **मन्त्रार्थ**-हे दोनोश्रपणी ! (स्वाहाकृते) हम तुमको इस अग्निमें भलीप्रकार आहुत करते हैं स्वाहाकारसे आहुतिको प्राप्त हुई तुम (ऊर्ध्वनभसम्) ऊर्ध्व-आकाशमें वर्तमान हुई (मारुतम्) वायुके सहित (गच्छतम्) सम्मिलितहो अर्थात् तुम्हारा परिणाम इस आकाशमें वायुसे मिले ॥ १६ ॥

विशेष-इस प्रकार सूत्रकारोंने इस मंत्रके साथ यह विधान लिखकर उन पात्रोंतकको भी अग्निमें आहुत करनेका वर्णन किया कि इस कृत्यका कुछ शेष न रखना चाहिये ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

इ॒दमा॑पः॒ प्रव॑हताव॒द्यं च॒ मलं॑ च॒ यत् ॥ यच्चा॑भिदु॒द्रोहानृ॑तं॒ यच्च॑ शे॒पे अ॑भी॒रुण॑म् ॥ आपो॑ मा॒ तस्मा॒देन॑सः॒ पव॑मानश्च मुञ्चतु ॥ १७ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐइदमित्यस्य दीर्घतमा ऋ० । व्यवसाना महापंक्तिछं० । आपो देवताः । मार्जने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) तब पत्नीके सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र होकर चत्वालमें स्थित जलसे इस मंत्रद्वारा मार्जन करैं [का० ६ । ६ । २९] मंत्रार्थ-(आपः) हे जलो ! (इदम्) इस पशुकल्पके पापको (प्रवहत) दूर करो और जो (अवद्यंच) अभिशापादि अकथनीय हैं (मलं च) उसके संक्रमणसे जो हमारे शरीरमें मल लगाहुआ है उसको भी विशेष कर दूरकरो (यत्च) और जो हमने (अनृतम्) मिथ्याव्यवहारद्वारा (अभिदुद्रोह) किसीसे द्रोह किया है और (यत्) जो (अभीरुणम्) अपराधहीन व्यक्तिको (शेपे) यह अपराधी है ऐसा कहकर शापित किया है (आपः) जल (पवमानः) सबके शोधक सोम और वायु (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करैं ॥ १७ ॥

विशेष-इस मंत्रमें जलके उद्देशसे परमात्माकी प्रार्थना की है, विना दयाके अपराध क्षमा नहीं होता दया आर्द्र और आर्द्रता जलका गुणहै इस कारण जलसे शीतल गुणका उल्लेख कर प्रार्थना कीहै यहां पशुकल्पको अपराध मानकर राजोंको देश कालपर उपदेश कियाहै जिस्से वे अकारण अपरिमित जीवघातसे विरतहों यह आभ्यन्तरीय आशय है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र ३।

सन्ते मनो मनसा सम्प्राणः प्राणेन गच्छताम् ॥ रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन्वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रꣳह्या ऊष्मणो व्यथिषत्प्रयुतं द्वेषः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐसन्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋ०।प्राजापत्या अनुष्टुप्छं०। हृदयं दैवतम्। पशुहृदयालम्भने वि०।(२) ॐरेडसीत्यस्य दीर्घतमा०ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छन्दः। वसा दे०। वसाग्रहणे वि०। (३) ॐप्रयुतमित्यस्य दीर्घत० ऋ०।दैवी पंक्तिश्छं०।लिङ्गोक्ता दे०।आज्यवसामिश्रणे वि०॥१८॥

विधि-(१) पशुका हृदयभाग आलभनकर उससे प्रथम मंत्रसे पृषदाज्यके जुहूमें रखकर धारापात करै [का०६।८।६] मन्त्रार्थ-हे पशो ! (ते) तेरा(मनः) मन (मनसा) देवताओंके मनसे (संगच्छताम्) सम्मिलितहो (प्राणः) तेरे प्राण (प्राणेन) देवताओंके प्राणोंके साथ (सम्) सम्मिलित हों १।

विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आमिषपाक पात्रसे आज्यपात्रमें दोवार वसाधारा क्रम-

से ग्रहण करै [का० ६ । ८ । १२] मंत्रार्थ-हे वसा ! तुम (रेद्र) सिसात्मक होनेसे अल्प (असि) हो (अग्निः) अग्निदेवता (त्वा) तुमको (श्रीणातु) पाक करके अधिक करैं (आपः) जल (त्वा) तुमको (समीरणम्) भली प्रकार रसयुक्त करैं [अर्थात् जलके सहकार और अग्निके पाकसे विलक्षण वृद्धि होती है.] (वातस्य) वायुकी (ध्राज्यै) अन्तरिक्षमें सम्यक् गतिके लिये (पूष्णः) आदित्यकी (रंह्यै) श्रेष्ठ गतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं (ऊष्मणः) इसकी गरमीसे अन्तरिक्ष (व्यथिषत्) व्यथित हो [आशय यह कि वसाको प्राप्त होनेसे अन्तरिक्षमें जलके निमित्त व्यथा होती है इसीसे अन्तरिक्षके निमित्त ग्रहण कीजाती है इसकी तृप्तिसे वायु सूर्यके कर्मकी क्षमता होकर ऊष्माके निवारणको अच्छी वर्षा होती है] २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे पार्श्वभागस्थित वसापात्रमें स्थित घृतसे छुरद्वारा मिलावै [का० ६ । ८ । १२] मंत्रार्थ-(द्वेषः) वसाका जो कुछ दुर्भाग रूप दोष था वह (प्रयुतम्) घृत मिलनेसे दूर हुआ ॥ १८ ॥

पक्षान्तरमें भूतात्माके दिव्य गुणोंसे संयोग होनेसे ब्रह्माग्निरूप क्षुधाकी व्यथा प्राप्ति और कामरूपी राक्षसका दोष पृथक् किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका-१९ मंत्र ७ ।

घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबतान्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा ॥ दिशः प्रदिशऽआदिशो विदिशऽउद्दिशो दिग्भ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐघृतमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । वसैकदेशहवने वि० । (२) ॐदिश इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैव्युष्णिक्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० । (३-४-५-६) ॐप्रदिशइत्यादिचतुर्णां मंत्राणां दीर्घतमा ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० । (७) ॐदिग्भ्य इत्यस्य मंत्रस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैव्युष्णिक्छन्दः । दिग्देवता । वसाशेषेण दिग्व्याघारे वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) जो वसा ग्रहण की है उससे आधी हवनहवनीसे लेकर प्रथम मंत्रसे अग्निमें हवन करै [का० ६ । ८ । १७] और घृत भी अलग ले पहले घृत दे । मंत्रार्थ-(घृतपावानः) हे घृतके पानकरनेवाले देवताओ ! तुम (घृतम्) घृतको

(पिवत) पियो (वसापावानः) हे वसाके पान करनेवाले! तुम (वसाम्) वसाको (पिवत) पानकरो हे घृतमिश्रित हवि! तुम (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षकी (हविः) हवि (असि) हो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । विधि-(२-३-४-५-६) अवशिष्ट भाग ग्रहण कर दूसरे मंत्रसे सात मंत्रतक धाराक्रमसे प्रदक्षिणानुसार दो आहुति दे [का० ६ । ८ । २१] मन्त्रार्थ-(दिशः) पूर्वादि दिशाओंमें स्थित देवगणोंके उद्देशसे यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो २ । (प्रदिशः) अग्निकोणादिप्रदिशामें स्थित देवता आहुति ग्रहण करै ३ । (आदिशः) अधोभागादिमें स्थित देवताओंको आहुति दीजातीहै ४ । (विदिशः) विदिशाओंमें स्थित देवताओंको अर्थात् मध्यभागके देवताओंको आहुति देतेहैं भलीप्रकारसे ग्रहण करैं ५ । (उद्दिशः) उच्चभागादि दिशाओंमें स्थित देवताओंके उद्देशसे आहुति देते हैं । (दिग्भ्यः)दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण दिशाओंके देवताओंको आहुति देते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकारसे गृहीत हो ॥ १९ ॥

दिशा आदि सव मंत्रोंमें स्वाहा लगाना चाहिये [का० ४ । ४ । १६-१७ । तथा० ४ । ४ । १८] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गेऽअङ्गे निदीध्यदैन्द्रऽउदानोऽअङ्गेऽअङ्गे निधीतः ॥ देवं त्वष्टर्भूरि ते सꣳसमेतु सलक्ष्मा यद्विषुरूपम्भवाति ॥ देवत्रा यन्तमवसे सखायोऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २० ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐऐन्द्रःप्राण इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्तदेवता । पशुसंमर्शने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) पशुके सव अंगोंको यथायोग्य स्थित कर उनको स्पर्श करै [का०६।९।१]मन्त्रार्थ-(ऐन्द्रः) आत्मासम्वन्धी(प्राणः)प्राण इस पशुके (अङ्गे अङ्गे) प्रत्येक अंगमें(निदीध्यत्)प्रकाशित किये (ऐन्द्रः) इन्द्रसम्वन्धी(उदानः)कंठस्थानीय उदान वायु (अङ्गेअङ्गे) प्रत्येक अंगमें(निधीतः)धारणकिया गया इसप्रकार पशुके अंगमें प्राणोंको देकर त्वष्टा परमात्माकी प्रार्थना करै (देवत्वष्टः) हे देव त्वष्टा ! सूत्रधर ज्योतिरूप परमात्मन् ! (यत्) जो पशुके सम्पूर्ण अंग (सलक्ष्मा) समानलक्षणवाले छेदन करनेसे (विषुरूपम्) आमिष लेनेसे न्यूना-

धिक छिन्न भिन्न (भवाति) हुएथे वह सब (ते) तुम्हारे अनन्त प्रमादसे (भूरि) अत्यन्त (सम्) संयुक्त होकर (समेतु) भलीप्रकारसे यथायोग्य एकीभावको प्राप्त हों अर्थात् यथायोग्य होकर जीवित होजाओ हे पशो ! प्राण और अपने अंगसे इस मंत्रसे दृढहुए तुम जीवित हुए (देवत्रा) देवताओंके प्रति (यन्तम्) जाते हुए (त्वा) तुझको (सखायः) मित्रभूत दूसरे पशु (माता) तुम्हारी माता (पितरः) पितृगण (अवसे) प्रसन्नताके वा रक्षाके अथवा तुम्हारे सुखसे अपने सम्पूर्ण कुलको स्वर्गप्राप्तिके निमित्त (अनुमदन्तु) अनुमति प्रदान करें ॥ २० ॥

विवरण-इस मंत्रसे स्फुट यह बात झलकती है कि यज्ञनिहत पशुके प्रयोजनीय आमिषकी हवि निर्मित होनेपर उसके अंग समकरके महर्षिजनोंकी प्रार्थनासे उसके अंग उनकी सत्य भक्ति और तपस्याके कारण पूर्ववत् होजाते थे, फिर उसमें प्राणोंका संचार होनेसे सबके देखते२ वह पशु देवलोकको गमन करताथा इसप्रकार यज्ञका निर्वाह पशुका उद्धार भी हो जाता था, जैसे जीवन धारणके निमित्त रोगीका कोई रुग्ण अंग छेदन करनेमें दोष नहीं है इसी प्रकार उद्धार और दिव्य देहके निमित्त पशुकल्पमें हिंसा नहीं है, इसी कारण वैदिकहिंसा हिंसा नहीं है कालक्रमसे तप क्षीण होनेके कारण महर्षियोंका अभाव है, इस कारण वही मंत्र होनेसे भी उनकी शक्ति लुप्तप्राय होरही है, जिस प्रकार मूर्खके हाथमें सितार देनेसे उसकी ध्वनि लुप्तप्राय हो जाती है, किन्तु उलटी ही ध्वनि निकलती है, और सितार भी टूट जाता है इसी प्रकार तपके विना वेदमंत्रोंका प्रभाव लुप्त रहता है तपसे प्रगट होता है शौनककृत ऋग्विधान तथा अथर्वके सूत्रोंमें इनके सिद्धिके विधान लिखे हैं ऋग्विधानमें लिखा है-

"निष्कृतिर्न हि वेदानां मंत्राणां कलिदोषतः ।
अतस्तद्दोषनाशार्थं गायत्रीमाश्रयेद्द्विजः ॥ १ ॥"

अर्थात् कलिके प्रभावसे वेदमंत्रोंका उद्धार नहीं है इस कारण इस दोषनाशके निमित्त गायत्री का आश्रय करै पुरश्चरणकरके पश्चात् जपादि करनेसे सिद्धि होती है अब विधानका तो स्वीकार है परन्तु सामर्थ्यका अभावहै इस कारण वह अर्थही गुप्त करदेते हैं यज्ञका तात्पर्य चराचरके कल्याणसे है यह विचारकर देशकालके अनुसार यज्ञका आरंभ करै.

व्यासजीने अ० ३ पा० १ सू० २५ वेदान्तदर्शनमें लिखा है.

"अशुद्धमिति चेन्न, शब्दात्"व्याससूत्र.

वेदमें पशुकल्प लिखा होनेसे इसको अशुद्ध नहीं कहसक्ते क्योंकि धर्माधर्म वेदसे जाना जाता है। अलमतिविस्तरेण ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १३।

**समुद्रङ्गच्छस्वाहान्तरिक्षङ्गच्छस्वाहादेवꣳसविता
रङ्गच्छस्वाहामित्रावरुणौगच्छस्वाहाहोरात्रेगच्छ
स्वाहाच्छन्दाꣳसिगच्छस्वाहाद्यावापृथिवीग
च्छस्वाहायज्ञङ्गच्छस्वाहासोमङ्गच्छस्वाहादिव्य
न्नभोगच्छस्वाहाग्निंवैश्वानरङ्गच्छस्वाहामनो
मेहार्दियच्छदिवन्तेधूमोगच्छतुस्वर्ज्योतिःपृ
थिवीम्भस्मनापृणस्वाहा ॥ २१ ॥**

ऋष्यादि-(१) ॐसमुद्रमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। याजुष्युष्णिक्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। पशुगुदखण्डहवने वि०। (२) ॐअन्तरिक्षमित्यस्य दी० ऋ०। प्राजापत्या गायत्री छं०। लिंगोक्ता देवता। पशुगुदखण्डहवने वि०। (३) ॐदेवमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (४) ॐमित्रावरुणावित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी बृहती छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०।(५)ॐ अहोरात्र इत्यस्य दी०ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिंगोक्तं दे०।पशुगुदखण्डहवने वि०। (६) ॐछन्दांसीत्यस्य दी० ऋ०। याजुष्युष्णिक्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (७) ॐद्यावापृथिवीत्यस्य दी० ऋ०। याजुषी बृहती छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (८) ॐयज्ञमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (९) ॐसोमइत्यस्य दी० ऋ०। याजुषी गायत्री छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (१०) ॐदिवमित्यस्य दी० ऋ०। याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (११) ॐअग्निमित्यस्य दी० ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छं० लिङ्गोक्ता दे०। पशुगुदखण्डहवने वि०। (१२) ॐमन इत्यस्य दी० ऋ०। याजुष्युष्णिक्छन्दः। लिंगोक्ता दे०। मुखोपस्पर्शने

वि० । (१३) ॐदिवंत इत्यस्य दी० ऋ० । यजुश्छं० । स्वरुर्देव० स्वरुहवने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-११) पूर्वसेही पृथक् रक्खे हुए पशुके पश्चाद्भागीय आमिषके तीन अंश करके एक २ के तिर्यक् रूप ग्यारह भाग करै प्रतिप्रस्थाता एक २ अंशको ग्रहणकर ग्यारहमंत्रसे ग्यारह आहुति दे और प्रत्येक आहुति शेषमें वषट्कारकर्ता वषट्कार करै [का० ६ । ९ । १०] मन्त्रार्थ-हे हवि ! (समुद्रम्) समुद्रके अधिष्ठात्री देवताओंके तृप्त करनेको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति सुन्दररूपसे गृहीत हो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षके देवताओंको तृप्तकरनेको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो (देवम्) देवता (सवितारम्) सविता सूर्यके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति० । (अहोरात्रे) दिनरातके देवताओंको तृप्त करनेको (गच्छ) जा (स्वाहा) यह आहुति० । (छन्दांसि) छन्दोंके देवताओंकी तृप्तिके निमित्त (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (द्यावापृथिवी) पृथ्वीस्वर्गके देवताओंके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति भली० । (यज्ञम्) यज्ञदेवताके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (सोमम्) सोमकी तृप्तिको (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (दिव्यम्) दिव्य (नभः) आकाशके प्रति (गच्छ) गमनकर (स्वाहा) यह आहुति० । (वैश्वानरम्) जठराग्नि वा विश्वकी हितकारक (अग्निम्) अग्निकी तृप्तिको (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो । विधि-(१२) अनन्तर बारहवें मंत्रसे अपना मुख स्पर्श करै [का० ६ । ९ । ११] मन्त्रार्थ-हे समुद्रादि देवतासमूह ! (हार्दि) हृदयसम्बन्धी (मे) मेरे (मनः) मनको (यच्छ) निश्चल करो जिससे चंचलता नहो १२ । विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे स्वरुहवन करदे [का० ६ । ९ । १२] मंत्रार्थ-हे स्वरुकाष्ठ हुतहुआ (ते) तेरा (धूमः) धुआं (दिवम्) द्युलोकको (गच्छतु) प्राप्त हो वर्षाके निमित्त तेरी (ज्योतिः) ज्वाला (स्वः) आदित्य वा अन्तरिक्षके प्रति गमन करै (भस्मना) भस्मसे (पृथिवीम्) पृथिवीको (आपृण) पूर्णकर (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २१ ॥

विवरण-पशुके साथ जो बंधनादि व्यापार हुआ है उससे होमादिकार्यमें बहुत कालतक व्यत्यय रहा इससे कोमल मनमें वैचित्त्यताकी संभावना है इस कारण यहां मंत्र पढकर मन सावधान किया, अथवा लोभी जनोंका चित्त यज्ञीय पदार्थ ग्रहण करनेको चंचल हुआ हो इससे उनको सावधान किया । २ पार्थिव

द्रव्यके भस्म करनेसे धूम ज्योति और भस्म यह तीन दृश्य देखेजाते हैं जिसका जो अंश है वह अपनेमें मिल जाता है इसमें पदार्थविद्याकाभी उपदेश है कि पदार्थोंके तत्त्वोंको सब मनुष्योंको जानना चाहिये १६ कण्डिकामें वपाश्रपणी और यहां स्वरुका होमकर निवृत्ति दिखाई ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र ३ ।

मापोमौषधीर्हिꣳसीर्द्धाम्नोधाम्नोराजँस्ततोव्व रुणनोमुञ्च ॥ यदाहुरघ्न्याऽइतिवरुणेतिशपामहे ततोवरुणनोमुञ्च ॥ सुमित्रियानऽआपऽओषध यः सन्तुदुर्मित्रियास्तस्मैसन्तुयोस्मान्द्वेष्टि यंञ्चवयन्द्विष्मः ॥ २२ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐआप इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । दैवी जगती छन्दः । हृदयशूलं दैवतम् । शुष्कार्द्रभूप्रदेशसन्धौ पशुहृदयशूलनिगूहने वि० । (२) ॐधाम्न इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । वरुणो देवता । मार्जने वि० । (३) ॐसुमित्रियान इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० निचृत्प्राजापत्या गायत्री छं० । आपो देवता । जलाभिमंत्रणे वि०॥२२॥

विधि–(१)प्रथम मंत्रपाठकर कुछ गीली कुछ सूखी भूमिमें लोहशलाका गाड दे वा नीचेको मुखकर भूमिमें डालदे [का० ६ । १० । ३] मंत्रार्थ–हे शूल ! तुम (आपः) इस स्थानके जलोंको (मा) मत (हिꣳसीः) हानिकरो (ओषधीः) औषधियोंकी (मा) मत हानिकरो १ । विधि–(२) फिर सम्पूर्ण ऋत्विक् और यजमान दूसरे तीसरे मंत्रसे मार्जन करैं [का० ६ । १० । ५] मन्त्रार्थ–(राजन् वरुण) हे जलोंके राजा वरुण देवता ! (धाम्नोधाम्नः) जिस जिस तुम्हारे पाशसमन्वित स्थानसे हमको भय हो (ततः) उस उस स्थानसे (नः) हमको (मुञ्च) छुडाओ रक्षाकरो अथवा (धाम्नः) जिस कारण कि तुम सम्पूर्ण दृश्य अदृश्यके पति हो इस कारण एक मात्र आपहीके समीप प्रार्थना करते हैं कि प्रत्येक भयस्थानसे हमारी रक्षाकरो (वरुण) हे वरुण (अघ्न्याः) गौकी समान मारनेके अयोग्य अन्य पशुभी हैं (इति) इस प्रकार (यत्) जो (आहुः) प्रथम अ० पहली कण्डिकामें कहा है (वरुण) हे वरुणदेव ! (इति) इसी प्रकार अन्यपशुभी है अर्थात् हिंसाके अयोग्य है हमने यज्ञकार्यके अनुरोधसे जो (शपामहे)

पशुकल्प किया है (ततः) उस हिंसारूप पापसे (नः) हमको (मुञ्च) छुडाओ २ । विधि-(३)तीसरे मंत्रसे जलका अभिमंत्रण करे । मंत्रार्थ-(आपः) जल (ओषधयः) ओषधी (नः) हमको (सुमित्रियाः) परमबन्धुरूप (सन्तु) हों (यः) जो हमसे सत्कार्यमें (द्वेष्टि) द्वेष करता है (च) और (वयम्) हम (यम्) जिस्से (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (तस्मै) उसके निमित्त यह जल और औषधी (दुर्मित्रियाः) शत्रुरूप (सन्तु) हों ॥ २२ ॥

प्रमाण-"अघ्न्या इति गोनाम" [निघं० २।११।] ॥ २२ ॥

विशेष-जब कि यज्ञके अनुरोधसे भी पशुकार्यजनित दोष शान्त करने अर्थात् उस दोषसे मुक्त होनेकी वरुणरूप परमात्मासे प्रार्थना की है तब स्फुट पूर्व लिखित आशय झलकता है कि जिनके स्वभावमें हिंसा है उन क्षत्रियादिकोंको प्रथम यह कह कर कि वेदके अनुसार करनेसे हिंसा न लगेगी अन्यत्र महापाप लगेगा, यज्ञमें प्रवृत्त कराया, और यज्ञमें उसका चित्त शुद्ध कराय फिर भी उस कृत्यको अपराध मानकर उसके दूर होनेकी प्रार्थना की, अविधिसे पशुवधका दोष दूर नहीं होता और वेदानुसारका दोष दूर होजाता है यह विशेष है, यह उपदेश लगनेका समय है कारण कि इस समय यज्ञकर्ता शान्तचित्त नियममें तत्पर होता है इससे इसको शीघ्र उपदेश लगजाता है तब यह शीघ्र उपासना और ज्ञानको प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है इससे पशुयज्ञ भी क्षत्रिययजमानका कल्याण करनेवाला है यहां भी वरुणसे परमात्माकी ही स्तुति है यद्यपि वह जीवित हो स्वर्ग गया है तथापि पीडारूप पाप क्षमाकी प्रार्थना है ॥ २२ ॥

अग्नीषोमीयपशुप्रयोगः सम्पूर्णः ।

कण्डिका २३-मन्त्र १ ।

सोमाभिषवका शेष भाग.

हविष्मतीरिमाऽआपो हविष्माँ२ऽआविवासति ॥ हविष्मान्देवोऽअध्वरो हविष्माँ२ऽअस्तु सूर्य्यः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐहविष्मतीरित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निचृदार्षी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । वसतीवर्य्यग्रहणे विनियोगः ॥ २३ ॥

विधि-प्रथम प्रयोग अ०९ कं० ७ तक पूर्ण कर आये अब शेष कृत्य लिखतेहैं सूर्यके अस्ताचलगमनसे पहले २ मार्जनान्त उपरोक्त कृत्य सम्पादन करके प्रवाह-

वाली नदीसे वसतीवरी जल ग्रहण करै और यदि ऊपरके कार्य करते सूर्य अस्तहो जाय तौ यदि यजमानने इससे पहले सोमयाग कियाहोय तो अपने घरमें स्थित निनाह्यमणिक (मट्टीका बनाहुआ मटका) में से अथवा स्वयं न किया होय तो सोमयज्ञ करनेवाले किसी पडोसीके घरसे उस सोमयज्ञीय मटकेमेंसे वसतीवरी संज्ञक जल ग्रहण करै यदि समीपमें किसी सोमयाजीका स्थान न हो तो उल्का वा सुवर्णखण्ड रखकर प्रवाहयुक्त जलाशयसे इस मंत्रसे वसतीवरीसंज्ञक जल ग्रहण करै जिस जलसे सोमाभिषव किया जाता है, उसको वसतीवरी कहते हैं [का० ८ । ९ । ७–१०] मन्त्रार्थ–(हविष्मान्) हविसे संयुक्त यजमान (हविष्मतीः) हविसे संयुक्त (इमाः) इन वसतीवरीनाम (आपः) जलोंको (आविवासति) परिचर्या अर्थात् जल समूहसे पृथक् कर जलांश ग्रहण करता है (देवः) प्रकाशमान (अध्वरः) यज्ञ अपने शरीरकी प्राप्तिके निमित्त (हविष्मान्) हविसंयुक्त (अस्तु) हो (सूर्यः) सूर्य देवता भी यजमानके फल देनेको तृप्तिके निमित्त (हविष्मान्) हविसे संयुक्त हो अर्थात् सम्पन्न हों ॥ २३ ॥

प्रमाण–[यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत्तस्य रसो द्रुत्वापः प्रविवेश] इति [श० ३ । ९ । २ । १] "एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति" इति [श० ३ । ९ । २ । १२]

शतपथ ब्राह्मणमें अलंकारिक कथा है कि यज्ञका शिररूप रस जलमें प्रविष्ट हुआहै इस कारण यज्ञका अंग पूर्णकरनेको जलको हविरूप कहा, और इसीकारण उसका ग्रहण है । हवियोंका अधिपति होनेसे यजमान हविष्मान् कहाता है यज्ञकी प्रशंसाके निमित्त देवता कहा है । इस जलसे सोमके अभिषवद्वारा सोमरूप हवि प्रस्तुत होकर यज्ञकी सम्पत्ति होगी इस कारण यज्ञका सम्पत्तिमान् हविष्मान् कहा सूर्य हविग्रहण करतेहैं इस कारण सूर्यको हविष्मान् कहा ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र ५ ।

अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीन्द्राग्न्योर्भाग
धेयीस्त्थ मित्रावरुणयोर्भागधेयीस्त्थ विश्वेषा
न्देवानाम्भागधेयीस्त्थ ॥ अमूर्याऽउप सूर्य्ये या
भिर्वा सूर्य्यः सह ॥ ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥२४॥ [२]

ऋष्यादि–(१)ॐअग्नेर्व इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः।आसुरी गायत्री छं० । आपो देवता । गार्हपत्यात्पश्चिमभागे वसतीवर्यासादने वि० । (२) ॐ

इन्द्राग्न्योरित्यस्य मे० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री० । ॐआपो दे०।उत्तरवेदेर्दक्षिणश्रोणौ वसतीवरीनिधाने वि० । (३) ॐमित्रावरुणयोरित्यस्य मे०ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उत्तरवेदेरुत्तरश्रोणौ वसतीवरीनिधाने वि० । (४) ॐविश्वेषामित्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । आग्नीध्रीयस्य पश्चाद्वसतीवरीनिधाने वि० । (५)ॐम्नोऽसूर्या इत्यस्य मे०ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छन्दः । आपो देवता । आग्नीध्रीयस्य पश्चाद्वसतीवरीनिधाने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) प्रथममंत्रसे वसतीवरीको लाकर शालाके द्वारे पश्चिम भागमें स्थापन करे [का० ८ । ९ । ११] मंत्रार्थ-हे सम्पूर्ण वसतीवरी ! (वः) तुमको (अपन्नगृहस्य) अविनश्वर घरवाले (अग्नेः) अग्निके (सदसि) निकट (सादयामि) स्थापन करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे यह वसतीवरी दक्षिण द्वारके मार्गमें लाकर उत्तर वेदीके दक्षिण ओर स्थापन करे [का० ८ । ९ । १८] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरीसमूह ! तुम (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र और अग्नि देवताके (भागधेयी) भागस्थान (स्थ) हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यह वसतीवरी उत्तर वेदीके उत्तर भागमें स्थापन करे [का० ८ । ९ । २१-२२] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरीसंज्ञक जलो ! तुम (मित्रावरुणयोः) मित्रावरुण देवताके (भागधेयी) भाग (स्थ) हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे वसतीवरी जल आग्नीध्रीयके पीछे स्थापन करे [का० ८ । ९ । २३] मन्त्रार्थ-हे वसतीवरी जलो ! तुम (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंके (भागधेयी) भागरूप (स्थ) हो ४ । विधि-(५) पांचवाँ मंत्र पाठ करे । मन्त्रार्थ-जो सम्पूर्ण जल बहुत कालतक रहनेके कारण (असूर्याः) सूर्यकी किरणोंसे अदृश्य वा रक्षित बंधनरहित (उपसूर्ये) सूर्यके समीप स्थित हैं (याभिर्वा) अथवा जिनके (सह) साथ (सूर्यः) सूर्य गमन करते हैं (ताः) वे जल (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (हिन्वन्तु) परितृप्त करो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १ ।

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा ॥ ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यच्छ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐहृदेत्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । अभिषवार्थं पाषाणेषु सोमनिधाने वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) फिर घृतासादन क्रिया सम्पन्न करनेपर सोमको ग्रहणकर हविर्धान मण्डपमें गमन करके विशेषरूपसे उसे विस्रंसन (नीचे डालना) करके दक्षिण शकटके ईशान और अभिषवके निमित्त लाये हुए पाषाणके स्थूल भागपर इस मंत्रसे स्थापन करै [का० ९ । १ । ९] मंत्रार्थ-हे सोम ! (हृदे) हृदयवान् मनुष्योंके निमित्त वा निश्चयात्मक बुद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको निमंत्रित करता हूं अर्थात् मेरा यह संकल्प पूर्ण होजाय इस कारण तुमको निमंत्रित करताहूं (मनसे) संकल्पविकल्पात्मक मनके निमित्त वा मनस्वी पितृगणके निमित्त (त्वा) तुमको (दिवे)द्युलोककी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको अथवा द्युलोकवासी देवतोंके निमित्त विशेषकर (सूर्याय) सूर्यदेवताके निमित्त (त्वा) तुमको उपाहरण करताहूं (इमम्) इस (अध्वरम्) यज्ञको (ऊर्ध्वम्) उन्नत करके (होत्रा)यज्ञके वषट्कर्ता सात होताओंको (दिवि) देवलोकमें (देवेषु) देवताओंके मध्ये देवत्व (यच्छ) प्रदान करो ॥ २५ ॥

प्रमाण-"स वा अध्वर्युः सोममुपावहरन् सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह मनुष्येभ्य एवैतेन करोति मनसे त्वेत्याह पितृभ्य एवैतेन करोति दिवे त्वा सूर्य्याय त्वेत्याह देवेभ्य एवैतेन करोत्येतावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनꣳ सर्वाभ्य उपावहरति" इति [तैत्तिरीय०]

उपावहार-निमंत्रितव्यक्तिका उपहार ॥ २५ ॥

काण्डिका २६-मंत्र ३ ।

सोमराजन्विश्वास्त्वम्प्रजाऽउपावरोहविश्वा
स्त्वाम्प्रजाऽउपावरोहन्तु ॥ शृणोत्वग्निःसमि
धाहवम्मेशृण्वन्त्वापोधिषणाश्चदेवीः ॥ श्रोता
ग्रावाणोविदुषोनयज्ञꣳशृणोतुदेवःसविताहवम्मे
स्वाहा ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसोमराजन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । साम्न्युष्णिक् छं० । सोमो देवता । उपावरोहणे वि० । (२) ॐविश्वास्त्वामित्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । उपावहरणे वि० । (३) ॐशृणोत्वग्निरित्यस्य मेधा० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० ॥२६ ॥

विधि-(१-२) पहले और दूसरे मंत्रसे सोमको उपावरोहण करै, उपांशुसवनसे निम्न पात्रान्तमें ग्रहण करै वस्त्रसे खोलकर स्थापित करै[का०९ । १ । ६] मन्त्रार्थ-(सोमराजन्) हे राजा सोम ! (त्वम्) तुम इन (विश्वाः) सम्पूर्ण

ऋत्विग्गणोंको अपनी (प्रजा) प्रजा जानकर (उपावरोह) कृपा वा आधिपत्य करो हे सोम ! (विश्वाः) सम्पूर्ण (प्रजाः) प्रजा (त्वाम्) तुमको (उपावरोहन्तु) प्रणामद्वारा प्राप्त हों १-२ । विधि-(३) फिर होताके "अभूदुषारुशत् पशुः" कथन करनेपर अध्वर्यु प्रचरणीद्वारा सोमरसमें चार बार आज्य ग्रहण कर तीसरे मंत्रसे चार आहुति दे [का० ९ । २ । २४-३-१] मंत्रार्थ-(अग्निः) अग्निदेवता (समिधा) समिधापूर्वक (मे) मेरी इस (हव) आहुतिसे हमारे आह्वानको (शृणोतु) श्रवण करें (आपः) जल देवता (च) भी (धिषणाः) वाग्वादिनी (देवीः) देवी (च) भी हमारे आह्वानको सुने (ग्रावाणः) हे ग्रावासमूह ! अभिषवके निमित्त प्राप्त हुए तुम (विदुषः) विद्वानोंकी (न) समान एकाग्रचित्तसे (यज्ञम्) मेरे यज्ञके आह्वानको (आश्रोत) सब प्रकार सुनो (सवितादेवः) सबका प्रेरक परमात्मा देवता (मे हवम्) मेरे आह्वानको (शृणोतु) श्रवण करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २६ ॥

प्रमाण-"धिषणा धीसादिन्यो वा धीमानिन्यो वा" इति यास्कः [निरु० ८ । ४ ।] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मन्त्र २ ।

देवीरापोऽअपान्नपाद्योवऽऊर्मिर्हविष्यऽइन्द्रियावान्मदिन्तमः । तन्देवेभ्योदेवत्रादत्तशुक्रपेभ्योयेषाम्भागस्थस्वाहा ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदेवीराप इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । आपो देवता । जलाशयतटं प्रति गमने वि० । (२) ॐस्वाहेत्यस्य मेधा० ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । आपो दे० । चतुर्वारगृहीताज्याहुतिहोमे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१-२) जिस चारवार लिये घृतको साथ लिया है उसकी जलाशयके तटमें प्रथममंत्रसे जाकर दूसरे मंत्रसे आहुति दे [का० ९ । ३ । ७] मन्त्रार्थ-(आपोदेवीः)हे जलदेवियो !(वः) तुम्हारे (अपाम्) जलोंके (नपात्) अपत्यरूप (हविषः) हवियोग्य (इन्द्रियावान्) वीर्य्यवान् (मदिन्तमः) तृप्त करनेवाली, वा पीनेवालोंको प्रसन्न करनेवाली (ऊर्मिः) कल्लोल वा लहर है (देवत्रा) देवताओंके प्रति जानेवाली (तम्) उस ऊर्मिको (शुक्रेभ्यः) शुक्रादि सोमग्रह पीनेवाले अथवा सोमपान करनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंको (दत्त) प्रदान करो (येषाम्) जिन (देवानाम्) देवताओंके तुम (भागः)भाग (स्थ)

हो अर्थात् तुम सम्पूर्ण देवगणके भाग हो इन सबके उद्देश्यसे तुमको हवि देते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २७ ॥

विवरण—ग्रह शब्दसे सोमपानके पात्रमें स्थित विभाग किये सोम रसका ग्रहण है आगे विस्तारसे लिखेंगे। शुक्र—दीप्तिमान् ॥ २७ ॥

प्रमाण—"देवीरापो अपानपादित्याहाहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णाति" इति [तैत्ति०] तैत्तिरीयमें लिखा है कि, वसतीवरीके ग्रहणसे पहले यह आहुति दी जाती है. कारण कि, यह ग्रहण किये जलका मूल्यरूप है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८—मन्त्र ३।

कार्षिरसि समुद्रस्य त्वाक्षित्याऽउन्नयामि ॥ समापोऽअद्भिरग्मत समोषधीभिरोषधीः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐकार्षिरसीत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। दैवी बृहती छं०। आज्यं देवतम्। मैत्रावरुणचमसेनाज्योपाहने वि०। (२) ॐसमुद्रस्येत्यस्य मेधा०ऋ०। याजुषी त्रिष्टुप्छं०। आपो देवता। चमसेन जलग्रहणे वि०।(३) ॐसमाप इत्यस्य मेधा० ऋ०। साम्न्यनुष्टुप्छं०। चात्वालोपरि मैत्रावरुणचमसस्य वसतीवरीभिः सह संस्पर्शने वि० ॥ २८ ॥

विधि—(१) चार वार लिये हुए घीको जलमें हवन किया है उस घृतको मैत्रावरुणचमसद्वारा यह मंत्र पढकर छोडदे [का० ९। ३। ८] मंत्रार्थ—हे घृत ! तुम (कार्षिः) देव उच्छिष्ट अथवा अन्तर्गत पापके दूर करनेवाले (असि) हो १। विधि—(२) दूसरे मंत्रसे इस चमससे जल ग्रहण करै [का० ९। ३। ९] मंत्रार्थ—हे जलो ! (समुद्रस्य) वसतीवरी लक्षणवाले सागररूप जलके (अक्षित्यै) अक्षीणताके निमित्त (त्वा) तुमको (उन्नयामि) ग्रहण करताहूं "आपो वै समुद्रः" इति श्रुतेः [श० ३। ९। ३। २७] अर्थात् हे जलो! मैं वसतीवरीके परिमाण वृद्धिके निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं २। विधि—(३) फिर जलाशयसे लौटकर चत्वालके प्रान्तमें इस वसतीवरीके सहित मैत्रावरुणके चमसमें स्थित जल इस तीसरे मंत्रसे ग्रहण कर मिलावे [का० ९। ३। १२] मंत्रार्थ—(आपः) हे मित्रावरुण चमसमें स्थित जलो ! तुम (अद्भिः) इस वसतीवरीके जलके संग (समग्मत) भली प्रकार मिश्रित हो (ओषधीः) सम्पूर्ण औषधी (ओषधीभिः) औषधियोंके साथ (सम्) भलीप्रकारसे मिश्रित हों ३ ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

अग्ने॒ यं प्रृ॒त्सु मर्त्य॒मवा॒ वाजे॑षु॒ यं जु॒नाः ॥ स यन्ता॒ शश्व॑ती॒रिषः॒ स्वाहा॑ ॥ २९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ यमग्न इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता० । अग्निष्टोमे प्रचरणीसंस्रवहवने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) यदि अग्निष्टोमके साथ ज्योतिष्टोम हो तब इस प्रचरणीमें लगे हुए शेष घृतको लेकर इस मंत्रसे हवन करे और यदि उक्थसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे पहली परिधिसे स्पर्श मात्र करावे । यदि षोडशीसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे रराटीस्पर्श करावे । यदि अतिरात्रसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रसे छदि स्पर्श करावे । यदि अन्यान्यसंस्थ ज्योतिष्टोम हो तो इस मंत्रको पढकर हविर्धान मण्डपमें प्रवेश करावे [का० ९ । ३ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (पृत्सु) बडे संग्रामोंमें (यम्) जिस (मर्त्यम्) मनुष्यको (अवाः) तुम रक्षाकरते हो किञ्च (वाजेषु) हविलक्षणवाले अन्नोंमें अन्नके निमित्त (यम्) जिस मनुष्यके निकट तुम (जुनाः) हविग्रहण करनेको उपस्थित होतेहो (सः) वह मनुष्य तुम्हारे प्रसादसे (शाश्वतीः) निरन्तर अक्षय (इषः) अन्नों तथा धनोंको (यन्ता) लाभ करताहै (स्वाहा) हमारी यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

प्रमाण-"वाज इति अन्ननाम" [निघं० २ । ७ । २] ॥ २९ ॥

विवरण-ज्योतिष्टोम यज्ञ सप्तसंस्थ अर्थात् सात प्रकारका होताहै उसमें अग्निष्टोम उक्थ षोडशी और अतिरात्र इस चार प्रकारके ज्योतिष्टोमकी पृथक् पृथक् व्यवस्था है इस कारण अन्यान्य पदसे अत्यग्निष्टोम आप्तोर्याम और वाजपेय लेना [ऋ० १ । २ । २३] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र ३ ।

दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ आद॑दे॒ रावा॑सि गभी॒रमि॒मम॑ध्व॒रं कृ॒धीन्द्रा॑य सु॒षूत॑मम् ॥ उ॒त्त॒मेन॑ प॒विनोर्ज॑स्वन्तं॒ मधु॑मन्तं॒ पय॑स्वन्तं॒ निग्रा॒भ्या᳚स्थ दे॒व॒श्रुत॑स्त॒र्पय॑त मा॒ मनो॑ मे ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐदेवस्यत्वेत्यस्य मंत्रद्वयस्य मधुच्छंदा ऋषिः। ब्राह्मी पंक्तिश्छंदः। अद्रिर्देवता। उपांशुसवनग्रहणे वि०। (३) ॐ निग्राभ्य इत्यस्य मधु० ऋ०। आसुर्यनुष्टुप्छं०। आपो देवता। उपांशुसवनग्रहणे वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१-२) इन दोनो मंत्रोंसे उपांशुसवन ग्रहण करे। सोमाभिषवके पत्थरको उपांशुसवन कहते हैं इस पत्थरके ग्रहण करनेकी अवधि तबतक है कि, जबतक हिङ्कर्ताद्वारा हिङ्कार शब्द न हो, तबतक मौन होकर सोमका सवन अर्थात् अभिषवकार्य सम्पन्न करा जाता है इसी कारण इस शिलाखण्डको उपांशुसवन कहते हैं [का० ९।४।५।६] मंत्रार्थ-हे उपांशुसवन! (सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवताकी प्रेरणासे (अश्विनोर्बाहुभ्याम्) अश्विनीकुमारकी बाहु (पूष्णो हस्ताभ्याम्) पूषा देवताके हाथोंसे (त्वा) तुझको (आददे) ग्रहण करताहूं तुम (रावा) अभीष्ट फलके देनेवाले (असि) हो (इमम्) इस हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (गम्भीरम्) महान् (कृधि) करो (उत्तमेन) उत्कृष्ट श्रेष्ठ (पविना) वज्रसदृश तुम्हारे द्वारा (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (सुषूत्तमम्) प्रीतिवर्द्धक (ऊर्जस्वन्तम्) बलयुक्त (मधुमन्तम्) स्वादिष्ट मधुररसयुक्त (पयस्वन्तम्) दुग्ध वा जलके स्वादुरससे युक्त सोमको अभिषुततम करताहूं १-२। विधि-(३) यजमान अपने हृदयमें निग्राभ्यनाम जलको ग्रहण कर तीसरा मंत्र पाठ करै [का० ९।४।७] (निग्राभ्यः) हे जलो! तुम हमसे सम्यक् प्रकारसे ग्रहण किये गये (स्थ) हो (देवश्रुतः) देवताओंके मध्यमें चिरप्रसिद्ध हो इस प्रकार बहुत मानसे युक्त तुम इस समय इस यज्ञमें (मा) मुझको वा मेरी (तर्पयत) तृप्तिसाधन करो ॥ ३० ॥

विवरण-सोमाभिषवसमयमें जो जल बारंवार सोमपर छिडका जाताहै उस जलको निग्राभ्य कहते हैं, इन्द्रके उरसे ग्रहण करनेके कारण स्वयंभी वक्षस्थलसे ग्रहण करै ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १।

मनो॑मेतर्प्पयत॒वाचं॑म्मेतर्प्पयतप्प्रा॒णम्मे॑तर्प्पयत॒ चक्षु॑र्म्मेतर्प्पयत॒श्श्रोत्र॑म्मेतर्प्पयता॒त्मान॑म्मेतर्प्पयतप्प्र॒जाम्मे॑तर्प्पयतप॒शून्मे॑तर्प्पयतग॒णान्मे॑तर्प्पयतग॒णामे॒मावि॑तृषन् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमनो म इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। विराड् ब्राह्मी जगती छन्दः। आपो देवता। आशीःप्रार्थने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे निग्राभ्यके निकट आशीर्वादकी प्रार्थना करै मन्त्रार्थ-हे निग्राभ्य ! (मे) मेरा (मनः) मन (तर्पयत) तृप्त करो (मे) मेरी (वाचम्) वाणीको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (प्राणम्) प्राणको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (चक्षुः) नेत्र इन्द्रियको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कर्णोंको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (आत्मानम्) आत्माका (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरी (प्रजाम्) पुत्र पौत्रादि प्रजाको (तर्पयत) तृप्त करो (मे) मेरे (पशून्) पशुओंको (तर्पयत) तृप्तकरो (मे) मेरे (गणान्) मनुष्यसमूहोंको (तर्पयत) तृप्त करो अर्थात् हमारे आत्मीय बन्धु परिजन सम्पूर्णही तृप्त हों (मे) हमारे (गणाः) आत्मीयजन (मा) किसी प्रकारसे न (वितृषन्) तृष्णासे कातर हों ॥ ३१ ॥

ईश्वरसे भी प्रार्थनामें विनियोग होसक्ता है ।

कण्डिका ३२-मन्त्र ५ ।

इन्द्राय॑त्वा॒वसु॑मते॒रुद्र॑वत॒ऽइन्द्रा॑य॒त्वादि॒त्यव॑त॒ऽ इन्द्रा॑य॒त्वाभि॑माति॒घ्ने ॥ श्ये॒नाय॑त्वासोम॒भृते॒ ऽग्नये॑त्वारा॒यस्पो॑ष॒दे ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐइन्द्रायत्वेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । साम्नी गायत्री० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐइन्द्राय त्वेत्यस्य मधु० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । सोमो दे० । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐइन्द्रायत्वेत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । ॐश्येनायत्वेत्यस्य मधु० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो दे० । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० । (५) ॐअग्नयेत्वेत्यस्य मधु०ऋ० । याजुषी बृहती छं० । सोमो देवता । अभिषोतव्यसोममुष्टिप्रक्षेपणे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अधिसवन चर्मके ऊपर यह उपांशुसवन स्थापन करके उसपर पांच मंत्रोंसे पांच मुट्ठी सोम ग्रहण करै [का०९।४।८] हे सोम ! [प्रातःसवनके] (वसुमते) वसुनाम देवतासे युक्त (रुद्रवते) माध्यन्दिन सवनके रुद्र देवतासे युक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताके निमित्त(त्वा)तुमको परिमित करताहूं १(आदित्यवते) हे सोम! तीसरे सवनके आदित्य देवताके सहित वर्तमान (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (त्वा) तुझको परिमित करताहूं २। हे सोम ! (अभिमातिघ्ने) शत्रुघाती (इन्द्राय)

इन्द्र देवताके निमित्त (त्वा) तुमको परिमित करताहूं ३ । हे सोम (सोमभृते) सोमहारी (श्येनाय) श्येनरूप गायत्रीके निमित्त (त्वा) तुझको परिमित करताहूं ४ । हे सोम ! (रायस्पोषदे) धन और पुष्टि देनेवाले (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (त्वा) तुमको परिमित करताहूं ५ ॥ ३२ ॥

प्रमाण–"इन्द्राय सोम त्वां मिमे सपत्नो वा अभिमातिः" इति श्रुतेः [श० ३ । ९ । ४ । ९] "गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्" इति श्रुतेः। [श० ३ । ९ । ४ । १०] ॥ ३२ ॥

विवरण–जो कि आठ वसु ग्यारह रुद्र बारह आदित्य प्रसिद्ध हैं प्रजापति और इन्द्र यह सब तेतीस देवता हैं यह मुख्य हैं और अनेक दूसरे देवता, इनकी विभूति रूप हैं । वसुगण पृथ्वीके देवता, अग्नि और रुद्र अन्तरिक्षके देवता, वायु आदित्यगण द्युलोकके देवता, सूर्य, प्रजापति और इन्द्र शब्दसे ईश्वरकाही प्रायः लक्ष होता है अनेक स्थलमें अग्निवायु आदिभी ईश्वरके बोधक होतेहैं इस स्थलमें इन्द्रशब्दसे ईश्वरकाही ग्रहण है ईश्वर जो कि जगत्पति समस्त चराचरका नियन्ता है, इसको कौन अस्वीकार करेगा ।

गायत्रीने श्येनरूपसे द्युलोकसे सोम आहरण किया यह आख्यायिका ऊपर शतपथकी श्रुतिमें कथित है, इस गायत्रीका यह अर्थ है कि जो इसका गान करता है वह उसकी त्राता अर्थात् रक्षा करतीहै, गायत्रीशब्दसे ईश्वरहीका लक्ष्य है, ईश्वरका श्येनरूपसे वर्णन अनेक स्थलोंमें देखा जाताहै "श्येनो गृध्राणाम्" इत्यादि ।

पहले चारमंत्रोंके सहित इस मंत्रमें स्थित अग्निपद ब्रह्माग्निवाचक भी होता है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

यत्तै सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐयत्त इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ०। भुरिगार्षी बृहती छं० । सोमो दे० । सोमस्पर्शने वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१) उपांशुसवनमें गृहीत सोमको इस मंत्रसे स्पर्श करे [का० ९ । ४ । ९] मन्त्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (दिवि) द्युलोकके (यत्) जो (ते) तुम्हारी (ज्योतिः) ज्योति है (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (यत्) जो ज्योति है (उरौ) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (यत्) जो ज्योति है (तेन) उस

ज्योतिके प्रभावसे (अस्मै) इस (यजमानाय) यजमानके निमित्त इष्ट धन विस्तार कर अथवा इसके यज्ञमें अपने शरीरको (उरु) विस्तार (कृधि) कर अथवा (राये) ऋत्विग्गणोंको धनप्राप्तिके निमित्त (उरुकृधि) अपने शरीरका विस्तार करो (दात्रे) दाता यजमानके निमित्त (अधिवोचः) मैं सम्पूर्ण ज्योतिसे प्राप्त हुआ ऐसा कह अथवा हे सोम तीन लोकमें जो तुम्हारी ज्योति है उस ज्योतिसे इस यजमानको (राये) धनसे समृद्ध और (उरुकृधि) विस्तीर्णस्थानवाला करो (दात्रे) यज्ञफल देनेवाले परमात्मा इन्द्रको (अधिवोचः) यह यजमान अधिक है इसप्रकार कहकर यजमानके अनुकूल करो ॥ ३३ ॥

प्रमाण-"यदा सोमो देवानां हविरभूत्तदा तिस्रः स्वतनूरेषु लोकेषु न्यदधात्" इति [श० ३ । ९ । ४ । १२] जिस समय सोम देवताओंकी हवि हुआथा उस समय उसने तीनों लोकमें अपना शरीर स्थापित किया, इस मंत्रसे उनकी प्राप्ति कीजातीहै ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

श्वात्रास्स्थवृत्रतुरोराधोगूर्त्ताऽअमृतस्यपत्नीः ।
तादेवीर्देवत्रेमंयज्ञन्नयतोपहूताःसोमस्यपिबत ३४

ऋष्यादि-(१) ॐश्वात्रास्थ इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । स्वराडार्षी पथ्या बृहती छन्दः । आपो देवता । निग्राभ्यसिंचने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे होत्रचमसके द्वारा सोमके ऊपर निग्राभ्य सिंचन करै [का० ९ । ४ । १२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (श्वात्राः) शीघ्रकार्यकारी वा शिवरूप (वृत्रतुरः) शत्रुहृदयमर्दनकारी (राधोगूर्तः) इष्टकामनाके देनेवाले (अमृतस्य) सोमके (पत्नीः) पालक (स्थ) हो (देवी) हे सम्पूर्ण निग्राभ्य देवता ! (ताः) इस प्रकारके तुम (इमम्) इस यज्ञको (देवत्रान्) देवताओंके प्रति (नयत) प्राप्तकरो (उपहूताः) अनुज्ञाको प्राप्तहुए तुम (सोमस्य) सोमको (पिबत) पिओ. [आशय यह कि, तुम्हारे द्वारा प्रयुज्यमान सिञ्चन कार्य शीघ्र चलायमान हो सोम शोपित हो] ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"श्वात्रमिति क्षिप्रनाम" [निरु० ५ । ३] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

माभेर्मासंविक्थाऽऊर्जन्धत्स्वधिषणेवीड्वीसतीवी
डयेथामूर्जन्दधाथाम्पाप्माहतोनसोमः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमाभेरित्यस्य मधुच्छंदा ऋ०। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं०। अर्द्धस्य द्यावापृथिवी देवते। अर्धस्य सोमो देवता। उपांशुसवनेन सोमेन त्रिः प्रहरणे वि०॥ ३५॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उपांशुसवनके द्वारा सोम ग्रहण करे [का० ९। ४। १९] मंत्रार्थ-हे सोमसमूह! तुम (माभेः) आघातसे भय मत करना (मासंविक्थाः) कम्पित मतहोना (ऊर्जम्) रसको (धत्स्व) धारण करो वा प्रदान करो (धिषणे) हे द्यावापृथिवी! (वीड्वीसती) दृढताको प्राप्त हुई(वीडयेथाम्) इस उपांशुसवनके आघात और सोमसवनको दृढ करो (ऊर्जम्) इस सोमके रसको (दधाथाम्) वृद्धिकर प्रदान करो इस वज्राघातसे यजमानके सम्पूर्ण (पाप्मा) पाप (हतः) नष्ट होते हैं और (सोमः न) सोम नहीं हतहोता किन्तु संस्कारयुक्त होता है॥ ३५॥

प्रमाण-"वीड्वीसती वलनामसु पठितम्"[निघं० २। ९।]॥ ३५॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १।

प्रागपागुदगधराक्सर्वतस्त्वादिशऽआधावन्तु॥ अम्बनिष्परसमरीर्विदाम्॥ ३६॥

ऋष्यादि-(१) ॐप्रागपा इत्यस्य मधुच्छंदा ऋषिः। आर्ष्युष्णिक्छं०। सोमो देवता। पठने वि०॥ ३६॥

विधि-(१) प्रतिप्रहार वर्ग सोमके अंशोंको होत्रचमसके मध्यमें ग्रहण करके यजमानको यह दो निग्राभ्यमंत्र पाठ करावे [का० ९। ४। २०] मंत्रार्थ-हे सोम! (प्राक्) पूर्व (अपाक्) पश्चिम (उदक्) उत्तर (अधराक्) दक्षिणादि सम्पूर्ण (दिशः) दिशा (सर्वतः) सब ओरसे (त्वा) तुम्हारे (आधावन्तु) सन्मुख धावमान हों अर्थात् चारों ओरसे सोम अंश सकल आगमन करो [और वह परस्पर सब इस प्रकार कहैं] (अम्ब) हे माता! अपने भागोंसे (निष्पर) सोमको पूर्ण करो अर्थात् हम तुम्हारे सहित मिलित होकर क्षतिके पूर्ण करनेमें प्रवृत्तहों (अरीः) सब प्रजा (सम्विदाम्) इस यज्ञको जाने [आशय यह कि हमारे सोमसमागमको अनेक देश चारों दिशाओंके प्राणी जाने और यज्ञदर्शन करनेको आवैं]॥ ३६॥

प्रमाण-"प्रजा वा अरीः" इति श्रुतेः [श० ३। ९। ४। २१]॥ ३६॥

विवरण-३७ और इस ३६ कण्डिकाके मंत्र निग्राभ्य कहातेहैं. कूटनेमें जो सोमके अंश चारोंओर उडते हैं इन दोनो मंत्रोंके पाठसे उन सबको संग्रह करे ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

त्वम॒ङ्ग प्रश॑ᳪं᳭सिषो दे॒वः श॑विष्ठ॒ मर्त्य॑म् ॥ न त्वद॒न्यो म॑घवन्नस्ति मर्डि॒तेन्द्र॒ ब्रवी॑मि ते॒ वचः॑ ॥ ३७ ॥ [८]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐत्वमित्यस्य गोतम ऋ० । पथ्याबृहती अथवा भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । प्रार्थने वि० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(अङ्ग) हे सर्वत्र प्राप्त ! "अङ्गेति क्षिप्रनाम" [निरुक्त ५ । १७] (शविष्ठ) अतिशय बलवान् (मघवन्) सुखकारी धनवान् (इन्द्र) परमैश्वर्यसम्पन्न (देवः) परमात्मा ! (त्वम्) आप (मर्त्यम्) इस मनुष्य यजमानको (प्रशᳪंसिषः) प्रशंसा देतेहो अर्थात् यह यजमान होता श्रद्धावान् है इस प्रकार प्रशंसा प्राप्त कराते हो (त्वत्) आपके सिवाय (अन्यः) और कोई (मर्डिता) सुख देनेवाला (न) नहीं (अस्ति) है (ते) आपका (वचः) आपही सुखरूप हैं यह वचन (ब्रवीमि) कहताहूं ॥ ३७ ॥

भावार्थ-हे अंग इन्द्र ! [परमात्मन्] तुम अति बलवान् देवता हो तुम्हारे प्रसादसे मनुष्यगण प्रशंसालाभ करतेहैं, हे मघवन् ! [वेदधन] तुम्हारे सम्बन्धमें इतना बोलनाही बहुत है कि तुमही हमको सुखी करनेमें समर्थ हो तुमसे अन्य और कोई नहीं तुमही एकमात्र हमारे सुखदाता हो "इस मंत्रसे स्पष्टही एक ईश्वरवाद प्रकाशित होताहै" [वैशंपायनभाष्य] ॥ ३७ ॥

इस अध्यायमें यज्ञके कृत्य, परमात्माकी उपासना, सब कार्योंमें उसका ध्यान पशुहिंसाकी निवृत्ति, अनेक पदार्थोंके गुण, और उनका उपयोग कथन कर अन्तमें एक परमात्माही उपास्य है यह कथनकियाहै, इससे पांचवें अध्यायके संग इसकी संगति होगई इस अध्यायका अर्थभी दयानन्दसरस्वतीने सूत्रकल्प ब्राह्मणके विरुद्ध कियाहै, इससे वह मानने योग्य नहींहै ॥ ३७ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतवाजसनेयिसंहितायां मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसाद-मिश्रकृतमिश्रभाषाभाष्ये अभ्यादानादृचनान्तः षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

शुभमस्तु.

अथ सप्तमोऽध्यायः ७.

ग्रहग्रहणप्रकरण ।

प्रातःसवन

ग्रहशब्दसे यज्ञीय देवगणके उद्देशसे गृहीत सोम, और किसी किसी स्थलमें सोमपात्रको भी ग्रह कहते हैं प्रातःसवनके साकल्यमें २५ ग्रह गृहीत होते हैं उपांशुप्रभृति उनके परिचायक नामकरण हैं यथा उपांशु १ अन्तर्याम २ इन्द्रवायव ३ मैत्रावरुण ४ आश्विन ५ शुक्र ६ मन्थी ७ आग्रहायग ८ उक्थ ९ ध्रुव १० ऋतुग्रह १३ ऐन्द्राग्न २४ और विश्वेदेव २५ किन्तु इन पच्चीस आधारपात्र २४ हैं. कारण कि, अन्तिम ग्रह छठे ग्रहके पात्रसेही गृहीत होता है ।

अग्निष्टोमादि सोमयागके तीन सवन होते हैं सोमघटित क्रियाकोही सवन कहा जाता है इस कारण प्रातःसवन शब्दसे प्रातःकालीन सोमविभाग सोमग्रहण सोमाहुतिप्रभृति जानना ।

वाचस्पतय उपयामगृहीतोसि त्रिकावावायोयंत्रा द्विको यस्त एका प्राणाय तिस्रो मत्त्रइन्द्राग्नी आगतमावोमासश्चर्षणीधृतो विश्वेदेवासऽआगतेन्द्रमरुत्वो मरुत्वन्तं वृषभं मरुतान्त्वौजसे सजोषाऽइंद्रमरुत्वाँ २॥ऽइन्द्र महाँ २ ॥ऽइन्द्रो महाँ २ ॥ ऽइन्द्रऽ एकैकोदुत्थमष्टोपञ्चविꣳशतिरष्टाचत्त्वारिꣳशत् ॥

कण्डिका १–मन्त्र २ ।

प्रातःसवन.

वाचस्पतयेपवस्ववृष्णोऽअꣳशुभ्याङ्गभस्तिपूतः ॥ देवोदेवेभ्यः पवस्वयेषाम्भागोसि ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐवाचस्पतय इत्यस्य गोतम ऋषिः।साम्नी बृहती० । प्राणो दे० । उपांशुग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐदेव इत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । प्राणो देवता । उपांशुग्रहग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) सूर्योदयसे पूर्वही इस कण्डिकाके दो मंत्र और दूसरी कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे साकल्यके तीनों मंत्रपूर्वक तीन बार वैकंकत स्रुवसे उपांशुनामक प्रथम ग्रह ग्रहण करै [९ । ४ । २३] मंत्रार्थ–हे सोम ! तुम (वृष्णः) सम्पूर्ण कामनाके फलवर्षी (अꣳशुभ्याम्) अंशुद्वय. तथा (गभस्तिपूतः) हमारे हाथसे

पवित्र हुए तुम(वाचस्पतये)प्राणोंकी प्रीतिके निमित्त (पवस्व)इन पात्रमें गमन करो "प्राणो वै वाचस्पतिः" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । ९] "पाणी वै गभस्तौ" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । ९] 'दूसरा ग्रहग्रहण ' हे सोम ! (देवः) देवतारूप तुम (देवेभ्यः) देवतोंकी प्रीतिके निमित्त (पवस्व) इस पात्रमें गमन करो (येषाम्) जिन देवताओंका (भागः) भाग (असि) है ॥ १ ॥

विवरण-इस समय अंशुद्वय ग्रहण करै वाचस्पति देवता मनकाभी नामान्तरहै इसके निमित्त मौनभावसे होमादि करते हैं इसी कारण यह उपांशुग्रह कहा जाता है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र ३ ।

मधुमतीर्न्नऽइषंस्कृधि यत्ते सोमादाभ्युन्नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा स्वाहोर्वुन्तरिक्षमन्वेमि स्वाङ्कृतोसि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमधुमतीरित्यस्य गोतम ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । तृतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐयत इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता दे० । सोमे स्वीकृतांशुस्थापने वि० । (३) ॐस्वाहा इत्यस्य गोतम ऋ० ।आसुरी जगती० । लिंगोक्ता देवता । हविर्धाननिष्क्रामणे वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे तीसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे सोम ! (नः) हमारे (इषः) अन्न (मधुमतीः) मधुर रसयुक्त सुस्वादु (कृधि) करो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस ग्रहण किये अंशुद्वयको सोमाधार पात्रमें फिर निक्षेप करै [का० ९ । ४ । २८] मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (ते) तुम्हारा (यत्) जो (अदाभ्यम्) हिंसाशून्य (जागृवि) जागरणशील (नाम) नाम है (सोम) हे सोम! (तस्मै ते)उस तुम्हारे निमित्त(स्वाहा)यह अंशुद्वय फिर प्रदान करते हैं २ । विधि-(३) उपांशुग्रह हाथमें लेकर होम करनेकी इच्छासे उठकर इस सोमिक वेदीसे निकलनेको उद्यत हो आहवनीयके संमुख गमन करै [का ९ । ४ । ३४] मंत्रार्थ-(स्वाहा) उद्देश्य देवताकी प्रीतिके निमित्त यह भलीप्रकार आहुत होता है. (उरु) इस विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षके मध्यमें (अन्वेमि) गमन करताहूं ३ ॥ २ ॥

विवरण-जिसका नाम हिंसारहित है इस कारण सोम सबकी प्रियवस्तु है हिंसारहित पद बारबार वेदमें आया है इस कारण हिंसा न करनाही वेदका उद्देश

हैं जागरणशीलका आशय यह कि सोमको कोई पान करै या न करै सबकेही अन्तःकरणमें सोमका नाम जागता है ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र ५ ।

स्वाङ्कृतोसि विश्श्वेब्भ्यऽइन्द्रियेब्भ्योदिव्येब्भ्युः
पार्त्थिवेब्भ्योमनस्त्वाष्टुस्वाहांत्वासुभवसूर्र्या
यदेवेब्भ्यंस्त्वामरीचिपेब्भ्योदेवांशोयस्मैत्वे
डेतत्सत्यमुपरिप्प्रुताभङ्गेनंहतोसौफट्प्राणायं
त्वाव्यानायंत्वा ॥ ३ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) स्वांकृतोसीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या जगती० । उपांशुर्दे० । पात्रमार्जने वि० । (२) ॐ देवेभ्यस्त्वेत्यस्य गोतम ऋ० । याजुषी बृहती छं० । देवा दे० । पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तोत्तानपाण्युपमार्जने वि० । (३) ॐ देवांश इत्यस्य गोतम ऋ० । साम्नीत्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । अभिचारार्थं वस्त्रादिश्लिष्टसोमांशहवने वि० । (४) ॐप्राणायत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । ग्रहो देव० । स्वस्थाने उपांशुग्रहपात्रासादने वि० । (५) ॐव्यानायत्वेत्यस्य गोतम ऋ० । उपांशु देवता । उदगभिमुखग्रहसंलग्नोपांशुसवनरक्षणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) गृहीत उपांशुग्रहको प्रथम मंत्रसे हवन करै [का० ९ । ४ । ३७] "प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातः" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । १ । २२] मंत्रार्थ–हे प्राणरूप उपांशुग्रह! (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (इन्द्रियेभ्यः) इन्द्रियोंसे (पार्थिवेभ्यः) सम्पूर्ण पार्थिव द्विपद चतुष्पद और (दिव्येभ्यः) दिव्य प्राणियोंसे (स्वांकृतः) स्वयंप्रादुर्भूत (असि) हो अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियोंके हितार्थ दिव्य-एवं पार्थिव प्राणीगणके हितार्थ तुम मेरे द्वारा स्वीकृत हुएहो (मनः) मन प्रजापति (त्वा) तुम्हारे प्रति (अष्टु) आधिपत्य करै "प्रजापतिर्वै मनः प्रजापतिष्ठ्वाश्नुताम्" इति [श० ४ । १ । १ । २२] (सुभव) हे प्रशंसितजन्मन्! (सूर्याय) सूर्यरूप प्रजापतिकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको आहुत करताहूं (स्वाहा) यह आहुति सुन्दररूपसे गृहीत हो १ । दूसरे पक्षमें देवजन्ममें स्थित और पार्थिव मनुष्यजन्ममें स्थित सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अर्थ तुझे ग्रहण करताहूं मन उन इन्द्रियोंका अधीश्वर तुझको प्राप्त हो (सुभव) हे प्राणरूप उपांशुग्रह ! वही प्राणरूप सूर्यके निमित्त तुमको हुत करताहूं प्रमाण

"आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीत" इस आथर्वणिक श्रुतिसे सूर्यको बाहिःप्राण कहा, स्वांकृत शब्दसे प्राणरूप ग्रहका स्वाधीनत्व दिव्य और पार्थिव शब्दसे दो जन्म कहे हैं इसमें प्रमाण "स्वांकृतोऽसीत्याह प्र णमेव समकृत विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधाति" इति[तैत्तिरीयश्रुतिः]१ । विधि-(२) पश्चिमविभागीय परिधिके ऊपर सोमलिप्तहस्त अपने सामने ऊंचे करके उसके ऊपर यह पात्र रक्षाकर इस दूसरे मंत्रसे मार्जन करै [का० ९ । ४ । ३८] मन्त्रार्थ-हे लेपपात्र ! (मरीचिपेभ्यः) मरीचिपालक (देवेभ्यः) देवगणकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको वा परिधिको मार्जन करताहूं । विधि-(३) अभिचारकर्म मारण मोहनादि करनेवाला पुरुष इस समय वस्त्र, वक्षस्थल, बाहुप्रभृतिमें लगी हुई सम्पूर्ण अंशु [कूटनेसे उडे खण्ड] तीसरे मंत्रसे हवन करै [का० ९ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ-(देव) हे दीप्यमान (अंशो) अंशुदेव ! (यस्मै) जिसके अभिचार मारणादिकी कामनाके निमित्त (त्वा) तुमको (ईडे) प्रार्थना वा साधन वा स्तुति करताहूं (तत्) वह यह अमुक [यहां शत्रुका नाम ले] मेरा शत्रु (सत्यम्) सत्यही (उपरिप्रुता) अकस्मात् प्राप्तहुई (भङ्गेन) महापीडासे (हतः) निहत हुआ (असौ) यह शत्रु (फट्) विशीर्ण होजाय ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे यह उपांशुग्रह यथास्थानमें स्थापन करै [का० ९ । ४ । ४१ ।] मन्त्रार्थ-हे उपांशुग्रह ! प्राणदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ४ । विधि-(५) फिर उपांशुसवन लाकर उत्तराभिमुखकरके पंचम मंत्रसे उपांशुग्रहके सहित संलग्नकर रक्षाकरै [का० ९ । ४ । ४२] मन्त्रार्थ-हे उपांशुसवन ! (व्यानाय) व्यानदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ५ ॥ ३ ॥

विवरण-प्रायः होममात्रमें स्वाहा शब्दका प्रयोग होता है किन्तु अभिचार होममें स्वाहाके स्थानमें फट् शब्द प्रयुक्त होता है फट्-अर्थात् छिन्न भिन्न हो जाओ ॥ ५ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोस्यन्तर्यच्छमघवन्पाहिसोमम् ॥ उरुष्ष्यरायऽएषोयजस्व ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउपयामित्यस्य गोतम ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । अन्तर्यामग्रहग्रहणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) सूर्योदयपर इस कण्डिका अथवा पर कण्डिकाके मंत्रसे उपयाम द्वारा अन्तर्याम नाम दूसरा ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । ६ । १] मंत्रार्थ-हे अन्तर्याम ग्रह'सोमरस' तुम (उपयामगृहीतः) क्षुद्रकलशद्वारा गृहीत (असि) हो (मघवन्) इन्द्र ! तुम इस गृहीत सोमरसको (अन्तः) अन्तर्ग्रहपात्रमें (यच्छ) ग्रहण करो (सोमम्) सोमरसको (पाहि) शत्रु आदिसे रक्षाकरो तथा (रायः) धन अथवा "पशवो रायः" [श० ४।१।२।१५] पशुओंको (उरुष्य) रक्षाकरो (इषः) अन्नोंको (आयजस्व) सब प्रकारसे दो अथवा अन्नसे उत्पन्न होनेसे अन्नलक्षणवाली प्रजा (आयजस्व) यज्ञ करनेवाली करो "प्रजा वा इष" इति श्रुतेः [४ । १ । २ । १५] अर्थात् यही हमारी यज्ञीय सम्पत्ति है इसकी रक्षासे यज्ञरक्षा होगी ॥ ४ ॥

विवरण-जिन सम्पूर्ण पात्रोंमें ग्रहनामक सोमांश समूह गृहीत और रक्षित होते हैं उन सम्पूर्ण क्षुद्र रकलशोंको उपयाम कहते हैं उपांशु नामक प्रथम ग्रहको स्रुवमें ग्रहण करा जाता है उसके निमित्त उपयामकी आवश्यकता नहीं होती । २ इस स्थलमें इन्द्रसे सूर्यका ग्रहण है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ॥ सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघवन्मादयस्व ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्तस्त इत्यस्य गोतम ऋषिः । पंक्तिश्छंदः । मघवा देवता । अन्तर्यामग्रहग्रहणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अन्तर्याम ग्रहका ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे मघवन्!(ते)आपके अनुग्रहसे (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वी (अन्तर्दधामि) अन्तः स्थापन करता हूं अथवा उपयाम पात्रके अन्तः द्यावापृथ्वी स्थापन करता हूं अथवा हे अन्तर्याम ! प्राण रूप अन्नवाले तुम्हारे शरीरके मध्यमें द्यावापृथ्वी स्थापन करता हूं (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अन्तर्दधामि) द्यावापृथिवीके मध्यमें स्थापनकरताहूं हे (मघवन्) इन्द्र ! (अवरैः) पृथ्वीके स्थानवाले (परैः) द्युस्थाननिवासी (देवैः) देवताओंसे (सजूः) समान प्रीतिवाले तुम (अन्तर्यामे) अन्तर्याम ग्रहमें (मादयस्व) अपनेको तृप्तकरो अर्थात मेरी सन्तुष्टताके निमित्त अन्यान्य समस्त आत्मीय देव गणके सहित इस अन्तर्याम लाभमें स्वयं परितृप्त हो और लोकत्रयको परितृप्त करो ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र ३ ।

स्वाङ्कृतोसि विश्वेब्भ्यऽइन्द्रियेब्भ्यो दिव्येब्भ्यः पार्थिवेब्भ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय देवेब्भ्यस्त्वा मरीचिपेब्भ्यऽउदानाय त्वा ॥ ६ ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐस्वाङ्कृतोसीत्यस्य गोतम ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या जगती० । अन्तर्यामो दे० । पात्रमार्जने वि० । (२) ॐदेवेभ्य इत्यस्य गोतम ऋषिः । याजुषी बृहती छं० । देवो दे० । उत्तानपाण्युपमर्शने वि० । (३) ॐउदानायेत्यस्य गोतम ऋ० । दैवी पं० । ग्रहो देवता । सोमाभिषवपाषाणस्योपांशुसवनसंलग्नस्थापने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१-२) इस कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्र एवं प्रदर्शित तीसरी कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्र एकहीरूप हैं इस कारण इसकी व्याख्या ३ कण्डिकामें देखो.१-२ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें पात्र स्थापन करै [का०९ । ६ । ४] मन्त्रार्थ-हे अन्तर्याम ग्रह ! (उदानाय) उदानदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १ ।

आ वायो भूष शुचिपाऽउप नः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ॥ उपो तेऽअन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआवायोभूषेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । वायुर्देव० । ऐन्द्रवायवग्रहार्धग्रहणे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे ऐन्द्रवायवनाम तीसरा ग्रह अर्द्ध ग्रहण करै [का०९ । ६ । ५] मंत्रार्थ-(शुचिपाः) हे अग्नि ! पवित्र पानकारी (वायो) वायुदेव! तुम (नः) हमारे(उप) समीप(आभूष) आक्रमण करके आगमन करो(विश्ववार)हे सर्व व्यापिन् ! (ते) आपके (सहस्रम्) सहस्र सहस्र (नियुतः) वाहनहैं उनके द्वारा शीघ्र हमारे समीप आगमन करो (मद्यम्) तृप्तिका करनेवाला (अन्धः) सोम लक्षण अन्न (ते) तुम्हारे (उप) समीपमें (आयामि) समर्पण करके भिजवाता हूं (देव) हे दीप्यमान वायो ! (यस्य) जिस सोमका (पूर्वपेयम्) प्रथम वषट्कार लक्षणवाला पूर्वपान तुम (दधिषे) धारण किये हो उसीको इस समय तुम्हारे निकट उपस्थित करते हैं ।

हे तृतीय ग्रह सोमरस ! (वायवे) वायुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं [ऋ० ९ । ६ । १४ ॥] ॥ ७ ॥

प्रमाण–"नियुतो वायोः" इत्युक्तेः [निघं० १ । १५ । १०] ॥ ७ ॥

विशेष–प्राचीन टीकाकारोंने वायुका वाहन मृग वर्णन कियाहै शीघ्रगामी होनेसे, देवता महाभाग्यशाली होनेसे वाहनआदि करनेमें समर्थ हैं प्रमाण निरुक्त "महाभाग्यादेकैकस्या बहूनि नामधेयानि भवन्ति" [नि० दै० अ० ७ पा० २] "आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य" [निरु० ७ । १ ।] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र २ ।

इन्द्र॑वायूऽइ॒मे सु॒ताऽउप॒ प्रयो॑भि॒रा ग॑तम् ॥ इन्द॑वो वामु॒शन्ति॒ हि ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोसि वा॒यव॑ऽइन्द्रवा॒युभ्यां॑ त्वै॒ष ते॒ योनिः॑ स॒जोषो॑भ्यां त्वा ॥ ८ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐइन्द्रवायू इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । आर्षी गायत्री० । इन्द्रवायू दे० । ऐंद्रवायवग्रहापरार्धग्रहणे वि० (२) ॐ एषते योनिरित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । यजुश्छं० । इन्द्रवायू दे० । ऐन्द्रवायवग्रहापरार्धग्रहणे वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) आधे ग्रहण कियेहुएको पृथक् रखकर फिर अपरार्धको इस कण्डिकाके मंत्रद्वयसे उपयाममें ग्रहण करे [का० ९ । ६ । ६] मन्त्रार्थ–(इन्द्रवायू) हे इन्द्रवायु ! तुम्हारे निमित्त (इमे) यह सोम (सुताः) अभिषवणकिये हैं (प्रयोभिः) इस सोमरसरूप अन्नपानके निमित्त (उपआगतम्) हमारे समीप आइये अथवा शीघ्रगामी वाहनद्वारा आइये (हि) जिस कारण कि (इन्दवः) यह सोमरस (वाम्) तुम्हारे प्रिय होनेकी (उशन्ति) इच्छा करते हैं, हे तृतीय ग्रह सोमरस ! तुम (वायवे) वायुदेवताके उद्देशसे (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा ग्रहण किये गये (असि) हो (इन्द्रवायुभ्याम्) युगचर इन्द्रवायु देवताके संतोषके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं । विधि–(२) फिर दशापवित्र वस्त्रकी अञ्जलीद्वारा इस उपयामपात्रमें लगे सोमको पोंछकर इस तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें स्थापित करे [का० ९ । ५ । २५] मन्त्रार्थ–हे इन्द्रवायू ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (सजोषोभ्याम्)

युगचर इन्द्रवायु देवताद्वयके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ॥ ८ ॥

प्रमाण-"प्रय इत्यन्ननाम" [निघं० २ । ७ । ६]

विशेष-कोई कहते हैं अन्तरिक्षस्थित वायुके सहचर तेजविशेषहीको इस स्थलमें इन्द्र कहा है इस कारण इस तेजके सहित वर्तमान वायुको इन्द्रवायु कहा इन्हीके अनुग्रहसे सुवृष्टि होती है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र २ ।

अयंवाम्मित्रावरुणासुतः सोमऽऋतावृधा ॥ ममेदिहश्श्रुतꣳहवम् ॥ उपयामगृहीतोसिमित्रावरुणाभ्यान्त्वा ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअयंवामित्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । मित्रावरुणौ दे० । मैत्रावरुणग्रहग्रहणे वि० (२) ॐउपयामेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । आसुरी गायत्री छन्दः । मित्रावरुणौ दे० । मैत्रावरुणग्रहग्रहणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकामें स्थित दो मंत्रसे मैत्रावरुणनामक चौथे ग्रहको उपयाममें ग्रहण करै [का० ९ । ६ । ७] मन्त्रार्थ-(मित्रावरुणा) हे मित्रावरुण ! (ऋतावृधा) हे सत्य वा यज्ञके वृद्धि करनेवाले देवताओ ! (वाम्) तुम्हारी प्रीतिके निमित्त (अयम्) यह सोमरस (सुतः) अभिषवण किया है (इह) इस यज्ञमें (ममेत्) हमारे ही इस (हवम्) आह्वानको (श्रुतम्) श्रवणकरो १ । हे चतुर्थ ग्रह ! सोमरस ! तुम (उपयामगृहीतः) मित्रावरुणसंज्ञक उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुणसंज्ञक देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ ॥ ९ ॥

तत्त्वविचार-पदार्थविद्यावाले इस स्थलमें मित्रावरुणसे अहोरात्रका ग्रहण करते हैं. [ऋ० २ । ८ । ७] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

रायावयꣳससवाꣳसोमदेमहव्येनदेवायवसेनगावः ॥ तान्धेनुम्मित्रावरुणायुवन्नोविश्वाहाधत्तमनपस्फुरन्तीमेषपतेयोनिर्ऋतायुभ्यान्त्वा ॥ १० ॥ [९]

ऋष्यादि-(१) ॐरायावयमित्यस्य त्रसदस्युर्ऋषिः। आर्षी त्रिष्टु०। मित्रावरुणौ दे०। लौकिकेन दुग्धेन मैत्रावरुणग्रहश्राणने वि०। (२) ॐएषत इत्यस्य त्रसद० ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छं०। ग्रहो देवता। पात्रासादने वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) मैत्रावरुणग्रहको ग्रहणकर उसपर कुशाच्छादन करके उसके ऊपर इस प्रथम मंत्रसे दुग्धधारापात करै [का० ९। ६। ८] मन्त्रार्थ-जिस गौके घरमें होनेसे (वयम्) हम (राया) धनसे (ससवाध्सः) सम्पन्न होकर (मदेम) प्रसन्न होते हैं (देवाः) देवगण (हव्येन) हविलाभसे जैसे प्रसन्न होते हैं(गावः)गौ जैसे (यवसेन) घासादिसे प्रसन्न होती हैं (मित्रावरुणा) हे मित्रावरुण देवताओ! (युवम्) तुम (ताम्) उस (अनपस्फुरन्तीम्) दूसरे पुरुषके निकट न जानेवाली (धेनुम्) धेनुको (नः) हमारे निमित्त (विश्वाहा) सर्वदा (धत्तम्) प्रदान करो (एषः) हे ग्रह ! यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (ऋतायुभ्याम्) मित्रावरुण देवता वा सत्य यज्ञद्वारा ब्रह्मकी संतुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं [ऋ० ३। ७। १८।] ॥ १० ॥

प्रमाण-"ब्रह्म वा ऋत ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो बृतं वरुण एवायुः" इति श्रुतेः [श० ४। १। ४। १०] ऋतशब्दसे मित्र, आयु शब्दसे वरुण यह श्रुतिद्वारा सिद्धान्त है पदकारने 'ऋताऽऽयुभ्याम्' ऐसा पद किया है उस अर्थसे ऋत-अर्थात् सत्यकी जो कामना करै सो यज्ञ उसकी इच्छा करनेवाले मित्रावरुणके निमित्त ग्रह स्थापनकरताहूं ॥ १० ॥

भावार्थ-देवता जैसे हविसे, गौ जैसे घाससे प्रसन्न होती हैं, इसी प्रकार बहुत दुग्धवाली गौ पाकर हम प्रसन्न होते हैं, जिसके प्रसादसे यह सम्पूर्ण श्रेष्ठ कार्य करनेमें समर्थ हुआ जाताहै। हे मित्रावरुण ! तुम सदाही हमारी गौकी रक्षा करो जिससे यह कहीं अन्यत्र गमन न करै ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र २।

यावाङ्कशामधुमत्त्यश्श्विनासूनृतावती ॥ तयां यज्ञम्मिमिक्षतम् ॥ उपयामगृहीतोस्यश्श्विभ्यान्त्वैषतेयोनिर्म्माध्वीभ्यान्त्वा ॥ ११ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१)ॐयावामित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। भुरिगार्षी गायत्री छं०। अश्विनौ दे०। आश्विनग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐउपयामेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। याजुषी त्रिष्टुप्छं०। ग्रहो देवता। पात्रासादने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१-२) द्रोणकलशद्वारा आश्विननामक पंचम ग्रहका ग्रहणकरे [का० ९ । ७ । ८ ।] मंत्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमार ! हय (वाम्) तुम्हारी (या) जो (कशा) प्रकाशकरनेवाले वाणी (मधुमती) ब्रह्मवती ब्राह्मण उपनिषद् प्रशंसासे युक्त (सूनृतावती) प्रिय और सत्यतासे युक्त है (तया) उस वाणीसे (यज्ञम्) इस यज्ञको (मिमिक्षतम्) सींचकर पूर्ण करो । हे पंचमग्रह ! तुम अश्विनीदेवताकी प्रीतिके निमित्त इस (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें ग्रहण किये हुए (असि) हो । हे अश्विग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (माध्वीभ्याम्) मधुमय मंत्रब्राह्मण पढनेवाले अश्विनीकुमारके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ ११ ॥

प्रमाण-"दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच" इति [श० ४ । १ । ५ । १९] श्रुतेः । "कशेति वाङ्नामसु पठितम्" [निघं० १ । ११ । ४३ ।] पदार्थविद्यावाले अश्विनीशब्दसे अण्डकटाहका ऊपर नीचेका भाग कहते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र ६ ।

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतातिम्बर्हिषदंꣳ स्वर्विदम् ॥ प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्द्धसे ॥ उपयामगृहीतोसि शण्डाय त्वैष ते योनिर्वीरतां पाह्यपमृष्टः शण्डो देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्त्वनाधृष्टासि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतमित्यस्यावत्सार ऋ० । निचृदार्षी जगती छं० । विश्वेदेवा दे० । शुक्रग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐउपयामेत्यस्यावत्सार ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्यावत्सार ऋ० । यजुश्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्वस्थाने ग्रहस्थापने वि० । (४) ॐअपमृष्ट इत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । आभिचारिकं दैवतम् । मार्जने वि० । (५) ॐदेवास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । शुक्रपा दे० । हविर्धानमण्डपान्निष्क्रमणे

---

१ दिशा सब प्राणियोंमें मधु हैं सब प्राणी इन दिशाओंके मधु हैं इनमें जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है वही यह ब्रह्म है वही आत्मा है ।

वि० । (६) ॐअनाधृष्टासीत्यस्यावत्सार ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वेदिश्रोणी देवते । वेदेर्दक्षिणोत्तरयोः शुक्र-मन्थीग्रहयोरासादने वि०॥ १२ ॥
विधि-(१-२)प्रथम और दूसरे मंत्रसे शुक्रनामक छठे ग्रहको ग्रहण करे इस ग्रहका उपयाम (पात्र) वेल वा विकंकत (शमी) काठका होता है [का० ९ ।६ ।१०]
मन्त्रार्थ-हे इन्द्र ! तुम (यासु) जिन यज्ञ क्रियाओंमें पुनः पुनः सोमरस पान करके (अनुवर्द्धसे) वृद्धिको प्राप्त होते हो तृप्त होते हो (तम्) उस (ज्येष्ठतातिम्) उत्कृष्ट विस्तारवान् सर्वज्येष्ठ (बर्हिषदम्)यज्ञमें कुशासनके सेवी (स्वर्विदम्) स्वर्गवेत्ता (धुनिम्)शत्रुओंके कम्पित करनेवाले (आशुम्) जेतव्यवस्तुओंके शीघ्र (जयन्तम्) जीतनेवाले (वृजनम्) बलपूर्वक यज्ञफलको (दोहसे) यजमानके प्रति देते हो (प्रत्नथाः) समस्तयज्ञके प्राचीन नियमकी समान वा प्राचीन योगी महर्षियोंकी समान (पूर्वथा) पूर्वप्रथाके अनुसार वा पूर्वऋषिसाध्य भृगु आदिकी समान (विश्वथा) सब प्रकार वा सब ऋषिपुत्रादिकी समान (इमथा) इस समयके यजमानकी समान इस यज्ञका फल देते हो (ते) उस आपकी हम स्तुति करते हैं ।

अथवा इसका दूसरा अर्थ-हे इन्द्र ! जो कि तुम (प्रतीचीनम्) हमसे प्रतिकूल गमन करनेवाले (वृजनम्)आलस्य अश्रद्धादिको हमसे (दोहसे)रिक्त अर्थात् विनाश करते हो (यासु)जिन क्रियाओंमें (धुनिम्)आपके अनुग्रहसे शत्रुओंको कम्पित करते (आशुम्) शीघ्रकारी(जयन्तम्) सम्यक् अनुष्ठानसे और यजमानोंसे अधिक इस यजमानके पीछे सोमपान और स्तुतिसे जो तुम (वर्धसे) वृद्धिको प्राप्त होते हो उन क्रियाओंमें सर्वश्रेष्ठ (तम्) उस तुमको हम स्तुति करतेहैं जैसे(प्रत्नथा)पुरातन भृगुआदिने(पूर्वथा)पूर्वपितरादिने(विश्वथा) अतीत यजमानोंने (इमथा) इस समयके यजमानोंने तुम्हारी स्तुति कीहै उसीप्रकार हम करते हैं जो कि तुम(ज्येष्ठतातिम्)सर्वज्येष्ठ(बर्हिषदम्)यज्ञके सन्निधानमें स्थित(स्वर्विदम्)यजमानके देनेयोग्यस्वर्गको जानतेहो

हे षष्ठ ग्रह ! शुक्र (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (शण्डाय) शण्ड नामक जनके निवासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ।

विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यह ग्रह यथानिर्दिष्ट स्थानमें स्थापन करे । मंत्रार्थ-हे शुक्र ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है इस स्थानमें अवस्थान करके यजमानके (वीरताम्) वीरत्वकी (पाहि) रक्षा करो। विधि-(४)चतुर्थमंत्रसे अध्वर्यु इस ग्रहको अपमार्जन करे वह इस प्रकार जैसे कि यूप प्रस्तुत करनेके समय

जो समस्त काष्ठ छीलागया है उसमें कितनी एक छीलन तो यूपप्रोथन और श्वात्रादि कार्य तथा पाकक्रियामें व्यवहार हुईथी शेषमेंसे दो खण्ड अध्वर्यु ग्रहण करके एक खण्ड प्रोक्षित करके इस ग्रहके ऊपर आच्छादन करै और दूसरे अप्रोक्षित खण्ड द्वारा इस ग्रहको अपमार्जन करै मन्थीग्रहभी इसी प्रकार इस मंत्रसे अपमार्जन करना होगा और प्रतिप्रस्थाता यह अपमार्जन करै "अपमार्जनका अर्थ विपरीत मार्जन और स्थानोंमें प्रोक्षित मार्जनीद्वारा मार्जन होता है इसमें अप्रोक्षित मार्जनीके द्वारा होता है [का० ९ । १० । १ । ५।] मन्त्रार्थ-(शण्डः) असुरनेता (अपमृष्टः) अपमार्जित हुआ. ४ । विधि-(५)पांचवें मंत्रसे अध्वर्यु शुक्र ग्रह हाथमें लेकर प्रतिप्रस्थाता मन्थीग्रह हाथमें लेकर हविर्धान मण्डपसे वहिर्गत होकर उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीयके सन्मुख यात्रा करै [का ९ । १० । ६] मंत्रार्थ-(शुक्रपाः) हे ग्रह ! शुक्रनामक ग्रहमें स्थित सोमपान करनेवाले (देवाः) देवता (त्वा) तुमको (प्रीणयन्तु) निरापद आहवनीय स्थानमें प्राप्त करैं ५ । विधि-(६) फिर उत्तरवेदीके समीपमें स्थित होकर छठे मंत्रद्वारा दक्षिण श्रोणीसे अरत्नियोगकरके उसके ऊपर अध्वर्यु शुक्रग्रह एवं उत्तर श्रोणीसे अरत्नियोग करके उसके ऊपर प्रतिप्रस्थाता मन्थीग्रह स्थापन करै [का० ९ । १० । ७] मन्त्रार्थ-हे उत्तरवेदी श्रोणी ! तुम (अनाधृष्टा) अनुपहिंसित (असि) हो अर्थात् तुम्हारे द्वारा इस ग्रहको हानिकी संभावना नहीं है ऋ० [४ । २ । २३] ॥ १२ ॥

प्रमाण-"वृजिनमिति वलनाम" [निघं० २ । ९ । २७] ॥ १२ ॥

विशेष-इस स्थानमें इन्द्रसे शुक्रकाभी ग्रहण करते हैं (ज्येष्ठतातिम्) इससे सर्व ज्येष्ठका अर्थ करते हैं कि सब साधारण ग्रहोंके मध्यमें शुक्रही वडा देखा जाता है ।

शण्ड असुर पुरोहितके नाममें व्यवहार होता है इतिहासपुराणोंमें शुक्रपुत्र: भी लिखा है परन्तु यह एक पदवीसी दैत्योंकी विदित होती है अभिचारमें गृहीत होनेसे असुरवाचक है ।

तत्त्वविचारक शण्ड शब्दसे वृष्टिप्रतिवन्धक सूर्यका कोई तेजविशेष कथन करतेहैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र ४ ।

सुवीरो॑ वीरान्प्र॑ज॒नय॒न्परी॑ह्य॒भि रा॒यस्पोषे॑ण॒ यज॑मानम् ॥ स॒ञ्ज॒ग्मा॒नो दि॒वा पृ॑थि॒व्या शु॒क्रः शु॒क्रशो॑चिषा॒ निर॑स्त॒: शण्ड॑: शु॒क्रस्या॑धि॒ष्ठान॑मसि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-ॐसुवीर इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। साम्नी त्रिष्टुप्०। शुक्रं दैव०। यूपदेशं प्रति गमने वि०। (२) ॐसञ्जग्मान इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। साम्न्यनुष्टुप्०॥ शुक्रं दै०।अरत्निसंधाने वि०। (३) ॐनिरस्त इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। आभिचारिकं दे०। अप्रोक्षितमार्जनीपरित्यागे वि०। (४) ॐशुक्रस्येत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। प्राजापत्या गायत्री च्छं०। शकलं दैवतम्। आहवनीये प्रोक्षितयूपशकलप्रक्षेपणे वि०॥ १३॥

विधि-(१) अध्वर्यु यूपके दक्षिण भागमें गमन करके यह मंत्र पाठ करे [का० ९। १०। ८] मन्त्रार्थ-हे ग्रह! तुम (सुवीरः) सुन्दर वीरतासे युक्त हो इस यजमानके (वीरान्) शूरतासे युक्त पुत्र भृत्यादिको (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुए (रायस्पोषेण) अनेक प्रकारकी धनपुष्टिद्वारा (यजमानम्) यजमानके ऊपर कृपाकर (अभि) सब प्रकारसे (परिहि) प्राप्त करो अर्थात् यहां आओ१।

विधि-(२)फिर अध्वर्यु यूपके पश्चिमभागमें गमन करके दूसरे मंत्रसे अरत्नि संधान करे [का० ९। १०। १०।]मन्त्रार्थ-(शुक्रः) यह शुक्रग्रह (शुक्रशोचिषा) अपनी पवित्र कान्तिके साथ (पृथिव्या) पृथ्वी और (दिवा) द्युलोकसे (संजग्मानः) संगतिको प्राप्त हो दीप्तिमान् हो रहे हो २।

विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु यह अप्रोक्षित मार्जनी परित्याग करे[का० ९। १०। १२] मन्त्रार्थ-(शण्डः) शण्ड नामक असुर (निरस्तः) दूर हुआ ३।

विधि-(४) अध्वर्यु अपने ग्रहपात्रके आच्छादन इस प्रोक्षित यूपकाष्ठखण्डको चौथे मंत्रसे आहवनीयमें प्रदान करे [का० ९। १०। १३] मंत्रार्थ-हे यूपकाष्ठखण्ड! तुम (शुक्रस्य) शुक्रग्रहके (अधिष्ठानम्) अधिष्ठान (असि) हो॥१३॥

विशेष-ग्रहगणोंके सहित पार्थिव जलादिका सम्बन्ध है यह बात पूर्णिमाको समुद्रमें ज्वारभाटा तथा रोगीकी अन्तर्वृद्धि यातना देखकर जान ली जाती है इतनेसे शुक्र ग्रहके सम्बन्धके अनुसारही शरीरमें वीर्यकी न्यूनाधिकता होती है इस कारण वीर्यका नामान्तर शुक्र है। २। कृष्णपक्षमें शुक्रका प्रकाश कितना अधिक होता है यह सब जान्ते हैं॥ १३॥

कण्डिका १४-मंत्र २।

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम॥ सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः॥ १४॥

ऋष्यादि-(१)ॐअच्छिन्नस्येत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ० । प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । जपे वि० । (२) ॐसाप्रथमा इत्यस्यावत्सारः काश्यपः ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । शुक्रग्रह-मन्थीग्रहहवने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रका जप यजमान करै [का०९ । १०।१४] मन्त्रार्थ-(सोमदेव) हे सोम देवता ! (अच्छिन्नस्य) खण्डरहित निरन्तर (सुवीर्यस्य) कल्याण प्रभाववाले वली (ते) आपके प्रसादसे हम (रायः पोषस्य) धनपुष्टिके (ददितारः) देनेवाले (स्याम) हों अर्थात् निरन्तर कुलपरम्परासे दानशील रहैं १ । विधि-(२) अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता यूपको दोनो ओर होकर पश्चिमाभिमुख होकर प्रथम अध्वर्यु इस मन्त्रसे शुक्रग्रह और प्रतिप्रस्थाता अन्य मंत्रसे मन्थीग्रह हवन करें [का० ९ । ११ । १] मन्त्रार्थ-(सा)वह (विश्ववारा) सम्पूर्ण ऋत्विग्जनोंसे वरणीय यह (संस्कृतिः) संस्कारक्रिया जिस कारण कि इन्द्रके निमित्त की जाती है इससे यह (प्रथमा) मुख्य है और जगत् उत्पत्तिका कारण होनेसे सोमका (वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र (सः) वह (अग्निः) अग्निदेवता (प्रथमः) मुख्य भृत्य है अथवा इस क्रियामें वरुणमित्र और अग्निही मुख्य है ॥ १४ ॥

विशेष-[४ अ० २० कं०] में "या देविदेवमच्छेहीन्द्राय सोमम्" इति । इस प्रमाणसे इन्द्रकेही निमित्त यह क्रिया की जाती है इन्द्रभी तेजवान् है शुक्रभी तेजवान् है इस कारण यहां शुक्रहीका अर्थ है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र ३ ।

सप्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहा । तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः सुहुता यत्स्वाहायाडग्नीत् १५ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ सप्रथम इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । विराडार्षी० । इन्द्रो दे० । प्रशास्तृचमसहवने वि० । (२) ॐतृम्पन्त्वित्यस्यावत्सार ऋ० । प्राजापत्या बृहती० । होत्रा दे० । होतृसमीपे प्रत्यङ्मुखोपवेशने वि० । (३) ॐ अयाडित्यस्यावत्सार ऋ० । दैवी बृहती० । लिंगोक्ता दे० । होतुः पश्चादुपसदने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाका प्रथम भाग पूर्वोक्त मंत्रका ही अवशिष्ट है ऐसा

व्यवहृत होताहै । मंत्रार्थ-(सः) वह (चिकित्वान्) अनुपम चेतनावान् (बृहस्पतिः) महाबुद्धिसम्पन्न बृहस्पति (प्रथमः) मुख्यमंत्री है (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्रके उद्देशसे (सुतम्) यह अभिषुत सोमरस आहुत होता है (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार स्वीकृत हो इस प्रकार स्वाहाकार कर (आजुहोत) हवनकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करे [का० ९ । ११ । ९] मंत्रार्थ-(होत्राः) छन्दोंके अभिमानी वे देवता (तृम्पन्तु) तृप्तहों (या) जो (मध्वः) मधु स्वादवाले सोमको (स्विष्टाः) इष्टवाले प्रेम करनेवाले (याः) जो (सुप्रीताः) अत्यन्त प्रसन्न हैं(यत्) जिस कारणसे (स्वाहा) स्वाहाकारद्वारा (सुहुताः) होमके निमित्त नियुक्त हुए हैं अर्थात् होताओंद्वारा स्वाहा उच्चारणपूर्वक जो सोम आहुत हुआ है उसके पानसे इष्ट देवता प्रसन्न हुए, और सुहुत जान परितृप्त हुए २। विधि-(३)तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु होता को कर्मसमाप्ति जनावै [का० ९ । ११ । १०] मन्त्रार्थ-(अग्निः) शुक्रग्रह होम (अयाट्) सम्पन्न हुआ ३ ॥ १९ ॥

विशेष-यद्यपि बृहस्पतिके अर्थ सूर्यकेभी हैं परन्तु इस स्थलमें बृहस्पति ग्रहकाही अर्थ विदित होता है इन्द्रशब्दसे इसी प्रकार शुक्र ग्रहका ग्रहण है इन दोनों ग्रहोंका परस्पर राजा मंत्रीभाव अलंकारमात्र है, यही गाथा पुराणोंमें अलंकार रीतिसे वर्णन की है ॥ १९ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र २ ।

अयंवेनश्चोदयत्पृश्निगर्भाज्ज्योतिर्जरायूरजसो विमाने ॥ इममपाᳬसङ्गमेसूर्य्यस्यशिशुन्नविप्रा मतिभीरिहन्ति॥उपयामगृहीतोसिमर्कायत्वा ॥१६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयंवेन इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं । सामो दे० । मन्थीग्रहग्रहणे वि० (२) ॐउपयामेत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । सोमो देवता । मन्थीग्रहग्रहणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१-२) इस कण्डिकाके दो मन्त्रोंसे मन्थीनामक ग्रह ग्रहण करे [का० ९ । ६ । १२] मंत्रार्थ-(अयम्) यह (ज्योतिर्जरायुः) विद्युत्लक्षणवाली ज्योतिसे वेष्टित (वेनः) अनुपमकान्तिमान् चन्द्र (रजसः) जलके निर्माण करनेमें अर्थात् ग्रीष्मान्तमें (पृश्निगर्भाः) जलोंको अर्थात् द्युलोक और सूर्य में

स्थित जलोंको (अचोदयत् (प्रेरणकरता अर्थात् बरसाताहै) (विप्राः) बुद्धिमान् ब्राह्मण (सूर्यस्य) सूर्यके (अपाᳪसंगमे) जलकी संगति समयमें (इमम्) इस सोमको (शिशुंन) प्रियपुत्र वा बालककी समान (मतिभिः) बुद्धिपूर्वक वाणियोंसे (रिहन्ति) स्तुति करते हैं अथवा अनुपमकान्तिमान् चन्द्रदेवता जलवर्षण करनेको उद्यत होतेहैं तब पृश्निगर्भ और ज्योतिर्जराय वृष्टि प्रेरण करते हैं मेधावी ब्राह्मण उदक संगम विषयमें इसको सूर्यका प्रियपुत्र जानकर स्तुति करते हैं ।

हे सप्तम ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा ग्रहण किये गये (असि) हो (मर्काय) मर्क असुरके निमित्त(त्वा) तुमको स्थापन करताहूं॥१६॥

प्रमाण-"वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः" इति यास्कः [निरु०१० । ३८] "रिहतिरर्चनकर्मसु पठितः" [निघं० ३ । १४ । ११] [ऋ०८ । ७ । ७ ।]

विशेष- पृश्निशब्दसे सूर्य और द्युलोक सम्पूर्ण पार्थिव रस सूर्यकी किरणासे आकृष्ट होकर द्युलोकमें मेघरूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है, समयपर वृष्टि होती है इस कारण इस स्थलमें गर्भका पिता सूर्य और माता द्युलोक है । बिजलीकोही इस स्थलमें 'जरायुः' गर्भवेष्टन करनेवाला कहा है। इस वर्षाका निदान सूर्यही है परन्तु चन्द्रमाकी भी सहायता है यह आशय प्रगट है । शुक्रपुत्र मर्क भी दैत्य पुरोहितका नाम है प्रह्लादकी कथामें शण्डामर्कका वर्णन है यह इतिहासवेत्ताओंका मत है । परन्तु पदार्थके विचारसे मर्क नाम वृष्टिकी प्रतिबधक चन्द्रज्योति है॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र ४ ।

मनोन येषुहवनेषुतिग्मंविपुःशच्च्यावनुथोद्रवन्ता॥ आयःशर्य्याभिस्तुविनृम्णोऽअस्याश्श्रीणीतादिशङ्गभस्तावेषतेयोनिःप्रजाःपाह्यपमृष्टो मर्कोदेवास्त्वामन्थिपाःप्रणयन्त्वनाधृष्टासि १७

ऋष्यादि-(१) ॐ मनोनयेष्वित्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । सोमो दे० । सक्तुभिः सह मन्थीग्रहसंमिश्रणे वि० । (२) ॐएषते इत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी बृहती छं० । ग्रहो दे० । अपमार्जने वि० (३) ॐ देवास्त्वेत्यस्यावत्सार ऋ० । याजुषी पंक्ति० । मन्थी दैवतम् । हविर्धानान्निष्क्रमणे वि० । (४) ॐ अनाधृष्टासीत्यस्य याजुषी गायत्री० । अभिचारे दे० । मन्थ्यासादने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) गृहीत मन्थी ग्रहको इस प्रथम मंत्रसे सक्तू (जोके सत्तू) ओंसे मिश्रित करै [का० ९ । ६ । १३] मन्त्रार्थ-(द्रवन्ताः) लघुहस्त क्षिप्रकारी (विपः) बुद्धिमान् [अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता] (शच्या) कर्मद्वारा (मनोनयेषु) मनके उत्साहपूर्वक (हवनेषु) जिन सोमरसके हवनोंमें (तिग्मम्) मनकी समान तीक्ष्ण उत्साहसे विशेष (वनुथः) मन लगाये रहे हैं वा व्याप्त रहे हैं (यः)जो (तुविनृम्णः) वहुत धन वा महादक्षिणावाला 'अध्वर्यु' ऋत्विक् (गभस्तौ) हाथोंमें स्थित (अस्य) इसको (शर्याभिः) अंगुली समूह द्वारा(आदिशम्) सबओरसे(अश्रीणीत) सक्तुओंसे मिश्रित करता है १। विधि (२) दूसरे मंत्रसे ग्रह यथास्थानमें स्थापित करै। मन्त्रार्थ-हे मन्थिग्रह! (ते) तेरा (एषः) यह (योनिः) स्थान है इस स्थानमें स्थित करते यजमानकी (प्रजाः) प्रजाकी (पाहि) रक्षा करो २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता इस ग्रहको १२ कंडिकाके ४ मंत्रवत् अपमार्जन करै [का० ९ । १० । ९] मंत्रार्थ-(मर्कः) मर्क असुर (अपमृष्टः) अपमार्जित हुआ ३। विधि-(४-५) चौथे और पांचवें मंत्रसे१२कण्डि०९मंत्रकी समान हविर्धानसे वाहर हो [का० ९ । १० । ६] मंत्रार्थ-हे मन्थीग्रह! (मन्थिपाः देवाः) मन्थिग्रहके पान करनेवाले देवता (त्वा) तुझको (प्रणयन्तु) यज्ञस्थानमें प्राप्त करैं, हे वेदिश्रोणी! (अनाधृष्टा) अनुपहिंसित (असि)हो ॥१७॥

प्रमाण-"शचीति कर्मनाम" [निघं० २ । १] "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मण इति यास्कः" [निरु० १० । ६] "शर्याभिः अंगुलीभिः" [निघं० २ । ५ । ५] "तुवीति वहुनाम" [नि० ३ । १ । २] "नृम्णमिति धननाम" [निघं० २ । १० । २० ।] [ऋ० ८ । १ । ३६] ॥ १७ ॥

विशेष-प्रतिप्रस्थाताकी अपेक्षासे अध्वर्युकी दक्षिणा अधिक होती है, इसीकारण इस स्थलमें अध्वर्युको वहुधन कहा है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १।

सुप्प्रजाः प्प्रजाः प्प्रजनयन्न्परीह्यभि रायस्प्पोषेण यजमानम् ॥ सुञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्न्थी मन्न्थिशोचिषा निरस्तो मर्क्को मन्न्थिनोधिष्ठानमसि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुप्रजाः प्रजा इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः। साम्न्यनुष्टुप्छं०। मन्थी दैवतम्। यूपदेशं प्रति गमने वि०। (२) ॐ सञ्जग्मान इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। साम्न्यनुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता दे०।

अरत्निसंधाने वि०। (३) ॐ निरस्त इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। अभिचारिकं दैवतम् । अप्रोक्षितयूपशकलनिरसने वि० । (४) ॐ मन्थिन इत्यस्यावत्सारः काश्यप ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छं० । शकलं दैवतम् । आहवनीये प्रोक्षितयूपशकलप्रक्षेपणे वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता यूपके उत्तर भागमें गमन करते यह मंत्र पाठ करै [का० । ९ । १० । ९] मंत्रार्थ-हे ग्रह ! (सुप्रजाः) तुम सुप्रजा हो यजमान-सम्बन्धिनी (प्रजाः) प्रजाको (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुए (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिके साथ (यजमानम्) यजमानके (अभि) सन्मुख (परीहि) आगमन कीजिये १ । विधि-(२) अनन्तर प्रतिप्रस्थाता यूपके अपर भाग [पश्चात्] में गमन करके दूसरे मंत्रसे अरत्नि सन्धान करै [का०९।१०। १०] मं०-(मन्थी) यह मन्थीनाम ग्रह (मन्थिशोचिषा) अपनी दीप्तिसे (दिवा) द्युलोक (पृथिव्या) और भूलोकके सहित (सङ्गच्छमानः) संगतिको प्राप्त होकर यूपकी पालना करता है २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता यह अप्रोक्षित मार्जनी त्याग करै [का० ९ । १० । ११] मन्त्रार्थ-(मर्कः) मर्क (निरस्तः) निरस्त हुआ दूर हुआ । विधि-(४) प्रतिप्रस्थाता अपने ग्रह पात्रके आच्छादक इस प्रोक्षित यूपकाष्ठको चौथे मंत्रसे आहवनीयमें प्रदान करै [का० ९ । १० । १२] मन्त्रार्थ-हे यूपकाष्ठखण्ड ! तुम (मन्थिनः) मन्थीग्रहके (अधिष्ठानम्) अधिकरण (असि) हो. ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

येदेवासोदिव्येकादशस्थपृथिव्यामध्येकादश स्थ ॥ अप्सुक्षितोमहिनैकादशस्थतेदेवा सोयज्ञमिमञ्जुषध्वम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येदेवास इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवताः । आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका और वीसवीं कण्डिकाका पाठ करके दोनों धाराओंसे झरतेहुए आग्रयणनामक अष्टमग्रहको ग्रहण करै [का० ९ । ६ । १४] मंत्रार्थ-(देवासः) हे देवताओ ! (ये) जो तुम (महिना) अपनी महिमाके प्रभावसे (दिवि) द्युलोकमें (एकादश) ग्यारह (स्थ) हो तथा महाभाग्यवानस (पृथिव्याम्) पृथिवीके (अधि) ऊपर (एकादश स्थ) ग्यारह हो (अप्सु-

क्षितः) अन्तरिक्षमेंभी (एकादशस्थ) ग्यारहस्थित हो (देवासः) हे देवताओ ! (ते) उपरोक्त तीन प्रकारके तुम (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको वा यजनीय आग्रयण ग्रहको (जुषध्वम्) सेवन करो ॥ १९ ॥

विशेष—"ग्यारहसे रुद्रका बोध होताहै" [ऋ० २ । २ । ४] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसिस्वाग्रयणः ॥ पाहियज्ञम्पाहियज्ञपतिंविष्णुस्त्वामिन्द्रियेणपातुविष्णुन्त्वम्पाह्यभिसवनानिपाहि ॥ २० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐउपयामेत्यस्य परुच्छेप ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । आग्रयणो देव० । आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ २० ॥

विधि—(१) आग्रयणग्रहग्रहणमें विनियोग है । मंत्रार्थ—हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (आग्रयणः) आग्रयण नामवाले (स्वाग्रयणः) श्रेष्ठताके प्राप्त करानेवाले (असि) हो (यज्ञम्) इस यज्ञकी (पाहि) रक्षा करो (यज्ञपतिम्) यज्ञपति यजमानकी (पाहि) रक्षा करो (विष्णुः) यज्ञके अधिपति विष्णुदेव (इन्द्रियेण) अपनी सामर्थ्यसे (त्वाम्) तुझको (पातु) रक्षा करै (त्वम्) तूभी (विष्णुम्) यज्ञदेवको (पाहि) रक्षा कर (सवनानि) प्रातरादि तीनसवनको (अभि) सब ओरसे (पाहि) रक्षा कर ॥ २० ॥

कण्डिका २१—मन्त्र ३ ।

सोमःपवतेसोमःपवतेऽस्मैब्रह्मणेऽस्मैक्षत्रायास्मैसुन्वतेयजमानायपवतऽइषऽऊर्जेपवतेऽद्भ्यऽओषधीभ्यःपवतेद्यावापृथिवीभ्याम्पवतेसुभतायपवतेविश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यऽएषतेयोनिर्विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः ॥ २१ ॥ [३]

ऋष्यादि—(१) ॐसोम इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी पंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा देवता । हिंकारपूर्वकं त्रिर्जपे वि० । (२) ॐविश्वेभ्य इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । दैवी जगती छं० । ग्रहो दे० । सकृज्जपे वि० । (३) ॐएषत इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । याजुषी जगती छं० । यथास्थाने पात्रासादने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) अनन्तर तीनवार (हिम्) शब्द उच्चारण कर यह मंत्र पाठ करै [का० ९ । ६ । १९] मन्त्रार्थ-(सोमः) यह सोम (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) ब्राह्मण जातिकी प्रीतिके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है (सोमः) सोम (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्र जातिकी तुष्टिके निमित्त (पवते) ग्रह पात्रमें क्षरित होता है (अस्मै) इस (सुन्वते) सोमाभिषव करनेवाले (यजमानाय) यजमानके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है (इषे) अन्नकी वृद्धिके निमित्त (ऊर्ज्जे) क्षीरादि रसके निमित्त (पवते) ग्रहपात्रमें क्षरित होता है(अद्भ्यः) अच्छी वर्षाके निमित्त (ओषधीभ्यः) ओषधियोंसे अर्थात् व्रीहिधान्य आदिकी वृद्धिके निमित्त (पवते) क्षरित होता है (द्यावापृथिवीभ्याम्) दोनों लोककी सन्तुष्टताके निमित्त (पवते) क्षरित होता है (सुभूताय) लोकत्रय और समस्त चराचरकी सन्तुष्टताके निमित्त (पवते) क्षरित होता है समस्तकेही आनन्दके निमित्त यह सोमग्रह पात्रमें क्षरित होता है १ । विधि-(२) वैश्वदेवग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे आग्रयण ग्रह ! (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं । विधि-(३) अगले मंत्रसे यथास्थानमें पात्र स्थापन करै । मन्त्रार्थ-हे ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे स्थापन करता हूं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र ३ ।

उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि ॥ यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि मित्रावरुणाभ्यां त्वा २२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य परुच्छेप ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्य परुच्छेप ऋ० दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रे त्रेधाविभक्तसोमासादने वि० । (३) ॐ देवेभ्य इत्यस्य परुच्छेप ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रे त्रेधाविभक्तोक्थसोमग्रहणे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उक्थनाम नवम ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । ६ । २०] मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रद्वारा गृहीत (असि) हो

हे उक्थग्रह ! (उक्थाव्यम्) मित्रावरुण ब्राह्मणाच्छंसि वा उक्थके साहित्य देवताओंका तृप्तिकारक जानकर (त्वा) तुमको (बृहद्वते) बृहत्साम [सामवेदका आ० गा० १ । २ । १२] मंत्रके प्रिय (वयस्वते) सोमरूप [चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय] अन्नवाले अथवा युवावस्थायुक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (इन्द्र) हे परम भाग्यवान् इन्द्र ! (यत्) जो (ते) तुम्हारा (बृहत्) महान् (वयः) सोमरूप अन्न है (तस्मै) उसके पानके निमित्त (त्वा) तुम्हारी प्रार्थना करते हैं [फिर सोमके प्रति] हे सोम ! (विष्णवे) यज्ञके अधिष्ठात्री देवता विष्णुकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं १ । **विधि**–(२) अगले मंत्रसे आसादन करै । **मंत्रार्थ**–हे उक्थग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (उक्थेभ्यः) उक्थप्रियदेवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ ॥ **विधि**–(३) प्रतिप्रस्थाता उक्थ स्थालीमें स्थित सोमके तीन अंशकरके इस तीसरे मंत्रसे एकही समय अथवा अग्रिम कण्डिकाके मंत्रसे भिन्न २ रूप अंशसे मित्रावरुण, इन्द्र और इन्द्राग्नि इन तीन देवतोंके निमित्त ग्रहण करै [का० ९ । १४ । ८] **मंत्रार्थ**–हे सोम ! (देवाव्यम्) मित्रावरुणादिदेवताओंके प्रीतिकारक जानकर (देवेभ्यः) देवताओंकी संतुष्टिके अर्थ (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं तथा (यज्ञस्य) यज्ञकी समाप्तिके (आयुष) फलपर्यन्त अथवा यजमानकी "आयुषे" आयु प्राप्तिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं ।

विशेष–गीतिशून्य मंत्रको शस्त्र कहते हैं उसीको उक्थ कहतेहैं इन्ही गृह्यमाण ग्रहोंके तीन अंश करके प्रशास्ता वा मैत्रावरुण ब्राह्मणशंसी और अच्छावाक यह तीनों ऋत्विक् मंत्रपाठपूर्वक मित्रावरुणादि देवत्रयको भाग देते हैं इस कारण यह उक्थ देवताओंकी तृप्ति करनेवाला है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मन्त्र ६ ।

**मि॒त्रावरु॑णाभ्यान्त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णा
मीन्द्रा॑य त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒ग्नि
भ्यां॑न्त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रावरु॑णा
भ्यान्त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒बृह॒स्प
तिभ्यान्त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णामीन्द्रा॒वि
ष्णु॒भ्यान्त्वा देवा॒व्यं॑ यज्ञस्यायु॑षे गृह्णामि २३ [२]**

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्रावरुणाभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋषिः।आर्षी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । उक्थपात्रउक्थसोमतृतीयांशासादने वि० । (२)ॐ इन्द्रायेत्यस्य परुच्छेप ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे०। उक्थपात्रे उक्थसोमद्वितीयतृतीयांशग्रहणे वि० । (३) ॐ इन्द्राग्निभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । उक्थपात्रे उक्थसोमतृतीयतृतीयांशग्रहणे वि० । (४) ॐ इन्द्रावरुणाभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋ०। आर्षी गायत्री छं० । उक्थग्रहणे वि० । (५) ॐ इन्द्राबृहस्पतिभ्यामित्यस्य परुच्छेप ऋ० । निच्यृत्प्राजापत्या बृहती छं० । उक्थसोमद्विग्रहणे वि० । (६) ॐ इन्द्राविष्णुभ्यामित्यस्य परुच्छे० ऋ० । भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्छंदः । लिङ्गोक्ता देवता । उक्थसोमविग्रहणे वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु पहले किये तीन अंशोंमेंसे एक अंश ग्रहणकर प्रथम प्रशास्ताके समीप समर्पण करै [का० ९ । १४ । ९ ।] मंत्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तथा (यज्ञस्य) यज्ञकी (आयुषे) निर्विघ्नसमाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ अंशको ग्रहण करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रमे दूसरा अंश ब्राह्मणाच्छंसी के समीपमें समर्पण करै [का० ९ । ४ । १९] मन्त्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंकी तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (यज्ञस्य आयुषे) यज्ञसमाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहू २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे तीसरा अंश अच्छावाकके समीप समर्पण करै । मंत्रार्थ-(देवाव्यम्) देवसमूहोंका तृप्तिकारक जान (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्र अग्नि देवताके निमित्त तथा (यज्ञस्यायुषे) यज्ञकी समाप्ति वा वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं ३ । विधि-(४-५-६) उक्थादि सोमसंस्थासे तीसरे सवनमें पूर्वमें कहे तीन मंत्रोंके परिवर्तनमें यह चौथा पांचवां और छठा मंत्र व्यवहार किया जायगा उक्थ ग्रहण मत्र [का० १० । ७ । ११] मन्त्रार्थ-(देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर(इन्द्रावरुणाभ्याम्)इन्द्रवरुण देवताकी प्रीतिके निमित्त तथा(यज्ञस्य आयुषे) यज्ञकी निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ प्रथम अंशको ग्रहण करताहूं । (देवाव्यम्) देवगणोंका तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्) इन्द्र और बृहस्पति देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहू (यज्ञस्य) यज्ञकी (आयुषे) निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं ५ । (देवाव्यम्) देवताओंका तृप्तिकारक जानकर (इन्द्राविष्णुभ्याम्) इन्द्र और विष्णु देवताकी

प्रीतिके निमित्त (यज्ञस्य) यज्ञके (आयुषे) निर्विघ्न समाप्तिके निमित्त (त्वा) तुझ तीसरे अंशको ग्रहण करताहूं ६ ॥ २३ ॥

विशेष—सप्त सोमसंस्था होती है अर्थात् सोमयाग सात प्रकारका होता है अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय, और आप्तोर्याम, इनमें अग्निष्टोमही सर्व प्रधान है औरोंमें किसी २ स्थलमें कुछ २ भिन्नता प्रतीत होती है इस कारण अग्निष्टोम प्रकृतियाग और एवं दूसरे दोको विकृति यज्ञ कहते हैं इस स्थलमें उक्थादि कहकर पांच प्रकारके सोमयागका ग्रहण है ॥२३ ॥

कण्डिका २४—मन्त्र १ ।

मूर्द्धानन्दिवोऽअरतिम्पृथिव्यावैश्वानरमृतऽआजातमग्निम् ॥ कविꣳ सम्म्राजमतिथिञ्जनानामासन्नापात्रञ्जनयन्तदेवाः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ मूर्द्धानमित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । वैश्वानरो देव० । वैश्वानरग्रहग्रहणे वि० ॥ २४ ॥

विधि—(२) ध्रुवनामक दशम ग्रह ग्रहण करे [का० ९ । ६ । २१] मन्त्रार्थ—(देवाः) देवगण (दिवः) द्युलोकके (मूर्द्धानम्) मस्तकस्वरूप सूर्य रूपसे प्रकाशित (पृथिव्याः) पृथ्वीके अथवा अन्तरिक्ष "पृथिवीत्यन्तरिक्षनाम" [निघं० १ । ३ । ३] के (अरतिम्) सीमा वा पूरकस्वरूप [पृथिवीमें दाह प्रकाश पाक प्रकाश करकेभी रति न करते हुए आकाशमें यथाकालमें वर्षाकर प्राणियोंको पोषण करतेहैं] (वैश्वानरम्) जाठराग्नि रूपसे समस्त नरलोकके हितकारी (ऋते) यज्ञ वा सत्यमें (आजातम्) अरणीद्वयसे उत्पन्न अविचल तथा दीप्तिमान् (कविम्) क्रान्तदर्शी भक्तोंके सन्मुख होनेवाले (सम्राजम्) नक्षत्रमण्डलीमें सम्राट् वा सम्यक् दीप्तिमान् ऐश्वर्यसे युक्त (जनानाम्) यजमानादि समस्त जनोंके (अतिथिम्) अतिथिवत् हविसे आदरणीय (अग्निम्) इस ब्रह्माग्निको (आपात्रम्) मुख्य पात्र चमस करके (अजनयन्त) प्रगट करते हुए ॥ २४ ॥

प्रमाण—"चमसेन ह वा एतेन भूतेन देवा भक्षयन्ति" इति श्रुतेः [श० १ । ४ । २ । १४] देवतोंका पानपात्र चमस कहाताहै यही उनका प्रिय है इस मंत्रसे ब्रह्मज्ञानका सम्बन्धभी है सर्वत्र उसका ध्यान करनेसे नियमादिके सेवनसे बुद्धि प्रगट होतीहै [ऋ० ४ । ५ । ९] ॥ २४ ॥

कण्डिका—२५ मंत्र ४ ।

उपयामगृहीतोसि ध्रुवोसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणान्ध्रुवतमोच्युतानामच्युतक्षित्तमऽएषतेयोनिर्वैश्वानराय

यंत्वा ॥ ध्रुवन्ध्रुवेणमनसाव्वाचासोममवनयामि ॥ अथानऽइन्द्रऽइद्विशोसपत्नाःसमनसस्करत् ॥ २५ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐउपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। ध्रुवो देव० । ध्रुवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । ध्रुवासादने वि० । (३) ॐध्रुवमित्यस्य भरद्वाज ऋ० । निच्यृत्साम्नी बृह० । होतृचमसे सोमसिंचने वि० । (४) ॐ अथान इत्यस्य भरद्वा० ऋ० निच्यृदार्षीगायत्री छं० । इन्द्रो देवता । प्रार्थने वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१) ध्रुवग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ध्रुवक्षितः) स्थिर निवासवाले (ध्रुवाणाम्) समस्त गृह नक्षत्र मण्डलकी अपेक्षा (ध्रुवतमः) अत्यन्त अचल तथा (अच्युतानाम्) च्युतिरहितोंके मध्यमें भी (अच्युतक्षित्तमः) अत्यन्त अच्युत वा च्युतिरहित पात्रमें निवास करनेवाले (ध्रुवः) ध्रुवनामसे प्रसिद्ध (असि) हो ध्रुवदेवके प्रीतिके निमित्त ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आसादन करै । मन्त्रार्थ-हे ध्रुवग्रह ! (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) स्थान है (वैश्वानराय) समस्त नरलोकके हितकारी देवके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे ध्रुवपात्रमें स्थित समस्त सोम होतृचमसमें सिंचन करै । मंत्रार्थ-(ध्रुवेण) स्थिर (मनसा) मन और (वाचा) वाणसे (ध्रुवम्) इस ध्रुवग्रहमें स्थित (सोमम्) सोमको (अवनयामि) होतृचमस पात्रान्तरमें सिंचन करताहूं ३ । विधि-(४) इन्द्रकी प्रार्थना करै । मंत्रार्थ-(अथआ) इसके अनन्तर (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (इत्) ही (नः) हमारी (विशः) प्रजाको (असपत्नाः) शत्रुशून्य (समनसः) स्थिरप्रतिज्ञ वा सुन्दर मनवाली (करत्) करै ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र २ ।

यस्तेद्द्रप्सस्कन्दतियस्तेऽअᳬशुर्ग्रावच्युतोधिषणयोरुपस्थात् ॥ अद्ध्वर्य्योर्व्वापरिवायःपवित्रात्तन्तेजुहोमिमनसाव्वषट्कृतᳬस्वाहादेवानामुत्क्रमणमसि ॥ २६ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । आज्यहोमे वि० । (२) ॐ देवानामित्यस्य आसुरी जगती छं० । चत्वालो देवता । चत्वाले तृणप्रक्षेपणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) सोमाभिषवके समय और ग्रहपात्रमें ग्रहण करते समय अवश्यही सोमका अंश भूमिमें पतित होताहै इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठकर घृतका होम कर यह प्रत्यवाय दूर करे [का० ९ । ६ । २८] मंत्रार्थ-हे सोम ! (ते) तुम्हारा (यः) जो (द्रप्सः) किंचित् रस (स्कन्दति) पात्रमें करते समय भूमिमें पतित होताहै (यः) और जो (ते) तुम्हारा (अंशुः) खण्ड (ग्रावच्युतः) अभिषवकालमें पत्थर द्वारा कण्डन करते करते ग्रावच्युत होकर इधर उधर उडताहै और जो तुम्हारा अंश रस (धिषणयोः) अधिषवण फलकके (उपस्थात्) मध्यसे गिरता है (वा) या (अध्वर्योः) अध्वर्युके व्यवहार समयमें जो कुछ नष्ट हुआहै (वा यः) या जो (पवित्रात्) पवित्रासे सकलरसबिन्दु (परि) भूमिमें पतित हुई हैं हे सोम ! (तम्) तुम्हारे यह सब अंश (मनसा) मनसे ग्रहण कर (वषट्कृतम्) वषट्कारपूर्वक (स्वाहा) स्वाहाकारपूर्वक (जुहोमि) आहुतिप्रदान करताहूं १ विधि-(२) अध्वर्युने वेदीके सहित जो दो तृण ग्रहण किये हैं उसमेंसे एक इस दूसरे मंत्रसे चत्वालमें डाले [का० ९ । ६ । ३२] मंत्रार्थ-हे चत्वाल ! तुम (देवानाम्) देवताओंके (उत्क्रमणम्) स्वर्गगमनके उत्क्रमण [सोपान] हो. "अतोहि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्" इति श्रुतेः [श० ४ । २ । ५।९] [ऋ० ७ । ६ । २९] २ ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र ७।

प्राणायँ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व व्यानायँ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वोदानायँ मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम् ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राणायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । ग्रहावेक्षणे वि० । (२) ॐ व्यानायेत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० ग्रहावेक्षणे वि० । (३) ॐ उदानायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे

वि० । (४) ॐ वाचेम इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (५) ॐ क्रतूदक्षाभ्यामित्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुरी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । ग्रहावेक्षणे वि० । (६) ॐ श्रोत्रायेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (७) ॐ चक्षुर्भ्यामित्यस्य देवश्रवा ऋषिः। आसुर्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६-७) अनन्तर यजमान सब गृहीत ग्रहोंको यथा क्रमसे एक एकको अवकाश मंत्रसे निरीक्षण करै[इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके मंत्र अवकाश कहलाते हैं][का०९।७।९।] मंत्रार्थ-यह ग्रह,यज्ञके प्राण हैं. इस कारण प्राणरूपसे स्तुतिकरते हैं-हे उपांशु ग्रह ! जिस कारणसे कि तुम स्वभावसे (वर्चोदाः) तेजके देनेवाले हो इस कारण (मे) मेरे (प्राणाय) हृदयमें स्थित प्राणवायुमें (वर्चसे) तेज बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो १ । हे उपांशु ! सवन ! तुम स्वभावसेही (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरे (व्यानाय) व्यानवायुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो२ । हे अन्तर्याम ग्रह ! जिस कारणसे कि तुम (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरी (उदानाय) उदानवायुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ३ । हे इन्द्रवायव ग्रह ! तुम स्वभावसे ही (वर्चोदाः) कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (वाचे) वाक्यसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ४ । हे मैत्रावरुण ग्रह ! तुम स्वभावसे (वर्चोदाः) कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरे (क्रतूदक्षाभ्याम्) कामना और समृद्धि तथा कार्य और निपुणता सम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति बढानेके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ५ । हे आश्विन ग्रह ! तुम स्वभावसेही (वर्चोदाः) कान्तिदेनेवाले हो (मे) मेरे (श्रोत्राय) श्रोत्रेन्द्रियकी (वर्चसे) कान्तिदानके निमित्त (पवस्व) प्रवृत्त हो ६ । हे शुक्र ! और मन्थिग्रह ! जिस कारण कि तुम (वर्चोदसौ) स्वभावसेही कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (चक्षुर्भ्याम्) नेत्रसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिबढानेके निमित्त (पवेथाम्) प्रवृत्त हो ७ ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र ४ ।

आ॒त्मने॑ मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्वौज॑से मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्वायु॑षे मे वर्चो॒दा वर्च॑से पवस्व॒ विश्वा॑भ्यो मे प्र॒जाभ्यो॑ वर्चो॒दसौ॒ वर्च॑से पवेथाम् ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आत्मन इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (२) ॐ ओजसेम इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (३) ॐ आयुषेम इत्यस्य देवश्रवा० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० । (४) ॐ विश्वाभ्य इत्यस्य देवश्र० ऋ० । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । ग्रहावेक्षणे वि० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ–हे आग्रयण ग्रह ! (वर्चोदाः) तुम स्वभावसे ही कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (आत्मने) आत्मसम्बन्धी (वर्चसे) कान्ति देनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो १ । हे उक्थग्रह ! (वर्चोदाः) तुम स्वभावसेही कान्तिप्रद हो (मे) मेरे (ओजसे) शरीरादिबलसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिवृद्धि करनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो २ । हे ध्रुवग्रह ! (वर्चोदाः) स्वभावसे कान्ति देनेवाले हो (मे) मेरी (आयुषे) आयुसम्बन्धी (वर्चसे) कान्तिवृद्धि करनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो ३ । हे पूतभृत ! आहवनीय ग्रह ! तुम स्वभावसे (वर्चोदसौ) कान्तिप्रद हो (मे) मेरी (विश्वाभ्यः) सम्पूर्ण (प्रजाभ्यः) प्रजावर्गको (वर्चसे) कान्ति देनेको (पवस्व) प्रवृत्त हो ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र २ ।

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ॥ यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याꣳ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कोसीत्यस्य देवश्रवा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । द्रोणकलशावेक्षणे वि० । ॐ भूर्भुवः स्वरित्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिक्साम्नी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । जपे विनियोगः ॥ २९ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे द्रोणकलश निरीक्षण करै [का० ९ । ७ । १४]
मन्त्रार्थ–हे द्रोणकलश ! तुम (कः) कौन प्रजापति (असि) हो (कतमः) कौनसे अतिशय वा बहुतोंके मध्यमें कौन (असि) हो (कस्य) किस प्रजापतिके (असि) हो (कः) क्या (नामासि) नाम है (यस्य) जिस (ते) तेरे (नाम) नामको (अमन्महि) हम जाने अर्थात् हम तुम्हारा नाम सदा अन्तःकरणमें जागरूक रक्खैं (यम्) जिस (त्वा) तुमको जानकर (सोमेन) सोमरससे (अती-

तृप्ताम) तृप्तकर चुकेहैं अर्थात् तुमको सोमरससे पूर्णकर अतिशय तृप्तकर चुकेहैं क्या तुम वही हो तुम हमको विदित नामकर कामनासे तृप्तकरो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कलशके ऊपर जपकरै [का०९ । ७ । १५] (भूर्भुवःस्वः) हे अग्नि ! वायु ! और सूर्य ! आपके प्रसादसे मैं (प्रजाभिः) प्रजाओंसे(सुप्रजाः)अच्छी प्रजावाला (स्याम) हों अर्थात् सुप्रजावान् होकर विख्यात हूं (वीरैः) वीरतायुक्त पुत्रपौत्रादि लाभ करके (सुवीरः) सुपुत्रवान् विख्यात हूं (पोषैः) उत्कृष्ट धनसंपत्तिसे प्रसिद्ध होकर (सुपोषः) अच्छीसम्पत्तिवाला विख्यात हूं ॥ २९ ॥

विशेष-यह प्रश्नरूप कण्डिका है वेद आज्ञा देता है कि जो कोई पुरुष मिलै यदि उससे साक्षात् करना हो तो सभ्यतापूर्वक आप कौन हैं कहांके हैं क्या कुल है कहांसे आये हैं यहां रहोगे इत्यादि नम्र वचनसे पूँछना चाहिये यज्ञप्रकरणमें द्रोणकलशकी स्तुति है ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १३ ।

उपयामगृहीतोसि मधवे त्वोपयामगृहीतोसि माधवाय त्वोपयामगृहीतोसि शुक्राय त्वोपयामगृहीतोसि शुचये त्वोपयामगृहीतोसि नभसे त्वोपयामगृहीतोसि नभस्याय त्वोपयामगृहीतोसीषे त्वोपयामगृहीतोस्यूर्जे त्वोपयामगृहीतोसि सहसे त्वोपयामगृहीतोसि सहस्याय त्वोपयामगृहीतोसि तपसे त्वोपयामगृहीतोसि तपस्याय त्वोपयामगृहीतोस्यꣳहसस्पतये त्वा ॥ ३० ॥ [१]

ऋष्यादि-(१-२-३-४-५) ॐ उपयामेत्यस्य प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चममन्त्रपञ्चकस्य देवश्रवा ऋषिः । साम्नी गायत्री छं । ऋतवो देवता । उपयामपात्रे ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (६) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ऋतवो देवता । उपयाम ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (७-८) ॐ उपयामेत्यस्य सप्तमाष्टमेतिमन्त्रद्वयस्य देवश्रवा ऋषिः । याजुषी पंक्तिश्छं० । ऋतवो देवताः । उपयामे ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (९) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्रवा ऋ०।साम्नी गायत्री छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतुग्रहग्रहेण वि० । (१०) ॐ उपयामेत्यस्य

देवश्र० । आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतुग्रहग्रहणे वि० ।(११) ॐ उपयामेत्यस्य देवश्र० । साम्नी गायत्री छं० । ऋतुर्देवता । ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (१२) उपयामेत्यस्य दे० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ऋतुर्देवता । ऋतुग्रहग्रहणे वि० । (१३) ॐ उपयामेत्यस्य दे० ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । ऋतुर्दे० । ऋतुग्रहग्रहणे वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु उपयामपात्रमें ग्रह ग्रहण करै [का० ९। १३ । १४ । १-४] मंत्रार्थ-हे प्रथम ऋतुग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (मधवे) मधुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं [मधुनाम चैत्रमास इसी मासमें पुष्पादिसे अतिरिक्त मधु उत्पन्न होताहै चैत्र वैशाख वसन्तऋतु है] विधि-(२) प्रतिप्रस्थाता दूसरे मंत्रसे उपयामपात्रमें दूसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे द्वितीय ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें ग्रहीत हुए (असि) हो (माधवाय) वैशाखकी सन्तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अध्वर्यु तीसरा ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे तृतीय ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हुए (असि) हो (शुक्राय) ज्येष्ठके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ३। विधि-(४) प्रतिप्रस्थाता चौथे मंत्रसे चौथा ग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (शुचये) आषाढ मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [शोषण अर्थमें होनेमें यह दोनो मास ग्रीष्म हैं] ४। विधि-(५) अध्वर्यु पंचम मंत्रसे पंचम ग्रह ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-हे पंचम ऋतुग्रह तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (नभसे) श्रावणमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहणकरताहूं ५ । विधि-(६) प्रतिप्रस्थाता छठें मंत्रसे छठा ग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे षष्ठ ऋतुग्रह! तुम(उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (नभस्याय) भाद्रमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [जिससमय सूर्य न भाति अर्थात् प्रकाशित न होकर मेघोंसे ढका रहता है और नभस् अर्थात् मेघ प्राप्त होते हैं यह दोनो शब्द वर्षा ऋतुके बोधक हैं] ६ । विधि-(७) अध्वर्यु सप्तम मंत्रसे सप्तम ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे सप्तमग्रह! (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इषे) आश्विन मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं । ७ । विधि-(८) प्रतिप्रस्थाता अष्टम मंत्रसे अष्टम ग्रह ग्रहण करै। मंत्रार्थ-हे अष्टमग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (ऊर्जे) कार्तिकमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं इष अन्न, ऊर्ज्जन उसका सेचन दधिआदि बहुत होता है इससे यह शरद् है ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे अध्वर्यु नवम ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे नवम ऋतुग्रह ! (उपयामगृहीतः)

तुम उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो. (सहसे) मार्गशीर्षके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ९ । विधि-(१०) प्रतिप्रस्थाता दशम मंत्रसे दशमग्रह ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे दशमग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (सहस्याय) पौषमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं [इस मासमें शीत सह्यकरना होता है एवं बल होता है इससे दोनो मास हेमन्त जानो] १० । विधि-(११)एकादश मंत्रसे अध्वर्यु ग्यारहवां ग्रह ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे एकादश ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तपसे) माघ मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ११ । विधि-(१२) द्वादशवें मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता बारहवां ग्रह ग्रहण करे । मंत्रार्थ-हे द्वादश ऋतुग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तपस्याय) फाल्गुन मासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं इन महीनोंमें सूर्यका ताप बढने लगता है इससे शिशिर ऋतु जानो । विधि-(१३) यदि इच्छा हो तो तेरहवें मंत्रसे अध्वर्यु तेरहवां ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १३ । १८] मंत्रार्थ-हे त्रयोदश ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (अᳬहसस्पतये) पापके अधिपति मलमास अथवा अᳬह नाम वेगवान् सूर्यकी गतिसे होनेवाले अधिकमासके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ १३ ॥ ३० ॥

विशेष-द्वादश मास और एक त्रयोदश मास इनके देवताके आराधनार्थ उपयामपात्रमें गृहीत सम्पूर्ण सोमरसको सोमरस ऋतुग्रह बोला जाता है यह त्रयोदश पात्र सोमरसद्वारा वसन्तादिषट्ऋतुकी उपासना सिद्ध होतीहै इस निमित्त इनको ऋतुग्रह कहते हैं । शतपथकी श्रुतिमें लेख है जो वाक् है वही अग्नि है जो चक्षु है वह सूर्य है, जो मन है वह चंद्रमा है, जो श्रोत्र है वह दिशा हैं इस, बातको जानकर जो पुरुष देह त्याग करता है वह वाक्से अग्निको, चक्षुसे सूर्यको, मनसे चन्द्रमाको, श्रोत्रसे दिशाको प्राप्त होता है । पुरुषही संवत्सर है संवत्सरमें षट् ऋतु हैं पुरुषमें छः प्राण हैं इस कारण समान है संवत्सरमें बारह मास हैं पुरुषमें बारह प्राण हैं संवत्सरके तेरहमास हैं पुरुषमें तेरह प्राण हैं तेरहवीं नाभि है इससे समान है ॥ ३० ॥

कण्डिका-३१ मंत्र ३ ।

इन्द्राग्नीऽआगतᳬं सुतङ्गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ॥ अस्य पातन्धियेषिता ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राग्निभ्यान्त्वैषते योनिरिन्द्राग्निभ्यान्त्वा ॥ ३१ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। निचृदार्षी गायत्री छं०। इन्द्राग्नी दे०। इन्द्राग्निग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। आर्ष्युष्णिक्छं०। ग्रहो देवता। ग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य विश्वामित्र ऋ०। यजुश्छं०। इन्द्राग्नी देवते। यथास्थाने ग्रहपात्रासादने वि०॥ ३१॥

विधि-(१-२) प्रतिप्रस्थाता इस कण्डिकाके प्रथम दो मंत्रोंसे इन्द्राग्नी नाम चौवीसवां ग्रह ग्रहण करै [का० ९। १३। २०] मंत्रार्थ-(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी देवताओ! तुम (सुतम्) अभिषवण अर्थात् भली प्रकार संस्कार किये (गीर्भिः) ऋक् यजुःसामके मंत्रोंसे (नभः) आदित्यकी समान (वरेण्यम्) प्रार्थनीय अथवा नभमें स्थित देवतोंसे वरणीय, सोमरसपानके निमित्त (आगतम्) आओ (धिया) यजमानकी बुद्धिसे (इषिता) प्रार्थनीय होकर तुम (अस्य) इस सोमरसके (पातम्) स्वभागको पानकरो १। (उपयामगृहीतः) हे चौवीसवें ग्रह! तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें ग्रहपात्र स्थापन करै। मंत्रार्थ-हे इन्द्राग्नी ग्रह! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ३॥ ३१॥

विशेष-ध्रुवग्रहपर्यन्त दशग्रह गिनेथे, तेरह ऋतुग्रह सब मिलकर २३ हुए यह चौवीसवां है। यदि अधिमास ग्रह ग्रहण न किया जाय तो यह तेईसवां उपांशुसवनकोभी ग्रहस्वीकार किया जाय तो यह छव्वीसवां, पक्षान्तरमें पच्चीसवां होताहै, अथवा ऋतुग्रहकी एक संख्या की जाय तो यह ग्यारहवां और बारहवां है। [ऋ० ३। १। ११]॥ ३१॥

प्रमाण-यास्कने नभको आदित्य लिखाहै "नभ आदित्यो भवति" [निरु० २। २२]॥ ३१॥

कण्डिका ३२-मन्त्र ३।

आघाये॑ऽअ॒ग्निमि॒न्धते॑ स्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरा॑नु॒षक्॥ येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यग्नीन्द्रा॒भ्यान्त्वै॒ष ते॒ योनि॑रग्नीन्द्रा॒भ्यान्त्वा॥ ३२॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ आघाय इत्यस्य त्रिशोक ऋ०। आर्षी गायत्री छं०। अग्नीन्द्रौ दे०। इन्द्राग्निग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य

त्रिशोक ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य त्रि० ऋ० । यजुश्छंदः । अग्नीन्द्रौ दे० । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३२ ॥

विधि–(१–२) कात्यायन महर्षिने इसका विनियोग नहीं लिखा परन्तु शाखान्तरमें ग्रहग्रहणका विनियोग है। इस कण्डिकाके प्रथम दो मंत्रोंसे प्रतिप्रस्थाता इन्द्राग्नीनामक चतुर्विंश (२४ वां) ग्रह ग्रहण करै। मन्त्रार्थ–(ये) जो यजमान गण (अग्निम्) अग्निको (घा) हो (आइन्धते) इष्टिसोमादिकर नित्य अग्निहोत्र करतेहैं (आनुषक) और जो क्रमपूर्वक (बर्हिः) कुशा (स्तृणन्ति) बिछाते हैं (येषाम्) जिनका (युवा) सदैव युवावस्थाको प्राप्त (इन्द्रः) इन्द्र (सखा) सखा है हे ग्रह (उपयामगृहीतः) यजमानके यज्ञमें तुम उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्नी देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे ग्रह यथास्थानमें स्थापित करै। हे इन्द्राग्नीग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (अग्नीन्द्राभ्याम्) अग्नीन्द्र देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझे इस स्थानमें स्थापित करताहूं [ऋ० ६ । ३ । ४२] ॥ ३२ ॥

प्रमाणं–"आनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति" इति [निरु० ६ । १४ ।]

कण्डिका ३३–मंत्र ३ ।

ओमा॑सश्चर्षणीधृतो॒ विश्वे॑ देवास॒ऽआग॑त ॥ दा॒श्वा॒ᳪ᳖सो॑ दा॒शुष॑: सु॒तम् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒र्विश्वे॑भ्यस्त्वा दे॒वेभ्य॑: ॥ ३३ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१)ॐ ओमास इत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य मधु० । आर्षी बृहती छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देव० । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१–२) इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे अथवा पर कण्डिकाके प्रथम मंत्रद्वयसे अध्वर्यु द्रोणकलशसे शुक्रपात्रमें वैश्वदेव ग्रह ग्रहण करै [का० ९ । १४ । १] मन्त्रार्थ–(विश्वेदेवासः) हे विश्वेदेवा ! तुम सब

(ओमासः) हमारे सब प्रकारसे रक्षक हो (चर्षणीधृतः) तथा मनुष्योंको पुष्ट करनेवाले हो मनुष्य तुम्हारे प्रसादसे ही पुष्ट होते हैं (सुतम्) अभिषुतसंस्कार किये सोमको (दाशुषः) देनेवाले यजमानको (दाश्वांसः) फल देनेवाले वा कामना पूर्णकरनेवाले तुम सोमपानके निमित्त (आगत) आओ १ । हे पंचविंशग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपायामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हू २।विधि-(३) इस तीसरे मंत्रसे वा पर कण्डिकाके तीसरे मत्रसे यह ग्रह यथास्थानमें स्थापन करे ॥ मन्त्रार्थ-हे वैश्वदेव ग्रह ! (एषः) यह (ते) आपका (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं [ऋ० २ । ८ । ९] ॥ ३३ ॥

प्रमाण-"अवन्तीत्योमारक्षितारः अवितारोवावनी या वा" इति [निरु० १२ । ४०]

कण्डिका ३४-मन्त्र ३ ।

विश्वेदेवासऽआगतशृणुतामऽइमꣳहवम् ॥ एदम्बर्हिर्निषीदत ॥ उपयामगृहीतोसिविश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यऽएषतेयोनिर्विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः ॥ ३४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१)ॐ विश्वेदेवास इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । आर्ची गायत्री० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य गृत्समद ऋ० । आर्ची बृहती छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहस्थापने वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गृत्समद ऋ० । यजुश्छं० । विश्वेदेवा देवताः । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-वैश्वदेवग्रहग्रहणकरे । मंत्रार्थ-(विश्वेदेवासः) हे विश्वेदेव देवताओ ! (आगत) हमारे इस यज्ञमें आओ (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) आह्वानको (आशृणुत) सब प्रकारसे श्रवण करो (इदम्) इस विस्तीर्ण (बर्हिः) कुशापर (आनिषीदत) स्थित हो १ ।

दूसरा और तीसरा मंत्र पूर्व (३३) वत् ।

प्रातः सवनके ग्रह पूर्ण हुए ।

अथ माध्यन्दिनसवनग्रहाः ।

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

इन्द्रं मरुत्व ऽइह पाहि सोमं यथा शार्य्याते ऽअपिबः सुतस्य ॥ तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्ना विवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा मरुत्वत ऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ ३५ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेदेवास इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा दे० । वैश्वदेवग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । ग्रहो देवता । उपयामे ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । यजुश्छं० । ग्रहो देवता । यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१-२-३) मरुत्वतीय नामक तीन ग्रह क्रमसे तीन मंत्रोंसे ग्रहण करे प्रथम मरुत्वतीय ऋतुग्रह पात्रमें ग्रहण करे [का० १०। १ । १४] मंत्रार्थ—(मरुत्वः) मरुत् देवताओंवाले (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यथा) जिस प्रकार(शार्याते) बडे परिश्रम करनेवाले शर्याति पूर्वजनके यज्ञमें (सुतस्य) अभिषुत सोमके अंशोंको (अपिबः) तुमने पिया था,इसी प्रकारसे (इह) इस हमारे यज्ञमें (सोमम्) सोमकी (पाहि) रक्षा करो और पियो (शूर) हे विक्रान्तवीर ! (तव) तुम्हारी (प्रणीती) सुनीती और अनुज्ञासे (सुयज्ञाः) श्रेष्ठ यज्ञ करनेवाले (कवयः) दूरदर्शी (तव) तुम्हारे (शर्मन्) सुखप्रद स्थानमें (आविवासन्ति) चिरकालतक तुम्हारी परिचर्या करते हैं १ ।

हे प्रथम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम इस उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (मरुत्वते) मरुत् देवतोंसे युक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ २ ॥

हे प्रथम मरुत्वतीय ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (मरुत्वते) मरुत् देवताओंसे युक्त (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करता हूं [ऋ० ३ । ३ । १६] ॥ ३५ ॥

प्रमाण-"माध्यन्दिनसवने मरुत्वतीया गृह्यन्ते" तित्तिरिः । "शार्यातो वा ह इदं मानवो ग्रामेण चचार" इति श्रुतेः [श० ४ । १ । ५ । २] "विवास-

सीति परिचरणकर्मसु पठितम्" [निघं० ३ । ५] "कविरिति मेधाविनामसु पठितम्" [निघं० ३ । १५] ॥ ३५ ॥

पदार्थविचार–तत्त्व और पार्थिव विचारवाले कहते हैं पार्थिवतेज अन्तरिक्ष तेज और उपरितन द्युलोकका तेज इन तीन प्रकारके तेजका नाम इन्द्र है इस स्थानमें मरुत्वत्शब्द विशेषण है अन्तरिक्षके सहचारी वायुका साथी होनेसे वह तेजोमय देवेन्द्र मघवान् कहाता है ।

(शर्याति) वेदमें जो शब्द किसी व्यक्तिविशेषके नामवाचक सुनेजाते हैं यह काल्पनिक हैं वस्तुतः यह किसी प्रकृत व्यक्तिका नाम नहीं, यह वेदपुरुषके मनःकल्पित नाम हैं यहां शर्याति नाम मानवका है ।

अथवा सृष्टिका प्रवाह अनादिकालसे है और ईश्वरका ज्ञान त्रिकालमें एकसा है और यदि कोई नामही नहीं हो तो सृष्टि अनादि कैसे, इससे वेदमें जो कुछ आता है वह नहीं हुआहो तो पूरा होता है, और मनुष्योंकी दृष्टिमें वह भूतकालका बोधक होता है । कारण कि शर्याति किसी राजाकाभी नाम है वह वेदका शब्द देखकरही हुआ है ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र ४ ।

म॒रुत्व॑न्तं वृष॒भं वा॑वृधा॒नमक॑वारिं दि॒व्यꣳ शा॒समि॑न्द्रम् ॥ वि॒श्वा॒साह॒मव॑से॒ नूत॑नायो॒ग्रꣳ स॑हो॒दामि॒ह तꣳ हु॑वेम ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒सीन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑त ए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोसि म॒रुतां॒ त्वौज॑से ॥ ३६ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ मरुत्वन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वा० । आर्च्युष्णिक्छं० । ग्रहो देवता । उपयामे मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ उपयामेत्यस्य वि० ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । मरुतो देवताः । उपयामे मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (४) ॐ मरुत्वतामित्यस्य विश्वा० ऋ० । यजुश्छं० । मरुतो देव० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥ ३६ ॥

विधि–(१–२–३) दूसरे मरुत्वतीय रिक्तपात्रमें सशस्त्र ग्रह ग्रहण करे [का० १० ३ । ६] मंत्रार्थ–(मरुत्वन्तम्) मरुद्गणोंसे युक्त (वृषभम्) उचित समय जल वर्षानेवाले (वावृधानम्) व्रीहिधान्यादिके बढानेवाले (अकवारिम्) उत्कृष्ट ऐश्वर्यवान् (दिव्यम्)

द्युलोकमें रहनेवाले (शासम्) दुष्टोंके वा मेघोंके शासक (विश्वसाहम्) आलस्य रहित विश्वके पालक वा स्वधर्मच्युतके तिरस्कारकर्ता (सहोदाम्) सह अर्थात् बलके देनेवाले (नूतनाय) नूतन यजमानके (अवसे) रक्षण करनेके निमित्त (उग्रम्) निरन्तर उद्यत वज्रवाले (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्रको (इह) इस यज्ञमें रक्षाके निमित्त (आहुवेम) आह्वान करतेहैं. हे द्वितीय ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत हो पूर्ववत् द्वितीय ग्रहग्रहण है इतनाही विशेष है १–२–३। विधि–(४) चौथे मंत्रसे ऋतुपात्रमें तीसरा मरुत्वतीय ग्रह ग्रहण करे [का० १० । ३ । ३] हे तृतीयमरुत्वतीयग्रह ! (मरुत्वताम्) मरुत्देवताओंके (ओजसे) बलसम्पादनके निमित्त (त्वा) तुमको इस ऋतुग्रहमें ग्रहणकरता हूं "ओज इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । १] इसके ग्रहणसे मरुत् बली हो जाय यह आशय है [ऋ० ४ । ६ । ८] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र ३ ।

सजोषा॑ऽइन्द्र॒ सग॑णो म॒रुद्भि॒ḥ सोम॑म्पिब वृत्रहा शूर
वि॒द्वान् ॥ ज॒हि शत्रूँ॒१रप॒ मृधो॑ नुदस्वाथाभ॑यङ्कृणुहि
वि॒श्वतो॑ नः ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा म॒रु
त्व॑तऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा म॒रुत्व॑ते ॥३७॥[१]

ऋष्यादि–(१) ॐ सजोषा इत्यस्य विश्वामित्र ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य विश्वामि० ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य विश्वा० । यजुश्छं० । मरुतो दे०। मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥ ३७ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्र और उत्तर कण्डिकाके तीन मंत्र मरुत्वतीयग्रहग्रहणमें नियुक्त हैं [का० १२ । ६ । २४] मंत्रार्थ–(शूर) हे विक्रान्त (इन्द्र) इन्द्र ! तुम (सजोषः) हमारे यज्ञको प्रीतिसे सेवन कर हमसे सन्तुष्ट होने वाले (सगणः) परिवारसहित वर्तमान (वृत्रहा) सोमपानकर वृत्रके मारनेवाले (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाले (मरुद्भिः) मरुत् गणोंके परिवारसहित (सोमम्) सोमको (पिब) पानकरो (शत्रून्) शत्रुओंको (जहि) मारो (मृधः) संग्राममें (अपनुदस्व) शत्रुओंको निवृत्त करो पलायन कराओ वा संग्रामको निवृत्त करो(अथ)

शत्रुनाशके अनन्तर (नः) हमको (विश्वतः) सबप्रकारसे (अनयम्) अभय वा निर्भय (कृणुहि) कीजिये १। (उपयामगृहीतः) हे ग्रह ! तुम उपयाम पात्रमें गृहीतहो इत्यादिकी व्याख्या पूर्ववत् जाननी [ऋ० ३ । ३ । ११] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र २ ।

मुरुत्वाँ२ऽइन्द्र वृषभोरणायपिबासोममनुष्ष्वधम्मदाय ॥ आसिञ्चस्वजठरेमध्वऽऊर्मिन्त्वᳪराजासिप्प्रतिपत्सुतानाम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वामरुत्वतऽएषते योनिरिन्द्रायत्वामरुत्वते ॥ ३८ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ मरुत्वानित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं०।ग्रहो देवता । मरुत्वतीयग्रहग्रहणे वि० ॥३८॥

मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! (मरुत्वान्) मरुद्गणोंसे संयुक्त (वृषभः) जलके वर्षानेवाले तुम (अनुष्वधम्) स्वधापूर्वक पुरोडाश धान्यमन्थ दधिपय लक्षणवाले (सोमम्) सोमरसको (मदाय) तृप्तिके निमित्त (रणाय) दैत्योंसे युद्धके निमित्त (आपिब) पान कीजिये (मध्वः) इस मधुर रसकी (ऊर्मिम्) कल्लोलको (जठरे) उदरमें (आसिञ्च) आसिञ्चनकरो (त्वम्) तुम (प्रतिपत्सुतानाम्) प्रतिपत् प्रभृति तिथियोंमें अभिषुत हुए सोमके (राजा) राजा (असि) हो हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत इत्यादि पूर्ववत् । [ऋ० ३ । ३ । ११] ॥ ३८ ॥

विशेष–धान्य मन्थी दही दूध आदि अन्नको सुधा कहते हैं वर्षाक्रिया सम्पादनके निमित्त वृत्र (मेघ) गणके सहित युद्ध करना होगा, इस निमित्त तृप्त होना आवश्यक है. १ यजुर्वेदी जनोंके प्रतिपत् तिथिसे सोमाभिषव आरंभ नहीं होता किन्तु सामवेदियोंका होता है । राजा कहनेका भाव यह कि तुम्हारी प्रीतिके निमित्तही यह बृहत् अनुष्ठान है तुम तृप्त होकर सोमरस पान करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मन्त्र ३ ।

मुहाँ२ऽइन्द्रोनृवदाचर्षणिप्प्राऽउताद्विबर्हाऽअमिनः सहोभिः ॥ अस्मद्र्यग्वावृधेवीर्यायोरुः पृथुः

सुकृतङ्कर्तृभिर्भूत ॥ उपयामगृहीतोसिमहेन्द्रा यत्त्वैषतेयोनिर्म्महेन्न्द्रायत्त्वा ॥ ३९ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१)ॐ महानित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छं०। महेन्द्रो दे०। माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। साम्नी त्रिष्टुप्छं०। ग्रहो देवता। उपयामग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐएषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ०। यजुश्छं०। लिंगोक्ता दे०। यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१-२) प्रथम और दूसरे मंत्रसे माहेन्द्र नामक ग्रह ग्रहण करै [का० १० । ३ । १] मं०-राजा जिस प्रकार प्रजावर्गकी अभिलाषा पूर्ण करताहै तद्वत् (आचर्षणिप्राः) मनुष्योंके अभीष्ट पूर्ण करनेवाले (द्विबर्हाः) प्रकृति विकृतिरूप सोमयागके बढानेवाले वा अन्तरिक्ष और द्युलोकके प्रभु (सहोभिः) बलोंकरके (अमिनः) उपमारहित (उत) तथा (अस्मद्र्यक्) हमारे प्रति अनूकूल (महान्) महाप्रभावशाली (इन्द्रः) इन्द्र (वीर्याय) वीरकर्मके निमित्त (वावृधे) वृद्धिको प्राप्त होता है तथा (उरुः) यशसे विस्तीर्ण (पृथुः) बलसे विस्तृत इन्द्र (कर्तृभिः) यजमानोंद्वारा (सुकृतः) सत्कारित वा पूजित (अभूत्) हुआ हमारी बलवीर्यकी वृद्धि करै १। हे चतुर्थ ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (महेन्द्राय) महेन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ विधि (३) तीसरे मंत्रसे स्थापन करै। मंत्रार्थ-हे माहेन्द्रग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (महेन्द्राय) महेन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको इस स्थानमें स्थापन करताहूं [ऋ० ४ । ६ । ७] ॥ ३९ ॥

प्रमाण-"अमिनोऽमितमात्रो महान् भवत्यभ्यमितो वा" इति [निरु० ६ । १६ ।] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र ३।

मुहाँ२ऽइन्द्रोयऽओजसापर्ज्जन्न्योवृष्टिमाँ२ऽइव ॥ स्तोमैर्व्वत्सस्यवावृधे ॥ उपयामगृहीतोसिमहेन्द्रा यत्त्वैषतेयोनिर्म्महेन्द्रायत्त्वा ॥ ४० ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ महानित्यस्य वत्स ऋ०। आर्षी गायत्री छं०। महेन्द्रो दे०। माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य वत्स ऋ०। विराडार्षी गायत्री०। ग्रहो देवता। माहेन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य वत्स ऋ०। यजुश्छं०। लिङ्गोक्ता देवता। यथास्थाने ग्रहासादने वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१-२-३) यदि इच्छा हो तो इसी कण्डिकाके प्रथम और दूसरे मंत्रसे माहेन्द्रग्रह ग्रहण करै और तीसरे मंत्रसे यथास्थानमें स्थापित करै। मन्त्रार्थ-(यः) जो (महान्) महाप्रभावशाली (इन्द्रः) इन्द्र (ओजसा) तेजसे महान् (वृष्टिमान्) वर्षावाले (पर्जन्यः इव) मेघके समान (वत्सस्य) वसनशील वा वत्सस्थानीय यजमानके (स्तोमैः) स्तुतियोंसे (आववृधे) वृद्धिको प्राप्त होताहै १। हे ग्रह! (उपयामगृहीतः) तुम उपयाममें गृहीत हो पूर्ववत्। [ऋ० ५। ८। ९।] ॥ ४० ॥

माध्यन्दिनग्रह पूर्ण हुए।

अथ दक्षिणा।

कण्डिका ४१-मन्त्र १।

उदु त्यञ्जातवेदसन्देवं वहन्ति केतवः॥ दृशे विश्वाय सूर्य्यꣳ स्वाहा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः। भुरिगार्षी गायत्री०। सूर्यो दे०। चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्येऽग्नौ हवने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) वस्त्रबद्ध सुवर्ण जुहूके मध्यमें रखकर चारबार ग्रहण किये घृतको शालाद्वार्य नाम अग्निमें इस मंत्रसे प्रथम आहुति प्रदानकरै [इसीकोही दाक्षिण होम कहतेहैं] [का० १०। २। ४। ५] मन्त्रार्थ-(केतवः) किरणसमूह (त्यम्) उस प्रसिद्ध (जातवेदसम्) सब पदार्थोंको जाननेवाले वा वेदज्ञानरूपी धनवाले (देवम्) प्रकाशात्मक (सूर्यम्) सूर्यदेवको (विश्वाय) इस समस्त विश्वके (दृशे) प्रकाश करनेके निमित्त (उ) वितर्कके साथ (उद्वहन्ति) प्रतिनियत ऊर्ध्ववहन करतीहैं (स्वाहा) इन्हीं देवके उद्देशसे दीहुई यह हवि भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

प्रमाण-"देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा" इति [निरु० ७। २०।] "उद्वहन्ति तं जातवेदसं रश्मयः केतवः सर्वेषां भूतानां दर्शनाय सूर्यमिति कमन्यमादित्या-

देवमवक्ष्यत्" [निरु० १२ । १९] "जातवेदाः कस्माज्जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो जातधनो जातविद्यो वा जातप्रज्ञानो यत्तज्जातः पशून् विंदते इति तज्जातवेदसो जातवेदस्त्वम्" इति [निरु० ७ । १९] ॥ ४१ ॥

विशेष-"इन रश्मियोंकोही सप्ताश्वभी कहतेहैं" ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

चित्रन्देवानामुदगादनीकञ्चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳ सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्रमित्यस्य कुत्स ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । सूर्यो देवता । चतुर्गृहीतेनाज्येन शालाद्वार्येऽग्नौ हवने विनि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चारवार लिये घृतसे शालाद्वार्य अग्निमें दूसरी आहुति प्रदान करे [का० १० । २ । ६ ।] मन्त्रार्थ-(चित्रम्) यह कैसा आश्चर्य है कि (देवानाम्) किरणोंके (अनीकम्) पुञ्ज तथा (मित्रस्य) मित्रके (वरुणस्य) वरुणके (अग्नेः) अग्निके (चक्षुः) नेत्रवत् प्रकाशमान (जगतः) जंगम और (तस्थुषः) स्थावर जगत्का (आत्मा) अन्तर्यामी (सूर्य्यः) सूर्य सब जगत्का प्रकाशक (उदगात्) उदयको प्राप्त होता हुआ (द्यावापृथिवी) भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष अर्थात् लोकत्रयको (आप्राः) अपने तेजसे पूर्ण करता है (स्वाहा) इन देवताके निमित्त दीहुई आहुति भली प्रकारसे स्वीकारहो [ऋ० १ । ८ । ७] ॥ ४२ ॥

भावार्थ-यह क्या आश्चर्य है कि, किरणपुञ्ज देव प्रतिदिन उदित होतेहैं भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त लोकत्रयमें अपनी किरणजालका विस्तार करके समस्त विश्वसंसारके नेत्ररूपसे दीप्यमान हैं [पररूपसे स्तुति] यह स्थावर जंगम समस्त पदार्थकेही जीवन और सूर्यनामसे प्रसिद्ध हैं इनके उद्देशसे हवि देते हैं ॥ ४२ ॥

प्रमाण-जो इस आदित्यमें परमात्माको जानतेहैं वही इन्द्र प्रजापति और ब्रह्मको प्राप्त होतेहैं । "यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः सः प्रजापतिस्तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः ।

निरुक्तकारने यों व्याख्या कीहै-

"चायनीयं देवानामुदगमदनीकं ख्यानं मित्रस्य वरुणस्याग्नेश्चापूपुरद् द्यावापृथिव्यौ चान्तरिक्षे च महत्त्वेन तेन सूर्य्य आत्मा जङ्गमस्य:च स्थावरस्य च" [निरु० १२ । १६] इस मंत्रसे सूर्यमें परमात्माकी उपासना वर्णनकीहै इस प्रकार सर्वत्र परमात्माको जानकर प्राणी उसकी उपासना करनेसे उसके द्वारा सफलमनोरथ होतेहैं ॥ ४२ ॥

कण्डिका-४३ मंत्र १ ।

अग्नेनय सुपथारायेऽअस्मान्विश्वानिदेववयुनानिविद्वान् ॥ युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनोभूयिष्ठान्तेनमऽउक्तिंविधेमस्वाहा ॥ ४३ ॥

विधि-आग्नीध्र अग्निमें एक वार लिये घृतको हवन करे [का०१० । २ । ७] (अग्ने) इस मंत्रकी व्याख्या ५ अ० ३६ मंत्रमें होगई ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

अयन्नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयम्मृधः पुरऽएतुप्रभिन्दन् ॥ अयंवाजाञ्जयतुवाजसातावयꣳशत्रूञ्जयतुजर्हृषाणःस्वाहा ॥ ४४ ॥

विधि-दूसरी आहुतिको आग्नीध्रअग्निमें हवन करे [का० १० । २ । ८] (अयन्नो) अ०५ मं० ३७ में इसकी व्याख्या होगई ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र ३ ।

रूपेणवोरूपमभ्यागान्तुथोवोविश्ववेदाविभजतु ॥ ऋतस्यपथाप्रेतचन्द्रदक्षिणाविस्वःपश्यव्यन्तरिक्षंयतस्वसदस्यैः ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रूपेणेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्राजापत्या जगती० । दक्षिणा दे० । वेदिदक्षिणस्याभिमन्त्रणे वि० । (२) ॐ विश्व इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । गोरक्षित्रा सह सभां प्रत्यागमने वि० । (३) ॐ यतस्वेत्यस्यांगिरस ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । ऋत्विग्जनावेक्षणे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(यजमान अपने हाथमें सुवर्ण लेकर शालाके पूर्व भागमें स्थित हो और आग्नीध्रीयवेदीके बाहर दक्षिणमें बैठेहुए दक्षिणाभागी जनोंको इस मंत्रसे अभिमंत्रित करै [का० १० । २ । १०] मंत्रार्थ-(चन्द्रदक्षिणाः) सुवर्ण दक्षिणावाली हे गौओ ! मैं (रूपेण) मूर्तिसे (वः) तुम्हारे (रूपम्) रूपके (अभ्यगाम्) प्राप्तहुआहूं [अर्थात् हमने तुम्हारा रूप धारण किया है इसकारण हमारे निकट आनकर मिलित हो कारण कि सबही अपने रूपमें मिलित होतेहैं] (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (तुथः) ब्रह्म "ब्रह्म वै तुथः" [श० ४ । ३ । ४ । १४] (वः) तुमको (विभजतु) यथायोग्य विभाग करके ऋत्विजोंके निमित्त प्रदान करै अथवा यज्ञमें किस ऋत्विक्की क्या दक्षिणा है उसको यह ब्राह्मण आग्नीध्र ऋत्विक् समस्तही जानता है उसीके अनुसार तुमको यज्ञीयनियममें दक्षिणारूप प्रदान करैंगे तुम (ऋतस्य) यज्ञके (पथा) मार्गसे (प्रेत) गमनकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करके यजमान गाय पालनेवालेके साथ सभामण्डपके मध्यमें गमन करै [का० १० । २ । १७] मन्त्रार्थ-हे दक्षिणारूप सम्पूर्ण गौ ! आज हम तुमको प्राप्त करके (स्वः) स्वर्ग देवयानमार्ग (विपश्य) देखतेहैं (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष पितृयाण मार्गको (वि) देखताहूं अर्थात् दोनों मार्गको प्रत्यक्ष करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे ऋत्विग्गणोंके प्रति दृष्टिपात करै [का० १० । २ । १८] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विग्गण ! तुम इस प्रकार (यतस्व) यत्नकरो कि जिस प्रकार (सदस्यैः) सभासदोंको यथाभाग पूर्ण होकर भी कुछ गोदक्षिणा शेष रहजाय ॥ ४५ ॥

विवरण-१. चंद्रशब्दसे सुवर्णका अर्थ है यज्ञमें गोदक्षिणा देनेके अनन्तर सुवर्णकी दक्षिणा दीजातीहै, इसकारण गौ पाकर सुवर्णके पानेकी भी अभिलाषा होती है इसकारण चंद्रप्राप्तिरूप आशाका आदिकारण गोदक्षिणा है इसीसे इसको चन्द्रदक्षिणा भी कहते हैं ।

२. इस स्थलमें एक आख्यायिका है पूर्व कालमें पशुगणने अपना दान न सहन करके रूपान्तर ग्रहण किया, देवतागण भी वही रूप धारणकर उनको अपनी जातिमें विवेचनको मिलित हुए, तब उन्होंने अपना रूप धारण किया प्रमाण-"पूर्वं पशवः स्वदानमसहमाना रूपान्तराणि जगृहुर्देवाः स्वैस्तानुपागतास्ततस्ते स्वै रूपैराजग्मुः" इति श्रुतेः [श० ४ । ३ । ४ । १४]

३. अपनी जातिसे मिलन चेतन अचेतन सब ही पदार्थ करते हैं, यह स्वभाव गौ गोपालसे अजागण अजापालसे मेषगण मेषपालसे ऊपर फेंकीहुई वस्तु नीचेको पृथ्वीसे ऊपर प्रक्षिप्तजल जलसे मिलतेहैं इसीप्रकार सब वस्तु हैं ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र २ ।

ब्राह्मणमद्य विदेयम्पितृमन्तम्पैतृमत्यमृषिमार्षेयꣳ सुधातुदक्षिणम् ॥ अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ब्राह्मणमित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । आर्ची बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । आग्नीध्रर्त्विजं प्रति गमने वि० (२) ॐ अस्मदित्यस्य आंगि० ऋ० । आर्ची गायत्री छं० । दक्षिणा देवता । आग्नीध्रर्त्विजे हिरण्यप्रदाने वि० ॥ ४६ ॥

विधि–(१) यजमान यह प्रथम मंत्र पाठ करके आग्नीध्रीय वेदीमें उपविष्ट आग्नीध्र ऋत्विक्के समीप गमन करै [का० १० । २ । १९] मन्त्रार्थ–मैं (अद्य) आज (पितृमन्तम्) विख्यात विद्वान् यशस्वी पितावाले (पैतृमत्यम्) जनमान्य पितामहवाले (ऋषिम्) मंत्रोंके व्याख्या करनेवाले (आर्षेयम्) ऋषियोंमें विख्यात स्वयं ऋषि वा ज्ञानसे विख्यात (सुधातुदक्षिणम्) जिसके निकट सम्पूर्ण सुवर्णदक्षिणा संचय की जाय ऐसे (ब्राह्मणम्) सर्वकुलगुणसम्पन्न ब्राह्मण [आग्नीध्र] को (विदेयम्) प्राप्त करूं १ । विधि–(२) यजमान दूसरे मंत्रसे आग्नीध्रीय वेदीमें उपविष्ट हुए समस्त ऋत्विग्जनोंकी दक्षिणा इस आग्नीध्र ऋत्विक्के हाथमें प्रदान करै [का० १० । २ । २०] मन्त्रार्थ–हे सम्पूर्ण दक्षिणा ! तुम (अस्मद्राताः) हमारे द्वारा दी हुई (देवत्रा) देवताओंसे अधिष्ठित ऋत्विग्गणके समीप (गच्छत) यथाभाग उपस्थित हो, और देवताओंको तृप्तकर (दातारम्) इस यज्ञका फल देनेके लिये (दातारम) दातायजमानमें (प्राविशत) प्रवेश करो ॥ ४६ ॥

विशेष–इस मंत्रसे यह बात प्रगट है कि वंशके प्रतिष्ठित ब्राह्मण जिनके पिता पितामह विख्यात हों वेही आग्नीध्र ऋत्विक् किये जायं तथा प्रतिष्ठित वंशवालेकोही द्रव्यका अधिकार देनाचाहिये कुलगोत्र न माननेवाले पंडित दयानंदको इसपर विचार करना चाहिये था. ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मन्त्र ४ ।

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र ऽएधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो

णो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय प्प्राणो दात्रऽएधि मयो मह्यम्प्रतिग्ग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय त्वग्दात्रऽएधि मयो मह्यम्प्रतिग्ग्रहीत्रे यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्त्वमशीय हयो दात्रऽएधि वयो मह्यम्प्रतिग्ग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। आर्ची त्रिष्टुप्छं० । हिरण्यं देवतम् । सुवर्णप्रतिग्रहणे वि० । (२) ॐ रुद्रायेत्यस्याङ्गिरस ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । गौर्दे० । गोप्रतिग्रहणे वि० । (३) ॐ बृहस्पतय इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। निच्यृदार्षी जगती०। वस्त्रं देवतम् । वस्त्रप्रतिग्रहणे वि० । (४) ॐ यमायेत्यस्याङ्गिरस ऋ०। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता । अश्वप्रतिग्रहणे वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता प्रथम मंत्रसे सुवर्ण ग्रहण करै [का० १०। २ । २८] मन्त्रार्थ-हे सुवर्ण ! (वरुणः) वरुणदेवता (अग्नये) अग्निरूपको प्राप्तहुए (मह्यम्) मेरेनिमित्त (त्वा) तुमको (ददातु) प्रदान करते हुए [पूर्वकालमें वरुणने कनकादि अग्निको दिया था इस कारण अग्निआत्मावाले ब्राह्मण उसके लेनेसे नष्ट नहीं होते] इस प्रकारसे ग्रहण कियेहुए सुवर्णसे (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) आरोग्यता (अशीय) प्राप्तकरूं हे सुवर्ण ! तुम (दात्रे) दाताकी (आयुः) परमायुकी (एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहकरनेवाले (मह्यम्) मुझको (मयः) सुखकी प्राप्ति हो अर्थात् यजमान आयुष्मान् और मैं सुखी हूं १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे गौ ग्रहण करै [का० १० । २ । २९] मंत्रार्थ-हे गौ ! (वरुणः) वरुणदेवता (रुद्राय) रुद्ररूप (मह्यम्) मुझे (त्वा) तुमको (ददातु) प्रदान करताहै (सः) वह मैं (अमृतत्वम्) आरोग्यताको (अशीय) प्राप्त हूं तुम (दात्रे) दाताके (प्राणः) बलप्राणकी (एधि) वृद्धिकरो (मह्यम्) मुझ (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहीताको (वयः) अन्नपशुवृद्धि करनेवाली हो वा अवस्थाकी वृद्धिकरो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वस्त्रप्रतिग्रहण [का० १० । २ । ३०] मन्त्रार्थ-हे वस्त्र ! (वरुणः) वरुण देवता (बृहस्पतये) बृहस्पतिरूप (मह्यम्) मेरे निमित्त (त्वा) तुमको (ददातु) देता है (सः) वह मैं तुमको प्राप्त करके (अमृतत्वम्) अमृतत्वको (अशीय) प्राप्त करूं तुम (दात्रे) दाताकी (त्वक्) त्वगिन्द्रियशक्ति (एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रहीता मेरी (मयः) सुखकी वृद्धि करो ३ ।

विधि-(४) चौथे मंत्रसे अश्वप्रतिग्रहण करै [का० १० । २ । ३०] मंत्रार्थ-हे अश्व ! (वरुणः) वरुणदेवता (यमाय) यमरूप धर्मरूप (मह्यम्) मेरे निमित्त (त्वा) तुझको (ददातु) देता है (सः) वह मैं तुमको प्राप्तकर (अमृतत्वम्) आरोग्यताको (अशीय) प्राप्तकरूं (दात्रे) दाताके यहां (हयः) घोडोंकी(एधि) वृद्धिकरो (प्रतिग्रहीत्रे) प्रतिग्रह करनेवाले (मह्यम) मेरी (वयः) पशुसम्पत्ति वृद्धिकरो ॥ ४७ ॥

विशेष-दान लेनेसे प्रायश्चित्त होता है, विद्वान् ही उसके ग्रहण करनेको समर्थ हैं सोभी अपनेको देवरूप मानकर लेसकतेहैं जो कि चार वस्तु वरुणने प्रथम दी थीं सो यहां दक्षिणारूपसे ग्रहण है,इन देवताओंकी प्रसन्नताके निमित्त स्वीकार करै इस मंत्रके द्वारा आशीःप्रार्थना है इससे उसका दोष शान्त होताहै दान लेनेदेनेवालेके कल्याणकी वृद्धि होतीहै ॥ ४७ ॥

कण्डिका४८-मंत्र १ ।

कोऽदात्कस्माऽअदात्कामोऽदात्कामायादात् ॥ कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते ॥४८॥ [८] ॥ २९ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कोऽदादित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । कामो दे० । मन्थौदनतिलादिग्रहणे वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) मन्थौदन तिलादि अन्यान्य वस्तुओंके प्रतिग्रहका मंत्र [का० १० । १ । २३] [दाताको दानाभिमान और लेनेवालेको ग्रहण सम्बन्धी दोष नहो इस कारण इन्द्रियसमूहमें कामसम्बन्ध देतेहैं]

मन्त्रार्थ-(कः) कौन महात्माने (अदात्) दानकिया (कस्मै)किसके निमित्त (अदात्) प्रदानकिया [उत्तर] (कामाय) यज्ञफल कामनाहीके निमित्त (अदात्) दानकिया (कामः) कामनाही (दाता) देनेवाली (कामः) अभिलाषाही (प्रतिग्रहीता) प्रतिग्रह करनेवाली है (काम) हे अभिलाषः (एतत्) अभिलाष करने योग्य यह समस्त वस्तु (ते) तुम्हारीही है ।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां शुक्लयजुर्वेदीयायां मंत्रभागे सम्पूर्णविद्याविशारदमिश्रसुखानंदसूनु-पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृत-मिश्रभाष्य-उपांश्वादिप्रदानान्तः सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

ॐ३म्।

अष्टमोऽध्यायः ८.

उपयामगृहीतोसि आदित्येभ्यः पञ्च वाममद्य द्वे सुशर्मास्येका बृहस्पतिसुतस्य द्वे हरिरसिचतस्रः समिन्द्रेणोष्टौ माहिरे जतुदशमास्यःपञ्चकावातिष्ठयुक्ष्वाहीन्द्रमिदेकैका यस्मान्नद्वेग्नेपत्स्वोतिष्ठन्नऽहश्रमुहुत्यमेकेका जिघ्रद्वेविनइन्द्रवाचस्पतिंविश्वकर्मन्नेकैकाग्नयेत्वाचतस्र इहरतिस्तिस्रः परमेष्ठीदश त्रयोविꣳशति स्त्रिषष्टिः ॥

तृतीयसवनग्रहग्रहण ।

कण्डिका-१ मंत्र ३ ।

उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्यादि॒त्येभ्य॑स्त्वा ॥ विष्ण॑ऽउरुगायै॒ष ते॒ सोम॒स्तꣳ र॑क्षस्व॒ मा त्वा॑ दभन् ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः। याजुष्यनुष्टुप्छं०।सोमो देवता । द्रोणकलशादुपयामे आदित्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। दैवी पंक्तिश्छं०। आदित्यस्थाल्यां शेषसिञ्चने वि०। (३) ॐ विष्ण इत्यस्याङ्गिरस ऋ०। साम्नी बृहती छं० । विष्णुर्दे० । आदित्यपात्रेणादित्यस्थाल्यपिधाने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथम कण्डिकासे तीन आदित्य [अर्थात् पूतभृत] नामक ग्रह ग्रहण करे, उनके मध्यमें इस प्रथम मंत्रसे प्रतिप्रस्थाता द्रोण कलशसे उपयामद्वारा सोम ग्रहण करे [का० ९ । ९ । १९] मन्त्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो १ । विधि-(२) उपयाम पात्रमें लगे हुए सोमको दूसरे मंत्रसे आदित्यस्थालीसे सिंचन करे[का० ९।९।२०]मन्त्रार्थ-हे सोम!(आदित्येभ्यः)आदित्य गणोंकी प्रीतिके निमित्त(त्वा)तुमको ग्रहण करताहूं२। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आदित्यस्थालीसे संस्रव सिंचनकरके आदित्यपात्रद्वारा इसको आच्छादित करे (का० ९ । ९ । २१] मन्त्रार्थ-(विष्णु) हे बहुस्तुत ! यज्ञपुरुष (उरुगाय) हे वडी स्तुतिको प्राप्त होनेवाले ! (एषः) यह (सोमः) सोम (ते) तुम्हारे निमित्त अर्पित है (तम्) उस (सोमम्) सोमको (रक्षस्व) रक्षाकरो, रक्षा करनेमें प्रवृत्त तुमको असुरदल (मा) नहीं (दभन्) पीडा दे ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र २ ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ॥ उपोपेन्नु मघवन्भूयऽइन्नु ते दानं देवस्य पृच्यतऽआदित्येभ्यस्त्वा ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कदाचन इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । आर्षी बृहती छं० । आदित्यो देव० । इन्द्रप्रार्थने वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छंदः । ग्रहो देवता । आदित्यपात्रेणादित्यग्रहग्रहणे वि० ॥ २ ॥

विधि–(१–२) आदित्य ग्रह ग्रहणमें इन्द्रकी प्रार्थना [का० १० । ४ । ४] मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्रदेव ! तुम (कदाचन) कभी भी (स्तरीः) हिंसक (न असि) नहीं हो और (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानकी हविको (उत नु उप) यजमानके अत्यन्त समीपमें (सश्चसि) सेवन करते हो (मघवन्) हे धनवन् ! इन्द्र ! (इन्नु भूयः) फिर भी [यजमानके हविके परिवर्तनमें] (देवस्य) देवता (ते) आपका (दानम्) हविरूप दान (उपपृच्यते) तुम्हारे द्वारा सम्बन्धित होता है अर्थात् यजमानकी दी हुई हवि अंगीकार करके अपरिमित अभीष्ट प्रदान करो हे ग्रह ! (आदित्येभ्यः) इस प्रकार आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र २ ।

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ॥ तुरीयादित्य सवनन्तऽइन्द्रियमातस्थावमृतन्दिव्यादित्येभ्यस्त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कदाचनेत्यस्याङ्गिरस ऋ० । निच्यृदार्षी बृहती छं० । आदित्यो दे० । धारातोविच्छिद्यपूतभृतः सकाशादादित्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । ग्रहो देवता । ग्रहग्रहणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१–२) धाराको तोडकर पूतभृतमेंसे अपने समीप लाकर उसी प्रकार आदित्य ग्रहको ग्रहण करे [का० १० । ४ । ५] मंत्रार्थ–(आदित्य) हे आदित्य ! तुम (कदाच) कभीभी (न) नहीं (प्रयच्छसि) प्रमाद करते

हो, अर्थात् उदय ताप पाक प्रकाशसे प्राणियोंपर अनुग्रह करते हुए कभी आलस्य नहीं करते (उभे) देव मनुष्यसम्बन्धी दोनों (जन्मना) जन्ममें (निपासि) अतिरक्षा करते हो (ते) तुम्हारा (तुरीये) चौथा मायासे परे (अमृतम्) अविनश्वर शुद्ध (सवनम्) जगत्प्रवर्तक, विज्ञानानन्दस्वभाव (इन्द्रियम्) जो इन्द्रियरूप पराक्रम है सो (दिवि) द्युलोकमण्डलान्तरमें (आतस्थौ) अभिमुख्यतासे स्थित है "पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" अथवा हे आदित्य ! तुम कभी प्रमाद न करके हमारे दोनों जन्मकी रक्षा करते हो, यह दिव्य तीसरा सवन तुम्हारी प्रीतिके निमित्त है,यह इन्द्रिय वृद्धि करनेवाली स्वधाकी समान हवि तुम्हारे निमित्त प्रस्तुत है १ । हे ग्रह ! (आदित्येभ्यः) आदित्य देवोंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ ॥ ३ ॥

विशेष-ब्राह्मणादिवर्णत्रयके दो जन्म होते हैं एक मातासे जन्म, दूसरा यज्ञोपवीत यह दो जन्मका भी अर्थ संभव होसकता है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

यज्ञोदेवानाम्प्रत्येतिसुम्नमादित्यासोभवतामृ
डयन्तः ॥ आवोर्वाचीसुमतिर्ववृत्यादंहोश्चि
द्यावरिवोवित्तरासदादित्येभ्यस्त्वा ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यज्ञ इत्यस्य कुत्स ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । आदित्यो देव० । गृहीतसोमे दधिमिश्रणे वि० । (२) ॐ आदित्येभ्य इत्यस्याङ्गिरस ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । ग्रहो देवता । गृहीतसोमे दधिमिश्रणे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१-२) इन दोनों मंत्रोंसे इस गृहीत सोममें दही मिलावे [का० १० । ४ । ६ ।] मन्त्रार्थ-(यज्ञः) यज्ञ (देवानाम्) आदित्य देवतोंकी (सुम्नम्) सुख वा प्रीतिकरनेको (प्रत्येति) आगमन करताहै इसकारण (आदित्यासः) हे आदित्यगणो ! तुम (आमृडयन्तः) हमको अवश्यही सुखकारी (भवत) हो (वः) तुम्हारी (सुमतिः) जो स्वभावसिद्ध अनुग्रहबुद्धि है वह (अर्वाची) हमारे अभिमुख (आववृत्यात्) प्रवृत्त हो (अंहः) पापकारीकी वा नास्तिकदलकी (चित्) भी (या) जो सुमति (वरिवोवित्तरा) धनके उपार्जन करनेवाली (असत्) है वह हमारे सन्मुख हो १ । हे सोम ! (आदित्येभ्यः) आदित्य ग्रहकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र २ ।

विवस्वन्नादित्यैषतेसोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व ॥ श्रदस्मैनरोवचसेदधातनयदाशीर्दादम्पतीवामम्मश्नुतः ॥ पुमान्पुत्रो जायतेविन्दतेवस्वथाविश्वाहारपऽएधतेगृहे ॥ ५ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ विवस्वानित्यस्य कुत्स ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । आदित्यो देवता । उपांशुसवनेनादित्यग्रहमिश्रणे वि० । (२) ॐ श्रदित्यस्य कुत्स ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छं० ।आशीर्देवता । पत्न्या पूतभृत्पात्रावेक्षणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) अनन्तर प्रथम मंत्रसे उपांशुसवनके द्वारा इस दहीसे पीसकर भलीप्रकार मिश्रित करै [का० १० । ४ । ७] मंत्रार्थ-(विवस्वन्) हे अंधकारके दूरकरनेवाले ! (आदित्य) हे आदित्य ! (एषः) यह पात्रमें स्थित (ते) तुम्हारे (सोमपीथः) पीनेयोग्य सोम है (तस्मिन्) इसके पानकरनेमें (मत्स्व) प्रसन्नहो । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पत्नी इस पूतभृतपात्रका दर्शन करै [१० । ५ । ४] (नरः) हे यज्ञीय कर्मचारीगण ! (आशीर्दाः) आशीस देनेवाले तुम (अस्मै) इस (वचसे) आशीर्वचनमें (श्रद्धातन) श्रद्धाकरो (यत्) जिस कारण यह (दम्पती) यजमान और उसकी पत्नी (वामम्) वरण करने योग्य क्रियमाण यज्ञके फलको (अश्नुतः) लाभ करै, और इस फलसे इस यजमानके (पुमान्) पुंस्त्वधर्मसम्पन्न (पुत्रः) पुत्र (जायते) हो और यह पुत्र (वसु) धन सम्पत्ति को (विन्दते) प्राप्तकरै (अथ) अनन्तर (विश्वाहा) सम्पूर्ण दिन (अरपः) पापरहित ऋणादिहीन होकर (गृहे) घरमें (आएधते) सब प्रकारसे वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ-दोनों स्त्रीपुरुष यज्ञके फलको प्राप्तहों उनके पुत्र हो वह धन लेकर पापरहित हो अपने घरमें वृद्धिको प्राप्त हो, इस आशीर्वचनमें श्रद्धा आस्तिक बुद्धि करो ॥ ५ ॥

प्रमाण-"श्रत् इति सत्यनामसु पठितम्" निघं० [३ । १० । २] "रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः" इति यास्कः [निरु० ९ । ४ । २१] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १ ।

वाममद्यसवितर्वाममुश्वोदिवेदिवेवाममस्मभ्यं

ॅसावीः ॥ वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेरया धिया वामभाजः स्याम ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवाममित्यस्य भरद्वाज ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता दे० । सावित्रग्रहग्रहणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) ऋत्विग्गण सवनीय पुरोडाश इडा (पुरोडाशरूप खाद्य) भक्षण करके और सवन सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य समाप्त करके उपांशुपात्र वा उपयामपात्रमें इस कण्डिकाके दोनों मंत्रसे सावित्रनामक दूसरा ग्रह ग्रहण करे [का० १० । ५ । १३ ।] (सवितः) हे जगत्के उत्पन्नकरनेवाले ! (अद्य) आज (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (वामम) वरणीय यज्ञफलको (सावीः) प्रेरणा करो, (श्वः) अगले दिन (उ) भी (वामम् उ) यज्ञफलको दीजिये (दिवे दिवे) प्रतिदिन (वामम्) यज्ञ फलको दीजिये (वामस्य) संभजनीय (भूरेः) विस्तीर्ण वा बहुतकालीन (क्षयस्य) स्वर्गलोकनिवासकी सिद्धिके निमित्त (हि) जिस कारणसे (देव) हे देव ! हम (अया) इस (धिया) श्रद्धायुक्त बुद्धिसे (वामभाजः) यज्ञफलके भोगनेवाले (स्याम) होवें । अथवा हे देव ! "वामस्य" भजनीय "भूरेः" धनपूर्ण "क्षयस्य" निवासके दाता हूजिये ॥ ६ ॥

प्रमाण-"दिवेदिवे इत्यह्नो नामसु" [निघं० १ । ९ । ११] "धीरिति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । २१] [ऋ० ५ । १ । १९] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १ ।

उपयामगृहीतोसि सावित्रोसि चनोधाश्चनोधाऽअसि चनो मयि धेहि ॥ जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिम्भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ ७ ॥ [२] शतम्-३००॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छंदः । सविता दे० । सावित्रग्रहग्रहणे वि० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-हे सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (सावित्रः) हे सोमग्रह ! तुम सविता देवता सम्बन्धि (असि) हो (चनोधाः) अन्यके धारण करनेवाले (चनोधाः) अधिकतर अन्नके धारण करनेवाले हो इस कारण (चन) अन्न (मयि) मुझको (धेहि) दो (यज्ञम्) यज्ञको (जिन्व) प्रीति करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (जिन्व) प्रीतिकरो (भगाय) ऐश्वर्यादिगुणयुक्त

(सवित्रे) सबके उत्पादक सविता (देवाय) देवताके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं ॥ ७ ॥

विवरण–सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्यको ऐश्वर्य कहते हैं ॥७॥

कण्डिका ८–मन्त्र २।

उपयामगृहीतोसि सुशर्म्मासिसुप्प्रतिष्ठानोबृहदुक्षायनमः॥ विश्वेब्भ्यस्त्वादेवेब्भ्यऽएषतेयोनिर्विश्वेब्भ्यस्त्वादेवेब्भ्यः ॥ ८ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निच्यृत्प्राजापत्या जगती छं०। विश्वेदेवा दे०। सावित्रग्रहपात्रे महावैश्वदेवग्रह-ग्रहणे वि०।(२) ॐ एषत इत्यस्य भरद्वाज ऋ०। याजुषी जगती छं०। ग्रहा देवता। यथास्थाने समासादने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे सावित्र ग्रह पात्रमें महावैश्वदेव नामक तीसरा ग्रह ग्रहण करै [का०। १०। ६। २] मन्त्रार्थ–हे महावैश्वदेवग्रह ! (उपयाम-गृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (सुशर्मा) श्रेष्ठ कल्याणकी खान वा सुखके आश्रय (सुप्रतिष्ठानः) भले प्रकार पात्रमें स्थित [इन दोनो विशेषणोंसे प्राणरूप कथन किया यथा "प्राणो वै सुशर्मा सुप्रतिष्ठानः" इति श्रुतेः [४, ४, १, १४] ग्रह अन्नरूप और अन्न प्राणहेतु होनेसे ग्रहका प्राणत्व कहा] (बृहदुक्षाय) अत्यन्तसेचनमें समर्थ जगत्के उत्पन्न करनेवाले प्रजापतिके निमित्त (नमः) यह अन्न (असि) है १। (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं १। विधि–(२) अगले मंत्रसे यथास्थानमें स्थापन करे। मन्त्रार्थ–हे महावैश्वदेवग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवा देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं ॥ ८ ॥ प्रमाण–"प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः" इति श्रुतेः [श० ४। ४। १। १४] "नम इत्यन्ननामसु" [निघं० २। ७। २२] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १।

उपयामगृहीतोसिबृहस्प्पतिसुतस्यदेवसोमतऽइन्द्रोरिन्द्रियावतः पत्क्नीवतोग्ग्रहाँ २ऽऋद्ध्यासम् ॥ अहम्पुरस्त्तादहमवस्त्ताद्यदन्तरिक्षन्तदुमेपिता

भूत् ॥ अहमुपरस्तादहमवस्ताद्यदन्तरिक्षन्तदु मे पिताभूत् ॥ अहꣳ सूर्य्यमुभयतो ददर्शाहं देवानाम्परमङ्गुहा यत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । ब्राह्मी गायत्री छं० । सोमो देवता । पत्नीवद्ग्रहमिश्रणे वि० (२) ॐ अहमित्यस्य भर-द्वाज ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छं० । प्रजापतिरूपात्मा देवता । प्रचर्षणीशिष्ट-घृतेन पत्नीवद्ग्रहमिश्रणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) उपांशुग्रहपात्रमें वा अन्तर्याम ग्रहपात्रमें प्रतिप्रस्थाता प्रथम मंत्रसे पत्नीवत् नामक चतुर्थ ग्रह ग्रहण करे [का० १० । ६ । १६] मंत्रार्थ-(देवसोम) हे दीप्यमान देव सोम ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो इस कारण (बृहस्पतिसुतस्य) यज्ञकर्मवाले यजमानसे अभिषुत अथवा ब्राह्मण ऋत्विगादिसे अभिषुत (ते) तुम्हारे सम्बन्धी (इन्द्रोः) रसयुक्त (इन्द्रियावतः) वीर्यवान् (पत्नीवतः) पत्नीसंयुक्त तुम्हारे अनुग्रहसे (ग्रहान्) अन्यान्य उपांशुप्रभृतिग्रहोंको (आऋध्यासम्) समर्द्धित करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे प्रचर्षणीशिष्ट घृतसे पत्नीवत् ग्रहको मिश्रित करै [का० १० । ६ । १७] मंत्रद्रष्टा सर्वगत परमात्मारूप मानकर उच्चारण करता है । मन्त्रार्थ-(अहम्) मैं परमात्मारूप होकर (परस्तात्) ऊपर द्युलोकादिमें (अहम्) मैंही (अधस्तात्) नीचे भूलोकादिमें स्थित हूं (यत्) जो (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती लोक है (तत् उ) वहही (मे) मुझ देहधारीका (पिता) पितृवत् पालक होता है (अहम्) मैं परमरूप हुआ (उभयतः) ऊपर नीचे स्थित होकर (सूर्यम्) सूर्यको (ददर्श) देखताहूं (देवानाम्) देवताओंको (यत्) जो (परमम्) अत्यन्त (गुहा) गोप्य हृदय है सो (अहम्) मैं हूं ॥ ९ ॥

विशेष-होम करते २ प्रचरणीमें अवशिष्ट घृत रहगया वही लेना पूर्ण ज्ञान होनेसे सर्वत्र ईश्वर ही व्याप्त है उसीकी सत्ता लक्षित होती है "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

अग्ना३इपत्नीवन्त्सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमम्पिब स्वाहा ॥ प्रजापतिर्वृषासि रेतोधा रेतो मयि धेहि प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधामशीय ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । भुरिगार्ची गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्नेरुत्तरभागे पत्नीवद्ग्रहहवने वि०। (२) ॐ प्रजापतिरित्यस्य भरद्वा० ऋ० । आर्ची त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । अवेक्षणे वि० ॥ १० ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे अध्वर्यु पत्नीवत् नाम ग्रहको अग्निके उत्तर भागमें हवन करै [का० १० । ६ । १९] मन्त्रार्थ–(पत्नीवत्) पत्नीवत् हे (अग्ना३ इ) अग्नि ! (त्वष्टा) त्वष्टा (देवेन) देवताके (सजूः) सहित (सोमम्) सोमको (पिब) पानकर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ ॥ विधि–(२) उद्गातापत्नीको उत्तरद्वारपथमेंके सदोमण्डपमें प्रवेश कराकै आप दक्षिण भागमें उपविष्ट होकर इस पत्नीको अवलोकन करै अनन्तर नष्टा इस पत्नीको पश्चिम द्वारसे सदोमण्डपमें फिर प्रवेश करावै, उद्गाताके उत्तर भागमें इसको बैठाकर कहै कि उद्गाताको अवलोकन कर,तब पत्नी इस मंत्रको पाठ करते उसको अवलोकन करै [का० १० । ७ । ३] मन्त्रार्थ–हे उद्गातः ! [प्रजापतिः) प्रजाओंके पालक (वृषा) सिंचनमें समर्थ (रेतोधाः) वीर्यके धारण करनेवाले (असि) हैं (रेतः) वीर्य (मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करैं (वृष्णः) वीर्यके सिंचन करनेवाले (रेतोधसः) वीर्यके धारणकरनेवाले (प्रजापतेः) प्रजापति (ते) आपके अनुग्रहसे (रेतोधाम्) प्रजोत्पादनमें समर्थ वीर्यवान् पुत्रको (अशीय) मैं प्राप्त करूं २ ॥ १० ॥

विशेष–गार्हपत्य अग्निके समीप ही यजमानपत्नीका वासस्थान है इस कारण इसको पत्नीवान् कहते हैं ।

इस मंत्रद्वारा तपकी शक्तिसे यजमानपत्नी गर्भधारणकरनेमें समर्थ होती थी तपस्वि महर्षियोंके दर्शनसेही सन्तानकी प्राप्ति वेदमंत्रोंद्वारा होतीहै. यह गूढ विषय है ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मंत्र २ ।

उपयामगृहीतोसि हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा ॥ हर्य्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय ॥ ११ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उपयामेत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० ऋक्सामे दे० । उपयामे हारियोजनग्रहग्रहणे वि० (२) ॐ हर्योरित्यस्य भरद्वाज ऋ० । याजुषी जगती छं० । धाना देवता । धानावपने वि० ॥ ११ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे हारियोजननामक पंचम ग्रहको उपयामपात्रद्वारा ग्रहण करै [का० १० । ८ । १] मंत्रार्थ–हे पंचम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रद्वारा गृहीत (असि) हो (हारियोजनः) हारियोजननामवाले [अर्थात्

इस ग्रहको प्रस्तुत हुआ जानकर इस स्थलमें आनेके निमित्त इन्द्र अपने रथमें हरि [अश्व योजन करते हैं इस कारण हारियोजन कहा] (हरिः) हरितवर्ण रश्मि वा सोमरूप (असि) हो (हरिभ्याम्) ऋक्और सामवेदकी प्रीतिके निमित्त(त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं[ऋक्साम वै हरी ऋक्सामाभ्याᳬह्येनं गृह्णाति''इति श्रुतेः[श०४। ३।६]विधि-(२) दूसरे मंत्रसे हारियोजन ग्रहमें भुने जौ रक्खै [का०१० । ८। २] मन्त्रार्थ-(सहसोमाः) सोमके सहित (धानाः) हे धान्यसमूह ! तुम(इन्द्राय) इन्द्रदेवताके (हर्योः) दोनों हरित अश्वोंकी प्रीतिके निमित्त (स्थ) इस हारियोजननामक ग्रह सोमसे मिश्रित होते हो ॥ ११ ॥

विशेष-किसीके मतमें 'हरिभ्याम्' पदसे इन्द्रके अश्वद्वयकी उपासना कथन है प्रकृतपक्षमें इन्द्रसे सूर्य और किरणजाल उसके अश्व हैं ॥ ११ ॥

तृतीयसवनग्रह पूर्ण हुए ।

अथ शेषक्रिया ।

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

यस्ते॑ऽअश्व॒सनि॑र्भ॒क्षो यो गो॒सनि॒स्तस्य॑त॒ऽइ॒ष्टय॑जुष स्तु॒तस्तो॑मस्य श॒स्तोक्थ॒स्योप॑हूत॒स्योप॑हूतो भक्षयामि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । भक्ष्यद्रव्यं दैवतम् । प्राणभक्षं भक्षयित्वोत्तरवेदौ निवपने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) अनन्तर समस्त ऋत्विग्गण इस मंत्रके पाठपूर्वक यह सोमरससिक्त धान्य भक्षण करैं,शेष उत्तरवेदीमें डालदें[का० १०।८।५] मंत्रार्थ-हे सोमसिक्त धान्यरूप उत्कृष्ट खाद्य ! (इष्टयजुषः) यजुर्मन्त्रोंसे इष्ट (स्तुतस्तोमस्य) उद्गातृद्वारा ऋक्मंत्रोंसे स्तुत (शस्तोक्थस्य) होताओं द्वारा सामके उक्थ मंत्रोंसे शस्त (उपहूतस्य) इस समय उपहूत (ते) तुम्हारा (यः) जो (भक्षः) भक्षण फल (अश्वसनिः) घोडोंका देनेवाला है (यः) जो भक्ष (गोसनिः) गौओंका दाता है (तस्य) उस (ते) तुम्हारे उस भक्षफलको (उपहूतः) अनुज्ञाको प्राप्तकरके (भक्षयामि) मैं भक्षण करता हूं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र ६ ।

दे॒वकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि मनु॒ष्य॒कृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि पि॒तृकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमस्या॒त्मकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नम॒स्यैन॑सऽएन॑सोऽव॒यज॑नमसि ॥

यच्चाहमेनो॑ विद्वाँश्च॒कार॒ यच्चावि॑द्वाँस्तस्य॒ सर्व॑स्यै॒नसो॑ऽव॒यज॑नमसि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवकृतस्येति मन्त्रस्य भरद्वाज ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देव० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (२) ॐ मनुष्यकृतस्येत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (३-४) ॐ पितृकृतस्येत्यस्य आत्मकृतस्येत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य भरद्वाज ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीयेऽग्नौ शकलाधाने वि० । (५) ॐ एनस इत्यस्य भरद्वाज ऋ० । आसुरी बृहती छं० । आहवनीये शकलाधाने वि० । (६) ॐ यच्चाहमित्यस्य भरद्वाज ऋ० । आर्ची बृहती च्छन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीये शकलाधाने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६) इस कण्डिकाके मंत्रोंसे यूपनिर्मितिसमय जो काष्ठखण्ड अवशिष्ट रहे थे उनको हवन करदे [का० १० । ८ । ६] मन्त्रार्थ-हे शकल ! अग्निमें आहूयमान तुम (देवकृतस्य) देवताओंके विषय किये हुए यजन अभावादिलक्षणवाले (एनसः) पापके (अवयजनम्) दूरकरनेवाले (असि) हो १ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (मनुष्यकृतस्य) मनुष्योंने किये हुए द्रोह निन्दादि (एनसः) पापके (अवयजनमसि) निवारण करनेवाले हो २ । मन्त्रार्थ-हे काष्ठखण्ड ! तुम (पितृकृतस्य) पितरोंमें किये श्राद्धआदि नकरनेवाले (एनसः) पापके (अवयजनम्) विनाश करनेवाले (असि) हो ३ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (आत्मकृतस्य) अपनी आत्मामें किये निन्दादि (एनसः) पापके (अवयजनम्) नाशक (असि) हो ४ । हे काष्ठखण्ड ! तुम (एनसः एनसः) सम्पूर्ण संसर्गसे उत्पन्नपापोंके (अवयजनम्) नाशक (असि) हो ५ । हे हूयमान काष्ठखण्ड ! (च) और (विद्वान्) जान बूझकर (यत्) जो (एनः) पाप (अहम्) मैने (चकार) किया है (च) और (अविद्वान्) विनाजाने (यत्) जो पाप कियाहै (तस्य) उस (सर्वस्य) संपूर्ण (एनसः) पापके (अवयजनम्) नाशकरनेवाले (असि) हो हमारे सब पाप विनष्ट करो ६ ॥ १३ ॥

विवरण-यहां काष्ठखण्डमें व्यापकतासे परमात्माका सम्बोधन है ॥ ११ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

सं वर्च॑सा॒ पय॑सा॒ सन्त॒नूभि॒रग॑न्महि॒ मन॑सा॒ सꣳ शि॒वेन॑ ॥ त्वष्टा॑ सु॒दत्रो॒ वि द॑धातु॒ रायोऽनु॑मार्ष्टु त॒न्वो॒ यद्वि॑लि॑ष्टम् ॥ १४ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ संवर्चसेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा दे० । चमसाभिमन्त्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि-(४) यजमान चत्वालकी अपर दिशामें कुछ उदकपूर्णकलशके ऊपर हरित कुशा बिछाकर यह मंत्र पाठ करै [का० १० । ८ । ७] मन्त्रार्थ-(संवर्चसा) इसकी व्याख्या २ अध्या० २४ कण्डिकामें होगई है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र २ ।

प्रथम मंत्र ।

समिन्द्रणो मनसा नेषि गोभिः सꣳ सूरिभिर्म्मघवन्त्सꣳ स्वस्त्या ॥ सम्ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सन्देवानाꣳ सुमतौ यज्ञियानाꣳ स्वाहा ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिन्द्रमित्यस्य अत्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवता । समिष्टयजुर्हवने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) इन नौ मंत्रोंसे समष्टि यजुहोम करै अर्थात् इन नौ मंत्रोंकी आहुतिको समष्टियजु कहतेहैं [का० १०।८।११] मंत्रार्थ-(मघवन्) हे धनवन्! (इन्द्र) इन्द्र देव ! (मनसा) मनके अनुग्रहसे(नः) हमको (सन्निषि) संयोग करो अर्थात् हमको उत्कृष्ट मन प्राप्त करो (गोभिः) वाणी वा गवादि पशुओंको (सम्) प्राप्त कराओ अर्थात् हमारी सब इन्द्रिय उत्कृष्ट हों (सूरिभिः) पण्डित वा उत्कृष्ट होत्रादिसे वा बडे बुद्धिमानोंसे (सम्) संयुक्त करो (स्वस्त्या) उत्कृष्ट कल्याण प्राप्त कराओ (ब्रह्मणा) परब्रह्मसे वा अर्थज्ञानसहित वेदकरके (सम्) संयुक्त करते हो (देवकृतम्) देवताओंके निमित्त किया हुआ कर्म (यत्) जो (अस्ति) है तथा (यज्ञियानाम्) यज्ञसम्बन्धि (देवानाम्) देवताओंकी (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धिसे (सम्) संयुक्त करता है (स्वाहा) इस प्रकार आपके निमित्त श्रेष्ठ होम हो । [आशय यह कि यज्ञीय देवगणोंके निमित्त जो जो अनुष्ठान हुआहै वह वह सुदृष्टिसे प्राप्त कराओ] [ऋ० ४ । २ । १७ में कुछ बदल है] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

दूसरा मंत्र ।

संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सꣳ शिवेन ॥ त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संवर्चसेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा देवता । यजुर्हवने वि० ॥ १६ ॥

इसकी व्याख्या दूसरे अध्यायकी २४ कण्डिकामें होगई ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १।

तीसरा मंत्र ।

धाता रातिः सविता इदञ्जुषन्ताम्प्रजापतिर्निधिपा देवोऽअग्निः ॥ त्वष्टा विष्णुः प्रजया सᳬ रराणा यजमानाय द्रविणन्दधात स्वाहा ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धाता इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । धातृसवितृप्रजापतिदेवाग्नित्वष्टृविष्णुदेवा देवताः । यजुर्हवने वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(रातिः) दानशील (धाता) धाता देवता (सविता) सविता देवता (निधिपाः) पद्म महाशंखादि निधियोंके पालनकरनेवाले (प्रजापतिः) प्रजापति (देवः) दीप्यमान (अग्निः) अग्निदेवता (त्वष्टा) त्वष्टृदेवता (विष्णुः) भगवान् विष्णु (इदम्) इस हमारी समष्टियजुलक्षण हविको (जुषन्ताम्) सेवन करें और यह देवता (प्रजया) यजमानसम्बन्धि संततिके साथ (संरराणाः) भली प्रकार रमण करते हुए (यजमानाय) यजमानके निमित्त (द्रविणम्) धनपुष्टिको (दधात) प्रदान करें (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो अर्थात् आहुतिके विनिमयसे यजमानके धनसम्पत्ति पुत्र हों ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १।

चौथा मन्त्र ।

सुगा वो देवाः सदना ऽअकर्म्म यऽआजग्मेदᳬ सवनञ्जुषाणाः ॥ भरमाणा वहमाना हवीᳬष्यस्मे धत्त वसवो वसूनि स्वाहा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुगाव इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । देवा देवताः । यजुर्हवने वि० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(देवाः) हे देवताओ ! (ये) जो तुम (इदम्) इस (सवनम्) यज्ञको (जुषाणाः) सेवन करते हुए (आजग्म) इस स्थानमें आये हो (वः) तुम्हारे (सदना) स्थान (सुगाः) सुखसे प्राप्त होनेयोग्य (अकर्म) हमने करदियेहैं (वसवः) हे सबमें निवासकरनेवाले देवताओ ! (हवींᳬषि) यज्ञसमाप्तिमें हवियोंको (भरमाणाः) भरणकरनेवाले जो रथमें बैठनेवाले हैं वे रथोंमें धारण करैं जिनके पास रथ नहीं हैं वे स्वयं (वहमानाः) वहन करते हुए (अस्मे) हमने (वसूनि) धनोंको (धत्त) धारण करो (स्वाहा) यह आहुति सम्यक् प्रकारसे आहुत हो ॥ १८ ॥

इति शेषक्रिया ।

अथ विसर्जन ।

कण्डिका १९–मन्त्र १ ।

पञ्चम मन्त्र ।

याँ२ऽआवहऽउशतो देव देवाँस्तान्प्रेरय स्वेऽअग्ने सधस्थे ॥ जक्षिवाᳬंसः पपिवाᳬंसश्च विश्वेसुं घर्मᳬं स्वरातिष्ठतानु स्वाहा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यानित्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षीत्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (देव) हे दीप्यमान देवता ! (यान्) जिन (उशतः) हविकी कामना करनेवाले (देवान्) देवताओंको तुम (आवहः) बुलाकर लाये हो (तान्) उन (देवान्) देवताओंको (स्वे) अपने २ (सधस्थे) स्थानोंमें (प्रेरय)भेजो (विश्वे) सब तुम (जक्षिवांसः)सवनीय पुरोडाशादिको भक्षण करते (पपिवांसः) सोमपान करते हुए (च) भी इस समय यज्ञसमाप्तिमें (असुम्) हिरण्यगर्भ प्राणलक्षणवाले वायुमण्डलमें (घर्मम्) आदित्यमण्डलको (स्वः)वा द्युलोकको (अन्वातिष्ठत) आश्रयकरो इस प्रकार निवेदन कर उनको उनके निज निज स्थानमें प्रेरणकरो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीतहो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १ ।

छठा मंत्र ।

यᳬं हि त्वा प्रयति यज्ञेऽअस्मिन्नग्ने होतारमवृ

मीमहीह ॥ ऋधगयाऽऋधगुताशमिष्ठाःप्रजानन्यज्ञमुपयाहिविद्वान्त्स्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वयमित्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (हि) जिस कारणसे कि (इह) इस दिन वा स्थानमें (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञके (प्रयति) प्रवृत्त होनेमें (होतारम्) देवताओंके आह्वान करनेवाले वा होमके निष्पादक (त्वा) तुझको (वयम्) हमने (अवृणीमहि) वरणकिया था "अग्निर्वै दैव्यो होता" इतिश्रुतेः । इसी कारण (ऋधक्) समृद्धिपूर्वक अथवा यज्ञको वृद्धि देते हुए तुमने (अयाः) यज्ञकराया अर्थात् अपना स्वीकृतकार्य जिसप्रकार उत्कृष्ट होजाय इसप्रकार यज्ञकराया (उत) और (ऋधक्) यज्ञकी वृद्धि देते हुए (अशमिष्ठाः) यज्ञके प्रायश्चित्तको शान्त किया अर्थात् इतने समयतक यज्ञके विघ्न शांत रक्खे (विद्वान्) ज्ञानवान् तुम (यज्ञम्) यज्ञको पूर्ण हुआ (प्रजानन्) जानकर (उपयाहि) अपने स्थानको गमन करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

सप्तम मन्त्र ।

देवागातुविदोगातुंवित्त्वागातुमित ॥ मनसस्पतऽइमन्देवयज्ञꣳस्वाहावातेधाः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवा इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । स्वराडार्ष्युष्णिक्छं० । मनसस्पतिर्दे० । हवने वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(देवा इति) इस मंत्रकी व्याख्या २ अध्यायकी २१ कण्डिकाके दूसरे मंत्रमें होगई 'इसका वायु देवता भी है' ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र २ ।

अष्टम नवम मंत्र ।

यज्ञयज्ञङ्गच्छयज्ञपतिङ्गच्छस्वांयोनिङ्गच्छस्वाहा ॥ एषतेयज्ञोयज्ञपतेसहसूक्तवाकꣳसर्ववीरस्तञ्जुषस्वस्वाहा ॥ २२ ॥ [८]

ऋष्यादि–(१) ॐ यज्ञ यज्ञमित्यस्यात्त्रिर्ऋषिः । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । यज्ञो देवता । हवने वि० । (२) ॐ एषत इत्यस्यात्त्रिर्ऋषिः । भुरिक्साम्न्युष्णिक्छं० । यज्ञो देवता । हवने वि० ॥ २२ ॥

मंत्रार्थ–(यज्ञ) हे यज्ञ ! (यज्ञम्) अपनी प्रतिष्ठाके निमित्त विष्णु भगवानके प्रति (गच्छ) गमन कर (यज्ञपतिम्) फलदान करनेको यजमानके प्रति (गच्छ) गमन कर (स्वाम्) अपनी (योनिम्) कारणभूतवायुकी क्रियाशक्तिके प्रति अथवा द्रव्यदेवताके प्रति (गच्छ) गमन कर (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ । मन्त्रार्थ–(यज्ञपते) हे यजमान ! (एषः) यह अनुष्ठान किया हुआ (यज्ञः) यज्ञ (ते) तेरा है जो कि यह यज्ञ (सह सूक्तवाकः) ऋग्वेदके सूक्त और सामवेदीय वाक्योंसे युक्त है तथा (सर्ववीरः) सोमसवनचरुपुरोडाशादिसे पूर्णाङ्ग है (तत्) उस यज्ञको (जुषस्व) फल भोगनेसे सेवनकरो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २२ ॥

कण्डिका: २३–मन्त्र ३ ।

माहिर्भूर्म्मापृदाकुः उरुᳬंहिराजावरुणश्चकार सूर्यायपन्थामन्वेतवाऽउ ॥ अपदेपादाप्प्रतिधातवेकरुतापवक्ताहृदयाविधश्चित्॥ नमोवरुणायाभिष्ठितोवरुणस्यपाशः ॥ २३

ऋष्यादि–(१)ॐ माहिर्भूरित्यस्यात्त्रिर्ऋषिः । दैवी जगती छं० । रज्जुर्देवता । चात्वाले कृष्णविषाणामेखलाप्रक्षेपणे वि० । (२) ॐ उरुमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देव० । प्राङ्मुखेन यजमानेन पठने वि० । (३) ॐ नम इत्यस्य शुनःशेप ऋ० । आसुरी गायत्री छन्दः । वरुणो दे० । पठित्वा गमने वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१) यजमानके हाथमें स्थित कृष्णविषाण [२ अ १० क० ४ मंत्रसे गृहीत और कटिमें स्थित मेखला [२ अध्यायकी दशम कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे गृहीत] को प्रथम मंत्रसे चत्वालमें निक्षेप करै [का० १० । ८ । १३] मन्त्रार्थ–हे मेखलारज्जु ! तुम जलमें पतित होकर (आहिः) सर्पाकार (मा) मत (भूः) होना [विषाणके प्रति] हे कृष्णविषाण ! तुम (पृदाकुः) अजगररूप (मा) मतहोना १ ।

अथ अवभृथक्रिया ।

विधि-(२) अवभृथ कार्यको गमनोद्यत चत्वालके समीपमें उपस्थित प्राङ्मुख यजमानको अध्वर्यु इस दूसरे मंत्रका पाठ करावै [का० १० । ८ । १९] मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुण (राजा) राजाने (सूर्य्याय) सूर्यके (अन्वेत) प्रतिदिन गमन करनेके निमित्त (वाउ) और (हि) जिस कारणसे (अपदे) अन्तरिक्षमें (उरुम्) विस्तीर्ण (पन्थाम्) मार्गको (चकार) किया है इस कारण हमकोभी अन्तरिक्षमें (पादा) चरण (प्रतिधातवे) निक्षेप करनेको (अकः) मार्ग करो अर्थात् स्वर्गगमनके निमित्त मार्ग करो (उत्) और जो वरुण (हृदयाविधः) हृदयके पीडा देनेवाले (चित्) तथा निन्दककेभी (अपवक्ता) तिरस्कार करनेवाले हैं अथवा सूर्यकी उपासना करके अवभृथस्नानके निमित्त गमनोद्यत यजमानके गमनक्लेश निवारणके निमित्त वरुण राजाने राजमार्ग सुप्रशस्त किया है और मर्मभेदी वाक्यप्रयोग करनेमें पटु दुरात्माओंके हृदयान्तरिक्षमें यह पद्क्रमण विहित हो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करते गमन करै। मन्त्रार्थ-(वरुणस्य) वरुण देवताका (पाशः) पाश (अभिष्ठितः) संयत वा वशीभूत हुआ अव, बंधन न करैंगे (वरुणाय) वरुण देवताके निमित्त (नमः) नमस्कार हो ३ ॥ २३ ॥

विवरण-याज्ञिक जनोंको यज्ञक्रियात्मक अवभृथस्नानके निमित्त नदीतटमें जाना होता है, ऋत्विक् और अन्यान्य दर्शक गण उनके साथ जाते हैं, उस कारण वह मार्ग प्रशस्त कराजाता है, यह राजाका कर्तव्य है जिस स्थलमें राजाही स्वयं यजमान हो उस स्थलमें इस मंत्रसे मार्गकी प्रशस्तताका आदेश जानना, अर्थात् इस कर्मसमाप्तिकी अवस्था दर्शनसे निन्दकगण अतिशय क्लेश पावै ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

अ॒ग्नेरनी॑कम॒पऽआवि॑वेशा॒पान्नपा॑त्प्रति॒रक्ष॑न्नसु॒र्य्य॑म् ॥ दमे॑दमे स॒मिधं॑ यक्ष्यग्ने॒ प्रति॑ ते जि॒ह्वा घृ॒तमुच्च॑रण्य॒त्स्वाहा॑ ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेरित्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अप्सु प्रास्तायां समिधि चतुर्गृहीताज्यहवने वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) जलके मध्यमें समिधप्रक्षेप करकै उसके ऊपर चतुर्गृहीत आज्य इस मंत्रसे हवन करै [का० १० । ८ । २२] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि

देव ! अंगनशील तुम्हारा (अपान्नपात्) अपान्नपात्संज्ञक (अनीकम्) मुख है उसको (अपः) जलोंमें (आविवेश) प्रवेश करो (दमेदमे) उस उस यज्ञस्थानमें (असुर्यम्) असुरकृत यज्ञ विघ्नसे (प्रतिक्षन्) रक्षाकरते हुए (समिधम्) समिधाके साधन घृतसे (यक्षि) संगत करो अर्थात् सब अवभृथमें समिधयाग होता है (अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (जिह्वा) ज्वाला (घृतम्) घृतके (प्रतिउच्चरण्यत्) प्रति उद्यत हो अर्थात् प्रति अवभृथमें तुम्हारी जिह्वा घृतास्वादन करती है [अश्वमेधमें कई अवभृथ होते हैं](स्वाहा)यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥२४॥

कण्डिका २५–मन्त्र १ ।

समु॒द्रे ते॒ हृद॑यम॒प्स्व॒न्तः सन्त्वा॑ विश॒न्त्वोष॑धीरु॒ताऽऽपः॑ ॥ य॒ज्ञस्य॑ त्वा यज्ञपते सू॒क्तोक्तौ॒ नमो॑वाके विधेम॒ यत्स्वाहा॑ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ समुद्र इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । सोमो दे० । अप्सु ऋजीषकुम्भप्रक्षेपणे वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे ऋजीषकुंभको जलमें प्रक्षेप करे किन्तु वहाव नहीं [का० । १० । ९ । १] मन्त्रार्थ–हे सोम ! (यत्) जो (ते) तेरा (हृदयम्) हृदय (समुद्रे) समुद्रके (अप्सु) जलोंमें (अन्तः) अन्तर स्थित है वहां तुमको प्रेषित करताहूं वहां स्थित (त्वा) तुमको (ओषधीः) औषधियें (उत) और (आपः) जल (संविशन्तु) प्रवेश करें (यज्ञपते) हे यज्ञके पालक सोम ! (यज्ञस्य) यज्ञके (सूक्तोक्तौ) शोभन वचनोच्चारणमें (नमोवाके) नमस्कारवचनमें(त्वा) तुमको (विधेम) स्थापन करते हैं अर्थात् यज्ञीय सूक्तवाक्य 'सामवेदाय नमः' साम तुम्हारी प्रीतिके निमित्त विधान करते हैं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २५ ॥

विवरण–सारहीन सोमको ऋजीष कहते हैं यह समस्त ऋजीष इस कुम्भमें रक्षित है यह ऋजीषपूर्णकुम्भ ऋजीषकुम्भ कहता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र २ ।

देवी॑राप ए॒ष वो॒ गर्भ॒स्तꣳ सुप्री॑तꣳ सुभृ॑तम्बिभृत ॥ देव॑ सोमै॒ष ते॑ लो॒कस्तस्मि॒ञ्छञ्च॒ वक्ष्व॒ परि॑ च वक्ष्व ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ देवीराप इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । भुरिक्साम्नी बृहती छं० । आपो देवता । उपस्थाने वि० । (२) ॐ देव इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । उपस्थाने वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) जो ऋजीषकुंभ जलमें स्थित है उसको छोडकर उपस्थान करे [का० १० । ९ । २] मन्त्रार्थ-(देवीः आपः) हे दिव्यगुणयुक्त जलो ! (वः) तुम्हारा (एषः) यह सोमकुंभ (गर्भः) गर्भस्थानीय है (तम्) इस प्रकार इसको (सुप्रीतम्) प्रीतिपूर्वक (सुभृतम्) पुष्टिपूर्वक (बिभृत) धारण करो (देव-सोम) हे देवसोम ! (ते) तुम्हारा (एषः) यह (लोकः) जललक्षणवाला स्थान है (च) और (तस्मिन्) इसमें अवस्थित होकर (शम्) सुखको (वक्ष्व) वहन करो सुख दो(परिवक्ष्व च)और हमारे सब दुःख दूरकर रक्षा करो "तस्मिन्नः शञ्चैधि सर्वाभ्यश्चन आर्तिभ्यो गोपाय" इति श्रुतिः [श०४।४।५। २१] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र २।

अव॑भृथनिचुम्पुण निचे॒रुर॑सि निचुम्पु॒णः॑ ॥ अव॑ दे॒वैर्दे॒वकृ॑त॒मेनो॑ऽयासिष॒मव॒ मर्त्यै॒र्मर्त्य॑कृतम्पुरु॒राव्णो॑ देवरि॒षस्पा॑हि दे॒वानाᳬसमिद॑सि॥२७॥[९]

ऋष्यादि-(१) ॐ अवभृथेत्यस्यात्रिर्ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो देवता।अप्सु ऋजीषकुम्भनिमज्जने वि० (२) ॐ अवदेवैरित्यस्यात्रिर्ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । आहवनीये समिदाधाने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) अनन्तर इस प्रथम मंत्रका पाठ करके यह कुंभ जलमग्न कर यजमान स्वयं स्नान करे [का० १० । ९ । ३] मन्त्रार्थ-हे (अवभृथ) अवभृथ यज्ञविशेष ! तुम(नि चुम्पुण)अतिमन्द गतिसे गमन करो यद्यपि तुम(निचेरुः) अत्यन्त गमनशील (असि) हो तो भी (निचुम्पुणः) अतिमन्दगतिसे गमन करो (देवैः) प्रकाशमान हमारी इन्द्रियोंसे (देवकृतम्) हविके स्वामी देवताओंमें किया हुआ जो (एनः) पाप है सो (अवयासिषम्) जलमें त्यक्त किया (मर्त्यैः) हमारे सहायभूत ऋत्विजोंने (मर्त्यकृतम्) यज्ञदर्शनको आये हुए मनुष्योंकी अवज्ञारूप जो पाप किया है वह भी (अव) जलमें त्याग किया (देव) हे अवभृथाख्य यज्ञ ! (पुरुराव्णः) बहुत विरुद्ध फल देनेवाले (रिषः) वधसे (पाहि) हमारी रक्षा करो तुम्हारे प्रसादसे कोई दोष हमको न लगे । विधि-(२)अनन्तर यज्ञागारमें फिर आकर नित्यस्थापित आहवनीय अग्निमें दूसरे मंत्रसे समिदाधान

करै[का०९ । ५ । ३९] मंत्रार्थ-(देवानाम्) देवताओंकी सम्बन्धवाली (समित्) समिधा दीप्तिमान् (असि) होती है । इति विसर्जनम् । अवभृथसमाप्तिः ॥ २७ ॥

गर्भिणीप्रायश्चित्त ।

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

एजंतुदशमास्योगर्ब्भोजरायुणासह ॥ यथायंवायुरेजंतियथासमुद्रऽएजंति ॥ एवायन्दशमास्योऽअस्रंजरायुणासह ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एजत्वित्यस्यात्रिर्ऋषिः । त्र्यवसानामहापंक्तिश्छंदः । गर्भो दे० । गर्भाभिमन्त्रणे वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) गर्भको इस अवसरमें जल लेकर इस मंत्रसे अभिमंत्रण करै[का० २५ । १० । ७] मंत्रार्थ-(दशमास्यः) दश महीनेका पूरा (गर्भः) गर्भ (जरायुणासह) गर्भवेष्टन जरायुके साथ (एजतु) चलायमान अर्थात् कम्पित हो (यथा) जिस प्रकार (अयम्) यह (वायुः) पवन (एजति) कम्पित होती है (यथा) जैसे (समुद्रः) समुद्र (एजति) अपनी लहरोंसे कम्पित होता है (एवम्) इसीप्रकार(अयम्) यह (दशमास्यः) दश महीनेका पूर्ण गर्भ(जरायुणा) जरायुके (सह) साथ (अस्रत्) उदरसे वाहर हो ॥ २८ ॥

विवरण-यदि गर्भको पूरे दश महीने न हुएहों तो भी यही मंत्र उस न्यूनताको पूर्ण करताहै; "तमेतदप्यदशमास्यं सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति" इति श्रुतेः [श० ४ । ५ । २ । ४] यही मंत्र ग्यारहसहस्र जपनेसे स्त्रीके वालक उत्पन्न होनेमें कष्ट होता हो तो सुखसे प्रसव होताहै; इसी प्रकार गोजातिके भी उपयोगी है ॥ २८ ॥

कण्डिका२९-मंत्र १ ।

यस्यैते यज्ञियोगर्ब्भोयस्यैयोनिर्हिरण्ययी ॥ अङ्गान्यहुतायस्यतम्मात्रासमंजीगमꣳस्वाहा ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्या इत्यस्यात्रिर्ऋषिःभुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । वशा देवता । अवदानहोमे वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) अवदान हवन करै [का०२५ । १० । ११] मन्त्रार्थ-(यस्यै) जिस श्रेष्ठ लक्षणवाली (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (यज्ञियः) यज्ञसम्बन्धी है

(यस्यै) जिस (ते) तेरी (योनिः) जन्मस्थान (हिरण्ययी) सुवर्ण सदृश शुद्ध है [मंत्रद्वारा योनिकी गर्भसे सगति करीजाती है] (यस्य) जिस गर्भके (अंगानि) अंग (अह्रुता) अकुटिल अखडित और सरल हैं (तम्) उस गर्भको (मात्रा) मातासे (समजीगमम्) भली प्रकार मंत्रद्वारा सम्मिलित करताहूं (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

पुरुदस्स्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्म्महिमानमानञ्ज धीरः ॥ एकपदीन्द्विपदीन्त्रिपदीञ्चतुष्पदीमष्टापदीम्भुवनानुप्प्रथन्ताᳪंस्वाहा ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ पुरुदस्म इत्यस्यात्रिर्ऋषिः । आर्षी जगती० । गर्भो देवता । स्विष्टकृतमनु हवने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) प्रतिप्रस्थाता प्रचरणीसे रस ग्रहण कर अध्वर्यु द्वारा स्विष्टकृत हवन सम्पन्न होनेपर हवन करे [का० २९ । १० । १९] इन्द्ररूपसे गर्भस्तुति. मन्त्रार्थ-(पुरुदस्मः) बहुत दानसे युक्त (विषुरूपः) बहुत रूपवाला (अन्तः) उदरमें स्थित (धीरः) बुद्धिशाली वा धीरतायुक्त (इन्दुः) सोम सदृश क्लेदनरूप गर्भ (महिमानम्) महिमाको (आनञ्ज) प्रगट करो इस प्रकार गर्भकी महिमा वाली माताको (भुवना) भुवनसमूह (एकपदीम्) एक ब्रह्मवाचक अक्षरवाली (द्विपदीम्) दोपद मनुष्यता युक्त वा कर्म उपासना ज्ञानवाली (त्रिपदीम्) कर्म उपासना ज्ञान अथवा तीनपदा गायत्री वा तीन अवस्थायुक्त अथवा कर्मप्रतिपादक वेदत्रयरूप वा अर्थ धर्म कामरूप (चतुष्पदीम्) चारों आश्रमसे प्राप्त होनेवाला, वा अर्थ धर्म काम मोक्षयुक्त अथवा पत्नी और सयाजकसे चार पदवाली अथवा चारवर्णसे प्रशंसित (अष्टापदीम्) चार वर्ण चार आश्रमसे आठ पदयुक्त, वा अष्टांगयोगयुक्त [पशुपक्षमें] चारपद गर्भके और चारपद पशुके इस प्रकार अष्टपादयुक्त (अनुप्रथन्ताम्) विख्यात करैं (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥३०॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ॥ स सुगोपातमो जनः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) मरुत इत्यस्य गोतम ऋ० । आर्षी गायत्री छं० । मरुतो देवताः । शामित्रवेदिस्थितेऽग्नौ हवने ॥ ३१ ॥

विधि-(१) पूर्वविहित समिष्टि होमके उपरान्त शामित्रवेदीमें स्थित अग्नि में हवनकरै मंत्रके अन्तमें स्वाहा शब्दका प्रयोग करै [का० २५ । १० । १] मन्त्रार्थ-(दिवः) द्युलोक सम्बन्धी (विमहसः) विशिष्ट तेजसे युक्त अथवा अतिपूजनीय (मरुतः) मरुत् देवता (यस्य) तुमने जिस यजमानके (क्षये) यज्ञस्थानमें (पाथा) सोमपानकिया (हि) निश्चय करके (सः) वह यजमान नामक (सुगोपातमः) वहुत कालतक तुम्हारे द्वारा रक्षित हौं [ऋ० १ । ६ । ११] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

मुही द्यौः पृथिवी च न इमं युज्ञम्मिमिक्षताम् ॥ पिपृतान्नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ महीद्यौरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । द्यावापृथ्वी दे० । अङ्गारैरभ्यूहने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) शामित्रस्थानमें स्थित इस गर्भको अगारोंसे आच्छादित करै [का० २५ । १० । १८] मंत्रार्थ-(मही) वडा (द्यौः) द्युलोक (पृथिवी) भूलोक (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (मिमिक्षताम्) अपने २ भागोंसे पूर्ण करै कृपाजल वर्षण करै (भरीमभिः) हिरण्य धन धान्य पशु प्रजा आदि अनेक वस्तुओंद्वारा जो प्रयोजनीय हौं उन २ अपने भागोंसे (नः) हमारा घर (पिपृताम्) पूर्णकरै [ऋ० १ । २ । ६] ॥ ३२ ॥

विशेष-यह पांच मंत्र प्रायश्चित्तके हैं यज्ञोंके अन्तमें यदि कोई कर्म न्यूनाधिक होजाय तो प्रायश्चित्त होता है सोमयागमें प्रथम जो पशुकल्प विधान किया है उसका इस विधिमें प्रायश्चित्तभी है कारण कि यज्ञीय पशु दैवात् यदि सगर्भ हो और विदित न हो तो विशसन कार्यके पीछे उसके प्राप्त होनेपर प्रायश्चित्त लगता है इसके शोधनके निमित्त गर्भसंस्कार करना होता है अर्थात् गर्भस्थ जीवकी सुगतिके निमित्त इन पांच मंत्रोंद्वारा हवन करना होता है, और यज्ञीय ऋत्विगादि शामित्र कुण्डमें इस कृत्यको निर्वाह करते हैं कात्यायनसूत्र याज्ञदेवकृतभाष्य २५ अध्यायमें इस प्रकार लेख है । दूसरे पक्षमें गर्भकी रक्षा प्रतिपादन कीहै । सोष्यती कर्ममें 'एजतु गर्भः' इसका विनियोग है वालक सुखसे होता है २ ॥ ३२ ॥

इति अग्निष्टोम समाप्त ।

अथ षोडशीयाग ।

कण्डिका ३३–मन्त्र ३ ।

आतिष्ठवृत्रहन्नथंयुक्तातेब्रह्मणाहरीं ॥ अर्वाचीनꣳसुतेमनोग्रावाकृणोतुवग्नुना ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्वाषोडशिनऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्वाषोडशिने ॥ ३३ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ आतिष्ठेत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य गोतम ऋषिः।आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गोतम ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० ॥ ३३ ॥

विधि–(१–२–३) प्रातःसवनके आग्रयण ग्रह ग्रहणके अनन्तर आग्नेय अतिग्राह्य ग्रहण करनेके उपरान्त चतुष्कोण खैरके उलूखलको इस कण्डिकात्मक तीन मंत्र वा परकण्डिकात्मके तीन मंत्र अथवा ३९ कण्डिकाके तीन मंत्रसे षोडशी नामक एक अतिरिक्त ग्रह ग्रहण करै [का० १२ । ५ । २] मन्त्रार्थ–(वृत्रहन्) हे वृत्रघाती इन्द्र ! (ते) तुम्हारे (हरी) हरितवर्ण दोनों अश्व (ब्रह्मणा) तीन वेदलक्षणवाले 'इन्द्रागच्छ' इत्यादि मंत्रोंसे (युक्ता) रथमें युक्तहुए हैं इस कारण तुम (रथम्) रथमें (आतिष्ठ) आरोहण करो (ग्रावा) सोमाभिषवमें व्यवहारको प्राप्त हुआ यह पाषाण (ते) तुम्हारे (मनः) मनको (वग्नुना) सोमाभिषवका वाणीद्वारा (अर्वाचीनः) यज्ञके सन्मुख (सुकृणोतु) भली प्रकार करो "वग्नुरिति वाङ्नामसुपठितम्" इति [निघं०१।११।२५] हे नवमग्रह सोम ! (उपयामगृहीतः)तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि)हो (षोडशिने) सोलह स्तोत्रवाले षोडशीयागमें आहूत (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं २ । (एषः) हे ग्रह ! यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (षोडशिने) षोडशीयागमें आहूत (इन्द्राय) इन्द्र देवताके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ३ । [ऋ० १ । ६ । ५] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र ३ ।

युक्ष्वाहि केशिनाहरीवृषणाकक्ष्यप्प्रा ॥ अथा

नऽइन्द्रसोमपागिरामुपश्श्रुतिञ्चर ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाषोडशिनऽएषतेयोनिरिन्द्राय त्त्वाषोडशिने ॥ ३४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्ष्वाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आसुर्य्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (केशिना) बहुत लम्बीकेशरवाले (वृषणा) तरुण सेचनमें समर्थ (कक्ष्यप्रा) स्थूल अवयववाले कक्ष्या बन्धन [अश्वोंकी मध्यबन्धनरज्जु] में सुबद्ध (हरी) दोनो अश्वोंको (हि) दृढतापूर्वक (आयुक्ष्व) निश्चयही रथमें युक्त करो (अथ) तदनन्तर (सोमपाः) सोमपान करतेहुए (नः) हमारी (गिराम्) ऋगादिवेदवाणीको (उपश्रुतिम्) कर्णगोचर कर (आचर) प्राप्तहो अर्थात् हमारे वचन सुनकर आओ १ । (उपयामेति) पूर्ववत् व्याख्या जान्नी. [ऋ० १ । १ । १९] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र ? ।

इन्द्रमिद्धरीवहतोप्प्रतिधृष्टशवसम् ॥ ऋषीणाञ्च स्तुतीरुपयज्ञञ्चमानुषाणाम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्रायत्त्वाषोडशिनऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्त्वाषोडशिने ॥ ३५ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य गोतम ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । ॐ उपयामेत्यस्य गोतम ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य गोतम ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देव० । षोडशिग्रहग्रहणे वि० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(हरी) हरित वर्णके दोनों अश्व (अप्रतिधृष्टशवसम्) अप्रतिहतबलवाले (इन्द्रम्) इन्द्र देवताको (इत्) ही (ऋषीणाम्) ऋषियों वा ऋत्विजोंकी (स्तुतीः) स्तुति श्रवण करानेको (उप) समीप (वहत) प्राप्त करते हैं (च)

और (मानुषाणाम्) मनुष्य यजमान गणके (यज्ञम्) यज्ञके (उप) समीपमें (च) भी प्राप्त करते हैं १ । (उपयामगृहीतः) पूर्ववत् व्याख्या जाननी [ऋ० १ । ६ । ९ ।] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ३६–मंत्र १ ।

यस्मान्न जातः परोऽअन्योऽअस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा ॥ प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यस्मान्नेत्यस्य विवस्वानृषिः।भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता ।उपस्थाने विनि० ॥ ३६ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे षोडशीग्रहोपस्थान करे [का० १२ ।९।१९] षोडशी नाम परब्रह्मकी उपासना है । मन्त्रार्थ–(यस्मात्) जिस पुरुषसे (अन्यः) दूसरा कोई उत्कृष्ट (न) नहीं (जातः) प्रादुर्भूत हुआ (अस्ति)है (यः) जो (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) विश्वलोकोंमें (आविवेश) अन्तर्यामी रूपसे प्रविष्ट है (सः) वह (षोडशी) सोलह कलात्मक लिङ्ग शरीरसे उपहित अर्थात् सबके व्यवहारका आश्रय सब भूतोंमें स्थित (प्रजापतिः) जगत्का स्वामी (प्रजया) प्रजारूपसे (सꣳरराणः) सम्यक् रमणकरता हुआ प्रजापालनके निमित्त (त्रीणि) तीन अग्नि वायु सूर्यलक्षणवाली (ज्योतीꣳषि) तेजोंको अपने तेजसे (सचते) उज्जीवन करता है "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुतेः ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम् ॥ तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहा ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रश्चेत्यस्य विवस्वानृषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रवरुणौ देवते । षोडशिग्रहभक्षणे वि० ॥ ३७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे षोडशिग्रह भक्षण करे [का० १२ । ९ । २०] मन्त्रार्थ–हे षोडशिग्रह ! (सम्राट्) सम्यक् प्रकार दीप्तिमान्(इन्द्रः) इन्द्र (च) और (राजा वरुणः) वरुण राजा (तौ) इन दोनोंने (च) ही (ते) तुम्हारा (एतम्) यह सोम (अग्रे) प्रथम (भक्षम्) भोजन(चक्रतुः) किया था(तयोः)उन

इन्द्र और वरुण सम्बन्धी (भक्षम्) भक्षको (अनु) पश्चात् (अहम्) मैं (भक्षयामि) भक्षण करताहूं (जुषाणा) मेरे सेवनसे अर्थात् मेरे भक्षसे सेवमान (वाग्देवी) सरस्वती (प्राणेन) प्राण देवके साथ (सोमस्य) सोमद्वारा (तृप्यतु) तृप्त हो (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ३७ ॥

विशेष-इस स्थलमें वाजपेय यज्ञ करनेवालेका नाम सम्राट् और इन्द्र है राजसूययज्ञ करनेवालेका नाम राजा और वरुण है "राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड्वाजपेयेन" इति श्रुतेः [श० ५ । १ । १३] ॥ ३७ ॥

इति षोडशी यागः सम्पूर्णः ।

अथ द्वादशाह ।

कण्डिका ३८-मंत्र ४ ।

अग्ने॒ पव॑स्व॒ स्वपा॑ऽअ॒स्मे वर्चः॑ सु॒वीर्य॑म् । दध॑द्र॒यिं मयि॒ पोष॑म् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽस्य॒ग्नये॑ त्वा॒ वर्च॑सऽए॒ष ते॒ योनि॑र॒ग्नये॑ त्वा॒ वर्च॑से ॥ अग्ने॑ वर्चस्वि॒न्वर्च॑स्वाँ॒स्त्वं दे॒वेष्वसि॒ वर्च॑स्वान॒हं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ३८ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वैखानस ऋ० । विराड्त्रिपदा गायत्री छं० । अग्निर्देव० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य वैखानस ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य वैखानस ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देव० । आसादने वि० । (४) ॐ अग्न इत्यस्य वैखानस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । शेषभक्षणे वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) द्वादशाह यज्ञके मध्यम विशेषतः छःदिनमें सम्पाद्य सुतरां पडह नामसे प्रसिद्ध एक अङ्ग याग है उसको पृष्ठ्ययागभी कहते हैं,इस यज्ञके पहले तीन दिनमें प्रतिदिन एकएक अतिग्राह्य ग्रहग्रहण किया जाताहै.इस कण्डिकाको आदि लेकर तीन कण्डिकाके प्रथम २ भागसे यह तीन अतिग्राह्य क्रमसे ग्रहण करै,और पर पर भागसे उस २ शेष ग्रहको भक्षण करै [का० १२ । ३ । १-२] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (स्वपाः) अच्छे कर्म करनेवाले तुम (मयि) मुझ यजमानमें (रयिम्) धन (पोषम्) पुष्टिको (दधत) धारण करो (अस्मे) हम ऋत्विगा-

दिको (सुवीर्यम्) सुन्दर सामर्थ्यसे युक्त (वर्चः)ब्रह्मतेज (पवस्व) प्राप्त करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण। मंत्रार्थ-हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (वर्चसे) कान्तिप्रद (अग्नये) अग्नि देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन करै। मंत्रार्थ-हे प्रथम अतिग्राह्य ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (वर्चस्विने) तेजःप्रद(अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ३। विधि-(४) चतुर्थ मंत्रसे शेष भक्षण करै। मंत्रार्थ-(वर्चस्विन्) हे विशिष्टतेजयुक्त ! (अग्ने)अग्निदेव! (त्वम्) तुम (देवेषु) देवताओंमें (वर्चस्वान्) अति दीप्तिमान् (असि) हो इस कारण तुम्हारे प्रसादसे (अहम्) मैं (मनुष्येषु) मनुष्योंमें (वर्चस्वान्) कान्तियुक्त अतितेजस्वी (भूयासम्) हो जाऊं ॥ ३८ ॥

प्रमाण-स्वपाः-"अप इति कर्मनाम" [निघं० २। १। १। ऋ०७।२।११]

विशेष-सोमयागके तीन सवनमें नियमित जितने ग्रह ग्रहण किये हैं, उससे पूर्व अग्निष्टोम प्रकरणमें भली प्रकार प्रकाशित हुए हैं, विशेष यज्ञोंमें जो अतिरिक्त ग्रह ग्रहण करते हैं, उनको अतिग्राह्य ग्रह कहते हैं ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र ४।

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे ऽअवेपयः। सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वौजसऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ॥ इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वस्योजिष्ठोहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ३९ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्तिष्ठन्नित्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋषिः। आर्षी गायत्री छं०। इन्द्रो देवता। अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋ०। आसुर्यनुष्टुप्छं०। सोमो दे०। अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋषिः। याजुषी त्रिष्टुप्छं। सोमो देवता। आसादने वि०। ॐ इन्द्रेत्यस्य कुरुस्तुतिर्ऋ०। आर्च्युष्णिकछं०। इन्द्रो देवता। शेषभक्षणे वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) द्वितीय अतिग्राह्य प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै। मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम (ओजसा) अपने बलके (सह) साथ (उत्तिष्ठन्) उठतेहुए (चमू-

सुतम्) अधिषवण चर्ममें अभिषुत हुए (सोमम्) सोमको (पीत्वी) पानकरके (शिप्रे) अपनी ठोढी और नासिका (अवेपयः) कम्पित करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण करै। मंत्रार्थ-हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ओजसे) बलवान् (इन्द्राय) इन्द्रदेवकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन करै। मन्त्रार्थ-हे द्वितीय अतिग्राह्य ग्रह ! (एषः) यह (ते)तुम्हारा (योनिः) स्थान है (ओजसे) बलवान् (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुझको आसादन करता हूं ३। विधि-(४)चतुर्थ मंत्रसे शेष भक्षण करै। मन्त्रार्थ-(ओजिष्ठ) हे बलवत्तम ! (इन्द्र)इन्द्रदेव ! (त्वम्) तुम (देवेषु) सब देवताओंमें (ओजिष्ठः) बलवान् (असि) हो (मनुष्येषु) तुम्हारे प्रसादसे मनुष्योंमें (अहम्) मैं (ओजिष्ठः) अतिबलवान् (भूयासम्) होऊं ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र ४।

अदृ॑श्रमस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒ऽ२ अनु॑ ॥ भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनिः॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑ ॥ सूर्य॑ भ्राजिष्ठ॒ भ्राजि॑ष्ठ॒स्त्वं दे॒वेष्व॑सि॒ भ्राजि॑ष्ठो॒ऽहं म॑नु॒ष्ये॑षु भूयासम् ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अदृश्रमित्यस्य प्रस्कण्व ऋ०। आर्षी गायत्री छं०।सूर्यो देवता। अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि०। (२) ॐ उपयामेत्यस्य प्रस्क० ऋ०। आसुरी गायत्री छं। सोमो देव०। अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि०। (३) ॐ एषत इत्यस्य प्रस्कण्व ऋ०। साम्नी गायत्री छं०। सोमो दे०। आसादने वि०। (४) ॐ सूर्येत्यस्य प्रस्कण्व ऋ०। आर्षी गायत्री छं०। ग्रहो देवता। शेषभक्षणे वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१) तृतीय अतिग्राह्य प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै। मन्त्रार्थ-(अस्य) इस सूर्यकी (केतवः) प्रज्ञाकी हेतु सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञान करानेवाली (रश्मयः) किरणें (जनान्) सम्पूर्ण प्राणियोंके (अनु) अनुगत (वि) विशेष कर (अदृश्रम्)दीखती हैं अर्थात् सूर्यकिरण सबमें व्याप्त हैं (यथा) जिस प्रकार (भ्राजन्तः) प्रज्वलित (अग्नयः) अग्नि सर्वत्र भासती है १। विधि-(२) दूसरे

मंत्रसे ग्रहण । मन्त्रार्थ-हे तृतीय अतिग्राह्यग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (भ्राजाय) दीप्तिमान् (सूर्याय) सूर्यकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन । मंत्रार्थ-हे तृतीय अतिग्राह्य ग्रह ! (एष) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (भ्राजाय) दीप्तिमान् (सूर्याय) सूर्यदेवकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें आसादन करताहूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे शेष भक्षण । मन्त्रार्थ-(भ्राजिष्ठ) हे प्रदीप्त (सूर्य) सूर्य ! (त्वम्) तुम (देवेषु) सब देवताओंमें (भ्राजिष्ठः) अतिदीप्तिमान् (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे (मनुष्येषु) मनुष्योंमें (अहम्) मैं (भ्राजिष्ठः) अतिशय दीप्तिमान् (भूयासम्) होऊं ॥ ४० ॥

प्रमाण-"केतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्" [निघंटु ३ । ९ । १ । ऋ० अ० १ अ० ४ व० ७] ॥ ४० ॥

द्वादशाह समाप्त ।

अथ गवामयनसत्र ।

कण्डिका ४१-मंत्र ३ ।

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तव॑: ॥ दृ॒शे विश्वा॑य॒ सूर्य॑म् ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतोऽसि॒ सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जायै॒ष ते॒ योनि॒: सूर्या॑य त्वा भ्रा॒जाय॑ ॥ ४१ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुत्यमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं । सूर्यो देवता । अतिग्राह्यग्रहोद्बोधने वि० । ॐ उपयामेत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमो दे० । अतिग्राह्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य प्रस्कण्व ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । सोमो दे० । आसादने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) गवामयनसत्रमें विषुवन्नामक मध्यम दिनमें सौर्य पशु उपालंभके उपरान्त इस कण्डिकात्मक दो मंत्रसे एक अतिग्राह्य ग्रह ग्रहण करै [का० १३ । २ । ११] मन्त्रार्थ-(केतवः) प्रज्ञाकी हेतु किरण (त्यम्) उस (जातवेदसम्) सबके देखने वा प्रजाओंके ज्ञाता (यम्) जिस (देवम्) देव (सूर्यम्) सूर्यको (विश्वाय) समस्त जगतकी (दृशा) दृष्टि देनेके निमित्त (उद्वहन्ति) उद्वहन करती हैं । आशय यह कि सूर्योदयपर अन्धकार दूर होकर दृष्टि फैलती है अन्यथा अंधकारमें दृष्टि नहीं फैलती १ । विधि-(२-३)दूसरे मंत्रसे ग्रहण तीसरेसे आसादन । मंत्रार्थ-(उपयामगृहीतः) पूर्ववत् व्याख्या जानो ॥ ४१ ॥

[१]विवरण-सोमयाग तीन प्रकारका होता है, एकाह, अहीन, और सत्र, एक दिवसमें सम्पूर्ण यज्ञ तीन सवन यह सब पूर्ण किया जाय वह एकाह. यथा अग्निष्टोम षोडशी आदि. उससे अधिक कालमें जो यज्ञ पूर्ण हो उसको अहीन कहते हैं जैसे गर्गत्रिरात्र द्वादशाह. बारह दिनसे अधिक कालमें जो यज्ञ पूर्ण किया जाय उसको सत्र कहते हैं जैसे गवामयन अश्वमेध आदि ।

१गवामयन यज्ञ दशमास और बारह मासमें सम्पादन होता है उसमें संवत्सरके मध्य गवामयन सत्रके प्रथम दिन प्रायणीय अतिरात्रनाम प्रसिद्ध हैं, द्वितीयमें चतुर्विंश, तीसरेमें उक्थ, चतुर्थमें ज्योतिर्गो, पंचममें आयुर्गो, षष्ठमें आयुर्ज्योति, इन छः दिनको आभिप्लविक षडह कहते हैं, इस प्रकार २४ दिनमें चार आभिप्लविक होते हैं, फिर त्रिवृत्स्तोमके मध्य एकाह, पञ्चदशस्तोमके मध्यमें द्वितीयाह, सप्तदशस्तोमके मध्यमें तृतीयाह, एकविंशस्तोमके मध्यमें चतुर्थाह त्रिनव २७ स्तोमके मध्यमें पञ्चमाह, ३३ त्रयस्त्रिंशस्तोमके मध्यमें षष्ठाह, इन्हीं छः दिवसको पृष्ठ्य षडह कहते हैं इस प्रकार एक मास सम्पन्न होकर दूसरे तीसरे चौथे और पंचम मासमें भी इसी प्रकार सम्पन्न करै,छठे महीनेके प्रथमही तीन आभिप्लविक सम्पादन करनेपर फिर पृष्ठ और चतुर्विंश संपादन करै २९ वें दिन अभिजित् उसके परे तीन दिनमें प्रथम स्वर द्वितीय स्वर और तृतीय स्वर । २९ उनतीसवें दिन प्रायणीय और इसी मासके शेष दिवसको चतुर्विंश कहते हैं,इस प्रकार वर्षके प्रथम छःमास व्यतीत होतेहैं दूसरे षण्मासके प्रथम दिन तृतीयस्वर द्वितीय दिन द्वितीयस्वर तृतीय दिन प्रथमस्वर, चतुर्थमें विश्वजित्, फिर पृष्ठ्य छठे दिन एवं आभिप्लविकत्रय, इस प्रकार २८ दिन बीतते हैं उन्तीसवें दिनको महाव्रत और महीनेके शेष दिनको अतिरात्र कहते हैं, अष्टम नवम दशम और एकादश इन चार महीनेके प्रथम छः दिन पृष्ठ्य, एवं इनके उपरान्त प्रतिलोमक्रमसे आभिप्लविक चतुष्टय (चार) शेष मासके प्रथमही आभिप्लविक तीन, १९ वें दिन गोष्टोम २० वें दिन आयुष्टोम २१ वें दिनसे दशदिनतक दशरात्र इस प्रकारसे उत्तर षण्मास व्यतीत होते हैं, इस प्रकार ३६० दिन बेचते हैं किन्तु वैदिक वत्सर ३६१ दिनका परिगणित हुआ है इस कारण १८० दिनके परे और पिछले १८० दिनके पूर्व षण्मास दोकी सन्धिस्थानमें एक मध्यम दिवस सत्रयाग नामसे व्यवहृत होता है इसी मध्यम दिनको 'विषुवत्' कहते हैं ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

आजिघ्र कुलशम्मह्या त्वा विशन्त्विन्दवः ॥ पुन

रुर्ज्जानिवर्त्तस्वसानः सहस्रन्धुक्ष्वोरुधारापयस्वतीपुनर्म्माविंशताद्रयिः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजिघ्रेत्यस्य कुसुरुबिन्दुर्ऋ० । स्वराड् ब्राह्म्युष्णिक्छं० । गौर्देवता । द्रोणकलशाघ्रापणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) हविर्धानमण्डप और आग्नीध्रवेदी इन दोनोंके मध्य स्थलमें रोहिणी गौको इस मंत्रसे द्रोणकलश सुंघावै [का० १३ । ४ । १९] गर्गातिरात्र नामक त्रिसुत्या, अहीन यागमें एक सहस्र गौदक्षिणाकी व्यवस्था है उनमें सहस्र संख्याकी पूरण करनेवाली गौ रोहिणी कहलाती है इस यागमें तीनदिन तीन सुत्य सम्पन्न होते हैं, इस कारण इसको त्रिसुत्य कहते हैं । मन्त्रार्थ-(महि) हे पूजनीय गौ ! तुम इस (कलशम्) द्रोणकलशको (आजिघ्र) सूंघो (इन्दवः) यह सोमके सार (त्वा) तुम्हारी नासारंध्रमें (आविशन्तु) प्रवेश करें (सा) वह तुम (ऊर्जा) श्रेष्ठ रस दुग्धके साथ (पुनः) फिर हमारे प्रति (निवर्तस्व) निवृत्त हो इस प्रकारसे स्तुतिको प्राप्त हुई तुम (नः) हमको (सहस्रम्) सहस्र संख्याके धनसे (धुक्ष्व) पूर्ण करो अथवा हमने जो सहस्र गौ दी हैं उतनी ही फिर हमारे पास हों और तुम्हारे प्रसादसे (पुरुधारा) बहुत दूधकी धारावाली (पयस्वती) दुधारी गायें (रयिः) तथा धन सम्पत्ति (पुनः) फिर (मा) मुझको (आविशतात्) हमारे घरको प्राप्त हों, अर्थात् सहस्र गोदानसे जितनी सम्पत्ति निर्गत हुई है, इस कार्यके फलसे उसकी पूर्त्ति हो ॥४२॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

इडेरन्तेहव्येकाम्म्येचन्द्रेज्ज्योतेदितिसरस्वतिमहिविश्श्रुति ॥ एतातेऽअघ्न्येनामानिदेवेभ्योमासुकृतम्ब्रूतात ॥ ४३ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ इडेरन्त इत्यस्य कुसरुबिन्दुर्ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । गौर्देवता । रोहिणीश्रोत्रे जपे वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) रोहिणीके कानमें यजमान यह मंत्र जप करे [का० १३।४।२०] मंत्रार्थ-(इडे) हे सबसे स्तुतिको पानेवाली (रन्ते) सबकी दृष्टिमें रमणीय (हव्ये) यज्ञमें सब मनुष्य जिसका आह्वान करते हैं वा जिसके दुग्धका हवन करते हैं (काम्ये) देव मनुष्य जिनकी कामना करते हैं "मनुष्याणा-

ह्येतासु कामाः प्रविष्टाः'' इति श्रुतेः (चन्द्रे) जिसको देख आह्लाद होता है (ज्योते) प्रकाशमान वा तेजकी दाता (अदिते) पूर्ण अवयववाली अदीन (सरस्वति) दुग्धवती "सर इति उदकनाम सर्तेः" इति [निरु० ९ । २६] (मही) महामान्य (विश्रुति) अनेक प्रकारकी स्तुतिवाली (अघ्न्याः) अवध्य मारनेके अयोग्य हे धेनु ! (ते) तुम्हारे (एता) यह अतिशय गुणयुक्त (नामानि) नाम हैं इन नामोंसे आह्वान की हुई तुम (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (सुकृतम्) इस हमारे सुन्दर कर्मको, और (मा) इस कर्म करनेवाले मुझको (ब्रूतात्) देवताओंसे कथन करो, देवता हमारे इस कार्यको जानै ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र ३।

विन॑ऽइन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ॥ यो॑ऽअ॒स्माँ२ऽअ॑भि॒दास॒त्यध॑रङ्गमया॒ तमः॑ ॥ उ॒प॒या॒मगृ॑हीतो॒ऽसीन्द्रा॑य त्वा वि॒मृध॑ऽए॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा वि॒मृधे॑ ॥ ४४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विन इत्यस्य भारद्वाजशास ऋ० । भुरिगनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । इन्द्रग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य भारद्वाज ऋ० ॥ आसुर्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एष त इत्यस्य भारद्वाज ऋ०। याजुषी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे०। शेषभक्षणे वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्र और पर कण्डिकाके तीन मंत्रसे महाव्रताह (सातवें मासका २९ वे दिन) में (प्राजापत्यपशूपालम्भके अनन्तर इन्द्रनाम ग्रह गृहीत होताहै प्रथम मंत्रसे उद्बोधन [का० १३।२।१७] मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (नः) हमारे (मृधः) संग्राममें शत्रुओंको (विजहि) विशेषकर जीतो (पृतन्यतः) संग्रामकी इच्छा कर सेनासंग्रह करनेवाले शत्रुओंका (नीचाः) नीचोंकी समान (यच्छ) निग्रह करो अर्थात् जो तुमको पराजयकी इच्छा करते हैं उनको अधःपतन करो (यः) जो (अस्मान्) हमका (अभिदासति) क्लेश देता है उसको (अधरम्) निकृष्ट (तमः) अंधकाररूप नरकका (आगमय) प्राप्त करो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे ग्रहण । मंत्रार्थ-हे: महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विमृधे) विशिष्ट संग्रामवाले (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी संतुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण

करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन । मन्त्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारी (योनिः) स्थान है (विमृधे) विशिष्ट संग्रामवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको आसादन करताहूं [ऋ० ८ । ८ । १० ।] ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र ३ ।

वाचस्पतिं विश्वकर्म्माणमूतयेमनोजुवंवाजेऽअद्याहुवेम ॥ सनोविश्वानिहवनानिजोषद्विश्वशंम्भूरवसेसाधुकर्म्मा ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वाविश्वकर्म्मणऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्वाविश्वकर्म्मणे ॥ ४५ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ वाचस्पतिमित्यस्य शास ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । इन्द्रग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामित्यस्य शास ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । इन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य शास ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । शेषग्रहासादने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) दूसरा ग्रहग्रहण, प्रथम मंत्रसे उद्बोधन करै । मंत्रार्थ-(अद्य) आज हम (वाजे) महाव्रतीय लक्षणवाले अन्नके विषय (वाचस्पतिम्) वाणीके पालक वा अधिपति (मनोजुवम्) मनकी समान वेगवाले (विश्वकर्माणम्) सृष्टिके उत्पादक तथा पालक प्रलयके निदानको (ऊतये)रक्षाकरनेको(हुवेम)आह्वान करतेहैं (सः) वह (विश्वशम्भूः) संसारके कल्याणका करनेवाला (साधुकर्मा) शोभन कर्मका करनेवाला उपास्य देव (नः) हमारे (विश्वानि) सब (हवनानि)आह्वान (अवसे) अन्नसमृद्धिके निमित्त वा रक्षणके निमित्त (जोषेत्) प्रीतिपूर्वक सेवन करै१।विधि-(२)दूसरे मंत्रसे ग्रहण।मंत्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्रग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (विश्वकर्मणे) विश्वकर्मा (इन्द्राय) इन्द्रकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २। विधि-(३) तीसरे मंत्रसे आसादन मन्त्रार्थ-हे महाव्रतीय इन्द्र ग्रह ! (एषः)यह (ते) तुम्हारा(योनिः)स्थान है (विश्वकर्मणे) विश्वकर्मा (इन्द्राय)इन्द्रके निमित्त(त्वा) तुमको आसादन करताहूं॥४५॥

प्रमाण-"वाचस्पतिं तस्मादाहुरिन्द्रो वाक्" इति श्रुतेः ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र ३ ।

विश्श्वंकर्म्मन्न्हविषावर्द्धनेनत्रातारमिन्न्द्रमकृणोरवद्ध्यम् ॥ तस्म्मैविशुःसमनमन्तपूर्वीरयमुग्ग्रोविहव्योयथासत् ॥ उपयामगृहीतोसीन्न्द्रायत्वाविश्श्वकर्म्मणऽएषतेयोनिरिन्न्द्रायत्वाविश्श्वकर्म्मणे ॥ ४६ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मन्नित्यस्य शास ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मेन्द्रो दे० । ग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य शास ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । ग्रहो दे० । ग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य साम्नी गायत्री छं० । ग्रहो दे० । आसादने वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) तृतीय मंत्रका विकल्प, प्रथम मंत्रसे उद्बोधन। मन्त्रार्थ-(विश्वकर्मन्) हे विश्वकर्मन् परमात्मन् ! (वर्धनेन) वर्धमान वा भक्तोंको बढानेवाले (हविषा) हविष्प्रदानद्वारा वर्द्धन [बढावे] के वाक्योंसे प्रीति करनेवाले तुमने (इन्द्रम्) इन्द्रको (त्रातारम्) जगतके रक्षक (अवध्यम्) जिनको कोई न मारसकै ऐसा (अकृणोः) किया (तस्मै) इस प्रकार इन्द्रके निमित्त(पूर्वीः) पूर्व कालकी (विशः)प्रजा महर्षि आदि(समनमन्त)प्रणाम करते हुए (यथा)जिस प्रकारसे (अयम्)यह इन्द्र (उग्रः) वज्र उठाय (विहव्यः) अनेक कार्योंमें आह्वानयोग्य (असत्)हुआ है इस कारण सब प्रणाम करते हैं हे परमात्मन् ! आपके ही सामर्थ्यसे इन्द्रका यह प्रभाव है १ । विधि-(२-३) दूसरे मंत्रसे ग्रहण, तीसरेसे आसादन । मंत्रार्थ-(उपयामगृहीतः) हे ग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मंत्र ३ ।

उपयामगृहीतोस्यग्ग्नयेत्त्वागायत्रच्छन्न्दसङ्गृह्णामीन्द्रायत्त्वात्रिष्टुप्प्छन्न्दसङ्गृह्णामिविश्श्वेब्भ्यस्त्वादेवेब्भ्योजगच्छन्न्दसङ्गृह्णाम्म्यनुष्टुप्प्तेभिगरः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामेत्यस्य देवा ऋषयः। स्वराडार्ची गायत्री छं०।

अदाभ्यो देवता । अदाभ्यग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ इन्द्रायेत्यस्य देवा ऋ० । साम्नी गायत्री छं० । अदाभ्यो दे० । अदाभ्यग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ विश्वेभ्य इत्यस्य देवा ऋ० ।आसुरी गायत्री छं०।अदाभ्यो दे०। अदाभ्यग्रहासादने वि० (४) ॐ अनुष्टुबित्यस्य देवा ऋ०। दैवी जगती छन्दः । अदाभ्यो दे० । अदाभ्यशंसने वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) जिस उदुम्बरीपात्रमें अंशु गृहीत हुई हैं उस पात्रसे चमसद्वारा कुछ निग्राभ्य जल ग्रहण करके उसमें तीन सोमलता प्रक्षेप करनेके अनन्तर इस पात्रसे इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे अदाभ्य ग्रह ग्रहण करै.प्रथम अदाभ्यग्रहण[का० १२ । ४ । १३-१९] मन्त्रार्थ-हे प्रथम अदाभ्य ग्रह सोम ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (गायत्रच्छन्दसम्) गायत्री छन्द के वरणीय (त्वा) तुझको (अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) द्वितीय अदाभ्यग्रहण । मंत्रार्थ-(त्रिष्टुप्छंन्दसम्) उपयामपात्रमें गृहीत त्रिष्टुप्छन्दसे वरणीय (त्वा) तुमको (इन्द्राय) इन्द्र देवताकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं २ । विधि-(३) तृतीय अदाभ्यग्रहण । मंत्रार्थ-हे तृतीय अदाभ्य ग्रह ! तुम उपायामपात्रमें गृहीत हो (जगच्छन्दसम्) जगतीछन्दसे वरणीय (त्वा) तुमको (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण विश्वेदेवा (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण कराताहूं ३ ।

विधि-(४) चौथे मंत्रसे तीनों अदाभ्यकी स्तुति सम्पादन करै [का०१२ । ५ । १७] मंत्रार्थ-हे अदाभ्य नामसे गृहीत सोम !(अनुष्टुप) अनुष्टुप्छन्द (ते) तुम्हारी (अभिगरः) स्तुतिके निमित्त है ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"ऊर्ध्वह्ंसवनेभ्यस्तदानुष्टुभम्" इति श्रुतेः [श० ११।५।९।७।] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र ६ ।

श्रेशीनान्त्वाप॒रक्मुखाधूनोमिकुकूननांनान्त्वा पत्क्मुखाधूनोमिभुन्दनांनान्त्वापरक्मुखाधूनो मिमुदिन्तमानान्त्वापक्मुखाधूनोमिमधुन्तमा नान्त्वापक्मुखाधूनोमिशुक्रन्त्वाशुक्रऽआधू नोम्यह्नोरूपेसूर्य्यस्यरश्मिषु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ श्वेशीनामित्यस्य देवा ऋषयः । याजुषी पंक्तिश्छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (२) ॐ कु-

कुक्ननानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (३) ॐ भन्दनानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छं । सोमो दे० । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (४) ॐ मदिन्तमानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० । (५) ॐ मधुन्तमानामित्यस्य देवा ऋ० । याजुषी जगती छं० । सोमो देवता । अदाभ्यग्रहस्थितजलचालने वि० । (६) ॐ शुक्रन्त्वेत्यस्य देवा ऋ० । भुरिक्साम्नी बृहती छं० । सोमो दे० । अदाभ्यग्रहस्थजलचालने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६) अनन्तर इस मंत्र और पर कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे आहवनीयके समीपमें गमन करके कतिपय अंशुद्वारा अदाभ्य ग्रहस्थित सोम परिचालन करे [का० १२ । ५ । १७] मंत्रार्थ-हे सोम ! (व्रेशीनाम्) इधर उधर धावमान मेघोंके उदरमें वर्तमान जो जलके समूह हैं उन सबके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुझको (आधूनोमि)कम्पित करताहूं. हे सोम!(कुक्ननानाम्) शब्द करते हुए जगत्के कल्याणकारी मेघोंके उदरमें जो जल है उसके (पत्मन्) वर्षणके निमित्त (त्वा) तुझको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं, हे सोम ! (भन्दनानाम्) हमको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाले जो मेघोंके उदरमें जल हैं उनके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं, हे सोम ! (मदिन्तमानाम्) अत्यन्त तृप्तिकारी जो मेघोंके उदरमें जल है, उनके (पत्मन्) वर्षनेके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं (मधुन्तमानाम्) अमृतस्वरूप जो मेघोदक है तिनके (पत्मन्) भूमिपर वर्षणके निमित्त (त्वा) तुमको (आधूनोमि) कम्पित करताहूं. हे सोम ! (शुक्रम्) अक्लिष्टकर्मा शुद्ध (त्वा) तुमको (शुक्रे) शुद्ध अक्लिष्टकर्मवाले निग्राभ्य लक्षणवाले जलमें (आधूनोमि) कम्पित करताहूं (अह्नः) दिनके (रूपे) रूप (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिषु) किरणोंसे कम्पित करताहूं ॥ ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र २ ।

ककुभꣳरूपं वृषभस्य रोचते बृहच्छुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः सोमः सोमस्य पुरोगाः ॥ यत्ते सोमादाभ्यन्नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ककुभमित्यस्य देवा ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छं०। सोमो देवता । सोमग्रहणे वि० । (२) ॐ यस्मैत इत्यस्य देवा ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । अदाभ्यहवने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) सोम ग्रहण करे । मन्त्रार्थ-हे सोम ! (वृषभस्य) श्रेष्ठ वर्षणकारी तुम्हारा (ककुभम्) ककुद् महत् आदित्यलक्षण (रूपम्) रूप (रोचते) प्रदीप्त होता है "ककुभमिति महन्नामसु पठितम्" [निघं० ३ । ३ । १९] (बृहत्) महान् (शुक्रः) शुद्ध आदित्य (शुक्रस्य) शुद्ध सोमका (पुरोगाः) पुरोगामी है (सोमः) सोमही (सोमस्य) सोमका (पुरोगाः) पुरोगामी है (ते) तुम्हारे (अदाभ्यम्) अनुपहिंसित (जागृवि) जागरणशील (यत्) जो (नाम) नाम है (तस्मै) उस (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अदाभ्य हवन करे [का० १२ । ५ । १७] मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (तस्मै) उस (ते) आप (सोमाय) सोमरूपके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मन्त्र १ ।

उशिक्त्वन्देवसोमाग्नेः प्रियम्पाथोपीहि वशी त्वन्देवसोमेन्द्रस्य प्रियम्पाथोपीह्यस्मत्सखा त्वन्देवसोमविश्वेषान्देवानां प्रियम्पाथोपीहि ॥ ५० ॥ [४]

ऋष्यादि-(१)ॐ उशिक्त्वमित्यस्य देवा ऋषयः । आसुर्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । सोमेंऽशुनिधाने वि० । (२) ॐ वशीत्वमित्यस्य देवा ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । सोमेंशुनिधाने वि० । (३) ॐ अस्मदित्यस्य देवा ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सोमो दे० । सोमेंऽशुनिधाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे उलूखलमें स्थित अंशुओंको सोममें डाले [का० १२ । ५ । १८] मंत्रार्थ-(देव सोम) हे सोम देवता ! (उशिक्) तुमको पाकर सब कामना करते हैं इस कारण (त्वम्) तुम (अग्नेः) अग्निके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) खाद्यभावको (अपीहि) प्राप्त हो (देव) हे दीप्यमान ! (सोम) सोम ! (वशी) कान्तिमान् (त्वम्) तुम(इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) अन्नको (अपीहि) प्राप्त हो २ । (देवसोम) हे देव सोम ! (अस्मत्) हमारे (सखा) बन्धु (त्वम्) तुम (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) विश्वेदेवाओंके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) अन्नको (अपीहि) प्राप्त हो । "अग्निर्वै प्रातःसवनमिन्द्रो माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ विश्वेदेवास्तृतीयꣳ सवनम्" इति श्रुतेः" ॥ ५० ॥

सत्रोत्थान ।

कण्डिका-५१-मंत्र २ ।

इ॒हर॑ति॒रि॒हर॑मध्वमि॒ह धृति॑रि॒ह स्वधृ॑ति॒ स्वाहा॑ ॥ उ॒प॒सृ॒जन्ध॒रुणं॑ मा॒त्रे ध॒रुणो॑ मा॒तरं॒ धय॑न् ॥ रा॒यस्पोष॑म॒स्मासु॑ दीधर॒त्स्वाहा॑ ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इहरतिरित्यस्य देवा ऋषयः । प्राजापत्या बृहती छं० । पशुर्देवता । शालाद्वार्यधिष्ण्ये हवने वि० । (२) ॐ उपसृजन्नित्यस्य भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । हवने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु समस्त दीक्षितगणको जिज्ञासा करके फिर नूतन गार्हपत्य (शालाद्वार्यधिष्ण्य) में इन मंत्रोंसे प्रथम आहुति प्रदान करै [का० १२ । ४ । १०] मंत्रार्थ-हे गोवृन्द ! तुम्हारी (रतिः) रमण वा प्रीति (इह) इस यजमानमें हो (इह) इस यजमानमें (रमध्वम्) तुम रमण करो (इह) इस यजमानमें (धृतिः) तुम्हारा संतोष हो (स्वधृतिः) इसीके स्थानमें स्वकीयोंका सन्तोष हो अर्थात् इसके घरमें तुम्हरे सन्तोषसे दृढमूल हो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार स्वीकारहो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दूसरी आहुति प्रदान करै. [का० १२ । ४ । ११] मंत्रार्थ-(धरुणः) धारण करनेवाला अग्नि (मात्रे) पृथ्वीके (धरुणम्) धारण करनेवाले अग्निको (उपसृजन्) समीप प्राप्त कराता हुआ तथा (मातरम्) पृथ्वीको (धयन्) पीता हुआ अर्थात् उससे उत्पन्न हविको भक्षण करता हुआ (अस्मासु) हमको (रायः) धन पशु पुत्र सुवर्णादिकी (पोषम्) पुष्टिको (दीधरत्) प्रदान करे (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार स्वीकार हो ॥ ५१ ॥

विशेष-अग्नि पृथ्वीकेही पदार्थोंसे प्रकाश पाती है और उन्ही पार्थिव पदार्थोंसे प्रगट होती है इस कारण अग्निकी माता पृथ्वी अग्निभिन्न पृथ्वी वा पार्थिव कोईभी पदार्थ नहीं, समस्त पदार्थमें ही अग्निकी सत्ता है, अग्नि अपने समीप कोई पार्थिव पदार्थ आनेसे दहन करनेमें पराङ्मुख नहीं होता, इस कारण अग्नि यही धरुण देवता हैं इस निमित्त इसको स्वयोनिभक्षभी कहते हैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका-५२ मंत्र १ ।

स॒त्रस्य॒ऽऋद्धि॑रस्य॒गन्म॒ ज्योति॑र॒मृता॑ऽअभूम ॥

दिवस्पृथिव्याऽअध्यारुहामाविदामदेवान्त्स्व
ज्ज्योतिः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सत्रस्येत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगार्षी बृहती छन्दः । सोमो देवता । सामगायने वि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) सम्पूर्ण दीक्षितगण एकत्र होकर उत्तर हविर्धानके अपर कूबरी (चन्द्रकाष्ठ युगंधर) अवलम्बन करके सत्रर्द्धिसंज्ञक सामगान करैं [का० १२ । ४ । १२] मंत्रार्थ-हे उत्तर हविर्धान ! तुम (सत्रस्य) यज्ञकी (ऋद्धिः)समृद्धि-रूप (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे ही हम यजमान (ज्योतिः) आदित्यलक्षण वाली ज्योतिको (अगन्म) प्राप्त होकर (अमृता) मरणधर्मसे रहित (अभूम) होनेकी आशा करतेहैं (पृथिव्याः) पृथ्वीसे (दिवम्) द्युलोकको (अध्यारुहाम) आरूढ हुए (देवान्) देवगण इन्द्रादि (अविदाम) जानैं वा देखैं (ज्योतिः) ज्योतिरूप (स्वः) स्वर्गके देखने जाननेकी आशा करतेहैं ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र ३ ।

युवन्तमिन्द्रापर्वतापुरोयुधायोनः पृतन्न्यादपतन्त
मिद्धतंवज्ज्रेणतन्तमिद्धतम् ॥ दूरेचत्तायच्छन्त्सु
द्गहनंयदिनक्क्षत् ॥ अस्माकꣳशत्रून्परिशूरविश्श्वतोदर्म्मादर्षीष्टविश्श्वतः ॥ भूर्भुवःस्वःसु
प्प्रजाःप्प्रजाभिःस्यामसुवीरावीरैःसुपोषाःपो
षैः ॥ ५३ ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐ युवमित्यस्य परुच्छेप ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रापर्वतौ देवते । प्राङ्मुखनिःसरणे वि० । (२) ॐ दूरेचेत्यस्य परुच्छेप ऋ० । विराडार्षी बृहती छं० । इन्द्रो दे० । प्राङ्मुखनिः-सरणे वि० । (३) ॐ भूर्भुवः स्वरित्यस्य परुच्छेप ऋ० । विराट् प्राजापत्या पंक्तिश्छन्दः । विराट् पुरुषो देवता । वाग्विसर्जने वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१-२) अनन्तर यह दीक्षितगण इस कण्डिकाका प्रथम और दूसरा मंत्र पाठकरके दक्षिण हविर्धानके अक्षके अधोमार्गसे निकलैं [का० १२ । ४।१४] मंत्रार्थ-(पुरोयुधा) हे आगे युद्धकरनेवाले (इन्द्रापर्वता) शत्रुओंके सन्मुख युद्ध

करनेवाले इन्द्र और पर्वत (युवम्)तुम दोनों(तंतम्)उस उस शत्रुको और:(तम् इत)विशेष करही उस शत्रुको (अपहतम्) विनाश करो (वज्रेण)वज्रनामक अपने तीक्ष्ण आयुधसे (ततम् इत्)उसी शत्रुको विशेष करके(हतम्)विनाश करो (यः) जो शत्रु(नः)हमसे (पृतन्यात्) सेनाद्वारा युद्ध करै (शूर) हे शूर हे इन्द्र ! तुम्हारा वज्र (यत्) जब (गहनम्) अत्यन्त गम्भीर वन वा जलके प्रति (दूरे) दूर वर्तमान (चत्ताय) दूर गये शत्रुके निमित्त (छन्त्सत्) कामना करै तब उस दूर गये हुएको (इनक्षत) प्राप्त करले "इनक्षाति व्याप्तिकर्मा"[निघं० २ । १८ । २] (दर्मा) विदारण करनेवाला वज्र (अस्माकम्) हमारे (विश्वतः) सब ओर स्थित (विश्वतः) सम्पूर्ण (शत्रुन्) शत्रुओंको (परिदर्षीष्ट) सब ओरसे विदीर्ण करो १-२ विधि-(३) तीसरा मंत्र मन मनमें पाठ करके सब यजमानादि मौनभावसे अपना अभीष्ट चिन्तन करैं [का० १२ । ४ । ८] मंत्रार्थ-(भूर्भुवः स्वः) हे अग्नि वायु सूर्यादि!आपके प्रसादसे हम (प्रजाभिः) प्रजाओंद्वारा (सुप्रजाः) अच्छी प्रजावाले (वीरैः) वीर पुत्रोंसे (सुवीराः) सुपुत्रवान् (पोषैः) उत्कृष्ट सम्पत्तिलाभ करके तुम्हारे प्रसादसे (सुपोषाः) सुसम्पत्तिमान् (स्याम) विख्यात हों [शत० ३ । ३७ । ७।१९] में यह मंत्र एकवचनान्त और यहां बहुवचनांत है [ऋ० २ । १ । ११] ॥ ५३ ॥

सत्रोत्थानं समाप्तम् ।

यज्ञचिकित्सा ।

कण्डिका ५४-मन्त्र ६ ।

प॒र॒मे॒ष्ठ्य॒भिधी॑तः प्र॒जाप॑तिर्वा॒चि व्याहृ॑ता॒यामन्धो॒ऽअच्छे॑तः सवि॒ता स॒न्यां वि॒श्वक॑र्म्मा दी॒क्षायां॑ पू॒षा सो॑म॒क्रय॑ण्या॒मिन्द्र॑श्च ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । आहुतिप्रदाने वि० (२) ॐ प्रजापतिरित्यस्य वसिष्ठ ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । आहुतिप्रदाने वि० । (३) ॐ अन्ध इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता देवता । हवने वि० । (४) ॐ सवितेत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० । (५) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । होमे वि० । (६) ॐ पूषेत्यस्य मन्त्रस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । हवने वि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१-२-३-४-५-६) मृन्मय घर्मपात्र (दुग्धकी पक्की दोहनी) यदि भग्न हो जाय तो उसको स्पर्शकर "परमेष्ठिने स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा, सलिलाय स्वाहा" इस मंत्रतक ३४ आहुतिसे होमे यदि घर्मदुहा गौ मृत होजाय तो उसके स्थानमें दूसरी एक घर्मदुहा गौको उत्तराभिमुख अथवा पत्नीशालाके पूर्व भागमें पूर्वाभिमुख खडी करके उसकी पूंछके दक्षिणभागी अस्थिके ऊपर "परमेष्ठिने स्वाहा ऐसी ३४ आहुति घृतकी देकर दुहे और स्थालीमें स्थित वा स्रुकमें स्थित अथवा पृषदाज्यगत हवनीय पदार्थ घृत दुग्ध चरु सोम इत्यादि भ्रष्ट या पतित होजायं तो इस कण्डिकासे प्रारंभ कर ५९ कण्डिकाके दूसरे मंत्र पर्यन्त ३४ मंत्रोंमेंसे यथा आवश्यक किसी मंत्रसे आहुति प्रदान करै [का० २५ । ६ । १ । ६] तथा च श्रुतिः [श० १२ । ६ । १ । १ । २] "सोमो वै राजा यज्ञः प्रजापतिस्तस्यैतास्तन्वो या एता देवता या एता आहुतीर्जुहोति १ स यद्यज्ञस्यार्छेयां तत्प्रतिदेवतां मन्येत तामनु समीक्ष्य जुहुयाद्यदि दीक्षोपसत्स्वाहवनीये यदि प्रसुत आग्नीध्रे विवा एतद्यज्ञस्य पर्व स्रꣳसते यद्ध्वलति सा यैव तर्हि तत्र देवता भवति तयैवैतद्देवतया यज्ञं भिषज्यति तया देवतया यज्ञं प्रति सन्दधाति" इति [श०] मंत्रार्थ- जिस समय यजमान सोम याग करनेको प्रवृत्त हो मन मनमें सोम (अभिधीतः) चिन्ता किया हुआ (परमेष्ठी) परमेष्ठी होता है इस समय यदि उल्लिखित प्रकार [घर्मपात्र भग्न इत्यादि] कोई विघ्न उपस्थित हो तो "परमेष्ठिने स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै "सयद्येनं मनसाभिध्यातो यज्ञोनोपनमेत् परमेष्ठिने स्वाहेति जुहुयात् परमेष्ठी हि स तर्हि भवत्यपपामानꣳहत उपैनं यज्ञो नमति" इति [श०१२। ६ । १ । ३] जिस कालमें यजमान यज्ञके निमित्त सोम आवश्यक है, इत्यादि (वाचि) वाणीके (व्याहृतायाम्) उच्चारण करनेमें (प्रजापतिः) सोम प्रजापति नाम होता है इस समय यदि उल्लिखित किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित हो तो "प्रजापतये स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै २ । जिस कालमें यजमानके सोम (अच्छः) अभिमुख (इतः) प्राप्त हुआ तब (अन्धः) अन्धनामवाला होता है इस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "अन्धसे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ३ । सोमके (सन्याम्) यथाभाग रक्षित होनेपर (सविता) सविता नाम होता है उस समय यदि कोई उल्लिखित विघ्न हो तो "सवित्रे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ४ । (दीक्षायाम्) दीक्षामें (विश्वकर्मा) सोमका विश्वकर्मा नाम होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "विश्वकर्मणे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ५ । (सोमक्रयण्याम्) सोमक्रयणी गौको लानेमें सोम (पूषा) पूषा नामवाला होता है उसके प्राप्त होनेमें यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "पूष्णे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करै ६ ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मन्त्र ५ ।

इन्द्रश्च मरुतश्च क्रयायोपोत्थितोऽसुरः पण्यमानो मित्रः क्रीतो विष्णुः शिपिविष्टऽऊरावासन्नो विष्णुर्नरन्धिषः प्रोह्यमाणः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ असुर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ मित्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ–(क्रयाय) सोमके क्रयार्थ (उपोत्थितः) उपस्थित होनेमें सोम (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (मरुतः च) मरुत् नामवालाभी होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "इन्द्राय मरुद्भयश्च स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे १ । (पण्यमानः) क्रयकरनेके समय सोम (असुरः) असुरसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "असुराय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे २ । (क्रीतः) मोललिया हुआ सोम (मित्रः) मित्रसंज्ञक होताहै यदि उससमय कोई विघ्न हो तो "मित्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे ३ । (ऊरौ) यजमानकी गोदीमें (आसन्नः) स्थित सोम (शिपिविष्टः) प्राणी वा यज्ञमें प्रविष्ट (विष्णुः) विष्णुनामवाला होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "विष्णवे शिपिविष्टाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे ४ । (प्रोह्यमाणः) शकटमें वहनकरते समय सोम (नरन्धिषः) जगत्संहर्ता वा जगत्पालक (विष्णुः) विष्णु नामवाला होता है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विष्णवे नरन्धिषाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे ५ ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६–मन्त्र ६ ।

प्रोह्यमाणः सोमऽआगतो वरुणऽआसन्द्यामासन्नोऽग्निराग्नीध्रऽइन्द्रो हविर्धानेऽथर्वोपावह्रियमाणो विश्वेदेवाः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रोह्यमाण सोम इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ वरुणेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ अग्निरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ इन्द्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ अथर्वेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० ॥ ५६ ॥

मंत्रार्थ-शकटसे (आगतः) आरूढ सोम (सोमः) सोम होताहै उस समय विघ्न हो तो "सोमाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे १ । (आसन्द्याम्) सोम रखनेकी मञ्चमें (आसन्नः) रक्षित सोम (वरुणः) वरुणसंज्ञक होताहै उस समय विघ्न उपस्थित हो तो "वरुणाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे २ । (आग्नीध्रे) आग्नीध्रमें विद्यमान सोम (अग्निः) अग्निसंज्ञक है उस समयके विघ्नमें "अग्नये स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ३ । (हविर्धाने) हविर्धानमें विद्यमान होते सोम (इन्द्रः) इन्द्रसंज्ञक है उस समय विघ्नहोनेमें "इन्द्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ४ । "हृदे त्वा मनसे त्वा" [अ० ३७ क० १९] में कहे मंत्रसे कंडनके निमित्त(उपावह्रियमाणः)कूटनेको लायाहुआ सोम (अथर्वः) अथर्वनामवाला होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "अथर्वाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ५ ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र ८.

विश्वे॑ दे॒वाऽअ॒ꣳशुषु॒ न्यु॑प्तो॒ विष्णु॑राप्रीत॒पाऽआ॑
प्या॒य्यमा॑नो य॒मः सू॒यमा॑नो॒ विष्णुः॑ सम्भ्रि॒यमा॑
णो वा॒युः पू॒यमा॑नः शु॒क्रः पू॒तः शु॒क्रः क्षी॑र॒श्रीर्म॒
न्थी स॑क्तु॒श्रीर्विश्वे॑ दे॒वाः ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (२) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (३) ॐ यम इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (४) ॐ विष्णुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (५) ॐ वायुरित्यस्य वसिष्ठ

ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (६) ॐ शुक्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता।प्रायश्चित्तहोमे वि० । (७) ॐ शुक्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ ॥ दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्तहोमे वि० । (८) ॐ मन्थी इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(अंशुषु) सोमके खण्डोंमें(न्युप्तः)कण्डन करके आरोपित किया सोम (विश्वेदेवाः)विश्वेदेवासंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । "अह्नशुरह्नशुष्टे" [अ० ५ मं०७]से (आप्यायमानः) वृद्धिको प्राप्त हुआ सोम (आप्रीतपाः) सब प्रकार अपने भक्तोंकी रक्षा करनेवाला (विष्णुः) विष्णुसंज्ञक होताहै उस समय विघ्न उपस्थित होनेमें "विष्णवे आप्रीतपाय स्वाहा"इस मंत्रसे घृताहुति दे २ ।(सूयमानः) सोम-अभिषवके समय (यमः) यमनाम है उस समय विघ्न हो तो "यमायस्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ३ । (सम्भ्रियमाणः) पुष्यमाण अभिषुत सोम (विष्णुः) विष्णुरूप है उस समय विघ्न उपस्थित हों तो"विष्णवे स्वाहा"इससे आज्याहुति दे४। (पूयमानः) पवित्रद्वारा छानाहुआ सोम(वायुः) वायु नामहै उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "वायवे स्वाहा"इस मंत्रसे आज्याहुति दे५। (पूतः)पवित्र हुआ सोम (शुक्रः) शुक्र होताहै उस समय यदि कोई विघ्न हो तो"शुक्राय स्वाहा"इससे आज्याहुति दे ६ । (क्षीरश्रीः) पूतसोम दुग्धसे मिलानेके समय (शुक्रः) शुक्र होताहै उस समय विघ्न हो तो "शुक्राय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ७ । (सक्तुश्रीः) सक्तुसे मिश्रित सोम (मन्थी) मन्थीनाम होताहै उस समय विघ्न हो तो "मन्थिने स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ८ ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मन्त्र ७ ।

विश्वेदेवाश्चमुसेषून्नीतोसुर्होमायोद्यतोरुद्रोहू यमानोवातोभ्यावृत्तोनृचक्षाःप्रतिख्यातोभ क्षोभक्ष्यमाणःपितरोनाराशꣳसाःसन्नःसिन्धुः५८

ऋष्यादि- (१) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (२) ॐ असुर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० लिंगोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्य

होमे वि० । (३) ॐ रुद्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० (४) ॐ वात इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (५) ॐ नृचक्षा इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी जगती छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (६) ॐ भक्ष इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (७) ॐ पितर इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० ॥ ५८ ॥

मंत्रार्थ–(चमसेषु) ग्रहपात्रोंमें (उन्नीतः) ग्रहण किया सोम (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । (होमाय) ग्रहहोम करनेको (उद्यतः) उद्यत हुआ सोम (असुः) असुसंज्ञक होता है, उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "असवे स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे २ । (हूयमानः) हवन करते समय सोम (रुद्रः) रुद्रसंज्ञक है उस समय कोई विघ्न हो तो "रुद्राय स्वाहा" इस मंत्रसे आहुति दे ३ । (अभ्यावृतः) हुतशेष सोमभक्षणार्थ सदोमण्डपमें लाया हुआ (वातः) वातसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "वाताय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति दे ४। (प्रतिख्यातः) हे ब्रह्मन् ! यह हुतशेष पानकरो. इसप्रकार भक्षणके निमित्त पूछाहुआ सोम (नृचक्षाः) मनुष्योंका शुभाशुभ देखनेवाला नृचक्ष नाम होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "नृचक्षसे स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ५ । (भक्ष्यमाणः) भक्षण करते हुए सोम (भक्षः) भक्षसंज्ञक है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो "भक्षाय स्वाहा" इससे आज्याहुति दे ६ । (सन्नः) भक्षण करनेके अनन्तर खरीपर रक्खा सोम (नाराशंसाः) नारांशंस गुणविशिष्ट वा यज्ञहितकारी (पितरः) पितरसंज्ञक होता है उस समय कोई विघ्न उपस्थित हो तो "पितृभ्यो नाराशंसेभ्यः स्वाहा" इससे आज्याहुति प्रदान करें ७ ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र १ ।

सन्नःऽसिन्धुरवभृथायोद्यतꣳसमुद्रोऽभ्यवह्रियमाणꣳसलिलःप्रप्लुतोययोरोजसास्कभितारजाꣳसि वीर्येभिर्वीरतमाशविष्ठा ॥ यापत्येतेऽअप्रतीतासहोभिर्विष्णूऽअगन्वरुणापूर्वहूतौ ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिन्धुरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (२) ॐ समुद्र इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (३) ॐ सलिल इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । प्रायश्चित्ताज्यहोमे वि० । (४) ॐ ययोरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । विष्णुवरुणौ देवते । जलेन स्कन्नसोमोपसिंचने वि० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(अवभृथाय) अवभृथके निमित्त (उद्यतः) उद्यत हुआ सोम (सिन्धुः) सिन्धु होता है उस समय यदि कोई विघ्न हो तो " सिन्धवे स्वाहा "इस मंत्रसे आज्याहुति दे १ । (अभ्यवह्रियमाणः) जलके ऊपर उस ऋजीषकुम्भमें उपस्थित करते समय जलके अभिमुख लेजायाहुआ सोम (समुद्रः) समुद्र होता है, उस समय यदि कोई विघ्न हो तो "समुद्राय स्वाहा"इस मंत्रसे आज्याहुति दे २ ।(प्रहुतः) ऋजीषकुम्भ जलमें मग्न करते समय सोम (सलिलः) सलिलसंज्ञक होता है उस समय यदि कोई विघ्न उपस्थित हो तो " सलिलाय स्वाहा" इस मंत्रसे आज्याहुति प्रदान करे. इन चौंतीस ३४ आहुतियोंसे चिकित्सित यज्ञ पूर्ण होता है । तथाच श्रुतिः " ता वा एताश्चतुस्त्रिꣳशतमाज्याहुतीर्जुहोति त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिꣳश एतदु सर्वैर्देवैर्यज्ञं भिषज्यति सर्वैर्देवैर्यज्ञं प्रति सन्दधाति" इति [श० १२ ९ । १ । ३७] तैंतीस देवता चौंतीसवां प्रजापति परमात्मा है उनके निमित्त आहुति देनेसे यज्ञ पूर्णाङ्ग होजाता है । [इति यज्ञचिकित्सा] ३ । विधि-(४) सोमरस भूमिआदिमें पतित हो अथवा कलशसे गिरे वा आतपमें शुष्क हुआ हो किसी प्रकार गिराहो तो इस अगले मंत्रसे जलसे सींचै [का० २५ । २ । ९] (ययोः) जिन विष्णु और वरुणके (ओजसा) प्रभावसे (रजाꣳसि) लोक "लोका रजांस्युच्यन्त इति" [निरु० ४ । १९] (स्तभिताः) स्तंभित हैं (याः) जो विष्णु वरुण (वीर्येभिः) अपने बलोंसे (वीरतमाः) अत्यन्त वीर (शविष्ठाः) अत्यन्त बलवान् "शव इति बलनाम" [निघं० २ । ९ ३] (सहोभिः) जो अपने बलोंसे (अप्रतीताः) अप्रतिम है अर्थात् जिनके तुल्य कोई नहीं जिनके सन्मुख युद्ध करनेको किसीकी सामर्थ्य नहीं वे (पत्येते) लोकत्रयका आधिपत्य करते हैं, अर्थात् जगत्के ईश्वर हैं. अथवा शत्रुओंकी सेनापर श्येनकी समान पतित होते हैं (पूर्वहूतौ) यज्ञमें प्रथमही आह्वान किये (विष्णुवरुणौ) विष्णु और वरुणके प्रति (अगन्) हमसे स्कन्न हुआ सोम गया अर्थात् उनकेप्रति प्राप्त हुआ तुल्यकार्य होनेसे दोनोही विष्णु और दोनोही वरुण हैं यह प्रसन्न हविभी उनके निकट प्राप्त हुई ॥ ४ ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०–मन्त्र २ ।

देवान्दिवमगन्यज्ञस्ततो॑मा द्रविणमष्टु मनुष्यान्
न्तरिक्षमगन्यज्ञस्ततो॑मा द्रविणमष्टु पितॄन्पृथिवी
मगन्यज्ञस्ततो॑मा द्रविणमष्टु यङ्कञ्च लोकमगन्यज्ञ
स्ततो॑मेभद्रमभूत् ॥ ६० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवानित्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । अत्यष्टिश्छं० । यज्ञो देवता । स्कन्नसोमाभिमर्शने वि० ॥ ६० ॥

विधि–(१) सोम स्कन्न होनेपर पूर्व मंत्रसे जलसिंचन अथवा इस मन्त्रसे अभिमर्शन करै [का० २५।२।८।] मन्त्रार्थ–(यज्ञः) यह यज्ञ (दिवम्) द्युलोकमें (देवान्) देवताओंके प्रति (अगन्) गया (ततः) उस द्युलोकमें स्थित यज्ञ-फलसे (द्रविणम्) विशिष्ट भोगसाधनरूप धन यज्ञका फलरूप (मा) मुझको (अष्टु) प्राप्त हो । इससे सुकृतियोंका आरोहणक्रम कहकर इस समय अवरोहण क्रम कहते हैं । (यज्ञः) द्युलोकसे अवरोहणसमय यह यज्ञ (मनुष्यान्) मनुष्य-लोकमें आताहुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोकमें (अगन्) प्राप्त हुआ (ततः) वहां स्थित यज्ञके फलसे (द्रविणम्) अनेक प्रकार धनकी प्राप्ति (मा) मुझको (अस्तु) हो । अब दक्षिणायनका गमनागमन कहते हैं (यज्ञः) यह यज्ञ धूमादि-मार्गसे (पितॄन्) पितरोंको प्राप्त होकर (पृथ्वीम्) भूलोकको(अगन्) आताहुआ (ततः) उस स्थानमें स्थित यज्ञके फलसे (द्रविणम्) धनादि (मा) मुझको (अष्टु) प्राप्त हो बहुत क्या (यज्ञः) यह यज्ञ (यम्) जिस (कंच) किसी भी (लोकम्) लोकको (अगन्) गया हो (ततः) इसके फलसे (मे) मेरा (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हो ॥ ६० ॥

विशेष–अथवा द्युलोकके देवताओंके निकट गमन करता हुआ इसका यह आशय है द्युलोकवासी सुकृतरूप हैं ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१–मन्त्र १ ।

चतु॑स्त्रिᳪंशत्तन्त॑वो॒ये॑वितत्रि॒रे यऽइमंय॒ज्ञᳪंस्व
धया॒दद॑न्ते ॥ तेषा॑ञ्छि॒न्नᳪंसम्वे॒तद्द॑धामि॒स्वाहा॑
घ॒र्म्मोऽअप्प्ये॑तुदे॒वान् ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चतुस्त्रिंशदित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । घर्मो देवता । आज्यहोमे वि० ॥ ६१ ॥

विधि-(१) सोमलताको आवर्जन करते समय घर्मपात्रमें ग्रहण करै उसके भेदमें यह समस्त हवन करै कात्यायन महर्षिने इसका विनियोग नहीं लिखा परन्तु शाखान्तरमें महावीर वा घर्महोममें प्रसिद्ध है महावीरके भेदमें घृतहोम करै। मंत्रार्थ-(ये) जो (चतुस्त्रिंशत्) चौंतीस (तन्तवः) प्रायश्चित्त उपरान्त यज्ञका विस्तार करनेवाले प्रजापति आदि चौंतीस देवता (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञकू (वितत्निरे) विस्तार करतेहुए (ये) जो (स्वधया) अन्नादिद्वारा (ददन्ते) पुष्ट करते हैं (तेषाम्) उन यज्ञके विस्तार करनेवाले देवताओंका जो (छिन्नम्) अंश छिन्न हुआ है (उएतत्) उसको (सन्दधामि) घर्मपात्रमें संग्रह करता हूं सन्धान करता हूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो इस घृत से महावीर संहित हो (घर्मः) महावीर (देवान्) देवताओंके प्रति (अप्येतु) प्रसन्न करनेको गमन करै ॥ ६१ ॥

विशेष-यह जो सोमकी चिन्तामे सोमप्लावनपर्यन्त ३४ आहुति हैं उन्हीका वर्णन इस मन्त्रमें है ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

य॒ज्ञस्य॒ दोहो॒ वित॑तः पुरु॒त्रा सो अ॑ष्ट॒धा दिव॑म॒न्वात॑तान ॥ स य॑ज्ञ धुक्ष्व॒ महि॑ मे प्र॒जाया॑ᳪ रा॒यस्पोषं॒ विश्व॒मायु॑रशीय॒ स्वाहा॑ ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यज्ञस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः यज्ञो देवता । मन्त्रपाठे वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) पूर्वोक्त ३४ आहुतिमेंसे कोई एक आहुति देनेपर यजमान यह मंत्र पाठ करै [का० २५।६।७]मन्त्रार्थ-(यज्ञस्य) जिस यज्ञका (दोहः) आहुति परिणाम हुआ (सः) वह प्रसिद्ध यज्ञका फलरूप (पुरुत्रा) बहुतप्रकारसे (विततः) विस्तारको प्राप्त होताहुआ (अष्टधा) आठों दिशाओंमें वा दिग्भेदसे आठ प्रकार भिद्यमान हो (दिवम्) द्युलोकमें (अन्वाततान) व्याप्त हुआ अर्थात् भूमि अन्तरिक्षमें व्याप्त होकर स्वर्गमें व्याप्त हुआ है (सः) वह (यज्ञः) यज्ञ (मे) मुझको (प्रजायाम्) सन्ततिमें (माहि) महिमाको (धुक्ष्व) प्रदान करै (रायः) धनकी (पोषम्) पुष्टि (विश्वम्) सम्पूर्ण

(आयुः) अवस्थारूप आयुको (अशीय) प्राप्त करूं (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो [आशय यह कि ब्रह्माजीसे प्रारम्भकर समस्त भूतग्राम यज्ञका परिणाम है] ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३–मन्त्र १।

आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्सोम वीरवत्। वाजं गोमन्तमाभर स्वाहा ॥ ६३ ॥ १० ॥ २३ ॥

इति संहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आपवस्वेत्यस्य कश्यप ऋ०। स्वराडार्षी गायत्री छं०। सोमो दे०। शान्त्यर्थे होमे वि०॥ ६३ ॥

विधि–(१) यदि यूपस्तम्भके ऊपर काक बैठ जाय तब उद्गाता इस मंत्रसे आहुति प्रदान कर शान्ति करै यही पशु सोमपर काकके बैठनेमें है[का०२९।६।९] मंत्रार्थ–(सोम) हे सोम! तुम (आपवस्व) आकर इस यूपस्तंभको पवित्र करो (हिरण्यवत्) सुवर्णयुक्त (अश्ववत्) अश्वयुक्त (वीरवत्) वीरयुक्त होकर अर्थात् हिरण्य अश्वपुत्र तथा (गोमन्तम्) धेनुयुक्त (वाजम्) अपर्याप्त अन्न (आभर) हमको सब प्रकारसे प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो [ऋ० ७।१।३३] ॥ ६३ ॥

इति प्रायश्चित्त गवामयन समाप्त.

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसाद-
मिश्रकृतमिश्रभाष्ये ग्रहग्रहान्निमित्तान्तोष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ९.

वाजपेय यज्ञ.

चौथे अध्यायसे लेकर आठवें अध्यायपर्यन्त अग्निष्टोम और उसके प्रासंगिक मंत्र कहे हैं अब नौमें अध्यायकी ३४ कण्डिकातक वाजपेयमंत्र कहते हैं।

देवसवितश्चतस्रः इंद्रस्यवज्रः पञ्चदेवस्याहं दश आपयेतिस्रः वाजस्येममष्टौ अग्निरेकाक्षरेणैषतेचतुष्कोसविताद्वे अष्टौचत्वारिंशत्।

कण्डिका १–मन्त्र १।

देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय ॥

दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पतिर्वा
जन्नः स्वदतु स्वाहा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवसवितरित्यस्य बृहस्पतीन्द्रौ ऋषी । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) कार्यारम्भमें इस मंत्रसे आज्याहुतिप्रदान करे [का० १४ । १।११] मंत्रार्थ-(देव सवितः) हे दीप्यमान सबके प्रेरक परमात्मन् ! (यज्ञम्) इस वाजपेयनामक यज्ञको (प्रसुव) प्रवृत्त करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (भगाय) ऐश्वर्यलाभके निमित्त वा भजनीय अनुष्ठानके निमित्त (प्रसुव) प्रेरणा करो (दिव्यः) दीप्यमान (केतपूः) अन्नके पवित्रकरनेवाले (गन्धर्वः) रश्मियोंके धारणकरनेवाले सूर्यमण्डलमें वर्तमान नारायण (नः) हमारे (केतम्) अन्नको (पुनातु) पवित्र करें (वाचस्पतिः) वाक्यके अधिपति प्रजापति (नः) हमारे (वाजम्) हविलक्षणरूप अन्नको (स्वदतु) आस्वादन करै (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

भावार्थ-हे सवितृदेव ! हम प्रभूत ऐश्वर्यके लाभके निमित्त वाजपेयनामक यज्ञानुष्ठान करनेकी वाञ्छा करते हैं इस यज्ञमें हमको यज्ञिपतिरूपसे प्रवृत्त करो हे दीप्यमान सहस्ररश्मि ! तुम सम्पूर्ण अन्नके सृष्टिस्थितिलयकारी हो और समस्त वाक्यके अधिपति हो इसकारण तुम्हारे निकट प्रार्थना करते हैं इस यज्ञके सम्पादनके निमित्त हमको यथेष्ट अन्नप्रदान करो और हमारे वाक्योंको आस्वादयुक्त करो यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र ९ ।

ध्रुवसदन्त्वा नृषदम्मनःसदमुपयामगृहीतोसी
न्द्रायत्वा जुष्टङ्गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रायत्वा जुष्टत
मम् ॥ अप्सुषदन्त्वा घृतसदँव्योमसदमुपयामगृ
हीतोसीन्द्रायत्वा जुष्टङ्गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय
त्वा जुष्टतमम् ॥ पृथिविसदन्त्वान्तरिक्षसदन्दि
विसदन्देवसदन्नाकसदमुपयामगृहीतोसीन्द्राय
त्वा जुष्टङ्गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्रायत्वा जुष्टतमम् २

ऋष्यादि–(१) ॐ ध्रुवसदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ०।याजुषी जगती छं०। इन्द्रो देवता । प्रथमैन्द्रग्रहोद्धोधने वि० ।(२)ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । ऐंद्रग्रहग्रहणे वि० । ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । ऐन्द्रग्रहासादने वि० । (४) ॐ अप्सुषदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । याजुषी जगती छं० । इन्द्रो देवता । ऐन्द्रग्रहोद्धोधने वि० । (५)ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । याजुषी जगती छं०।ग्रहो देवता।ऐन्द्रग्रहग्रहणे वि०। (६) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं०।इन्द्रो देवता।ऐन्द्रग्रहासादने वि० । (७) ॐ पृथिवीसदमित्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः।इन्द्रो देवता । ऐन्द्रग्रहोद्धोधने वि०।(८)ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । ऐन्द्रग्रहग्रहणे वि० । (९) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । ऐन्द्रग्रहासादने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१–२–३) प्रातःसवनके पूर्वविहित आग्रयण ग्रहके ग्रहणानन्तर पूर्वोक्त तीन अतिग्राह्य ग्रहण कर षोडशिनामक ग्रह ग्रहण करनेके परे फिर परन्तु ऐन्द्रग्रह ग्रहण करै [का० १४।१।२६।२।१] प्रथम तीन मंत्रसे प्रथम ग्रहग्रहण करै. मन्त्रार्थ–हे प्रथम ग्रह ! तुम इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (ध्रुवसदम्) स्थिर इस लोकमें स्थित होनेवाले (नृपदम्) मनुष्योंके बीचमें स्थित होनेवाले (मनःसदम्) मनमें स्थित होनेवाले (त्वा) तुम (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टम्) प्रिय हो इस प्रकार (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्)अत्यन्त प्रिय(त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं १–२–३ । विधि–(४–५–६) द्वितीयग्रहग्रहण । मंत्रार्थ–हे द्वितीय ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (अप्सुपदम्) जलमें स्थित होनेवाले (घृतसदम्) घृतमें स्थित होनेवाले (व्योमसदम्) आकाशमें स्थित होनेवाले(त्वा) तुम हो (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ४–५–६। विधि–(७–८–९) तृतीय ग्रहग्रहण । मन्त्रार्थ–हे तृतीय ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयाम पात्रमें गृहीत (असि) हो (पृथिवीसदम्)पृथ्वीमें स्थित होने-

वाले (अन्तरिक्षसदम्) अन्तरिक्षमें स्थित होनेवाले (दिविसदम्) द्युलोकमें स्थित होनेवाले (देवसदम्) देवताओंमें स्थित होनेवाले (नाकसदम्) दुःख-रहित देवस्थानमें स्थित होनेवाले (त्वा) तुम हो (इन्द्राय) इन्द्रके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (इन्द्राय) इन्द्रके (जुष्टतमम्) अत्यन्त प्रिय (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

अ॒पाᳯं रस॒मुद्व॑यस॒ᳯं सूर्ये॒ सन्त॑ᳯं स॒माहि॑तम् ॥ अ॒पाᳯं रस॑स्य॒ यो रस॒स्तं वो॑ गृह्णाम्युत्त॒ममु॑पया॒मगृ॑हीतो॒सीन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्टं॑ गृह्णाम्ये॒ष ते॒ योनि॒रिन्द्रा॑य त्वा॒ जुष्ट॑तमम् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अपामित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रसो देवता । चतुर्थग्रहोद्बोधने वि० । (३) ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पति-र्ऋषिः । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । चतुर्थग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । ग्रहासादने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके तीन मंत्रोंसे चौथा ग्रह ग्रहण करै।

मंत्रार्थ-हे चतुर्थ ग्रह ! (सूर्ये) सूर्यमें (समाहितम्) स्थापित (सन्तम्) विद्यमान (उद्वयसम्)समस्त अन्नके उत्पादक (अपाम्) जलोंके (रसम्) रस-साररूप वायु "एष वा अपाᳯं रसो योयं पवते" इति श्रुतेः [श० ९ । १ । २ । ३] (अपाम्) जलोंके (रसस्य) सारका (यः) जो (रसः) सार है अर्थात् वायुके सार प्रजापति हिरण्यगर्भ जो कि यज्ञलोक कालाग्नि वायु सूर्य ऋक्यजुःसामादि शरीर है, हे देवताओ ! (तम्) उस (उत्तमम्) श्रेष्ठ उत्कृष्ट प्रजापतिको (वः) तुम्हारे निमित्त (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं अथवा सोमरूपसे वायुके अभिमानी प्रजापतिको ग्रहण करता हूं १ । (उपयामगृहीतः) इत्यादि ग्रहण आसादनके मंत्र पूर्ववत् ॥ ३ ॥

विशेष--जलसे वायुकी समान एक प्रकारका सार पदार्थ निर्गत होता है जल यंत्रितकरनेसे दो अंशोंमें विभक्त होताहै उसमें वायुके अंशको जलका सार दूसरे अंशको जलके सारका सार कहतेहैं ॥ ३ ॥

जिस प्रकार क्षेत्रमें बीज रोपित होकर उसकी उस अवस्थासे अंकुरोत्पादनके उपयोगी नहीं हुआजाता किन्तु विगलित होजाताहै इसी प्रकार क्षेत्रमें जल सिंचन करकेभी वह अन्नके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता किन्तु उसके सार तथा सारके साररूपसे परिणत होकर प्रकृत उपयोगी होते हैं वही अंश सार कहेजाते हैं पदार्थविद्या. ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र ५ ।

ग्रहाऽऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् ॥ तेषां विशिप्रियाणां वोहमिषमूर्ज्जꣳ समग्रभमुपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतमम् ॥ सम्पृचौ स्थꣳ सम्मा भद्रेण पृङ्क्तं विपृचौ स्थो वि मा पाप्मना पृङ्क्तम् ॥ ४ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ ग्रहा इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । पंचमग्रहोद्बोधने वि० । (२) ॐ उपयामेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । पञ्चमग्रहग्रहणे वि० । (३) ॐ एषत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । ग्रहासादने वि० । (४) ॐ समित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडासुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । अध्वर्युनेष्ट्रोः स्वस्वग्रहानयने वि० । (५) ॐ वीत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडासुर्यनुष्टुप्छं० । ग्रहो दे० । अध्वर्युनेष्ट्रोः खरे-ग्रहासादने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१-२-३)प्रथम तीन मंत्रसे पंचम ग्रह ग्रहणकरै । मन्त्रार्थ–(ग्रहाः) हे सम्पूर्ण ग्रहो!(ऊर्जाहुतयः)अन्नरसका आह्वानकरनेवाले अथवा अन्नरसके आह्वानके कारण तुम(विप्राय)बुद्धिमान् इन्द्रके निमित्त(मतिम्) विशिष्ट बुद्धिको(व्यन्तः) प्राप्त कराते हुए अथवा मेधावी इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त माननीय हो (तेषाम्) उन (विशिप्रियाणाम्) विशिप्र यजमानोंके प्रिय (वः)तुम्हारे सम्बन्धी (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) रसको (अहम्) मैं (समग्रभम्) सम्यक् प्रकारसे (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं १। हे पञ्चम ग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके (जुष्टम्) प्रिय (त्वा) तुमको ग्रहण करता

हूं हे पंचम ग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारी (योनिः) स्थान है (इन्द्राय)इन्द्र देवताके (जुष्टतमम्) अतिप्रिय जानकर (त्वा)तुमको इस स्थानमें स्थापन करता हूं. ३ । विधि-(४) अध्वर्यु अक्षके ऊपर सोम ग्रह एवं नेष्टा अक्षके अधोभागमें सुराग्रह एक कालमें धारण करके यह चतुर्थ मन्त्र पाठकरै [का० १४ । २ । ७] मन्त्रार्थ-हे सोम ! सुराग्रह जो कि, तुम दोनों (सम्पृचौ) मिले हुए (स्थः) हो सो तुम दोनों (मा) मुझको (भद्रेण) कल्याणसे (सम्पृक्तम्) संयुक्त करो ४ । विधि-(५) फिर पांचवां मंत्र पाठकरकै अध्वर्यु और नेष्टा इन ग्रहोंको अपने समीप प्राप्त करैं [का० १४ । २ । ८] मन्त्रार्थ-हे सोम सुराग्रह ! तुम दोनों (विपृचौ) परस्पर वियुक्त (स्थः) हो इस कारण (मा) मुझको (पाप्मा) पापाचरणसे (विपृङ्क्तम्) पृथक् करो ॥ ४ ॥

विशेष-शिप्रशब्दसे हनु और नासिकाका ग्रहण है, परन्तु इस स्थलमें हनु ठोढी जान्नी कारण कि सोमपानमें हनुचालनका प्रयोजन नहीं इस कारण इसको शिप्र कहाजाताहै. सब प्रकारकेही पेयपदार्थके स्थूलभागको अन्न और तरल भागको रस कहतेहैं जैसे दुग्ध पीनेवाले बालकके पेय पदार्थ दुग्धसे दोनोंप्रकार प्रगट होतेहैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र २ ।

इन्द्र॑स्य॒ वज्रो॑ऽसि वाज॒सास्त्वया॒यं वाज॑ꣳसेत् ॥ वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे ॥ यस्या॑मि॒दं विश्वं॒ भुव॑नमावि॒वेश॒ तस्यां॑ नो दे॒वः स॑वि॒ता धर्म॑ साविषत् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । रथो दे० । शकटाद्रथावतारणे वि० । (२) ॐ वाजस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । विराडतिजगती छं० । पृथिवीसवितारौ दे० । वेदिमध्ये रथस्थापने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) महामरुत्वतीय ग्रह ग्रहण करनेके उपरान्त माहेन्द्रग्रहग्रहणसे पहले यह मंत्रपाठ करके रथवाही शकटसे रथ उतारै [का० १४ । ३ । १] मन्त्रार्थ- हे रथ ! तुम (वाजसाः) अन्न देनेवाले हो (इन्द्रस्य) इन्द्रके (वज्रः) वज्र (असि) हो अर्थात् वज्रसदृश काष्ठसे निर्मित हो (अयम्) यह यजमान (त्वया) तुम्हारी वज्रतुल्य सहायसे (वाजम्) अन्नको (सेत्) प्राप्त होवे १ । विधि- (२) उतारेहुए इस रथकी धुर ग्रहण करके चत्वालके दक्षिण ओर प्रदक्षिणा कराकर इस द्वितीय मंत्रका पाठकरकै निर्दिष्ट वेदीके ऊपर

स्थापन करै [का० १४। ३ ।२] मंत्रार्थ–(वाजस्य) अन्नके (प्रसवे) अनुज्ञानमें वर्तमान (नु) हम जिस (मातरम्) माता जगतकी निर्माण करनेवाली (अदितिम्) अदीन वा अखण्डित (महीम्) पूजनीय (नाम) प्रसिद्ध भूमिको (वचसा) वेदवाक्यद्वारा (करामहे) अनुकूल करते हैं (यस्याम्) जिसमें (इदम्) यह (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) संसार (आविवेश) प्रविष्ट है (देवः) प्रकाशात्मक (सविता) सबके प्रेरक परमात्मा (तस्याम्) इस भूमिमें (नः) हमारी (धर्म) दृढ धारणाकी (साविषत्) प्रेरणा करैं अर्थात् हमको इस वसुमतीमें स्वस्थतापूर्वक स्थापित करैं २ ॥ ५ ॥

प्रमाण–"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार"इत्यादि [श० १।२।४।१] ॥५॥

विशेष–उस समय वंशादिनिर्मित भारवाही शकटके ऊपर आवश्यकतानुसार काष्ठादिनिर्मित देवमन्दिरकी समान एक क्षुद्र युग्म गृह स्थापित होताहै वही यह रथ है पंचालादि देशोंमें अब भी इसका व्यवहार है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र १ ।

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तिष्वश्वा भवत वाजिनः ॥ देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुन्मान्वाजसास्तेनायं वाजꣳ सेत् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अप्स्वन्तरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । विराडार्ष्युष्णिक्छं० । अश्वो दे० । अश्वप्रोक्षणे वि० । (२) ॐ देवीरित्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । निच्यृत्प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । आपो देवता । अश्वप्रोक्षणे वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१) स्नान करनेको जातेहुए सब अश्वोंको इस मंत्रद्वारा प्रोक्षण करै [का० १४ । ३ । ३।५] मन्त्रार्थ–(अप्सु) जलोंके (अन्तः) मध्यमें (अमृतम्) अमृत स्थितहै (उत) और (अप्सु) जलोंके मध्यमें (भेषजम्) आरोग्य और पुष्टिकारक औषधि स्थित है (अश्वाः) हे अश्वो ! इस प्रकारसे अमृत भेषजयुक्त जलोंमें (वाजिनः) वेगवान् वा अन्नवान् (भवत) हो तथा (अपाम्) जलोंके (प्रशस्तिषु) प्रशस्त भागोंमें (भवत) स्नानके निमित्त प्रवेश करो १ । विधि–(२) स्नान करके आये हुए अश्वोंको दूसरे मंत्रसे प्रोक्षण करै ।मन्त्रार्थ–हे (देवीः) दीप्यमान (आपः) जलो ! (वः) तुम्हारी (यः) जो (प्रतूर्तिः) शीघ्रचलनेवाली (ककुन्मान्) ककुदकी समान ऊंची (वाजसाः) अन्नकी

देनेवाली (ऊर्मिः) तरंगें हैं (तेन) उनसे सिक्त हुआ (अयम्) यह अश्व (वाजम्) यजमानके ईप्सितानुरूप अन्नको (सेत्) प्रदानकरनेमें समर्थ हो २ । [ऋ० १ । १ । २ । ११] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १ ।

वातो॑ वा॒ मनो॑ वा गन्ध॒र्वाः स॒प्तवि॑ꣳशतिः। ते अग्रे॒ऽश्व॑मयुञ्जँ॒स्ते अ॑स्मिञ्ज॒वमाद॑धुः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातोवेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिगार्ष्युष्णिक्छं० । अश्वो देव० । रथदक्षिणेऽश्वसंयोजने वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे दक्षिण ओर के घोडेको रथ में जोडे [का० १४ । ३ । ६] मन्त्रार्थ–(वातः) वायु (वा) या (मनः) मन (वा) या (सप्तविꣳशतिः) सत्ताईस (गन्धर्वाः) गंधर्व भूमिके धारण करनेवाले नक्षत्र (ते) वे सब वातादिकें (अग्रे) प्रथम (अश्वम्) अश्वको (अयुञ्जन्) रथमें युक्त करतेहुए (ते) वेही (अस्मिन्) इस (अश्वम) अश्वमें (जवम्) अपनेर वेगके अंशको(आदधुः) धारण करते हुए ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

वात॑रꣳहा भव वाजिन्यु॒ज्यमा॑न॒ऽइन्द्र॑स्येव॒ दक्षि॑णः श्रि॒यैधि॑ ॥ यु॒ञ्जन्तु॑ त्वा म॒रुतो॑ वि॒श्ववे॑दस॒ऽआ ते॒ त्वष्टा॑ प॒त्सु ज॒वं द॑धातु ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातरंहेत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । रथवामेऽश्वसंयोजने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे रथमें वामओर अश्व जोडे [का० १४ । ३ । ७ ।] मन्त्रार्थ–(वाजिन्) हे वेगवान् अश्व ! (युज्यमानः) जुतेहुए तुम (वातरंहाः) वायुकी समान वेगवान् (भव) हूजिये (दक्षिणः) दक्षिण भागमें स्थितहुए (इन्द्रस्य) इन्द्रके अश्वकी (इव) समान (श्रिया) शोभासे (एधि) युक्त हो (विश्ववेदसः) सर्वज्ञ वा सर्व धनवाले (मरुतः) मरुत्देवता (त्वा) तुमको (युञ्जन्तु) रथमें नियुक्तकरें (त्वष्टा) त्वष्टा देवता (ते) तुम्हारे (पत्सु) चरणोंमें (जवम्) वेगको (आदधातु)स्थापन करें ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मन्त्र २ ।

जवोयस्तेवाजिन्निहितोगुहायः श्येनेपरीतोऽअच
रच्चवाते ॥ तेननोवाजिन्बलवान्बलेनवाजजिच्चभ
वसमनेचपारयिष्णुः ॥ वाजिनोवाजजितोवाज
ꣳसरिष्यन्तोबृहस्पतेर्भागमवजिघ्रत ॥९॥ [५]

ऋष्यादि–(१)ॐ जव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः।आर्षी जगती छं०।अश्वो दे० । दक्षिणधुरि तृतीयाश्वसंयोजने वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । अश्वो देवता । अश्वं प्रति बार्हस्पत्यचर्वाघ्रापणे वि० ॥ ९ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे इस रथकी दक्षिण धुरिमें तृतीय अश्व योजित करे [का० १४ । ३ । ८] मंत्रार्थ–(वाजिन्) हे अश्व ! (यः) जो (ते) तेरा (जवः) वेग (गुहानिहितः) हृदयमें स्थापित है (यः) जो (श्येने) श्येन पक्षीमें (परीतः) तुम्हारा दिया वेग है (च) और (वाते) वातमें जो वेग (अचरत्) स्थित है (वाजिन्) हे अश्व ! (तेन) उस (बलेन) बलकरके (बलवान्) बलवान् होते हुए (नः) हमारे निमित्त (वाजजित्) अन्नको जीतनेवाला हो (च) और (समने) संग्राममें (पारयिष्णुः) शत्रुके सेनानिवेशको पराभव करके हमारे निमित्त प्रचुर अन्न जयकर १ । विधि–(२) दूसरे मन्त्रसे इसको बार्हस्पत्यचरु सुंघावै [का० १४ । ३ । १०] मंत्रार्थ–(वाजजित्) अन्नके जीतने वाले (वाजम्) अन्नके प्रति (सरिष्यन्तः) जाते हुए (वाजिनः) हे अश्वो ! (बृहस्पतेः) बृहस्पतिके (भागम्) भाग चरुको (अवजिघ्रत) सूंघो २ ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र २ ।

देवस्याहꣳसवितुः सवेसत्यसवसोबृहस्पतेरुत्तम
न्नाकꣳरुहेयम् ॥ देवस्याहꣳसवितुः सवेसत्यसव
सऽइन्द्रस्योत्तमन्नाकꣳरुहेयम् ॥ देवस्याहꣳसवि
तुः सवेसत्यप्रसवसोबृहस्पतेरुत्तमन्नाकमरुहम् ॥
देवस्याहꣳसवितुः सवेसत्यप्रसवसऽइन्द्रस्योत्त
मन्नाकमरुहम् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । निचृदार्षी बृहती छं०। लिङ्गोक्ता देवता । ब्रह्मणो रथचक्रारोहणे वि० । (२) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्नी जगती च्छं० । लिंगोक्ता देवता । ब्रह्मणो रथचक्रारोहणे वि० । (३) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आर्ची बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । ब्रह्मणो रथचक्रादवतरणे वि०।(४) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । भुरिक्साम्नी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । ब्रह्मणो रथचक्रादवतरणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) उत्कर प्रदेशमें नाभिप्रमाणपर्यन्त ऊंचा एक स्तंभ स्थापित रहता है उसीके ऊपर रथचक्र रक्षित रहता है ब्राह्मणयज्ञमें ब्रह्मा इस प्रथम मंत्रको पाठ करके इस चक्रपर आरोहण करे [का० १४ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः) सत्यप्रेरक अर्थात् जिनकी प्रेरणा अनुल्लंघनीय है उन (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान (अहम्) मैं (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) स्वर्गमें (रुहेयम्) आरोहण करूं अर्थात् बृहस्पति [ब्राह्मण यजमान] की उत्कृष्ट स्वर्गलाभकामनाके निमित्त इस चक्रमें आरोहण करताहूं १ । विधि-(२) क्षत्रियके वाजपेयमें ब्रह्मा इस मंत्रसे चक्रारोहण करे । मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः) अनुल्लंघनीय प्रेरणावाले (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान मैं (इन्द्रस्य) इन्द्रसंबन्धी अथवा क्षत्रिययजमानकी (उत्तमम्) उत्कृष्ट (नाकम्) स्वर्गकामनासे (रुहेयम्) चक्रपर आरोहण करताहूं २ । विधि-(३) यजमानादि सप्तदश रथ देवयजनस्थानसे सप्त शरप्रक्षेप देशमें स्थापित उदुम्बरीको प्रदक्षिणा करते देवयजन स्थानमें पुनः आगमन करें ब्रह्मा ब्राह्मणके यज्ञमें यह तीसरा मंत्रपाठ पूर्वक इस रथचक्रसे उतरे [का० १४ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे) अनुल्लंघनीय प्रेरणावाले सविता देवकी प्रेरणावश (अहं बृहस्पतेः उत्तमम् नाकम्) मैं बृहस्पतिके उत्कृष्ट स्वर्गकामनासे (अरुहम्) इस रथ चक्रमें आरूढ हुआथा ३ । विधि-(४) क्षत्रियके यज्ञमें इस चतुर्थ मंत्रको पढ कर अवरोहण करे । मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः सवितुः देवस्य सवे) अनुल्लंघनीय सविता देवताकी आज्ञामें वर्तमान (अहम् इन्द्रस्य उत्तमं नाकम् अरुहम्) मैं इन्द्रकी उत्कृष्ट स्वर्गलाभकामनासे इस चक्रमें चढा था ॥ १० ॥

विशेष- उदुम्बरीकी चक्राकार प्रदक्षिणा होती है. ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

बृह॑स्पते॒ वाज॑ञ्जय॒ बृह॒स्पत॑ये॒ वाचं॑ वदत॒ बृह॒स्पतिं॑

वाजंञ्जापयत ॥ इन्द्रंवाजंञ्जयेन्द्रांयवाचंवदतेन्द्रं वाजंञ्जापयत ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहस्पत इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । बृहस्पतिर्दे० । दुन्दुभिवादने वि० । (२) ॐ इन्द्र इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० प्राजापत्या बृहती छं० । इन्द्रो दे० । दुन्दुभिवादने वि० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(१) वेदीके समीप ऊंचे स्थाणुपर आरोपित सत्रह दुन्दुभियोंके मध्य एक दुन्दुभिको मन्त्र पाठ से बजावै दूसरे नगाडोंको विना मंत्र पढे बजावै उसमें ब्राह्मणके यज्ञका प्रथम मंत्र [का० १४ । ३ । १५] मन्त्रार्थ-हे दुन्दुभियो ! तुम (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (वाचम्) इस प्रकार वचनको (वदत) कहो (बृहस्पते) हे बृहस्पते ! तुम (वाजम्) अन्नको (जय) जयकरो. हे दुन्दुभियो ! तुम (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (वाजम्) अन्न (जापयत) जयकराओ विधि-(२) क्षत्रिययज्ञमें दुन्दुभि वादनका मंत्र । मन्त्रार्थ-हे दुन्दुभियो ! तुम (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त इस प्रकार (वाचम्) वाणीको (वदत) कहो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (वाजम्) अन्नको (जय) जीतो (इन्द्रम्) तुमभी इन्द्रको (वाजम्) अन्न (जापयत) जय कराओ २ ॥ ११ ॥

विशेष-प्राचीनवंशा शालामें स्थित उदुम्बरीके उत्तर थोडी दूरपर उच्च मञ्चके ऊपर वाद्यागार "नौबतस्थान" बनाया जाता है उसके मध्यमें सप्तदश प्रकार दुन्दुभी बडा ढोल भेरी तुरही आदि रक्षित और व्यवहृत होते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

एषावुऽसासुत्यासंवागंभूद्ययाबृहुस्पतिंवाजुमजींजपुताजींजपतुबृहुस्पतिंवाजुंवनंस्पतयोविमुंच्यद्धम् ॥ एषावुऽसासुत्यासंवागंभूद्ययेन्द्रंवाजुमजींजपुताजींजपुतेन्द्रंवाजुंवनंस्पतयोविमुंच्यद्धम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एषाव इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । ब्राह्म्युष्णिग्वा छं० । दुन्दुभयो दे० । दुन्दुभ्यवतारणे वि० । (२) ॐ एषाव इत्यस्य बृहस्पति-

ऋ० । ब्राह्मी गायत्री छन्दः । दुन्दुभयो देवताः । दुन्दुभ्यवतारणे वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) जो दुन्दुभि मंत्रपाठपूर्वक बजाई गई हैं वह विप्रयज्ञमें प्रथम मंत्रसे, क्षत्रिययज्ञमें दूसरे मंत्रसे वाद्यागारसे नीचे उतारै औरोंको विना मंत्र उतारै [का० ४ । ४ । ९-१०] मन्त्रार्थ-हे दुन्दुभियो! (वः) तुम्हारी (एषा) यह (सा) वह (वाक्) वाणी (सत्या) सत्य (समभूत्) हुई (यया) जिससे (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (वाजम्) अन्न (अजीजपत) जय कराया (बृहस्पतिं, वाजम्, अजीजपत) बृहस्पतिको अन्न जय कराया "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" [निरु० १० । ४२] (वनस्पतयः) हे वनस्पतिकाष्ठनिर्मित दुन्दुभियो!(विमुच्यध्वम्) अव कृतकृत्य होकर अनुमति दो बृहस्पतिका रथ धावमान हो ॥ १२ ॥

क्षत्रियमन्त्र-हे दुन्दुभियो ! (वः एषा सा वाक् सत्या समभूत्) तुम्हारा दिया हुआ वह आशीर्वादरूप वचन सत्य हुआ (यया) जिससे (इन्द्रम्) इन्द्रको (वाजम्, अजीजपत) अन्न जयकराया (इन्द्रं,वाजम्, अजीजपत) इन्द्रको अन्न जयकराया (वनस्पतयः विमुच्यध्वम्) हे काष्ठनिर्मित वनस्पतियो ! अव कृतकृत्य होकर अनुमति करो यजमानका रथ धावमान हो २ ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र २।

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम् ॥ वाजिनो वाजजितोऽध्वनः स्कभ्नुवन्तो योजना मिमानाः काष्ठां गच्छत ॥१३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । आर्षी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । रथारोहणे वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य बृहस्पतिर्ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । अश्वो देवता । मन्त्रपठने वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) यजमान प्रथम मन्त्रपाठपूर्वक रथारोहण करै [का० १४ । ३ । १८] मन्त्रार्थ-(सत्यसवसः) सत्य आज्ञावाले (सवितुः) सवके प्रेरक सविता (देवस्य) देवके (सवे) अनुज्ञामें वर्तमान (अहम्) मैं (वाजजितः) अन्न जीतनेवाले (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि (वाजम्) अन्नको (जेषम्) जय करूं अर्थात् इस भविष्यत् वाक्यके अनुसार रथारोहण कर वाजजयमें समर्थ हूं १ । विधि-(२) अश्वोंको लक्षकर दूसरा मंत्र पाठ करै [का० १४ । ३ । २२] मन्त्रार्थ-(वाजिनः) हे घोडो ! (वाजजितः) अन्नके जीतनेवाले तुम (अध्वनः)

मार्गोंको (स्कभ्नुवन्तः) क्षुभित करते हुए (योजना) योजनोंको (मिमानाः) अतिशीघ्रतासे गमन करते (काष्ठाम्) अठारह निमेष वा बहुत थोडे कालमें (गच्छत) प्राप्त होतेहो अर्थात् अपने पादविक्षेपसे पदस्तंभितप्राय करते काष्ठामात्र कालमें योजनपर्यन्त गमन करते हो। योजन चारकोश। "क्रान्त्वा स्थितो भवति" इति [निरु० २ । १८ ।] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मन्त्र १ ।

एषस्यवाजीक्षिपणिन्तुरण्यतिग्ग्रीवायाम्बद्धोऽअपिकक्षऽआसनि ॥ क्रतुन्दधिक्क्राऽअनुसर्ठ॰सनिष्प्यदत्पथामङ्काᳬस्यन्वापनीफणत्स्वाहा १४॥

ऋष्यादि–(१) ॐ एषस्येत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । आर्षी जगती छं० अश्वो दे० । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि–(१) यहांसे लेकर १८ कण्डिकातक दो मंत्रसे घृतका होम करै और अश्वको अभिमंत्रणकरै [का० १४ । ४ । ३–४] मंत्रार्थ–(एषः) यह (वाजी) घोडा (यः) जो (ग्रीवायाम्) ग्रीवामें (कक्षे) कक्षमें (आसनि) मुखमें(अपि) भी (बद्धः) बंधाहुआ अर्थात् ग्रीवामें उरोबद्ध कक्षके समीप पर्याण स्थानमें सन्नाहरज्जुसे बंधा मुखमें कविका [लगाम] से बँधाहुआ (सः) वह यह (दधिक्राः) अश्ववारको लेकर मार्ग अवरोधक पाषाण गर्त कण्टकादिका भी आक्रमण करनेवाला (क्रतुम्) रथीके अभिप्रायको (अनु) जानकर उसके अनुसार (संसनिष्यदत्) सम्यक् अनुसन्धानकरताहुआ अर्थात् रथारोहीके संकल्पअनुसार चलता हुआ (पथाम्) मार्गोंके(अङ्काᳬसि) ऊंचे नीचे वक्र नावके चिह्नोंको (अन्वापनिफणत्) अति शीघ्रगतिसे समत्व प्रतिपादन करता (क्षिपणिम्) चाबकके आघातकी अपेक्षा न करके भी किंचित् इंगितसे (तुरण्यति) शीघ्र धावमान होताहै (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र १ ।

उतस्म्मास्यद्द्रवतस्तुरण्ण्यतः पुर्ण्णन्नवेरनुवातिप्प्रगर्द्धिनः ॥ श्येनस्येवद्ध्रजतोऽअङ्कसम्परिदधिक्क्राव्ण्णः सहोर्ज्जातरित्रतःस्वाहा ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उतेत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । आर्षी जगती छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस (दधिक्राव्णः) अद्रिपाषाण गर्त कण्टकादिका अतिक्रमण कर(द्रवतः)गमन करनेवाले(तुरण्यतः)शीघ्रतासे(प्रगर्द्धिनः)अवधिको प्राप्त होनेवाले (श्येनस्य इव) श्येनपक्षीकी समान (ध्रजतः) वेगसे गमन करते (ऊर्जा) बलके (सह) साथ (तरित्रतः) अतिशय मार्गको तरते (उतस्म) भी (अङ्कसम्) इस अश्वके शृंगार चिह्न वस्त्र चामरादि(परि)सम्पूर्ण देहमें वर्तमान होते (अनुवाति) जातेहुएमें लक्षित होते हैं (न) जिस प्रकार (वेः) पक्षीके (पर्णम्) पंख दिखाई देते हैं [ऋ० ३ । ७ । १४] ॥ १५ ॥

भावार्थ-लक्ष्य स्थानमें शीघ्रतासे उपस्थित होनेके निमित्त अतिशय वेगसे गमन करते अद्रि पाषाण गर्त कण्टकादि अतिक्रम करते ऊंचे धावमान श्येन पक्षीकी समान वेगसे उडते दोडान करते इस अश्वके सम्पूर्ण अंग भूषणोंसे पक्ष्याकार धारण करनेसे मानो पृथ्वी इसके वेगको न सहकर स्वयंही पलायन करती है "जो कभी जहाजमें बैठकर भूमि देखते हैं उनको यह भली प्रकार दृष्टिगत होता है" ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

शन्नो॑भवन्तुवा॒जिनो॒हवे॑षुदे॒वता॑ता॒मि॒तद्र॑वः॒स्व॒र्काः ॥ जम्भ॑यन्तो॒ऽहिं॒वृक॒ꣳरक्षा॑ꣳसि॒सने॑म्य॒स्मद्यु॑यव॒न्नमी॑वाः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शन्न इत्यस्य दधिक्रावा ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमन्त्रणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) इन तीनों मंत्रोंसे घृतका होम वा घोडेका अभिमंत्रण करै [का० १४ । ४ । ४९] मंत्रार्थ-(देवताता) देवताओंके कार्यनिमित्त यज्ञमें (हवेषु) आह्वान करनेपर (मितद्रवः) परिमित धावमान होनेवाले (स्वर्काः) श्रेष्ठ प्रकाशवाले (अहिम्) सर्प (वृकम्) भेडिये (रक्षांसि) राक्षसोंको (जम्भयन्तः) नाशकरतेहुए (वाजिनः) घोडे (नः) हमारे (शम्) कल्याणको (भवन्तु) करनेवाले हो (अस्मत्) हमसे (सनेमि) सब प्रकारकी दीर्घ कालकी वा नई (अमीवाः) व्याधियोंको (युयुवन्) पृथक् करै [ऋ० ९ । ४ । ९] ॥ १६ ॥

प्रमाण-"सनेमीति पुराणनाम" [निघं० ३ । २७ । ४ ।] परन्तु यहां क्षिप्रका अर्थ है [ऋ० ५ । ४ । ५ ।] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

तेनोऽअर्वन्तो हवनश्श्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः ॥ सहस्रसा मेधसाता सनिष्यवो महो ये धनं समिथेषु जभ्रिरे ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तेन इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । आर्षी जगती छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(ते) वे (विश्वे) सम्पूर्ण (मितद्रवः) यजमानके चित्तके अनुसार मितगामी (हवनश्रुतः) हमारे आह्वानको सुन्नेवाले (अर्वन्तः) कुटिल गतिवाले (सहस्रसाः) अनेक जनोंको तृप्त करनेवाले अर्थात् अन्नराशिके देनेवाले (मेध-साता) यज्ञशालाके (सनिष्यवः) पूरक (वाजिनः) घोडे (नः) हमारे (हवम्) आह्वानोंको (शृण्वन्तु) श्रवण करें (ये) जो (समिथेषु) संग्रामोंमें (महः) बडे वा पूज्य (धनम्) धनको (जभ्रिरे) लेआते हैं [ऋ० ८ । २ । ७] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १ ।

वाजेवाजेवत वाजिनो नो धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः ॥ अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो दे० । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(वाजिनः) हे अश्वो ! (विप्राः) तुम बुद्धिमान् (अमृताः) दीर्घ-जीवी (ऋतज्ञाः) सत्य वा यज्ञके जान्नेवाले (वाजे वाजे) सम्पूर्ण अन्न और (धनेषु) धनोंमें (नः) हमारी (अवत) पालना करो अर्थात् प्रत्येक यज्ञमें यजमानके अभीष्टसाधनार्थ तुम आहूत होतेहो (अस्य) इस धावमान होनेसे पहले (मध्वः) नीवार सूंघे हुए मधुर लक्षण हविको वा मधुको (पिबत) पान करके (मादयध्वम्) तृप्त होजाओ और तृप्त होकर (देवयानैः) देवयानमें अधिष्ठित (पथिभिः) मार्गोंसे (यात) गमन करो ॥ १८ ॥

विवरण-विप्रपूजनमें भी यह मंत्र चरितार्थ हो सकता है [ऋ० ५ । ४ । ५]॥ १८॥

कण्डिका १९-मन्त्र २।

आमाव्वाजस्यप्प्रसवोजगम्म्यादेमेद्यावापृथिवी व्विश्श्वरूपे ॥ आमाङ्गन्तामिपतरामातराचामासो मोऽअमृतत्त्वेनगम्म्यात् ॥ व्वाजिनोव्वाजजितोव्वा जर्ठ०सस्मृवाᳬसोबृहस्प्पतेर्ब्भागमवजिग्घ्रतनिमृ जानाः ॥ १९ ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ आमावाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यदार्षी त्रिष्टु- प्छं० । प्रजापतिर्दे० । चत्वालोत्करास्थितनैवारचरुस्पर्शने वि० । (२) ॐ वाजिन इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । प्रजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वगणं प्रति सोमाघ्रापणे वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) यजमान रथसे उतरकर इस मंत्रसे चत्वाल उत्करके मध्यमें स्थित नैवार चरुको स्पर्श करे [का० १४ । ४ । ११] मन्त्रार्थ-(वाजस्य) अन्नकी (प्रसव) उत्पत्ति (मा) हमारे घरमें (आजगम्यात्) आगमन करें (इमे) यह (विश्वरूपे) सर्वरूपात्मक (द्यावापृथिव्यौ) स्वर्ग और पृथ्वी (आ) सब प्रकार (पितरामातरा) हमारे माता पिता रूप (मा) हमारे रक्षण और प्रति- पालनको (आगन्ताम्) आवें अर्थात् भूलोक द्युलोक हमारी रक्षा करें (च) और (सोमः) सोम (अमृतत्वेन) अमृतभावसे (मा) हमारे प्रति (आगम्यात्) प्राप्त हो अर्थात् यह सोम हमारे पानमें अमृत हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अश्वगणको सोम सुंघावे [का० १४ । ४ । १२] मन्त्रार्थ-(वाजिनः) हे अश्वो (वाजजितः) अन्नके जीतनेवाले (वाजम्) अन्नके जीतनेको (सस्रुवाᳬसः) प्रति- क्षण गमन करनेवाले (निमृजानः) इस चरु वा यजमानको शोधन करते हुए (बृहस्पतेः) बृहस्पतिसम्बन्धि 'हमारे' (भागम्) भागको (अवजिघ्रत) सूंघो अर्थात् यह हमारी चरु पवित्र अन्तःकरणसे आघ्राण करो ॥ २ ॥ १९ ॥

कण्डिका: २०-मन्त्र १।

आपयेस्वाहास्वापयेस्वाहापिजायस्वाहाक्क्रतवे स्वाहावसवेस्वाहाहर्प्पतयेस्वाहाह्नेमुग्ग्धायस्वा हाम्मुग्ग्धायवैनर्ठ०शिनायस्वाहाविनर्ठ०शिनऽआ

न्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१-२)ॐ आपय इति स्वापये इति च प्रथमद्वितीयमन्त्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः ।प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ अपिजायेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (४-५) ॐ क्रतव इति वसव इति च मंत्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (६-७) ॐ अहर्पतये इति अह्ने मुग्धायेति मन्त्रद्वयस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (८) ॐ मुग्धायेत्यस्य वसिष्ठ ऋ०।याजुषी पंक्तिश्छन्दः। प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (९) ॐ विनंशिन इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः ।प्रजापतिर्दे०। आज्याहुतिहोमे वि० । (१०-११) ॐ अन्त्यायेति भुवनस्पतय इति च मंत्रयोर्वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (१२) ॐ अधिपतय इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । प्रजापतिर्दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २० ॥

विधि-(१-१२) प्रजापति देवताकी प्रीतिकी कामनासे इस कण्डिकाके बारहमंत्रोंसे बारह आहुति प्रदानकरे [का० १४ । ९ । १] संवत्सराभिमानी प्रजापतिकी स्तुति है उसीके यह बारह नाम हैं । मन्त्रार्थ-(आपये) व्यापक संवत्सर कालात्मक आदित्य प्रजापति देवताके प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजातीहै (स्वाहा) यह भलीप्रकार गृहीत हो (स्वापये) सर्वव्यापी प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अपिजाय) पुनः पुनः प्रगट होनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (क्रतवे) संकल्प भोगादिविषय वा यज्ञरूपके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (वसवे) जगत्की स्थिति कारणके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (अहर्पतये) दिनके स्वामीके निमित्त (स्वाहा) आहु० । (मुग्धाय) मुग्ध (अह्ने) दिवसके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वैनंशिनाय) विनाशशील (मुग्धाय) मुग्धनामकके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठहोम० (आन्त्यायनाय) सीमावान् (विनंशिने) विनाशशीलनामकके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ हो० (भौवनाय) त्रिभुवनकी (अन्त्याय) सीमावान्के निमित्त (स्वाहा) आहुति० । (भुवनस्य) सम्पूर्ण भुवनके (पतये) पतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० अर्थात् त्रिभुवनकी सृष्टि स्थिति लय करनेमें समर्थ (अधिपतये) समस्त प्राणिवर्गकी

उत्पत्ति स्थिति विनाशमें समर्थके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार दी जातीहै सम्यक् स्वीकार हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र ९।

आयु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पताम्प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ञ्चक्षु॒र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳪश्रोत्रं॑ य॒ज्ञेन॑ कल्पताम्पृ॒ष्ठं य॒ज्ञेन॑ कल्पतां य॒ज्ञो य॒ज्ञेन॑ कल्पताम्। प्र॒जाप॑तेः प्र॒जाऽअ॑भूम॒ स्व॑र्देवाऽअगन्मा॒मृता॑ऽअभूम ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३-४-५-६)ॐ आयुरित्यादिषण्मन्त्राणां वशिष्ठ ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं । प्रजापतिर्देवता० । हवने वि० । (७) ॐ प्रजापतेरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी बृहती छं० । यजमानो देवता। यूपारोहणे वि० । (८) ॐ स्वरित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं० । यजमानो देवता । चषालस्पर्शने वि० । (९) ॐ अमृतमित्यस्य वशिष्ठ ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । यजमानो दे० । यूपाग्रादुर्ध्वं शिरउन्नयने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-६) इस कण्डिकाके प्रथम द्वितीय मंत्रसे यजमान आशीर्वाद प्रार्थना करे । इन छःमन्त्रोंसे हवन करे [का० १४ । ५ । २] मंत्रार्थ-(यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे हमारी (आयुः) आयु (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो १। (यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे (प्राणः) पांचोंप्राण (कल्पताम्) वृद्धिबलको प्राप्त हों २ । (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (चक्षुः) चक्षुरिन्द्रिय(कल्पताम्) सामर्थ्यको प्राप्त हो ३ । (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रियका बल (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ४ । (यज्ञेन) इस वाजपेय यज्ञके फलसे (पृष्ठम्) हमारा पृष्ठिबल (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ५ । (यज्ञेन) इसवाजपेययज्ञके फलसे (यज्ञम्) यज्ञके अधिष्ठातृ देवता विष्णु तथा यज्ञकरनेकी क्षमता (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्त हो ६ । विधि-(७) सप्तम मंत्रसे पत्नीके सहित एकत्र होकर निसेनी [सीढी] द्वारा यूपपर आरोहणकरै [का० १४ । ५ । ६] मन्त्रार्थ-हम (प्रजापतेः) प्रजापतिकी (प्रजा) सन्तति (अभूम) हुए । विधि-(८) अष्टम मंत्रसे यजमान गेहूंका आटा स्पर्श करै [का० १४ । ५ । ७] मंत्रार्थ-हे ऋत्विग्गण ! (स्वः) हमने स्वर्गलाभ (अगन्म) प्राप्त कियाहै अर्थात् स्वर्गलाभमें निश्चय कियाहै ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे यजमान अपना मस्तक

यूपाग्रसे ऊंचा करै [का० १४ । ५ । ८ ।] मन्त्रार्थ–हम (अमृताः) दीर्घायु अमर चिरकीर्तिवाले (अभूम) हुए ९ ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र ४ ।

अस्मे वोऽअस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वर्चाᳬसि सन्तु वः ॥ नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्याऽइयन्ते राड् यन्तासि यमनो ध्रुवोसि धरुणः ॥ कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा ॥ २२ ॥ [३]

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्मेव इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । दिशो देवताः । दिग्वीक्षणे वि० । (२) ॐ नमोमात्र इत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । पृथ्वी देवता । भूम्यवेक्षणे वि० । (३) ॐ इयन्त इत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । दैवी बृहती छं० । आसन्दी देवता । चर्मास्तरणे वि० । (४) ॐ यन्तासीत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी बृहती छं० । यजमानो दे० । आसन्द्यामुपवेशने वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे यूपारूढ यजमान चारों दिशा निरीक्षण करै [का०१४।५।९।] मन्त्रार्थ–हे दिक्चतुष्टय ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (इन्द्रियम्) वीर्य (अस्मे) हमारे विषय वा हममें (अस्तु) हों (नृम्णम्) तुम्हारा सम्बन्धी धन (अस्मे) हमको प्राप्त हों (उत) और (वः) तुम सम्बन्धि (क्रतुः) यज्ञकर्म (वर्चाᳬसि) तथा तुम्हारे सम्बन्धी तेज (अस्मे) हमारे विषय (सन्तु) हों- अर्थात् इस जगत्में हम सबसे अग्रगण्य हों १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रको पाठ करकै निम्नप्रदेशमें दृष्टिपात करै [का० १४ । ५ । १२] मन्त्रार्थ–(मात्रे) मातारूप (पृथिव्यै) पृथ्वीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (नमो मात्रे पृथिव्यै) पृथिवी माताको नमस्कार है २।विधि–(३)फिर उत्तर वेदीके अपर भागमें स्थापित उदुम्बरीको आसन्दीसे इस तीसरे मंत्रसे चर्मास्तरण करै [का० १४ । ५ । १३] मन्त्रार्थ–हे आसन्दी ! (इयम्) यह (ते) तुम्हारा (राट्) राज्य है वा यही तुम्हारा राजा है ३ । विधि–(४) आसन्दीके ऊपर फैलायेहुए चर्मके ऊपर चौथा मंत्र पाठ कर यजमानको बैठावै [का० १४ । ५ । १४] मंत्रार्थ– हे यजमान ! तुम (यन्ता) सबके नियम करनेवाले (असि) हो (यमनः) स्वयं संयमन करता (ध्रुवः) स्थिर (धरुणः) धारक (असि) हो अर्थात् तुम

राज्यके नियन्ता सब प्रजाके शासन करता, राज्यके चिरशान्तिरक्षक हो (कृष्यै) कृषिकार्य्यके उन्नतिनिमित्त (त्वा) तुमको (क्षेमाय) राज्यकी शान्ति पूर्णताके निमित्त (त्वा) तुमको (रय्यै) धनसम्पत्तिके वर्धनार्थ (त्वा) तुमको (पोषाय) प्रजा पालनेके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें उपवेशन कराते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मन्त्र १ ।

वाजस्स्येमम्प्रसुवः सुषुवेग्ग्रेसोम्ँ राजानुमोषधी
ष्ष्वप्प्सु ॥ ताऽअस्स्मभ्यम्मधुमतीर्ब्भवन्तुवय
ँ राष्ट्रेजागृयामपुरोहिताः स्वाहा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वाजस्येत्यस्य वसिष्ठ ऋ० । सुराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१) यहांसे आरंभकर सप्तकण्डिकात्मक सात मंत्रसे उदुम्बरीपात्रस्थ सम्भृत स्रुवद्वारा आहवनीयमें सप्त आहुतिप्रदान करै [का० १४ । ५ । २१] दुग्ध व्रीह्यादि धान्य स्रुवमें रक्खै । यह सप्त आहुति परब्रह्मकी उपासना है । मन्त्रार्थ–(वाजस्य) अन्नके (प्रसवः) उत्पन्न करनेवाले प्रजापतिने (अग्रे) सबसे प्रथम आदि सृष्टिमें (ओषधीषु) औषधी (अप्सु) और जलोंके मध्यमें (इमम्) इस (सोमम्) सोमवल्लीरूप (राजानम्) दीप्तिमान् पदार्थको (सुषुवे) उत्पन्न किया है (ताः) वे सोमउत्पादक ओषधी जल (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (मधुमतीः) रसवाली माधुर्य्यसे युक्त (भवन्तु) हों (पुरोहिताः) यागअनुष्ठानादिमें प्रधान (वयम्) हम उनसे अभिषिक्त होकर(राष्ट्रे)अपने राज्यमें सर्वसाधारणके हितकारी होकर (जागृयाम) अप्रमत्त होकर कालयापन करें॥२३॥

विशेष–परमात्माकी राजाओंको आज्ञा है कि, प्रजाके हितकारी कार्यका अनुष्ठानकरके राज्यशासनमें अप्रमत्त रहें ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र १ ।

वाजस्स्येमाम्प्रसुवः शिश्श्रियेदिवमिमाचविश्श्वा
भुवनानिसम्म्राट् ॥ अदित्स्सन्तन्दापयतिप्प्रजानन्
न्त्स्सनोरयिँ सर्ववीरन्नियच्छतुस्वाहा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ओ३म् वाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । आर्षी जगती छन्दः। प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ–(वाजस्य) इस समस्त अन्नके (प्रसवः) उत्पन्न करनेवाले परमात्माने (इमाम्) इस (दिवम्) द्युलोकको (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (शिश्रिये) सृजन वा आश्रित कियाहै (सः) वह (सम्राट्) सबका अधिपति (अदित्सन्तम्) हवि देनेकी अनिच्छावाले मुझको (प्रजानन्) जानता हुआ, मेरी बुद्धिमें प्रेरणाकर (दापयति) मुझसे आहुति दिवाताहै (नः) हमारे निमित्त (सर्ववीरम्) सब पुत्र भृत्यादिसे युक्त (रयिम्) धनको (नियच्छतु) हमें प्रदान करै (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २४ ॥

आशय–उस परमात्माने त्रिलोकी रचीहै, वह सब चराचरको अपने आश्रय कियेहैं हम अपनी इच्छासे आहुति नहीं देते उसीने हमको प्रवृत्त कियाहै यह जान कर वह धनसम्पत्ति पुत्र हमको प्रदान करै ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मन्त्र १ ।

वाजस्यनु प्प्रसवऽआबभूवेमाचविश्वाभुवनानिसर्वतः ॥ सनेमिराजापरियातिविद्वान्प्रजाम्पुष्टिंवर्द्धयमानोऽअस्मेस्वाहा ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ओ३म् वाजस्येत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ–(नु) कैसे विस्मयकी बात है (वाजस्य) अन्नके (प्रसवः) सृजनेवाले प्रजापतिने (इमा) इन (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (सर्वतः) सब ओरसे ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त (आबभूव) उत्पन्न कियाहै (च) और (सनेमि) पुरातन (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाला (राजा) दीप्तिमान् (अस्मे) हमारे निमित्त (प्रजाम्) सन्तति (पुष्टिम्) धनपुष्टिको (वर्धयमानः) वृद्धिको प्राप्तहोता हुआ है (स्वाहा) उसके निमित्त यह आहुति दीजातीहै । "सनेमि पुराणनाम" [निघं० ३ । २७ । ४] ॥ २५ ॥

आशय–जो समस्त अन्नका उत्पादक प्रजापति ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त समस्त भुवनके भीतर बाहर सब प्रकार व्याप्त है जो पुरातन प्रकृत राजा, जो प्रकृत विद्वान् जिसकी शक्तिका परिचय सर्वत्र पायाजाताहै जो बहुतकालतक हमारी प्रजासम्पत्ति वृद्धि करतेहैं उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

सोमꣳराजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे ॥ आदित्यान्विष्णुꣳसूर्य्यम्ब्रह्माणञ्च बृहस्पतिꣳस्वाहा ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोममित्यस्य तापस ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । सोमादयो दे० । आज्याहुति होमे वि० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-जो सम्पूर्ण अन्नके उत्पादक हैं जिन प्रजापतिने हमारे (अवसे) प्रतिपालनार्थ (राजानम्) राजा (सोमम्) सोमको (अग्निम्) वैश्वानर अग्निको (आदित्यान्) बारहआदित्योंको (विष्णुम्) सबके प्रसवकर्ता (सूर्यम्) सूर्यको (ब्रह्माणम्) ब्रह्माको (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (च) भी नियुक्त कियाहै अथवा जो स्वयं इन देवताओंका रूप है उसको (अन्वारभामहे) आह्वान करतेहैं (स्वाहा) उसके उद्देशसे दीहुई आहुति सम्यक् गृहीत हो [ऋ० ८ । ७ । २९] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

अर्य्यमणम्बृहस्पतिमिन्द्रन्दानायचोदय ॥ वाचंविष्णुꣳसरस्वतीꣳसवितारञ्चवाजिनꣳस्वाहा ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अर्यमणमित्यस्य तापस ऋ० । स्वराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । अर्य्यमाद्या देवताः । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-हे परमात्मन्! तुम (अर्यमणम्) अर्यमा देवताके (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (इन्द्रम) इन्द्रको (वाचम्) वाणीकी अधिष्ठात्री (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (विष्णुम्) सबके प्रसवकर्ता (सवितारम्) सूर्यको (वाजिनम्) जो कि यह सब देवता अन्नके देनेवाले तुमने सृजे हैं इनको(दानाय) धनप्रदानके निमित्त(चोदय) प्रेरणाकरो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो जो तुम्हारी प्रीतिके उद्देशसे देते हैं [ऋ० ८ । ७ । २९] २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १।

अग्ने॒ऽअच्छावदेहनꣳप्रतिनꣳसुमनाभव ॥ प्रनोयच्छसहस्रजित्त्वꣳहिधनदाऽअसिस्वाहा ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निमें अधिष्ठित देव ! (इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे हितको (अच्छावद) सन्मुख आकर कहो (नः) हमारे प्रति (सुमनाः) करुणार्द्रचित्त (भव) हो (सहस्रजित्) हे सबके जीतनेवाले (हि) जिस कारणसे (त्वम्) तुम स्वभावसे (धनदाः) धनके देनेवाले (असि) हो इस कारण (नः) हमको (प्रयच्छ) धन दीजिये (स्वाहा) तुम्ही एक मात्र प्रार्थना पूर्ण करनेमें समर्थ हो. इस कारण इस आहुतिसे हमारी प्रार्थना स्वीकार करो. यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मन्त्र १ ।

प्रनोयच्छत्वर्यमाप्रपूषाप्रबृहस्पतिः ॥ प्रवाग्देवीददातुनः स्वाहा ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रन इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । वागाद्यो दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-हे परमात्मन् ! आपके प्रसादसे (अर्यमा) अर्यमा देवता (नः) हमारे निमित्त (प्रयच्छतु) अभीष्ट प्रदान करे (पूषा) पूषा देवता (प्र) अभीष्ट प्रदान करे (बृहस्पतिः) बृहस्पति (प्र) अभीष्ट प्रदान करे (देवी वाक्) सरस्वती वाणीकी अधिष्ठात्री (नः) हमारे निमित्त (ददातु) अभीष्टदान करे ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र १ ।

देवस्यत्वासवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ सरस्वत्यैवाचोयन्तुर्यन्त्रियेदधामिबृहस्पतेष्ट्वासाम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ ३०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य तापस ऋ० । आर्षी जगती छं० । सम्राड् देवता । हुतशेषेण यजमानासिञ्चने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) अन्तर हुतशेष लेकर यजमानको आसिंचन करे [का० १४ । ५ । २२] मन्त्रार्थ-(सवितुः) सविता (देवस्य) देवताकी (प्रसवे) प्रेरणावश होकर (त्वा) तुझको (अश्विनोः) अश्विनीद्वयकी (बाहुभ्याम्) भुजयुगल (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (बृहस्पतेः) बृहस्पतिके (साम्राज्येन) साम्राज्यभावसे (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, हे यजमान ! (त्वा) तुमको

(सरस्वत्यै) सरस्वतीके (यन्त्रिये) ऐश्वर्यमें (दधामि) स्थापन करताहूं तुमको (वाचः) वाणी वागधिष्ठात्रीदेवी सरस्वती (यन्तुः) नियमन करै (असौ) अमुक नाम यजमानको अभिषेक करताहूं यहां यजमानका नाम उच्चारण करै ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र ४ ।

अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदजयतान्तानुज्जेषं विष्णुस्त्र्यक्षरेण त्रीँल्लोकानुदजयत्तानुज्जेषꣳ सोमश्चतुरक्षरेण चतुष्पदः पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य तापस ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री वा साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ अश्विनावित्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० (३) ॐ विष्णुरित्यस्य तापस ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री वा साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ सोम इत्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) यहांसे लेकर चार कण्डिकापर्यन्त सत्रह उज्जितिसंज्ञक मंत्रोंसे सप्तदश अक्षरात्मक प्रजापतिकी प्रीतिके उद्देशसे सतरह आहुति प्रदान करै [का० १४ । ५ । २६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि देवताने (एकाक्षरेण) एकाक्षरके प्रभावसे अर्थात् छन्दसे (प्राणम्) उत्कृष्टरूप प्राणको (उदजयत्) जय किया है मैं भी (तम्) उस प्राणको एकाक्षरके प्रभावसे (उज्जेषम्) जय करूं १ । (अश्विनौ) अश्विनीकुमारने (द्व्यक्षरेण) दो अक्षरवाले छन्दके प्रभावसे (द्विपदः) दोपदवाले (मनुष्यान्) मनुष्योंको (उदजयताम्) उत्कृष्टरूपसे जय किया है मैं भी (तान्) दो अक्षरके प्रभावसे उन मनुष्योंको (उज्जेषम्) जय करसकूं २ । (विष्णुः) विष्णुदेवने (त्र्यक्षरेण) तीन अक्षरके छन्दसे (त्रीन्) तीन (लोकान्) लोकोंको (उदजयत्) जय किया (तान्) मैं भी उनके प्रभावसे उन तीनों लोकोंको (उज्जेषम्) जय करूं ३ । (सोमः) सोम देवताने (चतुरक्षरेण) चतुरक्षर मंत्रके प्रभावसे (चतुष्पदः) पादचतुष्टयात्मक (पशून्) पशुओंको (उदजयत्) जय किया है मैं भी उसके प्रभावसे (तान्) उनको (उज्जेषम्) जय करूं ४ ॥ ३१ ॥

विवरण–"ओऽश्रावय" यह चार अक्षर "अस्तु श्रौषट्" यह चार अक्षर "यज" द्व्यक्षर "ये यजामहे" यह पांच अक्षर "वषट् कार" यह दो अक्षर यह सप्तदश अक्षरात्मक प्रजापति सब यज्ञमें व्यवहृत होता है प्रजापति रूपसे यह सत्रह अक्षरके मंत्रसे उपासनाकी है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र ४ ।

पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्च दिशऽउदजयत्ताऽउज्जेषꣳ सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषम्मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त ग्राम्यान्पशूनुदजयँस्तानुज्जेषम्बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तामुज्जेषम् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ पूषेति सवितेतिमंत्रयोस्तापस ऋ० । निच्यृत्साम्नी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ मरुत इत्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ बृहस्पतिरित्यस्य तापस ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छन्दः । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ–(पूषा) पूषादेवताने (पंचाक्षरेण) पंचाक्षर छन्दके प्रभावसे (पञ्च-दिशः) पांचदिशा चार पूर्वादि एक ऊपरकी (उदजयत्) उत्कृष्ट रूपसे जय की उसीके प्रभावसे मैं (ताः) उन दिशाओंको (उज्जेषम्) जय करूं १। (सविता) सविता देवताने (षडक्षरेण) षडक्षर छन्दके प्रभावसे (षट्) छः (ऋतून्) ऋतुओंको (उदजयत्) उत्कृष्टरूपसे जय किया उसीके प्रभावसे (तान्) उन छःऋतुओंको मैं (उज्जेषम्) जय करूं २। (मरुतः) मरुत् देवताने (सप्ताक्षरेण) सप्ताक्षर मंत्रके प्रभावसे (सप्त) सात (ग्राम्यान्) ग्राम्य गवादि पशुओंको (उदजयन्) जय किया (तान्) मैं भी उनको (उज्जेषम्) जीतूं ३ । (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (अष्टाक्षरेण) अष्टाक्षर मंत्रके प्रभावसे (गायत्रीम्) गायत्री छन्दके अभिमानी देवताको (उदजयत्) वशीभूत किया मैं भी उसके प्रभावसे (ताम्) उसको (उज्जेषम्) वशीभूत कर सकूं ४ ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मन्त्र १ ।

मित्रो नवाक्षरेण त्रिवृतꣳ स्तोममुदजयत्तमुज्जेषं वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजयत्तामुज्जेषमिन्द्रऽए

कादशाक्षरेणत्रिष्टुभमुदजयत्तामुज्जेषं विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेणजगतीमुदजयँस्तामुज्जेषम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्र इत्यस्य तापस ऋ० । प्राजापत्या बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ वरुण इत्यस्य तापस ऋ० । निचृत्साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ इन्द्र इत्यस्य तापस ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य तापस ऋ० । आर्च्युष्णिक्छंदः । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुतिहोमे वि० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(मित्रः) मित्र देवताने (नवाक्षरेण) नवाक्षर छन्दसे (त्रिवृतम्) त्रिवृत् स्तोमको (उदजयत्) जय किया (तम्) इसी प्रकार मैं भी (तम्) उसको (उज्जेषम्) जय करूं १ । (वरुणः) वरुणदेवने (दशाक्षरेण) दशाक्षर छन्दसे (विराजम्) दशाक्षरा विराट्के अभिमानी देवताको (उदजयत्) जय किया मैंभी इसी प्रकार (तम्) उसको (उज्जेषम्) जय करूं २ । (इन्द्रः) इन्द्रने(एकादशाक्षरेण) एकादश अक्षरसे (त्रिष्टुभम्) एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छंदके अभिमानी देवताको (उदजयत्) जय किया (ताम्) उसको मैं (उज्जेषम्) जय करूं ३ । (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवाओंने (द्वादशाक्षरेण) बारह अक्षरसे (जगतीम्) जगती छन्दके अभिमानी देवताको (उदजयन्) जय किया है (ताम्) मैंभी उसको (उज्जेषम्) वशीभूत करसकूं ४ ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र ५।

वसवस्त्रयोदशाक्षरेणत्रयोदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषꣳरुद्राश्चतुर्दशाक्षरेणचतुर्दशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमादित्याः पञ्चदशाक्षरेणपञ्चदशꣳस्तोममुदजयँस्तमुज्जेषमदितिः षोडशाक्षरेणषोडशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेणसप्तदशꣳस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ३४ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ वसव इत्यस्य तापस ऋ० । आर्च्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ रुद्रा इत्यस्य तापस ऋ० । भुरिक्साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (३)ॐ आदित्या इत्यस्य तापस ऋ० । आर्च्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (४) ॐ अदितिरित्यस्य तापस ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आज्याहुतिहोमे वि० । (५) ॐ प्रजापतिरित्यस्य तापस ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । आज्याहुमिहोमे वि० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ-(वसवः) वसुओंने (त्रयोदशाक्षरेण) तेरह अक्षरवाले छन्दसे (त्रयोदशꣳस्तोमम्) त्रयोदशस्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्टरूपसे वशीभूत किया (तम्) उसीको (उज्जेषम्) मैं जय करूं १ । (रुद्राः) रुद्रोंने (चतुर्दशाक्षरेण) चौदह अक्षर छन्दसे (चतुर्दशम्) चौदहवें (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्ट रूपसे जय किया (तम्) उसको (उज्जेषम्)मैं जय करूं २ । (आदित्याः) आदित्योंने (पंचदशाक्षरेण) पंचदश अक्षरके छन्दसे (पंचदशम्) पन्द्रहवें (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयन्) उत्कृष्टरूपसे जय किया (तम्) उसको मैं (उज्जेषम्) सम्यक् प्रकारसे जय करूं ३ । (अदितिः) अदिति देवमाताने (षोडशाक्षरेण) सोलह अक्षरके छन्दसे (षोडशम्) सोलह (स्तोमम्) स्तोमको (उदजयत्) उत्कृष्टरूपसे जय किया (तम्) उसको मैं (उज्जेषम्) उत्कृष्टरूपसे जय करू ४ । (प्रजापतिः) प्रजापतिने (सप्तदशाक्षरेण) सप्तदशाक्षर छन्दसे (सप्तदशꣳस्तोमम्) सप्तदशाख्य स्तोमको (उदजयत्) जय किया (तम्) उसको (उज्जेषम्) मैं वशीभूत करूं ॥ ३४ ॥

विवरण-इन मंत्रोंको जपै वा इनसे आहुति दे. त्रिवृत्स्तोम आदिसे कर्म उपासना ज्ञानादिका भी ग्रहण किया है एकाक्षरसे पक्षान्तरमें छन्द कल्पना इस प्रकार है कि एकाक्षर ओम् दैवी गायत्री । दो अक्षर दैवी उष्णिक् । तीन अक्षर दैवी अनुष्टुप् । ४ दैवी बृहती । ५ दैवी पंक्ति । ६ दैवी त्रिष्टुप् । ७ दैवी जगती । ८ याजुषी अनुष्टुप् । ९ याजुषी बृहती । १० याजुषी पंक्ति । ११ आसुरी पंक्ति । १२ साम्नी गायत्री । १३ आसुर्यनुष्टुप् । १४ साम्न्युष्णिक् । १५ आसुरी गायत्री । १६ साम्नी अनुष्टुप् । १७ निच्यृदार्षी गायत्री छन्द जानना । तेरह अक्षरसे १०प्राण,जीव, महत्तत्त्व, अव्यक्त कारणरूप स्तोम । चौदह अक्षरसे १० इन्द्रिय मन बुद्धि चित्त और अहंकार जानना । पन्द्रह अक्षरसे ४ वेद ४ ब्राह्मण ६

अंग १ इतिहास जानना सोलह अक्षरसे प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास,छल, जाति और निग्रहस्थान इन सोलह पदार्थोंको जानना । सत्रहसे ४ वर्ण ४ आश्रम श्रवण, मनन निदिध्यासन ४ पुरुषार्थ और मोक्षकी प्राप्ति जाननी ॥ ३४ ॥

इति वाजपेय ।

अथ राजसूय ।

कण्डिका ३५—मंत्र ६ ।

एषते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व स्वाहाग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरःसद्भ्यः स्वाहा यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः स्वाहा विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा देवेभ्यऽउत्तरासद्भ्यः स्वाहा सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यऽउपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहा ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ एषत इत्यस्य अग्निनेत्रेभ्य इत्यस्य च वरुण ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । पृथिवी दे० । उल्मुकाग्नौ हविर्हवने वि० । (३) ॐ यमनेत्रेभ्य इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । देवा दे० । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (४) ॐ विश्वदेवनेत्रेभ्य इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (५) ॐ मित्रावरुणेत्यस्य वरुण ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० । (६) ॐ सोमेत्यस्य वरुण ऋ० । भुरिक्साम्नी बृहती छन्दः । देवा देवताः । पश्चवातीयाहवनीयाग्नौ हवने वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) फाल्गुन महीनेकी प्रथम दशमीसे अनुमति देवताकी प्रसन्नताके निमित्त अष्टाकपाल पुरोडाश प्रस्तुत करना होता है, इस हविके पीसनेके समय दृषद्के नीचे भागमें स्थापित शम्याके पश्चाद्भागमें पतित तन्दुलपिष्टको स्रुवमें ग्रहण करके और दक्षिणाग्निसे जलता उल्मुक लेकर दक्षिणओरको किंचित् गमन करते जहां पृथ्वीका भाग स्वयं स्फुटित हुआ हो वहां अथवा ऊपर भूमिमें

इस उल्मुक अग्निको स्थापन करके हवन करै इसीको वर्षेष्टि कहते हैं [का० १५ । १ । १९
२०] मंत्रार्थ-(निर्ऋते)हे पृथिवि ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (भागः) भाग
है (तम्) इसको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवनकरो (स्वाहा) यह आहुति भली
प्रकार गृहीत हो १ । विधि- (२-६) आहवनीय हवि पूर्वादिक्रमसे चारोंओरमें
स्थापित चार अग्निकुण्डमें भागक्रमसे स्थापित करै अवशिष्ट अंशके मध्यमें स्थापित
अग्निमें स्थापित करके इस पंचाग्निमें स्रुवद्वारा द्वितीयादि पांच मंत्रसे पांच आज्यआ
हुति प्रदान करै इसे पंचवातीय कर्म कहते हैं [का० १५ । १ । २०] मंत्रार्थ-(अग्नि-
नेत्रेभ्यः) जिनका अग्नि नेता है (पुरःसद्भ्यः) पूर्वदिशामें वसनेवाले (देवेभ्यः)
देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत
हो [यह आहुति उत्तर वेदीमें स्थित आहवनीय अग्निमें दीजाती है] २ । (यमनेत्रेभ्यः)
यम जिनका नेता है (दक्षिणासद्भ्यः) उन दक्षिणदिशावासी देवताओंकी प्रीतिके
निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो । यह दूसरी आहुति
ऐष्टिक वेदीके दक्षिणमें स्थापित दक्षिणाग्निमें देनी ३ । (विश्वदेवनेत्रेभ्यः) विश्वे
देवा जिनके नेता हैं (पश्चात्सद्भ्यः) उन पश्चिम दिशामें निवासकरनेवाले
(देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजातीहै भली
प्रकार गृहीत हो । यह तीसरी आहुति ऐष्टिक वेदीके पश्चिम स्थापित गार्हपत्या-
ग्निमें देनी ४ । (वा) या (मित्रवरुणनेत्रेभ्यः) जिनके नेता मित्रावरुण हैं (वा)
या (मरुन्नेत्रेभ्यः) जिनके नेता मरुत् देवता हैं (उत्तरासद्भ्यः) उत्तर दिशामें
निवासकरनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति
दीजातीहै भलीप्रकार गृहीत हो । यह चतुर्थ आहुति उदग्वंशाशालामें स्थित
सदोमण्डपके बाहर भागमें स्थापित आग्नीध्र अग्निमें होमे ५ । (सोमनेत्रेभ्यः)
जिनका नेता सोम है ऐसे (दुवस्वद्भ्यः) परिचर्यावाले वा हविभोजी (उपरिसद्भ्यः)
ऊपरभाग अन्तरिक्ष वा द्युलोकनिवासी (देवेभ्यः) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त
(स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार दीजाती है सम्यक् गृहीत हो ६ । यह आहुति
ऐष्टिक वेदीके पूर्व और सदोमण्डपके पश्चिम सुतरां भागद्वयमें विभक्त यज्ञशालाके
मध्यमें स्थापित आहवनीय अग्निमें देनी ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र ५ ।

येदेवाऽअग्निनेत्राःपुरःसदस्तेभ्यःस्वाहायेदेवा
यमनेत्रादक्षिणासदस्तेभ्यःस्वाहायेदेवाविश्वदे
वनेत्राःपश्चात्सदस्तेभ्यःस्वाहायेदेवामित्राव

रुणनेत्रा वा मुरुन्नेत्रा वोत्तरासदुस्तेभ्युः स्वाहा ये देवाः सोमनेत्राऽउपरिसदो दुवस्वन्तुस्तेभ्युः स्वाहा ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येदेवा इत्यस्य मन्त्रपञ्चकस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री प्राजापत्यानुष्टुप् भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप् आर्च्यनुष्टुप् प्राजापत्या बृहती छं० । देवा दे० । प्रतिमन्त्रमेकीकृताहवनीयाग्नौ हवने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१-५) पांच अग्निकुण्डमें क्रमसे स्थापित इस आहवनीयको एकत्र करके इस कण्डिकाके पांच मंत्रोंसे उत्तर वेदीमें स्थापित नाभिप्रदेशयादि पांच अग्नियोंमें पांच आहुति प्रदान करे यह पंचवातीय कर्म है [का० १५ । १ २१] मंत्रार्थ-(ये) जो (देवाः) देवता (अग्निनेत्राः) अग्निनेता संयुक्त हैं (पुरःसदः) पूर्वमें निवास करते हैं (तेभ्यः) उन देवताओंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है १ । (ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासदः) यम जिनका नेता वे देवता दक्षिण दिशानिवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति० २ । (ये देवाः) जो देवता (विश्वदेवनेत्राः) विश्वदेवनेतावाले (पश्चात्सदः) पश्चिम निवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है ३ । (ये देवाः) जो देवता (मित्रावरुणनेत्राः) मित्रावरुणनेतावाले (वा) अथवा (मरुन्नेत्राः) मरुतनेतावाले (वा) और (उत्तरासदः) उत्तरदिशानिवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजातीहै ४ । (ये देवाः) जो देवता (सोमनेत्राः) सोमके नेतावाले (दुवस्वन्तः) हविके स्वीकार करनेवाले (उपरिसदः) द्युलोकवासी हैं (तेभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति प्राप्त हो ॥ ५ ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ ।

अग्ने सहस्व पृतना ऽअभिमातीरपास्य ॥ दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेसहस्वेत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । भुरिगार्च्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । उल्मुकादाने वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) अपामार्ग (चिरचिटा) तंडुलहोम करनेके निमित्त प्रथम मंत्रसे

१ इसीके बाजोंकी मांग ।

दक्षिणाग्निसे उल्मुक ग्रहण करै [का० १९ । २ । ५] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! तुम (पृतनाः) शत्रुसेनाओंको (सहस्व) पराभवकरो (अभिमातीः) शत्रुओंको (अपास्य) विदारितकरो (दुष्टरः) दुर्निवार तुम (अरातीः) शत्रुओंको (तरन्) तिरस्कार करतेहुए (यज्ञवाहसि) यज्ञनिर्वाहकारी इस यजमानको (वर्चः) अन्न वा तेज (धेहि) प्रदानकरो [ऋ० ३ । १ । २४]॥३७॥

कण्डिका ३८-मंत्र ३ ।

देवस्य॑त्त्वासवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्ब्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ उ॒पा॒ᳬशोर्वी॒र्य्येण जुहोमि ह॒तᳬरक्षः॒ स्वाहा॒ रक्ष॑सान्त्वा व॒धाया॑व॑धिष्म॒ रक्षो॑ऽव॑धिष्मा॒मुम॒सौ ह॒तः ॥ ३८ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । निचृद्ब्राह्मी गायत्री छं० । रक्षोघ्नो देवता । अपामार्गतंडुलहवने वि० । (२) ॐ रक्षसामित्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । रक्षोघ्नो देवता । स्रुवप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐ अवधिष्मेत्यस्य देवश्रवा देववात ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । रक्षोघ्नो देवता । देवयजनं प्रत्यागमने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) देवयजनप्रदेशके उत्तर व पूर्व कुछ दूर यह गृहीत उल्मुक स्थापन करके प्रथम मंत्रको पाठपूर्वक स्रुग्द्वारा उससेही अपामार्गतंडुलोंको हवन करै [का० १९ । २ । ६] मंत्रार्थ-जिस देवताने इस समस्त जगत्को निज निज कर्तव्य करनेमें प्रेरित किया है उस (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारके(बाहुभ्याम्) बाहु युगलसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंसे (त्वा) तुझको (उपांᳬशोः) उपांशु नाम प्रथम ग्रहके (वीर्येण) पराक्रमसे (जुहोमि) आहुति प्रदान करताहूं (रक्षः) राक्षसकुल इस आहुतिके प्रभावसे (हतम्) निहत हुआ (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । विधि-(२) जिस दिशामें होम करै उसी दिशामें इस दूसरे मंत्रका पाठ करके स्रुवत्याग करै [का० १९ । २ । ७ ।] अर्थात् यदि पूर्वदिशामें गमन करना हो तो पूर्वदिशामें निक्षेप करै अन्यथा उत्तरमें । मन्त्रार्थ-हे स्रुव ! (रक्षसाम्) राक्षसोंके (वधाय) वधके निमित्त (त्वा) तुमको प्रक्षेप करताहूं २ । विधि-(३) अनन्तर अध्वर्युप्रभृति सब ही पीछेको देखे विना इस तीसरे मंत्रका पाठ करके देवयजनमें पुनः प्रवेश करै [का० १९ ।

२ । ७] मन्त्रार्थ-(रक्षः) राक्षसकुलको (अवधिष्म) विनष्ट किया (अमुम्) अमुक शत्रुको 'इस स्थलमें जो प्रधान शत्रु हो उसका नाम ले' (अवधिष्म) मारा (असौ) यह शत्रु (हतः) मारा गया ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

सविता त्वा सवानाᳪं सुवतामग्निर्गृहपतीनाᳪं सोमो वनस्पतीनाम् ॥ बृहस्पतिर्वाच ऽइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम् ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सवितेत्यस्य देववात ऋ० । अतिजगती छन्दः । यजमानो देवता । यजमानदक्षिणबाहुग्रहणे वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु वाम हाथमें दो स्रुव धारण करके दक्षिण हाथसे यजमानकी दक्षिणबाहु ग्रहण करके इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके मंत्र पाठ करे [का० १९ । ४ । १३ । १९] मन्त्रार्थ-हे यजमान !(सविता) जगतका नियन्ता परमात्मा (सवानाम्) आज्ञाओंके आधिपत्य अर्थात् प्रजावर्गके नियन्त्रित कार्यमें (त्वा) तुझको (सुवताम्) प्रेरण करे (अग्निः) अग्नि देवता गृहस्थगणके उपास्यदेव (गृहपतीनाम्) गृहस्थोंके आधिपत्यमें तुमको प्रेरणाकरे (सोमः) वनस्पति प्रधान सोमदेवता (वनस्पतीनाम्) तुमको वनस्पति विषय आधिपत्य प्रदान करे (बृहस्पतिः) वाक्यप्रकाशक बृहस्पति देवता (वाचे) वाग्विषयक आधिपत्यमें (इन्द्रः) इन्द्र देवता (ज्यैष्ठ्याय) ज्येष्ठ आधिपत्यमें (रुद्रः) पशुगणके जीवोंके रक्षक रुद्रदेवता (पशुभ्यः) पशुदलके आधिपत्यमें (मित्रः) सत्यस्वरूप मित्र देवता (सत्यः) सत्यव्यवहारके आधिपत्यमें (वरुणः) धर्मरक्षक वरुण देवता तुमको (धर्मपतीनाम्) धर्मके आधिपत्यमें प्रेरणा करे अर्थात् तुमको धर्माधिपत्य प्रदान करे ॥ ३९ ॥

विशेष-इस कण्डिकामें प्रार्थना किये परमदेवतासे वरुण देवतापर्यन्त आठ देवता सुहवि देवता कहाते हैं ।

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

इमन्देवा ऽअसपत्नᳪं सुवध्वम्महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

इममुमुष्ष्यंपुत्रमुमुष्ष्यैपुत्रमस्यैविशऽएषवोमीरा जासोमोस्माकम्ब्राह्मणानाᳬंराजा ॥४०॥ [२]

इति संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इममित्यस्य देववात ऋ० । अत्यष्टिश्छन्दः । यजमानो देवता । यजमानायाशीःप्रदाने वि० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) हे सुहविर्देवगण ! तुम (अमुष्यपुत्रम्) अमुक महाशयके पुत्र 'यहां यजमानके पिताका नाम लेना' (अमुष्यै) अमुकी देवीके (पुत्रम्)पुत्र 'यहां यजमानकी माताका नाम लेना' (इमम्) इस यजमानको (महते क्षत्राय) महत् क्षत्रधर्म वा महत् क्षत्र पदवीके निमित्त (महते) महत् (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठताके निमित्त (महते) महान् (जानराज्याय) जनोंके आधिपत्यमें (इन्द्रस्य)आत्माके (वीर्य्याय) ज्ञानमें सामर्थ्यके निमित्त (असपत्नम्) शत्रुशून्य करके (सुवध्वम्) प्रेरण करो अपने प्रसादसे (इमम्) इस यजमानको (अस्यै) इस (विशे अमुक जातिका राजा करो (अमी) हे अमुकजाति प्रजागण ! (वः) तुम्हारा (एषः) यह अमुक नाम(राजा) राजा हो और(अस्माकम्) हमें (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणोंका (राजा) राजा(सोमः) राजा सोम चन्द्रमा हो[सोमसे प्रजापतिका भी ग्रहण है] ॥ ४० ॥

विशेष-इस स्थलमें यजमानका नाम ले १ इस स्थानमें राजाको जिस देशके आधिपत्यमें अभिषिक्त किया हो उस देशका व्यक्तिका और जो जो जाति उसमें हो उसका नाम ले यथा कुरुपांचालादि ।

२ इससे विदित है कि तपके प्रभावसे ब्राह्मणोंका अधिपति राजा नहीं होता था उसका अधिकार तीन वर्णोंपर ही चलता था अब समयके प्रभावसे क्या दशा हुई है !

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्रभाष्ये राजसूयारम्भान्तो नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः १०.

नवम अध्यायमें वाजपेय राजसूय सम्बन्धी किंचित् कर्मका उल्लेख किया । दशम अध्यायमें अभिषेकार्थ जलदानादि राजसूय शेष और चरक सौत्रामणि कथन करते हैं ।

अनुवाकसूत्र ।

अपोदेवाश्चतस्रः सोमस्यत्त्विषिःपञ्च अवेष्टाःसप्त सोमस्यत्वा चतस्रः इन्द्रस्यवज्रःपञ्च स्योनासिचतस्रः सवित्रेकाश्विभ्यांचतस्रः अष्टौचतुस्त्रिꣳशत् ॥

कण्डिका १-मन्त्र १ ।

अपोदेवामधुमतीरगृभ्णन्नूर्ज्जस्वती राजस्वश्चि तानाः ॥ याभिर्म्मित्रावरुणावुभ्यषिञ्चन्याभिरि न्द्रमनयुन्नत्यरातीः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपो देवा इत्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवताः । सारस्वताद्ग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) यजमानके अभिषेकके निमित्त सत्रह उदुम्बर पात्रमें नैमित्तिक अनैमित्तिक सत्रह प्रकारका जल ग्रहण कियाजाताहै [का०१५।४।३३] उसमें इस प्रथम मन्त्रसे सरस्वतीनदीका जल ग्रहण करे [का० १५ । ४ २०-२२] मन्त्रार्थ-(देवाः) इन्द्रादिक देवताओंने (मधुमतीः) मधुरस्वादसे युक्त (ऊर्ज्जस्वतीः) विशिष्ट अन्नरसयुक्त (राजस्वः) राज्याभिषेक करनेवाले (चितानाः) चेतयमान ज्ञानके सम्पादनकरनेवाले (अपः) जलोंको (अगृभ्णन्) ग्रहण किया (याभिः) जिन जलोंसे (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताओंने (अभ्यषिञ्चन्) अभिषेक किया,तथा (याभिः)जिन जलोंसे देवताओंने (अरातीः) शत्रुओंको (अति) तिरस्कार कर (इन्द्रम्) इन्द्रको (अनयन्) राज्याभिषेक किया, उन जलोंको ग्रहण करतेहैं ॥ १ ॥

विवरण-सारस्वत, वृष्णऊर्मि, वृषसेन, स्यन्दमान, प्रातिलोम्य,अपयत्, आपस्पति, निवेष्य, प्रत्यातप, स्थावर, आतपवर्ष्य, सरस्य, कूप्य, प्रुष्व, मधु, गोरुल्य, दुग्ध और घृत यह सत्रह जल क्रमसे कहे जाँयगे, वेदमें सर्वत्रही आपो देव्यः कहकर व्यवहार हुआ है इस प्रकरणमें सव नाम और विशेषण स्त्रीलिंग रूपसे निर्दिष्ट हैं २ । वेदीके नियममें जलविषय सर्वत्रही स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त विधेय है ।

कण्डिका २–मन्त्र ४।

वृष्णऽऊर्म्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहा वृष्णऽऊर्म्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रम्मे देहि स्वाहा वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वृष्णऊर्मिरिति मंत्रस्य वरुण ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देव० । कल्लोलोदके चतुर्गृहीताज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ वृष्णऊर्मिरित्यस्य वरुण ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे कल्लोलोदकग्रहणे वि० । (३) ॐ वृषसेन इति मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता देवता । वृषसेनोदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (४) ॐ वृषसेन इत्यस्य वरुण ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे वृषसेनोदकग्रहणे वि० ॥ २ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे कल्लोलोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५ । ४ । ३४ तथा १५ । ४ । २३ ।] मन्त्रार्थ–हे कल्लोल ! तुम (वृष्णः) सेचनकरनेवाले मनुष्यसम्बन्धी (ऊर्मिः) तरंग (असि) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसेही राष्ट्रदेनेवाली हो (राष्ट्रम्) राज्यको (मे) मेरे निमित्त (देहि) दो (स्वाहा) तुम्हारी प्रीयमाण यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें यह कल्लोल ग्रहण करै। मन्त्रार्थ–हे कल्लोल ! तुम (वृष्णः) सेचन सम्बन्धी नर वा पशुकी सम्बन्धवाली (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्रदाता (ऊर्मिः) तरंग (असि) हो (अमुष्मै) अमुक यजमानको 'इस स्थलमें यजमानका नाम ले' (राष्ट्रम्) राज्य (देहि) प्रदान करो। विधि–(३) तीसरे मंत्रसे वृषसेनोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै। मन्त्रार्थ–हे वृषसेन ! तुम (वृषसेनः) सेचनसमर्थ जलराशि (राष्ट्रदाअसि) राष्ट्रदाता हो (राष्ट्रं मे देहि) मुझे राष्ट्रप्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति गृहीत हो विधि–(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें वृषसेन जल ग्रहण करै। मन्त्रार्थ–(वृषसेनः) हे वृषसेन ! तुम (राष्ट्रदा असि) राष्ट्रदाता हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानको (देहि) प्रदान करो ॥ २ ॥

विवरण-(मनुष्य वा पशु) अथवा बडे पत्थरकी पाड जलमें प्राप्त होनेसे जल उच्छ्रित होता है उसको कल्लोल कहते हैं और इसीका नाम वृषऊर्मि है । जिस नदीमें इतना अल्प जल हो कि, उससे सेना पार हो जाय उससे जो जल समुच्छ्रित होता है उसको वृषसेन कहते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

अर्थेतस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहार्थेतस्स्थ
राष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तौजस्वतीस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्र
म्मेदत्तस्वाहौजस्वतीस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैद
त्तापः परिवाहिणीस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहा
पः परिवाहिणीस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तापाम्प
तिरसिराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदेहिस्वाहापाम्पतिरसिराष्ट्र
दाराष्ट्रममुष्मैदेह्यपाङ्गर्भोसिराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदेहि
स्वाहापाङ्गर्भोराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदेहिसूर्य्यत्त्व
चसस्स्थ ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋषिः । साम्न्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानोदके चतुर्गृहीताज्यहवने वि० । (२) ॐ अर्थेत इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । स्यन्दमानोदकग्रहणे वि० । (३) ॐ ओजस्वतीस्थेत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवता । ज्योतिष्मत्युदके चतुर्गृहीताज्यहवने वि० । (४) ॐ ओजस्वतीस्थेत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता देवता । ज्योतिष्मत्युदक-ग्रहणे वि० । (५) ॐ आप इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । परिवाहिणोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (६) ॐ आप इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । परिवाहिणोदकग्रहणे वि० । (७) ॐ अपांपतिरित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । सामुद्रजले चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० ।

(८) ॐ अपांपतिरित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० लिंगोक्ता दे० । सामुद्रजले चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (९) ॐ अपांगर्भ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । अपां गर्भोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (१०) ॐ अपां गर्भ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । अपांगर्भोदकग्रहणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) प्रथम मन्त्रसे अर्थोदक नदीआदिके प्रवाहमें स्थित भाटेके समयके जलमें चतुर्गृहीत कर आज्याहुति प्रदान करै इसे स्यन्दमान भी कहते हैं [का० १९।४।२४] मन्त्रार्थ–(अर्थेतः) नदीआदिके प्रवाहमें स्थित जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्रके देनेवाले (स्थ) हो(राष्ट्रम्)राष्ट्रको(मे) मुझ यजमानके निमित्त(दत्त)प्रदान करो(स्वाहा) तुम्हारी प्रीतिके निमित्त दी हुई यह आहुति भलीप्रकार स्वीकृत हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें अर्थेत जल ग्रहण करै । मन्त्रार्थ–(अर्थेतः) हे जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै) अमुक यजमानको (राष्ट्रंदत्त) राष्ट्र प्रदान करो २ । विधि–(३)तीसरे मंत्रसे प्रतिलोम (उलटे) वहन करनेवाले ज्वारके समयके ज्योतिष्मती जलमें गृहीत आज्याहुति प्रदान करै [का० १९ । ४ । २९] मन्त्रार्थ–(ओजस्वतीः) हे वलयुक्त जलो ! तुम (राष्ट्रदाःस्थ) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रं दत्त) राष्ट्र प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें ओजस्वती ग्रहण करै । मन्त्रार्थ–(ओजस्वतीः) हे वलयुक्त जलो ! तुम (राष्ट्रदाःस्थ) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्रको (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (दत्त) प्रदान करो ४ । विधि–(५) पंचम मंत्रसे परिवाहिणोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै. वहते जलोंके मध्यसे जो जल दूसरे मार्गसे जाकर फिर उसी प्रवाह में मिलते हैं उनको परिवाहिणी कहते हैं [का० १९ । ४ । २६] मन्त्रार्थ–(परिवाहिणीःआपः) हे परिवाही जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्रको (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ५ । विधि–(६) छठे मंत्रसे यह जल उदुम्बरपात्रमें ग्रहण करै । मन्त्रार्थ–(परिवाहिणीः आपः) हे परिवाही जलो ! (राष्ट्रदाःस्थ) तुम स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानको (दत्त) प्रदान करो६। विधि–(७) सप्तम मंत्रसे अपांपति समुद्रके जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै [का०१९।४ २७]मन्त्रार्थ–(अपांपतिः) हे सागरके जलो!तुम(राष्ट्रदाः)राष्ट्रदाता असि हो(राष्ट्रम्) राष्ट्रको (मे) मेरे निमित्त (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो७।विधि–(८) अष्टम मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें अपांपति ग्रहण करै[का०१९।४।२९।]

मन्त्रार्थ-(अपांपतिः राष्ट्रदाः) अपांपति तुम स्वभावसे राज्यदाता (असि) हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (दत्त) प्रदान करो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे अपांगर्भोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदानकरै । भंवरके जलको अपांगर्भोदक कहते हैं [का० १५ । ४ । २९] मन्त्रार्थ-(अपांगर्भः) भंवरके जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले (असि) हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (देहि) दो (स्वाहा) यह आहुति तुम्हारी प्रीतिके निमित्त दीजाती है ९ । विधि-(१०) दशम मंत्रसे यह जल उदुम्बरपात्रमें ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(अपांगर्भः) अपांगर्भ जल (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले (असि) हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (देहि) प्रदान करो १० ॥ ३ ॥

विशेष-जिस प्रकार जल दूसरी ओर जाकर फिर उसी स्थानमें मिलते हैं इस प्रकार दूसरे देश इस राजाके देशोंमें मिलें, और राजा विजय कर अपने देशमें आवे जैसे समुद्र जलोंका स्वामी है,इस प्रकार यह राजा सबका स्वामी हो जैसे भंवरका जल मध्यवर्ती होता है इसी प्रकार इस राजाको सब राजोंका मध्यवर्ती सम्राट् करै,जैसे जल ज्वार भाटा रूपसे आता जाता है इसी प्रकार इस राजाकी सब ओर गति हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र २१ ।

सूर्य्यँत्त्वचसस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहासूर्य्यँ
त्त्वचसस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तसूर्य्यँवर्च्चस
स्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहासूर्य्यँवर्च्चसस्स्थराष्ट्र
दाराष्ट्रममुष्मैदत्तमान्दाँस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्त
स्वाहामान्दाँस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तव्व्रजक्षि
तँस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्तस्वाहाँव्व्रजक्षितँस्स्थरा
ष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तवाशाँस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मेदत्त
स्वाहावाशाँस्स्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तशविष्ठा

स्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मैदत्तस्वाहाशविष्टास्त्थराष्ट्रदारा
ष्ट्रममुष्मैदत्तशक्करीस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मैदत्तस्वाहा
शक्करीस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तजनभृतस्त्थ
राष्ट्रदाराष्ट्रम्मैदत्तस्वाहाजनभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्र
ममुष्मैदत्तविश्श्वभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रम्मैदत्तस्वा
हाविश्श्वभृतस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्तापं÷स्व
राजस्त्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त॥ मधुमतीम्मधु
मतीभिंःपृच्यन्ताम्महिक्षत्रङ्क्षत्रियायवन्वानाऽ
अनाधृष्टाःसीदतसहौजसोमहिक्षत्रङ्क्षत्रियायदध
तीः ॥ ४ ॥ शतम् ॥ ४०० ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ सूर्यत्वचसस्थ इति मंत्रस्य वरुण ऋ० । साम्न्य-नुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानमध्ये स्थावराप्सु चतुर्गृहीताज्य-प्रक्षेपणे वि० । (२)ॐ सूर्यत्वचस इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टु-प्छं० । लिंगोक्ता दे० । स्यन्दमानमध्ये स्थावरोदकग्रहणे वि० । (३) ॐ सूर्यवर्चस इत्यस्य वरु० ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आतपवर्ष्योदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (४) ॐ सूर्यवर्च-सःस्थ इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । आत-पवर्ष्योदकग्रहणे वि० (५) ॐ मान्दा इत्यस्य मंत्रस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । सरस्योदकेषु चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (६)ॐ मान्दा इत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । सरस्योदकग्रहणे वि० । (७) ॐ व्रजक्षित इत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । कूपोदके चतुर्गृ-हीताज्यहोमे वि० । (८) ॐ व्रजक्षित इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । कूपोदकग्रहणे वि० । (९) ॐ वाशा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वाशोदके चतु-

गृहीताज्यहोमे वि० । (१०) ॐ वाशा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्य्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । वाशोदकग्रहणे वि० । (११) ॐ शविष्ठा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । मधुरूपे शविष्ठोदके चतुर्गृहीताज्यप्रक्षेपणे वि० । (१२) ॐ शविष्ठा इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । मधुरूपशविष्ठोदकग्रहणे वि० । (१३) ॐ शक्करीरित्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । शक्कर्युदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (१४) ॐ शक्करीरित्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । लिंगोक्ता दे० । शक्कर्युदकग्रहणे वि० । (१५) ॐ जनभृत इत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । गोदुग्धरूपजनभृदुदके चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० । (१६) ॐ जनभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । गोदुग्धरूपजनभृदुदकग्रहणे वि० । (१७) ॐ विश्वभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । घृतरूपे विश्वभृदुदके चतुर्गृहीताज्याहुतिहोमे वि० । (१८) ॐ विश्वभृत इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी गायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । घृतरूपविश्वभृदुदकग्रहणे वि० । (१९) ॐ आपः स्वराडित्यस्य वरुण ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे स्वराडुदकग्रहणे वि० । (२०) ॐ मधुमतीरित्यस्य वरुण ऋ० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उदुम्बरपात्रे सारस्वताद्युदकमिश्रणे वि० । (२१) ॐ अनाधृष्टा इत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्तादेकीकृतसमस्तोदकपात्रस्थापने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१) प्रथम मंत्रसे सूर्यत्वच जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करे [का० १५ । ४ । ३०] नदीआदि जिस स्थानमें स्रोतशून्य होती है तथा जहां सदैव स्थिरजल सूर्यकी धूपमें वर्तमान रहे वे सूर्यत्वच कहलाते हैं। मन्त्रार्थ–(सूर्यत्वचसः) हे जलो ! तुम सूर्यत्वच(स्थ)हो (राष्ट्रदाः) स्वभासे ही राष्ट्र देनेवाले हो(राष्ट्रम्)राष्ट्र (मे)मेरे निमित्त (दत्त)प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो१ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें सूर्यत्वक् ग्रहण करे (सूर्यत्वचसःस्थ) हे सूर्यत्वक्रूप जलो ! (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले तुम (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो २ । विधि–(३) तीसरे मंत्रसे सूर्यवर्चोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करे अर्थात् धूप निकलतेमें जो जल वर्षे उसको प्रथम ग्रहणकर ले पश्चात् यूपके उत्तरसे ग्रहण करे [का० १५ । ४ । ३१] मंत्रार्थ–हे जलो

तुम (सूर्यवर्चसः) सूर्यकी कान्तिमें (स्थ) स्थित हो(राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देने-वाले हो (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें सूर्यवर्च ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-(सूर्यवर्चसः) हे सूर्यवर्चस जलो ! तुम सूर्यकी वर्च-समें (स्थ) स्थित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो४।विधि-(५) पंचम मंत्रसे मान्दोदकमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै सरोवरके जलको मान्द कहते हैं [का० १५ । ४ । ३२] मंत्रार्थ-(मान्दाःस्थ) हे मान्दजलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसेही राष्ट्र देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (मे) मेरे निमित्त (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें यह मान्द ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-(मान्दाःस्थ राष्ट्रदाः) हे मान्द ! तुम स्वभावसेही राज्यप्रद हो (राष्ट्रम्) राष्ट्र (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (दत्त) दो ६ । विधि-(७) सातवें मंत्रसे व्रजक्षित् (कूपजल) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५ । ४ । ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (व्रजक्षि-तःस्थ) तुम व्रजक्षित्कूपस्थित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले (मे) हमारे यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ७ । विधि-(८) अष्टम मंत्रसे उदुम्बर पात्रमें व्रजक्षित् ग्रहण करै। मंत्रार्थ-हे जलो ! तुम (व्रजक्षितःस्थ) व्रजक्षित् हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसें राज्य देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो ८ । विधि-(९) नवम मंत्रसे वाशोदक ओसके जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै इनको वस्त्रद्वारा ग्रहण कर यूपके उत्तरसे लावे[का० १५।४। ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम(वाशाःस्थ)तृणाग्रमें स्थित(राष्ट्रदाः)स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (मे) मुझे(राष्ट्रम्)राष्ट्र(दत्त) प्रदान करो(स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ९ । विधि-(१०) दशममंत्रसे उदुम्बरपात्रमें वाशा ग्रहण करै मंत्रार्थ-(वाशाःस्थ)वाशामें स्थित जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्य देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानको (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १० । विधि-(११)एका-दश मंत्रसे शविष्ठोदक (मधु) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५ । ४ । ३२] मंत्रार्थ-हे जलो ! (शविष्ठाःस्थ) मधुरूप तुम त्रिदोषशमनकारणसे बल देनेवाले हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राष्ट्रदेनेवाले (मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र(दत्त) प्रदान करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार प्राप्त हो ११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें शविष्ठ ग्रहण करै । मंत्रार्थ-(शविष्ठाःस्थ राष्ट्रदाः)

हे शविष्ठ ! तुम स्वभावसेही राज्य देनेवाले (अमुष्मै) अमुक यजमानको (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १२।विधि-(१३) तेरहवें मंत्रसे शक्करीजल(व्याती गौके गर्भवेष्टनका जल जो प्रथमसे ले रक्खाहै उसे) यूपके उत्तरसे लेकर उसमें चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै[का० १५।४।३२]मंत्रार्थ-हे जलो ! तुम (शक्करीःस्थ) वाहदोहादिसे जगत्का उद्धारकरनेवाली गोसम्बन्धी हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्यदाता हो(मे) मुझे (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो (स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो१३। विधि-(१४) चौदहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें शक्करी ग्रहण करै (शक्करीःस्थ) शक्करी जलो ! तुम (राष्ट्रदाः) राष्ट्र देनेवाले (अमुष्मै) इस यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) दो १४ । विधि-(१५) पन्द्रहवें मंत्रसे जनभृतोदक (गौके दूध) में चतुर्गृहीत आज्याहुतिप्रदान करै [का० १५।४। ३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (जनभृतः) बालभावमें मनुष्योंको पुष्ट करनेवाले (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राज्यके देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राज्य (मे) मेरे निमित्त (दत्त) दो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १५ । विधि-(१६) सोलहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें दुग्ध ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-(जनभृतःस्थ) हे जनभृत् जल ! तुम(राष्ट्रदाः) स्वभावसे ही राष्ट्र देनेवाले हो (अमुष्मै)इस अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो १६ । विधि-(१७)सत्रहवें मंत्रसे विश्वभृत् (घृत) जलमें चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करै[का०५।४।३२] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (विश्वभृतः) मनुष्योंसे देवताओंपर्यन्त घृतद्वारा जगत्को धारण करनेवाले (स्थ) हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्य देनेवाले हो (मे) मेरे निमित्त (राष्ट्र) राष्ट्रको (दत्त) प्रदान करो (स्वाहा)यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १७ । विधि-(१८) अठारहवें मंत्रसे उदुम्बरपात्रमें विश्वभृत् ग्रहण करै । मंत्रार्थ-हे घृतरूप जलो ! (विश्वभृतःस्थ) तुम विश्वभृत् हो (अमुष्मै) अमुक यजमानके निमित्त (राष्ट्रम्) राष्ट्र (दत्त) प्रदान करो. १८। विधि-(१९) उन्नीसवें मंत्रसे उदुम्बरीपात्रमें स्वराट् (सूर्यकी किरणोंसे तप्त मरीचिजल) ग्रहण करै, वे सत्रह जल, पूर्ण हुए इसमें हवन न करै "नात्र होमः षोडशाहुतीर्जुहोति ता द्वात्रिꣳशद्वयीषु न जुहोति सारस्वतीषु च मरीचिषु च" इति श्रुतेः [श० ५ । ३ । ४ । २३] [का० १५ । ४ । ३५] "तैंतीस देवता चौंतीसवाँ प्रजापति सो इन आहुतियोंसे प्रजापतिरूप करतेहैं" मंत्रार्थ-(आपः) हे मरीचिरूप जलो ! तुम (स्वराजःस्थ) अपने प्रकाशमें अनन्याश्रित हो (राष्ट्रदाः) स्वभावसे राज्यके देनेवाले हो (राष्ट्रम्) राज्य(अमुष्मै)अमुक यजमानको (दत्त)दो १९।विधि-(२०)पृथक् पृथक् पात्रमें स्थित सारस्वतीप्रभृति

सत्रह जलोंको तथा स्वराट् जलको इस बीसवें मंत्रसे एक उदुम्बरपात्रमें मिश्रित करै [का० १९ । ४ । ३६] मन्त्रार्थ-(मधुमतीः) हे मधुररस युक्त सम्पूर्ण जलो ! (मधुमतीभिः) उन सब मधुररसजलोंके सहित (महि) बडे (क्षत्रम्) बलवालेको (क्षत्रियाय) राजा यजमानके निमित्त (वन्वानाः) सम्पादन करते अर्थात् देतेहुए (पृच्यंताम्) अपने रसोंसे सींचो सम्पर्ककरो २० । विधि-(२१) इक्कीसवें मंत्रसे इस एकीकृत पात्रको सदोमण्डपके मध्यमें मैत्रावरुण धिष्ण्यके समक्ष स्थापन करै [का० १९ । ४ । ३९] मन्त्रार्थ-हे जलो ! तुम (अनाधृष्टा) असुरोंसे अनावृष्ट पराभव न पानेवाले (सहौजसः) बलके सहित (महि) बडे (क्षत्रम्) बलको (क्षत्रियाय) इस क्षत्रिय राजामें (दधतीः) स्थापन करतेहुए इस स्थानमें अवस्थान करो ॥ २१ ॥ ४ ॥

आशय-तेजयुक्त जल लेनेसे क्षत्रियके शरीरमें तेज स्थापन होताहै अन्नसम्बन्धी जलसे अभिषेक करनेसे इसमें अन्न धारण होताहै, आशय यह कि जितने गुण इन जलोंमें हैं उतनेही गुण राजामें आते हैं इन जलोंसे राज्याभिषेक होता है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १३ ।

सोमस्यत्विषिरसितवेवमेत्विषिर्भूयात् ॥ अ
ग्नयेस्वाहासोमायस्स्वाहासवित्रेस्वाहासरस्वत्यै
स्स्वाहापूष्णेस्वाहाबृहस्पतयेस्वाहेन्द्रायस्स्वा
हाघोषायस्स्वाहाश्लोकायस्स्वाहांशायस्स्वा
हाभगायस्स्वाहार्यम्णेस्स्वाहा ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमेत्यस्य वरुण ऋषिः । आसुरी गायत्री छन्दः । चर्म देवता । व्याघ्रचर्मास्तरणे वि० । (२-३-४) ॐ अग्नय इत्यादि-मन्त्रत्रयस्य वरुण ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । अभिषे-कादावाज्यहोमे वि० (५) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छं । लिंगोक्ता देवता । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० । (६) ॐ पूष्ण इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० । (७) ॐ बृहस्पतय इत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी जगती छन्दः । लिंगोक्ता दे० । अभिषेकादावाज्यहोमे वि० ।

(८-१३) ॐ इन्द्रायेत्याद्यस्य मन्त्रषट्कस्य वरुण ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता देवताः । अभिषेकान्ते आज्यहोमे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) मैत्रावरुण धिष्ण्यके आगे स्थापित अभिषेक पात्रके सन्मुख चार पलाश (ढाक) पात्रके आगे व्याघ्रचर्म बिछावै [का० १५ । ५ । १] मन्त्रार्थ- हे चर्म ! तुम (सोमस्य) सोम देवकी (त्विषिः) क्रान्तिरूप (असि) हो (तव) आपकी (त्विषिः) कान्ति (मे) मुझमें (भूयात्) हो जाय. १। विधि-(२) अभिषेक करनेसे पहले छः पार्थमंत्रसे छः आहुति प्रदान करै [का० १५ । ५ । ३] यह छः आहुति अभिषेकसे पहले दे । मंत्रार्थ-(अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो १ । (सोमाय) प्रेरक सोम देवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति दी० । (सवित्रे) सविता देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति० (सरस्वत्यै) प्रवाहरूप सरस्वतीके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (पूष्णे) पोषक पूषादेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है स्वीकार हो २-७ । विधि-(८-१३) अभिषेक होचुकने पर यह छः आहुति पार्थ मंत्रोंसे दे। मंत्रार्थ-(इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (घोषाय) शब्दकरनेवाले देवताके वा वीर्यके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (श्लोकाय) जनोंसे कीर्तित परस्पर आन्दोलनरूपके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० । (अंशाय) पुण्यपापके विभाग करनेवालेके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० । (भगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (अर्यम्णे) विश्वको व्याप्तकरनेवाले अर्यमादेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है ८-१३ ॥ ५ ॥

विशेष-१. एक समय सोमने इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त शार्दूलरूप धारण किया इस कारण व्याघ्रचर्म सोमकी कान्ति कही जातीहै. "यत्र वै सोम इन्द्रमत्यपवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषिः" इति श्रुतेः [श० ५ । ३ । ५ । ३] २. यह बारहों मंत्र पार्थ कहातेहैं । इन मंत्रोंसे आहुति देनेसे यजमानमें बल बुद्धि तेज आदिका अभिषेक होताहै । "क्षत्रं वै सोमः क्षत्रेणैवैनमेतदभिषिञ्चति" इत्यादिश्रुतेः [श० ५ । ३ । ५ । ८ ।] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र ३ ।

पवित्रे॑स्थो वैष्ण॒व्यौ॑ सवि॒तुर्वः॑ प्रस॒वऽउत्पु॑ना॒म्यच्छि॑द्रेण प॒वित्रे॑ण॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभिः॑ ॥ अनि

भृष्टमसिव्वाचोबन्धुस्तपोजाःसोमस्यदात्रमसि स्वाहाराजस्वः॥ ६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पवित्रेस्थ इत्यस्य वरुण ऋषिः। दैवी जगती छन्दः। पवित्रे देवते। पवित्रयोः सुवर्णबन्धने वि०। (२) ॐ सवितुरित्यस्य वरुण ऋ०। प्राजापत्या पंक्तिश्छं०। आपो देवता। सहिरण्यदर्भपवित्राभ्यामौदुम्बरपात्रस्थाभिषेकोत्पवने वि०। (३) ॐ अनिभृष्टमित्यस्य वरुण ऋ०। भुरिक्प्राजापत्या पंक्तिश्छं०। आपो देवता। अभिषेकोदकोत्पवने वि०॥ ६॥

विधि-(१) दो पवित्र प्रस्तुत करके उससे इस प्रथम मंत्रसे एक खण्ड सुवर्णबंधन करे [का० १९। ५। ४] मन्त्रार्थ-(पवित्रे) हे पवित्र कुशद्वय! तुम (वैष्णव्यौ) यज्ञकार्यमें नियुक्त (स्थ) हो १। विधि-(२-३) दूसरे और तीसरे इन दो मंत्रोंसे इन दो पवित्रोंद्वारा मैत्रावरुणधिष्ण्यके अग्रे रक्षित इस जलसे यजमानके मस्तकादि सिंचन करे [का० १९। ५। ५] मंत्रार्थ-(सवितुः) जगत्के एक मात्र नियन्ता इस परम देवताके (प्रसवे) नियोगसे नियुक्त होकर (अच्छिद्रेण) छिद्रशून्य (पवित्रेण) पवित्रद्वारा (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे (वः) तुमको (उत्पुनामि) उत्पवन सिंचन करता हूं २ हे जलो! तुम (अनिभृष्टम्) राक्षसोंसे अपराभूत (वाचः) वाक्यके (बन्धुः) प्रकृत वन्धु हो "यावद्वै प्राणेष्वापो भवन्ति तावद्वाचा वदति" इति श्रुतेः [५। ३।५ १६] जबतक प्राणोंमें जल रहता है तभीतक वाणीसे बोलता है. "तपोमयी वागिति सामश्रुतिः" तथा (तपोजाः) तेजसे समुत्पन्न (सोमस्य) सोमके (दात्रम्) उत्पादक (असि) हो तथा (स्वाहा) स्वाहाकारसे पवित्र हुए (राजस्वः) इस यजमानको राजश्री सम्पादन करो ३॥ ६॥

प्रमाण-"अग्निर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिरग्नेर्वा एता जायन्ते तस्मादाह तपोजाः" इति श्रुतेः [श० ५। ३। ५। १७] "वायोरग्निरग्नेरापः" इति श्रुत्यन्तरात् [तैत्तिरीयारण्यक ८। १] "यदा वा एनमेताभिरभिषुण्वन्त्यथाहुतिर्भवति" इति [श० ५। ३। ५। १८]॥ ६॥

इनका आशय-कण्ठ और हृदय शुष्क होनेसे वाक्यस्फूर्ति नहीं होती यह प्रत्यक्ष है अग्निसे जल कैसे होता है यह रासायनिक विद्यासे स्पष्ट है. राज्यके अभिषेकसमयमें यह सब गुण आते हैं राजाको सम्पूर्णगुणयुक्त किया जाता है॥ ६॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

स॒ध॒मादो॑ द्यु॒म्निनी॒राप॑ऽए॒ताऽअना॑धृष्टाऽअप॒स्यो॒ वसा॑नाः । प॒स्त्या॒सु चक्रे॒ वरु॑णः स॒धस्थ॑म॒पा᳚ᳪ शिशु॑र्मा॒तृत॑मास्व॒न्तः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सधमाद इत्यस्य वरुण ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देवता । चतुर्धा विभज्योदकव्यानने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) प्रथम सप्तदश पात्रमें संगृहीत और फिर एक पात्रमें एकत्र किये अभिषेकके निमित्त रक्षित इस जलको इस मंत्रसे पलाश उदुम्बर वट अश्वत्थके चार पात्रोंमें विभाग करै [का० १५ । ५ । ६ [मंत्रार्थ-(एताः) जो यह (सधमादः) एकत्र चार पात्रमें स्थित प्रसन्न होने वा करनेवाले (द्युम्निनीः) वीर्यवान् [कान्तिमान्] "द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा" इति यास्कः [निरु०५ । ५] (अनाधृष्टाः) अपराभूत (अपस्यः) श्रेष्ठकर्मा "अप इति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । १] (वसानाः) पात्रोंका आच्छादन करनेवाले (आपः) यह जल इस समय अभिषेककार्यमें नियुक्त हुए हैं (पस्त्यासु) इस प्रकार सबके धारण करनेमें गृहरूप "पस्त्यमिति गृहनाम" [निघं०] (मातृतमासु) जगन्निर्माता मातृरूप इन जलदेवियोंके (अन्तः) भीतर वा गोदीमें (अपांशिशुः) जलोंके शिशु (वरुणः) वरुण यजमानने (सधस्थम्) सादर स्थिति (चक्रे) की है ॥ ७ ॥

प्रमाण-"अपां वा एष शिशुर्भवति यो राजसूयेति यजते" इति श्रुतेः [का० ५ । ३ । ५ । १९] जो राजसूय यज्ञ करता है वह जलोंका शिशु होता है । पलाशसे ब्रह्म, औदुम्बरसे अन्न धन, न्यग्रोधसे क्षत्र, अश्वत्थसे वैश्यता मानो अभिषेक होती है. [श० ।] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १३ ।

राजवेश.

क्ष॒त्रस्यो॒ल्बम॑सि क्ष॒त्रस्य॑ ज॒राय्व॑सि क्ष॒त्रस्य॒ योनि॑रसि क्ष॒त्रस्य॒ नाभि॑र॒सीन्द्र॑स्य॒ वार्त्र॑घ्नमसि मि॒त्रस्या॑सि॒ वरु॑णस्यासि॒ त्वया॒यं वृ॒त्रं व॑धेत् ॥ दृ॒वासि॑ रु॒जासि॑

क्षुमासि ॥ पातैनम्प्राञ्चम्पातैनम्प्रत्यञ्चम्पा तैनन्तिर्य्यञ्चन्दिग्भ्यः पात ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । याजुषी गायत्री छं० । तार्प्यं देवतम् । क्षौमवल्कलधारणे वि० । (२) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य मन्त्रस्य वरुण ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । पाण्ड्वादयो देवताः । रक्तवस्त्रधारणे वि० (३) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । अधिवासो देवता । कण्ठे अधिवासोधारणे वि० । (४) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । उष्णीषं दे० । उष्णीषधारणे वि० । (५) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । धनुर्देवता । धनुर्ग्रहणे वि० । (६) ॐ मित्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । धनुष्कोटिर्देवता । दक्षिणधनुष्कोटिविभाजने वि० । (७) ॐ वरुणस्येत्यस्य वरु० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वामकोटिर्दे० । वामधनुष्कोटिमार्जने वि० । (८ ।९।१०) ॐ इवासीत्यस्य मंत्रत्रयस्य वरु० ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छं० । इषुर्देवता । बाणग्रहणे वि० । (११ । १२ । १३) ॐ पातेत्यस्य मंत्रत्रयस्य वरुण ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । इषवो देवताः यजमानहस्ते बाणप्रदाने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु प्रथम मंत्रसे यजमानको क्षौम वल्कल वा घृताक्तवस्त्रकी कौपीन धारण करावे [का० १५ । ५ । १५ । तथा १५ । ५ । ७] मंत्रार्थ-हे तार्प्य वस्त्र ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी इस यजमानकी (उल्वम्) गर्भाधारभूत जलरूप (असि) हो १ उल्व जरायुके मध्यगत जल [इस स्थलमें यजमानको रक्षणीय गर्भरूप वर्णन किया है] १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे रक्त कम्बल धारण करावे [का० १५ । ५ । १२] मन्त्रार्थ-हे पाण्डुरक्तकम्बल ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रिय यजमानकी (जरायु) गर्भवेष्टन चर्मरूप हो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अधिवास कंचुक धारण करावे [का० १५ । ५ । १३] मन्त्रार्थ-हे अधिवास ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी यजमानकी (योनिः) योनिरूप (असि) हो ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे उष्णीषधारण करावें [का० १५ । ५ । १३-१४] इसको मस्तकमें बांधकर इसके उभयप्रान्त नाभिदेशमें अवगूहन[स्पर्श] करे । मंत्रार्थ-हे उष्णीष ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्मावलम्बी यजमानकी (नाभिः) गर्भबन्धनस्थान (असि) हो "नाभ्यासन्नद्धा गर्भा जायन्ते" [निरु० ४ । २१] विधि-(५) अध्वर्यु पांचवें मंत्रसे धनुः ग्रहण करावे [का०

१९ । ५ । १७] मन्त्रार्थ-हे धनुष् ! तुम (इन्द्रस्य) इस इन्द्ररूप यजमानके (वार्त्रघ्नम्) वृत्रनाशक धनुसम्बन्धी (असि) हो. यजमानपक्षमें शत्रुनाशक जानना ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे अध्वर्यु धनुष्की कोटिमें गुण (रोदा) आरोपण करै [का० १९ । ५ । १८] मन्त्रार्थ-हे दक्षिणकोटि ! तू (मित्रस्य) मित्रसम्बन्धिनी (असि) है हे वामकोटी ! तू (वरुणस्य) वरुणसम्वन्धिनी (असि) है ६ । विधि-(७) अगले मंत्रसे यजमानके हाथमें धनुष्प्रदान करै [का० १९ । ५ । १९] मन्त्रार्थ-हे धनुष् ! (अयम्) यह यजमान (त्वया) तुम्हारे द्वारा (वृत्रम्) सम्पूर्ण शत्रुओंको (वधेत्) नाशकरै ७। विधि-(८) अष्टम मंत्रसे कुछ बाण ग्रहण करै [का० १९ । ५ । २०] मंत्रार्थ-हे इषबाणो ! तुम (हवा) शत्रुओंके विदीर्ण करनेवाले (असि) हो ८ । विधि-(९) अगले मंत्रसे कुछ और प्रकारके बाण ग्रहण करै। मन्त्रार्थ-हे बाणो ! तुम (रुजा) शत्रुओंके भंग करनेवाले (असि) हो ९। विधि-(१०)दशम मंत्रसें तीसरी प्रकारके कुछ बाण ग्रहण करै । मन्त्रार्थ-हे बाणो ! तुम (क्षुमा) शत्रुओंके कम्पित करनेवाले (असि) हो। १० विधि-(११) एकादश मंत्रसे प्रथमप्रकारके बाण यजमानके हाथमें दे । मन्त्रार्थ-हे बाणो ! (एनम्) तुम इस यजमानको (प्राञ्चम्) पूर्व दिशाकी ओरसे (पात) रक्षा करो वा सन्मुखसे रक्षा करो ११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे दूसरे प्रकारके बाणोंको समर्पण करै । मन्त्रार्थ-हे बाणो ! तुम (एनम्) इस यजमानको (प्रत्यञ्चम्) पृष्ठ अथवा पश्चिमओरसें (पात)रक्षा करो १२।विधि(१३) तेरहवें मंत्रसे तीसरी प्रकारके बाण समर्पण करै । मन्त्रार्थ-हे बाणो ! तुम (एनम्) इस यजमानको (तिर्यञ्चम्)उत्तर दक्षिणकी ओरसे (पात) रक्षा करो (दिग्भ्यः) बहुत क्या सम्पूर्ण दिशाओंसे (पात) रक्षा करो ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र ७ ।

आविर्मर्या॑ऽआवि॑त्तोऽअ॒ग्निर्गृ॒हप॑ति॒रावि॑त्त॒ऽइन्द्रो॑ वृ॒द्धश्र॑वा॒ऽआवि॑त्तौ मि॒त्रावरु॑णौ धृ॒तव्र॑ता॒वावि॑त्तः पू॒षा वि॒श्ववे॑दा॒ऽआवि॑त्ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी वि॒श्वश॑म्भुवा॒वावि॒त्तादि॑तिरु॒रुश॑र्म्मा ॥ ९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ आविरित्यस्य वरुण ऋ० । दैवी बृहती छं० । प्रजापतिर्देवता । मन्त्रपठने वि० । (२-३) ॐ आवित्त इति मन्त्र-

द्वयस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (४) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुरी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (५) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (६) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । आसुर्य्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । मंत्रपठने वि० । (७) ॐ आवित्त इत्यस्य वरुण ऋ० । याजुषी बृहती छं० । लिंगोक्ता दे० । मन्त्रपठने वि०॥ ९ ॥

विधि-(१-७) अध्वर्यु यजमानको यह मंत्र पाठ करावे [का० १५ । ५ । २१] मंत्रार्थ-(मर्य्याः) भूमण्डलवासी मनुष्यमण्डली वा ऋत्विगादि इस यजमानको (आविः) जाने अथवा ऋत्विगादि सम्यक् कर्मानुष्ठानको प्रगट हों (गृहपतिः) गृहपालक (अग्निः) अग्नि (आवित्तः) इस यजमानको जाने (वृद्धश्रवाः) विख्यातकीर्ति (इन्द्रः) इन्द्र(आवित्तः)इस यजमानको जाने (धृतव्रतौ) नियममें तत्पर (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण सूर्यचन्द्र (आवित्तौ) इसको जाने (विश्ववेदाः) सबकुछ जाननेवाले (पूषा) पूषा देवता (आवित्तः) इसको जाने वा विश्वेदेवा और पूषा इसको जाने (विश्वशम्भुवौ) संसारके कल्याणविधात्री (द्यावापृथिवी) पृथ्वी और द्युलोकके अभिमानी देवता (आवित्ते) जाने (उरुशर्मा) बडे सुविस्तीर्ण सुखके आश्रयरूप (अदितिः) देवमाता काल वा दिशा (आवित्ता) इसको जाने अथवा [श० ५ । ३ । ५ ।३१-३७] श्रुतिके अनुसार विभक्तिव्यत्ययसे इसकी व्याख्या जाननी. देवताओंमें चतुर्थी करनी जैसे गृहपालक अग्निके निमित्त यह यजमान आवेदित किया इत्यादि ॥ ९ ॥

प्रमाण-"मर्या इति मनुष्यनामसु पठितम्" [निघं० २ । ३ । ११] " व्रतमिति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । ७] ॥९॥

कण्डिका१०-मन्त्र २ ।

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु रथन्तरꣳ साम त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऽऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् दक्षिणामारोह ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अवेष्टा इत्यस्य वरुण ऋषिः । दैवी जगती छं० । मृत्युनाशकं दैवतम् । दीर्घकेशमुखे ताम्रनिक्षेपणे वि० । (२) ॐ प्राचीमित्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृदार्षी पंक्तिः । यजमानो देवता । पूर्वदिशि पादनिक्षेपणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) सभामण्डपमें बैठेहुए दीर्घकेशमनुष्यके मुखमें अध्वर्यु ताम्र निक्षेप करे [का० १९ । ५ । २३] मंत्रार्थ-(दन्दशूकाः) काटनेके स्वभाववाले मृत्युके कारण सर्पादि वा सर्पसदृश यज्ञविघ्नकारी राक्षस (अवेष्टाः) विनष्टहुए १ । विधि-(२) अध्वर्यु दूसरा मंत्र पाठपूर्वक यजमानको पूर्वदिक् पादक्षेप करावै [का० १९ । ५ । २३] मन्त्रार्थ-हे यजमान! तुम (प्राचीम्) पूर्वदिशाको (आरोह) आरोहण वा आक्रमण करो छन्दोंके मध्यमें (गायत्री) गायत्री छन्द (त्वा) तुमको (अवतु) रक्षा करै सोमोंके मध्यमें (रथंतरꣳसाम)"अभित्वा शूर नोनुमः" [छं० सं० ११३ । १ । ५ । १-२, १, १, ११, १,] रथंतर साम स्तोमके मध्यमें (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोम [२५विं० ब्रा०२।१] ऋतुओंमें (वसन्तऋतुः) वसन्तऋतु (ब्रह्म)परमात्मा वा ब्राह्मणजातिरूप (द्रविणम्) ऐश्वर्य तुम्हारी रक्षा करै ॥१०॥

विशेष-त्रिवृत् स्तोमका स्वरूप साम ब्रा० पंचविंशब्राह्मणमें कहा है. "तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स मध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमयोद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः" उपास्मै गायते इति तीन सूक्त [ऋ० सं० अष्ट०६।७ । ३६ मं० ९ । १ । ५ ।] इनमें तीन ऋचाओंसे गान करै इनमें पहलीको उद्गाता गावै तो यह तीनवार हिंकारशब्दसे गाया जाता है दूसरे पर्यायमें सूक्तत्रयमें प्राप्त उत्तमासे गावै इस प्रकार त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धिनी स्तुति होगी इसका नाम उद्यती है ॥ १० ॥ प्रमाण-"तद्यो मृत्युर्यो वधस्तमेवैतदतिनयाति" इति श्रुतेः [५ । ४ । १ । १] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप्त्वावतु बृहत्सामपञ्चदशस्तोमो ग्रीष्मऽऋतुः क्षत्रन्द्रविणम्प्रतीचीमारोह ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दक्षिणामित्यस्य वरुण ऋषिः । आर्ची पंक्तिश्छन्दः । यजमानो देवता । दक्षिणे पादनिक्षेपणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे यजमानको दक्षिण ओर पादनिक्षेप करावे । मंत्रार्थ-हे यजमान ! तुम (दक्षिणाम्) दक्षिण दिशाको (आरोह) आक्रमण करो (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्द (बृहत्साम) 'त्वामिद्धि हवामहे' [छन्द सं० १ । ३ । १ । १ । ५ । २-२ । २ । १ । १२ । १] बृहत्साम, (पञ्चदशस्तोम) पंचदश स्तोम (ग्रीष्म ऋतुः) ग्रीष्मऋतु (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिसम्बन्धी (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुझको (अवतु) रक्षा करै ॥ ११ ॥

विवरण–पञ्चविंश ब्राह्मणमें [२ । ४ ।] "पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः पञ्चपञ्चिनी पञ्चदशस्य विष्टुतिः" इति ॥ अर्थ–त्रिवृत्स्तोम एक सूत्रसे निष्पादन होता है, और स्तोम एक ऋचाके सूक्तसे निष्पादन होते हैं, पहले पर्यायमें आवृत्ति पांच आदिमें तीन ऋचासे गान करै और दो एक २ बार गान करै दूसरे पर्यायमें पहली एकवार मध्यमा तीनवार तीसरी एकवार । तीसरे पर्यायमें पहली दो एकबार तीसरे तीनवार यह पंचदश स्तोम सम्बन्धिनी विष्टुति पंचपंचिनी कहाती है ॥११॥

कण्डिका १२–मन्त्र १ ।

प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपᳬसाम सप्तदशस्तोमो वर्षाऽऋतुर्विड्द्रविणम् उदीचीमारोह ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रतीचीमित्यस्य वरुण ऋषिः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । यजमानो देवता । प्रतीच्यां पादप्रक्षेपणे वि० ॥ १२ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे यजमानको पश्चिमदिशामें पादप्रक्षेप करावै ।

मंत्रार्थ–हे यजमान! तुम (प्रतीचीम्) पश्चिम दिशाको (आरोह) आक्रमण करो (जगती) जगतीछन्द (वैरूपᳬसाम) "यद्याव इन्द्र ते शतम्" इत्यादि [छं०सं० १ ३ । २ । ४ । ६–२ । २ । ११ । १] वैरूपसाम (सप्तदशस्तोम) सप्तदशस्तोम (वर्षाऋतुः) वर्षाऋतु (विट्) वैश्यसम्बन्धी (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुम्हारी (अवतु) रक्षा करै. इस मंत्रमें कही दिशा छन्द सम्पत्ति आदि वैश्यजातीय ऐश्वर्य है. ॥ १२ ॥

विवरण–पञ्चविं० ब्राह्मण २।७ में सप्तदशस्तोमवर्णन "पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्दशसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः "इति पहले पर्यायमें पहली तीन गावै मध्यमोत्तम एकवार दूसरे पर्यायमें प्रथमोत्तम एकवार मध्यमा तीनवार गावै । तीसरे पर्यायमें पहली एकबार मध्यम उत्तम तीनवार, यह सप्तदशस्तोमकी विविधा स्तुति दशसप्त कहलाती हैं ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १ ।

उदीचीमारोहानुष्टुप्त्वावतु वैराजᳬसामैकविᳬशस्तोमः शरदृतुः फलन्द्रविणम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) उदीचीमित्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । यजमानो देवता । उदीच्यां दिशि पादप्रक्षेपणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे यजमानको उत्तरकी ओर पादक्षेप करावे । मन्त्रार्थ-हे यजमान ! तुम (उदीचीम्) उत्तर दिशाको (आरोह) आक्रमणकरो (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्छन्द (वैराजꣳसाम) "पिबासोममिन्द्र मन्दतु त्वा" [छं० सं० १।९।१।१।८] इस ऋचासे उत्पन्न वैराज साम (एकविꣳशस्तोमः) एकविंशस्तोम (शरदृतुः) शरद् ऋतु (फलम्) यज्ञफल रूप (द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुमको (अवतु) रक्षा करे ॥ १३ ॥

विवरण-एकविंशस्तोम पञ्चविंश ब्राह्मण [३।१४ ।] में इस प्रकार है "सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिः सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः सप्त सप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः" इति । अर्थ-पहले पर्यायमें प्रथमा और मध्यमा तीनवार गावे उत्तमा एकवार दूसरे पर्य्यायमें प्रथमा एकवार मध्यमोत्तमा तीनवार तीसरे पर्यायमें (मध्यमा एकवार) प्रथम उत्तम तीनवार यह एकविंशस्तोमकी स्तुति सप्तसप्तिनी कहलाती है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

ऊर्द्ध्वामारोह पुङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणम् । प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्द्ध्वामित्यस्य वरुण ऋषिः । भुरिग्जगती छन्दः । यजमानो देवता । ऊर्ध्वनिरीक्षणे वि० । (२) ॐ प्रत्यस्तमित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । असुरो देवता । सीसकप्रक्षेपणे वि० ॥१४॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रसे यजमानको ऊर्ध्व अवलोकन करावै। मन्त्रार्थ-हे यजमान ! तुम (ऊर्द्ध्वाम्) ऊपर भागको (आरोह) आक्रमण करो (पंक्तिः) पङ्क्तिच्छन्द (शाक्वररैवते) 'प्रोष्वस्मै पुरोरथम' [छं० सं० २, ९, १, १४, १] शाक्वरसाम और "रेवतीर्नः सधमाद" इस ऋचासे उत्पन्न [छं० सं० १, २, २, १, ९-२, ४, १, १४, १] रैवत (सामनी) साम (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ) त्रिनव और त्रयस्त्रिंश(स्तोमौ)स्तोम(हेमन्तशिशिरौ)हेमन्त और शिशिर(ऋतू) दोनों ऋतु (वर्चः) तेजअभिमानी देवका(द्रविणम्) ऐश्वर्य (त्वा) तुम्हारी (अवतु)रक्षा करे १ । विधि-(२) व्याघ्रचर्मके पश्चाद्भागमें सीसा स्थापन करै इसको दक्षिण

चरणसे आक्रमणपूर्वक इस दूसरे मंत्रको पाठ कराके दूर निक्षेप करै [का० १५। २। २४] मन्त्रार्थ-(नमुचेः) नमुचि असुरका (शिरः) शिर (प्रत्यस्तम्) शीशे रूपसे दूर फेंका गया॥ २॥ १४॥

विवरण-त्रिणवस्तोम पंचविंशब्राह्मण ३। १ में "नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया नवभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वै त्रिणव" इति। अर्थ-पहले पर्यायमें पहली तीन गावै मध्यमाको पांचवार करके उत्तमाको एकवार गावै दूसरे पर्यायमें प्रथमाको एकवार गावै मध्यमाको तीनवार उत्तमाको पांचवार गावै. तीसरे पर्यायमें पहलीको पांचवारकरके मध्यमाको एकवार उत्तमाको तीनवार गावै. यह तीन आवृत नवसंख्यायुक्त त्रिणवक नाम वज्रसमान स्तोम है।

त्रयस्त्रिंशस्तोम पं० ब्रा० ३। ३। में इसप्रकार है "एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः ससप्तभिः स एकयैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स सप्तभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स सप्तभिः स एकया स तिसृभिरन्तो वै त्रयस्त्रिंशः" इति। पहले पर्यायमें पहली तीन वार गावै मध्यमा सात वार उत्तमा एकवार दूसरे पर्य्यायमें प्रथमा एकवार मध्यमा तीनवार उत्तमा सातवार तीसरे पर्यायमें पहली-सातवार मध्यमा एकवार उत्तमा तीनवार गावे यह त्रयस्त्रिंशस्तोम सब स्तोमोंका अन्त है॥ १४॥

कण्डिका १५-मंत्र ३।

सोम॑स्य॒ त्विषि॑रसि॒ तवे॑व मे॒ त्विषि॑र्भूयात्॥ मृ॒त्योः पा॒ह्योजो॑ऽसि॒ सहो॑ऽस्य॒मृत॑मसि॥ १५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः। आसुरी गायत्री छन्दः। चर्म दैवतम्। व्याघ्रचर्मोपर्यारोहणे वि०। (२) ॐ मृत्योरित्यस्य वरुण ऋ०। दैवी बृहती छं०। रुक्मं दैवतम्। पादतले हिरण्यशकल धारणे वि०। (३) ॐ ओजोसीत्यस्य वरुण ऋ०। याजुषी पंक्तिश्छन्दः। रुक्मं दैवतम्। मुकुट धारणे वि०॥ १५॥

विधि-(१) यजमान प्रथम मंत्रसे व्याघ्रचर्मपर आरोहण करै [का० १५। ५। २५] मन्त्रार्थ-हे व्याघ्रचर्म! तुम (सोमस्य) सोमकी (त्विषिः) त्वक् वा कान्ति हो (तव) तुम्हारी (त्विषिः) कान्ति (मे) मुझमें (एव) भी (भूयात्) हो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे पादतलमें हिरण्यखण्ड धारण करै [का०। १५।५ २६] हे सुवर्ण! (मृत्योः) मृत्युसे (पाहि) मेरी रक्षा कर अर्थात् धन बलकी वृद्धि हो २। विधि-(३)तीसरे मंत्रसे नवच्छिद्र वा सौ छिद्रका सुवर्ण मण्डलका

मुकुट यजमानके शिरपर धारण करै [का० १९ । ५ । २७] मंत्रार्थ-हे सुवर्ण मण्डल ! तुम (ओजः) इसको जय करूंगा इस प्रकारके साहसरूप (असि) हो धनका साहस प्रत्यक्ष है मनकी वृत्तिरूप हो (सह) शारीरिक बलरूप (असि) हो (अमृतम्) विनाशरहित चिरस्थायि (असि) हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

हिरण्यरूपाऽउषसो विरोकऽउभाविन्द्राऽउदिथः सूर्य्यश्च ॥ आरोहतं वरुण मित्र गर्त्तन्ततश्चक्षाथा मदितिन्दितिञ्च मित्रोसि वरुणोसि ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यरूपावित्यस्य वरुण ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । मित्रावरुणौ देवते । यजमानबाहूर्द्ध्वकरणे वि० । (२) ॐ मित्र इत्यस्य वरुण ऋषिः । दैवी जगती छन्दः । बाहू देवते । यजमानबाह्वोरुद्ग्रहणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) यजमान ऊर्ध्ववाहु होकर प्रथम मंत्र पाठकरै [का० १९ । ५ । २८] मंत्रार्थ-(वरुण) हे शत्रुनिवारक ! दक्षिणबाहु ! तुम (मित्र) हे सखावत् पालक वाम बाहु ! तुम दोनो (गर्तम्) पुरुषमें (आरोहत) आरोहण करो "बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गर्तः" इतिं श्रुतेः [श०५ । ४ । १ । १५ ।] पौरुषदाता पुरुष शरीरमें व्याप्त आत्माके आश्रित हो इस प्रकार श्रुति अध्यात्म व्याख्या करती है (हिरण्यरूपौ) सुवर्णके अलंकारादिसे युक्त सुवर्णवद्भासमान (इन्द्रा) सामर्थ्यसे युक्त (उभा) दोनो तुम (उषसः) रात्रिके (विरोके) समाप्तिकालमें (उदिथ)जागृतहो अर्थात् तुम दोनोही प्रतिदिन उषाकालके परे ही जागृत होतेहो (सूर्यः) सूर्य (च) भी उससमय तुम्हारा कार्य सम्पादन करनेको उदय होता है (ततः) तदनन्तर (अदितिम्) अखण्डित अपनी सेना अथवाअदीन पुण्यात्मा (दितिम्) खण्डिता परसेना अथवा दीन पापीको (चक्षाथाम्) क्रमपूर्वक अनुग्रहदृष्टिसे देखो अर्थात् ईश्वरके पथमें वा रथमें वा सिंहासनमें आरूढ होकर अपनी सेना वा पुण्यात्माका पुरस्कार करो एवं परसेना वा पापीका तिरस्कार करो।[आधिदैवत अर्थ] हे मित्रवरुण देवताओ ! तुम (उभौ) दोनों (हिरण्यरूपौ) अतितेजस्वी (इन्द्रौ) परम ऐश्वर्यवान् हो तुम (गर्तम्) रथके ऊपर भागमें जो शत्रुओंके बाणोंसे रक्षाकरनेको चर्मकीलादिसे आच्छादित गर्तरूप रथ है " रथोपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिकर्मणः" इति [निरु० ३ । ५ ।] (आरोहत) आरोहण करो जो कि तुम (उषसः) उषा-

काल रात्रिकी (विरोके) समाप्तिमें (उदिथः) प्रात होतेही (सूर्यः च) सूर्य भी उसीसमय उदय होता है. (ततः) रथारोहणके अनन्तर (अदितिम्) अदीन विहित अनुष्ठानकरनेवाले (दितिम्) दीन नास्तिक वृत्तिवालेको (चक्षाथाम्) देखो अर्थात् यह पुण्यवान् वा यह पापी है ऐसा देखकर फल दो इसी अर्थको "ततः पश्यतछंस्वं चारणं चेत्येवैतदाह" इति. [श० ५ । ४ । १ । १५] इस श्रुतिने कहाहै १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके जो भुजा ऊपर कीहै उसे नीचे करले [का० १९ । ५ । २९]मंत्रार्थ-हे वामबाहो ! तुम(मित्रः) मित्र(असि)हो हे दक्षिणभुजा ! तुम (वरुणः) वरुण(असि) हो[दोनों भुजाओंको देखै] ॥१६॥

विशेष-श्रुतिके अनुसार गर्तशब्दसे ईश्वरका लक्ष्य है यहां प्रातःकालमें प्रथमही ईश्वरका स्मरण करै और सूर्योदयसे प्रथमही उठै यह सर्वसाधरणको कर्तव्य है उठकर परमात्माका स्मरण कर अपने कर्मोंपर दृष्टिपात करै बुरे कर्म त्यागे अच्छे स्वीकारकरै, अथवा राजाको ऐसे समय अकस्मात् आपतित शत्रुओंसे रक्षा पानेके निमित्त सिंहासनके मध्यमें वा रथके मध्यमें अपने शरीर गोपन करनेके उपयोगी एक गह्वर होतीहै उसीका इस स्थलमें लक्ष्य है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र ४।

सोम॑स्य त्वा द्यु॒म्नेना॒भिषि॑ञ्चाम्य॒ग्नेर्भ्राज॑सा॒ सूर्य॑स्य॒ वर्च॑से॒न्द्रस्ये॑न्द्रि॒येण॑ ॥ क्ष॒त्राणां॑ क्ष॒त्रप॑तिरे॒ध्यति॑ दि॒द्यून्पा॑हि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमस्येत्यस्य वरुण ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्या पंक्तिश्छं० । यजमानो देव० । पालाशपात्रेण यजमानाभिषिञ्चने वि० । (२) ॐ अग्निरित्यस्य वरुण ऋ० । निच्यृत्साम्नी पंक्तिश्छं० । पालाशपात्रेणाभिषिञ्चने वि० । (३) ॐ सूर्यस्येत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छं० । यजमानो दे० । वटपात्रेणाभिषिञ्चने वि० । (४)ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वरुण ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छन्दः । यजमानो देवता । अश्वत्थपत्रेणाभिषिञ्चने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१-४) सुवर्णसहित व्याघ्रचर्मके ऊपर पूर्वमुख बैठकर यजमानके सन्मुख अध्वर्यु वा पुरोहित पलाश (ढाक) के बने पात्रमें स्थापित इस जलसे एवं अपरापर पार्श्व और पृष्ठभागमें राजभ्राता वा राजजाति उदुम्बरपात्रमें स्थित जलसे और मित्रभूत क्षत्रिय वटकाष्ठनिर्मित पात्रमें स्थापित जलसे एक वैश्य

अश्वत्थकाष्ठनिर्मित पात्रमें स्थापित जलसे इन दोनों कण्डिकाके यथाभाग मंत्र-पाठ करके अभिषेक करै, उनमें अध्वर्यु वा पुरोहितका व्यवहार्य मन्त्रभाग है [का० १९ । ९ । ३० । ३३] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (सोमस्य) चन्द्रमाके (द्युम्नेन) यश वा कान्तिसे (त्वा) तुमको(अभिषिञ्चामि)अभिषेक करताहूं और अभिषेकको प्राप्त हुए तुम (क्षत्राणाम्) क्षत्रियोंके राजोंके (क्षत्रपतिः) राजाधिराज होकर (एधि) वृद्धिको प्राप्त हो (दिद्यून्) शत्रुओंके प्रेरिते बाणोंको (अति) अतिक्रमण करके अर्थात् विपक्ष पक्षजय करके (पाहि) प्रजापालन कर, वा हे सोम! इस यजमानकी रक्षा कर "इषवो वै दिद्यव इषुवधमेवैनमेतदातिनयति" इति श्रुतेः [श० ५ । ४ । २ । २] ॥ १७ ॥ शेषका अर्थ अठारहवीं कण्डिकाके उपरान्त है ।

कण्डिका १८-मन्त्र २ ।

इमन्देवाऽअसपत्नꣳ सुवद्ध्वम्महते क्षत्राय महते
ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥
इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी रा
जा सोमोऽस्माकम्ब्राह्मणानाꣳ राजा ॥ १८ ॥

ऋष्यादि पूर्ववत् ।

मंत्रार्थ-(देवाः) हे सुहवि देवगण ! (इमम्) इस (अमुष्यपुत्रम्) अमुकके पुत्र (अमुष्यै) अमुक देवीके पुत्र (इमम्) अमुक नाम इस यजमानको (महते) महान् (क्षत्राय) क्षत्रधर्म (महते ज्यैष्ठाय) महान् ज्येष्ठत्वप्राप्तिके निमित्त (महते) वडे (जानराज्याय) जानराज्यके निमित्त (इन्द्रस्य) इन्द्र वा आत्माके (इन्द्रियाय) ऐश्वर्यके निमित्त (अस्यै) इस अमुक जातिकी (विशे) प्रजापालनके निमित्त स्थित हुएको (असपत्नम्) शत्रुरहित करके (सुवध्वम्) प्रेरणाकरो (अमी) हे देशवाले जनो ! (एषः) यह (वंः) तुम्हारा (राजा) राजा है (अस्माकम्) हम (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणोंका (राजा) राजा (सोमः) सोम है

इस मंत्रका दृष्टान्तरूप महीधरभाष्य इसप्रकार है-

हे सोमादिक देवताओ ! (अमुष्यपुत्रम्) अमुक दशरथजीके पुत्र (अमुष्यैपुत्रम्) कौशल्याके पुत्र (अस्यै) इस कोशलाके (विशे) प्रजाके निमित्त स्थित (इमम्) इन रामचन्द्रको (असपत्नम्) शत्रुरहित करके बडे क्षत्रज्येष्ठत्व इन्द्रऐश्वर्य प्राप्तिके निमित्त प्रेरणाकरो (अमी) हे कोशलपुरवासी जनो ! यह तुम्हारे राजा हैं इत्यादि ।

यहांतक मंत्र पढकर अध्वर्यु और पुरोहित अभिषेक करै १ ।

सत्रहवें मंत्रका शेष–

विधि–(२) राजभ्राता वा राजज्ञातिके पढनेका मंत्र । मन्त्रार्थ–हे यजमान! (अग्नेः) अग्निके (भ्राजसा) तेज करके तुमको अभिषेक करताहूं (क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि) तुम सम्पूर्ण क्षत्रियोंके राजराजेश्वर होकर क्रमसे बढो (दिद्यून् अति पाहि) विपक्ष पक्ष जय कर प्रजापालन करो और (इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वम् महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय) हे सुहविर्देवगण ! तुम इस यजमानको शत्रुशून्य करके सुमहत् क्षत्रधर्म सुमहत् ज्येष्ठ सुमहत् जानराज्य सुमहत् आत्मलाभमें समर्थ करो २ । विधि–(३) अपर राजाके मित्र यह मत्र पाठ कर अभिषेक करै । मन्त्रार्थ–हे यजमान ! (सूर्यस्य) सूर्यकी (वर्चसा) प्रचण्डदीप्तिद्वारा तुमको अभिषेक करताहूं (क्षत्राणाम्) क्षत्रपतिसे– "इन्द्रस्यइन्द्रियाय" तक पढे । मन्त्रार्थ पूर्ववत् ३ । विधि–(४) अगला मंत्र पढकर वैश्य अभिषेक करै । मन्त्रार्थ–हे यजमान ! तुमको (इन्द्रस्य) इन्द्रके (इन्द्रियेण)ऐश्वर्यद्वारा अभिषेक करताहूं "क्षत्राणाम्" से "इन्द्रियाय" तक पूर्ववत् पाठ करै. पूर्ववत् व्याख्या जानी । श्रुतिमें द्युम्नादिशब्द पराक्रमवाचक पढे हैं १७॥१८॥

कण्डिका १९–मन्त्र ४ ।

प्रपर्वतस्यवृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्तिस्वसिचऽइयानाः ॥ ताऽआवृत्रन्नधरागुदक्ताऽअहिम्बुध्न्यमनुरीयमाणाः ॥ विष्णोर्विक्रमणमसिविष्णोर्विक्रान्तमसिविष्णोःक्रान्तमसि ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रपर्वतस्येत्यस्य देववात ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवताः । शरीरसंलग्नोदकाभिषेकेण स्वशरीरप्रलिम्पने वि० । (२) ॐ विष्णोरित्यस्य देववात ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । यजमानो देवता । व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि० । (३) ॐ विष्णोरित्यस्य देववा० ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । यजमानो दे० । व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि० । (४) ॐ विष्णोरित्यस्य देववात ऋ०। याजुषी गायत्री छन्दः । यजमानो दे० । व्याघ्रचर्मणि पादप्रक्षेपणे वि० ॥ १९ ॥

विधि–(१) यजमान इस मंत्रको पाठ करके गात्रमें गिरतेहुए अभिषेक-

जलको कण्डूयनीके द्वारा सर्वांगमें लिम्पन करै कृष्णविषाणको कण्डूयनी कहते हैं । मन्त्रार्थ-(स्वसिचः) स्वयंही विश्वको सीचनेवाले (इयानाः) गमनशील (नावः) स्तुतियोंको प्राप्त होनेवाले वा फलकी प्रेरणा करनेवाले आहुति परिणामरूप जल (वृषभस्य) वर्षा करनेवाले (पर्वतस्य) पर्वतके (पृष्ठात्) पृष्ठसे (प्रचरन्ति) आदित्यमण्डलकी ओर गमन करते हैं "अथवा वर्षा करनेके कारण पौर्णमासी अमावस्या चातुर्मास्यादिमें आदित्यमण्डलको प्राप्त होकर मध्यस्थानमें आते हैं मध्य स्थानसे पृथ्वीमें आते हैं यह वर्णन करते हैं" (ताः) वे (उदक्ताः) आहुति परिणामभूत जल ऊपर प्राप्त हुए (बुध्न्यम्) अन्तरिक्षमें होनेवाले (अहिम्) मेघोंको (अनुरीयमाणाः) अनुसरण करते हुए (अधराक्) नीचे भूमिको (आववृत्रन्) प्राप्त होते हैं । अथवा पर्वतशब्दसे आदित्यका ग्रहण है 'वृषभस्य' वर्षा करनेवाले 'पर्वतस्य' आदित्यके 'पृष्ठात्' ऊपरसे 'इयानाः' निर्गत होते हुए 'नावः' स्तुतिको प्राप्त होनेवाले जल "नाव्या उ एव यजुष्मत्य इष्टका इत्युपक्रम्य षष्टिश्च ह वै त्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिक्षरन्ति" इति श्रुतेः [श १०।९।४।१४] 'बुध्न्यम्' अन्तरिक्षमें स्थित 'अहिम्' मेघोंको 'अनुरीयमाणाः' अनुसरण करते हुए प्रावृट् समयमें 'अधराक्' भूमिके प्रति 'आववृत्रन्' आते हैं ।

अथवा 'वृषभस्य' वर्षणसमर्थ 'पर्वतस्य' हिमवान् विंध्याचलादिके 'पृष्ठात्' पृष्ठसे 'इयानाः' आती वा वहन करती हुई 'नावः' नावसे तरनेयोग्य महानदी 'स्वसिचः' अपने यजमानरूपी क्षेत्रको 'प्रचरन्ति' चलती हुई सींचती है वे नदियोंके जल 'उदक्ताः' अभिषेक पात्रोंमें रक्खे हुए 'अधस्तात्' नीचे स्थित राजसूययाजी यजमानके निमित्त 'आववृत्रन्' आते हैं तथा 'बुध्न्यम्' प्रधान 'अहिम्' शत्रुके न मारनेवाले यजमानके 'अनुरीयमाणाः' इस यजमानको सिंचन करते हुए आओ । [आशय यह कि जो सब नदियोंके जल पर्वतोंके पृष्ठ देशसे प्रवहमाण होकर अपने २ अभीष्ट स्थल समुद्रादिमें गमनानन्तर कुछ अधोदेशमार्गमें पर्वतोंपर रसाकर्षणशक्तिद्वारा अलक्षित भावसे कुछ ऊपर पथमें वृष्टिमेघ द्वारा लक्षित भावसे प्रत्यागमनपूर्वक पर्वतके मूल झरना और ऊपर वृष्टिमें उपस्थित हैं, यह चिरकालसे यही रूप बारंबार प्रत्यावर्तन करते हैं इससे जलका निरन्तर रहना कहा] १ । विधि-(२) फिर अध्वर्यु आदि तीन मंत्र पाठपूर्वक यजमानको चर्मपर तीन वार विष्णुक्रम क्रमण करावे [का० १९ । ६ । ९] मंत्रार्थ-हे प्रथम क्रम ! तुम (विष्णोः) व्यापनशील यज्ञपुरुष जगदीश्वर त्रिविक्रमावतारधारीके (विक्रमणम्) प्रथम पादप्रक्षेपणसे जीते भूलोक (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे यह यजमान भूलोक जयकरे २। हे द्वितीय प्रक्रम ! तुम (विष्णोः)

परमात्माके (विक्रान्तम्) दूसरे पादप्रक्षेपसे जीते अन्तरिक्षरूप (असि) हो तुम्हारे प्रभावसे यह यजमान अन्तरिक्ष लोक जयकरै ३। हे तृतीय प्रक्रम ! तुम (विष्णोः) विष्णुभगवानके (क्रान्तम्) तीसरे पादप्रक्षेपसे जीतेहुए त्रिविष्टपरूप (असि) हो तुम्हारे प्रभावसे यजमान द्युलोकजय करै ४ ॥ १९ ॥

प्रमाण—"विष्णुः क्रमान् क्रमते विष्णुरेव भूत्वेमाँल्लोकानभिजयति" इति [तैत्तिरी०] "इमे वै लोका विष्णोर्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तम्" इति श्रुतेः [श० ५ । ४ । २ । ६] मन्त्रपूत चलनेको विष्णुक्रम कहते हैं. यजमान मानो विष्णुरूप होकर यज्ञके फलसे त्रिलोकीको जीतता है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र ३ ।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ॥ यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्त्वयममुष्य पितासावस्य पिता वयꣳ स्याम पतयो रयीणाꣳ स्वाहा ॥ रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन्हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा ॥ २० ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रजापत इत्यस्य देववात ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्दे० । शालाद्वार्येऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० । (२) ॐ अस्त्वित्यस्य देववात ऋ० । आर्षी गायत्री० । आशीर्दे० । शालाद्वार्येऽग्नावाज्याहुतिहोमे वि० । (३) ॐ रुद्रेत्यस्य देववात ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो दे० । आग्नीध्रीयाग्नेरुत्तरभागे अभिषेकोदकशेषहवने वि० ॥ २० ॥

विधि–(१–२)अनन्तर सभामण्डपके मध्यमें यजमानके पुत्रको लाकर उसके सामने इन दोनो मंत्रोंके पाठपूर्वक शालाद्वार्यकी अग्निमें एक आहुति प्रदान करै[का० १० । १९ । ६ । ११] मंत्रार्थ–(प्रजापते) हे परमात्मन् ! (त्वत्) आपसे (अन्यः) और कोई भी (एतानि) यह (विश्वा) सम्पूर्ण (रूपाणि) प्रजापालनादिकार्य तथा नानाजातीय वर्तमान भूत भविष्य कालविषयीगोचर प्राणियोंके सृजन पालन संहारमें (न) नहीं (परिताबभूव) समर्थ है इस कारण तुम्ही हमारी प्रार्थना पूर्ण करनेमें समर्थ हो (यत्कामाः) जिस कामनासे (ते) आपके निमित्त (जुहुमः) हवन करतेहैं (तत्) वह कामना (नः) हमारी (अस्तु) पूर्ण हो अर्थात् त्रिकालमें तुम्हारी समान कोई नहीं इस कारण

तुम्ही हमारी प्रार्थना पूर्णकरनेमें समर्थ हो (अयम्)यह(अमुष्य)इसका (पिता) इस स्थलमें पुत्रको पिताकरके नाम ले (असौ) यह (अस्य) इसका पिता अर्थात् हमारा पिता पुत्रका आन्तरिक: भाव है सो चिरस्थायी रहे और (वयम्) हम (रयीणाम्) अपरिमित ऐश्वर्यके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो १ । २ । विधि-(३) पलाश काष्ठनिर्मित अभिषेकपात्रमें जो अवशिष्ट जल है इस तीसरे मंत्रसे उसको आग्नीध्रीय अग्निमें हवन करै [का० १५ । ६ । १२] मंत्रार्थ-(रुद्र) हे रुद्रदेव ! (यत्) जो (ते) तुम्हारा (क्रिवि) प्रलयकारी दुष्टनाशक (परम्) उत्कृष्ट (नाम) नाम है (तस्मिन्) हे हवि ! उस रुद्रनाममें तुम (हुतम्)हुत (असि)हो (अमेष्टम्) तुम हमारे घरमें आहुत होतीहो इस कारण सब प्रकार हमारी उपकारी (असि) हो अर्थात् गृहदाह वज्रपातादिसे रक्षा करो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ३ ॥ २० ॥

प्रमाण-"अमाशब्दो गृहवाची" [निघं० ३ । ४ । ११] [ऋ० ८ । ७। ४] कुछ विशेष ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ६ ।

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि ॥ अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टोऽअर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम मनसा समिन्द्रियेण ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य देववात ऋ० । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । रथो देवता । रथोत्तारणे वि० । (२) ॐ मित्रावरुणयोरित्यस्य देववात ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० रथो देवता । रथे चतुरश्वयोजने वि० । (३) ॐ अव्यथायैत्वत्यस्य देववात ऋ० । साम्न्युष्णिक्छं० । रथो देवता । रथारोहणे वि० । (४) ॐ मरुतामित्यस्य देववात ऋ० । याजुषी बृहती छं० । धुर्यं दैवतम् । दक्षिणाश्वस्य कशाघाते वि० । गवांमध्ये रथस्थापने वि० । (६) ॐ समिन्द्रियेणेत्यस्य देववात ऋ० । गवांमध्ये रथस्थापने वि० । (६) ॐ समिन्द्रियेणेत्यस्य देववात ऋ० । याजुषी गा० छं० । गौर्देवता । धनुष्कोट्या गोः स्पर्शने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे शकटसे रथ उतारै वाजपेयवत् सब कार्य करै [का० १५ । ६ । १५] मंत्रार्थ-हे रथ ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रके (वज्रः) वज्रकी समान

अतिदुश्छेद्य काष्ठसे निर्मित (असि) हो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रको चार बार पाठकरके इस रथके क्रमसे दक्षिण उत्तर दक्षिणपृष्ठ और उत्तरपृष्ठ चार अश्व योजना करे । मन्त्रार्थ-(प्रशास्त्रोः) शासनकारी (मित्रावरुणयोः) मित्रावरुणदेवता वा बाहु युगलके (प्रशिषा) प्रशासनसे (त्वा) तुमको (युनज्मि) इस रथमें युक्त-करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे रथारोहणकरै [का० १५ । ६ । १७] मन्त्रार्थ-(अरिष्टः) अनुपहिंसित (अर्जुनः) इन्द्र "अर्जुनो हवै नामेन्द्रः" इति-श्रुतेः [श० ५ । ४ । ३ । ७] की समान मैं (अव्यथायै) देशका भय दूरकरने-के निमित्त अचलताके निमित्त (त्वा) तुझमें तथा (स्वधायै) देशमें सुभिक्ष सम्पा-दन करनेके निमित्त (त्वा) तुमपर आरोहण करता हूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे यन्ता दक्षिण अश्वको कशाघातकरै [का० १५ । ६ । १८]हे रथधुरवाहक अश्व ! (मरुताम्) मरुद्गणोंकी (प्रसवेन) आज्ञासे (जय) वेगवान् होकर शत्रु-ओंकी जीत ४ । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे रथको गोवृन्दके मध्यमें स्थापन करै [का० १५ । ६ । १९] मंत्रार्थ-हमने जो कार्य आरम्भ कियाहै उसको (मनसा) मनके अनुसार (अपाम्) सम्पन्न किया ५ । विधि-(६) छठे मंत्रसे धनुषकी कोटीसे किसी एक गौको स्पर्श करे [का० १५ । ६ । २०] मंत्रार्थ-हम (इन्द्रियेण) वीर्यसे (सम्) संगत हुए ॥ २१ ॥

विवरण-यजमानका भ्राता वा अन्य कोई आत्मीय इन गौओंको इनसे पहले आहवनीयके उत्तर भागमें रक्षित करै ॥ २१ ॥ [कशा-चावक]

कण्डिका २२-मंत्र १।

मा तंऽइन्द्र ते वृयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्ब्रह्मता विदंसाम ॥ तिष्ठा रथमधि यं वज्जहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मात इत्यस्य संवरण ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टु-प्छन्दः । इन्द्रो देवता । अन्तःपात्यदेशे रथस्थापने वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) इस स्थापित गोवृन्दके अधिपतिको गोसंख्याके परिमाण वा उससे अधिक द्रव्य प्रदान करके यूपके पूर्वदिक् कुछ दूर गमन करके फिर लौट-कर यज्ञशालाके अन्तःपाति अथवा प्रदेशमें रथ स्थापन करै और उसी समय रथारूढ अन्यान्य आरोही गण यह मंत्रपाठ करैं [का० १५ । ६ । २२] मंत्रार्थ-(तुराषाट्) शीघ्र शत्रुओंका तिरस्कार करनेमें लघुहस्त (वज्रहस्त)

हाथमें वज्र धारण करनेवाले (इन्द्र) हे ऐश्वर्ययुक्त (देव) हे दीप्यमान ! तुम (यम्) जिस (रथम्) रथमें (अधितिष्ठ) स्थित होकर (स्वश्वान्) अच्छे सुशिक्षित घोडोंकी (रश्मीन्) लगामोंको (आयमसे) थामते हो (ते) तुम्हारे (वयम्) हम (ते) तुम्हारे तिस रथमें (अयुक्ताः) भिन्न हुए (मा विदसाम हानिको प्राप्त न करें (अब्रह्मता) जैसे ब्रह्म नहीं इस प्रकार ब्रह्मभावसे अन्य वस्तु न जानैं अर्थात् हम नास्तिक न हों [राजाके साथ चलनेवाली सेना एक चित्तसे सहायक रहैं] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र ५ ।

अ॒ग्नये॑ गृ॒हप॑तये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ वन॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ म॒रुता॒मोज॑से॒ स्वाहेन्द्र॑स्येन्द्रि॒याय॒ स्वाहा॑ ॥ पृथि॑वि मात॒र्मा मा॑ हिꣳसी॒र्मो अ॒हन्त्वाम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ अग्नये इत्यस्य सोमायेत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य संवरण ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । रथविमोचनीयाहुतिहोमे वि० । (३-४) ॐ मरुतामित्यस्य इन्द्रस्येत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य संवरण ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । रथविमोचनीयाज्याहुतिहोमे वि० । (५) ॐ पृथिवीत्यस्य संवरण ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । भूम्यवेक्षणे वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१-२) इसके उपरान्त यजमान रथसे उतरनेके समय इस कण्डिकाके प्रथम चार मंत्रोंसे आहुति दे, इनकी रथविमोचनीय संज्ञा है [का० १५ । ६ । २३] मन्त्रार्थ-(गृहपतये) गृहपालक (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति हो १ । (वनस्पतये) वनस्पतिरूपी (सोमाय) सोमकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो २ । (मरुताम्) मरुद्गणोंके (ओजसे) बलके निमित्त (स्वाहा) हवि देते हैं ३ । (इन्द्रस्य) इन्द्रके (इन्द्रियाय) वीर्यके निमित्त (स्वाहा) हवि देते हैं ४ । इस मंत्रसे जनपदका आधिपत्य आरण्यादिका आधिपत्य और इन्द्रियकी सामर्थ्य प्रार्थना कीहै । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे रथस्थ यजमान भूभागदर्शन करे [का० १५ । ६ । २४] मंत्रार्थ-(मातःपृथिवि !) हे जगत्की निर्माता पृथ्वी ! तुम (मा) मुझको (माहिꣳसीः) मत हिंसा करो (अहम्) मैं (त्वाम्) तुमको (माउ) क्लेश न दूं ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १ ।

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ॥ नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतम्बृहत् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ हꣳस इत्यस्य वामदेव ऋषिः। अतिजगती छं०। सूर्यो देवता । रथादवतरणे वि० ॥ २४ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकामें प्रकाशित परब्रह्मके दशनाम उच्चारण करके इस रथसे उतरे [का० १९ । ६ । २९] मंत्रार्थ–(शुचिषत्) पवित्र स्थान दीप्तिमें आदित्यरूपसे स्थित (हꣳसः) अहंकारका दूरकरनेवाला आत्मा (अन्तरिक्षसत्) वायुरूपसे अन्तरिक्षमें स्थित (वसुः) मनुष्योंका प्रवर्तक (वेदिषत्) अग्निरूपसे वेदीमें स्थित होकर (होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला, (दुरोणसत्) आहवनीय रूपसे यज्ञगृहमें स्थित (अतिथिः) सबका पूजनीय (नृषत्) मनुष्योंमें प्राणभावसे स्थित वा रामरूपसे स्थित (वरसत्) उत्कृष्ट स्थानों क्षेत्रोंमें स्थित (ऋतसत्)यज्ञमें स्थित(व्योमसत्)आकाशमें मण्डलरूपसे स्थित इस प्रकार सर्व स्थितिसे प्रार्थना करके सबके उत्पत्तिद्वारसे प्रार्थना करतेहैं (उ) और जो(अब्जा) मत्स्यादि रूपसे जलोंमें होता (गोजाः) चतुर्विध भूतग्रामरूपसे भूमिमें होनेवाला वा पशुआदिमें वीर्यरूपसे विद्यमान (ऋतजाः) सत्यमें होनेवाले (अद्रिजाः) पाषाणमें अग्निरूपसे होनेवाले "अद्रिर्मेघो वा" [निघं०१ । १० । १ :] मेघमें जलरूपसे होनेवाले (ऋतम्) सर्वगत (बृहत्) महान् परब्रह्मरूप परमात्माका स्मरणकर रथसे उतरता हूं ॥ २४ ॥

अथवा–हंस शब्दसे रथका अर्थभी होता है (हꣳसः) रथ (बृहत्) बडे (ऋतम्) यज्ञको सम्पादन करै जो रथ 'शुचिषत्' देवयजनमें स्थित वा रथवाहनमें स्थित (वसुः) अपने ऊपर यजमानका बैठानेवाला (अन्तरिक्षसत्) वृक्षगुल्मादिसे अवरुद्ध न होकर अन्तरिक्षमें स्थित (होता) होताकी समान (वेदिषत्) वेदीमें स्थित (अतिथिः) अतिथिवत् आदरणीय (दुरोणसत्) यज्ञगृहमें स्थित (नृषत्) वाहकत्वसे मनुष्योंमें स्थित (वरसत्) श्रेष्ठ राजगृहमें स्थित (ऋतसत्) वाजपेयादि यज्ञमें स्थित (व्योमसत्) सूर्यके वहनकरनेको आकाशमें स्थित (अब्जाः) जलसे उत्पन्न घोडोंसे युक्त (गोजाः) वेत्रसे होनेवाले (ऋत

जा:) यज्ञके उद्देश्यसे आदर पानेवाले (अद्रिजाः) पाषाणसदृश काष्ठसे निर्मितहै उस रथसे उतरताहूं ॥ २४ ॥

प्रमाण-"अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः । २ "इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत स त्रेधा व्यभवत्तस्य स्फ्यस्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयम्" इति तैत्तिरीयश्रुतेः । इससे वज्रनिर्मित रथ कहा ॥ २४ ॥

भावार्थमें दशनाम-शुचिषत् हंस १ अन्तरिक्षसत् वसु २ वेदिषत् होता ३ दुरोणसत् अतिथि ४ नृषत् अब्जा ५ वरसत् गोजा ६ ऋतसत् ऋतजा ७ अद्रिषत् अद्रिजा ८ ऋतम् ९ बृहत् १० यह परमात्माके दश नाम हैं अर्थ-इनके इसी मंत्रके प्रथममें लिखचुकेहैं प्रातःकाल तथा गमनागमन, तथा रथसे उतरने वा चढनेमें इनका स्मरण करनेसे मंगल होता है [ऋ० ३ । ७ । १४] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र ३ ।

इयदस्यायुरस्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि वर्चोऽसि वर्चो मयि धेह्यूर्गस्यूर्जं मयि धेहि ॥ इन्द्रस्य वां वीर्य्यकृतो बाहूऽअभ्युपावहरामि ॥ २५ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ इयदसीत्यस्य वामदेव ऋषिः । साम्नी जगती छन्दः । हिरण्यं देवतम् । रथदक्षिणचक्रबद्धसौवर्णमणिस्पर्शने वि० । (२) ॐ ऊर्गसीत्यस्य वामदेव ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छं० । शाखा देवता । औदुम्बरीशाखोपस्पर्शने वि० । (३) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वामदेव ऋ० । निच्यृत्प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः । बाहुर्देवता । यजमानबाह्वोर्नीचैःकरणे वि० ॥ २५ ॥

विधि-(१-२) यज्ञशालाके दक्षिणभागमें स्थापित रथवाहक शकटके दक्षिण चक्रमें बंधी सौ रत्तीकी बनी सुवर्णमणिको प्रथम और दूसरे मंत्रका पाठ करके यथाक्रम स्पर्श करे [का० १५ । ६ । २९] हे शतमान ! तुम (इयत्) सौरत्तीके इतने परिमाणवाले (असि) हो (आयुः) जीवन (असि) हो सुवर्णदानसे दीर्घायु होती है (मयि) मुझमें (आयुः) जीव (धेहि) धारण करो १ । हे शतमान ! तुम (युङ्) रथमें बद्ध वा यज्ञसम्भारसमूह और दक्षिणायुक्त (असि) हो (वर्चः) दानसे पहरनेसे तेजके वृद्धिकारण (असि) हो (मे) मेरे निमित्त (वर्चः) तेज प्रभाव (धेहि) धारण कराओ २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वे दोनों सुवर्णखण्ड ब्राह्मणको दे कर रथवाहनमें आलिंगित उदुम्बरशाखास्पर्श

करे [का० १९ । ६ । २१ । मंत्रार्थ–हे उदुम्बरि ! तुम (ऊर्ग्)अन्नवृद्धिके कारण (असि) हो शकटमें होकर अन्न आता है (ऊर्जम्) अन्नको (मयि) मुझमें (धेहि) स्थापन करो ३ । अध्वर्यु चौथा मंत्र पाठ करके यजमानकी दोनों भुजाओंको व्याघ्रचर्ममें स्थापित मैत्रावरुण पयस्यामें झुकावे [का० १९ । ६ । २१] पयस्या–मित्रावरुणकी प्रीतिके निमित्त रक्षिता । (वीर्यकृतः) वीर्यके करनेवाली (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवान् यजमानकी (बाहू) हे दोनो भुजाओ ! मैं (वाम्) तुम दोनोंको मित्रावरुणी पयस्याके प्रति (अभ्युपावहरामि) नीची करता हूं ॥ २९ ॥

कण्डिका २६–मंत्र ३।

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि ॥ स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्योना इत्यस्य मंत्रस्य वामदेव ऋ० । दैवी जगती छन्दः । आसन्दीवस्त्रे देवते । मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरतो व्याघ्रचर्मणि माश्विकास्थापने वि० । (२) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य वामदेव ऋषिः । दैवी जगती छं० । वस्त्रं दैवतम् । आसंद्यां वस्त्राच्छादने वि० । (३) ॐ स्योनामित्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिगार्ची गायत्री छं० । यजमानो देवता । आसन्द्यां बाहुगृहीतयजमानस्थापने वि० ॥ २६ ॥

विधि–(१) पयस्याके स्विष्टकृत् होमसे पहलेही मैत्रावरुण धिष्ण्यके सन्मुख बिछे व्याघ्र चर्मके ऊपर रज्जुसे बनी खैरकी आसन्दी इस मंत्रसे स्थापन करे [का० १९ । ६ । ३३ । ७, १] अर्थात् खैरकाष्ठनिर्मित रज्जुद्वारा बुनीहुई चौकोन पीढी मचिया । मंत्रार्थ–हे व्यूता आसन्दि! तुम (स्योना) सुखरूप (असि) हो तथा (सुखदा) सुखसे बैठने योग्य वा बैठनेवालोंको सुख देनेवाली (असि) हो १ । विधि–(२) दूसरे मंत्रसे इसपर दरी आदि वस्त्र बिछावे [का० १९।७ । २] मन्त्रार्थ–हे अधोवास तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रधर्माश्रित इस यजमानके (योनिः) आधारके उपयुक्त स्थान (असि) हो २ । विधि–(३) तीसरा मंत्रपाठपूर्वक उसके ऊपर यजमानको उपवेशन करावे [का० १९ । ७ । ३] मन्त्रार्थ–हे यजमान ! (स्योनाम्) सुखकी करनेवाली आसन्दीमें (आसीद) आरोहण कर (सुखदाम्) सुखसे उपवेशनके योग्य मैं (आसीद) बैठो (क्षत्रस्य) यह अधिवास और आसन्दी तुम्हारी समान राजपुरुषके (योनिम्) उपवेशनयोग्य आधार है इसपर (आसीद) बैठो ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ ।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ॥ साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ निषसादेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । वर्द्धमाना गायत्री छं० । वरुणो देवता । यजमानहृदयालम्भने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठ करके यजमानका हृदयस्पर्श करे [का० १७ । ४ । ७] मन्त्रार्थ-(धृतव्रतः) व्रत यज्ञलक्षणका धारण करनेवाले (सुक्रतुः) श्रेष्ठ संकल्प वा अच्छी बुद्धिवाले (वरुणः) अनिष्टके निवारण करनेवाले इस यजमानने (साम्राज्याय) सम्राट्भावके निमित्त (पस्त्यासु) प्रजाओंमें (आनिषसाद) आधिपत्यरूपसे स्थिति की ॥ २७ ॥

भावार्थ-हे यजमान ! साम्राज्यके भावमें आजसे तुम क्षुद्र महत् सब प्रकारकी प्रजाको समभावसे विचारक होकर अनुक्षण साधारणकी हितकामनासे व्रती होकर देशके विविध उपद्रव निवारण करनेमें दत्तचित्त हो, यह राजाका धर्म है ॥ २७ ॥

प्रमाण-"साम्राज्याय सुक्रतुरिति राज्याय" इति श्रुतेः [श० ५ । ४ । ४ । ५][ऋ० १ । २ । १७] "विशो वै पस्त्याः" इति श्रुतेः[श०५।४।४।५]॥२७॥

कण्डिका २८-मंत्र ८ ।

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोसि सत्यौजा इन्द्रोसि विशौजा रुद्रोसि सुशेवः ॥ बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोसि तेन मे रध्य ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) अभिभूरित्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्न्युष्णिक्छन्दः । अक्षा यजमानो वा दे० । यजमानहस्तेऽक्षनिधाने वि० । (२) ॐ ब्रह्मन्नित्यस्य शुनःशेपः ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । ब्रह्मा दैवतम् । ब्रह्मामन्त्रणे वि० । (३) ॐ त्वं ब्रह्मासीत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी बृहती छं० । यजमानो देवता । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (४) ॐ वरुणोसीत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुष्युष्णि

ऋ० । यजमानो दे० । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (५-६) ॐ रुद्र इति रुद्रोसीति चेत्यनयोर्मन्त्रयोः शुनःशेप ऋ० । याजुषी गायत्री छं० । यजमानो देवता । यजमानं प्रति ब्रह्मणः प्रत्युत्तरदाने वि० । (७) ॐ बहुकारेत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी जगती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानामन्त्रणे वि० । (८) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । स्फ्य दैवतम् । यजमानाय स्फ्य-प्रदाने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठ कराके यजमानके हाथमें पांच सुवर्ण-निर्मित पाशे दे "पांचवें अक्षका नाम कालि है" [का० १५ । ७ । ५] मंत्रार्थ-हे यजमान ! वा हे अक्ष ! तुम (अभिभूः) इन पांचके द्वारा सकल जगत्‌के पराभव करनेवाले (असि) हो (एताः) यह (पञ्च) पांच (दिशः) पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और ऊर्ध्व दिशा इसके द्वारा (ते) तुम्हारे हस्तगत (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों १ । विधि-(२-५) वरप्रार्थना कर दूसरे मंत्रसे यजमान ब्रह्माको पंचवार आह्वान करै और तृतीयादि पांच मंत्रोंसे ब्रह्मा पांचवार उत्तर दे [का० १५ । ७ । ७ । ९] मन्त्रार्थ-यजमान (ब्रह्मन्)हे ब्रह्मन्!तुम (ब्रह्मा) ब्रह्मा महिमा-वाले (असि) हो (ब्रह्मा) हे यजमान ! तुम महामहिमावाले (सत्यप्रसवः) अनुल्लंघ्य उपदेश देनेमें समर्थ प्रजावर्गके नियन्ता होनेसे (सविता) सविता (असि) हो २।यज०-(ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे यजमान! (त्वं ब्रह्मा असि)महामहिमावाले तुम(सत्यौजाः)अमोघवीर्य प्रजावर्गके अनिष्ट निवारण करनेसे (वरुणः)वरुण(असि) हो ३।यज०(ब्रह्मन्)ब्रह्मा हे महामहिमावाले यजमान!तुम(विशौजाः)ऐश्वर्यवान् देशकी शान्ति रक्षा करनेसे (इन्द्रः) इन्द्र (असि) हो४।यजमान-(ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे महा महिमावाले यजमान ! तुम(सुशेवः) आश्रित जनोंके सुख देनेवाले पुनःपुनः देवनीय तथा शत्रुगणोंकी स्त्रियोंके रुवानेवाले (रुद्रः) रुद्र (असि) हो ५ । यजमा० (ब्रह्मन्) ब्रह्मा हे यजमान ! तुम ब्रह्मा अर्थात् महामहिमावाले हो इस कारण (ब्रह्मा असि) ब्रह्मा हो ६ । विधि-(७) सातवें मन्त्रसे यजमान पुरोहितको आह्वान करै [का० १५ । ७ । १०] मन्त्रार्थ-(बहुकार) हे सम्पूर्ण कार्यमें निपुण!(श्रेयस्कर) प्रत्येक श्रेष्ठकार्यप्रवर्तक (भूयस्कर) बहुत कार्यकारी इस स्थानमें आगमन करो७।विधि-(८) पुरोहित अथवा अध्वर्यु अष्टम मंत्रपाठ करके यजमानको स्फ्य प्रदान करै "इससे अक्षक्रीडाभूमि अंकित की जाती है" [का० १५ । ७ । ११]मन्त्रार्थ-हे स्फ्य ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रका (वज्रः) वज्र (असि) हो (तेन) इस कारण (मे) मेरे यजमानके (रध्य) वशवर्ती हो वा भूमिलेखन कार्यसाधन करो ॥ २८ ॥

प्रमाण-"शेव इति सुखनाम" [निघं० ३ । ६] " इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार" इत्यादि "तस्य स्फ्यस्तृतीयम्" इति श्रुतेः [१ । २ । ४ । १ ।] "यो वै राजा ब्राह्मणाद्बलीयानमित्रेभ्यो वै स बलीयान् भवति" इति श्रुतेः । [श० ५ । ४ । ४ । १५] जो राजा ब्राह्मणोंसे नम्र है वह शत्रुओंसे बली होता है ॥ २८ ॥

विवरण-पाशोंमें चार पाशोंकी कृतसंज्ञा है पांचवेंकी कलि इनको प्रश्नके निमित्त डालाजाताहै जब पाचौं पाशे एकरूप अधोमुख वा ऊर्ध्वमुख पड़ें तब पाशा डालनेवालेकी जय होतीहै कलिके सम्पूर्ण अक्षोंके अभिभावकत्व होनेसे डालनेवालोंकी जय अपेक्षित होनेसे पांच अक्ष पांचों दिशाको व्यापक हैं उनमें दिशाभी कल्पना करें जो उलटैं उसीमें विघ्न हो इत्यादि इस्से विदित होताहै कि रमल विद्या वैदिक है ब्रह्मा पांचों वार यजमानसे 'त्वंब्रह्मासि' यहभी कहै उसीका अर्थ लिखदियाहै तुम महामहिमावाले हो प्रयोगमें पांचोंवार बोलाजायगा ॥ २८ ॥

विशेष-बहुकारसे सुमंगल नामा मनुष्यको बुलावै ऐसा भी विधानहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र २ ।

अ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॑र्जुषा॒णोऽअ॒ग्निः पृ॒थुर्धर्म॑ण॒स्पति॒राज्य॑स्य वेतु॒ स्वाहा॒ स्वाहा॑कृताः॒ सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॑र्यतध्वꣳ सजा॒तानां॑ मध्य॒मेष्ठ्या॑य ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । द्यूतभूमौ कनकोपरि चतुर्गृहीताज्यहोमे वि० (२) ॐ स्वाहाकृता इत्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । अक्षं दैवतम् । अक्षपातने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) अनन्तर यजमान स्फ्यद्वारा अक्ष डालनेकी भूमि अंकित करके उसके ऊपर सुवर्ण रखकर मंत्रसे चतुर्गृहीत आज्याहुति प्रदान करे [का० १५ । ७ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्निः) महान् अग्नि देवता (पृथुः) देवताओंमें प्रथम होनेसे विशाल (धर्मणः) जगत्के धारण करनेवाले धर्मका (पतिः) स्वामी (जुषाणः) प्रीयमाण वा हूयमान हविका सेवन करनेवाला(पृथुःधर्मणःपतिः) जो देखते २अति प्रवृद्ध होता है जो गृहस्थियोंके गृहधर्मका प्रधान साक्षी है वह अति विपुल धर्मस्वरूप (अग्निः) अग्नि देवता (आज्यस्य) हमारी दी हुई घृतकी हवि (वेतु)

प्रीतिपूर्वक भक्षण करै (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो १ ।
विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस आहुतिस्थलमें अक्षपातकरै [का० १९ ।७। १६]
मन्त्रार्थ-हे अक्षगण ! (स्वाहाकृताः) आहुतिप्रदानपूर्वक गृहीत तुम (सूर्यस्य)
अतिप्रचण्ड सूर्यकी (रश्मिभिः) किरणोंसे सम्मिलित हुए स्पर्धा करो (सजातानाम्)
समानजन्म क्षत्रियभाइयोंके मध्यमें (मध्यमेष्ठयाय) सबसे श्रेष्ठ करनेको (यतध्वम्)
यत्नकरो अर्थात् मैं सबके मध्यमें श्रेष्ठ होजाऊं ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

स॒वि॒त्रा प्र॑स॒वि॒त्रा सर॑स्वत्या वा॒चा त्वष्ट्रा॑ रू॒पैः पू॒ष्णा प॒शुभि॒रिन्द्रे॑णा॒स्मे बृह॒स्पति॑ना॒ ब्रह्म॑णा॒ वरु॑णे॒नौज॑सा॒ग्निना॒ तेज॑सा॒ सोमे॑न॒ राज्ञा॒ विष्णु॑ना द॒श॒म्या दे॒वत॑या॒ प्रसू॑तः॒ प्रस॑र्पामि ॥ ३० ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ सवित्रेत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदत्यष्टि-श्छन्दः । सवित्राद्या देवताः । चमसानुभक्षणे वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) यजमान इस मंत्रका पाठकरै, भक्षणकालमें सदोमण्डपमें प्रवेश करे ऋत्विज और ब्राह्मण सौ मिलकर दशपेय यागके सौत्यदिनमें प्रतिसवनमें सर्पण से पहले अपने२सोमयाजी पित्रोंके दशगणको गिनकर यह पहला सोमपान करने-वाला यह दूसरा यह तीसरा इत्यादि दशपर्यन्त सोमयाजियोंको गिनकर 'विभूरसि' इत्यादि सर्पण धिष्ण्योपस्थान करै यह भक्षणकाल वा सभाके प्रवेशमें होना चाहिये अथवा सवित्रा प्रसवित्रा इस कण्डिकाके अनुवाकको पढकर सौ ब्राह्मण सर्पण करैं दश सोमयाजी मिलना असम्भव है इससे यही पक्ष श्रेष्ठ है [का० १९, ८, १९-१६]मन्त्रार्थ-(प्रसवित्रा) समस्त जीवोंके प्रेरणकरनेवाले (सवित्रा) सविता सूर्य (वाचा) वाक्रूपा (सरस्वत्या) सरस्वती (रूपैः) रूपके अधिष्ठात्री (त्वष्ट्रा) त्वष्टा देवता (पशुभिः) पशुओंसे उपलक्षित वा आत्मीय (पूष्णा) पूषा देवता (अस्मे) स्वयम् (इन्द्रेण) इन्द्र (ब्रह्मणा) देवयागमें ब्रह्मत्वको प्राप्त हुए (बृहस्पतिना) बृहस्पति (ओजसा) बडे तेजसे युक्त (वरुणेन) वरुण (तेजसा) तेजसे युक्त (अग्निना) अग्नि (राज्ञा) औषधि ब्राह्मणोंके अधिप दीप्यमान (चन्द्रेण) चन्द्रमा (दशम्या) दशसंख्याके पूर्ण करनेवाले (देवतया)यज्ञके अधि-ष्ठात्री देव (विष्णुना) परमात्मा नारायणद्वारा (प्रसूतः) अनुज्ञा किया हुआ मैं (प्रसर्पामि) प्रसर्पण वा प्रवेश करताहूं ॥ ३० ॥

इति राजसूय समाप्त.

राजसूयान्तर्गत चरकसौत्रामणि ।

कण्डिका ३१-मन्त्र ४ ।

अश्विभ्याम्पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥ वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमोऽअतिस्रुतः ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥३१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विभ्यामित्यस्याश्विनावृषी । याजुषी गायत्री छन्दः । लिंगोक्ता दे० । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (२) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । याजुष्युष्णिक्छन्दः । लिंगोक्ता देवता । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (३) ॐ इन्द्रायेत्यस्य शुनःशेप ऋ० । याजुषी बृहती छन्दः । लिंगोक्ता देवता । अजातांकुरव्रीह्योदने जातांकुरव्रीहिचूर्णमिश्रणे वि० । (४) ॐ वायुरित्यस्य शुनःशेप ऋ० । निचृदार्षी गायत्री छं० । सोमो देवता । सुरापवने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१-२-३) जिनके अंकुर निकल आये हैं ऐसे व्रीहिधान्य और जिनके अंकुर नहीं निकले हैं यह दोनो प्रकारके व्रीहिधान्य क्षौम वस्त्रमें पूर्वसे रक्षित रहते हैं उनमें जिनके अंकुर नहीं निकले हैं इस प्रकारके व्रीहियोंको सोम रसमें सिद्धकर और विरूढा व्रीहिका चूर्णकर उसमें मिश्रित करै इन मंत्रोंसे चार बार रक्षा करे, अथवा अजातांकुर व्रीहियोंका ओदन पकावै, और जातांकुर व्रीहियोंका चूर्ण कर इसमें मिलावै [का० १५।९ ।२९] मन्त्रार्थ-हे सुरोंके योग्य व्रीहि ! (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार देवताओंकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) रसरूपसे परिणत हो (सरस्वत्यै) सरस्वती देवीकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) पचकर रूपान्तरको प्राप्त हो ।(सुत्राम्णे)भलीप्रकार रक्षाकरनेवाले अथवा इन्द्रियगणको अपने२ कार्यमें रक्षाकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (पच्यस्व) पाकको प्राप्त हो कारण कि सौत्रामाणमें इन्द्रकी औषधि कर्तव्य है १-२-३।विधि-(४) इसके उपरान्त अन्य यज्ञीय पूर्वोक्त अग्नीषोमीय कार्यकरके उस कार्यकी समाप्तिमें यह सोम पचे व्रीहिपात्रमें स्थापितकर इस चौथे मंत्रसे पवित्रद्वारा शुद्धकरै[का १५ १० । १०] (इन्द्रस्य) इन्द्रका (युज्यः) योग (सखा) मित्रभूत (पवित्रेण) पवित्रद्वारा (पूतः) शुद्धकिया तथा (वायुः) वायुद्वारा पवित्र हुआ (सोमः) सोम (प्रत्यङ्) इस पवित्रद्वारा अधोमुख क्षरित होताहुआ (अतिस्रुतः) अतिक्रमण कर गया. ४ ॥ ३१ ॥

विशेष–१ कलशका मुख सघनरूप कुछ कुशोंसे आच्छादितकर इसको कुशोंसे पवित्र करै।

२ सोममें प्रथम दुर्गन्ध थी तब देवताओंने वायुसे कहा सोममें सुगन्धि कर तब वायुने सुगन्धित किया इसमें प्रमाण "प्राङ्क्सोमोऽअतिद्रुतः" इति [श० १२।७।३।१०]॥ ३१ ॥

कण्डिका३२–मंत्र ४।

कुविदङ्ग यवमन्तो यवञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय ॥ इहेहैषाङ्कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति ॥ उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कुविदङ्गेत्यस्य काक्षीवन्तसुकीर्तिर्ऋषिः । निचृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । सोमो दे० । पूतायां सुरायां बदरीफलचूर्णप्रक्षेपणे वि० । (२–३–४) उपयामेत्यादि मन्त्रत्रयं पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

विधि–(१–२–३–४) तदनन्तर इस पवित्र रसमें बदरीफलका चूर्ण प्रक्षेप करै वैकंकत पात्र (बहेडेके पात्र) में अथवा तीन पात्रमें प्रथमादि चार मंत्रसे ग्रहण करै [का० १५ । १० । १२] मन्त्रार्थ–हे सोम ! (यथा) जिस प्रकार (इह) इस लोकमें (यवमन्तः) बहुत यवसे सम्पन्न एक मात्र किसान (कुवित्) बहुतसे (यवम्) यवसे पूर्ण शस्यको (चित्) विचार करके (अनुपूर्वम्) क्रमसे (वियूय) पृथक् करके (अङ्ग) शीघ्र (दान्ति) कर्तन करते हैं इसी प्रकार अतिअल्पमात्र तुम देवगणोंके प्रिय हो (एषाम्) इन यजमानोंके सम्बन्धी (भोजनानि) विविध प्रकारके भोजन (इह) इस यजमानमें (कृणुहि) सम्पादन करो (ये) जो (बर्हिषि) कुशासनपर बैठेहुए ऋत्विग्गण (नमः) हविर्लक्षणवाले अन्नको लेकर (उक्तिम्) याज्यका नाम लेकर (यजन्ति) याग करते हैं १ । हे सोम ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । हे सोम ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (सरस्वत्यै) स्वती देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ३ । हे सोम ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (सुत्राम्णे) पालक (इन्द्राय) इन्द्रदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ४ ॥ ३२ ॥

अथवा-इन तीनोंके साथमें कुविदङ्ग० उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यामित्यादि तीनों मंत्रोंमें लगादेना ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"कुविदिति: बहुनाम" [३ । १ । १२ ।] "अङ्गेति क्षिप्रनाम" [निरु० ५ । १७] "नम इत्यन्ननाम" [निघं० २ । ७ । २२ ।] [ऋ० । ८ । ७ । १९] ॥ ३२ ॥

विशेष-जिसकी प्रेरणासे सम्पूर्ण इन्द्रियगण अपने २ कार्य्यव्यापारमें संलग्न होतेहैं अर्थात् जगत् कार्य होनेको समर्थ होताहै इस प्रकारके ऐश्वर्यवान् देवताको सुत्रामा कहते हैं जीवात्मा वा आत्मा ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

युवᳬसुराममश्श्विना नमुचावासुरे सचा ॥ विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रङ्कर्मस्वावतम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युवमित्यस्य काक्षीवन्तः सुकीर्तिर्ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । सुसंग्रहानुवाक्यमन्त्रपठने वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) अनन्तर यह दो मंत्र सुराग्रहसम्बन्धी हैं इस कण्डिकात्मक अनुवाक्यको पाठकरै [का० १९ । ६ । ८] मंत्रार्थ-(अश्विना) हे सर्वजन-हितकारी अश्विनीकुमार ! (नमुचौ) नमुचिसंज्ञक (आसुरे) दैत्यमें स्थित (सुरामम्) अधिकरमणीय सोमको (सचा) साथ एकीभूय (विपिपाना) विविध प्रकारसे पीतेहुए (शुभः) शुभकर्मके (पती) पालक (युवम्) तुमने (कर्मसु) उन उन कार्योंमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (आवतम्) पालन किया ॥ ३३ ॥

इतिहास-नमुचिनाम असुर इन्द्रका सखा हुआ, उसने विश्वासको प्राप्त कराकर उसका बल सोमके साथ पानकर लिया, तब इन्द्रने अश्विनीकुमार सरस्वतीसे कहा मेरा वीर्य नमुचिने पानकर लिया, तब इन्होंने जलके फेनामिश्रित वज्र इन्द्रको दिया, उससे इन्द्रने नमुचिका शिरश्छेदन किया, तब अश्विनीकुमारने उसके बलको पानकर सोमके सहित इन्द्रमें स्थापित किया, वही अश्विनीकुमारने रक्षा की [श० १२ । ७ । ३ । १] जिसके पान करनेसे चित्त प्रसन्न हो उसको सुराम कहते हैं । यह कथा अलंकारयुक्त है दुर्जनका संग बलवीर्यका हरणकरनेवाला होता है, यह उपदेश है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

पुत्रमिव पितरावश्श्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दᳬसनाभिः

भि॑ऽ ॥ यत्सु॒रामं॒ व्यपि॑बः॒ शची॑भि॒ः सर॑स्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ३४ ॥ [४] ॥ ८ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुत्रमिवेत्यस्य काक्षीवन्तः सुकीर्तिर्ऋ० । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । सुराग्रहयाज्यमन्त्रपठने वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) अनन्तर इस याज्य कण्डिकाको पाठ करे । मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र! (उभा) दोनों हितकारी (अश्विना) अश्विनीकुमार (काव्यैः) मन्त्र देखनेवाले महर्षियोंके काव्य (दंसनाभिः) और कर्मोंसे प्रयोगोंसे असुर सहवाससे अशुद्ध सोमरस पानकर विपत्तिको प्राप्त हुए (त्वा) तुमको (आवथुः) रक्षा करते हुए (इव) जैसे (पितरा) माता पिता (पुत्रम्) पुत्रकी रक्षा करते हैं (यत्) जिस प्रकार (मघवन्) हे इन्द्र! तुमने (शचीभिः) नमुचिवधादिकर्म करके (सुरामम्) पान करतेही प्रसन्न करनेवाले रमणीय सोमको (व्यापिबः) विशेष कर पान किया (सरस्वती) सरस्वती वाणी (अभिष्णक्) तुम्हारी अनुगत है सेवा करती है ॥ ३४ ॥

आशय–हे इन्द्र! जिस समय तुमने विशेषरूपसे सुतराम् रमणीय रस पान किया और असुर सहवाससे विपन्न हुए उस समय हितकारिणी सरस्वती कार्यसे तुम्हारी हितकरनेको भली भांति अनुकारिणी हुई और इसी निमित्त ही अश्विनीकुमारने पिता जैसे पुत्रकी रक्षा करता है इस प्रकारसे काव्य और दंशनाद्वारा तुम्हारी रक्षा की ॥ ३४ ॥

प्रमाण–"दंस इति कर्मनाम" [निघं०२।१।३।] [ऋ० ८।७।१९] ॥ ३४ ॥

विवरण–विविध उपाय, जलको फेनसंयुक्त कर वज्र लिप्त कर देना, तथा अनेक प्रकारके मंत्रप्रयोग दिये। काव्यकी रचना विद्या वेदप्रतिपाद्य होनेसे सनातन है॥ ३४॥

चरक सौत्रामणि सम्पूर्ण ।

इति श्रीवाजसनेयिसंहितायाम्मन्त्रभागे पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां मिश्रभाष्ये राजसूयान्तो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

शुभमस्तु ।

ओ३म्

एकादशोऽध्यायः ११.

अथानुवाकसूत्रम् । युञ्जान एकादश, प्रतूर्त षोडश, देवस्यत्वाद्दशापोदेवीर्द्वादशापोह्येकादशादितिद्वापञ्चाकूतिमष्टादशसप्तत्र्यशीतिः ॥ ८३ ॥ ७ ॥

अग्निचयन ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनुवाक १.

युञ्जानः प्रथमम्मनस्तत्त्वाय सविता धियम् ॥
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरत् ॥१॥

ऋष्यादि-(१)ॐ युञ्जान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः।विराडार्युर्नुष्टुप्छन्दः। सविता देवता । घृताहुतिदाने विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१)जिस किसीको अग्निचयनकी इच्छा हो वह पुरुष फाल्गुनमासकी कृष्ण पक्षकी प्रतिपदा तिथिसे पौर्णमास्य इष्टि यथाविधि समाप्तकर पुरुष अश्व गो मेष और छागका उपकरण सत्कारके निमित्त संग्रहकर तथा इनके शिरोंको घीसे संस्कृत कर प्रथम चितिके उपधानके निमित्त रक्षित करै, और किसी पुष्करिणी (जलाशय) से उखा [पात्रविशेष] आदि निर्माण करनेके निमित्त मृत्तिका जल ग्रहण करना होता है इस कारण फाल्गुन कृष्णाष्टमीसे उखा निर्माण करै, इसके निमित्त आहवनीयाग्नि और दक्षिणाग्नि वेदीसे लेकर इस आहवनीय वेदीके पूर्व भागमें चौकोन एक गर्त करै, और उस सरोवरसे मृत्पिड लाकर उसी गर्तमें आहवनीय वेदीके समान उच्च करके स्थापन करै,अनन्तर मृत्पिड और आहवनीय वेदीके मध्यस्थानमें वल्मीकमृत्तिका लाकर रक्खे, और इसमें एकछिद्र इस प्रकार रक्खे कि जिसके द्वारा आहवनीय और मृत्पिण्ड परस्पर दीखते रहैं आहवनीय वेदीके दक्षिण ओर अश्व गर्दभ छाग यह तीन पशु मूंजकी रस्सीसे बांधकर पूर्वाभिमुख स्थित करै, आहवनीयके उत्तर बाँसकी ओर सुवर्णकी वा और किसी प्रकारकी चित्रवर्णा उभयमुखी अभ्रि स्थापन करै, फिर गार्हपत्य अग्निमें घृत संस्कारकरके जुहू और स्रुवको धोकर स्रुवमें आठवार आज्य ग्रहण कर आहवनीय अग्निमें परिस्तरण समि

दाधान करके ऊंचे हाथसे अविच्छिन्नधारा क्रमसे प्रथमादि आठ कण्डिका पाठकरके घीकी एक आहुति दे [का० १६ । २ । ७ ।]

इस ग्यारहवें अध्यायसे लेकर अठारह अध्यायपर्यन्त अग्निचयनके मंत्र हैं, इनके प्रजापति साध्यादि ऋषि हैं, यह अग्नि पांच चितिसे युक्त है, दूसरी चितिके देवता ऋषि हैं, तीसरीके इन्द्र अग्नि विश्वकर्मा ऋषि हैं, चौथीके ऋषिही ऋषि हैं, पांचवींके परमेष्ठी ऋषि हैं, तथाच "प्रजापतिः प्रथमां चितिमपश्यत्प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयं, देवा द्वितीयां चितिमपश्यन्, देवा एव तस्या आर्षेयमिन्द्राग्नीच विश्वकर्माच तृतीयां चितिमपश्यंस्त एव तस्या आर्षेयमृषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन्नृषय एव तस्या आर्षेयं परमेष्ठी पञ्चमीं चितिमपश्यत्परमेष्ठयेव तस्या आर्षेयम्" इति श्रुतेः [६ । २ । ३ । १० ।] "स पुरुषः प्रजापतिरभवदयमेव स योयमग्निश्चीयते" [श० ६ । १ । १ । ५ ।] वह पुरुष ही प्रजापति हुआ यह वहीहै जो अग्निचयन की जाती है।

मंत्रार्थ-(सविता) सबके प्रेरण करनेवाले प्रजापति अग्निके आरंभमें (मनः) मनको (प्रथमम्) पहले (युञ्जानः) एकाग्रकर (अग्नेः) अग्निका (ज्योतिः) तेज (धियम्) बुद्धिपूर्वक इष्टिकादिज्ञानको (तत्त्वाय) आलोचन वा विस्तार करके और उसको (निचाय्य) पञ्च पशुओंमें प्रविष्ट जानकर वा सफल कर्मोंका साधन-भूत जानकर (पृथिव्यै) पशुशरीरयुक्त भूमिसे (अध्याभरत्) लाते हुए अर्थात् इष्टकाकर अग्निचयन करतेहुए १। "प्रजापतिर्वै युञ्जानः" इति श्रुतेः [६ । ३ । १ । १२] ॥ १ ॥

भावार्थ-प्रजापतिने अग्निकी ज्योतिःसंग्रह करना अतिप्रयोजनीय जानकर इसमें मन लगाय बुद्धि विस्तारकर पृथ्वीसे इस ज्योतिको लाभ किया, इस कारण पार्थिव शरीरधारी पुरुषादि पांच जीवोंसे अग्निचयनकी प्रवृत्ति है १।

टिप्पणी-कोई कहते है कि अग्निकी ज्योतिसे यहां गैसका ग्रहण है। कोई कहते हैं योगी मन लगाकर अग्निकी ज्योति और भूगर्भविद्याको जान्ता है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १।

युक्तेन मनसा व्वयन्देवस्य सवितुः सवे ॥ स्वर्ग्याय शक्त्या ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्तेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । शंकुमती गायत्री छन्दः । सविता देवता । विनियोगः पूर्ववत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(सवितुः) संसारको अपने २ कर्ममें प्रेरणा करनेवाले सविता (देवस्य) देवकी (सवे) आज्ञामें वर्तमान (वयम्) हम (युक्तेन) एकाग्र वा योगयुक्त (मनसा) मनसे (स्वर्ग्याय) स्वर्गके साधन करनेवाले कर्ममें (शक्त्या) अपनी सामर्थ्यसे प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

युक्त्वायसविताद्देवान्त्स्वर्य्यतोधियादिवम् ॥ बृहज्ज्योतिः करिष्ष्यतः सविताप्प्रसुवातितान् ॥३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्तायेत्यस्य प्र० ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । सविता दे० । विनि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-जिस कारणसे जगत्प्रेरक देवता (सविता) सब देवताओंको स्वर्गमें प्रेरणा करनेवाला तथा इन्द्रियगणोंको दमनकरनेवाला है (तान्) उन (धिया) बुद्धिपूर्वक कर्मानुष्ठान वा ज्ञानसे (दिवः) प्रकाशमान (स्वः) स्वर्गको (यतः) जानेवाले (बृहत्) महान् (ज्योतिः) आदित्यलक्षणवाली आत्मज्योतिको (करिष्यतः) संस्कार करनेवाले (देवान्) प्रसिद्धदेवताओंको (युक्ताय) अग्निकर्ममें संयुक्तकर अथवा स्वर्गप्राप्तिके निमित्त उद्यत और बडे चीयमान अग्निके तेजको बुद्धिसे प्रकाशमान करते तथा इष्टकादि प्रजाविषयको प्रकाशकरते, देवताओंको इस अग्निचयन में सहायकारी करके (आप्रसुवति) प्रेरणकरताहै ॥ ३ ॥

अथवा जो देवता विश्वसंसारको अपने कार्यमें नियुक्त और प्रेरण करते हैं, जो स्वर्गमें विचरते जो स्वयंप्रदीप्त एवं जिनकी प्रदीप्तिसे भूलोकपर्यन्त व्याप्त है, इस प्रकारके चन्द्रसूर्यादि देवताओंको अग्निचयनमें सहायकारी कर नियुक्त करता हूं ॥ ३ ॥

विशेष-इन मंत्रोंमें आत्माग्निके चयनकरनेकाभी उपदेश है कि एकाग्रमनसे आत्मज्ञानको अग्नितत्त्वविचारसे वढातेहुए पुरुषको ज्योतिःपदार्थ ज्योतिप्रदान करते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

युञ्जतेमनऽउतयुञ्जतेधियोविप्प्राविप्प्रस्यबृहतोविपश्चितः ॥ विहोत्त्रादधेवयुनाविदेकऽइन्महीदेवस्यसवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जत इत्यस्य प्र० ऋ० । जगती छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहतः) अतिमहान् (विपश्चितः) महापण्डित (विप्रस्य) ब्राह्मण यजमानके (होत्राः) होतृकार्यकरनेवाले (विप्राः) अध्वर्युआदि (मनः) इस अग्निचयन कार्यमें मन (युञ्जते) नियुक्तकरते हैं (उत) और (धियः) बुद्धि (युञ्जते) नियुक्त करतेहैं, अर्थात् विषयादिसे अपना मन हटाकर सावधान करतेहैं (एकः) एक अद्वितीय (इत्) ही (वयुनवित्) प्रज्ञा वा बुद्धिके जाननेवाले तथा ऋत्विक् यजमानके अभिप्रायज्ञाताने (विदधे) यह सब जगत् निर्माण किया है. (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवकी (परिष्टुतिः) सब वेदोंमें सुनीहुई स्तुति (मही) महान् है. [ऋ० ४ । ४ । २४] ॥ ४ ॥

विशेष-एकाग्रमन कर प्राणायाम समाधिमें योगीजन परमात्माका इस प्रकार चिन्तन करें कि वही सबका प्रेरक नियन्ता है उसने सब जगत् बनायाहै ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोकऽएतु पथ्येव सूरेः ॥ शृण्वन्तु विश्वेऽअमृतस्य पुत्राऽआ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युजेवामित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-(वाम्) हे पत्नी और यजमान ! तुम्हारे निमित्त (नमोभिः) नमउक्ति वा अन्नद्वारा हुत और वृतोंके सहित (पूर्व्यम्) पुरातन महर्षियोंसे अनुष्ठित (ब्रह्म) अग्निचयनाख्य आत्मज्योतिवर्द्धक कर्म (युजे) सम्पादन करता हू अथवा पुरातन (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको अन्नोंसे तृप्तकरता हूं (सूरेः) पण्डित यजमानकी (श्लोकः) कीर्ति (व्येतु) लोकद्वयमें प्राप्त हो (इव) जैसे (पथ्या) यज्ञभागमें प्रवृत्तहुई आहुति लोकद्वयको प्राप्त होती है (अमृतस्य) मरणधर्मरहित प्रजापतिके (पुत्राः) पुत्र (विश्वे) सम्पूर्ण देवता यजमानकी कीर्तिको (शृण्वन्तु) सुनें (ये) जो (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्वर्गके स्थानोंमें (आतस्थुः) स्थित हैं [ऋ० ७ । ६ । १३] ॥ ५ ॥

आशय-आशय यह कि यजमानकी कीर्ति यहां विज्ञगण और परलोकमें देवगण कथन करें । योगियोंके शरीरमें स्थित सबदेवताओंको षट्चक्रमें तृप्तकरना उचित है इससे दोनों लोकमें लाभ होताहै ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १।

यस्य॒ प्र॒याण॒मन्व॒न्यऽइद्य॒युर्दे॒वा दे॒वस्य॒ म॑हि॒मान॒मोज॑सा ॥ यः पार्थि॑वानि विम॒मे स॒ऽए॑त॒शो रजा॑ᳬसि दे॒वः स॑वि॒ता म॑हित्व॒ना ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदार्षी जगती छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(अन्ये) और (देवाः) देवता (यस्य) जिस (देवस्य) सवितादेवताके (प्रयाणम्) प्रवृत्तिको (महिमानम्) महिमाको (इत्) अवश्य (ओजसा) तपोबलसे (अनुययुः) वर्ततेहैं (यः) जिस (सविता) परमात्माने (रजांᳬसि) सम्पूर्णलोक (विममे) निर्माणकियेहैं (सः) वह (देवः) परमात्मा (महित्वना) अपनी महाभाग्य महिमाके प्रभावसे इस स्थावर जंगमलोकमें प्राणरूपसे प्रविष्ट हुआ (एतशः) व्याप्तहै [ऋग्वेदे ४ । ४ । २४]

प्रमाण-१"लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [यास्कः । ४ । १९] ॥ ६ ॥

भावार्थ-जिसकी गतिसे सूर्य चन्द्रादि सम्पूर्ण देवताओंकी गति है, जिसकी महिमासे सूर्य चन्द्रादि सब देवता महिमावाले हो रहे हैं, जिसकी दीप्तिसे सब देवता दीप्तिमान् हैं, जिसने यह पार्थिव स्थावर जंगम निर्माण किया है, जो इस अनन्त लोककी सृष्टिका कर्ता है, जो अपनी अनन्त महिमासे अश्वरूप सर्वत्र पूर्ण है. वही यह ब्रह्म वही सब जगत्को अपने २ कर्तव्य अनुष्ठानमें नियुक्त करता है वही यह सविता है "एतश इत्यश्वनाम" [निघं० १ । ४ । १०] "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः" इति श्रुतेः [१० । ६ । ४ । १] आदित्यमण्डलका नाम अश्व है सूर्यरूपसे भी जो व्याप्त है इत्यादि ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १।

देव॑ सवितः॒ प्रसु॑व य॒ज्ञं प्रसु॑व य॒ज्ञप॑तिं॒ भगा॑य ॥ दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वः के॑त॒पूः केतं॑ नः पुनातु वा॒चस्पति॒र्वाचं॑ नः स्वदतु ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवसवितरित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(देव सवितः) हे सबके प्रेरक देव ! (यज्ञम्) यज्ञको (प्रसुव)

प्रेरणा करो (यज्ञपतिम्) यजमानको (भगाय) सौभाग्यके निमित्त (प्रसुव) प्रेरणा करो (दिव्यः) स्वर्गमें स्थित (केतपूः) दूसरेके चित्तमें वर्तमान ज्ञानका शोधन करनेवाला (गन्धर्वः) वाणीका धारणकरनेवाला सविता (नः) हमारे (केतम्) चित्तवर्तिज्ञानको (पुनातु) ब्रह्मज्ञानसे पवित्र करे (वाचस्पतिः) वाणी का पति सविता देव (नः) हमारी (वाचम्) वाणीको (स्वदतु) मधुरतायुक्त करे हमारी वाणी उसे भली लगै ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे परमात्मन् ! प्रभूत ऐश्वर्यलाभके निमित्त अग्निचयनमें प्रवृत्त यजमानको पूर्णमनोरथ करो तुम स्वयं प्रकाशमान हो चराचर विश्वके धारण करनेसे गन्धर्व हो, तुम्हीं एकमात्र ज्ञानके शोधनकर्ता हो इस कारण हमारा ज्ञान विशुद्ध करो तुमही एकमात्र वाक्यके अधिपति हो, इस कारण हमारे वाक्य आस्वादयुक्त करो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८—मन्त्र १ ।

इमन्नोदेवसवितर्य्यज्ञम्प्रणयदेवाव्य᳖ᳫं सखिविदᳫं सत्राजितन्धनजितᳫंस्वर्जितम् ॥ ऋचास्तोमᳫं समर्द्धयगायत्रेणरथन्तरम्बृहद्गायत्रवर्त्तनिस्वाहा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ इमन्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । शक्करी छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ—(देवसवितः) हे सविता देव ! (नः)हमारे (इमम्) इस (देवाव्यम्) देवताओंके तृप्त करनेवाले (सखिविदम्) सखित्वनिष्पादक यजमानको जाननेवाले वा ब्रह्मप्रभृति ऋत्विग्गणके जाननेवाले (सत्राजितम्) सम्पूर्ण अन्य यज्ञकार्यके वशकरनेवाले द्वादशाहादिकको वश करनेवाले वा ब्रह्मके वश करनेवाले (धनजितम्) गवादि फल रूपसे धनको जीतनेवाले (स्वर्जितम्) यज्ञके फलसे स्वर्गको जीतनेवाले (यज्ञम्) यज्ञको (प्रणय) सम्पन्नकरो । हे देव ! स्तोत्रकी कारण समाधार ऋचासे (स्तोमम्) त्रिवृतादिको (समर्धय) समृद्ध करो (गायत्रेण) गायत्रीछन्दसे (रथन्तरम्) रथन्तर सामको (गायत्रवर्तनि) गायत्र सामही है मार्ग जिसका उससे (बृहत्) बृहत् सामको सम्पन्न करो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ ८ ॥

विवरण—ऋचा—छन्दोवद्ध मन्त्र कहाते हैं । कितने एक ऋक्समूहका नाम त्रिवृत पंचदशस्तोम है यह ताण्डच महाब्राह्मणके तीसरे अध्यायमें वर्णित है

गायत्रसाम प्रसिद्ध है। रथन्तर साम सामवेदीय अरण्यगानके १ । २ । १ । २१ साम । बृहत्साम सामवेदीय अरण्यगानके १ । २ । १ । २१ सामको देखो इस मंत्रके अन्तमें स्वाहा लगाना चाहिये। "सत्रशब्दः सत्यवाची" [निघं० ३ । १० । ३ । [॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ आददे गायत्रेण च्छन्दसाङ्गिरस्वत्पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभर त्रैष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । भुरिगतिशक्वरी छन्दः । सवित्रग्नी देवते । वैणवीग्रहणे विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके दोनो मंत्र और दशमी कण्डिकाके मंत्र पाठ करके वैणवी ग्रहण करे "वैणवी वांसका खूंटा आहवनीयके उत्तर पूर्व स्थापित रहता है" [का० १६ । २ । ८] मंत्रार्थ-हे अभ्रि ! (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) प्रेरणासे (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) भुजासे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराऋषि वा अंगारेकी तुल्य (आददे) ग्रहणकरताहूं (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थात्) उत्सङ्गभीतरसे (पुरीष्यम्) पशुओंकी हितकारिणी अथवा शुष्कमृत्तिकामें स्थापित होने योग्य (अग्निम्) अग्निको (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (आभर) आहरणकर ॥ ९ ॥

विशेष-अभ्यासके निमित्त कईवार अङ्गिरस्वत् कहा । "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते" [निरु० १० । ४२] *"पशवो वै पुरीषम् इति श्रुतेः [६ । ३ । १ । ३८] मट्टीको लाय उखा बनाकर उसमें अग्नि स्थापन कीजाती है, इसकारण सूखी मृत्तिकाकोभी पुरीष्य कहा ॥ ९ ॥

आशय-हे वैणवी ! अङ्गिराऋषिने त्रिष्टुप्छन्दके सुने प्रभावसे जिस प्रकार पृथ्वीके क्रोडसे पुरीष्य अग्नि सम्पादन कीथी इसी प्रकार मैंभी अग्निचयनमें प्रवृत्त हो इस कार्यको करताहूं ॥ ९ ॥

"गेरु" नामा अग्निको प्रथम अङ्गिराने प्रकाश किया यह भाव है ऐसा कोई कहतेहैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मन्त्र १।

अभ्रिरसि नार्य्यसि त्वया व्वयमग्निᳬ शकेम खनितुᳬ सधस्थऽआ ॥ जागतेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत् १०

ऋष्यादि–(१) ॐ अभ्रिरसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋ०। भुरिगनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्दे०। अभ्रिग्रहणे वि० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ–हे वैणवी ! तुम (अभ्रिः) उखानिर्माण करनेको मृत्खननकी कारण काष्ठविशेष अभ्रिनामवाली (असि) हो (नारी) स्त्रीरूपा वा शत्रुरहित (असि) हो (त्वया) तुम्हारे द्वारा (वयम्) हम (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दके प्रभावसे (सधस्थे) पृथ्वीके उत्संगमें वर्तमान (अग्निम्) अग्निको (खनितुम्) खनन करनेको (शकेम) समर्थ हों ॥ १० ॥

विशेष–पृथ्वीके उत्संग अर्थात् वहुत दिनके कीचवाले सरोवर वा मट्टीसे अग्निको खनन करता हूं यह भूगर्भविद्याका वर्णन है इसमेंभी ज्ञानलाभ कर पुरुषको कृतकार्य होना उचित है ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मन्त्र १।

हस्तऽआधाय सविता बिभ्रदभ्रिᳬ हिरण्ययीम् ॥ अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याऽअध्याभरदानुष्टुभेन च्छन्दसाङ्गिरस्वत ॥ ११ ॥ [११]

ऋष्यादि–(१) ॐ हस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः। सविता देवता। अभ्रिग्रहणे वि० ॥ ११ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे सुवर्णकी वनी वा विचित्रवर्णवाली अभ्रि ग्रहण करै। मन्त्रार्थ–(सविता) प्रेरक सवितादेवता (हस्ते) हाथमें (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी वा प्राणकी समान (हिरण्ययीम्) सुवर्णकी (अभ्रिम्) अभ्रिको (आधाय) लेकरके वा स्थापनकर (विभ्रत्) उसको धारण करते हुए (अग्नेः) अग्निकी (ज्योतिः) ज्योतिको (निचाय्य) निश्चयकरके (पृथिव्याः) भूमिके (अधि) सकाशसे (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे (आभरत्) आहरण करते हुए ॥ ११ ॥

विवरण–अपने आपमें सविताकी प्रेरणा मानकर यह मंत्र पढ़ै ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

प्रतूर्त्तंवाजिन्नाद्द्रंववरिष्ठामनुसंवतम् ॥ दिवितेजन्म्मंपरमम्मन्तरिक्षेतवनाभिं÷पृथिव्यामधियोनिरित् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतूर्तमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । आस्तारपंक्तिश्छं० । वाजी देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) अभ्रि हाथमें लेकर यथास्थानमें बैठाहुआ इस मंत्रसे अश्वका अभिमंत्रण करै [का० १६ । २ । १०] मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! हे शीघ्रगामी ! (वरिष्ठाम्) श्रेष्ठ (सम्वतम्) यज्ञभूमिको वा भूमिको लक्ष्य करके (अनु) फिर (प्रतूर्तम्) शीघ्र (आद्रव) आओ (ते) तेरे (दिवि) द्युलोकमें (परमम्) आदित्यरूपसे उत्कृष्ट (जन्म) जन्म होगा अथवा तुम्हारा जन्म द्युलोकमें है स्वर्गमें देवताओंके अश्व रोहितादि हैं (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (तव) तेरी (नाभिः) नाभि वा उदर है अथवा नियुन्नामक वायु अश्व अन्तरिक्षमें सञ्चरण करते हैं वहां तुम उस शरीरसे वर्तमान हो नाभिरूपसे प्रकृष्ट शरीर जानना । (पृथिव्याम्) पृथ्वीके (अधि) ऊपर (तव) तुम्हारी (योनिः) स्थान है अर्थात् भूमिमें तुम्हारा निवासस्थान प्रत्यक्ष दीखता है विराट्रूपसे अश्वकी स्तुति की जाती है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १ ।

युञ्जाथाᳬरासंभंय्युवमस्मिन्यामेवृषण्वसू ॥ अग्निम्भरन्तमस्मयुम् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जाथामित्यस्य कुश्रिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । रासभो देवता । रासभाभिमंत्रणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) अनन्तर रासभका अभिमंत्रण करै । मन्त्रार्थ-(वृषण्वसू) हे अध्वर्यु ! और यजमान अथवा हे यजमान और यजमानपत्नी धनवर्द्धक ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मिन्) इस (यामे) अग्निकर्ममें अथवा मृत्तिकावहन कार्यमें (अस्मयुम्) अपने हितकारी (अग्निम्भरन्तम्) अग्निरूप मृत्तिकाको वहन करनेवाले (रासभम्) रासभ गर्दभको (युञ्जाथाम्) बांधो ॥ १३ ॥

प्रमाण-"इदंयुरिदंकामयमानः" इति यास्कः [निरु० ६ । २१] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १।

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ॥
सखाय इन्द्रमूतये ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योगेयोग इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । गायत्री छन्दः । अजा देवता । अजाभिमंत्रणे वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) अनन्तर अजाको अभिमंत्रण करै । मंत्रार्थ-(सखायः) परस्पर मित्रताको प्राप्त हुए हम ऋत्विज यजमान सब (योगेयोगे) प्रत्येक कर्ममें (तवस्तरम्) बलवान् वा उत्साहवान् (इन्द्रम्) बलवान् अजको (ऊतये) रक्षाके निमित्त (वाजेवाजे) देवता और पितरोंके तृप्तहोनेयोग्य अन्नप्राप्तिके कर्ममें (हवामहे) आह्वानकरतेहैं [ऋ० १। २। २९] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र २।

प्रतूर्वन्नेह्यवक्रामन्नशस्ती रुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरेहि ॥ उर्वन्तरिक्षं वीहि स्वस्तिगव्यूतिरभयानि कृण्वन्पूष्णा सयुजा सह ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतूर्वन्नित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । अश्वो देव० । अश्वचालने वि० । (२) ॐ उर्वन्तारिक्षमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । रासभो देव० । रासभचालने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) स्पर्शन करके भयादिप्रदर्शनपूर्वक यह मन्त्रपाठ करके अश्वको पूर्व दिशामें हांकदे चलादे [का० १६ । २ । ११] मन्त्रार्थ-(प्रतूर्वन्) हे अश्व ! तुम शत्रुगणको वध करते (अशस्तीः) शत्रुओं वा निन्दकोंकी कीहुई निन्दाको (अवक्रामन्) निवारण करते (एहि) हमारे निकट आओ (मयोभूः) हमारे सुखके कारण होतेहुए (रुद्रस्य) रुद्रदेवताके (गाणपत्यम्) गणपतित्वको (एहि) प्राप्त हो अर्थात् यहां आनेसे पशुपालके मध्यमें दलपतित्वलाभ करो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इसी प्रकार रासभको चला दे । मन्त्रार्थ-हे रासभ ! (स्वस्तिगव्यूतिः) भयरहित गमन वा कल्याण मार्गवाले तुम (अभयानि) हमको अभय करते ऋत्विज् यजमानादिका रोग वा व्याघ्रादिसे भय दूर (कृण्वन्) करते (सयुजा) समानयोगी (पूष्णा) पृथ्वीके साथ "इयं वै

पूषा" इति श्रुतेः [श० ६ । ३ । २ । ८] (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (वीहि) विशेष कर प्राप्त हो वा गमन करो ॥ १९ ॥

विशेष-जब यज्ञीय अश्व नगरमें भ्रमण करता है उस समय शत्रुओंके मनमें ताप होता है और वे निन्दा करनेमें मूक होते हैं इसमें यजमानका कल्याण है । रासभका एकाकी दूर गमन करना निषिद्ध है इस कारण पूषाके बलसे गमन कहा । "स्वस्तीत्यविनाशनाम" [निरु० ३ । २१] राजधर्मभी इससे सूचित होता है ॥ १९ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र ३ ।

पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदाभराग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरिष्यामः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृथिव्या इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । आर्ची गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अजोत्क्रमणे विनियोगः । (२) ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋ० । साम्नी गायत्री छन्दः । अश्वादयो देवताः । ब्रह्मयजमानादिगमने वि० । (३) ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अनद्धापुरुषेक्षणे वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे इसी प्रकार अजको चलादे । मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (पृथिव्याः) भूमिके [सधस्थात्) स्थानसे (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (आभर) आहरण कर १ । विधि-(२) उस चतुष्कोण गर्तमें स्थापित मृत्तिकाके पिण्डके समीपमें इस दूसरे मन्त्रका पाठ करके ब्रह्मा यजमान और अध्वर्यु गमन करै. और उन्हींके संग यह अश्व छागादि गमन करैं. तीनो अग्नियोंके प्रज्वलित होनेपर चलैं [का० १६ । ३ । १२] मन्त्रार्थ-(पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (अच्छ) प्राप्त होनेको अभिमुख (इमः) प्राप्त होते हैं २ । विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे अनद्धा पुरुषको पुरीष्यभावसे दर्शन करै जो मनुष्य देव पितृकार्यके अनुपयोगी अकर्मण्य हो उसे अनद्धा कहते हैं [का० १६ । २ । १४] (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत) अंगिराकी समान (भरिष्यामः) सम्पादन करैंगे ॥ १६ ॥

प्रमाण-"अच्छाभेराप्तुमितिशाकपूणिरितियास्कः" [निरु० ५ । २८] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः॥ अनु सूर्य्यस्य पुरुत्रा च रश्मीननु द्यावापृथिवीऽआततन्थ ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अन्वग्निरित्यस्य पुरोधा ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। मृत्पिण्डाभीक्षणे विनि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पाठकर वल्मीक वपाद्वारा मृत्पिण्डको अवलोकन करे [का० १६। २। १५।] मंत्रार्थ–(अग्निः) जो अग्नि (उषसाम्) उषाकालसे (अग्रम्) पहले [अर्थात् रात्रिमें] (अन्वख्यत्) अग्निरूपसे अनुक्रमसे प्रकाशित रहा (जातवेदाः) सबका जाननेवाला यह अग्नि (प्रथमः) मुख्यरूपसे (अहानि) दिनोंको (अनु) प्रकाश करताहुआ (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मीन्) किरणोंको (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे (अनु) प्रकाश करताहुआ (च) और (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वीको (अनु) क्रमसे (आततन्थ) सब प्रकार व्याप्त होता हुआ उस सर्वप्रकाशक लोकस्रष्टा अग्निको हम देखते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ–जो रात्रिमें अग्निरूपसे प्रकाश दिनमें सहस्ररश्मिरूप हो द्युलोकमें उदित होते जो द्युलोकसे भूलोकपर्यन्त सदाही देदीप्यमान हैं हम अग्नि नामसे प्रसिद्ध उस देवताको खोज करते हैं ॥ १७ ॥

विवरण–बाँबीके ऊंचे अवयव वल्मीक वपा कहाते हैं उसीका पिण्ड आहवनीयके अन्तरालमें स्थापित है उसको ले स्थानमें स्थित हो मृत्पिण्डके मध्यवर्ती छिद्रविशिष्टवाली टिकियाके छिद्रके मार्गमें देखै बोध होता है यह अग्नि (गैस) की परीक्षाका यंत्रविशेष है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १।

आगत्य वाज्यध्वानꣳ सर्वा मृधो विधूनुते ॥ अग्निꣳ सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आगतेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः। निच्यृदनुष्टुप्छं०। अश्वो देवता। अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ १८ ॥

विधि–(१) मृत्पिण्डके समीप इस मंत्रसे अश्वको अभिमंत्रणकरै [का० १६। २। १७] मंत्रार्थ–(वाजी) यह वेगवान् अश्व (अध्वानम्) मार्गको (आगत्य) आकर अर्थात् रणमार्गमें चलकर (सर्वाः) सब (मृधः) सङ्ग्रा-

मोंको (विधूनुते) कम्पितकरताहै अथवा सब श्रमोंको दूरकरताहै (महति) वडे (सधस्थे) पृथ्वीके स्थानमें वर्तमान वा याज्ञिक सभामें प्राप्तहुआ (चक्षुपा) स्थिरचक्षुसे (अग्निम्) अग्निको (निचिकीषते) देखताहै अर्थात् मृत्तिकामें वर्तमान अग्निके कारणको देखताहै ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

आक्रम्यवाजिन्पृथिवीमग्निमिच्छरुचात्त्वम् ॥ भूम्यावृत्त्वायनोब्रूहियतःखनेमतंवयम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आक्रम्येत्यस्य मयोभूर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वपदो मृत्पिण्डोपर्यधिष्ठापने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(२) इस मंत्रसे मृत्पिण्डके ऊपर अश्वका सव्यपद स्थापन करै [का० १६ । २ । १८] मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! (त्वम्) तू (पृथ्वीम्) भूमिको (आक्रम्य) आक्रमण करके अर्थात् चरणस्पर्शसे परीक्षाकरके (रुचा) भूमिकी दीप्तिआदि द्वारा (अग्निम्) अग्निको (इच्छ) अन्वेषणकर अर्थात् अग्निके कारण मट्टीको निश्चयकर (भूम्याः) भूमिके प्रदेशको (वृत्वाय) छूकर (नः) हमसे यह बात कि यह देश अग्निहेतु मृत्तिकाके योग्य है इस प्रकार (ब्रूहि) कथन करो (यतः) जिस देशसे (वयम्) हम (तम्) उस अग्निको (खनेम) खननकरैं अर्थात् अग्निवाली मृत्तिकाको प्राप्तहों [अर्थात् जिस स्थानमें मृत्पिण्ड आहत हो तहांसे उद्योगकर अग्नि प्राप्तकरैं] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

द्यौस्तेपृष्ठम्पृथिवीसधस्थमात्मान्तरिक्षꣳसमुद्रोयोनिः ॥ विख्यायचक्षुषात्त्वमभितिष्ठपृतन्यतः ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यौस्त इत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छन्दः । अश्वो देवता । अश्वं स्पृष्ट्वा जपे विनियोगः ॥ २० ॥

विधि-(१) अध्वर्यु पिण्डके ऊपर पांव रखते घोडेको स्पर्शकर फिर ठहरकर दहिने हाथको घोडेकी पीठपर रखकर यह मंत्र पढै [का० १६।२।१९] मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (द्यौः) स्वर्ग (ते) तुम्हारा (पृष्ठम्) पृष्ठहै (पृथिवी) भूमि(सधस्थम्)

पांव है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक (आत्मा) जीवात्मा है (समुद्रः) समुद्रके जल (योनिः) तुम्हारी उत्पत्तिका कारण है "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति श्रुतेः।(त्वम्) तुम (चक्षुषा) नेत्रोंसे (विख्याय) उखाके योग्य मृत्तिकाको देखकर (पृतन्यतः) संग्रामकरनेकी इच्छाकरनेवाले शत्रुराक्षसादिको मृत्तिकामें गूढस्थित जानकर (अभितिष्ठ) चरणोंसे आक्रमण कर नाश करो अथवा तुम संग्राममें जिस आकारसे दण्डायमानरहते हो इस पिण्डके ऊपर भी इसी भावसे सतेज दृष्टिक्षेपपूर्वक दण्डायमान हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

उत्क्राम महुते सौभगायास्मादास्थानाद्द्रविणोदा वाजिन् ॥ वयᳬ स्याम सुमतौ पृथिव्याऽअग्निं खनन्तऽउपस्थेऽअस्याः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्क्रामेत्यस्य मयोभूर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । मृत्पिण्डाद्श्वोत्तारणे वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके अश्वका सव्य चरण मृत्पिण्डसे अवतारित करै [का० १६ । २ । १९] मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! (द्रविणोदाः) धनके देनेवाले तुम (महते) बडे (सौभगाय) महाभाग्यकी वृद्धिके निमित्त (अस्मात्) इस (आस्थानात्) स्थानसे (उत्क्राम) उत्क्रमण करो (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथ्वीके (उपस्थे) ऊपरी भागमें (अग्निम्) अग्निको (खनन्तः) खननकरनेका उद्योग करते हुए (वयम्) हम (सुमतौ) सानुग्रह श्रेष्ठबुद्धिमें स्थित स्याम) होवैं ॥ २१ ॥

अर्थात्-हमारा यदि भाग्य सुप्रसन्न हो तौ सुबुद्धिके अनुसार हम इस मृत्पिण्डसे अथवा मृत्पिण्डके आधारसे उस सूखी हुई पुष्करिणीसे पुरीष्य अग्निके सम्पादनमें उद्योगी होवेंगे ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

उदक्रमीद्द्रविणोदा वाज्यर्वाकः सुलोकᳬ सुकृतं पृथिव्याम् ॥ ततः खनेम सुप्रतीकमग्निᳬ स्वो रुहाणाऽअधि नाकमुत्तमम् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदक्रमीदित्यस्य मयोभूर्ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे अश्वको अभिमंत्रण करै [का० १६ । २ । २०]
मन्त्रार्थ-(अर्वा) चञ्चल (द्रविणोदाः) धनप्रद (वाजी) अश्व (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (उदक्रमीत्) मृत्तिपण्डसे उतर आया (सुलोकम्) सुन्दरलोकको (सुकृतम्) पुण्यवान् (अकः) किया (ततः) उस देशसे (नाकम्) दुःखरहित (उत्तमम्) श्रेष्ठ (स्वः) स्वर्गको (अधिरुहाणः) आरोहण करनेकी इच्छाकरनेवाले हम (सुप्रतीकम्) सुन्दरसुख देनेवाले (अग्निम्) पुरीष्य अग्निको (खनेम) मृत्तिपण्डसे खनन करनेका उद्योगकरते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र १ ।

आत्वा जिघर्म्मिमनसाघृतेनप्प्रतिक्षियन्तम्भुवनानिविश्श्वा ॥ पृथुन्तिरश्चावयसाबृहन्तंव्यचिष्ठमन्नैरभसन्दृशानम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्वेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । आहुतिदाने वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) इस मृत्तिपण्डके समीप बैठकर अश्वपदके चिह्नमें इस और अगली कण्डिकाके मंत्रोंसे व्यतिषक्त क्रमसे पाठ करके दो आहुति दे अर्थात् इस कण्डिकाके मंत्रका प्रथमार्ध और परकण्डिकात्मक मंत्रका परार्द्ध योगकर पाठ करके प्रथम आहुति और पर कण्डिकात्मक मंत्रका प्रथमार्ध और इस कण्डिकात्मक मंत्रका परार्धयोग मंत्र पाठ करके दूसरी आहुति दे [का० १६ । २ । २२]
मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (विश्वानि) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंमें (प्रतिक्षियन्तम्) निवास करते हुए (तिरश्चा) तिर्यक् प्रमाण ज्योतिसे (पृथुम्) विस्तीर्ण (वयसा) धूमसे (बृहन्तम्) महान् अथवा तिर्यक् प्रमाणसे बहुत देशमें व्याप्त होनेवाले बहुकालव्याप्त (व्यचिष्ठम्) अवकाशवान् (अन्नैः) विविध अन्नोंकरके (रभसम्) परिपूर्ण उत्साहसम्पन्न अर्थात् अनेक अन्नोंकी आहुतिसे इसकी शक्तिका क्षय नहीं होता. (दृशानम्) प्रत्यक्षगोचर (त्वा) तुमको (मनसा) श्रद्धायुक्त चित्तसे (घृतेन) घृतद्वारा (आजिघर्मि) प्रदीप्त करताहूं ॥ २३ ॥

प्रमाण-१"इतो वा अयमूर्ध्वश्रेतः सिञ्चति धूमः सामुत्र वृष्टिर्भवति" इति श्रुतः ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १।

आविश्वतं प्प्रत्यञ्चञ्जिघर्म्यरक्षसामनसातज्जुषेत॥ मर्य्यश्रीः स्पृहयद्वर्णोऽअग्निर्नाभिमृशे तन्वाजर्भुराणः॥ २४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आविश्वत इत्यस्य गृत्समद ऋ०। आर्षी पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देव०। वि० पू०॥ २४॥

मंत्रार्थ-हे अग्नि! (विश्वतः) सबओर (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यगात्मा रूपसे व्याप्त हो अर्थात् तुम प्रत्यक्ष देवता हो मैं तुमको (आजिघर्मि) घृतद्वारा निष्कपट मनसे सिञ्चन वा दीप्तिमान् करताहूं (अरक्षसा) क्रोधरहित (मनसा) चित्तसे (तत्) उस घृतको (जुषेत) सेवन करो (मर्य्यश्रीः) मनुष्योंसे सेवनकरनेयोग्य वा आश्रित (स्पृहयद्वर्णः) दर्शनीय कान्तिमान् (तन्वा) ज्वालालक्षणवाले शरीरसे (जर्भुराणः) इधर उधर गमनकरनेवाली (अग्निः) अग्नि (अभिमृशे) अभिमर्शनके योग्य (न) नहीं है अर्थात् नास्तिक भी तुमको किसीप्रकार अग्राह्य नहीं कर सकता [ऋ० २।६।२।]॥ २४॥

कण्डिका २५-मन्त्र १।

परि वाजपतिः कविरग्निर्हव्यान्यक्रमीत्॥ दधद्रत्नानि दाशुषे॥ २५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परीत्यस्य सोमक ऋषिः। निचृद्गायत्री छं०। अग्निर्देवता। पिण्डोपरि प्रथमरेखाकरणे वि०॥ २५॥

विधि-(१) इस मृत्पिण्डपर अभ्रिके द्वारा उत्तरोत्तर तीन रेखा करै उसमें इस मंत्रसे प्रथम रेखा करे [का० १६।२।२३] मंत्रार्थ-(वाजपतिः) अन्नका पति (कविः) क्रान्तदर्शी (अग्निः) अग्नि (दाशुषे) हविदेनेवाले यजमानके निमित्त (रत्नानि) मनोहर विविधरत्न (दधत्) प्रदानपूर्वक (हव्यानि) हवियोंको (पर्यक्रमीत्) स्वीकार करता हुआ [ऋ० ३।९।१९]॥ २५॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि॥ धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावताम्॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परित्वेत्यस्य पायुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । द्वितीयरेखाकरणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) इस पहली रेखाके उत्तर इस मंत्रसे द्वितीय रेखापात करे ।

मन्त्रार्थ-(सहस्य) बलसे मथन कर उत्पन्न होनेवाले (अग्ने)हे अग्नि! (पुरुम्) पुरुरूपसे सबके शरीरमें स्थित पालनकरनेवाले (विप्रम्) बुद्धिसम्पन्न वा ब्राह्मणजातिरूप (धृषद्वर्णम्) असह्यरूप (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भंगुरावताम्) राक्षसदल अथवा अनवस्थित पापरूप चित्तकी वृत्तियोंके (हन्तारम्) मारनेवाले (त्वा) तुमको (वयम्) हम (परिधीमहि) सबओरसे ध्यान करते हैं ॥ २६ ॥

आशय-हे परमात्मन् ! तुम बलसे ज्ञानपूर्वक जानेजाते हो तुम मेधावी तुमही साधुगणके आश्रय असाधुओंके विघ्नकारी रक्षोदलके हन्ता निरन्तर ज्वालाजालसे शोभायमान हो हम प्रतिदिन तुम्हारी अर्चना करते हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ ।

त्वम॑ग्ने द्युभि॒स्त्वमा॑शुशु॒क्षणि॒स्त्वम॒द्भ्यस्त्वम॑श्म॑न॒स्परि॑ ॥ त्वं वने॑भ्य॒स्त्वमोष॑धीभ्य॒स्त्वं नृ॒णां नृ॑पते जायसे॒ शुचिः॑ ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमग्न इत्यस्य गृत्समद ऋ० । पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । तृतीयरेखाकरणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे दूसरी रेखाके उत्तर तृतीय रेखा करे । मंत्रार्थ-(नृपते) मनुष्योंके पालक (अग्ने) अग्नि ! (शुचिः) परम पवित्र (आशुशुक्षणिः) आर्द्रभूमिको कान्तिसे शोपकर कान्तिसे अन्धकार के दूर करनेवाले हो (त्वम्) तुम (द्युभिः) प्रतिदिन मथनकरनेसे (जायसे) उत्पन्न होते हो (त्वम्) तुम (अद्भ्यः) जलोंसे तथा विजली सत्यसे होते हो (त्वम्) तुम (अश्मनः) पाषाणसे (परि) दूसरे पाषाण लगनेसे उत्पन्न होते हो (त्वम्) तुम (वनेभ्यः) वनोंमें अरणिकाष्ठसे (त्वम्) तुम (ओषधीभ्यः) औषधियोंसे वंशादिसे अर्थात् दो वंशके संघर्षणसे उत्पन्नहोते हो (त्वम्) तुम (नृणाम्) अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्योंके घर होते हो "पुत्रो ह्येष सन् पुनः पिता भवति" इति श्रुतेः [ऋ० २ । ९ । १७] [१६] ॥ २७ ॥

आशय-हे परमात्मन् ! तुम द्युलोकसे सूर्यरूपसे उदय होकर जगत्के रस-शोषणादि कार्यनिर्वाह करते हो क्या जलमें क्या पाषाणके अन्तरमें क्या वन क्या ओषधी तुम सबमें विराजमान हो, हे नृपते ! मनुष्यके देहमेंभी तुम पवित्ररूपसे आधिपत्य करते हो ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र २ अनु० ३ ।

देवस्यत्त्वासवितुः प्प्रसवेश्श्विनोर्ब्बाहुब्भ्याम्पूष्ष्णो
हस्ताब्भ्याम् ॥ पृथिव्याः सधस्थादग्निम्पुरीष्ष्य
मङ्गिरस्वत्खनामि ॥ ज्योतिष्मन्तन्त्वाग्ने
सुप्प्रतीकमजस्रेणभानुनादीद्द्यतम् ॥ शिवम्प्र
जाब्भ्योहिंसन्तम्पृथिव्याः सधस्त्थादग्निम्पु
रीष्ष्यमङ्गिरस्वत्खनामः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य गृत्समद ऋ० । प्राजापत्या बृहती छं० । अग्निर्देवता । अग्निग्रहणे वि० । (२) ॐ ज्योतिष्मन्नित्यस्य गृत्स० ऋ० । सुराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । पिण्डखनने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१-२) प्रथम मंत्रसे अग्निग्रहण और दूसरेसे खननकरै [का० १६ । २ । २३] मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवके (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) भुजाओंसे (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (पृथिव्याः) भूमिके (सधस्थात्) ऊपर प्रदेशसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनामि) खननकरताहूं १ । (अग्ने) हे अग्ने ! (ज्योतिष्मन्तम्) ज्वालायुक्त (सुप्रतीकम्) सुमुख (अजस्रेण) निरन्तर वर्तमान (भानुना) रश्मियोंसे (दीद्यतम्) दीप्तिमान् (प्रजाभ्यः) प्रजाके उपकारके निमित्त (शिवम्) शान्तरूप (अहिंसन्तम्) हिंसा न करनेवाले (त्वा) तुझ (पुरीष्यम्) पुरीष्य (अग्निम्) अग्निको (पृथिव्याः) भूमिके (सधस्थात्) गर्भसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनाम) खनन करते हैं २ ॥ २८ ॥

विवरण-'खनामि' शब्द प्रजापति और 'खनाम' शब्द देवताओंसे सम्बन्ध रखताहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र २।

अपाम्पृष्ठमसियोनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ॥ वर्द्धमानो महाँ२ऽआचपुष्करे दिवोमात्रया वरिम्णाप्प्रथस्व ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपांपृष्ठमित्यस्य गृत्समद ऋ० । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । पुष्करपर्णं दे० । (२) ॐ दिव इत्यस्य गृत्समद ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । पुष्करपर्णं दैवतम् । कृष्णाजिनोपरि पुष्करपर्णस्थापने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) मृत्पिण्डके उत्तरभागमें मृगचर्मको बिछाकर पहला मंत्रपाठकर उसपर पद्मपत्र रक्खै मृगचर्मका शिरोदेश पूर्वभागमें और अधोदेश पश्चिमकी ओर करै [का०६।२ । २४] मंत्रार्थ-हे पत्र ! तुम (अपाम्) जलोंके (पृष्ठम्) ऊपर रहनेसे पृष्ठरूप हो (अग्नेः) अग्निके निमित्त पिण्डके (योनिः) कारण (असि) हो (पिन्वमानम्) सींचतेहुए (समुद्रम्) जल समुद्रको (अभितः) सब ओरसे (वर्द्धमानः) वृद्धिको प्राप्त (महान्) बडे (पुष्करे) जलमें [आ] सब प्रकार स्थित हो अथवा [आ] सब प्रकारसे वा चारों ओरसे (पुष्करे) जलमें (महान्) बडे वृद्धियुक्त तुम हो अर्थात् तुम जलके ऊपर भासमान होतेहो उस समय तुम्हारे चारोंओर यह जलराशि देखनेवालोंको परम प्रीति उत्पन्न करनेवाली है तुम अगाधजलमें वर्धमान होकर इतने बृहत् आकारको प्राप्त हुए हो आज तुमको पुरीष्य अग्निका आधार करतेहैं १ ।

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके यह पत्र विस्तीर्णकरै[का० १६ । २। २९]

मन्त्रार्थ-हे पत्र ! (दिवः) द्युलोककी(मात्रया)परिमाणसे (वरिम्णा) दीर्घतासे (प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त हो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र १।

शर्म्मचस्त्थोवर्म्मचस्त्थोच्छिद्रेबहुलेऽउभे ॥ व्यचस्वतीसंवसाथाम्भृतमग्निम्पुरीष्यम् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शर्म चेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनपुष्करपर्णे दे० । सहैव कृष्णाजिनपुष्करपर्णस्पर्शने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) इन दोनों मंत्रोंसे पातित कृष्णाजिन और पुष्करपर्ण दोनों एकत्र स्पर्श करै [का० १६ । २ । २६] मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन ! हे पुष्करपर्ण ! (अच्छिद्रे) छिद्रशून्य (बहुले) बहुत विस्तारवाले (व्यचस्वती) अवकाशवाले (उभे) तुम दोनो (शम्) अग्निके सुखकारी (स्थः) हो (च) और (वर्म) कवचकी समान रक्षा करनेवाले (स्थः) हो (पुरीष्यम्) पुरीष्य (अग्निम्) अग्निको (संवसाथाम्) आच्छादन करो (च) और (भृतम्) धारण करो अर्थात् तुम इसके वर्मरूप हो यजमानको सुखस्वरूप हो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

संवंसाथाᳬस्वुर्विदासुमीचीऽउरंसात्वमनां ॥ अुग्निमुन्तर्भरिष्यन्तीज्ज्योतिष्मन्तुम जंस्रमित् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संवसाथामित्यस्य गृत्समद ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । कृष्णाजिनपुष्करपर्णे देवते । विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-हे कृष्णाजिन पुष्करपर्ण ! (स्वर्विदा) स्वर्गलाभके साधन (समीची) एकचित्त मिलेहुए (अजस्रमित्) निरन्तर (ज्योतिष्मन्तम्) तेजवान् (अग्निम्) अग्निको (अन्तः) भीतर (उदरे) उदरमें (भरिष्यन्ती) धारण करतेहुये (उरसात्मना) हृदयरूप अपने शरीरसे (अग्निम्) अग्निको चिरकाल धारण करते (संवसाथाम्) आच्छादित रक्खो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र २ ।

पुरीष्योसिविश्वभंराऽअथंर्वात्वाप्प्रथुमोनिरंम न्थदग्ने ॥ त्वामंग्नेपुष्कंरादध्यथंर्वानिरंमन्थत ॥ मूर्ध्नोविश्वंस्यवाघतं÷ ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुरीष्य इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । मृत्पिण्डस्पर्शने वि० । (२) ॐ त्वामित्यस्य निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः । पुष्करपर्णस्योपरि पिण्डस्थापने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे मृत्पिण्ड स्पर्श करै [का० १६ । २ । २७] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पुरीष्यः) तुम पशुओंके हितकारी (विश्वभरा) समस्त चराचरके पालन करनेवाले (असि) हो (प्रथमा) सबसे प्रथम (अथर्वा)

प्राण वा अथर्व ऋषिने (त्वा) तुमको (निरमन्थत) प्रकाश किया था १। विधि-(२) इसके उपरान्त दूसरे मंत्रसे और ३३ क० से ३७ तक मंत्रोंको पाठ करके इस मृत्पिण्डको उभय हस्तद्वारा कृष्णाजिनके ऊपर रक्खे पुष्करपर्णपर रक्षाकरै [का० १६ । २ । २८ । ३ । १] मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! (अथर्वा) प्राणने (पुष्करात्) जलके (अधि) सकाशसे (त्वाम्) तुमको (निरमन्थत्) मथितकिया "आपो वै पुष्करं प्राणोथर्वा" इति श्रुतेः [श० ६।४।२।२] (विश्वस्य) सम्पूर्ण संसारके सम्बन्धी (वाघतः) ऋत्विजोंने (मूर्ध्नः) आदरसे तुमको मथित किया अथवा सम्पूर्ण संसारके कार्यनिर्वाहक क्षित्यादि समस्त पदार्थके शिर स्वरूप [प्रधान] पुष्करसे तुमको अथर्वऋषिने प्रकाशित किया २ ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"वाघत इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्" [नि० ३ । १८ । ३] ॥३२॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १।

तमु॑ त्वा द॒ध्यङ्ङृषि॑: पु॒त्र ई॑धे॒ अथ॑र्वणः ।
वृ॒त्र॒हणं॑ पुरन्द॒रम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमुत्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निचृदार्षी छन्दः। अग्निर्देवता । विनि० पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(अथर्वणः) अथर्वके (पुत्रः) पुत्र (दध्यङ्) दध्यङ् नामक ऋषिने अथवा वाणीने (तमु) उस (वृत्रहणम्) पापनाशक (पुरन्दरम्) रुद्ररूपसे पुरसम्बन्धी तीन आवरणोंके भेदक (त्वा) तुमको (ईधे) प्रज्वलित किया [ऋ० ४ । ९ । २३] ॥ ३३ ॥

प्रमाण-१"वाग्वै दध्यङ्ङाथर्वणः" इति श्रुतेः [६ । ४ । २ । ३] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १।

तमु॑ त्वा पा॒थ्यो वृषा॒ समी॑धे दस्यु॒हन्त॑मम् ।
ध॒न॒ञ्ज॒यꣳ रणे॑रणे ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमुत्वेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निचृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(पाथ्यः) सन्मार्गमें वर्तमान अथवा अन्तरिक्ष वा हृदयआकाशमें स्थित (वृषा) मनके सिंचन करनेवाले हे अग्ने ! (तम्) उस (दस्युहन्तमम्) अतिशय शत्रुओंको वा कामादि शत्रुओंको नाश करनेवाले (रणेरणे) उन उन संग्रामोंमें (धनञ्जयम्) धनके जीतनेवाले (त्वा) तुमको (ईधे) सन्दीप्त करताहूं [ऋ० ४।९।२३] ॥ ३४ ॥

प्रमाण–"मनसैवानुद्रष्टव्यः" इति श्रुतेः। "मनसैवाभिलष्य स्त्रियाᳬ रेतः सिञ्चतीति वृषा हि मनः। मनो वै पाथ्यो वृषा" इति श्रुतेः [६।४।२।४]॥ ३४॥

कण्डिका ३५–मन्त्र १।

सीदं होतः स्वऽउं लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञᳬ सुकृतस्य योनौ॥ देवावीर्देवान्हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयो धाः॥ ३५॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सीदेत्यस्य देवश्रवोदेववातावृषी। निचृत्त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ ३५॥

मन्त्रार्थ–(होतः) आह्वान कार्यमें नियुक्त (अग्ने) हे अग्ने! (चिकित्वान्) चेतनवान् अपने अधिकारको जाननेवाले (स्वेउ) अपने (लोके) स्थान कृष्णाजिनपर स्थापित किये पुष्करपर्णपर (सीद) स्थित हो (सुकृतस्य) श्रेष्ठ कर्मके (योनौ) स्थानवाले (यज्ञम्) यज्ञको (आसादय) स्थापनकर (अग्ने) हे अग्ने! (देवावीः) देवताओंके प्रसन्न करनेवाले तुम (हविषा) हविद्वारा (देवान्) देवताओंको (आयजसि) पूजनकर तृप्तकरते हो इस कारण (यजमाने) यजमानमें (बृहत्) बडी (वयः) आयु वा अन्नको (धाः) धारणकर वा इस यजमानको यज्ञफल प्राप्त कराकर इसमें बडा यश स्थापित करो॥ ३५॥

प्रमाण–१ "कृष्णाजिनं वै सुकृतस्य योनिः" इति श्रुतेः [६।४।२।६] सब यज्ञकार्य कृष्णाजिनपर होते हैं इसकारण कृष्णाजिनको सुकृतकी योनि कहाहै [ऋ० ३ १।३३]॥ ३५॥

कण्डिका ३६–मन्त्र १।

नि होता होतृषदने विदानस्त्वेषो दीदिवाँ२ऽअसदत्सुदक्षः॥ अदब्धव्रतप्रमतिर्वसिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निः॥ ३६॥

ऋष्यादि–(१) ॐ निहोतेत्यस्य गृत्समद ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ ३६॥

मन्त्रार्थ–(होता) देवताओंका आह्वान करनेवाला (विदानः) अपने अधिकारको जाननेवाला (त्वेषः) दीप्तिमान् (दीदिवान्) गमनवान् (सुदक्षः) कुशल वा क्षिप्रकारी (अदब्धव्रतप्रमतिः) सिद्धकर्मा और अतिउत्कृष्ट बुद्धिवाले (वसिष्ठः)

पृथ्वीके प्रधाननिवासी (सहस्रम्भरः) सहस्रोंके पोषणकरनेवाले (शुचिजिह्वः) अतिपवित्र जिह्वा [ज्वाला] वाले (अग्निः) अग्नि (होतृषदने) होमनिष्पादक उत्तरवेदीरूप योग्य स्थानमें (न्यषीदत्) भलीप्रकार उपविष्ट हुए ॥ ३६ ॥ [ऋ० २ । ९ । १] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

सꣳसीदस्व महाँ२ऽअसि शोचस्व देववीतमः ॥ वि धूममग्नेऽअरुषं मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतम् ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संसीदस्वेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । निचृदार्षी बृहती छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(मियेध्य) यज्ञके उपयोगी (प्रशस्त) श्रेष्ठ (अग्ने) हे अग्ने ! तुम (देववीतमः) देवगणके प्रियतम (महान्) बडे (असि) हो (संसीदस्व) इस कृष्णाजिनपर स्थापित पुष्करपर्णपर स्थितहो (शोचस्व) होतृधिष्ण्यादिसे उपस्थापित होकर प्रदीप्त हो (दर्शतम्) आहुतिप्राप्तिसे दर्शनीय (अरुषम्) सवन (धूमम्) धूमको (विसृज) छोडो [१२] [ऋ० १ । ३ । ९] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ अनु० ४ ।

अपो देवीरुपसृज मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः ॥ तासामास्थानादुज्जिहतामोषधयः सुपिप्पलाः ३८

ऋष्यादि-(१) ॐ अपोदेवीरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । न्यंकुसारिणी बृहती छन्दः । आपो देवता । मृत्पिण्डगर्ते जलसेचने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे मृत्पिण्डके गर्तमें जल सिंचन करें [का० १६ । ३ । २] मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! वा हे द्यौः ! अथवा हे अध्वर्यो ! (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके (अयक्ष्माय) आरोग्यके निमित्त (देवीः) देवनशील तेजोमय (मधुमतीः) अमृतरूपी (अपः) जल (उपसृज) इस खनन प्रदेशमें सिंचनकरो (तासाम्) उन सींचे जलोंके (स्थानात्) स्थानसे (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलवाली (ओषधयः) ओषधी (आ) सब प्रकारसे (उज्जिहताम्) प्राप्तकरो अर्थात् ओषधी तृण उद्भिज उत्पन्न हों ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र २

सं ते वायुर्मातरिश्वा दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् ।

स्तम्॥ योदेवानाञ्चरसिप्प्राणथेनकस्मैदेववषडस्तुतुभ्यम्॥ ३९॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन्त इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। निचृत्साम्नी त्रिष्टुप्छं०। पृथिवी देवता। पिण्डगर्ते वायुप्रेरणे वि०। (२) ॐ देवानामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋ०। निचृ० छं०। वायुर्देवता। प्रार्थने वि०॥ ३९॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठ कर गर्तमें वायु प्रवेश करे [का० १६। ३। ३] मंत्रार्थ-हे भूमि! (उत्तानायाः) ऊर्ध्वमुखसे अवस्थित (ते) तेरा (यत्) जो (हृदयम्) हृदयपिण्ड (विकस्तम्) विराट्रूपसे विकसित है उस स्थानको (मातरिश्वा) वायु (सन्दधातु) जल प्रक्षेप तृणादि पूरणसे सम्यक् करे अर्थात् अन्तरिक्षचारी वायु उसमें प्रवेश करे १। (देव) हे देव! (यः) जो तुम (देवानाम्) सम्पूर्ण देवता अग्निआदिके (प्राणथेन) प्राणभावसे (चरसि) विचरण करते हो वा जगत्में अवस्थान करते हो (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (कस्मै) प्रजापतिरूपसे यह पृथ्वी (वषट्) वषट्कारवाली (अस्तु) हो अर्थात् तुमको यह मृत्पिण्ड प्रदत्त होता है "हैतावत्यन्याहुतिरस्तियथैषा" इति श्रुतेः [६। ४। ३। ४]॥ ३९॥

कण्डिका ४०-मंत्र २।

सुजातोज्ज्योतिषासहशर्म्मवरूथमासदत्स्वः॥ वासोऽअग्नेविश्वरूपṁसंव्ययस्वविभावसो॥ ४०॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ सुजात इत्यस्य मंत्रद्वयस्य सिंधुद्वीप ऋ०। भुरिगनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। कृष्णाजिनपुष्करपर्णयोः प्रान्तयोरूर्ध्वादाने मुञ्जयोक्त्रेण बन्धने च वि०॥ ४०॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे बिछायेहुए कृष्णाजिनके प्रान्तभागको बन्धनके निमित्त ऊर्ध्व मुख करे [का० १६। ३। ५] मन्त्रार्थ-(सुजातः) भली प्रकारसे प्रगट यह अग्नि (ज्योतिषा) अपनी ज्योतिके (सह) सहित (शर्म) सुखरूप (स्वः) स्वर्गकी समान (वरूथम्) वरणयोग्य यह कृष्णाजिनपर (आसदत्) स्थित हो १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे तीन लकडी रस्सीके द्वारा यह सब प्रान्त एकत्र कर भली रूपसे बांधे [का० १६। ३। ६] मंत्रार्थ-(विभावसो) हे दीप्तिधनवाले! (अग्ने) हे अग्ने! (विश्वरूपम्) यह विचित्रवर्ण कृष्णाजिनरूप (वासः) वस्त्र (संव्ययस्व) धारण करो॥ ४०॥

विवरण-अग्निके प्रवेश करनेका भाव यह कि कृष्णाजिनको कीटादि भक्षण करके निकृष्ट न करदें ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १ ।

उदु॑ तिष्ठ स्वध्वरावा॑ नो दे॒व्या धि॒या ॥ दृ॒शे च॒ भासा॑ बृ॒ह॒ता सु॑शु॒क्वनि॒राग्ने॑ याहि सुश॒स्तिभिः॑ ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुतिष्ठेत्यस्य विश्वमना ऋषिः । पथ्या बृहती वा भुरिगनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पिण्डं गृहीत्वोत्थाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) इस कृष्णाजिनमें बँधे मृत्पिण्डको ले यह मंत्रपाठपूर्वक उठै [का० १६ । ३ । ७] मंत्रार्थ-(स्वध्वरं) हे सुन्दर यज्ञके निर्वाहक (अग्ने) अग्निदेव ! (उत्तिष्ठ) उठो (देव्या) दिव्यगुणक्रीडाके स्वभाववाली (धिया) बुद्धिसे (नः उ) हमको (आअव) सब प्रकारसे पालन करो (च)और (सुशुक्वनिः) श्रेष्ठ किरणोंके फैलानेवाले (बृहता) बडे (भासा) तेजसे (दृशे) सब प्राणियोंको देखनेके निमित्त (सुशस्तिभिः) सुन्दर कीर्ति अथवा सुन्दर अश्वों करके (आयाहि) आगमन करो ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

ऊ॒र्ध्व ऊ॒ षु ण॑ ऊ॒तये॒ तिष्ठा॑ दे॒वो न स॑वि॒ता ॥ ऊ॒र्ध्वो वाज॑स्य॒ सनि॑ता॒ यद॒ञ्जिभि॑र्वा॒घद्भि॑र्वि॒ह्वया॑महे ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्द्ध्व इत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । उपरिष्टाद् बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । प्राक्पिण्डग्रहणे वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) इस मृत्पिण्डको बाहु फैलाय ग्रहण कर यह मंत्र पाठपूर्वक पूर्वाभिमुख जिस स्थलमें वह अश्वादि जाते हैं उधरको गमन करै [का० १६ । ३ । ८] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (नः) हमारी (ऊतये) रक्षाके निमित्त (सविता) सबका प्रेरक सूर्य (देवः) देवताकी (न) समान (ऊर्ध्वः) ऊंचे हो ते (ऊषु) ऊर्ध्व (आतिष्ठ) स्थित हो (ऊर्ध्वः) ऊंचे होते तुम (वाजस्य) अन्नके (सविता) देनेवाले हो (यत्) जिसकारण: कि (अञ्जिभिः) मंत्रके उच्चारण करनेवाले (वाघद्भिः)हव्यवाहक ऋत्विजोंद्वारा (विह्वयामहे) आह्वान करते हैं अथवा द्रव्योंके प्रगट करनेवाली हविकी वहन करनेवाली किरणोंसे युक्त तुमको बुलातेहैं तुम ऊर्ध्वस्थित होकर सविता देवताकी समान अन्नदाता हो [ऋ० १ । ३ । १०] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

सजातोगर्ब्भोऽअसिरोदस्योरग्नेचारुर्विभृतऽओषधीषु ॥ चित्रः शिशुः परितमाᳬस्यक्तून्प्रमातृब्भ्योऽअधिकनिक्क्रदद्गाः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सजात इत्यस्य त्रित ऋ० । विराट् त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वदर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) फिर इस पिण्डको अश्वादिके समीप उपस्थित करके भूमिपर रखाकर अश्वको अग्निरूप लक्ष्यकर यह मंत्र पाठकरै [का० १६ । ३ । ९ ।] पिण्डको नाभिसे ऊपर हाथोंमें रक्खै । मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह तुम (चारु) शोभन पूजनीय (ओषधीषु) पुरोडाशादि लक्षणवाली ओषधियोंमें (विभृतः) पुष्टकरनेको स्थित (चित्रः) अनेक वर्णकी ज्वालाओंसे विचित्ररूप (शिशुः) इस समय उत्पन्नहोनेके कारण शिशुरूप वा प्रशंसनीय (रोदस्योः) द्यावापृथिवीके मध्यमें (जातः) उत्पन्न हुए (गर्भः) गर्भरूप (असि) हो (अक्तूर्नि) रात्रिलक्षणवाले (तमांसि) अन्धकारोंको (परि) दूर करते हुए (मातृभ्यः अधि) ओषधि वनस्पतियोंके सकाशसे (कनिक्रदत्) अत्यन्त शब्दकरतेहुए (प्रगाः) शीघ्रतासे चलो [ऋ० ७ । ९ । २९] ॥ ४३ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! तुम इस द्यावापृथ्वीके मध्यमें समुज्ज्वल रहते हो सब ओषधियोंके पुष्ट करता ऊर्ध्व उदित यही (चन्द्र) सुन्दर मूर्ति तुम्हारीही है रात्रिके अन्धकारकी नाशक है अनेक वर्णके किरणजालसे विचित्र शोभासम्पन्न यह शिशु (नवोदितसूर्य) मूर्तिभी तुम्हारीही है इस जगत्के परिमाणकारी अन्तरिक्ष भागमें सशब्द हठसे प्रदीप्त होनेवाले (विद्युत्) ज्योतिभी तुमही हो ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

स्थिरोभवव्वीड्वङ्गऽआशुर्ब्भवव्वाज्ज्यर्वन् ॥ पृथुर्ब्भवसुषदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्थिरोभवेत्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । रासभो दे० । रासभदर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) अनन्तर रासभको देखकर यह मंत्र पाठ करै । मन्त्रार्थ-(अर्वन्) हे गमनमें कुशल रासभ ! (स्थिरः) स्थिर होकर (वीड्वङ्गः) स्थिरकायावाले

(भव) हो (आशुः) वेगवान् होकर (वाजी) अन्नके हेतु (भव) हो. (पुरीषवाहणः) पुरीष्य अग्नि अर्थात् पांशुरूप मृत्तिकाको वहन करते (त्वम्) तुम (पृथुः) पृष्ठको विस्तीर्ण करते (अग्नेः) अग्निदेहरूप मृत्तिकाके (सुखदः) सुखसे स्थितिके योग्य (भव) हो अर्थात् इसको वहन करो ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

शिवोभवप्प्रजाब्भ्योमानुषीब्भ्युस्त्वमङ्गिरः ॥ माद्यावापृथिवीऽअभिशोचीम्मान्तरिक्षम्माव्वन स्पतीन् ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शिव इत्यस्य त्रित ऋषिः । विराट् पथ्या बृहती छं० । अजा देवता । अजादर्शनपूर्वकं जपे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त अजाको लक्षकरके यह मंत्र पढै । मन्त्रार्थ-(अङ्गिरः) हे अग्निरूप ! अग्निके प्रियशिशु अज ! (त्वम्) तुम (मानुषीभ्यः) मनुष्यसम्बन्धी (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त (शिवः) कल्याणकारी शान्त (भव) हो (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवीको (मा) मत (अभिशोचीः) सन्तप्त करो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (मा) मत सन्तापितकरो (वनस्पतीन्) वनस्पतियोंको (मा) मत सन्तापित करो ॥ ४५ ॥

प्रमाण-"अङ्गिरा वा अग्निराग्नेयोऽजः" इति श्रुतेः [६ । ४ । ४ । ४] अङ्गिराका प्रियपुत्र होनेसे ही पुराणोंमें अग्निका वाहन छाग कहाहै ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र ३ ।

प्रैतुव्वाजीकनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्त्वा ॥ भरन्नग्निम्पुरीष्यम्मापाद्यायुषः पुरा ॥ वृषाग्निंव्वृषणम्भरन्नपाङ्गर्ब्भꣳसमुद्रियम् ॥ अग्नऽआयाहिव्वीतये ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रैतुवाजीत्यस्य त्रित ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वोपरि मृत्पिण्डधारणे विनियोगः (२) ॐ वृषाग्निमित्यस्य त्रित ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छं० । रासभो दे० । रासभोपरि मृत्पिण्डधारणे वि० । (३) ॐ अग्न इत्यस्य त्रित ऋ० । एकपदा गायत्री छं० । अग्निर्दे० । अजोपरि मृत्पिण्डधारणे वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे अश्वके ऊपर मृत्पिण्ड धारण करै [का० १६ । ३ । १०] मन्त्रार्थ-(वाजी) वेगवान् अश्व (कनिक्रदत्) अतिहेषित शब्द करता हुआ (प्रैतु) वेगसे गमन करो (पत्वा) पतनशील (रासभः) गर्दभ (नानदत्) दिशाओंको शब्दायमान करताहुआ यवसवाहनके निमित्त पीछे चलै यह अश्व (पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (भरन्) धारण करताहुआ (आयुषः) कर्मसे (पुरा) पहले (मा) मत (पाहि) विनाशको प्राप्तहो कर्म-समाप्तिपर्यन्त जीवनको प्राप्त हो अर्थात् पुरीष्य अग्निको धारण किये रासभको पश्चात् करके हेषाशब्दपूर्वक वेगसे आगमनकर और परमायुकालसे पहले किसी प्रकार प्राणरहित मत हो १ । विधि-(२) अनन्तर अश्वपृष्ठसे इस पिण्डको लेकर यह मंत्र पढकर रासभकी पीठपर धरै । मन्त्रार्थ-(वृषा) सिंचनमें समर्थ रासभ (वृषणम्) आहुति परिणामसे फलदानमें समर्थ (अपाम्) जलोंके मध्य (गर्भम्) मेघोंमें विद्युत्‌रूपसे होनेवाले (समुद्रियम्) सागरमें वडवारूपसे होनेवाले अथवा अग्निचयनमें होनेवाले "त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳसाम्नां महदुक्थमृचाम्" इति श्रुतेः । (अग्निम्) अग्निको (भरन्) धारण करते आगमन कर २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे यह पिण्ड रासभसे उतारकर अजपर स्थापित करै [१६ । ३ । ११] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! (वीतये) हविभक्षणके निमित्त (आयाहि) आगमन करो ॥ ४६ ॥

विशेष-"यदश्वस्य यजुषि रासभं निराह तद्रासभे शुचं दधाति" इति श्रुतेः [६ । ४ । ४ । ७] अश्वके साथ रासभका कथन उसमें पवित्रता धारण करनेके निमित्त है । आयुशब्दसे श्रुतिमें कर्म कहा है यज्ञसम्बन्धसेही अश्वादिकी स्तुति की है अश्व और रासभसे दूसरे कार्य लेनेकाभी उपदेशहै ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७ मंत्र-४ ।

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निम्पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः ॥ ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतꣳ शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः ॥ व्यस्यन्विश्वाऽअनिराऽअमीवा निषीदन्नोऽअप दुर्म्मतिञ्जहि ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतमित्यस्य त्रित ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । अजस्योपरि पिण्डधारणे वि० । (२) ॐ अग्निमित्यस्य त्रित ऋषिः । साम्नी गायत्री छं० । अनड्वापुरुषाभीक्षणे वि० । (३) ॐ ओषधय इत्यस्य त्रित ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । ओषधयो

दे०। सिकतोपकीर्णे प्राग्द्वारे पिण्डस्थापने वि० । (४) ॐ व्यस्य-न्नित्यस्य त्रित ऋ० । निच्यृत्साम्नी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतम्) आदित्यरूप (सत्यम्) अग्निरूप अर्थात् व्यष्टिसमष्टिरूप आदित्य (सत्यम् ऋतम्) व्यष्टिसमष्टिरूप अग्नि है ऐसी ऋत और सत्यरूप अग्निको अजापर रक्षित करते हैं १ । विधि-(२) अनन्तर अध्वर्यु आहवनीयके समीप सम्यक्रूपसे अग्निको प्रज्वलित करके दूसरे मंत्रसे अनद्धा [देवपितृका-र्यसे विमुख] पुरुषको देखे [का० १६ । ३ । १४] मंत्रार्थ-(पुरीष्यम्) पशुसम्बन्धी (अग्निम्) अग्निको (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (भरामः) संग्रह करते हैं २ । विधि-(३-४) इससे पहले उद्धृत आहवनीयके उत्तर जलसे सींचे मार्जन कियेहुए वालुकामय पूर्वद्वारपर, उत्कृष्ट स्थान प्रस्तुत है इस तीसरे मंत्रसे और परकण्डिकात्मक मंत्रपाठ करके उस स्थलमें उस पुरीष्य अग्निके आधा रमें यह पंकिल मृत्तिका स्थापन करे अर्थात् उखा संभरणके लिये आहवनीयके उत्तर और पहलेही रेखायुक्त खिचे हुए वालुकासे युक्त स्थानपर पिण्डको स्थापन करे[का० १६ । ३ । १४] मन्त्रार्थ-(ओषधयः)हे सम्पूर्ण ओषधियो! तुम (एतम्) इस(शिवम्) शान्त कल्याणकारक और (अत्र) इस स्थलमें (युष्माः) तुम्हारे (आभि) सन्मुख (आयन्तम्) आते हुए (अग्निम्) अग्निके (प्रति) सन्मुख प्रत्युत्थाना-दिसे (मोदध्वम्) आमोदित करो । हे अग्ने ! तुम यहां (नीषीदन्) स्थित होते (नः) हमारे (विश्वाः) सम्पूर्ण (अनिराः) दुर्भिक्षपीडा ईति (अमीवाः) व्या-धियोंको (व्यस्यन्) दूर करते हुए हमारी (दुर्मतिम्) हवन दानसे पराङ्मुख दुर्मतिको (अपजहि) नाश करो ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"इरेत्यन्न नाम" [निघण्टु० २ । ७ । १२] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

ओषधयः प्रतिगृभ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ॥
अयं वो गर्भ ऋत्वियः प्रत्नꣳ सधस्थमासदत् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओषधय इत्यस्य त्रित ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मंत्रार्थ-(ओषधयः) हे सम्पूर्ण ओषधियो ! तुम (पुष्पवती) फूलोंवाली (सुपिप्पलाः) अच्छे फलवाली तुम इस अग्निको (प्रतिगृभ्णीत) स्वीकार करो

(वः) तुम्हारे (गर्भः) गर्भरूप (ऋत्वियः) ऋतुकालको प्राप्त (अयम्) यह अग्नि (प्रत्नम्) पुरातन (सधस्थम्) स्थानको (आसदत्) स्थित हुआ ॥ ४८॥

भावार्थ-हे सब ओषधियो! तुम इस अग्निको पतित्वमें स्वीकार करो यह अग्नि ऋतुकालमें तुम्हारे सनातन योनिदेशमें प्रविष्ट होकर गर्भरूपसे परिणत होताहै इसकारण तुम इसके अनुग्रहसे सुन्दर कुसुमसे शोभित होकर अभीष्ट फल लाभ करतेहो। पिताही स्वयं पुत्ररूपसे प्रकाश पाताहै इस निमित्त सहधर्मिणीका नाम जाया है इस मंत्रमें गूढ पञ्चाग्निविद्याका उपदेश है अग्निसेही ओषधियोंमें पुष्पादि होतेहैं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मंत्र १।

विपाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसोऽअमीवाः॥ सुशर्म्मणो बृहतः शर्म्मणि स्यामग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ ॥ ४९ ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१) ॐ विपाजसेत्यस्य उत्कील ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। अजलोमान्यादाय पशूपसर्जने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठकर इस पिण्डको इस स्थानमें स्थापनके अनंतर पिण्डवाहक छागके कुछ रोम ग्रहण करके अश्वादि तीनोंवाहनोंको अग्निकोणके अभिमुख त्यागन करदे [का० १६।३।१९] मंत्रार्थ-(पृथुना) बडेविस्तारवाले (पाजसा) बलसे (शोशुचानः) दीप्तिमान् हे अग्नि! तुम (द्विषः) शत्रुओंको (रक्षसः) राक्षसोंको (अमीवाः) समस्त व्याधियोंको (विबाधस्व) विशेष निवर्तकरो [परोक्षसे] (सुशर्मणः) अच्छे सुखके कारण (बृहतः) प्रौढ महान् (सुहवस्य) सुखसे बुलानेको शक्य वा आहवनीय (अग्नेः) अग्निके (प्रणीतौ) प्रसन्नकरनेके कार्यमें नियुक्त (अहम्) मैं (शर्मणि) सुखमें (स्याम्) प्राप्त हूं ॥ ४९ ॥

प्रमाण-"पाज इति बलनाम" [निघं० २।९।२।]॥ ४९॥

विशेष-मृगचर्ममें बंधेहुए मृत्पिण्डको खोलकर इस स्थानपर स्थापनकरै [ऋ० ३।१।१९।]॥ ४९ ॥ [१२]

कण्डिका ५०-मंत्र १।

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता नऽऊर्ज्जे दधातन ॥ महे रणाय चक्षसे ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आपोहिष्ठेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । गायत्री छं० । आपो देवता । पिण्डोपर्युदकसिंचने वि० ॥ ५० ॥

विधि–(१) यह कण्डिका और अगली दो कण्डिकाओंका पाठकरके इस पिण्डपर ढाककी छालसे औटाया जल छिडके [का०-२६ । ३ । १७] मन्त्रार्थ–(आपः) हे जलसमूह ! तुम (मयोभुवः) सुखके करनेवाले सुखकी भावना करनेवाले स्नानपानादिसे सुखके उत्पादक (स्थ) हो (नः) हमारेमें (महे) वडे (रणाय) रमणीय (चक्षसे) दर्शनके निमित्त अर्थात् ब्रह्मसाक्षात्कारलक्षणयुक्त (हि) और निश्चयही (ऊर्जे) रसानुभव वा ब्रह्मानंदके अनुभवके निमित्त(आदधातन) स्थापनकरो ॥ ५० ॥

भावार्थ–जिस प्रकार हम सब रसके भोगनेवाले हों वैसा करो तथा ब्रह्मसाक्षात्कार दर्शनके योग्य हमको करो इस लोक और परलोकका सुख दो सुंदर दर्शनका आशय यह कि "यस्मिन् ज्ञाते सर्वं विज्ञातं स्यात्" इति (छान्दोग्ये)जिसके जाननेसे सब जाना जाता है [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मंत्र १ ।

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ॥
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ योव इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । गायत्री छं० । आपो देवता । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ–हे जलो ! (वः) तुम्हारा (यः) जो (शिवतमः) शान्तरूप सुखका एकही कारण (रसः) रस (इह) इस कर्म वा इस लोकमें है (नः) हमको (तस्य) उस रसका (भाजयत) भागी करो (उशतीः) प्रीतियुक्त (मातरः) माता (इव) जैसे अपने स्तनको बालकोंको पिलाती हैं [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥५१॥

गूढार्थ–हे परमात्मन्! आपका जो शान्तरूप ब्रह्मानंद है कृपाकर उस अमृतका भागी हमको करो ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मंत्र १ ।

तस्मा॒ अरं॑ गमाम वो॒ यस्य॒ क्षया॑य॒ जिन्व॑थ ॥
आपो॑ ज॒नय॑था च नः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तस्मा इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । गायत्री छं० । आपो देवतावि० । पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-हे (आपः) हे जलो ! (वः) तुम्हारे सम्बन्धी (तस्मै) उस रसके निमित्त हम (अरम्) शीघ्रप्राप्तिको (गमाम) चलें (यस्य) जिसके (क्षयाय) निवास जगत्के आधारभूत अर्थात् आहुतिपरिणामभूत जिस रसके एकदेशसे तुम ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त जगत्को (जिन्वथ) तृप्तकरते अर्थात् पंचाहुतिके परिणाम-क्रमसे तृप्तकर प्रसन्नकरते हो (च) और (नः) उसके भोगसे हमको (जनयथ) उत्पन्न करते हो अथवा जिसके निवाससे तुम प्रसन्नहोते हो उस गुण वा रसकी प्राप्तिके निमित्त विशेषकर हम तुम्हारे निकट प्राप्त हैं, हे जलो ! तुम हमको प्रजा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य दो। परमात्माकी प्रार्थनाभी इस मंत्रमें है जिसके प्रसादसे मुक्तिका सुखप्राप्त होताहै [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

मि॒त्रः स॒ᳬसृ॒ज्य पृ॑थि॒वीम्भूमि॑ञ्च॒ ज्योति॑षा स॒ह ॥ सुजा॑तञ्जा॒तवे॑दसमय॒क्ष्माय॑ त्त्वा॒ सᳬसृ॑जामि प्र॒जाभ्यः॑ ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्र इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। उपरिष्टाद्बृहती छं० । मित्रो देवता । पिण्डेऽजलोममिश्रणे वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१) इस पिण्डमें छागके लोम इस मंत्रसे मिलावे [का० १६।३।१८।] मंत्रार्थ-(मित्रः) मित्र देवता 'आदित्य' (पृथिवीम्) द्युलोक (च) और (भूमिम्) इस पिण्डरूप भूमिको (ज्योतिषा) ज्योतिरूप अजलोमके (सह) साथ (सᳬसृज्य) एकत्र करके मुझ अध्वर्युको देता है, और मैंभी (सुजातम्) सुन्दर जन्मवाले (जातवेदसम्) प्रज्ञासंयुक्त अजलोमनामक (त्वा) तुझ अग्निको (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके (अयक्ष्माय) रोगनिवृत्तिके निमित्त (सᳬसृजामि) पिण्डसे युक्त करताहूं ॥ ५३ ॥

विशेष-कोई मित्रका शब्द इस स्थलमें हाथका करते हैं ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मंत्र १ ।

रु॒द्राः स॒ᳬसृ॒ज्य पृ॑थि॒वीम्बृ॒हज्ज्योतिः॒ समी॑धिरे ॥ तेषा॑म्भा॒नुरज॑स्र॒ इच्छु॒क्रो दे॒वेषु॑ रोचते ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रुद्रा इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । रुद्रो देवता । पिण्डे सिकतालोहकिट्टपाषाणचूर्णमिश्रणे वि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१) फिर इस मंत्रसे पिण्डमें महीनबालु और लोहकिट्ट और पाषाणचूर्ण मिलावे लोह किट्ट-लोहमल वा लोहचूर्ण। मन्त्रार्थ-(रुद्राः) जिन रुद्रोंने (पृथिवीम्) पार्थिव पिण्डको (सᳬसृज्य) बालु लोहकिट्ट और पाषाणचूर्णसे संयुक्त करके (बृहज्ज्योतिः) प्रौढ अग्निको (समीधिरे) प्रदीप्त किया (तेषाम्) उन रुद्रोंकी (शुक्रः) शुद्ध (भानुः) प्रदीप्त ज्योति (देवेषु) देवताओंके मध्यमें (अजस्रः) परिपूर्ण (इत्) भलीप्रकार (रोचते) प्रकाशित होती है ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १।

सᳬसृष्टांवसुभीरुद्रैर्धीरैःकर्म्मण्याम्मृदम् ॥
हस्ताभ्याम्मृद्वीङ्कृत्त्वासिनीवालीकृणोतुताम् ५५

ऋष्यादि-(१) ॐ संसृष्टामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। विराडनुष्टुप्छन्दः। सिनीवाली दे०। पिण्डे छागलोममिश्रणे वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) ५५ । ५६ । ५७ इन तीन कण्डिकाओंके तीन मंत्र पाठ करके छागलोममिश्रित मृत्तिका मर्दनद्वारा कोमलकर भलीप्रकार मिलावे [का० १६ । ३ । २०] मंत्रार्थ-(सिनीवाली) चन्द्रकलायुक्त अमावस्याभिमानी देवता, अथवा मन (धीरैः) बुद्धिमान् (वसुभिः) वसुगण (रुद्रैः)रुद्रगणोंद्वारा (सᳬसृष्टाम्) शर्करादिसे संयोजित (मृदम्) मृत्तिकाको (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (मृद्वीम्) कोमल (कृत्वा) करके (ताम्) उसको (कर्मण्याम् उखाकर्मके योग्य (कृणोतु) करै ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १।

सिनीवालीसुकपर्द्दासुकुरीरास्वौपशा ॥
सातुब्भ्यमदितेमह्योखान्दधातुहस्तयोः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिनीवालीत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ०। विराडनुष्टुप्छं०। अदितिर्देवता। वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(अदिते) हे दीनतारहित देवमाता ! (महि) हे पूजित ! (सा) वह (सुकपर्दा) सुन्दरकेशबन्धनवाली (सुकुरीरा)सुन्दर मस्तकके चन्द्रिकावाली वा सुन्दर मुकुटवाली (स्वौपशा) विलासमें चतुर अवयववाली (सिनीवाली) चन्द्रकलायुक्त अमावस्याभिमानी देवी (तुभ्यम्) तुम्हारे (हस्तयोः) हाथोंमें (उखाम्) पाकपात्र उखाको (स्थापयतु) स्थापित करो अर्थात् उखा करनेके निमित्त कोमल कीहुई मृत्तिका तुम्हारे हाथमें समर्पण करैं ॥ ५६ ॥

प्रमाण-"अदितिरदीना देवमातेति यास्कः" [निरु० ४ । २३] ॥ ५६ ॥

विशेष–कोई अदितिशब्दसे दीनतारहित बुद्धि ग्रहण करते हैं, इसकोही हस्तपादादि चक्षु इन्द्रियरूप देवताकी माता कहा जाता है जिस समय कुछ चन्द्रकला रहती है वह अमावस्याका काल सिनीवाली कहाजाताहै उस समय मृत्तिकादिमें एक शक्ति प्रगट होती है उसका उखासंवरणमें कथन है "वाग्वा सिनीवाली" इति श्रुतेः [६ । ५ । १ । ९] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र २।

उखां॑ कृणोतु॒ शक्त्या॑ बा॒हुभ्या॒मदि॑तिर्धि॒या ॥
मा॒ता पु॒त्रं यथो॒पस्थे॒ साग्निं बि॑भर्तु॒ गर्भ॒ऽआ ॥
म॒खस्य॒ शिरो॑ऽसि ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उखामित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। अदितिर्देवता। वि० पू०। (२) ॐ मखस्येत्यस्य याजुषी गायत्री छं०। मृत्पिण्डो देवता। उखाकरणे वि०॥ ५७॥

मंत्रार्थ–(अदितिः) आदिति देवता अपनी (शक्त्या) सामर्थ्यसे (धिया) बुद्धिद्वारा (बाहुभ्याम्) हाथोंसे उत्कर्षविधानपूर्वक (उखाम्) पाकपात्रको[1] (कृणोतु) करै (सा) वह उखा (गर्भे) अपने मध्यमें (आ) सब प्रकारसे (अग्निम्) अग्निको (बिभर्तु) धारण करै (यथा) जैसे (माता) जननी (उपस्थे) गोदीमें (पुत्रम्) पुत्रको धारण करती है १। विधि–(२) अनन्तर यजमानपत्नी इस प्रस्तुत मृत्पिण्डसे कुछ मृत्तिका लेकर द्वादश अंगुलिके व्यवधानसे तीन स्थानोंमें रेखायुक्त आषाढनामक इष्टिका बनावे फिर यजमान इस पिण्डसे मृत्तिकाग्रहणपूर्वक ५७ कण्डिकाका शेषभागरूप द्वितीय मंत्र पाठ करके स्वयं उखा प्रस्तुत करै, एकपशुपक्षमें एकाविलस्व विस्तार वाली ऊर्ध्व पांच अस्र। पांचपशुपक्षमें त्रिभाग २३ अंगुलके विस्तारमें प्रादेशमात्र ऊंची हो [का० १६। ३। २३] मंत्रार्थ–हे मृत्पिड! तुम (मखस्य) यज्ञके आहवनीयके (शिरः) मस्तकस्वरूप (असि) हो॥ ५७॥

कण्डिका ५८–मन्त्र ४।

वस॑वस्त्वा कृण्वन्तु गाय॒त्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्ध्रु॒वासि॑ पृथि॒व्यसि॒ धा॒रया॒ मयि॑ प्र॒जाँ रा॒यस्पोषं॑

1 परिपक्व करनेको.

ङ्गोपुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायरुद्द्रा
स्त्त्वाकृण्णवन्तुत्रैष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवास्य
न्तरिक्षमसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पोषङ्गौ
पुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायादित्त्या
स्त्त्वाकृण्णवन्तुजागतेनच्छन्दसाङ्गिरस्वद्ध्रुवासि
द्यौरसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पोषङ्गौपुत्त्यꣳ
सुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानायविश्श्वेत्त्वादेवावै
श्श्वानराऽकृण्णवन्त्त्वानुष्टुभेनच्छन्दसाङ्गिरस्व
द्ध्रुवासिदिशोसिधारयामयिप्प्रजाꣳरायस्प्पो
षङ्गौपुत्त्यꣳसुवीर्य्यꣳसजातान्यजमानाय ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसवस्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः। ब्राह्म्यनुष्टुप्छं०। उखा देवता। मृत्प्रथने वि०। (२) ॐ रुद्रास्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋ०। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। उखा दे०। धातुनिर्माणे वि०। (३) ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य सिंधुद्वी० ऋ०। ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः। उखा दे०। द्वितीयपिण्डिकापूर्वोपरि उत्तरधातुयोजने वि०। (४) ॐ विश्वेत्वेत्यस्य सिंधुद्वी० ऋ०। ब्राह्मी बृहती छन्दः। समीकरणे विनियोगः॥ ५८ ॥

विधि-(१)पहला मंत्र पाठ करके यह मृत्तिका एकबिलस्त मात्र फैलावे [का० १६ । ३ । २३ ।] मन्त्रार्थ-हे उखे ! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) करैं उनकी कीहुई तुम (ध्रुवा) दृढ (असि) हो (पृथिवी)पृथ्वीरूप (असि)हो अर्थात् पृथ्वीरूप होनेसे चन्द्र सूर्य पर्यन्त स्थायी हो (मयि) मुझ (यजमानाय) यजमानके निमित्त (प्रजाम्) सन्तान (रायः) धन (पोषम्) पुष्टि (गौपत्यम्) गोपतित्व (सुवीर्यम्) सुन्दर पराक्रम (सजातान्) सहोदरगणके सहित हमको यथोचित सौहार्द (आधारय) धारण वा परिवर्धित करो १ । विधि-(२)दूसरा मंत्र पाठकरके इस प्रथित फैलाई मृत्तिकाके प्रान्तभाग समस्त ऊर्ध्वमुख धातुनिर्माणकरै"धातुके कलशआदि जिसप्रकार दो भागमें निर्मित होतेहैं

पूर्वकालमें मृत्तिकाकी हांडीप्रभृतिभी इसीप्रकार निर्मित होतीथी इन दो भागोंको संस्कृत भाषामें कपालद्वय और वैदिक शब्दोंमें धातुद्वय कहतेहैं" [का० १६ । ३ । २७] मन्त्रार्थ–हे उखे ! (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुभ्छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) निर्माण करें (ध्रुवा) तुम दृढ (असि) हो कारण कि (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षरूपा (असि) हो शेष पूर्ववत् २। विधि–(३) फिर उखाको जलद्वारा लिम्पनकरके सुचिक्कणकरै तीसरे मंत्रसे दूसरी धातु निर्माणकरै नीचेके पिण्डपर ऊपरका धरै [का० १६ । ३ । २८] मंत्रार्थ–हे उखे ! (आदित्याः) बारह आदित्य (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दकी सामर्थ्यसे (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (कृण्वन्तु) निर्माण करैं तुम (ध्रुवा) दृढ (असि) हो कारण कि (द्यौः) द्युलोकरूप (असि) हो शेष पूर्ववत् ३ । विधि–(४) चौथे मंत्रसे समान चिक्कणकरै [का० १६ । ३ । १९] मन्त्रार्थ–(वैश्वानराः) सब मनुष्योंसे प्राप्त होनेयोग्य वा सबके सम्बन्धी वा सबके हितकारी (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुभ् छन्दके प्रभावसे हे उखे ! (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (कृण्वन्तु) निर्माण करैं (ध्रुवा) तुम दृढ (असि) हो कारण कि (दिशः) दिशास्वरूप (असि) हो शेष पूर्ववत् ॥ ५८ ॥

विशेष–जिस देवताकी महिमाका जो छन्द है उसी अपनी शक्तिसे वह कार्य करता है ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र ३ ।

अदि॑त्यै॒ रास्ना॒स्यदि॑तिष्टे॒ बिलं॑ गृभ्णातु । कृ॒त्वाय॒ सा म॒हीमु॒खां मृ॒न्मयीं॒ योनि॑म॒ग्नये॑ ॥ पु॒त्रेभ्य॒: प्राय॑च्छ॒ददि॑तिः श्र॒पया॒निति॑ ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदित्या इत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । याजुषी गायत्री० । रास्ना देवता । उखायां मेखलास्तनकरणे वि० । (२) ॐ अदितिरित्यस्य सिंधुद्वी० ऋ० । याजुषी बृहती छं० । उखा दे० । उखाया सुखकरणे वि० । (३) ॐ कृत्वायेत्यस्य सिंधु० ऋ० । उष्णिगनुष्टुप्छं० । अदितिर्दे० । भूमौ स्थापने वि० ॥ ५९ ॥

विधि–(१) अनन्तर इस मंत्रसे उखाके ऊर्ध्व परिमाणको तीन अंशमें विभाग करके दो अंशके ऊपर और तीसरे अंशके नीचे मृन्मयी मेखला निर्माण कर

यह विभूषित करै और फिर इस मेखलाके ऊपर चारों ओर चार स्तन निर्माण करै [का०१६।३।३०] मंत्रार्थ-हे मृत्तिकानिर्मित्त रेखा ! तुम (आदित्यै) अदितिरूप उखाकी वा आदितिदेवताके प्रभावसे इस उखाकी (रास्ना) काञ्चीगुणके स्थान-वाली (असि) हो १।विधि-(२) दूसरे मंत्रसे उखाका मुख निर्माणकरै [का० १६ । ४ । ३] मन्त्रार्थ-हे उखे ! (अदितिः) देवमाता (ते) तुम्हारे (बिलम्) मध्यको(गृभ्णातु) ग्रहणकरै अर्थात् अदितिदेवताके प्रभावसे तुम्हारा मुख निर्मित होताहै२।विधि-(३) तीसरे मंत्रसे अच्छी निर्मित्त उखा भूमिपर स्थापित करै[का० १६ । ४ । ४] मन्त्रार्थ-(अदितिः) देवमाता अदिति यह (महीम्) वडी (मृण्मयीम्) मृत्तिकाकी (अग्नये) अग्निकी (योनिम्) स्थानभूत (उखाम्) उखाको (कृत्वाय) निर्माणकर(श्रपयान्) पाककार्यसम्पादनके निमित्त (पुत्रेभ्यः) देवताओंके निमित्त (प्रायच्छत्) प्रदानकरतीहुई (इति) इसप्रकार कहकर कि हे पुत्रो ! तुम इसको पाककरो ॥ ५९ ॥

विशेष-मसीपात्र दवातको विद्यार्थी डोरा बांधकर लेजातेहैं जिसमें कि चारों ओर टेंटू निकले होतेहैं उसीमें डोरा होताहै ठीक वही आकृति उखापात्रकी है ।

कण्डिका ६०-मंत्र ७ ।

वस॑वस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्रु॒द्रास्त्वा॑ धूपयन्तु॒ त्रैष्टु॑भेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदा॑दि॒त्यास्त्वा॑ धूपयन्तु॒ जाग॑तेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वद्विश्वे॑ त्वा दे॒वा वै॑श्वान॒रा धू॑पयन्त्वानु॑ष्टुभेन॒ छन्द॑साङ्गिर॒स्वदिन्द्र॑स्त्वा धूपयतु॒ वरु॑णस्त्वा धूपयतु॒ विष्णु॑स्त्वा धूपयतु ॥ ६० ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ वसवस्त्वेत्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । आर्ची गायत्री छं० । उखा देवता । अश्वशकृद्भिरुखाधूपने वि० । (२) ॐ रुद्रास्त्वेत्य-स्य सिंधु० ऋ० । निच्यृदार्ची गायत्री छं० । उखा दे० । वि० पू० ।(३) ॐ आदित्यास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । आर्ची गायत्री छं० । उखा दे० । वि० पू० ।(४) ॐ विश्वेत्वेत्यस्य सिन्धु० ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं०। उखा दे० । वि० पू० । (५-६) ॐ इन्द्रः-विष्णुस्त्वेत्यस्य मंत्रद्वयस्य सिंधु० ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । उखा दे० । वि० पू० । (७) ॐ वरुण-स्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजापत्या गायत्री छन्दः । उखा दे० । वि० पू० ॥ ६० ॥

विधि-(१-७) अनन्तर घोडेकी लीदके सात समूह अर्थात् सातबारके सात खण्ड दक्षिणाग्निमें प्रज्वलित करके इस कण्डिकाके सात मंत्रोंसे प्रत्येक क्रमसे इस उखाके मध्य बाहर भ्रमण कराकर उखाको धूममें सन्तप्त करै यह कार्य अध्वर्यु करै [का० १४ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-हे उखे! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (धूपयन्तु) धूपित करैं १ । (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी वा प्राणोंकी समान (त्वा) तुझको (धूपयन्तु) धूपित करैं २ । (आदित्याः) आदित्यगण (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके प्रभावसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुमको (धूपयन्तु) धूपित करैं ३ । (वैश्वानराः) सबके हितकारक (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्दके प्रभावसे (आङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको धूपित करैं ४ । (इन्द्रः) इन्द्र (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ५ । (वरुणः) वरुण देव (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ६ । (विष्णुः) विष्णु देवता (त्वा) तुझको (धूपयतु) धूपदे ॥ ७ ॥ ६० ॥ [११]

प्रमाण-"प्राणो वा अङ्गिराः" इति श्रुतेः-[श०] ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मन्त्र ६ । अनु० ६ ।

अदि॑तिष्ट्वा दे॒वी वि॒श्वदे॑व्यावती पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्ख॑नत्ववट दे॒वाना॑न्त्वा॒ पत्नी॑र्दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद्द॑धतूखे धि॒षणा॑स्त्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वद॒भीन्ध॑तामुखे॒ वरू॑त्रीष्ट्वा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वच्छ्र॑पयन्तूखे॒ ग्नास्त्वा॑ दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे॒ जन॑य॒स्त्वाच्छि॑न्नपत्रा दे॒वीर्वि॒श्वदे॑व्यावतीः पृथि॒व्याः स॒धस्थे॑ऽअङ्गिर॒स्वत्प॑चन्तूखे ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अदितिरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । अवटो देवता । गर्तखनने विनि० । (२) ॐ देवानामित्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजापत्या त्रि० छं० । उखा देवता । गर्ते उखास्थापने वि० । (३) ॐ धिषणास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । प्राजा० छं० । उखा दे० । उखादीपने वि० । (४) ॐ वरूत्रीरित्यस्य सिंधुद्वीप ऋ० । आर्षी बृहती छन्दः । उखा दे० । जपे वि० । (५) ॐ ग्नास्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । साम्नी जगती छं० । उखा दे० । जपे वि० । (६) ॐ जनयस्त्वेत्यस्य सिंधु० ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । उखा दे० । उखां दृष्ट्वा जपे वि० ॥ ६१ ॥

विधि-(१) आषाढ उखा और विश्वज्योति यह तीन मृत्पात्र अग्निपक्व करनेके निमित्त प्रथम मंत्रसे अभ्रिद्वारा चौकोन एक गर्त खनन करै [का० १६ । ४ । ९ ।] मन्त्रार्थ-(अवट) हे गर्त ! (विश्वदेव्यावती) समस्त देवताओंकी अधिष्ठात्री (देवी) समस्त दिव्यगुणसम्पन्न (अदितिः) देवमाता (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर भागमें (त्वा) तुझको (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (खनतु) खनन करै १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इस गर्तमें आषाढ स्थापन करके उसके उत्तर भागमें अधोमुख उखास्थापन करके उसके ऊपर तृणादि स्थापन करै [का० १६ । ४ । ११] मंत्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (देवानाम्) देवताओंकी (पत्नीः)स्त्री औषधियें(विश्वदेव्यावती) समस्त देवगणोंके सहित (देवीः) दीप्यमान (पृथिव्याः)पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको(दधतु)स्थापन करैं "ओषधयो वै देवानां पत्न्यः" इति श्रुतेः [श०६।५।४।४] विधि-(३) उखा स्थापनके अनन्तर उसके समीप मौन हो विश्वज्योति स्थापन करके दक्षिणाग्निसे लाई अग्निद्वारा इस तीसरे मंत्रको पाठकर प्रज्वलित करै [का० १६ । ४ । १२] मन्त्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः) समस्त देवगणकी अधिष्ठात्री(धिषणाः) वाणीकी अधिष्ठात्री(देवीः) देवी (पृथिव्याः)पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा)तुझको(अभीन्धताम्)दीप्त करैं ३ । विधि-(४-५-६) फिर चौथा पांचवां और छठा मंत्र पाठ करके इस पाकको देखै अर्थात् ऊपरसे अवेकी समान छिद्र कर देखै [का० १६ । ४ । १४]मन्त्रार्थ-(उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः) सम्पूर्ण देवताओंसे युक्त (वरूत्रयः) अहोरात्रके अभिमानी (देवीः) देवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान(त्वा) तुझे(श्रपयन्तु) पाककरैं अर्थात् एक दिनरात अग्निमें पकावै ४ । (उखे) हे उखे ! (विश्वदेव्यावतीः)समस्तदेवगणकी अधिष्ठात्री (ग्नाः)

वैदिक छन्दोंकी अधिष्ठात्री (देवीः) देवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (आङ्गिरस्वत्)अङ्गिराकी समान (त्वा) तुझको (पचन्तु) पक्क करें आशय यह कि जबतक पके निरन्तर वेदपाठ होता रहे ९। (उखे) हे उखे ! (अच्छिन्नपत्राः) निरन्तर गमनशील (जनयः) नक्षत्राभिमानी (देवीः) देवियें (विश्वदेव्यावतीः) सब देवताओंके सहित (पृथिव्याः) पृथ्वीके (सधस्थे) ऊपर (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (पचन्तु) पाक करें ॥ ६१ ॥

प्रमाण- १ "अहोरात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रैर्हीदꣳसर्वं वृत्तम्" इति श्रुतेः [श० ६।५।४।६] २ "छन्दांसि वै ग्नाश्छन्दोभिर्हि स्वर्गलोकं गच्छन्ति" इति श्रुतेः [श०६।५।४।७] ३ "नक्षत्राणि वै जनयः" इति श्रुतेः [६।५।४।८] इससे निरन्तर वेदपाठकरना इस कार्यमें सूचितहै, जनिशब्दसे नारी गन्धकाष्ठ और नक्षत्रोंका ग्रहण है तथा इन मंत्रोंमें मृत्पात्रका निर्माण तथा उनके पाकका विधानरूप उपदेशहै जिसमें आदि सृष्टिसेही ज्ञान होजाय ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२—मंत्र १।

मित्रस्यं चर्षणीधृतोवोदेवस्यं सानसि ॥ द्युम्नञ्चित्रश्रवस्तमम् ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मित्रस्येत्यस्य सिन्धुद्वीप ऋ०। निचृद्गायत्री छन्दः। मित्रो देवता। श्रपणक्षेपणे वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) फिर उखाआदि तीनपात्रको सुपक्क होनेपर श्रपणको पृथक् करै श्रपण अर्थात् अर्धभस्म अंगाररूपसे परिणत हुए तृणकाष्ठादि[का०१६।४।१९]

मंत्रार्थ-(देवस्य) दीप्तिमान् (चर्षणीधृतः) मनुष्योंके पोषणकरनेवाले (मित्रस्य) मित्रदेवताकी (अवः) रक्षण जो कि (सानसि) सनातन "सानसीति पुराणनाम"[निघं० ३।२७।४] (द्युम्नम्)यशरूपसे प्रसिद्ध (चित्रश्रवस्तमम्) विचित्र तथा अत्यन्त श्रवणके योग्य है उस श्रवणीय यशकी हम प्रार्थना करतेहैं [ऋ० ३।४।६] ॥ ६२ ॥

आशय-यह कि ऐसे उत्तापसे उखाप्रभृति स्फुटित न हुई यह ईश्वरहीकीकृपादृष्टि है।

कण्डिका ६३—मंत्र २।

देवस्त्वा सवितोद्वपतु सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुरुत शक्त्या ॥ अव्यथमाना पृथिव्यामाशा दिशऽआ पृण ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्त्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छन्दः । उखा दे० । उखायाः श्रपणपराकरणे वि० । (२) ॐ अव्यथमानेति वि० ऋ० । भु० बृ० छन्दः । उखाया उत्तानकरणे विनियोगः ॥ ६३ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे भस्म पृथक् करै [का० १६ । ४ । १८-१९) मंत्रार्थ-हे उखे ! (सुपाणिः) सुन्दर हाथ (स्वङ्गुरिः) सुन्दर अंगुली (सुबाहुः) सुन्दरभुजावाले (देवः) दिव्यगुणयुक्त (सविता) सबके प्रेरक देवता (शक्त्या) अपनी शक्तिसे (उत्) बुद्धिसे (त्वा)तुझको (उद्वपतु) भस्मसे प्रकाशकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके आषाढपात्रको बाहरकर उखाको ऊर्ध्वमुख करै [का० १६ । ४ । १९-२०] मंत्रार्थ-हे उखे ! (अव्यथमाना) व्यथाको न प्राप्तहोनेवाली अचल (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें स्थितहुई तुम (आशा) पूर्वआदि दिशा और (दिशः) आग्नेयीआदि दिशाओंको (आपृण) आहुतिके रससे पूर्णकरो २ ॥ ६३ ॥

भावार्थ-हे उखे ! तुम मृन्मयी इतने समयतक मृत्तिकामें स्थितरही हो इस कारण विशेषकर सविता देवताकी अनुकंपासे किसी प्रकार क्लेश न पाना अब उठकर अपने यशसे दिशाविदिशाको पूर्ण करो मणिबन्धसे ऊपरके भागको बाहु और नीचेके भागको पाणी कहते हैं ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र २ ।

उत्थाय बृहती भवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वम् ॥ मित्रैतान्त ऽउखाम्परिददाम्यभित्त्या ऽएषा माभेदि ॥६४॥

ऋष्यादि-(१), ॐ उत्थायेत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । उखामित्रौ दे० । उखानिष्कासने वि० । (२) ॐ मित्रैतामित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । उखा दे० । उखास्थापने वि० ॥ ६४ ॥

विधि-(१) पहले मंत्रको पढकर दोनों हाथोंसे भली प्रकार पाकसे उखाको निकालै [का० १६ । ४ । २१-२२] मन्त्रार्थ-हे उखे ! (त्वम्)तुम (उत्थाय) इस पाकगर्तसे बाहर निकलकर (बृहती) बडी सत्कारयोग्य (भव) हो (उतऊ) और (ध्रुवा) स्थिर होकर (उत्तिष्ठ) अपने कर्ममें प्रवृत्त अर्थात् दृढ होकर कार्यउपयोगिनी हो १ । विधि-(२) निकालीहुई उखाको इस दूसरे मंत्रका पाठकर उत्तर भागमें स्थापित उखापात्रके ऊपर स्थापित कर रक्षा करे फिर मंत्र पढे विना विश्वज्योतिको निकालै [का० १६ । ४ । २२] मन्त्रार्थ-(मित्रम्) हे मित्र देवता ! प्राणियोंके हितकरनेवाले (एताम्) इस

(उखाम्) उखाको (अभित्यै) खण्डित नहोने अर्थात् रक्षाके लिये (ते) आपके निमित्त (परिददामि) देताहूं (एषा) यह तुम्हें सौंपीहुई उखा (माभेदि) किसी प्रकार विदीर्ण न हो यथावत् रहै ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५–मंत्र ४।

वसंवस्त्वाच्छृन्दन्तुगायत्रेणुच्छन्दसाङ्गिरस्वद्रुद्रास्त्वाच्छृन्दन्तुत्रैष्टुभेनुच्छन्दसाङ्गिरस्वदादित्यास्त्वाच्छृन्दन्तुजागतेनुच्छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वेत्वादेवावैश्वानुराऽआच्छृन्दन्त्वानुष्टुभेनुच्छन्दसाङ्गिरस्वत् ॥ ६५ ॥ [५]

ऋष्यादि–(१–२) ॐ वसव आदित्यास्त्वेति मंत्रयोर्विश्वामित्र ऋ०। भुरिगार्ची गायत्री छं०। उखा दे०। (३) ॐ रुद्रास्त्वेत्यस्य विश्वा० ऋ०। प्राजापत्यानुष्टुप्छं०। उखा दे०। (४) ॐ विश्वे देवा इत्यस्य विश्वा० ऋ०। निच्यृत्साम्नी जगती०। उखा दे०। चतुर्णां मंत्राणां मुखोपर्यजादुग्धसिञ्चने वि० ॥ ६५ ॥

विधि–(१–४) इस कण्डिकाके चार मंत्रोंका पाठकर चारवार इस उखाके वाहरभीतर अजादुग्ध सिंचन करै [का० १६।४। २३] **मंत्रार्थ**–हे उखे! (वसवः) वसुगण (गायत्रेण छन्दसा) गायत्रीछन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (आच्छृन्दन्तु) अजादुग्धसे सेचितकरैं १। हे उखे! (रुद्राः) रुद्रगण (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुभ्छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (अच्छृन्दन्तु) सिंचनकरैं २। हे उखे! (आदित्याः) आदित्यगण (जागतेन छन्दसा) जगतीछन्दकी सामर्थ्यसे (अंगिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (आच्छृन्दन्तु) सिंचन करैं ३। हे उखे! (वैश्वानराः) विश्वके हितकारी (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा (आनुष्टभेनच्छन्दसा) अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (त्वा) तुझको (आच्छृन्दन्तु) सिंचन करै॥६५॥[५]

उखासम्भरण पूर्णहुआ।

कण्डिका ६६–मंत्र ७. अनु० ७।

आकूतिमुग्निम्प्रयुज्ऽस्वाहामनोमेधामुग्निम्प्रयुज्ऽस्वाहांचित्तंविज्ञातमुग्निम्प्रयुज्ऽस्वाहा

वाचोविधृतिमग्निम्प्रयुजꣳस्वाहाप्प्रजापतयेम नवेस्वाहाग्नयेवैश्वानरायस्वाहा ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि (१) ॐ आकूतिमित्यस्य विश्वामित्र ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने वि० । (२-३-४) ॐ मन इति त्रयाणां मंत्राणां विश्वामित्र ऋषिः । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने वि० । (५) ॐ प्रजापतय इत्यस्य विश्वा० ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिहोमे वि० । (६-७) ॐ अग्नय इत्यस्य, प्रजापतय इत्यस्य च मन्त्रद्वयस्य विश्वा० ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । लिंगोक्ता दे० । उद्ग्रभणाहुतिदाने विनियोगः ॥ ६६ ॥

विधि-(१-७) इस प्रकार उखासम्भरण कार्य समाप्त करके एवं अन्यान्य इष्टका समाप्त करके फाल्गुन मासकी अमावसको दीक्षित होकर उद्ग्रभण होमकालमें अतिसावधानचित्तसे सोममात्र कर्तव्य कर्म करे[४अ०७का०]पांच आहुति उद्ग्रभण होम करके फिर विशेषतः अग्निचयनकालमें इस कण्डिकाके सात मंत्रसे सात उद्ग्रभण आहुति प्रदान करे [का० १६ । ४ । ३०] मंत्रार्थ-(आकूतिम्) यज्ञसंकल्पके प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (प्रयुजम्) इस यज्ञकर्ममें प्रयुक्त किया उ निमित्त (स्वाहा) यह आहुति प्रदानकीजाती है १ । (मनः) मन और (मेधाम्) मेधा श्रुति मंत्रधारणशक्तिके (प्रयुजम्) प्रेरण करनेवाले (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं २ । (चित्तम्) चित्त अविज्ञात अनुष्ठानके ज्ञानसाधन (विज्ञातम्) विज्ञानके (प्रयुजम्) प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं ३ । (वाचः) मंत्रपाठरूप वाणी (विधृतिम्) और विशेष धारणाके (प्रयुजम्) प्रेरक (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) आहुति देते हैं ४ । (मनवे) मन्वन्तर प्रवृत्त करनेवाले (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ आहुति हो ५ । (वैश्वानराय) विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो ६ । इसमें "प्रजापतये स्वाहा पृथक् करनेसे सात आहुति होती हैं ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मंत्र १ ।

विश्वोदेवस्यनेतुर्मर्त्तोवुरीतसख्यम् ॥ विश्वो रायऽइषुध्यतिद्युम्नंवृणीतपुष्यसेस्वाहा ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वोदेवस्येत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । आर्ष्यु-नुष्टुप्छं० । सविता देवता । ईश्वरप्रार्थने वि० ॥ ६७ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ कर ईश्वरका स्मरण करे । मन्त्रार्थ-(विश्वः) सम्पूर्ण (मर्तः) मनुष्य (नेतुः) फल प्राप्त करानेवाले (देवस्य) परमात्माके (सख्यम्) सख्यताको (वुरीत) प्रार्थना करें (पुष्यसे) कर्म उपासना ज्ञानकी पुष्टिके निमित्त (द्युम्नम्) यश वा अन्नको (वृणीत) इच्छा करो (राये) धन-प्राप्तिके निमित्त (विश्वः) सब मनुष्य (इषुध्यति) उससे प्रार्थना करते हैं (स्वाहा) उनके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ६७ ॥

भावार्थ-क्या धन क्या बल क्या पुष्टिके निमित्त सम्पूर्ण इष्टसाधनके निमित्तही यह मनुष्य मण्डली सर्वनियन्ता देवताकी सख्य प्रार्थना करैं, उसीके उद्देशसे हवि देते हैं ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मन्त्र १ ।

मासुभित्थामासुरिषोम्बधृष्णुवीरयस्वसु ॥
अग्निश्चेदङ्करिष्यथः ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मास्वित्यस्यात्रेय ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । उखाग्नी देवते । आहवनीय उखारोपणे वि० ॥ ६८ ॥

विधि-(१) अनन्तर दीक्षणीय सम्पूर्ण कार्यशेष करके और कृष्णाजिन दीक्षाप्रभृति दण्डोच्छ्रयणपर्यन्त जो सम्पूर्ण कार्य सोमयागमें किये जाते हैं उनको समाप्त करके अध्वर्यु और यजमान ईशानाभिमुख अथवा पूर्वाभिमुख होकर यह कण्डिका और परकण्डिकात्मक तीन मंत्र पाठ करके सुप्रज्वलित अग्निके ऊपर प्रथम शणनिर्मित पक्षिनीड [घोंसले] की समान आच्छादित फिर मुञ्जके बने पक्षिनीडकी समानसे आच्छादित उखा स्थापन करै [का० १६ । ४ । ३१] मन्त्रार्थ-(अम्ब) हे माता उखे ! तुम (सु) अवश्यही(मा)मत (भित्थाः) विदीर्ण हो (सु) अवश्यही (मा) मत (रिषः) विनाशको प्राप्त हो अर्थात् न टूटो न लेशमात्र भिन्न हो (धृष्णुः) किन्तु प्रगल्भतापूर्वक (सु) भली प्रकार (वीरयस्व) वीरकर्म करो (अग्निः) अग्नि (च) और तुम (इदम्) समाप्ति-पर्यन्त इस हमारे कार्यको (करिष्यथः) करोगे अर्थात् अग्नि हमारी प्रार्थनासे उखोपयोगिता करै. ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

दृꣳहस्वदेविपृथिविस्वस्तयऽआसुरीमायास्वध

याँकृतासिं ॥ जुष्टन्देवेब्भ्यऽइदमस्तुहव्यमरिष्टा त्वमुदिहियज्ञेऽअस्म्मिन् ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृढंहस्वेत्यस्यात्रेय ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । उखा देवता । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(देवि) हे देवी ! (पृथिवि) पृथ्वि उखे !(स्वस्तये)यजमानके कल्याणके निमित्त (दृढंहस्व) दृढ हो मृत्तका कार्य होनेसे पृथ्वी और मंत्रोंसे निष्पादित होनेसे देवता कहा (स्वधया) अन्नके निमित्त (आसुरी) प्राणसम्बन्धिनी (माया) प्रज्ञा (कृता-असि) कीगई हो अथवा तुमने चार स्तन धारण करके आसुरीमाया 'मोहिनीमूर्ति' अवलम्बन कीहै (इदम्) यह (हव्यम्)-हवियोग्यअन्न (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (जुष्टम्) प्रिय (अस्तु) हो अर्थात् तुममें अन्नका पाक आवाहित होगा और उससेही इस यज्ञमें देवगण प्रसन्न होंगे (त्वम्) कार्यशेषपर्यन्त तुम (अरिष्टा) अभग्नरूपसे (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (उदिहि) अवस्थितिकरो कार्यसमाप्तिपर उत्थित होगी ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"प्राणो वा असुस्तस्यैषा माया" इति श्रुतेः [६ । ६ । २ । ६] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मन्त्र १ ।

द्रुन्नऽसुर्प्पिरांसुतिह्प्प्रुत्नोहोतावरेण्यः ॥ सहसस्प्पुत्रोऽअद्भुतः ॥ ७० ॥ शतम् ॥ ५०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्रुन्न इत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । विराड् गायत्री छं० । अग्निर्देवता० । अग्नौ कार्मुकीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७० ॥

विधि-(१) अभितापसे उखामें अग्नि प्रगट होनेपर इन तेरह मंत्रोंसे प्रादेशमात्र समिधा अग्निमें प्रक्षेप करे इस मंत्रसे प्रथम घृतासिक्त कार्मुकी समित् प्रदान करे [का० १६ । ४ । ३३] मंत्रार्थ-(द्रुन्नः) जिसका प्रधान भक्ष्य पलाशकाष्ठ है (सर्पिरासुतिः) जिसका प्रधान पानी घृत है (प्रत्नः) जो पुरातन (होता) देवगणोंका आह्वान करनेवाला (वरेण्यः) वरणीय (सहसः) बलसे मथन करनेसे (पुत्रः) उत्पन्न होनेवाला (अद्भुतः) आश्चर्यरूप है वह अग्नि देवता कार्मुकी समिद् भक्षण करे ॥ ७० ॥

प्रमाण-"द्रून्नः सर्पिरासुतिरिति दार्वन्नः" । [श० ६ । ६ । २ । १४] आत्माही उखा, योनि मुञ्ज, शण जरायु है उल्व घृत, गर्भ समिधा है । [श० ६ । ६ । २ । १५] ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मन्त्र १ ।

परस्याऽअधि संवतोवराँ२ऽअभ्यातर ॥ यत्राहमस्मि ताँ२ऽअव ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परस्या इत्यस्य विरूप ऋ० । विराड् गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अग्नौ वैकंकतीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दूसरे वैकंकत समिधाको प्रक्षेप करे [का० १६ । ४ । ३६] मन्त्रार्थ-(परस्याः) शत्रुसम्बन्धी (संवतः) संग्राममेंसे "सम्वत् इति संग्रामनामसु पठितम्"[निघं० २ । २७](अवरान्)हमारे जनोंको(अभ्यातर) दुःख तारनेको सन्मुख आओ अर्थात् हे अग्ने !यदि हम किसी संग्राममें शत्रु-पक्षीय सेनागणकी अपेक्षा हीनबल हो तो तुम्हारे प्रसादसे उस विपद्-समूहसे उत्तीर्ण होजायँ और (यत्र) जिस स्थानमें (अहम्) मैं (अधि आसि) सम्यक् स्थित हू (ताम्) उन स्थानको (अव) रक्षाकरो [ऋ० ६ । ९ । २६] ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२-मन्त्र १ ।

परमस्याः परावतो रोहिदश्वऽइहागहि ॥ पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने त्वं तरा मृधः ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमस्या इत्यस्य वारुणिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । औदुम्बरीसमित्प्रक्षेपणे वि० ॥ ७२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे तीसरे उदुम्बरकी समिधा प्रक्षेपकरै [का० १६ । ४ । ३७] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (रोहिदश्वः) रोहितनामा अश्व रखनेवाले (पुरीष्यः) पशुसम्बन्धी वा पाक पकनेसे उत्पन्न होनेवाले (पुरुप्रियः) बहुजनप्रिय (त्वम्) तुम (परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूररहनेवाले अर्थात् अनेकोंकी बुद्धिअगोचर प्रायः अतिदूर रहकरभी (इह)इस यज्ञकर्ममें (आगहि) आगमन करो (मृधः) संग्राममें शत्रुओंको (आतर) विनाशकर उत्तीर्णहो अर्थात् प्रकृत-कार्यके निर्वाहक हो ॥ ७२ ॥

भावार्थ-पृथ्वीके नाभिस्वरूप इस उखाके मध्यमें अग्नि समिद्ध होनेसे हम प्रचुर धनसम्पत्तिके निमित्त इस अग्निको आह्वान करते हैं वह हविआदि भोग प्राप्त करके अत्यन्त आमोदित हो याज्ञिक मात्रही इनको बडे २ उक्थ मंत्रोंसे स्तुति करते हैं यह हमको प्रधान अर्चनीय यह सर्व ही विजयी इनके प्रभावसे ही हम रण-स्थलमें शत्रुके पराभव करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १ ।

याः सेनाऽअभीत्वरीराव्याधिनीरुगणाऽउत ॥ ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्तेऽअग्नेऽपिदधाम्यास्ये ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याः सेना इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो (सेनाः) शत्रुकी सेना (अभीत्वरीः) हमारे सन्मुख आनेवाली (उत) और जो सेना (आव्याधिनीः) हमारी सब प्रकारसे ताडन करनेवाली है और जो (उगणः) शस्त्रधारी (ये) जो (स्तेनाः) चोर हैं (च) और (ये) जो (तस्कराः) डाकू हैं (अग्ने) हे अग्ने ! (तान्) उनको (ते) तुम्हारे (आस्ये) प्रज्वलित मुखमें (अपिदधामि)आहुत करताहूं अथवा हे अग्ने ! जो हमारी सेनामें पलायनतत्पर हैं जो सेनाके सिपाही अकर्मण्य हैं जो अस्थिरचित्त हैं लालच देनेसे दूसरोंसे मिलजातेहैं जो चोर और डाकू हैं उन सबको प्रज्वलित अग्नि भक्षण करे "तस्करस्तत्करोति यत्पापकम्" इति [निरु० ३ । १४ ।] ॥ ७७ ॥

अथवा जो कामादिकी सेना चित्तको विगाडतीहै उसको ज्ञानाग्निमें भस्मकरतेहैं ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मन्त्र १ ।

दꣳष्ट्राभ्याम्मलिम्लूञ्जम्भ्यैस्तस्कराँ२ऽउत ॥ हनुभ्याꣳस्तेनान्भगवस्ताँस्त्वङ्खादसुखादितान् ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दꣳष्ट्राभ्यामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । भुरिगार्ग्युष्णिक्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मंत्रार्थ-(भगवः) हे परमैश्वर्यसम्पन्न परात्पर परमेश्वर हे अग्निस्वरूप ! (त्वम्) आप (मलिम्लून्) जो गांवमें प्रगट भावसे चोरी करतेहैं [गुप्त प्रगट दो प्रकारके चोर होतेहैं प्रगट भी दो प्रकारके होतेहैं जो वनमार्गमें प्रहारकरके पलायन करजातेहैं वे एक निर्भय होकर गावोंमें आकर धनग्रहण करतेहैं वे मलिम्लू कहातेहैं अथवा जिनमें बहुत पाप है जनवनमें अदृश्य हो धन हरतेहैं]उनको(दꣳष्ट्राभ्याम्)केवल डाढौं [कीलौं] से (तस्करान्)तस्करोंको जो निर्जनस्थानमें दस्युवृत्ति करते हैं, उनको (जम्भ्यै) आगेके दांतोंसे (उत) और (स्तेनान्) चोरोंको (हनुभ्याम्) हनु ठोडीसे पीडितकर (तान्) उन (सुखादितान्) अच्छे प्रकार नष्ट करने योग्योंको जीवरहितकर (खाद) भक्षण वा नष्टकरो ॥ ७८ ॥

भावार्थ-हे परमात्मन् ! हमारे बाहर भीतर इन्द्रियोंमें जो कामक्रोधादि चोर प्रविष्ट होरहेहैं आप उन सबको नष्ट करो ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र ३ ।

ये जनेषु मलिम्लवस्तेनासस्तस्करा वने ॥ ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येजनेष्वित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । निच्यृदानुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७९ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो (जनेषु) ग्रामवर्ती मनुष्याके स्थानमें (मलिम्लवः) पूर्वोक्त मलिम्लुच (स्तेनासः) और स्तेन नामसे प्रसिद्ध गुप्त चोर हैं,जो(वने)वनमें निर्जन प्रदेशमें गमन करते (तस्कराः) तस्कर नामसे प्रसिद्ध प्रगट चोर हैं (ये) जो (कक्षेषु) नदी पर्वत गहन स्थानोंमें (अघायवः) पापाभिलाषी लोभसे मनुष्योंके प्राणहरनेवाले हैं हे अग्ने ! (तान्) उन सबको (ते) तुम्हारी (जम्भयोः) डाढोंके अन्तरमें खानेको (दधामि) स्थापन करताहूं अध्यात्मपक्षमें कामादिनाशके निमित्त परमात्माकी प्रार्थना है राजाको उचितहै कि उपरोक्त स्थानोंमें चोरोंकी खोजकर उनको विनाश करैं ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १ ।

योऽअस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः ॥ निन्दाद्योऽअस्मान्धिप्साच्च सर्वन्तम्मस्मसा कुरु ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यो अस्मभ्यमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० । पू० ॥ ८० ॥

विधि-(१) पूर्वोक्त चोरोंके भेद कहकर अब शत्रुओंके भेद कहते हैं मन्त्रार्थ-(यः) जो (जनः) मनुष्य (अस्मभ्यम्) हमसे (अरातीयात्) शत्रुता करै जो हमारे देय धनको हमें न दे (च) और (यः) जो (नः) हमसे (द्वेषते) द्वेषकर हमारे कार्य नष्ट करता है (यः) जो (निन्दात्) हमारी निन्दा करता है गुणमें दोप प्रगट करता है वा अल्प दोषको वडा कहता है (च) और जो (अस्मान्) हमको (धिप्सात्) प्राणवधका यत्न करता है (तम्) उन चार प्रकारके अराति द्वेषी निन्दक जिघांसु अर्थात् मारनेकी इच्छाकरनेवाले (सर्वम्) सबको (भस्मसा) भस्म (कुरु) करो अर्थात् नष्टकरो पक्षान्तरमें कामादिके नाशकी परमात्मासे प्रार्थना है ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

सꣳशितम्मेब्ब्रह्मसꣳशितंव्वीर्य्यम्बलम् ॥ सꣳशितङ्क्षत्रञ्जिष्णुयस्याहमस्मिपुरोहितः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सꣳशितमित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । निच्यृदार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । समिद्धारणे वि० ॥ ८१ ॥

विधि-(१) इच्छा करता क्षत्रिय यजमानकी वारहवीं समिधको धारण करै अर्थात् पुरोहित यजमानकी इच्छासे समिध धारण करै [का० १६ । ४ । ४१]

मंत्रार्थ-हे अग्ने ! वा हे परमात्मन् ! आपके प्रसादसे (मे) मेरा (ब्रह्म) ब्रह्मतेज (सꣳशितम्) तीक्ष्णहुआ वा मैंने अपने ब्राह्मणत्वको शास्त्रमार्गवर्त्ती किया (वीर्यम्) इन्द्रियशक्ति (बलम्) शरीरशक्ति (सꣳशितम्) स्वकार्यमें समर्थ हुई (यस्य) जिसका (अहम्) मैं (पुरोहितः) पुरोहित(अस्मि) हूं उसको (क्षत्रम्) क्षत्रतेज (जिष्णुः) जयशीलने (सꣳशितम्) तीक्ष्ण किया अर्थात् उसके क्षत्रप्रभावसे जयशीलता तीव्रहुई । इनके अन्तमें स्वाहा प्रयोग करै ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १ ।

उदेषाम्बाहूऽअतिरमुद्वर्चोऽअथोबलम् ॥ क्षिणोमिब्ब्रह्मणामित्रानुन्नयामिस्वाँ२ऽअहम् ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदेषामित्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मंत्रार्थ-इन परमात्मा अग्निके प्रसादसे (एषाम्) इन अपने ब्राह्मण राजाओंके बीचमें (बाहू) अपनी भुजा (उदतिरम्) ऊंची की यह लोकोक्ति भी है कि जब कोई औरोंसे उत्कृष्ट होता है तब लोक कहते हैं इसने अपना हाथ ऊपर किया अथवा इन ब्राह्मणादि सबकी भुजाओंको कार्यशक्ति योग्य किया या यह मेरी भुजा सबसे अधिक हुई (वर्चः) तेजने सबकी कान्तिको अतिक्रमण किया (बलम्) बलने शरीरशक्तिने सबके बलको अभिभूत किया (अहम्) मैं (ब्रह्मणा) मंत्रकी सामर्थ्यसे (अमित्रान्) अमित्र शत्रुओंको (क्षिणोमि) नष्ट करता वा अधःपातित करताहूं (स्वान्) अपने पुत्रपौत्रादिको (उन्नयामि) उत्कृष्टताको प्राप्त करताहूं इस प्रकार तेरह समिधा मंत्र कहे ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १।

अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः॥ प्रप्र दातारं तारिषऽऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ८३ ॥ [१८]

इतिश्रीशुक्लयजुस्संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्नपत इत्यस्य नाभानेदिष्ठ ऋषिः । उपरिष्टाद्बृहती छन्दः । अग्निर्दे० । अग्नौ समिदाधाने वि० ॥ ८३ ॥

विधि-(१) इस प्रकार तेरह समिधा प्रक्षेप होनेपर यजमान इस उखा-अग्निमें यह मंत्र पाठ करके समिदाधान करै अर्थात् अध्वर्युसे व्रत पयके देने उपरान्त समिधा डाले [का० १६ । ६ । ८] मंत्रार्थ-(अन्नपते) हे अन्नके पालक अग्ने ! (नः) हमारे (अनमीवस्य) व्याधिरहित (शुष्मिणः) बलदायक "शुष्ममिति बलनाम" [निघं० २ । ९ । ११] (अन्नस्य) अन्नको (देहि) प्रदान करो (प्रदातारम्) अन्नके देनेवाले (प्रतारिषः) हमारी अतिवृद्धि करो (नः) और हमारे (द्विपदे) मनुष्य पुत्रादि (चतुष्पदे) गौआदिकोंमें (ऊर्जम्) अन्नको (धेहि) धारण करो अर्थात् सब मनुष्य और पशुओंको अन्न दो ॥ ८३ ॥ [१८]

इति श्रीशुक्लयजुर्मन्त्रभागे माध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डित-ज्वालाप्रसादमिश्रकृतमिश्रभाष्ये उखासम्भरणादिसमिदा-धानान्त एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

शुभमस्तु ।

अथ द्वादशोऽध्यायः १२.

ग्यारहवें अध्यायमें उखासम्भरणके मंत्र कहे बारहवें अध्यायमें उखाधारणके मंत्र कहतेहैं ॥

इशानः सप्तदश दिवस्पपरि द्वादश समिधाग्निं पञ्चदश आपेत सप्तदश आसुन्वन्तं त्रयोदश ग्राओषधीः सप्तविंशतिः मासा षोडश सप्तसप्तदशशतम् ॥

कण्डिका १-मं० १. अनु० १।

दृशानोरुक्मऽउर्व्याव्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रियेरुचानः ॥ अग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्यदेनन्द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृशान इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । रुक्मं देवतम् । ग्रीवायां रुक्मबन्धने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) समिदाधानके उपरान्त यजमान ईशानकोणमें स्थित होकर अपनी ग्रीवामें रुक्म परिधानकरें(यह रुक्म एक कण्ठका आभूषणविशेष है यह उस सम्म सुवर्णफलकके निम्नमें त्रिवृत सनके सूत्रसे पोयाहुआ चलायमान २१ बृहत्मोती वा सुवर्णके गोलदानोंसे शोभित होताहै और इसके पीछेकी और मृगचर्मका एक टुकडा लगाहुआ होताहै जिससे ग्रीवाके पसीनेसे मलिनता न हो लोकमें इसको कण्ठा कहतेहैं) [का०१६ ।५।१] मन्त्रार्थ-(दृशानः) प्रत्यक्ष प्राप्त (श्रिये) मनुष्योंके निमित्त लक्ष्मी प्रदानकरनेको (रुचानः) रुचिकारक अभिलाषित (दुर्मर्षम्) तिरस्कारके अयोग्य (आयुः) आयु वा जीवनरूप (रुक्मः) सुवर्णाभरण वा सूर्य (उर्व्या) महती दीप्तिसे (व्यद्यौत्) प्रकाशित होताहै (अग्निः) सो यह अग्नि (वयोभिः) अन्नादि पुरोडाशादिसे (अमृतः) चिरस्थायी (अभवत्) हुआ (यत्) जिसकारणसे (सुरेताः) सुन्दरअग्निरूप(द्यौः) द्युलोकवासी देवगण(एनम्) इस अग्निको (अजनयत्) प्रगटकरते हुए ॥ १ ॥

भावार्थ-जिससे द्युलोक और यह सुरेता अग्नि स्थित: प्रत्यक्ष होती है, इस कारण यह अमर है, यह आहुति भक्षण करते इस स्थानमें चिरस्थायी हों, हम इसीके प्रसादसे अब आयुवृद्धि और धनवानके चिह्न स्वरूप अतीव समुज्ज्वल द्युतिमान् यह रुक्म धारण करते हैं [ऋ० ७।८।२९]॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र ३।

नक्तोषासासमनसा विरूपेधापयेतेशिशुमेकꣳस मीची ॥ द्यावाक्षामारुक्मोऽअन्तर्विभातिदेवाऽ अग्निंधारयन्द्रविणोदाः ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नक्तोषासेत्यस्य कुत्स ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । इण्ड्वाभ्यामुखाग्रहणे वि० । (२-३) ॐ द्यावा-देवा इतिमंत्रयोः कुत्स ऋ० । याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । आसन्द्यामुखाहरणे शिक्यवत्यामाधाने च विनि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे परिमण्डलइण्डुओंके द्वारा आहवनीय अग्निमें स्थापित अतिसन्तप्त उखा धारण करै [का० १६ । ५ । ३ ।] इण्डुशब्दसे लोहादिनिर्मित वा काष्ठनिर्मित दीर्घ शलाका ये दोनों एकत्र करके मुखके आगे परिमण्डल गोलाकार होजाते हैं यह परिमण्डल इण्डुद्वय कहाते हैं लोकमें इसको संडासी कहतेहैं । मन्त्रार्थ-हे उखे ! (समनसा) समानमनवाले (विरूपे) दिनरातरूप कृष्णशुक्लभेदसे विलक्षणरूप (समीची) परस्पर आलिंगनकरते (नक्तोषासा) रात्रिदिन (एकम्) एक (शिशुम्) बालकरूप अग्निको सायम्प्रातः अग्निहोत्रादिकर्मसे (धापयेते) तृप्तकरतेहैं इस प्रकार दिनरात्रिरूप इण्डुसे उखाको ग्रहणकरताहूं "जिसप्रकार दिनरात दोनोही एक मात्र कालपरिमाणसे एकान्त प्रवृत्त होतेहैं, इसीप्रकार दोनो इण्डुके ग्रहणसे एकान्त कार्य प्रवृत्ति होती है । दिन प्रकाशस्वरूप और रात्रि अंधकारस्वरूप है इस स्थलमें एक इण्डु पूर्वमुख और एक पश्चिममुख जानना । दिन जैसे रात्रिको आलिंगन करनेको धावमान होताहै इसीप्रकार रात्रि दिनके आलिंगन करनेको धावमान होती है, जो दोनो इण्डु सन्मुख न हों तो वह मण्डलाकार नहीं हो सकते और उनके न मिलनेसे उखा ग्रहण नहीं होसक्ती इसकारण परस्पर आलिंगन कहा । मातापिता जिस प्रकार अपने बालकको कोमल और दृढ हाथसे ग्रहण करते हैं इसी प्रकार उखा ग्रहण करै जिससे उनकी गोदीसे गिरकर भग्न न हो" 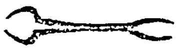 इण्डुस्वरूप १। विधि-(२) दूसरे मंत्रसे इसको इस स्थानसे संडासीद्वारा उठावै [का० १६।५ ४]मन्त्रार्थ-(द्यावाक्षामा) ऊपर द्युलोक और नीचे भूलोकके (अन्तः) मध्यमें (रुक्मः) जो रोचमान अग्नि वा अन्तरिक्षमें उठाई उखा (विभाति) विशेष शोभित होती है उसको उठाताहूं २ । विधि-(३) इससे पहले आहवनीयके

अग्रमें स्थापित आसन्दीके ऊपर उद्गाताद्वारा शिक्य स्थापित है तीसरे मंत्रको पढकर यह उखा शिक्यवतीके ऊपर स्थापित करै शिक्यशब्दसे छींका लेते हैं यह उखा रखनेके निमित्त उदुम्बरके काष्ठसे बनी प्रादेशमात्र चौकोन आसन्दी अर्थात् चौकी वा पीढी प्रस्तुत करके छींकेमें ग्रथित करते हैं इसको शिक्यवती कहते हैं [का० १६ । ५ । ५] मन्त्रार्थ–(द्रविणोदाः) यज्ञद्वारा धनरूप फलके दाता (देवाः) देवगण (अग्निम्) अग्निको धारण करते हुए अथवा यजमानके प्राणोंने इस उखा अग्निको धारण किया "प्राणा वै देवा द्रविणोदाः" [तैत्ति०] ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र १ ।

विश्वा॒ रू॒पाणि॒ प्रति॑ मुञ्चते क॒विः प्रासा॑वीद्भ॒द्रं द्वि॒पदे॒ चतु॑ष्पदे ॥ वि नाक॑मख्यत्सवि॒ता वरे॑ण्यो॒ऽनु॑ प्र॒याण॑मु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वारूपाणीत्यस्य श्यावाश्व ऋषिः । विराड् जगती छन्दः । सविता देवता । शिक्यपाशबन्धने वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे षडुद्याम शिक्याके दो उद्याम एकत्र करके ग्रन्थि प्रदान करै उद्याम ऊपर खैंचनेके निमित्त तिलडीकीहुई रस्सी दो उद्यामबन्धनी शिक्याको षडुद्याम शिक्य कहते हैं [का० १६ । ५ । ६] मंत्रार्थ–(वरेण्यः) वरणीय श्रेष्ठ (कविः) विद्वान् क्रान्तदर्शी (सविता) जगत्के प्रेरक सविताके प्रभावसे (विश्वा) सम्पूर्ण जगत्की वस्तु (रूपाणि) विविध प्रकारके रूपोंको (प्रतिमुञ्चते) धारण करती हैं (द्विपदे) दुपाये मनुष्यादि (चतुष्पदे) चौपाये गौआदि सब प्रकारके प्राणियोंको (भद्रम्) स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूप श्रेयको (प्रासावीत्) प्रेरण करता है अर्थात् जिनसे सब प्रकारके प्राणी कल्याणमें चिरवर्ती रहते हैं और जो (नाकम्) स्वर्गको (व्यख्यत्) प्रकाश करते हैं, अथवा स्वर्गके प्रधान देवता कहके विख्यात हैं और जो (उषः) उषा कालके (प्रयाणम्) गमनके (अनु) पीछे (विराजति) विराजमान होते हैं "अर्थात् जिनके प्रयाणमें आगे २ उषादेवी पताकावाहिनीकी समान निरन्तर गमन करती है, उन देवताओंने हमको इस कार्यमें नियुक्त किया है वह देवता शिक्यको प्रतिमुञ्चन करै" ॥ ३ ॥

विवरण–सूर्यकी किरणोंसे सब रंग होते हैं यह विख्यात है [ऋ० ४ । ४ २४] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र १ ।

सुपर्णोऽसि गुरुत्माँस्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ ॥ स्तोमऽआत्मा छन्दाᳬंस्यङ्गानि यजूᳬंषि नाम ॥ साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः ॥ सुपर्णोऽसि गुरुत्मान्दिवं गच्छ स्वः पत ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सुपर्णोसीत्यस्य श्यावाश्व ऋ० । भुरिग्धृतिश्छं० । सुपर्णो देवता । ऊर्ध्वबाहुर्भूत्वा शिक्यचालने वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पाठ करके इस उखाविशिष्टः शिक्यवतीको ऊर्ध्व बाहु होकर मण्डपके पूर्व दिशाकी ओर चालन कर झुलादे [का० १६ । ५ । ७] "विषहन्त्री चतुरवसाना कृतिः" मन्त्रार्थ–हे उखाग्ने ! जिस कारण कि तुम ऊर्ध्व-गामी होनेमें समर्थ हो और महान् हो इस कारण तुम (सुपर्णः) सुन्दर पंखवाले पक्षिराज (गरुत्मान्) वेगगामी गरुडकी समान (असि) हो (त्रिवृत्) त्रिवृत् स्तोम (ते) तुम्हारा (शिरः) शिरके स्थानमें है (गायत्रम्) गायत्री वा गायत्र साम (ते) तुम्हारे (चक्षुः) नेत्र हैं (बृहद्रथन्तरे) बृहत् और रथन्तर साम (पक्षौ) तुम्हारे दोनो पंख हैं (स्तोमः) पंचदशस्तोम (आत्मा) तुम्हारा अन्तःकरण है (छन्दाᳬंसि) गायत्रीआदि इकीस छन्द तुम्हारे (अङ्गानि) हृदयादिअंग हैं (यजूᳬंषि) इषेत्वा आदि यजु तुम्हारे (नाम) नाम अर्थात् परिचायक हैं (वामदेव्यंसाम) वामदेव्यनामक साम (ते) तुम्हारा (तनूः) शरीर है (यज्ञायज्ञियम्) यज्ञायज्ञिनामक साम तुम्हारी (पुच्छम्) पुच्छ है (धिष्ण्याः) होतृआदि धिष्ण्यमें स्थित अग्नि (शफाः) तुम्हारे खुरनख-स्थानीय हैं इसप्रकार हे अग्ने ! तुम (गरुत्मान्) वेगवान् गरुडकी समान (सुपर्णः) पक्षिरूप (असि) हो इसकारण (दिवम्) आकाशके प्रति (गच्छ) गमनकरो (स्वः) स्वर्गलोकको (पत) प्राप्त हो अथवा हे गरुड ! आकाशमें उडो स्वर्गमें गमनकर उपस्थित हो, प्रयोग करनेसे यह विषहारी मंत्र है तथा यजमानमें बलस्थापन कियाजाता है. ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र ५ ।

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्दऽआरोह

पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमाति
हा त्रैष्टुभं छन्दऽआरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व वि
ष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्दऽआ
रोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूय
तो हन्तानुष्टुभं छन्दऽआरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥५॥

ऋष्यादि-(१-२-३-४) ॐ विष्णोरिति चतुर्णां मन्त्राणां श्यावाश्व ऋ० । निचृदार्षी बृहती छं० । उखाग्निर्देवता । विष्णुक्रमक्रमणे वि० । (५) ॐ विष्णोरित्यस्य श्यावा० ऋ० । आर्ची बृहती छन्दः । अग्निर्दे० । दिग्वीक्षणे विनियोगः ॥ ५ ॥

विधि-(१-४) उखाअग्निको ऊर्ध्व हस्तमें ग्रहणपूर्वक यजमान इस कण्डिकाके प्रथमादि चार मंत्रोंको पढकर चारवार विष्णुक्रम करै, अर्थात् स्वयं विष्णुकी भावना करते चारवार चरण रक्खै, और उस समय भूलोक, अन्तरिक्ष लोक, द्युलोक और चतुर्थ लोक गमनकी चिन्ता करै [का० १६ । ५ । ११] मन्त्रार्थ-हे प्रथम पादविन्यास ! तुम (विष्णोः) यज्ञाग्निका (सपत्नहा) शत्रुघाती (क्रमः) क्रम (असि) हो (गायत्रः) इस कारण गायत्री (छन्दः) छन्दको (आरोह) अनुग्रह कर स्वीकार करो, फिर (पृथिवीम् अनु) भूदेवतारूप इस भूमिके प्रदेशको (विक्रमस्व) विशेषकर प्राप्त हो, अर्थात् तुम गायत्रीछन्दके प्रभावसे इस भूलोकमें प्राप्त हो, तुम्हारे प्रभावसे सब शत्रु नष्ट हो "स यः स विष्णुर्यज्ञः सः । सः यः सः यज्ञोऽयमेव स योयमग्निरुखायाम्" इति श्रुतेः [श० ६ ७।२।११]इससे यहां विष्णु शब्दसे उखा आग्निका ग्रहण है १।हे द्वितीयपादविन्यास!तुम (विष्णोः) उखाग्निके (अभिमातिहा) पापनाशक (क्रमः)क्रम(असि)हो(त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुभ् (छन्दः) छन्दको (आरोह) अनुग्रहकर स्वीकार करो (अन्तरिक्षम् अनु) पश्चात् अन्तरिक्षस्थानको (विक्रमस्व) प्राप्त करो अर्थात् त्रिष्टुभ् छन्दपर आरोहण करके अन्तरिक्ष लोकको व्याप्त हो तुम्हारे प्रभावसे प्राणघातक दस्युदल नष्ट हो २ । हे तृतीय पादविन्यास ! तुम (विष्णोः) उखाग्निके (क्रमः) क्रम (अरातीयतः)धन लेकर न देनेवालोंको (हन्ता) नाशक (असि) हो (जागतम् छन्दः) जगती छन्दको (आरोह) आरोहणकरो (दिवम्) द्युलोक गमनके(अनु) पीछे (विक्रमस्व) स्थानको प्राप्त हो अर्थात् जगतीछन्दमें आरोहण कर द्युलोकको

व्याप्त हो तुम्हारे प्रभावसे आत्मवंचक कृपण नष्ट हो ३ । हे चतुर्थ पादविन्यास (विष्णोः) तुम उखाग्निके (क्रमः) क्रम (शत्रूयतः) शत्रुता करनेवालेके (हन्ता) नाशक (असि) हो (आनुष्टुभम्) अनुष्टुभ् (छन्दः) छन्दको (आरोह) आरोहण करो अर्थात् तुम अनुष्टुभ् छन्दपर आरोहण करके तुरीय लोकमें व्याप्त हो तुम्हारे प्रभावसे दुर्जन नष्ट हों ४ । विधि-(९)पंचम मंत्रसे दशों दिशा निरीक्षण करे [का० १६ । ५ । १३] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (दिशः) सब दिशा विदिशाओंमें (अनुविक्रमस्व) परिव्याप्त हो ॥ ९ ॥ ५ ॥

कण्डिका६-मंत्र १ ।

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ॥ सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धोऽअख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देव० । ऊर्ध्वबाहुग्निस्पर्शे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) ऊर्ध्ववाहु हो यह मंत्रपाठकरके इस शिक्यवतीमें स्थित अग्निको स्पर्श करे [का० १६ । ५ १४] मंत्रार्थ-(द्यौः) स्वर्गकी (इव) समान अर्थात् मेघकी समान (स्तनयन्) गर्जनाकरते हुए (क्षामा) पृथ्वीको (रेरिहत्) आस्वादनकरो "क्षामेति पृथ्वीनामसु पठि०" [नि० १।१।३] (वीरुधः) वृक्षोंको (समञ्जन्) अंकुरितकरते अथवा अपनी ज्वालासमूहसे औषधियोंको व्याप्तकरते (अग्निः) अग्नि (अक्रन्दत्) प्रदीप्तहोताहै (हि) जिसकारणसे कि (जज्ञानाः) प्रगट होताहुआ (सद्यः)शीघ्रही (इद्धः) दीप्तहो (ईम्)इस सबको (व्यख्यत्) विख्यात अर्थात् प्रकाशकरताहै (रोदसी) द्यावापृथ्वीके (अन्तः) मध्यमें (भानुना) रश्मिद्वारा (आभाति) प्रकाशित होताहै जैसे मेघ बिजलीसे द्यावापृथ्वीके अन्तरमें प्रकाशितहोताहै इसीप्रकार यह अग्नि पर्जन्यवत् स्तुति की जातीहै [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १

अग्नेऽभ्यावर्त्तिन्नभि मा नि वर्त्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन ॥ सन्न्या मेधया रय्या पोषेण ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अग्निसामीप्यानयने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) यहांसे चार मंत्र पाठ करके चारबार इस अग्निको समीप लावे [का० १६। ५ । १५] मन्त्रार्थ-(अभ्यावर्तिन्) हमारे सन्मुख आनेके शीलवाले गमनागमनमें समर्थ (अग्ने) हे अग्नि देव परमात्मन् ! (आयुषा) आयु (वर्चसा) तेज कान्ति (प्रजया) सन्तान (सन्या) इष्टलाभ (मेधया) धारणावती बुद्धि (रय्या) सुवर्णादि अलंकार (पोषेण) आयुआदिकी पुष्टिसे (मा) मेरे (अभि) सन्मुख (निवर्तस्व) प्राप्त हो अर्थात् शीघ्र हमारे निकट प्राप्त हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

अग्ने॑ऽअङ्गिरः श॒तन्ते॑ सन्त्वा॒वृतः॑ स॒हस्र॑न्तऽउपा॒वृतः॑ ॥ अधा॒ पोष॑स्य॒ पोषे॑ण॒ पुन॑र्नो न॒ष्टमाकृ॑धि॒ पुन॑र्नो र॒यिमाकृ॑धि ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने अङ्गिरा इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-(अङ्गिरः) हे श्रेष्ठ अंगवाले ! (अग्ने) हे अग्निदेवता !(ते)आपकी (आवृतः) गमनागमनशक्ति (शतम्) सैंकडों हैं (ते) आपकी(उपावृतः) निवृत्तिशक्ति (सहस्रम्) सहस्रों (सन्तु) हों (अधा) इसकारण प्रार्थना करते हैं (पोषस्य) शतसंख्याक आवृत्तिशक्तियोंकी समृद्धिके प्रभावके (पोषेण) लक्षसंख्यादि वृद्धिद्वारा (नः) हमारे (नष्टम्)व्ययहुए धनको (पुनः) फिर (आकृधि) सबप्रकार सम्पादन करो (पुनः) फिरभी (नः) हमारे (रयिम्) पूर्वसम्पादित धनको (आकृधि) सबप्रकार सम्पादनकरो अर्थात् आवृत्तिशक्तिके प्रभावसे हमको असंख्य धनका अधिकारी करो और उपावृत्तिशक्तिके प्रभावसे नष्टधन पुनः प्राप्तकराओ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

पुन॑रू॒र्जा निव॑र्तस्व॒ पुन॑रग्नऽइ॒षायु॑षा ॥ पुन॑र्नः पाह्य॒ꣳहसः॑ ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनरूर्जेत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! तुम (ऊर्जा) क्षीरादि रसके सहित (पुनः) फिर (निवर्तस्व) आगमनकरो (इषा) अन्न (आयुषा) जीवनके साथ (पुनः) फिर आगमन करो आयेहुए तुम हमको (पुनः) फिर (अꣳहसः) पापोंसे (पाहि) रक्षाकरो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १।

सहरय्या निवर्त्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया ॥
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहरय्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। निचृद्दार्षी गायत्री छं०। अग्निर्दे०। वि० पू० ॥ १० ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (रय्या) धनके (सह) सहित (निवर्तस्व) लौटो (विश्वप्स्न्या) सब संसारके उपभोगयोग्य (धारया) वृष्टिरूप जलधारासे (विश्वतः) सम्पूर्ण जगत्के तृण धान्य लता वृक्षोंके (परि) ऊपर (पिन्वस्व) सिंचन करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १।

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः ॥ विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्वेत्यस्य ध्रुव ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। नाभेरुपर्युखाग्निधारणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) नाभिके ऊपर उखा अग्निको धारण कर यह मंत्र पाठ करै [का० १६।९।१६] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! (त्वा) तुमको (अहार्षम्)मैने आहरण किया है (अविचाचलिः) अत्यन्त अचल होकर तुम (ध्रुवः) स्थिरता युक्त (अन्तरभूः) उखाके मध्यमें (तिष्ठ) स्थितहो हमारी(सर्वाः)सम्पूर्ण (विशः) प्रजा (त्वा) तुम्हारी (वाञ्छन्तु) इच्छा करै अथवा सब अन्न तुममें स्थित हों "अन्नं वै विशः" इति श्रुतेः[६।७।३।७।] (राष्ट्रम्) हमारा राज्य (त्वत्) तुमसे (मा) मत (अधिभ्रशत्) शून्य हो अथवा "श्रीर्वै राष्ट्रं मात्वच्छ्रीरधिभ्रशत्" इति श्रुतेः[६।७।३।७] श्री तुमसे भ्रष्ट न हो [ऋ० ८।८।३१]॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमꣳ श्रथाय ।

थाय ॥ अथा वयमादित्यव्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुत्तममित्यस्य शुनःशेप ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । वरुणो देवता । गलादूर्ध्वमार्गेण रुक्मपाशमोचने वि० ॥१२॥

विधि-(१)इस मंत्रसे रुक्मपाश और शिक्यपाश गलेसे ऊपरकी ओरसे बाहर निकाले यह तीसरी कण्डिकामें गलेमें धारणकी थी[का०१६।५।२१]मंत्रार्थ-(वरुण) हे सब पाशतापनिवारक देव ! (उत्तमम्) हमारे उत्तम अंग शिरमें स्थापित (पाशम्) अपनी पाशको (अस्मत्) हमसे (उत्) निकाल कर (आश्रथाय) दूर करो तथा (अधमम्) अधम अङ्ग पाद प्रदेशमें स्थापित अपनी पाशको (अव) सब प्रकार खेंचकर दूर करो (मध्यमम्) मध्यम प्रदेशमें स्थित अपनी पाशको विच्छेद करो (अथ) तीनों पाशके विनाशानन्तर (आदित्य) हे अदितिपुत्र ! अखण्डित शक्तिमान् वरुण (अनागसः) अपराधरहित (तव) तुम्हारे (व्रते)कर्ममें वर्तमान (वयम्) हम (अदितये) दीनतारहित अखण्डित तत्त्वके योग्य (स्याम) हों ॥ १२ ॥

आशय-यह कि स्थूल लिङ्ग और कारण शरीरके बंधनसे रहित हो मुक्तिको प्राप्त हों ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

अग्ने बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात् ॥ अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्रे बृहन्नित्यस्य त्रित ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । अग्नेरूर्ध्वधारणे वि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके मण्डपके अग्निकोणमें उखाविशिष्ट शिक्यावतीको फिर झुलादे [का० १६ । ५ । १७] मन्त्रार्थ-(बृहन्) प्रभावसे महान् (अग्निः) अग्नि (उषसाम्) उषा कालके (अग्रे) आगे (ऊर्ध्वः) ऊंचा (अस्थात्) स्थित हुआ (तमसः) रात्रि लक्षणवाले अन्धकारसे (निर्जगन्वान्) निकला (ज्योतिषा) दिन लक्षणवाली ज्योतिके संग (आ-अगात्) यहां प्राप्त हुआ (रुशता) अंधकारको दूर करता हुआ (भानुना) किरणजालसे (स्वङ्गः) शोभनशरीर हुआ (जातः) उत्पन्नमात्रही (विश्वा) सम्पूर्ण (सद्मानि)

स्थान अर्थात् सब लोकोंको (आ) सब प्रकार अपने तेजसे (अप्राः) पूर्ण करता हुआ "इमे वै लोका विश्वा सद्मानि" इतिश्रुतेः [श० ६ । ७। ३ । १०] आदित्य-रूपसे अग्निकी स्तुति है कि उषोदयमें ऊर्ध्व उदित होते निशाकालमें ज्योति विस्तार कर तम दूर करते, सर्वाङ्गसुन्दर अग्नि प्रकाशमात्रही अपने किरणसमूहसे सब अन्धकार दूर करकै प्रतिगृहमें ज्योति पूर्ण करते हैं [ऋ० ७ । ९ । २९] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र २।

ह॒ꣳसः शु॑चि॒षद्वसु॑रन्तरिक्ष॒सद्धोता॑ वेदि॒षदति॑थिर्दुरोण॒सत् ॥ नृ॒षद्व॑र॒सदृ॑त॒सद्व्यो॑म॒सद॒ब्जा गो॒जाऽऋ॑त॒जाऽअ॑द्रि॒जाऽऋ॒तम्बृ॒हत् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) हꣳस इत्यस्य त्रित ऋषिः । निच्यृज्जगती छं० । अग्निर्देवता । उखाग्न्यवतारणे वि० । (२) ॐ बृहदित्यस्य त्रित ऋ० । दैव्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्दे० । आसन्द्यामग्निस्थापने वि० ॥ १४ ॥

राजसूय प्रकरणमें अतिजगती यहां जगती छन्द है ।

विधि-(१) प्रथम मंत्र पाठ कर शिक्यासे उखा अग्नि अवतारण करै का० १६ । ५ । १८] मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या १० अ० २४ मंत्रमें होगई यहां यह हंस आदि अग्निके विशेषण जानने । विधि-(२) दूसरे मंत्र पाठ पूर्वक इसको आसन्दीमें स्थापन करै [का० १६ । ५ । ९] मन्त्रार्थ-हे अग्नि ! तुम (बृहत्) अतिमहान् हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र २।

सीद॒ त्वम्मा॒तुर॒स्याऽउ॒पस्थे॒ विश्वा॑न्यग्ने व॒युना॑नि वि॒द्वान् ॥ मैना॒न्तप॑सा॒ मार्चि॒षाभिशो॑चीर॒न्तर॑स्याꣳ शु॒क्रज्यो॑ति॒र्वि भा॑हि ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सीदत्वमित्यस्य त्रित ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति तीन मंत्र पढकर अग्निका उपस्थान करै [का० १६ । ५ । २०] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) ज्ञानके उपायोंको (विद्वान्) जाननेवाले (त्वम्) तुम (अस्याः) इस

(मातुः) माताकी समान उखाके (उपस्थे) गोदमें (सीद) स्थित हो (एनाम्) इसको (तपसा) सन्तापसे (मा) मत (अभिशोचीः) सन्तापित करना(अर्चिषा) ज्वालासे (मा) मत दीप्तकरना (अस्याम्) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (शुक्र-ज्योतिः) निर्मलप्रकाशसे (विभाहि) विशेष प्रदीप्तिमान् हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

अन्तरग्ग्ने रुचात्त्वमुखायाᳬं सदने स्वे ॥ तस्यास्त्वᳫं हरसा तपञ्जातवेदः शिवो भव ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्तरित्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (रुचा) अपनी दीप्तिसे (उखायाः) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (स्वे) अपने (सदने) घरमें दीप्तहोकर स्थित हो (जातवेदः) हे सबके जाननेवाले (त्वम्) तुम (हरसा) ज्योतिसे(तपन्)तपते हुए (तस्याः) उस उखाके (शिवः) कल्याणकारी (भव) हूजिये ॥ १६ ॥

भावार्थ-परमात्माकी प्रार्थनामें अपनी महिमासे प्रकाश करते सबके ज्ञाता इसका मंगल करो ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

शिवो भूत्वा मह्यमग्ग्नेऽअथो सीद शिवस्त्वम् ॥ शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः १७॥[१७]

ऋष्यादि-(१) ॐ शिवोभूत्वेत्यस्य त्रित ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (त्वम्) तुम (मह्यम्) मेरे निमित्त (शिवः) कल्याणकारी (भूत्वा) होकर (अथो) और इसके अनन्तर (शिवः) सर्वात्मासे शान्तस्वरूप होकर (सीद) स्थितहो (सर्वाः) सम्पूर्ण (दिशः) दिशाओंको (शिवाः) कल्याण करके (इह) इस उखारूप अपनी (योनिम्) स्थानमें (आसद) स्थित हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १. अनुवाक २.

दिवस्परि प्रथमञ्जज्ञेऽअग्निरस्मद्द्वितीयम्परि

जातवेदाः ॥ तृतीयमप्सु नृमणाऽअजस्रमिन्धानऽएनं जरते स्वाधीः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दिवस्परीत्यस्य भलन्दनपुत्रवत्सप्रीर्ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने वि० ॥ १८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकासे प्रारंभ कर ग्यारह मंत्र वात्सप्रेय कहाते हैं इनसे उखाअग्निका उपस्थान करे कोई बारह मंत्र कहते हैं [का० १६ । ५ । ३१-३२] मन्त्रार्थ-(जातवेदाः) सबके ज्ञाता (अग्निः) अग्नि (प्रथमम्) प्रथम (दिवः) द्युलोकमें (परिजज्ञे) सूर्यरूपसे प्रगटहुए अथवा प्राणही द्युलोक है प्राणोंसे ही यह प्रथम उत्पन्न होतीहै "प्राणो वै दिवः प्राणाद्वा एष प्रथममजायत" इति श्रुतेः [६ । ७ । ४ । ३] (द्वितीयम्) दूसरी जातवेदा अग्नि (अस्मत्परि) हम ब्राह्मणों के सकाशसे प्रादुर्भूत हुआ "यदेनमदो द्वितीयं पुरुषविधोऽजनयत्" इति श्रुतेः [६ । ७ । ४ । ३] "समुखाच्चयोनेर्हस्ताभ्यांचाग्निमसृजत" इति च श्रुतेः (नृमणा) प्रजापतिने (तृतीयम्) तीसरी वार (अजस्रम्) निरन्तर (अप्सु) जलोंके अन्तर स्थित अग्निको अर्थात् जलके गर्भमें स्थित अग्निको सृजन किया "प्रजापतिर्वै नृमणा अजस्रोऽग्निः" इत्यादिश्रुतयः [६ । ७ । ४ । ३] इस प्रकार बहुजन्मा अग्नि है (स्वाधी) सुन्दर बुद्धिवाला यजमान (एनम्) इस अग्निको (इन्धानः) प्रदीप्त करता हुआ (जरते) प्रगट करता है अथवा अग्नि प्रथम द्युलोकमें सूर्यरूपसे वर्तमान है दूसरी अग्नि जातवेदस नामसे मनुष्योंमें व्यवहृत होती है, तीसरी अग्नि समुद्रगर्भमें वडवारूपसे विख्यात है, स्वाधीनचित्त यजमानगण सर्वथा हितकारी और प्रसिद्ध अग्निको इन्धनपूर्वक जरा पर्यन्त सेवन करते हैं अध्यात्म पक्षमें जीवनके अवसानतक बुद्धिमान् पुरुष आत्मा अग्निको विचारसे चैतन्य करते रहते हैं [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

विद्मा तेऽअग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ॥ विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यतऽआजगन्थ ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विद्मा इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! जो पूर्व मन्त्रमें कहे (त्रेधा) तीन स्वरूप आदित्य, अग्नि, वडवानल रूप हैं (त्रयाणि) तीनों उन (ते) तुम्हारे रूपोंको (आविद्म) हम जानते हैं अथवा अग्नि वायु सूर्य संज्ञक तुम्हारे तीन रूपोंको हम जानते हैं, और आपके सम्बन्धी (पुरुत्रा) गार्हपत्य, आहवनीय, अन्वाहार्यपचन आग्नीध्रीयादि स्थानोंमें (विभृता) धारण करनेवाले (ते) तुम्हारे (धाम) स्थानोंको भी (आविद्म) हम जानते हैं और (यत्) जो (ते) तुम्हारा (परमम्) अत्यन्त (गुहा) गुप्त स्थित यविष्ठ इत्यादि मंत्रमें परिगणित प्रसिद्ध (नाम) नाम है उसको भी (आविद्म) जानते हैं और (तम्) उस (उत्सम्) उत्स्यन्दन जलरूप स्थानको भी (आविद्म) जानते हैं (यतः) जिस जलरूप स्थानसे विद्युत्‌रूप तुम (आजगन्थ) प्राप्त हुए हो ॥ १९ ॥

विवरण-परमात्माके सत्त्वरजतमके तीन अवतार जो उत्पत्ति पालन और लय करते हैं वा जो सूर्य अग्नि वायुरूप हैं उनका विचार कर्तव्य है [ऋ०।७।८। २८] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

समुद्रेत्वा नृमणाऽअप्स्वन्तर्नृचक्षाऽईधेदिवोऽअग्नऽऊधन् ॥ तृतीयेत्वारजसितस्थिवाᳬंसमपामुपस्थेमहिषाऽअवर्द्धन् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ समुद्र इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नृमणाः) मनुष्योंके हितकारी प्रजापतिने (समुद्रे) समुद्रमें वडवानलरूपसे वर्तमान तुमको (ईधे) प्रदीप्त किया (नृचक्षाः) पढतेहुये पुरुषोंमें स्पष्ट मंत्रके कहनेवाले प्रजापतिने (अप्सु) वृष्टिरूपजलोंके (अन्तः) अन्तर विद्युत्‌रूपसे प्रकाशित किया (दिवः) द्युलोकके (ऊधन्) उत्कृष्ट (तृतीये) तीसरे अर्थात् समुद्रवृष्टिकी अपेक्षा तीसरे (रजसि) रंजनकरनेवाले तेजोमण्डल आदित्य रूपसे (तस्थिवाᳬंसम्) स्थित होते हुए (त्वा) तुमको प्रजापतिने दीप्त किया (महिषाः) महान् प्राणोंने (अपाम्) जलोंके (उपस्थे) उत्संगमें स्थित तुमको (अवर्द्धन्) प्रदीप्त किया "प्राणा वै महिषाः" इति श्रुतेः [श० ६ । ७ । ४ । ५ ।] अथवा पुरीष्यपिण्ड सृजन करतेमें तुमको पुष्ट किया [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १ ।

अक्रन्दद॒ग्निस्त॒नय॑न्निव॒ द्यौः क्षामा॒ रेरि॑ह॒द्वी॒रुध॑ꣳ स॒मञ्जन्॥ स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो वि ही॑मि॒द्धो अख्य॒दा रोद॑सी भा॒नुना॑ भात्य॒न्तः ॥ २१ ॥

विधि–(१) ६ अ० २१ कण्डिकामें अक्रन्ददिति इसकी व्याख्या होचुकी है भावार्थ कहते हैं वि० पू० ॥ २१ ॥ अग्नि देवता मेघकी समान गर्जन करते पृथ्वीको आस्वादन करते औषधि वृक्षादिको अंकुरित करते शीघ्र प्रगट होकर द्यावापृथ्वीमें परिव्याप्त होकर प्रभावसहित देदीप्यमान होते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र १ ।

श्री॒णामु॑दा॒रो ध॒रुणो॑ रयी॒णाम्म॑नी॒षाणा॒म्प्रार्प॑णः॒ सोम॑गोपाः ॥ वसुः॑ सू॒नुः सह॑सो अ॒प्सु राजा॒ वि भा॒त्यग्र॑ उ॒षसा॑मिधा॒नः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ श्रीणामित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ–(श्रीणाम्) गौ घोडे आदि सम्पत्तिका (उदारः) अतिशय देनेवाला (रयीणाम्) धनोंका (धरुणः) धारणकरनेवाला (मनीषाणाम्) मनके अभिलाषोंका (प्रार्पणः) प्राप्त करानेवाला (सोमगोपाः) यजमानकर्तृक सोमयागका रक्षक (वसुः) सबका निवास हेतु वासवमें निवास करनेवाला अथवा मनुष्यलोकका प्रकृत धन (सहसः) मन्थनवेगरूप बलसे (सूनुः) प्रगट होनेसे पुत्ररूप (अप्सु) जलमें स्थित वरुणरूपसे (राजा) राजा अथवा मेघोंमें विद्युतरूपसे दीप्यमान (उषसाम्) प्रभातके (अग्रे) प्रथम (इधानः) आदित्यरूपसे दीप्यमान अग्नि (विभाति) विशेषकर प्रकाशित होता है कारण कि प्रभात कालमें अग्नि होमादिसे प्रगट होताहै [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १ ।

विश्व॑स्य के॒तुर्भुव॑नस्य॒ गर्भ॒ आ रोद॑सी अपृणा

जायमानः ॥ वीडुञ्चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदुग्निमयजन्त पञ्च ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वस्येत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ-यह अग्नि (विश्वस्य) सम्पूर्ण जगत्का (केतुः) विज्ञानस्वरूप आत्माग्नि (भुवनस्य) सब प्राणिमात्रोंके अन्तरमें (जायमानः) वायु आत्मासे प्रगट होनेवाला वा सूर्यरूपसे प्रगट होकर (रोदसी) द्यावा पृथिवीको (आ) सब प्रकार (अपृणात्) तेजसे पूर्ण करता है (परायन्) चन्द्ररूपसे सब ओर गमन करता (वीडुम्) अतिदृढ (चित्) भी (अद्रिम्) मेघको (अभिनत्) विदीर्ण करता है अर्थात् जो प्रतिदिन उदित होकर अति सुदृढ पर्वतका भी रन्ध्रभेद करके भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त अपनी ज्योति पूर्ण करता है (पञ्चजनाः) मनुज गण, वा चारऋत्विज और यजमान (अग्निम्) उस अग्निका (आ) सब प्रकार (अयजन्त) यजन करते हैं "इस मंत्रमें योगवीज और परमात्माकी महिमा गर्भित है सुषुम्नासे मूलाधारतक रन्ध्र और ज्योतिका कथन है" [ऋ० ७ । ८ । २८] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्त्तेष्वग्निरमृतो निधायि ॥ इयर्त्ति धूममरुषम्भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उशिगित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(उशिक्) लोकोंको काम्य कान्तिमान् (पावकः)शोधक (अरतिः) दुष्टोंसे प्रीतिरहित (सुमेधाः) श्रेष्ठ बुद्धिमान् (अमृतः) मरणधर्मरहित (अग्निः) अग्नि (मर्त्येषु) मरणधर्मा मनुष्योंमें देवताओंद्वारा (निधायि) स्थापन किया गया (अरुषम्) उपद्रवरहित वा रोषरहित (धूमम्) धूमको (उदियर्ति) वृष्टिके निमित्त आकाशमें प्राप्त करता है (भरिभ्रत्) जगत्को धारण करताहुआ (शुक्रेण) निर्मल (शोचिषा) प्रभावयुक्त कान्तिसे (द्याम्) द्युलोकको (इनक्षन्) व्याप्त करता हुआ है [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २४ ॥

प्रमाण-१ "इतो वा अयमूर्ध्वᳪरेतः सिञ्चति धूमᳪ सामुत्र वृष्टिर्भवति" इति श्रुतेः। २ "इतः प्रदानाद्धि देवा उपजीवन्ति" इति श्रुतेः।

भावार्थ-यह अग्नि अतिशय कान्तिमान् प्रसिद्ध शोधनकरनेवाला, दुष्टोंसे प्रीतिशून्य भक्तोंकी प्रार्थना जाननेवाला स्वयं अमर होकर भी मर्त्य भूमिमें मनुष्योंके उपकारके निमित्त स्थापित (सूर्य) रूपसे अपनी शुभ्रदीप्तिद्वारा द्युलोकस्थित नक्षत्रमण्डलपर्यन्त व्याप्त करके जगत्पालन करते हैं उनका यह सुन्दर धूमपुञ्ज वृष्टिके निमित्त स्वर्गमें गमन करता है ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १।

इशानोरुक्क्मऽउर्व्याव्यद्यौद्दुर्म्मर्षमायुः श्रियेरुचा॥ नाऽग्निरमृतोऽअभवद्वयोभिर्य्यदेनन्द्यौरजनयत्सुरेताः ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ-ॐ इशान इत्यस्य । इस मंत्रकी व्याख्या इसी अध्यायके प्रथम मंत्रमें होगई [वि० पू०] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

यस्तेऽअद्यकृणवद्भद्रशोचेऽपूपन्देवघृतवन्तमग्ने ॥ प्रतन्नयप्रतरंवस्योऽअच्छाभिसुम्नन्देवभक्तंयविष्ठ ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(भद्रशोचे) हे कल्याणदीप्ति ! (देव) हे दिव्यगुणसंयुक्त ! (अग्ने) हे अग्ने ! (अद्य) इस समय आज प्रतिपदामें (यः) जो यजमान (ते) तुमको (घृतवन्तम्) घृतसिक्त (अपूपम्) पुरोडाशको (कृण्वत्) करता है वा प्रदान करता है (यविष्ठ) हे अतियुवा ! (तम्) उस यजमानको (प्रतरम्)अतिश्रेष्ठ (वस्यः) स्थानको (प्रणय) प्राप्त कर (देवभक्तम्) देवताओंके भोगयोग्य (सुम्नम्) सुखको (अभि) सब प्रकारसे प्राप्त करो अर्थात् उसको देवभक्त कर उत्कृष्ट स्थानपर लेजाकर अनन्त सुख प्राप्त कराओ [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥२६॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

आतम्भजसौश्रवसेष्वग्नऽउक्थऽउक्थआभज

शुस्यमाने ॥ प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनदुदुज्जनित्वैः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आतमित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (तम्) उस यजमानको (सौश्रवेषु) कीर्ति बढानेवाले यज्ञकर्ममें (आभज) सब प्रकार सेवन कर (उक्थे उक्थे) प्रति उक्थ काण्डमें (शस्यमाने) स्तोत्र शस्त्रादिद्वारा सम्पन्नकर तुम उसको (आभज) अपना प्रीतिपात्र करो(सूर्ये)और सूर्यमें (प्रियः) प्रिय पात्रकरो (अग्ना) अग्निका (प्रिय) प्रिय (भवाति) हो (जातेन) उत्पन्न हुए पुत्रसे (उद्भिनदत्) वृद्धिको प्राप्त हो (जनित्वैः) होनेवाले पौत्रादिसे (उत्) वृद्धिको प्राप्त हो अर्थात् पुत्र पौत्रादि द्वारा इसका वंश क्रमसे वृद्धिको प्राप्त हो [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

त्वामग्ने यजमाना अनु द्यून्विश्वा वसु दधिरे वार्याणि ॥ त्वया सह द्रविणमिच्छमाना व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि देवता ! (यजमानाः) यजमान गण (त्वाम्) तुम्हारी (अनु) सेवामें वर्तमान हुए (द्यून्वार्य्याणि) दिन वा इस लोकमें वरणीय (विश्वा) सम्पूर्ण (वसु) धन धान्य गोहिरण्यादि ऐश्वर्य(दधिरे) प्राप्त करते हैं (त्वया) तुम्हारे (सह) साथ (द्रविणम्) यज्ञ फलकूं (इच्छमानाः) तुम्हारी सेवा करनेसे इच्छा करते हुए(उशिजः)बुद्धिमान् ज्ञानकर्मसमुच्चयकारी जन (गोमन्तम्)रविमण्डलके मध्यमें(व्रजम्)देवयान मार्गको (विवव्रुः) सेवन करते हुए अर्थात् परमप्रभामय सुप्रकाश अतिरमणीय देवपथको प्राप्त हुए सूर्यमण्डलको भेद कर मुक्त हुए [ऋ० ७ । ८ । २९] ॥ २८ ॥

विशेष-व्रज और गोमन्त पदसे गोलोक और वहां दिव्य व्रजका भी बोध होताहै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र १।

अस्ताव्युग्निर्नुराᳬसुशेवो वैश्वानुरऽऋषिभिः सोमंगोपाः॥ अद्वेषे द्यावापृथिवी हुवेमु देवा धुत्त रयिमुस्मे सुवीरंम्॥ २९॥ [१२]

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्तावीत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः। विराडार्षी त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दैव०। वि० पू०॥ २९॥

मन्त्रार्थ–(नराम्) मनुष्योंको (सुशेवः) सुन्दर सुख देनेवाला (वैश्वानरः) जाठराग्निरूपसे सबका हितकारी (सोमगोपाः) सोमरक्षक (अग्निः) अग्निदेवता (ऋषिभिः) ऋषियोंद्वारा (अस्तावि) स्तुतिकिया गया (अद्वेषे) द्वेषरहित (द्यावापृथिवी) भूमि और द्युलोकके अधिष्ठात्री देवताको (हुवेम) आह्वानकरतेहैं (देवाः) हे देवताओ! (अस्मे) हमारे निमित्त (सुवीरम्) वीरपुत्र (रयिम्) सुन्दरऐश्वर्यको (धत्त) स्थापनकरो [ऋ० ७।८।२९]॥ २९॥ [१२]

कण्डिका ३०–मंत्र १. अनु० ३।

सुमिधाग्निन्दुवस्यत घृतैर्बोधयुतातिथिम्॥ आस्मिन्हुव्या जुहोतन॥ ३०॥

ऋष्यादि–(१) ॐ समिधाग्निमित्यस्य विरूपाक्ष ऋषिः। गायत्री छं०। अग्निर्देवता। समिदाधाने विनि०॥ ३०॥

विधि–(१) इस उखाग्निके उत्तरभागमें शकटस्थापन करै जिस शकटके ईषादण्ड पूर्वओर रहताहै उसके ऊपर इस मंत्रसे समिदाधानकरै [का० १६।६।१६] ३ अ० १ का० इसकी व्याख्या होगई॥ ३०॥

भावार्थ–हे ऋत्विग्गण! समिदाधानद्वारा अग्निकी परिचर्याकरो अतिथिस्वरूप इस अग्निको जागृतकरो जागृत होनेसे इसमें हविको आहुतकरो॥ ३०॥

कण्डिका ३१–मंत्र १।

उदु त्वा विश्वे देवाऽअग्ने भरन्तु चित्तिभिः॥ स नो भव शिवस्त्वᳬसुप्रतीको विभावसुः॥ ३१॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उदुत्वेत्यस्य तापस ऋ०। विराडनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। उख्याग्नेः शकटोपरि स्थापने वि०॥ ३१॥

विधि-(१) इस मंत्रको पाठकर आसन्दीके सहित यह उखाअग्नि ऊर्ध्वहस्त शकटके ऊपर स्थापनकरै[का० । १६ । ६ । १६] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) प्राणरूप देवता (उ) हो (चितिभिः) उद्यममें प्रवीण बुद्धिवृत्तियोंद्वारा (त्वा) तुमको (उद्भरन्तु) ऊंची धारणकरैं (सः) वह ऊर्ध्व हुए (सुप्रतीकः) सुन्दरमुखवाले (विभावसुः) दीप्तिरूप धनवाले (त्वम्) तुम (नः) हमारे (शिवः) कल्याणकारक (भव) हो ॥ ३१ ॥

काण्डका ३२-मंत्र १ ।

प्रेदग्ने ज्योतिष्मान्याहि शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम् ॥
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिꣳसीस्तन्वा प्रजाः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रेदग्ने इत्यस्य तापस ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । शकटे तूर्ष्णीं वृषौ संयोज्य प्राचीं गत्वा प्रयोजनवन्तं देशं प्रति गमने विनि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अनन्तर मौन हो इस शकटमें दो वृषभ जोतकर किंचित् पूर्वमुख होकर पश्चात् यथेच्छस्थलमें गमनकरै [का० १६ । ६ । १८] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (शिवेभिः) मंगलयुक्त (अर्चिभिः) ज्वालाओंकरके (इत्) ही (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमान (त्वम्) तुम (प्रयाहि) गमनकरो (बृहद्भिः) वडी (भानुभिः) किरणोंसे (भासन्) प्रकाशमान (तन्वा) शरीरसे (प्रजाः) प्रजापुत्रादिको (माहिꣳसीः) किसीप्रकार पीडा मत दो अर्थात् मार्गमें शकट-गमनसे किसीप्रकार मनुष्यादि वा गृहादिको कष्ट न हो ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् ॥ सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्रन्ददित्यस्य वत्सप्रीर्ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप् छं० । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) अक्षके शब्द करनेपर जपकरै[का० १६ । ६ । २०]मंत्रार्थ-इसकी व्याख्या इसी अध्यायके ६ मन्त्रमें होगई ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

प्रप्प्रायमग्निर्ब्भरतस्यशृण्वेवियत्सूर्य्योनरोचते बृहद्भाः ॥ अभियःपूरुम्पृतनासुतस्थौदीदायदैव्योऽअतिथिःशिवोनः ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रप्रायमित्यस्य वासिष्ठ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । समिदाधाने वि० ॥ ३४ ॥

विधि- (१) अनन्तर अभीष्ट स्थलमें गमन करनेपर इससे यह अग्नि उतार कर शकटके उत्तर भागमें उन्नत और सिंचित स्थानमें स्थापनके अनन्तर इस मंत्रसे इसमें समिदाधान करै [का० १६ । ६ । २१ ।] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि (भरतस्य) हवि धारण करनेवाले यजमानके आह्वानको(प्रशृण्वे) सुन्ते हैं (सूर्यः) सूर्यकी (न) समान (बृहद्भाः) बडा दीप्तिमान् होता हुआ (प्ररोचते) अत्यन्त प्रकाशमान होता है (यः) जो (पृतनासु) संग्रामोंमें (पूरुम्) राक्षसके (अभितस्थौ) सन्मुख स्थित होता है (दैव्यः)देवसम्बन्धी (अतिथिः) अतिथि (नः) हमारे (शिवः) मंगलरूप अग्नि (दीदाय) दीप्तिमान् होता है [ऋ० ५ । २ ।११] में [शुशोच] (शिवोनः) केस्थानमें है ॥ ३४ ॥

भावार्थ-अग्निने सम्पूर्ण हवि ग्रहण की इसकारण हविदाता यजमानका आह्वान सुन्ते हैं, यह इस समय सूर्यकी समान प्रचण्ड दीप्तिमान् है, यह रणस्थलमें अग्र होते हैं आज देवगण वा ऋत्विग्गणके अतिथि यह हमारा कल्याण करैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

आपोदेवीःप्प्रतिगृब्भ्णीतभस्म्मैतत्स्योनेकृणुद्ध्वꣳसुरभाऽउलोके ॥ तस्म्मैनमन्ताञ्जनयःसुपत्नीर्म्मातेवपुत्रम्बिभृताप्प्स्वेनत् ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ आप इत्यस्य वासिष्ठ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । आपो देवता । जलेभस्मप्रक्षेपणे वि० ॥ ३५ ॥

विधि- (१) प्रतिदिन सायंप्रातःकालतडागादिजलके निकट उखा लेकर वट वा पलाशपात्रसे इस मंत्रसे भस्म निकालकर जलमें प्रक्षेपकरै [का० १६ । ६ । २६] मंत्रार्थ-हे (देवीः) दीप्यमान ! (आपः) जलो ! तुम (भस्म) भस्मको (प्रतिगृभ्णीत)ग्रहणकरो (स्योने) सुखकारक (सुरभौ) पुष्पधूपादिसे सुन्दर

गन्धयुक्त (लोके) स्थानमें (उ) ही (एतत्) इसको (कृणुध्वम्) धारण करो (सुपत्नीः) जिनके सुन्दरपति वरुण हैं वे (जनयः) वृक्षादिको उत्पन्नकर अग्निकी प्रगटकरनेवाली हैं (तस्मै) उस भस्मरूप अग्निके निमित्त (नमन्ताम्) झुको हे जलो (एनत्) इस भस्मको (अप्सु) जलोंमें (बिभृत) धारणकरो (माता) मैया (पुत्रम्) पुत्रको (इव) जैसे धारण करतीहै अर्थात् इस भस्मको सुरभि स्थानम प्रेरणकरो ऋत्विग्गण तुमको नमस्कार करतेहैं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १।

अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे ॥ गर्भे सञ्जायसे पुनः ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अप्स्वग्न इत्यस्य विरूप ऋ०। निचृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) अनन्तर एक यह और एक आगेका यह दो मंत्र पढकर पत्र-पुटसे दूसरी वार उखा भस्मको अग्निमें डाले [का० १६ । २७] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे भस्मीभूत अग्ने ! (अप्सु) जलोंमें (तव) तुम्हारा (सधिः) स्थान है (सः) वही भस्म जलसे प्रगट होकर (ओषधीः) यवादिरूपको (अनुरुध्यसे) परिणामित होते हो (गर्भे) अरणीके मध्यमें (सन्) होते हुए (पुनः) फिर (जायसे) प्रगट होते हो ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १।

गर्भोऽअस्योषधीनाङ्गर्भो वनस्पतीनाम् ॥ गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भोऽअपामसि ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गर्भो असीत्यस्य विरूप ऋषिः। भुरिगार्ष्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (ओषधीनाम्) ओषधियोंके (गर्भः) गर्भ (असि) हो (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियोंके (गर्भः) गर्भ हो (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भूतस्य) प्राणियोंके (गर्भः) गर्भ हो (अपाम्) सम्पूर्ण जलोंके (गर्भः) गर्भ (असि) हो ॥ ३७ ॥

भावार्थ-हे देव ! तुम्हारे ओषधीके गर्भमें होनेसे पर्वतोंके शिखरपर रात्रिमें प्रकाश दीखता है, वृक्षोंके गर्भमें होनेसे अरणीकी रगडसे प्रकाशित होते

इसी दावानलसे वन दग्ध होताहै सब प्राणीसमूहमें जाठराग्निरूपसे होनेसे सब प्राणियोंके भुक्त आहारको परिपाक करतेहो जलके गर्भमें वडवाग्निरूपसे स्थितहो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ॥ सꣳसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासदः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रसद्येत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अप्सु क्षिप्तात् भस्मनः सकाशादनामिकया भस्मग्रहणे वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति चार कण्डिकात्मक मंत्रोंको पढकर जलप्रक्षिप्त भस्मको अनामिकाअङ्गुलीद्वारा कुछ ग्रहण करे [का० १६ । ६ । २९]

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (भस्मना) भस्मद्वारा (योनिम्) कारणभूत (पृथिवीम्) पृथ्वीको (च) और (अपः) जलोंको (प्रसद्य) प्राप्तहोकर (मातृभिः) मातारूपजलोंसे (सꣳसृज्य) सम्मिलितहोकर (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी सम्पन्न होकर (पुनः) फिर (आसदः) उखामें स्थित हो अर्थात् अपने उत्पत्तिकारण पृथ्वी और जलदेवीके साथ मिलितहोकर ज्योतिसम्पन्न हो उखामें आगमन करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने ॥ शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याꣳ शिवतमः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनरित्यस्य विरूप ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (शिवतमः) अतिकल्याणरूप तुम (अपः) जल (च) और (पृथ्वीम्) पृथ्वीके (सदनम्) स्थानको (आसद्य) प्राप्तहोकर (पुनः) फिर (अस्याम्) इस उखाके (अन्तः) मध्यमें (शेषे) शयनकरते हो (यथा) जैसे (मातुः) माताके (उपस्थे) गोदीमें बालक सोताहै ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

पुनरूर्जा निवर्त्तस्व पुनरग्न इषायुषा ॥ पुनर्नः पाह्यꣳहसः ॥ ४० ॥

इसकी व्याख्या इसी अध्यायकी ९ कण्डिकामें होगई [वि० पू०] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १ ।

सहरय्या निवर्त्तस्वाग्ग्ने पिन्न्वस्वधारया ॥ विश्वप्प्स्न्याविश्वतस्प्परि ॥ ४१ ॥

इसकी व्याख्या इसी अध्यायकी १० कण्डिकामें होगई. [वि० पू०] ॥४१॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

बोधामेऽअस्यवचसोयविष्ठमꣳहिष्ठस्यप्रभृतस्य स्वधावः ॥ पीयतित्वोऽअनुत्वोगृणातिवन्दारुष्टेतन्वंवन्देऽअग्ग्ने ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बोधा इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । उखाग्न्युपस्थाने वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) सरोवरादिके तटसे लौटकर अनामिका अंगुलीद्वारा ग्रहण कीहुई यह भस्म विना मंत्रके उखासे स्पर्श करावै अनन्तर इस कण्डिकात्मक मंत्र और पर कण्डिकात्मक मंत्रसे उखाग्निका उपस्थान करै [का० १६ । ६ । ३०] मन्त्रार्थ-(स्वधावः) हे धनवान्! (यविष्ठ) श्रेष्ठ युवारूप (अग्ने) हे अग्नि ! (मे) मेरे (अस्य) इस (मꣳहिष्ठस्य) महान् बारंवार कथन करनेसे (प्रभृतस्य) श्रवणपथको प्राप्त हुए (वचसः) वचनके अभिप्रायको (बोध) जानो (त्वः) कोई तुम्हारी (पीयति) निन्दाकरै (त्वः) कोई एक पुरुष तुम्हारी (अनुगृणाति) स्तुति करै यह मनुष्योंका स्वभाव है (वन्दारुः) परन्तु स्तुति करनेका स्वभाववाला मैं (ते) तुम्हारे (तन्वम्) शरीरको (वन्दे) प्रमाण करता हूं [ऋ० २ । २ । १६] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र २ ।

सबोधि सूरिर्म्मघवावसुपतेवसुदावन् ॥ युयोद्ध्यस्म्मद्द्वेषाꣳसिविश्वकर्म्मणेस्वाहा ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सबोधीत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । निचृदार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० । (२) ॐ विश्वकर्मण इत्यस्य याजुष्युष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । हवने विनियोगः ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(वसुपते) हे धनपते! (वसुदावन्) धनके दाता अग्ने!(सः)वह तुम (सूरिः) कवि सब कुछ ज्ञाता (मघवा) धनयुक्त हो हमारे अभिप्रायको (बोधि) जानो आप संतुष्ट होकर (द्वेषांꣳसि) दुर्भागोंको (अस्मत्तः) हमसे (युयोधि) पृथक् करो १। विधि-(१) दूसरे मंत्रको पाठ कर समिधाद्वारा घृत लेकर उखाग्निमें हवन करे "यह प्रायश्चित्त हवन है" [का० १६। ७। १] मंत्रार्थ-(विश्वकर्मणे) जगत्की सृष्टि स्थिति आदि कर्म करनेवाले तुम्हारे निमित्त (स्वाहा) अग्निमें आहुत यह हवि भलीप्रकार गृहीत हो [ऋ० २।५।२७] [यजु अधिक है] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १।

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धताम्पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः ॥ घृतेन त्वन्तन्वं वर्द्धयस्व सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनस्त्वेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। उख्येऽग्नौ समिद्धोमे विनि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) अनन्तर दण्डायमान होकर इस मंत्रसे जिस और समिधद्वारा घृतग्रहणपूर्वक होम किया है उस समिधको हवन करे [का० १६। ७। २] मन्त्रार्थ-हे अग्ने! (वसुनीथ) धनके निमित्त स्तुतिवाले हे देव! (आदित्याः) आदित्यगण (रुद्राः) रुद्रगण (वसवः) वसुगण (त्वा) तुमको (पुनः) फिर (समिन्धताम्) प्रदीप्त करें हे धननेता! (ब्रह्माणः) ऋत्विग्यजमान (यज्ञैः) यज्ञ करके (पुनः) फिर तुमको प्रदीप्त करें (त्वम्)तुम (घृतेन) घृतके द्वारा (तन्वम्) शरीरको (वर्धयस्व) वढाओ तुम्हारे वृद्धिको प्राप्त होनेमें (यजमानस्य)यजमानके (कामाः) मनोरथ (सत्याः) सफल (सन्तु) हों ॥ ४४ ॥

[गार्हपत्यचयन]

कण्डिका ४५-मंत्र १।

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः ॥ अदाद्यमोऽवसानम्पृथिव्या अक्रन्निमम्पितरो लोकमस्मै ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपेतेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। लिंगोक्ता देवता। तृणबर्हिःक्षेपणे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ पूर्वक पलाश शाखा द्वारा गार्हपत्यचिति स्थानको शोधन करै अर्थात् वहांसे तृणादि दूर करै [का० १७ । १ । ३] मंत्रार्थ-हे यमभृत्यगण!(ये) जो (पुराणाः)पुराने (च)और(ये) जो(नूतनाः) नये तुम (अत्र) इस स्थानमें (स्थ) हो वह तुम (अतः) यहांसे (अपेत) दूर चलेजाओ (वीत) अति दूर (च) ही (विसर्पत) संघात त्याग कर अनेक स्थानोंमें चले जाओ (यमः) यमने (पृथिव्याः) पृथ्वीका (अवसानम्) अवकाश इस यजमानके निमित्त (अदात्) दिया है (पितरः) पितरोंने (इमम्) इस (लोकम्) लोकको (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (अक्रन्) कल्पित किया है ॥ ४५ ॥

भावार्थ-हे यमभृत्यगण! पृथ्वीकी अवसानभूमिकी पितृगणोंने हमको गार्हपत्यचितिके निमित्त इस स्थानमें व्यवस्था कीहै उसीके अनुसार इस स्थानको यमदेवताने हमको प्रदानकियाहै,इस कारण यदि तुम्हारा यहां बहुत कालसे निवास हो अथवा नवीन वास आरंभ कियाहो सवही इस स्थानको त्यागकर दिग्दिगन्तमें दूर चलेजाओ ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र ३ ।

सँज्ञानमसि कामधरणम्मयिते कामधरणम्भूयात् ॥ अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि चितस्थ परिचितऽ ऊर्ध्वचितः श्रयद्ध्वम् ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संज्ञानमित्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । साम्नी पंक्तिश्छं० । उषा दैवत्यम् । चितिस्थाने क्षारमृदाधाने विनि० । (२) ॐ अग्नेरित्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छं० । सिकता देव० । सिकतादाने वि० । (३) ॐ चितस्थेत्यस्य सोमाहुतिर्ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । परिश्रिद्दैवतम् । परिश्रित्प्रक्षेपे वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रपाठ पूर्वक गार्हपत्याचितिके स्थानमें उषा [क्षारमृत्तिका]प्रदानकरै [का० १७ । १ । ४] और शोधनकी शाखाको उत्तरओर फैंकदे । मंत्रार्थ-हे उषास्वरूप! तुम (संज्ञानम्) पशुओंके सम्यक्ज्ञान साधन (असि) हो अर्थात् पशु इस स्थानको जानकर लेहन करतेहैं तथ यज्ञद्वारा (कामधरणम्) मनोरथ सम्पादन करनेवाले हो इस कारण तुमसे प्रार्थना करते हैं कि (ते) तुम्हारी (कामधरणम्) मनोरथसम्पादनकी सामर्थ्य (मयि) मुझ यजमानमें (भूयात्) हो अथवा "पशवो वा उषाः पशवः कामधरणं मयि ते पशवो भूयासुः" इति [७ । १ । १ । ८] श्रुतेः । तुम्हारे कामधरण पशु हमारे हों १॥

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ पूर्वक गार्हपत्यचितिके स्थानमें सिकता प्रदान करै यह भस्मकी कंकर है इससे इस स्थलमें सुरखीका कार्य होगा [का० १७ । १ । ६] मन्त्रार्थ-हे सिकता ! तुम (अग्नेः) अग्निकी (भस्म) भस्म (असि) हो अर्थात् प्रकाशक हो सिकता स्थित अग्नि प्रदीप्त होती है (अग्नेः) अग्नि के (पुरीषम्) पूरण करनेवाले हो अर्थात् किंचित् मात्र भी इसपर अग्नि डालनेसे प्रज्वलित हो उठती है नहीं तो निर्वाण हो जाय "अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता" इति श्रुतेः [७ । १ । १ । ९ -१०] विधि-(३) तीसरे मंत्रसे इक्कीस बार गार्हपत्य चितिके स्थानमें परिश्रित् [शर्करा] प्रक्षेप करै [का० १७ । १ । ७] हे (शर्कराः) परिश्रित् गण ! तुम (चितः) भूमिपर डाले हुए (परिचितः) सब ओर स्थापित (स्थ) हो (ऊर्द्ध्वचितः) उर्ध्वमें स्थापित तुम (श्रयध्वम्) इस गार्हपत्य स्थानको सेवन करो ॥ ४६ ॥

[इष्टकोपधान]

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

अयꣳसोऽअग्निर्यस्मिन्त्सोममिन्द्रः सुतन्दधे जठरे वावशानः ॥ सहस्रियं वाजमत्यन्नसप्तिꣳससवान्त्सन्त्स्तूयसे जातवेदः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयंस इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पद्माधाने वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु मण्डलके दक्षिणमें उत्तरमुख होकर मण्डलके मध्यमें दक्षिणसे उत्तरको दो पंक्तिकी उत्तर सीमामें इस मंत्रसे अर्धबृहती अर्थात् एक हाथ दीर्घ और आधे हाथ चौंडी पद्मानाम लोकद्वयव्यापिनी इष्टका [ईंटें] पूर्व पश्चिमके दीर्घ क्रमसे उपधान (अर्थात् इष्टकाव्यवहारका नियम) स्थापन करै [का० १७ । १ । ८] मन्त्रार्थ-(सः) वह (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि है (यस्मिन्) जिस अग्निचयनमें (वावशानः) इच्छा करनेवाले (इन्द्रः) इन्द्रने (सुतम्) अभिषव किये (सहस्रियम्) सहस्रोंके योग्य (वाजम्) अन्नकी समान (अत्यम्) भक्षण करते (न) नहीं मादक हर्षकारक (सप्तिम्) तृप्तिकारक (सोमम्) सोमको (जठरे) उदरमें (धत्ते) धारण किया (जातवेदः) हे अग्नि! तुम भी (ससवान्) हवियोंको भक्षण करते (सन्) हुए ऋत्विग यजमानोंसे (स्तूयसे) स्तुतिको प्राप्त होते हो अथवा हे गमनकुशल अग्नि ! अश्वकी

समान सहस्रसंख्याक धनसे सम्मित तुम अन्नको देते यजमानोंसे स्तुतिको प्राप्त होते हो ॥ ४७ ॥

भावार्थ-यह वही गार्हपत्यअग्नि है जो सहस्रों देवताओंकी तृप्तिसाधक है और जिसके पानमात्रसेही प्रसन्नता उपस्थित होतीहै इसप्रकारसे तृप्तकर सोमको प्रदान करके इन्द्र इस आहुत सोमको अपने जठरमें स्थानदेतेहैं, हे जातवेदः ! हविभक्षक तुम ऋत्विग्यजमानद्वारा निरन्तर स्तुतिको प्राप्तहोते हो ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

अग्ग्ने यत्ते दिवि वर्च्चः पृथिव्याँ यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र ॥ येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ त्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेयत्त इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देव० । द्वितीयेष्टकोपधाने विनि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे इष्टका दक्षिणमें हैं इसीप्रकार पूर्वपश्चिम दीर्घ दूसरी इष्टका उपधानकरे । मन्त्रार्थ-(आयजत्र) मर्यादासे यजनयोग्य (अग्ने) हे अग्नि देव ! (ते) तुम्हारी (यत्) जो (दिवि) द्युलोकमें (वर्चः) सूर्यरूप ज्योति है (यत्) जो (पृथिव्याम्) भूमिमें [अग्निरूप] (ओषधीषु) ओषधियोंमें भास्वर रूप (अप्सु) जलोंमें प्रभारूप ज्योति है (येन) जिसने विद्युत् रूपसे (उरु) बडे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोकको (आततन्थ) व्याप्त किया है (सः) वह (त्वेषः) विश्वप्रकाशक (अर्णवः) सब ओर गमनशील (नृचक्षाः) मनुष्योंके शुभाशुभ कर्मकी द्रष्टा (भानुः) सूर्यरूप दीप्ति है इस मंत्रसे तीन स्थानमें स्थित अग्निकी प्रार्थना है [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

अग्ग्ने दिवोऽअर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ२ऽऊचिषे धिष्ण्या ये ॥ या रोचने परस्तात्सूर्य्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्तऽआपः ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने दिव इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणे तृतीयेष्टकोपधाने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दूसरी इष्टकाके दक्षिणमें इसीप्रकार तीसरी इष्टका

स्थापन करै । मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (दिवः) द्युलोकसम्बन्धी (अर्णम्) जलको (अच्छ) अभिमुखसे (जिगासि) प्राप्त करते हो अर्थात् द्युलोकमें जो सागर है तुम उसकी प्राप्तिके गमनमें समर्थ हो (ये) जो(धिष्ण्याः) बुद्धि इन्द्रियके प्रेरक प्राण (ऊचिषे) कहाते हैं उन प्राणरूप (देवान्) देवताओंके प्रति (अच्छ) सन्मुख गमन करते हो अथवा द्युलोकके देवताओंको प्राप्त होनेकोभी तुम समर्थ हो (आ रोचने) दीप्तिरूप मण्डलमें वर्तमान (सूर्यस्य) सूर्यके (परस्तात्) परे (याः) जो (आपः) जल हैं (च) और (अवस्तात्) नीचे (याः) जो जल (उपतिष्ठन्ते) हैं उन सबके मध्यमें तुम विराजमान हो आशय यह कि जलका आवरण सर्वत्र है [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ४९ ॥

प्रमाण–“अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः” [निरु० ५ । ३१ ।] “प्राणा वै देवा धिष्ण्यास्ते हि सर्वा धिय इष्णन्ति” [श० ७ । १ । १ । २४] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०–मन्त्र १ ।

पुरीष्यासोऽअग्नयंः प्प्रावणेभिंः सजोषसः ॥
जुषन्ताॅंय्यज्ञमद्रुहोऽनमीवाऽइषोमहीः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुरीष्यास इत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । चतुर्थेष्टकोपधाने वि० ॥ ५० ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे तीसरी इष्टका अर्थात् दक्षिण सीमाके स्वयिक्रोडके निकट चौथी इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ–(पुरीष्यासः) पशुओंकी हितकारी (प्रावणेभिः) समानमनोंसे (सजोषसः) प्रीतियुक्त (अद्रुहः) हिंसा न करनेवाले (अग्नयः) अग्नि (यज्ञम्) इस इष्टकारूप यज्ञको (अनमीवाः) क्षुधातृष्णानिवर्तक (महीः) वहुत (इषः) अन्नयुक्त (जुषन्ताम्) सेवनकरो [ऋ० ३ । १ । २२] ॥ ५० ॥

भावार्थ–हे पुरीष्यअग्निके आधार सम्पूर्ण इष्टकाओ ! क्षुधापुञ्जविहीन तुम परस्पर सम्प्रीत होकर परस्पर द्रोहशून्य इस यज्ञको सम्पन्न करो तुम्हारे ऊपर अधिष्ठित अग्नि वहुत प्रकार हवि ग्रहणकरै ॥ ५० ॥

कण्डिका५१–मंत्र १ ।

इडामग्ने पुरुदꣳसꣳसनिङ्गोः शश्वत्तमꣳहवमाना यसाध ॥ स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावाग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इडामग्न इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्दे० । इष्टकोपधाने वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) अनन्तर मण्डलके उत्तर दक्षिणाभिमुख उपविष्ट होकर इस मंत्रका पाठकर स्थापन कीहुई इष्टकाचतुष्टयके पश्चिम उत्तर दक्षिणमें दीर्घक्रमसे दक्षिण सीमामें एक पाणिपादमात्र लम्बी चौडी इष्टका उपधानकरै [का० १७ ।१।११]

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पुरुदꣳसम्) बहुत कर्मोंके साधनरूप (इडाम् अन्नको (शश्वत्तमम्) निरन्तर विद्यमान (गोः) धेनुसम्बन्धी (सनिम्)दानको अर्थात् दूध दही घृतादिकी (हवमानाय) हवन करते यजमानके निमित्त (साध) सम्पादन करो अर्थात् दो (नः) हमारे (विजावा) प्रजावान् (तनयः) औरस अथवा अग्निहोत्रादिकर्मका सम्पादक (सूनुः) पुत्र (स्यात्) हो (अग्ने) हे अग्ने ! (सा) वह (ते) तुम्हारी अन्नगौपुत्रदानके विषयवाली (सुमतिः) सुन्दर बुद्धि (अस्मे) हममें (भूतु) हो ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"दंस इति कर्मनाम" [निघं० ४ । १ । ३ ।] " अन्नं वा इडा " इति श्रुतेः । [७ । १ । १ । २७][ऋ० २ । ८ । १६] ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

अयन्ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातोऽअरोचथाः । तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् ॥ ५२ ॥

अयंते इति इस मंत्रसे पांचवीं इष्टकाके उत्तर इसी प्रकार छठी इष्टका उपधान करै इसकी व्याख्या अ० ३ क० १४ में होगई [वि० पू०] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र २ ।

चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद परिचिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीद ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चिदसीत्यस्य मन्त्रद्वयस्य विश्वामित्र ऋषिः । स्वराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । प्रथममंत्रस्य पद्यानामकप्रथमेष्टकोपधाने द्वितीयमंत्रस्याष्टमेष्टकोपधाने च वि० ॥ ५३ ॥

विधि-(१) परिमण्डलके उत्तर दक्षिणमुख उपविष्ट होकर इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठ करते निकट स्थित चार इष्टकाओंके पूर्व उत्तर दक्षिण दीर्घ क्रमसे उत्तरसीमामें एकपादमात्री पद्या प्रथम इष्टका उपधान करै [का० १७।१।१२]

मंत्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (चित्) स्थापितकीहुई अथवा भोगोंको चयनकरनेवाली (असि) हो (तया) उस प्रसिद्ध वाग्रूप (देवतया) देवताद्वारा स्थापितहोकर (अङ्गिरस्वत्) अंगिरा वा प्राणोंकी समान (ध्रुवा) दृढतापूर्वक (सीद) इस स्थानमें स्थित हो "वाग्वै सा देवता अङ्गिरस्वदिति प्राणो वा अङ्गिराः" इति श्रुतेः १ । **विधि**–(१) दूसरे मंत्रसे सप्तम इष्टकाके दक्षिणमें इसीप्रकार अष्टम इष्टका स्थापनकरै । **मन्त्रार्थ**–हे इष्टके ! (परिचित्) सब ओरसे भोगोंको चयनकरने वाली(असि) हो (तया)उस प्रसिद्ध (देवतया) वाग्रूप देवताद्वारा सम्पादितहुई (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान दीर्घकालतक (ध्रुवा) निश्चल इस स्थानमें (सीद) स्थित हो ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४–मंत्र १ ।

लोकम्पृण च्छिद्रम्पृणाथो सीद ध्रुवा त्त्वम् ॥ इन्द्राग्नी त्त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥५४॥

ऋष्यादि–(१) ॐ लोकम्पृणेत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । इष्टकासादनेवि० ॥ ५४ ॥

विधि–(१) अनन्तर तीन लोकम्पृणाना (छोटी ईटे) इष्टका विना मंत्रके उपधानकरके फिर प्रतिवार मंत्रपाठकरके और दश लोकम्पृणाना इष्टकाको उपधान करे अथवा पहली दो अमंत्रक और दश मंत्रपूर्वक और शेष अमंत्रक स्थापन करै इस क्रियाको सादन कहते हैं [का० १७ । १ । १७] **मंत्रार्थ**–हे इष्टके ! (त्वम्) तुम (लोकम्) गार्हपत्यचयनस्थानमें पूर्व इष्टकाओंसे अनाक्रान्त होकर स्थानको (पृण) पूर्णकरो(छिद्रम्)अवकाशको (पृण)पूर्णकरो (अथो) और (ध्रुवा) दृढ होकर (सीद) स्थित हो अर्थात् पूर्व स्थापित आठ इष्टका द्वारा आक्रान्त न हो इस सब अवकाशको एक एक क्रमसे पूर्ण करो और इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हो कि जिससे दोनोंके मध्यमें छिद्र न रहै, अति दृढतासे स्थित हो (इन्द्राग्नी)इन्द्र और अग्नि देवता (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवताने (अस्मिन्) इस (योनौ) स्थानमें (त्वा) तुमको (आसीषदन्) स्थापन किया है ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मंत्र १ ।

ता ऽअस्य सूददोहसꣳ सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ॥ जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ता अस्येत्यस्य प्रियमेधा ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । आपो देवता । सूददोहसाधिवदने वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) पूर्व मंत्र पाठ करके जो जो इष्टका सादन करै उस उस इष्टकासे सूददोहसाधिवदन करै अर्थात् सूद-जल दोह-अन्न इनका अधिवदन-वस्तुतत्त्वकथन । इस क्रियाको सूददोहसाधिवदन कहते हैं प्रति इष्टकाके प्रथम सादनेके उपरान्त यह क्रिया होती है [का० १६ । ७ । १४] मन्त्रार्थ-(दिवः) द्युलोकसम्बन्धिनी अथवा द्युलोकसे च्युत (पृश्नयः) अनेक प्रकारकी अथवा "अन्नं वै पृश्निः" इति श्रुतेः [श० ८ । ७ । ३ । २१] अन्नरूप व्रीहिआदि धानकी सम्पादन करनेवाली (सूददोहसः*) जल और अन्नसे संयुक्त (ताः) वे प्रसिद्ध जल (देवानाम्) देवताओंके(जन्मन्)जन्मवाले संवत्सरमें "संवत्सरो वै देवानां जन्म" इति श्रुतेः [श० ८ । ७ । ३ । २१](त्रिषु) तीन (आरोचने) सवनोंके मध्यमें "सवनानि वै त्रीणि रोचनानि" इति श्रुतेः[८ । ७ । ३ । २१]वा प्रदीप्त तीन स्थान द्युलोक अन्तरिक्ष लोक और भूलोकमें (अस्य)इस (विशः) यज्ञसम्बन्धी "यज्ञो वै विशः"इति श्रुतेः [८ । ७ । ३ । २१] (सोमम्) सोमको (आश्रीणन्ति) सम्यक् परिपक्व करते हैं अर्थात् अन्नके परिणामभूत अन्नोत्पादक जल द्युलोकसे इस लोकमें गिरकर ओषधी वनस्पति अन्नरूप होकर इस सोमका उपकार करते हैं [ऋ० ६ । ५ । ९] ॥ ५५ ॥

विवरण-१संवत्सर वा सोमयागमें देवताओंका जन्म है द्युलोकसम्बंधी जल वृष्टिद्वारा उत्पन्न अथवा सोमसम्लिष्ट । २ विश वाणिज्य व्यवसायकृषि और यज्ञ । *सूददोहस-व्रीहियवादि इक्षुगव्यादि अथवा पुरोडाशादि और अभिषुत सोमादि । ३ पक्वहोना पृथ्वीसे अथवा इस रक्खीहुई इष्टकासे ॥ ५५ ॥

भावार्थ-देवगणका जन्म हुआ । रोचनत्रय द्युलोकसम्बन्धी । विशके उपकारी नानाविध अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्वहुआ, इस मंत्रकी व्याख्या उभय प्रकार है ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

इन्द्रं॒ विश्वा॑ऽअवीवृधन्त्समु॒द्रव्य॑चसं॒ गिर॑: । र॒थीत॑मꣳ र॒थीनां॒ वाजा॑ना॒ꣳ सत्प॑तिं॒ पति॑म् ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य मधुच्छन्दःपुत्रजेता ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । गार्हपत्यचितेरुपरि पुरीषस्थापने वि० ॥ ५६ ॥

विधि-(१)यह मंत्रपाठ कर चत्वालसे पुरीष लाकर गार्हपत्य चितिपर स्थापन

करै (पुरीष–मृत्तिका) [का० । १७ । १ । १८] मन्त्रार्थ–(विश्वाः) सम्पूर्ण (गिरः) ऋक्‌यजुसामरूप स्तुति (समुद्रव्यचसम्)समुद्रवत् व्यापक (रथीनाम्) सब रथियोंके मध्यमें (रथीतमम्)अत्यन्त रथी (वाजानाम्)अन्नोंके (पतिम्) पति (सत्पतिम्) निजधर्ममें रहनेवालोंके पालक (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवीवृधन्) वर्धितकरतेहैं [ऋ० १ । १ । २१] ॥ ५६ ॥

सरलार्थ–जिनकी कीर्ति समुद्रपर्यन्त दीप्यमान है, जो रथीदलोंमें एक प्रधान रथी हैं, जिनकी प्रसन्नतासे हम अन्नलाभ करते हैं जो साधुगणोंके प्रतिपालक हैं, उन देवेन्द्रकी सबही एक वाक्यसे स्तुति करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मन्त्र १ ।

समितᳬसङ्कल्पेथाᳬसम्प्रियौरोचिष्णूसुमनस्यमानौ ॥ इषमूर्जमभिसंवसानौ ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ समितमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगुष्णिक्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । उख्याग्निस्थापने वि० ॥ ५७ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाप्रभृति चार मंत्रोंसे समंविला [पुरीष्य] मृत्तिका द्वारा गार्हपत्य चितिके परिश्रित् [तुल्य परिपूर्ण] करके फिर निम्न स्थानमें उखा अग्नि स्थापन करै [का० १७ । १ । १९] मन्त्रार्थ–(सम्प्रियौ) समान प्रीतिवाले (रोचिष्णू) कान्तिमान् (सुमनस्यमानौ) परस्पर श्रेष्ठ चित्तवाले हे उखा और चिति अग्नि देवताओ ! (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) घृतादि रसको (अभिसंवसानौ) भोग करते हुए अर्थात् हमारे दिये हुए अन्न और रस स्वीकारपूर्वक (समितम्) एकमन होकर मिलो अर्थात् मिलकर (सङ्कल्पेथाम्) एकसङ्कल्प होवा यज्ञनिष्पादन करो अथवा हमारे कल्याणकी कल्पनाकरो ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मन्त्र १ ।

संवाम्मनाᳬसिसंव्व्रतासमुचित्तान्याकरम् ॥ अग्ग्नेपुरीष्याधिपाभवत्वन्नऽइषमूर्ज्जंय्यजमानायधेहि ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ संवामित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-हे दोनो अग्नियो ! (वाम्) तुम्हारे (मनाꣳसि) मन (समाकरम्) सब प्रकार संगतकरताहूं (व्रता) व्रत वा कर्म "व्रतमिति कर्मनाम" [निघं० २।१।७] (सम्) संगतकरताहूं (चित्तानि) मनोगतसंस्कारोंको (सम्) संगत करताहूं (उ) और हे (पुरीष्य) पशुसम्बन्धी गृहस्थ कार्यसाधक (अग्ने)अग्निदेव! (त्वम्) तुम (नः) हमारे (अधिपा) अधिपति (भव) हो (इषम्) अन्न (ऊर्ज्जम्) बल (यजमानाय) यजमानके निमित्त (धेहि) प्रदानकरो ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १ ।

अग्नेत्वम्पुरीष्योरयिमान्पुष्टिमाँ२ऽअसि॥शिवाः
कृत्वादिशꣳसर्वाꣳस्वंय्योनिमिहासदः ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगुष्णिकछन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्नि देवता ! (त्वम्) तुम (पुरीष्यः) पशुसम्बन्धी पशुहितकारक (रयिमान्)धनवान्(पुष्टिमान्)पुष्टियुक्त (असि) हो तुम्हारे प्रसादसे हम पुष्टि और ऐश्वर्यलाभ करैं (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें (शिवाः)कल्याण कारक (कृत्वा) करकै (इह) यहां (स्वम्) अपने (योनिम्) स्थानमें (आसदः) स्थित हो ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

भवतन्नꣳसमनसौसचेतसावरेपसौ ॥ मायज्ञꣳहिꣳ
सिष्टम्मायज्ञपतिञ्जातवेदसौशिवौभवतमद्यनः ६०

ऋष्यादि-(१) ॐ भवतन्न इत्यस्य मधुच्छंदा ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । चित्योख्याग्नी दे० । वि० पू० ॥ ६० ॥

इसकी व्याख्या ९अ० ३कण्डिकामें होगई सरलार्थ लिखते हैं-जातवेदस नामसे प्रसिद्ध हे दोनों अग्नि!तुम्हारे प्रसादसे यह क्रिया निर्विघ्न समाप्त हो यजमानका शरीर स्वस्थ रहै तुम दोनों ही एक मन एकाचित्त अकुटिलभावसे आज हमारे यज्ञमें कल्याणकारी हो ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मन्त्र १ ।

मातेवपुत्रम्पृथिवीपुरीष्यमग्निꣳस्वेयोनावभारु

षा ॥ तांविश्श्वैर्द्देवैर्ऋतुभिः॑सँविदानः प्प्रजापतिर्व्वि श्श्वकर्म्मा॒विमु॑ञ्चतु ॥ ६१ ॥ [७]

ऋष्यादि-(१) ॐ मातेवेत्यस्य मरुच्छन्दा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । उखा देवता । गार्हपत्यचितेरुपर्युखां निधाय तन्मध्यतः तूष्णीं दुग्धसेचने विनियोगः ॥ ६१ ॥

विधि-(१) शून्य उखाको सिकताद्वारा पूर्ण कर यह मंत्रपाठ कर शिक्यसे उखाको निकालकर अरत्निमात्र गार्हपत्य अग्निके ऊपर स्थापन करे और इसके मध्यमें मंत्ररहित दूधको छिडके [का० १७ । १ । २१] मन्त्रार्थ-(पृथिवी) भूमिरूप मृत्तिकानिर्मित (उखा) उखा (पुरीष्यम्) पशुओंके हितकारी(अग्निम्) अग्निको (स्वे) अपने (योनौ) गर्भ स्थानमें (अभाः) धारण करतीहुई (माता) मैया (पुत्रम्) पुत्रको (इव) जैसे धारण करती है (विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवताओं (ऋतुभिः) और ऋतुओं द्वारा (संविदानः) एक मतको प्राप्त हुए अहो ! उखाने महत् कर्म किया इस प्रकार संवाद करतेहुए (विश्वकर्मा) सृष्टिके निर्माता (प्रजापतिः) प्रजापति (ताम्) उस उखाको (विमुञ्चतु)शिक्य पाशसे विमुक्त करो ॥ ६१ ॥ [१७]

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

असु॑न्वन्तमय॑जमानमिच्छस्तेनस्येत्त्यामन्विहि तस्क॑रस्य ॥ अन्यम॒स्मदि॑च्छ॒सातऽइत्त्यानमो देविनिर्ऋतेतुभ्य॑मस्तु ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असुन्वन्तमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । निच्यृत्त्रिष्टुप्छं० । निर्ऋतिर्देवता । निर्ऋतीष्टकास्थापने वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) राजसूय यज्ञके हविष्यअन्न होमकी समान स्थानमें अर्थात् स्वयं विदीर्ण स्थानमें इस कण्डिकाप्रभृति तीन कण्किाओंके मंत्र पढकर एक २ क्रमसे ऊपर २ नैर्ऋतीनामक तीन इष्टका दक्षिण उत्तरमें लम्बायमान रूपसे निक्षेपपूर्वक स्थापन करे। तुष (भूसी) मात्रकी आगमें परिपक्व कृष्णवर्ण पाद प्रमाण इष्टकाको नैर्ऋती कहते हैं अर्थात् काली ईंटें । [का० १७ । १ । २३] मन्त्रार्थ-(निर्ऋते)हे निर्ऋते ! [अलक्ष्मी] (असुन्वन्तम्)सोमयाग न करने-

वाले अर्थात् जो यज्ञादि नहीं करते (अयजमानम्) हविआदिसे किसी प्रकार वदिक कर्म न करनेवाले पुरुषोंको संगतिकी (इच्छ) इच्छाकर (स्तेनस्य) चोरकी (तस्करस्य) प्रगट चोरकी (इत्याम्) गतिको (अन्विहि) प्राप्त हो अर्थात् इनके समीप गमन करो (अस्मत्) हमसे (अन्यम्) अन्य पुरुषकी(इच्छ) इच्छाकर (सा) वही दुष्टशिक्षा (ते) तेरी (इत्या) गति है (देवि) हे देवी ! (तुभ्यम्) तेरे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो ॥ ६२ ॥

आशय-जो यज्ञादिको अनुष्ठान नहीं करते उनको दुर्भाग्य आक्रमण करता है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १ ।

नमः॒ सु ते॑ निर्ऋते तिग्मतेजोऽय॒स्मयं॒ विचृ॑ता ब॒न्धमे॒तम् ॥ य॒मेन॒ त्वं य॒म्या सं॑विदा॒नोत्त॒मे नाके॒ऽअधि॑रोहयैनम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सुत इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । निर्ऋतिर्दे० । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मंत्रार्थ-(तिग्मतेजः) हे तीक्ष्ण तेजवाले ! घोर क्रूररूप (निर्ऋते) निर्ऋते ! (ते) तुम्हारे निमित्त (सु) निरन्तर (नमः) नमस्कार है (अयस्मयम्) लोहपाशकी समान दृढ (एतम्) इस (बन्धनम्) जन्म मरण रूप अज्ञानको (आविचृत) छेदन करो और (यमेन) अग्नि (यम्या) पृथिवीके साथ (सम्विदाना) एक मतको प्राप्त होकर (एनम्) इस यजमानको (उत्तमे) उत्कृष्ट (नाके) स्वर्गलोकमें (अधिरोहय) स्थापन करो ॥ ६३ ॥

आशय-अलक्ष्मीके प्रसादसेही वैराग्य उपस्थित होता है वैराग्यसे तत्त्वान्वेषणमें प्रवृत्ति और उस ज्ञानसे मुक्ति होती है अथवा भूमिका नाम निर्ऋति, वा भूमिअभिमानी देवता है. ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यस्या॑स्ते घोरऽआ॒सञ्जु॒होम्ये॒षां ब॒न्धाना॑मव॒सर्ज॑नाय ॥ यां त्वा॒ जनो॒ भूमि॒रिति॑ प्र॒मन्द॑ते॒ निर्ऋ॑तिं त्वा॒हं परि॑ वेद वि॒श्वतः॑ ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्तास्त इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । निर्ऋतिर्दे० । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ-(घोरे) हे विषमशील क्रूररूपा निर्ऋति देवी ! (एषाम्) इन यजमानोंके (बन्धानाम्) स्वर्गप्राप्तिप्रतिबंधक पापोंको (अवसर्जनाय) नाशके अर्थ (यस्याः) उस (ते) तुम्हारे (आसन्) मुखमें (जुहोमि) आहुतिकी समान इष्टकाको धारण करताहूं (जनाः) मनुष्य मात्र (याम्) जिस (त्वा) तुझको (भूमिः) भूमि है (इति) इसप्रकार (प्रमन्दते) शास्त्राभिज्ञ होनेसे स्तुति करते हैं (अहम्) मैं तौ शास्त्रज्ञानसे (त्वा) तुझको (विश्वतः) सब प्रकार (निर्ऋतिम्) निर्ऋति देवीही (परिवेद) जान्ता हूं ॥ ६४ ॥

विशेष-सर्वदा साधारण देवयजनसे निकालकर स्वतंत्र देशमें विदीर्णादिमें है प्राप्ति जिसकी सो निर्ऋति है । वेदवाक्यसेही यह प्रगट है कि केवल पदार्थका गुणकथन ही नहीं किन्तु उनमें देवत्वशक्तिभा है ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मन्त्र १ ।

यन्ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ पाश॑ङ्ग्री॒वास्व॑विचृ॒त्यम् ॥ तन्ते॒ विष्या॒म्यायु॑षो॒ न मध्या॒दथै॒तं पि॒तुम॑द्धि प्रसू॑तः ॥ नमो॒ भूत्यै॒ येदञ्च॒कार॑ ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यंतेदेवीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋ० । निचृदार्षी पंक्तिश्छं० । यजमानो दे० । शिक्यरुक्मपाशे इंडासन्दीनिक्षेपे वि० । (२) ॐ नम इत्यस्य मधुच्छं० ऋ० । एकपदा विराट् छं० । भूतिर्देवता । ब्रह्मयजमानाध्वर्यूत्थाने वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रपाठ करके शिक्य, रुक्म, इण्डुद्वय, और आसन्दी यह इष्टकाके पश्चात् भागमें निक्षेप करे [का० १७ । २ । ४] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (निर्ऋतिःदेवी) निर्ऋतिदेवीने(ते)तुम्हारी (ग्रीवासु) ग्रीवामें (यम्) जो (अविचृत्यम्) दृढ छेदनके अयोग्य (पाशम्) पाशको (आबबन्ध)बांधाथा (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (आयुषः) अग्निके (मध्यात्) मध्य अर्थात् गार्हपत्य चितिस्थानसे निर्ऋति देवीके अनुमतिक्रमसे (न) इसी समय (विष्यामि) दूर करताहूं "अग्निर्वा आयुस्तस्यैतन्मध्यं तच्चितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीयः" इति श्रुतेः [७ । २ । १ । १५] (अथ) पाश विमोचनके अनन्तर (प्रसूतः) निर्ऋतिकी अनुज्ञाको प्राप्त हो (एतम्) इस (पितुम्) रक्षाकरनेवाले अन्नको हे यजमान (अद्धि) भक्षणकरो १ । विधि-(२) यजमान इसप्रकार निर्ऋति इष्ट-

काके मध्यस्थलमें जलपूर्ण चमस लावे तब ब्रह्मा अध्वर्यु और यजमान दूसरा मंत्र पाठ करके उत्थान करें [का० १७ । २ । ४] मंत्रार्थ-(या) जिस देवीके प्रसादसे (इदम्) यह समस्त क्रिया सम्पन्न (चकार) हुई वा जिसने यह क्रिया सम्पादन की (भूत्यै) उस ऐश्वर्यरूप देवीके निमित्त (नमः) नमस्कार है २ ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मन्त्र १ ।

निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः ॥ देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम् ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ निवेशन इत्यस्य विश्वावसुर्ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्योपस्थाने वि० ॥ ६६ ॥

विधि-(१)अनन्तर ब्रह्मा अध्वर्यु और यजमान इस निर्ऋतिके प्रति दृष्टिपात न करके इसको पीछेकर यज्ञशालामें गमन करनेपर अध्वर्यु इस मंत्रसे इस यज्ञशालाके द्वारस्थ गार्हपत्य अग्निका उपस्थान करे [का० १७ । २ । ६] मन्त्रार्थ-(निवेशनः) स्वगृहमें यजमानका स्थापक (वसूनाम्) धनोंका (संगमनः) प्रापक अर्थात् प्रजा-पशुरूप धनका प्राप्त करानेवाला (सत्यधर्मा) अवश्य होनेवाले फलसे युक्त अग्नि-होत्रादिलक्षणसे युक्त अग्नि (शचीभिः) अपने अपने कर्मोंसे युक्त (विश्वा) सम्पूर्ण (रूपा) आहवनीय अतिप्रणीता आग्नीध्रधिष्ण्यादि रूपोंको (अभिचष्टे) प्रकाश करता है (सविता) सविता (देवः) देवताकी (इव) समान प्रकाशक होकर (पथीनाम्) शत्रुओंके साथ (समरे) युद्धमें (तस्थौ) स्थित हुआ (इन्द्रोन) जिस प्रकार इन्द्र युद्धमें स्थित होता है ॥ ६६ ॥

सरलार्थ-अग्निदेवता रणस्थलमें प्रतिद्वन्द्वियोंके सहित युद्धमें उपस्थित इन्द्रकी समान और सत्यप्रतिज्ञामें सविता देवताकी समान हमारे निरुपद्रव निवा-सके कारण हों, और यजमानको प्रजा पशु आदि ऐश्वर्यके: सहित संगत करो वह इस समस्त विश्वकी क्रिया और रूप प्रत्यक्ष करते हैं ॥ ६६ ॥

[कृषिविद्या]

कण्डिका ६७-मंत्र १ ।

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् ॥ धीरा देवेषु सुम्नया ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सीरा इत्यस्य सोमपुत्रबुध ऋ० । गायत्री छन्दः । सीरं देवतम् । सीराभिमंत्रणे वि० ॥ ६७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु इस मंत्र और दूसरी कण्डिकाके दूसरे मंत्रद्वारा गार्हपत्य चितिके श्रोणिभागमें पश्चिमकी ओर खडे होकर प्रतिप्रस्थाताके उत्तर वा पूर्वमें छः वा दश अथवा चौबीस बैलोंसे चलाये गूलरकाष्ठनिर्मित हलको अभिमंत्रण करे [का० १७ । २ । ११] मन्त्रार्थ-(धीराः) बुद्धिमान् अग्निविद्यामें कुशल (कवयः) कृषिकर्मके मर्म जाननेवाले विद्वान् (देवेषु) देवलोकमें (सुम्नया) सुख प्राप्त करनेको (सीराः) हलोंका (युञ्जन्ति) बैलोंसे योग करते हैं (युगा) युगोंको (पृथक्) भिन्न २ (वितन्वते) विस्तार करते हैं अर्थात् दो बैलोंसे एक एक हल वहन कराते हैं [ऋ० ८ । ९ । १८] ॥ ६७ ॥

विशेष-वैदिककालमें कृषिविद्याका सत्कार देवलोकके सुखपर्यन्त माना जाता था और इसके मर्म जाननेकी वेदकी आज्ञा है इस कारण कृषिविद्याकी वृद्धिमें विज्ञ पुरुषोंको ध्यान देना उचित है ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मन्त्र १ ।

युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम् ॥ गिरा च श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात् ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युनक्तेत्यस्य सोमपुत्रबुध ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । सीरं देवतम् । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ-हे कर्षकगणो ! (सीराः) हलोंको (युनक्त) जोडो (युगा) हलके जुए (वितनुध्वम्) शम्या और योक्त्र [रस्सी] आदिसे विस्तार करो अर्थात् सब ठीक कर बैलके कन्धोंपर जुए रक्खो (कृते) कर्षणसे संस्कार करनेपर (इह) इस (योनौ) स्थानमें (गिरा) "या ओषधीः पूर्वा०७९कं०" यह मंत्रपाठ करके (च) और चमसद्वारा (बीजम्) संस्कृत व्रीहीआदि बीजको (वपत) बोओ (श्रुष्टिः) अन्नसमूह व्रीहिआदि (सभरा) फलादिसहित वर्तमान होकर पुष्ट (असत्) हो (पक्वम्) पके हुए धान्यको (इत्) अल्प कालमें ही (सृण्यः) दरांतीसे काटकर (नः) हमारे (नेदीयः) अति समीप घरमें (इयात्) प्राप्त करो [ऋ० ८ । ९ । १८] ६८ ॥

प्रमाण-"वाग्वै गीरन्नंश्रुष्टिः" इति श्रुतेः [७ । २ । २ । ५] ॥ ६८ ॥

सरलार्थ-कर्षक गण सीरयोग करो युगवाही वृषोंके स्कंधोंपर यथायोग्य जुए स्थापन करो, यह करने उपरान्त भूमि जोतकर उसमें मंत्र पढकर बीज बोओ,फिर ओषधी पक्व होनेपर दरांतीद्वारा काटकर हमारे घरोंमें प्राप्तकरो,समस्त कृषिविद्याका इसमें उपदेशहै, कृषकोंका कर्तव्य निरूपण कियाहै, यह भी कहाहै कि थोडे कालमें ही अन्न पक्व होताहै, मंत्रपूर्वक बोनेसे अन्न अधिक होताहै,कोई कीडामकोडा नहीं लगता, और जो स्वामी दूसरा हो तौ उसके घर अन्न पहुंचादो, भूमिका बलिष्ठ अन्नप्रद पदार्थोंसे संस्कार करो ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

शुनँ सुफाला विकृषन्तु भूमिँ शुनङ्कीनाशाऽअभियन्तु वाहैः ॥ शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पलाऽओषधीः कर्त्तनास्मे ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शुनमित्यस्य कुमारहारित ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सीता देवता । सीताकर्षणे वि० ॥ ६९ ॥

विधि-(१) इस चितिके स्थानमें परिश्रितके समीप चार दिशाओंमें चार मंत्रोंसे हल कर्षण करै [का० १७ । २ । १२], मंत्रार्थ-(सुफालाः) हे सुन्दर फालवाले हल ! तुम (भूमिम्) पृथ्वीको (शुनम्) सुखपूर्वक (विकृषन्तु) आकृष्ट अर्थात् जोतो (कीनाशाः) हलवाले मनुष्य (वाहैः) वृषभादिके संग (शुनम्) सुखपूर्वक (अभियन्तु) गमन करैं (शुनासीरा) हे वायु ! आदित्य दोनों देवताओ ! (हविषा) जलसे (तोषमानाः) भूमिको सींचतेहुए (अस्मे) हमारी (ओषधीः) ओषधियोंको (सुपिप्पलाः) सुन्दर फलवाली (कर्तन) करो ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"शुनमिति सुखनाम" [निघं० ३ । ६ । ११ । "शुनो वायुः शुएत्यन्तरिक्षे सार आदित्यः सरणात्" इति यास्कोक्तेः [निरु० ९ । ४० ।]॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

घृतेन सीता मधुना समज्यतां विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः ॥ ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमानास्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्व ॥ ७० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ घृतेनेत्यस्य कुमारहारित ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । सीता देवता । वि० पू० ॥ ७० ॥

मंत्रार्थ–(विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवतागण (मरुद्भिः) मरुत् गणोंसे (अनुमता) अनुज्ञात वा अंगीकार की हुई (सीता) हलकी फाल (मधुना) मधुर (घृतेन) घृत अर्थात् अमृतमय जलसे (समज्यताम्) सिंचित हो "परोक्षसे कहकर प्रत्यक्ष कहतेहैं" (सीते) हे फाल ! (ऊर्जस्वती) अन्नवान् तुम (पयसा) पय दही घृतादिसे (पिन्वाना:) दिशाओंको पूर्णकरतीहुई (पयसा) दुग्धादिसे (अस्मान्) हमको (अभ्याववृत्स्व) सब प्रकार अनुकूल हो और क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण औषधी अमृत जलसे परिपुष्ट होकर सतेज हों इस कारण तुम अमृतजल संग्रहपूर्वक हमारी ओर अनुकूल हो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१–मन्त्र १ ।

लाङ्गलम्पवीरवत्सुशेवꣳ सोमपित्सरु ॥ तदुद्वपति गामविम्प्रफर्व्यञ्च पीवरीम्प्रस्थावद्रथवाहणम् ॥७१॥

ऋष्यादि–(१) ॐ लांगलमित्यस्य कुमारहारित ऋ० । विराट्पंक्तिश्छं० । सीता देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मंत्रार्थ–(तत्) वह पूर्वोक्त (पवीरवत) फालसंयुक्त (सुशेवम्) सुखकारक (सोमपित्सरुः) यजमानके निमित्त भूमिका खोदनेवाला अथवा यजमानके पाप दरिद्रताका नाशक वा सोमनिष्पादक (लाङ्गलम्) हल (प्रफर्व्यम्) अतिवेगवान् (अविम्) छाग मेष (पीवरीम्) स्थूलपुष्ट अङ्गवाली (गाम्) गौ (च) और (प्रस्तावत्) गमनमें समर्थ (रथवाहनम्) रथवाहक अश्वादिको (उद्वपति) प्राप्त कराताहै ॥ ७१ ॥

सरलार्थ–फालयुक्त सुन्दर, लघुभारवाला लाङ्गल गमनमें समर्थ वेगवान् हृष्ट पुष्ट गौ (बैल) मेष और अश्वयुक्त करा जाता है विशेष कर इसीके द्वारा सोमयाजी यजमानके भूकर्षण कार्य भली प्रकार निर्वाह होते हैं "खेतीसे सब प्रकारके लाभ होते हैं हलमें घोडे जोतनेकी भी आज्ञा इस मंत्रमें है" ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२ –मन्त्र १ ।

कामङ्कामदुघे धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च ॥ इन्द्रायाश्विभ्याम्पूष्णे प्रजाभ्यऽओषधीभ्यः ॥७२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ काममित्यस्य कुमारहारित ऋ० । विराडनुष्टु-प्छं० । सीता देवता । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ-(कामदुघे) हे मनोरथपूरक सीते ! (मित्राय) मित्र (वरुणाय) वरुण (इन्द्राय) इन्द्र (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार दोनों (पूष्णे) पूषा (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके भोगार्थ (च) और (ओषधीभ्यः) ओषधियोंके निमित्त (कामम्) अपेक्षित भोगको (धुक्ष्व) सम्पादन करो ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

विमुँच्यध्वमघ्न्या देवयाना ऽअगन्म तमसस्पारम॒स्य ॥ ज्योतिरापाम ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विमुच्यध्वमित्यस्य कुमारहारित ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । वृषभा देवताः। वृषदाने विनि० ॥ ७३ ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ पूर्वक लांगलसे वृषभोंको विमुक्त कर ईशान कोणमें उनको छोडदे यह लांगल और वृषभवृन्द सुत्यासमाप्तिमें अध्वर्युको देने चाहियें [का० १७ । २ । २०-२१] मंत्रार्थ-(देवयानाः) हे देवताओंके निमित्त कर्म करनेवाले ! अथवा कर्मद्वारा देवयानमार्गके प्राप्त करानेवाले (अघ्न्या) मारनेके अयोग्य गोवलीवर्दआदि जगत्की स्थितिहेतु कृषिको सम्पादन कर (विमुच्यध्वम्) युगसे पृथक् हो तुम्हारी कृपासे हम (अस्य) इस (तमसः) क्षुधा पिपासासे उत्पन्न हुए दुःखके (पारम्) पारको (अगन्म) प्राप्त हुए (ज्योतिः) परमात्मालक्षण वा यज्ञरूपको (आपाम) प्राप्त हुए "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति" इति [बृहदार० भा० ३ । २ । १] ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मन्त्र १ ।

स॒जूरब्दो॒ ऽअय॑वोभि॒ᳫं स॒जूरु॒षा ऽअरु॑णीभि॒ᳫं ॥ स॒जोष॑सावश्विना॒ दᳫंसो॑भि॒ᳫं स॒जूः सूर॒ ऽएत॑शेन स॒जूर्वै॑श्वान॒र ऽइड॑या घृ॒तेन॒ स्वाहा॑ ॥ ७४ ॥ [१३]

ऋष्यादि-(१)ॐ सजूरब्द इत्यस्य कुमारहारित ऋ०।ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता देवता । कुशस्तम्बे स्रुचमूर्ध्वां कृत्वा होमे विनि० ॥ ७४ ॥

विधि-(१) जुहूद्वारा पांच वार घृतग्रहणपूर्वक इस जोती हुई भूमिके मध्यमें कुशस्तम्बके ऊपर इस मंत्रसे ऊर्ध्वहस्त हो हवन करै [का० १७ । ३ । ३]

मन्त्रार्थ-(अब्दः) संवत्सर जलोंका दाता (अयवोभिः) अवयव मास अर्ध मासके सहित (सजूः) प्रीतियुक्त (उषा) प्रातःकालके अधिष्ठात्री देवता उषा (अरुणीभिः) अरुणवर्णवाली गौओंसे (सजूः) प्रीतियुक्त (अश्विनौ) अश्विनीं- कुमार (दꣳसोभिः) चिकित्सादि कर्मोंसे (सजोषसौ) प्रीतियुक्त (सूरः) सूर्य (एतशेन) घोडेसे (सजूः) प्रीतियुक्त (वैश्वानरः) वैश्वानर आग्नि (इडया) पृथ्वीसे वा अन्न और (घृतेन) घृतसे (सजूः) प्रीतियुक्त हैं (स्वाहा) इन देवताओंके निमित्त श्रेष्ठ होम हो ॥ ७४ ॥ [१३]

सरलार्थ-अवयवसहित वर्तमान संवत्सर देवताके तृप्तिके निमित्त यह घृता- हुति सम्यक्प्रकार दीजाती है इससे वह प्रसन्न हो १ अरुणीसहित वर्तमान उखा देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति देतेहैं इत्यादि० २ दंसके साहित वर्तमान अश्विनी कुमारकी प्रीतिके निमित्त घृताहुति देते हैं इत्यादि० ३ एतशके सहित वर्तमान सूर्य देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति देते हैं, भली प्रकार गृहीत हो ४ इडाके सहित वर्तमान आग्नि देवताकी तृप्तिके निमित्त घृताहुति सम्यक् प्रकारसे देते हैं इससे वे प्रसन्न हों ५ ॥ ७४ ॥

विवरण-अरुणी उषाकी वाहन गौ है वस्तुतः गोशब्दसे ज्योतिका ग्रहण है और ज्योतिमात्रही वहनकारी रूपसे वर्णन किया जाता है अरुणीशब्दका यहां अर्थ कान्तियुक्त है । दिवा रात्रिके अधिष्ठात्री देवता ही अश्विनीकुमार स्वर्गीय वैद्य हैं, इनके द्वाराही समस्त जगत् चिकित्सित होता है, दंसनाम कर्मका है जो कुछ अनुष्ठित होता है वह सब दिन रात्रिके अन्यतर कालमें है, क्रियामात्रही अहोरात्रिका अङ्गीभूत है । एतश-सूर्यके वाहक अश्व हैं अर्थात् किरणपुञ्जका नाम है इडा पृथ्वीका नाम ह अग्नि पृथ्वीके प्रधान देवता कहकर वर्णित हुए हैं इसी कारण पृथ्वीको अग्निकी सहचरी कहकर वर्णन किया है ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५-मंत्र १ ।

याऽओषधीꣳपूर्वाजातादेवेभ्यस्त्रियुगम्पुरा ॥
मनैनुबभ्रूणामहꣳशतन्धामानिसप्तच ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ या ओषधीरित्यस्याथर्वपुत्राभिषगृषिः । अनुष्टु- प्छन्दः । ओषधिर्देवता । ओषधिवपने वि० ॥ ७५ ॥

विधि-(३) इस कण्डिकासे पन्द्रह कण्डिकात्मक पन्द्रह मंत्रसे चमसद्वारा ओषधिबीज वपन करै [का० १७ । ३ । ८] मन्त्रार्थ-(पुरा) सृष्टिकी आदिमें

(याः) जो (पूर्वाः) पहले (ओषधीः) ओषधी (देवेभ्यः) ऋतुओंके द्वारा "ऋतवो वै देवाः" इति श्रुतेः [७ । २ । ४ । २६](त्रियुगम्)वसन्त वर्षा और शरद्ऋतुमें(जाताः) उत्पन्न हुई हैं (बभ्रूणाम्) जगत्‌की उत्पत्तिपालनमें समर्थ और पाकसे पीले वर्ण-हुई ओषधियोंके (शतम्) विशेषकर सौसौ (च) और प्राधान्यतः (सप्त) व्रीहिगोधूमादि सात (धामानि) नाम (अहम्) मैं (मनैनु)जान्ताहूं "सौ भेदोंमें शालिधान्य नीवारादि जाने" अथवा संवत्सरके उपलक्षणसे एकएक स्थान कहाहै कारण कि पुरुषकी आयु शतवर्षकीहै "शतायुर्वै पुरुषः" इति श्रुतेः । सौ धामवर्षात्मकहै शिरस्थान मुख नेत्र नासिकादि सप्तस्थान हैं "य एवेमे सप्तशीर्षन् प्राणास्ताने तदाह" इति श्रुतेः [श० ७ । २ । ४ । २६] शरीरके सब स्थानों सातों धातुओंको तृप्त करतीहैं अथवा सौ प्रकारकी ओषधी हुई हैं उनमें ग्राम्य आरण्यके सात भेद विशषकर जान्ता हूं प्रजासृष्टिसे पहले ओषधी हुई हैं [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६–मन्त्र १ ।

शतं॑वोऽअम्म्बु॒धामा॑निस॒हस्र॑मु॒तवो॒रुह॑÷ ॥ अधा॑ शतक्क्रत्वोयूयमि॒मम्मेऽअग॒दङ्‌कृत ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ शतंव इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ७६ ॥

मंत्रार्थ–(अम्ब) हे माताकी समान ओषधियो ! (आ) सब प्रकार (वः) तुम्हारे (धामानि) नाम (शतम्) सैंकडों हैं (उत) और (वः)तुम्हारे (रुहः) अंकुर (सहस्रम्)असंख्यात हैं (शतक्रत्वः) तुम्हारे सत्त्वसे सब जगत्‌के कार्य निर्वाहित होतेहैं इस कारण हे अनन्तकर्मसाधक ओषधियो !(यूयम्) तुम (मे) मेरे (इमम्) इस यजमानको (अगदम्) क्षुत्पिपासादिषडूर्मिरोगरहित (कृत) करो अर्थात् यजमान किसी प्रकारके रोगसे पीडित न हो वैद्यक शास्त्रका यह मूलमंत्रहै [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७–मंत्र १ ।

ओष॑धी॒ऽ प्रति॑मोदद्ध्व॒म्पुष्प॑वतीऽ प्र॒सूव॑रीऽ ॥ अश्वा॑ऽइवस॒जित्व॑रीर्वी॒रुध॑÷पारयि॒ष्ण्व॒÷ ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ओषधीरित्यस्य भिषगृषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधीः) हे ओषधी गण ! (पुष्पवतीः) पुष्पोंसे युक्त (प्रसूवरीः) फल उत्पन्न करनेवाली (अश्वाः) घोडोंकी (इव) समान (सजित्वरीः) वेगसे गमनवाली (वीरुधः) अनेक प्रकारकी व्याधिनिवारण करनेवाली अथवा अनेक प्रकारसे बढनेवाली (पारयिष्णवः) फलपाकान्तके सिवाय बहुत कालतक कर्मपरायणवाली (प्रतिमोदध्वम्) प्रसन्न हो अश्वकी समान वेगसे शीघ्रपुष्पवान् फलवान् हो ॥ [ऋ० । ८ । ५ । ७] ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मंत्र १ ।

ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे ॥ सनेयमश्वं गां वासऽआत्मानं तव पूरुष ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओषधीरित्यस्यर्ष्यादि पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-(मातरः) हे जगत्की निर्माण करनेवाली वा माताकी समान पालन करनेवाली (देवीः) हे दिव्यगुणोंसे युक्त (ओषधीः) हे सम्पूर्ण ओषधी (वः) तुमसे (इति) इस आगे कही विधिके द्वारा (तत्) वह (उपब्रुवे) जो हम प्रार्थना करते हैं (पूरुष) हे यज्ञपुरुष ! (तव) आपके प्रसादसे (अश्वम्) घोडे (गाम्) गौ (वासः) वस्त्र (आत्मानम्) रोगरहित शरीरको (सनेयम्) भोगूं यज्ञपुरुषसे जो मेरी प्रार्थना है उसे ओषधी मानै । [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १ ।

अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वसतिष्कृता ॥ गोभाजऽइत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्वत्थ इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ७९ ॥

मंत्रार्थ-हे ओषधियो ! (वः) तुम्हारा (अश्वत्थे) पीपल काष्ठनिर्मित उपभृत् और स्रुच पात्रमें (निषदनम्) स्थान है (वः) तुमने (पर्णे) पलाश पत्रसे बनी हुई जुहूमें (वसतिः) स्थान (कृता) किया है पात्रमें हवि स्थापन करतेहैं होमके निमित्त हवि जुहूमें रखतेहैं हे हविर्भूत ओषधियो!(किल)निश्चय करके तुम (गोभाजः) आदित्यकी भजनेवाली (इत्) ही (असथ) हो कारण कि अग्निमें दी हुई आहुति आदित्यको प्राप्तहोतीहै (यत्) जिस कारण कि तुम (पुरुषम्) यजमानको (सनवथ) अन्नादिसे पुष्टकरो अथवा अश्वत्थमेंही तुम्हारा स्थान है अश्वत्थके फलनेसे सर्वौषधी फलवती होतीहैं पलाश फलनेसे व्रीहिआदिमें फल-

वृत्ता होतीहै इस कारण तुम भूमिमें निवासकरो । अथवा पलाश और अश्वत्थमें देवता निवास करतेहैं वह परिक्रमादिसे पूजित होताहै इस कारण तुम्हारा उसमें निवास है [ऋ० ८ । ५ । ८] ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १ ।

यत्रौषधीः᳙ समग्मत राजानः᳙ समिताविव ॥ विप्रः᳙ स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः᳙ ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रौषधिरित्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधीः) हे ओषधियो ! तुम (यत्र) जिस ओषधी करनेवाले वैद्यके पास अथवा जिसजिस घरमें रोगजयको (समग्मत) जाती हो (इव) जैसे (राजानः) राजा (समितौ) संग्राममें शत्रुजयको जातेहैं(सः) वह तुम्हारे आश्रित वैद्य वा घर वा ब्राह्मण (रक्षोहा) पुरोडाशक्काथादिसे राक्षसरूप रोगोंका नाशक होता है (अमीवचातनः) औषधी देकर रोगका नाश करनेवाला(विप्रः) ब्राह्मण (भिषग्) वैद्य (उच्यते) कहा जाता है ॥ ८० ॥

विवरण-इस मंत्रमें वैद्यके लक्षण और गुण नामका कथन किया है[ऋ०।५। ९] ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

अश्वावतीᳬ᳙ सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ॥ आवित्सि सर्वा ऽओषधीरस्मा ऽअरिष्टतातये ॥८१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्वावतीमित्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । वैद्यो देवता । वि० पू० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्मै) इस यजमानके (अरिष्टतातये) अरिष्टनाशके निमित्त (अश्वावतीम्) अश्वादिपशुगणके उपयोगी (सोमावतीम्) सोमयागके उपयोगी (ऊर्जयन्तीम्) बल प्राणकी सम्पादन करनेवाली (उदोजसम्) तेजसम्पादक (सर्वाः) सम्पूर्ण (ओषधीः) ओषधियोंको (आ) सब प्रकारसे (आवित्सि) जान्ताहूं ॥ ८१ ॥

विवरण-इसमें ओषधियोंकी सामर्थ्य और उनके जान्नेका उपदेश है[ऋ० ८ । ५ । ९] ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२–मंत्र १ ।

उच्छुष्म्माऽओषधीनाङ्गावो गोष्ठादिवेरते ॥ धनꣳसनिष्यन्तीनामात्मानन्तवपूरुष ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उच्छुष्मा इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः। ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ–(पूरुष) हे यज्ञ पुरुष ! (तव) तुम्हारे (आत्मानम्) शरीरके प्रति (धनम्) धनरूप (सनिष्यन्तीनाम्) हवि देनेकी इच्छा करनेवाली (ओषधीनाम्) ओषधियोंकी (शुष्माः) सामर्थ्य (उदीरते) प्रगट होती है (इव) जैसे (गावः) गौ (गोष्ठात्) गोठसे निर्गत होती हैं अर्थात् मेरे द्वारा ओषधियोंकी वडी २ सामर्थ्य प्रगट हो [ऋ० ८ । ५ । ९] ॥ ८२ ॥

विवरण–ओषधियोंके संयोगादिसे उनमें वडी सामर्थ्य प्रगट होती है उसके जाननेका उपाय करना चाहिये ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३–मन्त्र १ ।

निष्कृतिर्न्नाम वो माताथो यूयꣳस्स्थ निष्कृतीः ॥ सीराः पतत्रिणीस्स्थन यदामयति निष्कृथ ॥८३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ निष्कृतिरित्यस्य भिषगृषिः । निच्यृदनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ–हे ओषधियो ! (निष्कृतिः) निष्कृति "सम्पूर्ण व्याधिकी नाशक वा सम्पूर्ण सस्यादिकी उत्पादक भूमि" (नाम) नामवाली (वः) तुम्हारी (माता) माता है (अथो) और (यूयम्) तुमभी (निष्कृतीःस्थ) व्याधिकी दूर करनेवाली हो और (सीराः) अन्नके सहित वर्तमान अथवा क्षुधादिको दूर करनेवाली, वा हलके द्वारा होनेवाली (पतत्रिणीः) गमनयुक्त प्रसरणशील (स्थन) हो (यत्) जिस कारणसे कि (आमयति) मनुष्योंमें स्थित रोगको (निष्कृथ) विनाश करो अर्थात् क्षुद्र रोगसे हमारी निष्कृति करो तुम इस सीरमुखसे भूमिमें प्रसारित हो और क्षुधा राक्षसीके हाथसे हमारी निष्कृति करो॥८३॥

प्रमाण–"निष्करोति व्याधिं नाशयति निष्कृतिः" [ऋ० ८ । ५ । ९] "निशब्दो वहुलम्" इति प्रातिशा० [३ । १ । १७] ॥ ८ ॥

कण्डिका ८४-मन्त्र १।

अति॒ विश्वाः॑ परि॒ष्ठाः स्ते॒न इ॑व व्र॒जम॑क्रमुः ॥
ओष॑धीः॒ प्राचु॑च्यवु॒र्यत्किञ्च॑ त॒न्वो॒ रपः॑ ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि (१) ॐ अतिविश्वा इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छं०।
ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मंत्रार्थ-(परिष्ठाः) सब ओरसे रोगको दबाकर बैठनेवाली रोगनाशक (विश्वा) सम्पूर्ण (ओषधीः)औषधियां जब भक्षित होकर देहको (अत्यक्रमुः) व्याप्त करती हैं (इव) जैसे (स्तेनः) दस्यु (व्रजम्) गोष्ठको व्याप्त करता है "अर्थात् दस्युदल जिस प्रकार गोष्ठमें प्रविष्ट हो अपना विक्रम विस्तार करके गोरक्षकोंको मारकर गोष्ठ शून्य करता है इसी प्रकार सम्पूर्ण ओषधि शरीरमें प्रविष्ट होकर अपना विक्रम प्रकाश कर शरीरस्थ समस्त रोगको विनाशपूर्वक शरीरमें रोगशून्यता करती हैं" उस समय (तन्वः) शरीरमें (यत्) जो (किञ्च) कुछभी (रपः) शिरकी व्यथा गुल्म अतिसारादिरूप पापका फल है उस सबको(प्राचुच्यवुः) नाश करती हैं [ऋ०८। ५। ९)] ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मन्त्र १।

यदि॒मा वा॒जय॑न्न॒हमोष॑धी॒र्हस्त॑ आद॒धे ॥ आ॒त्मा यक्ष्म॑स्य नश्यति पु॒रा जी॑व॒गृभो॑ यथा ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदिमा इत्यस्य भिषगृषिः । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (अहम्)मैं (इमाः) यह (ओषधीः) ओषधी (वाजयन्) पूजन करता हुआ वा सत्कारपूर्वक (हस्ते) हाथमें (आ-दधे) धारण करता हूं उस समय (यक्ष्मस्य) यक्ष्मा रोगका (आत्मा) स्वरूप वा निदान (पुरा) भक्षणसे पहलेही (नश्यति) नाशको प्राप्त होता है (यथा) जैसे (जीवगृभः) वधके निमित्त लेजाया हुआ प्राणी वधसे पहलेही अपनेको हत मानता है [ऋ० ८।५।१०] ॥ ८५ ॥

विवरण-पक्षिगणमें जैसे श्येनके अधीन पक्षी, व्याघ्रादि वा वधिकोंके वशमें मनुष्य,धीवरोंके वशमें जैसे मत्स्य होते हैं,वैसे ओषधियोंके वशमें रोग हैं ॥ ८५ ॥

विशेष-इस मंत्रके पाठसे यक्ष्मारोग दूर होता है ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६-मंत्र १।

यस्यौषधीः प्रसर्प्पथाङ्गमङ्गम्परुष्परुः॥ ततो यक्ष्मं विबाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव॥ ८६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्यौषधीरित्यस्य भिषगृषिः। निचृदनुष्टुप्छन्दः। ओषधयो दे०। वि० पू०॥ ८६॥

मन्त्रार्थ-(ओषधीः) हे ओषधिगण! तुम (यस्य) जिसके (अङ्गम् अङ्गम्) अंग अंगमें अर्थात् सब अंगोंमें (परुः परुः) ग्रन्थी ग्रन्थीमें अर्थात् नखाग्रसे केशपर्यन्त (प्रसर्पथ) फैलतीहो और (यक्ष्मम्) यक्ष्मा रोगको (विबाधध्वे) बाधा देती हो (इव) जिस प्रकार (मध्यमशीः) देहके मध्यमें मर्म भागको पीडा देनेवाला (उग्रः) उग्र मनुष्य अथवा मर्मघातक उग्र गोधा अंगुलीत्राण बांधकर शस्त्रलिये क्षत्रिय जैसे शत्रुको बाधादेताहै अथवा (उग्रः) जिस प्रकार रुद्र "मध्यमशीः" त्रिशूलके मध्यभागसे युगान्तमें जैसे जगत्को बाधा देतेहैं. आशय यह कि मर्मछेदी दुर्जनके वाक्य जैसे शरीरमें पीडा देतेहैं ऐसे ओषधी शरीरमें प्रविष्ट हो दुरोगोंको पीडा देतीहैं [ऋ०८।९।१०]॥८६॥

विवरण-उपदेश है कि, मर्मभेदी वाक्य न कहना चाहिये॥ ८६॥

कण्डिका ८७-मन्त्र १।

साकं यक्ष्म प्रपत चाषेण किकिदीविना॥ साकं वातस्य ध्राज्या साकन्नश्य निहाकया॥ ८७॥

शतम् [६००]

ऋष्यादि-(१) ॐ साकमित्यस्य भिषगृषिः। विराडनुष्टुप्छन्दः। यक्ष्मा देवता। वि० पू०॥ ८७॥

मन्त्रार्थ-(यक्ष्म) हे व्याधिसमूह! तुम (किकिदीविना) कफसे रुके कंठसे उठे शब्दद्वारा क्रीडाकरनेवाले श्लेष्मरोग (चाषेण) पित्तरोगके (साकम्) साथ (प्रपत) गमनकरो (वातस्य) वातके (ध्राज्या) रोगके (साकम्) साथ नष्ट हो (निहाकया) सर्वांगवेदनासे जो रोगीका हाहाकार है उस दुःखके (साकम्) सहित (नश्य) नष्ट हो अथवा हे यक्ष्मराज! तुम किकिशब्द करनेवाले चाषपक्षीके साथ भलीप्रकार गमनकरो पवनकी गतिसे पलायन करो और कायाकी आपत्तिके सहित नष्ट हो हा, मैं किस ओषधिसे नष्ट हुआ इस शब्दको करते नष्ट हो॥ ८७॥

भावार्थ-हे व्याधियो! तुम्हारा निदान कफपित्त और वातका विकार है इसके ... नष्ट हो रोगीका हाहाकार निवृत्त हो॥ ८७॥

विवरण-ओषधी करने और यह मंत्रजपनेसे यक्ष्मा रोग निवृत्त होताहै [ऋ० ८ । ९ । १०] ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

अन्या वोऽअन्यामवत्त्वन्यान्यस्याऽउपावत ॥
ताः सर्वाः संविदानाऽइदं मे प्रावता वचः ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्याव इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देव० । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ-हे ओषधियो ! (वः) तुम्हारे मध्यमें (अन्या) कोई एक ओषधी (अन्याम्) दूसरीको (अवतु) रक्षाकरै अर्थात् एकके प्रभावसे एक वृद्धिकरै (अन्या) रक्षितहुई कोई (अन्यस्याः) दूसरीकी रक्षाकरनेको (उपावत) समीप आवै अर्थात् योगजपदार्थोंसे तुम्हारी शक्ति अधिक हो (ताः) वह (सर्वाः) सब प्रकारकी (संविदानाः) परस्पर एकमति होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (वचः) प्रार्थनारूप वचनको (प्रावत) रक्षाकरो अर्थात् एक रोगपर कई ओषधी अपने प्रभावके ह्रास वृद्धिद्वारा रोगनाश करनेमें हमारे अनुरोधकी रक्षा करो ॥ ८८ ॥

आशय-इसी मंत्रका आश्रय लेकर योगज ओषधियोंसे चिकित्साकी प्रथा चलीहै ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

याः फलिनीर्याऽअफलाऽअपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ॥
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वꣳहसः ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ या इत्यस्य भिषगृषिः । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ८९ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो ओषधी (फलिनीः) फलवाली हैं (याः) जो ओषधी (अफलाः) फलरहित हैं (अपुष्पाः) जो फूलरहित हैं (च) और (याः) जो ओषधी (पुष्पिणीः) फूलवाली हैं (ताः) वे सब ओषधी (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पति प्रजापालक परमात्माकी प्रेरणासे अथवा बृहस्पतिद्वारा रची हुई (नः) हमको (अꣳहसः) पापसे वा रोगसे (मुञ्चन्तु) छुडावें अर्थात् कुछभी निष्प्रयोजन नहीं रचा गया है, वडे ज्ञानसे सब ओषधियोंकी रचना हुई हैं जाननेसे सब रोग दूर करती हैं ॥ ८९ ॥

अथ अनारभ्याधीताः ।

कण्डिका ९०–मंत्र १ ।

ओषधीमाहात्म्य ।

मुञ्चन्तुमाशपुत्थ्यादथोवरुण्ण्यादुत ॥ अथोयम स्यपड्वीशात्सर्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ ९० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मुञ्चन्तुमेत्यस्य बन्धुर्ऋ० । भुरिगुष्णिक्छन्दः । ओषधयो देवताः । तत्तत्कर्मसु विनियोगः ॥ ९० ॥

विधि–(१) इसके आगे बारह कण्डिकामें किसी यज्ञादिका विशेष रूपसे विधान नहीं आवश्यकतानुसार विविध स्थानमें व्यवहार होता है "विनियोग उन २ कर्तव्यकर्मोंमें लगा लेना । मन्त्रार्थ–ओषधियें (शपथ्यात्) शपथके निमित्त हुए (किल्बिषात्) पापसे अर्थात् मिथ्या शपथकरनेके पापफलसे उत्पन्न हुए रोगसे (अथो)और (वरुण्यात्) जलक्रीडादिजन्यजलरोगसे (उत) और (यमस्य) यमसम्बन्धी (पड्वीशात्) बन्धनके पापसे (अथो)और(सर्वस्मात्)सब प्रकारके पापसे देवअपराधसे (एव) ही (मा) मुझको (मुञ्चन्तु) छुडाओ [ऋ० ८ । ५ । १] ॥ ९० ॥

विवरण–इस्से विदित है कि अनेक पाप करनेसे शरीरमें रोग होतेहैं प्रार्थनासे दूर होते हैं ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१–मन्त्र १ ।

अवपतन्तीरवदन्दिवऽओषधयस्परि ॥ यञ्जीव मश्नवामहैनसरिष्ष्यातिपूरुषः ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अवपतन्तीरित्यस्य बन्धुर्ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मंत्रार्थ–(दिवः) द्युलोकसे (परि) भूमिपर (अवपतन्तीः) नीचे प्राप्त होती हुई (ओषधयः) ओषधियें (अवदन्) कथनकरती हुई (यम्) जिस (जीवम्) प्राणीको (अश्नवामहै) हम व्याप्तकरतीहैं (सः) वह (पूरुषः) पुरुष (न) नहीं (रिष्यति) नष्ट होता. रोग उसको आक्रान्त नहीं करते [ऋ० ८ । ५ । ११] ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२–मन्त्र १ ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्ब्बह्वीः शतविचक्षणाः ॥
तासामसि त्वमुत्तमारङ्कामाय शर्ठं हृदे ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ या ओषधीरित्यस्य बन्धुर्ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ–(याः) जो (सोमराज्ञीः) सोमपत्नी हैं अर्थात् सोम जिनके राजा हैं (बह्वीः) अनन्त (शतविचक्षणाः) असंख्यात शुभ गुणोंसे युक्त (ओषधीः) ओषधी हैं (तासाम्) उनके मध्यमें हे ओषधी ! (त्वम्) तुम (उत्तमा) उत्तम (असि) हो (कामाय) ईप्सितके निमित्त (अरम्) समर्थ तुम (हृदे) हृदयके निमित्त (शम्) सुखकारिणी हो [ऋ० ८ । ५ । ११] ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३–मन्त्र १ ।

याऽओषधीः सोमराज्ञीर्विष्ठिताः पृथिवीमनु ॥
बृहस्पतिप्प्रसूताऽअस्यै सन्दत्त वीर्य्यम् ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ या इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ–(याः) जो (सोमराज्ञीः) सोमपत्नी (ओषधयः) ओषधियें (पृथिवीम्) पृथ्वीपर (अनु) नाना प्रकारसे (विष्ठिताः) स्थित हैं (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतिद्वारा प्रेरणा कीहुई वे ओषधी (अस्यै) इस हमारी लाई हुई ओषधीके निमित्त (वीर्यम्) पराक्रमको (सन्दत्त) दे अर्थात् वीर्यसम्पन्न करैं अर्थात् जिस ओषधीका हम व्यवहार करते हैं यह हमको वीर्यकर हो[ऋ०८।५।११] ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४–मंत्र १ ।

याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च दूरम्परागताः ॥
सर्वाः सङ्गत्य वीरुधोस्यै सन्दत्त वीर्य्यम् ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ याश्चेदमित्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मंत्रार्थ–(याः) जो ओषधी (उप) समीप स्थित हैं (च) और (याः) जो ओषधी (दूरम्) हमसे दूर (परागताः) दूर स्थित हैं (च) और (इदम्)

इस हमारे वचनको (शृण्वन्ति) सुन्ती हैं (वीरुधः) वे तरुजात (सर्वाः) सम्पूर्ण ओषधी (सङ्गत्य) मिलकर (अस्यै) हमारी ग्रहण कीहुई इस ओषधीमें (वीर्यम्) बलको (सन्दत्त) धारण करैं [ऋ० ८।५।११] ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५–मंत्र १।

मावोरिषत्खनिता यस्मैचाहङ्खनामिवः ॥ द्विपाच्चतुष्पादस्माकःसर्वमस्त्वनातुरम् ॥ ९५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ माव इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मन्त्रार्थ–हे ओषधियो ! रोगचिकित्साके निमित्त तुम्हारी मूलकी आवश्यकता है इस निमित्त (यः) जो कोई (खनिता) तुमको खनन करता है वह खनन करनेके अपराधसे (मा) मत (रिषत्) हानिको प्राप्त हो (यस्मै) जिस रोगीकी चिकित्साके निमित्त (वः) तुमको (अहम्) मैं (खनामि) खनन करता हूं (च) वहभी हानिको प्राप्त न हो (अस्माकम्) हमारे सम्बन्धी (द्विपात्) स्त्री पुत्रादि (चतुष्पात्) चौपाये (सर्वम्) सबही (अनातुरम्) रोगरहित हों. अर्थात् जिसके निमित्त ओषधी लिये जाते हैं वह सर्वथा रोगरहित हो [ऋ० ८।५।११] ॥ ९५ ॥

कण्डिका ९६–मंत्र १।

ओषधयःसमवदन्तसोमेनसहराज्ञा ॥ यस्मैकृणोतिब्राह्मणस्तःराजन्पारयामसि ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ओषधय इत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ–(राज्ञा) अपने राजा (सोमेन) सोमके (सह) सहित (ओषधयः) ओषधियें (समवदन्त) कहती हुई (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (यस्मै) जिस रोगीके निमित्त (कृणोति) हमारे मूल फल पत्रसे चिकित्सा करता है (राजन्) हे स्वामिन् सोम ! (तम्) उस रोगी मनुष्यको (पारयामसि) हम रोगरहित करती हैं [ऋ० ८।५।११] ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७–मंत्र १।

नाशयित्रीबलासस्यार्शसऽउपचितामसि ॥ अथो

शुतस्य॒यक्ष्मा॑णाम्पाका॒रोर॑सि॒नाश॑नी ॥ ९७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नाशयित्रीत्यस्य बन्धुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । ओषधयो दे० । वि० पू० ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ-हे ओषधी !(बलासस्य) क्षयव्याधिके(अर्शसः)अर्श''बवासीर'' रोगकी (उपचितास्) मेद रोग अनेक श्वयथु ''सूजन'' श्लीपदआदि रोगोंकी (नाशयित्री) नाश करनेवाली (असि) हो (अथो) और (शतस्य) बहुतसी क्षतादि सैकडों (यक्ष्माणाम्) रोगोंकी (पाकारोः)तथा मुखपाकादि रोगोंकी (नाशनी)नाश करने वाली,(असि) हो [इन २ रोगोंमें इस मंत्रसे अभिमंत्रण कर ओषधी देनी चाहिये] ॥ ९७ ॥

कण्डिका ९८-मंत्र १ ।

त्वाङ्ग॑न्धुर्वाऽअ॑खनुँस्त्वामिन्द्र॒स्त्वाम्बृह॒स्पति॑ः ।
त्वामो॑षधे॒सोमो॒राजा॑वि॒द्वान्यक्ष्मा॑दमुच्यत ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामित्यस्य बन्धुर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधयो देवताः । वि० पू० ॥ ९८ ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधे) हे ओषधे ! (गन्धर्वाः) गन्धर्वोंने (त्वाम्) तुमको (अखनन्) खोदा (इन्द्रः) इन्द्रने (त्वाम्) तुमको खोदा (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (त्वाम्) तुमको खोदा (सोमः) सोम (राजा) राजाने(विद्वान्) तुम्हारी सामर्थ्य जानकर (त्वाम्) तुमको सेवन कर (यक्ष्मात्) यक्ष्मारोगसे (अमुच्यत) निष्कृति लाभ की तुम्हारे गुणज्ञाता तुमको लाभकर अनेक रोगोंसे मुक्त हुए ॥ ९८॥

कण्डिका ९९-मंत्र १ ।

सह॑स्व मे॒ऽअरा॑तीः॒सह॑स्व पृतनाय॒तः ॥ सह॑स्व॒ सर्व॑म्पा॒प्मान॒ꣳ सह॑मानास्योषधे ॥ ९९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्वेत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराडनुष्टुप्छं० । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ ९९ ॥

मन्त्रार्थ-(ओषधे) हे ओषधि ! तुम (सहमाना) शत्रुओंकी तिरस्कार करनेवाली (असि) हो (मे) मेरे (अरातीः) अदानशीला शत्रुसेनाको (सहस्व) तिरस्कार करो (पृतनायतः) संग्राम चाहनेवाले शत्रुओंको (सहस्व) जीतो (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) अशुभको (सहस्व) तिरस्कार करो अर्थात्

तुम अपनी सामर्थ्यसे रोगभी कर सकती हो प्रयोगवशसे हमारे शत्रुओंको रुग्ण करो विपक्ष सेनादलको रुग्ण करो दस्युवर्गको रुग्ण करो ॥ ९९ ॥

कण्डिका १००–मंत्र १ ।

दीर्घायुस्त्तऽओषधे खनिता यस्मै च त्त्वा खनाम्यहम् ॥ अथो त्त्वन्दीर्घायुर्ब्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥ १०० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दीर्घायुस्त इत्यस्य बन्धुर्ऋ० । विराड् बृहती छं० । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ १०० ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तुम्हारा (खनिता) खनन करनेवाला (दीर्घायुः) दीर्घायु हो (यस्मै) जिस रोगीके निमित्त (अहम्) मैं(त्वाम्) तुझको (खनामि) खनन करूं (च) वह भी दीर्घायु हो (अथो) और (त्वम्) तुम भी (दीर्घायुः) दीर्घायु (भूत्वा) होकर (शतवल्शा) सैंकडो अङ्कुरवाली होकर (विरोहतात्) वृद्धिको प्राप्त हो ॥ १०० ॥

कण्डिका १०१–मंत्र १ ।

त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः ॥ उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो ऽअस्माँ२ऽअभिदासति ॥ १०१ ॥ [२७]

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमित्यस्य बन्धुर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । ओषधिर्देवता । वि० पू० ॥ १०१ ॥

मन्त्रार्थ–(ओषधे) हे ओषधि (त्वम्) तुम (उत्तमा) उत्कृष्ट श्रेष्ठ (असि) हो (वृक्षाः) तुम्हारे निकटके शालतालतमालादिवृक्ष (तव) तुम्हारे (उपस्तयः) समीपमें स्थित होकर उपद्रव निवारणकर छायादिके द्वारा उपकार करतेहैं (यः) जो (अस्मान्) हमसे चिरकालतक (अभिदासति) द्वेष कर रहाहै (सः) वह (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अनुगत (अस्तु) हो [ऋ० ८ । । ११] ॥ १०१ ॥

विशेष–इन मंत्रोंमें समस्त वैद्यक शास्त्रका बीज है इन मंत्रोंके द्वारा ओषधि लाने और पिलानेसे रोग विशेषकर निवृत्त होतेहैं प्रयोगद्वारा शत्रुभी दूर होते हैं ॥ १०१ ॥ [२७]

इत्यनारभ्याधीताः समाप्ताः ।

पुनः इष्टकोपधानाः ।

कण्डिका १०२-मंत्र १. अनु० ७।

मा मा हि᳖ꣳसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिव᳖ꣳ सत्यधर्मा व्यानट् ॥ यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १०२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मामेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । वेदिप्रदेशाल्लोगेष्टकाश्चतुरो मृत्खण्डांश्चानीय पूर्वादिदिक्षूपधाने वि० ॥ १०२ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु चार लोगेष्टका[पादप्रमाण छोटी छोटी] पूर्वादि चारों दिशाओंमें स्फ्यद्वारा उपधान कर उनमें इस मंत्रसे पूर्वदिशामें उपधानकरै यह वेदीके वाहरके स्थानसे चार मृत्खण्ड लेकर दक्षिणोत्तर पूर्वापर मध्यसूत्रप्रान्तोंमें स्थापन करे[का० १७ । ३। ११]मंत्रार्थ-(यः) जो प्रजापति (पृथिव्याः) पृथ्वीका (जनिता) उत्पन्न करनेवाला है (यः) जो (सत्यधर्मा) सत्य धारण करनेवाला (दिवम्) द्युलोकको (व्यानट्) सृजन कर चुका है वा व्याप्त किया है (च) और (यः) जो (प्रथमः) आदि पुरुष (आपश्चन्द्राः) जगतके आह्लादक और तृप्तिसाधक जलको (जजान) उत्पन्न करता हुआ अथवा श्रुतिके अनुसार आपश्चन्द्र मनुष्योंको कहते हैं जिसने मनुष्योंको उत्पन्न किया है जो (प्रथमः)पहला शरीरी है वह प्रजापति (मा) मुझे (मा) मत (हिᳪसीत्) मारो (कस्मै) उस प्रजापतिके निमित्त (हविषा) हवि (विधेम) देते हैं वह हमारी रक्षा करे॥१०२॥

प्रमाण-१ "यो वा दिवᳪसत्यधर्मासृजत" इति श्रुतेः [७ । ३ । १२०] २"व्यानट् इति व्याप्तिकर्मा" [निघं० २ । १८ ।४]३ "मनुष्या वा आपश्चन्द्राः" इति [७ । ३ । १ । २०] श्रुतेः । मनुष्य यज्ञसे चन्द्रलोकको जाते हैं ॥ १०२ ॥

कण्डिका १०३-मंत्र १ ।

अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह ॥ वपान्ते अग्निरिषितोऽअरोहत् ॥ १०३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यावर्तस्वेत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । निचृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणस्यां दिशि लोगेष्टकोपधाने वि० ॥ १०३ ।

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिणादिशामें लोगेष्टका स्थापन करे । मंत्रार्थ-(पृथिवि)हे पृथिवि!(यज्ञेन)यज्ञ(पयसा) और उसके फल वृष्टिके (सह) साथ वा दुग्धादि भोगके साथ (अभ्यावर्तस्व) सन्मुखआओ(अर्थात्)परितृप्त हो (इषितः) प्रजापतिके प्रेरित (अग्निः) अग्नि (ते) तुम्हारे (वपाम्) पृष्ठरूप देशमें (आरोहत) आरोहणकरो अर्थात् अग्निके इच्छित आधार यह इष्टका तुम्हारी त्वक्स्वरूप प्रतिष्ठित हो ॥ १०३ ॥

कण्डिका १०४ मंत्र-१ ।

अग्ने॒ यत्ते॑ शु॒क्रं यच्च॒न्द्रं यत्पू॒तं यच्च॑ य॒ज्ञियम्॑ ॥ तद्दे॒वेभ्यो॑ भरामसि ॥ १०४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेयत्त इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । भुरिग्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । पश्चिमायां दिशि लोगेष्टकोपधाने विनि० ॥ १०४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे पश्चिमदिशामें लोगेष्टका उपधानकरे । मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (ते) तुम्हारा (यत्) जो अंग (शुक्रम्) शुक्लवर्ण दीप्तिमान् है(यत्) जो अंग (चन्द्रम्) ज्योति चंद्रमाकी समान आह्लादकरनेवाली है (यत्) जो ज्योति (पूतम्) पवित्र है गृहकार्यके योग्य है(च) और (यत्) जो (यज्ञियम्) यज्ञकार्यके योग्य है(तत्)वह सब प्रकार श्लाघनीय ज्योति (देवेभ्यः) देवकार्यसिद्धिके निमित्त (भरामसि) सम्पादन करतेहैं ॥ १०४ ॥

कण्डिका १०५-मंत्र २ ।

इष॒मूर्ज॑म॒हमि॒त आद॑मृ॒तस्य॒ योनि॑म्महि॒षस्य॒ धारा॑म् ॥ आ मा॒ गोषु॑ विश॒त्वा त॒नूषु॒ जहा॑मि से॒दिम्निरा॑म॒मीवा॑म् ॥ १०५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । विराडार्ची त्रिष्टुप्छं० । आशीर्देवता । पादत्रयस्योत्तरतो लोगेष्टकोपधाने विनियोगः । (२) ॐ जहामीत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छं० । यजमानो देवता । सिकतापाते विनि० ॥ १०५ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे उत्तर वेदीकी लोगेष्टका उपधान करे । मंत्रार्थ-(ऋतस्य) सत्य वा यज्ञकी (योनिम्) उत्पत्तिकारण (इषम्) अन्न (ऊर्जम्)

उसका उपसेचन दही दूध घृतादिको (महिषस्य) महत् इच्छावाले अग्निकी (धाराम्) आहुतिको (इतः) इस प्रदेश उदीची दिशासे (अहम्) मैं (आदम्) भक्षण करताहूं वा स्वीकार करताहूं और यह सब इडादिक (मा) मुझमें (आविशतु) प्रवेश करै (तनूषु) मेरे पुत्रादि शरीरोंमें (गोषु) मेरे धेनुआदि पशुओंमें (आ) प्रवेश करै १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे सिकतापात करै [का० १७ । ३ । १३]मन्त्रार्थ-(अनिराम् अमीवाम्)अन्नरहित क्लेशदायक (सेदिम्) होनेकी व्याधिको (जहामि) त्यागन करताहूं अर्थात् अन्नके अभावसे मेरे रोगदुःख न हो ॥ १०५ ॥

सरलार्थ-हमने जिस दिशाके प्रभावसे अतिशय प्रवृद्ध मेघपुञ्जधारा वृष्टिलाभ की है और उसीसे यज्ञके कारण सम्पत्तिस्वरूप अन्न और जल भक्षण किया यही धारा हमारे गौओंमें प्रवेशकर पशुवृद्धि करै, प्रजावर्गके शरीरमें प्रविष्ट होकर पुष्टि करै, अन्नाभावनिबंधन पीडा दूर हो ॥ १०५ ॥

कण्डिका १०६-मंत्र ११ ।

अग्ग्नेतव॒ श्रवो॒वयो॒महि॑भ्राजन्तेऽअ॒र्च्चयो॑विभावसो ॥ बृह॑द्भानो॒शव॑सा॒वाज॑मु॒क्थ्य॒न्दधा॑सिदा॒शुषे॑कवे ॥ १०६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेतवेत्यस्य पावकाग्निर्ऋ० । विष्टारपंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । सिकताच्छादने वि० ॥ १०६ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति दो मंत्रोंसे उत्तर वेदीके दोनों पक्ष और पुच्छभागको छोडकर और सर्वत्र अर्थात् मध्यभागमें सिकता आच्छादन करै [का० १७ । ३ । १९] मन्त्रार्थ-(विभावसो) हे कान्तिरूप धनवाले (बृहद्भानो) बडे प्रकाशमान (कवे) यजमानके अभिप्रायको जाननेवाले (अग्ने) अग्निदेवता ! (तव) तुम्हारी (श्रवः) यज्ञप्रवृत्तिको देवताओंने सुनानेवाला (महि) बडा (वयः) धूम (अर्चयः) और दीप्ति (भ्राजन्ते) प्रकाशित होती हैं, अर्थात् तुम्हारी कीर्ति पताकासदृश फहराताहुआ आकाशस्पर्शी यह धूमपुञ्ज देदीप्यमान हो रहा है (दाशुषे) तुम हविदाता यजमानके निमित्त (शवसा) बलसहित (उक्थ्यम्) शस्त्रादिसे युक्त यज्ञके योग्य (वाजम्) अन्नको (दधासि) देते हो अर्थात् यज्ञकरनेकी उपयोगी सामर्थ्य और अन्न यजमानको प्रदान करो [ऋ० ८ । ७ । २८] ॥ १०६ ॥

प्रमाण-"महि महत् नभोगामित्वात्" "धूमो वा अस्य श्रवो वयः स ह्येनममुष्मिँल्लोके श्रावयति" इति श्रुतेः [७ । ३ । १ । २९] ॥ १०६ ॥

कण्डिका १०७–मंत्र १।

पावकवर्चाः शुक्रवर्चाऽअनूनवर्चाऽउदियर्षि भानुना॥ पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसीऽउभे ॥१०७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पावकवर्चा इत्यस्य पावकाग्निर्ऋ०। विष्टारपंक्तिश्छं०। अग्निर्दे०। वि० पू०॥ १०७॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (पावकवर्चाः) शोधक दीप्तिवाले (शुक्रवर्चाः) निर्मल कान्तिवाले (अनूनवर्चाः) पूर्णशक्तिवाले तुम (भानुना) अपनी दीप्तिसे (उदियर्षि) उत्कृष्टताको प्राप्त होते हो तथा (विचरन्) सब ओरसे विचरतेहुए (उपावसि) देवता मनुष्योंसहित जगत्की रक्षाकरतेहो जैसे (पुत्रः) पुत्र वृद्ध हुए (मातरा) माता पिताकी रक्षा करता है इसी प्रकार तुम मातापिता रूप (उभे) दोनो (रोदसी) द्यावा पृथ्वीको धूमपुञ्जद्वारा अर्थात् हविसे द्युलोकको जलसे भूमिको (पृणक्षि) पालन करते हो "इमे वै द्यावापृथिवी रोदसी ते एष उभे पृणक्ति धूमेनामूं वृष्ट्येमाम्" इति [७।३।१।३०] श्रुतेः [ऋ० ८।७।२८]॥ १०७॥

कण्डिका १०८–मंत्र १।

ऊर्जो नपाज्जातवेदः सुशस्तिभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः॥ त्वेऽइषः सन्दधुर्भूरिवर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः॥ १०८॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऊर्जोनपादित्यस्य पावकाग्निर्ऋ०। सतो बृहती छन्दः। अग्निर्देव०। वि० पू०॥ १०८॥

मन्त्रार्थ–(ऊर्जोनपात्) हे जलोंके पोते! जलसे वृक्ष और वृक्षोंके मथनसे अग्नि होनेसे जलोंका पोता कहा अथवा हे अन्नके विनाश न करनेवाले (जातवेदः) हे प्रज्ञावान्! (धीतिभिः) यज्ञकर्मोंके निमित्त (हितः) स्थापन किये तुम (सुशस्तिभिः) श्रेष्ठ स्तुतियोंसे (मन्दस्व) हृष्ट पुष्ट हो (भूरिवर्पसः) अनेक रूपवाले "वर्प इति रूपनाम" [निघं० ३।७] (चित्रोतयः) बहुत प्रकारकी रक्षा वा अन्न रखनेवाले तुमसे तर्पित (वामजाताः) श्रेष्ठ जातिकुलमें उत्पन्न हुए यजमानोंने (त्वे) तुझमें अपने (इषः) हविरूप अन्नको (सन्दधुः) होमा अर्थात्

विविध ऐश्वर्यवान् स्वरूप यजमानने तुममें यथेष्ट हवनादि यजन किया इस कारण तुम इसको सुप्रशस्त कार्यसिद्धिके निमित्त विशेष अनुकूल हो [ऋ० ८ । ७ । २८] ॥ १०८ ॥

कण्डिका १०९-मन्त्र १ ।

इ॒रज्य॑न्नग्ने प्रथयस्व ज॒न्तुभि॑र॒स्मे रायो॑ऽअमर्त्य ॥ स द॑र्श॒तस्य॒ वपु॑षो॒ वि रा॑जसि पृ॒णक्षि॑ सान॒सिं क्रतु॑म् ॥ १०९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इरज्यन्नित्यस्य पावकाग्निर्ऋ० । सतो बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १०९ ॥

मन्त्रार्थ-(अमर्त्य) हे मरणधर्मरहित (अग्ने) अग्नि देवता ! (जन्तुभिः) हवि देनेवाले प्राणियोंद्वारा वा अध्वर्युद्वारा (इरज्यन्) प्रदीप्त होते हुए तुम (रायः) अनेक प्रकारके धनोंको (अस्मे) हमारे निकट (प्रथयस्व) विस्तारकरो (सः) वह तुम (दर्शतस्य) दर्शनीय (वपुषः) चित्याग्निरूप शरीरके मध्यमें (विराजसि) विशेष प्रदीप्त होते हो (सानसिम्) चिरन्तन (क्रतुम्) संकल्पको (पृणक्षि) पूर्ण करते हो अर्थात् हमको यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करते हो [ऋ० ८ । ७ । २८] ॥ १०९ ॥

कण्डिका ११०-मंत्र १ ।

इ॒ष्क॒र्तार॑मध्व॒रस्य॒ प्रचे॑तसं॒ क्षय॑न्त॒ꣳ राध॑सो म॒हः ॥ रा॒तिं वा॒मस्य॑ सु॒भगां॑ म॒हीमिषं॒ दधा॑सि सान॒सिꣳ र॒यिम् ॥ ११० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष्कर्तारमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । सतो बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० । ११० ॥

मंत्रार्थ-(अध्वरस्य) यज्ञके (इष्कर्तारम्) रचनेवाले (प्रचेतसम्) श्रेष्ठ चित्तवाले हे अग्ने ! (क्षयन्तम्) यज्ञस्थानमें निवासकरनेवाले यजमानको (वामस्य) श्रेष्ठ (महः) वडे (राधसः) धनके (रातिम्) दानको और (सुभगाम्) श्रेष्ठ ऐश्वर्ययुक्त (महीम्) वडे (इषम्) अन्नको (सानसिम्) चिरन्तन (रयिम्) धनको यजमानमें (दधासि) धारणकरते हो अर्थात् यथेष्टअन्न और चिरस्थायी ऐश्वर्य देते हो [ऋ० ८ । ७ । २८] ॥ ११० ॥

कण्डिका १११-मंत्र १।

ऋतावानम्महिषंविश्श्वदर्शतमग्निᳬसुम्म्नायंदधिरेपुरोजनाः ॥ श्रुत्कंण्णर्ᳬसुप्प्रथंस्तमन्त्वागिरादैव्यम्मानुषायुगा ॥ १११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतावानमित्यस्य पावकाग्निर्ऋषिः । उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ १११ ॥

मंत्रार्थ-हे अग्ने ! (मानुषाः) बुद्धिसम्पन्न मनुष्यजाति (जनाः) ऋत्विगादि यजमान (युगा) पौर्णमासी अमावस्या आदि पर्वोंमें (गिरा) वेदवाणीद्वारा (त्वा) तुम (ऋतवानम्) सत्यरूप (महिषम्) महान् (विश्वदर्शतम्) संसारके दर्शनीय (श्रुत्कर्णम्) कर्णोंसे प्रार्थना सुनकर उसके सम्पादन करनेवाले (सप्रथस्तमम्) अतिकीर्तिमान् (दैव्यम्) देवताओंके हितकारी तुम (अग्निम्) अग्निको (सुम्नाय) यज्ञके निमित्त (पुरा) पूर्वभागमें आहवनीय रूपसे (दधिरे) स्थापन करते हुए श्रुत्कर्णका तात्पर्य यह कि याचककी प्रार्थनापर मन लगायेहुए हो [ऋ० ८।७।२८]॥ १११ ॥

कण्डिका ११२-मंत्र १।

आप्प्यायस्वसमेतुतेविश्श्वतः सोमवृष्ण्ण्यम् ॥ भवावाजस्यसङ्गथे ॥ ११२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । सोमो देवता । सिकतास्पर्शने वि० ॥ ११२ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाप्रभृति दो मंत्रसे गिरीहुई सिकता स्पर्श करै [का० १७।३।१६।] मंत्रार्थ-(सोम)हे सोम ! (विश्वतः) सब ओरसे (वृष्ण्यम्) सब प्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाला तेज (ते) तुमको (समेतु) प्राप्त हो अर्थात् तेज इस स्थानमें प्राप्त हो (आप्यायस्व) अपने वीर्यसे सब प्रकार परिवर्द्धित हो (वाजस्य) यज्ञादि सत्कार्यके उपयोगी अन्नके (सङ्गथे) प्राप्तिके निमित्त (आभव) हमारे निकट हो अर्थात् उपयोगी अन्न हमको प्राप्त कराओ [ऋ० १।६।२२]॥ ११२ ॥

कण्डिका ११३-मंत्र १।

सन्तुपयांᳬसिसमुयन्तुवाजाःसंवृष्ण्ण्यान्यभिमा

तिषाहः ॥ आप्यायमानोऽअमृतायसोमदिवि श्रवांᳬस्युत्तमानिधिष्व ॥ ११३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन्त इत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ११३ ॥

मंत्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (पयाᳬसि) पीनेयोग्य रस (ते) तुमसे(अभिमातिषासह) पापनाशक आपके साथ (संयन्तु) संगतिको प्राप्तहों(वाजाः)अन्न (सम्) संगतिको प्राप्तहों (वृष्ण्यानि) वीर्य (सम्) तुमको प्राप्तहों (आप्यायमानः) दुग्ध अन्न और वीर्यसे वृद्धिको प्राप्तहोतेहुए तुम (उ) ही (अमृताय) अमरणधर्म अथवा संस्कारसे शुद्धहुए प्रजापुत्रादिकी वृद्धि यजमानके निमित्त करो "प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात्प्रजातिरमृता" इति श्रुतेः [७ । ३ । १ । ४६] और (दिवि) द्युलोकमें (उत्तमानि) श्रेष्ठ (श्रवाᳬसि) आहुति परिणामवाले अन्नोंको धारणकरो अर्थात् यजमानको इस लोकजन्य पुत्रपौत्रादिप्रजा और द्युलोकजन्य उत्कृष्ट अन्नदानकी व्यवस्थाकरो [ऋ० १ । ६ । २२] ॥ ११३ ॥

कण्डिका ११४-मंत्र १ ।

आप्यायस्वमदिन्तमसोमविश्वेभिरᳬशुभिः॥ भवानःसुप्रथस्तमःसखावृधे ॥ ११४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आप्यायस्वेत्यस्य गोतम ऋ० । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । सोमो देवता । जपे वि० ॥ ११४ ॥
सूत्रमें इसका विनियोग नहीं कहाहै.

मन्त्रार्थ-(मदिन्तम) अतिशय तृप्तअन्तःकरणवाले (सोम) हे सोम ! (सुप्रथस्तमः) अत्यन्त विख्यातकीर्ति तुम (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (अᳬशुभिः) सूक्ष्मांशोंके द्वारा (आप्यायस्व) वृद्धिको पाओ (वृधे) और हमारी वृद्धिके निमित्त (सखा) सहायक (आभव) हूजिये [ऋ० १ । ६ । २२]॥ ११४ ॥

कण्डिका ११५-मन्त्र १ ।

आतेवत्सोमनोयमत्परमाच्चित्सधस्थात् ॥ अग्नेत्वाङ्कामयागिरा ॥ ११५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत इत्यस्यावत्सार ऋ० । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । जपे विनियोगः ॥ ११५ ॥

विधि-(१) श्वेत अश्वके अभावमें पीत अश्व उसके अभावमें वृष लाकर अध्वर्युद्वारा होता जिज्ञासित होकर तन्मय होकर इस कण्डिकाप्रभृति तीन मंत्रोंको पढे [का० १७ । ३ । २०-२१] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारा (वत्सः) वत्सस्वरूप यजमान (त्वाम्) तुमको (कामया) स्तुति करनेकी इच्छावाली (गिरा) वेदवाणीद्वारा (परमात्) उत्कृष्ट (सधस्थात्) द्युलोकसे (चित्) भी तुम्हारे (मनः) मनको (आयमत्) हटाकर निग्रह करता है अर्थात् वेदमंत्रके प्रभावसे तुम्हारे मनको उत्कृष्ट देवलोकसे आकर्षण करता है [ऋ० ९ । ८ । ३६] ॥ ११५ ॥

विशेष-यज्ञारम्भके पूर्व यजमानको पयोव्रतादि करना होता है इस कारण वत्सरूपसे वर्णना की है सायनभाष्यमें इस मंत्रकी वत्सनाम ऋषि कहकर व्याख्याकी है ॥ ११५ ॥

कण्डिका ११६-मन्त्र १ ।

तुभ्यन्ताऽअङ्गिरस्तम्विश्वाः सुक्षितयः पृथक् ॥ अग्ने कामाय येमिरे ॥ ११६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तुभ्यन्ता इत्यस्य विरूप ऋ० । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११६ ॥

मन्त्रार्थ-(अङ्गिरस्तम) हे अतिहविभक्षक ! (अग्ने) अग्नि देवता ! (पृथक्) अनेक प्रकारकी (विश्वाः) सम्पूर्ण (ताः) वे प्रसिद्ध (सुक्षितयः) स्वर्गादि सुन्दर स्थानकी देनेवाली स्तुतियें (कामाय) अभिलाषा पूर्ण करनेवाले (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (येमिरे) की जाती हैं अर्थात् अपनी २ कामनासिद्धिके निमित्त भिन्न २ प्रकारसे तुम्हारी स्तुति करते हैं [ऋ० ६ । ३ । ३२]॥ ११६ ॥

कण्डिका ११७-मंत्र १ ।

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ॥ सम्राडेको विराजति ॥ ११७ ॥ [१६]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११७ ॥

मन्त्रार्थ-(भूतस्य) उत्पन्न (भवस्य) उत्पद्यमान 'होनेवाले' यजमानोंके (कामः) कामनापूरक (सम्राट्) सम्यक् प्रकारसे विराजमान (अग्निः) अग्नि देवता (प्रियेषु) अपने प्रिय (धामसु) स्थानोंमें (एकः) असहायभूत प्रधान एकही (विराजति) विराजमान होते हैं ॥ ११७ ॥ [१६]

इति श्रीकात्यायनगोत्रोद्भवमर्यादापालकपण्डितवरमिश्रसुखानंदसूनुपण्डितज्वाला-
प्रसादमिश्रकृतशुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये माध्यन्दिनीयायां संहितायां
रुक्मादिवाचनान्तोयं द्वादशोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥ १२ ॥

शुभमस्तु ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः १३.

मयिगृह्णामिपञ्चदश ध्रुवासिमधुवाताएकादशको सम्यक्स्रवंति नवेमंमापडर्पात्वैका अयंपुरः पञ्चशताष्टापञ्चाशत् ॥

अथ पुष्करपर्णोपधानमन्त्राः ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

मयिगृह्णाम्म्यग्ग्रेऽअग्निर्ठ॑रायस्पोषायसुप्रजा स्त्वायसुवीर्य्याय ॥ मामुदेवताःसचन्ताम् ॥१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मयीत्यस्यावत्सार ऋषिः । ककुप्छन्दः । अग्निर्देवता । होमे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) यजमान उत्तर वेदीके पूर्वभागमें स्थित होकर 'मयिगृह्णामि' यह मंत्रजप करे और इसीप्रकार उत्तर वेदीके पश्चिममें स्थित हो यजमान हवन करे [का० १० । ३ । २७] मन्त्रार्थ-मैं यजमान (अग्रे) प्रथम (रायः) धनकी (पोषाय) पुष्टिके निमित्त (सुप्रजास्त्वाय) सुन्दर पुत्रादिकी प्राप्तिके निमित्त (सुवीर्याय) सुंदर सामर्थ्यप्राप्तिके निमित्त (अग्निम्) अग्निको (मयि) आत्मामें (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (देवताः) देवतागण भी (माम्) मुझको (सचन्ताम्) सेवन करें इस मंत्रसे आत्मामें ज्ञानाग्निका धारण भी कहा है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

अपाम्पृष्ठमसियोनिरग्ग्नेःसमुद्रमभितःपिन्न्वमानम् ॥

वर्द्धमानो महाँ२ऽआ चुपुष्करे दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथस्व ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपांपृष्ठमसीत्यस्यावत्सार ऋषिः। यजुश्छं० लिंगोक्तं दे०। पुष्करपर्णोपधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) अनन्तर अध्वर्यु इस कण्डिकात्मक दो मंत्रका पाठ करके उषासंवरणकालमें जिस प्रकार प्रथम मंत्रसे पत्र रखकर दूसरेसे विस्तीर्ण कियाथा इसी प्रकार कुशस्तम्बके ऊपर कमलिनीपत्र स्थापन करे [का० १७। ४। १] मंत्रार्थ-अपांपृष्ठमसि इसकी व्याख्या अ० ११ मं० २९ में होगई ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १।

ब्रह्म यज्ञानम्प्रथमम्पुरस्ताद्विसीमतः सुरुचो वेनऽआवः ॥ स बुध्न्याऽउपमाऽअस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्मजज्ञानमित्यस्यावत्सार ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। आदित्यो देवता। रुक्मोपधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस स्थापितपत्रके ऊपर उसी कण्ठमें धारण किये सुवर्णको इस मंत्रसे पिण्डके अधोभागानुसार स्थापन करे [का० १७। ३। २९] मन्त्रार्थ-(पुरस्तात्) पूर्वदिशासे (प्रथमम्) सबसे प्रथम (जज्ञानम्) प्रगटहोता हुआ (ब्रह्म) आदित्यरूप ब्रह्म (सीमतः) भूगोलमध्यसे आरंभकरके (सुरुचः) सुन्दर रुचिवाले इन लोकोंको (विआवः) अपने प्रकाशसे विस्तार करताहुआ (सः) और वह (वेनः) कामनीय मेधावी (उपमाः) अवकाशयुक्त (च) और (अस्य) इस जगत्की (विष्ठाः) वासस्थान (बुध्न्याः) अन्तरिक्षमें होनेवाली दिशाओंको तथा (सतः) विद्यमान मूर्ति घटपटादि (च) और (असतः) अमूर्त वायुआदिके प्रभव (योनिम्) स्थानको (विवः) प्रकाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ-यह ब्रह्मरूप आदित्य प्रथम पूर्व दिशामें उदय होकर भूमिकी सीमापर्यन्त अपनी सुन्दर किरणसमूह विस्तार करते हैं, यही अन्तरिक्ष समस्त लोकके एक मात्र लक्ष्य और इस जगतके भले बुरे समस्त पदार्थकी स्थितिके कारण हैं॥३॥

कण्डिका ४-मंत्र १।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽ

आसीत् ॥ सदाधारपृथिवीन्द्यामुतेमाङ्कस्मैदेवा
यहविषाविधेम ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यगर्भ इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । हिरण्यपुरुषोपधाने वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे और दूसरे मंत्रसे इस रुक्मके ऊपर पूर्व पश्चिम एक हिरण्यमय पुरुषको शयन करावै [का० १७।४।३] मन्त्रार्थ-(हिरण्यगर्भः) हिरण्यपुरुषरूप ब्रह्माण्डमें गर्भ रूपसे अवस्थित प्रजापति हिरण्यगर्भ (भूतस्य) प्राणिजातकी उत्पत्तिके (अग्रे) प्रथम (समवर्तत) शरीरधारी हुआ और वह (जातः) उत्पन्न अर्थात् प्रगटमात्रही (एकः) एकही इस उत्पन्न होनेवाले सब जगतका (पतिः) ईश्वर (आसीत्) हुआ (सः) वही (पृथिवीम्) अन्तरिक्ष (द्याम्) द्युलोक (उत) और (इमाम्) इस भूमि अर्थात् त्रिलोकीको निर्माण कर (दधार) धारण करता है (कस्मै) उस प्रजापतिके निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान करते हैं ॥ ४ ॥

प्रमाण-"ज्योतिर्वै हिरण्यम्" [श०७।४।१।१५] "हिरण्यम् कस्माद्ध्रियत आयस्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणम्भवतीति वा हृदयरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः" [निरु० २ । १०] "पृथ्वी भूः स्वयम्भूरित्यन्तरिक्षनामसु" [निघं० १ । ३ ।] "विधेमेति परिचरणकर्मा" [निघं० ३ । ५ ।] "हिरण्मयो गर्भो हिरण्मयो गर्भोस्येति वा गर्भो गृभेर्गृत्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान्गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भो भवति समभवदग्रे भूतस्य जातः पतिरेको बभूव स धारयति पृथिवीं दिवं च कस्मै देवाय हविषा विधेम" इति व्याख्यातम् "विधातिर्दानकर्मा" [निरु०१०।२३]४॥

सरलार्थ-सबसे प्रथम अर्थात् सृष्टिके पूर्व एकमात्र हिरण्यगर्भ स्थित थे सृष्टि होनेपरभी वही एकमात्र इस समस्त विश्वके अधिपति पालनकरनेवाले हुए अपनी शक्तिसे वह पृथ्वी और द्युलोकको धारण किये हैं वह किस प्रकार है यह कोई कथन नहीं करसकता उन्ही देवताकी प्रीतिके निमित्त हम हवि विधान करते हैं [ऋ० ८ । ७ । ३ ।] ॥ ४ ॥

विवरण-रुक्म पुरुषसे इस स्थलमें प्रतिमाही निर्मित है । और उसकी अर्चा भी सांकेतिक है ॥ ४ ॥

यह जो पुष्करपर्णके ऊपर सुवर्णमय पुरुषकी स्थापना है इसके विषयमें शतपथकी श्रुतियोंमें लिखाहै ॥

अथ सामगायाति एतद्वै देवा एतं पुरुषमुपधाय तमेतादृशमेवापश्यन्यथैतच्छुष्कं फलकम्२२तेब्रुवन् उपतज्जानीत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति। तेऽब्रुवँश्चेतयध्वमिति

श्चितिमिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन्पुरुषे वीर्यं दधामेति२३ ते चेतयमानाः एतत्सामापश्यंस्तदगायंस्तदस्मिन्वीर्यमदधुस्तथैवास्मिन्नयमेतद्दधाति पुरुषे गायतिपुरुषे तद्वीयं दधाति चित्रेगायति सर्वाणि हि चित्राण्यग्निस्तमुपधाय न पुरस्तात्परीयान्नेनमायमग्निर्हि न सदिति २४ अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे वै लोकाः सर्पाः श०७। ४ । १ । २२–२५ । अर्थात् जब देवताओंने हिरण्मयपुरुषको सुवर्णफलकके ऊपर स्थापन किया, तब यह परामर्श किया कि यह सुवर्णपुरुष चेतनारहित शुष्क फलकके समान है । तब फिर सब बोले कि इस हिरण्मयपुरुषमें शक्ति प्रादुर्भावके निमित्त परामर्श करो, तब देवताओंने इस बातको अनुमोदन किया, और इसमें वीर्य स्थापनकी मीमांसा की, तब नमोस्तु सर्पेभ्यः ६ । या इषवो० ७ । येवामी० ८ । इन तीन आगेके मंत्ररूप सामकी उपलब्धिको प्राप्त हुए और इन तीनमंत्र रूप सामको गाया तब इस हिरण्मय पुरुषमें वीर्य अर्थात् फल प्रदायक शक्तिको स्थापन किया । इससे स्पष्ट है कि इसीप्रकार मूर्तिमें इन मंत्रोंसे प्रतिष्ठा करके शक्ति स्थापन करते हैं ।

कण्डिका ५–मंत्र १ ।

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमञ्च योनिमनु यश्च पूर्वः ॥ समानं योनिमनु सञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ द्रप्स इत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । आदित्या दे० । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ–(यः) जो (पूर्वः) प्रथम मुख्य सबकी आदि जिसकी आदि नहीं (द्रप्सः) जो कि द्रप्स नामसे प्रसिद्ध आदित्यरूपका कारण (पृथिवीम्) अन्तरिक्षको (अनुचस्कन्द) मनुष्यादि धारणके निमित्त सींचता है (च) और (द्याम्) द्युलोकको (अनु) सींचता है (च) और (इमम्) इस (योनिम्) भूलोकको आहुतिपरिणामरूप रससे (अनु) सींचता है (समानम्) सम्पूर्णके तुल्य (योनिम्) त्रिलोकीमें (सञ्चरन्तम्) विचरण करते हुए (द्रप्सम्) आदित्यको (सप्त होत्राः) सात दिशाओंमें (अनु जुहोमि) स्थापन करता हूं अर्थात् हिरण्य पुरुषरूपसे सब दिशाओंमें स्थापन करता हूं [ऋ० ७ । ६ । २९] ॥ ५ ॥

प्रमाण–"असौ वा आदित्यो द्रप्सो दिशः सप्त होत्रा अमुमादित्यं दिक्षु प्रतिष्ठापयति" इति श्रुतेः [७ । ४ । १ । २०] ॥ ५ ॥

सरलार्थ-जो सबके आदि हैं जिनकी आदि नहीं वही देवता द्रप्सनामसे प्रसिद्ध हैं और द्रप्सनामसे प्रसिद्ध यही सूर्यके कारण है इस द्रप्सके अनुसरणसे ही यह द्रप्स पृथिवी द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें विचरण करते नियमित रसाकर्षण रस दानादिद्वारा त्रिलोकीकी साम्यावस्थासे रक्षा करते हैं और इन द्रप्सके ही प्रकाशसे यह सात दिशा [चारदिक् अधः ऊर्ध्व और मध्य]निर्णीत होती हैं ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १ ।

नमोऽस्तुसुर्प्पेब्भ्योयेकेचंपृथिवीमनु ॥ येऽअन्तरिक्षेयेदिवितेब्भ्यः सुर्प्पेब्भ्योनमः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य देवश्रवा ऋ० । भुरिक्प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । सर्पादे० । हिरण्यपुरुषमालोक्य जपे विनि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) अनन्तर यजमान इस हिरण्मय पुरुषका दर्शन कर इस कण्डिकासे आदि तीन मंत्रोंका पाठ करे [का० १७ । ४ । ६]

मन्त्रार्थ-(ये) जो (च) भी (पृथिवीम्) पृथ्वीके (अनु) अनुगत लोक नक्षत्र हैं उन (सर्पेभ्यः) लोक नक्षत्रोंके निमित्त (नमः)नमस्कार (अस्तु) हो(ये) जो लोक (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें वर्तमान हैं (ये) जो सम्पूर्ण लोक (दिवि) द्युलोकके आश्रित हैं (तेभ्यः) उन (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है "इमे वै लोकाः सर्पाः" इति श्रुतेः [श० ७।४।१।२९] भूमिके चारों ओरभी नक्षत्रादि घूमते हैं अथवा द्युस्थानमें लोक चलते हैं यह भाव है. ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

याऽइषवोयातुधानानांयेवावनस्पतीँ१रनु ॥ येवावटेषुशेरतेतेब्भ्यः सुर्प्पेब्भ्योनमः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ याइषव इत्यस्य देवश्रवा ऋ० । अनुष्टुप्छं० । सर्पादेवताः । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(यातुधानानां) राक्षसगणोंके (याः) जो सर्प (इषवः) बाणरूपसे वर्तते हैं (वा) या (ये) जो सर्प (वनस्पतीन्) चन्दनवृक्षादि वनस्पतियोंके (अनु) आश्रय हैं (वा) या (ये) जो (अवटेषु) बिलोंमें (शेरते) शयन करते हैं (तेभ्यः) उन सब (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा जो राक्षसादिके ईप्सित लोक हैं जो जम्बुआदिके समीप लोक हैं जो तल आदि सात अवकाशभागोंमें वर्तमान हैं उन लोगोंके निमित्त नमस्कार है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

येऽवामीरोचनेदिवोयेवासूर्य्यस्यरश्मिषु ॥ येषा मप्सुसदस्कृतन्तेभ्यः सर्पेभ्योनमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येवामीत्यस्य देवश्रवा ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः। सर्पा देवताः । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ–(ये) जो सम्पूर्ण (वामी) लोक सर्प वा प्राणीगण (दिवः) द्युलोकके (रोचने) दीप्तिस्थानमें हैं जो हमको नहीं दीखते (वा) अथवा (ये)जो लोक (सूर्यस्य) सूर्यकी (रश्मिषु) किरणोंमें निवास करते हैं (येषाम्) जिन सर्पलोक वा प्राणियोंका (अप्सु) जलोंमें (सदः) स्थान (कृतम्) किया है (तेभ्यः) उन सब (सर्पेभ्यः) सर्पोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है ॥ ८ ॥

प्रमाण–"रोचनो ह नामैष लोको यत्रैष एतत्तपति" इति श्रुतिः ॥ ८ ॥

सरलार्थ–जो सकल प्राणीगण द्युलोकमें जो अवकाशस्थान अन्तरिक्ष लोक जो प्राणी सूर्यकी रश्मिमें प्रविष्ट हो भूलोकमें तथा जो जलके गर्भमें अवस्थिति करते हैं उनको नमस्कार है सर्प प्राणी लोक तीनोंमें इस मंत्रका अर्थ होता है सर्वत्र उस परमात्माने लोकोंकी रचना की है ब्रह्माण्ड लोकों प्राणियोंसे पूर्ण हैं उसकी शक्तिसे स्थित है इसी मंत्रको लेकर सूर्यके रथमें सर्पकी स्थिति पुराणोंमें कही है यही आकर्षणी विद्या है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

कृणुष्वपाजः प्रसितिन्नपृथ्वीं याहिराजेवाम वाँ२ऽइभेन ॥ तृष्वीमनुप्रसितिन्द्रूणानोस्तासि विध्यरक्षसस्तपिष्ठैः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कृणुष्वेत्यस्य वामदेव ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता । हिरण्मयपुरुषोपरि पंचाहुतिहोमे विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि–(१) आज्यसंस्कारकरिके इस हिरण्यमय पुरुषके निकट उपविष्ट होकर प्रदक्षिणक्रमसे प्रतिदिक् सन्मुख होकर इस पुरुषके ऊपर इस कण्डिका-प्रभृति पांच मंत्र पाठकरके पञ्चगृहीत पञ्चाहुति प्रदानकरे [का० १७ । ४ । ७]

मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (अस्ता) शत्रुओंके हटानेवाले (असि) हो (याहि) शत्रुओंके ऊपर जाओ (इव) जैसे (अमवान्) सहायवान् (राजा) नृप (इभेन) हाथीद्वारा शत्रुओंपर गमनकरताहै, ऐसे तुम गमनकरो (पृथिवीम्)

विशाल बडे (प्रसितिम्) पक्षिग्रहणके निमित्त फैलाये हुए जालकी (न) समान (पाजः) बलको (कृणुष्व) विस्तारकरो (तृष्वीम्) वेगवान् (प्रसितिम्) जालद्वारा (अनु) सम्यक् (द्रूणानः) शत्रुओंको मारनेवाले (तपिष्ठैः) तपानेवाले (रक्षसः) राक्षसोंको (विध्य) ताडनकरो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ ९ ॥

प्रमाण-"पाजइति बलनाम" [निघं० २ । ९ । २ ।] "प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा" इति [निरु० ६ । १२] ॥ ९ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने! बलविधानकर पात्रमित्रसेनाके वृंदसहित और गजस्कंधारूढ राजा मायाजालसे पृथ्वीको जिस प्रकार आक्रमण करतेहैं तथा जिस प्रकार बल प्रकाश करतेहैं इसीप्रकार जालग्रहण पूर्वक शत्रुगणको आच्छन्नकर बलप्रकाशकर समस्त राक्षसगणको अपनी दाहिका शक्तिसे दग्धकरो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

तवभ्रमासऽआशुयापतन्त्यनुस्पृशधृषताशोशुचानः ॥ तपूᳪंष्यग्नेजुह्वापतङ्गानसन्दितोविसृजविष्वगुल्काः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तवभ्रमास इत्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-हे (अग्ने) अग्निदेवता ! (तव) तुम्हारी जो (आशुया) शीघ्रगामी (भ्रमासः) ज्वालासमूह (पतन्ति) पवनसे इधरउधर चलायमान होतेहैं (धृषता) उस प्रगल्भ ज्वालासमूहसे (शोशुचानः) प्रकाशमान तुम (तपूᳪंषि) तपानेवाले राक्षसों और (पतङ्गान्) पतंग अर्थात् पिशाचोंको (अनुस्पृश) ज्वालासमूहसे दग्धकरो (जुह्वा) स्रुकसे हूयमान तुम (असन्दितः) अखण्डित होकर (विष्वक्) सर्वत्र तिरछी ऊंची नीची (उल्काः) ज्वालाओंको राक्षसोंके नाश करनेको (विसृज) छोडो पतंगकी समान राक्षस तुममें प्रविष्ट हो नष्ट होतेहैं, [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

प्रतिस्पशोविसृजतूर्णितमोभवापायुर्विशोऽअस्याऽअदब्धः ॥ योनोदूरेऽअघशᳪंसोयोऽअन्त्यग्नेमाकिष्टेव्यथिरादधर्षीत् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतिस्पश इत्यस्य वामदेव ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारा (दूरे) दूर देशमें (यः) जो (अघशꣳसः) शत्रु है (यः) जो (अन्ति) निकटमें वर्तमान शत्रु है (तूर्णितमः) बडे वेगवान् (अदब्धः) अनुपहिंसित तुम उसकी (प्रति) ओर (स्पशः) बन्धनको (विसृज) प्रेरण करो (अस्याः) इस हमारी (विशः) प्रजाके (पायुः) रक्षक (भव) हूजिये (ते) तुमको (किः)कोईभी शत्रु (मा) मत (आदधर्षीत्) धर्षणा करो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ ११ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! प्रत्येक दस्युके बंधनके निमित्त प्रणिधि प्रेरण कर लघुहस्त हो अदग्ध भावसे प्रजाकी पालना करो जो हत्याकारी दस्युदल दूर पलायमान हैं उनके निकट तुम उपस्थित हो वे तुमको व्यथित न करसकें तुम उन सबको पराजित लांछित करो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यमित्राँ२ऽओषतात्तिग्महेते ॥ यो नोऽअरातिꣳसमिधान चक्रे नीचातन्धक्ष्यतसन्न शुष्कम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदग्न इत्यस्य वामदेव ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! तुम (उत्तिष्ठ)जागृत होओ (प्रत्यातनुष्व) ज्वालाविस्तार करो (तिग्महेते) हे उत्साहरूप आयुधवाले ! (अमित्रान्) शत्रुओंको (न्योषतात्) अत्यन्त भस्मीभूत करो (समिधान) हे दीप्तिमान् ! (नः) हमारे (यः) जो (अरातिम्) शत्रुदानका प्रतिषेध (चक्रे) करताहै (तम्) उसको (नीचा) निकृष्ट करके (धक्षि) भस्मकरो (न) जिस प्रकार (शुष्कम्) सूखे (अतसम्) अतस वृक्षको भस्मकरते हो इस प्रकार शत्रुको नष्टकरो [ऋ० ३ । ४ । २३] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र २ ।

ऊर्ध्वो भव प्रतिविध्याध्यस्मदाविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने ॥ अवस्थिरा तनुहि यातुजूनां जामिमजामिम्प्रमृणीहि शत्रून् ॥ अग्नेष्ट्वा तेजसा सादयामि ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ ऊर्द्ध्व इत्यस्य वामदेव ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता स्रुगुपधाने वि० । (२) ॐ अग्नेष्ट्वत्यस्य वामदेव ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । स्रुगुपधाने वि० ॥ १३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (ऊर्द्ध्वः) उद्योगी उद्धत (भव) हो (अस्मत्) हमारे (अधि) ऊपर वर्तमान (शत्रून्) शत्रुओंको (प्रतिविध्य) ताडनकरो (दैव्यानि) देवसम्बन्धी कर्मोंको (आविः) प्रगट (कृणुष्व) करो (यातुजूनाम्) राक्षसोंके (स्थिरा) स्थिर धनुषोंको (अवतनुहि) ज्यारहित करो (जामिम्) ताडित (अजामिम्) अताडित वा नवागत (शत्रून्) शत्रुओंको (प्रमृणीहि) विनाशकरो अर्थात् जो जाति हमसे क्रोधकरे उसे नष्टकरो १ । विधि-(२) इस दूसरे मंत्रसे और परकण्डिकात्मक मंत्रसे कार्ष्मयमयी पादमात्र दीर्घ षडङ्गुली प्रशस्ता घृतपूर्णा स्रुक् अग्राग्र करके उपधान करे [का० १७ । ४ । १२]मन्त्रार्थ-हे स्रुक् ! (अग्नेः) अग्निके (तेजसा) तेजसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र २।

अ॒ग्निर्मू॒र्धा दि॒वः क॒कुत्पतिः॑ पृथि॒व्याऽअ॒यम् ॥ अ॒पाᳬरेता॑ᳬसि जिन्वति ॥ इन्द्र॑स्य॒ त्वौज॑सा सा॒दयामि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य वामदेव ऋषिः । निचृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० । (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य वामदेव ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-अग्निर्मूर्धेति इसकी व्याख्या ३ । १२ में होगई १ ।

सरलार्थ-अग्निने द्युलोकके मस्तकस्वरूप प्रधानताका लाभ किया है यह पृथ्वी लोकमें ककुद्की समान उच्छ्रित और सर्वत्रही आधिपत्य लाभ कर चुके हैं अन्तरिक्ष लोककी वृष्टिके भी यही कारण हैं १ । विधि-(२) इसी प्रकार और एक उदुम्बर [गूलर] का स्रुवा दधिपूर्ण करके इस मंत्रसे और पर कण्डिकात्मक मंत्र पाठ करके उसके उत्तरमें उपधान करे [का० १७ । ४ । १३]मंत्रार्थ-हे स्रुक् ! (इन्द्रस्य) इन्द्रके (ओजसा) तेजसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करताहूं ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १।

भुवो॑ य॒ज्ञस्य॒ रज॑सश्च ने॒ता यत्रा॑ नि॒युद्भिः॒ सच॑से शि॒वाः

वाभिः ॥ दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुवो यज्ञस्येत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! तुम जब (हव्यवाहम्) हवि धारण करनेवाली (जिह्वाम्) जिह्वारूप ज्वालाको (चकृषे) प्रगट करते हो तब (यज्ञस्य) द्रव्य देवता त्यागात्मारूप यज्ञके (च) और (रजसः) यज्ञपरिणामरूप जलके (नेता) प्रवर्तक और प्रापक (भुवः) होते हो (यत्र) यहां (शिवाभिः) मंगलरूप (नियुद्भिः) अश्वोंके सहित तुम (सचसे) सम्बन्धको प्राप्त होते हो "नियुतोनाम वायोरश्वाः" [निघं० १ । १५ । १०] और (दिवि) द्युलोकमें (स्वर्षाम्) स्वर्गके देनेवाले वा स्वर्गमें स्थित (मूर्द्धानम्) आदित्यको (दधिषे) धारण करते हो [ऋ० ७ । ६ । ४] ॥ १५ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! तुमही यज्ञके सम्पादक और तुमही कल्याणतम निर्दोष वायुके सहित अन्तरिक्षचारी होकर वृष्टि प्रेरण करते हो. तुमने गमनस्पर्शी स्वर्गके निदानीभूता जिह्वा धारण की है हे अग्ने ! अब उस जिह्वाको हव्यवाहिनी करो इस प्रकारके कर्मवाले तुमको स्वर्गरूपसे सादन करताहूं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ अनु० २ ।

ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा ॥ मा त्वा समुद्र उद्वधीन्मा सुपर्णोऽव्यथमाना पृथिवीं दृंह ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ध्रुवासीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । ऊर्द्धबृहती छन्दः । स्वयमातृणा देवता । स्वयमातृणोपधाने वि० ॥ १६ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त इन चार कण्डिकाओंके चार मंत्रोंसे इस पुरुषके ऊपर स्वयमातृणा [स्वाभाविक छिद्रयुक्त पत्थरकी ईंटें] इष्टका धारण करे [का० १७ । ४ । १५] मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! तुम (धरुणा) भूमि रूपसे विश्वकी धारणकरनेवाली (विश्वकर्मणा) प्रजापतिद्वारा (आस्तृता) विस्तारकी हुई (ध्रुवा) दृढ (असि) हो (समुद्रः) समुद्र अर्थात् रुक्म (त्वा) तुमको (मा) मत (उद्वधीत्) नष्टकरो (सुपर्णः) पुरुष तुमको (मा) मत नष्ट करो अथवा वायु तुमको नष्ट न करे (अव्यथमाना) अचल होकर तुम भूभाग दृढ करनेमें समर्थ हो इस कारण (पृथिवीम्) पृथ्वीको (दृंह) दृढकरो ॥ १६ ॥

प्रमाण-"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्णः" [श० ७ । ४ । २ । ५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

प्रजापतिष्ट्वासादयत्त्वपाम्पृष्ठे समुद्रस्येमन् ॥ व्यचस्वतीम्प्रथस्वतीम्प्रथस्वपृथिव्यसि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिष्ट्वेत्यस्य त्रिशिरा ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । स्वयमातृणा देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (प्रजापतिः) प्रजापति (त्वा) तुझ (व्यचस्वतीम्) अवकाशवान् (प्रथस्वतीम्) विस्तारयुक्तको (अपाम्) जलोंके (पृष्ठे) ऊपर (समुद्रस्य) और समुद्रके अर्थात् जलसंघातके (एमन्) स्थानमें (सादयतु) स्थापन करै, और तुम प्रजापतिसे सादित होकर (प्रथस्व) विस्तारको प्राप्त हो (पृथिवी) जिस कारण कि भूमिसे प्रगट होनेसे तुम पृथ्वीरूप (असि) हो ॥ १७ ॥

सरलार्थ-प्रजापतिने तुमको समुद्रके ऊपरभूभागमें और समुद्रके गर्भ भूभाग दोनों स्थानमें स्थापन किया है तुम दीर्घ और प्रथित होनेमें समर्थ हो, इस कारण तुमको पृथ्वीभी कहते हैं अधिक ऊर्ध्वको प्रथित होसकती हो, अब इस चितिको विस्तार करो ॥ १७ ॥ जलके भीतर ईटोंकी नीम काम देती है इससे यहभी सूचित किया है.

कण्डिका १८-मन्त्र १ ।

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ॥ पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसीः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भूरसीत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । प्रस्तारपंक्तिश्छं० । स्वयमातृणा देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! तुम (भूः) सुखोंकी भावना करनेवाली (भूमिः) भूमि नामसे प्रसिद्ध (असि) हो (विश्वधाया) विश्वके पुष्ट करनेवाली (अदितिः) देवमाता (असि) हो (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) संसारकी (धर्त्री) धारण करनेवाली (असि) हो (पृथिवीम्) पृथ्वीको (यच्छ) कृपादृष्टिसे अवलोकन करो (पृथिवीम्) भूभागको (दृꣳह) दृढकरो (पृथिवीम्) पृथिवीको (मा) मत (हिꣳसीः) कष्ट वा पीडा दो ॥ १८ ॥ इन मंत्रोंमें प्रासाद आदि निर्माण करनेका शिल्पविद्याका उपदेश है ।

कण्डिका १९–मन्त्र १ ।

विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । अग्निष्ट्वाभिपातु मह्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वस्मा इत्यस्य त्रिशिरा ऋषिः । भुरिगतिजगती छन्दः । स्वयमातृणा दे० । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ–हे स्वयमातृणे ! (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान (उदानाय) उदान नामक शरीरवायुकी (प्रतिष्ठायै) उन्नतिकी कामनाके निमित्त तथा प्रतिष्ठा कीर्तिलाभके निमित्त (चरित्राय) शास्त्रीय आचरणके निमित्त अर्थात् सच्चरित्र होकर प्रतिष्ठा पानेकी अभिलाषासे तुमको इस स्थानमें सादित करताहूं (अग्निः) अग्नि देवता (मह्या) बडी (स्वस्त्या) कल्याण योगक्षेमकी सम्पत्ति और (शन्तमेन) अत्यन्त सुखकारी (छर्दिषा) गृहके द्वारा (त्वा) तुमको (अभिपातु) रक्षा करै अर्थात् कल्याणरूपा इस पृथ्वीकी कल्याणतम ज्वालाद्वारा अग्नि तुम्हारी सब प्रकार रक्षा करै (तया) उस (देवतया) परम देवताके अनुग्रहसे (ध्रुवा) दृढ हुई (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (सीद) स्थित हो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र १ ।

काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती परुषःपरुषस्परि । एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ काण्डादित्यस्य अग्निर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । दूर्वेष्टका देवता । स्वयमातृणया दूर्वेष्टकोपधाने वि० ॥ २० ॥

विधि–(१) इस स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और परकण्डिकात्मकमंत्रसे दूर्वाइष्टका [समूलसाग्र कितनी एक दूर्वानिर्मित इष्टका] उपधान करै और इष्टकाका अग्रभाग भूमिसे संलग्नरक्खै [का० १७।४।१८] मन्त्रार्थ–(दूर्वे) हे दूर्वा ! इष्टके ! तुम (काण्डात् काण्डात्) प्रत्येक काण्डसे और (परुषः परुषः) प्रत्येकपर्वसे (परि) सब ओरसे (प्ररोहन्ती) अंकुरित होती हो अर्थात् भूमिके सम्बन्धवाले और असंबन्धवाले सब पर्वोंसे बढती हो (एव) और निश्चयही

(सहस्रेण) सहस्र (च) और (शतेन) सैंकडों अर्थात् असंख्य ऐश्वर्यपुत्र-पौत्रादिसे अङ्कुरवत् (नः) हमको (आ) सब प्रकार (प्रतनु) विस्तार वा वृद्धिको प्राप्तकरो ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र १ ।

या॒ श॒तेन॑ प्रत॒नोषि॑ स॒हस्रे॑ण वि॒रोह॑सि ॥ तस्या॑स्ते देवीष्टके वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ याशतेनेत्यस्य अग्निर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छंदः । दूर्वेष्टका देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ–(देवि) हे दीप्यमान ! (इष्टके) हे इष्टके ! (या) जो तुम (शतेन) सैंकडों काण्डसे (प्रतनोषि) विस्तारको प्राप्त होती हो (सहस्रेण) सहस्र अंकुरोंसे (विरोहसि) अनेक प्रकारसे अंकुरित होती हो (वयम्) हम (ते) तुमको (हविषा) हवि (विधेम) विधान करते हैं इन दोनों मंत्रोंसे सन्ततिकी वृद्धि होती है इसी कारण दूर्वा मांगलिक कही गई है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र १ ।

यास्ते॑ऽअग्ने॒ सूर्ये॒ रुचो॒ दिव॑मात॒न्वन्ति॑ र॒श्मिभिः॑ ॥ ताभि॑र्नो॒ऽअ॒द्य सर्वा॑भी रु॒चे जना॑य नस्कृधि ॥ २२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यास्त इत्यस्य इंद्राग्नी ऋषी । भुरिगनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पद्मेष्टकोपधाने वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) दूर्वा इष्टकाके पूर्व इस कण्डिका और परकण्डिकात्मक मंत्र इन दोनो मंत्रोंसे 'द्वियजु' नामक पद्मा इष्टका स्थापन करै [का० १७ । ४ । २०] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (या) जो (ते) तेरी (रुचः) दीप्ति (सूर्ये) सूर्यमण्डलमें वर्तमान (रश्मिभिः) किरणोंद्वारा (दिवम्) द्युलोकको (आतन्वन्ति) प्रकाश करती हैं (अद्य) इस समय (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सम्पूर्ण कांतियोंसे (नः) हमारे (रुचे) शोभाके निमित्त तथा (नः) हमारे (जनाय) पुत्रपौत्रादिको जगत्प्रसिद्ध (कृधि) करो अथवा यह द्युलोकप्रकाशक सम्पूर्णकान्ति हमको प्राप्तहो, हमारे यजमानके कार्यसिद्धिके निमित्त उस समस्त दीप्तिके सहित हमारी इस यज्ञभूमिमें दीप्तिमान् हो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १।

यावो देवाःसूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ॥ इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ याव इत्यस्य ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ–(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी ! (बृहस्पते) हे बृहस्पते ! (देवाः) हे देवसमूह ! (वः) तुम्हारी (यः) जो (रुचः) दीप्ति (सूर्ये) सूर्यमण्डलमें वर्तमान हैं (याः) जो (रुचः) दीप्तियें (गोषु) धेनुओंमें जो (अश्वेषु) अश्वोंमें स्थितहैं (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सम्पूर्ण दीप्तियोंसे देदीप्यमान तुम (नः) हमारे निमित्त (रुचम्) कान्तिनिरोगताको (धत्त) प्रतिपादन कीजिये ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १।

विराड् ज्योतिरधारयत्स्वराड् ज्योतिरधारयत् ॥ प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम् ॥ विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ ॥ अग्निष्टेऽधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवा सीद ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ विराट्स्वराडिति मंत्रयोरिंद्राग्नी ऋषी। प्राजापत्या गायत्री छं० । रेतःसिचौ देवते। इष्टकोपधाने वि०।(३) ॐ प्रजापतिरित्यस्येंद्राग्नी ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं०। विश्वज्योतिर्देवतम्। रेतःसिगिष्टकोपधाने वि० ॥ २४ ॥

विधि–(१–२) द्वियजुनामक इष्टकाके पूर्वमें पूर्वपश्चिमदीर्घक्रमसे रेत और सिच् नामक दो पद्या इष्टका उपधान करै, उसके मध्यमें प्रथम मंत्रसे उत्तर भागमें रेत और दूसरे मंत्रसे दाक्षिण भागमें सिकता स्थापन करैं [का० १७। ४। २२] मंत्रार्थ–(विराट्) विशेष शोभायमान विराट्रूप इस लोकने (ज्योतिः) अग्निरूप ज्योतिको (अधारयत्)धारण किया १। (स्वराट्) स्वयं प्रकाशमान द्युलोकने (ज्योतिः) अग्निरूप ज्योतिको (अधारयत्) धारण किया"अयं लोको विराट् सइममग्निं ज्योतिर्धारयत्यसौ वै लोकः स्वराट् सोऽमुमादित्यं ज्योतिर्धारयत्" इति [७। ४। २। २३] श्रुतेः २। विधि–(३) रेत और सिच् नामक दोनों

इष्टकाओंके पूर्वमें तीसरे मंत्रसे यजमानद्वारा निर्मित विश्वज्योति नामक पद्या इष्टका पूर्व पश्चिम दीर्घक्रमसे उत्तरमुख होकर उपधान करै [का० १७ । ४ । २३] मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (प्रजापतिः) प्रजाके पालक (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यानकी सम्पत्तिके निमित्त (ज्योतिष्मतीम्) ज्योतिर्युक्त (त्वा) तुझको (पृथिव्याः)पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापित करै (विश्वम्) सम्पूर्ण (ज्योतिः) ज्योतिको (यच्छ) निग्रह करो, अर्थात् समस्त प्राणोंको तुम समस्त ज्योति वितरण करो (अग्निः) अग्नि (ते) तुम्हारा (अधिपतिः) अधिपति है (तया) उस प्रसिद्ध (देवतया) देवताके सहित (ध्रुवा) दृढ होकर (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (सीद) स्थित हो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र २ ।

मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसि कल्पेतान्द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ वासन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मधुश्चेत्यस्य इन्द्राग्नी ऋषी । भुरिग्जगती छन्दः । ऋतुर्देवता । पद्येष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ ये अग्नय इत्यस्य इन्द्राग्नी ऋषी । भुरिग्ब्राह्मी बृहती छन्दः । ऋतुर्देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रका पाठ करके विश्वज्योतिर्नामक इष्टकाके पूर्वमें पूर्व पश्चिम दीर्घ क्रमसे मधु और माधवनामक दो पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । ४ । २४] मंत्रार्थ-(मधुः) चैत्रमास (च) और (माधवः) वैशाख मास यह दोनों (च) ही (वासन्तिकौ) वसन्तसम्बन्धी (ऋतू) ऋतु हैं अथवा हे (ऋतू) ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ ! तुम (अग्नेः)चीयमान अग्निके (अन्तः)अन्तरमें स्थित होकर (श्लेषः) श्लेष अर्थात् दृढताके निमित्त लगाये हुए (असि) हो

"जिस प्रकार भीतके भीतर दृढताके निमित्त काष्ठकी लकडी लगा देते हैं" अग्निचयन करते (मम) मुझ यजमानके (ज्यैष्ठ्याय) उत्कर्षताके निमित्त यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोक (कल्पन्ताम्) स्वोचित उपकारको कल्पना करें, अर्थात् इस प्रकार यह ऋतुसदृश कार्यमें नियुक्त हो एकवाक्य होकर इस जगतमें हमारा प्राधान्य कल्पना करें द्यावापृथिवी, हमारा प्राधान्य कल्पना करे (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधी हमारा प्राधान्य (कल्पन्ताम्) सम्पादन करें (सव्रताः) समान व्रत अर्थात् एक अग्निचयन कर्ममें स्थित (पृथक्) अनेक नामकी (अग्नयः) अग्नि स्वयमातृणा आदि इष्टका (कल्पन्ताम्)उत्कृष्टता सम्पादन करें "अग्नयो हैते पृथग्यदेता इष्टकाः" इति श्रुतेः (इमे) यह (द्यावा-पथिवी) द्यावा पृथ्वीके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान (समनसः) एक मनवाली (ये) जो (अग्नयः) अग्निये हैं, अर्थात् औरोंसे चयनकीहुई(वासन्तिकौ) वसन्त सम्बन्धी (ऋतू) ऋतुको (अभिकल्पमानाः) सम्पादन करते (अभिसंविशन्तु) इस कर्मका आश्रय करो (इव) जैसे (देवाः) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको परिचर्या कर सम्पादन करते हैं, इसी प्रकार इष्टका प्राप्त हो, हे इष्टके ! (तया) उस प्रसिद्ध (देवतया) देवताद्वारा (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (ध्रुवे) स्थिर होकर (सीदतम्) स्थित हो अर्थात् द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान है वह सब एक मनसे तुमको वसन्तकालमें ऋतुरूपसे अन्तःश्लेष कल्पना करके इस यज्ञमें अभिनिवेश करो इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो [श० ७ । ४ । २ । ३१] ॥ २९ ॥

कण्डिका २६–मंत्र १ ।

अषा॑ढासि॒ सह॑माना॒ सह॒स्वारा॑ती॒: सह॑स्व पृतनाय॒तः ।। स॒हस्र॑वीर्य्यासि॒ सा मा॑ जिन्व ॥ २६ ॥ [११]

ऋष्यादि–(१) ॐ अषाढासीत्यस्य सविता ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । इष्टका देवता । आषाढेष्टकोपधाने वि० ॥ २६ ॥

विधि–(१) इस मंत्रको पाठ करके ऋतुनामक दो इष्टकाके पूर्वमें इसी प्रकार पूर्व पश्चिम दीर्घ क्रमसे अषाढा [पत्नीद्वारा निर्मित पद्या] इष्टका उपधान करे [का० १७ । ४ । २९] मंत्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (सहमाना) स्वभावसे शत्रुओंका जय करनेवाली (अषाढा) तथा शत्रुओंको न सहनेवाली (असि) हो (अरातीः) शत्रुओंको (सहस्व) तिरस्कार करो (पृतनायतः) संग्रामकी इच्छा

करनेवाले शत्रुओंको (सहस्व) तिरस्कार करो तुम (सहस्रवीर्या) अनंत बलवाली (असि) हो (मा) मुझपर (जिन्व) सुप्रीता हो ॥ २६ ॥ [११]

प्रमाण–"ते देवा एतामिष्टकामपश्यन्नषाढामिमामेव तामुपादधत तामुपधायासुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यानस्मात्सर्वस्मादसहन्त तस्मादषाढा" इति [७ । ४ । २ । ३३] श्रुतेः ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १. अनु० ३ ।

मधुवाताऽऋतायतेमधुंक्षरन्तिसिन्धवः ॥ माध्वीर्नःसन्त्वोषधीः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मधुवाता इत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्गायत्री छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । कूर्मलेपने वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१) दधिमधुघृत एकत्र करके यहांसे लेकर तीन कण्डिकाओंके मंत्र पाठकरके कूर्मको लिप्तकरै [का० १७ । ४ । २७] मन्त्रार्थ–(ऋतायते) यज्ञकी इच्छाकरनेवाले यजमानके निमित्त (वाताः) वायु (मधु) पुष्परसको (क्षरन्ति) वहनकरतीहैं (सिन्धवः) स्यन्दमान नदियें (मधु) मधुकी समान जलको क्षरण करतीहैं (नः) हमको (ओषधीः) सम्पूर्ण ओषधी (माध्वीः) मधुर रससे युक्त (सन्तु) हों ॥ २७ ॥

प्रमाण–"स यत्कूर्मो नाम एतद्वैरूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत" [श० ७ । ५ । १ । ५] कूर्मरूपसे प्रजापतिने प्रजा रची है, कर्तव्यसेही वह कूर्म है । [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र १ ।

मधुनक्तमुतोषसोमधुमत्पार्थिवꣳरजः ॥ मधुद्यौरस्तुनःपिता ॥ २८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मधुनक्तमित्यस्य गोतम ऋ० । गायत्री छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ–(नः) हमको (पिता) पितावत् पालनकरनेवाला (द्यौः) द्युलोक (मधु) अमृतमय (अस्तु) हो (पार्थिवम्) मातारूप पृथ्वीसम्बन्धी (रजः) रज (मधुमत्) अमृतमय हो (नक्तम्) रात्रि (उत) और (उषसः) दिन (मधु) अमृतमय हो अर्थात् सबसे हमको मंगल हो [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मन्त्र १।

मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ२ऽअस्तु सूर्यः॥
माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥२९॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मधुमानित्यस्य गोतम ऋषिः। निच्यृद्गायत्री छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वि० पू०॥२९॥

मन्त्रार्थ–(वनस्पतिः) सम्पूर्ण वनस्पति (नः) हमको (मधुमान्) मधुर रससे युक्त हो (सूर्यः) सूर्य हमको (मधुमान्) मधुररसयुक्त (अस्तु) हो (गावः) गौ (नः) हमको (माध्वीः) मधुररसयुक्त (भवन्तु) हों [ऋ० १।६।१८]॥२९॥

कण्डिका ३०–मंत्र १।

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्यो भिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः॥ अच्छिन्नपत्राः प्रजा ऽअनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम्॥३०॥

ऋष्यादि–(१)ॐ अपामित्यस्य गोतम ऋषिः। स्वराट् पंक्तिश्छं०। कूर्मो देवता। पुरुषाभिमुखकूर्मोपधाने वि०॥३०॥

विधि–(१) अषाढा इष्टकाके दक्षिणमें अरत्निमात्र अवकाश रखकर पूर्वस्थापित अवकाश (शैवाल) के ऊपर पुरुषके अभिमुख करके यह मंत्र पाठकर कूर्म उपधान करै [का० १७।४।२८, ९, १] "स कूर्मोऽसौ स आदित्यः [श० ७।९।१।६] मन्त्रार्थ–कूर्मसे प्रजापति वा आदित्यका ग्रहण है हे कूर्म! तुम (अपाम्) जलोंके (गम्भम्) गंभीरस्थान आदित्यमण्डलमें (सीद) स्थित हो (त्वा) तुमको (सूर्यः) सूर्य वहां स्थित होनेसे (मा) मत (अभिताप्सीत्) सन्तप्त करो (वैश्वानरः) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (अग्निः) अग्नि तुमको (मा) मत सन्तापितकरो (अच्छिन्नपत्राः) अखण्डितअवयववाली (प्रजाः) इष्टकों (अनुवीक्षस्व) तुमको निरन्तर देखो और (दिव्या) दिव्य (वृष्टिः) वर्षा (त्वा) तुमको (अनुसचताम्) सेवनकरो॥३०॥

प्रमाण–"एतद्वापां गम्भिष्ठं यत्रैष एतत्तपति" इति [७।९।१।८] श्रुतेः "इमा वै सर्वाः प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्ता अनुवीक्षस्व" इति

[श० ७ । ५ । १ । ८] "प्राणो वै कूर्मः" इति [श० ७ । ५ । १ । ७ प्राणही कूर्म यहां सर्वत्र है इसनेही सर्वत्र निवासकर प्रजा रची है ॥ ३० ॥

सरलार्थ-हे कूर्म ! गंभीरजलमें तुम्हारा वास है वहां सूर्यका ताप प्रवेश नहीं करता और विश्वास है कि अग्निभी वहां प्रवेश नहीं करसकती आज इस स्थानमें उपविष्ट हो तुम्हारे सन्मुख स्थित अनूनअंग यह प्रजावर्ग तुमको निरन्तर अवलोकन करते रहो इस कार्यके फलसे वर्षा हो और वह वर्षा तुम्हारे पूर्णसुखका कारण हो इसी विचारमें तुम समय व्यतीतकरो ॥ ३० ॥

आशय-पिता माता जिस प्रकार अपनी प्रजा पुत्रादिके फलवान् होनेपर उनके भोग ऐश्वर्यकी आशासे उनके मुख अवलोकनके व्रती रहते हैं तुम्हारीभी इसी प्रकार यह इष्टकारूप सब प्रजा सफल होनेपर श्रेष्ठ वृष्टि होगी इसी फलभोगकी आशासे निरन्तर तुम्हारा मुख ईक्षण करते हैं ॥ ३० ॥

काण्डिका ३१-मंत्र १ ।

त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्स्वर्गानपाम्पतिर्वृषभऽइष्टकानाम् ॥ पुरीषं वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वे परेताः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रीनित्यस्य गोतम ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । कू० देवता । कूर्मकम्पने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) कूर्म उपधान करनेके पहले जितने कालमें यह हाथमें स्थित रहै उतने कालमें इसको इस मंत्र और पर मंत्रसे कंपित करै, [का० १७ । ५ । २] मंत्रार्थ-(अपाम्) जलोंके (पतिः) स्वामी अर्थात् जलशायी कूर्म (इष्टकानाम्) इष्टकाओंकी उपधानक्रियाका (वृषभः) प्रधान अंग हो तुमने (त्रीन्) तीन (स्वर्गान्) भोगके साधन (समुद्रान्) लोकोंको (समसृपत्) भली प्रकार प्राप्त किया अर्थात् तुम जीवके भोगस्थान त्रिलोकीमें जानेको समर्थ हो (पुरीषम्) पुरीषको वा पशुओंको (वसानः) आच्छादन करते (तत्र) उस स्थानमें (गच्छ) गमन करो (यत्र) जहां (सुकृतस्य) पुण्यात्माओंके (लोके) लोकमें (पूर्वे) पुरातन कूर्म अग्नियोंसे उपहित हो (परेताः) गये हैं अर्थात् इस समय पुरीषसे आच्छादित हो उस पुण्यलोकमें गमनकरो जहांपर इसीप्रकार और भी अनेक गये हैं ॥ ३१ ॥

विशेष-इस मंत्रसे पूर्ण बोध होताहै कि पुण्यात्माओंके निमित्त श्रेष्ठ लोक हैं जो भूमण्डलके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें हैं ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् ॥ पिपृतान्नो भरीमभिः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महीद्यौरिति इसकी व्याख्या ८ अ० ३२ मंत्रमें होगई ॥ ३२ ॥

सरलार्थ-यह सुमहान् द्युलोक और पृथ्वीलोक हमारे इस यज्ञके सफलकरनेकी इच्छा करैं अनेक भोग्यवस्तुसे यजमानका घर पवित्रकरैं ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विष्णोरित्यस्य गोतम ऋषिः । शेषम्पूर्ववत् । उलूखलमुसलोपधाने वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) स्वयमातृणा इष्टकाके उत्तरमें अरत्निमात्र अन्तरसे यह मंत्र पाठकर उलूखल और मूसल स्थापन करै। चतुष्कोण मध्यमें संकुचित खातहीन गूलरकी लकडीसे ऊखल और मूसल वनाने चाहियें । मन्त्रार्थ-विष्णोरिति इस मंत्रकी व्याख्या ६ अ० ४ क० में होगई ॥ ३३ ॥

सरलार्थ-हे ऋत्विग्गण ! देखो विष्णु भगवानके नियम और कार्य कैसे अद्भुत हैं उनके नियमसे स्थावर जंगम ग्रह नक्षत्र समस्तही दृढ आवद्ध हैं यह इन्द्र वा इन्द्रियवान् गणके उपयुक्त सखा हैं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथमम्मेभ्यो योनिभ्यो ऽअधि जातवेदाः ॥ स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ध्रुवासीत्यस्य गोतम ऋ० । भुरिक्त्रिष्टुप्छन्दः । उखा देवता । मृदुपर्युखास्थापने वि० ॥ ३४ ॥

विधि-(१) उलूखलके ऊपर विना मंत्र उखाग्रहण करनेके उपरान्त इस उलूखलमें उपाशया [मृत्तिकाविशेष] को पीसकर इसको उलूखलके सम्मुख

रखकर उसके ऊपर इस कण्डिका और पर कण्डिकाके दो मंत्रोंसे उखा स्थापन करै [का० १७। ९। ४] मंत्रार्थ–हे उखे ! (धरुणा) जगतकी धारण करनेवाली तुम (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो (जातवेदाः) अग्नि (प्रथमम्) पहले (इतः) इस उखासे (अधिजज्ञे) प्रगट हुआ है (एभ्यः) फिर इन अपने (योनिभ्यः) कारणोंसे प्रगट होता है (सः) वह अग्नि अपने अधिकारको (प्रजानन्) भली प्रकार जान्ता हुआ (गायत्र्या) गायत्री (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुभ् (च) और (अनुष्टुभा) अनुष्टुभ् छन्दकी सामर्थ्यसे (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (हव्यम्) हविको (वहतु) लेजाओ ॥ ३४ ॥

सरलार्थ–यह अग्नि नित्य होकरभी कभी अरणीकाष्ठादिसे कभी इस उखामृत्तिकासे समुत्पन्न होतीहै, यह प्रज्ञानवान् गायत्री अनुष्टुप्त्रिष्टुप्आदि छन्दोंसे आहुत हविको देवताओंके निकट मेरी प्रदत्त आहुति अवश्य लेजाने योग्य जानकर वहन करै ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र १ ।

इषेराये रमस्वसहसेद्युम्नऽऊर्जेऽअपत्याय ॥ सम्राडसिस्वराडसिसारस्वतौत्वोत्सौप्रावताम् ३५॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इषेराय इत्यस्य गोतम ऋ० । निच्यृद्बृहती छं० । उखा देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ–हे उखे ! (इषे) अन्न (राये) धन (सहसे) बल (द्युम्ने) यश (ऊर्जे) दुग्धदधिघृतादि रस और (अपत्याय) पुत्रपौत्रादि देनेके निमित्त (रमस्व) यहां दीर्घकालपर्यन्त स्थित हो तुम भूमिके (सम्राट्) भलेप्रकार प्रकाशमान (असि) हो स्वर्गके (स्वराट्) स्वयं दीप्तिमान् राजा (असि) हो (त्वा) तुमको (सारस्वतौ) सरस्वतीसम्बन्धी (उत्सौ) वाणी मन अर्थात् मन और वाक्य (प्रावताम्) पालन करें "मनो वै सरस्वान् वाक् सरस्वत्येतौ सारस्वता उत्सौ" इति श्रुतेः [श० ७। ५। १ । ३१] अथवा ऋग्वेद और सामवेद तुम्हारी रक्षा करें "ऋक्साम वै सारस्वतावुत्सौ" इति [तैत्तिरीय०] "द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा" इति [निरु० ५। ५] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मन्त्र १ ।

अग्नेयुक्ष्वाहियेतवाश्वासोदेवसाधवः ॥ अरंवहन्तिमन्यवे ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । उखामध्ये स्रुवाहुतिदाने वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) इस मंत्र और पर मंत्रसे उखाके मध्यमें स्रुवाहुति प्रदान करे [का० १७ । ९ । ९] मन्त्रार्थ-(देव) हे दीप्यमान (अग्ने) अग्नि देवता ! (ये) जो (ते) तुम्हारे (साधवः) चतुर श्रेष्ठ (अश्वासः) घोडे (अरम्) शीघ्र तुमको (मन्यवे) यज्ञके निमित्त (वहन्ति) प्राप्त करते हैं (हि) उनकोही (आयुक्ष्व) रथमें जोतो अर्थात् तुम्हारे जो सम्पूर्ण श्रेष्ठ अश्व यज्ञस्थलमें गमनमें अभिलषितानुरूप तुमको वहन करते हैं उनकोही रथमें योजन करो [ऋ० ४ । ९ । २९] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ अनु० ४ ।

युक्ष्वाहि देवहूतमाँ२ऽअश्वाँ२ऽअग्ने रथीरिव ॥ निहोतापूर्व्यःसदः ॥ ३७ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ युक्ष्वाहीत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि०पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देवहूतमान्) देवताओंके अतिशय बुलानेवाले (अश्वान्) घोडोंको (हि) अवश्यही (रथी) रथीकी (इव) समान शीघ्र (आयुक्ष्व) उत्साहपूर्वक रथमें योजना करो कारण कि (पूर्व्यः) पुरातन (होता) आह्वान करनेवाले तुम (निषदः) आज इस यज्ञकार्यमें इस स्थलमें स्थान ग्रहण कर स्थित हो [ऋ० ६ । ९ । २४] ॥ ३७ ॥ [११]

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

सम्यक्स्रवन्ति सरितोनधेनाऽअन्तर्हृदामनसा पूयमानाः ॥ घृतस्यधाराऽअभिचाकशीमिहिरण्ययोवेतसोमध्येऽअग्नेः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ सम्यगित्यस्य विरूप ऋषिः ।त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । हिरण्यप्रासने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चितिकार्यके निमित्त प्राप्त पञ्च पशुओंके मुखमें सुवर्ण प्रासन करावे यह हिरण्यप्रासन कार्य एकपशु यज्ञमें सप्तवार वा पंचवार किया जाता है किन्तु पञ्चपशुयज्ञमें एकवार करे [का० १७ । ९ । ७] मन्त्रार्थ-(अग्नेः) चितिके (मध्ये) मध्यमें जो (हिरण्ययः) हिरण्यमय (वेतसः)

पुरुष स्थित है उसमें (अन्तर्हृदा) हृदयके अन्तर वर्तमान (मनसा) विषयोंकी व्याकुलतारहित श्रद्धावाले मनसे (पूयमानाः) पवित्रकिये हुए (धेनाः) अन्न "अन्नं वै धेना" इति श्रुतेः [७ । ५ । २ । ११] और (घृतस्य धारा) घृतकी धारा (सम्यक्) भलीप्रकार (स्रवन्ति) क्षरण करते हैं (न) जिस प्रकार (सरितः) नदियां समुद्रमें प्राप्त होतीहैं इस प्रकार होमीहुई हवि उस पुरुषको प्राप्तहोतीहै (अभिचाकशीमि) मैं उसको देखताहूँ "अन्तर्वै हृदयेन मनसा सतान्नं पूतं य ऋजु" इति [शि० ७ । ५ । २ । ११] ॥ ३८ ॥

सरलार्थ-अन्तःकरण और हृदयके सहित दियेहुए मनसे पवित्र यह सब अन्न और घृतकी धाराआदि अग्निके मध्यमें स्थित इस हिरण्यय पुरुषके मुखमें वेगवाहिनी नदीकी समान गतिसे सम्यकरूपसे स्रावित होती हैं यह हम अपनी चक्षुसे देखते हैं ॥ ३८ ॥

विशेष-हिरण्यमय पुरुषके उद्देशका यह मंत्र है [ऋ० ३ । ८ । १९][अर्ध] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ५ ।

ऋचेत्त्वा रुचेत्त्वा भासेत्त्वा ज्योतिषेत्त्वा ॥ अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य च ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ ऋचे-रुचे-भास-इतिमंत्राणां विरूप ऋ० । दैव्यनुष्टुप्छं० । शकलं देवतम् । १-२ पशोर्वाम-दक्षिणनासि सुवर्णक्षेपणे ३ वामचक्षुषि सुवर्णक्षेपणेच वि० ।(३)ॐज्योतिषेत्वेत्यस्य विरूप ऋ० । दैवी बृहती छं० । शकलं दे० । दक्षिणचक्षुषि सुवर्णक्षेपणे वि० । (५)ॐ अभूदित्यस्य विरू० ऋ० ।साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः।शकलं दे० । वामकर्णे सुवर्णक्षेपे वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे पशुपशुकी वामनासामें सुवर्ण प्रासन करावे[का० १७। ५।७]मन्त्रार्थ-हे हिरण्यशकल !(ऋचे)दीप्ति वा ऋग्वेद वा होत्रादिसिद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको वामनासिकामें प्रासन करताहूं 'डालताहूं' १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे दक्षिण नासामें हिरण्यप्रासन करे [का० १७ । ५ । १३] मंत्रार्थ-हे हिरण्यशकल ! (रुचे) सम्यक् दीप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको दक्षिणनासामें प्रासन करताहूं अथवा हे नासिके ! दीप्तिके निमित्त तुमको हिरण्य प्रासन करताहूं २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे वाम चक्षुमें सुवर्णस्पर्श करावे [का० । ५ । १०] मन्त्रार्थ-हे हिरण्यशकल (भासे) कान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको वाम चक्षुमें स्पर्श करताहूं ३ । विधि-(४) चौथे मंत्रसे दक्षिण नेत्रमें स्पर्श करावे

मंत्रार्थ-हे हिरण्यखण्ड ! (ज्योतिषे) तेजप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको दक्षिण नेत्रमें स्पर्श कराताहूं ४ । विधि-(५) पांचवें मंत्रसे बायें कानमें हिरण्य प्रासन करै [का० १७ । ५ । ११] मन्त्रार्थ-(इदम्) यह श्रोत्र (विश्वस्य) सम्पूर्ण (भुवनस्य) प्राणिसमूह तथा (वैश्वानरस्य) सम्पूर्ण मनुष्योंके हितकारी (अग्नेः) अग्निके (वाजिनम्) वचनको जाननेवाले हैं इनको प्रासन कराताहूं अथवा यह श्रोत्र विश्व भुवनके विशेषतः इस वैश्वानर अग्निके श्रवणेन्द्रियवत् कार्यकारी हैं अथवा यह कोनोंमें प्रास्यमान सुवर्ण सब संसार और वैश्वानर अग्निका तेजजनक होता है इस कारण स्पर्शकराता हूं "अयमग्निर्वैश्वानर इत्युपक्रम्य तस्यैष घोषो भवति यमेतत् कर्णावपिधाय शृणोति" इति श्रुत्यनुवादकोऽयं मन्त्रः ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

अ॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ ज्योति॑ष्मान्रु॒क्मो वर्च॑सा॒ वर्च॑स्वान् ॥ स॒ह॒स्र॒दा अ॑सि स॒हस्रा॑य त्वा ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य विरूप ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । शकलं दैवतम् । दक्षिणश्रोत्रे हिरण्यक्षेपे वि० । (२) ॐ सहस्रदा इत्यस्य विरूप ऋ० । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । शकलं दैवतम् ॥ शिरोग्रहणे वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे दक्षिणश्रोत्रमें हिरण्य प्रासन करावै । मन्त्रार्थ-(अग्निः) यह अग्नि (ज्योतिषा) पशुश्रोत्रस्थित हिरण्यकी कान्तिसे (ज्योतिष्मान्) कान्तिमान् है (रुक्मः) रोचमान अग्नि (वर्चसा) सुवर्णकी कान्तिसे (वर्चस्वान्) कान्तिमान् है बाह्यप्रभा ज्योति है और शरीरकी कान्ति वर्च कहलातीहै अथवा श्रोत्रही सुवर्णकी ज्योतिसे अग्निकी समान ज्योतिमान् हो, और सुवर्णकी कान्तिसे वर्चका देनेवाला हो "रुक्म और सुवर्ण पुरुषकी समान हों यह दोनों पक्षमें लगाना" । अथवा रोचमान अग्नि इसी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् और इसी कान्तिसे कान्तिमान् है १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे शिरोग्रहण करै उखा मध्यमें स्थापित करै [का० १७ । ५ । १४] मन्त्रार्थ-हे पुरुष ! तुम (सहस्रदाः) यजमानके सहस्रों अभीष्ट सिद्धकरनेवाले (असि) हो इस कारण (सहस्राय) सहस्रों अभीष्ट लाभके निमित्त (त्वा) तुमको सिद्धकरता हूं ॥ ४० ॥

विशेष-हिरण्यप्रासन और शिरोग्रहण [शिरमें सुवर्ण छुवाना आदि] प्रथम हिरण्मय पुरुषका करै पश्चात् मेषादिका भी इन्हीं मंत्रोंसे स्पर्श करै मुखादिमें एक एक वा पांच २ वा सात २ बार करै [का० १७ । ५ । ११] इसका विस्तार [श० । ७ । ५ । २ । १०] में विशेष है ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १ ।

आदित्यङ्गर्भम्पयसासमंङ्ग्धिसहस्रस्यप्रतिमां विश्वरूपम् ॥ परिवृङ्ग्धिहरसामाभिमंᳬस्थाः शतायुषङ्कृणुहिचीयमानः ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आदित्यमित्यस्य विरूप ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । हिरण्मयपुरुषशिरउपधाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि०(१) पूर्व मंत्रसे गृहीत हिरण्मय पुरुषके शिरको उखाके मध्य उपधान अर्थात् स्थापन करे[का० १७।५।१७]मन्त्रार्थ–चयनकार्यमें व्यवहारको प्राप्तहुए हे पुरुष ! (गर्भम्) देवताओंकी उत्पत्तिके स्थान वा पशुओंके ग्रहण पालन करनेवाले कर्मपाशमें बन्धनसे प्राणिमात्र पशु हैं उनके ग्रहण पालन करनेवाले (सहस्रस्य) सहस्रोंकी (प्रतिमा) मूर्ति अथवा बहुत धनोंकी प्रतिमा (विश्वरूपम्) सर्वरूप वा सर्वरूपके प्रकाशक वा जिससे सर्व रूप होते हैं (आदित्यम्) ऐसे आदित्य चिति अग्निको (पयसा) दूधसे (समङ्ग्धि)सिंचित करो, और(हरसा)सम्पूर्ण वीर्यके हरनेवाले अग्निके तेजसे यजमानको (परिवृङ्ग्धि)वर्जित करो. यजमानको (मा) मत (अभिमंस्थाः) मारो और (चीयमानः) चयनको प्राप्त होतेहुए (शतायुषम्) यजमानको शतायु (कृणुहि) करो "हर इति ज्वलतो नाम" [निघं० १ । १७] ॥ ४१ ॥

सरलार्थ–हे पुरुष ! तुम आदित्यवत् तेजस्वी सहस्रपोषी 'वा जगतकी प्रतिमा' सर्वाङ्गसुन्दर हो इस यजमान पुरुषके अमृत सिंचित करो यजमानने तुम्हारा शिर छुआ इस्से क्रोधित मत होना, प्रत्युत यजमानको शतायु करो "पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा" [श० ७ । ५ । २ । १७] ॥ ४१ ॥

अश्वोपकारवर्णन ।

कण्डिका ४२–मन्त्र १ ।

वातस्यजूतिं वरुणस्यनाभिमश्वञ्जज्ञानᳬसरिरस्यमध्ये ॥ शिशुन्नदीनाᳬहरिमद्रिबुध्नमग्नेमाहिᳬसीः परमे व्योमन् ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वातस्येत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अश्वशिरउपधाने वि० ॥ ४२ ॥

विधि- (१) पूर्व मंत्रसे गृहीत अश्वशिरस्पर्श करके इस मंत्रसे उखाके ईशानमें उपधान करे। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने! (वातस्य) वायुकी समान (जूतिः) वेगवाले (वरुणस्य) वरुणदेवताके (नाभिम्) नाभिस्वरूप (सरिरस्य) जलके (मध्ये) मध्यमें (जज्ञानम्) उत्पन्न (नदीनाम्) नदियोंके (शिशुम्) बालक [नदियोंका स्वामी समुद्र इससे समुद्र जिसका पिता नदी उसकी माता होती है] (हरिम्) हरित वर्ण वा मनुष्योंको अपने ऊपर वहन करनेवाले (परमेव्योमन्) इस लोकमें स्थित होनेवाले "इमं वै लोकाः परमं व्योम" इति श्रुतेः [श० ७। ५। २। १८] अथवा अनेक उपद्रवोंसे रक्षावाले (अद्रिबुध्नम्) खुरसे महीधरको खोदनेवाले अर्थात् पर्वतोंपर घोडोंके चलनेसे खुरोंसे क्षुद्र पाषाण चूर्ण होनेसे जाना जाता है कि इधरको अश्व गया है इस प्रकार (अश्वम्) इस घोडेको (मा) मत (हिꣳसीः) मारो ॥ ४२ ॥

सरलार्थ-हे अग्नि! वरुणदेवताके नाभिस्वरूप जलके मध्यमें उत्पन्न नदीगणके बालक "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" वायुकी तुल्य वेगवान् खुरसे पाषाण क्षुण्ण करनेवाले एक क्षणमें परमाकाशमें लयको प्राप्त होनेवाले हरित वर्ण अश्वका यह मस्तक तुम्हारी रक्षासे रक्षित हो किसी प्रकार नष्ट न हो शिरके रक्षित होनेसे सब अंगकी रक्षा है ॥ ४२ ॥

गवोपकारकथन।

कण्डिका ४३-मंत्र १।

अजस्रमिन्दुमरुषम्भुरण्युमग्निमीडे पूर्वचित्तिन्नमोभिः॥ सपर्वभिर्ऋतुशः कल्पमानो गाम्मा हिꣳसीरदितिं विराजम् ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अजस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः। निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। गोशिरउपधाने वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) गौका शिरस्पर्श करके उस गौको उखाके अग्निकोणमें स्थापित करे। मंत्रार्थ-(अजस्रम्) क्षयरहित (इन्दुम्) ऐश्वर्यसे युक्त (अरुषम्) रोषरहित अथवा आराधनाके योग्य (पूर्वचित्तिम्) पूर्व महर्षियोंसे चयनके योग्य (नमोभिः) अन्नोंसे (भुरण्युम्) सबके पोषण करनेवाले (अग्निम्) अग्निको (ईडे) स्तुति करताहूं (सः) वह अग्नि (पर्वभिः) अमावस्या आदि पर्व वा इष्टकाओंद्वारा (ऋतुशः) प्रति ऋतुमें (कल्पमानः) कर्मोंको सम्पादन करता हुआ (अदितिम्) अखंडित अदीन (विराजम्) दुग्धदानादिसे विराजमान "तस्यै

श्रृतं तस्यै शरः" इति [३ । ३ । २] दश ऐश्वर्य होनेसे गौ विराट है (गाम्) गौको (मा) मत (हिᳬसीः) मारो अर्थात् अखण्डनीय शक्तिमान् विराट पुरुषमें लयरूप गौका मस्तक तुम्हारी रक्षासे रक्षित हो, इसमें पीडा न हो इसीसे सब अंगोंकी रक्षा है ॥ ४३ ॥

अव्युपकारवर्णन ।

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

वरूत्रीन्त्वष्टुर्वरुणस्यनाभिमविंजज्ञानाᳬरजस् ऽ्परस्मात् ॥ महीᳬसाहस्रीमसुरस्यमायाम ग्नेमाहिᳬसीःपरमेव्योमन् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वरूत्रीमित्यस्य विरूप ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अविशिरउपधाने वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) उखाके वायुकोणमें स्थितकर अजाका शिरस्पर्श करे । मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) रणस्थानमें स्थापित (त्वष्टुः) रूपोंकी (वरूत्रीम्) निर्माण करनेवाली (वरुणस्य) वरुणकी (नाभिम्) नाभि तुल्य रक्षणीय (परस्मात्) दिक्रूप (रजसः) लोकसे (जज्ञानम्) जायमान "श्रोत्रं वै परमᳬ रजो दिशो वै श्रोत्रं दिशः परमᳬ रजः" इति [७ । ५ । २ । २०] श्रुतेः । अथवा प्रजापतिके रजोगुणसे उत्पन्न (महीम्) बडी (साहस्रीम्) सहस्र मूल्यके योग्य सहस्रों उपकारसाधक (असुरस्य) प्राणियोंको प्रज्ञा देनेवाली (अविम्) अविको (मा) मत (हिᳬसीः) नष्ट करो ॥ ४४ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! वरुणदेवताके नाभिस्वरूप दिशा विदिशा सर्वत्रही बारबार होनेवाले त्वष्टागण जिसके रोमसे असुरोंके मोहनकारी सहस्र सहस्र मूल्यके उत्कृष्ट वरूत्री शाल दुशाले निर्माण करते हैं इस प्रकारकी अवि परमाकाशमें लय है उसका शिर तुम्हारी रक्षासे रक्षित है यह विनष्ट न हो ॥ ४४ ॥

विशेष-इस मंत्रसे प्रगट है कि पूर्वकालमेंभी बहुमूल्य ऊर्णावस्त्र बनाये जाते थे और त्वष्टा संज्ञा शालनिर्माताओंकी थी ॥ ४४ ॥

अजोपकारवर्णन ।

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

योऽअग्निरग्नेरध्यजायतशोकात्पृथिव्याऽउतवा

दि॒वस्परि॑ ॥ येन॑ प्र॒जा वि॒श्वक॑र्मा ज॒जान॒ तम॑ग्ने॒ हेडः॒ परि॑ ते वृणक्तु ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योग्निरित्यस्य विरूप ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। अजोपधाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उखाके नैर्ऋतकोणमें अजाको शिरस्पर्शकर स्थापित करै अजाउपकारवर्णन। मंत्रार्थ-(यः) जो (अग्निः) अग्निरूप अज (अग्नेः) प्रजापतिके (शोकात्) शोक अर्थात् अग्निसन्तापसे (अध्यजायत) उत्पन्न हुआ (उत) और (दिवः) द्युलोकके (पृथिव्याः) पृथ्वीके शोकरूप अग्निसे (परि) उत्पन्न हुआ "यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तद्दिवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत" इति [७।५।२।२१] श्रुतेः (विश्वकर्मा) प्रजापतिने (येन) जिस अज अर्थात् वाग्रूपसे (प्रजाः) प्रजाको (जजान) उत्पन्नकिया है "वाग्वा अजो वाचो वै प्रजा विश्वकर्मा जजान" इति [७।५।२।३१] श्रुतेः (अग्ने) हे चिति अग्निदेव! (ते) तुम्हारा (हेडः) क्रोध (तम्) उस अजको (परिवृणक्तु) त्यागै। माधवाचार्य कहतेहैं पृथ्वीपर स्थित और द्युलोकपर स्थित दीप्तियुक्त अग्निरूप प्रजापतिसे अग्निरूप अज उत्पन्न हुआ विश्वकर्माने जिसके द्वारा पशुओंको उत्पन्न किया "ततोऽजस्तूपरः समभवत्तꣳ स्वायै देवताया आलभत ततो वै प्रजाः पशूनसृजत" [तैत्तिरीय०] शेष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १।

चि॒त्रं दे॒वाना॒मुद॑गा॒दनी॑कं॒ चक्षु॑र्मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्या॒ग्नेः ॥ आप्रा॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॒न्तरि॑क्षꣳ॒ सूर्य॑ऽआ॒त्मा जग॑तस्त॒स्थुष॑श्च ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्रं देवनामित्यस्य विरूप ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दे०। आहुतिदाने वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रका प्रथमार्धपाठ करके स्रुवद्वारा प्रथमाहुति और दूसरा मंत्रपाठकर दूसरी आहुति हिरण्यमय पुरुषके शिरपर प्रदानकरै [का० १७।५।१८] इसकी व्याख्या ७। ४२ में होगई ॥ ४६ ॥ [९]

कण्डिका ४७-मंत्र २।

इ॒मं मा हि॑ꣳसीर्द्वि॒पादं॑ प॒शुꣳ स॑हस्रा॒क्षो मेधा॑य ची॒य

सांनः ॥ मयुम्पशुम्मेधमग्ग्नेजुषस्वतेनंचिन्वान स्तन्वोनिषीद ॥ मयुन्तेशुगृंच्छतुयन्द्विष्मस्त न्तेशुगृंच्छतु ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमम्मेत्यस्य मन्त्रद्वयस्य विरूप ऋषिः । विराड्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । पुरुषशिरउपस्थाने वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु चित्याग्नि वेदीके निम्न बाहिर दक्षिणमें उत्तरमुख स्थित होकर यहांसे लेकर पांच कण्डिकात्मक मंत्रपाठ पूर्वक यथाक्रमसे पुरुषादि पांच पशुओंके शिरोपस्थान करै यदि एकपशु यज्ञ हो तो एकहीके मस्तकपर पांचवार पांच मंत्र पढकर उपस्थान करै प्रथम पुरुषशिरउपस्थान [का० १७ । ५ । १९]
मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (मेधाय) यज्ञके निमित्त (चीयमानः) चयनकिये हुए (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रवाले सुवर्णखण्ड रूप सहस्रनेत्र तुम (इमम्) इस (द्विपादम्) पुरुष रूप (पशुम्) पशुको (मा) मत (हिꣳसी) पीडा देना "द्विपाद्वा एव पशुर्यत् पुरुषः" इति [७ । ५ । २ । ३२] श्रुतेः । और पीडाकी इच्छा हो तो (मेधम्) पवित्र (मयुम्) तुरङ्गवदन किम्पुरुष (पशुम्) पशुको (जुषस्व) सेवन करो "किम्पुरुषो वै मयुः" इति [७ । ५ । २ । ३२] श्रुतेः "कोई आचार्य अश्ववदन कृष्ण मृगको कहते हैं" (तेन) उसके सेवनसे (तन्वः) ज्वालारूपशरीर (चिन्वानः) पुष्टकरते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो १ । (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (मयुम्) किम्पुरुषको (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिस्से हम (द्विष्मः) द्वेषकरते हैं (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (तम्) उसको (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इमम्मा हिꣳसीरेकशफम्पशुङ्कनिक्रदंवाजिनंवाजिनेषु ॥ गौरमारण्यमनुतेदिशामितेनंचिन्वानस्तन्वोनिषीद ॥ गौरन्तेशुगृंच्छतुयन्द्विष्मस्त न्तेशुगृंच्छतु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमंमे इत्यस्य विरूप ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । अश्वशिरउपस्थाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) अश्वका शिर उपस्थान करै । मन्त्रार्थ-हे अग्ने! (इमम्) इस (कनिक्रदम्) अत्यंत हींसनेवाले (वाजिनेषु) वेगवालोंमें (वाजिनम्) वेगवाले (एकशफम्) एक खुर-

वाले घोडे "एकशफो वा एष पशुर्यदश्वः" [७ । ५ । २ । ३३] इति श्रुतेः (पशुम्) पशुको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडा देना (ते) तुम्हारे निमित्त (आरण्यम्) वनके (गौरम्) गौरवर्ण मृग (अनुदिशामि) देताहूं (तेन) उससे (तन्वः) शरीर (चिन्वानः) पुष्ट करते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (गौरम्) अश्वकी समान गौर मृगको (ऋच्छतु) प्राप्त हो और (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारा (शुक्) सन्ताप (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

विशेष–"अनुदिशामि" का अर्थ देनेमें वा बतानेमें है अर्थात् बताताहूं॥४८॥

कण्डिका ४९–मंत्र १।

इमꣳ साहस्रꣳ शतधारमुत्सं व्यच्यमानꣳ सरिरस्य मध्ये ॥ घृतं दुहानामदितिं जनायाग्ने मा हिꣳसीः परमे व्योमन् ॥ गवयमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥ गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इमंसाहस्रमित्यस्य विरूप ऋषिः । कृतिश्छन्दः । अग्निर्देवता । गोशिरउपधाने वि० ॥ ४९ ॥

विधि–(१) गोकी रक्षामें प्रार्थनाकरैं गौका मस्तक स्पर्श करैं । मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्निदेव ! (परमे व्योमन्) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित (इमम्) इस साहस्रम् सहस्रमूल्यके योग्य वा सहस्रोंउपकार करनेमें समर्थ (शतधारम्) शतसंख्याक क्षीरधारासे युक्त (उत्सम्) कूपकी सदृश दूधके सोतेवाली (सरिरस्य) लोकोंके (मध्ये) मध्यमें (व्यच्यमानम्) अनेकप्रकारसे व्यवहारको प्राप्त "इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [७ । ५ । २ । ३४] श्रुतेः । (जनाय) समस्तजनोंके हितके निमित्त (घृतम्) घृतके कारण (दुहानाम्) दूधकी देनेवाली (अदितिम्) अखण्डित गौको (माहिꣳसीः) पीडा मत देना यदि पीडा देनेकी इच्छा हो तो (आरण्यम्) वनके (गवयम्) गवय पशु गोसदृशको (ते) तुम्हारे निमित्त (अनुदिशामि) देताहूं (तन्वः) अपना शरीर (तेन) उसीसे (चिन्वानः) पुष्ट करते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (गवयम्) गवयको (ऋच्छतु) प्राप्तहो (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेषकरतेहैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

विशेष-वेदने गौका महान् उपकार वर्णन किया है यह पशु उपकारसाधनके निमित्त सृजे हैं ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र २ ।

इमम्मूर्ण्णायुं वरुणस्य नाभिन्त्वचम्पशूनान्द्विपदाञ्चतुष्पदाम् ॥ त्वष्टुः प्रजानाम्प्रथमञ्जनित्रमग्ग्ने माहिᳬंसीः परमे व्योमन् ॥ उष्ट्रमारण्यमनुते दिशामि तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद ॥ उष्ट्रन्ते शुगृच्छतु यन्द्विष्मस्तन्ते शुगृच्छतु ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इममित्यस्य विरूप ऋषिः। कृतिश्छं०। अग्निर्देवता। अविशिरउपस्थाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) अविका शिर स्पर्शकर रक्षा प्रार्थना। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (परमेव्योमन्) उत्कृष्ट स्थानमें स्थित (इमम्) इस (ऊर्णायुम्) ऊनसे युक्त (वरुणस्य) वरुणकी (नाभिम्) नाभि अर्थात् सन्तानकी समान प्रिय (द्विपदाम्) मनुष्यों (चतुष्पदाम्) चौपायें दोनों प्रकारके (पशूनाम्) पशुओंकी (त्वचम्) कम्बलादि द्वारा आच्छादन करनेसे त्वचास्वरूप वा त्वचाकी रक्षक (त्वष्टुः) प्रजापतिकी प्रजामें (प्रथमम्) पहले (जनित्रम्) उत्पन्न अविको (मा) मत (हिᳬंसीः) पीडादो "एतद्ध त्वष्टा प्रथमᳬं रूपं विचकार" इति [७ । ५ । २ । ३५] श्रुतेः (आरण्यम्) वनके (उष्ट्रम्) उष्ट्र (ते) तुमको (अनुदिशामि) उपदेश करताहूं (तन्वः) शरीर (तेन) उसके द्वारा (चिन्वानः) पुष्टकरते हुए तुम (निषीद) यहां स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (उष्ट्रम्) वनेले ऊंटको (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिस्से (द्विष्मः) हम द्वेषकरैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ५० ॥

विशेष-प्रजापतिकी सृष्टिमें प्रथम अवि उत्पन्न हुई हैं [श० ७ । ५ । २ । ३५] ॥ ५० ॥ [प्रजानांप्रथमंजनित्रम्]

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्ग्रे ॥ तेन देवा देवतामग्ग्रमायँस्तेन रोहमायन्नुप मे

द्भ्यासं ॥ शरभमारण्यमनुतेदिशामितेनचिन्वानस्तन्वोनिषीद ॥ शरभन्तेशुगृच्छतु यन्द्विष्मस्तन्तेशुगृच्छतु ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अज इत्यस्य विरूप ऋषिः। भुरिकृकृतिश्छं०। अग्निर्देवता। अजशिरउपस्थाने वि०॥ ५१ ॥

विधि-अजशिरोपस्थान रक्षा प्रार्थना। मन्त्रार्थ-(हि) निश्चय (अजः) अज (अग्नेः) प्रजापतिरूप अग्निके (शोकात्) शोकसे (अजनिष्ट) उत्पन्न हुईहै (सः) उसने (अग्रे) आगे (जनितारम्) अपने उत्पन्न करनेवालेको (अपश्यत्) देखा "यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकादजायत" इति [७। ५। २। ३६] श्रुतेः (देवाः) देवता (तेन) उसके द्वारा (अग्रम्) पूर्वजन्ममें यज्ञादिकर्म करके (देवताम्) देवत्वको (आयन्) प्राप्तहुए तथा (मेध्यासः) यज्ञके योग्ययजमान (रोहम्) स्वर्गको (तेन) इसीके द्वारा (उपायन्) प्राप्त हुए हैं अर्थात् इस अजाके द्वारा यज्ञादि सम्पन्न कर अनेक देवभावको प्राप्त हुए हैं और अब भी यजमानगण इस अजाके प्रभावसे स्वर्गारोहणके उपयुक्त होते हैं इस कारण हे अग्ने! इसके शिरको पीडा मत देना (आरण्यम्) वनका (शरभम्) शरभ नामक सिंहघाती आठ चरणका मृग (ते) तुमको (अनुदिशामि) देताहूं (तन्वः) शरीर (तेन) उसके द्वारा (चिन्वानः) पुष्टिको प्राप्त करते हुए तुम यहां (निषीद) स्थित हो (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (शरभम्) शरभके प्रति (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (तम्) उसको (ते) तुम्हारी (शुक्) ज्वाला (ऋच्छतु) प्राप्त हो ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"आत्मनो वपामुदखिदत्तामग्निः प्रगृह्णात्ततोजस्तूपरः समभवत्" इति तैत्तिरीयेपि। तैत्तिरीय श्रुतिमें लिखा है कि प्रजापतिने प्रजा सृष्टिकी कामनासे यज्ञ प्रारम्भ किया और अपनी वपा खनन करके अग्निमें हवन की उस प्रज्वलित अग्निमें यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति शृङ्गशून्य अजा उत्पन्न हुई ॥ ५१ ॥

विशेष-इन मंत्रोंसे पशुओंकी रक्षा तथा उनके गुणकथन कर यज्ञका उपदेश कियाहै पशुओंका रक्षण विधान कियाहै आशय यह कि जब प्रजापति इस प्रकारसेभी यज्ञकरते हुए तब मनुष्योंको द्रव्यसे तो करना चाहिये ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १।

त्वंयविष्ठदाशुषोनॄँःपाहिशृणुधीगिरः ॥

रक्षातोकमुतत्त्मना ॥ ५२ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमित्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । चित्युपस्थाने विनि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) अनन्तर वेदीके बाहर आकर इस मंत्रसे चित्योपस्थान करे [का० १७ । ६ । १] मन्त्रार्थ-(यविष्ठ) हे अतिशयतरुण अग्ने ! (त्वं) तुम (गिरः) हमारी स्तुतियोंको (शृणुधी) श्रवणकरो (दाशुषः) हविदेनेवाले यजमानके (नृन्) मनुष्योंकी (पाहि) रक्षाकरो (उत) और (आत्मना) अपने(तोकम्) यजमानके अपत्यको (रक्ष) रक्षाकर अर्थात् यजमानके वंशकी रक्षाकरो [ऋ० ६ । ६ । ९] ॥ ५२ ॥ [६]

कण्डिका ५३-मंत्र २०. अनुवाक ६.

अपान्त्वेमन्त्सादयाम्म्युपान्त्वोद्मन्त्सादया म्म्युपान्त्वाभरम्मन्त्सादयाम्म्युपान्त्वाज्ज्यो तिषिसादयाम्म्युपान्त्वायनेसादयाम्म्यर्ण्णवेत्त्वा सदनेसादयामिसमुद्द्रेत्त्वासदनेसादयामिसरिरे त्त्वासदनेसादयाम्म्युपान्त्वाक्षयेसादयाम्म्युपा न्त्वासधिषिसादयाम्म्युपान्त्वासदनेसादयाम्म्यु पान्त्वासधस्त्थेसादयाम्म्युपान्त्वायोनौसाद याम्म्युपान्त्वापुरीषेसादयाम्म्युपान्त्वापाथसि सादयामिगायत्त्रेणत्त्वाच्छन्दसासादयामित्त्रैष्टुभे नत्त्वाच्छन्दसासादयामिजागतेनत्त्वाच्छन्दसा सादयाम्म्यानुष्टुभेनत्त्वाच्छन्दसासादयामिपाङ्क्ते नत्त्वाच्छन्दसासादयामि ॥ ५३ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामिति त्रयाणां मंत्राणामुशना ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । इष्टका देवताः । आपस्येष्टकोपधाने वि० ॥ तृतीयपंचमनवमत्रयोदशमंत्राणामुशनाऋ० । याजुषी बृहतीछन्दः । इष्टकादे० । इष्टकोपधानेवि० । चतुर्थ दशमैकादश द्वादश चतुर्दश पं

चदश मंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी पंक्तिश्छं० । पञ्चसप्तमविंशतिमंत्राणां याजुषी त्रिष्टुप्छं० । इष्टकोपधाने वि० । षोडशसप्तदशाष्टादशमंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी जगती छं० । इष्टका दे० । इष्टकोपधाने वि० । एकादशमन्त्रस्योशना ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छन्दः । इष्टका दे० । इष्टकोपधाने वि० ॥ ९३ ॥

विधि–(१–२०) स्वयमातृणा इष्टकाके पश्चात् गमन करके पूर्वदिशाकी अनुक [संयोगशून्य स्थान दोनों इष्टकाके योग स्थानरहित] सीमामें उपस्थित होकर क्रमसे चारों ओर अनुक प्रान्तमें इस कण्डिकाके वीस मंत्रोंसे प्रत्येक अनुकके पांच पांच अनुसार वीस अपस्यानामक इष्टका उपधान करै [का० १७ । ६ । २] मन्त्रार्थ–हे अपस्या नामक इष्टका ! (अपाम्) जलोंके (एमन्) स्थान अर्थात् वायुमें (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करताहूं "वायुर्वा अपामेम वायौ ताᳪंसादयामि" इति [श० ७ । ५ । २ । ४६] १ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपाम् ओद्मन्) ओषधियोंमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "ओषधयो वा अपामोद्म" [७ । ५ । २ । ४७] इति श्रुतेः २ । हे अपस्या ! (त्वा) तुमको (अपाम् भस्मन्) अभ्रमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "अभ्रं वा अपां भस्म" [७ । ५ । २ । ४८] इति श्रुतेः ३ । हे अपस्या ! (त्वा) तुमको (अपां ज्योतिषि) विद्युत्ज्योतिमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "विद्युद्वा अपां ज्योतिः" [श० । ५ । २ । ४९] ४ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपाम् अयने) भूमिमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "यं वाअपामयनम्" [७ । ५ । २ । ५०] ५ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अर्णवेसदने) प्राणके स्थानमें (सादयामि) स्थापन करता हूं "प्राणो वा अर्णवः" [७ । ५ । २ । ५१] इति श्रुतेः ६ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (समुद्रे सदने) मनके स्थानमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "मनो वै समुद्रः" [७ । ५ । २ । ५२] इति श्रुतेः ७ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (सरिरे सदने) वाणीके स्थानमें (सादयामि) सादनकरताहूं "वाग्वै सरिरम्" [७ । ५ । २ । ५३] इति श्रुतेः ८ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपांक्षये) चक्षुके निवासमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "चक्षुर्वा अपांक्षयः" [७ । ५ । २ । ५४] इति श्रुतेः ९ । हे अपस्या ! (त्वा) तुमको (अपांसधिषि) श्रोत्रमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "श्रोत्रं वा अपाᳪंसधिः" [७ । ५ । २ । ५५] इति श्रुतेः १० । हे अपस्या ! त्वा तुमको (अपांसदने) द्युलोकमें (सादयामि) स्थापनकरताहूं "द्यौर्वा अपाᳪंसदनम्" [७।५। २ । ५६] इति श्रुतेः ११ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपांसधस्थे) अन्तरिक्षमें (सादयामि) सादनकरताहूं "अन्तरिक्षं वा अपाᳪंसधस्थम्" [७ । ५ । २ । ५७] इति श्रुतेः १२। हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपांयोनौ) समुद्रमें (सादयामि)

स्थापनकरताहूं "समुद्रो वा अपां योनिः" [७ । ५ । २ । ५८] इतिश्रुतेः १३ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपांपुरीषे) सिकतामें (सादयामि) स्थापन करताहूं "सिकता वा अपां पुरीषम्" [७ । ५ । २ । ५९] इति श्रुतेः १४ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (अपांपाथसि) अन्नोंमें (सादयामि) स्थापन करताहूं "अन्नं वा अपां पाथः" [७ । ५ । २ । ६०] इति श्रुतेः १५ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (गायत्रेण छन्दसा) गायत्री छन्दके प्रभावसे (सादयामि) सादन करताहूं १६ । हे अपस्या ! (त्रैष्टुभेन छन्दसा) त्रिष्टुप् छन्दके प्रभावसे (त्वा) तुझको (सादयामि) स्थापन करताहूं १७ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (जागतेन छन्दसा) जगती छन्दके प्रभावसे (सादयामि) स्थापन करताहूं १८ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (आनुष्टुभेन छन्दसा) अनुष्टुप् छन्दके प्रभावसे (सादयामि) स्थापन करताहूं १९ । हे अपस्या ! (त्वा) तुझको (पाङ्क्तेन) पंक्ति (छन्दसा) छन्दके प्रभावसे (सादयामि) सादन करताहूं २० ॥५३॥ [१]

कण्डिका ५४–मं० १०. अनु० ७ ।

अयम्पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्रा
णायनो गायत्री वासन्ती गायत्र्यै गायत्रं गायत्रादुपा
ᳬशुरुपाᳬशोस्त्रिवृत्त्रिवृतो रथन्तरं वसिष्ठऽऋ
षिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्र
जाभ्यः ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमित्यस्य उशना ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । प्राणभृदिष्टका देवताः । स्वयमातृण्णेष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ तस्येत्यस्य उशना ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । प्राणभृदिष्टका दे० । (३–८) ॐ वसन्तः त्रिवृत् ३।८ इति मन्त्रयोरुशना ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । (४–५–६) ॐ गायत्री गायत्र्यै गायत्र्यादिति ४ । ५ । ६ मन्त्राणामुशना ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । (७–९) उपांशोर्वसिष्ठ इति ७।९ मन्त्रयोरुशना ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । प्राणभृदिष्टका दे० । (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्योशना ऋ० । आर्ची गायत्री छन्दः । सर्वेषामिष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ५४ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त प्राणभृत्नामक ५० पचास इष्टका उपधानकरनी होतीहैं उनमें इस कण्डिकाके दशमंत्रसे वेदीके दक्षिणअंशसे आरंभकरके स्वयमातृणाइष्टकापर्यन्त दश प्राणभृत इष्टका यथाक्रमसे एकएक क्रमसे उपधान करै [का०

१७।६।३] शतपथ ब्राह्मणकी श्रुतिमें प्राणभृत्नामक इष्टकाका कारण निर्देश पूर्वक एक गाथा है कि एक समय प्रजापतिकी प्राणवायु देवरूप होकर बहिर्गत होने लगी तब प्रजापतिने पूछा तुम किसकारण गमन करती हो, हमारे निकट स्थिति करो तब प्राणोंने कहा हम अन्नके विना स्थिति नहीं कर सकते, तब प्रजापतिने कहा हम तुम दोनों एक साथ स्थित होकर अन्नसृष्टि करें, इसमें प्राणवायु सम्मत हुए, तब प्रजापति और प्राणवायुने मिलकर इन इष्टका उपधानके फलसे अन्न सृजन किया इस कारण प्राणके भरण पोषण रक्षणकारी यह पंचाश इष्टका प्राणभृत् कहलाती हैं"प्रजापतेर्विस्रस्तात् प्राणा उदक्रामन्"इत्यादि [श० ८।१।१।३] श्रुतेः। मंत्रार्थ–हे इष्टका! जो (अयम्) यह (पुरः) प्रथम (भुवः) होनेवाला अग्नि है तू इसके रूपवाली है प्राणही अग्निरूप होकर आगे स्थित होताहै इस कारण अग्नि रूप तुझको उपधान करता हूं अर्थात् भुवनामसे प्रसिद्ध अग्निदेवताको मननकरते सादनकरता हूं "अयं पुरोभुव इत्याग्निर्वै पुरस्तात्तमाह पुरे इति प्राञ्चꣳह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्त्यथ यद्भुव इत्याहाग्निर्भुवोग्नेर्हीदꣳसर्वं भवति प्राणो ह्यग्निर्भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८।१।१।४] श्रुतेः। इस मंत्रमें प्राणशब्दका उल्लेख है इसीकारण इन मंत्रोंसे संस्कारित इष्टका प्राणभृत् कहातीहै।१। (प्राणः) प्राण (तस्य) उस भुवनाम अग्निका (भौवायनः) सन्तान है अर्थात् भुवसे विदित भौवायन नामसे प्रसिद्ध प्राणदेवताको मननकरते इष्टकासादन करताहूं "प्राणं तस्माद्भूपादग्नेर्निरमिमीत" इति [८।१।१।५।] श्रुतेः २। (प्राणायनः) प्राणका पुत्र (वसन्तः) वसन्त ऋतु है अर्थात् जो प्राणसे विदित प्राणायननामसे प्रसिद्ध वसन्त ऋतु देवताको मनन करता इष्टकासादन करताहूं "वसन्तमृतुं प्राणान्निरमिमीत" इति [८।१।१।५] श्रुतेः ३। (वासन्ती) वसन्तकी सन्तान (गायत्री) गायत्री है अर्थात् वसन्तसे विदित वासन्ती नामसे प्रसिद्ध गायत्री देवताको मनन करते इष्टकासादन करताहूं "गायत्री छन्दो वसन्तादृतोर्निरमिमीत" इति [८।१।१।५] श्रुतेः ४।(गायत्र्यै) गायत्रीसे (गायत्रम्) गायत्र साम उत्पन्न है, अर्थात् गायत्रीसे विदित गायत्र नामसे प्रसिद्ध गायत्रीदेवताको मनन करते इष्टकासादन करता हूं "गायत्र्यै छन्दसो गायत्रꣳसाम निरमिमीत" इति [८।१।१।५] श्रुतेः ५। (गायत्र्यात्) गायत्र सामसे उत्पन्न (उपांशुः) उपांशु ग्रह अर्थात् गायत्रस्तोत्रसे विदित उपांशु नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते सादन करताहूं "गायत्र्यात्साम्न उपाꣳशुग्रहं निरमिमीत" इति [८।१।१।५] श्रुतेः ६। (उपांशोः) उपांशु ग्रहसे उत्पन्न (त्रिवृत्) त्रिवृत् स्तोम अर्थात् उपांशुसे विदित त्रिवृत् नामसे

प्रसिद्ध स्तोम देवताको मनन करते सादन करताहूं "उपांशोर्ग्रहात्त्रिवृतꣳस्तोमं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ७ । (त्रिवृतः) त्रिवृत्स्तोमसे निर्मित (रथन्तरम्) रथन्तरसाम त्रिवृत् से विदित रथन्तरनामसे प्रसिद्ध सामप्रवर देवताको मननकरते सादनकरताहूं "त्रिवृत्स्तोमाद्रथन्तरं पृष्ठं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ५] श्रुतेः ८ । (वसिष्ठः) सर्वजन्तुओंमें अधिष्ठित सर्वाधार वसिष्ठरूप प्राण (ऋषिः) ज्ञाता अर्थात् रथन्तरसे विदित वसिष्ठनामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मननकरते सादन करताहूं "प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोथो यद्वस्तृतमो वसति तेन एव वसिष्ठः" इति [८ । १ । १ । ६] श्रुतेः ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे मैं (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त नीरोग (प्राणम्) प्राणलाभके निमित्त (गृह्णामि) ग्रहणकरता हूं प्रजाओंकी प्राणसिद्धिके निमित्त तुमको सादनकरता हूं "ये नानाकामाःप्राणे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तत्प्राणं करोति" इति [८ । १ । १ । ६] श्रुतेः १० ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मन्त्र १० ।

अयन्दक्षिणा विश्वकर्म्मा तस्य मनो वैश्वकर्म्मणं
ग्रीष्मो मानसस्त्रिष्टुब्ग्रैष्मी त्रिष्टुभः स्वारꣳ स्वा
रादन्तर्यामोऽन्तर्यामात्पञ्चदशः पञ्चदशाद्बृहद्भर
द्वाज ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णा
मि प्रजाभ्यः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ अयं तस्येति मंत्रयोः उशना ऋषिः (याजुषी बृहती छन्दः । मनोभृदिष्टका दे० । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० । (३-४) ॐ ग्रीष्मःत्रिष्टुभ इति मंत्रयोरुशना ऋ० । दैवी पंक्तिश्छंदः । (५) ॐ त्रिष्टुबित्यस्य दैवी बृहती० (६-७-८) ॐ स्वारात् पंचदशात् भरद्वाज इति मंत्राणां याजुषी गायत्री छन्दः । (९) ॐ अन्तर्यामादित्यस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० (१०) ॐ प्रजापतिरित्यस्यार्ची गायत्री छं० । वि० पू० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंको वेदीके दक्षिण श्रोणीसे आरंभ करके स्वयमातृणा इष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक एक करके और दशप्राणभृत् इष्टका उपधान करे । मन्त्रार्थ-यह इष्टका (विश्वकर्मा) विश्वके निर्माता विश्व-

कर्मा नामसे प्रसिद्ध (अयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिणदिशामें आर्यावर्तसे वहन करती है अर्थात् दक्षिणवायु देवताको मनन करते सादन करताहूं "अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योयं पवते एष हीद७ सर्वं करोतीति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । १ । १ । ७ । श्रुतेः १ ॥ (मनः) मन (तस्य) उस (वैश्वकर्मणम्) विश्वकर्माका अपत्य है अर्थात् विश्वकर्मासे विदित वैश्वकर्म नामसे प्रसिद्ध मनदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं, "मनस्तस्माद्रूपाद्वायोर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु (मानसः) मनका अपत्य है अर्थात् मनसे विदित मानस नामसे प्रसिद्ध ग्रीष्म ऋतुदेवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "ग्रीष्मसृतुं मनसो निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८) श्रुतेः ३ । (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्छन्द (ग्रैष्मी) ग्रीष्मसे प्रगटहै अर्थात् ग्रीष्मसे विदित ग्रैष्मनामसे प्रसिद्ध त्रिष्टुप्छंद देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं" त्रिष्टुभं छंदो ग्रीष्मादृतोर्निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ४ । (त्रिष्टुभः) त्रिष्टुप्छन्दसे (स्वारम्) स्वार साम प्रगट हुआ अर्थात् त्रिष्टुप्छन्दसे विदित स्वारनामसे प्रसिद्ध स्तोत्रदेवताको मननकरते इष्टका सादनकरताहूं "त्रिष्टुभच्छन्दसः स्वार७ साम निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ५ । (स्वारात्) स्वारसामसे (अन्तर्यामः) अन्तर्याम ग्रह हुआ अर्थात् स्वारसे विदित अन्तर्यामनामसे प्रसिद्ध ग्रहदेवताको मननकरते इष्टका सादन करता हूं " स्वारात्साम्नोन्तर्यामं ग्रहं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ६ । (अन्तर्यामात्) अन्तर्यामसे(पञ्चदशः) पञ्चदश स्तोम हुआ अर्थात् अन्तर्यामसे विदित पंचदश नामसे प्रसिद्ध स्तोम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "अन्तर्यामाद्ग्रहात् पञ्चदश७स्तोमं निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ७ । (पञ्चदशात्) पञ्चदश स्तोमसे (बृहत्) बृहत् साम हुआ अर्थात् पंचदशस्तोमसे विदित बृहत् नामसे प्रसिद्ध साम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "पञ्चदशात्स्तोमाद्बृहत्पृष्ठं, निरमिमीत" इति [८ । १ । १ । ८] श्रुतेः ८ । (भरद्वाजः) अन्नका धारण करनेवाला मन (ऋषिः) सचेतन अर्थात् बृहत्सामसे विदित भरद्वाज नामसे प्रसिद्ध ऋषिदेवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "मनो वै भरद्वाज ऋषिः अन्नं वाजो यो वै मनो बिभर्त्ति सोन्नं वाजं भरति तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः" इति [८ । १ । १ । ९] श्रुतेः ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिद्वारा सादर ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंका (मनः) मन (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् प्रजाओंके नीरोग मनलाभ करनेको उद्यत हुआ तुमको सादन करताहूं ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १० ।

अयम्पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसं व
र्षाश्चाक्षुष्यो जगती वार्षी जगत्या ऽऋक्सममृ
क्समाच्छुक्रः शुक्रात्सप्तदशः सप्तदशाद्वैरू
पञ्जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षु
र्गृह्णामि प्रजाभ्यः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमित्यस्य उशना ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । चक्षुर्भृदिष्टका दे० । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ तस्येत्यस्य उशना ऋ०। याजुषी बृहती छं०। प्राणभृदिष्ट०दे०।(३-४-५)ॐ वर्षा जगती ऋक्सामादिति मंत्राणामुशना ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं०।प्राणभृदिष्टका दे०। (६-७-८) ॐ जगत्याः-शुक्रात-जमदग्निरिति मंत्राणामुशना ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । प्राणभृदिष्टका दे० । (९) ॐ सप्तदशादित्यस्योशना ऋ० । याजुष्युष्णिक्छन्दः । प्राणभृदि० दे । (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्योशना ऋ० । आर्ची गायत्री छंदः । प्राणभृदि० दे० । सर्वेषां प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० ॥ ५६ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंसे वेदीके उत्तर श्रोणीसे आरंभ करके स्वयमातृणेष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक एक करके और १० दश प्राणभृत् इष्टका उपधान करे [का०] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (पश्चात्) पश्चिमगामी (विश्वव्यचाः) आदित्य है अर्थात् यह इष्टका विश्वव्यचा नामसे प्रसिद्ध पश्चिमगामी आदित्य देवताको मनन करते सादन करता हूं " असौ वा आदित्यो विश्वव्यचा यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचोभवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेवयन्तं पश्यन्ति" इति [८ । १ । २ । १ ।] श्रुतेः १ । (चक्षुः) नेत्र (तस्य) उस (वैश्वव्यचसम्) रविसे उत्पन्न है अर्थात् विश्वव्यचासे विदित वैश्वव्यचस नामसे प्रसिद्ध चक्षु देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं " चक्षुस्तस्माद्रूपादादित्यान्निरमिमीत" इति [८ । १ । २ । २] श्रुतेः २। (वर्षा) ऋतु (चाक्षुष्या) चक्षुसे प्रगट है अर्थात् चक्षुसे विदित चाक्षुषनामसे प्रसिद्ध वर्षाऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "वर्षाऋतुं चक्षुषो निरमिमीत" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । २] ३ । (जगती)

जगतीछन्द (वार्षी) वर्षाऋतुसे प्रगट है अर्थात् वर्षाऋतुसे विदित वार्षी नामसे प्रसिद्ध जगतीछन्ददेवताको मननकरते यह इष्टका सादन करता हूं "जगतीछन्दो वर्षाभ्य ऋतोर्निरमिमीत" इति श्रुतेः ४ । (जगत्यै) जगतीछन्दसे उत्पन्न (ऋक्सामम्)ऋक्साम अर्थात् जगतीछन्दसे विदित ऋक्सामनामसे प्रसिद्ध स्तोत्रदेवता को मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं " जगत्यै छन्दस ऋक्साम निरमिमीत" इति श्रुतेः ५ । (ऋक्सामात्) ऋक्सामसे (शुक्रः) शुक्र प्रगट हैं अर्थात् ऋक्सामसे विदित शुक्र नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "ऋक्सामात् साम्नः शुक्रं ग्रहं निरमिमीत" इति श्रुतेः ६ । (शुक्रात्) शुक्रग्रहसे (सप्तदशः) सप्तदशस्तोम प्रगट हुआ अर्थात् शुक्रग्रहसे विदित सप्तदश नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "शुक्राद्ग्रहात् सप्तदशꣳस्तोमं निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ । (सप्तदशात्) सप्तदश स्तोमसे (वैरूपम्) वैरूप पृष्ठ हुआ अर्थात् सप्तदश स्तोमसे विदित वैरूप नामसे प्रसिद्ध साम देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "सप्तदशास्तोमाद्वैरूपं पृष्ठं निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ । (जमदग्निः) वैरूपसे प्रगट चक्षुरूप जमदग्नि (ऋषिः) ऋषि अर्थात् वैरूपसे विदित जमदग्नि नामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं अर्थात् सब स्थानपै जानेवाले और देखनेवाले होनेसे चक्षुका नाम जमदग्नि है और सब कुछ जाननेसे वह ऋषि कहलाता है "चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ३] ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिद्वारा आदरसे गृहीत (त्वया) तुमको (प्रजार्थम्) प्रजाके निमित्त (चक्षुः) चक्षुइन्द्रियरूपसे (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् तुम्हारी सहायतासे हम प्रजागणके निमित्त नीरोग चक्षुलाभ करनेमें उद्यत होते तुमको सादन करते हैं "सकृत्सादयत्येकंतच्चक्षुःकरोति" इति [८ । १ । २ । ३] श्रुतेः ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र १ ।

इ॒दमु॑त्त॒रात्स्व॒स्तस्य॒ श्रोत्र॑ꣳ सौ॒वꣳ श॒रच्छ्रौ॒त्र्य॒नु॒ष्टुप्शा॒रद्य॑नु॒ष्टुभ॑ऽ ऐ॒डमै॒डान्म॒न्थी म॒न्थिन॑ऽ एकवि॒ꣳ॒शऽ एकवि॒ꣳ॒शाद्वै॑रा॒जं वि॒श्वामि॑त्र॒ऽ ऋषि॑: प्र॒जाप॑तिगृहीतया॒ त्वया॒ श्रोत्रं॑ गृह्णामि प्र॒जाभ्य॑: ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१-२-४-५-९)ॐ इदमिति प्रथमद्वितीयचतुर्थपंचमनवम-मंत्राणामुशना ऋषिः । याजुषी गायत्री छन्दः । श्रोत्रभृदिष्टका देवता । (३-६) तृतीयषष्ठमंत्रयोरुशना ऋ० । दैवी बृहती छ० । (७-८) ॐ सप्तमाष्टममंत्रयोरुशना ऋ० । याजुष्युष्णिक्छं० । (९) ॐ प्रजापति-गृहीतयेत्यस्यार्ची गायत्री छन्दः । श्रोत्रभृदिष्टकोपधाने वि० ॥ ५७ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकात्मक दशमंत्रोंसे वेदीके उत्तर अंशसे आरंभ करके स्वयमातृणेष्टकापर्यन्त यथाक्रमसे एक२करके और दश श्रोत्रभृत् इष्टका उप-धान करै । मन्त्रार्थ-(इदम्) यह (उत्तरात्) उत्तरदिशामें (स्वः) स्वर्ग है अर्थात् यह इष्टका उत्तरदिशामें स्थित स्वर्गलोकको मनन करते सादन करता हूं " दिशो वा उत्तरात्तद्यत्ता आहोत्तरादित्युत्तरा ह्यस्मा-त्सर्वस्मादिशोथ यत्स्वरित्याह स्वर्गो हि लोको दिशः श्रोत्रꣳ ह दिशो भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेतद्रूपमुपदधाति" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ४] १ (श्रोत्रम्) श्रोत्र (तस्य) उस (सौवम्) स्वर्गके सम्बन्धी हैं अर्थात् स्वर्गलोकसे विदित सौवनामसे प्रसिद्ध श्रोत्रदेवताको मननकरते यह इष्टका सादन करताहूं "श्रोत्रं तस्माद्रूपादिग्भ्यो निरमिमत" इति श्रुतेः २ । (शरत्) शरदृतु (श्रौत्री) श्रोत्रसे उत्पन्न है अर्थात् श्रोत्रसे विदित श्रौत्रीनामसे प्रसिद्ध शरद् ऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "शरदृतुꣳ श्रोत्रान्निरमिमीत" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ५] ३ । (अनुष्टुप्) अनुष्टुप्छन्द (शारदी) शरद् ऋतुसे प्रगट है अर्थात् शरद् ऋतुसे विदित शारदी नामसे प्रसिद्ध अनुष्टुप्छन्द देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "आनुष्टुभं छन्दः शरदृतोर्निरमि-मीत" इति श्रुतेः ४ । (अनुष्टुभः) अनुष्टुभ् छन्दसे (ऐडम्) ऐडसाम प्रगट है अर्थात् अनुष्टुप् छन्दसे विदित ऐड नामसे प्रसिद्ध स्तोत्र देवताको मनन करते यह मन्थी नामसे प्रसिद्ध ग्रह देवताको मनन करते यह इष्टका स्थापन करताहूं " ऐडात् इष्टका स्थापन करताहूं "अनुष्टुप्छन्दस ऐडꣳ साम निरमिमीत" इति श्रुतेः ५ । (ऐडात्) ऐडसामसे (मन्थी) मन्थी ग्रह हुआ अर्थात् ऐडस्तोत्रसे विदित साम्नो मन्थिनं ग्रहं निरमिमीत" इति श्रुतेः ६ । (मन्थिनः)मन्थी ग्रहसे (एकविꣳशः) एकविंश स्तोम हुआ अर्थात् मन्थी ग्रहसे विदित एकविंशनामसे प्रसिद्ध स्तोम देवताको मननपूर्वक यह इष्टका स्थापन करताहूं "मन्थिनो ग्रहादेकविꣳशꣳस्तोमं निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ । (एकविꣳशात्) एकविंशस्तोमसे (वैराजम्) वैराज पृष्ठ हुआ अर्थात् एकविंशस्तोमसे विदित वैराज नामसे प्रसिद्ध सामदेवताको मनन

करते यह इष्टका सादन करताहूं "एकविंशात् स्तोमाद्वैराजं पृष्ठं निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ । (विश्वामित्रः) श्रद्धापूर्वक दूसरेका वाक्य सुननेसे सबका मित्र (ऋषिः) और ज्ञाता श्रोत्र अर्थात् वैराज सामसे विदित विश्वामित्र नामसे प्रसिद्ध ऋषि देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्र ऋषिः" इति [८ । १ । २ । ६] श्रुतेः ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा आदरसे ग्रहण की हुई (त्वया) तुम्हारी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त (श्रोत्रम्) श्रोत्रको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् तुम्हारी सहायतासे मैं प्रजागणके निमित्त नीरोग श्रोत्रलाभ करनेमें उद्यत हुए तुमको सादन करताहूं "ये नाना कामाः श्रोत्रे तांस्तद्दधाति सकृत्सादयत्येकं तच्छ्रोत्रं करोति" इति [८ । १ । २ । ६] श्रुतेः १० ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मंत्र १ ।

इयमुपरिमतिस्तस्यैवाङ्म्मात्त्याहेमन्तोवाच्यःपङ्क्तिर्हैमन्तीपङ्क्त्यैनिधनवन्निधनवतऽआग्रयणऽआग्रयणात्त्रिणवत्रयस्त्रिᳬंशौत्रिणवत्रयस्त्रिᳬंशाभ्याᳬंशाक्वररैवतेविश्वकर्म्मऽऋषिःप्रजापतिगृहीतयात्वयावाचङ्गृह्णामिप्रजाभ्योलोकन्ताऽइन्द्रम् ॥ "लोकम्पृणच्छिद्रम्पृणाथोसीदध्रुवात्त्वम् ॥ इन्द्राग्नीत्त्वाबृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥ १ ॥ ताऽअस्यसूददोहसःसोमᳬंश्रीणन्तिपृश्नयः । जन्मन्देवानांविशस्त्रिष्वारोचनेदिवः ॥ २ ॥ इन्द्रंविश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसङ्गिरः ॥ रथीतमᳬंरथीनांवाजानाᳬंसत्पतिम्पतिम् ॥ ३ ॥" ॥ ५८ ॥ [५]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इयमित्यस्य उशना ऋषिः । याजुष्युष्णिक्छन्दः । वाग्भृदिष्टका दे० । (२-३-४) ॐ तस्य हेमन्तः पंक्तिरिति मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । (५-६)ॐ पंक्त्यै-विश्वकर्म इति मंत्रयोः याजुषी गायत्री छन्दः । (७) ॐ निधनवत इत्यस्य याजुषी बृहती छं० । (८) ॐ आग्रयणा इत्यस्य याजुषी त्रिष्टुप्छन्दः । (९) ॐत्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यामित्यस्य साम्न्युष्णिक्छन्दः । (१०) ॐ प्रजापतिगृहीतयेत्यस्यार्ची गायत्री छन्दः । वाग्भृष्टिकोपधाने विनियोगः (११-१२-१३) ॐ लोकम्पृणेत्यादित्रयाणां मन्त्राणां विनियोगः पूर्वोक्तः ॥ ५८ ॥

विधि-(१-१०) इस कण्डिकाके प्रथम दश मंत्रोंसे मध्यमें स्थापित रेत और सिक्ताम दो इष्टकाके उत्तरसे प्रदक्षिणक्रमद्वारा एक एक करकै और दशप्राणभृत् इष्टका स्थापन करे। मन्त्रार्थ-(उपरि) सबके ऊपर विराजमान चंद्र (इयम्) यह (मतिः) वाणी है अर्थात् ऊपर विराजमान मतिनामसे प्रसिद्ध चन्द्रदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं "चन्द्रमा वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि चन्द्रमा अथ यन्मतिरित्याह वाग्वै मतिर्वाचा हीदꣳ सर्वं मनुते वाग्व चन्द्रमा भूत्वोपरिष्टात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति श्रुतेः [८ । १ । २ । ७] १। (वाक्) वाणी (तस्यै) उस (मात्या) चन्द्ररूप मतिसे उत्पन्न है अर्थात् मतिसे विदित मात्य नामसे प्रसिद्ध वाक् देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं. "वाचं तस्माद्रूपाच्चन्द्रमसो निरमिमीत" इति [८ । १ । २ । ८] श्रुतेः २ । (हेमन्तः) हेमन्त ऋतु (वाच्या) वाणीसे प्रगट है अर्थात् वाक्से विदित वाच्यनामसे प्रसिद्ध हेमन्तऋतु देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "हेमन्तमृतुं वाचो निरमिमीत" इति श्रुतेः ३ । (पंक्तिः) पक्तिछन्द (हैमन्ती) हेमन्त ऋतुसे प्रगट है अर्थात् हेमंत ऋतुसे विदित हैमन्तीनामसे प्रसिद्ध पंक्तिश्छन्द देवताको मननकरते यह इष्टका सादन करता हूं "पंक्तिश्छन्दो हेमन्ताद्दतोर्निरमिमीत" इति श्रुतेः ॥४॥ (निधनवत्) निधनवत् साम (पंक्त्यै) पंक्तिछन्दसे प्रगट है अर्थात् पंक्तिसे विदित निधनवत्नामसे प्रसिद्ध स्तोत्र देवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "पङ्क्त्यै छन्दसो निधनवत्साम निरमिमीत" इति श्रुतेः (निधनवतः) निधनवत्सामसे (आग्रयणः) आग्रयणग्रह प्रगट हुआहै अर्थात् निधनवत्स्तोत्रसे विदित आग्रयण नामसे प्रसिद्ध ग्रहदेवताको मननकरते यह इष्टका सादनकरताहूं "निधनवतः साम्न आग्रयणं ग्रहं निरमिमीत" इति श्रुतेः ६ । (आग्रयणात्) आग्रयण ग्रहसे (त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ) त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो सामके स्तोम हुए हैं अर्थात् आग्रयण ग्रहसे विदित त्रिणव

और त्रयस्त्रिंश नामसे प्रसिद्ध स्तोमदेवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "आग्रयणात् ग्रहात्त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ स्तोमौ निरमिमीत" इति श्रुतेः ७ ।
(त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याम्) त्रिणव त्रयस्त्रिंश नामक स्तोमोंसे (शाकररैवते) शाकर रैवत दो पृष्ठ प्रगट हुए हैं अर्थात् त्रिणव और त्रयस्त्रिंश दो स्तोमसे विदित शाकर और रैवत नामसे प्रसिद्ध दो साम देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशाभ्याꣳस्तोमाभ्याꣳ शाकररैवते पृष्ठे निरमिमीत" इति श्रुतेः ८ ।
(विश्वकर्मा) सम्पूर्ण संसारकी करनेवाली (ऋषिः) वाणी है अर्थात् शाकर और रैवत सामसे विदित विश्वकर्मा नामसे प्रसिद्ध ऋषिको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं "वाग्वै विश्वकर्म ऋषिर्वाचा हीदꣳ सर्वं कृतं तस्माद्वाग् विश्वकर्म ऋषिः" इति श्रुतेः [८ । १ । २ ।] ९ । हे इष्टके ! (प्रजापतिगृहीतया) प्रजापतिके द्वारा ग्रहणकीहुई (त्वया) तुम इष्टकाकी सहायतासे (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त नीरोगता प्राप्तिके निमित्त इन दश मंत्रोंसे (वाचम्) वाणीको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं इन दश मंत्रोंसे वाणीका ग्रहण है "सकृत्सादयत्येकां तद्वाचं करोति" इति [८ । १ । २ । ९] श्रुतेः १० । पांच कण्डिकाओंमें प्राण मन चक्षु श्रवण वाणी इनका प्रजासे ग्रहण कियाहै इसके दो अर्थ हैं यदि चतुर्थी करैं तौ प्रजाके निमित्त प्राणादिका ग्रहण है पचास इष्टकाके स्थापनकरनेसे यजमानके पुत्र पौत्र पशु आदिके प्राणादि पुष्ट हों यदि पंचमी करै तौ यह अर्थ है कि अनेक लोकोंके प्राणादि मैं ग्रहणकरता हूं अर्थात् सब प्रजा मेरे वशीभूत हों यह आशय है। विधि-(११) अनन्तर ग्यारहवें मंत्रसे दक्षिणकोणसे आरंभ करके मध्यमें और फिर मध्यसे स्वयमातृणा इष्टकापर्यन्त लोकम्पृणेष्टका उपधान करै [का० १७ । ६ । ९] लोकम्पृण इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या [१२ । अ० ५४ । ५५ । ५६] कण्डिकामें होगई. सरलार्थ लिखते हैं, हे सम्पूर्ण इष्टका ! इन पचास प्राणभृत् इष्टकाके योजनस्थलमें छिद्रको तुम परिपूर्ण करो अतिदृढ होकर स्थित हो इन्द्राग्नी देवता और विश्वकर्मा देवता तुमको इस स्थलमें स्थापित करते हैं ११ । विधि-(१२) बारहवें मंत्रसे सूददोहसाधिवदन करै [का० १७ । ६ । ९] छूकर पढे। देवताओंका जन्म हुआ, रोचना तीन द्युलोकसम्बन्धी और विश्वके उपकारी नानाविध अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्व हुए हैं १२ । विधि-(१३)तेरहवें मंत्रसे पुरीष निक्षेप करै [का० १७ । ६ । ९] जिन देवताकी कीर्तिप्रभा समुद्र पर्यन्त निर्मल व्याप्त है जो रथियोंके मध्यमें एक प्रधान रथी हैं, जिनके प्रसादसे हम अन्नलाभ करते

हैं जो साधुगणके प्रतिपालक हैं उनही इन्द्रदेवताकी सब एक वाक्यसे स्तुति करते हैं ॥ ९८ ॥ [९]

दयानंदसरस्वतीने लोकम्पृणसे-पतिम् तक मूल मंत्रपाठक छोड दिया है और कहा है सूत्रमें व्याख्या न देखकर यह मंत्र किसीने फिर लिख दिया है उनका यह कहना प्रमाद है कारण कि यज्ञाङ्गका लोप हो जायगा सूत्रकारने पाठ पढा और सब संहिताओंमें विद्यमान है तथा अर्थ भी प्रमाण विरुद्ध किये हैं भा० का० ।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वाला-
प्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां पुष्कराद्यादिचित्यन्त-
स्त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

शुभमस्तु ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः १४.

ध्रुवक्षितिःषट् सजूर्ऋतुभिर्मूर्द्धावयो द्विकौ इन्द्राग्नीआयुर्मेषट्कौ आशुस्त्रिवृदेका अग्नेर्भागोस्येकयाचतुष्कौ अष्टावेकत्रिंशत् ॥

तेरहवें अध्यायमें प्रथम चिति प्रकरण वर्णन हुआ है. अर्थात् चिति भूषित करनेको इष्टकासम्भरणके मंत्र कहे हैं. इस अध्यायमें दूसरी तीसरी और चौथी चितिके मंत्र वर्णन किये हैं.

कण्डिका १-मं० १. अनु० १ ।

ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिर्ध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया ॥ उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐध्रुवक्षितिरित्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अश्विनौ देव० । आश्विनीष्टकोपधाने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथमादि पांच कण्डिकात्मक मंत्रोंसे अश्विनीसंज्ञक इष्टकाओंको रेत और सिक नामक इष्टकाओंकी सीमासे उपधान करे अर्थात् इन दो इष्टकाओंके जोडके ऊपर जिस प्रकारः इस समय प्राचीरादि जोडते हैं वैसा करे [का० १७ । ८ । १९ ।]

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (ध्रुवक्षितिः) स्थिर निवासवाली (ध्रुवयोनिः) अचल कारणवाली (उरूयस्य) अग्निके (प्रथमम्) पहले आद्य (केतुम्) प्रथम चिति-रूप स्थानको (जुषाणा) सेवन करतीहुई (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो (ध्रुवम्) स्थिर (साधुया) श्रेष्ठ (योनिम्) रेतःसिग्वेला श्रेष्ठ स्थानपर (आसीद) स्थित हो (देवानाम्) देवताओंके (अध्वर्यू) अध्वर्यु अश्विनीकुमार (इह) इस रेतः सिग्वेलामें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापन करें ॥ १ ॥

सरलार्थ-हे इष्टके ! तुम स्वयंध्रुव तुम्हारा कारणभी ध्रुव और तुम्हारा निवास भी ध्रुव है इसकारण इस साधुस्थानमें ध्रुवरूपसे निवासकरो यह स्थान उखाअग्निकी प्रथम कीर्तिपताका है तुम इसका सेवन [आश्रय] करो इस क्रियाके प्रधान अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुमको इस स्थलमें सादितकरें ॥ १ ॥

गाथा-"तेऽश्विनावब्रुवन्" इत्यादि [८ । २ । १ । ३] शतपथ ब्राह्मणमें यहां एक गाथा है देवताओंने अश्विनीकुमारसे प्रार्थना की तुम विख्यात भिषक् हो इस कारण दूसरी चितिसे अनुग्रह प्रकाशकरो उन्होंनें कहा चितिउपधानमें हमे क्या लाभ होगा देवताओंने कहा तुम इस कार्यमें अध्वर्यु होंगे इसको सुनकर वह दूसरी चिति प्रकाशकर उसके अध्वर्यु हुए ॥ १ ॥

प्रमाण-"अयं वै लोकः प्रथमा चितिः" इति [८ । २ । १ । १] श्रुतेः । इसी लोकका नाम प्रथमा चिति है भूमिके ऊर्ध्व और अन्तरिक्षसे पहले २ दूसरी चिति है. "एतां द्वितीयां चितिमपश्यन्यदूर्द्ध्वं पृथिव्या अर्वाचीनमन्तरिक्षात्तेषामेष लोकः" [श० ८ । २ । १ । २] अथवा "अग्निरुरूयस्तस्यैष प्रथमा केतुर्यत्प्रथमा चितिस्तं जुषाण" इति [८ । २ । १ । ४] श्रुतेः ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १।

कुलायिनी घृतवती पुरन्धिः स्योने सीद सदने पृथिव्याः ॥ अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा २

ऋष्यादि-(१) ॐ कुलायिनीत्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी बृहती छं० । अश्विनौ देव० । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (कुलायिनी) पक्षीके घौंसलेके आकार घरवाली अर्थात् गृहाकार रेतःसिग्वेलासे युक्त (घृतवती) होमे हुए घृतसे युक्त (पुरन्धिः) नीचे स्थित प्रथम चिति इष्टकाओंकी धारण करनेवाली तुम (पृथिव्याः)

पृथ्वीके (स्योने) सुखदायक (सदने) स्थानमें (सीद) स्थित हो (रुद्राः) रुद्रगण (वसवः) वसुगण सबही (त्वा) तुमको (अभिगृणन्तु) स्तुति करैं (इमाः) इन (ब्रह्म) मन्त्रोंको (सौभगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (पीपिहि) आप्यायित अर्थात् वृद्धिकरो यजमानका भाग्योदय हो (अश्विनौ) अश्विनी कुमार (अध्वर्यू) अध्वर्यु (इह) इस स्थलमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापित करैं ॥ २ ॥

प्रमाण-"पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्यै शिवे स्योने सीद सदने" इति [८।२।१।५।] श्रुतेः । "कुलायमिव वै द्वितीया चितिः" इति [८।२।१।५] श्रुतेः । इनसे दोनों स्थानका ज्ञान होता है. ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

स्वैर्द्दक्षैर्द्दक्षपितेहसीदद्देवानाᳬसुम्म्नेबृहतेरणाय ॥ पितेवैधिसूनवऽआसुशेवास्वावेशातन्न्वासंविशस्वा श्विनाध्वर्यूसादयतामिहत्त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वैरित्यस्य उशना ऋषिः । विराड्ब्राह्मी बृहती छन्दः । अश्विनौ देव० । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (दक्षपिता) बलकी रक्षाकरनेवाली तुम (देवानाम्) देवताओंके (रणाय) रमणीय (बृहते) बडे (सुम्ने) सुखके निमित्त (इह) इस दूसरी चितिके स्थानमें (स्वैः) अपने (दक्षैः) समर्थोंसे (सीद) स्थित हो और (आ) सब प्रकारसे (सुशेवा) सुखकी देनेवाली (एधि) हो (इव) जिस प्रकार (पिता) पिता (सूनवे) पुत्रके निमित्त सुखदायक होताहै और (स्वावेशा) सुखप्रवेशवाली (तन्वा) शरीरके साथ (संविशस्व) यहां अवस्थानकरो अर्थात् पिता जिस प्रकार अपने पुत्रगणको सुखसेव्य और सुखप्रवेश होताहै तुमभी देवताओंको इसीप्रकारसे हो (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (इह) इस स्थानमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापन करैं ॥ ३ ॥

प्रमाण-"स्वेन वीर्येणेह सीद" इति [८।२।१।६] श्रुतेः । "स्वावेशेनात्मना संविशस्व" इति श्रुतेः [८।२।१।६] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

पृथिव्याः पुरीषमस्यप्प्सोनामतान्त्वाविश्वेऽअभि

गृणन्तु देवाः ॥ स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणायजस्वाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृथिव्याः पुरीषमित्यस्य उशना ऋषिः। भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं०। अश्विनौ देवते। वि० पू० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (पृथिव्याः) पृथिवी अर्थात् पहली चितिके (पुरीष्यम्) पूर्ण करनेवाली (अप्सो नाम) अप्स नाम अर्थात् जलके कारणीभूत रसरूप "अथवा जिसका कारण जल अर्थात् जलसे निर्मित" (असि) हो (ताम्) उस प्रथम चितिकी पूरक जलकी रसभूत (त्वा) तुझको (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण देवता (अभिगृणन्तु) सब ओरसे स्तुति करते हैं (स्तोमपृष्ठाः) त्रिवृत् आदि स्तोम रथन्तरादि पृष्ठ जिसमें पढे जाते हैं ऐसी (घृतवती) हवन होने योग्य घृतसेयुक्त तुम (इह) इस दूसरी चितिमें (सीद) स्थित हो (प्रजावत्) पुत्र पौत्रादि प्रजायुक्त (द्रविणा) धन (अस्मे) हमारे निमित्त (आयजस्व) सब ओरसे दो (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनी कुमार (इह) इस स्थानमें (त्वा) तुमको (सादयताम्) स्थापित करें ॥ ४ ॥

प्रमाण-"पृथिवी वै प्रथमा चितिस्तस्या एतत्पुरीषमिव यत् द्वितीया" इति [८। २।१।७] श्रुतेः ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १।

अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाम्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं दिशामधिपत्नीं भुवनानाम् ॥ ऊर्मिर्द्रप्सोऽअपामसि विश्वकर्मा तऽऋषिरश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अदित्यास्त्वेत्यस्य उशना ऋषिः । भुरिक्छक्करी छं०। अश्विनौ देवते। वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्ष भूलोककी (धर्त्री) धारण करनेवाली (दिशाम्) पूर्वादि दिशाओंकी (विष्टम्भनीम्) स्तम्भन करनेवाली (भुवनानाम्) सब प्राणीसमूहोंकी (अधिपत्नीम्) स्वामिनी (त्वा) तुमको

(अदित्याः) प्रथम चितिरूप पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सादयामि) स्थापन करताहूं तुम (अपाम्) जलोंकी (द्रप्सः) रसरूप (ऊर्मिः) तरंगरूप (असि) हो (विश्वकर्मा) प्रजापति (ते) तुम्हारा (ऋषिः) द्रष्टा है (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस स्थानमें (सादयताम्) स्थापित करैं ॥ ५ ॥

कण्डिका ६ मंत्र-१ ।

शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोऽसि कल्पेतान्द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोऽन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे॥ ग्रैष्मावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥६॥[६]

ऋष्यादि-(१) शुक्रश्चेत्यस्य उशना ऋषिः । निच्यृदुत्कृतिश्छन्दः] ऋतुर्देवता । ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) प्रथम चितिसे उपहित ऋतव्य नाम दो इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे ऋतव्या नाम और दो इष्टका स्थापन करै [का० १७ । ८ । १६]

मन्त्रार्थ-(शुक्रः) ज्येष्ठ (च) और (शुचिः) आषाढ (च) भी (ग्रैष्मौ) ग्रीष्म ऋतुसम्बन्धी हैं (ऋतू) हे ऋतुरूप दोनों इष्टकाओ ! तुम (अग्नेः) अग्निके (अन्तः) मध्य (श्लेषः) लग्न (असि) हो अर्थात् अग्निके अन्तःश्लेषरूप कल्पना करते हैं (मम) मेरी (ज्येष्ठाय) उत्कर्षताके निमित्त (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोकको (कल्पन्ताम्) कल्पना करो अर्थात् इस कार्यमें नियुक्त तुम एकवाक्य हो कर जगत्में हमारी प्रधानता करो । (अपः) जल (ओषधयः) ओषधी हमारी उत्कृष्टता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करें (सव्रताः) समान कर्मवाली (पृथक्) अनेक (अग्नयः) स्वयमातृणा इष्टका मेरी उत्कृष्टता (कल्पन्ताम्) कल्पना करैं (इमे) यह (द्यावापृथिवी) द्युलोक और भूलोकके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान (समनसः) समानचित्त (ये) जो (अग्नयः) दूसरोंसे स्थापित की इष्टका हैं (ग्रीष्मौ) ग्रीष्म (ऋतू) ऋतुको (अभिकल्पमाना) सम्पादन करतीं (अभिसंविशन्तु) इस स्थानमें स्थित हो (इव) जैसे (देवाः) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको प्राप्त होते हैं (तया) हे ऋतव्य इष्टका ! उस (देवतया)

देवतासे स्थापित तुम (अङ्गिरस्वत्) अंगिराकी समान (ध्रुवे) दृढ (सीदतम्) स्थित हो अर्थात् जैसे सर्व देवता इन्द्रको आगे कर कार्यक्षेत्रमें प्रविष्ट होते हैं, इसी प्रकार इस द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान हैं वे सब एक मनसे तुमको ग्रीष्म कालके ऋतुरूप अन्तःश्लेष रूप कल्पना करते इस यज्ञमें अभिनिवेश करैं इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो ॥ ६ ॥ [६]

कण्डिका ७–मंत्र ५. अनु० २।

सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्देवैꣳ सजूर्देवैर्वयो
नाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादय
तामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्वसु
भिꣳ सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानरायाश्वि
नाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधा
भिः सजू रुद्रैꣳ सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वान
रायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा सजूर्ऋतुभिः
सजूर्विधाभिः सजूरादित्यैꣳ सजूर्देवैर्वयोनाधैर
ग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयता
मिह त्वा सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजूर्विश्वै
र्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैरग्नये त्वा वैश्वानराया
श्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ सजूरित्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः। आर्षी पंक्तिश्छन्दः। विश्वेदेवा देवता। (२–३) ॐ सजूरिति मंत्रयोः भुरिग्ब्राह्युष्णिक्छं०। (४)ॐ सजूरित्यस्य ब्राह्युष्णिक्छं०। (५) ॐ सजूरित्यस्य–आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वैश्वदेवीष्टकोपधाने वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे वैश्वदेवी नामक पंचइष्टका पूर्वादि पांच दिशाओंमें सादनकरैं [का० १७ । ८ । १७] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वयोनाधैः) बाल्यादि अवस्था प्राप्त करानेवाले प्राणोंके सहित तथा (देवैः) इन्द्रादि देवतोंके साथ (सजूः) प्रेमकरनेवाली (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सबके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताकी तृप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यु) अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादनकरो "आपो वै विधा अद्भिर्हीदꣳसर्वं विहितम्" इति [८ । २ । २ । ८ ।] श्रुतेः "प्राणा वै देवा वयोनाधाः प्राणैर्हीदꣳसर्वं वयुनं नद्धम्" इति श्रुतेः [८ ।२। २। ८।] अथवा "वयोनाधैर्देवैः" छन्दोंसे प्रीतिमान् "अथो छन्दाꣳसि वै देवा वयोनाधाश्छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम्" इति [८ । २ । २ । ८ ।] श्रुतेः १ । अथवा ऋतु देवता प्राणोंको उत्पन्न करके उनके साथ सम्मिलित होकर प्रजापतिने जिस प्रकार तुमको उपहित किया इसी प्रकार मैं तुमको धारण करताहूं १ । हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुओंके साथ (सजूः) प्रीतिमान् (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वसुभिः) वसुगणोंके सहित (सजूः) प्रीतिमान् (वयोनाधैः) प्राणोंके साथ (देवैः) देवताओंके साथ (सजूः) प्रीतिमान् (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताकी तृप्तिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं २ । [दक्षिणमें] हे इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणके सहित (सजूः) सम्प्रीत (विधाभिः) जलोंके सहित (सजूः) सम्प्रीत (रुद्रैः) रुद्र गणके सहित(सजूः)सम्प्रीत(वयोनाधैः)प्राणोंके सहित (देवैः) देवताओंके सहित (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यु (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं ३ । [उत्तरमें](ऋतुभिः)ऋतुओंसे (सजूः) सम्प्रीत (विधाभिः) जलोंसे (सजूः) सम्प्रीत (आदित्यैः) आदित्यगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (वयोनाधैः) प्राण (देवैः) देवताओंसे (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सब विश्वके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त ग्रहण करताहूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह) इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादनकरैं ४ । [ऊपरमें] हे

इष्टके ! (ऋतुभिः) ऋतुगणोंसे (सजूः) सेवित (विधाभिः) प्राणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (विश्वैः) सम्पूर्ण (वैश्वदेवैः) देवगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (वयोनाधैः) प्राण (देवैः) देवगणोंसे (सजूः) सम्प्रीत (त्वा) तुमको (वैश्वानराय) सब जगत्के हितकारी(अग्नये)अग्निदेवताकी प्रीतिके निमित्त ग्रहण करता हूं इस क्रियाके प्रधान (अध्वर्यू) अध्वर्यू (अश्विना) अश्विनीकुमार (त्वा) तुमको (इह)इस दूसरी चितिमें (सादयताम्) सादन करैं "अश्विना वध्वर्यू सादयतां तदृतून्प्राजनयदृतुभिर्वै सुयुग्भूत्वा" इति [८ । २ । २ । ८] श्रुतेः ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १०।

प्राणम्मेपाह्यपानम्मेपाहिव्यानम्मेपाहिचक्षुर्म्मऽउर्व्याविभाहिश्श्रोत्रम्मेश्लोकय ॥ अपःपिन्वौषधीर्जिन्वद्विपादवचतुष्पात्पाहिदिवोवृष्टिमेरय ॥ ८ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१-३-७-९) ॐ प्राणं व्यानम् ओषधीः चतुष्पादिति मंत्राणां विश्वेदे० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । वायुरापो वा देवताः । (२-५) ॐ अपानंश्रोत्रमिति मंत्रयोर्दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । वायुर्देवता । (४) ॐ चक्षुरित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छन्दः । वायुर्देवता । (६-८) ॐ अपद्विपादिति मंत्रयोर्विश्वेदेवा ऋषयः । दैवी बृहती छं० । आपो देवताः । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० (१०) ॐ दिव इत्यस्य दैवी जगती छं० । आपो दे० । विनियोगः पू० ॥ ८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके प्रथम पांच मंत्रोंसे पूर्वादि पांच दिशाओंमें प्राणभृत् संज्ञक पांच इष्टका स्थापन करैं [का० १७ । ८ । २०] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (मे) मेरे (प्राणम्) नाभिसे ऊपर चलनेवाली प्राणवायुको (पाहि) रक्षा करो १ । हे इष्टके ! तम (मे)मेरे(अपानम्)नाभिके नीचे चलनेवाली अपान वायुको (पाहि)रक्षा करो२।हे इष्टके!तुम(मे)मेरे (व्यानम्) शरीरसंधिगत वायुको (पाहि)रक्षा करो ३। "प्राणो वै वायुर्वायुमेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [८ । २ । ३ । ८] हे इष्टके ! तुम (मे) मेरे (चक्षुः) नेत्रोंको (उर्व्या) विस्तीर्ण दृष्टिसे (विभाहि) प्रकाशित करो ४ । हे इष्टके ! (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कर्णेन्द्रियको

(श्लोकय) अपर्याप्त श्रवणमें समर्थ करो ५ । विधि-(६ । १०) षष्ठादि पांच मंत्रोंसे अपस्या नाम पांच इष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २१]

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम्हारे प्रसादसे यह पृथ्वी (अपः) वृष्टिके जलसे (पिन्व) सिंचित हो ६ । हे इष्टके ! (ओषधीः) औषधियोंको (जिन्व) प्रसन्न करो पुष्ट करो ७ । हे इष्टके ! (द्विपात्) द्विपाये प्राणियोंसे मनुष्यकी (अव)रक्षा करो ८ । इष्टके ! (चतुष्पाद्) चोपायों पशुकी (पाहि) रक्षा करो ९ । हे इष्टके ! (दिवः) द्युलोकसे (वृष्टिम्) वर्षाको (एरय) सब प्रकार प्रेरणा करो १० ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १९. अनु०३ ।

मूर्द्धावयःप्रजापतिश्छन्दःक्षत्रंवयोमयन्दञ्छन्दोविष्टम्भोवयोधिपतिश्छन्दोविश्वकर्म्मावयःपरमेष्ठीच्छन्दोबस्तोवयोविबलञ्छन्दोवृष्णिर्वयोविशालञ्छन्दःपुरुषोवयस्तन्द्रञ्छन्दोव्याघ्रोवयोनाधृष्टञ्छन्दःसिंहोवयश्छदिश्छन्दःपष्ठवाड्वयोबृहतीच्छन्दऽउक्षावयःककुप्छन्दऽऋषभोवयःसतोबृहतीच्छन्दोनड्वान्वयः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मूर्धेति १ । ३ । १० । १७ । मंत्राणां विश्वेदेवा ऋषयः । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवताः । ॐ क्षत्रमिति२ । ५ । ६ । ७ । ८ । १३ । १४ । १६ । १८ । १९ मंत्राणां याजुषी बृहती छं० । ॐ ९ । ११ । १५ मंत्राणा याजुष्यनुष्टुप्छं० । ॐ ४ । १२ । मंत्रयोर्याजुषी जगती छन्दः । वयस्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका और अगली कण्डिकाके १९ मंत्रोंसे दक्षिण उत्तर पश्चिम अनुक्रान्तमें पांच २ और पूर्वमें चार यह उन्नीस वयस्या नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । ७ । २२] इस मंत्रसे शतपथकी श्रुतिमें निदान कहा है कि प्रथम सृष्टिरचना करते हुए प्रजापतिसे रचनाको प्राप्त हो पशु छन्द रूप धारण कर चले तब प्रजापतिनेभी गायत्री आदि छन्दोंका रूपधारणकर पशु सम्बन्धी उस उस अवस्थासे पशुओंको प्राप्त किया उसीके कहनेवाले यह मंत्र हैं "प्रजापतेर्विस्रस्तात्पशव उत्क्रामंश्छन्दांꣳसि भूत्वा तान् गायत्रीछन्दो भूत्वा

न्वयसाप्नोत्'' इति [। ८ । २ । ३ । ९] श्रुतेः । प्रथम चार मंत्रोंसे प्रजापतिके अष्ट अवयवात्मक गायत्रीरूपकी कल्पना करते हैं । मन्त्रार्थ–(प्रजापतिः) प्रजापतिने (छन्दः) गायत्री छन्द होकर (वयः) वयद्वारा (मूर्द्धा) प्रधान [ब्राह्मण] जातिकी रचनाकी है अथवा प्रधान प्रजापति गायत्री-रूप होकर वयद्वारा पशुओंको प्राप्त हुए उस रूपवाली हे इष्टके ! तुमको उपधान करताहूं "ऐसा सर्वत्र मंत्रान्तमें जान्ना" इस मंत्रमें प्रजापतिके दो अवयव कल्पना किये गये हैं "प्रजापतिर्वै मूर्द्धा स वयोऽभवत् प्रजापतिश्छन्द इति प्रजापति रेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । १०] श्रुतेः अर्थात् प्रधान और छन्द प्रजापति हैं १ । (क्षत्रम्) दुःखसे रक्षा करनेवाली क्षत्र (वयः) अवस्था प्रजापति हुए (मयन्दम्) सुख देनेवाले (छन्दः) अनिरुक्त छन्द प्रजापति हुए " क्षत्रं वय इति प्रजापतिर्वै क्षत्रꣳ स वयोभवन्मयन्दं छन्दः" इति अथवा "अनिरुक्तं तन्म॰ यंदमनिरुक्तो वै प्रजापतिः प्रजापतिरेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । ११] श्रुतेः अर्थात् छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने क्षत्रियजातिकी रचना की २ । (अधिपतिः) अधिक पालन करनेवाले (विष्टम्भः) जगत्‌के स्तंभ॰ नकर्ता प्रजापति (वयः) उन पशुकी अवस्थावाले (छन्दः) छन्द हुए "प्रजापतिर्वै विष्टम्भः स वयोऽभवदधिपतिश्छन्द इति प्रजापतिर्वा अधिपतिः प्रजा-पतिरेव छन्दोऽभवत्" इति [८ । २ । ३ । १२] श्रुतेः अर्थात् प्रजापतिने छन्दके प्रभावसे स्तम्भनकारी जाति [धनसंचयकारी वैश्य] उत्पन्न की ३ । (परमेष्ठी) परमपदमें स्थित होनेवाले (विश्वकर्मा) सबके स्रष्टा प्रजापति (वयः) वयद्वारा (छन्दः) छन्द हुए अर्थात् प्रजापतिने छन्दके प्रभावसे विविध कर्मचारी [सेवावृत्तियुक्त] शूद्रजाती उत्पन्न की "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स वयो-भवत् परमेष्ठी छन्द इत्यापो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति प्रजापति रेव परमेष्ठी छन्दोऽभवत्" इति [१३] श्रुतेः ४ । "इस प्रकार प्रति मंत्रमें दो दो अवयवकी कल्पना करके आठ अवयवसे प्रजापति गायत्री रूपसे कल्पित है इस प्रकार आठ संख्यासे युक्त होनेसे सब छन्दप्रकृतिभूत गायत्री छन्द होकर अवस्थाद्वारा आगे कथन किये पन्द्रह पशुओंको प्रजापतिने ग्रहण किया "तानि वा एतानि चत्वारि वयाꣳसि चत्वारि छन्दाꣳसि तदष्टावष्टाक्षरा गायत्र्येषा वैसा गायत्री या तद्भूत्वा प्रजापतिरेव तान् पशून्वयसाप्नोत्" इति[९ । ६ । ३ । १४] श्रुतेः प्रजापतिने (वस्तः) अजा बकरी जातिको (विवलम्) एकपदनामक (छन्दः) छन्दसे (वयः) उसी अवस्थाके अनुसार ग्रहण किया अर्थात् एकपद छन्द रूप होकर गमन करते हुए अजापशुको उसकी अवस्थासे ग्रहण किया इसी प्रकार

आगेके मन्त्रोंमेंभी विभक्तिविपरिणाम करके यही अर्थ श्रुतिके अनुसार जानना कि उस उस, छन्दके रूपको धारण कर प्रजापतिने उस २ अवस्थासे उस उस पशुको ग्रहण किया "बस्तो वय इति बस्तं वयसाप्नोद्विवलं छन्द इत्येकपदा विवलं छन्द एकपदा ह भूत्वाजा उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । १]श्रुतेः । अथवा प्रजापतिने एकपद छन्दके प्रभावसे अजा जाति उत्पन्न की है ५ । (विशालम्) द्विपदा गायत्रीरूप (छन्दः) छन्द होकर (वृष्णिम्) सेचनमें समर्थ मेष पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "द्विपदा वै विशालं छन्दो द्विपदा ह भूत्वा वय उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । २] श्रुतेः अथवा प्रजापतिने द्विपदा छन्दके द्वारा मेषजातिकी रचना की ६ । (तन्द्रम्) पंक्ति (छन्दः) छन्द होकर जातेहुए (पुरुषम्) किन्नरको(वयः) अवस्थासे ग्रहण किया "पङ्क्तिर्वै तन्द्रं छन्दः पङ्क्तिर्ह भूत्वा पुरुषा उच्चक्रमुः" इति [८ २ । ४ । ३] श्रुतेः । पंक्तिछन्दके प्रभावसे प्रजापतिने पुरुषपशुकी रचना की ७ । (अनाधृष्टम्) विराट् (छन्दः)छन्द होकर जातेहुए (व्याघ्रम्) व्याघ्र पशुको (वयः) उस अवस्थासे प्रजापतिने ग्रहण किया. "व्याघ्र वयसाप्नोदनाधृष्टं छन्द इति विराड् वा अनाधृष्टं छन्दोन्नं वै विराडन्नमनाधृष्टं विराड्भूत्वा व्याघ्रा उच्चक्रमुः" इति [८। २ । ४ । ४] श्रुतेः । अनाधृष्ट छन्दके प्रभावसे व्याघ्रजाति उत्पन्नकी ८ ।(छदिः) अतिजगती आदि (छन्दः) छन्द होकर जातेहुए (सिंहम्) सिंहको (वयः) अवस्थासे ग्रहण किया "सिꣳहं वयसाप्नोच्छदिश्छन्द इत्यतिच्छन्दा वै छदिश्छन्दः सा हि सर्वाणि छन्दाꣳसि छादयत्यतिच्छन्दा ह भूत्वा सिꣳहा उच्चक्रमुः" इति [८ २ । ४ । ५] श्रुतेः । अर्थात् अतिजगतीछन्दके प्रभावसे सिंहजाति सृजन की है९ । "अथातो निरुक्तानेव पशून्निरुक्तानि छन्दाꣳस्युपदधाति" इति [८ । २ । ४ । ५] श्रुतेः । निरुक्तपशुओंको निरुक्तछन्दोंसे ग्रहणकिया(बृहतीछन्दः)बृहतीछन्द होकर जातेहुए (पष्ठवाट्) पांचवर्षके पीठपर भार वहनेवाले पशु "गर्दभादि" को(वयः) अवस्था द्वारा ग्रहण किया "पृष्ठवाहं वयसाप्नोत् बृहतीच्छन्द इति बृहती ह भूत्वा पृष्ठवाह उच्चक्रमुः" इति [६]श्रुतेः । अर्थात् प्रजापतिने बृहती छन्दके प्रभावसे पीठ पर बोझ लेजानेवाले पशुओंकी जाति उत्पन्न की है १० । (ककुप्) आदि अन्तमें अष्ट अक्षरके दो चरण, मध्य मध्य का बारह अक्षरका इस प्रकारके ककुप् (छन्दः) छन्द होकर जाते हुए (उक्षा) उक्षाको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "उक्षाणं वयसाप्नोत्ककुप्छन्द इति ककुब्भूत्वोक्षाण उच्चक्रमुः" इति [७]श्रुतेः ककुप् छन्दके प्रभावसे उक्षाजाति उत्पन्नकी ११ । (सतोबृहती) बारह अक्षरके त्रिपादवाले सतोबृहती (छन्दः) छन्दरूपसे गमन करते

(ऋषभम्) भल्लूकादिको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "ऋषभं वय-सामोत्सतोबृहती छन्द इति सतोबृहती भूत्वर्षभा उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । ८] श्रुतेः सतोबृहती छन्दके प्रभावसे ऋषभको उत्पन्न किया १२ ॥ ९ ॥

काण्डिका १०—मन्त्र १ ।

अनड्वान्वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगती छन्द स्त्र्यविर्वयस्त्रिष्टुप्छन्दो दित्यवाड्वयो विराट्छ न्दꣳ पञ्चाविर्वयो गायत्री छन्दस्त्रिवत्सो वयऽउ ष्णिक्छन्दस्तुर्यवाड्वयोऽनुष्टुप्छन्दो लोकन्ताऽ इन्द्रम् ॥ १० ॥ [२]

ऋष्यादि—(१) ॐ अनड्वानिति विनियोगादि पूर्ववत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—(पंक्तिः) पंक्ति (छन्दः) छन्द होकर जाते हुए (अनडान्) बलीवर्दको (वयः) उस अवस्थासे ग्रहण किया "अनड्वाहं वयसाप्नोत् पंक्तिश्छन्द इति पंक्तिर्ह भूत्वानड्वाह उच्चक्रमुः" इति [९] श्रुतेः । पंक्तिछन्दके द्वारा अनड्वान् जातिकी रचना की १३ । (जगतछिन्दः) जगतीछन्द होकर गमनकरते हुए (धेनुः) धेनुको (वयः) वयसे प्राप्त किया "धेनुं वयसाप्नोज्जगती छन्द इति जगती ह भूत्वा धेनव उच्चक्रमुः" इति [१०] श्रुतेः । जगती छन्दसे प्रजापतिने धेनुजाति उत्पन्न की है १४ । (त्रिष्टुप्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्द होकर गमनकरतेहुए (त्र्यविः) अठारह मासके पशुको (वयः) वयसे ग्रहण किया. "त्र्यविं वयसाप्नोत्त्रिष्टुप्छन्द इति त्रिष्टुब्भ् भूत्वा त्र्यवय उच्चक्रमुः" [११] इति श्रुतेः । प्रजापतिने त्रिष्टुप्छन्दके प्रभावसे त्र्यविजातिकी रचना कीहै १५ । (विराट्छन्दः) विराट्छन्दके रूपसे गमनकरते (दित्यवाट्) धान्यवहन करनेवाले अथवा दो वर्षकी अवस्थाके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "दित्यवाहं वयसाप्नाद्विराट्छन्द इति विराड् भूत्वा दित्यवाह उच्चक्रमुः" इति [१२] श्रुतेः । विराट्छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने दित्यवाट् जाति उत्पन्नकी १६ । (गायत्रीछंदः) गायत्री छन्दसे गमन करते (पंचाविः) ढाई वर्षके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "पञ्चाविं वयसाप्नोद्गायत्री छन्द इति गायत्री ह भूत्वा पञ्चावय उच्चक्रमुः इति [१३] श्रुतेः । गायत्री छन्दके प्रभावसे पंचाविको उत्पन्न किया १७ ।

(उष्णिक् छन्दः) उष्णिक् छन्द होकर गमन करते (त्रिवत्सः) तीन वत्सरवाले पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "त्रिवत्सं वयसाप्नोदुष्णिक्छन्द इति उष्णिग्घ भूत्वा त्रिवत्सा उच्चक्रमुः" इति [१४] श्रुतेः । उष्णिक् छन्दके प्रभावसे प्रजापतिने त्रिवत्सा पशुको सृजन किया । १८ (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप्छन्द होकर गमन करते (तुर्यवाट्) चारवर्षके पशुको (वयः) उसी अवस्थासे ग्रहण किया "तुर्यवाहं वयसाप्नोदनुष्टुप्छन्द इत्यनुष्टुब्भ् भूत्वा तुर्यवाह उच्चक्रमुः" इति [८ । २ । ४ । १९] श्रुतेः प्रजापतिने अनुष्टुप्छन्दके प्रभावसे तुर्यवाट् जाति उत्पन्नकी है १९ । विधि-वीसवें मंत्रसे दक्षिण श्रोणीके क्रमसे पूर्ववत् लोकम्पृणा उपधान करै [का० १७ । ८ । २४] [अ० १२ कण्डिका ५४ । ५५ । ५६] में व्याख्या होगई । सरलार्थ लिखतेहैं-हे इष्टके ! पूर्व संस्थापित इष्टकाओंके द्वारा आक्रान्त न होना और यहभी आवश्यक है कि सम्पूर्ण अवकाश एक २ क्रमसे पूर्ण करो और इस प्रकार परस्पर सम्मिलित हो जो दोनोंके मध्यमें छिद्र न रहैं अतिदृढतासे स्थित हो इन्द्राग्नी और बृहस्पति देवता तुमको इस स्थानमें स्थापित करैं २० । इक्कीसवें मंत्रसे सूददोहसाधिवदन करै,देवगणका जन्म हुआ, रोचनात्रय द्युलोकसम्बन्धी और विशेष उपकारी अनेक प्रकारके अन्न और जल इस स्थलमें परिपक्व हुए २१ । बाईसवें मंत्रसे पुरीष निर्वपण करै । जिस देवताकी कीर्तिपताका समुद्रपर्यन्त देदीप्यमान है जो रथियोंके मध्यमें एक प्रधान रथी जिनके प्रसादसे हम अन्नलाभ करते हैं जो महात्माओंके प्रतिपालन करनेवाले हैं, उन इन्द्र देवताकी सबही एकवाक्यसे स्तुति करते हैं २२ ॥ १० ॥ [२]

[इति द्वितीया चितिः]

२० । २१ । २२ यह तीन मंत्र मूलमें दयानंदी भाष्यमें छोड दिये गये हैं ॥ १० ॥

[अथ तृतीया चितिः]

कण्डिका ११-मंत्र १. अनु० ४ ।

इन्द्राग्नीऽअव्यथमानामिष्टकान्दृꣳहतं युवम् ।
पृष्ठेन द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षञ्च विबाधसे ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नी इत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । इन्द्राग्नी तथा स्वयमातृणा देवताः । स्वयमातृणेष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ११ ॥

विधि-(१) प्रथम मन्त्रसे स्वयमातृणेष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २५] तीसरी चितिमें आत्माके मध्य स्वयमातृणेष्टका उपधानकीजाती है "इन मंत्रोंके इन्द्राग्नी विश्वकर्मा ऋषि हैं" मन्त्रार्थ-(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी दोनों देवताओ ! (युवम्) तुम दोनो (अव्यथमानाम्) अचल भङ्गतारहित (इष्टकाम्) स्वयमातृणा इष्टकाको (दृंहत) दृढ करो । हे स्वयमातृणा इष्टक ! (पृष्ठेन) तुम अपने ऊपरके भागमें (द्यावापृथिवी) पृथ्वी स्वर्ग (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (विबाधसे) बाधित करनेमें समर्थ हो अर्थात् अतिक्रमण करनेमें समर्थ हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

विश्श्वकर्म्मात्त्वासादयत्त्वन्तरिक्षस्यपृष्ठेव्यचस्व
तीम्प्रथस्वतीमन्तरिक्षंयच्छान्तरिक्षन्दृᳬहान्त
रिक्षम्माहिᳬसीः ॥ विश्श्वस्मैप्प्राणायापाना
यव्व्यानायोदानायप्प्रतिष्ठायैचरित्राय ॥ वायुष्ट्वा
भिपातुमह्यास्वस्त्याच्छर्दिषाशन्तमेनतयादेवत
याङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य विश्वकर्म ऋषिः । विकृतिश्छन्दः । वायुर्दे० । वि०पू० ॥ १२ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे स्वयमातृणा इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा प्रजापति (त्वा) तुम (व्यचस्वतीम्) अवकाशयुक्त (प्रथस्वतीम्) विस्तारवालीको (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापन करै, हे इष्टके ! तुम (विश्वस्मै) संपूर्ण प्राणियोंके (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यान (उदानाय) उदानकी वृत्तिलाभ अर्थात् वायु बलकी दृढताके निमित्त (प्रतिष्ठायै) स्वगृहकी प्रतिष्ठा और (चरित्राय) शास्त्र आचरण करनेके निमित्त तुम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (यच्छ) गन्धर्वादि अप्सराओंके धारण योग्य करो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (दृंह) दृढकरो (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (मा) मत (हिंसीः) पीडा दो अर्थात् अन्तरिक्षका कोई उपद्रव न हो (वायुः) वायुदेवता (त्वा) तुमको (मह्या) बडी (स्वस्त्या) योगक्षेमकी सम्पत्तिसे (शन्तमेन) शुभकारी

(छर्दिषा) विशेष तेजसे (अभिपातु) सब ओरसे रक्षा करै तुम्हारा अधिष्ठात्री जो देवता है (तया) उस (देवतया) देवतासे अनुगृहीत हुई (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थित हो ॥ १२ ॥

सरलार्थ-हे स्वयमातृणे ! तुम अभिव्यक्ति (प्रगटता) युक्त और विस्तारवाली हो विश्वकर्मा तुमको अन्तरिक्षमें स्थापन करै, हे इष्टके ! तुम अन्तरिक्षको नियमित करो अन्तरिक्षको दृढ करो अन्तरिक्षसे कोई उपद्रव न हो, तुम्हारे प्रसादसे यजमान प्राण अपान व्यान उदानादि समस्त वायुबलको यथेष्ट प्राप्त करै और सच्चरित्र होकर प्रतिष्ठा लाभ करै. वायु देवता कल्याण करनेके निमित्त कल्याण कर तुमको इस स्थलमें प्रतिष्ठित करै, अग्निचयनानुष्ठानके इस कार्यमें तुम इस परम देवताके प्रसादसे ध्रुवत्वलाभ कर स्थित हो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र ५ ।

राज्ञ्यसि प्राची दिग्विराडसि दक्षिणा दिक्सम्राडसि प्रतीची दिक्स्वराडस्युदीची दिगधिपत्न्यसि बृहती दिक् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१)राज्ञ्यसीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः। याजुषी गायत्री छं० । दिग्देवता । दिश्येष्टकोपधाने वि० । (२-३) ॐ विराडूसम्राडिति मंत्रयो याजुष्यनुष्टुप्छं० । (४) ॐ स्वराडसीत्यस्य याजुष्युष्णिक्छं० । (५) ॐ अधि पत्न्यसीत्यस्य याजुषी बृहती छन्दः । दिश्येष्टकोपधाने विनि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) प्रत्येक दिशामें स्थित प्रत्येक रेत और सिका दो इष्टका वेलासे अनूकके ऊपर इस कण्डिकाके पांच मंत्रोंसे पांच दिश्या नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । ८ । २६] मन्त्रार्थ-हे दिश्याइष्टके ! तुम (राज्ञी) राजमान होती (प्राची) पूर्व (दिक्) दिशा गायत्रीरूप (असि) हो अर्थात् तुमको यह पूर्व दिशा राज्ञी करके सादित करती है १ । हे दिश्या ! (विराट्) नानाप्रकारसे विराजमान तुम (दक्षिणादिक्) दक्षिणादिशा त्रिष्टुप्रूप (असि) हो अर्थात् तुमको दक्षिणदिशामें विराट्करके सादितकरतेहैं २ । हे इष्टके ! (सम्राट्) भलीप्रकार विराजमान तुम (प्रतीची दिक्) पश्चिमदिशा जगती रूप (असि) हो अर्थात् पश्चिम दिशामें सम्राट्करके तुमको सादित करतेहैं ३ । हे दिश्या ! (स्वराट्) स्वयं राजमान तुम (उदीचीदिक्) उत्तर-दिशा अनुष्टुप्रूप (असि) हो अर्थात् तुमको उत्तर दिशामें स्वराट्करके सादितकरतेहैं ४ । हे दिश्या ! (अधिपत्नी) अधिक रक्षा करनेवाली

तुम (बृहती) प्रौढ ऊर्ध्व (दिक्) दिशा पंक्तिरूप (असि)हो अर्थात् तुमको मध्य दिशाकी अधिपत्नीकरके सादित करतेहैं ॥ ९ ॥ १३ ॥

प्रमाण–"छन्दाꣳसि वै दिशो गायत्री वै प्राची दिक् त्रिष्टुप् दक्षिणा जगती प्रतीच्यनुष्टुबुदीची पंक्तिरूर्द्धा" इति [८ । ३ । १ । १४] श्रुतेः ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

विश्वकर्म्मा त्त्वासादयत्त्वन्तरिक्षस्यपृष्ठेज्ज्योतिष्मतीम् ॥ विश्वस्मैप्प्राणायापानायव्यानायविश्वञ्ज्योतिर्यच्छ ॥ वायुष्टेधिपतिस्तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवासीद ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । शक्करी छन्दः । वायुर्देवता । विश्वज्योतीष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १४ ॥

विधि–(१) पूर्व चितिसे सादित विश्वज्योति इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और विश्वज्योति इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ३] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! (विश्वकर्मा) प्रजापति (ज्योतिष्मतीम्) वायुरूप (त्वा) तुमको (अन्तरिक्षस्य) अन्तरिक्षके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) सादन करै, यजमानके (विश्वस्मै) सम्पूर्ण (प्राणाय) प्राण (अपानाय) अपान (व्यानाय) व्यानके लाभके निमित्त (विश्वम्) सम्पूर्ण (ज्योतिः) ज्योतिको (यच्छ) प्रदान करो (वायुः) वायु देवता (ते) तुम्हारा (अधिपतिः)अधिकारी स्वामी है (तया) उस (देवतया) अधिष्ठात्री देवताके प्रभावसे (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान इस अग्निचयन कार्यमें (ध्रुवा) निश्चल (सीद) स्थित हो ॥ १४ ॥

प्रमाण–"अन्तरिक्षस्य पृष्ठे ह्ययं ज्योतिष्मान् वायुः" इति [श० ८ । ३ । २ । ३] श्रुतेः ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मन्त्र १ ।

नभश्चनभस्यश्चवार्षिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसिकल्पेतान्द्यावापृथिवीकल्पन्तामापऽओषधयःकल्पन्तामग्नयःपृथङ्मज्ज्यैष्ठ्यायसव्रताः ॥

येऽअग्नयः समनसोन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ वार्षिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नभश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । स्वराडतिकृतिश्छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) दूसरी चितिसे उपस्थित शुक्र और शुचिनामक दो ऋतव्य इष्टकाके ऊपर इस मंत्रसे और दो ऋतव्य इष्टका उपधानकरै [का० १७ । ९ । ४]

मन्त्रार्थ-(नभः) श्रावण (नभस्य) भादों. "शेषकी व्याख्या १३ । २९ में होगई. सरलार्थ लिखतेहैं-" यह दोनों वर्षाकालीन ऋतु हैं यह ऋतुरूप दोनों इष्टका हैं तुमको अग्निके अन्तःश्लेषरूप कल्पना करते हैं, एकरूप कार्यमें नियुक्त तुम एकवाक्य होकर इस जगत्में हमारा प्राधान्य कल्पनाकरो, द्यावापृथ्वी हमारा प्राधान्य कल्पना करैं, जलदेवी और ओषधी हमारा प्राधान्य कल्पनाकरैं, जिस प्रकार सब देवता इन्द्रको आगे करकै कार्यक्षेत्रमें प्रविष्ट होतेहैं इसी प्रकार यह द्यावापृथ्वीके मध्यमें जितनी इष्टका विद्यमान हैं वह समस्त एक मन होकर तुमको वर्षा कालके ऋतुरूपमें अन्त श्लेप कल्पना करकै इस यज्ञमें प्राप्त हों, इस परम देवताके प्रसादसे तुम यहां चिरस्थायी हो ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

इषश्चोर्जश्च शारदावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसि कल्पेतान्द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ शारदावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् १६ [६]

ऋष्यादि-(१)ॐ इषश्चेत्यस्य विश्वेदेवा ऋषयः । भुरिगुत्कृतिश्छन्दः । ऋतवो देवताः । ऋतव्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १६ ॥

विधि-(१) और दो ऋतव्य इष्टका इस स्थानमें उपधान करै [का० १७ । ९ । ५] मन्त्रार्थ-(इषः) आश्विन (ऊर्जः) कार्तिक (शारदौ) शरद् (ऋतू) ऋतुके दो अवयव हैं. अ० १३ । कं० २५ में शेषकी व्याख्या होगई ॥ १६ ॥ [६]

कण्डिका १७-मंत्र १०. अनु० ५।

आयुर्म्मेपाहिप्प्राणम्मेपाह्यपानम्मेपाहिव्यानम्मे
पाहिचक्षुर्म्मेपाहिश्श्रोत्रम्मेपाहिवाचम्मेपिन्वमना
मेजिन्वात्त्मानम्मेपाहिज्ज्योतिर्म्मेयच्छ ॥१७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आयुर्मे इति (१-२-४-५-६-७-८-१०)मन्त्राणां विश्वदेव ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । प्राणभृदिष्टकोपधाने वि० । (३-९) ॐ अपानमात्मानमिति (३-९) मंत्रयोर्विश्वदे० ऋषिः । दैवी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

विधि-(१-१०) आत्माचितिके पूर्वभागमें इस कण्डिकात्मक दश मंत्रोंसे प्राणभृत नामक दश इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ६] मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! वा आत्मा अग्ने ! (मे) मेरी (आयुः) आयुकी (पाहि) रक्षा करो १ । (मे) मेरे (प्राणम्) प्राणकी (पाहि) रक्षा करो २ । (मे) मेरे (अपानम्) अपान वायुकी (पाहि) रक्षा करो ३ । (मे) मेरे (व्यानम्) व्यान वायुकी (पाहि) रक्षा करो ४ । (मे) मेरे (चक्षुः) दोनों नेत्रोंकी (पाहि) रक्षा करो ५ । (मे) मेरे (श्रोत्रम्) दोनों कानोंकी (पाहि) रक्षा करो ६ । (मे) मेरी (वाचम्) वाणीको (पिन्व) कामनाओंसे पूर्ण करो ७ । (मे) मेरा (मनः) मन (जिन्व) प्रसन्न करो ८ । (मे) मेरे (आत्मानम्) जीवको (पाहि) रक्षा करो ९ । (मे) मेरी (ज्योतिः) तेजकी (पाहि) रक्षा करो १० ॥ १७ ॥

कण्डिका १८ । १९ । २०-मंत्र १२ ।

माच्छन्दः प्प्रमाच्छन्दः प्प्रतिमाच्छन्दोऽअस्री
वयश्छन्दः पङ्क्तिश्छन्दऽउष्णिक्छन्दोबृहती
छन्दोनुष्टुप्छन्दोविराट्छन्दोगायत्रीच्छन्दस्त्रि
ष्टुप्छन्दोजगतीच्छन्दः पृथिवीच्छन्दः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ माच्छन्द इति १ । १५ । १८ । २२ । मंत्राणां विश्वदेव ऋषिः । दैव्यनुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवताः (२-५-६-९-११-१६-१९-२०-२३-२४) मंत्राणां दैवी बृहती छं० (३-७-८-१०-१२-१३-२१-२५-२६-२७-३०-३५-)-मन्त्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । (४-१४-१७-२८-२९-३१-३२-३६)मंत्राणां दैवी त्रिष्टुप्छन्दः(३३-३४) मंत्रयोर्दैवी जगती छन्दः । इष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके बारह मंत्रसे तीनो पक्ष पुच्छ और आत्माकी सन्धीमें बारह इष्टका उपधान करै [का० १७ । ९ । ८] मंत्रार्थ-हे इष्टके (मा) परिमाणका हेतु (छन्दः) छादक यह लोक है अर्थात् भूलोकको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "अयं वै लोको मायं लोको मित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः १ । हे इष्टके ! (प्रमा) अन्तरिक्ष (छन्दः) लोकको मनन करते तुमको सादन करता हूं २ । "अन्तरिक्षलोको वै प्रमान्तरिक्षलोको ह्यस्माल्लोकात्प्रमित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः २ । हे इष्टके ! (प्रतिमा:) प्रतीतिकारक द्युलोक (छन्दः) छादकरूप हो प्रतिमाछन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं "असौ वै लोकः प्रतिमैष ह्यन्तरिक्षलोके प्रतिमित इव" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः ३ । हे इष्टके ! (अस्रीवयः) पतनशील अन्न त्रिलोकीरूप (छन्दः) छादक हो अस्रीवय छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं "यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्रीवयोऽथो यदेभ्यो लोकेभ्योऽन्नꣳ स्रवति तदस्रीवयः" इति [८ । ३ । ३ । ५] श्रुतेः ४ । हे इष्टके ! (पंक्तिश्छन्दः) पंक्तिछन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ५ । (उष्णिक् छन्दः) उष्णिक छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ६ । (बृहतीछन्दः) बृहती छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ७ । (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप् छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ८ । (विराट्छन्दः) विराट् छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ९ । (गायत्रीछन्दः) गायत्री छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं १० । (त्रिष्टुप्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं ११ । (जगती छन्दः) जगती छन्दको मनन करते तुमको सादन करताहूं तुम इन सबकी रूपा हो "अथो निरुक्तान्येव छन्दाꣳस्युपदधाति" इति श्रुतेः [८ । ३ । ३ । ५] १२ ॥ १८ ॥

अथवा- भू अन्तरिक्ष स्वर्ग अन्न श्रोत्र चक्षु मान वाक् शरीर प्राण समान अपान आत्माका आच्छादन करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

विवरण–छन्दोंकी कल्पनाका एक बृहत् प्रयोजन है इस कारण इसका विवरण लिखते हैं–

"गायत्री स्विष्टकृतः संयाज्ये कुर्वीत तेजस्कामो ब्रह्मवर्चसकामस्तेजो वै ब्रह्मवर्चसं, गायत्रस्तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुत उष्णिहा वायुष्कामः कुर्वीतायुर्वा उष्णिक् सर्वमायुरेति य एवं विद्वानुष्णिहौ कुरुतेऽनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत द्वयोर्वा अनुष्टुभोश्चतुःषष्टिरक्षराणि त्रय इम ऊर्ध्वा एकविंशा लोका एकविंशत्यैकविंशत्यैवेमाँल्लोकान् रोहति स्वर्ग एव लोके चतुःषष्टितमेन प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति य एवं विद्वाननुष्टुभौ कुरुते बृहत्यौ श्रीकामो यशस्कामः कुर्वीत श्रीर्वै यशश्छन्दसां बृहतीं श्रियमेव यश आत्मन्धत्ते य एवं विद्वान् बृहत्यौ कुरुते पंक्ती यज्ञकामः कुर्वीत पांक्तो वै यज्ञ उपैनं यज्ञो नमति य एवं विद्वान् पंक्ती कुरुते त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीतौजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुबोजस्वीन्द्रियवान् भवति य एवं विद्वांस्त्रिष्टुभौ जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत जागता वै पशवः पशुमान् भवति य एवं विद्वान् जगत्यौ कुरुते विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीतान्नं वै विराट् तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति तद्विराजो विराट्त्वम् विश्वेषु राजति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद ५ ॥" [ऐतरेय ब्राह्मण पं० १ अ० १ कं० ५] ॥

अर्थ–ब्रह्मतेजकी इच्छावाला पुरुष स्विष्टकृत् होमसम्बन्धी संयाज्यनामक दो गायत्री मंत्रोंका दीक्षणीयेष्टिमें प्रयोगकरै, तेजकाही नाम ब्रह्मवर्चस है ऐसे करनेसे मनुष्य गायत्र नाम गायत्रीवाला तेजस्वी तेजोधारी ब्रह्मतेजसे युक्त होता है, जैसे प्यालका मिटाना जलमें विद्यमान है इसीप्रकार गायत्रीपदवाच्यमें ब्रह्मतेज विद्यमान है शरीरमें वाक्प्रधान गायत्री है२४अक्षर गायत्री छन्दका मुख्यकर अग्नि देवताही मानाजाता है अग्निप्राप्त तेज और शोभाही ब्रह्मतेज है, सो यह ब्रह्मवर्चस् गायत्रीद्वारा ब्रह्मतेजकी उपासना करनेवालोंका स्वतः बढजाता है, इससे सिद्ध है कि यह किसी ग्रन्थमें भी न मिलैगा कि तेजकी इच्छावाला उष्णिक् छन्दकी उपासना करै इससे दृढतापूर्वक निश्चय है कि जलमें शीतलताके समान गायत्रीपदवाच्यमेंही ब्रह्मवर्चस् सदा रहताहै "तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी भवति य एवं विद्वान् गायत्र्यौ कुरुते" जो इस प्रकार विद्वान् गायत्रीका अनुष्ठान करता है वह तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी होता है आयुकी इच्छावाला उष्णिक् छन्दका प्रयोग करै कारण कि आयु ही उष्णिक्है उष्णिक्का अर्थ उत्कृष्ट और स्नेह है स्नेहही जीवनका आधारहै और उष्णिक् छंदका सविता देवता है सविताका प्राणोंके साथ मुख्य सम्बन्ध है "वागेवाग्निर्मनो वायुः प्राणः सूर्यः" [श०] इस श्रुतिके अनुसार सूर्य हीप्राणहै प्राणही जीवन है इससे उष्णिक्के साथ आयुका बडा सम्बन्ध है (य एवं विद्वान्०) जो ऐसा जानता है इत्यादि।

"अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीत" स्वर्गकी इच्छावाला अनुष्टुप् छन्दका प्रयोग करे अनुष्टुप्का अर्थ अनु अर्थात् पश्चात् रुकना है सामान्य कर अनुष्टुप् छन्दका सोम देवता है सोमकाही कामसुखके साथ मुख्यसम्बन्ध है सोमके साथ स्वर्गका अधिक सम्बन्ध है एक अनुष्टुप्में ३२ अक्षर होते हैं २ में ६४ इसके द्वारा स्वर्ग लोकमें जाकर प्राणी रुक जाता है । भूआदि प्रत्येक तीन लोक २१ इक्कीस २ भागोंमें विभक्त हैं २१×३=६३ होते हैं सब इक्कीस २ सुखोंका अनुभव करता ६४ वे भागके साथ स्वर्गमें स्थित हो जाताहै "श्रीकामो यशस्कामो बृहत्यौ कुर्वीत" धन और यशकी इच्छावाला दो बृहतीका प्रयोग करे धनीही आश्रयदाता और बडा होता है बृहतीछन्दका सामान्यकर बृहस्पति देवता है बृहत् और बृहती दोनों एकही धातुसे बने हैं बृहती अर्थात् बडाई ही यश और बडप्पनका हेतु है बडप्पन ही यशका हेतु है इस्से सिद्ध हुआ कि बृहती शब्दके साथ श्री और यशका घना सम्बन्ध है इस्से इनकी इच्छावाला बृहतीका प्रयोग करे "श्रीर्वै यशः" आश्रय पालन पोषणसे ही संसारमें कीर्ति बडाई होती है इससे श्रीही यश है "छन्दसां बृहती" इसी प्रकार छन्दोंमें बृहती यशका कारण है बृहतीमें बडप्पन है "श्रियमेव यश आत्मन्धत्ते" श्रीही जो यशोरूप है उसे आत्मामें धारण करता है "य एवं विद्वान्०" जो ऐसा जानता है इत्यादि-

"यज्ञकामः पङ्क्ती कुर्वीत" यज्ञकी इच्छावाला पंक्तिछन्दको प्रयोगकरै यज्ञनाम पूजन संयतिकरणका है पिंगलमें सामान्यकर इसका मित्र देवता है और वहीं संगति पूजनमें उपकारी है इष्टसंगतिसे यज्ञ होताहै इस कारण पंक्तिका यज्ञसे विशेष सम्बन्ध है "य एवं विद्वान्०" जो ऐसा जानकर करताहै उसे वह फल प्राप्त होताहै "त्रिष्टुभौ वीर्यकामः कुर्वीत" पराक्रमकी इच्छावाला त्रिष्टुप्का प्रयोगकरै "ओजो वा इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप्" ओज नाम सारही इन्द्रियां हैं और सार वा बलही त्रिष्टुप् है अर्थात् बलका सारही वीर्य वा ओज है वही क्षत्र है पिंगलमें सामान्यकर त्रिष्टुप्का इन्द्र देवता कहाहै इन्द्रमें बल स्वभावसेहीहै त्रिष्टुप्का अनुष्ठानवाला बली होताहै "ओजस्वीन्द्रियवान् वीर्यवान् भवति य एवं विद्वां-स्त्रिष्टुभौ कुरुते" पराक्रमी इन्द्रियोंवाला बलवान् वह पुरुष होता है जो ऐसा जानकर प्रयोगकरता है ।

"जगत्यौ पशुकामः कुर्वीत" गौ आदि पशुओंकी इच्छावाला दो जगती छन्दोंका प्रयोगकरै, पशुपालन वैश्योंका कृत्य है जगतीका अर्थ चलना और चलाना काम जंघाका है पशुओंमेंभी गमन प्रधान है इसीसे कहाहै (जागता वै पशवः) जंगमशक्ति-वाले पशु हैं "य एवं विद्वा०" जो ऐसा जानकर जगती छन्दका प्रयोग करता है वह पशुओंवाला होताहै "विराजावन्नाद्यकामः कुर्वीत" उत्तम अन्नकी इच्छावाले

विराट्छन्दोंका प्रयोगकरै "अन्नं वै विराट्" अन्नकाही नाम विराट् है "तस्माद्यस्यैवेह भूयिष्ठमन्नं भवति स एव भूयिष्ठं लोके विराजति" इससे जिसके यहां वहुत अन्न होताहै वही लोकमें विराजमान होताहै कारण कि सब उससे अन्नकी इच्छा करते हैं प्रशंसित होनेसे अन्नही विराट् है " तद्विराजो विराट्त्वम् " यही विराट्का विराट्पन है " विश्वेषु राजति श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद " वह अपनी जातिमें श्रेष्ठ होता है जो ऐसा जानताहै ॥

इस सबका आशय यह है कि ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यकी रचना जिन छन्दोंसे हुई है उनके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो गुण उनमें हैं वही गुण छन्दोंमें हैं जिसमें जो गुण न्यून पडजाय तो अपने २ छन्दोंसे तेज बल पुष्टिकी अधिकाई कर लेनी चाहिये जिस जिस छन्दमें जो गुण है उस उस गुणकी प्राप्ति उसके द्वारा अवश्य होती है तथा अपने २ सम्बन्धवालेको अपना गुण शीघ्र प्रकाश करते हैं जैसे गायत्रीसे ब्राह्मणकी रचना हुई है ब्राह्मणका गायत्री ब्रह्मतेजसे अधिक सम्बन्ध है उसके द्वारा ब्राह्मण ब्रह्मतेजकी प्राप्ति शीघ्रकर सकते हैं इसी प्रकार क्षत्रिय वैश्य हैं वे अपने उत्पत्ति कारण छन्दोंसे तेज बल प्राप्तकरसकते हैं इसी प्रकार दूसरे पदार्थ जिन छन्दोंसे हुए हैं वे अपने २ गुणोंद्वारा उन उनके पोषक हैं यह संक्षेपसे दिखा दिया है छन्दोंके प्रयोगमें इसी प्रकार समझ लेना चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मंत्र १२ ।

पृ॒थि॒वी छन्दो॒ऽन्तरि॑क्षं॒ छन्दो॒ द्यौश्छन्दः॒ समा॒श्छन्दो॒ नक्ष॑त्राणि॒ छन्दो॒ वाक्छन्दो॒ मन॒श्छन्दः॑ कृ॒षिश्छन्दो॒ हिर॑ण्यं॒ छन्दो॒ गौश्छन्दो॒ऽजा छन्दोऽश्व॒श्छन्दः॑ ॥ १९ ॥

विधि–(१)इस कण्डिकात्मक बारह मंत्रसे पक्षपुच्छ सन्धिमें छन्दस्यानाम बारह इष्टका उपधान करै । ऋष्यादि पूर्ववत् । वि० पू० । मन्त्रार्थ–(पृथिवी) पृथ्वी देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं १ । (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं २ । (द्यौः) द्युदेवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ३ । (समाः) वर्ष देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन

करताहूं ४ । (नक्षत्राणि) नक्षत्र देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ५ । (वाक्) वाग्देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ६ । (मनः) मन देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सा० ७ । (कृषिः) कृषि देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह० ८ । (हिरण्यम्) हिरण्य देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते० ९ । (गौः) गौ देवता (छन्दः) छन्दको मनन करते यह० १० । (अजाः) अजा देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते० ११ । (अश्वः) अश्व देवतावाले (छन्दः) छन्दको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं १२ । "यान्येतद्दैवत्यानि छन्दाᳪंसि तान्येवैतदुपदधाति" इति [८ । ३ । ३ । ६] श्रुतेः ॥ १९ ॥

विवरण-यह छन्द पृथ्वी आदि देवताओंकी उपासनामें विशेष प्रसिद्ध हैं इस छन्दको पृथ्वी देवता छन्द कहा जाता है इसी प्रकार अन्तरिक्षदेवता आदि जानो । यह सब वस्तु प्राणियोंको सुखकारक हैं इन्हींमें प्रयुक्त रहनेसे आत्माकी ओर नहीं प्राप्त हुआ जाता इसीसे यह छादक छन्द कहाते हैं ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १२ ।

अ॒ग्निर्दे॒वता॒ वातो॑ दे॒वता॒ सूर्यो॑ दे॒वता॑ च॒न्द्रमा॑ दे॒वता॒ वस॑वो दे॒वता॑ रु॒द्रा दे॒वता॑ऽऽदि॒त्या दे॒वता॑ म॒रुतो॑ दे॒वता॒ विश्वे॑ दे॒वा दे॒वता॒ बृह॒स्पति॑र्दे॒वतेन्द्रो॑ दे॒वता॒ वरु॑णो दे॒वता॑ ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य मन्त्रद्वादशकस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्न्यादयो देवताः । वि० पू० ॥ २० ॥

विधि-(१-१२)इस कण्डिकात्मक बारह मंत्रोंसे आत्मसंधिमें छन्दस्यानामक और बारह इष्टका उपधान करे । मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि (देवता) देवताको मननकरते यह इष्टका स्थापन करता हूं १ । (वातः-देवता) वायुदेवताको मनन-करते यह इष्टका सादन० २ । (सूर्यो देवता) सूर्यदेवताको मननकरते यह इष्टका सादन० ३ । (चन्द्रमा देवता) चन्द्रमा देवताको मननकरते यह० ४।(वसवो देवताः) वसुगण देवताओंको मननकरते यह० ५। (रुद्रा देवताः)रुद्रदेवताओंको मनन करते यह०६(आदित्या देवताः) आदित्यदेवताओंको मनन करते०७ । (मरुतो देवताः) मरुत् देवताओंको मननकरते० ८ । (विश्वेदेवाः) विश्वेदेव (देवताः)देवताओंको

मनन कर० ९। (बृहस्पतिः देवता) बृहस्पति देवताको मननकरते० १० । (इन्द्रो देवता) इन्द्र देवताको मननकरते यह इष्टका० ११। (वरुणः देवता) वरुण देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करता हूं ॥ १२ ॥ २० ॥

प्रमाण-" अग्निर्देवता वातो देवतेत्येता वै देवताश्छन्दाᳬंसि तान्येवैतदुपदधाति" इति [८ । ३ । ६] श्रुतेः इस श्रुतिके अनुसार यह देवता हैं इनको जानकर मनन ध्यान करना उचित है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ७।

मूर्द्धासि राड्ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी ॥ आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१-७) ॐ मूर्द्धासीत्यस्य मंत्रसप्तकस्य विश्वदेव ऋषिः । निच्यृद्नुष्टुप्छन्दः । प्राणो देवता । वालखिल्येष्टकोपधाने वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१-७) प्रथम कही दशप्राणभृत् इष्टकाके अपर भागमें इस कण्डिकात्मक सात मंत्रोंसे वालखिल्यनामक सात इष्टका उपधान करै [१७ । ९ । १० १३] "जिस कारण कि वालमात्रभी भिन्न नहीं है इसकारण प्राणोंको वालखिल्य कहते हैं वह चौदह हैं सात ऊपर हैं हाथ २ बाहू २ शिर १ ग्रीवा १ नाभिके ऊर्ध्वभाग १ सात नीचे हैं उरु २ जानु २ चरण २ और नाभिके अधोभागमें, इन अंगोंमें प्राणोंके विद्यमान होनेसे उनको उपधान करै, प्रमाण "प्राणा वै वालखिल्याः प्राणानेवैतदुपदधाति ता यद्वालखिल्या नाम यद्वा उर्वरयोरसम्भिन्नं भवति खिल इति वै तदाचक्षते वालमात्रादुहेमे प्राणा असम्भिन्नास्ते यद्वालमात्रादसम्भिन्नास्तस्माद्वालखिल्याः सप्त वा इमे पुरस्तात्प्राणाश्चत्वारि दोर्बाहवाणि शिरो ग्रीवा यदूर्द्ध्वं नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राणाः सप्त वा इमे पश्चात्प्राणाश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ् नाभेस्तत्सप्तममङ्गेऽङ्गे हि प्राणा एते वै सप्त पुरस्तात्प्राणास्तानस्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [८ । ३ । ४ । १ । ४ । ९]

मन्त्रार्थ-हे वालखिल्ये ! तुम (राट्) विराजमान (मूर्धा) मूर्धाकी समान उत्तम (असि) हो अर्थात् तुम मस्तकस्वरूपा प्रधानभावसे इस स्थलमें विराजमान हो. १ । हे वालखिल्ये ! तुम (धरुणा) धारणहेतु (ध्रुवा) स्थिर (असि) हो तुम ध्रुवरूपसे इस स्थलको धारण करो २ । हे वालखिल्ये ! तुम (धर्त्री)

धारण करनेवाली (धरणी) भूमिरूप हो तुम धरणीस्वरूप इस स्थलको धारण करनेमें तत्पर हो ३ । इस कारण इष्टकाओंको त्रिलोकीरूप कहा "मूर्धासि राडितीमं लोकमरोहन् ध्रुवासि धरुणेत्यन्तरिक्षं लोकं धर्त्र्यसि धरणीत्यमुं लोकम्" इति [८ । ३ । ४ । ८] श्रुतेः । हे वालखिल्ये ! (आयुषे) आयुवृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं ४ । हे वालखिल्ये ! (वर्चसे) कान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको स्थापन० ५ । हे वालखिल्ये ! (कृष्यै) शस्यअन्नकी वृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सा० ६ । हे वालखिल्ये ! (क्षेमाय) कल्याणवृद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको सा० ७ ॥ २१ ॥

प्रमाण-"इष्टकाचतुष्टयस्य पशुसंस्तवः" "आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वेति चत्वारश्चतुष्पादाः पशवः" इति [८ । ३ । ४ । ८] श्रुतेः ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १० ।

यन्त्री राड्यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री ॥ इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा लोकन्ताऽइन्द्रः ॥ २२ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ यन्त्रीत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । परोष्णिक्छन्दः । प्राणो देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

विधि-(१) प्रथम कही वारह अपस्या इष्टकाके अपर भागमें इस कण्डिकात्मक सात मंत्रोंसे वालखिल्य नामक अपर सात इष्टका उपधान करै । मन्त्रार्थ-हे वालखिल्ये ! तुम (यन्त्री) नियमसे युक्त (राट्) विराजमान हो इस स्थानमें विराजमान हो १ । (यन्त्री) स्वयंभी नियमवाली (यमनी) सबकी नियम करानेवाली (असि) हो तुम यंत्री इस स्थानमें नियमन करो २ । हे वालखिल्ये ! तुम (ध्रुवा) स्थिर (धरित्री) धरणी भूमिरूप(असि) हो तुम ध्रुवा हो तुम निम्नस्थित इष्टकाको धारण करो ३ "यन्त्री राडित्यमुं लोकमरोहन्यन्त्र्यसि यमनीत्यन्तरिक्षलोकं ध्रुवासि धरित्रीतीमं लोकम्" इति [८ । ३ । ४ । १०] श्रुतेः । हे वालखिल्ये ! (इषे) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करता हूं ४ । हे वालखिल्ये ! (ऊर्जे) वलप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन० ५ । हे वालखिल्ये ! (रय्यै) धनप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको सादन० ६ । हे वालखिल्ये ! (पोषाय) धनपुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन० ७ । "इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वेति चतस्रश्चतुष्पादाः पशवः" इति [८।३।४।१०] श्रुतेः

१ यह आशय है ।

अष्टम नवम दशम मन्त्रोंसे प्रथम चितिकी समान उत्तर श्रोणीसे आरम्भ करके लोकम्पृणा इष्टका उपधान करै, सूददोहसाधिवदन तथा पुरीषनिर्वापण करै. इन मंत्रोंकी व्याख्या १२ अ० ५४। ५५। ५६ मन्त्रोंमें होगई ॥ २२ ॥ [६]

[चतुर्थ चितिप्रकरण]

कण्डिका २३–मंत्र १८ अनु० ६।

आशुस्त्रिवृद्भान्तः पञ्चदशो व्योमा सप्तदशो धरु
णऽएकविꣳशः प्रतूर्त्तिरष्टादशस्तपो नवदशो
ऽभीवर्त्तः सविꣳशो वर्चो द्वाविꣳशः सम्भरणस्त्रयो
विꣳशो योनिश्चतुर्विꣳशो गर्भाः पञ्चविꣳशऽ
ओजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिꣳशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रि
ꣳशो ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिꣳशो नाकः षट्त्रिꣳ
शो विवर्त्तोऽष्टाचत्वारिꣳशो धर्त्रं चतुष्टोमः ॥२३॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ आशुरिति मंत्रस्य विश्वेदेव ऋषिः। दैवी बृहती छं०। लिङ्गोक्ता देवता। मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने वि०। (२। ३। ६। १०। ११। १३। १८) मन्त्राणां विश्वकर्म ऋषिः। दैवी त्रिष्टुप्छन्दः। (४। ५। ७। १४) मन्त्राणां दैवी जगती छन्दः। (८। १२। १६) मन्त्राणां दैवी पंक्तिश्छन्दः। (९। १७) मन्त्रयोः याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवताः। (१५) मन्त्रस्य याजुषी पंक्तिश्छं०। मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने वि० ॥ २३ ॥

विधि–(१) पूर्व दिशाके अनुकान्त उत्तर भागमें प्रथमसे उत्तरमुख होकर इसी मंत्रसे जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक प्रथम इष्टका उपधान करै [का० १७। १०। ७] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! (त्रिवृत्) त्रिवृत्स्तोम तथा त्रिलोकमें (आशुः) व्याप्त वायुदेवताको मनन करते त्रिवृत् आशुरूप तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "इसी प्रकार सर्वत्र जानना" "प्राणा वै स्तोमाः प्राणा उ वै ब्रह्म ब्रह्मै-

---

१ दयानन्दी भाष्यमें लोकम्पृणसे आरम्भ कर पतिम् तक पाठ छोड दिया है तथा सब अर्थ अशुद्ध किये हैं वे अर्थ अनुपादेय हैं ॥ २३ ॥

व तदुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २] श्रुतेः । तथा चान्यश्रुतिः "स पुरस्ता-दुपदधात्याशुस्त्रिवृदिति य एव त्रिवृत्स्तोमस्तमुपदधाति तद्यत्तमाहाशुरित्येष हि स्तोमानामाशिष्ठोऽथो वायुर्वा आशुस्त्रिवृत्स एषु त्रिषु लोकेषु वर्त्तते तद्यत्तमाहाशुरि-त्येष हि सर्वेषां भूतानामाशिष्ठो वायुर्ह भूत्वा पुरस्तात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति' इति [८ । ४ । १ । ९] श्रुतेः १ ।

विधि-(२) दक्षिणदिशाके अनुकान्तमें दक्षिण भागमें पश्चिममुख होकर इस दूसरे मंत्रसे मृत्युमोहिनी नामक दो इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ९] मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (पञ्चदशः) पन्द्रह दिनमें ह्रास और वृद्धि पानेवाले पंचदशकलाके अधिपति (भान्तः) चन्द्रज्योतिको मनन करते तुमको सादन करताहूं अथवा वज्ररूपी पञ्चदश स्तोम है उसके रूपवाली तुमको सादन करताहूं २ ।

प्रमाण-"वज्रो वै भांतो वज्रः पञ्चदशोथो चंद्रमा वै भांतः पञ्चदशः सः पञ्चद-शाहान्यापूर्यते पञ्चदशापक्षीयते तद्यत्तमाह भांत इति भाति हि चंद्रमाश्चंद्रमा ह भूत्वा दक्षिणतस्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १०] श्रुतेः २ ।

विधि-(३) उत्तर दिक्के अनुकान्तमें दक्षिण भागमें पश्चिम मुख होकर इस तीसरे मंत्रसे मृत्युमोहिनी नामक तीसरी पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १०] मन्त्रार्थ-(व्योमा) अनेक प्रकारसे रक्षा करनेवाला प्रजापति (सप्तदशः) सप्तदश स्तोमरूप है अथवा संवत्सर व्योम है बारह महीने पांच ऋतु इस प्रकार सत्रह अवयव हैं. हे इष्टके ! सप्तदश व्योम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं २ ।

प्रमाण-"य एव सप्तदशस्तोमः तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह व्योमेति प्रजापतिर्वै व्योमा प्रजापतिः सप्तदशोऽथो संवत्सरो वा व्योमा सप्तदशस्तस्य द्वादशमासाः पञ्च-र्तवस्तद्यत्तमाह व्योमेति व्योमा हि संवत्सरः संवत्सरो ह भूत्वोत्तरतस्तस्थौ तदेव तदु-पदधाति" इति [८ । ४ । १ । ११] श्रुतेः ३ ।

विधि-(४) पश्चिम दिक्के अनुकान्तमें दक्षिणभागमें दक्षिणमुख होकर इस चतुर्थ मंत्रसे जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक चतुर्थ इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ८] मन्त्रार्थ-(धरुणः) धारणकर्ता प्रतिष्ठारूप (एकविंꣳशः) एकविंश स्तोम है अथवा 'धरुणः' आदित्य "एकविंशः" बारह मास पांच ऋतु तीनलोक अवयववाला है, एकविंश धरुण देवताको मनन करते इष्टका स्थापन करताहूं ४ ।

प्रमाण-"य एवैकविꣳशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धरुण इति प्रतिष्ठा वै धरुणः प्रतिष्ठैकविꣳशोऽथोऽसौ वा आदित्यो धरुण एकविꣳशस्तस्य

द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावेवादित्यो धरुण एकविंशस्तद्यत्तमाह धरुण इति यदा ह्येवैषोऽस्तमेत्यथेदं सर्वं ध्रियत आदित्यो ह भूत्वा पश्चात्तस्थौ तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १२] श्रुतेः ४ ।

विधि-(५-१४) अनन्तर पंचमादि चतुर्दश मंत्र पढकर चौदह अर्धपद्या नामक इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । ११]. मंत्रार्थ-(प्रतूर्तिः) संवत्सर (अष्टादशः) बारह महीने पांचऋतु एक संवत्सर इन अठारह अवयवाला है अथवा प्रतूर्ति स्तोम अष्टादश है अष्टादश प्रतूर्ति देवताको मननकरते इष्टका सादन करताहूं ५ ।

प्रमाण-"य एवाष्टादशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव प्रतूर्तिरष्टादशस्तस्य द्वादश मासाः पञ्चर्तवः संवत्सर एव प्रतूर्तिरष्टादशस्तद्यत्तमाह प्रतूरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि प्रतिरति तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [श० ८ । ४ । १ । १३] श्रुतेः ५ ।

मंत्रार्थ-(तपः) तपरूप (नवदशः) नवदश स्तोमहै अथवा शीतोष्ण वर्षासे 'तपः' तपनेवाला बारह महीने छः ऋतु एक संवत्सर ऐसे नव दश अवयववाला है नवदश तपो देवताको मनन करते यह इष्टका सादन करताहूं ६ ।

प्रमाण-"य एव नवदशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव तपो नवदशस्तस्य द्वादश मासाः षडृतवः संवत्सर एव तपो नवदशस्तद्यत्तमाह तप इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि तपति तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १३] श्रुतेः ६ ।

मन्त्रार्थ-(अभीवर्तः) समावृत्तिरूप (सविंशः) सविंशस्तोम है अथवा सब प्राणियोंको आवर्तन करनेवाला बारह महीने सात ऋतु संवत्सररूप वीस संख्या सहित है विंश अभीवर्त देवताको मननकरते इष्टका सादनकरता हूं ७ ।

प्रमाण-"य एव सविंशस्तोमस्तं तदुपदधातीत्यथो संवत्सरो वा अभीवर्तः सविंशस्तस्य द्वादशमासाः सप्तर्तवः संवत्सर एवाभीवर्तः सविंशस्तद्यत्तमाहाभीवर्त इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतान्यभिवर्तते तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १५] श्रुतेः ७ ।

मंत्रार्थ-(वर्चः) विशेष बल देनेवाला (द्वाविंशः) द्वाविंश स्तोम है अथवा वर्च संवत्सर है बारह महीने सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सर यह बाईस उसके अवयव हैं वर्च द्वाविंश देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं ८ ।

प्रमाण-"य एव द्वाविꣳशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वा वर्चो द्वाविꣳशस्तस्य द्वादश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव वर्चो द्वाविꣳशस्तद्यत्तमाह वर्च इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां वर्चस्वितमस्तं तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८। ४। १ । १६] श्रुतेः ८।

मन्त्रार्थ-(सम्भरणः) सम्यक् पुष्टिकारक (त्रयोविꣳशः) त्रयोविंश स्तोम है अथवा उत्पादक और विनाशक होनेसे संवत्सर १३ महीने सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सर ऐसे २३ अवयवयुक्त है. हे इष्टके ! त्रयोविंश सम्भरण देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं ९ ।

प्रमाण-"य एव त्रयोविꣳशःस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव सम्भरणस्त्रयोविꣳशस्तस्य त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव सम्भरणस्त्रयोविꣳशस्तद्यत्तमाह सम्भरण इति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि सम्भृतस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १७] श्रुतेः ९ ।

मंत्रार्थ-(योनिः) प्रजाका उत्पादक (चतुर्विꣳशः) चतुर्विंश स्तोम हैं अथवा सबका स्थानभूत संवतसर चौवीस पक्षयुक्त है चतुर्विंश योनिदेवताको मनन करते सादन करताहूं १० ।

प्रमाण-"य एव चतुर्विꣳशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव योनिश्चतुर्विꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासास्तद्यत्तमाह योनिरिति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १८] श्रुतेः १० ।

मन्त्रार्थ-(गर्भाः) सामगर्भ (पञ्चविꣳशः) पंचविंश स्तोम है अथवा गर्भ-संवत्सर प्राणियोंका उत्पादक होनेसे चौविस अर्धमास एक संवत्सर है अथवा अधिकमास होकरही ऋतुओंमें गर्भ होताहै पञ्चविंशगर्भदेवताको मननकरते इष्टका सादन करता हूं ११ ।

प्रमाण-"य एव पञ्चविꣳशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव गर्भाः पञ्चविꣳशस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासाः संवत्सर एव गर्भाः पंचविꣳशस्तद्यत्तमाह गर्भा इति संवत्सरो ह त्रयोदशो मासो गर्भो भूत्वर्तून् प्रविशति तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । १९] श्रुतेः ११ ।

मन्त्रार्थ-(ओजः) तेजस्वी वा वज्ररूप (त्रिणवः) त्रिणवस्तोम है अथवा ओज संवत्सर चौवीस अर्धमास अहोरात्र २ संवत्सर अवयवयुक्त होनेसे त्रिवणरूप हैं त्रिणव ओजदेवताको मनन करते० १२ ।

प्रमाण-"य एव त्रिणवस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाहौज इति वज्रो वा ओजो वज्रस्त्रिणवोऽथो संवत्सरो वा ओजस्त्रिणवस्तस्य चतुर्विꣳशतिरर्धमासा द्वे अहो-

रात्रे संवत्सर एवौजस्त्रिणवस्तद्यत्तमाहौजः इति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानामोजस्वितमस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २०] श्रुतेः १२ ।

मन्त्रार्थ–(क्रतुः) यज्ञके उपयोगी (एकत्रिᳬंशः) एकत्रिंशस्तोम है अथवा संवत्सरही करनेसे क्रतुरूप है २४ पक्ष ऋतु संवत्सरात्मक होनेसे एकत्रिंश अवयवयुक्त है एकत्रिंश क्रतु देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं १३ ।

प्रमाण–"य एकत्रिᳬंशः स्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव क्रतुरेकत्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासाः षडृतवः संवत्सर एव क्रतुरेकत्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह क्रतुरिति संवत्सरो हि सर्वाणि भूतानि करोति" इति [८ । ४ । १ । २१] श्रुतेः । मन्त्रार्थ–(प्रतिष्ठा) स्थितिका हेतु (त्रयस्त्रिᳬंशः) त्रयस्त्रिंश स्तोम है अथवा सबमें प्रतिष्ठित होनेसे संवत्सरही २४ पक्ष ६ ऋतु अहोरात्र २ संवत्सरात्मक १ होनेसे ३३ अवयववाला है त्रयस्त्रिंशत् प्रतिष्ठा देवताको मनन करते सादन करताहूं १४ ।

प्रमाण–"य एव त्रयस्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति प्रतिष्ठा हि त्रयस्त्रिंशोऽथो संवत्सरो वाव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासाः षडृतवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह प्रतिष्ठेति संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २२] श्रुतेः १४ ।

मन्त्रार्थ–(ब्रध्नस्य) सूर्यका "असौ वा आदित्यो ब्रध्नः" इति श्रुतेः (विष्टपम्) स्वाराज्य निवासस्थान भुवन देनेवाला (चतुस्त्रिᳬंशः) चतुस्त्रिंशस्तोम है अथवा संवत्सरही सूर्यका स्थान है सूर्यके द्वाराही काल निर्माण होता है चौवीस पक्ष सात ऋतु दो अहोरात्र एक संवत्सरात्मक अवयव है चतुस्त्रिंश ब्रध्नविष्टप देवताको मनन-करते इष्टका सादन करता हूं १५ ।

प्रमाण–"य एव चतुस्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विंशतिरर्धमासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे संवत्सर एव ब्रध्नस्य विष्टपं चतुस्त्रिᳬंशस्तद्यत्तमाह ब्रध्नस्य विष्टपमिति स्वाराज्यं वै ब्रध्नस्य विष्टपं स्वाराज्यं चतुस्त्रिंशस्तदेवतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २३] श्रुतेः १५

मन्त्रार्थ–(नाक) स्वर्गका देनेवाला (षट्त्रिᳬंशः) षट्त्रिंशस्तोम है जिसमें सुखकी कामना कीजाय सुखरूप संवत्सर २४ पक्ष और बारहमास युक्त होनेसे षट्त्रिंशात्मक है षट्त्रिंश नामक देवताको मनन करते इष्टका सादन करता हूं १६ ।

प्रमाण–"य एव षट्त्रिᳬंशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव नाकः षट्त्रिᳬंशस्तस्य चतुर्विᳬंशतिरर्धमासा द्वादश मासास्तद्यत्तमाह नाक इति न हि

तत्र गताय कस्मै च नाकं भवत्यथो संवत्सरो वाव नाकः संवत्सरः स्वर्गो लोकस्तदेव तद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २४] श्रुतेः १६ ।

मन्त्रार्थ-(विवर्तः) सामके आवर्तनोंसे युक्त (अष्टचत्वारिꣳशः)अष्टचत्वारिंश स्तोम है अथवा जिसमें प्राणी अनेक प्रकारसे वर्तते हैं वह संवत्सर अधिक मासके सहित २६ पक्ष सात ऋतु तेरह महीने २ अहोरात्र अवयवयुक्त होनेसे अष्टचत्वारिंश है अष्टचत्वारिंशत् विवर्तदेवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं १७ ।

प्रमाण-"य एवाष्टाचत्वारिꣳशस्तोमस्तं तदुपदधात्यथो संवत्सरो वाव विवर्तोऽष्टाचत्वारिꣳशस्तस्य षड्विꣳशतिरर्धमासास्त्रयोदश मासाः सप्तर्तवो द्वे अहोरात्रे तद्यत्तमाह विवर्त इति संवत्सराद्धि सर्वाणि भूतानि विवर्तन्ते तदेतद्रूपमुपदधाति", इति [८ । ४ । १ । २५] श्रुतेः १७ ।

मन्त्रार्थ-(धर्त्रम्) धारक होनेसे (चतुष्टोमः) त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश इन चार स्तोमोंका समूहरूप हैं अथवा वायुही जगत्को धारण करनेसे 'धर्त्रम्' चारों दिशाओंमें स्तुतिको प्राप्त होनेसे चतुष्टोम है चतुष्टोम धर्त्र देवताको मनन करते इष्टका सादन करताहूं "आदि अन्तमें वायुके उपधान करनेसे वायुद्वारा सब प्राणियोंको वशीभूत करता है" १८ ।

प्रमाण-"य एव चतुष्टोमस्तोमस्तं तदुपदधाति तद्यत्तमाह धर्त्रमिति प्रतिष्ठा वै धर्त्रं प्रतिष्ठा चतुष्टोमोऽथो वायुर्वाव धर्त्रं चतुष्टोमः स आभिश्चतसृभिर्दिग्भिः स्तुते वायुर्वै सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा तदेतद्रूपमुपदधाति" इति [८ । ४ । १ । २६] श्रुतेः । "स वै वायुमेव प्रथममुपदधाति वायुमुत्तमं वायुनैव तदेतानि सर्वाणि भूतान्युभयतः परिगृह्णाति" इति [८ । ४ । १ । २६] श्रुतेः । इन अठारह मंत्रोंसे स्तोमरूप करके इष्टका उपधान करै १८ ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र ४. अनु० ७।

अग्नेर्भागोऽसि दीक्षाया ऽआधिपत्यं ब्रह्म स्पृतं त्रिवृत्स्तोम ऽइन्द्रस्य भागोऽसि विष्णोराधिपत्यं क्षत्रꣳ स्पृतं पञ्चदश स्तोमो नृचक्षसां भागोऽसि धातुराधिपत्यं जनित्रꣳ स्पृतꣳ सप्तदश स्तोमो मित्रस्य भागोऽसि वरुणस्याधिपत्यं दिवो वृष्टिर्वात स्पृत ऽएकविꣳश स्तोमो वसूनां भागः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेर्भाग इत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । साम्नी पंक्तिश्छंदः । लिङ्गोक्ता दे० । मृत्युमोहिनीष्टकोपधाने विनियोगः । (२) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य विश्वदे० ऋ० । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । (३) ॐ नृचक्षसामित्यस्य विश्वदे० ऋ० । साम्नी जगती छं० । (४) मित्रस्येत्यस्य विश्व० ऋ० । आर्ची बृहती छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता वि० पू० ॥ २४ ॥

विधि-(१) उत्तरमुख होकर यह मंत्र पाठ करके पूर्वदिक्के अनुकान्तमें दक्षिण भागमें [जहां पहले २३ कण्डिकाके प्रथम मन्त्रसे उत्तर भागमें मृत्युमोहिनी नामक प्रथम इष्टका उपधान की है] जंघामात्री मृत्युमोहिनी नामक इष्टकाका उपधान करें [का० १७ । १० । १२] इसमें दश यजु हैं चार मृत्युमोहिनी इष्टका उपधान हैं, छः पद्याका उपधान है, दश इष्टका स्पृत् संज्ञावाली हैं, इसमें श्रुतिकथित अर्थवाद है ।

आख्यायिका-प्रजापति जब सृष्टि रचनेकी इच्छा करते हुए तब उन्होंने सब प्राणिजातको अपने गर्भमें धारण किया, उस गर्भमें यह दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण चराचर था, किन्तु वह सब पूर्व कल्पके पापसे आच्छन्न होनेके कारण मृत्युसे आक्रान्त हुए, उस समय प्रजापतिने देवताओंसे कहा तुम्हारी सहायतासे हम गर्भमें स्थित इस चराचरकी मृत्युसे रक्षा करें, देवता बोले इसमें हमको क्या लाभ होगा, प्रजापतिने कहा तुम किस बातकी इच्छा करते हो ? कहो, देवता बोले इस समस्त प्रजाकी रचना होनेमें इसमें हमारा अंश स्थापित हो कोई बोले प्रजासृष्टि होनेमें हमारा आधिपत्य हो भाग मिले प्रजापतिने स्वीकार किया, तब उनकी सहायतासे मृत्युमुखसे गर्भरक्षा करके समस्त प्रजा सृजन करनेके उपरान्त इस प्रजापर किसी २ देवताका अंश कल्पना किया और किसी २ को आधिपत्य किया [श० ८ । ४ । २ । १ । १]

प्रमाण-"अथ स्पृत उपदधात्येतद्वै प्रजापतिरेतस्मिन्नात्मनः प्रतिहिते सर्वाणि भूतानि गर्भ्यभवत्तान्यस्य गर्भ एव सन्ति पाप्मा मृत्युरगृह्णात् १ सदेवानब्रवीद्युष्माभिः सहेमानि सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणवानीति किन्नस्ततो भविष्यतीति वृणीध्वमित्यब्रवीत्तं भागो नोऽस्त्वित्येकेऽब्रुवन्नाधिपत्यं नोऽस्त्वित्येके स भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योरस्पृणोद्यदस्पृणोत्तस्मात् स्पृतस्तथैवैतद्यतद्यजमानो भागमेकेभ्यः कृत्वाधिपत्यमेकेभ्यः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योः स्पृणोति" इति [८ । ४ । २ । १ । २] श्रुतेः ।

अथ मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! जो तुम (अग्नेः) अग्निकी (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (दीक्षायाः) दीक्षाका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है जिसकारण तुमसे (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोमद्वारा (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (स्पृतम्) मृत्युसे रक्षित हुई अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे ब्राह्मण जातिने मृत्युमुखसे रक्षा पाइ है त्रिवृत् स्तोमको मनन करते तुमको सादन करताहूं १ । "वाग्वै दीक्षा" इति [८।४। २। ३] श्रुतेः । विधि–(२) पश्चिमाभिमुख होकर दूसरा मन्त्र पाठ करके उत्तर दिशाके अनुकान्तमें उत्तर भागमें [जहां इससे पहले २३ कण्डिकाके दूसरे मंत्रसे दक्षिण भागमें मृत्युमोहिनीनामक तीसरी इष्टका उपधान की है] मृत्युमोहिनी नामक षष्ठ पद्या इष्टका उपधान करे [का० १७ । १० । १९] मन्त्रार्थ–हे इष्टके! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (विष्णोः) विष्णुकी (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (पञ्चदशस्तोमः) पञ्चदशस्तोमसे (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षाकी है, अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे क्षत्रजातिने मृत्युमुखसे परित्राण पाया है, पंचदशस्तोम देवताको मननकरते तुमको सादन करता हूं "इन्द्राय भागं कृत्वा विष्णव आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ४] श्रुतेः २ । विधि–(३) पश्चिमाभिमुख हो तीसरा मंत्र पाठकरके दक्षिणादिक्के अनुकान्त उत्तरभागमें [जहां २३ कण्डिकाके तीसरे मंत्रसे दक्षिणभागमें मृत्युमोहिनी नाम दूसरी इष्टका उपधान की है,] मृत्युमोहिनी नामक सप्तम पद्येष्टका उपधान करे [का० १७ । १० । १४] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (नृचक्षसाम्) मनुष्योंके शुभाशुभ जाननेवाले देवताओंके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (धातुः) धाताका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है तुमने (सप्तदशस्तोमः) सप्तदशस्तोमद्वारा (जनित्रम्) वैश्यजातिको (स्पृतम्) मृत्युमुखसे रक्षा कियाहै सप्तदशस्तोमको मनन करते तुमको सादन करताहूं ३ । "देवा वै नृचक्षसो देवेभ्यो भागं कृत्वा धात्र आधिपत्यमकरोद्विड्वै जनित्रम्" इति [८ । ४ । २ । ५] श्रुतेः ३ । विधि–(४) दक्षिणाभिमुख हो करके चतुर्थ मंत्र पाठ करके पश्चिम दिशाके अनुकान्त उत्तर भागमें [जहां पहले २३ कण्डिकाके चतुर्थ मंत्रसे दक्षिण भागमें मृत्युमोहिनी नामक चतुर्थ इष्टका उपधानकी है] मृत्युमोहिनी नामक अष्टमी जङ्घामात्री इष्टका उपधान करे [का० १७ । १० । १३] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (मित्रस्य) प्राणोंका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (वरुणस्य) वरुणका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (एकविꣳशस्तोमः) एकविंशस्तोमके द्वारा (दिवः) द्युलोकसम्बन्धिनी (वृष्टिः) वर्षा (वातः) पवन (स्पृतः) मृत्युमुखसे रक्षित है अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे वृष्टि और वायुने मृत्युमुखसे रक्षा पाई है एकविंशस्तोमदेवताको मनन करते तुमको

सादन करताहूं "प्राणो वै मित्रोऽपानो वरुणः प्राणाय भागं कृत्वापानायाधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ६ ।] श्रुतेः ४ ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र ४ ।

वसूनाम्भागोसिरुद्राणामाधिपत्यञ्चतुष्प्पात्स्पृतञ्चतुर्विंᳬशस्तोमऽआदित्यानाम्भागोसि मरुतामाधिपत्यङ्गर्भास्स्पृताऽपञ्चविंᳬशस्तोमोदित्यैभागोसिपूष्णऽआधिपत्यमोजस्स्पृतन्त्रिणवस्तोमोदेवस्यसवितुर्भागोसि बृहस्पतेराधिपत्यᳬसमीचीर्दिशस्स्पृताश्चतुष्टोमस्तोमो यवानाम्भागः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१–२) ॐ वसूनाम् आदित्यानामिति मंत्रयोः विश्वदेव ऋ० । साम्नी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । पद्येष्टकोपधाने वि० । (३) ॐ अदित्यैभाग इत्यस्य विश्वदेव ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वि० पू० । (४) ॐ देवस्येत्यस्यार्ची पंक्तिश्छं० । वि०पू० ॥ २५ ॥

विधि–(१) पूर्व [२३ कण्डिकाके पंचमादि चतुर्दश मंत्रमें] स्थापित चतुर्दश पद्या इष्टकाके अपरभागमें इस कण्डकात्मक चार मंत्र और पर कण्डकात्मक दो मंत्र इन छः मंत्रोंसे छः पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७।१०। १६]

अन्वार्थ–हे इष्टके ! तुम (वसूनाम्) वसुगणका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (रुद्राणाम्) रुद्रोंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (चतुर्विंᳬशस्तोमः) चतुर्विंशस्तोमके द्वारा तुमने (चतुष्पाद्) चौपायोंकी (स्पृतम्) मृत्युमुखसे रक्षा कीहै चतुर्विंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करता हूं "वसुभ्यो भागं कृत्वा रुद्रेभ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ७] श्रुतेः १ । हे इष्टके ! तुम (आदित्यानाम्) आदित्य गणोंका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (मरुताम्) मरुद्गणोंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (पञ्चविंᳬशस्तोमः) पंचविंशस्तोमके द्वारा (गर्भाः) गर्भोंकी मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षाकीहै पंचविंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं

आदित्येभ्यो भागं कृत्वा मरुद्भ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ८] श्रुतेः २ । हे इष्टके ! तुम (अदित्यै) अदितिके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (पूष्णः) पूषा देवताका (आधिपत्यम्) अधिकार है (त्रिणवस्तोमः) त्रिणव स्तोम द्वारा (ओजः) प्रजाओंके ओज आठवीं धातुकी (स्पृतम्) रक्षा की है त्रिणवस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं "इयं वा अदितिरस्यै भागं कृत्वा पूष्ण आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । ९ ।] श्रुतेः ३ । हे इष्टके ! तुम (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवका (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (बृहस्पतेः) बृहस्पति देवताका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है (चतुष्टोमस्तोमः) चतुष्टोम स्तोमके द्वारा (समीचीः) संपूर्ण मनुष्योंके जाने योग्य (दिशः) दिशा (स्पृताः) मृत्युसे रक्षा कीगई चतुष्टोम स्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं "देवाय सवित्रे भागं कृत्वा बृहस्पतय आधिपत्यमकरोत्" इति [८ । ४ । २ । १०] श्रुतेः ४ ॥ २५ ॥

कण्डिका २६—मंत्र २ ।

यवानां भागोऽस्ययवानामाधिपत्यं प्रजा स्पृताश्चतुश्चत्वारिᳬंशस्तोमऽऋभूणां भागोऽसि विश्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतᳬं स्पृतं त्रयस्त्रिᳬंश स्तोमः ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यवानामित्यस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वि०पू० । (२) ॐ ऋभूणामित्यस्य स्वराड्गायत्री छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (यवानाम्) पूर्व पक्ष शुक्लपक्षीय तिथिके (भागः) भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (अयवानाम्) कृष्णपक्षीय तिथिका (आधिपत्यम्) स्वामित्व है तुमने (चत्वारिᳬंशस्तोमः) चत्वारिंशस्तोमके द्वारा (प्रजाः) प्रजाको (स्पृताः) मृत्युमुखसे रक्षा की चत्वारिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवास्ते हीदᳬं सर्वं युवते चायुवते पूर्वपक्षेभ्यो भागं कृत्वापरपक्षेभ्य आधिपत्यमकुर्वन्" इति [८ । ४ । २ । ११ ।] श्रुतेः १ । हे इष्टके ! तुम (ऋभूणाम्) ऋभुनामक देवताओंका (भागः)

भाग (असि) हो तुम्हारे ऊपर (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंका (आधिपत्यम्) आधिपत्य है (त्रयस्त्रिंशस्तोमः) त्रयस्त्रिंशस्तोमके द्वारा तुमने (भूतम्) अनुक्त प्राणिमात्रको मृत्युमुखसे (स्पृतम्) रक्षित किया है त्रयस्त्रिंशस्तोम देवताको मनन करते तुमको सादन करताहूं २ ॥ २६ ॥

"ऋभुभ्यो भागं कृत्वा विश्वेभ्यो देवेभ्य आधिपत्यमकरोत्" इति [श० ८ । ४ । २ । १२] श्रुतेः ॥ २६ ॥

विवरण–जिनका नाम नहीं आया वह समस्त अनुक्त हैं ॥ २६ ॥

विशेष–यह सम्पूर्ण मंत्र रक्षा करनेवाले हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र २ ।

सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषोसि कल्पेतान्द्यावापृथिवी कल्पन्तामापऽओषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः ॥ येऽअग्नयः समनसोन्तरा द्यावापृथिवीऽइमे ॥ हैमन्तिकावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवे सीदतम् ॥ २७ ॥ [४]

ऋष्यादि–(१) ॐ सहश्चेत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । भुरिगति जगती छन्दः । ऋतुर्देव० । (२)ॐ येग्नय इत्यस्य भुरिग्ब्राह्मी बृहती छं० । ऋतव्ये-ष्टकोपधाने वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१–२) यह मंत्र पाठ करके अनूकके दोनों ओर ऋतव्य नामक दो पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १० । १८] मंत्रार्थ–(सहः) मार्गशीर्ष (च) और (सहस्यः) पौष (हैमन्तिकौ ऋतू) हेमन्त ऋतुके अवयव हैं [शेषकी व्याख्या अ० १३ कं० २५ में होगई] ॥ २७ ॥ [६]

कण्डिका २८–मंत्र ४. अनु० ८ ।

एकयास्तुवत प्रजाऽअधीयन्त प्रजापतिरधिपतिरासीत्तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्पञ्चभिरस्तुवत भूतान्यसृज्य

न्त भूतानाम्पतिरधिपतिरासीत्त्रयोदशभिरस्तुवत सप्तऽऋषयोऽसृज्यन्त धाताधिपतिरासीत्पञ्चदशभिरस्तुवत ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ एकया, सप्तभिरिति मंत्रयोर्विश्वदेव ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छं० । सृष्टीष्टका दे० । सृष्टीष्टकोपधाने वि० । (३) ॐ तिसृभिरित्यस्य विश्व० ऋ० । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (४)ॐ पञ्चभिरित्यस्य विश्वदेव ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ २८ ॥

विधि-(१) प्रत्येक दिशाओंमें स्थित प्रत्येक रेत और सिक् दो इष्टका वेलासे अनूकके दक्षिणमें नौ उत्तरमें आठ साकल्यमें १७ सृष्टिनामक इष्टका उपधान करै, उनके मध्यमें इस कण्डिका और पर कण्डिका इन दो कण्डिकात्मक नौ मंत्रोंसे दक्षिण सृष्टिइष्टकासे उपधान और उससे आगेकी कण्डिकाके ५ मंत्रोंसे और उसके आगेकी कण्डिकाके प्रथम तीन मंत्रोंसे इन आठ मंत्रोंसे आठ उत्तर सृष्टीष्टकासे उपधान करे [का० १७ । १० ।]

गाथा-प्रजा रचनेकी कामनासे प्रजापतिने समस्तगर्भस्थ प्रजाको मृत्युमुखसे रक्षाकी तब उनको प्रसन्न करनेमें प्रवृत्त देखकर देवताओंसे लगे कहने [वे देवता प्राणादि और दिशाआदिके अधिकारी थे] कि तुम्हारे साथ परमात्माकी स्तुति कर इससे सृष्टिविषयमें पूर्णमनोरथ हौं । देवता बोले किससे स्तुति करैं प्रजापति बाले मेरे साथ स्तुति करो, ऐसा कहनेपर प्राणोंके अधिष्ठात्री देवताओंके साथ प्रजापतिने आत्माकी स्तुति की और सब प्रजा उत्पन्न की.

प्रमाण-"एतद्वै प्रजापतिः सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वाकामयत प्रजाः सृजेय प्रजायेयेति १ स प्राणानब्रवीद्युष्माभिः सहेमाः प्रजाः प्रजनयानीति ते वै केन स्तोष्यामह इति मया चैव युष्माभिश्चेति तथेति ते प्राणैश्चैव प्रजापतिना चास्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । १ । २] श्रुतेः ।

मन्त्रार्थ-प्रजापतिने (एकया) एकही वाणीके साथ आत्माकी स्तुति की (प्रजाः) उससे सब [अचेतन] प्रजा (अधीयन्त) उत्पन्न हुई (प्रजापतिः) प्रजापति उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "वाग्वा एका वाचैव तदस्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । ३ ।] श्रुतेः १ । (तिसृभिः) प्राण उदान व्यानोंसे (अस्तुवत) प्रार्थनाकी (ब्रह्म) वेद वा ब्राह्मणजाति (असृज्यत) रचनाकी (ब्रह्मणस्पतिः) वेदकर्ता (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "त्रयो वै

प्राणाः प्राणोदानव्यानास्ते" इति [८ । ४ । ३ । ४ ।] श्रुतेः २ । (पञ्चभिः) पांच प्राणोंसे (अस्तुवत) स्तुति की उस्से (भूतानि) पंचभूत सम्पूर्ण प्राणी (असृज्यन्त) प्रगट हुए (भूतानास्पतिः) भूतपति महादेव उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "य एवेमे मनःपञ्चमाः प्राणास्तैरेव तदस्तुवत" इति [८ । ४ । ३ । ५ । श्रुतेः ३ । (सप्तभिः) श्रोत्र २ नासिका २ चक्षु २ जिह्वा १ इन सातोंकी सहायतासे (अस्तुवत) स्तुति की (सप्तऋषयः) सप्त ऋषि वा प्राण (असृज्यन्त) प्रगट हुए (धाता) जगत्कर्ता देव उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "य एवेमे सप्तशीर्षन् प्राणास्तैरेव" इति [८ । ४ । ३ । ६] श्रुतेः ४ ॥ २८ ॥

विवरण–जिन पदार्थोंसे सृष्टिकी रचना है उनको जानकर परमात्माकी स्तुति प्रार्थना सबको करनी उचित है सृष्टिके प्राणियोंमें किसमें क्या २ है यह इन मंत्रोंमें दिखाया है ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र ५ ।

नवभिरस्तुवत पितरोऽसृज्यन्तादितिरधिपत्न्यासीदेकादशभिरस्तुवतऽऋतवोऽसृज्यन्तार्त्तवाऽअधिपतयऽआसँस्त्रयोदशभिरस्तुवत मासाऽअसृज्यन्त संवत्सरोऽधिपतिरासीत्पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्सप्तदशभिरस्तुवत ग्राम्याः पशवोऽसृज्यन्त बृहस्पतिरधिपतिरासीन्नवदशभिरस्तुवत ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नवभिरित्यस्य विश्वदेव ऋषिः । साम्नी पंक्तिश्छं० । सृष्टीष्टका देवता । वि० पू० । (२–३) ॐ दशभिःपंचदशभिरिति मंत्रयोर्विश्वदे० ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (४) ॐ पञ्चदशभिरित्यस्य विश्वदे० ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (५) ॐ सप्तदशभिरित्यस्य विश्वदे० । आर्ची बृहती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-(नवभिः) सात शिरके प्राण दो नीचे अर्थात् नवद्वार शरीरके प्राणोंकी सहायतासे (अस्तुवत) प्रार्थना की (पितरः) उससे पितृगण अग्नि-ष्वात्तादि उत्पन्न हुए (अदितिः) अखण्डित प्रजापति शक्ति उनकी (अधिपत्नी) स्वामिनी (आसीत्) हुई कारण कि पितर अपनी अखण्ड शक्तिसे ही सर्वत्र श्राद्ध करनेवालोंको प्राप्त होते हैं "नव वै प्राणाः सप्तशीर्षन्नवाञ्चौ द्वौ तौ" इति [८ । ४ । ३ । ७] श्रुतेः १ । (एकादशभिः) दश प्राण ग्यारहवां आत्मा इन ग्यारहसे (अस्तुवत) स्तुति की उससे (ऋतवः) वसन्तादि ऋतु (असृज्यन्त) प्रगट हुई उनके (आर्तवाः) ऋतुपालक देवविशेष (अधिपतयः) स्वामी (आसन्) होते हुए "दश प्राणा आत्मैकादशः" इति [८ । ४ । ३ । ८] श्रुतेः २ । (त्रयोदशभिः) दश प्राण दो पाद [प्रतिष्ठा] एक आत्मा अभ्यन्तरीय संस्थानसे (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (मासाः) चैत्रादि मासकी अधिक माससहित (असृज्यन्त) रचना की (संवत्सरः) दो अयन मासका अभिमानी वर्ष उनका (अधिपतिः) पालक (आसीत्) हुआ "दश प्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोदशः" इति [८ । ४ । ३ । ९] श्रुतेः ३ । (पञ्चदशभिः) दश हाथकी अंगुली, दो हाथ, दो भुजा, एक नाभिका ऊर्ध्वभाग इनके द्वारा (अस्तुवत) स्तुति की (क्षत्रम्) क्षत्रिय जाति वा तेज (असृज्यन्त) उत्पन्न किया उनका (इन्द्रः) इन्द्र (अधि-पतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दश हस्त्या अङ्गुलयश्चत्वारि दोर्बाहवाणि यदूर्ध्वं नाभेस्तत्पञ्चदशम्" इति [१०] श्रुतेः ४ । (सप्तदशभिः) दश पैरकी अङ्गुलि दो ऊरु दो जानु दो पाद और नाभिका अधोभाग इनके देवताओं सहित (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (ग्राम्याः) ग्रामके गौ आदि (पशवः) पशुओंकी (असृज्यन्त) रचना की (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता उनके (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "दश पाद्या अङ्गुलयश्चत्वार्यूर्वष्ठीवानि द्वे प्रतिष्ठे यदवाङ्नाभेस्तत्सप्तदशम्" इति [८ । ४ । ३ । ११ ।] श्रुतेः ॥ ५ ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०—मंत्र ५ ।

नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येतामहोरात्रेऽअधिपत्नीऽआस्ताम् । एकविꣳशत्यास्तुवतैकशफाः पशवोऽसृज्यन्त वरुणोऽधिपतिरासीत् । त्रयोविꣳशत्यास्तुवत क्षुद्राः पशवोऽसृज्यन्त पूषाधिप

१ हाथ पहुंचा.

तिरासीत्पञ्चविᳬंशत्यास्तुवतारण्याःपशवो
सृज्यन्तवायुरधिपतिरासीत्सप्तविᳬंशत्यास्तु
वतद्यावापृथिवीव्यैतांवसवोरुद्राऽआदित्याऽअनु
व्यायँस्तऽएवाधिपतयऽआसन्नवविᳬंशत्यास्तु
वत ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ नवदशभिरित्यस्य विश्वदेव ऋ० । निच्यृदार्ची बृहती० छं०। सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (२) ॐ एकविंशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋ० । भुरिक्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (३) ॐ त्रयोविंशत्येत्यस्य विश्व० । निच्यृत्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० । (४) ॐ पञ्चविंशत्येत्यस्य विश्वदे० ऋ० । साम्नी जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि०पू० । (५) ॐ सप्तविंशत्येत्यस्य विश्वदे० ऋ० । आर्ची जगती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मंत्रार्थ-(नवदशभिः) दश हाथकी अंगुलि ऊर्द्ध्व अधःस्थित छिद्ररूप नौ प्राणोंसे[1] (अस्तुवत) स्तुति की उससे (शूद्रार्यौ) शूद्र और अर्य वैश्यजाति (असृज्येताम्) उत्पन्न की उनकी (अहोरात्रे) दिनरात (अधिपत्नी) स्वामिनी (आसीत्) हुई "दशहस्त्या अंगुलयो नव प्राणाः" इति [८ । ४ । ३ । १२] श्रुतेः ॥ १ ॥

(एकविᳬंशत्या) वीस हाथपैरकी अंगुली और आतमा इनसे (अस्तुवत) स्तुतिकी (एकशफाः) एक खुरवाले (पशवः) पशु (असृज्यन्त) उत्पन्नकिये (वरुणः) वरुण उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दश हस्त्या अंगुलयो दश पाद्या आत्मैकविᳬंशः" इति [८ । ४ । ३।१३] श्रुतेः २। (त्रयोविᳬंशत्या) वीस हाथ पैरकी अंगुली दो चरण एक आतमा इनके साथ (अस्तुवत) स्तुति की इससे (क्षुद्राः) क्षुद्र (पशवः) पशु अजाआदि (असृज्यन्त) उत्पन्न किये (पूषा) पूषादेवता उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविᳬंशः" इति [८।४।२।१४] श्रुतेः ३ । (पञ्चविᳬंशत्या) वीस हाथ पैरकी अंगुली दो हाथ दो चरण एक आतमाके साथ (अस्तुवत) स्तुतिकी उससे (आरण्याः) वनके कृष्णमृगादिक

१ दश प्राण पंचमहाभूत मन बुद्धि चित्त अहंकार यहभी १९ हैं.

(पशवः) पशु (असृज्यन्त) उत्पन्न किये (वायुः) वायुदेवता उनका (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गान्यात्मा पञ्चविंशः" इति [१९] श्रुतेः ४। (सप्तविंशत्या) वीसहाथ पैरकी अंगुली दो भुजा दो ऊरु दो प्रतिष्ठा एक आत्मा इनके साथ (अस्तुवत) स्तुतिकी (द्यावापृथिवी) स्वर्गलोक भूलोक 'अन्तरिक्ष' लोक (व्येताम्) प्रगट हुए (वसवः) वसुगण (रुद्राः) रुद्रगण (आदित्याः) आदित्यगण (अनुव्यायन्) इनके अनुगत होनेसे क्रमसे (ते) ये (एव) ही इनके (अधिपतयः) स्वामी (आसन्) हुए "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्याश्चत्वार्यङ्गानि द्वे प्रतिष्ठे आत्मा सप्तविंशः" इति [८। ४। २। १६] श्रुतेः ९ ॥ ३० ॥

विवरण-जो जो जिसके अधिपति हैं अपने बलादिवृद्धिके निमित्त उनकी प्रार्थना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र ६ ।

नवविꣳशत्याऽस्तुवत वनस्पतयोऽसृज्यन्त सोमोऽधिपतिरासीत्। एकत्रिꣳशताऽस्तुवत प्रजाऽअसृज्यन्त यवाश्चायवाश्चाधिपतयऽआसन्। त्रयस्त्रिꣳशताऽस्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपतिरासील्लोकन्ताऽइन्द्रम् ॥ ३१ ॥ [४]

इति शुक्लयजुःसंहितायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

ॐ नवविꣳशत्येत्यस्य विश्वदेव ऋषिः । निचृत्साम्नी जगती छं० । सृष्टीष्टका दे० । त्रि० पू० । (२-३) ॐ एकत्रिंशता त्रयस्त्रिंशतेति मंत्रयोर्विश्वदे०ऋ० । निचृद्ब्राह्मी बृहती छन्दः । सृष्टीष्टका दे० । वि०पू० । (४-५-६)लोकंपृणेत्यादस्य मन्त्रत्रयस्यर्ष्यादि १२अध्यायस्थमंत्रवत् ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ-(नवविꣳशत्या) वीस हाथ पैरकी अंगुली नवप्राणके छिद्रोंके साथ (अस्तुवत) स्तुति की इससे (वनस्पतयः)वनस्पति अश्वत्थ वट आदिकी (असृज्यन्त) रचना की उनका (सोमः) सोम (अधिपतिः) स्वामी (आसीत्) हुआ "दशहस्त्या अंगुलयो दश पाद्या नव प्राणाः" इति [८।४।३।१७] श्रुतेः १। (एकत्रिꣳशता) २० हाथ पैरकी अंगुली १० इन्द्री एक आत्माके साथ (अस्तुवत) स्तुति की उनसे (प्रजाः) अन्यान्य सम्पूर्ण प्रजाकी (असृज्यन्त) रचनाकी (यवाः) पूर्वपक्ष (च) और (अयवाः) उत्तर पक्ष (च) भी उनके (अधि-

पतयः) स्वामी (आसन्) हुए"दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दश प्राणा आत्मैक-त्रिᳪशः" इति [८ । ४ । ३ । १८] श्रुतेः २ । (त्रयस्त्रिᳪशता) वीस अङ्गुलि दश इन्द्रिय दो पाद और आत्माके सहित (अस्तुवत) स्तुतिकी (भूतानि) उससे उत्पन्न समस्त प्राणियोंने (अशाम्यन्) शांतिलाभ की अर्थात् सुखी हुए (पर-मेष्ठी) सत्यलोकमें स्थित होनेवाले (प्रजापतिः) प्रजापालक ईश्वर उनके (अधि-पतिः) स्वामी (आसीत्) हुए "दशहस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या दशप्राणा द्वे प्रतिष्ठे आत्मा त्रयस्त्रिᳪशः" इति [८ । ४ । ३ । १९] श्रुतेः ३ ।

"जो इष्टका जिस मंत्रसे स्थापन करै वह वह उस उस मंत्रमें कहे देवतारूपसे ध्यान करनी"

आगे चौथे मंत्रसे लोकम्पृणाना उपधान करै, फिर पंचम मंत्रसे सूददोहसाधि-वदन छठे मंत्रसे पुरीषनिर्वाप सप्तर्चोपस्थान करै [का० १७ । १० । १९]

लोकम्पृणेति इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या १२ अ० १४ । १९ । १६ कण्डिकामें होगई ॥ ३१ ॥

[समाप्ता चतुर्थी चितिः]

विशेष आशय–प्रजापतिने जिस जिस अवयवसे जिनको उत्पन्न किया है उसी २ की उत्कृष्टता उनमें विद्यमान है, और जो देवता उनके अधिपति हैं उनकी शक्ति उत्कृष्टतासे उनमें स्थित है दूसरे पक्षमें शरीरके सब अंगकी रचना पांच तत्त्व सात धातु इन्द्रिय प्राण आत्मा सबकी सृष्टि उससे हुई है और सबका अधिपति वही है ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र स्थावर जंगमात्मककी रचना उसने की है सब लोक देवता उसके अंगभूत हैं जब तैंतीसों अंगसे स्तुति कीजाय तब यह प्राणी शान्त स्थानको परमात्मामें प्राप्त होता है जहांसे फिर नहीं लौटता मुक्त होजाता है यह आशय थोडेमें कहा है इन मंत्रोंमें शरीर और त्रिलोकका वृत्तान्त गर्भित है बुद्धिमान् विस्तार करलेंगे "दयानन्दी भाष्यमें लोकम्पृण० तीन मंत्रोंको क्षेपक कहकर छोड दिया है" ॥ ३१ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नपण्डितसुखानंदमिश्रसूनु–पण्डितज्वाला-प्रसादमिश्रविरचितार्यभाषाविभूषिते यजुर्वेदभाष्ये द्वित्रिच-तुश्चितिवर्णनं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

शुभमस्तु ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः १५.

अग्नेजातान् पञ्च रश्मिनासत्त्यायचतस्रःराड्यस्ययपुरः पञ्चको अग्निमूर्द्धैकोनत्रिꣳशत् येन ऽऋषयोष्टौ तपश्चनव सप्तपञ्चषष्टिः ॥

अथ पञ्चमचितिप्रारम्भः ।

कण्डिका १-मंत्र १० अनु० १ ।

अग्ने॑ जा॒तान्प्रणु॑दा नः स॒पत्ना॒न्प्रत्यजा॑तान्नुद जातवेदः ॥ अधि॑ नो ब्रूहि सु॒मना॒ऽअहे॑डँस्तव॑ स्याम॒ शर्म॒ꣳस्त्रिवरू॑थऽउ॒द्भौ ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने जातानित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पूर्वस्यां दिशि पत्नेष्टकोपधाने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) इस मंत्र और दूसरी कण्डिकात्मक मंत्र और तीसरी कण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे पांच असपत्ना नामक इष्टका उपधान करे उनमें यह पहले मंत्रसे पूर्वकी ओर स्थापन करे [का० १७ । ११ । १-३] मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे समस्तके जाननेवाले (अग्ने) अग्नि देवता ! (नः) हमारे (जातान्) पूर्व उत्पन्न (सपत्नान्) शत्रुओंको (आ) सब प्रकारसे (प्रणुद) अधिकतासे नाश करो (अजातान्) अनुत्पन्न शत्रुओंको (प्रतिनुद) प्रतिबन्ध करो अर्थात् जो भविष्यत् गर्भमें निहित हैं उन सबकोही विनष्ट करो किंच (सुमनाः) अच्छे अन्तःकरणसे (अहेडन्) क्रोधरहित होकर (नः) हमको (अधिब्रूहि) वर प्रदान करो वा यज्ञसम्बन्धी उपदेश करो, हे अग्ने ! (तव) आपके सम्बन्धी (शर्मन्) सुखके आश्रय (उद्भौ) मनुष्य पशु धन धान्य आदिके प्रभवस्थान (त्रिवरूथे) सदोमण्डप, हविर्धान्य, आग्नीध्र प्रदेश इन तीन स्थानोंमें(स्याम)सदा यज्ञ करें अर्थात् सुखकर और सर्व फलप्रद तीन स्थानसे हमारी तुम्हारी परिचर्या कृतकार्य हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १ ।

सह॑सा जा॒तान्प्रणु॑दा नः स॒पत्ना॒न्प्रत्यजा॑ताञ्जातवेदो नुदस्व ॥ अधि॑ नो ब्रूहि सुमन॒स्यमा॑नो व॒यꣳ स्या॑म॒ प्रणु॑दा नः स॒पत्ना॑न् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहसेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पश्चिमस्यामिष्टकोपधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) पश्चिममें स्थापन करै। मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे जातप्रज्ञान अग्ने ! (सहसा) बलसे (जातान्) उत्पन्न हुए (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (आ) सब ओरसे (प्रणुद) नाश करो (अजातान्) भविष्यत् होनेवालोंकी उत्पत्तिको (प्रतिनुदस्व) रोको निवृत्त करो (सुमनस्यमानः) सदन्तःकरणसे क्रोधरहित हो(नः)हमको(अधिब्रूहि)शत्रुओंसे अधिक कहो वरप्रदान वा यज्ञका उपदेश करो (वयम्) हम (आ) सब प्रकार शत्रुओंसे बली (स्याम) हों तुम्हारे प्रसादसे अधिक हों (नः) हमारे (सपत्नान्) शत्रुओंको (प्रणुद) नाश करो॥२॥

कण्डिका ३-मंत्र ३ ।

षोडशीस्तोमऽओजोद्रविणञ्चतुश्चत्वारिᳬंश स्तोमोवर्च्चोद्रविणम् ॥ अग्नेः पुरीषमस्यप्सोनाम तान्त्वाविश्वेऽअभिगृणन्तुदेवाः ॥ स्तोमपृष्ठा घृतवतीहसीदप्रजावदस्मेद्रविणायजस्व ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ षोडशीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आसुरी त्रिष्टुप्छं०। इष्टका देवता । दक्षिणस्यां दिशीष्टकोपधाने वि० । (२) ॐ चतुश्चत्वारिंशदित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । इष्टका दे० । उत्तरस्यां दिशीष्टकोपधाने वि० । (३) ॐ अग्नेरित्यस्य निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । मध्यभाग इष्टकोपधाने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिणमें स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (षोडशीस्तोमः) पंचदशकला और पक्षका स्वामी आदित्यरूप षोडश वृत्तिरूप स्तोमके प्रभावसे तुमको सादन करताहूं इस स्थलमें (ओजः) तेज और (द्रविणम्) धनकी प्राप्ति हो वा ओजरूप धन इष्टका स्थापन करताहूं दक्षिण ओरसे पापनाश हो १। विधि-(२) उत्तरकी ओर स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! (चतुश्चत्वारिᳬंशः) चौवालीस आवृत्तियुक्त चतुश्चत्वारिंशस्तोम वज्र वा त्रिष्टुप् रूप तुमको स्थापन करताहूं इस स्थलमें (वर्चः) कान्तिरूप (द्रविणम्) धनलाभ करें अथवा वर्च धनरूप तुमको स्थापन करताहूं उत्तरसे पाप दूर हो२। विधि-(३) मध्यभागमें स्थापन करै । मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (अप्सः) रक्षक (नाम) नामसे युक्त (अग्नेः) पंचदशकलावाले चन्द्ररूप अग्निके (पुरीषम) पूर्णकरनेवाले (असि) हो (ताम्) उस (त्वाम्) तुमको (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (अभिगृणन्तु) स्तुति करें (स्तोमपृष्ठाः) सम्पूर्ण स्तोमपृष्ठ मंत्रोंके

प्रभावसे (घृतवती) होमे हुए घृतसे संयुक्त होती तुम (इह) इस चौथी चितिके ऊपर (सीद) स्थित हो (अस्मे) हमको इसके फलरूप (प्रजावत्) पुत्रयुक्त (द्रविणम्) धन (आयजस्व) प्रदान करो अर्थात् तुम इस नीचे स्थित सम्पूर्ण इष्टकाओंके रक्षक हो और अग्निके पुरीष्यनामसे प्रसिद्ध तुम सम्पूर्ण स्तोम मंत्रके प्रभावसे इस घृतस्थान चतुर्थ चितिके ऊपर स्थित हो सब देवता तुम्हारी स्तुति करैं और तुमभी हमको इसके फलसे प्रजावर्गके सहित यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करो ३ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १८ ।

एवश्छन्दो वरिवश्छन्दः शम्भूश्छन्दः परि
भूश्छन्दऽआच्छच्छन्दो मनश्छन्दो व्यचश्छ
न्दः सिन्धुश्छन्दः समुद्रश्छन्दः सरिरञ्छ
न्दः ककुप्छन्दस्त्रिककुप्छन्दः काव्यञ्छन्दोऽ
अङ्कुपञ्छन्दोऽक्षरपङ्क्तिश्छन्दः पदपङ्क्तिश्छन्दो
विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः क्षुरो भ्रजश्छन्दऽआच्छ
च्छन्दः प्रच्छच्छन्दः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-ॐ एवश्छन्द इति १ । ३ । ५ । ६ । ७ । ८ । ११ । १३ । १९ । २० । २१ । २२ । २३ । २७ । २८ । २९ । ३१ । ३३ । ३७ । ३९ मंत्राणां परमेष्ठी ऋषिः । दैवी बृहती छं० । इष्टका दे० । ॐ वरिव इत्यादि २ । ४ । ९ । १० । १२ । १४ । २५ । २६ । ३० । ३२ । ३४ । ३५ । ३६ । ४० मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । १६ । १८ । २४ । ३८ मंत्राणां दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । ॐ १५ । १७ मंत्रयोर्दैवी जगती छन्दः । विराट्पद्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ४ ॥

विधि-(१) इस कण्डिका एवं पर कण्डिका इन दोनों कण्डिकात्मक चालीस मंत्रोंसे पूर्वादि चारों दिशाओंमें क्रमसे दशदश इस प्रकार यह चालीस विराट्नामक पद्या इष्टका उपधान करै [का० १७ । १९ । ९]मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (एवश्छन्दः) जिसमें सब प्राणी चलतेहैं ऐसे भूलोकको मननकरते तुमको सादनकरता हूं "अयं

वै लोक एवश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ३] श्रुतेः १। "इसप्रकार सर्वत्र दोनों कण्डिकामें जानना" (वरिवश्छन्दः) प्रभामण्डलसे व्याप्त अन्तरिक्षलोक "अन्तरिक्षं वै वरिवश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ३] श्रुतेः २। (शम्भूश्छंदः) सुखदायक द्युलोकको मननकरते "द्यौर्वै शम्भूश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ३। (परिभूश्छन्दः) सब ओरसे व्याप्त होकर वर्तमान दिक्को मननकर० "दिशो वै परिभूश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ४। (आच्छच्छन्दः)अपने रससे शरीरको आच्छादन करनेवाले अन्नको०। "अन्नं वा आच्छच्छन्दः" इति[३]श्रुतेः५। (मनश्छन्दः) प्रजापतिरूप मनको मननकरते० "प्रजापतिर्वै मनश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ६। व्यचश्छन्दः) सब जगत्को व्याप्तकरनेवाले आदित्यको मन० "असौ वा आदित्यो व्यचश्छन्दः" इति [३] श्रुतेः ७। (सिन्धुश्छन्दः) नाडियोंद्वारा शरीरको व्याप्तकरनेवाले प्राण वायुको मनन० "प्राणो वै सिन्धुश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ४] श्रुतेः ८। (समुद्रश्छन्दः) समुद्रकी समान गम्भीर विकल्प युक्त मनको० "मनो वै समुद्रश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः ९। (सरिरं छन्दः) मुखसे निकलनेवाले वाक्को मननकरते० "वाग्वै सरिरं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १०। (ककुप्छन्दः) शरीरको दीप्तकर धारण करनेवाले प्राणको मननकरते० "प्राणो वै ककुप्छन्दः" इति [४] श्रुतेः ११। (त्रिककुप्छन्दः) पियेहुए जलको तीन प्रकार करनेवाले उदानको मनन० "उदानो वै त्रिककुप्छन्दः" इति श्रुतेः [४] १२। (काव्यञ्छन्दः) त्रयीविद्या अर्थात् वेदत्रयको मननकरते० "त्रयी वैविद्या काव्यं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १३। (अङ्कुपं छन्दः) कुटिलगति चलनेवाले जलको मननकरते० "आपो वा अङ्कुपं छन्दः" इति [४] श्रुतेः १४। (अक्षरपंक्तिश्छन्दः) नाशरहित स्वर्गलोक० "असौ वै लोकोऽक्षरपंक्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १५। (पदपंक्तिश्छन्दः) जिसमें चरणन्यास होते हैं उस भूलोकको० "अयं वै लोकः पदपङ्क्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १६। (विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः) जहां वस्तुसमूह विस्तारित है वह दिशा पाताल "दिशो वै विष्टारपंक्तिश्छन्दः" इति [४] श्रुतेः १७। (क्षुरोभ्रजश्छन्दः) तीव्रतासे आकाशको लिखने प्रकाशनेवाली विद्युत् पुञ्ज वा आदित्यको मनन० "असौ वा आदित्यः क्षुरोभ्रजश्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ४ ।] श्रुतेः १८॥ ४॥

कण्डिका ५-मंत्र २२।

आच्छच्छन्दः॑ प्रच्छच्छन्दः॑ संयच्छन्दो॑ वियच्छन्दो॑ बृहच्छन्दो॑ रथन्तरञ्छन्दो॑ निकायश्छन्दो॑

विवधश्छन्दो गिरश्छन्दो भ्रजश्छन्दः सᳪ
स्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दऽएवश्छन्दो वरिवश्छन्दो
वयश्छन्दो वयस्कृच्छन्दो विष्पर्द्धाश्छन्दो वि
शालं छन्दश्छदिश्छन्दो दूरोहणं छन्दस्तन्द्र
ञ्छन्दोऽअङ्काङ्कं छन्दः ॥ ५ ॥ [५]

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(आच्छच्छन्दः) शरीरका आच्छादक अन्न हैं उसको मनन करते० १ । (प्रच्छच्छन्दः) शरीरप्रच्छादक जल वा अन्नकोही मनन० "अन्नं वा आच्छच्छन्दोऽन्नं प्रच्छच्छन्दः" इति [४] श्रुतेः २ । (संयच्छन्दः) व्यापारकी निवर्तक रात्रिको मनन करते० "रात्रिर्वै संयच्छन्दः" इति [८ । ५ । २ । ५] श्रुतेः ३ । (वियच्छन्दः) विशेष व्यापारप्रवर्तक दिनको मनन करते० "अहर्वै वियच्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ४ । (बृहच्छन्दः) विस्तीर्ण द्युलोकको मनन करते० "असौ वै लोको बृहच्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ५ । (रथन्तरं छन्दः) जहां रथादिद्वारा गमन करते हैं उस भूलोकको० "अयं वै लोको रथन्तरं छन्दः" इति [५] श्रुतेः ६ । (निकायश्छन्दः) अत्यन्त शब्दकारक वायुको मनन करते० "वायुर्वै निकायश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ७ । (विवधश्छन्दः) जहां भूतप्रेत रूपसे विविधप्रकारके पाप भोगजाते हैं उस अन्तरिक्षको० "अन्तरिक्षं वै विवधश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः ८ । (गिरश्छन्दः) भक्षण योग्य अन्नको० "अन्नं वै गिरश्छन्दः" इति [५] श्रुतेः । ९ । (भ्रजश्छन्दः) प्रकाशमान अग्निको० "अग्निर्वै भ्रजश्छन्दः" इति [५] श्रुते १० । (संस्तुप्छन्दः) वैखरीवाणीको मनन करते सादन करताहूं ११ । (अनुष्टुप्छन्दः) मध्यमावाणीको मनन० "वागेव सᳪ स्तुप्छन्दो वागनुष्टुप्छन्दः" इति [५] श्रुतेः १२ । (एवश्छन्दः) पृथ्वी-लोकको मननकरते० १३ । (वरिवश्छन्दः) प्रभामण्डलको० १४ । (वियश्छन्दः) बाल्यादि वयके हेतु अन्नको मननकरते० "अन्नं वै वयश्छन्दः" इति[६]श्रुतेः १५ । (वयस्कृच्छन्दः) बाल्यादिकारक जाठराग्निको० "अग्निर्वै वयस्कृच्छन्दः" इति६श्रुतेः १६ । (विष्पर्द्धाश्छन्दः) विविध ऐश्वर्यकी प्राप्तिवाले स्वर्गके स्पर्धामूल अर्हतत्वको "असौ वै लोको विष्पर्धाश्छन्दः" इति [६] श्रुतेः १७ । (विशालं छन्दः) जहां मनुष्य अनेक प्रकारसे शोभित होते हैं उस भूतलको०वा महत्तत्त्वको० "अयं वै लोको विशालं छन्दः" इति [६] श्रुतेः १८ । (छदिश्छन्दः)सूर्यकी किरणोंसे छादित

होनेवाले अन्तरिक्ष वा मायाको० "अन्तरिक्षं वै छदिश्छन्दः" इति [६] श्रुतेः १९ । (दूरोहणञ्छन्दः) ज्ञान, वा कठिनतासे प्राप्त होने योग्य निष्काम ज्योतिष्टोमादि यज्ञके प्रयाससे सिद्ध ज्ञानरूपी सूर्यको० "असौ वा आदित्यो दूरोहणं छन्दः" इति [६] श्रुतेः २० । (तन्द्रंछन्दः) अज्ञान वा स्थानसंकोचक श्रेणीको० "पंक्तिर्वै तन्द्रंछन्दः" इति [६] श्रुतेः २१ । (अङ्काङ्कंछन्दः) आस्तिकताका निदर्शन अथवा गर्त पाषाणादियुक्त जलको मनन करते तुमको सादन करताहूं "आपो वा अङ्काङ्कंछन्दः" इति [६] श्रुतेः ॥ २२ ॥

विशेष–भूलोकादि रूपसे इष्टकाओंकी स्तुति है इन सब वस्तुओंका तत्त्वविचार मनुष्योंको कर्तव्य है ॥ ५ ॥ [५]

कण्डिका ६ । ७ । ८ । ९–मंत्र १०. अनु० २ ।

रश्मिना सत्याय सत्यञ्जिन्व प्रेतिना धर्मणा ध
र्म्मञ्जिन्वान्वित्या दिवा दिवञ्जिन्व सन्धिनान्तरिक्षे
णान्तरिक्षञ्जिन्व प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीञ्जिन्व
विष्टम्भेन वृष्ट्या वृष्टिञ्जिन्व प्रवयाह्नाहर्जिन्वानु
या रात्र्या रात्रीञ्जिन्वोशिजा वसुभ्यो वसूञ्जिन्व प्र
केतेनादित्येभ्यऽआदित्याञ्जिन्व तन्तुना रायः ६॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रश्मिनेति १ । २ । ६ । ९ । १७ मंत्राणां परमेष्ठी ऋषिः । याजुषी पंक्तिश्छन्दः । इष्टका देवताः । ३ । ८ । १८ । २६ । २९ मंत्राणां याजुषी बृहती० । ॐ० ४ । ५ । १० । मंत्राणां याजुषी जगती० । ७ । २० मंत्रयोः याजुष्युष्णिक्छं० । ११ मंत्रस्य साम्न्युष्णिक्छं० । १२ । १३ । १४ । १५ । १६ । मंत्राणां याजुषी त्रिष्टुप्० । ॐ० १९ । २१ । २२ २३ । २४ । २५ । २७ । २८ मंत्राणां याजुष्यनुष्टुप्छन्दः । स्तोमभागेष्टकोपधाने विनि० ॥ ६ । ७ । ८ । ९ ॥

विधि–इस कण्डिका और अगली कण्डिकाओंके २९ मंत्रोंसे आषाढ वेलासे २९ स्तोमभाग नामक इष्टका उपधान करे, उसमें प्रथम दक्षिण भागमें पन्द्रह पीछे उत्तर भागमें चौदह प्रागनूक करके उपहित करना होता है [का० १७ । ११ । ९–१०] यह मंत्र श्रुतिमें तीन प्रकारसे कहे हैं दो कण्डिकापर्यन्त "अमुनोपहिता सत्यदो जिन्वेति प्रथमः अदोऽस्यमुष्मै त्वामुपदधामीति द्वितीयः अधिष-

तिनोर्जोर्जं जिन्वेति तृतीयः"। "अमुनादो जिन्वादोऽस्यमुष्मै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्वेति त्रेधा विहितास्त्रेधा विहितᳪ ह्यन्नम्" इति [८ । ५ । ३ । ३] श्रुतेः ।

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (रश्मिना) अन्नके प्रभावसे (सत्याय) सत्यके निमित्त (सत्यम्) सत्य वाणीको (जिन्व) प्रीतिकरो तेजकी वृद्धि करनेसे अन्न रश्मि है "रश्मिरन्नम्" इति [८ । ५ । ३ । ३] श्रुतेः १ । (प्रेतिना) देहमें गतिवाले अन्नके प्रभावसे (धर्मणा) धर्मके निमित्त उपहित हुई (धर्मम्) धर्मको (जिन्व) प्रीतिकरो "प्रेतिरन्नम्" इति [६] श्रुतेः २ । (अन्वित्या) देहमें गतिवाले अन्नके प्रभावसे (दिवा) दिव्य लोकके निमित्त उपहित हुई तुम (दिवम्) द्युलोकको (जिन्व) प्रीतिकरो "अन्वितिरन्नम्" इति श्रुतेः ३। (सन्धिना) बलादिके आधार अन्नके प्रभावसे (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्षके निमित्त उपहित हुई तुम (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (जिन्व) प्रीतिकरो ४ । (प्रतिधिना) प्रत्येक इन्द्रियके आधार अन्नके प्रभावसे (पृथिव्या) पृथ्वीके निमित्त उपहित हुई (पृथिवीम्) पृथ्वीको (जिन्व) प्रीतिकरो ५ । (विष्टम्भेन) देहादिके स्तम्भ करनेवाले अन्नके प्रभावसे (वृष्ट्या) वृष्टिके निमित्त उपहित हुई (वृष्टिम्) वर्षाको (जिन्व) प्रीति करो ६ । (प्रवया) देहमें गमनागमनकारी अन्नके प्रभावसे (अह्ना) दिनके निमित्त उपहित हुई तुम (अहः) दिनको (जिन्व) प्रीति करो ७ । (अनुया) देहान्तर्गत ७२ नाड़ियोंमें गमनागमनकारी अन्नके प्रभावसे (रात्र्या) रात्रिके निमित्त उपहित हुई (रात्रिम्) रात्रिको (जिन्व) प्रीति करो ८ । (उशिजा) समस्त प्राणियोंके आकांक्षणीय अन्नके प्रभावसे (वसुभ्यः) वसुओंके निमित्त उपहित हुई (वसून्) वसुगणको (जिन्व) प्रीति करो (प्रकेतेन) सुखानुभवके कारण अन्नके प्रभावसे (आदित्येभ्यः) आदित्य गणोंके निमित्त उपहित हुई तुम (आदित्यान्) आदित्योंको (जिन्व) प्रीति करो १० ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र ६ ।

तन्तुना रायस्पोषेण रायस्पोषं जिन्व सᳪसर्पेण श्रुताय श्रुतं जिन्वैडेनौषधीभिरोषधीर्जिन्वोत्तमेन तनूभिस्तनूर्जिन्व वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजिता तेजसा तेजो जिन्व ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-पूर्ववत ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(तन्तुना) शरीरके वर्द्धक अन्नके प्रभावसे (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिके निमित्त उपहित हुई (रायस्पोषम्) धनकी पुष्टिको (जिन्व) प्रीति करो ११ । (सꣳसर्पेण) प्रति इन्द्रियमें फलनेवाले अन्नके प्रभावसे (श्रुताय) शास्त्रके निमित्त उपहित हुई (श्रुतम्) शास्त्रको (जिन्व) प्रीति करो १२ । (एडेन) प्रसिद्ध अन्नके प्रभावसे (ओषधीभिः) ओषधियोंके निमित्त उपहित हुई (ओषधीः) ओषधियोंको (जिन्व) प्रीतिकरो १३ । (उत्तमेन) पृथ्वीके उत्कृष्ट पदार्थ अन्नके प्रभावसे (तनूभिः) तनुगणके निमित्त उपहित हुई (तनूः) शरीरोंको (जिन्व) प्रीतिकरो १४ । (वयोधसा) शरीरके उपचयकारी अन्नके प्रभावसे (अधीतेन) अध्ययनके निमित्त उपहित हुई (अधीतम्) अध्ययनको (जिन्व) प्रीतिकरो १५ । (अभिजिता) बलकारी अन्नकेप्रभावसे (तेजसा) तेजके निमित्त उपहित हुई (तेजः) तेजको (जिन्व) प्रीतिकरो १६ ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मंत्र ४ ।

प्रतिपदसि प्रतिपदे त्वानुपदस्यनुपदे त्वा सम्पदसि सम्पदे त्वा तेजोसि तेजसे त्वा त्रिवृदसि ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ८ ॥

विधि-(१) "अदोऽस्यमुष्मै मंत्र-कथनम्- मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (प्रतिपत्) जिससे जीवनका अस्तित्व प्राप्त होताहै ऐसे अन्नरूप (असि) हो (प्रतिपदे) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको उपधान करता हूं १७ । तुम (अनुपत्) इन्द्रियोंको स्वस्वकार्यमें समर्थ करनेवाली अन्नरूप (असि) हो (अनुपदे) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको उपधान करता हूं १८ । तुम (सम्पत्) सम्पत्तिप्रतिपादक अन्नरूप (असि) हो (सम्पदे) अन्नसम्पत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करता हूं १९ । तुम (तेजः) शरीरमें तेजदायक अन्नरूप (असि) हो (तेजसे) तेजके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २० ॥८॥

कण्डिका ९–मन्त्र ९ ।

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा प्रवृदसि प्रवृते त्वा विवृदसि विवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वाक्रमोस्याक्रमाय त्वा सङ्क्रमोसि सङ्क्रमाय त्वोत्क्रमोस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यै त्वाधिपतिनोर्जोर्जं जिन्व ॥ ९ ॥ [४]

ऋष्यादि-पूर्ववत् ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (त्रिवृत्) कृषि वृष्टि और बीजसे उत्पन्न अन्नरूप (असि) हो (त्रिवृते) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २१ । तुम (प्रवृत्) सब प्राणियोंको कार्यमें प्रवृत्तिकारी अन्नरूप (असि) हो (प्रवृते) कार्यप्रवृत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २२ । तुम (विवृत्) प्रत्येक इन्द्रियको उस २ कार्यमें प्रवर्तक अन्नरूप (असि) हो (विवृते) विवृत्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २३ । तुम (सवृत्) जीवनके सहचारी अन्नरूप (असि) हो (सवृते) अन्नके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २४ । तुम (आक्रमः) क्षुधाके पराभवकारी अन्नरूप (असि) हो (आक्रमणाय) अन्नप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २५ । तुम (संक्रमः) सन्तानोत्पत्तिके बीज अन्नरूप (असि) हो (संक्रमाय) संक्रमके निमित्त (त्वा) तुमको उपहित करताहूं २६ । तुम (उत्क्रमः) जन्मके निदानभूत अन्नरूप (असि) हो (उत्क्रमाय) उत्क्रमके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २७। (उत्क्रान्तिः) उत्कृष्ट गमनवाले अन्नरूप (असि) हो (उत्क्रान्त्यै) उत्क्रान्तिके निमित्त (त्वा) तुमको सादन करताहूं २८ ।

[तीसरा भेद]

(अधिपतिना) अधिकपालक (ऊर्जा) अन्नरससे (ऊर्जम्) अन्नरसको (जिन्व) प्रीतिकरो २९ ॥ ९ ॥

विशेष-इन मंत्रोंमें जितने अन्नके गुण वर्णन किये हैं, रीतिसे सेवनकरनेसे उन उन गुणोंकी प्राप्ति होती है, बुद्धिमान्को इन गुणोंको जानकर यथायोग्य अन्नका सेवन करना चाहिये [उत्क्रान्तिका अर्थ कोई मृत्युका निदान भूत अन्न ऐसा करतेहैं और यह भी उचित विदित होता है कारण कि ज्वरादिमें अन्नके सेवनसेही कभी दोष वा सन्निपात होता है] [४] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र २ अनु० ३ ।

राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते देवाऽअधिपतयोऽग्नि-
र्हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता त्रिवृत्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬं श्र-
यत्वाज्यमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु रथन्तरᳬं सा-
म प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा

देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ राज्ञ्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विराड्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवता। पूर्वदिशि नाकसदेष्टकोपधाने विनि०। (२) ॐ प्रथमजामित्युत्तरस्य परमेष्ठी ऋ०। ब्राह्मी बृहती छन्दः। लिं० दे०। नाकसदेष्टकोपधाने विनियोगः ॥ १० ॥

विधि–(१) ऋतव्य वेलाके अनूकके ऊपर पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर और मध्यदिग्भागमें यहांसे लेकर पांच कण्डिकापर्यन्त पांच मंत्रोंसे नाकसद् नामक पांच इष्टका उपधान करै [का० १७। १२। १] मन्त्रार्थ–हे इष्टके ! तुम (राज्ञी) राजमान (प्राचीदिक्) पूर्व दिशारूप (असि) हो अर्थात् पूर्वदिशाकी अवलम्बन करनेवाली राज्ञी हो (वसवः) आठ वसु (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (अग्निः) अग्निदेवता (हेतीनाम्) तुम्हारी सम्पूर्ण बाधाओंका (प्रतिधर्ता) निवारक है (त्रिवृत्स्तोमः) त्रिवृत्स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) स्थापन करो (आज्यम्) आज्य नामक (उक्थम्) शस्त्र "प्रवो देवायाग्नये" इत्यादि [ऐतरेयब्रा० २। ४०] (अव्यथायै) व्यथाहीनता अर्थात् दृढताके निमित्त तुमको (स्तभ्नातु) दृढ करैं (रथन्तरं साम) रथन्तर साम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष लोकमें (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त तुमको दृढ करै (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (ऋषयः) प्राण "प्राणा वा ऋषयः प्रथमजाः" इति [८। ६। १। ५] श्रुतेः। (देवेषु) देवता वा द्युलोकमें (दिवः) आकाशकी (मात्रया) परिमाणता (वरिम्णा) उरुता विस्तारसे (त्वा) तुझको (प्रथन्तु) विस्तार करैं अर्थात् प्रथमोत्पन्न ऋषि देव लोकमें तुमको श्रेष्ठ देवांश प्रथित करैं (विधर्ता) इष्टका निष्पादन करनेवाला (च) और (अयम्) यह (अधिपतिः) इष्टकापालक अथवा वागभिमानी देवता और प्रधानभूत मनोभिमानी देवता (च) भी (त्वा) तुमको प्रथित विस्तारित करै इस प्रकार (ते) वे (सर्वे) सम्पूर्ण वसुआदि देवता (संविदानाः) एक मतिसे स्थित हुए (नाकस्य) सुखस्वरूप (पृष्ठे) लोकके ऊपर अर्थात् (स्वर्गे) स्वर्ग (लोके) लोकमें (यजमानम्) यजमानको (च) अवश्यही (सादयतु) प्राप्त करैं अर्थात् सब देवता तुम्हारी परिचर्यासे परिचित होकर यजमानको उत्कृष्ट सर्व सुखकी खान स्वर्ग प्राप्त करावे ॥ १० ॥

प्रमाण-"विधर्ता चायमधिपतिश्चेति वाक्च: तौ मनश्च तौ हीद॑ सर्वं विधारयते" इति [८ । ६ । १ । ९] श्रुतेः । स्तोम और सामकी व्याख्या राजसूयप्रकरण दशमें १० अध्या० १०-१४ तक लिख चुके हैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

विराडसि दक्षिणा दिग्रुद्रास्ते देवाऽअधिपतयऽइन्द्रो हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता पञ्चदशस्त्वा स्तोमः पृथिव्याᳬश्रयतु प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु बृहत्साम प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पूर्वस्य भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः वा प्रथमजा इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । ब्राह्मी बृहती छन्दः । लि० दे० । दक्षिणस्यां दिशि नाकसदेष्टकोपधाने वि० [दक्षिणासे सादन] ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (विराट्) विशेष विराजमान (दक्षिणा) दक्षिण (दिक्) दिशा (असि) हो (रुद्राः) रुद्र (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (इन्द्रः) इन्द्र देवता (हेतीनाम्) व्याधियोंका (प्रतिधर्ता) निवर्तक है (पञ्चदशः) पंचदश (स्तोमः) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (श्रयतु) स्थापित करे (प्रउगम्) प्रउगनामक (उक्थम्) उक्थ "वायुग्रेगाः" इति [अ० २७ का० ३१](अव्यथायै)दृढताके निमित्त तुमको(स्तभ्नातु) स्तंभित करे (बृहत्साम) बृहत्साम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाका कारण हो० शेष पूर्वकी समान है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र २ ।

सम्राडसि प्रतीची दिगादित्यास्ते देवाऽअधिपतयो वरुणो हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता सप्तदशस्त्वा स्तोमः

पृथिव्याᳬश्रयतुमरुत्त्वतीयमुक्थमव्यथायैस्त
भ्नातुवैरूपᳬसामप्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋष
यस्त्वाप्प्रथमजादेवेषुदिवोमात्रयावरिम्णाप्प्रथ
न्तुविधर्त्ताचायमधिपतिश्चतेत्त्वासर्वेसंविदानाना
कस्यपृष्ठेस्वर्गेलोकेयजमानञ्चसादयन्तु ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्राडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। पूर्वस्य निच्यृद्‌ब्राह्मी जगती छं० । लिङ्गोक्ता दे० । या प्रथमजा इत्युत्तरस्य ब्राह्मी बृहती छं० । पश्चिमस्यां दिशि नाकसदेष्टकोपधाने वि०॥१२॥ (पश्चिम ओरसे)

मंत्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (सम्राट्) विशेष दीप्तिमान्(प्रतीची)पश्चिमा (दिक्) दिशा (असि) हो (आदित्याः)आदित्य(देवाः)देवता(ते)तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (वरुणः) वरुण (हेतीनाम्)दुःखोंका (प्रतिधर्ता) निर्वतक है(सप्तदशः) सप्तदश (स्तोमः) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) दृढ करो (मरुत्वतीयम्) "आ त्वा रथं यथोतये" इति [ऋक् सं० मं० ८ । ७ । ९ । १] श्रुतेः। मरुत्वतीय (उक्थम्) शस्त्र (अव्यथायै) दृढताके निमित्त तुमको(स्तभ्नातु) स्थापन करै (वैरूपम्) वैरूप (साम) साम (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें तुमको दृढ करै शेषं पूर्ववत् ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

स्वराडस्युदीचीदिङ्मरुतस्तेदेवाऽअधिपतयः
सोमोहेतीनाम्प्प्रतिधर्त्तैकविᳬशस्त्वास्तोमः पृ
थिव्याᳬश्रयतुनिष्केवल्यमुक्थमव्यथायैस्त
भ्नातुवैराजᳬसामप्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋ
षयस्त्वाप्प्रथमजादेवेषुदिवोमात्रयावरिम्णाप्प्र
थन्तुविधर्त्ताचायमधिपतिश्चतेत्त्वासर्वेसंविदा
नानाकस्यपृष्ठेस्वर्गेलोकेयजमानञ्चसादयन्तु॥१३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वराडसीत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । प्रथमजा इत्युत्तरस्य परमे० ऋ० । ब्राह्मी बृहती छं० । उत्तरस्यां दिशि नाकसदेष्टकोपधाने वि०॥१३॥ (उत्तरसे)

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (स्वराट्) स्वयं विराजमान होनेवाली (उदीची) उत्तर (दिक्) दिशा (असि) हो (मरुतः) मरुत् (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (सोमः) सोम (हेतीनाम्)व्याधियोंका(प्रतिधर्त्ता) निवारक है (एकविꣳशः) एकविंश (स्तोमः) स्तोम (त्वा) तुझको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयतु) स्थापनकरो (निष्केवल्यम्) निष्केवल्य नाम (उक्थम्)"अभि-त्वा शूर नोनुमः" [ऋ० मं० ७ । २ । १५ । २२] शस्त्र (अव्यथायै)दृढ़ताके निमित्त तुमको (स्तभ्नातु) स्थापनकरो (वैराजꣳसाम) वैराज साम (प्रति-ष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त तुमको (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें दृढ़करो । शेषं पूर्व-वत् ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

अधिपत्न्यसि बृहती दिग्विश्वे ते देवाऽअधिपत
यो बृहस्पतिर्हेतीनाम्प्रतिधर्त्ता त्रिणवत्रयस्त्रिꣳ
शौ त्वा स्तोमौ पृथिव्याꣳश्रयतां वैश्वदेवाग्नि
मारुते ऽउक्थेऽअव्यथायै स्तभ्नीताꣳ शाक्वररैव
ते सामनी प्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षऽऋषयस्त्वा प्र
थमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिम्णा प्रथन्तु विधर्त्ता
चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे
स्वर्गे लोके यजमानञ्च सादयन्तु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अधिपत्न्यसीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पूर्वस्य ब्राह्मी जगतीछं० । लिङ्गो० दे० । यस्त्वेत्युत्तरस्य ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गो० दे० । मध्ये नाकसदेष्टकोपधाने वि० ॥ १४ ॥ [मध्यमें]

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (अधिपत्नी) अधिक पालनकरनेवाली (बृहती) बडी ऊर्ध्व (दिक्) दिशा (असि) हो (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (ते) तुम्हारे (अधिपतयः) पालक हैं (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता (हेतीनाम्) विघ्न दुःखोंका (प्रतिधर्ता) निवारक है (त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ) त्रिनवत्रयस्त्रिंश (स्तोमौ) स्तोम (त्वा) तुमको (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (श्रयताम्) स्थापित करैं (वैश्वदेवाग्निमारुते) वैश्वदेव अग्निमारुत (उक्थे) उक्थ (अव्यथायै) दृढताके निमित्त तुमको (स्तभ्नीताम्) स्थापितकरैं (शाक्वररैवते) शाक्वररैवत (साम्नी) दोनों साम (प्रतिष्ठित्यै) प्रतिष्ठाके निमित्त (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें तुमको स्थापित करैं । शेषं पूर्ववत् ॥ १४ ॥ [९]

विवरण-"तत्सवितुर्वृणीमहे" इत्यादि [ऋ० मं० ५ । ६ । १० । १] वैश्वदेव शस्त्र है। "वैश्वानराय पिथु पाजसे" [ऋ० मं० ३ । १ । १३ । १] आग्निमारुत शस्त्र है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५ मंत्र-१. अनु० ४ ।

अ॒यम्पु॒रो हरि॑केशः॒ सूर्य॑रश्मि॒स्तस्य॑ रथगृ॒त्सश्च॒ रथौ॑जाश्च सेनानीग्राम॒ण्यौ॑ ॥ पु॒ञ्जिक॒स्थला च॒ क्रतु॒स्थला चा॑प्स॒रसौ॑ द॒ङ्क्ष्णवः॑ प॒शवो॑ हे॒तिः पौ॑रुषे॒यो व॒धः प्रहे॑ति॒स्तेभ्यो॒ नमो॑ऽअस्तु॒ ते नो॑ऽवन्तु॒ ते नो॑ मृडयन्तु॒ ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयम्पुर इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । कृतिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । पूर्वस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) अनन्तर इन नाकसद् इष्टकाओंके ऊपर मंत्रपूर्वक पुरीष (मृत्तिका) क्षेपण करके इस कण्डिकाप्रभृति पांच कण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे पांच पंचचूडा नामक इष्टका उपधान करै उनमें प्रथम पूर्वकी ओर उपधान करै [का० १७ । १२ । २-३] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (पुरः) पूर्व दिशामें स्थापित इष्टकारूप अग्नि "अग्निर्वै पुरस्तद्यत्तमाह पुर इति प्राञ्चꣳह्यग्निमुद्धरन्ति प्राञ्चमुपचरन्ति" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः (हरिकेशः) कनकवर्णकेश अर्थात् ज्वालाओंसे युक्त (सूर्यरश्मिः) सूर्यकी समान किरणवाला है (तस्य) उस अग्निके (रथगृत्सः) रथ विद्यामें कुशल (च) और (रथौजाः) रथयुद्धमें कुशल

(सेनानीग्रामण्यौ) सेनानायक और ग्रामनायक दोनों वसन्त ऋतु हैं (च) और (पुञ्जिकस्थला) रूप लावण्य और सौभाग्यादि गुणकी भंडार (च) और (क्रतुस्थला) संकल्प और रूपादि ज्ञानकी आधारभूत (अप्सरसौ) अप्सरा दिशा और उपदिशा रूप हैं (च) और (दङ्क्ष्णवः) काटनेका स्वभाव धारण करनेवाले (पशवः) व्याघ्रादि पशु (हेतिः) आयुध वज्र हैं (पौरुषेयः) परस्पर हननरूप (वधः) वध (प्रहेतिः) शस्त्र है इस प्रकार (तेभ्यः) अग्निके सम्पूर्ण परिचारकोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) वे सब (नः) हमको (मृडयन्तु) सुख दें (ते) वे सब (नः) हमको (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे सब (यम्) जिससे हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं (च) और (यः) जो (नः) हमारा (द्वेष्टि) द्वेष करनेवाला है (तम्) उसको (एषाम्) इनके (जम्भे) डाढोंमें (दध्मः) डालते हैं ॥ १५ ॥ [९]

प्रमाण-१ "सूर्यस्येव ह्यग्ने रश्मयः" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः २ "गृणातेः स्तुतिकर्मणः" इति यास्कोक्तेः [निरु० ९ । ५ ।] ३ "वासन्तिकौ तावृतू" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः । ४ "पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसाविति दिक् चोपदिशा चेति ह स्माह माहित्थिः" इति [८ । ६ । १ । १६] श्रुतेः । ५ "यदन्योन्यं घ्नन्ति स पौरुषेयो वधः प्रहेतिः" इति श्रुतेः [१६] ग्रामणी-नगरका शान्तिरक्षक. पूर्व दिशाकी रहनसहन वेषभावका अलंकार रूपसे वर्णन है ऐसाही सब दिशाओंमें जान्ना ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ । अनु० ४ ।

अयन्दक्षिणाविश्वकर्म्मातस्यरथस्वनश्चरथेचि
त्रश्चसेनानीग्रामण्यौ ॥ मेनकाचसहजन्याचा
प्सरसौयातुधानाहेतीरक्षाᳬंसिप्रहेतिस्तेभ्यो
नमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्मोय
श्चनोद्वेष्टितमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयंदक्षिणेत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । प्रकृतिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । दक्षिणस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने विनियोगः । ॥ १६ ॥ [दक्षिणसे]

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिण दिशामें स्थापित इष्टकारूप (विश्वकर्मा) सब कर्मकर्ता वायु है (तस्य) उसका (रथस्वनः) रथमें स्थित हो

शब्द करनेवाला (च) और (रथे चित्रः) रथके ऊपर चित्रकी समान स्थित हो नगरका शासन करनेवाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और नगररक्षक ग्रीष्म ऋतुरूप है (च) और (मेनका) सबसे माननीय (सहजन्या) जो सर्वसाधारणके साथ स्थित हो यह दो (अप्सरसौ) अप्सरा हैं (च) और (यातुधानाः) राक्षसोंका अवान्तर जातिभेद (हेतिः) शस्त्र है (रक्षांसि) अतिक्रूर राक्षस (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है इत्यादि पूर्ववत् ॥ १६ ॥

प्रमाण-१ "अयं वै वायुर्विश्वकर्मा योयं पवत एष हीदꣳ सर्वं करोति तद्यत्तमाह दक्षिणेति तस्मादेष दक्षिणैव भूयिष्ठं वाति" इति [८ । ६ । १ । १७] श्रुतेः २ "ग्रैष्मौ तावृतू" इति [१७] श्रुतेः ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

अयम्पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्प्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ ॥ प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ व्याघ्रा हेतिः सर्पाः प्रहेतिस्तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यन्द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषाञ्जम्भे दध्मः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयंपश्चादित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराट्कृतिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पश्चिमायां पञ्चचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १७ ॥ (पश्चिममें)

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (पश्चात्) पश्चिम दिशामें स्थापित इष्टका रूप (विश्वव्यचाः) सब विश्वका प्रकाशक आदित्य है (तस्य) उसका (रथप्रोतः) रथयुद्धमें धैर्यवान् शूर (च) और (असमरथः) अनुपमरथी (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपालक वर्षाऋतु हैं (प्रम्लोचन्ती) अपने वेशविन्यासादि द्वारा सर्व साधारणके मन हरनेमें समर्थ (च) और (अनुम्लोचन्ती) एक बार मुग्ध होकर क्लेश पानेवाले व्यक्तिको फिर मोह करनेवाली (अप्सरसौ) दोनों अप्सरा हैं । (च) और (व्याघ्राः) व्याघ्र जीव (हेतिः) शस्त्र है (सर्पाः) सर्प (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है । शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

प्रमाण-"यदा ह्येवैष उदेत्यथेदꣳ सर्वं व्यचो भवति तद्यत्तमाह पश्चादिति तस्मादेतं प्रत्यञ्चमेव यन्तं पश्यन्ति" इति [८ । ६ । १ । १८] श्रुतेः । २ "वार्षिकौ तावृतू" इति [१८] श्रुतेः । पश्चिममें अस्त होते सूर्यका सब दर्शन करते हैं ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १।

अयम्मुत्तरात्त्संयद्वसुस्तस्यताक्ष्यश्चारिष्टनेमि
श्चसेनानीग्ग्रामण्यौ ॥ विश्वाचीचघृताचीचा
प्प्सरसावापोहेतिर्वातः प्प्रहेतिस्तेब्भ्योनमोऽअ
स्तुतेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वे
ष्टितमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमुत्तरादित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिगति-धृतिश्छन्दः । लिङ्गो० दे० । उत्तरस्यां दिशि पंचचूडेष्टकोपधाने वि० ॥ १८ ॥ [उत्तरसे]

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (उत्तरात्) उत्तर दिशामें स्थापित इष्टका (संयद्वसुः) धनसे प्राप्त होनेवाला यज्ञ है (तस्य) उसका (तार्क्ष्यः) अन्तरिक्षमें तीक्ष्ण पक्षरूपी आयुधोंका विस्तार करनेवाला (च) और (अरिष्टनेमिः) अरिष्टनाशक अप्रतिहत आयुधवाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनानी और ग्रामपालक शरद् ऋतु हैं (च) और (विश्वाची) संसारसे वंदित (च) और (घृताची) घृतकी भोजन करनेवाली "अर्थात् इसमें घृतकी अधिक आवश्यकता होती है" (अप्सरसौ) दो अप्सरा हैं (च) और (आपः) जल (हेतिः) शस्त्र है और (वातः) पवन (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है, शेष पूर्ववत् ॥ १८ ॥

प्रमाण १-"यज्ञो वा उत्तरात्तद्यत्तमाहोत्तरादित्युत्तरत उपचारो हि यज्ञोऽथ यत्संयद्वसुरित्याह यज्ञं हि संयन्तीतीदं वसु" इति [८ । ६ । १ । १९] श्रुतेः । २ "शरदौ तावृतू" इति [८ । ६ । १ । १९ ।] श्रुतेः ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १।

अयम्मुपर्य्यर्वाग्ग्वसुस्तस्यसेनजिच्चसुषेणश्चसेना
नीग्ग्रामण्यौ ॥ उर्वशीचपूर्वचित्तिश्चाप्प्सरसा
ववस्प्फूर्ज्जन्हेतिर्विद्युत्प्रहेतिस्तेब्भ्योनमोऽअस्तु
तेनोवन्तुतेनोमृडयन्तुतेयन्द्विष्म्मोयश्चनोद्वेष्टि
तमेषाञ्जम्भेदध्मः ॥ १९ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमुपरीत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्कृतिश्छंदः । लिङ्गोक्ता देवता । मध्ये पंचचूडेष्टकोपधाने विनियोगः॥१९॥ [मध्यसे]

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (उपरि) मध्यदिशामें वर्तमान इष्टका (अर्वाग्वसुः) पर्जन्य है (तस्य) उसके (सेनजित्) सेना जीतनेवाले (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनावाले (सेनानीग्रामण्यौ) सेनापति और ग्रामपालक हेमन्त ऋतु हैं (च) और (उर्वशी) विस्तीर्ण कामको वशकरनेवाली (च) और (पूर्वचित्तिः) अधिकरूप होनेसे पुरुषोंका मन प्राप्त करनेवाली पूर्वचित्ति नाम (अप्सरसौ) दो अप्सरा हैं (च) और (अवस्फूर्जन्) भयका हेतु वज्रशब्द (हेतिः) शस्त्र हैं (विद्युत्) विजली (प्रहेतिः) तीक्ष्ण शस्त्र है इनको नमस्कार इत्यादि पूर्ववत्० ॥ १९ ॥ [५]

प्रमाण-"पर्जन्यो वा उपरि तद्यत्तमाहोपरीत्युपरि हि पर्जन्योऽथ यदर्वाग्वसुरित्याहातो ह्यर्वाग्वसु वृष्टिरन्नं प्रजाभ्यः प्रदीयते" इति [८ । ६ । १ । २०] श्रुतेः । "हैमन्तिकौ तावृतू" इति [२०] श्रुतेः ॥ १९ ॥

अभिप्राय-इन पांचों मंत्रोंमें जो ६ ऋतु वर्णन की हैं उनके साथमें जो जो कृत्य हैं उनउन ऋतुओंमें उनउन वस्तुकी प्राप्ति जान्नी जैसे १५ कण्डिकामें वसन्तऋतुका वर्णन है इसमें अग्निकी किरण सूर्यवत् प्रकाशित होती हैं रूप लावण्यादि, सौभाग्यादिकी प्राप्ति होती है दिशाओंमें पुष्पोंकी सुगंधि प्राप्त होकर शृंगाररूप होता है व्याघ्रादि जीव इसमें प्रबल होकर भ्रमण करते हैं राजा युद्ध करते हैं इस प्रकार सब ऋतुओंके सेनापति अप्सरा शस्त्रादिकी व्याख्या जान्नी इन मन्त्रोंमें ऋतुओंका वृत्तान्त पूर्णरूपसे वर्णन किया है तथा अलंकाररूपसे वर्णन किया है तथा पूर्वपश्चिमादि दिशाओंमें जैसा भाव है सोभी दिखाया है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १. अनु० ५।

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयम् ॥ अपा᳘ रेता᳘सि जिन्वति ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरिति मध्यमापद्येष्टकोपधाने विनियोगः।२०

विधि-(१) इसके आगे छन्दस्येष्टका उपधान करै उसमें इन तीन कण्डि० कात्मक तीन मंत्रोंसे पूर्व दिशाके अनूकान्तमें प्रथम मध्यमा पद्या फिर उसके दोनों ओर दो अर्धपद्या उपधान करै [का० १७ । १२ । ५] अग्निरिति।

मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या ३ अ० १२ कण्डिकामें होगई ॥ २० ॥

सरलार्थ-अग्निने द्युलोकमें मस्तकस्वरूप प्रधानता लाभ की, पृथ्वीलोकमें ककुद् सदृश उच्छ्रित और सर्वत्रही आधिपत्यलाभ किया है. अन्तरिक्ष लोकमें भी यही वृष्टिका कारण और मेघका पोषक है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्य शतिनस्पतिः ॥ मूर्द्धा कवी रयीणाम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । अर्धपद्येष्टकोपधाने वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि देवता (सहस्रिणः) सहस्र संख्यावाले (शतिनः) शत संख्यावाले: वा अनन्त (वाजस्य) अन्नका (पतिः) स्वामी (कविः) क्रान्तदर्शी (रयीणाम्) सर्व धनोंके मध्यमें (मूर्द्धा) प्रधान धनवाला है [ऋ० ६ । ५ । २४] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत ॥ मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) त्वामग्न इति वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या ११ अध्यायकी ३२ कंडिकामें होगई ॥ २२ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! तुमही इस संसारके कार्यनिर्वाहक क्षित्यादि सम्पूर्ण भूत पदार्थोंके शिरोरूप हो प्रधान हो पुष्करसे तुमको सबसे प्रथम अथर्व ऋषिनें प्रकाश किया था । यह तीन गायत्री इष्टका कहाती हैं [ऋ० ४ । ५ । २३] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १ ।

भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः ॥ दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षां जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुवोयज्ञस्येति पूर्वस्यां दिशि छन्दस्येष्टकोपधाने विनि० । ऋष्यादि पूर्ववत् ॥ २३ ॥

विधि-(१) यहांसे तीन मंत्र पाठ करके पूर्व दिशामें रेत और सिक्त इष्टकाकी वेलाके ऊपर त्रिष्टुप् नामक तीन छन्दस्येष्टका पूर्ववत् उपधान करे [का० १७ । १२ । ७] मंत्रार्थ-इसकी व्या०१३अ०१९कण्डिकामें होगई ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

अबो॑ध्य॒ग्निः स॒मिधा॒ जना॑नां॒ प्रति॑ धे॒नुमि॑वाय॒तीमु॒षास॑म् । य॒ह्वाऽइ॑व॒ प्र व॒यामु॒ज्जिहा॑नाः॒ प्र भा॒नवः॑ सिस्रते॒ नाक॒मच्छ॑ ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अबोधीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृत्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(जनानाम्) ज्ञान श्रद्धा द्विजतर्पण सत्यादिसम्पन्न अग्निहोत्रियोंकी (समिधा) समिधासे (अग्निः) अग्नि (अबोधि) प्रबुद्ध होते हैं (इव) जिस प्रकार (आयतीम्) आती हुई (धेनुम्) धेनुको देखकर बछडा प्रबुद्ध होता है जैसे (उषासम्) उषा कालके आने (प्रति) पर मनुष्य प्रबुद्ध होते हैं (मानवाः) दीप्तिमान् उसकी किरणें (नाकम्) स्वर्गके (अच्छ) चारों ओरसे "अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः" [निरु० ५ । २८] (प्रसिस्रते) फैलती हैं (इव) जिस प्रकार (वयाः) पक्षी (यह्वा) बडे "यह्व इति महन्नाम" [निघं० ३ । ३ । १३] पक्षोंसे (प्रोज्जिहाना) वृक्षकी शाखासे आकाशको उडते हैं ॥ २४ ॥ अथवा ऋत्विजसम्बन्धि समिधासे अग्नि प्रज्वलित होती है, जैसे उषाकालके प्रति धेनुको उठाते हैं उसकी किरणें ऊपर स्वर्गमें स्थित होती हैं, जैसे पक्षियोंके मध्यमें महापक्षी उठकर उडते हैं ॥ २४ ॥

सरलार्थ-जिस प्रकार मनुष्यादि जीवगण उषाकालमें जागते हैं जिस प्रकार वत्सगण अपनी अपनी माताओंके आगमनसे जागृत होते हैं, इसीप्रकार अग्निभी यजमानके समिधा देनेसे प्रबुद्ध होती है, और आकाशचारी पक्षीगण जिस प्रकार अपने २ आवासस्थान वृक्षादिको त्यागकरके उड़नेके क्रमसे आकाशमण्डलके उपरिभागमें प्रसृत होते हैं इसीप्रकार यह ज्वालासमूह द्युलोकके आक्रमण करनेसे निमित्तही ऊर्ध्वगामी होती हैं [ऋ० ३ । ८ । १२] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १।

अवोचामकुवयेमेद्ध्यायुवचोवुन्दारुँवृषुभायुवृष्ण्णे॥ गविष्ठिरोनमंसास्तोमंमुग्गौदिवीवरुक्कम मुंरुव्यञ्चमश्श्रेत्॥ २५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अवोचामित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। निच्यृत्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू०॥ २५॥

मन्त्रार्थ-उद्गाता कहते हैं-हम (कवये) क्रान्तदर्शी (मेध्याय) यज्ञके योग्य (वृषभाय) श्रेष्ठवृष कामना वा यज्ञफलके वर्षक बलिष्ठ (वृष्णे) सेचनमें समर्थ अग्निके निमित्त (वन्दारु) स्तुति वन्दना करनेवाले (वचः) वचनको (अवोचाम) कथन करते हैं (गविष्ठिरः) वाणीमें स्थिर होता पुरुष (नमसा) अन्नसे युक्त (स्तोमम्) स्तुतिको (अग्नौ) आहवनीय अग्निमें (अश्रेत्) अर्पण करता है (इव) जिस प्रकार (दिवि) स्वर्गमें (रुक्मम्) रोचमान आदित्यको सन्ध्यावन्दन सूर्यउपस्थानादिमें प्रयुक्त कीहुई (उरुव्यञ्चम) बडी स्तुति अर्पित होती है [ऋ० ३।८।१३]॥ २५॥

सरलार्थ-यज्ञका फल वर्षानेवाले क्रान्तदर्शी नित्ययुवा यज्ञीय अग्निकी प्रीतिके निमित्त सम्पूर्ण स्तुतिवाक्य प्रयोग करते हैं स्थिरवाक्य होताने स्तुतिमंत्रपाठपूर्वक सम्पूर्ण हवि अग्निमें हवनकी है, वह सब दीप्तिमान् और अनेक स्तुतियोंसे अर्चनीय सूर्यकी समान द्युलोकमें विचरण करो अर्थात् यजमानका द्युलोकनिवासका कारण हो॥ २५॥

कण्डिका २६-मन्त्र १।

अयमिहप्प्रंथुमोधायिधातृभिर्होतायजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः॥ यमप्प्रवानोभृगवोविरुरुचुर्वनेषुचित्रंविब्भ्वंविशेविशे॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) अयमिहेति पश्चिमस्यां दिशि जगती छन्दस्येष्टकोपधाने विनियोगः॥ २६॥

विधि-(१) दक्षिणमुख होकर यह तीन मंत्रपाठपूर्वक पश्चिम दिशामें रेत और सिक् इष्टकाकी वेलाके ऊपर तीन जगतीनाम छन्दस्येष्टका तीन स्थानमें

पूर्ववत् स्थापन कर [का० १७ । १२ । १८] मंत्रार्थ-'अयमिहेति' इस मंत्रकी व्याख्या ३ अ० १५ कण्डिकामें होगई ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ ।

जनस्यगोपाऽअजनिष्टजागृविरग्निःसुदक्षःसुवि
तायनव्यसे ॥ घृतप्रतीकोबृहतादिविस्पृशाद्यु
मद्विभातिभरतेभ्यःशुचिः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जनस्येत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृदार्षी जगती० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-(जनस्य) यजमान गणोंका (गोपाः) रक्षक (जागृविः) जागरणशील कर्ममें सावधान (सुदक्षः) अति उत्साहयुक्त वा अतिकुशल (घृतप्रतीकः) घृतको मुखमें रखनेवाला (शुचिः) पवित्र (अग्निः) अग्नि (नव्यसे) नवीन (सुविताय) यज्ञकार्यके सम्पादनके निमित्त (भरतेभ्यः) ऋत्विजोंके द्वारा (अजनिष्ट) प्रगट किया गया है, (दिविस्पृशा) स्वर्गको स्पर्श करनेवाली (बृहता) बडी (द्युमत्) कान्तियोंसे (विभाति) विशेष प्रकाशमान होता है [ऋ० ४ । १ । ३] ॥ २७ ॥

प्रमाण-"भरता इति ऋत्विङ्नामसु पठितम्" [निघं० ३ । १८ । १] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

त्वामग्नेऽअङ्गिरसोगुहाहितमन्वविन्दञ्छिश्रि
याणंवनेवने ॥ सजायसेमथ्यमानःसहोमहत्त्वा
माहुःसहसस्पुत्रमङ्गिरः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडार्षी जगती छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-(अङ्गिरः) अनेक रूपसे यज्ञमें विचरनेवाले (अग्ने) हे अग्निदेव ! (अङ्गिरसः) अंगिरा ऋषिके वंशमें उत्पन्न हुए ऋषियोंने (त्वाम्) तुमको (गुहाहितम्) निगूढदेश वा जलमें स्थित (वनेवने) अनेक वनस्पतियोंमें (शिश्रियाणम्) निवास करनेवालेको (अन्वविन्दन्) ढूंढकर प्राप्त किया (सः) वह तुम अब

(महत्सहः) बडे बलसे (मथ्यमानः) मथ्यमान होनेके कारण अरणीसे (जायसे) उत्पन्न होते हो (त्वाम्) तुमको इसी कारण मुनि (सहसा) बलका (पुत्रम्) पुत्र (आहुः) कहतेहैं [ऋ० ४ । १ । ३] ॥ २८ ॥

प्रमाण-"अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्सोऽप आविशत्" इत्यादिश्रुतेः ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

सखायः॒ सं वः॑ स॒म्यञ्च॒मिष॒ꣳ स्तोमं॑ चा॒ग्नये॑ ॥ वर्षि॑ष्ठाय क्षिती॒नामू॒र्जो नप्त्रे॒ सह॑स्वते ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सखाय इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

विधि-(१) पूर्वाभिमुख होकर इस स्थलमें और तीन जगती नामक छन्दस्येष्टका उपधान करे [का० १७ । १२ । ९] मन्त्रार्थ-यजमानने कहा हे ऋत्विजो ! (सखायः) मित्ररूप (वः) तुम (क्षितिनाम्) मनुष्योंके (वर्षिष्ठाय) श्रेष्ठतम वृद्धतम वा पूज्य (ऊर्जः) जलके (नप्त्रे) पौत्ररूप (सहस्वते) बडे बलवाले (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (सम्यञ्चम्) समीचीन नवीन (इषम्) हविरूप अन्नको (च) और (स्तोमम्) स्तोत्रको (सम्) सम्पादन करो "जलसे वनस्पति वनस्पतिसे अग्नि होती है इससे जलका पोता कहा" [ऋ० ३ । ८ । २४] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

सꣳ स॒मिद्यु॑वसे वृषन्नग्ने॒ विश्वा॑न्य॒र्य आ ॥ इ॒डस्प॒दे सम् इ॑ध्यसे॒ स नो॒ वसू॒न्या भ॑र ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संसमिदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(वृषन्) हे सेचन करनेवाले ! (अग्ने) अग्निदेव ! (अर्य्यः) स्वामी तुम (विश्वानि) सम्पूर्ण यज्ञफलोंको (सम् आ) सब ओरसे (संयुवसे) यजमानको प्राप्त कराते हो (इडस्पदे) पृथ्वीके स्थान उत्तर वेदीमें (समिध्यसे) कर्मके निमित्त प्रदीप्त होते हो (सः) वह तुम (इत्) ही (नः) हमारे निमित्त (वसूनि) धनोंको (आभर) सब प्रकार लाकर प्रदान करो [ऋ० ८ । ८ । ४९] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १।

त्वाम॒ग्ने॒ चि॒त्रश्र॑वस्त॒मꣳ ह॑वन्ते वि॒क्षु ज॒न्तवः॑ ॥ शो॒चिष्के॑शम्पुरुप्रि॒याग्ने॑ ह॒व्याय॒ वोढ॑वे ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विराडनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(चित्रश्रवः) कीर्ति और ऐश्वर्यसे अतिविचित्र (पुरुप्रिय) यजमानोंके वा हवियोंके प्रिय (अग्ने) हे अग्ने! (विक्षु) प्रजाओंमें (जन्तवः) ऋत्विग्यजमान (तम्) उस (त्वाम्) तुमको (हव्याय) हवि (वोढवे) वहनकरनेके निमित्त (हवन्ते) बुलाते हैं अर्थात् हवि (वहनकरनेके निमित्त तुमको इस लोकमें सदा आह्वान करते हैं [ऋ० ११ । ३ । ३२] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १।

ए॒ना वो॑ अ॒ग्निं नम॑सो॒र्जो नपा॑त॒मा हु॑वे ॥ प्रि॒यञ्चेति॑ष्ठमर॒तिꣳ स्व॑ध्व॒रं विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एनाव इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। विराड्बृहती छं०। अग्निर्देव०। बृहतीछन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) आषाढ इष्टकाकी वेलाके सन्मुख तीन बृहतीनामक छन्दस्येष्टका पूर्ववत् इन तीन मंत्रोंसे क्रमसे उपधान करै [का० १७ । १२ । १०] मंत्रार्थ-हे ऋत्विग्यजमानो! (वः) तुम्हारे (एनाः) इस (नमसा) अन्नद्वारा (ऊर्जः) जलोंके (नपातम्) पोते (प्रियम्) यजमानकी प्रीतिके कारण (चेतिष्ठम्) अतिशय चैतन्यकर्ता ज्ञानदाता (अरतिम्) सदा उद्यमी (स्वध्वरम्) श्रेष्ठ यज्ञवाले (विश्वस्य) सम्पूर्णके (दूतम्) गृहपाकादि कार्य करनेसे दूतरूप (अमृतम्) मरणरहित (अग्निम्) अग्निको (आहुवे) स्तुतिपूर्वक आह्वान करतेहैं [ऋ० ५ । २ । २१] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १।

विश्व॑स्य दू॒तम॒मृतं॒ विश्व॑स्य दू॒तम॒मृत॑म् ॥ स यो॑जते अरु॒षा वि॒श्वभो॑जसा॒ स दु॑द्रव॒त्स्वा॑हुतः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) विश्वस्य दूतमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । सतोबृहती छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(अमृतम्) मरणधर्मरहित (विश्वस्य दूतम्) सबके दूतवत् कार्यकर्ता (अमृतम्) मरणधर्मरहित (विश्वस्य) सम्पूर्णके (दूतम्) दूत जिस अग्निको हम बुलाते हैं (सः) वह अग्नि (अरुषा) क्रोधरहित श्रेष्ठ (विश्वभोजसा) सब यज्ञके भाग भोगनेवाले दो अश्वोंको अपने रथमें (योजते) योजना करता है (स्वाहुतः) रथारूढ होकर भलीप्रकारसे आहुतिको प्राप्त हुआ (सः) वह अग्नि (दुद्रवत्) शीघ्र प्राप्त होताहै ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १।

सद्रुद्द्रवुत्स्वाहुत॒ऽसद्रुद्द्रवुत्स्वाहुतः॥ सु॒ब्रह्मा॒ य॒ज्ञः सु॒शमी॒ वसू॑नां दे॒वꣳ राधो॒ जना॑नाम् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) सद्द्रवदित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ-(सुब्रह्मा) श्रेष्ठ ऋत्विजोंसे युक्त (सुशमी) शुभ कर्मवाला "शमीति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । २३] (यज्ञः) यज्ञ है उसमें (सः) वह अग्नि (स्वाहुतः) शुभ प्रकारसे आह्वान किया हुआ (दुद्रवत्) जाता है (स्वाहुतः) भली प्रकारसे आह्वान किया हुआ (सः) वह (जनानाम्) जहां यजमानोंका (देवम्) दीप्यमान (राधः) धन है वहां (वसूनाम्) वसु रुद्र आदि देवगणोंके तीन सवनके यज्ञमें (दुद्रवत्) जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ-जिस स्थलमें प्रात सवनमें वसुगण मध्यन्दिन सवनमें रुद्रगण और तृतीय सवनमें आदित्य गणका आगमन हुआ है और जहां ऋत्विजोंका तत्त्व-विवेचक ब्रह्मा अतिविज्ञ है और जिस स्थलमें समस्त अङ्गकार्य ही पूर्णाङ्ग और अतिविशुद्ध है ऐसे यज्ञमें यह अग्नि शीघ्रतासे आगमन करता है ॥ ३४ ॥

विवरण-यह तीन बृहती प्रगाथा हैं दो ऋक् ग्रन्थनकरके तीन मंत्रोंका सम्पादन प्रगाथा कहाती है उसमें बृहती सतोबृहतीसे तीन बृहती कीगई हैं जिसका तीसरा चरण बारह अक्षरका और तीन आठ अक्षरके हों वह बृहती कहाती है । "प्रियंचेतिष्ठमरतिꣳ स्वध्वरं विश्वस्य दूतममृतमिति" जिसके पहले तीसरे चरणमें बारह अक्षर हों दूसरे चौथेमें आठ अक्षर हों वह सतोबृहती "सयोजेत अरुषा" इति । इनमें बृहतीके चौथे चरणको दोबार पढकर सतोबृहतीके

पूर्वार्धके संग दूसरी बृहती की और सतोबृहतीके दूसरे पादको दोबार आवृत कर उसके उत्तरार्धके संग तीसरी बृहती की है [३२ । ३३ । ३४] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र १ ।

अग्ने॒ वाज॑स्य॒ गोम॑त॒ऽईशा॑नꣳ सहसो यहो ॥
अ॒स्मे धे॑हि जातवेदो॒ महि॒ श्रवः॑ ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । उष्णिक्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३५ ॥

विधि–(१) जिस स्थलमें गायत्रीनामक छन्दस्येष्टका उपहित कीहै उसकी अपर दिशामें उष्णिक् संज्ञक तीन छन्दस्येष्टका इन मन्त्रोंसे क्रमसे स्थापन करे [का० १७ । १२ । १३] मन्त्रार्थ–(सहसः) बलके (यहो) पुत्र (जातवेदः) ज्ञानसम्पन्न (अग्ने) हे अग्ने ! (गोमतः) धेनुयुक्त (वाजस्य) अन्नके (ईशानः) अधिपति तुम (अस्मे) हमारे निमित्त (महि) बडे (श्रवः) धनको (धेहि) प्रदान करो [ऋ० १ । ५ । २७] ॥ ३५ ॥

प्रमाण–"सह इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । १७] "यहुरिति पुत्रनाम" [निघं० २ । २ । ११] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मंत्र १ ।

सऽइ॑धा॒नो वसु॑ष्क॒विर॒ग्निरी॒डेन्यो॑ गि॒रा ॥
रे॒वद॒स्मभ्यं॑ पुर्वणीक दीदिहि ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सइधान इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ–(पुर्वणीक)हे बहुत मुखवाले ! अथवा सबके स्थान सर्वदायक "यतो ह्येव कुतश्चाग्नावभ्यादधाति तत एव प्रदहाति" इति श्रुतेः । (सः) वह (इधानः) दीप्यमान (वसुः) सबके निवासके हेतु (कविः) क्रान्तदर्शी (गिरा) तीन वेदोंकी वाणीसे (ईडेन्यः) स्तुतियोग्य (अग्निः) प्रथम यज्ञप्रवर्तक अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (रेवत्) धनके समान (दीदिहि) दीप्त हो [ऋग्वेदे १ । ५ । २७] ॥ ३६ ॥

सरलार्थ–हे वसो ! हे कवे ! हे बहुमुख ! अग्ने ! तुम जिस समय सम्यक् प्रदीप्त हो उस समय वास्तविक वेदमंत्रसे स्तुतियोग्य होतेहो हमको यथेष्ट ऐश्वर्य प्रदान करो ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ ।

क्षपो॑ राजन्नु॒त त्मनाग्ने॒ वस्तो॑रु॒तोषसः॑ ॥ स ति॑ग्मजम्भ र॒क्षसो॑ दह॒ प्रति॑ ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्षपोराजन्नित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निचृदुष्णिक्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(राजन्) हे दीप्यमान (तिग्मजम्भ) वज्रवत् करालवदन डाढवाले (अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह तुम (त्मना) आत्मा अर्थात् स्वभावसे (उत) ही (क्षपः) राक्षसोंके नष्टकरनेवाले हो इससे (वस्तोः) दिनके (उत) और (उषसः) उषाकालसम्बन्धी अर्थात् रात्रिके (रक्षसः) राक्षसोंको (प्रतिदह) भस्मकरो [ऋ० १ । ५ । २७] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

भ॒द्रो नो॑ऽअ॒ग्निराहु॑तो भ॒द्रा रा॒तिः सु॑भग भ॒द्रोऽअ॑ध्व॒रः ॥ भ॒द्राऽउ॒त प्रश॑स्तयः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भद्र इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । ककुप्छन्दः । अग्निर्देवता । ककुप्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) जिस स्थलमें बृहतीनामक छन्दस्येष्टका उपहित की है उसके सन्मुख तीन ककुपसंज्ञक छन्दस्येष्टका क्रमपूर्वक तीन मन्त्रोंसे उपधान करे [का० १७ । १२ । ११] ॥ ३८ ॥

विवरण-प्रगाथा ककुप् सतोबृहती तीन हैं, इनमें ककुप्के चरणोंकी आवृत्ति की है, परन्तु अर्थान्तर नहीं हुआ [भद्रोनो०] यह ककुप्छन्द है इसके मध्यका चरण बारह अक्षरका है पहला तीसरा आठका यह लक्षण है [भन्द्रमनः-वने माते अभिष्टिभिः] इति यह सतोबृहती है इसके आद्य तीसरे चरणमें बारह अक्षर दूसरे चौथेमें आठ अक्षर हैं. ॥

मंत्रार्थ-यजमानकी अग्निके प्रति प्रार्थना (सुभग) हे श्रेष्ठ ऐश्वर्यसे सम्पन्न अर्थात् सम्पूर्ण ईशिता धर्म यश लक्ष्मी ज्ञान वैराग्य छः ऐश्वर्यवान् (आहुतः) ऋत्विजोंसे आहूत बुलाये हुए (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमको (भद्रः) कल्याणरूपी हो (रातिः) तुम्हारा दान (भद्रा) कल्याणकारी हो (अध्वरः) यज्ञ (भद्रः) मंगलकारी हो (प्रशस्तयः) कीर्तियें (उत) भी (भद्राः) सुखकारी हों [ऋ० ६ । १ । ३२] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मन्त्र १।

भद्राऽउतप्प्रशस्तयो भद्द्रम्मनं कृणुष्ष्ववृत्रतूर्य्ये ॥
येनासमत्त्सुसासहः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ भद्राउतेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ककुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (येन) जिस मनसे (समत्सु) संग्रामोंमें (सासहः) तुम शत्रुओंको मर्दन करते हो उस (मनः) मनको (वृत्रतूर्य्ये) पापनाशके निमित्त (भद्रम्) कल्याणकारी (कृणुष्व) करो तुम्हारी (प्रशस्तयः) कीर्तियें (उत) भी (भद्राः) कल्याणरूप हों "वृत्रः पापम् पाप्मा वै वृत्रः" इति श्रुतेः ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १।

येनासमत्त्सुसासहोवस्थिरातनुहिभूरिशर्द्धताम् ॥ वनेमातेऽअभिष्टिभिः ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। ककुप्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–हे अग्ने! (येन) जिस मनसे (समत्सु) संग्रामोंमें (सासहः) शत्रुओंको तिरस्कार करते हो इस कारण (भूरि) वहुत (शर्धताम्) वलकरनेवाले शत्रुके (स्थिरा) स्थिर धनुषोंको (अवतनुहि) ज्यारहित करो (ते) आपके दियेहुए (अभिष्टिभिः) भोगोंसे हम (आ–वनेम) सम्भागकर भोगकरैं अर्थात् रणस्थलमें उग्रभाव त्यागनकर अव सौम्यभाव धारण करैं हमारे अभीष्ट सिद्ध करो ॥ ४० ॥

प्रमाण–"शर्ध इति वलनाम" [निघं० २। ९। ७।] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १।

अग्निन्तम्मन्न्येयोवसुरस्तंय्यंयन्तिधेनवः ॥
अस्तमर्वन्तऽआशवोस्तन्नित्त्यासोवाजिनऽइषंस्तोतृब्भ्यऽआभर ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । दक्षिणस्यां दिशि पंक्तिच्छन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ४१ ॥

विधि-(१) दक्षिण अनूकान्तमें इन तीन मंत्रोंसे पंक्तिनामक तीन छन्दस्येष्टका क्रमसे उपधान करें [का० १० । १२ । १४] मन्त्रार्थ- (यः) जो (वसुः) ताप पाक प्रकाश करके उपकार करनेवाला धन है (तम्) उस (अग्निम्) अग्निको (मन्ये) जानताहूं (धेनवः) धेनुगण (यम्) जिस अग्निको प्रज्वालित जानकर (अस्तम्) अपने २ घरोंको (यन्ति) आगमन करती हैं (आशवः) शीघ्रगामी घोडे (नित्यासः) नित्यही (वाजिनः) बलसे सम्पन्न सैन्धव अश्वादि (अर्वन्तः) वेगवान् होकर (तम्) उस अग्निको प्रज्वलित देखकर (अस्तम्) मण्डराको गमन करते हैं । हे अग्ने ! (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवाले यजमानोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) सब ओरसे लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २२] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

सोऽअग्निर्यो वसुर्गृणे सं यमायन्ति धेनवः ॥ समर्वन्तो रघुद्रुवः सꣳ सुजातासः सूरयऽइषꣳ स्तोतृभ्यऽआभर ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोअग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्देव० । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो (वसुः) सम्पत्ति वा धन है (सः) वह अग्निही यह अग्नि है उसीकी (गृणे) स्तुति करताहूं (यम्) जिस अग्निको (धेनवः) धेनुगण (समायन्ति) प्राप्त करतीं वा सेवन करतीं हैं (रघुद्रुवः) शीघ्रगामी (अर्वन्तः) घोडे जिस अग्निको (सम्) प्राप्त करते हैं (सुजातासः) सुजन्मा अच्छे संस्कारवाले (सूरयः) विद्वान् जिस अग्निकी (सम्) उपासना करते हैं हे अग्ने ! (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवालोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) सब ओरसे लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २२] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

उभे सुश्चन्द्र सर्प्पिषो दर्वी श्रीणीषऽआसनि ॥

उतो नऽउत्पुपूर्य्याऽउक्थेषु शवसस्पतऽइषं स्तोतृभ्यऽआभर ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उभे इत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । निच्यृत्पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(सुश्चन्द्र) सबके प्रार्थनीय चन्द्रमाकी समान आह्लाद करनेवाले वा जिससे सुन्दर हिरण्य 'सुवर्ण' होताहै अथवा अनुकूल चन्द्रमाकी समान धन देनेवाले "अच्छे चन्द्रमा होनेसे धन मिलताहै यह ज्योतिषमें प्रसिद्ध है" "चन्द्रमिति हिरण्यनाम" [निघं० १ । २ । २] हे अग्ने ! तुम (आसनि) अपने मुखमें (सर्पिषः) घृतपान करनेके निमित्त (उभे) दोनों (दर्वी) दर्वीके आकारवाले हाथोंको (श्रीणीषे) ग्रहण वा सेवन करते हो (उतो) और हे (शवसः) बलके (पते) अधिपति ! (उक्थेषु) शस्त्रनाम स्तुतिवाले यज्ञोंमें (नः) हमको (पुपूर्य्याः) धनोंसे पूर्णकरो (स्तोतृभ्यः) स्तुतिकरनेवालोंके निमित्त (इषम्) अन्नको (आभर) लाकर दो [ऋ० ३ । ८ । २३] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

अग्ने तमद्याश्वं न स्तोमैः क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम् । ऋद्ध्यामा तऽओहैः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेतमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पदपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । उत्तरस्यां दिशि पंक्तिच्छन्दस्येष्टकोपधाने विनियोगः ॥ ४४ ॥

विधि-(१) उत्तर अनुक्रान्तमें इन तीन मंत्रोंसे पदपंक्तिनामक तीन छन्दस्येष्टका पूर्ववत् क्रमसे उपधान करे [का० १७ । १२ । १५] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने (अद्य) आज (ते) तुम्हारे (तम्) उस (क्रतुम्) यज्ञको (ओहैः) उसउस नामरूप कर्मके प्रतिपादन करनेवाले फलप्रापक (स्तोमैः) सामस्तुतियोंसे (आ) सब प्रकार (ऋध्याम्) समृद्ध करते हैं (न) जैसे अनेक स्तुतियोंसे (अश्वम्) अश्वमेधके घोडोंको ब्राह्मण समृद्ध करते हैं (न) जिस प्रकार (हृदिस्पृशम्) अतिप्रिय चिरकालतक मनमें स्थित (भद्रम्) कल्याणरूपी यज्ञ संकल्पको समृद्ध करते हैं [ऋ० ३ । ५ । १०] ॥ ४४ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! जिस प्रकार कोई अश्वारोही अपने अश्वकी सेवासम्पादनमें व्यग्र होता है वा जैसे कोई अपनी चिरकालकी अभिलाषासम्पादनमें व्यग्र

हों, हम भी आज इसी प्रकार अतिव्यग्रचित्त और अतीव कर्तव्यज्ञानसे साक्षात फलप्रद स्तोमसमूहद्वारा तुम्हारी तुष्टिसाधनमें व्यग्र होते हैं अर्थात् तत्पर होते-हैं ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मन्त्र १ ।

अधा॒ह्य॑ग्ने॒ क्रतो॑र्भ॒द्रस्य॒ दक्ष॑स्य सा॒धोः ॥ र॒थीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तो ब॒भूथ॑ ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अधाहीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । भुरिगार्षी पदपंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (अथ) इसके अनन्तर (हि) अवश्य (दक्षस्य) समृद्ध वा अपने फलदानमें समर्थ (साधोः) सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान किये (भद्रस्य) कल्याणरूप (ऋतस्य) अमोघ फलवाले (बृहतः) बडे (क्रतोः) हमारे यज्ञके (रथी) सारथी जिस प्रकार रथका निर्वाह करता है इस प्रकार निर्वाहक (बभूथ) हूजिये [ऋ० ३ । ५ । १०] ॥ ४५ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! कल्याणके आकर, अपने फलदानमें समर्थ, नित्य, अतिवृद्ध, महत्कार्य कहकर प्रसिद्ध इस यज्ञक्षेत्रमें तुम सारथित्व ग्रहणकरो (अर्थात्) तुम्हारे प्रसादसे यह यज्ञ निरुपद्रव निर्वाहित हो ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र १ ।

ए॒भिर्नो॑ऽअ॒र्कैर्भवा॑ नोऽअ॒र्वाङ् स्व॒र्ण ज्योतिः॑ ॥ अग्ने॒ विश्वे॑भिः सु॒मना॒ऽअनी॑कैः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एभिर्न इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । पदपंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारे (एभिः) इन पढेहुए (अर्कैः) मंत्रोंसे (सुमनाः) प्रसन्नमन होकर (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (अनीकैः) अपने मुखोंसे (नः) हमको (अर्वाङ्) सब प्रकार सम्मुख (आभव) हूजिये (न) जिस प्रकार (स्वर्ज्योतिः) सूर्य नभोमण्डलमें उदित होकर सम्पूर्ण जगत्के सन्मुख दिखाई देतेहैं । तुमभी इसी प्रकार सम्पूर्ण मंत्रोंसे स्तुतिको प्राप्त होकर प्रसन्न हो सब प्रकार हमारे सन्मुख हो अर्थात् सुमुख हो [ऋ० ३ । ९ । १०] ॥ ४६ ॥

काण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

अ॒ग्निᳬहोता॑रम्मन्ये॒दास्व॑न्तं॒वसु॑ᳬसू॒नुᳬसह॑सो
जा॒तवे॑दसं॒विप्र॒न्नजा॒तवे॑दसम् ॥ यऽऊ॒र्द्ध्वया॑स्व
ध्व॒रोदे॒वोदे॒वाच्च्या॑कृ॒पा ॥ घृ॒तस्य॒विभ्रा॑ष्टि॒मनु॑व
ष्टि॒शो॒चिषा॒जुह्वा॑नस्य॒स॒र्पिषः॑ ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । अतिच्छन्दश्छन्दः । अग्निर्देवता । अतिच्छन्दस्येष्टकोपधाने विनि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) पुरीषवती इष्टकाके उपरान्त इस मंत्रसे अतिच्छन्द नामक इष्टका उपधान करै [का०१७ । १२ । १६] अग्नेः पुरीषमिति १५-३ यहांसे पांच पुरीषशब्दके मंत्रयुक्त होनेसे पुरीषवती कहाती हैं, इनके पहले अतिच्छन्द इष्टका धारण करै । भद्राराात्रिः-वृत्रतूर्यैतक १५ अ० ३८-४० तक ककुभ हैं पुरीषवती और छन्द इष्टका इन्हीके अन्तरमें पुरीषवाप करना चाहिये । मन्त्रार्थ-(यः) जो (देवः) दानादिगुणयुक्त (स्वध्वरः) शुभयज्ञवाला अग्नि (ऊर्द्ध्वया) ऊंची (देवाच्या) देवताओंके समीप जानेवाली (कृपा) समर्थ (शोचिषा) ज्वालासे (आजुह्वानस्य) सब ओरसे होमेहुए (सर्पिषः) अङ्गमें फैलनेवाले (घृतस्य) घृतके (विभ्राष्टिम्) निरन्तर पानको (अनुवष्टि) इच्छा करता है उस (अग्निम्) अग्निको (होतारम्) देवताओंका बुलानेवाला (दास्वन्तम्) दानशील (वसुम्) वास देनेवाला (सहसः) मथन होनेसे बलका (सूनुम्) पुत्र (जातवेदसम्) सब प्रकारके ज्ञानसे सम्पन्न (जातवेदसम्) सब शास्त्रके ज्ञानवाले (विप्रम्) ब्राह्मणकी (इव) समान (मन्ये) जानता हूं [ऋ० २ । १ । १२] ॥ ४७ ॥

सरलार्थ-जो अतिशय दाता, साधारणकी सम्पत्ति, जो बलपूर्वक मथन करनेसे उत्पन्न, जो ब्राह्मणोंकी समान शास्त्रसम्पन्न, जो यज्ञकी शोभास्वरूप, जो घृत नामसे प्रसिद्ध है, जो बुलाये जाकर चिकने पदार्थोंसे देवताओंका संतोष करते, धारारूप ऊर्ध्व गमनसे अपने ज्वालामुखसे लाभ करनेकी इच्छा करते हैं, अग्निनामसे प्रसिद्ध इस देवताको हम इस यज्ञका होता कहकर स्वीकार करते हैं ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र ३ ।

अग्ने॒ त्वन्नो॒ऽअन्त॑मऽउ॒त त्रा॒ता शि॒वो भ॑वा वरू॒थ्य॑ः ॥ वसु॑र॒ग्निर्वसु॑श्रवा॒ऽअच्छा॑ नक्षि द्यु॒मत्त॑मꣳ र॒यिन्दाः॑ ॥ तन्त्वा॑ शोचिष्ठ दीदिवꣳ सु॒म्नाय॑ नू॒नमी॑महे॒ सखि॑भ्य॒ꣳ ॥ ४८ ॥ [२९]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नेत्वमित्यस्य प० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्दे० । द्विपदाछन्दस्येष्टकोपधाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) पश्चिमानूकान्तमें इस कण्डिकात्मक तीन मंत्र पढकर द्विपदा नामक तीन छन्दस्येष्टका उपधान करै [का० ३७ । १२ । १७] मन्त्रार्थ-इसकी व्याख्या [३ अ० २५-२६] कण्डिकामें होगई ॥ ४८ ॥ [२९]

कण्डिका ४९-मंत्र १. अनु० ६ ।

येन॒ऽऋष॑य॒स्तप॑सा स॒त्रमा॒यन्निन्धा॑ना॒ऽअ॒ग्निꣳ स्व॑रा॒भर॑न्तः ॥ तस्मि॑न्न॒हन्नि द॑धे॒ नाके॒ऽअ॒ग्निं यमा॒हुर्मन॑वस्ती॒र्णब॑र्हिषम् ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । गार्हपत्येष्टकोपधाने विनि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकासे ५६ कण्डिका पर्यन्त आठ कण्डिकात्मक आठ मंत्र पाठ करके पूर्वस्थापित गार्हपत्य इष्टकाके ऊपर यथाक्रमसे एक एक करके आठ गार्हपत्य नामक इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । १९] मन्त्रार्थ-(अग्निम्) अग्निको (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए (स्वः) स्वर्गकी प्राप्तिका (आभरन्तः) आभरण करते हुए (ऋषयः) ऋषिगण (येन) जिस (तपसा) चित्तकी एकाग्रतारूप तपसे (सत्रम्) यज्ञ करनेको (आयन्) उद्यत हुए (तस्मिन्) उस तपके होनेपर (नाके) स्वर्ग लोकमें प्राप्त करानेवाली (अग्निम्) अग्निको (अहम्) मैं (निदधे) स्थापन करता हूं (मनवः) मनन करनेमें प्रधान विद्वान् जिस अग्निको (स्तीर्णबर्हिषम्) यज्ञसाधनसहित (आहुः) कहते हैं "ये विद्वाꣳसस्ते मनवः" इति [८ । ६ । ३ । १८] श्रुतेः ॥ ४९ ॥

भावार्थ-पुरातन ऋषिगणने जिस प्रकार तपके प्रभावसे अग्निको सम्यक्

दीप्तकर मंत्रानुष्ठानसे सम्पन्न कर स्वर्गगमनका मार्ग खोला, उन्ही विद्वानोंने जिस प्रकार अग्निको स्तीर्णवर्हि [कुशाऊपर विस्तारित] कहा है आज हम भी उसी प्रकार तपके प्रभावसे इसी प्रकार स्तीर्णवर्हि अग्निको इस स्थानमें सादन करते हैं ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०–मंत्र १ ।

तम्पत्नीभिरनुगच्छेमदेवाऽःपुत्रैर्भ्रातृभिरुतवा हिरण्ण्यैः ॥ नाकङ्गृभ्णानाऽ सुकृतस्यलोकेतृ तीयेपृष्ठेऽअधिरोचनेदिवः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तमित्यस्य परमेष्ठी ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ–(देवाः) हे दीप्यमान ऋत्विजो ! (तृतीये) भूमिसे तीसरे (दिवः) द्युलोकके (पृष्ठे) ऊपर (सुकृतस्य) शुभ कर्मके फलभूत (रोचने) दीप्यमान (लोके) आदित्यमण्डलमें (नाकम्) दुःखहीन स्थानको (अधिगृभ्णानाः) स्वीकार करते हुए हम (पत्नीभिः) स्त्रियोंकरके (पुत्रैः) पुत्रों करके (वा) और (भ्रातृभिः) भाइयोंसे (उत) और (हिरण्यैः) सुवर्णादि द्रव्योंके साथ (तम्) उस अग्निको (अनुगच्छेम) सेवन करते हैं इससे हमको तीसरे लोककी प्राप्ति होगी "एतद्ध तृतीयं पृष्ठश्रोचनं दिवो यत्रैष एतत्तपति" इति श्रुतेः [८ । ६ । ३ । १९] ॥ ५० ॥

भावार्थ–हे दीप्यमान ऋत्विग्गण हम पत्नीगण पुत्रगण भ्रातृगण हिरण्यादि सम्पत्तिके सहित सर्वथा अग्निकी परिचर्या करते हैं इस क्रियाके फलसे सुकृत कर्मका भोगस्थान दुःखशून्य देदीप्यमान द्युनामसे प्रसिद्ध तीसरा लोक लाभ करें ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मंत्र १ ।

आवाचोमद्ध्यमरुहद्भुरण्युरयमग्निः सत्पति श्चेकितानः ॥ पृष्ठेपृथिव्यानिहितोदविद्युतद धस्पदङ्कृणुतांय्येपृतन्यवः ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ आवाच इत्यस्य परमेष्ठी ऋ०।स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ-(अयम्) यह (भुरण्युः) जगत्का कर्ता (सत्पतिः) सत्पुरुषोंका पालक (चेकितानः) चेतयमान चैतन्य (पृथिव्याः) पृथिवीके (पृष्ठे) ऊपर (निहितः) स्थापित (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि (वाचः) चयनके (मध्यम्) मध्य स्थानमें (आरुहत्) स्थित हुआ अर्थात् चढा (ये) जो (पृतन्यवः) युद्धकी इच्छावाले पापी हैं तिनको (अधस्पदम्) चरणोंके अधो-भागमें (कृणुताम्) प्राप्त करैं ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"भुरण्युरिति भर्तेत्येतत्" इति [८ । ६ । ३ । २०] श्रुतेः। "एतद्ध वाचो मध्यं यत्रैष एतच्चीयते" इति [८ । ६ । ३ । २०] श्रुतेः । "अधस्पदं कुरुताꣳ सर्वान्पाप्मनः" इति [२०] श्रुतेः ॥ ५१ ॥

भावार्थ-साधुगणके रक्षणकारी दुर्वृत्तोंको अधो देशमें पतन करनेवाला जगतका उपकारी, सर्वदा सुचेतन भूपृष्ठपर निहित यह द्योतमान अग्निचयन स्थानमें आरोहण करता है ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

अ॒यम॒ग्निर्वी॒रत॑मो वयो॒धाः स॑ह॒स्रियो॑ द्योतता॒मप्र॑युच्छन् ॥ वि॒भ्राज॑मानः सरि॒रस्य॒ मध्य॒ऽउप॒ प्र या॑हि दि॒व्यानि॒ धाम॑ ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अयमग्निरित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (वीरतमः) अतिशय वीर (वयोधाः) हवि ग्रहण करनेमें पटु (सहस्रियः) सहस्र इष्टकाओंसे सम्मत (अग्निः) अग्निदेवता (अप्रयुच्छन्) कर्मोंमें प्रमाद न करता हुआ (द्योतताम्) दीप्तिमान् हो (सरिरस्य) त्रिलोकीके (मध्ये) मध्यमें (विभ्राजमानः) दीप्यमान (दिव्यानि) दिव्य (धामानि) स्थानोंको (उपप्रयातु) प्राप्त हो अर्थात् बहुत इष्टका निर्मित चयनस्थानमें अपने कार्यमें भ्रमप्रमादशून्य इस अग्निदेवताके प्रसादसे हम दिव्य-धाम स्वर्गलोकको प्राप्तहों ॥ ५२ ॥

प्रमाण-"इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [८ । ६ । ३ ।२१ ।] श्रुतेः "दिव्यानि धामेत्युपप्रयाहि स्वर्गं लोकमित्येतत्" इति [८ । ६ । ३ । २९] श्रुतेः ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

सम्प्रच्यवध्वमुपसम्प्रयाताग्ने पथो देवयानान्कृणुध्वम् ॥ पुनः कृण्वाना पितरा युवानान्वाताᳬंसीत्वयि तन्तुमेतम् ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संप्रच्यवध्वमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-हे ऋषियो ! तुम (संप्रच्यवध्वम्) इस अग्निके समीप आओ (उप) समीप आकर (सम्प्रयात) भलेप्रकार प्राप्त करो [मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंसे कहकर अग्निसे कहते हैं] (अग्ने) हे अग्नि ! (देवयानान्) देवयान (पथः)मार्गको (कृणुध्वम्) सिद्ध करो (पुनः) फिर (पितरा) वाणी और मनको (युवाना) तरुण (कृण्वानाः) करते हुए ऋषियोंने (एतम्) इस (तन्तुम्) यज्ञको (त्वयि) तुझमें (अतन्वाताᳬंसीत्) क्रमपूर्वक विस्तार दिया है ॥ ५३ ॥

सरलार्थ-हे ऋषिगण ! तुम इस अग्निको प्राप्त हो, इसकी परिचर्या करो-हे अग्ने ! वयमें तरुण और विद्यादिसे वृद्ध इन सब ऋत्विजोंने बहुत दिनतक संयतेन्द्रिय होकर तुम्हारे संतोषके निमित्त यह यज्ञतन्तु अवलम्बन किया है, इसको स्वर्गीय मार्गमें प्राप्त करो ॥ ५३ ॥

प्रमाण-"समेनं प्रच्यवध्वमुप चैनᳬंसमायात" इति [८ । ६ । ३ । २२] श्रुतेः । "पुनः कुर्वाणाः पितरा युवाना" इति "वाक् च वै मनश्च पितरा युवाना" इति [२२] श्रुतेः ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मन्त्र १ ।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सᳬंसृजेथामयं च ॥ अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उद्बुध्यस्वेत्यस्य परमेष्ठी ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (उद्बुध्यस्व) सावधान हो (प्रतिजागृहि) जाग्रत् हो वा प्रतिदिन इस यजमानको सावधान करो (इष्टापूर्ते)

श्रौत स्मार्त कर्ममें (सछ्सृजेथाम्) यजमानसे संसर्ग करो तुम्हारे प्रसादसे (अयम्) यह यजमान (च) भी इष्टापूर्तसे संगतिको प्राप्त हो (विश्वेदेवाः) हे विश्वेदेव ! संपूर्ण देवगणों तुम्हारे निमित्त इष्टापूर्तसे निष्पाप (यजमान) यजमान (च) भी (सधस्थे) देवताओंके साथ स्थितियोग्य (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) सबसे उत्कृष्ट रविलोकमें वा द्युलोकमें (अधि) चिरकालतक (सीदत) निवास करे ॥ ५४ ॥

प्रमाण-"द्यौर्वा उत्तरꣳसधस्थम्" इति [८ । ६ । ३ । २३] श्रुतेः ॥ ५४ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! अपने कार्यमें प्रबुद्ध हो जागृतहो यह यजमान तुम्हारी सहायतासेही ऐसे बडे इष्टापूर्त कार्यमें प्रवृत्त हुआ है, इस स्थलमें सम्पूर्ण देवगणका आगमन होगा इससे देवतोंकी संगति सुलभ होगी, उत्तरलोकमें भी इसी प्रकार देवगणके सहित यजमानका चिरकालतक निवास हो ॥ ५४ ॥

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानामुपलम्भनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अग्निहोत्र तप सत्य वेदपाठ आतिथ्य वैश्वदेव इष्ट कहाता है ॥ १ ॥ बावडी कूप सरोवर देवमन्दिरनिर्माण अन्नदान बगीचा लगाना पूर्त कहाता है ॥ २ ॥५४॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ꣳ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ॥ तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (येन) जिस सामर्थ्यसे (सहस्रम्) सहस्र दक्षिणावाले यज्ञको (वहसि) प्राप्त करते हो (येन) जिस सामर्थ्यसे (सर्ववेदसम्) सर्वस्व दक्षिणावाले यज्ञको प्राप्त करते हो (तेन) उस सामर्थ्यसे (नः) हमारे (इमम्) इस छोटे (यज्ञम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंके प्रति (गन्तवे) गमन करनेको (स्वः) स्वर्गमें (नय) प्राप्त करो यज्ञके स्वर्गमें गमन होनेसे हमाराभी वहां गमन होगा "सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवाभिप्रैति तदनूची दक्षिणायां ददाति प्रैति दक्षिणामन्वारभ्य यजमानः" इति श्रुतेः ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मन्त्र १।

अयन्तेयोनिर्ऋत्त्वियोयतोजातोऽअरोचथाः ॥
तञ्जानन्नग्नऽआरोहाथानोवर्द्धयारयिम् ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-अयं ते योनिरिति इस मंत्रकी व्याख्या ३ । १४ अध्यायके १२ । ५२ मंत्रमें होगई ॥ ५६ ॥ [८]

पंचमाचितिके शेषभूत इष्टकोपधान मंत्र।

कण्डिका ५७-मंत्र १. अनुवाक ७।

तपश्चतपस्यश्चशैशिरावृतूऽअग्नेरन्तःश्लेषो
सिकल्पेतान्द्यावापृथिवीकल्पन्तामापऽओष
धयःकल्पन्तामग्नयःपृथङ्ममज्ज्यैष्ठ्यायसव्र
ताः ॥ येऽअग्नयःसमनसोन्तराद्यावापृथिवीऽ
इमे ॥ शैशिरावृतूऽअभिकल्पमानाऽइन्द्रमिवदे हमको
॥ अभिसंविशन्तुतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवेसीदतम् ५

ऋष्यादि-(१) ॐ तपश्चेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिःस्वराडुत्कृतिश्छन्दः। ऋतुर्देवता। ऋतव्येष्टकोपधाने वि० ॥ ५७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दो ऋतव्येष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । २२] मंत्रार्थ-(तपः) माघमास (तपस्यः) फाल्गुनमास (शैशिरावृतू) शिशिर ऋतुके अवयव हैं। शेषकी व्याख्या १३ । २५ में होगई ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मन्त्र १।

परमेष्ठीत्त्वासादयतुदिवस्पृष्ठेज्ज्योतिष्मतीम् ॥
विश्वस्मैप्प्राणायापानायव्यानायविश्वञ्ज्यो
तिर्य्यच्छ ॥ सूर्य्यस्तेधिपतिस्तयादेवतयाङ्गिर
स्वद्ध्रुवासीद ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । शक्करी छन्दः । सूर्यो देवता । विश्वज्योतीष्टकोपधाने वि० ॥ ५८ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठकर पूर्वनिहित तीसरी विश्वज्योतिका उपधान करै [का० १७ । १२ । २३] अर्थात् स्थापनकरै । मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! (परमेष्ठी) विश्वकर्मा (ज्योतिष्मतीम्) वायुरूप ज्योतिष्मती (त्वा) तुझको (दिवः) द्युलोकके (पृष्ठे) ऊपर (सादयतु) स्थापन करै (सूर्यः) सूर्य (ते) तुम्हारा (अधिपतिः) स्वामी है [शेषकी १४ अ० १४ कं० में व्याख्या होगई. सरलार्थ लिखते हैं] यजमानके प्राण अपान व्यान और उदान प्रभृति सम्पूर्ण वायु बलके लाभ उपाय रूपको ज्योति प्रदान करो तुम इस देवताके प्रभावसे इस अग्निचयन कार्यमें अचल निवास करो ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९ । ६० । ६१-मं० ३ ।

लोकम्पृण च्छिद्रम्पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् ॥ इन्द्राग्नी त्वा बृहस्पतिरस्मिन्योनावसीषदन् ॥५९॥ ताऽअस्य सूददोहसः सोमꣳ श्रीणन्ति पृश्नयः ॥ जन्मन्देवानां विशस्त्रिष्वा रोचने दिवः ॥ ६० ॥ इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः ॥ रथीतमꣳ रथीनां वाजानाꣳ सत्पतिम्पतिम् ॥ ६१ ॥

विधि-(१) लोकम्पृण इति यह मंत्र पाठ पूर्वक पूर्ववत्क्रमसे लोकम्पृणा नाम इष्टका उपधान करै [का० १७ । १२ । २४] इन तीन मंत्रोंकी व्याख्या [१२ अ० ५४ । ५५ । ५६] कं० में होगई ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्यदा महः संवरणाद्व्यस्थात् ॥ आदस्य वातोऽअनु वाति शोचिरध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रोथदश्व इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। विराट् त्रिष्टुप्छं०। अग्निर्दे० । विकर्णीष्टकोपधाने वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) अनन्तर इसके ऊपर शर्करामयी छिद्रयुक्त विकर्णी और स्वयमातृणा नामक दो इष्टका परस्पर मिली हुई उपधान करे, उनके बीचमें दोनों ओर विभागको प्राप्त होनेवाली अनूकरेखाके ऊपर इस मंत्रसे विकर्णी इष्टका उपधान करे [का० १७ । १२ । २९] मंत्रार्थ-(यदा) जिस समय (महः) बडे (संवरणात्) अरणीकाष्ठसे (व्यस्थात्) अग्नि प्रकाशित होती है तब (प्रोथत्) शब्द करती है (न) जिस प्रकार (अश्वः) घोडा (अविष्यन्) भोजनकी इच्छा करता(यवसे) घासके निमित्त शब्द करता है(आत्) अग्निके प्रज्वलित शब्दके उपरान्त (शोचिः) प्रज्वलित करनेवाला (वातः) वायु (अस्य) इस अग्निकी ज्वालाको देखकर (अनुवाति) वहन करता है (अधः) इसके उपरान्त अर्थात् पवनद्वारा अग्नि प्रज्वलित होनेसे "कारण कि अग्नि और वायुकी मित्रता प्रसिद्ध है" हे अग्ने ! उस समय (ते) तुम्हारा यह (व्रजनम्) गमन (कृष्णम्) कृष्णवर्ण (अस्ति स्म) होताही है [ऋ० ५ । २ । ३] ॥ ६२ ॥

प्रमाण-१"शोचिरिति ज्वलन्नामसु पठितम्" [निघं० १ । १७ । ६ २ "अथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवति" इति [८ । ७ । ३।१२] श्रुतेः । "अविष्यन्निति त्युत्पत्तिकर्मसु" [निघं० २ । ८ । ६ ।] श्रुतिमें ते इति इस पदका व्य हमको एतस्य करके किया है मंत्रके परोक्ष होनेसे ॥ ६२ ॥ ॥

सरलार्थ-बहुत कालमें बडे अरणिकाष्ठसे अग्नि प्रकाश पाता है, उस समय घास आहार करनेके पहले अश्वगण जिस प्रकार हेषानाद करते हैं इसी प्रकार यह शब्द करती है तदनन्तर वायुकी सख्यतासे इस अग्निकी शिखा परिवर्द्धित होती है अनन्तर जिस जिस स्थानमें यह अग्नि धूमायित होती है, वह समस्तही स्थल कृष्णवर्ण होजाता है ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छायायांᳪसमुद्रस्य हृदये ॥ रश्मीवतीम्भास्वतीमा या द्याम्भास्या पृथिवीमोर्वन्तरिक्षम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आयोष्ट्वेत्यस्य वशिष्ठ ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । स्वयमातृणा देवता । स्वयमातृणेष्टकोपधाने वि० ॥ ६३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र एवं परकाण्डिकात्मक मंत्रपाठपूर्वक इस विकर्णी इष्टकाके दक्षिणमें स्वयमातृणा इष्टका उपधानकरै [का० १७ । १२ । २५] मंत्रार्थ-हे स्वयमातृणे ! (अवतः) जगत्के पालन करनेवाले वा दीप्यमान (समुद्रस्य) वर्षासे जगत्को आर्द्रकरनेवाले वा द्युके समुद्र (आयोः) आयु नामसे प्रसिद्ध आदित्य देवताके (छायायाम्) आश्रयरूप (हृदये) प्रधान हृदयरूप (सदने) स्थानमें अर्थात् हृदयतुल्य स्थानमें (रश्मीवतीम्) वहुत किरणोंसे युक्त (भास्वतीम्) प्रकाशमान (त्वा) तुमको (सादयामि) स्थापन करता हूं । (त्वम्) तुम (द्याम्) द्युलोकको (आभासि) प्रकाशकरती हो (पृथिवीम्) भूलोकको प्रकाशकरती हो (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आ) प्रकाशमान करती हो ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

परमेष्ठीत्त्वासादयतुदिवस्पृष्ठेव्यचस्वतीम्प्रथस्व
तीन्दिवंयच्छदिवन्दृꣳहदिवम्माहिꣳसीः ॥
विश्वस्मैप्प्राणायापानायव्यानायोदानायप्प्र
तिष्ठायैचरित्राय ॥ सूर्य्यस्त्वाभिपातुमह्या
स्वस्त्याच्छर्दिषाशन्तमेनतयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रु
वेसीदतम् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमेष्ठीत्यस्य इस मंत्रकी व्याख्या १४ अ० के १२ मंत्र० । १५ अ० के ५८ मंत्रमें होगई ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

सहस्रस्यप्रमासिसहस्रस्यप्प्रतिमासिसहस्रस्यो
न्मासिसाहस्रोसिसहस्रायत्त्वा ॥ ६५ ॥

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्रस्येति मंत्राणां मधुच्छन्दा ऋषिः । दैवी जगती, दैवी गायत्री याजुष्यनुष्टुप्, दैवी बृहती, दैवी पंक्तिच्छन्दांसि । अग्निर्देवता । सुवर्णखण्डानामुपरि जलासिंचने वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) अनन्तर पक्षपुच्छविशिष्ट इस इष्टकाचित वेदीके मध्यमें उत्तर पूर्व दक्षिण और पश्चिम क्रमसे पंच स्थानमें प्रत्येक स्थानमें दोदोसौ २०० अर्थात् सब मिलकर सहस्र सुवर्णखण्ड रखकर स्वयं स्थित होकर उसके ऊपर इस कुण्डिकात्मक पांच मंत्रोंसे यथाक्रमसे जल सिंचन करै [का०१७ । १२ ।२७]
मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (सहस्रस्य) सहस्र इष्टकाओंकी (प्रमा) प्रमाण (असि) हो १ । (सहस्रस्य) तुम सहस्र इष्टकाओंकी (प्रतिमा) प्रतिनिधि (असि) हो २ । तुम (सहस्रस्य) सहस्र इष्टकाओंकी (उन्मानम्) तुला (असि) हो ३ । तुम (साहस्रः) सहस्र इष्टकाओंके उपयुक्त (असि) हो ४ । (सहस्राय) अनन्त फलप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको प्रोक्षण करताहूं ५ ॥ ६५ ॥

विशेष-इस मंत्रमें जब कि अग्निको सहस्र इष्टकाओंकी प्रतिमा कहाहै तब ज्ञात होताहै कि प्रतिमाविधान फलदायक सत्य है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसᳬहितायां पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतार्य्य-भाषायां मन्त्रभागे मिश्रभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

शुभमस्तु ।

अथ षोडशोऽध्यायः १६.

नमस्ते ॰ डश हिरण्यबाहवे । उष्णीषिणे । तक्षभ्योज्येष्ठ पञ्चकाः सुद्राय चतस्रः शम्भवायैका पार्यायपञ्च द्रापेऽअन्धसः. विᳬशतिःस्त्व षट्षष्टिः ॥

रुद्राध्यायः ।

विधि-(१) पन्द्रहवें अध्यायमें चयनके मंत्र समाप्त करके सा०७५ शतरुद्रिय होमके मंत्र वर्णन करते हैं सुवर्णखण्डके द्वारा चिति प्रोक्षण करनेके

१ इस अध्यायमें आदिसे अन्ततक रुद्र देवताका ही स्तोत्र है सबही रुद्रका महत्त्व स्वीकार करके उपासना करते हैं जो ईश्वरको एकमात्र कर्तृत्व और फलदातृत्व स्वीकार करते हैं वे अद्वैत और द्वैत इन दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं अद्वैतवादी अर्थात् वेदान्तसिद्धान्तमें ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ पदार्थ नहीं है "पुरुष एवेदᳬसर्वम्" यजु अ० ३१ और "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तदु वायुस्तचन्द्रमाः" इन मंत्रोंके अनुसार सब कुछ वही है, रुद्रभी परमात्माका नामान्तर है, इस अध्यायमें जो कुछ स्तुति आदि है वह सब उसीकी है वह दृश्यादृश्य सम्पूर्ण पदार्थ ईश्वरसे अभिन्न हैं अर्थात् ईश्वरकाही अंश है इस विषयमें यह अध्याय प्रधान प्रमाण है । द्वैतके विषयमें भी यद्यपि ईश्वर सम्बन्धके व्यतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं सब पदार्थ ही उसमें हैं और सब पदार्थोंमें ईश्वर है ऐसी

उपरान्त उत्तरमुख होकर उत्तर पक्षके पश्चिमकोनमें जंघामात्री आदि जो सब इष्टका परिश्रित प्रथम स्थापन हो चुकी है, दहिने हाथमें अर्कपत्र और बायें हाथमें अर्ककाष्ठ ग्रहण करके इस अर्कपत्रमें बारंबार वनके तिल मिलेहुए गवेधुका सत्तू [गवेधुका-गडगड धान्य विशेष] अथवा अजादुग्ध लेकर इस मंत्रके पाठ पूर्वक बायें हाथमें स्थित अर्ककाष्ठद्वारा उसके ऊपर डाले [का० १८। १। १-५] उदङ्मुख होकर 'नमस्ते'-यहांसे प्रारंभ कर तीन अनुवाकोंके अन्तमें [अर्भकेभ्यश्च वो नमः २६ क०] तक जानुमात्र परिश्रितमें स्वाहाकार करना । फिर पांच अनुवाकोंके अनन्तर "सुधन्वने च" यहां [३६ क०] में नाभिमात्र परिश्रित स्वाहाकार करना । "नमोस्तु रुद्रेभ्यः" [६३ क०] में प्रत्यवरोह मंत्र हैं उनसे पहले मुखमात्र परिश्रितमें स्वाहाकार जाना "नमोस्तु" इति इन तीन कण्डिकाओंमें प्रतिलोम होम करना, "ये दिवि" इति [क० ६४] मुखमात्रमें "येन्तरिक्षम्" इति [क० ६५] नाभिमात्रमें, "ये पृथिव्यां" [क० ६६] जानुमात्रमें हवन करना चाहिये । इसमें ३६० यजु हैं पीछे तीस पैंतीस अवशिष्ट हैं पीछे जो ३५ हैं वही वही १२ के उपरान्त तेरहवां महीना अधिक मास है वही संवत्सरका आत्मा मध्यभाग है ।

भी वस्तु नहीं जिसके बाहर भीतर वह न हो यद्यपि वह सबमें विद्यमान है तथापि वह स्रष्टा ... , वह द्रष्टा, जगत् दृश्य, वह व्यापक, जगत् व्याप्य, वह उपास्य जगत् उपासक है. इस ... अध्यायके पर्जन्यादि समस्त पदार्थोंका जो अन्तर देवता है उसी ... रुद्र कहते हैं उन ... नाम ग्रहणसे अंतर देवता रुद्रकी ही स्तुति है ।

... तिवादी कहते हैं कि प्रकृतिकी स्वाधीनतासेही जगत्की स्थिति उत्पत्ति ... प्रलय होती है ... तके चेतनके आश्रय वा चेतनसे सम्बद्ध न होकर भी उसके कर्तृत्वमें कोई बाधा नहीं आती केवल मंत्रके प्रभावकाही फल होना उससे इष्ट है, और जब मंत्रके प्रभावसे फल ... ता है तब उसके प्रदाता चेतनकी आवश्यकता नहीं. अग्निका दहन, जलमें शीतगुण स्वभावसे ही सिद्ध है, उनके कार्यकारित्व चेतनके प्रयोजकताकी आवश्यकता नहीं, इनके मतमें जिस समय जिस वस्तुसे उग्रध्वनि-प्रभृति रुद्रत्व प्रकाशित होताहै उस समय उसको रुद्र कहा जाता है इसके अनुसार अग्नि वायु आकाश सूर्यादि बहुत पदार्थ रुद्र होते हैं, इस अध्यायमें प्रथम कितने एक इसी प्रकारके रुद्रदेवताके स्तव है, तथा जगत्के उपयोगी अन्य वस्तुओंके स्तव हैं, परन्तु इस अध्यायमें शिवातनू, रक्षा, पालन, आवाहन, धनुष धारण करनेवाले इत्यादि अनेक गुण दिव्यता होनेसे प्रधानतासे इस अध्यायमें रुद्रदेवताकीही प्रार्थना है, प्रकृतिवाद नहीं है उन पदार्थोंमें जो शक्ति है वही रुद्रदेवताकी है इस कारण जगत्कर्ता चैतन्यकाही वर्णन है ।

द्वैत अद्वैत सिद्धान्तियोंका फल एकरूप है कारण कि जिस प्रकार गुणवानसे गुणको पृथक् करके उनकी पृथक् २ स्तुति करना दोनों बराबर है इसी प्रकार अन्तर्देवता वा पर्जन्यदेवताकी स्तुति करना दोनों तुल्य है, पर्जन्यादिको ईश्वरभावनासे स्तवकरना वा पर्जन्यादिके सहित चिरसंश्लिष्ट ईश्वरकी स्तुतिकरना दोनोंही तुल्य हैं. परन्तु उपासनावालोंको यह अध्याय सुकर हैं, इस कारण हम प्राचीन टीकोंके अनुसार इस अध्यायमें परम शिवतत्त्वका निरूपण करते हैं ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

नमस्तेरुद्रमन्यवऽउतोतऽइषवेनमः ॥
बाहुभ्यामुततेनमः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । गायत्री छन्दः । रुद्रो देवता । होमे विनि० ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्र) हे दुःखके दूरकरने अथवा ज्ञानके देनेवाले अथवा पापीजनोंको उनका कर्मफल देकर रुलानेवाले रुद्रदेव ! (ते) आपके (मन्यवे) क्रोधके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उतो) और (ते) तुम्हारे (इषवे) बाणोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उत) और (ते) तुम्हारी (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओंके निमित्त (नमः) नमस्कार है, अर्थात् हे रुद्रदेव ! आपका क्रोध और बाणधारी हस्त शत्रुओंपर पडैं हमको शान्ति हो १ ।

वि[illegible]दी मेघोंके अन्तर शक्तिमय रुद्रका निवास कहते हैं, कि गर्जना उनका क्रोध है, उल्कापात बाण हैं, समुद्रमें उठे तरंग एकभुजा, और महाधारा वर्षा उनकी दूसरी भुजारूप हैं, उससे शत्रुओंका अनिष्ट हो और हमको मंगल हो. १ अथवा पापियोंके नाशको तुम बाण और क्रोधरूप हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

यातेरुद्रशिवातनूरघोरापापकाशिनी ॥
तयानस्तन्वाशन्तमयागिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । आर्षी स्वराडनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिशन्त) कैलासपर्वतपर स्थित होकर प्राणियोंके सुखको विस्तार करनेवाले अथवा 'गिरि' वाणीमें स्थित होकर सुखका विस्तार करनेवाले अथवा गिरि अर्थात् मेघमें स्थित होकर वर्षाआदिके रूपसे सुखको विस्तार करनेवाले वा पर्वतपर शयन करनेवाले सर्वज्ञ (रुद्र) हे रुद्र ! (या) जो (ते) तुम्हारा (शिवा) शान्त मंगल रूप (अघोरा) विषमतारहित होनेसे सौम्य (अपापकाशिनी) पाप फलको न देकर पुण्य फलकाही देनेवाला (तनूः) शरीर है (तया) उस (शन्तमया) सुख भरे (तन्वा) शरीरसे (नः) हमको (अभिचाकशीहि) अवलोकन कीजिये ॥ २ ॥

प्रमाण-१"चाकशीति पश्यतिकर्मा" [निघं० ३ । ११ । ८] २ हम आपकी उग्रमूर्ति देखनेकी इच्छा नहीं करते यह भाव है ॥ २ ॥

विशेष-जो सर्वव्यापी आत्माका भी आत्मा है दृश्य अदृश्य सम्पूर्ण शरीरोंमें उसकी स्थिति है केवल तत्त्वविचारवाले कहते हैं कि इस स्थलमें रुद्रका मेघोदयरूप शरीर देखनेकी प्रार्थना है किन्तु जिससे गृहपतन और बाढकी प्राप्ति हो उसके उदयकी प्रार्थना नहीं है किन्तु जिसके उदयसे कृषिआदिकी उन्नति हो उसीकी प्रार्थना है । यहां रुद्रका कल्याणमय शरीर और कैलासवास होनेसे शिवका विग्रहभी कथन किया है. २ अथवा हे रुद्र ! आपका कल्याणकारी विस्तार मनोहर है पापोंको दूरकरके हमको महासुख दो ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

यामिषुङ्गिरिशन्तहस्तेबिभर्ष्यस्तवे ॥ शिवाङ्गिरित्रताङ्कुरुमाहिꣳसीःपुरुषञ्जगत् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(०) ॐ यामिषुमित्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । नि० अनुष्टु-छ० । रुद्रो देव० । वि० प० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिशन्त) हे वेदवाणीमें स्थित वा पर्वतपर उदित मेघवृन्दके अन्तरस्थित होकर जगत्का कल्याण करनेवाले (गिरित्र) कैलास वा वेदवाणीमें स्थित होकर प्राणियोंकी रक्षाकरनेवाले तुम (याम्) जिस (इषुम्) बाणको (अस्तवे) शत्रुओंके नाश वा प्रलयमें, जगत्के अस्तकरनेको (हस्ते) हाथमें (बिभर्षि) धारण करते हो (ताम्) हे रक्षक ! उस बाणको (शिवाम्) कल्याणकारी (कुरु) करो (पुरुषम्) पुत्रपौत्रादि (जगत्) जगतके गवाश्वादिको (मा) मत (हिꣳसीः) मारो अर्थात् अकालमें हमको और इस सम्पूर्ण जगत्को नष्ट मतकरो ॥ ३ ॥

विशेष-गिरिशृङ्गमें जो रहते हैं निम्नभागके मेघोपद्रव उनका अनिष्ट नहीं कर सकते इस निमित्त अधश्चारी दुर्घटाके अन्तरस्थित देवताको गिरित्र कहते हैं यह तत्त्ववादी जन कहते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

शिवेनवचसात्वागिरिशाच्छावदामसि ॥ यथानःसर्वमिज्जगदयक्ष्मꣳसुमनाऽअसत् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शिवेनेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः। निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरिश) हे वेदवचन वा कैलासमें शयन करनेवाले (शिवेन) मङ्गल (वचसा) स्तुतिरूप वचनसे (त्वा) तुमको (अच्छ) प्राप्त होनेको (वदामसि) हम प्रार्थना करते हैं (नः) हमको (सर्वम्) सब (इत्) ही (जगत्) जंगम मनुष्य पशुआदि (यथा) जिस प्रकार (अयक्ष्मम्) निरोग (सुमनाः) शुभमनवाला (असत्) होवै सो करो अर्थात् यह जगत् स्वस्थ और रोगरहित हो ॥ ४ ॥

विशेष-(१) जिसका उदय सर्वदाही पर्वतपृष्ठपर देखा जाता है ऐसा मेघ उस मेघके अन्तरस्थित देवताको गिरिश कहते हैं यह तत्त्ववादी जनोंका कथन है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १।

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अध्यवोचदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिगार्षी बृहती छं०। रुद्रो देवता। वि०पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(अधिवक्ता) अधिक वदनशील सर्वदा निगम कथन करनेवाले (प्रथमः) सब देवताओंमें मुख्य पूजनीय (दैव्यः) देवताओंके हितकारी (भिषक्) स्मरणसे ही संसारके तथा जन्म मरणके रोगनाशक रुद्र (अध्यवोचत) हमको सबसे अधिक कहैं, अर्थात् सबसे अधिक करैं (च) और (सर्वान्) सब (अहीन्) सर्पव्याघ्रादिको (जम्भयन्) विनाश करते हुए (सर्वाः) सम्पूर्ण (अधराचीः) अधोगमनशील (यातुधान्यः) राक्षसीआदिको (च) भी (परासुव) हमसे दूरकरो ॥ ५ ॥

अध्यात्म-परमात्मा हमको महावाक्यका उपदेश करो, और सर्पकी समान डसनेवाले कामआदिको नाशकरो, और अधोगमनशील कामकलारूपी राक्षसियोंको दूरकरो, अथवा सम्पूर्ण विद्याओंके कहनेसेही सबमें श्रेष्ठ गिने जातेहैं इसीसे दिव्यगुणयुक्त ज्ञानसे सबके संसारी रोगके दूरकरनेवाले हैं ॥ ५ ॥

जडवादी कहते हैं गर्जनही प्रधान शब्द है। अतिवृष्टि होनेसे ज्वरादि रोग और सर्पोंका प्रादुर्भाव होता है, इनसे मृत्युसंख्या अधिक होनेकी संभावना है प्रेतभय

उपस्थित न हो इस कारण तीनों भयके निवारण करनेके निमित्त रुद्र देवसे प्रार्थना है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १ ।

असौ यस्ताम्रोऽअरुणऽउत बभ्रुः सुमङ्गलः ॥ ये चैनꣳ रुद्राऽअभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाꣳ हेडऽईमहे ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असावित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (यः) जो (असौ) यह प्रत्यक्ष रुद्र सूर्यरूप (ताम्रः) उदय समयमें अत्यन्त लालवर्ण (अरुणः) अस्तसमय रक्तवर्ण (उत) और मध्याह्नसमयमें (बभ्रुः) पिङ्गलवर्ण (सुमङ्गलः) मंगलरूप कर्मोंका उदयमें विस्तार करनेवाले हैं (च) और (ये) (सहस्रशः) सहस्रों (रुद्राः) रुद्रांशरूप, वा किरणरूपसे (एनम्) इनके (अभितः) सब ओर (दिक्षु) दिशाओंमें (श्रिताः) स्थित हैं अर्थात् जो सब सहस्रों देवता नक्षत्रमण्डल इन देवताके दशों दिशाओंमें देदीप्यमान हैं (एषाम्) इन्होंका (हेडः) क्रोध हम भक्तिद्वारा (ईमहे) निवारण करते हैं "हेड इति क्रोधनाम" [निघं० २ । १३ । १] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ॥ उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः स दृष्टो मृडयाति नः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि- (१) ॐ असौ य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो (असौ) यह (नीलग्रीवः) विषधारणसे नीलग्रीव वा अस्तसमयमें नीलकण्ठकी समान (उत) और (विलोहितः) विशेषरक्तवर्ण आदित्यरूपसे (अवसर्पति) उदय अस्त करते निरन्तर गमनकरते हैं (एनम्) इनको (गोपाः) वेदोक्त संस्कारहीन गोपालतक (अदृश्रन्) देखते हैं (उदहार्यः) जल लेजानेवाली नारीभी (अदृश्रन्) दर्शन करती हैं (सः) वह रुद्र (दृष्टः) दर्शनपथमें प्राप्त होतेही (नः) हमको (मृडयाति) सुखीकरैं, "सूर्यमें नीलिमा

आकाशकी नीलतासे कही है" । गोष्ठमें गोपाल नदीआदि तीरपर पनिहारी इनकी शोभा अतिशय देखती हैं पक्षान्तरमें इन्द्रियगोलकोंकी रक्षक इन्द्रियशक्ति गोप और अमृतकी प्राप्त करनेवाली प्रज्ञाशक्ति उदकहारी है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मन्त्र १ ।

नमोस्तुनीलग्रीवायसहस्राक्षायमीढुषे ॥
अथोयेऽअस्यसत्वानोहन्तेभ्योकरन्नमः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ–(नीलग्रीवाय) नीलकण्ठ (सहस्राक्षाय) सहस्रनेत्र सब जगतको देखनेवाले अथवा इन्द्रस्वरूप वा वहुरश्मिरूप (मीढुषे) सेचनमें समर्थ पर्जन्यरूप रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (अथो) और (अस्य) इस रुद्र देवताके (ये) जो (सत्वानः) अनुचरविशेष हैं [सूर्यपक्षमें मेषादि राशि हैं] (तेभ्यः) उनके निमित्त (अहम्) मैं (नमः) नमस्कार (अकरम्) करताहूं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

प्रमुञ्चधन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ॥
याश्चतेहस्तऽइषवःपराताभगवोवप ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रमुञ्चेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ष्युष्णिक्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ–(भगवः) हे षडैश्वर्यसम्पन्न भगवन् ! आप (धन्वनः) धनुषकी (उभयोः) दोनों (आर्त्न्योः) कोटियोंमें स्थित (ज्याम्) ज्याको (त्वम्) तुम (प्रमुञ्च) दूर करो उतारलो (च) और (याः) जो (ते) आपके (हस्ते) हाथमें (इषवः) वाण हैं (ताः) उनको (परावप) दूर त्यागदो हमारे निमित्त सौम्यमूर्ति होजाओ ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १ ।

विज्यन्धनुःकपर्दिनोविशल्योबाणवाँ२ऽउत ॥
अनेशन्नस्ययाऽइषवऽआभुरस्यनिषङ्गधिः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विज्यन्धनुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(कपर्दिनः) जटाजूटधारी रुद्रका (धनुः) धनुष (विज्यम्) ज्यारहित हो (उत) और (बाणवान्) तरकस (विशल्यः) भालवाले बाणोंसे रीता हो (अस्य) इन देवताके (याः) जो (इषवः) बाण हैं वे (अनेशन्) अदर्शनको प्राप्त हों(अस्य)इनके (निषङ्गधिः) खड्ग रखनेका कोश (आभुः)रीता हो अर्थात् रुद्र हमारे प्रति सर्वथा न्यस्तशस्त्र हों ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

याते॑हे॒तिर्मी॑ढुष्टम॒हस्ते॑ब॒भूव॑ते॒धनुः॑ ॥
तया॒स्मान्वि॒श्वत॒स्त्वम॑य॒क्ष्मया॒परि॑भुज ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

(मीढुष्टम) हे अत्यन्त ज्ञानामृत वा वर्षासे सींचनेवाले (ते) तुम्हारे हाथमें (या) जो (हेतिः) आयुध है (ते) आपके (हस्ते) हाथमें (धनुः) जो धनु (बभूव) है (तया) उस (अयक्ष्मया) उपद्रवरहित धनुरूप हेतिसे (त्वम्) आप (विश्वतः) सब ओरसे (अस्मान्) हमको (परिभुज) पालनकरो अर्थात् आप वर्षा करनेवाले अस्त्रकोंही धारण कीजिये किन्तु उससे कोई उपद्रव न हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

परि॑ते॒धन्व॑नो हे॒तिर॒स्मान्वृ॑णक्तु वि॒श्वतः॑ ॥
अथो॒यऽइ॑षु॒धिस्तवा॒रेऽअ॒स्मन्निधे॑हि॒तम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-हे रुद्र (ते) तुम्हारे (धन्वनः) धनुषसम्बन्धी (हेतिः) आयुध (विश्वतः) सब ओरसे (अस्मान्) हमको (परिवृणक्तु) त्यागन करे (अथो) और (यः) जो (तव) तुम्हारा (इषुधिः) तरकस है (तम्) उसको (अस्मत्) हमारे निकटसे (आरे) दूर (निधेहि) स्थापन करो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १।

अवतत्त्यधनुष्ट्वᳬसहस्राक्षशतेषुधे ॥ निशीर्य्य शल्ल्यानाम्मुखाशिवोनः सुमनाभव ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अवतत्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टु-प्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(सहस्राक्ष) हे विराट् ! हे सहस्रनेत्र ! (शतेषुधे) सहस्रों तरकस-वाले ! (त्वम्) तुम (धनुः) धनुषको (अवतत्य) ज्यारहित करके (शल्या-नाम्) वाणोंके (मुखाः) मुख (निशीर्य) भाल निकालकर (नः) हमको (शिवः) शान्त (सुमनाः) शोभनचित्त (भव) हो अर्थात् हमपर कृपा करो ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १।

नमस्तऽआयुधायानाततायधृष्णवे ॥ उभाभ्यामुततेनमोबाहुभ्यान्तवधन्न्वने ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगा-र्ष्युष्णिक्छ० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-हे रुद्र ! (ते) आपके (अनातताय) धनुषपर न चढायेहुये (आयुधाय) वाणके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ते) आपके (उभाभ्याम्) दोनों (बाहुभ्याम्) वाहुओंके निमित्त (उत) और (तव) आपके (धृष्णवे) शत्रुमारनेमें प्रगल्भ (धन्वने) धनुषके निमित्त (नमः) नमस्कार है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १।

मानोमहान्तमुतमानोऽअर्भकम्मानऽउक्षन्तमुतमानऽउक्षितम् ॥ मानोवधीःपितरम्मोतमातरम्मानः प्रियास्तन्वोरुद्ररीरिषः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मानोमहान्त इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-हे रुद्र ! (नः) हमारे (महान्तम्) वृद्ध गुरु पितृव्यादिको (मा) मत (वधीः) मारो (उत) और (नः) हमारे (अर्भकम्) बालकको (मा) मत मारो (नः) हमारे (उक्षन्तम्) तरुणको (मा) मत मारो (उत) और

(नः) हमारे (उक्षितम्) गर्भस्थ बालकको (मा) मत मारो (नः) हमारे (पितरम्) पिताको (मा) मत मारो (उत) और (नः) हमारी (मातरम्) माताको (मा) मत मारो (नः) हमारे (प्रियाः) प्यारे (तन्वः) शरीर पुत्रपौत्रादिको (मा) मत (रीरिषः) मारो [ऋ० १ । ८ । ६] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १।

मानस्तोकेतनयेमानऽआयुषिमानोगोषुमानोऽअश्श्वेषुरीरिषः ॥ मानोवीरान्रुद्रभामिनोवधीर्हविष्मन्तःसदमित्त्वाहवामहे ॥ १६ ॥ [१६] शतम् ॥ ८०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मानस्तोक इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ-(रुद्र) हे रुद्र ! (नः) हमारे (तनये) पौत्र (तोके) पुत्रको (मा) मत (रीरिषः) मारो (नः) हमारी (आयुषि) आयुको (मा) मत नष्टकरो (नः) हमारी (गोषु) गौओंमें (मा) मत प्रहारकरो (नः) हमारे (अश्वेषु) घोडोंमें (मा) मत प्रहारकरो (नः) हमारे (भामिनः) क्रोधयुक्त (वीरान्) वीर पुरुषोंको (मा) मत (वधीः) मारो (हविष्मन्तः) हवियुक्त (सदमित्) निरन्तर (त्वा) आपको हम (हवामहे) यज्ञके निमित्त आह्वान करते हैं अर्थात् आपहीकी शरण हैं [ऋ० १ । ८ । ६] ॥ १६ ॥ [१६]

कण्डिका १७-मंत्र ८. अनु० २।

नमोहिरण्यबाहवेसेनान्येदिशाञ्चपतयेनमोनमोवृक्षेभ्योहरिकेशेभ्यःपशूनाम्पतयेनमोनमःशष्पिञ्जरायत्त्विषीमतेपथीनाम्पतयेनमोनमोहरिकेशायोपवीतिनेपुष्टानाम्पतयेनमोनमोबभ्लुशाय १७

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदतिधृतिश्छं० । रुद्रो वता । होमे वि० ॥ १७ ॥

वि ०-(१) नमो हिरण्यबाहवे यहांसे द्रापे इति ४७ कं० से पहले २ सब यजु हैं यहां २४० यजुओंके रुद्र देवता हैं, ४६ से नमो वः किरिकेभ्यःइत्यादि ४६

छयालीस कण्डिकामें अग्नि वायु सूर्य देवता प्रधानतासे रुद्रही हैं । चार अक्षरका दैवीछन्द । पांच अक्षरका दैवीपंक्ति । छःका यजुर्गायत्री । सातका यजुरुष्णिक् । आठका यजुरनुष्टुप् । ९ का यजुर्बृहती । १० का यजुःपंक्ति । ११ का यजुस्त्रिष्टुप्छं० । १२ का यजुर्जगती । १४ का साम्नोष्णिक् छन्द जानना चाहिये । इन रुद्रोंमें किन्हीको दोनों ओरसे नमस्कार है, दो पदसे पहले और पद उच्चारणसे पीछे नमः पद जिनमें लगा होवे वे दोनों ओरसे नमस्कारवाले हैं ऐसा 'हिरण्यवाहवे' से प्रारम्भ कर 'अश्वपतिभ्यश्च नमः' तक जानना । २८ कं० में अन्तर अर्थात् आदिसे नमस्कार जानै, यह कं० २८ "नमो भवाय" से प्रविदते ४६ कं० तक । 'इषुमद्भ्यः' इत्यादि २२ कं० से 'श्वपतिभ्यश्च' २८ कं० तक । 'प्रत्यक्षाः वः' यहां युष्मद् शब्दके योगसे 'इषुकृद्भ्यः' इति ४६ कं० उभयतः नमस्कार जानै । 'सभाभ्यः' इति २४ कं० जातसंज्ञ रुद्र दोनों ओरसे नमस्कारवाले हैं वे शान्ततम हैं और अन्यतर नमस्कारवाले घोरतर हैं एक कण्डिकामें ८ आठ आठ रुद्र हैं ।

मन्त्रार्थ-(हिरण्यवाहवे) भुजाओंमें सुवर्ण धारण करनेवाले, महाबाहु सेनापालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कारहै १ । (दिशांपतये) दिशाओंके अधिपति अर्थात् समस्त जगत्को अपनी भुजाओंके नीचे रक्षाकरनेवाले (सेनान्ये) सेनापतिके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है २ । (हरिकेशेभ्यः) पर्णरूप हरेवालोंवाले (वृक्षेभ्यः) वृक्षरूप रुद्रोंके निमित्त (नमः) वारंवार नमस्कार है ३ । (पशूनाम्) जीवोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ४ । (त्विषीमते) कान्तिमान् (शष्पिञ्जराय) वालतृणवत् पीत वर्णवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ५ । (पथीनाम्) मार्गोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ६ । (उपवीतिने) मंगलके निमित्त उपवीत धारण करनेवाले (हरिकेशाय) नीलवर्णकेश वा जरारहित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है ७ । (पुष्टानाम्) गुणपूर्ण मनुष्योंके (पतये) स्वामी रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (८) ॥ १७ ॥

तात्पर्य-तात्पर्य यह सब मार्गोंमें शान्तरूप रुद्र हैं अश्वत्थादि वृक्षोंपर जैसे आकाश वेलादि निर्मूल लता होती हैं तद्वत् यज्ञोपवीत धारे हैं (८) ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र ८ ।

नमो॑ बभ्लु॒शाय॑ व्या॒धिने॒ऽन्ना॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ भ॒वस्य॑ हे॒त्यै जग॑तां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ रु॒द्राया॑तता॒यि

क्षेत्राणाम्पतयेनमोनमः सूतायाहन्त्यैवनानाम्
पतयेनमोनमोरोहिताय ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः ।
रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(बभ्लुशाय) कपिलवर्ण वा वृषभपर स्थित होनेवाले (व्याधिने) शत्रुओंको वेधनेवाले व्याधिरूप रुद्रको (नमः) नमस्कार है । (अन्नानाम्) अन्नोंके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (भवस्य) संसारके (हेत्यै) आयुध अर्थात् संसारनिवर्तक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (जगताम्) संसारके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (आततायिने) उद्यत आयुधवाले (रुद्राय) रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (क्षेत्राणाम्) देहोंके (पतये) पालन करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (अहन्त्रे) नहीं मारनेवाले, पापसे रक्षक (सूताय) प्रधान सारथीरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (वनानाम्) वनोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (१६) ॥ १८ ॥

विवरण-रोगियोंके रक्तहास होनेपर जो वर्ण होता है उसको बभ्लुश [भूरापन] कहते हैं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र ८ ।

नमोरोहिताय स्थपतयेवृक्षाणाम्पतयेनमोनमो
भुवन्तयवारिवस्कृतायौषधीनाम्पतयेनमोनमो म
न्त्रिणेवाणिजायकक्षाणाम्पतयेनमोनमऽउच्चैर्घो
षायाक्रन्दयतेपत्तीनाम्पतयेनमः ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः । विराडतिधृतिश्छंदः ।
रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-(रोहिताय) लोहितवर्ण (स्थपतये) गृहादिकर्ता विश्वकर्म रूपसे नि नमः) नमस्कार है (वृक्षणाम्) वृक्षोंके(पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (भुवन्तये) भूमण्डलके विस्तार करनेवाले (वरिवस्कृताय) स्थान भोग्य करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ओषधीनाम्) ग्राम्य और आरण्य ओषधियोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मंत्रिणे) आलोचनमें कुशल

(वाणिजाय) व्यापारकर्ताओंके रूपमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (कक्षाणाम्) वनके गुल्म वीरुधादिके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आक्रन्दयते) शत्रुओंको रुवानेवाले युद्धमें (उच्चैः) बडा उग्र (घोषाय) शब्द करनेवाले रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (पत्तीनाम्) एक रथ एक हाथी तीन घोडे पांच पैदलका नाम पत्ति है, इस प्रकार सेनाविशेषके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (२४) ॥ १९ ॥

विशेष–१स्थपतिशब्दसे गृहादि निर्माण करनेवाले, इनके मनमें सदाही इष्टकाकी चिन्ता लगी रहती है, इस कारण इनका अन्तर देवता लोहितवर्ण कहा है कारण कि इष्टका लाल होती है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र ८।

नमः॑ कृत्स्नायतया॒ धाव॑ते॒ सत्त्व॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमः॒ सह॑मानाय निव्या॒धिन॑ऽआव्या॒धिनी॑नां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ ककु॒भाय॑ स्ते॒नानां॒ पत॑ये॒ नमो॒ नमो॑ निचे॒रवे॑ परिच॒राया॑रण्या॒नां पत॑ये॒ नमः॑ ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नम इत्यस्य कुत्स ऋषिः। अतिधृतिश्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(कृत्स्नायतया) हमारी रक्षाके निमित्त कर्णपर्यन्त धनुष खैंच कर (धावते) धावमान होते रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा सब लाभ प्राप्त करानेवालेके निमित्त (सत्त्वनाम्) शरणमें आयेहुए प्राणियोंके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (सहमानाय) शत्रुओंको तिरस्कार करनेवाले (निव्याधिने) शत्रुओंको अधिक मारनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आव्याधिनीनाम्) सब प्रकारसे प्रहारकरनेवाली शूरसेनाओंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषङ्गिणे) उपद्रवकारियोंपर खड्ग चलानेवाले (ककुभाय) महान् रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (स्तेनानाम्) गुप्तधनहारी जनोंके सब रूप होनेसे (पालकाय) पालन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निचेरवे) अपहारकी बुद्धिसे निरन्तर फिरनेवाले (परिचराय) तथा आपणस्थानमें हरणकी इच्छासे फिरनेवाले 'गठकटों' के अन्तर्यामी के निमित्त (नमः) नमस्कार है (अरण्यानाम्) वनोंके (पतये) पालन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (३२) ॥ २० ॥

प्रमाण-"१ककुभ इति महन्नाम" [निघं० ३ । ३ । १९] ॥ २० ॥

विवरण-जगत्भरमें सर्वात्मा रुद्र हैं इस कारणसे स्तेनादिभी रुद्ररूप लिखे हैं स्तेनादिके शरीरमें जीव ईश्वर इस दोरूपसे ईश्वर स्थित है जीवरूप स्तेनादि शब्द-वाच्य है ईश्वर रुद्ररूपसे लक्षित है जैसे शाखाके अग्रसे चन्द्रमाको दिखाते हैं इस प्रकार लक्ष्यार्थकी विवक्षासे मंत्रोंमें लौकिक शब्द लिखे हैं ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र ८ ।

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो नमो नि
षङ्गिणऽइषुधिमते तस्कराणां पतये नमो नमः सृ
कायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो
नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये
नमः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमो वंचत इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निचृदतिधृति-श्छंदः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मंत्रार्थ-(वञ्चते) ठगोंके अन्तर्यामीके निमित्त (परिवञ्चते) स्वामीको अपना विश्वास दिलाकर व्यवहारमें उनको वंचन करनेवालोंके साक्षीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (स्तायूनाम्) गुप्त चोरोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषङ्गिणे) खड्गधारी (इषुधिमते) बाणधारीके अर्थात् उपद्रव करनेवालोंके शान्त करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तस्कराणाम्) प्रकाश चोरोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (सृकायिभ्यः) वज्र लेकर चलनेवाले "सृक इति वज्रनाम" [निघं० २ । २० । ६] (जिघांसद्भ्यः) हत्याकारी जनोंके अन्तर्यामी वा उनके रूप रुद्रों के निमित्त (नमः) नमस्कार है (मुष्णताम्) क्षेत्रादिसे धनादिके हरणकरनेवालोंके (पतये) पालक रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (असिमद्भ्यः) खड्गधारी (नक्तंचरद्भ्यः) रात्रिमें फिरने-वाले दस्युगणोंके हृदयमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विकृन्तानाम्) छेदन करके पराया धन हरनेवाले दिवाचारी दस्युगणके (पतये) पालन करने-वालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (४०) ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र ८ । अनु० ३ ।

नमऽउष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो

नमुऽइषुमद्भ्योधन्वायिभ्यश्चवोनमोनमुऽआत
न्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्चवोनमोनमुऽआय
च्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्चवोनमः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ नम उष्णीषिण इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ २२ ॥

मंत्रार्थ-(उष्णीषिणे) उष्णीष 'पगडी' धारण करनेवाले सभ्यगण ग्राममें विचरनेवाले (गिरिचराय) शून्यमस्तक गिरि वनमें फिरनेवाले दोनों प्रकार उलोंके हृदयमें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (कुलुश्चानाम्) छल वलकौशलसे दूसरोंकी गृह भूमि आदि हरण करनेवालोंके (पतये) पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (इषुमद्भ्यः) मनुष्योंके डरानेको वाण धारणकरनेवाले (च) और (धन्वायिभ्यः) धनुष साथ लेकर चलनेवाले वा कुलुश्चगणोंके दमनार्थ वाणधारी रुद्र (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आतन्वानेभ्यः) कुलुश्चोंके दमनार्थ धनुषपर ज्या आरोपण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (प्रतिदधानेभ्यः) धनुषपर वाण चढानेवाले (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आयच्छद्भ्यः) कुलुश्चोंके दमनके निमित्त धनुषको आकर्षण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अस्यद्भ्यः) वाणके निक्षेप करनेवाले (वः) आपके निमित्त (नमो नमः) वारंवार नमस्कार है (४८) ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र ८।

नमोविसृजद्भ्यो विद्ध्यद्भ्यश्चवोनमोनमः स्वप
द्भ्योजाग्रद्भ्यश्चवोनमोनमुः शयानेभ्युऽआसी
नेभ्यश्चवोनमोनमुस्तिष्ठद्भ्योधावद्भ्यश्चवोन
मः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमो विसृजद्भ्यः इत्यस्य कुत्स ऋषिः। निच्यृदतिजगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ-(विसृजद्भ्यः) पापियोंके दमनार्थ बाण त्यागनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (विध्यद्भ्यः) शत्रुओंको लक्ष्य वेधनेवाले (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है । (स्वपद्भ्यः) सोनेवालोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (जाग्रद्भ्यः) जाग्रत् अवस्थाके अनुभवी (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (शयानेभ्यः) सुषुप्ति अवस्थावालोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आसीनेभ्यः) बैठे हुओंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तिष्ठद्भ्यः) बैठेहुओंके अन्तरमें स्थितको (नमः) नमस्कार (च) और (धावद्भ्यः) वेगवान् गतिवालोंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (५६) ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र ८ ।

नमः॑ स॒भाभ्यः॑ स॒भाप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ऽश्वे॑भ्यो॒ऽश्वप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमः॑ आव्या॒धिनी॑भ्यो वि॒विध्य॑न्तीभ्यश्च वो॒ नमो॒ नम॒ उग॑णाभ्यस्तृꣳह॒तीभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ नमः सभाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । शक्करी छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-अब जातसंज्ञक रुद्र जो रुद्रलोकमें निवास करते हैं अद्वैतप्रतिपादनके निमित्त उनका वर्णन करते हैं "अथो एवꣳ हैतानि रुद्राणां जातानि" इति [९ । १ । १ । १९] श्रुतेः (सभाभ्यः) सभारूप रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है सभादिमें रुद्रदृष्टि करनी चाहिये (च) और (सभापतिभ्यः) सभापति रूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (अश्वेभ्यः) प्रत्येक अश्वोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अश्वपतिभ्यः) अश्वोंके अधिपति (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (आव्याधिनीभ्यः) देव सेनाओंमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (विविध्यन्तीभ्यः) विशेषकर वेधनेवाली देवसेनाओंमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (उगणाय) उत्कृष्ट भृत्यसमूहवाली ब्राह्मी आदि माता वा सेनामें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तृꣳहतीभ्यः) युद्धमें

प्रहारकरनेवाले दुर्गादिमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (६४) ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र ८।

नमो॑ गुणेभ्यो॑ गुणप॑तिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ व्रातेभ्यो॒ व्रात॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ गृत्से॑भ्यो॒ गृत्स॑पतिभ्यश्च वो॒ नमो॒ नमो॒ विरू॑पेभ्यो॒ विश्वरू॑पेभ्यश्च वो॒ नमः॑ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि (१) ॐ नमो गणेभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । भुरिक्छक्करी छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ–(गणेभ्यः) देवानुचर भूतविशेषोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (गणपतिभ्यः) गणोंके अधिपति (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (व्रातेभ्यः) विशेषगण अथवा अनेक जातियोंके समूहके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (व्रातपतिभ्यः) व्रातगणोंके अधिपाति (वः)आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (गृत्सेभ्यः) बुद्धिमानोंके वा विषयलम्पटके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (गृत्सपतिभ्यश्च) बुद्धिमानोंके रक्षक (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (विरूपेभ्यः) नग्नमुण्डजटिलादि विकृतरूपके निमित्त वा विविध रूपवालोंके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च)और (विश्वरूपेभ्यः) सर्वरूप नानाविधरूप वा तुरंगवदन हयग्रीवादिरूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (७२) ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र ८।

नमः॒ सेना॑भ्यः सेना॒निभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ र॒थिभ्यो॑ऽअर॒थेभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमः॑ क्ष॒त्तृभ्यः॑ संग्रही॒तृभ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ म॒हद्भ्यो॑ऽअर्भ॒केभ्य॑श्च वो॒ नमः॑ ॥ २६ ॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ नमः सेनाभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । रुद्रो देवता । भुरिगतिजगती छं० । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(सेनाभ्यः) सेनारूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सेनानिभ्यः) सेनापतिरूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (रथिभ्यः) प्रशंसित रथवालोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (अरथेभ्यः) रथहीन (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (क्षत्तृभ्यः) रथके अधिष्ठातृके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (संग्रहीतृभ्यश्च) सारथियोंके अन्तरमें स्थित वा रणसामग्री ग्रहणकर्ता (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (महद्भ्यः) जाति विद्या ऐश्वर्यमें उत्कृष्ट पूज्य रूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अर्भकेभ्यः) प्रमाणादिसे अल्परूप (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (८०) ॥ २६ ॥ [५]

कण्डिका २७-मंत्र ८ अनु० ४ ।

नमुस्तक्षंभ्यो रथकुरेभ्यंश्च वो नमो नमुः कुलालेभ्यः कुर्म्मारेभ्यश्च वो नमो नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यंश्च वो नमः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्तक्षभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः । निच्यृच्छक्करी छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(तक्षभ्यः) काष्ठकी शिल्पविद्याके जाननेवालोंमें व्याप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (रथकारेभ्यः) विमान रथनिर्माणकारी उत्कृष्ट तक्षाके अन्तर स्थित (वः) आपको (नमः) नमस्कार (कुलालेभ्यः) प्रशंसित मृत्तिकाके पात्र वनानेवालोंमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (कर्मारेभ्यः) लोहेके शस्त्रवनानेवालोंमें वर्तमान (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (निषादेभ्यः) गिरिचारी भीलादिमें स्थित रुद्रके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (पुञ्जिष्ठेभ्यः) पक्षिघातक पुल्कसादि वा संकीर्ण जातियोंके अंतरमें स्थित व्याप्त (वः) आपको (नमः) नमस्कार (श्वनिभ्यः)कुत्तोंके गलेमें रस्सी वांधकर धारण करनेवालोंके अन्तरकी जाननेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (मृगयुभ्यः) मृगोंकी कामनावाले व्याधोंके अन्तर स्थित (वः) आपको (नमः) नमस्कार है "इदंयुरिदं कामयमानः" इति यास्कः [नि० ६ । ३१] (मंत्रसंख्या ८८) ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र ८।

नमुः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्चवोनमोनमोभवा यचरुद्रायचनमः शर्वायचपशुपतयेचनमोनील ग्रीवायचशितिकण्ठायच॥ २८॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमः श्वभ्य इत्यस्य कुत्स ऋषिः। आर्षी जगती छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ २८॥

मन्त्रार्थ–(श्वभ्यः) कुक्कुरोंके अन्तरमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (श्वपतिभ्यः) कुक्कुरोंके अधिपति किरातोंके अन्तरमें स्थित (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है यह [पूजावाचक 'वः' शब्द है. उभयतो नमस्कारवाले मंत्र पूर्ण हुए. अब नमस्कारोपक्रम मंत्र लिखतेहैं] (च) और (भवाय) जिनसे सब जगत् उत्पन्न होताहै उनके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (रुद्राय) दुःख दूर करनेवाले देवके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शर्वाय) पापके नाशकरनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (पशुपतये) प्राणियोंके अधिपतिके निमित्त नमस्कार है (च) और (नीलग्रीवाय) नीलवर्णग्रीवावाले अथवा नीलवर्ण आकाशमें उदित सूर्यमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शितिकण्ठाय) नीलकण्ठ-वाले वा मेघसहित आकाशमें उदित हुए सूर्यके अन्तरमें स्थितके निमित्त नमस्कार है (९६) ॥ २८॥

कण्डिका २९–मन्त्र ८।

नमः कपर्दिने चव्युप्तकेशायचनमः सहस्राक्षा यचशतधन्वनेचनमोगिरिशयायचशिपिविष्टायच नमोमीढुष्टमायचेषुमतेच॥ २९॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमः कपर्दिन इत्यस्य कुत्स ऋषिः। भुरिगति-जगती छं०। रुद्रो दे०। वि० प०॥ २९॥

मन्त्रार्थ-(कपर्दिने) जटाजूटधारीके निमित्त (च) भी नमस्कार है (व्युप्तकेशाय) मुण्डितकेशके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सहस्राक्षाय) सहस्रलोचन इन्द्ररूपके निमित्त नमस्कार है (च) और (शतधन्वने) बहुत धनुष धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है [१००] (च) और (गिरिशयाय) पर्वतपर शयन करनेवालेके निमित्त० (च) और (शिपिविष्टाय) सब प्राणियोंके अन्तर व्यापक विष्णुरूपके निमित्त "विष्णुः शिपिविष्टः" इति श्रुतेः-अथवा "पशवो वै शिपिः" इति श्रुतेः। वसुगणोंमें व्याप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है अथवा "यज्ञो वै शिपिः" यज्ञमें अधिष्ठातृदेवतारूपसे प्रविष्ट अथवा शिपि आदित्यमण्डलमें स्थित "शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तैराविष्टो भवति" इति [निरु० ५ । ८] के निमित्त नमस्कार (च) और (मीढुष्टमाय) तृप्तिकर्ता मेघरूपसे तृप्तिकर्ता वा चार पदार्थके वर्षा करनेवालेके निमित्त०-(च) और (इषुमते) बाणधारीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मन्त्र १०४) ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र ८।

नमो॑ ह्र॒स्वाय॑ च वाम॒नाय॑ च॒ नमो॑ बृह॒ते च॒ वर्षी॑यसे च॒ नमो॑ वृ॒द्धाय॑ च स॒वृधे॑ च॒ नमोऽग्र्या॑य च प्रथ॒माय॑ च ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमो ह्रस्वायेत्यस्य कुत्स ऋषिः। विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ३० ॥

विधि-(१) रूपसे नमस्कार करते हैं। मन्त्रार्थ-(ह्रस्वाय) अल्पशरीरके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है (च) और (वामनाय) संकुचित अवयवमें व्याप्तके निमित्त नम० (च) और (बृहते) प्रौढाङ्गके निमित्त० (च) और (वर्षीयसे०) अतिवृद्धके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वृद्धाय च) अवस्थामें अधिकके निमित्त० (च) और (सवृधे) विद्याविनयादि गुणयुक्त पण्डितोंके साथ वर्तनेवाले युवाके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अग्र्याय) मुख्य सब जगत्‌में प्रथम प्रादुर्भाव होनेवालेके निमित्त० (च) और (प्रथमाय) सबमें प्रथम मुख्यके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० ११२) ॥ ३० ॥

आशय-यह कि जब सृष्टि न थी तब आप थे आप सबसे प्रथम और अग्र्य कहे जाते हैं आपको नमस्कार है ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र ८।

नमऽआशवेचाजिरायचनमः शीघ्र्यायचशीभ्या
यचनमऽऊर्म्यायचावस्वन्यायचनमोनादेयायच
द्वीप्यायच ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नम आशव इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ–(आशवे) जगद्व्यापकके निमित्त (च) भी नमस्कार हो (च) और (अजिराय) गतिशीलके निमित्त सर्वत्र प्राप्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शीघ्र्याय) वेगवाली वस्तुमें विद्यमान (च) और (शीभ्याय) जलप्रवाहमें विद्यमान आत्मश्लाघी वा आत्मारूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ऊर्म्याय) जलतरंगमें होनेवाले (च) और (अवस्वन्याय) स्थिर जलोंमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (नादेयाय) नदीमें होनेवालेके निमित्त (च) और (द्वीप्याय) द्वीप अर्थात् टापूमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है [मं० सं० १२०] ॥ ३१ ॥ [९]

गूढार्थ–प्राणोंके पुष्टकरनेवाले अन्तःकरणचतुष्टयके पुष्टकरनेवाले शीघ्रगमनादि सुखकी प्राप्ति आनन्दकी लहरें, शब्दादिकका सुनना शब्द करना इत्यादि शक्तियोंके दाता आपको नमस्कार है, द्वीपद्वीपान्तरोंकी शक्तिदेनेवाले आपको नमस्कार है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र ८. अनु०५।

नमोज्येष्ठायचकनिष्ठायचनमः पूर्वजायचापर
जायचनमोमध्यमायचापगल्भायचनमोजघ
न्यायचबुध्न्यायच ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ज्येष्ठायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ–(च) और (ज्येष्ठाय) अतिप्रशस्य ज्येष्ठरूपके निमित्त (च) और (कनिष्ठाय) अतियुवा वा कनिष्ठ रूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है [अर्थात् सृष्टिके आरंभमें जो प्रथम उत्पन्न हुआ तिसके अन्तरमें भी विद्यमान और उसके पीछे जो कुछ उत्पन्न होरहा है उस सबके हृदयमेंभी विद्यमान होनेसे ज्येष्ठ कनिष्ठ

रूप है] (च) और (पूर्वजाय) जगत्की आदिमें हिरण्यगर्भ रूपसे उत्पन्न (च) और (अपरजाय) प्रलयकालमें कालाग्निरूपसे होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मध्यमाय) सृष्टिसंहारके अंतर देवतिर्यगादि रूपसे होनेवालेके निमित्त नमस्कार [अर्थात् प्रथम गर्भाधानमें बालकके रक्षक-रूपसे उस बालकके आत्माका आत्मा होकर गर्भमें वास करके उस बालकके साथही उत्पन्न होता है तिसके उपरान्त गर्भाधानमेंभी और गर्भमेंभी इसी प्रकार इसको प्रथम द्वितीय तथा सम्पूर्णही सन्तान कहा जाता है] (च) और (अपगल्भाय) अप्रगल्भ अव्युत्पन्न इन्द्रिय इन्द्रियादि प्रकाशरहित अण्डरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (जघन्याय) गवादिके पश्चाद्भागमें होनेवाले स्वेदज कृमि कीटादिमें वर्तमानके निमित्त नमस्कार है(च)और(बुध्न्याय) वृक्षादिके मूलमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (१२८) ॥३२॥

विशेष-यह अवयवविधायक नमस्कार है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र ८ ।

नमः॒ सोभ्या॑य च प्रतिस॒र्या॑य च॒ नमो॒ याम्या॑य च॒ क्षेम्या॑य च॒ नमः॒ श्लोक्या॑य चावसा॒न्या॑य च॒ नम॑ उर्व॒र्या॑य च॒ खल्या॑य च ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सोभ्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(सोभ्याय) गन्धर्वनगरमें होनेवाले अथवा पुण्यपापसहित वर्तमान मनुष्य लोकमें होनेवाले "पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमु॰। और (उभ्यां मनुष्यलोकम् इति [प्रश्नोप० २ । १] अथवा पृथ्वी लोकमें उत्पन्न होनेके समय जन्म बालकके अन्तर देवता रूपके निमित्त (च) और नम-स्कार है (च) और (प्रतिसर्याय) विवाहादि कार्यमें हाथमें बंधे मंगलसूत्रमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (याम्याय) पापियोंको दुःख देनेको यममें वर्तमान० (च) और (क्षेम्याय) कुशलमें होनेवाले वा परलोक गये हुए प्राणीके कल्याणमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्लोक्याय) इस संसारमें यश प्रचारके कारणभूत वा वैदिकमंत्ररूपी यशमें होनेवालेको० (च) और (अवसान्याय) वेदान्तमें स्थित वा जिसके प्रसादसे

प्राणी जन्म मृत्युसे छुटकारा पाता है उसके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उर्वर्याय) उपजाऊ भूमिमें उत्पन्न हुए धान्यादिके अन्तरमें भी विद्यमानके निमित्त नमस्कार (च) और (खल्याय) धान्यविवेचन देशमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १३६) ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र ८ ।

नमो॒ वन्या॑य च॒ कक्ष्या॑य च॒ नमः॑ श्र॒वाय॑ च प्रति॒श्र॒वाय॑ च॒ नम॑ आ॒शुषे॑णाय चा॒शुर॑थाय च॒ नमः॒ शूरा॑य चावभे॒दिने॑ च ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) नमोवन्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रा देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ–(वन्याय) वनमें वृक्षादिरूपसे होनेवालेके निमित्त वा घरमें विद्यमानको (च) भी नमस्कार है (च) और (कक्ष्याय) तृण वल्लीमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्रवाय) शब्दरूप वा ध्वनिमें वर्तमानके निमित्त नमस्कार है (च) और (प्रतिश्रवाय) प्रतिध्वनिमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आशुषेणाय :) शीघ्र चलनेवाली सेनाकी श्रेणीमें विद्यमानके निमित्त नमस्कार (च) और (आशुरथाय) शीघ्र चलनेवाले रथोंकी श्रेणीमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शूराय) युद्धविशारदोंके हृदयमें विद्यमानके निमित्त (च) और (अवभेदिने) शत्रुका हृदय वेधनेवाले शस्त्रमेंभी विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (म० १४४) ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र ८ ।

नमो॑ बि॒ल्मिने॑ च कव॒चिने॑ च॒ नमो॑ व॒र्मिणे॑ च वरू॒थिने॑ च॒ नमः॑ श्रु॒ताय॑ च श्रुतसे॒नाय॑ च॒ नमो॑ दुन्दु॒भ्या॒य चाहन॒न्या॒य च ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नमो बिल्मिन इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ–(च) और (बिल्मिने) शिरस्त्राण धारण करनेवालेके निमित्त वा वेलपत्र धारणसे प्रसन्न होनेवालेके निमित्त नमस्कार है (च) और (कवचिने) देहावरण स्यूत अंगरखा कवच धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है

(च) और (वर्मिणे) वख्तर धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वरूथिने) रथका गोपन स्थान वा हाथीके ऊपरकी अस्वारीमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (श्रुताय) प्रसिद्धके निमित्त नमस्कार है (च) और (श्रुतसेनाय) प्रसिद्धसेनावालेके निमित्त (च) भी (नमः) नमस्कार है और (दुन्दुभ्याय) रणके बाजेमें विद्यमानके निमित्त (च) और (आहन्याय) वाद्यसाधन दण्डादिमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १५२) ॥ ३५ ॥

भावार्थ-यह संसार विल्वकी तुल्य है इसमें जलकी तुल्य आपकी शीतल वेदवाणी है. आप कवचकी समान मायासे ऐसे ढके हैं जिस प्रकार शरीर वख्तरसे आच्छादित होता है. सद्गुण सत्य विज्ञान धनादि सेनारूप हैं जिससे पापादि शत्रु भागते हैं आपका यश वेदादिमें बहुत प्रकारसे सुना है, इसीसे वेदको श्रुति कहते हैं वही दोषरूपी शत्रुके निवारण करनेकी सेना है, उसके शब्द दुन्दुभी हैं जिस सेनासे पापादि शत्रुओंका हनन होता है ऐसे आपके निमित्त नमस्कार है ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र ८ ।

नमो॑ धृ॒ष्णवे॑ च प्रमृ॒शाय॑ च॒ नमो॑ निष॒ङ्गिणे॑ चेषुधि॒मते॑ च॒ नम॑स्तीक्ष्णेष॑वे चायु॒धिने॑ च॒ नमः॑ स्वायु॒धाय॑ च सु॒धन्व॑ने च ॥ ३६ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोधृष्णव इत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मंत्रार्थ-(च) और (धृष्णवे) प्रगल्भरूप अपने पक्षकी रक्षा करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (प्रमृशाय) विचारशील पंडितरूप वा विपक्षदलन करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (निषङ्गिणे) खड्गधारीके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (इषुधिमते) तरकसंयुक्तके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तीक्ष्णेषवे) तीक्ष्ण वाणधारीके निमित्त० (च) और (आयुधिने) मुद्गरादि आयुध धारण करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (स्वायुधाय) शोभन आयुध त्रिशूल लोह शिलादि धारण करनेवालेके निमित्त० (च) और (सुधन्वने) पिनाकश्रेष्ठ धनुष धारीके निमित्त नमस्कार है (मं० सं० १६०) ॥ ३६ ॥ [५]

कण्डिका ३७-मंत्र ८. अनु० ६।

नमः स्रुत्त्याय च पत्थ्याय च नमः काट्याय च नीप्प्याय च नमः कुल्ल्याय च सरस्याय च नमो नादेयाय च वैशन्ताय च ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः स्रुत्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः। निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (स्रुत्याय) क्षुद्र मार्ग ग्रामकी वाटमें स्थितके निमित्त० (च) और (पथ्याय) राजमार्गमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (काट्याय) दुर्गम मार्गमें स्थितके निमित्त० (च) और (नीप्याय) पर्वतके नीचे भागमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (कुल्याय) नहरके मार्गमें स्थितके निमित्त०-वा देहोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित (च) और (सरस्याय) सरोवरमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (नादेयाय) नदीमें जलरूपसे स्थितके निमित्त० (च) और (वैशन्ताय) अल्पसरोवर गोष्पदादिके जलमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं०१६८) ॥३७॥

गर्भितआशय-वेदही सबके निमित्त सुगम मार्ग है इसमें चलनेसे दुःखादि नहीं सताते, कारण कि इसमें कंटक नहीं हैं, और छोटे वडे सरोवररूप जो आश्रमोंका वर्णन है उनके द्वाराभी आप प्राप्त होते हो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र ८।

नमः कूप्प्याय चावट्याय च नमो वीद्ध्र्याय चातप्प्याय च नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः कूप्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः। भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (कूप्याय) कूपमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (अवट्याय) गर्तमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वीध्र्याय)

महाप्रकाश वा घोर अंधकारमें स्थितके निमित्त० (च) और (आतप्याय) धूप वा प्रकाशमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मेघ्याय) मेघमें होनेवालेके निमित्त (च) और (विद्युत्याय) विजलीमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वर्ष्याय) वर्षाकी धारामें स्थितके निमित्त (च) और (अवर्ष्याय) वृष्टिके प्रतिबन्धमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० १७६) ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र ८ ।

नमो॒ वात्या॑य च॒ रेष्म्या॑य च॒ नमो॑ वास्त॒व्या॑य च॒ वास्तु॒पाय॑ च॒ नमः॒ सोमा॑य च रु॒द्राय॑ च॒ नम॑स्ता॒म्राय॑ चारु॒णाय॑ च ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोवात्यायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । स्वराडार्षी पंक्तिश्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (वात्याय) वायुप्रवाहमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (रेष्म्याय) प्रलयकी पवनमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (वास्तव्याय) वास्तुगृहमें होनेवालेके निमित्त० (च) और (वास्तुपाय) वास्तु घरके पालनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (सोमाय) चन्द्रमामें स्थितके निमित्त० वा उमासहितके निमित्त (च) और (रुद्राय) दुःखनाशक रुद्ररूप वा अग्निरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ताम्राय) सायंकालके सूर्यमें स्थितके निमित्त० (च) और (अरुणाय) प्रभातकालीन सूर्यमें स्थितके निमित्त (नमः) नमस्कार है वा उदयकालीन ताम्र और उदयकालके उपरान्त कुछ रक्तरूप सूर्यमें स्थितके निमित्त नमस्कार है (मं० सं० १८४) ॥ ३९ ॥

आशय-वायुआदिके परमाणुओंको एकत्र कर पंचीकरणकी रीतिसे इस संसारकी सम्पूर्ण वस्तुके रचनेवाले और सबके रक्षक सोम यव आदिके उत्पादक पापादि दोष निवारणको भयानकरूप, अग्निसे तप्तधातुकी समान शुद्ध, रजोगुणसे संसारउत्पादकके निमित्त नमस्कार है ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

नमः॑ श॒ङ्गवे॑ च पशु॒पत॑ये च॒ नमः॑ उ॒ग्राय॑ च भी॒मा

यँचुनमोऽग्ग्रेवृधायँचदूरेवृधायँचुनमोंहन्त्रेचुहनीँय सेचुनमोंवृक्षेभ्योहरिकेशेभ्योनर्मस्ताराय ४० [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः शङ्गव इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(शङ्गवे) कल्याणरूप वेदवाणीवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (पशुपतये) प्राणियोंके पालकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उग्राय) शत्रुओंके मारनेको कठिन आयुध उठाये कठिन अन्तःकरणवालेके निमित्त० (च) और (भीमाय) शत्रुभयउत्पादक भयानकदर्शनके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (अग्रेवधाय) सन्मुखके शत्रुका वध करनेवालेके निमित्त० (च) और (दूरेवधाय) दूरके शत्रुका वधकरनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (हन्त्रे) मारनेवालेके रूपमें स्थित स्थावर पदार्थके लयकारीके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (हनीयसे) अतिशय हन्ता सदाको मृत्युका अभाव करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (हरिकेशेभ्यः) हरेपत्तेरूपकेशवाले (वृक्षेभ्यः) कल्पतरुरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ताराय) संसारके तारनेवाले वा ॐकाररूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० सं० १९४) ॥ ४० ॥ [४]

कण्डिका ४१-मंत्र ६. अनु० ७ ।

नर्मःशम्भवायँचमयोभवायँचुनर्मःशङ्करायँच मयस्करायँचुनर्मःशिवायँचशिवतरायच॥४१॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः शम्भवायेत्यस्य परमेष्ठी ऋषिः । प्रजापतिर्देव० ऋ० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(शम्भवाय) इस लोकके कल्याणकारी जिनसे सुख होता है अथवा सुखरूप संसाररूप मुक्तिरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मयोभवाय) संसारसुखदाता पारलौकिक कल्याणके आकरके निमित्त नमस्कार है (च) और (शङ्कराय) लौकिक सुख करनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (मयस्कराय) मोक्षसुख करनेवालेके निमित्त नमस्कार है (च) और (शिवाय) कल्याणरूप निष्पापके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और

(शिवतराय) भक्तोंके अत्यन्त कल्याणकारक तथा निष्पाप करनेवालेके निमित्त नमस्कार है [मं० सं० २००] ॥ ४१ ॥ [१]

विशेष-स्रक् चंदनादि रूपसे लौकिक सुख शास्त्रज्ञानसे मोक्षसुख देनेवाले हैं [मं० २००] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र ८. अनुवाक ८ ।

नमः॑ पार्य्या॑य चावार्य्या॑य च॒ नमः॑ प्रतर॑णाय चो॒त्तर॑णाय च॒ नमः॒ तीर्थ्या॑य च॒ कूल्या॑य च॒ नमः॒ शष्प्या॑य च॒ फेन्या॑य च ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः पार्य्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । निच्यृदाषी त्रिष्टुप्छन्दः । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मंत्रार्थ-(च) और (पार्य्याय) समुद्रके पारमेंभी विद्यमान, अथवा संसार-सागरके परंपारमें जीवन्मुक्तरूपसे वर्तमानके निमित्त० (च) और (अवार्य्याय) सागरके इस पारमें भी विद्यमान वा संसारमध्यवर्तीके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च) और (प्रतरणाय) जहाजमें विद्यमान अथवा अतिमंत्रजपादिसे पापके तारनेके कारणके निमित्त० (च) और (उत्तरणाय) डोंगेमें भी विद्यमान वा उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानसे संसारसागरके पारकरनेवालेके निमित्त (नमः)नमस्कार है (च) और (तीर्थ्याय) सागरादिके गर्भमें वा तीर्थ प्रयाग पुष्करादिमें विद्यमानके निमित्त० (च) और (कूल्याय) जलप्रणालीवा किनारेमें प्रगट होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (शष्प्याय) गंगादिके तटमें उत्पन्न कुश अंकुरादिमें विद्यमानके० (च) और(फेन्याय) सागरादिके फेनमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं०सं० २०८) ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र ८ ।

नमः॑ सिक॒त्या॑य च प्रवा॒ह्या॑य च॒ नमः॑ किꣳशि॒लाय॑ च क्षय॒णाय॑ च॒ नमः॑ कप॒र्द्दिने॑ च पुल॒स्तये॑ च॒ नमः॑ऽ इरि॒ण्या॑य च प्रप॒थ्या॑य च ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः सिकत्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा-इय ऋ० । जगती छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (सिकत्याय) नदीआदिकी रेतीमें विद्यमान, (च) और (प्रवाह्याय) नदीआदिके प्रवाहमें होनेवालेके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (किंशिलाय) नदीआदिके भीतर वृक्षकंकरादिमें विद्यमान वा क्षुद्रपाषाणकी शर्करायुक्त स्थानमें स्थितके निमित्त (च) और (क्षयणाय) स्थिर जलमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (कपर्दिने) जटाजूटयुक्त वा घूमतेहुए जलमें विद्यमान (च) और (पुलस्तये) पुरजलमें विद्यमान अथवा शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे विद्यमानके निमित्त (च) और (इरिण्याय) तृणरहित ऊषरभूमिमें विद्यमान (च) और (प्रपथ्याय) बहुसेवितमार्ग वा नालोंमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है [मं० सं० २१६] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र ८ ।

नमो॒ व्रज्या॑य च॒ गोष्ठ्या॑य च॒ नम॒स्तल्प्या॑य च॒ गेह्या॑य च॒ नमो॑ हृद॒य्या॑य च निवे॒ष्प्या॑य च॒ नमः॒ काट्या॑य च गह्वरे॒ष्ठाय॑ च ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नम इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (व्रज्याय) गोचारणस्थानमें विद्यमान (च) और (गोष्ठ्याय) गोठमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (तल्प्याय) शय्यामें विद्यमानके निमित्त (च) और (गेह्याय) घरमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार (च) और (हृदय्याय) हृदयमें जीवरूपसे स्थितके निमित्त० (च) और (निवेष्प्याय) हिमसमूहमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (काट्याय) दुर्गममार्गमें विराजमानके निमित्त (च) और (गह्वरेष्ठाय) गिरिगुहा वा गंभीर जलमें विराजमानके निमित्त नमस्कार है (मं० २२४) ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र ८ ।

नम॒ꣳ शुष्क्या॑य च हरि॒त्या॑य च॒ नमः॑ पाꣳस॒व्या॑य च रज॒स्या॑य च॒ नमो॒ लोप्या॑य चोल॒प्या॑य च॒ नम॒ऽ ऊर्व्या॑य च॒ सूर्म्या॑य च ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) नमः शुष्क्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मंत्रार्थ-(च) और (शुष्क्याय) सूखे काष्ठादिमें विराजमानके निमित्त० (च) और (हरित्याय) हरे पत्ते आदिमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (पाᳬसव्याय) धूरिमें विराजमानके निमित्त (च) और (रजस्याय) रजोगुण वा पुष्पपरागमें विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (लोप्याय) अगस्त्यदेशमें विराजमानके निमित्त (च) और (उलप्याय) वल्वजादि तृणमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (ऊर्व्याय) उर्व भूमि वा वडवानलमें विराजमानके० (च) और (सूर्व्याय) महाप्रलयकी अग्निमें विराजमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (मं० २३२) ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १२ ।

नमः॑ पुर्ण्याय च पर्णश॒दाय॑ च॒ नम॑ऽउद्गु॒रमा॑णाय
चाभिघ्न॒ते च॒ नम॑ऽआखिद॒ते च॑ प्रखिद॒ते च॒ नम॑ऽइषु
कृद्भ्यो॑ धनु॒ष्कृद्भ्य॑श्च वो॒ नमो॒ नमो॑ वः किरि॒केभ्यो॑
दे॒वाना॒ᳬ हृद॑येभ्यो॒ नमो॑ विचि॒न्वत्केभ्यो॒ नमो॑ वि
क्षिण॒त्केभ्यो॒ नम॑ऽआनिर्ह॒तेभ्यः॑ ॥ ४६ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ नमः पर्ण्यायेत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋ० । स्वराट्प्रकृति० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (पर्ण्याय) पर्णमें विद्यमानके निमित्त (च) और पर्णपतित पर्णस्थित देशरूप वा पर्णमें उत्पन्न कीटादिमेंभी विद्यमानके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (उद्गुरमाणाय) निरन्तर उद्यमी उत्पन्न करने-वालेके निमित्त (च) और (अभिघ्नते) शत्रुओंके संहारकके निमित्त (नमः) नमस्कार है (च) और (आखिदते) अभक्तोंको सदा दुःखदाता त्रिविधतापके प्रेरकके० (च) और (प्रखिदते) त्रिविधतापके उत्पन्नकर्ता वा पापियोंको अति दुःखदायीके निमित्त० (नमः) नमस्कार है (इषुकृद्भ्यः) वाणके उत्पन्न करनेवालेके निमित्त० (च) और (धनुष्कृद्भ्यः) धनुषके करनेवाले रुद्ररूप (वः) आपके

निमित्त (नमः) नमस्कार है [युष्मदादेशसे यह प्रत्यक्ष रुद्र हैं यहां २४० पूर्णहुए यहां तक रुद्रकी प्रधानता कहकर अब प्रधानभूत अग्नि, वायु, सूर्यादिरूपसे वर्णन करतेहैं] "प्रथमयजु १४ का और तीन सात अक्षरके व्याहृतिसंज्ञक हैं"

जो (देवानाम्) देवताओंके(हृदयेभ्यः)हृदयस्वरूप प्रधान अग्नि वायु सूर्यके हृदयरूप (किंरिकेभ्यः) वृष्ट्यादिद्वारा जगत्‌को सृजन करतेहैं ऐसे (वः) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विचिन्वत्केभ्यः) जो देवता देवताओंका हृदयस्वरूप हैं जो वृष्टिआदिसे जगत्‌का पालन करते जो धर्मात्मा और पापात्माओंको पृथक् करते हैं उन अग्नि वायु सूर्यके हृदयरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (विक्षिणत्केभ्यः) विविधपापोंको दूरकरनेवाले अग्निआदिके निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् जो देवताओंका हृदयस्वरूप विक्षिणत्क वृष्टिआदिसे जगत्‌का संहार करतेहैं अग्निवायु सूर्यके हृदयस्वरूप हैं उनके निमित्त वारंवार नमस्कार है (आनिर्हतेभ्यः) सृष्टिकी आदिमें होनेवाले रुद्रावतारोंके निमित्त (नमः) नस्मकार है अर्थात् जो देवताओंका हृदयस्वरूप अनिर्हत "काल प्राप्त होनेसे स्वयंभी गुप्त होजाता है" इससे आनिर्हत कहते हैं जो अग्नि वायु सूर्यकाभी हृदयस्वरूप है उसको वारंवार नमस्कार है ॥ ४६ ॥

१ "देवानां हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवाना ँ हृदयानि", इति श्रुतेः [९ । १ । १ । २३] २ "एतेहीद ँ सर्वं कुर्वन्ति इति [९ । १ । १ । २३] श्रुतेः ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मं० १. अनु० ९ ।

द्रापेऽअन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित ॥ आसाम्प्रजानामेषाम्पशूनाम्मा भेर्म्मा रोङ्मो च नः किञ्चनाममत् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ द्रापे इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋषयः । भुरिगार्षी बृहती छं० । एकरुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ४७ ॥

मंत्रार्थ–(द्रापे) हे पापियोंकी दुर्गतिकरनेवाले हे (अन्धसः) सोमके (पते) पालक ! (दरिद्र) अद्वितीय होनेसे सहायशून्य निष्परिग्रह (नीललोहित) हे नील और लोहित एक अंश नील दूसरा लाल शुक्ल कृष्ण उभयात्मक वा कंठमें नील अन्यत्र लोहित शिव ! (नः) हमारे (आसाम्) इन (प्रजानाम्)पुत्रपौत्रादि (एषाम्) इन (पशूनाम्) पशुओंको (मा) मत (भेः) भयकरो तथा

प्रजा पशुओंका (मा- रोक्) भंग मत करो (च) और (किञ्चन) किसी प्रकार भी हम तथा हमारी प्रजा पशुको (मा) मत (आममत्) रुग्ण करो सब प्रकार प्रजापशुमें मंगल करो ॥ ४७ ॥

प्रमाण-"अन्धसस्पत इति सोमस्य पत इत्येतत्" इति [९।१।१।२४] श्रुतेः ।

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्र भरामहे मतीः ॥ यथा शमसद्द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमारुद्रायेत्यस्य कुत्स ऋषिः । आर्षी जगती छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-(यथा) जिस प्रकार (द्विपदे) पुत्रादिमें (चतुष्पदे) गवादिपशुओंमें (शम्) सुखकी प्राप्ति हो तथा (अस्मिन्) इस (ग्रामे) ग्राममें (विश्वम्) सम्पूर्ण प्राणिसमूह (पुष्टम्) पुष्ट (अनातुरम्) उपद्रवरहित (असत्) हों उसी प्रकार हम (इमाः) इन अपनी (मतीः) बुद्धियोंका (तवसे) महाबली (कपर्दिने) जटिल (क्षयद्वीराय) शूरवीरोंके निवासभूत (रुद्राय) रुद्रदेवताके निमित्त (प्रभरामहे) समर्पण करते हैं "महते बलवते वा उभयत्र तवशब्दः पठितः" [निघं० २ । ९ । ३ । ३][ऋ० १ । ८ । ५] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी ॥ शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यातेरुद्र इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्र) हे शंकर ! (या) जो (ते) आपका (शिवा) शान्त (विश्वाहा) निरन्तर (शिवा) कल्याणकारिणी (भेषजी) ओषधीरूप संसारकी व्याधि निवृत्त करनेवाली तथा (रुतस्य) शरीरव्याधिकी (शिवा) समीचीन (भेषजी) ओषधीरूप (तन्वा) शरीर वा शक्ति है (तया) उस शक्तिसे (नः) हमारे (जीवसे) जीवनको (मृड) सुखी करो ॥ ४९ ॥

भावार्थ-हे रुद्र! तुम्हारी जो तनू कल्याणरूपिणी जो तनू सबके कल्याणसाधनी जो सब रोगोंकी महौषधि है, उस तनुके द्वारा हमको सुखी करो ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मन्त्र १।

परिं नो रुद्रस्यं हेतिर्वृंणक्तु परिं त्वेषस्यं दुर्मतिरंघायोः ॥ अवं स्थिरा मघवंद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वंस्तोकाय तनंयाय मृड ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परिन इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्रस्य) रुद्रके (हेतिः) सम्पूर्ण आयुध (नः) हमको (परि-वृणक्तु) परित्याग करैं (त्वेषस्य) पापियोंपर क्रोधित अर्थात् कोपनस्वभाव (अघायोः) दण्ड देनेकी इच्छावाली (दुर्मतिः) दुर्मति हमको (परि) सब प्रकार त्याग करैं (मीढ्वः) हे अभिलषितफलप्रद! (मघवद्भ्यः) हविरूप धनसे युक्त यजमानोंके भय दूर करनेको (स्थिरा) दृढ धनुषोंको (अवतनुष्व) ज्याहीन करो हमारे (तोकाय) पुत्र (तनयाय)पौत्रादिको (मृड) सुख दो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १।

मीढुंष्टम शिवंतम शिवो नंः सुमनां भव ॥ परमे वृक्षऽआयुंधन्निधाय कृत्तिं वसांनऽआ चंर पिनांकम्बिभ्रदा गंहि ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मीढुष्टम इत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ०। निच्यृदार्षी यवमध्या त्रिष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ-(मीढुष्टम) हे अतिशय अभिलषितफलदाता (शिवतम) अत्यन्त-कल्याणकर्ता (नः) हमको (शिवः) शान्त (सुमनाः) सुन्दरमनवाले (भव) हो (परमे) दूरस्थित वा ऊंचे (वृक्षे) वृक्षपर अपना (आयुधम्) त्रिशूल (निधाय) रखकर (कृत्तिंवसानः) मृगचर्मधारणकिये (आचर) आगमन कीजिये वा तप कीजिये (पिनाकम्) पिनाक धनुषको (बिभ्रत्) धारणकिये (आगहि) आगमन करो अर्थात् ज्या और बाणोंसे हीन धनुष शोभाके निमित्त धारणकिये आइये ॥ ५१ ॥

भावार्थ-भाव यह कि संसाररूपी वृक्षपर पापोंके संहारकी शक्तिको फैलाकर कार्यकारिणी शक्तिसे वशकर हमारी रक्षाकरो । इस मंत्रका तात्पर्य बडा गूढ है इसमें संसारियोंके निमित्त शस्त्र है मुमुक्षुवोंके निमित्त अभय है इत्यादि तपस्वी महात्माओंके जानेयोग्य है ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

विकिरिद्र विलोहित नमस्तेऽअस्तु भगवः ॥ यास्ते सहस्रꣳ हेतयोऽन्यमस्मन्निवपन्तु ताः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विकिरिद्रेत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(विकिरिद्र) हे अनेकउपद्रव नाशकरनेवाले (विलोहित) हे शुद्ध-स्वरूप (भगवः) भगवन् ! (ते) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) तुम्हारे (याः) जो (सहस्रम्) सहस्रों (हेतयः) शस्त्र हैं (ताः) वह (अस्मत्) हमको छोडकर (अन्यम्) और कहीं (निवपन्तु) उपद्रवियोंपर पडैं [विलोहितका अर्थ अत्यन्त रक्तवर्ण संहारमूर्ति भी है] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः ॥ तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्राणीत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ० । निच्यृदार्ष्य-नुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मंत्रार्थ-(भगवः) हे भगवन् षडैश्वर्यसम्पन्न ! (तव) आपके (बाह्वोः) भुजाओंमें (सहस्राणि) बहुत प्रकारके (सहस्रशः) सहस्रों (हेतयः) खड्ग शूलादि आयुध हैं (ईशानः) जगत्के पति आप (तासाम्) उन संहारकारी आयुधोंके (मुखा) मुख हमसे (पराचीना) पराङ्मुख (कृधि) कीजिये ॥ ५३ ॥

भावार्थ-दृश्यादृश्य जितने बाहुयुगल हैं वह सबही उनके हैं वा सबहीमें उनकी सत्ता है, आशय यह कि पापोंके द्वारा प्राणी दुःख पाते हैं आप उन पापोंको नीचे मुख कीजिये और हमको सुखी कीजिये" ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मन्त्र १ ।

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्राऽअधि भूम्याम् ॥ तेषाꣳ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असंख्याता इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋ०। विराडार्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (असंख्याताः) असंख्य (सहस्राणि) सहस्रों (रुद्राः) रुद्र (भूम्याम्) भूमिके (अधि) ऊपर स्थित हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) "यह मंत्र पढकर प्रार्थनाके बलसे" डालकर अभय होते हैं "इस मंत्रसे रुद्रका असंख्यत्व वा असंख्य वस्तुमें एक रुद्रका व्यापकत्व सिद्ध हुआ" ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मन्त्र १।

अस्मिन्महत्यर्णवेन्तरिक्षे भवा ऽअधि ॥
तेषां सहस्रयोजनेवधन्वानि तन्मसि ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्मिन्नित्यस्य परमेष्ठी प्रजापति०। भुरिगार्ष्युष्णिक्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-अन्तरिक्षके रुद्रोंका वर्णन। (अस्मिन्) इस (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें और (महति) वडे (अर्णवे) सागर अर्थात् आकाशगंगानामसे प्रसिद्ध नक्षत्रपुंजधाराप्रवाहमें (अधि) आश्रय करके जो (भवाः) रुद्र स्थित हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) मंत्र बलसे सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) ज्यारहित कर डालते हैं ॥ ५५ ॥

गूढाशय-इस वडे संसाररूपी समुद्रमें उत्पन्न हुए जीवोंके हृदय अन्तरमें जो ज्ञानयुक्त परमेश स्थित है उस असंख्यात फलदाताका विचार करो ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १।

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवं रुद्रा ऽउपश्रिताः ॥
तेषां सहस्रयोजनेवधन्वानि तन्मसि ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापति०। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। रुद्रो देवता। वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-द्युलोकस्थित रुद्रोंका वर्णन। (नीलग्रीवाः) नीलग्रीवावाले (शितिकण्ठाः) श्वेत कण्ठवाले विषभक्षणसे कितना एक कण्ठ श्वेत और कितना एक नील अथवा निर्मल आकाश और मेघसहित आकाशमें चन्द्रतारादिमें वर्तमान

(रुद्राः) जो रुद्र (दिवम्) द्युलोकमें (उपश्रिताः) आश्रय किये हुए हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

नीलग्ग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वाऽअधः क्षमाचराः ॥
तेषाᳬं सहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नीलग्रीवा इत्यस्य परमेष्ठी प्र० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-पातालस्थित रुद्रोंका वर्णन । (नीलग्रीवाः) नीली गर्दनवाले (शितिकण्ठाः) श्वेत कण्ठवाले (शर्वाः) जो शर्वनामक रुद्र (अधः) नीचे (क्षमाचराः) पातालमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १ ।

येवृक्षेषुशष्पिञ्जरानीलग्ग्रीवाविलोहिताः ॥
तेषाᳬं सहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येवृक्षेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्र० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (शष्पिञ्जराः) हरितवर्ण (नीलग्रीवाः) नीलग्रीवावाले (विलोहिताः) विशेष रक्तवर्ण अथवा तेजोमय शरीरवाले (वृक्षेषु) वृक्षोंमें अर्थात् पत्ते शाखा कौंपलादिमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १ ।

येभूतानामधिपतयोविशिखासः कपर्दिनः ॥
तेषाᳬं सहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येभूतानामित्यस्य परमेष्ठी प्र० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० रुद्रो देव० । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो रुद्र (भूतानाम्) देवविशेषोंके (अधिपतयः) अधिपति हैं अर्थात् अन्तर्हितशरीर होकर मनुष्योंमें उपद्रव करनेवाले भूतोंके पालक हैं तथा (विशिखासः) शिखाहीन मुण्डितशिर (कपर्दिनः) जो जटाजूटसे युक्त हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्र योजन दूर (अवतन्मसि) प्रक्षेप करते हैं ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०—मन्त्र १।

येपथाम्पथिरक्षयऽऐलबृदाऽआयुर्युधः ॥
तेषा॑ᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये पथामित्यस्य परमेष्ठी प्रजा० ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो (पथाम्) लौकिक वैदिक मार्गोंके अधिपति (पथिरक्षयः) मार्गोंके पालक (ऐलभृतः) राज्यशासनकारी वा अन्नके धारक अथवा अन्नसे प्राणियोंको पुष्टकरनेवाले (आयुर्युधः) जीवनपर्यन्त युद्ध करनेमें रत हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सब धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करतेहैं ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१—मंत्र १।

येतीर्थानि प्रचरन्तिसृकाहस्तानिषङ्गिणः ॥
तेषा॑ᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये तीर्थानीत्यस्य परमेष्ठी प्र० ऋ० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (सृकाहस्ताः) आयुधविशेष 'ढाल' हाथमें लिये तथा (निषङ्गिणः) खड्गधारण किये (तीर्थानि) काशीप्रयागादितीर्थोंमें (प्रचरन्ति) फिरते हैं वा जो तीर्थोंका तथा धर्मका प्रचार करते हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करते हैं ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२—मन्त्र १।

येअन्नेषुविविध्यन्तिपात्रेषुपिबतोजनान् ॥
तेषा॑ᳬसहस्रयोजनेवधन्वानितन्मसि ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येन्नेष्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा० । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो दे० । वि० पू० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (अन्नेषु) अन्न भोजन करतेमें (जनान्) प्राणियोंको (विविद्ध्यन्ति) विशेष करके ताडन करते हैं अर्थात् धातुकी विषमता कर रोगोंको उत्पन्न करते हैं (पात्रेषु) पात्रोंमें जल दूध आदि (पिबतः) पीते-हुए जनोंके कुत्सित जलआदिसे रोगग्रसित करते हैं (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुषोंको (सहस्रयोजने) सहस्रयोजन दूर (अवतन्मसि) निक्षेप करते हैं ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १ ।

यऽएतावन्तश्च भूयाᳬंसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ॥ तेषाᳬं सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥६३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ य इत्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्देवा ऋषयः निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(च) और (ये) जो (रुद्राः) रुद्र (एतावन्तः) इन दशोंदिशाओंमें अथवा इतने (च) और (भूयाᳬंसः) इन कहेहुओंसे भी अधिक (दिशः) सम्पूर्ण दिशाओंमें (वितस्थिरे) आश्रित हैं अर्थात् जिनके दर्शन हमको नहीं होते और जिनका दर्शन इन मंत्रोंमें नहीं हुआ (तेषाम्) उनके (धन्वानि) सम्पूर्ण धनुष (सहस्रयोजने) सहस्रयोजनकी दूरीपर (अवतन्मसि) मंत्रबलसे निक्षेप करते हैं ॥ ६३ ॥

काण्डका ६४-मंत्र १ ।

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः ॥ तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः ॥ तेभ्यो नमोऽअस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्र० । निच्यृद्धृतिश्छन्दः रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

विधि-यह तीन कण्डिकावाले मंत्र प्रत्यवरोह संज्ञावाले हैं त्रिलोकीमें स्थित रुद्रोंको कथनकरते हैं-मन्त्रार्थ-(ये) जो रुद्र (दिवि) द्युलोकमें विद्यमान हैं (येषाम्)

जिन रुद्रोंके (वर्षम्) वृष्टिही (इषवः) वाण हैं(तेभ्यः)उन(रुद्रेभ्यः)रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (तेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (दशप्राचीः) पूर्वदिशामें दशअंगुली होकर अर्थात् हाथ जोडकर (दशदक्षिणा) दक्षिणामें दशअंगुली होकर (दशप्रतीचीः) पश्चिममें दशअंगुली होकर (दशोदीचीः) उत्तरमें दशअंगुली होकर (दशोर्ध्वाः) ऊर्ध्वमें दश अंगुली अर्थात् कर जोड प्रार्थना करता हूं उनके निमित्त (नमः) नमस्कार हो (ते) वे रुद्र (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें (ते) वे (नः) हमको (मृडयन्तु) सुखी करें (ते) वे रुद्र (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (च) और (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) द्वेष करता है (तम्) उसको (एषाम्) इन रुद्रोंके (जम्भे) डाढमें (दध्मः) स्थापन करते हैं ॥ ६४ ॥

भाव-जो देवता द्युलोकमें हैं जिनके वाण वृष्टि हैं अर्थात् वृष्टिद्वारा सृजन पालन और अतिवृष्टिसे संहार किया करते हैं, सब दिशाओंमें उनको हाथ जोडकर प्रमाण करते हैं ॥ ६४ ॥

प्रमाण-"दश वा अञ्जलेरंगुलयो दिशि दिश्येवैभ्य एतदञ्जलिं करोति" इति [९ । १ । १ । ३९] श्रुतेः ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

नमो॑ऽस्तु रु॒द्रेभ्यो॒ ये॑ऽन्तरि॑क्षे॒ येषां॒ वात॒ऽइष॑वः ॥ ते॒भ्यो॒ दश॒ प्राची॒र्दश॑ दक्षि॒णा दश॑ प्र॒तीची॒र्दशोदी॑चीर्दशो॒र्ध्वाः ॥ तेभ्यो॒ नमो॑ऽअस्तु॒ ते नो॑ऽवन्तु॒ ते नो॑ मृडयन्तु॒ ते यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तमे॑षां॒ जम्भे॑ दध्मः ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्ऋ० । धृतिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ-(रुद्रेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ये) जो रुद्र (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें विद्यमान हैं (येषाम्) जिनके (इषवः) बाण (वातः) पवन हैं अर्थात् पवनद्वारा जो सृजन पालन और आंधी आदिसे संहार करते हैं उनके निमित्त नमस्कार है शेषम्पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मंत्र १ ।

नमो॑ऽस्तु रु॒द्रेभ्यो॒ ये पृ॑थि॒व्यां येषा॒मन्न॒मिष॑वः ॥

तेभ्योदशप्प्राचीर्द्दशंदक्षिणादशंप्प्रतीचीर्द्दशोदीं चीर्द्दशोर्द्ध्वाः ॥ तेब्भ्योनमोऽअस्तुतेनोवन्तुतेनो मृडयन्तुतेयन्द्द्विष्ष्मोयश्श्चनोद्वेष्टितमेषाञ्जम्भेद्द ध्मः ॥ ६६ ॥ [२०]

इति वाजसनेयिशुक्लयजुस्संहितायां दीर्घपाठे षोडशोऽध्यायः १६

ऋष्यादि-(१) ॐ नमोस्त्वित्यस्य परमेष्ठी प्रजापतिर्वा देवा ऋषयः । धृतिश्छन्दः । रुद्रो देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ-(रुद्रेभ्यः) उन रुद्रोंके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ये) जो रुद्र (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें स्थित हैं (येषाम्) जिनके (इषवः) बाण (अन्नम्) अन्न हैं जो अन्नद्वाराही सृजन पालन और मिथ्याहार विहारसे रोग उत्पन्न कर प्राणियोंको संहार करते हैं उनके निमित्त नमस्कार है शेष पूर्वकी समान ॥ ६६ ॥ [२०]

भाव-षोडश अध्यायमें रुद्रदेवताका सम्पूर्ण जगत्में अधिकार वर्णन किया है, अर्थात् सम्पूर्ण जगत्में वह परमात्मा रुद्ररूपसे व्याप्त हैं, कोई स्थान उससे भिन्न नहीं है इसी कारण स्थावर जंगम सभीको प्रणाम किया है, इष्ट अनिष्ट सब उसीके द्वारा होता है त्रिलोकीका उत्पत्ति पालन प्रलय सब रुद्रसेही होता है " एको रुद्रो न द्वितीयः " इस श्रुतिके अनुसार एक अद्वैत रुद्रका प्रतिपादन होता है, वेदानुसार उनकी उपासना करनी चाहिये, रुद्रकी उपासनासे सब उपद्रव दूर होकर चारों पदार्थकी प्राप्ति होती है इसका पाठ करनेसे सब मनोरथ सिद्ध होते हैं ॥ ६६ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नमिश्रसुखानंदसूनुपंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृते मिश्रभाष्ये शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागे शतरुद्रीयहोमो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

शुभमस्तु ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः १७.

अश्मन्नूर्जं दशनमस्ते पञ्चाग्निस्तिग्मेन नव चक्षुषः पिता षड्वाशुः शिशानः सप्तदशो देवं क्रमध्वमग्निना पञ्चदश कौशुक्रज्योतिः सप्तसप्तति नं त्रयो दशनवैकोनशतम् ॥

कण्डिका १–मंत्र ४. अनु० १ ।

अश्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामद्भ्यऽओषधीभ्यो वनस्पतिभ्योऽअधि सम्भृतं पयः ॥ तान्नऽइषमूर्जं धत्त मरुतः सꣳरराणाऽअश्मँस्ते क्षुन्मयि तऽऊर्ग्यं द्विष्मस्तन्ते शुगृच्छतु ॥१॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्मन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । मरुतो देवताः । अग्निसिंचने विनियोगः । (२) ॐ अश्मन्नित्यस्य मेधा० ऋ० । दैवी बृहती छन्दः । अश्मा देवता । शिलोपरि कुम्भस्थापने वि० । (३) ॐ मयि ते इत्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । दैवी बृहती छं० । आशीर्देवता । सिंचने वि० । (४) ॐ यमित्यस्य मेधा० ऋ० । याजुषी बृहती छन्दः । शुग्देवता । घटक्षेपणे विनि०॥ १ ॥

विधि–(१) सोलहवें अध्यायमें शतरुद्रिय होम वर्णन किया अब चित्यपरिषेकादि मंत्र वर्णन करते हैं, दक्षिणनिकक्षमें शिलास्थापन करके हाथमें जलका कुंभ लेकर इस अद्रिसे आरंभ करके प्रदक्षिणक्रमसे पक्ष और पुच्छके सहित अग्निको इस मंत्रसे जलधाराद्वारा सिंचन करै "पक्षकी अपर सन्धिको कक्ष और उसके समीप प्रदेशको निकक्ष कहते हैं" [का० १८ । २ । १] मन्त्रार्थ–(मरुतः) हे मरुद्गण ! (सꣳरराणाः) प्रसिद्धिदाता तुम (अश्मन्) पाषाणमें (पर्वते) विन्ध्याचल हिमालयादि पर्वतमें (शिश्रियाणाम्) आश्रित (ऊर्जम्) सारभूत बलका हेतु अथवा मेघमें आश्रित वृष्टिके सम्पादन करता तथा (अद्भ्यः) जलोंसे (ओषधीभ्यः) ओषधियोंसे (वनस्पतिभ्यः) वनस्पति अश्वत्थादिसे (अधि) अधिक (सम्भृतम्) सम्पादित, तथा गौद्वारा सम्पादित (पयः) दूध अर्थात् मेघजनित जलरूप और गौसे उत्पन्न दुग्धरूप (ताम्) उस प्रसिद्ध (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) रसको (नः) हमारे निमित्त (धत्त) स्थापन कीजिये

"मरुतो वै वर्षस्येशते" इति [९ । १ । २ । ५] श्रुतेः । भावार्थ यह कि हे मरुद्गण ! आप प्रसिद्ध दाता हो इस कारण प्रार्थना करते हैं कि जो २ अन्न और-रस पर्वतके आश्रित एवं जल औषधी और वनस्पति और गौसे जो लाभ करा जाता है वह सब हमको प्रदान करो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठपूर्वक शिलाके ऊपर जलकुंभ स्थापन करै [का० १८ । २ । ३] मन्त्रार्थ-(अश्मन् हे प्रस्तररूप सर्वभक्षक अग्ने ! (ते) तुमको (क्षुत्) क्षुधा प्राप्त हो अर्थात् बहुत हवि भोगो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करके यह घडा फिर हाथमें ग्रहण करके फिर दो बार पूर्ववत् धाराक्रमसे सिंचन करै [का० १८ । २ । ३] मंत्रार्थ-(अश्मन्) हे प्रस्तर ! (ते) तुम्हारा (ऊर्क्) सारभाग (मयि) मेरे विषे स्थित हो ३ । विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करके इस जलकुंभके ऊपर यह शिला लेकर दक्षिण वेदीके श्रोणी स्थानमें स्थित होकर इसको दक्षिण दिशामें निक्षेप करै [का० १८ । २ । ४] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! (ते) तुम्हारा (शुक्) क्रोध (तम्) उस मनुष्यके प्रति (ऋच्छतु) प्राप्त हो (यम्) जिसके साथ हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं अर्थात् जो कोई हमारा शत्रु हो तुम्हारा दाह उसको प्राप्त हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १ ।

इमा मे॑ऽअग्न॒ऽइष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्वे॒का च॒ दश॑ च॒ दश॑ च श॒तं च॑ श॒तं च॑ स॒हस्रं॑ च स॒हस्रं॑ चा॒युतं॑ चा॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च नि॒युतं॑ च प्र॒युतं॒ चार्बु॑दं च॒ न्य॑र्बुदं च समु॒द्रश्च॒ मध्यं॒ चान्त॑श्च परा॒र्द्धश्चै॒ता मे॑ऽअग्न॒ऽइष्ट॑का धे॒नवः॑ सन्त्व॒मुत्रा॒मुष्मि॑ँल्लो॒के ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमा इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । निच्यृद्विकृतिश्छं० । अग्निर्देवता । जपे विनि० ॥ २ ॥

विधि-(१) इस प्रकार कुंभ निक्षेप करनेके उपरान्त उसके प्रति फिर दृष्टिपात न करके प्रत्यागमनकर दक्षिण वेदीके श्रोणीसमीपमें स्थित होकर दोनों भुजा फैलाकर जबतक इस चितिके सम्पूर्ण अवयव स्पर्श करै तबतक इस द्वितीय और तृतीय कण्डिकाका सस्वर पाठ करै [का० १८ । २ । ९]

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (इमाः) यह जो पांच चितिमें स्थापित (इष्टकाः) इष्टका हैं तुम्हारे प्रसादसे इस लोकमें (मे) मेरे (धेनवः) अभिमत फल देनेवाली गोरूप (सन्तु) हों उनकी संख्या कहते हैं जो (एका) एक (च) ही दशसे गुणा करनेसे (दश) दशसंख्या (च) और (दशच) दशगुणा करनेसे (शतम्) सौ संख्या (च) और (शतम्) सौको दशगुणा करनेसे (च) ही (सहस्रम्) सहस्र होता है (च) और (सहस्रम्) सहस्र (च) दशगुणा करनेसे (अयुतम्) अयुत—१०००० संख्या होती है (च) और (अयुतम्) अयुत (च) दशगुणा करनेसे (नियुतम्) लाख १००००० संख्या होती है (च) और (नियुतम्) नियुतको (च) दशगुणा करनेसे (प्रयुतम्) दशलाख १०००००० संख्या होती है (च) और इसका दशगुणा करनेसे करोड १००००००० होता है इसका दशगुणा करनेसे (अर्बुदम्) १०००००००० अर्बुद[दशकोटि]होता है (च) और इसका दशगुणा करनेसे (न्यर्बुदम्) न्यर्बुद [अब्ज] १००००००००० संख्या होती है (च) और इसका दशगुणा करनेसे खर्व १०००००००००० और खर्वका दशगुणा करनेसे निखर्व १००००००००००० इसका दशगुणा महापद्म १०००००००००००० इसका दशगुणा शंकु १००००००००००००० शंकुका दशगुणा (समुद्रः) १०००००००००००००० समुद्र (च) और समुद्रका दशगुणा करनेसे (मध्यम्) मध्य १००००००००००००००० (च) और मध्यका दशगुणा करनेसे (अन्तः) १०००००००००००००००० अन्त (च) और इसका दशगुणा करनेसे (परार्द्धः) १००००००००००००००००० परार्द्ध संख्या होतीहै (अग्ने) हे अग्ने ! (एताः) यह (इष्टकाः) इष्टका (अमुत्र) दूसरे जन्ममें (च) और (अमुष्मिन्) दूसरे (लोके) लोकमें (मे) मेरे निमित्त (धेनवः) कामदुघा (सन्तु) हों अर्थात् इष्टका परार्द्ध संख्यातक एकत्र स्थायी होती हैं और कामदुघ हैं इस कारण प्रार्थना है कि यह हमको इस लोक पर लोक और पर जन्म किसी कालमें भी कामनारूप दूध दानसे कातर न हों ॥ २ ॥

विशेष—यद्यपि मूलमंत्रमें एक दश शत सहस्र अयुत नियुत प्रयुत आदिसे परार्द्धपर्यन्त संख्या वर्णन करी है खर्व निखर्व महापद्म और शंकुका कथन नहीं किया है परन्तु अनेक चकारोंके कहनेसे यह संख्या भी निकलती है और भी अंकगणित बीजगणित रेखागणित आदिका बीजभूत यह मंत्र है तथा और भी मंत्र इस विद्याके प्रतिपादक आवेंगे यद्यपि अग्निचयनमें नियत इष्टका चयन की जाती हैं तोभी मंत्रकी सामर्थ्यसे एकसे परार्द्धतक संख्या होती है यह संख्या

सब लोकोंमें है जैसे इष्टकानिर्मित गृह गरमी शीत आदिके निवारण करनेसे आनंद देते हैं उसी प्रकार अग्नि आहुतिदानसे सबको प्रसन्न करता है जल वायु स्वच्छ होता है २ । एक दश शत सहस्र अयुत (दशसहस्र) नियुत (लक्ष) प्रयुत (दशलक्ष) कोटी अर्बुद (दशकरोड) न्यर्बुद (अरव) खर्व (दशअरव) निखर्व (खर्व) महापद्म (दशखर्व) शंकु (नील) समुद्र दशनील (मध्य) पद्म अन्त (दशपद्म) परार्द्ध (शंख) ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

ऋतवस्स्थऽऋतावृधंऽऋतुष्ठास्स्थंऽऋतावृधं÷ ॥ घृतश्च्युतोमधुश्च्युतोविराजोनामकामदुघाऽअक्षीयमाणाः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतव इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-हे इष्टके ! तुम (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञकी वढानेवाली (ऋतवः) वसन्तादिरूप (स्थ) हो (ऋतावृधः) यज्ञकी वृद्धि देनेवाली (ऋतुष्ठाः) वसन्तादि ऋतुओंमें स्थित हो तथा (घृतश्च्युतः) घृतकी क्षरण करनेवाली (मधुश्च्युतः) मधुकी क्षरण करनेवाली (विराजः) विशेष कर विराजमान (नाम) नामसे प्रसिद्ध (कामदुघाः) कामना पूर्ण करनेवाली (अक्षीयमाणाः) क्षयरहित (स्थ) हो मुझे सब कामना दो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

समुद्रस्युत्त्वावकुयाग्नेपरिव्ययामसि ॥ पावकोऽअस्मभ्यंᳬशिवोभव ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । वंशं हस्तेनादाय अग्निक्षेत्रकर्षणे विनि०॥४॥

विधि-(१) एक वांस खण्डमें मण्डूकी अवका (शिवार) और वेतकी शाखा वांधकर चितिमें स्थित अग्निक्षेत्रको कर्षण करना होता है उसमें यह मंत्रपाठ करके दक्षिण श्रोणीसे दक्षिणांसपर्यन्त कर्षण करै [का०

१८।२।१०] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! ! (समुद्रस्य) जलके (अवक्या) शैवालद्वारा (त्वा) तुमको (परिव्ययामसि) सब ओरसे वेष्टन करताहूं (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १।

हिमस्यत्वाजुरायुणाग्ग्नेपरिव्ययामसि ॥ पावुकोऽअस्मभ्यꣳशिवोभव ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिमस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणश्रोण्याद्युत्तरश्रोण्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिण श्रोणीसे उत्तर श्रोणीतक कर्षण करे। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (हिमस्य) हिमके (जरायुणा) जरायुवत् उत्पत्तिस्थान शैवालद्वारा (त्वा) तुमको (परिव्ययामसि) सब ओरसे वेष्टन करता हूं (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हूजिये ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १।

उपज्ज्मन्नुपवेतसेवतरन्नदीष्ष्वा ॥ अग्ग्नेपित्तमुपामसिमण्डूकिताभिरागहिसेमन्नोयुज्ञम्पावकवर्णꣳशिवङ्कृधि ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपज्मन्नित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उत्तरश्रोणेरुत्तरांसपर्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उत्तर श्रोणीसे उत्तरांसपर्यन्त कर्षण करे। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ज्मन्) पृथ्वीके (उपावतर) ऊपर आओ (वेतसे) वेतस शाखाको (उप) अवलम्बन करो (नदीषु) सब नदियोंमें (आ) शिवालको अवलम्बन करो हे अग्ने ! तुम (अपाम्) जलोंके (पित्तम्) तेजस्वरूप (असि) हो (मण्डूकि) हे मण्डूकी ! तुमभी जलोंकी पित्तस्वरूप हो इसकारण (ताभिः) पूर्वोक्त जलोंके साथ (आगहि) आगमन करो अर्थात् जिनका अग्निपित्त है जिस्से तू उत्पन्न है जो तू अग्निकी शान्तिके निमित्त इधर उधर लेजाई जाती है

(सा) सो तुम (इमम्) इस (अस्माभिः) हमारे (यज्ञम्) चयन लक्षणवाले यज्ञको (पावकवर्णम्) अग्निकी समान तेजस्वी (शिवम्) फलदायक (कृधि) करो ॥ ६ ॥

तात्पर्य-विमर्श-मण्डूकी शेवाल और वेतस शाखाके कर्षणनिमित्त वेणुमें अवरुद्ध कीजाती है अग्नि जिसका अवयव है उसको नहीं मारती किन्तु उसके धर्मवाले होते हैं मण्डूकीके सकाशसे अग्निकी शान्ति होती है [दयानन्दने पंडिता स्त्रीको मंडूकी कहा है धन्य विद्वत्ता !!!] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

अपामिदन्न्ययनꣳसमुद्रस्यनिवेशनम् ॥ अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तुहेतयः पावकोऽअस्मभ्यꣳशिवोभव ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामिदमित्यस्य मेधातिथिर्ऋ० । आर्षी बृहती छं० । अग्निर्देव० । उत्तरांसाद्दक्षिणांसपर्यन्तं कर्षणे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे उत्तरांससे दक्षिणांसपर्यन्त कर्षण करै । मंत्रार्थ-(इदम्) यह चितिमें स्थित अग्निका स्थान (अपाम्) जलोंके (न्ययनम्) प्राप्तिका साधन यागद्वारा जलप्रार्थना कियेजाते हैं इससे जलके आकर (समुद्रस्य) समुद्रका (निवेशनम्) गृहस्थानीय है इस रूपवाले हे अग्ने !(ते) आपकी (हेतयः) ज्वाला (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) तापदें क्लेशदें (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारक (भव) हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

अग्नेपावकरोचिषामन्द्रयादेवजिह्वया ॥ आदेवान्वक्षियक्षिच ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य वसुयुर्ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । दक्षिणपक्षकर्षणे वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे दक्षिण पक्ष कर्षण करै [का० १८ । २ । ११] अर्थात् प्रान्तसे आरंभकर आत्मसंमुख सन्निप्रपर्यन्त कर्षण करै । मन्त्रार्थ-

(पावक) हे शोधक! (देव) हे दिव्यगुणसम्पन्न! (अग्ने) हे अग्ने! तुम (रोचिषा) दीप्तिमान् ज्वालासमूह आहवनीयरूप और (मन्द्रया) आनंदस्वरूप (जिह्वया) जिह्वा अर्थात् होताकी वाणीरूपमें स्थित तुम (देवान्) देवताओंको (आवक्षि) आह्वानकरो (च) और (यक्षि) यजनकरो अर्थात् तुम हवि हवन करो और तुमही उसको देवताओंके निकट वहन करो [ऋ० ४। १। १९] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १।

सनः॑ पावकदीदि॒वोऽग्ने॑ देवाँ२ऽइ॒हाव॑ह ॥ उप॑ य॒ज्ञꣳ ह॒विश्च॑ नः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सन इत्यस्य मेधातिथिर्ऋ०। निचृदार्षी गायत्री छं०। अग्निर्देवता। पुच्छकर्षणे वि० ॥ ९ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे पुच्छ कर्षण करै। मन्त्रार्थ–(पावक) हे शोधक (दीदिवः) हे दीप्तिमान् (अग्ने) अग्निदेव! (सः) वह तुम (देवान्) देवताओंको (नः) हमारे (इह) इस यज्ञमें (आवह) बुलाओ (च) और (नः) हमारी (हविः) हवि (यज्ञम्) यज्ञके (उप) समीप देवताओंको प्राप्त कराओ [ऋ० १। १। २३] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १।

पा॒व॒कया॒ यश्चि॒तय॑न्त्या कृ॒पा क्षाम॑न्रुरु॒चऽउ॒षसो॒ न भा॒नुना॑ ॥ तूर्व॒न्न याम॒न्नेत॑शस्य॒ नूरण॒ऽआ यो घृ॒णे न त॑तृषा॒णोऽअ॒जरः॑ ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि–(१) ॐ पावकयेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। निचृदार्षी गायत्री छं०। अग्निर्देव०। उत्तरपक्षकर्षणे वि० ॥ १० ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे उत्तर पक्ष कर्षण करै। मन्त्रार्थ–(यः) जो अग्नि (पावकया) पवित्र करनेवाली (चितयन्त्या) दृढ चयन करनेवाली वा चेतनकरनेवाली (कृपा) सामर्थ्य वा दीप्तिसे (क्षामन्) पृथ्वीपर (रुरुचे) शोभाको प्राप्त होतीहै (न) जैसे (उषसः) उषाकाल (भानुना) अपने प्रकाशसे शोभा देते हैं (यः) जो (ततृषाणः) पूर्णाहुतिके पानकी इच्छाकरनेवाला (अजरः) जरारहित अग्नि (एतशस्य) गमनकुशल घोडेसे (यामन्) कार्य

लेनेवाले (रणे) युद्धमें (तूर्वन्) शत्रुओंको मारते हुएका (न) समान (घृणे) दीप्तिसे (नु) निश्चयही (आ) सब प्रकार शोभा देता है उस अग्निको आकर्षण करते हैं [ऋ० ४ । ९ । १७ ।] ॥ १० ॥

प्रमाण-"क्षामेति पृथ्वीनाम" [निघं० १ । १ । ६] "घृणिरिति दीप्तिनाम [निघं० १ । १७ । ११] १० ॥

भावार्थ-उषाकालके प्रकटित प्रकाशकी समान सम्पूर्ण प्राणियोंकी चेतन-कारिणी परम पवित्रा कृपाके सहित यह पावक अजर और शत्रुके शोणितपानके निमित्त पिपासायुक्त अग्नि इस पृथ्वीमें अपनी दीप्तिसे भलीप्रकार शोभित होते हैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १. अनु० २ ।

नमस्तेहरसेशोचिषेनमस्तेऽअस्त्वर्चिषे ॥
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तुहेतयः पावकोऽअ
स्मभ्यंशिवोभव ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । भुरिगार्षी बृहती छं० । अग्निर्देव० । चित्यारोहणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे चितिपर आरोहण करे अर्थात् हिरण्यखण्ड मिश्रित स्रुक्में स्थित आज्य और दही मधु घृत कुशमुष्टीसमेत पात्री यह दोनों लेकर ब्रह्मा और यजमान यह मंत्रपाठपूर्वक चितिमें स्थित अग्निके दक्षिणमें उपवेशन करें अर्थात् ब्रह्मा और यजमान अग्निके दक्षिणमें स्थित हों [का० १८ । ३ । ५] मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (हरसे) सब रसोंके आकर्षण करनेवाले (शोचिषे) तेजस्वरूप ज्वालके निमित्त (नमः) नमस्कार है (ते) तुम्हारे (अर्चिषे) पदार्थप्रकाशक तेजके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (ते) आपकी (हेतयः) ज्वाला (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) तपाओ (अस्मभ्यम्) हमको (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याण-कारक (भव) हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

नृषदेवेडप्सुषदेवेड्बर्हिषदेवेड्वनसदेवेड्स्वर्विदेवेट् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१-५) ॐ नृषदे इत्यस्य तथा स्वर्विदे इत्यस्य लोपामुद्रा ऋ० । दैवी बृहती छं० । अग्निर्देवता । द्वितीयतृतीयपञ्चममंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । अग्निर्दे० । हिरण्यदर्शने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१-५) स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर आरोहणकर इन पांच मंत्रोंसे दक्षिणांस दोनों श्रोणि उत्तरांस और मध्य इन पांच स्थानोंमें हिरण्य (सुवर्ण) दर्शन करै [का० १८ । ३ । ६] मन्त्रार्थ-यह अग्नि (नृषदे) मनुष्योंमें जठराग्निरूपसे स्थित प्राणरूप है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है सो सम्यक् रूपसे गृहीत हो "प्रत्यक्षं वै तद्यत्स्वाहाकारः प्रत्यक्षॅ सोत्तरवेदिर्वेट्कारेणेमां परोक्षं वै तद्यद्वेट्कारः" इति [९ । २ । १ । ७] श्रुतेः । "प्राणो वै नृषन्मनुष्या नरस्तद्योऽयं मनुष्येषु प्राणोऽग्निस्तमेतत् प्रीणाति" इति [९ । २ । १ । ८] श्रुतेः । प्रत्यक्षमें स्वाहाकार परोक्षमें वेट्कार होता है, इससे मनुष्योंकी प्राणाग्नि तृप्त होती है १ । जो अग्नि (अप्सुषदे) समुद्रादि जलके मध्यमें वडवाग्निरूपसे स्थित है उसके निमित्त (वेट्) आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो "योऽप्स्वग्निस्तमेतत् प्रीणाति" इति [*८] श्रुतेः २ । जो अग्नि (बर्हिषदे) यज्ञीय कुशादिके ऊपर [आहवनीयादिष्वचन] वा ओषधीमें निवास करते हैं (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो "बर्हिषदे वेडिति य ओषधीष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति" इति श्रुतेः [८] ३ । जो अग्नि (वनसदे) वृक्षसमूहमें दावाग्निरूपसे स्थित है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो "वनसदे वेडिति यो वनस्पतिष्वग्निस्तमेतत्प्रीणाति" इति श्रुतेः [८] ४ । जो अग्नि (स्वर्विदे) स्वर्लोकके प्रधान अभिज्ञ सूर्य नामसे प्रसिद्ध है (वेट्) उसकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानाᳬ संवत्सरीणमुप भागमासते ॥ अहुतादो हविषो यज्ञेऽअस्मिन्त्स्वयं पिबन्तु मधुनो घृतस्य ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये देवा इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । निचृदार्षी जगती० । प्राणो देवता । अग्निप्रोक्षणे वि० ॥ १३ ॥

---

* पूरा पता ऊपरकी श्रुतिमें लिखा है यहां उसीका पिछला अंक है ।

विधि-(१) पात्रीमें सिक्त दही मधु और घृतको कुशाग्रसे ग्रहण करके उसके द्वारा परिश्रित सहित सपक्ष सपुच्छ अग्निके मध्यमें और बाहर इस कण्डिका तथा पर कण्डिकात्मक मंत्रसे प्रोक्षण करै [का० १८ । ३ । ७] मंत्रार्थ-(ये) जो (देवाः) देवता (अहुतादः) विना स्वाहाकार किये अन्नको भक्षण करते हैं वे प्राणरूप देवता (अस्मिन्) इस (यज्ञे) चयनरूप यज्ञमें (मधुनः) मधु (घृतस्य) घृत अर्थात् मधुघृतदधिरूप (हविषः) हविका भाग (स्वयम्) स्वयंही स्वाहाकारके विना (पिबन्तु) पान करैं, जो कि (यज्ञियानाम्) यजन करने योग्य (देवानाम्) देवताओंके मध्यमें (यज्ञियाः) यज्ञयोग्य दीप्तिमान् हैं (संवत्सरीणम्) संवत्सरमें होनेवाले यज्ञके (भागम्) भागकी (उपासते) उपासना करते हैं ॥ १३ ॥

विवरण-दो प्रकारके देवता होते हैं, हविर्भोजी इन्द्र वरुणादिक और शरीरनिर्वाहक प्राण अपानादि, दीप्तिमान् होनेसे दोनोंही यज्ञके योग्य हैं, इन्द्रादि यज्ञमें पूज्य होनेसे यज्ञिय हैं, प्राणादिक यज्ञमें पूजित होनेसे यज्ञिय हैं जो वस्तु हुत नहीं हैं उसको प्राण स्वेच्छासेही अदन करते हैं, प्राण देवताके प्रति इन्द्रिय विद्यमान हैं एवं चक्षुरादि इन्द्रियगण अपने भोगका सन्निकर्ष लाभ करनेकोही किसीकी आज्ञाकी अपेक्षा न करके भोग करनेमें प्रवृत्त होजाते हैं यह लोकप्रसिद्ध है संवत्सर होकर अग्नि चयन होता है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

येदेवादेवेष्वधिदेवत्वमायन्येब्रह्मणःपुरऽएतारोऽअस्य ॥ येभ्योनऽऋतेपवतेधामकिञ्चननतेदिवोनपृथिव्याऽअधिस्नुषु ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये देवा इत्यस्य लोपामुद्राऋषिः । आर्ची जगती छं० । प्राणो देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो प्राणादि (देवाः) देवताओंने (देवेषु) इन्द्रादि देवताओंमें (अधिदेवत्वम्) अधिष्ठातृत्व (आयन्) प्राप्त किया है अर्थात् देवगणोंमें प्रधान देवत्व लाभ किया है, कारण कि इन्द्रादिके भी प्राणही देवता हैं (ये) जो प्राण (अस्य) इस (ब्रह्मणः[1]) जीव वा आत्माग्निके (पुरः) आगे (एतारः) गमन करते हैं " अयमग्निर्ब्रह्म तस्यै ते पुर एतारः" इति [९ । २ । १ । १९] श्रुतिः । (येभ्यः) जिन प्राणोंके (ऋते) विना (किञ्चन)

१ ईश्वर जीव ब्रह्मा ऋत्विक् ।

कोई भी (धाम) शरीर (न) नहीं (पवते) चेष्टा करसकता है (ते) वे प्राण (न) न (दिवः) द्युलोकमें (न) न (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें हैं अर्थात् दिव प्रदेशमें वा पृथ्वीके प्रदेशमें नहीं हैं किन्तु (स्नुषु) प्रत्येक इन्द्रियमें (अधि) वर्तमान हैं "ते दिवि न पृथिव्यां यदेव प्राणभृत्तस्मिंस्ते" इति श्रुतेः [९ । १ । १ । १९] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

प्राणदाऽअपानदा व्यानदा वर्चोदा वरिवोदाः ॥
अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यं शिवो भव ॥ १५ ॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ प्राणदा इत्यस्य लोपामुद्रा ऋषिः । विराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । चित्यवरोहणे वि० ॥ १५ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठकर चितिसे उतरै [१८ । ३ । ८] । मंत्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (प्राणदाः) प्राण देनेवाले (अपानदाः) अपान देनेवाले (व्यानदाः) व्यान सर्व शरीरवर्ती वायु देनेवाले (वर्चोदाः) बलदाता (वरिवोदाः) धनके देनेवाले हो (अस्माकम्) हमको (पावकः) शोधक (शिवः) कल्याणकारी (भव) हो (ते) तुम्हारी (हेतयः) ज्वालारूप आयुध (अस्मत्) हमसे (अन्यान्) दूसरोंको (तपन्तु) ताप दें । तात्पर्य यह है कि जबतक शरीरमें अग्निवर्तमान हैं तभीतक प्राणादिका संचार है ॥ १५ ॥ [५]

कण्डिका १६–मंत्र १. अनु० ३ ।

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा यासद्विश्वं न्यत्रिणम् ॥
अग्निर्नो वनते रयिम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । निच्यृदार्षी गायत्री छं० । अग्निर्देवता । घृतहोमे वि० ॥ १६ ॥

विधि–(१) शालामें आकर पंचगृहीत अर्थात् पांचवार लिये घृतको शालाद्वार्य नाम अग्निमें हवन करै [का० १८ । ३ । १२] मन्त्रार्थ–(अग्निः) यह अग्नि (तिग्मेन) तीक्ष्ण (शोचिषा) तेजसे (विश्वम्) सम्पूर्ण (अत्रिणम्) यज्ञविघ्नकारी राक्षस वा क्रोधादिको (नियासत्) दूरकरो (अग्निः) यह अग्नि (नः)

हमको (रायम्) धन (वनते) प्रदान करता है "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः" इति यास्कः [निरु० १० । ६] [ऋ० ४ । ५ । २६] ॥ १६ ॥

आत्मोपनिषत् ।

कण्डिका १७–२४ मंत्र १ ।

यऽइमाविश्वाभुवनानिजुह्वदृषिर्होतान्यसीदत्पिता नः॥ सऽआशिषाद्रविणमिच्छमानःप्रथमुच्छदवराँ२ऽआविवेश ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ य इमा इत्यस्य भुवनपुत्रविश्वकर्मा ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । घृतहोमे वि० ॥ १७ ॥

विधि–(१) यहांसे २४ तक आठ कण्डिका पाठपूर्वक जुहूमें सोलहवार घृत ग्रहण करके शालाद्वार्य अग्निमें उसका आधा होम करै [का० १८ । ३ । १२] मन्त्रार्थ–(यः) जो (ऋषिः) अतीन्द्रिय द्रष्टा सर्वज्ञ (होता) संहाररूप होमका कर्ता (नः) हम सम्पूर्ण प्राणियोंका (पिता) पालन करनेवाला है जो (इमा) यह (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनप्राणिसमूहको (जुह्वत्) संहार करके (न्यषीदत्) स्वयं स्थित हुआ अर्थात् प्रलयकालमें सब जीवोंको संहार कर जो परमात्मा एकमात्र स्थित हुआ "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् । सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि [उपनिषद्वचनम्] (सः) वह परमेश्वर (प्रथमच्छत्) प्रथम एक अद्वितीय रूपको छादन करता अर्थात् उत्कृष्ट स्वरूपको आवरण करते प्रविष्ट हुआ (आशिषा) मैं बहुरूप होकर प्रगट हूं इस अभिलाषासे (द्रावणम्) जगद्रूप धनको (इच्छमानः) इच्छा करता हुआ (अवरान्) अभिव्यक्त उपाधिवाले मायाके विकारयुक्त जीवोंमें (आविवेश) प्रवेश करगया। "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इद्ꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति–[उपनिषदि तैत्ति०] ॥ १७ ॥

तात्पर्य–वह सृष्टि उत्पत्ति पालन संहार करनेवाला परमात्मा इस जगतको निर्माण करके स्वयं स्थावर जंगमरूप होकर पशुपक्षीआदिके शरीरमें बाहर भीतर व्याप्त है वही कर्ता पाता और हर्ता है उसके सिवाय दूसरा कोई नहीं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

किꣳस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणङ्कतमत्स्वित्कथासीत् ॥ यतो भूमिञ्जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ किंस्विदित्यस्य विश्वकर्मा ऋ० । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । विश्वकर्मा देव० । वि० पू० ॥ १८ ॥

विधि–(१)परमात्मा जिस प्रकार जगतकी रक्षा करता है सो प्रश्नोत्तरसे वर्णन करते हैं जिस प्रकार कुम्हार गृहादिस्थानमें बैठकर मृत्तिकारूप आरंभ द्रव्यसे और चक्रादिसाधनसे घट बनाता है इस प्रकार प्रश्न है । मन्त्रार्थ–(स्वित्) प्रश्न है कि द्यावाभूमि निर्माण करतेमें इस परमात्माका (अधिष्ठानम्) रहने वा स्थित होनेका आश्रय (किम्) क्या (आसीत्) था (आरम्भणम्) घट बनानेमें मृत्तिकाकी समान उपादानकारण जगतनिर्माणकी सामग्री (कथा) क्रिया (कतमत्) क्या (आसीत्) थी अर्थात् निमित्तकारण क्या था जैसे घट बनानेमें दंडा, चाक, जल, डोरेकी आवश्यकता होती है इस प्रकार जगतका उपादान कारण क्या था (यतः) जिससे (विश्वचक्षाः) अतीत अनागत वर्तमान कालको एक साथ देखनेवाले (विश्वकर्मा) विश्वकर्ता परमात्माने (भूमिम्) इस विस्तृत भूलोक और (द्याम्) द्युलोकको (जनयन्) सृजन करके (महिना) अपनी बडी सामर्थ्यसे (वि और्णोत्) विशेष आच्छन्न किया है आप सर्वदर्शी भावसे सर्वत्र विराजमान हैं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र १ ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ॥ सम्बाहुभ्यान्धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव ऽएकः ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वत इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वक० ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-[उत्तर] (विश्वतश्चक्षुः) सबओर नेत्रवाला (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर मुखवाला (विश्वतोबाहुः) सब ओर भुजावाला (उत) और (विश्वतस्पात्) सब ओर चरणसे युक्त है (एकः) एक अद्वितीय असहाय (देवः) परमात्मा (द्यावाभूमी) द्युलोक और भूलोकको अधिष्ठानशून्य होकर (जनयन्) प्रगट करताहुआ (बाहुभ्याम्) अपनी भुजाओंसे अर्थात् बाहुस्थानीय धर्माधर्मसे वा बलवीर्यसे (सन्धमति) संयोगको प्राप्त होता है (पतत्रैः) पतनशील अनित्य पंचभूतोंसे (सम्) संयोगको प्राप्त होता है अर्थात् धर्माधर्मरूप निमित्तवाले पंचभूतरूप उपादानद्वारा साधनके विनाही सबकी रचना करता है अथवा धर्माधर्मसे जीवोंको संयुक्त करता है, अथवा वह अधिष्ठानशून्य हो लोकोंकी रचनाकर अपनी दोनों भुजासे आक्रमण कर अपने पक्षसंवके द्वारा अपनेसे प्रगट किये इस जगत्की इसप्रकार रक्षा कर रहा है जैसे पक्षी पंखोंसे अंडेको आक्रमणकर पोषण करता है, सर्वप्राणी आत्मक होनेसे सब प्राणियोंके नेत्र मुख कर चरण परमात्माकेही हैं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

किᳬस्विद्वनङ्कऽउसवृक्षऽआसयतोद्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ॥ मनीषिणोमनसापृच्छतेदुतद्यदध्य तिष्ठद्भुवनानिधारयन् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ किमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टु० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ २० ॥

सन्त्रार्थ-प्रश्न (स्वित्) क्या हो तो (वनम्) वह कारणरूप वन (किम्) किस प्रकारका (आस) था (उ) और (सः) वह (वृक्षः) कार्यरूप वृक्ष (कः) कौन (आस) था (यतः) जिस वन वृक्षसे विश्वकर्माने (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथिवी (निष्टतक्षुः) अलंकृतकी है अर्थात् ऐसा कोई वन और वृक्ष नहीं था लोकमें जैसे गृहादि बनानेकी इच्छासे वृक्षादिकी कडी तरूतोंसे घर अलंकृत करते हैं इसमें वह कुछ नहीं है (मनीषिणः) हे विद्वानो ! मनका निग्रह करनेवालो ! (भुवनानि) सब भुवनोंको (धारयन्) धारण करतेहुए विश्वकर्माने (यत्) जो (अध्यतिष्ठत्) स्थान अधिष्ठित किया (तत्) उसको (मनसा) मनसे आलोचना कर (इत्) उस (उ) प्रसिद्धको (पृच्छत) पूछो ॥ २० ॥

भावार्थ-वह वन और वृक्ष किस प्रकार है जिस वनवृक्षसे विश्वकर्माने यह द्यावापृथ्वी तक्षण की है, हे मनीषिगणो! तुम मनमनमें यह सब विषय विचारो तथा और भी विचारो कि जो यह सब दृश्य अदृश्य जगत् धारण किये हैं वा स्वयं किस प्रकारहै उसे कोई सामग्रीकी आवश्यकता नहीं हुई "ऊर्णनाभिकी समान यह आरम्भ है" [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

यातेधामानिपरमाणियावमायामध्यमाविश्वक
र्मन्नुतेमा ॥ शिक्षासखिभ्योहविषिस्वधावःस्व
यंयजस्वतन्वंवृधानः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यात इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-[उत्तर] (स्वधावः) स्वधावान् बहुत अन्नसे युक्त (विश्वकर्मन्) सब जगत्के कर्ता ईश्वर (ते) आपके (या) जो (परमाणि) उत्कृष्ट (या) जो (अवमा) निकृष्ट (उत) और (या) जो (मध्यमा) मध्य श्रेणीके (धामानि) स्थान हैं (इमा) इन ऊपर नीचे और मध्यके (धामानि) लोकोंको (सखिभ्यः) भक्त यजमानोंके निमित्त (आशिक्ष) सब प्रकारसे दीजिये तथा (हविषि) यजमानकी दीहुई हविके उपस्थित होनेमें (तन्वम्) अपने शरीरको (वृधानः) वृद्धिको प्राप्त करते (स्वयम्) आपही (यजस्व) यजन कीजिये हम यजन करते हैं यह हम कैसे कह सकते हैं, कौन मनुष्य तुमको यजन करनेको समर्थ है इससे मैं कहता हूं आप स्वयं यजन करो अर्थात् जो सब धाम है वह सब धाम प्रजावर्द्धनपूर्वक तुम स्वयं महायज्ञमें व्यापृत हो [जब कि आप इस यज्ञके कार्यके ज्ञाताहो तौ आप इस विषयमें शिक्षक हो सकते हो] यजमान-गणकोभी इस सामान्य यज्ञमें हविप्रदानविषयमें शिक्षा दो [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

विश्वकर्मन्हविषावावृधानःस्वयंयजस्वपृथि
वीमुतद्याम् ॥ मुह्यन्त्वन्येऽअभितःसपत्नाऽइ
हास्माकंमघवासूरिरस्तु ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मन्नित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(विश्वकर्मन्) हे परमात्मन् ! (हविषा) मेरे दियेहुए हविरूप अन्नसे (वावृधानः) प्रसन्न हुए आप मेरे यज्ञमें (पृथिवीम्) पृथ्वीके आश्रित जीवोंको (उत) और (द्याम्) द्युलोकके आश्रित जीवोंको मेरे ऊपर अनुग्रहकर (स्वयम्) स्वयंही (यजस्व) यजनकरो और तुम्हारे प्रसादसे (अभितः) सब ओरसे (अन्ये) दूसरे (सपत्नाः) शत्रु वा कामादि (मुह्यन्तु) मोहको प्राप्तहों (इह) इस यज्ञमें (मघवा) इन्द्र यज्ञद्रष्टा ब्रह्मा (अस्माकम्) हमको (सूरिः) पण्डित आत्मज्ञानका उपदेशक (अस्तु) हो ॥ २२ ॥

भावार्थ-हे विश्वकर्मन् ! हविद्वारा इस चराचरको वृद्धि करते हुए तुम स्वयंही द्यावापृथ्वीसे महायज्ञ करते हो "अर्थात् इस कार्यमें द्वेषियोंको किस प्रकार दमन करना आवश्यक है और इस कार्यमें पुरोहितको किस प्रकार पुरस्कार देना चाहिये सो जान्ते हो" इस कारण प्रार्थना है कि हमारे चारों दिशाओंमें जो शत्रु हैं उनको मुग्ध करो और हमारा उपदेश यज्ञीय ऋत्विक् हो ॥ २२ ॥

विशेष-सम्पूर्ण चराचर प्रतिदिन लय होते जातेहैं यह द्यावापृथ्वीमें प्रतिदिन यज्ञ होता है [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १ ।

वाचस्प्पतिंविश्श्वकर्म्माणमूतयेमनोजुवंवाजेऽअद्याहुवेम ॥ सनोविश्श्वानिहवनानिजोषद्विश्श्वशम्भूरवसेसाधुकर्म्मा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाचस्पतिमिति इसकी व्याख्या ८ अ० के ४९ मंत्रमें और 'विश्वकर्मन्' इति इसकी व्याख्या ४६ में होगई भावार्थ लिखते हैं । वि० पू० ॥ २३ ॥

सरलार्थ-जो सम्पूर्ण वागिन्द्रियका अधिष्ठाता जो सबके मनका नियन्ता इन विश्वकर्मानामसे प्रसिद्ध देवताको हम इस यज्ञमें कल्याणके निमित्त आह्वान करते हैं, वह हमारे श्रेष्ठकर्मा देवता विश्वके कल्याणमें नित्य ही तत्पर हैं, वह हमारे सब आह्वान सुन्ते हैं [ऋ० ८ । ३ । १६] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र १ ।

विश्वकर्मन्हविषा वर्द्धनेन त्रातारमिन्द्रमकृणोरवध्यम् ॥ तस्मै विशः समनमन्त पूर्वीरयमुग्रो विहव्यो यथासत् ॥ २४ ॥ [९]

ऋष्यादि–(१) पूर्ववत–वि० पू० ॥ २४ ॥

सरलार्थ–हे विश्वकर्मन ! पूर्व पूर्व प्रजागण तुमको उग्र और विशेषरूपसे आह्वानीय जानकर इस प्रकार सम्यक् रूपसे नमस्कार करते हैं आज हम इस प्रथाके अनुसार तुमहीको त्राता अवध्य नित्य ईश्वर जानकर तुमको हविवर्धन वाक्यसे प्रसन्न करते हैं ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–३२–मन्त्र १. अनु० ४ ।

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजनन्नम्नमाने ॥ यदेदन्ता अददृहन्त पूर्व आदिद्द्यावापृथिवी अप्रथेताम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ चक्षुष इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । षोडशगृहीतस्यापरार्धघृतहोमे वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) यहांसे आरंभ कर आठ मंत्र ३२ कण्डिकातक पाठ करके षोडशवार ग्रहण किये घृतका शेष आधा भाग हवन करै [का० १८ । ३ । १३]

मन्त्रार्थ–(यदा इत्) जिस समय (पूर्वे) पूर्व महर्षियोंने (अन्तः) द्यावाभूमिके अन्तर्देशोंको (अददृहन्त) दृढ किया (आत् इत्) इसके अन्तरही (द्यावापृथिवी) द्यावापृथ्वी (अप्रथेताम्) प्रथित विस्तारयुक्त हुई तब (चक्षुषः) सम्पूर्ण ज्योति वा इन्द्रियोंको (पिता) पालन करनेवाला (मनसा) मनसे (धीरः) धीरतायुक्त (हि) ही (एने) इन (नम्नमाने) नममान द्यावापृथ्वीके प्रति अर्थात् जगत्के अनुग्रह करनेको द्यावापृथ्वीको स्तम्भन करता हुआ (घृतम्) घृत जलको (अजनयत्) उत्पन्न करता हुआ [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २५ ॥

भावार्थ–चक्षुरादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंके पालक आदिदेवताने पूर्वमें सृष्टिको मनमें करलिया, फिर जल और उसके उपरान्त यह नममान द्यावा पृथ्वी उत्पन्न की फिर इसको दृढ किया फिर अब क्रमसे विस्तार करतेहैं ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ ।

विश्वकर्म्मा विमनाऽआद्विहाया धाता विधाता परमोत सन्दृक् ॥ तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऽऋषीन्पुरऽएकमाहुः ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य भुवनविश्वक० ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस लोकमें (सप्तऋषीन्) सप्त ऋषियोंको (परेण) विश्वकर्माके साथ (एकम्) एक (आहुः) कहते हैं जिनका (विश्वकर्मा) जगन्निर्माता (विमनाः) श्रेष्ठमन सम्पूर्ण कर्मका ज्ञाता (आत्) और (विहायाः) आकाशमें व्यापक वा संहर्ता (धाता) धारण पोषण स्थिति करनेवाला (विधाता) सबका उत्पादक (उत) और (परमः) सबसे उत्कृष्ट परमात्मा (सन्दृक्) सम्यक् देखनेवाला है उस लोकमें (तेषाम्) उन पुरुषोंके (इष्टानि) अभिलषित वस्तु (इषा) आहुति रसभूत अन्नके संग (सम्मदन्ति) आनन्दसे मोदयुक्त होकर पुष्ट होते हैं अर्थात् विश्वकर्माके देखेहुए सुखी होते हैं विश्वकर्मा जिनके द्रष्टा हैं, वेही मुक्त होते हैं वह भक्तोंहीको देखता है इससे भक्ति करनी चाहिये ॥ २६ ॥

अथवा-जिस विश्वकर्मा देवताको विमन-'विशेष मनयुक्त' विहाय-'संहर्ता' धाता-'पालक' विधाता-'उत्पादक' परम-'जिससे उत्कृष्ट और नहीं' और संदृक्-'सर्वदर्शी' कहते हैं इस पृथ्वीआदि लोकमें कोई कोई अनेकरूप कोई २ एक कहकर तर्क करते हैं उसने लोकके अधिवासीजनोंका जीवनाधार अन्न और अभीष्ट सम्पादन किया है यह लोकवासी उसीके प्रसादसे आमोदित होते हैं [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ ।

योनः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ॥ यो देवानां नामधाऽएकऽएव तꣳ सम्प्रश्नम्भुवना यन्त्यन्या ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ योन इत्यस्य भुव० विश्व० ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारा (पिता) पालक (जनिता) उत्पादक है (यः) जो (विधाता) विशेषकर धारण करनेवाला है (विश्वा) सम्पूर्ण धामानि) स्थान (भुवनानि) प्राणिसमूहोंको (वेद) जानता है (यः) जो (एकः) एक होकरभी (देवानाम्) देवताओंके अनेक (नामधाः) नामकरण करता है अर्थात् अनन्त विश्वके नामकरण करता है कारण कि नामकरण पिताके द्वारा की है (अन्या) और (भुवना) प्राणिसमूह (संप्रश्नम्) प्रश्नक्रियासे (तम्) उसको प्रलयमें (यन्ति) एकत्वताको प्राप्त होते हैं अथवा अपने अधिकारके प्रश्न करनेको प्राणी जिसको प्राप्त होते हैं अर्थात् जिसके जाननेको सबही व्यग्र रहते हैं वही सबकी रचना करता है [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र ८ ।

तऽआयजन्त द्रविणꣳ समस्माऽऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना ॥ असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तआयजन्त इत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वक० दे० । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(ते) वे (जरितारः) स्तुति करनेवाले (पूर्वे) विश्वकर्माके निमित पूर्वकालिन (ऋषयः) ऋषिगण (अस्मै) इस भूतसमूहके निमित्त (द्रविणम्) जल लक्षणरूप धन वा भोगकूं (समायजन्त) सम्यक् प्रकारसे देतेहुए (नभूना) बाहुल्यतासे कामनाको देते हुए (ये) जो ऋषी (असूर्ते) सत्रह अवयववाले लिंगशरीरोंसे अथवा प्राणोंसे प्रेरित (सूर्ते) भली प्रकार प्रेरित वा विस्तीर्ण (रजसि) अन्तरिक्ष लोकमें (निषत्ते) स्थित हुए (इमानि) इन (भूतानि) प्राणियोंको (सम्–अकृण्वन्) रचतेहुए "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [निरु० ४ । १९] [ऋ० ८ । ३ । १७ ।] ॥ २८ ॥

भावार्थ-इन आदिजन्मा ऋषिगणने वारंवार स्तुतिके बलसे क्षमतावान् होकर द्युलोक भूलोक और अन्तरिक्षलोकमें इन समस्त प्राणिगणोंकी रचना की है और आदिसृष्टिमें सबकोही समभावसे सम्पत्ति प्रदान की अर्थात ईश्वरने प्रजापतियोंको रचा उन्होंने सृष्टि रची ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र १ ।

परोदिवा परऽएनापृथिव्यापरोदेवेभिरसुरैर्यदस्ति ॥ कꣳस्विद्गर्भम्प्रथमन्दध्रऽआपोयत्रदेवाःसमपश्यन्तपूर्वे ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परो दिवेत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । आर्ची त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-[ब्रह्मविषयक प्रश्न]-(यत्) जो ईश्वरका तत्त्व हृदयकमलमें विद्यमान (अस्ति) है वह (दिवः) द्युलोकसे भी (परः) दूर अर्थात् दुर्ज्ञेय है (एना) इस (पृथिव्याः) पृथ्वीसेभी (परः) दूर है (देवेभिः) देवताओंसे (असुरैः) असुरोंसेभी (परः) दूर है अर्थात् सबसे विलक्षण गुरु और शास्त्रके मुखद्वारा विना नहीं जानाजाता (स्वित्) और (आपः) जलोंने (प्रथमम्) पहले (कम्) किसीके (गर्भम्) गर्भको (दध्रे) धारण किया अथवा (किंस्वित्) यह तो देखो कि, उसने प्रथम जलको उत्पन्न किया जिस समय उसको प्रथम गर्भमें धारण किया वह गर्भ कैसा आश्चर्यरूप है (यत्र) जहां (पूर्वे) प्रथमके (देवाः) देवता तथा महर्षि (समपश्यन्त) जगत्को देखतेहुए अथवा जिससे यह पूर्वतन देवगण होकर जिसको ज्ञानचक्षुसे देखतेहुए. आशय यह है कि, यह स्थूल जगदाधार गर्भरूप नहीं जाना जाता तो अत्यन्त सूक्ष्मतत्त्व कौन जान सकता है [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ २९ ॥ में [विश्वे] परिवर्तित है ।

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

तमिद्गर्भम्प्रथमन्दध्रऽआपोयत्रदेवाःसमगच्छन्तविश्वे ॥ अजस्यनाभावध्येकमर्पितंयस्मिन्विश्वानिभुवनानितस्थुः ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्मा ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(आपः) जलोंने (प्रथमम्) पहले (तमित्) उसको ही (गर्भम्) गर्भमें (दधिरे) धारण किया (यत्र) जिस कारणभूत गर्भमें (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (समगच्छन्त) एकत्र होकर वर्तते हैं उस गर्भका आधार क्या है (अजस्य) जन्मरहित

परमेश्वरकी (नाभौ) नाभिस्थानीय स्वरूप मध्यसे (एकम्) एक अविभक्त अनन्य-भूत किंचित् बीजगर्भरूप (अर्पितम्) स्थापितकिया (यस्मिन्) जिसमें (विश्वानि) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूतसमूह (अधितस्थुः) स्थित होतेहुये अर्थात् वह सबका आश्रय है उसका कोई आश्रय नहीं [ऋग्वेदे ८ । ३ । १७] ॥ ३० ॥

भावार्थ–इस जन्मशून्य परमात्माकी नाभिसे एक बीज अर्पित हुआ इसी बीजके आश्रयसे सम्पूर्ण भुवनस्थिति करते हैं जलोंने प्रथम इसेही गर्भमें धारण किया इस गर्भसे सब देवताओंने प्रकाश पाया है "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" [मनु० अ० १ । ८–९ श्लोक देखो] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र १ ।

नतंविदाथ॒य॑ऽइ॒माज॒जान॒ान्यद्यु॒ष्माक॒मन्त॑रम्बभूव ॥ नीहा॒रेण॒प्रावृ॑ता॒जल्प्या॑चासु॒तृप॑ऽउक्थ॒शास॑श्चरन्ति ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नतमित्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋ० । भुरिगार्षी पंक्ति० । विश्वकर्मा दे० । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ–[उपदेश करते हैं–] (यः) जिस परमात्माने (इमा) इस सब जगत्को (जजान) उत्पन्न किया है और जो (युष्माकम्) अहंकारादिसे युक्त अहंप्रत्ययसे युक्त जीवोंके अन्तरमें वास्तव (अन्यत्) अहंप्रत्ययसे अतिरिक्त जाननेयोग्य ईश्वरतत्त्व (बभूव) हुआहै (तम्) उसको तुम (न) नहीं (विदाथ) जानते हो कारण कि (नीहारेण) कुहरसदृश अज्ञानसे (च) और (जल्प्याः) मैं देवता हूं मनुष्य हूं यह मेरा गृह क्षेत्र है इत्यादि असत् जल्पनासे (प्रावृताः) आच्छादित हुए (असुतृपः) प्राणपोषक किसीप्रकारसे हो प्राणपोषणकी चिन्तामें लगे ईश्वरतत्त्वके न विचारनेवाले (उक्थशासः) परलोकके भोग प्राप्तहोनेको सकामयज्ञोंमें स्तुति करते वे प्राणी (चरन्ति) विचरते हैं, अर्थात् इस परलोकके भोगोंमें प्रवृत्तहुओंको तत्त्वज्ञान न होनेसे परमात्मज्ञान नहीं होता अज्ञान होनेसे यह जीव अपनेको नहीं जानता [ऋ० ८ । ३ । १७] ॥ ३१ ॥

भावार्थ–जिसने तुमको उत्पन्न किया है वह तुमसे विभिन्न है, किन्तु तुम्हारेही हृदयमें स्थित है तुम जो नीहार [अज्ञान] और जल्प्या [वृथाजल्पना] में प्रवृत्त

हो और असुतृप् [पुत्रपौत्रादिलाभसे तृप्त] और उक्थशास [स्वर्गफललाभमात्रके निमित्त यज्ञानुष्ठान] करते विचरण करते हो इसीकारण उसका तत्त्व अवगत नहीं होता वह निष्काम कर्म और तत्त्वविचारसे ध्यानमें आता है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देवऽआदिद्गन्धर्वोऽअभवद्द्वितीयः ॥ तृतीयः पिता जनितौषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुत्रा ॥ ३२ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वकर्मेत्यस्य भुवनपुत्रो विश्वकर्म ऋषिः । ब्राह्मयुष्णिक्छं० । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-ब्रह्माण्डके मध्यगतोंकी सृष्टि कहते हैं, ब्रह्माण्डके बीचमें प्रथम (विश्वकर्मा) देवतिर्यगादि जगत्का भेद करनेवाला सत्यलोकवासी चतुर्मुख (देवः) देव (अजनिष्ट) प्रादुर्भूत हुआ अर्थात् आदित्यके अन्तर पुरुषरूपसे प्रगट हुआ (आत् इत्) अनन्तर (द्वितीयः) दूसरी सृष्टिमें (गन्धर्वः) गन्धर्व पृथ्वीको धारण करनेवाला अग्नि अथवा गानविद्याचतुर देवयोनि (अभवत्) प्रगट हुआ "अथो एवाहुरग्निरेवास्यै पृथिव्यै पृष्ठे सर्वः कृत्स्नो मन्यमानोऽगायत्" इत्यादिश्रुतेः । (तृतीयः) तीसरा (ओषधीनाम्) ओषधियोंका (जनिता) उत्पादक (पिता) पालक पर्जन्यरूप हुआ वह पर्जन्य उत्पन्न होतेही आहुतिके परिणामभूत (अपाम्) जलोंको (गर्भम्) गर्भको (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे वा रक्षासे (व्यदधात्) धारण करता हुआ ॥ ३२ ॥ [८]

भावार्थ-विश्वकर्माने प्रथम देवगणकी सृष्टि की गन्धर्वगण उसकी दूसरी सृष्टि है ओषधिसमूहके उत्पन्न और पालनकरनेवाले पर्जन्य उनकी तीसरी सृष्टि है फिर यह पर्जन्यगण अनेक स्थलमें गर्भधारण करनेलगे ॥ ३२ ॥

[वैश्यकर्म होम समाप्त]

कण्डिका ३३-मंत्र १।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥ सङ्क्रन्दनोऽनिमिषऽएकवीरः शतꣳ सेनाऽअजयत्साकमिन्द्रः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आशुरित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० इन्द्रो देवता । जपे विनियोगः ॥ ३३ ॥

विधि-(१) अग्निचयनके अनन्तर आहवनीय वेदीमें इध्म सन्दीपित करके चितिस्थलमें लाकर ब्रह्मा इन बारह मंत्रके अप्रतिरथ सूक्तका पाठकर दक्षिण ओरको गमन करे [का० ११ । १ । ९-१०] मंत्रार्थ-(आशुः) शीघ्रगामी (शिशानः) वज्रतीक्ष्णकारी (वृषभः) वर्षणशीलकी (न) उपमावाला (भीमः) भयकारी (घनाघनः) शत्रुओंका अतिशय घातक वा वृष्टिकरनेमें मेघरूप (चर्षणीनाम्) मनुष्योंके (क्षोभणः) क्षोभका हेतु (संक्रन्दनः) बारंबार गर्जन करनेवाला वा शत्रुओंका आह्वान करनेवाला (अनिमिषः) देवता होनेसे पलक न लगानेवाला अत्यन्त सावधान वा निरन्तर जाग्रत् वा ऊपर २ विद्युत्प्रकाशयुक्त (एकवीरः) एक अद्वितीयवीर (इन्द्रः) इन्द्रनामसे प्रसिद्धने (साकम्) साथही एक (शतम्) सौ सौ (सेनाः) शत्रुसेनाको (अजयत्) जयकियाहै "इस मंत्रके विशेषण अवतारोंमेंभी घटतेहैं" [ऋ० ८ । ६ । २२] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

सं॒क्रन्द॑नेनानिमि॒षेण॑ जि॒ष्णुना॑ युत्का॒रेण॑ दुश्च्य॒व॒नेन॑ धृ॒ष्णुना॑ ॥ तदिन्द्रे॑ण जयत॒ तत्स॑हध्वं॒ युधो॑ नर॒ऽइषु॑हस्तेन॒ वृष्णा॑ ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संक्रन्दनेनेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । विराड्ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(युधः) हे युद्ध करनेवाले ! (नरः) मनुष्यो ! (धृष्णुना) प्रगल्भ भयरहित (संक्रन्दनेन) शब्द करनेवाले (युत्कारेण) बहुत युद्ध करनेवाल (अनिमिषेण) एकचित्त (इषुहस्तेन) हाथमें बाण धारण किये (जिष्णुना) जयशील (दुश्च्यवनेन) अजय्य (वृष्णा) कामनाओंके वर्षानेवाले (इन्द्रेण) इन्द्रके प्रभावसे (तत्) उस शत्रुसेनाका (जयत) जय करो और (तत्) उस सेनाको वशी करके (सहध्वम्) विनाश करो [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

सऽइषु॑हस्तैः॒ स नि॑ष॒ङ्गिभि॑र्व॒शी सꣳस्र॑ष्टा॒ स युध॒ऽइ

न्द्रौ गुणेन॑ ॥ सु॒ꣳसृ॒ष्ट॒जित्सो॑म॒पा बा॑हुश॒र्ध्यु॑ग्रध॑
न्वा॒ प्रति॑हिताभि॒रस्ता॑ ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) स इषुहस्तैरित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो दे० । वि पू० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ-(सः) वह (वशी) जितेन्द्रिय वा शत्रुओंको वश करनेवाला अथवा मनोहर सब जनोंका प्रिय अथवा स्वतंत्र वा शत्रुओंका ऐश्वर्य ग्रहण करनेवाला वा ईश्वर (इषुहस्तैः) बाण हाथमें लिये (निषङ्गिभिः) धनुषधारियोंसे (संस्रष्टा) युद्धके निमित्त संसर्ग करनेवाला (सः) वह (गणेन) शत्रुसमूहोंसे (युधः) युद्ध करनेवाला है (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र (संसृष्टजित्) युद्धके निमित्त संगत हुए शत्रुओंका जीतनेवाला (सोमपाः) यजमानोंके यज्ञमें सोमपान करनेवाला (बाहुशर्धी) बाहुओंके बलसे युक्त "शर्ध इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । ७] (उग्रधन्वा) उत्कृष्ट धनुषवाला (प्रतिहिताभिः) अपने धनुषसे प्रेरित बाणोंको (अस्ता) शत्रुओंपर चलता है, वह इन्द्र हमारी रक्षा करै [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३५ ॥

विवरण-वीर पुरुषोंको उचित है कि, युद्ध करनेको जायँ तो इन्द्रसे प्रार्थना करैं उसके गुण अपनेमें प्रार्थना करैं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

बृह॑स्पते॒ परि॑ दीया॒ रथे॑न रक्षो॒हामित्राँ॑२ऽ अप॒बाध॑
मानः ॥ प्र॒भ॒ञ्जन्त्सेनाः॑ प्रमृ॒णो यु॒धा जय॑न्न॒स्मा
क॑मेध्यवि॒ता रथा॑नाम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहस्पत इत्यस्याप्रतिरथ ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । बृहस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पते) "वाग्वै बृहती" वाणीके पति व्याकरणकर्ता होनेसे इन्द्रका नाम बृहस्पति है अथवा उनके पुरोहित बृहस्पतिका संबोधन है हे बृहस्पते ! तुम (रक्षोहा) राक्षसों वा विघ्नोंके नष्ट करनेवाले हो (रथेन) रथके द्वारा (परिदीया) सब ओर गमन करते (अमित्रान्) शत्रुओंको (अपबाधमानः) पीडा देतेहुए (सेनाः) शत्रुओंकी सेनाको (प्रभञ्जन्) अतिशय पीडा करते

हुए (युधा) युद्धसे (प्रमृणः) हिंसाकारियोंको (जयन्) जय करते हुए (अस्माकम्) हमारे (रथानाम्) रथोंके (अविता) रक्षक (एधि) हो [ऋ० ८।५।२२] ॥३६॥

कण्डिका ३७–मंत्र १।

बलविज्ञायस्स्थविरꣳप्प्रवीरꣳसहस्वान्वाजीसहमा
नऽउग्रः ॥ अभिवीरोऽअभिसत्त्वासहोजाजैत्र
मिन्द्ररथमातिष्ठगोवित् ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ बलविज्ञाय इत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम (बलविज्ञायः) दूसरोंका बल जाननेवाले (स्थविरः) पुरातन सबके अनुशासन करनेवाले (प्रवीरः) अतिशय शूर (सहस्वान्) महाबलिष्ठ (वाजी) अन्नवान् (उग्रः) युद्धमें क्रूर (अभिवीरः) सब ओर वीरोंसे युक्त (अभिसत्त्वा) सब ओर परिचारिकोंसे युक्त (सहोजाः) बलसेही उत्पन्न (गोवित्) स्तुतिको जाननेवाले (सहमानः) शत्रुओंके तिरस्कारकर्ता हो (जैत्रम्) अपने जयशील (रथम्) रथमें (आतिष्ठ) आरोहण करो [ऋ० ८। ५। २२] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र १।

गोत्रभिदङ्गोविदंवज्रबाहुञ्जयन्तमज्मप्रमृणन्त
मोजसा ॥ इमꣳसजाताऽअनुवीरयध्वमिन्द्रꣳस
खायोऽअनुसꣳरभध्वम् ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ गोत्रभिदमित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देव०। त्रि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ–(सजाताः) हे समान जन्मवाले ! (सखायः) देवताओ ! (इमम्) इस (गोत्रभिदम्) असुरकुलके नाशक वा मेघके भेदन करनेवाले (गोविदम्) वेदवाणीके ज्ञाता पंडित (वज्रबाहुम्) हाथमें वज्र धारण करनेवाले (अज्म जयन्तम्) संग्रामके जीतनेवाले "अज्मेति युद्धनाम" [निघं० २। १७। ४३] (ओजसा) बलसे (प्रमृणन्तम्) शत्रुओंको मारनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (अनु-

वीरयध्वम्) वीरकर्मका उत्साह दिखाओ (अनुसङ्रभध्वम्) और इस वेग करने वालेके उपरान्त तुम वेग करो [ऋ० ८ । ५ । २२] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मन्त्र १ ।

अभिगोत्राणिसहसागाहमानोदयोवीरःशतमन्यु रिन्द्रः ॥ दुश्च्यवनःपृतनाषाडयुध्योस्माकꣳ सेनाऽअवतुप्रयुत्सु ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभिगोत्राणीत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(अदयः) शत्रुओंपर दयारहित (वीरः) विक्रान्त (शतमन्युः) अनेक प्रकारके क्रोधयुक्त वा शतयज्ञकर्ता (दुश्च्यवनः) जिसको कोई च्यावित न कर सके अजेय (पृतनाषाट्) संग्राममें सेनाको सहकर तिरस्कार करनेवाला (अयुधः) जिसके संग कोई युद्ध नहीं कर सकता सो (इन्द्रः) इन्द्र (युत्सु) युद्धोंमें (गोत्राणि) असुरकुलोंको वा मेघवृन्दोंको (सहसा) एक साथही (अभिगाहमानः) विलोडित करताहुआ (अस्माकम्) हमारी (सेनाः) सेनाको (प्रावतु) रक्षा करे ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १ ।

इन्द्रऽआसान्नेताबृहस्पतिर्दक्षिणायज्ञःपुरऽएतुसोमः ॥ देवसेनानामभिभञ्जतीनाञ्जयन्तीनाम्मरुतोयन्त्वग्रम् ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पतिः) बृहस्पति (इन्द्रः) इन्द्र (आसाम्) इन (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुओंको मर्दन करनेवाली (जयन्तीनाम्) विजयशील (देवसेनानाम्) देवसेनाओंके (नेता) शिक्षक वा पालक हैं (यज्ञः) यज्ञपुरुष विष्णु वा यज्ञ (सोमः) सोम (दक्षिणा) दक्षिण (पुरः) आगे (एतु) गमन करैं (मरुतः) गण देवता (अग्रम्) सेनाके अग्रभागमें (यन्तु) गमन करैं अथवा विष्णु दक्षिण

ओरसे रक्षाको गमन करे वा यज्ञ सोम दक्षिणाका फल जयको प्राप्त करैं, यही प्रकार सेना चलानेका है [ऋ० ८ । ९ । २३] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मंत्र १ ।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञऽआदित्यानां मरुताᳬं शर्द्धऽउग्रम् ॥ महामनसाम्भुवनच्यवानाङ्घोषो देवानाञ्जयतामुदस्थात् ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ–(महामनसाम्) महामन अर्थात् युद्धमें स्थिरचित्त (भुवनच्यवानाम्) लोकनाशकी सामर्थ्यवाले (जयताम्) जयशील (देवानाम्) देवता (आदित्यानाम्) बारह आदित्य (उरुताम्) मरुद्गणों और (वृष्णः) कामनाकी वर्षा करनेवाले (इन्द्रस्य) इन्द्र और (राज्ञः) राजा (वरुणस्य) वरुणका (उग्रम्) उत्कृष्ट (शर्धः) बल अर्थात् गज तुरंग रथ पैदलोंकी सेनाका (घोषः) देवदलकी जय देवदलकी जय यह शब्द (उदस्थात्) सम्यक् प्रकारसे हुआ अर्थात् देवताओंकी बलप्रकाशक उग्र वज्रध्वनि सर्वदा समुत्थित होती है [ऋ० ८ । ५ । २३] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मंत्र १ ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वनाम्मामकानाम्मनाᳬंसि ॥ उद्वृत्रहन्वाजिनांवाजिनान्युद्रथानाञ्जयताँ यन्तु घोषाः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उद्धर्षयेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ–(मघवन्) हे इन्द्र ! (आयुधानि) अपने आयुधोंको (उद्धर्षय) भली प्रकार तीक्ष्णतापूर्वक हर्षित करो (मामकानाम्) हमारे (सत्त्वनाम्) जीवोंके वीरोंके (मनाᳬंसि) मन (उत्) हर्षित करो (वाजिनाम्) घोडोंके (वाजिनानि) शीघ्रगमनको (उत्) उत्कृष्टतायुक्त करो (वृत्रहन्) हे इन्द्र !

(जयताम्)जयशील (रथानाम्) रथोंके (घोषाः)'शब्द (उद्यन्तु) फैल अर्थात् विजयीरथकी हर्षध्वनि प्रकाशित हो [ऋ० ८ । ५ । २३] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं याऽइषवस्ता जयन्तु ॥ अस्माकं वीराऽउत्तरे भवन्त्वस्माँ२ऽउ देवाऽअवता हवेषु ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्माकमित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(ध्वजेषु) ध्वजाओंके (संभृतेषु) मिलनेमें अर्थात् जिस समय हमारी रणपताका शत्रुओंकी रणपताकाओंसे सम्मिलित हों उस समय (इन्द्रः) इन्द्र (अस्माकम्) हमारी रक्षाकरै और (अस्माकम्) हमारे (याः) जो (इषवः) बाण हैं (ताः) वे (जयन्तु) प्रयोग करनेम शत्रुसेनाको ताडनकरके जय प्राप्त करैं (अस्माकम्) हमारे (वीराः) शूर (उत्तरे) शत्रुके योधाओंसे उत्कृष्ट (भवन्तु) हों (उ) और (देवाः) देवता (आहवेषु) संग्रामोंमें (अस्मान्) हमको (अवत) रक्षाकरैं [ऋ० ८ । ५ । २३] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

अमीषाञ्चित्तम्प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ॥ अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अमीषामित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । इन्द्रसेना देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(अप्वे)हे व्याधि"व्याधियां भयकारणहैं कारण कि उससे विद्ध होकर यह प्राणी क्षीण होता है अथवा "ऐन्द्र्योऽभिरूपा द्वादश भवन्ति" इति श्रुतेः[९।२।३६] इसके अनुसार यह इन्द्रकी सेनासम्बन्धिनी है" हे शत्रुओंके प्राणोंको कष्ट देनेवाली (अमीषाम्) इन शत्रुओंके (चित्तम्) चित्तको (प्रतिलोभयन्ती) मोहित करतीहुई (अङ्गानि) शत्रुओंके शरीरोंको (गृहाणा) ग्रहण करती हुई

(परेहि) दूर चली जा (अभिप्रेहि) सब ओरसे दूसरे शत्रुओंको ग्रहण करके चलो (हृत्सु) उनके हृदयोंको (शोकैः) धन पुत्र नाशादिके निमित्तसे (निर्दह) दग्ध करो (अमित्राः) हमारे शत्रु (अन्धेन) गाढ(तमसा) अहंकारसे (सचन्ताम्) संगतिको प्राप्त हों [ऋ० ८ । ९ । २३ ।] ॥ ४४ ॥

[द्वादशैन्द्र्यः समाप्ताः]

विशेष–इन वारह मंत्रोंमें परत्माने यह उपदेश किया है कि सेना सेनापति शूरवीर इस प्रकारके गुणयुक्त एकचित्त परस्पर सहायकारी होने चाहियें, और इन्द्ररूप परमात्माकी प्रार्थनाकर शत्रुओंपर चढाई करनेसे धर्मसे विजय प्राप्त होगी, तथा सब देवताओंकी तृप्ति साधनकर विजयको गमन करें, अध्यात्मपक्षमें काम क्रोध लोभ मोहही शत्रु हैं इन्हीका जय करना है, अथवा कोई व्याधिकी अधिष्ठात्री देवता है ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मन्त्र १ ।

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्मसꣳशिते ॥ गच्छामित्रान्प्रपद्यस्व मामीषां कंचनोच्छिषः ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अवसृष्टेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । इषुर्दे० । इषुप्रयोगे वि० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ–(ब्रह्मसꣳशिते) ब्रह्ममंत्रसे तीक्ष्ण किये हुए (शरव्ये) हे वाणरूप ब्रह्मास्त्र ! तुम हमसे (अवसृष्टा) छोडे हुए (परापत) एक साथ शत्रुसेनापर गिरो गिरकर (अमित्रान्) शत्रुओंको (गच्छ) प्राप्तकरो (प्रपद्यस्व) और शत्रुओंके शरीरमें प्रवेश करके (अमीषाम्) इनमें (कश्चन) किसीकोभी (मा) मत (उच्छिषः) छोडो [ऋ०९ । १ । २२] ॥ ४५ ॥

विशेष–४५ से ४८ तक चार कण्डिकाका विनियोग कात्यायन महर्षिने विशेष रूपसे नहीं लिखा, परन्तु अर्थके अनुसार विदित होता है कि प्रथम शरप्रयोग दूसरेसे योधागणोंकी उत्तेजित करना, तीसरेसे सेनानायक गणका उत्तेजित करना और चौथे मंत्रसे ईश्वरके निकट जयकी प्रार्थना करना है ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मन्त्र १ ।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म्म यच्छतु ॥ उग्रा वः सन्तु बाहवोऽनाधृष्या यथासथ ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रेतेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । विराडार्ष्यनुष्टुप्छं० । योधा देवताः । वीरोत्तेजने वि० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(नरः) हे हमारे योधा मनुष्यो ! (प्रेत) शत्रुओंकी सेनापर शीघ्रतासे जाओ और (जयत) विजय प्राप्त करो अवश्य जय होगी (इन्द्रः) इन्द्र (वः) तुमको (शर्म्म) जयसे प्राप्त हुए सुखको (यच्छतु) प्रदान करो (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) उद्गूर्णायुधवालीं हृष्ट पुष्ट (सन्तु) हों (यथा) जिस्से तुम (अनाधृष्याः) किसीसे भी तिरस्कार न पानेवाले (असथ) हों ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

असौया सेना मरुतः परेषामभ्येति न ऽओजसा स्पर्द्धमाना ॥ तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी ऽअन्यो ऽअन्यन्न जानन् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ असौयेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । मरुतो देवताः । सेनोत्तेजने वि० ॥ ४७ ॥

मंत्रार्थ-(मरुतः) हे मरुतो ! वा हे सेनानायकगण ! (या) जो (असौ) यह (परेषाम्) शत्रुओंकी (सेना) सेना (ओजसा) बलसे (स्पर्धमाना) स्पर्धा करती हुई (नः) हमारे (आ-अभ्येति) सन्मुख आगमन करती है (ताम्) उस सेनाको (अपव्रतेन) कर्मरहित (तमसा) अन्धकारसे इस प्रकार (गूहत) आच्छादित करो (यथा) जिस प्रकार (अमी) यह शत्रु सेनाके लोग (अन्योन्यम्) परस्पर (न) नहीं (जानन्) जान्ते हुए परस्पर अस्त्र चलाकर नष्ट हों ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मन्त्र १।

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा ऽइव ॥ तन्न ऽइन्द्रो बृहस्पतिरदितिः शर्म्म यच्छतु विश्वाहा शर्म्म यच्छतु ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । पंक्तिश्छं० । इन्द्र बृहस्पत्यदितयो देवताः । प्रार्थने वि० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस रणक्षेत्रमें वीरगणोंके छोडे हुए (बाणाः) बाण (सम्पतन्ति) इधर उधर गिरते हैं (इव) जिस प्रकार (विशिखाः) शिखारहित वा लटूरियों वालवाले (कुमाराः) छोटे बालक चपलताके कारण इधर उधर फिरते हैं (तत्) उस युद्धमें (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता अथवा मंत्रोंका पालक विजयके उचित मंत्रोंकी जाननेवाली (अदितिः) देवमाता अथवा अखण्डितशक्ति (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमको (शर्म) कल्याण (यच्छतु) प्रदान करै (विश्वाहा) वह सम्पूर्ण शत्रुओंको मारनेवाला (शर्म) कल्याण (यच्छतु) प्रदान करै [ऋ० ५ । १ । २२] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९–मन्त्र १ ।

मर्म्माणितेवर्म्मणाच्छादयामिसोमस्त्वाराजामृतेनानुवस्ताम् ॥ उरोर्वरीयोवरुणस्तेकृणोतुजयन्तन्त्वानुदेवामदन्तु ॥ ४९ ॥ [१७]

ऋष्यादि-(१) ॐ मर्म्माणीत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । सोमवरुणौ देवते । कवचप्रयच्छने वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) महाव्रत यज्ञमें इस मंत्रसे पुरोहित. राजाको वा सेनापतिको कवच धारण करावे [का० १३ । ३ । १०] मन्त्रार्थ-हे यजमान ! (ते) तुम्हारे (मर्माणि) मर्मस्थान (वर्म्मणा) कवचसे (छादयामि) आच्छादित करताहू (राजा) ब्राह्मणादिका अधिपति (सोमः) सोम (अमृतेन) मरणनिवारक वर्मसे (त्वा) तुमको (अनुवस्ताम्) आच्छादन करै और (वरुणः) वरुण देवता (ते) तुम्हारे कवचको (उरोः) पृथु (वरीयः) बडेसे बडा (कृणोतु) करै अर्थात् वरुण तुम्हारा हृदय सुदृढ करै (देवाः) और दूसरे देवता (जयन्तम्) विजय प्राप्त करते हुए (त्वा) तुमको (अनुमदन्तु) अनुमोदन करैं, अर्थात् समुत्साहित करैं [ऋ० ५ । १ । २२] ॥ ४९ ॥ [१७]

कण्डिका ५०–मंत्र १. अनु० ६ ।

उदेनमुत्तरान्नयाग्ने घृतेनाहुत ॥ रायस्पोषेणसꣳसृजप्प्रजयाचबहुङ्कृधि ॥ ५० ॥ शतम् १०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदेनमित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । उदुम्बरसमिद्धोमे वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) गीली और रात्रिको घीमें रक्खी हुई उदुम्बर गूलर वृक्षकी तीन समिधाओंको तीन ऋचासे शालाद्वार्य अग्निमें होम करै [का० १८ । ३ । १४] मन्त्रार्थ-(घृतेनाहुत) हे सब प्रकार घृतसे तृप्त (अग्ने) अग्निदेव ! (एनम्) इस यजमानको (उत्तराम्) मनकी वा ऐश्वर्यकी उत्कृष्टताको (नय) प्राप्त कराओ(उत) और (रायस्पोषेण) धनकी पुष्टिसे (सङ्सृज) प्राप्त कराओ वा संयुक्त करो (च) और (प्रजया) पुत्र पौत्रादिसे (बहून्) बहुत कुटुम्बी (कृधि) करो ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

इन्द्रेमम्प्रंतरान्नंयसजातानांमसद्वशी ॥ समेनंवर्च्चसासृजदेवानांम्भागदाऽअसंत् ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रेममित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (इमम्) इस यजमानको (प्रतराम्) बडे ऐश्वर्यको (नय) प्राप्त कराओ (सजातानाम्) समान जातियोंको (वशी) नियमन करनेमें (असत्) समर्थ हो (एनम्) इस यजमानको (वर्चसा) तेजसे (संसृज) संयुक्त करो यह (देवानाम्) देवताओंको (भागदाः) भाग देनेवाला (असत्) हो ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

यस्यंकुर्म्मोगृहेहविस्तमंग्ग्नेवर्द्धयात्वम् ॥ तस्म्मैदेवाऽअधिंब्रुवन्नयञ्चब्रह्मणस्प्पतिंः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्येत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवताः । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! हम (यस्य) जिस यजमानके (गृहे) घरमें (हविः) पुरोडाश प्रधान कर्म हवि (कुर्मः) करतेहैं हे अग्ने ! (तम्) उस यजमानको (त्वम्) तुम (वर्धय) बढाओ (देवाः) देवता (तस्मै) उस यजमानको (अधिब्रुवन्) अधिक कहैं अर्थात् यह सबसे अधिक है ऐसा कहैं (अयम्) यह यजमान

(ब्रह्मणः) वैदिक कर्मका (पतिः) पालक (च) हो अर्थात् यह वैदिककार्यमें यशोलाभ करै ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३–मंत्र १।

उदु॑त्वा॒विश्वे॑दे॒वाऽअग्ने॒भर॑न्तु॒चित्ति॑भिः ॥ स नो॑भवशि॒वस्त्वᳬसुप्रती॑कोवि॒भाव॑सुः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उदुत्वेत्यस्य तापस ऋषिः । विराडनुष्टुप् छं०।अग्नि-र्देवता । समिदूर्ध्वोत्पाटने वि० ॥ ५३ ॥

विधि–(१) होतृद्वारा पूर्वोक्त तीन मंत्र तीनवार पढलेनेपर प्रतिप्रस्थाता यह मन्त्र पाठपूर्वक प्रज्वलित इध्म [जलती समिधा] शालाद्वारसे ग्रहणकर ऊपरको उठावै [का० १८।३।१८] मंत्रार्थ–उदुत्वेति इसकी व्याख्या अ० १२ मं० ३१ में होगई. । हे अग्ने ! देवता तुमको चितिके भावसे ऊर्ध्व धारण करैं हे ऊर्ध्वायमाण अग्ने ! तुम विभावसुनामसे प्रसिद्ध हमको कल्याण-कारी हो हमारे प्रति सुमुख हो ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४–मंत्र १।

पञ्च॒दिशो॒दैवी॑र्य॒ज्ञम॑वन्तु॒दे॒वीरपा॒मति॑न्दुर्म्म॒तिम्बा॒धमा॑नाः ॥ रा॒यस्पोषे॑य॒ज्ञप॑तिमा॒भज॑न्तीरा॒यस्पो॒षेऽअधि॑य॒ज्ञोऽअ॑स्थात् ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पञ्चदिश इत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । दिग्देवता । जपे विनि० ॥ ५४ ॥

विधि–(१) अनन्तर ब्रह्मा होता अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता और यजमान यह पांच कण्डिकात्मक पांच मंत्र पाठ करते २ चितिस्थानमें गमन करैं [का० १८। ३। १८] "सब मन्त्र पाठ करैं यह कर्काचार्य कहते हैं. वा अध्वर्यु पढै यह हरस्वामी कहते हैं" मन्त्रार्थ–(देवीः) इन्द्र यम वरुण सोम और ब्रह्मासे सम्बन्ध रखनेवाली (पञ्च) पांच पूर्व पश्चिम उत्तर दक्षिण और मध्य (देवीः) दिव्यगुणवाली (दिशः) दिशा (अमतिम्) हमारी बुद्धिकी मन्दताको (दुर्म-तिम्) पापविषयक बुद्धिको (अपबाधमानाः) विनाश करती हुई (रायस्पोषे) धनकी पुष्टिमें (यज्ञपतिम्) यज्ञपालक यजमानको (आभजन्तीः) भागी करती हुई (यज्ञम्) हमारे यज्ञको (अवन्तु) रक्षा करैं (यज्ञः) हमारा यज्ञ

(रायः) धनकी (पोषे) पुष्टिमें (अधि) अधिक (अस्थात्) समृद्धिको प्राप्त हो ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

समिद्धेऽअग्नावधि मामहानऽउक्थपत्रऽईड्यो गृ
भीतः ॥ तप्तं घर्म्मं परिगृह्यायजन्तोर्ज्जा यद्यज्ञ
मयजन्त देवाः ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) ब्रह्मत्व होता अध्वर्य्वादि कर्मप्रचारके ऋत्विग्गण (यत्) जिस समय (तप्तम्) अतितप्ते (घर्मम्) प्रवर्ग्य [३९ अध्यायमें इसका वर्णन होगा] को (परिगृह्य) ग्रहण करके (यज्ञम्) यज्ञको (अयजन्त) यजन करते हैं (ऊर्जा) और जब हविर्लक्षण अन्नद्वारा (अयजन्त) यजन करते हैं तब (ईड्यः) स्तुतियोग्य (उक्थपत्रः) उक्थ शस्त्रवाला यज्ञ (गृभीतः) धारित होता है "गृभीतइति धारित इत्येतत्" इति श्रुतेः [९ । २ । ३ । ९] (मामहानः) अति देवताओंका पूजक यजमान (अग्नौ) अग्निके (समिद्धे) प्रज्वलित होनेपर (अधि) तेजस्वी होता है "यजमानो वै मामहानः" इति [९ । २ । २ । ९] श्रुतेः ॥ ५५ ॥

भावार्थ-जिस समय देवता अतितप्त घर्मग्रहणपूर्वक अग्निकी अर्चना करते हैं अथवा हविप्रदान करते हैं, उस समय अग्नि सम्यक् प्रदीप्त होताहै, अतिशय महान् यजमानके दीक्षालब्ध और उक्थशस्त्रादिद्वारा निर्वाहयोग्य यह यज्ञ अवश्यही स्तुतिका पात्र होता है ॥ ५५ ॥

कण्डिका५६-मन्त्र १ ।

दैव्याय धर्त्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीः श्रीमनाः शतपयाः ॥ प
रिगृह्य देवा यज्ञमायन्देवा देवेभ्योऽअध्वर्य्यन्तोऽअ
स्थुः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्यायेत्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ–(देवश्रीः) हविर्दानसे देवताओंका सेवन करनेवाला (श्रीमनाः) शुभान्तःकरणवाला, यजमानोंमें मन रखनेवाला वा भक्तोंको धनदानके निमित्त मन करनेवाला अथवा जिसके मनमें श्री है (शतपयाः) दही दूध मधु प्रभृति बहुत प्रकार सामग्रीका आधार यज्ञ (देव्याय) देवगणके हितकारी (धर्त्रे) दुग्धादिसे वा पर्जन्यादिद्वारा भूमण्डलके रक्षक वा यज्ञद्वारा जगतका रक्षक (जोषते) प्रीतिपद हमारी दीहुई हविके सेवन करनेवाले अग्निके निमित्त होता है, अर्थात् यह यज्ञ अग्नि देवताकी प्रीतिके निमित्त अनुष्ठित हुआ है (देवाः) देवता 'ऋत्विज' इस प्रकारकी यज्ञ अग्नि (परिगृह्य) ग्रहण करके (यज्ञम्) यज्ञके प्रति अर्थात् चितिस्थानमें (आयन्) प्राप्त होते हैं और (देवाः) दीप्यमान ऋत्विज (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (अध्वर्यन्तः) अर्चन करनेकी वासनासे वा यज्ञ करनेकी इच्छा करते (अस्थुः) स्थित होते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र १ ।

वीतᳪं हविः शमितᳪं शमिता यजध्यै तुरीयो यज्ञो यत्र हव्यमेति ॥ ततो वाका आशिषो नो जुषन्ताम् ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वीतमित्यस्य अप्रतिरथ ऋषिः । बृहती छन्दः । हविर्यज्ञो देवता । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ–(तुरीयः) चौथा (यज्ञः) यज्ञ (यत्र) जिस कालमें (हव्यम्) हवनकरने योग्य (वीतम्) देवताओंके प्रिय "इष्टᳪंस्विष्टमित्येतत्" इति [९ । २ । ३ । ११] श्रुतेः (शमिता) भलीप्रकार शान्त (यजध्यै) यज्ञकरनेको (शमितम्) संस्कार कियाहुआ (हविः) हविको (एति) प्राप्तहोताहै (ततः) उस समय यज्ञसे उठेहुए (आशिषः) अभीष्ट अर्थके कहनेवाले (वाकाः) ऋक्यजुः सामलक्षणवाले वाक्य (नः) हमको (जुषन्ताम्) सेवनकरैं ॥ ५७ ॥

विवरण–यज्ञ चार प्रकारमें विभक्त है, प्रथम अध्वर्युद्वारा आश्रवण दूसरा आग्नीध्रद्वारा प्रत्याश्रावण, तीसरा यजनकरो ऐसा अध्वर्युद्वारा प्रेष, अथवा ब्रह्माद्वारा अप्रतिरथजप, अनन्तर होताद्वारा होम, सो होमकोही तुरीय यज्ञ कहा जाता है, अथवा प्रथम यजुका जप फिर होताद्वारा ऋचाओंका पढना ब्रह्माद्वारा अप्रतिरथजप और चौथा होम ॥ ५७ ॥

प्रमाण–"अध्वर्युः पुरस्ताद्यजूᳪंषि जपति होता पश्चादृचोऽन्वाह ब्रह्मा दक्षिणतोऽप्रतिरथं जपत्येष तुरीयो यज्ञः" इति [९ । २ । ३ । ११ ।] श्रुतेः ॥ ५७॥

भावार्थ-यह तुरीय यज्ञ जिस समय देवगणोंका अभीप्सित संस्कृत हवनीय हविके हवनमें प्रवृत्त होता है उस समय इस यज्ञसे कितने एक आशीर्वचन उच्चारित होकर हमको प्रीति करते हैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १।

सूर्य्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२ऽअजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सूर्यरश्मिरित्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छंदः अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(सूर्यरश्मिः) सूर्यवत् किरणवाली वा सूर्यही जिनकी रश्मी है (हरिकेशः) कनकवर्ण ज्वालारूपकेशवाली (सविता) प्राणियोंको अपने २ व्यापारमें प्रेरणा करनेवाली (ज्योतिः) ज्योतिरूप अग्नि (पुरस्तात्) पूर्व दिशासे (उदयान्) प्रगट होती है (गोपाः) इन्द्रिय वा धर्मरक्षक (विद्वान्) अपने अधिकार अहोरात्रकी प्रवृत्तिको जानता हुआ (पूषा) पोषणकारी सूर्य (तस्य) उस ब्रह्मज्योतिकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान हुआ (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (सम्पश्यन्) भलीप्रकार देखताहुआ (अजस्रम्) निरन्तर (याति) उदयास्तरूपसे गमनकरताहै [ऋ० ८ । ७ । २७] ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मन्त्र १।

विमानऽएष दिवो मध्यऽआस्तऽआपप्रिवान्रोदसीऽअन्तरिक्षम्। स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम् ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विमान इत्यस्य विश्वावसुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । आदित्यो देवता । पृश्न्युपधाने वि० ॥ ५९ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु एतदादि दो कण्डिका पाठ करके आग्नीध्र गृहके दक्षिण ओर पृष्ठिमें संलग्न पृश्नि [चित्रवर्ण गोल प्रस्तरखण्ड] उपाधान करे [का० १८। ३ । १९] मंत्रार्थ-(एषः) यह सूर्य (विमानः) जगतके निर्माणमें समर्थ (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (आस्ते) स्थित है (रोदसी) द्यावापृथिवी (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (अपप्रिवान्) सब प्रकार अपने तेजसे पूर्णकर रहा है (सः) इस प्रकारसे वह स्तुतिको प्राप्त होकर (विश्वाचीः) वेदी और (घृताचीः) स्रुवको (अभिचष्टे) देखता है अर्थात् यज्ञकर्ताओंके कर्म अनुग्रहपूर्वक देखता है और (पूर्वम्) इस लोक (अपरम्) दूसरे लोक (अन्तरा मध्यलोकमें स्थित जनोंके (केतुम्) चित्त वा अभिप्रायको (च) भी देखता है ॥ ५९ ॥

विवरण-इस स्थलमें सूर्यरूपसे स्थापित प्रस्तरकी प्रार्थना की है, उसमेंही सूर्यका आवाहन किया है यह अश्माही आदित्यरूपसे द्युलोकके मध्यमें वर्तमान है "असौ वा आदित्योऽश्मा पृश्निरसुमेवैतदादित्यमुपदधाति" इति श्रुतेः [९।२। ३।१४] आहवनीय द्युलोक है, गार्हपत्य भूलोक उनके मध्यमें आग्नीध्र अन्तरिक्षस्थानीय है, सो मध्यस्थापित अश्मा दिवस्थानीय है, तथाच श्रुतिः "अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं चोपदधात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीय एतं तादिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेष इमौ लोकावन्तरेण तपति" [९।२।३।१४।१९] विश्वाची घृताचीमें प्रमाण "स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरिति स्रुचश्चैतद्वेदीश्चाह" इति [९ । २ । ३ । १७] अथवा घृताची घृतप्राप्तिहेतुभूत धेनुको देखता है और ब्रह्माण्डके मध्यवर्ती बोधको कथन करता है विमानका अर्थ विश्वका मान करनेवाला भी है अथवा जो विमानरूपसे आकाशमें विचरता है इस कथनसे विमानविद्याकी प्राप्ति हो सूर्यके स्थानमें अश्माका स्थापन मूर्तिका पूजन बताता है ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

उक्षा समुद्रोऽअरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिम्पितुराविवेश ॥ मद्ध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा विचक्रमे रजसस्पात्यन्तौ ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उक्षेत्यस्याप्रतिरथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । आदित्यो देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मंत्रार्थ-जो देवता (उक्षा) वृष्टिद्वारा सिंचन करता (समुद्रः) उदय समयमें नीहार 'ओस' गलन द्वारा क्लेदनकर्ता (अरुणः) उदयकालमें अरुणवर्ण (अश्मा) आकाशमें व्यापक (सुपर्णः) श्रेष्ठ गमनवाला (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (निहतः) स्थित (पृश्निः) चित्रवर्ण अनेक रश्मियोंसे व्याप्त (पूर्वस्य) पूर्व दिशामें स्थित (पितुः) द्युलोकके (योनिम्) स्थानमें (आविवेश) प्रवेश करता "द्यौः पिता" इत्युक्तेः द्युलोकका पूर्वभाग सूर्यका पिता कहाता है, कारण कि उदयकालमें वहांसे प्रगट होता है (विचक्रमे) आकाशमें क्रमण करता है (रजसः) रंजन लोक त्रिलोकीको (अन्तौ) सब ओरसे (पाति) रक्षा करता है अर्थात् जिस समय यह उदय होकर द्युलोकमें प्रवेश पूर्वक उड्डीयमान होकर क्रमसे द्युलोकके मध्यमें उपस्थित होता है, उस समय बोध होता है कि विश्वशिल्पीने इस विचित्र हीरकको ब्रह्माण्डगृहकी शोभाके निमित्त इस स्थानमें स्थापित किया है यह रूपक्रमसे भ्रमण करते २ द्युलोक भूलोक और अन्तरिक्ष लोकपर्यन्त तथा भूमिलोकपर्यन्त रक्षा करते हैं [ऋ० ४ । ३ । १] ॥ ६० ॥

अश्मापक्षमें-यागद्वारा फलका वर्षानेवाला, वहु फल देनेसे समुद्रसदृश, पूर्व मंत्रकथित सूर्यकी सदृश कहनेसे अरुण 'सुपर्णः' स्वर्गमें गमनका हेतु होनेसे पक्षिसदृश, यह 'पृश्निः' विचित्रवर्ण अश्मा 'पितुः' कर्मपालक पूर्वदिशावर्ती आहवनीयकी (योनिम्) कारणभूत आग्नीध्रमें प्रविष्ट हुआ और आग्नीध्रस्थानीय अन्तरिक्षके मध्यमें स्थापित रञ्जनीय जगतके अन्तमें उत्पत्ति प्रलयरूप दोनों कोटियोंको ईश्वरसे अधिष्ठित हो रक्षा करता है ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १।

इन्द्रं विश्वाऽअवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथीतमᳪ रथीनां वाजानाᳪ सत्पतिं पतिम् ॥ ६१ ॥

विधि-(१) पृश्नि शिलाखण्डको किसी गुप्त स्थानमें गोपन कर यह चार कण्डिका पाठ करके सब चयनके प्रति गमन करै [का० १८ । ३ । २१] मंत्रार्थ-इन्द्रं विश्वेत्यस्य इसकी व्याख्या १२ । ५६ में होगई । जपे विनियोगः ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १।

देवहूर्यज्ञऽआ च वक्षत्सुम्नहूर्यज्ञऽआ च वक्षत् । यक्षदग्निर्देवो देवाँ२ऽआ च वक्षत् ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवहूरित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः यज्ञो देवता । गमने वि० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(देवहूः) देवताओं आह्वान करनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (आवक्षत्) देवताओंके निमित्त यज्ञीय हवि वहन करो (च) और (यक्षत्) यजन करो (सुम्नहूः) सम्पूर्ण सुखोंका आह्वान करनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (आवक्षत्) देवताओंको हवि लेजाओ (च) और (देवः) देवता (अग्निः) अग्नि (देवान्) देवताओंको (आवक्षत्) बुलाओ (च) और यजन करो अर्थात् देवताओंको हवि ले जाओ ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १ ।

वाजस्य मा प्रसवऽउद्ग्राभेणोदग्रभीत ॥ अधा सपत्नानिन्द्रो मे निग्राभेणाधराँ२ऽअकः ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजस्येत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्रः) इन्द्र (वाजस्य) अन्नकी (प्रसवः) उत्पत्ति (उद्ग्राभेण) दानके द्वारा (मा) मुझको (उदग्रभीत्) अनुगृहीत करो (अधा) और (निग्राभेण) नीचोंके ग्रहण करनेसे वा मांगनेकी इच्छासे (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओंको (अधः) नीचा (अकः) करो अर्थात् मैं दाता और शत्रु मंगता हों ॥ ६३ ॥

भावार्थ-इन्द्र हमको प्रचुर अन्नदान करे, जिस्से हम क्लेशरहित ऊंचा हाथ होकर यथेष्ट दान करसकैं, और हमारे शत्रुओंको अधः करो, जिससे वे पेटभरनेके अन्नके निमित्तभी द्वार द्वारमें भिक्षा करते हुए अपने जीवनको तिरस्कृत जानें ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

उद्ग्राभं च निग्राभं च ब्रह्म देवाऽअवीवृधन् ॥ अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे विषूचीनान्व्यस्यताम् ॥ ६४ ॥ [१५]

ऋष्यादि-(१) ॐ उद्ग्राभमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्राग्नी देवते । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ-(देवाः) देवता हमारे निमित्त (उद्ग्राभम्) उत्कृष्टताकूं (च) और शत्रुविषयक (निग्राभम्) निकृष्टता (च) और (ब्रह्म) त्रिवेदलक्षणवाले यज्ञको (अवीवृधन्) वृद्धि दो (अधा) और (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओंको (विषूचीनान्) अनेक गतिवाला करके (व्यस्यताम्) विनाश करो ॥ ६४ ॥ [१५]

कण्डिका ६५-मन्त्र १ । अनु० ४ ।

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यꣳ हस्तेषु बिभ्रतः ॥ दिवस्पृष्ठꣳ स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥६५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्रमध्वमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । चित्यारोहणे वि० ॥ ६५ ॥

विधि-(१) यहांसे पांच कण्डिका पाठ करके ऋत्विग्गण चितिपर आरोहण करें [का० १८ । ४ । १] मंत्रार्थ-हे ऋत्विग्गण ! (उख्यम्) उखापात्रमें संस्कारकीहुई अग्निको (हस्तेषु) हाथोंमें (बिभ्रतः) धारणकरते हुए (अग्निना) अनेक चित्याग्निके साथ (नाकम्) स्वर्गलोकको (क्रमध्वम्) आक्रमणकरो तब (दिवः) अन्तरिक्षके (पृष्ठम्) ऊपर (स्वः) स्वर्गमें (गत्वा) गमन करके (देवेभिः) देवताओंके साथ (मिश्राः) संयुक्त होकर (आध्वम्) स्थित हो ॥ ६५ ॥

अर्थात् इसी चितिआरोहणके फलसे स्वर्गलोकमें स्थित होगे "स्वर्गो वै लोको नाकः" इति [९ । २ । ३ । २४] श्रुतेः ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मंत्र १ ।

प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने पुरोऽअग्निर्भवेह ॥ विश्वाऽआशा दीद्यानो विभाह्यूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राचीमित्यस्य विधृतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे उखाग्ने ! (विद्वान्) अपने अधिकारको जानते हुए (प्राचीम्) पूर्व (प्रदिशम्) दिशाको (अनु) लक्ष्य करके (प्रेहि) प्रकृष्टरूपसे

गमन करो (इह) इस प्रदेशमें (अग्नेः) चितिरूप अग्निके (पुरः) आगेकी अग्नि (भव) हो तुम इस चित्याग्निके पुरोवर्ती हो (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशा (दीद्यानः) प्रकाशित करते तुम (विभाहि) विशेष प्रदीप्त हो (नः) हमारे (द्विपदे) द्विपाये पुत्र पौत्रादि (चतुष्पदे) चौपाये गौआदिमें (ऊर्जम्) बलको (धेहि) स्थापन करो ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७–मंत्र १ ।

पृथिव्याऽअहमुदन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुह
म् ॥ दिवोनाकस्यपृष्ठात्स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ ६७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथिव्या इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । पिपीलिकमध्या बृहती छं० । अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ–यजमान कहता है (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथ्वीसे (उत) उन्नत होकर (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षमें (आरुहम्) आरूढ हुआ हूं (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (दिवम्) स्वर्ग लोकको (आरुहम्) आरूढ हुआहूं (दिवः) द्युलोकके (नाकस्य) दुःखरहित (पृष्ठात्) पृष्ठदेशसे (स्वः) स्वर्गलोकमें स्थित (ज्योतिः) आदित्यमण्डलको (अहम्) मैं (अगाम्) प्राप्त हुआहूं ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८–मन्त्र १ ।

स्वर्यन्तोनापेक्षन्तऽआद्याᳫंरोहन्तिरोदसी ॥ यज्ञं
येविश्वतोधारᳫंसुविद्वाᳫंसोवितेनिरे ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्वर्यन्त इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मंत्रार्थ–(ये) जो (विद्वाᳫंसः) ज्ञानकर्मके समुच्चयकारी अर्थात् ज्ञान कर्मकाण्डमें सम्पन्न पुरुष (विश्वतोधारम्) सब जगतके धारण करनेवाले अथवा आहुति दक्षिणअन्नकी धारावाले वैश्वानर मारुत पूर्णाहुति वसुधारा वाजप्रसवीयादि धारावाले अर्थात् सम्पूर्ण फलधाराके वर्षानेवाले (यज्ञम्) यज्ञको (वितेनिरे) अनुष्ठान करते हैं वे यज्ञके करनेवाले (रोदसी) जरामृत्युशोकके रोकनेवाले (द्याम्) स्वर्गको (आरोहन्ति) आरोहण करते हैं और (स्वर्यन्तः) स्वर्गमें गमन करतेहुए कृतकृत्य होनेसे पुत्रपौत्रादिको (न) नहीं (अपेक्षन्ते) अपेक्षा करते हैं अथवा जो यजमान भलीप्रकार कर्मके प्रकारको जान्ते जगतके

धारणहेतु यज्ञको विशेषतासे करतेहैं,: वे अन्तरिक्षको द्यावाभूमिको आरोहण करते हैं फिर स्वर्गमें जाकर आदित्यमण्डलको प्राप्त होकर और किसी स्थानकी अपेक्षा नहीं करते ॥ ६८ ॥

आशय-यजमान सकल फलधारावर्षी यज्ञके प्रसादसे प्रथम भूलोक फिर अन्तरिक्षलोक फिर द्युलोकमें उपस्थित होते हैं, वहां उपस्थित होकर नीचेके लोकोंके भोगकी किसी प्रकार आकांक्षा नहीं रहती, फिर तुरीय लोकमें उपस्थित होकर कृतकृत्य होनेसे इच्छारहित होते हैं ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

अग्ने॒ प्रेहि॑ प्रथ॒मो दे॑वय॒ताञ्चक्षु॑र्दे॒वाना॑मु॒त मर्त्त्या॑नाम् ॥ इय॑क्षमाणा॒ भृगु॑भिः स॒जोषा॒ स्व॑र्यन्तु॒ यज॑मानाः स्व॒स्ति ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देव० । वि० पृ० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देवयताम्) देवताओंकी इच्छा करनेवाले यजमानोंके मध्यमें (प्रथमः) मुख्य हो (देवानाम्) देवताओंके (उत) और (मर्त्यानाम्) मनुष्योंके (चक्षुः) नेत्ररूप हो इस कारण (प्रेहि) आगे गमन करो कारण कि पहले दृष्टिही गमन करती है अर्थात् देवयागमें प्रवृत्त हमारे अग्रेसर हो और (इयक्षमाणाः) यज्ञ करनेकी इच्छावाले (भृगुभिः) भृगुगोत्रके वा श्रेष्ठ महात्मा ब्राह्मणोंसे (सजोषाः) समान प्रीतिवाले (यजमानाः) यजमान (स्वस्ति) आनंदपूर्वक (स्वः) स्वर्गलोकको (यन्तु) प्राप्त हों ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

नक्तो॒षासा॒ सम॑नसा॒ विरू॑पे धा॒पये॑ते॒ शिशु॒मेक॑ꣳ समी॒ची ॥ द्यावा॒क्षामा॑ रु॒क्मो अ॒न्तर्वि भा॑ति दे॒वा अ॒ग्निं धा॑रयन्द्रविणो॒दाः ॥ ७० ॥

विधि-(१) अध्वर्यु स्वयमातृणा इष्टकाके ऊपर प्रतिप्रस्थाताके द्वारा यह उखाअग्नि धारण कराकर कृष्णवर्ण और श्वेत बछडेवाली गायका दूध सुवर्णपात्रमें

दोहनकर उसके द्वारा स्वयमातृणा सिंचन करते यह दो कण्डिका पाठ करते इध्मस्थ अग्निमें होमकरै [का० १८ । ४ । २] मंत्रार्थ–नक्तोषासा इसकी व्याख्या १२ । २ में होगई । होमे विनि० ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१–मंत्र १ ।

अग्ने॑ सहस्राक्ष शतमूर्द्धञ्छ॒तन्ते॑ प्रा॒णाः स॒हस्रं॑ व्या॒नाः। त्वᳬं सा॑ह॒स्रस्य॑ रा॒यऽई॑शिषे॒ तस्मै॑ ते विधेम॒ वाजा॑य॒ स्वाहा॑ ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । विराट् पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ–(सहस्राक्ष) हे अनेक चक्षुवाले ! वा सुवर्णखण्डरूप नेत्रवाले "हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः" इति [९ । २ । ३ । ३२] श्रुतेः (शतमूर्धन्) सौ शिरवाले "शतशीर्षा रुद्रोऽसृज्यत" इति [९ । २ । ३ । ३२] श्रुतेः (अग्ने) हे अग्ने ! (ते) आपके (शतम्) अनन्त (प्राणाः) प्राण हैं (सहस्रम्) सहस्रों (व्यानाः) व्यान हैं (त्वम्) तुम (सहस्रस्य) सहस्रों (रायः) सम्पत्तिके (ईशिषे) अधिकारी हो (तस्मै) उस (ते) आपके निमित्त (वाजाय) अन्नरूप हवि (विधेम) देतेहैं अर्थात् यथेष्ट अन्नलाभकी कामनासे यह हवि देते हैं (स्वाहा) भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मन्त्र १ ।

सु॒प॒र्णो॑ऽसि ग॒रुत्मा॑न्पृ॒ष्ठे पृ॑थि॒व्याः सी॑द ॥ भा॒साऽन्तरि॑क्ष॒मा पृ॑ण॒ ज्योति॑षा दि॒व॒मुत्त॑भान॒ तेज॑सा॒ दिश॒ऽउद्दृ॑ᳬह ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुपर्ण इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । पंक्तिश्छं० । अग्निर्देवता । स्वयमातृणोपर्यग्निस्थापने वि० ॥ ७२ ॥

विधि–(१) ७२ । ७३ यह दो कण्डिका पाठपूर्वक स्वयमातृणाके ऊपर वषट्कार उच्चारणपूर्वक अग्नि स्थापन करै [का० १८ । ४ । ४] मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! तुम (सुपर्णः) सुपर्ण पक्षीके आकारवाले (गरुत्मान्) गरुडरूप (असि) हो इस कारण (पृथिव्याः) पृथ्वीके (पृष्ठे) ऊपर (सीद) स्थित हो

(भासा) अपनी कान्तिसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आपृण) पूर्णकरो (ज्योतिषा) स्वसामर्थ्यसे (दिवम्) द्युलोकको (उत्तभान) ऊर्ध्व स्तंभितकरो (तेजसा) अपने तेजसे (दिशः) दिशाओंको (उद्दृ॰ह) दृढकरो ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मंत्र १ ।

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वं योनिमासीद साधुया ॥ अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन्विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजुह्वान इत्यस्य विधृतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! तुम (आजुह्वानः) आह्वान किये हुए (सुप्रतीकः) सुमुख होतेहुए (पुरस्तात्) पूर्वदिशामें (स्वम्) अपने (साधुया) समीचीन (योनिम्) स्थानमें (आसीद) स्थित हो (विश्वेदेवाः) हे विश्वेदेवा ! तुम (च) और (यजमानः) यह यजमान (अस्मिन्) इस (उत्तरस्मिन्) अधिक उत्कृष्ट (सधस्थे) स्थानमें अग्निके साथ (अधिसीदत) स्थित हो "द्यौर्वाउत्तर ॰ सधस्थम्" इति [९ । २ । ३ । ३९] श्रुतेः । यह उत्तर सधस्थ स्वर्ग है देवगण यहां निवास करतेहैं ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मंत्र १ ।

ताᳪं सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्वजन्याम् ॥ यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनाᳪं सहस्रधारां पयसा महीं गाम् ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तामित्यस्य कण्व ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । सविता देवता । शमीमयींवैकंकतींसमिदाधाने वि० ॥ ७४ ॥

विधि-(१) अग्निनिधानके उपरान्त अध्वर्यु इस अग्निमें यह मन्त्र पढकर शैमीली शमीसमिधा आधान करै [का० १८ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-(वरेण्यस्य) वरणीय प्रार्थनीय (सवितुः) सविता देवताके सम्बन्धवाली (ताम्) उस (चित्राम्) विचित्र वा बहुविध फलदानमें समर्थ (विश्वजन्याम्) सब जनोंकी हितकारक जगत्के उत्पन्न करनेमें समर्थ (सुमतिम्) श्रेष्ठ बुद्धिको (अहम्)

मैं (आवृणे) अभिमुख होकर स्वीकार करताहूं (कण्वः) मेधावी वा कण्व ऋषिने (अस्य) इस सविताका (याम्) जिस(प्रपीनाम्) अतिपुष्ट दुग्धसे पूर्ण (सहस्रधाराम्) सहस्रों पदार्थोंको वा बहुत कुटुम्बको वा सहस्र दुग्धधाराको धारण करनेवाली (पयसा) इस दूधसे (महीम्) बडी अर्थात् सब सिद्धि देनेवाली (गाम्) वाणीरूप गौको (अदुहत्) दुहा "गौरिति वाङ्नामसु" [निघं० १ । ११] अर्थात् सविता देवकी मति जो कण्वने दुही उसीको मैं स्वीकार करताहूं वह बुद्धि मुझे प्राप्त हो ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५–मंत्र १ ।

विधेमतेपरमेजन्मन्नग्नेविधेमस्तोमैरवरेसधस्थे॥ यस्माद्योनेरुदारिथायजेतम्प्रत्वेहवीᳬंषिजुहुरेसमिद्धे ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विधेम इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वैकंकतीसमिदाधाने वि० ॥ ७५ ॥

विधि–इस मंत्रसे वैकंकतीसमिदाधान करै । मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (परमे) परम उत्कृष्ट (जन्मन्) जन्मवाले स्वर्गमें अर्थात् तुम्हारे परम लोकमें स्थित आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (ते) तुम्हारे निमित्त हवि (विधेम) विधानकरते हैं "द्यौर्वा अस्य परमं जन्म" इति [९ । २ । ३ । ३९) श्रुतेः (अवरे) उससे नीचे (सधस्थे) अन्तरिक्षमें स्थित विद्युत्रूपके निमित्त (स्तोमैः) स्तोममंत्र पाठपूर्वक हवि (विधेम) विधान करते हैं "अन्तरिक्षं वा अवरᳬसधस्थम्" इति [९ । २ । ३ । ३९] श्रुतेः (यस्मात्) जिस कारण तुम (योनेः) इष्टका चितिरूप स्थानसे (उदारिथ) उद्गत हुए हो (तम्) उस आपके स्थानको (यजे) मैं पूजन करता हूं फिर (समिद्धे) प्रज्वलित होनेमें (त्वे) तुम्हारेविषे ऋत्विग्गण (हवींᳬषि) हवियोंको (प्रजुहुरे) हवनकरते हैं हम उसी स्थानकी अर्चा करते हैं "एष वा अस्य योनिः" इति [९ । २ । ३९] श्रुतेः [ऋ० २ । ६ । १] ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६–मन्त्र १ ।

प्रेद्धोऽअग्नेदीदिहिपुरोनोजस्रयासूर्म्म्यायविष्ठ ॥ त्वाᳬंशश्वन्तऽउपयन्तिवाजाः ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) प्रेद्ध इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । विराडनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७६ ॥

विधि-(१) अनन्तर इस मंत्रसे उदुम्बरी समित् आधान करे । मन्त्रार्थ-(यविष्ठ) हे अतियुवा ! (अग्ने) अग्निदेव (अजस्रया) क्षीण न होनेवाले अखण्ड (सूर्म्या) समिध काष्ठसे वा लोहमयी प्रज्वलित स्थूणा वा सूर्मीतुल्य ज्वालासे (प्रेद्धः) अतिप्रदीप्त हुए तुम (नः) हमारे (पुरः) आगे (दीदिहि) सम्यक् प्रदीप्त हो (त्वाम्) तुमको (शश्वन्तः) निरन्तर होनेवाले (वाजाः) अन्नरूप हवि (उपयन्ति) प्रदान करते हैं [ऋ० ५ । १ । २३] ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १ ।

अग्ने॒ तम॒द्याश्वं॒ न स्तोमैः॒ क्रतुं॒ न भ॒द्रꣳ हृ॑दि॒स्पृश॑म् ॥ ऋ॒ध्यामा॑ त॒ ओहैः॑ ॥ ७७ ॥

विधि-(१) इसी प्रकार समिदाधान करके यह दो कण्डिका पाठकर स्रुवद्वारा दो आहुति दे [का० १८ । ४ । ८] मंत्रार्थ-अग्ने तमिति इसकी व्याख्या १५ । ४४ में होगई । आहुतिदाने वि० ॥ ७७ ॥

कण्डिका७८-मंत्र १ ।

चित्तिं॑ जुहोमि॒ मन॑सा घृ॒तेन॒ यथा॑ दे॒वा इ॒हाग॑म॒न्वी॒तिहो॑त्रा ऋता॒वृधः॑ ॥ पत्ये॒ विश्व॑स्य॒ भूम॑नो जु॒होमि॑ वि॒श्वक॑र्मणे वि॒श्वाहादा॑भ्यꣳ ह॒विः ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चित्तिमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । अतिजगती छन्दः । विश्वकर्मा देवता । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-मैं (मनसा) विशेष मनके निवेशसहित (घृतेन) तथा घृतके द्वारा (चित्तिम्) इस चितिस्थ अग्निको (जुहोमि) आहुतिद्वारा प्रसन्न करताहूं अथवा संकल्पविकल्पात्मक मन निश्चयात्मक चित्तको अग्नितत्त्व जाननेके निमित्त इस प्रकार इस कार्यमें लगाते हैं (यथा) जिसप्रकार (इह) इस यज्ञमें (वीतिहोत्राः) यज्ञमें आहुतिकी अभिलाषावाले "होत्रा इति यज्ञनाम" [निघं० ३ । १७ । ८] (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञके बढानेवाले यज्ञमें आगमन कर आहुतिका भोग करने और स्तोमस्तुति श्रवण करनेसे जो परिपुष्ट होते हैं

ये "ऋतावृधः" (देवाः) देवता (आगमन्) आगमन करैं (विश्वाहाः) सम्पूर्ण दिनोंमें (भूमनः) महान् (विश्वस्य) जगत्के (पत्ये) अधिपति (विश्वकर्मणे) जगदीश्वरके निमित्त (अदाभ्यम्) अनुपहित स्वादिष्ठ (हविः) हवि (जुहोमि) प्रदानमें प्रवृत्त होताहूं ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९–मंत्र १ ।

सप्त तेऽअग्ने समिधः सप्त जिह्वाः सप्तऽऋषयः सप्त धाम प्रियाणि ॥ सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्त योनीरापृणस्व घृतेन स्वाहा ॥ ७९ ॥ [१९]

ऋष्यादि–(१) ॐ सप्त इत्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पूर्णाहुतिदाने वि० ॥ ७९ ॥

विधि–(१) स्रुक्पूर्ण घृत लेकर इस मंत्रसे पूर्णाहुति प्रदान करै [का० १८ । ४ । ९] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (सप्त) सात (समिधः) समिधा हैं अर्थात् शमी, वैकंकती, उदुम्बरी, बेल, पलाश ढाक न्यग्रोध, और अश्वत्थ यही सात समिधा हैं वा अग्निकी सात समिधा प्राण हैं "प्राणा वै समिधः प्राणा ह्येतꣳ समिंधते" इति [९।२।३।४४] श्रुतेः (सप्त) सात (जिह्वाः) ज्वालारूप जिह्वा हैं " हिरण्याङ्गनादि आगममें कहीं अथवा काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुचि, यह लोलायमान सात जिह्वा यह मुण्डक १ । २ लिखित सप्त जिह्वा हैं" (सप्त) सात (ऋषयः[1]) द्रष्टा ऋषि हैं (सप्त) सात (प्रियाणि) प्रिय गायत्रीआदि छन्द (धाम) धाम हैं "छन्दाꣳसि वा अस्य सप्त धाम प्रियाणि" इति [९ । २ । ३ । ४४] श्रुतेः अथवा आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, सभ्य, आवसथ्य, प्राजहित, आग्नीध्र यह सात सोमयागमें अग्निधारक धाम हैं (सप्त) सात (होत्राः) होता, प्रस्थाता, ब्राह्मणशंसी, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र और अच्छावाक् यह सात होता हैं (सप्तधा) सात प्रकार अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, अतिरात्र, आप्तोर्याम और वाजपेयसे (त्वा) तुमको यजन करते हैं (सप्त) सात (योनीः) चिति तुम्हारे उत्पत्तिस्थान हैं उनको (घृतेन) घृतसे (आपृणस्व) पूर्ण करो वा हमारी एक आहुतिद्वारा वह सब घृतसे पूर्ण हो (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ७९ ॥ [१९]

---

१ मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, अंगिरा, वशिष्ठ और क्रतु यह ऋषि द्रष्टा हैं यह सप्त ऋषि अथर्ववेदमें लिखे हैं ।

१ "काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता चापि सधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचिश्च देवी लोलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ [मु० १ । २] "यज्ञो वै स्वाहाकारः" इति [९ । २ । ३ । ४४]श्रुतेः ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०-मंत्र १. अनु० ८ ।

शुक्रज्ज्योतिश्च चित्रज्ज्योतिश्च सत्यज्ज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च ॥ शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यँहाः ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शुक्रज्योतिरित्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । मरुतो देवताः । पुरोडाशहोमे वि० ॥ ८० ॥

विधि-(१) यहांसे ८५ कण्डिकातक मंत्र पाठ करके ४२ मरुत् देवताको इस स्थलमें और ३९ अ० ७ कण्डिका पाठपूर्वक और सप्त मरुत् देवताको अरण्यमें आवाहनपूर्वक पुरोडाश हवन करे यह सब मिलकर ४९ आहुति ४९ पवनके निमित्त हैं, अथवा वैश्वानर पुरोडाशके ऊपर मरुतोंके निमित्त हवन करे प्रथम कालमें वैश्वानर पुरोडाश फलादे [का० १८ । ४ । २३ । २४] मन्त्रार्थ-(शुक्रज्योतिः) शुद्धतेजवान् (च) और (चित्रज्योतिः) दर्शनीय ज्योति (च) और (सत्यज्योतिः) ब्रह्मलक्षण ज्योतिवाले (च) और (ज्योतिष्मान्) ज्योतियुक्त (च) और (शुक्रः) दीप्यमान (च) और (ऋतपाः) सत्य वा यज्ञकी रक्षावाले (च) और (अत्यंहाः) पापोंसे रहित मरुतगण हमारे यज्ञमें आवें [यह अन्वय पांचवें मंत्रसे लेना] उनके निमित्त आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १ ।

ईदृङ् चान्यादृङ् च सदृङ् च प्रतिसदृङ् च ॥ मितश्च सम्मितश्च सभराः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईदृङ्ङित्यस्य सप्तर्षिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । मरुतो देवताः । पुरोडाशावलोकने वि० ॥ ८१ ॥

विधि-(१) इस पुरोडाशको ग्रहण कर देखै । मंत्रार्थ-(ईदृङ्) इस पुरोडाशको ग्रहणकर देखनेवाले (च) और (अन्यादृङ्) दूसरे पुरोडाशकोभी देखनेवाले (च) और (सदृङ्) समान देखनेवाले (च) औ

(प्रतिसदृङ्) उस उसके प्रति समान देखनेवाले (च) और (मितः) मानको प्राप्त अथवा उत्तम मध्यम अधमको तुल्य (च) और (सम्मितः) सम्यक् एकीभावसे मानको प्राप्त (च) और (सभराः) समान धारण करनेवाले १४ मरुद्गण हमारे यज्ञमें आवैं, उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२–मंत्र १ ।

ऋतश्च॑ स॒त्यश्च॑ ध्रु॒वश्च॑ ध॒रुण॑श्च ॥ ध॒र्त्ता च॑ विध॒र्त्ता च॑ विधार॒यः ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋतश्चेत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । गायत्री छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋतः) सत्यरूप (च) और (सत्यः) सद्वस्तुमें होनेवाले (च) और (ध्रुवः) स्थिर (च) और (धरुणः) धारण करनेवाले (च) और (धर्ता) धारक (च) और (विधर्ता) विशेषकर धारण करनेवाले (च) और (विधारयः) विविध प्रकारसे धारण करनेवाले २१ मरुत् हमारे यज्ञमें आवैं यह आहुति उनके निमित्त है ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३–मंत्र १ ।

ऋ॒त॒जिच्च॑ सत्य॒जिच्च॑ सेन॒जिच्च॑ सु॒षेण॑श्च ॥ अन्ति॑मित्रश्च दू॒रेऽअ॑मित्रश्च ग॒णः ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋतजिच्चेत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । उष्णिक्छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋतजित्) सत्यके जय करनेवाले (च) और (सत्यजित्) यथातथ्य जय करनेवाले (च) और (सेनजित्) शत्रुकी सेना जय करनेवाले (च) और (सुषेणः) सुन्दर सेनावाले (च) और (अन्तिमित्रः) समीप मित्रवाले (च) और (दूरेअमित्रः) दूर शत्रुवाले (च) और (गणः) सबके गिन्नेवाले वा समूहरूप २८ मरुत् आवैं उनके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४–मंत्र १ ।

ई॒दृक्षा॑सऽएता॒दृक्षा॑सऽऊ॒ षु ण॑: स॒दृक्षा॑स॒: प्रति॑सदृक्षास॒ऽएत॑न ॥ मि॒तास॑श्च॒ सम्मि॑तासो नोऽअ॒द्य सभ॑रसो मरुतो य॒ज्ञेऽअ॒स्मिन् ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईदृक्षास इत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । जगती छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ-(मरुतः) मरुतो ! तुम (ईदृक्षासः) इस लक्षणके देखनेवाले (उ) और (एतादृक्षासः) इस प्रकारके देखनेवाले (उ) और भलीप्रकार (सदृक्षासः) समान देखनेवाले (च) और (प्रतिसदृक्षासः) प्रत्येकको समान देखनेवाले (न) और (मितासः) प्रमाणयुक्त और (सम्मितासः) संगत होकर प्रमाणको करनेवाले (सभरसः) समान अलंकारादिको करनेवाले वा आदरके सहित वर्तमान ३९ मरुत् देवता (अद्य) आज (नः) हमारे (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (एतन)आगमन करैं उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥८४॥

विवरण-'उ, सु, न' तीन पाद पूर्तिके निमित्त हैं ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मंत्र १ ।

स्वतवाँश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधी च ॥ क्रीडी च शाकी चोज्जेषी ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वतवाँश्चेत्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । स्वराड्गायत्री छं० । चातुर्मास्या मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ-(स्वतवान्) आपने अधीनतपोबलसे युक्त (च) और (प्रघासी) पुरोडाशभक्षणशील (च) और (सान्तपनः) सूर्यसम्बन्धी होनेसे वा शत्रुओंको तपानेसे सान्तपन (च) और (गृहमेधी) गृहधर्मसे युक्त (च) और (क्रीडी) क्रीडा खेलका स्वभाववाले (च) और (शाकी) समर्थ (च) और (उज्जेषी) उत्कृष्ट जयशील नामसे प्रसिद्ध ४२ मरुत् देवता हमारे यज्ञमें आवें उनकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है ॥ ८५ ॥

विधि-(१) इसके आगे ३९ अ० कं० ७ मंत्र पढकर वनमें सात आहुति दी जाती हैं, इस मंत्रको विमुख कहते हैं प्रसंगसे व्याख्या लिखते हैं। मंत्रार्थ-(उग्रः) उत्कृष्ट (च) और (भीमः) भयकारी (च) और (ध्वान्तः) शत्रुओंको अंधकर्ता (च) और (धुनिः) शत्रुओंको कंपानेवाला (च) और (सासह्वान्) शत्रुओंको तिरस्कार कर्ता (च) और (अभियुग्वा) भक्तोंके सुखदाता (च) और (विक्षिपः) शत्रुओंके हटानेवाले ४९ मरुद्गणोंके निमित्त (स्वाहा) पुरोडाशकी आहुति दीजातीहै श्रेष्ठरूपसे गृहीत हो कोई इसी सात नामसे सात चितिको कहते हैं सो चिन्त्य है ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६–मंत्र १ ।

इन्द्रन्दैवीर्विशौमुरुतोनुवर्त्मानोभवुन्यथेन्द्रन्दैवीर्विशौमुरुतानुवर्त्मानोभवन् ॥एवमिमंय्यजमानन्दैवीश्चविशोमानुषीश्चानुवर्त्मानोभवन्तु॥८६॥ ७

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । शक्करी छन्दः । मरुतो देवताः । जपे वि० ॥ ८६ ॥

विधि–(१) अपवर्ग कर्मान्तिमें इस मन्त्रका जप करे [का० १८ । ४ । २९] मंत्रार्थ–(दैवीः) देवसम्बन्धी (मरुतः) मरुतरूप (विशः) प्रजा (इन्द्रम्) इन्द्रकी (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी (अभवन्) हुई अर्थात् (यथा) जैसे (दैवीः) देवसम्बन्धी (मरुतः) मरुतरूप (विशः) प्रजा (इन्द्रम्) इन्द्रके (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी हुई (एवम्) इसी प्रकार (दैवीः) देवलोककी (च) और (मानुषीः) मनुष्यलोककी (विशः) प्रजा (इमम्) इस (यजमानम्) यजमानकी (अनुवर्तमानः) अनुगामिनी (भवन्तु) हों ॥ ८६ ॥

विशेष–यह स्वरूपाख्यान दोवार उपमाके निमित्त है ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७–मंत्र १. अनु० ९ ।

इमᳬस्तनमूर्जस्वन्तन्धयापाम्प्रपीनमग्ने सरिरस्यमध्ये ॥ उत्सञ्जुषस्वमधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियᳬसदनमाविशस्व ॥ ८७ ॥

ऋष्यादि–ॐ इममित्यस्य सप्तर्षय ऋषयः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । जपे वि० ॥ ८७ ॥

विधि–(१) अनन्तर यहांसे आरंभकर अध्यायकी समाप्तिपर्यन्त यह तेरह मन्त्र यज्ञस्तुति कथन करनेवाले वा वसुधारावृतमहिमाके हैं, अध्वर्यु यजमानको पाठ करावे [का० १८ । ४ । ३६] मंत्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (सरिरस्य) भूलोकके (मध्ये) मध्यमें वर्तमान (इमम्) इस (ऊर्जस्वन्तम्) विशिष्ट रससे युक्त (अपाम्) घृतधारासे (प्रपीनम्) पूर्ण (स्तनम्) स्रुक्रूप स्तनको (धय) पान करो (अर्वन्) हे सब ओर गमनशील अग्ने ! (मधुमन्तम्)

मधुस्वादयुक्त घृतसे युक्त(उत्सम्)सुयूपकूपको(जुषस्व)प्रीतिसे सेवन करो(समुद्रियम्) समुद्रसम्बन्धि चयनयागवाले (सदनम्) घरमें (आविश) प्रवेश करो ॥ ८७ ॥

प्रमाण-१ "इमे वै लोकाः सरिरम्" इति [७। ५ । २ । ३४] श्रुतेः "त्रयो ह वै समुद्रा अग्निर्यजुषां महाव्रतꣳसाम्नां महदुक्थमृचाम्" इत्यभिप्रायः ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

घृतम्मिमिक्षे घृतम्मस्य योनिर्घृते श्रितो घृतम्बस्य धाम॑ ॥ अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ वक्षि हव्यम् ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ घृतमित्यस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मंत्रार्थ-मैं (घृतम्) घृतको (मिमिक्षे) अग्निके मुखमें सींचनेकी इच्छा करता हूं (घृतम्) घृत (अस्य) इस अग्निका (योनिः) उत्पत्तिस्थान है (घृते) घृतमें (श्रितः) आश्रित है (घृतम्) घृत (उ) ही (अस्य) इसका (धाम) तेज करनेवाला है हे अध्वर्यु ! (अनुष्वधम्) हवि संस्कारकरनेके उपरान्त अग्निको (आवह) आह्वानकरो और (मादयस्व) तृप्तकरके कहो (वृषभ) हे कामनाओंके वर्षानेवाले ! (स्वाहाकृतम्) स्वाहाकार करके हुत हुए (हव्यम्) हविको (वक्षि) देवताओंको प्राप्त कराओ अथवा घृत जिसकी योनि जो घृतके आश्रित है घृत जिसका धाम है आज हम इस अग्निको घृतसे अभिषेक करते हैं. हे वृषभ ! यह हवि देखकर देवताओंको आह्वानकर और आयेहुए उनको परिवेषण करो देवताओंका बुलाना और हवि वहन यह दो अग्निके कार्य हैं [ऋ० २ । ५ । २३] ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ२ऽउदारदुपाꣳशुना सममृतत्वमानट् ॥ घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृतस्य नाभिः ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रादित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८९ ॥

विधि-(१) अन्नके अध्याससे घृत और प्राणके अध्याससे अग्निकी स्तुतिहै ।

मन्त्रार्थ-(मधुमान्) रसवान् (ऊर्मिः) तरंग (समुद्रात्) घृतरूपसमुद्रसे (उदारत्) उठती हुई और उद्गत होनेके उपरान्त (अंशुना) प्राणभूत अग्निके द्वारा (सम्) संगतिको प्राप्त अर्थात् एक होकर (अमृतत्वम्) अमृतत्व धर्मको (उपानट्) प्राप्त होती है अर्थात् प्राण और अन्न एकत्व होकर अमृतत्वको प्राप्त होते हैं (तस्य) उस घृतका (गुह्यम्) गुह्य गुप्त (नाम) नाम जो श्रुतिमें पठित है वह (देवानाम्) देवताओंकी (जिह्वा) जिह्वा है, अर्थात् घृतको देखकर देवताओंकी जिह्वा चलती है और सर्व प्रकाशमान (अमृतस्य) अमृतकी (नाभिः) नाभि (अस्ति) है अर्थात् अमरण धर्मका बन्धन है, जो घी खाता है वह दीर्घायु होता है अथवा आधेसे मंत्रकी और आधेसे घृतकी स्तुति है। "आग्निकायजुः-समुद्रात्" अर्थात् इस यजु समुद्ररूप यज्ञसे जो 'ऊर्मिः' अर्थात् शब्दसमूह नामिक आख्यात उपसर्ग निपातरूप (उप) उपमा उत्प्रेक्षारूप अलंकाररूप 'मधुमान्' रसवान् वाक्यार्थगुणोंसे युक्त 'उदारत्' मुखसे प्राप्त हुआ है वही 'उपांशुना' तीनों सवनद्वारा किया हुआ अमृतत्वको प्राप्त होता है "तदेतद्यजुरुपांशुवनिरुक्तम्" इति श्रुतेः। इस कारण अग्निके चयन करनेवालोंको वह ऊर्मी प्रकाशनीय है घृतका जो गुह्यनाम है वही देवताओंकी जिह्वा उत्थानके निमित्त है फिर होम करनेकी तो कौन कहै "अथास्य घृतकीर्तावेवाग्निर्वैश्वानरो मुखादुज्ज्वाल" इति [१।४।३।१३] श्रुतेः। और यह अमृतनाभि अर्थात् यजमानोंको अमृतत्व प्राप्त करता है इस कारण यह अग्निचयन करनेवालों द्वारा हुत और स्तुति किया जाता है॥ ८९॥

प्रमाण-"यदा वा एतदग्नौ जुह्वत्यथाग्नेर्जिह्वा इवोत्तिष्ठन्ति" इति श्रुतेः॥ ८९॥

विवरण-अग्निमें घृत डालनेसे उसकी ज्वाला जिह्वाकी समान उठती है मानो वारंवार घृतकी इच्छा प्रगट करती है इस कारण भी इसे देवजिह्वा कहते हैं "आयुर्वै घृतम्" घृत आयुर्वर्द्धक होनेसे अमृतकी नाभि कहाता है [ऋ० ३। ८।१०]॥ ८९॥

कण्डिका ९०-मंत्र १।

व॒यन्नाम॒ प्रब्र॑वामा घृ॒तस्या॒स्मिन्य॒ज्ञे धा॑रयामा॒ नमो॑भिः॥ उप॑ ब्र॒ह्मा शृ॑णवच्छ॒स्यमा॑नं॒ चतुः॑शृङ्गोऽवमीद्गौ॒र ए॒तत्॥ ९०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वयमित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ-जिस कारण कि घृतका उच्चारण भी देवतोंको प्रिय है इस कारण (वयम्) हम (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (घृतस्य) घृतका (नाम) नाम (प्रब्रवाम) उच्चारण करते वा स्तुत करते हैं (नमोभिः) अन्नोंद्वारा (धारयामः) यज्ञको धारण करतेहैं (ब्रह्मा) ब्रह्मासंज्ञक ऋत्विक् (शस्यमानम्) स्तुतिको प्राप्त इस घृतके नामको (उपशृण्वत्) सुनो जो कि (चतुःशृङ्गः) चार शृङ्ग अर्थात् चार होतादि शृङ्गयुक्त (गौरः) गौरवर्ण अर्थात् शुद्ध (एतत्) यह घृत यज्ञफलको (अवमीत्) आहुतिपरिणामसे प्रगट करताहै ॥ ९० ॥

भावार्थ-हम आज इस यज्ञको नमस्कारपूर्वक धारापातके सहित घृतनाम कीर्तन करते हैं, ब्रह्मा हमारी श्रद्धाके सहित इस प्रशंसनीय नामको श्रवणकरे, जिससे चतुःशृङ्ग गौरदेवता फलप्रदान करै "चार शृंगयुक्त एक गौरनाम मृगभी होता है" [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१-मंत्र १ ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽअस्य ॥ त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ२ऽआविवेश ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चत्वारीत्यस्य वामदेव ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । यज्ञपुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस फलप्रद यज्ञदेवताके (चत्वारि) ब्रह्मा, उद्गाता, होता, अध्वर्यु यह चार (शृङ्गाणि) शृंग हैं (त्रयः) ऋक् यजुः सामरूप तीन (पादाः) चरण हैं (द्वे) हविर्धान और प्रवर्ग्य दो (शीर्षे) शिर हैं "शिर एवास्य हविर्धानं ग्रीवा वै यज्ञस्योपसदः शिरः प्रवर्ग्यः" इति श्रुतेः । (अस्य) इस देवताके (सप्त) सात छन्द (हस्तासः) हाथ हैं अथवा सात होता हाथ हैं (त्रिधा) तीन प्रकार प्रातःसवन माध्यंदिनसवन और सायंसवन इन तीन स्थानमें (बद्धः) बंधाहुआ (वृषभः) कामनाओंका वर्षानेवाला (रोरवीति) अति शब्द करता है वह यह (महः) अतिशय पूजनीय (देवः) देव अथवा ब्रह्मासे स्तम्ब-पर्यन्त प्राणियोंका उपजीवी ज्ञान कर्मसमुच्चयकारी विद्वानोंके शरीरभूत

(मर्त्यान्) मनुष्यलोकमें (आविवेश) व्याप्त होकर स्थित है [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९१ ॥

अथवा—चार वेदही चार शृंग हैं तीन चरण तीन सवन हैं प्रायणीय उदयनीय दो शिर हैं, सात हाथ छन्द गायत्री आदि हैं, मंत्र ब्राह्मण और कल्पसे तीन प्रकार बद्ध होकर शब्द करता है शेषम्पूर्ववत् ॥ ९१ ॥

अथवा व्याकरणपरत्व ।

(चत्वारि शृङ्गाणि) नामिक आख्यात उपसर्ग निपात चार शृंग हैं (त्रयः-पादाः) प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष, तीन पाद हैं, अथवा भूत भविष्य वर्तमान तीन पाद हैं (द्वे शीर्षे) कार्यता व्यङ्गचता दो शिर हैं, वा नित्य और कार्य दो शिर हैं (सप्तहस्तासः) सातविभक्ति हाथ हैं (त्रिधाबद्धः) एकवचन द्विवचन बहुवचनसे बद्ध (वृषभः) सब अर्थोंका प्रतिपादक वा वृषभकी समान अन्य शास्त्रोंको अधःकरके (रोरवीति) शब्दकरता है (महोदेवः) सो यह महादेव मनुष्यशास्त्रके अधिकारी हैं इस कारण मनुष्योंमें प्रविष्ट है ॥ ९१ ॥

अथवा—वृषपक्षमें सब सुसंगत है तीन स्थान उरःशिरकण्ठमें बद्ध है ॥ ९१ ॥

अथवा—इस वेदरूप यज्ञपुरुषके धर्म अर्थ काम मोक्षरूपही चार शृंग हैं, कर्म उपासना और ज्ञान तीन चरण हैं, व्यष्टिसमष्टिरूप दो शिर स्वर वा छन्द सात हाथ हैं, इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान वा तीन गुणोंसे युक्त चार पदार्थकी वर्षा करनेवाला वेद अत्यन्त शब्दकर रहाहै, कि हे मनुष्यो ! जागो, परमात्माका भजन करनेको यह शरीर है. इस परमात्माने जीवात्मरूपसे शरीरोंमें प्रवेश किया है ॥ ९१ ॥

अक्षरार्थ—इस फलप्रद देवताके चार शृंग तीन चरण दो मस्तक सात हाथ हैं यह तीन स्थानमें बद्ध है इसका नाम वृषभ यह प्रधान देवता इस मर्त्यलोकमें प्रविष्ट होकर वारंवार शब्द करता है. ॥ ९१ ॥

इस मंत्रके अर्थ गूढ हैं, दो चार अर्थ प्राचीन भाष्यकारोंकी शैली देखकर लिखे हैं इसके और भी अर्थ हो सकते हैं ॥ ९१ ॥

प्रमाण—"चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्तास्त्रयोस्य पादा इति सवनानि त्रीणि द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये सप्त हस्तासः सप्त च्छन्दांसि त्रिधाबद्धस्त्रेधाबद्धो मंत्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभो रोरवीति रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति महोदेव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्या आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय" [निरु० अ० १३ । खं० ७] ॥ ९१ ॥

पक्षान्तरे पतञ्जलिमुनिरेवमाह-

"चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः त्रयःकाला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्तहस्तासो अस्य सप्त विभक्तयः। त्रिधाबद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोतीति। कुत एतत् रौतिः शब्दकर्मा। महोदेवो मर्त्यां आविवेशेति महान्देव शब्दो मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश" [महाभाष्य अ० १ पा० १ आ० १] ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२-मन्त्र १।

त्रिधा॒ हि॒तं प॒णिभि॑र्गु॒ह्यमा॑नं॒ गवि॑ दे॒वासो॑ घृ॒तमन्व॑विन्दन्। इन्द्र॒ऽएक॒ᳪ सूर्य॒ऽएकं॑ जजान वे॒नादेक॑ᳪ स्व॒धया॒ निष्ट॑तक्षुः ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रिधाहितमित्यस्य वामदेव ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। घृतं देवतम्। वि० पू० ॥ ९२ ॥

मंत्रार्थ-(त्रिधा) तीन प्रकारसे लोकोंमें (हितम्) स्थापित (पणिभिः) असुरोंसे (गुह्यमानम्) छिपायेहुए (घृतम्) यज्ञपरिणाम भूत घृतको (देवासः) देवताओंने (गवि) गौमें (अनु) अनुक्रमसे (अविन्दन्) जाना उसके (एकम्) एक भागको (इन्द्रः) इन्द्रने (जजान) प्रगट किया अर्थात् दीहुई आहुति अन्तरिक्षमें जाती है वहां इन्द्र जान्ता है " ते वा एते आहुते हुते उत्क्रमतस्ते अन्तरिक्षमाविशतः " इत्यादिश्रुतेः। (एकम्) एकभागको (सूर्यः) सूर्यने (जजान) प्रगट किया " ते तत उत्क्रमतस्ते दिवमाविशतः" इत्यादिश्रुतेः। (एकम्) एकभाग (वेनात्) यज्ञसाधनभूत अग्निसे (स्वधया) त्रेताहुति लक्षण रूप अन्नसे (निष्टतक्षुः) ब्राह्मणोंने प्राप्त किया [ऋ० ३।८।१०] ॥ ९२ ॥

भावार्थ-प्रथम त्रिलोकीमें घृतका प्रचार था फिर पणिनामक असुरोंके आधिपत्यमें यह गुप्त किया गया तब देवगणने इसको बडी खोज करकै गौके मध्यमें जाना, उसका एक भाग इन्द्र देवताके प्रसादसे दूसरा भाग सूर्य देवताके प्रसादसे तीसरा भाग अग्निदेवताके प्रसादसे लब्ध किया, उक्त तीनोंमें घृत निवास करता है और आहुतिद्वारा त्रिलोकीमें व्याप्त रहता है ॥ ९२ ॥

आशय-आशय यह घृत त्रिलोकीमें स्थित उपार्जनीय वस्तु है ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३-मंत्र १ ।

एताऽअर्षन्तिहृद्यात्त्समुद्राच्छतव्व्रजारिपुणानावचक्षे ॥ घृतस्य्धाराऽअभिचांकशीमिहिरण्ययोवेतसोमध्यऽआसाम् ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एता इत्यस्य वामदेव ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । घृतं देवतम् । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मन्त्रार्थ-(हृद्यात्) हृदयरूपी (समुद्रात्) समुद्रसे अर्थात् श्रद्धारूप जलसे अथवा देवताके याथात्म्यचिन्तनरूप समुद्रसे अर्थात् निगम निरुक्त निघण्टु व्याकरण शिक्षा छन्दोंसे पवित्र सागरसे (शतव्रजाः) बहुतगति अर्थात् अनेक अर्थवाली (एताः) यह वाणियां (अर्षन्ति) निकलती हैं (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धाराकी समान अविच्छिन्न (रिपुणा) शत्रुरूप कुतार्किकोंसे (न) नहीं (अवचक्षे) खण्डित होती है (आसाम्) इन वाणियोंके (मध्ये) मध्यमें (हिरण्ययः) दीप्यमान (वेतसः) अग्निको (अभिचाकशीमि) सब ओरसे देखताहू ॥ ९३ ॥

अथवा-(एताः शतव्रजाः) यह अनेक प्रकारकी गतिवाली (घृतस्य धाराः) घृतकी धारा (हृदयात् समुद्रात्) यजमानके हृदयरूपी समुद्रसे संकल्प-द्वारा (अर्षन्ति) निर्गत होती हैं (रिपुणा न अवचक्षे) रिपुगण इस धारापातके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है हम जिस स्थानमें गमन करते हैं (आसां मध्ये) इस चितिके मध्यमें विराजित (हिरण्ययो वेतसः) हिरण्यमय अग्नि देवताको (अभिचाकशीमि) देखते हैं ॥ ९३ ॥

प्रमाण-"रिपुरिति स्तेननाम" [निघं० ३ । २४] [ऋ० ३ । ८ । १०] ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४-मंत्र १ ।

सम्म्यक्स्रवन्ति सरितोनधेनाऽअन्तर्हृदामनसापूयमानाः ॥ एतेऽअर्षन्त्यूर्म्मयोघृतस्यमृगाऽइव क्षिपुणोरीषमाणाः ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्यगित्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मंत्रार्थ-(अन्तः) शरीरके अन्तर (हृदा) पावन स्थानीय (मनसा) मनके द्वारा (पूयमानाः) पवित्र हुई शब्ददोषरहित (धेनाः) वाणियें "धेना इति वाङ्नामसु" [निघं० १ । ११ । ३९] (सरितः) नदियोंकी (न) समान (सम्यक्) अविच्छिन्नप्रवाहसे भलीप्रकार (स्रवन्ति) प्रवृत्त होती हैं वे अग्निकीही स्तुति करती हैं (एते) यह (घृतस्य घृतकी (ऊर्मयः) तरंग (अर्षन्ति) स्रुक्से निर्गत हुई जाती हैं अर्थात् अग्निको तृप्तकरती हैं (इव) जैसे (क्षिपणोः) व्याधेसे (ईषमाणाः) डरकर (मृगाः) मृग भागते हैं ॥ ९४ ॥

सरलार्थ-अन्तःकरणके सहित पवित्र, हृदयके सहित पवित्र, मनके सहित पवित्र हुए यह सब स्तुतिवाक्य समुद्रगामिनी नदीकी समान एक मात्र इस परम देवताकोही लक्ष्यकरके सम्यक् गमन करते हैं और जिस प्रकार व्याधेको देखकर भीत मृग प्राणभयसे पलायन करतेहैं घृतकी कल्लोल इसी प्रकार वेगगतिसे इस अग्निमें पतित होती है ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५-मन्त्र १ ।

सिन्धोरिवप्प्राध्वनेशूघनासोवातप्प्रमियःपतयन्ति यह्वाः ॥ घृतस्यधाराऽअरुषोनवाजीकाष्ठाभिन्द न्नूर्मिभिःपिन्वमानः ॥ ९५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सिन्धोरिवेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मंत्रार्थ-(घृतस्य) घृतकी (यह्वाः) बडी "यह्व इति महन्नामसु पठितम्" [३ । ३ । १३] (धाराः) धारायें (पतयन्ति) स्रुवसे पतित होती हैं (इव) जिस प्रकार (सिन्धोः) सिन्धु नदकी (शूघनासः) शीघ्र और घने गमनवाली "शू इति क्षिप्रनाम" [निघं० २ । १५ । १५] (वातप्रमयः) वातके द्वारा चलनेवाली तरंगें (प्राध्वने) विषमप्रदेशमें पतित होती हैं अथवा जैसे पालद्वारा चलनेवाली नौका शीघ्र गतिसे सिन्धुमें अपना मार्ग देखकर गमन करती हैं (न) जैसे (अरुषः) क्रोधरहित जातिआदि गुणसे उत्कृष्ट (वाजी) घोडा (काष्ठाः) आज्यन्त संग्रामस्थानोंको (भिन्दन्) विदीर्ण करताहुआ (ऊर्मिभिः)

संग्राम भेदनेके श्रमसे निकले हुए पसीनोंसे (पिन्वमानः) पृथ्वीको सींचताहुआ गमन करता है [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९५ ॥

भावार्थ-जिस प्रकार वेगगामी बृहत् वातप्रमी तुरंग वा पालगे सिन्धुयान सिन्धुमें अपना मार्गलक्ष करके गमन करते हैं, और जिसप्रकार युद्धमें रिपु-दर्शनके समय स्वेदकी तरंगसे भूमिको सिंचन करते रणमें कुशल सुशिक्षित वेग-वान् अश्वगण स्थिर मनसे अपने लक्षमें गमन करते हैं, इसी प्रकारसे यह सम्पूर्ण घृतकी धारा एक मात्र अग्निको लक्षकरके पतित होती हैं ॥ ९५ ॥

कण्डिका ९६-मन्त्र १ ।

अभिप्रवन्तसमनेवयोषाः कल्याण्यः स्मयमाना अग्निम् ॥ घृतस्य धाराः समिधो नसन्त ता जुषाणो हर्यति जातवेदाः ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभिप्रवन्त इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । घृतं दैवतम् । वि० पू० ॥ ९६ ॥

मंत्रार्थ-(घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारा (अग्निम्) अग्निमें ही इस प्रकार (अभिप्रवन्त) गिरती हैं वा अग्निके प्रति गमन करती हैं (इव) जिस प्रकार (समानाः) समान मनवाली (कल्याण्यः) रूपयौवनसम्पन्न (स्मयमानाः) कुछहास्यसे युक्त (योषाः) स्त्रियें पतिके निकट गमन करती हैं (ताः) वे धारा (समिधः) अग्निकी प्रदीप्त करनेवाली (नसन्त) अग्निको व्याप्तकरतीहैं (जात-वेदाः) प्रज्ञानसम्पन्न अग्नि (जुषाणः) प्रसन्न होकर (हर्यति) उन धाराओंकी कामना करताहै [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९६ ॥

सरलार्थ-पतिकी प्यारी कुछेक हास्यसे सम्पन्न कल्याणी स्त्री पतिके निकट जिस भावसे गमन करती है, अग्निकी दीप्त करनेवाली यह घृतधारा इसी प्रकार अग्निको प्राप्त होती है और पति जिस भावसे भार्याको ग्रहण करता है अग्निभी इसी भावसे प्रीतिपूर्वक उन धाराओंको ग्रहण करता है ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७-मंत्र १ ।

कन्याऽइव वहतुमेतवाऽउऽअञ्ज्यञ्जानाऽअभिचाकशीमि ॥ यत्र सोमः सूयते यत्र यज्ञो घृतस्य धाराऽअभि तत्पवन्ते ॥ ९७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कन्याइवेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । घृतं देवतम् । वि० पू० ॥ ९७ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस स्थानमें (सोमः) सोम (सूयते) अभिषव किया जाता है (यत्र) जहां (यज्ञः) सौत्रामणिआदि यज्ञ होता है (तत्) वहां (उ) ही (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारायें जाती हुई (अभिचाकशीमि) देखताहूं (इव) जिस प्रकार (अञ्जि) कमनीयरूप वा ऋतुधर्मको (अञ्जानाः) प्रगट करती हुई (कन्याः) कन्यायें (वहतुम्) पतिके निकट (एतवै) प्राप्त होनेको (पवन्ते) गमन करती हैं [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९७ ॥

विवरण-अञ्जि जिसको स्त्रीधर्म प्रगट होगया है अर्थात् ऋतुमती कन्या पति प्राप्त होनेके निमित्त जिसप्रकार व्यग्रचित्त परिणीता होती है हम देखते हैं जिस स्थलमें सोमाभिषव हुआ है जहां यज्ञपुरुष उपस्थित हैं, उस स्थानमें स्थित इस अग्निके वरण करनेके निमित्त यह सब घृतधारा इसी प्रकार व्यग्रचित्तसे पतित होती हैं ॥ ९७ ॥

भाव-इससे प्रगट है कि ऋतुधर्म जबतक न हो तबतक स्त्रीप्रसंग न करना चाहिये ॥ ९७ ॥

कण्डिका ९८-मंत्र १ ।

अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ॥ इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते ॥ ९८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यर्षतेत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ९८ ॥

मंत्रार्थ-हे देवताओ ! (सुष्टुतिम्) श्रेष्ठ स्तुतिवाले (गव्यम्) घृतयुक्त (आजिम्) यज्ञमें (अभ्यर्षत) आगमन करो जहां (घृतस्य) घृतकी (धाराः) धारायें (मधुमत्) मधुरस्वादयुक्त (पवन्ते) पतित होती हैं (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (देवता) देवलोकमें (नयत) प्राप्त करो देवलोकमें यज्ञ प्राप्त

होनेसे यजमानभी स्वर्गको प्राप्त होगा (अस्मासु) हममें (भद्राः) कल्याण और (द्रविणानि) अनेक प्रकारके धन (धत्त) स्थापन करो ॥ ९८ ॥

भावार्थ– हे देवगण ! हमारी आन्तरिक स्तुतिके सहित यह मधुमती सब घृतधारा पतित होती हैं यह यज्ञ और यज्ञकर्ता यजमान स्वर्गमें प्राप्त हो और अनेक धनोंसे युक्त हो [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९८ ॥

कण्डिका ९९–मंत्र १ ।

धाम॑न्ते॒ विश्वं॒ भुव॑न॒मधि॑श्रि॒तम॒न्तः स॑मु॒द्रे हृ॒द्य॒न्तरायु॑षि ॥ अ॒पामनी॑के समि॒थे यऽआभृ॑त॒स्तम॑श्याम॒ मधु॑मन्तन्तऽऊ॒र्मिम् ॥ ९९ ॥ [९२]

इति शुक्लयजुःसंहितायां दीर्घपाठे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ धामन्त इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९९ ॥

विधि–(१) ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त सब जगत् आहुतिपरिणामभूत मानकर कहते हैं । मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! परम देवता जो (समुद्रे) सागरके मध्यमें और जो (हृदि) हृदयके मध्यमें तथा (अन्तरायुषि) आयुके मध्यमें अर्थात् ब्रह्माके जीवनपर्यन्त जो (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) प्राणिसमूह हैं वह सब (ते) तुम्हारी (धामन्) विभूतिमें (अधिश्रितम्) आश्रय करके स्थित हैं (यः) जो (ऊर्मिः) घृतकी कल्लोल (समिथे) पणि असुरोंसे युद्ध करके (अपाम्) जलोंके (अनीके) मुखमें वर्तमान (आभृतः) लाईगई आपकी कृपासे (तम्) उस (मधुमन्तम्) रसयुक्त (ते) तुम्हारी (ऊर्मिम्) कल्लोलको (अश्याम) भक्षण करूं अर्थात् हम हविके परिणामी रसके भोगनेवाले हों, देवभावको प्राप्त हों यह वक्रोक्तिसे प्रार्थना करते हैं [ऋ० ३ । ८ । ११] ॥ ९९ ॥

अथवा हे अग्ने ! यह 'विश्वं भुवनं' सब जगत् (ते धामन् अधिश्रितम्) तुम्हारे अतिऐश्वर्यमें स्थित है (अन्तःसमुद्रे) अन्तरिक्षमें सूर्यरूपसे "समुद्र इत्यन्तरिक्षनाम" [निघं० ११ ३ । ७५] (हृदिअन्तः) सब प्राणियोंके हृदयमें जाठराग्निरूपसे वर्तमान (आयुषि) अन्नमें सब प्राणियोंके आहाररूपसे वर्तमान (अपाम् अनीके) जलोंके संघातमें वैद्युताग्निरूपसे वर्तमान (समिथे) संग्रामोंमें शूरता अग्निरूपसे वर्तमान है इस प्रकार सब स्थानोंमें (आभृतः) स्थापित जो तुम्हारी

१ ९२ कण्डिकाकथित ।

धामरूप (ऊर्मिः) घृतरूप जल है उस (मधुमन्तम्) मधुर रसयुक्त (ते) तुम्हारी (ऊर्मिम्) ऊर्मिको (अश्याम) हम प्राप्त हों अर्थात् सब रसके भोगनेवाले हों ॥ ९९ ॥ [१३]

भावार्थ-हे परम देवता ! यह सबही विश्व भुवन आपके आश्रित है, समस्तही तुम्हारा धाम है क्या द्युलोक क्या समुद्र क्या हृदय क्या जीवन क्या अन्तरिक्ष क्या वृक्षादिसमूह सर्वत्रही तुम्हारी मधुमान् घृतकल्लोल निभृतरूपसे विद्यमान है, वह आपके सच्चिदानंदरूप ज्ञानको परम रसको आपके प्रसादसे हम लाभ करैं ॥ ९९ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नमिश्रसुखानंदसूनुपंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतभाषाटीकायां शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागे मिश्रभाष्ये सेकादिजपपर्यन्तः सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः १८.

वाजःसत्त्यसूक्ष्चतुष्का अश्माग्निस्त्रिकावर्ठंशुः पञ्चैकाचतस्रो वाजायद्वेवाजस्यश्चष्टावृताषाट्त्रयोदशाग्निंयुनज्मिसप्तयदाकूता द्वार्त्रिंहत्यायदशकौत्रयोदशसप्तसप्ततिः ॥

कण्डिका १-मंत्र १. यजु१३. अनु० १ ।

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजश्चम इत्यस्य देवा ऋषयः । शक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वसोर्धाराहुतिहोमे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) सत्रहवें अध्यायमें चितिआरोहणादिके मंत्र कहे अठारहवें अध्यायमें वसोर्धारादि मंत्र कहते हैं । यजमान आज्यसंस्कार करके उदुम्बरी स्रुक्में बृहत् स्रुवद्वारा आज्यग्रहणपूर्वक पुरोडाशके ऊपर यहांसे लेकर २९ कण्डिकातक पाठ करके निरन्तर धारापात पूर्वक हवन करै 'इस धारापातका नामही वसोर्धारा है' जिस कालमें प्रथम धारा इसको स्पर्श करै उसी समयसे मन्त्र आरंभ करै, घृतके अग्निमें प्राप्त होनेपर "वाजश्चमे"-यजुःपाठपूर्वक मंत्रारम्भ

करना चाहिये, 'वाजश्च-वेट्स्वाहा' तक २९ कण्डिका हैं "वाजश्च मे"—इन मंत्रोंमें चकार समुच्चयके निमित्त हैं 'इस मेरे किये हुए यज्ञसे वाज आदि पदार्थ सम्पन्न हों यह यज्ञ हमको वाजादिका देनेवाला हो' "अथो इदश्च मे देहीदश्च मे" इति [९। ३। २। ९] श्रुतेः। अथवा वाजादि पदार्थ मेरे यज्ञद्वारा कल्पित हों यज्ञमें अग्निको तृप्त वा अभिषेक करै ८ अथवा इनसे तुमको प्रसन्न करता और इनसे अभिषेक करताहूं "अनेन त्वा प्रीणाम्यनेन च त्वाभिषिञ्चामि" इत्यादिश्रुतेः [९। ३। ३। ९] यह दोनों कामनाके देनेवाले हैं कन्याकुमारोंकी समान हैं "द्वौद्वौ कामौ संयुनक्त्यव्यवच्छेदाय यथा व्योकसौ संयुज्यात्" इति [९।३।२।६] श्रुतेः। इन मंत्रोंसे यजमान अग्निसे कामनाओंकी प्रार्थना करता है इन मंत्रोंमें ४०१ यजु हैं ११५ काम हैं 'वाजश्च मे' यहांसे आरंभकर 'ज्यैष्ठ्यञ्च मे [४ क०] और 'वसु च मे' [१९ क०] छोडकर शेष १९ तक तेरह तेरह यजु हैं, चौथीमें १५ और पन्द्रहवी कण्डिकामें नौ यजु हैं 'अग्निश्च मे' २२ कण्डिकामें बारह, काम, तेरह, 'अंगुलयः शक्वरयः दिशश्चमे' यह एक यजु तीन काम २३ क० में छः यजु काम दश 'अहोरात्रे ऊर्वष्ठीवे बृहद्रथन्तरे च म इत्येकं यजुः' छः। २४ कण्डिकामें ३३। २५ क० में २३। २६ में ग्यारह। २७ में नौ। २८ में १४ 'आयुर्यज्ञेन' २९ क० में २१ 'कल्पन्ताम्' तक। १२ स्तोमश्चेति ६। १८ 'स्वर्देवा' १९ 'प्रजापतेः' २० 'वेट्स्वाहा' २१ इसप्रकार ४०१ यजु हैं।

मन्त्रार्थ-(यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवगण (मे) मेरे निमित्त (वाजः) अन्न (च) और (मे) मेरे निमित्त (प्रसवः) दीयताम् भुज्यताम् इस प्रकार अन्नदानकी अनुज्ञा (च) और (मे) मेरे निमित्त (प्रयतिः) शुद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (प्रसितिः) अन्नविषयक उत्सुकता (च) और (मे) मेरे निमित्त (धीतिः) ध्यानविचार (च मे) और मेरे निमित्त (क्रतुः) संकल्प वा यज्ञ (च मे) और मेरे निमित्त (स्वरः) साधु शब्द (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्लोकः) पद्यबन्ध वा स्तुति (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्रवः) वेदमंत्रोंका श्रवण वा उसकी सामर्थ्य (च) और (मे) मेरे निमित्त (श्रुतिः) ब्राह्मण-श्रवणकी सामर्थ्य (च) और (मे) मेरे निमित्त (ज्योतिः) प्रकाश (च) और (मे) मेरे निमित्त (स्वः) स्वर्ग (कल्पन्ताम्) प्राप्त करें अर्थात् यज्ञके फलसे यह सब पदार्थ हमको प्राप्त हों ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १. यजु० १३ ।

प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे चित्तं च म आधीतं च मे वाक् च मे मनश्च मे चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राण इत्यस्य देवा ऋषयः । निचृदतिजगती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरे निमित्त (च) अवश्य (प्राणः) प्राण ऊर्ध्ववायु (च मे) और मेरे निमित्त (अपानः) अपान अधोवायु प्रवृत्ति (च मे) और मेरे निमित्त (व्यानः) सर्व शरीरसंचारी वायु (च मे) और मेरे निमित्त (असुः) प्रवृत्तिमान् वायु (च मे) और मेरे निमित्त (चित्तम्) मानस संकल्प(च मे) और मेरे निमित्त (अधीतम्) वाह्यविषय ज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (वाक्) वागिन्द्रिय सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (मनः) मन (च मे) और मेरे निमित्त (चक्षुः) चक्षु इन्द्रिय सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (श्रोत्रम्) श्रोत्रइन्द्रिय सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (दक्षः) ज्ञानेन्द्रियकी कुशलता (च मे) और मेरे निमित्त (बलम्) बल (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १. यजु० १३ ।

ओजश्च मे सहश्च म आत्मा च मे तनूश्च मे शर्म च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे परूᳩषि च मे शरीराणि च म आयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ओज इत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ओजः) बलहेतु शरीरकी आठवीं धातु (च मे) और मेरे निमित्त (सहः) शत्रुका तिरस्कार करनेवाला बल (च मे) और मेरे निमित्त (आत्मा) आत्मज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (तनूः) मनोहर शरीर (च मे) और मेरे निमित्त (शर्म) सुख (च मे) और मेरे निमित्त (वर्म) कवच (च मे) और मेरे निमित्त (अङ्गानि) हस्तादि अव-

यवकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (अस्थीनि) शरीर अस्थियोंकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (पर्रूषि) अंगुल्यादि पर्वाकी दृढता (च मे) और मेरे निमित्त (शरीराणि) शरीरकी आरोग्यता (च मे) और मेरे निमित्त (आयुः) जीवन (च मे) और मेरे निमित्त (जरा) वार्धक्यपर्यन्त आयु (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करें ॥ ३ ॥

कण्डिका ४ मं० १ । यजु० १९ ।

ज्यैष्ठ्यञ्च मुऽआधिपत्यञ्च मेमुन्युश्च मेभामश्च मेमश्च मेम्भश्च मेजेमा च मेमहिमा च मेवरिमा च मे प्रथिमा च मेवर्षिमा च मेद्राघिमा च मेवृद्धञ्च मेवृद्धिश्च मेयुज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ज्यैष्ठ्यमित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदत्यष्टिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (ज्यैष्ठ्यम्) बडाई (च मे) और मेरे निमित्त (आधिपत्यम्) स्वामित्व (च मे) और मेरे निमित्त (मन्युः) मानस कोप (च मे) और मेरे निमित्त (भामः) वाह्य कोप (च मे) और मेरे निमित्त (अमः) गंभीरता अपरिमेयत्व (च मे) और मेरे निमित्त (अम्भः) शीत मधुर जल (च मे) और मेरे निमित्त (जेमा) जयकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (महिमा) महत्त्व (च मे) और मेरे निमित्त (वरिमा) प्रजादि विशालता (च मे) और मेरे निमित्त (प्रथिमा) गृहक्षेत्रादिविस्तार (च मे) और मेरे निमित्त (वर्षिमा) दीर्घजीवित्व प्राप्त हो (च मे) और मेरे निमित्त (द्राघिमा) वंशपरंपराकी प्राप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (वृद्धम्) बहुत अन्न धनादि (च मे) और मेरे निमित्त (वृद्धिः) विद्यादि गुणकी उत्कर्षता (यज्ञेन) यज्ञके द्वारा (कल्पन्ताम्) संपादन करें अर्थात् दें ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र १२ । यजु० १३ । अनु० २ ।

सुत्यञ्च मेश्रद्धा च मेजगच्च मेधनञ्च मेविश्वञ्च मेमहश्च मेक्रीडा च मेमोदश्च मेजातञ्च मेजनिष्यमाणञ्च मेसूक्तञ्च मेसुकृतञ्च मेयुज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सत्यमित्यस्य देवा ऋषयः । विराट् शक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (सत्यम्) यथार्थ भाषण (च मे) और मेरे निमित्त (श्रद्धा) परलोकविश्वास (च मे) और मेरे निमित्त (जगत्) जंगमगवादि (च मे) और मेरे निमित्त (धनम्) सुवर्णादि (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वम्) स्थावर पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (महः) दीप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (क्रीडा) अक्षादि (च मे) और मेरे निमित्त (मोदः) क्रीडा दर्शनका हर्ष (च मे) और मेरे निमित्त (जातम्) पुत्रसे उत्पन्न अपत्य (च मे) और मेरे निमित्त (जनिष्यमाणम्) होनेवाले अपत्य सन्तान (च मे) और मेरे निमित्त (सूक्तम्) ऋचाओंका समूह (च मे) और मेरे निमित्त (सुकृतम्) ऋचाओंके पाठसे शुभ अदृष्ट (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवताओंद्वारा (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १२ । यजु० १३ ।

ऋतञ्च मेऽमृतञ्च मेऽयक्ष्मञ्च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वञ्च मेऽनमित्रञ्च मेऽभयञ्च मे सुखञ्च मे शयनञ्च मे सूषाश्च मे सुदिनञ्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतमित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ऋतम्) यज्ञादि कर्म (च मे) और मेरे निमित्त (अमृतम्) उसका फल स्वर्गादि (च मे) और मेरे निमित्त (अयक्ष्मम्) धातुक्षयादि रोगका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (अनामयत्) सामान्य व्याधिका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (जीवातुः) व्याधिनाशक औषधि (च मे) और मेरे निमित्त (दीर्घायुत्वम्) दीर्घायु (च मे) और मेरे निमित्त (अनमित्रम्) शत्रुओंका अभाव (च मे) और मेरे निमित्त (अभयम्) निर्भयता (च मे) और मेरे निमित्त (सुखम्) आनंद (च मे) और मेरे निमित्त (शयनम्) सजाई सेज (च मे) और मेरे निमित्त (सूषाः) सन्ध्यावन्दनादियुक्त सुप्रभात (च मे) और मेरे निमित्त (सुदिनम्) यज्ञदानाध्ययनादियुक्त सम्पूर्ण दिन (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करें ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १. यजु० १३ ।

यन्ता च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे विश्वं च मे महश्च मे संविच्च मे ज्ञात्रं च मे सूश्च मे प्रसूश्च मे सीरं च मे लयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यन्ताचेत्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदतिजगती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (यन्ता) अश्वादिका नियन्तृत्व (च मे) और मेरे निमित्त (धर्ता) प्रजाकी पालनशक्ति (च मे) और मेरे निमित्त (क्षेमः) विद्यमान धनकी रक्षणशक्ति (च मे) और मेरे निमित्त (धृतिः) आपत्तिमें भी स्थिरचित्तता (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वम्) सबकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (महः) पूजासत्कार (च मे) और मेरे निमित्त (संवित्) वेदशास्त्रादिका ज्ञान (च मे) और मेरे निमित्त (ज्ञात्रम्) विज्ञानकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सूः) आज्ञाप्रदान वा पुत्रादिप्रेरणकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (प्रसूः) पुत्रउत्पत्तिआदिकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सीरम्) कृषिआदिके उपयोगी हलादि वा कृषिकृत धान्यकी प्राप्ति (च मे) और मेरे निमित्त (लयः) कृषिके प्रतिबन्धकी निवृत्ति अनावृष्टिका अभाव (यज्ञेन) यज्ञद्वारा अर्थात् इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करैं ॥ ७ ॥ [७]

कण्डिका ८–मन्त्र १. यजु० १३. अनु० ३ ।

शं च मे मयश्च मे प्रियं च मेऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ८ ॥ [७]

ऋष्यादि–(१) ॐ शमित्यस्य देवा ऋषयः । विराट्शक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (शम्) इस लोकका सुख (च मे) और मेरे निमित्त (मयः) परलोकसुख (च मे) और मेरे निमित्त (प्रियम्) प्रीति आदिकी उत्पादक वस्तु (च मे) और मेरे निमित्त (अनुकामः) अनुकूल

नसे साध्य पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (कामः) विषयभोगजनित सुख (च मे) और मेरे निमित्त (सौमनसः) मनके स्वास्थ्यकारी बन्धुवर्ग (च मे) और मेरे निमित्त (भगः) सौभाग्य (च मे) और मेरे निमित्त (द्रविणम्) धन (च मे) और मेरे निमित्त (भद्रम्) इस लोकका कल्याण (च मे) और मेरे निमित्त (श्रेयः) पारलौकिक कल्याण (च मे) और मेरे निमित्त (वसीयः) निवासयोग्य धनयुक्त गृहादि (च मे) और मेरे निमित्त (यशः) कीर्ति (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करें ॥ ८ ॥ [७]

कण्डिका ९—मन्त्र १. यजु० १२ अनु० ३ ।

ऊर्क् च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे घृतं च मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च म औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऊर्क् चेत्यस्य देवा ऋषयः । शक्वरी छन्दः अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (ऊर्क्) अन्न (च मे) और मेरे निमित्त (सूनृता) प्रिय सत्य वाक्य (च मे) और मेरे निमित्त (पयः) दूध (च मे) और मेरे निमित्त (रसः) दुग्धसार (च मे) और मेरे निमित्त (घृतम्) घी (च मे) और मेरे निमित्त (मधु) शहद वा मधुर पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (सग्धिः) बान्धवोंके साथ एकत्र भोजन (च मे) और मेरे निमित्त (सपीतिः) बन्धुजनोंके साथ एकत्र पान (च मे) और मेरे निमित्त (कृषिः) कृषिद्वारा धान्यसिद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (वृष्टिः) धान्य उत्पन्न होनेकी अनुकूल वृष्टि (च मे) और मेरे निमित्त (जैत्रम्) जयकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (औद्भिद्यम्) आम्रादि वृक्षोंकी उत्पत्ति (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करें ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मन्त्र १. यजु० १३ ।

रयिश्च मे रायश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विभु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे कुयवं च मेऽक्षितं च मेऽन्नं च मेऽक्षुच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रयिश्चेत्यस्य देवा ऋषयः । निचृच्छक्वरी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (रयिः) सुवर्ण (च मे) और मेरे निमित्त (रायः) मोतीआदि (च मे) और मेरे निमित्त (पुष्टम्) धनकी पुष्टि (च मे) और मेरे निमित्त (पुष्टिः) शरीरकी पुष्टता (च मे) और मेरे निमित्त (विभु) व्याप्तिसामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (प्रभु) ऐश्वर्य वा प्रभुताकी सामर्थ्य (पूर्णम्) धनपुत्रादिकी बहुतायत (च मे) और मेरे निमित्त (पूर्णतरम्) गज तुरंगादिकी बहुतायत (च मे) और मेरे निमित्त (कुयवम्) निकृष्टयव वा निकृष्टयवोंसे न मिले व्रीहि आदि अन्न (च मे) और मेरे निमित्त (अक्षितम्) क्षयहीन धान्यादि (च मे) और मेरे निमित्त (अन्नम्) चावल भात आदि (च मे) और मेरे निमित्त (क्षुत्) भोजन किये अन्नपाक (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) कल्पनाकरैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १. यजु० १३ ।

वि॒त्तञ्च॑ मे॒ वेद्य॑ञ्च मे भू॒तञ्च॑ मे भवि॒ष्यच्च॑ मे सु॒गञ्च॑ मे सुप॒थ्यञ्च॑ म ऽऋ॒द्धञ्च॑ म ऽऋद्धि॑श्च मे क्लृ॒प्तञ्च॑ मे क्लृप्ति॑श्च मे म॒तिश्च॑ मे सुम॒तिश्च॑ मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वित्तमित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्वरी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (वित्तम्) पूर्वलब्ध धन (च मे) और मेरे निमित्त (वेद्यम्) सम्पद्यमान धन (च मे) और मेरे निमित्त (भूतम्) पूर्वसिद्ध क्षेत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (भविष्यत्) भविष्य कालमें प्राप्त होनेवाले क्षेत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (सुगम्) सुखगम्य देश वा सुखबोधकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (सुपथ्यम्) शोभन हित (च मे) और मेरे निमित्त (ऋद्धम्) समृद्ध यज्ञका फल (च मे) और मेरे निमित्त (ऋद्धिः) यज्ञादिकी समृद्धि (च मे) और मेरे निमित्त (क्लृप्तम्) कार्यसाधक अपर्याप्तधन द्रव्य (च मे) और मेरे निमित्त (क्लृप्तिः) स्वकार्यसाधनसामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (मतिः) पदार्थमात्रका निश्चय (च मे) और मेरे निमित्त (सुमतिः)

दुर्घटकार्यादिका निश्चय (यज्ञेन) इस यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) प्रदान करैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १. यजु० १३।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १२ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ व्रीहय इत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (व्रीहयः) व्रीहिधान्य (च मे) और मेरे निमित्त (यवाः) जौ (च मे) और मेरे निमित्त (माषाः) उरद (च मे) और मेरे निमित्त (तिलाः) तिल (च मे) और मेरे निमित्त (मुद्गाः) मूंग (च मे) और मेरे निमित्त (खल्वाः) चने (च मे) और मेरे निमित्त (प्रियङ्गवः) कंगनी (च मे) और मेरे निमित्त (अणवः) चीनक तंदुल (च मे) और मेरे निमित्त (श्यामाकाः) समा ग्राम्यतृणधान कोदो (च मे) और मेरे निमित्त (नीवाराः) वनके तृणधान्य नीवार (च मे) और मेरे निमित्त (गोधूमाः) गेहूं (च मे) और मेरे निमित्त (मसूराः) मसूर (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १२ ॥

विशेष-इस कण्डिकामें शस्यकी याचना है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १. अनु० ४ यजु० १३।

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यञ्च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् १३

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्मेत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिगतिशक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (अश्मा) पाषाण (च मे) और मेरे निमित्त (मृत्तिका) श्रेष्ठ मृत्तिका (च मे) और मेरे निमित्त (गिरयः) छोटे पर्वत

गोवर्द्धन अर्बुद रैवतकादि (च मे) और मेरे निमित्त (पर्वताः) बडे हिमाचल मन्दरादि पर्वत (च मे) और मेरे निमित्त (सिकताः) सिकता रेत (च मे) और मेरे निमित्त (वनस्पतयः) वनस्पति पुष्पके विनाही फलनेवाली पनस उदुम्बरादि (च मे) और मेरे निमित्त (हिरण्यम्) सुवर्ण (च मे) और मेरे निमित्त (अयः) लोहा (च मे) और मेरे निमित्त (श्यामम्) ताम्र लोह काँसी रजत वा कनक (च मे) और मेरे निमित्त (लोहम्) कालायस लोह (च मे) और मेरे निमित्त (सीसम्) सीसा धातु (च मे) और मेरे निमित्त (त्रपु) रांग यह कार्यविशेषोंमें (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों१३

विशेष–इसमें स्थावर और खनिज पदार्थोंके पानेकी प्रार्थना है तथा पानेके उद्योगका वर्णन है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मन्त्र १. यजु० १३ ।

अ॒ग्निश्च॑ मु॒ऽआप॑श्च मे वी॒रुध॑श्च मु॒ऽओष॑धयश्च मे कृष्टप॒च्याश्च॑ मेऽकृष्टप॒च्याश्च॑ मे ग्रा॒म्याश्च॑ मे प॒शव॑ऽआर॒ण्याश्च॑ मे वि॒त्तञ्च॑ मे॒ वित्ति॑श्च मे भू॒तञ्च॑ मे॒ भूति॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः । निच्यृदष्टिश्छन्दः अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) पृथ्वीके अग्निकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (आपः) अन्तरिक्ष जलकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (वीरुधः) गुल्मतृण (च मे) और मेरे निमित्त (ओषधयः) फलपाकान्त ओषधी (च मे) और मेरे निमित्त (कृष्टपच्याः) जोतनेसे प्राप्त होनेवाली ओषधी (च मे) और मेरे निमित्त (अकृष्टपच्याः) विना क्षेत्र जोते उत्पन्न होनेवाली औषधी (च मे) और मेरे निमित्त (ग्राम्याः) ग्राम्यपशु गोमहिषी घोडे अजा उष्ट्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (आरण्याः) वनके पशु हस्ती मृगादि (च मे) और मेरे निमित्त (वित्तम्) पूर्वलब्ध धन (च मे) और मेरे निमित्त (वित्तिः) भावि धनकी अभिलाषा (च मे) और मेरे निमित्त (भूतम्) विद्यमान पुत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (भूतिः) स्वयं उपार्जित ऐश्वर्य (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ यजु० १।

वसुँचमेवसतिश्चमेकर्मचमेशक्तिश्चमेर्थश्चमुऽए
मश्चमऽइत्याचमेगतिश्चमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥१५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसुचेत्यस्य देवा ऋषयः । विराडार्षी बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ०'' ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (वसु) गवादि धन (च मे) और मेरे निमित्त (वसतिः) निवासस्थान गृह (च मे) और मेरे निमित्त (कर्म) अग्निहोत्रादि (च मे) और मेरे निमित्त (शक्तिः) उसके अनुष्ठानकी सामर्थ्य (च मे) और मेरे निमित्त (अर्थः) अभिलषित पदार्थ (च मे) और मेरे निमित्त (एमः) प्राप्तव्य अर्थ (च मे) और मेरे निमित्त (इत्या) इष्ट प्राप्तिका उपाय (च मे) और मेरे निमित्त (गतिः) इष्ट प्राप्ति (यज्ञेन) यज्ञके फलसे प्राप्त हो ॥ १५ ॥ [३]

कण्डिका १६-मन्त्र १ यजु० ५।

अग्निश्चमुऽइन्द्रश्चमेसोमश्चमुऽइन्द्रश्चमेसविता
चमुऽइन्द्रश्चमेसरस्वतीचमुऽइन्द्रश्चमेपूषाचमुऽइ
न्द्रश्चमेबृहस्पतिश्चमुऽइन्द्रश्चमेयज्ञेनकल्प
न्ताम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः । निचृद्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थः-(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) अग्निदेवताकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रदेवताकी अनुकूलता (च मे) और मेरे निमित्त (सोमः) सोमदेवताकी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (सविता) सवितादेवताकी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (सरस्वती) सरस्वती वाणी० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (पूषा) पूषादेवता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (बृहस्पतिः) बृहस्पति देवता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रदेवकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १६ ॥

विवरण—"अथार्धेन्द्राणि जुहोति" [श० ९ । ३ । २ । ९] आधेका इन्द्र और आधेके अनेक देवता हैं समानभागी होनेसे इन्द्र सबके साथ पाठ किया है यास्कके कथनानुसार इन्द्रके अनेक अर्थ करने, इसी प्रकार दोनों कण्डिकामें जाना ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १. यजु० १३ ।

मि॒त्रश्च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ वरु॑णश्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे धा॒ता च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ त्वष्टा॑ च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे म॒रुत॑श्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ विश्वे॑ च मे दे॒वाऽइन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥१७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मित्र इत्यस्य देवा ऋषयः । विराट् शक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (मित्रः) मित्र देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र (च मे) और मेरे निमित्त (वरुणः) वरुण (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र (च मे) और मेरे निमित्त (धाता) धाता० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (त्वष्टा) त्वष्टा० (च मे) और निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (मरुतः) मरुत० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्रकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र १. यजु० १३ ।

पृ॒थि॒वी च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ऽन्तरि॑क्षं च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ द्यौश्च॑ म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ समा॑श्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ नक्ष॑त्राणि च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे॒ दिश॑श्च म॒ऽइन्द्र॑श्च मे य॒ज्ञेन॑ कल्पन्ताम् ॥१८॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथ्वीचेत्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्करी छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (पृथिवी) भूमि० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक

(च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (द्यौः) स्वर्ग० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (समाः) वर्षाके अधिष्ठात्री देवता (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (नक्षत्राणि) अश्विनीआदि नक्षत्र० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र० (च मे) और मेरे निमित्त (दिशः) दिशा० (च मे) और मेरे निमित्त (इन्द्रः) इन्द्र देवताकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हो ॥१८॥ [३]

कण्डिका १९-मंत्र १ यजु० १३. अनु० ६. ।

अꣳशुश्चमेरश्मिश्चमेदाभ्यश्चमेधिपतिश्चम
ऽउपाꣳशुश्चमेन्तर्यामश्चमऽऐन्द्रवायवश्चमेमै
त्रावरुणश्चमऽआश्विनश्चमेप्रतिप्रस्थानश्चमे
शुक्रश्चमेमन्थीचमेयज्ञेनकल्पन्ताम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अꣳशुरित्यस्य देवा ऋषयः । निचृदत्यष्टिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (अꣳशुः) अंशुग्रह (च मे) और मेरे निमित्त(रश्मिः)रश्मिग्रह(च मे)और मेरे निमित्त(अदाभ्यः) अदाभ्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (अधिपतिः) निग्राह्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (उपांꣳशुः) उपांशुग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (अन्तर्यामः) अन्तर्याम ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ऐन्द्रवायवः) ऐन्द्रवायव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मैत्रावरुणः) मैत्रावरुण ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (आश्विनः) आश्विन ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (प्रतिप्रस्थानः) प्रतिप्रस्थान ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (शुक्रः) शुक्रग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मन्थी) मन्थी ग्रह (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ १९ ॥

प्रमाण-"अथ ग्रहान् जुहोति" [९ । ३ । २ । १०] तीन कण्डिकामें ग्रह होमके मंत्र हैं रश्मीग्रहणसे सूर्यका भी ग्रहण ८ । ४८ के मंत्रसे जानना ॥१९॥

विशेष-ग्रहोंको स्मरण कर उनके नामसे आहुति देनी ॥ १९ ॥

कण्डिका २०—मन्त्र १। यजु० १३।

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे ध्रुवश्च मे वैश्वानरश्च मऽऐन्द्राग्नश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे निष्केवल्यश्च मे सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्नीवतश्च मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आग्रयण इत्यस्य देवा ऋषयः। स्वराडतिधृतिश्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (आग्रयणः) प्रातःसवनके आग्रयण ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (वैश्वदेवः) वैश्वदेव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ध्रुवः) ध्रुवग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (वैश्वानरः) वैश्वानर ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (ऐन्द्राग्नः) ऐन्द्राग्न ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (महावैश्वदेवः) तृतीय सवनका महावैश्वदेव ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (मरुत्वतीयाः) मरुत्वतीय ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (निष्केवल्यः) निष्केवल्य ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सावित्रः) सावित्र ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सारस्वतः) सारस्वतग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (पात्नीवतः) पात्नीवत ग्रह (च मे) और मेरे निमित्त (हारियोजनः) हारियोजन ग्रह (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) देवता प्राप्त करें ॥ २० ॥

कण्डिका २१—मन्त्र १. यजु० १३।

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वायव्यानि च मे द्रोणकलशश्च मे ग्रावाणश्च मेऽधिषवणे च मे पूतभृच्च मऽआधवनीयश्च मे वेदिश्च मे बर्हिश्च मेऽवभृथश्च मे स्वगाकारश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१). ॐ स्रुच इत्यस्य देवा ऋषयः। विराड्धृतिश्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (स्रुचः) जुहू (च मे) और मेरे निमित्त (चमसाः) चमस (च मे) और मेरे निमित्त (वायव्यानि) वायव्यपात्र (च मे) और मेरे निमित्त (द्रोणकलशः) द्रोणकलश (च मे) और मेरे निमित्त (ग्रावाणः) ग्रावा प्रस्तरविशेष (च मे) और मेरे निमित्त (अधिषवणे) काष्ठफलक (च मे) और मेरे निमित्त (पूतभृत्) पूतभृत् सोमपात्रविशेष (च मे) और मेरे निमित्त (आधवनीयः) आधवनीय सोमपात्र (च मे) और मेरे निमित्त (वेदिः) वेदि (च मे) और मेरे निमित्त (बर्हिः) कुशा (च मे) और मेरे निमित्त (अवभृथः) अवभृथ स्नान(च मे) और मेरे निमित्त (स्वगाकारः) शम्युवाकनाम पात्र (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्तहों ॥ २१ ॥

कण्डिका २२—मन्त्र १. यजु० १३ ।

अग्निश्चँमेघर्मश्चँमेऽर्कश्चँमेसूर्यँश्चमेप्राणश्चँ
मेऽश्वमेधश्चँमेपृथिवीचमेऽदितिश्चमेदितिश्चमे
द्यौश्चँमेऽङ्गुलयःशक्वँरयोदिशँश्चमेयज्ञेनकल्पन्ता
म् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवा ऋषयः । भुरिक्छक्वरी छन्दः अग्निर्देवता । वि० प० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (अग्निः) चीयमान अग्नि वा अग्निष्टोम (च मे) और मेरे निमित्त (घर्मः) प्रवर्ग्य (च मे) और मेरे निमित्त (अर्कः) पुरोडाशसम्बंधी यज्ञ (च मे) और मेरे निमित्त (सूर्यः) सूर्यसम्बन्धी चरु (च मे) और मेरे निमित्त (प्राणः) गवामयन सत्र (च मे) और मेरे निमित्त (अश्वमेधः) अश्वमेधयज्ञ(च मे) और मेरे निमित्त (पृथिवी) पृथिवी (च मे) और मेरे निमित्त (दितिः)दिति देवता(च मे)और मेरे निमित्त (अदितिः) अदिति देवमाता (च मे) और मेरे निमित्त (द्यौः) द्युलोक (च मे) और मेरे निमित्त (अङ्गुलयः) विराट् पुरुषके अवयव (च मे) और मेरे निमित्त (शक्वरयः) शक्तियें (च मे) और मेरे निमित्त (दिशः) प्राचीआदि दिशाकी अनुकूलता (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों "अथैतान् यज्ञक्रतूञ्जुहोत्यग्निश्च म इति" इति [९ । ३ । ३ । १] श्रुतेः । दो कण्डिकामें यज्ञक्रतु होम है ॥२२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १. यजु० ६।

व्रतञ्चमऽऋतवश्चमेतपश्चमेसंवत्सरश्चमेहोरात्रेऽ
ऊर्वष्ठीवेबृहद्रथन्तरेचमेयज्ञेनकल्पन्ताम्॥२३॥ [५]

ऋष्यादि–(१) ॐ व्रतमित्यस्य देवा ऋषयः। पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ–(च मे) और मेरे निमित्त (व्रतम्) नियम (च मे) और मेरे निमित्त (ऋतवः) ऋतु (च मे) और मेरे निमित्त (तपः) तप (च मे) और मेरे निमित्त (संवत्सरः) संवत्सर (च मे) और मेरे निमित्त (अहोरात्रे) दिनरात्र (च मे) और मेरे निमित्त (ऊर्वष्ठीवे) ऊरु और जानुनी नाम अंग (च मे) और मेरे निमित्त (बृहद्रथन्तरे) बृहद्रथन्तर साम (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पन्ताम्) देवता कल्पना करें ॥ २३ ॥

अथ युग्मस्तोमहोममन्त्राः।

कण्डिका २४–मंत्र १. यजु० ३३. अनु० ७।

एकाचमेतिस्रश्चमेतिस्रश्चमेपञ्चचमेपञ्चचमेसप्त
चमेसप्तचमेनवचमेनवचमऽएकादशचमऽएकाद
शचमेत्रयोदशचमेत्रयोदशचमेपञ्चदशचमेपञ्चदश
चमेसप्तदशचमेसप्तदशचमेनवदशचमेनवदशच
मऽएकविंशतिश्चमऽएकविंशतिश्चमेत्रयोविं
शतिश्चमेत्रयोविंशतिश्चमेपञ्चविंशतिश्चमेप
ञ्चविंशतिश्चमेसप्तविंशतिश्चमेसप्तविंशति
श्चमेनवविंशतिश्चमेनवविंशतिश्चमऽएकत्रिं
शच्चमऽएकत्रिंशच्चमेत्रयस्त्रिंशच्चमेयज्ञेनकल्प
न्ताम्॥ २४॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एकाचेत्यस्य देवा ऋषयः । पूर्वार्द्धस्य संकृतिश्छंदः । अग्निर्देवता । एकविंशतिश्चेत्युत्तरस्य विराट् संकृतिश्छन्दः अग्निर्दे० । वि० पू० ॥ २४ ॥

विधि-(१) "अथायुजःस्तोमाञ्जुहोति" इति [९ । ३ । ३ । २] श्रुतेः । अयुग्मस्तोमहवनसे सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है. तथा च श्रुतिः "एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भिः स्तोमैः स्वर्गलोकमायंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वायुग्भिःस्तोमैः स्वर्ग लोकमेति" इति [९ । ३ । ३ । २] श्रुतेः । आदरके निमित्त पुनरुक्ति है ।

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (एका) एकसंख्या स्तोम (च मे) और मेरे निमित्त (तिस्रः) तीनसंख्या (च मे) और मेरे निमित्त (तिस्रः) तीनसंख्या (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्च) पांचसंख्यक (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्च) पांच (च मे) और मेरे निमित्त (सप्त) सात (च मे) और मेरे निमित्त (सप्त) सात (च मे) और मेरे निमित्त (नव) नौ (च मे) और मेरे निमित्त (नव) नौ (च मे) और मेरे निमित्त (एकादश) ग्यारह (च मे) और मेरे निमित्त (एकादश) ग्यारह (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोदश) तेरह (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोदश) तेरह (च मे) और मेरे निमित्त (पंचदश) पन्द्रह (च मे) और मेरे निमित्त (पंचदश) पन्द्रह (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तदश) सतरह (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तदश) सतरह (च मे) और मेरे निमित्त (नवदश) उन्नीस (च मे) और मेरे निमित्त (नवदश) उन्नीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकविंशतिः) इक्कीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकविंशतिः) इक्कीस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोविंशतिः) तेईस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयोविंशतिः) तेईस (च मे) और मेरे निमित्त (पंचविंशतिः) पच्चीस (च मे) और मेरे निमित्त (पंचविंशतिः) पच्चीस (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (च मे) और मेरे निमित्त (सप्तविंशतिः) सत्ताईस (च मे) और मेरे निमित्त (नवविंशतिः) उन्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (नवविंशतिः) उन्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकत्रिंशत्) इकतीस (च मे) और मेरे निमित्त (एकत्रिंशत्) इकतीस (च मे) और मेरे निमित्त (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतिस (च मे और मेरे निमित्त (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतिस स्तोम (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवताओंके) द्वारा (कल्पन्ताम्) प्राप्त हों ॥ २४ ॥

पक्षान्तर-मेरी ब्रह्मशक्ति समष्टि प्राण व्यष्टि प्राण पंचाक्षर ॐकार पांच अक्षरोंके

देवता भूआदि सात लोक सातव्याहृति नवधा भक्ति उसके साधन ग्यारह रुद्र मन सहित इन्द्रिय संवत्सर महीने, समष्टि मन व्यष्टि मन ईश्वर, आत्मा, तप, तपका फल, समष्टि सूर्य, मानस सूर्य, धनयोग धन, समष्टि आत्मप्रतिबिम्ब तेज ब्रह्मतेज भक्ति ज्ञान सहित दैवी संपत् उसके साधन, यज्ञ उसका साधन, प्रतिष्ठा उसका साधन यह सब यज्ञके फलसे प्राप्त हों ॥ २४ ॥

विशेष—इस मंत्रमें गणित विद्याभी कथन की है यज धातुका संगतिकरण अर्थ होनेसे किसी संख्याका जोड देना और दान अर्थसे व्ययकर देना है कारण गुणन भाग वर्गघनमूलादि यह सब इसीके अन्तर्गत होते हैं संख्याके जोडनेको योग जैसे ५ + ५ = १० और अनेकवार एकसी संख्याके जोडनेको गुणन कहते हैं जैसे ४ × ५ = २० चारको पांच स्थानमें जोडनेसे बीस होते हैं, चारको चौगुना किया तौ चारका वर्ग सोलह हुए इसीप्रकार अन्तरसे भाग, वर्ग मूल, घन मूलादि निष्पन्न होते हैं सो बुद्धिमानोंको यथायोग्य जाननी उचित है, मूल मात्र दिखलाया है अङ्कगणित बीजगणितआदि सब इससे उत्पन्न होती हैं ॥ २४ ॥

निष्कर्ष—योग विपरीत गुण यह तीन पक्ष इसमें लक्षित होते हैं ॥ २४ ॥

काण्डिका२५—मन्त्र १ । यजु० २३ ।

चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोड
श च मे षोडश च मे विꣳशतिश्च मे विꣳशतिश्च मे चतु
र्विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मेऽष्टाविꣳशतिश्च मे
ऽष्टाविꣳशतिश्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे षट्
त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳ
शच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽष्टा
चत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ चतस्रश्चेत्यस्य देवा ऋषयः । उत्कृतिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

विधि—(१) "अथ युग्मतो जुहोति चतस्रश्च मे इति" इति [९ ।३ । ३।४।] चारसंख्यासे लेकर अष्टचत्वारिंशत् पर्यन्त हवन करै इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है "एतद्वै छन्दाꣳस्यब्रुवन्यातयामा वा अयुजस्तोमायुग्मभिर्वयꣳस्तोमैः स्वर्गं लोक-

मयामेतितानियुग्माभिस्तोमैः स्वर्ग लोकमायँस्तथैतद्यजमानो युग्मभिः स्तोमैः स्वर्गं लोकमेति" इति [९ । ३ । ३ । ४] श्रुतेः । वृक्षारोहणकी समान पूर्वसे उत्तरको चलै "पूर्वं पूर्वमुत्तरेणोत्तरेण संयुनक्ति यथा वृक्षं रोहन्नुत्तरामुत्तराᳬ शाखाᳬ समालम्भᳬ रोहेत्तादृक्तम् इति श्रुतेः [९ । ३ । ३ । ६]

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (चतस्रः) चारसंख्याक स्तोम (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टौ) आठ (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टौ) आठ (च मे) और मेरे निमित्त (द्वादश) बारह (च मे) और मेरे निमित्त (द्वादश) बारह (च मे) और मेरे निमित्त (षोडश) सोलह (च मे) और मेरे निमित्त (षोडश) सोलह (च मे) और मेरे निमित्त (विंशतिः) बीस (च मे) और मेरे निमित्त (विंशतिः) बीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुर्विंशतिः) चौवीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुर्विंशतिः) चौवीस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टाविंशतिः) अट्टाईस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टाविंशतिः) अट्टाईस (च मे) और मेरे निमित्त (द्वात्रिंशत्) बत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (द्वात्रिंशत्) बत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (षट्त्रिंशत्) छत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (षट्त्रिंशत्) छत्तीस (च मे) और मेरे निमित्त (चत्वारिंशत्) चालीस (च मे) और मेरे निमित्त (चत्वारिंशत्) चालीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुश्चत्वारिंशत्) चौवालीस (च मे) और मेरे निमित्त (चतुश्चत्वारिंशत्) चौवालीस (च मे) और मेरे निमित्त (अष्टचत्वारिंशत्) अड़तालीस (च मे) और मेरे निमित्त स्तोमका स्मरण (यज्ञेन) यज्ञद्वारा देवता (कल्पन्ताम्) कल्पना करैं ॥ २५ ॥

विशेष-इस मंत्रमें चारके योग और वियोगसे चौथी संख्या लेकर सम संख्या प्रतिपादन करके योग दिखलाया है अथवा मेरी आठ संख्या और चार संख्या परस्पर गुणो इत्यादि गणित विषय है यथा [४ + ४ = ८ । ८ + ४ = १२] इसीप्रकार ४८ मेंसे चार निकालना और गुणना भी है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ । यजु० ११ ।

त्र्यविश्च मे त्र्यवी च मे दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे पञ्चाविश्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च मे तुर्यवाट् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्र्यविश्चेत्यस्य देवा ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

विधि-(१) २६ । २७ दो कण्डिकामें वयोहोम है "अथ वयार्ꣳसि जुहोति त्र्यविश्चम इति पशवो वै वयार्ꣳसि पशुभिरेवैनमेतदन्नेन प्रीणात्यथो पशुभिरेवैनमेतदन्नेनाभिषिञ्चति" [श० ९ । ३ । ३ । ७] पशुओंको अन्नद्वारा प्रसन्न करै ।

मंत्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (त्र्यविः) डेढ वर्षका बछडा (च मे) और मेरे निमित्त (त्र्यविः) डेढ वर्षकी बछिया (च मे) और मेरे निमित्त (दित्यवाट्) दो वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (दित्यौही) डेढ वर्षकी बछिया (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्चाविः) ढाई वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (पञ्चावी) ढाई वर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (त्रिवत्सः) तीन वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (त्रिवत्सा) तीन वर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (तुर्यवाट्) साढे तीन वर्षका वृष (च मे) और मेरे निमित्त (तुर्यौही) साढेतीन वर्षकी गौ (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) कल्पना करैं अर्थात् सब प्रकारके पशुओंसे हम संयुक्त हों ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मंत्र १ । यजु० ९ ।

पृष्ठवाट् च मे पष्ठौही च मऽउक्षा च मे वशा च मऽऋषभश्च मे वेहच्च मेऽनड्वाँश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २७ ॥ [४]

ऋष्यादि-(१) ॐ पष्ठवाडित्यस्य देवा ऋषयः । निचृद्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(च मे) और मेरे निमित्त (पष्ठवाट्) चारवर्षका वृष(च मे)और मेरे निमित्त (पृष्ठौही) चारवर्षकी गौ (च मे) और मेरे निमित्त (उक्षा) सेचन समर्थ वृष (च मे) और मेरे निमित्त(वशा)वन्ध्या गौ(च मे) और मेरे निमित्त (ऋषभः) अतियुवा वृष (च मे) और मेरे निमित्त (वेहत्) गर्भघातिनी गौ(च मे) और मेरे निमित्त (अनड्वान्) शकटवहन करनेमें समर्थ वृष (च मे) और मेरे निमित्त (धेनुः) नवप्रसूता गौ (यज्ञेन) यज्ञके फलसे देवता (कल्पन्ताम्) सम्पादन करैं अर्थात् सब प्रकारके पशुओंकी रक्षा मैं करूं ॥ २७ ॥ [४]

कण्डिका २८-मन्त्र १. अनु०८. यजु० १४ ।

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहाऽपिजाय स्वाहा क्रत

ये स्वाहा वसवे स्वाहाऽहर्पतये स्वाहाह्ने मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनꣳशिनाय स्वाहा विनꣳशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥ इयन्ते राण्मित्राय यन्तासि यमनऽऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाजायेत्यस्य देवा ऋषयः । पूर्वार्द्धस्यार्ची बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

विधि-(१)नामग्राह हवन । तथा च श्रुतिः "अथ नामग्राहं जुहोति एतद्वै देवाः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षमप्रीणंस्तथैवैतद्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वाथैतमेव प्रत्यक्षं प्रीणाति वाजाय स्वाहेति" इति [श० ९ । ३ । ३ । ८ ।] नामग्रहहोमसे देवताओंने सब कामनाकी प्राप्ति की इसी प्रकार यजमान इस हवनसे सब कामनाओंको प्राप्तहोता है । मंत्रार्थ-(वाजाय) अधिक अन्नउत्पादक चैत्रमासके निमित्त (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो (प्रसवाय) जलक्रीडादिकी अनुज्ञारूप वैशाखके निमित्त (स्वाहा)आहुति दीजाती है (अपिजाय) जलक्रीडामें रतिकारक ज्येष्ठमासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (क्रतवे) यागरूप आषाढके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वसवे) चातुर्मास्यकी यात्रानिषेधक वसुरूप श्रावणके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अहर्पतये) तापकारक भाद्रमासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (मुग्धायाह्ने)तुषारसे मोहकारक आश्विनके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अमुग्धाय) थोडा घटनेसे (वैनꣳशिनाय) विनाशी कार्तिकके निमित्त (स्वाहा) आहुति० अथवा स्नानादिसे (अमुग्धाय) पापनाशक कार्तिक है । (अविनꣳशिने) विनाशरहित (आन्त्यायनाय) अन्तमें स्थित विष्णुरूप मार्गशीर्षके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अन्त्याय) स्वरूपमें होनेवाले लोक स्वरूप पुष्टिकरत्व (भौवनाय) भुवनोंके पोषक जठराग्निके दीप्त करनेवाले पौष मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति०(भुवनस्य) सम्पूर्ण प्राणियोंके (पतये) पालक अर्थात् स्नानके फलसे प्राणियोंके पालक माघ मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अधिपतये) वर्षान्त होनेसे अधिक पालक फाल्गुन मासके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रजापतये) द्वादश महीनेके अधिष्ठात्री प्रजापति देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है।

हे प्रजापते अग्ने ! (इयम्) यह (ते) तुम्हारा (राट्) राज्य है अर्थात् जहां यज्ञ किया जाता है वह तुम्हारा ही राज्य है (यमनः) अग्निष्टोमादि कर्मोंमें सबके नियन्ता तुम (मित्रस्य) सखारूप इस यजमानके (यन्ता) नियामक (असि) हो (ऊर्जे) विशिष्ट अन्नरसके निमित्त (त्वा) तुमको वसुधारासे सिंचित करताहूं (वृष्ट्यै) वर्षाके निमित्त (त्वा) तुमको अभिषेक करताहूं अग्निमें आहुति दानसे अच्छी वर्षा होती है (प्रजानाम्) प्रजाओंके (आधिपत्याय) स्वामित्व-प्राप्तिके निमित्त (त्वा) वसुधारासे तुमको अभिषेक करताहूं । तथाच श्रुतिः "प्रजानांत्वाधिपत्यायेत्यन्नं वा ऊर्गन्नं वृष्टिरन्नेनैवैनमेतत् प्रीणाति यद्वे वाहेयं ते राण्मित्राय यन्तासि यमन ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेतीदं ते राज्य-मभिषिक्तोऽसीत्येतन्मित्रस्य त्वं यन्तासि" इति [९।३।३।१०–११] श्रुतेः ॥२८॥

काण्डिका २९–मंत्र १ । यजु० २१ ।

आयुर्य्यज्ञेनकल्पताम्प्राणोयज्ञेनकल्पताञ्चक्षु
र्य्यज्ञेनकल्पताꣳश्रोत्रंय्यज्ञेनकल्पताँवाग्य
ज्ञेनकल्पताम्मनोयज्ञेनकल्पतामात्मायज्ञेन
कल्पताम्ब्रह्मायज्ञेनकल्पताञ्ज्योतिर्य्यज्ञेन
कल्पताꣳस्वर्य्यज्ञेनकल्पताम्पृष्ठंय्यज्ञेनकल्प
ताँय्यज्ञोयज्ञेनकल्पताम् ॥ स्तोमश्चयजुश्च
ऋक्चसामचबृहच्चरथन्तरञ्च ॥ स्वर्द्देवाऽअगन्मामृता
ऽअभूमप्रजापतेःप्रजाऽअभूमवेट्स्वाहा ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयुरित्यस्य देवा ऋषयः । विराट् विकृतिश्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

विधि–(१) कल्पहोमः "अथ कल्पाञ्जुहोति" इति [श०९।३।३।१२]

मंत्रार्थ–(यज्ञेन) इस यज्ञके प्रसादसे (आयुः) अवस्थाकी (कल्पताम्) वृद्धि हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (प्राणः) प्राण (कल्पताम्) रोगरहित बलिष्ठ हों (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (चक्षुः) नेत्र इन्द्रिय (कल्पताम्) उत्कृष्टताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (श्रोत्रम्) श्रोत्रइंद्रिय (कल्पताम्) उत्कर्षताको

प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (वाक्) वागिन्द्रिय (कल्पताम्) उत्कर्षताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (मनः) मन इन्द्रिय (कल्पताम्) स्वस्थताको प्राप्तहो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (आत्मा) भोक्ता "आत्मा इन्द्रिय मनसे युक्त" आत्मा (कल्पताम्) प्रसन्नता लाभ करै (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (ब्रह्म) वेद (कल्पताम्) प्रीत हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (ज्योतिः) स्वयंप्रकाश परमात्मा (कल्पताम्) प्राप्त हो, पुण्य कर्मका अनुष्ठान परमात्माके ज्ञानमें कारण है (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (स्वः) स्वर्ग (कल्पताम्) प्राप्त हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रभावसे (पृष्ठम्) स्तोत्र वा स्वर्गस्थान परम सुख (कल्पताम्) प्राप्त हो (यज्ञेन) यज्ञके प्रसादसे (यज्ञः) यज्ञ (कल्पताम्) महायज्ञ करसकें अर्थात् मैं यज्ञकी उत्कृष्टता संपादन नहीं कर सकता यज्ञकी उत्कृष्टता यज्ञसे ही होती है "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" इति [३१ अ० क० १६] (स्तोमः) त्रिवृत् पंचदशादिस्तोम (यजुः) अनियत पाद मंत्र (ऋक्) नियत पाद ऋचा (च) और (साम) गीतिमंत्र (च) और (बृहत्) बृहत् साम (च) और (रथन्तरम्) रथन्तर साम (च) भी यज्ञके प्रसादसे प्रसन्न हों "वसुधारा करके यजमान अपने निमित्त कहै" इस यज्ञके प्रभावसे हम (देवाः) देवत्व लाभ कर (स्वः) स्वर्गमें (अगन्म) प्राप्त हुए, और वहां जाकर (अमृताः) मरणधर्मरहित (अभूम) हुए और (प्रजापतेः) प्रजापति हिरण्यगर्भकी (प्रजाः) प्रजा प्रियसन्तान (अभूम) हों इससे वसुधारासे सब कामनाकी प्राप्ति कही (वेट्) उक्त समस्त देवगणके प्रीतिके निमित्त यह धारा हवन आहुत होती हैं यह सबही प्रसन्न हों (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो वस्तु ३४७ [यजुः-संख्या ४०१] ॥ २९ ॥ [२]

प्रमाण-"तमेतंवेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येणतपसाश्रद्धयायज्ञेनानाशकेन" इति श्रुतेः [१४ । ७ । २ । २४] "वषट्कारो हैष परोक्षं यद्वेट्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योन्नं प्रदीयते" इति [९ । ३ । ३ । १४] श्रुतेः ॥ २९ ॥

आशय-यज्ञ और उसके साधन तथा इस प्राणिको जो कुछ आवश्यकता होती है उसका वर्णन इन मंत्रोंमें किया गया है यज्ञके फलसे यह उपरोक्त ३४७ वस्तु सम्पन्न हों तथा यह सब कुछ यज्ञहीके निमित्त सम्पादन हों मनुष्यका सर्वस्व भी ईश्वरका है इस कारण सब यज्ञके निमित्त सम्पन्न हों यही प्रार्थना की है॥२९॥

इति वसोर्धारामन्त्राः ।

कण्डिका ३०-मंत्र १. अनु० ९।

वाजस्यनु प्प्रसुवेमातरम्महीमदितिन्नामवचसा

करामहे ॥ यस्यामिदंविश्वम्भुवनमाविवेशतस्यान्नोदेवःसवितायम्र्मसाविषत् ॥ ३० ॥

विधि-(१) सर्वौषधिसे उदुम्बर चमस पूर्णकरिके चतुष्कोण पुष्कर स्रुवके द्वारा यहांसे आरंभ कर सात कण्डिकाके सात मंत्र पाठपूर्वक सात आहुति प्रदान करै यह सात मंत्र वाजपेयसम्बन्धी हैं [का० १८ । ५ । ४ । ५] मन्त्रार्थ-ॐ वाजस्येति इसकी व्याख्या ९ अ० ५ मंत्रमें होगई. होमे विनि० ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

विश्वेऽअद्यमरुतोविश्वऽऊतीविश्वेभवन्त्वग्नयः समिद्धाः ॥ विश्वेनोदेवाऽअवसागमन्तुविश्वमस्तुद्रविणंवाजोऽअस्मे ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्व इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवताः । होमे वि० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज हमारे इस यज्ञमें (विश्वे) सम्पूर्ण (मरुतः) मरुद्गण आगमन्तु) आगमन करैं (विश्वे) सम्पूर्ण और गणदेवता रुद्र आदित्य (ऊती) इस निमित्तसे आवैं (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवतागण (नः) हमारे (अवसा) हविग्रहणके निमित्त आओ (विश्वे) सम्पूर्ण (अग्नयः) अग्नि गार्हपत्यादिक (समिद्धाः) प्रदीप्त (भवन्तु) हों (विश्वम्) सम्पूर्ण (द्रविणम्) गोभूमि सुवर्णादि धन (वाजः) अन्न (अस्मे) हमको (अस्तु) प्राप्त हो [ऋ० ७ । ८ । ८ ।] ॥ ३१ ॥

विशेष-मरुतोंके सात गण एक हैं सब ४९ संख्यामें हैं कारण कि एक गणमें सात २ होते हैं अ० १७ मं० ८० से ८५ तक देखो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

वाजोनःसुप्तप्प्रदिशश्चतस्रोवापरावतः ॥ वाजोनोविश्वैर्देवैर्द्धनसाताविहावतु ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अन्नं देवतम् । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-(नः) हमारा (वाजः) अन्न (सप्त) सात (प्रदिशः) दिशा अर्थात् भूरादि तीन लोक और पूर्वादि चार दिशा (वा) तथा (परावतः) दूरस्थित (चतस्रः) चार महर्लोक जनलोक तपलोक सत्यलोकको पूर्ण करो अथवा सात दिशा और 'प्र' कथनसे तीन लोक और महरादि चार लोक इस प्रकार दिशा और सात लोक हमारे अन्नसे तृप्त हौं (इह) इस लोक वा यज्ञमें (धनसातौ) धनके विभागकाल प्राप्त होनेमें (वाजः) अन्न (नः) हमको (विश्वैः) सम्पूर्ण (देवैः) देवताओंके साथ (अवतु) पालन करो ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

वाजो॑नोऽअ॒द्य प्रसु॑वाति॒दान॑वाजो॑दे॒वाँ२ऽऋ॒तुभिः॑ कल्पयाति ॥ वाजो॒हि॒मा॒सर्व॑वीरञ्जजान॒विश्वा॒ऽआशा॒वाज॑पति॒र्जयेयम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अन्नं देवतम् । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज (वाजः) अन्नकी अधिष्ठात्री देवता (नः) हमको (दानम्) दानके निमित्त (प्रसुवाति) प्रेरणा करै (वाजः) अन्न (ऋतुभिः) ऋतुओंके संग (देवान्) देवताओंको (कल्पयाति) यथा स्थानमें कल्पना करैं (वाजः) अन्न (हि) ही (मा) मुझको (सर्ववीरम्) पुत्र पौत्रादिसम्पन्न (जजान) करै (वाजपतिः) अन्नसे समृद्ध होकर मैं (सर्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशाओंको (भवेयम्) वशी करनेमें समर्थ हूं ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

वाजः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नो॒ वाजो॑ दे॒वान्ह॒विषा॑ वर्धयाति ॥ वाजो॒हि॒मा॒सर्व॑वीरञ्च॒कार॒ सर्वा॒ऽआशा॒ वाज॑पतिर्भवेयम् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वाज इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अन्नं देवतम् । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(वाजः) अन्न (नः) हमारे[1] (पुरस्तात्) आगे (उत) और (मध्यतः) गृहके मध्यमें स्थित हो (वाजः) अन्न (हविषा) हविसे (देवान्) देवताओंको (वर्धयाति) तृप्त करता है (वाजः) अन्न (हि) ही (मा) मुझको (सर्ववीरम्) पुत्रादिसे युक्त (चकार) करें (वाजपतिः) अन्नसे समृद्ध होकर मैं (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशाओंको (भवेयम्) जय करनेमें समर्थ हूं॥ ३४॥

कण्डिका ३५—मंत्र १।

सम्मा॑सृजामि॒पय॑सापृथि॒व्याः॑सम्मा॑सृजाम्य॒द्भि
रोष॑धीभिः ॥ सो॒ऽहंवाज॑ꣳसनेयमग्ने ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समित्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (पृथिव्याः) पृथिवीसम्बन्धी (पयसा) रससे (मा) अपने आत्माको (संसृजामि) संयुक्त करता हूं (अद्भिः) जलोंसे (ओषधीभिः) ओषधियोंसे (मा) अपने आत्माको (सम्) संयुक्त करताहूं (सः) वह (अहम्) मैं ओषधी जलसे सिंचित होकर (वाजम्) अन्नको (सनेयम्) उपासना करता हूं अथवा हे अग्ने ! जो मैं ओषधि जलसे हवनद्वारा तुमको संयुक्त करता हूं सो मैं अन्नका उपासक हूं ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६—मंत्र १।

पयः॑पृथि॒व्याम्पय॒ऽओष॑धीषु॒पयो॑दि॒व्य॒न्तरि॑क्षे॒प
यो॑धाः ॥ पय॑स्वतीः॒प्र॒दिशः॑सन्तु॒मह्य॑म् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पय इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । विराट् छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (पयः) रसको (धाः) धारण करो (ओषधीषु) ओषधियोंमें (पयः) रसको स्थापन करो (दिवि) द्युलोकमें (पयः) रसको स्थापन करो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (पयः) रसको

१ हमारे प्रदान करनेको ।

स्थापन करो (मह्यम्) मेरे निमित्त (प्रदिशः) दिशा विदिशा (पयस्वतीः) आहुतिपरिणामसे रससंयुक्त (सन्तु) हों ॥ ३६ ॥

इति सर्वौषधीहोमः ।

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्याम् ॥ सर॑स्वत्यै वा॒चो य॒न्तुर्य॒न्त्रेणा॒ग्नेः साम्रा॑ज्ज्येना॒भिषि॑ञ्चामि ॥ ३७ ॥ [८]

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानाभिषेचने विनियोगः ॥ ३७ ॥

विधि–(१) कर्मापवर्गसमाप्ति होनेपर चतुष्कोण उदुम्बर स्रुव आहवनीयमें प्रक्षेप करनेके अनन्तर अग्निपुच्छके उत्तरमें परिश्रितसे मिले पूर्वकी ओर ग्रीवा उत्तर लोमवाले कृष्णाजिनको बिछाकर उसके ऊपर ब्रह्मतेजकी कामनावाले यजमानके बैठनेमें अध्वर्यु हवन करनेसे वचीहुई सब ओषधी पात्रमें रख दूध और जल उसमें मिलाय इस मंत्रसे यजमानका अभिषेक करै [का० १८ । ५ । ६–९] अथवा 'क्षीरोदके वा' कहनेसे पूर्व पक्षके निरास होनेमें क्षीरोदकसे अभिषेक करै "वाजप्रसवीयंतद्यत्तानि" इति [९ । ३ । ४ । ७] श्रुतेः । औदुम्बर 'गूलर' के पात्रमें जल रखकर सिंचन करै "औदुम्बरे पात्रेऽप आसिच्य पयश्च" इत्युक्तेः [का० १४ । ५ । १६] मन्त्रार्थ–(सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) बाहु और (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे तथा (सरस्वत्यै) सरस्वती सम्बन्धी (वाचः) वाणीके (यन्तुः) नियन्ता प्रजापतिके (यन्त्रेण) नियमवश (अग्नेः) अग्निके (साम्राज्येन) चक्रवर्तित्वसे हे यजमान ! (त्वा) तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं ॥ ३७ ॥ [८]

कण्डिका ३८–मंत्र २ । अनु० १० ।

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयोऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑ ॥ स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋताषाडित्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । विराडुष्णिक्छन्दः । गन्धर्वो देवता । (२) ॐ तस्य ओषध इत्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । विराडुष्णिक्छं० । अप्सरसो देवताः । होमे विनियोगः ॥ ३८ ॥

विधि -(१) इस संस्कार किये घृतसे थोडा घृत ग्रहण करके उसके बारह अंश करके क्रमसे छः कण्डिकाके बारह मंत्रोंसे बारह राष्ट्रभृतसंज्ञक आहुति प्रदान करै, व्यतिषिक्त बारह मंत्रोंमें प्रथम 'स्वाहा वाट्' शेषमें 'स्वाहा' लगाना जो मंत्रमें पुंलिङ्ग है वह व्यवहित पठित है उनको अपकृष्यतापूर्वक पढकर पहला मंत्र संपादन करना जो स्त्रीलिंग है जैसे "तस्यौषधयोप्सरसः" इत्यादि उनको उत्कृष्यकर उत्तर मंत्र सम्पादन करना [का० १८ । ५ । १६] इस प्रकार पांच कण्डिकाओंमें मंत्रविभाग जानना. तथा च श्रुतिः "पुꣳसे पूर्वमस्मै जुहोत्यथ स्त्रीभ्यः पुमाꣳसं तद्वीर्येणात्यादधात्येकस्मा इव पुꣳसे जुहोति बह्वीभ्यः इव स्त्रीभ्यस्तस्मादप्येकस्य पुꣳसो बह्व्यो जाया भवन्त्युभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुꣳसे जुहोति स्वाहाकारेणैव स्त्रीभ्यः पुमाꣳसमेव तद्वीर्येणात्यादधाति" इति [श० ९ । ४ । १ । ६] मन्त्रार्थ-(ऋताषाट्) सत्यका सहनेवाला (ऋतधामा) अविनाशी धामवाला (गन्धर्वः) पृथ्वीधारणकर्ता गन्धर्व (अग्निः) अग्नि अर्थात् गन्धर्वनामक अग्नि (नः) हमारी (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजातिको (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहावाट्) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो १ । (मुदः) प्राणियोंको प्रसन्न करनेवाली मुदे (नाम) नामवाली (ओषधयः) ओषधियें (तस्य) उस अग्निरूप गन्धर्वकी (अप्सरसः) अप्सरारूपसे भोगने योग्य हैं वेभी हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उन ओषधियोंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो २ ॥ ३८ ॥

प्रमाण-१ "ओषधयो वै मुदः ओषधीभिर्हीदꣳसर्वं मोदते" इति [९ । ४ । १ । ७ ।] श्रुतेः । २ "अग्निर्ह गन्धर्व ओषधीभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९ । ४ । १ । ७] श्रुतेः ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र २ ।

सꣳहितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसऽआयुवो नाम ॥ स नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संहित इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्ची बृहती छन्दः । गन्धर्वो देवता । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्नी बृहती छन्दः । अप्सरसो देवताः । राष्ट्रभृदाहुतिदाने वि० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(सꣳहितः) दिन रातकी संधि करनेवाला (विश्वसामा) सम्पूर्ण सामरूप वा सब साम जिसकी स्तुति करते हैं (सूर्यः) सूर्यरूप (गन्धर्वः) गन्धर्व (सः) वह (नः) हमारे (ब्रह्म) ब्राह्मण जातिको (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उसके निमित्त (स्वाहावाट्) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ३ । (आयुवः) परस्पर मिलनेके स्वभाववाली आयुव (नाम) नामवाली (मरीचयः) मरीचि किरणें (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करैं (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ४ ॥ ३९ ॥

प्रमाण-१ "विश्वसामेत्येष ह्येव सर्वꣳसाम" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः । २ "सूर्यो ह गन्धर्वो मरीचिभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः । ३ "आयुवाना इव हि मरीचयः प्लवन्ते" इति [९ । ४ । १ । ८] श्रुतेः ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र २ ।

सुषुम्णः सूर्य्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम ॥ स न ऽइदं ब्रह्म क्षत्रम्पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुषुम्ण इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । प्राजापत्या त्रिष्टुप्छन्दः । गन्धर्वो देवता । वि० पू० । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ची गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः ।वि०पू०॥४०॥

मन्त्रार्थ-(सुषुम्णः) यज्ञद्वारा सुखदाता (सूर्यरश्मिः) सूर्यकी किरणसे किरणवाला (चन्द्रमाः) चन्द्रमा नाम (गन्धर्वः) भूमिधारी गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारी (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रियजातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उस चन्द्रमारूप गन्धर्वके निमित्त (स्वाहावाट्) आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो । (भेकुरयः) कान्ति करनेवाले

भेकुरि (नाम) नामक (नक्षत्राणि) नक्षत्र (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उनकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजाती है ६ ॥ ४० ॥

प्रमाण-१ "सूर्यस्यैव हि चन्द्रमसो रश्मयः" इति [९ । ४ । १ । ९] श्रुतेः २ "चन्द्रमा ह गन्धर्वो नक्षत्रैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम भेकुरयोनामेति भाकुरयो ह नामैते भाॐहि नक्षत्राणि कुर्वन्ति" इति [९।४।१।९] श्रुतेः ॥४०॥

कण्डिका ४१-मंत्र २।

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वस्तस्यापोऽअप्सरसऽऊर्ज्जो नाम ॥ सन्नऽइदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इषिर इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । आर्ची बृहती छन्दः । गन्धर्वो देवता (२) ॐ तस्येत्यस्यासुरी गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(इषिरः) शीघ्रगामी (विश्वव्यचाः) सर्वत्र व्याप्त (गन्धर्वः) भूमिधारी (वायुः) वायु है (सः) वह वायु गंधर्व (नः) हमारी (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिकी (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा वाट्) आहुति दीजाती है ७ । (ऊर्जः) प्राणियोंको जिवानेवाले रस (नाम) नामक (आपः) जल (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करें (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ॥ ४१ ॥

प्रमाण-१ "इषिर इति क्षिप्र इत्येतद्विश्वव्यचा इत्येष हीदॐसर्वं व्यचः करोति" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः । २ "वातो ह गन्धर्वोऽद्भिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः । ३ "आपो वा ऊर्जोऽद्भ्यो ह्यूर्ग् जायते" इति [९।४।१।१०] श्रुतेः ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र २।

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणाऽअप्सरसः

रसंस्तावानाम ॥ सनऽइदम्ब्रह्मक्षत्रम्पातुतस्मै स्वाहावाट्ताभ्यःस्वाहा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भुज्युरित्यस्य भुवनपुत्रो लुशोधानाक ऋषिः । आर्षी गायत्री छं० । गन्धर्वो देवता । वि० पू० (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्न्यनुष्टुप्छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(भुज्युः) प्राणियोंका पालक (सुपर्णः) स्वर्गमें गमन करनेवाला (यज्ञः) यज्ञनाम (गन्धर्वः) गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारी (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै) उस यज्ञरूप गन्धर्वके निमित्त (स्वाहावाट्) श्रेष्ठ आहुति देते हैं भली प्रकार स्वीकार हो ९ । (स्तावा) यज्ञ और यजमानकी स्तुति करानेसे स्तावा (नाम) नामवाली(दक्षिणाः) दक्षिणा (तस्य) उस यज्ञकी (अप्सरसः) अप्सरा हैं वे हमारी रक्षा करैं (ताभ्यः) उनकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो. आशय यह कि यज्ञद्वारा स्वर्गमें गमन होता है और वह दक्षिणासे सफल होता है १० ॥४२॥

प्रमाण-१ "यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्ति" [श० ९ । ४ । १ । ११।] २ "यज्ञो ह गन्धर्वो दक्षिणाभिरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्राम" इति [९।४। १।११] श्रुतेः । ३ "दक्षिणाभिर्हि यज्ञः स्तूयतेऽथो यो वै कश्च दक्षिणां ददाति स्तूयते एव सः" इति [९।४।१।११] श्रुतेः ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र २ ।

प्रजापतिर्विश्वकर्म्मामनोगन्धर्वस्तस्यऽऋक्सामान्यप्सरसऽएष्टयोनाम ॥ सनऽइदम्ब्रह्मक्षत्रम्पातुतस्मैस्वाहावाट्ताभ्यःस्वाहा ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिरित्यस्य लुशोधानाक ऋ० । साम्नी जगती छं० । गन्धर्वो देवता । वि० पू० । (२) ॐ तस्येत्यस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ची गायत्री छन्दः । अप्सरसो देवताः । वि० पू० ४३॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजाका पालक (विश्वकर्मा) सब कुछ करनेवाला (मनः) मनरूप (गन्धर्वः) गन्धर्व है (सः) वह (नः) हमारे (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रिय जातिको (पातु) रक्षा करै (तस्मै)

उसकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहावाट्) वषट्कारपूर्वक यह आहुति देते हैं भली प्रकार स्वीकार हो ११ । (एष्टयः) अभीष्ट देनेसे एष्टि (नाम) नामवाली (ऋक्सामानि) ऋक् और सामकी ऋचा (तस्य) उसकी (अप्सरसः) अप्सरा हमारी ब्रह्म और क्षत्रकी रक्षा करो (ताभ्यः) उनके निमित्त (स्वाहा) आहुति दीजाती है भलीप्रकार गृहीत हो १२ ॥ ४३ ॥

प्रमाण-१"स हीद ँ सर्वमकरोत्" इति श्रुतेः [९।४। १ । १२] "मनो ह गन्धर्व ऋक्सामैरप्सरोभिर्मिथुनेन सहोच्चक्रामेष्टयो नामेत्यृक्सामानि वा एष्टय ऋक्सामे ह्याशासत इति नोऽस्त्वित्यर्थं नोऽस्तु" इति [९।४।१।१२] श्रुतेः ॥ ४३ ॥

इति राष्ट्रभृद्धोमः ।

कण्डिका ४४-मंत्र १ ।

स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य त उपरि गृहा यस्य वेह ॥ अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहा ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ सन इत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । प्रस्तारपंक्तिश्छं० । प्रजापतिर्देवता । होमे वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) पूर्वसंस्कार किये घृतसे पांचवार घृत ग्रहण करके आहवनीयके ऊपर प्रतिप्रस्थातादि द्वारा रथके शिरभागपर धारण किया यह पांच भाग करके इस मंत्रके पांच वार पाठके अनुसार पांच आहुति प्रदान करे [का० १८।५।१७]

मन्त्रार्थ-(भुवनस्य) संसारके (पते)पालन करनेवाले (प्रजापते) हे प्रजापते! (यस्य) जिस (ते) आपके (उपरि) स्वर्ग लोकमें (गृहा) घर हैं (वा) अथवा (यस्य) जिस आपके (इह) इस लोकमें घर हैं (सः) वह आप (नः) हमारे (अस्मै) इस (ब्रह्मणे) ब्राह्मण (अस्मै) इस (क्षत्राय) क्षत्रियके निमित्त (महि) बडे (शर्म) सुखको (यच्छ) दीजिये (स्वाहा) यह दीहुई आहुति भलीप्रकार स्वीकार हो ॥ ४४ ॥

प्रमाण१-"अथ रथशीर्षे जुहोति" इति [श० ९।४।१।१३] श्रुतेः ॥ ४४ ॥

भावार्थ-हे त्रिभुवनके पालन करनेवाले प्रजापति ! क्या ऊपर क्या यहां सर्वत्रही तुम्हारे घरहैं, इससे हम जिस किसी स्थानमें रहें तुम्हारेही घरमें रहते हैं इस कारण हमारे इन ब्राह्मण और क्षत्रियको कल्याण प्रदान करो तुम्हारी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं ॥ ४४ ॥

इति रथहोमः ।

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

समुद्रोसिनभस्वानार्द्रदानुः शम्भूर्मयोभूरभिमा वाहिस्वाहा मारुतोसिमरुतांगणः ॥ शम्भूर्मयो भूरभिमावाहिस्वाहावस्यूरसिदुवस्वाञ्छम्भूर्मयो भूरभिमावाहिस्वाहा ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रोऽसीत्यस्य लुशोधानाक ऋषिः । निच्यृ-ड्राह्मीछन्दः । वायुर्देवता । आहुतिदाने वि० । (२-३) ॐ मारुत इत्यस्य मन्त्रद्वयस्य लुशोधानाक ऋ० । आर्ष्युष्णिक्छन्दः । वायुर्दे० । आहुतिदाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-अनन्तर इस रथको अग्निकी उत्तर वेदीके ऊपर पूर्वकी ओर मुख करके स्थापन करै, उसके तीन स्थानोंमें इस कण्डिकाके तीन मंत्र पढकर तीन आहुति प्रदान करै उनमें प्रथम रथयुग दक्षिण धुरके अधोभागमें फिर उत्तर धुवके अधोभागमें अंतमें युगमध्यके अधोभागमें आहुति दे [का० १८ । ६ । १] मंत्रार्थ-हे वायो! तुम (समुद्रः) अगाध वा जलोंसे गीले होनेवाले (नभस्वान्) आकाशमण्डलमें रहनेवाले अथवा जिसमें नक्षत्रमण्डल हैं ऐसे (आर्द्रदानुः) वर्षा और नीहारादिद्वारा पृथ्वीको आर्द्र करनेवाले (शम्भूः) इस लोकका सुख प्राप्त करानेवाले (मयोभूः) परलोकका सुख प्राप्त करनेवाले (असि) हो (मा) हमारे प्रति (अभिः) सुमुख होकर (वाहि) अपनी वहनात्मता प्रकाश करो जिससे हम दोनों लोकमें कल्याण प्राप्त करैं "असौ वै लोकः समुद्रः" इति [९ । ४ । २ । ५ ।] श्रुतेः १ । हे वायो ! तुम (मरुतः) अन्तरिक्षचारी "अन्तरिक्षलोको वै मारुतः" इति [९ । ४ । २ । ६] श्रुतेः । (मरुतांगणः) पूर्वोल्लिखित शुक्र ज्योति आदि मरुत्गण (असि) हो (शम्भूर्मयोभूरभि मा वाहि स्वाहा) तुम हमारे सन्मुख होकर वहनात्मता प्रकाश करो जिससे हम इस लोक और परलोकमें कल्याण प्राप्त कर सकें तुम्हारे निमित्त आहुति देते हैं यह सुगृहीत हो २ । हे वायो ! तुम (अवस्यूः) रक्षाकर्ता "अयं वै लोकोऽवस्यूः" इति [९ । ४ । २ । ७ ।] श्रुतेः । भूलोकरूप (दुवस्वान्) अन्नके उत्पादक वा हविलक्षण रूप अन्नके रखनेवाले (शम्भूः) इस लोकके सुखदाता (मयोभूः) पर लोकके

सुखदाता (असि) हो इस कारण (मा) मुझे दोनों लोकका सुख देनेको (अग्ने) मेरे सम्मुख होकर (वाहि) अपनी वहनात्मता प्रकाश करो ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १ ।

यास्तेऽअग्ने सूर्य्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः ॥ ताभिर्नोऽअद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि ॥ ४६ ॥

विधि-(१) यहांसे लेकर चार कण्डिकात्मक चार मंत्र और पचासवीं कण्डिकात्मक पांच मंत्र इन नौ मंत्रोंसे नौवार उस संस्कार किये घृतसे नौ आहुति प्रदान करै [का० १८ । ६ । ६ ।]

मन्त्रार्थ-यास्त इति इसकी व्याख्या अ० १३ मं० २२ में होगई । होमे वि० ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मंत्र १ ।

या वो देवाः सूर्य्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ॥ इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचं नो धत्त बृहस्पते ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ-यावो देवा इसकी व्याख्या १३ । २३ में होगई । वि० पू० ॥४७॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि ॥ रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रुचन्न इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । अग्निर्देवता । घृताहुतिदाने वि० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने! (नः) हमारे (ब्राह्मणेषु) ब्राह्मणोंमें (रुचम्) कान्तिको (धेहि) स्थापन कर (नः) हमारे (राजसु) क्षत्रियोंमें (रुचम्) कान्तिको (कृधि) स्थापन कर हमारे सम्बन्धी (विश्येषु) वैश्योंमें (रुचम्) कान्तिको स्थापन कर हमारे (शूद्रेषु) शूद्रोंमें कान्तिको स्थापन करो (मयि) मुझमें (रुचा) कान्तिके साथ (रुचम्) अविच्छिन्न कान्तिको (धेहि) स्थापन करो अर्थात् मैं विशेष कान्तिमान् हूं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मंत्र १ ।

तत्त्वा॑ यामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वन्द॑मान॒स्तदाशा॑स्ते॒ यज॑मानो ह॒विर्भिः॑ ॥ अहे॑डमानो वरुणे॒ह बो॒ध्युरु॑शᳬंस॒ मा न॒ऽआयुः॒ प्रमो॑षीः ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तत्त्वायामीत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वरुणो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(वरुण) वेदमंत्रोंसे स्तुत हे वरुण ! (यजमानः) यजमान (हविर्भिः) हवि दान करके (तत्) जो कुछ धन पुत्रादिकी (आशास्ते) आकांक्षा करता है (तत्) वह यजमानका इष्ट (ब्रह्मणा) त्रयीलक्षण वेदके द्वारा (वन्दमानः) स्तुतिको करताहुआ मैं (त्वा) तुमसे (यामि) याचना करताहूं (उरुशᳬंस) हे महास्तुतिको प्राप्त आराध्य देव ! (इह) इस स्थानमें (अहेडमानः) क्रोध न करते तुम (बोधि) मेरी प्रार्थनाको जानो (नः) हमारी (आयुः) आयुको (मा) मत (प्रमोषीः) नष्ट करो अर्थात् दीर्घायु हो. आशय यह कि हमारी परमायु पापादिद्वारा अपहृत न हो ॥ ४९ ॥

प्रमाण-"यामीति याच्ञाकर्मसु" [निघं० ३ । १९ । २] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र ५ ।

स्व॒र्ण घ॒र्मः स्वाहा॑ स्व॒र्णार्कः स्वाहा॑ स्व॒र्ण शु॒क्रः स्वाहा॑ स्व॒र्ण ज्योतिः॒ स्वाहा॑ स्व॒र्ण सूर्यः॒ स्वाहा॑ ॥ ५० ॥ [१३]

ऋष्यादि-(१-३-४-५) ॐ प्रथम तृतीय चतुर्थ पञ्चम मन्त्राणां शुनःशेप ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता (२) ॐ द्वितीयमन्त्रस्य शुनःशेप ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । होमे विनियोगः ॥ ५० ॥

विधि-(१) अर्काश्वमेध संततिसंज्ञावाली पांच आहुति हैं. तथाच श्रुतिः "अथार्काश्वमेधयोः सन्ततीर्जुहोति" [श० ९ । ४ । २ । १८] अर्थात् अर्क अग्नि अश्वमेध रवि है इनकी सन्तति अग्नि और आदित्यकी ऐक्यता करनेवाली आहुति हैं "अग्निरर्कोऽसावादित्योऽश्वमेधस्तौ सृष्टौ नानेवास्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः समतन्वन्समधुः" इति [९ । ४ । २ । १८] श्रुतेः ।

मंत्रार्थ-(स्वः) दिनकी (न) समान (घर्मः) आदित्य देवताकी प्रीतिके

निमित्त यह आहुति प्रदान करते हैं (स्वाहा) भलीप्रकारसे गृहीत हो अर्थात् आदित्यको अग्निमें स्थापन करते हैं "असौ वा आदित्यो घर्मोऽमुं तदादित्यमस्मिन्नग्नौ प्रतिष्ठापयति" इति [९ । ४ । ३ । १९] श्रुतेः १ । (स्वः) सूर्यकी (न) समान (अर्कः) अग्नि है उसको आदित्यमें स्थापन करताहूं (स्वाहा) अर्चनीय आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो "अयमग्निरर्क इमं तदग्निममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति" इति [९ । ४ । ३ । २०] श्रुतेः २ । (स्वः) दिनकी (न) समान (शुक्रः) आदित्य अर्थात् शुक्लवर्णप्रभाविशिष्ट आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो वा आदित्यको आदित्यहीमें स्थापन करताहूं "असौ वा आदित्यः शुक्रस्तं पुनरमुत्र दधाति" इति [९ । ४ । २ । २१] श्रुतेः ३ । (स्वः) स्वर्गकी (न) समान (ज्योतिः) अग्नि है अग्नि स्वर्ग देता है इसकारण स्वर्गकी उपमा दी उस अग्निको अग्निमें स्थापनकरता हूं " अयमग्निर्ज्योतिस्तं पुनरिह दधाति " इति [९ । ४ । २ । २२] श्रुतेः अर्थात् प्रकाशके निदान और प्रकाशस्वरूप आदित्य देवताकी प्रीतिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकारसे गृहीत हो ४ । "इस प्रकार सूर्यमें अग्निको, सूर्यको अग्निमें, सूर्यको सूर्यमें, अग्निको अग्निमें, स्थापन करके उसका संयोगकर सूर्यको श्रेष्ठ किया" । (स्वः) सम्पूर्ण देवताओंके रूपकी (न) समान (सूर्यः) जो सूर्य है उसको (स्वाहा) उत्तम करता हूं अव्ययोंके अनेक अर्थ होनेसे स्वाहा शब्दका उत्तम अर्थ है, सब देवता भ्रान्तिसे भिन्न भिन्न दीखते हैं वस्तुतः एकही सूर्य नानारूप है "असौ वा आदित्यः सूर्योऽमुं तदादित्यमस्य सर्वस्योत्तमं दधाति तस्मादेषोस्य सर्वस्योत्तमः" इति [९ । ४ । २ । २३] श्रुतेः । अथवा प्राणिवर्गको अपने अपने कार्यमें प्रेरणकरनेवाले आदित्य देवताके निमित्त यह आहुति दीजातीहै भली प्रकार गृहीत हो ॥ ५० ॥

विशेष–इस प्रकार पांच आहुतियोंसे अग्नि और सूर्यका ऐक्यविधान करके सब देवताओंमें अर्ककी उत्तमता सम्पादन की ॥ ५० ॥ [१३]

इति वातहोमः।

कण्डिका ५१–मंत्र १. अनु० ११।

अ॒ग्निꣳ यु॑नज्मि॒ शव॑सा घृ॒तेन॑ दि॒व्यꣳ सु॑प॒र्णं वय॑सा बृ॒हन्त॑म्। तेन॑ व॒यं ग॑मेम ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टप॒ꣳ स्वो॒ रुहा॑णाऽअधि॒ नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ५१ ॥ शतम् ॥ १००० ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ अग्निमित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । परिधीन्स्पृष्ट्वाग्नियोजने विनि० ॥ ५१ ॥

विधि-यहांसे तीन मंत्र पढकर अग्नि योजन करै [का० १८ । ६ । १६]

मंत्रार्थ-(दिव्यम्) स्वर्गमें होनेवाले (सुपर्णम्) सुन्दर गतिवाले (वयसा) धूमसे (बृहन्तम्) वृद्धिको प्राप्त होते (अग्निम्) अग्निको (शवसा) बल और (घृतेन) घृतसे (युनज्मि) संयुक्त करता हूं (तेन) इसके द्वारा (ब्रध्नस्य) आदित्यके (विष्टपम्) लोकको (वयम्) हम (गमेम) गमन करैं (अधि) उसके ऊपर (स्वः) स्वर्गको (रुहाणाः) गमनकरते हुए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) दुःखरहित लोकको प्राप्तहों ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद्वृष्टिः इति [२ । ३ । ५ । १७] श्रुतेः ॥ ५१ ॥

भावार्थ-बलपूर्वक मथित दिव्यसुन्दर गतिसम्पन्न प्रज्वलित शिखावाली इस अग्निको घृतके सहित योगकरते हैं हम इस कार्यके फलसे अन्तरिक्षलोकमें गमन-पूर्वक उसके ऊपर स्वर्गमें आरोहण करते उसके ऊपर दुःखशून्य उत्कृष्टतम परम धाममें गमन करनेमें समर्थ हों ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्या रक्षा रस्यपहरस्यग्ने ॥ ताभ्यां पतेम सुकृतामु लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमौत इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । विराड् ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (इमौ) यह दोनों (पक्षौ) दहिने वायें पक्ष (अजरौ) जरारहित (पतत्रिणौ) उडनेके स्वभाववाले हैं "अथवा उत्पत्तिविनाशवाली यह पाप और पुण्य दो तुम्हारे पक्ष हैं" (याभ्याम्) जिनके द्वारा तुम (रक्षांसि) राक्षसोंको (अपहंसि) नष्ट करते हो और हम (ताभ्याम्) उनके द्वारा (उ) ही (सुकृताम्) पुण्यात्माओंके (लोकम्) लोकको (पतेम) गमन करैं अर्थात् इन दोनों पाप पुण्योंको अतिक्रमण कर उत्तम लोकको जायं (यत्र) जहां (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (पुराणाः) पुरातन (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) गये हैं ॥ ५२ ॥ यह मंत्रद्रष्टा वैदिक ऋषिहैं सनातनके हैं ।

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

इन्दुर्दक्षः श्येनऽऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः ॥ महान्त्सधस्थे ध्रुवऽआनिषत्तो नमस्तेऽअस्तु मा मा हिᳬसीः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्दुरित्यस्य शुनःशेप ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (इन्दुः) ईश्वर, वा चन्द्रवत् आह्लाद करनेवाले (दक्षः) उत्साहवान् (श्येनः) प्रशंसनीयगतिवाले वा श्येनवत् आकाशमें वेगसे गमन करनेवाले (ऋतावा) सत्य यज्ञ वा जलसे सम्पन्न (हिरण्यपक्षः) सुवर्णखण्डरूप पक्षवाले (शकुनः) पक्षीकी समान विस्तारित पक्षवाले (भुरण्युः) जाठरादिरूपसे पोषक (महान्) प्रभावसे महान् (ध्रुवः) स्थिर (सधस्थे) ब्रह्माके स्थानमें (आनिषत्तः) सब प्रकारसे स्थित अर्थात् देवताओंके सहित यज्ञमें एकत्र स्थित (ते) आपको (नमः) वारंवार नमस्कार (अस्तु) हो (मा) हमको(माहिᳬसीः किसीप्रकार पीडा मत दो रक्षा करो ॥ ५३ ॥

इति अग्नियोजनम् ।

कण्डिका ५४-मंत्र १ ।

दिवो मूर्द्धासि पृथिव्या नाभिरूर्गपामोषधीनाम् ॥ विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दिव इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । परोष्णिक्छन्दः । अग्निर्देवता । अग्निवियोजने वि० ॥ ५४ ॥

विधि-(१) परिधि संधिस्पर्शपूर्वक यहांसे आदि लेकर दो मंत्रसे अग्निवियोजन करै [का० १८ । ६ । १७ ।] मंत्रार्थ-हे अग्ने ! तुम (दिवः) स्वर्गलोकके (मूर्धा) मस्तकस्वरूप हो (पृथिव्याः) पृथिवीके (नाभिः) नाभिस्वरूप हो तुमसे सब जीते हैं (अपाम्) जलोंके और (ओषधीनाम्) ओषधियोंके (ऊर्क्) सार हो (विश्वायुः) बहुजीवी अथवा सब प्राणियोंकी जीवन हो (शर्म) सबके शरणदाता हो (सप्रथाः) तिर्यक् ऊर्ध्व अधः सर्वत्र वर्तमान (असि) हो (पथे) स्वर्गमार्गरूप तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार है अर्थात् हमको दीर्घ काले जीवन सुखवास गृह सुप्रतिष्ठा और अन्तमें स्वर्गगमनपथ प्रदान करो॥५४॥

कण्डिका ५५-मंत्र १।

विश्वस्यमूर्द्धन्नधितिष्ठसिश्रितः समुद्रेतेहृदयम् प्स्वायुरपोदत्तोदधिम्भिन्त ॥ दिवस्पुर्जन्याद्न्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततोनोवृष्ट्याव ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वस्येत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । महापंक्तिर्जगती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-हे सूर्यरूपी अग्ने ! (श्रितः) सुषुम्नानाडीमें व्याप्तहुए तुम (विश्वस्य) सम्पूर्णके (मूर्धन्) शिरमें (अधितिष्ठसि) स्थितहो अर्थात् सबके ऊपर सूर्यरूपसे दीप्त होतेहो (ते) तुम्हारा (हृदयम्) हृदय (समुद्रे) अन्तरिक्षमें है (आयुः) आयु जीवन (अप्सु) जलोंमें है अर्थात् जलसे वृक्ष उससे अग्नि होतीहै (दिवः) द्युलोकसे (पर्जन्यात्) मेघसे (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षसे (पृथिव्याः) भूमिके सकाशसे वा जहां कहीं जल हो (ततः) उस देशसे जल लाकर (वृष्ट्या) श्रेष्ठ वर्षाके द्वारा (नः) हमारी (अव) रक्षाकरो (उदधिम्) मेघको (भिन्त) विदीर्णकरो (अपः) जलोंको (दत्त) दो ॥ ५५ ॥

भावार्थ-हे सूर्यरूप अग्ने ! इस ब्रह्माण्डके मस्तकस्वरूप तुम वृष्टिप्रदानद्वारा हमारी रक्षाकरो, यद्यपि तुम द्युलोकमें देदीप्यमान हो, किन्तु समुद्रके मध्यमें भी करस्पर्शद्वारा तुम्हारी गति है, तुम्हारा हृदय और आयु जलके मध्यमें स्थित है, इस कारण प्रार्थना है कि उदधि भेदकर द्युलोकसे अन्तरिक्षसे और पृथ्वीसे रस आकर्षण करके पर्जन्य निर्माणपूर्वक वृष्टि प्रदान करो ॥ ५५ ॥

इति अग्निवियोजनम् ।

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

इष्टोयज्ञोभृगुभिराशीर्दावसुभिः ॥ तस्यनऽइष्टस्यप्रीतस्यद्रविणेहागमेः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इष्ट इत्यस्य गालव ऋषिः । उष्णिक्छन्दः । यज्ञो देवता । समष्टियजुर्होमे विनियोगः ॥ ५६ ॥

विधि-(१) पूर्वविहित [८ । १५] समष्टि यजुहोम करनेके उपरान्त यहांसे दो कण्डिका पाठकर समष्टि यजु होम करै [का० १८ । ६ । १९]

मन्त्रार्थ-(द्रविण) हे धन! (नः) हमारे (इष्टस्य) इष्टरूप (प्रीतस्य) हममें प्रेम करनेवाले (तस्य) उस इस यजमानके (इह) इस घरमें (आगमेः) आओ (आशीर्दाः) अभिलाषित पदार्थका देनेवाला (यज्ञः) यज्ञ (भृगुभिः) भृगुगोत्रवाले ब्राह्मणों ! और (वसुभिः) वसुआदि देवताओंसे (इष्टः) सम्पादित किया गया है ॥ ५६ ॥

भावार्थ-हे परमधन ! इस यजमानका यज्ञ भृगुगोत्रके ऋत्विग्गणोंद्वारा अनुष्ठित और वसुआदि देवतोंद्वारा कल्याणप्रदरूपसे सम्पन्न हुआ है, इस कारण जो हमारा प्रिय और हम जिसके प्रिय हैं उस यजमानके घरमें तुम परमात्माकी प्रेरणासे चिर-कालतक निवास करो ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

इ॒ष्टोऽअ॒ग्निराहु॑तः पिपर्तु न इ॒ष्टꣳ ह॒विः। स्व॒गेदं दे॒वेभ्यो॒ नमः॑ ॥ ५७ ॥ [७]

ऋष्यादि-(१) ॐ इष्ट इत्यस्य गालव ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(इष्टः) कृतयज्ञ अर्थात् यज्ञ करनेवाला परम प्रिय (अग्निः) अग्नि (हविः) हविद्वारा (आहुतः) तृप्त किया हुआ (नः) हमारे (इष्टम्) अभिलाष वा मनोरथको (पिपर्तु) पूर्ण करें (इदम्) यह (नमः) हवि (देवेभ्यः) समष्टि यजुलक्षणवाले देवताओंके निमित्त हो, जो हवि (स्वगाः) स्वयं गमनशील है ॥ ५७ ॥ [७]

भावार्थ-स्वयंगमनशील यह हवि देवताओंके निमित्त आहुत होतीहै अग्निदेवता यह अभिलषित हवि लाभ करके हमारी अभिलाषा पूर्ण करें ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मन्त्र १. अनु० १२ ।

यदाकू॑तात्स॒मसु॑स्रोद्धृ॒दो वा॒ मन॑सो वा॒ सम्भृ॑तं॒ चक्षु॑षो वा ॥ तद॑नु॒ प्रेत॑ सु॒कृता॑मु लो॒कं यत्र॒ऽऋष॑यो ज॒ग्मुः प्र॑थम॒जाः पु॑रा॒णाः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदाकूतादित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । जगती छन्दः । अग्निर्देवता । अष्टस्रुवाहुतिदाने वि० ॥ ५८ ॥

विधि-(१) हृदयशूलसम्बन्धी समिध आधान करनेके अनन्तर यहांसे प्रारंभकर आठ कण्डिकात्मक आठ मंत्रोंसे प्रत्येक मंत्रसे आठ २ स्रुवआहुति देनी इसप्रकार ६४ स्रुवआहुति सम्पन्न होती हैं [का० १६ । ६ । २२] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विग्गण! तुम (तत्) उस प्रजापतिके किये कर्मको (अनु) सम्पादन करके (सुकृताम्) पुण्यात्माओंके (लोकम्) लोकको (उ) अवश्य (प्रेत) प्राप्तहो अर्थात् प्रजापतिके शरीरसे उत्पन्न वैदिक कर्म करके स्वर्गमें गमन करो (यत्) जो कर्म (सम्भृतम्) पूर्ण सामग्रीसे युक्त है तथा (आकूतात्) प्रजापतिके अभिप्राय (वा) अथवा (हृदः) हृदय बुद्धिसे (वा) अथवा (मनसः) मनसे (वा) या (चक्षुषः) चक्षुआदि इन्द्रियोंसे (समस्रुस्रोत्) निर्गत हुआ है अर्थात् ब्रह्माने जो सर्वात्मासे रचा है उसके करनेसे पवित्र लोकको गमन करो (यत्र) जिस लोकमें (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्न (पुराणाः) पुरातन (ऋषयः) ऋषि (जग्मुः) गये हैं ॥ ५८ ॥

सरलार्थ-हे ऋत्विग्गण! जिस कर्मका अनुष्ठान करके प्रथमोत्पन्न प्राचीन ऋषिगण पुण्यलोकमें गये हैं जो प्रजापतिके अभिप्रायसे हृदयसे मनसे वा चक्षु (प्रत्यक्ष) से 'कर्तव्य' कहा गया है उसीका अनुसरण करो यह इष्टार्थ श्रुति है ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मंत्र १ ।

एतꣳ सधस्थ परि ते ददामि यमावहाच्छेवधिं जातवेदाः । अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वोऽअत्र तꣳ स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एतमित्यस्य विश्वकर्म ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(सधस्थ) जिस स्थानमें देवता एकत्र वास करते हैं वह स्वर्गही सधस्थ है उसकी प्रार्थना हे स्वर्ग! (जातवेदाः) सर्वज्ञ अग्निने (यम्) जिस(शेवधिम्) सुखनिधान आहुति परिणामभूत (आवहात्): प्राप्तियोग्य यज्ञके फल अर्थात् यज्ञके फलरूप परम सुखको जिसे सौंपा है (एतम्) इस यजमानको (ते) तुमको (परिददामि) समर्पण करता हूं अर्थात् तुम दोनोंकी रक्षा करना, इस प्रकार यजमानको समर्पणकर देवताओंकी प्रार्थना करते हैं हे देवताओ! (यज्ञपतिः) यजमान (वः) यज्ञसमाप्तिमें आपके पास (अन्वागन्ता) आगमन करेगा (अत्र)

इस (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) आकाशवत् विस्तृत स्वर्गस्थानमें आये हुए (तम्) उस यजमानको तुम (जानीत) जानो (स्म) ही अर्थात् स्वर्गमें जानेपर इसका सत्कार करना ॥ ५९ ॥

सरलार्थ-जिस स्थानमें देवताओंके सहित एकत्र वास है जातवेदा देवताके प्रसादसे उसी सुखाकर स्थानको हमारा यजमान लाभ करनेमें समर्थ हुआ है हे देवगण यह इस आयु समाप्तिके उपरान्त ही परमलोकमें आगमन करैगा. यह तुम जानो ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मंत्र १ ।

एतञ्जानाथ परमे व्योमन्देवाः सधस्था विद्रूपमस्य ॥ यदागच्छात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एतमित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

अन्वार्थ-(परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) स्थान (सधस्थाः) स्वर्गमें रहनेवाले (देवाः) हे देवताओ ! (एतम्) तुम इस यजमानको (जानाथ) जानो (अस्य) इस यजमानके (रूपम्) रूपको (विद) जानो (यदा) जिससमय यह (देवयानैः) देवताओंके गमनयोग्य (पथिभिः) मार्गोंसे (आगच्छात्) आगमन करै तब (इष्टापूर्ते) श्रौतस्मार्तसम्बन्धी कर्मके फल (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (आविः) प्रकाशित (कृण्वाथ) करो ॥ ६० ॥

सरलार्थ-इस यजमानके निमित्त इष्टापूर्तरूप देवयान मार्ग प्रगट होगया है इस मार्गसे पदार्पण करते यह आगमन करता है परमलोकनिवासी परस्पर प्रीतियुक्त देवगण इसका स्वरूप जानै ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳसृजेथामयं च ॥ अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन्विश्वे देवा यजमानश्च सीदत ॥ ६१ ॥

मंत्रार्थ-उद्बुध्यस्व इसकी व्याख्या १५ अ० ५४ कण्डिकामें होगई वि० पू० ॥ ६१ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! तुम प्रबुद्ध हो जागृत हो यह यजमानभी इष्टापूर्त अनुष्ठानसे कृतकृत्य हुआ है इस कर्मके पर्यवसानमें यह स्वर्गमें सब देवगणोंका सहवास सुखलाभ करै ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

येन॒ वह॑सि स॒हस्र॒ᳬं येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ॥ तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ६२ ॥

मंत्रार्थ-येन वहसि इसकी व्याख्या १५ । ५५ में होगई भावार्थ लिखते हैं वि० पू० ॥ ६२ ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! तुम जिस सामर्थ्यसे सहस्र दक्षिणावाले यज्ञके अनुष्ठाताको स्वर्ग प्राप्त कराते हो उसी सामर्थ्यसे इस क्षुद्र यज्ञके अनुष्ठाता हमारे यजमानको देवलोकमें जानेके योग्य करो ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

प्र॒स्त॒रेण॑ परि॒धिना॑ स्रु॒चा वेद्या॑ च ब॒र्हिषा॑ ॥ ऋ॒चेमं य॒ज्ञं नो॑ नय॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रस्तरेणेत्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (नः) हमारे (प्रस्तरेण) स्रुक्की आधार दर्भमुष्टि (परिधिना) बाहुमात्र तीन काष्ठ (स्रुचा) जुहूप्रभृति (वेद्या) वेदी प्राचीनवर्हि आदि (बर्हिषा) कुशा (ऋचा) ऋगादि मंत्रोंसे सम्पन्न (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंमें (गन्तवे) प्राप्त करनेके निमित्त (स्वः) स्वर्गको (नय) लेजाओ अथवा हमारे इस यजमानने पूर्वोक्त सामग्रीसे यज्ञ सम्पन्न किया है इस समय इसको देवलोकगमनमें कृतकृत्य करो ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यद्द॒त्तं यत्प॑रा॒दानं॒ यत्पू॒र्त्तं याश्च॒ दक्षि॑णाः ॥ तद॒ग्निर्वै॑श्वकर्म॒णः स्व॑र्दे॒वेषु॑ नो दधत् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्दत्तमित्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मासम्बन्धी (अग्निः) अग्नि (नः) हमारे (तत्) उस दानको (स्वः) स्वर्गलोकमें (देवेषु) देवताओंमें (दधत्) स्थापन करै (यत्) जो (दत्तम्) जामाता भगिनीआदिको दिया है (यत्) जो (परादत्तम्) परोपकारके निमित्त दयाकरके दीन दुःखियोंको दिया है (यत्) जो (पूर्तम्) स्मृतिमें विधान किया है ब्राह्मणभोजन कराना, कूप बावडी निर्माण (च) और (याः) जो यज्ञसम्बंधी (दक्षिणाः) दक्षिणा हैं ॥ ६४ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने ! हमारे यजमानने जो सब दान किये हैं जो विहित प्रतिग्रह किये हैं जो सब पूर्तकार्य किये हैं जो दक्षिणा दी है इस कर्मके फलसे इसको स्वर्गीय देवतागणोंके मध्यमें स्थापन करो ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

यत्र धाराऽअनपेता मधोर्घृतस्य च याः ॥ तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रधारा इत्यस्य विश्वकर्मा ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वकर्मणः) विश्वकर्मासम्बन्धी (अग्निः) अग्नि (तत्) तहां (स्वः) स्वर्गमें (देवेषु) देवताओंके मध्यमें (नः) हमको (दधत्) स्थापन करै (यत्र) जहां (मधोः) मधुकी (घृतस्य) घृतकी (च) और (याः) दूध दहीआदिकी (धाराः) धारायें (अनपेताः) क्षीण न होनेवाली स्थित हैं ॥ ६५ ॥

अथवा-हे अग्ने ! इस यज्ञमें घृत और मधुकी धारा कुछ कालतक निरन्तर प्रवाहित रही है ऐसे यज्ञके अनुष्ठाता हमारे यजमानको स्वर्गीय देवगणोंके मध्यमें स्थापन कर ॥ ६५ ॥

[इति चतुःषष्टिहोमः]

कण्डिका ६६-मन्त्र १ ।

अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा घृतम्मे चक्षुरमृतम्म आसन् ॥ अर्कस्त्रिधातू रजसो विमानोऽजस्रो घर्मो हविरस्मि नाम ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । ध्याने वि० ॥ ६६ ॥

विधि-(१) अग्नि अद्वैतवादी मन्त्र है अग्निप्रकरण होनेसे यजमान अपनेको अग्निरूप ध्यान करता है। मन्त्रार्थ-(जातवेदाः) सब उत्पन्न सृष्टिका स्वामी (अर्कः) अर्चनीय यज्ञ (त्रिधातुः) तीन धातु ऋक् यजुः साम लक्षणवाला वा त्रिदेव (रजसः) जलका (विमानः) निर्माता (अजस्रः) अविनाशी (अग्निः) अग्नि (जन्मना) उत्पत्तिसेही (अस्मि) मैं हूं (मे) मेरी (चक्षुः) आखें (घृतम्) घृत हैं घृत होमवालेको देखता हूं (मे) मेरे (आस्यम्) मुखमें (अमृतम्) हविरूप अमृत है अर्थात् हवि हवन होनेपर अमृत करता हूं (घर्मः) आदित्य वा मेघरूप मैं हूं (नाम) नामवाली (हविः) पुरोडाशादिकभी (अस्मि) मैं हूं [ऋ० ३ । १ । २७] ॥ ६६ ॥

अथवा-यही देवता अग्निनामसे प्रसिद्ध है जो प्रथमहीसे जातप्रज्ञ है जिसका घृत चक्षु है मुखमें अमृत है, तीन धातुयुक्त पार्थिव शरीर जिनका अर्चनीयरूप है, जो जठरमें निवास करते हैं जो जलके चलानेवाले (विद्युत्) हैं अन्तरिक्षमें जिनकी स्थिति है और द्युलोकमें निरन्तर रहनेवाला आदित्यही जिनका रूपान्तर है अधिक क्या हवनीयकाष्ठके अन्तरभी इन्हीकी सत्ता स्थित है ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मन्त्र २ ।

ऋचो नामा॑स्मि॒ यजू॑ᳬषि॒ नामा॑स्मि॒ सामा॑नि॒ नामा॑स्मि ॥ येऽअ॒ग्नय॒: पाञ्च॑जन्या॒ऽअ॒स्याम्पृ॑थि॒व्यामधि॑ ॥ तेषा॑मसि॒ त्वमु॑त्त॒मः प्र नो॑ जी॒वात॑वे सुव ॥६७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋच इत्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । आर्षी जगती छन्दः । आत्मा दे० ।(२) ॐ ये इत्यस्य देवश्रवा देववात ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । अग्न्युपस्थाने विनियोगः ॥ ६७ ॥

विधि-(१) यज्ञमें इसका विनियोग नहीं है यजमान आत्मामें वेदत्रयात्मक सम्पादन करता है । मन्त्रार्थ-(ऋचः) ऋग्वेद (नाम) नामवाला (अस्मि) मैं हूं (यजूᳬषि नाम) यजुर्वेदनामवाला अग्नि मैं हूं (सामानि नाम) सामवेद नामवाला (अस्मि) मैं हूं वा यह अग्नि त्रिवेदरूप है १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे कर्मशेषज्ञापक अग्निका उपस्थान करै [का० १८ । २ । २३] मंत्रार्थ-(अस्याम्) इस (पृथिव्याम्) पृथ्वीके (अधि) ऊपर

(ये) जो (पाञ्चजन्याः) मनुष्योंके हितकारी वा मनुजगणके हितकारी (अग्नयः) अग्नि हैं हे चित्यग्ने! (तेषाम्) उन अग्नियोंमें (त्वम्) तुम (उत्तमः) श्रेष्ठ (असि) हो (नः) हमारे (जीवातवे) चिरजीवनके निमित्त (प्रसुव) आदेश करो ॥ ६७ ॥ [१०]

कण्डिका ६८-मं० १. अनु० ३३।

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च॥ इन्द्र त्वावर्त्तयामसि ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वार्त्रहत्यायेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। इन्द्रो देवता। पुरीषवतीचित्युपस्थाने विनियोगः॥ ६८॥

विधि-अनन्तर उसी चितिस्थानमें पुरीपक्षेपणपूर्वक कुण्ड पूर्ण करनेके उपरान्त यहांसे दशकण्डिका पाठकरके पुरीषवती चितिका उपस्थान करै [का० १७।७।१-२]

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र! (वार्त्रहत्याय) वृत्रासुरके मारनेवाले (च) और (पृतनाषाह्याय) शत्रुसेनापराभवकरनेमें समर्थ (शवसे) बलदर्शनके निमित्त (त्वा) तुमको (आवर्तयामसि) वारंवार आह्वानकरते हैं अथवा पापनाशमें समर्थ ईश्वरकी हम वारंवार प्रार्थना करते हैं ॥ ६८ ॥

विशेष-कोई कहते हैं इस स्थलमें इन्द्रशब्दसे वायु सहचर वह ज्योति है जिस ज्योतिके आविर्भावसे घनाघन गणोंका इधर उधर संचालन और वर्षणादि होकर शून्यगर्भता दूर होती है इसकोभी वृत्रयुद्ध कहते हैं वृत्रनाम मेघका भी है ऋ० ३। २। २२]॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १।

सहदानुम्पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्॥ अभि वृत्रं वर्द्धमानम्पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहदानुमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। इन्द्रो दे०। वि० पू० ॥ ६९ ॥

मंत्रार्थ-(पुरुहूत) बहुतवार भक्तोंसे आह्वानकिये हुए (इन्द्र) हे इन्द्र! (क्षियन्तम्) निकट वसनेवाले (कुणारुम्) दुर्वचन कहनेवाले (सहदानुम्) शत्रु

१ पाञ्चजन्यसे पांच चिति पांच प्राण वा मनुष्यगणका ग्रहण है।

को (अहस्तम्) हाथोंसे रहितकरके (सम्पिणङ्) चूर्ण करो (इन्द्र) हे इन्द्र ! (वर्धमाने) वृद्धिको प्राप्त होते (पियारुम्) देवताओंके मारनेवाले (वृत्रम्) वृत्रासुर वा पापको (अपादम्) चरण वा गतिहीनकरके (अभिजघन्थ) मारो ऋ० ३ । २ । २] ॥ ६९ ॥

अथवा-हे इन्द्र ! तुम बलवर्षी हो किसी समय क्षीयमाण किसी समय वर्द्धमान हस्तशून्य पदशून्य किन्तु युद्धमें अतिप्रबल और गंभीर गर्जनकारी वृत्रको चूर्ण करो छिन्नभिन्नकर विनष्ट करो ॥ ६९ ॥

प्रमाण-"सह इति बलनाम" [निघं० २ । ९ । १७] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

वि न॑ऽइन्द्र॒ मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः । यो॑ऽअ॒स्माँ२ऽअ॑भि॒दास॒त्यध॑रं गमया॒ तमः॑ ॥ ७० ॥

मंत्रार्थ-ॐ विन इन्द्र इत्यस्य शास ऋषिः । इसकी व्याख्या ८ । ४४ में होगई । वि० पू० ॥ ७० ॥

सरलार्थ-हे इन्द्र ! संग्राममें विजयी हो, जो तुमको पराजय करनेमें उद्यत हो उसको अधःपतनकरो और जो हमको क्लेश देनेमें प्रवृत्त हो उसे अन्धतम अंधकारमें प्राप्त करो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मन्त्र १ ।

मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः प॑रा॒वत॒ऽआ ज॑गन्था॒ पर॑स्याः ॥ सृ॒कꣳ स॒ꣳशाय॑ प॒विमि॑न्द्र ति॒ग्मं वि शत्रू॑न्ताढि॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मृगोनेत्यस्य जय ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (भीमः) भयंकरदर्शन (कुचरः) कठिन गतिवाले (गिरिष्ठाः) गिरिगह्वरमें शयन करनेवाले (मृगः) सिंहकी (न) समान (परस्याः) अतिदूर (परावतः) स्थानोंसे (आजगन्थ) आकर (सृकम्) शत्रुके शरीरमें प्रवेश करनेवाले (तिग्मम्) तीक्ष्ण उत्साहवाले "तिग्मं तेजतेरुत्साहकर्मणः" इति [निरु० १० । ६] (पविम्) वज्रको (सꣳशाय) तीक्ष्णकरके (शत्रून्) शत्रुओंको (विताड्ढि)

विशेष ताडन करो (मृधः) संग्रामको (नुदस्व) विशेषकर प्रेरणा करो वा दूरकरो [ऋ० ८ । ८ । ३८] ॥ ७१ ॥

भावार्थ–हे इन्द्र ! गिरिगह्वरशायी घोर शब्दकारी भयानक सिंह जिस प्रकार दूरसे भी अपने लक्ष्यको आक्रमण करता है, इसी प्रकार तुम भी वृत्रको आक्रमण करो, हे इन्द्र! तुम तीक्ष्ण वज्रको शाणितकरके उससे शत्रुगणको ताडन करो, संग्राममें विशेषरूपसे जयी हो ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मन्त्र १ ।

वैश्वानरो नऽऊतयऽआप्प्रयातुपरावतः ॥ अग्निर्न्नः सुष्टुतीरुप ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वैश्वानर इत्यस्य जय ऋषिः । गायत्री छन्दः । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ–(वैश्वानरः) सब प्राणियोंके हितकारी (अग्निः) अग्निदेवता (नः) हमारी (सुष्टुतीः) सुन्दर स्तुति (उप) श्रवण करनेको (नः) हमारी (ऊतये) रक्षाके निमित्त (परावतः) दूरदेशसे (प्रयातु) आगमन करें ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३–मंत्र १ ।

पृष्टो दिविपृष्टोऽअग्निः पृथिव्याम्पृष्टोविश्वाऽओषधीराविवेश ॥ वैश्वानरः सहसापृष्टोऽअग्निः स नोदिवासरिषस्पातुनक्तम् ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृष्ठ इत्यस्य कुत्स ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मंत्रार्थ–(वैश्वानरः) सब प्राणियोंका हितकारी (अग्निः) अग्नि देवता (दिवि) द्युलोकमें (पृष्टः) आदित्यरूपसे पूछा गया है अर्थात् यह आदित्यरूप क्या पदार्थ है इस प्रकार मुमुक्षुओंसे पूछागया "अन्तरिक्षे यमेतमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म" इति श्रुतेः (पृथिव्याम) अन्तरिक्षमें जलकी इच्छावालोंसे (पृष्टः) पूछागया यह कौन है जो विद्युत्रूपसे प्रकाश करताहै "अन्तरिक्षनामसु पृथिवीति पठितम्" [निरु० १ । ३ । ९] जो (विश्वाः) सम्पूर्ण (ओषधीः) ओषधियोंमें (आविवेश) प्रविष्ट होकर (सः) वह अग्नि (पृष्टः) पूछागया यह कौन है जीवनके हेतु ताप पाकप्रकाशोंसे प्रजाओंका उपकार करता है जो (सहसा) बलपूर्वक अध्वर्युसे मथाहुआ (पृष्टः) मनुष्योंसे

पूछागया यह कौन है जो अरणीकाष्ठसे निकाला जाताहै (सः) वह (अयम्) यह अग्नि (दिवा) दिन (नक्तम्) और रात (नः) हमारी (रिषः) वध और कष्टसे (पातु) रक्षाकरै [ऋ० १ । ७ । ६] ॥ ७३ ॥

सरलार्थ–यह अग्नि द्युलोकमें परिचित (आदित्य और विद्युत्) पृथ्वीमें परिचित (जाठर और पाचन) और जो समस्त औषधियोंके मध्यमें विराजित सुतरां ऋत्विग्गणोंके बलसे परिचित दो अरणीके घर्षणसे बलपूर्वक यज्ञीय अर्थात् यज्ञके निमित्त है यह समस्त प्राणियोंके हितकारी अग्नि क्या दिन क्या रात सदा हमारी पापसे रक्षा करै अथवा सर्वत्र अग्नि सूर्य विद्युत्‌रूप परमात्मा है वह हमारी रक्षा करै ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४–मन्त्र १ ।

अश्यामतङ्कामम्मग्नेतवोतीऽअश्यामरयिᳪंरयिवᳪंसुवीरम् ॥ अश्यामवाजमभिवाजयन्तोऽश्यामद्युम्नमजराजरन्ते ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्यामेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे परमात्मन् अग्ने ! (तव) तुम्हारी (ऊती) पालन वा रक्षासे हम (तम्) उस (कामम्) अभिलाषको (अश्याम) प्राप्त हों (रयिवः) हे धनवान् ! आपकी कृपासे हम (सुवीरम्) सुन्दर पुत्र और (रयिम्) श्रेष्ठ धनको (अश्याम) प्राप्तहों (वाजयन्तः) अग्निको अर्चन करते हुए " वाजयतिरर्चतिकर्मा " [निघं० ३ । १४ । ३९] हम तुम्हारी कृपासे (वाजम्) अन्नको (अभि) सब ओरसे (अश्याम) प्राप्तकरैं (अजर) हे जरारहित ! (ते) तुम्हारे (अजरम्) अक्षीण (द्युम्नम्) यशको (अश्याम) प्राप्तहों अर्थात् सदा यशस्वी हों [ऋ० ४ । ५ । ७] ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५–मंत्र १ ।

वयन्तेऽअद्यररिमाहिकाममुत्तानहस्तानमसोपसद्य ॥ यजिष्ठेनमनसायक्षिदेवानस्रेधतामन्मनाविप्रोऽअग्ने ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वयन्त इत्यस्य उत्कील ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७५ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! (उत्तानहस्ताः) अबद्धमुष्टी अर्थात् दानमें कृपणता त्यागनेवाले (वयम्) हम (नमसा) नमस्कारपूर्वक (उपसद्य) निकट जाकर (अद्य) आज (यजिष्ठेन) यागमें तत्पर (अस्रेधता) अनन्यगति एकाग्र (अस्रेधता) देवताओंकी महिमा और आत्माके ज्ञान जाननेवाले (मनसा) सावधान मनसे (कामम्) अभिलषित (हविः) हविको (ते) आपके निमित्त (रिरिम) देते हैं, हे अग्ने! (विप्रः) बुद्धिमान् तुम (देवान्) देवताओंको (यक्षि) तृप्तकरो [ऋ० ३।१।१४]॥ ७५॥

कण्डिका७६-मंत्र १।

धामच्छदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः॥ स चेतसो विश्वे देवा यज्ञम्प्रावन्तु नः शुभे॥ ७६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धामच्छदित्यस्य उत्कील ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वि० पू०॥ ७६॥

मंत्रार्थ-(धामच्छत्) लोकोंके आच्छादक वा न्यूनताके पूर्ण करनेवाले रीतोंके समीपकरनेवाले वा परमधाममें विराजमान (देवः) दिव्यगुणसम्पन्न (अग्निः) अग्नि (इन्द्रः) देवराज (ब्रह्मा) चतुर्मुख (बृहस्पतिः) देवगुरु बृहस्पति तथा (सचेतसः) समानचित्त वा महाबुद्धिसम्पन्न (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा वा संपूर्ण देवता (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (शुभे) इष्ट स्थान स्वर्गमें (प्रावन्तु) स्थापन करें॥ ७६॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

त्वं यविष्ठ दाशुषो नॄँः पाहि शृणुधी गिरः॥ रक्षा तोकमुत त्मना॥ ७७॥ [१०]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठेअष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

मन्त्रार्थ-त्वं यविष्ठ इस मंत्रकी व्याख्या १३।५२। में होगई।वि०पू०॥७७॥

सरलार्थ-हे नित्य तरुणाग्नि! तुम हमारी स्तुति प्रार्थनाके वचन श्रवण करो यजमानके वंश और आत्मीय गणकी विना याचना भी रक्षा करो॥ ७७॥ [१०].

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पंडितज्वालाप्रसाद मिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमन्त्रभागस्य मिश्रभाष्ये वसोर्धारादिचित्यु-पस्थानान्तनामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

अथ एकोनविंशोऽध्यायः १९.

स्वाद्वीं त्वैकादश देवा यज्ञं विंशतिः सुरावंतः सप्तदशोदीरतां त्रयोदशाच्या जानुर्दश सोमो राजा त्रीसीसेन तंत्रं षोडश सप्तपञ्चनवतिः ॥

अथ सौत्रामणीमन्त्राः ।

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

हरिः ॐ स्वाद्वीं त्त्वा स्वादुना॑ ती॒व्रां ती॒व्रेण॑ । अ॒मृता॑म॒मृते॑न । मधु॑मतीं॒ मधु॑मता सृ॒जामि॒ सꣳसोमे॑न । सोमो॑ऽस्य॒श्विभ्यां॑ पच्यस्व॒ सर॑स्वत्यै पच्यस्वे॒न्द्राय॑ सु॒त्राम्णे॑ पच्यस्व ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वाद्वीमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सुरारूपसोमो देवता । गर्ते सुराधाने विनियोगः । (२) ॐ सोमोसीत्यस्य प्र० ऋ० । देव्युष्णिक्छं० । सुरा देवता । गर्ते सुराधाने वि० । (३) ॐ अश्विभ्यामित्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छं० । सुरा दे० । गर्ते सुराधाने वि० । (४) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य प्र० ऋ० । उष्णिक्छन्दः । सुरा दे० । वि० पू० । (५) ॐ इन्द्रायेत्यस्य प्र० ऋ० । बृहती छं० । सुरा दे० । सोमालोडने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) अब तीन अध्यायोंमें सौत्रामणी यज्ञके मंत्र कहे जायगे अग्निचयनसमृद्धिकामी वा पशुकी वृद्धि चाहनेवाले वा राज्यच्युत राजा फिर राज्यकी प्राप्तिके निमित्त सौत्रामणियाग करैं. इस यज्ञमें एक दिव्य रस सम्पादन किया जाता है, इस रसके पाक निमित्त सोम बेचनेवाले अथवा क्लीवसे सीसेके बदलेमें अंकुरित व्रीहि, उर्ण पुंजके बदलेमें अंकुरित यव, सूत्रके बदलेमें लाजा [भूने व्रीहि] और दूसरे द्रव्योंमें नग्नहु [सर्जकी छाल, आमला, हरड बहेडा सोंठ पुनर्नवा चातुर्जात पीपल गजपीपल वंशावका [वंशपत्री] बृहच्छत्रा [छतौना] चीता इन्द्रवारुणी असगन्ध धनिया यवानी कालाजीरा जीरा दोनो हलदी विरूढयव अर्थात् अनङ्कुरित यव यह बराबर भाग ले एकत्रित किये नग्नहु कहाते हैं] क्रयकरके किसी उपयुक्त स्थलमें स्थापन करें, फिर आवश्यकता अनुसार प्राचीनवंश शालाके दक्षिण द्वारपथसे यह अग्निगृहमें लाकर भली प्रकार चूर्ण कर पृथक् २ रक्खै, फिर यथेच्छ परिमित व्रीहि और श्यामाक (समा) दर्श पौर्णमासके प्रकरणमें कहेहुए विधानके अनुसार भूसीरहित कर चावलोंको प्रस्तुत करे यह दोनों प्रकारके चावल पृथक् २ बड़े बड़े पात्रमें बहुतसे जलमें पाक

करै, दो आचामपात्रोंमें इनका मांड निकालले, इस गरम २ मांडमें पूर्व रक्खे शष्पादि चूर्णके मध्यमें शष्पतोक्म [अंकुरितयव] और लाजचूर्णके एक तृतीयभागके दो अंश कर डाले, और नग्नहु चूर्णके अर्द्धभाग समानकर इसमें डाले, फिर शष्पतोक्म और लाजा चूर्णके दूसरे तीसरे भागके दो अंश करके उसको इन पक्के चावलोंमें डाले, और नग्नहु चूर्णभी दूसरा समभाग करके इसमें डाले, फिर यह दोनों पात्रमें स्थित दोनों प्रकारके ओदनोंको एकत्र करके उसमें यह दोनो मासर [शष्पचूर्णादिमिलित मांड] डाले, इस कण्डिकाके पांचमंत्र और आगामी अध्यायके बीस कण्डिकात्मकमन्त्र पाठकरके इसमें सोमरस डालकर इसको आलोडन (मिलाकर) द्वारा मिलाकर शालाके नैर्ऋतकोणमें एक गर्त खोदकर तीन दिनतक स्थापनकरै, अर्थात् गाडदे [का० १९ । १ । २२]आचाम पात्र सिकोरा वा कटोरा ।

मन्त्रार्थ–हे सुरासोम ! (स्वाद्वीम्) अतिस्वादिष्ठ (तीव्राम्) तीव्र वा कटु (अमृताम्) अमृतवत् मधुर वा अमृतकी समान गुणवती (मधुमतीम्) मधुर मीठी रसवाली (त्वा) तुमको (स्वादुना) स्वादिष्ठ (तीव्रेण) तीव्र (अमृतेन) अमृतवत् गुणवाले (मधुमता) मधुर (सोमेन) सोमके साथ (सꣳसृजामि) मिलाताहूं हे सोमरसमिश्रित अन्नरस ! तुम (सोमः) सोम (असि) हो (अश्विभ्याम्) दोनों अश्विनीकुमारके निमित्त (पच्यस्व) पाचित हो (सरस्वत्यै) सरस्वतीके निमित्त (पच्यस्व) पाचित हो (सुत्राम्णे) भली प्रकार रक्षाकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (पच्यस्व) पाचित हो ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र १।

परीतोषिञ्चतासुतꣳसोमोयऽउत्तमꣳहविः ॥ दधन्वाँय्योनर्य्योऽअप्स्वन्तरासुषावसोममद्रिभिः ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ परीत इत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । बृहती छन्दः सोमो देवता । सुरासेचने वि० ॥ २ ॥

विधि–(१) सायं हवन करनेके उपरान्त 'अश्विभ्यामपाकरोमि इस मंत्रको पढकर गोपालकसे एक गौ लेकर उसका दूध दुहकर अध्वर्यु इस मन्त्रको पढकर इससे उस प्रोथित रसपात्रको सिंचनकरै, और फिर उसमें पूर्वरक्षित शेष तृतीयांश शष्प चूर्ण निक्षेप करै, दूसरे दिन "निशान्ते सरस्वत्या अपाकरोमि" इस

मन्त्रसे दो गौ गोपालसे लेकर उनका दूध दुहकर अध्वर्यु यह मन्त्रपाठपूर्वक स्थापित रसपात्रको इस दूधसे सिंचन करै और उसमें पूर्वरक्षित तृतीयांश तोक्म-चूर्ण निक्षेप करै, तीसरे दिन रात्रिकालमें "इन्द्राय सुत्राम्णे अपाकरोमि" इस मंत्रसे तीन गौ गोपालसे पृथक् करके उसका दूध दुहनपूर्वक अध्वर्यु यह मन्त्र पाठपूर्वक उस रसपात्रको सिंचन करै और फिर उसमें पूर्वरक्षित लाजाचूर्ण डाले [१९ । १ । २३-२८ का०] मन्त्रार्थ-हे ऋत्विजो ! (यः) जो (सोमः) सोम (उत्तमम्) श्रेष्ठ (हविः) हवि है (वा) या (यः) सोम (नर्यः) मनुष्योंका हितकारी होताहुआ यजमान को (दधन्) धारणकरताहै अर्थात् जिसके प्रसादसे यजमानको यजमानत्व प्राप्तहोताहै (अप्सु) जलोंके (अन्तः) मध्यमें वर्तमान जिस (सोमम्) सोमको (अद्रिभिः) पत्थरद्वारा (आसुषाव) अध्वर्युने अभिषुत किया है उस (सुतम्) अभिषुत सोमको (इतः) इस गौसे ग्रहण किये दूधसे (परिषिञ्चत) सींचो अर्थात् जो देवताओंकी उत्कृष्ट हवि है उसको हम गौके दूधसे सम्यक् सिंचित करते हैं [ऋ० ७ । ५ । १२] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र २ ।

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ्क्सोमो अतिद्रुतः ॥ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ वायोरिति मंत्रयोराभूतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । सुरापावने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२)इस कण्डिकात्मक दो मन्त्र और परकण्डिकात्मक एक मंत्र यह तीन मंत्र पाठपूर्वक पलाशपात्र गोपुच्छके और अश्वपुच्छके वालोंसे निर्मित पवित्र द्वारा इस रसको पावन करै [का० १९ । २ । ७-९] मन्त्रार्थ-(प्रत्यङ्) अधोमुख (अतिद्रुतः) अतिशीघ्रगामी (सोमः) सोम (वायोः) वायुके (पवित्रेण) पवित्रतासे (पूतः) पवित्र हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रका(युज्यः) योग्य(सखा) सखा है । अर्थात् हे सोम ! तुम शीघ्र इस पात्रमें प्रवेश करनेमें समर्थ हो वायुदेवताके प्रसादसे तुम पवित्रद्वारा पवित्र होते हो, इन्द्रके उपयुक्त और प्रिय हो (प्राङ्) मुखकी ओरसे (अतिद्रुतः) अतिशीघ्र निर्गत (सोमः) सोम(वायोः) वायुके (पवित्रेण) पवित्रतासे (पूतः) पवित्रहुआ (सोमः) सोम (इन्द्रस्य)

इन्द्रका (युज्यः) योग्य (सखा) सखा हे सोम ! तुम अति शीघ्र इस पात्रसे निर्गत होनेमें समर्थ हो वायु देवताके प्रसादसे पवित्रद्वारा तुम पवित्र होतेहो तुम इन्द्र देवताके उपयुक्त और प्रिय हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

पुनातिं ते परिस्रुतꣳ सोमꣳ सूर्य्यस्य दुहिता ॥ वारेण शश्वंता तनां ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनातीति मन्त्रस्य आभूतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-हे यजमान ! (सूर्यस्य) सूर्यकी (दुहिता) पुत्री श्रद्धा (ते) तुम्हारे (परिस्रुतम्) अभिषुत (सोमम्) सोमको (शश्वता) अनादि (तना) धन वा धनकी उत्पत्ति निमित्तसे (पुनाति) पवित्र करती है, अथवा सूक्ष्मवालनिर्मित पवित्रसे निर्गत सोममिश्रित रस सूर्यदुहिता श्रद्धाके प्रसादसे चिरदिनमेंही पवित्र होता है अथवा तुम्हारे सोमकी समान पवित्र करती है [ऋ० ६।७।१७] ॥ ४ ॥

प्रमाण-"श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता" इति श्रुतेः [श०] "तनेति धननाम" [निघं० २ । १० ।:१९] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

ब्रह्म॒ क्षत्रं प॑वते॒ तेज॑ऽइन्द्रि॒यꣳ सुर॑या॒ सोमः॑ सु॒तऽआसु॑तो॒ मदा॑य ॥ शु॒क्रेण॑ देव दे॒वताः॑ पिपृग्धि॒ रसे॒नान्नं॒ यज॑मानाय धेहि ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्मक्षत्रमित्यस्य आभूतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सुरासोमौ देवते । पयःपावने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) उत्तरवेदीके वेतसपात्रमें स्थापन करके उस अजा और मेषलोमनिर्मित पवित्रद्वारा रसभाण्डमें देनेसे वचे दुग्धमिश्रित सोमको इस मंत्रका पाठ करके डालै [का० १९ । २ । १०] मंत्रार्थ-(देव) हे देव सोम ! (शुक्रेण) शुद्ध वीर्यद्वारा (देवताः) अग्निआदि देवताओंको (पिपृग्धि) प्रसन्न करो (रसेन) घृतादिरस और (अन्नम्) अन्नको (यजमानाय) यजमानके निमित्त (धेहि) दीजिये जिस कारण (सोमः) सोम (सुतः) अभिषुत होनेसे (ब्रह्म)

ब्राह्मणजाति (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (तेजः) कान्ति (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्य- को (पवते) प्रगट करती है (सुरया) पूर्वोक्त रससे (आसुतः) तीव्र होनेसे (मदाय) मदके निमित्त होते हो [अर्थात् इस प्रकार सामर्थ्ययुक्त होकर तुम देवता और यजमानोंको अभीष्टके देनेसे प्रसन्न करते हो] ॥ ५ ॥

भावार्थ–हे सोम देव ! तुम प्रथम अभिषुत हुए पीछे मद सम्पादनके निमित्त रससे मिश्रीभूतहुए, इस समय प्रार्थना है कि तुम्हारे विशुद्ध प्रभावसे देवताओंकी इच्छा पूर्णतासे तृप्तहो, ब्राह्मण और क्षत्रियजातिके तेज और इन्द्रियोंको पवित्रकरो और यजमानको यथेष्ट अन्न और जल प्रदान करो [इन दो मंत्रोंसे यह रस पवित्र किया है] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र ७ ।

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवंञ्चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं ॥ इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बुर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति ॥ उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिस्तेजसे त्वा वीर्याय त्वा बलाय त्वा ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कुविदित्यस्य मन्त्रसप्तकस्य काक्षीवतः सुकीर्ति- र्ऋषिः । विराड् पंक्तिश्छन्दः । सोमो देवता । पयोग्रहग्रहणे वि० ॥ ६ ॥

विधि–(१–२–३) प्रथम तीन मंत्र पाठ करके अश्वत्थ पात्रमें पयोग्रह ग्रहण करे [का० १९ । २ । १२–१३ ।] मन्त्रार्थ–हे सोम ! (यथा) जैसे (इह) इस लोकमें (यवमन्तः) बहुत यवसम्पन्न किसान (कुवित्) बहुतसे (यवम्) यवको अर्थात् सम्पूर्ण यवमय सस्यको (चित्) विचारकर(अनुपूर्वम्) आनुपूर्वक (वियूय) पृथक् करके (अङ्ग) शीघ्र (दान्ति) काटते हैं अर्थात् किसान एकाकी होकरभी अपनी कर्षित भूमिसे उत्पन्न अतिअधिक यवशस्यको जिस प्रकार यथाक्रमसे काटते हैं इसी प्रकार स्वल्पमात्रभी तुम देवताओंके अति- प्रिय हो (इह) इस यजमानमें (एषाम्) इन यजमानोंके सम्बन्धी(भोजनानि) भोज्य पदार्थोंको (कृणुहि) सम्पादन करो (ये) जो (बर्हिषः) कुशासनपर बैठेहुए (नमः) हविरूप अन्नको लेकर (उक्तिम्) याज्यको कथनकर (यजन्ति) यज्ञ करते हैं १ । हे पयोग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (अश्वि

भ्याम्) अश्विनीकुमारकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । हे पयोग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (तेजसे) तेजप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें सादितकरताहूं ३ । विधि-(४-५) दूसरे पयोग्रहमें कुविदिति यह मंत्र पढकर कहैं अर्थात् चतुर्थ मंत्रपाठपूर्वक उदुम्बर पात्रमें ग्रहण और पंचममंत्रसे स्थापनकरै । मन्त्रार्थ-हे पयोग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीतहो (सरस्वत्यै) देवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ४ । हे द्वितीय पयोग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (वीर्याय) वीर्यलाभकी कामनासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें सादित करता हूं ५ । विधि-(६-७) फिर प्रथम मंत्रपाठकरके तीसरा पयोग्रह ग्रहण करके अभिमंत्रण कर छठेसे ग्रहण और सातवेंसे सादित करै । मन्त्रार्थ-हे पयोग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत होतेहो (सुत्राम्णे) सुत्रामा रक्षक (इन्द्राय) इन्द्र देवताके प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ६ । हे तृतीय पयोग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (बलाय) बलकी कामनासे (त्वा) तुमको सादित करताहूं ॥ ७ ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र ३।

नानाहिवान्देवहितꣳसदस्कृतम्मासꣳसृक्षाथाम्प
रमेव्योमन् ॥ सुरात्वमसिशुष्मिणीसोमऽएष
मामाहिꣳसीःस्वांयोनिमाविशन्ती ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नानाहीत्यस्य मन्त्रत्रयस्य आभूतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । सुरासोमौ देवते । ग्रहाभिमंत्रणे विनि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकात्मक मंत्र और परकण्डिकात्मक छः मंत्रोंमें आवृत्ति क्रमसे नौ मंत्र युक्त होंगे तिससे यथाक्रमसे मृन्मयस्थालीमें तीन सुराग्रह अभिमंत्रित और गृहीत और आसादित किये जायँगे, उसमें इस मंत्रसे अभिमंत्रणकरै [का० १९ । २ । २०] मन्त्रार्थ-हे सुरासोम ! (हि) जिसकारणसे कि (वाम्) तुम दोनोंका (देवहितम्) देवताओंके हितकारी पथ्य वा देवतोंसे स्थापित (नाना) पृथक् (सदः) स्थान (कृतम्) कियेगये हैं इस कारण (परमे) उत्कृष्ट (व्योमन्) आकाशकी समान विस्तृत हवन स्थानमें (मा) मत (संसृक्षाथाम्) संयोगकरो कारण कि आहवनीयमें दुग्ध और दक्षिणाग्निमें सुरा होमीजातीहै इसकारण अलग रहो हे सुरारस ! (त्वम्) तुम (शुष्मिणी) बलवती

१ कारण कि सुरा और सोमकी दो वेदी होती हैं ।

(सुरा) देवतोंके स्वीकारयोग्य रसवती (असि) हो (एषः) यह (सोमः) सोम है शान्त है इस कारण (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्थानमें दक्षिणाग्निमें (प्रविशन्ती) प्रवेशकरती तुम (सोमम्) सोमको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडादो ॥ ७ ॥

सरलार्थ-हे सुरा और सोम ! जिस कारण कि तम दोनोंकी भिन्न प्रकृति है इस कारण तुम्हारी वेदी (प्रस्तुतस्थान) और कुण्ड (हुतस्थान) दोनोंही पृथक् २ हैं हे सुरे ! तुम बलवती हो और सोम शान्त है इस कारण प्रार्थना है कि तुम दोनों एकत्र समावेशसे सोमको नष्ट न करना ॥ ७ ॥

विवरण-क्रम पहले आश्विन पयोग्रह फिर सरस्वतीपयोग्रह, सुराग्रह, ऐन्द्रग्रह, पयसुराग्रह इस प्रकार ग्रहण करे ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ६ ।

उपयामगृहीतोस्याश्विनन्तेजः सारस्वतंवीर्य्यमैन्द्रम्बलम् ॥ एषतेयोनिर्म्मोदायत्वानन्दायत्वामहसेत्वा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१-६) ॐ उपयामगृहीत इत्यस्य मन्त्रषट्कस्य आभूतऋषिः । निचृदार्षी पंक्तिश्छन्दः । सोमो दे० । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-हे प्रथम सुराग्रह ! (उपयामगृहीतः) तुम उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (तेजः) तेजस्वरूप तुमको (आश्विनम्) अश्विनी कुमारकी प्रीतिके निमित्त उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं १ । हे प्रथम सुराग्रह ! (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (मोदाय) आनंदकी इच्छासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । हे द्वितीय सुराग्रह ! (वीर्यम्) वीर्यस्वरूप तुमको (सारस्वतम्) सरस्वती देवताकी प्रीतिके निमित्त उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं ३ । हे द्वितीय सुराग्रह ! यह तुम्हारा घर है (आनंदाय) आनंदकी प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं ४ । हे तृतीय सुराग्रह ! (बलम्) बलप्राप्तिके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवताकी प्रसन्नताके अर्थ उपयामपात्रमें तुमको ग्रहण करताहूं ५ । हे तृतीय सुराग्रह ! यह तुम्हारा स्थान है (महसे) महत्त्वस्फूर्तिकी कामनासे (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापित करताहूं ॥ ६ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र ६ ।

तेजोसितेजोमयिधेहिवीर्य्यमसिवीर्य्यम्मयिधेहिब

लमसि बलम्मयि धेह्योजोस्योजो मयि धेहि मन्युर सि मन्युम्मयि धेहि सहोसि सहो मयि धेहि ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१-६) ॐ प्रथमषष्ठमन्त्रयोराभूतिर्ऋषिः । आसुरी जगती छन्दः । सुरासोमौ देवते । (१) आश्विनग्रहे गोधूमकवलचूर्णक्षेपणे वि० (६) ऐंद्रसुराग्रहे सिंहलोमक्षेपणे च वि० । (२-३-५) ॐ द्वितीय तृतीय पञ्चम मन्त्राणामाभूतिर्ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छं० । (२) सारस्वते पयोग्रहे उपवाकबदरचूर्णक्षेपणे वि० (३) ऐन्द्रे पयोग्रहे यवकर्कन्धूचूर्णक्षेपणे वि० । (५) सारस्वतसुराग्रहे व्याघ्रलोमक्षेपणे च वि० । (४) ॐ ओजोसीत्याभूतिर्ऋ० । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । सुरा देवता । आश्विनसुराग्रहे वृकलोमप्रक्षेपणे वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) आश्विन पयोग्रह ग्रहण करनेके उपरान्त स्थापनके पहले दो कुशतृण पात्रके ऊपर करके यह मंत्रपाठपूर्वक ग्रहण किये ग्रहमें गोधूम और कुवल (बड कुल वा स्थूल बदरीफलका चूर्ण) इसमें प्रक्षेप करे [का० १९ । २ । १६] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (तेजः) तेजवर्द्धक (असि) हो इस कारण (तेजः) तेज (मयि) हमको (धेहि) दीजिये विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठ करके सारस्वत पयोग्रहमें इन्द्रजौ और छोटे बेरोंका चूर्ण प्रक्षेप करे [का० १९ । २ । १७] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (वीर्यम्) वीर्यके बढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (वीर्यम्) वीर्यकी वृद्धि (धेहि) करो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठकरके ऐन्द्र पयोग्रहमें यव और कर्कन्धू अति बडे बदरीफलका चूर्ण प्रक्षेप करे [का० १९ । २ । १९] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! तुम (बलम्) बलके बढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (बलम्) बलकी वृद्धि (धेहि) करो ३ । विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करके आश्विन सुराग्रहमें वृकलोम प्रक्षेप करे [का० १९ । २ । २२-२३] मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (ओजः) ओजके बढानेवाले (असि) हो इस कारण (मयि) मुझमें (ओजः) ओजकी वृद्धि (धेहि) करो ४ । विधि-(५) पांचवाँ मंत्र पाठ करके सारस्वत सुराग्रहमें व्याघ्रलोम प्रक्षेप करे । मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (मन्युः) क्रोधवर्द्धक (असि) हो इसकारण (मन्युः) दुष्टोंपर क्रोधकी प्राप्ति (मयि) मुझमें (धेहि) वृद्धि करो ५ । विधि-(६) छठा मंत्र पाठकरके ऐन्द्र सुराग्रहमें सिंहके लोम प्रक्षेप करे । मंत्रार्थ-हे सुरारस ! तुम (सहः) बलवर्द्धक (असि) हो (मयि) मुझमें (सहः) सहकी वृद्धि (धेहि) दो ॥ ९ ॥

समभरन्त्सौत्रामणीं भैषज्याय तयैनमभ्यषिञ्चँस्ततो वै स देवानाᳬ श्रेष्ठोऽभवच्छ्रेष्ठः स्वानां भवति य एनयाभिषिच्यते " इति [१२ । ८ । ३] श्रुतेः ।

अर्थ—हतपुत्र त्वष्टाके अभिचार अर्थात् नमुचिके कुचरित्रमें पडकर इन्द्रने अनपहूत असंस्कृत सोमरस पान किया, इससे सम्पत्ति और यशसे रहित हुए, तब अश्विनीकुमारने सुरापान रोगकी शान्तिके अर्थ सौत्रामणी यज्ञ करके उनका प्राधान्य फिर स्थापित किया, इस कारण प्राधान्यलाभमें सौत्रामणी ओषधि और अश्विनीकुमार तथा सरस्वतीदेवता है ।

विशेष—असंस्कृत रस पानसे इन्द्रका बल वीर्य प्राधान्यता असुरोंने हरण किया तब जो मनुष्य मद्यको सुरा कहकर दिनरात पान करते हैं, उनके पतित होनेमें सन्देह क्या है, यह ब्राह्मणश्रुतिही इसका निषेध करती है । मन्त्रार्थ—(देवाः) देवताओंने (भेषजम्) इन्द्रके ओषधीरूप (यज्ञम्) सौत्रमणियज्ञको (अतन्वत) विस्तार किया (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वतीने (वाचा) त्रयीलक्षण वाणीसे इन्द्रमें (वीर्याणि) बलइन्द्रिय सामर्थ्य (दधतः) धारण की ॥ १२ ॥

कण्डिका १३—मंत्र १ ।

दी॒क्षायै॑ रू॒पᳬ शष्पा॑णि प्राय॒णीय॑स्य॒ तोक्मा॑नि ॥ क्र॒यस्य॑ रू॒पᳬ सोम॑स्य ला॒जाः सो॑मा॒ᳬशवो॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

विधि—(१) अब सौत्रामणियज्ञकी सोमसम्पत्ति कहते हैं ।

मन्त्रार्थ—(शष्पाणि) नये उत्पन्न व्रीहि (दीक्षायै) इस यज्ञकी दीक्षाके निमित्त आवश्यक होते हैं (तोक्मानि) नवीन प्ररूढयव (प्रायणीयस्य) प्रायणीय इष्टका (रूपम्) रूप जाने (लाजाः) खीलैं (क्रयस्य) मोलकिये (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (मधु) सोमखण्ड वा मधुर स्वादिष्ठ लाजा (सोमाᳬशवः) सोमके खण्ड हैं अर्थात् दीक्षाके निमित्त शष्प प्रायणीय सम्पादनके निमित्त तोक्म सोमक्रयार्थ लाजा आवश्यक है सोमअंशु बडे मधुर हैं ॥ १३ ॥

कण्डिका १४—मन्त्र १ ।

आ॒ति॒थ्य॒रू॒पं मास॑रं म॒हा॒वी॒रस्य॑ न॒ग्नहुः॑ ॥ रू॒पमु॑प॒सदा॑मे॒तत्ति॒स्रो रात्री॒ः सुरा॑सु॒ता ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(आतिथ्यरूपम्) आतिथ्यसम्पादनके निमित्त वा आतिथ्यरूप (मासरम्) व्रीहिश्यामाकलाजा मिलाहुआ चूर्ण है (नग्नहुः) सर्जत्वगादि २६ वस्तु (महावीरस्य) 'घर्म' महावीरके स्थानी है (तिस्रः) तीन (रात्रीः) रात्रिपर्यन्त (आसुता) अभिषवण किया (सुरा) सुरारस (उपसदाम्) उपसद् संज्ञक इष्टिका (रूपम्) रूप है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

सोमस्य रूपं क्रीतस्य परिस्रुत्परिषिच्यते ॥ अश्विभ्यां दुग्धं भेषजमिन्द्रायैन्द्रꣳ सरस्वत्या ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(इंद्राय) इन्द्रके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रसम्बन्धी (भेषजम्) ओषधी (सरस्वत्या) सरस्वती (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारद्वारा (दुग्धम्) दुहाहुआ दूध (परिस्रुत्) अभिषुत महौषधिरस सुराके संग तीन दिन (परिषिच्यते) सींचाजाता है वह (क्रीतस्य) क्रय किये (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूपहैं अर्थात् क्रीत सोमके सहित परिस्रुत् [सुरा] परिषेक करनेके निमित्त अश्विनीकुमारके निमित्त एक प्रकार, सरस्वती देवताके निमित्त अन्य प्रकार, और इन्द्र देवताके निमित्त दूसरे प्रकार दुग्ध आवश्यक है ॥ १५ ॥

"एकस्याः पयसापाकृतेनाश्विनैनं परिषिञ्चति सारस्वतेन द्वयोः प्रातः ऐन्द्रेणोत्तमे तिसृणाम्" इति [कात्या० १९ । १ । २३ । २५ । २७ ।] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

आसन्दी रूपꣳ राजासन्द्यै वेद्यै कुम्भी सुराधानी ॥ अन्तरऽउत्तरवेद्या रूपं कारोतरो भिषक् ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(आसन्दी) यजमानके अभिषेकके निमित्त मञ्चिका (राजासन्द्यै) सोमकी आसन्दीका (रूपम्) रूप है (सुराधानी) सुरारखनेका (कुम्भी) पात्र (वेद्यै) सोमिक वेदीका रूप है (अन्तरः) दोनो वेदीके मध्यका भाग (उत्तरवेद्याः) उत्तरवेदीका (रूपम्) रूप है (कारोतरः) सुरापावन चालिनी (भिषक्) इन्द्रकी औषधी है ॥ १६ ॥

अर्थात् सोमके निमित्त आसन्दी अवश्यक है राजाके अभिषेकार्थ एक और आसन्दी, सुरारसके निमित्त कुम्भी दोनो आसन्दीके मध्यस्थलमें उत्तरवेदी यजमानके भैषज्यकस्वरूप सुरापावन चालिनी आवश्यक है ॥ १६ ॥

कण्डिका१७-मन्त्र १।

वेद्यावेदिꣳसमाप्प्यतेबर्हिषाबर्हिरिन्द्रियम् ॥ यूपेन यूपऽआप्प्यतेप्प्रणीतोऽअग्निरग्निना ॥ १७॥

मंत्रार्थ-(वेद्या) वेदीके द्वारा (वेदिः) सोमकी वेदी (समाप्यते) भले प्रकार प्राप्त होती है (बर्हिषा) कुशासे (बर्हिः) सोमसम्बन्धी कुशा प्राप्त होती है (इन्द्रियम्) इन्द्रियद्वारा इन्द्रियलाभ होती है (यूपेन) वर्तमानयूपसे (यूपः) सोमसम्बन्धी यूप (आप्यते) प्राप्त होताहै (अग्निना) अग्निद्वारा (प्रणीतः) प्रणीत (अग्निः) अग्नि प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १।

हविर्द्धानंय्यदश्विनाग्नीध्रंय्यत्सरस्वती ॥ इन्द्रायैन्द्रꣳसदस्कृतम्पत्नीशालङ्गार्हपत्त्यः ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(यत्) जो इस यज्ञमें (अश्विना) अश्विनीकुमार देवता हैं उनके सद्भावसे (हविर्धानम्) सौमिक हविर्धान प्राप्त करते हैं अथवा अश्विनीकुमारके निमित्त हविर्धान प्रस्तुत करे (यत्) जो (सरस्वती) सरस्वती देवता है उनके सद्भावसे (आग्नीध्रम्) सौमिक आग्नीध्र प्राप्त होता है (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (ऐन्द्रम्) इन्द्रके योग्य (सदः) सभास्थान (पत्नीशालम्) पत्नीशालास्थान (कृतः) किया हुआ (गार्हपत्यः) गार्हपत्य जानना चाहिये अर्थात् सौत्रामणिमें इन्द्रके निमित्त जो हवि है वह सौमिकसभा और पत्नीशाला गार्हपत्य रूपसे ध्यान करनी चाहिये ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १।

प्रैषेभिः प्रैषानाप्नोत्याप्रीभिराप्रीर्यज्ञस्य ॥ प्रयाजेभिरनुयाजान्वषट्कारेभिराहुतीः ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रैषेभिः) प्रैषनाम यज्ञकर्मोंसे (प्रैषान्) प्रैषोंको (आप्नोति) प्राप्त करता है (आप्रीभिः) प्रयाज याज्योंसे (यज्ञस्य) यज्ञकी (आप्रीः) प्रयाजको प्राप्त करता है (प्रयाजेभिः) प्रयाजोंसे प्रयाजोंको पाता है (अनुयाजान्) अनुयाजोंसे अनुयाजोंको पाता है (वषट्कारेभिः) वषट्कारोंसे वषट्कारोंको(आहुतीः) आहुतियोंसे आहुतियोंको पाता है ॥ १९ ॥

विशेष-प्रैषेभिः-भेजनेरूप कर्म। आप्रीभिः-प्रसन्न करनेवाली क्रिया। प्रयाजैभिः-उत्तम यज्ञकर्म। अनुयाजान्-अनुकूल यज्ञपदार्थ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १।

पशुभिः पशूनाप्नोति पुरोडाशैर्हवीꣳष्या ॥ छन्दोभिः सामिधेनीर्याज्याभिर्वषट्कारान् ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(पशुभिः) पशुओंद्वारा (पशून्) पशुओंको प्राप्तहोता है (पुरोडाशैः) पुरोडाशोंसे (हवींꣳषि) हवियोंको (आप्नोति) प्राप्तहोताहै (छन्दोभिः) छन्दोंसे छन्दोंको (सामिधेनीः) सामधेनियोंद्वारा सामधेनियोंको (याज्याभिः) याज्योंसे याज्योंको (वषट्कारान्) वषट्कारोंसे वषट्कारोंको प्राप्तहोता है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १।

धानाः करम्भः सक्तवः परीवापः पयो दधि ॥ सोमस्य रूपꣳ हविष आमिक्षा वाजिनं मधु ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(धानाः) भुनेधान्य (करम्भः) उदमंथ (सक्तवः) सत्तू (परीवापः) हविषपंक्ति (पयः) दूध (दधि) दही (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (आमिक्षा) गरम दूधमें दही डालनेसे उसका घनभाग (मधु) शहत (वाजिनम्) अन्न (हविषः) हविका रूप है यह सोमके उपकरण जाने ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १।

धानानाꣳ रूपं कुवलं परीवापस्य गोधूमाः ॥ सक्तूनाꣳ रूपं बदरमुपवाकाः करम्भस्य ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-इस यज्ञमें (कुवलम्) कोमलबदरीफल (धानानाम्) पूर्वोक्तधानोंका (रूपम्) रूप है (गोधूमाः) गेहूं (परीवापस्य) हविष्पंक्तिका रूप है (बदरम्) सम्पूर्ण बदरीफल (सक्तूनाम्) सत्तुओंका (रूपम्) रूप है (उपवाकाः) यव (करम्भस्य) करम्भका रूप है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १।

पयसो रूपं यद्यवा दध्नो रूपं कर्कन्धूनि ॥ सोमस्य रूपं वाजिनꣳ सौम्यस्य रूपमामिक्षा ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ-(यत्) जो कि (यवाः) यव (पयसः दुग्धका (रूपम्) रूप है (कर्कन्धूनि) स्थूलबदरीफल (दध्नः) दहीका (रूपम्) रूप है (वाजिनम्) अन्न (सोमस्य) सोमका (रूपम्) रूप है (आमिक्षा) दधिमिश्रित उष्ण दुग्ध (सौम्यस्य) सोमपक्व चरुका (रूपम्) रूप है ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

आश्रावयेति स्तोत्रियाः प्रत्याश्रावोऽअनुरूपः ॥ यजेति धाय्यारूपम्प्रगाथा येयजामहाः ॥२४॥

मन्त्रार्थ-शस्त्रसम्पत्ति कहते हैं (आश्रावय) सुनाओ (इति) यह शब्द (स्तोत्रियाः) स्तोत्ररूपसे कहाजाता है (प्रत्याश्रावः) पीछे सुनाया जाता है यह (अनुरूपः) उत्तर तीन ऋचावाले अनुवाकका रूप है (यज इति) यजनकरो इस प्रकारका यह शब्द (धाय्यारूपम्) धाय्याका रूप है (येयजामहाः) येयजामहे यह शब्द (प्रगाथाः) प्रगाथाका रूप है [धाय्या-धारणयोग्य] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १ ।

अर्द्धऽऋचैरुक्थानाꣳरूपम्पदैराप्नोति निविदः ॥ प्रणवैः शस्त्राणाꣳरूपम्पयसा सोमऽआप्यते ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्धऋचैः) अर्धऋचाओंसे (उक्थानाम्) उक्थनाम शस्त्रोंका (रूपम्) रूप (आप्यते) प्राप्त कियाजाता है (पदैः) प्रत्येक पदोंसे (निविदः) न्यूङ्खोंको (आप्नोति) प्राप्त होता है (प्रणवैः) ओंकारोंसे (शस्त्राणाम्) शस्त्रोंके (रूपम्) रूपको और (पयसा) दुग्धसे (सोमः) सोम प्राप्त होता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र १ ।

अश्विभ्याम्प्रातःसवनमिन्द्रेणैन्द्रम्माध्यन्दिनम् ॥ वैश्वदेवꣳसरस्वत्या तृतीयमाप्तꣳसवनम् ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-सवनसम्पत्ति कहते हैं (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके द्वारा (प्रातःसवनम्) प्रातःसवन प्राप्त होता है (इन्द्रेण) इन्द्रके द्वारा (ऐन्द्रम्) इन्द्रदेवता सम्बन्धी (माध्यन्दिनम्) माध्यन्दिन सवन प्राप्तहोता है (सरस्वत्या) सरस्वती

द्वारा (वैश्वदेवम्) विश्वेदेवसम्बन्धी (तृतीयम्) तीसरा सवन (आप्तम्) प्राप्त होता है अर्थात् तीनोंकालके यह देवता आराध्य हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

वायव्यैर्वायव्यान्याप्नोतिसतेनद्रोणकलशम् ॥ कु
म्भीभ्यामम्भृणौसुतेस्थालीभिःस्थालीराप्नोति २७॥

मंत्रार्थ–(वायव्यैः) वायव्यसोमपात्रोंके द्वारा (वायव्यानि) वायव्य पात्रोंको (आप्नोति) प्राप्तहोता है (सतेन) वेतसपात्रद्वारा जिससे द्रोणकलश चलाया जाताहै। (द्रोणकलशम्) द्रोणपरिमाण कलशको (कुम्भीभ्याम्) आहवनीय अग्निके ऊपर शिक्यमें स्थित सौछिद्रवाली झारी और दक्षिणाग्नीके ऊपर स्थित द्वितीय सुराधानीपात्रद्वारा (अम्भृणौ) पूतभृत् और आधवनीयको (सुते) सोमाभिषव होनेपर प्राप्त होता है (स्थालीभिः) स्थालियोंद्वारा (स्थालीः) स्थालियोंको (आप्नोति) प्राप्तहोता है. अर्थात् इसके निमित्त कुछ स्थाली आवश्यक हैं ॥२७॥

कण्डिका २८–मन्त्र १ ।

यजुर्भिराप्यन्तेग्रहाग्रहैस्तोमाश्चविष्टुतीः॥छन्दो
भिरुक्थाशस्त्राणिसाम्नावभृथऽआप्यते ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ–(यजुर्भिः) यजुर्मंत्रोंके द्वारा (ग्रहाः) ग्रह (आप्यन्ते) प्राप्त होते हैं (ग्रहैः) ग्रहोंद्वारा (स्तोमाः) स्तोम सम्पन्न होते हैं (च) और स्तोमसे (विष्टुतीः) अनेक प्रकारकी स्तुति सम्पन्न होती हैं (छन्दोभिः) छन्दोंद्वारा (उक्थाः) उक्थ और (शस्त्राणि) कथन करनेयोग्य स्तुतियें सम्पन्न होती हैं (साम्ना) सामसे साम और अवभृथोंसे (अवभृथः) अवभृथस्नान (आप्यते) प्राप्तहोता है ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र १ ।

इडाभिर्भक्षानाप्नोतिसूक्तवाकेनाशिषः ॥ शंयु
नापत्नीसंयाजान्त्समिष्टयजुषासंस्थाम् ॥२९॥

मन्त्रार्थ–(इडाभिः) अन्नोंद्वारा (भक्षान्) भक्ष्य पदार्थोंको (आप्नोति) प्राप्त होता है अथवा इडासे इड़ा और भक्ष्योंसे भक्ष्यपदार्थोंको प्राप्तहोताहै (सूक्तवाकेन) सूक्तवाक्यद्वारा सूक्तोंको आशीर्द्वारा (आशिषः) आशिषको प्राप्तहोता है (शंयुना) शंयुनाम होमसे शंयुको प्राप्तहोता है (पत्नीसंयाजान्) पत्नीसंयाजद्वारा

पत्नीसंयाजोंको (समष्टियजुषा) समष्टि यजुसे समष्टि यजुको स्थितिसे (सᳪस्थाम्) संस्थाको प्राप्तहोता है ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १।

व्रतेन॑ दी॒क्षामा॑प्नोति दी॒क्षया॑प्नोति॒ दक्षि॑णाम् ॥ दक्षि॑णा श्र॒द्धामा॑प्नोति श्र॒द्धया॑ स॒त्यमा॑प्यते ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(व्रतेन) दुतका शेषभक्षण करना ऐसे चार रात्रिके व्रतसे (दीक्षाम्) दीक्षाको (आप्नोति) प्राप्त होता है (दीक्षया) दीक्षासे (दक्षिणाम्) दक्षिणाको (आप्नोति) प्राप्तहोता है (दक्षिणा) दक्षिणाद्वारा (श्रद्धाम्) आस्तिक्यबुद्धिरूप श्रद्धाको और (श्रद्धया) श्रद्धासे (सत्यम्) सत्यको अर्थात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'लक्षण परमात्माको (आप्यते) प्राप्तहोता है "श्रदिति सत्यनाम" [निरं० ३।१०।२] ॥ ३० ॥ इन श्रुतियोंमें क्रमसे एकके द्वारा एककी प्राप्ति बताकर परमात्मातककी प्राप्ति कथन की है ।

कण्डिका ३१-मंत्र १।

ए॒ताव॑द्रू॒पं य॒ज्ञस्य॒ यद्दे॒वैर्ब्रह्म॑णा कृ॒तम् ॥ तदे॒तत्सर्व॑माप्नोति य॒ज्ञे सौ॑त्राम॒णी सु॒ते ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जो (देवैः) देवताओं और (ब्रह्मणा) ब्रह्मा प्रजापति-द्वारा (कृतम्) कियागया है उस (यज्ञस्य) सोमयागका (एतावत्) इतनाही (रूपम्) रूप अर्थात् व्यवस्था है (सौत्रामणी) सौत्रामणी (यज्ञस्य) यज्ञमें (सुते) सुरासोमके अभिषवण होनेपर (तत्) वह (एतत्) यह सोमयाग (सर्वम्) सम्पूर्ण (आप्नोति) प्राप्त होताहै, अर्थात् सौत्रामणिमें सुरारसअभिषवणही विशेष है [२०] ॥ ३१ ॥

विशेष-इस प्रसंगमें यहभी ध्वनि निकलती है कि, जिन पुरुषोंने मद्यपान किया हो वे भ्रष्ट होजाते हैं, उनका तेज बल बुद्धि जाता रहताहै, दृष्टांतमें जैसे इंद्रका जाता रहाथा, तब उस पुरुषकी इस सौत्रामणीद्वारा चिकित्सा कीजातीहै,जिससे वह दोष दूर होकर तेजकी वृद्धि होती है, इसकी यज्ञमें कल्पना की है वास्तवमें यह चिकित्सा है कारण कि इसके पदार्थ यज्ञोंके पदार्थोंसे कल्पित किये हैं, और मनुष्योंको निकृष्ट कर्मोंसे बचनेका उपदेशहै इन बीस कण्डिकाके दयानन्दभाष्यमें ऋषि देवता लिखे हैं और यह ब्राह्मणरूपहैं इस कारण विरुद्ध प्रमाण न होनेसे उस लेखको अप्रमाण जानना । यह बीस अनुष्टुप् पूर्णहुए । त्रयीलक्षणा सरस्वती है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ । अनु० ३ ।

सुरावन्तं बर्हिषदं सुवीरं यज्ञं हिन्वन्ति महिषा नमोभिः ॥ दधानाः सोमं दिवि देवतासु मदेमेन्द्रं यजमानाः स्वर्काः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुरावन्तमित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निसरस्वतीन्द्रा देवताः । पयोग्रहहोमे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु यह मंत्र पाठकरके एकत्र तीन पयोग्रहोंको होमकरैं [का० १९ । ३ । ८] मन्त्रार्थ-(नमोभिः) नमस्कार वा अन्नोंद्वारा (दिवि) स्वर्गमें वर्तमान (देवतासु) देवताओंमें (सोमम्) सोमको (दधानाः) धारणकरतेहुए (महिषाः) महान् ऋत्विज (बर्हिषदम्) कुशासनपर स्थित देवताओंसे युक्त (सुरावन्तम्) सुरारससे सम्पन्न (सुवीरम्) शुभऋत्विजवाले (यज्ञम्) सौत्रामणी यज्ञको (हिन्वन्ति) प्राप्त वा वृद्धि कराते हैं इस यज्ञमें (स्वर्काः) शुभमंत्र वा अन्नवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यजमानाः) यजन करतेहुए हम (मदेम) हर्षको प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"सुरावान्वा एष बर्हिषद्यज्ञो यत्सौत्रामणी" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः "अर्को वै देवानामन्नमन्नं यज्ञो यज्ञेनैवैनमन्नाद्येन समर्धयति" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः । "अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति अर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना" इति यास्कः (निरु० ५ । ४) "महिषशब्द यद्यपि महन्नाममें पढा है तथापि यहां श्रुतिप्रमाणसे ऋत्विग्वाचक है" "महिषा नमोभिरित्यृत्विजो वै महिषाः" इति [१२ । ८ । १ । २] श्रुतेः ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

यस्ते रसः सम्भृत ओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्य ॥ तेन जिन्व यजमानं मदेन सरस्वतीमश्विनाविन्द्रमग्निम् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सुरा देवता । पलाशउलूखलसुराग्रहहोमे वि० ॥ ३३ ॥

विधि-प्रतिप्रस्थाता पलाश उलूखलोंद्वारा सुराग्रहोंको दक्षिणाग्निमें यजन करता है मृन्मय पात्र आहुतिको नहीं व्याप्तहोता । मन्त्रार्थ-हे सुरारस ! (ओषधीषु) ओषधियोंमें (यः) जो (ते) तुम्हारा (रसः) रस (सम्भृतः) एकत्र किया है (सुरया) सुराके सहित (सुतस्य) अभिषुत (सोमस्य) सोमका (शुष्मः) जो बल है (तेन) उस (मदेन) आनन्ददायक रससे (यजमानम्) यजमानको (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (अश्विनौ) दोनो अश्विनीकुमारोंको और (अग्निम्) अग्निको (जिन्व) तृप्तकरो ॥ ३३ ॥

प्रमाण-"अपाञ्च वा एष ओषधीनाञ्च रसो यत्सुरा इति [१२ । ८ । १ । ४] श्रुतेः । जल और ओषधियोंके सार भागका नाम सुरा है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

यमश्श्विना॒ नमु॑चेरासु॒राद्धि सर॑स्वत्यसु॑नोदि॒न्द्रि॒याय॑ ॥ इ॒मन्तꣳ शु॒क्रं मधु॑मन्त॒मिन्दु॒ꣳ सोम॒ꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यमित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वत्यो देवताः । पयोग्रहभक्षणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि-अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता और आग्नीध्र यह आश्विन पयोग्रह भक्षण करें होता और ब्रह्मा मैत्रावरुण सारस्वतपयोग्रह भक्षण करें यजमान ऐन्द्र पयोग्रह भक्षण करें, सबही दोबार करके पयोग्रह भक्षण करें उनमें एकएकबार यह मंत्र पाठकरे [का० १९ । ३ । १० । १३ ।] मन्त्रार्थ-(अश्विना) दोनो अश्विनीकुमारोंने (आसुरात्) आसुरके पुत्र (नमुचेः) नमुचिके (अधि) सकाशसे (यम्) जिस सोमको आहरण किया (सरस्वती) सरस्वतीने जिसको (इन्द्रियाय) इन्द्रके बलवीर्य वा भैषज्यके निमित्त (असुनोत्) संस्कृत वा अभिषवण किया (तम्) उस (शुक्रम्) शुद्ध (मधुमन्तम्) मधुररसयुक्त (इन्दुम्) परमैश्वर्ययुक्त (राजानम्) सरस्वतीसे संस्कृत राजा (इमम्) इस (सोमम्) सोमको (इह) इस यज्ञमें (भक्षयामि) भक्षण करताहूं ॥ ३४ ॥

सरलार्थ-अश्विनीकुमार जिसको नमुचिअसुरके निकटसे लाये और सरस्वतीने उसका संस्कार किया जिससे यह सोम इन्द्रियवृद्धिकर हुआ इस सोममिश्रित शुद्धवर्ण कान्तिमान् सुस्वादु भक्ष्यप्रधान दूधको पानकरताहूं ॥ ३४ ॥

प्रमाण-"अश्विनौ ह्येतं नमुचेरध्याहरताम्" इति [१२ । ८ । १ । ३] श्रुतेः

विशेष–एक समय नमुचि सोम लेगया तब उसके पानकरनेसे वह सोम अशुद्ध होगया देववैद्य अश्विनीकुमारने शुद्धकिया ध्वन्यर्थसे यह विदित होता है कि असंस्कृत सोमपानभी न करना चाहिये वह आसुर होता है ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र १ ।

यद॒त्र॑ रि॒प्तꣳ र॒सिनः॑ सु॒तस्य॒ यदिन्द्रो॒ऽअपि॑ब॒च्छ॒ची॑भिः॑ ॥ अ॒हन्तद॑स्य॒ मन॑सा शि॒वेन॒ सोम॒ꣳ राजा॑नमि॒ह भ॑क्षयामि ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यदत्रेत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । यजमानो देवता । ग्रहपाने वि० ॥ ३५ ॥

विधि–(१) यह मंत्र पाठकरके अध्वर्यु प्रभृतिके एक ऋत्विक् आश्विन सुराग्रह होताप्रभृति ऋत्विक् सारस्वत सुराग्रह और यजमान ऐन्द्र सुराग्रह विहारके दक्षिणामें प्राचीनावीती (अपसव्य) होकर पान करें कोई कहते हैं सूंघले किन्हीका मत है मूल्यसे भूपाल भक्षण करे [का० १९ । ३ । १४] मंत्रार्थ–(रसिनः) रसवान् (सुतस्य) अभिषुत अर्थात् भली प्रकार संस्कार किये सोमका (यत्) जो भाग (अत्र) इस सुरारसमें (रिप्तम्) लिप्त है (यत्) जिसको (शचीभिः) कर्मोंसे शुद्धकरके (इन्द्रः) इन्द्रने (अपिबत्) पानकिया (तत्) उस (राजानम्) दीप्तिमान् सुरारससे निर्गत (सोमम्) सोमको (शिवेन) शुद्ध (मनसा) मनसे (इह) इस यज्ञमें (अहम्) मैं (भक्षयामि) पान करताहूं अर्थात् यह सुसंस्कृत सोममिश्रित सुरस पदार्थका जो सार भाग इन्द्रदेवताने शचीदेवियोंके सहित पान किया भक्ष्यप्रधान इस पदार्थके उसी भागको विशुद्ध अन्तःकरणसे मैं पान करताहूं ॥ ३५ ॥

विवरण–महौषधिरसके पान वा सूंघनेका कृत्य पितरोंकी अर्चापूर्वक अपसव्य होकर करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मंत्र ७ ।

पि॒तृभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॑ पिताम॒हेभ्यः॑ स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नम॒ꣳ प्रपि॑तामहेभ्यः स्वधा॒यिभ्यः॑ स्व॒धा नमः॑ ॥ अक्ष॒न्पित॑रो॒ऽमी॑मदन्त पि॒तरो॒ऽती॑तृपन्त पि॒तरः॒ पित॑रः॒ शुन्ध॑ध्वम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पितृभ्य इत्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः याजुषी । गायत्री छं० । पितरो देवताः । आश्विनग्रहहोमे वि० । (२) ॐ पितामहेभ्य इत्यस्य हैम० ऋ० । आसुर्यनुष्टुप्छं० । पितरो दे० । सारस्वतसुराग्रह-होमे वि० । (३) ॐ प्रपितामहेभ्य इत्यस्य हैम० ऋ० । साम्न्यनु-ष्टुप्छं० । पित० दे० । ऐंद्रसुराग्रहहोमे वि० । (४) ॐ अक्षन्नित्यस्य हैम० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । पितरो दे० । सुराग्रहप्रक्षालनजलसिंचने वि० । (५-६) ॐ अमी० अतीतृपन्तेति मंत्रयोर्हैम० ऋ० । याजुष्यनुष्टुप्छं० । पितरो दे० । वि० पू० । (७) ॐ पितर इत्यस्य हैम० ऋ० । याजुषी गायत्री छन्दः । पितरो दे० । जपे विनियोगः॥३६॥

विधि-(१-२-३) प्रतिमंत्रसे सुराग्रहका भक्षण प्राण वा औरके मूल्यसे राजाको पानकराना यह तीन पक्ष कहे अब चौथा पक्ष कहते हैं अथवा प्रथम मंत्रपाठ करके आहवनीय अंगारके उत्तर भागमें आश्विन सुराग्रह होम करै, दूसरा मंत्र पाठकरके मध्यम भागमें सारस्वत सुराग्रहहोम करै तीसरे मंत्रसे दक्षिण भागमें ऐन्द्र सुराग्रह होमकरै [का० १९ । ३ । १७] मंत्रार्थ-(स्वधायिभ्यः) अन्नके प्रति गमनशील (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (स्वधा) स्वधासंज्ञक (नमः) अन्न प्राप्त हो "स्वधा वै पितॄणामन्नम्" इति श्रुतेः । अथवा पितरोंके निमित्त (स्वधा) अन्न प्राप्तहो और उनके निमित्त नमस्कार हो । अथवा स्वधा-शब्दउच्चारणपूर्वक दानमें तर्पणीयपितृगणकी तृप्तिके निमित्त यह आहुति दी जाती है १ । (स्वधायिभ्यः) स्वधाके प्रतिगमनशील (पितामहेभ्यः) पितामहाओंके निमित्त (स्वधानमः) स्वधासंज्ञक अन्न प्राप्त हो शेष अर्थ पूर्ववत् २ । (स्वधा-यिभ्यः) स्वधाके प्रति गमनशील (प्रपितामहेभ्यः) प्रपितामहाओंके निमित्त (स्वधानमः) स्वधानाम अन्न प्राप्त हो शेष अर्थ पूर्ववत् ३ । विधि- (४-५-६) अनन्तर चौथे मंत्रसे आश्विन सुराग्रहके प्रक्षालनका जल इस आहवनीय अंगारके उत्तर प्रदेशमें सिंचनकरै पांचवें मंत्रसे सारस्वत सुराग्रहका प्रक्षालन किया जल इस आहवनीय अंगारके मध्यभागमें सिंचन करै, और छठे मंत्रसे ऐन्द्र सुरा-ग्रहका प्रक्षालित जल इस आहवनीय अंगारके दक्षिण प्रदेशमें सिंचन करै [का० १९। ३।१८] मंत्रार्थ-(पितरः) पितृगणोंका आहार (अक्षन्) सम्पन्न हुआ अर्थात् पितरोंने भक्षण किया४।(पितरः)पितर(अमीमदन्त)आनन्दित तृप्त हुए ५। (पितरः) पितर (अतीतृपन्त) अत्यन्त तृप्तहुए वा हमसे तृप्त किये गये अथवा हमको अभीष्ट

देते हैं। विधि-(७) सप्तम मंत्रका जपकरै [का० १९ । ३ । १९] मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! आचमनादिद्वारा (शुन्धध्वम्) शुद्ध हो ॥ ३६ ॥

प्रमाण-"प्रपितामहलोके स्वधायां दधाति" इति [१२।८।१।८] श्रुतेः इससे पितृलोक भिन्न है।

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा। पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनन्त्वित्यस्य हैमवर्चिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । पितरो देवताः । जपे वि० ॥ ३७ ॥

विधि-(१) दक्षिणाग्निके दोनों पार्श्वमें स्तम्भ होते हैं उन दोनों स्तम्भोंके ऊपर दक्षिणाग्रवंश रखकर उसमें लटकाईहुई शिक्यपर सौ छिद्रवाली कुम्भी रखकर इस छिद्रमें गौ और अश्व लोम बटकर छिद्रोंमें यह वत्ती लगाकर उस कुम्भमें शेष सुरारस डालदे। इसी प्रकार आहवनीय अग्निके दोनों पार्श्वमें स्तम्भ गाड उनके ऊपर दक्षिणाग्रवंश रखकर उसमें शिक्या बांधकर दूसरी शतछिद्र कुम्भी रक्खै। इन छिद्रोंमें अजालोम और अविलोमकी वत्ती बना प्रवेश करै, और उस कुम्भमें अवशिष्ट दुग्ध डालदे, इस कारण दोनों अग्नियोंमें दोनो घडोंसे जितने समयमें शनैः शनैः सुरारस और दूध टपके उतने समयमें यह नौ मंत्र उच्चारणकर पावन होम सम्पन्न करै, वा शतमानपरिमाण सुवर्ण धरै [का० १९ । ३ । २०] [शिक्या-छींका]

प्रमाण-"अथ पराङ् पर्यावर्तते तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः तिर इवैतद्भवति स वा आतमितोरासीत्येत्याहुरेतावान्ह्यसुरिति स वै मुहूर्तमेवासित्वा" [२ । ४ । २ । २१] "अथोदपात्रमादायावनेजयति असाववनेनिक्ष्वेत्येव यजमानस्य पितरमसाववनेनिक्ष्वेति पितामहमसाववनेनिक्ष्वेति प्रपितामहंतद्यथाजक्षुषेऽभिषिञ्चेदेवं तत्" [श० २ । ४ । २ । २३]

आशय-यह कि पितर मनुष्योंसे अन्तर्हित रहते हैं यह प्राणमात्र मूर्तिवाले मुहूर्त स्थित होकर गमन करते हैं इनका अवनेजन होताहै यजमानके पितापितामह प्रपितामहके निमित्त अवनेजन किया जाता है जल छोडा जाता है श० शाकमेधमें विनियोग है प्रमाणके निमित्त यहां लिखा है।

मन्त्रार्थ-(सोम्यासः) सौम्यमूर्ति वा सोमके सम्पादक (पितरः) पितर (शतायुषा) पूर्ण आयुवाले (पवित्रेण) गो अश्व वालनिर्मित पवित्रसे (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं, इससे पवित्र होनेसे शतायु होता है (पितामहाः) पितामह (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करै (प्रपितामहाः) प्रपितामह (पुनन्तु) पवित्र करैं (शतायुषा) शतायुवाले (पवित्रेण) पवित्रसे (पितामहाः) पिताके पिता (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं (प्रपितामहाः) पितामहके पिता मुझको (पुनन्तु) अतिपवित्र आनन्दयुक्त सौ वर्षकी आयुसे पवित्र करैं, इस प्रकार पित्रादिसे पवित्र होकर मैं (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयुको (व्यश्नवै) प्राप्त होऊं ॥ ३७ ॥

विशेषार्थ-सौम्यमूर्ति पितृगण पितामहगण और प्रपितामहगण इस कुम्भीके छिद्रोंसे पवित्रद्वारा क्षरित सोममिश्रित पयादि पान करैं इससे हम अपनेको पवित्र ज्ञान करैंगे और इस शतरंध्रके पवित्रसे हम शतायु हों ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मन्त्र १.

अग्न॒ऽआयू॑ᳩषि पवस॒ऽआ सु॒वोर्ज॒मिषं॑ च नः ॥
आ॒रे बा॑धस्व दु॒च्छुना॑म् ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने! तुम स्वयंही (आयूंषि) आयु प्राप्त करानेवाले कर्मोको (पवसे) करते हो इस कारण (नः) हमको (इषम्) व्रीहिआदि धान्य (ऊर्जम्) दधिआदि रस (आसुव) दीजिये (आरे) दूरस्थित (दुच्छुनाम्) दुष्ट कुत्तोंकी समान दुर्जनोंको (बाधस्व) बाधादो अर्थात् हमारी आयुकी रक्षा करो और दुर्जनोंके आक्रमणसे बचाओ ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १ ।

पु॒नन्तु॑ मा देवज॒नाः पु॒नन्तु॒ मन॑सा॒ धिय॑: ॥ पु॒नन्तु॒
विश्वा॑ भू॒तानि॒ जात॑वेदः पुनी॒हि मा॑ ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुनन्तुमा देवजना इत्यस्य वैखानस ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । देवजनधीविश्वभूतजातवेदसो देवताः । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(देवजनाः) देवानुगामी जन (मा) मुझको (पुनन्तु) पवित्रकरैं

(मनसा) मनके साथ (धियः) बुद्धि वा कर्म मुझको (पुनन्तु) पवित्र करैं (विश्वा) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (पुनन्तु) मुझको पवित्र करैं (जातवेदः) हे अग्ने ! तुम भी (मा) मुझको (पुनीहि) पवित्र करो अर्थात् रन्ध्रक्षरित यह आहुति ग्रहण करते देवजन हमको पवित्र करैं. मन और उसके अनुगत बुद्धीन्द्रिय हमको पवित्र करैं सम्पूर्ण प्राणियोंके निकट हम अपनी पवित्रताकी प्रार्थना करते हैं हे जातवेदः ! तुमभी हमको पवित्र करो [ऋ० ७ । २ । १८] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १ ।

पवित्रेणपुनीहिमा शुक्रेणदेवदीद्यत् ॥ अग्नेक्रत्वाक्रतूँ१ऽरनु ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पवित्रेणेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–(देव) हे देव (अग्ने) हे अग्ने ! (दीद्यत्) दीप्यमान तुम (शुक्रेण) शुद्ध (पवित्रेण) पवित्रसे अर्थात् शुक्रज्योतिद्वारा (मा) मुझको (पुनीहि) पवित्र कीजिये और हमारे (क्रतून्) यज्ञको (अनु) देखकर अपने ज्वलनादि कर्मद्वारा (क्रत्वा) पवित्र करो ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १ ।

यत्तेपवित्रमर्चिष्यग्नेविततमन्तरा ॥ ब्रह्मतेनपुनातुमा ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यत्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । ब्रह्माग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारी (अर्चिषि) ज्वालाके (अन्तरा) मध्यमें (यत्) जो (ब्रह्म) त्रयीरूप वा परब्रह्मरूप (पवित्रम्) शुद्ध (विततम्) विस्तृत है (तेन) उसके प्रभावसे (मा) मुझको (पुनातु) पवित्र करो [ऋ० ७ । २ । १७] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मन्त्र १ ।

पवमानःसोऽअद्यनः पवित्रेणविचर्षणिः ॥ यःपोतासपुनातुमा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पवमान इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमस्तथा वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो देवता (विचर्षणिः) कृत अकृतका जाननेवाला सर्वज्ञ (पवमानः) स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला है (नः) हमको (पोता) जो वायुरूपसे पावन करता है (सः) वह देवता (अद्य) आज (पवित्रेण) पवित्रके प्रभावसे (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करै ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३—मन्त्र १ ।

उभाभ्यान्देवसवितःपवित्रेणसवेनच ॥ मांपुनीहिविश्वतः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उभाभ्यामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(देव) हे देव ! (सवितः) सबके प्रेरण करनेवाले तुम (उभाभ्याम्) दोनों प्रकारसे अर्थात् अपने पवित्र स्वरूप और दूसरोंको पवित्र करनेवाले (पवित्रेण) पवित्रद्वारा वा अजाविलोमनिर्मित पवित्रद्वारा (च) और (सवेन) अनुज्ञाद्वारा (विश्वतः) सब ओरसे (माम) मुझको (पुनीहि) पवित्र करो अर्थात् तुम्हारी आज्ञासे यज्ञसिद्धि होती है यह तीन मंत्र पावन उपनिषद् कहाते हैं [ऋ० ७ । २ । १७] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४—मंत्र १ ।

वैश्वदेवीपुनतीदेव्यागाद्यस्यामिमाबह्व्यस्तन्वोवीतपृष्ठाः ॥ तयामदन्तःसधमादेषुवयꣳस्यामपतयोरयीणाम् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वैश्वदेवीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वैश्वदेवी देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ—यह दृश्यमान शतच्छिद्र कुम्भी अथवा उखा अथवा वाणी (देवी) द्योतमान (वैश्वदेवी) सम्पूर्णदेवताओंकी हितकारिणी वा सम्पूर्ण देवताओंसे (आगता) प्राप्तहुई (पुनती) पवित्रकरती हुई वर्तमान है (यस्याम्) जिसमें दृश्यमान (इमाः) यह (बह्व्यः) बहुतसे (तन्वः) शरीररूपधारी (वीतपृष्ठाः) सबके कामनासे युक्त हैं अर्थात् कामित शरीर सुराधाराकी देवता कामना करते हैं

(तया) इस कुम्भी वाणी, वा उखाके प्रसादसे (सधमादेषु) यज्ञ स्थानोंमें (मदन्तः) आनंदित हुए (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों ॥ ४४ ॥

सरलार्थ—यह दीखतीहुई सौछिद्रवाली कुम्भी उखा वा वाणी देवी सब देवगणोंकी प्रिय और हमारी पवित्रकारिणी है इसकी सभी कामनाकरते हैं हमभी इसीके प्रसादसे अपने यज्ञमें कृतकृत्यता लाभके आमोदसे आनंदित और सर्व फलके अधिपति होसकैं ॥ ४४ ॥

विशेष—यह मन्त्र अज्ञाता प्रवह्लिका है किसी देवताको लक्ष्यकरके व्याख्या कर लैनी इस कारण तीन देवताओंका कथन कर व्याख्या कीहै ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५—मन्त्र १ ।

येसमानाःसमनसःपितरोयमराज्ये ॥ तेषांल्लोकः स्वधानमोयज्ञोदेवेषुकल्पताम् ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ ये समाना इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । पितरो देवताः । दक्षिणाग्नावाहुतिदाने वि० ॥ ४५ ॥

विधि—यजमान अपसव्य और दक्षिणमुख होकर जुहूद्वारा एकवार घृतग्रहण कर यह मंत्र पाठकरके दक्षिणाग्निमें आहुति प्रदान करै [का० १९ । ३ । २३]

---

१ इस समय एक विवाद चलता है कि जीवित पिता आदिही पितर हैं मृतकोंके निमित्त श्राद्ध नहीं है इत्यादि उन अल्पश्रुतोंके निमित्त यहां प्रमाण संग्रह करते हैं ।

प्रमाणानि—"प्रजापतिं वै भूतान्युपासीदन् देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्योपासीदँस्तानब्रवीद्यज्ञो वोऽन्नममृतत्वं व ऊर्ग्वः सूर्यो वो ज्योतिः" इति [श० २ । ४ । २ । १] "अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः सव्यं जान्वाच्योपासीदंस्तानब्रवीन्मासिमासि वोशनं स्वधा वो मनोजवो वश्चन्द्रमा वो ज्योतिः" इति [श० २ । ४ । २ । २] "अथैनं मनुष्याः प्रावृत्ता उपस्थं कृत्वोपासीदँस्तानब्रवीत्सायं प्रातर्वोशनं प्रजा वो मृत्युर्वोग्निर्वो ज्योतिः" इति श्रुतेः [२ । ४ । २ । ३]

"मासिमास्येव पितृभ्यो ददतो यदेवेष न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे" [श० २ । ४ । २ । ७] "स वा अपराह्णे ददाति पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितॄणां तस्मादपराह्णे ददाति" [श० २ । ४ । २ । ८]

"प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति" इति [श० २ । ४ । २ । ९]

भावार्थः—प्रजापतिके पास सब प्राणी गये तब देवता यज्ञोपवीती होकर दक्षिण जांघ झुकाकर बैठे प्रजापतिने उनसे कहा यज्ञ तुम्हारा अन्न अमृतत्व तेज और सूर्य ज्योति होगी. [२ । ४ । २ । १] तब पितर अपसव्य होकर बांईजांघ झुकाकर बैठे उनसे प्रजापतिने कहा महीने महीनेमें स्वधा तुम्हारा अन्न मनकी समान वेग और चन्द्रमा ज्योति होगी २ तब मनुष्य उपस्थ करके बैठे प्रजापतिने उनसे

मन्त्रार्थ-(ये) जो (समानाः) जातिरूपादिसे तुल्य समान मर्यादावाले (समनसः) एकान्तःकरण वा तुल्यमनवाले हमारे (पितरः) पितर (यमराज्ये) यमलोकमें वर्तमान हैं (तेषाम्) उन पितरोंके (लोकः) लोकमें (स्वधा) स्वधा-नाम (नमः) अन्न दृष्टिगोचर हो अथवा स्वधा अन्न और नमस्कार प्राप्तहो(यज्ञः) यज्ञ तौ (देवेषु) देवताओंके तृप्तकरनेमें (कल्पताम्) समर्थ हो समानका अर्थ सपिण्डकाभी है ॥ ४५ ॥

प्रमाण-"पितॄनेव यमे परिददात्यथो पितृलोकमेव जयति" इति श्रुतेः [१२ । ८ । १ । १९ । श०] पितरोंको यमके निमित्त देनेसे पितरलोक जय-करता है ॥ ४५ ॥

कण्डिका४६-मन्त्र १ ।

येसमानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः ॥ तेषाᳬ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतᳬ समाः ॥४६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये समाना इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । श्रीर्देवता । वि० पू० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) यजमान यथावत् उपवीती होकर उत्तर वेदिमें स्थित आहवनीय अग्निमें एक और आहुति दे [का० १९ । ३ । २४] मन्त्रार्थ-(ये) जो (जीवेषु) प्राणियोंके मध्यमें (समानाः) तुल्य समदर्शी (समनसः) एकान्तःकरण मनस्वी (मामकाः) मेरे सपिण्ड (जीवाः) जीव हैं, अर्थात् जो हमारे सपिण्ड पितर इस लोकमें वासकरते हैं (तेषाम्) उनकी (श्रीः) लक्ष्मी (अस्मिन्) इस (लोके) भूलोकमें (शतम्) सौ (समाः) वर्षतक (मयि) मुझमें (कल्पताम्) आश्रय करे ॥ ४६ ॥

प्रमाण-"स्वानामेव श्रियमवरुन्द्धे [श० १२ । ८ । १ । २०] ॥ ४६ ॥

कहा प्रभात और सायं तुम्हारा अन्न होगा प्रजा मृत्युग्राही और अग्नि ज्योति होगी ३ इससे महीने २ पितरोंके निमित्त दियाजाताहै कारण कि उस समय आगे और पीछे ज्योति नहीं है ७ और पितरोंके निमित्त अपराह्न (दुपहरके पीछे) दियाजाताहै कारण कि पूर्वाह्न देवताओंका, मध्याह्न मनुष्योंका और मध्याह्नके उपरान्त पितरोंके अन्न देनेका समय है इससे अपराह्नमें देतेहैं ८ अपसव्य होकर दक्षिणकी ओर होकर यह ग्रहण करतेहैं ९ इन वचनोंसे स्पष्ट प्रतीत होताहै कि देवता पितर और मनुष्य भिन्न २ हैं इनके आहारका समय भिन्न २ है फिर पितरोंको महीने २ में दियाजाताहै, यदि जीवित पितर मनुष्य समझे जांय तौ महीनेभरतक क्षुधित कैसे रहसक्तेहै और अपराह्नमें क्यों भोजनकी इच्छाकरें, बडे पुरुष तौ दुपहरके पहले भोजनकी इच्छाकरते हैं फिर "तिर इव हि पितरो मनुष्येभ्यः" [श०] पितर मनुष्योंसे अन्तर्हित रहतेहैं इससे स्पष्ट है कि पितरलोक भिन्न हैं जहांके दिव्य पितर मृतक हुए मातापिताआदिको श्राद्धादिका फल ईश्वरीय नियमसे देतेहैं ।

कण्डिका ४७-मन्त्र १.

द्वेसृतीऽअंशृणवम्पितॄणामुहन्देवानामुतमर्त्यानाम् ॥ ताभ्यामिदंविश्वमेजत्समेतियदन्तरापितरम्मातरंञ्च ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्वेसृती इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवयानपितृयानमार्गौ देवते । पयोहोमे वि० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु इस मंत्रसे पयोहोम करे [का० १९।३।२५] मन्त्रार्थ-(अहम्) मैंने श्रुतिसे (मर्त्यानाम्) मरणधर्मा प्राणियोंके (देवानाम्) देवताओंके गमनयोग्य (उत) और (पितॄणाम्) पितरोंके गमनयोग्य (द्वे) दो (सृती) मार्गको (अशृणवम्) सुनाहै "स एष देवयानो वा पितृयानो वा पन्थाः" इति श्रुतेः (यत्) जो (पितरम्) द्युलोक (च) और (मातरम्) भूलोकके (अन्तरा) मध्यमें वर्तमान है (इदम्) यह (एजत्) क्रियावान् (विश्वम्) जगत् (ताभ्याम्) उन देवयानपितृयानमार्गोंसे (समेति) प्राप्तहोताहै "असौ वै पितेयं माताभ्यामेव पितॄन् देवलोकमपि नयति" इति [१२ । ८ । १ । २१] श्रुतेः । अर्थात् मनुष्योंके कर्म और ज्ञानसे पितृ और देव यह दो मार्ग हैं जिन मार्गोंके अभ्यन्तर यह सम्पूर्ण चराचर दीप्तिमान् होरहाहै इसको हम पिता और माता कहतेहैं इन दो मार्गोंके उद्देश्यसे आहुति देतेहैं इससे माता पिताकी पितृलोकसे देवलोकमें प्रवृत्ति होतीहै [ऋ० ८ । ४ । १२] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

इदर्ठ०हविः प्रजननम्मेऽअस्तुदशवीरर्ठ०सर्वगणर्ठ० स्वस्तये ॥ आत्मसनिप्रजासनिपशुसनिलोकसन्न्यभयसनि ॥ अग्निः प्रजाम्बहुलाम्मेकरोत्वन्नम्पयोरेतोऽअस्मासुधत्त ॥ ४८ ॥ [१७]

ऋष्यादि-(१)ॐ इदमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्र्यवसानाष्टिश्छन्दः । यजमानाशीर्देवता । पयोभक्षणे वि० ॥ ४८ ॥

विधि-(१) यजमान यह मंत्रपाठ करके हुतावशिष्ट पय (दूध) भक्षण करे [का० १९ । ३ । २६] मंत्रार्थ-(इदम्) यह दुग्धरूपहवि (प्रजननम्)

प्रजाकी उत्पन्नकरनेवाली है (दशवीरम्) पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेंद्रिय तथा प्राण अपान व्यान समान उदान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनंजय इन दशप्राणोंकी वृद्धि करनेवाली है 'प्राणा वै दश वीराः प्राणानेवात्मन्धत्त" इति [१२ । ८ । १ । २२] श्रुतेः । तथा (सर्वगणम्) सम्पूर्ण अंगोंकी पुष्टिदायक "अङ्गानि वै सर्वे अङ्गान्येवात्मन्धत्त" इति [१२ । ८ । १ । २२] श्रुतेः (आत्मसनि) आत्माकी प्रसन्न करनेवाली (प्रजासनि) प्रजावृद्धिकारी (पशुसनि) पशुवृद्धिकारी "आत्मसनीत्यात्मानमेव सनोति प्रजासनीति प्रजामेव सनोति पशुसनीति पशूनेव सनोति" इत्यादि श्रुतेः [१२ । ८ । १ । २२] (लोकसनि) लोकके मध्यमें प्रतिष्ठा तथा सुखदायक है "लोकाय वै यजते तमेव जयति" इति २२ श्रुतेः । (अभयसनि) बल करनेसे अभयदायक है अथवा स्वर्ग देती है "स्वर्गो वै लोको अभयं स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः प्रतितिष्ठति" इति २२ श्रुतेः । (हविः) यह हवि (मे) मेरे (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (अस्तु) हो (अग्निः) अग्नि देवता (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजाकी (बहुलाम्) वृद्धि (करोतु) करै (अस्मासु) हमारे विषय (अन्नम्) व्रीहिआदि अन्न (पयः) दुग्ध (रेतः) वीर्य (धत्त) धारण करैं [तद एवैनमेते याजयन्ति तानेतदाहैतन्मयि सर्वं धत्त" इति २२ श्रुतेः । अर्थात् उपरोक्त गुणविशिष्टदुग्ध हम जाठराग्निमें हवन करते हैं यह हमारा कल्याण करै अग्नि देवता हमारी प्रजावृद्धि करैं हममें अन्न पय रेत स्थापन करैं आशय यह कि जाठराग्निमें दुग्ध पचकर बल आदि प्रदान करै ॥ ४८ ॥ [१७]

कण्डिका ४९-मन्त्र १. अनु० ४ ।

उदीरतामवर॒ऽ उत्परा॑सऽउन्म॑ध्य॒माः पि॒तरः॑ सो॒म्यासः॑ ॥ असुं॒ यऽई॒युर॑वृ॒काऽऋ॑त॒ज्ञास्ते नो॑ऽवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदीरतामित्यस्य शंख ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो देवताः । पितृपस्थाने वा जपे वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) यहांसे आदि लेकर छे मंत्रद्वारा सोमवान् पितरोंका उपस्थान करै सोमवान् अग्निष्वात्त और बर्हिषद् तीन प्रकारके पितर क्रमसे कहेंगे [का० १९ । ३ । २१] अध्वर्यु यजमानसे बचवावै । मंत्रार्थ-(अवरे) इस लोकमें स्थित पितर (उत्) और (परासः) परलोकमें स्थित पितर (उत्) और (मध्यमाः) मध्य लोकमें स्थित (सोम्यासः) सोमभागी वा सोमसम्पादक

पितर (उदीरताम्) क्रमसे ऊर्ध्वलोकोंको प्राप्त हों "यह तीनों लोकमें स्थित पितरोंके सम्बन्धमें है" (ये) जो पितर (असुम्) प्राणरूपको (ईयुः) प्राप्त हैं अर्थात् वातरूपको प्राप्त हैं (ते) वे (अवृकाः) शत्रुरहित होनेसे उदासीन (ऋतज्ञाः) सत्यके ज्ञाता स्वाध्यायनिष्ठ (पितरः) पितर (हवेषु) आह्वानोंमें (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करैं [ऋ० ७ । ६ । १७] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०—मंत्र ५ ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सो
म्यासः ॥ तेषां वयꣳ सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे
सौमनसे स्याम ॥ ५० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अङ्गिरस इत्यस्य शंख ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ—(नवग्वा) नवनीय स्तुतियोग्य वा नवीन गतिवाले (सोम्यासः) सोमसम्पादक (अङ्गिरसः) अंगिरावंशसम्भूत (अथर्वाणः) अथर्ववंशमें उत्पन्न (भृगवः) भृगुके वंशमें उत्पन्न हुए (नः) हमारे (पितरः) पितर अर्थात् जो इस समय पितृलोक पदको प्राप्त हुए हैं (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) यज्ञमें पूजनीय पितरोंकी (सुमतौ) सुन्दर बुद्धिमें तथा (भद्रे) कल्याणकारिणी (सौमनसे) सुन्दर मनसें (अपि) भी (वयम्) हम (स्याम) हों अर्थात् इन महोदयोंकी बुद्धि हमारे विषय कल्याणकारिणी हो और इनका मन हमारे विषय कल्याण कल्पनामें नियुक्त हो [ऋ० ७ । ६ । १५] ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१—मंत्र १ ।

ये नः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमपीथं वसि
ष्ठाः ॥ तेभिर्यमः सꣳरराणो हवीꣳष्युशन्नुश
द्भिः प्रतिकाममत्तु ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ येन इत्यस्य शंख ऋ० । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ—(ये) जो (सोम्यासः) सोमसम्पादक (वशिष्ठाः) वशिष्ठवंशी (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्व (पितरः) पितरोंने (सोमपीथम्) सोमपानको

(अनूहिरे) देवताओंको बुलाया अर्थात् वशिष्ठवंशी जिन पितरोंने देवताओंको सोमपान कराया था वे ही सोमपानके निमित्त इस समय आमंत्रित हुए हैं (उशन्) सोमकी इच्छावाले (यमः) पितृपति (तेभिः) उन (उशद्भिः) सोमकी इच्छावाले उन सब पितरोंके सहित (सᳪ᳭रराणः) प्रसन्न होते (प्रतिकामम्) इच्छानुसार (हवीᳪ᳭षि) हमारी दीहुई हवियोंको (अत्तु) यथेष्टरूपसे पान करैं [ऋ० ७ । ६ । १८] ॥ ५१ ॥

प्रमाण-"ये सोमेनेजानास्ते पितरः सोमवन्तः" इति श्रुतेः [२।५।५।७] ५१

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

त्वᳪ᳭सोमप्प्रचिकितोमनीषात्त्वᳪ᳭रजिष्ठमनुनेषिपन्थाम् ॥ तवप्प्रणीतीपितरोनऽइन्दोदेवेषरत्नम्भजन्तधीराः ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमित्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (त्वम्) तुम (प्रचिकितः) कान्तियुक्त वा चैतन्यतासंयुक्त हो (त्वम्) तुम (मनीषा) अपनी बुद्धिद्वारा (रजिष्ठम्) ऋजुतम अकुटिल (पन्थाम्) देवयान मार्गको (अनुनेषि) प्राप्त कराते हो (इन्दो) हे सोम ! (नः) हमारे (धीराः) धैर्यवान् (पितरः) पितरोंने (तव) तुम्हारे (प्रणीती) प्रणय वा आश्रयसे (देवेषु) देवताओंमें (रत्नम्) श्रेष्ठ यज्ञफलको (अभजन्त) प्राप्त किया है [ऋ० १ । ६ । १९] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

त्वयाहिनः पितरः सोमपूर्वेकर्माणिचक्रुः पवमानधीराः ॥ वन्वन्नवातः परिधीᳪ᳭रपोर्णुवीरेभिरश्वैर्म्मघवाभवानः ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वयाहीत्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-(पवमान) हे शोधक ! (सोम) सोम ! (नः) हमारे (धीराः) धीर (पितरः) पितरोंने (त्वया) तुम्हारे द्वारा (कर्माणि) यज्ञादिकर्मोंको (चक्रुः)

किया इसकारण प्रार्थना करते हैं (वन्वन्) इस कर्ममें युक्त (अवातः) वाता-दिके उपद्रवसे रहित तुम (परिधीन्) उपद्रवकारियोंको (अपोर्णुहि) दूर करो (वीरेभिः) वीर (अश्वैः) अश्वोंद्वारा (नः) हमको (मघवा) धनके देनेवाले (आभव) सब प्रकारसे हूजिये अथवा वीर पुत्रादि और अश्वादि पशु प्रदान कर हमको प्रकृत ऐश्वर्यवान् करो [ऋ० ७।४।८] ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४–मंत्र १ ।

त्वᳬसोमपितृभिः संविदानोनुद्यावापृथिवीऽआततन्थ ॥ तस्मैतऽइन्दोहविषाविधेमवयᳬस्यामपतयोरयीणाम् ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमित्यस्य शंख ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (पितृभिः) पितरोंके साथ (संविदानः) संवाद करतेहुए (त्वम्) तुमनें (द्यावापृथिवी) स्वर्ग और पृथ्वीको (अन्वाततन्थ) विस्तारित किया है (इन्दो) हे सोम ! (तस्मै) उस (ते) तुम्हारे निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान करते हैं (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) पति (स्याम) होवैं अर्थात् हे सोम ! तुम्हारा यश दोनो लोकमें व्याप्त है पितरोंके साथ तुम्हारा विशेष परिचय हो तुम्हारे प्रसादसे हम धनीहों तुम्हारे निमित्त हवि देते हैं [ऋ० । ६ । ४ । १३] ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मंत्र १ ।

बर्हिषदःपितरऽऊत्यर्वागिमावोहव्याचकृमाजुषध्वम् ॥ तऽआगतावसाशन्तमेनाथानःशंय्योररपोदधात ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ बर्हिषद इत्यस्य शंख ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । बर्हिषत्पित्रुपस्थाने वि० ॥ ५५ ॥

विधि–(१) यहाँसे लेकर तीन मंत्र पढकर बर्हिषद्पितरोंका उपस्थान करै । मन्त्रार्थ–(बर्हिषदः) कुशासनपर बैठनेवाले (पितरः) हे पितरो ! (ते) वे तुम (ऊत्या)

रक्षाके निमित्त (अर्वाक्) समीप अथवा कल्याणबुद्धिसे समीप (आगत) आइये (वः) तुम्हारे (इमा) यह (हव्या) हवि हमने (चकृम) संस्कार किये है इसको (आजुषध्वम्) तुम सेवन करो, (अथ) तदनन्तर (शन्तमेन) बडे सुखदाता (अवसा) अन्नसे तृप्त होकर (नः) हमको (शम्) सुख वा रोगका नाश (योः) भयका पृथक् करना (अरपः) पापका अभाव (दधात) स्थापन करो [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५५ ॥

प्रमाण-"ये दत्तेन पक्केन लोक जयंति ते पितरो वर्हिषदः" [श० २।५।९।७] "शंयोःशमनंच रोगाणां यावनं च भयानाम्" इति [निरु० ४ । २१] "रपो रिप्रमिति पापनाम्नी भवतः" [निरु० ४ । २१] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मन्त्र १ ।

आहम्पितॄन्त्सुविदत्राँ २ ऽअवित्सिनपातञ्चविक्रमणञ्चविष्णोः । बर्हिषदोयेस्वधयासुतस्यभजन्तपित्वस्तऽइहागमिष्ठाः ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आहमित्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(अहम्) मैं (सुविदत्रान्) कल्याणके देनेवाले (पितॄन्) पितरोंको (आ अवित्सि) अभिमुख जानताहूं (विष्णोः) व्यापनशील यज्ञके "यज्ञो वै विष्णुः" इति [१।१।३।१] श्रुतेः । (नपातम्) विक्रमरूप अपतनको अर्थात् जहां जानेसे फिर पतन नहीं होता उस देवयान मार्गको (च) और (विक्रमणम्) अनेक प्रकारके गमनागमनवाले पितृयाण मार्गको कि जहां जाकर भोगान्तमें फिर पतन होता है उसको (च) भी जानताहूं (ये) जो (वर्हिषदः) कुशासन-पर बैठनेवाले (पितरः) पितर (स्वधया) स्वधा नाम अन्नके साथ (सुतस्य) अभिषुत सोमके (पित्वः) पानको (भजन्ते) सेवन करते हैं (ते) वे (इह) इस स्थानमें (आगमिष्ठाः) आगमन करें [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५६ ॥

सरलार्थ-हमारे कल्याणकारी पितृगण जिस लोकमें इस समय अवस्थिति करते हैं वहाँसे उनके पतनकी संभावना नहीं है यह हम जान्ते हैं तथापि प्रार्थना करते हैं कि वर्हिषद् नामसे विख्यात सोमाभिषव सोमपानमें व्यग्र हैं वे उसके पानार्थ इस स्थलमें आगमन करें ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७—मन्त्र १ ।

उप॑हूताः पि॒तर॑: सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ॥ त आग॑मन्तु त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान् ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि—(१) ओ० उपहूता इत्यस्य शंख ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ—(पितरः) हे पितरो ! (इह) इस यज्ञमें (आगमन्तु) आगमन करो (प्रियेषु) प्रिय (बर्हिष्येषु) कुशाओंपर स्थित (निधिषु) निधिकी समान स्थापित हवियोंके निमित्त (उपहूताः) बुलायेहुए (सोम्यासः) जो सोमके योग्य पितर हैं (ते) वे (श्रुवन्तु) हमारे आह्वानको सुनै (ते) वे (अधिब्रुवन्तु) पिताओंको जो पुत्रोंसे कहना चाहिये इस प्रकार बोलैं (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करैं [ऋ० ७।६।१७] ॥ ५७ ॥

सरलार्थ—जो सब पितृगण विधिवत् प्रिय यज्ञीय कुशोंपर स्थिति करते हैं सोमभागके लाभसे तृप्त होते हैं, उन्हीको हम बुलाते हैं वे इस यज्ञमें आवैं हमारी प्रार्थना श्रवण करैं हमें यथोचित मानसिक उपदेश प्रदान करैं हमारी रक्षा करैं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८—मंत्र १ ।

आय॑न्तु नः पि॒तर॑: सो॒म्यासो॑ऽग्निष्वा॒त्ताः प॒थिभि॑र्देव॒यानै॑: ॥ अ॒स्मिन्य॒ज्ञे स्व॒धया॒ मद॑न्तो॒ऽधि॑ ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान् ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ आयन्त्वित्यस्य शंख ऋषिः । स्वराड् ब्राह्मी गायत्री छन्दः । पितरो दे० । अग्निष्वात्तपितृपस्थाने वि० ॥ ५८ ॥

विधि—(१) यहांसे चार मंत्र पाठ करके अग्निष्वात्त पितृगणोंका उपस्थानकरे ॥
मन्त्रार्थ—(सोम्यासः) सोमके योग्य (अग्निष्वात्ताः) अग्निद्वारा स्वादित वा अग्नि जिनके दहनको आस्वादन करता है अर्थात् श्रुति स्मृतिद्वारा विहित कर्मके अनुष्ठान करनेवाले (नः) हमारे (पितरः) पितर (देवयानैः) देवयान देवताओंके गमनयोग्य (पथिभिः) मार्गोंसे (आयन्तु) आगमन करैं (अस्मिन्)

इस (यज्ञे) यज्ञमें (स्वधया) स्वधानाम अन्नसे (मदन्तः) प्रसन्न होते (अधिब्रुवन्तु) मानसिक उपदेश दें (ते) वे (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मंत्र १ ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः ॥ अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिꣳ सर्ववीरन्दधातन ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋ० । निचृद्ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । पितरो दे० । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्निष्वात्ताः) हे अग्निष्वात्त ! (पितरः) पितृगण (इह) इस हमारे यज्ञमें (आगच्छत) आगमन करो (सुप्रणीतयः) श्रेष्ठनीतिवाले (सदःसदः) प्रत्येक सभास्थानमें (सदत) स्थित हो (बर्हिषि) कुशाओंपर (प्रयतानि) नियमसे स्थापित (हवींषि) हवियोंको (आ) सब प्रकारसे (अत्त) भक्षण करो (अथ) तदनन्तर (सर्ववीरम्) वीर पुत्रादि और (रयिम्) धनको (आ) सब ओरसे (दधातन) स्थापन कीजिये ॥ ५९ ॥

प्रमाण-"याननिरेव दहन्स्वदयति ते पितरोऽग्निष्वात्ताः" [श० २।६।१।७] जिनको अग्नि जलाती है वे अग्निष्वात्त पितर हैं । [ऋ० ७।६।१९] ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०–मंत्र १ ।

येऽअग्निष्वात्ता येऽअनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ॥ तेभ्यः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशन्तन्वङ्कल्पयाति ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येअग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो पितर (अग्निष्वात्ताः) विधिपूर्वक अग्निदाहसे और्ध्वदेहिक कर्मको प्राप्त हैं और (ये) जो पितर (अनग्निष्वात्ताः) अग्निसे दग्ध न हुए अर्थात् और्ध्वदेहिक कर्म वा श्मशानकर्मको नहीं प्राप्त हुए

और (दिवः) द्युलोकके (मध्ये) मध्यमें (स्वधया) अपने उपार्जित कर्मके भोगसे (मादयन्ते) प्रसन्न रहतेहैं (स्वराट्) स्वर्गाधिपति देवता यम (तेभ्यः) उन पितरोंके निमित्त (यथावशम्) इच्छानुसार (एतान्) इस मनुष्य सम्बन्ध-वाले (असुनीतिम्) प्राणयुक्त (तन्वम्) शरीरको (कल्पयाति) देता है अर्थात् यमकी आज्ञासे स्वकर्मानुसार वे पवनके आश्रयभूत अपना शरीर कल्पना करतेहैं और अपने पुत्रादिके आह्वानमें गमन करते हैं इससे प्रत्यक्ष है कि श्राद्धप्रकरण मृतक पितरोंको है और उनके निमित्त दिया अन्नआदि ईश्वरके नियमसे पितरोंको सूक्ष्मरूपसे प्राप्त होताहै ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

अ॒ग्नि॒ष्वा॒त्तानृ॑तु॒मतो॑ हवामहे नाराश॒ꣳसे सो॑मपी॒थं यऽआ॒शुः ॥ ते नो॒ विप्रा॑सः सु॒हवा॑ भवन्तु व॒यꣳ स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम् ॥ ६१ ॥ [१३]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निष्वात्ता इत्यस्य शंख ऋषिः । आर्षी त्रिष्टु-छन्दः । पितरो दे० । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतुमतः) ऋतुमान् (अग्निष्वात्तान्) अग्निष्वात्तनामक पितरोंको (हवामहे) बुलातेहैं (ये) जो पितर (नाराशꣳसे) चमस पात्रमें (सोमपीथम्) सोमपानको (आशुः) भोजन करते हैं (ते) वे (विप्रासः) वेदअध्ययन-सम्पन्न पितर (नः) हमारे (सुहवाः) सुखसे बुलानेयोग्य (भवन्तु) हों अर्थात् शीघ्र आवें, उनकी कृपासे (वयम्) हम (रयीणाम्) धनोंके (पतयः) स्वामी (स्याम) हों [१३] ॥ ६१ ॥

प्रमाण-"अथ यदि नाराशꣳसेषु सन्नः किंचिदापद्येत पितृभ्यो नाराशꣳसेभ्यः स्वाहेति जुहुयात्" इति [१२ । ६ । १ । ३३] श्रुतेः ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ । अनु० ५ ।

आच्या॒ जानु॑ दक्षिण॒तो नि॒षद्ये॒मं य॒ज्ञम॒भि गृ॑णीत॒ विश्वे॑ ॥ मा हि॑ꣳसिष्ट पितरः॒ केन॑ चिन्नो॒ यद्व॒ऽआगः॑ पुरु॒षता॒ करा॑म ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आच्याजान्वित्यस्य शंख ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टु-प्छन्दः । पितरो देव० । श्राद्धकाले जपे वि० ॥ ६२ ॥

विधि (१) श्राद्धमें निमंत्रित ब्राह्मणोंके भोजनकालमें यहांसे आदि लेकर दश मंत्र पाठकरैं "कात्यायन महर्षिने इस अनुवाकका विनियोग नहीं कहा है" ।

मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (विश्वे) तुम सब सोमसद बर्हिषद और अग्निष्वात्त (जानुः) वामजंघाको (आ) सब प्रकार (आच्य) झुकाकर (दक्षिणतः) दक्षिणको मुखकर (निषद्य) बैठकर (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अभिगृ-णीत) प्रशंसा करो (केनचित्) चलचित्तता होनेसे शरीरधारी हमारे किसी अपराध होनेसे (नः) हमको (मा) मत (हिंसिष्ट) हिंसा वा क्रोध करो (यत्) जिस कारणसे कि (पुरुषता) पुरुषभाव अर्थात् चलचित्त होनेसे (वः) तुम्हारा (आगः) अपराध (वयम्) हम (कराम) भूलसे करते हैं अर्थात् हमारे अपराधसे कोप न करना [ऋ० ७ । ६ । १८] ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

आसीनासोऽअरुणीनामुपस्थे रयिन्धत्त दाशुषे मर्त्याय ॥ पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत तऽइहोर्जन्दधात ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आसीनास इत्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(पितरः) हे पितरो ! (अरुणीनाम्) अरुणवर्णऊनके आसना-पर अथवा अरुणवर्ण सूर्यकी किरणोंमें आसीन सूर्यलोकके (उपस्थे) गोदमें (आसीनासः) बैठेहुए (दाशुषे) हवि देनेवाले (मर्त्याय) यजमानके निमित्त (रयिम्) धनको (धत्त) स्थापनकरो (पुत्रेभ्यः) इसके पुत्रगणोंको (तस्य) इसके (वसुनः) धनको (प्रयच्छत) दो (ते) वे तुम (इह) इस यजमानके यज्ञमें (ऊर्जम्) रस आनंदको (दधात) प्रदानकरो यजमान पितरोंके पुत्र हैं ऋ० ७ । ६ । १८] ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

यमग्ने कव्यवाहन त्वञ्चिन्मन्यसे रयिम् ॥ तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यन्देवत्रा पनया युजम् ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि–ॐ यमग्न इत्यस्य शंख ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मन्त्रार्थ–(कव्यवाहन) पितरोंका अन्न वहनकरनेवाले (अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (चित्) भी (यम्) जिस (रयिम्) हविलक्षणधनको उत्तम (मन्यसे) जानतेहो (नः) हमारे (तम्) उस (गीर्भिः) पुर अनुवाक याज्य वषट्कार लक्षणवाली वाणियोंसे (श्रवाय्यम्) सुननेके योग्य (युजम्) योग्य हविको (देवत्रा) देवताओंको (आपनय) सब ओरसे दो ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५–मंत्र १ ।

योऽअग्निः कव्यवाहनः पितॄन्यक्षदृतावृधः ॥ प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्यऽआ ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यो अग्निरित्यस्य शंख ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ–(यः) जो (कव्यवाहनः) कव्यअन्न वहन करनेवाला (अग्निः) अग्नि (ऋतावृधः) सत्य वा यज्ञके बढानेवाले (पितॄन्) पितरोंको (यक्षत्) जनकरता हुआ है (उइत्) वही अग्नि (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (च) और (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (हव्यानि) हवियोंको (आ) सब ओरसे (प्रवोचति) जतलाताहै [ऋ० ७ । ६ । २२] ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६–मन्त्र १ ।

त्वमग्नऽईडितः कव्यवाहनावाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी ॥ प्रादाः पितृभ्यः स्वधया तेऽअक्षन्नद्धि त्वं देवप्रयता हवींषि ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वमित्यस्य शंख ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ–(कव्यवाहन) हे कव्य अन्न वहन करनेवाले (अग्ने) अग्निदेवता ! (ईडितः) ऋत्विजोंसे स्तुति किये (त्वम्) तुम (हव्यानि) हवियोंको (सुरभीणि) मनोहरगंधयुक्त (कृत्वी) करके (अवाट्) वहन करते हो (स्वधया) पितृमंत्रद्वारा (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (प्रादाः) दो (ते) उन पितरोंने (अक्षन्)

हविभक्षणकी (देव) हे अग्निदेव ! (त्वम्) तुम (प्रयता) शुद्ध (हवींषि) हवियोंको (अद्धि) भक्षणकरो ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मंत्र १ ।

येचेहपितरोयेचनेहयाँश्चविद्मयाँ २ ॥ उचनप्प्रविद्म ॥ त्वंवेत्त्थयतितेजातवेदःस्वधाभिर्यज्ञथ्ठसुकृतञ्जुषस्व ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येचेहेत्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिश्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६७ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (पितरः) पितर (इह) इस लोकमें वर्तमान हैं (च) और (ये) जो पितर (इह) इस लोकमें (न) नहीं हैं अर्थात् स्वर्गमें हैं (च) और (यान्) जिन पितरोंको (विद्म) जानते हैं (च) और (यान्) जिनको स्मरण न होनेसे (न) नहीं (प्रविद्म) जान्ते (जातवेदः) हे अग्ने ! (ते) वे पितर (यति) जितने हैं (त्वम्) तुम (उ) ही (वेत्थ) जान्ते हो (स्वधाभिः) पितरोंके अन्नद्वारा (सुकृतम्) श्रेष्ठ यज्ञको (जुषस्व) सेवनकरो अर्थात् हवि ग्रहण कर इस यज्ञको सफल करो [ऋ० ७ । ६ । १९] ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मंत्र १ ।

इदम्पितृब्भ्योनमोऽअस्त्वद्ययेपूर्वासोयऽउपरासऽईयुः ॥ येपार्त्थिवेरजस्यानिषत्तायेवानूनथ्ठसुवृजनासुविक्षु ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इदमित्यस्य शंख ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । पितरो देवताः । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मन्त्रार्थ-(अद्य) आज (इदम्) यह (नमः) अन्न (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (अस्तु) प्राप्तहो (ये) जो (पूर्वासः) पूर्व स्वर्गमें जाचुके हैं (ये) जो (उ परासः) कृतकृत्य होकर (ईयुः) परब्रह्मको प्राप्त हुए हैं (ये) जो (पार्थिवे) पृथ्वीमें होनेवाली (रजः) अग्निरूप ज्योतिमें (निषत्ता) स्थित हैं वा स्वर्गमें स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो पितर (नूनम्) अवश्यही (सुवृजनासु) धर्मरूपबलयुक्त (विक्षु) प्रजाओंमें देह धारण किये वर्तमान हैं वा यजमानलक्षण प्रजामें वर्तमान हैं उन स्वर्ग ब्रह्म अग्नि यजमान इन चार स्थानोंमें स्थित पितरोंको अन्न देते हैं [ऋ० ७ । ६ । १७] ॥ ६८ ॥

अथवा-जो (पूर्वासः) यजमानसे पूर्व उत्पन्न ज्येष्ठ भ्रातृ पितामहादि (ईयुः) पितृलोकको प्राप्त हुए हैं जो (उपरासः) यजमानके जन्म होनेके उपरान्त उत्पन्न कनिष्ठ भ्रातृपुत्रादि पितृलोकको प्राप्तहुए हैं (पार्थिवे रजसि) रजोगुणकार्यमें (आनिषत्ता) हविस्वीकारको आकर बैठे हैं उनको आहुति देते हैं सायणाचार्य भाष्य ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशुषाणाः ॥ शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन् ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अधेत्यस्य शंख ऋषिः । आर्ची त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारे (परासः) उत्कृष्ट (प्रत्नासः) पुरातन (ऋतम्) यज्ञको (आशुषाणाः) प्राप्त करनेवाले (पितरः) पितरोंने (यथा) जिसप्रकार (अधा) देहयात्राके उत्तर कालमें (शुचि) निर्मल कान्ति-(दीधितिम्) रविमण्डलको अर्थात् देवयानमार्गको (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया है (उक्थशासः) यज्ञोंमें शस्त्रनामक स्तोत्रोंको पढने और (क्षामा) पृथ्वीको (भिन्दन्तः) वेदीके निमित्त चत्त्वालादिसे भेदन करते अर्थात् सब उपकरणसे यज्ञ करते हुए हम भी (अरुणीः) अरुण वर्ण ज्योति मार्गको (अपव्रन्) प्राप्त करें [ऋ० ३।४।१९] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

उशन्तस्त्वा निधीमह्युशन्तः समिधीमहि ॥ उशन्नुशत आवह पितॄन्हविषे अत्तवे ॥ ७० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उशन्त इत्यस्य शंख ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने! (उशन्तः) तुम्हारी कामना करते हम (त्वा) तुमको (निधीमहि) स्थापन करते हैं (उशन्तः) यज्ञकी कामनासे (समिधीहि) तुमको प्रज्वलित करते हैं (उशन्) कामना करते हुए तुम (उशतः) हविकी इच्छा करने-

वाले (पितॄन्) पितरोंको (हविषे) हविके (अत्तवे) भक्षण करनेको (आवह) बुलाओ [ऋ० ७।६।२२] ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मंत्र १।

अपाम्फेनेन नमुचेः शिरऽइन्द्रोदवर्त्तयः ॥ विश्वा यदजयः स्पृधः ॥ ७१ ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ अपामित्यस्य शंख ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र! (यत्) जब तुमने (विश्वाः) सम्पूर्ण (स्पृधः) संग्राम (अजयः) जीते तब (अपाम्) जलोंके (फेनेन) फेनसे (नमुचेः) नमुचि असुरका (शिरः) शिर (उद्वर्तयः) काटडाला ॥ ७१ ॥ "इन्द्रो नमुचेरासुरस्य व्युष्टायां रात्रावनुदित आदित्ये न दिवा न नक्तमिति शिर उदवासयत्" [श० १२।७।३।३] अथवा अध्यात्मपक्षे । "पाप्मा वै नमुचिः पाप्मानं वाव तद्विषन्तं भ्रातृव्यं हत्वेन्द्रियं वीर्यमस्यावृङ्क्त" [श० १२।७।३।४] पापरूप नमुचिको मारकर बलधारण किया [ऋ० ६।१।१६] ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२-मंत्र १। अनु० ६।

सोमो राजामृतꣳ सुतऽऋजीषेणाजहान्मृत्युम् ॥ ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोम इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छन्दः । सोमो देवता । पयोग्रहोपस्थाने वि० ॥ ७२ ॥

विधि-(१) यहांसे आठ मंत्र पाठ करके एक समयमेंही चार मंत्रसे पयोग्रह और चार मंत्रसे सुराग्रहका उपस्थान करे [का० १९ । २ । २४] मन्त्रार्थ-(सुतः) अभिषुत हुआ (राजा) वनस्पतियोंका राजा (सोमः) सोम (अमृतम्) अमृतरूप होता है (ऋजीषेण) नीरसस्थूल सोमलता चूर्णसे (मृत्युम्) स्थूलभावको (अजहात्) त्याग करता अर्थात् सोमका ऋजीषभागपरित्यागपूर्वक यह रसांश अभिषुत होकर अमृतरूप है (ऋतेन) इस सत्य वा यज्ञद्वारा (सत्यम्) यह सत्य जाना है (इन्द्रस्य) इन्द्रका (इदम्) यह (अन्धसः) अन्न वा सोमसम्बन्धी

(शुक्रम्) शुद्ध (इन्द्रियम्) वीर्यप्रदाता (विपानम्) पान (इन्द्रियम्) बलकारण (अमृतम्) अजरामरत्वप्रदाता (मधु) मधुर (पयः) दुग्ध है अर्थात् यह सत्य है और इस सत्यके अनुसार यह सत्य जानाजाता है, वह यह विशुद्ध रस इन्द्रके अवश्य पानयोग्य है, जिसकारण कि यह मधुर और इन्द्रियसामर्थ्यका बढानेवाला है, औरभी कहनाहै कि यह दुग्ध और अमृत इस प्रकार इन्द्रियसामर्थ्य वृद्धिकरनेवाला है ॥ ७२ ॥

विशेष–'अपां फेनेन' से आरंभकर यह आठ ऋचाका अनुवाक श्रुतिसे एकसम्बन्धवाला है तथाच "तस्य शीर्षश्छिन्ने लोहितमिश्रः सोमोऽतिष्ठत् तस्माद्बीभत्सन्ततएतदन्धसोर्विपानमपश्यन्त्सोमो राजामृतꣳ सुत इति तेनैनꣳ स्वदयित्वात्मन्नदधत" इति [१२ । ७ । ३ । ४] श्रुतेः । जिस प्रकार एककारणवाली वस्तु विवेचनावाली दीखती है और जैसे पृथक् हुई संसृष्ट (मिलने) से फिर विविच्यमान होती है इस प्रकार यह लोहितमिश्र सोम स्थूलतारूप लोहितपनको त्यागकर शुद्ध सोम होता है यह सब अनुवाकका अर्थ है ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३–मंत्र १ ।

अद्भ्यः क्षीरं व्यपिबत्क्रुङ्ङाङ्गिरसो धिया ॥ ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानꣳ शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अद्भ्य इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छन्दः । ब्रह्म दे० । वि० पू० ॥ ७३ ॥

मंत्रार्थ–(अङ्गिरसः) अंगोंका रस ऐसे प्राण पीताहै जैसे (क्रुङ्) हंस (धिया) बुद्धिरूपसे (अद्भ्यः) जलोंसे (क्षीरम्) दूधको (अपिबत्) पीताहै अर्थात् दूध और पानी मिलेमेंसे हंस जैसे दूधही पीताहै इसीप्रकार (सत्येन) इस सत्यसे यह (सत्यम्) सत्य जाना जाताहै (इन्द्रियम्) इन्द्रका पेय दुग्ध बलकारक हो असार भाग पृथक् हो अथवा अङ्गिरावंशोत्पन्न ऋषिगणने अपनी बुद्धिके प्रभावसे यह निर्णय किया कि यह हंसगण जलमिश्रित दूधसे दुग्धांशमात्र पान करनेमें समर्थ है वह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४–मन्त्र १ ।

सोममद्भ्यो व्यपिबच्छन्दसा हꣳसः शुचिषत् ॥

ऋतेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳬ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्ये॒न्द्रि॒यमि॒दम्पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥ ७४ ॥ ११०० शतं कण्डि० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोममित्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ-(शुचिषत्) निर्मल आकाशमें विचरनेवाले (हंसः) आदित्यने (अद्भ्यः) जलमिलित सोमको जलोंसे (छन्दसा) वेदद्वारा वा किरणद्वारा पृथक् करके (सोमम्) सोमको (व्यपिवत्) पान किया है (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७४ ॥

विशेष-सूर्यकी किरणोंसे जो जल खिंचता है वह आदित्यपेय सोम है ॥७४॥

कण्डिका ७५-मंत्र १ ।

अन्ना॑त्परि॒स्रुतो॒ रसं॒ ब्रह्म॑णा॒ व्य॑पिब॒त्क्ष॒त्रम्पय॒ᳬ सोम॑म्प्र॒जाप॑तिᳬ ॥ ऋ॒तेन॑ स॒त्यमि॑न्द्रि॒यं वि॒पान॑ᳬ शु॒क्रमन्ध॑स॒ऽइन्द्र॑स्येन्द्रि॒यमि॒दम्पयो॒ऽमृतं॒ मधु॑ ॥७५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्नादित्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । अतिजगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ७५ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (परिस्रुतः) परिस्रुत (अन्नात्) अन्नसे (रसम्) रसरूप (सोमम्) सोमको (पयः) दूधको (विविच्य) गायत्री लक्षणसे विचारकर (व्यपिवत्) पान किया (क्षत्रम्) क्षत्रियकोभी वश किया, अर्थात् अन्नसे परिस्रुत उत्पन्न होता है और परिस्रुत रस पानकरनेसे प्राकृतिक नियमसे वलरूपमें परिणत होता है दुग्धपानका परिणामभी इसीप्रकार है अर्थात् क्षत्रवंशी होता है सोमपानका परिणाम भी इसीप्रकार है (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७५ ॥

विशेष-अन्नका रस प्रजापतिके पान योग्य सोम है ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मंत्र १ ।

रेतो॒ मूत्रं॒ वि ज॑हाति॒ योनि॑म्प्रवि॒शदि॑न्द्रि॒यम् ॥ गर्भो॑ ज॒रायु॒णावृ॑त॒ऽउल्बं॑ जहाति॒ जन्म॑ना ॥ ऋ॒तेन॑ स॒त्य

सिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमि दम्पयोमृतम्मधु ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रेत इत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः। अति-शक्करी छं०। ब्रह्म देवताः। सुराग्रहहोमे वि० ॥ ७६ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रियम्) पुरुष इंद्रिय (योनिम्) योनिमें (प्रविशत्) प्रविष्ट होकर (रेतः) वीर्यको (विजहाति) त्याग करतीहै अन्यत्र (मूत्रम्) मूत्रको त्यागकरतीहै अर्थात् एक द्वारमेंसे कार्यवश भिन्न वस्तु निर्गत होती हैं इस वीर्यसे ही गर्भसंचार होता है (जरायुणा) जरायु जेरसे (आवृतः) ढकाहुआ (गर्भः) वह गर्भ (जन्मना) जन्म लेकर (उल्वम्) जरायुको (जहाति) छोडताहै भूमिपर आताहै (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् जानो। भिन्नस्थानोंकी एकद्वारसे प्राप्ति प्रथम उदाहरण। एकस्थानकी एकद्वारसे प्राप्ति दूसरा उदाहरण है पुरुषमें वीर्यही सोम है स्त्रीमें गर्भ सोम है ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

दृष्ट्वारूपेव्याकरोत्सत्यानृतेप्रजापतिः ॥ अश्र्रद्धामनृतेदधाच्छ्रद्धाꣳसत्येप्रजापतिः ॥ ऋतेनसत्यमिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृष्ट्वेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रादय ऋ०। अति-शक्करी छं०। ब्रह्म देवताः। वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (रूपे) मूर्तिमान् (सत्यानृते) सत् और असत्को (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) विचारपूर्वक दोनोंको पृथक् स्थापन किया (प्रजापतिः) उस परमात्माने (अनृते) अनृतमें (अश्रद्धाम्) नास्तिकतारूप अश्रद्धाको (अदधात्) स्थापन किया (सत्ये) सत्यमें (श्रद्धाम्) आस्तिक्यबुद्धिको (अदधात्) स्थापन किया (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मन्त्र १।

वेदेनरूपेव्यपिबत्सुतासुतौप्रजापतिः ॥ ऋतेन

सुत्यमिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वेदेनेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । महाबृहती छं० । ब्रह्म देवताः । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापति (सुतासुते) प्रेरित अप्रेरित धर्माधर्मके (रूपे) रूप (वेदेन) ज्ञानद्वारा अथवा त्रयीविद्यासे विचारकर (व्यपिवत्) पीताहुआ अथवा प्रजापति अग्नि क्या क्या सुत असुत दोनों प्रकारके पदार्थोंको अपना भक्ष जानकर भक्षण करते हुए (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १ ।

दृष्ट्वापरिस्रुतोरसꣳशुक्रेणशुक्रंव्यपिबत्पयःसोमम्प्रजापतिः ॥ ऋतेनसत्यमिन्द्रियंविपानꣳशुक्रमन्धसऽइन्द्रस्येन्द्रियमिदम्पयोमृतम्मधु ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृष्ट्वेत्यस्य अश्विसरस्वतीन्द्रा ऋषयः । अतिजगती छं० । ब्रह्म देवताः । वि० पू० ॥ ७९ ।

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) प्रजापतिने (परिस्रुतः) परिस्रुतका (रसम्) रस (दृष्ट्वा) देखकर (शुक्रेण) शुद्धमंत्रसे (पयः) दुग्ध और (सोमम्) सोमको (शुक्रम्) पवित्रकरके (व्यपिवत्) पानकिया अथवा प्रजापतिने (सूर्य) में परिस्रुतका रस दुग्ध और सोम देखकरही उसको अपनी किरणोंसे संयत करके पानकिया (ऋतेन सत्यम्) यह सत्य है इत्यादि पूर्ववत् ॥ ७९ ॥ [८]

विशेष-इन मंत्रोंमें सोमकी शुद्धि वर्णनकी है अर्थात् सबही कोई सोमपान करते हैं यद्यपि सोम एक मुख्य लता है तथापि प्रत्येक अन्न दुग्ध जलादिमें उसका सार भाग रहताहै, और जो जिस प्रकारसे ग्रहण करतेहैं, उनका वर्णन कियाहै यह अनुवाक गूढ आशयसे पूर्ण है और स्वच्छ रसके सेवनसे बलकी प्राप्ति होतीहै इस कारण श्रेष्ठ रसही सबको सेवन करना चाहिये यह उपदेश है । सबके गुण दोष जानकर गुण ग्रहणकरने चाहिये ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०—मं० १. अनु० ७ ।

सीसेनुतन्त्रम्मनसामनीषिणऽऊर्णासूत्रेणकुवयोवयन्ति ॥ अश्विनायज्ञꣳसवितासरस्वतीन्द्रस्यरूपंवरुणोभिषज्यन् ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सीसेनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । सुराग्रहहोमे वि० ॥ ८० ॥

विधि-(१) इसके अनन्तर अध्याय शेषपर्यन्त १६ मंत्र पढकर एक एकमंत्रसे दो दो आहुति देकर ३२ सुराग्रहोंको हवनकरै [का० १९ । ४ । १२]

मन्त्रार्थ-(अश्विना)अश्विनीकुमार (सविता) प्रेरक देवता (सरस्वती) सरस्वती वाग्देवी (वरुणः) वरुण (मनीषिणः) मेधावी बुद्धिमान् (कवयः) क्रान्तदर्शी (इन्द्रस्य) इन्द्रके (रूपम्) रूपको (भिषज्यन्) रोगरहित करतेहुए (मनसा) मनसे विचारकर (यज्ञम्) सौत्रामणि यज्ञको (वयन्ति) निष्पादन करते हैं जैसे (सीसेन) सीसाधातुसे अङ्गदविशेष और (ऊर्णासूत्रेण) ऊनके (सूत्रसे) तन्त्रम् पटको विनते हैं ॥ ८० ॥

सरलार्थ-अश्विनीकुमार सविता वरुण और सरस्वती इन्द्रकी चिकित्साके अर्थ सौत्रामणि योगरूप वडे वस्त्रका आविर्भाव करते हैं बुद्धिमान् कविगण अपनी कल्पनाशक्तिके प्रभावसे सीसा और ऊर्णसूत्रकोही उसके तन्त्रवयनमें उपकरण कल्पना करते हैं ।

विशेष-सीसेका धातुपात्रविशेष और सूत्रही तन्त्र है यह (वना) वयनके उपकरणमें प्रधान है, और इस यज्ञमें सबसे प्रथमही शष्पक्रयकरनेके निमित्त सीसा और तोक्म क्रय करनेको ऊर्णासूत्रका प्रयोजन होता है १ कण्डिका देखो० [तोक्म विरूढ जौ] ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१—मंत्र १ ।

तदस्यरूपममृतꣳशचीभिस्तिस्रोदधुर्देवताःसꣳरराणाः ॥ लोमानिशष्पैर्बहुधानतोक्मभिस्त्वगस्यमाꣳसमभवन्नलाजाः ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(तिस्रः) तीनों अश्विनीकुमार और सरस्वती (देवताः) देवता (संरराणाः) सम्यक् रमण करते हुए (अस्य) इस इन्द्रका (तत्) वह (अमृतम्) अमृत मरणधर्मरहित (रूपम्) रूप (शचीभिः) कर्मद्वारा (सन्दधुः) सन्धान करते हुए अथवा एकवाक्य होकर यज्ञका स्वरूप निर्माण करतेहुए (लोमानि) इन्द्रके रोमोंको (शष्पैः) विरूढव्रीहिआदिसे सम्पन्न किया (न) और (त्वक्) त्वचाको (तोक्मभिः) विरूढ यवोंद्वारा (बहुधा) अनेक प्रकारसे प्रगट किया (न) और (लाजाः) खीलैं (मांसम्) मांसरूप (सम्भवन्) हुई आशय यह कि शष्प विरूढ यव और खीलैं क्रमसे लोम त्वचा और शरीरके मांसकी पुष्टि करती हैं इस अध्यायसमाप्तितक नकार चकार अर्थमें हैं ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १ ।

तदश्विनाभिषजारुद्रवर्तनीसरस्वतीवयतिपेशो ऽअन्तरम् ॥ अस्थिमज्जानम्मासरैःकारोतरेणद धतोगवान्त्वचि ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदश्विनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ-(गवाम्) पृथ्वीके (त्वचि) ऊपर (दधतुः) सोमरसको स्थापन करते अथवा पशुचर्मपर सोमको स्थापन करते (रुद्रवर्तिनी) रुद्रकी समान मार्गवाले (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वती (अन्तरम्) शरीरान्तरवर्ती (पेशः) इन्द्रके रूपको (वयति) परिपूर्णकरते हैं (मासरैः) शष्पादि चूर्णचरुके निस्रावसे (अस्थि) अस्थियोंको (न) और (कारोतरेण) गलनवस्त्रसे (मज्जानम्) मज्जाको पूर्णकरते हैं ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १।

सरस्वतीमनसा पेशलंवसुनासत्याभ्यांवयतिद र्शतंवपुः ॥ रसम्परिस्रुतानरोहितन्नग्नहुर्धीरस्त सरन्नवेम ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सरस्वतीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मंत्रार्थ-(नासत्याभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके साथ (सरस्वती) सरस्वती (मनसा) मनसे विचारकरके इन्द्रके (पेशलम्) सुवर्ण और रूपा रूप(वसु) धनको (दर्शतम्) दर्शनीय (वपुः) रूपको (वयति) रचना करते हैं अर्थात् इन तीनों देवताओंने अन्तरंगकी रचना करते हुए इस विषयमें यह विवेचना की है (न) और (परिस्रुता) परिस्रुत सुरारससे (लोहितम्) लोहितको इन्द्रके शरीररंजनके निमित्त पूर्ण करते हुए इसीकारण वेदमें इन्द्र रोहित नामसे पढेजाते हैं (धीरः) बुद्धिकी प्रेरणा करनेवाला (नग्नहुः) सर्जत्वगादिके १ कं० में कहे चूर्णसे (रसम्) रसको पूर्ण करतेहुए (न) और (तसरम्) तसरका साधन (वेम) वेम होता हुआ अर्थात् परिस्रुतका लोहित रस इसका शोणित, और नग्नहु उसका वयनसाधन तसर और वेमानामक दो यन्त्र हैं " पेश इति हिरण्यरूपयोर्नाम " [निघं० १ । २ । ३ । ७] ॥ ८३ ॥

विशेष-उपरोक्त पदार्थ शरीरके अंगोंके पुष्टिकारक हैं ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४-मन्त्र १ ।

पयसा शुक्रममृतं जनित्रꣳ सुरया मूत्राज्जनयन्त रेतः ॥ अपामतिं दुर्मतिं बाधमाना ऽऊवध्यं वातꣳ सब्वं तदारात् ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पयसेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मन्त्रार्थ-तीनों देवता (पयसा) दुग्धके भागसे (शुक्रम्) निर्मल (अमृतम्) अमृतरूप (जनित्रम्) जननशील (रेतः) वीर्यको (जनयन्त) उत्पन्न करतेहुए (आरात्) समीपमें स्थित होकर (अमतिम्) अज्ञान और (दुर्मतिम्) दुर्मतिको (बाधमानाः) बाधा देतेहुए (तत्)उस(ऊवध्यम्) आमाशयगत अन्नको (वातम्) नाडीमें प्राप्त अन्न (सब्वम्) पक्वाशयगत अन्नको (सुरया) सुरा रससे कल्पितकर (अपमूत्रात्) मूत्रसे मूत्र कल्पित करते हुए ॥ ८४ ॥

सरलार्थ-दूधके भागद्वारा आयुः प्रजननशक्ति और शुक्र कल्पित होता है अमति और दुर्मति दूर करनेवाले उस इस पयोभागके द्वारा और सोमरसके द्वारा उसके 'ऊवध्य' आमाशयगत अन्न 'वात' नाडीगत अन्न 'सब्वम्' पक्वाशयगत अन्न कल्पित हुए अन्नसे क्या क्या होता है उसका शरीरमें कैसा २ भाग होताहै उसका इस मंत्रमें वर्णन है ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५-मंत्र १ ।

इन्द्रः॑ सुत्रामा॒ हृद॑येन स॒त्यम्पु॑रो॒डाशे॑न सवि॒ता ज॑जान ॥ यकृ॑त्क्लो॒मान॒ं वरु॑णो भिष॒ज्यन्म॑त॒स्ने वा॑य॒व्यै᳕र्न मि॑नाति पि॒त्तम् ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ-(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षा करनेवाला (इन्द्रः) पुरोडाशका अधिष्ठातृदेवता (हृदयेन) इन्द्रके हृदयसे हृदयको प्रगट करता है (सविता) सविता देवताने (पुरोडाशेन) पुरोडाशसे इन्द्रका (सत्यम्) सत्य (जजान) प्रगट किया (वरुणः) वरुणने (भिष्यज्यन्) इन्द्रकी चिकित्सा करके (यकृत्) हृदयके दाहिनी ओर स्थित मांसपिंड 'तिल्ली' (क्लोमानम्) गलेकी नाडीको प्रगट किया (वायव्यैः) सौमिक ऊर्ध्वपात्रोंसे (मतस्ने) हृदयकी उभय पार्श्ववर्ती अस्थि (न) और (पित्तम्) पित्तको (मिनाति) कल्पित किया है [पुरोडाशसे यह स्थान पुष्ट होते हैं] ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६-मन्त्र १ ।

आ॒न्त्राणि॑ स्था॒लीर्मधु॒ पिन्व॑माना गु॒दाः पात्रा॑णि सु॒दुघा॒ न धे॒नुः ॥ श्ये॒नस्य॒ पत्र॒न्न प्ली॒हा शची॑भिरास॒न्दी नाभि॑रु॒दरं॒ न मा॒ता ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन्त्राणीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ८६ ॥

मंत्रार्थ-(मधु पिन्वानाः) मधुसिक्त (स्थालीः) सम्पूर्ण स्थाली (आन्त्राणि) आन्त्रस्थानापन्न वा अंत्रसंपादक हुईं (सुदुघा) अच्छी प्रकार दूध देनेवाली (धेनुः) गौ आदित्यइष्टि (न) और (पात्राणि) पात्र (गुदाः) गुदस्थानापन्न हुए (न) और (श्येनस्य) श्येनका (पत्रम्) पंख (प्लीहा) हृदयका वामभाग मांसखण्डसम्पादक हुआ (न) और (माता) मातास्थानीय (आसन्दी) आसन्दी 'चौकी' (शचीभिः) कर्मोंद्वारा (नाभिः) नाभिस्थान और (उदरम्) उदर रूप हुई आसन्दीमेंही अभिषेक होता है ॥ ८६ ॥ अलंकारः ।

कण्डिका ८७–मंत्र १ ।

**कुम्भोवनिष्ठुर्ज्जनिताशचीभिर्य्यस्मिन्नग्ग्रेयो
न्याङ्गर्ब्भोऽअन्तः ॥ प्लाशिर्व्यक्तःशतधारऽउ
त्सोदुहेनकुम्भीस्वधाम्पितृभ्यः ॥ ८७ ॥**

ऋष्यादि–(१) ॐ कुम्भ इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ–(जनिता) रससाधन (कुम्भः) घडा (शचीभिः) कर्म करके (वनिष्ठुः) स्थूलान्त्रको (जनिता) उत्पन्न करता है अर्थात् सम्पादन करता है (यस्मिन्) जिस (योन्याम्) कुम्भरूपयोनिके (अन्तः) भीतर (अग्रे) प्रथम (गर्भः) सोमरसरूप गर्भ स्थित है (शतधारः) कूपतुल्य (उत्सः) घट (व्यक्तः) स्पष्ट (प्लाशिः) जननेन्द्रिय हुआ (न) और (कुम्भी) सुराधानीपात्रने (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (स्वधाम्) स्वधा अन्नको (दुहे) प्रगट किया ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८–मंत्र १ ।

**मुखꣳसदस्यशिरऽइत्सतेनजिह्वापवित्रमश्विना
सन्त्सरस्वती ॥ चप्प्यन्नपायुर्ब्भिषगस्यवालोव
स्तिर्न्नशेपोहरसातरस्वी ॥ ८८ ॥**

ऋष्यादि–(१) ॐ मुखमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ–(सत्) सतनामपात्र (अस्य) इस इन्द्रका (मुखम्) मुख हुआ (सतेन) उसी पात्रसे (इत्) ही (शिरः) शिरकी चिकित्सा हुई (पवित्रम्) पवित्र (जिह्वा) जिह्वासंपादक हुआ (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती (आसन्) आस्य मुखमें स्थित हुए (न) और (चप्यम्) चप्य (पायुः) पायु इन्द्रिय हुई (वालः) सुरारसगलनका वस्त्र (अस्य) इसका (भिषग्) चिकित्सक हुआ (वस्तिः) गुदा (न) और (हरसा) वीर्यसे (तरस्वी) वेगवान् (शेपः) पुंजननेन्द्रिय हुई अर्थात् वालसे तीनों सम्पन्न हुए ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मन्त्र १ ।

अश्विभ्यां चक्षुरमृतं ग्रहाभ्यां छागेन तेजो हविषा शृतेन ॥ पक्ष्माणि गोधूमैः कुवलैरुतानि पेशो न शुक्रमसितं वसाते ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विभ्यामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पृ० ॥ ८९ ॥

मंत्रार्थ-(अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार देवतावाले (ग्रहाभ्याम्) ग्रहोंद्वारा इन्द्रका (अमृतम्) अविनाशी (चक्षुः) नेत्र कल्पित हुआ अथवा चक्षु अविनाशी किया गया (छागेन) अजाआदिके दुग्धके (शृतेन) पक्क (हविषा) हविद्वारा (तेजः) चक्षुसम्बन्धी तेज कल्पितहुआ (गोधूमैः) गोधूमोंसे (पक्ष्माणि) नेत्रोंके नीचेके लोम (कुवलैः) बेरोंसे (उतानि) चक्षुनिविष्ट ऊपरके लोम कल्पित हुए जो (शुक्रम्) शुक्रश्वेत (न) और (असितम्) कृष्ण (पेशः) रूप अर्थात् शुक्लकृष्ण नेत्रगत रूपको (वसाते) आच्छादन करते हैं अर्थात् इसके द्वाराही नेत्रगत शुक्लकृष्णरूप आच्छादित हैं जिन वस्तुओंसे शरीरका जो जो भाग पुष्ट किया इन मंत्रोंमें वह वह वस्तु कही हैं ॥ ८९ ॥

कण्डिका ९०-मन्त्र १ ।

अविर्न मेषो नसि वीर्याय प्राणस्य पन्था ऽ अमृतो ग्रहाभ्याम् ॥ सरस्वत्युपवाकैर्व्यानं नस्यानि बर्हिर्बदरैर्जजान ॥ ९० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अविर्नेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पृ० ॥ ९० ॥

मन्त्रार्थ-(अविः) भेड (न) और (मेषः) सरस्वतीसंबंधी मेढा (नसि) नासिकामें (वीर्याय) बलका कारण हुए (ग्रहाभ्याम्) सारस्वत ग्रहोंद्वारा (प्राणस्य) प्राणवायुका (पन्थाः) मार्ग (अमृतः) अविनश्वर किया (सरस्वती) सरस्वती देवी (उपवाकैः) यवांकुरोंसे (व्यानम्) व्यान वायुको (जजान) प्रगट करती हुई (बदरैः) बेरोंद्वारा (बर्हिः) कुशा (नस्यानि) नासिकाके लोम हुईं अर्थात् इनकी उपयोगी क्रियाओंसे बल प्रगट किया गया जिससे इन्द्र सतेज हुए ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१-मन्त्र १ ।

इन्द्रस्य रूपमृषभो बलाय कर्णाभ्याᳫं श्रोत्रममृतं ग्रहाभ्याम् ॥ यवा न बर्हिर्भ्रुवि केसराणि कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखात् ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मंत्रार्थ-(बलाय) सामर्थ्यके निमित्त (इन्द्रस्य) इन्द्रका (रूपम्) रूप (ऋषभः) श्रेष्ठकिया अथवा ऋषभने बलके निमित्त इन्द्रका रूप किया (कर्णाभ्याम्) श्रोत्रसम्बन्धी (ग्रहाभ्याम्) ग्रहोंद्वारा (श्रोत्रम्) भूतभविष्यवर्तमान शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्रइन्द्रिय सम्पादित हुई (यवाः) जौ (न) और (बर्हिः) कुशा (भ्रुवि) भौंके (केसराणि) बालोंके सम्पादक हुए (मुखात्) मुखसे (कर्कन्धु) बेरकी तुल्य (सारघम्) मधुमक्षिकासम्बन्धी (मधु) मधुकी तुल्य लार श्लेष्मादि (जज्ञे) प्रगट हुई ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२-मन्त्र १ ।

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम ॥ केशा न शीर्षन्यशसे श्रियै शिखा सिᳫंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि ॥ ९२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आत्मन्नित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतींद्रा दे० । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मंत्रार्थ-(आत्मन्) अपने शरीरमें (उपस्थे) गुह्यस्थान (न) और अधोभागके (लोम) लोम (वृकस्य) वृकलोमसे कल्पित हुएहैं (न) और (मुखे) मुखमें जो (श्मश्रूणि) डाढी मूछोंके बाल हैं वे (व्याघ्रलोम) व्याघ्रके लोमसे कल्पित हुए (न) और (शीर्षन्) शिरमें (यशसे) यशके निमित्त (केशाः) बाल हैं (श्रियै) शोभाके वा लक्ष्मीके निमित्त जो (शिखा) शिखा है (त्विषिः) कान्ति है जो (इन्द्रियाणि) इन्द्रिय हैं वे सब (सिंहस्य) सिंहके (लोम) रोम हैं ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३-मंत्र १ ।

अङ्गान्यात्त्मन्भिषजा तद॒श्विनात्त्मान॒मङ्गैः समधात्त्सरस्वती ॥ इन्द्रस्य रूपᳬ शतमानमायुश्चन्द्रेण ज्योतिर॒मृतं दधाना ॥ ९३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अङ्गानीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ९३ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रस्य) इन्द्रके (रूपम्) रूपको और (शतमानम्) सैकडों पुरुषोंसे पूजनीय वा सौवर्ण वा पूर्ण (आयुः) आयुको (चन्द्रेण) आह्लादक वा चन्द्रसम्बन्धी (ज्योतिः) ज्योतिद्वारा (अमृतम्) अविनश्वर (दधानाः) सम्पादन करते हुए (भिषजा) चिकित्सक (अश्विना) अश्विनीकुमार (आत्मन्) आत्मामें (अङ्गानि) अवयवोंको संयुक्त करते हुए (सरस्वती) और सरस्वतीने (तत्) उस (आत्मानम्) आत्माको (अङ्गैः) अवयवोंद्वारा (समधात्) संधान किया ॥ ९३ ॥

सरलार्थ-भिषग्वर अश्विनीकुमार और सरस्वतीने उक्तविधि अंगसमूहके द्वारा इस यज्ञ शरीरका सम्पादन किया इसके प्रभावसे इन्द्रका सुखजीवन ज्योति और अमृतत्वलाभ होता है ॥ ९३ ॥

विशेष-इस अध्यायके प्रारंभमें ऐतिहासिक क्रम वर्णन किया गया कि इन्द्रकी चिकित्साकोही अश्वि सरस्वती देवताओंने यह यज्ञरूप ओषधी प्रगट कीहै और अन्तमें भी वही वर्णनीय है इस प्रकरणमें इन्द्रशब्दसे यजमानकाही लक्ष्यार्थ विशेष प्रतीत होताहै सुतरां राज्यभ्रष्ट राजा वा दूसरे प्रायश्चित्तयोग्योंकी चिकित्सा का वर्णन है इन सामग्रियोंसे उन श्रीभ्रष्टादिका तेज पूर्ववत् वर्द्धित होताहै ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४-मन्त्र १ ।

सरस्वती योन्यां गर्भमन्तरश्विभ्यां पत्नी सुकृतं बिभर्ति ॥ अपाᳬ रसेन वरुणो न साम्नेन्द्रᳬ श्रियै जनयन्नप्सु राजा ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सरस्वतीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं० । अश्विसरस्वतींद्रा दे० । वि० पू० ॥ ९४ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वती देवी (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी (पत्नी) पत्नीत्वस्वीकारपूर्वक (गर्भम्) इन्द्ररूपगर्भको (सुकृतम्) सम्यक् प्रकारसे (योन्याम्) योनिके (अन्तः) मध्यमें (बिभर्ति) धारण करती है (न) और (अप्सु) जलोंका अधिष्ठातृदेवता (राजा) राजा (वरुणः) वरुण (अपाम्) जलोंके सारभूत (रसेन) रसद्वारा (साम्ना) और सामप्रभावसे (श्रियै) जगत्की शोभास्वरूप वा ऐश्वर्यके निमित्त (इन्द्रम्) इन्द्रको (जनयन्) जननकी समान पोषण करताहै, अथवा पत्नी सरस्वती इसको धारण करती है, अश्विनीकुमार द्वारा वरुण इस इन्द्रका पोषण करते हैं ॥ ९४ ॥

विशेष-इस स्थलमें इन्द्र पदसे ऐश्वर्यवान् यज्ञका वर्णन है वाणीही सरस्वतीहै जिस वेदवाणीके अन्तर यह यज्ञ स्थापितहोता है द्यु और भूमि इसको स्थापन करते हैं अथवा अहोरात्र ही स्थापक हैं यह रूपक, है ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५-मंत्र १ ।

तेज॑÷ पशूनाᳬंहुविरि॑न्द्रि॒याव॑त्परि॒स्रुता॒पय॑सा सार॒घम्मधु॑ ॥ अ॒श्विभ्या॑न्दु॒ग्धम्भि॒षजा॒सर॑स्व त्या॒सुता॒सुता॒भ्याम॒मृत॒ᳬ सोम॒ऽइन्दु॑÷ ॥९५॥ [१६]

इति श्रीशुक्लयजुस्संहितापाठ एकोनविंशतितमोऽध्यायः॥१९॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ..ज इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मंत्रार्थ-(भिषजा) चिकित्साकरनेवाले (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार और (सरस्वत्या) सरस्वतीने (इन्द्रियावत्) वीर्यवान् (पशूनाम्) पशुसम्बन्धी दुग्ध घृत और (सारघम्) मधुमक्षिकासम्बन्धी (मधु) मधुरूप (हविः) हवि लेकर (परिस्रुता) परिस्रुतकिये (पयसा) दूधसे इन्द्रके निमित्त (तेजः) तेज (दुग्धम्) परिस्रुत किया अर्थात् निकाला (सुतासुताभ्याम्) परिस्रुत दुग्धके सकाशसे (अमृतः) अमृतरूप (इन्दुः) ऐश्वर्यदायक (सोमः) सोम दुहा इस प्रकार अश्विसरस्वती आदिने इन्द्रके निमित्त अनेक द्रव्योंसे रस लेकर उपकार किया ॥ ९५ ॥

सरलार्थ-यज्ञीयपशुसम्बन्धी घृत दुग्धरूप तेजदायक हवि, शहत और इन्द्रिय वृद्धिकारी परिस्रुत और ऐश्वर्यका चिह्न सोमरूप अमृत यह कई एक वस्तु इस

यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति है, अश्विनीकुमार और सरस्वती देवीद्वारा यह अभिषुत और अनभिषुत उपकरणद्वारा आविष्कृत अर्थात् विस्तृत होता है ॥ ९९ ॥

विशेष-इन सोलह मंत्रोंमें वैद्यकविषयक भी उपकरण प्राप्त है जिस जिस वस्तुसे इन्द्रकी चिकित्सा कीगई है वह सब शरीरके अमुक २ अवयवके दृढकरने वाले हैं कुछ प्राकृतिक नियम हैं इसको विचारनेसे बहुत कुछ आशय विदित होता है शरीर शुद्धिका तो पूरा उपाय है, दयानंदसरस्वतीने इस अध्यायका सम्पूर्णही विरुद्धार्थ किया है वह प्राचीन व्याख्यानुसार न होनेसे आदरयोग्य नहीं है ॥ ९९ ॥ [१६] ॥

इति श्रीसकलगुणसम्पन्नमर्यादापालकश्रीयुतमिश्रसुखानंदसूनुकुलपतिपण्डित ज्वालाप्रसादमिश्रकृते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये ऊनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

अथ विंशोऽध्यायः २०.

क्षत्रस्ययोनिस्त्रयोदशयद्देवादशाभ्यादधास्षष्टौयोभूतानांचतस्रः समिद्धइंद्रएकादशायात्त्वष्टौसमिद्धोअग्निर्द्वादशाश्विनाहविस्त्रयोदशाश्विनातेजसैकादशनवनवतिः ॥

सौत्रामणिअभिषेक ।

कण्डिका १-मंत्र २. अनु० १ ।

क्षुत्रस्युयोनिरसिक्षुत्रस्युनाभिरसि ॥ मात्वाहिᳪसीन्मामाहिᳪसीः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्षत्रस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । द्विपदा विराड् गायत्री छं० । आसन्दी देवता । वेद्यामासन्दीस्थापने वि० । (२) ॐ मात्वेत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छं० । कृष्णाजिनं दैवतम् । आसन्द्युपरि कृष्णाजिनस्थापने वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) जानुप्रमाण उच्चपादविशिष्ट आसन्दी दो वेदीके ऊपर इस मंत्रको पाठकरके स्थापन करै अर्थात् इस चौकीके दोपाये दक्षिणवेदीके ऊपर और दोपाये उत्तर वेदीके ऊपर रक्खे [का० १९ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-हे आसन्दी ! तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रिय जातिके राजपदवीके (योनिः) उत्पत्तिस्थान (असि) हो, आसन्दीमें अभिषिक्त होकर राजा गुणवान् होता है, और तुम (क्षत्रस्य) क्षत्रियजातिके (नाभिः) एकताबन्धनके निदर्शन (असि)

हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे आसन्दीपर कृष्णाजिन स्थापन करै [का० १९ । ४ । ८] मन्त्रार्थ-हे अजिन ! (त्वा) तुमको आसन्दी (मा) मत (हिꣳसीः) पीडादो और तुमभी (मा) मुझको (मा) मत (हिꣳसीः) पीडादो आशय यह कि तुम आसन्दीकी बन्धुतालाभ करो, आसन्दी तुम्हारी बन्धुतालाभ करै "यज्ञो वै कृष्णाजिनं यज्ञस्य चैवात्मनश्चाहिंसायै" इति [१२ । ७ । ३ । ९] श्रुतेः ॥ १ ॥ आसन्दी-चौकी ।

कण्डिका २-मंत्र ३ ।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ॥ साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ मृत्योः पाहि विद्योत्पाहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ निषसादेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छं० । यजमानो दे० । कृष्णाजिनोपरि यजमानाह्वाने वि० । (२) ॐ मृत्योः पाहीत्यस्य प्र०ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । यजमानो दे० । पादतले राजतरुक्माधाने वि० । (३) ॐ विद्योत्पाहीत्यस्य प्रजाप० ऋ० । आर्च्युष्णिक्छं० । सौवर्णरुक्माधाने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्र पाठकर यजमानको उसके ऊपर बैठावै [का० १९ । ४ । ९] [१० । २७] में व्याख्या करचुके भावार्थ लिखते हैं । भावार्थ-हे यजमान ! तुम इस उपवेशनके फलसे दण्डपुरस्कारद्वारा देशके अनिष्टनिवारक न्यायपरायण और राजकाजमें चतुर होकर प्रजावर्गका साम्राज्य करनेमें समर्थ हो १ । विधि-दूसरा मंत्र पाठकरके यजमान अपने बांये चरणके नीचे चांदीका मण्डलाकार रुक्मनामक भूषण रक्खे [का० १९ । ४ । १०] मन्त्रार्थ-हे रुक्म ! (मृत्योः) अकालमृत्युसे (पाहि) हमारी रक्षाकरो २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करके यजमान अपने दहिने चरणके नीचे सुवर्णका रुक्म रक्खै [का० १९ । ४ । ११] मन्त्रार्थ-(विद्योत्) हे रुक्म ! विद्युत्पातादिसे मेरी (पाहि) रक्षाकरो ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मं० ३ ।

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ अश्विनोर्भैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन

वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेणबलाय श्रियैयशसेभिषिञ्चामि ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य अश्विनावृषी । प्राजापत्या बृहती छं० । लिङ्गोक्ता देवता । यजमानाभिषेचने वि० । (२) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य अश्विनावृषी । आर्चीगायत्री छं० । लिंगोक्ता दे० । यजमानाभिषेचने वि० । (३) ॐ इन्द्रस्येत्यस्यर्ष्यादि पूर्ववत् । यजमानाभिषेचने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१-२-३) अध्वर्यु स्थित होकर यह तीन मंत्र पाठपूर्वक वेतसपात्रमें स्थित दूसरे ग्रह अवशिष्टद्वारा यजमानके मुखपै धारापात क्रमसे अभिषेक करै [का० १९ । ४ । १४] मंत्रार्थ-हे यजमान ! (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) बाहु (पूष्णः) पूषादेवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (अश्विनोः) अश्विनीकुमारके (भैषज्येन) चिकित्सा कर्मसे (तेजसे) कान्तिके निमित्त (ब्रह्मवर्चसाय) अस्खलित वेदवेदाङ्गपाठसे उत्पन्न कीर्तिके निमित्त (त्वा) तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं १ । हे यजमान ! सविता देवताकी आभ्यन्तरिक प्रेरणावश अश्विनीकुमारके बाहुबल और पूषाके हाथोंसे सहायतासे (सरस्वत्यै) सरस्वतीदेवताद्वारा संपादित (भैषज्येन) औषधीसे (वीर्य्याय) बलके निमित्त (अन्नाद्याय) अन्नकी प्राप्तिके निमित्त तुमको (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करताहूं २ । हे यजमान ! सविता देवताकी आभ्यन्तर प्रेरणावश अश्विनीकुमारके बाहु और पूषाके हाथोंसे (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (ऐन्द्रियेण) इन्द्रियवृद्धिकी सामर्थ्यसे (बलाय) बलके निमित्त (श्रियै) समृद्धि (यशसे) और यशप्राप्तिके निमित्त (अभिषिञ्चामि) तुमको अभिषेक करताहूं ३ ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र २ ।

कोसि कतमोसि कस्मै त्वा काय त्वा ॥ सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कोसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्राजापत्या गायत्री छं० । यजमानो देवता । अध्वर्युणा यजमानस्पर्शने वि० । (२) ॐ सुश्लोकेत्यस्य प्रजाप० ऋ० । उष्णिग्गर्भा प्राजापत्या गायत्री छं० । यजमानो दे० । यजमाननामस्मरणे वि० ॥ ४ ॥

विधि–(१) प्रथम मन्त्र पाठ करके यजमानको अध्वर्यु स्पर्श करै [का० १९। ४।१९] मंत्रार्थ–हे यजमान! तुम (कः) कौन प्रजापति (असि) हो (कतमः) बहुतोंमें कौनसे (असि) हो अथवा श्रेष्ठ हो (कस्मै) प्रजापति पद प्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुझको अभिषेक करताहूं (काय) प्रजापतिकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको अभिषेक करताहूं अर्थात् तुम कौन हो कौन प्रधान पुरुष हो तुमने किस देवताकी प्रीतिके निमित्त यह महदनुष्ठान आरंभ किया है प्रजापति देवताकी प्रीतिके निमित्त अनुष्ठान किया है ॥ ४ ॥

विधि–(२) दूसरा मंत्र पाठ करके यजमान नाम स्मरण करै [का० १९।४ २०] मंत्रार्थ–(सुश्लोक) हे सुन्दर कीर्तिवाले! आओ (सुमङ्गल) मंगलयुक्त (सत्यराजन्) हे सत्यरूप राज्यवाले आइये ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र १.

शिरो॑मे॒ श्रीर्यशो॒ मुखं॒न्त्विषिः॒ केशा॑श्च॒ श्मश्रू॑णि ॥ राजा॑मे॒ प्राणो॒ऽअमृत॑ᳪ सम्राट् चक्षु॑र्वि॒राट् श्रोत्र॑म् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ शिरोम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा देवताः । स्वाङ्गस्पर्शे वि० ॥ ५ ॥

विधि–(१) यहांसे आगे पांच मंत्र पढकर यजमान अपने शिरःप्रभृति सब अंग स्पर्श करै [का० १९ । ४ । २१] मंत्रार्थ–(मे)मेरा (शिरः) शिर (श्रीः) शोभायुक्त हो (मुखम्) मुख (यशः) यशस्वरूप हो (केशाः) बाल (च) और (श्मश्रूणि) डाढी मूंछ (त्विषिः) कान्तिरूप हों (राजा) दीप्तिमान् (मे) मेरे (प्राणः) प्राण (अमृतम्) अमृतरूप हो (चक्षुः) मेरे नेत्र (सम्राट्) सम्यक् राजमान हो (श्रोत्रम्) श्रोत्र इन्द्रिय (विराट्) विशेष राजमान हो ॥५॥

कण्डिका ६–मंत्र १.

जि॒ह्वा मे॑ भ॒द्रं वाङ्महो॒ मनो॑ म॒न्युः स्व॒राड् भाम॑: ॥ मोदा॑: प्रमो॒दा॒ऽअ॒ङ्गुली॒रङ्गा॑नि मि॒त्रं मे॒ सह॑: ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ जिह्वाम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ–(मे) मेरी (जिह्वा) जीभ (भद्रम्) कल्याणरूप हो (वाक्) वागिन्द्रिय (महः) पूज्यरूप हो (मनः) मन (मन्युः) क्रोधित न होकर भी क्रोधका उपकारांश लाभ करै (भामः) क्रोध (स्वराट्) विराजमान हो कोई

हत न करसके वा अपनी मर्यादाउल्लंघनमें असमर्थ हो (अङ्गुलयः) अंगुली (मोदाः) आनन्दरूप हों (अङ्गानि) मेरे अंग (प्रमोदाः) परमानंदरूप हों (मे) मेरे (मित्रम्) मित्र (सहः) शत्रुनाशक हों ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म्म वीर्य्यम् ॥ आत्मा क्षत्रमुरो मम ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बाहू म इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (बाहू) दोनो भुजा (इन्द्रियम्) और इन्द्रिय (बलम्) बलसम्पन्न हों (हस्तौ) मेरे दोनो हाथ (कर्म्मवीर्य्यम्) सबल हों (मम) मेरा (आत्मा) अन्तरात्मा (उरः) हृदय भी (क्षत्रम्) क्षत्रधर्मावलम्बनमें समर्थ हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १ ।

पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी ॥ ऊरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृष्टीरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छं० । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (पृष्टीः) पृष्ठदेश (राष्ट्रम्) सबका धारण करनेवाला राष्ट्रकी समान है (उदरम्) पेट (अꣳसौ) कंधे (ग्रीवा) गरदन (ऊरू) दोनो ऊरू (अरत्नी) हस्त (श्रोणी) दोनो श्रोणी कटिके निकटवर्तीस्थान (जानुनी) दोनो जंघा (च) और (सर्वतः) सब (अङ्गानि) अंग (मे) मेरे (विशः) प्रजावत् पालनीय हों अर्थात् राष्ट्ररूप शरीरमें यह सब अंग निरुपद्रव निवास करें ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत् ॥ आनन्दनन्दावाण्डौ मे भगः सौभाग्यम्पसः ॥ जङ्घाभ्याम्पद्भ्यान्धर्म्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठितः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नाभिर्म इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृज्जगती छन्दः । इन्द्रशरीरावयवा दे० । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (नाभिः) नाभि (चित्तम्) ज्ञानरूप हो (मे) मेरी (पायुः) गुदेन्द्रिय (विज्ञानम्) ज्ञानजनित संस्कारका आधार (भसत्) मेरी स्त्रीकी योनि (अपचितिः) प्रजाजननमें समर्थ हो "यह यजमानकी पत्नीके विषयमें है" (मे) मेरे (अण्डौ) दोनों अंडकोश (आनंदनन्दौ) आनन्दसे समृद्ध हों (पसः) मेरी जननेन्द्रिय (भगः) ऐश्वर्य (सौभाग्यम्) सौभाग्य सम्पत्ति (जंघाभ्याम्) जंघाद्वारा (पद्भ्याम्) चरणोंद्वारा (धर्मः) धर्मरूप हो अर्थात् सब अंगोंसे धर्मरूप (अस्मि) हूं (विशि) प्रजामें (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठित (राजा) राजा हूं ॥ ९ ॥

सरलार्थ-हमारी नाभि चित्त विज्ञान पायु अपचिति भसत् और आनंदकारी दोनों अण्ड हमारी स्त्रीका गुह्यस्थान और तदीय सौभाग्यरूप हमारी पुमिन्द्री दोनों जंघा और दोनों चरण यह समस्त अङ्गही हमारे प्रजाविषयमें धर्मरूप राजपदमें प्रतिष्ठित करैं, किसी अङ्गसे कोई विकार प्रजापर न हो ऐसा राजोंको करना चाहिये ॥ ९ ॥

कण्डिका १० -मन्त्र १ ।

प्रतिक्षत्रेप्प्रतितिष्ठामिराष्ट्रेप्प्रत्यश्श्वेषुप्प्रतितिष्ठा
मिगोषु ॥ प्प्रत्यङ्गेषुप्प्रतितिष्ठाम्म्यात्त्मन्प्प्रतिप्प्रा
णेषुप्प्रतितिष्ठामिपुष्टेप्प्रतिद्यावापृथिव्व्योःप्प्रतिति
ष्ठामियज्ञे ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रतिक्षत्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अतिशक्करी छन्दः । विश्वेदेवा दे० । कृष्णाजिनावरोहणे वि० ॥ १० ॥

विधि-(१) यह मंत्र पढकर यजमान आसन्दीसे नीचे बिछे कृष्णाजिनपर उतरै [का० १९ । ४ । २३] मन्त्रार्थ-मैं (क्षत्रे) क्षत्रियजातिमें (प्रतिष्ठामि) प्रतिष्ठायुक्त होताहूं (राष्ट्रे) राष्ट्रमें (प्रति) प्रतिष्ठायुक्त होता हूं (अश्वेषु) अश्वोंमें (प्रति) अधिपत्यको प्राप्त होताहूं (गोषु) गौओंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (अङ्गेषु) अंगोंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (आत्मन्) आत्मामें (प्रति) प्रतिष्ठाको० (प्राणेषु) प्राणोंमें (प्रति) प्रतिष्ठाको० (पुष्टे) धनसमृद्धिमें

(प्रति) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं (द्यावापृथिव्योः) स्वर्ग और इस लोककी प्रतिष्ठाको (प्रतिष्ठामि) प्राप्त होताहूं (यज्ञे) यज्ञमें (प्रतिष्ठामि) प्रतिष्ठाको प्राप्त होताहूं क्षत्रिय देशकी प्रतिष्ठा वशमें करना, गो अश्वकी प्रतिष्ठा प्राप्ति, प्राणअंगकी प्रतिष्ठा नीरोगता, आत्माकी प्रतिष्ठा आधिरहित होना, पुष्टिकी प्रतिष्ठा धनसमृद्धि, द्यावापृथ्वीकी प्रतिष्ठा दोनो लोकमें कीर्ति, यज्ञकी प्रतिष्ठा यज्ञकरना है, हम सब प्रकार विश्वके अधिपति पशुमान् आधिव्याधिरहित श्रीमान् यज्ञके कर्ता हों ॥१०॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

त्रयादेवाऽएकादशत्रयस्त्रिꣳशाः सुराधसः ॥ बृहस्पतिपुरोहितादेवस्यसवितुः सवे ॥ देवादेवैरवन्तुमा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रयादेवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्र्यवसानापंक्तिश्छं० । विश्वेदेवा दे० । ग्रहहोमे वि० ॥ ११ ॥

विधि-शस्त्र समाप्त होनेपर वषट्कृत समयमें यहांसे लेकर दो मन्त्र पाठ पूर्वक ग्रह होम करे [का० १९ । ५ । ८ ।] मन्त्रार्थ-(सुराधसः) सुन्दर धनवाले (बृहस्पतिपुरोहिताः) बृहस्पति पुरोहितवाले (त्रया) तीन अवयववाले वा ब्रह्मा विष्णु महेश तीनो देवता (एकादश) ग्यारह (देवाः) देवता (त्रयस्त्रिꣳशाः) तैंतीस (देवाः) देवता अथवा ग्यारहके तिगुने तैंतीस देवता (सवितुः) सबके प्रेरक (देवस्य) देवताके (सवे) आज्ञामें वर्तमान (देवैः) देवताओंके साथ वा ब्रह्मादिके साथ (मा) मेरी (अवन्तु) रक्षाकरैं, अर्थात् इस प्रकार अनुष्ठानमें तत्पर मेरी अपने देवत्वप्रभावसे रक्षा करें ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

प्रथमाद्वितीयैर्द्वितीयास्तृतीयैस्तृतीयाः सत्येनऋतꣳ सत्येनयज्ञोयज्ञेनयजूꣳषियजुर्भिः सामानिसामभिर्ऋचऋग्भिः पुरोनुवाक्याःपुरोनुवाक्याभिर्याज्यायाज्याभिर्वषट्कारावषट्कारैराहुतयआहुतिभिर्मेकामान्त्समर्द्धयन्तुभूः स्वाहा ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रथमा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। प्रकृतिश्छं०। विश्वे देवा देवताः। वि० पू०॥ १२॥

मन्त्रार्थ-(प्रथमाः) पूर्व मंत्रकथित पहले देवता वसु (द्वितीयैः) दूसरे रुद्र देवताओंके साथ मिलकर मेरी रक्षाकरै (द्वितीयाः) दूसरे (तृतीयैः) तीसरोंके साथ (तृतीयाः) तीसरे आदित्य (सत्येन) सत्यके साथ (सत्यम्) सत्य (यज्ञेन) यज्ञके साथ (यज्ञः) यज्ञ (यजुर्भिः) यजुके साथ (यजूꣳषि) यजु (सामभिः) साम मंत्रोंके साथ (सामानि) साम मंत्र (ऋग्भिः) ऋचाओंके साथ (ऋचः) ऋचायें (पुरोनुवाक्याभिः) पुरोनुवाक्यनाम विशेषमंत्रोंके साथ (पुरोनुवाक्याः) पुरोनुवाक्य (याज्याभिः) याज्यमंत्रोंके साथ (याज्याः) याज्यमंत्र (वषट्कारैः) वषट्कारोंके साथ (वषट्काराः) वषट्कार (आहुतिभिः) आहुतियोंके साथ (आहुतयः) आहुतियें (मे) मेरे (कामान्) कामनाओंको (समर्धयन्तु) समृद्ध करैं पूर्णकरै (भूः) भुवनके निमित्त (स्वाहा) सम्यक् रूपसे आहुति दीजातीहै, भलीप्रकार गृहीत हो "यह सब परस्पर एक दूसरेसे मिले हुए हैं"॥ १२॥

कण्डिका १३-मन्त्र १।

लोमा॑नि॒ प्रय॑ति॒र्मम॒ त्वङ्म॒ऽआन॑ति॒राग॑तिः। मा॒ꣳसं म॒ऽउप॑नति॒र्वस्व॒स्थि म॒ज्जा म॒ऽआन॑तिः॥ १३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ लोमानीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। प्रत्यक्षग्रहशेषभक्षणे वि०॥ १३॥

विधि-(१) यजमान यह मंत्र पाठकरके उपहव पूर्वक प्रत्यक्षग्रहशेष भक्षण करै [का० १९। ५। १०] मन्त्रार्थ-(मम) मेरे (लोमानि) सम्पूर्ण रोम (प्रयतिः) यत्नयुक्त हैं (मे) मेरी (त्वक्) त्वचा (आनति) जिससे सब ओरसे नम्रहोते हैं तथा (आगतिः) जिसके प्रति सब प्राणी आगमन करते हैं इस प्रकारकी हो अर्थात् मुझे देखकर प्राणी मेरे निकट आवैं मुझे प्रणाम करैं (मे) मेरा (मांसम्) मांस (उपनतिः) प्राणियोंको नमनकरानेवाला हो मेरी (अस्थि) सम्पूर्ण अस्थि (वसु) धनरूप हों (मे) मेरी (मज्जा) वसा अस्थिके अन्तरका भाग (आनतिः) जगत्का नमन करानेवाला हो। अर्थात् मेरी सात धातु जगतके वश करनेमें समर्थ हों॥ १३॥ [१३]

अथवा-ज्ञान मेरा रोम, यश और वीर्य त्वचा, ऐश्वर्य मांस, सम्पत्ति अस्थि, वैराग्य मज्जा है मैं छः ऐश्वर्यसे युक्त होऊं॥ १३॥

[अब इसके उपरान्त अवभृथस्नान]

कण्डिका १४-मंत्र १ अनु० २ ।

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ॥ अग्निर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्देवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । मासरकुम्भाप्लावने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) इसके उपरान्त कईएक (४) मंत्रपाठ करके मासरकुंभको जलमें प्लावितकरै [का० १९ । ५ । १३] मन्त्रार्थ-(देवाः) हे दीप्यमान (देवासः) देवताओं ! (वयम्) हमने (यत्) जो (देवहेडनम्) देवताओंका अपराध (आचकृम) किया है (अग्निः) अग्निदेवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे और (विश्वात्) सम्पूर्ण (अꣳहसः) विघ्नरूप पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक करै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

यदि दिवा यदि नक्तमेनाꣳसि चकृमा वयम् ॥ वायुर्मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः वायुर्देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(वयम्) हमने (दिवा) दिनमें (नक्तम्) रात्रिमें (यदि) जो (यदि) भी (एनाꣳसि) पाप (आचकृम) किये हैं (वायुः) वायुदेवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे तथा (विश्वस्मात्) सम्पूर्ण (अꣳहसः) पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक करैं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

यदि जाग्रद्यदि स्वप्नऽएनाꣳसि चकृमा वयम् ॥ सूर्य्यो मा तस्मादेनसो विश्वान्मुञ्चत्वꣳहसः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(वयम्) हमने (यदि) जो (जाग्रत्) जागतेमें (यदि) जो (स्वप्ने) सोतेमें (एनांसि) पाप (आचकृम) किये हैं (सूर्यः) सूर्य देवता (तस्मात्) उस (एनसः) पापसे तथा (सर्वस्मात्) सम्पूर्ण (अंहसः) पापोंसे (मा) मुझको (मुञ्चतु) पृथक् करैं ॥ १६ ॥

प्रमाण-"मनुष्या वै जागरितं पितरः सुप्तं मनुष्यकिल्बिषाच्चैवैनं पितृकिल्बिषाच्च मुञ्चति" इति ॥ १२।९।२।२] श्रुतेः ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १।

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ॥ यच्छूद्रे यदर्य्ये यदेनश्चकृमा वयं यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्ग्राम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। निच्यृदनुष्टुप्छं०। लिंगोक्ता देवता। वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जो (ग्रामे) ग्राममें (यत्) जो (अरण्ये) वनमें वृक्षच्छेदन वा पशुवधरूप (यत्) जो (सभायाम्) सभामें असत्यभाषणादि (यत्) जो (इन्द्रिये) सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे पराया अपवादकथनपर नारीदर्शनादि वा जो देवताओंमें (यत्) जो (शूद्रे) दासवर्गोंमें (यत्) जो (अर्ये) वैश्योंमें (यत्) जो (एनः) पाप (वयम्) हमने (चकृम) कियाहै (यत्) जो पाप (एकस्य) हम पत्नी यजमानके एक (अधिधर्मणि) कर्ममें (आचकृम) किया है (तस्य) उस सम्पूर्ण पापको हे देवताओ ! वा हे कुम्भ ! तुम (अवयजनम्) निवारण करनेवाले (असि) हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १।

यदापोऽअघ्न्याऽइति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च ॥ अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः ॥ अव देवैर्देवकृतमेनोऽयक्ष्यव मर्त्यैर्मर्त्यकृतम्पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदाप इत्यस्य प्र० ऋ०। अनु० छं०। लिंगो० दे०। वरुणप्रार्थने विनियोगः (२) ॐ अवभृथेत्यस्य प्र० ऋ०। अनु० छं०। लिंगो दे०। सुराकुम्भमज्जने विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१) यदापः इस आधे मंत्रको पढकर वरुणकी प्रार्थना करे अवभृथे- त्यादि मंत्र पढकर सुराकुंभको जलमें डालदे प्रथममंत्रसे पूर्ववत् मज्जनकरे [का० १९ । ५ । १४] इस मंत्रकी व्याख्या ६ । २२ तथा ३। ४८ में होगई यदापो अघ्न्या इति जो अहन्तव्य हनन किया है हे वरुण ! उस पापसे हमको मुक्त करो इत्यादि केवल इस मंत्रमें (अवायक्षि) पदविशेष है जिसका अर्थ दूर करता वा नाशक है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

समुद्रेतेहृदयमप्स्वन्तःसन्त्वाविशन्त्वोषधीरुता
पः ॥ सुमित्रियानऽआपऽओषधयऽसन्तुदुर्मित्रि
यास्तस्मैसन्तुयोऽस्मान्द्वेष्टियञ्चवयन्द्विष्मः ॥ १९ ॥

ॐ समुद्रेते इसकी व्याख्या ८ । २५ में और सुमित्रियान आपः इसकी व्याख्या ६ । २२ में होगई । ॐअवभृथेति गमने वाकुम्भस्य जले मज्जने वि० । सुमित्रियेति अञ्जलिग्रहणे वि० । दुर्मित्रियेति जलत्यागे वि० ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रसे यजमान अवभृथ स्थानसे दोचरण चले दूसरे मंत्रसे उत्तराभिमुख होकर जलकी अंजलि ग्रहण करे तीसरे मंत्रसे जिस दिशामें शत्रुगण वास करते हो उसी २ दिशामें वह जलकी अंजलि प्रक्षेप करे [का० १९ । ५ । १५] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

द्रुपदादिवमुमुचानःस्विन्नःस्नातोमलादिव॥ पूतं
पवित्रेणेवाज्यमापःशुन्धन्तुमैनसः ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) द्रुपदादिवेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । आपो देवताः । अप्सु सोमिकवस्त्रत्यागे वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके पत्नी और यजमान दोनोही जल- में अपने २ कर्मकालमें धारण किये सोमिक वस्त्र परित्याग करें [का० १९ । ५ । १६]

मंत्रार्थ-(आपः) जलदेवता (मा) मुझको (एनसः) पापसे (शुन्धन्तु) पवित्र करें (इव) जिसप्रकार (द्रुपदात्) खडाऊंसे (मुमुचानः) सहजमेंही

पृथक् हुआ जाता है (इव) अथवा जैसे (स्विन्नः) स्वेदयुक्त पुरुष (स्नातः) स्नान करनेसे (मलात्) मलसे शीघ्रही मुक्त होता है (वा) अथवा जैसे (पवित्रण) कम्बलवस्त्रसे (पूतम्) छानाहुआ (आज्यम्) घृत मलसे रहित होता है इस प्रकार जल मुझको सब पापसे रहित कर निर्मल करै ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ॥ देवन्देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उद्वयमित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता । जलान्निष्क्रमणे वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रका पाठ करके जलसे निकले [का० १९।५।१७] मन्त्रार्थ-(तमसः) अन्धकारवाले इस लोकसे (परि) परे (उत्तमम्) श्रेष्ठ (स्वः) स्वर्गको (पश्यन्तः) देखतेहुए (वयम्) हम (देवत्रा) देवलोकमें (देवम्) देव (सूर्यम्) सूर्यको देखतेहुए (उत्तमम्) श्रेष्ठ (ज्योतिः) ब्रह्मरूपको (उदगन्म) प्राप्तहुए [ऋ० १।४।८] ॥ २१ ॥

भावार्थ-हम स्नान कर निर्मल हुए और श्रेष्ठ स्व (सूर्य) का दर्शन करते तीरमें प्राप्त हुए, इस देवयजन स्थानमें गमन करते सूर्य देवकी उत्तम ज्योति उपभोग करनेको प्रवृत्त हुए हैं ॥ २१ ॥ "अयं वै लोकोऽद्भ्य उत्तरोस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमं स्वर्ग एव लोकेऽन्ततः" इति [१२।९।२।८] श्रुतेः ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

अपोऽअद्यान्वचारिषꣳ रसेन समसृक्ष्महि ॥ पयस्वानग्नऽआगमन्तम्मा सꣳसृज वर्चसा प्रजया च धनेन च ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अप इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । अग्निर्देवता । आहवनीयोपस्थाने वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठकर यजमान आहवनीयका उपस्थान करै [का० १९।५।१८] मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव ! (अद्य) आज मैने (अपः) जलकर्म (अन्वचारिषम्) पूर्ण किया है अर्थात् अवभृथकर्मसे जलको अनुचरित किया है (रसेन) जलके रससे (समसृक्ष्महि) संयुक्त हुआ हूं (पयस्वान्)

जलवान् (आगमम्) आया हूं (तम्) इस प्रकार (मा) मुझको (वर्चसा) कान्ति (च) और (प्रजया) पुत्रादिक (च) और (धनेन) सुवर्णादि धनसे (सङ्सृज) संयुक्त करो ॥ २२ ॥

भावार्थ-मैं इतने काल जलमें स्थित होकर विलक्षण शीतयुक्त हुआ हूं और इतने समयतक शरीरमें जल रहा है अग्ने ! इस अवस्थामें तुम्हारे निकट प्रार्थना करते हैं कि इस कार्यके फलसे हमको यथेष्ट ब्रह्मतेज प्रजा और धनकी प्राप्ति हो ॥ २२ ॥

विशेष-स्नान करनेसे उपरोक्त गुण शरीरमें प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १।

एधोस्येधिषीमहि समिदसि तेजोसि तेजो मयि धेहि॥ समाववर्त्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः समु विश्वमिदं जगत् ॥ वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून्कामान्व्यश्नवै भूः स्वाहा ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एधोसीत्यस्य प्र० ऋषिः । प्राजापत्या बृहती छं० । समिद्देवता । समिद्ग्रहणे वि० । (२) ॐ समिदसीत्यस्य प्र० ऋ० । प्राजा० बृह० छं० । समिद्देवता । समिधाहवनीयाधाने वि० । (३) ॐ समाववर्तीत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । घृतलेपने वि० । (४) ॐ वैश्वानरेत्यस्य प्र० ऋ० । ब्राह्म्यु० छं० । अग्निर्दे० । होमे वि० ॥ २३ ॥

विधि- (१) प्रथम मंत्रसे आहुति प्रदानके निमित्त हाथमें समिध ग्रहण करे [का० १९।५।१९] मन्त्रार्थ-हे समिध! तुम (एधः) दीपक अर्थात् दीप्ति करनेवाली हो तुम्हारे प्रसादसे (एधिषीमहि) धनादि वृद्धिको प्राप्त हूं १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे यह समिध आहवनीयके ऊपर देनेमें उद्यत होकर धारण करे. मन्त्रार्थ-हे समित् ! तुम (समित्) भलीप्रकार दीप्ति करनेवाली (असि) हो (तेजः) तेजरूप (असि) हो (मयि) मुझमें (तेजः) तेज (धेहि) स्थापन करो २ । विधि-(३) तीसरे मंत्रसे इसको घृतसे लिप्त करे [का०१९।५।२०] मन्त्रार्थ-(पृथिवी) पृथ्वी (समाववर्ति) प्रतिक्षण आर्वतनयुक्त है (उषाः) उषाकाल (सम्) आवृत्ति करते हैं (सूर्यः) सूर्य (उ) भी (सम्) आवर्तन

करते हैं (इदम्) यह (विश्वम्) सम्पूर्ण (जगत्) संसार (उ) भी (सन्) भ्रास्यमाण अर्थात् नश्वर है अर्थात् कुछभी स्थिर नहीं है ३। विधि-(४) चौथे मंत्रसे यह अग्निमें हवन करै। मन्त्रार्थ-(वैश्वानरज्योतिः) सम्पूर्ण कामना लाभके निमित्त मैं सब प्राणियोंके हितकारी परमात्माकी ज्योतिको (भूयासम्) प्राप्त हूं (विभून्) महान् (कामान्) मनोरथोंको (व्यश्नवै) प्राप्त होऊं (भूः) सत्तामात्र ब्रह्मके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है भली प्रकार गृहीत हो ॥ २३ ॥ [१०]

आशय-तात्पर्य यह ब्रह्मके सिवाय जगत् अनित्य है उसीको प्राप्त हो यह प्राणी अमर होता है अथवा भूमि सूर्यादि सब चलायमान हैं ब्रह्म अचल है॥२३॥

कण्डिका २४-मन्त्र १. अनु० ३।

अभ्यादधामि समिधमग्ने व्रतपते त्वयि। व्रतञ्च श्रद्धाञ्चोपैमीन्धे त्वा दीक्षितोऽअहम् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभ्यादधामीत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः। निचृदनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्दे०। समिद्धोमे वि० ॥ २४ ॥

विधि-(१) सौत्रामणिके आरंभमें आदित्येष्टि समापन करनेके उपरान्त यागसिद्धिके निमित्त आहवनीय दक्षिणाग्नि विहरणके उपरान्त अग्न्याधान और ब्रह्मवरण कार्य पूर्ण करनेके उपरान्त यजमान यहांसे तीन मंत्र पाठ करके तीन समिध आहवनीय अग्निमें हवन करै [का० १९। १। १२] मंत्रार्थ-(व्रतपते) कर्मके पालक (अग्ने) हे अग्ने! (समिधम्) यह समित् (त्वयि) तुममें (अभ्यादधामि) स्थापन करता हूं यज्ञमें (दीक्षितः) दीक्षित हुआ (अहम्) मैं (व्रतम्) कर्म (च) और (श्रद्धाम्) श्रद्धाको (उपैमि) प्राप्त होता हूं (च) और (त्वा) तुझको (इन्धे) दीप्त करता हूं अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे यह व्रत सम्पन्न हो और इसके फल विषयमें हमारे विश्वासमें न्यूनता न हो ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १।

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तँल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्रेत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्र) जिस लोकमें (ब्रह्म) ब्राह्मण जाति (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (च) भी (सह) साथ (सम्यञ्चौ) एक मतसे मिलेहुए (चरतः)

विचरते हैं (यत्र) जहां (देवाः) देवता (अग्निना) अग्निके (सह) साथ निवास करते हैं (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (लोकम्) स्वर्गलोकको (प्रज्ञेषम्) प्राप्त करूं ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मन्त्र १ ।

यत्रेन्द्रश्च वायुश्च सम्यञ्चौ चरतः सह ॥ तँल्लोकम्पुण्यम्प्रज्ञेषं यत्र सेदिर्न विद्यते ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यत्रेन्द्र इत्यस्य अश्वतराश्वी ऋषिः । निच्यदनुष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ–(यत्र) जिस लोकमें (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (वायुः) वायु देवता (च) भी (सह) साथ (सम्यञ्चौ) एकमन होकर (चरतः) विचरतेहैं (यत्र) जहां (सेदिः) अन्नप्राप्तिजनित दुःख (न) नहीं (विद्यते) है (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (लोकम्) लोकको (प्रज्ञेषम्) मैं प्राप्तहोऊं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मंत्र १ ।

अँशुना ते अँशुः पृच्यताम्परुषा परुः ॥ गन्धस्ते सोममवतु मदाय रसो अच्युतः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अंशुनेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सुरा देवता । सुरासंसर्जने वि० ॥ २७ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे सुरासंसर्जनकरे (मिलावे) १९ । १ में सूत्रका अर्थ कर चुकेहैं । मंत्रार्थ–हे महौषधिरस ! (ते) तुम्हारे (अंशुः) भाग (अंशुना) सोमके भागसे मिलित हों (परुः) तुम्हारा पर्व (परुषा) सोमके पर्वसे (पृच्यताम्) मिलें (तव) तुम्हारी (गन्धः) सुगन्धि तथा (अच्युतः) अविनाशी (रसः) रस (मदाय) हर्षप्राप्तिके निमित्त (सोमम्) सोमको (अवतु) आलिंगन करो अर्थात् सोमसे मिलें ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मन्त्र १ ।

सिञ्चन्ति परि षिञ्चन्त्युत्सिञ्चन्ति पुनन्ति च ॥ सुरायै बभ्र्वै मदे किन्त्वो वदति किन्त्वः ॥ २८ ॥

ऋष्याद–(१) ॐ सिञ्चन्तीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । सुरा देवता । पूतसुरादाने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे पवित्र किया आसव ग्रहण करे [का० १९।२।६]

मन्त्रार्थ-(बभ्रवै) बलकी धारक वा कपिलवर्ण (सुरायै) महौषधियोंके रसपानसे (मदे) प्रसन्नतामें स्थित हुआ इन्द्र (किन्त्वः) तुम किसके (किन्त्वः) तुम किसके हो इस प्रकार (वदति) कहता है इस कारण उसको पात्रमें ऋत्विजलोग (सिञ्चन्ति) सींचते हैं (परिपिञ्चन्ति) दूधसे सींचते हैं (उत् सिञ्चन्ति) ग्रहोंसे सींचते हैं (च) और गोवाल पवित्र सुवर्णादिसे (पुनन्ति) पवित्र करते हैं ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १।

धानावन्तङ्करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम् ॥ इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धानावन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। गायत्री छन्दः। इन्द्रो देवता। धानाहोमे वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) यह मंत्र श्रौत स्मार्त कर्मके धानाहोममें विनियुक्त है और प्रातः सवनमें पुरोडाशका पुरोनुवाक्यभी है। मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र! (प्रातः) प्रातःकाल (नः) हमारे (धानावन्तम्) धानांसे युक्त (करम्भिणम्) दही और सत्तू (अपूपवन्तम्) मालपुएआदिसे युक्त (उक्थिनम्) स्तुतियुक्त पुरोडाशको (जुषस्व) सेवनकरो [ऋ० ३।३।१७] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १।

बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम् ॥ येन ज्योतिरजनयन्नृतावृधो देवन्देवाय जागृवि ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहदिन्द्रायेत्यस्य नृमेधपुरुषमेधावृषी। बृहती छं०। इन्द्रो देवता। सामगाने वि० ॥ ३० ॥

विधि-(१) अध्वर्युद्वारा भेजा हुआ ब्रह्मा इस मंत्रसे सामगान करै [का० १९।५।२] मन्त्रार्थ-(मरुतः) हे ऋत्विजो! (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (वृत्रहन्तमम्) अतिशय पापनाशक वा वृत्रअसुरनाशक (बृहत्साम) बृहत् सामको (गायत) गानकरो (ऋतावृधः) यज्ञकी वृद्धिकरनेवाले देवता वा ऋत्विजोंने (येन) जिस सामगानसे (देवाय) इन्द्रके निमित्त (देवम्) दीप्यमान (जागृवि) जागरणशील अविनाशी (ज्योतिः) तेजको (अज-

नयन्) प्राप्त कराया अर्थात् सामगानसे इन्द्र तेजस्वी होता है [ऋ० ६ । ६ । १२] ॥ ३० ॥

सरलार्थ-जिस देवताके प्रभावसे यह दीप्यमान वृत्रहन्तम (मेघ और अन्धकारनाशक) जागरणशील कभी नीचे कभी ऊपर निरन्तर अपने कार्यमें जाग्रत (ज्योतिः) सूर्य सृजनहुई है उसी परम ऐश्वर्यवान् देवताकी प्रीतिके उद्देशसे (ऋतावृधः) सत्य सम्वाददेनेवाले वा यज्ञ बढानेवाले वा मरुद्गण वायु वा ऋत्विग्गण निरन्तर बृहत्सामगान करते हैं ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १ ।

अध्वर्योऽअद्रिभिः सुतꣳ सोमं पवित्रऽआनय ॥ पुनाहीन्द्राय पातवे ॥ ३१ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ अध्वर्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । दुग्धाभिमंत्रणे वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) इस मंत्रको पढकर ब्रह्मानामक ऋत्विक् दुग्धको अभिमंत्रितकरै मन्त्रार्थ-(अध्वर्यो) हे अध्वर्यु ! तुम (अद्रिभिः) ग्रावाद्वारा (सुतम्) अभिषुत (सोमम्) सोमको (पवित्रे) कम्बलमें पवित्रमें (आनय) लाओ (इन्द्राय) इन्द्रके (पातवे) पान करनेके निमित्त (पुनाहि) पवित्र करो [ऋ० ७ । १ । ८] ॥ ३१ ॥ [८]

कण्डिका ३२-मंत्र १ । अनु० ४ ।

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोकाऽअधि श्रिताः ॥ यऽईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम् ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यो भूतानामित्यस्य कौण्डिन्य ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । ग्रहो देवता । ग्रहग्रहणे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अभिषेकसे पहले [सीसेन तन्त्रम् १९ । ८०] इत्यादि सोलह मंत्रसे ३२ ग्रह ग्रहण कियेथे, और उन्हींके संस्रवसे यजमानको अभिषेक किया अब यह कण्डिका और अगली आधी कण्डिका पाठ करके अध्वर्यु ३२ वा ग्रह ग्रहण करै [का० १९ । ४ । २४ । मन्त्रार्थ-(यः) जो परमात्मा (भूतानाम्)

चार प्रकारके जरायुआदिका (अधिपतिः) पालन करनेवाला है (यस्मिन्) जिस आत्मामें (लोकाः) भूरादि लोक (अधिश्रिताः) अधिश्रित हैं (महान्) सबसे उत्कृष्ट (यः) जो (महतः) महत्तत्व अर्थात् तत्त्वगणोंका (ईशे) नियन्ता है हे ग्रह ! उसी परमात्माके नियोगानुसार (अहम्) मैं (तेन) उस परमात्माकी कृपासे (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं (मयि) परमात्मभावको प्राप्त हुए मेरे विषय (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं अर्थात् हमारे प्रति उसकी यही प्रेरणा है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १।

उपयामगृहीतोस्यश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णऽएष ते योनिरश्विभ्यान्त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ–उपयामगृहीतोसि इस मंत्रकी व्याख्या अध्याय १० मं० २ में होगई। वि० पू० ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र १।

प्राणपा मेऽअपानपाश्चक्षुष्पाः श्रोत्रपाश्च मे ॥ वाचो मे विश्वभेषजो मनसोसि विलायकः ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्राणपाम इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । ग्रहो देवता । हुतशेषभक्षणे वा आघ्राणे वि० ॥ ३४ ॥

विधि–(१) सशस्त्र ग्रह होमके उपरान्त ऋत्विग्गण इस कण्डिका और पर कण्डिकात्मक दो मंत्र पाठ करके हुतशेष सूंघें वा भक्षण करें [का० १९।५। ९] मन्त्रार्थ–हे ग्रह वा हे परमात्मन् ! तुम (मे) मेरे (प्राणपाः) प्राणोंकी रक्षा करनेवाले (अपानपाः) अपान वायुकी रक्षा करनेवाले (चक्षुष्पाः) नेत्रोंकी रक्षा करनेवाले (च) और (मे) मेरे (श्रोत्रपाः) श्रोत्र इन्द्रियकी रक्षा करनेवाले (मे) मेरे (वाचः) वागिन्द्रिय (विश्वभेषजः) सम्पूर्ण ओषधोंमें प्रधानके (च) और (मनसः) मनके (विलायकः) विषयोंसे निवृत्त करके आत्मामें स्थापन करनेवाले (असि) हो अर्थात् सब इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग करनेवाले हो ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

अ॒श्विन॑कृतस्य ते॒ सर॑स्वतिकृत॒स्येन्द्रे॑ण सु॒त्राम्णा॑ कृ॒तस्य॑ । उप॑हूत॒ऽउप॑हूतस्य भक्षयामि ॥३५॥[४]

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनकृतस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । उपरिष्टाद्बृहती छं० । ग्रहो देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(उपहूतः) हे ग्रह ! आज्ञा पायाहुआ मैं (अश्विनकृतस्य) अश्विनीकुमारसे संस्कार किये (सरस्वतिकृतस्य) सरस्वतीसे प्रस्तुत किये (सुत्राम्णा) रक्षा करनेवाले (इन्द्रेण) इन्द्रद्वारा (कृतस्य) संस्कार किये वा देखे (उपहूतस्य) ऋत्विजोंद्वारा आह्वान किये (ते) तुझको (भक्षयामि) भक्षण करताहूं ॥३५॥ [४]

[साध्वर्यवं समाप्तम्]

[अथ हौत्रम्.]

कण्डिका ३६-मंत्र १ । अनु० ५ ।

समि॑द्धऽइन्द्र॑ऽउ॒षसा॒मनी॑के पुरो॒रुचा॑ पूर्व॒कृद्वा॑वृधा॒नः ॥ त्रि॒भिर्दे॒वैस्त्रि॒ꣳशता॒ वज्र॑बाहुर्ज॒घान॑ वृ॒त्रं वि दुरो॑ ववार ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्धइन्द्र इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । आप्रियः प्रियाजयाज्यपाठे वि० ॥ ३६ ॥

विधि-(१) यहांसे लेकर ग्यारह मंत्रोंसे ऐन्द्रनामक प्रथम पशुसम्बन्धी आप्रिय प्रियाजयाज्य करे [का० १९ । ६ । १२] मन्त्रार्थ-(समिद्धः) भले प्रकारसे दीप्त (उषसाम्) उषाकालके (अनीके) मुख अर्थात् प्रातःकालमें (पुरोरुचा) आगे चलनेवाले प्रकाशसे (पूर्वकृत्) सूर्य रूपसे पूर्वदिशाको प्रकाश करनेवाले (त्रिभिः) तीन (त्रिंशता) तीस अर्थात् तैंतीस (देवैः) देवताओंके साथ (वावृधानः) वृद्धिपानेवाले (वज्रबाहुः) हाथमें वज्रधारी (इन्द्रः) इन्द्रने (वृत्रम्) वृत्रासुर वा मेघको (जघान) ताडन किया (दुरः) मेघोंके स्रोतों वा दैत्यके पुरके द्वारोंको (ववार) शून्य किया वा खोला ॥ ३६ ॥

सरलार्थ-पूर्व दिशाके पति वज्रधारी इन्द्र उषाकालमें पूर्व दिशामें प्रकाश करते उदय होते और क्रमसे वर्धमान होकर मध्याह्नमें सम्यक् प्रदीप्त होते, अपने सहचर ३३ देवताओंकी सहायतासे वृत्रका वध करके सब द्वार खोलते हैं. रूपक. ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ ।

नराशꣳसः प्प्रतिशूरो मिमानस्तनूनपात्प्प्रति यज्ञस्य धाम ॥ गोभिर्व्वपावान्मधुना समञ्ञन्हिरण्ण्यैश्चन्द्री यजति प्प्रचेताः ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नराशंस इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । तनूनपाद्देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(नराशंसः) ऋत्विजोंसे स्तुति किया हुआ अथवा जहां बैठकर ऋत्विक् स्तुति करते हैं यज्ञरूप (शूरः) शूरतादिगुणयुक्त (यज्ञस्य) यज्ञके (धाम) स्थानको (प्रतिमिमानः) जान्ता हुआ (तनूनपात्) जाठराग्निरूपसे शरीरका रक्षक वा सृष्टिके विस्तारकरनेवाले मरीचिका पौत्र कश्यपका पुत्र अथवा भोगकी विस्तारकरनेवाली गौका पौत्र घृतरूप (गोभिः) पशुसम्बन्धी (वपावान्) वपनक्रियासे युक्त (मधुना) मधुवत् स्वादिष्ट घृतसे (समञ्जन्) व्यक्त करता हुआ वा हविभक्षण करता यजमान (हिरण्यैः) सुवर्णादिद्रव्योंसे (चन्द्री) बहुत सुवर्णवाला (प्रचेताः) विशेषज्ञानी कर्मका ज्ञाता यजमान (प्रतियजति) प्रतिदिन इन्द्रका यजन पूजन करता है ॥ ३७ ॥

सरलार्थ-मनुजगणोंद्वारा सद्यःप्रशंसित शूर जाठराग्निरूपसे शरीररक्षक यज्ञकी प्रधान सम्पत्ति अग्निदेवताको अवलम्बन करके प्रचेता 'ज्ञानवान् यजमान' इस यज्ञको गौआदिके घृतद्वारा समृद्ध और मधुआदिद्वारा संसिक्त और सुवर्णादिद्वारा कान्तिमान् करते यज्ञकार्य निर्वाह करते हैं ॥ ३७ ॥

प्रमाण-"नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति" इति [निरुक्त ८ । ६] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

ईडितो देवैर्हरिवाँ २ ऽअभिष्टिराजुह्वानो हविषा शर्द्धमानः ॥ पुरन्दरो गोत्रभिद्वज्रबाहुरायातु यज्ञमुप नो जुषाणः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईडित इत्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(देवैः) देवताओंसे (ईडितः) पूजित (हरिवान्) हरिनामक घोडोंसे युक्त (अभिष्टिः) सम्पूर्ण यज्ञोंसे स्तुतिको प्राप्त (हविषा) हविद्वारा

(आजुह्वानः) ऋत्विजोंसे बुलायाहुआ (शर्धमानः) अतिबलवान् "शर्धइति बलनाम" [निघं० २ । ९ । ७] (पुरन्दरः) शत्रुओंके नगर विदीर्ण करनेवाला (गोत्रभित्) असुरकुलनाशक (वज्रबाहुः) वज्रधारी देवता (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (उपजुषाणः) सेवन करताहुआ (आयातु) आगमन करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

जुषाणो बर्हिर्हरिवान्नऽइन्द्रः प्राचीनᳬं सीदत्प्रदिशा पृथिव्याः ॥ उरुप्रथाः प्रथमानᳬं स्योनमादित्यैरक्तं वसुभिः सजोषाः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जुषाण इत्यस्यांगिरस ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पृ० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(हरिवान्) अश्वोंसे युक्त (उरुप्रथाः) महाकीर्तिमान् (सजोषाः) प्रीतिमान् (इन्द्रः) इन्द्रदेवता (पृथिव्याः) पृथ्वीके अर्थात् देवयजन भूमिके (प्रदिशा) प्रदिशामें निर्मित प्राचीनवर्हि शालाको लक्ष्य करके (आदित्यैः) बारह आदित्य (वसुभिः) आठ वसुओंसे (अक्तम्) युक्त होकर (प्रथमानम्) विस्तीर्ण (स्योनम्) सुखरूप (बर्हिः) कुशासनको (जुषाणः) सेवन करताहुआ (नः) हमारे (प्राचिनम्) यज्ञस्थानमें (सीदतु) बैठो अर्थात् अपकवान् तत्सुखको विस्तार करो ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

इन्द्रं दुरः कवष्यो धावमाना वृषाणं यन्तु जनयः सुपत्नीः ॥ द्वारो देवीरभितो विश्रयन्ताᳬं सुवीराः वीरं प्रथमाना महोभिः ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रमित्यस्य आङ्गिरस ऋषिः । निच्यृत्त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४० ॥

मंत्रार्थ-(कवष्याः) जहांसे वायुके गमनागमनका मार्ग है अर्थात् झिलमिलि देनेकी समान जिनमें मनुष्य शब्दकरते हैं (दुरः) यज्ञगृहके द्वार (वृषाणम्)

मनोरथ वर्षानेवाले (वीरम्) शूर (इन्द्रम्) इन्द्रको (यन्तु) प्राप्तहों जिस प्रकार (धावमानाः) धावमान होती आदरयुक्त (सुपत्नीः) श्रेष्ठ साध्वी (जनयः) यजमानकी स्त्री तथा (सुवीराः) सुन्दर वीर ऋत्विजयुक्त (महोभिः) तेज वा उत्सवोंसे (प्रथमानाः) विस्तारको प्राप्त (द्वारः) द्वार (देवीः) दिव्यगुणोंसे युक्त (अभितः) सब ओरसे (विश्रयन्ताम्) खुलैं वा विस्तृत हों ॥ ४० ॥

सरलार्थ–उत्सव पूर्ण विख्यात वीरगण ऋत्विजोंसे आधिष्ठित कवष्य द्वारदेवी भली प्रकारसे उद्घाटित हो अर्थात् खुलो, और जिसप्रकार साध्वी स्त्री परदेशसे आये पतिके प्रति धावमान होकर आलिंगन करती है यहभी इसी प्रकार धावमान होकर वीरफलवर्षी इन्द्र देवताको आलिंगन करैं ॥ ४० ॥ [झिलमिलि झरोखा ।]

कण्डिका ४१–मंत्र १ ।

उषासानक्ता बृहती बृहन्तम्पयस्वती सुदुघे शूरमिन्द्रम् ॥ तन्तुन्ततम्पेशसा संवयन्ती देवानान्देवं यजतः सुरुक्मे ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उषासानक्तेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । उषासानक्ते देवते । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मंत्रार्थ–(बृहती) बडी (पयस्वती) जलवती (सुदुघे) सुन्दर दोहनवाली (ततम्) विस्तारवान् (तन्तुम्) सूत्रकी समान (पेशसा) विचित्र रूपस (संवयन्ती) संग्रथित करनेवाली अर्थात् रूपसे इन्द्रको युक्त करनेवाली (उषासानक्ता) सूर्यकी प्रभा और रात्रि (बृहन्तम्) महान् (शूरम्) शूर पराक्रमी (देवानाम्) देवताओंके (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (सुरुक्मे) सुन्दर दीप्तिमें(यजतः) युक्त करती हैं, अर्थात् तन्तुवायपत्नी जिस प्रकार पटके निमित्त विस्तृत किये तन्त्रमें तन्तुको विचित्र प्रकारसे बुन्ती है, इसी प्रकार दिवारात्रिनिविष्टचित्तसे महान् इन्द्र देवताको यज्ञतंत्रमें वयन करै लगाले [ऋ० ७।८।९] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मंत्र १ ।

दैव्या मिमाना मनुषः पुरुत्रा होतारा विन्द्रम्प्रथमा सुवाचा ॥ मूर्द्धन्यज्ञस्य मधुना दधाना प्राचीनञ्ज्योतिर्हविषा वृधातः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्येत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । होतारौ देवते । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे (मिमानाः) यज्ञरचना करनेवाले (मनुषः) मानुष होताके (प्रथमा) पहले (सुवाचा) सुन्दर वचनवाले (यज्ञस्य) यज्ञके (मूर्धन्) प्रधान अंग शिरोभागमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (दधाना) धारण वा स्थापन करते (दैव्या) देवसम्बन्धी (होतारः) होता वायु और अग्नि (प्राचीनम्) पूर्व दिशामें वर्तमान (ज्योतिः) आहवनीय अग्निको (मधुना) मधुर (हविषा) हविसे (वृधातः) बढाते हैं ॥ ४२ ॥

सरलार्थ-मनुष्यजातिसे बहुत पूर्व उत्पन्न विख्यात अग्नि और वायु देवता इस यज्ञमें होतृत्व स्वीकार करते यज्ञके प्रधान स्थलमें इन्द्र देवताको धारणपूर्वक मधुर हविहवनद्वारा प्राचीन ज्योतिको बढाते हैं ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

तिस्रो देवीर्हविषा वर्द्धमाना इन्द्रं जुषाणा जनयो न पत्नीः ॥ अच्छिन्नन्तन्तुं पयसा सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तिस्र इत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । देव्यो देवताः । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मंत्रार्थ-(देवीः) दीप्यमान (विश्वमूर्तिः) सर्वगामिनी (सरस्वती) वागधिष्ठात्री (भारती) भारती धारण पोषण करनेवाली (इडा) शुभगुणोंसे स्तुतियोग्य (तिस्रः) तीनों (वर्धमानाः) पुष्टियुक्त (पत्नीः) साध्वी (जनयः) स्त्रियोंकी (न) समान (इन्द्रम्) इन्द्रको (जुषाणाः) सेवन करता (देवीः) देवियें (पयसा) दुग्ध और (हविषा) हविसे (तन्तुम्) यज्ञको (अच्छिन्नम्) विघ्नरहित करो ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकोचिष्टुर्यशसे पुरूणि ॥ वृषा यजन्वृषणम्भूरिरेता मूर्द्धन्यज्ञस्य समनक्तु देवान् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वष्टेत्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । त्वष्टा देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मंत्रार्थ-(अपाकः) अतिप्रशंसनीय "पाक इति प्रशस्यनाम" [निघं० ३ । ८ । ८] जिससे अधिक और प्रशंसनीय नहीं (अचिष्टुः) अर्चनशील सबओर गमनकरनेवाला (वृषा) मनोरथोंकी वर्षा करनेवाला (भूरिरेताः) बड़ा वीर्यवान् सम्पूर्णका उत्पन्न करनेवाला (त्वष्टा) त्वष्टा देवता "त्वष्टा त्वक्षतेः करोत्यर्थस्व" इति [निरु० ८ । १३ ।] (यशसे) यशके निमित्त (वृष्णे) सेचनकरनेवाले (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (पुरूणि) बहुत (शुष्मम्) बेलको (दधत्) धारण करते (वृषणम्) वृषधर्मसम्पन्न इन्द्रको (यजन्) पूजन करते हुए (यज्ञस्य) यज्ञके (मूर्धन्) शिरोभाग आहवनीयमें (देवान्) देवताओंको (समनक्तु) भोजन कराओ वा तृप्त करो ॥ ४४ ॥

सरलार्थ-इन त्वष्टा देवताने यशस्वी और वर्षणमें समर्थ इन्द्र देवताको यथेष्टबलशाली किया है, इसकी अपेक्षा अधिक वा समान प्रशंनीय और कोई नहीं है, यह सर्वत्रगामी है इन्होंने इन्द्रको वर्षाकार्यमें नियुक्त करके जलवर्षणमें सम्पन्न किया है, यह समस्त चराचरके एक मात्र सृजनकर्ता है, वह त्वष्टा परमात्मा यज्ञके मूर्धासदृश है, यह आहवनीय स्थानमें देवताओंको तृप्त करै ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैस्त्मन्या समञ्जञ्छमिता न देवः ॥ इन्द्रस्य हव्यैर्जठरं पृणानः स्वदाति यज्ञं मधुना घृतेन ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वनस्पतिरित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वनस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(वनस्पतिः) यूप (देवः) देवता (शमिता) यज्ञके (न) समान (अवसृष्टः) आज्ञादिये हुएकी (न) समान (पाशैः) पाशोंसे (त्मन्या) आत्मामें (समञ्जन्) युक्तकरते तथा (हव्यैः) हविद्वारा (इन्द्रस्य) इन्द्रके (जठरम्) उदरको (पृणानः) पूर्णकरते (मधुना) मधुरस (घृतेन) और घृतद्वारा (यज्ञम्) यज्ञको (स्वदाति) आस्वादन करता है ॥ ४५ ॥

सरलार्थ-वनस्पति (यूप) देवता शमिताकी समान सोत्साह अपनेमें पाश बन्धन स्वीकार करके हविद्वारा इन्द्र देवताका जठर परितृप्त करते मधु और घृतादिद्वारा यज्ञको परितृप्त करैं ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १ ।

स्तोकानामिन्दुम्प्रतिशूरऽइन्द्रो॑वृषायमा॑णोवृषभ स्तुराषाट् ॥ घृतप्रुषामनसामोद॑मानाःस्वाहा॑दे वाऽअमृता॑मादयन्ताम् ॥ ४६ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ स्तोकानामित्यस्याङ्गिरस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । स्वाहाकृतयो देवताः । वि० पू० ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(शूरः) शूर वीरतादियुक्त (वृषायमाणः) शत्रुओंके प्रति गर्जनेवाला (वृषभः) वर्षा करनेवाला (तुराषाट्) शत्रुओंका तिरस्कार करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र और (स्वाहा) स्वाहाकार (घृतप्रुषा) घृतके विन्दुसेभी (मनसा) मनमें (मोदमानाः) प्रसन्न होते (अमृताः) मरणधर्मरहित (देवाः) देवता (स्तोकानाम्) घृतविन्दुसम्बन्धी (इन्दुम्) सोमके प्रति (मादयन्ताम्) तृप्तहो ॥ ४६ ॥ [११]

कण्डिका ४७-मन्त्र १ । अनु० ६ ।

आया॑त्विन्द्रो॑वसऽउप॑नऽइहस्तुतःसधमा॑दस्तुशूरः॑ ॥ वावृधानस्तवि॑षीर्य॑स्यपूर्वीर्द्यौर्न॑क्षत्रमभि भूति॑पुष्या॑त् ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आयात्वित्यस्य वामदेव ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४७ ॥

विधि-(१) " पुरोडाशके याज्य और अनुवाक्य है [का० १९।६।१३] ४७ याज्यानुवाक्य ४८ पुरोनुवाक्य ४९-५२ पुरोनुवाक्य ७ कहाते हैं । "

मन्त्रार्थ-(यस्य) जिस इन्द्रके (पूर्वीः) पूर्व कालमें (तविषीः) किये हुए कर्म वा वृत्रवधादि पराक्रम (द्यौः) स्वर्गकी (न) समान कहे जाते हैं "तविषीति बलनाम तवतेर्वृद्धिकर्मणः" इति [निरु० ९।२५] और जो (अभिभूतिः) तिरस्कार न होनेवाले हमारे (क्षत्रम्) क्षत्रतेजको (पुष्यत्) पुष्ट करता है (शूरः) वह शूर (स्तुतः) स्तुति करनेसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्त हुआ (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (अवसे) रक्षा करनेको (उप) समीप (आयातु) आओ (इह) इस यज्ञमें (सधमात्) देवताओंके साथ भोजन करनेवाले (अस्तु) हो ॥ ४७ ॥

सरलार्थ–जिस इन्द्रके पूर्वमें किये सम्पूर्ण कार्य द्युलोकपर्यन्त कीर्तित होते हैं जो अपराजित क्षत्र धर्मका पोषण करनेवाला है वह वर्धमान विक्रान्त इन्द्र देवता हमको अनुगृहीत करनेको इस यज्ञमें आओ और दूसरे आये हुए देवताओंके साथ भोजन करो [ऋ० ३ । ६ । ५] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मंत्र १ ।

आ नऽइन्द्रो दूरादा नऽआसादभिष्टिकृदवसे यासदुग्रः ॥ ओजिष्ठेभिर्नृपतिर्वज्रबाहुः सङ्गे समत्सु तुर्वणिः पृतन्यून् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आन इत्यस्य वामदेव ऋषिः । निचृत्त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो दे० । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ–(अभिष्टिकृत्) मनोरथोंका पूरण करनेवाला (उग्रः) उत्कृष्ट (ओजिष्ठेभिः) अतितेजस्वी बलोंसे युक्त (नृपतिः) मनुष्योंका पालन करनेवाला (वज्रबाहु) वज्रधारी (सङ्गे) एक संग्राममें (समत्सु) तथा बडे संग्रामोंमें (पृतन्यून्) शत्रुओंको (तुर्वणिः) मारनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमारी (अवसे) रक्षा करनेको (दूरात्) दूरसे स्वर्गसे (अयासत्) आओ (नः) हमारे (आसात्) निकट स्थानसे भी (आ) आओ [ऋ० ३ । ६ । ३] ॥ ४८ ॥

प्रमाण–"आसादित्यन्तिकनाम" [निघं० २ । १६ ।] "सङ्गः समिदिति द्वे संग्रामनामनी" [निघं० २ । १७] ॥ ४८ ॥

सरलार्थ–जो देवता सामान्य संग्राम वा दुर्जय बहुतराष्ट्रविप्लवादिमें राजधर्म अवलम्बनपूर्वक अमितबल प्रकाश करके वज्रबाहु होकर शत्रुओंका पक्ष दलन करते हैं वह उग्रमूर्ति इन्द्रदेवता दूर हो वा निकट हो हमको अनुगृहीत करनेके निमित्त इस यज्ञमें आओ और आकर हमारे अभीष्ट सिद्ध करो ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९–मन्त्र १ ।

आ नऽइन्द्रो हरिभिर्यात्वच्छार्वाचीनोऽवसे राधसे च ॥ तिष्ठाति वज्री मघवा विरप्शीमं यज्ञमनु नो वाजसातौ ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य वामदेव० ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(मघवा) परिपूर्ण धनवान् (विरप्शी) महान् (वज्री) वज्रधारी (इन्द्रः) इन्द्र देवता (नः) हमारी (अवसे) रक्षाके निमित्त (च) और (राधसे) धन देनेके निमित्त (अर्वाचीनः) सन्मुख होता हुआ (हरिभिः) हरित वर्ण वा हरिनाम अश्वोंद्वारा (अच्छ) अच्छे प्रकार सन्मुख (आयातु) आओ और आकर (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको (अनुवाजसातौ) अन्नके सम्भागनिमित्त (तिष्ठति) स्थितहो अर्थात् धन और रक्षा दोनोंकी हम आशा करते हैं [ऋ० ३ । ६ । ३] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र १ ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳहवेहवेसुहवꣳशूरमिन्द्रम् ॥ ह्वयामिशक्रम्पुरुहूतमिन्द्रꣳस्वस्तिनो मघवाधात्विन्द्रः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रातारमित्यस्य गर्ग ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ-(त्रातारम्) रक्षा करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (ह्वयामि) आह्वान करता हूं (अवितारम्) पालन करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (हवे हवे) प्रत्येक आह्वान वा यज्ञमें (सुहवम्) सुखसे आह्वानयोग्य (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) इन्द्रको आह्वान करताहूं (शक्रम्) समर्थ (पुरुहूतम्) बहुतोंसे आह्वान किये (इन्द्रम्) इन्द्रको आह्वान करताहूं (मघवा) धनवान् (इन्द्रः) इन्द्र (नः) हमको (स्वस्ति) कल्याण (दधातु) करै [ऋ० ४ । ७ । ३२] ॥ ५० ॥

सरलार्थ-हमारी रक्षा करनेवाले पोषक भलीप्रकारसे आह्वानके योग्य पात्र विक्रान्त सर्वसमर्थ ऐश्वर्यवान् बहुतोंसे आहूत इन्द्रदेवताको हम प्रतिकार्यमेंही आह्वान करते हैं वहभी हमारे सम्पूर्ण कार्योंमें कल्याण करै ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

इन्द्रः सुत्रामास्ववाँ २ ऽअवोभिः सुमृडीकोभवतु विश्ववेदाः ॥ बाधतान्द्वेषोऽअभयङ्कृणोतुसुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य गर्ग ऋषिः । भुरिक्पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मंत्रार्थ-(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षक (स्ववान्) धनवान् (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (इन्द्रः) इन्द्र (अवोभिः) अन्नोंद्वारा (सुमृडीकः) सुखकारी (भवतु) हो (द्वेषः) हमारे दुर्भागको (बाधताम्) दूरकरो (अभयम्) अभयको(कृणोतु) करो हम (सुवीर्यस्य) श्रेष्ठ धनके (पतयः) स्वामी (स्याम) होवैं अथवा सुन्दर पुत्रवाले होवैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

तस्य॑ वु॒यꣳ सु॑म॒तौ य॒ज्ञिय॒स्यापि॑ भ॒द्रे सौ॑मन॒से स्या॑म ॥ स सु॒त्रामा॒ स्ववाँ॑ २ ऽइन्द्रो॑ऽअ॒स्मेऽआ॒राच्चि॒द्द्वेषः॑ सनु॒तर्यु॑योतु ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तस्येत्यस्य गर्ग ऋषिः । पंक्तिश्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मंत्रार्थ-(वयम्) हम (तस्य) उस (यज्ञियस्य) यज्ञसम्पादन करनेवाले इन्द्रकी (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) प्राप्तहों (भद्रे) कल्याणरूप (सौमनसे) श्रेष्ठ मनमें (अपि) भी स्थित हों अर्थात् इन्द्र हमारी सुमति और कल्याणयुक्त मनको सम्पादन करे (सः) वह (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षक (स्ववान्) धनवान् (इन्द्रः) इन्द्र (अस्मे) हमसे (आरात्) दूरस्थितभी (चित्) जो कुछ (द्वेषः) दुर्भाग्य हो उसको (सनुतः) अन्तर्हित करके (युयोतु) पृथक् करे " सनुतरिति निर्णीतान्तर्हितनाम " [निघं० ५ । २५ । ३१] [ऋ० ४ । ७ ३२] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः ॥ मा त्वा॒ के चि॒न्नि य॑म॒न्विं न पा॒शिनो॑ऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ २ ऽइ॑हि ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आमन्द्रैरिन्द्रेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्रः) हे इन्द्र ! तुम (मन्द्रैः) गंभीर शब्दवाले (मयूररोमभिः) मोरोंकी समान रोमवाले (हरिभिः) अपने घोडोंद्वारा (आयाहि) यहां आइये (केचित्) कोई भी दुष्ट आते हुए (त्वा) तुमको (मा) न (नियमन्) बाधादे (न) जिस प्रकार (पाशिनः) पाशधारी व्याधे (विम्) पक्षीको पकडते हैं इस प्रकार तुम उनके वशीभूत न होना जो वे विघ्न करैं तो (तान्) उनको (धन्व) मरुभूमिकी (इव) समान (अतीहि) अतिक्रमण कर आओ अर्थात् जैसे मरुभूमिको त्याग कर जाते हैं इस प्रकार अतिक्रमण कर गमन करो [ऋ० ३ । ३। ९] ॥ ५३ ॥

कण्डिका५४-मंत्र १ ।

एवेदिन्द्रं वृष॑णुं वज्र॑बाहुं वसि॑ष्ठासोऽअुभ्य॑र्च॒न्त्य॒र्कैः ॥ स न॑स्तुतो वीरवद्धातु गोम॑द्यूयं पा॑त स्व॒स्तिभि॒ः सदा॑ नः ॥ ५४ ॥ [८]

ऋष्यादि- (१) ॐ एवेदिन्द्रमित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(वसिष्ठासः) वसिष्ठके अपत्य अथवा अतिशय ब्रह्मविचारतत्पर महर्षिगण (एव) इसी प्रकार (इत्) ही (अर्कैः) मन्त्रोंद्वारा (वृषणम्) कामनाओंकी वर्षा करनेवाले (वज्रबाहुम्) हाथमें वज्रलिये (इन्द्रम्) इन्द्रको (अभ्यर्चन्ति) अर्चन करते हैं (सः) वह (स्तुतः) स्तुतिको प्राप्त हुआ (वीरवत्) पुत्रयुक्त (गोमत्) गोआदि पशुयुक्त धन (नः) हममें (धातु) स्थापन करै (यूयम्) हे ऋत्विजो ! तुमभी (स्वस्तिभिः) अनेक कल्याणोंद्वारा (सदा) निरन्तर (नः) हमारी (पात) रक्षा करो [ऋ० ५।३।७] ॥ ५४ ॥ [८]

कण्डिका ५५-मंत्र १ । अनु० ।

समि॑द्धोऽअुग्निर॑श्विना तुप्तो घुर्मो विराट् सुतः ॥ दुहे धेनुः सर॑स्वती सोम॑ᳬ शुक्रमिहेन्द्रियम् ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । आप्रियपाठे वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) यहांसे आदि ले बारह मंत्र आप्रिय कहाते हैं [का० १९।६।१५]

मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (अग्निः) अग्नि (समिद्धः) प्रदीप्त हुआ (घर्मः) प्रवर्ग्य (तप्तः) तप्त हुआ (विराट्) अनेक प्रकारसे राजमान सोम (सुतः) अभिषव कियागया (धेनुः) तृप्त करनेवाली धेनुरूपा (सरस्वती) सरस्वती देवीने (इह) इस यज्ञमें (शुक्रम्) शुद्ध (इन्द्रियम्) इन्द्रियोंको बलदायक (सोमम्) सोमको (दुहे) दुहा ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा सरस्वती ॥ मध्वा रजाᳮंसीन्द्रियमिन्द्राय पथिभिर्वहान् ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तनूपेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । विराडनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(तनूपा) शरीरके रक्षक (भिषजा) वैद्य (उभा) दोनों (अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वती देवी (मध्वा) मधुसे (रजांसि) लोकोंको पूर्ण करती है "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति [निरु० ४ । १९] (सुते) सोमके अभिषव होनेपर उसे (पथिभिः) मार्गोंमें (इन्द्राय) इन्द्रकी (इन्द्रियम्) इन्द्रियवृद्धि करनेके निमित्त (वहान्) वहन करते हैं ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

इन्द्रायेन्दुᳮं सरस्वती नराशᳮंसेन नग्नहुम् ॥ अधातामश्विना मधु भेषजं भिषजा सुते ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वतीने (नराशंसेन) यज्ञके साथ (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्दुम्) सोम (नग्नहुम्) महौषधियोंके कंदको धारण किया और (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमारोंने (सुते) अभिषुत होनेपर (मधु) इस मधुर (भेषजम्) ओषधीको (अधाताम्) धारण किया ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १ ।

आजुह्वाना सरस्वतीन्द्रायेन्द्रियाणि वीर्य्यम् । इडाभिरश्विनाविषꣳ समूर्जꣳ सꣳरयिन्दधुः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजुह्वानेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(आजुह्वाना) इन्द्रको आह्वान करती (सरस्वती) सरस्वती देवी (अश्विनौ) और अश्विनीकुमारोंने (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्द्रियाणि) चक्षुरादि इन्द्रिय और (वीर्यम्) सामर्थ्यको (सन्दधुः) स्थापन किया (इडाभिः) पशुओंके सहित (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) दहीआदि रस और (रयिम्) धनको (सम्) स्थापन किया "पशवो वा इडा" इति [१ । ८ । १ । १२] श्रुतेः ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मन्त्र १ ।

अश्विना नमुचेः सुतꣳ सोमꣳ शुक्रम्परिस्रुता ॥ सरस्वती तमाभरद्बर्हिषेन्द्राय पातवे ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मंत्रार्थ-(अश्विना) अश्विनीकुमारोंद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रसके सहित (सुतम्) अभिषुत (शुक्रम्) पवित्र (सोमम्) सोमको (नमुचेः) नमुचिअसुर वा पापसे (सरस्वती) सरस्वतीने हरण किया (तम्) उसको (इन्द्राय) इन्द्रकी (पातवे) रक्षाके निमित्त वा पानके निमित्त (बर्हिषा) कुशोंपर (आभरत्) धारण किया ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

कवष्यो न व्यचस्वतीरश्विभ्यान्न दुरो दिशः ॥ इन्द्रो न रोदसी ऽउभे दुहे कामान्त्सरस्वती ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कवष्य इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६० ॥

मन्त्रार्थ-(अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके सहित (सरस्वती) सरस्वतीने (न) और (इन्द्रः) इन्द्रने (उभे) दोनो (रोदसी) द्यावा पृथ्वी (न) और (कवष्यः) छिद्रयुक्त (व्यचस्वतीः) अवकाशयुक्त (दुरः) यज्ञीय द्वार (न) और (दिशः) सब दिशाओंसे (कामान्) कामनाओंको (दुहे) दुहा ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १।

उषासानक्तमश्विना दिवेन्द्रँ सायमिन्द्रियैः ॥ सञ्जानाने सुपेशसा समञ्जाते सरस्वत्या ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उषासानक्तमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मंत्रार्थ-(सरस्वत्या) सरस्वतीके सहित (अश्विना) अश्विनी कुमार (सञ्जानाने) एकमत होकर (सुपेशसा) सुन्दर रूपवाले (उषासा) सूर्यप्रभा और (नक्तम्) रात्रि (दिवा) दिनमें अर्थात् प्रभात कालमें और (सायम्) सन्ध्याकालमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (इन्द्रियैः) सामर्थ्योंसे (समंजाते) संयुक्त करतेहैं अर्थात् सुरूपा और सम्यक् विदित उषासानक्त देवता यह दोनों अश्विनीकुमार और सरस्वतीदेवी दिनके प्रारंभसे सन्ध्यापर्यन्त एकवाक्यसे इन्द्रको अनुरक्त करते हैं ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १।

पातन्नोऽअश्विना दिवा पाहि नक्तँ सरस्वति ॥ दैव्या होतारा भिषजा पातमिन्द्रँ सचा सुते ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पातन्न इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (दिवा) दिनमें (नः) हमारी (पातम्) रक्षाकरो (सरस्वति) हे सरस्वती ! तुम (नक्तम्) रात्रिमें (पाहि) रक्षाकरो (दैव्या) हे देवसम्बन्धी (होतारा) होताओं ! (भिषजा) वैद्य अश्विनीकुमारो ! (सुते) सोमके अभिषुत होनेमें (सचा) एकहोकर (इन्द्रम्) इन्द्रकी (पातम्) रक्षा करो ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मंत्र १ ।

तिस्रस्त्रेधा सरस्वत्यश्विना भारतीडा ॥ तीव्रम्परिस्रुता सोममिन्द्राय सुषुवुर्मदम् ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तिस्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मंत्रार्थ-(त्रेधा) तीन प्रकारसे स्थित अर्थात् मध्यस्थानमें स्थित (सरस्वती) सरस्वती द्युस्थानमें (भारती) भारती पृथ्वी स्थानमें (इडा) इडादेवी (तिस्रः) यह तीनो (अश्विना) अश्विनीकुमारद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रससे युक्त (तीव्रम्) अधिक (मदम्) हर्षकरनेवाले (सोमम्) सोमको (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सुषुवुः) अभिषवण करते हुए ॥ ६३ ॥

कण्डिका६४-मंत्र १ ।

अश्विना भेषजम्मधु भेषजन्नः सरस्वती ॥ इन्द्रे त्वष्टा यशः श्रियँ रूपँ रूपमधुः सुते ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ-(सुते) सोमके अभिषव होनेपर (नः) हमारे (इन्द्रे) इन्द्रमें (अश्विना) अश्विनीकुमारने (भेषजम्) महौषधी (सरस्वती) सरस्वतीने (मधु) मधुरूप (भेषजम्) औषधी (त्वष्टा) त्वष्टादेवताने (यशः) कीर्ति (श्रियम्) लक्ष्मी (रूपंरूपं) अनेक प्रकारके रूप (अधुः) स्थापन किये ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

ऋतुथेन्द्रो वनस्पतिः शशमानः परिस्रुता ॥ कीलालमश्विभ्याम्मधु दुहे धेनुः सरस्वती ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतुथेन्द्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मंत्रार्थ-(वनस्पतिः) प्रयाज देवता (इन्द्रः) इन्द्र (शशमानः) स्तुतिको प्राप्त होता हुआ (ऋतुथा) ऋतु ऋतु अर्थात् समय २ पर (परिस्रुता) महौष-

धियोंके रसके साथ (कीलालम्) अन्नके रसको (इन्द्रः) इन्द्रके निमित्त देता-हुआ तथा (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके सहित (सरस्वती) सरस्वतीने (धेनुः) धेनुरूप होकर इन्द्रके निमित्त (मधु) मधुको (दुहे) दुहा अर्थात् प्रतिऋतुमें स्तुतिको प्राप्त होकर वनस्पतिदेवताने इन्द्रके निमित्त परिस्रुतसहित अमृत क्षरण किया, और अश्विनीकुमारोंके सहित सरस्वतीने गोरूप होकर मधु क्षरण किया ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६—मन्त्र १ ।

गोभिर्न्न सोमंमश्विना मासरेण परिस्रुता ॥ समधातᳬ सरस्वत्या स्वाहेन्द्रे सुतम्मधु ॥ ६६ ॥ [१२]

ऋष्यादि—(१) ॐ गोभिरित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मन्त्रार्थ—(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! तुम (सरस्वत्या) सरस्वतीके सहित (गोभिः) दूधघृतादिद्वारा (परिस्रुता) महौषधियोंके रससे (सुतम्) अभिषुत (मधु) मधुर (सोमम्) सोमको अथवा मधु और सोमको (इन्द्रे) इन्द्रके निमित्त (समधातम्) आरोपण करो (स्वाहा) श्रेष्ठ होम हो अथवा हे स्वाहावृत्तियो ! प्रयाज देवता तुम सरस्वतीके साथ अभिषुत मधुको धारण करो ॥ ६६ ॥ घृत मधु और दूध मिलाकर पान करनेसे तथा सोमरसपानसे बहुत बलकी रूपकी वृद्धि होती है वैद्योंद्वारा महौषधिरस निर्माण होता है इसको आसव कहते हैं ॥ ६६ ॥ [१२]

कण्डिका ६७—मंत्र १. अनु० ९ ।

अश्विना हविरिन्द्रियन्नमुचेर्द्धिया सरस्वती ॥ आ शुक्रमासुराद्वसु मघमिन्द्राय जभ्रिरे ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । याज्यायाज्यपाठे विनि० ॥ ६७ ॥

विधि—(१) यहांसे आगे * यागमें तीन मंत्र याज्य और पुरोनुवाक्य कहाते हैं प्रथमको छोडकर दूसरा याज्य दूसरेको छोडकर तीसरा याज्य तीसरेको छोडकर

प्रथमा याज्य यथा अश्विनेति ६७ अनुवाक्य, यमश्विनेति ६८ याज्य, सारस्वत-यागमें यमश्विनेति अनुवाक्य ६८ तमिन्द्र ६९ मिति याज्य, और ऐन्द्रयागमें तमिन्द्रमिति ६९ अनुवाक्य अश्विनेति ६७ याज्य कहलाते हैं [का० १९ । ६ । १६ । १७] मन्त्रार्थ-(अश्विना) अश्विनीकुमार और (सरस्वती) सरस्वतीने (धिया) बुद्धिपूर्वक (नमुचेः) नमुचिनामक (आसुरात्) दैत्यसे (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (शुक्रम्) शुद्ध (हविः) हवि (इन्द्रियम्) बलकारक (मघम्) और पूजनीय (वसु) धनको (आजभ्रिरे) आहरण किया ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मंत्र १ ।

यम॒श्विना॒ सर॑स्वती ह॒विषेन्द्र॒मव॑र्द्धयन् ॥ स बि॑भेद ब॒लम्म॒घन्न॑मु॑चावासु॒रे सचा॑ ॥ ६८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । भुरिगनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६८ ॥

मंत्रार्थ-(अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) और सरस्वतीने (सचा) एकमत होकर (यम्) जिस (इन्द्रम्) इन्द्रको (हविषा) हविसे (अवर्द्धयन्) बढाया (सः) वह इन्द्र (आसुरे) असुर (नमुचौ) नमुचिके साथ होकर अर्थात् नमुचि असुरके सहित विवाद करके (बलम्) बल (मघम्) महनीय मेघको (बिभेद) विदीर्ण करता हुआ "वृणोतेर्बल" इति [निरु० ६ । २] अर्थात् नमुचिको विदारण कर इन्द्रने वर्षा की ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १ ।

तमिन्द्र॑म्प॒शवः॒ सचा॒श्विनो॒भा सर॑स्वती ॥ दधा॑ना अ॒भ्य॑नूषत ह॒विषा॑ य॒ज्ञ इ॑न्द्रि॒यैः ॥ ६९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमिन्द्रमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निचृदनुष्टुप्छंदः अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(पशवः) कर्मके अंगभूत पशु (उभा) दोनों (अश्विना) अश्वि-नीकुमार (सरस्वती) सरस्वती (सचा) साथ होकर (यज्ञे) यज्ञमें (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्रको (हविषा) हविद्वारा (इन्द्रियैः) बलोंको (दधानाः) धारण करते (अभ्यनूषत) स्तुति करते हुए ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १ ।

यऽइन्द्रऽइन्द्रियन्दधुःसविता वरुणो भगः ॥ सस्सुत्रामा हविष्पतिर्यजमानाय सश्चत ॥ ७० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ य इन्द्र इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । याज्यानुवाक्यपाठे वि० पू० ॥ ७० ॥

विधि-(१) यहांसे आगे पुरोडाशयागके तीन मंत्र याज्य और पुरोनुवाक्य कहातेहैं य इन्द्रे ७०, सविता ७१, इन्द्रके अनुवाक्य, वरुणः क्षत्रम् ७२ सावित्रके, यइन्द्रे ७० यह वरुणका है [का० १९ । ६ । १८] मन्त्रार्थ-(ये) जो (सविता) सविता देवता (वरुणः) वरुण (भगः) भग देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (इन्द्रियम्) बलको (दधुः) स्थापन करते हुए (सः) वह (हविष्पतिः) हवियोंका स्वामी (सुत्रामा) भली प्रकार रक्षक इन्द्र (यजमानाय) यजमानके निमित्त (सश्चत) इष्टदानसे सुखकरो ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१-मन्त्र १ ।

सविता वरुणो दधद्यजमानाय दाशुषे ॥ आदत्त नमुचेर्वसु सुत्रामा बलमिन्द्रियम् ॥ ७१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सवितेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । इन्द्रसवितृवरुणा देवताः । वि० पू० ॥ ७१ ॥

मन्त्रार्थ-(सुत्रामा) भली प्रकार रक्षा करनेवाले इन्द्रने (नमुचेः) नमुचि असुरसे (वसु) धन (बलम्) बल (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्य (आदत्त) ग्रहण की (सविता) सविता देवता (वरुणः) वरुणदेवता (दाशुषे) हवि देनेवाले (यजमानाय) यजमानके निमित्त धन और बल (दधत्) धारण करतेहुए अर्थात् देतेहुए ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२-मंत्र १ ।

वरुणः क्षत्रमिन्द्रियम्भगेन सविता श्रियम् ॥ सुत्रामा यशसा बलन्दधाना यज्ञमाशत ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वरुण इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्र-सवितृवरुणा देवताः । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ-(क्षत्रम्) क्षतसे त्राणकी सामर्थ्य (इन्द्रियम्) बल (भगेन) भाग्य ऐश्वर्यके साथ (श्रियम्) लक्ष्मीको (यशसा) यशके साथ (बलम्) सामर्थ्यको (दधानाः) यजमानमें स्थापन करते हुए (सविता) सविता देवता (सुत्रामा) और इन्द्र (यज्ञम्) इस सौत्रामणि यज्ञको (आशत) उपभोग वा व्याप्त करते हैं । वरुण क्षत्र और इंद्रिय, सविता प्रिय ऐश्वर्य, और इन्द्र यश और बलको स्थापन करता है ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३-मं० १ ।

अश्विना गोभिरिन्द्रियमश्वेभिर्वीर्यम्बलम् ॥ हविषेन्द्रꣳ सरस्वती यजमानमवर्द्धयन् ॥ ७३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । याज्यानुवाक्यपाठे वि० ॥ ७३ ॥

विधि-(१) यहांसे आगेके तीन मंत्र हविके याज्य और अनुवाक्य हैं ७३ । ७४ मंत्र यागमें पुरोनुवाक्य, याज्यमें ७४ । ७५ मंत्र, सारस्वत यागमें ७६ । ७६ मंत्र हैं [का० १९ । ६ । १९] मन्त्रार्थ-(अश्विना) दोनों अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती देवी (गोभिः) गौआदि पशुओंसे (इन्द्रियम्) इन्द्रियोंकी सामर्थ्य (अश्वेभिः) अश्वोंसे वा दक्षिणारूप अश्वोंसे (वीर्यम्) वीर्य (बलम्) मानसबलको (हविषा) हविद्वारा (इन्द्रम्) इन्द्रको (यजमानम्) और यजमानको (अवर्द्धयन्) बढाते हुए तृप्ति होना इन्द्रकी वृद्धि है, धन पुत्र पशुकी पुष्टि यजमानकी वृद्धि है ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मन्त्र २ ।

ता नासत्या सुपेशसा हिरण्यवर्त्तनी नरा ॥ सरस्वती हविष्मतीन्द्र कर्मसु नोवत ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तानासत्येत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ७४ ॥

मन्त्रार्थ-(ता) वे दोनों (हिरण्यवर्तिनी) सुवर्णमार्गमें विचरनेवाले (सुपेशसा) सुन्दर रूपवाले (नरा) नराकार (नासत्या) अश्विनीकुमार (हविष्मती) हविवाली (सरस्वती) सरस्वती तथा (इन्द्र) हे इन्द्र! तुम (कर्मसु) सौत्रामणि यज्ञमें (नः) हमारी (अवत) रक्षा करो अथवा (इन्द्रकर्मसु) ऐश्वर्यवान् यजमानके यागानुष्ठान कर्ममें प्रवृत्त हम ऋत्विजोंकी रक्षा करें ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५-मंत्र १।

ता भिषजा सुकर्मणा सा सुदुघा सरस्वती ॥ स वृत्रहा शतक्रतुरिन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐताभिषजेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। वि० पू० ॥ ७५ ॥

मंत्रार्थ-(ता) वे (सुकर्मणा) सुन्दर कर्मवाले (भिषजा) दोनों वैद्य और (सा) वह (सुदुघा) साधुदोहा कामदुहा (सरस्वती) सरस्वती और (सः) वह (वृत्रहा) वृत्रनाशक (शतक्रतुः) इन्द्र (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् यजमानके निमित्त (इन्द्रियम्) इन्द्रियसामर्थ्यको (दधुः) स्थापन करते हुए अथवा कल्पान्तरके इन्द्र इस इन्द्रमें सामर्थ्य देते हुए ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मन्त्र १।

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ॥ विपिपानाः सरस्वतीन्द्रं कर्मस्वावत ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युवमित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। विराडनुष्टुप्छन्दः। अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। पुरोनुवाक्यजपे वि० ॥ ७६ ॥

विधि-(१) यह मंत्र रसग्रह और पयोग्रहके पुरोनुवाक्य है [का० १९।६।२०]

मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमार और (सरस्वती) हे सरस्वती देवी! (युवम्) तुम (सचा) एकमत होकर (नमुचौ) नमुचि (आसुरे) असुरमें वर्तमान (सुरामम्) महौषधियोंके रस संयुक्त ग्रहको लेकर :(विपिपानाः) विविध प्रकारसे पान करते (कर्मसु) इस यज्ञकर्ममें (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवत) रक्षा करो अथवा ऐश्वर्यवान् यजमानकी रक्षा करो ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मंत्र १।

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः। यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ७७ ॥

मंत्रार्थ-ॐपुत्रमिवेति इसकी व्याख्या १०।३४ में होगयी यह ग्रह याज्य है॥७७॥

कण्डिका ७८-मंत्र १.

यस्मिन्नश्वासऽऋषभासऽउक्षणो वशा मेषाऽअवसृष्टासऽआहुताः। कीलालपे सोमपृष्ठाय वेधसे हृदा मतिं जनय चारुमग्नये ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) यस्मिन्नित्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। जगती छं०। अग्निर्देवता। पुरोनुवाक्यजपे वि० ॥ ७८ ॥

विधि-(१) स्विष्टकृत् यागके पुरोनुवाक्य [का० १९।६।२१] मंत्रार्थ-(कीलालपे) अन्नरसके पान करनेवाले (सोमपृष्ठाय) सोमकी आहुतिवाले (वेधसे) शुभमति करनेवाले (अग्नये) अग्निके निमित्त (हृदा) हृदयसे (मतिम्) बुद्धिको (चारुम्) समीचीन (जनय) प्रगट करो अर्थात् अग्निके निमित्त मनबुद्धि शुद्ध करो (यस्मिन्) जिस शुद्ध व्यवहारमें (अश्वासः) घोडे (उक्षणः) सेचनमें समर्थ (ऋषभासः) वृषभ (वशा) वन्ध्या (मेषाः) मेष (अवसृष्टासः) सुशिक्षित करे छोडे (आहुताः) ग्रहण किये जाते हैं आशय यह कि शिक्षा कर कार्यमें लाये जाते और नवीन ग्रहण कर सिखाये जाते हैं ॥ ७८ ॥

अथवा-(यस्मिन्) जिस अग्निमें (अश्वासः) घोडे (उक्षणः) सेचनमें समर्थ (वृषभासः) वृषभ वा वृषभकी तुल्य वली (वशा) वन्ध्या (मेषाः) मेष (अवसृष्टासः) पडतेही (आहुताः) होम होजाते अर्थात् भस्म होजाते हैं. आशय यह कि अग्नि स्थावर जंगमके भस्म करनेमें समर्थ है भस्म करनाही इसका शुद्ध व्यवहार है अपने स्वभावमें कपट नहीं रखता है ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९-मंत्र १।

अहाव्यग्ने हविरास्ये ते स्रुचीव घृतं चम्वीव सोमः ॥

वाजसनिꣳ रयिमस्मे सुवीरं प्रशस्तं धेहि यशसं बृहन्तम् ॥ ७९ ॥ [१३] शतम् ॥ १२०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अहाव्यग्न इत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। भुरिक्पंक्तिश्छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (ते) तुम्हारे (आस्ये) मुखमें (हविः) हवि (अहावि) सब ओरसे हवन करते हैं (इव) जिसप्रकार (स्रुचि) स्रुवमें (घृतम्) घी और (इव) जिस प्रकार (चम्वि) अधिषवण चर्ममें (सोमः) सोम सदा स्थित रहता है इस प्रकार नित्य मैंने तुम्हारे मुखमें हवि दी है (अस्मे) हममें (वाजसनिम्) अन्नभाग (सुवीरम्) वीर पुत्र (रयिम्) धन (प्रशस्तम्) सब लोकमें प्रशंसित (बृहन्तम्) बडे लोकप्रसिद्ध (यशसम्) यशको (धेहि) दीजिये [ऋ० ८।४।२२] ॥ ७९ ॥ [१३]

कण्डिका ८०-मंत्र१. अनु० ९।

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्यम्। वाचेन्द्रो बलेनेन्द्राय दधुरिन्द्रियम् ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्विनेत्यस्य विदर्भिर्ऋषिः। विराडनुष्टुप्छं०। अश्विसरस्वतीन्द्रा दे०। प्रतिगरकरणे वि० ॥ ८० ॥

विधि-(१) तेतीस ग्रहसादनके उपरान्त अध्वर्युके सामने स्थित होकर होता प्रतिगर क्रिया करे और यह ग्यारह मंत्रात्मक शस्त्रव्यवहार करे अध्वर्यो 'शोसा सोंवा ३ म्' इसप्रकार आहवविशिष्ट ऋक् पाठ करनेको प्रतिगर क्रिया कहते हैं यह प्रतिगर पहले और ग्यारहवें मंत्रमें तीनवार इसी प्रकार आहव होती है और बीचकेभी नौ मंत्रोंमें प्रारंभमें इसी प्रकार आहव करना होता है [का० १९।७।१] मन्त्रार्थ-(अश्विना) दोनों अश्विनीकुमारोंने (तेजसा) तेजके सहित (चक्षुः) नेत्र (सरस्वती) सरस्वती देवीने (प्राणेन) प्राणोंके सहित (वीर्यम्) सामर्थ्य (इन्द्रः) इन्द्रने (वाचा) वाणीके (बलेन) सामर्थ्यसे (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (इन्द्राय) यजमानके निमित्त (दधुः) स्थापन किया है ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मंत्र १.

गोमदूषुणासत्याश्वावद्यातमश्विना॥वुर्त्ती रुद्रा नृपाय्यम् ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गोमदित्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छन्दः । अश्विनौ देवते । आह्वकार्ये वि० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(नासत्या) हे सत्यव्यवहारयुक्त (अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (रुद्रा) हे दुष्टोंके रुवानेवाले (उ, सु,) अवश्यही तुम (गोमत्) गौओंसे युक्त (अश्वावत्) अश्वोंसे युक्त (वर्ती): वर्तमान मार्गमें (नृपाय्यम्) इस सोमरसपान योग्य यज्ञमें (यातम्) गमन करो अर्थात् यजमानने गौ अश्वोंका दान किया है तुम यहां आगमन करो [ऋ० २।८।८] ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मंत्र १.

नयत्परो नान्तरऽआदधर्षद्वृषण्वसू ॥ दुःशꣳसो मर्त्यो रिपुः ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नयत्पर इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ-(वृषण्वसू) हे वृष्टिरूप धनवाले अथवा वर्षासे लोकोंको स्थापन करनेवाले फल देनेवाले दोनों अश्विनीकुमार (यत्) जो (दुःशंसः) अपवाद वा निन्दा करनेवाला (रिपुः) शत्रु (मर्त्यः) मनुष्य (परः) अपने सम्बन्धसे रहित हो वा (अन्तरः) अपना सम्बन्धी हो (न) वह अपने सम्बन्धका न पराया हो वह हमको वा इन्द्रको (न) नहीं (आदधर्षीत) धर्षणा करसके अर्थात् सम्बन्ध वा असम्बन्ध जो कोई हमारा शत्रु हो उसको तुम धर्षणा करो वह धर्षणा न करसके [ऋ० २।८।८] ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३-मंत्र १.

ता नऽआवोढमश्विना रयिम्पिशङ्गसन्दृशम् ॥ धिष्ण्या वरिवोविदम् ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तान इत्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । अश्विनौ देवते । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ-(धिष्ण्या) हे सबके धारण करनेवाले वा अग्निरूप अथवा धैर्यशील अश्विना) अश्विनीकुमारो (ता) वे तुम (नः) हमारे निमित्त (पिशङ्ग-रूपम्) पीतवर्ण सुवर्ण (वरिवोविदम्) धनप्राप्तिकरानेवाला अथवा धनका हेतु रयिम्) धन (आवोढम्) प्राप्तकराओ धनसेही धनकी वृद्धि होती है इस कारण इसे धनकी प्रार्थना है [ऋ० २ । ८ । ८] ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४–मन्त्र १ ।

पावकानुःसरस्वतीवाजेभिर्वाजिनीवती ॥ यज्ञंवष्टुधियावसुः ॥ ८४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पावकेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्रीछन्दः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८४ ॥

मंत्रार्थ–(पावका) पवित्रकरनेवाली (वाजेभिः) अन्नोंद्वारा (वाजिनीवती) अन्नयुक्त अथवा कर्मधना, यज्ञक्रियाकी अधिष्ठात्री (धियावसुः) बुद्धिके कर्म रूप धनवाली (सरस्वती) सरस्वतीदेवी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (वष्टु) इच्छा करो अथवा हमको इस यज्ञमें अन्न दान करते वाञ्छा करो [ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८४ ॥

कण्डिका ८५–मंत्र १ ।

चोदयित्रीसूनृतानाञ्चेतन्तीसुमतीनाम् ॥ यज्ञन्दधेसरस्वती ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ चोदयित्रीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री-च्छन्दः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८५ ॥

मंत्रार्थ–(सूनृतानाम्) सत्य और प्रिय वचनोंकी अथवा वेदत्रयी शब्दोंकी (चोदयित्री) प्रेरण करनेवाली (सुमतीनाम्) सुबुद्धियोंकी (चेतन्ती) प्रगट करती हुई (सरस्वती) सरस्वती देवी (यज्ञम्) यज्ञको (दधे) धारण करती है ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८५ ॥

कण्डिका ८६–मन्त्र १ ।

महोऽअर्णःसरस्वतीप्प्रचेतयतिकेतुना ॥ धियोविश्वाविराजति ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महोअर्ण इत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री-च्छं० । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ-(सरस्वती) सरस्वतीदेवी (केतुना) कर्म वा प्रज्ञासे (महो) बडे (अर्णः) जलको (प्रचेतयाति) प्रेरणकरती है अर्थात् सब भूमियोंमें वृष्टि कराती है (विश्वाः) सम्पूर्ण प्राणियोंकी (धियः) बुद्धियोंको (विराजाति) प्रदीप्त करती है उसकी हम स्तुति करते हैं अर्थात् सरस्वती देवी सब प्राणियोंकी बुद्धिमें विराजमान होकर प्रज्ञाकी सहायतासे मानस समुद्रको सचेतन करती है [ऋ० १ । १ । ६] ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७-मंत्र १ ।

इन्द्रायाहि चित्रभानो सुताऽइमे त्वायवः ॥ अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ ८७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ-(चित्रभानो) अनेक प्रकारकी कान्तिवाले अथवा अनेक प्रकारके किरणोंवाले [सूर्यकी किरणोंसे अनेक प्रकारके रंग प्रतिफलित होतेहैं] (इन्द्र) हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र ! (आयाहि) इस स्थानमें आओ (इमे) यह (त्वायवः) तुम्हारी इच्छाकरनेवाले (अण्वीभिः) अंगुलियोंसे (तना) दशापवित्रसे (पूतासः) पवित्रहुए (सुताः) अभिषुत सोम तुम्हारे निमित्त ही रक्षित किये हैं [ऋ० १ । १ । ९] ॥ ८७ ॥

प्रमाण-"अण्वीत्यंगुलीनाम" [निघं० २ । ५] ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८-मंत्र १ ।

इन्द्रायाहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः ॥ उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८८ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (धिया) अपनी बुद्धिसे (इषितः) प्रेरित हुए तुम (विप्रजूतः) श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे सेवित (आयाहि) आगमन करो (सुतावतः) सोमके अभिषव करनेवाले यजमानकी (ब्रह्माणि) हवियोंके (उप) समीपमें (वाघतः) ऋत्विज वर्तते हैं "वाघत इति ऋत्विङ्नामसु" [निघं० ३ । १८]॥८८॥

श्रीः ।

अथ वाजसनेयिशुक्लयजुर्वेदसंहितायाम्

उत्तरविंशतिः ।

अथ एकविंशोऽध्यायः २१.

श्रीगणेशाय नमः ॥ हरिःओम् ॥ इमम्मेसमिद्धोअग्निरेकादशकौ वसंतेनऋतुनापङ्क्तीतायक्षत्तसमीधाग्निद्वादशाश्विनौछागस्यसन्तदेवंवर्हिश्चतुर्दशपडेकपष्टिः ॥

कण्डिका १–मंत्र १ । अनु० १ ।

इमम्मेवरुणश्रुधीहवमद्याचमृडय॥त्वामवस्युराचके ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इमं म इत्यस्य शुनःशेप ऋषिः । गायत्री छन्दः । वरुणो देवता । अवभृथेष्टावनुवाक्यमंत्रपठने वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) यह मंत्र अवभृथइष्टिमें वरुण देवताके एक कपाल पुरोडाशका पुरोनुवाक्य है [का० १९ । ७ । १३] मन्त्रार्थ–(वरुण) हे संसारसागरके अधिपति वरुण देव आप (मे) मेरे (इमम्) इस (हवम्) आह्वानको (श्रुधि) सुनिये (च) और (अद्य) आजदिन (मृडय) हमको सब प्रकारसे सुखी कीजिये, कारण कि (अवस्युः) अपने पालनकी इच्छावाला मैं (त्वाम्) तुमको (आचके) यहां बुलानेकी इच्छा करताहूं "आचक इति कान्तिकर्मा" [निघं० २ । ६] [ऋ० । १ । २ । १९] ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

तत्त्वायामिब्रह्मणावन्दमानस्तदाशास्तेयजमानोहविर्भिः ॥ अहेडमानोवरुणेहबोध्युरुशंसमानऽआयुःप्रमोषीः ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तत्त्वायामीति इसकी व्याख्या १८ । ४९ में होगई । यह भी याज्य है याज्यमन्त्रपठने विनियोगः ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

त्वन्नोऽअग्ने वरुणस्य विद्वान्देवस्य हेडोऽअवयासिसीष्ठाः ॥ यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वन्न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निवरुणौ देवते । वरुणयागे पुरोनुवाक्यमंत्रपठने वि० ॥ ३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र अवभृथइष्टिमें अग्निवारुणयागमें पुरोनुवाक्य है [का० ८ । ७ । १४ ।] मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! (विद्वान्) सब कुछ जाननेवाले (यजिष्ठः) यज्ञमें प्रधान (वह्नितमः) अतिशय हवि वहन करनेवाले (शोशुचानः) कान्तिमान् (त्वम्) तुम (नः) हमसे (वरुणस्य) वरुण (देवस्य) देवताके (हेडः) क्रोधको (अवयासिसीष्ठाः) दूरकरो और (विश्वा) सम्पूर्ण (द्वेषांसि) द्वेष दुर्भाग्य (अस्मत्) हमसे (प्रमुमुग्धि) छुटाकर दूरकरो [ऋ० ३ । ४ । १२] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

स त्वन्नोऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्याऽउषसो व्युष्टौ ॥ अव यक्ष्व नो वरुणꣳ रराणो वीहि मृडीकꣳ सुहवो नऽएधि ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सत्वन्न इत्यस्य वामदेव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वरुणयागे याज्यमंत्रपठने विनि० ॥ ४ ॥

विधि-(१) यह मंत्र भी उन्हीका याज्य है । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (सः) वह (त्वम्) तुम (अस्याः) इस (उषसः) उषाकालकी (व्युष्टौ) समृद्धिमें (ऊती) अपनी पालनशक्तिके सहित (नः) हमारी (अवमः) रक्षा करनेको (नेदिष्ठः) हमारे समीप (भव) हूजिये (रराणः) हवि देते हुए (नः) हमारे (वरुणम्) वरुण देवताको (अवयक्ष्व) तृप्तकीजिये (मृडीकम्) सुखकारक हविको (वीहि) भक्षणकीजिये (नः) हमारे (सुहवः) अच्छे आह्वानवाले (एधि) हूजिये [ऋ० ३ । ४ । १२] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १।

म॒हीमू॒ षुमा॒तर॑ᳬसुव्र॒तानामृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हुवे म ॥ तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीᳬसु॒शर्म्मा॑णमदि॑तिᳬसु॒प्रणी॑तिम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महीमृष्वित्यस्य वामदेव ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। अदितिर्देवता। आदित्यचरुयाज्यमन्त्रपठने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) इस मंत्रमें आदित्यचरुके याज्य है [का० १९। ७। १९।] मन्त्रार्थ-(ऊपुमहीम्) वडी महिमावाली(सुव्रतानाम) श्रेष्ठ कर्मोकी (मातरम्) माता निर्माण करनेवाली (ऋतस्य) सत्यकी यज्ञकी (पत्नीम्) पालन करनेवाली (तुविक्षत्राम्) बहुक्षत [घाव] से रक्षाकरनेवाली (अजरन्तीम्) जरारहित (उरूचीम्) दीर्घमार्गमें गमन करनेवाली (सुशर्माणम) सुखरूप (सुप्रणीतिम्) सुन्दर प्रणयवाली (अदितिम्) अदितिको (अवसे) रक्षाके निमित्त (हुवेम) आह्वान करते है ॥ ५ ॥

प्रमाण-"व्रतमिति कर्मनाम" [निघं० २। १] "तुवीति बहुनाम" [निघं० ३। १।] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १।

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हस॑ᳬसु॒शर्म्मा॑ण॒मदि॑तिᳬसु॒प्रणी॑तिम् ॥ दैवीं॒ नाव॑ᳬस्वरि॒त्रामना॑गस॒मस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुत्रामाणमित्यस्य गयप्लात ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। अदितिर्देवता। आदित्यचरुपुरोनुवाक्यमंत्रपठने विनियोगः ॥ ६ ॥

विधि-(१) उसीका पुरोनुवाक्य है। मंत्रार्थ-(पृथिवीम्) वडी विशाल (द्याम्) स्वर्गरूप वा स्वर्गके हेतुरूप (अनेहसम्) क्रोधरहित (सुत्रामाणम्) पालन करनेवाली अथवा पृथ्वीकी समान पालन करनेवाली स्वर्गकी समान क्रोध रहित (सुशर्माणम) भली प्रकार शरण देनेवाली सुन्दर घरोंसे युक्त (सुप्रणीतिम्) भली प्रकार प्रणययुक्त (अनागसम्) अपराध वा दोषरहित(अस्रवन्तीम्) छिद्ररहित वा निन्दारहित (दैवीम्) देवसम्बन्धिनी यज्ञरूप (स्वरित्राम्)-अच्छी-

पतवारसे युक्त (अदितिम्) अखंडित (नावम्) नावपर (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (आरुहेम) आरोहणकरते है [ऋ० ८ । २ । ४] ॥ ६ ॥

प्रमाण-"अनेह समेह" इति [निघं० ३।१३] क्रोधनाम नास्ति । एहो यत्र ।

विशेष-आशय यह कि यथायोग्य पूर्ण अंगवाले यज्ञकी नौका बनाय विविध प्रकारके सुखभोग करनेको स्वर्गमें गमन करै । दूसरे पक्षमें सब प्रकार उपयोगी नौका जहाज निर्माण कर सागरके पार हों । तथा अनेक सुख प्राप्त करै ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १ ।

सुनावमारुहेयमस्रवन्तीमनागसम् ॥ शतारित्रा ᳪस्वस्तये ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुनावमित्यस्य गयप्लात ऋषिः । गायत्री छं० । अदितिर्देवता । नावारोहणे वि० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्रवन्तीम्) छिद्ररहित (अनागसम्) अपराधरहित होनेसे मनोरथ पूर्ण करनेवाली (शतारित्राम्) ऋक् यजु सामरूप अनेक पतवारवाली (सुनावम्) इस यज्ञरूप श्रेष्ठ नावपर (स्वस्तये) संसारसागर तरनेके निमित्त (आरुहेम) आरोहण करते हैं "तद्वै सर्व एव यज्ञो नौः स्वर्ग्यः" इति श्रुतेः । स्वर्गकी नौका यज्ञही है इससे यज्ञ कर स्वर्गमें गमन करैं पक्षान्तरमें नौकारोहणका मंत्र है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

आनोमित्रावरुणाघृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् ॥ मद्ध्वा रजाᳪसिसुक्रतू ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । गायत्री छन्दः । मित्रावरुणौ देवते । मैत्रावरुणपयस्यायाः पुरोनुवाक्यमन्त्रपठने वि० ॥ ८ ॥

विधि-(१) यह मंत्र अवभृथइष्टिसम्पन्न होनेपर मैत्रावरुण पयस्याका पुरोनुवाक्य है [का० १९ । ७ । १६] मन्त्रार्थ-(सुक्रतू) हे श्रेष्ठ कर्म करनेवाले (मित्रावरुणा) मित्रावरुण देवताओ ! (नः) हमारे (गव्यूतिम्) यज्ञमार्गको (घृतैः) घीके द्वारा सींचो अथवा "गवि-ऊतिम्" पृथ्वीके रक्षाके हेतु क्षेत्रोंको अमृतरूप शुद्ध जलसे भलीप्रकार सींचो (रजांसि) लोकोंको (मद्ध्वा) मधुसे (उक्षत) सींचो [ऋ० ५ । ३ । ४ । ११] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १ ।

प्रबाहवासिसृतञ्जीवसेनऽआनोगव्यूतिमुक्षतङ्घृतेन॥ आमाजनेश्रवयतंयुवानाश्रुतम्मेमित्रावरुणाहवेमा ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रबाहवेत्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । गायत्री छन्दः । मित्रावरुणौ देवते । तस्यैव याज्यमन्त्रपठने वि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) यह याज्य है । मन्त्रार्थ-हे (युवाना) तरुण (मित्रावरुणा) मित्रावरुण देवताओ ! तुम (मे) मेरे (इमा) इस (हवम्) आह्वानको (श्रुतम्) सुनकर (नः) हमारे (जीवसे) चिरकालपर्यन्त जीनेके निमित्त (बाहवा) भुजाओंको (प्रसिसृतम्) फैलाओ (नः) हमारे (गव्यूतिम्) क्षेत्रको (घृतेन) शुद्ध जलसे (आ) सब प्रकार (उक्षतम्) सींचो (मा) मुझको (जने) लोकोंमें (आश्रवयतम्) विख्यात करो [ऋ० ९ । ९ । ४] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १.

शन्नोभवन्तुवाजिनोहवेषुदेवताताामितद्रवःस्वर्काः॥ जम्भयन्तोहिंवृकःरक्षाꣳसिसनेम्यस्मद्युयवन्नमीवाः ॥ १० ॥

शन्न इति । यह मंत्र वाजिन भागका पुरोनुवाक्य है । [का० १९ । ७ । १७] इसकी व्याख्या ९ । १६ में होगई ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १.

वाजेवाजेवतवाजिनोनोधनेषुविप्राऽअमृताऋतज्ञाः ॥ अस्यमध्वः पिबतमादयध्वन्तृप्तायातपथिभिर्देवयानैः ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐवाजेवाज इति० यह याज्य है ९ । १८ में व्याख्या होगई ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १. अनु० २.

समिद्धोऽअग्निःसमिधासुसमिद्धोवरेण्यः ॥गायत्रीच्छन्दऽइन्द्रियन्त्र्यविर्गौर्वयोदधुः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः। आप्री देवता । आप्रीमन्त्रपठने विनियोगः ॥ १२ ॥

विधि-(१) वयोधस प्रकरणमें यह ग्यारह मंत्र आप्री नामसे प्रसिद्ध है अर्थात् प्रयाजोंके याज्य हैं [का० १९ । ७ । १९] मन्त्रार्थ-(समिधा) बडी समिधाद्वारा (समिद्धः) भलीप्रकार प्रज्वलित (सुसमिद्धः) भलीप्रकारसे दीप्त (वरेण्यः) वरण करनेके योग्य (अग्निः) अग्नि देवता (गायत्रीछन्दः) गायत्री छन्दकी सामर्थ्य (त्र्यविः) डेढ वर्षकी अवस्थावाली (गौः) गौ पूजित होनेसे यजमानमें (इन्द्रियम्) वल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करते हुए ॥ ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १.

तनूनपाच्छुचिव्रतस्तनूपाश्च सरस्वती ॥ उष्णिहा छन्दऽइन्द्रियन्दित्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ तनूनपादित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं०। आप्री देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(शुचिव्रतः) शुद्धकर्मा (तनूनपात्) जलोंके पोते अग्नि (तनूपाः) शरीरके पोषण करनेवाले गौओंके घृत अथवा प्रयाज देवता (सरस्वती) सरस्वती देवी (उष्णिहा छन्दः) उष्णिक् छन्द (च) भी और (दित्यवाट्) दिव्य हविकी वहन करनेवाली दो वर्षकी (गौः) गौ पूजित होकर यजमानमें (इन्द्रियम्) वल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करती हुई ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १.

इडाभिरग्निरीड्यः सोमो देवोऽअमर्त्यः ॥ अनुष्टुप्छन्दऽइन्द्रियम्पञ्चाविर्गौर्वयो दधुः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इडाभिरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । विराडनुष्छं० । अग्न्यादयो दे० । वि० पू० ॥ १४॥

(इडाभिः) प्रयाज देवताओंसे (ईड्यः) स्तुति किया (अग्निः) अग्नि देवता (अमर्त्यः) मरणधर्मरहित (देवः) देव (सोमः) सोम (अनुष्टुप्छन्दः) अनुष्टुप् छन्द (पञ्चाविः) ढाई वर्षकी (गौः) गौ पूजित होनेसे यजमानमें (इन्द्रियम्) वलको (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करती हुई ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १।

सुबर्हिरग्निः पूषण्वान्त्स्तीर्णबर्हिरमर्त्यः ॥ बृहतीच्छन्दऽइन्द्रियं त्रिवत्सो गौर्वयो दधुः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुबर्हिरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। निचृदनुष्टुप्छन्दः। आग्नी देवता। त्रि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(सुबर्हिः) सुन्दर बर्हीवाला (पूषण्वान्) पूषा प्रयाज देव (अग्निः) अग्निदेवता (स्तीर्णबर्हिः) विस्तृत कुशायुक्त (अमर्त्यः) मरणधर्मरहित अग्नि (बृहतीछन्दः) बृहतीछन्द (त्रिवत्सः) तीन वर्षकी अथवा जिसके तीनवत्स अनुचर हैं ऐसी (गौः) गौ (इन्द्रियम्) बल और (वयः) अवस्था (दधुः) यजमानमें धारण करतीहुई ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १।

दुरो देवीर्दिशो महीर्ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः ॥ पङ्क्तिश्छन्दऽइहेन्द्रियं तुर्यवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दुरोदेवीरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। आग्नी देवता। वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(महीः) महान् (दिशः) दिशा (देवीः) देवी दीप्यमान (दुरः) द्वारदेवी (बृहस्पतिः) बृहस्पति (ब्रह्मा) ब्रह्माजी (देवः) देवता (पंक्तिश्छंदः) पंक्तिच्छन्द (तुर्यवाट्) चार वर्षकी (गौः) गौ पूजित होकर इस यजमानमें (इन्द्रियम्) बल (वयः) अवस्थाको (दधुः) धारण करते हुए ॥ १६ ॥

आशय-आशय यह है कि इन सबकी अनुकूलतासे यजमान दीर्घायु होताहै।

कण्डिका १७-मंत्र १।

उषे यह्वी सुपेशसा विश्वे देवाऽअमर्त्याः ॥ त्रिष्टुप्छन्दऽइहेन्द्रियं पष्ठवाड्गौर्वयो दधुः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उषेयह्वीत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। निचृदनुष्टुप्छं०। प्रयाजादे०। वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(यह्वी) महान् (सुपेशसा) सुन्दररूपवाली (उषे) दिनरात (अमर्त्याः) मरणधर्मरहित (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (त्रिष्टुप्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्द (पष्ठ-

वाट्) पृष्ठपर भार वहनमें समर्थ (गौः) वृषभ (इह) इस यजमानमें (इन्द्रियम्) बल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) धारणकरते हुए "यह्व इति महन्नाम" [निघं० ३ । ३] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १ ।

दैव्या होतारा भिषजेन्द्रेण सयुजा युजा ॥ जगती छन्द इन्द्रियमनड्वान्गौर्वयो दधुः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्येत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । निच्यृदनुष्टुप्छन्दः । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(दैव्या) देवी (होतारः) आहुति करनेवाले यह अग्नि और मध्यम वायु (इन्द्रेण) इन्द्रके द्वारा (सयुजा) संयुक्त होनेवाले (युजौ) संयुक्त (भिषजा) वैद्य अर्थात् इन्द्रके साथ एकत्र स्थिति करनेवाले [अन्तरिक्षमें स्थित अग्नि और वायु] (जगतीच्छन्दः) जगतीच्छन्द (अनड्वान्) छःवर्षका युवा (गौः) वृष यजमानमें (इन्द्रियम्) बल (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करते हुए ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

तिस्र इडा सरस्वती भारती मरुतो विशः ॥ विराट् छन्द इहेन्द्रियं धेनुर्गौर्न वयो दधुः ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तिस्र इत्यस्य स्वस्त्यात्रेयऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(इडा) इडाभूमि (सरस्वती) सरस्वती (भारती) धारणावती बुद्धि (तिस्रः) यह तीनों देवी (मरुतः) इन्द्रकी (विशः) प्रजा (विराट्छन्दः) विराट्छंद (न) और (धेनुः) दुधारी (गौः) गौ इस यजमानमें (इन्द्रियम्) बल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करतेहुये ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

त्वष्टा तुरीपो अद्भुत इन्द्राग्नी पुष्टिवर्द्धना ॥ द्विपदा छन्द इन्द्रियमुक्षा गौर्न वयो दधुः ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वष्टेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० आप्रीदेवता । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(तुरीपः) पूर्णताको प्राप्त सर्वव्यापी (अद्भुतः)अद्भुत महान् (त्वष्टा) त्वष्टा देवता (तुष्टिपुष्टिवर्धना) तुष्टि पुष्टिके वढानेवाले (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (द्विपदा) द्विपात् (छन्दः) छन्द (उक्षा) सेचनमें समर्थ (गौः) वृपभ यह पांच इन्द्रमें (इन्द्रियम्) वल (न) और (वयः) आयुको (दधुः) स्थापन करते हुए ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १।

शमितानोवनस्प्पतिः सविताप्प्रसुवन्भगम् ॥ ककुप्छन्दऽइहेन्द्रियंवशावेहद्वयोदधुः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शमितेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(नः) हमको (शमिता) सुख करनेवाली (वनस्पतिः) वनस्पति और (भगम्) धनको (प्रसुवन्) प्ररणाकरनेवाला (सविता) सविता देवता (ककुप्छन्दः) ककुप्छन्द (वशा) वंध्यधर्मको प्राप्त तथा (वेहत्) गर्भघातकरी गौ (इह) इस इन्द्रमें (इन्द्रियम) वल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करतेहुए ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

स्वाहायज्ञंवरुणः सुक्षत्रोभेषजङ्करत् ॥ अतिच्छन्दाऽइन्द्रियम्बृहदृषभोगौर्वयोदधुः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वाहेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(सुक्षत्रः) भलीप्रकार दुःखोंसे रक्षाकरनेवाला (वरुणः) वरुण देवता (स्वाहा) स्वाहाकृत प्रयाज देवताओंके साथ (भेपजम्) औषधिलक्षणवाले (यज्ञम्) यज्ञको (करत्) इन्द्रके निमित्त करते हुए (अतिच्छन्दः) अतिच्छन्द (वृहत्) महान् (ऋषभः) वृपभ (गौः) गौ इन्द्रमें (इन्द्रियम्) वल और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करते हुए ॥ २२ ॥

विशेष-छन्दोंकी सामर्थ्यका वर्णन पिछले अध्यायोंमें करचुके हैं यहां जिस पशुदेवतादिके साथ जो छन्द है उसी छन्दके जपकरनेसे उस अवस्थाके पशुओंसे यजमानकी वृद्धि होती है तथा उस उस छन्दके पाठसे वही २ देवता प्रसन्न होते हैं ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वर्षाभिरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः। लिङ्गोक्तदेवता। पुरोडाशयागेऽनुवाक्यमंत्रपठने वि०॥ २५॥

विधि-(१) यह मंत्र पुरोडाशयागके पुरोनुवाक्य है। मन्त्रार्थ-(सप्तदशे) सप्तदश (स्तोमे) स्तोम और (वैरूपेण) विरूपपृष्ठद्वारा (स्तुताः) स्तुतिको प्राप्त हुए (वर्षाभिः) वर्षा (ऋतुना) ऋतुके सहित (आदित्याः) आदित्य देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (विशा) प्रजाद्वारा (ओजसा) ओजके साथ (हविः) हवि और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करते हुए॥ २५॥

तात्पर्य-वर्षामें सप्तदश स्तोमसे स्तुति करै तो अच्छी वर्षा होकर उत्तम हवि होकर आरोग्यता होगी॥ २५॥

कण्डिका २६-मन्त्र १।

शारदेनऽऋतुनां देवाऽएकविꣳशऽऋभवं स्तुताः॥ वैराजेनं श्रिया श्रियꣳ हविरिन्द्रे वयो दधुः॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शारदेनेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। स्वराडार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। तस्यैव याज्यमन्त्रपठने वि०॥ २६॥

विधि-(१) इसीका याज्य है। मन्त्रार्थ-(एकविंशे) एकविंश स्तोम (वैराजेन) विराजपृष्ठद्वारा (स्तुताः) स्तुतिको प्राप्त हुए (श्रिया) लक्ष्मी और (शारदेन) शरद् (ऋतुना) ऋतुद्वारा (ऋभवः) ऋभुनामवाले (देवाः) देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (श्रियम्) लक्ष्मी (हविः) हवि और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करतेहुए॥ २६॥

कण्डिका २७-मंत्र १।

हेमन्तेनंऽऋतुनां देवास्त्रिणवे मरुतं स्तुताः॥ बलेन शक्करीः सहो हविरिन्द्रे वयो दधुः॥ २७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हेमन्तेनेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ०। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छन्दः। लिंगोक्त देवता। हृदयादियागेऽनुवाक्यमन्त्रपठने वि०॥ २७॥

विधि-(१) पुरोनुवाक्य है। मन्त्रार्थ-(त्रिणवे) त्रिनवस्तोम (शक्करीः) शक्कर पृष्ठद्वारा (स्तुताः) स्तुतिको प्राप्तहुए (हेमन्तेन) हेमन्त (ऋतुना) ऋतुके द्वारा (मरुतः) मरुत् (देवाः) देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (बलेन) बलके (सह) साथ (हविः) हवि और (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करतेहुए॥ २७

कण्डिका २८–मन्त्र १ ।

शैशिरेणऽऋतुना देवास्त्रयस्त्रिँ॒शेमृताँ॑स्तुताः ॥ सत्येनरेवतीँऽक्षत्रँ॒हविरिन्द्रेवयोदधुः ॥ २८ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐ शैशिरेणेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छंदः । लिङ्गोक्तदेवता । तस्यैव याज्यमन्त्रपठने वि० ॥ २८ ॥

विधि–(१) उसीका याज्य है । मन्त्रार्थ–(त्रयस्त्रिंशे) त्रयस्त्रिंशस्तोम (रेवतीः) रेवतीपृष्ठसे (स्तुताः) स्तुतिको प्राप्तहुए (शैशिरेण) शिशिर (ऋतुना) ऋतुके सहित (अमृताः) अमृतसंज्ञक (देवाः) देवता (इन्द्रे) इन्द्रमें (सत्येन) सत्यके सहित (क्षत्रम्) क्षत्र तेज (हविः) हवि (वयः) अवस्थाको (दधुः) स्थापन करतेहुए ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मन्त्र १. अनु० ४ ।

होतायक्षत्समिधाग्निमिडस्पदेश्विनेन्द्रँ॒सरस्वतीमजोधूम्रोनगोधूमैः कुवलैर्भेषजम्मधुशष्पैर्न्नतेजऽइन्द्रियम्पयः सोमः परिस्रुताघृतम्मधुव्यन्त्वाज्यस्यहोतर्यज ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । प्रैषमंत्रपठने वि० ॥ २९ ॥

विधि–(१) यहांसे बारह मंत्र प्रैष कहाते है [का० १९ । ६ । १४] मन्त्रार्थ–(होता) आहवनीय वेदीमें स्थित (होता) दिव्य होता (समिधा) समिधाके देनेसे (अग्निम्) अग्निको (अश्विना) अश्विनीकुमार (इन्द्रम्) इन्द्रको (सरस्वतीम्) सरस्वतीको अर्थात् इनके निमित्त (इडः) आहवनीयके (पदे) स्थानमें (यक्षत्) यजन करताहुआ वा यजन करै उस यागमें (धूम्रः) धूम्रवर्णका (अजः) अज अथवा मेष (गोधूमैः) गेहूं (कुवलैः) वेर(बदरीफल) (न) और (शष्पैः) अंकुरितव्रीहिके सहित (मधु) मधुर (भेषजम्) भेषज औषधी होती है (न) और वह (तेजः) तेजकी देनेवाली (इन्द्रियम्) बलकी देनेवाली औषधी हुई, और वे अश्विसरस्वती इन्द्र देवता होताद्वारा पूजित होकर (पयः) जलोंके सार (परिस्रुता) परिस्रुत महौषधियोंके

रसके साथ (सोमः) सोम (मधु) मधु (घृतम) घृतको (व्यन्तु) पानकरै (होतः) हे मनुष्य होता ! इसी प्रकार तुमभी (आज्यस्य) घृतद्वारा (यज) देवताओंको प्रसन्नकरो ॥ २९ ॥

सरलार्थ–आहवनीयमें बैठकर दिव्य होता जिसप्रकार समिदाधानद्वारा अग्निका यजन करते है, और धूम्रवर्ण अज गेहूं बेर अंकुरित ब्रीहिसे इन्द्रिय वृद्धिकारी तेजवृद्धिकारी भेषजस्वरूप मधुर परिस्रुत दुग्ध और सोमरसके द्वारा अश्विनीकुमार इन्द्र और सरस्वती देवताके निमित्त यजन करते हैं, यह देवता इस यज्ञमें घृत मधु उपभोगकरै हे होतः ! उनकी प्रीतिके उद्देश्यसे तुमभी आहुति प्रदान करो ॥ २९ ॥

विवरण–यज्ञसे जितने हितकारी लाभ है उनके कहनेवाले यह मंत्र हैं ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मंत्र १ ।

होता॑यक्षत्तनू॒नपा॒त्सर॑स्वती॒मवि॑र्म्मे॒षोनभे॑षुजम्प॒था मधु॑मता॒भर॑न्न॒श्विनेन्द्रा॑यवी॒र्य्यम्बद॑रैरुप॒वाका॑भि॒र्भे॑षुजन्तोक्म॑भिः॒पयः॒सोमः॑परि॒स्रुता॑घृतम्म॒धुव्यन्त्वाज्य॑स्य॒होत॒र्य्यज॑ ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । भुरिगत्यष्टिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दिव्यहोताने (तनूनपात्) प्रयाजदेवता (सरस्वती) सरस्वती (अश्विना) अश्विनीकुमारोंको (यक्षत्) यजन किया उस यज्ञमें (वदरैः) वेर (उपवाकाभिः) इन्द्रजो (तोक्मभिः) अंकुरित ब्रीहि (अविः) अज (मेष) मेषः (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (मधुमता) रसवाले (पथा) यज्ञमार्गसे (वीर्यम्) वलको (भरन्) पुष्टकरनेवाली (भेषजम्) ओषधी होती है (न) और (परिस्रुता) परिस्रुत (पयः) दूध (सोमः) सोम (मधु) मधुर (घृतम्) घृतको अश्विसरस्वतीआदि (व्यन्तु) पान करै (होतः) हे मनुष्य होता ! तुम भी इसीप्रकार (आज्यस्य) घृतसे (यज) यजन करो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मन्त्र १ ।

होता॑यक्षन्नरा॒शंस॒न्न न॒ग्नहु॒म्पति॒ꣳसुर॑याभेषु॒जम्मे॒षः सर॑स्वती भि॒षग्र॒थोनच॒न्द्र्यु॒श्विनो॑र्व॒पाऽइ

न्द्रस्य वीर्यम्बदरैरुपवाकाभिर्भेषजन्तोक्मभिः पयः सोमः परिस्रुता घृतम्मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । अतिधृतिश्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ-(होता) देवताओंके होताने (नराशंसम्) मनुष्योंसे स्तुतिको प्राप्त होनेवाले (पतिम्) पालक (नग्नहुम्) पूर्वोक्त ओषधियोंको (यक्षत्) यजनकिया उस यज्ञमें (सुरया) महौषधियोंके रस (बदरैः) बेर (उपवाकाभिः) इन्द्रजौ (तोक्मभिः) व्रीहिद्वारा (मेषः) मेष (न) और (भिषगश्विनोः) वैद्यअश्विनीकुमारका (चन्द्री) सुवर्णमय (रथः) रथ (वपा) वृतसार (सरस्वती) सरस्वतीने (इन्द्रस्य) इन्द्रके निमित्त (वीर्यम्) बलकारक (भेषजम्) ओषधिरूप कल्पना किया उन देवताओंने (परिस्रुता) सब ओरसे प्राप्त रसके साथ (पयः) दूध (सोमः) सोम (मधु) मधुर (भेषजम्) ओषधि (घृतम्) घृत (व्यन्तु) पानकिया (होतः) हे होतः ! तुम भी (आज्यस्य) घृतके द्वारा (यज) इनका यजन करो ॥ ३१ ॥

तात्पर्य-तात्पर्य यह कि हवनकी सर्वोत्तम सामग्री घृत है, उसके द्वारा उपरोक्त वस्तु सम्पन्न होती है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १ ।

होता यक्षदिडेडित आजुह्वानः सरस्वतीमिन्द्रम्बलेन वर्द्धयन्नृषभेण गवेन्द्रियमश्विनेन्द्राय भेषजं यवः कर्कन्धुभिर्मधु लाजैर्न मासरम्पयः सोमः परिस्रुता घृतम्मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । सुराड्धृतिश्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ-देवताओंके (होता) होताने (इडा) प्रशंसित वाणीसे (ईडितः) प्रशंसित होकर (आजुह्वानः) इडादिको आह्वान करते (ऋषभेण) बलिष्ठ (धेन्वा)

गौके द्वारा (बलेन) बलसे (वर्धयन्) बढातेहुए (सरस्वतीम्) सरस्वती (इन्द्रम्) इन्द्र (अश्विना) अश्विनीकुमारोंके निमित्त (यक्षत्) यज्ञकिया उस यज्ञमें (यवैः) यवों (कर्कन्धुभिः) बेर (न) और (लाजैः) खीलें (मासरम्) भातद्वारा (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्द्रियम्) बलकारक (मधु) मधुर (भेषजम) औषधि की, वे देवता (परिस्रुता) सब ओरसे रसयुक्त (पयः) दूध (सोमः) सोम (मधु) मधुर (घृतम्) घृतको (व्यन्तु) पान करें (होतः) हे मनुष्य होता ! तुमभी (आज्यस्य) घृतके द्वारा (यज) इसीप्रकार यजन करो ॥ ३२ ॥

आशय-यह उपरोक्त वस्तुएं प्रयोगद्वारा सामर्थ्यकारक हैं ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षद्ब॒र्हिरू॑र्णम्म्रदा भि॒षङ्नास॑त्या भि॒षजा॒श्विना॒श्वा॒ शिशु॑मती भि॒षग्धे॒नुः सर॑स्वती भि॒षग्दु॒हऽ इन्द्रा॑य भेष॒जम्पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तम्मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पृ० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(होता) देवताओंके होता (ऊर्णम्रदाः) ऊर्णकी समान कोमल (बर्हिः) प्रयाजदेवताको (भिषजा) वैद्य (नासत्या) सत्यरूप (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वतीके निमित्त (यक्षत्) यजन करो जिसमें (शिशुमती) बालकसे युक्त (अश्वा) घोडी (भिषक) चिकित्सक और (धेनुः) सवत्सा गौ (भिषक्) चिकित्सक है (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (भेषजम्) भेषजको (दुहे) पूर्ण करते हैं अर्थात् अश्वादिककी दक्षिणा दीजाती है (पयः सोमः) दूध और सोम इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

होता॑ यक्ष॒द्दुरो॒ दिशः॑ कव॒ष्यो॒ न व्यच॑स्वतीर॒श्विभ्या॒न्न दुरो॒ दिश॒ऽइन्द्रो॒ न रोद॑सी दु॒घे दु॒हे धे॒नुः सर॑स्वत्य॒श्विनेन्द्रा॑य भेष॒जꣳ शु॒क्रन्न ज्योति॑रिन्द्रि॒यम्पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तम्मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य होत॒र्यज॑ ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । निच्यृदतिधृतिश्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवताओंके होता (दिशः) दिशाओंकी समान अवकाशवाले (कवष्यः) झरोखोंसे युक्त (न) और (व्यचस्वतीः) गमनागमनके योग्य (दुरः) द्वारदेवी (इन्द्रः) इन्द्र (न) और (सरस्वती) सरस्वती (अश्विना) अश्विनीकुमारोंके निमित्त (यक्षत्) यजन करै जिस स्थलमें (दिशः) दिशाकी समान (दुरः) द्वार (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारोंके सहित (न) और (दुघे) परिपूर्णता करनेवाले (रोदसी) द्यावापृथ्वी (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (भेषजम्) भेषज अर्थात् ओषधी (दुहे) पूर्ण करते हुए, और सरस्वती (धेनुः) धेनु होकर इन्द्रके निमित्त (शुक्रम्) शुद्ध (ज्योतिः) ज्योति तेज (इन्द्रियम्) वीर्यको पूर्णकरती हुई (पयःसोमः) पूर्ववत्, नकारका अर्थ और है ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षत्त्सु॒पेश॑सो॒षे नक्तं॒न्दिवा॒श्विना॒ सम॑ञ्जाते स॒रस्व॑त्या॒ त्विषि॒मिन्द्रे॒ न भे॑ष॒जꣳ श्ये॒नो न रज॑सा हृ॒दा श्रि॒या न मास॑रम्पय॒ꣳ सोम॑ꣳ परि॒स्रुता॑ घृ॒तम्मधु॒ व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । भुरिगष्टिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवताओंका होता (सुपेशसा) सुन्दर रूपवाले (उषे) दिनरात (न) और (सरस्वत्या) सरस्वती (अश्विना) अश्विनीकुमारोंके निमित्त (यक्षत्) यजन करते हुए, उसमें वे (नक्तम्) रात्रि (दिवा) दिनमें (रजसा) ज्योतिद्वारा (हृदा) चित्त (न) और (श्रिया) लक्ष्मीके सहित (भेषजम्) ओषधि (मासरम्) भात वा उसका जल (न) और (श्येनः) श्येनपत्र (त्विषिम्) कान्तिको (इन्द्रे) इन्द्रमें (समञ्जाते) संश्लेष करते हुए (परिस्रुताः पयः) इत्यादि पूर्ववत् जानो ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

होता॑ यक्ष॒द्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒श्विनेन्द्र॒न्न जागृ॑वि॒ दिवा॒ नक्त॒न्न भे॑ष॒जैः शूष॒ꣳ सर॑स्वती भि॒षक्सीसे॑न

दुहऽइन्द्रियम्पयुꣳसोम॑÷परिस्रुतांघृतम्मधुव्यन्त्वा
ज्ज्यंस्यहोतुर्य्यंज ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छं० ।
अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवताओंके होताने (दैव्या) देवसम्बन्धी (होतारा) होता यह अग्नि और मध्यम प्रयाजदेव (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार(न) और (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन किया (दिवानक्तम्) दिनरात (जागृवि) जागरणशील अपने कार्यसिद्धिमें अप्रमत्त (भिषक्) भिषक्भूत (सरस्वती) सरस्वती (भेषजैः) ओषधियोंके सहित (शूषम्) बल (न) और (इन्द्रियम्) वीर्यको (सीसेन) सीसेद्वारा (दुहे) दुहती हुई (परिस्रुताः) पूर्ववत् ॥ ३६ ॥

विशेष-नकार और अर्थवाले हैं विदित होता है कि सीसाधातुकी भस्मकर खानेसे बल आता है, यह सब समय २ पर वैद्यक प्रयोग है ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १ ।

होतायक्षत्तिस्रोदेवीर्न्नभेषुजन्त्रयस्त्रिधातवोपसो
रूपमिन्द्रेहिरण्ययमश्विनेडानभारतीवाचासर
स्वतीमहऽइन्द्रायदुहऽइन्द्रियम्पयुꣳसोम॑÷परिस्रु
तांघृतम्मधव्यन्त्वाज्ज्यंस्यहोतुर्य्यंज ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । धृतिश्छं० ।
अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवताओंके होताने (इडा भारती सरस्वती) इडा भारती सरस्वती (तिस्रः) तीन (देवीः) प्रयाज देवीको (इन्द्रे) इन्द्र (न) और (अश्विना) अश्विनीकुमारके निमित्त (यक्षत्) यजन किया (न) और (अपसः) कर्मवान् (त्रिधातवः) तीन गुणवाले (त्रयः) तीन पशु (वाचा) त्रयीलक्षणवाली वाणीसे (भेषजम्) ओषधी (हिरण्यम्) प्रकाशमान (रूपम्) रूप (महः) बडे (इन्द्रियम्) बलको (इन्द्राय) इन्द्रके (निमित्त (दुहे) सरस्वतीने पूर्ण किया शेषम्पूर्ववत् ॥ ३७ ॥

प्रमाण-" अप इति कर्मनाम " [निघं० २।१।१] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

होतायक्षत्त्सुरेतसमृषुभन्नर्य्यापसन्त्वष्टारमिन्द्रम श्विनाभिषजन्नसरस्वतीमोजोनजूतिरिन्द्रियंवृको नरभसोभिषग्ग्यशसुरयाभेषजश्रियानमा सरम्पयसोमः परिस्रुताघृतम्मधुव्यन्त्वाज्ज्यस्य होतर्य्यज ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । धृतिश्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दिव्यहोताने (सुरेतसम्) सुन्दरवर्षाके लक्षणवाले वीर्यसे युक्त (ऋषभम्) वर्षा करनेवाले (नर्यापसम्) मनुष्योंके हितकारी (त्वष्टारम्) त्वष्टारूप प्रयाज देवताको (इन्द्रम्) इन्द्र (अश्विना) अश्विनीकुमार (न) और (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (भिषजम्) चिकित्सकके निमित्त (यक्षत्) यजन किया (न) और (रभसा) उद्यमयुक्त (भिषक्) वैद्य (वृकः) वृक (न) और (सुरया) महौषधियोंके रससे युक्त (श्रिया) ऐश्वर्यके सहित यजन किया जिससे (भेषजम्) ओषधी (मासरम्) मासर पक्वअन्नादि हुए इस प्रकारके यज्ञमें (न) अवश्य(ओजः) तेज (जूतिः) वेग (इन्द्रियम्) बल (यशः) लक्ष्मीके सहित यश इन्द्रमें प्राप्त हो (परिस्रुताः) परिस्रुतहुए इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

विशेष-वर्षाके समय जल वायुकी शुद्धिके निमित्त शरीरकी चिकित्सा और देशकी चिकित्साके पदार्थ इसमें कहे हैं ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

होतायक्षद्वनस्पतिशमितारशतक्क्रतुम्भीमन्न मन्युराजानंव्याघ्रन्नमसाश्विनाभामसरस्व तीभिषगिन्द्रायदुहइन्द्रियम्पयसोमः परिस्रुता घृतम्मधुव्यन्त्वाज्ज्यस्यहोतर्य्यज ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मंत्रार्थ-(होता) देवसम्बन्धी होताने (मन्युम्) क्रोधात्मक (भीमम्) भयदायी (शतक्रतुम्) विविध यज्ञसम्पादक (शमितारम्) संस्कार करनेवाले (वनस्पतिम्) वनस्पतिरूप प्रयाज देवताको विशेष कर सूंघनेवाले व्याघ्रकी समान (राजानम्) राजा शतक्रतु इन्द्रके हेतु (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वतीके निमित्त (नमसा) अन्नद्वारा (यक्षत्) यजन किया (भिषक्) वैद्यरूप सरस्वतीने (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (भामम्) क्रोध (इन्द्रियम्) बल (दुहे) दुहा (परिस्रुताः) परिस्रुत हुए सोमादि पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १।

होता॑ यक्षद॒ग्निᳪ स्वाहाज्ज्य॑स्य स्तो॒काना॒ᳪ स्वाहा॒ मेद॑सा॒म्पृथ॒क्स्वाहा॒ च्छाग॑म॒श्विभ्या॒ᳪ स्वाहा॑ मे॒षᳪ सर॑स्वत्यै॒ स्वाहा॑ऽऋ॒षभ॒मिन्द्रा॑य सि॒ᳪहाय॒ सह॑सऽइन्द्रि॒यᳪ स्वाहा॒ग्निं भे॑षजᳪ स्वाहा॒ सोम॑मिन्द्रि॒यᳪ स्वाहेन्द्रᳪ सु॒त्रामा॑णᳪ सवि॒तारं॒ वरु॑णं भि॒षजा॒म्पति॒ᳪ स्वाहा॒ वन॒स्पति॑म्प्रि॒यम्पाथो॒ न भे॑षजᳪ स्वाहा॑ दे॒वाऽआ॑ज्य॒पा जु॑षा॒णोऽअ॒ग्निर्भे॑ष॒जम्पयः॒ सोमः॑ परि॒स्रुता॑ घृ॒तम्मधु॒ व्यन्त्वाज्ज्य॑स्य॒ होत॒र्य्यज॑ ॥ ४० ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। निच्यृदत्यष्टिश्छं०। अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दिव्यहोताने (अग्निम्) अग्निका (यक्षत्) यजन किया (आज्यस्य) घृतके (स्तोकानाम्) विन्दुओंको (स्वाहा) सुन्दर कहा अर्थात् यजमान घृतविन्दुओंको उत्तम कहे (मेदसाम्) स्निग्ध पदार्थको (पृथक्) भिन्न (स्वाहा) उत्तम कहा (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारके निमित्त (छागम्) छागको (स्वाहा) उत्तम कहागया (सरस्वत्यै) सरस्वतीके निमित्त (मेषम्) मेषको (स्वाहा) उत्तम कहा (सिंहाय) सिंहकी तुल्य पराक्रमी अथवा शत्रुओंके तिरस्कार करनेवाले (सहसे) वलात्मक (इन्द्राय) इन्द्रके उपयोगी (इन्द्रियम्)

---

१ दोभाग करनेसे निच्यृद् अत्यष्टि छन्द होसकतेहैं।

बलसम्पन्न (ऋषभम्) ऋषभको (स्वाहा) उत्तम कहा (न) और (भेषजम्) हितकारी (अग्निम्) अग्निको (स्वाहा) उत्तम कहा (इन्द्रियम्) बलकारी (सोमम्) सोमको (स्वाहा) सु—उत्तम आह—कहा । यह आज्यभागी है (सुत्रामाणम्) भलीप्रकार रक्षाकरनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्र (सवितारम्) सविता देवता (भिषजांपतिम्) वैद्योंके पति (वरुणम्) वरुणके निमित्त (स्वाहा) पुरोडाश देनेसे उत्तम कहा (प्रियम्) प्रियइष्ट (पाथः) अन्नभूत (भेषजम्) भेषजको (वनस्पति) वनस्पतिके निमित्त (स्वाहा) उत्तम कहा अर्थात् वनस्पति देवताको भेषजस्वरूप प्रिय अन्न है (आज्यपाः) घृतपान करनेवाले (देवाः) देवता आज्यपा देवताओंको उत्तम कहैं (भेषजम्) ओषधिको (जुषाणाः) सेवन करते हुए अश्वि सरस्वती इन्द्र (परिस्नुताः) परिस्नुत सोमादि पानकरैं हे होता ! तुमभी उनकी प्रीतिके निमित्त घृतकी आहुति दो पूर्ववत् ॥ ४० ॥

विशेष—प्रयाज अनुयाज देवताही आज्यपा कहाते हैं "देवा ह वा ऊचुर्हन्त विजितमेवानु सर्वं यज्ञं सꣳस्थापयेत्युपक्रम्य तत उत्तमे प्रयाजे स्वाहाकारेणैव यज्ञꣳ समस्थापयन्नित्याह" इति श्रुतेः । स्वाहाकार समाप्तिवचनपर है ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१—मंत्र ३. अनु० ५ ।

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षेता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीम्मे॒षस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ होता॑ यक्षदिन्द्र॑मृष॒भस्य॑ व॒पाया॒ मेद॑सो जु॒षता॑ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ होतेति त्रयाणां मन्त्राणां स्वस्त्यात्रेय ऋ० । प्राजापत्यापंक्तिश्छं०[1] । लिङ्गोक्ता दे० । आश्विनादिहविर्योगेऽश्विसरस्वतीन्द्रदैवतप्रैषमंत्रपठने वि० ॥ ४१ ॥

विधि—(१) प्रथम मंत्रसे अश्विनीकुमारके उद्देश्यसे प्रैषयाग [का० १९ । ६ । २२] मंत्रार्थ—(होता) दिव्यहोताने (अश्विनौ) अश्विनीकुमारके उद्देश्यसे (यक्षत्) यजन किया, उनके निमित्त (छागस्य) छागकी (वपायाः) वपा तथा (मेदसा) मेदरूप स्निग्ध पदार्थ (हविः) हवि (जुषेताम्) सेवनकी (होतः) हे मनुष्यहोतः ! (यज) तुमभी यजन करो १ । विधि—(२) दूसरे मंत्रसे सरस्वतीका प्रैष । मन्त्रार्थ—(होता) दिव्यहोताने (सरस्वतीम्) सरस्वतीका (यक्षत्) यजनकिया (मेषस्य)

---
१ मतान्तरे अतिधृतिश्छन्दः ।

मेषकी (वपायाः) वपा (मेदसा) मेदकी (हविः) हवि (जुषेताम्) सेवनका (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुमभी यजन करो २ । विधि-(३)तीसरा मंत्र इन्द्र देवताका प्रैष जानना । मन्त्रार्थ-(होता) दिव्यहोताने (इन्द्रम्) इन्द्रका (यक्षत्) यजन किया (ऋषभस्य) ऋषभकी (वपायाः) वपनक्रिया (मेदसः) स्निग्ध पदार्थकी (हविः) हवि (जुषताम्) सेवनकी (होतः) हे मनुष्य होता! तुमभी वृतसे (यज) यजन करो ॥ ४१ ॥

विशेष-जिस प्रकार देवताओंके निमित्त प्रकृतिद्वारा दिनरात हवन होता रहता है इसी प्रकार मनुष्योंको घृतादिसे हवन करना चाहिये ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

होतायक्षदुश्विनौसरस्वतीमिन्द्रꣳसुत्रामाणमिमेसोमाꣳसुरामाणुश्छागैर्नमेषैरृषभैꣳसुताꣳशष्पैर्नतोक्मभिर्लाजैर्म्महस्वन्तोमदामासरेणपरिष्कृताꣳशुक्राꣳपयस्वन्तोमृताꣳप्रस्थितावोमधुश्च्युतस्तानुश्विनासरस्वतीन्द्रꣳसुत्रामावृत्रहाजुषन्ताꣳसोम्म्यम्मधुपिबन्तमदन्तुव्यन्तुहोतुर्य्यजं ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । प्राजा० छं० लिङ्गोक्ता देवता । ग्रहयागे प्रैषमंत्रपठने वि० ॥ ४२ ॥

विधि-(१) ग्रहयागमें प्रैष [का० १९।६।२३] मन्त्रार्थ-(होता) दिव्य होताने (अश्विनौ) अश्विनीकुमार (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (सुत्रामाणम्) भली प्रकार रक्षा करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रके निमित्त (यक्षत्) यजन किया हे अध्वर्यो ! (इमे) यह (छागैः) छाग (मेषैः) मेष (ऋषभैः) ऋषभोंद्वारा (सुरामाणः) मनोहर (न) और (शष्पैः) तृण अन्न (तोक्मभिः) यवांकुर (लाजैः) खीलोंसे (महस्वन्तः) तेजयुक्त (मदा) प्रसन्न करनेवाले (मासरेण) पूर्वोक्त पक्वतंडुलआदिसे (परिष्कृताः) अलंकृत (शुक्राः) कान्तिमान् (पयस्वन्तः) दुग्धसे युक्त (अमृताः) अमृतरूप (प्रस्थिताः) हवनके सन्मुख चलते हुए (मधुश्च्युतः) मधुके टपकानेवाले (सोमाः) सोम (सुताः) तुम्हारे निमित्त प्रस्तुत हैं (न) और (अश्विना) अश्विनीकुमार

(सरस्वती) सरस्वतीदेवी (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षक (वृत्रहा) वृत्रासुरघाती (इन्द्रः) इन्द्र (तान्) उन सोमोंको (जुषन्ताम्) सेवनकरैं (सौम्यम्) सोम-सम्बन्धी (मधु) मधुको पिबन्तु पियें (मदन्तु) तृप्तहों (व्यन्तु) विराजैं वा हवि भक्षण करैं (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुमभी यजन करो ॥ ४२ ॥

विशेष-मेषऋषभछागादिके ऊपर सोम आता है वा इनके बदलेमें आता है इससे उपकारी कहा । पूर्वका त्रिपाद गायत्री । सुरामाण इत्यस्यातिधृतिश्छन्दः । ऐसे दो भागकरके छन्दकल्पना बनती है ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षद॒श्विनौ॒ छाग॑स्य ह॒विष॒ऽआत्ता॑म॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ऽउद्भृ॑तम्पु॒रा द्वेषो॑भ्यः पु॒रा पौरु॑षेय्या गृ॒भो घस्तां॑ नू॒नं घा॒सेऽअ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमाना॒ᳬं सु॒मत्क्ष॑राणाᳬं शतरु॒द्रिया॑णामग्निष्वा॒त्ताना॒म्पीवो॑पवसनानाम्पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ताम॒तऽउ॑त्साद॒तोऽङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्तानाङ्कर॑तऽए॒वाश्विना॑ जु॒षेता॑ᳬं ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । प्राजा० छं० । लिङ्गोक्तदेवता । आश्विनादिहविःप्रैषमंत्रपठने विनियोगः ॥ ४३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र आश्विन हविका प्रैष है । मन्त्रार्थ-(होता) दिव्य होताने (अश्विनौ) अश्विनीकुमारके निमित्त (यक्षत्) यजन किया वे दोनों (छागस्य) छागकी (हविषः) हविका (आत्ताम्) सेवनकरैं (नूनम्) अवश्य (अद्य) आज (मध्यतः) मध्यभागमें (मेदः) मेदको (उद्भृतम्) उद्धृत करके सेवनकरैं (द्वेषोभ्यः) यज्ञके द्वेष करनेवाले असुरादिके आगमनसे (पुरा) पहलेही स्वीकारकीहुई (पौरुषेय्याः) पुरुषार्थवाली (गृभः) इडासे (पुरा) पहलेही स्वीकारकीहुई (घस्ताम्) हवि भक्षण करैं (घासे) ग्रासमें (अज्राणाम्) नवीन रुचि करनेवाले (यवसप्रथमानाम्) अन्नोंके मध्यमें प्रथम वा मुख्य (सुमत्क्षराणाम्) स्वयंरक्षण होनेवाले (शतरुद्रियाणाम्) बहुत मंत्रोंसे प्रशंसित" शतरुद्रियाणां रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम्" [निघं० ३।१६।१२] (अग्निष्वात्तानाम्)

अग्निद्वारा आस्वादित वा पाकसमयमें प्रथम अग्निद्वारा आस्वादित (पीवोपवसनानाम्) स्थूल अंगके निकट रहनेवाले (पार्श्वतः) पार्श्वभाग (श्रोणितः) कटिभागसे (शितामतः) पादस्थानसे (उत्सादतः) उत्सादन स्थानसे अर्थात् (अगादङ्गात्) प्रत्येक अंगसे (अवत्तानाम्) अवदानधर्मसे ग्रहणकी (हविः) हविको (अश्विना) अश्विनीकुमारही (करतः) तृप्तिपूर्वक (जुषेताम्) सेवन करैं (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुम भी घृतसे हवन करो ॥ ४३ ॥

विशेष–प्रकृतिनियमसे अहोरात्ररूप अश्विनीकुमार छागादि हविको लय करते रहते हैं अर्थात् अनेक प्राणी लय होजाते हैं और उनका कुछ शेष नहीं रहता यह दिव्य हवन प्रतिदिन होताहै मनुष्योंको चाहिये कि वेभी घृतादिसे देवताओंको तृप्तकरैं ॥ ४३ ॥

विशेष–"दो खण्डकरके याजुषी पंक्ति और उत्तरका उत्कृति छन्द होसकता है ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मंत्र १ ।

होता॑ यक्ष॒त्सर॑स्वतीम्मे॒षस्य॑ ह॒विष॒ऽआव॑यद॒द्य म॑ध्य॒तो मेद॒ऽउद्भृ॑तम्पु॒रा द्वेषो॑भ्य॒ऽपु॒रा पौ॑रु॒षेय्या गृ॒भो घस॑न्नू॒नङ्घा॒सेऽअ॑ज्रा॒णां यव॑सप्रथमाना॒ᳬ᳖ सु॒मत्क्ष॑राणा॒ᳬ᳖ शत॒रुद्रि॒या॑णामग्नि॒ष्वा॒त्तानाम्पी॑वोपवसनाना॒म्पार्श्व॒तः श्रो॑णि॒तः शि॑ता॒म॒तऽउ॑त्सा॒द॒तोऽङ्गा॑दङ्गा॒दव॑त्ताना॒ङ्कर॑द॒ेवᳬ᳖ सर॑स्वती जु॒षता॒ᳬ᳖ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दिव्यहोताने (सरस्वतीम्) सरस्वतीके निमित्त (यक्षत्) यजनक्रिया (मेषस्य) मेषकी (हविषः) हविको (आवयत्) सेवन करते हुए (घसत्) वह अवयवोंका सेवन करती हुई (एवम्) इसप्रकार (सरस्वती) सरस्वती (जुषताम्) हविसेवन करै शेषं पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

विशेष–"दो खण्डकरनेसे याजुषी त्रिष्टुप् और हविष इत्युत्तरस्य स्वराडुत्कृति होजायगा" ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

होता यक्षदिन्द्रमृषभस्य हविष ऽआवयदद्य मध्यतो मेद ऽउद्धृतम्पुरा द्वेषोभ्यः पुरा पौरुषेय्या गृभो घस्त्रूनं घासे ऽअज्राणां यवसप्रथमानाᳬ सुमत्क्षराणाᳬ शतरुद्रियाणामग्निष्वात्तानाम्पीवोपवसनानाम्पार्श्वतः श्रोणितः शितामत ऽउत्सादतोऽङ्गादङ्गादवत्तानां करदेवमिन्द्रो जुषताᳬ हविर्होतर्यज ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । इन्द्रो देवता । ऐन्द्रहविःप्रैषमन्त्रपठने वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) इन्द्रकी हविका प्रैष । मन्त्रार्थ-(होता) दिव्यहोताने (इन्द्रम्) इन्द्रके निमित्त (यक्षत्) यजनकिया (ऋषभस्य) ऋषभ महाबलिष्ठ (हविषः) हविका (आवयत्) सेवनकिया (इन्द्रः) इन्द्र हविका सेवन करै पूर्ववत् ।

विशेष-दो खण्ड करनेसे भुरिक्प्राजापत्योष्णिक् और आवय इत्यादिका भुरिगभिकृति छन्द होगा ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र १ ।

होता यक्षद्वनस्पतिमभि हि पिष्टतमया रभिष्ठया रशनयाधित ॥ यत्राश्विनोश्छागस्य हविषः प्रिया धामानि यत्र सरस्वत्या मेषस्य हविषः प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य ऽऋषभस्य हविषः प्रिया धामानि यत्राग्नेः प्रिया धामानि यत्र सोमस्य प्रिया धामानि यत्रेन्द्रस्य सुत्राम्णः प्रिया धामानि यत्र सवितुः प्रिया धामानि यत्र वरुणस्य प्रिया धामानि यत्र वनस्पतेः प्रिया पाथाᳬसि यत्र देवानामाज्यपा

नाम्प्रियाधामानि यत्राग्नेर्होतुः प्प्रियाधामानि त
त्रैतान्प्रस्तुत्त्येवोपस्तुत्त्येवोपावस्रक्षद्रभीयसऽइव
कृत्वीकरद्देवन्देवो वनस्पतिञ्जुषताᳬहविर्होतु
र्यज ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । इन्द्रो देवता । वनस्पतियागे प्रैषमंत्रपठने विनियोगः ॥ ४६ ॥

विधि-(१) वनस्पतियागका प्रैष [का० १९ । ६ । २९] मंत्रार्थ-(होता) दिव्य होताने (वनस्पतिम्) वनस्पति यूपका (अभियक्षत्) यजन किया (हि) जिस कारण कि (पिष्टतमया) रूपवान् (रभिष्ठया) पशुगणको रोकनेवाली (रशनया) रज्जुद्वारा (अधित) पशुओंको स्वस्थानमें स्थितरखता है (यत्र) जहां (अश्विनोः) अश्विनीकुमारके (छागस्य) छागरूप (हविषः) हविके (प्रिया) प्रिय (धामानि) स्थान है (यत्र) जहां (सरस्वत्याः) सरस्वती-सम्बन्धी (मेषस्य) मेषके (हविषः) हविके (प्रियाधामानि) प्रियस्थान है (यत्र) जहां (इन्द्रस्य) इन्द्रसम्बन्धी (ऋषभस्य) ऋषभरूप (हविषः) हविके (प्रियाधामानि) प्रियस्थान हैं (यत्र) जहां (अग्नेः) अग्निके (प्रियाधामानि) प्रियस्थान है (यत्र) जहां (सोमस्य) सोमके (प्रियाधामानि) प्रिय धाम हैं (यत्र) जहां (सुत्राम्णः) सुरक्षक (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियाधामानि) प्रियधाम है (यत्र सवितुः) जहां सविता देवताके (प्रियाधामानि) प्रिय स्थान है (यत्र) जहां (वरुणस्य) वरुणके (प्रिया) प्रिय (धामानि) स्थान है (यत्र) जहां (वनस्पतेः) वनस्पतिके (प्रिया) प्रिय (पाथाᳬसि) स्थान है (यत्र) जहां (आज्यपानाम्) घृतपान करनेवाले (देवानाम्) देवताओंके (प्रिया) प्रिय (धामानि) स्थान हैं (यत्र) जहां (होतुः) होता (अग्नेः) अग्निके (प्रिया) प्रिय (धामानि) स्थान हैं (तत्र) तहां (एतान्) इन (रभीयसः) अतिवेग-वालोंको युक्त करके (इव) ही (प्रस्तुत्येव) भली प्रकार प्रशंसा करके (उप-स्तुत्येव) समीपमें स्तुति करके (उपावस्रक्षत्) पूर्वोक्त स्थानमें वनस्पतिदेवता स्थापन करै (वनस्पतिः) वनस्पति (देवः) देवता (एवम्) इस प्रकार (करत्) करके (हविः) हविको (जुषताम्) सेवनकरै (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुमभी यजन करो ॥ ४६ ॥

विशेष-यज्ञस्थान इन सब पदार्थोंका आश्रय है उसीका वर्णन कियाहै ॥४६॥

कण्डिका ४७–मंत्र १।

होता॑ यक्षद॒ग्निꣳ स्वि॑ष्ट॒कृत॒मया॑ड॒ग्निर॒श्विनो॒श्छाग॑स्य ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॒ट्सर॑स्वत्या मे॒षस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॒डिन्द्र॑स्यऽऋष॒भस्य॑ ह॒विषः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॑ड॒ग्नेः प्रि॒या धामा॒न्यया॒ट्सोम॑स्य प्रि॒या धामा॒न्यया॒डिन्द्र॑स्य सु॒त्राम्णः॑ प्रि॒या धामा॒न्यया॑ट्सवि॒तुः प्रि॒या धामा॒न्यया॒ड्वरु॑णस्य प्रि॒या धामा॒न्यया॒ड्वन॒स्पतेः॑ प्रि॒या पाथा॒ꣳस्यया॑ड्दे॒वाना॑माज्य॒पाना॑म्प्रि॒या धामा॑नि य॒क्षद॒ग्नेर्होतुः॑ प्रि॒या धामा॑नि य॒क्षत्स्वम्म॑हि॒मान॒माय॑जता॒मेज्याऽइषः॑ कृ॒णोतु॒ सोऽअ॑ध्व॒रा जा॒तवे॑दा जु॒षता॒ꣳ ह॒विर्होत॒र्यज॑ ॥ ४७ ॥ [७]

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । स्विष्टकृदग्नि-र्देवता । स्विष्टकृद्यागे प्रैषमन्त्रपठने वि० ॥ ४७ ॥ [स्विष्टकृत्प्रैष]

मंत्रार्थ–(होता) दिव्य होताने (स्विष्टकृतम्) स्विष्टकृत् (अग्निम्) अग्निका (यक्षत्) यजन किया यह स्विष्टकृत् (अग्निः) अग्नि (अश्विनोः) अश्विनीकुमार सम्बन्धी (छागस्य) छागकी (हविषः) हविका (प्रिया) प्रिय (धामानि) धाम (अयाट्) यजन करता हुआ (सरस्वत्याः) सरस्वतीके (मेषस्य) मेषसम्बन्धी (हविषः) हविके (प्रियाधामानि) प्रियधामको (अयाट्) यजन करता हुआ (इन्द्रस्य) इन्द्रके (ऋषभस्य) ऋषभसम्बन्धी (हविषः) हविके (प्रियाधामानि) प्रियस्थानोंको (अयाट्) यजनकरता हुआ अर्थात् तीन देवतासम्बन्धी पशुओंको हविसे पुष्टकरताहुआ (अग्नेः) अग्निके (प्रियाधामानि) प्रियस्थानोंको (अयाट्) यजन करता हुआ (सोमस्य) सोमके (प्रियाधामानि) प्रियधामको (अयाट्) यजन करता हुआ (सुत्राम्णः) रक्षक (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियाधामानि) प्रियधामोंको (अयाट्) यजन करताहुआ (सवितुः) सविता देवताके (प्रियाधामानि)

प्रियधामोंको (अयाट्) यजन करताहुआ (वरुणस्य) वरुणके (प्रियाधामानि) प्रियधामोंको (अयाट्) यजन करतेहुए (वनस्पतेः) वनस्पतिके (प्रिया) प्रिय (पाथाᳬसि) स्थानोंको (अयाट्) यजन किया (आज्यपानाम्) घृतपान करनेवाले (देवानाम्) देवताओंका (प्रिया) प्रिय (धामानि) धाम (यक्षत्) यजन किया (होतुः) होता (अग्नेः) अग्निके अर्थात् अपनेही (प्रियाधामानि) प्रिय धामोंको (यक्षत्) यजन किया (स्वम्) अपनी (महिमानम्) महिमाको (यक्षत्) यजन किया, (आइज्या) सब प्रकारसे यजनके योग्य (इषः) सकामप्रजा (आयजताम्) भली प्रकार यजन करै अर्थात् प्रजा यज्ञ करनेवाली हों (सः) वह (जातवेदाः) जातप्रज्ञान अग्नि (अध्वरा) यज्ञोंको (कृणोतु) करै (हविः) हविको (जुषताम्) सेवनकरै इस प्रकार तो देवनियमका कार्य प्रवृत्त रहताहै (होतः) हे होतः ! तुमभी (यज) शक्त्यनुसार घृतसे यजन करो ॥४७॥

विशेष–देवताओंका यज्ञ सदा प्रवृत्त रहता है मनुष्योंकोभी यथायोग्य करना चाहिये यह आज्ञा है जहांसे प्रारंभ होता है वह पहला तो देवीयज्ञ सदा प्रवृत्त रहता है और मनुष्य होताको घृतसे यज्ञकी आज्ञा है ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मन्त्र १ । अनु० ६ ।

देवम्बर्हिः सरस्वती सुदेवमिन्द्रेऽअश्विना॥ तेजो न चक्षुरक्ष्योर्बर्हिषा दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवमित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । अनुयाजप्रैषमंत्रपठने वि० ॥ ४८ ॥

विधि–(१) यहांसे ग्यारह मंत्र यज्ञके याजसम्बन्धमें प्रैष और याज्य अनुयाज्य है [का० १९।७।८।९] मन्त्रार्थ–(सुदेवम्) सुन्दर देवतावाले (देवम्) अनुयाज याज देवता (बर्हिः) बर्हि (बर्हिषा) कुशाके सहित (सरस्वती) सरस्वती (अश्विना) अश्विनीकुमार (इन्द्रे) इन्द्रमें (तेजः) तेजको (दधुः) धारण करते हुए (अक्ष्योः) दोनों नेत्रोंमें (चक्षुः) चक्षु(इन्द्रियम्) इन्द्रियको धारण करते हुए (न) और (वसुवने) धन लाभके निमित्त (वसुधेयस्य) इन्द्रको सम्पत्तिमान् करनेको (व्यन्तु) हवि भक्षण करैं, हे मनुष्य होता ! तुम भी (यज) यजन करो जैसे इन्होंने इन्द्रको तेजस्वी किया तुम यजमानको तेजस्वी करो ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

देवीर्द्वारोऽअश्विना भिषजेन्द्रे सरस्वती ॥ प्राणन्न वीर्यन्नसि द्वारो दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्विसरस्व० दे० । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(देवीः) दिव्य (द्वारः) द्वारदेवी (द्वारः) यज्ञद्वारा अनुयाजदेवताओंके साथ (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार (न) और (सरस्वती) सरस्वती (इन्द्रे) इन्द्रमें (वीर्यम्) वलतेज (नसि) नासिकामें (प्राणम्) प्राण (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (दधुः) धारण करतेहुए (वसुवने) पूर्ववत् ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र १ ।

देवीऽउषासावश्विना सुत्रामेन्द्रे सरस्वती ॥ बलन्न वाचमास्यऽउषाभ्यान्दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५० ॥

मंत्रार्थ-(देवी) दिव्यगुणसम्पन्न (उषासा) नक्त और उषाकाल अधिष्ठात्री (उषाभ्याम्) नक्त और उषाकालके सहित (अश्विना) अश्विनीकुमार (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षक (सरस्वती) सरस्वती (न) भी (इन्द्रे) इन्द्रमें (बलम्) बल (आस्ये) मुखमें (वाचम्) वाक् (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (दधुः) धारण करतीहुई (वसुवने) पूर्ववत् ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

देवीजोष्ट्री सरस्वत्यश्विनेन्द्रमवर्द्धयन् ॥ श्रोत्रन्न कर्णयोर्यशो जोष्ट्रीभ्यान्दधुरिन्द्रियं वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवीत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ–(जोष्ट्री) सुखकी सेवनकरनेवाली (देवी) देवी (जोष्ट्रीभ्याम्) द्यावा पृथिवी वा अहोरात्रद्वारा (सरस्वती) सरस्वती (अश्विना) अश्विनीकुमार (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्द्धयन्) वढातेहुए (यशः) यश (न) और (कर्णयोः) कर्णेन्द्रियमें (श्रोत्रम्) श्रवण (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (दधुः) स्थापन करतेहुए (वसुवने) पूर्ववत् ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मंत्र १ ।

देवीऽऊर्ज्जाहुतीदुघसुदुघेन्द्रेसरस्वत्त्यश्श्विनाभिषजावतꣳ ॥ शुक्रन्नज्ज्योतिस्स्तनयोराहुतीधत्तऽइन्द्रियंवसुवन्वसुधेयस्य्यन्तुयज ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दैवीत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । अतिजगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मन्त्रार्थ–(दुघे) कामपूरक (सुदुघे) भली प्रकार दोहनयुक्त (ऊर्जाहुती) रसवती (आहुती) आह्वानरूप (देवी) दिव्य (सरस्वती) सरस्वती (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार (अवतः) रक्षाकरते हैं (न) और (इन्द्रे) इन्द्रमें (शुक्रम्) वीर्य (स्तनयोः) हृदयमें (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (ज्योतिः) तेजको (धत्त) धारणकरै शेषम्पूर्ववत् ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३–मंत्र १ ।

देवादेवानाम्भिषजाहोताराविन्द्रमश्श्विना। वषट्कारैस्सरस्वतीत्त्विषिन्नहृदयेमतिꣳहोतृभ्यान्दधुरिन्द्रियंवसुवनवसुधेयस्य्यन्तुयज ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवा इत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । भुरिगतिजगती छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मंत्रार्थ–(देवानाम्) देवताओंके (देवाः) देवता (होतारौ) होता अनुयाज देव (होतृभ्याम्) होताद्वारा (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार (न) और (सरस्वती) सरस्वती (इन्द्रम्) इन्द्रके (हृदये) हृदयमें (वषट्कारैः)

वषट्कारोंसे (त्विषिम्) कांतिको (मतिम्) बुद्धि (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (दधुः) धारण करते हुए ॥ ५३ ॥ शेषं पूर्ववत् ॥

कण्डिका ५४-मंत्र १ ।

देवीस्तिस्त्रस्तिस्त्रोदेवीरश्विनेडासरस्वती ॥ शूषन्न मध्येनाभ्यामिन्द्रायदधुरिन्द्रियंवसुवनेवसुधेयस्य व्यन्तुयज ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मंत्रार्थ-(इडा) इडा (सरस्वती) सरस्वती (न) और भारती (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवी (तिस्रः) उन तीनो (देवीः) देवियोंके सहित (अश्विना) अश्विनीकुमार (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (नाभ्याम्) नाभिके (मध्ये) मध्यमें (शूषम्) बल (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (दधुः) धारणकरते हुए ॥ ५४ ॥ शेषं पूर्ववत् । इन मंत्रोंसे इन्द्रियसामर्थ्य वढती है ।

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

देवऽइन्द्रोनराशꣳसस्त्रिवरूथः सरस्वत्याश्विभ्यामीयतेरथः ॥ रेतोनरूपममृतञ्जनित्रमिन्द्रायत्त्वष्टादधदिन्द्रियाणिवसुवनेवसुधेयस्य व्यन्तुयज ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । स्वराट्छक्करी छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५५ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (त्रिवरूथः) सभामण्डपहविर्धान आग्नीध्ररूप तीन घरवाला (त्वष्टा) जगत्का कर्ता (नराशंसः) नरोंके वैठनेसे शंसित वा जहां वैठकर मनुष्य स्तुति करते है इस प्रकार देवयाजानुरूप यज्ञरूपी (रथः) रथ (रेतः) वीर्य (न) और (रूपम्) सौन्दर्य (अमृतम्) अमृत (जनित्रम्) उत्तमजन्म (इन्द्रियाणि) इन्द्रियसामर्थ्य (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त(दधत्) स्थापन करै जिस नराशंस रथको (सरस्वत्या) सरस्वती(अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारके सहित (ईयते) वहनकरते है, शेषं पूर्ववत् ॥ ५५ ॥

आशय–ऐश्वर्यवान् नरोंसे स्तुतिको प्राप्त त्रिवरूथ देवता सरस्वती इन्द्र और अश्विनीकुमारोंके सहित इस धनी यजमानकी रेतःरूप अमृत वृद्धिकरै सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी सामर्थ्य बढावें विशेषकर जनन इन्द्रियकी अपने कार्यसाधनमें सामर्थ्य दें ॥ ५५ ॥

प्रमाण–"नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति" इति [निरु० ८।६] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६–मंत्र १।

देवोदेवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णोऽअश्विभ्याᳪं सरस्वत्यासुपिप्पलऽइन्द्रायपच्यतेमधु ॥ ओजोनजूतिर्ऋषभोनभामंवनस्पतिर्नोदधदिन्द्रियाणिवसुवनेवसुधेयस्यव्यन्तयज ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देव इत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः। निच्यृदत्यष्टिश्छन्दः। अश्विसरस्वतीन्द्रा दे०। वि० पू० ॥ ५६ ॥

मंत्रार्थ–(देवैः) देवताओंसे अधिष्ठित होनेसे (हिरण्यपर्णः) सुवर्णके पत्तेवाला (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार (सरस्वत्या) सरस्वतीद्वारा (सुपिप्पलः) सुन्दर फलवाला (ऋषभः) पूज्य (वनस्पतिः) वनस्पति (देवः) देवता (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (मधु) मधुर फल (पच्यते) फलता है अर्थात् इन्द्रको फल देता है (वनस्पतिः) वही वनस्पतिः (नः) हमको (ओजः) तेज (जूतिः) वेग (न) और (भामम्) परिमितक्रोध (न) और (इन्द्रियाणि) इन्द्रियबल (दधत्) स्थापन करै अर्थात् क्रोधके फलप्रद दोनों भुजा तेजस्वी हों और पैरोंमें शीघ्र गमनकी सामर्थ्य हो ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७–मंत्र १।

देवम्बर्हिर्वारितीनामध्वरेस्तीर्णमश्विभ्यामूर्णम्म्रदाᳪंसरस्वत्यास्योनमिन्द्रतेसदः ॥ ईशायैमन्युᳪंराजानम्बर्हिषादधुरिन्द्रियंवसुवनेवसुधेयस्यव्यन्तुयज ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवं बर्हिरित्यस्य स्वस्त्या० ऋ० । अतिशक्करी० छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा दे० । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (वारितीनाम्) जलसे उत्पन्न होनेवाली औषधियोंके सम्बन्धी (देवम्) दीप्यमान (ऊर्णम्रदाः) उनकी समान कोमल (स्यूनम्) सुखरूप (ते) तुम्हारे (सदः) सभामें (अध्वरे) यज्ञमें (अश्विभ्याम्) आश्विनीकुमार (सरस्वत्या) सरस्वतीद्वारा (स्तीर्णम्) फैलायेहुए (बर्हिः) बर्हि देवता (बर्हिषा) बर्हिद्वारा (राजानम्) दीप्तिमान् (मन्युम्) क्रोध (इन्द्रियम्) इन्द्रियको (ईशायै) ऐश्वर्यके निमित्त (दधुः) स्थापन करतेहुए अर्थात् श्रेष्ठ ओषधी वल वृद्धि करें शेषम्पूर्ववत् ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १।

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवान्यक्षद्यथायथꣳ होतारा विन्द्रमश्विना वाचा वाचꣳ सरस्वतीमग्निꣳ सोमꣳ स्विष्टकृत्स्विष्टऽइन्द्रः सुत्रामा सविता वरुणो भिषगिष्टो देवो वनस्पतिः स्विष्टा देवाऽआज्यपाः स्विष्टोऽअग्निरग्निना होता होत्रे स्विष्टकृद्यशो न दधदिन्द्रियमूर्जमपचितिꣳ स्वधां वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवो अग्निरित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋषिः । शक्करी छं० । अश्विसरस्वतीन्द्रा देवताः । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(स्विष्टकृत्) सुन्दर याग करनेवाला (देवः) दीप्यमान (अग्निः अग्निने (यथायथम्) यथायोग्य (होतारौ) होता मित्रावरुण (अश्विना) अश्विनीकुमार (इन्द्रम्) इन्द्र (वाचम्) वाणी (सरस्वतीम्) सरस्वती (अग्निम्) अग्निदेवता (सोमम्) सोम (देवान्) देवताओंका (वाचा) वाणीसे (यक्षत्) यजन किया, और (स्विष्टकृत्) सुन्दर यज्ञ करनेवाले (सुत्रामा) सुरक्षक (इन्द्रः) इन्द्रने (स्विष्टः) भलीप्रकार यजन किया (सविता) सविता देवता (वरुणः) वरुण (भिषक्) वैद्य (देवः) देवता (वनस्पतिः) वनस्पतिने (इष्टः) पूजित यजन किया (आज्यपाः)

घृतपान करनेवाले (देवाः) देवताओंने (स्विष्टाः) भलीप्रकार यजन किया इष्ट अधिष्ठित (अग्निः) अग्निदेवताने (अग्निना) अग्निसे (स्विष्टः) आहुतिद्वारा यजन किया (स्विष्टकृत्) भलीप्रकार (होत्रे) मनुष्यहोताके निमित्त (होता) देवताओंके होताने (यशः) यश (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (ऊर्जम्) बल अन्न (अपचितिम्) पूजा (न) और (स्वधाम्) पितरोंके निमित्त अन्नको (दधत्) स्थापनकिया (वसुवने वसुधेयस्य) धनीकी यज्ञसिद्धिके निमित्त आहुति कीहुई सम्पूर्ण देवता (व्यन्तु) अपने अपने भागको स्वीकार करें हे मनुष्यहोताओ तुमभी (यज) यजन करो ॥ ५८ ॥

विशेष–इस मंत्रसे प्रगट है कि अग्नि देवता और भौतिक अग्नि भिन्नरहै॥५८॥

कण्डिका ५९–मन्त्र १ ।

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः पचन्पुरोडाशान्बध्नन्नश्विभ्यां छागꣳ सरस्वत्यै मेषमिन्द्रायऽऋषभꣳ सुन्वन्नश्विभ्याꣳ सरस्वत्याऽइन्द्राय सुत्राम्णे सुरासोमान्त्सूपस्थाऽअद्य ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निमित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । निचृद्दष्टिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । सूक्तवाक्यस्य प्रैषमंत्रपठने वि० ॥ ५९ ॥

विधि–(१) इन तीन कण्डिकाके मंत्रोंको सूक्त वाक्यका प्रैष कहते है [का० १९ । ७ । १०] मंत्रार्थ–(अयम्) इस (यजमानः) यजमानने (अद्य) आज (पक्तीः) पकानेके योग्य हवियोंको (पचन्) पकातेहुए (पुरोडाशान्) पुरोडाशोंको (पचन्) पाक किया (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी प्रीतिके उद्देश्यसे (छागम्) छागको (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताकी प्रीतिके उद्देशसे (मेषम्) मेषको (इन्द्राय) इन्द्रकी प्रीतिके उद्देश्यसे (ऋषभम्) ऋषभको (बध्नन्) यूपमें बाँधकर हविसे संतुष्ट किया (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमार और (सरस्वत्यै) सरस्वतीने (सुत्राम्णे) सुरक्षक (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सुरासोमान्) महौषधियोंके रसको और सोमको (सुन्वन्) अभिषवकरके (होतारम्) होता (अग्निम्) अग्निको (वृणीत) वरण किया ॥ ५९ ॥

सरलार्थ–आज यजमानने पुरोडाश पाककरके अश्विनीकुमारकी प्रीतिके निमित्त छाग सरस्वतीके निमित्त मेष और इन्द्रके निमित्त ऋषभको यूपमें बन्धन किया

और उनके निमित्त महोपयिका रस तथा सोम अभिषुत होनेपर होमकार्यके सम्पन्न करनेवाले अग्निदेवताका वरणकिया ॥ ५९ ॥

कण्डिका६०-मन्त्र १ ।

सूपस्थाऽअद्यदेवोवनस्पतिरभवदश्विभ्याञ्छा
गेनसरस्वत्यैमेषेणेन्द्रायऽऋषभेणाक्षँस्तान्मेद
स्तःप्रतिपचताग्गृभीषतावीवृधन्तपुरोडाशैरपुरश्वि
नासरस्वतीन्द्रःसुत्रामासुरासोमाँ२ऽस्त्वामद्य॥६०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सूपस्थेत्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । धृतिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

मंत्रार्थ-(अद्य) आज (वनस्पतिः) वनस्पति (देवः) देवता (छागेन) छागको लेकर (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारकी (सूपस्था) उपस्थान (अभवत्) करता हुआ अर्थात् सेवा की (मेषेण) मेषके सत्कारसे (सरस्वत्यै) सरस्वतीका (ऋषभेण) ऋषभके सत्कारसे (इन्द्राय) इन्द्रका उपस्थान किया, (मेदस्तः) सारभागसे (तान्) उनको (अक्षन्) देवतोंने ग्रहणकिया (पचत) पक्वहुई हवियोंको (प्रत्यगृभीषत) ग्रहण किया (पुरोडाशैः) पुरोडाशद्वारा (वृधन्त) वृद्धिको प्राप्त हुए (अश्विना) अश्विनीकुमार (सरस्वती) सरस्वती (सुत्रामा) भलीप्रकार रक्षक (इन्द्रः) इन्द्रने (सुरासोमान्) रस और सोमको (अपुः) पानकिया ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

त्वामद्यऽऋषऽआर्षेयऽऋषीणान्नपादवृणीतायंयज
मानोबहुभ्यऽआसङ्गतेभ्यऽएषमेदेवेषुवसुवार्याय
क्ष्यतऽइतितायादेवादेवदानान्यदुस्तान्यस्माऽआ
चशास्स्वाचगुरस्वेषितश्चहोतरसिभद्रवाच्यायप्रे
षितोमानुषःसूक्तवाकायसूक्ताब्रूहि ॥ ६१ ॥

इति वाजसनेयिशुक्लयजुःसंहितायामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामित्यस्य स्वस्त्यात्रेय ऋ० । विकृतिश्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ–(ऋषे) हे मंत्रोंके द्रष्टा (आर्षेय) ऋषियोंके पुत्ररूप वा यजमान द्वारा ऋषियोंके निमित्त वरण कियेहुए (ऋषीणाम्) ऋषियोंके (नपात्) पोते ! (अद्य) आज (अयम्) यह (यजमानः) यजमान (बहुभ्यः) बहुतसे (सङ्गतेभ्यः) मिलित हुए देवताओंसे (त्वा) तुमको (इति) इस कारणसे (आ) सब प्रकार (अवृणीत) वरण करता हुआ (एषः) यह अग्नि (मे) मेरा (देवेषु) देवताओंमें (वारि) वरण करनेके योग्य (वसु) धन (आयक्ष्यते) देवताओंको देनेको वरणकरते है (देव) हे अग्ने (या) जो (ता) वे (दानानि) दान (देवाः) देवताओंने (अदुः) दिये (तानि) वे दान (च) भी (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (आशास्व) दीजिये (च) और (आगुरुस्वच) दानके निमित्त उद्योगभी करो (होतः) हे होता ! (भद्रवाच्याय) कल्याण कथन करनेको (इषितः) प्रेरण कियेगये (असि) हो हे (मानुषः) मनुष्य(होतः) होता ! तुम (सूक्तवाकाय) सूक्त कथन करनेके निमित्त (प्रेषितः) भेजे हुए (सूक्ता) सूक्तोंको (ब्रूहि) कहो ॥ ६१ ॥

विशेष–जहांसे होता यक्षत् [२९ कण्डि०] प्रारंभ होतीहै वहांसे दोप्रकारके यज्ञका वर्णन है एक दैवीयज्ञ दूसरा मानुषी यज्ञ है देवताओंका यज्ञ सदैव होतारहता है अश्विनीकुमार रूप दिन और रात शब्दरूप सरस्वती वाणी यह इस जगत्के उत्पत्तिलयको करते हुए ज्योतिरूप तेजकी वृद्धिकरते हैं, जिससे इन्द्ररूप तेजकी प्रतिदिन वृद्धि होतीहै, और यह यज्ञ कभी निवृत्त नहीं होताहै, सब संसार इसका साधन है मुख्य इसमें तीनही देवता है वह तीन पशुओंकी पुष्टिसे प्रसन्न होतेहै, इन पशुओंके साथ देवताओंका मुख्य आध्यात्मिक सम्बन्ध है, इनके शरीरमें अधिष्ठित होते है, और संसार यज्ञका निर्वाह करते हैं, हृदयाकाशमें भी मानसिक सामग्रीसे संकल्पविकल्परूप दुःख सुखप्रद यह यज्ञ निरन्तर होता रहता है, जिस समय जिस पदार्थसे देवताओंने इन्द्रकी चिकित्साकर उसकी जो इन्द्रिय सम्पादन की है उसीभांति उसीसमय मनुष्य होता भी यज्ञकरके यजमानकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको बलिष्ठ करसकता है मनुष्य होताका यज्ञ देवताओंके होताकी समान नहीं होता, वह देशकालमें होताहै उसके निमित्त घृतादि पदार्थहैं, जिनकी वृद्धिके निमित्त पशुका सत्कार कियाजाता है ॥ ६१ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसहिताया पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये याज्यादिप्रेषणान्त एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

शुभमस्तु ।

अथ द्वाविंशोऽध्यायः २२.

तेजोसिपञ्चाग्नयएकाहिंकारायद्वे तत्त्सवितुर्द्दशविभूर्मात्रेकाकाय द्वे आब्रह्मंस्त्रयोदश शेषादेकैकोनविꣳशतिश्चतुस्त्रिꣳशत॥

अश्वमेधप्रकरण. ❀

सब कामनाकी इच्छावाले राजाको अश्वमेध करना चाहिये, फाल्गुनशुक्लअष्टमीसे इस यज्ञका आरंभ होता है राजाही इस यज्ञ करनेके अधिकारी हैं चक्रवर्तीही इसको करसकते हैं इसके करनेसे सब कामना सिद्ध होती है।

कण्डिका १-मंत्र २. अनु० १ ।

तेजो॑ऽसि शु॒क्रम॒मृत॑मायु॒ष्पाऽआयु॑र्म्मे पाहि ॥ दे॒वस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वे॒ऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्या॑म्पू॒ष्णो ह॑स्ता॑भ्या॒माद॑दे ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तेजोसीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । निष्कं दैवतम् । निष्कधारणे वि० । (२) ॐ देवस्येति निच्यृत्साम्नी त्रिष्टुप्छं० । रशना देवता । रशनाग्रहणे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथम मंत्रपाठकरके अध्वर्यु यजमानके कंठमें निष्क [सुवर्णनिर्मित कंठाभरणविशेष] बांधे प्रातःकालका होम होनेपर पूर्ण आहुति देनेके समय यह निष्क अध्वर्युको दिया जाता है [का० । २० । १ । ९] मन्त्रार्थ-हे सुवर्ण ! तुम (तेजः) अग्निके सम्बन्धवाले होनेसे तेजरूप (असि) हो (शुक्रः) अग्निके वीर्यरूप (अमृतम्) क्षयशून्य (आयुष्पाः) आयुकी रक्षाकरनेवाले हो इस कारण (मे) मेरी (आयुः) आयुकी (पाहि) रक्षाकरो १ । विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकर रशनाग्रहणमें उद्यत होकर तीसरेसे ग्रहणकरै, यह रस्सी कुशाकी बनी तेरह अरत्नि दीर्घ दुगुनी अश्वके बांधनेमें उपयुक्त होती है [का० २० । १ । २७] मन्त्रार्थ-हे रशना ! (सवितुः) सविता (देवस्य) देवकी (प्रसवे) अनुज्ञामें वर्तमान मैं (अश्विनोः) अश्विनीकुमारकी (बाहुभ्याम्) भुजा (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसे (त्वा) तुझको (आददे) ग्रहण करताहूं लेताहूं २ । ॥ १ ॥

प्रमाण-१ "अग्निर्ह वापोऽभिदध्यावित्युपक्रम्य तासु रेतः प्रासिञ्चत्तद्धिरण्यमभवत्" इति श्रुतेः। २ "दानेन अमृतत्वप्रदानाच्च हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते" इति श्रुतेः। अर्थात् सुवर्णदानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है॥ १॥

कोहनीसे कनअंगुलीतकका प्रमाण अरत्नि है। "संवत्सरस्य त्रयोदश मासो विष्टपः" [श० १३। १। २। २।] संवत्सरके तेरह मास हों तो १३ अरत्निकी रशना, अन्यथा बारह मासमें बारहकी करनी यह संवत्सरका प्रतिरूप है॥ १॥

कण्डिका २-मन्त्र १।

इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य पूर्वऽआयुषि विदथेषु कव्या॥ सा नोऽअस्मिन्त्सुतऽआबभूवऽऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती॥ २॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमामित्यस्य यज्ञपुरुष ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। रशना देवता। रशनां गृहीत्वा पाठे विनियोगः॥ २॥

विधि-(१) रशना) हाथमें रखकर यह मंत्र पाठकरै। मन्त्रार्थ-(विदथेषु) यज्ञोंमें (कव्या) कुशल कविगण प्रजापतिआदिने (ऋतस्य) यज्ञके (पूर्वे) आरंभमें (आयुषि) समयमें (इमाम्) इस (रशनाम्) रशनाको (अगृभ्णन्) ग्रहण किया (सा) वह यह (ऋतस्य) यज्ञके (सामन्) आरंभमें (सरम्) यज्ञ प्रसारको (आरपन्ती) उच्चारण करती हुई (नः) हमको (अस्मिन्) इस (सुते) यज्ञमे (आबभूव) प्रगटहुई॥ २॥

कण्डिका ३-मंत्र १।

अभिधाऽअसि भुवनमसि यन्तासि धर्ता॥ स त्वमग्निं वैश्वानरꣳ सप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः॥३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभिधा असीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आर्ची त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता। अश्वबन्धने वि०॥ ३॥

विधि-(१) चौथी कण्डिकाके अन्तर्गत तीसरा मंत्र पाठकरके ब्रह्मा अश्वबंधनकी अनुमति दे तब इस कण्डिका और चतुर्थ कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठकरके रशनासे यज्ञीय अश्वको बांधे [का० २०। १। २८]

मन्त्रार्थ-हे अश्व! तुम (अभिधा) स्तुतिके योग्य (असि) हो (भुवनम्) सबके आश्रय (असि) हो (यन्ता) नियन्ता (धर्ता) जगद्धर्ता (असि)

हो अर्थात् तुम ग्राम्य हितकारी व्यवहारमें आनेवाले पशुओंके मध्यमें प्रसिद्ध हो तुमपर आरोहणकर अश्वारोही स्वल्पसमयमें दूर देशमें जासकते है, इससे तुम धारक हो (सः) वह (त्वम्) तुम (स्वाहाकृतः) स्वाहाकारयुक्त (वैश्वानरम्) सबके हितकारी (सप्रथसम्) विस्तारवान् (अग्निम्) अग्निको (गच्छ) जाओ प्राप्त करो अर्थात् तुम्हारे कारण अग्निका विस्तार होता है ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र ३ ।

स्वगात्त्वादेवेभ्यः प्रजापतयेब्रह्मन्नश्वम्भन्त्स्यामिदेवेभ्यः प्रजापतयेतेनराध्यासम् ॥ तम्बधानदेवेभ्यः प्रजापतयेतेनराध्नुहि ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वगात्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आसुरी पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वबन्धने वि० । (२) ॐ ब्रह्मन्नित्यस्य साम्नीपंक्तिश्छं० । ब्रह्मा दे० । ब्रह्मामन्त्रणे वि० । (३) ॐ तमित्यस्य साम्न्यनुष्टुप्छं० । अध्वर्युर्दे० । अध्वर्य्वामन्त्रणे वि० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (त्वा) तुम (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (स्वगा) स्वयं गमन करनेवाले हो, अर्थात् इस महाउद्देश्यके साधनमें तुम स्वयं प्रवृत्त हो १ । विधि-(२) दूसरे मंत्रसे अध्वर्यु ब्रह्माके निकट अश्वबंधनकी अनुमति मांगे । मन्त्रार्थ-हे (ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन् ! (देवेभ्यः) देवताओंके (प्रजापतये) प्रजापतिकी प्रीतिके निमित्त (अश्वम्) घोडेको (भन्त्स्यामि) बांधताहूं (तेन) इस अश्वके बांधनेसे मैं (राध्यासम्) कर्मसमाप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त करूं । विधि-(३) तीसरामंत्र पढकर ब्रह्मा अध्वर्युको अश्व बांधनेकी अनुमति दे । मन्त्रार्थ-हे अध्वर्यो ! तुम (तम्) उस अश्वको (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त विशेषकर (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (बधान) बांधो (तेन) इसके बांधनेसे (राध्नुहि) यज्ञसमाप्तिलक्षण सिद्धिको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र ७ ।

प्रजापतयेत्त्वाजुष्टम्प्रोक्षामीन्द्राग्निभ्यान्त्वाजुष्टम्प्रोक्षामिवायवेत्त्वाजुष्टम्प्रोक्षामिविश्वेभ्य

स्त्वादेवेभ्योजुष्टम्प्रोक्षामिसर्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यो जुष्टम्प्रोक्षामि॥योऽअर्वन्तञ्जिघांᳬसतितमुभ्यमीतिवरुणःपुरोमर्त्तःपुरःश्वा ॥ ५ ॥ [५]

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । याजुषी त्रिष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । अश्वप्रोक्षणे वि० । (२) ॐ इन्द्राग्नीभ्यामित्यस्य याजुषी पंक्तिश्छं० । अश्वप्रो० वि० । (३) ॐ वायव इत्यस्य याजुषी बृ० छं० । अश्वप्रो० वि० । (४-५) ॐ विश्वेसर्वे इति मन्त्रयोः याजुषी जगती छं० । अश्वप्रोक्षणे वि० । (६) ॐ य इत्यस्य साम्न्यनुष्टुप्छं० । यजमानेन पाठे वि० । (७) ॐ पर इत्यस्य दैवी जगती छन्दः । वेतसकटेनाधोऽश्वप्लावने विनियोगः ॥ ५ ॥

विधि-(१-५) नदी ह्रद कूप तडागादि स्थावर जलके समीप गमनकरके अश्वको प्रोक्षण करै यह पांचों मंत्र प्रोक्षणके है [का० २०। १। ३१]

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (प्रजापतये) प्रजापतिके (जुष्टम्) प्रियपात्र (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं इस प्रोक्षणसे प्रजापति अश्वमें वीर्य धारण करता है "प्रजापतिर्वै देवानां वीर्यवत्तमो वीर्यमेवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः" इति [१३ । १ । २ । ५] श्रुतेः १ । (इन्द्राग्नीभ्याम्) इन्द्र और अग्निदेवताके (जुष्टम्) प्रिय पात्र (त्वा) तुझको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करताहूं इससे अश्वमें ओज धारण होताहै "इन्द्राग्नी वै देवानामोजस्वितमा ओज एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनामोजस्वितमः" इति [१३ । १ । २ । ६] श्रुतेः । इन्द्राग्नी देवताओमें वलिष्ठ हैं अश्वमें ओज धारण करते हैं इसीसे अश्व पशुओंमें अति ओजवान् है । इसी प्रकार सबमें जान्ना चाहिये २ । (वायवे) वायुके (जुष्टम्) प्रियपात्र (त्वा) तुझको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं इससे अश्वमें वायुकी समान वेग धारण करता है "वायुर्वैदेवानामाशिष्ठो जवमेवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनामाशिष्ठः" इति [१३ । १ । २ । ७] श्रुतेः । ३ । (विश्वेभ्यः) विश्वे (देवेभ्यः) देवताओके (जुष्टम्) प्रीतिपात्र (त्वा) तुमको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं इससे अश्वमें यश धारण करता है "विश्वे वै देवा देवानां यशस्वितमा यश एवास्मिन्दधाति तस्मादश्वः पशूनां यशस्वितमः" इति [१३ । १ । २ । ८] श्रुतेः ४ । (सर्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंके (जुष्टम्) प्रीतिपात्र(त्वा) तुझको (प्रोक्षामि) प्रोक्षण करता हूं इससे सम्पूर्ण देवताओंको अश्वमें धारण करता है "सर्वा एवास्मिन्देवता अन्वायातयति" इति [१३।१।२।९] श्रुतेः ५ ।

विधि-(६) इसके पीछे शूद्रसे वैश्यामें उत्पन्न हुआ पुरुष अध्वर्युकी आज्ञासे खैरकाष्ठके बने मूसलसे एक चतुर्नेत्र [पागल] कुक्कुरपर आघातकरे। छठा मंत्र यजमान पढ़े [का० २० । २ । १] मंत्रार्थ-(यः) जो शत्रु (अर्वन्तम्) वेगवान् अश्वको (जिघांसति) मारनेकी इच्छा करै (वरुणः) वरुणः (तम्) उसे (अभ्यमीति) मारै ६ । विधि- (७) सातवें मंत्रसे मृतक कुक्कुरको वेतकी चटाई में रखकर घोडेके नीचे जलमें तरावे [का० २० । २ । ४] मन्त्रार्थ-(मर्तः) इस अश्वके मारनेकी इच्छावाला शत्रु मनुष्य (परः) पराभूत हुआ (श्वा) कुक्कुर (परः) पराभूत हुआ अर्थात् जो शत्रु इस अश्वके मारनेकी इच्छा करै उसकी दशा इस श्वानकीसी होगी ॥ ५ ॥ पागलकुत्तोंको मारना चाहिये यह वेदकी आज्ञाहै । "परःश्वेतिश्वानंचतुरक्षꣳहत्वेति" श० १३ । १ । २ । ९ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १०. अनु० ९ ।

अ॒ग्नये॒ स्वाहा॒ सोमा॑य॒ स्वाहा॒पां मोदा॑य॒ स्वाहा॑ सवि॒त्रे स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॒ विष्ण॑वे॒ स्वाहेन्द्रा॑य॒ स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये॒ स्वाहा॑ मि॒त्राय॒ स्वाहा॒ वरु॑णाय॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥[१]

ऋष्यादि-(१)ॐ अग्नये इति १ । २ । ४ । ५ । ६ । ७ । ९ मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋ० । दैवीपंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता दे० (३-८) ॐ अपांमोदाय बृहस्पतये इति मन्त्रयोर्दैवी जगती छं० (१०) ॐ वरुणायेत्यस्य दैवी जगती० । सर्वेषामाज्याहुतिदाने वि० ॥

विधि-(१) फिर इस अश्वको आहवनीय अग्निके निकट लाकर इस कण्डिकाके दश मंत्रोंसे अथवा इस अनुवाकको अनुवर्तन करके प्रत्येकको सहस्रवार पाठपूर्वक आज्याहुति प्रदान करै [का० २० ।२ । ३ । ४]

मन्त्रार्थ-(अग्नये) अग्निदेवताके उद्देश्यसे (स्वाहा) आहुति देते हैं गृहीतहो १ । (सोमाय) सोमदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं २ । (अपाम्) जलोंके (आमोदाय) आमोदनकरनेवाले देवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं भलीप्रकार गृहीत हो ३ । (सवित्रे) सविता देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं ४ । (वायवे) वायु देवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते है ५ । (विष्णवे) विष्णुदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति० ६ । (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (स्वाहा)आहुति०७।(बृहस्पतये,बृहस्पतिदेवताके निमित्त(स्वाहा) यह आहुति०८। (मित्राय) मित्रदेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं गृहीत हो ९। (वरुणाय) वरुणदेवताके निमित्त आहुति देते हैं (स्वाहा) गृहीत

हो इन आहुतियोंसे इन दश देवताओंके निमित्त अश्वको देता है " एतावन्तो वै सर्वे देवतास्तेभ्य एवैनं जुहोति " इति [श० १३।१।३।२] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७—मंत्र २४।

हिङ्काराय स्वाहा हिङ्कृताय स्वाहा क्रन्दते स्वाहाव क्रन्दाय स्वाहा प्प्रोथते स्वाहा प्प्रप्प्रोथाय स्वाहा ग्गन्धाय स्वाहा घ्घ्राताय स्वाहा निविष्टाय स्वाहोपविष्टाय स्वाहा सन्दिताय स्वाहा वल्गते स्वाहासीनाय स्वाहा शयानाय स्वाहा स्वपते स्वाहा जाग्ग्रते स्वाहा कूजते स्वाहा प्प्रबुद्धाय स्वाहा विजृम्भमाणाय स्वाहा विचृत्ताय स्वाहा सᳫँहानाय स्वाहोपस्थिताय स्वाहायनाय स्वाहा प्प्रायणाय स्वाहा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ हिंकारायेति १।२।६।११।१३।१४।१८।२०।२१।२३।२४ मन्त्राणां प्र० ऋ०। दैवी त्रिष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवताः। ॐ क्रन्दत इत्यादि ५।७।८।९।१२।१५।१६।१७ मन्त्राणां दैवी पंक्तिश्छं०। ॐ वक्रन्दायेति ४।१०।२२ मन्त्राणां दैवी जगती०। ॐ विजृम्भमाणायेत्यस्य याजुष्यनुष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवता। सर्वेषां दक्षिणाग्नौ होमे विनियोगः ॥ ७ ॥

विधि–अनन्तर दक्षिणाग्निके समीपमें अश्वको लाकर उसकी ४९ चेष्टाको देखकर इन दो कण्डिकाके ४९ मंत्र पाठ करके आहुति दे यह स्तोकीयाहुति कहाती हैं [का० २०।३।३] मंत्रार्थ–(हिङ्काराय) इस अश्वका हिंकार हमारे अनुकूल होय हे अग्ने! इसी कामनासे (स्वाहा) तुम्हारे निमित्त आहुति देतेहैं भली प्रकार गृहीतहो (हिंकृताय) हिंकृत चेष्टाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (क्रन्दते) ऊंचा स्वर करनेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अवक्रन्दाय) नीचा शब्द करनेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रोथते) पर्याणक्रियाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रप्रोथाय) मुखचेष्टा घोणा करनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति०

(गन्धाय) गन्धचेष्टाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (घ्राताय) सूंघनेकी क्रियाको (स्वाहा) आहुति० (निविष्टाय) निविष्ट चेष्टाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (उपविष्टाय) स्थितक्रियाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (संदिताय) सम्यक् खंडनवाली चेष्टाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वल्गते) जातेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (आसीनाय) आसीन बैठतेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (शयानाय) शयन करतेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (स्वपते) सोतेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (जाग्रते) जाग्रतके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (कूजते) कूजतेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रबुद्धाय) ज्ञानयुक्तके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (विजृम्भमाणाय) जंभाई लेतेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (विचृत्ताय) विशेष दीप्तिमान्के निमित्त (स्वाहा) आहुति० (संहानाय) सङ्गत शरीरवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (उपस्थिताय) उपास्थितके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अयनाय) विशेष ज्ञानके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (प्रायणाय) अतिगमनके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र २५.

यु॒ते स्वाहा॒ धाव॑ते॒ स्वाहो॑द्द्रा॒वाय॒ स्वाहो॑द्द्रु॒ताय॒ स्वाहा॑ शूका॒राय॒ स्वाहा॒ शूकृ॑ताय॒ स्वाहा॒ निष॑ण्णाय॒ स्वाहो॒त्थिताय॒ स्वाहा॑ ज॒वाय॒ स्वाहा॒ बला॑य॒ स्वाहा॑ वि॒वर्त॑मानाय॒ स्वाहा॒ विवृ॑त्ताय॒ स्वाहा॑ विधून्वा॒नाय॒ स्वाहा॒ विधू॑ताय॒ स्वाहा॒ शुश्रू॑षमाणाय॒ स्वाहा॑ शृण्व॒ते स्वाहे॒क्षमा॑णाय॒ स्वाहे॑क्षि॒ताय॒ स्वाहा॒ वीक्षि॑ताय॒ स्वाहा॑ निमे॒षाय॒ स्वाहा॒ यदत्ति॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ यत्पिब॑ति॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ यन्मूत्रं॑ क॒रोति॒ तस्मै॒ स्वाहा॑ कुर्व॒ते स्वाहा॑ कृ॒ताय॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ यत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी बृहती छं० । लिंगोक्ता देवता । (ॐ) २ । ९ । १० । २२ । २४ । २५ मन्त्राणां

दैवी पंक्तिश्छं० । (ॐ) १३।१७।२१। मन्त्राणां दैवी जगती छं० । (ॐ) ३ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ ।१२ । १४ । १८ । १९। २० मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्० । (ॐ) ११ । १५ । २२ मन्त्राणां याजुष्यनुष्टुप्छं० (ॐ) यन्नित्यस्यासुरीत्रिष्टुप्छं० । सर्वेषां दक्षिणाग्नौ होमे विनियोगः ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-(यते) जातेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (धावते) दौडतेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (उद्द्रावाय) अधिक गतिवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (शूकाराय) शूशब्दकरनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (निषण्णाय) बैठेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (उत्थिताय) उठते हुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (जवाय) वेगरूपके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (बलाय) बलयुक्तके निमित्त (स्वाहा) आहुति०(विवर्तमानाय) विशेषरीतिसे वर्तमानके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (विवृताय) विवृतगतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति०(विधून्वानाय) कम्पित होतेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (विधूताय) विशेषकंपायमानके निमित्त (स्वाहा) आहुति अथवा उक्त क्रिया समर्पित हो (शुश्रूषमाणाय) सुनेकी इच्छावालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (शृण्वते) सुनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (ईक्षमाणाय) देखतेहुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (ईक्षिताय) विशेष देखनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (निमेषाय) पलक लगानेकी चेष्टाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (यत्) जो कुछ (अत्ति) खाता है (तस्मै) उसके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (यत्) जो कुछ (पिबति) पीताहै (तस्मै) उसके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (यत्) जो (मूत्रम्) मूत्रक्रिया वा चेष्टा (करोति) करताहै (तस्मै) उसके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (कुर्वते) करनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (कृताय) कृत वा किये हुएके निमित्त (स्वाहा) आहुति देतेहैं वे सब क्रिया सम्पन्न हों [इसीसे अश्वशास्त्र प्रवृत्त है] ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १. अनु० ४ ।

तत्सं॑वि॒तुर्वरे॑ण्यम्भर्गो॑ दे॒वस्य॑ धीमहि ॥ धियो॒ यो नः॑ प्रचो॒दया॑त् ॥ ९ ॥

यहांसे छः मंत्र सावित्रीइष्टिके याज्यानुवाक्य है ॐ तत्सवितुरिति इसकी व्याख्या ३३ । ३५ में होगई ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

हिर॑ण्यपाणिमू॒तये॑ सवि॒तार॒मुप॑ ह्वये ॥ स चेत्ता॑ दे॒वता॑ प॒दम् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यपाणिमित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । गायत्री छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(हिरण्यपाणिम्) ज्योतिरूप हाथवाले (सवितारम्) परमात्मा देवता को (ऊतये) अपनी रक्षाके निमित्त (उपह्वये) आह्वान करताहूं (सः) वह सबके प्रेरक (चेत्ता) सबके चैतन्य करनेवाले सर्वज्ञ (देवता) दीप्तिमान् (पदम्) ज्ञानियोंके स्थान हैं ॥ १० ॥

विशेष-मनुष्योंको उचित है कि जो सबका चैतन्य करनेवाला ज्ञानियोंका विश्रामस्थान सर्वज्ञ परमात्मा है अपनी रक्षा करनेके निमित्त उसकी उपासना करै [ऋ० १ । २ । ४] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

देवस्यचेततोमहीम्प्रसवितुर्हवामहे ॥ सुमतिᳪसत्यराधसम् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(चेततः) सबके चैतन्य करनेवाले सर्वज्ञ (सविता) सबके प्रेरक (देवस्य) देवको (महीम्) बडी (सत्यराधसम्) सत्यके सिद्धकरनेवाली (सुमतिम्) सुमतिको (प्रहवामहे) प्रार्थना करते हैं अर्थात् परमात्मा हमको सत्य गुणसम्पन्न बुद्धि प्रदान करै उसकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

सुष्टुतिᳪसुमतीवृधोरातिᳪसवितुरीमहे ॥ प्रदेवायमतीविदे ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुष्टुतिमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(मतीविदे) सबकी मतिके जाननेवाले सबके अन्तःकरणमें स्थित (देवाय) दिव्यगुणसम्पन्न (सुमतीवृधः) सुमतीके वढानेवाले (सवितुः) सबके प्रेरक परमात्माकी (सुष्टुतिम्) स्तुति करनेके सामर्थ्यरूप (रातिम्) धनको (प्रईमहे) अतिशय प्रार्थना करते हैं अर्थात् हम इच्छा करते हैं कि परमात्मा हमको अपनी स्तुति करनेकी सामर्थ्य प्रदान करै क्योंकि सबका प्रेरक वही है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र १ ।

रातिᳫँसत्त्पतिम्महेसवितारमुपह्वये ॥ आसवन्देववीतये ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रातिमित्यस्य प्रजाप० ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ–(रातिम्) चारोंपदार्थके देनेवाले (सत्पतिम्) सत्पुरुषों वा भक्तोंके पालन करनेवाले (आसवम्) सब कर्मोंकी अनुज्ञा देनेवाले (सवितारम्) सविता देवताको (देववीतये) देवताओंकी तृप्तिके निमित्त (उपह्वये) आह्वानकरते और (महे) पूजन करते है आशय यह कि परमात्माकी प्रार्थना उपासना पूजासे सब देवता तृप्त होजाते है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

देवस्यसवितुर्म्मतिमासवंविश्वदेव्यम् ॥ धियाभगम्मनामहे ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ–(धिया) भक्तिसम्पन्न बुद्धिके द्वारा (सवितुः) सबके प्रेरक (देवस्य) परमात्माकी (मतिम्) बुद्धि (आसवम्) सब ऐश्वर्यके हेतु (विश्वदेव्यम्) सब देवताओंके हितकारी (भगम्) बुद्धिरूप धनको (मनामहे) याचना करते हैं अर्थात् परमातमासे हम इस प्रकार कृपाकी प्रार्थना करते है कि, जिससे सब कार्यसाधन ऐश्वर्य और उनके रक्षणके उपयोगिनी बुद्धि प्राप्त होवै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

अग्निᳫँस्तोमेन बोधयसमिधानोऽअमर्त्त्यम् ॥ हव्यादेवेषुनोदधत् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्निमित्यस्य सुतम्भर ऋ० । निच्यृद्गायत्री छं० । अग्निर्देवता । स्विष्टकृद्यागस्य पुरोनुवाक्यमन्त्रपठने विनियोगः ॥ १५ ॥

विधि-(१) यह तीन मंत्र स्विष्टकृत यज्ञके पुरोनुवाक्य है। मन्त्रार्थ-हे अध्वर्यु! तुम (अमर्त्यम्) मरणधर्मरहित (अग्निम्) अग्निको (समिधानः) प्रज्वलित करते (स्तोमेन) स्तुतिद्वारा (बोधय) बोधकराओ कि (नः) हमारी (हव्या) हवियोंको (देवेषु) देवताओंमें (दधत्) स्थापन करो [ऋ० ४। १। ६] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १।

स हव्यवाडमर्त्त्यऽउशिग्दूतश्चनोहितः ॥ अग्निर्द्धियासमृण्वति ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सहव्यवाडित्यस्य विश्वामित्र ऋ०। गायत्री छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ-(सः) वह (हव्यवाट्) हवियोंका वहन करनेवाला (अमर्त्यः) मरणधर्मरहित (उशिक्) बुद्धिमान् (दूतः) देवताओंका दौत्य कर्म करनेवाला (च) और (नः) हमारा (हितः) हितकारी अथवा (चनोहितः) अन्नोंकी प्राप्ति करानेवाला (अग्निः) अग्नि देवता (धिया) बुद्धिपूर्वक (समृण्वति) हवि देनेको देवताओंको प्राप्त होता है " चन इत्यन्ननाम " [निरु० ६। १६] [ऋ० ३। ११। ९] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १।

अग्निन्दूतम्पुरो दधे हव्यवाहमुपब्रुवे ॥ देवाँ२ऽआसादयादिह ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमित्यस्य विश्वरूप ऋषिः। गायत्री छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ-(दूतम्) देवताओंके दौत्यकार्यमें नियुक्त (हव्यवाहम्) हविके धारण करनेवाले (अग्निम्) अग्निको (पुरः) आगे (दधे) स्थापनकरता हूं उससेही (उपब्रुवे) कहता हूं हे अग्ने! (इह) इस यज्ञमें (देवान्) देवताओंको (आसादयात्) स्थापन करो अर्थात् बुला आओ [ऋ० ६। ३। ३६] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १।

अजीजनो हि पवमान सूर्य्यं विधारे शक्मना पयः ॥ गोजीरया रꣳहमाणः पुरन्ध्या ॥ १८ ॥ [९]

ऋष्यादि-(१) ॐ अजीजन इत्यस्य अरुणत्रसदस्युर्ऋषिः । कृतिरनुष्टुप्छं० । पवमानो दे० । पवमानस्तुतौ विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१) पवमानस्तुति । मन्त्रार्थ-(पवमान) हे पवमान ! पवित्रकारी तुम (पुरन्ध्या) धाराके द्वारा (रंहमाणः) वेगसे गमन करते (सूर्यम्) सूर्यको (अजीजनः) प्रगट करनेवाले हो (गोजीरया) गौओंके जीविकाहेतु जलको (शक्मना) सामर्थ्यसे (हि) अवश्यही (पयः) उत्तम जलको (विधारे) धारण करते हो, गौओंसे दूध उससे हवि और हविसे यज्ञनिष्पत्ति होती है। पुरन्धिशब्दसे तीनों लोकका जीवन धारण करनेवाला जल और गोजीरा शब्द गौके खाद्यतृणविशेषका वीज जानना। आंधी उपस्थित होनेसे कईएक दिन पहलेसेही प्रायः मन्द२ वायुके साथ विन्दु२ वृष्टि होती है, फिर जब यह आंधी अधिकतर वेगवान् होती है उस समय उसके सहित वर्षाके कण और प्रान्तर 'अवकाशके मध्य' में उत्पन्न यह गोजीरादि अधिक वेगसे ऊपरको उडजाते हैं उससमय आकाशमें धूरिपटल छाजानेसे सूर्यभी अदृश्य होजातेहै, उस समय मेघोसेभी धारावर्षा सम्यक् नही होती पश्चात् रजधूलिकी न्यूनतासे धूरिपटल दूर होकर सूर्यका दर्शन होता है यही आशय इस मंत्रमें वर्णन किया है और यही सूर्यका प्रगट करना है [ऋ० ७।५।२२] ॥ १८ ॥

कण्डिका१९-मंत्र ६. अनु० ५ ।

विभूर्म्मात्रा प्प्रभूः पित्राश्श्वोसि हयोस्यत्त्योसि मयोस्यर्वासि सप्तिरसि वाज्ज्यसि वृषासि नृमणाऽअसि ॥ ययुर्न्नामासि शिशुर्न्नामास्यादित्त्यानाम्पत्त्वान्विहि देवाऽआशापालाऽएतन्देवेब्भ्योश्श्वम्मेधाय प्प्रोक्षितꣳरक्षतेह रन्तिरिह रमतामिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहा ॥ १९ ॥ [२]

ऋष्यादि-(१) ॐ विभूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अतिजगती छन्दः । अश्वो देवता । अश्वस्य दक्षिणकर्णे अध्वर्युयजमानाभ्यां जपे विनियोगः । (२) ॐ देवा इत्यस्य आर्च्युष्णिक्छं० । देवा दे० । अश्वसमर्पणे विनि० । (३-५) ॐ ३-५ मन्त्रयोर्दैवी बृहती छं० । अग्निर्दे० (४) चतुर्थमंत्रस्य दैवीपंक्तिः ॥(६) षष्ठमन्त्रस्य दैवी जगती छन्दः । सर्वेषामस्तमनवेलायामाहुतिप्रतिदाने वि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) तृतीय सावित्र इष्टिके समाप्त होनेपर यजमान और अध्वर्यु दोनों एकत्र होकर अश्वके दक्षिण कर्णमें यह प्रथम मंत्र पाठकरै [का० २०।२।१८]

मन्त्रार्थ-हे अश्व! तुम (मात्रा) पृथ्वीरूप माताके निकटसे (विभूः) समर्थ होतेहो (पित्रा) पितारूप द्युलोकके द्वारा (प्रभूः) विशेष समर्थ होतेहो "इयं वै मातासौ पिता ताभ्यामेवैनं परिददाति" इति श्रुतेः [१३।१।६।१] तुम (अश्वः) मार्गके व्याप्त करनेवाले (असि) हो (हयः) गमन करनेवाले (असि) हो (अत्यः) निरन्तरगामी (असि) हो (मयः) गमन वा सुखरूप (असि) हो (अर्वा) गमनशील वा शत्रुनाशक (असि) हो (सप्तिः) सेनासे मिलनेवाले (असि) हो (वाजी) अनेक गतिवान् वा पक्षयुक्त (असि) हो (वृषा) सींचनेमें समर्थ (असि) हो (नृमणा) यजमानमें मन रखनेवाले (असि) हो अश्वमेधमें (ययुः) अतिजानेवाले ययु (नाम) नामवाले (असि) हो (शिशुः) शिशु बाल कृशकारी (नाम) नामवाले (असि) हो (आदित्यानाम्) अदितिके सन्तान देवताओंके (पत्व) मार्गको (अन्विहि) गमनकरो अर्थात् स्वर्गके गमनमें समर्थ हो१।

विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकरके इस अश्वको वडवा और जलस्नानादिसे एकवर्ष रक्षा करनेके निमित्त सैंकडों रक्षकोंके हाथमें समर्पण करै अर्थात् २४ चौवीस वर्षकी अवस्थावाले एकसौ कवचधारी राजपुत्र सौ खड्गधारी क्षत्रियकुमार, एकशत तृणधारी सारथिकुमार, एकसौ वेशादिदंडके धारण करनेवाले क्षात्र संग्रहीतृपुत्र साथ चलें. और वहुतसी सेना हो, सौ घोडोंके मध्यमें यह अश्व रक्षित होता है तवतक यजमान और वावाता (रानी) भूमिमें सोती हैं सावित्री वीणागानकरती पारिप्लव शास्त्रपाठ और धृति होम करतेहैं [का० २०।२।२०] मंत्रार्थ-(आशापालाः) दिशाओंके पालन करनेवाले (देवाः) हे देवताओ राजपुत्रो! (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (मेधाय) यज्ञके निमित्त (प्रोक्षितम्) प्रोक्षण किये (एतम्) इस (अश्वम्) अश्वको (रक्षत) तुम रक्षाकरो "शतं वै तल्प्या राजपुत्रा आशापालास्तेभ्य एवैनं परिददाति" इति [१३।१।६।२]२। विधि-(३-४-५-६)इस प्रकार घोडेको छोडकर एक वर्षतक प्रतिदिन सूर्यके अस्त होनेपर अग्निहोत्रहोमके पूर्व अग्निहोत्र हवनके निमित्त उद्धृतकीहुई अग्निमें इस ३।४।५।६ मंत्रसे अश्वके उद्देश्यसे चार आहुति दे " वर्ष दिनमें १४४० आहुति होंगी, यह धृतिहोम कहलाता है " " संवत्सरमाहुतीर्जुहोति षोडशनवतीरेता वा अश्वस्य बंधनं ताभिरेवैनं बध्नाति " इति [१३ । १ । ६ । २] श्रुतेः [का० २० । ३ । ४] मंत्रार्थ-हे अग्ने! (इह) इस स्थानमें (रन्तिः) अश्वका रमण हो इसी निमित्तसे आहुति देतेहैं ३। (इह) इस स्थानमें (रमताम्) अश्व रमण करै ४। (इह) इस स्थानमें (धृतिः)

अश्वका सन्तोषहो ५ । (इह) इस स्थानमें (स्वधृतिः) धारणहो (स्वाहा) यह आहुतिं भलीप्रकार गृहीतहो ६ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मंत्र २१. अनु० ६ ।

कायस्वाहाकस्म्मैस्वाहाकतमस्म्मैस्वाहास्वाहाधिमाधीतायस्वाहामनःप्रजापतयेस्वाहाचित्तंविज्ञातायादित्यैस्वाहादित्यैमह्यैस्वाहादित्यैसुमृडीकायैस्वाहासरस्वत्यैस्वाहासरस्वत्यैपावकायैस्वाहासरस्वत्यैबृहत्यैस्वाहापूष्णेस्वाहापूष्णेप्रपथ्यायस्वाहापूष्णेनरन्धिषायस्वाहात्वष्ट्रेस्वाहात्वष्ट्रेतुरीपायस्वाहात्वष्ट्रेपुरुरूपायस्वाहाविष्णवेस्वाहाविष्णवेनिभूयपायस्वाहाविष्णवेशिपिविष्टायस्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कायेति १ । २ । १३ । १६ मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी बृहती छं० । लिङ्गोक्ता दे० (ॐ) ३ । १० मन्त्रयोर्दैवी जगती० । ४ । ८ मन्त्रयोरासुरी जगती० । ५ । १२ । १५ । १८ ।२१ मन्त्राणां याजुष्यनुष्टुप्छं० । ६ । १४ । १७ मन्त्राणां दैवी पंक्तिः । ७ १९ मन्त्रयोर्दैवी जगती० । ९ । ११ । २० मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवताः । होमे वि० ॥ २० ॥

विधि–(१) इस यज्ञके दीक्षाकार्य सातदिनपर्यन्त होते है इन सातदिनके दीक्षाकार्य अनुष्ठानमें सर्वसाधारण [आकूत्यैस्वाहा ४ अ० ७ क०] इस मंत्रसे चार आहुति देकर फिर विशेषकर इस कण्डिकाके तीन २ मंत्रोंसे और तीन आहुति दे । इस कण्डिकामें २१ मंत्र हैं यथाक्रमसे प्रतिदिन तीन २ का व्यवहार होता है यह मंत्र उद्गमन कहलाते है इसमें आकूती मंत्र आध्वरिक उद्गमन और यह मंत्र आश्वमेधिक उद्गमन कहाते हैं [का० २० । ४ । ३ । ९] "सप्ताहं प्रचरन्ति" इति [१३ । १ । ७ । २] श्रुतेः । मन्त्रार्थ–(काय) प्रजापति देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति प्राप्त हो (कस्मै) श्रेष्ठ प्रजापतिके

निमित्त (स्वाहा) यह आहुति हो (कतमस्मै) अतिशय श्रेष्ठ प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) आहु० (आधिमाधीताय) विद्यावृद्धिको धारण करनेवालेको (स्वाहा) आहुति० (मनः) मनमें वर्तमान (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (चित्तंविज्ञाताय) चित्तके साक्षी (आदित्यै) आदित्य देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (अदित्यै) अखण्डित आदितिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (मह्यै) पूजनीय (आदित्यै) अदितिदेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (सुमृडीकायै) सुखदात्री (अदित्यै) अदिति देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (पावकायै) शोधक (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (बृहत्यै) महान् (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (पूष्णे) पूषाके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (प्रपथ्याय) मार्गमें प्राप्त वा उत्तम पदार्थयुक्त (पूष्णे) पूषा देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (नरन्धिषाय) वैदिक मनुष्योंके शिक्षकके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (त्वष्ट्रे) त्वष्टा देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (तुरीपाय) वेगके रक्षक (पूष्णे) पूषाके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (पुरुरूपाय) बहुरूप (त्वष्ट्रे) त्वष्टादेवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (विष्णवे) विष्णु देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (निभूयपाय) अनेक अवतार धारणकर रक्षा करनेवाले (विष्णवे) विष्णुके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (शिपिविष्टाय) पशुप्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट विष्णुके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते है स्वीकारहो ॥ २० ॥

व्युत्पत्ति-(निभूयपाय) नितरां भूत्वा मत्स्याद्यवतारं कृत्वा पाति निभूयपस्तस्मै निभूयपाय ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १।

विश्वोदेवस्यं नेतुर्म्मर्त्तोवुरीतसुख्यम् ॥ विश्वोरायऽइषुध्यति द्युम्नंवृ॑णीतपुष्यसेस्वाहा ॥ २१ ॥ [१]

विधि-(१) सात दिनमें यह चार साधारण आहुति परिवर्तित करके "आकूतिं प्रयुज्यमग्निं स्वाहा" [११ । ६६ ।] प्रभृति अग्निउद्ग्रभण छः आहुति और उसके उपरान्त विष्णवे प्रभृति तीन आहुति देनेके उपरान्त यह मंत्रपाठकरके एक और आहुति दे [का० २० । ४ । ९ । १०] विश्वोदेवस्येति इसकी व्याख्या ४ । ८ में होगई. होमे विनियोगः ॥ २१ ॥

काण्डिका २२-मन्त्र १. अनु० ७।

आब्रह्म॑न्ब्राह्म॒णो ब्र॑ह्मवर्च॒सी जा॑यता॒मा रा॒ष्ट्रे रा॑ज॒न्यः॒ शूर॑ऽइष॒व्यो॒ऽतिव्या॒धी म॑हार॒थो जा॑यतां॒ दोग्ध्री॑ धे॒नुर्वोढा॑न॒ड्वाना॒शुः सप्तिः॒ पुर॑न्धि॒र्योषा॑ जि॒ष्णू र॑थे॒ष्ठाः स॒भेयो॒ युवास्य यज॑मानस्य वी॒रो जा॑यतां निका॒मे-नि॑कामे नः प॒र्जन्यो॑ वर्षतु॒ फल॑वत्यो न॒ऽओष॑धयः पच्यन्तां योगक्षे॒मो नः॑ कल्पताम् ॥ २२ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ आब्रह्मन्नित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। उत्कृतिश्छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। जपे विनि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) अश्वत्यागके पूर्व अध्वर्यु इस मंत्रसे आशीर्वादकी कामना करे अर्थात् कृष्णाजिनकी ग्रीवासे लेकर १३ समिधा उखामें रखकर अध्वर्यु जपकरे [का० २०। ४। ११] मन्त्रार्थ-(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन्! (राष्ट्रे) हमारे देशमें (ब्रह्मवर्चसी) वेदअध्ययनशील (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (आजायताम्) सब प्रकार उत्पन्न हो (शूरः) शूर (इषव्यः) बाणवेधमें कुशल वा बाणविद्यामें चतुर (अतिव्याधी) शत्रुको भलीप्रकार भेदन करनेवाला (महारथः) महारथी (राजन्यः) क्षत्रिय (आजायताम्) उत्पन्न हो एक सहस्र रथियोंको जीतनेवाला महारथी होता है (अस्य) इस (यजमानस्य) यजमानकी (धेनुः) गौ (दोग्ध्री) दुग्धसे पूर्ण हो (अनड्वान्) बलीवर्द (वोढा) वहनशील हो (सप्तिः) घोडा (आशुः) शीघ्रगामी हो (योषा) स्त्री (पुरन्धिः) सर्वगुणसम्पन्न हो (रथेष्ठाः) रथमें बैठनेवाला जयशील मनुष्य (जिष्णुः) जयशील हो इसके (वीरः) पराक्रमसम्पन्न (युवा) यौवनपूर्ण (सभेयः) सभाके योग्य पुत्र (आजायताम्) उत्पन्न हो (नः) हमारे राज्यमें (पर्जन्यः) मेघ (निकामे, निकामे) प्रत्येक कामना करनेपर (वर्षतु) वर्षे (नः) हमारे राज्यमें (ओषधयः) ओषधी (फलवत्यः) फलवती (पच्यन्ताम्) स्वयं पाकको प्राप्त हों (नः) हमको (योगक्षेमः) योगसे युक्त क्षेम (कल्पन्ताम्) प्राप्तहो "अलब्धिका लाभ योग, और लब्धिका पालन क्षेम है" ॥ २२ ॥

विशेष-जिस २ वस्तुकी आवश्यकता वा जिसका जो धर्म है वह इसमें वर्णन किया है जैसा ब्राह्मणको वेदाध्ययन, क्षत्रियको शूर होना तथा सभाके योग्य पुत्रकी प्रार्थनासे सभाका करना और उसमें जानाभी ईश्वरकी आज्ञा है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १२. अनु० ९ ।

प्राणायस्वाहापानायस्वाहाव्यानायस्वाहाचक्षुषे स्वाहाश्श्रोत्रायस्वाहावाचेस्वाहामनसेस्वाहा २३ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राणायस्वाहेति १ ।३।४।५।७ मंत्राणां प्रजापति-ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लिङ्गोक्ता दे० । द्वितीयमन्त्रस्य दैवी त्रिष्टुप्० । षष्ठमंत्रस्य दैवी बृहती छं० । सर्वेषामाहुतिदाने वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) प्राणाय स्वाहासे आरंभकर एकशताय स्वाहातक बारह कण्डिकाके मंत्रोंको यथाक्रमसे एक २ पाठ करके अन्तरवेदीमें स्थित अग्निमें आहुति दे इस प्रकार वारंवार आहुति देकर सम्पूर्ण रात्रि जागरण करै उसमें पहले पहरमें घृतकी आहुतिं, दूसरेमें सक्तु, तीसरेमें धान्य और चौथेमें लाजाकी आहुति दे, यह प्राणादि सब प्रजापतिकेही अवयव हैं सो ३४ कण्डिकातक यह आत्माहीकी स्तुति है "सर्वमिदं यदयमात्मा" इति श्रुतेः [का० २० । ४ । ३१ ।]

मन्त्रार्थ-(प्राणाय) प्राणोंके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अपानाय) अपानके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (व्यानाय) व्यानके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (चक्षुषे) नेत्र इन्द्रियक बलवृद्धिके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (श्रोत्राय) कर्णेन्द्रियके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वाचे) वाणीके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (मनसे) मनके निमित्त (स्वाहा) आहुति गृहीत हो॥२३॥

कण्डिका २४-मन्त्र १२. अनु० ९ ।

प्राच्च्यैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहादक्षिणायैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहाप्प्रतीच्च्यैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहोदीच्च्यैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहोर्ध्वायैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहार्वाच्च्यैदिशेस्वाहा ॥ २४ ॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राच्यै दिश इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ०। दैवी त्रिष्टुप्छं०। दिग्देवता। आहुतिदाने वि०॥ ॐ २।४।५।६।७।८।९।१०। ११।१२। मन्त्राणां दैवी जगती०। ॐ दक्षिणायै दिश इत्यस्य याजुष्यनुष्टुप्छन्दः। दिग्देवता। सर्वेषामाहुतिदाने विनि०॥ २४॥

मंत्रार्थ-(प्राच्यै) पूर्व (दिशे) दिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अर्वाच्यै) आग्नेय वा जो नीचेसे सूर्य मण्डलको प्राप्त होती, जब विषुवत् रेखासे सूर्य नीचेको आते हैं उस आग्नेय (दिशे) दिशाके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (दक्षिणायै दिशे) दक्षिणदिशाके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (अर्वाच्यै) नैर्ऋत्य (दिशे) दिशाको (स्वाहा) आहुति० (प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम दिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अर्वाच्यै दिशे) वायव्य दिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (उदीच्यै दिशे) उत्तर दिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अर्वाच्यै दिशे) ईशानदिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (ऊर्ध्वायै दिशे) ऊर्ध्वदिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अर्वाच्यै) अधो वर्तमान (दिशे) दिशाके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (अवाच्यै दिशे) सबसे नीचे वर्तमान दिशाके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति० (अर्वाच्यै दिशे) पृथ्वीगोलकमें जो प्रत्येक कोनादिके तलेकी दिशा है उसके निमित्त (स्वाहा) आहुति देतेहैं इस मंत्रमें दिशाओंके ज्ञानका उपदेश किया है तथा उनके देवता और उनमें वर्तमान प्राणियोंको तृप्त किया है॥ २४॥

कण्डिका २५-मन्त्र१२. अनु० १०।

अ॒द्भ्यः स्वाहा॑ वा॒र्भ्यः स्वाहो॑द॒काय॒ स्वाहा॒ तिष्ठ॑न्तीभ्यः॒ स्वाहा॒ स्रव॑न्तीभ्यः॒ स्वाहा॒ स्यन्द॑मानाभ्यः॒ स्वाहा॒ कूप्या॑भ्यः॒ स्वाहा॒ सूद्या॑भ्यः॒ स्वाहा॒ धार्या॑भ्यः॒ स्वाहा॑र्ण॒वाय॒ स्वाहा॑ समु॒द्राय॒ स्वाहा॑ सरि॒राय॒ स्वाहा॥ २५॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ अद्भ्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। दैवी बृहती छन्दः। आपो देवताः। ३।४। ५।१०।११। १२ मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छं०। ६ मन्त्रस्य दैवीजगती।७।८।९ मन्त्राणां दैवीपंक्तिः। जलं देवता। सर्वेषामाहुतिदाने विनियोगः॥ २५॥

मंत्रार्थ-(अद्भ्यः) जलोंके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (वार्भ्यः) वारि जलोंको (स्वाहा) आहु० (उदकाय) सूर्यकी किरणोंमें ऊपर जानेवाले जलोंके निमित्त (स्वाहा) आहु० (तिष्ठन्तीभ्यः) स्थितजलोंके निमित्त (स्वाहा) आहु० (स्रवन्तीभ्यः) झिरतेहुओंके निमित्त (स्वाहा) आहु० (स्यन्दमानाभ्यः) गमन करते जलोंको (स्वाहा) आहु० (कूप्याभ्यः) कुएके जलोंको (स्वाहा) आहु० (सूद्याभ्यः) वर्षासे गीला करनेवाले जलोंको (स्वाहा) आहुति० (धार्याभ्यः) धारणयोग्य जलोंको (स्वाहा) आहु० (अर्णवाय) नदवाले जलोंको (स्वाहा) आहु० (समुद्राय) समुद्रजलोंको (स्वाहा) आहु० (सरिराय) श्रेष्ठजलको (स्वाहा) आहुति हो अर्थात् सब जल शुद्ध हों ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मन्त्र १८. अनु० ११।

वातायस्वाहां धूमायस्वाहाऽभ्रायस्वाहांमेघाय स्वाहांविद्योतमानायस्वाहांस्तनयतेस्वाहांवस्फूर्जतेस्वाहावर्षतेस्वाहांववर्षतेस्वाहोग्रंवर्षतेस्वाहां शीघ्रंवर्षतेस्वाहोद्गृह्णतेस्वाहोद्गृहीतायस्वाहां प्रुष्णतेस्वाहांशीकायतेस्वाहाप्रुष्वांभ्यः स्वाहांह्रादुनीभ्युः स्वाहांनीहारायस्वाहां॥ २६॥ [१]

ऋष्यादि-(१) ॐ वातायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छं० । मेघपयो देवता । पंचममंत्रस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० । ६ । १२ । १५ । १७ । १८ मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छं० । ७ । ९ । १० । ११ । १३ मन्त्राणां दैवी जगती छं० । सर्वेषामाहुतिदाने वि० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-(वाताय) वायु देवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (धूमाय) मेघके कारण धूमके निमित्त (स्वाहा) आ० (अभ्राय) मेघके हेतुको (स्वाहा) आ० (मेघाय) मेघको (स्वाहा) आहु० (विद्योतमानाय) बिजलीयुक्तके निमित्त (स्वाहा) आ० (स्तनयते) गर्जनकरतेको (स्वाहा) आ० (अवस्फूर्जते) वज्रशब्द करतेको (स्वाहा) आहुति० (वर्षते) वर्षाकरतेके निमित्त (स्वाहा) आ० (अववर्षते) थोडीवर्षाकरतेके निमित्त (स्वाहा) आ० (उग्रं वर्षते) उग्र

वर्षा करनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आहु० (शीघ्रं वर्षते) शीघ्रवर्षा करतेको (स्वाहा) आहुति० (उद्गृह्णते) जलको ऊंचालेनेवालेके निमित्त (स्वाहा) आ० (उद्गृहीताय) ऊपरसे ग्रहण करेहुएके निमित्त (स्वाहा) आ० (प्रुष्णते) बहुत जल गिरातेको (स्वाहा) आ० (शीकायते) ठहरठहरके वर्षनेवालेको (स्वाहा) आ० (प्रुष्वाभ्यः) घोर वर्षावालाको (स्वाहा) आ० (ह्रादुनीभ्यः) गडगड शब्द करनेवालोंको (स्वाहा) आ० (नीहाराय) कुहरवालोंको (स्वाहा) आहुति हो [इतने प्रकारसे जल वर्षते है] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र १०. अनु०१२।

अग्नये॑स्वाहा॒सोमा॑य॒स्वाहेन्द्रा॑य॒स्वाहा॑पृथि॒व्यै स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒स्वाहा॑दि॒वेस्वाहा॑दि॒ग्भ्यः॒स्वा हाशा॑भ्य॒ᳪ॒स्वाहो॒र्व्यैदि॒शेस्वाहा॒र्वाच्यै॑दि॒शेस्वा हा॑ ॥ २७ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१–२–३–४) ॐ अग्नयेस्वाहेत्यस्य मन्त्रचतुष्टयस्य प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छन्दः । अग्न्यादयो देवताः । ५ । १० मन्त्रयोः दवी जगती० । पृथ्वी देव० । ६। ७।८ मन्त्राणां दैवी बृहती० । देवादयो देवताः । नवममन्त्रस्य दैवी त्रिष्टुप्छं० । दिग्देवता । सर्वेषामाहुतिदाने वि० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहुति० (सोमाय) सोमके निमित्त (स्वाहा) आहु० (इन्द्राय) इन्द्रदेवताके निमित्त (स्वाहा) आहु० (पृथिव्यै) पृथिवीदेवताके निमित्त (स्वाहा) आ० (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष देवताके निमित्त (स्वाहा) आ० (दिवे) द्युलोकके निमित्त (स्वाहा) आहु० (दिग्भ्यः) दिशाओंके निमित्त (स्वाहा) आ० (आशाभ्यः) ईशानादि दिशाओंके निमित्त (स्वाहा) आ० (उर्व्यै) पृथिवीकी (दिशे) दिशाओंके निमित्त (स्वाहा) आहु० (अर्वाच्यै) निम्न (दिशे) दिशाओंके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र २३. अनु० १३ ।

नक्ष॑त्रेभ्य॒ः॒स्वाहा॑नक्ष॒त्रियेभ्य॒ः॒स्वाहा॑होरा॒त्रेभ्य॒ᳪ॒ स्वाहा॑र्द्धमा॒सेभ्य॒ᳪ॒स्वाहा॒मासे॑भ्य॒ᳪ॒स्वाहा॑ऽऋतु

फूलोंकी वृद्धिके निमित्त (स्वाहा) आ० (फलेभ्यः) फलोंको (स्वाहा) आ० (ओषधीभ्यः) ओषधियोंको (स्वाहा) आहुति गृहीत हो ॥ २८ ॥

तात्पर्य–यह हवनसे चराचरका उपकार होता है नक्षत्रोंसे इन सब वस्तुओंके सम्बन्ध हैं सबपर प्रभाव पडता है ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र ११ । अनु० १४ ।

पृथिव्यै स्वाहान्तरिक्षाय स्वाहा दिवे स्वाहा सूर्याय स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहौषधीभ्यः स्वाहा वनस्पतिभ्यः स्वाहा परिप्लवेभ्यः स्वाहा चराचरेभ्यः स्वाहा सरीसृपेभ्यः स्वाहा ॥ २९ ॥ [१]

ऋष्यादि–(१) ॐ पृथिव्या इति १ । ४ । ५ । ८ मन्त्राणां प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छन्दः । लोकाधिष्ठात्र्यो दे० । २ । ९ । १० । ११ । मन्त्राणां दैवी जगती । ३ । ७ मन्त्रयोर्दैवी बृहती० । ६ मन्त्रस्य दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । आहुतिदाने विनियोगः ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ–(पृथिव्यै) पृथिवीके निमित्त (स्वाहा) आ० (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्षको (स्वाहा) आ० (दिवे) द्युलोकके निमित्त (स्वाहा) आ० (सूर्याय) सूर्यके निमित्त (स्वाहा) आ० (चन्द्राय) चन्द्रमाके निमित्त (स्वाहा) आ० (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रोंके निमित्त (स्वाहा) आ० (अद्भ्यः) जलोंको (स्वाहा) आ० (ओषधीभ्यः) ओषधियोंको (स्वाहा) आ० (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियोंको (स्वाहा) आ० (परिप्लवेभ्यः) सब ओरसे भ्रमण करता ग्रहोंके निमित्त (स्वाहा) आ० (चराचरेभ्यः) चराचरके निमित्त (स्वाहा) आ० (सरीसृपेभ्यः) सर्पादिकोंके निमित्त वा गतिमान् लोकोंके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो इससे सबका मंगल हो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मंत्र १४. अनु० १५ ।

असवे स्वाहा वसवे स्वाहा विभुवे स्वाहा विवस्वते स्वाहा गणश्रिये स्वाहा गणपतये स्वाहाभिभुवे स्वाहाधिपतये स्वाहा शूषाय स्वाहा सꣳसर्पाय स्वाहा च

न्द्रायस्वाहा ज्योतिषेस्वाहा मलिम्लुचायस्वाहा दिवापतयेस्वाहा ॥ ३० ॥ [१]

ऋष्यादि-ॐ अग्नय इत्यादि १ । २ । ३ । ४ । ११ । १२ मंत्राणां प्र० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । अग्न्यादयो दे० । ५ । ६ । ७ । १० मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छं० । विवस्वदादयो दे० । ८ । ९ । १३ । मन्त्राणां दैवी जगती० । गणपत्यादयो देवताः । चतुर्दशमंत्रस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(अग्नये) प्राणके निमित्त (स्वाहा) आ० (वसवे) वसुदेवताको (स्वाहा) आहु० (विभुवे) व्यापकके निमित्त (स्वाहा) आ० (विवस्वते) विवस्वान् सूर्यके निमित्त (स्वाहा) आ० (गणश्रिये) गणश्रीदेवताको (स्वाहा) आ० (गणपतये) गणपतिके निमित्त (स्वाहा) आ० (अभिभुवे) अभिभु सन्मुख प्राप्तको (स्वाहा) आ० (अधिपतये) राजके स्वामीको (स्वाहा) आ० (शूषाय) बलवानके निमित्त (स्वाहा) आ० (संसर्पाय) गमनशीलको (स्वाहा) आ० (चन्द्राय) चन्द्रको (ज्योतिषाय) ज्योतिदेवताको (स्वाहा) आ० (मलिम्लुचाय) मलिम्लुचके निमित्त (स्वाहा) आ० (दिवापतये) दिनके पति सूर्यके निमित्त (स्वाहा) आहुति दो ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १३. अनु० १८ ।

मधवेस्वाहा माधवायस्वाहा शुक्रायस्वाहा शुचयेस्वाहा नभसेस्वाहा नभस्यायस्वाहेषायस्वाहोर्जायस्वाहा सहसेस्वाहा सहस्यायस्वाहा तपसेस्वाहा तपस्यायस्वाहा ऽꣳहसस्पतयेस्वाहा ॥ ३१ ॥ [१]

ऋष्यादि-ॐ मधवे स्वाहेत्यादि १ । ३ । ४ । ५ । ७ । ८ । [illegible] मन्त्राणां प्र० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । मासाभिमानिनो देवताः २ । ६ । १० । १२ मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छं० । १३ मन्त्रस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० । आहुतिदाने विनियोगः ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(मधवे) [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पदको (स्वाहा) आहुति० (इषाय) अन्नसम्पादक क्वारको (स्वाहा) आ० (ऊर्जाय) बलअन्नपोषक कार्तिकको (स्वाहा) आ० (सहसे) बलदायक अगहनको (स्वाहा) आ० (सहस्याय) बल देनेमें श्रेष्ठ पौषको (स्वाहा) आ० (तपसे) व्रतस्नानसे तपरूप माघको (स्वाहा) आहु० (तपस्याय) उष्णता प्रवर्तक फाल्गुनमासको (स्वाहा) आहुति (अंहसस्पतये) महिनोंमें मिले मलमासको (स्वाहा) आहुति हो [महीनोंके गुण कथन किये है.] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र १२ अनु०१७।

वाजा॑य॒ स्वाहा॑ प्रस॒वाय॒ स्वाहा॑ऽपि॒जाय॒ स्वाहा॒ क्रत॑वे॒ स्वाहा॒ स्वः॒ स्वाहा॑ मू॒र्ध्ने स्वाहा॑ व्यश्नु॒विने॒ स्वाहान्त्या॑य॒ स्वाहान्त्या॑य भौव॒नाय॒ स्वाहा॒ भुव॑नस्य॒ पत॑ये॒ स्वाहाधि॑पतये॒ स्वाहा॑ प्र॒जाप॑तये॒ स्वाहा॑ ॥ ३२ ॥ [१]

ऋष्यादि–ॐ वाजायेत्यादि १ । ४ । ८ मन्त्राणां प्र० ऋ० । दैवी पं० । अन्नाधीशा देवताः । २ । ३ । ७ मन्त्राणां दैवी त्रिष्टुप्छं० । ५ मन्त्रस्य दैव्यनुष्टुप्छं० । ६ मन्त्रस्य दैवी बृहती छं० ।९ । १० मन्त्रयोरासुरी जगती छं० । ११ । १२ मन्त्रयोर्दैवी जगती छं० । आहुतिदाने विनियोगः ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ–(वाजाय) अन्नदेवताको (स्वाहा) आ० (प्रसवाय) पदार्थोंके उत्पादकको (स्वाहा) आ० (अपिजाय) जलोत्पन्न अन्नोंको (स्वाहा) आ० (क्रतवे) यज्ञयोग्य अन्नको (स्वाहा) आ० (स्वः) सुखरूप वा दिव्यलोकके अन्नको (स्वाहा) आ० (मूर्ध्ने) सूर्यरूप अन्नपतिको (स्वाहा) आ० (व्यश्नुविने) व्यापक अन्नको (स्वाहा) आ० (आन्त्याय) महत् रूप अन्नको (स्वाहा) आ० (आन्त्याय) व्यवहारसे महान् (भौवनाय) संसारमें होनेवाले अन्नको (स्वाहा) आ० (भुवनस्य) संसारके (पतये) पालक अन्नाधीश देवताको (स्वाहा) आ० (अधिपतये) सबके अधिष्ठाता अन्नको (स्वाहा) आ०। (प्रजापतये) प्रजापतिरूप अन्नको (स्वाहा) आहुति० । वाजादिशब्दसे अन्नके अधिष्ठात्री देवता जानने ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १५ अनु० १८।

आयु॑र्य॒ज्ञेन॑ कल्पता॒ᳬ स्वाहा॑ प्रा॒णो य॒ज्ञेन॑ कल्प

ताᳬंस्वाहाऽपानोयज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहाव्यानोय
ज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहोदानोयज्ञेनकल्पताᳬंस्वा
हासमानोयज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहाचक्षुर्यज्ञेनकल्प
ताᳬंस्वाहाश्रोत्रंयज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहावा
ग्यज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहामनोयज्ञेनकल्पताᳬं
स्वाहात्मायज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहाब्रह्मायज्ञेन
कल्पताᳬंस्वाहाज्योतिर्यज्ञेनकल्पताᳬंस्वा
हास्वर्यज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहापृष्ठंयज्ञेनकल्प
ताᳬंस्वाहायज्ञोयज्ञेनकल्पताᳬंस्वाहा ॥ ३३ ॥

(स्वाहा) इसी निमित्त यह आ० (श्रोत्रम्) मेरी श्रोत्रइन्द्रिय (यज्ञेन कल्पताम्) यज्ञसे कल्पित हो (स्वाहा) यह आहुति (वाक्) मेरी वागिन्द्रिय (यज्ञेन कल्पताम्) यज्ञसे कल्पितहो (स्वाहा) इसी निमित्त आहु० (मनः) मेरा मन (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (कल्पताम्) वृद्धिको प्राप्तहो (स्वाहा) आ० (आत्मा) हमारा आत्मा (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (कल्पताम्) सम्पन्नहो (स्वाहा)आ० (ब्रह्मा) ब्रह्मा वा वेद (यज्ञेन) यज्ञद्वारा (कल्पताम्) कल्पित हो (स्वाहा) आ० (ज्योतिः) आत्मज्योति (यज्ञेन कल्पताम्) यज्ञद्वारा कल्पित हो (स्वाहा) यह आहुति० (स्वः) स्वर्ग (यज्ञेन कल्पताम्) यज्ञके फलसे हमको मिलै (स्वाहा) आ० (पृष्ठं) ब्रह्मलोक (यज्ञेन कल्पताम्) यज्ञके फलसे हमको प्राप्त हो (स्वाहा) इसी निमित्त आ० (यज्ञः) यज्ञ (यज्ञेन) यज्ञके फलसे (कल्पताम्) प्राप्तहो (स्वाहा) इसी निमित्त यह आहुति देते है भलीप्रकार गृहीतहो १४८ आहुति हुई ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र ६ अनु० १९ ।

एकस्म्मैस्वाहाद्वाब्भ्याᳬस्वाहाशताय्स्वाहैकशताय्स्वाहाव्युष्ट्यैस्वाहास्वर्ग्गायस्वाहा ॥ ३४ ॥ [१]

इतिश्रीवाजसनेयिशुक्लयजुःसंहितायांदीर्घपाठेद्वाविंशोऽध्यायः२२

ऋष्यादि–ॐ एकस्मा इत्यादि १ । ३ । ६ मन्त्राणां प्र० ऋ० । दैवी पंक्तिश्छन्दः । संख्याधीशा देव० । २ । ५ । मन्त्रयोर्दैवी बृहती छं० । चतुर्थमन्त्रस्य दैवी जगती छन्दः । सर्वेषामाहुतिदाने वि० ॥ ३४ ॥

विधि–एकोत्तराजुहोतीति [१३।२।१।५] इस श्रुतिके अनुसार एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहा यहांसे त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यःस्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा षड्भ्यःस्वाहा सप्तभ्यःस्वाहा अष्टभ्यःस्वाहाः नवभ्यःस्वाहा इत्यादि सौ पर्यन्त आहुति देनी चाहिये । **मंत्रार्थ**–(एकस्मै) अद्वितीय परमत्माके निमित्त (स्वाहा) आ० हो (द्वाभ्याम्) प्रकृति पुरुष, जीवेश्वर वा कार्यकारणके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो (शताय) अनन्त रूपके निमित्त (स्वाहा) आ० (एकशताय) बहुरूप होकर भी एक वा एकसौ एक पदार्थोंको (स्वाहा) आहुति १५२ हो, अनन्तर रात्रिकी शेष अवस्थामें पञ्चम मंत्रसे आहुति दे (व्युष्टयै) रात्रि देवताके निमित्त आहुति देते है (स्वाहा) भलीप्रकार गृहीतहो (स्वर्गाय) दिनके अधिपतिको देते है (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीतहो यह आहुति सूर्योदय होनेपर देनी चाहिये "रात्रिर्वै व्युष्टिरहः

इस पृथ्वी और द्युलोकको धारण किये हुए हैं वह किस प्रकार हैं ऐसा कोई नहीं कह सकता उन्हीं देवताकी प्रीतिके निमित्त यह हवि विधान करते हैं [ऋ० ८ । ७ । ३] ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र ३ ।

उपयामगृंहीतोसिप्प्रजापंतयेत्त्वाजुष्टंङ्गृह्णाम्म्येष तेयोनिःसूर्यस्तेमहिमा ॥ यस्तेहन्त्संवत्त्सरेमंहिमासम्बभूवयस्तेंवायावुन्तरिक्षेमहिमासम्बभूवय स्तेंदिविसूर्य्यमहिमासंम्बभूवतस्म्मैतेमहिम्न्नेप्प्रजापतयेस्वाहांदेवेब्भ्यः ॥ २ ॥ [२]

ऋष्यादि–(१) ॐ उपयामगृहीत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी बृहती० । देवो देवता । महिमग्रहग्रहणे विनि० (२) ॐ एषत इत्यस्यासुरी पंक्तिश्छं० । महिमग्रहासादने विनि० । (३) ॐ यस्त इत्यस्य विराड्ब्राह्मी पंक्तिश्छन्दः । होमे विनियोगः ॥२ ॥

विधि–(१–२–३) प्रथम मंत्रसे महिमग्रह ग्रहण कर दूसरेसे स्थापन और तीसरे मंत्रसे हवन करै [का० ९।५।२५] मंत्रार्थ–हे ग्रह ! (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (प्रजापतये) प्रजापतिके (जुष्टम्) प्रिय(त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (सूर्यः) सूर्य (ते) तुम्हारी (महिमा) महिमा है २ । हे महिमन् ग्रह ! (यः) जो (ते) तुम्हारी (महिमा) महत्त्व (अहन्) दिनमें (संवत्सरे) प्रति वर्षमें (सम्बभूव) प्रगट है (यः) जो (ते) तुम्हारी (महिमा) महिमा (वायौ) वायुमें (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (सम्बभूव) प्रगट है (यः) जो (ते) तुम्हारी (महिमा) महिमा (दिवि) द्युलोकमें (सूर्ये) सूर्यलोकमें (सम्बभूव) प्रगट है (ते) तुम्हारे (तस्मै) उस (महिम्ने) महिमावाले (प्रजापतये) प्रजापतिके निमित्त (च) और (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो ॥ २ ॥

भावार्थ–जिसकी महिमासे प्रतिदिन प्रतिवर्ष अन्तरिक्ष वायु द्युलोकमें सूर्य प्रकाश पाते है उस महामहिमावाले प्रजापति परमात्मा देवताओं और उनके अनुगामी सम्पूर्ण देवताओंकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं भली प्रकार गृहीत हो ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपयामगृहीत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृत्साम्नी बृहती० । ग्रहो देवता । महिमग्रहग्रहणे विनि० (२) ॐ एषत इत्यस्य याजुषी जगती छं० । महिमग्रहासादने विनि० । (३) ॐ यस्त इत्यस्य विराड् ब्राह्मी० । प्रजापतिर्दे० । होमे विनियोगः ॥ ४ ॥

विधि-(१-२-३) प्रथम मंत्रसे द्वितीय महिम ग्रह ग्रहण दूसरेसे आसादन और तीसरेसे होम करै [का० २० । ७ । २६] मन्त्रार्थ-हे ग्रह ! तुम (उपयाम गृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (प्रजापतये) प्रजापतिके (जुष्टम्) प्रीति कारक (त्वा) तुमको (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं १ । (एषः) यह (ते) तुम्हारी (योनि) स्थान है (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (ते) तुम्हारी (महिमा) महिमा है २ । (ते) तुम्हारी (यः) जो (महिमा) महिमा (रात्रौ) प्रतिरात्रि (संवत्सरे) प्रतिसंवत्सरमें (सम्बभूव) प्रगट है (ते) तुम्हारी (यः) जो महिमा (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (अग्नौ) अग्निमें (सम्बभूव) प्रगट है (ते) तुम्हारी (यः) जो (महिमा) महिमा (नक्षत्रेषु) नक्षत्रोंमें (चन्द्रमसि) चन्द्रमामे (सम्बभूव) प्रगट है (ते) तुम्हारे (तस्मै) उस (महिम्ने) महिमासम्पन्न (प्रजापतये) प्रजापति (देवेभ्यः) और देवताओंके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १. अनु० ३ ।

युञ्जन्तिब्ब्रुध्नमंरुषञ्चरन्तुम्परितस्त्थुषः॥रोचन्ते रोचनादिवि ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जन्तीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छं० । आदित्यो देवता । रथे अश्वनियोजने विनि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) जब घोडा एकवर्षमें सम्पूर्ण भूमिको भ्रमण करके आजाय तब यज्ञीय अश्वको सब ऋत्विग्गण मिलकर इस मंत्रसे रथमें योजना करै [का० २० । ५ । ११] अश्वको आदित्यरूपसे स्तुति करते है "असौ वा आदित्यो ब्रध्नोऽरुषोऽमुमेवास्या आदित्यं युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै" इति श्रुतेः [१३ । २ । ६ । १]

मंत्रार्थ-(तस्थुषः) कर्मके निमित्त स्थित ऋत्विज (अरुषम्) क्रोधरहित (परिचरन्तम्) वैदिक कर्मसिद्धिके निमित्त सर्वत्र विचरते हुए (ब्रध्नम्) आदित्यकी समान प्रभावशाली अश्वको (युञ्जन्ति) रथमें युक्त करते हैं जिन आदित्यकी (रोचना) दीप्ति (दिवि) आकाशमें (रोचन्ते) प्रकाशित होतीहै अर्थात् जिन

आदित्यकी ज्योतिसे नभोमण्डलके सम्पूर्ण नक्षत्र प्रभाशाली होते हैं उन्ही आदित्यकी समान सर्व भूमिपर घूमनेसे प्रभावशालीगेपशून्य अनेक देश घूमनेसे कृतकार्य इस अश्वको ऋत्विग्गण रथमें युक्त करते हैं [ऋ० १। १। ११] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १।

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे ॥ शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ युञ्जन्तीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। अश्वा देवताः। रथे इतराश्वनियोजने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे औरभी अश्व रथमें जोडे [का० २० । ५ । ११] वे अश्व इस घोडेके इधर उधर होने चाहिये। मन्त्रार्थ-(अस्य) इस अश्वमेधिक अश्वके (काम्या) कामसंपादन करनेवाले अर्थात् सहायकारी (विपक्षसा) इसके पक्षस्वरूप वा वेगगामी पक्षीकी समान वा विविध पक्षवाले (शोणा) रक्तवर्ण (धृष्णू) प्रगल्भ (नृवाहसा) मनुष्योंके वहन करनेमें समर्थ (हरी) दो अश्व (रथे) रथमें ऋत्विगजन (युञ्जन्ति) युक्त करते हैं [ऋ० १। १। ११] ॥ ६ ॥

प्रमाण-"विरिति शकुनिनाम, वेतेर्गतिकर्मणः" इति यास्कः [नि० २। ६] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १।

यद्वातो ऽअपो ऽअगनीगन्प्रियामिन्द्रस्य तन्वम् ॥ एतꣳस्तोतरनेन पथा पुनरश्वमावर्त्तयासि नः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्वात इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। बृहती छं०। अश्वो देवता। जलंदाविष्टेष्वश्वेषु यजमानेन पाठे विनियोगः ॥ ७ ॥

विधि-(१, इस रथमें अध्वर्यु और यजमान दोनो आरोहण करके नगरके स्थानमें भ्रमण करनेको जाय फिर यह मंत्र पढकर वहांसे लौटे [का० २० । ५ । १४] घोडेको सरोवरमें प्रवेश कराकर लौटे। मन्त्रार्थ-हे अध्वर्यु ! (वातः) वायुकी समान वेगवान् अश्वने (यतः) जिस कारणसे (अपः) जलोंको और (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियाम्) प्रिय (तन्वम्) शरीरको (अगनीगन्) प्राप्तकिया (स्तोतः) हे स्तुतिकरनेवाले ! (एतम्) इस (नः) हमारे (अश्वम्) घोडेको (अनेन) इसी (पथा) मार्गसे (पुनः) फिर (आवर्त्तयासि) लौटाओ

१ नदीपर जितने दिनतक कर सोमेसे स्थित रहें।

अर्थात् वायुकी समान वेगगामी अश्वने हमको एकवारही ऐश्वर्यवानोंके प्रियतम इस रम्य सरोवरमें लाकर प्राप्त किया है, हम इसी मार्गसे यज्ञमण्डपमें लौट-जांयगे ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १।

वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण च्छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन च्छन्दसादित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन च्छन्दसा ॥ भूर्भुवः स्वर्लाजी३ञ्छाची३न्यव्ये गव्य॑ऽएतदन्नमत्त देवाऽएतदन्नमद्धि प्रजापते ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसव-आदित्य इति मन्त्रयोः प्रजापतिर्ऋषिः। आसुर्यनुष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवता। ॐ रुद्रा इत्यस्य याजुषीजगतीछं०। ॐ भूरित्यस्य दैवीबृहतीछं०। अश्वो दे०। ॐ लाजीनित्यस्य भुरिगार्ची बृहती छन्दः ॥ ८ ॥

विधि-(१-२-३) देवयजनस्थानमें लौटकर रथसे घोडेको मुक्त करनेके उपरान्त प्रथम मंत्र पाठकरके महिषी उसकी पूर्वकाया दूसरा मंत्र पाठकरके वावाता उसका मध्यशरीर तीसरा मंत्र पाठ करके परिवृक्ता उसके पुच्छस्थानको घृतसे सिंचित करै [का० २।५।१५] मन्त्रार्थ-हे अश्व! (वसवः) वसुदेवता (गायत्रेण) गायत्री (छन्दसा) छन्दसे (त्वा) तुझको (अञ्जन्तु) लिप्तकरैं १। (रुद्राः) रुद्रदेवता (त्रैष्टुभेन) त्रिष्टुप् (छन्दसा) छन्दद्वारा (त्वा) तुझको (अञ्जन्तु) लिप्तकरैं २। (आदित्याः) वारह आदित्य (जागतेन च्छन्दसा) जगती छन्दसे (त्वा) तुझको (अञ्जन्तु) लिप्तकरैं ३। विधि-(४-५-६) चौथा मंत्र पाठ करके पट्टरानीआदि तीन रानी इस अश्वके शिरके लोमोंमें १०१ सुवर्णमय मणियोंको शिर स्कन्ध और पुच्छमें वांधे, अर्थात् महिषी शिरमें (भूः) इस मंत्रसे १०१ मणि वांधे, वावाता गर्दनमें (भुवः) इस मंत्रसे परिवृक्ता पुच्छमें (स्वः) कहकर मणि वांधे [का० २०।५।१६] मन्त्रार्थ-(भूः) भूलोक (भुवः) अन्तरिक्षलोक (स्वः) स्वर्लोक तुझे अलंकृत करै ४।५।६ विधि-(७) सातवां मंत्र पाठ करके सब रात्रिका हुतशेष सत्तूधान्य खीलें अश्वके भक्षण करनेको दे यदि वह न खाय तो जलमें डालदे [का० २०।५।१८] मन्त्रार्थ-

(देवाः) हे देवताओ ! (लाजीन्) खीलें (शाचीन्) कुछेक सत्तू (गव्ये) दूध दही आदि (यव्ये) यवसे युक्त (एतत्) इस (अन्नम्) अन्नको (अत्त) खाओ (प्रजापते) हे प्रजापते ! (एतत्) इस (अन्नम्) अन्नको (अद्धि) खाओ अर्थात् देवताओंके भक्षित अन्नको हे अश्व ! तू भक्षण कर ७ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

कः स्विदेकाकी चरति क ऽउ स्विज्जायते पुनः ॥ किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । अनुष्टुप्छं० । प्रश्नो देवता । प्रश्नकरणे विनि० ॥ ९ ॥

विधि-(१) यूपके दक्षिण उत्तरमुख होकर ब्रह्मा और यूपके उत्तर दक्षिणाभिमुख 'होता' होकर इन चार मंत्रोंसे प्रश्नोत्तर करें [का० २० । ५ । २०]

मन्त्रार्थ-ब्रह्माका प्रश्न (स्वित) कहो तो (कः) कौन (एकाकी) इकला (चरति) विचरता है (स्वित्) कहो (कः) कौन (उ) ही (पुनः) फिर (जायते) प्रकाश पाता है (स्वित्) प्रश्न है कि (हिमस्य) हिमकी (भेषजम्) ओषधि (किम्) क्या है (महत्) बडा (आवपनम्) बीज बोनेका क्षेत्र (किम्) क्या है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १ ।

सूर्य्य ऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ॥ अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सूर्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । उत्तरं देवतम् । उत्तरदाने विनि० ॥ १० ॥ [होताका उत्तर]

मंत्रार्थ-(सूर्यः) सूर्यज्योतिस्वरूप ब्रह्म (एकाकी) अद्वितीय होकर (चरति) विचरते अर्थात् व्याप्त होरहे हैं या इकले अपनी कीलीपर घूमते हैं (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (पुनः) फिर (जायते) प्रकाश पाता है अर्थात चन्द्र शब्दसे मनका बोध होता है मन प्रतिमुहूर्त ही नवीन होता है चन्द्रमा कृष्णपक्षमें क्षीण होकर फिर शुक्लपक्षमें प्रगट होता है (अग्निः) अग्नि (हिमस्य) हिमकी (भेषजम्) औषधी है अर्थात शीतके निवारण करनेवाली [illegible]

ओषधी नहीं है (भूमिः) पृथ्वी (महत्) बडा (आवपनम्) बोनेका क्षेत्र है अर्थात् पृथ्वी कर्मरूप वीज बोनेका क्षेत्र है ॥ १० ॥

प्रमाण-"असौ वा आदित्य एकाकी चरत्येष ब्रह्मवर्चसं ब्रह्मवर्चसमेवास्मिंस्तद्धत्ते" इति [१३ । २ । ६ । १०] श्रुतेः । इससे अश्वमें ब्रह्मतेज धारण करता है "चन्द्रमा वै जायते पुनरायुरेवास्मिंस्तद्धत्त" इति [१३ । २ । ६ । ११] श्रुतेः । इससे अश्वमें आयु धारण करता है "अग्निर्वै हिमस्य भेषजं तेज एवास्मिंस्तद्धतः" इति [१२] श्रुतेः । इससे तेज धारण करता है "अयं वै लोक आवपनं महदस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति" इति [१३] श्रुतेः ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

कास्विदासीत्पूर्वचित्तिः किᳬस्विदासीद्बृहद्वयः ॥ कास्विदासीत्पिलिप्पिला कास्विदासीत्पिशङ्गिला ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कास्विदित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ची त्रिष्टुप्छं० । प्रश्नो देवता । प्रश्नकरणे वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) होता ब्रह्मासे पूछता है [का० २० । ९ । २२] मन्त्रार्थ-हे ब्रह्मन् ! (पूर्वचित्तिः) पूर्वचिन्ताका विषय (कास्वित्) कौन (आसीत्) हुआ है (बृहद्वयः) वडा उडनेवाला पक्षी (किंस्वित्) कौन (आसीत्) हुआ है (पिलिप्पिला) चिकनी वस्तु लक्ष्मीयुक्त (कास्वित्) क्या (आसीत्) हुई है "श्रीर्वै पिलिप्पिला" [श० १३ । २ । ६ । १६] (पिशङ्गिला) रूपका। निगलनेवाला (कास्वित्) कौन (आसीत्) हुआ है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद्बृहद्वयः ॥ अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला ॥ १२ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यौरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । उत्तरं दैवतम् । उत्तरदाने विनियोगः ॥ १२ ॥

विधि-(१) ब्रह्माका उत्तर [का० २० । ९ । २३] मन्त्रार्थ-(पूर्वचित्तिः) प्रथम स्मरण करनेका विषय (द्यौः) वृष्टि (आसीत्) होती हुई कारण कि

इति [१३ । २ । ७ । ७] श्रुतेः (अग्नये) अग्नि देवताको विघ्नअभावके निमित्त (नमः) नमस्कार करते है [परमात्माही अश्वरूपसे प्रार्थनीय है वही अर्थ धर्म काम मोक्ष चार चरणयुक्त सबको तृप्त करताहै वही कलंकशून्य है यह आध्यात्मिक अर्थ है] ॥ १३ ॥

विवरण-जिसमें यज्ञकी सम्पूर्ण व्यवस्था होतीहै उसको प्रकृतियाग कहतेहैं और जिसमें असम्पूर्ण अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृतिवत् केवल कुछेक विशेष निर्दिष्ट कियाजाय उसको विकृतियाग कहते है इस प्रकार अश्वमेधमें सोमघटित समस्त-यागकोही विकृतियाग और केवल ज्योतिष्टोमको इसका प्रकृतियाग कहा जाता है इस कारण इस स्थलमें प्राकृत मंत्रसे ज्योतिष्टोमविहित मंत्र जानने ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

सꣳशितो रश्मिना रथꣳ सꣳशितो रश्मिना हयः॥ सꣳशितोऽअप्स्वप्सुजा ब्रह्मा सोमपुरोगवः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संशित इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । अश्वो देवता । अश्वप्रोक्षणे विनियोगः ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(रथः) रथ (रश्मिना) रश्मिद्वारा (सꣳशितः) प्रशंसितः दर्शनीय होता है (हयः) अश्व (रश्मिना) लगामसे (सꣳशितः) शोभित होताहै (अप्सुजाः) जलोंसे प्रगट होनेवाला घोडा (अप्सु) जलोंमें (संशितः) शोभित होताहै (ब्रह्मा) ब्रह्मा (सोमपुरोगवः) सोमको आगे गमन कराकर इसको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है ॥ १४ ॥

प्रमाण-"रथः रश्मिना कृत्वा संशितः दर्शनीयो भवति" रश्मिनैव रथः सम्पादयति "तस्माद्रथः पर्युतो दर्शनीयतमो भवति" इति [१३ । २ । ७ । ८] श्रुतेः । २ । "अप्सुयोनिर्वा अश्वः" इति [१३ । २ । ७ । १०] श्रुतेः । "सोम-पुरोगममेवैनꣳस्वर्ग लोकं गमयति" इति [१०] श्रुतेः ॥ १४ ॥

सरलार्थ-सोमपुरोगामी ब्रह्माने इस अश्वको रथमें संयत करके परीक्षा की पीठपर चढकर रश्मी संयत करके परीक्षा की जलमार्गमें रश्मी संयत करके चलाकर परीक्षा की, यह सब प्रकार परीक्षामें उत्तीर्ण यज्ञके उपयोगी है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र १ ।

स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व ॥ महिमा तेऽन्येन न सन्नशे ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वयमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ची पंक्तिश्छं० । अश्वो देवता । अश्वप्रोक्षणे वि० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! (स्वयं) अपने (तन्वम्) शरीरको (कल्पयस्व) कल्पना कर अर्थात् यथायोग्य यथेच्छ कल्पनाकर "स्वयंरूपं कुरुष्व यादृशमिच्छति" इति [१३ । २ । ७ । ११] श्रुतेः (स्वयम्) आपही (यजस्व) यजनकर अर्थात् तुम्हारा और यजन करनेवाला नहीं तुम स्वयंही यजन कर्ता हो (स्वयम्) स्वयंही (जुषस्व) अपने इष्ट स्थानको सेवनकरो (ते) तुम्हारी (महिमा) महिमा (अन्येन) दूसरेकी महिमासे (न) नहीं (सन्नशे) नष्ट होती है ॥१५॥

विशेष-पक्षान्तरमें अश्वसे प्रजापतिकाभी अर्थ है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

नवाऽउऽएतन्म्रियसेनरिष्यसिदेवाँ२ ऽइदेषिपथिभिः सुगेभिः ॥ यत्रासतेसुकृतोयत्रतेययुस्तत्रत्वादेवः सविता दधातु ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नवाउ इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वप्रोक्षणे वि० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व (एतत्) यह तु (वै) निश्चयकर (न) नहीं (म्रियसे) मरता है (उ) और (न) नहीं (रिष्यसि) रिनष्टहोतेहो किन्तु (सुगेभिः) श्रेष्ठगमनवाले (पथिभिः) देवयान मार्गोंमे (देवान्) देवताओंके (इत्) प्रति (एषि) गमन करते हो (यत्र) जिस स्थानमें (सुकृतः) पुण्यात्मा जन (आसते) स्थित होते हैं (यत्र) जहां (ते) वे पुण्यकरनेवाले (ययुः) गये हैं (तत्र) वहां (सविता) सबका प्रेरक (देवता) देवता (त्वा) तुमको (दधातु) स्थापन करे "सवितैवैनछंस्वर्गे लोके दधाति" इति [१३ । २ । ७ । १२] श्रुतेः ॥ १६ ॥

आशय-आशय यह कि इस स्थानमें अश्वका शरीर त्यागना मरण नहीं है किन्तु स्वर्गगमन है जो शरीर त्यागकर अनेक जन्म ले वही मरण है किन्तु स्वर्गप्राप्ति परमलाभ है यह मरण नहीं है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्तसऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन्नग्निः स तेलोकोभविष्यतितञ्जेष्यसिपिबैताऽअ

पः ॥ वायुःपशुरासीत्तेनायजन्तसऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन्वायुःसतेलोकोभविष्यतितञ्जेष्यसिपिबैताऽअपः ॥ सूर्यःपशुरासीत्तेनायजन्तसऽएतँल्लोकमजयद्यस्मिन्त्सूर्यःसतेलोकोभविष्यतितञ्जेष्यसिपिबैताऽअपः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ अग्निः वायुः सूर्य इति मन्त्राणां प्रजा० ऋ० । आर्षी पंक्तिश्छं० । अश्वो देवता । अश्वमुखे प्रोक्षणीधारणे वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१-२-३) प्रथम अपांपेरु ६ । १० । प्राकृत मंत्र पढनेके उपरान्त इस कण्डिकाके तीन अश्वमेधिक मंत्रोंसे अश्वमुखमें प्रोक्षणी धारण करै [जिस्से अबतक प्रोक्षण किया है वही प्रोक्षणी है] [का० २० । ६ । ८] मन्त्रार्थ-देवताओंकी सृष्टिमें (अग्निः) अग्नि (पशुः) पशुरूप (आसीत्) हुआथा (तेन) उस अग्निरूप पशुसे (आयजन्त) देवताओंने यजन किया (सः) उस अग्निने इसी कारण (एतम्) इस (लोकम्) लोकको (अजयत्) जयकिया (यस्मिन्) जिस लोकमें (अग्निः) अग्नि स्थित है (सः) वह (लोकः) लोक (ते) तेरा (भविष्यति) होगा, (तम्) उसको (जेष्यसि) जय करैगा, (एताः) यह (अपः) जल (पिब) पानकर, अर्थात् अग्नि यज्ञमें शरीर विसर्जनके फलसेही, इस समय प्रधान देवता हुए है "यावानग्नेर्विजयो यावाँल्लोको यावदैश्वर्य तावांस्ते विजयस्तावाँल्लोकस्तावदैश्वर्यं भविष्यतीत्येवैन तदाह" इति [१३ । २ । ७ । १३] श्रुतेः (वायुः) वायु (पशुः) पशुरूप (आसीत्) हुआ (तेन) उस वायुके द्वारा देवताओंने (अयजन्त) यजन किया इसके प्रभावसे (सः) उस वायुने (एतम्) इस (लोकम्) लोकको (अजयत्) जय किया, (यस्मिन्) जिसमें (वायुः) वायु निवास करता है (सः) वह (लोकः) लोक (ते) तुम्हारा (भविष्यति) होगा, (तम्) उसको (जेष्यसि) जय करोगे (एताः) यह (अपः) जल (पिब) पान करो २ । एक समय (सूर्यः) सूर्य (पशुः) पशु (आसीत्) हुआ, (तेन) उसके द्वारा (देवाः) देवताओंने (अयजन्त) यजन किया, (सः) उसने (एतम्) इस (लोकम्) लोकको (अजयत्) जय किया, (यस्मिन्) जिस लोकमें (सूर्यः) सूर्य है (सः) वह (लोकः) लोक (ते) तेरा (भविष्यति) होगा, (तम्) उसको

(जेष्यसि) जय करोगा (एताः) यह (अपः) जल (पिब) पानकर, अर्थात् हे अश्व ! जो तुम आनन्दसे यज्ञीय पशुत्व स्वीकार करोगे तौ भूमि अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक जय करोगे [प्ररोचनावाक्य] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र ४. अनु० ५।

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥ अम्बेऽअम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन ॥ ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१-३) ॐ प्राणाय व्यानायेति मन्त्रयोः प्रजापतिर्ऋषिः । दैवी पांक्तिश्छं० । प्राणव्यानौ देवते । होमे विनियोगः । (२) ॐ अपानायेत्यस्य दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । अपानो देवता । आहुतिदाने वि० (४) ॐ अम्ब इत्यस्य भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । पत्न्या पाठे विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१) प्रथम प्राकृत परिपशव्य दो मंत्र पाठकरके एक आहुति देनेपर पीछे अश्वके शान्त होनेपर फिर आठ आहुति दीजाती है उसमें इस कण्डिकाके प्रथम तीन मंत्रोंसे तीन आहुति देनी छठे अध्यायकी ११ कण्डिकाके चौथे पांचवें मंत्र परिपशव्य कहाते हैं [का० २० । ६ । ११]

[अथ शातपथ्यः श्रुतयः]

"देवा वा ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकं न प्रजानंस्तमश्वः प्रजानाद्यदश्वेनोदञ्चो यन्ति स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै वासोधिवासं हिरण्यमित्यश्वायोपस्तृणन्ति यथा नान्यस्मै पशवे तस्मिन्नेनमधिसंज्ञपयन्त्यन्येभ्यएवैनं तत्पशुभ्यो व्यावर्तयन्ति १ घ्नन्ति वा एतत्पशुं यदेनं संज्ञपयन्ति प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहेति संज्ञप्यमान आहुतिर्जुहोति प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति तथा हास्यैतेन जीवतैव पशुनेष्टं भवति २ अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मानयति कश्चनेति पत्नीमुदानयत्यह्वयत्येवैना एतदथो मेध्या एवैनाः करोति" [श० १३ । २ । ८ । ३]

मन्त्रार्थ-(प्राणाय) अश्वके प्राणोंकी तुष्टिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति देते हैं इसीप्रकारसे सुहुत हो १ । (अपानाय) अपानकी तृप्तिके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं सुहुत हो २ । (व्यानाय) व्यानकी तृप्तिके निमित्त यह आहुति है (स्वाहा) सम्यक् सुहुत हो ३ । [इन तीन मंत्रोंको पढकर उपर लिखा आन तृप्तिके अनुसार अश्वको दिव्यप्राणयुक्त किया जाता है, कारण कि यज्ञ-

कार्य प्राणयुक्तसेही सम्पादन होता है] । **विधि**–(४) अनन्तर पशुशोधनके निमित्त पान्नेजनी [जलपात्र] हाथमें लिये राजाकी तीन पत्नी उपस्थित हों उनके आनेपर "नयन्नमस्ते आतान" इति [६ । १२] मंत्रको अध्वर्यु पढाकर चतुर्थ मंत्रसे कथोपकथन करावै [का० २० । ६ । १२ । **मन्त्रार्थ**–(अम्बे) हे अम्बे ! (अम्बिके) हे अम्बिके ! (अम्बालिके) हे अम्बालिके ! (अश्वकः) यह कुत्सित अश्व (काम्पीलवासिनीम्) कम्पिलानगरीमें रहनेवाली अथवा सुखग्राही मनुष्योंको वसानेवाली (सुभद्रिकाम्) कल्याणीके साथ (ससस्ति) शयन करता है अर्थात् मोहनिद्रामें चिरकालको शयन करगया है (कश्चन) कोई भी (मा) मुझको (न) नहीं (नयति) प्राप्त करता है मै स्वयंही इसके निकट प्राप्त होती हूं।

अथवा–हे अम्बे ! अम्बिके ! अम्बालिके ! देखो यह अश्व इस समय चिरकालके निमित्त निद्रित होगया है हम भी काम्पीलवासिनी सुभद्रा होकर स्वयं इसके निकट प्राप्त हुई हैं हमको इस विषयमें किसीने प्रेरणा नहीं की है।

अथवा–हे इडा सरस्वती भारती कुत्सित आत्मज्ञानरहित मानस सूर्य उस अविद्याको जो कि कामरूपा कल्याणी स्त्रीकी समान है लिये हुए संसारमें शयन करता है, अर्थात् आक्रमणकर संसारसे विरक्त होगया है उसको विना बुलायेही हम तीनो महाविद्या प्राप्त होती है।

अथवा–यह तीनो दुर्गा भवानीके नाम है, स्त्री प्रार्थना करती है हे देवी ! मुझे स्वामीके निकट कोई प्रेरणा नहीं करता आपही प्राप्त करती हो हमसें पूजित हुई तुम मुझे सौभाग्ययुक्त करो और मेरे स्वामीकी प्रीति मुझमें हो।

कर्मकाण्डमें विवरण–

अर्थात्–"प्रतिनिधि कर्म मीमांसाप्रयुक्त अर्थात् चौदह कूट मंत्रोंका विवरण" यह चौदहमंत्र अतिगूढाशय युक्त है इनपर जो भाष्य इस समय मिलते हैं उनपर अल्पश्रुत लोग शंका करते है, और उनके आशयका विचार नहीं करते विचारकर देखाजाय तो भाष्योंमें कोई दोष नहीं है क्योंकि "परोक्षकामा हि देवाः" श० ७। ४ । १ । १०] देवता परोक्षकी इच्छाकरते है इस कारण उन्होंने परोक्षही व्याख्या की है इससे कोई दोष उनके भाष्योंमें नहीं है । इन मंत्रोंमें कर्म, प्रतिनिधि, प्रजापालन, राज्यकी उत्तमता, तथा अकुलीन अक्षत्रिय राजाद्वारा प्रजाका अनिष्ट होना, इत्यादि कई विषय सम्पादन किये हैं उनके प्रमाण लिखकर हम कई विषयोंका इस स्थलमें प्रतिपादन करते है यह भाष्योंका गूढार्थ है तथाहि "विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः" [१३ । २ । ९ । ६] इस स्थानमें प्रजाको गभ और राज्यको पस कहा है अकुलीन राजा

राज्यमें स्थित होकर प्रजाको नष्ट कर देता है इससे योग्य राजाहीको राज्य करना चाहिये ३० पर इसका प्रमाण लिखा है, परन्तु इसके अनुसार विड्, गभ, और राष्ट्र पसकी पर्यायना नहीं कहीहै किन्तु सम्पत्तिकी प्रतीकतासे कर्ममें वीर्यवानोंके अभिप्रायकी विशेषकर संगमता करतेहैं जैसे [राष्ट्री विश०] एक: विरुद्ध राजा प्रजाको नष्ट करताहै वैसेही विरुद्धकर्मभी फलनाशक हैं, यहां गभ पस प्रजा और राज्यके प्रतिनिधी कहे हैं इस प्रकार यज्ञादिकर्ममें मुख्यके अलाभमें प्रतिनिधि नहीं होता यह आश्वलायन श्रौ० सू० अ० ३ का० १० सू० २ "यज्ञादिकर्मणि मुख्यालाभे संभवति प्रतिनिधिः" शिष्टके अभावमें प्रतिनिधि होताहै इसमें हिरण्मय अश्वका प्रमाण शतपथश्रुतिमें कहाहै "क्षत्रं वा अश्वः क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यं क्षत्रमेव तत्क्षत्रेण समर्धयति" [श० १३ । २ । २ । १७] क्षत्रही अश्व है क्षत्रकाही रूप यह हिरण्य है इसके द्वारा क्षत्रियको समृद्धिमान् किया जाता है और भी लिखाहै "क्षत्रं वा अश्वो. विड्वा इतरे पशवः" [श० । १३ । २ । २ । १९] क्षत्रही अश्व है प्रजा दूसरे पशु हैं वे आयुद्वारा यजमानकी वृद्धि करतेहैं तथा "ज्योतिर्वै हिरण्यं राष्ट्रमश्वमेधो ज्योतिरेव तद्राष्ट्रे दधात्यथो हिरण्यज्योतिरेव यजमानः स्वर्गं लोकमेति" [श० १३ । २ । २ । १६] ज्योतिही हिरण्य है राज्य अश्वमेध है इसके द्वारा ज्योति राज्यमें बडाई जातीहै ज्योतिसेही यजमान स्वर्गलोकमें गमन करताहै इत्यादि औरभी "प्रमुच्याश्वं दक्षिणेन वेदिꣳहिरण्मयम्" इति [श० १३। ४ । ३ । १] इससेभी हिरण्मय अश्वका प्रमाण कहाहै तथा महिषीआदि स्त्रियेंभी हिरण्मय होती हैं "चतस्रो जाया उपक्लृप्ता भवन्ति महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली सर्वा निष्किण्योऽलंकृता मिथुनस्यैव सर्वत्वाय ताभिः सहाग्न्यगारं प्रपद्यते पूर्वया द्वारा यजमानो दक्षिणया पत्न्यः" [श० १३ । ४ । १ । ८] चारों पत्नी सुवर्णमय वा सुवर्णसे अलंकृत होतीहैं पूर्वद्वारसे यजमान दक्षिणसे पत्नी प्रवेश करें । सुवर्णकी जाया प्रतिनिधि होतीहै इसीकारण भगवान् रामचन्द्रने सुवर्णकी सीता बनाकर यज्ञ कियाथा 'मिथुनस्यैव' आक्रोशमात्र वचनोंकी सिद्धिके निमित्त पत्नियोंका वहां आगमन होताहै जहां महिषीआदि होतीहैं और अश्व होताहै वहां महिषी आदि मीमांसाद्वारा यज्ञकर्मका फल प्रगट करतीहैं यदि कहो कि यज्ञफलकी मीमांसा अश्लीलसे पदोंमें क्यों प्रगट की है इसका कारण यह है कि संस्कारके निमित्त इस प्रकारका भाषण कियाजाताहै यथा "सर्वाभिर्वा एषा वाचः यदश्वमेधिकाः सर्वे कामा अश्वमेधे सर्वया वाचा सर्वान्कामानाप्नवामेत्युत्थापयन्ति महिषीम्" इति [१३ । ५ । २ । ९ श०] अश्वमेधमें सर्वप्रामिकाम्क आक्रोशोंका वचन करनेका विधान है [illegible] ऐसे वचन कहे जाते हैं अश्वमेधमें सबही कामना प्राप्त होतीहैं [illegible]

सवही वाणियोंका संस्कार है इससे प्रत्यक्षमें इस प्रकारके वचन कहकर २२ बाई-सवें मंत्रमें इस भाषणकी पूर्तिकर परमात्मासे आयुवर्द्धनकी प्रार्थना की है।

"ये यज्ञेऽपूतां वाचं वदन्ति वाचमेवैतत्पुनते देवयज्यायै देवतानामनुपक्रामाय" इति [श० १३।५।२।१०] जो यज्ञमें अपूतवाणी बोलते हैं वह वाणीसेही पवित्र होते हैं आयुकी वृद्धिको देवताओंसे प्रार्थना करते है इससे यहभी विदित होता है कि वृथा अपवित्र वाणी न बोले इससे आयु नष्ट होती है क्योंकि "अप वाऽएतेभ्य आयुर्देवताः क्रामन्ति" [श० १३।५।२।१०] अपशब्दसे देवता आयु हरण करते हैं केवल संस्कारसिद्धिके निमित्त यह आक्रोशन होता है यही आश्वलायनमें कहा है "सर्वान्कामानवाप्स्यन्सर्वा विजितीर्विजगीषमाणःसर्वाव्युष्टीर्व्यशिष्यन्नश्वमेधेनयजते" [आ० श्रौ० सू० कं० ६ सू० १] तथा शतपथ [१३।५।२।९] अश्वमेधमें सब कामना होती है इससे सब वाणियोंसे यजन होता है इस कारण अभिमेथित कर्म सब कामोंके अन्तर्गत होनेसे उसकी कर्तव्यताके विना उसकी उपपत्ति नहीं होती इस कारण उच्चारणमात्र लिखा नहीं तो इन वचनोंका संस्कार किस प्रकार होता और यह आक्रोशके वचन फाल्गुनी पूर्णिमाको होते थे जैसा श्रुतिमें कहा है " सा यासौ फाल्गुनी पूर्णमासी भवति " [श० १३।४।१।४] क्या आश्चर्य है कि फाल्गुनी पूर्णिमाके अन्तमें अश्वमेधमें यह रीति देखकर प्रायः प्रत्येक फाल्गुनी पूर्णिमाके अन्तमें अभिमेथित कर्मकी रीति दूसरे लोगोंने चलाई हो और प्रत्यक्षभी है कि उन वचनोको उस समय कोई बुरा नहीं मान्ता फिर स्नान कर वस्त्र बदल एक दूसरेसे मिलते है। परन्तु यह अश्वमेधके वचन श्रवण मात्रसे आक्रोशकी समान है. वास्तविक अर्थ दूसरा है सो भी प्रगट करते हैं।

पत्नियोंका वर्णन इस प्रकार है कि "पत्न्यः पात्नेजनैरुदायन्ति चतस्रश्च जायाः कुमारी पञ्चमी चत्वारि च शतान्यनुचरीणाम् " [श० १३।५।२।१]

महिषी, वावाता, परिवृक्ता, पालागली यह चार जाया पांचवीं कुमारी इनके संग सैकड़ों अनुचरी होतीहै वह परस्पर कथन करती हैं। महिषी—पट्टरानी सवर्णा होती है। वावाता राजाकी प्रिया राजपुत्री अन्यजातीया। परिवृक्ता दुर्भगा सूतग्रामणी सूतजातीया। पालागली सूतपुत्री सूतजातीया होती है। ईश्वरपक्षमें जब कि प्रजापतिकी उपासना है तब यही ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रोंकी प्रज्ञा उसकी उपासना करती है। स्वयं उसके निकट उपस्थित होती है राज्यपक्षमें अच्छे राजाके निकट स्वयं प्रजा उपस्थित होती है और उसके तेजसे धनवती होती है "गणानान्त्वा" इसमें ईश्वर और सुराज्यकी प्रशंसा की है। यजमानसे कोई आक्रोश वचन नहीं कहसकता वह अधिपति है २२ वें मंत्रमें जो राजा अकुलीन होता है वह प्रजाको

पीडित करता है २४ वें मंत्रमें भूमि और द्युलोकको मातापितारूप तथा पंचाग्निविद्याका निरूपण कियाहै, तथा राज्यमें श्री होनेसे उसकी वृद्धि होती है, अयोग्य राजा प्रजाको विगाडदेता है और उसको मुट्ठीमें करके निर्बल करदेताहै इत्यादि १३ मंत्रोंसे इस प्रकारसे राज्य, तेज कर्म मीमांसादि सबका प्रतिपादन किया है। सुननेमें हास्यप्रतिपादक है गूढाशय अनेक हैं व्यंगसे बुद्धिमान् हास्य समझलेंगे, इस कर्मके उपरान्त महिषीके चक्रवर्ती पुत्र होगा, कारण कि अश्वका दैवी तेज आकर्षित होजाता है।

मंत्रार्थ-हे अम्बे! हे अम्बिके! हे अम्बालिके! (मा कश्च न नयति) कोई मनुष्य मुझको प्राप्त नहीं करता है अर्थात् अश्वाभिमानी प्रजापतिके निकट प्राप्त नहीं करता "प्राजापत्यो अश्वः स्वयैवैनं देवतया समर्धयति" इति [श० १३।३।३।४] यह अश्व प्रजापति है देवतारूपसे समृद्ध किया जाता है तौ फिर किस निमित्त गमन करतीहो इसपर कहती हैं (अश्वकः) "कुत्सित न होनेपरभी ईर्षासे कुत्सित कहती हैं, जैसे आक्षेपमें "हादैव" कहते हैं यह अश्व(सुभद्रिकाम्)"कुत्सिता सुभद्रा सुभद्रिका माया ईर्ष्यया कुत्स्यते तां नारीम् "मायामादाय" (ससस्ति) शेते नरस्य इयं नारी, "नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।" [बृहदभिधाने पृ० ३९६९] "सस्त स्वमेहादि मद गमने" अर्थात् अश्वरूप प्रजापति मायाको ग्रहण करके शयन करैगे इस कारण मै जातीहूं मुझे कोई नहीं लिये जाता अर्थात् "तत्सम्पत्तिफलं कर्म न प्रापयति इतिभावः" उस सम्पत्तिफलकर्मको प्राप्त नहीं कराता है कैसी सुभद्रका है कि (काम्पीलवासिनीम्) रमणीय ब्रह्मलोकमें निवास करती है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र ४।

गणानान्त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणान्त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनान्त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम ॥ आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ गणानांत्वेति त्रयाणां प्रजापतिर्ऋषिः। आर्षी बृहती छं०। लिङ्गोक्ता देवता। अश्वप्रक्रमणे वि० (४) ॐ वसोममेत्यस्य साम्नी पंक्तिश्छन्दः। महिष्या अश्वसमीपे संवेशने वि०॥१९॥

विधि-(१-२-३) अनन्तर सब पत्नी पात्नेजनी हाथमें लिये प्रथम मंत्रको तीन बार पाठ करकै प्राणशोधनसे पहले प्रतीकके अविकारी अश्वकी तीन प्रद-

क्षिणा करै दूसरे मंत्रको प्रदक्षिणा न करैं उलटी प्रदक्षिणा करके पाठ करै और तीसरे मंत्रको तीन बार पाठ करके प्रदक्षिणा करै पहलेमें एक प्रदक्षिणा मंत्रपूर्वक दूसरी मौन होकर करै [का० २० । ६ । १३] इस मंत्रमें गणेशरूप प्रजापतिकी प्रार्थना है तथा अश्वका अधिष्ठात्री देवताभी प्रजापति है इससे अश्वरूपसेभी प्रजापति परमात्माकाही सम्बोधन जानना "अश्वो यत ईश्वरो वा अश्वः" [श० १३ । ३ । ३ । ५] मंत्रार्थ—हे प्रजापते गणपते ! (गणानाम्) गणोंके मध्यमें (गणपतिम्) गणरूपसे पालक (त्वा) आपको (हवामहे) आह्वान करते हैं (प्रियाणाम्) प्रियोंके मध्यमें (प्रियपतिम्) प्रियोंके पालक अथवा सबसे अधिक होनेसे आत्माही प्रियपति है कारण कि इसके निमित्त सबको त्याग देताहै इससे प्रियपति (त्वा) आपको (हवामहे) आह्वान करे है (निधीनाम्) सुखनिधियोंके मध्यमें वा विद्या आदि पोषण करनेवालोंके मध्यमें (निधिपतिम्) सुखनिधिके पालक (त्वा) आपको (हवामहे) बुलावे है (वसो) हे प्रजापते ! व्यापक होकर सब जगत्में निवास करनेके कारण तुम (मम) मेरे पालक हूजिये।

विधि—(१) अनन्तर अश्वको प्रक्षालन करके महिषी उसके समीप स्थित होकर कहै [का० २० । ६ । १४] मन्त्रार्थ—हे प्रजापते ! "स प्रजापतिः सोऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योतिर्वै हिरण्यम्" [श० ७ । ४ । १ । १९] (अहम्) मैं (गर्भधम्) गर्भके धारण करानेवाले रेत अर्थात् कर्मफल उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य धारण करनेवाले श्रद्धानामक जलको [निघं० अ० १ खं० १२ ना० १६] तथा "यश्चायमध्यात्मꣳ रेतसस्तेजोमयोऽमृतः" इति [श० १४।५। ५।१२] रेतमें होनेसे रेतस अर्थात् विशेषकर जलोंमें अवस्थान करनेसे रेत कहतेहै "आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्" इति [ऐतरेय ब्रा०] अथवा इसी अध्यायकी ६२ कण्डिकामें 'अयꣳ सोमो वृष्णोऽश्वस्य रेतः' यह सोमही अश्वका रेत है (आ) सब प्रकारसे (अजानि) आकर्षण करतीहूं, अर्थात् श्रद्धासे स्वीकार करके फलके उन्मुख करतीहूं [अज गतिक्षेपणयोः लोट्] (त्वम्) आप (गर्भधम्) गर्भधारण करते अर्थात् श्रद्धानामक जलको (आ अजासि) आकृष्ट कर क्षेपण करते हो फलोन्मुखी करते हो अथवा गर्भके तुल्य सब संसारकी धारक प्रीतिके धारण करनेवाले वा अपनी शक्तिसे जगत्के अनादि कारण गर्भके धारण करनेवाले वा सम्पूर्ण मूर्तिमान् पदार्थोंकी रचना करनेवाले (त्वम्) आपको (आ) सब प्रकारसे (अजानि) सन्मुख करती हूं (गर्भधम्) सब जगत्के तत्त्वोंमें गर्भरूप बीजको धारण करनेवाले आप (आ) सब प्रकार (अजासि) जान्ते वा सन्मुख होते हो ॥ १९ ॥

प्रमाण—"रेतः जलनामसु" [निघं० १ । १२] श्रुति "गणानां त्वा गणपतिꣳहवामह इति पत्न्यः परियन्त्यः पन्हुवतऽएवास्मा एतदतोऽन्येवास्मै ह्नुवतेऽथो

ध्रुवतऽएवैनं त्रिः परियन्ति त्रयो वाऽइमे लोका एभिरेवैनं लोकैर्धुवते त्रिः पुनः परियन्ति षट् सम्पद्यन्ते षड्वाऽऋतव ऋतुभिरेवैनं धुवते ४ अप वा एतेभ्यः प्राणाः क्रामन्ति । ये यज्ञे धुन्वं तन्वते नवकृत्वः परियन्ति नव वै प्राणाः प्राणानेवात्मन् दधते नैभ्यः प्राणा अपक्रामन्त्याहमजानि गर्भधमात्वमजासि गर्भधमिति प्रजा वै पशवो गर्भः प्रजामेव पशूनात्मन्धत्ते " [श० १३ अ० २ ब्रा० ८ कं० ४ । ५ ।]

अर्थ-गणानां त्वा इस मंत्रसे पत्नी तीन प्रदक्षिणा करै तीन प्रकार इस भांति परिक्रमा करनेसे प्रजापति देवताके ध्यानसे मानो त्रिलोकीकी परिक्रमा की, फिर तीन परिक्रमा करनेसे छः होती है, मानो छः ऋतुओंसे इसकी समृद्धि करना होता है फिर तीन करनेसे मानो नौ प्राण आत्मामें धारण किये जाते हैं, फिर प्राण अपक्रमण नहीं करते (आहमजानि०) प्रजाही पशु गर्भ है प्रजा पशूको आत्मामें धारण करता है ।

एकपक्षमें-राज्यपालनका नाम अश्वमेध राजा अश्व और प्रजा अश्वसे भिन्न पशु है राज्यकी श्री धन और ज्योतिका नाम हिरण्य है। अश्व ईश्वर प्रजापतिका भी नाम है अपने सामर्थ्यसे कोई स्वर्गको नहीं जान्ता अश्वरूप प्रजापतिके द्वाराही स्वर्ग जाना गया "न वै मनुष्यः स्वर्ग लोकमंजसा वेदाश्वो वै स्वर्ग लोकमंजसा वेद" [१३ । २ । ब्रा० १२ कं० १] इस प्रकार कर्म और राज्यपालनके उपदेशमें यह मंत्र कहे हैं ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र ३ ।

ताऽउभौ चतुरः पुदः सम्प्रसारयाव स्वर्गे लोके प्प्रोर्णुवाथां वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधातु ॥ २० ॥ [३]

ऋष्यादि-(१) ॐ ताउभा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आसुर्युष्णिक्छन्दः । लिंगोक्ता देवता । वि० पू० । (२) ॐ स्वर्ग इत्यस्य याजुष्यनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अधिवासेनाश्वाच्छादने विनियोगः । (३) ॐ वृषेत्यस्य याजुषी जगती छं० । लिंगोक्ता देवता । अश्वस्पर्शे वि० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(ता) तुम और हम (उभौ) दोनो (चतुरः) चार (पदः) पदों वा पादोंको (संप्रसारयाव) भलीप्रकार प्रसारण करै [दो तुम्हारे अर्थात् धर्म और मोक्ष प्रजापतिके अधीन होनेसे धर्म और मोक्ष प्रजापतिके चरण है "द्विपाद्वै पुरुषः । पुरुषोहि प्रजापतिः" इति श्रुतेः [७।४।१।१९] दो मेरे अर्थ और काम इसप्रकार चारों पदार्थोंको विस्तृत करै] १ विधि-(१) अगला मंत्र पढकर महिषीको अध्वर्यु वस्त्रसे आच्छादन करै [का० २० । ६ । १९]

मंत्रार्थ-हे अश्वरूप प्रजापते ! हे महिषी ! तुम दोनों (स्वर्गे लोके) इस यज्ञभूमिमें (प्रोर्णुवाथाम्) वस्त्र आच्छादन करो २। विधि-(३) महिषी प्रजापतिके तेजको यज्ञकर्मद्वारा निष्पादन कर श्रद्धानामक कारण जलमें स्थापन करती है अर्थात् फलके उत्पादन पर्यन्त सूक्ष्म रूपसे धारण करती है [का० २०।६।१६] मन्त्रार्थ-(वृषा) सेचनमें समर्थ (रेतोधाः) वीर्यरूप तेजका धारण करनेवाला (वाजी) बलवान् "वाजो बलम्" (नि० अ० २ खं०९ ना० २] प्रजापति (रेतः) तेजयुक्त श्रद्धानामक जलको वा सोमको (स्थापयतु) मुझमें स्थापन करै सर्वके अग्निसोमात्मक होनेसे दोनोंके फलजनक होनेसे प्रजापति तेजविशिष्ट है ३ ॥२०॥

प्रमाण-"ता उभौ चतुरः पदः सम्प्रसारयावेति मिथुनस्यावरुद्धयै स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुꣳसंज्ञपयन्ति तस्मादेवमाह वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैवावरुद्धयै" [श० १३ । २ । ८ । कं० ५] "महिषीमश्वायोपनिपादयन्त्यथैनावधिवासेन सम्प्रोर्णुवन्ति स्वर्गे लोके प्रोर्णुवाथामित्येष वै स्वर्गो लोको यत्र पशुं संज्ञपयन्ति निरायत्याश्वस्य शिश्नं महिष्युपस्थे निधत्ते वृषा वाजी रेतोधा रेतो दधात्विति मिथुनस्यैव सर्वत्वाय" [श० १३ । ५ । २ । १] "अश्वशिश्नमुपस्थे कुरुते वृषा वाजी" इति [का० २०।६।१६]॥२०॥

तात्पर्य-राज्यप्रकरणमें राजा और प्रजा दोनो मिलकर चारों पदार्थों अर्थात् अर्थ धर्म काम मोक्षकी सिद्धिका यत्न करें इससे सुखकी प्राप्ति होगी इस स्थलमें यही स्वर्गलोक है जहां पशुसंज्ञपन होताहै इसकारण कहते है कि सेचनमें समर्थ वाजी बल धारण करै [कर्ममें] महिषी प्रतीक वा अश्वके समीप उपस्थित हो कर्मकी मीमांसा करै यह महिषी प्रजाका रूप है राजाका तेज अपनेमें धारण कियेहै घोडा मृतक है प्रजापतिके तेजको यज्ञ कर्मद्वारा निष्पादन कर श्रद्धानामक कारण जलमें स्थापन अर्थात् फलके उत्पादन पर्यन्त सूक्ष्मरूपसे अपनेमें धारण करती है ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १अनु० ६।

उत्सक्थ्याऽअवगुदन्धेहि समञ्जिञ्चारयावृषन् ॥ यस्त्रीणाञ्जीवभोजनः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्सक्थ्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अश्वो देवता । अश्वाभिमंत्रणे वि० ॥ २१ ॥

विधि-(१) यजमान अश्वको अभिमंत्रण करता है [का०२० । ६ । १७]

मन्त्रार्थ-(वृषन्) सेचन करनेमें समर्थ अश्वरूप प्रजापते (उत्सक्थ्याः) यज्ञकर्ममें व्यापृत होनेसे जिसकी ऊरु ऊर्ध्व उन्नत होती हैं ऐसी महिषीके (गुदम्)

प्राणोंपर "प्राणो वै गुदः" इति श्रुतेः [१३ । ८ ।] (अवधेहि) तेजधारणकर (अञ्जिम्) पूर्वोक्त तेजको (संचारय) प्रवेशकर अर्थात् तेजको पूर्वोक्त जलमें प्रवेशकर (यः) जो अंजि (स्त्रीणाम्) यज्ञके प्रभावसे यज्ञात्मासे परिणत हुई प्रज्ञारूप स्त्रियोंका (जीवभोजनः) जिवानेसे जीव भुगानेसे भोजन अर्थात् जिवानेवाला है [जीवयतीति जीवः भोजयतीति भोजनः जीवश्चासौ भोजनश्च जीवभोजनः] अर्थात् यज्ञरूप प्रजापतिका तेज प्राणत्व और भोक्तृत्वद्वारा आयु और भोगका देनेवाला है जिस तेजके श्रद्धामें प्रविष्ट होनेपर यज्ञसम्बन्धी तेजमें फलात्माद्वारा परिणत होता है स्त्रीरूप प्रज्ञा जीती है अर्थात् भोगायतन शरीरको धारण करती है भोगको लेती है और उसके अनुगुण भोग और सुकृत फलोंको लेती हैं इस प्रकारके फलसंपादक तेजको संचारकर अर्थात् संयुक्त कर [अंजि पूर्वोक्तं तेजः भोक्तृत्वेन पुंस्त्वाभिव्यंजकत्वात् संचारय, अनक्ति व्यनक्ति पुंस्त्वमित्यञ्जि] ॥ २१ ॥

प्रमाण-"तयोः शयानयोः अश्वं यजमानोऽभिमेथत्युत्सक्थ्या अवगुदं धेहीति तं न कश्चन प्रत्यभिमेथति नेद्यजमानं प्रति प्रति कश्चिद्‌सत्" इति [श० १३ । ९ । २ । ३ ।] ॥ २१ ॥

तात्पर्य-यजमान अश्वको इस मंत्रसे अभिमंत्रण करै ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

यकासकौ शकुन्तिकाहलगिति वञ्चति ॥ आहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारका ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यकेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ची पंक्तिश्छं० । अध्वर्य्वादयो देवताः । अध्वर्युणा कुमारीम्प्रति कथने वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु ब्रह्मा होता उद्गाता क्षत्ता कुमारी और पत्नियोंसे संवादकरते हैं यह दशमंत्र हैं उसमें पहले अध्वर्यु कुमारीसे पूछताहै ।

मन्त्रार्थ-(यका) जो (असकौ) यह यज्ञसाधनभूत अपूर्व आत्माद्वारा परिणत जल (शकुन्तिका) अल्पपक्षिणीकी समान (आहलक् इति) हलहल इस प्रकार शब्द करता हुआ (वञ्चति) गमन करताहै 'जलके आवर्तआदिमें हलेहला ऐसा शब्द प्रसिद्धहै' "वंचति गतिकर्मा लिखाहै गच्छति उत्क्रामति" [निघं० अ० २ खं० १४ ना० १० । ६] स्त्रियोंके गमन अर्थात् उत्क्रान्तिसमय प्रज्ञाके प्रकाश होनेमें "तस्य हैतस्य हृदयाग्रं प्रद्योतते" [श० १४ । ७ । २ । ३ ।] उस जलमें हलहलशब्द होताहै अर्थात् शरीरान्तर आरंभके निमित्त क्षोभ होताहै (गभे)

ऐश्वर्यउत्पादक जलमें (पसः) यज्ञीय तेज (आहन्ति) आगमन करताहै "सप इति सपतेः स्पृशतिकर्मणः" इति [निरु० ५ । १६] उस समय (धारका) उस तेजका धारक श्रद्धारूप जल (निगल्गलीति) गलगल इस प्रकारका शब्द करताहै अथवा श्रद्धानामक जल और तेज प्रधानभूत सूक्ष्मरूप शरीरको अभिव्यक्ति प्रगटरूप करताहै इन दश मंत्रोंमें हास्य गर्भित है सो बुद्धिमान् जानलेंगे ॥ २२ ॥

श्रुतिः—"अथाध्वर्युः कुमारीमभिमेथति कुमारि हये हये कुमारि यकासकौ शकुन्तिके" इति [श० १३ । ५ । २ । ४] यह प्रमाण कर्मकाण्डसम्बन्धी है अगला राज्यसम्बन्धी है ॥ २२ ॥

पक्षान्तरे—"यकासकौ शकुन्तिकेति विड्वै शकुन्तिका हलगिति वंचतीति विशो वै राष्ट्राय वंचत्याहन्ति गभे पसो निगल्गलीति धारकेति विड्वै गभो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्या हन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः" [श० १३ । २ । ९ । ६] प्रजाका नाम शकुन्तिका पक्षिणी है सो जैसे बाजके सामने निर्बल होतीहै इस प्रकार राजाके सामने प्रजा होती है एक अकुलीन राजाकी स्थितिमें प्रजा ठगी जाती है प्रजाका नाम गभ है और राष्ट्रका नाम पस है एक अकुलीन राजा विरुद्ध होकर प्रजाको नष्ट करता है इस्से वह प्रजाका घातक कहाताहै इस कारण अयोग्य राजा न होना चाहिये। प्रजा और राजाका गभपसके अलंकारसे वर्णन कियाहै।

कण्डिका २३—मंत्र १।

य॒कोऽस॒कौ श॑कुन्त॒कऽआ॒हल॒गिति॒ वञ्च॑ति। वि॒वक्ष॑तऽइव ते॒ मुख॒मध्व॑र्यो॒ मा न॒स्त्वम॒भि भा॑षथाः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ यक इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षी बृहती छन्दः । देव्यो देवताः । कुमार्य्याध्वर्युम्प्रत्युत्तरदाने विनि० ॥ २३ ॥

विधि—(१) अंगुलीसे तेजको लक्षितकर कुमारी अध्वर्युसे कहतीहै।

मन्त्रार्थ—(अध्वर्यो) हे अध्वर्यो ! (यकः) जो (असकौ) यह अपूर्व आत्माद्वारा परिणत तेज (शकुन्तः) पक्षीकी समान (विवक्षतः) कहनेकी इच्छावाले (ते) तेरे (मुखम्) मुखकी (इव) समान (आहलक् इति) चंचलतासे इधर उधर (वञ्चति) चलताहै अर्थात् अंकुरात्माद्वारा परिणत हुआ तेज फल प्रजनन समयमें तेरे मुखकी समान चंचल दीखताहै इस कारण (त्वम्) तुम (नः) हमसे (मा) मत (अभिभाषथाः) कहो अर्थात् हमारे प्रतिही

यह गति है ऐसा मत कहो किन्तु तुल्य होनेसे हमारे और तुम्हारेमें गतिकी तुल्यता है ॥ २३ ॥

प्रमाण-"तं कुमारी प्रत्यभिमेथत्यध्वर्यो हये हयेऽध्वर्यो यकोऽसकौ शकुन्तकः" इति [श० १३ । ५ । २ । ४ ।] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

माताचतेपिताचतेग्ग्रंवृक्षस्यरोहतः ॥ प्रतिलामीतितेपिताग्गभेमुष्टिमंतऽसयत् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ माताचेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ची पंक्तिश्छं० । ब्रह्मा देवता । ब्रह्मणा महिषीम्प्रति कथने विनियोगः ॥ २४ ॥

विधि-(१) ब्रह्मा महिषीसे कहताहै । मन्त्रार्थ-(ते) तेरी (माता) माता पृथ्वी (च) और (ते) तेरा (पिता) पिता द्युलोक "असौ वै पितेयं माता" इति [श० १२ । ८ । १ । २१] (च) भी (वृक्षस्य) पूर्वोक्त भूतपंचकरूप वृक्षके (अग्रम्) श्रेष्ठ ऊपर भाग अर्थात् ऊर्ध्वलोकमें वर्तमान पत्न्यादि शरीरको (रोहतः) आरोहण अर्थात् प्रादुर्भाव करतेहैं उस समय (ते) तुम्हारा (पिता) पिता द्युलोक (गभे) पर्जन्यात्मक जलमें (मुष्टिम्) मुष्टितुल्य संकोचको प्राप्त जीवके आश्रित तेजको (अतंसयत्) हवनरूपसे प्रक्षेप करताहै (प्रतिलामी) तुझ पृथ्वीके भोग अर्थात् पर्जन्यादिद्वारा वीजप्रदानसे प्रसन्न होताहूं (इति) इस प्रकार मानो कहताहै आशय यह कि इस प्रकार तेरी उत्पत्ति है इस प्रकार जन्म दुःखका हेतु होनेसे घृणाका स्थान है [तसि अलंकृतौ चुरादिः] द्युलोकसे उत्थान पर्जन्य मेघादिके प्राप्त होनेसे जीवमें आश्रित हुआ वह तेज जीवको अलंकृत करता है इस प्रकार पंचाग्नि क्रमसे तेरी उत्पत्ति है अग्निमें दी आहुति आदित्यमें वहांसे पर्जन्यमें फिर भूमिद्वारा अन्नमें फिर पुरुषके मुखमें फिर स्त्रीमें वीर्यरूपसे हुत होकर प्राणी प्रगट होता है "अथ ब्रह्मा महिषीमभिमेथति महिषि हये हये महिषि माता च ते पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य रोहतः" इति [श० १३ । ५ । २ । ५]

श्रुति-"माता च ते पिता च त इति इयं वै मातासौ पिताभ्यामेवैनं स्वर्गं लोकं गमयत्यग्रं वृक्षस्य रोहत इति श्रीर्वै राष्ट्रस्याग्रं श्रियमेवैनं राष्ट्रस्याग्रं गमयति । प्रतिलामीति ते पिता गभे मुष्टिमतंसयदिति विड्वै गभो राष्ट्रं मुष्टी राष्ट्रमेवाविश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः" [श० १३ । २ । ९ । ७ ।]

भाषामें भावार्थ । यह पृथ्वी माता और द्युलोक सबका पिता है इन्हीके द्वारा

इसको स्वर्गकी प्राप्ति कराई जाती है । श्रीही राष्ट्रका अग्रभाग है यही इसको राष्ट्रके अग्र भागमें प्राप्त करती है ऐश्वर्यकी देनेवाली होनेसे प्रजाका नाम गभ है राष्ट्रका नाम मुष्टि है विरुद्ध राजा प्रजाके पदार्थोंको मुष्टिकी समान हरण कर लेता है वह अन्यायके कारण प्रजाका घातक होता है । पितारूप द्युलोक भूमिमें मुष्टि प्रदान करता है यह पहले कर्ममीमांसाके अर्थमें जानना ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र १ ।

माताचं तेपिताचुतेग्ग्रेवृक्षस्यंक्रीडतः॥विवंक्षतऽइवतेमुखम्ब्रह्मुन्मास्त्वंवंदोबुहु ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ माताच त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । देवी देवता । महिष्या ब्राह्मणम्प्रत्युत्तरदाने वि० ॥ २५ ॥

विधि–(१) "तस्यै शतंᳬ राजपुत्र्योऽनुचर्यो भवन्ति ता ब्रह्माणं प्रत्यभिमेथन्ति ब्रह्मन् हये हये ब्रह्मन्माता च ते पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः" इति [श० १३ । ५ । २ । ५] महिषीकी सौ राजपुत्री अनुचरी होतीहैं वे ब्रह्मासे कहती है ।

मन्त्रार्थ–हे ब्रह्मन् ! (ते) तुम्हारी (माता) माता (च) और (ते) तुम्हारे (पिता) पिता द्यावापृथ्वी जिस समय (वृक्षस्य) वृक्षविकार मंचकी तुल्य विस्तीर्ण पंचभूतके (अग्रे) ऊपर (क्रीडतः) क्रीडाकरते हैं अर्थात् पैत्र्यादिशरीरमें रमण करते हैं (इव) जैसे (विवक्षतः) कहनेकी इच्छा करनेवाला (ते) तेरा (मुखम्) मुख दीखताहै इसी प्रकार तेरी उत्पत्ति है अर्थात् दोनोंमें दोष और परिहार समान है इससे (त्वम्) तुम (मा) मत (बहु) बहुत (वदः) बोलो ॥ २५ ॥

अर्थांतर–दूसरा अर्थ राज्यमें पहलेकी समान है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र १ ।

ऊर्द्ध्वामेनामुच्छ्रांपयगिरौभारᳬहरंन्निव ॥ अथांस्यैमद्धयमेधताᳬशीतेवातेपुनन्निव ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऊर्द्ध्वामित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । लिंगोक्ता देवता । उद्गात्रा वा वाताम्प्रति कथने विनि० ॥ २६ ॥

विधि–(२) उद्गाताका वावातासे कथन । **मंत्रार्थ**–हे प्रजापते ! (एनाम्) इस वावातारूप प्रज्ञाको (ऊर्द्ध्वाम्) ऊर्द्ध्वलोकको (उच्छ्रापय) गमन करने योग्य करो (इव) जिसप्रकार (गिरौ) पर्वतके ऊपर (भारम्) भार (हरन्) आरोप-

णकरके उसको ऊंचा कियाजाता है जैसे (शीते) शीतल (वाते) पवन चलनेपर (पुनन्) धान्य बोनेवाला किसान धान्यपात्रको ऊंचा करताहै अर्थात् यज्ञात्मक कर्म करनेपर यज्ञाद्वारा ऊर्ध्वलोकगमनमें पाप दूर होकर पुण्यवशसे दिव्य शरीरसम्पत्ति प्राप्त होती है (अथ) जैसे (अस्यै) इसका (मध्यम्) मध्य स्थान (एधताम्) वृद्धिको प्राप्तहो अर्थात् मध्यम लोकमें प्राप्त शरीरका आरंभ करनेवाला उदकभाग [वृद्धि] सांगनिष्पत्तिको प्राप्तहो जैसे यह उदक शरीरान्तरके आरंभके निमित्त विस्तृत होताहै तैसे मध्यमें ग्रहण करके इसको ऊपर उठाओ अर्थात् मध्यलोकमें प्रतिष्ठा करके ऊर्ध्वलोकको प्राप्त करो ॥ २६ ॥

प्रमाण-"अथोद्गाता वावातामभिमेथयति वावाते हये हये वावात ऊर्ध्वामिनामुच्छ्रापयति" [श० १३ । ५ । २ । ६] ॥ २६ ॥

राज्यप्रकरण.

"श्री राष्ट्रं क्रामाति योश्वमेधेन यजते । ऊर्ध्वामेनामुच्छ्रापयति श्रीर्वै राष्ट्रमश्वमेधः श्रियमेवास्मै राष्ट्रमूर्ध्वामेनामुच्छ्रयति । गिरौ भारꣳहरन्निवेति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य भारः श्रियमेवास्मै राष्ट्रꣳसंनहत्यथो श्रियमेवास्मिन् राष्ट्रमधिनिदधाति । अथास्यै मध्यमेधतामिति । श्रीर्वै राष्ट्रस्य मध्यꣳश्रियमेव राष्ट्रे मध्यतोऽन्नाद्यं दधाति । शीते वाते पुनन्निवेति । क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतं क्षेममेवास्मै करोति" [श० १३ । २ । ९ । १-२ । ३ । ४]

भाषार्थ-जो अश्वमेधद्वारा यजन करताहै वह राष्ट्रको आक्रमण करताहै यही इसको उन्नत कराती है इसकारण इसको ऊंचाकरो श्रीही राज्यका भार है इसीसे राज्यकी वृद्धि होती है. (गिरौ भा०) धनही राज्यका भारहै कारण कि इसीसे राज्यकी वृद्धि होतीहै इस कारण इस यज्ञद्वारा चक्रवर्ती होनेसे राज्यमें श्रीस्थापन की जातीहै (अथास्यै०) लक्ष्मीही राज्यका मध्य अर्थात् आधार है इसीके धारणसे अन्नादि पदार्थोंकी प्राप्ति होतीहै(शीते वाते०) राज्यमें क्षेम होनाही शीत है अश्वमेधद्वारा राज्यमें क्षेम होती है यही अर्थ मंत्रमें लगालेना ॥ २६ ॥

काण्डिका २७-मन्त्र १ ।

ऊ॒र्ध्वमे॑नमु॒च्छ्र॑यताद्गि॒रौ भा॒रꣳ हर॑न्निव ॥ अथा॑स्य॒ मध्य॑मेजतु शी॒ते वाते॑ पु॒नन्नि॑व ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ ऊर्द्धमेनमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । लिंगोक्ता दे० । वावातयोद्गातारम्प्रति कथने वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) वावाता उद्गाताके प्रति कहती है। मन्त्रार्थ-हे प्रजापते! (एनम्) इस उद्गाताको (उर्द्धम्) ऊर्द्ध (उच्छ्रयताम्) उठाओ अर्थात् यज्ञकर्म द्वारा समृद्ध कर ऊर्ध्वकरो (इव) जैसे (गिरौ) पर्वतमें (भारम्) भार (हरन्) आरोपण कर उसे ऊर्ध्व किया जाता है (शीते वाते पुनन्) जैसे वातशीत होने-पर किसान नाजसे भूसी अलग करनेको नाजको पात्रमें रख ऊपर उठाता है (अथ) ऐसा करनेपर (अस्य) इसका (मध्यम्) मध्यलोकको प्राप्त हुआ शरीर आरंभ करनेवाला तेज (एजतु) कम्पितहो अर्थात् शरीरान्तरके आरंभके निमित्त चञ्चलता करो पुरुषका तेज प्रधान होनेसे भोक्तृत्व और स्त्रीमें उदक प्राधान्य भोग्य हैं और सब पूर्ववत् ॥ २७ ॥ [हास्य गर्भित है ।] ॥ २७ ॥

प्रमाण-"तस्यै शतꣳराजन्या अनुचर्यो भवन्ति ता उद्गातारं प्रत्यभिमेथत्युद्गातर्हयेहथउद्गातरूर्ध्वमेनमुच्छ्रयतात्" इति [श० १३।५।२।६।] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

यद॑स्याऽअꣳहुभेद्याः॑कृधुस्थूलमुपातंसत् ॥
मुष्कावि॒द॑स्याऽएजतोगोश॒फेश॑कुलावि॑व ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदस्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ची पंक्तिश्छन्दः । परिवृक्ता देवता। होत्रा परिवृक्ताम्प्रतिकथने वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) होताका परिवृक्तासे कथन । मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (अस्याः) इस परिवृक्तारूप (अंहुभेद्याः) पूर्वोक्त उदकको भेदकर परिणामी करनेयोग्य है जिसका ऐसीके (कृधुः) ह्रस्व "कृध्विति ह्रस्वनाम" [निघं० ३ । २ ।] और (स्थूलम्) स्थूल अर्थात् सूक्ष्म होनेसे ह्रस्वतेज, और अधिक प्रकाशक होनेसे स्थूल शरीर आरंभ करनेवाला तेज (उपातसत्) शरीरआरंभक उदकके प्रति गमन करता है उस समय (मुष्कौ) वृषण अंडकोष सदृश कामके वर्षानेवाले द्यावापृथिवी रोदसी [मुष्क इत्यण्डकोषः बृहदभिधान पृ० ४७९८] (अस्याः) इसके (इतः) ऊपरही (एजतः) कम्पित होते है पूर्वोक्त उदकके ऊपर कम्पित होते, व्याप्त होकर स्थित होते हैं । कारणत्वसे अधिक प्रकाशवाला होनेसे उदककी अपेक्षासे तेज स्थूल है, और कार्यत्व होनेसे अप्रकाशत्व होनेसे तेजकी अपेक्षासे उदक अल्प है और रोदसी बाहर स्थित रहती है अर्थात् द्यावा भूमिके मध्यमें तेज स्थित रहते है (इव) जैसे (गोशफे) जल पूर्ण गोखुरस्थानमें (शकुलौ) दो मत्स्य कंपित होते और बाहरही रहते है ॥ २८ ॥

राज्यपक्षमें.

जो राज्य (अंहुभेद्याः) अपराधविनाशक इस प्रजाका छोटा और बडा कर्म देखकर उसकी प्रशंसा करै तो वे दोनों कर्म इस प्रजाको आनंदसे कंपित कराते है जैसे गौके खुरकी बराबर गढेमें दो मत्स्य कांपते हैं ॥ २८ ॥

प्रमाण-"अथ होता परिवृक्तामभिमेथति परिवृक्ते हयेहये परिवृक्ते यदस्या अंहुभेद्याः" इति [श० १३।५।२।७] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मन्त्र १ ।

यद्देवासो ललामगुम्प्रविष्टीमिनमाविषुः। सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्देवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । होता देवता । परिवृक्तया होतारम्प्रत्युत्तरदाने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) परिवृक्ताका होतासे कथन । मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (देवासः) तेज वा क्रीडनशील उत्तम वा गुणयुक्त होनेसे श्रेष्ठ होता ऋत्विजादि (विष्टीमिनम्) विशेष कर क्लेदनसंयुक्त अर्थात् उदकमें संयुक्त होनेसे क्लेदी (ललामगुम्) सुखकारी यज्ञीय तेजको (प्राविषुः) श्रद्धानामक उदकमें यज्ञकर्मसे प्रवेश करते हैं । आशय यह कि सुख कर्मफलविशेषको प्राप्त होता है भोक्ता होनेसे तेजमें सुख कहा है अथवा कमलकी समान ऊपर गमन करनेसे यह तेज ललाम है अर्थात् यज्ञीय तेज अन्तरिक्षके उदकमें प्रवेश करके फिर कमलकी समान फल देनेके लिये उच्छ्रित होता है "ते वा एते आहुतिहुते उत्क्रामतस्ते अन्तरिक्षमाविशतः" [श० ११।६।२।६] आशय यह कि यज्ञीय तेजके पूर्वोक्त उदकमें प्रवेश करनेसे क्लेदनरूप फलके उपजननकी सामर्थ्य होती है जिस समय देवासः क्रीडनशील तेजकर्म फलकी इच्छावाले होते हैं तब अन्तरिक्षरूप उदकमें प्रवेश करते है उस समय (नारी) पूर्व प्रज्ञा अव्यक्त होनेके कारण (सक्थ्ना) ऊरुरूप विद्याकर्मसे (देदिश्यते) अत्यन्तलक्षित होती है "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" इति [श० १४ । ७ । २ । ३] भोग अर्थात् आरोहणसमयमें पूर्व प्रज्ञारूपी शरीरके जीवसे व्याप्त होनेसे दोनो ऊरु अर्थात् विद्याकर्म मात्र प्रज्ञाके जतानेवाले लक्षित होते है यह जाननेयोग्य प्रज्ञा है इस प्रकार विश्वासयोग्य होती है (यथा) जैसे (सत्यस्य) सत्यका (अक्षिभुवः) चक्षु और शास्त्रसे प्रत्यक्ष होता है सत्य दो प्रकारका है जो नेत्रोंसे हो वह 'अक्षिभू' प्रत्यक्ष दूसरा 'श्रोत्रग्राह्य' जैसे

कोई प्रत्यक्ष सत्यसे कुछ कहता है उसमें विश्वास होता है इसी ऊरुस्थानीय विद्या कर्ममात्रसे श्रुति और चक्षुद्वारा ज्ञानसे पूर्व प्रज्ञा लक्षित होती है श्रोत्रके द्वारा ग्रहण किये सत्यमें वक्ताका आप्तपन देखना होता है ॥ २९ ॥

प्रमाण–"तस्यै शतं सूतग्रामण्यां दुहितरोनुचर्यो भवन्ति ता होतारं प्रत्यभिमेथन्ति होतर्हयेहये होतर्यद्देवासो ललामगुम्" इति [श० १३।५।२।७] इसके साथभी सौ अनुचरी होतासे हास्य करती हैं ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र १ ।

यद्धरिणोयवमत्तिनपुष्टम्पशुमन्यते ॥ शूद्रायदर्य्यजारानपोषायधनायति ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यद्धरिण इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । पालागली देवता । क्षत्रा पालागलीम्प्रतिकथने वि० ॥३०॥

विधि–(१) प्रमाण–"अथ क्षत्ता पालागलीमभिमेथति पालागलि हयेहये पालागलि यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यते" इति [श० १३ । ५ । २ । ८] क्षत्ताका पालागलीसे कथन । मन्त्रार्थ–(यत्) जिस समय (हरिणः) हरिण (यवम्) यवको (अत्ति) भक्षण करता है उस समय (पशुम्) इस पशुको क्षेत्रवाला (पुष्टम्) पुष्ट (न) नहीं (मन्यते) मान्ता किन्तु इसने मेरा क्षेत्रधान्य भक्षण किया ऐसा जानकर दुःखी होता है इसी प्रकार (शूद्रा) शूद्रजातीया स्त्री अर्थात् शोकहेतुवाले पुरुषकी गतियुक्त प्रज्ञा (यत्) जिस समय (अर्यजारा) [अर्यःस्वामिवैश्ययोरिति निपातनात् अर्य्यो वैश्यः विशतीति वैश्यः] वेदाध्ययनसम्पन्न गुरु जिसका उपपति वह अर्यजारा होती है अर्थात् वैश्य गुरु जब शूद्रारूप शोकसे द्रवणशील प्रज्ञाके निकट गमन करता है तब अज्ञ शूद्र (पोषाय) पुष्टिके निमित्त (न) नहीं (धनायति) इच्छा करता है मेरी प्रज्ञा भार्य्या वेदाध्ययनसम्पन्न वैश्यद्वारा भुक्त अर्थात् शिक्षित हुई वेदके अभिप्रायसे सम्पन्न हुई ऐसी नहीं मान्ता किन्तु अन्यसे शिक्षित हानेके कारण अपने अज्ञानसे दुःखी होता है इससे अज्ञानीको उपदेशकी अयोग्यता कही ॥ ३० ॥

राज्यप्रकरणका अर्थ–"यद्धरिणो यवमत्तीति । विड्वै यवो राष्ट्रं हरिणी विशमेव राष्ट्रयाद्यां करोति । तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यते इति । तस्माद्राजा पशून्न पुष्यति शूद्रा यदर्यजारा न पोषाय धनायतीति तस्माद्वैशीपुत्रं नाभिषिञ्चति" [श० १३।२।३।८]

भावार्थ-प्रजाका नाम यव और राष्ट्रका नाम हरिण है जैसे मृग दूसरेके खेतका अन्न खाकर पुष्ट होता है वैसेही राजा प्रजाके पदार्थोंसे पुष्ट होता है इससे वह अपने सुखके निमित्त प्रजाको भोजनयोग्य अर्थात् प्रजाके सब पदार्थोंको स्वयं भोगकरता है इस कारण वह राजा प्रजाकोही खाता है और जैसे किसान दूसरे पशुको अपने अन्नसे पुष्ट देखकर उसे पुष्ट नहीं मान्ता मारनेकी इच्छा करता है इसी प्रकार स्वतंत्र राजा प्रजाको पुष्ट न मानकर उनसे धनग्रहणकी इच्छा करता है जैसे शूद्रा वैश्यको जार करती है तो वह शूद्र पुष्ट नहीं मान्ता किन्तु अपने पुष्ट करनेसे यथार्थ पुष्टि मान्ता है इसी प्रकार राजा प्रजाके दूसरे व्यौहारसे दुःख मान्ता है यह दो वर्णोंको छोडकरही अन्य वर्णके राज्यमें ऐसा प्रजापर अनाचार होता है इस कारण शूद्र और वैश्यपुत्रका राज्याभिषेक नहीं होता है उनको प्रजापालनकी सामर्थ्य नहीं है ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १।

यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टम्बहु मन्न्यते ॥ शूद्रो यदर्य्यायै जारो न पोषमनु मन्न्यते ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्धरिण इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । क्षत्ता देवता । पालागल्या क्षत्तारम्प्रत्युत्तरदाने वि० ॥ ३१ ॥

विधि-(१) "तस्यै शतं क्षात्रसंगृहीतॄणां दुहितरोनुचर्यो भवन्ति ताः क्षत्तारं प्रत्यभिमेथन्ति क्षत्तर्हये हये क्षत्तर्यद्धरिणो यवमत्ति न पुष्टं बहु मन्यते" इति [श० १३।५।२।८] पालागलीका क्षत्तासे कथन। मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (हरिणः) हरिण (यवम्) यव (अत्ति) भक्षण करता है उस समय क्षेत्रवाला उसको (बहुपुष्टम्) बहुत पुष्ट (न मन्यते) नहीं मान्ता किन्तु दुःखी होता है कि मेरा क्षेत्र इसने खाया "यह तुममेंभी समान है" परन्तु यह विशेष है कि ज्ञान अज्ञानके किये भेदसे कुसंगगामिनी प्रज्ञाही तत्त्वसे शोकके योग्य होती है (यत्) जब (शूद्रः) वेदार्थका न जान्नेवाला शोकयुक्त अज्ञानी (अर्य्यायै) अर्या वैश्या अर्थात् वेदमार्गमें प्रवर्तमान प्रज्ञाका (जारः) जार होता है [जरयिता जारः] तब वैश्य वेदानुयायी पुरुष (पोषम्) पुष्टिको (न) नहीं अनुमन्यते मान्ता है किन्तु नीचमें विद्याव्याप्त होनेका क्लेश होता है [दुःखदायक गमनागमनरूप मार्ग दिखानेसे हास्यास्पद भाषण समाप्त] राज्यप्रकरणमें पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

विवरण-इस भाषणसे महिषी निर्दोष होजाती है आत्मामें एक अलौकिक संस्कार प्रगट होता है जिससे चक्रवर्ती सर्वविजयी सन्तान होती है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १।

दधिक्राव्णोऽअकारिषञ्जिष्णोरश्वस्य वाजिनः॥ सुरभिनो मुखाकरत्प्रणऽआयूᳬषि तारिषत् ३२[२२]

ऋष्यादि-(१) ॐ दधिक्राव्ण इत्यस्य वामदेवपुत्रदधिक्राव ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। अश्वो देवता। पाठे वि० ॥ ३२ ॥

विधि-(१) अनन्तर महिषी अश्वके समीपसे उठै उस समय अध्वर्यु ब्रह्मा उद्गाता होता क्षत्ता यह पांच ऋत्विक् मंत्र पाठ करैं [का० २० । ६ । २१]

मन्त्रार्थ-(दधिक्राव्णः) मनुष्योंको धारण करनेवाले प्रतिपादविक्षेपमें पृथ्वीको आक्रमण करनेवाले (जिष्णोः) जयशील (वाजिनः) वेगगामी (अश्वस्य) प्रजापतिरूप अश्वका संस्कार (अकारिषम्) हमने किया है (नः) हमारे (मुखा) मुख (सुरभि) यज्ञके प्रभावसे सुगन्धित (करत्) करो (नः) हमारी (आयूंषि) बालवृद्धादिजीवन (प्रतारिषत्) वृद्धिको प्राप्त हों ॥ ३२ ॥

प्रमाण-"सुरभिमतीमृचमन्ततोन्वाहुर्वाचमेव पुनते" इति [१३ । २ । ९। ९] श्रुतेः [ऋ० ३ । ७ । १३] ॥ ३२ ॥ अर्थात् जो हमने वचनव्यत्यय कियाहै अब इस यज्ञके द्वारा हमारे मुख सुगंधित हों।

कण्डिका ३३-मंत्र १. अनु० ७।

गायत्री त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्त्या सह॥ बृहत्युष्णिहा ककुप्सूचीभिः शम्यन्तु त्वा॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गायत्रीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। उष्णिक्छं०। अश्वो देवता। सूचीभिरश्वशरीरे रेखाकरणे वि० ॥ ३३ ॥

विधि-(१) यह मंत्र और अगला मंत्र पाठपूर्वक तीनों रानी ताम्र, चांदी और सोनेकी १०१ सूचीद्वारा अश्वके शरीरमें रेखा करैं [का० २० । ७ । १]

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (गायत्री) गानेवालेका रक्षक गायत्री छन्द, (त्रिष्टुप्) तीनों तापका रोधक त्रिष्टुप्छन्द (जगती) जगत्में विस्तीर्ण जगती छन्द, (अनुष्टुप्) संसारका दुःखरोधक अनुष्टुप् (पङ्क्त्या) पंक्ति छन्दके (सह) साथ (बृहती) बृहती छन्द (उष्णिहा) प्रभातप्रियकारी उष्णिक् छन्द (ककुप्) अच्छे पदाथोंवाला ककुप्छन्द (सूचीभिः) सूचियोंद्वारा (त्वा) तुमको (शम्यन्तु) शान्त करैं "विशो वै सूच्यो राष्ट्रमश्वमेधो विशं चैवास्मिन् राष्ट्रे समीची दधाति" [श० १३ । २।१०। २] प्रजा सूची राष्ट्र अश्वमेध यहीं राज्यको सम्यक् चलाती हैं यहां राज्यपक्ष है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १।

द्विपदा याश्चतुष्पदास्त्रिपदा याश्च षट्पदाः ॥ विच्छन्दा याश्च सच्छन्दाः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ३४

ऋष्यादि-(१) ॐ द्विपदेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(याः) जो (द्विपदाः) दो पदवाली (चतुष्पदाः) चार पदवाली (त्रिपदाः) तीन चरणवाली (च) और (याः) जो (षट्पदाः) छः पदोंवाली (विच्छन्दाः) छन्दलक्षणसे हीन (च) और (याः) जो (सच्छन्दाः) छन्द लक्षणसे युक्त हैं वे सब छन्द (सूचीभिः) सूचीद्वारा (त्वा) तुझको (शम्यन्तु) शान्त करें ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र ७।

महानाम्न्यो रेवत्यो विश्वा आशाः प्रभूवरीः ॥ मैघीर्विद्युतो वाचः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ॥३५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महानाम्न्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । रजतमयीसूचीभिरश्वशरीरे रेखाकरणे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) इन दो मंत्रोंसे वावाता १०१ चांदीकी सूचीसे रेखा करै । मंत्रार्थ-(महानाम्न्यः) बडे नामवाली शक्करीऋचा (रेवत्यः) रेवत सामवाली ऋचा (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशा (प्रभूवरीः) सब प्राणियोंको धारण करनेमें समर्थ दिशा (मैघीः) मेघसे प्रगट होनेवाली (विद्युतः) विजली और (वाचः) सब शब्द (सूचीभिः) सूचीद्वारा (त्वा) तुझको (शम्यन्तु) शान्त करें ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १।

नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया ॥ देवानाम्पत्न्यो दिशः सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नार्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (पत्न्यः) पतिव्रता (नार्यः) स्त्रियें (ते) तेरे (लोम) लोमोंको (मनीषया) बुद्धिपूर्वक (विचिन्वन्तु) पृथक् करैं (देवानाम्) देवता-

ओंकी (पत्न्यः) स्त्रियें (दिशः) दिशा (सूचीभिः) सूचीद्वारा (त्वा) तुझको (शम्यन्तु) शान्तकरैं अथवा दिक्पालगणोंकी पत्नी दिशाओंकी समान प्रभावशाली यजमान पत्नी महिषीआदि सूचीसमूहद्वारा तुझको शान्तकरैं पक्षान्तरमें प्रजा राज्यमें शान्ति स्थापनकरै यह सर्वत्र जान्ना ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १ ।

रजताहरिणीᳶसीसायुजोयुज्यन्तेकर्म्मभिः ॥ अश्वस्यवाजिनस्त्वचिसिमाᳶशम्म्यन्तुशम्म्यन्तीः ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ रजता इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–(रजताः) चांदीकी (हरिणीः) सुवर्णकी (सीसाः) सीसे वा तांबेकी सूची (युजः) संयुक्त होकर (कर्मभिः) अश्वकार्यमें (युज्यन्ते) युक्तहोती है (शम्यन्तीः) संस्कारको करती हुई (वाजिनः) वेगवान् (अश्वस्य) अश्वकी (त्वचि) त्वचामें (सिमाः) रेखा (शम्यन्तु) सम्यक् प्रकारसे करैं ॥ ३७ ॥

प्रमाण–"दिशो वै लोहमय्योवान्तरदिशो रजता ऊर्ध्वाः हरिण्यस्ताभिरेवैनं कल्पयन्ति" इति [१३ । २ । १० । ६] श्रुतेः । दिशाही लोहमयी सूची है अन्तर दिशा रजतमयी सूची है ऊर्ध्व दिशा सुवर्णमयी सूची हैं मानो दिशा अन्तरदिशा ऊर्ध्वस्थान यही तीन प्रकारकी सूची है यही सर्वत्र व्याप्त होनेसे सीमारूप हैं इन दिशाओंद्वाराही यज्ञकार्यमें कल्पना करती है अथवा तीनों स्थानमें युक्त करती है यह रेखा दिशाकल्पनासे है सब दिशाओंमें इन मंत्रोंसे शक्ति स्थापन होतीहै ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मंत्र १ ।

कुविदङ्गयवमन्तोयवंञ्चिद्यथादान्त्यनुपूर्वंवियूय ॥ इहेहैषाङ्कृणुहिभोजनानियेवर्हिषोनमऽउक्तिंयजन्ति ॥ ३८ ॥ [८]

कुविदङ्गेति–इसकी व्याख्या १० । ३२ में होगई ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १। अनु० ८।

कस्त्वाच्छ्यतिकस्त्वाविशास्तिकस्तेगात्त्राणि शम्म्यति ॥ कऽउंतेशमिताकविः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। गायत्री छं०। अश्वो देवता। अश्वविशसने वि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) इन छः कण्डिकासे सूचीविद्ध स्थानमें विशसन करै [का० २०।७।६] मन्त्रार्थ-हे अश्व! (कः) प्रजापति (त्वा) तुझको (आच्छ्यति) छेदन करता है (कः) प्रजापति (त्वा) तुझको (विशास्ति) त्वचा वा आवरणसे पृथक् करता है (कः) प्रजापति (ते) तुम्हारे (गात्राणि) शरीरको (शम्याति) शमन वा हवि करता है (मेधावी) बुद्धिसम्पन्न (कः) प्रजापति (उ) ही (ते) तेरा (शमिता) शमित वा मोक्ष-करनेवाला है सब कुछ प्रजापति ही करता है मैं नहीं करताहूं ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १।

ऋतवंस्तऽऋतुथापर्वशमितारोविशासतु ॥ संवत्सरस्यतेजसाशमीभिः शम्म्यन्तुत्त्वा ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतवस्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ ४० ॥

मंत्रार्थ-हे अश्व ! (ऋतवः) ऋतुऐं (शमितारः) शमन करनेवाली है वे (ऋतुथा) समय समय पर (संवत्सरस्य) संवत्सरके (तेजसा) तेज वा प्रभावसे (ते) तेरे (पर्व) पर्वोंको वा शरीरग्रन्थियोंको (शमीभिः) कर्मोंद्वारा (विशासतु) भिन्नकरैं (ऋतवः) ऋतुऐं (त्वा) तुझको (शम्यन्तु) हवि करैं ॥ ४० ॥

विशेष-इस कण्डिकामें दिखायाहै कि प्राणी प्रत्येक ऋतमें कालके प्रभावसें जीर्ण होता जाता है, संवत्सरोंके वीतनेसे शरीरकी ग्रन्थियें शिथिल होती जाती हैं अन्तमें पञ्चत्वको प्राप्त होनेपर अग्नि वायु जल भूमि आकाशमें हवि होजातीहै यह कालकृत यज्ञ सदा होतारहताहै ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १।

अर्द्धमासाःपरूᳬंषितेमासाऽआच्छ्यन्तुशम्म्यन्तः ॥ अहोरात्राणिमरुतोविलिष्टᳬंसूदयन्तुते ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अर्धमासा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(शम्यन्तः) संस्कार करनेवाले (अर्धमासाः) पक्ष वा उनके अधिष्ठात्री देवता (मासाः) महीने (ते) तेरे (परूंषि) पर्वोंको (आच्छयन्तु) छेदनकरैं (अहोरात्राणि) दिनरात (मरुतः) मरुतदेवता (ते) तेरे (विलिष्टम्) अल्पअंगोंको (सूदयन्तु) सन्धानकरै ॥ ४१ ॥

विशेष-पखवारे महीने दिनरात श्वासप्रश्वासद्वारा प्राणीके अंगोंको शिथिल करते जाते है अवस्था पूरी होनेपर वखेर देते है कारण निमित्तमात्र होते है ॥४१॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

दैव्याऽअध्वर्य्यवस्त्वाच्छ्यन्तुविचंशासतु॥ गात्राणिपर्वशस्तेसिमाःकृण्वन्तुशम्यन्तीः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्या इत्यस्य प्र० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अश्वो दे० । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (दैव्याः) देवसम्बन्धी (अध्वर्यवः) अध्वर्यु अश्विनीकुमार (त्वा) तुझको (आच्छयन्तु) छेदन करै (च) और (विशासतु) विशसन करते हविमें सम्पादन करो (शम्यन्तीः) संस्कार करती हुई (सिमाः) सीमायें (ते) तेरे (गात्राणि) गात्रोंको (पर्वशः) भिन्न २ (कृण्वन्तु) करैं ॥ ४२ ॥

विवरण अश्विनीकुमारही अश्वकी आयु पूर्ण होनेपर उसको जर्जरित कर प्रकृतियज्ञ सम्पादन करते हैं, यह दैवयज्ञ प्रतिकालमें होता रहता है आयु समाप्ति पर फिर कोई जीवित नहीं रहता इससे इस अश्वकी आयु पूर्ण होनेपर यह कार्य दैवकर्तृकही है ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १.

द्यौस्त पृथिव्यन्तरिक्षंवायुश्छिद्रम्पृणातुते ॥ सूर्यस्तेनक्षत्रैःसहलोककृणोतुसाधुया ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यौस्त इत्यस्य प्र० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (द्यौः) स्वर्गलोक (पृथिवी) भूलोक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षलोक (ते) तुम्हारे (छिद्रम्) छिद्रोंको (पृणात) पूर्ण करो अर्थात् इन तीनों लोकोंके अधिष्ठात्री देवता अग्नि वायु सूर्य यह तुमको अच्छिद्र करें, अर्थात् हमारे इस कार्यमें कोई छिद्र न हो (वायुः) वायु देवता (ते) तुम्हारे छिद्रोंको पूर्ण करो (नक्षत्रैः) नक्षत्रोंके सहित (सूर्यः) सूर्य (ते) तुम्हारे (साधुया) समीचीन श्रेष्ठ (लोकम्) लोकको (कृणोतु) करो ॥ ४३ ॥

विशेष-भूमि अन्तरिक्ष स्वर्गके देवता ही इस प्राणीको पूर्ण कर लेते हैं वायुही उसको लेकर गमन करताहै, सबका द्रष्टा सूर्यरूप परमात्मा नक्षत्ररूप दूसरे देवताओंके सहित इसको पुण्यकर्मा लोकोंमें प्राप्त करताहै ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १।

शन्तेपरेभ्योगात्रेभ्यःशमस्त्ववरेभ्यः ॥ शम स्थभ्योमज्जभ्यःशम्वस्तुतन्वैतव ॥ ४४ ॥ [६]

ऋष्यादि-(१) ॐ शन्त इत्यस्य प्र० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (ते) तुम्हारा (परेभ्यः) परअवयव अर्थात् शिरआदिसे (शम्) सुख (अस्तु) हो अर्थात् तुम्हारे उत्तमांग हमको कल्याणकारी हों (अवरेभ्यः) नीचे स्थित करचरणादि (गात्रेभ्यः) गात्रोंसे वा अंगोंको (शम्) सुख हो (अस्थिभ्यः) अस्थियोंके निमित्त (मज्जभ्यः) मज्जाके निमित्त (शम्) सुख हो वा इनसे हमारा मंगल हो (तव) तुम्हारा (तन्वै) शरीर (शमु) सबके निमित्त सुखकारी हो वा तुम्हारे शरीरको सुख हो ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १. अनु०-९।

कःस्विदेकाकीचरतिकऽउस्विज्जायतेपुनः ॥ किꣳस्विद्धिमस्यभेषजङ्किम्वावपनम्महत ॥ ४५ ॥

विधि-(१) यहांसे अठारह मंत्रपाठकरके ब्रह्मा अध्वर्युआदि सभामण्डपमें बैठकर परस्पर संवादकरें इसको ब्रह्मोद्यसंवाद कहते हैं [का० २० । ७ । १०] होताका प्रश्न-

"कः स्वित्०-" इसकी व्याख्या ९ मंत्रमें होगई ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र १ ।

सूर्य्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ॥ अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥ ४६ ॥

सूर्य एकाकी चरति इसकी व्याख्या १० मंत्रमें होगई ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मंत्र १ ।

किᳬ स्वित्सूर्य्यसमं ज्योतिः किᳬ समुद्रसमᳬ सरः ॥ किᳬ स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ किमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । प्रश्नो देवता । प्रश्ने विनि० ॥ ४७ ॥

विधि–(१) होताका प्रश्न । मन्त्रार्थ–(स्वित्) कहिये (सूर्यसमम्) सूर्यकी समान (ज्योतिः) ज्योति (किम्) क्या है (समुद्रसमम्) समुद्रकी समान (सरः) सरोवर (किम्) क्या है (स्वित्) कहो (पृथिव्यै) पृथ्वीसे (वर्षीयः) महत्तर (किम्) क्या है (कस्य) किसका (मात्रा) परिमाण (न विद्यते) नहीं है ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मन्त्र १ ।

ब्रह्म सूर्य्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमᳬ सरः ॥ इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ब्रह्मेत्यस्य प्र० ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । उत्तरं दैवतम् । उत्तरदाने वि० ॥ ४८ ॥

विधि–अध्वर्युका उत्तर । मन्त्रार्थ–(सूर्यसमम्) सूर्यकी समान (ज्योतिः) ज्योति (ब्रह्म) ब्रह्म है (समुद्रसमम्) समुद्रके समान (सरः) सरोवर (द्यौः) द्युलोक है (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् इन्द्र अणिमा महिमादि ऐश्वर्यसे युक्त (पृथिव्यै) पृथ्वीसे (वर्षीयान्) महत्तर है (गोः) यज्ञका आधार होनेसे गौकी वा वाणीकी (तु) तो (मात्रा) परिमाण (न) नहीं (विद्यते) है अर्थात् ब्रह्मज्योति सूर्य ज्योतिका आदर्श है, नभस्थलके निकट समुद्र सरोवर तुल्य है, सूर्य वा ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ही पृथ्वीसे बडा लोक है गौकी समान आदरणीय और कोई नहीं ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ ॥ येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृच्छामीति प्र० ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । प्रश्नं दैवतम् । प्रश्नकरणे वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) ब्रह्माका उद्गातासे प्रश्न । मन्त्रार्थ-(देवसख) हे देवताओंके मित्र ! (चितये) ज्ञानलाभके निमित्त (त्वा) तुमसे (पृच्छामि) पूछताहूं (अत्र) इस मेरे प्रश्नमें (यदि) जो (त्वम्) तुम (मनसा) मनके द्वारा (जगन्थ) जान्तेहो तो कहो (विष्णुः) व्यापक परमातमाने (येषु) जिन (त्रिपु) तीन (पदेपु) चरणोंमें (इष्टः) पूजा प्राप्तकी अर्थात् विष्णुने जिन तीनों स्थानमें आक्रमण किया(तेपु) इनमें (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) संसार (आविवेश) प्रविष्ट हुआ क्या ? अथवा गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्निरूपसे जो यज्ञ पूजित है वह त्रिभुवनमें प्रविष्ट है कि नहीं ? ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र १ ।

अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश ॥ सद्यः पर्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽअस्य पृष्ठम् ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपीत्यस्य प्र० ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । प्राणो देवता । उत्तरदाने वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) उद्गाताका उत्तर । मन्त्रार्थ-(अपि) मैभी (तेषु) उन (त्रिषु) तीनों (पदेषु) स्थानोंमें (अस्मि) हूं (येषु) जिन तीनों पदोंमें (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) संसार (आविवेश) प्रविष्ट रहा है हो अथवा 'अपि' शब्दसे तूभी उसी पदमें स्थित है (पृथिवीम्) इतनाही नहीं किन्तु पृथिवी (उत) और (द्याम्) द्युलोक और (अस्य) इस स्वर्गके (पृष्ठम्) ऊपरके भागभी

(सद्यः) क्षणमात्रमें (एकेन) एकही (अङ्गेन) अंगद्वारा मनसे (पर्येमि) जान्ता हूं ॥ ५० ॥

अर्थात्- विष्णुने तीनों स्थानोंको आक्रमण कियाहै पृथ्वी द्युलोक द्युपृष्ठलोक यह समस्त भुवन उसके अन्तरमें निविष्ट है हमभी उसीमें हैं अथवा उन तीन स्थान गार्हपत्यादिमें मै हू इस क्षणमें एक अङ्गमात्र 'मन' की सहायतासे यह सम्पूर्ण भ्रमणकरनेमें समर्थ होते हैं, अथवा ईश्वरका उपदेश है हे मनुष्य ! तुम जिसके जान्नेकी इच्छाकरते हो वह (अहमपि) मैही (तेषु त्रिषु पदेषु अस्मि) उन तीनों पदोंमें स्थित हो रहाहूं जिस मेरे पदोंमें पृथिवी स्वर्ग और ऊपरके सब लोक प्रविष्ट है उनको मैं जान्ताहूं वा इच्छासेही सबको भ्रमाताहूं मेरी उपासना करनी तुमको उचित है ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१-मंत्र १ ।

केष्वन्तः पुरुषऽआविवेश कान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि ॥ एतद्ब्रह्मन्नुपवल्हामसि त्वा किᳬस्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) केष्वन्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । प्रश्नो देवता । प्रश्नकरणे वि० ॥ ५१ ॥

विधि-(१) उद्गाताका ब्रह्मासे प्रश्न । मन्त्रार्थ-(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मन् ! (पुरुषः) सबमें निवास करनेवाला परमेश्वर (केषु) किन पदार्थोंके (अन्तः) अन्तरमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है (पुरुषे) इस पुरुषके (अन्तः) मध्यमें (कानि) क्या वस्तुएं (अर्पितानि) अर्पणकी है (एतत्) यह (त्वा) तुमसे (उपवल्हामसि) स्पर्धापूर्वक पूछते है (स्वित्) कहो (अत्र) इस प्रश्नमें (त्वम्) तुम (किम्) क्या (प्रतिवोचासि) कहते हो ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मंत्र १ ।

पञ्चस्वन्तः पुरुषऽआविवेश तान्यन्तः पुरुषेऽअर्पितानि ॥ एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानोऽअस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पञ्चस्वन्त इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । उत्तरं दैवतम् । उत्तरदाने वि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) ब्रह्माका उत्तर । मन्त्रार्थ-(पुरुषः) परमात्मा (पञ्चसु) पांच प्राण वा पंचभूत वा पञ्चतन्मात्राओंके (अन्तः) अन्तरमें(आविवेश)प्रविष्ट है (तानि) वे श्रोत्रादिके अधिकरण वा पंचभूत (पुरुषे) पुरुषके (अन्तः) अंतरमें (अर्पितानि) प्रविष्ट है अर्थात् प्राणोंकी आत्मासे अन्योन्यापेक्षा सिद्धि है आत्माके विना प्राण प्राणके विना आत्माकी स्थिति नही "न चात्मानमन्तरेण प्राणाः ख्यायन्ते न प्राणानन्तरेणात्मा" इति [बह्वृचश्रुतेः] सब भूत आत्मामें और आत्मा सब भूतोंमें प्रविष्ट है "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः । (अत्र) इस प्रश्नमें (त्वा) तुमको (एतत्) यह उत्तर (प्रतिमन्वानः) प्रत्यक्ष जानकर समाधान करता (अस्मि) हूं तुम (मायया) बुद्धिशक्तिकरके "मायेति प्रज्ञानाम" [निघं० ३ । २] (मत्) मुझसे (उत्तरः) अधिक (न) नहीं (भवसि) होसक्ते हो अर्थात् मुझसे अधिक बुद्धिमान् नहीं हो ॥ ५२ ॥

विशेष-ब्रह्मारूपसे परमेश्वर उपदेश करता है सब स्थावर जंगमका कारण मुझमें व्याप्त है, मै उसमें व्याप्त हूं यह निश्चय जानो मेरे विज्ञानसे सबको सुखकी प्राप्ति होगी यह मैंने अपना निश्चय कहा है मनुष्यकी प्रज्ञा यहांतक नहीं पहुंचसकती इस कारण मेरे वाक्यपर निश्चय करना चाहिये. ब्रह्माके पक्षमें यह जानना, हे होता ! इस विषयमें हमारा इतनाही उत्तर है और बोध है कि तुम भी इसकी अपेक्षा अधिक जाननेमें समर्थ नहीं होगे हमारा जो ज्ञान था सो कहदिया ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १. अनु०१० ।

का॒स्वि॑दासीत्पू॒र्वचि॑त्तिः॒ किᳪस्वि॑दासीद्बृ॒हद्वयः॑ ॥ का॒स्वि॑दासीत्पिलिप्पि॒ला का॒स्वि॑दासीत्पिशङ्गि॒ला ॥ ५३ ॥

विधि-(१) पश्चात् उत्तर वेदीके वाहर होकर हविर्धानके आगे उत्तर वेदीके पीछे बैठकर फिरभी होता अध्वर्यु संवाद करें [का० २० । ७ । १२]

कास्विदिति-इसकी व्याख्या ११ कण्डिकामें होगई ॥ ५३ ॥

कण्डिका५४-मंत्र १ ।

द्यौरा॑सीत्पू॒र्वचि॑त्ति॒रश्व॑ऽआसीद्बृ॒हद्वयः॑ ॥ अवि॑रासीत्पिलिप्पि॒ला रात्रि॑रासीत्पिशङ्गि॒ला ॥ ५४ ॥

द्यौरासीत्-इसकी व्याख्या १२ कण्डिकामें होगई ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५-मंत्र १ ।

काऽईमरेपिशङ्गिलाकाऽइँकुरुपिशङ्गिला॥कऽईमा स्कन्दमर्षतिकऽईम्पन्थांविसर्प्पति ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ काईमर इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । होता देवता । प्रश्नकरणे वि० ॥ ५५ ॥

विधि-(१) अध्वर्युका होतासे प्रश्न । मन्त्रार्थ-(अरे) हे होता ! (पिशिङ्गिला) रूपोंकी निगलनेवाली (काईम्) कौन है (कुरुपिशङ्गिला) शब्दपूर्वक रूपोंको (काईम्) कौन निगलती है (कईम्) कौन (आस्कन्दम्) इस उत्प्लवन गतिको (अर्षाति) चलता है (कईम्) कौन (पन्थाम्) मार्गके प्रति (विसर्पाति) चलता है ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

अजारेपिशङ्गिलाश्वावित्कुरुपिशङ्गिला॥शशऽ आस्कन्दमर्षत्यहिःपन्थांविसर्प्पति ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अजार इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छं० । अध्वर्युर्देवता । उत्तरदाने वि० ॥ ५६ ॥

विधि-(१) होताका उत्तर । मन्त्रार्थ-(अरे) हे अध्वर्यो ! (अजा) नित्य रहनेवाली माया अथवा रात्रि वा छागी (पिशङ्गिला) रूपोंकी भक्षण करनेवाली है माया विश्वको ग्रस जाती है रात्रिमेंभी रूप प्रकाशित नहीं होते (श्वावित्) सेही (कुरुपंशिङ्गिला) शब्द करती हुई मूलादि अवयवोंको शब्द-पूर्वक नष्ट करती है अथवा देहाभिमानसे सम्भूत अपरा प्रकृति कर्मकाण्डरूपको लय करती है (शशः) वनका खरगोश (आस्कन्दम्) कूदकूदकर (अर्षति) चलता है अथवा शरीरस्थित प्राण उत्प्लवन गतिसे चलता है (अहिः) सर्प (पन्थाम्) मार्गको (विसर्पति) विशेषरूपसे गमन करता है अथवा यह जीव संसारमें अनेक गतिसे चलताहै ॥ ५६ ॥

"अथवा (शशः) खरगोशकी समान वायु चलता है (अहिः) सर्पकी समान मेघ विचित्र गतिसे चलता है" ॥ ५६ ॥

विवरण-इस मंत्रमें अध्यातमविद्या है शतपथ देखो । "श्रीर्वै पिलिप्पिला । अहोरात्रे वै पिशंगिले" [श० १३ । २ । ६ । १७] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कति धा समिद्धः ॥ यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कत्यस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । ब्रह्महोतारौ दे० । प्रश्नकरणे वि० ॥ ५७ ॥

विधि-(१) ब्रह्मा होताका संवाद । मन्त्रार्थ-(अस्य) इस यज्ञके (विष्ठाः) अन्न (कति) कितने प्रकारके हैं (अक्षराणि) अक्षर (कति) कितने है (होमासः) हवन (कति) कितने प्रकारके हैं (कतिधा) कितने प्रकारकी (समिद्धः) समिधा हैं (ऋतुशः) प्रतिऋतुमें (कति) कितने (होतारः) होता (यजन्ति) यजन करतेहै (यज्ञस्य) यज्ञके (विदथा) ज्ञानके निमित्त (अत्र) इस स्थलमें (त्वा) मैं तुमसे (अपृच्छम्) पूछताहूं ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८-मंत्र १ ।

षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ॥ यज्ञस्य ते विदथा प्र ब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो यजन्ति ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ षडस्येत्यस्य प्र० ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । उत्तरं दैवतम् । उत्तरदाने वि० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस यज्ञके (षट्) छः (विष्ठाः) अन्न है अर्थात् सम्पूर्ण अन्न षड्रसात्मक होते है (अक्षराणि) अक्षर (शतम्) सौ होतेहैं यथा क्रमसे गायत्री आदि छन्दोंके योगसे १०० अक्षर होतेहै यथा गायत्री अक्षर २४ अतिधृति ७६ दोनो मिलकर १०० । उष्णिक् २८ धृति ७२ मिलकर १०० । अनुष्टुप् ३२ अत्यष्टि ६८ मिलकर १०० । अष्टिः ६४ बृहती ३६ मिलकर १०० । अतिशक्करी ६० पंक्ति ४० मिलकर १०० । शक्करी ५६ त्रिष्टुप् ४४ मिलकर १०० । अतिजगती ५२ जगती ४८ मिलकर १०० इत्यादि अभिप्रायसे सौ अक्षर कहेहैं (होमाः) होम (अशीतिः) अस्सी होतेहै (ह) प्रसिद्ध (समिधः) समिध (तिस्रः) तीन होतेहैं (सप्त) सात (होतारः) होता वषट्कार करनेवाले (ऋतुशः) प्रत्येक ऋतुओंमें (यजन्ति) यजन करते हैं (यज्ञस्य) यज्ञके (वेदनेन) ज्ञानके निमित्त (ते) तुम्हारे निमित्त (ब्रवीमि) कहताहूं ॥ ५८ ॥

विवरण–अश्वमेधमें २१ यूप होते हैं, पहलेमें सत्रह पशु नियुक्त होते हैं शेष २० में १६ सोलह २ पशु नियुक्त किये जातेहैं पहलेको छोडकर २० यूपोंमें ३२० पशु नियुक्त होते है जिनकी चार ८० अशीति होती है। इतनी ही आहुति होतीहैं, इस कारण ८० हवनका उल्लेख कियाहै, महीधर ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र १।

कोऽअस्यवेदभुवनस्यनाभिङ्कोद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम् ॥ कःसूर्यस्यवेदबृहतोजनित्रङ्कोवेद चन्द्रमसंय्यतोजाः॥ ५९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ को अस्य वेदेत्यस्य प्र० ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। प्रश्नो दे०। प्रश्नकरणे विनि० ॥ ५९ ॥

विधि–(१) उद्गाताका ब्रह्मासे प्रश्न। मंत्रार्थ–(अस्य) इस (भुवनस्य) भूतसमूह सब प्राणिजातकी (नाभिम्) नाभि बन्धनस्थान कारणको (कः) कौन (वेद) जान्ताहै (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथ्वीलोकको (कः) कौन (वेद) जान्ता है (बृहतः) महान् (सूर्यस्य) सूर्यके (जनित्रम्) जन्मको (कः) कौन (वेद) जान्ताहै (चन्द्रमसम्) चन्द्रमाको (कः) कौन (वेद) जान्ताहै (यतोजाः) जिससे यह उत्पन्न हुआहै ॥ ५९ ॥

कण्डिका६०–मन्त्र १।

वेदाहमस्यभुवनस्यनाभिंवेदद्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षम्॥ वेदसूर्यस्यबृहतोजनित्रमथोवेदचन्द्रमसंय्यतोजाः॥ ६० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वेदाहमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। उद्गाताब्राह्मणौ देवते। उत्तरदाने वि० ॥ ६० ॥

विधि–(१) ब्रह्माका उत्तर। मन्त्रार्थ–(अस्य) इस (भुवनस्य) भुवनोंके (नाभि) कारणको (अहम्) म (वेद) जान्ताहू अर्थात् परब्रह्मही जगतका कारण है यह जान्ता हू (द्यावापृथिवी) द्युलोक भूलोक (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (वेद) ब्रह्मका विकारभूत जान्ताहूं (बृहतः) महान् (सूर्यस्य) सूर्यका (जनित्रम्) उत्पत्तिकारण ब्रह्म है यह (वेद) जान्ताहूं (अथ) और (चन्द्रमसम्)

चन्द्रमाको (वेद) जान्ताहूं (उ) यह (यतोजाः) जिस परमात्मासे हुआ है उस ब्रह्मको जान्ताहूं अर्थात् सम्पूर्ण भुवन सूर्य चन्द्र सब परमात्माद्वारा उत्पन्न हुए हैं ॥ ६० ॥

विशेष-परमात्माका इस मंत्रमें उपदेश है कि मैं भुवनकी नाभि द्यावा-पृथिवी अन्तरिक्ष, सूर्य चन्द्रमाके जन्मको जान्ताहूं कारण कि यह सब मुझसे प्रगट हुएहैं ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१-मंत्र १ ।

पृच्छामिंत्त्वापरमन्तम्पृथिव्याऽपृच्छामियत्रभुवनस्यनाभिः ॥ पृच्छामिंत्त्वावृष्णोऽअश्वंस्यरेतंःपृच्छामिंवाचऽपरमंव्योम ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृच्छामीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । यजमानाध्वर्यू देवते । प्रश्ने विनियोगः ॥ ६१ ॥

विधि-(१) यजमानका अध्वर्युसे प्रश्न । मन्त्रार्थ-(पृथिव्याः) पृथ्वीके (परमे) परम उत्कृष्ट (अन्तम्) अन्तको (त्वा) तुमसे (पृच्छामि) पूछता हूं (यत्र) जिस स्थलमें (भुवनस्य) ब्रह्माण्डका (नाभिः) कारण है वह (पृच्छामि) पूछता हूं (वृष्णः) सींचनेवाले (अश्वस्य) अश्वके (रेतः) सामर्थ्यको (त्वा) तुमसे (पृच्छामि) पूछता हूं (वाचः) त्रयीलक्षणा वाणीका (परमम्) उत्कृष्ट (व्योम) स्थान (पृच्छामि) तुमसे पूछता हूं [ऋ० २ । ३ । २०] ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२-मंत्र १ ।

इयंवेदिःपरोऽअन्तःपृथिव्याऽअयंय्यज्ञोभुवनस्यनाभिः ॥ अयꣳसोमोवृष्णोऽअश्वंस्यरेतोब्रह्मायंवाचःपरमंव्योम ॥ ६२ ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ इयमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । यजमानाऽध्वर्यू देवते । उत्तरदाने वि० ॥ ६२ ॥

विधि-(१) अध्वर्यु यजमानको उत्तर देता है [का० २० । ७ । १५] मन्त्रार्थ-(इयम्) यह (वेदिः) उत्तर वेदि (पृथिव्याः) भूमिके (परः) पर भागकी (अन्तः) सीमा है अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी वेदीरूप है वा यह वेदीरूप

मध्यरेखा भूमिके पर भागकी सीमा है (अयम्) यह (यज्ञः) अश्वमेध यज्ञ (भुवनस्य) सब प्राणीसमूहकी (नाभिः) कारण है "यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इति श्रुतेः। अथवा यज्ञरूप परमात्मा विश्वका कारण है (वृष्णः) सिंचनमें समर्थ (अश्वस्य) अश्व प्रजापतिका (रेतः) वीर्य (अयम्) यह (सोमः) सोमलता है अथवा चन्द्रही ओषधीमें प्राप्त होकर बलदायक होता है (अयम्) यह (ब्रह्मा) ब्रह्मा (चतुर्मुख) वा ऋत्विज (वाचः) वेदत्रयीरूप वाणीका (परमम्) उत्कृष्ट (व्योम) स्थान है ॥ ६२ ॥

विशेष–इन अठारह मंत्रोंमें परमात्माने स्वयं प्रश्न करता और उत्तरदातारूप होकर अपने ज्ञानका उपदेश किया है जिसका सार यह है कि वह सब कुछ जाननेवाला है उससे उत्कृष्ट कोई नहीं है यह स्वयं उत्तररूपसे प्रतिपादन किया है, तथा अन्तमें इस मंत्रमें कहा है यह सम्पूर्ण पृथिवी वेदीरूप है इसमें स्वाभाविक यज्ञ विश्वको धारण कर रहा है जिसके द्वारा स्थिति पालन लय होता है चन्द्रकी अंशुओंसे बल धारण होता है ब्रह्मा वा ब्रह्महीं सब वेदोंका स्थान है उसीसे वेद प्रगट होते है 'ब्रह्मोयं समाप्तम्' [ऋ० २।३।२०] ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३–मंत्र१. अनु० ११ ।

सु॒भूः स्व॑य॒म्भूः प्र॑थ॒मोऽन्तर्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे ॥ द॒धे ह॒ गर्भ॑मृ॒त्वियं॒ यतो॑ जा॒तः प्र॒जाप॑तिः ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सुभूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। अनुष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता देवता। हिरण्मयपात्रे महामहिमग्रहग्रहणे वि० ॥ ६३ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु यह मंत्रपाठ करके हिरण्मय पात्रमें महिमग्रह ग्रहण करे "तस्य पुरोरुग्घिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्यथास्य पुरोनुवाक्या सुभूः स्वयंभूः" इति [१३।५।२।२३] श्रुतेः। मन्त्रार्थ–(ह) प्रसिद्ध है कि (प्रथमः) सबकी आदि अनादिनिधन पुरुष (सुभूः) श्रेष्ठ विश्वको उत्पादक (स्वयम्भूः) स्वेच्छासे प्रगट वा स्वेच्छासे शरीरधारी परमात्माने (महति) बडे विस्तारवाले (अर्णवे) कल्पान्तकालीन सागरके (अन्तः) मध्यमें (ऋत्वियम्) समयानुकूल प्राप्त (गर्भम्) गर्भको (दधे) धारण किया स्थापन किया (यतः) जिससे (प्रजापतिः) ब्रह्मा (जातः) उत्पन्न हुए ॥ ६३ ॥

विशेष–जो परमात्मा अनादिनिधन स्वयंभू है, वही सृष्टिके प्रारंभमें प्रलयकालके सागरमें नियत समय वीर्य स्थापन करते हैं उससे ब्रह्मा सूर्य आदि सब

सृष्टि होती है, सबको उसी परमात्माकी उपासना करनी चाहिये इसमें परमात्माका विशेषण स्वयम्भू है, जिसका अर्थ है वह अपनी इच्छासे स्वयं प्रगट होता है, यही अवतारका बीज है और सबसे प्रथम ब्रह्माजीका प्रगट होना इससे सिद्ध है "भूतानां प्रथमो ब्रह्मा ह जज्ञे" [अथर्व०] ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मंत्र १ ।

होतायक्षत्प्रजापतिꣳसोमस्यमहिम्नः॥ जुषतामिपबतुसोमꣳहोतर्यज ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराट्प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । प्रैषमंत्रपाठे वि० ॥ ६४ ॥

विधि-(१) "होतायक्षत्प्रजापतिमिति प्रैषः" इति [१३।५।२।२३] श्रुतेः। यह मंत्र उसीका प्रैष है । मन्त्रार्थ-(होता) दिव्य होता (महिम्नः) महिमावाले बडे नामवाले (सोमस्य) सोमग्रहसम्बन्धी (प्रजापतिम्) प्रजापतिका (यक्षत्) यजन पूजन करै, पूजित हुए प्रजापति (सोमम्) सोमको (जुषताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन और (पिबतु) पानकरै (होतः) हे मनुष्य होता! (यज) तुमभी यजन करो अर्थात् दैवी होता सोमपूर्ण महिमसंज्ञक ग्रहद्वारा प्रजापतिदेवताकी अर्चना करै प्रजापति देवताभी प्रीतिपूर्वक उसका सेवन करैं हे होता! तुम भी याग करो ॥ ६४ ॥

विशेष-जिस प्रकार प्रकृतिनियममें प्रजापतिको महौषधियोंका रस प्राप्त होता है और दैवीयज्ञ स्वयं होता रहता है मनुष्य होताको चाहिये कि वह भी प्रीतिपूर्वक परमेश्वरका यजन करें ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मंत्र १ ।

प्रजापतेनत्वदेतान्यन्यो विश्वारूपाणिपरिताबभूव ॥ यत्कामास्तेजुहुमस्तन्नोऽअस्तुवयꣳस्यामपतयोरयीणाम् ॥ ६५ ॥ [३]

इति श्रीवाजसनेयिशुक्लयजुस्संहितायां दीर्घपाठे त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

विधि-'पूर्वस्य महिम्नो याज्या'-यह मंत्र पूर्वमहिम ग्रहका याज्य है "प्रजापते न त्वदेतानन्य इति होता यजति" इति[१३ । ५ । २ । २३] श्रुतेः । प्रजापते

इति इसकी व्याख्या १०।२० में होगई भावार्थ लिखते है, हे प्रजापते! प्रजागणके पालनादि कार्यमें तुमसे अधिक निपुण कोई नहीं कोई कभी नहीं हो सकता इस कारण तुमही एकमात्र हमारी प्रार्थना पूर्णमें समर्थ हो इस कारण हे देव! हम जिस कामनासे हवन करैं वह सफल हो आपकी कृपासे हम अपरिमित ऐश्वर्यके स्वामी हों ।

इति श्रीमाध्यन्दिनीयाया वाजसनेयिसहिताया पडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः २४.

अश्वस्तूपरोधूम्रान्वसंतायसमुद्रायशिशुमारान्मयुःप्राजापत्त्यो दशकाश्वत्वारश्चत्त्वारिंशत् ॥

काण्डिका १–मंत्र १. अनु० १ ।

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः कृष्णग्रीवऽआग्नेयो रराटे पुरस्तात्सारस्वती मेष्यधस्ताद्धन्वोराश्विनावधोरामौ बाह्वोः सौमापौष्णः श्यामो नाभ्याᳬसौर्ययामौ श्वेतश्च कृष्णश्च पार्श्वयोस्त्वाष्ट्रौ लोमशसक्थौ सक्थ्योर्वायव्यः श्वेतः पुच्छऽइन्द्रायस्वपस्याय वेहद्वैष्णवो वामनः ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्व इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिक्संकृतिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । अग्निष्टयूपे पशुनियोजने वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) चौवीसवं अध्यायमें पशुओंके देवतासम्बन्धिविधान करनेवाले श्रुतिरूप आश्वमेधिक मंत्र कहे है, अश्वमेधमें २१ यूप होते है उसमें मध्यके यूपको अग्निष्ट कहते हैं उसके निकट सत्रह पशु नियुक्त करने चाहियें उनको देवताके सम्बन्धपूर्वक कहते हैं, अश्वमेधमें ६०९ पशु प्रदर्शनीरूपसे बांधे जाते हैं इनमें जिस देवताका उनमें गुण है व और उनके चिन्होंका वर्णन कर उनके

ज्ञानका उपदेश किया है । मंत्रार्थ-(अश्वः) वेगगामी अश्व (तूपरः) शृंग-उत्पत्तिकालके बीचनेमेंभी शृंगशून्य (गोमृगः) गवय (ते) यह (प्राजापत्याः) प्रजापति देवतावाले है 'प्रजापति देवताकी प्रीतिके निमित्त बांधताहूं' यह कहकर बांधे इस प्रकार आगेभी जो जिस देवताका पशु है उसका नाम लेकर बांधे (आग्नेयः) अग्निदेवतासम्बन्धी (कृष्णग्रीवः) काली गर्दनका अज (पुरस्तात्) घोडेके आगे (रराटे) ललाटस्थानके सन्मुख उपायसे बांधे (हन्वोः) ठोडीके (अधस्तात्) नीचे (सारस्वती) सरस्वतीदेवतासम्बन्धी (मेषी) मेषी बांधे (आश्विनौ) अश्विनीकुमार देवतावाले (अधोरामौ) नीचे रमण करनेवाले शुक्लवर्णके अज (बाह्वोः) घोडेकी भुजाके निकट बांधे, (सौमापौष्णः) सोम और पूषा देवतावाला (श्यामः) श्यामवर्ण शुक्लकृष्ण रोमवाला अज (नाभ्याम्) नाभिस्थानमें बांधना (श्वेतः) श्वेत (च) और (कृष्णः) कृष्णवर्ण अज (सौर्ययामौ) सूर्य और यम देवताकी प्रीतिके निमित्त (पार्श्वयोः) दक्षिण और वाम ओर बांधे (त्वाष्ट्रौ) त्वष्टा देवतावाले (लोमशसक्थौ) बहुत रोमके पूंछवाले पशु (सक्थ्योः) ऊरुके पश्चात् बांधे (वायव्यः) वायुदेवतासम्बन्धी (श्वेतः) श्वेत पशु (पुच्छे) पुच्छभागमें (स्वपस्याय) शुभकर्मा (इन्द्राय) इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त (वेहत्) गर्भघातिनी, (वैष्णवः) विष्णुदेवतासम्बन्धी (वामनः) नाटा पशु पुच्छके समीप बांधे ॥ १ ॥

विवरण-जिस प्रकार तरनेके निमित्त तूंबीको गुम्फित करते हैं इसी प्रकार अश्वके बारह अंगोंमें यह बारह पशु रज्जूवोंसे गुम्फित करे फिर रोहित,धूम्ररोहित इत्यादि बारहसंख्यक 'शितिबाहुरन्यतः शितिबाहुसमन्तः शितिबाहुस्ते बार्हस्पत्या' यहांतक मध्यम यूपमें १७ पशु नियुक्त करने "सप्तदशैव पशून्मध्यमे यूप आलभत" इति [१३।२।२।१५] श्रुतेः । पृषतीसे श्वेतासौर्या १९ तक ३०० पशुओंके मध्यमें पन्द्रह पन्द्रह पशुओंको एक एक यूपमें बांधे. एक एक और इस प्रकार मध्यके यूपको छोडकर बीस यूपोंमें १६ सोलह २ बांधने "षोडश षोडशतरेषु" इति श्रुतेः [१३।२।२।१५] ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

रोहितो धूम्ररोहितऽ कर्कन्धुरोहितस्ते सौम्या बभ्रुररुणबभ्रुः शुकबभ्रुस्ते वारुणाः शितिरन्ध्रो ऽन्यतः शितिरन्ध्रः समन्तशितिरन्ध्रस्ते सावित्राः

शितिबाहुरन्यतं÷शितिबाहुःसमन्ताशितिबाहुस्ते बार्हस्पुत्त्याःपृषतीक्षुद्रपृषतीस्त्थूलपृषतीतामै त्रावरुण्य÷ ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रोहित इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। निच्यृत्संकृतिश्छं०। द्रव्यं देवतम्। यूपे पशुनियोजने वि० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(रोहितः) लाल (धूम्ररोहितः) धूमेलालाल (कर्कन्धुरोहितः) बेरके समान लाल पशु (ते) यह (सौम्याः) सोमदेवतावाले हैं (बभ्रुः) नौलेके समान भूरेरंगका (अरुणबभ्रुः) लालभूरेरंगका (शुकबभ्रुः) तोतेकी समान हरे और कपिलवर्ण पशु (ते) यह (वारुणाः) वरुण देवतावाले हैं (शितिरन्ध्रः) मर्मस्थानमें कृष्णवर्ण (अन्यतः) और स्थानमें (शितिरन्ध्रः) कृष्णरन्ध्रवाले (समन्तः) सब ओरसे (शितिरन्ध्रः) कृष्णरन्ध्रवाले (एते) यह (सावित्राः) सवितादेवतावाले है (शितिबाहुः) श्वेतपूर्वपदवाले (अन्यतः) एक स्थानमें (शितिबाहुः) श्वेतचरणवाले (समन्तः) सब (शितिबाहुः) श्वेतचरणवाले (एते) यह (बार्हस्पत्याः) बृहस्पतिदेवतावाले हैं मध्यम यूपमें नियुक्त करने दूसरे यूपमें (पृषती) विचित्रवर्णबिन्दुयुक्त शरीरवाली (क्षुद्रपृषती) क्षुद्रबिन्दुवाली (स्थूलपृषती) स्थूलबिन्दुवाली (ताः) यह सब (मैत्रावरुण्यः) मित्रावरुण देवतावाले स्त्रीलिंगपशु दूसरे यूपमें लगाने ॥ २ ॥

कण्डिका ३ मन्त्र १।

शुद्धवालःसर्वशुद्धवालोमणिवालस्तऽआश्विना शयेतं÷श्येताक्षोरुणस्तेरुद्रायपशुपतयेकुर्णा यामाऽअंवलिप्ताराैद्रानभोरूपाःपार्ज्जन्याः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शुद्धवाल इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। जगती छन्दः। द्रव्यं दैवतम्। यूपे पशुनियोजने वि० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-(शुद्धवालः) शुभ्रकेशवाला (सर्वशुद्धवालः) सर्वशुद्धवालोंवाला (मणिशुद्धवालः) मणिवर्णके वालवाले (ते) यह पशु (आश्विना) अश्विनीकुमारदेवतावाले है (श्येतः) श्वेत (श्येताक्षः) श्वेतनेत्र (अरुणः) लालवर्ण पशु (ते) ये पशु (पशुपतये) पशुपति जीवोंके स्वामी (रुद्राय) रुद्र देवकी प्रीतिके

निमित्त नियुक्त करता हूं (कर्णाः) चन्द्रसमान श्वेतकानवाले तीन पशु (यामाः) यमदेवतासम्बन्धी है (अवलिप्ताः) सगर्व तीन पशु (रौद्राः) रुद्रदेवतासम्बन्धी हैं यह दूसरे यूपमें नियुक्त करै [तृतीय यूपमें] (नभोरूपाः) आकाशकी समान नीलवर्ण तीन पशु (पार्जन्याः) पर्जन्यदेवतासम्बन्धी हैं ॥ ३ ॥

विवरण-शुद्धवाल-पुच्छादिके समस्त वाल शुक्लवर्ण । श्वेत कहनेसे आनखाग्र श्वेतवर्ण श्वेताक्ष-जिसके दोनों नेत्रोंके ऊपर नीचेके भागमें श्वेतवर्ण रोम हों । अरुणसे नखसे शिखतक अरुणवर्ण । कर्ण-चन्द्रकी समान कान्तियुक्त शुभ्रवर्ण । अवलिप्त वर्णान्तरसे रंजित इति केचित् ॥ ३ ॥

कण्डिका४-मन्त्र १ ।

पृश्निस्तिरश्चीनपृश्निरूर्ध्वपृश्निस्ते मारुताः फल्गूर्लोहितोर्णी पलक्षी ताः सारस्वत्यः प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णोऽद्ध्यालोहकर्णस्ते त्वाष्ट्राः कृष्णग्रीवः शितिकक्षोऽञ्जिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः कृष्णाञ्जिरल्पाञ्जिर्महाञ्जिस्त उषस्याः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पृश्निरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराड्धृतिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ-(पृश्निः) चित्रवर्ण (तिरश्चीनपृश्निः) तिर्यक् रेखादिविशिष्ट (ऊर्ध्वपृश्निः) ऊर्ध्व अधः लम्बमान रेखादियुक्त (मारुताः) मरुत् देवताके सम्बन्धवाले पशु स्थापन करै (फल्गु) अपुष्टशरीरवाले (लोहितोर्णी) जिसके शरीरमें अधिकांश लोम लोहितवर्ण हों (पलक्षी) जिसके शरीरमें अधिकांश लोम श्वेतवर्ण हो ऐसी (ताः) वे पशु (सारस्वत्यः) सरस्वतीदेवतासम्बन्धवाली है (प्लीहाकर्णः) प्लीहिरोगयुक्त कानवाले वा लम्बकर्ण (शुंठाकर्णः) छोटे छोटे कानवाले (अद्ध्यालोहकर्णः) रक्तवर्ण कर्णवाले (ते) वे पशु (त्वाष्ट्राः) त्वष्टा देवता सम्बन्धी है (कृष्णग्रीवः) जिसकी ग्रीवाके लोम कृष्णवर्ण (शितिकक्षः) जिसके कक्षके लोम श्वेतवर्ण है (अञ्जिसक्थः) ऊरुपर रेखाक्रमके रोमवाला पशु (ते) यह (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्राग्निदेवतासम्बन्धी हैं [चतुर्थयूपबन्धन] (कृष्णाञ्जि) जिसके शरीरपर श्याम रेखा है (अल्पाञ्जिः)

जिसके शरीरपर दो चार मात्र रेखा है (महाक्षिः) जिसका सब शरीरही रेखाओंसे पूर्ण है (ते) वे (उषस्याः) उषादेवताके सम्बन्धवाले हैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र १ ।

शिल्पा वैश्वदेव्यो रोहिण्यस्त्र्यवयो वाचेऽविज्ञाताऽअदित्यै सरूपा धात्रे वत्सतर्यो देवानाम्पत्नीभ्यः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ शिलपाइत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृद्बृहती छं० । द्रव्यं देवतम् । वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ–(शिलपाः) विचित्र पचरंगे तीन पशु (वैश्वदेव्यः) विश्वदेवदेवता-सम्बन्धी (रोहिण्यः) लालवर्णवाले (त्र्यवयः) डेढवर्षकी आयुवाले (वाचे) वाग्देवताकी प्रीतिके निमित्त हैं (अविज्ञाताः) विज्ञानशून्य कृष्णग्रीवादि चिह्नसे रहित यथालब्धग्राह्य तीन पशु (अदित्यै) अदितिदेवताके निमित्त (सरूपाः) समान रूपवाले लोहित कृष्ण श्वेत कैसेही होयँ, पर एक रंगके तीन पशु (धात्रे) धातृ देवताकी प्रीतिके निमित्त नियुक्त करने, पांचवें यूपमें (वत्सतर्यः) तीन बाल छागी (देवानाम्) देवताओंकी (पत्नीभ्यः) पत्नियोंकी प्रीतिके निमित्त नियुक्त करनी ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र १ ।

कृष्णग्रीवाऽआग्नेयाः शितिभ्रवो वसूनाᳬ रोहिता रुद्राणाᳬ श्वेताऽअवरोकिणऽआदित्यानान्नभोरूपाः पार्जन्याः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कृष्णग्रीवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराड्बृहती छं० । द्रव्यं देवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ ६ ॥

मंत्रार्थ–(कृष्णग्रीवाः) कालीगर्दनवाले तीन पशु (आग्नेयाः) अग्निदेवताके प्रीतिकरनेवाले हैं (शितिभ्रवः) श्वेत वर्णकी भ्रूयुक्त तीन पशु (वसूनाम्) वसुओंके सम्वन्धी हैं (रोहिताः) लालवर्णके तीन पशु (रुद्राणाम्) रुद्रोंके (श्वेताः) श्वेतवर्णके (अवरोकिणः) देखनेवाले तीन पशु अथवा श्वेतवर्ण छाग जिसके उदरमें कुछ कृष्णवर्ण बिन्दु होवें (आदित्यानाम्) आदित्योंकी प्रीतिके निमित्त हैं वे पांचवें यूपमें नियुक्त करने चाहियें । छठेमें (नभोरूपाः) आकाशकी समान वर्णवाले तीन पशु (पर्जन्याः) पर्जन्य देवताके निमित्त नियुक्त करने ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १।

उन्नतऽऋषभो वामनस्तऽऐन्द्रावैष्णवाऽउन्नतः शितिबाहुः शितिपृष्ठस्तऽऐन्द्राबार्हस्पत्याः शुकरूपा वाजिनाः कल्माषाऽआग्निमारुताः श्यामाः पौष्णाः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उन्नतऋषभ इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । जगती छं०। द्रव्य दैवतम् । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(उन्नतः) ऊंचा (ऋषभः) पुष्ट (वामनः) बहुत अवस्था होने-परभी वृद्धिरहित वौना पशु (ते) वह यह (ऐन्द्रावैष्णवाः) इन्द्रविष्णुसम्बन्धी हैं (उन्नतः) ऊंचा (शितिबाहुः) सामनेके दोनों चरण जिसके श्वेत हों (शितिपृष्ठः) जिसकी पीठ श्वेत हो (ते) यह पशु (ऐन्द्रावार्हस्पत्याः) इन्द्र और बृहस्पतिसम्बन्धवाले हैं (शुकरूपाः) तोतेकी समान वर्णवाले तीन पशु (वाजिनाः) वाजी देवतावाले है (कल्माषाः) कवरे तीन पशु (आग्निमारुताः) अग्निमरुत् देवतावाले है । सातवें यूपमें (श्यामाः) शुक्लकृष्णवर्णवाले तीन पशु (पौष्णाः) पूषादेवताकी प्रीतिके निमित्त सातवें यूपमें नियुक्त करै ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १।

एताऽऐन्द्राग्ना द्विरूपाऽअग्नीषोमीया वामनाऽअनड्वाहऽआग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यतऽएन्यो मैत्र्यः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एता इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराड्बृहती छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-(एताः) कवरे वर्णके तीन पशु (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्र अग्नि देवतावाले है (द्विरूपाः) दोरूप वा वर्णवाले तीन पशु (अग्नीषोमीयाः) अग्नि सोम देवतावाले हैं (वामनाः) वौने (अनड्वाहः) अनड्वाह नामवाले तीन पशु (आग्नावैष्णवाः) अग्नि विष्णु देवतावाले है (वशाः) तीन वंध्या अजा (मैत्रावरुण्यः) मित्रावरुण देवतासम्बन्धी हैं उन्है सातवें यूपमें नियुक्त करै ।

आठवें यूपमें (अन्यन्तः) एक ओरसे (एन्यः) कबरे वर्णवाले तीन पशु (मैत्र्यः) मित्र देवताकी प्रीतिके निमित्त नियुक्त करै ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

कृष्णग्ग्रीवाऽआग्ग्नेयाबुब्भ्रवः सौम्म्याः श्वेता वायुव्व्याऽअविज्ञाताऽअदित्त्यैसरूपाधात्रेवत्त्सत रुर्य्योदेवानाम्पत्त्नीब्भ्यः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कृष्णग्रीवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृत्पंक्तिश्छं० । द्रव्यं देवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ–(कृष्णग्रीवाः) काली गर्दनवाले तीन पशु (आग्नेयाः) अग्निदेवतावाले है (बभ्रवः) कपिलवर्णवाले तीन पशु (सौम्याः) सोमदेवतावाले हैं (श्वेताः) सर्वांग श्वेतवर्णवाले तीन पशु (वायव्याः) वायु देवतावाले हैं (अविज्ञाताः) अविज्ञात वर्णवाले तीन पशु चाहै जिस रंगके हों वे (अदित्यै) अदितिदेवताकी प्रीतिके निमित्त है । [नवमयूपमें] (सरूपाः) समान रंगके तीन पशु (धात्रे) धातृ देवताके निमित्त (वत्सतर्यः) तीन बाल छागी (देवपत्नीभ्यः) देवताओंकी पत्नियोंकी प्रीतिके निमित्त नवम यूपमें नियुक्त करनी ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र १ ।

कृष्णाभौमाधूम्म्राऽआन्तरिक्षाबृहन्तोदिव्व्याः शबलावैद्युताः सिध्मास्तारकाः ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि–(१) ॐ कृष्णा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छं० । द्रव्यं देवतम् । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ–(कृष्णाः) कृष्ण वर्णवाले तीन पशु (भौमाः) भूमिदेवतावाले हैं (धूम्राः) धूम्र वर्णवाले तीन पशु (आन्तरिक्षाः) अन्तरिक्ष देवतावाले हैं (बृहन्तः) वडे तीन पशु (दिव्याः) स्वर्गसम्बन्धी है [दशमें यूपमें] (शबलाः) कबरे वर्णके ३ पशु (वैद्युताः) विद्युत् सम्बन्धवाले है (सिध्माः) सिध्मा रोगवाले ३ पशु (तारकाः) नक्षत्र सम्बन्धी दशमें यूपमें नियुक्त करने ॥ १० ॥

[सिध्म–एक प्रकारका कुष्ठ है]

कण्डिका ११-मंत्र १. अनु० २।

धूम्म्रान्वसुन्तायालभते श्वेताङ्ग्रीष्म्मायकृष्णाणा न्वर्षाभ्योऽरुणाञ्छरदे पृषतो हेमन्ताय पिशङ्गाञ्छिशिराय ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धूम्रानित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। विराड्बृहती छं०। द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ ११ ॥

मंत्रार्थ-(धूम्रान्) धूम्रवर्णवाले ३ पशु (वसन्ताय) वसन्तकी प्रीतिके निमित्त (आलभते) नियुक्त करने (श्वेतान्) श्वेतवर्णवाले ३ पशु (ग्रीष्माय) ग्रीष्म ऋतुकी प्रीतिके निमित्त (कृष्णान्) कृष्ण वर्णवाले ३ पशु (वर्षाभ्यः) वर्षाकी प्रीतिको दशमें यूपमें नियुक्त करने [ग्यारहवें यूपमें] (अरुणान्) अरुणवर्णवाले तीन पशु (शरदे) शरद् ऋतुके निमित्त (पृषतः) नानावर्णके विन्दुयुक्त तीन पशु (हेमन्ताय) हेमन्त ऋतुके निमित्त (पिशङ्गान्) लाली मिश्रित कपिल वर्णवाले ३ पशु (शिशिराय) शिशिर ऋतुके निमित्त ग्यारहवें यूपमें नियुक्त करने ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १।

त्र्यवयो गायत्र्यै पञ्चावयस्त्रिष्टुभे दित्यवाहो जगत्यै त्रिवत्साऽअनुष्टुभे तुर्य्यवाहऽउष्णिहे ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्र्यवय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिगार्ची त्रिष्टुप्छं०। द्रव्यं दैवतम्। यूपे पशुनियोजने वि० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(त्र्यवयः) डेढ वर्षके अवस्थावाले ३ पशु (गायत्र्यै) गायत्री देवीके निमित्त (पञ्चावयः) ढाई वर्षकी आयुवाले ३ पशु (त्रिष्टुभे) त्रिष्टुप्छन्दके निमित्त [बारहवें यूपमें] (दित्यवाहः) दोवर्षकी अवस्थावाले ३ पशु (जगत्यै) जगती छन्दके निमित्त (त्रिवत्साः) तीन वर्षकी अवस्थावाले ३ पशु (अनुष्टुभे) अनुष्टुप्छन्दके निमित्त (तुर्यवाहः) साढेतीन वर्षकी अवस्थावाले ३ पशु (उष्णिहे) उष्णिक् छन्दोभिमानी देवताकी प्रीतिके निमित्त बारहवें यूपमें स्थापित करै ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १।

पृष्ठवाहो॑ विराज॑ऽउक्षाणो॑ बृहत्यै॑ऽऋषभाः ककुभे॑ नुड्वाह॑÷ पङ्क्त्यै॑ धेनवो॑ऽतिच्छन्दसे ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पष्ठवाह इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। निच्यृदनुष्टुप्छं०। द्रव्यं दैवतम्। यूपे पशुनियोजने वि० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(पष्ठवाहः) चारवर्षकी आयुवाले तीन पशु (विराजे) विराट्छन्दोभिमानी देवताके निमित्त (उक्षाणः) सेचनमें समर्थ तीन युवा पशु (बृहत्यै) बृहतीछन्दोभिमानी देवतासम्बन्धी बारहवें यूपमें नियुक्त करने [तेरहवें यूपका संस्कार] (ऋषभाः) उक्षासे अधिक अवस्थावाले ३ पशु (ककुभे) ककुभ् छन्दके अधिष्ठात्री देवताके निमित्त (अनड्वाहः) शकटवहनमें समर्थ तीन अज पशु (पंक्त्यै) पंक्तिछन्दअधिष्ठातृदेवताके निमित (धेनवः) नवप्रसूता ३ अजा (अतिच्छन्दसे) अतिच्छन्दअधिष्ठातृदेवताकी प्रीतिके निमित्त तेरहवें यूपमें स्थापित करै ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १।

कृष्णग्री॑वाऽआग्नेया ब॒भ्रव॑÷ सौम्याऽउपध्व॑स्ताः सावित्रा व॑त्सतर्य्य÷ सारस्वत्य÷ श्यामाः पौष्णाः पृश्न॑यो मारुता ब॑हुरूपा वैश्वदेवा वशा द्यावापृथिवीयाः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कृष्णग्रीवा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिगति जगती छं०। द्रव्य दैवतम्। वि० पू० ॥ १४ ॥

विधि-(१) चातुर्मास्य देवता सम्बन्धी श्वेत सौर्यपर्यन्त हैं उनमें वैश्वदेवपर्वके पशु प्रथम कथन करते है। मन्त्रार्थ-(कृष्णग्रीवाः) काली गर्दनवाले तीन पशु (आग्नेयाः) अग्निदेवतासम्बन्धी हैं (बभ्रवः) कपिल वर्णके तीन पशु (सौम्याः) सोमसम्बन्धी नियुक्त करने [चौदहवां यूप] (उपध्वस्ताः) अधःपतन स्वभाववाले वर्णान्तरामिश्रित (मलीनरंग) तीन पशु (सावित्राः) सविता देवतावाले (वत्सतर्यः) तीन बाल छागी (सारस्वत्याः) सरस्वती देवतावाली (श्यामाः) तीन श्यामवर्ण अर्थात् शुक्लकृष्णवर्णके तीन पशु (पौष्णाः) पूषा देवतावाले (पृश्नयः) तीन विचित्र वर्ण तनुकाय पशु (मारुताः) मरुत् देवतावाले

(बहुरूपाः) बहुरूप ३ पशु (वैश्वदेवाः) विश्वदेवदेवतावाले चौदहवें यूपमें नियुक्त करै [पन्द्रहवां यूप] (विशाः) तीन वंध्या पशु (द्यावापृथिवीयाः) द्यावापृथ्वी सम्बन्धवाले हैं ॥ १४ ॥

विवरण-इस स्थानसे चातुर्मास्य देवताकी प्रीतिके निमित्त ९० पशु कहे जाते हैं उनमें प्रथम वैश्वदेवपर्वदेवताओंके २४ वरुणप्रवासपर्ववाले देवताओंके २७ साकमेधपर्वदेवताओंके १५ महाहविपर्वदेवताओंके २४ फिर पित्र्येष्टि देवताओंके १२ सबसे पीछे सुनासीरीय पर्वदेवताओंके २४ हैं परन्तु इन १२+२४=३६ को भी महीधरने चातुर्मास्य देवताओंके मध्यमें गिनाहै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

उक्क्षाऽसंश्चराऽएताऽऐन्द्राग्ग्राऽकृष्णावारुणाः पृश्नयोमारुताऽकायास्तूपराः ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उक्षा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ची बृहती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-वरुणप्रवास पशु कहते हैं (सञ्चाराः) कृष्णग्रीवादि १५ पशु (उक्षाः) कहे अर्थात् पन्द्रहवें यूपमें अग्नि देवताके निमित्त कृष्णग्रीव ३ पशु सोमदेवताको ३ बभ्रुवर्ण सविता देवताको ३ उपध्वस्त पशु सरस्वतीदेवताको ३ वत्सतरी १५ यूपमें नियुक्तकरने [सोलहवां यूप] पूषादेवताको श्याम वर्ण ३ पशु (एताः) कबरेवर्णके तीन पशु (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्र और अग्निसम्बन्धि (कृष्णाः) कृष्णवर्णके ३ पशु (वारुणाः) वरुणसंबन्धी हैं (पृश्नयः) दुबले शरीरके ३ पशु (मारुताः) मरुत् देवतासम्बन्धी हैं (तूपराः) शृंगरहित ३ पशु (कायाः) काय अर्थात् प्रजापतिदेवतासम्बन्धी हैं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

अग्नयेऽनीकवतेप्प्रथमजानालभतेमरुद्भ्यः सान्तपनेब्भ्यः सवात्त्यान्मरुद्भ्योगृहमेधिब्भ्योबष्किहान्मरुद्भ्यः क्क्रीडिब्भ्यः सर्ठःसृष्टान्मरुद्भ्यः स्वतवद्भ्योनुसृष्टान् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृच्छकरी छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १६ ॥

विधि-(१) सप्तदशस्तंभमें साकमेधीय १५ पशु कहतेहैं। मन्त्रार्थ-(प्रथमजान्) माताके प्रथमगर्भसे उत्पन्न हुए ३ पशु (अनीकवते) अनीकवत् गुणविशिष्ट (अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त (आलभते) ग्रहण करने (सवात्यान्) वातमण्डलीके मध्यमें स्थित तीन अजा पशुको (सान्तपनेभ्यः) सान्तपननाम (मरुद्भ्यः) मरुत देवताओंके (वष्किहान्) चिरकालके उत्पन्न हुए ३ पशु (गृहमेधिभ्यः) गृहमेधी नामवाले (मरुद्भ्यः) मरुतोंके निमित्त (संसृष्टान्) गर्भसे एककालमें उत्पन्न तीन अजोंको (क्रीडिभ्यः) क्रीडामें तत्पर (मरुद्भ्यः) मरुत देवताओंको (अनुसृष्टान्) अनुक्रमसे जन्मे ३ अजोंको (स्वतवद्भ्यः) स्वतवद्नाम (मरुद्भ्यः) मरुतदेवताकी प्रीतिके निमित्त बांधे ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

उक्काःसंश्चराऽएताऽऐन्द्राग्नाःप्राशृङ्गामाहेन्द्रा बहुरूपावैंश्वकर्म्मणाः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उक्का इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिग्गायत्री छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(सञ्चराः) कृष्णग्रीवादि १५ पशु (उक्ताः) अठारहवें यूपमें कहे अर्थात् अग्निकी प्रीतिको तीन कृष्णग्रीव पशु. सोमदेवताको तीन पशु, सविता देवताको ३ उपध्वस्त, सरस्वती देवताको ३ वत्सतरी, पूषादेवताकी प्रीतिके निमित्त ३ श्यामवर्ण छाग उन्नीसवें यूपमें १५ पशु नियुक्तकरै (एताः) तीन कबरे वर्णके पशु (ऐन्द्राग्नाः) इन्द्र और अग्निसम्बन्धी (प्राशृङ्गाः) प्रकृष्टशृंगोंसे युक्त ३ पशु (माहेन्द्राः) महेन्द्रदेवतासम्बन्धी (बहुरूपाः) बहुतरूपवाले ३ पशु (वैश्वकर्मणाः) विश्वकर्मादेवतासम्बन्धी उन्नीसवें यूपमें नियुक्त करै ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १ ।

धूम्म्राबभ्भ्रुनीकाशाः पितृणाᳬंसोमवताम्बभ्भ्रवोधूम्म्रनीकाशाः ॥ पितृणांबर्हिषदाङ्कृष्णाब

बभ्रुनीकाशाः पितॄणामग्निष्वात्तानां कृष्णाः पृषन्तस्त्रैयम्बकाः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धूम्रा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगतिजगती छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १८ ॥

विधि-(१) पित्र्येष्टि देवसम्बन्धी पशु । मन्त्रार्थ-(धूम्राः) धूम्रवर्ण अर्थात् कृष्णवर्ण लोहित मिश्र (बभ्रुनीकाशाः) कपिलवर्ण सदृश ३ पशु (सोमवताम्) सोमवाले (पितॄणाम्) पितरोंकी प्रीतिके निमित्त (बभ्रवः) कपिलवर्णके (धूम्रनीकाशाः) धूम्रकी समान अतिप्रकाशमान ३ तीन पशु (बर्हिषदाम्) बर्हि अर्थात् कुशापर बैठनेवाले (पितॄणाम्) पितरोंकी प्रीतिके निमित्त उन्नीसवें यूपमें नियुक्तकरैं [बीसवां यूप] (कृष्णाः) श्यामवर्णके (बभ्रुनीकाशाः) कपिलवर्णसदृश ३ पशु (अग्निष्वात्तानाम्) अग्निष्वात्त नाम (पितॄणाम्) पितरोंकी प्रीतिके निमित्त (कृष्णाः) कृष्णवर्णके (पृषन्तः) बिन्दुयुक्त ३ पशु (त्रैयम्बकाः) त्र्यंबकदेवताकी प्रीतिके निमित्त बीसवें यूपवी नियुक्त करने ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

उक्ताः सञ्चरा एताः शुनासीरीयाः श्वेता वायव्याः श्वेताः सौर्य्याः ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उक्ता इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्च्युष्णिक्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १९ ॥

विधि-(१) शुनासीरीय पशु (सञ्चराः) आग्नेयादि १५ कृष्णग्रीव पशु (उक्ताः) कहे अर्थात् अग्निदेवताके निमित्त ३ पशु कृष्णग्रीव, सोम देवताके मिमित्त ३ पशु बभ्रुवर्ण सविता देवताके निमित्त ३ उपध्वस्त पशु स्थापनकरने [२१ वे यूपका संस्कार] सरस्वती देवताके निमित्त ३ वत्सतरी पूषादेवताके निमित्त ३ श्यामवर्ण (एताः) कबरेवर्णके ३ पशु (शुनासीरीयाः) शुनासीर देवताकी प्रीतिके निमित्त (श्वेताः) श्वेतवर्णके ३ पशु (वायव्याः) वायुदेवताके निमित्त (श्वेताः) तीनही श्वेतवर्ण छाग (सौर्याः) सूर्य देवताके निमित्त इक्कीसवें यूपमें नियुक्तकरने इसप्रकार अश्वसे लेकर सौर्यपर्यंत ३२७ ग्राम्य पशु २१ यूपोंमें देवताओंकी प्रीतिपूर्वक शोभाके निमित्त बांधले ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

व॒स॒न्ताय॑ क॒पिञ्ज॑लाना॒लभ॑ते ग्री॒ष्माय॑ कल॒विङ्का॑न्व॒र्षाभ्य॑स्ति॒त्तिरी॑ञ्छ॒रदे॒ वर्त्ति॑का हेम॒न्ताय॒ कक॑रा॒ञ्छिशि॑राय॒ विक॑क्करान् ॥ २० ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१)-ॐ वसन्तायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । स्वराट्त्रिष्टुप्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २० ॥

विधि-(१) इक्कीस यूपोंके वीस अन्तरालोंमें प्रत्येक स्थलमें तेरह तेरह इस प्रकार २६० आरण्य पशु यथासंभव विविध उपायसे बांधने चाहियें [तथाच मानवकल्पसूत्रे "नाडीषु प्लुषि मशकान् करण्डेषु सर्पान् पञ्जरेषु मृगव्याघ्रसिंहान् कुम्भेषु मकरमत्स्यमंडूकान् जालेषु पक्षिणः कारासु हस्तिनो नौषु चोदकानि यथार्थमितरान्" इति अर्थात् नाडीरन्ध्रमें प्लुषमें मशक पिटारीमें सर्प कठरोंमें मृग, व्याघ्र, सिंह, घडे मटकोंमें मकर मत्स्य मेंडक, जालमें पक्षी, कारास्थानमें हाथी, नौकामें जलचर इत्यादि जो जिस उपायसे स्थित होसके उस उपायसे उसको स्थित करै, इनमें जिनका भाषामें नाम नहीं है वह कोशादि तथा व्युत्पत्ति-द्वारा वा उनके लक्षणोंद्वारा वनवासियोंसे पूंछकर जानलेने चाहियें । मन्त्रार्थ-(वसन्ताय) वसन्तअधिष्ठात्री देवताके निमित्त (कपिञ्जलान्) तीन कपिंजल "चातक" को (आलभते) नियुक्त करै (ग्रीष्माय) ग्रीष्म देवताके निमित्त (कलविंकान्) तीन कलविंक 'चटक' को (वर्षाभ्यः) वर्षा देवताके निमित्त (तित्तिरीन्) तीन तीतरोंको (शरदे) शरद्के निमित्त (वर्तिकान्) तीन बटेरोंको (हेमन्ताय) हेमन्तके निमित्त (ककरान्) ककरोंको अर्थात् एक पहले अवकाशमें शेषको दूसरे अवकाशमें नियुक्त करै (विककरान्) तीन विककर [पक्षिविशेष] को (शिशिराय) शिशिर ऋतुकी प्रीतिके निमित्त प्रथम अवकाशमें नियुक्त करै ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १. अनु० ३ ।

स॒मु॒द्राय॑ शिशु॒मारा॒नाल॑भते प॒र्जन्या॑य म॒ण्डूका॑न॒द्भ्यो मत्स्या॑न्मि॒त्राय॑ कु॒लीप॒यान्वरु॑णाय न॒क्रान् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समुद्रायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । बृहती छं० । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(समुद्राय) समुद्र देवताके निमित्त (शिशुमारान्) अपने बालकोंके मारनेवाले ३ शिशुमार जलचरोंको (आलभते) ग्रहण करता है (पर्जन्याय)

पर्जन्य देवताके निमित्त (मण्डूकान्) मण्डूकोंको (अद्भ्यः) जलदेवताके निमित्त (मत्स्यान्) मत्स्योंको (मित्राय) मित्र देवताके निमित्त (कुलीपयान्) तीन केंकडोंको (वरुणाय) वरुण देवताके निमित्त तीन (नाक्रान्) कुलीरक नाकेको नियुक्त करै । तीन मत्स्योंमें दो मध्यके अवकाशमें एक तीसरे अवकाशमें नियुक्त करै ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र १ ।

सोमा॑य ह॒ꣳसाना ल॑भते वा॒यवे॑ बला॒काऽइ॑न्द्रा॒ग्निभ्या॒ङ्क्रुञ्चा॑न्मि॒त्राय॑ म॒द्गून्वरु॑णाय चक्रवा॒कान् ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्ची त्रिष्टुप्छं० । द्रव्यं देवतम् । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(सोमाय) सोम देवताके निमित्त तीसरे अवकाशमें (हंसान्) तीन हंसोंको (आलभते) नियुक्त करै (वायवे) वायु देवताके निमित्त (बलाकाः) तीन बगले (इन्द्राग्नीभ्याम्) इन्द्र और अग्निदेवताके निमित्त (क्रुञ्चान्) तीन सारस चौथे अवकाशमें (मित्राय) मित्र देवताके निमित्त (मद्गून्) तीन जलकाकोंको (वरुणाय) वरुण देवताके निमित्त (चक्रवाकान्) तीन चक्रवाकोंको ग्रहण करै ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १ ।

अ॒ग्नये॑ कु॒टरू॑नाल॑भते॒ वन॒स्पति॑भ्य॒ऽउलू॑कान॒ग्नीषोमा॑भ्यां॒ चाषा॑न॒श्विभ्यां॒ म॒यूरा॑न्मि॒त्राव॑रु॑णाभ्यां॒ क॒पोता॑न् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ-चौथे अवकाशमें (अग्नये) अग्नि देवताके निमित्त (कुटरून्) तीन मुर्गोंको (आलभते) नियुक्त करै (वनस्पतिभ्यः)वनस्पति देवताके निमित्त (उलूकान्) तीन उलूकोंको [उनमें एक चौथे अवकाशमें दो पांचवेंमें] (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि सोम देवताके निमित्त (चाषान्) तीन नीलकंठोंको (अश्विभ्याम्) अश्विनीकुमारके निमित्त (मयूरान्) तीन मोरोंको (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुण देवताके निमित्त (कपोतान्) तीन कबूतरोंको नियुक्त करै ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र १ ।

सोमा॑य ल॒वाना॒लभ॑ते॒ त्वष्ट्रे॑ कौली॒कान्गो॑षा॒दीर्दे॒वानां॒ पत्नी॑भ्यः कु॒लीका॑ देवजा॒मिभ्यो॒ऽग्नये॑ गृ॒हप॑तये पारु॒ष्णान् ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सोमायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ–(सोमाय) सोम देवताके निमित्त (लवान्) तीन लवा बटेरोंको [एकको पांचवें दोको छठे अवकाशमे] (आलभते) ग्रहण करता है (त्वष्ट्रे) त्वष्टा देवताके निमित्त (कौलीकाम्) तीन कौलीक पक्षी (देवानाम्) देवताओंकी (पत्नीभ्यः) पत्नियोंके निमित्त (गोपादीः) गौके आक्रमण करनेमें समर्थ तीन बलिष्ठ पक्षियोंको (देवजामिभ्यः) देवताओंकी वहिनोंके निमित्त (कुलीकाः) तीन कुलीक पखेरू (गृहपतये) गृहपालक (अग्नये) अग्निके निमित्त (पारुष्णान्) तीन पारुष्ण नाम पक्षियोंको नियुक्त करे ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मन्त्र १ ।

अह्ने॑ पारा॒वता॒नाल॑भते॒ रात्र्यै॑ सीचा॒पूर॑होरा॒त्रयो॑ स॒न्धिभ्यो॑ ज॒तूर्मासे॑भ्यो दात्यौ॒हान्त्सं॑वत्स॒राय॑ मह॒तः सु॑प॒र्णान् ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अह्न इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ २५ ॥

मंत्रार्थ–सातवें अवकाशमें (अह्ने) अहर्देवताकी प्रीतिके निमित्त (पारावतान्) तीन पारावत कपोतोंको (आलभते) नियुक्त करे (सीचापूः) सीचापू नामक पक्षियोंको (रात्र्यै) रात्रि देवताके निमित्त ले (अहोरात्रयोः) दिन रातकी (सन्धिभ्यः) सन्धीके निमित्त (जतूः) पात्र नाम पक्षीको ले (मासेभ्यः) मास अधिष्ठात्री देवताके निमित्त (दात्यूहान्) तीन कालकंठ पक्षियोंको (संवत्सराय) संवत्सरके निमित्त (महतः) बडे (सुपर्णान्) तीन बडे सुपर्णको इनमें प्रथम संवत्सरके निमित्त एक, शेष दो आठवें अवकाशमें नियुक्त करे ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १।

भूम्म्याऽआखूनालंभतेन्तरिक्षायपाङ्क्त्रान्दिवेकशान्दिग्भ्योनंकुलान्बब्भ्रुकानवान्तरदिशाब्भ्यं॥ २६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भूम्या इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। आर्ची त्रिष्टुप्छं०। द्रव्यं देवतम्। वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-(भूम्यै) भूमिके निमित्त (आखून्) तीन मूसोंको (आलभते) नियुक्त करै (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्षकी प्रीतिके निमित्त (पाङ्क्त्रान्) तीन पाङ्क्त्रनाम मूषक विशेषोंको (दिवे) स्वर्गके निमित्त (काशान्) तीन काशनामक मूषोंको (दिग्भ्यः) दिशाओंके निमित्त (नकुलान्) न्यौलोंको [उनमें एक आठवें दो नवम अवकाशमें] स्थापन करै (अन्तरदिशाभ्यः) अन्तर दिशाओंकी प्रीतिके निमित्त (बभ्रुकान्) बभ्रुवर्णके तीन नकुल नियुक्त करै ॥२६॥

कण्डिका २७-मन्त्र १।

वसुब्भ्यऽऋश्यानालंभतेरुद्द्रेब्भ्योरुरूनादित्येब्भ्योन्यङ्कून्विश्श्वेब्भ्योदेवेब्भ्यं पृषतान्त्साद्ध्येब्भ्यं कुलुङ्गान्॥ २७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वसुभ्य इत्यस्य प्र० ऋ०। निचृदार्षी बृहती छं०। द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(वसुभ्यः) वसुओंके निमित्त (ऋश्यान्) तीन ऋश्यमृगोंको (आलभते) नियुक्त करै (रुद्रेभ्यः) रुद्रदेवताकी प्रसन्नताके निमित्त (रुरून्) तीन रुरुमृगोंको (आदित्येभ्यः) आदित्योंके निमित्त (न्यङ्कून्) तीन न्यङ्कुनाममृगोंको नियुक्त करै [दशमें अवकाशमें] (विश्वेभ्यः देवेभ्यः) विश्वेदेवाओंके निमित्त (पृषतान्) तीन पृषत मृगोंको (साध्येभ्यः) साध्य देवताओंके निमित्त (कुलुङ्गान्) तीन कुलुंगोंको नियुक्त करै ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १।

ईशानायपरंस्वतऽआलंभतेमित्त्रायंगौरान्वरुणायमहिषान्बृहस्प्पतंयेगवयाँस्त्वष्ट्रऽउष्ट्रान्॥ २८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईशानायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्षी बृहती छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-(ईशानाय) ईशान देवताके निमित्त (परस्वतः) परस्वत् नाम तीन मृग (आलभते) ग्रहण करै (मित्राय) मित्र देवताके निमित्त (गौरान्) तीन गौर मृगोंको (वरुणाय) वरुणके निमित्त (महिषान्) तीन वनके महिषोंको [उसमें एक दशमें, दो ग्यारहवें अवकाशमें] (बृहस्पतये) बृहस्पति देवताके निमित्त (गवयान्) गोसदृश तीन गवयमृग (त्वष्ट्रे) त्वष्टा देवताके निमित्त (उष्ट्रान्) तीन ऊंटोंको नियुक्त करै ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

प्रजापतये पुरुषान्हस्तिनऽआलभते वाचे प्लुषीँश्चक्षुषे मशकाञ्छ्रोत्राय भृङ्गाः ॥ २९ ॥ शतम् १४००

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । आर्ची पंक्तिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतये) प्रजापति देवताके निमित्त (पुरुषान्) तीन पुरुष (हस्तिनः) हाथियोंको (आलभते) ग्रहण करै (वाचे) वाणीके निमित्त (प्लुषीन्) तीन वक्रतुण्डोंको [डांस वा खटमल] इनमें दो एकादश और एक बारहवें अवकाशमें नियुक्त करै (चक्षुषे) चक्षुके निमित्त (मशकान्) तीन मशकोंको (श्रोत्राय) श्रोत्रोंके निमित्त (भृङ्गाः) तीन भृंगों [भौंरों] को नियुक्त करै ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र १।

प्रजापतये च वायवे च गोमृगो वरुणायारण्यो मेषो यमाय कृष्णो मनुष्यराजाय मर्कटः शार्दूलाय रोहिदृषभाय गवयी क्षिप्रश्येनाय वर्त्तिका नीलङ्गोः कृमिः समुद्राय शिशुमारो हिमवते हस्ती ॥ ३० ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतय इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदतिधृतिश्छं० । द्रव्यं दै० । वि० पू० ॥ ३० ॥

मंत्रार्थ-(प्रजापतये) प्रजापति देवताके निमित्त (च) और (वायवे) वायु देवताके निमित्त (च) भी (गोमृगः) एक गवय (वरुणाय) वरुण

देवताके निमित्त (आरण्यः) वनका (मेषः) एक मेष (यमाय) यमदेवताके निमित्त (कृष्णः) एक काला मेष (मनुष्यराजाय) मनुष्य राजाकी प्रीतिके निमित्त (मर्कटः) एक वानर (शार्दूलाय) शार्दूलके निमित्त (रोहित्) लाल मृग (ऋषभाय) ऋषभ देवताके निमित्त (गवयी) एक गवयी मृगी [तेरहवें अवकाशमें] (क्षिप्रश्येनाय) शीघ्रगामी श्येनअधिष्ठित देवताको (वर्तिका) वत्तक (नीलङ्गोः) नीलंगुके निमित्त (कृमिः) क्षुद्रकीट (समुद्राय) समुद्रके निमित्त (शिशुमारः) शिशुमार जलचर (हिमवते) हिमवान् देवताके निमित्त (हस्ती) हस्ती नियुक्त करने ॥ ३० ॥

काण्डिका ३१-मन्त्र १. अनु० ४।

मयुः॑ प्राजाप॒त्यऽउ॒लो ह॒लिक्ष्णो॑ वृषद॒ꣳशस्ते धा॒त्रे दि॒शां क॒ङ्को धु॒ङ्क्षा॑ग्ने॒यी क॑लवि॒ङ्को लोहि॑ता॒हिः पु॑ष्करसा॒दस्ते त्वा॒ष्ट्रा वा॒चे क्रुञ्चः॑ ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मयुरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराट्त्रिष्टुप्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मंत्रार्थ-(मयुः) तुरंगवदन किन्नर (प्राजापत्यः) प्रजापतिदेवतासम्बन्धी है (उलः) उलनाम पक्षी वा मृगविशेष (हलिक्ष्णः) सिंहविशेष (वृषदंशः) बिडाल (ते) यह तीनों (धात्रे) धाताके निमित्त (कङ्कः) गृध्रचील (दिशाम्) दिशाओंके निमित्त (धुङ्क्षा) धुङ्क्षानाम पक्षिणी (आग्नेयी) आग्नेय दिशाके निमित्त वा आग्नेय दिशासम्बन्धवाली है (कलविङ्कः) चिरौंटा (लोहिताहिः) लाल सर्प (पुष्करसादः) कमलभक्षी पक्षी विशेष (ते) यह तीनों (त्वाष्ट्राः) त्वष्टा देवतासम्बन्धी हैं [चौदहवें अवकाशमें] (वाचे) वाणीके निमित्त (क्रुञ्चः) एक सारस नियुक्त करना ॥ ३१ ॥

काण्डिका ३२-मंत्र १ ।

सोमा॑य कुलु॒ङ्गऽआ॑र॒ण्यो॒ऽजो न॑कु॒लः शका॒ ते पौ॒ष्णाः क्रो॒ष्टा मा॒योरिन्द्र॑स्य गौरमृ॒गः पि॒द्वो न्यङ्कुः॑ क॑क्कु॒टस्तेऽनु॑मत्यै प्रति॒श्रुत्का॑यै चक्रवा॒कः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोमायेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिग्जगती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ-(सोमाय) सोमके निमित्त (कुलङ्गः) एक हरिण (आरण्यः)वनका (अजः) मेष (नकुलः) न्योला (शका) शकुनी (ते) यह (पौष्णाः) पूषा-देवतासम्बन्धी है (क्रोष्टा) शृगाल (मायोः) मायु देवतासम्बन्धी हैं (गौरमृगः) एक गोरा मृग (इन्द्रस्य) इन्द्रके सम्बन्धवाला है (न्यङ्कुः) मृगविशेष(पिद्वः) पिद्वमृग (कक्कटः) कक्कट मृग (ते) यह (अनुमत्यै) अनुमति देवताकी प्रीतिके निमित्त है (प्रतिश्रुत्कायै) प्रतिश्रुत्कदेवताके निमित्त (चक्रवाकः) चक्रवाक पक्षी नियुक्त करना ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

सौरी बलाका शार्गः सृजयः शयाण्डकस्ते मैत्राः सरस्वत्यै शारिः पुरुषवाक् श्वाविद्भौमी शार्दूलो वृकः पृदाकुस्ते मन्यवे सरस्वते शुकः पुरुषवाक् ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सौरीत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगतिजगती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ-(बलाका) बगली (सौरी) सूर्यदेवतासम्बन्धी है (शार्गः) चातक [पन्द्रहवां यूप] (सृजयः) सृजय नामक पक्षी (शयाण्डकः) शयाण्डक नाम पक्षी (ते) यह (मैत्राः) मित्र देवतासम्बन्धी हैं (पुरुषवाक्) पढाई हुई वा पुरुषके समान बोलनेवाली (शारिः) शारिका मैना (सरस्वत्यै) सरस्वती देवताके निमित्त (श्वावित) सेही (भौमः) भूमिदेवतासम्बन्धी है (शार्दूलः) केसरी सिंह (वृकः) भेडिया (पृदाकुः) सर्प (ते) वे (मन्यवे) क्रोधदेवताके निमित्त (पुरुषवाक) पढायाहुआ (शुकः) तोता (सरस्वते) समुद्रकी प्रीतिके निमित्त है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

सुपर्णः पार्जन्य आतिर्वाहसो दर्विदा ते वायवे बृहस्पतये वाचस्पतये पैङ्गराजोऽलज आन्तरिक्षः

प्लुवोमद्गुर्म्मत्स्यस्त्तेनदीपतयेद्यावापृथिवीयः कूर्म्मः ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुपर्ण इत्यस्य: प्रजापतिर्ऋषिः । स्वराट्शक्करी छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पूं० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ-(सुपर्णः) सुपर्ण गरुत्मान् (पार्जन्यः) पर्जन्यसम्बन्धी है (आतिः) आडी पक्षी (वाहसः) वाहस (दर्विदा) काष्ठकुट्ट 'खुटबढई' (ते) वे यह (वायवे) वायुदेवतासम्बन्धी अर्थात् वायुकी प्रीतिके निमित्त हैं (वाचस्पतये) वाणीके पति (बृहस्पतये) बृहस्पतिके निमित्त (पैङ्गराजः) पैङ्गराज पक्षी है [सोलहवें अवकाशमें] (अलजः) अलजनामक पक्षी (आन्तरिक्षः) अन्तरिक्ष देवतासम्बन्धी है (प्लवः) जलमें तरनेवाला जलकुक्कुट (मद्गुः) जलका कौआ कारंडव (मत्स्यः) मत्स्य (ते) वे यह तीनों (नदीपतये) नदीपतिके निमित्त (द्यावापृथिवीयः) द्यावापृथ्वी देवतावाला (कूर्मः) कच्छप नियुक्त करे ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मंत्र १.

पुरुषमृगश्चन्द्रमसोगोधाकालकादार्वाघाटस्त्तेवनस्पतीनाङ्कृकवाकुः सावित्रोहꣳसोवातस्यनाक्रोमकरः कुलीपयस्त्तेकूपारस्यह्रियैशल्यकः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पुरुषमृग इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निचृच्छक्करी छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने वि० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(पुरुषमृगः) पुरुषमृग वनमानुष (चन्द्रमसः) चन्द्रमासम्बन्धी है (गोधा) गोय (कालका) कालका पक्षीविशेष (दार्वाघाटः) कठफोर (ते) वे (वनस्पतीनाम्) वनस्पतिदेवतावाले हैं (कृकवाकुः) ताम्रचूड (सावित्रः) सूर्यदेवतावाला (हंसः) हंस (वातस्य) वायुदेवताका (नाक्रः) नाकेका शिशु (मकरः) मगरमच्छ (कुलीपयः) शोषक जलजन्तुविशेष (ते) वे (अकूपारस्य) सागरके निमित्त [१७ अवकाशमें] (ह्रियै) ह्रीदेवताके निमित्त (शल्यकः) श्वावित् नियुक्त करना चाहिये ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

एण्यह्नोमण्डूकोमूषिकातित्तिरिस्त्तेसर्प्पाणाल्लोप

शऽआंश्श्विनः कृष्णोरात्र्याऽऋक्षोजतूः सुषिली
कातऽइतरजनानाञ्जहका वैष्णवी ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एणमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृज्जगती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(एणी) मृगी (अह्नः) अह्नदेवताके लिये (मण्डूका) मण्डूक (मूषिका) मूषिका (तित्तिरिः) तीतर (ते) वे यह (सर्पाणाम्) सर्पोंके निमित्त (लोपाशः) लोपाश कोई विशेष वनचर (आश्विनः) अश्विनीकुमारसम्बन्धी (कृष्णः) कृष्णमृग (रात्र्यै) रात्रिदेवतासम्बन्धी है (ऋक्षः) रीछ भालू (जतूः) जतूनामवाला (सुषिलीका) सुषिलीक पक्षी (ते) यह (इतरजनानाम्) इतर अर्थात् दूसरे जन वा इतरजन नाम देवताओंके निमित्त हैं (जहका) शरीरका संकोच करनेवाली कोई विशेष पक्षिणी (वैष्णवी) विष्णुदेवतासम्बन्धवाली है ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

अन्यवापोर्द्धमासानामृश्यो मयूरः सुपर्णस्ते गन्ध
र्वाणामपामुद्रो मासाङ्कश्यपो रोहित्कुण्डृणाचीगो
लत्तिका तेप्सरसाम्मृत्यवेसितः ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्यवाप इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगतिजगती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-सत्रहवें अवकाशमें (अन्यवापः) कोकिल नाम पक्षी (अर्धमासनाम्) अर्ध महीनोंके निमित्त [१८ अवकाशमें] (ऋष्यः) ऋष्य जातिका मृग (मयूरः) मोर (सुपर्णः) गरुत्मान् (ते) यह तीनों (गन्धर्वाणाम्) गन्धर्व देवताओंके निमित्त हैं (उद्रः) कर्कट गिंगचा जलचर (अपाम्) जलोंके निमित्त (कश्यपः) कछुआ(मासाम्)मासदेवताओंके (रोहित्) रोहित मृग (कुण्डृणाची) वनचरीविशेष (गोलत्तिका) गोलत्तिका नाम पक्षी (ते) यह तीनों (अप्सरसाम्) अप्सराओंके देवतावाले है (मृत्यवे) मृत्यु देवताके निमित्त (असितः) कृष्णमृग नियुक्त करै ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मन्त्र १ ।

वर्षाहूर्ऋतूनामाखुः कशो मान्थालस्ते पितॄणाम्ब

लायाजगरो वसूनाङ्कपिञ्जलः कपोतऽउलूकः शश
स्ते निर्ऋत्यै वरुणायारण्यो मेषः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वर्षाहूरित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराडतिजगती छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३८ ॥

विधि-(१) [अठारहवें अवकाशमें] मन्त्रार्थ-(वर्षाहूः) भेकी (ऋतूनाम्) ऋतुओंके निमित्त (आखुः) मूषा (कशः) छुच्छुन्दर (मान्थालः) मान्थाल छपकली (ते) यह तीनों(पितृणाम्) पितरोंके निमित्त है [१९ अवकाश] (अजगरः) अजगर (बलाय) बलदेवताके निमित्त है (कपिञ्जलः) कपिञ्जल(वसूनाम्) वसुओंके निमित्त (कपोतः) कबूतर (उलूकः) उलूक(शशः) खरगोश (ते) यह तीनों (निर्ऋत्यै) निर्ऋतिदेवताके निमित्त (आरण्यः) वनका (मेषः) मेढ़ा (वरुणाय) वरुणके नियुक्त करै ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

श्वित्रऽआदित्यानामुष्ट्रो घृणीवान्वार्ध्रीनसस्ते म
त्यार्ऽअरण्याय सृमरो रुरू रौद्रः क्वयिः कुटरुर्दा
त्यौहस्ते वाजिनाङ्कामाय पिकः ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ श्वित्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋ० । स्वराट्त्रिष्टुप्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(श्वित्रः) चित्रविचित्रमृग (आदित्यानाम्) आदित्योंके निमित्त (उष्ट्रः) ऊंट (घृणिवान्) चील, वा तेजस्वी पशुविशेष (वार्ध्रीनसः) कंठमें स्तनवाला पशु (ते) यह तीनों (मत्यै) मतिदेवीके निमित्त (सृमरः) नीलगाय (अरण्याय) अरण्यदेवताके (रुरुः) रुरुमृग (रौद्रः) रुद्रदेवसम्बन्धी है (क्वयिः) पक्षिविशेष [बीसवें अवकाशमें] (कुटरुः) मुर्गा (दात्यौहः) कालकण्ठ (ते) यह तीनों (वाजिनाम्) वाजिदेवताओंके निमित्त है (कामाय) कामदेवताके निमित्त (पिकः) कोकिल नियुक्त करना चाहिये ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मन्त्र ३ ।

खड्गो वैश्वदेवः श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभस्तरक्षुस्ते
रक्षसामिन्द्राय सूकरः सिंहो मारुतः कृकलासः

पिप्पंकाशकुनिस्तेशरव्यायैविश्वेषान्देवानाम्पृषतः ॥ ४० ॥ [४]

इति श्रीवाजसनेयिशुक्लयजुःसंहितायां दीर्घपाठे चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ खड्ग इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । शक्करीछन्दः । द्रव्यं दैवतम् । यूपे पशुनियोजने विनि० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(खड्गः) खड्ग गैंडा (वैश्वदेवः) विश्वेदेवासम्बन्धी है (कृष्णः) काला (श्वा) कुत्ता (कर्णः) लम्बेकानवाला (गर्दभः) गर्दभ (तरक्षुः) व्याघ्र (ते) यह तीन (रक्षसाम्) राक्षसोंकी प्रीतिके निमित्त हैं (सूकरः) सूकर (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (सिंहः) सिंह (मारुतः) मरुत् देवता सम्बन्धी है (कृकलासः) गिरघट (पिप्पका) पपीहा (शकुनिः) पक्षीविशेष (ते) यह तीन (शरव्यायै) शरव्य देवीके निमित्त है (पृषतः) एक पृषतजातिका मृग (विश्वेषाम्) विश्वे (देवानाम्) देवताओंकी प्रीतिके निमित्त है इस कारण वीसवें अन्तरालमें नियुक्त करताहूं ॥ ४० ॥

विशेष आशय-इस प्रकार २६० आरण्य पशु और अश्वादि ३२७ पशु तथा २२ एकादशी यह सब मिलकर ६०९ पशु अश्वमेध यज्ञमें यूपों तथा उनके अन्तरालमें मध्यम दिनमें बंधन किये जातेहै । यथा-"षट् शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेहनि । अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिकानि च" इन पशुओंसे प्रदर्शिनीकी समान बडी शोभा तथा सम्पूर्ण प्रकारके पशुओंका मनुष्योंको ज्ञान होजाताहै । जिस पशुका जिस देवतासे सम्बन्ध है वह भी इस अध्यायमें निरूपण करदियाहै जिसप्रकार ग्रहोंका मनुष्योंसे सम्बन्ध है उसीप्रकार देवताओंका पशुओंसे है, इस विज्ञानको जानकर उन २ सम्पूर्ण देवताओंकी प्रीतिके निमित्त इन सब पशुओंका सत्कार कियाजाताहै, इससे देवता प्रसन्न होतेहै अश्वमेध यज्ञसे चराचरका उपकार होताहै १ एक वर्षतक सहस्रों मनुष्य पशु पक्षी आदिकों सन्तुष्टकरने तथा देवताओंकी प्रार्थना पूर्वक मानों विश्वंभरको सन्तुष्ट कियाजाताहै, यज्ञ उपराम होनेपर यह सब पशु छोडदियेजायँ परन्तु वनके सिंह व्याघ्रादि इस युक्तिसे छोडेजायँ जिससे वे किसी प्रकारकी हानि न करसके इन मंत्रोमें देवताके गुणोसे पशुओंके गुणस्वभावादिका ज्ञान होताहै, और अश्वके समीप सबप्रकार पशु पक्षी रहनेसे उन देवताओंका सान्निध्य अश्वके समीप होनेसे अश्व देवत्वको

प्राप्त होता है उसमें दिव्य गुण होजाते हैं इस कारण वह एकही अश्व सम्पूर्ण देवताओंको तृप्त करनेमें समर्थ होताहै वही २५ वें अध्यायमें कहेंगे यह संक्षेपसे लिखा है वैज्ञानिक इसका विस्तार जानलेंगे ॥ ४० ॥

इति श्रीमन्मर्यादापरिपाटीधुरन्धरसर्वगुणसम्पन्नमिश्रसुखानन्दसूनुकुलपतिश्रीमज्ज्वालाप्रसाद-मिश्रकृतभाषाव्याख्यायां शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां मिश्रभाष्ये देवतापशुवाचकश्चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

अथ पंचविंशोध्यायः २५.

शादंदद्भिर्नवैकैकाहिरण्यगर्भश्वतस्रआनोदशमानोमित्रोऽश्वदश्व-स्याष्टकौयत्तेषडिमानुकंद्वे पंचदशसप्तचत्वारिंशत् ॥

कण्डिका१-मंत्र १. अनु० १ ।

शादन्दद्भिरवकान्दन्तमूलैर्मृदम्बर्स्वैस्तेगान्द७ं ष्ट्राभ्यार७ंसरस्वत्त्याऽअग्रजिह्वञ्जिह्वायाऽउत्सा दमवक्रन्देनतालुवाजᳯहनुभ्यामपऽआस्येनवृष णमाण्डाभ्यामादित्याँश्मश्रुभिःपन्थानम्भ्रू भ्यान्द्यावापृथिवीवर्त्तोभ्यांविद्युतङ्कनीनकाभ्या७ंशुक्लायस्वाहाकृष्णायस्वाहापार्याणिप क्ष्माण्यवार्य्याऽइक्षवोवार्य्याणिपक्ष्माणिपा र्य्याऽइक्षवः ॥ १ ॥ [१]

---

१ "एकविंशो वा एष य एष तपति द्वादशमासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश एकमभिसम्पदम् ।" (श० १३ । ३ । ६ । २६) 'सर्वमश्वमेधः" (श० १३ । ३ । ५ । ११) सब यज्ञसे प्रजापतिकी उपासना है १२ महीने पांच ऋतु तीनो लोक और एक आदित्यरूप प्रजापति-सर्वात्म ब्रह्म होनेसे उपरोक्त २१ स्तम्भ उसके इक्कीस अवयव हैं, इनमें सब प्रजापतिकी उपासना है २५ अध्यायतक यही प्रकार जानना चाहिये ।

विधि-(१) वनस्पतियाग सम्पादन करनेपर और स्विष्टकृत्यागके पूर्व शूल्य हवन करनेपर इन नवकण्डिकात्मक मंत्रोंद्वारा शादादि देवताओंके निमित्त अश्वके अग समर्पण करै और घृतसे हवन करना चाहिये [का० २० । ८ । ५ । ६] "शादं दद्भिः" से आरंभ करके "पृथिवीं त्वचा" इस नौ कण्डिकापर्यन्त संहिता ब्राह्मणं है मंत्र नहीं हैं शादादिक देवताही दन्तादिअङ्ग है घृतको वारंवार ग्रहण करके 'शादाय स्वाहा' 'दद्भ्यःस्वाहा' 'त्वचे स्वाहा' तक हवन करै यह एक शाखान्तरका पक्ष है इस पक्षमें शादको दांतोंसे प्रसन्न करताहूं स्वाहा इत्यादि हवन मंत्र है, कहीं केवल देवताकाही स्मरणकरै यथा 'शुक्राय स्वाहा, कृष्णाय स्वाहा' कहीं द्रव्य देवताका निर्देश है यथा 'अग्नेःपक्षतिर्वायोर्निपक्षतिः' इति तथा च श्रुतिः "शादं दद्भिरवकां दन्तमूलैरित्याज्यमवदानानि कृत्वा प्रत्याख्यायं देवताभ्य आहुतीर्जुहोति या एव देवता अपि भागास्ता भागधेयेन समर्धयति" [श० १३ । ३ । ५१] अर्थात् शादको दांतोंसे अवकाको दन्तमूलोंसे प्रसन्न करताहूं इसप्रकार धृतके खण्ड करके घृतकोही अश्वाङ्गसे कल्पित करके उन अंगोंका नाम लेकर आहुति देनी इसप्रकार भागसे शादादि देवता समर्धित होते है.

पदार्थ-(दद्भिः) अश्वके दांतोंसे (शादम्) शाददेवताको प्रसन्न करताहूं (दन्तमूलैः) दांतोंके मूलसे (अवकाम्) अवकाश देवताको प्र० (वस्वैः) दांतोंकी पछडियोंसे (मृदम्) मृद्देवताको प्र० (दंष्ट्राभ्याम्) डाढोंसे (तेगाम्) तेगदेवताको अथवा (ते) तेरी दंष्ट्रासे (गाम्) वाणीको प्र० (अग्रजिह्वम्) जिह्वाके अग्रभागसे (सरस्वत्यै) सरस्वतीको प्र० (जिह्वायाः) जीभसे (उत्सादम्) उत्साद देवको प्र० (तालु) तालुसे (अवक्रन्देन) अवक्रन्ददेवको प्र० (हनुभ्याम्) ठोढीसे (वाजम्) अन्नके अधिष्ठात्री देवताको (आस्येन) मुखसे (अपः) अपदेवताको० (आण्डाभ्याम्) वृषणोंसे (वृषणम्) वृषण देवको०(श्मश्रुभिः) डाढीसे (आदित्यान्) आदित्योंको (भ्रूभ्याम्) भ्रुवोंसे (पन्थानम्) पन्थदेवको प्र० (वर्तोभ्याम्) पलकोंके वालोंसे (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवीको० (कनीनकाभ्याम्) नेत्रमध्यवर्ती कृष्णगोलकसे (विद्युतम्) विद्युत् देवको प्रसन्न करताहूं (शुक्लाय) शुक्लदेवके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो (कृष्णाय) कृष्णदेवके निमित्त (स्वाहा) आहुति हो अथवा प्राजापत्य अश्व है इस कारण शुक्ल कृष्ण अंगोंसे प्रजापतिको प्रसन्न करताहूं (पक्ष्माणि) नेत्रके ऊपरके लोम (पार्याणि) पार देवता सम्बन्धी है उनसे पारदेवताको० (इक्षवः) नेत्रके अधोभागके रोम (अवार्याणि) अवार देवतासम्बन्धी है इनसे अवारदेवताको प्रसन्न करताहूं ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १ अनु० २ ।

वातम्प्राणेनापानेन नासिकेऽउपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्तरमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यम्मूर्ध्ना स्तनयित्नुन्निर्बाधेनाशनिम्मस्तिष्केन विद्युतङ्कनीनकाभ्याङ्कर्णाभ्या श्रोत्रꣳ श्रोत्राभ्याङ्कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तम्मन्याभिरदितिꣳ शीर्ष्णा निर्ऋतिन्निर्जर्जल्येन शीर्ष्णा सङ्क्रोशैः प्राणान्रेष्माणꣳ स्तुपेन ॥ २ ॥ [१]

पदार्थ-(प्राणेन) इसके प्राणसे (वातम्) वातदेवको (अपानेन) अपानसे (नासिके) दो नासिक देवको (अधरेण) नीचेके (ओष्ठेन) ओष्ठसे (उपयामम्) उपयाम देवको (उत्तरेण) ऊपरके ओष्ठसे (सत्) सत् देवको० (प्रकाशेन) ऊपरकी शारीरिक कान्तिसे (अन्तरम्) अन्तरदेवको (अनूकाशेन) नीचेकी देहकान्तिसे (बाह्यम्) बाह्य देवको० (मूर्ध्ना) मस्तकसे (निवेष्यम्) प्रवेशहोने योग्य देवको० (निर्बाधेन) शिरकी अस्थिके सारभागसे (स्तनयित्नुम्) स्तनयित्नु देवको० (मस्तिष्केन) शिरके मध्यस्थित जर्जर मांसभागसे (अशनिम्) अशनी देवको० (कनीनकाभ्याम्) नेत्रतारकासे (विद्युतम्) विद्युत् देवको० (कर्णाभ्याम्) कर्णोंसे (श्रोत्रम्) श्रोत्रको (श्रोत्राभ्याम्) सुननेके साधनसे (कर्णौ) कर्णोंको (अधरकण्ठेन) कण्ठके नीचेके भागसे (तेदनीम्) तेदनी देवको० (शुष्कण्ठेन) शुष्ककंठ 'छिद्र' से (अपः) जलदेवको० (मन्याभिः) ग्रीवाकी पिछली नाडियोंसे (चित्तम्) चित्तदेवको० (शीर्ष्णा) शिरसे (अदितिम्) अदितिदेवीको (निर्जर्जल्येन) अतिजर्जरित (शीर्ष्णा) शिरोभागसे (निर्ऋतिम्) निर्ऋतिदेवको (सङ्क्रोशैः) शब्दयुक्त अंगोंसे (प्राणान्) प्राणोंको० (स्तुपेन) शिखाभूत अंगोंसे (रेष्माणम्) रेष्म देवको प्रसन्न करताहूं ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १. अनु० ३ ।

मशकान्केशैरिन्द्रꣳ स्वपसा वहेन बृहस्पतिꣳ शकुनिसादेन कूर्मांञ्छफैराक्रमणꣳ स्थूराभ्यामृक्षलाभिः

कपिञ्जलाञ्जवञ्जङ्घाभ्यामध्वानम्बाहुभ्याञ्जाम्बी लेनारण्यमग्निमतिरुग्भ्याम्पूषणन्दोर्भ्यामश्विना वᳫंसाभ्याᳫंरुद्रᳫंरोराभ्याम् ॥ ३ ॥ [१]

पदार्थ-(केशैः) कन्धोके बालोंसे (मशकान्) मशकोंको (स्वपसा) धारण वहनादि शुभकर्मवाले (वहेन) स्कंधसे (इन्द्रम्) इन्द्रदेवको० (शकुनिसादेन) शकुनिसमान गमनसे (बृहस्पतिम्) बृहस्पतिको (शफैः) खुरोंसे (कूर्मान्) कूर्म देवताओंको (स्थूराभ्याम्) स्थूलगुल्फोंसे (आक्रमणम्) आक्रमणदेवताको (ऋक्षलाभिः) गुल्फके नीचेकी नाडियोंसे (कपिञ्जलान्) कपिञ्जलदेवताओंको (जङ्घाभ्याम्) जंघाओंसे (जवम) वेगअधिष्ठात्री देवताको (बाहुभ्याम्) अग्रपादसे (अध्वानम्) मार्गदेवताको (जाम्बीलेन) जम्बीरवृक्षाकार जानुसे (आरण्यम्) आरण्यदेवताको (अतिरुग्भ्याम्) अतिशोभित जानुदेशसे (अग्निम्) अग्निदेवको (दोर्भ्याम्) आगे चरणोंके जानुके अधोभाग भुजाकारोंसे (पूषणम्) पूषा देवताको (अंसाभ्याम्) अंसोंसे 'स्कंधोंसे' (अश्विनौ) अश्विनीकुमारोंको (रोराभ्याम्) अंसग्रन्थीसे (रुद्रम्) रुद्रदेवको प्रसन्न करता हूं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १. अनु० ४ ।

अग्नेः पक्षतिर्वायोर्निपक्षतिरिन्द्रस्य तृतीया सोमस्य चतुर्थ्यदित्यै पञ्चमीन्द्राण्यै षष्ठी मरुताᳫं सप्तमी बृहस्पतेरष्टम्यर्य्यम्णो नवमी धातुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यमस्य त्रयोदशी ॥ ४ ॥ [१]

पदार्थ-(अग्नेः) अग्निदेवके निमित्त (पक्षतिः) दक्षिण पार्श्वकी अस्थि (निपक्षतिः) दूसरी दक्षिणपार्श्वकी अस्थि (वायोः) वायुदेवताकी प्रीतिकारक है (तृतीयः) तीसरी (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (चतुर्थी) चौथी (सोमस्य) सोमकी (पंचमी) पांचवीं (अदित्यै) अदितिकी (षष्ठी) छठी (इन्द्राण्याः) इन्द्राणीकी (सप्तमी) सातवी (मरुताम्) मरुतोंकी (अष्टमी) आठवीं (बृहस्पतेः) बृहस्पतिकी (नवमी) नौमी (अर्यम्णः) अर्यमाकी (दशमी) दशवीं

(धातुः) धाताकी (एकादशी) ग्यारहवीं पक्षति (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (द्वादशी) बारहवीं (वरुणस्य) वरुणकी (त्रयोदशी) तेरहवीं (यमस्य) यमकी है ॥ ४ ॥

विवरण-अश्वकी पार्श्वभूत अस्थि पक्षति कहाती हैं उन्हीं मूलभूत अस्थियोंको वङ्क्रि कहते हैं वह प्रति पार्श्वमें तेरह२ होती हैं इसप्रकार सब २६ होती हैं "षड्विंशतिरश्वस्य वङ्क्रयः" इति [कौषी० ब्रा० १० । ४] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ अनु० ५ ।

इन्द्राग्न्योः पक्षतिः सरस्वत्यै निपक्षतिर्मित्रस्य तृतीयापां चतुर्थी निर्ऋत्यै पञ्चम्यग्नीषोमयोः षष्ठी सर्पाणाᳬं सप्तमी विष्णोरष्टमी पूष्णो नवमी त्वष्टुर्दशमीन्द्रस्यैकादशी वरुणस्य द्वादशी यम्यै त्रयोदशी द्यावापृथिव्योर्दक्षिणम्पार्श्वं विश्वेषान्देवानामुत्तरम् ॥ ५ ॥ [१]

पदार्थ-(पक्षतिः) वामपार्श्वकी अस्थि (इन्द्राग्न्योः) इन्द्र अग्नि देवताके निमित्त (निपक्षतिः) दूसरी पक्षति (सरस्वत्यै) सरस्वतीकी प्रीतिके निमित्त (तृतीया) तीसरी (मित्रस्य) मित्रकी (चतुर्थी) चौथी (अपाम्) जलदेवताकी (पञ्चमी) पांचवीं (निर्ऋत्यै) निर्ऋतिदेवताकी (षष्ठी) छठी (अग्नीषोमयोः) अग्नि सोम देवताकी (सप्तमी) सातवीं (सर्पाणाम्) सर्पोंकी (अष्टमी) आठवीं (विष्णोः) विष्णुकी (नवमी) नौमी (पूष्णः) पूषा देवताकी (दशमी) दशमी (त्वष्टुः) त्वष्टा देवताकी (एकादशी) ग्यारहवीं (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (द्वादशी) बारहवीं (वरुणस्य) वरुणकी (त्रयोदशी) तेरहवीं (यम्यै) यमके निमित्त (दक्षिणम्) दहना (पार्श्वम्) पार्श्वभाग (द्यावापृथिव्योः) द्यावापृथिवीका (उत्तरम्) उत्तर पार्श्व (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (देवानाम्) देवताओंका है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १. अनु० ६ ।

मरुताᳬं स्कन्धा विश्वेषान्देवानाम्प्रथमा कीकसा रुद्राणान्द्वितीयादित्यानान्तृतीया वायोः पुच्छमग्नी

षोमयोर्भासदौ कुञ्चौ श्रोणिभ्यामिन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्यां मित्रावरुणावल्गाभ्यामाक्रमणꣳ स्थूराभ्याम्बलङ्कुष्ठाभ्याम् ॥ ६ ॥ [१]

विधि-(१) दूसरे अंगदेवताओंको समर्पण करने । पदार्थ-(स्कंधाः) स्कंधदेश (मरुताम्) मरुतोंको " अश्वकी पूंछके ऊपर तीन अस्थिपंक्ति होती है उनके देवता कहते है " (प्रथमा) पहली (कीकसा) अस्थिपंक्ति (विश्वेषाम्) विश्वे (देवानाम्) देवताओंकी (द्वितीया) दूसरी (रुद्राणाम्) रुद्रोंकी (तृतीया) तीसरी (आदित्यानाम्) आदित्योंकी है (पुच्छम्) पुच्छ (वायोः) वायुदेवताकी (भासदौ) दोनों नितम्ब (अग्नीषोमयोः) अग्निसोम देवताकी है (श्रोणिभ्याम्) दाहिने वाएँ कटिप्रदेशसे (कुञ्चौ) कुञ्च देवताओंको प्रसन्न करता है (ऊरुभ्याम्) ऊरुदेशसे (इन्द्राबृहस्पती) इन्द्र बृहस्पतिको तृप्त करताहूं (अल्गाभ्याम्) चलनेमें अधिक संयोगको प्राप्त होनेवाली जंघाकी संधियोंसे (मित्रावरुणौ) मित्रावरुणको प्र० (स्थूराभ्याम्) स्थूलनितम्बोंके अधोभागसे (आक्रमणम्) आक्रमण देवको प्र० (कुष्ठाभ्याम्) नितम्बके दोनों आवर्तोंसे (बलम्) बलदेवताको प्रसन्न करताहूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १. अनु०७ ।

पूषणं वनिष्ठुनान्धाहीन्त्स्थूलगुदया सर्पान्गुदाभिर्विहुत आन्त्रैरपो वस्तिना वृषणमाण्डाभ्यां वाजिनꣳ शेपेन प्रजाꣳ रेतसा चाषान्पित्तेन प्रदरान्पायुना कूश्मांछकपिण्डैः ॥ ७ ॥

पदार्थ-(वनिष्ठुना) स्थूलांत्रसे (पूषणम्) पूषादेवताको प्र० (स्थूलगुदया) गुदाके स्थूलभागसे (अन्धाहीन्) अन्धे सर्पोंको प्र० (गुदाभिः) स्थूल गुदाके अतिरिक्त भागसे (सर्पान्) सर्पोंको प्र० (आन्त्रैः) अंत्रसम्बन्धी मांसभागसे (विहुतः) विहुत देवको प्र०(वास्तिना) नाभिके नीचेके भागसे (अपः) जलदेवको (आण्डाभ्याम्) अण्डकोषोंसे (वृषणम्) वृषणको (शेपेन) मेढ्रसे (वाजिनम्) वाजीको (रेतसा) वीर्यसे (प्रजाम्) सन्ततिको (पित्तेन) पित्तसे (चाषान्)

चाषदेवको (पायुना) गुदके तीसरे भागसे (प्रदरान्) प्रदरोंको (शकपिण्डैः) लीदके पिण्डोंसे (कूश्मान्) कूश्मोंको प्रसन्न करताहूं ॥ ७ ॥

विशेष-इस मंत्रके अर्थमें दयानंदने स्थूलगुदासे अन्धे सर्पोंको लेना लिखा है इत्यादि प्रकरण और बुद्धिविरुद्ध ऐसे लेख हैं जिनको देखकर हँसी आती है ॥७॥

कण्डिका ८-मंत्र १. अनु० ८ ।

इन्द्र॑स्य क्रो॒डोऽदि॑त्यै पाज॒स्यं॒ दि॒शां ज॒त्रवोऽदि॑त्यै भ॒
सज्जी॒मूता॑न्हृदयौप॒शेना॒न्तरि॑क्षं पुरी॒तता॒ नभ॑ उद॒
र्ये॒ण च॒क्रवा॒कौ मत॑स्नाभ्यां॒ दिवं॑ वृ॒क्काभ्यां॑ गि॒री
न्प्ला॒शिभि॒रुप॑लान्प्ली॒ह्ना व॒ल्मीका॑न्क्लो॒मभि॑र्ग्लौ॒
भि॒र्गु॒ल्मान्हि॒राभिः॒ स्रव॑न्तीर्ह्र॒दान्कु॒क्षिभ्या॑ᳪ स
मु॒द्रमु॒दरे॑ण वैश्वान॒रं भस्म॑ना ॥ ८ ॥ [१]

पदार्थ-(क्रोडः) वक्षस्थलका मध्यभाग इससे (इन्द्रस्य) इन्द्रको (पाजस्यम्) बलकारी अंगसे (अदित्यै) अदितिदेवीको प्र० (जत्रवः) कंधे और कुक्षिकी सन्धिसे (दिशाम्) दिग्देवताओंको (भसत्) मेढ्रके अग्रभागसे (अदित्यै) अदिति देवताको (हृदयौपशेन) हृदयके मांससे (जीमूतान्) मेघोंको (पुरीतता) हृदय आच्छादक आंतसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (उदर्येण) उदरस्थ मांससे (नभः) आकाशको (मतस्नाभ्याम्) हृदयकी दोनों पार्श्वकी अस्थिसे (चक्रवाकौ) चक्रवाकोंको (वृक्काभ्याम्) कुक्षिस्थित मांस भागसे (दिवम्) दिवदेवताको (प्लाशिभिः) मेढ्रमूलकी नाडियोंसे (गिरीन्) पर्वतअधिष्ठात्रीदेवताओंको (प्लीह्ना) हृदयकी वाम ओर स्थित फुप्फुससे (उपलान्) उपल देवोंको० (क्लोमभिः) हृदयकी दहिनी ओरकी यकृत् " यह वैद्योंका कथन है " गलनाडी यह क्षीरस्वामी कहते है तथा यही " कर्काचार्य कहते हैं " गलनाडीसे (वल्मीकान्) वल्मीक देवताओंको प्रसन्न करता हूं (ग्लौभिः) हृदयकी नाडियोंसे (गुल्मान्) गुल्म देवताओंको प्र० (हिराभिः) अन्न वहन करनेवाली नाडियोंसे (स्रवन्तीः) स्रवन्ती देवताओंको नदियोंको प्र० (कुक्षिभ्याम्) जठरके दोनों ओरकी कुक्षिसे (ह्रदान्) ह्रददेव

अल्पसरोवरोंको प्र० (उदरेण) उदरसे (समुद्रम्) समुद्रदेवताको (भस्मना) इसके अंगकी भस्मकरके (वैश्वानरम्) वैश्वानर अग्निको प्रसन्न करताहूं ॥ ८ ॥

कण्डिका९-मंत्र १. अनु० ९।

विधृतिन्नाभ्याङ्घृतꣳरसेनापो यूष्णा मरीचीर्विप्रुड्भिर्नीहारमूष्मणा शीनं वसया प्रुष्वा ऽअश्रुभिर्ह्रादुनीर्दूषीकाभिरस्ना रक्षाꣳसि चित्राण्यङ्गैर्नक्षत्राणि रूपेण पृथिवीन्त्वचा जुम्बकाय स्वाहा ॥९॥ [१]

पदार्थ-(नाभ्याम्) नाभिसे (विधृतिम्) विधृति देवताको (रसेन) वीर्यसे (घृतम्) घृतको (यूष्णा) पक्कान्नरससे (अपः) अप देवताको० (विप्रुड्भिः) वसाके बिन्दुओंसे (मरीचीः) मरीची देवताको (ऊष्मणा) शरीरकी उष्णतासे (नीहारम्) नीहारको (वसया) वसासे (शीनम्) शीन देवताको (अश्रुभिः) नेत्रोंके आंसुओंसे (प्रुष्वाः)प्रुष्वा देवताको (दूषीकाभिः) नेत्रोंके मलसे (ह्रादुनीः) ह्रादुनी देवताओंको (अस्ना) रुधिरसे (रक्षांसि) राक्षसोंको (अगैः) अंगोंसे (चित्राणि) चित्रदेवताओंको (रूपेण) रूपद्वारा (नक्षत्राणि) नक्षत्रोंको (त्वचा) त्वचासे (पृथिवीम्) पृथ्वीको प्रसन्न करताहूं इनके अन्तमें स्वाहा लगाकर चतुर्गृहीत आज्यसे हवन करै ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जुम्बकायेत्यस्य उदन्यपुत्रमुण्डिभ ऋ० । द्विपदा गायत्री० । वरुणो देवता । जले घृताहुतिदाने वि० ।

विधि-(१) अवभृथ यज्ञके उपरान्त खल्वाट "उंदरीरोग जिसमें शिरके बाल गिरकर मस्तकपर चन्दा होजाता है" विक्लिध 'बडे दांतवाले' शुक्ल 'बहुत श्वेतवर्णवाले' पिङ्गलनेत्र पुरुषके जलमें गोता लगानेपर उसके शिरपर 'जुम्बकाय स्वाहा' यह मंत्र पढकर घृतकी आहुति जलमें देनी चाहिये [का० २० । ८ । १८]

मन्त्रार्थ-(जुम्बकाय) वरुण देवताके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति दीजाती है भली प्रकार गृहीत हो "वरुणो वै जुम्बकः" इति श्रुतेः । [१३ । ३ । ७ । ५] ॥ ९ ॥

विशेष-यह पापनाशिनी जलके भीतर जपनेसे ब्रह्महत्या दूर होतीहै एकवारभी सका जपकरना हत्या दूर करताहै यह जुम्बकानाम गायत्री है जैसा हारीत कहते

है ''जुम्बका नाम गायत्री वेदे वाजसनेयके । अन्तर्जले सकृज्जप्ता ब्रह्महत्यां व्यपोहति'' यज्ञीय अश्वके सब अंगोंमें देवताओंका भाग है और यज्ञीय अश्व दिव्यगुणसम्पन्न होजानेसे चराचर देवताओंके तृप्त और प्रसन्न करनेमें समर्थ होजाताहै इसकारण घृतद्वारा उसके प्रत्येक अंगका नाम लेकर आहुति देनेसे उसके फलसे १२० देवता प्रसन्न और तृप्तहोते हैं इनके अन्तर्गत सब आजाता है इसप्रकार एकही यज्ञीय अश्व वेदानुसार चराचरके उपकारमें समर्थ होतहै ॥ ९ ॥

(अश्वाङ्गहवन समाप्त)

कण्डिका १०-मन्त्र १. अनु० १० ।

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भः सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ भू॒तस्य॑ जा॒तः पति॒रेक॑ऽआसीत् ॥ स दा॑धार पृथि॒वीन्द्यामु॒तेमाङ्कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १० ॥

दशनादि चार कण्डिका प्रजापतिपुत्र हिरण्यगर्भकी देखीहुई प्राजापत्य पशुअश्वादिकके याज्यानुवाक्य है ।

हिरण्यगर्भेति-इसकी व्याख्या २३ । १ । में होगई ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

यः प्रा॑ण॒तो नि॑मिष॒तो म॑हि॒त्वैक॒ऽइद्राजा॒ जग॑तो ब॒भूव॑ ॥ यऽईशे॑ऽअ॒स्य द्वि॒पद॒श्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ११ ॥

यः प्राणत इति-इसकी व्याख्या २३ । ३ । में होगई ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

यस्ये॒मे हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा यस्य॑ समु॒द्रꣳ र॒सया॑ स॒हाहुः ॥ यस्ये॒माः प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्येम इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । अनुवाक्यमन्त्रपाठे विनि० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(इमे) यह (हिमवन्तः) ऊंचेशिखरवाले हिमाचलादि पर्वत (यस्य) जिसकी (महित्वा) महिमा (आहुः) कहते है तथा (रसया) नदियोंके (सह) साथ (समुद्रम्) सागरको (यस्य) जिसका महत्त्व विद्वानोंने कहाहै (इमाः) यह (प्रदिशः) पूर्वको आदिलेकर सब दिशा (यस्य) जिसकी महिमा कही है (यस्य) जिसकी (बाहू) दोनों भुजा जगत्की रक्षक है अर्थात् सब जगत् जिस परमात्माकी विभूति है (कस्मै) उस अनिर्वचनीय प्रजापति (देवाय) परम देवके निमित्त (हविष) हवि (आविधेम) विधान करते अर्थात् देते हैं अर्थात् सारा जगत् जिसकी महिमा सूचन करता हैं उसके निमित्त हवि देते है (ऋ० ८ । ७ । ३] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

यऽआत्त्मदाबलदायस्यविश्श्वऽउपासतेप्प्रशिषं
ठयस्यदेवाः ॥ यस्यच्छायामृतंठयस्यमृत्युःक
स्मैदेवायहविषाविधेम ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ य आत्मदा इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मंत्रार्थ-(यः) जो परमात्मा (आत्मदाः) उपासक भक्तोंको सायुज्य देता है वा देहमें जीव संचार करता है (बलदाः) सामर्थ्य अथवा भुक्तिमुक्तिका देनेवाला है (विश्वे) सम्पूर्ण मनुष्य (यस्य) जिसका शासन मानते हैं (देवाः) सम्पूर्ण देवता (यस्य) जिसके (प्राशिषम्) शासनको (उपासते) मानते है अर्थात् सब चराचर जिसकी उपासना करते है अग्नि वायु सूर्य प्रभृति देवता-गण जिसके शासनके अधीन है (यस्य) जिसकी (छाया) ज्ञान स्वरूप छायासे (अमृतम्) अमृत-मुक्ति होतीहै (यस्य) जिसका न जान्ना (मृत्युः) मृत्यु जन्म मरणका कारण है अर्थात् जिसकी ज्ञान स्वरूप छाया प्राप्तिसे अमृतत्व लाभ होताहै और जबतक उसका ज्ञान प्राप्त न हो तबतक मृत्युयातना सहन करनी पडतीहै (कस्मै) उस अनिर्वचनिय प्रजापति (देवाय) देवके निमित्त (हविषू) हवि (आविधेम) विधानकरते है ॥ १३ ॥

प्रमाण-"ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवोपयन्ति" इति [श्वेताश्वतरोपनिष० ३ । १०] "यस्य ज्ञेयावधिज्ञानं शिक्षावधि च शासनम् । कार्यावधि च कर्तृत्वं स स्वयम्भूः पुनातु वः । " इति [ऋ० ८ । ७ । ३] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १. अनु० ११ ।

आ नो॑ भ॒द्राः क्रत॑वो यन्तु वि॒श्वतोऽद॑ब्धासो॒ऽअप॑रीतास॒ऽउ॒द्भिदः॑ । दे॒वा नो॒ यथा॒ सद॒मिद्वृ॒धे॒ऽअस॒न्नप्रा॑युवो रक्षि॒तारो॑ दि॒वेदि॑वे ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य गोतम ऋ० । जगती छं० । विश्वेदेवा देवताः । वैश्वदेवयाज्यानुवाक्यमंत्रपाठे वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) यह दश कण्डिका वैश्वदेवसम्बन्धी पुरोडाशके याज्यानुवाक्य हैं । मन्त्रार्थ-(विश्वतः) सब ओरसे (अदब्धासः) निर्विघ्न (अपरीतासः) अज्ञात किसी फलसे अनुमेय होनेवाले (उद्भिदः) यज्ञान्तरोंके प्रगट करनेवाले (भद्राः) कल्याणकारी (क्रतवः) यज्ञ (नः) हमको (आयन्तु) प्राप्त हों (यथा) जिसप्रकार (अप्रायुवः) आलस्यरहित (दिवे) दिन (दिवे) दिन अर्थात् प्रतिदिन (रक्षितारः) रक्षाकरनेवाले (देवाः) देवता (सदमित्) निरन्तर (नः) हमारी (वृधे) वृद्धिके निमित्त (असन्) प्रवृत्तहों, अर्थात् जिन सम्पूर्ण कर्मोंके प्रभावसे फलदानमें आलस्यरहित हमारी उन्नति करनेवाले देवगण प्रतिक्षण हमारी रक्षा करनेमें सन्नद्ध हों [ऋ० १ । ६ । १५] ॥ १४ ॥

विशेष-सोमलताप्रभृति उद्भिद् सामग्रीद्वारा सम्पाद्य यज्ञको उद्भिद् कर्म कहा जाताहै 'अथवा उद्भिदा यजेत' विधिद्वारा विहित उद्भिद्विशेष याग है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

दे॒वानां॑ भ॒द्रा सु॑म॒तिर्ऋ॑जूय॒तां दे॒वाना॑ᳩ रा॒तिर॒भि नो॒ नि व॑र्त्तताम् । दे॒वाना॑ᳩ स॒ख्यमुप॑सेदिमा व॒यं दे॒वा न॒ऽआयुः॒ प्रति॑रन्तु जी॒वसे॑ ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवानामित्यस्य गौतम ऋषिः । जगती छं० । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(ऋजूयताम्) सीधे चलनेवाले सरलस्वभाव वा यजमानकी साधुता चाहनेवाले, वा यजमानकी इच्छावाले (देवानाम्) देवताओंकी (भद्रा) कल्याणी (सुमतिः) श्रेष्ठबुद्धि (नः) हमारे प्रति (अभिनिवर्तताम्) सन्मुख हो (देवानाम्)

देवताओंका (रातिः) दान हमारे सन्मुख हो (वयम्) हम (देवानाम्) देवताओंके (सख्यम्) मैत्रीको (उपसेदिम) प्राप्तहों (देवाः) देवगण (नः) हमारे (आयुः) अवस्था (जीवसे) जीनेके निमित्त (प्रतिरन्तु) वृद्धि करैं [ऋ० १ । ६ । १९ ।] ॥ १९ ॥

सरलार्थ–सरलस्वभाव देवताओंकी स्वाभाविक कल्याणकारिणी सुमति हमारे प्रति नियुक्त हो, ऐसे देवताओंका दानभी हम पानेकी इच्छा करते हैं इनकी मित्रताकी इच्छा करते हैं यह देवता हमारी आयुकी वृद्धि करैं यही प्रार्थना है ॥ १९ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १ ।

तान्पूर्व्वया निविदा हूमहे वयम्भगम्मित्रमदितिन्दक्षमस्त्रिधम् ॥ अर्य्यमणं वरुणꣳ सोमम॒श्विना सरस्वतीनः सुभगा मयस्करत् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तानित्यस्य गोतम ऋषिः । जगती छं० । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ–(वयम्) हम (पूर्व्वया) सनातन अकृत्रिम (निविदा) स्वयं प्रादुर्भूत वेदरूप वाणीसे (अस्त्रिधम्) च्युतिको प्राप्त न होनेवाले (तान्) उन (भगम्) भग (मित्रम्) मित्र (अदितिम्) अदिति (दक्षम्) दक्ष (अर्यमणम्) अर्यमा (वरुणम्) वरुण (सोमम्) सोम (अश्विना) अश्विनीकुमार देवताओंको (हूमहे) आह्वान करते हैं (सुभगा) सुन्दर भाग्यवाली (सरस्वती) वाणीदेवता (नः) हमको (मयः) सुख (करत्) करै [ऋ० १ । ६ । १५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र १ ।

तन्नो वातो मयोभु वातु भेषजन्तम्माता पृथिवी तत्पिता द्यौः ॥ तद्ग्रावाणः सोमसुतो मयोभुवस्तदश्विना शृणुतन्धिष्ण्या युवम् ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तन्न इत्यस्य गोतम ऋषिः । जगती छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(वायुः) वायुदेवता (नः) हमको (तत्) वह (मयोभुवः) सुखकारी (भेषजम्) ओषधी (वातु) वहनकरो अर्थात् वायुदेवता हमारे निमित्त

सुखरूप भेषजरूप प्रवाहित हो (माता) जगत् निर्माता (पृथिवी) भूमि (तत्) सुखकारी भेषजरूप शस्यशालिनी हो (पिता) पालक (द्यौः) स्वर्ग (तत्) वह सुखकारी तेज वा जल विस्तार करैं (सोमसुतः) सोमके अभिषव करनेवाले (मयोभुवः) सुखकारी (ग्रावाणः) ग्रावा (तत्) भेषजरूप अदृष्ट प्रगट करैं (अश्विना) हे अश्विनीकुमार ! (धिष्ण्या) गृहकी समान धारण करनेवाले सर्वाधार (युवम्) तुम दोनों (तत्) उस हमारी प्रार्थनाको (शृणुतम्) सुनकर प्रदान करो, "अश्विनोंसे सूर्य चन्द्रका भी ग्रहण होता है" [ऋ० १।६।१५]॥१७॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

तमीशानञ्जगतस्तस्थुषस्पतिन्धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ॥ पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तमीशानमित्यस्य गोतम ऋषिः । जगती छं० । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(वयम्) हम (तम्) उस प्रसिद्ध (जगतः) जंगम (तस्थुषः) स्थावरके (पतिम्) स्वामी पालक अर्थात् स्थावर जंगम चराचर जगत्के एकमात्र पति (धियञ्जिन्वम्) बुद्धिके सन्तोषकरनेवाले, अर्थात् जिनके प्रभावसे समस्त चेतन प्राणियोंकी चेतना सन्तोषकारिणी होती है उन (ईशानम्) रुद्रदेवको (अवसे) रक्षाके निमित्त (हूमहे) आह्वान करते हैं (यथा) जिस प्रकार (वेदसाम्) वेदज्ञान वा धनोंके (रक्षिता) रक्षा करनेवाले (पायुः) पुत्रादिके पालक (अदब्धः) अविनाशी (पूषा) पोषक देव (नः) हमारी (वृधे) वृद्धि (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (असत्) हों ॥ १८ ॥

सरलार्थ–जो देवता स्थावर जंगम चराचरका एक मात्र अधिपति है जिसके प्रभावसे समस्त सचेतन प्राणियोंकी चेतना सन्तोषकारिणी होती है जो हमारे पोषण कर्ता "विशेषकर आदि अवस्था अर्थात् मातृगर्भमें जीवसंचारके पूर्वसेही पालक" जो हमारे ज्ञानके बढानेवाले 'मध्यम अवस्था अर्थात् ज्ञानोदयकी अवधि जो रक्षक "अन्तिम अवस्था अर्थात् देहत्याग अवधि परलोकमें" जिसके किये कल्याणको मेटनेमें कोई समर्थ नहीं हम उसी परम देवताको आत्मात्प्तिके निमित्त आह्वान करते हैं [ऋ० १ । ६ । १५] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मंत्र १।

स्वस्तिनऽइन्द्रोवृद्धश्श्रवाऽस्वस्तिनः पूषाविश्ववेदाः ॥ स्वस्तिनस्ताक्ष्यौऽअरिष्टनेमिःस्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्वस्तीत्यस्य गोतम ऋषिः। विराट्स्थाना त्रिष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(वृद्धश्रवाः) महत् कीर्तिमान् (इन्द्रः (ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र (नः) हमारे निमित्त (स्वस्ति) कल्याण (दधातु) विधान करै (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (पूषा) सबके पोषण करनेमें कृतकार्य देवता (नः) हमको (स्वस्ति) कल्याण विधान करै (अरिष्टनेमिः) जिसके चक्रधाराकी गति कोई भी रोकनेको समर्थ नही वह (तार्क्ष्यः) अथवा गरुड (नः) हमको (स्वस्ति) कल्याण करें (बृहस्पति) देवगुरु (नः) हमारे निमित्त (स्वस्ति) कल्याण विधान करैं ॥ १९ ॥

विशेष–"बृहतां दृश्यादृश्यसमस्तजगतां पतिर्बृहस्पतिः"। अर्थात् दृश्यादृश्य समस्त जगत्के जो एक मात्र पति हैं वह बृहस्पति हैं और इसी कारण वह परमात्मा सब देवगणके गुरु कहाते है [ऋ० १। ६। १६] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १।

पृषदश्वामरुतःपृश्निमातरःशुभंयावानोविदथेषुजग्मयः ॥ अग्निजिह्वामनवःसूरचक्षसोविश्वेनोदेवाऽअवसागमन्निह ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पृषदश्वा इत्यस्य गोतम ऋषिः। जगती छं०। मरुतो देवताः। वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(पृषदश्वाः) वडवावाहनवाले अथवा सबल कबरे रंगके घोडोंवाले (पृश्निमातरः) द्यौः गौः वा दिति मातासे उत्पन्न (शुभंयावानः) कल्याण करनेवाले (विदथेषु) यज्ञशालाओंमें (जग्मयः) गमनशील (अग्निजिह्वाः) अग्निरूप मुखवाले "अग्निमुखा वै देवाः" इति श्रुतेः। अर्थात् हुतभोजी (मनवः) सर्वज्ञ (सूरचक्षसः) सूर्यरूप नेत्रवाले (मरुतः) मरुत् (विश्वेदेवाः) सब देवता (अवसा) हविलक्षणवालें अन्नके कारण (इह) इस यज्ञमें (आगमन्) आगमन करै ॥ २० ॥

अथवा-उसी परम देवताके विन्दू विन्दू पादरूपी मरुद्गण [अर्थात् जो पाद वर्णनके भी योग्य नहीं] जिह्वास्वरूप मनस्वी सब अग्निशिखा और चक्षुस्थानीय सूर्यप्रभापुञ्ज यह विश्वेदेवानामक देवता इस यज्ञमें आकर तृप्त होकर हमारी तृप्ति करै ॥ २० ॥

प्रमाण-"पृषत्यो मरुन्नाम" [निघं०१।१५।६] [ऋ०१।६।१६] ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १।

भुद्रङ्कर्णेभिः शृणुयामदेवाभुद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहिदेवहितंयदायुः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भद्रमित्यस्य गोतम ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(यजत्राः) हे यजनकरनेवाले यजमानोंके पालक ! (देवाः) देवताओ ! (स्थिरैः) दृढ (अङ्गैः) अवयव करचरणादि (तनूभिः) शरीर वा पुत्रादिसे युक्त होकर (तुष्टुवाᳬसः) तुम्हारी स्तुति करते हुए (कर्णेभिः) कर्णोंद्वारा (भद्रम्) कल्याणयुक्त अनुकूल वार्ताको (शृणुयामः) सुनैं (अक्षिभिः) नेत्रोंसे (भद्रम्) कल्याणको (पश्येम) देखै (यत्) जो कि (देवहितम्) देवताओंकी उपासना योग्य (आयुः) जीवनको (व्यशेमहि) प्राप्त करै [ऋ० १ । ६ । १६] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १।

शतमिन्नुशरदोऽअन्तिदेवायत्रानश्चक्राजरसन्तनूनाम् ॥ पुत्रासोयत्रपितरोभवन्तिमानोमध्यारीरिषतायुर्गन्तोः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शतमित्यस्य गोतम ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) हे देवताओ ! (शतम्) सौ (शरदः) वर्षसेभी (इत्) ऊपर तुम (अन्ति) हमारे समीप हूजिये (यत्र) जिस आयुके मध्य (उ) ही (नः) हमारे (तनूनाम्)शरीरोंकी(जरसम्) जरा अवस्थाको(चक्रा) प्राप्त कराओ (यत्र) जिस आयुके मध्य (नः) हमारे (पुत्रासः) पुत्र (पितरः) पुत्रवाले होकर पिता (भवन्ति) होतेहैं अर्थात् जबतक हम पौत्रवान् हों (गन्तोः) गमन-

शील (आयुः) हमारा जीवन (मध्या) मध्यमें (मा) मत (रीरिषत) नष्ट करै [ऋ० १ । ६ । १६] ॥ २२ ॥

विशेष–मनुष्योंकी आयु प्रतिदिन गमन करती है, परन्तु हे परमात्मन् ! आपके प्रसादसे हमारी आयु मध्यमें नष्ट न हो और सौवर्षतक हमारी इन्द्रिय बलिष्ठ रहैं और आपके प्रसादसे हम पुत्रोंको पितारूपसे देखैं अर्थात् पौत्रका दर्शन करैं । इस मंत्रमें श्रेष्ठ कर्मानुष्ठानके निमित्त इन्द्रियादिकी दृढता प्रार्थना कीहै पूर्वकालमें वैदिक वर्ष आश्विनसे प्रारंभ होताथा इसी कारण वेदमें शरदशब्दका प्रयोग आताहै ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १ ।

अदि॑ति॒र्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्म्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः ॥ विश्वे॑ दे॒वा ऽअदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ ऽअदि॑तिर्जा॒तमदि॑ति॒र्जनि॑त्त्वम् ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अदितिरित्यस्य गोतम ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अदितिर्देवता । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ–(द्यौः) स्वर्ग (अदितिः) अदिति है अर्थात् अखण्डशक्ति है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अदितिः) अदिति है (माता) माता (सः) वह (पिता) पिता (सः) वह (पुत्रः) पुत्र (अदितिः) अदिति है (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण देवता (अदितिः) अदिति है (पञ्चजनाः) मनुष्य (अदितिः) अदिति है बहुत क्या (जातम्) जितना उत्पन्न प्राणिसमूह है और जो(जनित्वम्) उत्पन्न होनेवाला है वह भी अदिति है अर्थात् यह स्वर्गादि सब अदीन होनेके कारण महाभाग्यवान् है ॥ २३ ॥

विवरण–अदितिशब्दका अर्थ अखण्डनीय वा अविनश्वर शक्ति है चराचर सबही अविनश्वरशक्तिसे सम्भूत है इससे धाराप्रवाहरूपसे अविनश्वर है, तब नामरूप मात्र विनश्वर है तो इतनी दीर्घायुके निमित्त इच्छा करनी भी क्या है और मृत्युसे ही भय क्या है यह मंत्र सांख्यमत अर्थात् परिणामवादका उत्पादक है [ऋ० १ । ६ । १६] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १. अनु० १२ ।

मा नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो ऽअ॒र्य्यमा॒युरिन्द्र॑ ऽऋभु॒क्षा म॒रुतः॑

परिख्यन् ॥ यद्वाजिनोदेवजातस्यसप्तेःप्रव क्ष्यामोविदथेवीर्याणि ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मान इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वस्तुतिकरणे वि० ॥ २४ ॥

विधिं-(१) चौवीस मंत्रसे प्रारंभकर उन्तालीस कण्डिकापर्यन्त अश्वस्तुति मंत्रोंमे हवनकरै अनन्तर छः मंत्रोंसे अश्वकी स्तुतिकरै अथवा चौवीससे ४९ मंत्र-पर्यन्त हवन ही करै [का० २० । ८ । ७] मन्त्रार्थ-(विदथे) यज्ञमें (देव-जातस्य) सूर्यसे उत्पन्न "सूराद्श्वं वसवो निरतष्ट" यजु० २९ । १३ । इत्युक्तेः (सप्तेः) देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले (वाजिनः) अश्वके (वीर्याणि) चरित्र (यत्) जो (वक्ष्यामः) कहेंगे (मित्रः) मित्र (वरुणः) वरुण (अर्यमा) अर्यमा आदित्य (आयुः) वायु (इन्द्रः) इन्द्र (ऋभुक्षाः) ऋभुक्षा सर्वव्यापक (मरुतः) मरुत् देवता (नः) हमारी (मा) नहीं (परिख्यन्) निन्दाकरैं [ऋ० २ । ३ । ७] ॥ २४ ॥

विशेष-हमको देवताओंकी ही स्तुति करनी चाहिये, अश्वादि तिर्यक् जीवोंकी नहीं करनीचाहिये इससे अश्वकी स्तुतिकरनेसे 'मित्र' दिनके अभिमानी देवता 'वरुण' रात्रिके अभिमानी देवता आदित्य वायु ऋभुक्षा देवताओंके आधार प्रजापति वा सर्वज्ञ इन्द्र हमारी निन्दा न करै कारण कि, हम जिस अश्वकी स्तुति करतेहै. वह देवांशसे उत्पन्न यज्ञीय पदार्थ, देवताओंका संतोषकारक है और अश्वके लक्ष्य करके हम देवताओंकी स्तुति एकत्र करते है कारण कि, अश्वके शरीरमें पूर्वोक्त देवताओंकी स्थिति है इससे यह देवताओंकी ही स्तुति है ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १ ।

यन्निर्णिजारेक्णसाप्प्रावृतस्यरातिङ्गृभीताम्मुखतो नयन्ति ॥ सुप्प्राङजोमेम्म्यद्विश्वरूपऽइन्द्रापू ष्णोःप्प्रियमप्प्येतिपाथः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यन्निर्णिजेत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय ब्राह्मण (निर्णिजा) स्नानसे और (रेक्णसा) सुवर्णमणिआदिसे (प्रावृतस्य) संस्कारको प्राप्तहुए अश्वके (मुखतः) मुखाग्रमें

(गृभीताम्) ग्रहणकिये (रातिम्) घृतसक्तुधानरूप दानको (नयन्ति) प्राप्तकराते हैं अर्थात् रात्रिहुतशेष देतेहैं तब (सुप्राङ्) ललाटके निकट बंधाहुआ (मेम्यत्) मे मे शब्द करताहुआ (विश्वरूपः) अनेक वर्णवाला (अजः) छाग (इन्द्रापूष्णोः) इन्द्र और पूषादेवताके (प्रियम्) प्रिय (पाथः) अन्नभावको (अप्येति) प्राप्त करताहै ॥ २५ ॥

विवरण—यजमानपत्नियोंने यज्ञीय अश्वके केसर और पुच्छादिमें जो सुवर्ण मुक्तामणि बाँधदी है इससे अश्वको रेक्ण कहते हैं "रेक्ण इति धननाम" [निघं० २ । १० । २ ।] अग्निदेवताके निमित्त जो छाग रक्षित है वह चित्रवर्ण कृष्णग्रीव है इसीसे उसको विश्वरूप कहाहै और ललाटमें बंधन करनेसे यह अश्वके पुरोभागमें है इससे पूर्वको लेजाना होताहै इससेही इसको सुप्राङ् कहा, शब्दकारी नाभिमें बंधनवाला अज है । "सौमा पौष्णः श्यामो नाभ्याम्"इत्युक्तेः । [२४।१] [ऋ० २ । ३ । ७] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६—मंत्र १ ।

एषच्छाग॑÷पुरोऽअश्वेनवा॒जिना॑पू॒ष्णोभा॒गोनी॑यतेवि॒श्वदे॑व्यः ॥ अ॒भि॒प्रियं॒यत्पु॑रो॒डाश॒मर्व॑ता॒त्त्वष्टेदे॑नꣳसौश्र॒वसा॑यजिन्वति ॥ २६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ एषच्छाग इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । त्रिच्यूदार्षी जगती छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ—(यत्) जिस समय (एषः) यह (पूष्णः) अग्निदेवताका (भागः) भागरूप (विश्वदेव्यः) सब देवताओंका हितकारी "आग्नेयोरराटे" [२४ । १ मं०] (छागः) अज (वाजिना) वेगवान् (अश्वेन) अश्वके (पुरः) आगे (नीयते) प्राप्त कियाजाता है तब (त्वष्टा) प्रजापति (इत्) ही (अर्वता) वेगवान् अश्वके द्वारा (अभिप्रियम्) सबप्रकार देवताओंके तृप्त करनेवाले (पुरोडाशम्) पुरोडाशरूप वा प्रथम देनेयोग्य (एनम्) इसको (सौश्रवाय) स्वर्गगमनसे श्रेष्ठकीर्तिके निमित्त (जिन्वति) प्रीति करताहै [ऋ० २ । ३ । ७ ।] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७—मन्त्र १ ।

यद्ध॑वि॒ष्य॑मृतु॒शो दे॑व॒यानं॒त्रिर्मानु॑षाः॒पर्यश्वं॒नय॑न्ति ॥ अत्रा॑पू॒ष्णः प्र॑थ॒मोभा॒गऽए॑तिय॒ज्ञन्दे॒वेभ्यः॑प्रतिवे॒दय॑न्न॒जः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-(यत्) जिस समय (मानुषाः) यज्ञीय ऋत्विज् (हविष्यम्) हवियोग्य (ऋतुशः) प्रति ऋतु अर्थात् यज्ञकालमें (देवयानम्) देवताओंको प्राप्त होने योग्य वा देवयानमार्गमें जानेवाले वा देवताकी समान अनिवारित गतिवाले (अश्वम्) अश्वकी (त्रिः) तीन (परियन्ति) परिक्रमा करते हैं (अत्र) इस स्थलमें (पूष्णः) अग्निका (भागः) भागरूप (अजः) अज (प्रथमः) अग्रगामी होता हुआ (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (यज्ञम्) यज्ञको (प्रतिवेदयन्) अपने शब्दसे जताताहुआ (एति) प्राप्त होता है [ऋ० २ । ३ । ७ ।] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

होताध्वर्युरावयाऽअग्निमिन्धोग्ग्रावग्ग्राभऽउत शꣳस्तासुविप्प्रः ॥ तेनयज्ञेनस्वरङ्कृतेनस्विष्टेनव क्षणाऽआपृणध्वम् ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । होत्रादयो देवताः । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) हवन करनेवाला होता (अध्वर्युः) अध्वर्यु (आवयाः) प्रतिप्रस्थाता (अग्निमिन्धः) आग्नीध्र (ग्रावग्राभः) ग्रावस्तोता (शंस्ता) प्रशास्ता (सुविप्रः) सर्वज्ञ ब्रह्मा (उत) इतने ऋत्विज तुम सब (तेन) उस प्रसिद्ध (स्वरंकृतेन) ब्राह्मणोंको हविदक्षिणादिसे अलंकृत (स्विष्टेन) भलीप्रकार इष्ट (यज्ञेन) अश्वमेधयज्ञद्वारा (वक्षणाः) घृतकुल्यावाली नदियोंको (आपृणध्वम्) पूर्ण करो अर्थात् घृतादि हविसे यज्ञको सम्पादन करो जिससे यज्ञमें घृतकी नदी वहजाय इसप्रकार फलसाधन करो [ऋ० २ । ३ । ७] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

यूपव्व्रस्काऽउत येयूपवाहाश्चषालंयेऽअश्वयूपाय तक्षति ॥ येचार्वतेपचनꣳसम्भरन्त्युतोतेषामभिगूर्त्तिर्न्नऽइन्वतु ॥ २९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यूपव्रस्का इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। ऋत्विजो देवताः। वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ–(ये) जो (यूपव्रस्काः) यूपके निमित्त तरुछेदन करनेवाले हैं (उत) और (ये) जो (यूपवाहाः) यूपके वहन करनेवाले (च) और (अश्वयूपाय) अश्व बांधनेवाले यूपके निमित्त (चषालम्) चषालको (तक्षति) बनाता है(उतो) और (ये) जो (अर्वते) अश्वके निमित्त (पचनम्) पाकसाधन काष्ठ भाण्डादिको (सम्भरन्ति) आहरण करते है (तेषाम्) उन ऋत्विजोंका (अभिगूर्तिः) उद्यम (नः) हमको (इन्वतु) प्रसन्न वा तृप्त करो ॥ २९ ॥

चषाल–यूपके अग्रभागमें कंकणके आकार काष्ठके विकारको चषाल कहते हैं [ऋ० २।३।८] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०–मन्त्र १।

उपप्प्रागात्त्सुमन्न्मेधायिमन्न्मंदेवानामाशाऽउपवीतपृष्ठः ॥ अन्वेनंविप्प्राऽऋषयोमदन्तिदेवानाम्पुष्टेचंकृमासुबन्धुम् ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उपप्रागादित्यस्य दीर्घतमा ऋ०। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ–(मन्म) विचारनेयोग्य वा मनन योग्य फल (सुमत्) स्वयं (उपप्रागात्) समीप प्राप्त हो (मे) वह फल मुझ करके (अधायि) धारण किया गया (वीतपृष्ठः) जिसपर चढनेकी सब कामना करते हैं अथवा पुष्ट पीठवाला यह अश्व (देवानाम्) देवताओंके (आशाः) मनोरथ पूर्ण करनेको (उप) आओ या यह देवताओंकी आशा पूर्ण करो वा देवदिशाओंमें प्राप्त हुआ यह हमने (देवानाम्) देवताओंकी (पुष्टे) पुष्टिके निमित्त (आ) सब प्रकार (सुबन्धुम्) सुबन्धु किया (एनम्) इसको (विप्राः) बुद्धिमान् ब्राह्मण (ऋषयः) मंत्रदर्शी ऋषि (अनुमदन्ति) अनुमोदन करैं ॥ ३० ॥

प्रमाण–"स्वयमित्यर्थे सुमत्" [निरु० ६।२२] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१–मंत्र १।

यद्वाजिनोदामसन्दानमर्वतोयाशीर्षण्यारशुनार

ऊर्जुरस्य ॥ यद्वाघास्युप्प्रभृतमास्ये तृणꣳसर्वाता तेऽअपिदेवेष्ष्वस्तु ॥ ३१ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ यद्वाजिन इत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस (वाजिनः) वेगवान् (अर्वतः) अश्वकी (यत्) जो (दाम) ग्रीवाबन्धनरज्जु (सन्दानम्) पादबंधन रज्जु है (या) जो (शीर्षण्या) शिरोबंधनकी रज्जु हैं (रशना) कटिबंधनकी (रज्जुः) रज्जु है (वा) अथवा (घ) प्रसिद्ध (अस्य) इसके (आस्ये) मुखमें (अपि) भी (यत्) जो (तृणम्) तृण घासादि (प्रभृतम्) धारित हुआ है हे अश्व! (ते) तेरी (ताः) वे सब वस्तु (देवेषु) देवताओंके उपयोगी (अस्तु) हों अर्थात् यह सब देवताओंके उपयोगी हों जिससे वे तुष्ट हों [ऋ० २।३।८] ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मन्त्र १. अनु० १३ ।

यदश्श्वस्यक्क्रविषोमक्षिकाशयद्वास्वरौस्वधितौ रिप्तमस्ति ॥ यद्धस्त्तयोश्शमितुर्य्यन्नखेषुसर्व्वा तातेऽअपिदेवेष्ष्वस्तु ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदित्यस्य दीर्घतमा ऋ० । निचृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-(अश्वस्य) अश्वका (यत्) जो (क्रविषः) घनीभूत मांसवत् शोणित (मक्षिका) मक्खियोंने (आश) भक्षण किया है (यत्) जो रुधिर (स्वरौ) खड्गमें वा यूपकाष्ठ (वा) अथवा (स्वधितौ) शास छुरमें (रिप्तम्) लगाहुआ है (शमितुः) शमन करनेवालेके (हस्तयोः) हाथोंमें (यत्) जो लगा है (नखेषु) नखूनोंमें (यत्) जो लगाहै (ते) तुम्हारे (ताः) वे (सर्वा) सब (अपि) भी (देवेषु) देवताओंमें (अस्तु) हो अर्थात् तुम्हारा सब भाग देवताओंके योग्य है [ऋ० २।३।८] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

यदूवद्ध्यमुदरस्यापवातियऽआमस्यक्क्रविषोगन्धोऽ

अ॒ग्निं ॥ सु॒कृ॒ता तच्छ॑मि॒तारः॑ कृण्वन्तू॒त मेधं॑ शृत॒पाकं॑ पचन्तु ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदित्यस्य दीर्घतमा ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ–इसके (उदरस्य) उदरका (यत्) जो (ऊवध्यम्) आमाशयमें प्राप्त अविपक्व भक्षित तृणादि (अपवाति) लीदरूपसे निर्गत होता है (आमस्य) अपक्व (क्रविषः) मांसकी (यः) जो (गन्धः) गन्ध (अस्ति) है (शमितारः) विशसन करनेवाले (तत्) उसको (सुकृता) सुसंस्कार (कृण्वन्तु) करैं (उत) और (मेधम्) पवित्र (शृतपाकम्) देवयोग्य पाकको (पचन्तु) पाचित करै [ऋ० २।३।८] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मंत्र १।

यत्ते॒ गात्रा॑द॒ग्निना॑ प॒च्यमा॑नाद॒भि शूलं॒ निह॑तस्याव॒धाव॑ति ॥ मा तद्भूम्या॒माश्रि॑ष॒न्मा तृणे॑षु दे॒वेभ्य॒स्तदु॒शद्भ्यो॑ रा॒तम॑स्तु ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋ०। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ–हे अश्व! (निहतस्य) निःशेष हत हुए (ते) तेरे (अग्निना) अग्निद्वारा (पच्यमानात्) पचनक्रियाको प्राप्त होतेहुए (गात्रात्) शरीरसे (यत्) जो रस वा ऊष्मा (अवधावति) निर्गत होती है जो (शूलम्) शूलपरसे (अभि) निर्गत होती है अर्थात् शूलपर पाकसे जो रस निर्गत होता है (तत्) वह (भूम्याम्) पृथ्वीमें (मा) मत (आश्रिषत्) लगो (तृणेषु) तृणोंमें (मा) मत संलग्नहो (तत्) वह पतिततृणलग्नरस (उशद्भ्यः) हविकी इच्छा करनेवाले (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (रातम्) दियाहुआ अर्पित (अस्तु) हो, दिव्य शरीर होकर स्वर्गमें गमन करते अश्वका सम्बोधन है [ऋ० २।३।९] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मंत्र १.

ये वा॒जिनं॑ परि॒पश्य॑न्ति प॒क्वं यऽई॑मा॒हुः सु॑र॒भिर्निर्ह॒रेति॑

ति ॥ येचार्वतोमाᳲंसभिक्षामुपासंतऽउतोतेषां मुभिगूर्त्तिर्नऽइन्वतु ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ये वाजिनमित्यस्य दीर्घतमा ऋ० । स्वराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो देवता वा मनुष्य (पक्वम्) पाक होतेहुए (वाजिनम्) अश्व वा अन्नको (परिपश्यन्ति) देखते हैं (ये) जो (ईम्) भी (इति) इसप्रकार (आहुः) कहते हैं (सुरभिः) सुगंधित पाक हुआ कब होम होगा इस कारण (निर्हर) अग्निके ऊपरसे उतारलो, अथवा हवनकरो (ये च) जो भी (अर्वतः) अश्वकी (मांसभिक्षाम्) हुतशेष मांसकी भिक्षाको (उपासते) उपासना करते है (तेषाम्) उनका (उतो) भी (अभिगूर्तिः) उद्यम वा संकल्प (नः) हमको (इन्वतु) प्रसन्न करै ॥ ३५ ॥

यह मंत्र दोनों पक्षमें लगता है.

जो प्रवीण पाचक दृष्टिपरीक्षासे वाजिकी परिपक्वता जान लेते है वा उससे अधिक प्रवीण जिसकी गन्ध परीक्षासेही परिपक्व जानकर अग्निसे उतारनेका आदेश करते हैं अधिक क्या जो मांसभिक्षाकी उपासना करते हैं उनका उद्यम हमको प्रीत करै ॥ ३५ ॥

देवपरत्व अर्थ-जो देवता वाजीको पक्व देखते है कब होम होगा, और जो विलम्ब देखकर सुगंधित पाकहुआ हमारे निमित्त दो ऐसा कहते हैं जो हुत वाजीकी मांसभिक्षाकी उपासना करते हैं उनका संकल्प हमको सफल हो [ऋ० २ । ३ । ९] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६ मंत्र १ ।

यन्नीक्षणम्माᳲंस्पचन्न्याऽउखायाया पात्राणि यूष्णऽआसेचनानि ॥ ऊष्मण्यापिधानाचरूणामङ्काः सूनाः परिभूषन्त्यश्वम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यन्नीक्षणमित्यस्य दीर्घतमाऋ० । निच्यृदार्षी पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जो (मांसपचन्याः) मांस पचन करनेवाली (उखायाः) हांडीका (नीक्षणम्) निरन्तर देखना है, (यूष्णः) पक्व रसके (आसेचनानि)

रखने योग्य (या) जो (पात्राणि) पात्र हैं (चरूणाम्) चरुपूर्णपात्रोंके (ऊष्मण्या) ऊष्माधारक (अपिधाना) जो ढक्कन है (अङ्काः) चिह्नके साधन वेतसनिर्मित बंधन (सूनाः) विशसनके साधनभूत छुराआदि (अश्वम्) अश्वको (परिभूषन्ति) सब प्रकार अलंकृत करते है [ऋ० २।३।९] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मन्त्र १ ।

मा त्त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिर्म्मोखा भ्राजन्त्यभि विक्तजघ्रिः ॥ इष्टं वीतमभिगूर्त्तं वषट्कृतन्तन्देवा सः प्प्रतिगृभ्णन्त्यश्श्वम् ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ मात्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वस्तुतौ वि० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ–हे अश्व ! (धूमगन्धिः) अल्पधूमवाला (अग्निः) अग्नि (त्वा) तुझको (मा) मत (ध्वनयीत्) शब्दितकरो कारण कि अग्निपर पाक होनेसे शब्द होता है (भ्राजन्ती) अतितापसे दीप्यमान (जघ्रिः) गंध ग्रहण करनेवाली (उखा) उखापात्र (मा) मत (अभिविक्त) चलायमान हो (तम्) उस (इष्टम्) प्रयाज मंत्रोंसे पूजित (वीतम्) आप्री मंत्रोंसे पर्यग्निकृत (अभिगूर्त्तम्) येयजामहेद्वारा निरन्तर संकल्पित (वषट्कृतम्) वषट्कारसे संस्कृत (अश्वम्) अश्वको (देवासः) देवता (प्रतिगृभ्णन्ति) ग्रहण करते है [ऋ०२।३।९] ॥३७॥

कण्डिका ३८–मंत्र १ ।

निक्क्रमणन्निषदनं विवर्त्तनं यच्च पड्वीशमर्व्वतः ॥ यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्व्वा ता तेऽअपि देवेष्ष्वस्तु ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ निक्रमणमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्म्युष्णिक्छं० । अश्वो दे० । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मंत्रार्थ–(अर्वतः) अश्वका (यत्) जो (निक्रमणम्) निकलनेका स्थान है (निषदनम्) जो बैठनेका स्थान है (विवर्तनम्) जो इधर उधर लोटनेका स्थान है (च) और (यत्) जो (पड्वीशम्) पादबंधन है (च) और (यत्) जो (पपौ) जल पिया है (च) और (यत्) जो (घासिम्) घासको (जघास) खाया है (ता) वह (सर्वा) सब (ते) तेरी क्रिया (अपि) भी (देवेषु) देवताओंमें (अस्तु) प्राप्तहो सब भांति इससे देवता प्रसन्न हों [ऋ० २।३।९] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९–मन्त्र १।

यदश्वा॑यवास॑ऽउपस्तृ॒णन्त्य॑धीवा॒सं॑ऽया हिर॑ण्यान्य॒स्मै ॥ सुन्दानुमर्व॑न्तम्पड्वी॒शम्प्रि॒या दे॒वेष्वा यां॑मयन्ति ॥ ३९ ॥ [८]

ऋष्यादि–(१) ॐ यदित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । स्वराडार्षी पंक्तिश्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ–(अस्मै) इस (अश्वाय) अश्वके निमित्त (यत्) जो (आधिवासम्) उढानेका (वासः) वस्त्र है (या) जो (हिरण्यानि) पुच्छकेशरमें अर्थात् सुवर्ण मणिमुक्तादि हैं (सन्दानम्) शिरोबन्धन(पड्वीशम्) पादबन्धनको (उपस्तृणान्ति) ऋत्विजादि धारण कराते वस्त्रादिसे आच्छादन करते हैं (प्रिया) उन सब प्रिय वस्तु और (अर्वन्तः) अश्वको (देवेषु) देवताओंमें (आयामयन्ति) ऋत्विज देवताओंको प्राप्त कराते हैं यह वस्तु देवताओंको प्रिय है [ऋ० २।३।१०]॥३९॥

कण्डिका ४०–मंत्र १।

यत्ते॑ सा॒दे मह॑सा॒ शूकृ॑तस्य॒ पार्ष्ण्या॑ वा॒ कश॑या वा तु॒तोद॑ ॥ स्रु॒चेव॒ ता ह॒विषो॑ऽअध्व॒रेषु॒ सर्वा॒ ता ते॒ ब्रह्म॑णा सूदयामि ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यत्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । निच्युदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–हे अश्व! (शूकृतस्य) शूशब्द करतेहुए (ते) तेरे (महसा) वेगसे (सादे) गमन करनेमें सवारने (पार्ष्ण्या) पादके अधोभागमें (वा) या (कशया) कोडेसे (वा) भी (यत्) जो कुछ (तुतोद) पीडा दी है (ते) तेरी (ता) वह (सर्वा) सब पार्ष्णिकशाताडनादि (अध्वरेषु) यज्ञोंमें (ब्रह्मणा) मंत्रोंसे (सूदयामि) दूरकरता अर्थात् आहुतिरूपसे कल्पना करताहूं (इव) जिस प्रकार अग्निके तापसे (स्रुचा) स्रुवसे (ताः) वे सब (हविषः) हवि आज्यादिक सब क्षरित होजाती हैं "इसी प्रकार तेरे अंगसे क्लेश दूर करताहूं" [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मन्त्र १।

चतु॑स्त्रि॒ꣳशद्वा॒जिनो॑ दे॒वब॑न्धो॒र्वङ्क्री॒रश्व॑स्य॒ स्वधि॑ं

तिꣳसमेति ॥ अच्छिद्रागात्रावयुनाकृणोतपरुꣳष्पपरुरनुघुष्यावि शस्त ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चतुस्त्रिंशादित्यस्य दीर्घतमा ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(स्वधितिः) असि (वाजिनः) वेगवान् (देवबन्धोः) देवताओंके प्रिय (अश्वस्य) अश्वकी (चतुस्त्रिंशत्) चौंतीस (वङ्क्रीः) पार्श्व अस्थियोंको पृथक् करनेको (समेति) प्राप्त होता है इस कारण हे ऋत्विजो ! (वयुना) ज्ञानपूर्वक अश्वके (गात्रा) शरीरके अंगोंको (अच्छिद्रा) छिद्ररहित (कृणोत) करो अर्थात् छेदनसे जो छिद्र हुए थे उनको अच्छिद्र करो (परुः परुः) प्रत्येक वङ्क्रीको (अनुघुष्य) नाम ले लेकर (आ) सबप्रकार (विशस्त) विशसन करो [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ताद्वायन्तारा भवतस्तथऽऋतुः ॥ यातेगात्राणामृतुथाकृणोमिताताषिण्डानाम्प्रजुहोम्यग्नौ ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एक इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मंत्रार्थ-(त्वष्टुः) दीप्तिमान् (अश्वस्य) अश्वका (आविशस्ता) विशसन करनेवाला (एकः) एक (ऋतुः) कालरूप ऋतु है अर्थात् कालात्मा प्रजापति है (तथा) इसी प्रकार (यन्तारा) नियमन करनेवाले (द्वा) दो द्यावापृथ्वीके अधिष्ठात्री देवता (भवतः) होते हैं (ते) तेरे (गात्राणाम्) गात्रसम्बन्धी (पिण्डानाम्) पिण्डोंके (या) जो खण्ड (कृणोमि) करताहूं (ऋतुथा) वसन्तादि यज्ञकालमें (ताता) वेवे सब (अग्नौ) अग्निमें (प्रजुहोमि) हवन करताहूं ॥ ४२ ॥

विशेष-अकालमें कुछभी नहीं होता जिससमय जो घटना होतीहै वह कालसेही होती है अश्वमेधमें अश्वाङ्ग हवनकी आवश्यकता है इस कारण विशसन कियाहै, इस्से यह यज्ञीय ऋतुकालही इसके विशसनमें कारण है हम निमित्तमात्र हैं, प्राचीन विज्ञानी महर्षि मृत्युका कारण देखलेतेथे जिस अश्वकी यज्ञान्त आयु होतीथी उसीसे यजन करतेथे [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

मात्त्वांतपत्प्प्रियऽआत्त्माप्पियन्तम्मास्वधितिस्तुन्वऽआतिंष्टिपत्ते ॥ मातेंगृध्नुरंविशस्तातिहायंच्छिद्राग्गात्त्राण्यसिन्नामिथूंकः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मात्वेत्यस्य दीर्घतमा ऋ० । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वस्तुतौ विनि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) विज्ञानात्माके प्रति कथन । मन्त्रार्थ-हे अश्व ! भोगायतन होनेसे (प्रियः) प्रिय (आत्मा) यह देह (अपियन्तम्) देवलोकको गमन करते हुए (त्वा) तुझको (मा) मत (तपत्) सन्तापित करो (स्वधितिः) छुरिका (ते) तुम्हारे (तन्वः) शरीरको (मा) मत (अतिष्ठिपत्) स्थापित करो अर्थात् सब देवताओंके निमित्त प्रदान करो (गृध्नुः) लोभकी इच्छासे (विशस्ता) विशसन करनेवाला (ते) तेरे (गात्राणि) अंगोंको (अतिहाय) शास्त्रोक्त क्रमको छोडकर (असिना) असिद्वारा (मिथू) वृथा (उ) ही (छिद्रा) छिद्र (मा) न (कः) करे [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

नवाऽउऽएतन्म्रियसेनरिष्ष्यसिदेवाँ२ऽइदेंषिपुथिभिः सुगेभिः ॥ हरींतेयुञ्जापृषंतीऽअभूतामुपास्थाद्वाजीधुरिरासंभस्य ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नवा इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (एतत्) यह तुम (उवै) अवश्यही (न) नहीं (म्रियसे) मरते हो अर्थात् और अश्वोंकी समान नहीं मरते हो (न) नहीं (रिष्यसि) व्यर्थ हिंसाको प्राप्त होते हो किन्तु दिव्यशरीर होकर(सुगेभिः)सुन्दरगमनयोग्य(पथिभिः) देवयान मार्गोंसे (देवान्) देवताओंके (इत्) प्रति (एषि) गमन करते हो (ते) तेरे निमित्त (हरी) इन्द्रके दोनों घोडे "हरी इन्द्रस्य" इति यास्कः। (निघं०१।१५ २] (युञ्जा) रथमें युक्त (अभूताम्) हों तथा (पृषती) मरुतोंके वाहनभूत "पृषत्योमरुताम्" इति [निघं० १ । १५ । २] मृग तेरे रथमें युक्त हों (रासभस्य) अश्विके वाहनकी (धुरि) धुरीमें (वाजी) जो घोडा है वह (उपास्थात्)

तुझको प्राप्त होता है अर्थात् तेरे देवत्वको प्राप्त होनेपर तेरे वहनके निमित्त इन्द्रादि अपने वाहनोंको भेजते है अथवा उस उस देवभावको प्राप्त हुए तुझको वह वह वाहन वहन करते हैं ॥ ४४ ॥

विशेष–इस स्थलमें 'उ' और 'वै' शब्दसे परमात्माने जताया है कि अवश्य यज्ञीय अश्व देवरूप होकर स्वर्गमें गमन करता है उसका दिव्यरूप होजाता है इस कारण इसको हिंसा वा मृत्यु नहीं कह सकते [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मंत्र १. अनु०१५ ।

सुगव्यन्नो वाजी स्वश्व्यम्पुꣳसः पुत्राँ२ऽउत विश्वापुषꣳ रयिम् ॥ अनागास्त्वन्नोऽअदितिः कृणोतु क्षत्रन्नोऽअश्वो वनताꣳ हविष्मान् ॥ ४५ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐ सुगव्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । विराडार्षी त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

विधि–(१) याचनामंत्र, जिससमय वाजी दिव्य शरीरको प्राप्त होता है उस समय उसके प्रति उपकारसे प्रत्युपकारकी प्रार्थना है । मन्त्रार्थ–(वाजी) देवभावको प्राप्त हुआ यह घोडा (नः) हमारे (सुगव्यम्) शोभन गोसमूह (स्वश्व्यम्) सुन्दर अश्वसमूहोंको (पुंसः) पुरुषार्थसाधक (पुत्रान्) पुत्रोंको (उत) और (विश्वापुषम्) सम्पूर्ण जनोंके पोषण करनेमें समर्थ (रयिम्) धनको (कृणोतु) सम्पादन करो और (नः) हमको (अनागाः) पापरहित (त्वम्) तुम (कृणोतु) करो कारण कि, पापयुक्त होनेसे उक्त फलकी प्राप्ति नहीं होती (हविष्मान्) देवताओंका हविरूप वा हविभूत अवयववाला (अदितिः) दीनता वा खंडतारहित दिव्यरूप (अश्वः) अश्व (नः) हमारे (क्षत्रम्) बलको (वनताम्) सबसे अधिक करो ॥ ४५ ॥

विशेष–अथवा यह समस्त अदिति है विनाशरहित है इससे अश्वकाभी विनाश नहीं है इस कारण हमको निरपराधी जानकर हमारे अभीष्ट सम्पादन करो देवता दिव्यशक्ति होनेसे अभीष्ट सम्पादन कर सकते हैं, इससे देवरूप हो जानेसे अश्वसे अभीष्ट सम्पादनकी प्रार्थना की, अथवा यज्ञीयअश्व प्रजापतिदेवता सम्बन्धी है इस कारण अश्वके उपलक्ष्यमें प्रजापति परमात्मासे प्रार्थना है [ऋ० २ । ३ । १०] ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र ३ ।

इमा नु कम्भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ॥

आदित्यैरिन्द्रःसगणो मरुद्भिरस्मभ्यं भेषजा करत् ॥ यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह सीषधाति ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमानुकमित्यस्य आयुपुत्रभौवन ऋषिः । द्विपदा छं० । विश्वेदेवा देवताः । आहुतिदाने वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) अनन्तर लोहपात्रस्थित रक्तचरुके हवन उपरांत इस कण्डिकात्मक तीन मंत्र और परकण्डिकात्मक तीन मंत्रोंसे ६ साकल्य आहुतिसे हवन करै [का० २० । ८ । १२] मन्त्रार्थ-(इमा) यह (भुवना) सम्पूर्ण भुवन (नुकम्) अवश्यही परापरको (सीषधाम) साधन वा वशीभूत करते हैं (इन्द्रः) ऐश्वर्यसम्पन्न (सगणः) परिवारसहित (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (विश्वेदेवाः) सम्पूर्ण देवता (आदित्यैः) बारह आदित्य (मरुद्भिः) ४९ मरुतोंके सहित (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (भेषजा) ओषधी हितकारी (करत्) करै अर्थात् यह समस्त भुवन और इन्द्र तथा परापर सब देवताओंको इस आहुतिद्वारा वश करते हैं १ आदित्यगण मरुद्गणके सहित सगण इन्द्रदेव हमको भेषज प्रदान करैं २ (इन्द्रः) इन्द्र परमात्मा सच्चिदानंद (आदित्यैः) आदित्योंके सहित (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ (तन्वम्) शरीरको (च) और (प्रजाम्) पुत्रआदिको (सीषधाति) वशीभूतकरो अर्थात् ज्योतियोंसहित परमात्मा प्रसन्न होकर हमारे यज्ञ नीरोग शरीर और प्रजा प्रदान करो ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७-मन्त्र १ ।

अग्ने त्वन्नो ऽअन्तम ऽउत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ वसुरग्निर्वसुश्रवा ऽअच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिन्दाः ॥ तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ४७ ॥ [१५]

इति वाजसनेयिशुक्लयजुस्संहितायां पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्ने त्वं नो इसकी व्याख्या ३ । २५-२६ में होगई ॥ ४७ ॥

विधि-(१) "समिद्धो अञ्जन् २९ । १ आश्वमेधिकोऽध्यायः" इस वचनसे हवनमें मंत्रोंका प्रयोग है अर्थात् २९ अध्यायतक आगे इसीका परिशेष है-

भावार्थ–हे वरणीय अग्ने ! 'परमात्मन्' तुम हमारे निकट स्थित हो, त्राता और कल्याणकारी हो । १ हे अग्ने ! तुम वसुनामसे प्रसिद्ध वसु वर्षक रूपसे हमारे समीप सम्मिलित हो द्युतिमान् वसु प्रदान करो । २ हे दीप्तिमान् ! सबके दीप्तिकरनेवाले अग्निरूप परमात्मन् ! इन ऋत्विग्जनोंके सुखनिमित्त तथा अपने सुखको तुम्हारे निकट नित्य प्रार्थना करते है ॥ ४७ ॥

विशेष–एकवर्ष २७ दिनमें अश्वमेध यज्ञ पूर्ण होजाताहै यही यज्ञ उपनिषदोंमें उपासना ज्ञानमें लाकर रूपान्तरसे वर्णन कियाहै यथाहि–"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः सूर्य्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्मा अश्वस्य मेध्यस्य द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथ्वी पाजस्यम् । दिशः पार्श्वे अवान्तरादिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्द्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्द्धो निम्लोचञ्जघनार्द्धो यद्विजृम्भते तद्विद्योतते । यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

अहर्वा अश्वम्पुरस्तन्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रा रेनम्पश्चान्म हिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्व महिमानावभितः सम्बभूवतुर्हयो भूत्वा देवान् वहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः" [बृह० १ ब्रा०] ॥ २ ॥

"सोकामयत मेध्यं म इदं स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति । ततोऽश्वसमभवद्यद्श्ववत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वमेष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद। तमनवरुद्ध्यैवामन्यत । तं संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत । पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्त । एष हवा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽयमग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सा पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युञ्जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति य एवं वेद" [बृहदा० ब्रा० २] ॥३॥

यज्ञके योग्य घोडेका शिर उषाकालहै, सूर्य चक्षु है, वायु प्राणहै, जठराग्नि फैला हुआ मुख, सम्वतसर शरीर, नाक मदरा, द्युलोक पीठ, अन्तरिक्ष लोक पेट, पृथिवी पादस्थानी, पूर्वादि दिशा वगलें, अवान्तरादिशा पसली, छः ऋतु छः अंग, [चारटांग शिर और मदरा] बारहमहीने चौवीस पक्ष सब छत्तीस पर्वनाम सन्धिस्थान, एक २ वर्षके अहोरात्र देव एकमहीनेके, एकमहीनेके पितरोंके, तथा आठ पहरके मनुष्योंके यह देवता पितर और मनुष्य सम्बन्धी

तीनो प्रकारके दिनरात प्रनिष्ठा नाम अश्वके पगहैं. नक्षत्र अश्वकी हड्डियां आकाशके मेघ अश्वका मांस, ऊवध्य-खाया हुआ अधपचा घासादि वालूरूप, नदियांही गुदारूप, पर्वतही यकृत प्लीहारूप है ओषधिवनस्पतिही रोमरूप हैं, मध्याह्नसे पहले सूर्यका ऊपरको चढना, अश्वका पूर्वार्द्धनाम नाभिसे ऊपरका भागहै. मध्याह्नसे सन्ध्यातक अश्वका पिछाडीका भागहै, विद्युतका चमकनाही अश्वका जंभाई लेनाहै, वादलोंका गर्जना अश्वका शरीर कंपानाहै, मेघका वर्षना अश्वका मूत्रकरनाहै, संसारमें नानाप्रकारके शब्द अश्वकी वाणीहै १ अश्वमेध यज्ञमें अश्वके पूर्व पश्चिम दोनो ओर सुवर्ण और चांदीके चमसाकार दोग्रह स्थापित किये जातेहैं, उनमें दिनरूप सुवर्णका ग्रहहै. इसकालात्मक प्रजापति वा विराट्के पूर्व भागमें एक महिमा अश्वको लक्षित करके हुई है, उसदिन रूप ग्रहके स्थापनका स्थान पूर्व समुद्रहै, अश्वसे पश्चिमकी ओरका ग्रह रात्रिरूप महिमा अश्वको लक्षित करके हुई है, उस राजतग्रहके स्थापनका स्थान पश्चिम समुद्रहै, यह सौवर्ण राजतग्रहस्थानी दिनरातरूप दोमहिमा अश्वके दोनो ओर पूर्व पश्चिम ओर हुई हैं, कालात्मक प्रजापति वा अश्वने अनेकरूप धारण कियेहै, हय, वाजी, अर्वा, अश्व ये घोडोंके अवान्तर भेदहैं, सबसे अधिक तेज सवारीका नाम अश्वहै, देवलोकमें जहां स्थूलपंचभूतोंकी सृष्टि नहीं है वहां सूक्ष्म भूतोंका अश्वाकृति हय कहाताहै, मर्त्यलोकमें यह नाम गौण है, गन्धर्वलोकमें यह अश्वाकृति वाजी कहाताहै, असुर लोकमें यह अर्वा और मनुष्यलोकमें अश्व कहाताहै इस कालात्मक प्रजापतिरूप अश्वका समुद्रनाम परमात्माही बांधनेवाला (बन्धु) है, और परमात्माही कारणहै इसलिये यह कालात्मक प्रजापति अश्व शुद्ध और सनातन है. जब कि सूर्य वायु प्राण अग्निमुख अश्वका पूजन इस यज्ञमें होताहै तभी यह सर्वश्रेष्ठ अश्वमेध है ।

फिर सूर्य ही अश्वमेध है संवत्सरः इसका आत्मा है यह अग्निही अर्क है यह लोकः इसके इसके आत्मा हैं यही मृत्युको दूरकरताहै जो इसको जान्ताहै उसको मृत्यु नहीं आती वह मृत्युका आत्मा होजाताहै वह देवताओंमे एक होताहै सर्वाᳬंह वै पापकृत्याᳬंसर्वा ब्रह्महत्यामपहन्ति योऽश्वमेधेन यजते" [श० १३ । ३ । ६ । १] सब पाप और सबप्रकारकी ब्रह्महत्या दूर होतीहै जो अश्वमेधसे यजन करताहै जो इसके तात्पर्यको जान्ताहै वही जान्ताहै "यो ब्राह्मणः सन्नश्वमेधस्य न वेद सोऽब्राह्मणः" [श० १३ । ४ । २ । १७] जो ब्राह्मण होकर अश्वमेधको नहीं जान्ता वह यथार्थमें नामधारण

करताहै अर्थात् नाममात्रका ब्राह्मण है, इससे अश्वमेधको इसके अध्यात्मादिको ब्राह्मणको अवश्य जानना चाहिये शत० १३ अध्यायमें अश्वमेधका पूर्णरूपसे विवरण कियाहै ।

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पंडितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्येऽश्वमेधकथनं नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

अश्वमेधः समाप्तः ।

अथ षड्विंशोऽध्यायः २६.

अग्निश्चपंचदशोच्चातएकादशद्वौषड्विꣳशत् ॥

कण्डिका १–मंत्र ९. अनु० १ ।

अ॒ग्निश्च॑पृथि॒वीच॒सन्न॑तेतेमे॒सन्न॑मताम॒दो॒वा॒युश्चा॒न्तरि॑क्षञ्च॒सन्न॑तेतेमे॒सन्न॑मताम॒दऽआ॑दि॒त्यश्च॒द्यौ॒श्च॒सन्न॑तेतेमे॒सन्न॑मताम॒दऽआप॑श्च॒वरु॑णश्च॒सन्न॑तेतेमे॒सन्न॑मताम॒दः॥स॒प्तस॒ꣳसदो॑ऽअ॒ष्टमी॑भू॒तसा॑धनी॒सका॑माँ२ऽअध्व॑नस्कुरु॒सञ्ज्ञा॒नंम॑स्तु॒मे॑मुना॑ ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१–२–३) ॐ अग्निश्च वायुश्च आपश्चेति विवस्वानृषिः । गायत्री छं० । लिङ्गोक्ता देवताः । प्रार्थने वि० (४–५) ॐ आदित्यश्च सप्तसंसदः सकामानितिमंत्रयोः प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । प्रार्थने विनियोगः ॥ १ ॥

विवरण–इषेत्वासे आरंभ करके दर्शपौर्णमास, पितृयज्ञ, अग्निहोत्र, उपस्थान, अग्निषोमीय पशु, चातुर्मास्य, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अग्निचयन, सौत्रामणि और अश्वमेधसंबंधी मंत्रोंका व्याख्यान किया, यह सब अध्वर्युद्वारा विहित होते हैं शेष २६ अध्यायसे ३९ अध्यायपर्यन्त खिल कहाते है इनका विनियोग यज्ञ वा विशेष विधानानुसार यज्ञविशेष वा फलविशेषकी कामनामें आवश्यक है "आदित्यानीमानि यजूंषि व्याख्यायन्ते" इति [५ । ५ । ३३ बृहदारण्यक०] "याज्ञवल्क्यो वा याज्ञवल्क्येन व्याख्यायन्ते" इति श्रुतेः ।

मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि (च) और (पृथिवी) भूमि (च) भी (सन्नते) परस्पर अनुकूलतासे प्रवृत्त हैं अर्थात् अग्नि और पृथ्वी जिस प्रकार भोगके निमित्त सङ्गत हैं इससे मैं कहताहूं (ते) वे दोनों (मे) मेरे (अदः) अमुक कामनाको (सन्नमताम्) वशवर्ती करो अर्थात् इनके सहित हमारी भी इसी प्रकार सन्नति हो (च) और (वायुः) वायु (च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (सन्नते) जिसप्रकार परस्पर सन्नत हैं (ते) वे दोनों (मे) मेरे (अदः) अमुक कार्यको (सन्नमताम्) वशवर्ती करो अर्थात् इनके सहित हमारीभी इसीप्रकार सन्नति हो (च) और (आदित्यः) आदित्य (च) और (द्यौः) द्युलोक (सन्नते) जिसप्रकार परस्पर वशवर्ती हैं (ते) वे (मे) मेरे (अदः) अमुक कार्यको (सन्नमताम्) परस्पर वशवर्तीकरें अर्थात् इनके सहित हमारी भी इसी प्रकार सन्नति हो (च) और (आपः) आप जल (च) और (वरुणः) वरुण (सन्नते) परस्पर सन्नत है (ते) वे (मे) मेरे (अदः) अमुक कार्यको (सन्नमताम्) वशवर्ती करो हे परमात्मन्! जिस आपके (सप्त) सात (संसदः) अधिष्ठान अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, अप, वरुण है और (अष्टमी) आठवीं (भूतसाधनी) प्राणियोंकी उत्पादक तथा आधारस्वरूप भूमि है इन सबके अधिष्ठानभूत तुम (अध्वनः) हमारे मार्गोंको (सकामान्) सफल (कुरु) करो अर्थात् जिन मार्गोंमें हम जायँ मनोरथ प्राप्त हो (मे) मेरी (अमुना) इस समस्तसे वा इष्टसे (सञ्ज्ञानम्) संगति (अस्तु) हो अर्थात् हे देव! पथस्वरूप सप्त संसत् और अष्टमी भूतसाधनी बुद्धिको हमारे अधीन करो इस सबसे हमको सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो अथवा विज्ञानात्माके प्रति कहते हैं कि, हे विज्ञानात्मन्! जिस आपके 'सप्तसंसदः' पांच ज्ञानइन्द्रिय मन और बुद्धि यह सात स्थान हैं और "अष्टमी भूतसाधनी" आठवीं प्राणियोंको वश करनेवाली (वाक्)वाणी है सो आप हमारे मार्गोंको सकामकरो इसके सङ्ग मेरी संगति हो ॥ १॥

विवरण-पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, और जल यह चार स्थान हैं पृथ्वीका अन्तर्देवता अग्नि, अन्तरिक्षलोकका अन्तर्देवता वायु, द्युलोकका अन्तर्देवता आदित्य और जल समुद्रका अन्तर्देवता वरुण है यद्यपि अग्नि सर्वत्र है तथापि पार्थिव वस्तुके आश्रय किये विना उसकी स्थिति संभव नहीं, कोई भी पार्थिव वस्तु विशेष कर अग्निकी सत्ताके विना स्थित नहीं रहसकती इसीप्रकार अन्तरिक्ष और वायुआदि जानने, वायुकी स्थिति अन्तरिक्षमें है इत्यादि इस कारण इनकी आश्रयाश्रयीभावमें वा उपकार्योपकारी भावमें परस्पर सन्नति अर्थात् नित्यसम्बन्ध जानना इसके सहित अर्थात् निरन्तर सर्वत्रस्थायी इस परब्रह्मके सहित इसी प्रकार सन्नति नित्य सम्बन्ध युक्त है, उसकेही स्फुट ज्ञान अर्थात् स्पष्टरूप निःसंशय

प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं, हमारी मनबुद्धि इसी प्रकार उसमें संलग्न हो, इस मंत्रमें यह विशेषतासे दिखाया है कि, चार स्थानोंके देवता परमात्माकी सत्तासे अपने२ लोकोंको धारण कर रहे है, और इनमें सर्वत्र परमात्मा अधिष्ठित है, और इन्हीं स्थानोंके सारांशसे शरीरइन्द्रिय निर्मित है, इस कारण वही शरीरमें परस्परसम्ब-न्धता जानो, और उसी प्रकार परमात्मा अधिष्ठित है। १ संसत् शब्दका अर्थ स्थान है, इस स्थानमें बुद्धिका अधिष्ठान स्थान चक्षु १ श्रोत्र २ नासिका ३ रसना ४ वाक् ५ पायु ६ उपस्थ ७ यह दुर्दम्य इन्द्रिय जानी जाती है, इन सात स्थानके द्वाराही बुद्धिकी गति प्रगट होती है, इसी कारण इनको पथभी कहते है यह सप्त भूत जिसके साधन हैं, अर्थात् कार्यानुष्ठानके कारण हैं इस बुद्धिको इसीसे भूत-साधनी अष्टमी कहते है, उक्त अष्टक हम स्वाधीन भावसे प्रयुक्त नहीं करसकते, इसीके अधीन होकर पापकार्यका अनुष्ठान करते और इसीसे सर्वोत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं, इसीसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, सो उसके लाभ करनेमें हम समर्थ नहीं, यदि यह अष्टक हमारे अधीन होय तो ब्रह्मसाक्षात्कार हो, अर्थात् पापाच-रणके न करनेसे निर्मल चित्तक्षेत्रमें कार्यका उक्तरूप संज्ञान उत्पन्न होता है ॥१॥

कण्डिका २–मंत्र १।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्याᳬ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यथेमामित्यस्य विवस्वानृषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ–(यथा) जिस प्रकारसे (इमाम्) इस (कल्याणीम्) अनुद्वेग करने-वाली अर्थात् भूतोंके वश करनेवाली कल्याणकारक (वाचम्) वाणीको (ब्रह्मराज-न्याभ्याम्) ब्राह्मण और राजोंके निमित्त (च) और (शूद्राय) शूद्रके निमित्त (च) और (अर्याय) वैश्यके निमित्त (स्वाय) अपने जनोंके निमित्त (अरणाय) पर जिससे वाक्सम्बन्ध नहीं शत्रुआदिके निमित्त (च) और (जनेभ्यः) सम्पूर्ण जनोंके निमित्त (आवदानि) 'दीयतां भुज्यताम्' दिया जाय भोजन किया जाय यह सब ओरसे कहता हूं [प्रियो देवानां लौगाक्षिदृष्टानुष्टुप्] जिससे कि मैं

ब्राह्मणादिके निमित्त कल्याणी वाणी कहताहूं इससे (इह) इस यज्ञ वा संसारमें (देवानाम्) देवताओंका (दक्षिणायै) दक्षिणाके (दातुः) देनेवालोंका (प्रियः) प्यारा (भूयासम्) हूंगा अर्थात् दक्षिणा देनेवाले मुझमें प्रीति करें (मे) मेरा (अयम्) यह इष्ट (कामः) मनोरथ (समृध्यताम्) सफल हो 'अयम्' कहनेसे नाम लेना यह मेरे पुत्र धनादिकी प्राप्ति हों, और (अदः) अमुक कार्य (मा) मुझको (उपनमतु) प्रीति करे ॥ २ ॥

अथवा-यजमान कहता है (दक्षिणायै यथेमां भूतसाधनीं कल्याणीं वाचं जनेभ्यः आवदानि तथा त्वं कुरु इति शेषः) (दक्षिणायै) दान देनेको जनोंके अर्थ (इमाम्) इस सब प्राणियोंको वश करनेवाली (कल्याणीम्) शोभन (वाचम्) वाणीको सबोंसे (आवदानि) कहता हूं अर्थात् दो और भोजन करो इस रूपसे कहता हूं वैसेही तुम भी करो सो किन जनोंके निमित्त है कि, (ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय स्वाय) ब्राह्मण क्षत्रिय शूद्र वैश्य अपने भृत्य तथा (अरणाय) अतिअरपर्श अतिशूद्रादिको अतिप्रिय वचनपूर्वक दो ऐसा करनेसे मैं (देवानाम्) देवताओंका (दातुः) सबके देनेवाले परमेश्वरका (प्रियः) प्रिय हूंगा (इह) इस संसारमें (मे) मेरा (अयम्) धन पुत्र लाभरूप कार्य (समृध्यताम्) समृद्धिको प्राप्त हो (अद उपनमतु) परलोकसुखादि प्राप्त हों ॥ २ ॥

सरलार्थ-हे परमात्मन् ! हम जिस प्रकारसे क्या ब्राह्मण क्या क्षत्रिय क्या वैश्य क्या शूद्र क्या आत्मीय क्या अनात्मीय किसीको भी अकल्याण वाक्य प्रयोग न करें और देवताओंकी दी हुई गुरुकृपाके उपयुक्त प्रिय हों यह हमारी कामना सफल हो यह 'सर्वत्र विराजित ब्रह्म' हमको उपस्थित हो और उसकी विद्यमानतामें हम साक्षात् उसकी उपलब्धि करनेमें समर्थ हों ।

विचार-इस मंत्रके अर्थ करनेमें प्रसंगानुसार यजमानका कथनही विदित होताहै परन्तु दयानंदसरस्वतीआदि कोई २ इस मंत्रमें कल्याणी वाणीसे वेदवाणीका अर्थ करके कहतेहैं कि, वेदका सबको पढने सुननेका अधिकार है परन्तु इस वार्ताकी संगति इस स्थानमें नहीं घटसकती, क्योंकि ऐसा उपदेश आदि वा अन्तमें होना चाहिये था मध्यमें कैसे होसकता है क्योंकि 'इमाम्' यह शब्द-प्रयोग समीप वस्तुका बोधक है सो अभीतक चतुर्वेद विद्या समीप है नहीं, वक्ष्यमाण है और यदि सबके निमित्त वेदविद्याका पढना सुननाही इस मंत्रमें प्रतिपाद्य होता तो 'जनेभ्यः' इतना ही कहना बहुत था और यदि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र कहा तो क्या इनके अन्तरमें 'स्वाय' आत्मीय वा अपने भृत्यगण क्या नहीं आगये फिर 'स्वाय' शब्द वृथा है और 'अरणाय' शब्दभी निरर्थक होजायगा

कारण कि शूद्रका जब यज्ञोपवीतसंस्कारही नहीं है तो उसको वेदविद्या प्राप्त कहां होसकती है, और जब शूद्रही नहीं अध्ययन करसकता तो अतिशूद्रकी तो बातही क्या है निरुक्तमें लिखा है—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेहमस्मि। असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्"। [नि० अ० २ ख० २]

विद्याकी अधिदेवता कामरूप हो वेदवेदांगके ज्ञाता ब्राह्मणसे बोली(गोपाय मा) मेरी रक्षाकरो (अहं) मैं रक्षित हुई (शेवधिः) सुखकी निधि हूंगी, किनसे रक्षाकरनी चाहिये (असूयकाय) पराई निन्दा करनेवाले (अनृजवे) मन वाणी देहकी असमान वृत्तिवाले (अयताय) जिसकी इन्द्रिय काया शुद्ध न हो अर्थात् संस्कारहीनोंको (मा न ब्रूयाः तथा वीर्यवती स्याम्) ऐसोंको मुझे न देना इससे मैं वीर्यवती हूंगी जब संस्कारहीन वेद पढनेका अधिकारी नहीं तो अतिशूद्रको वेद पढना कैसा यह विषय अधिकारप्रकरण भूमिकामें देखलेना, वेदका धर्म सबको प्रतिपाद्य है पढना पढाना संस्कारयुक्तोंके निमित्त है। मंत्रमें भूतसाधनी वाणी है अश्वमेधका उपराम है और "दक्षिणायै दातुः" पद भी साथमें ही पढे है भोजनके उपरान्त दक्षिणा होतीहै और "दीयताम् भुज्यताम्" जो मांगै सो दो और इच्छा भोजन दो यही वाणी चारो वर्ण अपने पराये आदि सबको वशीभूत करसकती है प्रत्यक्ष भी है कि, अन्न और दक्षिणामें सब प्राणी वशीभूत होसकते हैं "अन्नेन वा सर्वे प्राणा महीयन्ते" अन्नसेही सब प्राण महत्त्वको प्राप्त होतेहै प्राणरक्षासेही सब जीव वशीभूत होते हैं अथवा मीठी वाणी ही भूतसाधनी है, यज्ञमें क्रोध न करके सबसे मीठे बोलनेकी आज्ञा है प्रथम मंत्रके दो अर्थ हैं उसमें आठवीं भूतसाधनी भूमि और उससे अधिष्ठित ब्रह्म है और दूसरेमे वाणी है बुद्धिमें परमात्मसत्ता कहकर वह हमको ऐसे शुभ कार्योंमें प्रेरणा करै जिससे हमारे मनोरथ सुफल हों इसी बातको लेकर भी कहते हैं कि," जिसप्रकार हम परमात्माकी स्थिति सबमें मान्ते हैं इसी प्रकार सबको उसकी प्रार्थना करनी चाहिये, जो करते हैं वेदके पढने सुननेका सबको अधिकार है, सो पढने सुननेके अधिकारका यहां कोई प्रसङ्ग नहीं इससे इस स्थलमें अधिकार वा पढने पढानेका प्रसंग लाना भ्रम है ॥ २ ॥

कण्डिका ३ —मन्त्र १।

बृह॑स्पते॒ऽअति॒ यद॒र्य्योऽअर्हा॑द्द्यु॒मद्वि॒भाति॒ क्रतु॑म॒ज्जने॑षु॥ यद्दी॒दय॒च्छव॑सऽऋतप्रजात॒ तद॒स्मासु॒ द्र

विणन्धेहिचित्रम् ॥ उपयामगृहीतोसिबृहस्पतं
येत्त्वैषतेयोनिर्बृहस्पतयेत्त्वा ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ बृहस्पत इत्यस्य मन्त्रत्रयस्य गृत्समद ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । ब्रह्म देवता । बार्हस्पत्यग्रहाभिमन्त्रग्रहणासादनेषु विनियोगः ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके प्रथम मंत्रमें बृहस्पतिके सवनमें बार्हस्पत्य ग्रहाभिमंत्रण दूसरे मंत्रसे उपयाम ग्रहण और तीसरेसे यथास्थानमें स्थापन करै ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतप्रजात) सत्यसे प्रगट (बृहस्पते) हे वेदोंके पालक सर्वाधार ! (तत्) वह (चित्रम्) अनेक प्रकारके (द्रविणम्) धनको (अस्मासु) हम यजमानोंमें (धेहि) स्थापन करो (यत्) जो धन (अर्यः) स्वामी ईश्वरके (अति) अधिकतर (अर्हात्) योग्य है अर्थात् जो धन ईश्वरके सत्कारयोग्य है तथा (द्युमत्) कान्तिमान् है (क्रतुमत्) यज्ञके योग्य है जो (जनेषु) प्राणियोंमें (विभाति) अनेक प्रकारसे शोभित होता है (शवसा) अपने बलसे (दीदयत्) दूसरे धनको लाता है अर्थात् जो धन परमात्माके यजनके उपयोगी है कर्मठजनोंके मध्यमें द्युतिमान् जो अन्तर्बलका उत्पादक, सत्यमार्गका उत्पादक है वह विचित्र धन "ज्ञान" हमारे अन्तःकरणमें स्थापन करो जिससे उपरोक्त सब कार्य साधन हो १ । हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः) उपयामपात्रमें गृहीत (असि) हो (बृहस्पतये) बृहस्पतिकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुमको उपयामपात्रमें ग्रहण करताहूं २ । (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (बृहस्पतये) बृहस्पतिके उद्देश्यसे (त्वा) तुमको इस स्थानमें सादन करताहूं ३ ॥३॥

विवरण-'अर्य' शब्द स्वामीवाचक अन्तोदात्त, वैश्यवाचक आद्युदात्त है यहां अन्तोदात्त है [ऋ० २।६।३१ चित्रमूतक] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

इन्द्रगोमन्निहायाहिपिबासोमंᳯशतक्रतो ॥ विद्यद्भिर्ग्रावभिः सुतम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वागोमतऽएषतेयोनिरिन्द्रायत्त्वागोमते ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐ इन्द्रगोमन्नित्यस्य मन्त्रत्रयस्य रम्याक्षिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । गोसवे यज्ञे ग्रहग्रहणे नियुक्ते सोपयामे वि० ॥ ४ ॥

विधि-(१-२-३) इन कण्डिकाके मंत्रोंसे इन्द्रग्रहाभिमंत्रण दूसरेसे उपयामग्रहण और तीसरेसे स्थापन करै। मन्त्रार्थ-(शतक्रतो) अनन्तकर्म वा सौ यज्ञवाले (गोमन्) धेनु अथवा स्तुति वा किरणोंसे युक्त (इन्द्र) परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ! (इह) इस यज्ञमें (आयाहि) आगमन करो (विग्रद्भिः) विशेष कर खण्डन करनेवाले (ग्रावभिः) पाषाणोंसे (सुतम्) अभिषुत हुए (सोमम्) सोमको (पिब) पान करो १। हे ग्रह ! तुम (उपयामगृहीतः असि) उपयामपात्रमें गृहीत हो (गोमते इन्द्राय) गोमान् इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं २। (एषः) यह (ते) तुम्हारा (योनिः) स्थान है (गोमते इन्द्राय) गोमान् इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको स्थापन करताहूं ३ ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १।

इन्द्रायाहि वृत्रहन्पिबा सोमᳬ शतक्रतो ॥ गोमद्भि ग्र्ग्रावभिः सुतम् ॥ उपयामगृहीतोसीन्द्राय त्वा गोमतऽएष ते योनिरिन्द्राय त्वा गोमते ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायाहीत्यस्य विवस्वानृषिः। भुरिगार्षी जगती छन्दः। इन्द्रो देवता। वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(वृत्रहन्) हे वृत्रघाती ! (शतक्रतो) सौ यज्ञकर्ता (इन्द्र) देवेन्द्र ! आयाहि यहां आइये (गोमद्भिः) स्तुतियुक्त (ग्रावभिः) ग्रावाओंसे (सुतम्) अभिषुत (सोमम्) सोमको (पिब) पानकरो, अथवा हे पापनाशक अनन्तकर्मा परमात्मन् ! हमारे अन्तःकरणमें प्रगट हो स्तुतिसे युक्त प्राणोंसे अभिषुत सोमरूप मनके संकल्पोंको पानकरो उपयामेति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र ३।

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्ज्योतिषस्पतिम् ॥ अजस्रङ्घर्ममीमहे ॥ उपयामगृहीतोसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतावानमित्यस्य प्राद्गुराक्षिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। वैश्वानरो देवता। वैश्वानरीयपुरोनुवाक्यमंत्रपठने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) तीन कंडिकामें वैश्वानरीय पुरोनुवाक्य जानने।

मन्त्रार्थ-(ऋतावानम्) सत्यस्वरूप वा सत्य यज्ञवाले (ऋतस्य) अविनाशी (ज्योतिषः) तेजके (पतिम्) पालक अर्थात् तेजके अधिष्ठानस्वरूप (अजस्रम्) अनुपहिंसनीय (घर्मम्) रौद्रवृष्टिधारा वा दीप्तिकारी (वैश्वानरम्) सब प्राणियोंके हितकारी परमात्मारूप अग्निकी (ईमहे) प्रार्थना करते है १ । हे ग्रह ! (उपयामगृहीतः असि) तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (वैश्वानराय त्वा) वैश्वानरकी प्रीतिके निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं २ । (एष ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है (वैश्वानराय) वैश्वानरकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुझको स्थापन करताहूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र ३ ।

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कम्भुवनानामभिश्रीः ॥ इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ उपयामगृहीतोसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वैश्वानरस्येत्यस्य कुत्स ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वानरस्य) सम्पूर्ण जगत्के हितकारी देवकी (सुमतौ) शोभन बुद्धिमें हम गृहीत (स्याम) हों (हि) जिस कारण कि वह (भुवनानाम्) सम्पूर्ण भुवनों प्राणियोंके (अभिश्रीः) आश्रययोग्य हैं (वैश्वानरः) वैश्वानर (इतः) इस भूलोक वा ज्ञानाग्निसे (जातः) प्रगट हुआ (इदम्) इस (विश्वम्) चराचर जगत्को (विचष्टे) देखताहै (सूर्येण) सूर्यके सहित (यतते) स्पर्धा करता है अर्थात् सूर्यकी समान तेजस्वी और (कंराजा) सब प्रकार दीप्तिमान् है अथवा सूर्य रूपसे (यतते) वृष्टिआदि कर्मोंमें यत्नकरता है । उपयामगृहीतेति पूर्ववत् ॥ ७ ॥

सरलार्थ-हम उन वैश्वानर देवताकी शुभमतिमें गृहीत हों, जिस कारण कि वह सम्पूर्ण भुवनके प्रकाशक और आश्रययुक्त है, वैश्वानर इस स्थान भूलोकसे प्रगट होकर इस समस्त प्रकाशादिद्वारा प्रकाशकरते है और यह हमारे हितके निमित्त निरन्तर यत्नवान् हैं, यह सूर्य इनका रूपान्तरमात्र है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

वैश्वानरो नऽऊतयऽआ प्र यातु परावतः ॥ अग्नि

रुक्थेनुवाहसा ॥ उपयामगृहीतोसिवैश्वानुरायं त्वैषतेयोनिर्वैश्वानुरायंत्वा ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वैश्वानर इत्यस्य विवस्वानृषिः । गायत्रीछन्दः । वैश्वानरो देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वानरः) सब जगत्का हितकारी (अग्निः) अग्नि देवता (नः) हमारी (ऊतये) रक्षाके निमित्त (उक्थेन) स्तोमरूप (वाहसा) वाहनद्वारा (परावतः) दूर देशसे (आगयातु) आओ अथवा स्तोत्र सुन बहु दूरव्यापी ईश्वररूप अग्नि हमारी रक्षा करो शेषम्पूर्ववत् ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र ३ ।

अुग्निर्ऋषिऽपवमानुऽपाञ्चजन्यऽपुरोहितऽ ॥ तमीमहेमहागुयम् ॥ उपयामगृहीतोस्युग्नयेत्त्वावर्च्चसऽएषतेयोनिरग्नयेत्त्वावर्च्चसे ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य मन्त्रत्रयस्य वशिष्ठभरद्वाज ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-(अग्निः) जो अग्नि (ऋषिः) प्रकाशक मंत्रद्रष्टा (पवमानः) पवित्रकारी (पाञ्चजन्यः) ब्राह्मणादि चार वर्ण और निषाद इन पाँचों वर्ण अर्थात् सबका हितकारी (पुरोहितः) यज्ञमें हितकारी होनेसे आगे स्थापित है (तम्) उस (महागयम्) महान् स्तुतिवालेको (ईमहे) प्रार्थना करते है अथवा उपरोक्तगुणसम्पन्न अग्निके निकट हम 'महागय' बृहत् अट्टालिका पुरीकी प्रार्थना करते है १ । (उपयामगृहीतः असि) हे ग्रह ! तुम उपयामपात्रमें गृहीत हो (वर्चसे) तेजोरूप (अग्नये) अग्निकी तुष्टिके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं २ । (एषः) यह (ते) तेरा (योनिः) स्थान है (वर्चसे) तेजयुक्त (अग्नये) अग्निके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करता हूं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १ ।

मुहाँ२ऽइन्द्रोवज्रहस्तःषोडुशीशर्म्मयच्छतु ॥ हन्तुपाप्मानुंयोस्मान्द्वेष्टि ॥ उपयामगृहीतोसिमहेन्द्रायंत्त्वैषतेयोनिर्म्महेन्द्रायंत्त्वा ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ महानित्यस्य मन्त्रत्रयस्य वशिष्ठऋषिः । गायत्री छन्दः । महेन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(महान्) श्रेष्ठ (वज्रहस्तः) वज्रधारी वा मेघविदारक अन्यर्थ यंत्रयुक्त (षोडशी) सोलह कलायुक्त अर्थात् परिपूर्ण वा पांच प्राण दश इन्द्रिय और मन यह सोलह पदार्थ लिंगशरीरसम्पन्न वा आत्मरूप (इन्द्रः) परमैश्वर्य सम्पन्न देव इन्द्र हमको (शर्म) सुख (यच्छतु) प्रदान करै (पाप्मानम्) उस पापीको (हन्तु) नाशकरै (यः) जो (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) द्वेषकरता है वा ब्रह्महत्यादि दूर करै [इस स्थलमें पाप्मा शब्दसे पापकर्म वा पापकर्मकी प्रेरक पाप पुरुष वा पापात्मा निज शत्रु जानना] हे ग्रह ! (उपयामगृहीतः असि) उपयामपात्रमें गृहीतहो (महेन्द्राय त्वा) महेन्द्रकी तुष्टिके निमित्त तुमको ग्रहण करताहूं (एष ते योनिः) यह तुम्हारा स्थान है (महेन्द्राय त्वा) महेन्द्रकी पुष्टिके निमित्त तुमको स्थापन करताहूं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र१ ।

तंवोदस्ममृतीषहंवसोर्म्मन्दानमन्धसः ॥ अभिवृत्सन्नस्वसरेषुधेनवऽइन्द्रङ्गीर्भिर्न्नवामहे ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तमित्यस्य नोधागोतम ऋषिः । पथ्याबृहती छं० । इन्द्रो देवता । स्वाध्यायादिषु पाठे विनि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) यहांसे नौ मंत्र स्वाध्यायके है । मंत्रार्थ-हे यजमानो ! हम (तम्) उस (ऋतीषहम्) ऐश्वर्यसे सबको तिरस्कार करनेवाले (वः) तुम्हारे (दस्मम्) दर्शनीय (वसोः) स्थितिके कारण (अन्धसः) अन्नसे (मन्दानम्) मोदयुक्त प्रसन्न (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त परमात्माको (गीर्भिः) स्तुतियों प्राणियोंसे (अभिनवामहे) प्रार्थना करते हैं (न) जैसे (धेनवः) गौ अपने शब्दोंसे (स्वसरेषु) चारण क्षेत्रोंमें वा दिनमें (वत्सम्) बछडोंको बुलाती हैं ॥ ११ ॥

सरलार्थ-जो देवता हम सबको ज्ञानदृष्टिसे दर्शनीय होते हैं जिनके ऐश्वर्यसे सब तिरस्कृत है जो अन्नपानादिसम्बन्धमें सदाही मोदमान अर्थात् परितृप्त हैं इन अतुल ऐश्वर्यवान् परम देवताको हम स्वसरमें विद्यमान धेनु वत्स गणको जिस प्रकार आह्वान करती हैं उसीप्रकार आह्वानमात्रसेही उनकी स्तुति सम्पन्न करते हैं ॥ ११ ॥

विवरण–स्वसर अर्थात् चारण क्षेत्रमें जिस प्रकार अनायासही प्राप्त तृण भोजन करनेवाली गौ आहारादि कालमें अनायासलब्ध तृणादिसे तृप्त वत्सोंको किसी प्रकारके उपकार्योपकारकभावकी इच्छा न करनेपरभी दृष्टिमात्रसे तृप्तिलाभके निमित्त ही सरल भावसे वत्सोंको पुकारकर अपना कर्तव्य पूरा करती हैं इसीप्रकार हम इन देवताके चारण क्षेत्र इस पृथ्वीमें उसीके नियमानुसार अवश्य प्राप्त होनेवाले सुखदुःखादिके भोगकालमेंभी उसके नियमको अपेल जानकर उसको सर्वथा परितृप्त जानकरभी और परस्पर उपकार्योपकारकभावके निमित्त उसका आह्वान अनावश्यक जानकर भी उसको देनेयोग्य तथा उसके सन्तोष करनेको अपनेमें शक्ति न पाकरभी केवल उसके साक्षात्से तृप्तिकी आशासेही प्रपञ्चशून्य स्वच्छ अन्तःकरणसे उसका आह्वानकरतेहैं उसका स्मरणही हमारा परम कर्तव्य है [ऋ० ६ । ६ । ११] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मन्त्र १ ।

यद्वाहिष्ठन्तदग्नयेबृहदर्चविभावसो ॥ महिषीव त्वद्रयिस्त्वद्वाजाऽउदीरते ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यद्वाहिष्ठमित्यस्य वसूयुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । अग्नि देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ–हे उद्गातः ! (यत्) जो (वाहिष्ठम्) जो इष्ट अर्थका प्राप्तकरनेवाला है (तत्) उस (बृहत्) बृहत्सामको (अग्नये) अग्निके निमित्त (अर्च) गानकरो और सामगानसे प्रत्यक्ष अग्निसे कहो (विभावसो) हे प्रभासम्पतिमान् अग्ने ! (त्वत्) आपसे (रयिः) धन वा योगैश्वर्य (उदीरते) प्राप्तहोताहै (वाजाः) अन्न (त्वत्) तुम्हारे पाससे प्राप्तहोते है (इव) जिसप्रकार (महिषी) प्रथम परिणीता स्त्री घरके भोग पतिको देती है अथवा हे विभावसो ! देशदेशान्तरमें कीर्तिकारक, अग्निमें आहुति देनेसे उत्पन्न होनेवाला बृहत् यश हमको दो आपकी सम्पत्ति और अन्न हमारे पक्षमें महिषीकी समान एकाधिपत्यानुगत हों [ऋ० ४ । १ । १ । १८) ॥ १२ ॥

कण्डिका १३ –मन्त्र १ ।

एह्यूषुब्रवाणितेग्नऽइत्थेतराग्गिरः ॥ एभिर्वर्द्धासऽइन्दुभिः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एहीत्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (उ) भलीप्रकार (एहि) आगमनकरो (इत्था) इसप्रकारसे (इतराः) दूसरी (गिरः) स्तुतिरूप वाणी (ते) तुम्हारे निमित्त (सु) अतिशय (प्रवाणि) कहताहूं (एभिः) इन (इन्दुभिः) सोमद्वारा (वर्धासे) वृद्धिको प्राप्तहो ॥ १३ ॥

सरलार्थ-हे अन्तरात्मन् ! साक्षात्कार हो तुम्हारी सन्तुष्टिके निमित्त जिसप्रकार हम दूसरे वाक्य कहनेमें समर्थ हों वैसा करो, हे अग्ने ! इस इन्दु 'सोम' द्वारा वृद्धि पाओ ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

ऋतवस्तेयज्ञंवितन्वन्तुमासारक्षन्तुतेहविः ॥ संवत्सरस्तेयज्ञन्दधातुनऽप्रजाञ्चपरिपातुनः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतव इत्यस्य विवस्वानृषिः । बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-हे देव ! (ऋतवः) सम्पूर्ण ऋतुएं (ते) तुम्हारी हमारे इस (यज्ञम्) यज्ञको (वितन्वन्तु) विस्तारकरैं (मासाः) महीने (ते) तुम्हारी (हविः) हविकी अर्थात् पुरोडाशादिको (रक्षन्तु) रक्षाकरैं (संवत्सरः) संवत्सरके अधिष्ठातृदेवता ते तुम्हारे निमित्त (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (दधातु) पुष्टकरै (च) और (नः) हमारी (प्रजाम्) प्रजाको (परिपातु) रक्षाकरैं, अर्थात् हे देव ! तुम्हारी सब ऋतु हमारे यज्ञका विस्तार करै कारण कि वसन्तादि ऋतुके अनुसार ही यज्ञ आरंभ होता है तुम्हारे महीने हमारी हविकी रक्षाकरैं कारण कि प्रत्येक महीनेमें प्रत्येक दिनमें ही हवि दीजाती है तुम्हारे संवत्सर हमारे यज्ञकी समाप्ति करैं कारण कि अश्वमेधयज्ञ संवत्सरमें पूर्ण होता है प्रजाकी पालना करो जिससे यज्ञमें विघ्न न हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

उपह्वरेगिरीणा꣡ᳯसङ्गमेचनदीनाम् ॥ धियाविप्रोऽअजायत ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपह्वर इत्यस्य वत्स ऋषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(गिरीणाम्) पर्वतोंके (उपह्वरे) निकट अर्थात् बदरिकाश्रम सिद्धाश्रम हृषीकेशादिके समीप वा अन्य पवित्रस्थानोंके समीप (च) और (नदीनाम्) नदियोंके (सङ्गमे) संगममें अर्थात् गंगासागरादिके संगममें निरुपद्रवस्थलोंमें (धिया) अपने अपने साधन और बुद्धिके प्रभावसे (विप्रः) विप्रत्व ब्रह्मत्व (अजायत) प्राप्त किया जाता है। अथवा 'विप्रः' मेधावी सोम 'धिया' बुद्धिसे विचार कर पर्वतोंके निकट और नदियोंके संगममें 'अजायत' प्रगट हुआ कि मेरे द्वारा ब्राह्मण यज्ञ करेंगे [ऋ० ९ । ८ । १४] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १. अनु० २ ।

उच्चातेंजातमन्धसोदिविसद्भूम्म्यादंदे॥ उग्रᳪशर्म्ममहिश्रवः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उच्चात इत्यस्य आमहीयव ऋषिः। गायत्री छन्दः। सोमो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-हे सोम ! (ते) तेरे (अन्धसः) रसरूप अन्नसे (जातम्) प्रगट हुए अर्थात् हवनद्वारा प्रगटको (उच्चा) ऊंचे प्राप्तहोनेपर (दिवि) स्वर्गमें (सत्) विद्यमान (उग्रम्) उत्कृष्ट (शर्म) गृह पुत्रादिसे होनेवाले सुख (महि) महान् (श्रवः) कीर्तिरूपी धनको (भूमिः) पृथ्वी (आददे) ग्रहण करती है । इस मंत्रमें पांच आहुतिका परिणाम वर्णन कियाहै ॥

यथा-हुतहुई आहुति प्रथम धूमाकार होकर दिवलोकमें जाती अर्थात् ऊर्ध्व लोकमें जाती है, फिर अन्तरिक्षमें जलरूपसे परिणत होती है फिर भूमिमें आकर अन्नरूपसे परिणत होती है फिर प्राणीके उदरमें प्राप्त होकर वीर्य्यरूपसे परिणत होती है फिर योनिमें हुत होकर नररूपसे निर्गत होकर इस मनुष्यको धन और यशसे सुखी करती है । इस पंच प्रकारसे सृष्टिका क्रम है इस कारण शरीरको पञ्चायतन कहा जाता है और इन पांचों आहुतियोंके निवासस्थानके अधिष्ठात्री देवतोंकी उपासना पञ्चायतनपूजा कहाती है [ऋ० ७।१।१९] ॥ १६ ॥

विवरण- पञ्चदेवता, गणपति, गौरी, रुद्र, सूर्य, विष्णु यह अपने स्थानोंके अधिपति है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १ ।

सनऽइन्द्राययज्यवेवरुणायमरुद्भ्यः॥वरिवोवित्परिस्त्रव॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन इत्यस्य आमहीयव ऋषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-हे सोमदेव ! (सः) वह आप (वरिवोवित्) कीर्तिरूप धनके ज्ञाता अथवा प्राप्त करनेवाले (यज्यवे) यजन करनेके योग्य (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (वरुणाय) वरुणके निमित्त (मरुद्भ्यः) मरुतोंके तृप्ति निमित्त (नः) हमको (परिस्रव) रसरूप होकर आहुति भावको प्राप्त करो ॥ १७ ॥

अर्थात्-जिस देवताके प्रभावसे उल्लिखित क्रमसे सृष्टि होती है वह वरिवोवित् [प्राणीमात्रके धन और धनभावमें अवगत] देवता यजनके योग्य इन्द्र वरुण और मरुद्गणकी तुष्टिके निमित्त अधिकतर धनकी वृष्टि करें [ऋ० ७।१।१९] ॥१७॥

कण्डिका १८-मंत्र १ ।

एनाविश्वान्यर्यऽआद्युम्नानिमानुषाणाम् ॥ सिषासन्तोवनामहे ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एनेत्यस्य आमहीयव ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(अर्यः) देवश हे स्वामिन् ! (मानुषाणाम्) मनुष्योंके (एना) इन (विश्वानि) सम्पूर्ण (द्युम्नानि) धन वा यशोंको (आ) सवप्रकार प्राप्त कराओ (सिषासन्तः) दान करनेकी इच्छावाले हम (वनामहे) उन आपके दिये धनोंको सेवन करें अथवा हे स्वामिन् ! हम (मनुष्याणाम्) मानवीय (एना विश्वानि द्युम्नानि) इन सब धनोंको (आ) सब प्रकार (सिषासन्तः) प्रदानपूर्वक एक मात्र तुम्हारेही भजनमें (वनामहे) प्रस्तुत होते हैं तुम्हारीही तुष्टिके निमित्त यह सर्व लोक हितकारी अनुष्ठान किया है [ऋ० ७।१।१९] ॥ १८ ॥

विशेष-इसी मंत्रके द्वारा धन सम्पत्ति त्यागपूर्वक भजन करना उत्तम है यह जानकर चक्रवर्ती महाराजोंने राज्य छोडकर वनमें ईश्वरका आराधन किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

अनुवीरैरनुपुष्यास्मगोभिरन्वश्वैरनुसर्वेणपुष्टैः ॥ अनुद्विपदानुचतुष्पदावयन्देवानोयज्ञमृतुथानयन्तु ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनुवीर इत्यस्य मुद्गल ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। देवा देवताः। वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-हे देव! (वयम्) हम (वीरैः) वीरपुत्रोंसे (अनुपुष्यास्म) पुष्ट होवें (गोभिः) गौओंसे (अनु) पुष्ट हों (अश्वैः) अश्वोंसे (अनु) पुष्ट हों (सर्वेण) सब और पदार्थों (पुष्टैः) ग्रहादिसे भी (अनु) पुष्ट हों बहुत क्या (द्विपदा) द्विपद प्राणी दासादिसे (अनु) पुष्ट हों (चतुष्पदा) चौपाये हस्तीआदिसे (अनु) पुष्ट हों (ऋतुथा) समय समयपर (देवाः) देवता (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (नयन्तु) प्राप्त करावै ॥ १९ ॥

सरलार्थ-हे परमेश्वर! हम क्या पुत्रपौत्रसमूह क्या गोपाल क्या अश्वसमूह क्या द्विपद प्राणी सेवक आदि, क्या चतुष्पद हस्ती आदि सबप्रकार पुष्टिसाधन द्वाराही पोषणके योग्य है हे देवताओ! तुम भी हमको ऋतुके अनुसार यज्ञ प्राप्त कराओ ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १।

अग्ने पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप ॥ त्वष्टारꣳ सोमपीतये ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। गायत्रीछन्दः। अग्निर्देवता। अग्निष्टोमे नेष्टृचमसयागे याज्यमंत्रपठने विनियोगः॥ २० ॥

विधि-(१) वीससे चौवीसपर्यन्त पांच कण्डिका अग्निष्टोममें नेष्टृ पाठकी याज्य है उनमें पहली प्रातःसवनमें नेष्टृचमसयागमें दूसरी तीसरी ऋतुयागमें चौथी माध्यंन्दिन सवनके नेष्टृचमस यागमें पांचवी तीसरे सवनके नेष्टृचमस यागमें प्रयोग करनी चाहिये। मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेव! (देवानाम्) देवताओंकी (उशतीः) हविकी इच्छा करनेवाली (पत्नीः) पतियोंको और (त्वष्टारम्) त्वष्टा देवताको (सोमपीतये) सोमपानके निमित्त (इह) इस यज्ञमे (उपावह) प्राप्त करो [ऋ० १।२।९] ॥ २० ॥

कण्डिका२१-मन्त्र १।

अभि यज्ञं गृणीहि नो ग्नावो नेष्टः पिब ऽऋतुना ॥ त्वꣳ हि रत्नधा ऽअसि ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभियज्ञमित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। ऋतुर्देवता। वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(ग्नावः) हे पत्नीयुक्त ! (नेष्टः) नेष्टा अग्निदेव! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (अभिगृणीहि) स्तुति करो (ऋतुना) ऋतुके अधिष्ठात्री देवताके साथ (पिब) सोमपान करो (हि) जिस कारण कि, तुम (रत्नधा) रमणीय धनोंके धारण करने देनेवाले (असि) हो [ऋ० १।१।२८] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १.

द्रविणोदाः पिपीषति जुहोत प्र च तिष्ठत ॥ नेष्ट्रादृतुभिरिष्यत ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्रविणोदा इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । गायत्री छं० । ऋतुर्देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(द्रविणोदाः) धनदाता अग्नि (पिपीषति) सोमपान करनेकी इच्छा करती है इसकारण हे ऋत्विजो ! (जुहोत) हवन करो (च) और (प्रतिष्ठत अनुष्ठान करो (नेष्ट्रात) नेष्टाके धिष्ण्य स्थानसे (ऋतुभिः) ऋतु देवताओंके साथ (इष्यत) सोमके प्रति जाओ [ऋ० १।१।२९] ॥ २२ ॥

सरलार्थ-धनदाता अग्नि सोमरसपानकी इच्छा करती है उसको नेष्टृधिष्ण्य स्थापन करके सोमाहुति प्रदान करो फिर तिससे ऋतुगणको साथ लेकर सोमके प्रति गमन करो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १.

तवायꣳ सोमस्त्वमेह्यर्वाङ्ꣳ शश्वत्तमꣳ सुमना ऽ अस्य पाहि ॥ अस्मिन्यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वेमं जठर ऽ इन्दुमिन्द्र ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तवायमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ! (अयम्) यह सन्मुख रक्षित (सोमः) सोम (तव) तुम्हारा है इसकारण (त्वम्)तुम (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (एहि) आगमन-करो (सुमनाः) प्रसन्नचित्त तुम (शश्वत्तमम्) बहुत कालतक (अस्य) इस सोमकी (पाहि) रक्षाकरो (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (बर्हिषि) कुशासनपर (निषद्य) स्थित होकर (इमम्) इस (इन्दुम्) सोमको (जठरे) उदरमें (दधिष्व) धारण करो [ऋ० ३।२।१८] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १ ।

अमेवंनःसुहवाऽआहिगन्तनुनिबर्हिषिसदतनारणिष्टन ॥ अथामन्दस्वजुजुषाणोऽअन्धसुस्त्वष्टर्देवेभिर्जनिभिःसुमद्गणः ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अमेवेत्यस्य गृत्समद ऋषिः । जगतीछन्दः । त्वष्टा देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ–(सुहवः) हे आह्वान सुननेवाली देवपत्नियों ! (अमेव) अपने घरकी समान (नः) हमारे यज्ञगृहमें (आगन्तन) आगमन करो (हि) अवश्य (बर्हिषि) कुशासनपर (निषदतन) बैठो और (रणिष्टन) परस्पर वार्ता करके प्रसन्न हो (त्वष्टः) हे त्वष्टा ! (अथ) देवपत्नियोंके आनेपर (अन्धसः) हविलक्षणवाले अन्नको (जुजुषाणः) सेवन करते हुए तुम (देवेभिः) देवता और (जनिभिः) देवपत्नियोंके साथ (समुद्गणः) प्रसन्नचित्त वा देवता और देवियोंके गणोंके सन्तुष्ट होनेसे (मदस्व) परितृप्त हो [ऋ० २ । ७ । २९] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र १ ।

स्वादिष्ठयामदिष्ठयापवस्वसोमुधारया ॥ इन्द्रायुपातवेसुतः ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्वादिष्ठयेत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छन्दः । सोमो देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

विधि–(१) यह दो कण्डिका जपादिका प्रयाज्य है (सोम) हे सोम ! (स्वादिष्ठया) अतिस्वादु (मदिष्ठया) अतिहर्ष करनेवाली (धारया) धाराके साथ (पवस्व) दशापवित्रसे द्रोणकलशमें आओ जिसकारण कि तुम (इन्द्राय) इन्द्रके (पातवे) पानके निमित्त (सुतः) अभिषुत हुए हो [ऋ० ६ । ७ । १६] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र १ ।

रक्षोहाविश्वचर्षणिरभियोनिमयोहते ॥ द्रोणेसुधस्थमासदत् ॥ २६ ॥

इति शुक्लयजुःसंहितायां षड्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रक्षोहेत्यस्य विवस्वानृषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । प्रयाजमन्त्रजपे विनि० ॥२६ ॥

मन्त्रार्थ-(रक्षोहा) राक्षसोंका नाशक (विश्वचर्षणिः) सब शुभाशुभका देखनेवाला अथवा "चर्षणिरिति मनुष्यनामसु पठितम्" [नि० २ । २] सम्पूर्ण ऋत्विज यजमानोंसे युक्त (अयोहते) लोह [वास्यादियंत्र] द्वारा तक्षणपूर्वक निर्मित किया काष्ठमय पात्र अथवा तक्षाके शस्त्रसे संस्कार किये (द्रोणे) द्रोणकलशमें (सधस्थम्) साथ स्थित (योनिम्) यज्ञस्थानमें (अभि) सन्मुख (आसदत्) स्थित होताहै ॥ २६ ॥

सरलार्थ-हे सोम ! तुम्हारे पानसे देवता, असुर राक्षसोंके मारनेमें समर्थ होते है इसकारण तुम रक्षोहा हो इसकारणही हम सब तुम्हारे प्रस्तुत करनेमें नियुक्त है तुम इस यज्ञगृहमें स्थित अयोहत द्रोणकलशमें स्थिति करो [ऋ० ६ । ७ । १६] ॥ २६ ॥

विशेष-यज्ञके उपरान्त परमात्माकी प्रार्थना उपासनापूर्वक इस अध्यायकी २५ अध्यायके साथ संगति है और भूमिआदिका देवसम्बन्ध दिखाकर तथा सृष्टिकी रचना प्रकार दिखाकर परमात्माने निज विज्ञानका उपदेश किया है ॥ २६ ॥

इति श्रीशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमाध्यन्दिनीयाया वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्येऽनुक्तमन्त्रकथनं नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥ शुभमस्तु ॥

अथ सप्तविंशोध्यायः २७.

समास्त्वादशोर्द्ध्वोअस्यपीवोअन्नाद्वादशकावभित्त्वैकादशच त्वारः पंचचत्वारिंशत् ॥

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

समांस्त्वाग्नऽऋतवोवर्द्धयन्तुसंवत्सराऽऋषयो यानिसत्त्या ॥ सन्दिव्येनदीदिहिरोचनेनवि श्वाऽआभाहिप्प्रदिशश्चतस्रः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समास्त्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । इष्टकापशौ समिध्यमानसमिद्धत्योरन्तराले विनियोजने विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) इन नौ मंत्रोंको इष्टकाप्रकरणमें समिध्यमान और समिद्धतीके मध्यकालमें विनियुक्त जानने । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (समाः) महीने २

(ऋतवः) ऋतु ऋतु (संवत्सरः) प्रत्येक संवत्सरमें (ऋषयः) ऋषिगण (यानि) जिन (सत्या) सत्यरूप मंत्रोंसे (त्वा) तुमको (वर्धयन्तु) वृद्धि करतेहुए (दिव्येन) दिव्य (रोचनेन) कान्तिद्वारा तुम (सन्दीदिहि) प्रदीप्त हो (विश्वाः) सम्पूर्ण (प्रदिशः) विदिशा तथा (चतस्रः) चारों दिशा (आभाहि) प्रकाशित करो ॥ १ ॥

कण्डिका २—मन्त्र १ ।

सञ्चेद्ध्यस्वाग्ग्नेप्प्रचंबोधयैनमुच्चंतिष्ठमहतेसौभंगाय ॥ माचंरिषदुपसत्तातेऽअग्ग्नेब्ब्रह्माणस्त्तेयुशसं सन्तुमान्ये ॥ २ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ सञ्चेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे प्रकाशमान देव ! (समिध्यस्व) प्रदीप्त हूजिये (च) और (च) अवश्य (एनम्) इस यजमानको (प्रबोधय) बोधयुक्त करो (च) और (महते) बडे (सौभगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (उत्तिष्ठ) उद्यम करो (च) और (अग्ने) हे दीप्तिमान् देव ! (ते) तुम्हारी (उपसत्ता) उपासना करनेवाला भक्त (मा) मत (रिषत्) नष्ट हो (ते) तुम्हारे (ब्रह्माणः) ऋत्विग् यजमान हीं (यशसः) यशस्वी (सन्तु) हों (अन्ये) अभक्त (मा) यशभागी न हो ॥ २ ॥

कण्डिका ३—मन्त्र १ ।

त्वामंग्ग्नेवृणतेब्ब्राह्मणाऽइमेशिवोऽअंग्ग्ने संवरणेभवानः ॥ सपत्त्नहानोऽअभिमातिजिच्चस्वेगयेंजागृह्यप्प्रयुच्छन् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ त्वामित्यस्य प्र० ऋ० । बिराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ—(अग्ने) हे प्रकाशमान देव ! (इमे) यह (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण (त्वाम्) तुमको (वृणते) भजन करतेहैं इसकारण (अग्ने) हे दीप्तिमान् ! (संवरणे) ब्राह्मणोंके साथ एक कार्यमें वरण होनेपर (नः) हमको (शिवः) कल्याणकारी शान्त (भव) हूजिये (नः) हमारे (सपत्नहा) शत्रुओंके नाशक (च) और (अभिमातिजित्) पूजनेसे शेषोंकेभी जीतनेवाले हो और (स्वे)

अपने (गये) वरमें (अप्रयुच्छन्) प्रमादतारहित सावधान होकर (जागृहि) जागृत हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

इहैवाग्ग्नेऽअधिधारयारयिम्मात्वानिक्रन्पूर्वचितोनिकारिणः॥क्षत्रमंग्ग्नेसुयमंमस्तुतुभ्भ्यमुपसत्तावर्द्धतान्तेऽअनिष्टृतः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इहैवेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । स्वराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे ज्योतिरूप देव ! (इह) इन यजमानोंमें (एव) ही (रयिम्) धनको (अधिधारय) अधिक करके दीजिये (निकारिणः) अत्यन्त यज्ञ करनेवाले (पूर्वचितः) अग्निचयन करनेवाले ऋत्विज (त्वा) तुमको (मा) मत (निक्रन्) अवज्ञा करें (अग्ने) हे अग्ने ! (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (सुयमम्) सुखसे वशकरनेके योग्य (अस्तु) हो (ते) तुम्हारा (उपसत्ता) भक्त (अनिष्टृतः) अनुपहिंसित होकर (संवर्धताम्) धन पुत्रादिसें वृद्धिको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

क्षत्रेणाग्ग्नेस्वायुःसꣳरभस्वमित्रेणाग्ग्नेमित्रधेयेयतस्व ॥ सजातानाम्मद्ध्यमस्थाऽएधिराज्ञामग्ग्नेविहव्योदीदिहीह ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्षत्रेणेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । विराट् त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (स्वायुः) श्रेष्ठअवस्थावाले तुम [अथवा यह उत्तम अवस्थावाला यजमान] (क्षत्रेण) क्षत्रियके साथ (संरभस्व) यज्ञका आरंभकरो (अग्ने) हे अग्निदेव ! (मित्रेण) सूर्यके साथ वर्तमान होतेहुए तुम (मित्रधेये) यजमानके करने योग्य यज्ञमें (यतस्व) यत्नकरो (सजातानाम्) समान जन्मवालोंके (मध्यस्थाः) मध्यस्थित होनेवाले (एधि) हो (अग्ने) हे अग्ने ! (राज्ञाम्) राजाओंके (विहव्यः) आह्वानयोग्य तुम (इह) इस यज्ञमें (दीदिहि) दीप्तहुजिये ॥ ५ ॥

सरलार्थ-हे अग्ने क्षत्रोंमें अपनी आयु आरब्ध करो मित्र होकर मित्रधेय यज्ञमें यत्नवान् हो और समश्रेणी यज्ञके उपकरणोंके समूहमध्यमें होकर राजाओंके आहुतिस्थान होकर देदीप्यमान हो, जहां सब बन्धु एकत्र हो कार्य करै वह मित्रधेय यज्ञ है, इसप्रकार मित्रतासे जीवनयापन करनेका उपदेश है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १ ।

अतिनिहोऽअतिस्त्रिधोत्त्यचित्तिमत्त्यरातिमग्ने ॥ विश्श्वाह्यग्नेदुरितासहस्वाथास्म्मभ्य॑ꣳसहवीरा॑ꣳरयिन्दाः ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अतिनिह इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिग्बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे दीप्यमान देव ! (हि) अवश्यही (निहः) हंताओंको जीवघातियोंको (अति) अतिक्रमण करके तथा (स्त्रिधः) कुत्सिताचारियोंको (अति) अतिक्रमण करके (अचित्तम्) चित्तशून्य वा चंचलचित्तवालोंको (अति) अतिक्रमण करके (अरातिम्) कृपणजनको (अति) अतिक्रमण करके (विश्वा) सम्पूर्ण (दुरिता) पापोंको (सहस्व) दूर करो (अथ) तदनन्तर (अग्ने) हे परमात्मान् ! (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (सहवीराम्) वीरपुत्रोंके सहित (रयिम्) धनको (दाः) प्रदानकीजिये ॥ ६ ॥

भावार्थ-हममें उपरोक्त किसीप्रकारका कुत्सित व्यवहार न हो ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

अनाधृष्ष्योजातवेदाऽअनिष्टृतोविराडग्ग्नेक्षत्रभृद्दीदिहीह ॥ विश्श्वाऽआशाꣳप्प्रमुञ्चन्मानुषीर्ब्भियःशिवेभिरद्यपरिपाहिनोवृधे ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनाधृष्य इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृज्जगती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवेश्वर ! (अनाधृष्यः) पराभव करनेको अशक्य (जातवेदाः) सब ज्ञानयुक्त सर्वज्ञ (अनिष्टृतः) अविनाशी (विराट्) अनेक प्रकारसे राजमान (क्षत्रभृत्) सर्वबलसम्पन्न क्षात्र तेजके पुष्ट करनेवाले तुम (इह) इस कर्ममें वर्तमान होतेहुये (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) आशाओंको (दीदिहि) प्रकाशकरो (मानुषीः) मनुष्यसम्बन्धी (भियः) भय

जन्मजरामृत्युदीनताशोकादिको (प्रमुञ्चन्) निवृत्तकरते (अद्य) हुए अव (वृधे) वृद्धिके निमित्त (शिवेभिः) शान्तभावसे (नः) हमारी (परिपाहि) रक्षा कीजिये ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

बृहस्पते सवितर्बोधयैन७ँ सशितञ्चित्सन्तरा७ँ सᳬँ शिशाधि ॥ वर्द्धयैनम्महते सौभगाय विश्वऽएनमनुमदन्तु देवाः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहस्पत इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । बृहस्पतिसवितारौ दे० वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पते) हे सबके अधिपति ! (सवितः) हे प्रेरक सवितादेव ! (एनम्) इस यजमानको (बोधय) कर्मसे अभिज्ञ (कुरु) करो (संशितम्) शिक्षितको (चित्) भी (संतराम्) अधिकतर (संशाधि) शिक्षितकरो (महते) बडे (सौभगाय) ऐश्वर्यके निमित्त (एनम्) इसको (वर्धय) बढाओ (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (एनम्) इसको (अनुमदन्तु) अनुमोदनकरैं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

अमुत्रभूयादध यद्यमस्य बृहस्पतेऽअभिशस्तेरमुञ्चः ॥ प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्माद्देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अमुत्रेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । बृहस्पत्यादयो देवताः । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(बृहस्पते) हे बृहस्पते परमात्मन् ! (अमुत्र भूयात्) परलोकमें होनेवाले भयसे अथवा परलोकगमनरूप मरणसे (अध) और (यत्) जो (यमस्य) यमराजका भय नरकपातादि है उससे तथा (अभिशस्तेः) इस जन्मके वा पूर्व जन्मोंके अभिशाप हैं उनसे वा लोकापवादसे (अमुञ्चः) हमको छुडाओ (अग्ने) हे द्योतमानात्मक देव ! (देवानाम्) देवताओंके (भिषजा) वैद्य (अश्विना) अश्विनीकुमार (अस्मात्) इस यजमानसे (मृत्युम्) मृत्युको (शचीभिः) शुभकर्मोंद्वारा (प्रत्यौहताम्) निवृत्त करैं अर्थात् हमारे सब भय दूर हों ॥ ९ ॥

विशेष–इस मंत्रमें परलोक भय और यमराजका भय सिद्ध है इस मंत्रके जपसे उपरोक्त बाधा निवृत्त होती है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र १।

उद्वयन्तमंसस्प्परिस्व॑÷पश्यन्तऽउत्तरम्॥ देवन्दे॑वत्रासूर्य्यमगन्म्मज्ज्योतिरुत्तमम् ॥ १० ॥ [१०]

विधि–यह मंत्र पाठपूर्वक ब्रह्मचिन्ता करै। मन्त्रार्थ–ॐउद्वयमिति–इसकी व्याख्या २०। २१ में होगई ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मंत्र १. अनु० २।

ऊर्द्धाऽअस्यसमिधोभवन्त्यूर्द्धाशुक्राशोचीᳬष्यग्ग्नेः॥ द्युमत्तमासुप्प्रतीकस्यसूनोः॥ ११ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऊर्ध्वा इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। उष्णिक्छं०। आप्री देवता। अग्निस्तुतौ वि० ॥ ११ ॥

विधि–(१) १२ ऋचा आग्नेयी कहाती हैं। अग्नि प्रजापतिरूपसे स्तुत किया जाता है इसकारण यह प्राजापत्यभी है "यदग्निरपश्यत्तेनाग्नेय्यो यत्प्रजापतिमप्रीणात्तेन प्राजापत्या" इति श्रुतेः। मंत्रार्थ–(अस्य) इस (सुप्रतीकस्य) सुमुख (सूनोः) यजमानपुत्र वा पुत्रवत् आदरयोग्य "स यदेनं जनयति तेनास्यैष सूनुः" इति श्रुतेः। यजमानके द्वारा प्रगटहोनेसे यजमानपुत्र कहा (अग्नेः) अग्निकी (समिधः) समिधा (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्वगामिनी (भवन्ति) होती हैं (शुक्रा) शुद्ध (द्युमत्तमा) विश्वप्रकाशक (शोचींषि) किरणें (ऊर्ध्वाः) ऊर्ध्वगामिनी होती है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मंत्र १।

तनूनपादसुरोविश्ववेदादेवोदेवेषुदेवः॥ पथोऽअनक्तुमद्ध्वाघृतेन ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१ (ॐ तनूनपादित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। उष्णिक्छं०। आप्री देवता। वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ–(तनूनपात्) जलोंका पौत्र [जलसे वृक्ष वृक्षोंसे अग्नि] अविनाशीशरीर (असुरः) प्राणवान् (विश्ववेदाः) सर्वज्ञ (देवेषु) देवताओंमें (देवः)

श्रेष्ठ (देवः) अग्निदेव (मध्वा) मधुर (घृतेन) घृतद्वारा (पथः) यज्ञमार्गोंको (अनक्तु) सींचो वा व्याप्तकरो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

मध्वा॑यज्ञन्न॑क्षसेप्प्रीणा॒नोन॒राश॒ᳪसो॑ऽअग्ने ॥
सुकृद्देवः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मध्वेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे ज्योतिरूप देव ! (प्रीणानः) देवताओंको तृप्त करते (नराशंसः) ऋत्विजोंसे स्तुतिको प्राप्त होनेवाले (सुकृत) शोभनकर्मा (देवः) दीप्तिमान् (सविता) विश्वके उत्पन्न करनेवाले (विश्ववारः) सबसे वरणकरने योग्य तुम (मध्वा) स्वादुघृतसे (यज्ञम्) यज्ञको (नक्षसे) व्याप्तकरतेहो ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

अच्छा॒यमे॑ति॒ शव॑सा घृ॒तेनै॑डा॒नोवह्नि॒र्न्नम॑सा ॥
अ॒ग्नि ᳪ स्रुचो॑ऽअध्व॒रेषु॑ प्प्र॒यत्सु॑ ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अच्छेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ-(शवसा) ज्ञानबलसे (ईडानः) स्तुति कियाहुआ (वह्निः) यज्ञ निर्वाहक (अयम्) यह अध्वर्यु (अध्वरेषु) यज्ञोंके (प्रयत्सु) वर्तमान होनेमें (घृतेन) घृत और (नमसा) हविरूप अन्नद्वारा (स्रुचः) जुहूको ग्रहण कर (अग्निम्) अग्निके (अच्छ) समीप (एति) जाता है । "अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः" [निरु० ५ । २८] यज्ञकी सब क्रिया प्रवृत्त होनेपर यह वह्नि देवता घृत और नमस्कारद्वारा स्तुत होते है अग्नि स्रुकमें व्याप्त होनेके निमित्त यहां आओ ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र १ ।

स य॑क्षदस्य महि॒मान॑म॒ग्नेः स ऽई॑म्म॒न्द्रासु॑
प्प्र॒यसः॑ ॥ वसु॒श्चेति॑ष्ठो वसु॒धात॑मश्च ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सयक्षदित्यस्य प्र० ऋ० । स्वराड् उष्णिक्छं० । अग्नी देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ–(सः) वह अध्वर्यु (वसुः) सब यज्ञकर्मोंमें स्थित (चेतिष्ठः) अतिप्रज्वलित वा चैतन्यकरनेवाला (च) और (वसुधातमः) अनेक धनोंका देनेवाला (अस्य) इस (सुप्रयसः) शुभअन्नवाले "प्रयस इत्यन्ननाम" [निघं० २।७।४] (अग्नेः) अग्निकी (महिमानम्) महिमाको (यक्षत्) यजनकरो (सः)वह(ईम्) हीअध्वर्यु (मन्द्रा) प्रसन्नता करनेवाली हवियोंको यजनकरो ॥ १५ ॥

सरलार्थ–जो प्राणीगणोंकी प्रधान सम्पत्ति है जो अतिशय चेतनावान् जो अतिशय धनदाता है वह देवता इस स्नेह गुणयुक्त सुन्दर अन्न (घृत) की महिमा प्राप्तकरै तथा इस अन्नकी आमोदजनकता स्वीकारकरै ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मन्त्र १ ।

द्वारो॑ दे॒वीरन्व॑स्य॒ विश्वे॑ व्र॒ता द॑दन्तेऽअ॒ग्नेः ॥ उ॒रु॒व्यच॑सो॒ धाम्ना॒ पत्य॑मानाः ॥ १६ ॥ शतम् १५००

ऋष्यादि–(१) ॐ द्वार इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ–(उरुव्यचसः) सुन्दर अवकाशवाले (धाम्ना) स्थानसे (पत्यमानाः) ऐश्वर्यमान् अर्थात् ऋत्विजादिको ऐश्वर्य देनेवाला (देवीः) दिव्यः (द्वारः) द्वार (अस्य) इस (अग्नेः) अग्निके (व्रताः) कर्मोंको (ददन्ते) धारण करते हैं(अनु) पश्चात् (विश्वे) सम्पूर्ण देवता अग्निके व्रत धारण करते हैं ॥ १६ ॥

सरलार्थ–जिसकी स्थितिके निमित्त यजमानके ऐश्वर्यकी सूचना होती है इस प्रकारके प्रशस्त द्वार देवीगणपर्यन्त इस अग्निका व्रत धारण करै ॥ १६ ॥

[प्रशस्त–बडे अवकाशवाले]

कण्डिका १७–मंत्र १ ।

तेऽअ॑स्य॒ योष॑णे दि॒व्ये न योना॑ऽउ॒षासा॒नक्ता॑ ॥ इ॒मं य॒ज्ञम॑वताम॒ध्वरं॑ नः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृदुष्णिक्छंदः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ–(न) और (अस्य) इस अग्निकी (योषणे) जो दो भार्या (दिव्ये) ईश्वरीयबलसे स्वर्गमें स्थित है (ते) वे दोनों (उषासानक्ता) दिन और रात्रि (नः) हमारे (इमम्) इस (अध्वरम्) कुटिलतारहित शास्त्रोक्त(यज्ञम्) यज्ञको (योनौ)

गार्हपत्यस्थानमें स्थित अग्निमें (अवताम्) रक्षाकरो अर्थात् हम निरन्तर यज्ञ करैं हमारे यज्ञका विच्छेद न हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १ ।

दैव्याहोताराऽऊर्द्ध्वमध्वरन्नोऽग्नेर्ज्जिह्वामभिगृणीतम् ॥ कृणुतन्नःस्विष्टिम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्येत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्षी गायत्री छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(दैव्या) दिव्य (होतारा) होता अग्नि और वायु (नः) हमारे (स्विष्टिम्) शुभयज्ञको (कृणुतम्) सम्पादन करै (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञको और (अग्नेः) अग्निकी (जिह्वाम्) ज्वालाको (ऊर्ध्वम्) देवमार्गगामी करो (अभिगृणीतम्) और सम्यक् वर्णन करो ॥ १८ ॥

सरलार्थ-हे दिव्यहोता अग्नि और वायु ! तुम हमारे इस यज्ञको ऊर्ध्व करो अर्थात् अपरापर यज्ञोंसे श्रेष्ठ करो इस अग्निकी ज्वालाको प्रशंसा करो तुम्हारी कृपासे हमारा यह यज्ञ सम्पन्न हो ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

तिस्रोदेवीर्ब्बर्हिरेदꣳसदन्त्विडासरस्वती भारती ॥ महीगृणाना ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तिस्र इत्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-(मही) वडी सर्वाधार महिमावाली (गृणाना) स्तुतिको प्राप्त इडा पृथ्वीस्थाना इडा देवी (सरस्वती) मध्यस्थानवाली सरस्वती (भारती) द्युस्थाना भारती (तिस्रः) यह तीनों (देव्यः) देवी (इदम्) इस (बर्हिः) कुशासनपर (आसदन्तु) स्थित हों ॥ १९ ॥

विशेष-इडा-पृथ्वीमें स्थित ध्वनि, सरस्वती-अन्तरिक्षमें स्थित ध्वनि, भारती-द्युलोकस्थित ध्वनिकी अधिष्ठात्री देवता ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

तन्नस्तुरीपमद्भुतम्पुरुक्षुत्वष्टासुवीर्य्यम् ॥ रायस्पोषंविष्यतुनाभिमस्मे ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तत्र इत्यस्य प्र० ऋ० । निच्यृदुष्णिक्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २० ॥

मंत्रार्थ-(त्वष्टा) त्वष्टा देवता (तम्) उस (अद्भुतम्) महान् (पुरुक्षु) बहुतोंमें वा समस्त प्राणियोंमें वा देहोंमें निवास करनेवाले (सुवीर्यम्) सुन्दर सामर्थ्ययुक्त (नः) हमको (तुरीपम्) शीघ्र प्राप्तहोनेवाले (रायः) धनके(पोषम्) पुष्टिभावको (अस्मे) हमारी(नाभिम्) गोदीमें (विष्यतु) छोडो ॥ २० ॥ [त्वष्टा-परमेश्वर]

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

वनस्पतेवसृजाररांणस्त्मनादेवेषु ॥
अग्निर्हव्यर्ठ॑ शमिता सूदयाति ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वनस्पत इत्यस्य प्र० ऋ० । विराडुष्णिक्छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(शमिता) शांतिकारक (अग्निः) अग्नि देवता (हव्यम्) हविको (सूदयाति) संस्कार करता है (वनस्पते) हे वनस्पते ! 'स्रुवादि' तुम (त्मना) आत्मा द्वारा (देवेषु) देवताओंमें (रराणः) हवि देतेहुए (अवसृज) हविको छोडो ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदऽइन्द्राय हव्यम् ॥
विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ २२ ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्र० ऋ० । विराडुष्णिक्छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे सर्वज्ञ ! (अग्ने) ज्योतिरूप ! (हव्यम्) हविको (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (स्वाहा) स्वाहाकारपूर्वक (कृणुहि) प्रदान करो (विश्वे) सम्पूर्ण (देवाः) देवता (इदम्) यह (हविः) हवि (जुषन्ताम्) सेवन करै ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १. अनु० ३ ।

पीवोऽअन्ना रयिवृधः सुमेधाः श्वेतः सिषक्ति नियुतामभिश्रीः ॥ ते वायवे समनसो वितस्थुर्विश्वेन्नरः स्वपत्यानि चक्रुः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पीव इत्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वायुर्देवता । याज्यानुवाक्यमन्त्रपठने वि० ॥ २३ ॥

विधि-(१) २३ से २८ तक नियुत्वात् वायुदेवताकी तुष्टिके निमित्त शुक्लतूपर आलभन होता है इस प्रकरणमें यह उसीके याज्यानुवाक्य हैं । मन्त्रार्थ-(सुमेधाः) सुन्दर बुद्धिवाले (नियुताम्) नियुत नाम अश्वोंका (अभिश्रीः) आश्रययोग्य (श्वेतः) वायु "शुक्लो हि वायुः" इति श्रुतेः । (पीवोअन्नाः) पुष्ट अन्नवाले (रयिवृधः) धनके बढानेवाले घोडोंको (सिषक्ति) सेवन करता है (ते) वे (समनसः) मनस्वी (वायवे) वायुके निमित्त (वितस्थुः) विशेषकर स्थित होते हैं वायुद्वारा अश्वयोग होनेपर (नरः) मनुष्य ऋत्विज (विश्वा) सम्पूर्ण (इत्) ही (स्वपत्यानि) सुन्दर अपत्य प्राप्त होनेवाले कर्मोंको (चक्रुः) करतेहुए [ऋ० ४।८।१३] ॥ २३ ॥

अथवा-सर्व्वव्यापी सर्वभोग्य ईश्वरकी सृष्टिरूप सम्पत्तिके वर्द्धक सुबुद्धि सत्त्वप्रधान 'अतिबलिष्ठ' नियुतसमुदयपर आरोहण करनेवाले [नियुतसे वायुका वाहन वृष्टिधारा] वायु देवता निरन्तर हमारा उपकार करते है, हे मनस्वी! स्वस्थ ऋत्विग्गणों इन इस प्रकारके वायु देवताकी तुष्टिके निमित्त अपत्य वर प्राप्तिके उपयुक्त सब कार्य सम्पन्न करो ॥ २३ ॥

कण्डिका २४ मंत्र १ ।

राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे राये देवी धिषणा धाति देवम् ॥ अध वायुं नियुतः सश्चत स्वाऽउत श्वेतं वसुधितिं निरेके ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ राय इत्यस्य वशिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(इमे) यह (रोदसी) द्यावापृथिवी अर्थात् ब्रह्माण्ड (यम्) जिस वायुको (राये) जलरूप धनके निमित्त (नु) ही (जज्ञतुः) प्रगट करतेहुए (धिषणा) परब्रह्मकी सिसृक्षाबुद्धि वा ब्रह्मशक्ति वा ब्रह्मज्योति (देवी) दिव्य वाक् (राये) ईश्वरसृष्टिरूप सम्पत्तिके निमित्त जिस (देवम्) देवताको(धाति) धारण करती है अर्थात् द्यावापृथिवीके सद्भावमें भी वायुके विना जगत् धारण नहीं होसकता इस कारण वायुको प्रगट किया "आकाशाद्वायुः" इति श्रुतेः । (अध) इसके उपरान्त (उत) निश्चय ही (स्वा) निज (नियुतः) अश्व (श्वेतम्) शुक्ल स्वच्छ सत्त्वप्रधान (वसुधितिम्) वसु धनोंके धारण करनेवाले

(वायुम्) वायुको (निरेके) बहुत जनोंसे आकीर्ण स्थानमें (सश्चत) सेवन करते हैं [ऋ० ५।६।१२] ॥ २४ ॥

विवरण–नियुत वृष्टिधारा प्रभृति जिसको आश्रय करके वायु प्रवाहित होती है इस स्थलमें वसु शब्दसे आठ वसु जानना, आठ दिशा उसको धारण करती हैं, इसी कारण मनु लिखते है [मध्ये व्योम दिशश्चाष्टौ १ । १३] अथवा वसु-शब्दसे अग्निका धारणकारी वा अग्नि जिसका धारणकारी है, ब्रह्माण्ड सृष्टिक्रमसे वायुका धारणकारी, अण्डरूपी अग्नि और भूर्लोक सृष्टिक्रमसे वायुसे अग्निकी उत्पत्ति है इस कारण दोनों अर्थही संभव होसकते हैं ॥ २४ ॥

सरलार्थ–द्यावापृथिवीने सम्पत्तिके निमित्त जिसको प्रसव किया है, ब्रह्म-शक्तिसम्पत्तिके निमित्त इसको धारण करती है, और नियुत अश्व अपने [निरेक] आकाशरूप स्थानमें इस सत्त्वप्रधान वसुधारी वायु देवकी सेवा करते है ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र १।

आपो॑ ह॒ यद्बृ॑ह॒तीर्विश्व॒माय॒न्गर्भ॒न्दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर॒ग्निम्। ततो॑ दे॒वाना॒ᳬं सम॑वर्त्त॒तासु॒रेकः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आप इत्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ–(ह) प्रसिद्ध है (यत्) जब प्रथम (गर्भम्) हिरण्यगर्भरूप लक्ष-णको (दधानाः) धारण करतेहुए (अग्निम्) अग्निको (जनयन्तीः) प्रगट करते हुए (बृहतीः) महान् (आपः) जल समूह (विश्वम्) सब जगत्में (आयन्) प्राप्त हुए (ततः) तब संवत्सरके उपरान्त उस गर्भसे (देवानाम्) देवताओंका (असुः) प्राणरूप आत्मा लिंगशरीररूप हिरण्यगर्भ (एकः) एक (समवर्तत) प्रगट होता हुआ (कस्मै) उस प्रजापति (देवाय) देवके निमित्त (हविषा) हविद्वारा (विधेम) विधान अर्थात् पूजन करते हैं "आपो ह वा इद-मग्रे सलिलमेवास" इति [११।१।६।१] श्रुतेः ॥ २५ ॥

सरलार्थ–अपरिमित जलराशि अग्निमें गर्भधारणपूर्वक सृष्टिप्रसवकारिणी होकर इस चराचर विश्वको व्याप्त करती हुई, उस गर्भसे समस्त देवगणके प्राण एक देवता 'हिरण्यगर्भ' प्रकाश पातेहुए उस प्रजापति देवताकी प्रीतिके निमित्त आहुति देते है [ऋ० ८।७।४] ॥ २५ ॥

विवरण-इसीको कारण वारि कहते हैं इसी कारण मानवशास्त्रके १ अ० ८ श्लो० 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्' कहा है.

सृष्टि दो प्रकारसे है प्रथम आदिसृष्टि इस सृष्टिमें 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' आकाश तमसे आच्छादित स्वीकार किया है, फिर सब पदार्थोंके व्यञ्जन निमित्त वायुका आविर्भाव, फिर तमनाशक ज्योतिका प्रकाश उससे कारण जलराशि, उसमें बीजक्षेपणपूर्वक मृन्मय ब्रह्माण्डकी सृष्टि हुई है, यह सृष्टि प्रधानरूप है ब्रह्मसे प्रगट है दूसरी सृष्टि ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त है, इस सृष्टिका प्रारंभ जलराशिसे प्रगट हुए ब्रह्माद्वारा होता है उनकी शक्तिसे जलचालनसे आकाश वायुआदि प्रगट होकर जगत्कार्य करते हैं, सबके आधार होनेसे मृन्मय अण्ड कहा है मनुने यहां अपने शास्त्रमें पूरा विवरण किया है वास्तवमें यह सब ब्रह्मसत्ता है ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ ।

यश्चि॒दापो॑ महि॒ना प॒र्यप॑श्य॒द्दक्षं॒ दधा॑ना ज॒नय॑न्तीर्य॒ज्ञम् ॥ यो दे॒वेष्वधि॑ दे॒व एक॒ऽआसी॒त्कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यश्चिदित्यस्य हिरण्यगर्भ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । प्रजापतिर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जिस अविनाशी ब्रह्मने (महिना) अपनी महिमाके प्रभावसे (दक्षम्) कुशल प्रजापतिको (दधानाः) धारण करनेवाले तथा (यज्ञम्) यज्ञ करनेवाली प्रजाको (जनयन्तीः) प्रगट करनेवाले (अपः) जलराशिको (पर्यपश्यत्) सब ओरसे देखा (यः) जो (देवेषु) देवताओंके (अधि) मध्य मुख्य (एकः) एकही (देवः) देवता (आसीत्) हुए (कस्मै देवाय) उस ब्रह्मदेवके निमित्त (हविषा) हविसे (विधेम) पूजाविधान करते है [ऋ० ८।७।४] ॥ २६ ॥

सरलार्थ-जिस देवताने अपनी महिमाके प्रभावसे इस प्रकारके गर्भधारणामें उपयुक्त जलराशि सृजन की है जो सब देवताओंके एकमात्र देवता हैं उनके निमित्त हवि देते हैं ॥ २६ ॥

कण्डिका २७ मन्त्र १ ।

प्र याभि॒र्यासि॑ दा॒श्वास॒ᳪ᳭सम॒च्छा॑ नि॒युद्भि॑र्वाय वि॒ष्टये॑ दुरो॒णे ॥ नि नो॑ र॒यिᳪ᳭ सु॒भोज॑सं युवस्व॒ नि वी॒रं गव्य॒मश्व्यं॑ च॒ राधः॑ ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रयाभिरित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(वायो) हे वायो ! तुम (याभिः) जिन (नियुद्भिः) अपने अश्वोंपर आरूढ होकर (इष्टये) यज्ञके निमित्त (दुरोणे) यज्ञशालामें वर्तमान (दाश्वांसम्) हवि देते यजमानके (अच्छ) सन्मुख (प्रयासि) जाते हो उसी वाहनसे यहां आकर (नः) हमारे (सुभोजसम्) सुखभोग्यरूप (रयिम्) धनको (नियुवस्व) दीजिये (च) और (वीरम्) वीरपुत्र (गव्यम्) गोसम्बन्धी सम्पत्ति (अश्व्यम्) अश्वरूप सम्पत्ति (राधः) धनको (नियुवस्व) दीजिये [ऋ० ५ । ६ । १४] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८—मन्त्र १ ।

आनो॑ नियुद्भिः॑ शतिनी॑भिरध्वरꣳ स॑हस्रिणी॑भि॒रुप॑याहि य॒ज्ञम् ॥ वायो॑ऽअ॒स्मिन्त्सव॑ने मादय॒स्व यूयम्पा॑त स्व॒स्तिभि॒ꣳ सदा॑ नः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य वसिष्ठऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मंत्रार्थ-(वायो) हे वायुदेव ! तुम (शतिनीभिः) सैकडों (सहस्रिणीभिः) सहस्रों (नियुद्भिः) वाहनोंद्वारा (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञमें (उप आयाहि) आइये (अस्मिन्) इस (सवने) तीसरे सवनमें (मादयस्व) तृप्त हो हम सबको तृप्तकरो [ऋत्विजोंके प्रति] (यूयम्) तुम (स्वस्तिभिः) कल्याणोंद्वारा (नः) हमारी (सदा) निरन्तर (पात) रक्षाकरो [ऋ० ५ । ६ । १४] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९—मंत्र १ ।

नि॒युत्वा॑न्वाय॒वाग॑ह्य॒यꣳ शु॒क्रोऽअ॑यामि ते ॥ गन्ता॑सि सुन्व॒तो गृ॒हम् ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नियुत्वानित्यस्य गृत्समद ऋषिः । गायत्री छं० । वायुर्देवता । वायव्येष्टौ याज्यानुवाक्यमन्त्रपठने वि० ॥ २९ ॥

विधि-(१) २९-३४ पर्यन्त वायुइष्टिके याज्यानुवाक्य हैं । मंत्रार्थ-(वायो) हे वायुदेव ! तुम (सुन्वतः) यजमानके (गृहम्) घरमें (गन्ता) गमनशील (असि) हो इसकारण (नियुत्वान्) अश्वारूढ होते (आगहि) इस स्थानमें

आओ (अयम्) यह (शुक्रः) शुक्रग्रह (ते) तुम्हारे निमित्त (अयामि) प्रस्तुत है [ऋ० २ । ८ । ७] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

वायोँशुक्रोऽअँयामितेमध्वोऽअग्ग्रन्दिविँष्टिषु ॥
आयाँहिसोमँपीतयेस्प्पार्होँदेवनियुत्वँता ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वायोशुक्र इत्यस्य पुरुमीढाजमीढा ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(वायो) हे वायुदेव ! (दिविष्टिषु) स्वर्गफल देनेवाले ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंमें (मध्वः) रसके सारभूत (अग्रम्) सर्व प्रथम अर्थात् जो माधुर्य्यमें सर्वसे प्रथम गिनाजाताहै वह (शुक्रः) शुक्रग्रह (ते) तुम्हारे निमित्त (अयामि) प्रस्तुत करताहूं (देव) हे देव ! (स्पार्हः) यजमानादिसे स्पृहाके योग्य तुम (सोमपीतये) सोमपानके निमित्त (नियुत्वता) अपने वाहनोंद्वारा (आयाहि) आगमन करो [ऋ० ३ । ७ । २३ ।] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

वायुरँग्ग्रेगायँज्ञप्प्रीःसाकङ्गन्मनँसायज्ञम् ॥
शिवोनियुद्भिंःशिवाभिंः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वायुरित्यस्य प्र० ऋ० । गायत्री छं० । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्रेगाः) आगे चलनेवाला (यज्ञप्रीः) यज्ञसे तृप्त होनेवाला (शिवः) कल्याणरूप (वायुः) वायुदेव (शिवाभिः) कल्याणकारी (नियुद्भिः) अश्वोंद्वारा (मनसा) चित्तके (साकम्) सहित (यज्ञम्) यज्ञमें (गन्) गमन करो ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

वायोयेतेँसहस्त्रिणोरथाँसस्तेभिरागँहि ॥
नियुत्त्वान्त्सोमँपीतये ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वायवित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-(वायो) हे वायुदेव ! (ये) जो (ते) तुम्हारे (सहस्रिणः) सहस्रों (रथासः) रथ हैं (नियुत्वान्) अश्वयुक्त तुम (सोमपीतये) सोमपान करनेके निमित्त (तेभिः) उन रथोंसहित (आगहि) आओ ॥ ३२ ॥

विवरण-इस स्थलमें रथ मेघरूप है [ऋ० २ । ८ । ७] ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १ ।

एकंयाच दुशभिंश्चस्वभूतेद्वाभ्यांमिष्टय विंᳬशुतीच ॥ तिसृभिंश्चुवहंसेत्रिᳬशतां चनियुद्भिंर्वायविहताविमुंञ्च ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एकयेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(स्वभूते) आत्मारूप समृद्धिवाले वा जगद्रूप समृद्धिवाले (वायो) हे वायुदेव ! (एकया) एक (च) और (द्वाभ्याम्) दो (च) और (तिसृभिः) तीन (च) और (दशभिः) दश (च) और (विंशतिः) बीस (च) और (त्रिंशता) तीस (नियुद्भिः) वाहनोंद्वारा (इष्टये) यज्ञके निमित्त तुम जिन पात्रोंको (वहसे) धारण करते हो (ता) उनको (विमुञ्च) इस यज्ञमें त्यागो ॥ ३३ ॥

अथवा-एक दो दश तीस मेघखण्डरूप रथके द्वारा आगमन करो और इस स्थलमें उन वाहनोंको रथसे विमुक्त करो अर्थात् हमारा यज्ञ आनन्दपूर्वक होजाय ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

तवंवायवृतस्प्पतेत्त्वष्टुंर्ज्जामातरद्भुत ॥ अवाᳬस्यावृंणीमहे ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तवेत्यस्य व्यश्व ऋषिः । निच्यृद्गायत्री छन्दः । वायुर्देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतस्पते) हे सत्यपालक ! (त्वष्टुः) त्वष्टा सूर्यके (जामातः) जामाता (अद्भुत) आश्चर्यरूप (वायो) हे वायुदेव ! (तव) आपकी कृपासे (अवांसि) रक्षाओंको वा अन्नोंको (आवृणीमहे) हम इच्छा करते हैं [ऋ० ६ । २ । ३०] ॥ ३४ ॥

विवरण-आदित्यसे जल लेकर वायु उनको गर्भयुक्त करती है उससे वृष्टि होतीहै इस कारण वायु आदित्यका जामाता है अर्थात् सब रस सूर्यकी किरणोंसे आकर्षित होतेहै. फिर वे स्थित होकर वायुके सहयोगसे चलायमान होकर वर्षा-रूपसे भूमिपर पतित होते हैं अलंकारसे कहा है अपशब्द धारा शब्द वा वृष्टिशब्द स्त्रीलिंग है इससे पर्जन्यको त्वष्टाकी कन्या और वायुको त्वष्टाका जामाता कहाहै त्वष्टासे सूर्यका ग्रहण है सब रस सूर्यसे आकर्षित हो पर्जन्याकारमें वायुके सहयोगसे चालित हो वर्षाद्वारा भूमिपर गिरते हैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १. अनु० ४।

अभित्वा॑ शूरनोनुमोदुग्धाऽइवधेनवः॑ ॥ ईशा॑नमस्यजग॑तःस्वर्दृशमीशा॑नमिन्द्रतस्थुषः॑॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अभित्वेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । पाठे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) यह दो मंत्र सामवेदीय रथन्तरसामके प्रगाथ स्वरूप हैं इनको याज्ञिकगण यज्ञमें दक्षिण पक्ष कहतेहैं । मन्त्रार्थ-(शूर) हे शूर ! (इन्द्र) सब ऐश्वर्ययुक्त परमेश्वर (अस्य) इस (जगतः) जंगम जगत्के (ईशानम्) अधिपति (स्वर्दृशम्) सर्वदर्शी वा सूर्यरूप नेत्रवाले (तस्थुषः) स्थावरोंके (ईशानम्) अधिपति (त्वा) तुमको (अभिनोनुमः) सन्मुख होकर अतिस्तुति करते हैं (इव) जैसे (अदुग्धाः) विनादुही (धेनवः) गौ बछडोंके सन्मुख होतीहै अथवा दुग्ध-हीन गौकी समान आपसे पुष्टिकी इच्छा करते हैं ॥ ३५ ॥

सरलार्थ-हे परमात्मन् ! तुमको इस दृश्यमान स्थावरजंगमात्मक सम्पूर्ण सृष्टिके ईशान और सर्वदर्शी जानकर दुग्धहीन गौकी समान [निस्सार] हम तुमको वारंवार प्रणाम करते हैं [ऋ० ५।३।२१] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

नत्वावा॑ँ२ ऽअन्योदि॒व्योनपार्थिवोनजा॒तोनज॑निष्यते॥ अश्वायन्तो॑मघवन्निन्द्र वाजिनो॑गव्यन्त॑स्त्वाहवामहे ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नत्वेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । सतोबृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ–(मघवन्) हे पूर्णधनवान् ! (इन्द्र) जगदीश्वर ! (त्वावान्) आपकी समान (अन्यः) अन्य (दिव्यः) दिव्यलोकमें होनेवाला (न) नही है (पार्थिवः) पृथ्वीमें होनेवाला (न) नहीं है (न) न कोई (जातः) उत्पन्नहुआ (न) न कोई (जनिष्यते) उत्पन्न होगा इस कारण आपहीसे प्रार्थना करते है कि, हम (अश्वायन्तः) अश्वोंकी इच्छावाले (गव्यन्तः) गौओंकी कामनासे (वाजिनः) हविकी इच्छासे (त्वा) तुमको (हवामहे) आह्वान करते हैं ॥ ३६ ॥

सरलार्थ–तुम्हारी बराबर भूमि और द्युलोकादिमें कोईभी शक्तिसम्पन्न न हुआ न है न होगा इससे हम आपके प्रसादसे अन्न अश्व गोप्रभृत्ति सम्पत्तियोंसे युक्त हों इसीकारण तुमको आह्वान करते है [ऋ० ९ । ३ । २१] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७–मंत्र १ ।

त्वामिद्धिहवामहेसातौवाजस्यकारवः ॥
त्वांवृत्रेष्विन्द्रसत्पतिन्नरस्त्वाङ्काष्ठास्वर्वतः ॥३७॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्वामित्यस्य शम्युर्ऋ० । बृहती छं० । इन्द्रो देवता । बृहदुत्तरपक्षे पाठे विनियोगः ॥ ३७ ॥

विधि–(१) यह दो मंत्र सामवेदीय बृहत्सामके अस्थिस्वरूप है इसको याज्ञिकादि गण यज्ञके उत्तरपक्षमें कहते है।**मन्त्रार्थ**–(इन्द्र)हे इद्र!(कारवः)यज्ञोंके करनेवाले (नरः) मनुष्य हम ऋत्विज (सत्पतिम्) सत्पुरुषोंके पालक (त्वाम्) तुमको (इत्) ही (वाजस्य) अन्नके (सातौ) लाभके निमित्त (हवामहे) बुलाते हैं (त्वाम्) आपको (हि) ही (वृत्रेषु) शत्रुवधके निमित्त बुलाते है (त्वाम्) तुमको(अर्वतः) अश्वप्राप्तिके निमित्त तथा (काष्ठासु) दिग्विजयप्राप्तिके निमित्त आह्वान करते हैं [ऋ० ४ । ७ । २७] ॥ ३७ ॥

सरलार्थ–हे भगवन् ! हम मनुष्यजाति आपके प्रसादसे क्षेत्रमें अन्नोत्पादन करनेको समर्थ हों आपकी कृपासे दस्युगणको पराजय कर महात्माओंका सत्कार करैं आपके प्रसादसे दिग्विजयी हों इसकारण सम्पत् विपद्में आपकोही आह्वान करतेहै ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८–मन्त्र १ ।

सत्त्वन्नश्चित्रवज्रहस्तधृष्णुयामहस्तवानोऽअद्रिवः ॥ गामश्वंरथ्यमिन्द्रसङ्किरसत्रावाजन्नजिग्युषे ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सत्त्वमित्यस्य शम्युर्ऋषिः । सतोबृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(चित्र) हे आश्चर्यकारी (वज्रहस्त) हाथमें वज्रधारण करनेवाले (अद्रिवः) अजेय होनेसे गिरिदुर्गके आश्रयवाले (इन्द्र) हे परमैश्वर्यसम्पन्न (सः) वह आप (धृष्णुया) प्रगल्भतासे (महः) बडे तेजसे (स्तवानः)स्तुति कियेहुए (त्वम्) तुम (नः) हमारे निमित्त (गाम्) गौ (रथ्यम्) रथवहनसमर्थ (अश्वम्) घोडोंको (सङ्किर) दीजिये (न) जिसप्रकार (जिग्येषु) संग्राम जीतनेवाले अश्वादिको (सत्रा) रक्षायुक्त (वाजम्) अन्न दियाजाता है अर्थात् आपके प्रसादसे हम सर्वत्र विजयी हों [ऋ० ३ । ७ । २७] ॥ ३८ ॥

विवरण-हस्तादिरहित होनेसेभी वज्रधारण करते हैं इसीसे चित्र कहा वज्रहस्तका आशय यह कि, जिनका सब कार्य वज्रकी समान अव्यर्थ है. इस स्थलमें वज्रहस्त कहनेसे हस्तइन्द्रियद्वारा करणोपयोगी विश्वरचनादि कार्य जानाजाताहै, अथवा वज्र ईश्वरीशक्तिका नाम है गिरिदुर्गआश्रय कहनेका आशय यह कि, दिग्विजयकी इच्छासे प्रार्थना है, इससे जो जो सामग्री अपने उपयोगी समझीहै वह वह इष्टदेवके समीप जानकर उससे अन्नादिबल पानेकी प्रार्थना की. अथवा अपने हाथके आयुध और गिरिदुर्गादिमें इस सर्वव्यापी देवताकी सत्तास्मरण करनेको तत्त्वरूपसे उसेही सम्बोधन कियाहै अर्थात् सर्वत्र उसीका स्मरणपूर्वक अपनी निर्भयता सम्पादनकी है ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

कयानश्चित्रऽआभुवदूतीसदावृधः सखा ॥ कयाशचिष्ठयावृता ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कयान इत्यस्य वामदेव ऋ० । गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । गाने विनियोगः ॥ ३९ ॥

विधि-(१) यहांसे तीन मंत्र वामदेवगान सामसम्बन्धी हैं । मन्त्रार्थ-(सदावृधः) सदा वृद्धिकरनेवाले (चित्रः) विचित्र वा पूज्य हे इन्द्र ! (कया)किस (ऊती) तर्पण वा प्रीतिसे (कया) किस (वृता) वर्तमान (शचिष्ठया) अतिशय क्रियाद्वारा (नः) हमारे (सखा) सहायक (आभुवत्) अभिमुख होताहै अर्थात् हम क्या उत्तम कर्म करैं, क्या क्रिया करैं जिससे परमात्मा हमारे सहायकारी हों और अपनी [ऊती] पालनशक्तिद्वारा हमारे निरन्तर वृद्धिकारी सखा हों ॥३९॥

प्रमाण-"वामदेवसाम्नो योनिः वामदेव्यमात्मन्" इति श्रुतेः । [ऋ० ३ । ६ । २४] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १।

कस्त्वासत्त्योमदानाम्मꣳहिष्ठोमत्सदन्धसः ॥ दृढाचिदारुजेवसु ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कस्त्वेत्यस्य वामदेव ऋ०। गायत्री छंदः। इन्द्रो देवता। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–हे ऐश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ! (अन्धसः) सोमरूप अन्नका (कः) कौनसा (मदानाम्) प्रसन्नताओंका (मंहिष्ठः) अत्यन्त करनेवाला (अंशः) अंश (त्वा) आपको (मत्सत्) प्रसन्न करता है अर्थात् सब अन्नोंमें कौनसा अन्न आपको अधिक तृप्त करता है जिस अंशसे प्रसन्न होकर आप (दृढा) दृढतासे रहनेवाले (वसु) सुवर्णादि धनको (आरुजे) भक्तोंके निमित्त चूर्णकर अर्थात् विभाग कर देते हो [ऋ० ३।६।२४] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मंत्र १।

अभीषुणꣳसखीनामविताजरितॄणाम् ॥ शतम्भवास्यूतये ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अभीषुण इत्यस्य वामदेव ऋषिः। गायत्री छं०। इन्द्रो देवता। वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ–हे इन्द्र ! तुम (सखीनाम्) मित्रोंके (जरितॄणाम्) स्तुति करनेवाले (नः) हम ऋत्विजोंके (अविता) पालन करनेवाले हो तथा (ऊतये) हमसे भक्तोंकी रक्षाके निमित्त (सु) भलीप्रकार (अभी) अभिमुख होनेद्वारा (शतम्) बहुतरूप (भवासि)होते हो अर्थात् भक्तोंकी रक्षाके निमित्त आप सैकडों रूप धारण करते हो वा सैंकडों उपाय अवलम्बन करते हो ॥ ४१ ॥

विशेष–यह मंत्र अवतारप्रतिपादक है इसमें रक्षाके निमित्त परमात्माका सैकडों रूप होना स्पष्ट है [ऋ० ३।६।२४] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२–मंत्र १।

यज्ञायज्ञावोऽअग्नयेगिरागिराचदक्षसे ॥ प्रप्रवयमृमृतञ्जातवेदसम्प्रियम्मित्रन्नशꣳसिषम् ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यज्ञायज्ञा इत्यस्य शम्युर्ऋषिः। बृहती छं०। अग्निर्देवता। पुच्छमंत्रपाठे विनियोगः ॥ ४२ ॥

विधि-(१) यह दो मंत्र सामवेदीय 'यज्ञायज्ञियम्' पुच्छस्वरूप हैं "यज्ञायज्ञियं पुच्छम्" इति श्रुतेः। मन्त्रार्थ-(वयम्) हम (यज्ञायज्ञा) अनेक यज्ञोंमें (गिरागिरा) प्रत्येक अनन्यस्तुतियों द्वारा (वः) तुमको वा तुम्हारे निमित्त (दक्षसे) उत्साही अथवा अत्यन्त बलसम्पन्न (अमृतम्) अविनाशी (जातवेदसम्) सर्वज्ञ (प्रियम्) प्रीतिजनक (मित्रम्) मित्रकी (न) समान (अग्नये) अग्निके निमित्त (प्र) प्रकृष्टतासे (प्रशंसिषम्) प्रशंसा करते हैं ॥ ४२ ॥

अथवा-जो परमदेवता 'यज्ञायज्ञा' प्रत्येक यज्ञमें 'गिरागिरा' प्रत्येक वाक्यमें 'अग्नये' अग्निदेवताको कृतकृत्य करनेके निमित्त 'वयम्' हमको 'दक्षसे' अपने २ कार्यमें दक्ष कहते हैं उन 'जातवेदसम्' सर्वज्ञ 'अमृतम्' अविनाशी देवताको 'प्रियम्' प्रिय 'मित्रम्' मित्रकी 'न' समान 'प्रशंसिषम्' वार २ प्रशंसा करते हैं [ऋ० ४ । ८ । १] ॥ ४२ ॥

विवरण-१यज्ञसे इस स्थलमें सृष्टि जाननी अर्थात् प्रत्येक सृष्टिमें यह अर्थ जानना.

२ अग्निसे इस स्थलमें २५ कण्डिकात्मक अग्नि जाननी यह प्रजापति ब्रह्मा हिरण्यगर्भ वा सृष्टिकालिक ब्रह्मसत्ता है.

३ यह दीखतीहुई स्थावरजंगमात्मक सम्पूर्ण सृष्टि वास्तविक अपने अधिकारवृद्धि स्थिति गत्यादि क्रिया करनेमें असमर्थ है परन्तु ब्रह्मा नामक यह अग्नि सृष्टिकार्यमें किसप्रकार कृतकार्य होरही है उसीके द्वारा सब प्रेरित होते हैं.

४ इसकोही नैयायिक नित्यज्ञान कहते हैं ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र १ ।

पाहि नोऽअग्नऽएकया पाह्युत द्वितीयया ॥ पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पाहिन इत्यस्य शम्युर्ऋषिः । बृहती छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने प्रजापते ! (ऊर्जाम्) अन्नोंके (पते) पालन करनेवाले अर्थात् सम्पूर्ण अन्नोंके पालक (वसो) हे प्रधानसम्पत्तिरूप अथवा जिसके प्रसादसे हमारा इस लोकमें निवास है हे धनवन्! आप (एकया) एक ऋक्लक्षणवाणीद्वारा, वा ॐकारवाणीद्वारा वा अद्वैतवचनद्वारा (नः) हमारी (पाहि) रक्षाकरो (उत) और (द्वितीयया) यजुलक्षणवाली दूसरी वाणीसे वा सगुणनि-

गुणप्रतिपादक वाणीसे स्तुति किये हमारी (पाहि) रक्षाकरो (तिसृभिः) ऋक् यजु सामलक्षणवाली तीन (गीर्भिः) वाणियोंसे स्तुति किये हुए, वा कर्मउपासना ज्ञानसे स्तुति किये, वा [अ, उ, म्,] द्वारा स्तुति किया (पाहि) रक्षाकरो (चतसृभिः) ऋक् यजु साम अथर्व वा गद्यपद्यात्मक चौथी वाणीसे वा नादरूप चौथी वाणीसे स्तुति किये (पाहि) रक्षाकरो वा पहली दूसरी वाणीसे स्तुति किये अग्निरूपसे, तीसरीमें ऊर्जस्पतिरूपसे चौथीमें वसुरूपसे रक्षा करो [ऋ० ६।४।१५] ॥ ४३ ॥

विशेष विवरण–अण्ड द्विधा हो यह प्रथम वाणी हुई, मनु अ० १ श्लो०१२ देखो. इस अण्डके एक भागमें द्युलोक अपर भागमें भूलोक मध्यमें अन्तरिक्ष हुआ यह दूसरा वाक्य मनु० अ० १ श्लो० १३ परब्रह्मसे मनरूप उपाधिविशिष्ट अहंकर्ता जीवात्मा प्रगट हुआ यह तीसरा वाक्य म० अ० १ श्लो० १४ परब्रह्मसे त्रिगुण महत्तत्त्व 'प्रकृति' और पञ्चेन्द्रिय आविर्भूत हुई । मनु० अ० १ श्लो० १५ यह चतुर्थ वाक्य है ।

तात्पर्य यह कि, आपके सभी वाक्य हमारे पालनार्थ अर्थात् हमको सृजनपूर्वक पालन करना इसी अभिप्राययुक्त है ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मन्त्र १ ।

ऊर्जो नपात॒ꣳस हि॒नाय॑म॑स्म॒युर्दाशे॑म ह॒व्यदा॑तये ॥ भुव॒द्वाजे॑ष्ववि॒ता भुव॑द्वृ॒ध उ॒त त्रा॒ता त॒नूना॑म् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऊर्जोनपातमित्यस्य शम्युर्ऋषिः। सतोबृहती छं०। अग्निर्देवता । पाठे वि० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ–हे अध्वर्यो ! (सः) वह तुम (ऊर्जः) जलोंके (नपातम्) पोते अग्निको (हिनु) तृप्तकरो (अयम्) यह अग्नि (अस्मयुः) हमारी इच्छा करतीहै इस कारण (हव्यदातये) हवि देनेके निमित्त (दाशेम) हम संकल्प करते है कारण कि, यह (वाजेषु) अन्नोंमें (अविता) रक्षक (भुवत्) होता है (उत) और (वृधे) वृद्धिके निमित्त तथा (तनूनाम्) शरीरोंका तथा भार्या-पुत्रादिका (त्राता) रक्षक (भुवत्) होताहै अर्थात् अग्नि हमारे शरीरोंका रक्षक वर्द्धक तथा हमारी कामना पूर्ण करता है इससे हम हविसे उसको प्रसन्न करते हैं [ऋ० ४ । ८ । १] ॥ ४४ ॥

अथवा–यही देवता हमको सृजनकी इच्छा करते हैं, यही हमारे अन्त और

वृद्धिविषयमें रक्षाकर्ता हुए हैं, और यही [परिशेष कालप्राप्तिमें] तनुबंधनसे त्राण करते है 'ऊर्जोनपात्' इन देवताको हविदानकी इच्छा करैं ॥ ४४ ॥

विवरण-सृष्टि स्थिति प्रलयकर्तारूपसे यहांतक स्तुति हुई । ब्रह्माको सृष्टिका, विष्णुको पालन और कालरूप रुद्रको संहारका अधिकार है यह अभिन्न है उस उस क्रियाके दिखानेके निमित्त ही नाम भेदसे प्रयोग कियाजाता है वास्तवमें वह एक ही तीन नाम धारण करताहै, यह मंत्र इसी बातको प्रमाण करता है ऊर्जशब्दसे कारणवारि नपातशब्दसे पौत्र जानना, ईश्वरने ब्रह्माण्ड-सृष्टिके पूर्वमें कारणवारिकी रचनाकी, उसी वारिसे अण्डरचना की उस अण्डसे ब्रह्मा और अग्निकी उत्पत्ति है इसीसे ब्रह्मा और अग्नि ऊर्जोनपात् कहलाते हैं ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र १ ।

संवत्सरोसि परिवत्सरोसीदावत्सरोसीद्वत्सरोसि वत्सरोसि ॥ उषसस्तेकल्पन्तामहोरात्रास्तेकल्पन्तामर्द्धमासास्तेकल्पन्ताम्मासास्तेकल्पन्तामृतवस्तेकल्पन्ताᳬसंवत्सरस्तेकल्पन्ताम् ॥ प्रेत्त्याऽएत्त्यैसञ्चाञ्चप्प्रचसारय ॥ सुपर्णचिदसितयादेवतयाङ्गिरस्वद्ध्रुवःसीद ॥ ४५ ॥[११]

इति शुक्लयजुःसंहितायां सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ संवत्सर इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । अतिकृतिश्छं० । अग्निर्देवता । चित्याग्न्यभिमर्षणे वि० ॥ ४५ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठकर चित्याग्नि अभिमर्शन करै पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापतिकी प्रार्थना । मन्त्रार्थ-हे देव ! तुम (संवत्सरः) संवत्सर (असि) हो (परिवत्सरः) परिवत्सर (असि) हो (इदावत्सरः) इदावत्सर (असि) हो (इद्वत्सरः) इद्वत्सर (असि) हो (वत्सरः) वत्सररूप (असि) हो अर्थात् पंचसंवत्सरात्मक युगरूप हो "युगं भवेद्वत्सरपंचकेन" इति ज्योतिश्शास्त्रोक्तेः । उन (ते) आपके (उषसः) प्रातःकालादि कालविशेष (कल्पन्ताम्) अंगमूर्तिअवयवमें कल्पित हों (ते) तुम्हारे (अहोरात्राः) दिनरात (कल्पन्ताम्)

अङ्गमूर्ति अवयवमें कल्पित हो (ते) तुम्हारे (अर्धमासाः) पखवारे (कल्पन्ताम्) अङ्गमूर्ति अवयवमें कल्पित हों (ते) तुम्हारे (मासाः) चैत्रादि महीने (कल्पन्ताम्) अंगमूर्तिमें कल्पित हों (ते) आपकी (ऋतवः) वसन्तादि ऋतु (कल्पन्ताम्) अवयवत्वमें कल्पित हों (ते) तुम्हारे (संवत्सरः) पांचसंवत्सर अवयवत्वमें (कल्पताम्) कल्पित हो (प्रेत्यै) गमनके निमित्त (च) और (एत्यै) आगमनके निमित्त (समञ्च) संकोच (च) और (प्रसारय) विस्तार करो अर्थात् अपनी इच्छासे संकोच विकास करते तुम सृष्टिका आविर्भाव तिरोभाव करते हो (सुपर्णचित्) सुपर्णाकार चित् होनेसे सुपर्णचित् (असि) हो (तया) उस (देवतया) वाणीदेवताके सहित (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (ध्रुवः) अचल (सीद) यहां स्थित हो अर्थात् तुम ध्रुव हो तुम्हारे इस देवत्वप्रभावसे यह अंगिरस्वत् सुपर्ण निर्मित हुआ है इस देवत्वप्रभावमे कुछ काल इसकी अव्यवहित रक्षा करो ॥ ४५ ॥

विवरण—वैदिक ज्योतिश्शास्त्रमें "पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्" इति [१ । १] पांच वर्षका एक युग लिखा है इस मंत्रके इस ऊपरके भागमें प्रजापति और युगका, दूसरे भागमें प्रजापति और उषाप्रभृति संवत्सरान्त कालका अभेद वा अभिन्नभाव सम्पादित किया है इससे अनन्त कालके सहित प्रजापतिका अभेद वा अभिन्नता सम्पादन होती है इसके तीसरे भागमेंभी यही स्पष्टतासे सम्पादन किया है इस मंत्रमें युगको अवयवी और उषादिकालको अवयवरूपसे वर्णन किया है इसीप्रकार संवत्सरादि काल अवयवी करके इसीप्रकार अनेक युगादिकोभी अवयवरूपसे वर्णन करा जासक्ताहै—मनु अ० १ श्लोक १२ ब्रह्माजीका अण्डमें एक वर्ष रहना कहा है उषाप्रभृति वर्षका एक २ अंश और वत्सरही उसकी पूर्ति करनेवाला है, वर्ष ही कालका प्रधान परिच्छेदक है, वर्षान्त होकर नये वर्षमें वही सब पूर्व परिचित शीतग्रीष्मादि दृष्ट होते है,इससे वत्सरात्मक देवता ही अनन्तकालात्मक देवता हैं और ब्रह्माण्डमें वत्सरवास कहनेसे चिरकाल वास विदित होताहै यही सिद्ध होता है, वस्तुतः ब्रह्माजी एकवर्ष अण्डवासपूर्वक कुछ सृजन करकेही सृष्टिक्रियाका अवसर प्राप्त करते हुए इसप्रकार ही नहीं अबभी वह वत्सर विद्यमान है और वह अबभी इस अण्डमें स्थित सृष्टिक्रियामें नियुक्त है उन्होंने पहले आदिपुरुष मनुको सृजन किया, उसके द्वारा सृष्टिका विस्तार करते हैं,और अब भी अस्मदादिद्वारा सृष्टि विस्तार करते है अंगिरस् शब्दसे अग्नि, उससे विशिष्ट—सुपर्ण वायु इस स्थलमे अर्थान्तर अङ्गिरस्वत् अग्न्याधार और सुपर्णपक्षी, तदाकार यज्ञीय वेदी उसकी ही दृढता प्रार्थनीय है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशोऽध्यायः २८.

होतायक्षदेकादशदेवंबर्हिर्द्वादशपुनरप्येवंचत्वारःषट्
चत्वारिꣳशत् ॥

कण्डिका१-मंत्र १. अनु० १।

होतायक्षत्समिधेन्द्रमिडस्पदेनाभापृथिव्याऽअधि ॥ दिवोवर्ष्मन्त्समिध्यतऽओजिष्ठश्चर्षणीसहांवेत्त्वाज्ज्यस्यहोतर्य्यज ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋषयः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । आग्नी देवता । ऐन्द्रहविप्रयाजानां प्रैषमंत्रपाठे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) [इन्द्रमिडः सौत्रामणिकोऽध्याय इति कात्यायनोक्तेः अनु०] इस अध्यायके सम्पूर्ण मंत्र सौत्रामणीयज्ञमें यथास्थान प्रयोग करने प्रथमसे लेकर ग्यारह मंत्र ऐन्द्र हविप्रयाजके प्रैष हैं। मन्त्रार्थ-(होता) दिव्य होता (समिधा) समिधद्वारा (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन करै जो इन्द्र तीनों स्थानोंमें दीप्त होता है अर्थात् (इडः) पृथ्वीके (पदे) यजनीय देशमें अग्नि आत्मासे (पृथिव्याः) पृथ्वीकी (नाभौ) नाभि अन्तरिक्षमें विद्युत् आत्मासे (अधि) ऊपर तीसरे (दिवः) स्वर्गके (वर्ष्मणि) श्रेष्ठ स्थानमें आदित्यरूपसे (समिध्यते) प्रदीप्त होता है (चर्षणिसहाम्) मनुष्योंके अभिभव करनेवालोंमें (ओजिष्ठः) अतितेजस्वी इन्द्र (आज्यस्य) घृतको (वेतु) पान करै (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुम भी यजन करो ॥ १ ॥

अथवा-होता यजन करै पृथ्वीके मध्यमें नाभिस्वरूप, चरुपुरोडाशादि अन्नकी आधार, स्वर्गका अवयवविशेष अर्थात् स्वर्गका खण्ड, इस प्रकारकी इस यज्ञवेदीमें समिध कामना करनेवाले प्रदीप्त अग्निमें समिधाप्रक्षेपपूर्वक होता इन्द्रका यजनकरै उक्तदेवता मनुष्यगणके जितने पराभवकारी शत्रु हैं सबसे बली है आज्यभाग पानकरै हे होता ! इसी अभिप्रायसे यजनकरो ॥ १ ॥

विवरण-इस स्थलमें प्रजापति समस्त कार्यमें व्यापक समष्टिकालरूप ब्रह्मा है और वर्षणादि कार्यव्यापी व्यष्टिकालका देवता इन्द्र कहा है दोनोंही समष्टि व्यष्टिरूपसे जाननेवास्तवमें एकही है ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र १ ।

होतायक्षत्तनूनपातमूतिभिर्जेतारमपराजितम् ॥ इन्द्रन्देवᳬस्वर्विदम्पथिभिर्म्मधुमत्तमैर्न्नराशᳬसेनतेजसावेत्त्वाज्ज्यस्यहोतर्यज ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ताः प्रा० ऋ० । अतिजगती छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दैवी होता (तेजसा) तेजस्वी (नराशंसेन) मनुष्योंसे प्रशंसनीय देवके सहित (तनूनपातम्) तनूनपातको तथा (जेतारम्) शत्रुओंके जीतनेवाले (अपराजितम्) किसीसे न हारनेवाले (स्वर्विदम्) अपनेको वा स्वर्गको जाननेवाले (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (ऊतिभिः) तृप्तिकारी रक्षा और (मधुमत्तमैः) अतिमधुर (पथिभिः) यजमानको स्वर्गमें लेजानेवाली हवियों-द्वारा (यक्षत्) यजन करो इसप्रकार दो देवताओंसे युक्त इन्द्र (आज्यस्य) घृतको (वेतु) पान करो (होतः) हे मनुष्य होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ २ ॥

सरलार्थ–होता यजन करै अपनी रक्षाशक्तिसे चिरजयी अपराजित आत्मज्ञाता तनूनपात् इन्द्र देवताको अतिमधुर हविर्दानपूर्वक यजन करै, उक्त देवता सर्व मनुष्यगणसे प्रशंसनीय तेजमें आज्यभाग पान करै, हे होतः ! तुम इस अभिप्रा-यसे यजन करो ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र १ ।

होतायक्षदिडाभिरिन्द्रमीडितमाजुह्वानममर्त्त्यम् ॥ देवोदेवैःसवीर्य्योवज्रहस्तःपुरन्दरोवेत्त्वाज्ज्यस्यहोतर्यज ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दैवी होता (इडाभिः) प्रयाज देवताके साथ (ईडितम्) वेदमंत्रोंसे स्तुत (आजुह्वानम्) यजमानोंसे आहूयमान वा देवताओंके आह्वाता (अमर्त्यम्) मरणधर्मरहित (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन करै (देवैः) देवताओंसे (सवीर्यः) समानधर्मवाले (वज्रहस्तः) वज्र हाथमें धारण किये

(पुरन्दरः) पुरन्दर अथवा शत्रुओंके नगरको विदीर्ण करनेवाले (देवः) देव (आज्यस्य) घृतको (वेतु) पान करे (होतः) हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ३ ॥

सरलार्थ-होता यजन करे आह्वान कियेहुए मर्त्यधर्मरहित इन्द्रको होता इडा-स्थानपूर्वक स्तुतिकरके योगकरे उपकेद्व दूसरे देवताओंके दलके सहित पुष्ट होकर वीर्यवान् वज्रहस्त पुरन्दर नामसे कीर्तित होने आज्यभाग पानकरै हे होता ! इसी अभिप्रायसे तुम यजन करो ॥ ३ ॥

विवरण-पुरन्दरका यह भी अर्थ है कि मेघवृन्दके चलानेवाले इन्द्र देवताके हाथमें जो वज्र है और निरन्तर वृष्टिधारा झंझावातादि और वज्रपातादिद्वारा बड़ी २ पुरियोंको विदीर्ण करते हैं यह किसीको अविदित नहीं है यास्क कहते हैं, मेघरूप पुरके नाश करनेसेभी इनको पुरन्दर कहते हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

होता यक्षद्बर्हिषीन्द्रं निषद्वरं वृषभं नर्यापसम् ॥ वसुभी रुद्रैरादित्यैः सयुग्भिर्बर्हिरासदद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्वि० ऋ० । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । आश्वी देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवी होताने (निषद्वरम्) बैठनेवालोंमें श्रेष्ठ (वृषभम्) वृषेणकारी (नर्यापसम्) यजमानोंके हितकारी (इन्द्रम्) इन्द्रको (बर्हिषि) कुशा-सनपर (यक्षत) पूजनकिया (सयुग्भिः) समान योगवाले (वसुभिः) आठवसु (रुद्रैः) ग्यारह रुद्र (आदित्यैः) बारह आदित्योंके सहित (बर्हिः) कुशापर (आसदत्) स्थित होकर (आज्यस्य) घृतको (वेतु) पानकरो (होतः) हे मनुष्य होता ! तुमभी इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ ४ ॥

विवरण-उपदेशानमें बहुतसेक सभ्यमें काठ जिसप्रकार हड आसनमें उपविष्ट हैं ऐसा और नहीं आठदिशाओंके देवता आठ वसु हैं, आठ दिशा ऊपर नीचे और मध्य इन ग्यारह स्थानमें ग्यारह रुद्र स्थित करते हैं बारह महीनोंके अधि-ष्ठातृ देवता बारह सूर्य हैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

होता यक्षदोजो न वीर्यꣳ सहो द्वार इन्द्रमवर्धयन् ॥

सुप्प्रायुणाऽअस्मिन्यज्ञेविश्श्रयन्तामृतावृधोद्वार ऽइन्द्रायमीढुषेव्यन्त्वाज्ज्यस्यहोतुर्यज ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्वि० ऋ० । अतिजगती छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ५ ॥

मंत्रार्थ-(होता) दैवी होताने (इन्द्रम्) इन्द्रका (यक्षत्) यजन किया (न) और जो (द्वारः) द्वारदेवी प्रयाज देवताने (ओजः) इन्द्रियबल (वीर्यम्) वीर्य शरीरका बल (सह) मनका बल (वर्धयन्) इन्द्रमें बढाया उसको होता यजन करै (सुप्रयाणाः) सुखसे गमनागमन योग्य (ऋतावृधः) यज्ञके बढाने-वाले (द्वारः) द्वार (मीढुषे) सेचनमें समर्थ (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (विश्रयन्ताम्) खुलजाँय (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञमें (आज्यम्) घृतको (वेतु) पान करो (होतः) हे होता ! (यज) इसी अभिप्रायसे यजन करो वृष्टिपातसे इन्द्र सेचन करते है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र १ ।

होतायक्षदुषेऽइन्द्रस्य धेनूसुदुघेमातरामही ॥ सवातरौनतेजसावुत्समिन्द्रमवर्द्धतांवीतामा ज्ज्यस्यहोतुर्यज ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (इन्द्रस्य) इन्द्रकी (मातरा) मातृरूपा (सुदुघे) सुन्दर दुग्धवाली (धेनू) दो धेनुरूप (मही) महान् (उषे) नक्त और उषाको (यक्षत्) यजन किया (तेजसा) तेजद्वारा उन्होंने (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्द्धताम्) बढाया (न) जैसे (सवातरौ) समान बछडेवाली गौ अर्थात् जिन दोका एकही बछडा है वे गौ (वत्सम्) उस बछडेको पुष्ट करती है (आज्यम्) घृतको (वीताम्) पान करो (होतः) हे होता ! इसी अभिप्रायसे तुम (यज) यजन करो ॥ ६ ॥

विवरण-नक्त और उषा सायं और प्रातःकाल, सायं प्रभातको इन्द्रद्वारा मेघ प्रगट होते है, यही मानो दोनों काल इन्द्रको पुष्ट करते है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

होता॑ यक्ष॒द्दैव्या॒ होता॑रा भि॒षजा॒ सखा॑या ह॒विषेन्द्रं॑ भिषज्यत॒ऽ ॥ क॒वी दे॒वौ प्रचे॑तसा॒विन्द्रा॑य ध॒त्तऽइ॑न्द्रि॒यं वी॒तामाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋषयः । आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(होता) दैवी होताने (भिषजा) वैद्य (सखाया) मित्ररूप (देवौ) देवता दीप्यमान (कवी) क्रान्तदर्शी (प्रचेतसौ) प्रकृष्टज्ञानयुक्त (दैव्या) देवताओंके (होतारौ) दोनों होताओंको (यक्षत्) पूजा (इन्द्रम्) जो दोनों हवि द्वारा इन्द्रकी (भिषज्यतः) चिकित्सा करतेहुए (इन्द्राय) इन्द्रमें (इन्द्रियम्) वीर्यको (धत्तः) धारण करते हुए (आज्यम्) घृतको (वीताम्) वे दोनों पान करें (होतः) हे होता! इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ ७ ॥

विवरण-देवसंबंधी होता अर्थात् परम देवताके अण्डरूप वेदीमें जो होतृस्वरूप है और उस परमात्माद्वारा नियत हुए है उनकोही दैवी होता कहते हैं यास्कके मतसे अग्नि और वायु है अग्नि भस्म करता और वायु लय करदेता है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षत्ति॒स्रो दे॒वीर्न भे॑ष॒जं त्रय॑स्त्रि॒धात॑वो॒ऽपस॒ऽ इडा॒ सर॑स्वती॒ भार॑ती म॒हीः ॥ इन्द्र॑पत्नीर्ह॒विष्म॑ती॒र्व्यन्त्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । ब्राह्म्युष्णिक्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (भेषजम्) भेषजरूप (त्रयः) तीनोंलोक (त्रिधातवः) अग्नि वायु सूर्य इन तीन धातुओंके धारण करनेवाले (अपसः) शीतउष्ण वात वर्षादि कर्मवाले और (महीः) महान् (इन्द्रपत्नीः) इन्द्रकी पत्नी अर्थात् पालन करनेवाली (न) और (हविष्मतीः) हविसे युक्त (इडा) इडा, (सरस्वती) सरस्वती (भारती) भारती (तिस्रः) तीन (देवीः) देवियोंका (यक्षत्) यजन किया वे (आज्यम्) घृतको (व्यन्तु) पान करें (होतः) हे होता ! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ८ ॥

विवरण—अथवा भेषज ज्ञानसे तीनों देवियोंको यजन किया इडा–अन्न इस स्थलमें अन्नाश्रित जीवन हमारी ध्वनि, इसका स्थान पृथ्वी और यही धातु है इसका धारक अग्नि है. सरस्वती–जलवती इस स्थलमें जल जीवन मेघादिध्वनि, इसका स्थान अन्तरिक्ष और यही धातु है इसका धारण करनेवाला वायु है. भारती–सूर्यकान्ति, भरतशब्दसे सूर्य इस स्थलमें तैजस जीवन स्वर्गीयगणोंकी ध्वनि, इसका स्थान द्युलोक और यही धातु है इसका धारक सूर्य है अध्यातममेंभी इसी प्रकार जान्ना. यह तीन प्रकारकी ध्वनि कालात्मक इन्द्र देवताकी पालनीया सहचरी है अथवा आकाशरूप इन्द्र है आकाशमेंभी ध्वनि स्थित रहती है इससे तीनों देवी आकाशकी पत्नी हैं ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

होता॑यक्ष॒त्त्वष्टा॑र॒मिन्द्रं॑न्दे॒वम्भि॒षज॑ᳫं᳭सु॒यज॑ङ्घृत॒श्रिय॑म् ॥ पु॒रु॒रूप॑ᳫं᳭सु॒रेत॑सम्म॒घोन॒मिन्द्रा॑य॒त्त्वष्टा॒दध॑दिन्द्रि॒याणि॒वेत्त्वाज्ज्य॑स्य॒होत॒र्य्यज॑ ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋ० । अतिजगती छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दैवी होताने (इन्द्रम्) परमैश्वर्यसम्पन्न (देवम्) देनेवाले (भिषजम्) रोगनिवर्तक (सुयजम्) अच्छे अर्चन करने योग्य (घृतश्रियम्) घृतकी शोभासे युक्त वा किरणजालसे शोभायमान (पुरुरूपम्) बहुतरूपके आदि कारण (सुरेतसम्) सुन्दर वीर्यवाले (मघोनम्) धनवान् (त्वष्टारम्) त्वष्टा देवका (यक्षत्) यजन किया (त्वष्टा) त्वष्टा देवने (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (इन्द्रियाणि) पराक्रमको (दधत्) स्थापन किया (आज्यम्) घृतको (वेतु) पान करै (होतः) हे होता ! इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ ९ ॥

सरलार्थ–होता यजन करै सुन्दर यजनीय किरणजालसे शोभायमान बहुरूपके निधान आकर्षण करनेमें समर्थ ऐश्वर्यवान् त्वष्टा नाम इन्द्र [सूर्य] देवताको होता यजन करै त्वष्टा इन्द्र [ईश्वरकालात्मक देव] के निमित्त इन्द्रियसमूह [इन्द्रसम्पात्ति अर्थात् सम्पूर्ण स्थावर जंगम] धारण कर आज्यभाग पान करै हे होता ! इसी अभिप्रायसे यजन करो ॥ ९ ॥

कण्डिका १० –मंत्र १ ।

होता॑यक्ष॒द्वन॒स्पति॑ᳫं᳭शमि॒तार॑ᳫं᳭श॒तक्र॑तु॒न्धि॒यो॒जो

ष्टारमिन्द्रियम् ॥ मध्वा समञ्जन्पथिभिः सुगेभिः स्वदाति यज्ञम्मधुना घृतेन वेत्त्वाज्ज्यस्य होतर्य्यज ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । शक्वरी छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (शमितारम्) उलूखलादिरूपसे हविके संस्कार कर्ता (शतक्रतुम्) वहुतकर्म करनेवाले (धियः) बुद्धिके (जोष्टारम्) सेवन करनेवाले (इन्द्रियम्) इन्द्रके कार्यमें नियुक्त इन्द्रके हितकारी (वनस्पतिम्) वनस्पति देवका (यक्षत्) यजन किया वह (मध्वा) स्वादु घृतसे (समञ्जन्) यज्ञको भलीप्रकार सिञ्चन करते (सुगेभिः) सुन्दरगमनयोग्य (पथिभिः) मार्गोंसे (मधुना) स्वादिष्ठ (घृतेन) घृतद्वारा (यज्ञम्) यज्ञको (स्वदाति) देवताओंको प्राप्त कराता है (आज्यस्य) घृतको (वेतु) पान करो (होतः) हे होता ! इसी अभिप्रायसे (यज) यजन करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

होता यक्षदिन्द्रꣳ स्वाहाज्ज्यस्य स्वाहा मेदसः स्वाहा स्तोकानाꣳ स्वाहा स्वाहाकृतीनाꣳ स्वाहा हव्यसूक्तीनाम् । स्वाहा देवाऽआज्ज्यपा जुषाणाऽइन्द्रऽआज्ज्यस्य व्यन्तु होतर्य्यज ॥ ११ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋ० । शक्वरी छन्दः । आप्री दे० । वि० पू० ॥ ११ ॥

मंत्रार्थ-(होता) दैवी होताने (इन्द्रम्) इन्द्रको (स्वाहा) स्वाहाकारपूर्वक (यक्षत्) यजन किया, (आज्यस्य) घृतभागसे (स्वाहा) इन्द्रके निमित्त स्वाहाकार करै (मेदसः) मेदभागको (स्वाहा) स्वाहाकार करै (स्तोकानाम्) सोमविन्दुओंद्वारा (स्वाहा) देवताओंके प्रति स्वाहाकार करै (स्वाहा) स्वाहाकारसे (स्वाहाकृतीनाम्) स्वाहाकृतिभाग अर्थात् देवताओंके स्वाहाकृति प्रयाज देवताको यजन करै (स्वाहा) स्वाहाकारसे (हव्यसूक्तीनाम्) हव्यसूक्ति भाग हव्यसम्बन्धी सुवचनोंसे देवताओंको यजन करै (जुषाणाः) स्वाहाकारसे प्रसन्न हुए (आज्यपाः) घृतके पान करनेवाले (देवाः) देवता (इन्द्रः) इन्द्र (आज्यम्) घृतको (व्यन्तु) पान करें (होतः) हे होता ! (यज) इसी अभिप्रायसे तुमभी यजन करो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२–मंत्र १. अनु० २।

देवम्बर्हिरिन्द्रꣳसुदेवन्देवैर्वीरवत्स्तीर्णंवेद्यामवर्द्धयत् ॥ वस्तोर्वृत्तम्प्राक्तोर्भृतꣳरायाबर्हिष्मतोत्यगाद्वसुवनेवसुधेयस्यवेतुयज ॥ १२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवमित्यस्य प्राजापत्या श्विसरस्वत्य ऋ० । निच्यृदतिजगती छं० । अनुयाजप्रैषा देवताः । ऐन्द्रानुयाजानां प्रैषमंत्रपठने वि० ॥ १२ ॥

विधि–(१) ११ से २२ तक इन्द्रसम्बन्धी अनुयाजके प्रैष जानें । **मंत्रार्थ**–(सुदेवम्) जहां श्रेष्ठ मरुतादि देवता स्थित होते हैं ऐसे (देवैः) देवताओं वा देनेवाले ऋत्विजोंसे (वरिवत्) वीरयुक्त (वेद्याम्) वेदीमें (स्तीर्णम्) बिछाये (वस्तोः) दिनमें (वृत्तम्)छेदन किये (अक्तोः) रात्रिमें (प्रवृत्तम्) यत्नपूर्वक रक्खेहुए (बर्हिः) बर्हिसंज्ञक अनुयाज (देवम्) देवता (इन्द्रम्)इन्द्रको(अवर्धयन्)बढातेहुए अर्थात् पुष्टकरतेहैं जो बर्हि (राया) हविलक्षणवाले धनसे (बर्हिष्मतः) बर्हिसे युक्त अन्ययागोंको (अत्यगात्) अतिक्रमण करगयाहै (वसुवने) धनदेनेके निमित्त (वसुधेयस्य) तथा यजमानके घरमें धनकी स्थितिके निमित्त (वेतु) घृतपान करै (होतः) हे मनुष्य होता ! (यज) तुम भी इसी अभिप्रायसे यजन करो ॥ १२ ॥

सरलार्थ–जो बर्हि देवगणोंके आसनके निमित्त व्यवहार कियेजातेहै, जो ऋत्विजोंके प्रत्येक कार्यमें व्यवहारकिये जातेहैं, जिनको रात्रिकालमें यत्नसे रखकर प्रातःकाल कार्यमे खण्डशः कियाजाताहै, और जो हविष्मान् यजमानकी सब सम्पत्तिको अतिक्रमण करचुके हैं,अर्थात् प्रधानता लाभकी है वेदीमें बिछेहुए वे इन्द्रको बढाते है, और यजमानके धनप्राप्तिके निमित्त और धनकी स्थितिके निमित्त आज आज्यभाग पानकरै. हे होता ! बर्हि देवताको यजनकरो ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र १ ।

देवीर्द्वारऽइन्द्रꣳसङ्घातेवीड्वीर्य्यामन्नवर्द्धयन् ॥ आवत्सेनतरुणेनकुमारेणचमीवतापार्वाणꣳरेणुककाटन्नुदन्तांवसुवनेवसुधेयस्यव्यन्तुयज ॥१३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवीरित्यस्य प्राजापत्याश्विसरस्वत्य ऋ० । शाक्करी छं० । द्वारो देवताः । वि० पृ० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(संघाते) देहलीकपाट द्वारशाखा अर्गलादिसमूह होनेसे (वीड्वी) दृढ (द्वारः) द्वार (देव्यः) देवी (यामन्) कर्मोंमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयन्) बढातीहुई तथा (मीवता) हिंसाशील (तरुणेन) तरुण (च) और (कुमारेण) कुमार (वत्सेन) वत्सद्वारा (आ) अभिमुख (अर्वाणम्) गमन (रेणुककाटम्) कुत्सित धूल और वृष्टिको (अपनुदन्ताम्) हटावें (वसुवने) इत्यादि पूर्ववत् । तात्पर्य यह-धूलरूप यज्ञविघ्न दूर हों ॥ १३ ॥

सरलार्थ-कपाटादि संघातसे द्वारदेवी दृढ हैं, इनसे क्या कुमार क्या तरुण क्या हिंसाशील किसीप्रकारके पशुआदि यज्ञमण्डपमें प्रवेश नहीं करसकते, तथा धूरि और वृष्टिकण प्रवेश नहीं करसकते, यह इन्द्रको नियामन ज्ञानमें वर्द्धित करैं, यजमानके धनप्राप्ति और धनस्थितिके निमित्त आज्यभाग पानकरैं हे होता ! द्वारदेवीको यजन करो ॥ १३ ॥

भावार्थ-इसका भाव यह है कि यज्ञमण्डपमें ऐसे दृढ द्वार बनाने चाहियें॥ १३॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

देवीऽउषासानक्तेन्द्रंꣳयज्ञेप्प्रयत्त्यह्वेताम् ॥ देवीर्व्विशꣳप्प्रायासिष्टाꣳसुप्प्रीतेसुधितेवसुवनेवसुधेयस्यवीताꣳयज ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । उषासानक्ता देवते । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(सुप्रीते) निरन्तर प्रीतिमान् (सुधिते) निरन्तर हितकारी (देवी) देवी (उषासानक्ता) उषाकाल और नक्तकालके देवता (यज्ञे) यज्ञके (प्रयति) वर्तमान होनेमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (अह्वेताम्) आह्वान करैं (देवीः) देवसम्बन्धी (विशः) प्रजा वसु रुद्र आदित्य विश्वेदेवा मरुत् (प्रायासिष्टाम्) निरन्तर प्रवृत्त करैं (वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज) यजमानकी वसुप्राप्ति और स्थितिके निमित्त आज्यभाग पान करैं हे होता! उषासानक्तदेवीविषयक यजन करो ॥१४॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

देवीजोष्ट्रीवसुधितीदेवमिन्द्रमवर्द्धताम् ॥ अयाव्यन्याघाद्द्वेषाꣳस्यान्यावक्षद्वसुवार्य्याणियजमानायशिक्षितेवसुवनेवसुधेयस्यवीताꣳयज ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । अतिजगती छं० । जोष्ट्री देवते । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(जोष्ट्री) निरन्तर प्रीतियुक्त (शिक्षिते) तत्त्वज्ञाता (वसुधिती) धनकी स्थान (देवी) द्यावापृथिवी वा अहोरात्रकी अधिष्ठातृदेवी (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) बढातीहुई उन दोनोंमें (अन्या) एक (अघा) पाप (द्वेषांसि) दुर्भाग्य (अयावि) दूर करती है (अन्या) दूसरी (वार्याणि) वरणीय भोगयोग्य (वसु) धन (यजमानाय) यजमानके निमित्त (आवक्षत्) प्रदान करती है (वसुवने) इत्यादि पूर्ववत् ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

देवीऽऊर्ज्जाहुती दुघे सुदुघे पयसेन्द्रमवर्द्धताम् ॥
इषमूर्ज्जमन्या वक्षत्सग्धिꣳ सपीतिमन्या नवेन
पूर्वं दयमाने पुराणेन नवमधातामूर्ज्जमूर्ज्जाहुती
ऽऊर्ज्जयमाने वसु वार्य्याणि यजमानाय शिक्षिते
वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । विक्रान्तिश्छं० । देव्यो देवताः । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(ऊर्जाहुती) अन्नजलके सहित आह्वानवाली (दुघे) कामना दोहनमें समर्थ "अनयोरनुसम्भोगमिमाः सर्वाः प्रजा अनुसम्भुञ्जन्ते" इति श्रुतिः (सुदुघे) कामनारूप दुग्धसे परिपूर्ण (देवी) दोनों देवी (पयसा) दुग्धद्वारा (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) बढातीहुई उनमें (अन्या) एक (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) रसरूपी जल (वक्षत्) वहन करती है [ऊर्जका स्वरूपही अन्नपानी है] (अन्या) दूसरी (सग्धिम्) साथ भोजन (सपीतिम्) साथ पानको वहन करती है [आहुति सहभोजन सहपानके निमित्त है] (दयमान) कृपायुक्त (ऊर्जाहुती) ऊर्जयुक्त आह्वानवाली (ऊर्जम्) रसको (ऊर्जयमाने) बढानेवाली (शिक्षिते) तत्त्वजाननेवाली देवी (नवेन) नवीन अन्नके परिवर्तनमें (पूर्वम्) पुरातन और (पुराणेन) पुरातनके परिवर्तनसे (नवम्) नूतन अन्नको (अधाताम्) धारण करती है अर्थात् जिनकी कृपासे नवीनके परिवर्तनमें पुरातन और पुरातनके परिवर्तनमें नवीन अन्नलाभ कियाजाता है जो (वार्याणि) वरणीय

(वसु) धन (यजमानाय) यजमानको देती है (वसुधेयस्य वसुवने) यजमानको धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त (वीताम्) घृतपान करें (यज) हे होता ! ऊर्जाहुति देवियोंको यजन करो ॥ १६ ॥

विवरण–[व्यवसाय–शिक्षित–अन्नोत्पादनकृष्यादि । बलवर्द्धक–व्यायामादि । आवाहनादिवाक्य–नीतिशास्त्राभ्यासादि] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १ ।

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रमवर्द्धताम् ॥ हताघशꣳसावाभार्ष्टां वसु वार्याणि यजमानाय शिक्षितौ वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋ० । अतिजगती छं० । देवा देवताः । वि० पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ–(हताघशꣳसौ) पापकार्यकी प्रशंसा करनेवालोंको निवृत्त करनेवाले (शिक्षितौ) शिक्षायुक्त [ईश्वरद्वारा शिक्षित अर्थात् ईश्वरके नियमानुसार जिनके द्वारा शुभाशुभ घटना होती है] (दैव्या) देवसम्बन्धी (देवा) देवता (होतारा) दोनों होता (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) बढातेहुए (वार्याणि) वरणीय (वसु) धन (यजमानाय) यजमानके निमित्त (अभार्ष्टाम्) आहरण करें (वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज) यजमानकी धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त घृतभाग पान करें होता ! तुम भी यजन करो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीः पतिमिन्द्रमवर्द्धयन् ॥ अस्पृक्षद्भारती दिवꣳ रुद्रैर्यज्ञꣳ सरस्वतीडा वसुमती गृहान्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवीरित्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिजगती छं० । देवा देवताः । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–(तिस्रः) तीनों (देवीः) देवियें (पतिम्) पालक (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयन्) बढातीहुई (भारती) भारती (दिवम्) द्युलोकको (रुद्रैः) रुद्रोंसे युक्त वा रुद्रगणकी सहचारिणी (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञम्) यज्ञको (वसुमती) वसुयुक्त (इडा) इडा (गृहान्) घरोंको अर्थात् भूलोकको (अस्पृ-

क्षत्) स्पर्श करतीहुई (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवी (वसुवने वसुधेयस्य) धन-प्राप्ति और उसकी स्थितिके निमित्त (व्यन्तु) घृत पान करै (यज) हे होता ! इस अभिप्रायसे यजन करो ॥ १८ ॥

विवरण-यज्ञका धूम जिस लोकमें पर्जन्याकार प्राप्त होता है वही यज्ञलोक अर्थात् अन्तरिक्ष लोक है. स्पर्श करना चिर सम्बन्ध रखना है. तीनों देवी तीन लोकस्थित ध्वनिकी अधिष्ठात्री देवी हैं आकाशमें शब्द गुण है इस कारण तीनों देवी आकाशसे पालित होती है इससे आकाशका देवता इन्द्र है अथवा कालाधिष्ठातृ देव इनका पालक है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र ३ ।

देवऽइन्द्रोनराशꣳसस्त्रिवरूथस्त्रिबन्धुरोदेवमिन्द्रमवर्द्धयत् ॥ शतेनशितिपृष्ठानामाहितꣳसहस्रेणप्रवर्त्ततेमित्रावरुणेदस्यहोत्रमर्हतोबृहस्पतिस्तोत्रमश्विनाध्वर्य्यवंवसुवनेवसुधेयस्यवेतुयज ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । कृतिश्छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(नराशंसः) जहां स्थित होकर ऋत्विगादि देवताओंकी प्रशंसा करते हैं ऐसा यज्ञ (त्रिवरूथः) सदोमण्डप, हविर्धान, अग्नीध्रयुक्त (त्रिबन्धुरः) ऋक् यजुः सामरूप बन्धनसे युक्त (देवः) यज्ञदेव (देवम्) दिव्यरूप (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाताहुआ (शितिपृष्ठानाम्) श्याम पृष्ठवाली गौओंके (शतेन) सौ (सहस्रेण) सहस्रद्वारा (आहितः) युक्त हुआ (प्रवर्तते) वर्तता है (अस्य) इस यज्ञके (होत्रम्) होतृकर्ममें (मित्रावरुणा) मित्रावरुण हैं (स्तोत्रम्) स्तोता (बृहस्पतिः) बृहस्पति है (इत्) अवश्यही (आध्वर्यवम्) अध्वर्युकर्ममें (अश्विना) अश्विनीकुमार (अर्हतः) योग्य है (वसुवने वसुधेयस्य) यजमानके धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त (वेतु) घृत भाग पान करै हे होतः ! (यज) इसी प्रकार यजन करो ॥ १९ ॥

सरलार्थ-जो नराशंस देवता त्रिवरूथ त्रिबन्धुर जो इन्द्र जो देव और जो शत सहस्र श्यामपृष्ठ पशुओंद्वारा वाहित होता है इस प्रकारके नराशंस [यज्ञ] की होत्रक्रियामें मित्रावरुणही उपयुक्त हैं, स्तुतिक्रियामें बृहस्पति अश्विनी-

कुमार अध्वर्यु क्रियासम्पादक हैं, उन्होंने इन्द्रको बढाया यजमानकी धनवृद्धि और स्थितिके निमित्त आज्यभाग पान करैं, होता नराशंस देवताका यजन करै ॥ १९ ॥

विवरण-नराशंस-जहां मनुष्य स्थित होकर देवताओंकी स्तुति करते हैं यज्ञ, त्रिवरूथ-जिस कारण कि यज्ञ स्वर्गका प्राप्त करनेवाला है इसकारण इस स्थलमें रथरूपसे वर्णन किया है, वरूथशब्दसे रथके गुप्त स्थान अर्थात् जिन ढके स्थानोंमें बैठकर शत्रुओंके ऊपर बाण प्रहार किया जाता है, और शत्रुके बाण अपने ऊपर प्राप्त नहीं होसक्ते, यज्ञरूपी रथके सदः, हविर्धान, और आग्नीध्र यह तीन स्थान हैं. त्रिवन्धुर-रथचूड इस स्थलमें ऋक् यजुः साम वन्धुरस्थानीय है इन्द्रधनु शर चर्म प्रभृति आयुधस्थानीय, हवि चरुपुरोडाशादि ऐश्वर्यसम्पन्न है. देव-द्युतिमान्। वाहित होना-रथपक्षमें चालित और यज्ञपक्षमें निर्वाहित जानो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

देवो देवैर्वनस्पतिर्हिरण्यपर्णो मधुशाखः सुपिप्पलो देवमिन्द्रमवर्द्धयत् ॥ दिवमग्रेणास्पृक्षदान्तरिक्ष पृथिवीमदृꣳहीद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥२०॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिशक्वरी छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(हिरण्यपर्णः) सुवर्णमय पत्रसे युक्त (मधुशाखः) मधुमय शाखाओंसे युक्त (सुपिप्पलः) अतिस्वादुफलयुक्त (वनस्पतिः) वनस्पति (देवः) देवने (देवैः) देवताओंके साथ (देवम्) कान्तिमान् (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाया जो वनस्पति (अग्रेण) अग्रभागसे (दिवम्) स्वर्गको (अस्पृक्षत्) स्पर्श करता है मध्यभागसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको और मूल भागद्वारा (पृथिवीम्) पृथ्वीको (आ) स्पर्श करना (अदृꣳहीत्) दृढ करता है (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानकी धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृत पान करो (यज) हे होता ! वनस्पतिदेवका यजन करो ॥ २० ॥

विशेष-(१) देवैः-शब्दसे स्रुक् स्रुवादिभी जानना ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

देवम्बर्हिर्वारितीनान्देवमिन्द्रमवर्द्धयत् ॥ स्वासु

स्स्थमिन्द्रेणासन्नमन्या बर्हीᳪष्यभ्यभूद्वसुवनेव
सुधेयस्य वेतु यज ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवमित्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । बर्हिर्देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(वारितीनाम्) जलके आश्रित ओषधियोंके मध्यमें (देवम्) दीप्तिमान् (स्वासस्थम्) सुख आसनसे बैठने योग्य (इन्द्रेण) इन्द्रद्वारा (आसनम्) आश्रित (बर्हिः) अनुयाज देवता (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाताहुआ (अन्या) और (बर्हींषि) बर्हि (अभ्यभूत्) तिरस्कृत कीं (वसुवने) वसुधेयस्य वेतु यज) यजमानको धन देने और उसकी दृढताके निमित्त घृतपान करो । हे होता ! बर्हि देवताका यजन करो ॥ २१ ॥

सरलार्थ-जो बर्हि इन्द्र [ऐश्वर्यवान् यजमान और ऋत्विक्] द्वारा दूसरे आक्रमण अनुसार पातित होकर सुखसे उपवेशनके योग्य होता है,जो ओषधियोंके मध्यमें कान्तिमान् है वह इन्द्रको बढावे इत्यादि पूर्ववत् ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १.

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रमवर्द्धयत् ॥
स्विष्टं कुर्वन्त्स्विष्टकृत्स्विष्टमद्य करोतु नो व
सुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ देव इत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । आर्षी त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(स्विष्टकृत्) श्रेष्ठ अभिलाष जिसके द्वारा सिद्ध वा पूर्ण होताहै उसका करनेवाला (देवः) द्युतिमान् (अग्निः) अग्नि (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाताहुआ (अद्य) आज (स्विष्टकृत्) स्विष्टकारी वा स्विष्टकृत् नामसे प्रसिद्ध यह देवता (स्विष्टम्) श्रेष्ठकर्म (कुर्वन्) करताहुआ (नः) हमारे निमित्त (स्विष्टम्) श्रेष्ठ इष्टको (करोतु) करो अर्थात् मनोरथ पूर्णकरो (वसुवने वसुधेयस्य) यजमानके धन प्राप्ति और स्थितिके निमित्त (वेतु) घृतभाग पान करो (यज) होतः ! तुम स्विष्टकृत् अग्निदेवका यजन करो ॥ २२ ॥

विशेष-द्वेषशून्य सरलचित्त श्रेष्ठ चिंतनसेही मनोरथपूर्ति और सिद्धि होती है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र ३.

अग्निमुद्य होतारमवृणीतायंय्यजमानुः पचुन्पक्तीः पचंन्पुरोडाशम्बुध्नन्निन्द्रांयच्छागम् ॥ सूपुस्थाऽअद्य देवो वनुस्पतिरभवदिन्द्राय च्छागन ॥ अघुत्तम्मेदुस्तः प्प्रतिपचुताग्ग्रंभी दवीवृधत्पुरोडाशेनत्त्वामुद्यऽऋषे ॥ २३ ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निमद्येत्यस्य मन्त्रत्रयस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । एकाधिका प्राजापत्या जगती छं० । सूपस्था ब्राह्मी उष्णिक्छं० । त्वामद्य एकाधिका विकृतिः । लिङ्गोक्ता देवताः । वि० पू० ॥ २३ ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके ३ मंत्रोंको इन्द्रसम्बन्धी हविको सूक्तवाक्यका प्रैष जानो । मन्त्रार्थ-(अद्य) आज (अय यजमानः) यह यजमान(पक्तीः) पचनयोग्य चरुको (पचन्) पाक करताहुआ (पुरोडाशम्) पुरोडाशको (पचन्) पचन करता हुआ (इन्द्राय) इन्द्रकी प्रीतिके निमित्त (छागम्) छागको (बध्नन्) यूपमें बांधताहुआ (होतारम्) होता कर्ममें (अग्निम्) अग्निको (अवृणीत) वरणकरता हुआ १ । (अद्य) अव(देवः) द्युतिमान् (वनस्पतिः) वनस्पति (छागेन) छागद्वारा (इन्द्राय) इन्द्रके (सूपस्थः) समीपवर्ति (अभवत्) हुआ (मेदस्तः) सारभागसे सम्यक् (पचता) पक्कहुई हवियोंको (अघत्तम्) धारण करो (प्रत्यग्रभीत्) ग्रहण करताहुआ (पुरोडाशेः) पुरोडाशद्वारा इन्द्रको (अवीवृधत्) बढाताहुआ २ । (त्वामद्य) इसकी व्याख्या २१ अ० ६१ कण्डिकामें होगई ३ ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १ । अनु० ३ ।

होता यक्षत्समिधानम्महद्यशुः सुसमिद्धं वरेण्यमुग्निमिन्द्रं वयोधसम् ॥ गायत्रीञ्छन्दंऽइन्द्रियन्त्र्यविङ्गां वयोदधुद्वेत्वाज्ज्यस्य होतुर्य्यज ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । शक्करी छन्दः । आग्नी देवता । वयोधसप्रयाजानां प्रैषमंत्रपठने विनियोगः ॥ २४ ॥

विधि- (१) यहां ११ कण्डिका वयोधस सम्बन्धी प्रयाज प्रैष हैं ।

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होता(गायत्रीछन्दः)गायत्री छन्द (वीर्यम्)बल (त्र्यविम्) डेढवर्षकी (गाम्) गौ और (वयः) आयु (दधत्) इन्द्रमें स्थापन करताहुआ (समिधानम्) दीप्यमान (महद्यशः) बडे यशसे (समिद्धम्) प्रदीप्त (वरेण्यम्) वरणीय (अग्निम्) अग्निको और (वयोधसम्) आयुके देनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्)यजन करै, प्रयाज देवता इन्द्रके सहित (वेतु) आज्यभाग पानकरो (होतः) हे होता ! तुम (आज्यस्य) घृतद्वारा (यज) यजन करो अथवा होता अग्नि-सहित इन्द्रको यजन करै और अग्निदेवता गायत्रीछन्दके सहित इन्द्रिय, गो, वय, यजमानको देकर आज्यभाग पान करैं ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षत्तनू॒नपा॑तमु॒द्भिदं॒ यं गर्भ॒मदि॑तिर्द॒धे शुचि॑मिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑म् ॥ उ॒ष्णिहं॒ छन्द॑ऽइन्द्रि॒यं दि॑त्य॒वाहं॒ गां वयो॒ दध॒द्वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । जगती छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (शुचिम्) पवित्र (उद्भिदम्) यज्ञफलोंके प्रगट करनेवाले (तनूनपातम्) अग्नि और (अदितिः) अदितिने (यम्) जिसको (गर्भम्) गर्भमें (दध्रे) धारणकिया उस(वयोधसम्) आयुके देनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रका (यक्षत्) यजनाकिया शुचिदेवताने (उष्णिहञ्छन्दः) उष्णिक्छन्दके सहित (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (दित्यवाहम्) दो वर्षकी (गाम्) गौ और (वयः) आयु (दधत्) यजमान वा इन्द्रमें स्थापित की (वेतु) घृतभाग पानकरै (होतः) हे होता (यज) यजन करो "पापनिवृत्तिसे आयुकी रक्षा होनेसे वयोधा कहा" ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ ।

होता॑ यक्षदी॒डेन्य॑मीडि॒तं वृ॑त्र॒हन्त॑म॒मिडा॑भि॒रीड्य॒ꣳ सहः॒ सोम॒मिन्द्रं॑ वयो॒धसं॑म् ॥ अ॒नु॒ष्टुभं॒ छन्द॑ऽइन्द्रि॒यं पञ्चा॑विं॒ गां वयो॒ दध॒द्वेत्वाज्य॑स्य॒ होत॒र्यज॑ ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । शक्करी छं० । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मंत्रार्थ-(होता) दैवी होता (ईडेन्यम्) स्तुतिके योग्य (ईडितम्) ऋषियोंसे स्तुतिकिये (वृत्रहन्तमम्) वृत्रनाशक (इडाभिः) इडा वा प्रयाज देवता स्तुतियोंके साथ (ईड्यम्) सबसे स्तुतियोग्य (वयोधसम्) आयु देनेवाले (सहः) बलद्वारा (सोमम्) सोमकी समान प्रसन्न करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजनकरे, अथवा सोमदेवता और इन्द्रको यजन करे प्रयाज देवता (अनुष्टुभश्छन्दः) अनुष्टुप्छन्द (इन्द्रियम्) बल (पञ्चाविम्) ढाईवर्षकी (गाम्) गौ (वयः) वय पूर्णायु (दधत्) इन्द्र वा यजमानमें स्थापन करतेहुए (वेतु) घृतपानकरे (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतभागद्वारा (यज) यजन करो ॥ २६ ॥

कण्डिका २७-मन्त्र १ ।

होतायक्षत्सुबर्हिषम्पूषण्वन्तममर्त्त्यꣳसीदन्तम्बर्हिषि प्प्रियेमृतेन्द्रंवयोधसम् ॥ बृहतीञ्छन्दऽइन्द्रियन्त्रिवत्सङ्गांवयोदधद्वेत्वाज्यस्यहोतर्य्यज ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । शक्करी छं० । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (सुबर्हिषम्) श्रेष्ठबर्हिवाले (पूषण्वन्तम्) पोषणमें समर्थ (अमर्त्यम्) मरणधर्मरहित (प्रिये) रुचिर (अमृते) अविनाशी (बर्हिषि) कुशाओंपर (सीदन्तम्) स्थित होनेवाले (वयोधसम्) आयु देनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन किया सुबर्हि देवता (बृहती छन्दः) बृहती छन्द (इन्द्रियम्) बल (त्रिवत्साम्) तीन वर्षवाली (गाम्) गो (वयः) आयु (दधत्) यजमानमें स्थापन करते (वेतु) घृतभाग पान करे (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतका (यज) यजन करो ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

होतायक्षद्व्यचस्वतीꣳसुप्प्रायणाऽऋतावृधो द्वारोदेवीर्हिरण्ययीर्ब्ब्रह्माणमिन्द्रंवयोधसम् ॥ पङ्क्तिञ्छन्दऽइहेन्द्रियन्तुर्य्यवाहङ्गांवयोदधद्व्यन्त्वाज्यस्यहोतर्य्यज ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिशक्करी छदः । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होताने (व्यचस्वतीः) बडे अवकाशयुक्त (सुप्रायणाः) श्रेष्ठ गमनवाले (ऋतावृधः) सत्यकी बढानेवाली (हिरण्मयीः) सुवर्णमयी[१] (द्वारः) द्वार (देवीः) देवीगणको तथा (ब्रह्माणम्) परिवृढ महान् (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन किया प्रयाज देव (पंक्तिश्छन्दः) पंक्तिछन्द (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (तुर्यवाहम्) साढेतीन वर्षकी (गाम्) गौ (वयः) आयु (इह) इस इन्द्र यजमानमें (दधत्) स्थापनपूर्वक (व्यन्तु) घृतभाग पान करैं (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतका (यज) यजन करो ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

होता यक्षत्सुपेशसा सुशिल्पे बृहती उभे नक्तोषासा न दर्शते विश्वमिन्द्रं वयोधसम् ॥ त्रिष्टुभञ्छन्द इहेन्द्रियम्पष्ठवाहङ्गां वयो दधद्वीतामाज्यस्य होतर्यज ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्याद्य ऋषयः । अतिशक्करी छं० । आग्नी देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवी होता (सुपेशसा) सुरूपवाली (सुशिल्पे) सुन्दर-शिल्पसे निर्मित अन्योन्य प्रतिरूप "यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्" इति श्रुतेः । (बृहती) महान् (दर्शते) दर्शनीय (उभे) दोनो (नक्तोषासा) नक्त और उषा (न) और (विश्वम्) सर्वात्मक (वयोधसम्) आयु देनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजन करै, नक्तोषासा (त्रिष्टुभञ्छन्दः) त्रिष्टुप्छन्द (इन्द्रियम्) बल (पष्ठवाहम्) भारवहनमें समर्थ (गाम्) वृष (वयः) आयु (इह) इस यजमान वा इन्द्रमें (दधत्) स्थापन करते (वीताम्) घृतभाग पान करैं (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतका (यज) यजन करो ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मंत्र १ ।

होता यक्षत्प्रचेतसा देवानामुत्तमं यशो होतारा दैव्या

---

१ स्वर्णअर्गलायुक्त ।

कुवीसयुजेन्द्रंव्वयोधसम् ॥ जगतीञ्छन्दऽइन्द्रियमं नुङ्वाहङ्गांव्वयोदधंद्व्वीतामाज्ज्यस्यहोतर्य्यज ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिशक्करी छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(होता) देवी होताने (प्रचेतसा) प्रकृष्टचित्तसे युक्त (देवानाम्) देवताओंके (उत्तमम्) श्रेष्ठ (यशः) यश सम्पन्न अर्थात् देवगणके उत्कृष्ट यशोरूप (कवी) क्रान्तदर्शी (सयुजा) परस्पर सख्यभावसे युक्त (दैव्या) दिव्य (होतारा) दोनो होताओंके सहित (वयोधसम्) आयुधारक (इन्द्रम्) इन्द्रका (यक्षत्) यजन किया देवीहोता (जगतीछन्दः) जगतीछन्द (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (अनड्वाहम्) शकटवहन करनेमें समर्थ (गाम्) वृष (वयः) आयु (दधत्) यजमानमें स्थापन करते (वीताम्) घृतपान करें (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतका (यज) यजन करो ॥ ३० ॥

अथवा-आयुआदिका स्थापन देवी होताद्वारा सब मंत्रोंमें लगालेना ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १।

होतायक्षत्पेशस्वतीस्तिस्रोदेवीर्हिरण्ययीर्भारतीर्बृहतीर्म्महीः पतिमिन्द्रंव्वयोधसम् ॥ विराजञ्छन्दऽइहेन्द्रियन्धेनुङ्गान्नव्वयोदधद्व्यन्त्वाज्ज्यस्यहोतर्य्यज ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । एकाधिकाशक्करी छं० । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) होताने (पेशस्वतीः) रूपसे समृद्ध (हिरण्ययीः) सुवर्णमयी (बृहती) बडे प्रभाववाली (महीः) आदित्य इन्द्र अग्निके तेजसे महान् (भारतीः) इडा सरस्वती भारती (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवी (न) और (वयोधसम्) आयुके देनेवाले (पतिम्) पालक (इन्द्रम्) इन्द्रका (यक्षत्) यजन किया वे (विराजञ्छन्दः) विराट्छन्द (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (धेनुम्) दुधारी (गाम्) गौको तथा (वयः) आयुको (इह) इस यजमानमें (दधत्) स्थापन करें (व्यन्तु) घृतपान करें (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतका यज) यजन करो ॥ ३१ ॥

विवरण–बृहती–सरस्वती । मही–इडाका नामान्तरभी जानना ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मन्त्र १ ।

होतां यक्षत्त्सुरेतसन्त्वष्टांरम्पुष्टिवर्द्धनꣳरू पाणि बिभ्रंतम्पृथक्पुष्टिमिन्द्रंव्वयोधसंम् ॥ द्विपदुञ्छन्दंऽइन्द्रियमुक्षाणङ्गान्नवयोदधद्वे त्त्वाज्यस्यहोतुर्य्यजं ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । एकाधिका शक्वरी छन्दः । आप्री दे० । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ–(होता) दैवी होता (सुरेतसम्) जगत्‌उत्पादक होनेसे सुन्दर वीर्यवाले (पुष्टिवर्धनम्) पुत्रादिपुष्टिके बढानेवाले (पृथक्) अनेक जातियोंमें (रूपाणि) विविध प्रकारके रूप और (पुष्टिम्) पुष्टिको (बिभ्रतम्) धारण करनेवाले (त्वष्टारम्) त्वष्टा देव और (वयोधसम्) आयुके बढानेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजनकरै त्वष्टा देवता (द्विपदञ्छन्दः) द्विपदाछन्द (इन्द्रियम्) बलपराक्रम (उक्षाणम्) रेतसेचनसमर्थ (गाम्) वृषभको (न) और (वयः) आयुको (दधत्) यजमानमें स्थापनपूर्व (वेतु) घृतपान करै (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतभागका (यज) यजन करो ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १ ।

होतां यक्षद्वनस्प्पतिꣳशमितारꣳशतक्रंतुꣳहिरं ण्यपर्णमुक्त्थिनꣳरशनाम्बिभ्रंतंव्वशिम्भगमि न्द्रंव्वयोधसंम् ॥ ककुभञ्छन्दंऽइहेन्द्रियंव्वशांव्वेह तङ्गांव्वयोदधद्वेत्त्वाज्ज्यस्यहोतुर्य्यजं ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ होतेत्यस्य प्राजापत्यादय ऋ० । अत्यष्टिश्छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मंत्रार्थ–(होता) दैवी होता (शमितारम्) हवियोंके संस्कारकर्ता (शतक्रतुम्) बहुतकर्म करनेवाले (हिरण्यपर्णम्) सुवर्णमय पत्रसे युक्त (उक्थिनम्) उक्थ शस्त्र वा यज्ञसे युक्त (रशनाम्) रज्जु (बिभ्रतम्) धारण करतेहुए (वशिम्) मनोहर (भगम्) भजनयोग्य (वनस्पतिम्) वनस्पति और (वयोधसम्) आयु

बढानेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (यक्षत्) यजनकरै, वनस्पतिदेवता (ककुभं च्छन्दः) ककुभछन्दके सहित (इन्द्रियम्) बल (वशाम्) वन्ध्या गौ (वेहत्) गर्भघातिनी (गाम्) गौ (वयः) अवस्था (इह) इस यजमानमें (दधत्) धारण करते (वेतु) घृतभाग पानकरै (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) आज्यका (यज) यजनकरो ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मंत्र १ ।

होता॑ यक्ष॒त्स्वाहा॑कृती॒रग्निङ्गृ॒हप॑तिम्पृथ॒ग्वरु॑ण भेषजङ्क॒विङ्क्ष॒त्रमिन्द्रं॑ वयो॒धस॑म् ॥ अति॑च्छन्द स॒ञ्छन्द॑ऽइन्द्रि॒यम्बृ॒हदृ॑ष॒भङ्गां वयो॒ दध॒द्व्यन्त्वा ज्ज्य॑स्य॒ होत॒र्य्यज॑ ॥ ३४ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ होतेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिशक्करी छन्दः । आप्री देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(होता) दैवीहोता (पृथक्) पृथक् २ यज्ञोंमें (गृहपतिम्) गृहोंके मालक (वरुणम्) ऋत्विजोंसे वरणीय (भेषजम्) रोगनाशक (कविम्) क्रान्त-दर्शी (क्षत्रम्) महारसे रक्षा करनेवाले (वयोधसम्) आयुके दाता (अग्निम्) आगे चलनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्र (स्वाहाकृतीः) और स्वाहाकृती प्रयाजदेवताका (यक्षत्) यजन करै, प्रयाजदेवता (अतिच्छन्दसञ्छन्दः) अतिच्छन्दस छन्दके सहित (इन्द्रियम्) बल (बृहत्) महान् (ऋषभम्) पुष्ट (गाम्) गौको वा वृष-भको (वयः) आयुको (दधत्) यजमानमें स्थापन करते (व्यन्तु) घृत पान करैं (होतः) हे होता ! (आज्यस्य) घृतभागको (यज) यजन करो ॥ ३४ ॥

आशय-यह गृहपति अग्निके उद्देशसे स्वाहाक्रिया, भेषजरूपी वरुणके उद्देशसे स्वाहाक्रिया, बलवान् वायुके उद्देशसे स्वाहाक्रिया इत्यादि स्वाहाकृति देवीगणको यजन करैं ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १. अनु० ४ ।

दे॒वम्ब॒र्हिर्व॑यो॒धस॑न्दे॒वमिन्द्र॑मवर्द्धयत् ॥ गा॒य॒त्र्या च्छन्द॑सेन्द्रि॒यञ्चक्षु॒रिन्द्रे॒ वयो॒ द॑धद्व॒सुव॑ने वसु॒धेय॑स्य वेतु॒ यज॑ ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवमित्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। बर्हिर्देवता। प्रैषमंत्रपाठे वि० ॥ ३५ ॥

विधि-(१) ३५-४५ पर्यंत ११ मंत्र वयोधससम्बन्धी अनुयाजके प्रैष जानने।

मन्त्रार्थ-(बर्हिः) बर्हि (देवम्) दिव्य (वयोधसम्) आयुके बढानेवाले (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाताहुआ (गायत्र्या छन्दसा) गायत्रीछन्दके द्वारा (चक्षुः) नेत्र (इन्द्रियम्) बल (वयः) आयु (इन्द्रे) इन्द्र अर्थात् यजमानमें (दधत्) स्थापनपूर्वक (वसुवने वसुधेयस्य) धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त (वेतु) घृतपान करो (यज) हे होता! यजन करो ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मन्त्र १।

देवीर्द्वारो वयोधसꣳ शुचिमिन्द्रमवर्द्धयन् ॥ उष्णिहा छन्दसेन्द्रियम्प्राणमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीरित्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः। आर्षी त्रिष्टुप्छं०। द्वारो देवताः। वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(द्वारः) द्वार (देवीः) देवी (उष्णिहा छन्दसा) उष्णिहछन्दके द्वारा (प्राणम्) प्राण (इन्द्रियम्) इन्द्रियबल (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) स्थापनकरती (वयोधसम्) आयुदाता (शुचिम्) पवित्र (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयन्) बढाती हुई (वसुवने वसुधेयस्य) यजमानकी धनप्राप्ति और स्थितिके निमित्त (व्यन्तु) घृतपान करै, (यज) हे होता! तुमभी यजन करो ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १।

देवीऽउषासानक्ता देवमिन्द्रं वयोधसन्देवी देवमवर्द्धताम् ॥ अनुष्टुभा छन्दसेन्द्रियम्बलमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः। ब्राह्मी बृहती छन्दः। उषासानक्ता देवते। वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(देवी) दीप्यमान (उषासानक्ता) उषा और नक्त (देवी) दोनों देवी (अनुष्टुभा) अनुष्टुभ (छन्दसा) छन्दके द्वारा (बलम्) बल (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) धारणपूर्वक (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) बढातीहुई (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृतपान करैं (यज) हे होता ! तुमभी यजन करो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

देवीजोष्ट्रीवसुधितीदेवमिन्द्रंवयोधसन्देवीदेवम वर्द्धताम् ॥ बृहत्त्याच्छन्दसेन्द्रियꣳश्रोत्रमिन्द्रे वयोदधंद्वसुवनेवसुधेयस्यवीतांयज ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छं० । देव्यौ देवते । वि० पू० ॥ ३८ ॥

मन्त्रार्थ-(देवी) दीप्यमान (जोष्ट्री) परस्परप्रीतियुक्त (वसुधिती) धनकी धारण करनेवाली (देवी) दोनों देवी (बृहत्या) बृहती (छन्दसा) छन्दद्वारा (श्रोत्रम्) कर्ण (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) धारणपूर्वक (देवम्) दीप्तिमान् (वयोधसम्) आयुके दाता (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) बढातीहुई (वसुवने वसुधेयस्य वीताम्) धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृतपान करै (यज) हे होता ! तुम यजन करो ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १ ।

देवीऽऊर्ज्जाहुतीदुघेसुदुघेपयसेन्द्रंवयोधसन्देवीदेवमवर्द्धताम् ॥ पङ्क्त्याच्छन्दसेन्द्रियꣳशुक्रमिन्द्रेवयोदधद्वसुवनेवसुधेयस्यवीतांयज ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवीत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । शक्करी छन्दः । देव्यौ देवते । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(दुघे) कामनादोहनमें समर्थ (सुदुघे) कामना दुग्धसे परिपूर्ण (देवी) दीप्तिमान् (ऊर्जाहुती) अन्न जलकी आह्वान करनेवाली (देवी) दोनों देवी (पंक्त्या छन्दसा) पंक्तिछन्दद्वारा (शुक्रम्) वीर्य (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः)

आयु (इन्द्रे) इन्द्रम (दधत्) धारणपूर्वक (पयसा) अपने दुग्धसे (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धताम्) वढातीहुई (वसुवने) धन प्राप्ति (वसुधेयस्य) और उसकी दृढताके निमित्त (वीताम्) घृतपान करैं (यज) हे होता ! तुम यजन करो ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०–मंत्र १ ।

देवा दैव्या होतारा देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धताम् ॥ त्रिष्टुभा च्छन्दसेन्द्रियं त्विषिमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वीतां यज ॥ ४० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिजगती छं० । देवौ देवते । वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ–(दैव्या) दिव्य (देवा) दीप्तिमान् (होतारा) होता (देवा) दोनों देवता (त्रिष्टुभा) त्रिष्टुभ् (छन्दसा) छन्दद्वारा (त्विषिम्) कान्ति (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) स्थापनपूर्वक (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) दीप्तिमान् (इन्द्रम्) इन्द्र (देवम्) देवताको (अवर्धताम्) वढाते हुए (वसुवने वसुधेयस्य वीताम् यज) यजमानकी धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृतभाग पान करैं हे होता ! तुम भी यजन करो ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१–मंत्र १ ।

देवीस्तिस्रस्तिस्रो देवीर्वयोधसम्पतिमिन्द्रमवर्द्धयन् ॥ जगत्या च्छन्दसेन्द्रियꣳ शूषमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवीरित्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छन्दः । देव्यो देवताः । वि० पू० ॥ ४१ ॥

मंत्रार्थ–(तिस्रः) तीनों (देवीः) देवी इडा सरस्वती भारती (जगत्या) जगती (छन्दसा) छन्दद्वारा (शूषम्) वल (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत) धारणपूर्वक (वयोधसम्) आयुदाता (पतिम्)

पालक (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयन्) बढाती हुई (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवियें (वसुवने वसुधेयस्य) यजमानके धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त (व्यन्तु) घृतपान करें (यज) हे होता ! यजन करो ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मन्त्र १ ।

देवो नराशꣳसो देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत् ॥ विराजा छन्दसेन्द्रियꣳ रूपमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । अतिजगती छन्दः । देवो देवता । वि० पू० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(देवः) दानशील (नराशंसः) मनुष्योंसे स्तुतिको प्राप्त (देवः) यज्ञ देवता (विराजा) विराट् (छन्दसा) छन्दद्वारा (रूपम्) रूप (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) इन्द्रमें (दधत्) धारणपूर्वक (देवम्) दीप्तिमान् (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाता हुआ (वसुवने वसुधेयस्य) यजमानके धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त (वेतु) घृतपान करै (यज) हे होता ! यजन करो ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

देवो वनस्पतिर्देवमिन्द्रं वयोधसं देवो देवमवर्द्धयत् ॥ द्विपदा छन्दसेन्द्रियम्भगमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः। अतिजगती छन्दः। वनस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(देवः) दानशील वा दीप्तिमान् (वनस्पतिः) वनस्पति (देवः) देवता (द्विपदा) द्विपाद् (छन्दसा) छन्दद्वारा (भगम्) सौभाग्यरूप (इन्द्रियम्) इन्द्रिय और (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) स्थापनपूर्वक (देवम्) दीप्तिमान् (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) देवता (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढातेहुए (वसुवने वसुधेयस्य) धनकी प्राप्ति और दृढताके निमित्त (वेतु) घृतपान करै (यज) हे होता ! यजन करो ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १।

देवम्बर्हिर्वारितीनान्देवमिन्द्रं वयोधसन्देवन्देवमवर्द्धयत् ॥ ककुभाच्छन्दसेन्द्रियं यश इन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवमित्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छं० । देवो देवता । वि० पू० ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(वारितीनाम्) जलसे उत्पन्न होनेवाली ओषधी उनके मध्यमें (देवम्) दीप्तिमान् (बर्हिः) कुशाका अधिष्ठाता (देवम्) देव (ककुभा) ककुप् (छन्दसा) छन्दद्वारा (यशः) कीर्ति (इन्द्रियम्) इन्द्रिय वा यशरूप इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) यजमानमें (दधत्) स्थापनपूर्वक (देवम्) दीप्तिमान् (वयोधसम्) आयुदाता (इन्द्रम्) इन्द्र (देवम्) देवताको (अवर्धयत्) बढाता हुआ (वसुवने वसुधेयस्य वेतु) यजमानके धनप्राप्ति और दृढताके निमित्त घृत पान करे हे होता! तुम भी (यज) यजन करो ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १।

देवोऽअग्निः स्विष्टकृद्देवमिन्द्रं वयोधसन्देवो देवमवर्द्धयत् ॥ अतिच्छन्दसा छन्दसेन्द्रियं क्षत्रमिन्द्रे वयो दधद्वसुवने वसुधेयस्य वेतु यज ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव इत्यस्य प्राजापत्यादय ऋषयः । ब्राह्मी बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(देवः) दानशील (स्विष्टकृत्) शोभनकर्ता (देवः) देव (अग्निः) अग्नि (अतिच्छन्दसा) अतिच्छन्द (छन्दसा) छन्दद्वारा (क्षत्रम्) क्षतसे त्राणरूप (इन्द्रियम्) इन्द्रिय (वयः) आयु (इन्द्रे) इन्द्रमें (दधत्) स्थापन पूर्वक (देवम्) दीप्तिमान् (वयोधसम्) आयुदाता (देवम्) देव (इन्द्रम्) इन्द्रको (अवर्धयत्) बढाता हुआ (वसुवने) यजमानको धनप्राप्ति (वसुधेयस्य) दृढ स्थितिके निमित्त (वेतु) घृत पान करे (यज) हे होता! तुम यजन करो॥४५॥

कण्डिका ४६-मंत्र १।

अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः पचन्पक्तीः

पचन्पुरोडाशम्बुध्नानिन्द्रायवयोधसेच्छागम् ॥ स्त्था ऽअद्यदेवोवनस्पतिरभवदिन्द्राय वयोधसे च्छागेन ॥ अघुत्तम्मेदस्तः प्रतिपचताग्रभीदवीवृधत्पुरोडाशनत्त्वामद्य ऽऋषे ॥ ४६ ॥ [१२]

इति श्रीवाजसनेयिशुक्लयजुःसंहितायामष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके तीन मंत्र वयोधससम्वन्धी पशुके सूक्तवाक्यके प्रैप जाने इसकी व्याख्या इसी अध्यायकी २३ तेईस कण्डिकामें होगई ॥ ४६ ॥

इति श्रीमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये सौत्रामणीसम्वन्धिप्रयाजानुयाजप्रैषनिरूपणं नामाष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अथ ऊनत्रिंशोध्यायः २९.

समिद्धोअञ्जन्नेकादशयदक्रन्दस्त्रयोदशसमिद्धोअद्यद्वादशकेतुं कृण्वंश्चत्त्वारःषष्टिः ॥

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

समिद्धो ऽअञ्जन्कृदरम्मतीनाङ्घृतमग्ने मधुमत्पिन्वमानः ॥ वाजीवहन्वाजिनञ्जातवेदोदेवानां वक्षिप्रियमासधस्त्थम् ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समिद्ध इत्यस्य वामदेवपुत्रबृहदुक्थ ऋषिः । वा समुद्रपुत्रोऽश्व ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अश्वस्तुतिकरणे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) यहांसे २४ कण्डिकात्मक अश्वस्तुति है यह आश्वमेधिक अध्याय है पहले ग्यारह मंत्र आप्रीसंज्ञक हैं । मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे जातप्रज्ञान (अग्ने) हे अग्ने ! (समिद्धः) भलीप्रकार प्रदीप्त हुए तुम (मतीनाम्) बुद्धिमान् ऋत्विगा-

दिके (कृदरम्) मानसभावको (अञ्जन्)प्रगट करते हुए अर्थात् बुद्धिके रहस्यको प्रकाश करतेहुए (वाजी) वेगवान् (मधुमत्) स्वादिष्ठ (घृतम्) घृतको (पिन्वमानः) प्राप्त कर प्रसन्न होते अर्थात् देवताओंमें सिञ्चन करते (वाजिनम्) अन्नरूप हवि (वहन्) देवताओंके उद्देश्यसे वहन करते (देवानाम्) देवताओंके (सधस्थम्) सहस्थायीगणके (प्रियम्) प्रियको (आवक्षि) प्राप्त कराओ अर्थात् देवताओंके प्रीतिभाजन होतेहो ॥ १ ॥.

कण्डिका २–मंत्र १ ।

घृतेनाञ्जन्त्सम्पथोदेवयानान्प्रजानन्वाज्ज्यप्येतु देवान् ॥ अनुत्त्वासप्प्रेप्प्रदिशः सचन्ताᳬस्वधामस्म्मैयजमानायधेहि ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ घृतेनेत्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ–(वाजी) अश्व (घृतेन) घृतद्वारा (देवयानान्) देवताओंके गमनयोग्य (पथः) मार्गको (समञ्जन्) सिंचन करताहुआ (प्रजानन्) देवताओंकी हविको जान्ता हुआ (देवान्) देवताओंको (अप्येतु) प्राप्तहो (सप्ते) हे अश्व ! (प्रदिशः) दिशाओंमें स्थित प्राणी (त्वा) तुझको (अनुसचन्ताम्) सेवनकरै अर्थात् देखै (अस्मै) इस (यजमानाय) यजमानके निमित्त (स्वधाम्) अन्नको (देहि) प्रदानकरो ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मन्त्र १ ।

ईड्यश्चासिवन्द्यश्चवाजिन्नाशुश्चासिमेद्ध्यश्चसप्ते ॥ अग्निष्ट्वादेवैर्वसुभिᳬसजोषाᳬप्प्रीतं वह्निंवहतुजातवेदाः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ईड्य इत्यस्य बृहदुक्थ ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मंत्रार्थ–(च) और (वाजिन्) हे वेगवान् (सप्ते) हे अश्व ! (ईड्यः) स्तुतियोग्य (च) और (वन्द्यः) नमनयोग्य (असि) हो (च) और (आशुः) शीघ्र (च) ही (मेध्यः) अश्वमेधयोग्य पवित्र (असि) होतेहो (वसुभिः) वसु (देवैः) देवताओंके सहित (सजोषाः) समान प्रीतिमान् (जातवेदाः)

ज्ञानयुक्त (अग्निः) अग्नि (प्रीतम्) तुष्टहुए (वह्निम्) हविके वहनकर्ता (त्वा) तुझको (वहतु) देवताओंमें प्राप्त करावै ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

स्तीर्णम्बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणोरु पृथु प्प्रथमानम्पृथिव्याम् ॥ देवेभिर्युक्तमदितिः सजोषाः स्योनङ्कृण्वाना सुविते दधातु ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्तीर्णमित्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अदितिर्देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-हम (बर्हिः) कुशाओंको (सुष्टरीम) भलेप्रकार विछावैं (सजोषाः) प्रीतियुक्त (स्योनम्) सुखको (कृण्वाना) करतीहुई (जुषाणा) प्रीतिसेवनकरनेवाली (अदितिः) अदितिदेवी (उरु) बहुत (पृथु) विस्तीर्ण (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें (प्रथमानम्) विस्तारित हुए (देवेभिः) देवताओंसे (युक्तम्) युक्त (आस्तीर्णम्) विछाईहुई कुशाको (सुविते) शुभ करनेके निमित्त यज्ञगृहमें (दधातु) स्थापित करो वा [सु इते] सुगमन योग्य स्वर्ग-लोकमें स्थापन करै ॥ ४ ॥

सरलार्थ-पृथ्वीमें बडे परिमाणसे सम्यक् प्रकार विस्तीर्ण आकारमें उत्पन्न यह बर्हि देवताओंके साथ युक्त करनेको प्रीतिभावसे विछाये गये है अदितिदेवी इस कार्यसे प्रसन्नहो हमको शुभकारी होकर इन्है अपने आसनके निमित्त ग्रहण करै ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

एताऽउ वः सुभगा विश्वरूपा विपक्षोभिः श्रयमाणाऽउदातैः ॥ ऋष्वाः सतीः कवषः शुम्भमाना द्वारो देवीः सुप्रायणा भवन्तु ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एताउव इत्यस्य बृहदुक्थ ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । द्वारो देवताः । वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-हे ऋत्विग् यजमानो ! (वः) तुम्हारे (एताः) यह (द्वारः) द्वार (देवीः) देवियें (सुभगाः) सुन्दर लक्ष्मीसे शोभावान् (विश्वरूपाः) अनेक रूपसे

चित्रित (उत्) ऊंचे (आतैः) विस्तारवाले उठे (पक्षोभिः) पक्षरूप कपाटोंसे (विश्रयमाणाः) युक्त वा विस्तारयुक्त (ऋष्वाः) गमनागमनके उपयोगी(सतीः) श्रेष्ठ समीचीन (कवषः) खोलने बन्दकरनेमें शब्द करनेवाले (शुम्भमानाः) शोभायमान (सुप्रयाणाः) सुखसे गमन योग्य (वि) विशेष (उ) ही (भवन्तु) हों ॥ ५ ॥

सरलार्थ–वायुके गमनागमनके निमित्त रन्ध्रयुक्त, प्रकाशआनेके उपायसे युक्त अनेक वर्णसे चित्रित सुश्री और दीर्घ दो पक्षरूप कपाटोंसे युक्त गमनागमनके मार्ग यह द्वारदेवीगण हमारे कल्याणकारी हों ॥ ५ ॥

विशेष–इसमें द्वारकपाट बनानेका निर्देश कियाहै कि ऐसे हों तो सुखकारी होते है ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र १ ।

अन्तरामित्रावरुणाचरन्तीमुखंयज्ञानाम् भिसंविदाने ॥ उषासावाᳪंसुहिरण्येसु शिल्पेऽऋतस्ययोनाविहसादयामि ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अन्तरेत्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देव्यो देवताः । वि० पू० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ–(मित्रावरुणा) द्यावापृथिवीके (अन्तरा) मध्यमें (सञ्चरन्ती) वर्तमान "अयं वै लोको मित्रोऽसौ वरुणः" इति श्रुतेः । (यज्ञानाम्) यज्ञोंके (मुखम्) अग्निहोत्र होमकालको (अभिसंविदाने) कहनेवाली, अर्थात् उठो यह होमकालका समय है ऐसा प्रभातसमय ब्राह्मण कहते हैं यह उषाकालकाही मानो कहना है (सुहिरण्ये) अच्छी ज्योतिसे युक्त (सुशिल्पम्) निपुणशिल्पीके शिल्पस्वरूप (उषासा) उषा और नक्त दोनों देवी (वाम्) तुमको (ऋतस्य) सत्यके (योनौ) स्थान (इह) इस यज्ञमें (सादयामि) स्थापन करता हूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १ ।

प्रथमावाᳪंसरथिनासुवर्णादेवौपश्यन्तौभुवनानिविश्वा ॥ अपिप्प्रयञ्चोदनावाम्मिमानाहोताराज्ज्योतिःप्प्रदिशादिशन्ता ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रथमवामेत्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वाक्प्राणौ देवते । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(वाम्) तुम दोनोंके (प्रथमा) मुख्य (सरथिना) समान रथवाले अर्थात् एक रथारूढ (सुवर्णा) अच्छे वर्णवाले (देवौ) दोनों देवता वा दीप्तिमान् अथवा दानशील (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (पश्यन्तौ) देखते हुए (वाम्) तुम दोनों यजमान और पत्नी वा प्राणीगणोंके (चोदना) निज निज कर्मके (मिमाना) प्रेरण करनेवाले(प्रदिशा) सब दिशाओंमें वा आदेशद्वारा (ज्योतिः) प्रकाश (दिशन्तौ) देतेहुए अर्थात् आहवनीय ज्योतिसे यजन करो इस प्रकार कहतेहुए (होतारा) दोनों देवी होताओंको (अपिप्रियन्) मैंने तृप्त किया ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १।

आदित्यैर्न्नो भारती वष्टु यज्ञꣳ सरस्वती सह रुद्रैर्न्न ऽआवीत ॥ इडोपहूता वसुभिः सजोषा यज्ञन्नो देवीरमृतेषु धत्त ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आदित्यैरित्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । दे०यो देवताः । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(आदित्यैः) आदित्योंसे युक्त (भारती) भारती देवी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (वष्टु) इच्छा करो (उपहूता) आह्वान की हुई (वसुभिः) वसुओं (रुद्रैः) रुद्रोंके (सह) साथ (सजोषाः) समान प्रीतियुक्त (सरस्वती) सरस्वती (इडा) इडादेवी (नः) हमारे यज्ञको (आवीत्) रक्षा करै [परोक्ष कहकर प्रत्यक्ष कहते हैं] (देवीः) हे भारती सरस्वती इडादेवी ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (अमृतेषु) देवताओंमें (धत्त) स्थापन करो ॥ ८ ॥

विशेष-इडा सरस्वती भारती-भूमि, अन्तरिक्ष और द्युकी ध्वनिके देवता हैं भूमिका अग्नि, अन्तरिक्षका वायु, द्युलोकका सूर्य देवता है, इस मंत्रमें भारतीके सहित आदित्यगण सरस्वतीके सहित रुद्रगण इडाके सहित वसुओंका उल्लेख है, तीनों देवियोंकी प्रसन्नतासे सब प्रसन्न होते हैं मंत्रसे जब परोक्ष देवता प्रत्यक्ष होतेहैं तब प्रत्यक्ष कहाजाता है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १।

त्वष्टा वीरन्देवकाम अजान त्वष्टुरर्वा जायत ऽआशु

रश्र्वं÷ ॥ त्वष्टेदंविश्श्वम्भुवनञ्जजानबुहोःकुर्त्तारं मिहयंक्षिहोतः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वष्टेत्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । त्वष्टा देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ-(त्वष्टा) त्वष्टादेवता (देवकामम्) देवकामनावाले यज्ञकरनेवाले वा तीनो ऋणके दूरकरनेमें समर्थ (वीरम्) वीर पुत्रको(जजान) उत्पन्न करताहै (त्वष्टुः) त्वष्टासे (अर्वा) शीघ्रगामी (आशुः) शीघ्र दिशाओंमें व्याप्त होनेवाला (अश्वः) अश्व वा सूर्य (जायते) उत्पन्न होताहै (त्वष्टा) परमात्मा (इदम्) यह (विश्वम्) सम्पूर्ण (भुवनम्) जगत् (जजान) उत्पन्नकरताहै (होतः) हे होता ! इस प्रकार (बहोः) बहुत कार्यके (कर्तारम्) करनेवाले परमात्माका (इह) इस यज्ञमें (यक्षि) पूजन करो ॥ ९ ॥

विशेष-यज्ञकरनेवाला यजमानही परमात्माका वीरपुत्र अश्वमेधीय अश्वही वा सूर्यही सर्वस्व है सूर्यसे सब जगत्की क्रिया और अश्वसे यज्ञक्रिया निर्वाहित होती है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १ ।

अश्श्वोघृतेनत्त्मन्न्यासमंक्तुऽउपंदेवाँ२ऽऋतुशःपार्थ ऽएतु ॥ वनस्प्पतिर्द्देवलोकम्प्रंजानन्नुग्ग्निनाहुव्या स्वंदितानिंवक्षत् ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अश्व इत्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । अश्वस्तुतिकरणे वि० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(घृतेन) घृतके द्वारा (त्मन्या) शरीरमें (समक्तः) पत्नियोंद्वारा सींचा हुआ (अश्वः) अश्व (पाथः) अन्नरूप हविसे युक्त (ऋतुशः) प्रतिऋतु वा यज्ञकालमें (देवान्) देवताओंके प्रति (उपैतु) प्राप्तहो (देवलोकम्) देवलोकको (प्रजानन्) जान्ताहुआ (वनस्पतिः) वनस्पति देवता (अग्निना) अग्निद्वारा (स्वदितानि) आस्वादित की (हव्या) हवियोंको (वक्षत्) देवताओंको प्राप्त करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १ ।

प्रजापंतेस्त्तपंसा वावृधानःसुद्द्योजातोदंधिषेयुज्ञ

मग्ने ॥ स्वाहाकृतेनहविषापुरोगायाहिसाध्याह विरदन्तुदेवाः ॥ ११ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतेरित्यस्य बृहदुक्थ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (प्रजापतेः) प्रजापतिके (तपसा) तेजरूप तपसे (वावृधानः) वृद्धिको प्राप्तहोते (सद्यः) तत्कालही (जातः) वन वा अरणिसे प्रगट होनेवाले तुम (यज्ञम्) यज्ञको (दधिषे) धारण करतेहो (स्वाहाकृतेन) स्वाहाकार कहकर हवनकिये (हविषा) हविद्वारा (पुरोगाः) अग्रगामी होकर (याहि) गमन करो (साध्याः) साध्य (देवाः) देवता (हविः) हवि (अदन्तु) भक्षण करै वा साध्या कहनेसे श्रेष्ठ हवि देवता भक्षण करै ॥ ११ ॥

विशेष-इस मंत्रसे प्रजापति शब्दसे दो अर्थ होतेहैं प्रजापतिशब्दसे हिरण्यगर्भद्वारा अग्नि प्रगट होकर यज्ञात्मक भूलोकको धारण करतीहै दूसरे पक्षमें प्रजापतिरूप यजमानसे अरणीद्वारा प्रगट होकर अश्वमेधादि यज्ञ धारण करती है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १।

यदक्रन्दः प्रथमञ्जायमानऽउद्यन्त्समुद्रादुतवा पुरीषात् ॥ श्येनस्यपक्षाहरिणस्यबाहूऽउपस्तुत्त्य म्महिजातन्तेऽअर्वन् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदक्रन्द इत्यस्य जमदग्निर्दीर्घतमा ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । अश्वस्तुतिकरणे वि० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्वन्) हे वेगवान् अश्व ! (यत्) जिसकारण कि तुमने (प्रथमम्) प्रथम पूर्वमें (समुद्रात्) अन्तरिक्ष वा समुद्रसे (जायमानः) उत्पन्न[1] हुए (उत वा) अथवा (पुरीषात्) पशुओंके समीपसे (उद्यन्) उत्पन्न होकर (अक्रन्दः) हेषारव वा शब्द किया तव (ते) तुम्हारी (महि) महिमा (उपस्तुत्यम्) स्तुतिके योग्य (जातम्) हुई जैसे (श्येनस्य) श्येनके (पक्षौ) पक्ष शूरतासे (हरिणस्य) हरिणके (बाहू) चरण वेगगमनसे स्तुत किये जाते है ॥ १२ ॥

---

१ उच्चैःश्रवा जलसे उत्पन्न है ।

अथवा–हे अर्वन्! इस अग्निने 'समुद्र' समुद्रमें वडवानलसे हो वा पुरीषमें "गैस" रूपसेही प्रथम उत्पन्न होकर क्रन्दन किया यह तुम्हारे जठरमें स्थित है शूरतामें श्येनके दो पक्ष, और वेग गतिमें हरिणके अगले बाहूको तुम पराजित करते हो इस कारण तुम्हारा माहात्म्य अवश्य स्तुतियोग्य है [ऋ० २।३।११]॥१२॥

कण्डिका १३–मंत्र १।

यमेनंदत्तन्त्रितऽएनमायुनगिन्द्रऽएणम्प्रथमोऽअध्यंतिष्ठत् ॥ गन्धर्वोऽअस्यरशनामंगृभ्णात्सूराद्श्वंवसवोनिरंतष्ट ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यमेनेत्यस्य जमद० दीर्घ० ऋ०। त्रिष्टुप्छन्दः। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ–(वसवः) वसुगणने (सूरात्) आदित्यमण्डलसे (अश्वम्) अश्वको (निरतष्ट) निकाला (त्रितः) फिर त्रिलोकचारी वायुने (यमेन) यमद्वारा (दत्तम्) दियेहुए (एणम्) इस अश्वको (आयुनक्) रथ वा कार्यमें युक्त किया (प्रथमः) सबसे पहले (इन्द्रः) इन्द्र (एनम्) इस अश्वपर (अध्यतिष्ठत्) आरूढ हुए (गन्धर्वः) गन्धर्वने (अस्य) इसकी (रशनाम्) रशना 'लगाम' (अगृभ्णात्) ग्रहण की अर्थात् सारथ्य किया [ऋ० २।३।११]॥१३॥

कण्डिका १४–मंत्र १।

असियमोऽअस्यादित्योऽअर्वन्नसित्रितोगुह्येन व्रतेन ॥ असिसोमेनसमयाविपृक्तऽआहुस्तेत्रीणिदिविबन्धनानि ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ असीत्यस्य जम०दीर्घ० ऋ०। त्रिष्टुप्छं०। अश्वो देवता। वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ–(अर्वन्) हे अर्वन्! तुम (गुह्येन) गुप्त (व्रतेन) कर्मद्वारा (यमः) यम (असि) हो (आदित्यः) आदित्य (असि) हो (त्रितः) तीन स्थानमें स्थित वायु वा इन्द्र हो (सोमेन) सोमके (समया) साथ (विपृक्तः) एकत्वको प्राप्त हुए (असि) हो (दिवि) द्युलोकमें (ते) तुम्हारे (त्रीणि) तीन

(बंधनानि) ऋक् यजु साम रूप मण्डलान्तर पुरुष अर्ची बन्धनस्वरूप (आहुः) विद्वानोंने कहे हैं " यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थम् " इत्यादिश्रुतेः [ऋ० २ । ३ । ११] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र १ ।

त्रीणिंतऽआहुर्द्दिविबन्धनानित्रीण्यप्सुत्रीण्यन्तः समुद्रे ॥ उतेवंमेवरुणश्छन्त्स्यर्वुन्यत्रांतऽआहुः पुरमञ्जनित्रम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रीणीत्यस्य जम० दीर्घ० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(अर्वन्) हे अश्व ! (यत्रा) जहां (ते) तुम्हारा (परमम्) उत्कृष्ट (जनित्रम्) उत्पादक सूर्य (आहुः) कहा है (दिवि) द्युलोकमें आदित्य रूपसे (ते) तुम्हारे (त्रीणि) पूर्वोक्त तीन (बन्धनानि) बन्धन (आहुः) कहे हैं (अप्सु) जलोंमें कृषि वृष्टि बीजरूपसे (त्रीणि) तीन बन्धन कहे हैं (अन्तः-समुद्रे) अन्तरिक्षके मध्यमें (त्रीणि) मेघ विद्युत् स्तनयित्नु ' गर्ज ' रूपसे तीन बन्धन कहे हैं (उतेव) और (वरुणः) वरुणरूप तुम (मे) मेरी (आच्छन्त्सि) प्रशंसा करते हो [अथवा वरुण देवता तुम्हारे सम्पूर्ण बन्धन छेदन करें] [ऋ० २ । ३ । ११] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मन्त्र १ ।

इमाते वाजिन्नवमार्जनानीमाशुफानांᳬसनितुर्न्निधाना ॥ अत्रांतेभुद्रारंशनाऽअंपश्यमृतस्य याऽअंभिरक्षन्तिगोपाः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमा इत्यस्य पूर्वोक्तावृषी । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(वाजिन्) हे अश्व ! (ते) तुम्हारे (इमा) यह (अवमार्जनानि) मार्जनके साधन वेतसकशादि [जिनके द्वारा अश्वके अङ्ग धोये मार्जन किये जाते हैं] को (अपश्यम्) देखताहूं (शफानाम्) खुरोंके (सनितुः) खोदेहुए (इमा) यह (निधाना) स्थान देखताहूं (अत्र) इस यज्ञमें (ते) तुम्हारे (भद्राः) कल्याण-

रूप (रशनाः) रज्जू (गोपाः) रक्षाकरनेवालीको देखताहूं (याः) जो रक्षक (ऋतस्य) इस यज्ञकार्यके साधनके निमित्त (अभिरक्षन्ति) तुम्हारी रक्षा करते हैं [ऋ० २।३।११] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र १ ।

आत्त्मानंन्तेमनंसाराद॑जानामुवोदिवापुतयंन्त म्पतुङ्गम् ॥ शिराऽअपश्यम्पुथिभिं÷सुगेभिंररेणु भिर्जेहंमानम्पतत्रि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आत्मानमित्यस्य पूर्वोक्तावृषी । त्रिष्टुप्छं० । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(अवः) नीचेके देशसे (दिवा) आकाशमार्गद्वारा (पतङ्गम्) सूर्यके प्रति (पतयन्तम्) प्राप्त होते (ते) तुम्हारे (आत्मानम्) आत्माको (मनसा) मनसे (आरात्) दूर गया (अजानाम्) जान्ताहूं अर्थात् तुम्हारा आत्मा इस नीचे स्थानसे क्रमसे ऊर्ध्वगामी होकर दूर जाकर सूर्यमें प्राप्त हुआ यह मै मनसे प्रत्यक्ष करताहूं, ज्ञानद्वारा जान्ताहूं (सुगेभिः) सुखसे जाने योग्य (अरेणुभिः) उपद्रव वा रजरहित (पथिभिः) मार्गोंद्वारा (जेहमानम्) जातेहुए (पतत्रि) गमन वा पतनशील तुम्हारा (शिरः) शिर (अपश्यम्) सूर्यरूप देखताहूं [ऋ० २ । ३ । १२] ॥ १७ ॥

विशेष–इससे विदित होता है कि दिव्यरूप होकर यज्ञीय अश्व सूर्यमंडलमें प्रवेश करता है, संसारके आगमनके जो तीनों स्थानमें कर्मबन्धन है उनको वरुण देव नष्ट कर देते है, सूर्यमें अश्वका आतमा लय होजाता है. शिरको पतनशील कहनेका कारण यह कि, एक ना एक दिन पतन होताही है. इस प्रकार यज्ञीय अश्वकी सुगति प्रतिपादन की जो ज्ञानियोंको दीखती है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र १ ।

अत्रांते रूपमुंत्तममंपश्यञ्जिगींषमाणमिषऽआपु देगोः ॥ युदातेमर्त्तोऽअनुभोगमानुडादिद्ग्रसिंष्टऽ ओषंधीरजीगः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अत्रात इत्यस्य जम० दीर्घ० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-हे अश्व ! (अत्रा) इस (गोः) सूर्यके (पदे) मण्डलमें (ते) तेरे (उत्तमम्) श्रेष्ठ (इषः) अन्न हवियोंको (जिगीषमाणम्) जीतनेकी इच्छा करनेवाले वा यज्ञकी इच्छावाले (रूपम्) रूपको (आ) सबप्रकार (अपश्यम्) देखताहूं और (मर्तः) मनुष्यने (यदा) जिस समय (ते) तेरे (भोगम्) हविरूपभोगको (अन्वानट्) समर्पण किया (आत इत्) इसके अनन्तरही (ग्रसिष्ठः) अतिशय भोजन करनेवाले तुमने (ओषधीः) हविरूप ओषधी (अजीगः) भक्षण की [ऋ० २।३।१२] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

अनु॑ त्वा॒ रथो॒ऽअनु॒ मर्यो॑ऽअर्व॒न्ननु॒ गावोऽनु॒ भग॑: क॒नीना॑म् ॥ अनु॒ व्राता॑स॒स्तव॑ स॒ख्यमी॑यु॒रनु॑ दे॒वा म॑मिरे वी॒र्य॑न्ते ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनुत्वेत्यस्य पूर्वोक्तावृषी । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्वन्) हे अश्व! (रथः) रथ (त्वा) तुम्हारे (अनु) पीछे चलता है (मर्यः) सारथ्यमें मनुष्य (अनु) अनुसरण करते हैं (गावः) गो सैकडों (अनु) तुम्हारा अनुसरण करती है (कनीनाम्) कन्याओंका (भगः) सौभाग्य (अनु) अनुसरण करै (व्रातासः) मनुष्यसमूहने (तव) तुम्हारी (सख्यम्) सख्यताको (अन्वीयुः) प्राप्त किया (देवाः) देवताओंने (ते) तुम्हारे (वीर्यम्) सामर्थ्यको (अनुममिरे) वर्णन किया ॥ १९ ॥

अर्थात्-लोकान्तरमें गमनपूर्वक विविध भोग्य लाभ करो [ऋ० २ । ३ । १२] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मन्त्र १ ।

हिर॑ण्यशृङ्गो॒ऽयो॑ऽअस्य॒ पादा॒ मनो॑जवा॒ऽअव॑र॒ऽइन्द्र॑ऽआसीत् ॥ दे॒वाऽइद॑स्य हवि॒रद्य॑माय॒न्योऽअर्व॑न्तं प्रथ॒मोऽअ॒ध्यति॑ष्ठत् ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यशृङ्ग इत्यस्य जमद० दीर्घ० ऋषी । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो (प्रथमः) मुख्य (हिरण्यशृङ्गः) सुवर्णवत् दीप्तिमान् "शृंगमिति ज्वलन्नामसु" [निघं० १। १७] अर्थात् सुवर्णका मुकुट धारण किये (अर्वन्तम्) अश्वपर (अध्यतिष्ठत्) स्थितहुआ वह (अवरः) क्षुद्र (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् इन्द्र (आसीत्) था (अस्य) इसके (पादाः) चरण (अयः) लोह वा हिरण्यरूप (मनोजवाः) मनकी समान वेगवान् है (देवाः) देवता (इत्) ही (अस्य) इसकी (अद्यम्) भोजनयोग्य (हविः) हविको (आयन्) प्राप्तहुए [ऋ० २ । ३ । १२] ॥ २० ॥

विशेष-इस स्थलमें क्षुद्र इन्द्र शब्दसे राजाका बोध होताहै अर्थात् यथार्थ इन्द्रशब्दवाच्य जो देवता है उसकी अपेक्षा राजा क्षुद्र है ऐश्वर्यवान् होनेसे इन्द्र पद दियाहै हिरण्यशृंग शब्दसे सुवर्णमुकुटधारीका अर्थ है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

ईर्म्मान्तासः सिलिकमध्यमासः सꣳशूरणासो दिव्यासोऽअत्त्याः ॥ हꣳसाऽइव श्रेणिशो यतन्ते यदाक्षिषुर्द्दिव्यमज्ममश्वाः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईर्मान्तास इत्यस्य पूर्वोक्तावृषी । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिससमय (ईर्मान्तासः) जघन और वक्षस्थलमें पुष्टियुक्त (सिलिकमध्यमासः) मध्यभागमें कृश (शूरणासः) अतिविक्रान्त (दिव्यासः) दिव्य (अत्याः) निरन्तर गमनशील (अश्वाः) रविके रथके अश्व (श्रेणिशः) श्रेणीभूत हुए (हंसाः) हंसोंकी (इव) समान (संयतन्ते) गमनमें निरन्तर यत्नकरते हैं उस समय (दिव्यम्) द्युलोकमें होनेवाले (अज्मम्) गमन वा सङ्ग्रामको (आक्षिषुः) व्याप्तकरतेहैं अर्थात् ब्रह्माहपर्यन्त रविका रथ गमन करताहै सूर्यके अश्वोंके रूपसे अश्वकी महिमा कहीहै [ऋ० २ । ३ । १२] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

तव शरीरम्पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तं वातऽइव ध्रजीमान् ॥ तव शृङ्गाणि विष्ठिता पुरुत्रारण्येषु जर्ब्भुराणा चरन्ति ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तव शरीरमित्यस्य पूर्वोक्तावृषी । त्रिष्टुप्छन्दः । अश्वो देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्वन्) हे अश्व ! (तव) तुम्हारा (शरीरम्) शरीर (पतयिष्णु) उत्पतनशील है (तव) तुम्हारा (चित्तम्) चित्त (वातः) पवनकी (इव) समान (ध्रजीमान्) गतिमान् है (पुरुत्रा) अनेक प्रकारसे (विष्ठिता) स्थित अर्थात् विजली चन्द्र सूर्य अग्निमें स्थित (जर्भुराणा) विकसित (तव) तुम्हारी (शृंगाणि) दीप्तियें (अरण्येषु) वनोंमें दवाग्निरूपसे (चरन्ति) फैलती हैं अर्थात् शरीरमात्रही पतनशील चित्तमात्रही वायुवत् इन्द्रियमात्रही संसाररूपी वनमें वहुत विषयोंमें होकर विकसितभावसे विचरती हैं [ऋ० २ । ३ । १३] ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मंत्र १ ।

उपुप्प्रागाच्छसनंवाज्यर्वादेवद्रीचामनसादीद्ध्यानः ॥ अजःपुरोनीयतेनाभिरस्यानुपश्चात्कवयोयन्तिरेभाः ॥ २३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपप्रागादित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ २३ ॥

मन्त्रार्थ-(वाजी) अन्नवान् गमनशील (देवद्रीचा) देवताओंके प्रति जानेवाले (मनसा) मनसे (दीध्यानः) दीप्तिमान् (अर्वा) अश्व (शसनम्) शमनस्थानमें (उपप्रागात्) प्राप्त होता है तव (अस्य) इसके (पुरः) आगे (अजः) कृष्णग्रीव अज "कृष्णग्रीव आग्नेयो रराटे पुरस्तात्" इति श्रुतेः । और (नाभौ) मध्य वा नाभी देशमें "सोमापौष्णः श्यामो नाभ्याम्" इति श्रुतेः । श्याम छाग (नीयते) लाया जाता है (पश्चात्) पीछे (रेभाः) स्तुति करनेवाले (कवयः) ऋत्विज (अनुयन्ति) गमन करते है [ऋ० २ । ३ । १३] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

उपुप्प्रागात्परमंय्यत्सधस्त्थमर्वाँ २ऽअच्छापितरम्मातरञ्च ॥ अद्यादेवाञ्जुष्टतमोहिगम्म्याऽअथाशास्तेदाशुषेवार्य्याणि ॥ २४ ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१) ॐ उपप्रागादित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्वान्) अश्व (पितरम्) पिता (च) और (मातरम्) माताके

अच्छअ) समीप अर्थात् द्यावापृथिवीके समीप (यत्) जो (परमम्) परम उत्कृष्ट (सधस्थम्) स्थान है उसको (उपप्रागात्) प्राप्त हुआ इस प्रकार अश्वके देवलोक जानेपर हे यजमान ! (जुष्टतमः) प्रीतियुक्त हुए (अद्य) अब तुम (देवान्) देवताओंके निकट (गम्याः) प्राप्त हो (अथ) इसके उपरान्त देवत्वको प्राप्त (दाशुषे) हवि देनेवाले (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (हि) अवश्य (वार्याणि) भोग्य वस्तुओंको (अशास्ते) देवगण दें ॥ २४ ॥

सरलार्थ–अर्वा परमलोकमें स्थित पिता और माताके पास प्राप्त होनेके निमित्त आज गमन करता है देवगणके प्रिय सेवनीय रूप ग्रहण होनेपर यजमानवर्णीय आशीर्वादके लाभकी इच्छा करता है [ऋ० २।३।१३] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मंत्र १. अनु० ३ ।

समिद्धोऽअद्यमनुषोदुरोणेदेवोदेवान्यजसिजात वेदः ॥ आचवहमित्रमहश्चिकित्वान्त्वन्दूतःक विरसिप्रचेताः ॥ २५ ॥ शतम् ॥ १६०० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ समिद्ध इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । अग्निस्तुतिकरणे विनियोगः ॥ २५ ॥

विधि–(१) २५–३७ मंत्र जातवेददेवताके स्तुति करनेमें प्रयुक्त हैं ।

मन्त्रार्थ–(मित्रमहः) हे मित्रपूजक ! (जातवेदः) हे प्रज्ञानयुक्त ! (अद्य) आज (समिद्धः) प्रदीप्त (देवः) दानादिगुणयुक्त तुम (मनुषः) मनुष्य यजमानके (दुरोणे) यज्ञगृहमें (देवान्) देवताओंको (आवह) प्राप्त करो (च) और (यजसि) तुमही इस देवयजन कार्यमें प्रवृत्त हो, (त्वम्) तुम (चिकित्वान्) प्रकृष्ट चेतनावान् (कविः) क्रान्तदर्शी (प्रचेतः) प्रकृष्टचित्त हो इसकारण (दूतः) देवदूतमें व्रती किये (असि) हो अथवा (देवान् यजासि) देवताओंको यजन करने हो उनके निमित्त (आवह) हवि ले जाओ [ऋ० ८।६।८]॥२५॥

कण्डिका २६–मंत्र १ ।

तनूनपात्पथऽऋतस्ययानान्मद्धासमञ्जन्त्स्वद यासुजिह्व ॥ मन्मानिधीभिरुतयज्ञमृन्धन्देवत्रा चकृणुह्यध्वरन्नः ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तनूनपादित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ-(तनूनपात्) हे अग्ने ! (सुजिह्व) हे सुन्दर जिह्वावाले ! अर्थात् अनेक देवताओंकी हविभक्षण करनेसे भी उच्छिष्ट न करनेवाले (ऋतस्य) सत्य रूप यज्ञके (यानान्) गमनयोग्य (पथः) मार्गोंको (मध्वा) मधुर रससे (समञ्जन्) सींचतेहुए (स्वदय) रोचमान करो वा हवि भक्षण करो (च) और (धीभिः) बुद्धियोंके सहित (मन्मानि) ज्ञान (उत) और (यज्ञम्) यज्ञको (ऋन्धन्) समृद्ध करते हुए (नः) हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (देवत्रा) देवताओंके प्रति (कृणुहि) प्राप्त कराओ [ऋ० ८।६।८] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७ मन्त्र १ ।

नराश॑ꣳसस्य महिमानंमेषामुपंस्तोषामयजतस्यं यज्ञैः ॥ येसुक्रतंवुः शुचंयोधियन्धाः स्वदन्तिदेवाऽउभयानिहव्या ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नराशंसस्येत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । नरशंसो देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ-(यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (यजतस्य) पूजित (नराशंसस्य) प्रजापति वा अग्निकी (महिमानम्) महिमा महाभाग्यताकी (एषाम्) इन देवताओंके मध्यमें (उपस्तोषाम्) स्तुति करते है (ये) जो (सुक्रतवः) अच्छे कर्मवाले (शुचयः) पवित्र दीप्तिमान् (धियन्धाः) बुद्धिके धार० करनेवाले (देवाः) देवता (उभयानि) दोनों प्रकारकी (हव्या) हवियें (स्वदन्ति) भोजन करते है [ऋ० ५। २। १] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र १ ।

आजुह्वानऽईड्यो वन्द्यश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः ॥ त्वन्देवानामसि यह्व होता सऽएनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजुह्वान इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निदेवता ! तुम (आजुह्वानः) देवताओंका आह्वान करनेवाले (ईड्यः) स्तुतियोग्य (वन्द्यः) नमनयोग्य (च) और (वसुभिः) वसुगणोंसे (सजोषाः) समान प्रीतिवाले (आयाहि)यहां आगमन करो (यह्व) महान् (त्वम्) तुम (देवानाम्) देवताओंके (होता) असामान्यहोता (असि) हो (सः) सो तुम (इषितः) अभिलाषित (यजीयान्) अत्यन्त याजक वा याजकोंमें श्रेष्ठ (एनान्) इन देवताओंको (यक्षि) यजन करो [ऋ० ८। ६। ८] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १।

प्राचीनम्बर्हिः प्प्रदिशापृथिव्याव्वस्तोरस्याव्वृज्यते ऽअग्ग्रे ऽअह्नाम् ॥ व्युप्प्रथतेवितरंवरीयोदेवेभ्यो ऽअदितयेस्योनम् ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्राचीनमित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । बर्हिर्देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

मन्त्रार्थ-(वितरम्) अत्यन्त (वरीयः) श्रेष्ठ (देवेभ्यः) देवताओं (च) और (अदितये) अदितिके निमित्त (स्योनम्) सुखरूप (प्राचीनम्) प्रागग्रकरके (बर्हिः) कुशा (अह्नाम्) दिनके (अग्रे) पूर्वमें अर्थात् पूर्वाह्णमें (अस्याः) इस (पृथिव्याः) वेदीके (वस्तोः) आच्छादनकरनेको (प्रदिशा) श्रुतिवाक्यसे "प्रदिशा प्रागग्रं बर्हिस्तृणाति" इति श्रुतेः। (उ) ही (वृज्यते) फैलाईजातीहै और (विप्रथते) विविधप्रकारसे विस्तीर्ण होती हैं [ऋ० ८। ६। ८] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १।

व्यचंस्वतीरुर्व्विया विश्श्रयन्ताम्पतिभ्योनजनयः शुम्भमानाः। देवीर्द्वारोबृहतीर्विश्श्वमिन्वा देवेभ्यो भवतसुप्प्रायणाः ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ व्यचस्वतीरित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । द्वारो देवताः। वि० पू० ॥ ३० ॥

मन्त्रार्थ-(उर्विया) बडीहोनेसे (व्यचस्वतीः) अवकाशवाली (द्वारः) द्वार (देवीः) देवियें (विश्रयन्ताम्) विवृत हों अर्थात् खुलै (न) जैसे (जनयः)

जाया (पतिभ्यः) पतियोंके निमित्त विवृत होतीहैं अर्थात् परदेशसे आनेवाले पतिकी आगमन परीक्षामें स्थिता भार्याकी समान शोभित होती हैं [परोक्ष कहकर प्रत्यक्ष कहते हैं] (बृहतीः) बड़ी (विश्वमिन्वाः) विश्वकी गमनस्थान(शुम्भमानाः) शोभायमान (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (सुप्रायणाः) अच्छी गमनवाली (भवत) हो [ऋ० ८ । ६ । ८] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

आसुष्वयन्तीयजतेऽउपाकेऽउषासानक्तासदतान्नियोनौ ॥ दिव्येयोषणेबृहतीसुरुक्मेऽअधिश्श्रियᳬंशुक्रपिशन्दधाने ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आसुष्वयन्तीत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अहोरात्रे देवते । वि० पू० ॥ ३१ ॥

मन्त्रार्थ-(सुष्वयन्ती) परस्पर हँसती वा भले प्रकार सोती (यजते) यजनके योग्य (उपाके) परस्पर समीपस्थित (दिव्ये) दिव्य स्थानमें होनेवाली (बृहती) महान् (सुरुक्मे) सुवर्णके वा सुन्दर आभरण वा ज्योतिसे युक्त (शुक्रपिशम्) शुक्र और पिशङ्ग (श्रियम) शोभाको (अधिदधाने) धारणकरनेवाली अर्थात् शुक्र दिन और कपिशारूप रात्रिकी शोभाको धारण करनेवाली (उषासानक्ता) उषा और रात्रिदेवी (योनौ) यज्ञस्थानमें (आनिसदताम्) स्थिति करें [ऋ० ८ । ६ । ९] ॥ ३१ ॥

सरलार्थ-यजनके योग्य परस्पर अव्यवहित सम्बन्धवाली अलंकारसे युक्त शुक्र और कपिश शोभा धारण करनेवाली दिव्यरूपा बृहद्वयवा युवती उषासानक्ता दोनों देवी, आज हँसते २ आगमन करें ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

दैव्याहोताराप्प्रथमासुवाचामिमानायज्ञम्मनुषोयजद्ध्यै ॥ प्प्रचोदयन्ताविदथेषुकारूप्प्राचीनञ्ज्योतिःप्प्रदिशादिशन्ता ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दैव्येत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । होतारौ देवते । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मन्त्रार्थ-(दैव्या) दिव्य (होतारा) दोनों होता (प्रथमा) आद्य (सुवाचा) सुन्दर वचनवाले (कारू) स्वयंकरनेवाले (प्राचीनम्) पूर्वदिशामें होनेवाली (ज्योतिः) आहवनीयको (प्रदिशा) श्रुतिवाक्यसे (दिशन्तः) आज्ञा देतेहुए अर्थात् यजन करो इसप्रकार कहतेहुए (मनुषः) मनुष्योंके (यजध्यै) यज्ञको (मिमाना) निर्माण करते (विदथेषु) यज्ञोंमें (प्रचोदयन्ता) ऋत्विगादिकी प्रेरणाकरनेवाले हैं [ऋ० ८। ६। ९] ॥ ३२ ॥

सरलार्थ-जिनकी स्तुतिमें बहुत वचन बोले जातेहै जो मनुष्योंके यजननिमित्त ही सृष्टहुए हैं जो शिल्पीनामसे प्रसिद्ध है जिनकी यज्ञक्रियामें सहायता होती है वह मुख्य देवता देवी होता आज दिशा विदिशा सर्वत्रही प्राचीन ज्योति प्रकाश करें ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मंत्र १।

आनोयज्ञम्भारतीतूयमेत्त्विडामनुष्ष्वदिहचेतयन्ती ॥ तिस्रोदेवीर्बर्हिरेदꣳस्योनꣳसरस्वतीस्वपसꣳसदन्तु ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। देव्यो देवताः। वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ-(इह) इस कर्ममें (मनुस्वत्) मनुष्यकी समान (चेतयन्ती) कर्म ज्ञानका बोध करतीहुई (भारती) भारती (इडा) इडा (सरस्वती) सरस्वती देवी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञमें (तूयम्) शीघ्र (आएतु) आगमन करै (स्वपसः) शोभनकर्मा "अप इति कर्मनाम" [निघं० २।१।१।] (तिस्रः)तीनों (देवी) देवी (इदम्) इस (स्योनम्) सुखरूप (बर्हिः) कुशापर (आसदन्तु) स्थितहों [ऋ० ८। ६।] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १।

यऽइमेद्यावापृथिवीजनित्रीरूपैरपिꣳशद्भुवनानिविश्वा ॥ तमद्यहोतारिषितोयजीयान्देवन्त्वष्टारमिहयक्षिविद्वान् ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यइम इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। होता देवता। वि० पू० ॥ ३४ ॥

मंत्रार्थ-(होतः) हे होता ! (यजीयान्) अत्यन्त यज्ञकरनेवाले (विद्वान्) विद्वान् अपने अधिकारके ज्ञाता (इषितः) प्रेषित वा ईप्सित तुम (अद्य) आज (तम्) उस (त्वष्टारम्) परमात्मा (देवम्) देवको (इह) इस यज्ञमें (यक्षि) यजनकरो (यः) जो (इमे) यह (द्यावापृथिवी) द्यु और पृथिवीलोक(विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भुवनोंको (रूपैः) रूपोंद्वारा (अपिंशत्) रंजित करते हैं अर्थात् जो विश्वभुवनकी जननी इस द्यावापृथिवीको अनेकरूपसे रंजित करते हैं [ऋ० ८ । ६ । ९] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

उपावसृजुत्त्मन्न्यासमुञ्जन्देवानाम्पाथऽऋतुथा हवीꣳषि ॥ वनस्प्पतिꣳ शमिताद्देवोऽअग्निः स्वदन्तुहव्यम्मधुनाघृतेन ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपावसृजेत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मंत्रार्थ-हे होता ! (देवानाम्) देवताओंके (पाथः) हविको (मधुना) मधुर रस (घृतेन) घृतसे (समञ्जन्) सींचते (ऋतुथा) ऋतु ऋतु वा यज्ञकालमें (त्मन्या) आत्माद्वारा (हवींषि) हवियोंको (उपावसृज) दो (वनस्पतिः) यूप (शमिता देवः) शमिता देवता (अग्निः) अग्नि (हव्यम्) हवियोंको (स्वदन्तु) स्वादयुक्त करो ॥ ३५ ॥

सरलार्थ-हे होता ! प्रत्येक यागकालमें घृत और मधुसे सींचीहुई हवि देवगणके उद्देश्यसे स्वयं छोडो, वनस्पतिशमिता और अग्नि देवता अपनी हवियोंको भक्षण करें [ऋ० ८ । ६ । ९] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र १ ।

सद्योजातोव्व्यमिमीतयज्ञमग्निर्द्देवानामभवत्पुरोगाः ॥ अस्यहोतुः प्प्रदिश्यतस्यव्वाचिस्वाहाकृतꣳ हविरदन्तुदेवाः ॥ ३६ ॥ [१२]

ऋष्यादि-(१) ॐ सद्योजात इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(सद्यः) तत्काल (जातः) प्रगटहुआ (अग्निः) अग्नि (देवानाम्) देवताओंका (पुरोगाः) अग्रगामी (अभवत्) हुआ (यज्ञम्) यज्ञको (व्यमिमीत) परिमित वा विशेषकर निर्माण करता हुआ (अस्य) इस (होतुः) देवताओंके आह्वान करनेवाले (ऋतस्य) आहवनीयरूपसे यज्ञमें स्थितकी (प्रदिशि) पूर्व दिशामें अर्थात् यज्ञके पूर्व और आहवनीय नामसे स्थित अग्निके (वाचि) वाणीमें वागिन्द्रियसे उपलक्षित मुखमें (स्वाहाकृतम्) स्वाहाकारद्वारा हुत हुए (हविः) हविको (देवाः) देवता (अदन्तु) भक्षण करैं, अर्थात् यह अग्नि होतृकार्यमें व्रती होकर स्वाहाकारपूर्वक हवि प्रदत्त होनेसे देवतागण उसको भक्षण करते हैं [ऋ० ८ । ६ । ९] ॥ ३६ ॥

कण्डिका ३७-मन्त्र १. अनु० ४ ।

केतुङ्कृण्वन्नकेतवेपेशोमर्य्याऽअपेशसे ॥ समुषद्भिरजायथाः ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ केतुमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-हे अग्ने ! (अकेतवे) अज्ञानी (मर्याः) मनुष्यके निमित्त (केतुम्) ज्ञान और (अपेशसे) रूपहीनको (पेशः) रूपवान् (कृण्वन्) करते हुए (उषद्भिः) अग्नि होम करनेवाले यजमानोंद्वारा (समजायथाः) प्रगटहोतेहो अर्थात् संज्ञाशून्यको आप संज्ञायुक्त और रूपहीनको रूपवान् करनेमें समर्थ हो दाहिका शक्तिके सहित प्रगटहो [ऋ० १ । १ । ११ ।] ॥ ३७ ॥

विवरण-अग्निके स्पर्शमात्रसे अन्यचित्त पुरुषभी सावधान होजाता है, यहां अग्निकी उष्णस्पर्शरूपगुणवाली दाहिका शक्ति कहीगई है जबतक उष्णता रहतीहै तबतक चैतन्यता रहती है रूप सुरूप रहता है इसके विनाही अचेतन होजाताहै रूपवान् और दाहकशक्तिमान् जो पदार्थ हैं वे अग्निसम्पन्न कहे जातेहैं इसप्रकार अग्निका लक्षण कहाहै ॥ ३७ ॥

अथ आयुधमन्त्रप्रकरणम् ।

कण्डिका ३८-मन्त्र १ ।

जीमूतस्येवभवतिप्प्रतीकंव्यद्वर्म्मीयातिसमदामुपस्त्थे ॥ अनाविद्धयातन्न्वाजयत्त्वर्ठःसत्त्वावर्म्मणोमहिमापिपर्त्तु ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जीमूतस्येत्यस्य भरद्वाजसुतपायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । वर्म देवतम् । वर्मधारणे विनियोगः ॥ ३८ ॥

विधि-(१) इसप्रकार अग्निकी स्तुतिकरके अश्वरक्षणमें योधा और युद्धके उपकरण स्तुति किये जाते हैं । प्रथम वर्मपरिधानका मंत्र । मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (वर्मी) कवचधारी पुरुष (समदाम्) संग्रामोंके (उपस्थे) बीचमें (याति) गमन करताहै उससमय (प्रतीकम्) सेनामुख (जीमूतस्य) मेघकी (इव) समान (भवति) होताहै योधा मत्त होजाते है इससे संग्रामको समद कहते है जिसप्रकार मेघका मुख विजली गर्जन धाराओंसे असह्य होताहै इसी प्रकार हाथी घोडे रथ पदाति अस्त्रजाल तूर्यनाद शरसमूहसे सेनामुख असह्य होजाता है इस कारण हे वर्मन् ! (अनाविद्धया) वेधरहित क्षतहीन (तन्वा) शरीरसे (त्वम्) तुम (जय) शत्रुवध करके जयको प्राप्तहो (वर्मणः) कवचकी (महिमा) वडाई (त्वा) तुमको (पिपर्तु) पालन करै अर्थात् रणमदमत्त वीर पुरुषके समरांगणमें वर्मधारी पुरुष मेघप्रतीककी समान अक्षोभ्यशरीर होते हैं हे वर्मिन् ! वर्मकी महिमा तुम्हारी रक्षा करै अनाविद्धशरीर तुम जयी हो ॥ ३८ ॥

पक्षान्तरमें धर्मका कवचवाला पुरुष कामक्रोधादिका जय करता है [ऋ० ५ । १ । १९] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मंत्र १।

धन्वंनागाधन्वंनाजिञ्जयेमधन्वंनातीव्राःसमदो जयेम ॥ धनुःशत्रोरपकामङ्कृणोतिधन्वंनासर्वाः प्रदिशोजयेम ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धन्वनेत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । धनुर्देवतम् । धनुर्धारणे विनि० ॥ ३९ ॥

विधि-(१) धनुषधारणका मंत्र । मन्त्रार्थ-(धन्वना) धनुषके प्रतापसे (गाः) गौरूपधन (जयेम) जयकरैं (धन्वना) धनुषके प्रतापसे (आजिम्) राजमार्गजय करते हैं (धन्वना) धनुषके प्रतापसे (तीव्राः) उग्र (समदः) संग्राम अर्थात् मदमत्त हाथी घोडे पदातीसे युक्त तीव्र संग्रामोंको (जयेम) जय करैं (धनुः) धनुष (शत्रोः) शत्रुका (अपकामम्) अनिष्टसाधन (कृणोति) करता है (धन्वना) धनुषके प्रतापसे (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रदिशः) दिशाओंको (जयेम) जय करैं अर्थात् इसके शब्दसे शत्रु भग्नमनोरथ होते है दिग्विजय इसीके प्रभावसे होता है [ऋ० ५ । १ । १९] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १ ।

वृक्ष्यन्तीवेदागनीगन्ति कर्णम्प्रियᳬ सखायम्परिषस्वजाना ॥ योषेवशिङ्क्ते वितताधिधन्वञ्ज्याऽइ यᳬ समनेपारयन्ती ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वक्ष्यन्तीवेत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । ज्या देवता । ज्यारोपणे वि० ॥ ४० ॥

विधि-(१) इस मंत्रसे धनुषपर ज्या [रोदा] चढावे । मन्त्रार्थ-(इयम्) यह (समने) संग्राममें (पारयन्ती) विजय करानेवाली (ज्या) प्रत्यञ्चा (धन्वन्) धनुष (अधि) पर (वितता) विस्तारकीहुई अर्थात् चढाईहुई (योषा) स्त्रीकी (इव) समान (शिङ्क्ते) अव्यक्त शब्द करतीहै (प्रियम्) प्रिय (सखायम्) वाणरूप मित्रको (परिषस्वजाना) आलिंगन करतीहुई (इत्) और (वक्ष्यन्ती) कहनेकी इच्छा करतीहुई (इव) सी (कर्णम्) योधाके कानतक अर्थात् खैचनेसे कर्णपर्यन्त (आगनीगन्ति) आतीहै [ऋ० ५।१।१९] ॥४०॥

सरलार्थ-प्रियसखाको आलिंगनपूर्वक, कुछ कहनेके अभिप्रायसे कर्णमूलतक आनेवाली रणसमुद्रसे तारनेवाली धनुकी स्त्री यह ज्या धनुषपर शब्दपूर्वक आरोपित होती है आशय यह कि ज्याको कर्णपर्यन्त खैचना चाहिये ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १ ।

तेऽआचरन्तीसमनेवयोषामातेवपुत्रम्बिभृतामुपस्थे ॥ अपशत्रून्विध्यताᳬ संविदानेऽआर्त्नीऽइमेविष्फुरन्तीऽअमित्रान् ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ते आचरन्तीवेत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । धनुष्कोटी देवते । धनुष्कोट्यां ज्याघातकरणे वि० ॥ ४१ ॥

विधि-धनुषकी दोनों कोटियोंमें ज्याआघातपूर्वक धनुषटङ्कार करनेका मंत्र ।

मंत्रार्थ-(समना) समान मन अर्थात् पतिमें एक मनवाली (योषा) स्त्रीकी (इव) समान (आचरन्ती) आचरण करतीहुई वा आतीहुई (संविदाने) परस्पर संकेत करती (अमित्रान्) शत्रुओंके प्रति (विस्फुरन्ती) टंकार करनेवाली (ते) वे (इमे) यह दोनों (आर्त्नी) धनुकोटी (उपस्थे) मध्यमें (बिभृताम्)

शर धारण करनेवाली हैं (इव) जिस प्रकार (माता) माता (पुत्रम्) पुत्रको उत्संगमें धारण करती है इस प्रकारकी कोटी (शत्रून्) शत्रुओंको (अपविध्यताम्) ताडन करो [ऋ० ५ । १ । १९] ॥ ४१ ॥

सरलार्थ-यह धनुषकी दोनों कोटी माताकी समान अपनी गोदमें पुत्रतुल्य शरधारणपूर्वक दो सपत्नी स्त्रियोंकी समान परस्पर ऊंचे ऊंचे स्पर्धावाक्प्रयोगकी समान टंकारशब्द करती शत्रुसेनानिवेशको विस्मयकारिणी होकर शत्रुगणोंको क्षुब्धचित्त करै ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२ मंत्र १ ।

बह्वीनाम्पिता बहुरस्यपुत्रश्चिश्चाकृणोतिसमनावगत्य ॥ इषुधिःसङ्काःपृतनाश्चसर्वाःपृष्ठेनिनद्धोजयतिप्प्रसूतः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बह्वीनामित्यस्य पायुर्ऋषिः । जगती छं० । सारथ्यादयो देवताः । तूणधारणे वि० ॥-४२ ॥

विधि-(१) पृष्ठमें तूणधारणका मंत्र । मन्त्रार्थ-(इषुधिः) तूण वा तरकस (बह्वीनाम्) बहुतसे वाणोंका (पिता) पालक है (अस्य) इसके (पुत्रः) पुत्र वाण (बहु) बहुत है बहुत पुरोंकी रक्षा करनेसे वाणोंको पुत्र कहा वह तूण (समना) संग्रामोंमें (अवगत्य) जानकर (चि) चिशब्द (आकृणोति) करता है [तूणीरसे वाण निकालनेमें 'चि' शब्द होता है] (च) और (पृष्ठे) पृष्ठ स्थानपर (निबद्धः) बंधाहुआ (प्रसूतः) आज्ञादिया हुआ (सर्वाः) सम्पूर्ण (सङ्काः) सब योधाओंके गतिस्थान (पृतनाः) सेनाओंको (जयति) जीतता है "सङ्काः सचतेः सम्पूर्वाद्वा किरतेः" इति [निरु० ९ । १४] [ऋ० ५ । १ । १९] ॥ ४२ ॥

सरलार्थ-यह तरकस बहुतसे वाणोंका पिता है शरसमूह इसके पुत्र है यही रणस्थलमें उपस्थित होकर वारंवार चि २ शब्द करता है वीरपुरुषोंके पृष्ठलग्न यह तरकस बहुतसे वाण प्रसव करनेवाला हो सम्पूर्ण आशंका और शत्रुसेनाको जय करै ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मंत्र१ ।

रथेतिष्ठन्नयतिवाजिनःपुरोयत्रयत्रकामयतेसुषा

रथिः ॥ अभीशूनाम्महिमानम्पनायतमनंः पु श्चादनुयच्छन्तिरश्मयंः ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रथेतिष्ठन्नित्यस्य पायुर्ऋषिः । जगती छं० । सारथ्यादयो देवताः । सारथ्यारोहणे रश्मिग्रहणे च वि० ॥ ४३ ॥

विधि-(१) इसका पूर्वार्द्ध सारथिके आरोहणका, और परार्द्ध रश्मिग्रहण करनेमें प्रयुक्त है । मन्त्रार्थ-(रथे) रथमें (तिष्ठन्) स्थित (सुसारथिः) अच्छा शिक्षित सारथि (यत्र यत्र) जहां जहां (कामयते) इच्छा करता है (पुरः) आगे वर्तमान (वाजिनः) घोडोंको वहीं वहीं (नयति) पहुंचाता है अर्थात् इच्छानुसार घोडोंको लेजाता है [बागडोर स्तुति] (अभीशूनाम्)बागडोरकी (महिमानम्) महिमाकोभी (पनायत) सराहना करो जो (रश्मयः) रश्मी (पश्चात्) पीछे वर्तमान होती (मनः) घोडेके मनको (अनुयच्छन्ति) वश-वर्ती करती है ॥ ४३ ॥

विशेष-यहां अभीशूनां बहुवचन शब्द है इससे रथोंमें कई घोडे जोते जांय यह बोध होता है [ऋ० ६।१।२०] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मन्त्र १ ।

तीव्रान्घोषान्कृण्वतेवृषंपाणयोश्वारथेभिःसह वाजयन्तः ॥ अवक्रामन्तःप्रपदैरमित्रान्क्षिण न्तिशत्रूँ२ रनंपव्ययन्तः ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तीव्रानित्यस्य पायुर्ऋषिः । जगती छन्दः । अश्वा देवताः । अश्वचालने वि० ॥ ४४ ॥

विधि-(१) रथके घोडे चलानेका मंत्र । मन्त्रार्थ-(वृषपाणयः) घोडे जिनके हाथमें है वे अश्ववार पुरुष (तीव्रान्) तीक्ष्ण (घोषान्) जय जय शब्दोंको (कृण्वते) करते है (रथेभिः) रथोंके (सह) साथ (वाजयन्तः) चलतेहुए घोडे (प्रपदैः) खुरोंसे (अमित्रान्) शत्रुओंको (अवक्रामन्तः) आक्रमण करते (अनपव्ययन्तः) नाश न होनेवाले समर्थ (अश्वाः) घोडे शत्रून्) शत्रुओंको (क्षिणन्ति) नाश करते हैं ॥ ४४ ॥

अथवा-चारों चरणोंसे पसीना बरसानेवाले रथके घोडे वेगसे गमन करते तीव्र हेषाशब्दसे दिङ्मण्डल पूर्ण करते है, यह श्रम वृथा अपव्यय नहीं करते

प्रत्येक पदमें भूमिको आक्रमणपूर्वक शत्रुओंको क्षय करते हैं [ऋ० ५ । १ । २०] ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मन्त्र १ ।

रथवाहनᳪहविरस्यनामयत्रायुधन्निहितमस्यवर्म्म ॥ तत्रारथमुपशग्मᳪसदेमविश्वाहावयᳪसुमनस्यमानाः ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रथवाहनमित्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । रथो देवता । हविरुपरि रथस्थापने विनियोगः ॥ ४५ ॥

विधि-(१) हविके ऊपर रथोपस्थानका मंत्र । मन्त्रार्थ-(अस्य) इस रथके (रथवाहनम्) रथका धारण करनेवाला इससे रथवाहन (नाम) नाम (हविः) शकट है (यत्र) जिसमें (अस्य) इस योधाका (वर्म) कवच (आयुधम्) आयुध (निहितम्) स्थापित है (तत्रा) तहां (विश्वाहा) सदा (सुमनस्यमानाः) अच्छे मनवाले (वयम्) हम (शग्मम) सुखकारी (रथम्) रथको (उपसदेम) स्थापन करें [ऋ० ५।१।२०] ॥ ४५ ॥

विवरण-पूर्व कालमें रथके नीचेका भाग जहां पहिये आदि होते है उसको हवि कहते थे वहां भी वस्तु रखनेका स्थान होता था, उसके ऊपरभाग रथकि बैठनेके स्थानको रथ कहते हैं उस समय रथ दो अंशोंमें विभक्त था [हविःशब्दकारी] ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मन्त्र १ ।

स्वादुषᳪसदः पितरोवयोधाःकृच्छ्रेश्रितःशक्तीवन्तोगभीराः ॥ चित्रसेनाऽइषुबलाऽअमृद्धाःसतोवीराऽउरवोव्रातसाहाः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ स्वादुषं सद इत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । रथगोपा देवताः । रथगोप्तॄणां स्तुतिकरणे वि० ॥ ४६ ॥

विधि-(१) रथगुप्ति आश्रयका मंत्र । मन्त्रार्थ-(स्वादुषंसदः) सुखसे बैठनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले (वयोधाः) अन्न वा आयुके धारण करनेवाले (कृच्छ्रेश्रितः) कष्टमें सेवनयोग्य (शक्तीवन्तः) सामर्थ्ययुक्त वा आयुधधारी (गभीराः) गम्भीर बुद्धिवाले (चित्रसेनाः) विचित्र सेनावाले (इषुबलाः)

चाणरूप बलवाले (अमृध्राः) कठिन अंग वा उग्र शासनवाले (उरवः) विशाल अर्थात् पृथुजंघा और चौडी छातीवाले (व्रातसाहाः) शूरसमूहोंके जीतनेवाले रथगुप्तिका आश्रय करै [ऋ० ५।१।२०] ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मन्त्र १।

ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवे नो द्यावापृथिवीऽअनेहसा ॥ पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंसऽईशत ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ ब्राह्मणास इत्यस्य पायुर्ऋषिः। स्वराट् त्रिष्टुप्छन्दः। रथगोपा देवताः। वि० पू० ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ–(ब्राह्मणासः) ब्राह्मण और (सोम्यासः) सोमके सेवन करनेवाले (पितरः) पितर (ऋतावृधः) सत्यके बढानेवाले देवता (नः) हमको रक्षा करें (शिवेन) कल्याणकारिणी (अनेहसा) अपराधरहित होनेसे अपराधनिवर्तक (द्यावापृथिवी) द्यावा और पृथिवी (पूषा) और पूषा 'सूर्य' देवता (नः) हमको (पातु) रक्षा करै यही पूषादेवता (दुरितात्) पापोंसे (रक्ष) रक्षा करो (किः) कोई भी (अघशंसः) दुष्ट (नः) हमपर (मा) मत (ईशत) समर्थ हो [युद्धयात्राका मंत्र है] ॥ ४७ ॥

सरलार्थ–ब्राह्मणगण हमारी रक्षा करै, सोमसम्पादक पितृगण हमारी रक्षा करै, द्यावापृथिवी हमको पापशून्य करके कल्याणकारिणी हो, पूषा दुरितसे हमारी रक्षा करो, हे सत्यके बढानेवाले ! कोई पापीभी हमको पराजय करनेमें आधिपत्यलाभ करनेमें समर्थ न हो [ऋ० ५।१।२०] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मन्त्र १।

सुपर्णं वस्ते मृगोऽअस्या दन्तो गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता ॥ यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सुपर्णमित्यस्य पायुर्ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। इषुर्देवता। शरक्षेपणे वि० ॥ ४८ ॥

विधि–(१) शरत्यागका मंत्र। मन्त्रार्थ–जो बाण (सुपर्णम्) पक्षीकी पिच्छ (वस्ते) धारण करता है (अस्याः) इसके (दन्तः) फल (मृगः)

शत्रुओंका अन्वेषक है (गोभिः) स्नायुद्वारा (सन्नद्धः) बंधाहुआ (प्रसूता) धनुषधारीसे प्रेरित होता (पतति) गिरता है (च) और (यत्र) जहां (नरः) मनुष्य योधा (सन्द्रवन्ति) भलीप्रकार जाते हैं (च) और (विद्रवन्ति) अनेक प्रकारकी गति करते हैं (तत्र) तहां (इषवः) वाण (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (शर्म) कल्याणको (आयंसन्) प्राप्त करो, दो [ऋ० ५।१।२१] ॥ ४८ ॥

सरलार्थ-सुन्दर तीन पक्षसे भूषित स्नायुद्वारा सम्बद्ध वा ज्यासे नियोजित यह वाण योधाओंद्वारा प्रेरित किया जाता है इसके दन्तवेध्यस्थानको अन्वेषण करके विद्ध करते हैं, शत्रुदलमें इस वाणकी वृष्टि होती है, तव शत्रुदल क्षतविक्षतशरीर होकर इधर उधर धावमान होते है ॥ ४८ ॥

प्रमाण-"कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति" इति [निरु० २।५] "मृगो मृगयतेः" इति [निरु० ९।१९] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

ऋजीतेपरिं वृङ्ग्धिनोश्म्माभवतुनस्तनूः ॥
सोमोऽअधिब्रवीतुनोदितिःशर्म्मयच्छतु ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋजीत इत्यस्य पायुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । इषुर्देवता । इषुस्तुतौ वि० ॥ ४९ ॥

विधि-(१) वाणके प्रतिबोधका मंत्र । मन्त्रार्थ-(ऋजीते) हे ऋजुगामी वाण ! (नः) हमको (परिवृङ्ग्धि) त्यागो अर्थात् हमपर मत गिरो (नः) हमारा (तनूः) शरीर (अश्मा) पाषाणतुल्य (भवतु) हो (सोमः) सोम देवता (नः) हमारे वाक्यको (अधिब्रवीतु) अनुमोदन करो अधिक कहो (अदितिः) अदिति देवता हमको (शर्म) कल्याण (यच्छतु) प्रदान करै अर्थात् कल्याणकी प्रेरणा करै [ऋ० ५।१।२१] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मन्त्र १ ।

आजङ्घन्तिसान्वेषाञ्जघनाँ२ ऽउपजिघ्नते ॥
अश्वाजनिप्प्रचेतसोश्वान्त्समत्सुचोदय ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आजङ्घन्तीत्यस्य पायुर्ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । कशा देवता । कशाघातकरणे वि० ॥ ५० ॥

विधि-(१) कशाघातका मंत्र । मन्त्रार्थ-(अश्वाजनि) हे अश्वोंके प्रेरक कशा ! (समत्सु) संग्रामोंमें तुम (प्रचेतसः) शूरतायुक्त चित्तवाले (अश्वान्)

अश्वोंको (चोदय) प्रेरणाकरो जिस तेरे द्वारा अश्ववार (एषाम्) इन घोडोंके (सानु) सानुतुल्य मांसल अंगोंमें (आजङ्घन्ति) ताडन करते हैं(जघनान्)कटिभागोंमें(उपजिघ्नते) उपघात करते हैं अर्थात् घोडोंके मांसल स्थान और कटिभागमें कशाघात होनेसे उनको प्रकृष्ट चेतनावान् करके रणाङ्गणमें प्रवृत्त करो ॥ ५० ॥

विशेष–घोडोंके मांसल स्थान और कटिभागमें कशाघात करना चाहिये यह अश्वशास्त्रकी शिक्षाका मूल है । सानु–पर्वतशिखर [ऋ० ५ । १।२१]॥५०॥

कण्डिका५१–मंत्र १ ।

अहि॑रिव भो॒गैः पर्ये॑ति बा॒हुं ज्याया॑ हे॒तिम्प॑रि॒बाध॑मानः ॥ ह॒स्त॒घ्नो विश्वा॑ व॒युना॑नि वि॒द्वान्पुमा॒न्पुमा॑ᳬं सम्परि॑पातु वि॒श्वतः॑ ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अहिरिवेत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । हस्तघ्नो देवता । हस्तघ्नस्तुतौ वि० ॥ ५१ ॥

विधि–(१) हस्तघ्न [ज्याके आघात निवारणको प्रकोष्ठत्राण] धारणका मंत्र । मन्त्रार्थ–(विश्वा) सम्पूर्ण (वयुनानि) ज्ञानोंका (विद्वान्) जाननेवाला (पुमान्) पुरुष वा शूर (हस्तघ्नः) खेटक वा प्रकोष्ठत्राण (पुमांसम्) 'मुझ' पुरुषको (विश्वतः) सब ओरसे (परिपातु) रक्षाकरो (ज्यायाः) ज्याके (हेतिम्) प्रहारको (परिबाधमानः) निवारण करता वा शत्रुके प्रेरे बाणको निवारण करता (बाहुम्) हाथको (पर्येति) वेष्टित करता है (इव) जिस प्रकार (अहिः) सर्प (भोगैः) फणारूप अपनी देहसे हस्तादिको वेष्टन करता है [ऋ० ५ । १ । २१] ॥ ५१ ॥

सरलार्थ–बाहुको ज्याआघातसे बाधा न देनेके निमित्त यह हस्तघ्न सर्पकी समान अपने फणाद्वारा वेष्टन करता है, योधा पुरुषको और उसके सम्पूर्ण ज्ञानको सब प्रकारसे परिपालन करो [क्षिप्र हस्तसे इषुक्षेपणसमयमें स्वयि ज्या आघातसे हतज्ञान होनेकी सम्भावना है] ५१ ॥

कण्डिका५२ –मंत्र १ ।

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒याऽअ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ॥ गोभिः॒ सन्न॑द्धोऽअसि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वनस्पत इत्यस्य पायुर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छं० । रथो देवता । रथारोहणे वि० ॥ ५२ ॥

विधि-(१) यहांसे तीन मंत्र पढकर रथारोहण करै । मन्त्रार्थ-(वनस्पते) हे वनस्पतिविकार काष्ठमयरथ (वीड्वङ्गः) दृढअङ्गवाला (भूयाः) हो (अस्मत्) हमारा (सखा) मित्रभूत (प्रतरणः) संग्रामके पार होनेवाला (सुवीरः) अच्छे वीर रथीवाला (गोभिः) चर्मद्वारा (सन्नद्धः) बंधा वा मढाहुआ (असि) है (वीडयस्व) इसकारण अपने आपको स्तंभितकर (ते) तेरा (आस्थाता) रथी वीर (जेत्वानि) जीतने योग्य रिपुधनोंको (हि) ही (जयतु) जयकरो [ऋ० ४ । ७ । ३९] ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मंत्र १ ।

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्भृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतꣳ सहः ॥ अपामोज्मानं परिगोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रꣳ हविषा रथं यज ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दिव इत्यस्य पायुर्ऋषिः । निच्यृदार्षी जगती छन्दः । रथो देवता । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-(दिवः) द्युलोक(पृथिव्याः) और पृथ्वीसे (पर्युद्भृतम्) उद्धृत(ओजः) तेज तथा (वनस्पतिभ्यः) वनस्पतियोंसे (पर्याभृतम्) सब प्रकारसे ग्रहण कियाहुआ (सहः) बल (अपाम्) जलोंका (ओजमानम्) सारभूत तेज अर्थात् द्यावाभूमि वृक्ष जल इन चारके तेजोंका सारभूत (गोभिः) किरणोंसे वा चर्मसे (पर्यावृतम्) वेष्टित (इन्द्रस्य) इन्द्रका (वज्रम्) इन्द्रके वज्रकी समान दृढ अथवा इन्द्रके वज्रसे निर्मित वा उसके तेजसे युक्त (रथम्) रथको हे अध्वर्यु! तुम (हविषा) हविद्वारा (यज) यजन करो [ऋ० ४ । ७ । ३९] ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मंत्र १ ।

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः ॥ सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ५४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रस्येत्यस्य पायुर्ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । रथो देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ–(देवरथ) हे देवरथ ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रके (वज्रः) वज्रसे उत्पन्न वा दृढतामें इन्द्रके वज्रकी समान हो (मरुताम्) जय देनेवाले होनेसे मरुद्गणकी (अनीकम्) मुखस्वरूप हो वा मुख्य साधक हो (मित्रस्य) मित्रदेवता सूर्यके (गर्भः) गर्भस्वरूप अर्थात् स्तुतिरूप हो (वरुणस्य) वरुणकी (नाभिः) नाभि हो (सः) वह तुम (नः) हमारी (इमाम्) इस (हव्यदातिम्) हविदानको (जुषाणः) सेवन करतेहुए (हव्या) हवियोंको (प्रतिगृभाय) ग्रहण करो अर्थात् हमारे स्तुतिवाक्यसे प्रसन्न होकर हमको अपने आरोहणमें ग्रहण करो ॥ ५४ ॥

विवरण–" इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार " इत्युपक्रम्य " रथस्तृतीयम् " इत्यभिधाय "रथेन च शरेण चेति राजन्यबन्धवः" इति श्रुतेः [१।२।४। १–२। श०] इन दोनों मंत्रोंका अभिप्राय गूढ विदित होता है शतपथमें कथा है कि, जिस समय इन्द्रने वृत्रासुरके वज्र मारा तब वज्रके उसके शरीरकी काठिनतासे चार खण्ड होगये उन चार खण्डोंसे यूप स्फ्या शर और रथ निर्मित हुए उनमेंसे यूप और स्फ्य ब्राह्मणोंने, शर और रथ पर राजन्यगणोंने अधिकार किया। आदि अन्त यहांपर देखनेसे शतपथसे विशेष तात्पर्य दृढ होता है। काष्ठनिर्मित रथमें काष्ठ, कील चर्मादि पदार्थ होते हैं यदि विचार कर देखा जाय तो काष्ठमें दिव भूमि जल विद्युत्–वा अग्नि इन सबका तेज रहता है दिव्य लोक विना वृक्षकी वृद्धि असंभव है भूमिकी कठिनाई जलका रस तथा अग्निकाष्ठमें विद्यमान है, उसका हविसे यजन घृतद्वारा काष्ठ और चक्रोंको मसृण चिकना करना है [ऋ० ४।६।३५] ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मंत्र १।

उपश्वासय पृथिवीमुत द्याम्पुरुत्रा ते मनुताँविष्ठितञ्जगत् ॥ स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयोऽअपसेध शत्रून् ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उपश्वासयेत्यस्य पायुर्ऋषिः। भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं०। दुन्दुभिर्देवता। दुन्दुभिहनने वि० ॥ ५५ ॥

विधि–(१) यहांसे दो कण्डिकाद्वारा रणदुन्दुभि बजानेका मंत्र। **मन्त्रार्थ**–(दुन्दुभि) हे दुन्दुभे! (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) द्युलोकको (उपश्वासय) ध्वनियुक्त करो (विष्ठितम्) विविध प्रकारसे स्थित स्थावर जङ्गमात्मक (जगत्) जगत् (पुरुत्रा) बहुत प्रकारसे (ते) तुझको (मनुताम्) जाने

(सः) वह तुम (इन्द्रेण) इन्द्र और (देवैः) देवताओंसे (सजूः) प्रीतिवाले (दूराद्दवीयः) अतिदूर भी (शत्रून्) शत्रुओंको (अपसेधय) हटा दो अर्थात् तुम्हारा शब्द सुनकर शत्रु दूरसेही नष्ट हो जाँय [ऋ०४।७।३५] ॥ ५५ ॥

कण्डिका ५६-मंत्र १ ।

आक्रन्दयबलमोजोनऽआधानिष्टनिहिदुरितावा धमानः ॥ अपप्रोथदुन्दुभेदुच्छुनाऽइतऽइन्द्रस्य मुष्टिरसिवीडयस्व ॥ ५६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आक्रन्दयेत्यस्य पायुर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । दुन्दुभिर्देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(दुन्दुभे) हे दुन्दुभीके अधिदेव ! तुम (बलम्) शत्रुसेनाको (आक्रन्दय) रुवाओ अथवा पलायन कराओ (नः) हमको (ओजः) तेज (आधाः) धारण कराओ (दुरिता) हमारे पापोंको अर्थात् दुःखको (बाधमानः) निराकरण करते (निष्टनिहि) शब्द करो (इतः). हमारी सेनाके समीपसे (दुच्छुनाः) दुष्ट श्वानसदृश शत्रुओंको अपप्रोथ नाश करो तुम (इन्द्रस्य) राजा वा सेनापति इन्द्रकी (मुष्टिः) मुष्टिवत् अंकरूप (असि) हो (वीडयस्व) हमको दृढ करो [ऋ० ४।७।३६] ॥ ५६ ॥

सरलार्थ-हे दुन्दुभे ! तुम सब दुरितको बाधा देनेवाली हो, घोर शब्दसे नादित होकर हमारे ओज और बलकी वृद्धिकारी, शत्रुपक्षमें क्रन्दनध्वनिकी उत्थापन करनेवाली हो, तुम्हारे भयंकरशब्दसे दुष्ट (मांसाशी) कुक्कुरादि दूर हो तुम सेनापतिके मुष्टिस्वरूप हो दृढाङ्ग हो ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मन्त्र १ ।

आमूरजप्प्रत्यावर्त्तयेमाः केतुमदुन्दुभिर्वावदीति ॥ समश्वपर्णाश्चरन्तिनोनरोस्माकमिन्द्ररथिनोजयन्तु ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आमूरजेत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । भुरिगार्षी पंक्तिश्छन्दः । इन्द्रो देवता । दुन्दुभ्या सह पताकायोजने विनि०॥५७॥

विधि-(१) दुन्दुभीसे पताका योग करनेका मंत्र । मन्त्रार्थ-हे इन्द्र ! (अमूः) यह शत्रुसेना तुम (आअज) सब ओरसे हटाओ (दुन्दुभिः) दुन्दुभि

(केतुमत्) ध्वजापूर्वक वा पताकापूर्वक (वावदीति) अत्यन्त शब्द करती है (इमाः) इन हमारी सेनाओंको (प्रत्यावर्तय) जयके साथ लौटाओ (नः) हमारे (अश्वपर्णाः) घोडोंकी समान शीघ्रगामी (नरः) मनुष्य योधा (सञ्चरन्ति) फिरते हैं (अस्माकम्) हमारे (रथिनः) रथी (जयन्तु) जय प्राप्त करैं ॥५७॥

सरलार्थ-हे इन्द्र! हमारे अश्वपर्णगण [जो घोडेपर चढकर आकाशचारी पक्षीकी समान शीघ्रगमनमें समर्थ हों उन सुशिक्षित अश्वारोहियोंको अश्वपर्ण कहते हैं] रथीगण, पदातिगण विजयी हों इनको रणविजयी कर लौटो पताका-विशिष्ट दुन्दुभी इसी अभिप्रायको वारंवार कथन करता है [ऋ० ४।७।३९] ॥ ५७ ॥

विवरण-यहां इन्द्रसे सेनापतिका वा राजाका बोध होता है आयुधोंके संबोधनसे उनमें स्थित अधिष्ठातृदेवका संबोधन है, तथा आयुधोंके गुण और उनके धारणका उपदेश है, और उनके कार्यका वर्णन किया है कि, इसप्रकार धारण करनेसे ऐसा होता है जय होता है ॥ ५७ ॥

आयुधमन्त्रप्रकरण समाप्त।

कण्डिका ५८-मंत्र १।

आग्नेयः कृष्णग्रीवः सारस्वती मेषी बभ्रुः सौम्यः पौष्णः श्यामः शितिपृष्ठो बार्हस्पत्यः शिल्पो वैश्वदेव ऐन्द्रोऽरुणो मारुतः कल्माष ऐन्द्राग्नः संहितोऽधोरामः सावित्रो वारुणः कृष्ण एकशितिपात्पेत्वः ॥ ५८ ॥

विधि-(१) "द्वे त्वेवैते एकादशिन्यावालभेते" इति [श० १३।५।१।३] अश्वमेधमें दो एकादशिनी प्राप्त की जाती हैं ग्यारह पशुसमूहको एकादशिनी कहते हैं इन दो कण्डिकामें दोनों एकादशिनी पंक्तिके देवताओंका वर्णन है इस कारण द्रव्यदेवताओंके प्रतिपादक यह ब्राह्मणवाक्य जानने इस कारण विनियोग नहीं है ॥

पदार्थ-(कृष्णग्रीवः) कृष्णग्रीवावाला पशु (आग्नेयः) अग्निदेवतासम्बन्धी है (मेषी) मेषी (सारस्वती) सरस्वती देवतावाली है (बभ्रुः) पिङ्गलवर्ण पशु (सौम्यः) सोमदेवतावाला है (श्यामः) कृष्णवर्ण पशु (पौष्णः) पूषादेवता-

सम्बन्धी है (शितिपृष्ठः) श्यामपृष्ठ पशुका (बार्हस्पत्यः) बृहस्पति देवतासे सम्बन्ध है (शिल्पः) विचित्र वर्णका (वैश्वदेवः) विश्वेदेवा देवता है (अरुणः) अरुण वर्णका (ऐन्द्रः) इन्द्र देवता है (कल्माषः) कबरे वर्णवालेका (मरुतः) मरुत् देवता (संहितः) दृढ अंगका (ऐन्द्राग्नः) इन्द्र और अग्नि देवता है (अधोरामः) नीचे स्थानमें श्वेतवर्णवालेका (सावित्रः) सूर्यसे सम्बन्ध है (एकशितिपात्) एक चरण श्वेत (कृष्णः) और सब अंग कृष्ण(पेत्वः) ऐसे पतनशील अर्थात् वेगवान् पशुका (वारुणः) वरुण देवता है [प्रथम एकादशिनी] ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९-मन्त्र १ ।

अग्नयेऽनीकवते रोहिताञ्जिरनड्वानधोरामौ सावित्रौ पौष्णौ रजतनाभी वैश्वदेवौ पिशङ्गौ तूपरौ मारुतः कल्माषऽआग्नेयः कृष्णोजः सारस्वती मेषी वारुणः पेत्वः ॥ ५९ ॥

पदार्थ-(रोहिताञ्जिः) लाल तिलकवाला (अनड्वान्) वृष (अनीकवते) सेनामुखवाले (अग्नये) अग्निके प्रीतिके निमित्त है (अधोरामौ) नीचे देशमें श्वेत वर्णवाले दो पशु (सावित्रौ) सवितादेवतावाले है(रजतनाभी) नाभिस्थानमें रजतवत् शुक्लवर्णवाले दो पशु (पौष्णौ) पूषा देवतावाले है (पिशङ्गौ) पीत पिङ्गलवर्ण (तूपरौ) शृङ्गरहित दो पशु (वैश्वदेवौ) विश्वेदेवा देवतावाले हैं (कल्माषः) कबरा पशु (मारुतः) मरुत् देवतावाला है (कृष्णः) श्यामवर्ण (अजः) अज (आग्नेयः) अग्निदेवतावाला है (मेषी) मेषी (सारस्वती) सरस्वतीदेवतावाली है (पेत्वः) पतनशील वेगवान् पशु (वारुणः) वरुणदेवतासम्बन्धी है ॥ ५९ ॥

विवरण-जिस पशुका जो वर्ण है वह उसी २ देवताके उद्देश्यसे हुआ है इस कारण वह पशु उन्हीं २ देवताओंके सम्बन्धवाले जानने उनके संस्कारसे वे २ देवता प्रसन्न होते है ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मन्त्र १ ।

अग्नये गायत्राय त्रिवृते राथन्तरायाष्टाकपालऽइन्द्राय त्रैष्टुभाय पञ्चदशाय बार्हतायैकादशकपालो विश्वे

भ्योदेवेभ्योजागतेभ्यःसप्तदशेभ्योवैरूपे भ्योद्वादशकपालोमित्रावरुणाभ्यामानुष्टुभा भ्यामेकविंशाभ्यांवैराजाभ्यांपयस्याबृह स्पतयेपाङ्क्तायत्रिणवायशाक्वरायचरुःसवित्रऽ औष्णिहायत्रयस्त्रिंशायरैवतायद्वादशकपा लःप्राजापत्यश्चरुरदित्यैविष्णुपत्न्यैचरुर ग्नयेवैश्वानरायद्वादशकपालोनुमत्याऽअष्टाक पालः ॥ ६० ॥ [२४] ॥ ४ ॥

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितापाठे एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

विधि-(१) अग्नीषोमीय पुरोडाशसम्बन्धमें आवेष्टि नामक एक शेष इष्टि विहित है वह आवेष्टि दशहविमय होती है इन दश हविमें किस देवताकी कौन हवि है किस हविके सहित कौन ऋक् है कौन स्तोम है कौन साम व्यवहार है वह इस कण्डिकामें सब कहा है "दशहविषमन्त्यामिष्टिं निर्वपेत्" इति श्रुतेः । यह भी ब्राह्मणवाक्य है ॥ ६० ॥

पदार्थ-(गायत्र्या) गायत्रीछन्द (त्रिवृत्ते) त्रिवृत् स्तोम (राथन्तराय) रथन्तर सामसे स्तुत (अग्नये) अग्निके निमित्त(अष्टाकपालः)अष्टाकपालमें संस्कार किया पुरोडाश हवि है १ (त्रैष्टुभाय) त्रिष्टुप्छन्द (पञ्चदशाय) पञ्चदशस्तोम (बार्हताय) बृहत्सामसे स्तुति किये (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त(एकादशकपालः) ग्यारहकपालमें संस्कार की हुई हवि है २ (जागतेभ्यः) जगतीछन्द (सप्तदशेभ्यः) सप्तदशस्तोम (वैरूपेभ्यः) वैरूपसामसे स्तुत (विश्वेभ्यः) विश्वे(देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (द्वादशकपालः) द्वादशकपालमें संस्कारकी हुई हवि है३ (अनुष्टुभाभ्याम्) अनुष्टुप्छन्द (एकविंशाभ्याम्) एकविंशस्तोम (वैराजाभ्याम्)वैराजसामसे स्तुति किये (मित्रावरुणाभ्याम्) मित्रावरुण देवताओंके निमित्त (पयस्या) दूधकी चरु है ४ (पाङ्क्ताय)पंक्तिच्छन्द(त्रिणवाय) त्रिनवस्तोम(शाक्वराय) शाक्वर सामसे स्तुत्य (बृहस्पतये) बृहस्पतिदेवताके निमित्त (चरुः) चरु है (औष्णिहाय) उष्णिक् छन्द (त्रयस्त्रिंशाय) त्रयस्त्रिंशस्तोम (रैवताय) रैवतसामसे स्तुति किये (सवित्रे) सविता देवताके निमित्त (द्वादशकपालः) द्वादशकपालमें

संस्कारक्रिया पुरोडाश है ६ [इसप्रकार छन्दस्तोमसहित छः देवताओंको कहकर चार देवताओंको केवल हवि कहते हैं] (प्राजापत्यः) प्रजापति देवताके निमित्त (चरुः) चरु (विष्णुपत्न्यै) विष्णुपत्नी (अदित्यै) अदितिके निमित्त(चरुः)चरु (वैश्वानराय) वैश्वानरगुणयुक्त (अग्नये) अग्निके निमित्त (द्वादशकपालः) द्वादशकपाल पुरोडाश (अनुमत्यै) अनुमति देवताके निमित्त (अष्टाकपालः) अष्टाकपाल पुरोडाश करना चाहिये ॥ ६० ॥

सं०	देवता	ऋक्	स्तोम	साम	हवि
१	अग्नि	गायत्री	त्रिवृत्	रथन्तर	अष्टाकपाल पुरोडाश
२	इन्द्र	त्रिष्टुप्	पंचदश	बृहत्	एकादशकपाल पुरोडाश
३	विश्वेदेवा	जगती	सप्तदश	वैरूप	द्वादशकपाल पुरोडाश
४	मित्रावरुण	अनुष्टुप्	एकविंश	वैराज	पयस्या चरु
५	बृहस्पति	पंक्ति	त्रिनव	शाक्वर	चरु
६	सविता	उष्णिक्	त्रयस्त्रिंश	रैवत	द्वादशकपाल पुरोडाश
७	प्रजापति	०	०	०	चरु
८	विष्णुपत्नी				चरु
	अदिति	०	०	०	
९	वैश्वानर				द्वादशकपाल पुरोडाश
	अग्नि	०	०	०	
१०	अनुमति	०	०	०	अष्टाकपाल पुरोडाश

विवरण-"समिद्धो अञ्जन्नाश्वमेधिकोऽध्यायः" इति कात्यायनोक्तेः [अनुक्रमण्याम्] इस कारण यह आश्वमेधिक अध्याय है ॥ ६० ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मकुलावतंसमर्यादापालककात्यायनगोत्रोद्भवमिश्रसुखानन्दसूनु-
पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये शिष्टाश्वमेध-
मन्त्रोक्तिर्नामैकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

शुभमस्तु ।

अथ त्रिंशोऽध्यायः ३०.

देवसवितः षट्तपसेकौलालꣳ षोडशद्वौद्वाविꣳशतिः ॥

पुरुषमेधप्रकरण ।

कण्डिका १–मंत्र १. अनु० १ ।

देवंसवितुः प्प्रसुंवयुज्ञम्प्रसुंवयुज्ञपंतिम्भगांय ॥ दिव्योगंन्धर्वः केंतपूः केतंन्नः पुनातुवाचस्प्पतिर्वा चंन्नःस्वदतु ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐदेव इति इसकी व्याख्या ११।७ में होगई आज्याहुतिदाने विनियोगः । भावार्थ लिखते है ॥ १ ॥

विधि–(१) दो अध्यायमें पुरुषमेध कहेंगे इन दो अध्यायोंको नारायणपुरुषने देखा है इसमें पुरुषरूप परमात्माका यजन होताहै चैत्रशुक्लदशमीसे इसका आरंभ होताहै ब्राह्मणक्षत्रिय दोनोंही इसके अधिकारी हैं इसका फल प्रतिष्ठा अर्थात् अत्यन्त प्राधान्यभावसे अमृतत्वलाभपूर्वक जीवन्मुक्तरूपसे अधिष्ठान होताहै इस यज्ञमें २३ दीक्षा, १२ उपसद, पांच स्तुत्य होतेहै ४० दिनमें सिद्ध होताहै इसमें यूप एकादशिनी होतीहै यह यज्ञ सम्पन्न होनेपर यज्ञकर्ता संसारत्यागपूर्वक वनगमन करता है ।

प्रथमादि चार कण्डिकाद्वारा एकसे तीन २ बार सकृद्गृहीत आज्याहुति आहवनीयाग्निमें प्रदान करे ।

भावार्थ–हे जगतके प्रेरक देव ! हमारे ऐश्वर्यवृद्धिकी कामनासे लालित हमारी दृष्टिपथमें उसके उपायस्वरूप यज्ञको प्रेरण करो, और यज्ञपति देव यज्ञ करनेकी क्षमता हमको प्रदान करैं, हे दिव्यस्वरूप गन्धर्व ! तुमही ज्ञान प्रेरण करनेमें समर्थ हो, हमारे ज्ञान पवित्र करो तुमही सब वाणीके अधिपति हो तुम्हारे स्तुतिवाक्य हम प्रयोग करसकैं हमारे इन सामान्य वचनसे आप प्रसन्न हो ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र १ ।

तत्त्संवितुर्व्वरेंण्यम्भर्गोंदेवस्यंधीमहि ॥ धियोयोनंः प्प्रचोदयांत् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐतत्सवितुरिति इसकी व्याख्या ३।३५में होगई ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव ॥
यद्भद्रन्तन्न ऽआसुव ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वानीत्यस्य नारायण ऋषिः । गायत्री छं० । सविता देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मंन्त्रार्थ-(सवितः) हे जगत्के प्रेरक ! (देव) परमात्मन् ! (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) पापोंको (परासुव) हमसे दूर करो (यत्) जो (भद्रम्) कल्याण है (तत्) उसको (नः) हमारे प्रति (आसुव) प्रेरण करो वा प्राप्त कराओ [ऋ० । ४ । ४ । २६] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

विभक्तारँ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः ॥
सवितारं नृचक्षसम् ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विभक्तारमित्यस्य नारायण ऋषिः । गायत्री छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ-(चित्रस्य) विचित्र (वसोः) ऐश्वर्यके धारण करनेवाले (राधसः)इसी-प्रकार विचित्र धनको (विभक्तारम्) विभाग करके प्रार्थीजनोंको देनेवाले (नृच-क्षसम्) मनुष्योंके शुभाशुभके द्रष्टा (सवितारम्) सबके उत्पादक देवको (हवा-महे) आह्वान करतेहैं [ऋ० १ । २ । ९] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मन्त्र १ ।

ब्रह्मणे ब्राह्मणङ्क्षत्राय राजन्यम्मरुद्भ्यो वैश्यन्तपसे शूद्रन्तमसे तस्करन्नारकाय वीरहणम्पाप्मने क्लीबमाक्रयायाऽअयोगूङ्कामाय पुँश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम् ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्मण इत्यस्य नारायण ऋषिः । विराडतिशक्वरी छन्दः । द्रव्य दैवतम् । यूपे पुरुषनियोजने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) पांचसे २२ कण्डिकापर्यन्त मन्त्रोंसे १८४ पुरुष अग्निष्ठादि ग्यारह स्तम्भोंके नीचे सत्कारपूर्वक स्थितकरै उनके मध्यमें अग्निष्ठ [अग्निके समीपवर्ती प्रथम यूप] में ४८ और दश यूपोंमें ग्यारह ग्यारह स्थित कर फिर दूसरेमें २६ और स्थितकरै इसप्रकार दूसरेमें ३७ होंगे । मन्त्रार्थ-[अग्निष्ठनामक प्रथम यूपमें] (ब्रह्मणे) परमात्माकी प्रीतिके निमित्त (ब्राह्मणम्) ब्राह्मणको (क्षत्राय) क्षत्रके निमित्त (क्षत्रियम्) क्षत्रियको (मरुद्भ्यः) मरुतकी प्रीतिके निमित्त (वैश्यम्) वैश्यको (तपसे) तप देवताके निमित्त (शूद्रम्) शूद्रको (तमसे) तमके निमित्त (तस्करम्) तस्करको (नारकाय) नारकके निमित्त (वीरहणम्) नष्टाग्नि वा शूरको (पाप्मने) पापके निमित्त (क्लीबम्) नपुंसकको (आक्रयायै) आक्र देवताके निमित्त (अयोगूम्) खानसे लोहा निकालनेवालेको (कामाय) कामके निमित्त (पुंश्चलूम्) व्यभिचारीको (अतिक्रुष्टाय) अतिक्रुष्टके निमित्त (मागधम्) क्षत्रियामें वैश्यसे उत्पन्न वा मगधदेशमें उत्पन्न हुआ प्रीतिपूर्वक सेवनीय है ॥ ५ ॥

विवरण-यह ग्यारह यूप अनेक प्रकारके उपकरणोंसे शोभित करने चाहियें धूप वर्षाका भी प्रबन्ध करना चाहिये जिसमें किसी प्रकारका किसीको कष्ट न हों इस प्रकार प्रायः सब जाति, और सब प्रकारके व्यवसाई पुरुषोंको नियुक्त करना चाहिये, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रादि जाति और सब प्रकारके दूसरे व्यवसाय करनेवाले पुरुष प्रायः सबका वर्णन इस अध्यायमें है पृथक् २ जाति तथा उनके सन्तानोंका वर्णन करनेसे इस स्थल यह भलीभांति प्रगट होता है कि जाति जन्मसे है कर्मसे नहीं, इसमें जाति और कर्म सभीका उल्लेख कियाहै जो देवतारूप हैं जिसप्रकारके पुरुषकी जैसी निष्ठा होतीहै वहभी दिखायाहै जैसे ब्राह्मणकी प्रीति ब्रह्ममें इत्यादि० ॥ ५ ॥ यह यज्ञ सर्व श्रेष्ठ है पुरुषमेधमें किसीकी हिंसा नहीं है, जिन्होंने हिंसा समझी हो वह भ्रांतहै मन लगाकर यह प्रसंग पाठ करें ।

कण्डिका ६-मन्त्र १ ।

नृत्ताय॑ सूतङ्गीताय॑ शैलूषन्धर्म्मा॑य सभाचरन्नरिष्ठा॑यै भीमलन्नर्म्मा॑य रेभꣳ हसा॑य कारि॑मानन्दाय॑ स्त्रीषखम्प्रमदे॑ कुमारीपुत्रम्मेधायै॑ रथकारन्धैर्य्या॑य तक्षा॑णम् ॥ ६ ॥ [६]

ऋष्यादि–(१) ॐ नृत्तायेत्यस्य नारायण ऋषिः । निच्यृदष्टिश्छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ६ ॥

मंत्रार्थ–(नृत्ताय) नृत्यके निमित्त प्रीतिसे सेवनीय (सूतम्) ब्राह्मणीमें क्षत्रियसे उत्पन्न सूतको (गीताय) गीतके निमित्त (शैलूषम्) नटको (धर्माय) धर्मके निमित्त (सभाचरम्) सभामें जानेवालेको (नरिष्ठायै) नरिष्ठादेवीके निमित्त (भीमलम्) भयंकरमूर्ति पुरुषको (नर्माय) नर्मदेवताके निमित्त (रेभम्) वाचाल शब्दकर्ता पुरुषको (हसाय) हसके निमित्त (कारिम्) जो स्वभावसेही कुछ ना कुछ कार्य करतारहता है उसको (आनन्दाय) आनन्दके निमित्त (स्त्रीषखम्) स्त्रीसख स्त्रैणको (प्रमदे) प्रमदके निमित्त (कुमारीपुत्रम्) कुमारीपुत्रको (मेधायै) मेधाके निमित्त (रथकारम्) रथ वनानेवालेको (धैर्याय) धैर्यके निमित्त (तक्षाणम्) सूत्रधारको नियुक्त करै ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १. अनु० २ ।

तपसे कौलालम्मायायै कर्मारꣳ रूपाय मणिकारꣳ शुभे वपꣳ शरव्याया ऽइषुकारꣳ हेत्यै धनुष्कारङ्कर्मणे ज्याकारन्दिष्टाय रज्जुसर्जम्मृत्यवे मृगयुमन्तकाय श्वनिनम् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तपस इत्यस्य नारायण ऋषिः । विराडतिशक्करी छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ–(तपसे) तपके निमित्त (कौलालम्) कुम्भकारको (मायायै) मायाके निमित्त (कर्मारम्) लोहकारको (रूपाय) रूपके निमित्त (मणिकारम्) मणिरत्नकार सुवर्णवणिकको (शुभे) शुभके निमित्त (वपम्) बीज बोनेवालेको (शरव्यायै) शरव्यदेवीके निमित्त (इषुकारम्) वाण वनानेवालेको (हेत्यै) हेतिके निमित्त (धनुष्कारम्) धनुष वनानेवालेको (कर्मणे) कर्मके निमित्त (ज्याकारम्) ज्यानिर्माण करनेवालेको (दिष्टाय) दिष्टके निमित्त (रज्जुसर्जम्) रज्जू वनानेवालेको (मृत्यवे) मृत्युके निमित्त (मृगयुम्) व्याधेको (अन्तकाय) अन्तकके निमित्त (श्वनिनम्) श्वाननेताको नियुक्त करै ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मंत्र १ ।

नदीभ्यः पौञ्जिष्ठमृक्षीकाभ्यो नैषादम्पुरुषव्याघ्राय दुर्म्मदङ्गन्धर्वाप्सरोभ्यो व्रात्यम्प्रयुग्भ्य ऽ

उन्मत्तꣳ सर्पदेवजनेभ्योऽप्रतिपदमयेभ्यः कितवमीर्यतायाऽअकितवम्पिशाचेभ्यो विदलकारीं यातुधानेभ्यः कण्टकीकारीम् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नदीभ्य इत्यस्य नारायण ऋ०। कृतिश्छं०। द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(नदीभ्यः) नदियोंकी प्रीतिके निमित्त (पौञ्जिष्ठम्) अन्त्यज पुल्कसकी सन्तानको (ऋक्षीकाभ्यः) ऋक्षीकोंके निमित्त (नैषादम्) निषाद-पुत्रको (पुरुषव्याघ्राय) पुरुषव्याघ्रके निमित्त (दुर्मदम्) उन्मत्तको (गन्धर्वाप्सरोभ्यः) गंधर्व अप्सराओंके प्रीतिके निमित्त (व्रात्यम्) सावित्रीपतितको (प्रयुग्भ्यः) प्रयुगोंके निमित्त (उन्मत्तम्) उन्मत्तको (सर्पदेवजनेभ्यः) सर्पदेवजनोंके निमित्त (अप्रति-पदम्) विकल अव्यवस्थितचित्त पुरुषको (अयेभ्यः) अयोंके निमित्त (कितवम्) द्यूतकारीको (ईर्यतायै) ईर्यताके निमित्त (अकितवम्) द्यूत न खेलनेवाले किन्तु द्यूतका अड्डाकरनेवालेको (पिशाचेभ्यः) पिशाचोंके निमित्त (विदलकारीम्) वशोंके पात्र बनानेवालेको (यातुधानेभ्यः) यातुधानकी प्रीतिके निमित्त (कण्ट-कीकारीम्) पत्तोंको एकत्रकर कांटेआदिसे दोने पत्तल बनानेवालेको नियुक्त करे ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र १।

सन्धये जारं गेहायोपपतिमार्त्यै परिवित्तं निर्ऋत्यै परिविविदानमराद्ध्याऽएदिधिषुः पतिं निष्कृत्यै पेशस्कारीꣳ सञ्ज्ञानाय स्मरकारीं प्रकामोद्यायोपसदं वर्णायानुरुधं बलायोपदाम् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सन्धय इत्यस्य नारायण ऋषिः। भुरिगत्यष्टिश्छं०। द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(सन्धये) सन्धिके निमित्त (जारम्) जारको (गेहाय) गेहके निमित्त (उपपतिम्) पति नहीं किन्तु पतिवत्को (आर्त्यै) आर्तिके निमित्त (परिवित्तम्) बडेभाईके रहते जिस छोटेका विवाह होगया हो उसके अविहित

वडे भ्राताको (निर्ऋत्यै) निर्ऋतिके निमित्त (परिविविदानम्) वडेके विवाह न होनेपर विवाहित कनिष्ठको (आराध्यै) आराध्यदेवीके निमित्त (एदिधिषुःपतिम्) ज्येष्ठाकन्या अविवाहित होनेपर छोटीके विवाहित पतिको (निष्कृत्यै) निष्कृतिके निमित्त (पेशस्करीम्) वेष रचनासे जीविका करनेवालीको (सञ्ज्ञानाय) संज्ञानके निमित्त (स्मरकारीम्) कामदीतिकरनेवालीको (प्रकामोद्याय) प्रकामोद्याके निमित्त (उपसदम्) तोषामोदके निमित्त समीपस्थितको अग्निष्ठ यूपके समीप नियुक्त करै ४८ [दूसरे यूपमें] (वर्णाय) वर्णके निमित्त (अनुरुधम्) जो घूंस लेकर अकार्य करनेमें अनुरुद्ध हो उसको (वलाय) वल देवताके निमित्त (उपदाम्) उपायन घूंसदाताको नियुक्त करै ॥ ९ ॥

विशेष—इस कण्डिकामें दूषित पुरुषोंका वर्णन है इनके प्रगट रूपसे वैसे स्थानोंमें वैठानेसे निजकर्मसे लज्जित होंगे और उसे छोडेंगे यह आशय है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०—मन्त्र १ ।

उत्त्सादेब्भ्यं÷कुब्जम्प्प्रमुदेवामनन्द्वाब्भ्यः स्स्रामᳫँस्वप्प्नायान्धमधर्म्मायवधिरम्पवित्त्रायभिषजम्प्प्रज्ञानायनक्षत्रदर्शमाशिक्षायैप्प्रश्निनमुपशिक्षायाऽअभिप्प्रश्निनम्मर्य्यादायैप्प्रश्नविवाकम् ॥ १० ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ उत्सादेभ्य इत्यस्य ना० ऋ० । भुरिगत्यष्टिश्छं० । द्रव्यं देवतम् । वि० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ—(उत्सादेभ्यः) उत्साद देवताके निमित्त (कुब्जम्) कुवडेको (प्रमुदे) प्रमुदके निमित्त (वामनम्) वौनेको (द्वार्भ्यः) द्वारदेवताके निमित्त (स्रामम्) सदा नेत्रोंमें जल भरेवालेको (स्वप्नाय) स्वप्नके निमित्त (अन्धम्) नेत्रहीनको (अधर्माय) अधर्मके निमित्त (बाधिरम्) वहरेको (पवित्राय) पवित्रके निमित्त (भिषजम्) वैद्यको (प्रज्ञानाय) प्रज्ञानके निमित्त (नक्षत्रदर्शनम्) गणकको (अशिक्षायै) अशिक्षाके निमित्त (प्रश्निनम्) शकुनादि पूछनेवालेको (उपशिक्षायै) उपशिक्षाके निमित्त (अभिप्रश्निम्) अभिप्रश्नवालेको अर्थात् प्रश्न पूछनेवालेके निमित्त उत्तर देनेवालेको [३ यूपमें] (मर्यादायै) मर्यादाके निमित्त (प्रश्नविवाकम्) गणनासे प्रश्नके उत्तरदाताको नियुक्त करै ॥ १० ॥

विशेष—इसमें विद्याके गुणोंका और आजीविका करनेवालोंका वर्णन है॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १।

अर्मेभ्यो हस्तिपञ्जवायाश्वपम्पुष्ट्यै गोपालं वीर्य्यायाविपालन्तेजसेऽजपालमिरायै कीनाशङ्कीलालाय सुराकारम्भद्राय गृहपꣳ श्रेयसे वित्तधमाद्ध्यक्ष्यायानुक्षत्तारम् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अर्मेभ्य इत्यस्य नारा० ऋ०। विराडुष्णिक्छन्दः द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(अर्मेभ्यः) अर्मके निमित्त (हस्तिपम्) गजपालको (जवाय) जवके निमित्त (अश्वपम्) अश्वपालको (पुष्ट्यै) पुष्टिके निमित्त (गोपालम्) गोपालको (वीर्याय) वीर्यके निमित्त (अविपालम्) मेषीपालको (तेजसे) तेजके निमित्त (अजपालम्) अजा पालनेवालेको (इरायै) इराके निमित्त (कीनाशम्) कर्षुकको (कीलालाय) कीलालके निमित्त (सुराकारम्) सुराकारको (भद्राय) भद्रके निमित्त (गृहपम्) गृहपालक द्वारपालको (श्रेयसे) श्रेयके निमित्त (वित्तधम्) धन धारण करनेवालेको(आध्यक्ष्याय)आध्यक्षके निमित्त (अनुक्षत्तारम्) शुंडी सारथ्यके अनुसरण करनेवालेको नियुक्त करै॥११॥

कण्डिका १२-मंत्र १।

भायै दार्वाहारम्प्रभाया अग्न्येधम्ब्रध्नस्य विष्टपायाभिषेक्तारं वर्षिष्ठाय नाकाय परिवेष्टारन्देवलोकाय पेशितारम्मनुष्यलोकाय प्रकरितारꣳ सर्वेभ्यो लोकेभ्य उपसेक्तारमवऽऋत्यै वधायोपमन्थितारम्मेधाय वासः पल्पूलीम्प्रकामाय रजयित्रीम् १२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भायै इत्यस्य नारायण ऋषिः। विराट् संकृतिश्छन्दः। द्रव्यं दैवतम्। वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-चतुर्थयूपमें-(भायै) भाके निमित्त (दार्वाहारम्) काष्ठ आहरण करनेवालेको (प्रभायै) प्रभाके निमित्त (अग्न्येधम्) अग्निवर्धकको (ब्रध्नस्य

अग्नि अग्निवर्द्धकको (विरूपाय) सूर्यलोकके निमित्त (अभिषेक्तारम्) अभिषेक करनेवालेको (वर्षिष्ठाय) उत्कृष्ट (नाकाय) स्वर्गलोकके निमित्त (परिवेषणकर्तारम्) परिवेषणकर्ताको (देवलोकाय) देवलोकके निमित्त (पेशितारम्) प्रतिमादिअवयव करनेवालेको (मनुष्यलोकाय) मनुष्यलोकके निमित्त (प्रकरितारम्) मूर्तिआदिनिर्माण करनेवालेको (सर्वेभ्यः) सम्पूर्ण (लोकेभ्यः) लोकोंके निमित्त (उपसेक्तारम्) उपसेचन स्नानादि करानेवालेको (अवऋत्यै) अवऋति (वधाय) वधदेवताके निमित्त (उपमन्थितारम्) गात्रमर्दन करनेवालेको (मेधायै) मेधाके निमित्त (वासः) वस्त्र (पल्पूलीम्) प्रक्षालन करनेवाली रजकाको (प्रकामाय) प्रकामके निमित्त (रजयित्रीम्) वस्त्ररंगनेवालीको नियुक्त करै इसमें शूद्रोंकेभी भिन्न२कार्योंका वर्णन है इन जातियोंका कथित देवता और नौकोंसे सम्बन्धहै॥ १२॥

कण्डिका १३–मंत्र १ ।

ऋतये॑स्ते॒नहृ॑दयं॒वैर॑हत्याय॒पिशु॑नं॒विवि॑क्त्यैक्ष॒त्तार॒मौप॑द्रष्ट्याया॒नुक्ष॒त्तार॒म्बला॑याऽनु॒चर॒म्भू॒म्ने॑परि॒ष्क॒न्दम्प्रि॒याय॑प्रियवा॒दिन॒मरि॑ष्ट्याऽअश्व॒सा॒द॑ᳬस्व॒र्गाय॑लो॒काय॑भाग॒दु॒घंवर्षि॑ष्ठाय॒नाका॑यपरिवे॒ष्टार॑म् ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ऋतय इत्यस्य नारायण ऋ० । कृतिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(ऋतये) ऋतिके निमित्त (स्तेनहृदयम्) स्तेनकी समान हृदयवाले ४-'नापित' को [पांचवें यूपमें] (वैरहत्याय) वैरहत्याके निमित्त (पिशुनम्) पिशुन अर्थात् परनिन्दकको (विविक्त्यै) विविक्तिके निमित्त (क्षत्तारम्) सारथिको (औपद्रष्ट्याय) औपद्रष्टिके निमित्त (अनुक्षत्तारम्) सारथिके सहचारीको (बलाय) बलके निमित्त (अनुचरम्) सेवकको (भूम्ने) भूमाके निमित्त (परिस्कन्दम्) कूडा बुहारनेवालेको (प्रियाय) प्रियके निमित्त (प्रियवादिनम्) प्रियवादीको (अरिष्ट्यै) अरिष्टिके निमित्त (अश्वसादम्)अश्वारोहीको (स्वर्गाय) स्वर्ग (लोकाय) लोकके निमित्त (भागदुघम्) गोदोग्धाको वा भागप्रदाताको (वर्षिष्ठाय) श्रेष्ठ उत्कृष्ट (नाकाय) स्वर्गके निमित्त (परिवेष्टारम्) परिवेष्टा वा गोभृत्यको नियुक्त करै ॥ १३ ॥

कण्डिका १४—मंत्र १ ।

मुन्यवेयस्तुपङ्क्रोधायनिसुरठ्योगाययोक्तारठ्शो
कायाभिसर्तारक्षेमायविमोक्तारमुत्कूलनिकूले
ठभ्यस्त्रिष्ठिनंवपुषेमानस्कृतठ्शीलायाञ्जनीका
रीन्निर्ऋत्यैकोशकारींठ्यमायासूम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मन्यव इत्यस्य नारायण ऋ० । भुरिगत्यष्टिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(मन्यवे) मन्युके निमित्त (अयस्तापम्) लोह तपानेवालेको (क्रोधाय) क्रोधके निमित्त (निसरम्) तप्तलोह पीटनेवालेको; [छठेमें] (योगाय) योगके निमित्त (योक्तारम्) योगीको (शोकाय) शोकके निमित्त (अभिसर्तारम्) सन्मुख आते वा अनुगामीको (क्षेमाय) क्षेमके निमित्त (विमोक्तारम्) विपदुद्धारकारीको (उत्कूलनिकूलेभ्यः) उत्कूल निकूलके निमित्त (त्रिष्ठिनम्) विद्वानको (वपुषे) वपुके निमित्त (मानस्कृतम्) पूजा वा मानसे युक्तको (शीलाय) शीलके निमित्त (आञ्जनीकारीम्) नेत्रोंमें अञ्जन लगानेके व्यवसायवालीको (निर्ऋत्यै) निर्ऋतिके निमित्त (कोशकारीम्) करवालादिकोश निर्माण करनेवाली स्त्रीको (यमाय) यमके निमित्त (असूम्) मृतवत्साको नियुक्त करै वा वन्ध्याको नियुक्त करै ॥ १४ ॥

कण्डिका १५—मंत्र १ ।

यमायंयमसूमथर्वभ्योवतोकाठंसंवत्सरायप
र्य्यायिणीम्परिवत्सरायाविंजातामिदावत्सरा
यातीत्वरीमिद्वत्सरायातिष्कद्वरींवत्सरायविजं
र्जराठंसंवत्सरायपलिक्नीमृभुभ्योजिनसन्ध
ठंसाध्येभ्यश्चर्म्मम्नम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यमायेत्यस्य नारायण ऋषिः । स्वराडतिधृतिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(यमाय) यमके निमित्त (यमसूम्) यमलप्रसवकरनेवालीको (अथर्वभ्यः) अथर्वके निमित्त (अवतोकाम्) अपुत्रा स्त्रीको (संवत्सराय) संवत्सरके निमित्त (पर्यायिणीम्) एक पुत्र एक कन्या वा दो पुत्र दो कन्या ऐसे क्रमसे पुत्र उत्पन्न करनेवालीको [सातवें यूपमें] (परिवत्सराय) परिवत्सरके निमित्त (अविजाताम्) अप्रसूता वन्ध्याको (इदावत्सराय) इदावत्सरके निमित्त (अतीत्वरीम्) अत्यन्त कुलटाको (इद्वत्सराय) इद्वत्सरके निमित्त (अतिष्कद्वरीम्) पूर्ण युवतीको (वत्सराय) वत्सरके निमित्त (विजर्जराम्) शिथिल शरीरवालीको (संवत्सराय) संवत्सरके निमित्त (पलिक्नीम्) श्वेतकेशवालीको (ऋभुभ्यः) ऋभुओंके निमित्त (अजिनसन्धम्) जिसके शरीरमें अस्थिचर्ममात्र अवशिष्ट हों ऐसेको (साध्येभ्यः) साध्योंके निमित्त(चर्मम्नम्) चर्मकारको नियुक्त करे१५। इसमें भी बहुतसे गुण कर्मोंका और अवस्थाओंका वर्णन है ॥ १५ ॥

काण्डिका १६–मंत्र १।

सरोभ्यो धैवरमुपस्थावराभ्यो दाशं वैशन्ताभ्यो वैन्दं नड्वलाभ्यः शौष्कलम्पाराय मार्गारमवाराय कैवर्त्तन्तीर्थेभ्य आन्दं विषमेभ्यो मैनालँ स्वनेभ्यः पर्णकं गुहाभ्यः किरातँ सानुभ्यो जम्भकम्पर्वतेभ्यः किम्पूरुषम् ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सरोभ्य इत्यस्य नारायण ऋ०। भुरिगतिधृतिश्छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(सरोभ्यः) सरोवरोंके निमित्त (धैवरम्) धीमरको (उपस्थावराभ्यः) उपस्थावरोंके निमित्त (दाशम्) नौकारोही धीमरोंको (वैशन्ताभ्यः) वैशन्तजलोंके निमित्त (वैन्दम्) निषादपुत्रको (नड्वलाभ्यः) नड्वलोंके निमित्त (शौष्कलम्) मत्स्यजीवीको [आठवें यूपमें] (पाराय) पारके निमित्त (मार्गारम्) मृगघातकी सन्तानको (अवाराय) अवारके निमित्त (कैवर्तम्) कैवर्तको (तीर्थेभ्यः) तीर्थोंके निमित्त (आन्दम्) बन्धनक्रियाके उपजीवीको (विषमेभ्यः) विषमके निमित्त (मैनालम्) मीनग्राहीकी सन्तानको (स्वनेभ्यः) स्वनोंके निमित्त (पर्णकम्) भीलको (गुहाभ्यः) गुहाओंके निमित्त (किरातम्) किरातको

(सानुभ्यः) पर्वतसानुओंके निमित्त (जम्भकम्) हिंसक वनचारीको (पर्वतेभ्यः) पर्वतोंके निमित्त (किम्पुरुषम्) किम्पुरुष कुत्सित पुरुषको नियुक्त करै ॥ १६ ॥

विशेष–जो पुरुष जिस कृत्यवाले हैं उनको वही कर्तव्य है वही उनका कार्य है यह इसका भाव है ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १ ।

बीभत्सायै पौल्कसं वर्णाय हिरण्यकारं तुलायै वाणिजम्पश्चादोषाय ग्लाविनं विश्वेभ्यो भूतेभ्यः सिध्मलं भूत्यै जागरणमभूत्यै स्वपनमार्त्यै जनवादिनं व्यृद्ध्या अपगल्भं संशराय प्रच्छिदम् ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ बीभत्साया इत्यस्य नारायण ऋ० । विराड्धृतिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(बीभत्सायै) बीभत्साके निमित्त (पौल्कसम्) पुल्कसकी संतानको (वर्णाय) वर्णके निमित्त (हिरण्यकारम्) स्वर्णनिष्पादकको (तुलायै) तुलाके निमित्त (वाणिजम्) वाणिज्यके व्यवसायीके अपत्यको [नवम यूपमें] (पश्चादोषाय) पश्चादोषके निमित्त (ग्लाविनम्) अप्रसन्न मेहरोगीको (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (भूतेभ्यः) प्राणियोंके निमित्त (सिध्मलम्) किलास "कुष्ठभेद" रोगीको (भूत्यै) भूतिके निमित्त (जागरणम्) जिसे अच्छी प्रकार निद्रा न आवे जागता रहै उसको (अभूत्यै) अभूतिके निमित्त (स्वप्नम्) जो मूढतासे सदाही शय्यापर सोतारहै उसको (आर्त्यै) आर्तिके निमित्त (जनवादिनम्) स्पष्टवादीको (व्यृद्ध्यै) व्यृद्धिके निमित्त (अपगल्भम्) प्रगल्भताशून्यको (संशराय) संशरके निमित्त (प्रच्छिदम्) प्रच्छेदनके व्यवसायीको नियुक्त करै ॥ १७ ॥

विशेष–आलसी सदा दुःख पाते है उनको ऐश्वर्य नहीं मिलता इसकारण वे अभूति अनैश्वर्यके निमित्त हैं ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १ ।

अक्षराजाय कितवं कृताया दिनवदर्शं त्रेतायै कल्पि

न्न्द्वापरायाधिकल्पिनमास्कन्दायसभास्त्थाणुम्मृत्त्यवेगोव्यच्छमन्तकायगोघातङ्क्षुधेयोगांविकृन्तन्तम्भिक्षमाणऽउपतिष्ठतिदुष्कृतायचरकाचार्य्यम्पाप्मनेसैलगम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अक्षराजायेत्यस्य नारायणऋषिः । निच्यृत्प्रकृतिश्छं० । द्रव्यं दे० । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(अक्षराजाय) अक्षराजके निमित्त (कितवम्) धूर्तको (कृताय) कृतके निमित्त (आदिनवदर्शम्) आत्मदोष वा आदिमेंही नये दोष देखनेवालेको (त्रेतायै) त्रेतायुगके निमित्त (कल्पिनम्) प्रवन्धकल्पनाकारीको (द्वापराय) द्वापरके निमित्त (अधिकल्पिनम्) अतिरिक्त वा अधिक कल्पनाकारीको [दशमे यूपमें] (आस्कन्दाय) आस्कन्दके निमित्त (सभास्थाणुम्) सभामें स्थिर रहनेवाले सभ्यको (मृत्यवे) मृत्युके निमित्त (गोव्यच्छम्) गौके पीछे ताडन करनेको जानेवालेको (अन्तकाय) अन्तकके निमित्त (गोघातम्) गौ मारनेवालेको (यः) जो (गाम्) गौके (विकृतन्तम्) मारनेके कारण (भिक्षमाणः) प्रायश्चित्तके निमित्त भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके (उपतिष्ठति) समीपस्थित होता है वा गौघातीसे भिक्षा मांगताहै उसको (क्षुधे) क्षुधाके निमित्त नियुक्त करै (दुष्कृताय) दुष्कृतके निमित्त (चरकाचार्यम्) चरकोंके आचार्य अर्थात् वैद्यकशास्त्रके अध्यापकको (पाप्मने) पापके निमित्त (सैलगम्) ठगकी सन्तानको नियुक्त करै ॥ १८ ॥

विशेष-इन मन्त्रोंमें प्रत्येक मनुष्योंके गुण और उनके कार्य जाति भेद आदि कहे है इस मन्त्रसे युगादिका वृत्तान्त लक्षित होता है, यहां अक्षराज नाम कलियुगका है और कलिमें द्यूत धूर्तता प्रधान है इसकारण ऐसे गुणवाले पुरुष कलिके निमित्तही है कृत-सत युगमें यदि थोडा भी दोष होता है तौ उसको तुरंतही देखकर दूर करते है इस कारण ऐसे पुरुष सतयुगके निमित्त हैं, त्रेतामें कुछ प्रवन्ध वनते हैं, और द्वापरमें कल्पनाओंका विस्तार होता है यह युगधर्म कहकर गोमहिमा कहते हैं जो गौके ताडनको भी गमन करता है वह मृत्युके निमित्तही जान्ना और गोघाती तो कालके निमित्त अर्थात् मारने योग्य है, यदि भूलसे गोहत्या लग जाय तौ उस प्रायश्चित्त करनेवालेको विशेष करकै पेट भरकै अन्न न

देना जिसमें वह भूखा रहै इतनाही देना तो प्रायश्चित्तका फल उसे मिलैगा दुःख करनेवाले रोग हैं उनके निमित्त वैद्यकशास्त्रके ज्ञाता हैं दुष्टकी सन्तान पापकारिणी होती हैं वह पापकर्म करती है उसका विश्वास नहीं इस प्रकार सब मन्त्रोंमें पुरुषोंके गुण कर्म स्वभावका वर्णन किया है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र १।

प्रतिश्श्रुत्कायाऽअर्तनङ्घोषायभषमन्तायबहुवादिनमनन्तायमूकꣳशब्दायाडम्बराघातम्महसेवीणावादङ्क्रोशायतूणवध्ममवरस्पराय शङ्खध्मंवनायवनपमन्यतोरण्यायदावपम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रतिश्रुत्काया इत्यस्य नारायण ऋषिः। भुरिगति धृतिश्छन्दः। द्रव्यं दैवतम्। वि० पु० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(प्रतिश्रुत्कायै) प्रतिश्रुत्काके निमित्त (अर्तनम्) अपना दुःख कथन करके जीनेवालेको (घोषाय) घोषके निमित्त (भषम्) वृथा बकवादीको (अन्नाय) अन्नके निमित्त (बहुवादिनम्)बहुत बकवादीको (अनन्ताय) अनन्तके निमित्त (मूकम्) गूंगेको (शब्दाय) शब्दके निमित्त (आडम्बराघातम्) कोलाहल करनेवालेको [११ यूपमें] (महसे)महसके निमित्त (वीणावादम्) वीणा बजानेवालोंको (क्रोशाय) क्रोशके निमित्त (तूणवध्मम्) तूण 'वंशी' बजाकर जीविका करनेवालेको (अवरस्पराय) अवरस्परके निमित्त (शङ्खध्मम्) शंख बजानेवालेको (वनाय) वनके निमित्त (वनपम्) वनपालकको अर्थात् वन रक्षकके निमित्त पटहवादनसे उपजीविका करनेवालेको (अन्यतोरण्याय) अपर अरण्यके निमित्त (दावपम्) दावाग्नि वा गृहाग्नि बुझानेके निमित्त उसके संवादके दूर प्रचार करनेके निमित्त जो ढक्का बजावै उसको नियुक्त करै ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १।

नर्मायपुँश्चलूꣳहसायकारिं यादसेशाबल्याङ्ग्रामण्यङ्गणकमभिक्रोशकन्तान्महसेवीणावादम्पाणिघ्नन्तूणवध्मन्तान्नृत्तायानन्दायतलवम् २०

ऋष्यादि-(१) ॐ नर्मायेत्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिगतिजगती छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ-(नर्माय) नर्म हास्यके निमित्त (पुंश्चलूम्) दुष्ट स्त्रीको वा सारंगी वजानेवालेको नियुक्त करै (हसाय) हसके निमित्त (कारिम्) जो उसको बाहवा दे (यादसे) यादसके निमित्त (शाबल्याम्) जो श्यावासी दे कर्बुरवर्ण स्त्रीके पुत्रको (ग्रामण्यम्) ग्रामपथके दिखानेवाले (गणकम्) दैवज्ञ दिन नक्षत्र वारातिथिज्ञाता, (अभिक्रोशकम्) जो दूसरेकी उन्नति देखकर उसकी निन्दा करै (तान्) इनको (महसे) महसके निमित्त नियुक्त करै इसप्रकार प्रतियूपके निकट ग्यारह ग्यारह नियुक्त करके अवशिष्ट २३ को दूसरे यूपमें नियुक्त करै । (वीणावादम्) वीणा वजानेवालेको (पाणिघ्नम्) मृदङ्ग वजानेवालेको (तूणवध्मम्) वृहत् वंशी वजानेवालेको (तान्) इन तीनोंको (नृत्ताय) नृत्यके निमित्त नियुक्त करै (आनन्दाय) आनन्दके निमित्त (तलवम्) ताली वजानेवालेको नियुक्त करै ॥ २० ॥

विशेष-इस मंत्रसे विदित है कि संगीतविद्या वैदिक है और यही संगीतविद्याका उपदेश है 'आनन्दाय' कहनेसे संगीतविद्याका आनन्दकारी होना स्पष्ट है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र १ ।

अ॒ग्नये॒ पीवा॑नम्पृथि॒व्यै पी॑ठस॒र्पिणं॑ वा॒यवे॑ चाण्डा॒लम॒न्तरि॑क्षाय वꣳशन॒र्तिनं॑ दि॒वे ख॑ल॒तिꣳ सूर्या॑य हर्य॒क्षन्नक्ष॑त्रेभ्यः कि॒र्मिरं॑ च॒न्द्रम॑से कि॒लास॒मह्ने॑ शु॒क्लम्पि॑ङ्गा॒क्षꣳ रात्र्यै॑ कृ॒ष्णम्पि॑ङ्गा॒क्षम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्नय इत्यस्य नारायण ऋ० । भुरिगत्यष्टिश्छं० । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्नये) अग्निके निमित्त (पीवम्) अतिस्थूलको (पृथिव्यै) पृथ्वीके निमित्त (पीठसर्पिणम्) पङ्गुको (वायवे) वायुके निमित्त (चाण्डालम्) चाण्डालको चाण्डालकर्मकारी वा असूयाकारीको (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्षके निमित्त (वंशनर्तिनम्) बांसपर नाचनेवाले नटको (दिवे) दिवके निमित्त (खल-

तिम्) जिसके शिरपर लोम न हों ऐसे खल्वाटको (सूर्याय) सूर्यके निमित्त (हयक्षम्) गोल चक्षुवालेको (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रोंके निमित्त (किर्मिरम्) कबरेवर्णवालेको दद्रुरोगवालेको (चन्द्रमसे) चन्द्रमाके निमित्त (किलासम्) सिध्मरोगीको (अह्ने) अह्नके निमित्त (शुक्लम्) शुक्ल और (पिङ्गाक्षम्) पिङ्गल नेत्रवालेको (रात्र्यै) रात्रिके निमित्त (कृष्णम्) कृष्णवर्ण पिङ्गल नेत्रवालेको नियुक्त करै ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मंत्र १ ।

अथैतानष्टौ विरूपानालभतेऽतिदीर्घञ्चातिह्रस्वञ्चातिस्थूलञ्चातिकृशञ्चातिशुक्लञ्चातिकृष्णञ्चातिकुल्वञ्चातिलोमशञ्च ॥ अशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ मागधः पुंश्चली कितवः क्लीबोऽशूद्राऽअब्राह्मणास्ते प्राजापत्याः ॥ २२ ॥ [१६]

इति शुक्लयजुस्संहितापाठे त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अथैतानित्यस्य नारायण ऋ० । निच्यृत्कृतिश्छन्दः । द्रव्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ–(अथ) इसके उपरान्त (एतान्) इन (अष्टौ) आठ (विरूपान्) परस्पर विरूपोंको (आलभते) नियुक्तकरै (अतिदीर्घम्) अतिदीर्घ (च) और (अतिह्रस्वम्) अतिछोटा (च) और (अतिस्थूलम्) अतिमोटा (च) और (अतिकृशम्) अतिपतला (च) और (अतिशुक्लम्) अतिश्वेतवर्ण (च) और (अतिकृष्णम्) अतिकृष्णवर्ण (च) और (अतिकुल्वम्) अत्यन्त लोमशून्य (च) और (अतिलोमशम्) अधिक सर्वाङ्गमें लोमवालेको (च) भी नियुक्तकरै परन्तु (ते) यह (अशूद्राः) शूद्र न हों (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण न हों अर्थात् ब्राह्मण और शूद्रके अतिरिक्त (प्राजापत्याः) प्रजापतिदेवतावाले हैं अर्थात् सेवासे प्रजापतिकी प्रीतिकरनेवाले है "अष्टा उत्तमानालभते" यहांसे "ते वै प्राजापत्या भवन्ति" इति [१३ । ६ । २, ७–८] श्रुतेः

"इनमें जातिनियमकरनेसें पहलोंमें जातिनियम नहीं है" यह वाईस हुए और (मागधाः) मागध (पुंश्चली) व्यभिचारिणी (कितवः) धूर्त (क्लीवः) नपुंसक (ते) यह (अशूद्राः) शूद्र न हों (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण न हों अर्थात् शूद्र और ब्राह्मणोंके अतिरिक्त (ते) वे दूसरे यूपमें (प्राजापत्याः) प्रजापति देवताकी प्रीतिके निमित्त नियुक्त करने चाहियें ॥ २२ ॥

विशेष-इन सबके सत्कारपूर्वक नियुक्त करनेके उपरान्त उन पुरुषोंको "सहस्रशीर्षा पुरुषः" ३१,-१-१६ इन सोलह मंत्रोंके अनुवाकसे दक्षिण और बैठकरके होताकी समान स्तुतिकरै और मंत्रोंके अन्तमें ओम् लगाना चाहिये यथा "सहस्रशीर्षा पुरुषः-दशाङ्गलोम् । पुरुष एवेदꣳ३-रोहत्यो३ म्" इसप्रकार पाठकर क्रमसे प्रत्येकदेवताके उद्देशसे प्रोक्षणादि करै ब्राह्मणसे लेकर पर्यग्निकरणके उपरान्त "इदं ब्रह्मणे, इदं क्षत्राय" इसप्रकार प्रत्येक पुरुषको निज देवताके उद्देश्यसे त्याग देना अर्थात् विदाकरदे फिर वनस्पतियाग करके पहले अध्वर्यु स्विष्टकृत् आज्यग्रहण करके "ओम् पुरुषदेवताभ्यो ब्रह्मादिभ्यः।आहवनीये जुहोति। ओम् ब्रह्मणे स्वाहा क्षत्राय स्वाहा मरुद्भ्यः० तपसे० तमसे० स्वाहा" इत्यादि अध्यायके अन्तपर्यन्त सम्पूर्ण देवताओंके निमित्त १८४ घृतकी आहुति देकर स्विष्टकृतादि कर्म करनेके उपरान्त यजमान "अयं ते योनिः"इति मन्त्रसे आतमामें अग्निको आरोपण करके "अद्भ्यः संभृतः" इति [३१-१७] इस छः मंत्रके अनुवाकको पढकर सूर्यका उपस्थानकर पीछेको न देखताहुआ, वनमें जाकर संन्यस्त होजाय, "गार्हपत्येऽधरारणिमनुप्रहृत्याहवनीय उत्तरारणिमात्मन्नग्नी समारोप्यारण्यं व्रजेत्" इति शाङ्खायनोक्तेः।और यदि इसके उपरान्त ग्रामवासकी इच्छा हो तो उदवसानीयके अन्तमें सायम् आहुतिको हवनकर अरण्यमें अग्निसमारोपणके उत्तर नारायणअनुवाकसे सूर्यका उपस्थान कर देवयजनको दीसकर घरमें चला आवै घरमें आकर अग्निको निर्मथनकर स्थापन करै यथेच्छ यज्ञभी करै यह भी पक्ष है परन्तु विशेषकर पुरुषमेधके उपरान्त संन्यासही है।इन मंत्रोंमें बहुतसे कार्य और गुणदोष चारौ वर्णके हैं जहां विशेष न कहाहो वहां चारों वर्णकाही उक्तलक्षणका पुरुष लेना सो बुद्धिमान् विचारलेंगे शतपथ श्रुतियोंका आशयः-नारायणने उपदेश किया कि सब प्राणीरूपसे मेरा यजन हो इसकारण पुरुषमेधरूपसे यज्ञ प्रगट किया, जो पुरुषरूपसे यजन करता है सब लोक सब दिशाओंमें परमात्माको जानता है यूपमें एकादश पुरुष बैठते हैं यही एकादश त्रिष्टुप् वज्ररूप हैं इससे यजमानके सब पाप दूर होते हैं सब ऋत सबलोक पुरुषरूप हैं सबही पुरुषमेध हैं । यह लोक (पूः) जो इसमें शयन करता है वही पुरुष है जो कुछ अन्न है वह उसीका अन्न है "इमे वै लोकाः पूरयमेव

पुरुषो योयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात्पुरुषः"[श० १३।६।२।१] इसमें सब पुरुषोंका सत्कार है अडतालीस पुरुष मध्यम यूपमें स्थित होते हैं ४८ अक्षरकाही जगतीछन्द है पशुओंका जगतीछन्द है मानो सबकोही अपने वशीभूत करता है आठ उत्तमोंकी ग्रहण करना होता है आठ अक्षरकी ब्रह्मगायत्री है वही ब्रह्म है इससे मानो सर्वोत्तम कियाजाता है"अष्टाक्षरा गायत्री ब्रह्मगायत्री तद्ब्रह्मैवैतस्य सर्वस्योत्तमं करोति" [श० १३ । ६ । २ । ७] ब्राह्मणको ब्रह्मसमृद्धिके निमित्त क्षत्रियको क्षत्रियसमृद्धिके निमित्त ग्रहण करना, ब्रह्मसे लेकर अन्त्यजतकका सत्कार करना "तेजो वा आज्यम्" [श० १३ ।६। २।११] घृतकी आहुति तेजस्वरूप है इससे देवता सम्मृद्धित होतेहै घृतसे देवता प्रसन्न होते है ब्राह्मणको इसमें सर्वस्व दे देना चाहिये सबही पुरुषमेध है इस कारण यह यजन सबही कायनासाधक है [श० १३ । ६ । प्र० से । १३ । ६ । २ । २०] तकका आशय है ॥ २२ ॥ अथात्मन्नग्नी समारोह्य [श० १३ । ६ । २ । २०]

इति श्रीमद्ब्रह्मकुलावतंसमर्यादापालककात्यायनगोत्रोद्भवमिश्रसुखानंदसूनु-
पण्डितज्वालाप्रसादकृतौ शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये पुरुषमेधोनाम
त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

शुभमस्तु

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः ३१.

सहस्रशीर्षाषोडशाद्यःसम्भूतःषड्द्वौद्वाविंशतिः ॥

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥**

ऋष्यादि-(१) ॐ सहस्रशीर्षेत्यस्य नारायण ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । पुरुषो देवता । स्तुतिकरणे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१) यह सोलह मंत्र पाठ करकै पूर्व अध्यायके अन्तमें कही विधिके अनुसार परमात्माकी स्तुति करै, अर्थात् ब्रह्मा होतृवत् स्तुति करै [का० २१ । १ । ११] वनगमन वा घर रहनेकी इच्छा हो तौ पूर्व लिखे अनुसार करै [का० २१ । १ । १७-१८] मंत्रार्थ-अव्यक्त महदादिसे विलक्षण चेतन (पुरुषः) परमात्मा"पुरुषान्न पर किंचित्"इति श्रुतेः । श्रुतियोंमें प्रसिद्ध सब प्राणि-

योंका समष्टिरूप ब्रह्माण्डरूप देहयुक्त विराट्रूप है वही (सहस्रशीर्षाः) अनन्त शिरोंसे युक्त है जितने सब प्राणियोंके शिर हैं वे सब उसके शिरके अन्तरवर्ती होनेसे वह अनन्तशिरःसम्पन्न है (सहस्राक्षः) सहस्रों नेत्रयुक्त अर्थात् सब ज्ञानेन्द्रियसम्पन्न (सहस्रपात्) सहस्रों चरणों युक्त अर्थात् कर्मेन्द्रियसम्पन्न होनेसे यह सहस्रपात् है (सः) वह पुरुष (भूमिम्) ब्रह्माण्डगोलकरूप भूमिको वा पंचभूतोंको (सर्वतः) तिर्यक् ऊर्ध्व नीचे सब ओरसे (स्पृत्वा) व्याप्त करके (दशांगुलम्) दश अंगुल परिमित देशको (अति) अतिक्रमण करके (अतिष्ठत्) स्थित हुआ है दशांगुल ब्रह्माण्डका उपलक्षण है अर्थात् ब्रह्माण्डसे बाहर भी सब ओर व्याप्त होकर स्थित है, अथवा नाभिके स्थानसे दश अंगुल अतिक्रमण करके हृदयमें स्थित है "सोयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः" इति श्रुतेः। विज्ञानात्मा हृदयमें कर्मफल भुगानेके निमित्त अवस्थान करता है "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परीषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्यो अभिचाकशीति" [ऋ०] इन लोकोंमें पूर्ण करने और शयन करनेसे वह पुरुष है "इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योयं पवते सोऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः" इति श्रुतेः [१३ । ६ । २ । १] ॥ १ ॥

विवरण-'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' यहांसे प्रारंभकर ३० वें अध्यायमें पुरुषमेधरूप परमात्माके अवयव कहे, अब उसकी अवयवीरूपसे स्तुति करते हैं यह ब्राह्मणादि समस्तही इस पुरुषसे शून्य नहीं हैं, इस कारण सबही उससे व्याप्त हैं, और वह सबको धारण किये हैं, और इसी कारण इस पुरुष देवताके प्रसादसे अतिशय रूप कामना सिद्ध होती है, पुरुष देवता १८४ पुरुष जातीयमें यजमानको भूलोकमें प्रतिष्ठित करें और सब प्राणियोंके मध्यमें पुरुषजातिकी श्रेष्ठता इस मंत्रमें सम्पादनकी है ॥ १ ॥

भाष्यविस्तार ।

चैतन्य दो प्रकारका है व्यष्टि और समष्टि व्यष्टिचैतन्य समष्टि चैतन्यका अंशमात्र है। सृष्टिके जीवगण हम सब व्यष्टि चैतन्य हैं हमारे विधातृपुरुष विराट्को समष्टिचैतन्य कहा जाता है हमारा अतीत अनागत भेद असंख्य है हमारे मस्तकादि अवयव भी असंख्य हैं हमको समष्टि करकैही यह विराट् होता है इस कारण असंख्य शिर नेत्र चरणादियुक्त पुरुषको वर्णन किया, पूर्वादिदशदिशा विधाताके दश अंगुलसदृश है, क्योंकि लोकमें अंगुलीद्वाराही शून्यके ऊपरकी दिशाको कल्पना कर रक्खा है, वास्तवमें सब शून्य है, इस कारण अंगुलीनिर्दिष्ट दशदिक्पदार्थ एक अपेक्षा बुद्धिकी कल्पनामात्र है, ऐसी कल्पनावाला दशांगुल

कहाता है इस अर्थसे मूल अज्ञान वा माया दशांगुल शब्दसे कही है विराट् आत्मा इस मायाको अतिक्रमपूर्वक अर्थात् जीवकी समान अधीन न होकर मायाकोही अपने अधीनकर मायी वा महेश्वर हुए है, सायनाचार्य दशांगुलको उपलक्षण करके समस्त ब्रह्माण्डका अर्थ करते है अर्थात् वह ब्रह्माण्डके बाहरभी है अथवा दशांगुलसे परिमाणका अर्थ है, सब परिमाण दश अंगुलीसे कल्पित होता है, अर्थ यह कि परिमितस्थान ब्रह्माण्डको अतिक्रम करके अवस्थान करते हैं, सर्वतोभावसे ब्रह्माण्डगोलकमें व्याप्त करके उसके बाहर भी व्याप्त है, अथवा जिसके दश अंगुली है उसको व्याप्त करके स्थित है, दशांगुलशब्दसे हाथ पैरका अर्थ है अर्थात् विधाता हमारे हाथ और चरणके भी बाहर व्याप्त है, आशय यह कि उसके बाहर भी व्याप्त होनेसे अर्चन और सुक्षेत्रगमनरूप क्रियासे भी उसको धारण करनेको असमर्थ है, अथवा वह परिमाणको अतिक्रमण करके स्थित है. जितना ब्रह्माण्ड है यही उसका शरीर है, केवल ऐसाही नहीं किन्तु ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर ब्रह्माण्डके परिमाणको अतिक्रमण करके ब्रह्माण्डके बाहर भी व्याप्त है ॥ १ ॥

[ऋ० ८ । ४ । १७] 'सर्वतस्पृत्वा' के स्थानमें 'विश्वतो वृत्वा' पाठ है ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र १ ।

पुरु॑षऽए॒वेदꣳ सर्वं॒ यद्भू॒तं यच्च॒ भाव्य॑म् ॥
उ॒ताऽमृ॑त॒त्वस्येशा॑नो॒ यदन्ने॑नाति॒रोह॑ति ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पुरुष इत्यस्य ना० ऋ० । निच्यृदार्षी जगती छन्दः । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ–(इदम्) जो यह वर्तमान जगत् है (यत्) जो (भूतम्) अतीत जगत् (च) और (यत्) जो (भाव्यम्) भविष्य जगत् है वह (सर्वम्) सम्पूर्ण ही (पुरुषः) पुरुष (एव) ही है अर्थात् जैसे इस कल्पमें वर्तमान प्राणियोंके देह विराट्पुरुषके अवयव हैं वैसेही अतीत और आनेवाले कल्पोंकेभी जानो (उत) और (यत्) जो कि (अन्नेन) प्राणियोंके भाग्यसे वा अन्नरूप फलके निमित्तसे (अतिरोहति) अपनी कारणअवस्थाको अतिक्रमण करके जगत्की अवस्थाको प्राप्त होता है [अथवा अन्नके निमित्त जो सम्पूर्ण अतिरोहण जन्म मृत्यु होती है उस सम्बन्धमें अमृतत्व देनेमें ईश्वरही है] अर्थात् प्राणियोंके कर्म फल भुगानेको जगत्की अवस्था स्वीकार करता है यदि कहो कि जो सब पुरुष है तो परिणामीभी होसकता है इस पर कहते है (अमृतत्वस्य) मरण-

धर्मरहित मुक्तिका (ईशानः) अधिपति अर्थात् सम्पूर्ण जीवोंका जो कि ब्रह्मासे स्तम्बपर्यन्त हैं उनका अधिपति (पुरुषः) पुरुष (एव) ही है अर्थात् यही प्राणिगणको देवता करते हैं जिसकारणकी प्राणिगणके भोगके निमित्त अपनी कारणअवस्था परित्यागपूर्वक कार्यावस्था अर्थात् जगतको स्वीकार करतेहैं ॥ २ ॥

विशेष-भगवान् यदि स्वयं इसप्रकार अचिन्त्यशक्तिद्वारा जगत् अवस्थाको प्राप्त न हों तो यह जगत् किसीके सम्बन्धमें स्वर्ग और किसीके सम्बन्धमें नरकरूप होजाय तो एकही वस्तुके लिये स्वर्गनरकत्वरूप विरुद्ध धर्मका प्रकाश असंभवहै अनीश्वरवादी कहेंगे प्रकृतिका स्वभाव है परन्तु आस्तिकगण कहेंगे "जिसको नास्तिक प्रकृतिका स्वभाव कहते हैं उसीको हम ईश्वरकी अचिन्त्यशक्ति कहते हैं" [ऋ० ८ । ४ १७] ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १ ।

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॑ँश्च॒ पूरु॑षः ॥ पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृत॑न्दि॒वि ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एतावानित्यस्य ना० ऋ० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-अतीत अनागत वर्तमान कालसे सम्बद्ध जितना जगत् है (एतावान्) यह सब (अस्य) इस पुरुषकी (महिमा) सामर्थ्यविशेष विभूति है, वास्तविक स्वरूप नहीं है (च) और (पुरुषः) पुरुष तौ (अतः) इस महिमावाले जगतसे (ज्यायान्) अतिशय अधिक है (विश्वा) सम्पूर्ण (भूतानि) तीन कालमें वर्तनेवाले प्राणीसमूह (अस्य) इस पुरुषका (पादः) चतुर्थांश है (अस्य) इस परमात्माका अवशिष्ट (त्रिपात्) त्रिपात्स्वरूप (अमृतम्) विनाशरहित (दिवि) प्रकाशात्मक अपने स्वरूपमें स्थित है यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तैत्तिरी०] इस वचनसे ब्रह्मकी इयत्ता कोई निरूपण नहीं करसकता तौभी उसकी अपेक्षा यह जगत् अति अल्प है इस कारण पादरूपसे निरूपण कियाहै॥३॥

भाष्यविस्तार-सगुण और निर्गुण इसप्रकार ब्रह्म दो प्रकारका है, यह चार पाद युक्त है उसमें एक पादमें सगुण ब्रह्म अर्थात् जगत्अवस्थाको प्राप्त ब्रह्मा वा विराट् पुरुष, अवशिष्ट तीन पादमें निर्गुण ब्रह्मका लक्ष्य किया है, निर्गुण ब्रह्म भी कूटस्थ और कारणशरीरनामसे दोप्रकारका है, जिसका शरीर कार्यात्मक और कारणात्मक नहीं जो अयोघनकी तुल्य निर्विकार है उसको कूटस्थ कहते

है, और जो कार्य जगत्के अभिन्न निमित्तोपादान कारणस्वरूप अर्थात् घटका उपादान कारण मृत्तिका, और निमित्त कारण कुंभकार यह दो कारण भिन्न २ हैं इस प्रकारका जो नहीं किंतु जो जगद्रूपकार्यके मृत्तिकास्थानीय उपादान कारण भी होता है और कुंभकारस्थानीय निमित्त कारण भी होता है उसको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहते हैं, इस प्रकार कारणशरीरी ब्रह्मको श्रुतियोंने निर्गुण ब्रह्म कहा है यथा " एको देवः सर्वभूतेषु गूढः १ सर्वव्यापी २ सर्वभूतान्तरात्मा ३ ॥ सर्वाध्यक्षः ४ सर्वभूताधिवासः ५ साक्षी ६ चेता ७ केवलो ८ निर्गुणश्च ९" [श्वेताश्वतरउ०] इस श्रुतिमें १, २, ३, ५ विशेषण उपादानकारणता प्रकट करते हैं चौथा विशेषण निमित्तकारणता, छठे सातवें आठवें नौमें विशेषणद्वारा अभिन्न निमित्तोपादानस्वरूप अर्थात् कारणशरीरी ब्रह्मको निर्गुणत्व कहते हैं" यह अवस्था कूटस्थवत् निर्विकार निर्लिप्त नहीं, किंतु पूर्वोक्त अवशिष्ट अमृतत्वस्वरूप पादत्रय इस कारण शरीरी ब्रह्ममें वर्तमान जानो मायाके तीन गुण सत्त्व, रज, तम वा सुख,दुःख, मोह वा श्वेत, रक्त, कृष्ण, वा प्रकाश, प्रवृत्ति, निवृत्ति वा उत्पत्ति, स्थिति, लय, वा देवत्व, मनुष्यत्व, पशुत्व, वा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, वा पुण्य, पाप, स्तब्धता, वा प्रातः, सायं, मध्याह्न, वा ज्ञान धर्म, अधर्म, वा विराग, ऐश्वर्य, अवैराग्य, वा अग्नि, जल, मृत्तिका, वा स्वः, भुवः, भू यह निवृत्त वस्तु कही जाती है, जब वह इन तीन प्रकारकी मायिक वस्तुओंको अधिकार करके त्रिवृत् रूपसे विदित होता है तब इसको सगुण ब्रह्म, कार्यब्रह्म, वा हिरण्यगर्भ वा विधाता, वा विराट् पुरुष, वा वैश्वानराग्नि वा पितामह, वा पद्मयोनि, वा कमलासन इत्यादि कहते हैं इनका आदिपुरुष वा आदि अवस्था जिसको कारण शरीरी निरूपित किया है जिसको निर्गुण कहकर निरूपण किया है इसीको वेदमें आदिपुरुष पुराणोंमें आदिनारायण कहा है, जो सृष्टिके प्रथम एकार्णव जलमें शयन करते हैं, पांचवें मंत्रमें विराट् पुरुषकी उत्पत्ति इसी कारण शरीरी आदि पुरुषसेही वर्णनकी है, यही निर्गुण वा कारण ब्रह्मचतुष्पाद और षोडशकलात्मक कहेजाते हैं 'ब्रह्मा वा विराट्' इसकि एक पादसे प्रकाश पाते हैं (जगद्रूप) इसी पादका नाम सत्ता है, इस सत्तारूपी पाद वा अंशके न होनेसे मायिक जगत्के व्यावहारिक सत्यत्व वा अस्तित्व खपुष्पवत् होजाते है कारणब्रह्मको अब हम वेदके शब्दोंमें व्यवहारकर कहते हैं, वेदमें जिसको त्रिपाद और विष्णु कहा है, विष्णुके सत्य, ज्ञान और अनन्त यही तीन पाद है, चौथा पाद सत्ता वा अस्तित्व है, सत्तापाद ब्रह्माण्डमें ब्रह्माके सहित स्थित है यह कहचुके हैं अवशिष्ट तीन पाद इसके निजप्रकाशात्मस्वरूपके सहित नीरक्षीरवत् अमृतत्व

होरहे हैं अर्थात् इन तीनके एकत्वको मुक्ति वा वैकुण्ठ कहते है, छान्दोग्य ब्राह्मणके चतुर्थ प्रपाठकमें वृष अग्नि हंस मद्गुके सहित सत्यकामके संवादमें कहा है कि पूर्वादि चार दिशा ब्रह्मकी चार कला हैं [कला षोडश भागका एक भाग] यह चार कला ब्रह्मका एक पाद मात्र कहा जाता है,इसका नाम प्रकाशवान् है,प्रकाशवान् पाद ब्रह्मका प्रथम पाद कहा जाता है'' पृथिवी अन्तरिक्ष द्युलोक और समुद्र इन चार कलाका और एक पाद है इसका नाम अनन्तवान् है'' यह अनन्तवान् ब्रह्मका दूसरा पाद है, अग्नि सूर्य चन्द्र विद्युत् इन चार कलाका नाम ज्योतिष्मान् पाद है यह तीसरा पाद है यह तीन पाद अमृतत्व रूप है ब्रह्मके प्रकाशस्वरूपमें अवस्थान करते है, प्राण चक्षुः श्रोत्र वाक्र इस चार कलाका और एक पाद है, इसका नाम आयतनवान् यह चतुर्थ पाद है, इस चतुर्थ पादमें अनन्त ब्रह्माण्ड अवस्थान करता है, यही चतुष्पाद षोडशकलात्मक ब्रह्म पूर्व कथित कारणशरीरी निर्गुण ब्रह्म कहाता है, अर्थात् आदि पुरुष वा विष्णु यही है यदि कहो निर्गुणमें पादकल्पना कैसे संभावित हो सकती है. ''इसपर सायणाचार्यने भी कहा है'' कि अनन्त ब्रह्माण्ड उक्त कारणशरीरी ब्रह्मकी अपेक्षा अति क्षुद्र है, यहां पादचतुष्टय वर्णन करनेमें विवक्षितार्थ जाने.'' श्रीयुत शंकराचार्यके मतमें निरवयव ब्रह्म मायासे सावयव होता है इस मायाके अवयवत्व उसमें आरोपण करके उसको चतुष्पाद वर्णन करते हैं अर्थात् उपासनाके निमित्त निरंशमें अंश आरोपण करते हैं [भोगवत्] देखो अन्नपानादिसे प्राप्त, वा स्त्रीपुत्रादिसे प्राप्त वा गृहशय्याप्रभृतिसे प्राप्त भोग होता है केवल भोग कुछ पदार्थ नहीं. इस कारण जैसे भोगप्राप्तिके निमित्त अन्नपानादि संसर्गकी अति आवश्यकता है, इसी प्रकार उपासना करनेके निमित्त मायासे अंशग्रहणकी अतिशय आवश्यकता है, बहुत क्या ब्रह्म बृहत् वा निरवयव है इस ज्ञानसे भी देखो मायाके अंश गृहीत हुए है,'' जैसे बृहतज्ञान क्षुद्रज्ञानसापेक्ष है इसी प्रकार निरवयवज्ञान सावयवज्ञान सापेक्ष है,'' मायाके अंशग्रहण किये विना, ब्रह्मभावना सिद्ध नहीं हो सकती, और ब्रह्मको अतिबृहत् यह भावना करनेपरभी षोडश कला चार पाद इस प्रकार माया अंशमें [अर्थात् मायिकभाव हृदयमें रखकर] प्रथम कल्पना करना होता है फिर उपासना करनी होसकती है. अन्यथा ऐसी कोई युक्ति वा उपाय नहीं है. जिसके द्वारा मायाकी सहायता विना निरंशत्व स्वरूप ब्रह्मको ध्यानमें प्राप्त करसके इसका विस्तार वेदान्तदर्शन ३ अ० २ पा० ३३ सूत्रमें "बुद्ध्यर्थपादवत्" इसपर शांकरभाष्य देखनेसे विदित होसकता है ऋ० [८।४।१७] ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः ॥
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रिपादूर्ध्व इत्यस्यर्षिः पूर्ववत्। आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः। वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-जो यह (त्रिपात्) तीन पादयुक्त संसारस्पर्शरहित (पुरुषः) ब्रह्म (ऊर्ध्वः) इस अज्ञानकार्य संसारसे बाहिर्भूत अर्थात् इसके गुण दोषोंसे अस्पृष्ट होकर उत्कृष्टतासे (उदैत्) स्थित हुआ है (अस्य) इसका (पादः) लेशरूप जगत् (इह) इस मायामें (पुनः) फिर (अभवत्) प्राप्त होता हुआ अर्थात् सृष्टिसंहारद्वारा वारंवार आगमन करता है "विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" [गी० १० । ४२] (ततः) मायामें आनेके उपरान्त (विष्वङ्) देवतिर्यगादिमें विविधरूप होकर (साशनानशने) अशनादिव्यवहारयुक्त चेतन प्राणिसमूह इससे रहित गिरिनदीआदिक अर्थात् स्थावर जंगमको (अभि) देखकर (व्यक्रामत्) व्याप्त करता हुआ ॥ ४ ॥

विस्तार-पूर्व मंत्रमें कथित विष्णु ऊर्ध्व उदित होते है, अर्थात् संसारमे रहकरभी संसारके गुणदोषोंसे रहित है, यह सायण कहते है अथवा बृहत्त्व और सूक्ष्मत्वकी परा काष्ठा है, यह कठश्रुति कहती है "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः" अथवा ऊर्ध्व कहनेसे सर्व प्रधान सत्यलोकका बोध होताहै ऊर्ध्व उदितका अर्थ यह कि, भूः भुवः स्वः महः जनः तपः इन लोकोमे त्रिपाद पुरुष गूढरूपसे स्थित है "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते" यह आत्मा सब भूतोमें गूढ होनेसे प्रकाशित नहीं होता है परन्तु जब सत्यलोकगामिनी बुद्धि होती है तभी प्रकाशित होताहै, "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" ऊर्ध्व उदयका अर्थ यह है कि जगत्के दुःखोसे वाहर होकर विद्यमान है, तथा च श्रुतिः "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः "सूर्य सवकी चक्षुओंके अधिष्ठातृदेवता हैं परन्तु चक्षुओंमें जितने दोष है उनसे वह लिप्त नही होते, इसीप्रकार वह सर्व भूतोमें वर्तमान होकर उनके दोषोंसे लिप्त नहीं होता, अथवा इन दृश्यमान सूर्यका आत्माही त्रिपात् पुरुष प्रतिदिन उदय होताहै इसीकारण सावित्रीमें सविताकी उपासना कही है तथा

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" [ऋ० सू० ११९] उसका आयतनवान् नामक चौथा पाद वारंवार मायासे आविर्भावतिरोभाव होता है मायाशक्ति जो सर्जनइच्छासे पहले अव्यक्त थी वह उसका निजशरीर होकर व्यक्त होतीहै [ऋ० ८।४।१७] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १।

ततो॑ वि॒राड॑जायत वि॒राजो॒ऽअधि॒ पूरु॑षः ॥
स जा॒तोऽअत्य॑रिच्यत प॒श्चाद्भूमि॒मथो॑ पु॒रः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तत इत्यस्य ना० ऋषिः। इत्यादि पूर्ववत् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(ततः) इसके उपरान्त उस आदि पुरुषसे (विराट्) ब्रह्माण्डदेह जिसमें अनेक प्रकारकी वस्तु विराजमान होती है वह (अजायत) प्रगट हुआ (विराजः) विराट् (अधि) देहके ऊपर उसी देहको अधिकरण करके (पुरुषः) उस देहका अभिमानी एकही पुरुष हुआ अर्थात् सम्पूर्ण वेदान्तसे जानने योग्य परमात्मा. अपनी मायासे विराट्देह ब्रह्माण्डकी रचनाकर उसमें जीवरूपसे प्रवेश करके उसके अभिमानी देवतात्मा जीवरूप हुआ. "स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वात्र प्रविष्ट इव विहरति" इति [नृसिं०ता०२।९] और (सः) वह विराट् पुरुष (जातः) प्रगट होकर (अत्यरिच्यत) अतिरिक्त देवता तिर्यङ्ङ् मनुष्यादिरूप हुआ (पश्चात्) देवादि जीवभावके उपरान्त(भूमिम्) भूमिकी रचना करता हुआ (अथो) भूमिरचनाके उपरान्त उन जीवोंके (पुरः) सात धातुओंसे पूर्ण होनेवाले शरीरोंको रचना करताहुआ ॥ ५ ॥

विस्तार-परब्रह्म त्रिपाद् पुरुषसे उत्पन्न हिरण्मय 'तेजोमय' अण्डमध्यमें जो स्वयं प्रादुर्भूत हुए है उनको स्वयंभू. हिरण्यगर्भ. प्रजापति. ब्रह्मा और विराट् कहते हैं विना योगके स्वयं होनेसे इनको स्वयंभू कहते हैं, तेजोमय अण्डके मध्यमें होनेसे हिरण्यगर्भ कहते है. देवतिर्यगादि अनेकरूपसे प्रगट होनेसे और आपही उनको विधि निषेधके नियम कहते हैं. इससे प्रजापति कहातेहैं, सगुण वा साकार होनेसे वही ब्रह्मा है. उनके द्वारा सब वस्तु प्रकाश पाती हैं, इससे विराट् कहे जाते है, इन एकही परमात्माके कार्यानुरूप अनेक नाम हैं, उन्ही आदि पुरुषसे ब्रह्मांड हुआ है, इन्ही परमात्माकी अघटनघटनापटीयसी शक्ति माया कही जाती है, इसकेभी प्रकृति अव्यक्तादि अनेक नाम हैं, सृष्टि दो प्रकारकी है, एक ब्रह्माकी सृष्टि और एक ब्रह्मकी सृष्टि, ब्रह्माकी सृष्टिसे पहले यह सब जगत्

एकार्णव जलमें बीजरूपसे स्थिति करता है, परन्तु प्रकृति उससमयभी व्यक्त रहती है, इसकोही खण्डप्रलय कहते हैं इसके उपरान्त ब्रह्माही सृष्टिकी रचना करते है, और जब प्रकृति अव्यक्त भावको प्राप्तहोती है उसे महाप्रलय कहते हैं महाप्रलयके उपरान्त जो सृष्टि होतीहै उसको ब्रह्मकी सृष्टि कहते हैं वही आदि सृष्टि कहलाती है उससे पहले एकमात्र ब्रह्मही स्थिति करते हैं, और कुछ नहीं उस समय प्रकृति अखण्ड सच्चिदानंदमें लीन रहती है, यह ब्रह्माकी सृष्टिकी समान वारवार नहीं होती किन्तु एकवार प्रगट होकर ब्रह्माकी आयुपर्यन्त महाप्रलयतक रहतीहै, ब्रह्माकी सृष्टि चौदह मन्वन्तर बीतनेसे समाप्त होकर फिर होतीहै ब्रह्माकृत सृष्टिके एकवार होनेमें प्रमाण "सकृद्ध द्यौरजायत सकृद्भूमिरजायत । पृश्न्या दुग्धं सकृत्पयस्तदन्यो नानुजायत" इति [ऋ० अ० ४ अ० ८ व० ४ मं० ६ सू० ४८ मं० २२] एकबारही भूलोक और द्युलोक उत्पन्न हुआ यह वारवार नहीं एकवार होताहै अर्थात् खण्डप्रलयमें कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता बीजरूपसे सब स्थित रहते है ब्रह्मा जिस समय जलको घनीभूत करके भूमिकी रचना करते हैं, उस समय भूमिसे सब पदार्थोंके बीज प्रगट होकर द्युलोकादि सब आविर्भूत होते हैं, द्युलोकसे द्युलोकवासी देवगणका बोध होता है, मरुतगणोंकी माता दिति देवी गौसे दुग्ध एकबारही हुआ है दुग्धसे ओषधि व्रीहिआदि शस्य जान्नी, यही मन्त्र सांख्यशास्त्रका मूलसूत्र है, अर्थात् खण्डप्रलयमें नूतन कुछ नहीं होता "ऋतं च सत्य चाभीद्धात्" से "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् दिवञ्च पृथिवीञ्चा-न्तरिक्षमथो स्वः" [ऋ० १० मं० १९१ सू० १ । २ । ३ । मन्त्र] आशय यह कि दिन रात सूर्य चन्द्र स्वर्गादि जिस प्रकार पूर्वमें विधाताने बनाये थे उसी प्रकार इस कल्पमें निर्माण किये है, इसी मन्त्रके प्रथमार्द्धमें ब्रह्मकृत सृष्टि और उत्तरार्धमें ब्रह्माकृत सृष्टिका उल्लेख हुआ है परन्तु ब्रह्मकी सृष्टि मायाकी सहाय-तापूर्वक होती है इसका प्रमाण तैत्तिरीयारण्यक ८ प्रपाठक ६ अनुवाकमें है "सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय इति स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृ-जत यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्" उसने संसारवती मायाशक्तिसे एकके बहुत होनेकी इच्छाकी और तप करके इस जगत्के सब पदार्थोंकी रचना की, और फिर जीवभावसे उनमें प्रवेश कर मूर्त और अमूर्त दोभावको प्राप्त हुआ जब यह सृष्टिके कारण प्रगट होते है तब ब्रह्माकी सृष्टि होती है यथा "आपो वा इदमासन् सलिलमेव स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत् तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति" [तै० आ० १ प्र० २३ अनुवाक०] अर्थात् सृष्टिके प्रथम जलमात्रही था इसी एकार्णव जलके मध्यमें पुष्करपर्ण प्रदेश [महाकाश] में जगदीश्वर प्रजापति सृष्टिके

निमित्त सम्यक् रूपसे आविर्भूत होकर स्थिति करने लगे उनके मनमें पूर्ववत् सृष्टिका संकल्प उदयहुआ "कामस्तदग्रे" इत्यादि अर्थात् प्रजापतिद्वारा प्रथम सृष्टिका संकल्प हुआ और ब्रह्माने दूसरे प्रजापतियोंकी रचना की वे जितेन्द्रिय प्रजापतिगण अपने २ हृदयमें प्रत्येक सृष्टिप्रकारके संकल्पको दृढ करके व्यक्त जगत्के उत्पत्तिनिमित्त संकल्पको अव्यक्त कारणसे आकर्षणपूर्वक लाभ करते हुए, इसका आशय यह कि देवता दो प्रकारके होते हैं कर्मदेव और आजान नामक देशमें उत्पन्न मनुष्यजातिकी समान एक देवजाति । जो विशेष कर्मद्वारा विदेहकैवल्यको प्राप्त होकर ब्रह्मलोकमें ब्रह्माके शरीरके साथ सायुज्य लाभ करके मुक्त पुरुष होकर रहतेहैं, उनको कर्मदेव कहतेहैं, इन कर्मदेवगणको भी प्रजापति कहते हैं. सृष्टिके समय ब्रह्मा अपना शरीर कम्पित कर इनको प्रथम अपने शरीरसे पृथक् करलेते हैं यह भी सृष्टिरचना करते हैं, और जितेन्द्रिय प्रजापति कहाते हैं, यह उत्तरार्द्धका भावार्थ कहा, अब शब्दार्थ विवरण लिखते हैं, पशु पक्षी कृमि कीटको तिर्यक्जाति कहते हैं इनकी तमोगुणप्रधान प्रकृति है अर्थात् शरीरकी उपादान वस्तु और ज्ञानउपादानतत्त्व सबही तामससे उत्पन्न हैं, इस कारण आहार निद्रा भय मैथुन इन चारसे अधिक कुछ नहीं जान्ते, इस निमित्त तिर्यक् जाति अतिनिकृष्ट है मनुष्यजाति रजःप्रधान है इस कारण यह कुछ ज्ञान और धर्ममें भी प्रवृत्त है, देवजाति सत्त्वप्रधान प्रकृतिसे उत्पन्न है, इस कारण निरन्तर वेदवेदांग और धर्म ज्ञानमेंही रत हैं, इससे यह सर्वोत्कृष्टजाति है, ब्रह्माने इन तीन प्रकारकी जातियोंको उनके पूर्वकर्मानुसार प्रगट किया, पीछे भूमिकी सृष्टि की अर्थात् रस रक्त मांस अस्थि मज्जा शुक्र और तेज इस सात प्रकार शरीरके उपादानकी सृष्टि की. इन्हीं सप्तधातुद्वारा सब जीवोंके शरीर निर्माण किये, यह सात धातु समष्टि होकर जीवके शरीररूपसे परिणत होती है और जीवगण निज २ कर्मानुसार देवता मनुष्य सिंह सरीसृपादियोनियोंको प्राप्त होते हैं, सामवेदीय छान्दो०६प्रपाठकमें "त इह व्याघ्रा वा सिंहा वा वृका वा वराहा वा कीटा वा पतङ्गा वा दंशा वा मशका वा यद्यद् भवन्ति तदा भवन्ति" इस लोकमें जो जिस रूपसे है वारंवार कर्मानुसार उसी रूपसे जन्मग्रहण करतेहैं सहस्र कोटि युग परभी सृष्टि इसी प्रकार होगी संसारियोंकी वासना विलीन नहीं होती, जो मनुष्यमें सिंहादिकी वासना करैगा वह सिंह अर्थात् कर्मजन्य जैसी वासना होगी वैसाही फल प्राप्त होगा वही योनि प्राप्त होगी जबतक ज्ञानद्वारा कर्मबन्धन नष्ट न होगा, यही दशा रहेगी इसी निमित्त बुद्धिमान् वेदवेदाङ्गका विचारकर एकक्षणभी वृथा नहीं खोतेहैं ऋक्में 'ततः'के' स्थानमें 'तस्मात्' पाठ है [ऋ० ८ । ४ । १७] ॥ ९ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतम्पृषदाज्यम्॥ पशूँ स्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्याग्ग्राम्म्याश्चये ॥ ६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः। आर्ची पंक्तिः छं०। पुरुषो देवता। वि० पू० ॥ ६॥

मन्त्रार्थ-(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सर्वात्मा पुरुष जिस यज्ञमें हवनद्वारा पूजेजाते है उस पुरुषमेध (यज्ञात्) यज्ञसे (पृषदाज्यम्) दधिमिश्रित घृत (सम्भृतम) सम्पादित हुआ दधि आज्यआदि भोग्यजात वस्तु पुरुषद्वारा प्रगट हुई और उस पुरुषने (तान्) उन (वायव्यान्) वायुदेवतावाले (पशून्) पशुओंको (चक्रे) उत्पन्न किया, "अन्तरिक्षदैवत्याः खलु वै पशवः" इति श्रुतेः (ये) जो (आरण्याः) वनके पशु हरिणादिक (च) और (ग्राम्याः) ग्रामके पशु गौअश्वादि है ॥ ६॥

विशेष-सर्व विश्व संसार पुरुष जिस यज्ञमें आहुत हुए उस मानस यागको सर्वहुत कहते है, सर्व प्रथम दधिघृतादि वस्तु प्रगट हुई यहां दधिघृतादि भोग्य वस्तुसे वृक्षोंके रसविशेष जान्ने, यह घृतदधिका उपलक्षण है पर्वतवासी योगीगण इन्हीं वृक्षोंके पृषदाज्यस्वरूप अन्नफलोंको भोजन कर क्षुधा तृष्णा निवृत्त करते है, यहां दधिघृतसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके खाद्यपदार्थकी सृष्टि जान्नी, कोई कहते हैं उस सर्वहुत यज्ञ पुरुषद्वारा दधिमिश्रित घृत [श्लेष्मामिश्रितरेत] सम्पादित हुआ उस्से ग्रामचारी अरण्यचारी और (च) कहनेसे नभश्चारी जीव उत्पन्न हुए इस स्थलमें यथार्थ कर्तृत्व ब्रह्मको मानकर ब्रह्मासे असमदादिपर्यन्त यथार्थ कर्तृत्व नहीं है ऐसा दिखाया है इसीसे कहा है उस्से प्रगट हुए [ऋ० ८।४। १७]॥ ६॥

कण्डिका ७-मन्त्र १।

तस्म्माद्यज्ञात्सर्वहुतऽऋचः सामानिजज्ञिरे॥ छन्दाᳬंसिजज्ञिरेतस्म्माद्यजुस्तस्म्मादजायत॥ ७॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः। पुरुषो देवता। वि० पू० ॥ ७॥

मन्त्रार्थ-(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सर्वहुत (यज्ञात्) यज्ञपुरुषसे (ऋचः) ऋक् (सामानि) साम (जज्ञिरे) उत्पन्नहुए (तस्मात) उसीसे (छन्दांसि)

छन्द 'अथर्वमंत्र' (जज्ञिरे) प्रगट हुए (तस्मात्) उससे (यजुः) यज्ञात्मक यजु (अजायत) प्रगट हुआ ॥ ७ ॥

विस्तार—ऋक्संहिता अक्षरमात्रा छन्दके नियमसे ग्रथित है इसके दो भेद हैं प्रथम जो स्वरयोगसे गीतिको प्राप्त होकर साम नामक हो जाते है यह साम मूल ऋक् कहाते है और एक वह जो गीतिमें नहीं आते हैं. सामवेदमें साम मूल सम्पूर्ण ऋचा आर्चिक ग्रन्थमें पाई जाती है इस प्रकारके ऋचामय ग्रन्थको आर्चिक कहते हैं सामवेदसंहिता दो अंशोमें विभक्त है एक आर्चिक और दूसरा गान ग्रन्थ कहलाता है, छन्दोमय ऋचा यह विशेषणयुक्त कहैं तो यह अर्थ करना होगा कि जिनका छन्दोरूपत्व अविनाशी अर्थात् गीतिकेद्वारा नष्ट नहीं होता, साममूल ऋक्भी छन्दोरूप है परन्तु सामगान समयमें उसका छन्दोरूपत्व होजाता है.

वेदकी रचना तीन प्रकारकी है कुछ पद्यात्मक, कुछ गीतात्मक और कुछ गद्यपद्यात्मक अर्थात् जिनमें छन्द कल्पना नहीं होती है। इसी कारण वेदको त्रयी कहते हैं पद्यात्मक ऋक्, गीति साम, गद्यपद्यात्मक यजु कहाता है इसका वर्णन महर्षिजैमिनीने भी भली प्रकार निरूपण किया है "तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था २।१।३५। १ गीतिषु सामाख्या ३६ शेषे यजुःशब्दः।३७।" शबरस्वामी कृत भाष्यमें इसका विस्तार लिखा है प्रश्न—जब कि ऋक् सब छन्दोबद्ध हैं तो फिर 'छन्दांसि' कहनेकी आवश्यकता क्या है? उत्तर—फिर 'छन्दांसि' कहनेकी आवश्यकता यह है कि इससे अथर्वका भी बोध होता है यदि कहो कि यहां तो केवल लक्षणमात्र कहे हैं तीन विद्याके अन्तर्गत अथर्व भी आगया और यज्ञ तीनही वेदोंसे निर्वाह हो जाता है, यही बात नहीं अथर्वमें भी यज्ञविधान देखा जाता है इससे 'छन्दांसि' कहा, और यदि त्रयीके अन्तर्गत अथर्वको माना जाय तो 'छन्दांसि' का यह अर्थ होता है 'छन्दांसि' कहनेसे छन्दविधायक श्रुतियोंका बोध होता है, इस प्रकारसे ब्राह्मणभागभी उसी यज्ञपुरुषसे प्रादुर्भूत हुआ है यह बोध होता है वेदके दो भाग है एक मंत्रभाग जो संहिता कहाती है, दूसरा ब्राह्मणभाग जो विधिभाग कहाता है. यही दोनों भाग मिलकर वेद कहाता है यह याज्ञवल्क्य कात्यायन तथा आपस्तम्ब महर्षि कहते हैं "मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इसकारण यह उसीसे प्रादुर्भूत है, व्यासजीने "शास्त्रयोनित्वात्" अ० १ पाद १ सूत्र ३ में कहा है इसके भाष्यमें भी इस प्रकरणको लिखा है इस वचनसे कोई २ मनुके शास्त्रमें तथा दूसरे ग्रंथोंमें विरोधकी शंका करते है कि "अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुस्सामलक्षणम्" मनु और "तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः" [श० ११।५।८।३]

अर्थात् ब्रह्माजीने अग्निसे ऋग्वेद वायुसे यजुर्वेद आदित्यसे सनातन सामवेदको देवगणके यज्ञ सिद्ध करनेके निमित्त आकर्षण किया, पहले हम इसीका अर्थ लिखकर पीछे शतपथश्रुतिका अर्थ लिखेंगे अग्नि वायु रवि क्या वस्तु है यह कोई ऋषि नहीं है परन्तु दूसरी बात है इसका भेद जाननेसे कोई विरोध नहीं आता है, इसके तत्त्वको न जानकर ही मनुसे विरोध पाया जाता है, यह कथनमात्र भिन्नसा दीखता है वास्तविक नहीं अग्नि वायु रवि यह तीन वस्तु ब्रह्माके शरीरमेंही विद्यमान है उसमें जिस समय अग्नि धातु संधुक्षित होती है तब ऋक् मंत्र बाहर होतेहै, जिस समय शारीरिक वायुको प्रवाहित करनेलगे उस समय यजु मंत्र प्रकाशित हुए, जिस समय शारीरिक सूर्यधातुको उत्तापित किया उस समय साम मंत्र प्रगट हुए, यह अनुभवसेभी देखनेमें आता है कि जो ऋग्वेदको स्वरसहित अध्ययन करतेहै पाठ करते है पाठकरतेमें उनके मस्तिष्क और प्राणवायुमें आघात नहीं लगता, केवल जाठराग्नि उद्दीपित होतीहै इससे ऋग्वेदका प्रकाश जाठराग्निसे होताहै । यजु का उच्चारण कठिन है उसके उच्चारणमें हांपनी आकर श्वास तीव्र होता है अर्थात् प्राणवायु उद्दीप्तिको प्राप्त होता है इससे यजु वायुद्वारा प्रगट कहा । सामवेदका उच्चारण यजुकी समान कठिन न होकर स्वरग्राम मूर्छना तानलयादिसंयुक्त होनेसे उसके द्वारा मस्तिष्कमें आघात होता है मस्तकही आदित्यका स्थान वा आदित्य है इससे सूर्यसे सामवेदका प्रगट होना कहा इसप्रकार ब्रह्माजीने जाठराग्नि, प्राण, और मस्तिष्कस्थान आदित्यसे तीन वेदोंको आकर्षण कर पूर्ण किया, तथाच श्रुतिः"सोकामयत वहु स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोतप्यत तस्माच्छ्रान्तात्तेपानात्त्रयो लोका असृज्यन्त पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः । स इमांस्त्रीँल्लोकानभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योयं पवते सूर्यः । स इमानि त्रीणि ज्योतींष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यः" इत्यादि[श० ११प्र०४।२।१-२-३] " स इमांस्त्रीन्वेदानभितताप तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदाद्भुव इति यजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्" इत्यादि [श० ११ प्र० ४। २ । ४] प्रजापतिने प्रजारचनाकी इच्छासे तप किया और तप करके त्रिलोकी उत्पन्न की, फिर उन त्रिलोकीको ताप देकर उसका सार भाग तीन ज्योति अग्नि वायु रवि निकालीं फिर इन तीनोंको ताप देकर ऋक्, यजु, सामके मंत्र निकाले इनको ताप देकर भूः भुवः स्वः निर्गत किया, आशय यह कि भूमिका सार अग्नि अग्निका सार ऋग्वेद है ऋग्वेदमें भूमिसम्बन्धी पदार्थोंका विशेष रूपसे कथन है, यजुर्वेदमें वायुसम्बन्धी अन्तरिक्ष पदार्थोंका विशेष रूपसे कथन है, जैसे यज्ञ करना उसका फल स्वर्गगमन और अन्तरिक्षसे फिर आहुतिका मेघरूपसे परिवर्तन हो भूमिपर आना

सामका आदित्यप्रकाशरूपसे सम्बंध है उसमें गानादिके द्वारा परमानंदकी प्राप्ति होती है ",वेदानां सामवेदोस्मि" [गी०] यह सब कुछ प्रजापतिके मानसिक संकल्पमेंही प्रगट हुआ है अब यह स्पष्ट होगया कि अग्नि वायु रवि इस स्थलमें ऋषियोंका नाम नहीं है दयानंद भिक्षुकने शतपथका प्रसंग बिना देखे अग्नि वायुको ऋषि कहकर अल्पज्ञोंको बडे भ्रममें डालदिया है उनका कथन मिथ्याही है [ऋ० ८ । ४ । १७] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

तस्मादश्वाऽअजायन्त येके चोभयादतः ॥
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽअजावयः ॥८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तस्मादित्यस्य नारायण ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-(तस्मात्) उस (यज्ञात्) यज्ञ पुरुषसे (अश्वाः) घोडे (अजायन्त) उत्पन्न हुए (च) और (ये)जो(के) कोई घोडोंसे अतिरिक्त गर्दभादि तथा (उभयादतः) ऊपर नीचेके दांतोंसे युक्त उत्पन्न हुए (ह) प्रसिद्ध है कि (तस्मात्) उस यज्ञ पुरुषसे (गावः) गौएं (जज्ञिरे) प्रगटहुई (तस्मात्) उससे (अजावयः) भेडबकरी (जाताः) उत्पन्न हुई ॥ ८ ॥

विशेष-६ मन्त्रमें सामान्यतासे आरण्य और ग्रामके पशु उत्पन्न होने कहे इस मंत्रमें यज्ञकार्यसाधक विशेष पशुओंका निरूपण किया है उस मंत्रमें यज्ञसाधक पशुओंका वर्णन किया है ब्राह्मण भागमें उनके चिह्नभी लिखे हैं " स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" जिसका शरीर हृष्टपुष्ट गोल, बडे बडे चिह्नोंसे युक्त हो, नेत्र सूर्य और अग्निकी समान रक्त वर्ण हों, उस गौको यज्ञके घृत दुग्धके निमित्त ग्रहण करके फिर प्रदान करदे, इत्यादि यहां यज्ञीय पशुओंका वर्णन किया है इससे पहले ६ मंत्रसे इसमें भेद है [ऋ० ८ । ४ । १७]॥८॥

कण्डिका ९-मंत्र १ ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ॥
तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तंयज्ञमित्यस्यर्ष्यादि पूर्ववत् ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्रतः) सृष्टिके पूर्व (जातम्) प्रगट हुए अर्थात् पुरुषरूपसे प्रादुर्भूत (तम्) उस (यज्ञम्) यज्ञसाधनभूत (पुरुषम्) पुरुषको (बर्हिषि) मानस यज्ञमें (प्रौक्षन्) प्रोक्षणादि संस्कारोंसे संस्कार करते हुए (तेन) उसी पुरुषसे (ये) जो (साध्याः) साध्य (देवाः) देवगण (च) और (ऋषयः) ऋषि अर्थात् सृष्टिसाधनयोग्य प्रजापति और उनके अनुकूल मन्त्रद्रष्टा ऋषि (अयजन्त) मानसयागको निष्पन्न करते हुए ॥ ९ ॥

विस्तार–मानसयज्ञमें यजन किया तब विराट् पुरुषको किस यूपमें बन्धन किया होगा, महात्माओंका कथन है कि दृढविश्वासरूपी स्तंभमें विराट् पुरुष बांधे जातेहै यह सामान्ययूप नहीं किन्तु अनन्त अनादि आत्मामें गडाहुआ है इसका अग्रभाग द्युलोकसे भी ऊंचा है इस विराट् पुरुषको एकबार इस विश्वासके स्तंभमें बांधलेनेसे समस्त ब्रह्माण्डके प्राणियोंको बांधलिया जासकताहै, सर्वमेध प्रकरणमें भी इसका प्रकरण आवेगा यह विराट् पुरुष आदिनारायण वा त्रिपाद् पुरुषके निमित्त उत्सर्ग किये जाते है, अन्तर इनमें यह है कि त्रिपाद् पुरुष कारणशरीरी निर्गुण निराकार हैं, विराट् पुरुष कार्यशरीरी सगुण साकार कहातेहै, इसप्रकार अन्तर अधिक है, यद्यपि यह सम्बन्ध निरूपण करना कठिन है तौ भी जो हमारे सर्वसम्बन्धयुक्त अनुभवगम्य परात्पर आदिनारायण है वही त्रिपाद् पुरुष हैं 'मानसयाग किया' इसका आशय यह है कि जबतक देवताओंने उत्सर्गके निमित्त विराट् पुरुपको मानसयागमें यजन न किया, तबतक यज्ञ पूर्ण न हुआ, और उत्सर्ग करते ही वह मानसयाग पूर्ण होगया, इस भावको विचारना चाहिये कि जब मनसे विराट् पुरुप छोडदिया जाता है उसी समय वह प्राणी त्रिपाद् पुरुषको प्राप्त होताहै, मुक्तिका अधिकारी होताहै इस विषयमें जितना प्रवेश कराजाय उतनाही गूढ तात्पर्य विदित होता जाता है हमको अभी और कुछभी कहना है इसकारण निवृत्त होते है, इस मानसयागके कर्ता साध्य देवता और ऋषिगण है ब्रह्माजीके शरीरसे प्रगट हुए प्रजापति मरीचिआदि सृष्टिसाधन योग्योंकोही इस स्थलमें साध्य कहाहै, और जो वेदमंत्रोंको प्रत्यक्ष किये रहते हैं मनोमात्रशरीरी ब्रह्माके साथ मुक्त होनेवाले पुरुष ही इस स्थलमें ऋषि कथन किये है यह साध्य देव और ऋषिगण ब्रह्माकी सृष्टिकी इच्छा करनेके उपरान्त ब्रह्माके शरीर अर्थात् मनोमात्रशरीरी होकर प्रगट होते है, सर्वहुत वा विराट् यज्ञ यही सम्पादन करतेहैं यह इस जगत्में स्थावर जंगमादि सृष्टिके कर्ता है इस कारण वेदमें इनको प्रजापति भी कहाहै उनमें कितनोहीने सृष्टिरचना की, इस कारण उनको मन्त्रद्रष्टा और ऋषिभी कहतेहै, आशय यह कि यह साध्यगण हमारे पिता और

ब्रह्माजी पितामह कहेजातेहैं, इससे सृष्टिके कर्ता अनेक न जाने किन्तु जिससे यह विराट् हुआ है कर्ता वही एक है यथा "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः। श्वेताश्व० उप० अ० ६ मं० ११।" और "हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" [ऋ० मं० १० सू० १२१ मं० १] इससे एकही कर्ता जानाजाताहै यदि कहो इन्द्रचन्द्रादि अनेक देवताओंकी ईश्वरभावसे स्तुति लिखी है इस सन्देहको वेदही दूर करताहै "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः" [ऋ० मं० १ सू०१०६ मं० ३] तथा "रूपं रूपं मघवा बोभवीति"- वही अनेकरूप होताहै सब उसीके नाम हैं [ऋ० मं० ३ सू० ५३ मं० ८] और "मित्रो अग्निर्भवति" [ऋ० मं० ३ सू० ५ मं० ४] "त्वमग्ने पुरुरूपः" [ऋ० मं० ५ सू० ८ मं० ५] तथा मण्डल १० का० १२५ वा मं० १। "अहं रुद्रेभिः सूक्त" तथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः" [यजु० अ०३२ मं० १] इत्यादि अनेक स्थलोंमें अनेक देवतोंके नामसे एक ईश्वरकाही वर्णन किया है; कार्यके निमित्त अनेक नामसे वह एक ईश्वरही निरूपित हुआ है यदि कहो तो अनेक विधिसे निरूपण क्यों कियाहै तो यह जानना कि सृष्टिके साधनयोग्य जिनको स्वीकार किया है, वह प्रजापति कहे जाते है, इन्हींके द्वारा विराट् यज्ञका विस्तार होताहै यज्ञान्तमें विधाताकी इच्छानुकूल यह प्रजापति और साध्य जो मनमें संकल्प करते है वह सम्पन्न होजाता है "आप्नोति स्वाराज्यम्" इस श्रुतिके अनुसार ईश्वरकी सायुज्य मुक्तिको प्राप्त पुरुष सम्पूर्ण ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं "सर्वे ह अस्मै देवा बलिमावहन्ति" तथा "तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" सब देवता उनको उनको उपहार देतेहै और सब लोकोंमें उनकी यथेच्छ गति होती है जगत्कर्तृत्वव्यापारको छोडकर और वे सब कुछ करसकते हैं, यही ब्रह्मसूत्र [अ० ४पा०४ सू० १७] "जगद्व्यापारवर्ज्जं प्रकरणादसन्निहितत्वात्" में कहाहै श्रीयुत शंकराचार्यजी भाष्यमें कहतेहैं ईश्वरकी सायुज्यमुक्ति प्राप्त होनेवालोंको जगत् सृष्टिको छोडकर और सम्पूर्ण अणिमादि ऐश्वर्य प्राप्तहोते हैं. जगत्का व्यापार नित्यसिद्ध ईश्वरमें ही है, इस कारण उक्त साध्य देव महर्षि सब विधाताकेही नियमके अधीन है एकमात्र हिरण्यगर्भही जगत्के कर्ता है यह महर्षि प्रजापति इन्हींकी इच्छाके अनुसार कर्तृत्व ग्रहणकर सृष्टि करतेहै, जैसे राजाकी आज्ञानुसार मन्त्रीआदिको कर्तृत्व प्राप्त है इसी प्रकार साध्यगणादिको है, यह प्रजापति किस रूपसे ब्रह्माके सहित सायुज्य लाभ करतेहैं यह कौषीतकी उपनिषद्में लिखा है "ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परापरावतो वसन्ति तस्मिन् वसति शाश्वतीः समाः सा या ब्रह्मणो जितिः या च व्युष्टिः तां जितिं तां व्युष्टिं व्यश्नुते तद्य एवैतद् ब्रह्मलोकं

ब्रह्मचर्येण अनुविन्दन्ति" अर्थात् जिन्होंने जितेन्द्रिय होकर अर्थसहित वेदपाठादिकार्यद्वारा जीवन व्यतीत किया है उनका ब्रह्मलोकमें गमन होताहै ब्रह्माकी समान आयु होकर उस स्थलमें निवास करते हैं ब्रह्माकी समान उनमें उत्कर्षता होतीहै तथा ब्रह्माकी समान व्याप्तिलाभ करते है आशय यह कि यह पुरुष ब्रह्माके शरीरकी सायुज्य लाभ करके ब्रह्मलोकमें निवास करते है, सृष्टिरचनामें उपयुक्त इन पुरुषोंको ही सृष्टिकरनेके समय ब्रह्माजी अपने शरीरसे प्रगट करते हैं, मानसयाग करनेवाले साध्य और ऋषिगणके शरीरविषयमें कुछ लिखते हैं अर्थात् संकल्पका साधन मन तो सिद्धही है शरीर वा बाह्य इन्द्रिय ऐश्वर्य होताहै वा नहीं इसमें कहते है।

"अभावं बादरिराह ह्येवम्" [शा० अ० ४ पा० ४ सू० १०]

बादरि आचार्य "मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते" छां०८।१९।५। "य एते ब्रह्मलोके" "छां० ८।१३।१" ब्रह्मलोकमें शरीर इन्द्रियसे विना केवल मनसे ही भोगसाधन है ब्रह्मलोकके ऐश्वर्यको मनसे अनुभव कर रमण करता है इस श्रुतिको देखकर ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए पुरुषोंको शरीर इन्द्रियका अभाव मान्ते है अर्थात् उनका शरीर मनोमयमात्र होताहै परन्तु जैमिनि कहते हैं।

"भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्" [शा० ४ पा० ४ सू० ११]

जैमिनि कहतेहैं ब्रह्मलोकप्राप्तिरूप मुक्तिमें इन्द्रियके सहित शरीरका भाव है कारण कि श्रुतियोंमें नानात्वभाव देखाजाता है "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति" इत्यादि [छां० अ० ७। २६। २] अर्थात् ब्रह्मलोकवासी मुक्त पुरुष एक तीन पांच सात आदि सहस्रों रूप धारण करसकतेहै इससे शरीर इन्द्रिय और मन उनमें तीनों है।

"द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः" [शा० अ० ४ पा० ४ सू० १२]

व्यासजी कहते हैं जहां दो प्रकारकी श्रुति पाई जाय वहां विकल्प मान्ना जैसे द्वादशाह यागको दो प्रकारकी श्रुतिसे सत्रत्व और अहीनत्व कहाहै इसी प्रकार मुक्त पुरुष मनोमात्रशरीरी है और इच्छा करनेपर मन इन्द्रिय शरीरयुक्त भी होताहै। संकल्पमात्रसे ही यह सब कुछ होजातेहैं इस स्थलमें देवता ऋषिगण भी प्रजापतिरूप है विधाताकी इच्छासे इनके हृदयमें सम्पूर्ण वेदमंत्रोंका आविर्भाव हुआ इसीसे इनको ऋषि अर्थात् मंत्रद्रष्टा कहते है यह ऋषि ब्रह्माके ही नियममें नियम्य हैं इनकी और ब्रह्माकी इच्छा अभिन्न है, ब्रह्माके ही हृदयसे इनके मनोंमें वेदमंत्र प्रगट हुए ऋषियोंने मंत्रोंको प्रत्यक्ष करके मानसयागद्वारा ब्रह्माको परितृप्त किया, उस समय ब्रह्माजीने यथोक्त सब मंत्रोंका प्रगटरूपसे उपदेश दिया, उन्होंने संकल्पशरीर होकर दूसरोंको उपदेश दिया इस प्रकार गुरुपरम्परासे जगतमें

व्याप्त हुआ इसीसे इसको श्रुति कहते हैं [अर्थात् परंपरासे सुनाहुआ] इसीसे वेदको अपौरुषेय नित्य कहतेहैं यह अनादिसिद्ध ब्रह्मवाणी है। प्रश्न-यदि ऐसा है तो वेदमें अनेक ऋषियोंके नाम क्यों पाये जातेहैं यथा "त्रितःकूपे वहितो देवान् हवत ऊतये" [ऋ० मं० १ मू० १०५ मंत्र १७] "त्वा मद्यऋष आर्षेय ऋषीणां नपात्" [यजु०२२।६१] "त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्" [यजु०३।६२]। तथा अथर्व १८। ३ मं० १६ में सातों ऋषियोंके नाम और ऋग्वेद १० मं० ५६ मू० में बृहदुक्थ ऋषिका पुत्रको उपदेश देना लिखा है इससे वेद उन उन कथाओंके पश्चात् निर्मित होना चाहिये। उत्तर-इनके होनेमें वेदके अपौरुषेयत्व होनेमें कुछ हानि नहीं पडती कारण कि मनुष्यकी रचना अर्थको देखकर होतीहै और ईश्वरका ज्ञान त्रिकालमें एकरस है उसने जो कुछ लिखा है वैसा यदि न हुआ हो तो होकर रहताहै भूत, भविष्य, वर्तमान वेदमें सब कुछ जाना जाता है, दूसरे इन वेदके शब्दोंको देखकर ही उनके अनुसार ब्रह्माजीने सबका नामकरण किया है यह शब्द दूसरे अर्थोंमें युक्तभी हैं तीसरे वेदकी कथा इतिहास नाम आध्यात्मिकभी हैं हितोपदेश करनेके निमित्त ऋषियोंके नाम आध्यात्मिक रूपमें कथन करके मनुष्योंको उपदेश दियेहैं यही बात जैमिनिने मीमांसामें और शबर मुनिने अपने भाष्यमें कथन की है यथा-"परं श्रुतिसामान्यमात्रम्" [जै० पा० १ मू० ०] "यत्परं बबरादिकं तच्छब्दसामान्यमेव न तु मनुष्यो बबरनामकोऽत्र विवक्षितः बबरध्वनियुक्तस्य प्रवहणस्वभावस्य वायोरत्र वक्तुं शक्यत्वात्" अर्थात् वेदमें जहां "बबरः प्रावाहनिरकामयत" प्रवाहण गोत्रोत्पन्न बबरनामा ब्राह्मणने इस प्रकार इच्छा की इस प्रकारका अर्थ मनुष्य अपने संस्कारानुरूप करतेहैं किन्तु वास्तविक देखनेसे यह आध्यात्मिक अर्थ है बबरध्वनियुक्त प्रवाहनि अर्थात् प्रवहनस्वभाव वायुका अर्थ होता है "सिद्धान्तशिरोमणिके गोलाऽध्यायके वासनाऽध्यायमें सप्तविध वायु लिखाहै आवह, प्रवह, उद्वह, संवह, सुवह, विवह, परावह" इससे मंत्रब्राह्मणात्मक वेदमें इतिहास आध्यात्मिक उपदेशपरत्व तथा ईश्वरके त्रिकालज्ञानसूचक हैं और यह उपदेश करनेकी रीतिसे वर्णन किये हैं और वेदने इन वार्तोंको भी खोल दियाहै "अहं सोस्मि" [ऋ० म० १ मू० १०५ मं० ७। तथा ऋ० मं० १ सू० १५८ मंत्र ६ दीर्घतमा इत्यादिकी व्याख्या देखो तथा त्रिकाव्यवेधस [ऋ०१।१२।सू० ७२।१ मं०] इत्यादि देखनेसे विदित होताहै कि वेद नित्य ब्रह्मसे आविर्भूत है, और कोई वेदका रचयिता नहीं है विस्तार न करके प्रस्तुत वर्णन करते हैं कि साध्य देव और मंत्रद्रष्टा ऋषि ब्रह्माके शरीरमें ही विद्यमान होतेहैं ब्रह्मा उनको प्रगट करदेतेहैं और वेही उस

यज्ञको करते अर्थात् उसके यजनद्वारा त्रिलोकीकी रचना करते हैं इस यज्ञके विना सृष्टिरचना नहीं होसकती, यह ब्रह्मलोकवासी मुक्त पुरुष ब्रह्माके साथ मुक्त होजाते हैं, जब कि बाह्य सामग्री नहीं थी तब देवता और साध्य तथा महर्षियोंने प्रथम मानसयाग करके सृष्टिकी उत्पत्ति की, और मुक्त पुरुषोंको सिद्धसंकल्प वर्णन किया, यथा—"स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" छां० वह जैसी इच्छा करते हैं वैसाही उनके निकट उपस्थित होता है पितृलोककी कामना करते ही पितृलोक उपस्थित होता है, "संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" [शा० अ० ४ पा० ४ सू० ८] व्याससूत्रमें इसका विशेष रूपसे श्रीशंकरस्वामीने भाष्य लिखा है. इस प्रकारसे साध्यगण देवगण ऋषिगण मानसयाग मनोमात्रशरीरसे सम्पादन करते हुए पहले कहचुके हैं कि इनको सृष्टिक्षमताके सिवाय और सब सामर्थ्य होती है इस कारण सृष्टिरचनाके निमित्त उसका यजन करते हैं और यज्ञपुरुष ही सृष्टिकी रचना करते है अर्थात् सृष्टिरचनेकी सामर्थ्य केवल ईश्वरकेही हाथमें रहती है इससे उनको यज्ञ करना ही होगा और यज्ञपुरुषसे सृष्टि करानी ही होगी इस कारण ही ऋषियोंने वेदमंत्रोंको प्रत्यक्ष [मनोमय शरीरसे देखा तो परमकाश नहीं करसके] यज्ञपुरुषसेही प्रगट कराये यह निरूपित हुआ है [ऋ० ८।४।१७] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १।

यत्पुरुषंव्यदधुःकतिधाव्यकल्पयन् ॥ मुखङ्किमस्यासीत्किम्बाहूकिमूरूपादाऽउच्येते ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यत्पुरुषमित्यस्य नारायण ऋ० । नि० छं पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ–प्रश्नोत्तररूपसे ब्राह्मणादिकी सृष्टि कहते हैं. प्रजापतिके प्राणरूप देवता तथा साध्यगणादि (यत्) जिस समय (पुरुषम्) विराट् पुरुषको (व्यदधुः संकल्पद्वारा प्रगट करते हुए उस समय (कतिधा) कितने प्रकारसे (व्यकल्पयन्) कल्पना करते अर्थात् पूर्ण करते हुए (अस्य) इस पुरुषका (मुखम्) मुख (किम्) क्या (आसीत्) हुआ (किम्) क्या (बाहू) दो भुजा (ऊरू) दोनों जंघा (पादौ) दोनों चरण (उच्येते) कहे जाते हैं॥१०॥पहले सामान्य प्रश्न और मुखादि विशेष प्रश्न हैं अर्थात् देवगण सृष्टिके निमित्त मानसयाग विस्तार करके जिस समय निज अमोघ संकल्पद्वारा विराट् पुरुषको विराट्रूप [विराट्शरीर]

सृजन करते हुए उस समय यह विराट् कितने प्रकारसे पूर्ण हुआ, क्या पदार्थ उसका मुख बाहु ऊरु और चरण हुआ ॥ १० ॥

विस्तार-विराट् सृष्टिके मध्यमें भी दो अंश हैं प्रथम विराट् पुरुषकी उत्पत्ति दूसरी विराट्के विराजरूपकी उत्पत्ति,देवयोनिसे कृमि कीट पर्यन्त सब जीव एकत्र करके समष्टिचैतन्य अर्थात् विराट् पुरुष कहाते है, और देवयोनिसे कृमिकीटयोनिपर्यन्त जीवोंके स्थूल शरीर एकत्र करके विराजरूप कहाते हैं, वेदान्तमें इसी कारण विराट् पुरुषको समष्टि चैतन्य और जीवपुरुषको व्यष्टिचैतन्य कहा जाता है, इसमें विराट् पुरुषका आविर्भाव[1],"ततो विराडजायत" इस मंत्रमें कथन कर चुके हैं इस समय इस मंत्रमें विराट् शरीर [विराजरूप] की उत्पत्तिविषयमें कुछ कहेंगे, अगले मंत्रोंमें उत्तररूप उसकी वर्णना कही है, यह वर्णना अतिविचित्र है, एक ओर तो विराट् पुरुषके अंग प्रत्यंग वर्णन करादिये हैं, दूसरी ओर उसी वर्णनासे सब जगत्की सृष्टि कथन करदी है, लोकशिक्षाके निमित्त वेदपुरुष स्वयं ही प्रश्न करता और उत्तरदाता है, मंत्रके प्रथमार्धमें सामान्य प्रश्न और द्वितीयार्द्धमें विशेषरूपसे चार प्रश्न हैं इसमें प्रथमार्द्धका उत्तर १२।१३ वे मंत्रमें दिया है और चार प्रश्नोंका विशेषरूप उत्तर ११ मंत्रमें दिया है विराज पुरुष कितने प्रकारमें पूर्णहुआ यही जिज्ञासाका संकेत है विराट्पुरुष जीवन अर्थात् समष्टिचैतन्य पुरुष उसका हम सरीखे जीवगणोंकी समान वास्तविक लिङ्गशरीर और स्थूल शरीर नहीं हैं, देवताओंने मानसयागमें उसकी पशुत्व कल्पना की है विना अभिमानके पशुभाव नहीं होसकता, अभिमानके विना लिंगशरीर नहीं होता लिंगशरीरविना स्थूल शरीर नहीं होता, इससे विराट्को पशुत्वकल्पना करनेमें इन सबकी आवश्यकता है अर्थात् उसका अभिमान लिंगशरीर स्थूलशरीर सबही चाहिये, इस प्रकार मानस यागमें यजनके निमित्त कल्पना रूपकद्वारा कथन किया है, विराट्की कितने प्रकारसे पूर्णता हुई इसके मर्ममें पशुकल्पना करनेमें लिंगशरीर और स्थूलशरीरकी आवश्यकता है, इस कारण उसके अभिमानसम्पादनार्थ किस २ वस्तुको लिंगशरीररूप और किस पदार्थकी स्थूलशरीररूपसे भावना की है देवताओंकी इस इस भावना वा कल्पनाके द्वारा उस उस उत्पन्न पदार्थके अधिष्ठात्री देवता वही वही वस्तुरूप होगये; देवताओंने

---

१ वेदमें प्रायशः आविर्भावस्थलमें उत्पत्ति और उत्पत्तिस्थलमें कल्पना शब्द आया है, इसका कुछ गूढ तात्पर्य है अर्थात् उत्पत्ति कदाचित् मायासे कल्पित सत्य नहीं इस निमित्त कल्पना क्लृप् धातुका प्रयोग दिया है, और आविर्भाव सत्यवस्तुका होता है यह जानो और इस निमित्त आविर्भाव स्थलमें उत्पत्तिका व्यवहार है इस प्रयोजनीय वार्ताको ध्यानमें रखना चाहिये।

भावना की मन उसका चन्द्रमा हो बस मनका अधिष्ठात्री देवता चन्द्रमा हुआ, सूर्य चक्षु हो बस चक्षुका अधिष्ठात्री देवता सूर्यरूप हुआ वह सिद्धसंकल्प है इससे उसका संकल्प अमोघ और विचित्र है, इसीसे वह यही रूप हुआ, हमारे अन्तर्याग अर्थात् मानसपूजामें रूपकल्पना चाहे जितनी हो चित्तकी शुद्धिमात्र होतेही फल अवश्य होगा, किन्तु उक्तरूप कल्पित पदार्थ कभी अधिष्ठातृदेवतारूपमें परिणत नहीं होते यही देवताओंकी और हमारी मानस पूजामें विभिन्नता है यह लिंगशरीरविषयक प्रश्न हुआ, स्थूल शरीरमें श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, नासिका यह पांच ज्ञानेन्द्रिय, वाक्, हस्त, पाद, पायु, उपस्थ, यह पांच कर्मेन्द्रिय, यह दश और प्राण अपान समान उदान व्यान यह पांच प्राण, प्राणका स्थान हृदय, अपानका गुह्यमें, समानका नाभिदेशमें, उदानका कण्ठ-कूपमें, व्यानका स्थान समस्त शरीर अर्थात् त्वचाके समस्त निम्नभागमें है सम्पूर्ण इन्द्रियोंका अध्यक्ष मन सबकी करनेवाली बुद्धि इन १७ समष्टिको लिङ्गश कहते हैं सामान्य प्रश्नमें इसी १७ की जिज्ञासा थी अर्थात् श्रोत्र क्या है त्वक् क्या है विशेष प्रश्नमें स्थूल शरीरके चार प्रधान अंशमात्र ग्रहण किये हैं [ऋ०८।४।१७]"किं बाहू किमूरू" के स्थानमें"कौ बाहू का ऊरू"पाठ है ॥१०॥

कण्डिका ११–मंत्र १ ।

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः ॥ ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्याᳪशूद्रोऽअजायत ॥ ११ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ब्राह्मणोस्येत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ–(ब्राह्मणः) ब्राह्मणत्वजातिविशिष्ट पुरुष (अस्य) इस प्रजापतिका (मुखम्) मुख (असीत्) हुआ, अर्थात् मुखसे उत्पन्न हुआ (राजन्यः)क्षत्रियत्वजातिविशिष्ट पुरुष (बाहू कृतः) बाहुरूपसे निष्पादित हुआ अर्थात् भुजाओंसे प्रगट हुआ, (अस्य)इसकी (यत्)जो(ऊरू)जंघा है (तत्)वह(वैश्यः)वैश्य हुआ (पद्भ्याम्) दोनो चरणोंसे (शूद्रः) शूद्रजातिविशिष्ट पुरुष(अजायत)उत्पन्न हुआ मुखादिसे ब्राह्मणोकी उत्पत्ति कृ० यजुः सप्तम काण्डमें लिखी है "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत" तथा "तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत"[१४ । २८ यजु०] इस प्रकार स्पष्ट लिखी है इसीसे सायणाचार्य और महीधरने इसीप्रकार अर्थ किया है ॥ ११ ॥

विस्तार–यह पहले कथन कर चुके है कि पुरुषसूक्तमें अद्भुत रूपसे रचनाकी-गई है एक ओर तो पुरुषमेध यज्ञ है दूसरी ओर सृष्टिका वर्णन है इस कारण

दोनों विधान इसमें प्रत्यक्षरूपसे लक्षित होते हैं "ब्रह्मणे ब्राह्मणं" ३०।५ मंत्रसे अन्तपर्यन्त सम्पूर्ण जातियोंका प्रायः वर्णन किया गया है और पुरुषमेधमें प्रायः सब जातिके पुरुष बैठते हैं इनका विराट् रूपसे पूजन होता है प्रजापतिके अंगोंकी कल्पना होती है अर्थात् ब्राह्मण उसके मुखरूप क्षत्रिय उसके भुजारूप वैश्य उसके ऊरुरूप और शूद्र उसके चरणरूप हैं, वा ब्राह्मण मुखके अधिष्ठातृ, क्षत्रिय भुजाके अधिष्ठातृ, वैश्य ऊरुयुगलके अधिष्ठातृ देवता हुए शूद्र चरणोंके अर्थात् देवगणने मानसयागमें निर्गुण पुरुषरूप भित्तिसे विराट् पुरुषरूप चित्र दर्शन करके ब्राह्मणादि चार वर्णोंका चार अंगोंसे प्रादुर्भाव देखकर उनका वर्णरूपसे विस्तार किया, लिङ्गशरीर हिरण्यगर्भरूप है सो पूर्व कहचुके हैं इस मंत्रमें चार वर्णद्वारा विराट्की स्थूल मूर्ति कथन की है, ब्राह्मणोंकी सृष्टि ब्रह्मतेजयुक्त हुई है तेजको अग्नि भी कहते हैं इस कारण ब्राह्मण और अग्नि दोनोंकी सृष्टि मुखसे ही है यथा [मुखादग्निरजायत] मुखसे अग्नि उत्पन्न हुई, यह अगले मंत्रमें कहा है, क्षत्रियत्व तेज भुजास्वरूप है इससे उससे क्षत्रिय हुआ. इसी प्रकार व्यवसाय और सेवकत्व उसके ऊरु और चरणोंमें स्थित होनेसे उससे शेष दो वर्ण हुए इस प्रकारसे पुरुषमेधमें सृष्टिरचनापक्षमें यह विचार करना चाहिये कि ब्राह्मणादि चारों वर्ण उससे प्रगट हुएहैं, और यह कर्मपरत्वहै वा जन्मसे सब विचार करनेसे जाना जाता है कि, जिसप्रकार पूर्वजन्मके कर्मानुष्ठानसे ब्रह्माजीने महर्षियोंको उत्पन्न किया, इसी प्रकार प्रलयसे पूर्वमें जिनके पूर्वोपार्जित कर्म ब्राह्मण होनेके थे वह ब्राह्मण, जिनके क्षत्रिय होनेके थे वे क्षत्रिय, इत्यादि हुए, इस स्थलको विचारनेसे देखा जाताहै कि प्रथम ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति जातिपरत्व ही विदित होतीहै यदि कर्मपरत्व होतीहै तो उससे ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वैश्यत्व शूद्रत्व हुआ इस प्रकार वेद लिखता. परन्तु वैसा न कहकर स्वच्छ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र चारोंकी उत्पत्ति लिखी है, यदि कहोकि इसमें पंचमी विभक्ति नहीं है केवल 'पद्भ्यां' इसमें ही पंचमी विभक्ति दीखतीहै, तो इसका उत्तर यह है कि पुरुषमेधमें प्रजापतिके अंगोंकी कल्पनासे प्रथमा विभक्तिका निर्देश किया है और सृष्टिरचना ब्राह्मणादि उससे प्रगट हुए हैं इस अर्थके स्पष्ट दिखानेके निमित्त चौथे पदमें पंचमी विभक्ति लिखी है यदि कहोकि तीनवर्णमें तो पंचमी नहीं है केवल चतुर्थही वर्णमें है तो हम शूद्रकी ही उत्पत्ति चरणोंसे मानेंगे औरोंकी नहीं तब यह विचारना चाहिये कि इस स्थलमें प्रायः समस्त जगत्की रचना कीगई है चन्द्र सूर्य तारा आरण्य वनके पशु भूमि अन्तरिक्षआदि और जो जिस अंगसे हुए वहभी प्रायः प्रतिपादन किया है, तव यदि तीन वर्णकी कल्पनामात्र मानोगे तो यह तीन वर्ण कहांसे

आगये, यदि स्वतः होगये तौ ईश्वरकी ईश्वरतामें भेद पडता है, और चारों वर्णोंका ईश्वरद्वारा प्रगट होना यजु० १४ अ० के २८ । २९ । ३० मंत्रोंमें चारों वर्णकी रचना कह चुके हैं,अब यह इस मंत्रमें स्पष्ट करते है कि कौन किस अंगसे प्रगट हुआ है, फिर "कृष्ण यजुके सातमें कांडमें स्पष्ट ब्राह्मणादिकी उत्पत्ति विषयमें पञ्चमी विभक्ति पडी है," इस कारण यह इन्ही अंगोंसे सिद्ध संकल्परूपसे प्रगट हुए, यदि पीछे कर्मोंसे ब्राह्मणादि हुए, तौ केवल ऐसाही प्रयोग होता कि उससे मनुष्य जाति हुई परन्तु ऐसा न कहकर चार नाम ग्रहण करनेसे इसमें वर्णाश्रमधर्मकाभी आशय सम्मिलित किया दीखता है, इस कारण संस्कारयुक्त ब्राह्मणादि जाति उससे प्रगट हुई इससे यह चारों वर्ण जातिवाचक हैं कर्मवाचक नहीं हैं, अब इसपर दूसरे शास्त्रकेभी प्रमाण लिखते है जिससे स्पष्ट होता है कि यह जातिपरत्व है और उसके अंगोंसे उत्पन्न हुए है "लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः । ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्" [मनु० अ० १ श्लो० ३१] लोकोंकी वृद्धिके निमित्त मुख बाहु ऊरु चरणोंसे उसने चारों वर्णोंकी रचना की यहां सबका एक समास करके पञ्चमी विभक्ति सबके साथमें निरूपण की है, जब कि यहां सृष्टिरचनामें पंचमी विभक्ति है तब क्यों न मंत्रका आशय यथायोग्य माना जाय फिर मनुजी लिखते है "वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् । कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥ नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् । पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ ३० ॥ शर्मवद्ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम् । वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ ३२ ॥" [अ० २ ।] "शर्म ब्राह्मणस्य । वर्म क्षत्रियस्य । गुप्तेति वैश्यस्य" [आश्वलायन०] पवित्र वैदिककर्मोंसे ब्राह्मणादि तीनों वर्णोंका संस्कार करना यह विधि पवित्र पापनाशक और दोनों लोकमें पवित्रताका हेतु है. ब्राह्मणादि वर्णोंका नामकरण दसवें वा बारहवें दिन अच्छी तिथि-मुहूर्त नक्षत्रमें करना चाहिये ब्राह्मणका शर्मयुक्त क्षत्रियका रक्षा (वर्म) युक्त वैश्यका पुष्टि (गुप्त) युक्त और शूद्रका दासत्व विशिष्ट नाम रखना चाहिये । यही आश्वलायनमें लिखा है अब विचारनेकी बात है यदि ब्राह्मणादि वर्ण कर्मपरत्व हों तो उनका संस्कार जन्मसे न होना चाहिये न ब्राह्मणत्वगुणविशिष्ट नाम रखना चाहिये क्योंकि अभी तो यह विदितही नहीं कि वह किस वर्णमें प्रविष्ट हों यदि शूद्रकेसे कर्म किये तो संस्कारही नष्ट होजायगा इससे पहले ब्राह्मण जातिही है पीछे उसके संस्कार होते है पश्चात् कर्मोंका उपदेश होताहै आगे "अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयीत गर्भाष्टमे वा । एकादशे क्षत्रियम् द्वादशे वैश्यम्"

[आश्वला०] "गर्भाष्टमेब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः"[मनु०]२।३६ आठवें वर्षमें ब्राह्मणका ग्यारहवेंमें क्षत्रियका बारहवेंमें वैश्यका यज्ञोपवीत करै. यहां भी यही निर्णय है कि यह सब कर्म जातिपरत्वही निर्णीत हुए है. "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्" [शतपथ०] वसन्तमें ब्राह्मण ग्रीष्ममें क्षत्रिय शरद्में वैश्यका यज्ञोपवीत करै. यहांतक भी जातिपरत्वही संस्कार हुए हैं आगे मनुजीने तीनों वर्णकी मुञ्ज मेखलाभी पृथक् २ ही प्रतिपादन की है.

"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥" मनु अ० ॥ १ ॥ ८८
"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥"गीता॥२॥अ०१८।४२
"प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥" मनु ॥ ३ ॥ अ० १।८९
"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्म स्वभावजम् ॥"गी० ॥४॥अ० १८ । ४३
"पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥"मनु॥५॥अ० । १ । ९०
"कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥"गी०॥६॥अ०१८।४४
"एकमेव हि शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥" मनु ॥ ७ ॥ अ० १ । ९१
"परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥"गी०॥८॥अ०१८।४४

वेद पढना पढाना यज्ञ करना कराना दान लेना देना यह कर्म ब्राह्मणके निमित्त प्रभुने कल्पना किया ॥ १ ॥ गीतामें शान्ति, दम, तप, शौच, क्षान्ति, सीधापन, ज्ञान, आस्तिकता, यह ब्राह्मणका स्वाभाविक कर्म है॥ २ ॥ प्रजाकी रक्षा, दान, वेदपाठ, विषयोंमें अनासक्ति यह कर्म संक्षेपसे क्षत्रियोंके निमित्त है ॥ ३ ॥ शूरता तेज धैर्य युद्धसे न भागना दान करना ईश्वरभाव यह क्षत्रियोंका स्वाभाविक कर्म है ॥ ४ ॥ पशुओंका रक्षण दान वेदपढना व्यापार व्याजलेना और कृषिकर्म वैश्योंके निमित्त कल्पना किया है ॥५॥ कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य करना यह वैश्यका स्वाभाविक कर्म है ॥ ६ ॥ इन तीनों वर्णोंकी असूयारहित सेवा करना शूद्रका कर्म है ॥ ७ ॥ परिचर्या शूद्रमें स्वाभाविक होती है ॥ ८ ॥ अब विचारनेकी बात है मनुजीने यह कर्म ब्राह्मणके वास्ते निरूपण किये. यह नहीं लिखा कि इन कर्मोंसे ब्राह्मण होता है. इससे सिद्ध है कि यह चारों वर्ण जातिपरत्वही हैं.

जब कि तीनो वर्ण वेद पढे होतेथे तिसपरभी पढाना ब्राह्मणहीको कहा इससेभी ब्राह्मणमें विशेषता जातिसे प्रतिपादन की है जो तप और विद्याहीन हो उसके आचरण ब्राह्मणकेसे नहीं हैं तमसे उसका स्वभाव आच्छादित होगयाहै परन्तु जातिसे वह ब्राह्मण होता है यह महाभाष्यमेंभी कहा है यथा–

"तपः श्रुत च योनिश्च ह्येतद्ब्राह्मणकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥"

तप, ब्रह्मचर्य, शास्त्र और योनि यह ब्राह्मणका कारक है, जो तप और शास्त्रसे हीन है वह जातिसे ब्राह्मण है इससे स्पष्ट है कि जातिसे ब्राह्मण रहता है, यदि योनिसे ब्राह्मण न हो और तप ब्रह्मचर्य तथा शास्त्रयुक्त हो तौ वह ब्राह्मण नहीं होसक्ता, तौ जिसके होनेसे जो रहै, और जिसके नहीं होनेसे जो न रहै वही उसका मुख्य लक्षण है और जो कहते है "ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मणा वर्णतां गताः" इसका यही आशय है कि ब्रह्माद्वारा सर्वजगत्की उत्पत्ति है इससे सब जगत् ब्रह्ममय कहाता है; और ब्राह्मणादिका जन्म पूर्वजन्मके कर्मानुसार हुआ है जिसका जिस योनिमें कर्मवश जन्म है उस दशामें वह बदल नहीं सकता, गेहूं जैसे चना नहीं होसकता चाहै घुन गया हो, इसीप्रकार ब्राह्मण शूद्र नहीं होसकता चाहै बेपढा हो मनुजी स्पष्ट [अ० १० श्लो० ७३] में कहते हैं ॥

"अनार्यमार्यकर्माणमार्यंश्चानार्यकर्मिणम् ।
संप्रधार्याब्रवीद्धाता न समौ नासमाविति ॥" मनुः ॥

शूद्र द्विजातिके कर्म करके भी इस जन्ममें द्विजाति नहीं होसकता, और द्विजाति शूद्रकेसे कर्म करकेभी शूद्र नहीं होता, परन्तु मानसे ब्राह्मणोंमें अधः होजाता हैं अधिक विस्तार करनेसे वढाजाता है विशेष जिसे देखना हो हमारे निर्मित किये दयानन्दतिमिरभास्करके चौथे समुल्लास वर्णव्यवस्थाप्रकरणमें देखलो जिससे जो जन्मताहै वही उसका अधिष्ठातृ देवता है जैसे ब्रह्मसे आकाश हुआ तो इसके अधिष्ठात्रीदेवता ब्रह्म हैं, और ब्रह्ममेंही वह अवस्थान करताहै. इसीप्रकार अग्नि वायु आदिको जानिये "वायोरग्निः" वायुसे अग्नि हुई उसकी अधिष्ठात्री देवता वायु है इसीसे अग्निको वायुसखा कहाहै, इसीप्रकार औरभी जानो कर्मदेवता संचित और प्रारब्ध इन दो भेदसे मुख्य है पूर्वजन्मार्जित कर्मफलसे जिस शरीरकी गठन हुई है, वह शरीरके सहजन्मा होकर मरणसमयतक शरीरके साथ रहते हैं, इन्ही अधिष्ठातृ कर्मको संचित देवता कहते है जीवकी ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ यह संचित देवता है और जो शरीरपरिग्रह उपरान्त वेदादिसंस्कार श्रेष्ठकर्म उसमें अवस्थान करते है, वह प्रारब्धद्वारा प्राप्त होते हैं, जैसे कोई महामूर्ख दैवात् विद्वान् होजाय और निर्धन धनी हो जाय इसीप्रकार पुरातन कर्मसे जिसका शरीर

ब्राह्मणके वीर्यसे गढन हुआ है वह उसका गढन मरणपर्यन्त रहैगा, इसका वेदादि-संस्कार और कर्म विशेष आगन्तुक है, मनुष्य अपने कर्मसे अलंकृत होजाता है, जो होता है, वह उसका तिरोभाव नहीं होता, मनुष्यके अधिष्ठातृ इन्द्रियोंके देवतामें जो जागृत होता है वह उसमें विशेष लक्षित होता है, जैसे जिसका इन्द्र देवता जागृत हो वह बडा दाता होता है, जो उदार मन सुन्दररूप हो उसका चन्द्र देवता जागृत है, जिसमें कुकर्म दीखै उसका पाप देवता जागृत है, और जो वेदशास्त्रसम्पन्न शौचाचारपरायण धर्मयुक्त वेदपाठनिरत हो उसका ब्रह्मण्यदेव जागृत है यह जानना चाहिये, परन्तु जो जिस योनिसे प्रगट है वह परिवर्तन नहीं होसक्ता इससे ब्राह्मणादि जाति है यह सिद्ध है अलमतिविस्तरेण [ऋ० ८ । ४ । १७] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

चन्द्रमा मन॑सो जा॒तश्चक्षोः॒ सूर्यो॑ऽअजायत ॥ श्रोत्रा॑द्वा॒युश्च॑ प्रा॒णश्च॒ मुखा॑द॒ग्निर॑जायत ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चन्द्रमा इत्यस्य नारायण ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-जैसे गौआदि ब्राह्मणादि उससे उत्पन्न हुए है इसीप्रकार उसके (मनसः) मनसे (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (जातः) प्रगट हुआहै (चक्षोः) चक्षुओंसे (सूर्यः) सूर्य (अजायत) प्रगट हुआहै (श्रोत्रात्) श्रोत्रसे (वायुः) वायु (च) और (प्राणः) प्राण प्रगट हुए (च) और (मुखात्) मुखसे (अग्निः) अग्नि (अजायत) प्रगट हुई ॥ १२ ॥

विशेष-यह जो अग्नि वायु सूर्य चन्द्रमा लक्षित होतेहैं इनमें चेतनता है वा नहीं इसका विचार इसप्रकार जानना कि इनमें अधिष्ठित होकर विराट्का अंश शक्ति) चेतन वस्तु है, जिसको चन्द्र कहते है वह चन्द्र देवताके रहनेका एक प्रधान गोलक है, इसीप्रकार दृश्यमान सूर्य अग्निभी सूर्य और अग्नि देवताके रहनेके प्रधान स्थान है, इसीप्रकार सब देवताओंमें जानलेना, इन सम्पूर्ण देवताओंके प्रधानस्थान एक २ गोलक होकरभी इनके सम्पूर्ण अंश अपने २ कारणस्थानमें अधिष्ठातृ देवता होकर अवस्थान करते हैं जिसप्रकार जल प्रधान स्थान समुद्र होकरभी उसके किंचित् २ अंश सब जीवोंमें है, इसीप्रकार विराट्के मनसे समष्टि चंद्र हुआ उसके कुछ२अंश कारणस्थान मनमें स्थित हो अधिष्ठातृ देवतारूपसे अवस्थान करते है. अधिष्ठातृ देवता ही अधिष्ठानका चालक होता है । इसी प्रकार

सूर्यकाभी प्रधानस्थान यह दृश्यमान सूर्यलोक वा सूर्यगोलक होकर भी उसके किंचित् अंश हमारे चक्षुमें आकर अधिष्ठातृदेवतारूप होकर रहतेहै जिससे हम देखतेहै अन्धेका अधिष्ठातृ देवता विदारूपहै इसी प्रकार अग्नि देवताका प्रधान स्थान अन्तरिक्षद्यु और जठर यह तीन है तो भी अपने किंचित् अंशसे अपने कारणस्थान (हमारे मुखमें अवस्थित वागिन्द्रिय) में स्थित होकर अधिष्ठातृदेवता होकर अवस्थान करते है, इसी प्रकार सम्पूर्ण देवताओंमें जानना मंत्रब्राह्मणमें जहां "मृदब्रवीत्" "आपोऽब्रुवन्" ऐसा आताहै वा "ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः" [कौषीतकी०] वे प्राणादिक अपनी श्रेष्ठता सम्पादन करते प्रजापतिके समीप जाकर कहनेलगे ऐसे स्थलोंमें यही जानना कि यह जडके सम्बोधन नहीं, किन्तु उनके अधिष्ठातृदेवता है, सो प्रारंभमेंभी कहचुके है [ऋ० ८ । ४ । १७] में पिछला आधा "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत" ऐसा है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र १ ।

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत ॥ पद्भ्याम्भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ऽअकल्पयन् १३

ऋष्यादि–(१) ॐ नाभ्या इत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ–(नाभ्याः) नाभिसे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (आसीत्) हुआ (शीर्ष्णः) शिरसे (द्यौः) स्वर्ग (समवर्तत) प्रगटहुआ (पद्भ्याम्) चरणोंसे (भूमिः) पृथ्वी (श्रोत्रात्) श्रोत्रसे (दिशः) सम्पूर्ण दिशा उत्पन्न हुई(तथा) उसीप्रकार (लोकान्) भूरादि लोकोंको (अकल्पयन्) पूर्वोक्त कल्पना करते हुए वा विराट्के देहसे कल्पना करतेहुए ॥ १३ ॥

विशेष- अन्तरिक्ष देवताका प्रधान द्वार अन्तरिक्ष लोक है तो भी उसका किंचित् अंश हम जीवगणोंके नाभिस्थानमें रहकर शरीरगोलकका केन्द्ररूप हुआ है, मस्तक द्युलोक इसके कहनेसे प्रकाशात्मक देवताका बोध जानना, मस्तिष्कमें वह प्रकाशात्मक देवता होकर अवस्थान करते हैं यह देवता यदि क्षणमात्रको भी तिरोधान होजाय तो शरीरमें स्थित रक्तकणिका और धमनी सब अवल होने और रुधिरके जमजानेसे तत्काल जीवन मूर्छा और अन्धकारसे व्याप्त होजाय यदि यह द्युदेवता पुनर्वार आगमन न करै तो फिर जीवन नहीं होता मृत्यु होजातीहै, योगीजन चक्षु मूदकर भ्रमध्यमें इसी किरणका दर्शन करते है, वह किरण इस दिवदेव देवताके मस्तिष्कसे आई प्रकाश-

मात्र है जिनके मस्तकसे यह क्षण-क्षणमें आविर्भाव और तिरोभाव होती है वह पुरुष अस्थिरमति और सम्पूर्ण कार्यमें भ्रान्त होताहै. उन्माद इसकाही प्रधान कारण है । यह मस्तकका अधिष्ठातृ देवता है. प्रगट और तिरोहित होताहै । चरणोंसे भूमि हुई भूमिको आधारशक्ति जानो. आधारशक्ति और भूमि एकही बात है भूमि देवता अपने कारण पाद युगलमें किंचित् अवस्थित हुई हैं इससे दोनों चरणोंमें सब शरीरोंके वहन करनेकी सामर्थ्य है. यदि भूमिदेवता चरणोंसे क्षण कालकोभी तिरोहित होवे तो यह शरीर गिरजाय अतिशैशव और अतिवार्धक्य यह इन दो पादमें गूढ भावसे अवस्थान करतेहैं श्रोत्रसे १० दिशा हुई दिग्देवता अपने कारण श्रोत्रइन्द्रियमें कुछ अंशसे स्थित होकर अधिष्ठातृदेवतारूपसे विराजते हैं हम देखते हैं किसी दिशामें हम अपने करण स्थापन करें तब और सुनेंगे इसका कारण क्या ? यह सब दिशाओंमें व्यापी दिग्देवताका अधिष्ठानमात्रही इसका कारण है [ऋ० ८ । ४ । १७] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

यत्पुरु॑षेण ह॒विषा॑ दे॒वा य॒ज्ञमत॑न्वत ॥ व॒स॒न्तो॑ऽस्यासी॒दाज्यं॑ ग्री॒ष्म इ॒ध्मः श॒रद्ध॒विः ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत्पुरुषेणेत्यस्य नारायण ऋषिः । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं० । यज्ञो देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय पूर्वोक्त क्रमसे देवशरीरोंके होनेपर (देवाः) देवताओंने उत्तर सृष्टिके सिद्ध करनेके निमित्त बाह्यद्रव्यके उत्पन्न न होनेके कारण पुरुषस्वरूपकोही मनसे हविद्वारा संकल्पकर (पुरुषेण) उस पुरुषरूप (हविषा) हविद्वारा (यज्ञम्) मानस यज्ञको (अतन्वत) विस्तारकिया (वसन्तः) उस समय वसन्तऋतु (अस्य) इस यज्ञकी (आज्यम्) घृतरूप कल्पना (आसीत्) हुई (ग्रीष्मः) ग्रीष्मऋतु (इध्मः) समिध और (शरद्) शरदृऋतु (हविः) हवि (आसीत्) हुई । प्रथम पुरुषकी हवि सामान्यरूपसे संकल्प करके फिर वसन्तादिका आज्य विशेषरूपसे कल्पना कियाहै यजुर्में कण्डिकाव्यत्यय है ऋक्में इसके उपरान्त. तं यज्ञम् ९ फिर तस्माद्यज्ञात् ८ फिर ससास्यासन् है॥१४॥

विस्तार-देवगणसे यहां साध्यगण और ऋषियोंका अर्थ जानो तैत्तिरीयके सप्तम प्रपाठकमें है "बर्हिषा वै प्रजापतिः प्रजा असृजत" इत्यादि अर्थात् देवताओंने जिस समय प्रजापतिको हविरूप कल्पना किया उन्होंने उसी समय सिद्ध संकल्पसे कहा वा इच्छा की कि मैं इस समय देवगणोंके मानसयागका हविस्वरूप हूं इस कारण विविध प्रजावान् होऊं उस समय सत्स्रज प्रजापतिने सब प्रजाकी

सृष्टि की इस प्रकार देवगणके मानसयज्ञमें इस यज्ञपुरुषसे सब प्रजाकी सृष्टि हुई है देवगण साध्यगण मंत्रद्रष्टा ऋषिगण हुए जिनकी सृष्टि पीछे कहचुके हैं यज्ञके विना सृष्टि नहीं इस कारण यज्ञके निमित्त सब जगत्की सृष्टि हुई है ब्रह्मसे ब्रह्माण्ड और उसके अभिमानी विराट् पुरुषने प्रगट होकर अपना शरीर कम्पित किया ओर उससे उसी समय सिद्ध देवगण तथा ब्रह्माके साथ मुक्त होनेवाले ऋषिगण प्रगट हुए "स तपस्तप्त्वा शरीरमधूनुत तस्य यन्मांसमासीत् ततोऽरुणाः केतवो वातरशना ऋषय उदतिष्ठन् ये नखाः ते वैखानसाः ये वालाः ते वालखिल्या यो रसः सोऽपाम् (कूर्मभूत्) अन्तरतः कूर्म भूतं सर्पन्तं तमब्रवीत्" इत्यादि [तैत्तिरीयारण्यक प्र० १ । अनु० २३] अर्थात् प्रजापति सृष्टि करनेके निमित्त रचनायोग्य सब वस्तु इस प्रकारसे होगी ऐसा स्थिर करके अपने शरीरको कंपित करतेहुए उसी क्षण मांससे अरुणकेतु और वातरशननामक ऋषिगण प्रकाशित हुए नखसे वैखानसनामक ऋषिगण प्रगट हुए वालसे वालखिल्य ऋषिगण प्रगट हुए, तिनके शरीरकी रस धातुसे कूर्म (कच्छपशरीर पुरुष) प्रादुर्भूत होकर उसी समय उस (कूर्मपुरुष) ने उसी एकार्णव जलसमूहके मध्यमें प्रविष्ट होकर विचरण किया, विधाता उसको विचरता देखकर कहनेलगे इत्यादि देवताओंके पास इस यज्ञ करनेकी कोई सामग्री न थी इस कारण उन्होंने मानसयज्ञ वा अन्तर्यागका विस्तार किया, यह जानना चाहिये। इसीसे बाह्य पूजासे मानस पूजाको प्रधान कहा है, मानसपूजाके विना पूजाकी विधि सिद्ध नहीं होती जाबाल उपनिषद्में तीर्थवासमें यही लिखा है बाह्यमें जितने तीर्थ देखेजाते हैं यह अन्तरके तीर्थ देखकरही निर्मित हुए हैं अन्तरकाशीमें जिसकी मृत्यु हो उसको बाह्य वाराणसीकी अपेक्षा नहीं है बाह्य तीर्थोंका सेवन अन्तर तीर्थकी सहायता प्रकाशताके निमित्त है बाह्य तीर्थोंमें रहकर ऋषियोंने अन्तर तीर्थकी पुष्टि की है। देवताओंने ऋतुओंको यज्ञकी एक २ वस्तु कल्पना किया है इसका आशय यह है वसन्त ऋतु घृतस्थानीय की है इसी कारण वसन्त ऋतु सदाही जीवोंको घृततुल्य आयुकी वृद्धि वा शरीरपोषण करती है। ग्रीष्म ऋतु काष्ठस्थानीय की है इसी कारण सदा इस ऋतुमें हमारा शरीर सूखे काष्ठकी समान नीरस होजाता है, शरदृऋतुको पुरोडाशस्थानीय कियाहै अबभी यह ऋतु हमारा अपाच्य होकर रहतीहै अर्थात् शरद ऋतुमें भोजनका शीघ्र पाक नहीं होता [ऋ०८।४।१७]१४॥

कण्डिका १५—मंत्र १।

स॒प्तास्या॑सन्प॒रि॒धय॒स्त्रिः स॒प्त स॒मिधः॑ कृ॒ताः ॥
दे॒वा यद्य॒ज्ञं त॑न्वा॒ना अब॑ध्न॒न्पुरु॑षं प॒शुम् ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ सप्तास्येत्यस्य नारायण ऋषिः । अनुष्टुप्छंदः । यज्ञो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (देवाः) पूर्वोक्त देवताओंने अर्थात् प्रजापतिके प्राण इन्द्रियके अधिष्ठाताओंने (यज्ञम्) मानसयज्ञको (तन्वानाः) विस्तार करते हुए (पुरुषम्) विराट् पुरुषको (पशुम्) पशुरूपसे (अबध्नन्) भावित करके बांधा तब (अस्य) इस संकल्पित यज्ञकी (सप्त) सात गायत्रीआदि छन्द (परिधयः) परिधि (आसन्) हुई ऐष्टिक आहवनीयकी तीन उत्तरवेदीकी तीन आदित्य सातवीं परिधि हुई यह प्रतिनिधिरूप है, तथाच श्रुतिः "गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्त्यथैतत्सूर्यमेव पुरस्ताद्गोप्तारं करोति" इति "तत एते आदित्यसहिताः सप्त परिधयोत्र सप्त च्छन्दोरूपाः" (त्रिःसप्त) इक्कीस (समिधः) समिधा(कृताः) की अर्थात् १२ महीने पांच ऋतु ३ लोक और यह आदित्य यह इस यज्ञमें काष्ठरूपसे भावित किये गये, अथवा सात क्षीरादि समुद्र यज्ञकी परिधि हुई कारण कि भरतखण्डमें यज्ञ होते हैं और गायत्रीआदि सात, अतिजगतीआदि सात और कृत्यादि सात यह इक्कीस छन्द इसके समिधारूप हुए ॥ १५ ॥

विस्तार-२४ अक्षरकी गायत्री । २८ का उष्णिक् । ३२ का अनुष्टुप् । ३६ का बृहती । ४० का पंक्ति । ४४ का त्रिष्टुप् । ४८ का जगती छन्द होता है । इनके तथा और सब छन्दोंके अधिष्ठातृ देवता होते हैं इनकीही मानस यज्ञमें परिधि कल्पना की है अङ्गुष्ठप्रमाण मोटी और प्रादेशमात्र लम्बी समिधा होतीहै देवताओंने मानसयागमें मासऋतुआदिकी कल्पना की है इसका भाव यह है कि जा कोई जो कुछ वस्तु देताहै, वह नष्ट नहीं होती किन्तु अधिक होकर फिर दाताके निकट उपस्थित होतीहै, देवताओंने इसको प्रगट करदियाहै बारह मासको हवनकरनेसे अधिकमाससहित त्रयोदशमास लाभकिया पांचऋतु त्यागनेसे वसन्तऋतु छठी लब्ध हुई भुर्भूवः स्वः त्रिलोकी हवन करनेसे भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्य यह सात लोक लाभकिये और इनसे श्रेष्ठ २ लाभहुए, त्रिलोकीसे ऊपरके सात लोक अतिश्रेष्ठ हैं हवनद्वाराही उनकी गति विदित हुई, इसी प्रकार एक आदित्यसे बारह लाभ हुए। मित्र, अर्यमा, भग. वरुण, अंश, धाता, विवस्वान्, आदित्य, इन्द्र, पूषा, त्वष्टा, सविता ऋ० २ मंडल २१ सूक्तका प्रथम मत्र नवम मण्डलका ११३ सूक्त १० मण्डलके १२ सूक्तमें ७ आदित्योंका वर्णन श० ११ । ६ । ३ । ८ । में १२ आदित्योंका वर्णन पूर्ण हुआ है । मानस यागसे बाह्य यज्ञोंकी प्रवृत्ति हुई है इससे विदित है प्रथम सब यज्ञ मनमेंही संकल्परूपसे उदित हुए थे, और वे सबही आध्यात्मिक हैं [ऋ० ८ । ४ । १७] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १।

यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवास्तानिधर्म्माणिप्रथमान्यासन् ॥ तेहनाकम्महिमानःसचन्तयत्रपूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः ॥ १६ ॥ [१६]

ऋष्यादि–(१) ॐ यज्ञेनेत्यस्य नारायण ऋषिः। ब्राह्म्युष्णिक्छं०। यज्ञो देवता। वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ–(देवः) सिद्धसंकल्प देवता (यज्ञेन) मानसयज्ञसे (यज्ञम्) यज्ञस्वरूप प्रजापतिको (अयजन्त) पूजन करते हुए (तानि) वे (धर्म्माणि) यज्ञपुरुषपूजनसम्बन्धी धर्म वा जगद्रूप विकारोंके धारण करनेवाले (प्रथमानि) मुख्य (आसन्) हुए अर्थात् उसके फलसे चिरन्तन धर्म प्रथम हुए। "यहांतक सृष्टिप्रतिपादक सूक्तभाग है। अगला उपासनारूप फलानुवादक भाग कहते हैं" (यत्र) जिस विराट् प्राप्तिरूप स्वर्गमें (पूर्व्वे) पुरातन (साध्याः) विराट् उपाधि-साधक देवता (सन्ति) स्थित रहते है उस (नाकम्) विराट् प्राप्तिरूप स्वर्गको (ह) ही (ते) वे (महिमानः) उपासक महात्मा (सचन्ते) प्राप्त होते हैं इससे सृष्टिका प्रवाह नित्य दिखाया " सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति ॥ १६ ॥

विस्तार–मानसयागकर्ता देवता सिद्धसंकल्प होते है, विराट् पुरुषसे जगतकी सृष्टि हुई है और सब प्रसिद्ध धर्म उनके साथही सृष्टि हुए है केवल सृष्ट हुए हैं यही बात नहीं किन्तु इसकी समान कोई भी दूसरा धर्म नहीं है इसी कारण वह प्रथम एक अद्वितीय हुए हैं, जगतकी सृष्टिके साथ २ वर्णधर्मसृष्टि हुई है, जो जगतको धारण करै उसको धर्म कहते है, इससे जगतके धारण करनेमें समर्थ पदार्थ जगतकी सृष्टिके संग २ होनेकी आवश्यकता है, अन्यथा सृष्टिलोप होनेकी संभावना होजाय, धर्म जगतको धारण करता है वेद यह कथा स्वयं कहता है, "धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्। तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति" इति श्रुतेः, जगतकी जो प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय है उसको धर्म कहते हैं धर्मिष्ठही सर्व साधारणके उपजीवनस्वरूप हैं प्रजा धर्मात्माके निकट गमन करती है, धर्मसे पाप दूर होते हैं सब कुछ धर्ममें स्थापित हैं इससे धर्मको परम कहते हैं परम अर्थात् उत्कृष्ट कहते हैं तैत्तिरी० आ० प्र० १० इस सूक्तमें धर्मको प्रथम और तैत्तिरीय श्रुतिमें परम शब्द आया है इससे धर्मकी उत्कृष्टतामें सन्देह नहीं. धर्म क्या पदार्थ है यह तैत्तिरीयारण्यकके १०

प्र० ६३ अनुवाकमें देखो उसमें सत्य, तप, दम, शम, दान, विधिपूर्वक सन्तानोत्पादन, गार्हपत्यादि तीन अग्नि, त्रयीविद्या, अग्निहोत्र, यज्ञ, मानसयाग, संन्यास, यह बारह धर्मके अवयव कथन कर इनका फल दिखाया है, अन्तरिक्षके अधिष्ठातृ देवता वायुने पूर्वजन्ममें सत्यधर्मका अनुष्ठान करके वायुका अधिष्ठातृत्व जगतका धारकत्व प्राप्त किया है, प्रकाशात्मक सूर्यके अधिष्ठातृ देवता आदित्यने तपके प्रभावसेही जगतका धारकत्व प्राप्त किया. इत्यादि इससे धर्महीं जगतका धारण करनेवाला है.

पुरुषसूक्तकी पर्यालोचनापूर्वक जो देवगणकी समान मानसयाग करें; वह उपासनाके फलसे विराट् पुरुषकी सायुज्य सारूप्य सालोक्यरूपी मुक्तिलाभ करेंगे जो मानसयागकर सृष्टि करते हैं उनको मुक्ति विराट् उपासनासेही प्राप्त हुई है, इस कारण विराट् उपासना करना उचित है। यदि कहो प्रत्येक कल्पमें ब्रह्मलोकनिवासी मुक्त पुरुष कहांसे आता है, इस प्रकरणके निमित्त ऊपरही लिख चुके हैं, कि यह सृष्टिप्रवाह अनादिकालसे चलाआता है इससे विराट् उपासक मुक्त पुरुषोंका अभाव नहीं है विराट्उपासना सब अंगकी करनी इसका विस्तार छां० प्र० ५ खं० १२-२४ तक तथा ब्रह्मसूत्र अ० ३ पा० ३ सू० ५७ पर शंकरभाष्य देखो [ऋ० ८ । ४ । १७) ॥ १६ ॥

इति पुरुषसूक्तं सम्पूर्णम् ।

अथोत्तरनारायणानुवाकः ।

कण्डिका १७-मंत्र १. अनु० २ ।

अ॒द्भ्यः सम्भृ॑तः पृथि॒व्यै रसा॑च्च वि॒श्वक॑र्म्मणः॒ सम॑वर्त्त॒ताग्रे॑ ॥ तस्य॒ त्वष्टा॑ वि॒दध॑द्रू॒पमे॑ति॒ तन्मर्त्य॑स्य दे॒वत्व॑मा॒जान॒मग्रे॑ ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अद्भ्य इत्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । आदित्यो देवता । सूर्योपस्थाने वि० ॥ १७ ॥

विधि-(१) पुरुषोंका प्रोक्षणकर और उनको विदा करके आतमामें मंत्रसे अग्नि आरोपणकर १७-से २२ तक षट् कण्डिकात्मक उत्तर नारायणअनुवाकपाठपूर्वक सूर्यउपस्थान करके वनगमन करे " अद्भ्यः सम्भृत इत्युत्तरनारायणेनादित्यमुपस्थाय" इति [श० १३ । ६ । २ । २०] महीधर कहते हैं अग्नि आतमामें ग्रहण करते समय मुख फैलाकर अग्निका ताप ग्रहणकरै ।

मन्त्रार्थ-(पृथिव्यै) पृथिवीआदि सृष्टिके निमित्त अथवा पृथ्वीसे (च) और (अद्भ्यः) जलोंसे पृथ्वीके ग्रहण करनेसे पञ्चभूतका ग्रहण है अर्थात् पञ्चभूतसे जो रस (सम्भृतः) पुष्ट हुआ और (विश्वकर्मणः) जिसका विश्व कर्म है उस कालके (रसात्) प्रीतिका रस (अग्रे) सबसे प्रथम (समवर्तत) होता हुआ, पञ्चभूत और काल इन सबके प्रति कारण होनेसे पुरुषमेधयाजीके लिंगशरीरमें पांचभूत और काल तुष्ट होता है, उनके तुष्ट होनेसे कोई रस फल विशेष उत्तम जन्मका देनेवाला उत्पन्न हुआ (तस्य) उस रसको (रूपम्) रूप (विदधत्) धारण करता हुआ (त्वष्टा) आदित्य (एति) प्रतिदिन उदय करता है, (अग्रे) प्रथम (मर्तस्य) मनुष्यरूप उस पुरुषमेधयाजीके (आजानम्) सूर्यरूपसे मुख्य (तत्) उस (देवत्वम्) देवत्वको प्राप्त करता है दो प्रकारके देवता होते है कर्मदेव और आजानदेव कर्मसे देवत्वको प्राप्त हुए कर्मदेव सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न आजानदेव होते हैं, कर्मदेवोंसे सौगुणा अधिक आनन्द आजान देवताओंको होता है "ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दः" इति श्रुतेः [बृहदारण्यक अ० ४।३।३३] पुरुषमेधयाजी पूर्वकल्पमें आदित्यरूपको प्राप्त हुआ स्तुति किया है ॥ १७ ॥

विशेष-पृथिवीआदि सृष्टिके निमित्त उसके द्वारा जलसे रस हुआ, वही सब जगतका उपादानस्वरूप है, उससेही यह समस्त जगत् जो आगे वर्तमान था उसकी सृष्टि हुई, तब इस जगत्के रूपविधानार्थ त्वष्टाकी सृष्टि हुई उन्होंने इस मर्त्यभुवनमें कर्मदेवत्व प्रगट किया मुक्तपक्षमें पुरुषमेधयाजीके कर्मसे फलरूप रस प्रगट होता है वह कर्म फलका देनेवाला यह सूर्य है, वह पुरुष सूर्यमें गमन कर आदित्य रूपको प्राप्त होजाता है, और यही मुक्तिका मार्ग है, सो आगे प्रगट करते है ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १।

वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः पुरस्तात् ॥ तमेवविदित्वातिमृत्युमेतिनान्यः पन्थाविद्यतेयनाय ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वेदाहमित्यस्य नारायण ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। पुरुषो देवता। वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(अहम्) मै (एतम्) इस (महान्तम्) सबसे उत्कृष्ट (आदित्यवर्णम्) आदित्यरूप और उपमा न होनेसे अपनीही समान (तमसः) अंधका-

रसे (परस्तात्) परे अन्धकाररूपी अविद्यासे दूर (पुरुषम्) पुरुषको (वेद) जान्ताहूं (तम्) उस (एव) ही आदित्यको (विदित्वा) जानकर (मृत्युम्) मृत्युको (अत्येति) आक्रमण करता है अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त होता है (अयनाय) आश्रयके निमित्त (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (न) नहीं (विद्यते) है सूर्यमण्डलके अन्तमें आत्मरूप पुरुषकोही जानकर मुक्ति होती है ॥ १८ ॥

विशेष-उस कारणरूप सबसे उत्कृष्ट जगदीश्वर आदित्यवर्ण विद्याप्रकाश परमेश्वरके ज्ञानसेही मनुष्यकी मुक्ति होती है यही देवयानमार्ग कहाता है इसके सिवाय मुक्तिका दूसरा मार्ग नहीं है इसीसे आत्मा तदाकार होता है उस समय जो ईश्वरकी महिमा है उसको वह जान्ता है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मन्त्र १ ।

प्रजापतिश्चरतिगर्भेऽअन्तरजायमानोबहुधाविजायते ॥ तस्ययोनिम्परिपश्यन्तिधीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानिविश्वा ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिरित्यस्य नारायण ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छन्दः । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(प्रजापतिः) सर्वात्मा प्रजापति अन्तर्हृदयमें स्थित हुआ, (गर्भे) प्रत्येक गर्भमें (अन्तः) मध्यमें (चरति) प्रविष्ट होता है (अजायमानः) उत्पन्न न होने और नित्य होकर भी (बहुधा) अनेक प्रकार कार्य कारणरूपसे (विजायते) उत्पन्न होता है अर्थात् मायाद्वारा प्रपञ्चरूपसे उत्पन्न होता है (धीराः) ब्रह्मके ज्ञाता (तस्य) उस प्रजापतिके (योनिम्) स्थान स्वरूपको (परिपश्यन्ति) देखते है 'अहं ब्रह्मास्मीति' इस प्रकार जान्ते है (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूतसमूह प्राणी (तस्मिन्) उस (ह) ही कारणात्मा ब्रह्ममें (तस्थुः) स्थित हैं अर्थात् सम्पूर्ण जगत् तदात्मक है आशय यह कि सर्वत्र परमात्मा स्थित है वही सबमें व्याप्त होकर अजन्मा होकरभी अनेकरूप धारण करता है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

योदेवेभ्यऽआतपतियोदेवानाम्पुरोहितः ॥ पूर्वोयोदेवेभ्योजातोनमोरुचायब्राह्मये ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यो देवेभ्य आतपतीत्यस्य नारायण ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। पुरुषो दे०। वि० पू० ॥ २० ॥

मंत्रार्थ-(यः) जो आदित्यरूप प्रजापति (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (आतपति) सब ओरसे प्रकाशित होताहै (यः) जो (देवानाम्) देवताओंका (पुरोहितः) सब कार्यमें अग्रणी है वा प्रथम हितकर तथा पूज्य है (यः) जो (देवेभ्यः) सब देवताओंसे (पूर्वः) प्रथम प्रगट हुआ है उस (रुचाय) दीप्यमान (ब्राह्मये) ब्रह्मके अवयवरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार है ॥ २० ॥

विशेष-जो सूर्यरूपसे सब देवताओंको तपाते जो अग्निरूपसे देवताओंके पुरोहित जो कारणजलसे सबसे पूर्व प्रगट हुए हैं उस ब्राह्मीकान्तिमान्‌के निमित्त नमस्कार है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १।

रुचम्ब्राह्मञ्जनयन्तोदेवाऽअग्ग्रेतदब्ब्रुवन्॥
यस्त्वैवम्ब्राह्मणोविद्यात्तस्यदेवाऽअसुन्वशे २१॥

ऋष्यादि-(१) ॐ रुचमित्यस्य नारायण ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः। पुरुषो देवता। वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) दीप्तिमान् इन्द्रियोंके देवता (रुचम्) शोभन (ब्राह्मम्) ब्रह्मज्योतिरूप आदित्यको (जनयन्तः) प्रगट करतेहुए (अग्रे) प्रथम (तत्) वह वाणी (अब्रुवन्) बोलतेहुए हे आदित्य! (यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (त्वा) तुमको (एवम्) उक्तप्रकारसे प्रगट हुआ अजरामर (विद्यात्) जानै (तस्य) उस आदित्य उपासनावाले ब्राह्मणके (देवाः) देवता (वशे) वशमें (आसन्) होते हैं ॥ २१ ॥

अथवा-अपने हृदयमें स्वप्रकाश ब्रह्मबोधको प्रगट करके देवत्वको प्राप्त हुए ऋषिगणोंने यही कहा, जो इस प्रकारसे ब्रह्मको विचार कर जान्ता है समस्त देवता उसके वशीभूत होजाते हैं, अर्थात् उसकी यथायोग्य उपासनासे हृदयमें प्रकाश प्रगट होता है, और जब ब्रह्म ज्योति प्रगट हुई तब उसका ब्रह्ममें अधिष्ठान होनेसे सब देवता उसके वशीभूत होजाते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १।

श्रीश्चतेलक्ष्मीश्चपत्न्यावहोरात्रेपार्श्वेनक्षत्राणि

रूपमश्विनौव्यात्तम् ॥ इष्णन्निषाणामुम्मंऽइषा णसर्वंलोकम्मंऽइषाण ॥ २२ ॥ [६] ॥ २ ॥

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितायामेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ श्रीश्चत इत्यस्य नारायण ऋषिः । निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं० । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-हे स्वप्रकाशस्वरूप (श्रीः) लक्ष्मी जिसके द्वारा सम्पूर्ण जन आश्रयणीय होते हैं (च) और (लक्ष्मीः) जिसके द्वारा देखा जाता है सौन्दर्यरूप लक्ष्मी आपकी (पत्न्यौ) स्त्रीस्थानीय है (च) और (अहोरात्रे) दिनरात (पार्श्वे) पार्श्वस्थानीय हैं (नक्षत्राणि) आकाशमें स्थित नक्षत्र (रूपम्) आपका रूप हैं कारण कि तुम्हारे ही तेजसे प्रकाशित हैं (अश्विनौ) द्यावा पृथिवी तुम्हारे (व्यात्तम्) मुखस्थानमें व्याप्त हैं "अश्विनौ द्यावापृथिव्यौ इमे हीदं सर्वमश्नुवाताम्" इति श्रुतेः । (इष्णन्) कर्मफलकी इच्छा करते (इषाण) इच्छा करो (अमुम्) परलोककी (मे) मेरे निमित्त (इषाण) इच्छा करो अर्थात् मेरे निमित्त परलोक समीचीन हो ऐसी अमोघ इच्छा हो (सर्वम्) सब लोकात्मक मैं होजाऊं अर्थात् मुक्त होजाऊं ऐसी (मे) मेरे निमित्त (इषाण) इच्छा करो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति सामश्रुतेः ॥ २२ ॥

सरलार्थ-मनुष्योंको इस प्रकार ब्रह्मबोधलाभ करना चाहिये कि श्री और लक्ष्मी शोभा वा कान्ति और सम्पत्ति यह तुम्हारी पत्नीरूप है दिन रात तुम्हारे दोनों पार्श्वचारी, तुम्हारे रूपसे नक्षत्र रूपवान् है, द्यावापृथ्वी तुम्हारे शरीरके रक्षकरूपसे सावधानतासे तुमको दृष्टिपूर्वक व्याप्तकरके स्थित हैं, यदि तुम इच्छा करो तो यह लोक तो तुम्हारी इच्छानुगत है सब लोकही तुम्हारी इच्छानुगत हैं मुझ उपासकको ब्रह्मप्राप्ति हो मैं सर्वत्र आपको अनुभव करूं यह आदित्यमें ब्रह्म-उपासना है ॥ २२ ॥ इति पुरुषमेधः ।

इति श्रीमाध्यंदिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृते मिश्रभाष्ये पुरुषमेधप्रकरणे पुरुषसूक्तोत्तरनारायणानुवाकवर्णन नामैकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

शुभमस्तु

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः ३२.

अनुवाकसूत्रम्-तदेवसप्तवेनस्तन्नवद्वौषोडश २ ॥ १६ ॥

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑ ॥
तदे॒व शु॒क्रन्तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदेवाग्निरित्यस्य स्वयम्भूर्ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । पुरुषो देवता । होमे विनि० ॥ १ ॥

विधि-(१) अब सर्वमेधके मंत्र वर्णनकरते हैं यहांसे प्रारंभकर ३३-५५ तकके मंत्र सप्तम दिनमें आप्तोर्यामसंज्ञक सर्व होममें प्रयुक्त है "आप्तोर्यामः सप्तम-अहर्भवतीति-सर्वस्मै जुहोति सर्वस्याप्त्यै" सर्वस्यावरुद्ध्यै[श० १३।७।१।९]यह याग सात प्रकार सोमयागके मध्यमें सातवें आप्तोर्याममें अनुष्ठित होताहै अग्निष्टोमादिका अनुयायी नहीं है, इसके फलसे यजमानको सब कामनाओंकी प्राप्ति होती है । मन्त्रार्थ-(अग्निः) अग्नि (तत्) वह (एव) ही है अर्थात् कारणब्रह्म है (आदित्य) आदित्य (तत्) वही है (वायुः) वायु (तत्) वही है (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (तत्) वही है (उ) और (शुक्रम्) शुक्र शुक्र (तत्) वह (एव) ही है (ताः) वे प्रसिद्ध (आपः) जल (सः) वह प्रसिद्ध (प्रजापतिः) प्रजापति है (तत्) वही (ब्रह्म) ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है ॥ १ ॥

सरलार्थ-जो अग्निका अन्तरदेवता, जो आदित्यका अन्तर देवता है, जो वायुका अन्तर देवता, जो चंद्रमाका अन्तर देवता, जो शुक्रका अन्तर देवता, जो जलका अन्तर देवता और प्रजापतिरूप है वही ब्रह्म है ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

सर्वे॑ नि॒मेषा॑ जज्ञिरे वि॒द्युतः॒ पुरु॑षा॒दधि॑ ॥
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्य्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत् ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सर्वेनिमेषा इत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(विद्युतः) विशेषकर दिव्य प्रकाशमान (पुरुषात्) उस परमात्मासे (सर्वे) सब (निमेषाः) बडे अवयव त्रुटि काष्ठा घडी आदि कालविशेष

(अधिजज्ञिरे) उत्पन्नहुए हैं (एनम्) ,इस पुरुषको (ऊर्ध्वम्) ऊर्ध्व अर्थात् ऊपरभागमें (न) नहीं (परिजग्रभत्) ग्रहण करसकता है (न) नहीं (तिर्यञ्चम्) चारों ओरसे (न) नहीं (मध्ये) मध्यमें ग्रहण करसकता है अर्थात् यह प्रत्यक्षादिका विषय नहीं है "स एष नेति नेत्यात्मा गृह्यो न हि गृह्यते" इति श्रुतेः ॥ २ ॥

सरलार्थ-महान् अवयववाला अनन्त निमेषादिकाल और अपूर्वप्रभावान् विद्युत्पुंज सब परमात्मा पुरुषसे उत्पन्न है, उसको ऊपर नीचे तिरछे मध्यमें निर्णय करनेको कोईभी समर्थ नहीं है ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १ ।

नतस्य॑ प्प्रति॒माऽअ॑स्ति॒यस्य॒नाम॑म॒हद्यश॑ः ॥ हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽइत्ये॒षमामा॑हि॒ꣳसीदित्ये॒षाय॒स्म्मा॒न्नजा॒तऽइत्ये॒षः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नतस्येत्यस्य स्वयम्भूर्ऋषिः । द्विपदागायत्रीछन्दः । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ-(तस्य) उस पुरुषका (प्रतिमा) प्रतिमान उपमान सदृश उपमा देनेके योग्य कोई वस्तु (न) नहीं (अस्ति) है (यस्य) जिसका (नाम) नाम प्रसिद्ध (महत्) बडा (यशः) यश है अर्थात् सबसे अधिक उसका यश है इसमें वेदही हेतु कहता है "हिरण्यगर्भ इत्येषः" [२५ अ० १० से १३] मंत्रतक "मामाहिꣳसीदित्येषा" [१२ । १०२] और "यस्मान्न जात इत्येशा" [८ अ० मं० ३६ । ३७] यह मंत्रोंके प्रतीक हैं यह सब इसके साथ पढने चाहियें अर्थ पीछे उपरोक्त अध्यायोंमें कर दिया है भावार्थ लिखते हैं ॥ ३ ॥

प्रतीकोंका भावार्थ-(हिरण्यगर्भः) सबसे प्रथम अर्थात् आदिसृष्टिसे पूर्व एकमात्र हिरण्यगर्भही थे. फिर सृष्टि होनेपर भी वही एकमात्र इस सम्पूर्ण विश्वके अधिपति हुए. जिन्होंने एकमात्र अपनी शक्तिसेही भूलोक द्युलोक चिरकालसे धारण किया है. जो प्राणिमात्रमें स्थित हैं, क्षय वृद्धियुक्त सम्पूर्ण पदार्थके तथा इस सम्पूर्ण जगतके एक मात्र राजा हैं. जिनकी महिमा सब वस्तुओंमें सदाही प्रकाशित रहती है, जो द्विपदचतुष्पदआदि समस्तजीवोंके ऊपर आधिपत्य करते हैं यह ऊंचे शिखरवाले हिमाचल आदि पर्वत जिसकी महिमा कीर्तन करते हैं, नद नदी प्रस्रवणादिके सहित अगाध सब समुद्र जिनकी महिमा कीर्तन करते हैं. यह पूर्वादि दिशा और आग्नेय्यादि विदिशा जिनके अतुल पराक्रमशाली

भुजाओंकी समान जगत्की रक्षक होकर स्थित हैं, ॥ १२ ॥ जो देहमें आत्मा (जीव) प्रदान करते है, जो बल देते और समस्त चराचर जिसकी उपासना करते हैं, अग्नि वायु सूर्यादि समस्त देवगण जिसकी आज्ञाके अधीन है, जिस ज्ञानस्वरूपकी छाया प्राप्तिमें हमको अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, और जबतक वह प्राप्त न हो तबतक मृत्युकी यातना सहन करनी होती है ॥ १३ ॥ (मामा हिँसीः०) जो स्थिरप्रतिज्ञ प्रजापति पृथ्वीका उत्पादक है जो द्युलोकका स्रष्टा, जिसने इस जगत्का आह्लादकारक तृप्तिसाधन जल उत्पन्न किया है ॥ १०२ ॥ (यस्मान्नजातः०) जिस पुरुषसे उत्कृष्ट और कोई नहीं जन्मा, जो इस त्रिभुवनके सहित सर्वत्र प्रविष्ट है और जो षोडशी (पूर्णस्वरूप) देवता प्रजापतिरूपसे अपनी रची प्रजासमूहमें रमण करते हुवे इसके पालन करनेके निमित्त तीन ज्योति सृजन किये हुए है ॥ ३६ ॥ जिनके शासनमें सम्राट् इन्द्र और वरुण राजा इस ब्रह्माण्डको भोग्यस्थान करतेहै, हम उसकोही भोग करते हैं, और जिसकी दयासे हमारी रसना इस चन्द्रमाका सुधारसपान करके प्राणके सहित तृप्तिलाभ करती है (यस्य नाम) जिसका इसप्रकार महत् यश प्रसिद्ध है उसकी (प्रतिमा) उपमा कोई नहीं है ॥

विचार–आधुनिक अल्पज्ञ पुरुष इस मंत्रमें प्रतिमासे मूर्तिका अर्थ करके कहते है कि उसकी मूर्ति नहीं है और मूर्तिमें उसका पूजन करना उचित नहीं है बुद्धिमानोंको विचार करना चाहिये कि यहां मूर्तिमें पूजनका कोई प्रकरण नहीं न मूर्तिका निषेध है. यह वह उपासनाप्रकरण है, पुरुषसूक्तमें आदित्यमें उसकी उपासना वर्णन की है तथा 'नदेवाग्निः' इस मंत्रमें सूर्य चन्द्रको उसीका रूप प्रतिपादन करके उससे जगतकी उत्पत्ति कथन कर फिर दूसरे अनुवाकोंकी प्रतीक धरकर उसकी सर्वात्मता और महिमा प्रतिपादन करतेहुए वेद कहता है कि उसकी जिससे उपमा दी जावे ऐसा कोई नहीं है, तुल्यरूपान्तर उसका कोई नहीं है, यदि प्रतिमासे मूर्तिका निषेध करो तो वेदही उसकी मूर्तिको अंगीकार करता है कि वह अग्नि वायु आदित्यरूप तथा 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' यहां उसका रूप कहा है "इस अनुवाकमें इसी पुरुषका रूपान्तर न्यूनरूप है तथा "मामाहिंसीत्" इत्यादि मंत्रबोध्य भी इसीका रूप है, इस रीतिसे हिरण्यगर्भादि परमेश्वरकार्य होनेसे सूर्यप्रतिबिंबको सूर्यप्रतिमावत् न्यून मणिको अधिक मणिकी प्रतिमावत् कहते हैं, ऐसेही उत्तम सुवर्णमुद्रिकाकी निकृष्ट सुवर्ण मुद्रिका प्रतिमावत् प्रतिमा है", यहां प्रतिमाका अर्थ उपमानकाही है यदि हम प्रतिमासे मूर्तिका अर्थ करें तो ऋग्वेद उसकी प्रतिमा स्वीकार करता है "कासीत्प्रमा

प्रतिमा किं निदानम्" [ऋ० अ० ८ अ० ७ व० १८] इसमें प्रमा प्रतिमा निदान रूप पूछकर परमात्माहीको प्रमा, प्रतिमा और निदानरूप कहा है, इन्हीं मंत्रोंमें परमेश्वरको जगत्का रूप कहा है तथा "मा असि, प्रमा असि, प्रतिमा असि" [तैत्तिरीयारण्यक० ४ प्र० ५ अनुवाक] इसमें परमेश्वरको प्रतिमारूप कहा है तथा संवत्सरस्य प्रतिमायां त्वा रात्र्युपास्महे" [अथर्व० ३।९।१०] संवत्सरकी प्रतिमा तुझ परमेशको हम उपासना करते है तथा "स ऐक्षत प्रजापतिरिमं वा आत्मनः प्रतिमामसृक्षि यत् संवत्सरमिति तस्मादाहुः प्रजापतिः संवत्सर इत्यात्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत्" [श० ११।१।६।१३] प्रजापतिने अपनी प्रतिमा संवत्सरको उत्पन्न किया, इससे वह संवत्सररूप है तथा "अथैतमात्मनः प्रतिमामसृजत यद्य-ज्ञम्" [श० ११।१।८।३] उस परमात्माने अपनी प्रतिमा प्रगट की जो यह पूजनरूप है इत्यादि अनेक स्थलोंमें मूर्तिका वर्णन किया है कि उसकी मूर्ति है आगे ३७।३८ अध्यायमें महावीर निर्माण कहैंगे, इससे यहां प्रतिमाका शब्द उपमानवाचक है विशेष निर्णय हमारे वनाये दयानन्दतिमिरभास्करमें देख लेना चाहिये ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

एषोहंदेवःप्प्रदिशोनुसर्व्वाःपूर्व्वोहजातःसऽउगर्ब्भेऽअन्तः ॥ सऽएवजातःसजनिष्ष्यमाणःप्प्रत्यङ्जनास्तिष्ठतिसर्वतोमुखः ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एषोहेत्यस्य स्वयम्भूर्ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ-(एषः) यह (ह) प्रसिद्ध (देवः) परम पुरुष (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रादिशः) दिशाओंको व्याप्त करके (अनुतिष्ठति) स्थित होता है (जनाः) हे मनुष्यो ! (ह) प्रसिद्ध यही देव (पर्वः) सबसे प्रथम (जातः) प्रगट हुआ है (गर्भे अन्तः) गर्भके मध्यमें (स उ) वही यह (जातः) स्थित होता और प्रगट होता है (जनिष्यमाणः) होनेवाला भी (सः) वही (एव) है (प्रत्यङ्) प्रति पदार्थमें गमन करनेवाला (सर्वतोमुखः) सव ओर मुखवाला अचिन्त्य-शक्ति (सः) वही है ॥ ४ ॥

सरलार्थ-दिशा विदिशा सर्वत्रही यह देवता व्याप्त हैं दिक् विदिशा सृष्टिके पहले यही एकमात्र स्थित थे, गर्भके मध्यमें रक्षकरूपसे यही स्थित है, उत्पन्न

बालकादिके रक्षक रूपसे उसमें व्यापक भी यही हैं, एक कालमें सर्व ओर देखनेवाले होकर प्रति व्यक्तिमें यही स्थित हैं ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मन्त्र १ ।

यस्म्मान्न्जातन्नपुराकिञ्चनैवयऽआंबुभूवभुवंनानि विश्श्वां ॥ प्रजापतिंऽप्प्रजयांसᳬंररागस्त्रीणिज्ज्योतींᳬंषिसचतेसषोडुशी ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यस्मादित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ–(यस्मात्) जिससे (पुरा) पहले (किञ्चन) कुछ भी (न) नहीं (जातम्) प्रगट हुआ, (यः) जो (एव) ही (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूत समूहोंमें (आवभूव) व्याप्त हुआ है (सः) वह (षोडशी) षोडशावयव लिङ्गशरीरी वा षोडशकल आत्मा अर्थात् पूर्ण प्रजापति (प्रजया) प्रजाद्वारा (संरराणः) रमण करता हुआ (त्रीणि) तीन (ज्योतींषि) रवि इन्दु [वा विद्युत्] अग्निको (सचते) सेवनकरता है ॥ ५ ॥

सरलार्थ–जिसकी इच्छासे पहले और कुछ भी सृष्ट न हुआ, जिसकी इच्छा करतेही विश्वभुवनका आविर्भाव होता है वह षोडशी प्रजापति प्रजाके संग बारबार रमण करनेके निमित्त तीन ज्योति भोग करते है [अग्नि विद्युत् सूर्य] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र १ ।

येनुद्यौरुग्ग्रापृंथिवीचंदृढायेनुस्वस्तभितंयेनुनाकंः ॥ योऽअन्तरिक्षेरजंसोविमानुःकस्मैंदेवायं हुविषांविधेम ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येनेत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ–(येन) जिस पुरुषने (द्यौः) द्युलोक (उग्रा) जलपूर्ण अर्थात् वृष्टिदायक की है (च) और (पृथिवी) पृथ्वी (दृढा) सब प्राणियोके धारण, वृष्टिग्रहण, और अन्ननिष्पादनमे दृढ की है (येन) जिसने (स्वः) आदित्यमण्डल अपने प्रभावसे (स्तभितम्) निजकर्तव्यमें स्तंभितकियाहै (येन) जिसने (नाकः) दुःखरहित स्वर्ग स्तंभित किया है उसके प्राप्त होनेके नियम दिखाये है (यः) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (रजसः) वृष्टिरूप जलका (विमानः)

निर्माता है उसे छोडकर (कस्मै) किस (देवाय) देवताके निमित्त (हविषा) हवि (विधेम) दें अथवा उस प्रजापति देवताके निमित्त हवि देते हैं [ऋ० ८ । ७ । ३] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १ ।

यङ्क्रन्दसीऽअवसातस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ॥ यत्राधिसूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ आपो ह यद्बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥ [७]

ऋष्यादि-(१) ॐ यमित्यस्य विनियोगः पूर्ववत ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(अवसा) हविलक्षणवाले वृष्टिजनक अन्नद्वारा (तस्तभाने) प्राणिसमूहोंको स्तंभनकरनेवाली (रेजमाने) शोभायमान (क्रन्दसी) द्यावापृथिवीके अधिष्ठातृदेवता (मनसा) मनके द्वारा (यम्) जिस पुरुषको (अभ्यैक्षेताम्) साधुकारी देखतेहुए (यत्र) जहां दोनोंके मध्यमें (सूरः) सूर्य (उदितः) उदय होताहुआ (अधिविभाति) अधिकशोभित होताहै उसको छोडकर (कस्मै) किस देवताके निमित्त (हविषा)हवि (विधेम) दें वा हविद्वारा परिचर्या करें। अथवा उस प्रजापतिके निमित्त आहुति देतेहैं (आपोहयद्बृहतीः) इसकी व्याख्या २७ । २५ में होगई (यश्चिदापः) इसकी व्याख्या २७ । २६ में होगई यहां प्रतीकमात्र रखनेका आशय यह कि उनका भी जप कराजाय । सबका भावार्थ लिखते हैं विधेमतक [ऋ० ८ । ७ । ४] ॥ ७ ॥

सरलार्थ-जिसने मनमें इच्छा करते ही सुन्दर द्यावापृथ्वीको प्रगट किया, और उसको शुद्ध भावमें स्थित किया है, जिसके कियेहुए नियमके वशीभूत होकर सूर्य प्रतिदिन उदित होता है, और समस्त द्यावापृथिवी प्रकाशित होती है। (आपोह) अपरिमेय जलराशि अग्निमय गर्भधारणपूर्वक सृष्टिकी प्रसवकारिणी होकर इस चराचर विश्वको व्याप्त करके स्थित है, इस गर्भसे सम्पूर्ण देवगणोंके प्राणरूप एकदेवता. प्रकाश पाते हैं, इन देवताने अपनी महिमाके प्रभावसे इस प्रकारके गर्भधारणमें उपयुक्त जलराशि सृजन की है यह सब देवताओंके एक मात्र देवता हैं ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १. अनु० २ ।

वेनस्तत्पश्यन्निहितङ्गुहासद्यत्र विश्वम्भवत्येकनी

डम् ॥ तस्मिन्निदꣳसञ्चविचैतिसर्वꣳसऽओतꣳ प्प्रोतश्चविभूःप्प्रजासु ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ वेन इत्यस्य स्वयम्भूर्ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ–(वेनः)वेदवेदान्तके रहस्यका ज्ञाता विद्वान् (गुहानिहितम्)गुप्त स्थानमें स्थित दुर्ज्ञेय अर्थात् बुद्धि वा हृदयके आकाशमें स्थित(सत्)नित्य(तत्)उस ब्रह्मको (पश्यत्) देखता वा जानता है (यत्र)जिस परमात्मामें (विश्वम्) कार्यरूप जगत् (एकनीडम्) एकनीड 'घोंसले' रूप (भवति) होताहै अर्थात् अभिन्न अविशेष कारणरूप होताहै (च) और (तस्मिन्) उसी ब्रह्ममें (इदम्) यह (सर्वम्) सब प्राणिसमूह (समेति) संहारकालमें एकीभावको प्राप्त होजाताहै अर्थात् लयहोजाताहै (च) और (वि) सर्गकालमें उसीसे (च) प्रगटभी होजाताहै आशय यही है कि सर्गकालमें फिर उसीसे निकलता है (सः) वह (विभूः) कार्यकारणरूपसे अनेक प्रकार होनेवाला व्यापक परमात्मा (प्रजासु) समस्त प्रजाओंमें (ओतः) ऊर्ध्व तन्तुओंमें पटकी समान शरीरभावसे ओत और(प्रोतः) तिरछे तन्तुओंमें पटकी समान शरीर भावसे प्रोत हो रहाहै ।

विशेष–जैसे नीडसे पक्षी निकलते और फिर उसीमें प्रवेश करजातेहैं, इसी प्रकार उससे प्रगट होकर फिर जगत् उसीमें प्रविष्ट होजाताहै । वस्त्रमें जिसप्रकार ऊर्ध्व और तिर्यग्भावसे तानाबाना होताहै, इसीप्रकार वही सर्वत्र व्याप्त है वस्त्रके तन्तु जैसे क्रमसे पृथक् करनेसे वस्त्रत्व लुप्त होजाताहै, तन्तुही अवशिष्ट रहते हैं ब्रह्म शून्य जगतभी इसीप्रकार जानो ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

प्रतद्वोचेदमृतन्नुविद्वान्गन्धर्वोधामविभृतङ्गुहा सत् ॥ त्रीणिपदानिनिहितागुहास्ययस्तानिवे दसपितुःपितासत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रतद्वोचेदित्यस्य स्वयम्भूर्ऋषिः । भुरिगार्षी त्रिष्टुप्छं० । पुरुषो देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मंत्रार्थ–(गन्धर्वः) वेदवचनका धारण करनेवाला वेदान्तवेत्ता (विद्वान्) पण्डित (नु) ही शीघ्र (अस्य) इस परमात्माके (तत्) उस (अमृतम्) निरन्तर रहनेवाले (गुहासत्) हृदयकन्दरामें स्थित (धाम) स्वरूपको (विभृतम्)

सर्गस्थिति प्रलयरूपसे विभक्त (प्रवोचेत्) वर्णनकरै इस अमृत रूपके (त्रीणि पदानि) तीन पाद वा स्वरूप, सर्ग, स्थिति, प्रलय, वा त्रयी विद्या, वा तीनकाल वा ब्रह्म अन्तर्यामी विज्ञानात्मा (गुहानिहिता) गुहामें स्थित हैं (यः) जो (तानि) उनको (वेद) जान्ता है (सः) वह (पितुः) पिता ब्रह्माकाभी (पिता) जनक (असत्) होता है अर्थात् परब्रह्मरूप होता है ॥ ९ ॥

विशेष-"त्रिपादस्यामृतं दिवि" यह पुरुषसूक्तमें कथन कर आए है कि, जगत् एकपाद विभूति है त्रिपाद विभूति जगतसे बाहर है जो विद्वान् उसको जान्ते हैं वे ब्रह्मरूप होते हैं। धामका अर्थ आश्रय सब जगत्का आधार वा तेज है ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मन्त्र १।

सनोबन्धुर्ज्जनितासविधाताधामानिवेदभुवनानिविश्वा ॥ यत्रदेवाऽअमृतमानशानास्तृतीयेधामन्नध्यैरयन्त ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सनोबन्धुरित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ १० ॥

मन्त्रार्थ-(सः) वह परमात्मा (नः) हमारा (बन्धुः) बन्धुवत् मान्य है (जनिता) उत्पन्न करनेवाला (सः) वही (विधाता) धारण करनेवाला है (सः) वह (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) भूतसमूह (धामानि) तथा सब स्थानोंको (वेद) जान्ता है (देवाः) अग्नि आदि देवता (यत्र) जिस ब्रह्ममें (अमृतम्) मोक्ष प्राप्त करानेवाले ज्ञानको (आनशानाः) प्राप्त करते (तृतीये) तीसरे (धामन्) स्थान स्वर्गमें (अध्यैरयन्त) स्वेच्छासे वर्तते हैं, ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानको प्राप्त होकर देवता स्वर्गमें आनंद करते हैं ॥ १० ॥

विशेष-यह ऊपर और नीचे दिव और मर्त्यलोक दो धाम कहाते हैं इन दोनोंको वह भली प्रकार जान्ता है वह इन दो धामोंका भी धाम होनेसे स्वर्गरूप तृतीय धाम है, उसीकी कृपासे देवता अमृतत्व प्राप्तकिये हैं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १।

परीत्त्यभूतानिपरीत्त्यलोकान्परीत्यसर्वाः प्प्रदिशोदिशश्च ॥ उपस्त्थायप्प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परीत्येत्यस्य स्वयम्भूर्ऋ०। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छन्दः। अनन्यभक्तो देवता। होमे वि०॥ ११॥

विधि-(१) 'सब प्राणियोंमें मै हूं सब प्राणी मुझमें हैं' ऐसे ज्ञानवाले सर्वमेधयाजीकी मुक्ति कहते हैं तथा ब्रह्मज्ञानी यजमानके अग्निहोत्रादि यज्ञ भी सर्वमेध है यह दो कण्डिकाओंमें कहते है। **मन्त्रार्थ**-ज्ञानवान् सर्वमेधयाजी (भूतानि) सम्पूर्ण भूतोंको (परीत्य) ब्रह्मरूप जानकर (लोकान्) भूरादिलोकोंको (परीत्य) ब्रह्मरूप जानकर (सर्वाः) सम्पूर्ण (प्रदिशः) विदिशाओंको (च) और (दिशः) पूर्वादि दिशाओंको (परीत्य) ब्रह्मरूप जानकर (प्रथमजाम्) प्रथम प्रगट हुई त्रयीरूप वाणीको (उपस्थाय) उपस्थान अर्थात् सेवन करके यज्ञादिक करके (आत्मना) जीवरूपसे (ऋतस्य) यज्ञके (आत्मानम्) अधिष्ठाता परमात्मामें (अभिसंविवेश) प्रवेश करता है अर्थात् ब्रह्मही हो जाता है प्रथमजामें प्रमाण-"तस्मात्पुरुषाद्ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत" इति श्रुतेः॥ ११॥

सरलार्थ-शान्तिकी इच्छावाला पुरुष सम्पूर्ण प्राणियोंको परिक्रमण कर सम्पूर्ण लोकोंको परिक्रमण कर समस्त दिशा विदिशाओंको परिक्रमण कर [कहीं शान्ति न पाकर] अन्तमें प्रथम जातमें उपस्थित होकर सत्यस्वरूप उस परमात्माके सहित अपनी आत्माका योग करता है। सामवेदीयारण्यकमें कहा है "अहमस्मि प्रथमजातो" यज्ञद्वारा परब्रह्मका उपस्थान करके वा ब्रह्मके लाभयोग्य बुद्धिको प्राप्त होकर मुक्त होताहै जगत्को त्यागकर मुक्ति होती है उसके सिवाय कही शान्ति नही है यह स्पष्ट है॥ ११॥

कण्डिका १२-मंत्र १।

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः॥ ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ १२॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परीत्यस्य स्वयम्भूर्ऋषिः। आर्षी त्रिष्टुप्छन्दः। मोक्षार्हो देवता। वि० पू०॥ १२॥

मंत्रार्थ-सर्वमेधयाजी ज्ञानी (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवीको (सद्यः) शीघ्रही (परि इत्वा) ब्रह्मरूप जानकर (लोकान्) लोकोंको (परि) ब्रह्मरूपसे भावनाकर (दिशः) दिशाओंको (परि) परिक्रमण कर (स्वः) स्वर्गादिको (परि) परिक्रमण कर (ऋतस्य) यज्ञके (तन्तुम्) कर्तव्यताको (विततम्)

विस्तृत अनुष्ठानसे (विचृत्य) समाप्त करके (तत्) उस ब्रह्मको (अपश्यत्) देखता है (तत्) वही (अभवत्) होता है (तत्) वस्तुतः पहले वही (आसीत्) था अज्ञाननिवृत्तिही उसका दर्शन है "तदेव सन्तस्तदु तद्भवाम" इति श्रुतेः । "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" इति श्रुतेः । अज्ञान निवृत्त होतेही ब्रह्मरूप होता है ॥ १२ ॥

सरलार्थ-मनके वाहनसे शीघ्रही द्यावा पृथिवीका परिक्रमण समाप्तकरकै सद्यही सब लोक दिशा विदिशा और स्वर्गपर्यन्त परिक्रमणकरकै उस सत्य स्वरूपके विस्तृत तन्तुसमूहमें विचरण करकै सर्वत्र उसीको देखता [उसके भिन्न कुछभी दृश्यमान नहीं यह सब दृश्यमान मकरीके तन्तुओंकी समान उसके तन्तु हैं] उसीको लाभ करता परिशेषमें उसमें विलीन होकर एकमात्र वही होता है, अर्थात् उसको पूर्णरूपसे लाभ करकै अपनेको उसीमें स्थित मानकर तन्मय होता है। यह जगत् तन्तुरूप और वह प्राप्य है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

सदसस्पतिमद्भुतम्प्रियमिन्द्रस्यकाम्म्यम् ॥
सनिम्मेधामयासिषᳬस्वाहा ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सदसस्पतिमित्यस्य स्व० ऋ० । भुरिगार्षी गायत्री छं० । प्रार्थना देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

विधि-(१) तीन मंत्रोंसे मेधाकी याचना करते हैं । मन्त्रार्थ-(सदसः) यज्ञगृहके (पतिम्) पालक (अद्भुतम्) अचिन्त्य शक्ति (इन्द्रस्य) इन्द्रके (प्रियम्) मित्र (काम्यम्) मेधाके मांगनेवालोंको कामनीय अग्निको (सनिम्) द्रव्यदानको तथा (मेधाम्) ब्रह्मज्ञानवाली बुद्धिको (अयासिषम्) याचना करते हैं (स्वाहा) सुवचन गृहीत हो अर्थात् इन्द्रको भी कामनीय प्रिय अद्भुत स्वरूप सभापालक परमेश्वरके मेधादानकी प्रार्थना करते हैं [ऋ० १ । १ । ३९। यहां स्वाहा अधिक है ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

याम्मेधान्देवगणाऽपितरश्चोपासते ॥
तयामामद्यमेधयाग्नेमेधाविनङ्कुरुस्वाहा ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यामित्यस्य स्व० ऋ० । निचृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्निरूप परमात्मान् (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धिको (देवगणाः) देवसमूह (च) और (पितरः) पितर (उपासते) कामना करते हैं (अद्य) अब (तया) उस (मेधया) बुद्धिसे (माम्) मुझे (मेधाविनम्) बुद्धिसम्पन्न (कुरु) करो अर्थात् देवपितृमान्य बुद्धि हमको प्राप्त हो (स्वाहा) तुम्हारे निमित्त आहुति हो ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

मेधाम्मे॒ वरु॑णो ददातु मे॒धाम॒ग्निः प्र॒जाप॑तिः ॥ मे॒धा मिन्द्र॑श्च वा॒युश्च॑ मे॒धान्धा॒ता द॑दातु मे॒ स्वाहा॑ ॥१५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मेधाम्म इत्यस्य स्व० ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुणदेवता (मे) मेरे निमित्त (मेधाम्) तत्त्वज्ञानके उपयोगिनी बुद्धिको (ददातु) प्रदान करै (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति (मे) मुझे (मेधाम्) बुद्धिको दे (च) और (इन्द्रः) इन्द्र (च) और (वायुः) वायु (मेधाम्) बुद्धि प्रदानकरै (धाता) धारण करनेवाला परमेश्वर (मे) मेरे निमित्त (मेधाम्) बुद्धिको (ददातु) प्रदान करै (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ १५ ॥

विशेष-अद्वैतनिष्ठामे वरुणादि नाम इस स्थलमें ब्रह्मकेही है कारण कि "तदेवाग्निः" मन्त्रमे प्रतिपादन करचुके है इससे उससे ब्रह्मज्ञानकी प्रार्थना है, द्वैतनिष्ठामें सब पदार्थोंके ज्ञानके विना मुक्ति नहीं यही गौतमजीने न्यायमें कहा है सोलह पदार्थोंके ज्ञानसे निःश्रेयसाधिगम मुक्ति होती है इससे अग्नि वायु वरुणआदि देवताओंकी परिचर्या किये विना अर्थात् तत्त्व जाने विना तत्त्वज्ञानके उपयोगी बुद्धि नही होती आशय दोनोंका एकही है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

इ॒दम्मे॒ ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रञ्चो॒भे श्रि॒यम॑श्नुताम् ॥ मयि॑ दे॒वा द॑धतु॒ श्रिय॒मुत्त॑मां॒ तस्यै॑ ते॒ स्वाहा॑ ॥१६॥ [९], ॥ २ ॥

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितायां द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इदम्म इत्यस्य स्वयम्भूर्ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । मन्त्रोक्ता देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मंत्रार्थ-(इदम्) यह (ब्रह्म) ब्राह्मणजाति (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रियजाति (उभे) दोनों (मे) मेरी (श्रियम्) लक्ष्मीको (अश्नुताम्) भोगो

(च) और (देवाः) देवता (मयि) मेरे विषय (उत्तमाम्) श्रेष्ठ (श्रियम्) लक्ष्मीको (दधातु) स्थापन करें (तस्यै) उस प्रसिद्ध (ते) तुझ लक्ष्मीके निमित्त (स्वाहा) आहुति देते हैं ॥ १६ ॥

सरलार्थ-ब्रह्मसम्बन्धी और क्षत्रसम्बन्धी दोनों प्रकारकी श्री हमको प्राप्तहो जिसे दोनों भोगें, देवता हमको उत्तम श्री दें इसी उद्देश्यसे यह आहुति देते हैं गृहीत हो ॥ १६ ॥

विशेष-इसमें लक्ष्मीकी कामना है परन्तु उसी लक्ष्मीकी कामना करते हैं जो यज्ञादिके कार्यकी हो, कारण कि श्रीके विना यज्ञ नहीं होसक्ता इस्से उत्तम श्रीकी कामनासे प्रार्थना है ॥ १६ ॥

इति श्रीकात्यायनगोत्रोत्पन्नमिश्रसुखानन्दसूनुपण्डितज्वालाप्रसादमिश्ररचितशुक्लयजुर्वेदान्तर्गतमिश्रभाष्ये सार्वमेधिकमन्त्रोक्तिर्नाम द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ३३.

अनुवाकसूत्रम्-अस्याजरासःसप्तदशापश्वित्द्वादशविभ्राट्चतुर्दशप्रवावृजएकादशप्रवायुंप्रवीरयापंचदशकावानस्त्रयोदशसप्तसप्तनवतिः ७ । ९७ ॥

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

अस्याजरासोदमामरित्राऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः ॥ श्वितीचयः श्वात्रासोभुरण्यवोवनर्षदोवायवोनसोमाः ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्याजरास इत्यस्य वत्सप्रीर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । पुरोरुङ्मंत्रपाठे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) सर्वमेधमें अग्निष्टोममें स्थित अग्निष्टुत्संज्ञावाले प्रथमदिनमें अस्याजरासादि १७ मन्त्र अग्निदेवतावाले पुरोरुक् कहाते हैं पुरोरुक्शब्दसे ऋङ्मन्त्रोंका ग्रहण होताहै "ऋग्वि पुरोरुक्" इतिश्रुतः । परन्तु कहीं २ स्थलविशेषमें विधान होनेसे यजुके मन्त्रभी पुरोरुक् कहलातेहैं वस्तुतः जिस देवताके उद्देश्यसे जो ग्रह ग्रहण कियाजाय, वह ऋक् वा यजुर्मन्त्र उसी देवताका स्तुतिबोधक होजाताहै ग्रहग्रहणमें उसीको पुरोरुक् कहतेहैं ॥ १ ॥

मन्त्रार्थ-(अस्य) इस यजमानकी (अग्नयः) अग्नियें (अजरासः)जरारहित (दमाम्) गृहोंकी (अरित्राः) रक्षाकरनेवाली अथवा शत्रुओंसे रक्षाकरनेवाली अथवा दमनीय राक्षसोंकी तारक (अर्चद्धूमासः)अर्चनयोग्य धूमसे लक्षित ज्वाला-वाली देवयान पितृयान मार्गसे सम्बन्धवाली (पावकाः) शोधक (श्वितीचयः) यजमानोंको उज्ज्वलता बढानेवाली (श्वात्रासः) शीघ्रफल देनेवाली (भुरण्यवः) भरण पोषण करनेवाली (वनर्षदः) वनमें हुए काष्ठोंमें स्थित होनेवाली, (वायवः) वायुकी (न) समान दीप्तिकरनेवाली (सोमाः) यजमानकी इष्ट देनेवाली हैं [ऋ० ८।१।२] ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १।

हर॑यो धूमके॑तवो वात॑जूता उप॒ द्यवि॑ ॥ यत॑न्ते वृथ॑गग्नय॑÷ ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हरय इत्यस्य विश्वरूप ऋषिः। गायत्री छं०। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(हरयः) हरितवर्ण (धूमकेतवः) धूमरूप केतुसे युक्त (वातजूताः) वायुसे प्रसार पानेवाली (अग्नयः) अग्निये (उपद्यवि) स्वर्गमें गमन करनेको (वृथक्) नाना वर्णसे (यतन्ते) यत्न करती है अर्थात् भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त विविधाकारसे जगत्को मंगलके निमित्त सदा यत्न करती है [ऋ०६।३।२९]॥२॥

विशेष-यह दो मंत्र ७ अ० के ७। ८ मंत्रके परिवर्ती इन्द्रवायव ग्रहके सम्बन्धमें व्यवहृत होते हैं। ऐन्द्रवायवग्रहापरार्धग्रहणे विनियोगः ऐसा विनि-योग भी होसकता है ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र १।

यजा॑ नो मि॒त्रावरु॑णा यजा॑ दे॒वाँ२ऽऋ॒तम्बृ॒हत् ॥ अग्ने॒ यक्षि॒ स्वन्दम॑म् ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यजान इत्यस्य गोतम ऋ०। गायत्री छन्दः। अग्निर्देवता। वि० पू० ॥ ३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (नः) हमारे (मित्रावरुणा) मित्रावरुण देवताओंको (यज) यजन करो (देवान्) देवताओंको (यज) यजनकरो (बृहत्) बडे (ऋतम्) यज्ञको (स्वम्) अपने (दमम्) गृहको (यक्षि) यजन करो ॥ ३ ॥

सरलार्थ–इस सत्यस्वरूप ब्रह्मके प्रति लक्ष्य स्थिर रखकर मित्रावरुणदेवताको यजनकर, अपरापर देवगणकोभी यजनकर । हे अग्ने ! तुम हमारे इस गृहको अपना जानकर यजन करतेहो । यह मंत्र ७ अ० ९ मंत्रके परिवर्ति मैत्रावरुण ग्रह- सम्बन्धमें व्यवहार होताहै [ऋ० १।५।२३] मैत्रावरुणग्रहणे विनियोगः ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र १ ।

युक्ष्वाहि देवहूतमाँ २ऽअश्वाँर ऽअग्नेरथी रिव ॥ निहोतापूर्व्यःसदः ॥ ४ ॥

युक्ष्वाहि–१३ । ३७ में इसकी व्याख्या होगई । ७ । ११ मंत्रसे परिवर्ति आश्विन ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार होताहै ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र १ ।

द्वेविरूपे चरतः स्वर्थेऽअन्यान्यावत्समुपधाप येते ॥ हरिरन्यस्याम्भवतिस्वधावाञ्छुक्रोऽअ न्यस्यान्ददृशेसुवर्चाः ॥ ५ ॥ शतम् ॥ १७०० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ द्वेविरूप इत्यस्य कुत्स ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । मार्गौ देवते । वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ–(अन्या अन्या) प्रत्येक परस्पर (विरूपे) भिन्न २ रूपवाले (स्वर्थे) सुन्दर अर्थ अर्थात् कल्याणके प्रयोजक (द्वे) दोनों रात और दिन कृष्णा रात्रि और शुक्लपक्षरूप दिन यह दोनों (वत्सम्) वत्सको वा जीवको (उपधापयेते) क्षीरपान कराते हैं रात्रि अग्निहोत्र कराकर अग्निदेवताकी उपासना और दिन सूर्य देवकी उपासना कराते (चरतः) विचरण करते हैं (अन्यस्याम्) एक रात्रिमें (हरिः) हरित वर्ण अग्नि (स्वधावान्) स्वधायुक्त (भवति) होता है (अन्यस्याम्) एकमें अर्थात् दिनमें (शुक्रः) आदित्य (सुवर्चाः) दीप्तिमान् (भवति) होता है अथवा द्यावापृथ्वी दो हैं अग्नि भूमिमें स्वधावान् होता है सूर्य स्वर्गमें तेजयुक्त होता है ॥ ५ ॥

सरलार्थ–परस्पर पृथक् पृथक् रूपवाली दो कन्या [अन्धकार और प्रकाश] जगत्के कल्याणके निमित्त [दिनरात] परस्पर वत्सरूपसे पालित होती हैं, अर्थात् ईश्वरीय नियमसे दिन रात्रिको प्रसव करके वत्सरूपसे पालन करती है,

और रात्रि भी इसी रूपसे दिनको प्रसवरूपसे वत्सरूपसे पालन करती है एक (दिन) के अधिकार समयमें यह स्वधावान् हवि [तेज पदार्थ] शुक्र आकार [सूर्य] धारण करता है दूसरे [रात्रि] के अधिकार कालमें सुवर्च [अग्निज्वाला] रूपसे दृढ होता है सातवें अध्यायके ११ मं० आगे आश्विन ग्रह सम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० १।७।१] [आश्विनग्रहग्रहणे वि०] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मन्त्र १ ।

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः ॥ यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥ ६ ॥

अयमिह–इसकी व्याख्या ३ । १५ में होगई । ७ अ० १६ मंत्रके उपरान्त मन्थिग्रहसम्बन्धमें इसका व्यवहार है ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १ ।

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्य्यन् ॥ औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा ऽआदिद्धोतारं न्यसादयन्त ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ त्रीणीत्यस्य विश्वामित्र ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ–(त्रीणि) तीन (शता) सौ (त्रीणि) तीन (सहस्राणि) सहस्र (त्रिंशत्) तीस (च) और (नव) नौ अर्थात् तीन सहस्र तीन सौ उन्तालीस ३३३९ अथवा ३०० × ३००० = ९००००० × ३० = २७०००००० × ९ = २४३०००००० (देवाः) देवता (अग्निम्) अग्निकी (असपर्यन्) परिचर्या करते है अर्थात् अग्निदेवतारूप परमात्माका पूजन करते है (घृतैः) घृतोंसे (औक्षन्) अग्निको सिञ्चन करते हैं (अस्मै) अग्निकी प्रीतिके निमित्त (बर्हिः) कुशाओंको (अस्तृणन्) बिछाते हैं (आत्इत्) अनन्तर (होतारम्) होत्रकर्ममें वरण करके (न्यसादयन्त) नियुक्त करते है ॥ ७ ॥

विशेष–अग्निरूपसे परमात्माका पूजन घृतकी आहुति और कुशाओंके आच्छादन करके वेदपाठ पूर्वक होता है देवताओंकी संख्या इस मंत्रसे और भी अधिक निकलती है “ नवैवाङ्कास्त्रिवृद्धाः स्युर्देवानां दशकैर्गणैः । ते ब्रह्मविष्णुरुद्राणां शक्तीनां वर्णभेदतः ” । इस आगमके प्रमाणसे देवताओंके अंग त्रिवृद्ध

करके नौ अंकोंमें पूर्ण होते हैं तथा ३३३, ३३३, ३३३ यह हुए अ० ७ । १९ मंत्रके स्थानमें आग्रहायण ग्रहसम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० ८।१।१२] आग्रयणग्रहग्रहणे विनियोगः ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १ ।

मूर्द्धानन्दिवोऽअरतिम्पृथिव्यावैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम् ॥ कविꣳसम्म्राजमतिथिञ्जनाना मासन्नापात्रञ्जनयन्तदेवाः ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐमूर्द्धानन्दिव इसकी व्याख्या ७।२४ में होगई ७।२४ के ध्रुवग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है ८ । ध्रुवग्रहग्रहणे विनियोगः । यद्यपि यह मंत्र पुरोक्त है इसका पाठमें विनियोग है पर ५५ मंत्रतक ८ । ६ मंत्रतक जो विनियोग लिखे हैं वह भी हो सकते हैं उन्हें देखकर विनियोग पढलेना चाहिये ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १ ।

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद्द्रविणस्युर्विपन्यया ॥ समिद्धꣳशुक्रऽआहुतः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ-(समिद्धः) प्रदीप्त (शुक्रः) शुद्ध (आहुतः) निमंत्रित (अग्निः) अग्नि देव (द्रविणस्युः) हविलक्षणयुक्त धनकी इच्छा करता हुआ (विपन्यया) विविध प्रकारकी पूजाद्वारा (वृत्राणि) पापोंको (जङ्घनत्) नाश करता है ॥ ९ ॥

विशेष-७ अ० ३१ मंत्रके परिवर्ती इन्द्राग्नग्रहसम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० ४।९।२७] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १ ।

विश्वेभिꣳसोम्म्यम्मद्ध्वग्नऽइन्द्रेणवायुना ॥ पिबामित्रस्यधामभिः ॥ १० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेभिरित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

---

१ वह इस प्रकार है कि पहले तीन उसके नीचे ३० उसके नीचे ३०० उसके नीचे ३००० उसके नीचे ३०००० ऐसे एक २ बिन्दु नौ स्थानतक बढाते जाओ तो सबका जोड ३३३३-३३३३३ होगा ।

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (मित्रस्य) मित्रके (धामभिः) तेजसहित (विश्वेभिः) सम्पूर्ण देवता तथा (इन्द्रेण) इन्द्र (वायुना) और वायुके साथ (सोम्यम्) सोममय (मधु) मधुको (आपिब) सब प्रकार पानकरो अर्थात् हे अग्ने इन्द्र वायु और सम्पूर्ण मित्र [सूर्य] मंडलके सहित मधुपान करो ॥ १० ॥

विशेष-७ अ० ३३ मंत्रके परिवर्ती वैश्वदेव ग्रह सम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० १ । ६ । २७] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

आयदिषेनृपतिन्तेजऽआनट्शुचिरेतोनिषिक्तन्द्यौ रभीके ॥ अग्निः शर्द्धमनवद्यंयुवानꣳस्वाध्य अनत्सूदयंच ॥ ११ ॥

ॐ ऋष्यादि-(१) ॐ आयदित्यस्य पराशर ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जिससमय (इषे) अन्नजलके निमित्त (निषिक्तम्) देवताके उद्देश्यसे अग्निमें स्थापना किया वा हुत किया (शुचि) मन्त्रसे संस्कार किया (तेजः) तेजयुक्त हवि वा घृत (नृपतिम्) यजमानके पालक अग्निमें (आनट्) व्याप्त होताहै उससमय (अग्निः) अग्नि देवता (शर्धम्) बलका कारणभूत (अनवद्यम्) दोषरहित (युवानम्) दृढ (स्वाध्यम्) सम्यक् विचारयोग्य (रेतः) जगत्के बीजभूत जलको (द्यौरभीके) स्वर्गके समीप अन्तरिक्षमें (जनयत्) मेघरूपसे प्रगट करताहै (च) और (आसूदयत्) वृष्टिरूपसे क्षरणकरताहै अर्थात् यह अग्निमें दी हुई आहुति पुष्ट वर्षारूप होकर फिर भूमिको लेहन करती है ॥ ११ ॥

विशेष-७ अ० ७५ मंत्रके उपरान्त मरुत्वतीय ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार होताहै । [द्यौः-अभीके] [ऋ० १ । ९ । १६] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

अग्नेशर्द्ध महतेसौभगायतवद्युम्नान्युत्तमानिसन्तु ॥ सञ्जास्पत्त्यꣳसुयममाकृणुष्वशत्रूयतामभितिष्ठामहाꣳसि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अग्निरित्यस्य विश्ववार ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (महते) बडे (सौभगाय) सौभाग्य वा ऐश्वर्यके निमित्त (शर्ध) बलप्रकाशकरो वा यशसमूहकी उत्तमता लाभ करो (तव) तुम्हारे (द्युम्नानि) प्रकाशवान् यश वा अन्न "द्योततेर्यशो वान्नं वा" इति [निरु० ५ । ५] (उत्तमानि) उत्तम श्रेष्ठ (सन्तु) हौ (जास्पत्यम्) पत्नी यजमानको (सुयवम्) जितेन्द्रिय एक दूसरेमें अनुरागी (समाकृणुष्व) भली प्रकार करो और (शत्रूयताम्) शत्रुता करनेवालोंके (महांसि) तेजोंको (अभितिष्ठ) आक्रमण कर तिरस्कार करो ॥ १२ ॥

विशेष-७ अ० ३६ मंत्रके परवर्ती द्वितीय मरुत्वतीय ग्रहके सम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० ४ । १ । २२] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मन्त्र १ ।

त्वाᳯंहिमन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहेमहिनःश्रोष्यंग्ग्ने ॥ इन्द्रन्नत्त्वाशवसादेवतावायुम्पृणन्तिराधसान्नृतमाः ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वामित्यस्य भरद्वाजऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १३ ॥

मंत्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (मन्द्रतमम्) अतिगम्भीर (त्वा) आपको (हि) ही (अर्कशोकैः) सूर्यकी समान दीप्तिमान् वेदके मंत्रोंद्वारा (ववृमहे) वरण किया "अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्यसे अध्ययन किये वेद मंत्र सुर्यकी समान दीप्तिमान् होते है" (नः) हमारे (महि) महान् स्तोत्रको तुम (श्रोषि) श्रवण करते हो (नृतमाः) मनुष्योंमें श्रेष्ठ (देवताः) देवता(शवसा) बलमें (इन्द्रम्) इन्द्रकी (न) समान (च) और (वायुना) वायुकी समान प्रबल (त्वा) तुमको (राधसा) हविलक्षणवाले अन्नसे (पृणन्ति) पूर्ण करते हैं १३ । ७ । ३९ मंत्रके परवर्ती माहेन्द्र ग्रहमें व्यवहार है [ऋ० ४ । ५ । ६] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मंत्र १ ।

त्वेऽअंग्ग्ने स्वाहुतप्प्रियासःसन्तुसूरयः ॥ यन्तारोषेमघवानोजनानामूर्वान्दयन्तुगोनाम् ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐत्वेअग्न इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(स्वाहुत) भलीप्रकारसे आहुत (अग्ने) हे अग्निदेव ! (जनानाम्) जनोंके मध्यमें (ये) जो (यन्तारः) जितेन्द्रिय (मघवानः) धनवान् (गोनाम्) गोसम्बन्धी दुग्ध दधि घृतोंके साथ (ऊर्वान्) अन्नविशेष पुरोडाशादिको (दयन्त) देते है, वे (सूरयः) विद्वान् (त्वे) तुम्हारे (प्रियासः) प्रिय (सन्तु) हौं ॥ १४ ॥

विशेष-८ अ० २ मंत्रके परवर्ती आदित्य ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ५।२।२२] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १ ।

श्रुधिश्श्रुत्त्कर्णवह्निभिर्द्देवैरग्नेसयावभिः ॥ आसीदन्तुबर्हिषिमित्रोऽअर्य्यमाप्प्रांतर्य्यावाणोऽअद्ध्वरम् १५

ऋष्यादि-(१) ॐश्रुधीत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । बृहती छन्दः । देवा दवताः । वि० पू० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ-(श्रुत्कर्ण) प्रार्थियांकी प्रार्थना श्रवण करनेमें निरन्तर संयतकर्णवाले (अग्ने) हे अग्ने! (सयावभिः) साथ चलनेवाले (वह्निभिः) हवियोंके वहन करनेवाले (देवैः) देवताओंके सहित (अध्वरम) हमारे यज्ञको (श्रुधि) श्रवण कीजिये (मित्रः) मित्र देवता (अर्यमा) अर्यमा देवता (प्रातर्यावाणः) प्रातःसवनमें हवि प्राप्त करनेवाले देवता (बर्हिषि) कुशाओंपर (आसीदन्तु) स्थित हों ॥ १५ ॥

विशेष-अ० ८ मं० ३ के परवर्ती आदित्य ग्रहके सम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० १ । ३ । ३०] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

विश्श्वेषामदितिर्य्यज्ञियानाँविश्श्वेषामतिथिर्म्मानुषाणाम् ॥ अग्निर्द्देवानामवऽआवृणानःसुमृडीकोभवतुजातवेदाः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेषामित्यस्य गोतम ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-(जातवेदाः) सर्वज्ञ (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (यज्ञियानाम्) यज्ञयोग्य देवताओंके मध्यमें (अदितिः) अदीन (विश्वेषाम्) सम्पूर्ण (मानुषाणाम्) मनुष्योंके मध्यमें (अतिथिः) अतिथिवत्पूजनीय (अग्निः) अग्नि (देवानाम्) देवताओंके (अवः) कल्याण वा हविलक्षणवाले अन्नको (आवृणानः) समर्पण करता हुआ हमको (सुमृडीकः) सुखकारी (भवतु) होवै ॥ १६ ॥

विशेष-८ । ४ के परवर्ती आदित्य ग्रहसम्बन्धी दधिश्रयणमें व्यवहार है अदिति कहनेका भाव यह कि अन्य वस्तुके अभावमें यज्ञ होसकता है पर अग्निके अभावमें नहीं होसकता [ऋ० ३।४।१९] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मन्त्र १ ।

महोऽअग्नेः समिधानस्य शर्म्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये ॥ श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे ॥ १७ ॥ [१७]

ऋष्यादि-(१) ॐ महोऽअग्नेरित्यस्य कुशोधानाक ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । प्रार्थना देवता । वि० पू० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(सवितुः) सबके प्रेरक देवकी (श्रेष्ठे) श्रेष्ठ (सवीमनि) आज्ञा होनेपर (देवानाम्) देवताओंकी (तत्) वह (अवः) कल्याणी रक्षा वा हवि लक्षण अन्नको (अद्य) इस समय (वृणीमहे) वरण वा संस्कार करते हैं (महः) पूजनीय (समिधानस्य) दीप्यमान (अग्नेः) अग्निके (शर्म्मणि) शरणमें (मित्रे) मित्र (वरुणे) वरुणमें (अनागाः) अपराधरहित हम (स्वस्तये) स्वस्तिमान् कल्याणयुक्त (स्याम) हों [ऋ० ७।८।११] ॥ १७ ॥

विशेष-८ अ० ६ मं० परवर्ती सावित्र ग्रहसंबंधमें व्यवहार है ॥ १७ ॥

सरलार्थ-सम्यक् दीप्यमान महान् अग्निके गृहस्थायी हम क्या रात क्या दिनमें पापाचरण न करके सविता देवताकी श्रेष्ठ कल्याणकर प्रेरणासे निरन्तर विद्यमान हैं, इससे देवसम्बन्धी रक्षालाभमें अवश्यही समर्थ होंगे ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १-अनु० २ ।

आपश्चित्पिप्युस्तर्य्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्तऽइन्द्र ॥ याहि वायुर्न नियुतो नोऽअच्छा त्वँ हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आपश्चिदित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । ऐन्द्रपुरोरुग्मंत्रपाठे विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि–(१) इन्द्रस्तुतनामक द्वितीयाहमें यहांसे १२ और तंप्रत्नथा, अयंवेन, महांइन्द्र, कदाचनस्तरी, कदाचन प्रयुच्छसीति, पांचप्रतीकोक्त मन्त्र अर्थात् सब सत्रह इन्द्रदेवताके पुरोरुक् जान्ने "ऐन्द्रयः पुरोरुचः सर्वमैन्द्रमसत्" इति सर्वमेधे श्रुतिः । [१३ । ७ । १ । ४] **मन्त्रार्थ**–(इन्द्र) हे इन्द्र ! (तर्यः) वेदवाणियोंद्वारा (जरितारः) स्तुतिकरनेवाले ऋत्विक् (ते) तुम्हारे (ऋतम्) यज्ञको (नक्षन्) व्याप्त करते हैं (न) और (आपः) निग्राभ्य रूप जल (चित्) भी (पिप्युः) परिवर्द्धित करते है (त्वम्) तुम (नः) हमारे (अच्छ) अभिमुख (आयाहि) आओ (वायुः) वायुकी (न) समान (नियुतः) अपने अश्वोंद्वारा आगमनकरो (हि) जिसकारण कि तुम (धीभिः) बुद्धि वा कर्मद्वारा (वाजान्) अन्नोंकी (विदयसे) देते हो इस्से आओ ॥ १८ ॥

सरलार्थ–हे इन्द्र ! तर्य अर्थात् जलसमूहकी समान और गोसमूहकी समान आप्यायनकारी तुम्हारे स्तुति करनेवाले ऋत्विक् सत्यलाभ करै, वायु जिसप्रकार अपने वाहनमें नियुदगणके साहित्यलाभके निमित्त प्रवाहित होताहै, तुमभी इसी प्रकार हमारे समीप प्राप्त होनेके निमित्त आगमन करो, तुम्हारी गति रूप क्रियाके फलसेही हम अन्नलाभ करनेमें समर्थ हों, अर्थात् जलके विनाही दुर्भिक्ष और अन्नके अभावकी सम्भावना है ॥ १८ ॥

विशेष–७ । ७ मंत्रके परवर्ती ऐन्द्रवायव ग्रह सम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० ९ । ३ । ७] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मंत्र १ ।

गावऽउपावतावतम्महीयज्ञस्यरप्सुदा॥ उभाकर्णाहिरण्यया ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ गाव इत्यस्य पुरुमीढाजमीढावृषी । गायत्री छं० । गावो देवताः । वि० पू० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ–(गावः) हे गौओ वा वृष्टिकी धाराओ ! (मही) महती द्यावा पृथ्वी (यज्ञस्य) यज्ञके (रप्सुदा) रूपकी देनेवालीहै (उभा) दोनो (हिरण्यया) सुवर्णमय (कर्णा) कर्णोंद्वारा (अवतम्) चत्वालरूप कूपके प्रति (उपावत) प्राप्तकरो "अवत इति कूपनाम" [निघं० ३ । २३ । ७ ।] ॥१९॥

सरलार्थ–यज्ञके रूप [फल] की देनेवाली सम्पूर्ण गौ अपने हिरण्मय

कर्णोंद्वारा प्रार्थना श्रवणपूर्वक इस महीमें आगमन करें ७ । ८ मन्त्रके परवर्ती ऐन्द्रवायवग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ६ । ९ । १६] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १ ।

यद॒द्य सूर॒ऽउदि॒तेऽना॑गा मि॒त्रो॑ऽअ॒र्य्य॒मा ॥ सु॒वाति॑ सवि॒ता भगः॑ ॥ २० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यदद्येत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । निचृद्गायत्री छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(यत्) जो कि (अद्य) आज (सूरे) सूर्यके (उदिते) उदय होनेमें (अनागाः) अपराधरहित (मित्रः) मित्र (अर्यमा) अर्यमा देवता (सविता) सविता (भगः) भगदेवता (सुवाति) प्रेरणा करताहै वह कर्मकरें । आज सूर्योदयसे हमने कोईभी पापाचरण नहीं कियाहै इसकारण मित्र अर्यमा भगनामसे प्रसिद्ध सविता देवता हमको शुभकार्यमें प्रेरण करते है ॥ २० ॥

विशेष–७ । ९ मन्त्रके परवर्ती मैत्रावरुण ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ९ । ८] ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मंत्र १ ।

आ सु॒ते सि॑ञ्चत॒ श्रिय॒ᳬ रोद॑स्योरभि॒श्रिय॑म् ॥ र॒सा द॑धीत वृष॒भम् ॥ तम्प्र॒त्नथा॒ऽयं वे॒नः ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आसुत इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः । गायत्री छन्दः । नदी देवता । वि० पू० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ–(रसा) नदी वा आत्मारूप नदी (रोदस्याः) द्यावापृथिवीके आश्रय सोमके जगदाधारक होनेसे (अभिश्रियम्) सब ओरसे शोभित (वृषभम्) वर्षण करनेवाले सोम वा धर्मको (दधीत) धारण करतीहै, वा पुष्ट करतीहै (सुते) सोमके अभिषव होनेपर (आसिञ्चत) ऋत्विज उसको सींचै ॥२१॥

सरलार्थ–सोमके अभिषुत होनेपर ऋत्विग्गण उपापात्रमें आसिंचन करते हैं इस क्रियाके फलसे इन्द्र देवता द्यावा पृथ्वीकी स्त्री अतिश्री स्वरूप और नदीरूप वृषभ [वर्षायुक्त गर्जना] को धारण पोषण करै ॥ २० ॥

विशेष–७ । ११ मन्त्रके परवर्ती आश्विनग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ०६ । १६ वृषभम् पर्यन्त] (तम्प्रत्नथा) ७ । १२ कण्डिका तथा (अयंवेनः) ७ । १६ कण्डिकाभी इस स्थलमें पठनीय है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२—मंत्र १।

आतिष्ठन्तम्परि विश्वे॑ऽअभूष॒ञ्छ्रियो॒ वसा॑नश्चरति॒ स्वरो॑चिः॥ म॒हत्तद्वृष्णो॒ऽअसु॑रस्य॒ नामा॑ वि॒श्वरू॑पो॒ऽअमृता॑नि तस्थौ॥ २२॥

ऋष्यादि—(१) ॐआतिष्ठन्तमित्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। निच्यृदार्षी त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। वि० पू०॥ २२॥

मन्त्रार्थ—(विश्वे) सम्पूर्ण देवताओंने (आतिष्ठन्तम्) चिरस्थित इस देवताको (पर्यभूषन्) शोभित किया, (श्रियः) देवताओंकी दीप्तिको (वसानः) आच्छादन करता हुआ, (स्वरोचिः) स्वयं दीप्तिमान् जिसकी दीप्ति दूसरोंके अधीन नहीं है इसप्रकार होकर (चरति) विचरता है (विश्वरूपः) विश्वका निरूपण करनेवाला (अमृतानि) अमृत वा वृष्टिके निमित्त जलोंको (आतस्थौ) स्थित करता है (असुरस्य) प्राणयुक्त अर्थात् सावधान प्रज्ञावाले (वृष्णः) फलवर्षी इन्द्रका (तत्) वह (महत्) प्रसिद्ध (नाम) नाम है [ऋ० ३।२। २३]॥ २२॥

सरलार्थ—चिरस्थित इस देवताको संसार भूषित करताहै वह यह समस्त भूषणोंसे भूषित होकर स्वप्रकाशसे ही प्रकाश पातेहै इस बलवान् फलवर्षी देवताका महत् नाम विश्वरूप अमृत इत्यादि चिरकालतक स्थित है। ७। १९ मंत्रके परवर्ती आग्रयण ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है॥ २२॥

कण्डिका २३—मंत्र १।

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑माना॒यान्ध॒सोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑॥ इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑ख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णञ्च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑॥ २३॥

ऋष्यादि—(१) ॐ प्रवोमह इत्यस्य सुचीक ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। वि० पू०॥ २३॥

मंत्रार्थ—हे ऋत्विजो! (वः) तुम्हारे (अन्धसः) हविरूप अन्नसे (मन्दमानाय) मोदमान (विश्वभुवे) सर्वव्यापी (महे) महनीय (विश्वानराय) सब मनुष्य जिसके यजमान है उसके निमित्त (प्रार्चत) पूजन करै (रोदसी) द्यावापृथिवी

(यस्य) जिसको (सुमखम्) श्रेष्ठ यज्ञ, (सहः) बल (महि) महान् (श्रवः) यश (च) और (नृम्णम्) धन (सपर्यतः) अर्चन करते हैं ॥ २३ ॥

सरलार्थ-यह द्यावा पृथ्वी समस्तही इस इन्द्र देवताकी सुन्दर कर्म बल महत्व कीर्ति और धन अर्थात् महिमा कीर्तनसे सपर्या करते है तुम भी इस मोदमान विश्वानर विश्वस्रष्टा इन्द्र देवताको अन्नलाभके निमित्त अर्चना करो ७ । २४ । मन्त्रके परवर्ती ध्रुव ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ८ । १ । ९] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४-मन्त्र १ ।

बृहन्निदिध्मऽएषाम्भूरिशस्तम्पृथुः स्वरुः ॥
येषामिन्द्रो युवा सखा ॥ २४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बृहन्नित्यस्य त्रिशोक ऋषिः । गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ-(युवा) समर्थ (इन्द्रः) इन्द्र देवता (येषाम्) जिन यजमानोंका (सखा) सखा सहायक है (एषाम्) उनका (इध्मः) प्राण वा समिधा (बृहन्) महान् (इत्) ही होताहै (स्वरुः) खड्ग (पृथुः) विशाल (शस्तम्) शस्त्र (भूरि) बहुत होताहै इसकारण हम बृहत् देवताकी आराधना करते हैं ॥ २४ ॥

विशेष-७ । ३१ के परवर्ती ऐन्द्राग्नग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ६ । ३ । ४३] ॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मंत्र १ ।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः ॥
महाँ२ऽअभिष्टिरोजसा ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रेहीत्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र (आइहि) यहां आगमन करो (ओजसा) तेजसे (महान्) अतिशय श्रेष्ठ (अभिष्टिः) पूजनीय तुम (विश्वेभिः) सम्पूर्ण (सोमपर्वभिः) सोमके पर्वोंसे च्युत हुए रस और (अन्धसः) हविलक्षणवाले अन्नसे (मत्सि) तृप्तहो अर्थात् सम्पूर्ण सोम पर्वसे च्युत हुए रसको पान करके मोदितहो हमारे इस महान् अभीष्टको अपने तेजसे व्याप्त करो ॥ २५ ॥

विशेष-[अ० ७ । मं० ३३] परवर्ती विश्वेदेवग्रहसम्बन्धमें इसका व्यवहार है [ऋ० १ । १ । १७ ।] ॥ २५ ॥

कण्डिका २६–मंत्र१ ।

इन्द्रोवृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिःप्रमायिनामर्मिनाद्वर्प्पणीतिः ॥ अहन्व्यꣳसमुशधग्ग्वनेष्ष्वाविर्द्धेनाऽअकृणोद्राम्म्याणाम् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ–(शर्धनीतिः) बलवान् "शर्धइति बलनाम" [निघं०२।९।७] चतुरंगबलमें नीतिमान् (वर्पणीतिः) अनेकरूपधारी "वर्पइति रूपनाम" [निघं० ३ । ७ ।३] (उषधक्) पराये धनकी कामनावाले चोरोंको दहन करनेवाला (इन्द्रः) इन्द्र (मायिनाम्) मायाकरनेवाले असुरोंको (प्रामिणात्) नष्टकरताहै (वृत्रम्) वृत्रअसुरको (अवृणोत्) युद्धके निमित्त वरण करताहुआ (व्यंसम्) अपने परायेके विभाग करनेवाले दुष्टोंको (वनेषु) जो कि वनोंमें स्थित हैं (अहन्) मारताहै (राम्याणाम्) देवताओंके रमानेवाले यज्ञकारियोंकी(धेनाः) स्तुतिरूप वाणियोंको (आविः) प्रगट (अकृणोत्) करताहै । अर्थात् असुरनाश होनेसे जयजय ध्वनिको प्रगट करताहै ॥ २६ ॥

विशेष–७ । ३५ के परवर्ती मरुत्वतीयग्रहसम्बन्धमें इसका व्यवहारहै ॥ २६॥

विशेष–कोई कहतेहैं सूर्यकिरणको आवरण करनेवाली गर्जनाही वृत्र है मेघवृन्दही अनेक रूपधारी है वनोंमें अर्थात् अन्तरिक्षमें स्थित जलोंके मध्य धारारूपी, और कान्तिनाशी–अर्थात् घोर घटाओंके आच्छन्न होनेसे दिनकी कान्ति नष्ट होती है, मेघवृन्दका खण्ड २ होना ही ध्वनि है इस रूपकयुक्त अर्थको करते है [ऋ० ३ । २ । १९] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र १ ।

कुतस्त्वमिन्द्रमाहिनःसन्नेकोयासिसत्पतेकिन्तऽइत्थासम्पृच्छसेसमराणःशुभानैर्वोचेस्तन्नोहरिवोयत्तेअस्म्मे ॥ महाँ२ ऽइन्द्रोयऽओजसाकुदाचनस्तरीरसिकुदाचनप्प्रयुच्छसि ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कुतस्त्वमित्यस्यागस्त्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २७ ॥

मंत्रार्थ-(सत्पते) हे सत्पुरुषोंके पालक (इन्द्र) इन्द्र ! (त्वम्) तुम (एकः) एक असहाय (कुतः) कहां (यासि) गमन करते हो (माहिनः) पूजनीय (ते) आपके (इत्था) गयनका हेतु (किम्) क्या है (समराणः) सम्यक् प्रकारसे जातेहुए (शुभानैः) श्रेष्ठ वचनोंसे (सम्) भलीप्रकार (पृच्छसे) पूछे जाते हो अर्थात् तुम्हारे चलतेमें कोई शुभ वचनोंसे पूछते है (हरिवः) हे हरितवर्ण अश्ववाले इन्द्र ! (नः) हमारे प्रति (तत्) उस एकाकी गमनके कारणको (वोचेः) कहो (यत्) जिस कारणसे (अस्मे) हमे (ते) तुम्हारे है अर्थात् उस एकाकी गमनके मार्गको जिसमें सबको छोडकर एकाकी गमन करना होता है कारण कि हम तुम्हारेही अंश है ॥ २७ ॥

विशेष-७ । ३६ के परवर्ती द्वितीय मरुत्वतीय ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है । मरुतने इन्द्रसे प्राणोंने आत्मासे कहा है । "महाँ इन्द्रो य ओजसा" [७ । ४०] यह मंत्र ७।३९ के परवर्ती माहेन्द्र ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है वहीं व्याख्या होगई "कदाचनस्तरीरसि"८। २-३ मंत्रके परवर्ती आदित्य ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है । "कदाचन प्रयुच्छसि" ८ । ३ यह भी ७ । ३९ में आदित्य ग्रहमें व्यवहार है [ऋ० २ । ३ । २४ अस्मे पर्यन्त] ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मंत्र १ ।

आतत्तऽइन्द्रायवं÷पनन्ताभियऽऊर्वङ्गोमन्तुन्तितृत्सान् ॥ सुकृत्स्वंय्येपुरुपुत्राम्मुहीᳯसुहस्रधाराम्बृहतीन्दुदुक्षन् ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आतत्त इत्यस्य गौरीवितिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २८ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (ये) जो (आयवः) मनुष्य (गोमन्तम्) निग्राभ्य लक्षणवाले जलसे युक्त (ऊर्वम्) सोमरूप अन्नको (तितृत्सान्) भिषव करनेकी इच्छा करते है (ये) और जो (सकृत्स्वम) एकवारही हिरण्य धान आदिके देनेवाली (पुरुपुत्राम्) वहुत पुत्रवाली [पृथ्वीसेही वहुत पदार्थ उत्पन्न होते है] (सहस्रधाराम्) हिरण्यादिकी सहस्रों धाराओंसे युक्त

बहुत भोग देनेवाली (बृहतीम्) बडी (महीम्) भूमिको (दुदुक्षन्) दुहनेकी इच्छा करते है (ते) वे (तत्) तुम्हारे उस कर्मको (आपनन्त) पूजन करते है अर्थात् जो ब्राह्मण सोमका सोम अभिषव करते और जो क्षत्रिय उपरोक्त गुण-विशिष्ट भूमिको पालन करते है वेही इन्द्रके वृत्रवधादि कर्मोंकी प्रशंसा करते है॥२८॥

विशेष–८ । ४ मंत्रके परवर्ती आदित्यग्रहसम्बन्धी दधिश्रयणमें व्यवहार हे [ऋ० ८ । ३ । ९] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९–मंत्र १ ।

इमान्तेधियम्प्रभरेमुहोमुहीमुस्यस्तोत्रेधिषणायत्तऽ आनुजे ॥ तमुत्त्सुवेचंप्प्रसुवेचंसासुहिमिन्द्रन्देवा सुऽशवंसामदन्ननु ॥ २९ ॥ [१२]

ऋष्यादि–(१) ॐ इमामित्यस्य कुत्स ऋषिः । जगती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ २९ ॥

मंत्रार्थ–हे इन्द्र ! (महः) पूजनीय आपको (इमाम्) इस अपने सम्बन्धकी (महीम्) बडी (धियम्) बुद्धि स्तुति वा कर्मको (ते) आपके निमित्त (प्रभरे) समर्पण करता हूं (यत्) जिस कारण (अस्य) इस यजमानकी (धिषणा) बुद्धि (ते) तेरे (स्तोत्रे) क्रियमाण स्तोत्रमें (आनजे) तुमको प्रगट करती वा युक्त होती है (देवासः) देवता (उत्सवे) उत्सवमें अभ्युदयमें (च) और (प्रसवे) गुरु आदिकी अनुज्ञामें वा पुत्रादिकी उत्पत्तिरूप उत्सवमें (तम्) उस (शवसा) बलके द्वारा (सासहिम्) शत्रुओंके तिरस्कार करनेवाले (इन्द्रम्) इन्द्रको (अन्वमदन्) अनुमोदन करते है [ऋ० १ । ७ । १४] ॥ २९ ॥

विशेष–८ । ६ परवर्ती सावित्र ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है ॥ २९ ॥

सरलार्थ–हे इन्द्र ! तुम महान् तुम्हारा कर्म स्तोतृजनोंके निमित्त प्रगट हैं उस बडी कृपाकी वृद्धिको हम आहरण करनेमें प्रवृत्त हुए है क्या उत्सवमे क्या राज दशादि विपदमें सदाही देवगण इस शत्रुपराभवकारी इन्द्र देवताकी ही बलपूर्वक स्तुति करते हैं ॥ २९ ॥

इन्द्रस्तुतसंज्ञक नामक दूसरा दिन पूर्ण हुआ।

कण्डिका ३०–मन्त्र१. अनु० ३ ।

विभ्राड्बृहत्पिबतुसोम्म्यम्मध्वायुर्द्दधंद्यज्ञपताववि

हुतम् ॥ वार्तजूतो॒ यो॑ऽअ॒भि॒रक्ष॑ति॒ त्मना॑ प्र॒जाः
पु॒पो॒ष पु॑रु॒धा वि॒रा॑जति ॥ ३० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विभ्राडित्यस्य विभ्राड्ऋषिः । जगती छन्दः । सूर्यो देवता । सौर्यपुरोरुङ्मंत्रपाठे विनियोगः ॥ ३० ॥

विधि-(१) सूर्यस्तुतनामक तीसरे दिनमें १४ कण्डिकात्मक १७ मंत्र पुरोरुक् कहाते हैं "सूर्यस्तदुक्थ्यस्तृतीयमहर्भवति सौर्या ग्रहा भवन्ति सौर्यः पुरोरुचः सर्वंᳪसौर्यमसत्" इति [श० १३ । ७ । १ । ९] मन्त्रार्थ-(विभ्राट्) विशेष दीप्तिमान् सूर्य देवता (यज्ञपतौ) यजमानमें (आवहुतम्) अखण्डित (आयुः) आयुको (दधत्) स्थापन करते हुए (बृहत्) बडे (मधु) स्वादुरससे युक्त (सोम्यम्) सोमरूप हविको (पिबतु) पानकरो (यः) जो सूर्य (वातजूतः) वायुसे प्रेरित (त्मना) आत्माद्वारा (प्रजाः) प्रजाको (अभिरक्षति) रक्षा करता है पालता है (पुपोष) पुष्ट करता है (पुरुधा) अनेक प्रकारसे (विराजति) विराजमान होता है ॥ ३० ॥

सरलार्थ-जो अधिक कान्तिमान् सूर्य परमात्माके नियमसे वायुवेगसे निरन्तर भ्रमण करते प्रजावर्गकी रक्षा करते हैं, पोषण करते हैं और [चन्द्र नक्षत्रादिकी ज्योतिरूपसे] अनेक रूपसे विराजमान हैं,वह आज इस अतिमधुर अधिकतर सोमरसका पान करें, और यजमानकी आयुकी वृद्धि करें ॥ ३० ॥

विशेष—७ । ७ मंत्रके परवर्ती ऐन्द्रवायव ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है. [ऋ० ८ । ८ । २८] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मंत्र १ ।

उदु॒ त्यं जा॒तवे॑दसं दे॒वं व॑हन्ति के॒तव॑: ॥ दृ॒शे वि॒
श्वा॑य॒ सूर्य॑म् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उदुत्यमित्यस्य-इसकी व्याख्या १ । ४७ में होगई [ऋ० १ । ४ । ७] ॥ ३१ ॥

भावार्थ-ब्रह्मज्योति इस जातवेद सूर्य देवताके विश्वसंसारकी दर्शन क्रियासम्पादनके अर्थ ऊर्ध्वभागमें निरन्तर वहन करतीहै ॥ ३१ ॥

विशेष-७ । ८ के परवर्ती ऐन्द्रवायव ग्रहके सम्बन्धमें व्यवहार है ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२–मंत्र १ ।

येनापावकुचक्षसाभुरण्यन्तुञ्जनाँ २ऽअनु ॥ त्वं वरुणपश्यसि ॥ ३२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येनेत्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । गायत्री छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

विधि–(१) सर्वमेधमें पक्ष्याकारसे अग्निचयन होतीहै, तद्रूप अपनेको करके मुक्तिकी प्रार्थना करतेहैं । मन्त्रार्थ–(पावक) हे शोधक ! (वरुणः) वरुण समस्त ब्रह्माण्डको अपनी ज्योतिसे आवृत करके स्थित (त्वम्) तुम (येन) जिस (चक्षसा) सूर्यरूप ज्योतिसे वा अनुग्रहरूप दृष्टिसे (तम्) उस (भुरण्यम्) सुपर्णरूपको (पश्यसि) देखतेहो अर्थात् सर्वमेधयाजीको पक्षीकी समान शीघ्रतासे स्वर्गमें गमन करते देखतेहो उसी दृष्टिसे (जनात्) हम अपने जनोंकोभी (आ) सबप्रकार (अनु) देखिये [ऋ० । १ । ४ । ८] ॥ ३२ ॥

विशेष–७ । ९ । के परवर्ती मैत्रावरुणग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३–मंत्र १ ।

दैव्यावध्वर्यूऽआगतꣳरथेनसूर्यत्वचा मद्ध्वायज्ञꣳ समञ्जाथे ॥ तम्प्रत्नथायंवेनश्चित्रन्देवानाम् ॥३३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दैव्यावित्यस्य प्रस्कण्व ऋषिः । गायत्री छं० । दैव्यावध्वर्यू देवते । वि० पू० ॥ ३३ ॥

मन्त्रार्थ–(दैव्यौ) हे दिव्य (अध्वर्यू) अश्विनीकुमार ! तुम (सूर्यत्वचा) सूर्यकी समान कान्तिमान् (रथेन) रथके द्वारा (आगतम्) आइये (मध्वा) मधुर हवि सोम पुरोडाश दधिआदिद्वारा (यज्ञम्) यज्ञको (समञ्जाथे) सींचकर बहुत हविवाला करो ॥ ३३ ॥

विशेष–दूसरे पक्षमें सूर्य कान्तिरूप रथमें आरूढ हुए, यह दिनरात्रि रूप अध्वर्यु अग्निष्टोमादि यज्ञके और सृष्टिरूप महायज्ञके सम्पादक हैं ३३ । ७ । ११ परवर्ती आश्विन ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है (तंप्रत्नथा ७ । १२) अयं वेनः ७ । १६) (चित्रं देवानाम् ७ । ४२) यह तीनो कण्डिका इस स्थलमें पठनीय हैं पहली दो शुक्रमन्थी ग्रहसम्बन्धमें तीसरीका ७ । १९ मन्त्रके परवर्ती आग्रयणग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४–मन्त्र १ ।

आनुऽइडाभिर्विदथेसुशस्तिविश्वानरꣳसविताद्देे

वऽएतु ॥ अग्नियथांयुवानोमत्सथानोविश्वञ्जगं दभिपित्वेमनीषा ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य अगस्त्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ३४ ॥

मन्त्रार्थ-(विश्वानरः) सब प्राणियोंका हितकारी (सविता) सबका प्रेरक (देवः) देव (नः) हमारी (इडाभिः) सुन्दर अन्नोंद्वारा (सुशस्ति) प्रशंसायुक्त (विदथे) यज्ञगृहमें (आएतु) आगमनकरै अर्थात् अन्नसे सुन्दर प्रशंसासम्पन्न यज्ञगृहमें आगमनकरै (युवानः) हे देवताओ ! जरारहित तुम (अभिपित्वे) आगमनकालमें (यथा) जिसप्रकारसे हो वैसे (मत्सथ) तृप्तहोकर (नः) हमारे (विश्वम्) सम्पूर्ण (जगत्) जंगम पुत्र गौ आदिको (मनीषा) बुद्धिपूर्वक (आ) सबप्रकार तृप्तकरो [ऋ० २ । ५ । ४] ॥ ३४ ॥

अथवा-विश्वके हितकारी सविता देवता प्रतिदिन अपने नियमसे उदित होकर इस सृष्टियज्ञमें अन्न उत्पन्नकी प्रशंसा लाभ करते है उस अन्नसे हम देवताओंको तृप्तकरतेहैं, वे हमारे परिवारको तृप्तकरै ३४ । ७ । २४ मन्त्रके परवर्ती ध्रुवग्रहके सम्बन्धमें व्यवहार है ॥ ३४ ॥

काण्डिका ३५-मन्त्र १ ।

यदुद्य कच्चंवृत्रहन्नुदगाऽअभिसूर्य्य ॥ सर्वन्तदिन्द्रतेवशे ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदद्येत्यस्य श्रुतकक्षसुकक्ष ऋषिः । गायत्री छन्दः सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ-(वृत्रहन्) हे अन्धकारके नाशक (इन्द्र) हे ऐश्वर्ययुक्त (सूर्य) सूर्यदेव ! (अद्य) आज (यत्) जो (कच्च) कहीं किसी प्रदेशमें (अभ्युदगाः) उदय होतेहो (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तुम्हारे (वशे) वशमें है । अर्थात् जो लोक सूर्यके प्रकाशसे प्रकाशितहैं उनकी स्थिति सूर्यकेही अधीन है ॥ ३५ ॥

विशेष-७ । ३७ मन्त्रके परवर्ती, ऐन्द्राग्न ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ६ । ६ । २१] ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६–मंत्र ३.

तुरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ॥ विश्वमाभासि रोचनम् ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तरणिरित्यस्य प्रस्कण्व ऋ०। गायत्री छं०। सूर्यो देवता। वि० पू० ॥ ३६ ॥

मंत्रार्थ–(सूर्य) हे सूर्य! (तरणिः) तुम विश्वके अतिक्रमण करनेवाले (विश्वदर्शतः) संसारके दर्शनीय (ज्योतिष्कृत्) तेजके कर्ता (असि) हो (रोचनम्) दीप्तिमान् (विश्वम्) संसारको (आभासि) प्रकाश करते हो अग्नि विद्युदादि नक्षत्रतारकादिमें आपका तेज है ॥ ३६ ॥

विशेष–७। ३३। मंत्रके परवर्ती वैश्वदेवग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० १। ४। ७] ॥ ३६ ॥

काण्डिका ३७–मंत्र १।

तत्सूर्यस्य देवत्वन्तन्महित्वम्मध्या कर्त्तोर्विततं सञ्जभार ॥ यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐतत्सूर्यस्येत्यस्य कुत्स ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। सूर्यो देवता। वि० पू० ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ(सूर्यस्य) सूर्यका (तत्) वही (देवत्वम्) देवत्व है (तत् वही (महत्त्वम्) महत्त्व है कि जो (कर्तोः) ईश्वरके कार्य श्रेष्ठ जगत्के (मध्या मध्यमें स्थित होकर (आविततम्) विस्तीर्ण किये ग्रहमण्डलको अपनी किरणोंद्वारा अथवा अपने आकर्षणसे (सञ्जभार) निजकक्षामें नियमित रखतेहैं (यदा) जब (इत्) ही (हरितः) हरितवर्णकी रश्मियोंसे युक्त (सधस्थात्) आकाशमण्डलसे (अयुक्त) अपनेमें युक्त करताहै अर्थात् जब यह सन्ध्याकालमें किरणोंको आकाशसे अपनेमें युक्तकरतेहै तब (रात्री) रात (सिमस्मै) सबके निमित्त (वासः) वस्त्रको (तनुते) विस्तार करतीहै, अर्थात् अन्धकारसे आच्छादन करतीहै। अथवा जिससमय यह रथारोहणकर गमन करतेहै रात्रि अपने सीमान्तमें वस्त्राच्छादन करतीहै अर्थात् रात्रिरूपी अंधकार दिशाओंके मध्यमें गमन करता है ॥ ३७ ॥

विशेष-७ । ३५ मंत्रके परवर्ती मरुत्वतीय ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० १ । ८ । ७] ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ॥ अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तन्मित्रस्येत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

मंत्रार्थ-(सूर्यः) सूर्य (द्योः) द्युलोकके (उपस्थे) गोदीमें (मित्रस्य) मित्रका (वरुणस्य) वरुणका (च) भी (तत्) वह (रूपम्) रूप (कृणुते) करता है (अभिचष्टे) जिससे मनुष्योंको देखताहै, अर्थात् मित्ररूपसे पुण्यात्मा-ओंपर अनुग्रह करता वरुण रूपसे पापियोंको निग्रह करता है, (अस्य) इस सूर्यका (अन्यत्) एक (पाजः) रूप (अनन्तम्) देश कालसे अपरिच्छेद्य (रुशत्) शुक्ल दीप्यमान विज्ञानघनानन्द ब्रह्महीहै (अन्यत्) एक (कृष्णम्) कृष्णवर्ण द्वैत लक्षणवाला रूप है उसको (हरितः) दिशा वा इन्द्रियवृत्ति (सम्भरन्ति) धारण करती हैं अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्वैत रूप है एक शुद्ध चैतन्य है इस कारण ब्रह्मके सगुण निर्गुण दो रूप कहे ॥ ३८ ॥

विशेष-अद्वैतरूप मित्र अर्थात् उत्तरायण दिन है इसमें पुण्यात्मा गमन करते है, कृष्ण दक्षिणायन रात्रि है, इसमें पापियोंको वरुण रूपसे निग्रह करता है ७ । ३६ मंत्रके परवर्ती द्वितीय मरुत्वतीय ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है. [ऋ० १ । ८ । ७] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १ ।

बण्महाँ २ऽअसि सूर्य बडादित्य महाँ २ऽअसि ॥ महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ २ऽअसि ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बण्महानित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । बृहती छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ ३९ ॥

मन्त्रार्थ-(सूर्य) हे जगत्को अपने २ कार्यमें प्रेरण करनेवाले सूर्यरूप परमात्मन ! (बट्)सत्यही आप (महान्) सबसे अधिक (असि) हो (आदित्य) हे आदित्य ! सबके ग्रहण करनेवाले (बट्) सत्यही आप (महान्) बडे (असि)

हो (महः) बडे (सतः) होनेसे (ते) आपकी (महिमा) महिमा (पनस्यते) लोकोंसे स्तुति की जाती है (देव) हे दीप्यमान परमात्मन्! (अद्धा) सत्यही तुम (महान्) सबसे श्रेष्ठ (असि) हो आदरके निमित्त पुनरुक्ति है ॥ ३९ ॥

विशेष-सूर्यके उदयसे सब जगत् अपने २ कार्यमें उदय होता जाड्यादिका नाश होकर अंकुरादिकी उत्पत्ति होती है ब्रह्मका हृदयमें प्रकाशरूप उदय होनेसे अज्ञानका नाश मुक्तिकी प्राप्ति होती है. ७ अ० ३९ मन्त्रके परवर्ती माहेन्द्र ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ६।७।८] ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०-मंत्र १।

बट्सूर्य्यश्रवसामहाँ२ऽअसिसत्रादेवमहाँ२ऽअसि ॥ मह्नादेवानामसुर्य्यः पुरोहितोविभुज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ बट्सूर्येत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। सतोबृहती छन्दः। सूर्यो देवता। वि० पू० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ-(सूर्य) हे सूर्यः! (बट्) सत्यही (श्रवसा) धन वा यशसे वा अन्नके प्रगट करनेसे (महान्) श्रेष्ठ (असि) हो (देव) हे दीप्यमान (असुर्यः) प्राणियोंके हितकारी (देवानाम्) देवताओंके मध्यमें (पुरोहितः) अग्रेस्थापित अर्थात् सब कार्योंमें प्रथमपूज्य अर्थात् प्रथम तुमको अर्घदान करनेपर पछि दूसरे देवताओंकी पूजामें अधिकार है, (विभु) व्यापक (अदाभ्यम्) उपमारहित किसीसे न रुकनेवाली (ज्योतिः) तेजयुक्त आप (सत्रा) यज्ञद्वारा (मह्ना) महत्त्वसे (महान्) अधिक श्रेष्ठ (असि) हो "अर्थात् तुम माहात्म्यके प्रभावसे एक कालमें सर्वदेशव्यापी प्रतिद्वन्द्वीशून्य ज्योति विस्तार करते प्राणिमात्रके हितकारी स्वरूपसे सबके आगे पूजनीय हो" ॥ ४० ॥

विशेष-८।२ मन्त्रके परवर्ती आदित्य ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ६।७।८] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१-मंत्र १।

श्रायन्तऽइवसूर्य्यंविश्वेदिन्द्रस्यभक्षत ॥ वसूनिजातेजनमानऽओजसाप्रतिभागन्नदीधिम ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ श्रायन्त इत्यस्य नृमेध ऋषिः। बृहती छन्दः। सूर्यो देवता। वि० पू० ॥ ४१ ॥

मन्त्रार्थ-(सूर्यम्) सूर्यको (आयन्तः) आश्रय करती हुई किरणें (इव) ही (इन्द्रस्य) इन्द्रके (विश्वा) सम्पूर्ण (इत्) ही (वसूनि) धन अर्थात् वृष्टि धान्यनिष्पादक सम्पत्तिको (भक्षत) सेवन करती भक्षण करती हैं, अर्थात् विभाग करके प्राणियोंको देती हैं आशय यह कि सूर्यकी किरणें इन्द्रकी दीहुई वृष्टिको भूमिमें विभाग करती है, और हमें उन धनोंको (जाते) पुत्रादिके (जनमाने) उत्पन्न होनेमें (भागम्) अपने भागकी (न) समान (ओजसा) तेजके सहित (प्रतिदीधिम) धारण वा स्थापन करते है [ऋ० ६।७।३] ॥ ४१ ॥

सरलार्थ-हम सूर्यको आश्रय करके जिससे विश्वाधिपति परम पिताके विषय-भोगमें समर्थ होते हैं, उनके उत्सृष्ट वा उत्सृज्यमान सम्पूर्ण सम्पत्तिमें भी मनोबलपूर्वक अपने २ प्राप्त भागमें अधिकार किये है. अर्थात् सूर्यकी सहायतासेही सब कार्यकी प्रवृत्ति होती है ॥ ४१ ॥

विशेष-८।३ मन्त्रके परवर्ती द्वितीय आदित्यग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है ॥४१॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

अद्याद्देवाऽउदि॑ता॒ सूर्य्य॑स्य॒ निर॑ꣳह॒सः पि॑पृ॒ता निर॑व॒द्यात् ॥ तन्नो॑ मि॒त्रो वरु॑णो मामहन्ता॒मदि॑तिः॒ सिन्धुः॑ पृथि॒वीऽउ॒त द्यौः ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अद्येत्यस्य कुत्स ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवा देवताः । दध्नादित्यग्रहश्रयणे वि० ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(देवाः) हे रश्मियोंमें स्थित देवताओ ! (अद्या) आज अब (सूर्यस्य) सूर्यका (उदिता) उदय (नः) हमको (अंहसः) पापसे (अव-द्यात्) रक्षाकरें तथा दुर्यशसे (निःपिपृत) पृथक् करें (मित्रः) मित्र(वरुणः) वरुण देवता (अदितिः) देवमाता (सिन्धुः) सिन्धुनदी (पृथिवी) पृथ्वी (उत) और (द्याः) स्वर्ग (तत्) उस हमारे वचनको (महन्ताम्) अनुमोदन करें ॥ ४२ ॥

विशेष-८।४ मन्त्रके परवर्ती आदित्यग्रहसम्बन्धी दधिश्रयणमें व्यवहार है [ऋ० १।८।७] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

आकृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ वर्त्त॑मानो निवे॒शय॑न्न॒मृतं॒ मर्त्यं॑ च ॥ हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒ना दे॒वो या॑ति॒ भुव॑नानि॒ पश्य॑न् ॥ ४३ ॥ [१४]

ऋष्यादि-(१) ॐ आकृष्णेनेत्यस्य हिरण्यस्तूप ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। सविता देवता। सावित्रग्रहग्रहणे वि० ॥ ४३ ॥

मन्त्रार्थ-(सविता) सबका प्रेरक सविता (देवः) देवता (हिरण्ययेन) सुवर्णमय (रथेन) रथमें आरूढ होकर (कृष्णेन) कृष्णवर्ण रात्रि लक्षणवाले (रजसा) अन्तरिक्षपथमें (आवर्तमानः) पुनरावर्तनक्रमसे भ्रमण करते (अमृतम्) देवादिको (च) और (मर्त्यम्) मनुष्यादिको (निवेशयन्) अपने २ व्यापारमें स्थापन करते (भुवनानि) सम्पूर्ण भुवनोंको (पश्यन्) देखते हुए (आयाति) आगमन करते है अर्थात् कौन साधु कौन असाधु कर्म करते है इस वार्ताको विचारते निरन्तर गमन करते हैं ॥ ४३ ॥

विशेष-अ० ८ मं० ६ के परवर्ती सावित्र ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है "तृतीयं सूर्यस्तदुक्थ्यमहः समाप्तम्" [ऋ० १ । ३ । ६] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४-मंत्र १।

प्र वां॑वृजे सुप्रया ब॒र्हिरे॑षा॒मा वि॒श्पती॑व॒ बीरि॑ट इयाते ॥ वि॒शाम॒क्तोरु॒षस॑: पू॒र्वहू॑तौ वा॒युः पू॒षा स्व॒स्तये॑ नि॒युत्वा॑न् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रवावृज इत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वैश्वदेवपुरोरुङ्मन्त्रपाठे विनियोगः ॥ ४४ ॥

विधि-(१) वैश्वदेवस्तुतनामक चतुर्थाहमें यहांसे प्रारंभकर ग्यारह कण्डिकामें सत्रह मंत्र पुरोरुक् है "वैश्वदेवञ्चतुर्थमहर्भवति वैश्वदेवा ग्रहा भवन्ति वैश्वदेव्यः पुरोरुचः" इति [१३ । ७ । १ । ६ ।] श्रुतेः ॥ ४४ ॥

मन्त्रार्थ-(एषाम्) इन सम्पूर्ण मनुष्य वा यजमानोंके (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (नियुत्वान्) नियुतसंज्ञक अश्ववाला "नियुतो वायुः" इत्युक्तेः [निघं० १ । १९ । १०] (वायुः) वायु और (पूषा) पूषादेवता (अक्तोः) रात्रिके (उषसः) उषाकालयुक्त दिनके (पूर्वहूतौ) प्रथम आह्वानसमयपर अर्थात् अग्निहोत्रहोमकालमें (वीरिटे) मनुष्यगणोंमें (विश्पती) दो राजाओंकी (इव) समान (आइयाते) आगमनकरते है अर्थात् उषाकालके पूर्वाह्णमें उषारूप सूर्य आगमन करते है, और रात्रिके प्रारंभमें वायु कहनेसे वायुसखा अग्नि आगमन करता है कारण कि रात्रिके हवनका अग्नि देवता है, जिनके निमित्त (सुप्रियाः) अच्छी विधिसे गमनयुक्त प्रस्तीर्ण (बर्हिः) कुशा (प्रवावृजे)

बिछाई जाती हैं अर्थात् विधिपूर्वक कुशाका आसन बिछाया जाताहै बीरिटशब्द गुणवाचक है. तथाच निरुक्त ५ । २८ "प्रवृज्यते सुप्रायणं बर्हिरेषामियाते सर्वस्य पातारौ वा पालयितारौ वा वीरिटमन्तरिक्षं . भियो वा भासो वा ततिः" इति । "गणाभिध्यानं वा स्यात् सोपि भीतननो भासस्तनयश्च अन्तरिक्षे निरालम्बने भयं भासो नक्षत्राणां तननं गणमपि दृष्ट्वा योद्धारो बिभ्यति भियेवी आदेशे तनोतेरिटं इति" इति महीधरः ॥

सरलार्थ-रात्रि और उषाके उदयारंभमें जिस स्थलमें कुशादितृणसमूह लहलहाते हुए चलायमान होतेहैं ऐसे सुरम्य. सुदीर्घ प्रान्तरमें इन मनुष्यसमूहके कल्याणार्थ राजतुल्य नियुत्वान् वायु और पूषा देवता प्राप्तहो. पूषाशब्दसे शरीरपोषक सूर्यकिरण उदयास्तमें इनके द्वारा शरीर पुष्ट होताहै. इससे पूषा कहतेहैं । प्रातःसायं वायु चलकर प्राणीमात्रको प्रसन्नकरती है ॥ ४४ ॥

विशेष-७ । ७ मंत्रके परवर्ती ऐंद्रवायव ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० ९ । ४ । ६] ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५-मंत्र १ ।

इन्द्रवायूबृहस्पतिम्मित्राग्निम्पूषणम्भगम् ॥ आदित्यान्मारुतङ्गणम् ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र वायू इत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । गायत्री छं० । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ-(इन्द्रवायू) इन्द्रवायु (बृहस्पतिम्) बृहस्पति (मित्रम्) मित्र (अग्निम्) अग्नि (पूषणम्) पूषा (भगम्) भग (आदित्यान्) आदित्य (मारुतम्) मरुतोंके (गणम्) गणोंको आह्वान करताहूं ॥ ४५ ॥

विशेष-७ । ८ मंत्रके परवर्ती ऐन्द्रवायव ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० १ । १ । २६] ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६-मंत्र १ ।

वरुणःप्राविता भुवन्मित्रोविश्वाभिरूतिभिः ॥ करतान्नःसुराधसः ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वरुण इत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

मन्त्रार्थ-(वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (ऊतिभिः) रक्षणप्रकारोंमे (प्राविता] अतिशयरक्षक (भुवत्) हो (नः) हमको (सुराधसः)

शोभनधनवाले (करताम्) करै अर्थात् दिन रात्रिके अधिष्ठातृ देवता पर्यायक्रमसे हमारी रक्षा करैं ॥ ४६ ॥

विशेष–७ । ९ मन्त्रके परवर्ती आश्विन ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है. [ऋ० १ । २ । ९] ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मन्त्र १ ।

अधिनऽइन्द्रैषाँविष्णोसजात्त्यानाम् ॥ इतामरुतोऽ अश्विना ॥ तम्प्रत्क्कथायंवेनोयेदेवासऽआनऽइडाभिर्विश्वेभिःसोम्म्यम्मद्धोमासश्च्चर्षणीधृतः ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अधिन इत्यस्य कुसीद ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ४७ ॥

मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! (विष्णो) हे विष्णो ! (मरुतः) हे मरुत् ! (अश्विना) हे अश्विना ! (नः) हमारे (एषाम्) इन (सजात्यानाम्) सजातियोंके (अधि) मध्यमें (आइत) आगमन करो ॥ ४७ ॥

विशेष–[७ । ११] मन्त्रके परवर्ती आश्विन ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है (तं प्रत्नथा) ७ । १२ । (अयं वेनः) ७ । १६ (येदेवासः) ७ । १९ (आनऽइडाभिः) ३३ । ३४ (विश्वेभिः सोम्यंमधु) ३३ । १० (ओमासश्चर्षणीधृतः) ७ । ३३ । यह छहो मंत्र इस स्थलमें पाठकरने व्याख्या पूर्वमें हो चुकीहै "विश्वेभिः" ७ । ३१ के परवर्ती ऐन्द्रग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है ।[ऋ० ६ । ६ । ४। अश्विनापर्यन्त] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८–मंत्र १ ।

अग्नऽइन्द्रवरुणमित्रदेवाःशर्द्धःप्प्रयन्तमारुतोत विष्णो ॥ उभानासत्त्यारुद्द्रोऽअधग्नाःपूषाभगःसरस्वतीजुषन्त ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अग्न इत्यस्य प्रतिक्षत्र ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (इन्द्र) हे इन्द ! (वरुण) हे वरुण ! (मित्र) हे मित्र ! (देवाः) हे देवताओ ! (मारुत) हेमरुतो ! (उत) और (विष्णो) हे विष्णो ! (शर्धः) बलको (प्रयन्त) प्रदानकीजिये परोक्ष कहतेहैं (उभा)

दोनो (नासत्या) अश्विनीकुमार (रुद्राः) रुद्र (अध) और (ग्नाः) देवपत्नियें (पूषा) पूषा देवता (भगः) भगदेवता (सरस्वती) सरस्वती (जुषन्त) हवियोंको सेवनकरैं, इन देवताओंके प्रसादसे हम बलवान् हों ॥ ४८ ॥

विशेष-७ । ३५ के परवर्ती मरुत्वतीय ग्रहसम्बन्धमें व्यवहारहै [ऋ० ४ । २ । २८] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

इन्द्राग्नीमित्रावरुणादितिᳬस्वः पृथिवीन्द्याम्मरुतः पर्वताँ २ ऽअपः॥ हुवे विष्णुम्पूषणम्ब्रह्मणस्पतिम्भगन्नुशᳬसᳬसवितारमूतये ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नी इत्यस्या वत्सार ऋषिः । जगती छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ४९ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्राग्नी) इन्द्र अग्नि (मित्रावरुणौ) मित्रावरुणको (अदितिम्) अदितिको (स्वः) स्वर्गको (आदित्यम्) आदित्यको (पृथिवीम्) पृथ्वीको (द्याम्) द्युलोकको (मरुतः) मरुत्को (पर्वतान्) पर्वतसमूहको (अपः) जलको (विष्णुम्) विष्णुको (पूषणम्) पूषादेवताको (ब्रह्मणस्पतिम्) ब्रह्मणस्पतिको (भगम्) भगको (शंसम्) स्तुतियोग्य (सवितारम्) सबके प्रेरक सविता देवताको (नु) शीघ्रही अवश्य (ऊतये) रक्षाके निमित्त (हुवे) आह्वान करते है ॥ ४९ ॥

विशेष-७ । ३९ मंत्रके परवर्ती द्वितीय मरुत्वतीय ग्रहमें व्यवहार है [ऋ० ४ । २ । २८] ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०-मंत्र १ ।

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः ॥ यः शᳬसते स्तुवते धायि पज्र ऽइन्द्रज्येष्ठा ऽअस्माँ २ ऽअवन्तु देवाः ॥ ५० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अस्मे रुद्राः प्रगाथ ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवा देवता । वि० पू० ॥ ५० ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो यजमान (शंसते) शस्त्रोंसे स्तुतिकरताहै (स्तुवते) स्तोत्रोंको अतिशय पढताहै अर्थात् जो कोई जपपाठपरायण है (पज्रः) अर्जित धनोंसे युक्त (अधायि) हवियोंको धारण करता है इस

प्रकारके उनको और (अस्मे) हमारे विषय (मेहना) धनादिके वर्षानेवाले (रुद्राः) शत्रुओंके रुवानेवाले रुद्र (पर्वतासः) पर्वत अर्थात् सदा उत्सववाले (वृत्रहत्ये) वृत्रके मारने वा पाप नाशनेमं (भरहूतौ) संग्राममें आह्वान करनेपर (सजोषाः) समान प्रीतिवाले ,एकमति (इंद्रज्येष्ठाः) जिनमें इन्द्र ज्येष्ठ है ऐसे (देवाः) देवता (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करै ॥ ५० ॥

विशेष–षट् मन्त्रद्वारा स्तुतिको शंसन और सामगानद्वारा स्तुतिको स्तवन कहते है ७। ३९ के परवर्ती माहेन्द्र ग्रह सम्बन्धमें व्यवहार है आहुतिसे देवताओंकी वृद्धिका उपदेश है [ऋ० ६ । ४ । २९] ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१–मन्त्र १ ।

अर्वाञ्चोऽ अद्याभवतायजत्राऽआवोहार्दिभयमानोव्ययेयम् ॥ त्राध्वन्नोदेवानिजुरोवृकस्यत्राध्वङ्कर्तादवपदोयजत्राः ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अर्वाञ्च इत्यस्य कूर्म ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ–(यजत्राः) यजन करनेवालोंकी रक्षा करनेवाले वा पूजनीय (देवाः) हे देवताओ ! (अद्य) अव (अर्वाञ्चः) हमारे अभिमुख (आभवत) हूजिये जिस कारणसे (भयमानः) भयको प्राप्तहोते हम (वः) तुम्हारे (हार्दि) हृदयमें होनेवाले मनको (आव्ययेयम्) प्राप्त करै वा अभिमुख सम्पादन करसकें (यजत्राः) हे पूजनीय देवताओ ! (नः) हमको (निजुरः) अत्यन्त हनन करनेवाले (वृकस्य) वृककी समान पापसे (त्राध्वम्) रक्षाकरो और (अवपदः) प्रतिपदमें (कर्तात्) होनेवाले पापरूप लोकापवादसे (त्राध्वम्) रक्षाकरो कोई पाप और लोकापवाद हमको न लगे ॥ ५१ ॥

विशेष–८ । २ के परवर्ती द्वितीय आदित्यग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है [ऋ० २ । ७ । ११] ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२–मन्त्र १ ।

विश्वऽअद्यमरुतोविश्वऽऊतीविश्वेभवन्त्वग्नयः समिद्धाः ॥ विश्वेनोदेवाऽअवसागमन्तुविश्वमस्तुद्रविणंवाजोऽअस्मे ॥ ५२ ॥

ॐ विश्वे अद्य–इसकी व्याख्या १८ । ३१ में होगई. द्वितीयादित्यग्रहग्रहणे वि० ॥ ५२ ॥

विशेष-८।३ मंत्रके परवर्ती द्वितीय आदित्य ग्रह सम्बन्धमें व्यवहारहै ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र १।

विश्श्वेदेवाꣳश्शृणुतेमꣳहवम्मेयेऽअन्तरिक्षेयऽउपद्यविष्ठ ॥ येऽअग्निजिह्वाऽउतवायजत्त्राऽआसद्यास्मिन्बर्हिषिमादयध्वम् ॥ ५३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ विश्वेदेवा इत्यस्य सुहोत्र ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ ५३ ॥

मन्त्रार्थ-(विश्वेदेवाः) हे विश्वेदेवा ! (ये) जो तुम (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (स्थ) हो (ये) जो तुम (द्यावि) द्युलोकमें (उप) स्वर्गके समीपमें हो (उत) और (ये) जो (अग्निजिह्वाः) अग्निमुखवाले (यजत्राः) यजन करनेयोग्य हो वे (इमम्) इस (मे) मेरे (हवम्) आह्वानको (शृणुत) सुनो (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) कुशासनमें (आसद्य) स्थित होकर (मादयध्वम्) हवियोंसे तृप्त हूजिये अग्निजिह्वसे भूदेवताओंका ग्रहण है ॥ ५३ ॥

विशेष-८।४। मंत्रके परवर्ती आदित्यग्रह सम्बन्धी दधिश्रयणमें व्यवहार है [ऋ० ४ । ८ । १६] ॥ ५३ ॥

कण्डिका ५४-मन्त्र १।

देवेब्भ्योहिप्प्रथमंय्यज्ञियेब्भ्योमृतत्वꣳसुवसिभागमुत्तमम् ॥ आदिद्दामानꣳसवितर्व्यूर्णुषेनूचीनाजीविताभानुषेब्भ्यः ॥ ५४ ॥ [११]

ऋष्यादि-(१) ॐ देवेभ्य इत्यस्य वामदेव ऋषिः । जगती छन्दः । सविता देवता । वि० पू० ॥ ५४ ॥

मन्त्रार्थ-(सवितः) हे जगत्के प्रेरक सविता देव (हि) अवश्यही (प्रथमम्) उदयसमयमें तुम (यज्ञियेभ्यः) यज्ञके योग्य (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (उत्तमम्) उत्तम (भागम्) भाग अग्निहोम रूप (अमृतत्वम्) अमृतमय (सुवसि) प्रेरण करते हो (आत् इत्) इसके अनन्तर उदय होकर (दामानम्) प्रकाशरूप रश्मिसमूहको विस्तार करते हो और फिर मनुष्योंके निमित्त (अनूचीनानि) रश्मिसमूहके अनुगत (जीवितानि) जीवनमात्र (व्यूर्णुषे) विस्तार करते हो अर्थात् लौकिक वैदिक व्यवहारकी प्रवृत्ति तुमसे है ॥ ५४ ॥

सरलार्थ–हे जगत्प्रसविता! तुम यज्ञीय देवगणको अमृत नामक उत्कृष्ट प्रथम भागमें अधिकारी करो और मनुष्यगणको उसकी अपेक्षा न्यून महिमा जीवित नामक अवशिष्ट भागमें आच्छन्न करो, यहां देवशब्दसे द्युतिमान् उपासकमंडली और मनुष्य शब्दसे तदतिरिक्त उपासनाहीन मानवमण्डली जान्नी उपासकगण अमृतत्व लाभ करते हैं और शिश्नोदरपरायण मनुष्योंको जीवनमात्र देते हो अथवा हे जगदीश्वर! सर्वमेधी विद्वानोंके निमित्त प्रथमही आप मुक्तिरूप अमृत देते हो, और दूसरोंको मुक्तिका हेतु कर्मोंका विस्तार करते हो ॥ ५४ ॥

विशेष–८।६ के परवर्ती सावित्र ग्रहसम्बन्धमें व्यवहार है. इति वैश्वदेवस्तु-चतुर्थमहः। समाप्तोयं सर्वमेधः। [ऋ० ३।८।९] ॥ ५४ ॥

कण्डिका ५५–मन्त्र १. अनु० ५।

प्रवायुमच्छाबृहतीमंनीषाबृहद्द्रयिंविश्ववारꣳरथ प्राम्॥ द्युतद्यामानियुतःपत्त्यमानꣳकविꣳकवि मिंयक्षसिप्प्रयज्ज्यो ॥ ५५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रवायुमित्यस्य ऋजिश्व ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। वायुर्देवता। पुरोरुङ्मन्त्रपाठे विनियोगः ॥ ५५ ॥

विधि–(१) पन्द्रह २ और तेरह ऋचाके तीन अनुवाक पुरोरुक् हैं यह अनारभ्याधीत श्रौत कर्ममें अविनियुक्त हैं। वा ब्रह्मयज्ञके योग्य आदित्य याज्ञवल्क्यके देखे हैं पितृमेधतक। अथवा सप्तमाध्यायके सप्तमादि मन्त्रके परवर्ती यथाक्रमसे ऐन्द्रवायव्यादि सम्बन्धमें व्यवहार करने यद्यपि किस दिनके पुरोरुक् हैं, यह स्पष्ट नहीं कहा है परन्तु कदाचित् पञ्चमाहमें सम्बन्ध जान्ना उचित है।

मन्त्रार्थ–(प्रयज्ज्यो) हे ईश्वरके कार्यमें नियुक्त अध्वर्यु! तुम (कविः) ज्ञानी (द्युतद्यामा) दीप्तिगामी (नियुतः) कार्यमें निविष्टचित्त (पत्यमानः) शरीरपातपर्यन्त संकल्पयुक्त होकर वा अश्वद्वारा गमन करनेवाले (बृहद्रयिम्) बडे धनवाले जिनके पूजनसे बडा ऐश्वर्य होता है ऐसे (विश्ववारम्) सबके वरण करने योग्य वा सर्वव्यापक (रथप्राम्) यजमानके देनेको धनसे रथ पूर्ण करनेवाले (कविम्) क्रान्तियुक्त ज्ञानसम्पन्न (वायुम्) वायु देवताको (बृहती) बडी (मनीषा) बुद्धिसे (प्र, आ, अच्छ) यजनकी इच्छा करो [यहां वायु शब्दसे परमात्माका ग्रहण है] ॥ ५५ ॥

अथवा-हे ' नियोज्य ' ईश्वरकर्तृक कार्यमें नियुक्त पुरुष तुम ' द्युतिद्यामः ' दीप्तिगामी ' नियुक्तः ' कार्यमें निविष्टचित्त शरीरस्थिति-पर्यन्त यंत्रादि विद्यामें संकल्पवाले क्रान्तदर्शी कवि होकर अपनी महान् बुद्धिके प्रभावसे 'बृहद्रयिम्' जिसके व्यवहार करनेसे बडा धन प्राप्त हुआ जाय,' विश्ववारम् ' जिसका व्यवहार करना जाननेसे संसारमें विख्यातनामा हुआ जाता है ' रथप्राम् ' जिसको रथमें भरनेसे रथ चालन होता है वा और दूसरे यन्त्रचालन होते है उस कवि वायु देवताके सहित सम्बन्ध करते यजनकी इच्छा करो अर्थात् वायुका जिस २ रूपसे व्यवहार कराजाय यह शिक्षा करो ॥ ५५ ॥

विशेष-इस मन्त्रमें ईश्वरने वायुविद्याका उपदेश किया है कि वायुविद्या जाननेसे बडी विख्याति धनलाभ और जगत्का उपकार होता है ' रथप्राम् ' शब्दसे यह भी विदित होता है कि भाफद्वारा वायु भरकर प्रथम रथ चलाये जाते थे, और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जो आकाशचारी विमानोंका पुरातन ग्रन्थोंमें वर्णन है, वे वायु भरकरही चलाये जाते थे, तथा अनेक यंत्र वायुके बलसे घुमाकर उनके द्वारा व्यापारकी उन्नति की जाती थी, तथा भूमिमें स्थित भी रथ वायुद्वारा चलाये जाते थे, जिसका विस्तार इस समय धूमयान और धूमयन्त्र भूमण्डलमें व्याप्त होरहे हैं वायुसे अनेक लाभ होते है उसको उपयोगमें लानेकी सबको आज्ञा है [ऋ० ४।८।५] ॥ ५५ ॥

कण्डिका५६-मंत्र १।

इन्द्रंवायूऽइमेसुताऽउपप्रयोभिरागंतम् ॥ इन्दंवोवामुशन्तिहि ॥ ५६ ॥

इन्द्रवायू इमे-७।८ में इसकी व्याख्या होगई [ऋ० १।१।३] [हि पर्यन्त] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १।

मित्रꣳहुवेपूतदक्षंवरुणञ्चरिशादसम् ॥ धियंघृताचीꣳसाधन्ता ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐ मित्रमित्यस्य मधुच्छन्दा ऋषिः। गायत्री छन्दः। लिङ्गोक्ता देवता। वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(पूतदक्षम्) पवित्र सदाचारकी वृद्धि करनेवाले (मित्रम्) दिनके अभिमानी मित्र देवताको (च) और (रिशादसम्) हिंसक कामादिके नाशक

(वरुणम्) वरुणदेवताको (हुवे) आह्वान करताहूं जो कि (घृताचीम्) घृतद्वारा हवन करनेकी (धियम्) बुद्धिको (साधन्ता) साधन करते है [ऋ० १। १। ४] ॥ ५७ ॥

विशेष–दिनरात यदि पुण्यकार्यमें व्यतीत होय तो पापका अभाव और बुद्धिकी वृद्धि होती है, इस कारण दोनो देवता हमारी बुद्धिवृत्तिको पूजनीय करै जिस्से घृतसे हवनकरैं घृतका हवन उत्कृष्ट है ॥ ५७ ॥

कण्डिका ५८–मंत्र १।

दस्रा॑युवाक॑वꣳसु॒ता नास॑त्या वृ॒क्तब॑र्हिषः ॥ आया॑तꣳरुद्रवर्त्तनी॒ तम्प्र॒त्नक॑थाऽयं॒वे॒नः ॥ ५८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ दस्रेत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ५८ ॥

मंत्रार्थ–(दस्रौ) हे दर्शनीय (रुद्रवर्त्तनी) रुद्रकी समान गमनशील (नासत्यौ) हे अश्विनीकुमारो सत्यवादियो ! (आयातम्) यहां आगमन करो (युवाकवः) युवाओंके व्यवहारके उपयोगी वायु वा मुझे पान करै ऐसी इच्छावाले अथवा अग्निमें मिश्रित होनेवाले (वृक्तबर्हिषः) जहां कुशा बिछी है वे सोम (सुताः) अभिषुत हुए हैं अर्थात् दर्शनीय "विज्ञानशास्त्रीय परीक्षामें युवा पुरुषोंके व्यवहारके उपयोगी विविध सत्य पदार्थ [ईश्वरद्वारा] विस्तृत कुशादि तृणसमूह [अपरिमित और थोडे श्रमसे प्राप्य] प्रसूत हुए है वह सबही इस रुद्र मार्ग [अन्तरिक्ष] में विस्तृत रहते है" ॥ ५८ ॥

विशेष–(तंप्रत्नथा) ७। १२ (अयंवेनः) ७। १६ यह दो कण्डिका यहां पाठ करनी चाहिये व्याख्या हो चुकी है [ऋ० १।१।५ नीपर्यन्त] ॥ ५८ ॥

कण्डिका ५९–मन्त्र १.

वि॒दद्यदी॑ स॒रमा॑ रु॒ग्णमद्रे॒र्महि॒ पाथः॑ पू॒र्व्यꣳस॒ध्र्य॒क्कः ॥ अग्रं॑ नय॒त्सु॒पद्यक्ष॑राणा॒मच्छा॒रवं॑ प्रथ॒मा जा॑न॒ती गा॑त् ॥ ५९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विदद्यदीत्यस्य कुशिक ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ५९ ॥

मन्त्रार्थ–(सुपदी) सुन्दर सुप् तिङ् पदोंसे युक्त (अक्षराणाम) अक्षरोंके (रवम्) शब्दको (जानती) जनाती हुई (प्रथमा) आदिभूत (सरमा) त्रयीलक्षणायुक्त वाणी (अच्छ) यज्ञके सन्मुख (गात्) आगमन करतीहै (यदि)

जो उसको अध्वर्यु (विदत्) जाने तो (अद्रेः) प्रस्तरसे (रुग्णम्) अभिषुत हुए (माहि) बडे (पूर्व्यम्) पूर्वमें ग्रहणाकिये उपांशु अन्तर्याम इन्द्रवायुआदि पात्रोंमें (सध्र्यक्) एक साथ हवनके निमित्त प्राप्त होने योग्य (पाथः) सोमलक्षणवाला अन्न (कः) कौन (अग्रम्) प्रथम (नयत्) प्राप्त करता यज्ञद्वारा यजमानका मुख्यत्वमें प्राप्त करता, आशय यह कि वेद न जाननेवालोंको सोमकण्डनका अधिकार नहीं है ॥ ५९ ॥

अथवा-पर्वतभी एक सुन्दर पथ ईश्वरने सृजन किया है इस पथमें अनेक अक्षय पदार्थ लाभ करे जाते है ऐसा कहतेभी है कि इस मार्गको यदि कोई जानले तो कान्तियुक्त पूजनीय प्राचीन महत् अन्न अपने आगे प्राप्तकर सकता है अर्थात् गिरिपृष्ठमें अन्वेपणसे बहुमूल्य रत्न ओषधी आदि पाये जाते है ॥ ५९ ॥

कण्डिका ६०-मंत्र १ ।

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारमग्नेः ॥ एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः ॥ ६० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नहीत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ६० ॥

अन्वयार्थ-(देवाः) देवताओंने (अस्मात्) इस (वैश्वानरात्) विश्वके हितकारी (अग्नेः) अग्निसे (अन्यम्) दूसरे (पुरः) सब कार्योंमें प्रथम (एतारम्) जानेवाले (स्पशम्) दूतको (नहि) नहीं (अविदन्) जाना (आईम्)फिर (अमृताः)

---

१ बहूचोंमें यह संवाद सूक्त है, कि पणी असुरोने जब देवताओंका गोधन हरण किया तब इन्द्रने उसके लानेको सरमा नाम देवशुनी भेजी उसपर कहते हैं.

(सरमा) देवशुनी इन्द्रद्वारा देवगोधन ढूंढनेको भेजीहुई (यदि) जब (अद्रेः) पर्वतके (रुग्णम्) भग्नद्वारको (विदत्) प्राप्त करती हुई उस समय इन्द्रने (पाथः) हविरूप अन्न (कः) करके उसके निमित्त दिया तब (सुपदी) सुन्दर चरणवाली वह सरमा (अक्षराणाम्) नाश रहित गौओंको (अग्रम्) प्रान्तमें (नयत्) प्राप्तकरतीहुई (प्रथमा) पहले (रवम्) गौओंके हम्भाशब्दको (जानती) जान्तीहुई (अच्छ) गौओंके सन्मुख (गात्) गई जो पाथ सुअन्न (माहि) महत् (पूर्व्यम्) प्रथम भेजनेके समय तेरी प्रजाको अन्नादिनी करूंगा इस प्रकार प्रतिज्ञा किया तथा (सध्र्यक्) समीचीन इतरोंसेभी भोजनीय है "सरमा सरणिः" इति यास्कः [ऋ० ३ । २ । ६] ॥ ५९ ॥

देवताओंने (एनम्) इस (अमर्त्यम्) मरणधर्मरहित (वैश्वानरम्) विश्वके हितकारी अग्निको (क्षैत्रजित्याय) यजमानकी क्षेत्रप्राप्तिके निमित्त (अवृधन्) बढाया ॥ ६० ॥

भौतिक पक्षमें–विश्वानर हितकारी अग्निके विना और कोई भी [वायुआदि] स्पशक्रिया [विगलनादि जिसके द्वारा धातु गलकर विविध आकारम परिणत हो सकती है] अवनत नहीं कर सकता इस स्पशक्रियाके प्रसादसेही धातु द्रव्यादि विविध आकारमें परिणत होकर सन्मुख प्राप्त होती है, अतएव अमृत-देवगण [बुद्धिमान जन] इस अमर्त्य विश्वानरको क्षत्रजिति [युद्धजयमें अर्थात् अग्निकी स्पशशक्तिके प्रभावसेही लोहशस्त्रादि निर्माणपूर्वक युद्धजयादि किया जा सकता है] आदि अपना अर्थसाधनके निमित्त निरन्तर वर्द्धित करते हैं ॥ ६० ॥

विशेष–इसमें अग्निसे गलाकर धातुओंके अनेक पदार्थ बनानेका उपदेश है ॥ ६० ॥

कण्डिका ६१–मंत्र १।

उग्राविघनिनामृधऽइन्द्राग्नीहवामहे ॥
तानोमृडातऽईदृशे ॥ ६१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ उग्रेत्यस्य भरद्वाज ऋषिः। गायत्री छन्दः। इन्द्राग्नी देवते। वि० पू० ॥ ६१ ॥

मन्त्रार्थ–हम (उग्रा) बडे बलवाले (विघनिना) विशेषकर शत्रुनाशक (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्निको (हवामहे) आह्वान करते हैं (ता) वे आहूत हुए (नः) हमको (ईदृशे) इस प्रकारके भयानक (मृधे) संग्राममें (मृडातः) सुखकारी हो ॥ ६१ ॥

अथवा–इन्द्राग्नी देवता हमारे कामादि शत्रुओंको वध करै ॥ ६१ ॥

विशेष–भौतिक अर्थमें इन्द्रसहित विद्यमान अग्नि अर्थात् वैद्युताग्नि, इस मन्त्रमें रणक्षेत्रमें वैद्युताग्निव्यवहार करनेका उपदेश है और प्राचीन समयमें अस्त्रोंद्वारा होता था [ऋ० ४।८।२७] ॥ ६१ ॥

कण्डिका ६२–मंत्र १।

उपास्मैगायतानरःपवमानायेन्दवे ॥
अभिदेवाँ२ऽइयक्षते ॥ ६२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उपास्मा इत्यस्य देवल ऋषिः । गायत्री छं० । सोमो देवता । वि० पू० ॥ ६२ ॥

मन्त्रार्थ-(नरः) हे मनुष्यो ! वा यज्ञ करनेवाले ऋत्विजो ! (अस्मै) इस (पवमानाय) दशापवित्रसे द्रोणके प्रति गमन करनेवाले (देवान्) देवताओंके (अभि) सन्मुख (इयक्षते) यजनकी इच्छा करते (इन्दवे) सोमके निमित्त (उपगायत) स्तोत्र गान करो [ऋ० ६।७।३६] ॥ ६२ ॥

कण्डिका ६३-मन्त्र १ ।

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ ॥ ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः ॥ ६३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येत्वेत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६३ ॥

मन्त्रार्थ-(मघवन्) हे मघवन् धनवान् ! (ये) जो (विप्राः) मेधावी मरुद्गण (अहिहत्ये) वृत्रहननरूप कर्ममें (त्वा) तुमको (अवर्धन्) वढातेहुए (हरिवः) हे हरितवर्णके अश्वोंसे युक्त (शाम्बरे) शम्बरसम्बन्धी युद्धमें (ये) जो तुमको वडाते हुए (गविष्टौ) पण्य असुरसे हरण की गौओंके लानेमें (ये) जो तुमको स्तवन करते हुए (ये) जो (नूनम्) अवश्यही (त्वा) तुमको (अनुमदन्ति) उत्कर्षता करते वा तृप्त करते हैं (इन्द्र) हे इन्द्र! उन (मरुद्भिः) मरुतोंद्वारा (सगणः) गणसहित (सोमम्) सोमको (पिब) पानकरो मरुत्वतीय ग्रहमें सोमपानसे तृप्त हो [ऋ० ३।३।११] ॥ ६३ ॥

विशेष-प्रकृत पक्षमें शाम्बरसे कल्याणके निमित्त सूर्यकिरणके आच्छादक मेघाडम्बरका ग्रहण है. गविष्ठसे प्रकृतपक्षमें गोशब्दसे धान्यादि शस्यकी अभिलाषाका ग्रहण है ॥ ६३ ॥

कण्डिका ६४-मन्त्र १ ।

जनिष्ठा उग्रः सहसे तुराय मन्द्र ओजिष्ठो बहुलाभिमानः ॥ अवर्द्धन्निन्द्रम्मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरन्दधनद्धनिष्ठा ॥ ६४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ जनिष्ठेत्यस्य गौरीवितिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६४ ॥

मंत्रार्थ-हे इन्द्र ! तुम (उग्रः) उत्कृष्ट (मन्द्रः) स्तुतियोग्य (ओजिष्ठः) अत्यन्त ओजस्वी (बहुलाभिमानः) सब जगत् मेरी विभूति है ऐसे अभिमान-वाले (तुराय) वेगवान् (सहसे) बलके निमित्त (जनिष्ठा) प्रगट हुएहो (अत्र) इस वृत्रवधमें (मरुतः) मरुतोंने (चित्) भी (इन्द्रम्) इस प्रकारके इन्द्रको (अवर्धन्)स्तुतियों द्वारा बढाया (यत्) जिसकारण (धनिष्ठा) धनवती(माता) माता अदितिने (वीरम्)इस प्रकारके वीरको (दधनत्) गर्भमें धारण किया ॥६४॥

अथवा तुम मातृरूप निज गर्भमें जिस वीर (जल) को धारण करके ध्वनि (सिंहनाद) करते हो, दूसरे क्षणमें इसको प्रसव करते हो इसमें मरुद्गणभी तुम्हारी सहायता करते है [ऋ० ८ । ३ । ३] ॥ ६४ ॥

कण्डिका ६५-मन्त्र १ ।

आतूनंऽइन्द्रवृत्रहन्नस्म्माकंमर्द्धमागंहि ॥ महान्महीभिंरूतिभिंः ॥ ६५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आतून इत्यस्य वामदेव ऋषिः । गायत्री छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६५ ॥

मन्त्रार्थ-(वृत्रहन्)हे वृत्रवधकारी आवरणकारी पापोंके नाशक (इन्द्र) इन्द्र! (महीभिः) बडीबडी (ऊतिभिः) रक्षाओंद्वारा (महान्) महान् हो तुम (नः) हमारे प्रति तू शीघ्रही (आ) आइये और (अस्माकम्) हमारे (अर्धम्) निवासस्थान देवयजनप्रदेशको (आगहि) प्राप्त हो [ऋ० ३ । ६ । २७] ॥ ६५ ॥

कण्डिका ६६-मन्त्र १ ।

त्वमिंन्द्रप्प्रतूर्तिंष्ष्वभिविश्श्वांऽअसिस्पृधंः ॥ अशस्तिहाजंनिताविंश्श्वतूरंसित्त्वन्तूंर्य्यतरुष्यतः ॥ ६६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमिन्द्रेत्यस्य नृमेध ऋषिः । पथ्याबृहती छं० । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ६६ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वम्) तुम (प्रतूर्तिषु) रणक्षेत्रोंमें (विश्वा) सम्पूर्ण (स्पृधः) स्पर्धमान शत्रुसेनाको (अभ्यासि) जयकरतेहो (त्वम्) तुम

(विश्वतूः) सब शत्रुओंके मारनेवाले (असि) हो (अशस्तिहा) दुष्टोंके मारनेवाले (जनिता) अपने पक्षकी प्रशंसा करानेवाले तम (तरुष्यतः) हिंसकशत्रुओंको (तूर्य) मारो ॥ ६६ ॥

अर्थात्-आप दुरात्मागणके नाशकारी और साधुगणके कल्याणकारी हो, इसकारण नाशयोग्य दुष्टदलका क्षयकरो [ऋ० ६ । ७ । ३३] ॥ ६६ ॥

कण्डिका ६७-मंत्र १।

अनुंतेशुष्म्मंन्तुरयंन्तमीयतुᳬक्षोणीशिशुन्नमातरां ॥ विश्वांस्तेस्पृधंः श्नथयन्तमुन्यवेवृत्रंठयदिंन्द्रतूर्वसि ॥ ६७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनुतेशुष्ममित्यस्य नृमेध ऋषिः । सतो बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता ॥ ६७ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र !(क्षोणी) द्यावा पृथिवी (ते) तुम्हारे (तुरयन्तम्) शत्रुओंपर शीघ्रता करनेवाले (शुष्मम्) बलको (अन्वीयतुः) बहुत मानते हैं (न) जिस प्रकार (मातरौ) माता पिता (शिशुम्) बालकको बहुत मान्ते हैं (विश्वाः) सम्पूर्ण (स्पृधः) शत्रुसेना (ते) तुम्हारे (मन्यवे) क्रोधसे (श्नथयन्तः) खिन्न होती है (यत्) जिस कारण कि तुम (वृत्रम्) दूसरोंसे अवध्य वृत्रको (तूर्वसि) मारते हो [ऋ० ६ । ७ । ३]॥ ६७ ॥

सरलार्थ-हे इन्द्र ! माता पिता जिस प्रकार धावमान अपने बालकको गोदीमें ग्रहण कर सुखी होते है, द्यावापृथिवी भी इसी प्रकार तुम्हारे बल (वृष्टि) को प्राप्त होकर सुखी होते है, तुम जब क्रोधपूर्वक वृत्रको वध करते हो तुम्हारे इस यश श्रवणमें सम्पूर्ण स्पर्धावान् शत्रु स्वयंही हत होते है ॥ ६७ ॥

कण्डिका ६८-मंत्र १।

युज्ञोदेवानाम्प्रत्त्येतिसुम्न्नमादित्यासोभवंतामृडयन्तंः ॥ आवोर्वाचीसुमतिर्वृवृत्त्यादᳬहोश्चिद्यावरिवोवित्तरासंत ॥ ६८ ॥

यज्ञो देवानाम् इसकी व्याख्या ८ । ४ में होगई ॥ ६८ ॥

कण्डिका ६९-मंत्र १।

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वᳬ शिवेभिरद्य परिपाहि नो गयम् ॥ हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नो अघशᳬस ईशत ॥ ६९ ॥ [१५]

ऋष्यादि-(१) ॐ अदब्धेभिरित्यस्य भरद्वाज ऋषिः। जगती छं०। सविता देवता। वि० पू० ॥ ६९ ॥

मन्त्रार्थ-(सवितः) हे सवितः ! सबके प्रेरक (हिरण्यजिह्वः) हिरण्यकी समान अविचल जिह्वावाले सत्यवाक् वा हित रमणीय जिह्वावाले "हिरण्यं कस्मादित्यादि हितरमणीयं भवतीति वा" इति [निघं० २।१३।१२ यास्कोक्तेः] (त्वम्) तुम (अद्य) अब (शिवेभिः) शान्त वा सुखरूप (अदब्धेभिः) अनुपहिसनीय अविनाशी (पायुभिः) पालनाओंसे (नः) हमारे (गयम्) गृह वा धनको "गय इति धननामसु पठि० नि० २।१०।१२। कृदर इति गृहनामसु" [निघं० ३।४।१] (परिपाहि) रक्षा करो (नव्यसे) नवीन (सुविताय) सुखके निमित्त (आरक्ष) रक्षा करो और (मा किः) मत कोई (अघशंसः) पापाभिलाषी शत्रु (नः) हमारे प्रति (ईशत) ऐश्वर्य करसकै ॥ ६९ ॥

सरलार्थ-हे सवितः 'परमात्मन्' तुम अप्रतिद्वन्द्वी कल्याण करो पालन शक्तिके द्वारा अब हमारे घरकी पालना करो, तुम हिरण्यजिह्व हमको नित्य नये २ सुखभोगके निमित्त रक्षा करो, कोई पापात्मा जिस्से हमको अपने अधीन न करसकै अर्थात् हमारी स्वाधीनता नष्ट न होने पावै [ऋ० ५।१।१९] ॥ ६९ ॥

कण्डिका ७०-मंत्र १. अनु० ६।

प्रवीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः ॥ वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय ॥ ७० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रवीरयेत्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। वायुर्देवता। वि० पू० ॥ ७० ॥

मन्त्रार्थ-हे पत्नी यजमानो ! (वाम्) तुम दोनोंके (प्रवीरया) प्रकृष्टवीर (शुचयः) पवित्र (अध्वर्युभिः) अध्वर्युद्वारा (सुतासः) अभिषव किये (मधु-

मन्तः) निग्राभ्यरूप उदकसे युक्त सोम (दद्रिरे) चूर्ण हुए (वायो) हे वायो ! (नियुतः) अश्वोंको (वह) देवयजन स्थानमें प्राप्त करो (अच्छ) सोमके अभिमुख प्राप्त होनेको (याहि) गमन करो (मदाय) आनन्दके निमित्त (सुतस्य) अभिषुत (अन्धसः) सोमको (पिब) पान करो. यहांसे यह पन्द्रह मन्त्र पुरोरुक् हैं [ऋ० ५।६।१२] ॥ ७० ॥

कण्डिका ७१–मंत्र १ ।

गावऽउपावतावतम्महीयज्ञस्यरप्सुदा ॥ उभाकर्णाहिरण्यया ॥ ७१ ॥

ॐ गाव इत्यस्य–इसकी व्याख्या ३३।१९ में होगई ॥ ७१ ॥

कण्डिका ७२–मन्त्र १ ।

काव्ययोराजानेषुक्रत्वादक्षस्यदुरोणे ॥ रिशादसासधस्थऽआ ॥ ७२ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ काव्ययोरित्यस्य दक्ष ऋषिः । गायत्री छं० । मित्रावरुणौ दे० । वि० पू० ॥ ७२ ॥

मन्त्रार्थ–(रिशादसा) शत्रुके पक्षविनाशक हे मित्रावरुणो ! (दक्षस्य) उत्साहसम्पन्न यजमानके (सधस्थे) देव मनुष्योंके एक साथ सोमपानस्थानवाले (दुरोणे) यज्ञगृहके मध्य (काव्ययोः) कवियोंके हितकारी तुम दोनोंके (आजानेषु) सोमपानके योग्य देवयजन भूमिमें (क्रत्वा) यज्ञकर्मद्वारा संपादन करके (आ) आओ ॥ ७२ ॥

सरलार्थ–दो काव्यके गमनागमनमें निष्पन्न मित्र वरुण देवता कार्यमें कुशल यजमानके देवयजन गृहमें रिष्टनाशक हों. दोनों काव्यसे चन्द्र, सूर्य, मित्रावरुणसे दिनरात·सधस्थ यज्ञमण्डप ॥ ७२ ॥

कण्डिका ७३–मन्त्र १ ।

दैव्यावध्वर्यूऽआगतꣳरथेनसूर्यत्वचा ॥ मध्वायज्ञꣳसमञ्जाथे ॥ तम्प्रत्नथायंवेनः ॥ ७३ ॥

दैव्यावध्वर्यू–इसकी व्याख्या ३३।३३ में (तं प्रत्नथा ७।१२) अयं वेनः ७।१६ में इनकी व्याख्या होगई ॥ ७३ ॥

कण्डिका ७४-मंत्र १।

तिरश्चीनो वितंतो रश्मिरेषामधः स्विदासी३ दुप रिस्विदासी३त् ॥ रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥ ७४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तिरश्चीन इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । भाववृत्तपरमात्मा देवता । आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ ७४ ॥

विधि-(१) आग्रयणग्रहग्रहणमें विनियोग है । [का० ९। ५।१७।] प्रथम कात्यायनके अभिप्रायसे व्याख्यान करते हैं "ग्रहग्रहणमाध्रुवात्" इति [कात्या० ९ । ५ । १७] मन्त्रार्थ-(एषाम्) इन पूयमान सोमोंकी (रश्मिः) ऋजीषादि कल्कनियामक दशापवित्र लक्षणवाली रश्मि (तिरश्चीनः) उद्गाताओंसे तिर्यक् (विततः) विस्तारित है (स्वित्) और उस दशापवित्रमें सोम प्रक्षेप करनेसे सोम (अधः) नीचे (आसीत्) हुआ, (उपरि) ऊपर (स्वित्) भी (आसीत्) हुआ, वोह एक पदार्थ ग्रहचमस आधवनीय द्रोणकलशादिक (रेतोधाः) जगत् उत्पत्तिके बीज सोमको धारण करनेवाले (आसन्) हुए "यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" इति श्रुतेः । इस प्रकार सोम रस रूप दूसरे पदार्थ (महिमानः) उत्कृष्ट (आसन्) हुए अर्थात् आधारआधेयभावसे यह सबही यज्ञात्मा है "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इति गी० (स्वधा) और तद्रूप अन्न (अधस्तात्) होमसे पहले नीचा था (प्रयतिः) प्रयत्नवान् होमके उपरान्त फलयुक्त होकर (परस्तात्) उत्कृष्ट होता हुआ ॥ ७४ ॥

आधिदैवत व्याख्या-(एषाम्) इन प्रसिद्ध सूर्यरश्मियोंके मध्यमें एक प्रसिद्ध सुषुम्ना नामक (रश्मिः) नाडी वा किरण (तिरश्चीनः) तिरछी (विततः) विस्तृतहुई (स्वित्) क्या द्युलोकसे (अधः) नीचे (आसीत्) स्थित हुई (स्वित्) क्या (उपरि) ऊपर (आसीत्) है यह विचार है वह रश्मि (रेतोधाः) विश्वके बीज जलकी धारण करनेवाली (आसन्) है तथाच श्रुतिः "सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवानिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति" इति श्रुतेः । और दूसरी रश्मियें (महिमानः) विश्वप्रकाश करनेसे माहात्म्य प्रगट करनेवाली (आसन्) हुई हैं और (स्वधा) अन्नकी निष्पादक वही रश्मि (अवस्तात्) भूमिके अभिमुख हैं (प्रयतिः) प्रयत्नसे ऊर्ध्वमुख होतीहुई (परस्तात्) उत्कृष्ट दर्शनमात्रसेही देवताओंको तृप्त करतीहै "असौ वा आदित्यादेव मध्वित्युपक्रम्य न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" इति अर्थात् देवता देखकरही तृप्त होजाते हैं [छान्दो० प्र० ३ । ६] [व्यत्ययसे १ वचनका अर्थ है] ॥ ७४

सरलार्थ-इस देवताकी रश्मि क्या नीचे क्या ऊपर क्या तिर्यक् सर्वत्रही विस्तृत हैं यही रेतोधा सम्पूर्ण सृष्टिक्रमके वीर्यशाली हैं, इनकी अनन्त महिमा है अन्नजीवन अपकृष्ट और ज्ञानजीवन उत्कृष्ट है ॥ ७४ ॥

अध्यात्मव्याख्या-नासदासीदिति इस सात ऋचाके अध्यात्मप्रतिपादक सूक्त अष्टक ८ । ७ । १७ । मण्डल १० । ११ । १ में वह्वृच इसको पढते हैं उसमें नासदासीदिति इसमें सब प्रपञ्चरहित प्रलयअवस्थाको कथन करके अविद्याको विश्वका वीज कहा है "कामस्तदग्रे समवर्तत" इस पादसे काम कहा "मनसो रेतः प्रथमं तदासीत्" इस पादसे पुण्य पापात्मक कर्म कहा, इस प्रकार अविद्या काम कर्मको सृष्टिका हेतु कहकर उनके निजकार्य प्रगट करनेमें शीघ्रता कहते हैं ॥

(एषाम्) इन अविद्या काम कर्मोंकी (रश्मिः) रश्मिकी समान कार्यसमूह आकाशादि (विततः) विस्तृत होकर (तिरश्चीनः) तिर्यक् अर्थात् मध्यमें स्थित हुआ (स्वित्) और (अधः) नीचे (आसीत्) हुआ (उपरि) ऊपर (आसीत्) स्थित हुआ, अर्थात् सूर्य रश्मिकी समान एक साथ सबको व्याप्त किया, कार्य विभाग करते हैं सृष्टिके कार्यके वर्गमें कोई तो (रेतोधाः) वीजभूत कर्मके विधाता कर्ता भोक्ता जीव (आसन्) हुए और दूसरे (महिमानः) महान् आकाशादि भोग्य (आसन्) हुए अर्थात् इस प्रकार मायामें ईश्वर सब जगत् निर्माण करके फिर उसमें आप प्रविष्ट होकर भोक्ता भोग्यरूपसे विभाग करताहुआ इन भोक्ता भोग्यके मध्यमें (स्वधा) अन्न भोग्य प्रपंच (अवस्तात्) निकृष्टहुआ (प्रयतिः) भोक्ता (परस्तात्) उत्कृष्ट हुआ, अर्थात् भोक्ता प्रपंचाधीन और भोग्य प्रपंचको किया ॥ ७४ ॥

इस प्रकार प्रत्येक मंत्रोंमें तीन २ विषय है सो कहीं कहीं उपयोगी देखकर लिख दिये हैं, विशेष कर अधियज्ञ व्याख्या की है [ऋ० ८ । ७ । १७ ।] ॥ ७४ ॥

कण्डिका ७५-मंत्र १ ।

आरोदसीऽअपृणदास्वर्म्महज्जातंयदेनमपसोऽअधारयन् ॥ सोऽअध्वरायपरिणीयतेकविरत्त्यो नवाजंसातयेचनोहितः ॥ ७५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आरोदसीइत्यस्य विश्वामित्र ऋषिः। जगतीच्छन्दः। वैश्वानरो दे०। प्रार्थने वि० ॥ ७५ ॥

विधि-(१) वैश्वानर नाम भोक्ता परमात्माकी स्तुति। मन्त्रार्थ-(यत्) जिस समय (जातम्) प्रगट होतेही (एनम्) इस वैश्वानरको (अपसः) कर्मवान् यजमान (अधारयन्) कर्ममें स्थापन करतेहुए उस समय वह (रोदसी) द्यावा भूमिको (महत्) बडे (स्वः) अन्तरिक्षको (आ) सब ओरसे (अपृणत्) पूर्ण करताहुआ, स्थावरोंके मध्य प्रस्तरादिमें प्राप्त है, अन्तरिक्षमें सूर्यातमासे प्राप्त है, मनुष्योंमें जाठराग्निसे प्राप्त है अर्थात् त्रिलोकी जाठराग्निसे पूर्ण है गार्हपत्यादिका लोकत्व श्रुतियोंने कहा है "अयं वै लोको गार्हपत्यो द्यौराहवनीयः" इति। यह लोक गार्हपत्य द्युलोक आह्वनीय है ऐसे श्रुतिसे सर्वत्र जानना (सः) वह अग्नि (कविः) सर्वत्र (च) और (नः) हमारा अथवा (चनः) अन्नका हितकारी "चन इत्यन्ननाम" [निरु० ६।१६] (हितः) हितकारी (अध्वराय) यज्ञके निमित्त (परिणीयते) प्रणीता आग्नीध्र धिष्ण्यादिमें सब ओरसे प्राप्त किया जाता है (न) जिस प्रकार (अत्यः) अश्व (वाजसातये) अन्न प्राप्तिके निमित्त सब ओर ले जायाजाता है, जैसे राजा अश्वयुक्त होकर भोगसमूहको प्राप्त होता है तद्वत् ब्राह्मण अग्निदेवकी सेवा करता हुआ ब्रह्मलोकान्त भोगोंको प्राप्त होता है [ऋ० ३।८।१८] ॥ ७५ ॥

अथवा-दो अरणियोंके संघर्षणसे उत्पन्न इस अग्निको ऋत्विग्गण अन्नलाभके निमित्त पात्रमें धारण करते पुरोडाशादि अन्नके पाकके निमित्त प्रथम आहवनीय वेदीमें स्थापन करते हुए, यह कवि वेगवान् अश्वकी समान देखते २ द्यावापृथ्वी और अन्तरिक्षपर्यन्त अपनी प्रभासे पूर्ण करते हैं, यही अग्नि क्रमसे गार्हपत्यादि वेदीमें लाये जाते है ॥ ७५ ॥

कण्डिका ७६-मंत्र १।

उ॒क्थेभि॑र्वृत्र॒हन्त॑मा॒ या म॑न्दा॒ना चि॒दा गि॒रा ॥ आ॒ङ्गू॒षैरा॒विवा॑सतः ॥ ७६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उक्थेभिरित्यस्य वसिष्ठ ऋषिः। गायत्री छन्दः। इन्द्राग्नी देवते। आग्रयणग्रहग्रहणे वि० ॥ ७६ ॥

मन्त्रार्थ-(या) जो दोनों इन्द्राग्नी (वृत्रहन्तमा) आवरण और पापके नाशक (मन्दाना) स्वभावसेही मोदमान देवता (आंगूषैः) स्तोम (उक्थेभिः) उक्थ

(चित्) लौकिक वाक्यस्तोमोंसे भी तथा (गिरा) स्तुतियोंकी वाणियोंसे (आ) आते हुए (आविवासितः) परिचर्या किये जाते हैं ॥ ७६ ॥

प्रमाण-"आङ्गूषःस्तोम आघोषः" इति [निरु० ५।११]. "विवासतिः परिचर्यायाम्" इति [निरु० ११।२३] [ऋ० ५।६।१८] ॥ ७६ ॥

सरलार्थ-उक्थसमूहद्वारा स्तुतिवाक्यद्वारा और अंगूषसमूहद्वारा मोदमान वृत्रहन्ता इन्द्राग्नी दोनों देवताओंकी अर्चा करो ॥ ७६ ॥

कण्डिका ७७-मन्त्र १ ।

उप॑नऽसूनवो गिर॑ शृण्वन्त्वमृत॑स्य ये ॥ सुमृडीका भ॑वन्तु नः ॥ ७७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उप इत्यस्य सुहोत्र ऋषिः । गायत्री छं० । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ ७७ ॥

मन्त्रार्थ-(ये) जो (अमृतस्य) अविनाशी प्रजापतिके (सूनवः) पुत्र विश्वेदेवा हैं वे (नः) हमारी (गिरः) वाणियोंको (उपशृण्वन्तु) सुनै और सुनकर (नः) हमको (सुमृडीकाः) सुखकारी (भवन्तु) हों "अमृत पुरुषकी सब सन्तति हमारी प्रार्थना सुने और वह सबही हमको सुखकारी हों" अमृत पुरुष नाम परब्रह्मका है [ऋ० ४।८।१९] ॥ ७७ ॥

कण्डिका ७८-मंत्र १ ।

ब्रह्मा॑णि मे म॒तय॒ शꣳसु॒तासः शु॒ष्मऽइ॑यर्त्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ऽअद्रिः॑ ॥ आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्यन्त्यु॒क्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॒ऽअच्छ॑ ॥ ७८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्माणीत्यस्य अगस्त्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७८ ॥

मन्त्रार्थ-(ब्रह्माणि) मन्त्रवाक्यात्मक स्तुति वचन (मे) मेरे अनुभव किये (मतयः) मननयुक्त स्तुतिवाक्य (सुतासः) अतिसंस्कार किये (शम्) सुखके उत्पन्न करनेवाले हैं, इससे यज्ञमें जाना उचित है और (मे) मेरेद्वारा (प्रभृतः) भलीप्रकार धारण किया हुआ (शुष्मः) शत्रुओंका शोषनेवाला (अद्रिः) वज्र (इयर्ति) लक्ष्यको वेधताही है लक्ष्यमें प्रतिहत नहीं होता, (उक्था) स्तोत्रोंसे (आशासते) जो यजमान प्रार्थना करते हैं (ता) वह स्तोत्र शस्त्र (प्रतिहर्यन्ति) मेरी कामना करते हैं "हर्यतिः प्रेप्साकर्मा" इति यास्कः । (नः) हमारे (इमा)

यह (हरी) दो अश्व (अच्छ) यज्ञके अभिमुख (वहतः) वहन करते हमको प्राप्त करते हैं इन्द्रका मरुतोंके प्रति कथन है ॥ ७८ ॥

अथवा—मेरे प्रयोग किये हुए सम्पूर्ण मंत्र और मेरी देवार्चनकी मति, ऋत्विग्गण और मेरे सम्पादित किये सोमाभिषवके साधक अद्रि यह सबही हमको कल्याणका भाजन करैं, हम आशा करतेहैं जो जो देवताओंकी कामना करै दोनो अश्व उनको हमारे उक्थ (यज्ञ) सम्बन्ध करानेके निमित्त वहन करै [ऋ० २ । ३ । २४] ॥ ७८ ॥

कण्डिका ७९—मन्त्र १ ।

अनुत्तमातेमघवन्नकिर्नुनत्वावाँ२ऽअस्तिदेवताविदानः ॥ नजायमानोनशतेनजातोयानिकरिष्याकृणुहिप्प्रवृद्ध ॥ ७९ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अनुत्तमेत्यस्य अगस्त्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ७९ ॥

मन्त्रार्थ—(मघवन्) हे धनवन् इन्द्र ! (ते) तुमसे (न किः) न कोईभी (अनुत्तमम्) श्रेष्ठ है (आ) यह हम स्मरण करतेहैं (नु) और अवश्यहीं (त्वावान्) तुम्हारी सदृश (विदानः) विद्वान् तथा (देवता) देवता (न) नहीं (अस्ति) है (प्रवृद्ध) हे अतिपुरातन पुराण पुरुष ! (यानि) जिन अद्भुत कर्मोंको आप (कृणुहि) करते हो उन कर्मोंको (जायमानः) वर्तमानमें (जातः) पूर्वकालमें देवमनुष्योंमें (न) नहीं (नशते) व्याप्तकरताहै (न करिष्या) न कोई करेगा ॥ ७९ ॥

सरलार्थ—हे ऐश्वर्यवान् ! सम्पूर्ण देवताही तुम्हारी अपेक्षा अनुत्तम हैं, तुम सर्वोत्तम हो, तुम्हारी सदृश कोई नहीं है, हे अतिवृद्ध ! तुम जो सम्पूर्ण कार्य करते हो, और करोगे वह सब करनेमें समर्थ हो ऐसा न कोई हुआ न होगा [ऋ० २ । ३ । २९] ॥ ७९ ॥

कण्डिका ८०—मंत्र १ ।

तदिदासभुवनेषुज्ज्येष्ठँयतोजज्ञऽउग्रस्त्वेषन्नृम्णः ॥ सद्योजज्ञानोनिरिणातिशत्रूननुयंविश्श्वेमदन्त्यूमाः ॥ ८० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदित्यस्य बृहद्दिव ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । माहेन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ८० ॥

मन्त्रार्थ-(भुवनेषु) सम्पूर्ण भुवनोंमें (तत्) वह (इत) ही (ज्येष्ठम्) श्रेष्ठ (आस) हुआ (यतः) जिससे (त्वेषनृम्णः) कान्तिरूप धन (उग्रः) उत्कृष्ट सूर्य वा इन्द्र (जज्ञे) उत्पन्न हुआ, जो (जज्ञानः) उत्पन्न होता हुआ (सद्यः) शीघ्रही (शत्रून्) अंधकार और पापरूप शत्रुओंको (निरिणाति) अतिशय नष्ट करता है (विश्वे) सम्पूर्ण (ऊमाः) रक्षक देवता (यम्) जिसको (अनुमदन्ति) तृप्त करते हैं जिसका रक्षणस्वभाव पवनादि सम्पूर्ण देवता अनुमोदन करते हैं, अर्थात् यह परमात्मासे जगत्की रक्षाके निमित्तही प्रगट हुए हैं [ऋ० ८ । ७ । १] ॥ ८० ॥

कण्डिका ८१-मन्त्र १ ।

इमाऽउँत्त्वापुरूवसोगिरोवर्द्धन्तुयाममं ॥ पावुकवर्णाः शुर्चयोविपुश्चितोभिस्तोमैरनूषत ॥ ८१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इमा उत्वेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । बृहती छन्दः । आदित्यो देवता । वि० पू० ॥ ८१ ॥

मन्त्रार्थ-(पुरूवसो) हे वहुत धनवाले आदित्य ! (उ) अवश्यही (याः) जो (मम) मेरी (गिरः) स्तुति शब्दरूपवाणी है (इमाः) ये (त्वा) तुमको (वर्धन्तु) वढावें (पावकवर्णाः) अग्निकी तुल्य तेजवाले ब्रह्मवर्चसयुक्त (शुचयः) पवित्र (विपश्चितः) तुम्हारे स्वरूपके ज्ञाता विद्वान् (स्तोमैः) स्तोत्रोंसे (अभ्यनूषत) तुमको स्तुतिकरते हैं [ऋ० ९ । ७ । २९] ॥ ८१ ॥

कण्डिका ८२-मन्त्र १ ।

यस्यायंविश्श्वुऽआर्य्योदासः शेवधिपाऽअरिः ॥ तिरश्चिदुर्य्येरुशमेपवीरवितुभ्येत्सोऽअंज्यते रयिः ॥ ८२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्यायमित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ८२ ॥

मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (विश्वः) सम्पूर्ण (आर्यः) वर्ण आश्रमविहित कर्मोंके अनुष्ठाताओंका समूह (यस्य) जिस परमात्माका (दासः) सेवक है (शेवधिपाः) दान न करके कृपणतासे धनकी रक्षा करनेवाला कृपण "निधिः

शेवधिः" इति [निरु० २ । ४] (आरिः) शत्रु है (पवीरवि) धनकी रक्षाके निमित्त आयुध धारण करनेवाले "पविः शल्यो भवति यद्विपुनाति कायं तद्वत् पवीरमायुधं तद्वानिन्द्रः पवीरवान्" इति [निरु० १२ । ३०] (रुशमे) धनके निमित्त दूसरेकी हिंसा करनेवाले (अर्ये) धनके स्वामी वैश्यादिके पास (तिरः) भूमिआदिके अन्तरमें जो धन स्थित है (सः) वह (रयिः) धनसमूह (चित्) भी (तुभ्य इत्) तुम्हारे निमित्तही (अज्यते) प्रगट होताहै अर्थात् दूसरा पुरुष उससे धनको लेकर तुम्हारे निमित्त देताहै ॥ ८२ ॥

भावार्थ–क्या आर्य क्या दास क्या आज्ञापालक क्या कृपण यह सम्पूर्ण विश्वही जिसकी सम्पत्ति है दुष्टदमन करनेवाले आयुधधारी साधुओंके अन्तर्विहारी सबके स्वामी हे देव ! यह विश्वसम्पत्ति आपमेंही शोभा पातीहै ॥ ८२ ॥

कण्डिका ८३–मंत्र १ ।

अयᳬंसहस्रमृषिभिःसहस्कृतःसमुद्रऽइव पप्रथे ॥ सत्यःसोऽअस्यमहिमागृणेशवो यज्ञेषुविप्रराज्ये ॥ ८३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अयमित्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । सतोबृहती छन्दः । आदित्यो दे० । वि० पू० ॥ ८३ ॥

मन्त्रार्थ–(अयम्) यह इन्द्र (ऋषिभिः) अतीन्द्रियार्थके जाननेवाले ऋषियोंसे (सहस्कृतः) सहसा बलसम्पन्नकिया हुआ (अस्य) इस आदित्यका (शवः) बल (सः) महिमा (सत्यः) सत्य है (समुद्रः) समुद्रकी (इव)समान (पप्रथे) विस्तीर्ण वा व्यापक है (यज्ञेषु) यज्ञोंमें (विप्रराज्ये) मेधावी ब्राह्मणोंके राज्यमें (सहस्रम्) सहस्रों प्रकार (गृणे) उसकी महिमाको स्तुति करताहूं अर्थात् यज्ञोंमें ब्राह्मण स्वतंत्र राजोंकी समान होतेहै ॥ ८३ ॥

सरलार्थ–यह परम पुरुष ऋत्विग्गणके ध्यानबलसे प्रत्यक्ष होतेहैं और उनके हृदयमें क्रमसे समुद्रकी समान व्याप्त होते हैं वह सत्यस्वरूप है इनकी अनन्त सृष्टि विषयक बल और महिमा ब्राह्मणोंके राज्यमें सहस्रवार वर्णित होतीहै [ऋ० ५ । ७ । २५] ॥ ८३ ॥

कण्डिका ८४–मंत्र १ ।

अदब्धेभिःसवितःपायुभिष्ट्वᳬंशिवेभिरद्यपरिपाहि नोगयम् ॥ हिरण्यजिह्वःसुवितायनव्यसेरक्षामाकिर्नोऽअघशᳬंसऽईशत ॥ ८४ ॥ [१५]

अद्भ्येभिः-इसकी व्याख्या ३३ । ६९ में होगई ॥ ८४ ॥

छठा पुरोरुक्गण समाप्त ।

काण्डका ८५-मंत्र १. अनु० ७ ।

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः ॥ अन्तः पवित्र उपरि श्रीणानोऽयꣳ शुक्रोऽअयामि ते ॥ ८५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आन इत्यस्य जमदग्निर्ऋषिः । बृहती छं० । वायुर्देवता । ऐंद्रपुरुरोङ्मन्त्रपाठे वि० ॥ ८५ ॥

विधि-(१) यह १३ कण्डिकात्मक सप्तदशमंत्र पुरोरुक् ऐन्द्रवायव्यादि सावित्रान्त ग्रह ग्रहणके हैं । मंत्रार्थ-(वायो) हे वायो ! (नः) हमारे (दिविस्पृशम्) द्युलोकव्यापी अर्थात् ऋत्विग्यजमानोंके यथोक्त कर्म कराने और श्रेष्ठ दक्षिणा पानेसे स्वर्गपर्यंत श्रूयमाण (यज्ञम्) यज्ञमें (याहि) आगमन कीजिये (अन्तः) पात्रके मध्यमें स्थित (पवित्रे) दशापवित्रके (उपरि) ऊपर (श्रीणानः) होतृचमसद्वारा सींचाहुआ (अयम्) यह (शुक्रः) शुद्ध रसात्मक सोम (सुमन्मभिः) श्रेष्ठ स्तोत्रोंद्वारा (ते) तुम्हारे निमित्त (अयामि) नियत कियेहुएहैं, अर्थात् अच्छे नियमसे रखा कियाहै [ऋ० ६ । ७ । ७] ॥ ८५ ॥

काण्डका ८६-मंत्र १ ।

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे ॥ यथा नः सर्व्व इज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमना असत् ॥ ८६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रवायू इत्यस्य तापस ऋषिः । बृहती छं० । इन्द्रवायू देवते । वि० पू० ॥ ८६ ॥

मन्त्रार्थ-हम (इह) इस यज्ञमें (सुसंदृशा) भली प्रकार देखनेवाले (सुहवा) श्रेष्ठ आह्वानवाले (इन्द्रवायू) इन्द्रवायूको (हवामहे) बुलातेहैं(यथा) जिस प्रकार(नः) हमारे (सर्वः) सब (इत्) ही (जनः) पुत्रपौत्रादि (अनमीवः) व्याधिरहित (सङ्गमे) धनप्राप्ति और बहुतोंके समागममें (सुमनाः) अच्छे मनवाले उदार (असत्) हों इसमें धन पाकर उदारता होनेका उपदेश है ॥ ८६ ॥

अथवा-सुन्दर आह्वान योग्य हे इन्द्रवायु ! [जलवायु] हम तुमको इस स्थानमें सुन्दर दर्शनीयरूपसे देखनेकी इच्छा करते हैं, इस बहुजनाकीर्ण स्थानमें हमारे सर्व परिजन जिनसे नीरोग और सुमन हों ॥ ८६ ॥

विशेष–इस मंत्रमें जल और पवनके अधिष्ठातृ देवता इन्द्र वायुसे जलके शुद्ध होनेकी प्रार्थना है कारण कि, यज्ञ व्यतिरिक्त जहां बहुत मनुष्योंका समुदाय हो वहां जल वायुके दूषित होकर संक्रामक रोगकी संभावना है और बहुत जनोंमें वैमनस्यकी संभावना है इन दोनोंके निवारणके निमित्त वायु और इन्द्रसे प्रार्थना की है ॥ ८६ ॥

कण्डिका ८७–मन्त्र १।

ऋधंगित्त्थासमर्त्त्यं÷शशमेदेवतातये॥योनूनम्मित्रावरुणावभिष्टंयऽआचक्केहव्यदातये ॥ ८७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋधगित्यस्य जमदग्निर्ऋषिः। बृहती छन्दः। मित्रावरुणौ देवते। वि० पू० ॥ ८७ ॥

मन्त्रार्थ–(नूनम्) निश्चयकर (यः) जो (मर्त्यः) मनुष्य (अभिष्टये) अभिमत पदार्थके लाभनिमित्त (हव्यदातये) हविदानके निमित्त (मित्रावरुणौ) मित्रावरुण देवताको (आचक्रे) सेवन करता है (सः) वह मनुष्य (देवतातये) देवकर्म यज्ञके निमित्त (ऋधक्) समृद्धिमान् होता (इत्था) इसप्रकार सेवनरूप हेतुसे (शशमे) शान्त होताहै [ऋ० ६।७।६] ॥ ८७ ॥

विशेष–इस मंत्रमें यह उपदेश किया है कि, जो पूर्वकथित जनसमुदायसे रोगकारी अग्नि वायु दूषित हों तो दिनरातरूप मित्रावरुण देवताकी सेवा करनेसे अर्थात् यज्ञका निरन्तर अनुष्ठान करनेसे सुगन्ध द्रव्योंकी आहुतियोंसे संक्रामक रोग शान्त होजाता है॥ ८७ ॥

सरलार्थ–जो धनी मनुष्य हव्यदानपूर्वक देवयजनकार्यानुष्ठानपूर्वक अभीष्ट साधनमें उद्यत होकर मित्रावरुणकी सेवा करै तो वह उक्त दोष (संक्रामक रोग) की शान्ति करसकेंगे ॥ ८७ ॥

कण्डिका ८८–मंत्र १।

आयांतमुपंभूषतम्मध्व÷पिबतमश्विना॥ दुग्धम्पयोवृषणाजेन्न्यावसूमानोमर्द्धिष्टमागंतम् ॥ ८८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयातमित्यस्य वसिष्ठऋषिः। बृहती छं०। अश्विनौ देवते। वि० पू० ॥ ८८ ॥

मंत्रार्थ–(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो! (आयातम्) तुम दोनो आगमन करो (उपभूषतम्) इस यज्ञको अलंकृत करो (मध्वः) मधुको (पिबतम्) पान करो (वृषणा) हे वर्षणशीलो! यज्ञका फल सेचन करनेवालो! (जेन्यावसु)

धनके वशीभूत करनेवाले अर्थात् हे जयलब्ध धनके स्वामीगण तुम (पयः) वृष्टिका जल (दुग्धम्) अन्तरिक्षसे गिराओ (आगतम्) हमारे निकट आओ (नः) हमको (मा) मत (मर्धिष्टम्) मारो [ऋ० ८ । ९ । २१] ॥ ८८ ॥

विशेष-कोई कहते हैं कि यहां अश्विनीकुमारसे द्यावा पृथिवीके प्राणियोंका निमंत्रण है, और उनके आनेमें कोई विघ्न न हो यह प्रार्थना है ॥ ८८ ॥

कण्डिका ८९-मंत्र १ ।

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता ॥ अच्छा वीरन्नर्य्यम्पङ्क्तिराधसन्देवा यज्ञन्नयन्तु नः ॥ ८९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रैत्वित्यस्य कण्व ऋषिः । बृहती छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ ८९ ॥

मंत्रार्थ-(ब्रह्मणस्पतिः) वेदके रक्षक हिरण्यगर्भ "ब्रह्मणस्पतिः ब्रह्मणः पाता पालयिता वा" इति [निरु० १० । १२] (नः) हमारे (अ अच्छ) यज्ञके अभिमुख (प्रैतु) आगमन करै (सूनृता) सत्यवाक् त्रयीलक्षणवाली (देवी) देवतात्मा उनकी वाणी (प्रैतु) आगमन करै (देवाः) देवता यजनयोग्य हमारे वीरम् शत्रुओंको विशेष उन्मूलन करनेवाले "वीरो वीरयत्यमित्रान्" इति [निरु० १।७] (नर्यम्) मनुष्योंके हितकारी (पंक्तिराधसम्) पंक्तियोंसे समृद्ध इन्द्रका पुरोडाश, दोनों हरीको धान, पूषाको करम्भ, [दहीमिले सत्तू] सरस्वतीको दधि, मित्रावरुणको पयस्या. यह हविपंक्ति कहाती है, दो नाराशंस प्रातःसवन, दो नाराशंस माध्यन्दिन सवन, सकृन्नाराशंस तृतीय सवन, इसको नाराशंसा पंक्ति कहते हैं तीन सवन पशुरुपवसथ्य, पशुरनुबन्ध्य, इसको सवन पंक्ति कहते हैं इन पंक्तियोंसे समृद्ध (यज्ञम्) यज्ञको (नयन्तु) प्राप्त करो ॥ ८९ ॥

विशेष-इस मंत्रमें परब्रह्मको हृदयमें रखकर प्रिय और सत्यवाणीके व्यवहारपूर्वक आमंत्रित गणका सन्मानविधान, और बहुत मनुष्योंके हितकी अभिलाषा यथा विहित पंक्ति समृद्ध द्वारा यागक्रिया सम्पादनकी व्यवस्था सूचित होती है [ऋ० १ । ३ । २०] ॥ ८९ ॥

कण्डिका ९०-मंत्र १ ।

चन्द्रमाऽअप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ॥ रयिम्पिशङ्गम्बहुलम्पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत् ॥ ९० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चन्द्रमा इत्यस्य त्रित ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ९० ॥

विधि-(१) आहुत हुए होमद्रव्यका परिणाम द्युलोकमें पर्जन्य होता है फिर पृथ्वीमें आकर पुरुषमें फिर स्त्रीमें प्राप्त होता है पञ्चाग्निक्रमको यह मन्त्र समर्थन करता है.

अधियज्ञ व्याख्या-मन्त्रार्थ-(चन्द्रमाः) देवताओंका आह्लाद करनेवाला, लतारूप सोम अभिषुत होकर (अप्सु) वसतीवरी निग्राभ्यादि जलोंके (अन्तः) मध्यमें रसरूपसे स्थित होकर अग्निमें हुत हुआ (सुपर्णः) गरुडाकृति शीघ्रगामी होकर (दिवि) द्युलोकमें (अधावते) वेगसे धावमान होता है " दिवि सोम आसीत् " इति श्रुतेः । (हरिः) हरितवर्ण सोम " सोमो हरितवर्णः " इति [निरु० ४ । १९] इस प्रकार द्युलोकमें गमन करके (कनिक्रदत्) पर्जन्यरूपसे ध्वनि करता हुआ जलदानद्वारा (पिशङ्गम्) पिंगल वर्ण " परिपाकसे यवादि धान्य पीत वर्ण हो जाते है " (बहुलम्) बहुत अर्थात् चार प्रकारके प्राणियोंके जीवनमें पर्याप्त (पुरुस्पृहम्) बहुतोंकी इच्छावाले (रयिम्) अन्नरूप धनको (एति) प्राप्त होता है " रैरिति धननाम " [निरु० ४ । १७] ॥ ९० ॥

आधिभौतिक व्याख्या-यह जल व्याप्त चन्द्रमण्डल द्युलोकमें सुपर्णवत् धावमान होता है यह हरि बहु जनोंसे स्पृहणीय शुक्ल और कृष्ण दोनों प्रकारकी सम्पत्ति विक्रान्तभावसे भोग करते हैं अर्थात् इसके उदयनियमसेही शुक्ल और कृष्ण पक्ष होता है ॥ ९० ॥

कण्डिका ९१-मन्त्र १ ।

दे॒वन्दे॑वं॒वोव॑से॒दे॒वन्दे॑वम॒भिष्ट॑ये ॥ दे॒वन्दे॑वꣳहुवेम॒ वाज॑सातये॒गृ॒णन्तो॑दे॒व्याधि॒या ॥ ९१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवमित्यस्य मनुर्ऋषिः । बृहती छन्दः । देवा देवताः । वि० पू० ॥ ९१ ॥

मन्त्रार्थ-हम (देव्या) देवताके यथार्थताकी सन्धानवाली (धिया) बुद्धिसे (वः) आपको (गृणन्तः) स्तुति करते हुए अथवा स्वरादिकी श्रेष्ठतासे स्तुति करते हुए (अवसे) रक्षाके निमित्त वा पालनाके निमित्त (देवंदेवम्) देवदेवको (हुवेम) बुलाते है (अभिष्टये) अभीष्ट फल प्राप्तिके निमित्त (देवंदेवम्) देवदेवको आह्वान करते है (वाजसातये) अन्न प्राप्तिके निमित्त (देवंदेवम्) देवदेवको आह्वान करते हैं देवदेवका अर्थ प्रत्येक देवता है [ऋ० ६ । २ । ३३] ॥ ९१ ॥

कण्डिका ९२-मंत्र १ ।

दिविपृष्टोऽअरोचतग्निर्वैश्वानरोबृहन्॥ क्ष्मयावृधानऽओजसाचनोहितोज्योतिषाबाधतेतमः॥ ९२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दिवीत्यस्य मेध ऋषिः । बृहती छन्दः । अग्निर्देवता । वि० पू० ॥ ९२ ॥

मन्त्रार्थ-(वैश्वानरः) सब नरोंका हितकारी (बृहन्) महान् (अग्निः) अग्नि (पृष्टः) सिक्त आदित्य आत्मासे स्थित (दिवि) द्युलोकमें (अरोचत) दीप्त होता है (क्ष्मया) भूलोकमें रहनेवाले मनुष्योंसे दीहुई हविद्वारा (वृधानः) वर्धमान और (ओजसा) ओषधिपाकमें समर्थ तेजसे (चनः) अन्नके निमित्त "चन इत्यन्ननाम" [निरु० ६।१८] (हितः) हितकारी अर्थात् अन्ननिष्पादक अग्नि (ज्योतिषा) अपने प्रकाशसे (तमः) अन्धकारको (बाधते) दूर करता है ॥ ९२ ॥

अथवा-यह ब्रह्मज्योति गुरुद्वारा जानी हुई मस्तकस्थित भृकुटीके मध्यमें प्रकाश करती है और इसका प्रकाश अज्ञान और पापको दूर करताहै ॥ ९२ ॥

अथवा-द्युपृष्ठमें देदीप्यमान विश्वके नरोंका हितकारी यह बृहत् तेजसे व्याप्त चन्द्रमण्डल पृथ्वीके सहित सम्बन्ध रखकर जलादिका वर्धन करनेवाला है [ज्वार भाटा और सागरके जलकी वृद्धि इसका उदाहरण हैं] इसकी किरणोंसेही हेमन्तके धान्यादि सब ओषधि सुपक्व होती हैं [इसीसे इसको ओषधीश कहतेहैं] और इसकी ज्योतिसेही अन्धकार दूर होता है ॥ ९२ ॥

विशेष-यद्यपि यह सूर्यकी ज्योतिसेही ज्योतिष्मान् है, परन्तु ज्योतिष्मान् तो है ॥ ९२ ॥

कण्डिका ९३-मन्त्र १ ।

इन्द्राग्नीऽअपादियम्पूर्वागात्पद्वतीभ्यः॥ हित्वीशिरोजिह्वयावावदच्चरत्त्रिꣳशत्पदान्यक्रमीत्॥ ९३॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्राग्नी इत्यस्य सुहोत्र ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्राग्नी देवते । वि० पू० ॥ ९३ ॥

प्रवह्लिका ।

मन्त्रार्थ-(इन्द्राग्नी) हे इन्द्राग्नी! (इयम्) यह उषा (अपात्) पादरहित होकरभी (पद्वतीभ्यः) पादयुक्त होती हुई प्रजाओंसे (पूर्वा) पहले होनेवाली

(अगात्) आगमन करती है, और उन प्रजाओंके (शिरः) शिरको (हित्वी) निद्रात्यागद्वारा प्रेरणाकरती हुई अथवा शिरको छोडे हुए स्वयं शिररहित होकर (जिह्वया) प्राणियोंके वागिन्द्रियद्वारा (वावदत्) शब्द करती हुई (अचरत्) फैलती है, इसप्रकार चलती हुई उषा एकदिनमें (त्रिंशत्) गमनके साधनवाले तीस (पदा) मुहूर्तोंको (न्यक्रमीत्) आक्रमण करती है, अर्थात् दिनरातमें तीस मुहूर्त आक्रमण करती है [ऋ० ४ । ८ । ३६] ॥ ९३ ॥

अथवा वाक्पक्षमें–

हे (इन्द्राग्नी) प्राण और पुरुष ! तुम्हारा यह कर्म है जो (इयम्) यह (अपाद्) पादरहित गद्यात्मिका वाणी (पूर्वा) प्रथम होनेवाली होकर (आ अगात्) आतीहै (पद्वतीभ्यः) फिर पादयुक्त छन्दात्मक वेदवाणी ही प्रथम है "ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत" इति श्रुतेः । इसप्रकार प्रथम होनेवाली वाणीका अविकृतत्व निर्णय करके मानुषी वाणीका विकृतत्व कहते हैं "अभ्याज गां दण्डेन शुक्लां गां दण्डेनाभ्याज" इति श्रुतेः । इसप्रकार लौकिक वाणीको पद· प्रयोगनियमके अभाव होनेसे (शिरः) शिरस्थानीय आख्यात पदको (हित्वा) छोडकर (जिह्वया) विद्वान्की वागिन्द्रियद्वारा (वावदत्) अतिशयकथन करती हुई (अचरत्) प्रकाशित होती है इसप्रकार विचरतीहुई वाणी (त्रिंशत्) तीस (पदा) पद अर्थात् मूलाधारसे लेकर तीस अंगुलपर्यन्त स्थानको (न्यक्रमीत्) आक्रमण करतीहै ॥ ९३ ॥

कण्डिका ९४–मंत्र १ ।

देवासोहिंष्म्मामनंवेसमंन्यवोविश्वैंसाकळ्सरांतयः ॥ तेनोऽअद्यतेऽअंपरन्तुचेतुनोभवंन्तुवरिवोविदं÷ ॥ ९४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवास इत्यस्य मनुर्ऋषिः । सतोबृहती छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ ९४॥

मंत्रार्थ–(मनवे) मननके निमित्त (समन्यवः) एकमतिको प्राप्तहुए "मन्युर्मनतेर्दीप्तिकर्मणः" इति [यास्क निघं० १० । २९] मेरी समान दीप्तिवाले मेरे निमित्त एकमतिको प्राप्तहुए वा हमारे शत्रु नाशकरनेको क्रोधयुक्त हुए (सरातयः) दानसहित अर्थात् दाता (ते) वे प्रसिद्ध (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा (अद्य) अब (नः) हमारे (साकम्) साथ (वरिवोविदः) एकसाथ धन प्राप्त करनेवाले (भवन्तु) हों (तु) और फिर (अपरम) भविष्यकालमें (नः) हमारे (तुचे)

अपत्य पुत्रपौत्रादिके निमित्त (हिष्मा) अवश्य ही धन देनेवाले हूजिये "तुगित्यपत्यनाम" [निघं० २ । २] ॥ ९४ ॥

सरलार्थ-वह समान दीप्ति और समान सम्पत्तिवाले सव देवता एकमत होकर मनु और पुत्रादिविषयमें हमारे सम्बन्धमें कल्याण प्राप्त करनेवाले हों । मनुशब्दका अर्थ मनन, अर्थात् हमारे वंशकी रक्षा होय हनन न सिद्ध हो [ऋ० ६ । २ । ३३] ॥ ९४ ॥

कण्डिका ९५-मंत्र १ ।

अपा॑धमद॒भिश॑स्तीरशस्ति॒हाथेन्द्रो॑ द्यु॒म्न्याभ॑वत् ॥ दे॒वास्त॑ऽइन्द्र स॒ख्याय॑ येमिरे॒ बृह॑द्भानो॒ मरु॑द्गण ॥ ९५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपाधमदित्यस्य नृमेध ऋषिः। सतोबृहती छन्दः। इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ९५ ॥

मन्त्रार्थ-(मरुद्गण) हे मरुतोंके गण ! (बृहद्भानो) हे महान् दीप्तिवाले (इन्द्र) हे इन्द्र ! (देवाः) वसुरुद्रआदित्यदेवताओंने (ते) तुम्हारी(सख्याय) मित्रताके निमित्त (येमिरे) आत्माको संयतकिया (अथ) और (अशस्तिहा) निन्दनीयअसुरोंके नाशक (इन्द्रः) इन्द्रने (अभिशस्तीः) शत्रुप्रयुक्त अपवादोंके (अपाधमत्) दूर किया और (द्युम्नी) अन्नवान् वा यशस्वी (आ अभवत्) हुआ अर्थात् सव ओरसे धनवान् होता है "धमतिर्गतिकर्मा" इति [निरु० ६ । २] आशय यह कि जो दुष्टहन्ता, अभिशापनाशक यशस्वी तेजस्वी वहुतभृत्योंयुक्त होता है उसकी सख्यताको दूसरे इच्छा करते हैं [ऋ० ६ । ६ । १२] ॥ ९५ ॥

सरलार्थ-दुष्टदमनकारी इन्द्रदेवता दुष्टोंके किये दुरपवादादिको शासन करते यज्ञभागी हों। हे महान् दीप्तिवाले ऋत्विग्जनोंसे पूजित इन्द्र देवता ऋत्विक् तुम्हारी मित्रता लाभके निमित्त संयत होतेहै ॥ ९५ ॥

विशेष-संयम नियम व्रत जप तपसे परमात्माकी सख्यता लाभ होतीहै ॥९५॥

कण्डिका ९६-मंत्र १ ।

प्र व॒ऽइन्द्रा॑य बृह॒ते मरु॑तो॒ ब्रह्मा॑र्चत ॥ वृ॒त्रꣳ ह॑नति वृत्र॒हा श॒तक्र॑तु॒र्वज्रे॑ण श॒तप॑र्वणा ॥ ९६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रवइन्द्रायेत्यस्य नृमेध ऋषिः । बृहती छन्दः । इन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ९६ ॥

मन्त्रार्थ–(मरुतः) हेमरुतो ! (वः) अपने स्वामी (बृहते) महान् (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (ब्रह्म) वेद, सामरूप स्तोत्र (प्रार्चत्) उच्चारण करो तब (वृत्रहा) वृत्र असुर वा पापनाशक (शतक्रतुः) सौ यज्ञकर्ता बडे कर्मवाला वा बहुत प्रज्ञावाला वह इन्द्र (शतपर्वणा) सौ धारा वा ग्रन्थिवाले (वज्रेण) वज्रसे (वत्रम्) वृत्रको (हनति) नाश करता है ॥ ९६ ॥

सरलार्थ–हे मरुद्गणो ! इन्द्र देवताकी तुष्टिके निमित्त बृहत्साम गाओ वह बहुकर्मा वृत्रहा देवता शतपर्व वज्रद्वारा वृत्रको मारता है ॥ ९६ ॥

कण्डिका ९७–मंत्र १।

अस्येदिन्द्रो॑वावृधे॒वृष्ण्य॒ᳪ॑शवो॒मदे॑सु॒तस्य॒विष्ण॑वि ॥ अ॒द्याऽतम॑स्यमहि॒मान॑मा॒यवो॒ऽनु॑ष्टुवन्तिपू॒र्वथा॑ ॥ इ॒माऽउ॑त्त्वा॒यस्या॒यम॒यᳪ॑स॒हस्र॑मू॒र्ध्वऽऊ॒षुणः॑ ॥ ९७ ॥ [१२]

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितापाठेत्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्येत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । सतोबृहती छं० । माहेन्द्रो देवता । वि० पू० ॥ ९७ ॥

मंत्रार्थ–(इन्द्रः) इन्द्र (विष्णवि) सब शरीरमें व्यापक अथवा "यज्ञो वै विष्णुः" इति श्रुतेः यज्ञमें (सुतस्य) अभिषुत सोमके (मदे) आनंदमें (अस्य) इस (इत्) ही यजमानके (वृष्ण्यम्) वीर्य (शवः) बलको (वावृधे) बढाता है (अद्या) अब इस कालमें भी (आयवः) मनुष्य (पूर्वथा) पूर्व कालके ऋषियोंकी स्तुतिकी समान (अस्य) इस इन्द्रकी (तम्) उस (महिमानम्) महिमाको (अनुष्टुवन्ति) स्तुति करते हैं अर्थात् अभिषुत सोमकी सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होनेवाली आनन्दकी शक्ति उत्पन्न होनेपर यह इन्द्र देवता यजमानका वीर्य और बल बढाते है अब मनुष्यगण पूर्वप्रथाके अनुसार इसप्रकारके इन्द्रदेवताकी महिमा कीर्तन करते है ॥ ९७ ॥

विशेष–इमा उत्वा ३३ । ८१ । यस्यायम् ३३ । ८२ । अयं सहस्रम् ३३ । ८३ ऊर्ध्व ऊषुणः ११ । ४२ में व्याख्या होचुकी है । [ऋ० ५ । ७ । २६ पूर्वथातक] ॥ ९७ ॥

इति सर्वमेधप्रकरणम् ।

इति श्रीमन्महामहिमसम्पन्नश्रीयुतमिश्रसुखानन्दात्मजमर्यादापाटीधुरन्धरमिश्रज्वालाप्रसादकृतौ यजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीशाखाया मन्त्रभागे मिश्रभाष्ये सार्वमेधिकस्त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ३४.

अथानुवाकसूत्रम्-यज्जाग्रतःपंचनद्यःसोमोधेनुमाकृष्णेनपूषन्तवदशकानतदष्टौषडष्टापंचाशत् ६ । ५८ ॥

कण्डिका १-मन्त्र १. अनु० १ ।

यज्जाग्ग्रंतोदूरमुदैतिदैवन्तदुसुप्तस्यतथैवैति ॥ दूरङ्गमञ्ज्योतिषाञ्ज्योतिरेकन्तन्मेमनं÷शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । मनो देवता । पाठे विनियोगः ॥ १ ॥

विधि-(१)यहांसे पितृमेधतक अनारभ्याधीत अध्यायहै पाठमें विनियोग है

मन्त्रार्थ-(यत्) जो मन (जाग्रतः) जागते पुरुषका चक्षुआदिकी अपेक्षासे (दूरम्) दूर (उदैति) प्राप्त होता है जो (दैवम्) द्युतिमान् वा प्रकाशक देव विज्ञानात्माका ग्राहक है "मनसैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्" इति श्रुतेः (तत्) वह (उ) ही (सुप्तस्य) सोतेहुए पुरुषके (तथैव) उसीप्रकारसे (एति) सुषुप्ति अवस्थामें फिर आगमन करताहै जो (दूरङ्गमम्) दूर जानेवाला अर्थात् अतीत भविष्य वर्तमान विप्रकृष्ट व्यवहित पदार्थोंका ग्रहण करनेवाला है, और जो (ज्योतिषाम्) प्रकाशक श्रोत्रादि इन्द्रियोंकी (एकम्) एक (ज्योतिः) ज्योति है अर्थात् सम्पूर्ण इन्द्रियोंका चालक है आत्मा मनसे मन इन्द्रियसे इन्द्रिय पदार्थोंसे संयोग करती है, विना इसके कुछ प्रवृत्ति नही होती (तत्) वह (मे) मेरा (मनः) मन (शिवसंकल्पम्) कल्याणकारी संकल्पवाला धर्मविषयमें तत्पर (अस्तु) हो ॥ १ ॥

कण्डिका २-मन्त्र १ ।

येनुकर्म्माण्ण्यपसोमनीषिणोयज्ञेकृण्वन्तिविदथेषुधीराः ॥ यदपूर्व्वंय्यक्षमन्तःप्प्रजानान्तन्मेमनं÷शिवसंङ्कल्पमस्तु ॥ २ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ येनेत्यस्य ऋष्यादिविनियोगः पूर्ववत् ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(अपसः)कर्मानुष्ठानमें तत्पर "अप इति कर्म नाम" [निघं० २।१।१]

(धीराः) बुद्धिसम्पन्न (मनीषिणः) मेधावी (यज्ञे) यज्ञमें (येन) जिस मनसे (कर्माणि) उत्तम कर्मोंको (कृण्वन्ति) करते हैं, जो (प्रजानाम्) प्राणीमात्रोंके (अन्तः) शरीरके मध्यमें स्थित है, अर्थात् इन्द्रियवाह्य मन अन्तरमें स्थित है, (विदथेषु) यज्ञसम्बन्धी हविआदिपदार्थोंके ज्ञानमें (यत्) जो (अपूर्वम्) अद्भुत वा सबसे प्रथम वा आत्मरूप (यक्षम्) पूजनयिभावसे स्थित है (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) वह मेरा मन कल्याणकारी धर्मविषयक संकल्पवाला हो ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र १.

यत्प्रज्ञानमुतचेतोधृतिश्चयज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥ यस्मान्नऽऋतेकिञ्चनकर्म्मक्क्रियतेतन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ यत्प्रज्ञानमित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ–(यत्) जो मन (प्रज्ञानम्) विशेष कर ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला है (उत) और (चेतः) सम्यक् प्रकारसे सामान्य विशेष ज्ञानका प्रगट करनेवाला चित्तस्वरूप (च) और (धृतिः) धैर्यरूप है (यत्) जो (अमृतम्) आत्मरूप होनेसे अविनाशी जो (प्रजासु) प्राणियोंके मध्यमें (अन्तः) अन्तर वर्तमान (ज्योतिः) प्रकाशक है (यस्मात्) जिस मनके (ऋते) विना (किञ्चन) कुछ भी (कर्म) कार्य (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) वह मेरा मन कल्याणकारी कार्यमें संकल्पकारी हो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मंत्र १.

येनेदम्भूतम्भुवनम्भविष्यत्परिगृहीतममृतेनसर्वम् ॥ येनयज्ञस्तायतेसप्तहोतातन्मेमनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येनेदमित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत ॥ ४ ॥

मन्त्रार्थ–(येन) जिस (अमृतेन) अविनाशी मनने " मुक्तिपर्यन्त मन रहनेसे अविनाशी कहा " (इदम्) यह (सर्वम्) सम्पूर्ण (भृतम्) भूतकालस-

म्बन्धी वस्तु (भुवनम्) वर्तमानकालसम्बन्धी (भविष्यत्) होनेवाले कालसम्बन्धी पदार्थको (परिगृहीतम्) ग्रहण किया है त्रिकालसम्बन्धी वस्तुओंमें मन प्रवृत्त होता है (येन) जिसके द्वारा (सप्तहोता) सात होता होतृमैत्रावरुणादिवाला अग्निष्टोम (यज्ञः) यज्ञ (तायते) विस्तार किया जाता है (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्पवान् हो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मत्र १.

यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ॥ यस्मिꣴश्चित्तꣳ सर्वमोतम्प्रजानान्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्मिन्नित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥५॥

मन्त्रार्थ-(यस्मिन्) जिस मनमें (ऋचः) ऋचाएं अर्थात् ऋग्वेद (प्रतिष्ठिताः) स्थित हैं (यस्मिन्) जिसमें (साम) साम (यजूंषि) यजु स्थित हैं मनकी ही स्वस्थतासे वेदत्रयकी स्फूर्ति होती है (इव) जिस प्रकार (रथनाभौ) रथचक्रकी नाभीमें (आराः) अरे स्थित है इसी प्रकार मनमें शब्दजाल स्थित है (प्रजानाम्) प्रजाओंका (सर्वम्) सब (चित्तम्) ज्ञान अर्थात् सब पदार्थोंके विषयका ज्ञान (यस्मिन्) जिसमें (ओतम्) पटमें तन्तुकी समान ओत प्रोत है (तन्मे ममः) वह मेरा मन (शिवसंकल्पमस्तु) कल्याण कार्यमें संकल्पकारी हो ॥ ५ ॥

विवरण-जिस प्रकार पटके मध्यमें तन्तु ओत प्रोत रहते है और तन्तुको आश्रय करकेही पटकी स्थिति होती है इस प्रकार सम्पूर्ण विषयोंका सब विधि ज्ञान एकमात्र मनके ही अधीन है इस कारणही मनुने " मनसश्चाप्यहङ्कारः " मनसे अहंकारकी सृष्टि कही है, बुद्धि मनकेही आश्रित है मनके अभावमें बुद्धिका अभाव ऐसे होता है जैसे तन्तुके अभावमें पटका अभाव होता है, मन बुद्धिका तन्तुपटकी समान सम्बन्ध है मनके अभावमें मृत शरीरको किसी प्रकार ज्ञानकी स्फूर्ति नहीं होती ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १.

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनऽइव ॥ हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठन्तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सुषारथिरित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ-(यत्) जो मन (मनुष्यान्) मनुष्यादि जीवोंको (नेनीयते) इधर उधर लेजाता है अर्थात् मनकी प्रेरणासे ही प्राणी कार्योंमें प्रवृत होते हैं (इव) जैसे (सुषारथिः) अच्छा सारथि (अभीशुभिः) लगामद्वारा (वाजिनः) वेगवान् (अश्वान्) घोडोंको लेजाता है (यत्) जो मन (अजिरम्) बाल्य-युवाजरासे रहित (जविष्ठम्) अतिशय वेगवान् "न वै वालात्किश्चनाशीयोस्ति न मनसः किश्चनाशीयोस्ति" इति श्रुतेः। (इव) तुल्य (हृत्प्रतिष्ठम्) हृदयमें स्थित है अर्थात् जैसे सारथी लगामकी सहायतासे घोडोंको यथेच्छ स्थलमें प्राप्त करता है इसीप्रकार चक्षुआदि इन्द्रियोंको अवलम्ब करके मनुष्यादि शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्गको वारबार विविध विषयोंमें प्रेरित करता है, जो जरारहित हृदयमें प्रतिष्ठित है (तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु) वह मेरा मन कल्याणकर कार्यमें सकल्पकारी हो ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मंत्र १।

पितुन्नुस्तोषम्महोधर्म्माणन्तविषीम् ॥
यस्यंत्रितोव्योजंसावृत्रंविपर्वमर्दयत् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पितुन्वित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। उष्णिक्छं०। अन्नं दैवतम्। वि० पू० ॥ ७ ॥

विधि-(१) अन्नस्तुति। **मन्त्रार्थ**-(महः) बडे (तविषीम्) बलके "तविषीति बलनाम" [निघं० २। ९] (धर्माणम्) धारण करनेवाले (पितुम्) अन्नको (स्तोषम्) स्तुतिकरते है (नु) अवश्यही (यस्य) जिसके (ओजसा) बलसे (त्रितः) तीन स्थानमें स्थित वा तीनों स्थानके अधिपति इन्द्रने (वृत्रम्) वृत्र दैत्यको (व्यर्दयत्) अनेक प्रकारसे मर्दित किया अथवा जिसके तेजप्रभावसे त्रिभुवनमें स्थित सब प्राणी अपने २ वृत्रको पर्वरहित करके "गांठ २ खण्ड २ करके" मर्दन करनेमें समर्थ होते है [ऋ० २। ५। ६] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १।

अन्विदंनुमतेत्वम्मन्यांसैशन्नंनस्कृधि ॥ क्रत्वेदक्षां यनोहिनुप्प्रणऽआयूंᳬषितारिषः ॥८॥ शतम् १८००

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्विदित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। अनुष्टुप्छन्दः। अनुमतिर्देवता। पाठे वि० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(अनुमते) हे चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमाकी अधिष्ठातृदेवि ! (त्वम्) तुम (इत्) ही (अनुमन्यासै) हमारे कथनको जानो (च) और (नः) हमको (शम्) कल्याण (कृधि) करो अर्थात् सुख दो और (क्रत्वे) संकल्पके (दक्षाय) सिद्धिके निमित्त (नः) हमको (हिनु) प्राप्तकराओ (नः) हमारी (आयूꣳषि) आयुओंको (प्रतारिषः) बढाओ अर्थात् संकल्प सिद्धकर हमारी पूर्ण आयु करो [अनुमतिमें अधिष्ठित परमात्माकी स्तुति है] ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र १ ।

अनु॑ नो॒ऽद्यानु॑मतिर्य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ मन्यताम् ॥ अ॒ग्निश्च॑ ह॒व्यवाह॑नो॒ भव॑तं दा॒शुषे॒ मय॑: ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनुन इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत्॥ ९॥

मन्त्रार्थ-(अनुमतिः) अनुमती देवी (अद्य) अत्र (अस्माकम्) हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंमें (अनुमन्यताम्) अनुमत करै (च) और (हव्यवाहनः) हवि वहन करनेवाला (अग्निः) अग्निदेवताभी हमारा यज्ञ देवताओंमें अनुमतकरै (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानके निमित्त (मयः) सुखरूप अनुमति और अग्नि (भवतम्) हों ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र १ ।

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑ ॥ जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि नः ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१) ॐ सिनीवालीत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । सिनीवाली देवता । वि० पू० ॥ १० ॥

मंत्रार्थ-(पृथुष्टुके) हे बहुत केशवाली ! वा पृथुकामा वा बडी स्तुतिवाली (सिनीवालि) हे सिनीवालि ! (या)जो तुम (देवानाम्) देवताओंकी (स्वसा) भगिनी (असि) हो वह तुम (आहुतम्) सम्यक् हुत की हुई (हव्यम्) हविको (जुषस्व) प्रीतिसे सेवनकरो (देवि) हे देवि ! (नः) हमारे निमित्त (प्रजाम्) प्रजाको (दिदिड्ढि) प्रदानकरो [सिनीवाली-चतुर्दशीयुक्ता अमावस्या] [ऋ० २ । ७ । १५] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र १-अनु० २ ।

पञ्च॑ न॒द्यः॒ सर॑स्वती॒मपि॑ यन्ति॒ सस्रो॑तसः ॥ सर॑स्वती॒ तु प॑ञ्च॒धा सो दे॒शेऽभ॑वत्स॒रित् ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पञ्चनद्य इत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । सरस्वती देवता । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(सस्रोतसः) समान स्रोत प्रवाहवाली (पञ्च) पांच (नद्यः) दृषद्वतीआदि नदी (सरस्वतीम्) सरस्वतीको (उ) ही (अपियन्ति) प्राप्तहोतीहैं (सा)वह(सरस्वती) सरस्वती (तु) ही (देशे) उस देशमें (पञ्चधा) वह पांचप्रकारसे (सरित्)नदी(अभवत्) हुई है अर्थात् पांचों अपना नाम छोड सरस्वती हुई॥११॥

अथवा-स्रोतस्वती पांच नदी ही सरस्वतीसे मिली है इसकारण देश २ में व्याप्त पञ्च नदीको ही सरस्वती कहते है ॥ ११ ॥

अथवा-समान प्रवाहवाले इतिहाससहित चारों वेद महा वाग्रूप ॐकारको प्राप्त करते है वह प्रणवरूपा सरस्वती ब्रह्मर्षि देशमें उक्त पांच प्रकारसे गुरुपरंपरा द्वारा प्राप्तहुई ॥ ११ ॥

विवरण-पांच नदी दृषद्वती (इरावती)शतद्रु, वितस्ता, विपाशा,और चन्द्रभागा पञ्जाब देशमेंहैं मनुजी कहते है अ० २ श्लो० १७ जिसके पश्चिममें दृषद्वती [इरावती] और पूर्व सीमामें सरस्वती है । इनके मध्यका देश ब्रह्मावर्त्त है सरस्वतीके कारण इस देशको सारस्वत देश और यहांके आर्य सारस्वत कहाते है और यहभी स्मरण रखना चाहिये कि, सरस्वतीतीरवासी शब्दसे सम्पूर्ण पञ्जाब देशवासी जनोंका ग्रहण है कारण कि, सरस्वतीसे मिलकर सम्पूर्ण नदीभी सरस्वती कहातीहैं यथा "सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते"-इधर कुछ लोगोंका कहनाहै कि विठूर ब्रह्मावर्तहै पर इसमें इन दो नदियोंका मध्य नहीं पायाजाता ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

त्वमग्ने प्रथमोऽअङ्गिराऽऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा ॥ तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमग्न इत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ० । जगती छन्दः । अग्निर्देवता । पाठे वि० ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (आङ्गिराः)अंगोंके रसरूप वा यजमानोंके सुखदाता (ऋषिः)प्रकाशक वा द्रष्टा (देवः) प्रकाशमान्‌वा दीप्तिमान् (शिवः) कल्याणरूप (देवानाम्) देवताओंके (प्रथमः) प्रथम (सखा)

मित्रभूत (अभवः) हो (मरुतः) मरुद्गण (तव) तुम्हारे (व्रते) कर्ममें वर्तमान होनेसे (कवयः) क्रान्तदर्शी (विद्मनापसः) कर्मके ज्ञाता "अप इति कर्मनाम" [निघं० २ । १ । १] (भ्राजदृष्टयः) शोभन आयुधवाले (अजायन्त) हुए अर्थात् विदित कर्मा दीप्तदृष्टि कवि ऋत्विग्गण तुम्हारे व्रतसे स्वतः प्रवृत्त हुए हैं [ऋ० १ । २ । ३२] ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १ ।

त्वन्नो॑ऽ अग्ने॒ तव॑ देव पा॒युभि॑र्म॒घोनो॑ रक्ष त॒न्व॑श्च वन्द्य ॥ त्रा॒ता तो॒कस्य॒ तन॑ये॒ गवा॑म॒स्यनि॑मेष॒ꣳ रक्ष॑माण॒स्तव॑ व्र॒ते ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वन्न इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ १३ ॥

विधि-(१) रक्षाका मंत्र । मन्त्रार्थ-(अग्ने) हे अग्ने ! (देव) हे देव ! प्रकाशमान्! (वन्द्य)हे स्तुतिके योग्य!(तव) तुम्हारे (व्रते)कर्ममें वर्तमान (मघोनः) इस धनी यजमानको (रक्ष) पालन करो (च) और (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंकी (तव) अपने (पायुभिः) पालनाओंसे रक्षा करो (अनिमेषम्) सावधानीसे (रक्षमाणः) रक्षा करते हुए तुम (तोकस्य) पुत्ररूप यजमानके (तनये) पुत्र पौत्र और (गवाम्) गौओंके (त्राता) रक्षक (असि) हूजिये [ऋ० १ । १ । ३४] ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

उ॒त्ता॒नाया॒मव॑ भरा चिकि॒त्वान्त्स॒द्यः प्रवी॑ता॒ वृष॑णं जजान ॥ अ॒रु॒षस्तू॑पो॒ रुश॑दस्य॒ पाज॒ऽ इडा॑यास्पु॒त्रो व॒युने॑ऽजनिष्ट ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उत्तानायामित्यस्य याज्ञ० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पाठे वि० ॥ १४ ॥

मंत्रार्थ-(इडायाः) पृथ्वीका (पुत्रः) पुत्र (अरुषस्तूपः) हिंसारहित ऊंची ज्वालासम्पन्न अग्नि (वयुने) प्रज्ञानके कर्तव्यमें (अजनिष्ट) प्रगट हुआ है (अस्य) इसके (चिकित्वान्) चेतनावान् (रुशत्) प्रदीप्त (पाजः) बलको (उत्तानायाम्) उत्तान अरणीमें (अवभर) धारण करो जो अरणी (प्रवीता) कामना का हुई (वृषणम्) सेचनसमर्थ अग्निको (सद्यः) शीघ्रही (आजजान) प्रगट करती है [ऋ० ३ । १ । ३२] ॥ १४ ॥

सरलार्थ–उत्तान अरणीके मध्यमें चेतनावान् पदार्थ प्राप्त है, और उसकी कामना होनेसे फलवर्षी उक्त पदार्थको उत्पन्न भी करता है, यह जाननेसे ज्योतिस्तूप ज्वलत्स्वभाव पृथिवी पुत्र [अग्नि] इस यजमानके अन्नपाककारी रूपमें आविर्भूत हुआ ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १।

इडा॑यास्त्वा प॒दे व॒यन्नाभा॑ पृथि॒व्या ऽअधि॑ ॥ जात॑वेदो॒ नि धी॑मह्य॒ग्ने ह॒व्याय॒ वोढ॑वे ॥ १५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इडाया इत्यस्य याज्ञ० ऋ०। अनुष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता। विनि० ॥ १५ ॥

मन्त्रार्थ–(जातवेदः) हे जातप्रज्ञान ! (अग्ने) अग्निदेव ! (इडायाः) पृथिवी के (पदे) देवयजननामक स्थानमें (पृथिव्याः) पृथ्वीके (नाभा) उत्तर वेदीके (अधि) मध्यमें (वयम्) हम (त्वा) तुझको (हव्याय) हविके (वोढवे) वहन करनेके निमित्त (निधीमहि) स्थापन करते है, अर्थात् पृथ्वीकी नाभिके ऊपर अन्नके आस्पद [आहवनीयाग्नि जिस स्थलमें पुरोडाशादि अन्न आहुत होता है] स्थानमें हव्य वहनके निमित्त हम तुमको स्थापन करते हैं [ऋ० ३ । १ । ३२] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १।

प्र म॑न्महे शवसा॒नाय॑ शू॒षमा॑ङ्गू॒षं गिर्व॑णसे ऽअङ्गिर॒स्वत् ॥ सु॒वृ॒क्तिभि॑ स्तुव॒त ऽऋ॑ग्मि॒याया॑र्चा॑मा॒र्कं नरे॒ विश्रु॑ताय ॥ १६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रमन्मह इत्यस्य याज्ञ० ऋ०। त्रिष्टुप्छं०। इन्द्रो देवता। पाठे वि० ॥ १६ ॥

विधि–(१) इन्द्रस्तुति। मंत्रार्थ–हम इन्द्रके निमित्त (शूषम्) वलके कारण (आङ्गूषम्) त्रिवृतादि स्तोमको (प्रमन्महे) जानते है। (शवसानाय) वलकी अभिलाषावाले (गिर्वणसे) यशके पात्र स्तुतिकी अभिलाषावाले (सुवृक्तिभिः) स्तुतिमंत्रसमूहोंसे (स्तुवते) स्तुतिकारी (ऋग्मियाय) वेदमय वा ऋचाओंके वाक्यव्यवहार करनेवाले (विश्रुताय) शौर्यदानवलादिसे

(नरे) नररूप इन्द्रके निमित्त (अङ्गिरस्वत्) अङ्गिराकी समान (अर्कम मंत्रको (अर्चाम) उच्चारण करते हैं वा मनन अर्चन करते हैं [ऋ० १। ५१। १] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७-मंत्र १।

प्रवो॑ म॒हे महि॒ नमो॑ भरध्वमाङ्गू॒ष्य॒ᳬ शवसा॒नाय॒ साम॑ ॥ येना॑ नुः पूर्वे॑ पि॒तरः॑ पद॒ज्ञाऽअर्च॑न्तो॒ऽअङ्गि॑रसो॒ गाऽअवि॑न्दन् ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रवोमह इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत्।१७।

मंत्रार्थ-हे ऋत्विग्गणों ! (वः) तुम (महे) महान् (शवसानाय) बलकी अभिलाषावाले इन्द्रके निमित्त (महि) बडे (नमः) अन्नको (प्रभरध्वम्) समर्पण करो (आङ्गूष्यम्) आंगूषके हितकारी (साम) सामको उच्चारण करो अर्थात् आंगूषदेवताको तुष्ट करनेके निमित्त आंगूषके उपयोगी नतिबोधक सामका व्यवहार करो (येन) जिस अन्न और सामद्वारा (नः) हमारे (पूर्वे) पूर्वके (पितरः) पितर (पदज्ञाः) आत्मस्वरूपके जाननेवाले (अर्चन्तः) स्तुति करतेहुए अर्चना करते हुए (गाः) वृष्टि पृथिवी ज्योति गौ सूर्य किरणोंको (अविन्दन्) प्राप्त करतेहुए सूर्यकिरणमें सामगाताओंका लोक है [ऋ० १। ६२। १] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मन्त्र १।

इ॒च्छन्ति॑ त्वा सो॒म्यासः॒ सखा॑यः सु॒न्वन्ति॒ सोमं॒ दध॑ति॒ प्रयां॑ᳬसि ॥ तिति॑क्षन्ते॒ऽअ॒भिश॑स्तिं॒ जना॑ना॒मिन्द्र॒ त्वदा कश्च॒न हि प्र॑के॒तः ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इच्छन्तीत्यस्य या० ऋ० । अनु० छं० । विनियोगः पूर्ववत् ॥ १८ ॥

मंत्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (कश्चन) कोई भी (प्रकेतः) विशेष श्रेष्ठ ज्ञान हो (त्वत्) आपसे (हि) ही (आ) सबप्रकार लब्ध होता है (सोम्यासः) सोमके सम्पादन करनेवाले (सखायः) सखा ब्राह्मण "अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांᳬसोनूचानास्ते मनुष्यदेवाः" इत्युक्तेः। (त्वाम्) तुमको (इच्छन्ति) इच्छाकरतेहैं (सोमम्) सोमको (सुन्वन्ति) अभिषव करते हैं (प्रयांसि) अन्नोंको (दधति)

धारण करते हैं और (जनानाम्) मनुष्योंके (अभिशस्तिम्) दुर्वचनोंको (तितिक्षन्ति) सहन करते है अर्थात् मन वचन कायासे शुद्ध विग्रहवालेही अज्ञ नास्तिकोंके वचन सहन करके तुम्हारे सखापनको प्राप्त होते है "मय इत्यन्ननाम" [निघं० २।७।३] [ऋ० ३।२।१] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मंत्र १ ।

नतें दूरेपंरमाचिद्रजा७ंस्यातुप्प्रयांहिहरिवोहरि॑भ्याम् ॥ स्त्थिरायवृष्णेसवंनाकृतेमायुक्तांग्रावांणःसमिधानेऽअग्नौ ॥ १९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ नतेदूर इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत्॥१९॥

मन्त्रार्थ–(हरिवः) हे हरिनामक अश्ववान् इन्द्र ! (अग्नौ) अग्निके (समिधाने) प्रज्वलित होनेपर (स्थिराय) दृढसौहार्दके निमित्त (वृष्णे) सेचन करनेवाले आपके निमित्त (इमा) यह (सवना) प्रातःसवनादि (कृता) किये हैं (ग्रावाणः) प्रस्तर अभिषवकर्ममें (युक्ताः) योजना किये हैं (तु) इस कारण आप (हरिभ्याम्) अश्वोंद्वारा (प्रयाहि) आगमन करो (परमा) परम दूर देशके (रजांसि) स्थान (ते) तुम्हारे (दूरे) दूर (नाचित्) नहीं है ॥ १९ ॥

अथवा–तुम हरिद्वारा वाहित होकर अध्वरमें स्थित परमधाम इस अन्तरिक्षमे प्राप्त हो स्थिरभावसे स्थित हो वृष्टि करो हरिशब्दसे सूर्य चन्द्र और सूर्यकिरणका भी लक्ष्य है [ऋ० ३।२।१] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र १ ।

अषांढंयुत्सुपृतंनासुपप्प्रि७ंस्वर्षामप्प्सांवृजनंस्यगोपाम् ॥ भरेषुजा७ं सुक्षितिᳮसुश्श्रवंसञ्जयन्तुन्त्वामनुंमदेमसोम ॥ २० ॥ [१०]

ऋष्यादि–(१) ॐ अषाढमित्यस्य याज्ञ० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । सोमो देवता । पाठे वि० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–(सोम) हे सोम ! (युत्सु) युद्धोंमे (अषाढम्) पराभव न पानेवाले (जयन्तम्) उत्कर्षतासे वर्तमान (पृतनासु) सेनाओंमे (पप्रिम्) पालन करनेवाले (स्वर्षाम्) द्युलोकके भजनेवाले (अप्साम्) जलोंके दानकर्ता (वृजनस्य) बलोंके (गोपाम्) रक्षक (भरेषुजाम्) संग्राममें शत्रुओंके जीतनेवाले (यु/१८१

तिम्) अच्छे निवासवाले (सुश्रवसम्) सुन्दर कीर्तिवाले (त्वाम्) तुमको (अनुमदेम) अनुमोदन करते है ॥ २० ॥

सरलार्थ-हे सोम ! तुम युद्धमें पराभव न पानेवाले सेनासमूहके पालक बलके रक्षक हो, तुमसेही ऊर्ध्व और अधः दोनों गति लाभ होती है तुमको संग्राममें द्वैगुण्य भावसे प्राप्त होते है तुम्हारे प्रसादसे रणजयी होकर भू सम्पत्ति प्राप्त होती है तुम्हारी कीर्ति सर्वत्रही व्याप्त है ! इस प्रकार जयके साधन तुमको अनुमोदन करते हैं ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १. अनु० ३ ।

सोमो धेनुᳪं सोमो ऽअर्वन्तमाशुᳪं सोमो वीरं कर्मण्यन्ददाति ॥ सादन्यं विदथ्यᳪं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सोम इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो यजमान (अस्मै) इस सोमके निमित्त (ददाशत्) हवि देता है उसके निमित्त (सोमः) सोमरूप ईश्वर (धेनुम्) धेनुको देता है (सोमः) सोम (आशुम्) शीघ्रही (अर्वन्तम्) वेगवान् अश्वको देता है तथा (सोमः) सोम (कर्मण्यम्) कर्म करनेमें कुशल (सादन्यम्) गृहकार्यमें कुशल (विदथ्यम्) यज्ञमें कुशल (सभेयम्) सभाके योग्य (पितृश्रवणम्) पिताके आज्ञाकारी विनीत (वीरम्) वीर पुत्रको (ददाति) देता है. यहां पालनशक्ति-सम्पन्न सोमसे ईश्वरका ग्रहण है [ऋ० १।६।२२] ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

त्वमिमा ऽओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो ऽअजनयस्त्वं गाः ॥ त्वमाततन्थोर्वन्तरिक्षन्त्वञ्ज्योतिषा वि तमो ववर्त्थ ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्वमित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ २२ ॥

मन्त्रार्थ-(सोम) हे सोम ! (त्वम्) तुम (इमाः) यह (विश्वाः) संपूर्ण (ओषधीः) ओषधियोंको (अजनयः) प्रगट करते हो (त्वम्) तुमने (अपः) जल प्रगट किया (त्वम्) तुमने (गाः) धेनुओंको प्रगट किया (त्वम्) तुमने (उरु) विस्तीर्ण

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षको (आततन्थ) विस्तार किया है (त्वम्) तुमन (ज्योतिषा) तेजसे (तमः) अन्धकारको (ववर्थ) दूरकियाहै ॥ २२ ॥

सरलार्थ–हे सोम ! तुम्हारे प्रसादसे सम्पूर्ण ओषधि परिपक्क होतीहैं, तुम्हारे प्रसादसे जलसमूह चालित होकर विशुद्ध होते हैं तुम्हारे प्रसादसे गौआदि बहुत दूधवाली होती हैं तुम जिससमय बृहत् अन्तरिक्षमें ज्योतिविस्तार करतेहो उस समय अन्धकारानिवारण होता है [ऋ० १। ६। २३]॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १।

देवेन॑ नो मन॑सा देव सोम रा॒यो भा॒गꣳ स॑हसावन्न॒भि यु॑ध्य ॥ मा त्वा त॑न॒दीशि॑षे वी॒र्य॑स्यो॒भये॑भ्यः॒ प्र चि॑कित्सा॒ गवि॑ष्टौ ॥ २३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवेनेत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ २३ ॥

मंत्रार्थ–(देव) हे देव ! (सहसावन्) हे बलवान् ! (सोम) हे सोम! (देवेन) देवसम्बन्धी (मनसा) मनके द्वारा (नः) हमको (रायः) धनका (भागम्) भाग (अभियुध्य) प्रदान कीजिये दानमें प्रवृत्त हुए (त्वा) तुमको कोई (मा) मत (आतनत्) प्रतिबंध करो जो कि तुम (वीर्यस्य) बलके कर्ममें (ईशिषे) ईश्वर हो और (गविष्टौ) स्वर्गकी इच्छामें (उभयेभ्यः) उभयलोकप्राप्तिके निमित्त (प्रचिकित्स) चिकित्सा करो अर्थात् पापरूप व्याधिआदि दोनों लोकके प्रतिबंधक विघ्नको दूर करो देवसम्बन्धी मनको प्राप्त होकर धनकी प्राप्तिकर आरोग्यतायुक्त सत्कर्म करते हुए जिस प्रकार हम स्वर्ग गमन करसकें तैसा करो [ऋ० १। ६। २३] ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मंत्र १।

अ॒ष्टौ व्य॑ख्यत्क॒कुभः॑ पृथि॒व्यास्त्री धन्व॒ योज॑ना स॒प्त सिन्धू॑न् ॥ हि॒र॒ण्या॒क्षः स॑वि॒ता दे॒व आगा॒द्दध॒द्रत्ना॑ दा॒शुषे॒ वार्या॑णि ॥ २४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अष्टौव्यख्यदित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। सविता देवता। पाठे वि० ॥ २४ ॥

मंत्रार्थ–(हिरण्याक्षः) ज्योतिरूप नेत्रवाला वा अमृतदृष्टि (सविता) सविता प्रेरक (देवः) देवता (दाशुषे) हवि देनेवाले यजमानके निमित्त वार्याणि

वरण योग्य (रत्ना) रत्नोंको (दधत्) स्थापन करते (आगात्) आगमन करो जो देव (पृथिव्याः) पृथ्वीकी (अष्टौ) आठों (ककुभः) दिशा और (त्री) तीन (धन्व)लोकोंको "धन्वेत्यन्तरिक्षनाम" [निरु० १। ३ । ५] तथा(योजना) योजन गव्यूति कोशादि परिणामविशेषोंको तथा (सप्त)सात (सिन्धून्) सागरोंको (व्यख्यत्)प्रकाश करताहै [ऋ० १ । ३ । ७]॥ २४ ॥

कण्डिका २५-मन्त्र १ ।

हिर॑ण्यपाणिः सवि॒ता विच॑र्षणिरु॒भे द्यावा॑पृथि॒वीऽ अ॒न्तरी॑यते ॥ अपामी॑वा॒म्बाध॑ते॒ वेति॒ सूर्य॑म॒भि कृ॒ष्णेन॒ रज॑सा॒ द्याम्मृ॑णोति ॥ २५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यपाणिरित्यस्य या० ऋ० । जगती छन्दः । सविता देवता । पाठे विनियोगः ॥ २५ ॥

मन्त्रार्थ-(हिरण्यपाणिः) ज्योतिरूप हाथवाले (विचर्षणिः) विविध द्रष्टा (सविता) सविता देवता सबके प्रेरक देव (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) द्यावा भूमिके (अन्तः) मध्यमें (सूर्यम्) सूर्यको (ईयते) प्राप्त करते है अथवा सविता देव सूर्य द्यावापृथ्वीके मध्यमें जब प्राप्त होता है तब (अमीवाम्) व्याधि तथा अन्धकारलक्षणवाले रोगको (अपबाधते) निवृत्त करता है जब(वेति) अस्तसमयमें गमन करता है तब (कृष्णेन) अन्धकार रूप (रजसा) रजसे (द्याम्) द्युलोकको (अभिऋणोति) व्याप्त करता है ॥ २५ ॥

अन्तर पक्षमें परमात्माकी प्रेरणासे जब ज्ञान हृदयमें उदय होता है तब कामादि शत्रु नष्ट होतेहैं ज्ञान अस्त होनेसे प्रकाशमान अंतःकरण अज्ञानरूप रजसे आच्छादित होजाता है [१ । ३ । ७]॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र १ ।

हिर॑ण्यहस्तोऽ असु॑रः सुनी॒थः सु॑मृडी॒कः स्ववाँ॑ यात्व॒र्वाङ् ॥ अ॒प॒सेध॑न्र॒क्षसो॑ यातु॒धाना॒नस्था॑द्दे॒वः प्र॑तिदो॒षं गृ॑णा॒नः ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हिरण्यहस्त इत्यस्य या० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । सविता दे० । वि० पू० ॥ २६ ॥

मन्त्रार्थ–(हिरण्यहस्तः) दानके निमित्त सुवर्ण हाथमें लिये वा सुवर्ण रूप हाथयुक्त (असुरः) प्राणोंका दाता (सुनीथः) कल्याण स्तुतिसम्पन्न (सुमृडीकः) सुन्दर सुख देनेवाला, (स्ववान्) धनवान् (देवः) प्रेरक देव (प्रतिदोषम्) श्रुति स्मृतिविहित धर्मसे पराङ्मुख प्रत्येक मनुष्यके सब दोषोंको (गृणानः) उच्चारण करते अर्थात् भोगके निमित्त देखते (रक्षसः) राक्षस (यातुधानान्) यातुधानोंको असुखकारियोंको (अपसेधन्) निवर्तन करता हुआ (अस्थात्) उदय होता है, वह देव (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (यातु) आओ ॥ २६ ॥

विशेष–रात्रिको चोरादिसे भयभीत पुरुष कब सूर्य उदय हो इस प्रकार विचारते है, और उदय होनेसे चोरादि भाग जाते है, अध्यात्ममें कामादि शत्रु ज्ञानोदय होनेपर नष्ट होते हैं, यह मृत्तिका निर्मित पिण्ड हिरन्मय होजाता है [ऋ० १।३।७] ॥ २६ ॥

कण्डिका २७–मन्त्र १ ।

येतेपन्थाꣳसवितःपूर्व्यासोऽरेणवꣳसुकृताऽअन्तरिक्षे ॥ तेभिर्न्नोऽअद्यपथिभिꣳसुगेभीरक्षाचनोऽअधिचब्रूहिदेव ॥ २७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येतेपन्था इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ २७ ॥

मन्त्रार्थ–(सवितः) हे सविता ! (देव) हे देव ! (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (ये) जो (पूर्व्यासः) पूर्व कालमें हुए (अरेणवः) रजरहित (पन्थाः) मार्ग है (ते) वे (सुकृताः) परमात्मा द्वारा सुकृत किये है (तेभिः) उन (सुगेभिः) सुन्दर गमन योग्य अन्नपानसम्पन्न (पथिभिः) मार्गोंसे (नः) हमको (अद्य) अब प्राप्त करो (च) और जाते हुए (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा करो और (अधिब्रूहि) अंगीकार करके यह मेरे हैं वा महायाज्ञिक दाता हैं ऐसा कहो [ऋ० १।३।७] ॥ २७ ॥

सरलार्थ–हे सवितः ! तुम्हारे जो समस्त मार्ग प्राचीन रणशून्य और विधातृद्वारा निर्मित अन्तरिक्षमें दीप्यमान हैं उस सुगम मार्गद्वारा हमारी रक्षा करो और हे देव ! कहो कि हम तुम्हारे है ॥ २७ ॥

कण्डिका २८–मंत्र १ ।

उभापिबतमश्विनोभानꣳशर्म्मयच्छतम् ॥ अविद्रियाभिरूतिभिः ॥ २८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उभापिवतमित्यस्य या० ऋ० । गायत्री छं० । अश्विनौ देवते । पाठे विनि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) अश्विदेवकी स्तुति । मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्वि ! (उभा) तुम दोनों (पिबतम्) सोमपान करो (उभा) तुम दोनों ही (अविद्रियाभिः) अखण्डित (ऊतिभिः) पालनाओंद्वारा (नः) हमारे निमित्त (शर्म) कल्याणका (यच्छतम्) विधान करो [ऋ० १।३।३९] ॥ २८ ॥

कण्डिका २९-मंत्र १ ।

अप्नस्वतीमश्विनावाचमस्म्मेकृतन्नोदस्त्रावृषणा मनीषाम् ॥ अद्यूत्त्येवसेनिह्वयेवांवृधेचनोभवतं वाजसातौ ॥ २९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अप्नस्वतीमित्यस्य या० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अश्विनौ देवते । पाठे वि० ॥ २९ ॥

मंत्रार्थ-(दस्रा) हे दर्शनीय ! (वृषणा) हे सेचनमें समर्थ ! (अश्विना) अश्विदेव ! (अस्मे) हमारी (वाचम्) वाणीको तथा (नः) हमारी (मनीषाम्) बुद्धिको (अप्नस्वतीम्) कर्मवाली (कृतम्) करो (च) और (अद्यूत्ये) सन्मार्गसे प्राप्त होनेवाले (अवसे) अन्नके निमित्त (वाम्) तुम दोनोंको (निह्वये) आह्वान करताहूं (वाजसातौ) और अन्नके विभागवाले यज्ञमें (नः) हमारी (वृधे) वृद्धिके निमित्त (भवतम्) हूजिये ॥ २९ ॥

सरलार्थ-हे अश्विदेव ! तुम हमारे वाक्यको कार्यकर करो. हे दर्शनीय ! तुम हमारी बुद्धिको कार्यकारी करो हम द्यूतक्रीडादि दुर्वृत्तिद्वारा जीविका उपार्जनमें इच्छा नहीं करते और उपार्जित अन्नके यथासम्भव दान करनेमें विमुख नहीं है, ऐसे अन्नके लाभ निमित्त ही तुमको आह्वान करते हैं इस कारण हमको उन्नतिकारी हो [ऋ० १।७।३७] ॥ २९ ॥

कण्डिका ३०-मन्त्र १ ।

द्युभिरक्तुभिःपरिपातमस्म्मानरिष्टेभिरश्विनासौभगेभिः ॥ तन्नोमित्रोवरुणोमामहन्तामदितिः सिन्धुःपृथिवीउतद्यौः ३० ॥ [१०] ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्युभिरित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥३०॥

मंत्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीकुमारो ! (द्युभिः) दिनोंसे (अक्तुभिः) रात्रिसे (अरिष्टेभिः) रिष्टशून्य अखण्डित (सौभगेभिः) सुन्दर धनोंद्वारा "भग इति धननाम" [निघं० । २ । १० । १०] (अस्मान्) हमको (परिपातम्) सब ओरसे रक्षा करो अर्थात् उपद्रवरहित सुन्दर दिनरात्रिके द्वारा हमारी पालना करो (मित्रः) मित्र (वरुणः) वरुण (अदितिः) देवमाता (सिन्धुः) सागर (उत) और (द्यौः) द्युलोक (नः) हमको (तत्) उस आपकी कीहुई रक्षाको (मामहन्ताम्) मानै अर्थात् हमारी प्रार्थनाको अनुमोदन करै [ऋ० १ । ७ । ३७ ।] ॥ ३० ॥

कण्डिका ३१-मन्त्र १. अनु० ४ ।

आकृष्णेनरजसावर्त्तमानोनिवेशयन्नमृतम्मर्त्त्यञ्च ॥ हिरण्ययेनसवितारथेनादेवोयातिभुवनानिपश्यन् ॥ ३१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ आकृष्णेन इति इसकी व्याख्या ३३ । ४३ में होगई ॥ ३१ ॥

कण्डिका ३२-मंत्र १ ।

आरात्रिपार्थिवꣳरजः पितुरप्रायिधामभिः ॥ दिवःसदाꣳसिबृहतीवितिष्ठसऽआत्त्वेषंवर्त्ततेतमः ॥३२॥

ऋष्यादि०(१) ॐ आरात्रीत्यस्य याज्ञ० ऋ० । पथ्याबृहती छन्दः । रात्रिर्देवता । वि० पू० ॥ ३२ ॥

मंत्रार्थ-(रात्रि) हे रात्रि ! जो तुमसे (पार्थिवम्) पृथ्वीसम्बन्धी (रजः) लोक (पितुः) मध्यम लोकके (धामभिः) स्थानोके सहित (आ) सब ओरसे (अप्रायि) पूर्ण कियाजाता है (बृहती) महान् तुम (दिवः) द्युलोकके(सदांसि स्थानोंको (वितिष्ठसे) आक्रमण करती हो (त्वेषम्) दीप्त अर्थात् महान् (तमः) अन्धकार (आवर्तते) व्याप्त होता है ॥ ३२ ॥

सरलार्थ-रात्रि देवी अपनी शक्तिसमूहसे सम्पूर्ण भूमिलोकको आच्छन्न करती है वह बृहती पुनरावर्तनक्रमसे द्युलोकके सब प्रदीप्त स्थानोंको त आक्रमण करती है ॥ ३२ ॥

विशेष-बृहती इस विशेषणसे अमावस्या रात्रि जाननी चाहिये अर्थात् पूर्णिमा रात्रिमें भी जिन स्थानमें चांदनीकी गति नहीं है उस स्थानमें रात्रिदेवीका प्रताप विद्यमान रहता है; परन्तु आकाशमण्डलमें यह प्रताप कार्यकर नहीं होता, परन्तु अमावस्याकी रात्रिमें और शुक्ल पक्षमें रात्रिके शेष भागमें तथा कृष्णपक्षमें रात्रिके पूर्व भागमें रात्रिका प्रताप आकाशमण्डलपर्यन्तभी व्याप्त होता है ॥ ३२ ॥

कण्डिका ३३-मन्त्र १ ।

उषुस्तच्चित्रमाभरास्मभ्यंवाजिनीवति ॥
येनतोकञ्चतनयञ्च धामहे ॥ ३३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उषस्तदित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ० । पुरउष्णिक्छं० । उषो देवता । पाठे विनियोगः ॥ ३३ ॥

विधि-(१) उषास्तुति । मन्त्रार्थ-(वाजिनीवति) हे अन्नवति ! (उषः) हे उषादेवी ! (अस्मभ्यम्) हमारे निमित्त (तत्) उस (चित्रम्) आश्चर्यकारी महनीय प्रसिद्ध धनको (आभर) दीजिये (येन) जिसके द्वारा (तोकम्) पुत्र (च) और (तनयम्) पौत्रको (च) भी (धामहे) पोषण करें [ऋ० १। ९२ । १३] ॥ ३३ ॥

कण्डिका ३४-मन्त्र १ ।

प्रातरग्निम्प्रातरिन्द्रꣳहवामहेप्रातर्म्मित्रावरुणा
प्रातरश्विना ॥ प्रातर्भगम्पूषणम्ब्रह्मणस्पतिं
प्रातः सोममुतरुद्रꣳहुवेम ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रातरग्निमित्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ० । जगती छं० । इन्द्रादयो देवताः । पाठे वि० ॥ ३४ ॥

विधि (१) प्रातःस्तुति प्रातःस्मरण । मन्त्रार्थ-हम (प्रातः) प्रभात समयमें (अग्निम्) अग्निको (हवामहे) आह्वान करतेहैं (प्रातः) प्रभातमें (इन्द्रम्) इन्द्रको (प्रातः) प्रभातमें (मित्रावरुणा) मित्रावरुण देवताको (प्रातः) प्रभातमें (अश्विना) अश्विनीनामक जो देवताओंको (प्रातः) प्रातः समय (भगम्) भगदेवताको (पूषणम्) पूषा देवताको (ब्रह्मणस्पतिम्) वेदपालक ईश्वरको (प्रातः) प्रातः समय (सोमम्) सोम (उत) और

(रुद्रम्) सदाशिव रुद्रदेवको (हुवेम) आह्वान करतेहैं [ऋ० ५ । ४। ८] ॥ ३४ ॥

कण्डिका ३५–मन्त्र १ ।

प्रातर्जितम्भगमुग्रꣳहुवेमवयम्पुत्रमदितेर्योविधर्त्ता ॥ आध्रश्चिद्यम्मन्यमानस्तुरश्चिद्राजाचिद्यम्भगम्भक्षीत्याह ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रातरित्यस्य याज्ञ०.ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । भगो देवता । पाठे विनियोगः ॥ ३५ ॥

मन्त्रार्थ–(वयम्) हम (तम्) उस प्रसिद्ध (प्रातर्जितम्) प्रभातमें जयशील (उग्रम् प्रचण्ड (अदितेः) अखण्ड कालरूप अदितिके (पुत्रम्) पुत्र (भगम्) सूर्यको (हुवेम) आह्वान करते हैं (यः) जो (विधर्ता) जगत्का धारण करनेवाला है जिसको (आध्रः) दरिद्र (चित्) भी (मन्यमानः) स्वार्थसिद्धिके निमित्त इच्छा करता (तुरः चित्) रोगी भी (राजा चित) राजा भी (यम्) जिस (भगम्) आदित्यको (भक्षि) उदय करो (इति) इसप्रकार (आहुः) कहते हैं अथवा (तुरः) यमराज भी जिसके उदयकी इच्छा करते हैं अर्थात् उदयसे प्राणियोंके मारनेको दिन गिन्ते है [ऋ० ५ । ४ । ८] ॥ ३५ ॥

सरलार्थ–जगत्के धारणकर्ता जिनको अखण्ड कालका पुत्र प्रातर्जयी और उग्र करके सृजन किया है दरिद्र, रोगी और राजा जिनके उदयकी प्रतीक्षा करते हैं ऐसे भग देवको हम स्वागत करते है ॥ ३५ ॥

विशेष–दरिद्रगण अरुणोदयपर्यन्त शीतादिसे कष्ट पाते है और सूर्योदय होनेपर भिक्षादिसे उदरपूर्ति करते है । रोगी अरुणोदयपर्यन्त पीडावृद्धिआदि क्लेश पाते है सूर्योदयमें पिडा घटती है राजा राजशासन व्यवहार दर्शनादिके निमित्त उदयकी इच्छा करते है । रात्रिके शेष भागमेही उषाकाल होता है अर्थात जिस समय अरुणोदय नहीं होता और प्रकाश होने लगता है उसे उषा कहते हैं इसीको सूर्य और रात्रिकी कन्या भी कहते है । उषा उदयके उपरान्तही प्रातःकाल होता है इसीको अरुणोदय काल कहते है। प्रातःकालके उपरान्तही सूर्योदय काल है अर्थात् अरुणोदयके उपरान्त जब सूर्यका प्रकाश तीव्र हो उठे उस काल सूर्य भगनामयुक्त है ॥ ३५ ॥

कण्डिका ३६-मंत्र ३.

भगुप्प्रणेतुर्ब्भगुसत्त्यराधोभगेमान्धियमुदवाददन्नः ॥ भगुप्प्रनोजनयुगोभिरश्श्वैर्ब्भगुप्प्रनृभिर्नृवन्तःस्याम ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भगेत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३६ ॥

मन्त्रार्थ-(भग) हे भग ! (प्रणेतः) हे कार्यनेता ! [अर्थात् भगही सम्पूर्ण कार्यका प्रणेता है] (भग सत्यराध) हे भग ! हे सत्य धनके प्राप्त करानेवाले अर्थात् तुमसे अविनाशी धन प्राप्त होता है (भग) हे भगदेव ! (ददत्) आप धन देते हुए (नः) हमारी (इमाम्) इस(धियम्) बुद्धि वा कर्मको (उदव) उन्नति करो जिससे हम सूक्ष्म अर्थोंको देखसकें (भग) हे देव ! (नः) हमको (गोभिः) गौ (अश्वैः) अश्वोंद्वारा (प्रजनय) बढाओ (भग) हे भग देव ! हम (नृभिः) पुत्रादिसे (नृवन्तः) परिजनयुक्त (स्याम) हों [ऋ०५।४।८] ॥३६॥

कण्डिका ३७-मंत्र १ ।

उतेदानीम्भगवन्तःस्यामोतप्प्रपित्त्वऽउतमद्ध्येऽअह्नाम् ॥ उतोदितामघवन्त्सूर्य्यस्यव्वयन्देवानांसुमतौस्याम ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ उतेदानीमित्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३७ ॥

मन्त्रार्थ-(मघवन्) हे धनवन् ! (इदानीम्) इस समय हम (उत) भी (सूर्यस्य) सूर्यके (उदिता) उदयमें (उत) और (प्रपित्वे) अस्तमें (उत) और (अह्नाम्) दिनके (मध्ये) मध्यमें (उत) भी (भगवन्तः) धनवान् (स्याम) हों (वयम्) हम (देवानाम्) देवताओंकी (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हों [ऋ० ५ । ४ । ८] ॥ ३७ ॥

सरलार्थ-हम इस समय भगवान् हों मध्याह्न समयमें भी भगवान् ऐश्वर्यवान् हों सूर्यास्त समयमें भी हमको यह भगवान् नाम अवितथही प्राप्त रहै फिर सूर्योदय पर भगवान् हों हे धनवन् ! हमको देवगणकी सुमतिका भागी करो ॥ ३७ ॥

कण्डिका ३८-मंत्र १ ।

भगऽएवभगवाँ२ ऽअस्तुदेवास्तेनवयम्भगवन्तः

स्याम ॥ तन्त्वांभगुसर्वुऽइज्जोहवीतिुसनोंभगपुरऽ एताभंवेह ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ भगएवेत्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ३८ ॥

मंत्रार्थ-(देवाः) हे देवताओ ! (भगः) भग (एव) ही (भगवान्) धनवान् (अस्तु) हो दूसरे अदाता धनियोंसे क्या है (तेन) उस भगद्वारा दियेहुए धनसे (वयम्) हम (भगवन्तः) धनवान् (स्याम) हों (भग) हे भगदेव ! (सर्वः) सब (इत्) ही मनुष्य (तम्) उस प्रसिद्ध (त्वा) तुमको (जोहवीति) आह्वान करते हैं अर्थात् इष्टसिद्धिके निमित्त तुमको बुलाते है (भग) हे भगदेव ! (सः) वह तुम (नः) हमारे कर्ममें (पुरएता) अग्रगामी (भव) हूजिये अर्थात् अग्रेसर होकर सब कार्य साधिये ॥ ३८ ॥

सरलार्थ-भग प्राप्त होनेसे ही भगवान् होता है यह दृश्यमान चराचर देवगणभी भगवान् और इसी युक्तिसे हमभी भगवान् होकर श्लाघा करसकते है, हे भगदेव ! इसप्रकारके तुमको सबही बारंबार स्वागत करतेहै, हे भग ! हमारे सन्मुख तुम्हारा शुभागमन हो [ऋ० ५ । ४ । ८] ॥ ३८ ॥

कण्डिका ३९-मन्त्र १ ।

समंध्वरायोषसोंनमन्तदधिक्रावेंवुशुचंयेपुदायं ॥ अुर्वाचीनंवसुविदुम्भगंन्नोरथंमिवाश्वांवुाजिनुऽ आवंहन्तु ॥ ३९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसमध्वरायेत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥३९॥

मन्त्रार्थ-(उषसः) उषाकालके अधिष्ठातृदेवता (अध्वराय) यज्ञके निमित्त (समनमन्तम्) स्थिर भावसे नियमित होते हैं (इव) जिस प्रकार (दधिक्रावा) सामुद्रिक अश्व (शुचये) शुचि (पदाय) पदक्षेपके निमित्त सन्नत होता है वे देव (वसुविदम्) धनके ज्ञाता (भगम्) भग ऐश्वर्यको (नः) हमारे (अर्वाचीनम्) अभिमुख (आवहन्तु) प्राप्त करैं (इव) जैसे (वाजिनः) वेगवान् (अश्वाः) घोडे (रथम्) रथको वहन करते हैं ॥ ३९ ॥

सरलार्थ-जिस प्रकार दधिक्रावा सामुद्रिक अश्व शुचिपदक्षेपके निमित्त सन्नतशरीर अर्थात् जलमें चरण न डूबे इसप्रकार चलनेको लघुरूप होता है प्रातःकालके देवता 'उषा अरुण भगादि' भी जगतके अनेक कार्यसिद्धिके निमित्त

नियमित समयपर गमन करते है जैसे वेगवान् अश्व अव्याहत गतिसे रथ वहन करते है तैसे हमारे सन्मुख आनेवाले अपनी गति मार्गके ज्ञाता इन भग देवको वहन करते है [ऋ० ५ । ४ । ८] ॥ ३९ ॥

विवरण—आठ पहरमें समस्त भूमण्डलको क्रमण करते मार्गमें व्याघातको प्राप्त नहीं होते ॥ ३९ ॥

कण्डिका ४०—मंत्र १ ।

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न ऽउ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः ॥ घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ४० ॥ [१०] ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ अश्वावतीरित्यस्य या० ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । उषा देवता । पाठे विनि० ॥ ४० ॥

मन्त्रार्थ—(अश्वावतीः) अश्वोंवाली (गोमतीः) गौओंवाली (वीरवतीः) वीर सन्ततिवाली (भद्राः) कल्याणरूप (घृतम्) नीहारको (दुहानाः) क्षरण करती (विश्वतः) सबओरसे (प्रपीताः) धर्म अर्थ कामोंद्वारा आप्यायित(उषसः) उषा (सदम्) सदा (नः) हमारे (उच्छन्तु) अज्ञान लक्षणवाले पाशको मुक्त करैं हे देवताओ ! (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) कल्याणोंसे (सदा) निरन्तर (नः) हमको (पात) रक्षा करो ॥ ४० ॥

सरलार्थ—प्रातःकालके देवताओंकी एकत्र स्तुति कल्याणकारी प्रभात कालके देवतागण हमको अश्व गौ और पुत्रादि परिजनसे परिपूर्ण करैं । सदा नीहारक्षरणकारी सदा परिपूर्ण तुम सदा हमारे कल्याण करो [ऋ० ५ । ४ । ८] ॥ ४० ॥

कण्डिका ४१—मंत्र १ अनु० ५ ।

पूष॒न्तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम॒ कदा॑ च॒न ॥ स्तो॒तार॑स्त ऽइ॒ह स्म॑सि ॥ ४१ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ पूषन्तवेत्यस्य या० ऋ० । गायत्री छन्दः । पूषा देवता । पाठे विनि० ॥ ४१ ॥

विधि—(१) पूषाकी स्तुति । मंत्रार्थ—(पूषन्) हे पूषादेव ! (तव) तुम्हारे (व्रते) कर्ममें वर्तमान हम (कदाचन) कभी भी (न) नहीं (रिष्येम) नष्ट हों

(इह) इस कर्ममें (ते) तुम्हारे (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले (स्मसि) हों ॥ ४१ ॥

विशेष-भगोदयके परकालवर्ती सूर्यके होनेमें अर्थात् जिस समयतक सूर्यका अत्युग्रतेज नहीं होता उस कालकी देवता उषा है [ऋ० ४।८।२०] ॥ ४१ ॥

कण्डिका ४२-मंत्र १ ।

पथस्प्पथः परिपतिं वचस्या कामेन कृतोऽअभ्यानडर्कम् ॥ स नो रासच्छुरुधश्चन्द्राग्ग्रा धियन्धियꣳ सीषधाति प्प्र पूषा ॥ ४२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ पथस्पथ इत्यस्य याज्ञ० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । पूषा देवता । पाठे विनियोगः ॥ ४२ ॥

मन्त्रार्थ-(कामेन) वांछित (वचस्या) वचन अर्थात् वेदोक्त वाणीसे (कृतः) सन्मुख किया (पूषा) पूषा देवता (पथस्पथः) मार्गमार्गके अर्थात् सबोंके मार्गके (परिपतिम्) पालक स्वामी (अर्कम्) सूर्य देवको (अभ्यानट्) व्याप्त होता है (सः) वह पूषा (नः) हमको (चन्द्राग्राः) आह्लाद करनेमें अग्र (शुरुधः) शोक नाशन करनेवाले साधनोंको (रासत्) प्रदान करै और (धियम् धियम्) सम्पूर्ण कर्मोंको (प्रसीषधाति) विशेषकर साधन करे ॥ ४२ ॥

सरलार्थ-अर्क वा अर्यमाकी स्तुति । प्रत्येक पथके अधिपति अर्क देवके स्पर्श करनेके निमित्त ही मानो व्यग्र, मनोवाक्यसे वाञ्छित उक्त पूषा देवता हमारे प्रति बुद्धिसे सम्पूर्ण शोक नाश करके आह्लादकर कार्यके साधक हों ॥४२॥

विशेष-पूषोदयके परे ही अर्कोदय काल होता है इसके परे मध्याह्न होता है इस कालके सूर्यको अर्क वा अर्यमा कहते हैं अर्यमाके उपरान्त पूर्वाह्णशेष होता है [ऋ० ४।८।६] ॥ ४२ ॥

कण्डिका ४३-मन्त्र १ ।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपाऽअदाभ्यः ॥ अतो धर्म्माणि धारयन् ॥ ४३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ त्रीणीत्यस्य याज्ञ० ऋ० । गायत्री छन्दः । विष्णुर्देवता । पाठे विनियोगः ॥ ४३ ॥

विधि-(१) विष्णुस्तुति । मन्त्रार्थ-(गोपाः) जगतके रक्षक (अदाभ्यः) अविनाशी (विष्णुः) विष्णुने (त्रीणि) [illegible] (पदा) पदोंको [illegible])

विक्रमण किया अर्थात् अग्नि वायु आदित्य नामक तीन पदोंको व्याप्त किया (अतः) इसही पद त्रयसे (धर्माणि) पुण्योंको (धारयन्) धारण करते हुए ॥ ४३ ॥

सरलार्थ–जिनको कोई भी सृष्ट पदार्थ नष्ट नहीं करसकता, परन्तु जो संपूर्ण सृष्ट पदार्थकी रक्षामें नियुक्त है ऐसे विष्णु देवता अपने तेजद्वारा त्रिलोकीको व्याप्त करके प्राणी गणका निज २ कार्यमें नियुक्त करते विचरण करते हैं [ऋ० १।२।७] ॥ ४३ ॥

कण्डिका ४४–मंत्र १ ।

तद्विप्प्रा॑सो विपु॒न्यवो॑ जागृ॒वाᳫंस॒ समि॑न्धते ॥ विष्ण॒र्य॒त्प॑र॒मम्प॒दम् ॥ ४४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ तद्विप्रास इत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ४४

मन्त्रार्थ–(विष्णोः) उस विष्णुका (यत्) जो (परमम्) ब्रह्म लक्षण रूप परम (पदम्) पद है (तत्) उसको (विपन्यवः) संसारव्यवहारसे रहित निष्काम (जागृवांसः) जागरणशील ज्ञान कर्ममें अप्रमत्त (विप्रासः) ब्राह्मण (समिन्धते) प्रदीप्त करते अर्थात् उपासना करते हैं [ऋ० १ । २ । ७] ॥ ४४ ॥

कण्डिका ४५–मंत्र १ ।

घृ॒तव॑ती॒ भुव॑नानामभि॒श्रियो॒र्वी पृ॒थ्वी म॑धु॒दुघे॑ सु॒पेश॑सा ॥ द्यावा॑पृथि॒वी वरु॑णस्य॒ धर्म॑णा॒ विष्क॑भिते॒ऽ अ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा ॥ ४५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ घृतवतीत्यस्य याज्ञ० ऋ० । जगती छन्दः । द्यावापृथिवी देवते । पाठे वि० ॥ ४५ ॥

मन्त्रार्थ–(घृतवती) जलयुक्त "घृतमित्युदकनाम" [निघं० १।१२।१०] (भुवनानाम्) प्राणिसमूहकी (अभिश्रिया) आश्रयवाली (उर्वी) विस्तीर्ण (पृथ्वी) आयाम विस्तार 'लम्बाव चौडावसे' महान् (मधुदुघे) मधुदोहनमें समर्थ (सुपेशसा) सुरूपवाली (अजरे) जरारहित (भूरिरेतसा) सब प्राणियोंके बीजयुक्त (द्यावापृथिवी) द्यु और भूमि (वरुणस्य) वरुणकी (धर्मणा) शक्तिसे (विष्कभिते) दृढीभूत हैं ॥ ४५ ॥

सरलार्थ–यह सुरूपा द्यावापृथ्वी इस विश्व सुरूपाके कार्यके नियमाधीन होकर उदकवती सम्पूर्ण चराचरकी आश्रय रूप दीर्घ बहुत आयत मधु(अनेकरस) दोहनमें समर्थ और अनेक विधि बीज समूहसे युक्त होकर जराहीन भावसे विस्तृत रहती हैं [ऋ० ९ । १ । १४] ॥ ४५ ॥

कण्डिका ४६–मंत्र १ ।

येनः॒ सुपत्नाऽअप॒ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्या॒मव॑बाधामहे॒ तान् ॥ वस॑वो रु॒द्राऽआ॑दि॒त्याऽउ॑परि॒स्पृशं॑ मो॒ग्रञ्चेत्ता॑रमधिरा॒जम॑क्रन् ॥ ४६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ येन इत्यस्य याज्ञ० ऋ० । जगती छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । पाठे वि० ॥ ४६ ॥

मंत्रार्थ–(ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु वा कामादि है (ते) वे (अवभवन्तु) निरुद्यम हीनवीर्य पराभवको प्राप्त हों (तान्) उन शत्रुओंको (इन्द्राग्निभ्याम्) इन्द्राग्निके बलसे (अवबाधामहे) नाश करते है (वसवः) आठ वसु (रुद्राः) ग्यारह रुद्र (आदित्याः) बारह आदित्य (मा) मुझको(उपरिस्पृशम्) उच्चस्थानमें स्थित (उग्रम्) उत्कृष्ट (चेतारम्) ज्ञेय वस्तुका जाननेवाला (अधिराजम्) अधिपति (अक्रन्) करें [ऋ० ८ । ७ । १६] ॥ ४६ ॥

कण्डिका ४७–मन्त्र १ ।

आ ना॑सत्या त्रि॒भिरे॑काद॒शैरि॒ह दे॒वेभि॑र्यातम्मधु॒पेय॑मश्विना ॥ प्रायु॒स्तारि॑ष्ट॒न्नीरपा॑ᳪसि मृक्षत॒ᳪ सेध॑तन्द्वेषो॒ भव॑तᳪ सचा॒भुवा॑ ॥ ४७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आनासत्येत्यस्य या० ऋ० । जगती छन्दः । विश्वेदेवा देवताः । वि० पू० ॥ ४७ ॥

विधि–(१) सर्व देव स्तुति । मन्त्रार्थ–(नासत्या) हे नासत्य ! अविनाशि (अश्विना) दोनों अश्वि ! आप (त्रिभिः) त्रिगुणित किये (एकादशभिः) ग्यारह ३×११=३३ अर्थात् तेंतीस (देवेभिः) देवताओंके सहित (इह) इस यज्ञमें (मधुपेयम्) मधुपानके निमित्त (आयातम्) आगमन करो हमारी (आयुः) आयुको (प्रतारिष्टम्) बढाओ (रपांसि)पापोंको(निर्मृक्षतम्) सम्पूर्ण रूपसे नष्ट

करो (द्वेषः) दुर्भाग्यको (सेघतम्) नाशकरो (सचाभुवा) कार्यमें संयुक्त अर्थात् सब अवस्थामें हमारे सहायक (भवतम्) हो ॥ ४७ ॥

विशेष-मधु प्रेमसे अर्पण किये पूजादि द्रव्य । ८ वसु १२ आदित्य ११ रुद्र १ इन्द्र १ प्रजापति यह ३३ देवता हैं [ऋ० १ । ३ । ५] ॥ ४७ ॥

कण्डिका ४८-मंत्र १ ।

एषवस्तोमोमरुतऽइयङ्गीर्म्मान्दार्य्यस्यमान्यस्यकारोः ॥ एषायासीष्टतन्न्वेवयांविद्यामेषंवृजनञ्जीवदानुम् ॥ ४८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ एषव इत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । मरुतो देवताः । वि० पू० ॥ ४८ ॥

मन्त्रार्थ-(मरुतः) हे मरुतो ! (मान्दार्यस्य) वीतराग वा कल्पवृक्षकी समान सब फल देनेवाले (मान्यस्य) मानके योग्य (कारोः) यजमानका(एषः) यह (स्तोमः) स्तोम और (इमम्) यह (गीः) सत्य और प्रिय वाणी (वः) तुम्हारे निमित्त है (वयाम्) बाल्य यौवन वार्द्धक्य अवस्थाके सम्बन्धवाले (तन्वे) शरीरके निमित्त (इषा) अन्नके निमित्तसे (आयासीष्ट) आगमनकी-जिये (जीवदानुम्) जिवानेवाले (वृजनम्) बलके साधक (इषम्) अन्नको (विद्याम) प्राप्तकरें अर्थात् हम शरीरकी रक्षामें समर्थ अन्नको प्राप्तहों [ऋ० २ । ३ । २६] ॥ ४८ ॥

कण्डिका ४९-मन्त्र १ ।

सहस्तोमाऽसहच्छन्दसऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्तदैव्याः ॥ पूर्वेषाम्पन्थामनुदृश्यधीराऽअन्वालेभिरेरथ्योनरश्मीन् ॥ ४९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसहस्तोमा इत्यस्य याज्ञ० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । पयो देवता । पाठे वि० ॥ ४९ ॥

मन्त्रार्थ-(सहस्तोमाः) स्तोमके सहित (सहच्छन्दसः) गायत्री आदि छन्दोंके सहित (आवृतः) कर्मके सहित (सहप्रमाः) शब्दप्रमाणपरीक्षामें

तत्पर (धीराः) बुद्धिसम्पन्न (दैव्याः) प्रजापतिसम्बन्धी वा प्रजापतिके प्राणाभिमानी दिव्य (सप्त) सात (ऋषयः) ऋषियोंने (पूर्वेषाम्) पूर्वकल्पोंमें उत्पन्न हुए अधिकारी महर्षियोंके (पन्थाम्) मार्गको (अनुदृश्य) देखकर (अन्वालेभिरे) सृष्टियज्ञको किया अर्थात् जैसे पूर्वकल्पके ऋषियोंने रचना की थी उसी प्रकार इन्होंने की " सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्युक्तेः । (न) जिस प्रकार (रथ्यः) रथी (रश्मीन्) इष्टदेशमें प्राप्तिके निमित्त लगामको लेकर यथेष्ट इष्टदेशमें गमन करता है [ऋ० ८।७।१८] ॥ ४९ ॥

विशेष—अथर्ववेदमें भरद्वाज, कश्यप, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि यह सात ऋषि लिखे है "विश्वामित्र जमदग्ने वशिष्ठ भरद्वाज गौतम वामदेव । शर्दिनों अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडतानः" [१८।३।१६] कश्यपो वामदेवः [१८ । ३ । १९] अथर्व । शरीरान्तवर्ती सप्तप्राणभी सप्तऋषि है ॥ ४९ ॥

कण्डिका ५०—मंत्र १ ।

आयुष्यंवर्च्चस्यꣳरायस्पोषमौद्भिदम् ॥
इदꣳहिरण्यंवर्च्चस्वज्जैत्रायाविशतादुमाम् ॥५०॥

ऋष्यादि—(१) ॐ आयुष्यमित्यस्य दक्ष ऋ० । उष्णिक्छं० । हिरण्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ५० ॥

विधि—(१) हिरण्यस्तुति । मन्त्रार्थ—(इदम्) यह (आयुष्यम्) आयुका बढानेवाला (वर्चस्यम्) कान्तिका देनेवाला (रायः) धन (पोषम्) पुष्टिका वर्धक (औद्भिदम्) खानसे होनेवाला (वर्चस्वत्) जयका हेतु वा स्वर्गधनका प्रकाशक अन्नका हेतु (हिरण्यम्) सुवर्ण (जैत्राय) जयके निमित्त (माम्) मुझको (उ) अवश्य (आविशतात्) आश्रय करै ॥ ५० ॥

विशेष—सुवर्णसे पूर्वोक्तगुण प्राप्त होते है ॥ ५० ॥

कण्डिका ५१—मन्त्र १. अनु० ६ ।

नतद्रक्षाꣳसिनपिशाचास्तरन्तिदेवानामोजः प्रथमजꣳह्येतत् ॥ योबिभर्तिदाक्षायणꣳहिरण्यꣳसदेवेषुकृणुतेदीर्घमायुꣳसमनुष्येषुकृणुतेदीर्घमायुः ॥ ५१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नतद्रक्षांसीत्यस्य दक्ष ऋषिः । शक्करी छन्दः । हिरण्यं देवतम् । वि० पू० ॥ ५१ ॥

मन्त्रार्थ-(तत्) उसको सुवर्णको (रक्षांसि) राक्षस (न) नहीं (तरन्ति) आक्रमण करते हैं (पिशाचाः) पिशाच (न) नहीं हिंसा करसकते हैं (हि) जिस कारण कि (एतत्) यह (देवानाम्) देवताओंका (प्रथमजम्) प्रथम उत्पन्न हुआ (ओजः) तेज है (यः) जो कोई (दाक्षायणम्) अलंकार करके (हिरण्यम्) सुवर्णको (बिभर्ति) धारण करता है (सः) वह (देवेषु) देवलोकमें (दीर्घम्) बडी (आयुः) आयुको (कृणुते) प्राप्त होता है अर्थात् देव लोकमें चिरकालतक बसता है (सः) वह (मनुष्येषु) मनुष्य लोकमें अपनी (आयुः) आयुको (दीर्घम्) बडी (कृणुते) करता है ॥ ५१ ॥

अथवा-दाक्षायण शब्दसे सृष्टिकार्यनिपुण ईश्वरकी सृष्टिका रत्नभूत तेज जो यह सुवर्ण धारण करते हैं इसके धारण करनेसे दीर्घ आयु होती है. दक्ष निपुण सृष्टिकार्यमें निपुण ईश्वर उसका अपत्य दाक्षायण । सृष्टिके सबही पदार्थ दाक्षायण कहे जासकते हैं ॥ ५१ ॥

कण्डिका ५२-मन्त्र १ ।

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यꣳ शतानीकाय सुमनस्यमानाः ॥ तन्मऽआबध्नामि शतशारदायायुष्मा ञ्जरदष्टिर्यथासम् ॥ ५२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यदाबध्नन्नित्यस्य दक्ष ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । हिरण्यं दैवतम् । वि० पू० ॥ ५२ ॥

मंत्रार्थ-(सुमनस्यमानाः) सुन्दरमनवाले (दाक्षायणाः) दक्षवंशोत्पन्न ब्राह्मण (यत्) जिस (हिरण्यम्) सुवर्णको (शतानीकाय) बहुत सेनावाले राजाके निमित्त (अबध्नन्) बांधते हुए (तत्) उस सुवर्णको (शतशारदाय) सौवर्षजीवनके निमित्त (मयि) अपने शरीरमें (आबध्नामि) बांधताहूं (यथा) जिस प्रकार मैं (आयुष्मान्) दीर्घजीवी (जरदष्टिः) वृद्धावस्थातक (स्थित) (आसन) हूं ॥ ५२ ॥

सरलार्थ-सुवर्ण शरीरमें धारण करनेसे सुमना और कर्मदक्ष होकर सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक स्थिति की जाती है ऐसे सुवर्णको बन्धन करके हम जरापर्यंत सौ वर्षतक जीतक्रैं सुवर्ण आयुरक्षक मन्त्रपूर्वक है ॥ ५२ ॥

कण्डिका ५३-मन्त्र १ ।

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वजऽएकपात्पृथिवी समु

मन्त्रार्थ-(सप्तऋषयः) प्राण, त्वक्, चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण, मन, बुद्धि, लक्षणवाले सप्तऋषि (शरीरे) शरीरमें (प्रतिहिताः)व्यवस्थित हैं यह(सप्त) सातों (सदम्) निरन्तर सब समयमें (अप्रमादम्) प्रमादरहित (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं (सप्त) यह सातों (आप) देहमें व्यापनशील (स्वपतः) सोतेहुए मनुष्यके (लोकम्) हृदयाकाशमें स्थित विज्ञानात्माको (ईयुः) प्राप्त होते हैं (तत्र) उन ऋषियोंकी लोक गमन अवस्थामें (अस्वप्नजौ) स्वप्नको न प्राप्त होनेवाले (सत्रसदौ) निरन्तर जीवोंकी रक्षारूप यज्ञमें स्थित (देवौ) प्राणापान दो देवता (जागृतः) जागते रहते हैं ॥ ५५ ॥

अथवा-सुषुप्तिकालमें यह ऋषिभी लोकको प्राप्त होते हैं उस समय केवल सदास्थायी सत्यस्वरूप दो देवता 'जीवात्मा परमात्मा' जागते है ॥ ५५ ॥

अथवा-ब्रह्माण्डरूपी शरीरमें सप्तऋषि सदा स्थित हुए रक्षा करते हैं प्रलयमें यह आत्मामें लय होते हैं केवल ब्रह्म सत्ताही जागृत रहती है ॥५५॥

कण्डिका ५६-मन्त्र १ ।

उत्तिष्ठब्ब्रह्मणस्पते देवयन्तस्त्वेमहे ॥ उपप्प्रयं न्तु मुरुतंः सुदानंवुऽइन्द्रंप्प्राशूर्भवासचां ॥५६॥

ऋष्यादि-(१) ॐउत्तिष्ठेत्यस्य याज्ञवल्क्य ऋ०।बृहती छं०। ब्रह्मणस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ५६ ॥

मन्त्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मरूप वेदके पालक अथवा ब्रह्मविद्या जाननेवालोंका पालक (उत्तिष्ठ) उत्थान कीजिये, आरब्धकार्य हूजिये, जिसकारण की(देवयन्तः) देवताओंकी कामना करतेहुए हम (त्वा) आपके आनेकी (ईमहे) प्रार्थनाकरते है (सुदानवः) सुन्दर देनेवाले (मरुतः) मरुत (उपप्रयन्तु) आपके समीप प्राप्त हो (इन्द्र) हे इन्द्र ! तुम्हारी (सचा) साथगमनके निमित्त (प्राशूः) अतिशीघ्रताकारी (भवा) सब प्रकार हूजिये [ऋ० १ । ३ । २०] ॥ ५६ ॥

कण्डिका ५७-मंत्र १ ।

प्रनूनम्ब्रह्मणस्पतिर्म्मन्त्रंवदत्युक्थ्यम् ॥ य स्म्मिन्निन्द्रोवरुणोमित्रोऽअर्य्यमादेवाऽओकां ७ंसिचक्क्रिरे ॥ ५७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रनूनमित्यस्य याज्ञ० ऋ० । बृहती छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ५७ ॥

मन्त्रार्थ-(ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्मण्यदेव (नूनम्) अवश्यही (उक्थ्यम्) शस्त्रयोग्य (मंत्रम्) मंत्रको हमसे (प्रवदति) विशेष उच्चारण कराते है (यस्मिन्) जिस मंत्रमें (इन्द्रः) इन्द्र (वरुणः) वरुण (मित्रः) मित्र (अर्यमा) अर्यमा (देवाः) देवता (ओकांसि) निवासोंको (चक्रिरे) करते है अर्थात् सब देवताओंके आधारभूत शस्त्रको मन्त्रको समान पढना चाहिये[ऋ० १।३।२०]॥५७॥

कण्डिका ५८- मंत्र १ ।

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व ॥ विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पिताऽन्नपतेऽन्नस्य नो देहि ॥ ५८ ॥ [१८]

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितापाठे चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ब्रह्मणस्पत इत्यस्य याज्ञ० ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । वि० पू० ॥ ५८ ॥

मन्त्रार्थ-(ब्रह्मणस्पते) हे ब्रह्मण्यदेव ! (त्वम्) तुमही (अस्य) इस (सूक्तस्य) सूक्तके वा जगत्के (यन्ता) नियामक हो (बोधि) हमारी स्तुतिको जानो (च) और (तनयम्) हमारे सन्तानोंपर (जिन्व) प्रीति कीजिये (देवाः) देवता (यत्) जिस (भद्रम्) कल्याणको (अवन्ति) पालन करते हैं (तत्) वह (विश्वम्) सम्पूर्ण कल्याण हमको प्राप्त हो, और (सुवीराः) कल्याण रूप पुत्रोंवाले हम (विदथे) यज्ञमें (बृहत्) बहुत (वदेम) दो, भोजन करो, इत्यादि कहै [ऋ० २ । ७ । ३ वीराः पर्यन्त] ॥ ५८ ॥

विशेष-यइमा विश्वा १७ । १७ ॥ विश्वकर्मा विमनाः १७ । २६ ॥ योनः पिता १७ । २७ ॥ अन्नपतेन्नस्य नो देहि ११ । ८३ यह मंत्र यहां ब्रह्मयज्ञमें पढने व्याख्या होचुकी है ॥ ५८ ॥

सरलार्थ-हे ब्रह्मण्यदेव तुमही इस सूक्तके नियन्ता हो इसका भावार्थ तुमही जान्ते हो, इसके फलसे हमारे वंशमे परंपरासे तृप्तिसाधन तुम्हारेही अधीन हैं, विश्वदेवगण जिसको कल्याण कहते है उसको भी तुमही देते हो, हे देव ! इस सृष्टियज्ञमें पुत्रपौत्रादिपरिवृत होकर हम जिस प्रकार वडे कहावै सो करो ॥ ५८ ॥

इति ब्रह्मयागः समाप्तः।

इति श्रीपण्डितप्रवरश्रीसुखानन्दमिश्रसूनु पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृते मिश्रभाष्ये ब्रह्मयज्ञो नाम चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

अथ पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ३५.

अथानुवाकसूत्रम्-अपेतोदशापाषंद्वादशद्वौद्वाविꣳशतिः ॥ २२ ॥
पितृमेधः ।

कण्डिका १-मंत्र २. अनु० १ ।

अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्ना देवपीयवः ॥ अस्य लोकः सुतावतः ॥ द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्ववसानमस्मै ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपेत इत्यस्य आदित्या ऋषयः । गायत्री छन्दः । पितरो देवताः । पलाशशाखया स्थानमार्जने विनियोगः (२) ॐ द्युभिरित्यस्यास्थिकुंभस्थापने वि० ॥ २ ॥

विधि-(१) तेतीसवें अध्यायमें सर्वमेधसम्बन्धी कुछ मंत्र कहे प्रवायुमच्छेत्यारभ्य ३३ । ५५ अनारभ्याधीत मंत्रोंको कहकर चौतीसवें अध्यायमें उन्हींको समाप्त करके अब ३५ पैंतीसवें अध्यायमें पितृमेधसम्बन्धी मंत्रोंको कहतेहैं, यह पितृमेध मृत पुरुषका यदि दिनस्मरण न हो तो सबही वर्षोंमें होसकता है और वर्ष स्मृतिमें विषमवर्ष ३ । ५ । ७ वेंमें होताहै, एक तारावाले नक्षत्र चित्रादिक अमावस्या ग्रीष्म शरदृतु वा माघमें होताहै, पितृमेधकरनेवाले ब्राह्मणको कुंभमें अस्थिसंचयन करना चाहिये, और ग्रामके समीप वनमें रखनी चाहिये, मृतके जितने अमात्य पुत्र पौत्र हों उतनेही घट कर्मदिनमें लाने चाहिये और उससे अधिक छत्र फिर वनमें कुंभमें अस्थिसंचयन कर ग्रामके समीपमें लाकर शय्या चौकी पर कुंभको स्थापन कर उसे वस्त्रसे आच्छादितकर मोहमय वाजे और वीणा बजाते उत्तरीय वस्त्र वा चामरादि द्वारा व्यजन करते तीन २ प्रदक्षिणा करें, कोई कहते हैं स्त्रियें भी प्रदक्षिणा करें । रात्रिके पूर्व अपर मध्य-भागमें उस दिन बहुत अन्नदान करना होता है. तबतक भजनादि भी होते हैं, प्रभात न होते कुम्भ और छत्रोंको लेकर ग्रामके दक्षिण ओरसे अध्वर्यु और यजमान बाहर जांय, अर्थात् पितृमेध क्रिया इतनी रात्रि रहेसे आरंभ करनी चाहिये कि सूर्योदयके समय घर आजांय, वनमें जाकर ग्रामके मार्गसे पीपल तिलक लोध्र हरिद्रु 'हलदू' स्फूर्जक 'तेंदू' बहेडा श्लेष्मान्तक 'लहसोड़ा' कोविदारादिसे दूर

अन्य श्रेष्ठ वृक्ष गुल्मादिसे युक्त, वा नद्यादि जलके समीप समान सुखकारी मनोहर स्थान वा ऊषर व जलसे पूर्वकी ओर वा उत्तर भागमें श्मशानके निमित्त द्विकोण पुरुष प्रमाण क्षेत्र बनाना होता है तथा–प्रथम मन्त्रसे अध्वर्यु पलाश शाखा द्वारा वह स्थान सम्मार्जन करे [का० २१।३।३२]

मंत्रार्थ–(असुम्नाः) असुखकारी दुःखदाता (देवपीयवः) देवताओंके द्वेषी (पणयः) परद्रव्यापहारी असुर (इतः) इस स्थानसे (अपयन्तु) दूर हों (सुतावतः) सोमाभिषव करनेवाले (अस्य) इस मृत यजमानका (लोकः) यह स्थान है ॥ १ ॥

विधि–(२) दूसरे मन्त्रसे इस सम्मार्जित स्थानमें यह अस्थिकुंभ स्थापन करे. **मन्त्रार्थ**–(यमः) यमराज (द्युभिः) ऋतुओंद्वारा (अहोभिः) दिनोंद्वारा (अक्तुभिः) रात्रिद्वारा (व्यक्तम्) स्पष्ट किये (अवस्थानम्) स्थानको (अस्मै) इस यजमानके निमित्त (ददातु) प्रदान करे ॥ १ ॥

प्रमाण–" सुम्नामिति सुखनाम " [निघं० ३।६] " तदेनमृतुभिश्चाहोरात्रैश्च सलोकं करोति " इति श्रुतेः [१३।८।२।३] ॥ १ ॥

कण्डिका २–मन्त्र १ ।

सुविताते॒शरी॑रेभ्यः पृथि॒व्याँल्लो॒कमि॑च्छतु ॥ तस्मै॑ युज्यन्ताम्मुस्रियाः॑ ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ सवितेत्यस्य पूर्वोक्ता ऋषयः । गायत्री छन्दः । पितरो देवताः । औदुम्बरसीरउत्तरतो वा षड्गवे युज्यमाने सति जपे वि० ॥ २ ॥

विधि–(१) फिर अध्वर्यु उस पलाशशाखाको दक्षिण ओर डालकर साढे अठारह अंगुलहीन दो पुरुष प्रमाण स्थानमें चार कोनोंमें चार कीले १ पलाशकी २ शमीकी ३ वीरनकी चौथी अश्ममय गाडे इन खूंटियोंके दोनों ओर रस्सीद्वारा वेष्टनकरे तथा च " पैतृक्यां द्विपुरुषं समचतुरस्रं कृत्वा करणीमध्येषु शंकवः समाधिरिति शुल्बोक्तविधिना " [यजुः परिशिष्ट ७।२] इस कर्म करनेवालेके निकट कोई यजमान पुरुष तृणोंका पूला धरदे कर्मसमाप्ति होनेपर घरमें आकर प्रजावृद्धिके निमित्त उसे उच्छ्रित करे. रज्जुवेष्टित क्षेत्रके बाहर दक्षिण वा उत्तरमें यह मन्त्रपाठपूर्वक हलमें छै बैल जोडे [का० २१।३।३४] **मंत्रार्थ**–हे यजमान (सविता) सविता देवता (ते) तुम्हारे (शरीरेभ्यः) अस्थिरूप शरीरोंके निमित्त (पृथि-

व्याम्) पृथ्वीमें (लोकम्) स्थानको (इच्छतु) इच्छा करो (तस्मै) उस सविताके दिये क्षेत्रके संस्कार निमित्त (उस्रियाः) वृषभ (युज्यन्ताम्) युक्त हों अर्थात् सविता देवता इस शरीरकी अस्थियोंको इस पृथ्वीमें स्थापनकी इच्छा करें इसी निमित्त तुम सीरमें नियुक्त हो ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र ५।

वायुः पुनातु सविता पुनात्वग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा ॥ विमुच्यन्तामुस्रियाः ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१-३) ॐवायुः अग्नेरिति मंत्रयोः आदित्या ऋ० । दैवी पंक्तिश्छं० । लिङ्गोक्ता दे० । (२-४) ॐसविता सूर्य इति मंत्रयोर्दैवी त्रिष्टुप्छं० । चतुर्णाम्मन्त्राणां क्षेत्रकर्षणे विनियोगः । (५) ॐविमुच्यन्तामित्यस्य दैवी जगती छं० । वृषभो देवता । सीराद्वृषभमोचने विनियोगः ॥ ३ ॥

विधि-(१-४) अध्वर्यु इस कण्डिकाके प्रथमादि चार मन्त्र पढकर इस चारों खूंटियोंमें बंधी रस्सीके अनुसार सीमाबद्ध क्षेत्रको कर्षण करै [का०२१।४ १-२] मन्त्रार्थ-उत्तरसे प्रतीचीकी ओर (वायुः) वायुदेवता (पुनातु) यह स्थान विदीर्णकर पवित्र करो १ । (सविता) सविता देवता (पुनातु) यह स्थान पवित्र करो २ । (अग्नेः) अग्निके (भ्राजसा) तेजसे यह स्थान पवित्र हो ३ । (सूर्यस्य) सूर्यके (वर्चसा) तेजसे यह स्थान पवित्र हो ४ । विधि-(५) इस प्रकार चार मंत्रोंसे चारों ओर आकर्षण कर मध्यमें भी कर्षणकर फिर बैलोंको सीरसे पृथक् करै [का० २१।४।४] मन्त्रार्थ-(उस्रियाः) धेनुपुत्र बैल (विमुच्यन्ताम्) हलसे पृथक् हों ॥ ३ ॥

प्रमाणम्-"तदपसलैविपर्याहृत्योत्तरतः प्रतीचीं प्रथमां सीतां कृषति वायुः पुनात्विति सविता पुनात्विति जघनार्द्धेन दक्षिणमग्नेर्भ्राजसेति दक्षिणार्द्धेन प्राचीँ सूर्यस्य वर्चसेत्यग्रेणोदीचीम्" इति [१३।८।२।६] श्रुतेः ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १।

अश्वत्थे वो निषदनम्पर्णे वो वसतिष्कृता ॥ गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषम् ॥ ४ ॥

विधि-(१) लांगूलको दक्षिण ओर त्यागकर यह मन्त्र पाठकर इस जोतेहुए स्थानमें सर्वौषधि बोवै । [का० २१।४।४] ओषधिवपने विनियोगः ॥ ४ ॥

अश्वत्ये इति १३ । ७९ में व्याख्या होगई । [ऋ० ८ । ९ । ८] ॥ ४ ॥

कण्डिका ५–मंत्र १ ।

सवितातेशरीराणिमातुरुपस्त्थऽआवपतु ॥ तस्मै पृथिविशम्भव ॥ ५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसवितेत्यस्यादित्या ऋषयः । गायत्री छन्दः । सविता देवता । मृतस्यास्थिराशीकरणे वि० ॥ ५ ॥

विधि– (१) यह मंत्र पाठकरके इस कृष्ट अर्थात् जोतेहुए और सर्व्वौषधी बोये क्षेत्रमें कुंभमें रक्खी मृतककी अस्थि उसमें रखदे यह कर्म सूर्योदय कालमें करै [का० २१ । ४ । ५] "कुर्वतोभ्युदियात्" इति श्रुतेः [१३ । ८ । ३ । २] मन्त्रार्थ–हे यजमान ! (सविता) सविता देवता (ते) तेरे (शरीराणि) अस्थियोंको (मातुः) पृथ्वीके (उपस्थे) गोदमें (आवपतु) स्थापन करै (पृथिवि) हे भूमि ! (तस्मै) उस अस्थिरूप यजमानके लिये (शम्) शान्त सुखरूप (भव) हो ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र १ ।

प्रजापतौत्त्वादेवतायामुपोदकेलोकेनिदधाम्यसौ ॥ अपनःशोशुचदघम् ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ प्रजापतौत्वेत्यस्यादित्या ऋषयः । उष्णिक्छन्दः । प्रजापतिर्देवता । अस्थिनिवापे वि० ॥ ६ ॥

मंत्रार्थ–(असौ) यह अमुक मृत पुरुष यहां नाम लेना यथा हे देवदत्त (उपोदके) उदकसमीपवर्ती(लोके) स्थानमें (प्रजापतौ) प्रजापति देवताकी स्मृतिमें (त्वाम्) तुमको (निदधामि) स्थापन करताहूं (सः) वह प्रजापति (नः) हमारे (अघम्) पापोंको (शोशुचत्) अतिशय नष्ट करै । "अथवा इस जलके आक्रमणसे तुम्हारे पाप धौत हों" ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र १ ।

परम्मृत्त्योऽअनुपरेहिपन्थांयस्त्तेऽअन्यऽइतरोदेवयानात् ॥ चक्षुष्मतेशृण्वतेतेब्रवीमिमानः प्रजाᳬरीरिषोमोतवीरान् ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ परमित्यस्य संकसुक ऋषिः। त्रिष्टुप्छं०। मृत्युर्देवता। यजमानेन वाध्वर्युणा जपे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) यह अस्थिकुंभ अस्थिशून्य करके एक स्थानमें छोड़कर, शुद्धिकर और उसे त्यागपूर्वक फिर आनकर अध्वर्यु वा यजमान यह मंत्र जपे उसको कोई उल्लंघन न करे (का० २१। ४। ७)। मन्त्रार्थ-(मृत्यो) हे मृत्यु! (परम्) पराङ्मुख अर्थात् दूसरी ओर मुख करके (पन्थाम्) दूसरे (पन्थाम्) मार्गको (अनुपरेहि) गमन करो अर्थात् देवयान पथसे पराङ्मुख होकर दूसरे पथ पितृयानमें गमन करो (यः) जो कि (ते) तुम्हारा मार्ग (देवयानात्) देवयान मार्गसे (इतरः) तुच्छ (अन्यः) भिन्न मार्गवाला है (चक्षुष्मते) चक्षुसम्पन्न अवलोकनशील (शृण्वते) श्रुतिसम्पन्न (ते) तुमसे (ब्रवीमि) कहता हूं अर्थात् हमारे प्रति कृपादृष्टि करके हमारी विनय सुनो (नः) हमारी (प्रजाम्) सन्तानादिकोंको (मा) मत (रीरिषः) मारना (उत) और (वीरान्) वीर पुत्रोंको (मा) मत मारो ॥ ७ ॥

आशय-आशय यह कि संतानसहित होकर पितृलोकमें प्रविष्ट होकर भोगके अन्त पूर्वकालमें नष्ट न करना [ऋ० ७। ३। २३] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र १।

शंवातुःशर्ठहितेघृणिःशन्तेभवन्त्विष्टकाः॥श न्तेभवन्त्वग्नयःपार्थिवासोमात्वाभिशूशुचन्॥८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शंवातमित्यस्य संकसुक ऋ०। अनुष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। अस्थिनिधियाङ्गं कल्पयित्वा तन्मध्ये पादमात्रेष्टकास्थापने विनियोगः ॥ ८ ॥

विधि-(१) इन दो मंत्रोंको पाठकरके इन अस्थियोंका हाथ पैर आदि सम्पूर्ण अंग प्रत्यंग कल्पना करके उनमें तीन हाथ ईंटका स्थानकरै [का० २१। ४। ८] जो जिस अंगकी अस्थि है उससे वही अंग कल्पना करै पहले और फिर यजमान ईंटका कल्पना करै। मन्त्रार्थ-हे यजमान! (वातः) वायु (ते) तुम्हारे निमित्त (शम्) सुखरूप हो (हि) और (घृणिः) आदित्य वा किरण (शम्) तुमको कल्याणकारिणी हो (इष्टकाः) मध्य और कोटिकाओंमें स्थापी हुई ईंटका (ते) तेरे निमित्त (शम्) सुखकारिणी (भवन्तु) हों (पार्थिवासः) पृथ्वीसम्बन्धी (अग्नयः) अग्नियें (ते)

तेरे निमित्त (शम्) सुखरूप (भवन्तु) हों (त्वा) तुझको (मा) मत (अभिशूशुचन्) तापित करो ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १।

कल्पन्तान्तेदिशुस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यम्भवन्तुसिन्धवः ॥ अन्तरिक्षꣳशिवन्तुभ्यङ्कल्पन्तान्तेदिशुः सर्वाः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कल्पन्तामित्यस्य सं० ऋ०। बृहती छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। वि० पू० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–(दिशः) दिशायें (ते) तेरे निमित्त (कल्पन्ताम्) श्रेष्ठ संपादिनी हों (आपः) जल (तुभ्यम्) तेरे निमित्त (शिवतमाः) अतिकल्याणकारक (भवन्तु) हों (सिन्धवः) समुद्र सब (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त कल्याणकारी हों (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (तुभ्यम्) तुम्हारे निमित्त (शिवम्) कल्याणरूप हों (सर्वाः) सम्पूर्ण (दिशः) दिशायें (ते) तेरे निमित्त (कल्पन्ताम्) कल्याणरूप हों अर्थात् दिशा विदिशाओंके सब पदार्थ तुमको कल्याणरूप हों ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १।

अश्मन्वतीरीयतेसꣳरभद्धमुत्तिष्ठतप्रतरतासखायः ॥ अत्राजहीमोऽशिवायेऽअसञ्छिवान्वयमुत्तरेमाभिवाजान् ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि–(१) ॐ अश्मन्वतीत्यस्य सुचीक ऋषिः। त्रिष्टुप्छन्दः। विश्वेदेवा देवताः। यजमानादिभिर्गर्तोपरि गमने वि० ॥ १० ॥

विधि–पूर्व दिशाको छोडकर और किसी दिशामें कर्षण करके अथवा किसी गर्तसे मृत्तिका लाकर इस अस्थि शरीरके ऊपर स्थित इष्टकाओंके ऊपर जानुपरिमित उच्च वेदी निर्माण करके अथवा ब्राह्मणकी समाधिवेदी उसके मुखप्रमाण ऊंची, क्षत्रियकी छातीप्रमाण, वैश्यकी ऊरुप्रमाण, स्त्रियोंकी योनिप्रमाण शूद्रकी जानुप्रमाण ऊंची करके उसके ऊपर शिवाल और कुशा आच्छादन करके इस वेदीके दक्षिणमें दो गर्त खनन करै उसमें एकमें नीर और एकमें क्षीर रखकर और इस वेदीके उत्तर अतिनिकट २ सात गर्त खनन करके जलके द्वारा यह सब पयप्रणालीके आकार परिपूर्ण करके तिससे अध्वर्यु और यजमान परस्पर वन्धुवर्ग

पाषाणखण्डप्रक्षेपपूर्वक उनके ऊपर विचरण करते यह मंत्र पाठ करै [का० २१ । ४ । २१] मंत्रार्थ-(सखायः) हे बन्धुगण ! यह (अश्मन्वती) पाषाणवती नदी (रीयते) प्रवाहित होती है इस कारण (संरभध्वम्) इसे उतरनेके निमित्त यत्न करो (उत्तिष्ठत) अभिमुख हो (प्रतरत) इसको तर जाओ अर्थात् हम इसके ऊपर उठनेकी चेष्टा करते हैं उठो उत्तीर्ण हो (अत्र) इस स्थलमें (ये) जो (अशिवाः) अशान्त अशुभ राक्षसादिक (असन्) हो (जहीमः) उनको त्याग करतेहै (शिवान्) सुखकारी (वाजान्) अन्नोंको (वयम्) हम (अभ्युत्तरेम) प्राप्त हों अथवा हमारे स्वीय शरीरमें स्थित सब पापरूप अशुभ दूर होकर शुभसंग्रह हो [ऋ० ८ । १ । १४] ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र १ अनु० २ ।

अपाघमपकिल्बिषमपकृत्यामपोरपः ॥ अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳसुव ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अपाघमित्यस्य शुनःशेप ऋ० । अनुष्टुप्छन्दः । लिङ्गोक्ता देवता । अपामार्गेण शरीरं संशोध्याचमने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१) अमात्यगण यज्ञोपवीती होकर अपामार्ग 'चिराचिटा' द्वारा अपना २ शरीर शोधन कर जलसे आचमन करै [का० २१ । ४ ।२२] मन्त्रार्थ-(अपामार्ग) हे अपामार्ग ! (त्वम्) तुम (अस्मत्) हमारे (अघम्) मानस पापको (अपसुव) दूर करो (किल्बिषम्) कीर्तिभेदक कायिक पापको (अप) दूरकरो (कृत्याम्) दूसरेके किये अभिचारको (अप) दूर करो (रपः) वाचिक पापको (अप) दूर करो (उ) और (दुःस्वप्न्यम्) दुःस्वप्नके असुखरूप फलको (अप) दूर करो ॥ ११ ॥

प्रमाण-"रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः" इति [निरु० ४ । २१] ॥११॥

विवरण-पापनाशक होनेसे ईश्वरभी अपामार्ग है । किसीके मतमें अपामार्गकी शाखा सब शरीरमें सब ओर स्पर्श करै और किसीके मतमें अपामार्गके बीज पीसकर सब शरीरमें मलै. इसके पाठसे दुःस्वप्नका फलभी नाश होताहै॥११॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयꣳसन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मः ॥ १२ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठपूर्वक स्नानकरके पुरातन वस्त्रत्यागपूर्वक नये वस्त्र धारण करे [का० २१ । ४ । २३] सुमित्रिया-मंत्रसे जलकी अंजली लेकर दुर्मित्रियासे द्वेष्यपर डालदे [का० १९ । ५ । १५] "दुर्मित्रिया द्विष्म इति यामस्य दिशं द्वेष्यः स्यात्तां दिशं परासिञ्चेत् तेनैव तं पराभावयति" इति [१३ । ८ । ४ । ५] श्रुतेः द्वेष्यकी अंजलि दक्षिणमें डाले।

सुमित्रिया-इसकी व्याख्या [६ । २२ । २० । १९] में होगई ॥ १२ ॥

कण्डिका १३-मंत्र १।

अनड्वाहमन्वारभामहे सौरभेयᳬस्वस्तये ॥ स नऽ इन्द्रऽइव देवेभ्यो वह्निः सन्तारणो भव ॥ १३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनड्वाहमित्यस्य शुनःशे० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अनड्देवता । वृषभपुच्छस्पर्शने विनि० ॥ १३ ॥

विधि-(१) स्नान करने उपरान्त अमात्यगण इस मंत्रसे वृषभकी पूंछ स्पर्श करे [का० २१। ४। २३] मंत्रार्थ-हम (सौरभेयम्)सुरभीके पुत्र (अनड्वाहम्) वृषभको (स्वस्तये) कल्याणके निमित्त (अन्वारभामहे) स्पर्श करते हैं (सः) हे अनड्वन्! वह तुम (नः) हमको (सन्तारणः) तारकवा दुःखनाशक (भव) हूजिये तुम (देवानाम्) देवताओंके (वह्निः)वहन वा धारण कर्ता हो (इव)जैसे (इन्द्रः) इन्द्र (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त तारक है अर्थात् वृषभ शरीरमें स्थित यह ऐश्वर्यवान् ब्रह्माग्नि हमारे सब प्रकार दुःखका तारक हों ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १।

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ॥ देवन्देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ १४ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठकर अपने ग्राममें प्रत्यागमन करे [का० २१ । ४ । २३] उद्वयमिति इसकी व्याख्या २० । २१ में होगई । ग्रामागमने विनियोगः ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मंत्र १।

इमञ्जीवेभ्यः परिधिन्दधामि मैषान्नु गादपरोऽअ

र्थमेतम् ॥ शतञ्जीवन्तुशरदः पुरुचीरन्तर्मृत्युन्दधताम्पर्वतेन ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐइममित्यस्य संकल्प ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । मनुष्यो देवता । ग्रामश्मशानान्तरे मर्यादालोष्ठप्रक्षेपे वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१) श्मशानसे आते समय श्मशानसीमामें यह मंत्रपाठपूर्वक मर्यादालोष्ठ [बडा मट्टीका ढेला वा पाषाणखण्ड] प्रक्षेपकरै यह अध्वर्यु करे [का० २१ । ४ । २४] मन्त्रार्थ-(जीवेभ्यः) विद्यमान जीवोंके निमित्त (इमम्) इस (परिधिम्) मर्यादाको (दधामि) स्थापन करताहूं, अर्थात् जीवगणके अकाल मृत्युभय दूर करनेको यह परिधि करताहूं (एषाम्) इन जीवोंके मध्यमें (अपरः) कोईभी (नु) वेदोक्त आयुसे प्रथम शीघ्र (एतम् अर्थम्) पितृलोक गमनवाले कार्य लक्षणके उद्देश्यसे (मा) मत (गात्) गमन करो अर्थात् मृत्युके आगमनपथमें यह परिधि पर्वतरूप अवरोध हो जिससे ग्राम नगरमें स्थित प्राणियोंमेंसे कोईभी अकालमें पितृलोकमें गमन न करै (पुरूचीः) बहुत गमनशील दान अध्ययन यज्ञके अनुकूल (शतम्) सौ (शरदः) वर्षोंतक (जीवन्तु) यह जीवें (पर्वतेन) इस लोष्ठ वा मंत्र वा कर्मरूप पर्वतद्वारा (मृत्युम्) मृत्युको (अन्तर्दधताम्) यह जीव अन्तर्हित करै ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

अग्नऽआयूᳬंषिपवसऽआसुवोर्ज्जमिषञ्चनः ॥ आरेबाधस्वदुच्छुनाम् ॥ १६ ॥

विधि-(१)कज्जलादिद्वारा नेत्रोंमें अंजन लगाना, तैलादिद्वारा पाद मार्जन करनेके अनन्तर यह दो मंत्र पाठ करके औपासन अग्निमें आहुति दे । कर्ताकी आवसथ्य नाम अग्निको दर्भपुञ्जद्वारा विस्तीर्ण करके उसके चारों ओर वारण काष्ठसे चार परिधि स्थापन करै, उसके मध्यगत अग्निको औपासन कहते है इसमें उस वारणकाष्ठनिर्मित स्रुवद्वारा आहुति प्रदान करनी होती है [का० २१।४।२५] प्रेतकाही औपासन होता है उसीका निरसन होता है । कर्ताके औपासनमें ही हवन है उसका एक देश निरसन है ऐसा कर्कादिकका मत है ।

अग्नआयूंषि-इसकी व्याख्या १९ । ३८ में होगई होमे विनियोगः [ऋ० ७ । २ । १०] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र १ ।

आयुष्मानग्ने हविषा वृधानो घृतप्रतीको घृतयोनिरेधि ॥ घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रमभिरक्षतादिमान्त्स्वाहा ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ आयुष्मानित्यस्य वैखानस ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । होमे वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने ! (आयुष्मान्) चिरजीवी तुम (हविषा) हविद्वारा (वृधानः) वृद्धिको प्राप्त (घृतप्रतीकः) घृतलिप्त मुखवाले (घृतयोनिः) घृतके स्थानवाले अर्थात् घृत तुम्हारा उत्पत्तिस्थान है (एधि) वृद्धिको प्राप्त हो (गव्यम्) गोसम्बन्धी (मधु) मधुर (चारु) सुन्दर (घृतम्) घृतको (पीत्वा) पान करके (इमान्) इन जीवोंको (अभिरक्षतात्) रक्षाकरो (इव) जिसप्रकार (पिता) पिता (पुत्रम्) पुत्रकी रक्षा करता है (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र १।

परीमे गामनेषत पर्यग्निमहृषत ॥ देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ२ऽआदधर्षति ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१)ॐ परीमेगामित्यस्य भरद्वाजात्मजाशिरिम्बिठि ऋ०। अनुष्टुप्छन्दः । इन्द्रो देवता । पाठे वि० ॥ १८ ॥

विधि–(१) अनन्तर अध्वर्यु यह परदानाम रक्षण मन्त्र पाठकरे [का० २१।४।२६] मन्त्रार्थ–(इमे) इन जीवोंने (गाम्) गोपुच्छको (पर्यनेषत) ग्रहण किया है (अग्निम्) अग्निको (पर्यहृषत) उपासन किया है (देवेषु) देवताओं अर्थात् ऋत्विजोंमे (श्रवः) दक्षिणारूप धनको (अक्रत) किया अथवा देवताओंके मध्यमें कीर्तिको प्राप्त हुए (इमान्) कृतकृत्य अब इन जीवोंको (कः) कौन (आदधर्षति) पराभव करसकता है अर्थात् कोई नहीं कर सकता [ऋ० ८।८।१३] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९–मन्त्र १ ।

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्यं गच्छतु रि

प्प्रवहा हर्ठ ॥ इहैवायमितरो जातवेदा देवेब्भ्यो हव्यं वहतु प्प्रजानन् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ क्रव्यादमित्यस्य दमन ऋषिः । साम्नी त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । औपासननिरसने ॐ इहैवेत्यस्य यजमानेन जपे च विनियोगः ॥ १९ ॥

विधि-(१) आहुति होमके पीछे औपासन अग्निके एक शेषको त्यागन करै यदि वह प्रेतसम्बन्धी हो तो सबको त्यागदे [का०२१।४।२७] मन्त्रार्थ-(क्रव्यादम्) आममांसभोजी (अग्निम्) अग्निको (दूरम्) दूर (प्रहिणोमि) प्रेषण करता हूं (रिप्रवाहः) पापवाही "रिप्रमिति पापनाम" [निरु० २१ । ४] यह अग्नि (यमराज्यम्) यमलोकको (गच्छतु) प्राप्त होजाओ १ । विधि- (२) यजमान जप करै [का०२१ । ४ । २८] मन्त्रार्थ-(अयम्) यह (इतरः) इतर क्रव्यादसे अन्य (जातवेदाः) अग्नि (प्रजानन्) अपने अधिकारको जान्ती (इहैव) इसी हमारे वरमें (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (हव्यम्) हविको (वहतु) वहनकरै ॥ १९ ॥

यह समाधिकरणरूप पितृमेध पूर्ण हुआ.

विशेष-इसमें उपधान वस्त्र आसन्दी वृषभ नवीन यवादि दक्षिणा दीजाती है इच्छा करनेपर सुवर्णादि भी दे सकता है [ऋ० ८।६।२१] ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

वह व्वपां जातवेदः पितृब्भ्यो यत्रैनान्न्वेत्थ निहिताम्पराके ॥ मेदसः कुल्या उप तान्त्स्रवन्तु सत्या एषामाशिषः सन्नमन्ताᳬ स्वाहा ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ वह वपामित्यस्यादित्या ऋषयः। त्रिष्टुप्छन्दः। अग्निर्देवता । होमे वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) मध्यमा अष्टका करकै हवन करै [पारस्करः ३।३] मन्त्रार्थ-(जातवेदः) हे ज्ञानसम्पन्न अग्ने ! (पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (वपाम्) सारभागको (वह) वहन कर (यत्र) जिस (पराके) दूर देशमें (निहितान्) स्थापित (एतान्) इन पितरोंको (वेत्थ) तुम जानते हो (मेदसः) मेदकी (कुल्याः) नदी (तान्) उनको (उपस्रवन्तु) प्राप्त हों (एषाम्) इन दाताओंकी (सत्याः) सत्य (आशिषः) असीसें वा मनोरथ (सन्नमन्ताम्) सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हों (स्वाहा) यह आहुति भलीप्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

सरलार्थ–हे जातवेद ! जिस स्थलमें पितृगण स्थित हैं उसको तुम जान्ते हो इस कारण उनके निमित्त दियेहुए सारभागको लेजाओ यह घृतकुल्या उनको तृप्त करनेवाली हों हमारा यह मनोरथ सत्यस्वरूप हो यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१–मन्त्र २ ।

स्योनापृथिविनोभवानृक्षरानिवेशनी॥ यच्छानः शर्म्मसप्रथाः ॥ अपनःशोशुचदघम् ॥ २१ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ स्योनेत्यस्य मेधातिथिर्ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । पृथिवी देवता । प्रस्तरारोहणे शयने च विनि० । (२) अप इति सम्बन्धिमरणनिमित्तस्नाने वि० ॥ २१ ॥

विधि–(१) स्मार्तमें इसका शयन और स्नानमे विनियोग है "स्योना पृथिविनोभवेति दक्षिणपार्श्वे प्राक्शिरसः संविशन्ति" इति [पारस्करः ३ । २] **मन्त्रार्थ**–(पृथिवि) हे भूमि ! तुम (अनृक्षरा) कण्टकहीन "कन्तपो वा कण्टतेर्वा कृन्ततेर्वा स्याद्गतिकर्मणः" इति [निरु० ९ । ३२] अर्थात् दुःखदायियोंसे हीन (निवेशनी) सुखसे बैठने योग्य (सुप्रथाः) सब ओरसे पृथु (नः) हमको (स्योना) सुखरूप (भव) हो (नः) हमको (शर्म) कल्याण (यच्छ) दो अर्थात् पृथिवीमें स्थित सुकोमल विस्तृत यह शय्या हमको सुखकारी हो १ । **विधि**–(२) स्नानका मंत्र । श्रौत सूत्रमें इसका विनियोग नहीं है गृह्यसूत्रमें सम्बन्धिके मरणनिमित्त स्नानमें विनियोग है "सव्यस्यानामिकया अपनोद्यापनःशोशुचदघम्" इति [पारस्करः ३ । १०] (अप) जल (नः) हमारे (अघम्) पापको (शोशुचत्) दूर करै वा अपरूप परमेश्वर हमारे पापोको भस्म करै । अथवा यह जल हमारे शरीरका मल दूर करकै हमको शुचि करै ॥ २१ ॥

कण्डिका २२–मन्त्र १ ।

अस्मात्त्वमधिजातोसित्त्वदयञ्जायताम्पुनः ॥ असौस्वर्गायलोकायस्वाहा ॥ २२ [१२]

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितापाठे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अस्मात्त्वमित्यस्यादित्या ऋषयः । गायत्री छन्दः । अग्निर्देवता । आज्याहुतिदाने वि० ॥ २२ ॥

विधि–(१) अग्निके दाहसे पूर्व इस मंत्रसे एक आज्याहुति दीजाती है [का० २५ । ७ । ३७] मन्त्रार्थ–हे अग्ने ! (त्वम्) तुम (अस्मात्) इस यजमानसे (अधिजातः) आधानकालमें प्रगट हुए (असि) हो (अयम्) यह यजमान (पुनः) फिर (त्वत्) तुमसे (जायताम्) प्रगट हो (असौ) यह अमुक (स्वर्गाय) स्वर्ग (लोकाय) लोक प्राप्तिके निमित्त तुमसे प्रगट हो तुम्हारे अंशमें ही हो (स्वाहा) यह आहुति भली प्रकार गृहीत हो ॥ २२ ॥

अथवा–हे यजमान ! इसके द्वारा तुम्हारा आविर्भाव हुआ है इस क्षणमें तुम्हारे द्वारा इसका आविर्भाव हो यह स्वर्गलोकके निमित्त प्रस्तुत हो ॥ २२ ॥

विवरण–इस स्थलमें यजमानके मृत पिताका नामोल्लेख करै ॥ २२ ॥

इति श्रीनाथमन्दिरनिवासी वाजसनेयिमध्यन्दिनशाखिना पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये पितृमेधो नाम पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

शुभमस्तु

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः ३६.

ऋचंवाचम्पोडशर्च्चाःशांतिरर्थोद्धौचतुर्विंशतिः ॥ २४ ॥

शान्तिप्रकरणम् ।

कण्डिका १–मन्त्र १ । अनु० १ ।

ऋचंवाचम्प्रपद्येमनोयजुःप्रपद्येसामप्राणम्प्रपद्येचक्षुःश्रोत्रम्प्रपद्ये ॥वागोजःसहौजोमयिप्राणापानौ ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ ऋचं वाचमित्यस्य दधीच ऋषिः । जगतीछन्दः । लिङ्गोक्तादेवता । शान्तिपाठे वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) यह पंचाध्यायी आथर्वण दधीचऋषिद्वारा देखीहुई है "दध्यङ् ह वा आथर्वण एतꣳ शुक्रमेतं यज्ञं विदांचकार" इति [१४ । १ । १।२०] श्रुतेः केवल उग्रश्चेति ३९ । ७ यह मंत्र और अग्नि हृदयेन अध्यायसमाप्ति ३९।८–१३ पर्यन्त आश्वमेधिकको छोडकर शेषका ऋषि एक है । ऋचं वाचं इस अध्यायसे शान्तिकामना और प्रवर्ग्यके आदिमें पाठ करना चाहिये । मन्त्रार्थ–(ऋचम्) ऋचारूप (वाचम्) वाणीकी (प्रपद्ये) शरण होता हूं (यजुः) यजुरूप (मनः) मनकी (प्रपद्ये) शरण प्राप्त होताहूं (प्राणम्) प्राणरूप (साम) सामकी (प्रपद्ये) शरण होताहूं (चक्षुः) चक्षुइन्द्रिय (श्रोत्रम्) श्रोत्रइन्द्रियकी

(प्रपद्ये) शरण होताहूं (वागोजः) मन केवल (सहोजः) शारीरिक बल (प्राणापानौ) उच्छ्वास निःश्वास वायु (मयि) यह स्वस्थ होकर मुझमें स्थित हों ॥ १ ॥

विशेष-वागादि ग्रहणसे सप्तदश अवयवका उपलक्षण है सप्तदश अवयवयुक्त प्रजापतिका शरीर है, उसकी शरण होता है, त्रयीविद्यारूप लिङ्गशरीर है परमात्माकी कृपासे सब अवयव बलसम्पन्न हों ॥ १ ॥

कण्डिका २-मंत्र १ ।

यन्मेच्छिद्रञ्चक्षुषोहृदयस्यमनसोवातितृण्णम्बृहस्पतिर्म्मेतद्दधातु॥शन्नोभवतुभुवनस्ययस्पतिः २

ऋष्यादि-(१) ॐ यन्म इत्यस्य दधी० ऋ० । पंक्तिश्छन्दः । बृहस्पतिर्देवता । शान्तिपाठे वि० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ-(मे) मेरी (चक्षुषः) चक्षुइन्द्रियकी (यत्) जो (छिद्रम्) न्यूनता है (हृदयस्य) हृदयकी (वा) अथवा (मनसः) मनकी (अतितृणम्) न्यूनता है (बृहस्पतिः) परमात्मा (मे) मेरी (तत्) उस न्यूनता मन बुद्धिकी व्याकुलताको (दधातु) निवृत्तकरो (नः) हमारे निमित्त (शम्) कल्याण(भवतु) हो (यः) जो (भुवनस्य) सम्पूर्ण भुवनोंका (पतिः) अधिपति है । वह हमको सुखरूप हो अर्थात् त्रिभुवनके अधिपति देवता हमारा कल्याण करें ॥ २ ॥

कण्डिका ३-मन्त्र १.

भूर्भुवःस्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्भर्गोदेवस्यधीमहि ॥ धियोयोनः प्रचोदयात् ॥ ३ ॥

भूर्भुवरिति-इसकी व्याख्या ३ । ३५ में होगई. वि० पू० ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र १ ।

कयानश्चित्रऽआभुवदूतीसदावृधःसखा ॥ कयाशचिष्ठयावृता ॥ ४ ॥

कयानश्चित्रइति-इसकी व्याख्या २७ । ३९ में होगई वि० पू० [ऋ० ३ । ६ । २४] ॥ ४ ॥

कण्डिका५-मंत्र १ ।

कस्त्वासत्योमदानाम्मꣳहिष्ठोमत्सदन्धसः ॥ दृढाचिदारुजेवसु ॥ ५ ॥

कस्त्वेति-इसकी व्याख्या २७ । ४० में होगई वि० पू० ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मंत्र १ ।

अ॒भी षु ण॒ः सखी॑नामवि॒ता ज॑रितॄ॒णाम् ॥
श॒तम्भ॑वास्यू॒तिभि॑ः ॥ ६ ॥

अभीषुण इत्यस्य-इसकी व्याख्या २७ । ४१ में होगई । केवल उस स्थलमें 'शतंभवास्यूतये' और यहां (ऊतिभिः) पाठ है आशय यह कि हे देव ! (ऊतिभिः) पालनके हेतुसे आप (शतम्) अनेक रूप (भवासि) होते हो [ऋ० ३ । ६ । २४] ॥ ६ ॥

कण्डिका ७-मन्त्र १ ।

कया॑ त्वन्न॒ऽऊ॒त्याभि प्रम॑न्दसे वृषन् ॥
कया॑ स्तो॒तृभ्य॒ऽआभ॑र ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ कयात्वमित्यस्य दधी० ऋ० । गायत्री छं० । इन्द्रो देवता । शान्तिपाठे वि० ॥ ७ ॥

मंत्रार्थ-(वृषन्) हे सब कामनाओंके वर्षानेवाले (त्वम्) आप (कया) किस (ऊत्या) तृप्ति वा हविर्दानसे (नः) हमको (अभिप्रमन्दसे) प्रसन्न करते हो (कया) किस ऊतीद्वारा (स्तोतृभ्यः) स्तुति करनेवाले यजमानोंके निमित्त (आभर) धनदान करनेको लाते हो अर्थात् क्रियावश होकर स्तुति करनेवालोंको पूर्णमनोरथ करते हो [ऋ० ६ । ६ । १४] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १ ।

इन्द्रो॒ विश्व॑स्य राजति ॥ शन्नो॑ऽअस्तु
द्वि॒पदे॒ शञ्चतु॑ष्पदे ॥ ८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्र इत्यस्य द० ऋ० । द्विपदाविराट् छं० । इन्द्रो देवता । शान्तिपाठे वि० ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-(विश्वस्य) सबका (इन्द्रः) स्वामी परमेश्वर (राजति) प्रकाश करता है (नः) हमारे (द्विपदे) पुत्रादिमें (शम्) कल्याण (अस्तु) हो (चतुष्पदे) चौपायोंमें (शम्) कल्याण हो अर्थात् परमैश्वर्यसम्पन्न परम देवता इस सम्पूर्ण संसारका राजा है वह क्या द्विपद क्या चतुष्पदको निर्माण करकेही कल्याणविधानमें तत्पर रहता है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र १ ।

शन्नोमित्रःशंवरुणःशन्नोभवत्त्वर्य्यमा ॥ शन्नऽ इन्द्रोबृहस्प्पतिःशन्नोविष्णुरुरुक्क्रमः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ शन्न इत्यस्य द० ऋ० । अनुष्टुप्छं० । सूर्यो देवता । शान्तिपाठे वि० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–(मित्रः) मित्र देवता (नः) हमारे निमित्त (शम्) सुखरूप (भवतु) हो (वरुणः) भक्तके अंगीकार करनेवाले वरुण (शम्) सुखरूप हो (अर्यमा) भक्तके प्रति गमनशील अर्यमा (नः) हमारे निमित्त (शम्) सुख करै (इन्द्रः) देवेश (नः) हमको (शम्) कल्याण करै (बृहस्पतिः) देवगुरु और (उरुक्रमः) विस्तीर्ण पादन्यासवाले (विष्णुः) व्यापक विष्णु भगवान् (नः) हमारे (शम्) कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

विशेष–प्राणवृत्ति और दिवसका अभिमानी मित्र, अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी वरुण, चक्षु और सूर्यका अभिमानी अर्यमा बलका अभिमानी इन्द्र बुद्धिका बृहस्पति व्यापकका विष्णु यह हमको सुखकारी हों [ऋ० १ । ६ । १८] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र १ ।

शन्नोवातः पवताᳪंशन्नस्तपतुसूर्य्यः ॥ शन्नः कनिक्क्रदद्देवः पर्ज्जन्न्योऽअभिवर्षतु ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ शन्न इत्यस्य दधीच ऋषिः । अनुष्टुप्छं० । वाता-दयो देवताः । शान्तिपाठे वि० ॥ १० ॥

मंत्रार्थ–उसकी कृपासे (वातः) वायु (नः) हमको (शम्) सुखरूप (पवताम्) वहनकरो (सूर्यः) सूर्य (नः) हमको (शम्) कल्याणके निमित्त ताप दान करो (कनिक्रदत्) शब्दायमान (पर्जन्यः) मनुष्योंको जलसे तृप्त करनेवाला (देवः) देव (नः) हमको (शम्) सुखरूप होकर (अभिवर्षतु) वर्षा करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११–मंत्र १ ।

अहानिशम्भवन्तुनःशᳪंरात्रीःप्प्रतिधीयताम् ॥

शन्नऽइन्द्राग्नीभवतामवोभिः॒शन्नऽइन्द्रावरुणारा तहव्या ॥ शन्नऽइन्द्रापूषणावाजसातौशमिन्द्रासो मासुवितायशंय्योः॑ ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अहानीत्यस्य दधीच ऋषिः । द्विपदागायत्री छं० । अहोरात्र्यादयो देवताः । वि० पू० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-उसी परमात्माकी कृपासे (अहानि) सम्पूर्ण दिन (नः) हमारे निमित्त (शम्) कल्याणरूप (भवन्तु) हों (रात्रिः) सम्पूर्ण रात्री (शम्) कल्याण (प्रतिधीयताम्) विधान करें (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (अवोभिः) अपनी पालनाओंसे (नः) हमको (शम्) सुखरूप (भवताम्) हों (रातहव्यौ)वृष्टिप्रद (इन्द्रावरुणा) इन्द्र और वरुण (नः) हमको (शम्) कल्याण विधानकरें(वाजसातौ) अन्नके उत्पन्न करनेवाले (इन्द्रापूषणा) इन्द्र और पूषादेवता (नः) हमको (शम्) सुखकारी हों (इन्द्रासोमा) इन्द्र और सोमदेवता (सुविताय) श्रेष्ठ गमन वा श्रेष्ठ उत्पत्तिके निमित्त तथा(शम्) रोगोंके शान्तकरनेके निमित्त(योः) रोगभयके पृथक् करनेके निमित्त (शम्) सुखकारी हों अथवा सुखकारी इन्द्रसोम देवता हमको कल्याणकारी हों ॥ ११ ॥

विवरण-कोई कहते हैं मेघसंचरणादिककार्यके निदानरूप एक तेज है वह अग्निरूप होकर इन्द्रके अनुगत होताहै । वह यहां इन्द्राग्नि है, इन्द्रके अनुगत वर्षाधाराके उपयोगी वरुणदेवताको इन्द्रवरुण कहतेहैं, इन्द्रानुगत सूर्यरश्मिको इन्द्रापूषण, इन्द्रानुगत चन्द्ररश्मिको इन्द्रासोम कहते हैं ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १ ।

शन्नोदेवीरभिष्टयऽआपोभवन्तुपीतये ॥ शंय्योरभिस्रवन्तुनः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ शन्न इत्यस्य दधीच ऋषिः । गायत्रीछन्दः । आपो देवताः । वि० पू० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(देवीः) दीप्यमान (आपः) जल (नः) हमारे (अभिष्टये) अभिषेक अभीष्ट और (पीतये) पानके निमित्त (शम्) सुखरूप (भवन्तु) हों हमारे स्नानपानमें जल सुखरूप हों (शंयोः) रोगोंकेशमन और भयके पृथक् करनेमें (अभिस्रवन्तु) स्रवण करें १२ अर्थात् परमात्माके प्रसादसे जल हमको सुखकारी हों [ऋ० ७) ६ । ५] ॥ १२ ॥

विशेष–जहांसे नदी प्रकाशित होकर नाम धारण करती हैं उस गिरिपृष्ठादिकको भी 'यू' कहते है, जैसे गङ्गाका यू हिमगिरिमें गोमुखी है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मंत्र १ ।

स्योनापृथिविनोभवान्नृक्षरानिवेशनी ॥ यच्छांनुः शर्म्मसुप्रथाः ॥ १३ ॥

स्योनेति इसकी व्याख्या ३५।२१ में होगई. वि० पू० ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र १ ।

आपोहिष्ठामयोभुवस्तानऽउर्ज्जेदधातन ॥ महेरणायचक्षसे ॥ १४ ॥

आपोहिष्ठेति इसकी व्याख्या ११।५० में होगई. वि० पू० [ऋ० ७ । ६ ५] ॥ १४ ॥

कण्डिका १५–मंत्र १ ।

योवः शिवतमोरसस्तस्यभाजयतेहनः ॥ उशतीरिवमातरः ॥ १५ ॥

योवःशिवतम इति ११।५१ में व्याख्या होगई [ऋ० ७।६।५] ॥ १५ ॥

कण्डिका १६–मंत्र १ ।

तस्माऽअरङ्गमामवोयस्यक्षयायजिन्वथ ॥ आपोजनयथाचनः ॥ १६ [१६]

तस्माअरमिति ११।५२ में इसकी व्याख्या होगई. वि० पू० [ऋ० ७ । ६ । ५] ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र १ । अनु० २ ।

द्यौःशान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवीशान्तिरापःशान्तिरोषधयःशान्तिः ॥ वनस्पतयःशान्तिर्विश्वेदेवाःशान्तिर्ब्रह्मशान्तिःसर्वꣳशान्तिःशान्तिरेवशान्तिःसामाशान्तिरेधि ॥ १७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ द्यौरित्यस्य दधीच ऋषिः । शक्करी छं० । विश्वेदेवा देवताः । शान्तिपाठे वि० ॥ १७ ॥

मन्त्रार्थ-(द्यौः) द्युलोकरूप (शान्तिः) जो शान्ति है (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षरूप (शान्तिः) शान्ति (पृथिवी) पृथिवीरूप (शान्तिः) शान्ति (आपः) जलरूप (शान्तिः) शान्ति (ओषधयः) ओषधीरूप (शान्तिः) शान्ति (वनस्पतयः) वनस्पतिरूप (शान्तिः) शान्ति (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा-सम्बन्धी (शान्तिः) शान्ति वा सर्वदेवरूप शान्ति (ब्रह्म) त्रयीलक्षणयुक्त (शान्तिः) शान्ति (सर्वम्) सर्वजगत्रूप जो (शान्तिः) शान्ति है (शान्तिः एव) स्वरूपसे ही जो शान्ति है (सा) वह शान्ति (मा) मेरे प्रति (एधि) हो अर्थात् यह सब मुझको शान्तरूप हो ॥ १७ ॥

भावार्थ-उसीके प्रसादसे द्युलोकमें शान्ति विराजमान है, अन्तरिक्षमें शान्ति पृथ्वीमें शान्ति है, देखो जल शान्तिकारक, सब ओषधी भी शान्तिकारक, वनस्पतियोंसे भी शान्ति लाभ होती है. अधिक क्या सम्पूर्ण द्युतिमान् पदार्थ शांति के उपकरण हैं जो परम देवता ब्रह्म है वह भी जिस समय शान्तिमय है, तब समस्त सृष्ट पदार्थ अवश्य शान्तिमय हैं शान्ति सर्वत्र है ही इसी शान्तिके उपभोगमें हम समर्थ हों ॥ १७ ॥

कण्डिका १८-मंत्र १ ।

दृते॒ दृꣳह॑ मा मि॒त्रस्य॑ मा॒ चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ स॒मीक्ष॑न्ताम् ॥ मि॒त्रस्या॒हं चक्षु॑षा॒ सर्वा॑णि भू॒तानि॒ स॒मीक्षे ॥ मि॒त्रस्य॒ चक्षु॑षा॒ स॒मीक्षा॑महे ॥ १८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृत इत्यस्य दधीच ऋषिः । भुरिगार्षी जगती छन्दः । महावीरो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ-(दृते) हे सेचनसमर्थ देव ! (मा) मुझको (दृंह) दृढ कीजिये (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणी (मा) मुझको (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) नेत्रोंसे (समीक्षन्ताम्) अवलोकन करें (अहम्) मैं (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणियोंको (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) चक्षुसे (समीक्षे) देखता हूं, अर्थात् सब मुझे प्यारे हों अर्थात् मित्रचक्षु शान्त होती है, न मित्र किसीको मारता न मित्रको कोई मारता है, इस प्रकार परस्पर किसीको अहित न विचारते हम (मित्रस्य) मित्रकी (चक्षुषा) चक्षुसे (समीक्षामहे) सबको अवलोकन करें ॥ १८ ॥

विशेष-दृतिशब्दसे शरीरका भी लक्ष्य होता है उसमें स्थित देवका सम्बोधन है ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

दृते दृꣳह मा ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासं ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ दृत इत्यस्य दधीच ऋषिः । आर्ष्युष्णिक्छन्दः । महावीरो देवता । शान्तिपाठे वि० ॥ १९ ॥

मन्त्रार्थ-(दृते) हे महावीर परम देव ! (मा) मुझको (दृंह) दृढ करो (ते) तुम्हारी (सन्दृशि) दृष्टिमें वा आपके दर्शनमें (ज्योक्) चिरकालतक (जीव्यासम्) मै जीवित रहूं (ते) आपके (संदृशि) दर्शन करता (ज्योक्) दीर्घ कालतक (जीव्यासम्) मैं जीवित रहूं ॥ १९ ॥

आशय-यह कि इस प्रकारसे सर्व प्रिय होकर ही दीर्घ जीवनकी प्रार्थना करताहूं विवादकी इच्छा नहीं है ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे ॥ अन्याँस्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव ॥ २० ॥

ॐ नमस्त-इति इसकी व्याख्या १७ । ११ में होगई वि० पू० ॥ २० ॥

भावार्थ-हे अग्ने ! परमात्मन् ! दीप्तिका कारण जो तुम्हारी तेजस्वरूप ज्वाला है उसको नमस्कार तुम्हारी यह ज्वाला हमारे दुर्वृत्तोंको सन्तप्त करे हमारे निमित्त तुम्हारा (पावक) शोधक नाम और शिव नाम सार्थक हो ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ॥ नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ नमस्त इत्यस्य दधीच ऋषिः । अनुष्टुप्छन्दः । विद्युत्स्तनयित्नुरूपे देवते । शान्तिपाठे वि० ॥ २१ ॥

मन्त्रार्थ-हे भगवन् ! (ते) आपके (विद्युते) विद्युतरूपके निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (स्तनयित्नवे) गर्जनारूप (ते) आपके निमित्त (नमः) नमस्कार है (यतः) जिस कारण (स्वः) स्वर्गसुख देनेको (समीहसे) चेष्टा करते हो इस कारण (ते) आपके निमित्त वारंवार (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो अर्थात् आपके अनेकरूप हैं आप सब प्रकार हमारे सुखके निमित्त यत्न करते हो आपको प्रणाम है ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मन्त्र १ ।

यतो॑यतः समी॒हसे॒ ततो॑ नो॒ऽअभ॑यङ्कुरु ॥
शन्नः॑ कुरु प्र॒जाभ्यो॒ऽभ॑यन्नः प॒शुभ्यः॑ ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यत इत्यस्य दधीच ऋ० । भुरिक्प्राजापत्या त्रिष्टुप्छं० परमेश्वरो दे० । वि० पू० ॥ २२ ॥

मंत्रार्थ-हे भगवन् ! आप (यतः) जिस (यतः) जिस रूपसे (समीहसे) चेष्टा करते हो, अथवा जिस जिस दुश्चरित्रसे हमको बचानेकी इच्छा करते हो, अथवा जिस समय हमको सब प्रकार सुख करनेके निमित्त इच्छा करते हो (ततः) उस (ततः) उस रूपसे वा दुश्चरित्रसे वा चेष्टासे (नः) हमको (अभयम्) भय रहित (कुरु) करो (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओंके निमित्त (शम्) सुख (कुरु) करो (नः) हमारे (पशुभ्यः) पशुओंके निमित्त (अभयम्) अभय कीजिये अर्थात् हमारी प्रजा और पशु भयरहित होकर आपके दिये सुखभोगमें समर्थ हों ॥ २२ ॥

विशेष-यह मंत्र प्रतिमाअर्चनमें भी पढे जाते है वा आप जिस जिस अवतारसे चेष्टा करते हो उस चरित्रसे हमको पापरहित करो ॥ २२ ॥

कण्डिका २३-मन्त्र १ ।

सु॒मि॒त्रि॒या न॒ऽआप॒ऽओष॑धयः सन्तु दु॒र्मि॒त्रि॒यास्तस्मै॑ सन्तु॒ यो॒ऽस्मान्द्वेष्टि॒ यं च॑ व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २३ ॥

सुमित्रियान-इति इसकी व्याख्या अ०६मंत्र २२ में होगई वि० पू०॥२३॥

कण्डिका २४-मंत्र १ ।

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त् ॥ पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रदः॑ श॒तम्प्र

ब्रवामशरदः शतमदीनाऽस्यामशरदः शतम्भू
यंश्चशरदः शतात् ॥ २४ ॥

इति संहितादीर्घपाठे षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

ऋष्यादि—(१) ॐ तच्चक्षुरित्यस्य दधीच ऋषिः । ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ २४ ॥

मन्त्रार्थ—(तत्) वह (देवहितम्) देवताओंद्वारा स्थापित अथवा देवताओंके हितकारी (चक्षुः) जगत्के नेत्रभूत (शुक्रम्) शुक्र, मलसे रहित शुद्ध वा प्रकाशरूप (पुरस्तात्) पूर्व दिशामें (उच्चरत्) उदय होता है परमात्माके प्रसादसे (शतम्) सौ (शरदः) शरद पर्यन्त (पश्येम) देखैं अर्थात् शतवर्ष पर्यन्त हमारे नेत्र इन्द्रियकी गति निर्बल न हो (शतम्) सौ (शरदः) शरद ऋतुओंतक (जीवेम) अपराधीन होकर जियें (शतम्) सौ (शरदः) शरदपर्यन्त (शृणुयाम) स्पष्ट श्रोत्रइन्द्रियवाले हों (शतम्) सौ (शरदः) शरद पर्यंत (प्रब्रवाम) अस्खलित वाणीयुक्त रहे (शतम्) सौ (शरदः) शरदपर्यंत (अदीनाः) दीनतारहित (स्याम) हों (शतात्) सौ (शरदः) शरद ऋतुओंसे (भूयः) अधिक काल पर्यन्तभी देखैं सुनैं और जीवित रहैं ॥ २४ ॥

सरलार्थ—हम जिसप्रकार शतवर्ष जीवन लाभमें समर्थ हो और जीवनके शेष काल पर्यन्त परम देवताद्वारा नभोमण्डलमें स्थापित इस शुक्लवर्ण जगत् चक्षुकी गतिदर्शनमें समर्थ हो तबतक हमारी श्रवणेन्द्रिय क्षमताहीन न हो, वागिन्द्रियमें दोष न हो, हीनभावको प्राप्त न हों, शत शरत्कालके व्यतीत होनेपर भी अथवा जन्मान्तरमें भी इसी प्रकार हों यही प्रार्थना है ॥ २४ ॥

विशेष—इसका सूर्योपस्थानोंमें भी पाठ होता है यह सब परमात्माकी प्रार्थना उपासनाके मन्त्र हैं ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्सकलगुणसम्पन्नहरिहरगाथारसरसिकस्वर्गीयश्रीमत्सुखानन्दसूनु-
पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्ये यजुर्वेदीयमाध्यान्दिनी-
यायां वाजसनेयिसंहितायां षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः ३७.

देवस्यत्त्वादशयमायत्त्वैकादशद्वावेकविꣳशतिः ॥ २१ ॥

[प्रवर्ग्यप्रकरण]

कण्डिका १-मंत्र १. अनु० १ ।

देवस्यंत्त्वासवितुःप्प्रसवेऽश्विनोर्बाहुब्भ्याम्पूष्णो हस्ताब्भ्याम् ॥ आददेनारिरसि ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देवस्येत्यस्य दधीच ऋषिः । निच्यृदार्ष्युष्णिक्छं० अभ्रिर्देवता । अभ्रिग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठपूर्वक उदुम्वर 'गूलर' अथवा विकंकत 'कंटाई' वृक्षकी वनीहुई अरत्निप्रमाण अभ्रिको ग्रहण करै [का० २६।१।१३] मन्त्रार्थ-हे अभ्रि ! (सवितुः) सबके प्रेरक (देवस्य) देवकी (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) अश्विदेवताकी (वाहुभ्याम्) भुजा (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथोंसे (त्वा) तुझको (आददे) ग्रहण करताहूं तुम (नारिः) स्त्री नाम्नी अथवा शत्रुशून्य (असि) हो ॥ १ ॥

विवरण-प्रवर्ग्य कोई विशेष यज्ञ नहीं है, यह अश्वमेधयज्ञका शिरोभूत एक विशेष यज्ञाङ्ग है मन्त्रसे पवित्रकर अभ्रि ग्रहणकर उससे मृत्तिकाखननादि कर महावीरनिर्माणसे प्रारम्भकर उसके द्वारा घर्म प्रस्तुत करके अनेक आहुति दान पर्यन्त क्रियाकांडको प्रवर्ग्य कांड कहते हैं और इस आहुतिसाधन अग्निको प्रवर्ग्याग्नि कहते हैं [३७।३८।३९]

इन तीन अध्यायमें इस प्रधान क्रियाका अनुष्ठान है ३७ अध्यायमें महावीर-निर्माणादि ३८ में घर्मग्रहणादि, घर्मआहुति पर्यन्त श्रुत हुआ है ३९ में यदि महावीर भग्नादि कोई विघ्न उपस्थित होजाय तो उसका प्रायश्चित्त है, महावीरद्वारा मन्दाग्निमें दुग्ध आवर्तनपूर्वक बहुत शर प्रस्तुत करके उसमें घृत डालकर उससे घर्म निर्माण करनेका साधन है. एक प्रकारके कढाहमें दुग्धके वनाये शरद्वारा अथवा दुग्ध जमाकर दधिके शरसे उत्पन्न स्नेहरूप पदार्थ विशेषको घर्म कहते हैं. इस घर्मके प्रस्तुत करनेके निमित्त जिस २ उत्कृष्ट गायका दूध ग्रहण किया जाता है उसको घर्मदुघा कहते हैं, पुरोडाश सोमादिसे इन्द्रादि देवताओंका सन्तोष साधन जिसप्रकार यज्ञका प्रधान कार्य है, घर्म प्रस्तुत करके उसके द्वारा देवताओंका

सन्तोष करना उससे अधिक है इसीकारण प्रवर्ग्यकाण्डको मखशिर अर्थात् यज्ञका मस्तक स्वरूप प्रधान अंग कहकर श्रुतिने सम्पादन किया है ॥ १ ॥

शर–दूधका सारभाग । दहीका सारभाग ।

कण्डिका २–मंत्र १ ।

युञ्जतेमनंऽउतयुञ्जतेधियोविप्राविप्रस्यबृहतोविपश्चितः ॥ विहोत्रादधेवयुनाविदेकऽइन्मही देवस्यसवितुःपरिष्टुतिः ॥ २ ॥

विधि–(१) गृहीत अग्नि बायें हाथमें धारण करके दक्षिण हाथ द्वारा स्पर्श करके यह मंत्रपाठ करै [का० २६ । १] ॥ २ ॥

युञ्जतेमन–इसकी व्याख्या ५ । १४ में होगई [ऋ० ४ । ४ । २४ परिष्टुति-पर्यन्त] ॥ २ ॥

कण्डिका ३–मंत्र १ ।

देवीद्यावापृथिवीमखस्यवामद्यशिरोराध्यासन्देवयजनेपृथिव्याः॥मखायत्त्वामखस्यत्त्वाशीर्ष्णे॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवीत्यस्य दधीच ऋषिः । ब्राह्मी गायत्री छन्दः । द्यावापृथिवी देवते । मृत्पिण्डग्रहणे वि० ॥ ३ ॥

विधि–(१) यह मंत्रपाठ करके दोनों हाथोंसे विघण मृत्पिण्ड ग्रहण करै [का० २६ । १ । ४] ज्योतिर्विशिष्ट अर्थात् पुरीषाग्नियुक्त मृत्तिकाको विघण कहते हैं । मंत्रार्थ–(देवी) दीप्यमान (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिवी ! (अद्य) आज (पृथिव्याः) पृथिवीके (देवयजने) देवयजनयोग्य स्थानमें (वाम्) तुम्हारा अंश मृत्तिका और जल लेकर (मखस्य) यज्ञका (शिरः) शिर महावीर (राध्यासम्) सम्पादन करताहूं हे मृत्पिण्ड ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुझको ग्रहण करताहूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४–मन्त्र १ ।

देव्योवम्म्योभूतस्यप्प्रथमजामखस्यवोद्यशिरोराध्यासन्देवयजनेपृथिव्याः ॥ मखायत्त्वामखस्यत्त्वाशीर्ष्णे ॥ ४ ॥ शतम् १९०० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ देव्य इत्यस्य द० ऋषिः । आर्षी पंक्तिश्छन्दः । वल्मीकवपा देवता । वल्मीकवपायाः कृष्णाजिनोपरि स्थापने वि०॥४॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके वल्मीकवपाग्रहणपूर्वक विछाये हुए कृष्णाजिन पर रक्षित मृत्पिण्डके उत्तरमें मौन हो स्थापन करै [का० २६ । १ । ५-६] मन्त्रार्थ-(भूतस्य) प्राणिसमूहसे (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (देव्यः) दीप्तिमान् (वम्र्यः) हे उपजिह्वकाओ ! (वः) तुमको लेकर (पृथिव्याः) पृथ्वीके (देवयजने) देवयजन स्थानमें (मखस्य) यज्ञके (शिरः) शिरस्वरूप महावीरको (अद्य) इस समय (राध्यासम्) सम्पादन करता हूं (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं ॥ ४ ॥

विशेष-पृथ्वी सब प्राणियोंसे प्रथम प्रगट हुई उसके सम्बन्धसे उपजिह्वका प्रथमजा कही है, बांबीकी चिकनी मृत्तिका वल्मीकवपा कहाती है ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १ ।

इयत्त्यग्ग्रंऽआसीन्मुखस्यंतेद्यशिरौराद्ध्यासन्देवयजनेपृथिव्याः॥मुखायंत्त्वामुखस्यंत्त्वाशीर्ष्णे ॥५॥

ऋष्यादि-(१) ॐ इयत्यग्र इत्यस्य दधीच ऋषिः।ब्राह्मी गायत्री छं० । मृद्देवता । वल्मीकवपोत्तरे वराहविहितमृदःस्थापने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठ करके वराहकी खोदी मृत्तिका ग्रहण करके इस कृष्णाजिनपर रक्खी वल्मीकवपाके उत्तरमें मौन हो स्थापन करै [का० २६ । १ । ७] मन्त्रार्थ-पृथिवी (अग्रे) वराहके उद्धरणसमयमें (इयती) इतनी अर्थात् प्रादेशमात्र (आसीत्) थी (अद्य) अब (ते) तुमको लेकर (पृथिव्याः) पृथ्वीके (देवयजने) देवयजन स्थानमें (मखस्य) यज्ञका (शिरः) शिर (राध्यासम्) सम्पादन करताहूं (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको लेताहूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरोरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं ॥ ५ ॥

प्रमाण-"इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री" इत्यादि । "वराह उज्जघान सोस्याः पातिः" इत्यादि श्रुतेः [१४।१।२।११] प्रथम पृथ्वीका विस्तार बहुत अल्प था क्रमसे बृहद्वयवसम्पन्न हुई है जिस समय भगवान् वराहने उद्धार किया. पृथ्वीके उद्धार करनेवाले रूपको वराह कहते हैं ॥ ५ ॥

कण्डिका ६–मंत्र ३.

इन्द्रस्यौजंस्त्थमुखस्यंवोद्यशिरौराद्ध्यासन्देवय जंनेपृथिव्याः ॥ मुखायंत्त्वामुखस्यंत्त्वाशीष्णर्णे ॥ मुखायंत्त्वामुखस्यंत्त्वाशीष्णर्णे ॥ मुखायंत्त्वामुख स्यंत्त्वाशीष्णर्णे ॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐइन्द्रस्येत्यस्य दधीच ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । आदारो देवता । कृष्णाजिने वराहविहितोत्तरे पूतिकास्थापने वि० । (२) ॐमखायेत्यस्यासुरी त्रिष्टुप्छं० । सम्भारपयसी देवते । पूतिकोत्तरेपयः–स्थापने विनि० । (३) ॐमखायेत्यस्य करेण सम्भारस्पर्शने वि० ॥६॥

विधि–(१) इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठ करके कुछेक पूतिका रोहिष तृणादि ग्रहण करके इस वराहोत्खात मृत्तिकाके उत्तरमें मौन हो स्थापन करै [का० २६ । १ । ८] मन्त्रार्थ–हे पूतिकासमूह ! तुम (इन्द्रस्य) इन्द्रके वा ऐश्वर्यसम्पन्न यजमानके (ओजः) तेजरूप (स्थ) हो (पृथिव्याः) पृथिवीके (देवयजने) देवयजन स्थानमें (अद्य) अव तुमको लेकर (मखस्य) यज्ञके (शिरः) शिरस्वरूप महावीरको (राध्यासम्) सम्पादन करताहूं (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिर स्वरूप कार्यसम्पादनके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं १ । विधि–(२) दूसरा मंत्र पाठकर अजादुग्ध ग्रहण पूर्वक इस कृष्णाजिनपर धरे पूतिकासमूहके उत्तरमें मौन हो स्थापन करै [का० २६ । १ । ९] मन्त्रार्थ–हे दुग्ध ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिर स्वरूप महावीरनिर्माणके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करताहूं २ । विधि–(३) तीसरा मंत्र पाठ करके कुछेक गवेधुका 'गुरसकरी' ग्रहणकर कृष्णाजिनपर स्थित अजादुग्धके उत्तर मौनहो स्थापन करै, संभारोंको हाथसे स्पर्शकरै [का० २६ । १ । ११] मन्त्रार्थ–हे गवेधुकासमूह ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको स्पर्श करताहूं (मखाय) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरोरूप (त्वा) तुमको स्पर्श करताहूं ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मंत्र ४.

प्रैतुब्रह्मणस्प्पतिःप्प्रदेव्येतुसूनृता ॥ अच्छावीरन्नर्य्यम्पुङ्क्तिराधसन्देवायज्ञन्नयन्तुनः ॥ मुखायं

त्वामुखस्यत्वाशीर्ष्णे ॥ मुखायत्वामुखस्यत्वा शीर्ष्णे ॥ मुखायत्वामुखस्यत्वाशीर्ष्णे ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मैत्वित्यस्य दधीच ऋषिः । बृहती छन्दः । सम्भारा देवताः । अध्वर्युप्रतिप्रस्थात्रादिभिः परिवृत्तं प्रति गमने विनियोगः । (२-३-४) ॐ मखायेतित्रयाणां मंत्राणामासुरी त्रिष्टुप्छन्दः । सम्भारा देवताः । परिवृत्ते सम्भारस्थापने विनियोगः । ॐमखायेत्यस्य सम्भारैर्मृत्पिण्डमिश्रणे वि० ॥ ७ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाका प्रथम मंत्र पाठ करके अध्वर्यु और प्रतिप्रस्थाता आदि कितने एक ऋत्विक् इस सम्भार मृत्पिण्ड वल्मीकवपा वराहोत्खात मृत्तिका पूतिका अजादुग्ध और गवेधुका इन सबको कृष्णाजिन पर सावधानीसे रखकर परिवृत स्थानमें लावै । पांच अरत्निपरिमित समान चौकोन सिकताद्वारा लिप्त, समभूसंस्कारसे संस्कृत, पूर्वद्वारी चन्द्रातपादि आच्छादनसे अच्छादित, स्थानको परिवृत कहते हैं. यह सम्भारस्थापनादिक्रियाके निमित्त ही पूर्वसे निर्मित होता है [का० २६ । १ । १२] मन्त्रार्थ-मैत्विति इसकी व्याख्या ३३ । ८९ में होगई १। विधि-(२) दूसरा मंत्रपाठ करके इस कृष्णाजिनको परिवृत वेदीमें स्थापन करै [का० २६ । १ । १३-१४] मन्त्रार्थ-हे सम्भारो ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको इस स्थानमें स्थापन करताहूं २ । विधि-(३) तीसरा मंत्र पाठ करके वल्मीकवपा आदि तीन सम्भारोंको मृत्पिण्डमें मिश्रित करै [का० २६ । १ । १५] मन्त्रार्थ-हे चारों सम्भार (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको मिलाता हूं (मखस्य) यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको मिश्रित करता हूं ३ । विधि-(४) चौथा मंत्र पाठ करके वल्मीकवपादिमिश्रित मृत्पिण्डद्वारा एक एक क्रमसे तीन महावीर निर्माण करै [का० २६ । १ । १६] यह महावीर प्रादेश मात्र ऊंचे गर्तयुक्त मेखलायुक्त मध्यमें संकुचित मेखलाके ऊपर तीन अंगुल ऊंचे होने चाहियें । मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको करताहूं तथा (मखस्य) यज्ञके शिरस्वरूप प्रधानकार्यके निमित्त (त्वा) तुमको करताहूं [ऋ० १ । ३ । २० नः पर्यन्त] ॥ ७ ॥

प्रमाण-"अथ मृत्पिण्डमुपादाय महावीरं करोति मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे" इति [श० १४।१।२।१७] श्रुतेः । "अथास्योपरिष्टात्त्र्यंगुलमुखमुन्नयति नासिका-मेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [१४ । १ । २ । १७] ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मंत्र १।

मखस्यशिरौंसि ॥ मखायंत्त्वामखस्यंत्त्वाशीर्ष्णे ॥
मखस्यशिरौंसि ॥ मखायंत्त्वामखस्यंत्त्वाशीर्ष्णे ॥
मखस्यशिरौंसि ॥ मखायंत्त्वामखस्यंत्त्वाशीर्ष्णे ॥
मखायंत्त्वामखस्यंत्त्वाशीर्ष्णेमखायंत्त्वामखस्यं त्त्वाशीर्ष्णे ॥ मखायंत्त्वामखस्यंत्त्वाशीर्ष्णे ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐमखायत्वेत्यस्य दधीच ऋषिः। प्राजापत्यानुष्टुप्छन्दः। महावीरो देवता। दक्षिणकरेण वामकरस्थमहावीरस्पर्शने वि०। (२) ॐ मखायत्वेत्यस्य द्वितीयमहावीरस्पर्शने विनीयोगः। (३) ॐमखायत्वेत्यस्य तृतीयमहावीरस्पर्शने वि०। (४) ॐ मखायत्वेत्यस्य गवेधुकाभिः प्रथममहावीरमृदुकरणे वि० (५) ॐ मखायत्वेत्यस्य द्वितीयमहावीरमृदुकरणे वि० (६) ॐमखायत्वेत्यस्य तृतीयमहावीरमृदुकरणे विनियोगः ॥ ८ ॥

विधि–(१) इस कण्डिकाके प्रथम मन्त्रसे वाम हाथमें स्थित प्रथम महावीर को दक्षिण हाथद्वारा स्पर्श करै [का० २६। १।१७] मन्त्रार्थ–हे महावीर! तुम (मखस्य) यज्ञके (शिरः) शिरस्वरूप (असि) हो (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको निर्माण करता हूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको स्पर्श करता हूं १। विधि–(२) दूसरे मन्त्रसे वामकरस्थ द्वितीय महावीरको दक्षिण हस्तसे स्पर्श करै [का० ६। १। १९] मन्त्रार्थ–हे महावीर ! तुम (मखस्य शिरोऽसि) यज्ञके शिरस्वरूप हो (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको स्पर्श करता हूं २। विधि–(३) तीसरे मन्त्रसे वामहाथमें स्थिर तीसरे महावीरको दक्षिण हाथसे स्पर्श करै [का० २६। १। १९] मन्त्रार्थ–हे महावीर ! तुम (मखस्य शिरोऽसि) यज्ञके शिरस्वरूप हो (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके शिरस्वरूप प्रधानकार्यके निमित्त तुमको स्पर्श करता हूं ३। विधि–(४) चतुर्थ मन्त्र पाठ करके कितनी एक गवेधुकाद्वारा घर्षण करके प्रथम महावीरको चिक्कण करै [का० २६। १। २२] [गवेधुका चैनावास्य-हुआ मुनिअन्न गडगडधान्य] मन्त्रार्थ–हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप तुमको चिक्कण करता हूं १। विधि–(५) पंचम मन्त्र पाठ करके गवेधुकाओंसे दूसरे महावीरको चिक्कण करै।

मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको चिक्कण करता हूं २ विधि-(६) छठा मंत्र पाठ करके कुछ गवेधुकाओं द्वारा तीसरे महावीरको चिकना करै। मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखायत्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको चिकना करता हूं ॥ ८ ॥

विचार-महावीर निर्माण आदिके मंत्रोंमें मुखनासिकाआदि सवहीका बनाना लिखा है इसीप्रकार भगवद्विग्रहकीभी कल्पना करते हैं इससे यह विदित है कि मूर्ति निर्माण कर उसमें उस २ देवताकी प्रतिष्ठा प्राणादिका जो सूक्ष्म स्थापन किया जाता है, वह वेदप्रतिपादितही है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मंत्र ६।

अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ अश्वस्य त्वा वृष्णः शक्ना धूपयामि देवयजने पृथिव्याः ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐअश्वस्येति त्रयाणां मंत्राणां दधीच ऋषिः। आर्षी पंक्तिश्छन्दः। महावीरो देवता। अश्वपुरीषेण त्रयाणाम्महावीराणां धूपने विनियोगः। (४-५-६) ॐ मखस्येति त्रयाणां महावीराणां श्रपणे विनियोगः ॥ ९ ॥

विधि-(१)इस कण्डिकाके प्रथमादि तीन मंत्र यथाक्रमसे पाठ करके यथाक्रमसे तीनों महावीरोंको प्रदीप्त दक्षिणाग्निमें सात २ घोडेकी लीदकी पिण्डीसे अन्तर वाहर सव ओर दीपित करै [का० २६ । १।२३] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (पृथिव्याः) पृथ्वीके(देवयजने) देवयजन स्थानमें (त्वा) तुमको (मखाय) यज्ञके निमित्त (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप यज्ञके कार्यनिमित्त (त्वा)

तुमको (वृष्णः) सेचनमें समर्थ (अश्वस्य) अश्वकी (शक्ना) लीदद्वारा (धूपयामि) धूपित करता हूं १ । विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे पूर्ववत् दूसरे महावीरको धूपित करै । मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञकार्यके निमित्त तुमको धूपित करता हूं २ । विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे तीसरेको धूपित करै । मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरोरूप कार्य करनेका तुमको धूपित करता हूं ३ । विधि-(४-५-६) चतुर्थादि तीन मन्त्र पाठ करके प्रत्येक महावीरको पिन्वरोहिणके साथ उखाकी समान पक्व करै [का० २६ । १ । २ । ४] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको पक्व करताहूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिर स्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको पक्व करताहूं ४ । हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके प्रधान कार्यके निमित्त तुमको पक्व करता हूं ५ । हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त तुमको पक्व करताहूं ॥ ९ ॥

प्रमाण-"अथैनान्धूपयति" इति [श० १४।१।२।२०] ॥ ९ ॥

कण्डिका १०-मंत्र ६ ।

ऋजवेँत्त्वासाधवेँत्त्वासुक्षित्यैत्त्वा॥ मखायँत्त्वामखस्यँत्त्वाशीर्ष्णे॥मखायँत्त्वामखस्यँत्त्वाशीर्ष्णे ॥ मखायँत्त्वामखस्यँत्त्वाशीर्ष्णे ॥ १० ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१-२-३)ॐऋजवेइतिमंत्राणां दधीच ऋषिः।बृहती छन्दः । महावीरो देवता । पक्वानाम्महावीराणामुद्धरणे वि० । ॐमखायेत्यादि (४-५-६) मंत्राणामजादुग्धेन महावीरसिंचने वि० ॥ १० ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके प्रथमादि तीन मन्त्रोंसे सुपक्व तीनों महावीरोंको यथाक्रम अग्निसे निकाले [का० २६ । १ । २५] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (ऋजवे) ऋजु देवताकी प्रीतिके निमित्त अर्थात् सत्य वा आदित्यके निमित्त सुपक्व करके (त्वा) तुमको उद्धृत करता हूं १ । "स उद्वपत्यृजवे त्वेत्यसौ वै लोक ऋजुः सत्यꣳह्यृजुः सत्यमेष य एष तपत्येष उ प्रथमः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाहर्जवे त्वा" इति [श० १४।१।२।२२] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (साधवे) अन्तरिक्षमें स्थित वायुदेवताकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको अग्निमें पक्वकर निकालता हूं । तथाच श्रुतिः "साधवे त्वेत्यहꣳसाधुर्योयं पवत एष हीमान्लोकान् सिद्धोनुपवत एष उ द्वितीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह साधवे

त्वेति" [श० १४।१।२।२३] २ । हे महावीर ! (सुक्षित्यै) भूलोक और उसमें स्थित अग्निकी प्रीतिके अर्थ (त्वा) तुमको अग्निपक्ककर निकालता हूं "सुक्षित्यै त्वेत्ययं वै लोकः सुक्षितिरस्मिन् हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्यथोऽग्निर्वै सुक्षितिरग्निर्ह्येवास्मिन् लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्त्येष उ तृतीयः प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह सुक्षित्यै त्वेति" इति श्रुतेः [श० १४।१।२।२४] ३ विधि-(४-५-६) चतुर्थादि तीन मन्त्रोंसे तीनों महावीरोंको अजादुग्धसे सिञ्चित करै [का० २६।१।२६] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (मखाय) यज्ञके निमित्त (त्वा) तुमको सीञ्चता हूं (मखस्य) यज्ञके (शीर्ष्णे) शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त (त्वा) तुमको अजादुग्धसे सीञ्चता हूं ४ । हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त सीञ्चता हूं ५ । हे महावीर ! (मखाय त्वा मखस्य त्वा शीर्ष्णे) यज्ञके निमित्त यज्ञके शिरस्वरूप प्रधान कार्यके निमित्त अजादुग्धसे तुमको सीञ्चता हूं ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र ६. अनु० २ ।

य॒माय॑त्वा म॒खाय॑त्वा॒सूर्य॑स्य त्वा॒तप॑से ॥ दे॒वस्त्वा॑सवि॒ता मध्वा॑नक्तु पृथि॒व्याः सꣳस्पृश॑स्पाहि ॥ अ॒र्चिर॑सि शो॒चिर॑सि॒तपो॑सि ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१-२-३) ॐयमायेत्यस्य, मखायेत्यस्य, सूर्यस्येत्यस्य च दधीच ऋ० । दैवी बृहती छं०।महावीरो देवता।महावीरप्रोक्षणे वि०।(४) ॐदेव इत्यस्य जगती छन्दः । सविता देवता । आज्येन महावीरलेपने वि० । (५) ॐ पृथिव्या इत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छं०।रजतं देवतम् । खरे रजतोपगूहने वि० । (६) ॐअर्चिरित्यस्यासुरी पंक्तिश्छं० । महावीरो दे० । प्रचरणीस्थापने वि० ॥ ११ ॥

विधि-(१-२-३) ब्रह्मानामक ऋत्विक् इन सम्पूर्ण महावीरोंको देखकर व्यवहार उपयुक्त हुए ऐसा जानकर व्यवहारकी आज्ञा दे । अध्वर्यु व्यवहारके निमित्त जिस महावीरको ग्रहण करै उसे इस कण्डिकाके तीन मन्त्रोंसे तीन वार प्रोक्षण करै [का० २६ । २ । १३] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (यमाय) सबके नियमन करनेवाले आदित्यकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको प्रोक्षण करता हूं "स प्रोक्षति यमाय त्वेत्येष वै यमो य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं यमयत्येतेनेदꣳ

सर्वे यतमेष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वा" इति श्रुतेः [श० १४ । १ । ३ । ४] १ । हे महावीर ! (मखाय) यज्ञसिद्धिके निमित्त वा सूर्यरूप यज्ञसिद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको प्रोक्षण करता हूं "एष वै मखो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेतमेवैतत्प्रीणाति तस्मादाह मखाय त्वेति" श्रुतेः [श० १४ । १ । ३ । ५] हे महावीर ! (सूर्यस्य) सूर्यके (तपसे) तेजोरूप प्रवर्ग्यके निमित्त (त्वा) तुमको प्रोक्षण करता हूं "एष वै सूर्यो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यस्तदेव मेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह सूर्यस्य त्वा तपसे" इति श्रुतेः [श० १४।१। ३।५–६] **विधि**–(४) होताके 'अञ्जन्ति यं प्रथमयन्ति' मंत्र पढनेके समय अध्वर्यु विधिपूर्वक आज्यसंस्कार करके इस आज्यके व्यवहारके निमित्त महावीरको लेकर बाहर भीतर भली प्रकारसे चौथे मंत्रसे घृत लिप्त करै [का० २६ । २ । २०] **मन्त्रार्थ**–हे महावीर ! (सविता) सबका प्रेरक (देवः) देवता (त्वा) तुमको (मध्वा) घृतसे (अनक्तु) लिप्त करै । घृत मधुर सब जगद्रूप है । "सर्वं वा इदं मधु यदिदं किञ्च तदेनमनेन सर्वेण समनक्ति" इति श्रुतेः [१४ । १ । ३ । १३] ४ । **विधि**–(५) पांचवें मंत्रसे सौ रत्ती चांदीको खरमें उपगूहन करै "जहां अग्नि जलाकर उखा महावीरादि पक्क किये जाते है उस स्थानको खर कहते है इसमें यह चांदी डाली जाती है" [का० २६ । २ । २१] **मन्त्रार्थ**–हे रजत ! महावीरको (पृथिव्याः) पृथ्वीसम्बन्धी (संस्पृशः) राक्षसोंसे (पाहि) रक्षाकर । उपद्रवके निमित्त स्पर्श करते हैं इससे संस्पृश कहा अथवा हे रजतखण्ड ! पृथ्वीको अग्निस्पर्शसे रक्षा कर ५ । "देवा अबिभयुर्यद्वै न इममधस्ताद्रक्षाꣳसि नाष्ट्रा न हन्युरित्यग्नेर्वा एतद्रेतो यद्धिरण्यं नाष्ट्राणाꣳ रक्षसामपहत्यै" इति [श० १४ । १ । ३ । १४] "अथो पृथिव्युह वा एतस्माद्बिभयाञ्चकार यद्वै मायं तप्त्वा शुशुचानो न हिꣳस्यादिति तदेवास्या एतदन्तर्दधाति रजतम्" इति श्रुतेः [श०१४। १ । ३ । १४] देवताओंने राक्षसोंसे डरकर यज्ञकी रक्षाके निमित्त अग्निकी सन्तान चांदीको राक्षसोंके घातके निमित्त खरमें स्थापन किया। और महावीर पाकमें भूमि अग्निसे भीत होती है सो यह दग्ध न हो इस कारण रजतको खरमे धरते हैं यह चांदी तापशान्तकरती है । **विधि**–(६) होताके 'संसीदस्व' ११ । ३७ यह मंत्र पाठकरनेके समय अध्वर्यु कुछेक दूने मूंज गार्हपत्य अग्निमें प्रदीप्तकरकै छठे मंत्रको पाठ करते इस खरके चारोंओर प्रज्वलित करै और उसके ऊपर घृतपूर्ण प्रचरणीय (व्यवहारयोग्य) महावीरके पक्क करनेके निमित्त स्थापन करे। व्यवहारके निमित्त गृहीतको प्रचरणी कहते हैं [का० २६ । ३ । ३ । ४] **मन्त्रार्थ**–हे महावीर ! तुम (अर्चिः) चन्द्रकान्तिरूप (असि) हो (शोचिः) अग्निके तेजस्वरूप

(असि) हो (तपः) सूर्यके तपरूप (असि) हो "एष वै घर्मो य एष तपति सर्वं वा एतदेष तदेतमेवैतत्प्रीणाति" इति श्रुतेः [श० १४। १। ३। १७] "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्" [गीता १५ । १२] ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र ७ ।

अनाधृष्टा पुरस्तादग्नेराधिपत्य आयुर्मे दाः पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये प्रजां मे दाः सुषदा पश्चाद्देवस्य सवितुराधिपत्ये चक्षुर्मे दा आश्रुतिरुत्तरतो धातुराधिपत्ये रायस्पोषं मे दाः । विधृतिरुपरिष्टाद् बृहस्पतेराधिपत्य ओजो मे दा विश्वाभ्यो मा नाष्ट्राभ्यस्पाहि मनोरश्वासि ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअनाधृष्टेत्यस्य दधीच ऋषिः । भुरिक्प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । पृथिवी देवता । (२) ॐ पुत्रवतीत्यस्य बृहती छं० । (३ । ४ । ५) मन्त्राणां भुरिक्साम्नीबृहती छन्दः । यजमानेन महावीरोपर्यङ्गुष्ठाङ्गुलौ धृते सत्यध्वर्युणा पाठे विनि० (६) ॐ विश्वाभ्य इत्यस्यासुरीजगती छं० । यजमानेन करोत्तानकरणे वि० । (७) ॐमनोरित्यस्य दैवी पंक्तिश्छन्दः । महावीरादुत्तरतो यजमानेन निजप्रादेशनिधाने वि० ॥ १२ ॥

विधि-(१-५) महावीर पक्करनेके निमित्त खरमें स्थापित हैं इनके ऊपर यजमान हाथका अंगूठा धारण करै उस समय अध्वर्यु इस कण्डिकाके पहले पांच मंत्र पाठ करावै [का० २६ । ३ । ५]

मंत्रार्थ-हे पृथिवी ! (पुरस्तात्) पूर्व दिशामें (अनाधृष्टा) राक्षसादिसे अपराजित तुम (अग्नेः) अग्निके (आधिपत्ये) स्वामित्वमें स्थित होकर (मे) मुझको (आयुः , अवस्था (दाः) देनेवाली हो अर्थात् हे मृत्तिके ! पूर्व दिशामें अग्निके आधिपत्यमें स्थित तुम दृढ रक्षायुक्त हो तुम्हारे प्रसादसे हम आयुलाभ करसकें "अग्निमेवास्या अधिपतिं करोति" इति श्रुते [श० १४।१। ३। १९]।१। हे भूमि ! (दक्षिणस्याम्) दक्षिणदिशामें (इन्द्रस्य) इन्द्रके (आधिपत्ये) आधिप-

त्यमें स्थित हुई तुम (पुत्रवती) पुत्रयुक्त हो (मे) मुझे (प्रजाम्) प्रजाको (दाः) देनेवाली हो "इन्द्रमेवास्या अधिपतिं करोति नाष्ट्राणाᳬं रक्षसामपहत्यै" इति श्रुतेः [१४।१।३।२०] २। हे भूमि! (पश्चात्) पश्चिमदिशामें (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य), देवताके (आधिपत्ये) आधिपत्यमें स्थित हुई तुम (सुखदा) मनुष्योंके सुखसे आश्रय देनेवाली हो (मे) मेरे निमित्त (चक्षुः) नेत्रइन्द्रियकी (दाः) देनेवाली हो "देवमेवास्यै सवितारमाधिपतिं करोति" इति श्रुतेः [श० १४।१।३।२१] ३। हे भूमि! तुम उत्तरतः उत्तरदिशामें (धातुः) ब्रह्मा वा विधाताके (आधिपत्ये) आधिपत्यमें स्थित (आश्रुतिः) यज्ञयोग्य हो (मे) मेरे निमित्त (रायः) धन (पोषम्) पुष्टि (दाः) देनेवाली हो "धातारमेवास्या अधिपतिं करोति" इति श्रुतेः [१४।१।३।२२] ४। हे भूमि! (उपरिष्टात्) ऊपर भागमें (बृहस्पतेः) बृहस्पतिके (आधिपत्ये) आधिपत्यमें स्थित हुई तुम (विधृतिः) विशेषकर धारण करनेवाली (मे) मेरे निमित्त (ओजः) बलको (दाः) दो "बृहस्पतिमेवास्या अधिपतिं करोति" इति श्रुतेः [१४।१।३।२३] ५। **विधि**–(१) छठा मन्त्रपाठ करके यजमान महावीरको दक्षिण ओरकी भूमिमें अपने हाथको ऊंचा धरै [का० २६।३।७]

मन्त्रार्थ–हे महावीरकी दक्षिणभूमि! (विश्वाभ्यः) सम्पूर्ण (नाष्ट्राभ्यः) नाशक रोगपिशाचादिसे (नः) हमारी (पाहि) रक्षा करो अर्थात् आपके प्रसादसे हम नाशकोंके हाथसे रक्षा पावें "सर्वाभ्यो मार्तिभ्यो गोपाय" इति श्रुतेः [१४।१।३।२४] ६।

विधि–(१) सातवां मन्त्रपाठ करके महावीरके उत्तर भूमिमें अपने प्रादेशको रक्खे [का० १६।३।८]

मन्त्रार्थ–हे महावीरकी उत्तरभूमि! तुम (मनोः) मनुराजको (अश्वा) वडवा (असि) हो अर्थात् मनकी सम्पूर्ण कामना वहन करनेमें समर्थ हो इससे तुमको मनुका अश्व कहते है "अश्वा ह वा इयं भूत्वा मनुमुवाह" इति [१४।१।३।२५] श्रुतेः ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र ३।

स्वाहा॑ मुरुद्भि॒: परि॑ श्रीयस्व दि॒वः स॑ᳬं स्पृश॑स्पाहि ॥ मधु॒ मधु॒ मधु॑ ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐस्वाहेत्यस्य दधीच ऋषिः। याजुषी पंक्तिश्छन्दः। घर्मो देवता। अङ्गारैर्वैकङ्कतशकलैश्च महावीराच्छादने वि०।

(२) ॐ दिव इत्यस्य दैवी जगती छं० । सुवर्णं दैवतम् । शतरक्तिसुवर्णेन महावीराच्छादने वि० । (३) ॐ मध्वित्यस्य दैवी त्रिष्टुप्छन्दः । प्राणा देवताः । अग्निवीजने विनि० ॥ १३ ॥

विधि–(१) भस्मयुक्त अंगारोंमें महावीरको भली प्रकार आच्छादित करके इस कण्डिकाका प्रथम मन्त्र पाठ करके उसके ऊपर १३ वैकंकतकाठकी लकडी स्थापन करे [का० २६।३।९।१०] तेरह महीने होनेसे तेरह खण्डोंसे आच्छादन करते हैं "त्रयोदश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सर एष य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः" इति [१४।१।३।२८] श्रुतेः । मंत्रार्थ–हे घर्म ! तुम (स्वाहा) हविके आधार होनेसे स्वाहाकार वा सूर्यरूप हो । "एष वै स्वाहाकारो य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः" इति [१४।१।३।२६] श्रुतेः। इस कारण (मरुद्भिः) हमारे रूपवाली प्रजाओंसे (परिश्रयस्व) सेवन करो अर्थात् मरुत् तुमको आश्रय करै " विशो वै मरुतो विशैवैतत् क्षत्रं परिवृꣳहति तदिदं क्षत्रमुभयतो विशा परिवृढम्" इति [१४।१।३। २७] श्रुतेः अर्थात् वायुके प्रभावसे, यह काष्ठ प्रज्वलित हो और महावीर सुपक्व हो हमारी यह प्रार्थना भली प्रकार गृहीत हो १ । विधि–(२) दूसरा मन्त्र पाठ कर उसके ऊपर सौरत्ती सुवर्णका पात्र आच्छादन करै [का० २६।३।१०] मंत्रार्थ–हे सुवर्णखण्ड ! (दिवः) द्युलोकसम्बन्धी (संस्पृशः) स्पर्शकर्ता देवताओंकी (पाहि) रक्षा करो अथवा द्युलोकको अग्निस्पर्शसे रक्षा करो । महावीरकी रक्षाके लिये देवताओंने सुवर्ण स्थापन किया है [श० १४।१।३।२९] का प्रमाण कह चुके हैं २ ।

विधि–(३) तीसरा मन्त्रपाठ करके एक बांसके खण्डमें कृष्णाजिनका खंड बांधकर तीन व्यजनसे इसकी पवन करे [का० २६ । ४ । २] मन्त्रार्थ–इसमें (मधु) प्राण (मधु) उदान (मधु) व्यान स्थापन करताहूं, तथा च श्रुतिः "अथ धवित्रैराधूनोति मधुमध्विति त्रिः प्राणो वै मधु प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति त्रीणि भवन्ति त्रयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानस्तानेवास्मिन्नेतद्दधाति " इति [श० १४।१।३।३०] "अथवा महावीरसे जो घर्म प्रस्तुत हो; वह मधुर हो अवश्य मधुर हो ३।१३ यह प्राणस्थापनका मन्त्र है" ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र१ ।

गर्भौदेवानाम्पिताम्मतीनाम्पतिं᳘प्प्रजानाम् ॥
सन्देवोदेवेनसवित्राग᳘तसꣳसूर्य्यैणरोचते ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ गर्भ इत्यस्य दधीच ऋषिः । पंक्तिश्छन्दः । घर्मो देवता । महावीरोपस्थाने वि० ॥ १४ ॥

विधि-(१) महावीर पाकसमय जब वीजना कियाजाय उस समय सम्पूर्ण ऋत्विग्जनोंके सहित १४-२० तक मंत्र पाठ करके परम देवताका उपस्थान करै तथा तीन परिक्रमा करै महावीर पाकसमय पढे जानेसे यह मंत्र महावीरोपस्थान कहाते हैं, तथा अवकाशमें पढेजानेसे इनकी अवकाशसंज्ञाभी है [का० २६ । ४। ११] मंत्रार्थ-(देवः) दीप्यमान महावीर (सवित्रा) सबके प्रेरक सविता (देवेन) देवताके साथ (सङ्गत) संगतिको प्राप्त होता है (देवानाम्) दीप्तिमान् रश्मियोंका (गर्भः) ग्रहण करनेवाला (मतीनाम्) बुद्धियोंका पालक वा प्रवृत्त करनेवाला (प्रजानाम्) प्रजाओंका (पतिः) पति पालन करनेवाला घर्म (सूर्येण) सूर्यके साथ एकीभूत होकर (संरोचते) प्रदीप्त होता है ॥ १४ ॥

प्रमाण-"एष वै गर्भो देवानां य एष तपत्येष हीदꣳ सर्वं गृह्णात्येतेनेदꣳ सर्वं गृभीतमेष उ प्रवर्ग्यः" इति [१४ । १ । ४ । २] श्रुतेः ।

सरलार्थ-जो सम्पूर्ण दीप्तिमान् वस्तुओंकी गर्भधारिणी माता है सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थोंका पिता सब प्रजाओंका अधिपति है, वह सम्पूर्ण दीप्तिमान् पदार्थोंके सहित निरन्तर प्रदीप्त है, अर्थात् उसीकी दीप्तिसे ही यह सब दीप्त है सब प्रकार उत्पादनमें समर्थ जीवादिके सहित निरन्तर संगत रहता है, अर्थात् उसकी उत्पादनक्षमतासे ही हममें यह उत्पादनक्षमता है जो सूर्यके सहित भी नियन्तृरूपसे सदा प्रकाश करता है अर्थात् उसके प्रकाशसे ही सूर्यमें प्रकाश है ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र १ ।

समग्निरग्निना गत सन्देवेन सवित्रा सꣳ सूर्येणारोचिष्ट ॥ स्वाहा समग्निस्तपसा गत सन्दैव्येन सवित्रा सꣳ सूर्येणारूरुचत ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ समग्निरित्यस्य दधीच ऋषिः । ब्राह्म्यनुष्टुप्छं० । घर्मो देवता । वि० पू० ॥ १५ ॥

मंत्रार्थ-(अग्निः) यह तेजरूप घर्म (अग्निना) अग्निसे (सङ्गत) एकभूत हुआ (सवित्रा) सविता (देवेन) देवके साथ (सम्) एकीभावको प्राप्त हुआ (सूर्येण) सूर्यके साथ (समरोचिष्ट) प्रदीप्त होता है "अवरं स्वाहाकारं करोति परां देवतामसावेव बन्धुः" इति [१४ । १ । ४ । ६] श्रुतेः (स्वाहा)स्वाहासहित (अग्निः) घर्म (तपसा) सूर्यके तेजसे (सङ्गत) एकीभावको प्राप्त होता है

(दैव्येन) देवता (सवित्रा) सवितासे (सम्) एकीभावको प्राप्त होता (सूर्येण) सूर्यके साथ (समरूरुचत) सबको भलीप्रकार प्रकाश करता है ॥ १५ ॥

सरलार्थ-किसी समय प्रलयके अनन्तर एक मात्र अग्निभावमें ' सृष्टिइच्छासे शून्य होकर' सब प्रकार अग्निके सहित संगत रहे सब प्रकार सविता देवताके सहित संगत हुए और समस्त सूर्यके सहित प्रकाशित हुए किसी समय [सृष्टिके आरंभमें] स्वाहासहित अग्निभावमें [सिसृक्षासम्पन्न होकर] सब प्रकार अग्निके सहित संगत हुए सब प्रकार सविता देवताके सहित संगत हुए और समस्त सूर्यके सहित प्रकाशित हुए ॥ १५ ॥

विशेष-इस मंत्रमें क्रमसे अग्नि सविता और सूर्य इन तीन देवताओंका वर्णन है, उनके द्वारा अग्निका उल्लेख होनेसे अग्नि देव पृथिवी और सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थोंको जानना, सवितासे वायु और पर्जन्यादि इससे वायुदेव अन्तरिक्ष और उसमें स्थित सम्पूर्ण सृष्ट पदार्थ जानना, सूर्यसे सूर्य देव द्युलोक और उसके सम्पूर्ण पदार्थोंको जानना, सबमें परमात्मा व्याप्त है ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र १ ।

धर्तादिवोविभातितपसस्पृथिव्यान्धर्तादेवादेवानाम मर्त्त्यस्तपोजाः॥वाचमुस्म्मेनियंच्छदेवायुवम्॥१६॥

ऋष्यादि-(१) ॐ धर्तेत्यस्य दधीच ऋ० । ऊर्ध्वबृहती छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ-वह (दिवः) द्युलोकका तथा (तपसः) रश्मिसमूहका (धर्ता) धारण करनेवाला (देवानाम्) देवताओंका (धर्ता) धारण करनेवाला(अमर्त्यः) मनुष्यधर्मरहित अविनाशी (तपोजाः) तपसे वा सूर्यसे प्रगट (देवः) देव घर्म (पृथिव्याम्) पृथिवीमें (विभाति) शोभाको प्राप्त होता है वह (अस्मे) हमारे निमित्त (देवायुवम्) देवताओंकी यज्ञमें मिलानेवाली (वाचम्) वाणीको (नियच्छ) यज्ञमें स्थापन करे "यज्ञो वै वाग्यज्ञमस्मभ्यं प्रयच्छ येन देवान्प्रीणामेत्येवैतदाह" इति [१४ । १ । ४ । ८] श्रुतेः ॥ १६ ॥

सरलार्थ-जो सम्पूर्ण देवताओंका देवता, जो अमर्त्य होकर भी प्रजाकी समान हृदयकन्दरामें प्रगट होता है, जो द्युलोकका धारण करनेवाला जो तप 'अन्तरिक्ष' का धारण करनेवाला, जो पृथिवीका धारण करनेवाला स्वरूपसे सदा देदीप्यमान है वह यही परम देवताको हमारे देवताओंकी आनुकूल्यकारी सम्पूर्ण वाणी प्रदत्त हों ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मंत्र १ ।

अपश्यङ्गोपामनिपद्यमानमाचपराचपथिभिश्चरन्तम् ॥ सम्रुध्रीचीः सविषूचीर्वसानुऽआवरीवर्त्ति भुवनेष्वुन्तः ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अपश्यमित्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । त्रिष्टुप्छन्दः । सूर्यो देवता । वि०पू० ॥ १७ ॥

मंत्रार्थ–(विषूचीः) अनेक (सध्रीचीः) दिशा वा किरणोंको (वसानः) आच्छादन वा धारण करता, (सः) वह देव (भुवनेषु) त्रिलोकीके (अन्तः) मध्यमें (आवरीवर्ति) स्थित होकर बारंबार आवर्तन करता है उस (गोपाम्) रक्षक (अनिपद्यमानम्) अन्तरिक्षमें स्थित कभी भी पतनको प्राप्त न होनेवाले (च) और (पथिभिः) देवमार्गोंमें (आचरन्तम्) आतेहुए (च) और (परा) जाते अर्थात् गमनागमनकरते को (अपश्यम्) देखता हूं "सध्रीचीश्च ह्येष विषूचीश्च दिशो वस्तेऽथो रश्मीन्" इति श्रुतेः [१४ । १ । ४ । १०] ॥ १७ ॥

सरलार्थ–जो असमदादिकी समान पादविक्षेप करके पथमें विचरणकारी न होकरभी अतिनिकटसे अतिदूरपर्यन्त सम्पूर्ण मार्गोंमें रक्षकरूपसे निरन्तर विचरण करताहै, सध्रीची और विषूची सब दिशारूप वस्त्र धारण करते सम्पूर्ण भुवनोंके अन्तरमें अतिशय अभिन्नभावसे वर्तमान है उसीके जाननेकी इच्छा करते हैं ॥ १७ ॥

सध्रीची–सह गमन । विषूची नाना गमन इसीकारण उसको दिगम्बर वा उसकी शक्तिको दिगम्बरी कहते है [ऋ० २ । ३ । २०] ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मन्त्र १ ।

विश्वासाम्भुवाम्पते विश्वस्यमनसस्पते विश्वस्यवचसस्पते सर्वस्यवचसस्पते ॥ देवश्रुत्त्वन्देवघर्म्मदेवोदेवान्पाह्यत्रप्रावीरनुवान्देववीतये ॥ मधुमाद्ध्वीभ्याम्मधुमाधूचीभ्याम् ॥ १८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ विश्वासामित्यस्य दधीच ऋ० । अत्यष्टिश्छन्दः । सूर्यो देवता । वि० पू० ॥ १८ ॥

मन्त्रार्थ–हे (विश्वासाम्) सम्पूर्ण (भुवाम्) भुवनोंके (पते) पालक ! (विश्वस्य) सम्पूर्ण प्राणियोंके (मनसः) मनके (पते) स्वामिन् ! (विश्वस्य)

सम्पूर्ण प्राणियोंके (वचसः) वाणियोंके (पते) पालक प्रवर्तक ! (देवश्रुत्) हे देवताओंमें प्रसिद्ध (देव) हे दीप्यमान (घर्म) घर्मरूप ! (देवः) देवता आप (देवान्) देवताओंको (पाहि) रक्षा करो हे अश्विदेवो ! (अत्र) इस यज्ञमें (देववीतये) देवताओंकी तृप्तिके (अनु) अनन्तर घर्म (वाम्) तुमको (प्रावीः) तृप्त करै तुम्हारी तृप्तिसे सब देवता तृप्त होते हैं, जिन तुमको (मधु) मधुसंज्ञक ब्राह्मण दध्यङ् आथर्वणने कहा है (माध्वीभ्याम्) मधु ब्राह्मणकी इच्छावालेको (मधु) मधु ब्राह्मण कहा है (माधूचीभ्याम्) मधुब्राह्मणकी प्रशंसावाले आपके निमित्त (मधु) मधु है ॥ १८ ॥

सरलार्थ-हे विश्वभुवनके स्वामी, हे सम्पूर्ण जनोंके मनके स्वामी, हे सब प्राणियोंके वचनोंके स्वामी, हे सृष्टिके पूर्वमें प्रकाशित सब वाक्योंके अधिपति, हे प्रसिद्ध देव ! देव ! तुमही घर्मके देवता हो देवताओंके [घर्मोत्पादन कार्यमें लगे हुए हमको] कृतकार्य करो जिससे इस जगतमें दोनों माधवी [मधुमय सूर्य और चन्द्रशक्ति] और दोनों माधूची [मधुमय चन्द्र सूर्यके अर्चक अग्नि और वायु शक्ति] की सहायतासे देवताओंका तृप्तिकारक मधु [वृष्टि जल और ओषधी आदि तथा गोदुग्धादिका माधुर्य] प्रगट हो ॥ १८ ॥

प्रमाण-"दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधुनाम ब्राह्मणमुवाच" इति श्रुतेः । [१४ । १ । ४ । १३] ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ ।

हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा ॥
ऊर्ध्वोऽअध्वरन्दिवि देवेषु धेहि ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ हृदेत्वेत्यस्य दधीच ऋ० । परोष्णिक्छं० । घर्मो देवता । वि० पू० ॥ १९ ॥

मंत्रार्थ-हे देव ! (हृदे) हृदयकी स्वस्थताके निमित्त (त्वा) तुम्हारी स्तुति करता हूं (मनसे) मनकी शुद्धिके अर्थ (त्वा) तुम्हारी स्तुति करताहूं (दिवे) स्वर्गप्राप्तिके निमित्त (त्वा) तुम्हारी स्तुति करताहूं (सूर्य्याय) सूर्यकी तृप्तिके निमित्त (त्वा) तुम्हारी स्तुति करता हूं अर्थात हृदयको शोधन कर मन निर्मल कर हमको द्युलोकमें लेजाकर सूर्यको तृप्तकरो और (ऊर्ध्वः) सावधान होकर हमारे (अध्वरम्) यज्ञको (देवेषु) देवताओंमें (धेहि) स्थापन करो ॥ १९ ॥

सरलार्थ–हे देव! हम अपने ही हृदयके स्वास्थ्यके निमित्त अपनेही मनके स्वास्थ्यके निमित्त द्युलोकमें स्थित ग्रहमण्डलसम्बन्धी स्वास्थ्यके निमित्त विशेष कर सूर्यसम्बन्धी स्वास्थ्यके निमित्त तुम्हारी स्तुति करते हैं तुम ऊर्ध्वमें द्युलोकको सीमा अतिक्रमण करके भी स्थित हो इस अध्वरको [इसके पुण्यफलके परिणत करनेको] द्युलोकमें देवताओंके मध्यमें धारण पोषण करो ॥ १९ ॥

कण्डिका २०–मन्त्र २।

पि॒ता नो॑ऽसि पि॒ता नो॑ बोधि॒ नम॑स्तेऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः॥ त्वष्टृ॑मन्तस्त्वा सपेम पु॒त्रान्प॒शून्मयि॑ धेहि प्र॒जाम॒स्मासु॑ धे॒ह्यरि॑ष्टा॒हꣳ स॒हप॑त्या भूयासम् ॥२०॥

ऋष्यादि–(१) ॐ पिता न इत्यस्य दधीच ऋ०। गायत्री छन्दः। महावीरो देवता। वि० पू०। ॐत्वष्टृमन्त इत्यस्य त्रिष्टुप्छं०। घर्मो देवता। अध्वर्युकर्तृके यजमानपत्न्या पाठे वि० ॥ २० ॥

मन्त्रार्थ–हे देव! तुमही (नः) हमारे (पिता) पिता (असि) हो (पिता) पिताकी समान (नः) हमको (बोधि) ज्ञानशिक्षा प्रदानकी है (ते) आपके निमित्त(नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझको (मा हिꣳसीः) मत हिंसा करो [अर्थात् नास्तिकता बुद्धिदानद्वारा तुमसे विच्छेदरूपा हिंसा न हो.]

[महावीरोपस्थान समाप्त]

विधि–(१) महावीरको देखती पत्नीको अध्वर्यु यह मन्त्र बचावे [का० २६।४।१३] हे घर्म! (त्वष्टृमन्तः) सौर जगद्वासी वा त्वष्टादेवतासम्बन्धवाली हम (त्वा) तुमको (सपेम) स्पर्श करती है (पुत्रान्) पुत्रोंको (पशून्) पशुओंको (मयि) हमारे स्थानमें (धेहि) स्थापन करो (प्रजाम्) उत्तरोत्तर वंशवृद्धिको (अस्मासु) हममें (धेहि) स्थापन करो (पत्या) स्वामीके (सह) साथ (अरिष्टा) अनुपहिंसित (भूयासम्) हूं अर्थात् भर्ताके सहित सुखसे चिरकालतक जिऊं " वृषा वै प्रवर्ग्यो योषा पत्नी मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते " इति [१४ । १ । ४ । १६] श्रुतेः ॥ २० ॥

अथवा–हे देव! त्वष्टृमान् हम तुम्हारेही दिये पुत्र पशु प्रजाके साथ चिरकाल सुख पाकर सब आपहीको समर्पण करते है हम आपकी समान न्यायवान् और दयालुपति लाभ करके [पुत्रादिआत्म समर्पण पूर्वक आश्रित होकर] अवश्यही चिरकालके निमित्त विपत्तिरहित हुए है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मंत्र १ ।

अहः केतुना जुषता सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ रात्रिः केतुना जुषता सुज्योतिर्ज्योतिषा स्वाहा ॥ २१ ॥ [११]

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितायां दीर्घपाठे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अह इत्यस्य दधीच ऋषिः । प्राजापत्यानुष्टुप्छं० । घर्मो देवता । प्रभाते रौहिणपुरोडाशहोमे वि० । (२) ॐरात्रिरित्यस्य सायंकाले प्रवर्ग्यहोमे विनियोगः ॥ २१ ॥

विधि-(१-२) इस कण्डिकाके प्रथम मन्त्रसे प्रातःकाल और द्वितीय मन्त्रसे सन्ध्या कालमें रौहिण हवनी स्रुग्द्वारा दक्षिण रौहिण पुरोडाश सर्वहुत क्रमसे हवन करै [का० २६।४।१४]

मंत्रार्थ-(अहः) दिन (केतुना) प्रज्ञा वा कर्मके सहित (जुषताम्) रौहिण होमसे प्रीतिको प्राप्त हो (ज्योतिषा) अपने तेजसे (सुज्योतिः) अच्छी ज्योतियुक्त तेजकी (स्वाहा) यह हवि प्राप्त हो. अर्थात् जैसे सूर्यकी ज्योतिके साथ ब्रह्मज्योति मिलित और प्रीत रहती है इसी प्रकार हमारी प्रज्ञा वा कर्मके सहित प्रातःकाल संगत हो १ । (रात्रिः) रात (केतुना) प्रज्ञा वा कर्मके सहित (जुषताम्) प्रीतिको प्राप्त हो (ज्योतिषा) अपने तेजसे (सुज्योतिः) अच्छी ज्योतियुक्त तेजको (स्वाहा) यह हवि सुहुतहो अर्थात् जिस प्रकार सूर्यादिकी ज्योतिके सहित ब्रह्मज्योति मिलित और प्रीत रहती है इसी प्रकार हमारी प्रज्ञा वा कर्मके सहित सायंकाल संगत हो ॥ २१ ॥

विशेष-जिनके द्वारा यजमान स्वर्गको जाता है वो रौहिण कहाते है "अहोरात्रे वा इमौ लोकौ वा चक्षुषी वा शिरः प्रवर्ग्यौ रौहिणौ चक्षुषी तत्र दधाति" इत्यादि [१४ । १ । १-९] श्रुतेः ३ [यह श० के खण्डभाग लिखेहै] ॥२१॥

इति श्रीयजुर्वेदीयमाध्यन्दिनीयायां वाजसनेयिसंहितायां पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृतौ मिश्रभाष्येऽभ्यादिरौहिणान्तोऽयं सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः ३८.

देवस्यत्त्वाष्टौयमायत्त्वाक्षत्रस्यत्त्वादशकौत्रयोष्टाविᳪशतिः ॥२८॥

कण्डिका १–मंत्र१. अनु० १।

देवस्यंत्त्वासवितुःप्प्रंसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यांम्पूष्णो हस्तांभ्याम् ॥ आददेदिंत्त्यैरास्नांसि ॥ १ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ देवस्येत्यस्य दधीच ऋ० । प्रजापत्या गायत्री छं० । रज्जुर्देवता । रज्जुसन्दानग्रहणे वि० ॥ १ ॥

विधि–(१) इस मंत्रसे रज्जुसन्दान ग्रहण करै [का० २६ । ५ । १] मन्त्रार्थ–हे रज्जु ! (सवितुः) सबके प्रेरक सविता (देवस्य) देवताके (प्रसवे) आज्ञामें वर्तमान (अश्विनोः) दोनों अश्विदेवताकी (बाहुभ्याम्) बाहु (पूष्णः) पूषा देवताके (हस्ताभ्याम्) हाथोंसें (त्वा) तुझको (आददे) ग्रहण करताहूं (अदित्यै) अदितिस्वरूप गौकी तू (रास्ना) मेखला (असि) है ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र ३ ।

इडऽएह्यदिंतऽएहिसरंस्वत्त्येहिं ॥ असावेह्यसावेह्यसावेहिं ॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ इडेइत्यादित्रयाणां मंत्राणां दधीच ऋ० । दैवी बृहती छं० । गौर्देवता । गवाह्वाने विनि० ॥ २ ॥

विधि–(१) गार्हपत्यके पीछे चलकर इस कण्डिकाके तीन मन्त्रोंसे घर्मदुघा गौको बुलावै । जिसके दुग्धसे घर्म प्रस्तुत होता है उसको घर्मदुघा कहते हैं [का० २६ । ५ । १] मन्त्रार्थ–(इडे) हे इडा पृथ्वीस्वरूप वा मानवि गौ ! (एहि) यहां आओ (अदिते) हे देवमातास्वरूप वा अन्तरिक्षरूपा अमुक गौ ! (एहि) आओ (सरस्वति) हे सरस्वति वा द्युरूपा वाग्रूपा गौ ! (एहि) यहां आओ "इडा हि गौरदितिर्हि गौः सरस्वती हि गौः" इति [१४ । २ । १ । ७] श्रुतेः । (असौ) हे अमुकनामा धौली (एहि) आओ । (असौ) हे अमुक (एहि) आओ (असौ) हे अमुकनामा गौ ! (एहि) आओ [इस प्रकार नाम लेकर बुलावै]॥ २ ॥

कण्डिका ३-मंत्र ३ ।

अदि॑त्यै रास्नासीन्द्राण्याऽउष्णीषः॑ ॥ पूषासि घर्म्माय दीष्व ॥ ३ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अदित्या इत्यस्य दधीच ऋषिः। आसुरी पंक्तिश्छन्दः। रज्जुर्देवता । गोबन्धने विनियोगः। (२) ॐ पूषासीत्यस्य दैव्यनुष्टुप्छं० । वत्सो देवता। वत्समुञ्चने विनियोगः । (३) ॐ घर्मायेत्यस्य दैवी पंक्तिश्छन्दः । वत्सापाकरणे विनियोगः ॥ ३ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाका प्रथम मन्त्रपाठ करके इस बुलाई और आई हुई गौके मस्तकमें रज्जुसंदान बांधे [का० २६ । ५ । ३ मंत्रार्थ-हे रज्जुपाश ! तुम (अदित्यै) अदितिस्वरूप गौके (रास्ना) मेखलारूप (असि) हो(इन्द्राण्यै) इन्द्राणीरूपा गौके (उष्णीषः) मस्तकमें उष्णीष 'पगडी' रूपसे स्थित हो। इस मन्त्रसे पाशको इन्द्राणीका उष्णीषरूप किया जाता है "तमेवैनमेतत्करोति" इति [१४ । २ । १ । ८] श्रुतेः १ ।

विधि-(२) दूसरे मन्त्रसे वत्सत्याग करै [का० २६ । ५ । ३] मन्त्रार्थ-हे वत्स ! तुम (पूषा) पोषक वा वायुरूप (असि) हो । आशय यह कि जिस प्रकार वायु वृष्टिको लाती है इसी प्रकार तुमसे दुग्ध प्राप्त होता है तुमसेही गौ पौसाती है । अथवा वत्सपानसे बचे दुग्धको पानकर दूसरे जन पुष्ट होते हैं इससे पूषा कहाहै "अयं वै पूषा योयं पवत एष हीदꣳ सर्वं पुष्यत्येष उ प्रवर्ग्यः" इति [१४ । २ । १ । ९] श्रुतेः २ । विधि-(३) अनन्तर गौके पीछेके चरणमें रज्जु बांधकर यह मन्त्र पाठ करकै वत्सको पृथक् करे [का० २६ । ५ । ४] मन्त्रार्थ-हे वत्स! (घर्माय) घर्म प्रस्तुत करनेके निमित्त (दीष्व) दूध शेष रक्खो अर्थात् घर्मके निमित्त दूध दो ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मंत्र ६ ।

अश्विभ्यां पिन्वस्व सर॑स्वत्यै पिन्वस्वेन्द्राय पिन्वस्व स्वाहेन्द्र॑वत्स्वाहेन्द्र॑वत्स्वाहेन्द्र॑वत ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐ अश्विभ्यामिन्द्रायेति मंत्रयोः दधीच ऋ० । दैवीत्रिष्टुप्छं०। लिङ्गोक्ता दे०। (३) ॐ सरस्वत्या इत्यस्य दैवी जगती छं० । पिन्वने पात्रे गोदोहने वि० । (४-५-६) ॐ स्वाहेत्यस्य मंत्रत्रयस्य

जगती छं० । विप्रुषो देवताः । त्रयाणाम्मन्त्राणां पयःकणाभिमन्त्रणे विनियोगः ॥ ४ ॥

विधि-(१-२-३) इस कण्डिकाके तीन मंत्र पाठ करके पिन्वन 'दोहनपात्र' में दुग्ध दुहै [का० २६ । ५ । ५] मन्त्रार्थ-हे दुग्ध ! (अश्विभ्याम्) दोनो अश्वि देवताओंके निमित्त (पिन्वस्व) निकलो "जब दुहते २ फेन उठने लगे उसे पिन्वित कहते हैं" (सरस्वत्यै) सरस्वतीके निमित्त (पिन्वस्व) क्षरितहो (इन्द्राय) इन्द्रके निमित्त (पिन्वस्व) क्षरितहो "अश्विनौवाएतद्यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्तां तावेवैतत्प्रीणाति" इति [१४ । २ । १ । १३ ।] श्रुतेः । अर्थात वाणीसे संस्कृत हो इन्द्रके निमित्त और यज्ञके शिरस्वरूप अश्विदेवताओंके निमित्त क्षरित हो १ । २ । ३ ।

विधि-(४-५-६) भूपतित दुग्धकणौंको अभिमंत्रण करै [का० २६ । ५ । ६] मन्त्रार्थ-दोहनकालमें पतित हुए बिन्दु (स्वाहा) सुहुत हों (इन्द्रवत्) इन्द्रसे संयुक्तभी हों अर्थात् इन्द्रकी दृष्टिमें गृहीत हो ४ । (स्वाहा इन्द्रवत्) इसी प्रकार और दोबार कहै तीनो देवताओंके साथमें लगावै आशय यह कि बिन्दुभी वृथा न जाय ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र २.

यस्ते॒ स्तन॑÷शश॒यो यो॑ मयो॒भूर्यो र॑त्न॒धा व॑सु॒वि॒द्यः सु॒दत्र॑÷ ॥ येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वेकः ॥ उ॒र्व॒न्तरि॑क्ष॒मन्वे॑मि ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्त इत्यस्य दीर्घतमा ऋषिः । त्रिष्टुप्छं० । वाग्देवता । गोस्तनालभने विनियोगः । (२) ॐउर्वित्यस्य प्राजापत्या गायत्री छं० । अध्वर्युर्देवता । गोसमीपादध्वर्युगमने विनि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठ करके गौके स्तनोंको हाथसे सबओर मार्जित करै [का० २६ । ५ । ७] मन्त्रार्थ-(सरस्वति) हे सरस्वतीस्वरूपा गौ ! (यः) जो (ते) तुम्हारा (स्तनः) स्तन 'थन' (शशयः) सुखसे सुवानेवाला है अर्थात् जिसके पानसे सुखपूर्वक निद्रा होती है अथवा औरोंसे भुक्त न होनेसे सुप्तकी समान है "यस्ते स्तनो निहितो गुहायाम्" इति श्रुतेः [१४ । २ । १ । १५] (यः) जो (मयोभूः) सब प्राणियोंका कल्याण और सुख करता है (यः) जो स्तनमण्डल (रत्नधा) रमणीय धनका धारण करनेवाला है (वसुवित्) जो

ऐश्वर्यका निदान है (यः) जो स्तनमण्डल (सुदत्रा) बहुत फलका देनेवाला है (येन) जिस स्तनमण्डलसे (विश्वा) सम्पूर्ण (वार्याणि) वरणीय वीर्यको (पुष्यसि) पुष्ट करती हो (तम्) उस स्तनको (इह) इस स्थानमें (धातवे) पानके निमित्त (अकः) करो अथवा इस प्रकारके स्तनको इस लोकमें एक मात्र पानके निमित्तही 'क' प्रजापतिने सृजन किया है १। विधि-(२) दूसरा मंत्र पाठकर अध्वर्यु गौके समीपसे गार्हपत्यस्थानमें गमन करै [का० २६ । ५। ११] मन्त्रार्थ-(उरु) वडे (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षमें (अन्वेमि) मै गमन करता हूं ऋ० २ । ३ । २३ कः पर्यन्त] ॥ ५ ॥

कण्डिका ६-मन्त्र ५ ।

गायत्रञ्छन्दोऽसि त्रैष्टुभञ्छन्दोऽसि द्यावापृथिवीभ्यां न्त्वा परिगृह्णाम्यन्तरिक्षेणोपयच्छामि ॥ इन्द्राश्विना मधुनः सारघस्य घर्म्मम्पात वसवो यजत वाट् स्वाहा सूर्य्यस्य रश्मये वृष्टिवनये ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१-२) ॐगायत्रमिति द्वयोर्मन्त्रयोर्दधीच ऋषिः । गायत्री छं० । परीशासौ देवते । परीशासग्रहणे विनि० । तृतीय ३ मंत्रस्य जगती छं० । महावीरो देवता । महावीरग्रहणे विनियोगः । चतुर्थ४मंत्रस्य बृहती छं० । घर्मो देवता । महावीरमुद्यम्य मुञ्जवेदेनोपमृज्योपयमनीग्रहणे वि० । (४) ॐइन्द्रेत्यस्य ब्राह्मी गायत्री छं० । विश्वेदेवादयो देवताः । क्षीणज्वाले सति तत्र गोपयः सिंचने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) इस कण्डिकाके प्रथम और द्वितीय मंत्रको पाठ करके दो परीशास 'संडासी' ग्रहण करै [का० २६ । ५ । १२] मन्त्रार्थ-हे परीशास ! तुम (गायत्रम्) गायत्रीछन्दरूप (असि) हो १ । हे दूसरे परीशास ! तुम (त्रिष्टुभम्) त्रिष्टुप्छंदरूप (असि) हो २ । विधि-तीसरा-मंत्र पाठ करके दोनों परीशासद्वारा महावीर ग्रहण करै [का० २६ । ५ । १४] मन्त्रार्थ-हे महावीर ! (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यावापृथिवीकी प्रीतिके निमित्त (त्वा) तुमको ग्रहण करता हूं "इमे वै द्यावापृथिवी परीशासावादित्यः प्रवर्ग्योऽमुं तदादित्यमाभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां परिगृह्णाति" इति [१४ । २। १। १६] श्रुतेः ३ । विधि-(४) परीशासद्वारा ग्रहण किये महावीरको ऊंचा करके मुञ्जकृतवेदद्वारा

सम्मार्जन करके महावीरके मध्यमें चतुर्थ मन्त्रसे उपनयनी (हत्ता) स्रुक् स्थापन करे [का० २६।५।१५]

मंत्रार्थ–हे घर्म ! (अन्तरिक्षेण) इस महावीररूप आकाशमें (त्वा) तुमको (उपयच्छामि) ग्रहणकरताहूं "अन्तरिक्षं वा उपयमन्यन्तरिक्षेण हीदꣳसर्वमुपयतमथो उदरं वा उपयमन्युदरेण हीदꣳसर्वमन्नाद्यमुपयतं तस्मादाहान्तरिक्षेणोपयच्छामि" इति [१४ । २ । १ । १७] श्रुतेः । विधि–(१) अनन्तर अजादुग्धद्वारा महावीर को सिंचित करके शान्त और क्षीण ज्वाला होनेपर पांचवां मंत्र पाठकरके उसमें गौका दुग्ध डालदे [का० २६ । ५ । १६] मन्त्रार्थ–(इन्द्र) हे इन्द्र ! (अश्विना) हे दोनो अश्विनी देव ! (वसवः) हे वासित करनेवाले अथवा हे वसुगण ! (सारघस्य) मधुमक्षिकाके सम्पादित (मधुनः) मधुरसतुल्य पयके (घर्मम्) घर्मको (पात) रक्षाकरो वा पियो (वाट्) वषट्कारयुक्त (स्वाहा) सुहुतहो (सूर्यस्य) सूर्यको (वृष्टिवनये) वृष्टि देनेवाली (रश्मये) किरणोंके निमित्त (यजत) यजन करो अर्थात् वृष्टि देनेवाली रश्मियोंके निमित्त सुहुत हो ॥ ६ ॥

प्रमाण–(१) "घर्म पातेति रसं पातेत्येवैतदाह" इति [१४ । २ । १ । २०] श्रुतेः "वषट्कृतꣳहुतमेवमस्यैतद्भवति" इति [१४ । २ । १ । २०] श्रुतेः "सूर्यस्य ह वा एको रश्मिर्वृष्टिवनिर्नाम येनेमाः सर्वाः प्रजा बिभर्ति तमेवैतत्प्रीणाति" इति [१४ । २ । १ । २१] श्रुतेः ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र १ ।

स॒मु॒द्राय॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑सरि॒राय॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑॥अ॒ना॒धृ॒ष्याय॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑प्प्रति॒धृ॒ष्याय॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑॥ अ॒व॒स्यवे॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑शि॒मि॒दाय॑त्त्वा॒वाता॑य॒स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐसमुद्रायेति १ । २ । ५ मंत्राणां दधी० ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छन्दः । वातो देवता । ३ । ६ । मंत्रयोः आसुरीपंक्तिः । चतुर्थमंत्रस्य साम्नी गायत्री छं० । सर्वेषां जपे वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) अध्वर्यु गार्हपत्यसे आहवनीय स्थानमें जानेके समय इस सातवीं कण्डिकाके छः मन्त्र अष्टम कण्डिकात्मक पांच मन्त्र नवम कण्डिकात्मक प्रथम मन्त्र यह बारह मन्त्र स्वरसे गीतिपूर्वक जप करै [का० ३६ । ६ । १]

मंत्रार्थ-हे घर्म ! (समुद्राय) सब प्राणियोंके उद्भवरूप (वाताय) वात देवता (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत करते हैं "अयं वै समुद्रो योऽयं पवत एतस्माद्वै समुद्रात्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्रवन्ति तस्मा एवैनं जुहोति" इति [१४ । २ । २ । २] श्रुतेः १ । हे घर्म ! (सरिराय) सिद्धार्थ प्राणियोंके साथ चेष्टा करानेवाले (वाताय) वातदेवताके निमित्त (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत करते है "अयं वै सरिरो योऽयं पवत एतस्माद्वै सरिरात्सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सहेरते" इति [१४ । २ । २ । ३] श्रुतेः २ । हे घर्म ! (अनाधृष्याय) पराभव न होनेवाले (वाताय) वात देवताके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो ३ । हे घर्म ! (अप्रतिधृष्याय) अजेय (वाताय) वातदेवताके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) स्वाहा करते हैं "अयं वा अनाधृष्योऽप्रतिधृष्यो योऽयं पवते" इति [१४ । २ । २ । ४] श्रुतेः ४ । हे घर्म (अवस्यवे) रक्षाशील (वाताय) वायुदेवताके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो ५ । हे भर्म ! (अशिमिदाय) क्लेशनिवर्तक (वाताय) वायु देवताकी प्रीतिके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो "अयं वा अवस्युरशिमिदो योऽयं पवते" इति [१४।२।२ ५] श्रुतेः ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मंत्र ५।

इन्द्रा॑य त्वा॒ वसु॑मते रु॒द्रव॑ते॒ स्वाहेन्द्रा॑य त्वादि॒त्यव॑ते॒ स्वाहेन्द्रा॑य त्वाभिमाति॒घ्ने स्वाहा॑ ॥ सवि॒त्रे त्व॑ऽ ऋभु॒मते॑ विभु॒मते॒ वाज॑वते॒ स्वाहा॒ बृह॒स्पत॑ये त्वा वि॒श्वदे॑व्यावते॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥ [८]

ऋष्यादि-(१) ॐ इन्द्रायेति १ । ५ मंत्रयोर्दधीच ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । वातो देवता । २ । ३ मंत्रयोरासुरी त्रिष्टुप्छन्दः । चतुर्थमंत्रस्यार्ची गायत्री छन्दः । सर्वेषां जपे विनियोगः ॥ ८ ॥

मन्त्रार्थ-हे घर्म ! (वसुमते) वसुमान् (रुद्रवते) रुद्रयुक्त (इन्द्राय) इन्द्र देवताके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुतहो "अयं वा इन्द्रो योऽयं पवते" इति [१४।२।२।६] श्रुतेः १ । (आदित्यवते) आदित्ययुक्त (इन्द्राय) इन्द्रके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो २ । हे घर्म ! (अभिमातिघ्ने) शत्रुनाशक (इन्द्राय) इन्द्रके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो "सपत्नो वा अभिमातिः" इति [१४।२।२।८] श्रुतेः । हे घर्म ! (ऋभुमते) ऋभु देवताओंसे संयुक्त (विभुमते) विभुसम्पन्न (वाजवते) वाजवान् (सवित्रे) सविता देवताके

उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो सविताका अर्थ यहां चेष्टा करानेवाले वात देवताका है "अयं वै सविता योऽयं पवते" इति [१४ । २ । २ । ९] श्रुतेः । हे घर्म ! (विश्वदेव्यावते) विश्वेदेवाओंके समूहोंसे युक्त (बृहस्पतये) महानोंके पतिके निमित्त (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत हो "अयं वै बृहस्पति-र्योऽयं पवते" इति [१४ । २ । २। १०] श्रुतेः ॥ ८ ॥

विशेष–कोई सुधन्वा आङ्गिरसके वाजवान् ऋभुमान् विभुमान् यह तीन पुत्र कहते है ॥ ८ ॥

कण्डिका ९–मंत्र ३ अनु०२ ।

यमाय त्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा ॥ स्वाहा घर्माय स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐयमायेत्यस्य दधीच ऋ० । आसुर्युष्णिक्छं० । वातो देवता । जपे विनि० । (२) ॐस्वाहेत्यस्य दैवी पंक्तिश्छं०। घर्मो देवता । उपयमन्या घर्मे घृतसिंचने वि० । (३) ॐस्वाहेत्यस्य दैवी त्रिष्टुप्छं० । घर्मो देवता । जप्त्वा जलसिञ्चने विनियोगः ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–हे घर्म ! (आङ्गिरस्वते) आङ्गिरसयुक्त (पितृमते) पितृयुक्त (यमाय) यमरूप वायुके उद्देशसे (त्वा) तुमको (स्वाहा) सुहुत करते है "अयं वै यमो योऽयं पवते" इति श्रुतेः [१४।२।२।११]१। विधि–(२) इस दूसरे मंत्रसे स्रुकमें स्थित घृत उपयमनीद्वारा घर्ममें सिंचन करै [का० २६ ।६ । २] मन्त्रार्थ–(घर्माय) घर्म प्रस्तुत करनेके निमित्त यह घृत (स्वाहा) सुहुतहो अर्थात् यह घृत दूधमें प्रक्षेपकरते हैं २।विधि–(३) तीसरे मंत्रको स्वरसे जपकर सव्य हाथसे जलस्पर्श कर सिंचन करै [का० २६ ।६ । ३] मंत्रार्थ–(पित्रे) पितृगणकी तृप्तिके उद्देशसे (घर्मः) घर्म (स्वाहा) सुहुत हो ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मन्त्र १ ।

विश्वा ऽआशा दक्षिणसद्विश्वान्देवानयाडिह ॥ स्वाहाकृतस्य घर्मस्य मधोः पिबतमश्विना ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐविश्वा इत्यस्य दधीच ऋ० । अनुष्टुप्छं० । अश्विनौ देवते । घर्महोमे विनि० ॥ १० ॥

विधि–(१) स्वयं लौटकर अग्निमें पतित दूधको वषट्कार मन्त्रसे हवन करै [२६ । ६ । ४] मन्त्रार्थ–(इह) इस यज्ञमें (दक्षिणसत्) दक्षिणमें स्थित अध्वर्युने (विश्वाः) सम्पूर्ण (आशाः) दिशा (विश्वान्) सम्पूर्ण (देवान्)

देवताओंको (अयाट्) यजन पूजन किया इस कारण (अश्विना) हे अश्वि-देवताओ ! (स्वाहाकृतस्य) वषट्कारके उपरान्त होमेहुए (मधोः) मधुर स्वाद-वाले (घर्मस्य) घर्मको (पिबतम्) पान करो ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मन्त्र २।

दिवि धा इमं यज्ञमिमं यज्ञं दिवि धाः ॥
स्वाहाग्नये यज्ञियाय शं यजुर्भ्यः ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐदिवीत्यस्य दध्यङ्ङृ० । उष्णिक्छं० । महावीरो देवता । महावीरकम्पने वि० । (२) ॐस्वाहेत्यस्य प्राजापत्या उष्णिक्छं० । अग्निर्देवता । घर्महोमे विनियोगः ॥ ११ ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ कर महावीरको तीनवार उत्कंपित करै [का० २६ । ६ । ५ एकवार मंत्रपाठ कर दोवार मौन हो कंपित करै । मन्त्रार्थ-हे महा-वीर ! (इमम्) इस हमारे (यज्ञम्) यज्ञको (दिवि) द्युलोकमें (धाः) स्थापनकरो (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञको सब प्रकार (दिवि) द्युलोक-में (धाः) स्थापनकरो "पुनरुक्ति आदरके निमित्त है" । विधि-(२) वषट्का-रपूर्वक मंत्रसे हवन करै [का २६ । ६ । ६] मन्त्रार्थ-(यज्ञियाय) यज्ञके हितकारी (अग्नये) अग्निदेवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो (यजुर्भ्यः) सम्पूर्ण यजुर्मंत्रोंके प्रसादसे (शम्) हमको कल्याण हो ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मंत्र १।

अश्विना घर्मं पातꣳ हार्द्वानमहर्दिवाभिरूतिभिः ॥ तन्त्रायिणे नमो द्यावापृथिवीभ्याम् ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअश्विनेत्यस्य दधी० ऋ० । स्वराडुष्णिक्छं० । अश्विसूर्यादयो देवताः । ब्रह्मणा घर्माभिमन्त्रणे विनि० ॥ १२ ॥

विधि-(१) यह मंत्र पाठकर ब्रह्मा घर्मका अनुमंत्रण करै [का० २६।६।७] मन्त्रार्थ-(अश्विना) हे अश्विनीदेवताओ ! तुम (हार्द्वानम्) हृदयके प्रिय (घर्मम्) घर्मको (अहर्दिवाभिः) प्रभात काल और संध्याकालके उपलक्षणवाली (ऊतिभिः) रक्षाओंसे (पातम्) पान करो वा रक्षाकरो (तन्त्रायिणे) आकाशमें कालचक्रके प्रवर्तक सूर्य और (द्यावा-पृथिवीभ्याम्) द्यावापृथिवीके देवताओंके निमित्त (नमः) नमस्कार है "एष वै

तन्त्रायी य एष तपत्येष हीमान् लोकांस्तन्त्रमिवानुसञ्चराति" इति [१४ । २ । २ । २२] श्रुतेः । जिसप्रकार पटादि तन्त्रमें अनुस्यूत होते हैं इसी प्रकार यह विश्व ब्रह्माण्ड जिसमें अनुस्यूत है उस परब्रह्म परदेवताको तन्त्रायी कहते हैं वह भूलोकसे द्युलोकादिमें व्याप्त होनेसे तन्त्रायी कहाता है ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र १ ।

अपा॑तामुश्विना॑ घुर्म्ममनु॒ द्यावा॑पृथि॒वीऽअ॑मꣳसा ताम् ॥ इ॒है॒व रा॒तय॑: सन्तु ॥ १३ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअपातामित्यस्य दधीच ऋ० । ककुबुष्णिक्छं० । अश्विनौ देवते । यजमानेन घर्माभिमन्त्रणे विनि० ॥ १३ ॥

विधि–(१) यह मंत्रपाठपूर्वक यजमान घर्मका अभिमंत्रण करे [का० २६ । ६ । ८] मन्त्रार्थ–(अश्विना) दोनों अश्विनीदेव (घर्मम्) घर्मको (अपाताम्) पान वा रक्षा करे (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिवीके अधिष्ठाता देवता (अन्वमꣳसाताम्) अनुमोदित करे (इह) इस (एव) ही हमारे स्थानमें स्थित हुए हमको (रातयः) धनकी प्राप्ति (सन्तु) हों "इहैव नो धनानि सन्त्वित्येवैतदाह" इति [१४ । २ । २ । २६] श्रुतेः ॥ १३ ॥

कण्डिका १४–मंत्र ७ ।

इ॒षे पि॑न्वस्वो॒र्ज्जे पि॑न्वस्व॒ ब्रह्म॑णे पिन्वस्व क्ष॒त्राय॑ पिन्वस्व॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्यां॒ पिन्वस्व ॥ धर्मा॑सि सु॒धर्मा॒मे॒न्यु॒स्मे नृ॒म्णानि॑ धारय॒ ब्रह्म॑ धारय क्ष॒त्रं धा॑रय॒ विशं॑ धारय ॥ १४ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐइषे इत्यादिप्रथमद्वितीयमन्त्रयोर्दधीच ऋषिः । दैवी पंक्तिश्छन्दः।महावीरो देवता। तृतीयचतुर्थमंत्रयोर्दैवीत्रिष्टुप्छन्दः।सर्वेषां घर्म्माभिमंत्रणे विनियोगः । (५) ॐद्यावापृथिवीभ्यामित्यस्यासुरी जगती छं० । घर्मो देवता।घर्माभिमंत्रणे विनियोगः। (६) ॐधर्मासीत्यस्य त्रिष्टुप्छं० । घर्मोत्क्रमणे वि० । ॐअमेनीत्यस्य भूरिगार्षी गायत्री छन्दः। घर्मो देवता । खरे महावीरस्थापने विनियोगः ॥ १४ ॥

विधि–(१–५) प्रस्तुत हुए अतितप्त घर्मको इस कण्डिकाके प्रथमादि पांच मंत्रोंसे पिन्वितकरे [का० २६ । ६ । ९] मन्त्रार्थ–हे घर्म ! (इषे) वृष्टिके

निमित्त वा राष्ट्रमें अन्नवृद्धिके निमित्त (पिन्वस्व) पुष्टहो १ । (ऊर्जे) राष्ट्रमें जलवृद्धिके निमित्त (पिन्वस्व) पुष्टहो अन्न चढाओ २ । (ब्रह्मणे) राष्ट्रमें ब्राह्मणवृद्धिके निमित्त (पिन्वस्व) पुष्टहो ३ । (क्षत्राय) राज्यमें क्षत्रियोंकी वृद्धिके निमित्त (पिन्वस्व) पुष्टहो ४ । (द्यावापृथिवीभ्याम्) राष्ट्रमें द्यावापृथिवीकी शांतिविस्तारके निमित्त (पिन्वस्व) पुष्ट हो ५ । **विधि**-(६) छठा मंत्र पाठ कर ईशानदिशाके प्रति घर्म उत्क्रमण करै [का० २६ । ६ । १०] **मन्त्रार्थ**-(सुघर्म) हे सुघर्म ! तुम (घर्मः) आहुतिपरिणामसे सब जगत्को धारणकरनेवाले (असि) हो ६ ।

विधि-(७) सातवां मंत्र पाठ करके महावीरको खरमें स्थापन करै [का० २६ । ६ । ११] **मन्त्रार्थ**-हे घर्म ! (अमेनि) क्रोधित न होकर (अस्मे) हममें (नृम्णानि) धनोंको (धारय) धारण करो (ब्रह्म) ब्राह्मण जातिको (धारय) धारण करो (क्षत्रम्) क्षत्रजातिको (धारय) पुष्टकरो (विशम्) वैश्य जातिको (धारय) पुष्टकरो अर्थात् तुम्हारे प्रसादसे इस राज्यमें बहुतसे अन्नादिकी पुष्टि हो ब्राह्मणोंकी पुष्टि हो क्षत्रिय और वैश्य जातिकी पुष्टि हो "धनानि धारय" इति [१४ । २ । २ । ३०] श्रुतेः ॥ १४ ॥

कण्डिका १५-मन्त्र ६ ।

स्वाहा॑ पू॒ष्णे शर॑से॒ स्वाहा॒ ग्राव॑भ्यः॒ स्वाहा॑ प्रति॒र॒वेभ्यः॑ ॥ स्वाहा॑ पि॒तृभ्य॑ऽऊ॒र्ध्वब॑र्हिभ्यो घर्म॒पाव॑भ्यः॒ स्वाहा॒ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑ᳪं॒ स्वाहा॒ विश्वे॑भ्यो दे॒वेभ्यः॑ ॥ १५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐस्वाहेति १-३ मंत्रयोर्दधीच ऋ० । दैवी जगती छन्दः । प्राणो देवता। (२) द्वितीयमन्त्रस्य दैवी पंक्तिश्छं०।चतुर्थमन्त्रस्यासुरी गायत्री छन्दः । ५-६ मन्त्रयोः प्राजापत्या गायत्री छन्दः । सर्वेषां घर्माज्यलिप्तसप्तवैकङ्कतशकलहोमे वि० ॥ १५ ॥

विधि-(१-६) इस कण्डिकाके प्रथमादि छः मंत्र और परकण्डिकाके प्रथम मंत्र इस प्रकार सात मंत्रोंसे घर्माज्यलिप्त सात वैकंकतखण्ड हवन करै [का०२६ । ६।१२] **मन्त्रार्थ**-(शरसे) स्नेहकारी (पूष्णे) पूषा अर्थात् पुष्टिकारक प्राणा रूप वातके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति दी जाती है [दहीके ऊपरकी चिकनाईको शर कहते है] "अवरᳪं स्वाहाकारं करोति परां देवताम्" इति [१४।२।

२ । ३२] श्रुतेः । श्रुतिके आदिमें स्वाहाकार होनेसे वात देवताकी प्रार्थना जाननी "अयं वै पूषा योयं पवत एष हीदꣳ सर्वं पुष्यत्येष उ प्राणः प्राणमेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [१४ । २ । २ । ३२] श्रुतेः । (ग्रावभ्यः) ग्रावोंके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति हो विषय ग्रहणकरनेसे प्राणोंका नाम ग्रावा है 'प्राणा वै ग्रावाणः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [१४ । २ । २ । ३३] श्रुतेः २ । (प्रतिरवेभ्यः) शब्दकरनेवाले प्राणोंके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति हो "प्राणा वै प्रतिरवाः प्राणान्हीदꣳ सर्वं प्रतिरवम्" इति [१४ । २ । २ । ३४] श्रुतेः ३ । विधि-(१) चौथे खण्डको विना आहुति दिये उदीचीदिशाको देखताहुआ, वेदीके दक्षिणभागमें आतिथ्य बर्हिमें प्रवेशकरै [का० २६ । ६ । १४] (ऊर्ध्वबर्हिर्भ्यः) प्रागग्रबर्हिवाले (घर्मपावभ्यः) घर्मपानकरनेवाले(पितृभ्यः) पितरोंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति हो ४ । (द्यावापृथिवीभ्याम्) द्यावा पृथ्वीरूप प्राण अपानके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति हो "प्राणोदानौ वै द्यावापृथिवी प्राणोदानावेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति श्रुतेः [१४ । २ । २ । ३६] ५ । (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवता प्राणरूपोंके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति हो "प्राणा वै विश्वेदेवाः प्राणानेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [१४ । २ । २ । ३७] श्रुतेः । इन मन्त्रोंसे प्राण धारण किये जाते हैं. यह प्राणप्रतिष्ठाके मन्त्र हैं ॥ १५ ॥

कण्डिका १६-मंत्र ५ ।

स्वाहा॑ रुद्राय॑ रुद्रहू॑तये॒ स्वाहा॒ सञ्ज्योति॑षा॒ ज्योतिः॑ ॥ अहः॒ के॒तुना॑ जुषता॒ꣳ सुज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑ ॥ रात्रिः॑ के॒तुना॑ जुषता॒ꣳ सुज्योति॒र्ज्योति॑षा॒ स्वाहा॑ ॥ मधु॑ हु॒तमिन्द्र॑तमे ऽअ॒ग्नाव॒श्याम॑ ते देव घर्म॒ नम॑स्ते ऽअस्तु॒ मा मा॑ हिꣳसीः ॥ १६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐस्वाहेत्यस्य दधीच ऋ० । आसुरी त्रिष्टुप्छं० । प्राणो देवता । प्रतिप्रस्थात्रे वैकङ्कतशकलदाने विनि० । (२) ॐ स्वाहेत्यस्य प्राजापत्या गायत्री छं० । उपयमन्या घर्मसिंचने वि० । (३) ॐ अह इत्यस्य पूर्ववत् । प्रातःकाले रौहिणहोमे विनि० । (४) ॐ रात्रिरिति संध्यायां होमे विनियोगः । (५) ॐमधुहुतमित्यस्य दधीच ऋ० । आर्चीबृहती छं० । घर्मो देवता । होत्रध्वर्युब्रह्मप्रस्तोतृप्रतिप्रस्थात्रग्नीध्रयजमानैः हुतशेषभक्षणे विनियोगः ॥ १६ ॥

विधि-(१) पहले मन्त्रसे घर्माज्यलिप्त सातवें खण्डको दक्षिण दिशाको अवलोकन करके प्रतिप्रस्थाताको प्रदान करें [का० २६ । ६ । १६] मन्त्रार्थ-(रुद्रहुतम्) स्तोताओंसे स्तुत "रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम्" [निघं० ३ । १६ । १२] (रुद्राय) रुद्रके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति हो १ विधि-(२) घर्ममें स्थित आज्य उपयमनीद्वारा उठाकर स्रुक्में स्थित घृतमें मिलानेका मन्त्र चौथे सातवेंका विनियोग है पांचका आज्यहोम है [का० २६ । ६ । १७] अर्थात् घर्मसम्बन्धी घृत उपयमनाम सिंचन करें । मन्त्रार्थ-(सुज्योतिः) घर्ममें स्थित घृत (ज्योतिषा) उपयमनीमें स्थित घृतसे (जुषताम्) संगतिको प्राप्त हो (स्वाहा) सुहुत हो अर्थात् ज्योतिके सहित ज्योति संगत हो "ज्योतिर्वा इतरस्मिन्पयो भवति ज्योतिरितरस्मिंते ह्येनदुभे ज्योतिषी सङ्गच्छेते" इति [१४ । २ । २ । ४०] श्रुतेः २ । विधि-(३-४) तीसरे मन्त्रसे प्रातःकाल और चौथेसे संध्यासमय रोहिणी स्रुक्द्वारा उत्तर रोहिणपुरोडाशसर्वहुतक्रमसे हवन करें [का० २६ । ६ । १८] मन्त्रार्थ-(अहः) दिन (केतुना) प्रज्ञा वा कर्मद्वारा (सुज्योतिः) ज्योतियुक्त तेज (ज्योतिषा) अपने तेजसे (जुषताम्) संगत हो (स्वाहा) सुहुतहो अर्थात् जैसे सूर्यादिज्योतिके सहित ब्रह्मज्योति मिलित और प्रीतिमान् है इसी प्रकार हमारी प्रज्ञा वा कर्मके सहित प्रातःकाल संगत हो ३ । (केतुना) प्रज्ञा वा कर्मद्वारा (रात्रिः) रात संगत होकर (सुज्योतिः) ज्योतिविशिष्ट तेज (ज्योतिषा) अपने तेजसे (जुषताम्) संगत होकर यह हवि (स्वाहा) सुहुतहो अर्थात् जैसे सूर्यादि ज्योतिके सहित ब्रह्मज्योति मिलित और प्रीति रहती है इसीप्रकार हमारी प्रज्ञा वा कर्मके सहित सायंकाल संगत हो ४ । विधि-(५) उपयमनीमें लायेहुए घर्माज्य अग्निहोत्र होमके नियमसे समंत्रक होम होनेपर होता अध्वर्यु ब्रह्मा प्रस्तोता प्रतिप्रस्थाता अग्नीध्र और यजमान यह सब एकत्र होकर हुतशेष वाजिन भक्षणकी समान उपहव प्रार्थनापूर्वक इस मन्त्रसे भक्षण करें [का० २६ । ६ । २०] मन्त्रार्थ-(घर्म) हे घर्म ! (देव) हे देव ! (इन्द्रवतमे) अत्यन्त वीर्यवान् (अग्नौ) अग्निमें (हुतम्) हुत हुआ (ते) तुम्हारा (मधु) मधुर घर्माज्य अंश (अश्याम) भक्षण करते हैं (ते) तुम्हारे निमित्त (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो (मा) मुझको (मा) मत (हिंसीः) हिंसा करो अर्थात् वीर्यवत्तम अग्निमें मधुहुत घर्माज्यके हुतशेषको हम भक्षण करते हैं हे देव घर्म ! तुमको नमस्कार हो हमको किसीप्रकारसे हिंसित न करो. आत्माकी रक्षा प्रार्थना है "मधु हुतमिन्द्रियवत्तमेऽग्नावित्यैवतदाह" इति [१४ । २ । २ । ४२] श्रुतेः ॥ १६ ॥

कण्डिका १७–मन्त्र २।

अभीमम्महिमादिवंविप्प्रोबभूवसप्प्रथाः ॥ उत श्रवंसापृथिवीᳬसᳬसीदस्वमहाँ२ऽअसिरोचंस्व देवुवीतंमः ॥विधूममंग्ग्नेऽअरुषम्मियेद्ध्यसृजप्प्रं शस्तदर्शुतम् ॥ १७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अभीममित्यस्य दधीच ऋषिः। अतिशक्करी छं०। अग्निर्देवता। आसन्द्या घर्मग्रहणे वि०। (२) ॐउतेति विनियोगः पूर्ववत् ॥ १७ ॥

विधि–(१–२) प्रचारणीय घर्मको आसन्दीमें करते यह दो मन्त्र पाठपूर्वक अवशिष्ट सम्पूर्ण घर्मको अमंत्रक आसन्दीमें ग्रहण करै [का० २६ । ६ । २९]

मन्त्रार्थ–(अग्ने) हे अग्ने परमात्मन्! तुम्हारी (विप्रः) विशेषकर सबको पूर्ण करनेवाली (सप्रथाः) विस्तारयुक्त (महिमा) कीर्ति (श्रवसा) यशरूपी धनसे (इमम्) इस (दिवम्) द्युलोक (उत) और (पृथिवीम्) पृथ्वीको (अभिभवति) व्याप्त करती है अथवा तुम 'विप्रः' मेधावी 'सप्रथाः' विस्तारवान् हो हे देव! तुम (देववीतमः) सम्पूर्ण देवताओंके तृप्त करनेवाले (महान्) बडे (असि) हो (संसीदस्व) पुष्करपर्णमें भलीप्रकार स्थित हूजिये (रोचस्व) भलीप्रकार दीप्तहूजिये (मियेध्य) हे यज्ञके योग्य (प्रशस्त) हे उत्कृष्ट (अग्ने) अग्नि देव! (दर्शतम्) दर्शनीय (अरुषम्) रोषहीन (धूमम्) धूमको (विसृज) छोडिये ॥ १७ ॥

सरलार्थ–हे परम देव! तुम्हारी विप्रे [प्रकृष्ट ज्ञानकी निदर्शनस्वरूप] सुप्रथा [अतिविस्तीर्ण] महिमासे यह दृश्यमान द्युलोक और कीर्तिसे यह पृथिवी अभिभूत है, अर्थात् तुम्हारी महिमा द्युलोकसे भी अनन्त है, यही पृथिवी तुम्हारी एकमात्र कीर्ति नहीं किन्तु इस प्रकार कितनीही पृथिवियोंमें महिमा है ॥ १७ ॥

हे यजनीय परमदेव! तुम सम्पूर्ण देवताओंके प्रियतम तुम महान् हो प्रसन्न हो हमको बुद्धिसे अवगत हो और तुम्हारे प्रसादसे यह अग्नि इस आहुतिको प्राप्त होकर दर्शनीय सघन धूमको छोडो ॥ १७ ॥

कण्डिका १८–मंत्र ३।

यातेघर्म्मदिव्व्याशुग्ग्यागायुत्र्याᳬहंविर्द्धाने॥सात्त ऽआप्प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यैतेस्वाहा॥यातेघ

म्मुन्तरिक्षेशुग्ग्यात्रिष्टुब्भ्याग्ग्नीध्रे ॥ सातऽआप्प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यैतेस्वाहा ॥ यातेघर्म्मपृथिव्याᳪशुग्ग्याजगत्त्याᳪसदस्या ॥ सातऽआप्प्यायतान्निष्ट्यायतान्तस्यैतेस्वाहा ॥ १८ ॥ [१०]

ऋष्यादि-(१-३) ॐयात इति १ । ३ मंत्रयोः दधीच ऋ० । आर्ची पंक्तिश्छं० । घर्मो देवता । द्वितीय (२) मंत्रस्य निच्यृदार्ची पंक्तिश्छं० । सर्वेषां चतुर्गृहीताज्यहोमे विनियोगः ॥ १८ ॥

विधि-(१-२-३) अध्वर्यु आज्यको संस्कारकर चतुरमें ग्रहण करके इस कण्डिकाके तीन मन्त्रोंसे आहुति दे [का० २६ । ७ । ४] मन्त्रार्थ-(घर्म) हे घर्म ! (या) जो (ते) तुम्हारी (शुक्) दीप्ति (दिव्या) द्युलोकमें प्रसिद्ध है (या) जो दीप्ति (गायत्र्याम्) गायत्रीछन्दमें (हविर्धाने) यज्ञगृहमें प्रविष्ट है (सा) वह (ते) तुम्हारी दीप्ति (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्तहो (निष्ट्यायताम्) दृढ हो (तस्यै) उस उस दीप्तिके उद्देशसे (ते) तुम्हारे उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति देते हैं १ । (घर्म) हे घर्म ! (या) जो (ते) तुम्हारी (शुक्) दीप्ति (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्षमें (या) जो (त्रिष्टुभि) त्रिष्टुप्छन्दमें (आग्नीध्रे) आग्नीध्र स्थानमें प्रविष्ट है (सा) वह (ते) आपकी दीप्ति (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्तहो (निष्ट्यायताम) दृढहो (तस्यै) उस (ते) तुम्हारी दीप्तिके निमित्त (स्वाहा) यह आहुति है २ । (घर्म) हे घर्म ! (या) जो (ते) तुम्हारी (सदस्या) सभाके यज्ञस्थानमें स्थित (शुक्) दीप्ति (पृथिव्याम्) पृथ्वीमें है (या) जो (जगत्याम्) जगतीछन्दमें है (सा) वह (ते) तुम्हारी दीप्ति (आप्यायताम्) वृद्धिको प्राप्तहो (निष्ट्यायताम्) दृढ हो (तस्यै) उस दीप्तिके उद्देशसे (ते) तुम्हारे उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति देते हैं ॥ १८ ॥

कण्डिका १९-मंत्र १ अनु० ३ ।

क्षत्रस्यत्त्वापरस्पायब्ब्रह्मणस्तन्न्वम्पाहि ॥ विशस्त्वाधर्म्मणावयमनुक्क्रामामसुवितायनव्यसे ॥ १९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐक्षत्रस्येत्यस्य दधीच ऋ० । उपरिष्टाद्बृहती छं० । घर्मो देवता । पत्नीमग्रे कृत्वाध्वर्युगमने विनि० ॥ १९ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठ करके अध्वर्यु उत्तरवेदीमें गमन करनेको उद्यत घर्म हाथमें लिये पत्नीके पश्चात् गमन करै [का० २६ । ७ । ६] मन्त्रार्थ-हे

घर्म ! (वयम्) हम (क्षत्रस्य) क्षत्रियोंके देव सूर्यके (परस्पाय) परम पालनाके निमित्त (त्वा) तुम्हारे (अनुक्रामाम) अनुगमन करते है (ब्रह्मणः) ब्राह्मण जातिके (तन्वम्) शरीरकी (पाहि) रक्षाकरो (विशः) यज्ञके (धर्मणा) धारण निमित्तसे हम तुम्हारा अनुगमन करते है (नव्यसे) नवीन (सुविताय) सुप्रसूत कर्म अर्थात् कर्मसिद्धिके निमित्त (त्वा) तुमको अनुगमन करते है ॥ १९ ॥

प्रमाण-१ "एतद्वै देवक्षत्रं य एष तपति" इति [१४।३।१।१९] श्रुतेः । २ "यज्ञो वै विडयज्ञस्य त्वारिष्ट्यै" इति [१४।३।१।१९] श्रुतेः ॥ १९ ॥

सरलार्थ-हे घर्म ! सुप्रसूत इस नई क्रियासिद्धिके निमित्त हम तुम्हारे अनुगमन करते हैं ब्राह्मणजातिका शरीर रक्षित हो क्षत्रजातिकी प्रजापालनसामर्थ्य वृद्धिको प्राप्तहो वैश्यजातिके कर्म निर्विघ्न हों ॥ १९ ॥

कण्डिका २०-मंत्र १ ।

चतुः स्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः ॥ अप द्वेषो अप ह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥ २० ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ चतुरित्यस्य दधीच ऋ० । महाबृहती छं० । घर्मो देवता । उत्तरवेद्यां महावीरस्थापने वि० ॥ २० ॥

विधि-(१) यह मंत्रपाठ पूर्वक उक्त महावीरको उत्तर वेदीमें स्थापन करें [का० २६ । ७ । १४] मंत्रार्थ-(सः) वह (चतुःस्रक्तिः) चार दिशारूप चौकोन "एष वै चतुःस्रक्तिर्य एष तपति दिशो ह्येतस्य स्रक्तयः" इति श्रुतेः [१४ । ३ । १ । १७] (न) तथा (ऋतस्य) सत्य और (यज्ञस्य) यज्ञकी (नाभिः) नाभि (सप्रथाः) विस्तारयुक्त (विश्वायुः) जगत्की आयुस्वरूप वा आयुदाता (नः) हमको (सर्वायुः) पूर्ण आयु (सप्रथाः) विस्तार करनेवाला हो (सः) वह (नः) हमको (सप्रथाः) सब प्रकार वढानेवाला हो उसकी कृपासे (द्वेषः) द्वेष (अप) दूर हो (ह्वरः) जन्म मरण लक्षण हमसे (अप) दूर हो अर्थात् हम राग द्वेषरहित हों हम (अन्यव्रतस्य) मनुष्य कर्मसे भिन्न व्रत जगत्के अनुग्रह करनेवाले परमात्माके (सश्चिम) सेवनसे सायुज्यको प्राप्त हों "अन्यद्वा एतस्य व्रतमन्यन्मनुष्याणाम्" इति [१४ । ३ । १ । १९] श्रुतेः ॥ २० ॥

सरलार्थ-हे चतुःस्रक्ति महावीर ! यज्ञके नाभिस्वरूप अतिविस्तृत यहां हमारी पूर्णायु देनेवाले हो, अवश्य हमको पूर्ण आयु देनेवाले हो, इनके प्रसादसे हम द्वेष-

शून्य और कौटिल्यशून्य होकर अन्य व्रतके उपयोगी हों, विना कुटिलता और द्वेष त्यागे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती ॥ २० ॥

विवरण-नाभितुल्य प्रधान अङ्ग नाभि शब्दसे जाना. महावीर चतुष्कोण निर्मित्त हुआ है सो कहचुके है अन्न प्रजा स्वर्गादि प्राप्तिके निमित्त जो व्रत यज्ञ किये जाते हैं वह व्रत कर्म 'इह व्रत' जगत् सम्बन्धी कहाते हैं, ईश्वर प्रीति मात्रके निमित्त वा ईश्वरप्राप्तिके निमित्त जो उपासना ध्यान धारणादि हो वह अन्य व्रत कहाता है ॥ २० ॥

कण्डिका २१-मन्त्र१ ।

घर्म्मैतत्तेपुरीषुन्तेनुवर्द्धस्वुचाचंप्प्यायस्व ॥ वुर्द्धि धीमहिंचवुयमाचंप्प्यासिषीमहि ॥ २१ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐघर्मैतदित्यस्य दधीच्य ऋ०।अनुष्टुप्छं०।घर्मो देवता। दुग्धेन सतपात्रपूरणे विनियोगः ॥ २१ ॥

विधि-(१) घर्मपुरीषदुग्धमें और दूध मिलाकर उसके द्वारा सत पात्र पूर्ण करै ३ महावीर, दो पिन्वन, उपयमन, स्रुवा [का० २६ । ७ । ३२] मंत्रार्थ-(च) और (घर्म) हे घर्म ! (एतत्) यह (ते) तुम्हारा (पुरीषम्) पूर्णकरनेवाला अन्न है "अन्नं वै पुरीषम् अन्नमेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [१४। ३। १। २३] श्रुतेः । (तेन) उस पयके द्वारा (वर्धस्व) वृद्धिको प्राप्तहो (च) और (आप्यायस्व) पुष्ट हो (च) और आपके प्रसादसे (वयम्) हम (वर्धिषीमहि) वृद्धिको प्राप्त हौं (च) और (आप्यासिषीमहि) पुष्ट हौं ॥ २१ ॥

विवरण-दूधसे घर्मनामक सारभाग ऊपर भासमान होताहै उसके तलस्थ अवशिष्ट अंशको घर्मपुरीष कहते हैं ॥ २१ ॥

कण्डिका २२-मंत्र १ ।

अचिक्रदुद्वृषाहरिर्म्मुहान्मित्रोनदंर्शतः ॥ सᳬसूर्य्यणदिद्युतदुदधिर्न्निधिः ॥ २२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐअचिक्रददित्यस्य दधीच्य ऋषिः । परोष्णिक्छन्दः। घर्मो देवता । उत्सादनदेशे परिषिच्य पाठे वि० ॥ २२ ॥

विधि-(१) सामगानके अनन्तर उत्सादनदेशमें परिषिंचन करते यह मंत्र पाठ करै [का० २६ । ७ । १२] । मन्त्रार्थ-(महान्) प्रभासम्पन्न (मित्रः)

मित्रकी (न) समान (दर्शतः) दर्शनीय (वृषा) आहुतिद्वारा वृष्टिका करनेवाला (हरिः) रसोंका हर्ता हरितवर्ण (अचिक्रदत्) बारंबार शब्द करता है (उदधिः) जलोंका (निधिः) धारण करनेवाला वा सुख निधान (सूर्येण) सूर्यकी समान (सन्दिद्युतत्) प्रकाशित होता है "एष वै वृषा हरिर्य एष तपत्येष उ प्रवर्ग्यः" इति [१४।३।१।२६] श्रुतेः ॥ २२ ॥

सरलार्थ–वृषा 'वृष्टिका कारण' हरि 'आहुति' होनेसे धूमाकार रसका हारक मित्र तुल्य दर्शनीय 'शरीरपालनमें अनुपम उपकारी' उदधि 'अधिक जलभागसे सम्पन्न' निधि 'परम पदार्थ' सूर्यकी समान दीप्तिमान् शब्दपूर्वक प्रवृञ्जित होता है ॥ २२ ॥

कण्डिका २३–मंत्र १ ।

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान्द्वेष्टि यञ्च वयन्द्विष्मः ॥ २३ ॥

विधि–(१) चत्वालमें उपस्थित होकर ऋत्विग्गणोंके साथ सपत्नीक यजमान यह मन्त्र पाठ करके मार्जन करै [का० २६ । ७ । ३७] इसकी व्याख्या ६।२२ ॥ २०।१९ ॥ ३५।१२ ॥ ३६।२३ । में होगई ।

सुमित्रियाइति–६।२२ में व्याख्या होगई मार्जने विनियोगः ॥ २३ ॥

कण्डिका २४–मन्त्र १ ।

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम् ॥ देवन्देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ २४ ॥

विधि–(१) यह मन्त्रपाठ कर यजमान ईशानी दिशामें गमन करै [का० २६ । ७ । ३८] उद्वयमिति इसकी व्याख्या २० । २१ ॥ २७।१० ॥ ३५।१४ में होगई । गमने विनियोगः ॥ २४ ॥

कण्डिका २५–मन्त्र १ ।

एधोऽस्येधिषीमहि समिदसि तेजोऽसि तेजो मयि धेहि २५॥

विधि–(१) यजमान पीछे न देखता ईशानी दिशासे लौटकर प्रथम मन्त्रसे समिधा ग्रहणपूर्वक दूसरे मन्त्रसे आहवनीयमें हवन करै [का० २६।७।३९] एधोस्येति इसकी व्याख्या २०।२३ में होगई. एधोस्येति समिद्ग्रहणे विनि० समिदसीत्यस्य समिद्धोमे विनियोगः ॥ २५ ॥

कण्डिका २६-मंत्र ३.

यावंतीद्यावांपृथिवीयावंच्चसुप्तसिन्धंवोवितस्थिरे ॥ तावन्तमिन्द्रतेग्ग्रहंमूर्ज्जागृह्णाम्म्यक्षितम्म यिगृह्णाम्म्यक्षितम् ॥ २६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐयावतीत्यस्य दधीच ऋ० । ब्राह्म्युष्णिक्छं० । इन्द्रो देवता । अग्निहोत्रहवन्यां दधिघर्मग्रहणे वि० ॥ २६ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठ करके सपवित्रा अग्निहोत्रहवनीसे दधि ग्रहण करे [का० २६।७।५४] मन्त्रार्थ-(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यावती) जितना (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और भूलोक है (च) और (यावत्) जितने परिमाणमें (सप्त) सात (सिन्धवः) सागर हैं क्षीरोदादि (वितस्थिरे) विस्तृत हैं (तावन्तम्) तितने (ते) तुम्हारे (अक्षितम्) क्षीणतारहित (ग्रहम्) ग्रहको (ऊर्जा) अन्नके सहित (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं (मयि) मेरे विषयमें (अक्षितम्) अक्षयतारहित जिस प्रकार हो वैसे (गृह्णामि) ग्रहण करताहूं ॥ २६ ॥

सरलार्थ-जितनी द्यावापृथिवी है जितनेमें सात सागर हैं उतने कालतक उसका यश अक्षय है इस प्रकार बल प्राप्त करनेवाला यह घर्म हे इन्द्र ! तुम्हारी प्रीतिके उद्देश्यसे ग्रहण करते हैं, हमको अक्षय भावसे धारण करो ॥ २६ ॥

काण्डिका २७-मंत्र १ ।

मयित्यदिन्द्रियम्बृहन्मयिदक्षोमयिक्क्रतुः ॥ घर्म्मस्त्रिशुग्विराजतिविराजाज्ज्योतिषासुहब्ब्रह्मणातेजसासुह ॥ २७ ॥

ऋष्यादि-(१)ॐमयीत्यस्य दधीच ऋषिः।पंक्तिश्छन्दः।यजमानाशीर्देवता । यजमानऋत्विग्भिर्हुतशेषसोपहवदधिघर्मभक्षणे वि० ॥ २७ ॥

विधि-(१) यह मन्त्र पाठपूर्वक ऋत्विगादिके सहित यजमान हुतशेष दधि घर्म सोपहव भक्षण करे [का० २६ । ७ । ५५ मन्त्रार्थ-(त्रिशुक्) तीन दीप्ति-युक्त (घर्मः) घर्म (विराजा) विशेष विराजमान (ज्योतिषा) जगत् प्रसिद्ध आदित्यनामक तेजके (सह) साथ (ब्रह्मणा) त्रयीलक्षणवाली ब्रह्म-(ज्योतिषा) ज्योतिके (सह) सहित (मयि) मुझमें (विराजाति) विराजमान

हो (त्यत्) वह (बृहत्) महान् (इन्द्रियम्) प्रसिद्धवीर्य (मयि) मुझमें विराजमान हो (क्रतुः) सत्संकल्प (दक्षः) संकल्पसिद्धि (मयि) मुझमें विराजमान हो ॥ २७ ॥

सरलार्थ-इन्द्रियवृद्धिकारी निपुणतावर्धक, कर्मठकारी, महान् घर्म, हमारे आश्रित होताहै तीन लोकमें इनकी दीप्ति विराजमान है, इस कार्यके प्रभावसे ब्रह्मज्योतिके सहित हमारी ज्योति संगत हो ॥ २७ ॥

विशेष-१८ कण्डिका देखो। वहां तीन दीप्ति लिखी हैं ॥ २७ ॥

कण्डिका २८-मन्त्र ३।

पयसो रेतऽआभृतन्तस्य दोहमशीमह्युत्तरामुत्तराᳬ समाम् ॥ त्विषः संवृक्क्रत्वे दक्षस्य ते सुषुम्मणस्य ते सुषुम्मणाग्निहुतः ॥ इन्द्रपीतस्य प्रजापतिभक्षितस्य मधुमतऽउपहूतऽउपहूतस्य भक्षयामि २८॥१०]

इति श्रीशुक्लयजुःसंहितायामष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐपयस इत्यस्य दधीच ऋ०। अवसानहीना गायत्री छं०। यजमानाशीर्दे० । (२) ॐत्विष इत्यस्य अतिजगती छं०। यजमानो देवता। (३) ॐइन्द्र इत्यस्य ऋष्यादि पूर्ववत्। दधिघर्मभक्षणे वि० ॥ २८ ॥

विधि-(१) इन दोनों मन्त्रोसे हुतशेष दधिघर्म भक्षण करे। मन्त्रार्थ-(पयसः) जलोंके (रेतः) सारने (आभृतम्) दधिघर्मरूपको प्राप्त किया (तस्य) उसकी (दोहम्) पूर्णताको (उत्तराम्) उत्तर (उत्तराम्) उत्तर (समाम्) वर्षोंमें (अशीमहि) प्राप्तहों अर्थात् हमने जलके समुदायोंका सार ग्रहण किया है जिससे वर्ष २ मे इसके पूर्ण फल लाभमें समर्थ हों सदा यज्ञशील हों १। विधि-(२) महाव्रताहमें हुतशेष दधिघर्मभक्षणका मन्त्र (का० २६। ७। ५६] मन्त्रार्थ-(त्विषः) हे कान्तिकर (सुषुम्ण) हे सुख देनेवाले दधिघर्म ! (अग्निहुतः) अग्निमें हुत (उपहूतः) उपहव हुए (क्रत्वे) संकल्पके (दक्षस्य) सिद्धिकरनेवाले (सुषुम्णस्य) सुन्दर सुखरूप (इन्द्रपीतस्य) इन्द्रद्वारा पानकिये (प्रजापतिभक्षितस्य) प्रजापतिद्वारा भक्षणकिये (मधुमतः) मधुरस्वादयुक्त (उपहूतस्य) उपहव किये (ते) तुम्हारे अंशको (भक्षयामि) भक्षणकरताहूं अर्थात् सुखकर कान्तिकर निपुणतावर्द्धक और कर्मण्यकारी सुखकर नामसे युक्त तुम्हारे अग्निहुतावशिष्ट अंशको मैं स्वीकारकर भक्षणकरताहूं २।

विधि-(३) तीसरे मन्त्रसे सोपहव करै । मन्त्रार्थ-इन्द्रके पानसे अवशिष्ट प्रजापतिके भक्षणसे अवशिष्ट मधुमान् इस उपहूतांशके उपहूत भागको भक्षण करता हूं ३ ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्सकलगुणवरिष्ठमहामहिमहारेमतिकिरावणश्री पंडितसुखानन्दमिश्रसूनुभारत-वर्षमहामण्डलमहोपदेशकपण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृते यजुर्वेदभाष्ये महावीरनि-रूपणंनामाष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ३९.

अनुवाकसूत्रम्-स्वाहाप्राणेभ्यः पञ्चश्चसप्तद्वौत्रयोदश॥२॥१३॥

काण्डिका १-मन्त्र ७. अनु० १।

स्वाहा॑ प्राणेभ्यः॒ साधि॑पतिकेभ्यः ॥ पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॒ग्नये॒ स्वाहा॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ वा॒यवे॒ स्वाहा॑ ॥ दि॒वे स्वाहा॒ सूर्या॑य॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐस्वाहेति प्रथममंत्रस्य दधीच ऋषिः । आसुरी पंक्तिश्छं० । प्राणो देवता । पूर्णाहुतिदाने वि० (२। ३। ५।७) *मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं० । पृथिव्याद्यो देवताः । चतुर्थमंत्रस्य दैवी जगती० । अन्तरिक्षं दैवतम् । (६) मंत्रस्य दैवी बृहती छन्दः । स्वर्गो देवता। सर्वेषां प्रायश्चित्ताहुतिदाने विनि० ॥ १ ॥

विधि-(१) प्रथम काण्डिकाके प्रथम मन्त्र और चतुर्थ काण्डिकात्मक २२ वां मन्त्र इन दो मन्त्रोंसे पहली और दूसरी पूर्णाहुति प्रदान करै और दूसरेसे, बीस मन्त्रतक घर्म आहुति प्रदान करै [का० २६ । ७ । ४९] मन्त्रार्थ-(साधिपतिकेभ्यः) सर्वान्तर्यामी सर्वाधिपति देवताके सहित वर्तमान वा हिरण्य-गर्भके सहित वर्तमान (प्राणेभ्यः) प्राणोंके निमित्त वा सम्पूर्ण प्राणियोंके उद्देशसे यह (स्वाहा) आहुति दी जाती है सुहुत हो १ । [यह पूर्णाहुतिका मन्त्र है] (पृथिव्यै) पृथ्वीकी प्रीतिके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १ ।

(अग्नये) अग्निकी प्रीतिके उद्देशसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो २ ।

---

*घर्म प्रस्तुत करनेके प्रथम कालसे शेषकालपर्यन्त जो किसी समय विघ्न उपस्थित हो तो इन मन्त्रोंसे प्रायश्चित्त होम करना होता है, वही सब इस अध्यायमें श्रुत हुवा है इस कारण इसको प्रायश्चित्त अध्याय कहते हैं.

(अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्षकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ३।

(वायवे) वायुकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति हो सुहुत हो ४।

(दिवे) द्युलोककी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ५।

(सूर्याय) सूर्यकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ६ ॥ १ ॥

कण्डिका २–मंत्र ७।

दिग्भ्यः स्वाहा चन्द्राय स्वाहा नक्षत्रेभ्यः स्वाहाद्भ्यः स्वाहा वरुणाय स्वाहा। नाभ्यै स्वाहा पूताय स्वाहा ॥२॥

ऋष्यादि–(१) ॐदिग्भ्यः स्वाहेति १। ४।६ मंत्राणां दधीच ऋषिः। दैवी बृहती छन्दः। दिगादयो दे०। होमे वि०। (२। ७) मंत्रयोर्दैवीपंक्तिश्छं०। चन्द्रपूतौ देवते। (३।५) मंत्रयोर्दैवी त्रिष्टुप्छं०। नक्षत्रवरुणौ देवते। वि० पू० ॥ २ ॥

मन्त्रार्थ–(दिग्भ्यः) दिशाओंकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ७।

(चन्द्राय) चन्द्रमाकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ८।

(नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रोंकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ९।

(अद्भ्यः) जलोंकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १०।

(वरुणाय) वरुणकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो ११।

(नाभ्यै) नाभिदेवताकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १२।

(पूताय) शोधक देवताकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १३॥२॥

कण्डिका ३–मन्त्र ७।

वाचे स्वाहा प्राणाय स्वाहा प्राणाय स्वाहा। चक्षुषे स्वाहा चक्षुषे स्वाहा। श्रोत्राय स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा ॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐवाचेस्वाहेत्यस्य दधीच ऋ०। दैवी बृहती छं०। वाग्देवता। २।३।४।५।६।७ मंत्राणां दैवी पंक्तिश्छं०। प्राणादयो देवताः। प्रायश्चित्ताहुतिदाने विनियोगः ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ–(वाचे) वाग् देवताके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १४।

(प्राणाय) प्राणकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १५।

(प्राणाय) प्राणकी प्रीतिक उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १६ ।
(चक्षुषे) नेत्रोंकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १७ ।
(चक्षुषे) चक्षुकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १८ ।
(श्रोत्राय) श्रोत्रकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो १९ ।
(श्रोत्राय) श्रोत्रकी प्रीतिके उद्देश्यसे (स्वाहा) यह आहुति सुहुत हो२०॥३॥

विशेष-प्राण चक्षु श्रोत्रमें वाम दक्षिणके भेदसे प्रति मनुष्यके शरीरमें दो भेदवाले है इस कारण मंत्रमें द्विरुक्ति कही है ॥ ३ ॥

प्रमाण-"मुखमेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [श० १४।३।२।१७ "नासिके एवास्मिन्नेतद्दधाति" इति "अक्षिणी एवास्मिन्नेतद्दधाति" [श०] "कर्णावेवास्मिन्नेतद्दधाति" इति [श० १४।३।२।१७]इस श० श्रुति और मंत्रसे प्राणादिकी प्रतिष्ठा कही है यही मंत्र भगवद्विग्रहपूजनके निदान हैं ॥ ३ ॥

कण्डिका ४-मन्त्र १ ।

मन॑सुः काम॒माकू॑तिं वा॒चः स॒त्यम॑शीय । प॒शू॒नाᳪ रू॒पमन्न॑स्य॒ रसो॒ यशः॒ श्रीः श्र॑यतां॒ मयि॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ मनस इत्यस्य दधीच ऋषिः । निच्यृदार्षी बृहती छन्दः । यजमानाशीर्दे० । पूर्णाहुतिदाने विनियोगः ॥ ४ ॥

विधि-(१)दूसरा पूर्णाहुतिका मंत्र । मंत्रार्थ-म (मनसः) मनके (कामम्) अभिलाषको और (आकूतिम्) प्रयत्नको (अशीय) प्राप्तकरूं (वाचः) वाणीके (सत्यम्) सत्यको प्राप्तकरूं (पशूनाम्) पशुओंकी (रूपम्) रूपसम्बन्धी शोभा (अन्नस्य) अन्नकी (रसः) स्वादुता (यशः) यश (श्रीः) लक्ष्मी (मयि)मुझमें (श्रयताम्) आश्रयकरे ॥ ४ ॥

सरलार्थ-अतिचंचल और दुर्दम्य मनकी यथेच्छ आकुंचनकी सामर्थ्य और वाणीके सत्य व्यवहारकी क्षमता हम जैसे प्राप्तकरैं तथा पशुसम्बन्धी गृहशोभा, अन्नसम्बन्धी स्वादु आस्वादन यश और श्री हमको आश्रयकरै हे परमदेव ! प्रार्थनाद्योतक यह आहुति सुहुतहो ॥ ४ ॥

कण्डिका ५-मंत्र १२ ।

प्र॒जाप॑तिः स॒म्भ्रि॒यमा॑णः स॒म्राट् सम्भृ॑तो वैश्वदे॒वः

संᳬसुन्नो घर्म्मः प्रवृक्कस्तेजऽ उद्यतऽआश्विनः पयस्यानीयमाने पौष्णो विष्यन्दमाने मारुतः क्लथन् ॥ मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने वायव्यो ह्रियमाणऽआग्नेयो हूयमानो वाग्घुतः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ प्रजापतिरित्यस्य दधीच ऋषिः । कृतिश्छं० । प्रजापत्यादयो देवताः । महावीरभेदे प्रायश्चित्ताहुतिदाने वि० ॥ ५ ॥

विधि-(१) सम्भ्रियमाण अवस्था [निश्चित्त अभिमर्शनसे अजादुग्धसेचनपर्यन्त] में यदि महावीर भेद होजाय तो प्रजापति आदि देवताओंकी प्रीतिके उद्देश्यसे आहुति देनी [का० २६ । ७ । ५०] मन्त्रार्थ-(सम्भ्रियमाणः) निश्चित अभिमर्शनसे लेकर अजादुग्धसेचनपर्यन्त सम्भ्रियमाण अवस्थावाले महावीरका देवता (प्रजापतिः) प्रजापति है इस अवस्थामें महावीर भेद होनेसे 'प्रजापतये स्वाहा ' कहकर आहुति देनी १ । (सम्भृतः) दुग्धसेचनके उपरान्त कुश आसादनसे पूर्वपर्यन्त महावीरका देवता (सम्राट्) सम्राट् है इसके भेदमें (सम्राजे स्वाहा) आहुति है २ । (संसन्नः) आसादनसे लेकर मुञ्जमलंबोंपर अधिश्रयणसे पूर्व महावीरके देवता (वैश्वदेवः) विश्वेदेवा है वहां भेदमें प्रायश्चित्ताहुतिका मंत्र (विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा) है ३ । (प्रवृक्तः) प्रवृक्त अवस्था अधिश्रयणसे दोनों परिशाससंग्रहणपर्यन्त महावीरका देवता (घर्मः) घर्म है वहां भेदमें प्रायश्चित्ताहुतिका मंत्र (घर्माय स्वाहा) है ४ । (उद्यतः) उद्यत अवस्था उद्यमनसे लेकर अजादुग्धसेचनसे पूर्व महावीरका देवता (तेजः) तेज है वहां भेदमें (तेजसे स्वाहा) आहुति है ५ । (पयसि) अजापयके (आनीयमाने) लाकर सींचनेपर (आश्विनः) अश्विनी कुमार देवता है उस समय भेदमें (अश्विभ्यां स्वाहा) आहुतिसे प्रायश्चित्त है ६ । (विष्यन्दमाने) विष्यन्दमान अवस्था अर्थात् महावीरस्थित दुग्धके मध्यमें घृतप्रक्षेपणके समय घृतके बाहर निकलनेमें महावीरका देवता (पौष्णः) पूषा है उस समयके भेदमें (पूष्णे स्वाहा) यह प्रायश्चित्ताहुति है ७ । (क्लथन्) दुग्धमें घृतआवर्तनसमय महावीरका देवता (मारुतः) मरुत है उस समयके भेदमें (मरुद्भ्यःस्वाहा) आहुति है ८ । (शरसि) शरमें (सन्ताय्यमाने) वृद्धिको प्राप्त अर्थात् दुग्धकी शर प्रसिद्ध वस्तु है, इसके वर्द्धनसमय महावीरका देवता (मैत्रः) मित्र है उस समयके भेदमें (मित्राय स्वाहा) यह आहुति है ९ । (ह्रियमाणः) शरसे घर्म आहरणकालमें महावीरका देवता (वायव्यः) वायु है उस समयके भेदमें (वायवे स्वाहा)

आहुति दे १० । (हूयमानः) होमकालमें महावीरके भेदमें (आग्नेयः) अग्निदेवता हैं उस समयके भेदमें (अग्नये स्वाहा) आहुति है ११ । (हुतः) होमके अनन्तर महावीरके भेदमें (वाक्) वाक् देवता है उस समय भेद होनेपर (वाचे स्वाहा) कहकर घृतकी आहुति देनी यह सब घृताहुति हैं उन उन देवताओंके निमित्त होम हो यह अर्थ है ॥ ५ ॥

कण्डिका६ -मन्त्र १२ ।

सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे ॥ मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ॥ ६ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐसवितेत्यस्य दधीच ऋ० । धृतिश्छं० । सवित्रादयो देवताः । आहुतिदाने वि० ॥ ६ ॥

विधि-(१) घर्मभेदमें प्रथम एक २ आहुतिहोमका मंत्र [का० २६ । ७ । ५१] मंत्रार्थ-(प्रथमे) पहले (अहन्) दिन महावीरका (सविता) सविता देवता है उसे दिनके महावीर भेदमें (सवित्रे स्वाहा) सविताके उद्देश्यसे आहुति दे १ । (द्वितीये) दूसरे दिनका (अग्निः) अग्नि देवता है इस दिनके भेदमें (अग्नये स्वाहा) अग्निके उद्देश्यसे आहुति देनी २ । (तृतीये) तीसरे दिनका (वायुः) वायु देवता है इस दिन महावीरके भेदमें (वायवे स्वाहा) वायुके उद्देश्यसे आहुति देनी ३ । (चतुर्थे) चौथे दिनका (आदित्यः) आदित्य देवता है इस दिन महावीरके भेदमें (आदित्याय स्वाहा) आदित्यके निमित्त आहुति दे ४ । (पंचमे) पांचमें दिनका (चन्द्रमा) चन्द्रमा देवता है इस दिन महावीरके भेदमें (चन्द्रमसे स्वाहा) चन्द्रमाके उद्देश्यसे आहुति दे ५ । (षष्ठे) छठे दिनका (ऋतुः) ऋतु देवता है इस दिनके भेदमें (ऋतवे स्वाहा) ऋतुके उद्देशसे आहुति देनी ६ । (सप्तमे) सातवें दिनके (मरुतः) मरुत् देवता हैं इस दिनके भेदमें (मरुद्भ्यः स्वाहा) मरुतोंके उद्देश्यसे आहुति देनी ७ । (अष्टमे) आठवें दिनमें (बृहस्पतिः) बृहस्पतिदेवता हैं उस दिनके भेदमें (बृहस्पतये स्वाहा) बृहस्पतिके उद्देश्यसे आहुति दे ८ । (नवमे) नौमें दिनका (मित्रः) मित्र देवता है इस दिनके भेदमें (मित्राय स्वाहा) मित्र देवताके उद्देश्यसे आहुति देनी ९ । (दशमे) दशमे दिनका (वरुणः) वरुण देवता है उस दिनके भेदमें (वरुणाय स्वाहा) यह आहुति दे १० । (एकादशे) ग्यारहवें दिनका (इन्द्रः) इन्द्र देवता है इस दिन महावीरके भेदमें (इन्द्राय स्वाहा) इन्द्रके

उद्देशसे आहुति दे ११। (द्वादशे) बारहवें दिनके (विश्वेदेवाः) विश्वेदेवा देवता हैं इस दिन महावीरके भेद होनेमें (विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा) प्रायश्चित्ताहुति विश्वेदेवाओंके उद्देशसे देनी ॥ ६ ॥

कण्डिका ७–मन्त्र १. अनु० २।

उग्रश्चभीमश्चध्वान्तश्चधुनिश्च ॥ सासह्वाँश्चाभियुग्वाचविक्षिपःस्वाहा ॥ ७ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐउग्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। मरुतो देवताः। अरण्ये विमुखपुरोडाशहोमे वि० ॥ ७ ॥

विधि–(१) अरण्यमें आहुति प्रदानके निमित्त विमुखसंज्ञक मन्त्र [का० १८।४।२४] मंत्रार्थ–(उग्रः) उत्कृष्ट क्रोधनस्वभाव (च) और (भीमः) जिससे भय लगे भयानक (च) और (ध्वान्तः) ध्वनिकारी (च) और (धुनिः) शत्रुओंके कंपानेवाले (च) और (सासह्वान्) सबके तिरस्कारमें समर्थ (च) और (अभियुग्वा) सब वस्तुओंके सहित योगवाले (च) और (विक्षिपः) प्राणीके शरीर बुद्धि आदि और वृक्षशाखादिक्षेपणकारी वा शत्रुओंके नाशक वायुदेवताकी प्रीतिके निमित्त यह आहुति देते हैं (स्वाहा) भली प्रकार गृहीत हो ॥ ७ ॥

कण्डिका ८–मंत्र १०।

अग्निꣳहृदयेनाशनिꣳहृदयाग्ग्रेणपशुपतिङ्कृत्स्नहृदयेनभवंय्यक्ना ॥ शर्वम्मतस्नाभ्यामीशानम्मन्युनामहादेवमन्तःपर्शव्येनोग्ग्रन्देवंव्वनिष्ठुनावशिष्ठहनुꣳशिङ्गीनिकोश्याभ्याम् ॥ ८ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐअग्निमित्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः। भुरिग्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छन्दः। यजमानो देवता। अश्वाङ्गदेवताभ्यश्चतुर्गृहीताज्याहुतिदाने वि० ॥ ८ ॥

विधि–(१)अध्यायसमाप्तिपर्यन्त अनूच्य संज्ञक मन्त्र हैं. यह वनमें अश्वांगके निमित्त घृतकी आहुति दीजाती है [का० २०।८।६–८] इसमें दो पक्ष हैं अग्नये स्वाहा, हृदयाय स्वाहा, इत्यादि कात्यायनादिका अभिप्राय है और

अग्निहृदयेन प्रीणामि स्वाहा इत्यादि हरस्वामीके मतमें प्रयोग है, अग्निहृदयेन से आरंभकर विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा तक हवन करके सोलह आहुति देकर द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा इस अन्त आहुतिको दे श्रुतिमें इसको उत्तर आहुति लिखीहै "द्यावापृथिवीभ्यामुत्तमामाहुतिं जुहोति" इति श्रुतेः ।

मन्त्रार्थ-(हृदयेन) हृदयद्वारा (अग्निम्) अग्निदेवताको प्रसन्न करताहूं १ ।
(हृदयाग्रेण) हृदयके अग्रभागसे (अशनिम्) अशनिदेवताको० २ ।
(कृत्स्नहृदयेन) सम्पूर्ण हृदयसे (पशुपतिम्) पशुपतिदेवताको० ३ ।
(यक्ना) यकृत्कालखण्डद्वारा (भवम्) भवदेवताको प्र० ४ ।
(मतस्नाभ्याम्) हृदयास्थिविशेषद्वारा (शर्वम्) शर्वदेवताको० ५ ।
(मन्युना) क्रोधाधारद्वारा (ईशानम्) ईशानदेवको प्रसन्न करताहूं ६ ।
(अन्तःपर्शव्येन) पार्श्वअस्थिके मध्यगतमांससे (महादेवम्) महादेवको० ७ ।
(वनिष्ठुना) स्थूलान्त्रसे (उग्रम्) उग्र (देवम्) देवको प्रसन्न करताहूं ८ ।
(वशिष्ठहनुः) कपोलके एक देश वा अधोदेश और (कोश्याभ्याम्) हृदयकोशमें स्थितमांसपिण्डद्वारा (शिङ्गीनि) शिङ्गीदेवताको प्रसन्नकरताहूं [हनुद्वारा वशिष्ट को ऐसाभी किसीका मत है] ९ ॥ ८ ॥

कण्डिका ९-मन्त्र ११ ।

उ॒ग्रँल्लोहि॑तेन मि॒त्रꣳ सौव्र॑त्त्येन रु॒द्रं दौव्र्र॑त्त्येनेन्द्रं॑ प्रक्री॒डेन॑ म॒रुतो॒ बले॑न सा॒ध्यान्प्र॒मुदा॑ ॥ भ॒वस्य॒ कण्ठ्य॑ꣳ रु॒द्रस्या॑न्तःपा॒र्श्व्यं॑ म॒हादे॒वस्य॒ यकृ॑च्छ॒र्वस्य॑ वनि॒ष्ठुः प॑शु॒पतेः॑ पुरी॒तत् ॥ ९ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐउग्र इत्यस्य प्रजापतिर्ऋषिः । निच्यृद्ब्राह्मी त्रिष्टुप्छं० । यजमानो दे० । वि० पू० ॥ ९ ॥

विधि-(१) वनमें अश्वके शोणितादिके निमित्त हवन करे । मन्त्रार्थ-(लोहितेन) लोहितद्वारा (उग्रम्) उग्र देवको प्रसन्न करता हूं ।

(सौव्रत्येन) श्रेष्ठ गत्यादि कर्म करनेवालेसे (मित्रम्) मित्र देवताको० २ । (दौर्व्रत्येन) जो शरीरका शोणित दुर्व्रत्य करनेको प्रवृत्त होता है उससे (रुद्रम्) रुद्र देवताको प्रसन्न करता हूं ३ ।

(प्रक्रीडेन) क्रीडा करनेमें समर्थ रक्तद्वारा (इन्द्रम्) इन्द्रको० ४ ।

(बलेन) बल प्रकाशमें समर्थ रक्तद्वारा (मरुतः) मरुतोंको० ५ ।

(प्रमुदा) प्रसन्नता करनेवाले द्वारा (साध्यान्) साध्य देवताओंको० ६ ।

(कण्ठ्यम्) कण्ठमें होनेवालेसे (भवस्य) भव देवताको प्र० ७ ।

(अन्तःपार्श्वम्) पार्श्वकी मध्यरक्तिमासे (रुद्रस्य) रुद्रको प्र० ८ ।

(यकृत्) यकृत्के रक्तद्वारा (महादेवस्य) महादेवको प्रसन्न० ९ ।

(वनिष्ठुः) स्थूलान्त्रद्वारा (शर्वस्य) शर्व देवताको प्रसन्न० १० ।

(पुरीतत्) हृदयाच्छादक नाडीकी रक्तिमासे (पशुपतेः) पशुपतिको प्रसन्न करता हूं, अर्थात् सर्वाङ्ग देवताओंके हैं इनसे सर्वस्वत्याग है ममत्व कुछ नहीं है इसमें स्थानगत रुधिरके गुण कहे है ॥ ११ ॥

विशेष–यह दो कण्डिका ब्राह्मणरूप हैं ॥ ९ ॥

कण्डिका १०–मंत्र १८ ।

लोमँभ्युः स्वाहा लोमँभ्युः स्वाहा त्वचे स्वाहा त्वचे स्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्युः स्वाहा मेदोभ्युः स्वाहा ॥ माँसेभ्युः स्वाहा माँसेभ्युः स्वाहा स्नावँभ्युः स्वाहा स्नावँभ्युः स्वाहास्थभ्युः स्वाहास्थभ्युः स्वाहा मुज्जभ्युः स्वाहा मुज्जभ्युः स्वाहा ॥ रेतसे स्वाहा पायवे स्वाहा ॥ १० ॥

ऋष्यादि–पंचाक्षरमंत्राणां प्रजापतिर्ऋषिः । दैवीपांक्तिश्छं । अङ्गानि देवताः । चतुरक्षरमंत्राणां दैवी बृहती० । षडक्षरमन्त्राणां दैवीत्रिष्टुप्छन्दः । अष्टाक्षरमंत्राणां दैवीत्रिष्टुप्छन्दः । प्रायश्चित्ताहुतिदाने विनियोगः ॥ १० ॥

विधि–दशसे १३ कण्डिकातक ४२ मंत्रद्वारा अश्वमेधमें अश्वाङ्गहोमके प्रायश्चित्त मंत्र हैं । [४ । ८ अनुक्र०] और कर्मसमाप्तिमें ज्ञानीको देहअध्यास त्याग होनेसे शरीरके भोगोंका त्याग है । मन्त्रार्थ–(लोमभ्यः) लोमोंके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो १ (लोमभ्यः स्वाहा) व्यष्टिलोमोंके निमित्त सुहुत हो २(त्वचे) त्वचाके निमित्त(स्वाहा) सुहुत हो ३ (त्वचे स्वाहा) व्यष्टित्वचाके निमित्त० ४ (लोहिताय) लोहितके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ५ (लोहिताय स्वाहा) लोहितके० ६ (मेदोभ्यः) मेदके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ७ (मेदोभ्यः स्वाहा) मेदके० ८ (मांसेभ्यः) मांसके निमित्त (स्वाहा) सुहुतहो ९ (मांसेभ्यः स्वाहा) मांसके

निमित्त० १० (स्नावभ्यः) स्नायुओंके निमित्त (स्वाहा) आहुति० ११ (स्नावभ्यः स्वाहा) स्नायुके निमित्त० १२ (अस्थभ्यः) अस्थियोंके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो १३(अस्थभ्यः स्वाहा) अस्थियोंके निमित्त०१४(मज्जभ्यः) मज्जाके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो (मज्जभ्यः स्वाहा) मज्जाके निमित्त सुहुत हो १६ (रेतसे) वीर्यके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो १७ (पायवे) गुदके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो १८ ॥ १० ॥

कण्डिका ११-मंत्र ९ ।

आयासायस्वाहांप्प्रयासायस्वाहांसंय्यासायस्वाहांवियासायस्वाहोंद्यासायस्वाहा ॥ शुचेस्वाहा शोचंतेस्वाहाशोचंमानायस्वाहाशोकायस्वाहा ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐआयासायेत्यस्य ऋष्यादि विनियोगः पूर्ववत् ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(आयासाय) आयास देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो १९ । (प्रयासाय) प्रयासके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २० । (संयासाय) संयास देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २१ । (वियासाय) वियास देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २२ । (उद्यासाय) उद्यास देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत० २३ । (शुचे) शुच देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत० २४ । (शोचते) शोचत् देवताके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २५ । (शोचमानाय) शोचमानके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २६ । (शोकाय) शोकके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २७ ॥ ११ ॥

विशेष-देहपरिश्रमको भोग हो । इन्द्रिय परिश्रमको भोग हो । मानस परिश्रमको० । बुद्धिपरिश्रमको० । प्राणपरिश्रमको भो० । यह आयासादि पांचका अर्थ है ॥ ११ ॥

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

तपसेस्वाहातप्प्यतेस्वाहातप्प्यमानायस्वाहांतप्तायस्वाहांघर्म्मायस्वाहा ॥ निष्कृत्त्यैस्वाहाप्प्रायश्चित्त्यैस्वाहांभेषजायस्वाहा ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तपस इति विनियोगः पूर्ववत् ॥ १२ ॥

मन्त्रार्थ-(तपसे) तपके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २८ । (तप्यते) प्यतत्के निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो २९ । (तप्यमानाय) तप्यमानके निमि

(स्वाहा) सुहुत हो ३० । (तपाय) तपके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३१ । (घर्माय) घर्मके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३२।(निष्कृत्यै)निष्कृतिके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३३। (प्रायश्चित्त्यै) प्रायश्चित्तिके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३४। (भेषजाय) भेषजके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३५ ॥ १२ ॥

कण्डिका १३–मन्त्र ७ ।

यमायस्वाहान्तकायस्वाहामृत्यवेस्वाहा ॥ ब्रह्मणेस्वाहाब्रह्महत्त्यायैस्वाहाविश्वेब्भ्योदेवेब्भ्यः स्वाहाद्यावापृथिवीब्भ्याᳯस्वाहा ॥ १३ ॥

इति श्रीशुक्लयजुःसं० दीर्घपाठ एकोनचत्त्वारिंशत्तमोऽध्यायः ३९

ऋष्यादि–(१) ॐ यमायेति विनियोगः पूर्ववत् ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ–(यमाय) यमके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३६ । (अन्तकाय) अन्तकके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३७ । (मृत्यवे) मृत्युके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३८ । (ब्रह्मणे) ब्रह्मके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ३९ । (ब्रह्महत्यायै) ब्रह्महत्याके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ४० । (विश्वेभ्यः) सम्पूर्ण (देवेभ्यः) देवताओंके निमित्त (स्वाहा) सुहुत हो ४१ । (द्यावापृथिवीभ्याम्) भूलोकसे द्युलोकपर्यन्त जितने देवता है उन सबकी प्रीतिके निमित्त यह शेष पूर्णाहुति दीजाती है (स्वाहा)भलीप्रकारसे गृहीत हो ४२ । १३ यही आहुति मृत शरीरसंस्कारमें पढी जाती है ॥ १३ ॥

इति श्रीकान्यकुब्जवंशावतंसहरिभक्तिनिपुणश्रीयुतमिश्रसुखानन्दसूनुपण्डितज्वाला-
प्रसादमिश्रविरचिते शुक्लयजुर्वेदीयमिश्रभाष्ये घर्मादिर्निष्कृतिर्नामै-
कोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

शुभमस्तु ।

अथ चत्वारिंशोध्यायः ४०.

अथानुवाकसूत्रम्–ईशावास्यमष्टावंधं तमोनवद्धोसप्तदश॥२॥ १७

कण्डिका १–मन्त्र १ अनु० १ ।

ईशावास्यमिदᳯसर्वंयत्किञ्चजगत्त्याञ्जगत् ॥ तेनंत्यक्तेनभुञ्जीथामागृधःकस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ ईशावास्यमित्यस्य दधीच ऋ० । अनुष्टुप्छं० । आत्मा देवता । उपदेशे वि० ॥ १ ॥

विधि-(१) यद्यपि ३९ अध्यायोंमें कर्म उपासना ज्ञान तीनोंही लिखेगये है परन्तु उन अध्यायोंमें मुख्य करके कर्मकाण्डकाही वर्णन किया गया है और इस अध्यायमें मुख्यकर ज्ञानकाण्डकोही कथन किया है,इस कारण इसको ईशावास्य उपनिषद कहते है, "जिसके द्वारा ईश्वरका सामीप्य प्राप्त हो अर्थात् उसको ध्यानगम्य कराजाय उसीको उपनिषद् कहते है" इसमें कर्मका विनियोग नहीं है, आत्माका स्वभाव शुद्ध निष्पाप एक नित्य अशरीर सर्वज्ञ होनेसे कर्मके उपयोगी नहीं होसकता, इससे इन मंत्रोंका कर्मसे सम्बन्ध नहीं है. उत्पन्नविकारी, प्राप्तसंस्कारी, भोक्ताही कर्मके योग्य हो सकता है, और वही कर्मके उपयोगी हो सकता है, और आत्माका स्वभाव इस प्रकारका नही है इस कारण आत्मा कर्मका शेष नही, आत्माका अनेकत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अशुद्धत्वादि धर्मोंको लेकर लोक बुद्धिसिद्ध कर्मोंका विधान किया है, जो पुरुष ब्रह्मतेजादि दृष्ट और स्वर्गादि अदृष्टरूप कर्मके फलार्थी है और मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, धनी हूँ, इस प्रकार अधिकारके माननेवाले है, उनहीका कर्मके विषयमें अधिकार है ऐसा जैमिनि आचार्य कहते है । इस कारण यह वेदमंत्र आत्माके स्वभावके प्रकाशकरनेसे आत्माको विषय करनेवाले स्वाभाविक कर्मके ज्ञानको निवृत्तकरतेहुए शोकमोहादि संसारधर्मकी निवृत्तिका साधन,आत्माकी एकता आदि स्वभावके ज्ञानको उत्पन्न करते है, गर्भाधानादि संस्कारसे संस्कृत वेदज्ञाता लब्धपुत्र यथाशक्ति यज्ञनिष्पादन कर निष्पाप निःस्पृह यमनियमसे युक्त मुमुक्षु शिष्यके प्रति उपदेश है, कारण कि उसीमें यह सफल होता है ।

मन्त्रार्थ-(ईशा) सब प्राणियोंके ईश अर्थात् वशीभूत करनेवाले परमात्मा द्वाराही (इदम्) यह सब प्रत्यक्ष दीखनेवाला (सर्वम्) सब जगत् (वास्यम्) आच्छादन तिरोधान करनेके योग्य है (यत्) जो (किञ्च) कुछ भी (जगत्याम्) त्रिलोकीमें (जगत्) यह जंगमादि सम्बन्ध है (तेन) उस सबके (त्यक्तेन) त्याग करके (भुञ्जीथाः)भोग वा रक्षा करो (कस्य) किसीके (स्वित्) भी (धनम्) धनको (मा) मत (गृधः) ग्रहण करो, अथवा जो कुछ 'जगत्याम्' त्रिलोकीमें 'जगत्' जंगमादि स्वामिसम्बन्धसे आलिंगित है उस सबके 'त्यक्तेन' त्याग करके वा लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा इनको छोडकर 'भुञ्जीथाः' प्रारब्ध भोगका अनुभव करो, वा आत्माकी रक्षा करो, 'गृधः' यह मेरा है इस प्रकारकी लालसा 'मा' मत करो 'स्वित्' विचार करो कि 'कस्य' किसका 'धनम्' धन अर्थात् किसीका नहीं. सब द्रव्य एक दूसरेके पास गमनागमन करते हैं,

इस कारण यह मेरा है ऐसी अविद्या त्यागनी चाहिये यह सब परमात्माही है ऐसे परमार्थ रूप सत्य आत्माद्वारा सब इस अनृतविनाशीको आच्छादन करो अर्थात् परमात्माके सिवाय और नहीं ऐसा विचार करो ॥ १ ॥

सरलार्थ–इस जगत्में स्थावर जंगम जो कुछ देखा जाता है, वह सबही परमात्माकी गोदमें स्थित हैं इसके नियमाधीन होकर जो जो लाभ करता है वह उसीको उसप्रकार भोग करै, कोई भी किसीका धन अन्यायसे ग्रहण न करै॥१॥

भावार्थ–जो कुछ जगत्में जगत्भाव है, पृथिवी आदि लोक लोकान्तरमें जो जगत् है, जो कुछ उसमें नामरूपादि है जितना यह इन्द्रिय मन बुद्धिआदिसे स्थूल सूक्ष्म अनुभवमें आता है, वह सब परमात्मासे आच्छादित है, अर्थात् वह चराचरका आत्मा सर्वान्तर्यामी होनेसे सर्व सम्बन्धरहित आकाशवत् सदा शुद्ध एकरस ज्ञानस्वरूप है, उसके अनुभवमें जगत् है, वह सबका अनुभवी यह आत्माही है 'आत्मा सर्वान्तरः' [बृह०अ०५।ब्रा०४]यह आत्मा प्राण मन बुद्धि आदि किसीकाभी विषय नहीं इससे परमात्मा है यह अपना अनुभव ही जगत्रूप होकर भासता है जगत् अनुभवरूप है अनुभव आत्मासे भिन्न नहीं, जैसे अग्निसे दाहकशक्ति, और आत्मा परमात्मासे भिन्न नहीं.कारण कि परमात्मानेही स्वेच्छासे सर्व जगत्रूप होकर आत्मा अन्तर्यामिरूपसे प्रवेश किया है''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तै०व० २ अनु० ६'' इससे वास्तवमें परमात्मा आत्मा और जगत् अभेदरूपही है यह जगत् जगत्त्व करके असत्य और अधिष्ठानसत्तासे सत्यस्वरूप है जैसे मृत्तिकामें घट घटत्वसे तो वाचारम्भणमात्र असत्य है, इसीप्रकार सर्वाधिष्ठान आत्मामें सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् अविद्याद्वारा कल्पित होनेसे मिथ्या है, इस प्रकार कल्पित नामरूपात्मक जगत्में जो सत्य प्रतीति भाव है उसको सत्य परमात्मज्ञानसे त्यागकर अर्थात् असत्य रूप जगत्में अज्ञानजन्य तीनों एषणाओंको त्यागकर अपने आत्माकी रक्षा करो, अर्थात् सबके अभावसे जो एक निर्विशेष सर्वाधिष्ठान आत्मसत्ता अवशेष रहती है उस अवस्थामें अनुकूल होकर किसीके धनकी इच्छा न करो, कारण कि यह नाम रूपात्मक जगत् पंचविषयात्मक होनेसे इन्द्रियोंका भोग्यरूपी धन है इसमेंसे किसीका धन मत चाहो यह मिलै यह मिलै ऐसी बुद्धिको त्याग दो यह जगत्रूपी धन किसीका भी नहीं, चंचल और नाशवान् है इसकी आकांक्षा त्यागकर आत्मभावमें स्थित होना चाहिये ॥ १ ॥

विशेष–इस मंत्रके पूर्वार्धमें आत्मतत्त्वका उपदेश तीसरे पादमें जिज्ञासुको आत्मज्ञानकी प्रकृता अर्थात् कर्मका निदान रूप तीनों एषणाओंका त्याग कराकर चौथे पादसे कर्मकी इच्छा [illegible] ना परमक्तताके निमित्त कही है ॥१॥

यह प्रथम मंत्र ब्रह्मविद्याके अधिकारी मुमुक्षुके निमित्त है कारण कि मोक्षार्थी को आत्मज्ञानही उपाय है, और जो संन्यासपूर्वक आत्मज्ञानके अभ्यासमें समर्थ नहीं वे मध्यम अधिकारी हैं उनके निमित्त उपदेश है कि–

कण्डिका २–मंत्र १।

कुर्वन्नेवेहकर्म्माणिजिजीविषेच्छतꣳसमाः॥एव-न्त्वयिनान्यथेतोस्तिनकर्म्मलिप्यतेनरे॥ २ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ कुर्वन्नित्यस्य दधीचऋषिः। भुरिगार्ष्यनुष्टुप्छं०। अधिकारी दे०। कर्मोपदेशे वि० ॥ २ ॥

मंत्रार्थ–(इह) इस लोकमें (कर्माणि) अग्निहोत्रादि निष्काम कर्म (कुर्वन्) करते हुए (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्षतक (जिजीविषेत्) जीनेकी इच्छा करो (एवम्) इसप्रकार निष्काम कर्मके मुक्तिनिमित्त करनेसे (त्वयि) तुझ (नरे) पुरुषमें (कर्म) कर्म (न) नहीं (लिप्यते) सम्बन्ध करैगे मुक्तिके निमित्त (इतः) इससे (अन्यथा) प्रकारान्तर (न) नहीं (अस्ति) है. निष्काम कर्म कर शुद्धान्तःकरणसे ज्ञान और उससे मुक्ति होती है ॥–२ ॥

सरलार्थ–इस संसारमें कर्म करते २ ही शतायु होनेकी इच्छा करो हे मनुष्यो! तुम्हारे विषयमें इससे अन्य प्रकार किसी भांति व्यवस्था नहीं किन्तु सावधान!! कर्ममें लिप्त न होना॥ २ ॥

भावार्थ–जव आत्मज्ञानके अभ्यासका सामर्थ्य न हो तव संध्या अग्निहोत्र आदि विहित कर्मोंको जिनको वेदोंने कर्तव्य धर्मरूपसे कहा है, और जिनके न करनेसे धर्महानिरूप प्रत्यवाय होता है उन कर्मोंको करते हुए समय व्यतीत करो, परन्तु कामनासहित वह कर्म मत करो कारण कि निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञान और उससे मुक्ति होती है, इससे निष्काम कर्म करते हुए सौवर्षतक जियो, अर्थात् परमायुपर्यन्त जीनेकी इच्छा करो, अथवा जो सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो तौभी संसारवंधनकी निवृत्तिके अर्थ विहित कर्म निष्काम करते रहो, आशय यह कि जवतक दृढ वैराग्य न हो कर्म कामना हीन होकर करते रहो, इस प्रकार कर्म करनेसे भी तुमको नरशरीराभिमानीमें कर्मवंधन नहीं होगा, इससे दूसरा मार्ग मुक्तिका नहीं. सकाम कर्म वारंवार जन्म मरण देते हैं "योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥कठ० अ० २।५।७" आशय यह है कि विहित निष्काम कर्म करनेपर अज्ञान वा आपत्तिआदिसे अशुभ कर्म न वनेगा तो यह कर्महानि न करसकेगा कारण कि वह कर्म कामनासे प्रवृत्त नहीं हुआ है।

आशय यह है कि एषणात्रयके त्यागे विना और दृढ वैराग्य हुए विना संन्यास मुक्तिका कारण न होकर पतितत्वका कारण होजाता है, इससे दृढ वैराग्य होनेसेही संन्यास ग्रहण करनेसे सफल मनोरथ होता है ॥ २ ॥

प्रथम मन्त्रसे एषणाका त्याग करके आत्मज्ञान प्रतिपादन किया, दूसरेसे आत्मोपासनामें असमर्थको निष्काम कर्मका उपदेश किया संसारके इन दोनों मार्गोंको त्यागनेवाले जो पुरुष है, उनकी अधोगति दिखाते हुए अगले मन्त्रका उपदेश करते है "द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च विभाषितः" इति–

कण्डिका ३–मन्त्र १।

असुर्य्यानामतेलोकाऽअन्धेनतमसावृंता॒ः ॥ ताँस्तेप्प्रेत्त्यापिंगच्छन्तियेकेचांत्त्मुहनोजनाः ॥३॥

ऋष्यादि–(१) ॐ असुर्या इत्यस्य दधीच ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। यजमानो देवता। उपदेशे वि० ॥ ३ ॥

मन्त्रार्थ–(ये) जो (के) कोई (च) भी (आत्महनः) अविद्वान् काम्यकर्ममें तत्पर विद्यमान अजर अमर आत्माको अविद्यादोपसे तिरस्कार करनेसे आत्मघाती हैं (ते) वे (जनाः) मनुष्य (प्रेत्य) देहत्याग करके (तान्) उन स्थावरादिको (अभिगच्छन्ति) गमन करते हैं (ते) वे (लोकाः) कर्मफलके भुगानेवाले जन (असुर्याः) असुरोंके अर्थात् प्राणपोषणमें तत्परोंके (नाम) प्रसिद्ध है और (अन्धेन) अदर्शनात्मक अज्ञानसे (आवृताः) आच्छादित हैं आत्मज्ञानरहित वारंवार जीते मरते है ॥ ३ ॥

भावार्थ–जो पूर्वकथनसे विपरीत आचरण करते हैं अर्थात् निष्काम कर्म छोड काम्य और निषिद्ध कर्मोंमें रत रहते हैं उन अविवेकियोंका देह त्यागकर जिन लोकोंमें जन्म होता है उनको कहते हैं, जहां आत्माके यथार्थदर्शनकी योग्यता नहीं है, ऐसे अदर्शनात्मक अज्ञानावृत देवतादि शरीररूपी लोकभी असुर्यानाम हैं. उनमें ज्ञानरूपी प्रकाश नहीं है जिससे अपने आत्माका यथार्थ अनुभव किया जाय, देवादिसे स्थावरपर्यन्त असुर्यलोक हैं, जिन्होंने परमात्माको अपना आत्मत्वकरके न जाना, वही आत्माका हनन है कि नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वरूप आत्माको अविद्या दोषसे जन्ममरणादि विपरीतभावमें जानना, तथाच "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" [बृह० उ० अ० ४ ब्रा० ५] आत्माका निरादरही हनन है, जैसे स्त्रीकी पृथक् शय्याही शास्त्रकारोंने वध कहा है। जो

पुरुष अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण निष्काम कर्मको न करके यथोचित जीवन-पर्यन्त सकाम और निषिद्ध कर्मोंका आचरण करते हैं, वह शरीर त्यागकर जन्ममरणके दोषोंवाले लोकोंमें गमन करते हैं। असुर्यलोक कहनेसे देवलोकका भी ग्रहण है, देवलोकका अर्थ यह है कि देवताओंके लोक अर्थात् जहां कर्मके फल देखने भोगते हैं वह शरीर, वह देवशरीररूपी लोक भी स्वयंप्रकाश सर्व-प्रधान परमात्माकी अपेक्षासे असुर्यही कहाते हैं छान्दोग्य बृहदारण्यकमें इन्द्रि-यके अधिष्ठाता देवताओंको असुर नामसे लिखा है. इससे देवलोक भी आत्माका प्रकाश न होनेसे अज्ञानरूपी अन्धकारसे आवृत है कारण कि देवताओंमें भी विषयोंकी लालसा रहती है, और यही अप्रकाश कहाता है इससे अज्ञानरूपी अन्धकारसे आवृत अज्ञानी सकामी पुरुष जो विषयोंकी कामनासे आराधना करनेवाले हैं वह उसी लोकको जाते हैं, अथवा जो सदा निषिद्ध कर्म करनेवाले हैं जिनको आत्माका प्रकाश नहीं हुआ है वे प्राणी मृत्युको प्राप्त होकर पशु पाषाण वृक्षादि शरीररूपी लोकमें देह त्यागके उपरान्त प्राप्त होते हैं, इससे सकाम वा निषिद्धकर्मा पुरुष देह त्यागकर कर्मके अनुसार देवतासे तृणपर्यन्त शरीरोंको प्राप्त हो जन्मते मरते रहते हैं. इससे पुरुषको चाहिये कि आत्महत्यारा न होकर आत्माके ज्ञानद्वारा आत्माकी रक्षा करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्रमें सकाम और निषिद्ध कर्मकी निन्दा करके अब चतुर्थ मन्त्रसे आत्मरक्षक ज्ञानी अनुभवसे मुक्तिको प्राप्त होते हैं. यह दिखानेको चतुर्थ मन्त्रमें आत्मतत्त्व कहते हैं-

कण्डिका ४-मन्त्र ५।

अनेजदेकम्मनसोजवीयोनैनद्देवाऽआप्नुवन्पूर्व्वमर्शत् ॥ तद्धावतोन्न्यानत्त्येतितिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वादधाति ॥ ४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अनेजदित्यस्य दधीच ऋ० । त्रिष्टुप्छं० । आत्मा देवता । उपदेशे वि० ॥ ४ ॥

मंत्रार्थ-जो ब्रह्म (अनेजत्) अचल अपनी अवस्थामें स्थित सदा एकरस (एकम्) एक अद्वितीय सब प्राणियोंमें विज्ञानघनरूपसे स्थित (मनसः) संकल्पादि लक्षणवाले मनसे भी (जवीयः) अत्यन्त वेगवान् है, अकम्प और वेगवान्

का विरोध नहीं जानना, उपाधिरहित होनेसे आकाशवत् निश्चल है, और सब देहोंमें अन्तःकरणकी संकल्पविकल्पात्मक वृत्तिरूपी मनको कि जिसके देहमें रहनेसे अर्धक्षण मात्रमें देश देशान्तर किंवा ब्रह्मलोकपर्यन्त अतिदूर जानेकी शक्ति होनेसे शीघ्रगामी संज्ञा दी गई है उससे भी आगे जानेवाला है, अर्थात् जहां जहां मन जाता है वहां वहां सर्वत्र सत्तारूप सिद्ध है, इससे मनसे भी (पूर्वम्) प्रथम प्राप्त हुआ (अर्शत्) प्राप्त हुआ कहा है (देवाः) द्योतनात्मक चक्षुआदि इन्द्रियें (एनत्) इस ब्रह्मको (न) नहीं (आप्नुवन्) प्राप्तहोती है कारण कि चक्षुरादि इन्द्रियोंका अधिष्ठाता मन है जब आत्मा उसकाभी विषय नहीं तब इन्द्रियोंका विषय किसप्रकार होगा इसीसे कहा है कि देवता जिसको नहीं प्राप्त होते (तत्) वह आत्मा (तिष्ठत्) अविक्रिय है अर्थात् आकाशवत् परिपूर्ण क्रियारहित है उस ही आत्मतत्त्वके प्रकाशमें इन्द्रिय अपने अपने विषयोंको प्राप्त होती है इस कारण आत्मा सर्वत्र एकरस विकाररहित सिद्ध है, सोई आत्मा (धावतः) द्रुतसे गमन करता (अन्यान्) मन वाणी इन्द्रियादि दूसरेको (अत्येति) अतिक्रमण अर्थात् पीछे छोडकर गमन करता है. अर्थात् सर्वत्र एकरस अक्रिय निरुपाधिरूपसे उपाधिकृत क्रियावान् सम्पूर्ण संसारकी विशेष क्रियाको अनुभव करता है, अथवा अविवेकी मूढ पुरुषोंको आत्मा देह देहके प्रति भिन्न २ भासता है, और वे सब उपाधिधर्मको आत्माकेही धर्म मानते हैं. परन्तु वास्तवमें आत्मा आकाशवत् परिपूर्ण सर्वत्र क्रियासे रहित अपने आपमें स्थित है (मातरिश्वा) अन्तरिक्षमें चलनेवाली वायु (तस्मिन्) उस चैतन्यस्वभाव आत्मतत्त्वकी सत्तासेही (अपः) जल कर्मोंको (दधाति) धारण करता है, अर्थात् जिसमें सब ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है ऐसा सूत्रात्मा कि जिसके आश्रयसे सब ब्रह्माण्डकी क्रिया होती है, सो आत्मतत्त्वकी सत्ताके आश्रयसे सब ब्रह्माण्डके कर्मोंको अपनेमें धारण करता है, अर्थात् यह वायु प्राणियोंकी चेष्टालक्षणवाले अग्नि रवि आदिके ज्वलन दहन प्रकाश वर्षण आदि कर्मोंको ब्रह्मकी सत्तासे विभाग करता है "भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः" इत्यादिश्रुतेः [तैत्तिरीयारण्यक० व० २।८] सबही कार्य कारण क्रिया, सबके आस्पद चैतन्यरूप ब्रह्मके होनेसे होती है अथवा वायु जिसमें यज्ञ होमादि कर्मोंको स्थापित करती है "स्वाहा वाते धाः" [८।२१] अर्थात् समष्टि वायु जिसमें कर्मोंको स्थापन करती है वह त्याग होम दानादि कर्मका परम निधान है ॥ ४ ॥

सरलार्थ—वह चलता नहीं किन्तु मनसे अधिक वेगवान् है कोई देवता उसका अनुगमन करनेमें समर्थ नहीं है वह सदा धावमान है इससे वह सदा सर्वत्र सब

देवताओंके आगेही विद्यमान है। इस विश्व ब्रह्माण्डका आधार जलसमूह और उस सबका आधार स्थिर वायु उसकी गोदमें है ॥ ४ ॥

अब इसी अर्थकी दृढता पंचम मंत्रसे करतेहैं-

कण्डिका ५-मंत्र १।

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के ॥ तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒ तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ ५ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ तदित्यस्य दधीच ऋषिः। आर्ष्यनुष्टुप्छं०। आत्मा देवता। वि० पू० ॥ ५ ॥

मन्त्रार्थ-(तत्) वह आत्मा (एजति) जंगम शरीररूपी उपाधिके साथ मिलकर गमनागमनक्रियावान् भासता है, इससे चलता है अथवा लिंगशरीररूपी उपाधिके साथ मिलकर लोकादिमें आता जाता प्रतीत होता है, सो यह सब उपाधिके धर्म अज्ञानके आश्रय आत्माके आश्रय आत्मामें कल्पना करते हैं, जैसे बालक मेघोंको चलता देखकर अज्ञानके आश्रय चन्द्रमाको चलता कहते हैं, इसीप्रकार अज्ञानके आश्रय शरीरादि उपाधिके कारण आत्मामें यही कल्पना करते हैं परन्तु आत्मा सब उपाधिहीन अक्रिय है उपाधिद्वारा चलता है (तत्) वह (न) नहीं (एजति) चलता है, अर्थात् जो आत्मा देहादि उपाधिके साथ मिलकर चलता विदित होता है, सोई उपाधिके अभावसे नहीं चलता, विद्वान् आत्मतत्त्वको आकाशवत् अचल अक्रिय सर्वत्र अनुभव करते हैं, (तत्) वह आत्मा (दूरे) दूर है अर्थात् अज्ञानियोंके वह आत्मा अनन्तकालतकभी ध्यानमें न आनेसे दूर है लोकालोकपर्यन्त भी ज्ञान विना जानेसे वह नहीं मिलता अथवा मन बुद्धिके अगोचर होनसे दूर है (तत्) वही (अन्तिके) समीप है अर्थात् ज्ञानवानोंके समीप है "निहितो गुहायाम्" [कठ० अ० १ व० २ श्रु० २०] बुद्धिरूपी गुहामें स्थित होनेसे अनुभवियोंके समीप है (उ) और (तत्) वही (अस्य) इस (सर्वस्य) सबके (अन्तः) भीतर है अर्थात् विद्वानोंका जो आत्मा अपने आप है सोई सब चराचरका अन्तर अनुभवकर्ता आप है (उ) और (तत्) वही (अस्य) इस (सर्वस्य) सबके (बाह्यतः) बाहर है अर्थात् जो सबका अन्तर है वही आकाशवत् सबके बाहर है ॥ ५ ॥

अथवा-वह सब जन्तुओंमें स्थित होकर कंपित होता, स्थावरमें चंचल रहता, आदित्यनक्षत्ररूपसे दूर, पृथ्वीरूप होनेसे समीप है "सर्व खल्विदं ब्रह्म" इति श्रुतेः। विज्ञानघनसे सबके अन्तर, बाहर भी वही चेतनाचेतनरूपमें

अनन्त ब्रह्म व्यापक है, ऐसी उपासनावालोंका अर्चिआदि मार्गसे गमन नहीं होता यहीं ब्रह्मकी प्राप्ति होती है "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" इति श्रुतेः बृह० ६।४ ॥ ५ ॥

इस आत्माको उपाधि निरुपाधिद्वारा प्रतिकूल गुणोंसे सर्वत्र सिद्ध कर सब प्रकार एक विज्ञानघन आत्माकाही उपदेश किया, यह उपाधि निरुपाधिका आक्षेप मुमुक्षुओंके समझानेहीको है, इस मन्त्रमें भी प्रतिकूल गुणोंका प्रतिपादन कर सब प्रकार आत्मतत्वही प्रतिपादन किया है, जिससे मुमुक्षुका द्वैतभाव सब प्रकार निःशेष होकर शान्त होजाय, अब मुमुक्षुके निमित्त आत्मविचारकी रीति और उसका फल दो मन्त्रोंसे प्रतिपादन करते है–

कण्डिका ६–मंत्र १।

यस्तुसर्वाणिभूतान्यात्त्मन्नेवानुपश्यति ॥
सर्वभूतेषुचात्त्मानन्ततोनविचिकित्सति॥ ६ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐयस्त्वित्यस्य दधीच ऋ०। निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छं०। ज्ञानी देवता। पाठे वि० ॥ ६ ॥

मन्त्रार्थ–(तु) और (यः) जो मुमुक्षु आत्मज्ञानी कि जिसको संशयरहित होकर आत्माका ज्योंका त्यों अनुभव हुआ है वह (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) प्राणियोंको (आत्मन्) आत्मामें (एव) ही (अनुपश्यति) देखता है अर्थात् अव्याकृतसे तृणपर्यन्त सब कार्य कारण भूतोंको जलतरंगकी समान आत्मामें ही देखता है (च) और (सर्वभूतेषु) सब भूतोंमें (आत्मानम्) अपनेको देखता है जैसे सब तरंग बुदबुदादिमें एक जलको देखता है, (ततः) तो इस प्रकारका देखनेवाला (न) नहीं (विचिकित्साति) संदिग्ध वा घृणित होता है अर्थात् ग्लानिआदि द्वैत भावमें होते हैं द्वैत भाव अविद्यासे होता है "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरम्पश्यति" [बृ० उ० ४।५] आत्मज्ञानीकी विशेषकर अविद्या नष्ट होनेसे अद्वैत आत्मभाव निश्चय होकर शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव होकर ग्लानि नहीं करता है "यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्केन कम्पश्येत्" [बृ० उ० अ० ४।५] ज्ञानीको किसी पदार्थमें रागद्वेष नहीं होता ॥ ६ ॥

इस मन्त्रमें आतमअभ्यासवालेको संदेहावकाशरहित करके ७ वे मन्त्रमें मोक्षका स्वरूप कहते हैं–

कण्डिका ७-मंत्र १।

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानुतः ॥
तत्र को मोहः कः शोकऽएकुत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ यस्मिन्नित्यस्य विनियोगः पूर्ववत् ॥ ७ ॥

मन्त्रार्थ-(यस्मिन्) जिस अवस्थाविशेषमें (विजानतः) आत्माको वेद गुरु और अपने अनुभव द्वारा भली प्रकार जान्नेवालेको (सर्वाणि) सब (भूतानि) प्राणी (आत्मा) आत्मा (एव) ही (अभूत्) हुए अर्थात् "आत्मैवेदं सर्वम्" यह सब आत्मा ही है ऐसा ज्ञान और अनुभव हुआ तब (एकत्वम्) विशुद्ध गगनाकार एक आत्माको (अनुपश्यतः) देखनेवालेको (तत्र) तिस समय (कः) क्या (मोहः) मोह (कः) क्या (शोकः) शोक है ॥ ७ ॥

भावार्थ-जिस समय आत्मज्ञानी वेद गुरु तथा अपने अनुभवसे सम्पूर्ण भूतों को आत्माही है ऐसा जान्ता है अर्थात् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [छां० प्र० ३ खं० १४] और "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृह० उ० ४।४] श्रुतियोंसे स्थूल सूक्ष्म कार्यकारणात्मक सब भूतोंको अपना आत्मा आपही है ऐसा जान्ता है तो इस प्रकारके देखनेवालेको कुछ शोक मोह नहीं है, जिस प्रकार श्रुतियोंके वाक्यसे आचार्य द्वारा श्रवण कर अपने आत्माको सर्वत्र आत्मभावसे अनुभव किया है सर्वत्र एकत्व देखता है, जैसे मृत्तिकाके वर्तन नामरूपसे अनेक भासते है पर वास्तवमें घटादिके नाम रूप मृत्तिकामें " वाचारंभणं विकारो नामधेयम्" [छां० ६।१] कल्पितहै " मृत्तिकेत्येव सत्यम्" [छां० ६।१] एक मृत्तिकाही सत्य है, इसी प्रकार नाम रूपसे जगत् अनेक भासता है, पर यथार्थमें सम्पूर्ण चराचर एक आत्माही है ऐसा जानकर जो आत्माका अभ्यास करता है जब उसकी अन्तःकरणकी सर्वरूपात्मवृत्ति दृढ उदय होती है, तब विज्ञानअवस्थामें उसको शोक मोह कुछ नहीं रहता "तरति शोकमात्मवित्" [छां०] आत्मवेत्ताको शोक मोहादि नहीं हैं, कारण कि शोक मोहादिकी कामना यहीं लीन होजाती है, इससे सर्वत्र एक आत्माकाही ज्ञानाभ्यास होकर उस महात्माको शोक मोह नहीं होता ॥ ७ ॥

आशय-६ और ७ मन्त्रमें सातवेंका तृतीय पाद "तत्र कः मोहः कः शोकः" इसको छोडकर मुमुक्षुको आत्मविचारकी रीति संक्षेपसे कही है और "तत्र कः मोहः" इत्यादि इस पदमें ज्ञानवान्को शोक मोहका अभावरूप फल कथन किया है, अज्ञानके लक्षण शोकमोहादिकी निवृत्ति होकर ज्ञानस्वरूप होता है, शोक मोहका न हो-

नाही ज्ञानीका लक्षण है, शोकमोहही अविद्याका कार्य है, इससे ज्ञानवान्में शोक मोह उपलक्षणद्वारा षडूर्मीसहित अविद्याका अभाव समझना, उसमें शोकमोह मनकी ऊर्मी, क्षुधा पिपासा प्राणकी ऊर्मी, जन्ममरण देहकी ऊर्मी है, यह छठों मन प्राण देहकी है, आत्माकी नहीं, आत्मा सब ऊर्मीसे रहित केवल शुद्ध विज्ञान-घन आकाशवत् अपने विषे आप स्थित है, इसप्रकार तीनो एषणा षट् ऊर्मीसे रहित हुआ शुद्ध स्वयंप्रकाश आत्माकी सर्वात्मभावनासे अपनेमें अभेदभावना करनी, कि वह आत्मा मैं हूं यह जो अन्तःकरणकी अहंकाररूपा निश्चय आत्म-वृत्ति की सो सर्वात्मा मैं हूं इसको गिराकर शुद्धचैतन्यघन अस्फुर स्वयंप्रकाश सर्व विशेषतासे रहित साक्षात् अपने आपविषे आप होता है ऐसे अभ्यासीके प्राण देहावसानमें देहसे न निकलकर अपने अधिष्ठान चैतन्य आत्मामें लीन होजाते हैं 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' "ब्रह्मवै सन् ब्रह्माप्येति" [बृह० ६ । ४] ज्ञानवान् आत्मअभ्यासी पुरुष सर्वत्र ब्रह्म देखता ब्रह्मही होता है "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः [बृ०] जहां (बृह०) ऐसाहो वहां बृहदारण्यकका अध्याय लैना उपनिषद्का नहीं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध-इस मंत्रमें मुमुक्षुको शोक मोहकी निवृत्तिरूप आत्मविचारका फल निरूपण किया, उसके प्राण न उत्क्रमित होकर ब्रह्ममेंही लय होते हैं अब उस ब्रह्मका स्वरूप विधिमुख और निषेधमुख करके इस अगले मंत्रमें प्रतिपादन करते है ॥ ७ ॥

कण्डिका ८-मन्त्र १।

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम् ॥ कविर्म्मनीषीपरिभूःस्वयम्भूर्य्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यःसमाभ्यः ॥८॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सपर्यगादित्यस्य दधीच ऋ० । विराडतिजगती छं० । जीवन्मुक्तो देवता । पाठे विनियोगः ॥ ८ ॥

मंत्रार्थ-जो इस प्रकार एषणात्रयसे रहित होकर "अयमात्मा ब्रह्म" बृह०६।४ "एतद्वै तत्" [कठ०व० ४] "स आत्मा तत्त्वमसि"[छां ६ । ९] इन श्रुतियोके अभ्याससे परमात्माके साथ नदी समुद्रवत् अभेदको प्राप्त होताहै वह परमात्मा (शुक्रम्) शुद्धशुक्र विज्ञानानन्दस्वभाव अचिन्त्यशक्ति है, स्वयंप्रकाश

है (अकायम्) कायारहित है अर्थात् समष्टि सूक्ष्म उपाधि लिंगशरीर 'पुर्यष्टिका' और व्यष्टि सूक्ष्म उपाधि महत्तत्वादि आठ प्रकृति विकृति अथवा समस्त सूक्ष्म शरीरोंकी समष्टिता हिरण्यगर्भ अर्थात् सूक्ष्म शरीररूपी व्यष्टि समष्टि उपाधिरहित होनेसे अकाय है (अव्रणम्) छिद्ररहित अर्थात् इन्द्रियोंके गोलकरूपी छिद्र और व्रणादिरहित है (अस्नाविरम्) नाडीआदिसे रहित है, यहां छिद्र और नाडियोंके कहनेसे व्यष्टि स्थूल शरीररूप उपाधि और समष्टि विराट् शरीररूपी स्थूल उपाधिसे रहित है, (शुद्धम्) सत्त्व रज तमके कार्योंसे अनुपहित होनेसे निर्मल है, (अपापविद्धम्) पापरहित क्लेश कर्मविपाक आशयोंसे रहित है (सः) जो सर्व उपाधिसे रहित है वह (पर्य्यगात्) व्यापक है आकाशसे भी महासूक्ष्म आकाशादि सबमें व्याप्त है.

इस पूर्वार्धमें आत्माको निषेधमुखसे "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितम्" [बृह०५।७] "शुक्रमकायमव्रणं" कहकर उत्तरार्धमें विधिमुखसे विशेष प्रतिपादन करते हैं–वह (कविः) अर्थात् क्रान्तदर्शी सबका द्रष्टा है "नान्योऽतोस्ति द्रष्टा" [बृ०५।६] (मनीषी) मनका जाननेवाला सर्वज्ञ ईश्वर है (परिभूः) सबके ऊपर है किसीसे आच्छादित न होकर आकाशादि सबको आच्छादन करनेवाला सबकी प्रथमावधि तर्कसे बाहर है, अथवा सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, काल, दिशा, देव, पितर, भौतिकादि सब जगत्को अपनी आज्ञामें चलानेसे सबके ऊपर है "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति [बृह०अ०५ब्रा०८] (स्वयम्भूः) अपनी इच्छासे आपही हुआ है स्वतःसिद्ध होनेसे स्वयम्भू है इस प्रकारके नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमात्मा (शाश्वतीभ्यः) निरन्तर अनन्तकालस्थायी (समाभ्यः) वर्षोंके निमित्त संवत्सरनामप्रजापतिके निमित्त (याथातथ्यतः) यथाभूत कर्मफलसाधनसे (अर्थान्) अर्थोंको (व्यदधात्) विभाग करता हुआ, अर्थात् कर्तव्यपदार्थोंको यथा विभागसे करताहुआ ॥ ८ ॥

विशेष–जो पदार्थ जिसके जिस योग्य है उसी भांति उसको देता है ॥ ८ ॥

संगति–१मंत्रसे परमात्माकी प्राप्तिके साधन एषणात्रयसे रहित संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान सूचन किया, दूसरे में आत्मज्ञान में असमर्थको निष्काम कर्मका उपदेश, ३ में इन दोनों मार्गोंको त्यागकर सकाम और निषिद्ध कर्म करनेवालेको असुर्यानामलोककी प्राप्ति कहकर तीन प्रकारके अधिकारी कहे पहलेमें आत्माभ्यासी मोक्षका भागी उत्तम अधिकारी, दूसरेमें मंत्रप्रमाणविहित निष्काम कर्मकर्ता ब्रह्मलोकभागी मध्यमाधिकारी, तीसरेमें सकाम और निषिद्ध कर्म करनेवाला, असुरलोक अन्यतमभागी आत्महा निकृष्ट और अधम अधि-

कारी कहा, फिर उत्तमाधिकारीके भलीप्रकार अभ्यासके दृढताके निमित्त 'अनेजदेकम्' और 'तदेजति' इन दोनों ४ । ५ मंत्रोंमें दृढता प्रतिपादन की, और उस परमात्माके विचार अध्यासकी रीति ६ । ७ । इन दो मंत्रोंमें कही तथा सातवें मंत्रके तीसरे पादमें शोक मोहके अभावद्वारा ज्ञानवान्को सम्यक् ज्ञान प्राप्तिका लक्षण दिखाया, और मुमुक्षु पुरुष सर्वात्मभावरूपसे ब्रह्म आत्माके अभेद भावनारूप अभ्याससे परमात्माके साथ[यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" [मुण्ड० ३ । २ । ८] इत्यादि प्रमाण से नदीसमुद्रवत् भेदसे रहित एक होता है, उसका स्वरूप निषेधमुख और विधिमुखसे इस मंत्रमें कहा, ब्रह्मवेत्ता ब्रह्महीं होता है यह कहकर ब्रह्मका स्वरूप ज्ञानवान्की परमगति दिखाय प्रथम मंत्रके अनुसार अधिकारी मुमुक्षु ज्ञानवान्का प्रकरण चौथेसे आठवें मंत्रपर्यन्त प्रतिपादनकिया, सो यहांतक इस उपनिषद्का उत्तरार्ध कहकर १७ मंत्रतक मध्यम और कनिष्ठ अधिकारीका प्रसंग कहैगे.

पूर्वार्ध समाप्तम् ।

अब उत्तम ज्ञानवान अधिकारीका प्रसंग समाप्त करके उपासनाके प्रसंगमें संभूति और असंभूतिकी उपासना अधिकारी और फलवादके भेदसे पृथक् २ प्रकारसे कहैगे, पहले कनिष्ठ और मध्यमअधिकारी जो तीसरे मंत्रमें सूचित किये हैं उनको आदिकार्यकारण संभूति और असंभूतिकी उपासनासे जो गति प्राप्त होतीहैं सो कहते है—

कण्डिका ९—मन्त्र १. अनु० २ ।

अन्धन्तमुःप्रविंशन्तियेसम्भूतिमुपासंते ॥
ततोभूयंऽइवुतेतमोयऽउसम्भूंत्त्याᳪंरताः ॥ ९ ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अन्धंतम इत्यस्य दधीच ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । आसक्तो देवता । पाठे वि० ॥ ९ ॥

मन्त्रार्थ–(ये) जो कोई पुरुष (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति अव्याकृत माया काम कर्मोंको उपजानेवालीकी (उपासते) उपासना करते है वह पुरुष (अन्धम्) अदर्शनात्मक (तमः) अज्ञान अन्धकारमें (प्रविशन्ति) प्रवेशकरते हैं अर्थात वारंवार कारणभावको ही प्राप्त होते हैं कारण कि अविद्याके कार्यकामनाको अपनेमें लेकर सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे अदर्शनात्मक अज्ञानरूप संसार में प्रवेश करते हैं, इस कारण स्वयं अनेक शरीरधारणके आपही कारण होते हैं, और (ये) जो कोई (सम्भूत्याम्) कार्य ब्रह्म हिरण्यगर्भमें (उ) ही

(रता:) रत हैं (ते) वे (तत:) उससे भी (भूय:) अधिक (इव) ऐसे (तम:) अन्धकारमें प्रवेश करते हैं अर्थात् जो अत्यन्त अविवेकी सकाम पुरुष हैं वह उत्पत्तिवाले आदि कार्यरूप हिरण्यगर्भकी सकाम उपासना करते हैं, यह अतिशय अदर्शनात्मक अज्ञान अंधकारमें प्रवेशकरते हैं अर्थात् कार्यकी कार्यभावसे उपासना करके जडात्मक कार्य भावको ही प्राप्त होते हैं, आशय यह कि प्रकृतिका कार्य हिरण्यगर्भ उसको कार्य अणिमादि ऐश्वर्य उसकी कामनासे जो हिरण्यगर्भकी उपासनारूप कार्य है, उससे रत्नादि जड ऐश्वर्यभावको प्राप्त होते हैं अथवा नास्तिक जो आत्माको असंभूति मानकर कहते हैं यमनियमवान् विज्ञानात्मा कोई नहीं, असंभव अर्थात् मृतकका फिर संभव नहीं अर्थात् शरीरके नाश होते ही आत्माका नाश होता है फिर कोई आत्मा नहीं रहता जिस का फिर संभव हो इससे आत्मा असंभूति है जो ऐसा निश्चय करतेहैं वह अत्यन्त अंध श्वान शूकरादि शरीररूपी नरकको प्राप्त होते हैं, और सम्भूति अर्थात् संभववाले शरीरको ही आत्मारूप कहते हैं, कि शरीर ही आत्मा है वह देहात्मवादी अधमाधिकारी महा अन्धतम वृक्ष पाषाणादिजडभावको वारंवार प्राप्त होते हैं अथवा जो लोक दृष्टिमात्र ब्रह्मविद्यामें रत हैं और आत्माभ्यास से रहित होकर अनेक विषयवासना अन्तःकरणमें लिये अपनेको ज्ञानवान् अकर्ता मानकर शिश्नोदरपरायण होकर अग्निहोत्रादि अन्तःकरणकी शुद्धिके कारण विहित कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते वेभी महाअन्धकारमें गमन करते हैं ॥ ९ ॥

आशय-तीसरे मंत्रमें कहे कनिष्ठ और अधम अधिकारीको सकाम और अशुभकर्मके अनुसार अज्ञानावृत असुरलोकरूपी फलप्राप्ति कही इससे यह उपदेश किया कि मध्यम अधिकारी मुमुक्षुको सकाम और निषिद्धकर्मकरने उचित नहीं, और उत्तमाधिकारीको तो इनका स्मरण मात्रभी उचित नहीं है, कारण कि संभूति और असंभूतिकार्य और कारण जो हिरण्यगर्भ और आदि प्रकृति इसकी उपासना सकाम तथा भेद भावसे कर्तव्य नहीं, कारण कि उन दोनोंके फल नाशवान् हैं जड हैं इस्से अदर्शनात्मक अंधतम है इससे सब देवादिकी आदिकारण आदिप्रकृतिकी उपासनासे त्रैलोक्यकी सब विभूति प्राप्त होती है, उसकी उपासना मुमुक्षुको सकाम कर्तव्य नहीं है जो प्रकृतिआदि देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अन्धतमको प्राप्त होते हैं इस्से काम्यकर्म और भेदभावनाआदि अशुभआचरणोंसे केवल मुमुक्षुको हटानेके निमित्त काम्यकर्म और भेदउपासनाकी निंदा की है, इससे विवेकी मुमुक्षु पुरुष सकाम कर्म और भेदभावनाके सन्मुख हो। और जो अविवेकी अपनी रक्षामें असमर्थ कामुक

निषिद्धकर्म और भेदभावनाके कर्ता आत्मघाती है वेही अन्तमें वृक्षपाषाण श्वान शूकरादि महा अन्धतममें प्रवेशकरते हैं । इस प्रकार यह कनिष्ठ और अधम अधिकारीका प्रकरण कहा है ॥ ९ ॥

इस मन्त्रमें संभूति असंभूतिसे मूल प्रकृति आदिकारण और हिरण्यगर्भादि कार्य जो जगत्‌रूपी वृक्षके आदि बीज और आदि अंकुर है कहकर उनकी सकाम और भेद उपासनासे अंधतमकी प्राप्ति कहकर मुमुक्षुको भेदभावसे हटाया, अव संभूति असंभूतिकी उपासनाका फल दो प्रकारका है इसको साक्षीपूर्वक दिखाते हुए देहलीदीपकन्यायकी समान पूर्व और पर मन्त्रसे सम्बन्ध दिखाते अगला मन्त्र कहते हैं–

कण्डिका १०–मन्त्र १ ।

अ॒न्यदे॒वाहुः स॑म्भ॒वाद॒न्यदा॑हु॒रस॑म्भवात् ॥
इति॑ शुश्रुम॒ धीरा॑णां॒ ये न॒स्तद्वि॑चचक्षि॒रे ॥ १० ॥

ऋष्यादि–(१) ॐ अन्यदित्यस्य दधीच ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छन्दः। आत्मा देवता । पाठे वि० ॥ १० ॥

विधि–(१) दोनों उपासनाके समुच्चय कारण फलभेद कहते है । मंत्रार्थ–(सम्भवात्) कार्यब्रह्म उपासनासे (अन्यत्) और (एव) ही फल अणिमादि ऐश्वर्यलक्षणवाला (आहुः) कहा है (असम्भवात्) अव्याकृतउपासनासे (अन्यत्) और ही प्रकृतिलय अन्धकारमें प्रवेशआदि फल (आहुः) कहा है (इति) इसप्रकार (धीराणाम्) महर्षि योगियोंका वचन (शुश्रुम) हमने सुना है (ये) जिन धीरोंने (नः) हमारे निमित्त (तत्) उस फलका (विचचक्षिरे) व्याख्यान किया है ॥ १० ॥

सरलार्थ–सम्भवात् अर्थात् ब्रह्मदृष्टिसे कार्यमें उपासनासे अन्यही विद्युल्लोकप्राप्तिफल आचार्य कहते हैं, और कारणरूप प्रकृति उपासनासे प्रकृतिलयरूप फल कहते है, ऐसे आचार्योंका वचन हमने सुना जिन्होंने हमसे कार्यकारण उपासनाका व्याख्यान किया है ॥ १० ॥

भावार्थ–सम्भूति और असम्भूति दोनोंका फल इसमें कहा है इनके उपासकोंको उपासनाके अनुसार भिन्न २ फल दो दो प्रकारके कहे हैं, उसमें एक २ प्रकारसे सम्भूति असंभूतिका फल निश्चयकर कहा है, जो कनिष्ठ मध्यम अधिकारी सकाम उपासक हैं, उनको सम्भूति असंभूतिकी उपासनाका फल अन्धतम

और अधिक अन्धतम कहा है, ऐसा एक प्रकारसे प्रतिपादन कर और दूसरी प्रकारसे मध्यम अधिकारी जो आतमअध्यासमें असमर्थ हुए संसारके क्लेशोंकी निवृत्तिके निमित्त निष्कामतासे सम्भूति असम्भूतिकी उपासना करनेवाले हैं,उनको उपासनाके अनुसार मृत्युसे छूटना और अमरत्वप्राप्तिरूपी फल आगे ग्यारहवें मंत्रमें कहेंगे, इससे सम्भूति असम्भूतिकी उपासनाका फल सकामता निष्कामताके भेदमें भिन्न २ होता है, इस प्रकारका निश्चयवचन प्रजापतिरूप धीर पुरुषोंसे श्रवण किया है, इस प्रकार यह विद्या एकसे दूसरोंको प्राप्त होती है यह दशवां मन्त्र देहलीदीपकन्यायकी समान नौमें और ग्यारहवें इन दोनों मंत्रोंसे सम्बन्ध रखता है एक प्रकारसे सम्भूति असंभूतिकी उपासनाका फल कनिष्ठ-अधमअधिकारीके निमित्त ९ मन्त्रमें कहा है और दूसरी प्रकारसे मध्यम अधिकारीको ग्यारहवें मन्त्रमें कहते है ॥ १० ॥

दोनों उपासनाओंके फल दो दो प्रकारके सूचन किये एक प्रकारसे १० मंत्रमें कहकर दूसरी प्रकारसे कहनेके निमित्त ११ मन्त्रका आरम्भ करते है-

कण्डिका ११-मन्त्र १ ।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयᳪ सह ॥ विनाशेन मृत्युन्तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ सम्भूतिमित्यस्य दधीच ऋषिः । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । अधिकारी देवता । पाठे विनि० ॥ ११ ॥

मन्त्रार्थ-(यः) जो पुरुष (सम्भूतिम्) सब जगत्संभवका हेतु परब्रह्म (च) और (विनाशम्) विनाशधर्मा शरीरको (च) और (तत्) उस (उभयम्) शरीरी शरीररूप दोनोंको (सह) एक (वेद) जान्ता है अर्थात् देहसे भिन्नमें देही कर्मवशसे प्राप्त हूं ऐसा जानकर शरीरसे ज्ञान उत्पत्ति करनेवाले निष्काम कर्मोंको करता है वह योगी (विनाशेन) विनाशी शरीरद्वारा (मृत्युम्) मृत्युको (तीर्त्वा) तरकर अन्तःकरणशुद्धिको प्राप्त हो (ऽसम्भूत्या) आत्मज्ञानद्वारा (अमृतम्) मुक्तिको (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

अथवा पूर्वप्रसंगानुसार-(यः) आत्मज्ञानमें असमर्थ मध्यमअधिकारी पुरुष (उभयम्) दोनोंको अर्थात् संभूति शब्दसे असंभूतिको और विनाशशब्दसे सम्भूतिको अर्थात् असंभूति आदिकारण प्रकृति और विनाश संभूति आदिकार्य हिरण्यगर्भ इन दोनोंको (सह वेद) एक करके जान्ता है अर्थात् एकही पुरुष असम्भूति और संभूतिको तथा उनके फलको एक जानकर कामनारहित हो दोनों

का समुच्चय सेवन करता है वह पुरुष (विनाशेन) विनाशधर्मा कार्य सम्भूति हिरण्यगर्भकी उपासनासे (मृत्युम्) अनैश्वर्यरूपा मृत्युको (तीर्त्वा) तरकरके (संभूत्या) असम्भूति आदि कारण प्रकृतिकी उपासनासे (अमृतम्) प्रकृत लयलक्षणरूपको (अश्नुते) प्राप्त होता है अर्थात् अनैश्वर्य अधर्म कामादि दोषोंको अतिक्रमणकर हिरण्यगर्भ उपासनासे प्रकृति लयलक्षणरूप अमृतको प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

विशेष–श्रीयुत शंकराचार्यने सम्भूतिका अर्थ असम्भूति और विनाशका अर्थ संभूति किया है. व्याकृत और अव्याकृत दोनो उपासनाओंको साथ ही जान्ता है पूर्ववत् ॥ ११ ॥

भावार्थ–इस मंत्रमें "बिनाशेन मृत्युं तीर्त्वा" इत्यादि प्रतिपादन किया है इसमें विनाशधर्मवाले संभूतिरूप कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीरोंकी, समष्टिता परिणाममें प्रकृतिमें लयरूप होनेसे विनाशी हिरण्यगर्भकी उपासना होनेसे अनैश्वर्य-रूप मृत्युसे तरकर अर्थात् हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्ति उपासनाका असाधारण फल है, सो हिरण्यगर्भके निष्काम उपासक पाते हैं, उसकी प्राप्ति होनेसे दारिद्र्यरूप अनैश्वर्यरूपी मृत्युसे तरजाते हैं और असंभूति अर्थात् संभवरहित आदि कारण प्रकृति जो परमात्माकी सत्तासे स्थूलसूक्ष्म सब ब्रह्माण्डों-को उत्पन्न करती है, उसकी निष्काम उपासना करते हैं सो देहान्तमें प्रकृति लय लक्षणारूप अमृतको प्राप्त होते हैं पुनः कार्यभावको न प्राप्त होनेसे उनको अमरत्व अमृतकी प्राप्ति होती है । इस कारण इस मंत्रमें विनाशशब्दसे संभूतिआदि कार्य हिरण्यगर्भ और असंभूतिसे अव्याकृत आदि कारणको कहा है इन दोनोंकी जो समुच्चय उपासना करनेवाले मध्यमअविकारी है उनको जो फल प्राप्त होताहै सो कहा है, तथा इस समुच्चयके अवान्तर सम्भूति असंभूतिका स्वरूप और उसकी उपासनाका फल पृथक् पृथक् सूचन किया है, नौवें मंत्रसे १३ मंत्र पर्यन्त संभूति असंभूतिका स्वरूप और उसकी उपासनाका फल पृथक् २ कहा, ९ मंत्रमें सकाम भिन्न भावसे उपासनाका फल कनिष्ठ और अधमाधिकारीके निमित्त अन्धतम और अधिक अन्धतम निरूपण किया है और इस मंत्रमें संभूति असंभूतिकी कामना रहित अभेदउपासनाका फल मृत्युसे तरकर अमृतकी प्राप्ति प्रतिपादन कर मध्यम अधिकारीकी उपासनाका प्रसंग पूर्ण किया ॥ ११ ॥

इस मंत्रमें मध्यम अधिकारीको सम्भूति असंभूतिकी निष्काम अभेद संज्ञात उपासनाका फल मृत्युसे तरना और अमृतकी प्राप्ति निरूपण करके

मध्यम अधिकारी उपासकोंकी संभूति असंभूतिकी उपासनासे परिणाम गतिका प्रकरण पूर्ण किया अब कनिष्ठ अधमाधिकारी जो आत्मघाती हैं उनकी परलोक-गति कहते हैं-

कण्डिका १२-मन्त्र १ ।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ॥
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायांरताः ॥ १२ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐ अन्धन्तम इत्यस्य दधीच ऋ० । निच्यृदार्ष्यनुष्टुप्छन्दः । ज्ञानबहिर्मुखा दे० । पाठे वि० ॥ १२ ॥

मंत्रार्थ-(ये) जो अविवेकी सकाम पुरुष (अविद्याम्) ब्रह्मविद्यासे विपर्यय केवल अग्निहोत्रादि लक्षणरूप कर्म फलप्राप्तिके निमित्तही (उपासते) उपासना अर्थात् निरन्तर अनुष्ठान करते हैं. अर्थात् केवल स्वर्गार्थी कर्मोंकाही अनुष्ठान करते हैं वे (अन्धम्) अदर्शनात्मक (तमः) अज्ञानरूपी अन्धकारमें (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं. अर्थात् सकाम अग्निहोत्रका अनुष्ठान करनेवाले वह स्वर्गादिमें अपने कर्मके फलको भोगकर, आत्माके दर्शनकी योग्यता न होनेवाले अदर्शनात्मक अज्ञानावृत शरीरोंमें प्रवेश करते हैं, संसारकी परम्पराको अनुभवकरते हैं "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।. नाकस्य पृष्ठे सुकृतेनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति" [मुण्डक१।२।१०] इससे जो कर्म कामनासहित किये जाते हैं वे संसारका हेतु हैं "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" इत्यादि [बृ०उ०अ० १ब्रा०४ श्रु० १७] आत्माने स्वयं अपनेको वैभववान् होनेके निमित्त स्त्री पुत्र धन वित्तकी इच्छासे कर्म किया. इससे सकामकर्म संसारप्रवृत्तिका हेतु है, और संसार ही अदर्शनात्मक अनात्म अंधकाररूप अज्ञान है, जिन कर्मोंसे इस अनात्म अज्ञानमें प्रवेश होय वही अविद्या है, इससे सकाम अग्निहोत्रादि कर्मरूप अविद्या कर्मका निरन्तर अनुष्ठान करनेवाले अविवेकी कामनाओंके वशीभूत होकर अपनेको अज्ञान वश अन्धतममें व्याप्त करते हैं, यही आत्महनन है, और (ये) जो कोई (विद्यायाम्) देवता ज्ञानसे भेद उपासनामें (रताः) रत हैं (ते) वे (ततः) उनसे (भूयः) अधिक (इव) जैसे (तमः) अंधकारमें जाते हैं, अर्थात् जो वास्तविक स्वरूपमें भेद मानकर देवोपासनावाले भेदी उपासक हैं वे पशु हैं "अन्योऽसावन्योहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं

स हि देवानाम्"[बृ० उ०अ०१ब्रा०४।श्रुति१०] इससे विद्याशब्दसे भेद उपासनाके कर्ता भेदी उपासक कनिष्ठ अधिकारी है, वह अत्यन्त अदर्शनात्मक अज्ञानावृत शरीरोंको प्राप्त होते है, अथवा जो पुरुष लोकदृष्टिमात्र 'विद्या' रूप ब्रह्म-विद्यामें रत अर्थात् भासमान हैं कथनमात्र ज्ञानी हैं तथा आत्मअभ्याससे रहित होकर अन्तःकरणमें अनेक प्रकारकी विषयवासनाओंको छिपाये अन्तरमें ले रहे है, और अपनेको ज्ञानवान् अकर्ता मान कर इस असत्य ज्ञानके आश्रयसे विहित अग्निहोत्रादि कर्मको जो कि, अन्तःकरणकी शुद्धिकर आत्मज्ञानके साधन है उनका त्यागकर निषिद्ध कर्म पान मैथुनादिमें रातदिन प्रवृत्त रहते है,वे अन्त-रसे शिश्नोदरपरायण अत्यन्त अविवेकी वाह्यमुद्रासे ज्ञानमें रत भासनेवाले पुरुष स्वर्गादि सब उत्तम लोकोंसे भ्रष्ट होकर अत्यन्त अदर्शनात्मक अन्धतम केवल अज्ञानसे आवृत वृक्ष पाषाणादि तथा श्वान सूकर कीटपतंगादि योनियोंमें प्रवेश करतेहै "अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा। अथैतयोर्पथोर्न कतरेण चन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृ-दावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्व" इति [छां० उ० ५ प्र० खं० ९ श्रु० ७। ८।] श्रुतेः॥ १२॥

आशय–तीसरे मंत्रमें जो आत्मघाती कहे है, सो इस मंत्रसे विद्या अविद्याद्वारा दो प्रकारके कथन करके उनके निमित्त अर्थात् काम्य करनेवाले और सर्वथा कर्म त्यागनेवाले अत्यन्त अज्ञानी इन दोनों कनिष्ठ और अधम अधिका-रियोंकी देहावसानमें जो अन्धतम और अधिक अन्धतम लोकप्राप्तिरूप जो गति है सो निरूपण कीहै इससे भगवान् ने मोक्षार्थीको कृपाकर सूचना किया है कि, अन्धतम, और अधिकअन्धतम को प्राप्त करनेवाले काम्य और निषिद्ध कर्मका सर्वथा त्यागकर निष्काम विहित कर्मोद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धतापूर्वक आत्माभ्या-सही करना उचित है पूर्णज्ञानहुए विना कर्म अवश्य कर्तव्य है और कर्तव्य कर्म निष्काम होना चाहिये मिथ्याज्ञानी होकर कर्म छोड बैठनेसे अधिक अन्धतमकी प्राप्ति होती है॥ १२॥

संबंध–जो विद्यामदसे मत्त होकर कुतार्किक हैं वह अंधतममें प्रवेश करते हैं और जो विद्यामदसे ऐसे अंध है कि,किसी आस्तिकका उपदेश श्रवण नहीं करते वे उससे भी गाढान्धकारमें जाते है कनिष्ठ और मध्यमाधिकारीकी जो दो गति कहीं इसके निमित्त अगले मंत्रमें साक्षी कहते है–

कण्डिका १३–मंत्र १।

अ॒न्यदे॒वाहुर्वि॒द्याया॑ऽअ॒न्यदा॑हु॒रवि॑द्यायाः। इति॑ शुश्रुम॒ धीरा॑णां॒ ये न॒स्तद्वि॑चचक्षि॒रे॥ १३॥

ऋष्यादि-(१)ॐअन्यदित्यस्य दधीच ऋ० । आर्ष्यनुष्टुप्छं० । आत्मा देवता । पाठे वि० ॥ १३ ॥

मन्त्रार्थ-(विद्यायाः) विद्या अर्थात् आत्मज्ञानका फल (अन्यत्) और(एव) ही अमृतरूप (आहुः) कहा है (अविद्यायाः) अविद्यारूपकर्मका फल(अन्यत्) औरही पितृलोकरूप कहा है "कर्मणा पितृलोका विद्यया देवलोकः" इति श्रुतेः । (इति) इसप्रकारका (धीराणाम्) धीर पुरुषोंका वचन (शुश्रुम) हमने सुना है (ये) जिन आत्मज्ञानियोंने (नः) हमको (तत्) उस ज्ञान कर्मका (विचचक्षिरे) व्याख्यान किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ-इस मंत्रमें विद्या और अविद्याके फल की पृथक्ता कही है विद्या और अविद्याके उपासकोंको उपासनाके अनुसार भिन्न २ फल दो दो प्रकारके हैं, उसमें एक २ प्रकारसे विद्या और अविद्याका फल और उनके अधिकारी जो तीसरे मंत्रमें आत्मघाती कनिष्ठ और अधम कहे हैं सो कहा । अर्थात् अविद्यासे सकाम कर्म और उसका फल अन्धतममें प्रवेश कहा और विद्यासे भेद उपासना अथवा असत्य ज्ञान और उसका फल अत्यन्त अन्धतममें प्रवेश वर्णन किया, इस प्रकार विद्या अविद्याका अर्थ उनके फलानुसार एक २ प्रकारका १२ वें मन्त्रमें जो कहा है, सो बडे धीरवान् विद्या अविद्याके विभागविवेचनकर्ता पूर्वजोंके वचनद्वारा श्रवण किया है, और उन्हींके द्वारा विद्या अविद्याका फल और भी श्रवण किया है सो चौदहवें मंत्रमें कहेंगे देहलीदीपकन्यायसे इस मंत्रका १२ और १४ वें मंत्रसे सम्बन्ध है कारण कि इस मंत्रमें विद्याका फल और तथा अविद्याका फल और कहा है सो १२ में कनिष्ठ और अधम अधिकारियोंको एक एक वर्णन किया, अब एक २ प्रकारसे मध्यम अधिकारीके निमित्त विद्या अविद्याका स्वरूप और फल आगे मंत्रमें कहते हैं, तथा समुच्चयका फल इस मंत्रमें प्रतिपादनकरते हैं ॥ १३ ॥

कण्डिका १४-मन्त्र १ ।

विद्याञ्चाविद्याञ्चयस्तद्वेदोभयॅसह ॥ अविद्ययामृत्युन्तीर्त्वाविद्ययामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

ऋष्यादि-(१) ॐविद्यामित्यस्य दधीच ऋ० । आर्चीपंक्तिश्छं० । अधिकारी देवता । पाठे वि० ॥ १४ ॥

मन्त्रार्थ-(विद्याम्) विद्या देवता ज्ञानको (च) और (अविद्याम्) अविद्या रूप कर्मको (च) भी (यः) जो (तत्) उन (उभयम्)दोनोंको (सह) साथ (वेद)जानता है अर्थात् देवता स्वरूप आयतन प्रतिष्ठा आदिकोंके ज्ञानपूर्वक अह-

ग्रह अभेद उपासना और अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि विहित निष्कामकर्म इन दोनोंके फलको जो एक पुरुष करके अनुष्ठान योग्य जान्ता है वह मध्यम अधिकारी कर्मकाण्डको ज्ञानकाण्डका गुणभूत जानकर (अविद्यया) अविद्या अग्निहोत्रादिके निष्काम अनुष्ठानसे (मृत्युम्) स्वाभाविक कर्मज्ञान मृत्युको (तीर्त्वा) तर करके अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिसे कृतकृत्य होकर (विद्यया) विद्याद्वारा देवत्वज्ञानसे (अमृतम्) अमृतको अर्थात् देवतात्मभावको (अश्नुते) प्राप्त होता है अर्थात् अग्निहोत्रादि विहित निष्काम कर्मरूपी अविद्याके करनेसे अकरणप्रत्यवायसे उत्पन्न अशुभयोनिकी प्राप्तिरूप मृत्युसे तरकर देवता स्वरूपके ज्ञानसहित अहंग्रह उपासनाकी अभेद उपासना रूप विद्यासे देवताके साथ अभेदभावरूप अमरत्वकी प्राप्ति होती है, "तद्धि अमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम्" इति श्रुतेः। "श्रुतिवाक्यरूप आगमानुयायी धर्माचरण करना केवल अपनी विद्याबुद्धिपर निर्भर होकर धर्मनिर्णय नहीं हो सक्ता" ॥ १४ ॥

आशय-"यद्यपि निष्काम कर्मरूप अविद्यासे अन्तःकरणकी शुद्धिसे मृत्युको तरकर विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे अमरत्व प्राप्त होता है, यद्यपि यह अर्थ भी बन सकता है परन्तु यहां उपासनाका प्रकरण होनेसे ऊपर लिखाही अर्थ उचित है" कारण कि १६ मन्त्रमें अग्निसे मार्गकी याचना कही है अग्निविद्या उपासकके निमित्त है. और जो ब्रह्मविद्यासे ब्रह्मात्माके अभेद उपासक ज्ञानी हैं वे मार्गसे रहित है कारण कि अन्तसमय ज्ञानीके प्राण उत्क्रमण न होकर वहीं अपने अधिष्ठानमें लीन होजाते हैं, इससे विद्या अविद्या शब्दका अर्थ ऊपरकी व्याख्या कियाहुआही उचित है.

जो पुरुष अग्निविद्याके ज्ञानसे रहित केवल अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं, सो देह त्यागकर पितृलोकमें कर्मफल भोगकर फिर ब्राह्मणादि तीन वर्णोंमें कर्मोंके अनुसार उत्पन्न होकर कर्मही करते है "कर्मणा पितृलोकः" [बृ० उ० १।५] इससे निष्काम अग्निहोत्रादि कर्म करके न करनेके प्रत्यवायसे प्रगट होनेवाली अशुभ योनियोंकी प्राप्तिरूप मृत्युसे छूटते है, और जो पञ्चाग्नि वैश्वानर त्रिणाचिकेत आदि अग्निविद्या अथवा दहरादि विद्याद्वारा देवता स्वरूप ज्ञानपूर्वक अहंग्रह अभेद उपासना करते हैं, उससे ब्रह्मलोक किंवा अग्निआदि देवभावकी प्राप्तिही अमृतत्वप्राप्ति है "विद्यया देवलोकः" [बृ० उ० १।५] अर्थात् समष्टि देवत्वभावकी प्राप्ति होती है, इस मन्त्रसे अविद्याद्वारा कर्म उपासनाके सेवन करनेवाले मध्यम अधिकारीको फलकी प्राप्ति कही, और इसके अवान्तर विद्या अविद्याका स्वरूप और उनका फल पृथक् २ वर्णन किया ॥ १४ ॥

अवतरणिका-विद्यासे उपासनाद्वारा मध्यमाधिकारीको अमरत्वकी प्राप्ति होती है, सो कहकर अहंग्रह उपासनावाले उपासकको उपास्य देवताके साथ

अभेदतारूप अमृतत्व दिखाया, अब यह अन्तकालमें उपास्य देवसे प्रार्थना और मनको शिक्षा करता है-

कण्डिका १५-मन्त्र १।

वायुरनिलममृतमथेदम्भस्स्मान्तᳫं शरीरम्॥ ओ ३म्क्रतोस्स्मर॥ क्लिबेस्स्मर॥ कृतᳫं स्स्मर॥ १५॥

ऋष्यादि-(१) ॐवायुरित्यस्य दधीच ऋषिः। आर्ची पंक्तिश्छं०। प्रार्थना देवता। प्रार्थने वि०॥ १५॥

मन्त्रार्थ-(अथ) अब इस समय गमन करतेहुए (वायुः) प्राणवायु सप्तदशात्मक लिङ्गरूप प्राण अध्यातम परिच्छेदको छोडकर अधिदैवतरूप सर्वात्मक (अमृतम्) सूत्रात्मारूप (अनिलम्) वायुको प्राप्त हो "वायुर्वै गोतम तत् सूत्रं वायुना गौतम सूत्रेणायञ्च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि" इति श्रुतेः [बृहदारण्य० ३।५।६] अर्थात् ज्ञान कर्म संस्कृत लिङ्गशरीर उत्क्रमण हो. और (इदम्) यह (शरीरम्) शरीर (भस्मान्तम्) भस्मरूप हो अर्थात् स्थूल शरीर अग्निमें हुत होनेसे भस्मरूप हो यही इसका प्रयोजन है. अब योगीके अवलम्बरूप अक्षरको कहते है "ओमिति ब्रह्मणः प्रतिमा नाम वा" "अस्य ब्रह्म ऋषिः गायत्री छन्दः परमात्मा देवता, होमे शान्तिपुष्टिकर्मसु काम्येषु नैमित्तिकेष्वपि कर्मसु विनियोगः" "ॐप्रतीकात्मक सत्यात्मक अग्निनामक ब्रह्म अभेद रूपसे कहते है" हे (ओ३म्) सर्वरूप सर्वत्र व्यापक ब्रह्म (क्रतो) हे संकल्पात्मक (स्मर) स्मरण कर जो स्मरण करना चाहिये उसका यह समय है इस कारण ब्रह्मचर्य गार्हपत्यमें मेरी परिचर्याको स्मरण कर (क्लिबे) मुझे इसको यह लोक देना इसको स्मरण कर (कृतम्) जो कुछ मैने बाल्यावस्थासे किया उसको स्मरण कर "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्" [शा०]४।१।१।

सरलार्थ-प्राणवायु अमृताश्रित महावायुसे मिलित हो, शरीर भस्मसात् होगा यह निश्चय जानकर निरन्तर ॐनाम उपास्य परम देवताको स्मरण कर, कहांसे आया है, कहां जायगा स्मरण कर, और इस कर्मभूमिमें आकर क्या २ किया स्मरण कर "क्रतो त्रिभिर्यजुर्भिरन्ते यज्ञान् योगी स्मारयतीति कात्यायनः" [अनुक्रम० ४। ९] भूलो मत अपने कर्मोंपर दृष्टि दो॥ १५॥

भावार्थ-हे देव इस कालमें प्राणवायु उत्क्रमण होते समय सूत्रात्माको प्राप्त हो, और यह लिङ्गशरीर स्वप्न और परलोकके भोगोका भोक्ता अपने कारणभावको प्राप्त हो, यह दृश्यमान स्थूल शरीर सावयव पिण्ड अन्तमें भस्म हो, यहां तक उपासनाके बलसे अहंग्रह उपासनावालेको अमृतत्वकी प्राप्तिका निरूपण किया, उत्तरार्धमें प्रणवके उपासकको अन्तमें प्रणवका स्मरण सूचन करते हैं,

कि जो पुरुष अवसान समयमें सावधान होकर प्रणवकी उपासना करता है वह देहान्त समयमें मनसे कहता है (क्रतो) हे संकल्प विकल्पके करता मन ! ॐकारको स्मरण कर, अर्थात् जिस कालके साधनेके निमित्त आयुपर्यन्त प्रणवकी उपासना की है,वह समय अब उपस्थित है, इससे ॐकारका स्मरण करो,जिसके प्रभावसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माद्वारा त्रिमात्रिक प्रणवका उपदेश पाकर अमृतत्वकी प्राप्ति होगी, इस कारण हे मन! अब अपने कल्याणके निमित्त ॐकारका स्मरण कर और अपने किये कर्मको स्मरणकर, अर्थात् प्रणवोपासनाकरतेमें जो तैने अग्निहोत्रादि विहित निष्काम कर्म किये है जो कि निषिद्ध कर्मोंको नाश करके अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा प्रणवकी उपासनामें सहायक हुए है उन कर्मोंकोभी स्मरण करो ॥ १५ ॥

अभिप्राय–उपासक योगीके प्राण सूत्रात्मामें लय होना कहा, और विना आत्मज्ञानके प्राप्त हुए लिङ्गशरीर किसी प्रकार भी नाशको प्राप्त नहीं होता, इस्से वह अमर कहा गया है "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तंश्च मर्त्यंश्चामृतश्च" इति श्रुतेः बृ० ४।३ । सो लिङ्गशरीर सूक्ष्म इन्द्रियोंका संघात है और जिसके द्वारा स्वप्नमें दर्शनश्रवणादि क्रिया होती है, उस लिंगशरीरमें जो सूक्ष्म देवांश है वह अपने २ समष्टि देवताके साथ एक होते हैं, वह देवांश अपने २ समष्टि देवतामें गये हुए फिर नहीं आते कारण कि वह उपासक अपने उपास्य देवगत चैतन्य-पुरुषके साथ अभेदको प्राप्त होता है इससे फिर उसको स्थूल शरीररूपी क्षेत्र प्राप्त नहीं होता, इस कारण फिर उसकी इन्द्रियें आगमन नहीं करसकतीं, और यह स्थूलशरीर परिणाममें अग्निमें हवन होकर अपने कारणभावको प्राप्त होता है, इस प्रकार जब विद्वान् उपासना करनेवालेकी स्थूल सूक्ष्म सब उपाधि अपने २ कारणमें लय होती है, तब उसमें उपपन्न चैतन्य परमात्माका आभास जीव जो उपाधिके कारण अल्पज्ञादि संज्ञाको प्राप्त है, वह अपने उपास्य देवमें स्थित सत्य-चैतन्य पुरुषरूपी विंबको जिसे स्वयं आत्मवत्त्वसे अनुभव किया है उसके साथ भेदरहित अभेद एकताको प्राप्त होता है, उसी उपासकको परम अमृतत्वकी प्राप्ति है कि जिस्से फिर अविद्याजन्य दुःखमय नाशरूप उपाधिको नहीं प्राप्त होता इससे मध्यम अधिकारी इस प्रकार अहंग्रह उपासना करके देहत्यागके समय अमृतको प्राप्त होकर आवागमनसे रहित होता है, अथवा जो सूत्रात्मा समष्टि प्राणके व्यष्टि प्राणद्वारा अहंग्रह उपासना करनेवाले उपासक है, वह अपने देह-त्यागके उपरान्त निज उपास्य देव सूत्रात्माके साथ अभेदको प्राप्त होते है, यही उस मध्यम अधिकारीको प्राणविद्याद्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति है. और इसके उत्त-रार्धमें प्रणवकी उपासना करनेवालेके निमित्त वा सबको निज २ शरीर त्यागनेके समय ॐकारका स्मरण अवश्य कर्तव्य है ॥ १५ ॥

इसमें सूत्रात्मा और प्रणवकी उपासनासे अमृतकी प्राप्ति कही, अब अगले मन्त्रमें अग्निके उपासकको अमृतत्वकी प्राप्ति कहते हैं–

कण्डिका १६—मन्त्र १।

अग्ने नय॑ सु॒पथा॑ रा॒येऽ अ॒स्मान्विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्॥ यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हुरा॒णमेनो॒ भूयि॑ष्ठान्ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम ॥ १६ ॥

ऋष्यादि—(१)ॐ. अग्ने इत्यस्य अगस्त्य ऋ० । त्रिष्टुप्छन्दः । अग्निर्देवता । पाठे वि० ॥ १६ ॥

मन्त्रार्थ—(देव) हे दिव्य ज्ञानादि गुणयुक्त (अग्ने) हे अग्निदेव ! (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) हमारे कर्मोंके (विद्वान्) जाननेवाले आप (अस्मान्) हम कर्मनिष्ठोंको अर्थात् समाहितचित्तसे निरन्तर निष्काम विहित कर्म करनेवाले हम मुमुक्षुओंको (राये) मुक्तिलक्षणवाले धनके निमित्त वा भोगरूपी भोगके निमित्त (सुपथा) दक्षिणमार्गवर्जित उत्तरायणमार्गसे (नय) प्राप्त करो (जुहुराणम्) और कुटिल वंचनात्मक (एनः) पापोंको (अस्मत्) हमसे (युयोधि) पृथक् करो जिससे हम अत्यन्त पवित्र होकर अपने इष्ट अमृतत्वको प्राप्त होवें, इस कारण शरीरावसानमें अशक्यताके हवनादिपरिचर्यामें असमर्थ हम (ते) आपके निमित्त (भूयिष्ठाम्) अधिकतर (नमउक्तिम्) नमस्कारवचनको (विधेम) विधानकरते अर्थात् परिचर्या करते हैं ॥ १६ ॥

सरलार्थ—हे ज्योतिर्ज्योति देव! हमारे समस्त ज्ञान और कर्मको जाननेवाले आप सत् मार्गद्वारा अपना ऐश्वर्य हमको प्राप्त कराओ, कौटिल्य पाप हमारे अन्तःकरणसे दूर करो. हम निरन्तर आपकी प्रीतिके निमित्त नम्रभाव दिखानेमें समर्थ हों॥ १६॥

आशय—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' इस मन्त्रसे आत्मअभ्यासमें असमर्थ मध्यम अधिकारीको निष्काम विहित अग्निहोत्रादि कर्मका करना कहा कारण कि मध्यमाधिकारीको अमृतत्व प्राप्तिका साधन कर्म उपासनाही है, उसमें विहित कर्म करते हुए अकरणप्रत्यवायसे उत्पन्न पापरूपी मृत्युसे तरकर अग्निआदि देवता तथा त्रिमात्रिक प्रणवकी वेदवाक्यानुसार उपासना करता है, वह उपासक उस उपासनारूपी विद्यासे जिस प्रकार अमृतत्वको प्राप्त होता है, वह १५ मन्त्रमें वर्णन किया है. इस मन्त्रमें मध्यमाधिकारी अग्निकी विद्याद्वारा अहंग्रह उपासना करते हैं, वह अग्निकी प्रार्थनासे शुद्ध होकर उत्तरायण देवयान मार्गद्वारा सत्य लोक वा शुद्ध समष्टि अग्निभावको प्राप्त होते हैं, यही अग्निकी विद्यासे अमृतत्वकी प्राप्ति है. इससे वेदवाक्यानुसार ज्ञानपूर्वक उपासना करनेवाले अग्निके उपासक "न स पुनरावर्तते" जन्म मरणरूप संसारमें फिर नहीं आते, अर्थात् वह उपासक उपास्य देवके साथ अभेदको प्राप्त होकर अमृतत्व अर्थात् देवत्वको प्राप्त होकर दूसरोंके उपासना करने योग्य होता है ॥ १६ ॥

अब जो सूर्य भगवानकी उपासनाद्वारा सत्यरूपसे परमात्माके उपासक हैं, उस आदित्य उपासनाका वर्णन करते हैं-

कण्डिका १७-मंत्र १।

हिरण्मयेनपात्रेण॥सत्यस्यापिहितम्मुखम्॥योसावादित्येपुरुषःसोसावहम्॥ १७॥

ओ३म् खम्ब्रह्म॥ १८॥

इति श्रीवाजसनेयिसंहितायां दीर्घपाठे चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः४०

ऋष्यादि-(१) ॐहिरण्मयेनेत्यस्य दधीच ऋषिः। उष्णिक्छं०। महापुरुषो देवता। पाठे वि० ॥ १७॥

मंत्रार्थ-(हिरण्मयेन) तेजोमय (पात्रेण) पात्रसे (सत्यस्य) सत्यरूप परमात्माका (मुखम्) मुख (अपिहितम्) आच्छादित है अर्थात् तेजोमयमण्डलद्वारा आदित्यमण्डलमें स्थित अविनाशी पुरुषका शरीर आच्छादित है (यः) जो यह (पुरुषः) प्रत्यक्षपुरुष (आदित्ये) आदित्यमें है, अर्थात् जो यह प्रत्यक्ष रविमण्डलमें पुरुषाकार होनेसे पूर्ण अर्थात् प्राणबुद्धि आत्मासे समस्तजगतमें पूर्ण अथवा सब पुरोंमें शयन करनेसे पुरुषमण्डलमें स्थित है (सः) वह (असौ) यह (अहम्) मैं हूं अर्थात् यह कार्यकारणसंघातसे प्रविष्ट हुआ मैं हूं ऐसी उपासना करै "ॐइति नामनिर्देशो ब्रह्मणः खं ब्रह्मेत्याकाशरूपमन्ते ब्रह्म ध्यायेत्" [अनुक्र० ४।९।] (ओ ३ म्) यह ॐ कार (खम्) आकाशकी समान (व्यापक ब्रह्म) ब्रह्म है अर्थात् ओंकारका ध्यान करता हुवा, सूर्यमण्डलमें अपने को अभेद ध्यान करै॥ १७॥

सरलार्थ-इस हिरण्मयपात्र 'सूर्य' द्वारा सत्यस्वरूप परमेश्वरका मुख आवृत रहता है, वस्तुतः इस दृश्यमान आदित्यके अन्तरभी यही परम पुरुष है, यह हममें भी है, यह निश्चय है, वही ॐनामसे उपास्य ब्रह्म आकाशकी समान व्यापक है और आकाशका आधार है सूर्यद्वारा सत्यका मुख आच्छादित है इसका आशय यह है कि यह सूर्यसे भी परे है उसकी सत्तासे सूर्यमें ऐसा प्रभाव है उसका स्वरूप मन वचनके अगोचर होनेसे नाम नहीं रखसकते उपासना कालमें ओम् कहते हैं॥ १७॥

भावार्थ-सूर्य भगवान् द्वारा प्रत्यगात्माके उपासक अपनेको अमृतत्वप्राप्तिके निमित्त अपने उपास्य सूर्यदेवके दर्शनार्थ अभिलाषासे प्रार्थना करते हैं, हे देव

तुम्हारे मण्डलमें जो सत्य परमात्मा है उसका दर्शन तुम्हारे तेजोमय पात्र अर्थात् बिम्बसे आच्छादित है, सत्यस्वरूप तुम उसकी यथोचित उपासनासे मुझ सत्यधर्माको देखनेके निमित्त द्वार खोल दो, अथवा हे देव ! सर्वान्तर प्रत्यगात्माके दर्शनका जो मुख्यद्वार शुद्ध अन्तःकरण है, सो हिरण्मयपात्र अर्थात् सुवर्णादिद्रव्यविषयक लोभात्मक दृष्टिसे आच्छादित है उसे मुझ सत्यधर्माके दर्शनके निमित्त खोल दो, अर्थात् तुमको सत्य देव जानकर तुम्हारे स्तोत्र नमस्कारादि द्वारा यथोचित आराधना करनेवाला मैं सत्यधर्मा हूं, सो मुझको साक्षात् आत्मत्वसे अनुभव करनेके निमित्त उस लोभात्मकादि अशुभवृत्तियोंको अनुग्रह करके दूरकरो, यही आपसे मेरी प्रार्थना है, सब उपासनामें इसीप्रकार अमृतत्त्वकी इच्छाकरे वास्तव श्रुतियोंके तत्त्वमस्यादि प्रमाणसे और अपने आप यथार्थ अनुभवसे जो सम्पूर्ण चराचर जगतमें परिपूर्ण है, इससे पुरुष वा सर्व शरीररूपी पुरीविषे, वा पुरीततीनाडियोंमें शयन करनेवाला होनेसे पुरुष है अर्थात् सब शरीरोंमें सुषुप्तिवत् निर्विकल्प अक्रिय परमशान्त है, इससे सर्व शरीररूपी पुरोंमें सोनेवाला पुरुष है, वही सर्वव्यापी अक्रिय परमशान्त विज्ञानघन चैतन्य मैं हूं। इस प्रकार सूर्यदेवद्वारा परमात्माकी अहंग्रह उपासना करनेवाला उपासक उपास्य देवके साथ अपने आत्माको अभेद अनुभवकरके देहत्यागके उपरान्त सूर्यमण्डलस्थ चैतन्य पुरुषके साथ अभेद होकर "अनावृत्तिः शब्दात्" [व्यास०सू०] अमृतत्वको प्राप्त होता है, एकत्वको प्राप्त होकर फिर उसको शोकमोहरहित होनेसे जन्म धारण नहीं करना पडता, अमृतत्वको प्राप्त होता है अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

इति श्रीमत्परमपूज्यविद्याविनयसम्पन्नपरमकारुणिकहरिभक्तिपरायणश्रीयुत-
मिश्रसुखानन्दसूनुकुलपतिविद्यावारिधिपण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृते यजुर्वेदी-
यमंत्रभागे मिश्रभाष्ये चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

शुभमस्तु

श्लोक-बाणबाणाङ्कचन्द्रेऽ १९५५ब्दे पौष पूर्णातिथौ गुरौ ।
मिश्रज्वालाप्रसादेन भाष्यपूर्तिः कृता शुभा ॥ १ ॥

समाप्तेयं संहिता ।

पुस्तक मिलनेका पता-**खेमराज श्रीकृष्णदास,**
"**श्रीवेङ्कटेश्वर**" स्टीम्-प्रेस, खेतवाडी-**बंबई.**

परिशिष्टभागः।

वेदमें बहुधा सोमका वर्णन पाया जाता है, इस कारण सोम क्या वस्तु है और उसका गुण क्या है सो वर्णन करते है सुश्रुत चि० स्थान अ० २९.॥

सोमामृतका वर्णन।

ब्रह्मादयोऽसृजन्पूर्वममृतं सोमसंज्ञितम्।
जरामृत्युविनाशाय विधानं तस्य वक्ष्यते॥
एक एव खलु भगवान्सोमः स्थाननामाकृति-
वीर्यविशेषैश्चतुर्विंशतिधा भिद्यते,[1]

तद्यथा-

अंशुमान्मुञ्जवांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः।
दूर्वासोमः कनीयांश्च श्वेताक्षः कनकप्रभः॥
प्रतानवांस्तालवृन्तः करवीरोंशवानपि।
स्वयम्प्रभो महासोमो यश्चापि गरुडाहृतः॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शांकरस्तथा।
आग्निष्टोमो रैवतश्च यथोक्त इति संज्ञितः॥
गायत्र्या त्रिपदा युक्तो यश्चोडुपतिरुच्यते।
एते सोमाः समाख्याता वेदोक्तैर्नामभिः शुभैः॥
सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने।
सर्वे तुल्यगुणाश्चैव विधानं तेषु वक्ष्यते॥

अर्थ-ब्रह्मादिक देवताओंने पुरातन कालमें सोमनामक अमृतको उत्पन्न किया यह अमृत वृद्धावस्था और मृत्युके नाशके निमित्त है, अब हम उसका विधान कहते हैं सोम है तो एकही परन्तु स्थान नाम आकृति और वीर्य विशेषसे चौबीस प्रकारका होता है. अंशुमान्, मुंजवान्, चन्द्रमा, रजतप्रभ, दूर्वासोम, कनीयान्, श्वेताक्ष, कनकप्रभ, प्रतानवान्, तालवृन्त, करवीर, अंशवान्, स्वयंप्रभ, महासोम, गरुडाहृत, गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पाङ्क्त, जागत, शांकर, आग्निष्टोम, रैवत, यथोक्त संज्ञक और त्रिपद्गागायत्रीयुक्त उडुपति, इस भांति चौवीस प्रकारके सोम वेदविहितनामवाले है इनके सेवनकी एकही विधि और गुणभी एकसे हैं आगे इनका विधानभी कहेंगे.

---

१ यह विशेषण सब सोमोंके साथ लगाना।

पात्रभेदका निर्देश ।

अंशवन्तं सौवर्णे पात्रेऽभिषुणुयात् चन्द्रमसं राजते चोपयुज्याष्ट-गुणमैश्वर्यमवाप्येशानं देवमनुप्रविशति शेषांस्तु ताम्रमये मृण्मये वा रोहिते वा चर्म्मणि वितते शूद्रवर्जं त्रिभिर्वर्णैः सोमा उपयोक्तव्याः । ततश्चतुर्थे मासे पौर्णमास्यां शुचौ देशे ब्राह्मणानर्चयित्वा कृतमङ्गलो निष्क्रम्य यथोक्तं व्रजेदिति–

अर्थ–अंशुमान् सोमको सुवर्णके पात्रमें कूटकर निकालै. चन्द्रसोमको चांदीके पात्रमें निकालकर पिये तो आठगुना ऐश्वर्य हो तथा महादेवका दर्शन हो,शेष सोमोंको तांबे और मिट्टीके पात्रमें तथा रोहित चर्ममें शूद्रके विना तीनों वर्णोंको पीना उचित है, फिर आगे लिखे प्रयोग कर्मके उपरान्त चौथेमहीने पूर्णिमाके दिन पवित्र भूमिमें ब्राह्मणोंका पूजन कर बाहर निकलै यथेच्छ व्यवहार करै.

सोमपानका फल ।

ओषधीनां पतिं सोममुपयुज्य विचक्षणः ।
दशवर्षसहस्राणि नवां धारयते तनुम् ॥
नाग्निर्न तोयं न विषं न शस्त्रं नास्त्रमेव च ।
तस्यालमायुःक्षपणे समर्थाश्च भवन्ति हि ॥
भद्राणां षष्टिवर्षाणां प्रसूतानामनेकधा ।
कुञ्जराणां सहस्रस्य बलं समधिगच्छति ॥
क्षीरोदं शक्रसदनमुत्तरांश्च कुरूनपि ।
यत्रेच्छति स गन्तुं वा तत्राप्रतिहता गतिः ॥
कन्दर्प इव रूपेण कान्त्या चन्द्र इवापरः ।
प्रह्लादयति भूतानां मनांसि स महाद्युतिः ॥
साङ्गोपांगांश्च निखिलान्वेदान्विदति तत्त्वतः ।
चरत्यमोघसङ्कल्पो देववच्चाखिलञ्जगत् ॥

अर्थ–जो बुद्धिमान् मनुष्य सोमका सेवन करते हैं वे १०००० दशसहस्र वर्षतक नवीन देह धारण किये रहते हैं,अग्नि जल विष शस्त्र अस्त्र उसकी आयु नाश करनेमें समर्थ नहीं होसक्ते, मदमत्त साठ वर्षके हाथीमें जो बल होता है ऐसे हजार हाथियोंका उसमें बल आजाता है वह मनुष्य क्षीर समुद्र इन्द्रपुरी उत्तर कुरु सब स्थानोंमें जा सकता है, कोई भी उसकी गति नहीं रोकसकता, रूपमें कामदेवके तुल्य और कान्तिमें चन्द्रमाकी समान महाकान्तिमान् होकर

मनुष्योंके मनको प्रसन्न करता है, तथा साङ्गोपाङ्ग वेदोंके तत्त्वका ज्ञाता होकर देवताओंकी समान सम्पूर्ण जगतमें विचरता है, तथा उसके संकल्प अनिवार्य होते हैं।

सोमलताकी परीक्षा।

सर्वेषामेव सोमानां पत्राणि दश पंच च।
तानि शुक्ले च कृष्णे च जायन्ते निपतन्ति च॥
एकैकं जायते पत्रं सोमस्याहरहस्तदा।
शुक्लस्य पौर्णमास्यान्तु भवेत्पञ्चदशच्छदः॥
शीर्यते पत्रमेकैकं दिवसेदिवसे पुनः।
कृष्णपक्षक्षयेऽत्रापि लता भवति केवला॥

अर्थ–सब प्रकारकी सोमलतामें पन्द्रह पत्ते होते है, वे शुक्लपक्षमें उत्पन्न होकर कृष्णपक्षमें गिर जाते है, शुक्लपक्षकी प्रतिपदासे नित्य प्रतिचन्द्रकी कलाके साथ एक २ पत्ता निकलने लगता है इस प्रकार पूर्णिमाके दिन पन्द्रह पत्ते होजाते हैं और कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे चन्द्रकला क्षीण होनेके साथ एक २ पत्ता नित्य गिरता है,और अमावस्याको लतामात्र शेष रह जाती है, इसीसे इसको सोम लता कहते हैं, सोम नाम चन्द्रमाका है।

अंशुमान् रजतप्रभ मुञ्जवानके लक्षण।

अंशुमानाज्यगन्धस्तु कन्दवान्रजतप्रभः।
कदल्याकारकन्दस्तु मुञ्जवाँल्लशुनच्छदः॥

अर्थ–अंशुमान् सोममें घीके समान सुगंधि होती है, रजतप्रभमें कन्द होता है मुञ्जवानमें कदलीके आकारका कन्द और लहसनके समान पत्ते होते हैं।

चन्द्रमा गरुडाहृत श्वेताक्षका लक्षण।

चन्द्रमाः कनकाभासो जले चरति सर्वदा।
गरुडाहृतनामा च श्वेताक्षश्चापि पाण्डुरौ॥
सर्पनिर्मोकसदृशौ तौ वृक्षग्रावलम्बिनौ।
तथान्यैर्मण्डलैश्चित्रैश्चित्रिता इव भान्ति ते॥

अर्थ–सुवर्णके समान कान्तिमान् और जलमें प्रगट होनेवाला सोम चन्द्रसंज्ञक है, गरुडाहृत और श्वेताक्ष यह पाण्डुवर्णके होते है, सर्पकी कैचलीके समान वृक्षके अग्रभागमें लटके रहते हैं, औरभी अनेक प्रकारके चित्र विचित्र मंडल उसमें होते हैं.

सर्व एव तु विज्ञेयाः सोमाः पञ्चदशच्छदाः ।
क्षीरकन्दलतावन्तः पत्रैर्नानाविधैः स्मृताः ॥

अर्थ-सबही प्रकारके सोमोंमें पन्द्रह पत्ते होते हैं, इनमें दूध कन्द और लता होती हैं परन्तु पत्ते भाँति २ के होते हैं ।

सोमलताका स्थान ।

हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा ।
श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥
पारिपात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा ।
उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः ॥
पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः ।
हठवत्प्लवते तत्र चन्द्रमाः सोमसत्तमः ॥
तस्योद्देशेषु वाप्यस्ति मुंजवानंशुमानपि ।
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ॥
गायत्र्यस्त्रैष्टुभः पाङ्क्तो जागतः शाङ्करस्तथा ।
अत्र सन्त्यपरे चापि सोमाः सोमसमप्रभाः ॥

अर्थ-हिमालय, अर्बुद (आबूपर्वत), सह्याद्रि, महेन्द्राचल, मलयागिरि, श्रीपर्वत, देवगिरि, देवसह, पारिपात्र, विन्ध्याचल, देवसुन्द सरोवर (जलकुम्भी) व्यास नदीके उत्तर पर्वतोंमें तथा जहां पंजाबकी पांचों नदी सिंधुमें मिलती है वहां चन्द्रनामक सोम उत्पन्न होता है, उन्हींके समीप अंशुमान् और मुञ्जवान् सोम भी हैं काश्मीरके उत्तर मानससरोवरमें गायत्र्य, त्रैष्टुभ, पांक्त, जागत, और शांकर, तथा और भी चन्द्रमाके समान कान्तिवाले सोम प्रगट होते है, विशेषकर यज्ञोंमें इन्हींका व्यवहार होता है ।

न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥

अर्थ-अधर्मी कृतघ्नी वैद्यद्वेषी अथवा ओषधियोंके द्वेषी ब्राह्मणद्रोही पुरुषोंको सोमलताका दर्शन नहीं होता ।

सोमविधान ।

अतोन्यतमं सोममुपयुयुक्षुः सर्वोपकरणपरिचारकोपेतः प्रशस्तदेशे त्रिवृतमागारं कारयित्वा हृतदोषः प्रतिसंसृष्टभक्तप्रशस्तेषु तिथिकरणमुहूर्तनक्षत्रेष्वंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतं चान्तरागारे कृतमङ्गलः सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य्य पयो गृह्णीयात् सौवर्णे पात्रेऽञ्जलिमात्रं ततः सकृदेवोपयुञ्जीत नास्वा-

दयंस्तत उपस्पृश्य शेषमप्स्ववसाद्य यमनियमाभ्यामात्मानं संयोज्य वाग्यतोभ्यन्तरतः सुहृद्भिरुपास्यमानो विहरेत्।

अर्थ–इन सोमोंमेंसे किसी एकके सेवनकी इच्छा करनेवाले पुरुषको उचित है कि, उत्तम भूमिमें एक त्रिवृत स्थान बनवावे, अर्थात् जिसके बाहरकी ओर तीन परकोटे हों, उसमें सब प्रकारकी सामग्री रखकर सब प्रकारके कर्म करनेमें निपुण परिचारकोंको नियुक्त करै, स्वयं वमन विरेचनसे शुद्ध होकर उचित भोजन का नियम कर शुभ तिथि करण मुहूर्त नक्षत्रमें अंशुमान् सोमको अग्निष्टोमविधिसे लाकर ऋत्विजोंसे कुटवाय हवन करावे, फिर घरके भीतर बैठ मंगलपाठ कराय सोमकन्दको सुवर्णकी शलाकासे चीरे, उसके रसको सुवर्णपात्रमें भरले, उसमेंसे एक अंजलि (कुडव) भर विना स्वाद लिये एक साथ पीजाय, फिर जलसे आचमनकर शेषको जलमें डाल यम नियमसे चित्तकी वृत्तियोंको रोक मौन साध कर मित्रोंके सहित उस घरमें बैठे उठै।

रसायनं पीतवांस्तु निवाते तन्मनाः शुचिः।
आसीत तिष्ठेत्क्रामेच्च न कथंचन संविशेत्॥

अर्थ–रसायन पिये मनुष्यको उसी ओषधीमें चित्त लगाना उचित है निवात स्थानमें पवित्र होकर बैठना चाहिये कभी बैठे कभी टहले पर सो न जाय।

सायं वा भुक्तवान् श्रुतशान्तिः कुशशय्यायां कृष्णाजिनोत्तरायां सुहृद्भिरुपास्यमानः शयीत तृषितो वा शीतोदकमात्रां पिबेत्। ततः प्रातरुत्थायोपश्रुतशान्तिः कृतमंगलो गां स्पृष्ट्वा तथैवासीत। तस्य जीर्णे सोमे छर्दिरुपपद्यते ततः शोणिताक्तं कृमिण्यामिश्रं छर्दितवतः सायं शृतशीतं क्षीरं वितरेत्। ततस्तृतीयेऽहनि कृमिण्यामिश्रमतिसर्य्यते। स तेनानिष्टप्रतिग्रहभुक्तप्रभृतिभिर्विशेषैर्मुक्तः शुद्धतनुर्भवति। ततः सायं स्नातस्य पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत्। क्षौमवस्त्रास्तृतायां चैनं शय्यायां शाययेत्। ततश्चतुर्थेऽहनि तस्य श्वयथुरुत्पद्यते। ततः सर्वाङ्गेभ्यः कृमयो निष्क्रामन्ति तदहश्च शय्यायां पांशुभिरवकीर्य्यमाणः शयीत।

अर्थ–संध्या समय भोजन करै, और मंगलपाठ श्रवण उपरान्त कुशाकी शय्या[1] पर कृष्ण मृगचर्म बिछाय मित्रगणोंसहित शयन करै, प्यास लगे तो थोडा थोडा ठंडा जल पीवे, फिर प्रभात समय उठ मंगलपाठ और स्वस्तिवाचनसे आनंदित हो गौका स्पर्शकर पूर्वकी ओर बैठे, कोई कहते हैं गोदान करे सोमरसके पचनेपर वमन होने लगती है, यहांतक कि, उसमें रुधिर और कीडे आने लगते है ऐसा होनेपर सायं समय ओटायाहुआ दूध ठंडाकर पान करावे तब तीसरे दिन दस्त

१ कोई कुशतृणसे बनी खट्वाका अर्थ करते है।

आने लगते हैं, जिसमें कीडेभी निकलते हैं. ऐसा होनेसे अनिष्ट प्रतिग्रह भोजनके दोषोंसे निर्मुक्त होकर शुद्ध देहवाला होजाता है, फिरभी संध्या समय स्नान कराय प्रथमकी समान दुग्धपान करावे, और रेशमी वस्त्र बिछी शय्यापर शयन करावे, तब चौथे दिन इस मनुष्यकी देहमें सूजन उत्पन्न होती है और सब देहसे कीडे गिरने लगते हैं, उस दिन शय्यापर धूरि बिछाय सुवावे ।

ततः सायं पूर्ववदेव क्षीरं वितरेत् । एवं पंचमषष्ठयोर्दिवसयोर्वर्तेत । केवलमुभयकालमस्मै क्षीरं वितरेत् । ततः सप्तमेऽहनि निर्मांसस्त्वगस्थिभूतः केवलं सोमपरिग्रहादेवोच्छ्वसिति तदहश्च क्षीरेण सुखोष्णेन परिषिच्य तिलमधुकचन्दनानुलिप्तदेहं पयः पाययेत् । ततोऽष्टमेऽहनि प्रातरेव क्षीरपरिषिक्तं चन्दनप्रदिग्धगात्रं पयः पाययित्वा पांशुशय्यां समुत्सृज्य क्षौमास्तृतायां शाययेत् । ततो मांसमाप्याय्यते त्वक् चावदलति, दन्तनखरोमाणि चास्य पतन्ति तस्य नवमदिवसात् प्रभृत्यणुतैलाभ्यङ्गः सोमवल्ककषायपरिषेकः ।

अर्थ–फिर संध्यासमय पहलेकी समान दूधका पान करावे इसी प्रकार पांचवें छठे दिन करे दोनोंसमय दूधका पान करावे फिर सातवें दिन उस मनुष्यकी मांस और त्वचा जाती रहती हैं केवल अस्थिमात्र शेष रहजाती हैं, सोमके सहारेसेही केवल सांस लेता है उस दिन उसके देहपर थोडा गरम दूध डालकर तिल मुलहटी और चन्दनका लेप कर दे और दूध पान करावे फिर आठवें दिन प्रातःकालही दूधसे परिषेक करके चन्दन लगाय दूध पिवाय धूलकी शय्यासे उठाकर रेशमी वस्त्र बिछी हुई शय्यापर शयन करावें, तब इसकी अस्थियोंपर मांस आने लगताहै त्वचा हटती जाती है. दांत नख रोम गिर पडते हैं, नौवें दिन अणुतैल लगाकर सोमकी छालके क्वायसे सेचन करावे । टीकाकार कहते हैं लेपकरै (डल्हन)

ततो दशमेऽहन्येतदेव वितरेत् । ततोऽस्य त्वक्स्थिरतामुपैति एवमेकादशद्वादशयोर्वर्तेत तत्र त्रयोदशात्प्रभृति सोमकल्ककषायपरिषेकः एवमाषोडशाद्वर्तेत ततः सप्तदशाष्टादशयोर्दिवसयोर्दशना जायन्ते । शिखरिणः स्निग्धवज्रवैदूर्यस्फटिकनिकाशाः समाःस्थिराःसहिष्णवः । तदाप्रभृति चानवैः शालितण्डुलैः क्षीरयवागूमुपसेवेत यावत्पंचविंशतिरिति, ततोस्मै दद्याच्छाल्योदनं मृदूभयकालं पयसा । ततोऽस्य नखा जायन्ते विद्रुमेन्द्रगोपकतरुणादित्यप्रकाशाः स्थिराः। स्निग्धा लक्षणसम्पन्नाः केशाश्च जायन्ते त्वक् च नीलोत्पलातसीपुष्पवैदूर्यप्रकाशा । ऊर्द्धंच मासात्केशान्वापयेद्वापयित्वा चोशीरचन्दनकृष्णातिलकल्कैः शिरः प्रदिह्यात्पयसा वा स्नापयेत् ।

अर्थ–इसी प्रकार दशवें दिन उपचार करै उस दिन इसकी त्वचा कुछ कठोरता धारण करती है, इसीप्रकार ग्यारहवें और बारहवें दिन करै. तेरहें दिनसे सोम-

वल्कके क्वाथसे स्नान करता रहै, इस प्रकार सोलह दिनतक करै फिर सत्रहमें और अठारहवें इन दो दिनोंमें दांत निकल आते हैं, यह दांत शिखरदार चिकने हीरे वैडूर्य और स्फटिकके समान कान्तिवाले समान स्थिर और कडी वस्तुके तोडनेवाले होते है, उस दिनसे पच्चीसवें दिनतक पुराने शाली चावल दूध और यवागूका सेवन करै, फिर शालीचावलोंका भात दूधके संग खाता रहै फिर नख निकल आते हैं ये नख मूंगे वीरबहूटी और प्रभातके सूर्यकी समान लाल स्थिर चिकने और सर्वलक्षणसंपन्न होते है फिर चिकने और सर्वलक्षणसम्पन्न केशभी ऊगते हैं नीलकमल अलसीके फूल और वैदूर्यकी समान त्वचा उत्पन्न होती है, एक महीने पीछे केश मुडवाकर उसीर चन्दन और काले तिलका शिरपर लेप करै और पानीसे धो डालै।

ततोऽस्यानन्तरं सप्तरात्रात्केशा जायन्ते, भ्रमराञ्जननिभाः कुञ्चिताः स्निग्धास्त-त्त्रिरात्रात्प्रथमपरिसरान्निष्क्रम्य मुहूर्तं स्थित्वा पुनरेवान्तः प्रविशेत्। ततोऽस्य बला-तैलमभ्यङ्गार्थेऽवचार्य्यम्। यवपिष्टमुद्वर्तनार्थे सुखोष्णश्च पयः परिषेकार्थे। अजकर्ण-कषायमुत्सादनार्थे। सोशीरं कूपोदकं स्नानार्थे। चन्दनमनुलेपार्थे। आमलकरस-विमिश्राश्चास्य यूषसूपविमिश्राश्चास्य यूषसूपविकल्पाः। क्षीरमधुकसिद्धश्च कृष्ण-तिलमवचारणार्थे। एवं दशरात्रं ततोऽन्यद्दशरात्रं द्वितीये परिसरे वर्तेत, ततस्तृतीये परिसरे स्थिरीकुर्वन्नात्मानमन्यद्दशरात्रमासीत किञ्चिद्वातपपवनान् वा सेवेत पुनः स्वान्तः प्रविशेत्। न चात्मानमादर्शेषु वा निरीक्षेत रूपशालित्वात्। ततोऽन्यद्दश-रात्रं क्रोधादीन्परिहरेदेवं सर्वेषामुपयोगः। विशेषतस्तु वल्लीप्रतानक्षुपादयः सोमाः भक्षयितव्याः, तेषान्तु प्रमाणमर्द्धचतुर्थमुष्टयः।

अर्थ—तब सात दिनके पीछे भौंरे अथवा अंजनके समान काले घूँघरवाले चिकने बाल उत्पन्न होजायँगे, पश्चात् तीसरे दिन पहले घरसे निकलकर दूसरेमें आवे, घडी दो घडी रुककर फिर भीतर ही घुसजाय, तथा बलाका तेल मलवाने लगे. जौंकी पिट्ठीका उवटना करै, थोडे गरम जलसे परिषेक करै, उत्सादनके निमित्त रालके वृक्षकी छालका काढा दे, खस डालकर कूपोदक स्नानमें हित है, अनुलेपनके लिये चन्दन दे, आमलेका रस मिलाकर यूष और दालका सेवन करै, दूध और मुलहटी डालकर काले तिलोंसे अवचारण करै,इसप्रकारण दश दिन करके दूसरे दश दिनमें दूसरे घरमें आवै फिर दशदिन पीछे तीसरे घरमें आया जाया करै, थोडी देर हवा और धूपमें फिरकर फिर भीतर चला जाय, अत्यन्त रूपवान् होनेसे अपना मुख दर्पणमे न देखे फिर दश दिनतक क्रोधादि न करै, यही विधि

सब प्रकारके सोमोंके सेवन करनेकी है, विशेषकर वेल लता और क्षुपादि सोमोंका भक्षण करना चाहिये इनकी मात्रा साढे चार मुष्टि अर्थात् अठारह तोले है। चार महीने उपरान्त यथेच्छ विहरै इसप्रकार सुश्रुतमें सोमका वर्णन किया है रसायन प्रयोगसे कायाकल्प होजाता है और यज्ञादिमें सेवनसे बुद्धि और आयु बढती है अब इसके आगे अध्यात्म यज्ञका निरूपण करते हैं.

अध्यात्मयज्ञ ।

वेदमें तीन काण्ड हैं कर्म उपासना और ज्ञान. कर्मसे ही मन शुद्ध होताहै उससे उपासनामें अधिकार उसके द्वारा ईश्वरसान्निध्य और ज्ञानसे मोक्ष होतीहै वैदिक कर्म मुख्यकर यज्ञ है, वह दो प्रकारका है अभ्यन्तर और वाह्य। नवीन अधिकारी उसको वाह्य उपकरणसे करते हैं, और ज्ञानी उसको मनमें करते हैं, स्थूल वाह्य अभ्याससे अन्तर अभ्यास दृढ होताहै, वाह्य साधन दर्शपौर्णमाससे अग्निहोत्रपर्यन्त लिखे हैं अब ज्ञानियोंके अन्तर साधन को दिखाते हैं कि, जिस यज्ञको ज्ञानी ब्राह्मणादि निरन्तर सम्पादन करते है, यूपरशनासे शोभित इस शरीर यज्ञका यजमान पत्नी ऋत्विज अध्वर्यु होता ब्राह्मणाच्छंसी इत्यादि वर्णन करते है, जितनी सामग्री यज्ञमें होती हैं वह इस शरीरयज्ञमें वर्णन करते है यथाहि—

अस्य शरीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य आत्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः, प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी, अपानः प्रतिप्रस्थाता, व्यानः प्रस्तोता, समानो मैत्रावरुणः, उदान उद्गाता, अहङ्कारोऽध्वर्युः, होता चित्तम्, शरीरं वेदिः, नासिकोत्तरवेदिः, मूर्द्धा द्रोणकलशः, दक्षिणहस्तः स्रुवः, सव्यहस्त आज्यस्थाली, श्रोत्रे आघारौ, चक्षुषी आज्यभागौ, ग्रीवाधारा पोता, तन्मात्राणि सदस्याः, महाभूतानि प्रयाजाः, भूतान्यनुयाजाः, जिह्वेडा. दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः, तालुः शंयोर्वाकः, स्मृतिर्दयाक्षान्तिरहिंसा पत्नी संयाजाः, ओङ्कारो यूपः, आशा रशना, मनोरथः कामः, पशुः, केशा दर्भाः, बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि, कर्मेन्द्रियाणि हवींषि, अहिंसा इष्टयः, त्यागो दक्षिणा. अवभृथं मरणात् ।

सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः ।
वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्रह्म यः पठेत् ॥

एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षश्च प्राप्नुयादिति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् खं० ४ यह उपनिषद् चार खण्डोंमें है यहां हमने कार्यमात्र लिखा है सूर्य अग्नि मूर्धास्थानमें स्थित है, दर्शनाग्नि आहवनीयरूपसे मुखमें स्थित है, जाठराग्नि दक्षिणाग्नि है,

यह हृदयमें स्थित है, कोष्ठाग्नि गार्हपत्यरूपसे नाभिमध्यमें स्थित है, इस शरीरमें मुख्य तीन नाडी हैं.-इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना-ललाटमें स्थित चन्द्रमण्डलसे नाडी द्वारा च्युत हुए शुक्र रूप अमृतसे प्रजा उत्पत्तिके कर्मवाला पुँल्लिङ्ग मूल अग्नि-कुण्ड मध्यमें है, उस अग्निकुण्डमें पतित हुआ शुक्र प्राणसे आकृष्ट हो लिङ्गाग्र द्वारा गर्भाशयमें प्रवेश कर प्रजा होता है इससे यह शरीर अग्नीषोमात्मक है अब इसके यजमानादि कहते हैं अस्येति-यूपरशनाशोभित शरीर यज्ञका आत्मा यज-मान है, बुद्धि पत्नी, वेद महाऋत्विज, प्राण ब्राह्मणाच्छंसि ऋत्विक्, अपान प्रति-प्रस्थाता ऋत्विज सहकारी, व्यान, प्रस्तोता स्तुति करनेवाला ऋत्विक,समान मैत्रा-वरुण ऋत्विक्, उदान उद्गाता ऋत्विक्, अहंकार अध्वर्यु, होता हवन करनेवाला चित्त, शरीर वेदि, नासिका उत्तर वेदि, मूर्द्धा शिर द्रोणकलश, दक्षिण हाथ स्रुव, वायां हाथ घृतस्थाली, दोनों कान आघार, दोनों नेत्र घृतभाग, गर्दन आधार पोता, (पावमानी पढनेवाला) तन्मात्रा सभासद्, महाभूत प्रयाज (यज्ञस्तुति) पञ्चभूत अनुयाज्य, जिह्वा इडापात्र, दन्तोष्ठ सूक्तवाक, तालु शंयोर्वाक, स्मृति दया सहनशीलता अहिंसा यह पत्नीसंयाज हैं, ओंकार यूप, आशा रस्सी, मन रथ, कामही पशु, वाल कुशा, बुद्धिइन्द्रिय यज्ञके पात्र, कर्मइन्द्रियही हवि, अहिंसा इष्टि, त्याग दक्षिणा, देहरूप मलका दूर करनाही यज्ञान्त स्नान है, यदि कहो देव-ताके विना यज्ञ किस प्रकार होगा इसपर कहते हैं सब अधिदेव अध्यात्म हैं चक्षु आदिमें सूर्यआदि देवता स्थित हैं इस यज्ञको जो करते हैं वाराणसीमें मृतक हुएकी समान उनकी मोक्ष होती है, जो इसको पढते हैं वह एकही जन्ममें मुक्त होते हैं. इस प्रकारसे ज्ञानयज्ञ करनेसे मुक्ति होती है.

॥ श्रीः ॥

अथ याज्ञवल्क्यशिक्षा प्रारभ्यते ।

श्रीगणेशाय नमः ।

अथातस्त्रैस्वर्यलक्षणंव्याख्यास्यामः ।
उदात्तश्चानुदात्तश्चस्वरितश्चतथैवच ॥
लक्षणंवर्णयिष्यामिदैवतंस्थानमेवच ॥ १ ॥

अब यजुर्वेदियोंके उपयोगिनी याज्ञवल्क्य शिक्षाका आरम्भ करते है. प्रथम तीनों स्वरोंका लक्षण कहते है, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित यह तीन स्वर हैं इनके लक्षण देवता स्थान वर्णन करताहूं ॥ १ ॥

शुक्लमुच्चंविजानीयान्नीचंलोहितमुच्यते ॥
श्यामंतुस्वरितंविंद्यादग्निरुच्चेतुदैवतम् ॥ २ ॥

उदात्त स्वर शुक्ल, अनुदात्त लाल, स्वरितका श्याम रंग है, उदात्तका अग्नि देवता ॥ २ ॥

नीचेसोमंविजानीयात्स्वरितेसविताभवेत् ॥
उदात्तंब्राह्मणंविंद्यान्नीचःक्षत्रियउच्यते ॥ ३ ॥

अनुदात्तका चन्द्रमा, स्वरितका सविता देवता है, उदात्त ब्राह्मण, अनुदात्त क्षत्रिय ॥ ३ ॥

वैश्यंतुस्वरितंविंद्याद्भारद्वाजमुदात्तकम् ॥
नीचंगौतममित्याहुर्गार्ग्यंचस्वरितंविदुः ॥ ४ ॥

स्वरितस्वर वैश्य वर्ण है, उदात्तका भरद्वाज, अनुदात्तका गौतम और स्वरितका गार्ग्य ऋषि है ॥ ४ ॥

विंद्यादुदात्तंगायत्रंनीचंत्रैष्टुभमुच्यते ॥
जागतंस्वरितंविंद्यादतएवंनियोगतः ॥ ५ ॥

उदात्तका गायत्री, अनुदात्तका त्रिष्टुप्, स्वरितका जगती छंद जानना चाहिये यह इनका विधान है ॥ ५ ॥

गांधर्ववेदेयेप्रोक्ताःसप्तषड्जादयःस्वराः ॥
तएववेदेविज्ञेयास्त्रयउच्चादयःस्वराः ॥ ६ ॥

गन्धर्व वेदमें जो षड्ज मध्यम धैवत पञ्चम ऋषभ गांधार निषाद यह सात स्वर कहे हैं, वे वेदमें उदात्त अनुदात्त स्वरितके अन्तर्गत जानना ॥ ६ ॥

उच्चौनिषादगांधारौनीचौऋषभधैवतौ ॥
शेषास्तुस्वरिताज्ञेयाःषड्जमध्यमपंचमाः ॥ ७ ॥

निषाद गांधार उदात्त है, ऋषभ धैवत अनुदात्त हैं, षड्ज मध्यम पञ्चम यह स्वरित हैं ॥ ७ ॥

षड्जोवेदेशिखंडीस्यादृषभःस्यादजामुखे ॥
गावारटंतिगांधारंक्रौञ्चाश्चैवतुमध्यमम् ॥ ८ ॥

वेदमें षड्ज स्वर मयूरकी वाणी है, बकरीके मुखसे ऋषभका शब्द होता है, गौ गांधार और क्रौञ्च (चकवा) मध्यम स्वरसे बोलता है ॥ ८ ॥

कौकिलःपञ्चमोज्ञेयोनिषादंतुवदेद्गजः ॥
आश्वश्चधैवतोज्ञेयःस्वराःसप्तेतिगीयते ॥ ९ ॥

कोकिला पञ्चम स्वरसे, हाथी निषाद स्वरसे, घोडा धैवत स्वरसे बोलता है इस प्रकार यह सात स्वर हैं ॥ ९ ॥

निमेषमात्रःकालःस्याद्विद्युत्कालस्तथापरे ॥
अक्षरात्तुल्ययोगाच्चमतिःस्यात्सोमशर्मणः ॥ १० ॥

जितनी देरमें पलक लगे इतने कालका नाम निमेष है, कोई कहते है जितने समयमें विजली चमकै इतने कालको निमेष कहते है, वर्णोंके असमान सम्बन्धके उच्चारणमें जितना समय लगे वह एक मात्रा कहाती है, यह सोमशर्माका कथन है ॥ १० ॥

सूर्यरश्मिप्रकाशाद्याःकणिकायत्रदृश्यते ॥
आणवस्यतुसामात्रामात्राचचतुराणवा ॥ ११ ॥

सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें जो कणिका दिखाई देते है वही अणुकी मात्रा है, यह चार अणुकी एक मात्रा होती है ॥ ११ ॥

मानसेचाणवंविंद्यात्कण्ठेविंद्याद्द्विराणवम् ॥
त्रिराणवंतुजिह्वाग्रेनिस्सृतंमात्रिकंविदुः ॥ १२ ॥

मनमें अणु कण्ठमें आनेतक दो अणु, जिह्वाके अग्रभागमें आनेमें तीन अणु और बाहर निकलनेपर चार अणुकी मात्रा होती है ॥ १२ ॥

अवग्रहेतुकालःस्यादर्धमात्राप्रकीर्त्तिता ॥
पदयोरंतरेकाल एकमात्राविधीयते ॥ १३ ॥

"समासविशिष्ट पदके पूर्वभागमें एक मात्रा काल विराम करके अग्रिम पदका उच्चारण करना चाहिये यह अवग्रह है, याज्ञवल्क्यके मतमें अर्धमात्रिक कालका विराम नहीं कहा है" जितना समय अवग्रहमें लगे वह अर्ध मात्राका समय है, और पदोंके अन्तरमें एक मात्रा विरामकाल है ॥ १३ ॥

ऋचोर्द्धेतुद्विमात्रःस्यात्त्रिमात्रःस्यादृगंतके ॥
रिक्तंतुपाणिमुत्क्षिप्यद्वेमात्रेधारयेद्बुधः ॥ १४ ॥

आधी ऋचा होनेपर दो मात्राका समय, और ऋक्की पूर्तिमें तीन मात्राका समय है, रीते हाथको दो मात्रा पर्यन्त बुद्धिमान् उठावै ॥ १४ ॥

एकमात्रोभवेद्ध्रस्वोद्विमात्रोदीर्घउच्यते ॥
त्रिमात्रस्तुप्लुतोज्ञेयोव्यंजनश्चार्द्धमात्रकम् ॥ १५ ॥

एक मात्राका ह्रस्व, दोका दीर्घ, तीनका प्लुत होता है, और व्यंजन अर्ध मात्राका होता है ॥ १५ ॥

विवृतौचावसानेचऋचोर्द्धेचतथापरे ॥
पदेचपादसंस्थानेशून्यहस्तंविधीयते ॥ १६ ॥

विवार प्रयत्नमें अवसानमें अर्धऋचामें तथा पर पदमें पादके अन्तमें, शून्य हस्तका प्रयोग करै ॥ १६ ॥

प्रणवंतुप्लुतंकुर्याद्व्याहृतीर्मातृकाविदुः ॥
चाषस्तुवदतेमात्रांद्विमात्रांवायसोब्रवीत् ॥ १७ ॥

ॐकारको प्लुत उच्चारण करै व्याहृती मातृकारूप हैं, नीलकण्ठ एक मात्रासे काक दो मात्रासे ॥ १७ ॥

शिखीवदेत्त्रिमात्रांवैमात्राणामितिसंस्थितिः ॥
वर्णोजातिश्चमात्राचगोत्रंछन्दश्चदैवतम् ॥ १८ ॥

मोर तीन मात्रासे बोलता है, यह मात्राओंकी मर्यादा है वर्णोंकी जाति मात्रा गोत्र छन्द देवता ॥ १८ ॥

एतत्सर्वंसमाख्यातंयाज्ञवल्क्येनधीमता ॥
हस्तौतुसंयतौधार्यौजानुभ्यामुपरिस्थितौ ॥ १९ ॥

यह सब बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यजीने वर्णन किया है । अब अध्ययनविधि कहते हैं, नियमित होकर अपने दोनो हाथोंको दोनो जांघोंपर धरै ॥ १९ ॥

गुरोरनुमतंकुर्यात्पठन्नान्यमतिर्भवेत् ॥
ऊरुभागेतृतीयेतुकरंविन्यस्यदक्षिणम् ॥ २० ॥

और गुरु की आज्ञासे अनन्यमति होकर पाठ आरंभ करै, ऊरुके तृतीय भागमें दहिना हाथ धरके ॥ २० ॥

प्रसन्नमानसोभूत्वाकिंचिन्निम्नमधोमुखम् ॥
प्रणवंप्राक्प्रयुञ्जीतव्याहृतीस्तदनंतरम् ॥ २१ ॥

प्रसन्न मनसे कुछ मुख नीचा किये हुए पहले ॐकार और फिर व्याहृतियोंका उच्चारण करके ॥ २१ ॥

सावित्रींचानुपूर्व्येणततोवेदान्समारभेत् ॥
कूर्मोङ्गानीवसंहृत्यचेष्टांदृष्टिंदृढंमनः ॥ २२ ॥

फिर गायत्रीको पाठकर वेदोंका आरंभ करै, जिस प्रकार कछुआ अपने अंग संकुचितकरलेताहै, इसीप्रकार चेष्टा दृष्टि और मनको दृढ करै ॥ २२ ॥

स्वस्थःप्रशांतोनिर्भीकोवर्णानुच्चारयेद्बुधः ॥
नाभ्याहन्यान्ननिर्हन्यान्नगायेन्नैवकंपयेत् ॥ २३ ॥

स्वस्थ, शान्त, और निर्भय होकर अक्षरोंको बुद्धिमानीसे उच्चारण करै, न एक वर्णके उच्चारणमें दोदो उच्चारण करै न तोडकर पढै, न गाता हुआ और न कम्पित होताहुआ पढै ॥ २३ ॥

यथैवोच्चारयेद्वर्णांस्तथैवैतान्समापयेत् ॥
निवेश्यदृष्टिंहस्ताग्रेशास्त्रार्थमनुचिन्तयेत् ॥ २४ ॥

जिसप्रकार वर्णोंको उच्चारण करै उसीप्रकार समाप्त करै, दृष्टिको हाथके अग्रभागमें रखकर शास्त्रके अर्थको विचारे ॥ २४ ॥

सममुच्चारयेद्वर्णान्हस्तेनचमुखेनच ॥
स्वरश्चैवतुहस्तश्चद्वावेतौयुगपत्स्थितौ ॥ २५ ॥

हाथसे स्वर लक्षित कर और मुखसे वर्णोंको उच्चारण करै, स्वर और हाथ यह दोनों समानही स्थित होते हैं ॥ २५ ॥

हस्तभ्रष्टःस्वरभ्रष्टोनवेदफलमश्नुते ॥
नकरालोनलंबोष्ठोनाव्यक्तोनानुनासिकः ॥ २६ ॥

हस्त और स्वरसे भ्रष्ट होनेसे वेदपाठका फल नहीं मिलता, तीक्ष्ण बोलना, लम्बे होठ करना, जो समझमें न आवे ऐसा अव्यक्त उच्चारण करना नाकसे गुनगुनाकर बोलना ॥ २६ ॥

गद्गदोबद्धजिह्वश्चनवर्णान्वक्तुमर्हति ॥
प्रकृतिर्यस्यकल्याणीदंतोष्ठौयस्यशोभनौ ॥ २७ ॥

बोलनेमें कण्ठका गदगद होना, जिह्वाका बद्ध होना, इनसे वर्ण उच्चारण नहीं हो सकता, जिसकी प्रकृति अच्छी है और जिसके दांत तथा होठ अच्छे हैं॥२७॥

प्रगल्भश्चविनीतश्चसवर्णान्वक्तुमर्हति ॥
शंकितंभीतमुद्धुष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ॥ २८ ॥

जो उच्चारणमें प्रगल्भ और गुरुजनोंके सामने नम्रता विनयसे सम्पन्न है वह वर्ण उच्चारण अच्छी रीतिसे कर सकता है. शंकित, भीत, ऊंचा बोलना, अस्पष्टता नासिकामें बोलना ॥ २८ ॥

काकस्वरंमूर्ध्निगतंतथास्थानविवर्जितम् ॥
विस्वरंविरसंचैवविश्लिष्टंविषमाहतम् ॥ २९ ॥

काककी समान बोलना, सब वर्णोंको मूर्द्धामें उच्चारण करना, स्थानरहित बोलना, कुस्वरसे बोलना, अमिलित बोलना, विषमरूपसे आहतकरना ॥ २९ ॥

व्याकुलंतालहीनंचपाठदोषाश्चतुर्दश ॥
संहितास्वारबहुलःपदसंज्ञासमाकुलः ॥ ३० ॥

व्याकुलता, लयरहित होना यह चौदह पाठके दोष है । संहति, (बहुत संघट्टता) स्वरकी अधिकाई, और पद संज्ञासे व्याप्त ॥ ३० ॥

क्रमसंधिसमाकीर्णोदुस्तरोमंत्रसागरः ॥
ऋक्संहितांत्रिरभ्यस्ययजुषांवासमाहितः ॥ ३१ ॥

क्रम और संधिसे युक्त मन्त्रसागर बडा दुस्तर है ऋक् वा यजुः संहिताको तीनवार सावधानीसे अभ्यास करके ॥ ३१ ॥

साम्नांवासरहस्यांचसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥
संहितानयतेसूर्यंपदंचशशिनःपदम् ॥ ३२ ॥

वा रहस्यसहित सामका पाठ करके सब पापोंसे छूट जाता है संहिता सू
लोकको, पद चन्द्रके लोकको ॥ ३२ ॥

क्रमश्चनयतेसूक्ष्मंयत्तत्पदमनामयम् ॥
कालिंदीसंहिताज्ञेयापदयुक्तासरस्वती ॥ ३३ ॥

और क्रम सूक्ष्म अनामय पदको प्राप्त करता है, संहिता कालिन्दी है पदयुक्त
सरस्वती है ॥ ३३ ॥

क्रमेणावर्त्ततेगंगाशंभोर्वाणीतुनान्यथा ॥
यथामहाह्रदंप्राप्यक्षिप्तोलोष्टोविनश्यति ॥ ३४ ॥

क्रमपाठ गंगा है, यह शिवकी वाणी अन्यथा नहीं है, जैसे महाह्रदमें डाला
हुआ ढेला नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

एवंदुश्चरितंसर्वंवेदेत्रिवृतिमज्जति ॥
आम्रपालाशबिल्वानामपामार्गशिरीषयोः ॥
वाग्यतःप्रातरुत्थायभक्षयेद्दंतधावनम् ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार तीन वार वेदपाठसे सब पाप नष्ट हो जाते है, आम, ढाक, बेल,
चिरचिटा सिरस इन वृक्षोंकी सबेरेही उठकर मौन हो दतौन करै ॥ ३५ ॥

खदिरश्चकदंबश्चकरवीरकरंजकौ ॥
एतेकंटकिनःपुण्याःक्षीरिणस्तुयशस्विनः ॥ ३६ ॥

खैर, कदम्ब, कनेर, करंज यह काँटेवाले वृक्ष पुण्यदायक है, क्षीरवाले
यशदायक है ॥ ३६ ॥

तेनास्यकरणेसूक्ष्मंमाधुर्यंचैवजायते ॥
त्रिफलांलवणाक्तांवैभक्षयेच्छिष्यकःसदा ॥
क्षीणमेधाजनन्येषास्वरवर्णकरीतथा ॥ ३७ ॥

इनकी दतौंनसे मुखमें सूक्ष्म मधुरता होती है, हड बहेडा आमला यह सेंधा-
नमकके साथ सदा शिष्य खाय, यह क्षीणबुद्धिवालेकी बुद्धि बढाती और स्वर
तथा वर्ण करनेवाली वस्तु है ॥ ३७ ॥

हस्तहीनंतुयोधीतेमंत्रंवेदविदोविदुः ॥
यजू७ंषिनोसाधयंतिभुक्तमव्यंजनंयथा ॥ ३८ ॥

जो स्वरके विना मंत्रपाठ करते है, यजुः उनके कार्य सिद्ध नहीं करसकता, ऐसा वेदज्ञ कहते हैं जैसे भोजनके अयोग्य खाईहुई वस्तु कुछ कर्म सिद्ध नहीं करती ३८

हस्तहीनंतुयोधीतेस्वरवर्णविवर्जितम् ॥
ऋग्यजुस्सामभिर्दग्धोवियोनिमधिगच्छति ॥ ३९ ॥

जो हस्तहीन तथा स्वरवर्ण विहीन, वेद पाठ करते हैं, वह ऋक् यजुः सामसे दग्ध हुए कुयोनिमें गमन करते हैं ॥ ३९ ॥

ऋचोयजूꣳषिसामानिहस्तहीनानियः पठेत् ॥
अनृचोब्राह्मणस्तावद्यावत्स्वारंनविंदति ॥ ४० ॥

जो विना हाथोंके चलाये ऋक् यजु सामको पढता है, वह स्वरज्ञानके विना ब्राह्मण ऋचाहीन कहाता है ॥ ४० ॥

ज्ञातव्यश्चतथैवार्थोवेदानांकर्मसिद्धये ॥
पठन्मात्रापपाठात्तुपंकेगौरिवसीदति ॥ ४१ ॥

इसी प्रकार कर्मसिद्धिके निमित्त वेदका अर्थ भी जानना चाहिये, केवल पाठ करनेसे मात्राकी अशुद्धिसे कीचमें फँसी गौ की समान दुःखी होता है ॥ ४१ ॥

स्वरवर्णप्रयुंजानोहस्तेनाधीतमाचरन् ॥
ऋग्यजुस्सामभिःपूतोब्रह्मलोकमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

जो स्वर वर्णको प्रयोग करते हस्तयुक्त वेद पढते हैं, वे ऋक यजु सामसे पवित्र होकर ब्रह्मलोकको गमन करते हैं ॥ ४२ ॥

नकुर्वीतपदंदीर्घंनकुर्वीतविलंबितम् ॥
पदस्यग्रहमोक्षौचयथाशीघ्रगतिर्हयः ॥ ४३ ॥

पदको दीर्घ न करै, विलम्बमें उच्चारण न करै, पदके ग्रहण और त्यागमें शीघ्रगतिवाले अश्वकी समान आचरण करै ॥ ४३ ॥

आगमंकुरुयत्नेनकारणंहितदात्मकम् ॥
आस्येनचशयंकुर्यात्पठन्नान्यमतिर्भवेत् ॥ ४४ ॥

यत्नपूर्वक वेदका पाठ करै, कारण कि यह कारणही तदात्मक है, मुखपर हाथ न लगाकर अनन्य मनसे पाठ करै ॥ ४४ ॥

नचास्यमुष्टिबंधीस्यान्नचात्युत्तममाचरेत् ॥
चुलुनौकास्फुटोदंडीस्वस्तिकोमुष्टिराकृतिः ॥
एतेवैहस्तदोषाःस्युःपरशुश्चैवसप्तमः ॥ ४५ ॥

हाथकी बहुत मुट्ठी न बांधे, न बहुत हाथ फैलावे चुल्लू नौका दण्डकी समान, स्वस्तिक (सीधी हथेली करना) मुष्टिकी समान आकृति करना, फरसेकी समान आकार करना, यह सात हाथके दोष हैं ॥ ४५ ॥

यथावाणीतथापाणीरिक्तंतुपरिवर्जयेत् ॥
यत्रयत्रस्थितावाणीपाणिस्तत्रैवतिष्ठति ॥ ४६ ॥

जैसी वाणी हो वैसाही हाथ हो रीता हाथ न चलावे, जहाँ जहाँ वाणी स्थित हो वहीं वहीं पाणि स्थित हो ॥ ४६ ॥

यथाधनुष्याविततेशरेक्षिप्तेपुनर्गुणः ॥
स्वस्थानंप्रतिपद्येततद्वद्धस्तगतःस्वरः ॥ ४७ ॥

जैसे धनुष खैंचकर वाण छोडनेसे डोरा फिर अपने स्थानको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार हाथसे स्वर प्रक्षेप होते हैं हाथ निजस्थानमें प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

उत्तानंसोन्नतंकिंचित्सुव्यक्तांगुलिरंजितम् ॥
स्वरविद्धंकरंकुर्यात्प्रादेशोद्देशगामिनम् ॥ ४८ ॥

ऊंचा करनेमें कुछ ऊंचा जिसमें अंगुली स्फुट सीधी रहैं, इस प्रकार बारह अंगुलके मध्यमेंही गति करता हुआ हाथ स्वर बोधन करे ॥ ४८ ॥

अंगुष्ठस्योत्तरेपर्वेतर्जन्युपरियद्भवेत् ॥
प्रादेशस्यतुसोद्देशस्तन्मात्रंचालयेत्करम् ॥ ४९ ॥

अंगूठेके ऊपरके पोरुएमें तर्जनीके ऊपर पोरुएतक फैलाया हुआ हाथ प्रादेश कहाता है, इतनेही स्थानमें कर चालन करे ॥ ४९ ॥

मनुष्यतीर्थोच्चंकृत्वापितृतीर्थोदकंव्रजेत् ॥
नामितंकरपृष्ठेतुसव्यक्तांगुलिमोक्षणम् ॥ ५० ॥

उदात्तको मनुष्यतीर्थसे उच्च करै, पितृतीर्थ [अंगुष्ठ प्रदेशिनीके मध्यमें जैसे जल जाता है] कर पृष्ठकी समान नीचा करै, जिसमें अंगुलि मोक्षण प्रगट दिखाई दे ॥ ५० ॥

स्वरितेत्र्यंगुलंविंद्यान्निपातेतुषडंगुलम् ॥
उत्थानेतुनवांगुल्यमेतत्स्वारस्यलक्षणम् ॥ ५१ ॥

स्वरितमें तीन अंगुल, अनुदात्तमें छः अंगुल, उदात्तमें नौ अंगुल कर चालन करे, यह स्वरका लक्षण है ॥ ५१ ॥

अभ्यासार्थेद्रुतांवृत्तिंप्रयोगार्थेतुमध्यमाम् ॥
शिष्याणामुपदेशार्थेकुर्याद्वृत्तिंविलंबिताम् ॥ ५२ ॥

अभ्यासके निमित्त शीघ्रवृत्ति, प्रयोगके निमित्त मध्यम वृत्ति, और शिष्यके उपदेशके निमित्त विलम्बित वृत्तिका आश्रय करे ॥ ५२ ॥

ऐंद्रीतुमध्यमावृत्तिःप्राजापत्याविलंबिता ॥
अग्निमारुतयोर्वृत्तिःसर्वशास्त्रेषुनिंदिता ॥ ५३ ॥

मध्यमा वृत्तिका इन्द्र देवता, विलम्बित वृत्तिका प्राजापत्य देवता, शीघ्र गतिका अग्नि देवता है, यह वृत्ति सब शास्त्रोंमें निन्दित है ॥ ५३ ॥

मुष्ट्याकृतिर्मकारेतुनकारेतुनखाग्रतः ॥
अनुस्वारेंगुष्ठपातऊष्मांतेंगुलिमोक्षणम् ॥ ५४ ॥

मकारके उच्चारणमें मुष्टिकी आकृति, नकारके उच्चारणमें नखाग्रकी आकृति, अनुस्वारमें अंगुष्ठपात, और ऊष्माण (शषसह) में अंगुलि मोक्षण करे ॥ ५४ ॥

उदात्तंभ्रुविपातेनप्रचयंनोग्रएवच ॥
शेषंषडंगुलंविंद्यान्निचितंतुविधीयते ॥ ५५ ॥

भौंकी ओर हाथ करके उदात्त, नासाके अग्रभागमें हाथ रखकर प्रचय स्वर उच्चारण करे. और शेष स्वरमें छः अंगुल हाथ नीचा करै ॥ ५५ ॥

षडंगुलंतुजात्यस्यहस्तस्यानुपथस्यच ॥
तच्चतुर्भागमात्रंतुहस्तस्तेनैववर्तयेत् ॥ ५६ ॥

जात्यस्वरमें छः अंगुल हाथ चले, और उसके चतुर्भागमात्र हाथसे अनुपथ स्वर वर्ते ॥ ५६ ॥

ककारांतेटकारांतेङणेचांगुलिनामयेत् ॥
पंचांगुल्यंपकारेतुतकारेकुंडलाकृतिः ॥ ५७ ॥

ककारके अन्तमें टकारान्तमें ङणके उच्चारणमें अंगुलि झुकावे, पकारमें पांचों अंगुलि मिलावे तकारके उच्चारणमें हाथ कुंडलाकार करै ॥ ५७ ॥

ऊर्ध्वक्षेपाच्चयोष्मा चह्यधःक्षेपाच्चयोभवेत् ॥
एकैकामुत्सृजेद्धीरःस्वरितेतूभयंक्षिपेत् ॥ ५८ ॥

ऊपर हाथसे चय ऊष्मा स्वर, नीचे हाथके पातसे अनुदात्त बुद्धिमान् एक २ अंगुल उत्सृजन करै स्वरितमें दोनोंको त्याग दे ॥ ५८ ॥

अंगुष्ठाकुंचनंलघावनुस्वारेत्वपा७ँरसम् ॥
दीर्घेरंगेचतर्जन्याःप्रसारःपरिकीर्तितः ॥ ५९ ॥

लघु अनुस्वारमें अंगुष्ठको आकुंचन करै, यथा [अपा७ँरसम् । य०९।३] दीर्घ रंग [अभिगृणन्तु देवाः १४ । ४] में तर्जनीका प्रसार कहा है ॥ ५९ ॥

तर्जन्यंगुष्ठयोःस्पर्शेप्युदात्तंप्रतिविद्यते ॥
नीचंतुमध्यमंकुर्याच्छेषंनीचतरंक्रमात् ॥ ६० ॥

तर्जनी और अंगुष्ठके स्पर्शमें उदात्त है नीचस्वरको मध्यम और शेषको क्रमसे नीचतर करै ॥ ६० ॥

स्वरितंयद्भवेत्किंचिद्वकारसहसंयुतम् ॥
ऊष्माणंतद्विजानीयान्निक्षिपेदुभयोरपि ॥ ६१ ॥

स्वरित जो किंचित् वकारसे संयुक्त हो उसको ऊष्माणसंज्ञक जानै, उनमें वकारको द्वित्व कर दे ॥ ६१ ॥

स्वरितसंज्ञेचनिक्षिप्तेसंयोगोयत्रदृश्यते ॥
द्विमात्रिकेभवेदेकमात्रिकेतूभयंक्षिपेत् ॥ ६२ ॥

स्वरित संज्ञक निक्षेपमें जहाँ संयोग दिखाई दे तो वह द्विमात्रिक होजाता है अर्थात् द्विमात्रिकमेंका एक क्षेप द्वित्व होजाता है,त्रिमात्रिकमें दोनोंको द्वित्व करे ६२॥

जात्येचस्वरितेचैववकारोयत्रदृश्यते ॥
कर्तव्यस्तूभयोःक्षेपोवायव्यइतिदर्शनम् ॥ ६३ ॥

जात्य और स्वरित होनेमें जहाँ वकार दिखाई दे, वहाँ दोनोंका क्षेप करै, यथा वायव्ये १९।२६ यह उदाहरण है ॥ ६३ ॥

शृंगवद्वाथवत्सस्यकुमारीकुचयुग्मवत् ॥
उभक्षेपस्वरोयत्रसविसर्गउदाहृतः ॥ ६४ ॥

वछडेके सींगकी समान वा कुमारीके दोनों स्तनोंकी समान दो विन्दु उभक्षेपस्वरके विसर्ग कहाते हैं ॥ ६४ ॥

विसर्गांतस्वरोयत्रस्वरितोयत्रदृश्यते ॥
दीर्घश्चैवतुकारश्चतत्रोभक्षेपउच्यते ॥ ६५ ॥

जहाँ विसर्गान्त स्वर स्वरित दिखाई दे और तुकार दीर्घ हो तो दोनोंको द्वित्व करै ॥ ६५ ॥

त्रिविधास्तुभवेदूष्माप्रचिताबलकातरा ॥
स्वरितेप्रचितांविद्यान्निपातेबलकांविदुः ॥ ६६ ॥

ऊष्मवर्ण तीन प्रकारके होते हैं, प्रचिता, बलका, तारा, स्वरितमें प्रचित और निपातमें बलका ॥ ६६ ॥

उत्थानेतुतथातारा एताभिस्त्रिभिरूष्मभिः ॥
मात्रामात्रांविदित्वातुततःक्षेपंप्रयोजयेत् ॥ ६७ ॥

उत्थानमें तारा, इस प्रकार तीन ऊष्माणोंकी मात्रासे मात्राको जानकर द्वित्व करै ॥ ६७ ॥

अक्षरंभजतेकाचित्काचिद्द्वित्वेप्रतिष्ठितम् ॥
समानेजातिकाकाचित्काचिदूष्माप्रदायिका ॥ ६८ ॥

कोई अक्षरको भजतेहैं, और कोई द्वित्वमें प्रतिष्ठा मानते हैं, कोई समान जातिका और कोई ऊष्मादायिका है ॥ ६८ ॥

यथाबालस्यसर्पस्यउच्छ्वासोलघुचेतसः ॥
एवमूष्माप्रयोक्तव्याहकारःपरिवर्जितः ॥ ६९ ॥

जैसे बाल सर्पका लघुचित्तसे उच्छ्वास होता है, इसप्रकारसे हकारको छोडकर शषस ऊष्माणोंका प्रयोग करै ॥ ६९ ॥

विवृत्तिप्रत्ययादूष्मांप्रवदंतिमनीषिणः ॥
तामेवप्रतिषेधंति आई ऊए निदर्शनम् ॥ ७० ॥

बुद्धिमान् विवारकी प्रतीतिसे ऊष्माको जानते हैं, कहीं नहीं भी होती, यथा आई ऊए ॥ ७० ॥

अष्टौस्वरान्प्रवक्ष्यामितेषामेवतुलक्षणम् ॥
जात्योभिनिहितःक्षैप्रःप्रश्लिष्टश्चतथापरः ॥ ७१ ॥

आठ स्वर और उनके लक्षण कहता हूं, जात्य, अभिनिहत, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट ७१॥

तैरोव्यञ्जनसम्भ्वश्वतथातैरोविरामकः ॥
पादवृत्तो भवेत्तद्वत्तथाभाव्यइतिस्वराः ॥ ७२ ॥

तैरो व्यंजन तैरो विरामक. पादवृत्त और भाव्य, यह स्वर हैं ॥ ७२ ॥

एकपदेनीचपूर्वःसयवोजात्यइष्यते ॥ अपूर्वोपि परस्तद्वद्धान्यं कन्या स्वरित्यपि ॥ एकपद इत्याह ॥ नीचपूर्वःसयकारवकारौ वा जात्यः स्वरितो भवति ॥ यथाजात्यं मनुष्यानिति । सुप्वंति । चम्वीव । धान्यम् । कन्याइव । स्वः । वीर्यम् । एवं ह्याह यानिचान्यानीदृग्लक्षणानि पदानि भवंति । एओआभ्यामुदात्ताभ्यामकारोरिफितश्चयः ॥ अकारोयत्र-लुप्येत तंचाभिनिहितंविदुः ॥ ७३ ॥

एक पदमें प्रथमका अक्षर अनुदात्त हो उसके अनन्तर यकार वकार हो तो वह जात्य स्वर है अथवा अपूर्वक य, व, जात्य स्वर होते हैं॥ यथा मनुष्यान् १ । ३१ पदपाठे । सुप्वंति १ । ३ चम्वीवेति २० । ७९ धान्यम् १ । २० कन्या१ इव १७। ९७ स्वः १८।६४ व्वीर्य्यम् १२।९४ इसी प्रकारके इन लक्षणोंके औरभी पद जानना, ए ओ इन उदात्त स्वरोंमें जहाँ अकार रेफके साथ अकारका लोप होजाय उसे अभिनिहित कहते हैं ॥ ७३ ॥

यथा कुक्कुटः+असि । कुक्कुटोसि १ । १६।वेदः+असि । वेदोसि २ । २१ भागः असि । भागोसि । ६ । १६ मारुतः असि । मारुतोसि । १८ । ४२ श्वात्रः+असि । श्वात्रोसि । ५ । ३१ । ते अप्सरसाम् । तेप्सरसाम् २४ । ३७ । ते अवंतु+तेऽवन्तु १९। १७ । कः असि कोसि ७ । २९ । सः+अहम् । सोहम् । १८ । ३९ एवंहियानि चान्यानिईदृग्लक्षणानिपदानिभवंति ॥ इउवर्णौ यदोदात्तावापद्येते स्वरौक्वचित् ॥ अनुदात्तपदेनित्यं-विद्यात्क्षैप्रस्यलक्षणम् ॥ ७४ ॥

जैसे कुक्कुटः+असि=कुक्कुटोसि १।१६। व्वेदः+असि-व्वेदोसि २ । १ इत्यादि ।

---

१ यह चिह्न यजुःसंहिताके अध्याय और कण्डिकाकाहै ऐसाही आगे जानना ।

इसी भाँति और भी इन लक्षणोंवाले पद जानै. इ उ वर्ण उदात्त होकर कहीं तो नित्य अनुदात्त पदमें स्थित होनेसे उन्हें क्षैप्र द्वित्व जानै ॥ ७४ ॥

यथा त्रि+अंबकम् । त्र्यंबकम् ३ । ६० । द्रु+अन्नः । द्रुन्नः । ११ । ७० व्वीडु+अंगः । व्वीड्वङ्गः २९।५२ वाजी+अर्वन् । वाज्यर्व्वन् ११।४४ एव७ँआह यानि० भवंति॥इकारोयत्रदृश्ये तइकारेणैवसंयुतः ॥ उदात्तश्चानुदात्तेनप्रश्लिष्टोभवतिस्वरः ७५

यथा त्रि+अम्बकम्—त्र्यम्बकम् ३।६० इत्यादि इसी प्रकार और पद जानने, जहाँ इकार इकारहीसे संयुक्त दीखै वह उदात्त अनुदात्तसे युक्त प्रश्लिष्ट स्वर होता है ॥ ७५ ॥

अभि+इन्धताम् । अभीन्धताम् । अभि+इमम् । अभीमम् । वि+इहि । व्वीहि । स्रुचि+इव । स्रुचीव।चम्वी+इव।चम्वीवेति।एव७ँआहयानिचान्यानि । उदात्तपूर्वंयत्किंचिच्छंदसिस्वरितंपदम् ॥एषसर्वंबहुस्वारस्तैरोव्यंजनउच्यते १ ॥ ७६ ॥

यथा अभिइन्धताम्—अभीन्धताम् इत्यादि इसी प्रकार और भी पद जानने छन्दमें जो उदात्तपूर्वक कोई स्वरित पद हो यह सब वहुत स्वरवाला तैरो व्यञ्जन कहाता है ॥ ७६ ॥

इडे । रंते । हव्ये । काम्ये । चंद्रे । ज्योते । अदिति । सरस्वती । महि । व्विश्रुतीतिभवंति । एव७ँआहयानि० भवंति ॥ अवग्रहात्परोयस्तुस्वरितः स्यादनंतरम् ॥ तैरोविरामंतं विंद्यादुदात्तोयद्यवग्रहः ॥ ७७ ॥

यथा इडे, रन्ते इत्यादि इस प्रकार औरभी जाने, उदात्त अवग्रह स्वरसे परे जो स्वरित हो तो उसको तैरोविराम जाने और उसके विपरीत तैरो व्यञ्जन होता है ॥ ७७ ॥

---

१ तैरोव्यञ्जनमन्यथा इति वा पाठः ।

यथा गोमदिति गो+मत् २०।८१ गोपताविति गो+पतौ १।१ प्रप्रेतिप्र+प्र १२ । ३४ । विततेति वि+तता २९ । ४० तातेति ता+ता २५।४० समिद्ध इति सम्+इद्धः । ३३ । ५२ पदपाठे एवꣳह्याहयानि॰भवंति ॥ स्वरेति स्वरितेचैवविवृतिर्यत्रदृश्यते ॥ पादवृत्तोभवेत्स्वारः श्वित्रआदित्यैतिनिदर्शनम् ॥ श्वित्रः+आदित्यानाम् ॥ श्वित्र आदित्यानाम् २४।३९। पुत्रः+ईधे। पुत्रऽईधे ११ । ३३ । दात्रे+एधि दात्रऽएधि ७।४७। कः+ईम् । कऽईम् २३।५५ ताः+अस्य । ताअस्य। १२।५५ एवꣳह्याहयानि॰ भवन्ति । उदात्ताक्षरयोर्मध्येभवेन्नीचस्त्ववग्रहः ॥ तथाभाव्यंभवेत्कंपस्तनूनप्त्रेतिनिदर्शनम् ॥ ७८ ॥

यथा गोमदिति गो + मत् इत्यादि इसी प्रकार और भी जाने. स्वर और स्वरित इन दोनोंके मध्यमें जहाँ विवृत स्वर दिखाई दे, वह स्वर पादवृत्त होता है, यथा श्वित्रः + आदित्यानाम् = श्वित्रऽआदित्यानाम् इत्यादि । जहाँ उदात्त अक्षरके बीचमें अनुदात्त अवग्रह हो वह, तथाभाव्यस्वर कहाता है, तनूनप्त्रे यह दृष्टान्त है ॥ ७८ ॥

यथा तनूनप्त्र इतितनू+नप्त्रे ५।५। तनूनपादिति तनू+नपात् २१ । १३ तनूनपातमिति तनू+नपातम् २८ । २ । एवꣳह्याहयानिपदानिलक्षणानिभवंति ॥ इत्यष्टपदसमाम्नायेवैशेषिकेयाज्ञवल्क्यवचनानांपदानांपाठः समाप्तः ॥

यथा तनूनप्त्र इति तनू + नप्त्र इत्यादि इसी प्रकार इस लक्षणके औरभी पद जानने। इत्यष्टपदसमाम्नाये वैशेषिके याज्ञवल्क्यवचनानां पदानां पाठः समाप्तः ॥

---

१ त्वरयोरन्तरे काले इति वा पाठः ।

२ इमान्युदाहरणानि संहितापदयोर्ज्ञातव्यानीति ।

माध्यंदिनविरोधिःस्यात्तथाभाव्यस्तुयःस्मृतः ॥
स्वरोनैवात्रदृश्येतभिन्नोदात्तानुदात्तकौ ॥ १ ॥

माध्यन्दिन विरोधी होनेसे भाव्य इसमें नहीं देखा जाता। कारण कि इसमें उदात्त अनुदात्तसे रहित स्वर नहीं देखा जाता ॥ १ ॥

स्वराःस्पर्शांतःस्थोष्माणः ॥ कंठ्य । जिह्वामूलीय । तालव्य।मूर्धन्य। दंत्य।ओष्ठ्य। यमा विसर्जनीयनिपाताद्या श्चकिंवर्णदैवत्यलिंगाः स्वराः शुक्लाःनानादैवत्याः। स्पर्शाः कृष्णाः।कपिला अन्तःस्थाः।ऊष्माणोऽरुणाः। नीला यमाः। हरिता नासिक्याः।पीतोनुस्वारः।रक्तोजिह्वामूलीयः। पीतउपध्मानीयः।श्वेतोविसर्जनीयः।शबलो रंगः । नीलोनुनासिक्यः । इत्यंतर्मध्यमयोर्नासिक्यंविद्यात् ॥ द्विरुदात्ताख्याइतिस्मृताः॥उदमनुदनिपाते आद्येचोपसर्गेनामाख्यातेचोपसर्गनिपाताश्चेति । किंदैवत्याः। अक्षराणांचकेपुरुषाः । काः स्त्रियः। कानि नपुंसकानि इत्यत्रब्रूमः । कंठ्या आग्नेयाःअकारादयः॥जिह्वामूलीयानैर्ऋत्याःककारादयः। तालव्याःसौम्याःचकारादयः।वायव्यामूर्धन्याष्टकारादयः। रौद्रादंत्याःतकारादयः ।औष्ठ्याआश्विन्याःपकारादयः ॥ शेषा वैश्वदेवाः।अंइत्येवमादयः।स्वरास्तुब्राह्मणाज्ञेयावर्गाणांप्रथमाश्चये॥द्वितीयाश्चतृतीयाश्चचतुर्थाश्चापिभूमिपाः ॥२॥

स्वर, स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्माण, कण्ठस्थानीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, तालुस्थानीय, मूर्धास्थानीय, दन्तस्थानीय, ओष्ठस्थानीय, यम, विसर्ग, निपात, कौनकौनसे वर्ण किसकिस देवता लिंगवाले हैं सो कहते हैं, उनमें स्वर शुक्लवर्ण नानादेवतावाले हैं, स्पर्श(कसे मतक) कृष्ण वर्ण हैं, अन्तस्थ(यरलव)कपिलवर्ण ऊष्माण (शषसह)अरुण वर्ण हैं यम(वर्गोंके पहले चारके आगे पांचवा परे होनेपर मध्यमें पूर्वसदृश वर्ण) नीलवर्ण नासिकास्थानीय अनुनासिक (ङ ञ ण न म) हरित वर्ण हैं, अनुस्वार पीतवर्ण जिह्वामूलीय ≍ क ≍ ख रक्तवर्ण, उपध्मानीय ≍ प ≍ फ पीतवर्ण विसर्ग श्वेत

वर्ण रंग शबल (कबरारंग) अनुनासिक अतिनीलवर्ण इसी प्रकार स्वर और अन्तस्थके मध्यमें वर्णान्तको अनुनासिक जाने द्वि उदात्त है। उत् निपात (एक अक्षरवाले) उपसर्गके आदिके उपसर्ग और निपात यह किन देवतावाले हैं, इन अक्षरोंमें कौन स्त्री और कौन पुरुष है, कौन नपुंसक है, सो कहते है, कण्ठयवर्ण अकारादि अग्नि देवतावाले है, तालुस्थानवाले चकारादि चन्द्रदेवतावाले हैं, मूर्धास्थानवाले टकरादि वायुदेवतावाले है. दन्तस्थानवाले तकारादि रुद्रदेवतावाले हैं, ओष्ठस्थानीय पकारादि अश्विनीदेवतावाले हैं, अं इत्यादि शेषवर्ण विश्वेदेवादेवतावाले हैं, स्वर वर्ण ब्राह्मण है, तथा वर्गोंके प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ अक्षर क्षत्रियवर्ण हैं ॥ २ ॥

वर्गाणांपंचमावैश्याअंतस्थाश्चतथैवच ॥
ऊष्माणश्चहकारश्चशूद्राएवप्रकीर्तिताः ॥ ३ ॥

वर्गोंके पांचवें अक्षर और अन्तस्थ वैश्य वर्ण हैं, ऊष्माण और हकार यह शूद्र कहाते हैं ॥ ३ ॥

शुक्लवर्णानिनामानिआख्यातारोहितामताः ॥
कपिंजलास्तूपसर्गाः कृष्णाश्चैवनिपातकाः ॥ ४ ॥

नामिक शुक्ल वर्ण है आख्यात (क्रिया) रक्तवर्ण उपसर्ग कपिंजल वर्ण और निपात कृष्णवर्ण है ॥ ४ ॥

भार्गवगोत्राणिनामानि भारद्वाजा आख्याताः ॥
वासिष्ठाउपसर्गास्तुनिपाताःकाश्यपाःस्मृताः ॥
पीतवर्णश्चोपसर्गो निपातः कृष्णवर्णकः ॥
सर्वंतुसौम्यमाख्यातंनामवायव्यं दृश्यते ॥
आग्नेयस्तूपसर्गःस्यान्निपातोवारुणःस्मृतः ॥ ५ ॥

नामिक भार्गवगोत्र, आख्यात भारद्वाज गोत्र है, उपसर्ग वासिष्ठ गोत्र, और निपात कश्यपगोत्रवाले है, सब आख्यात चन्द्र देवतावाले, सब नामिक वायुदेवता वाले हैं, उपसर्गोंका अग्नि निपातका वरुण देवता है ॥ ५ ॥

प्रथमाश्चतथांतस्थाःस्त्रीलिंगाः परिकीर्तिताः ॥
शेषाक्षराणिषंढानिप्राहुर्लिंगविवेचकाः ॥ ६ ॥

प्रथम स्वर और अन्तस्थवर्ण स्त्रीलिंग हैं, शेष अक्षर नपुंसक है ऐसा लिंगज्ञाता कहते है ॥ ६ ॥

नाम्नामिंद्रोदेवतावरुणः उपसर्गाणामादित्यःसर्वस्याक्षरगणस्य स्वरा विसर्जनीयो यमाश्च पुंल्लिंगाः। ङञणनमा यरलवाः स्त्रीलिंगाः। शेषाण्यक्षराणिनपुंसलिंगानीति ॥ संधिश्चतुर्विधो भवतीति॥लोपागमौवर्णविकारःप्रकृतिभावश्चेति।तद्यथा-तत्रलोपोभवति अयक्ष्माः×मा अयक्ष्मामा१।१।शततेजाः+वायुः शततेजाव्वायुः १।२४ । तिग्मतेजाः+द्विषतः । तिग्मतेजाद्विषतः १ ।२४ इतिलोपः ॥ आगमोभवति यथा प्रत्यङ्सोमः प्रत्यङ्क्सोमः १० । ३१ प्राङ्सोमः प्राङ्क्सोमः १९ । ३ अस्मान् सीते अस्मान्त्सीते १२। ७० त्रीन् समुद्रान् त्रीन्त्समुद्रान् १२ । ३१ इतिआगमः ॥ विकारोभवति आ+इदम् एदम् ४ । १ आ+इमे एमे आ+इष्टयः एष्टयः प्र+इषितः प्रेषितःइतिविकारः॥प्रकृतिभावो यथा आशुः शिशानः । युञ्जानःप्रथमम् ११। १ अदितिःषोडशाक्षरेण९।३४।देवोवःसविता१।१।इतिप्रकृतिभावः ॥ आकाशस्थायथाविद्युत्स्फटिकमणिसूत्रवत् ॥ एष च्छेदोनिवृत्तीनांयथाबालेषुकर्तरी ॥ ७ ॥

नामिकका इन्द्र, उपसर्गोंका वरुण, और सब अक्षरोंका सूर्य है, स्वर विसर्ग और यम पुंल्लिग है, ङ, ञ, ण, न, म, य, र, ल, व, यह स्त्रीलिंग है, शेष अक्षर नपुंसकलिंग है, संधि चार प्रकारकी होती है लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव, उनमें लोप जैसे अयक्ष्मा+मा=अयक्ष्मामा इसमें विसर्गोंका लोप हुआ है इत्यादि । आगम जैसे प्रत्यङ्+सोमः=प्रत्यङ्क्सोमः यहां ककारका आगम हुआ इत्यादि विकार जैसे आ×इदम्=एदम् इत्यादि यहां आ × इ के स्थानमें ए

१ आदित्योमुनिभिः प्रोक्तः सर्वाक्षरगणस्यच । स्वराविसर्जनीयाश्चयमाः पुंल्लिङ्गः इतिपा०।

विकार हुआ, प्रकृतिभाव जैसे आशुःशिशानः इत्यादिमें ज्योंका त्यों रहगया आकाशमें जैसे बिजली मणिसूत्रवत् स्फुरायमाण होती है, इसी प्रकारसे निवृत्तिका छेद होना चाहिये जैसे बालकोंके बालोंमें कैंची ॥ ७ ॥

द्वयोस्तुस्वरयोर्मध्येसंधिर्यत्रनदृश्यते ॥
विवृत्तिस्तत्रविज्ञेयायऽईशेतिनिदर्शनम् २२१२ ॥ ८ ॥

दो स्वरोंके मध्यमें जहां संधि न दीखे वहां विवृत्ति जाननी, जैसे य ईशः॥८॥

पिपीलिकापाकवतीतथावत्सानुसारिणी ॥
वत्सानुसंसृताचैवचतस्रस्तुविवृत्तयः ॥ ९ ॥

विवृत्ति चार प्रकारकी होती है पिपीलिका, पाकवती, वत्सानुसारिणी, वत्सानुसंसृता ॥ ९ ॥

पंचरंगाःप्रवर्ततेघातनिर्घातवज्रिणः ॥
अहरप्रहरोज्ञेयअइउऋओइतिनिदर्शनम् ॥ १० ॥

घात, निर्घात, वज्री, अहर, प्रहर, यह पांच रंग हैं जैसे अ इ उ ऋ ओ यह निदर्शन है ॥ १० ॥

पिपीलिकाआद्यन्तदीर्घानाभ्याआसीदितिनिदर्शनम् ।३१।१३॥
पाकवत्युभयोर्ह्रस्वाविनइन्द्रेतिनिदर्शनम् ॥ ११ ॥

आदि और अन्तमें दीर्घवाली पिपीलिका वृत्ति कहाती है, यथा नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षम् इत्यादि। आदि अन्तमें ह्रस्वपाकवती वृत्ति होती है, यथा विन इन्द्र इत्यादि ॥ ११ ॥

अंतेचवत्सानुसृजितातानेत्यसौऽआवोढमश्विनेतिनि० २०।८३ ।
वत्सानुसारिणीचादौदीर्घाताअस्येतिनि० ॥ १२ ॥

अन्तमें दीर्घ वत्सानुसृजिता होती है, तानेत्यसौआवोढमाश्विना यह उदाहरण है और आदिमें दीर्घ होवे तो वत्सानुसारिणी होती है ता अस्य यह उदाहरण है १२

करिणीकुर्विणीचैवहरिणीहारिणीतिच ॥
तथाहंसपदानामपंचैताःस्वरभक्तयः ॥ १३ ॥

करिणी, कुर्विणी, हरिणी, हारिणी और हंसपदा यह पांच स्वरभक्ति है ॥१३॥

करिणीरहयोर्योगेकुर्विणीलहकारयोः ॥
हरिणीरषयोर्योगेहारितंऋषकारयोः ॥ १४ ॥

र, ह के योगमें करिणी, लकार हकारके योगमें कुर्विणी, र ष के योगमें हरिणी, ऋ, षकारके योगमें वा ल, ष के योगमें हारिता ॥ १४ ॥

यातुहंसपदानामसातुरेफषकारयोः ॥ १५ ॥

र, ष के योगमें हंसपदा भक्ति होती है ॥ १५ ॥

देवंबर्हिं २१।५७रितिकरिणीः ऽपवल्हेतिकुर्विणी ॥
हरिणीं अरेषसइत्याहुर्हारिणीशतवल्शेतिच ॥ १६ ॥

देवंबर्हिं यह करिणी, उपवल्हेति यह कुर्विणी, दर्शतामिति यह हरिणी शतवल्शेति यह हारिणी ॥ १६ ॥

वर्षोवर्षीयसीत्याहुस्तथाहंसपदेतिच६।११॥रलाभ्यांपरऊष्माणोयत्रस्युःस्वरितोदयाः॥स्वरभक्तिरसौज्ञेयापूर्वमाक्रम्य पठ्यते ॥ स्वरभक्तिंप्रयुंजानस्त्रीन्दोषान्परिवर्जयेत् ॥ १७ ॥

वर्षोवर्षीयसि यह हंसपदा भक्तिका उदाहरण है र, ल, से परे जहां ऊष्माण स्वरितोदय हो इसको स्वरभक्ति जानना. यह पूर्वको आक्रमण कर पढी जाती है स्वरभक्ति प्रयोगमें तीन दोषोंको त्याग करै ॥ १७ ॥

इकारंचाप्युकारंचग्रस्तदोषंतथैवच ॥
एतल्लक्षणमाख्यातंयाज्ञवल्क्येनधीमता ॥ १८ ॥

इकार उकार और ग्रस्तदोष इनका लक्षण बुद्धिमान् याज्ञवल्क्यने कथन किया है ॥ १८ ॥

सम्यक्पाठस्यसिद्ध्यर्थंशिष्याणांहितकाम्यया ॥
अर्धमात्रास्वरंकिंचित्पृथङ्न्यूनमिवोच्चरन् ॥
ऋकारेचहकारेचहृत्कंठमनसानिच ॥ १९ ॥

भलीप्रकार पाठकी सिद्धि और शिष्योंके हितकी कामनासे कहा है, अर्धमात्राका स्वर कुछ पृथक् न्यून उच्चारण करै, ऋकार हकारको हृदय कंठ और मनसे उच्चारण करै ॥ १९ ॥

नैतत्स्वरितपूर्वांगेनापरांगेकथंचन ॥
नस्वरेनचमात्रायांकथंस्वारोविधीयते ॥ २० ॥

यदि कहो कि यह स्वरित पूर्वांग परांग स्वर और मात्रामें जब नहीं तो कैसे स्वरका विधान किया जाय ॥ २० ॥

परांगस्यतुयत्पूर्वंपूर्वांगस्यतुयत्परम् ॥
उभयोरर्द्धसंयोगेस्वारंकुर्याद्विचक्षणः ॥ २१ ॥

जो पर अंगके पूर्व और पूर्वांगके जो पर हो इन दोनोंके अर्ध संयोगमें पंडित को स्वरका प्रयोग करे ॥ २१ ॥

संयोगेतुपरंस्वार्य्यंपरंसंयोगनायकम् ॥
संयुक्तस्यतुवर्णस्यनस्वार्य्यंपूर्वमक्षरम् ॥ २२ ॥

संयोगमें यह स्वर पर और परसंयोगमें नायक कहाता है ऐसा जानना. संयुक्त वर्णका पूर्व अक्षर स्वर नहीं होता ॥ २२ ॥

उदात्तादनुदात्तेतुवामायाभ्रुवआरभेत् ॥
उदात्तात्स्वरितोदात्तौक्रमादक्षिणतोन्यसेत् ॥ २३ ॥

अनुदात्तमें उदात्तसे इसको वामभ्रूसे आरम्भ करे उदात्तसे स्वरित, उदात्तको क्रमसे दक्षिणको लावे ॥ २३ ॥

स्वरितादनुदात्तायेप्रचयस्तान्प्रचक्षते ॥
एकस्वरानपिचतानाहुस्तत्त्वार्थचिन्तकाः ॥ २४ ॥

स्वरितसे उत्तरमें अनुदात्त हो तो उसको तत्त्वज्ञाता प्रचय स्वर कहते हैं, अथवा एकस्वर भी कहते हैं ॥ २४ ॥

प्रचयोयत्रदृश्येततत्रहन्यात्स्वरंबुधः ॥
स्वरितःकेवलोयत्रमृदुस्तत्रनिपातयेत् ॥ २५ ॥

जहां प्रचय दिखाई दे बुद्धिमान् वहां स्वरभंग करै और जहां केवल स्वरित हो वहां मृदु निपातन करे ॥ २५ ॥

दुर्बलस्ययथाराष्ट्रंहरतेबलवान्नृपः ॥
एवंव्यंजनमाश्राद्यअकारोहरतेस्वरम् ॥ २६ ॥

जैसे बली राजा दुर्बलके राज्यको हरते हैं इसी प्रकार व्यंजनको प्राप्त होकर अकार स्वरको हरण करता है ॥ २६ ॥

उच्चादुच्चतरंनास्तिनीचान्नीचतरंतथा ॥
अक्षरात्तुल्ययोगाच्चनीचेनीचगतानिच ॥ २७ ॥

उच्चसे उच्च और नीचसे नीच नहीं होता, अक्षर तुल्य योगवाले हैं[1] नीच स्वरको प्राप्त होकर नीचे हो जाते हैं ॥ २७ ॥

१ उनवाद्यार्द्ध इति वा पाठः ।

स्वरउच्चःस्वरोनीचःस्वरःस्वरितएवच ॥
स्वरप्रधानैस्त्रैःस्वार्यव्यंजनंतेनसस्वरम् ॥ २८ ॥

स्वरही उच्च स्वर अनुदात्त, और स्वरही स्वरित होता है, स्वरही स्वरमें प्रधान है उसीसे व्यंजन स्वरवाला कहाता है ॥ २८ ॥

व्यंजनान्यनुवर्तंतेयत्रतिष्ठतिसस्वरः ॥
स्वरप्रधानंत्रैस्वर्यमाचार्याःप्रवदंतिहि ॥ २९ ॥

स्वरकी ओरही व्यंजन अपनी अनुवृत्ति करते है, इन तीनोंमें स्वरही प्रधान है यह आचार्य कहते हैं ॥ २९ ॥

मणिवद्व्यंजनंविद्यात्सूत्रवच्चस्वरंविदुः ॥
आचार्याःसममिच्छंतिपदच्छेदंतुपंडिताः ॥ ३० ॥

मणिकी समान व्यंजन और सूत्रकी समान स्वर है, आचार्य समकी और पंडित पदच्छेदकी इच्छा करते हैं ॥ ३० ॥

स्त्रियोमधुरमिच्छंतिविकृष्टमितरेजनाः ॥
उदात्तंनानुवर्तंतेनीचंनस्वरितंतथा ॥ ३१ ॥

स्त्री मधुर पदार्थकी और दूसरे जन वडेपन की इच्छा करते है, जो उदात्त अनुदात्त और स्वारितका अनुवर्तन नहीं करते ॥ ३१ ॥

विस्वरं तं विजानीयाद्दीर्घह्रस्वविवर्जितम्॥हरिवरुणवरेण्येषुधारा हिपुरुषेषुच॥वैश्वानरोनकारे१८।७२.चशेषास्तुस्वरितानकाराः। (स्वरितेरेफवैश्वानरोनकारः शेषाकारःस्वरितानकाराः) ॥३२॥

ह्रस्व दीर्घसे वर्जित उसको विस्वर जाने, हरि, वरुण, वरेण्य, धारा, पुरुष इनमें रेफ स्वरितत्वके समान आचरण करता है, वैश्वानर शब्दमें: नकार स्वरितत्वकी समान आचरण करता है, और शेषमें नकारकोही स्वरितत्व होता है ॥ ३२ ॥

द्वौवरुणौचस्वरितौ उदुत्तमं १२।१२ त्वंव्वरुण ३३ । ३२ ॥ धारेचैवोरुधारे तु पुरुधारेच दोहने॥मात्रिकंवाद्विमात्रंवास्वरितं यदिहाक्षरम् ॥ तस्यादितोर्द्धमात्रावैशेषंचपरतोभवेत् ॥३३॥

उदुत्तमं त्वं व्वरुण इनमें वरुण शब्दके दो वकारोंमें का एक वकारही स्वरितवत् होता है, रेफ नहीं, ऊरुधारा इत्यादिमें धा शब्दही स्वरितवत् होता है,

१ उदुत्तमं वरुण धारये धरेरुधारा उरुधारा च दोहते वा पाठः ।

एक मात्रा वा दो मात्राका जो अक्षर स्वरित हो तो द्विमात्रिकमें आधी मात्रा उदात्त आधी अनुदात्त शेष स्वरित होता है "यह पाणिनिसे विलक्षण है" ॥३३॥

नकारांतेपदेपूर्वेश्मश्रुभिः २५ । ३ परतः स्थिते ॥
छकारंनप्रयुंजीतशसंधिंसमुच्चरेत् ॥ ३४ ॥

नकारान्त पदके आगे यदि श्मश्रु शब्द हो तो शकारको छकारका प्रयोग न करे व और शकी सन्धि करे ॥ ३४ ॥

ओकारः २।३३ प्लुतविज्ञेयः प्लुतमग्ना द्वितीयकम् ८ । १० ॥
लाजींश्छाचीं२३।८तृतीयंचविवेशेति २३।४९ चतुर्थकम्॥३५॥

ओकार प्लुत जानना यथा अग्ना द्वितीयकम् । लाजीञ्छाची तीसरा और विवेशेति यह चौथा प्रयोग है ॥ ३५ ॥

अधःस्विदासी ३३ । ७४ त्पंचमंचोपरिस्विदासीच्चषष्ठकम् ॥
सप्तमंतुक्लिवेस्मार ४०।१५ अष्टमंनैवविद्यते ॥ लृकारस्यतुदीर्घ त्वंनास्तिवाजसनेयिनः ॥ ३६ ॥

अधःस्विदासीत् पांचवां और उपरि स्विदासीत् छठा प्रयोग है, सातवां क्लिवे स्मर और आठवां प्रयोग नहीं है वाजसनेयी शाखावालोंके मतमें लृकारका दीर्घ नहीं है ॥ ३६ ॥

उच्चस्थानगतेहस्तेस्वरितंनोपपद्यते ॥
अधस्थात्तुयदागच्छेत्स्वरितंनतदाभवेत् ॥ ३७ ॥

हाथके उदात्त स्थानमें प्राप्त होनेसे स्वरित प्रगट नहीं होता. और जब अनुदात्त-स्थानको प्राप्त हो तो स्वरित नहीं होता ॥ ३७ ॥

कचटतपाद्धश्येतेसंधिस्थानेषुनित्यशः ॥
स्ववर्गेणैवसंयुक्तामोक्षंकुर्वीततत्रवै ॥ ३८ ॥

क च ट त प यह संधिस्थानमें नित्य दिखाई देते हैं अपने वर्णवालोंसे संयुक्त होकर फिर पृथक् नहीं होते इनको वैसेही विधान करे ॥ ३८ ॥

तकारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते ॥
प्रत्यारंभंनकुर्वीतपापाविितिनिदर्शनम् ॥ ३९ ॥

जब पूर्वमें तकारान्त पद आगे सकार स्थित हो तो प्रत्यारंभ न करे यथा पापाविति ॥ ३९ ॥

---

१ नेत्थं तत्र न कर्तव्येदिति क्व चित् ।

ककारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते ॥
खसवर्णविजानीयाद्भिखक्सेतिनिदर्शनम् २१।२६ ॥४०॥

ककारान्त पद पूर्वमें और आगे सकार हो तो खसवर्ण जानै यथा भिखक्सेन् इति यह उदाहरण है ॥ ४० ॥

तकारांतेपदेपूर्वेचवर्गेपरतःस्थिते ॥
मोक्षंतत्रापिकुर्वीतयच्च शेपे निदर्शनम् ६। १७॥४१॥

तकारान्त पद पूर्वमें आगे चवर्ग स्थित हो तो वहां वर्ण मोक्ष करै यथा यच्च शेपे यह उदाहरण है कहीं ॥ ४१ ॥

ङकारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते ॥
कसवर्णविजानीयात्प्राङ्क्सोमेतिनिदर्शनम् १९।३।४२

पूर्वमें ङकारान्त पद हो आगे सकार स्थित हो तो उसका सवर्णी 'क' जान्ना, प्राङ्क्सोमः यह उदाहरण है ॥ ४२ ॥

टकारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते॥
टसवर्णविजानीयात्सम्राट्संभृतेतिनिदर्शनम्२९।४।४३

जो पूर्वमें टकारान्त पद हो आगे सकार स्थित हो तो टकार सवर्णी हो यथा सम्राट् संभृत इति ॥ ४३ ॥

तकारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते ॥
छसवर्णविजानीयात्तत्सवितुर्निदर्शनम् ३।३५॥४४॥[1]

तकारान्त पद पूर्वमें हो आगे सकार हो तो 'छ' सवर्णी हो तत्सवितु० यह उदाहरण है ॥ ४४ ॥

नकारांतेपदेपूर्वेसकारेपरतःस्थिते ॥
तसवर्णविजानीयात्त्रीन्त्समुद्रेतिनिदर्शनम्१३।३१।४५

नकारान्त पद पूर्वमें हो सकार आगे हो तो त सवर्णी हो यथा त्रीन्त्समुद्रान् यह उदाहरण है ॥ ४५ ॥

पकारांतेपदेपूर्वेशकारेपरतःस्थिते ॥
छसवर्णविजानीयादनुष्टुप्छारदीतिनिदर्शनम् १३।५७॥४६

१ नैतन्माध्यन्दिनीयानां सस्थानत्वात्तयोर्द्वयोः । सस्थानेपि द्वितीयं स्यादापस्तम्बस्य यन्मतम् ॥ इत्यधिकः पाठः ।

षकरान्त पद पूर्वमें हो आगे शकार हो तो छ सवर्णी जाने अनुष्टुप् छारदी यह उदाहरण है ॥ ४६ ॥

मकारांतेपदेपूर्वेसवर्णेपरतः स्थिते ॥
मसवर्णंविजानीयादिमम्मेतिनिदर्शनम् २१ । १ ॥ ४७ ॥

मकारान्त पदके आगे सकार हो तो सवर्णी मकार हो 'इमम्मे' यह उदाहरण है ॥ ४७ ॥

वर्णेतुमात्रिकेपूर्वेअनुस्वारोद्विमात्रिकः ॥
द्विमात्रेमात्रिकाज्ञेयः संयोगाद्व्यस्ययोभवत् ॥ ४८ ॥

एक मात्रावाले वर्णके आगे अनुस्वार द्विमात्रिक होताहै उसे द्विमात्रिक द्विमात्रावाला जानो, संयोगके पहलेका एक मात्रावाला द्विमात्रिक होताहै ॥ ४८ ॥

अनुस्वारोद्विमात्रःस्यादृवर्णव्यंजनादिगः ॥
ह्रस्वाद्वायदिवादीर्घाद्देवानाᳬंहृदयेभ्य इति नि० ।१६।४६।४९

अनुस्वार दो मात्रावाला होताहै ऋवर्ण व्यंजनके पूर्वमें प्राप्त हुआ हो तो द्विमात्रिक होता है, ह्रस्व वा दीर्घ चाहै किसीसे परे हो देवानां हृदयेभ्यः यह उदाहरण है ॥ ४९ ॥

अनुस्वारस्योपरिष्टात्संवृतंयत्रदृश्यते ॥
दीर्घंतुविजानीयाच्छ्रोताग्रावाणेतिनिदर्शनम् ६।२६॥५०

अनुस्वारके आगे यदि संवृत प्रयत्नवाला वर्ण दे खे तो उसे दीर्घ जाने, श्रोता ग्रावाणः यह उदाहरण है ॥ ५० ॥

अनुस्वारस्योपरिष्टात्संयोगोयत्रदृश्यते ॥
ह्रस्वन्तुविजानीयात्सᳬंस्थेतिनिदर्शनम् ॥ ५१ ॥

अनुस्वारके पर जहां संयोग दीखै उसे ह्रस्व जानै सᳬंस्था यह दृष्टान्त है ॥५१॥

अनुस्वारश्चयोदीर्घादक्षराच्चोभवत्परः ॥
सतुह्रस्वइतिज्ञेयोमंत्रेष्वेवविभाषया ॥ ५२ ॥

दीर्घ अक्षरसे परे जो अनुस्वार हो, वह विकल्प करके मंत्रोंमें ह्रस्व होता है॥५२॥

ओभावश्वविवृत्तिश्चशषसारेफएवच ॥
जिह्वामूलमुपध्मा चगतिरष्टविधोष्मणः ॥ ५३ ॥

ओभाव, विवृत्ति, श, ष, स, रेफ, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, यह आठ प्रकारकी ऊष्माकी गाते है ॥ ५३ ॥

यथाभावप्रसंधानमुकारादिपरंपदम् ॥
स्वरांततादृशंविद्याद्यदन्यद्व्यक्तमूष्मणः ॥ ५४ ॥

ओभावके आगे यदि उकारादि पद हो तो उसे स्वरान्त जाने और इससे अन्यत्र ऊष्माका ओभाव जानै ॥ ५४ ॥

ओभावादुत्थितश्चोष्मातातुकेलिंविनिर्दिशेत् ॥
विवृत्तंप्रतियाऊष्माविज्ञेयाविकठानना ॥ ५५ ॥

ओभावको प्राप्त हुई ऊष्माकेलि कहाती है, और विवृत्तिके आगे जो ऊष्मा हो उसे विकठानना कहते हैं ॥ ५५ ॥

लीढतिलीढविद्युच्चशषसेषुप्रकीर्तिताः ॥
जिह्वामूलेचरेफेत्वाविज्ञेयाविठकाशठा ॥ ५६ ॥

लीढ अतिलीढ और विद्युत् यह क्रमसे श ष स में कही है, अर्थात् नाम हैं जिह्वामूलीय और रेफ यह विठक और शठ नामवाले हैं ॥ ५६ ॥

उपध्मानीयसहितांपुष्पिणींतांविनिर्दिशेत् ॥
अन्यत्रयाभवदूष्मासुलभांतांविनिर्दिशेत् ॥ ५७ ॥

उपध्मानीयके सहित ऊष्माको पुष्पिणी कहते हैं, इसके शिवाय अन्य ऊष्मा सुलभा कहाती है ॥ ५७ ॥

पदाद्यंपदान्त्यंतथावग्रहकालिकम् ॥
ईषत्स्पृष्टंविजानीयात्तस्मिन्कालेतुकारयेत् ॥ ५८ ॥

पादके वा पदके अन्तके अक्षर वा अवग्रह स्वरके अक्षरको ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न जानै, यह उस उच्चारणकालमें ही जानै ॥ ५८ ॥

पाशाद्दौचक्रदाशौचवंश्यागात्रांतुच ॥
...इनितिवेद्योयोन्यःसयाज्ञतिस्तृतः ॥
अपवर्गपराश्वस्तुपरागिरिपिहश्यते ॥ ५९ ॥

---

१ ओभ ... मा ... नि वा पाठः । २ ... तथा वा पाठः ।

पादकी आदिमें वा पदकी आदिमें वा संयोग और अवग्रहमें 'य' का 'ज' उच्चारण करे, इससे अन्यको यकारही उच्चारण करना चाहिये जो उपसर्गसे परे और पदकी आदिमें दीखे ॥ ५९ ॥

ईषत्स्पृष्टंयथाविद्युत्पदच्छेदात्परंभवेत् ॥
त्वदर्थंवाचिनौवोवां वावेयदिनिपातजौ ॥ ६० ॥

वह अक्षर ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है, यथा विद्युत् परन्तु पद और छन्द करनेपर हो त्वदर्थ (तुम्हारे) अर्थ वाची वो वां वा वे यदि निपातसे हुए हैं ॥ ६० ॥

आदेशश्चविकल्पार्थाईषत्स्पृष्टाइतिस्मृताः ॥
विभाषयायकारःस्यात्तथानेतिपदात्परः ॥ ६१ ॥

तो इनको ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न जाने, और निपातन किये विकल्प अर्थवाले आदेश हैं क्योंकि पाणिनिशास्त्रमें भी आदेश विकल्पार्थ कहे हैं, नकारके आगे यदि यकार हो तो उसके स्थानमें जकारका उच्चारण विकल्पसे होता है ॥ ६१ ॥

भवन्तेत्यपिपूर्वेवतथाचसपदादपि ॥
यदेवलक्षणंयस्यवकारस्यापितद्भवेत् ॥ ६२ ॥
यत्रयत्रविशेषःस्यादिदानींससकथ्यते ॥
वकारस्त्रिविधःप्रोक्तोगुरुर्लघुर्लघूतरः ॥ ६३ ॥

और पूर्वमें तथा सपदके आगे भी जानना जो लक्षण यकारका है वही वकारका जानो, जो जहां जहां विशेष है सो अब कहते हैं वकारके तीन भेद हैं गुरु लघु लघुतर ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

आदौगुरुर्लघुर्मध्येपदांतेचलघूतरः ॥ ६४ ॥

आदिमें गुरु मध्यमें लघु और पदान्तमें हो तो लघुतर कहाता है ॥ ६४ ॥

यवर्णस्त्रिविधःप्रोक्तोगुरुर्लघुर्लघूतरः ॥
आदौगुरुर्लघुर्मध्येपदान्तेतुलघूतरः ॥ ६५ ॥

यकारके भी तीन भेद है गुरु लघु लघुतर आदिमें गुरु मध्यमें लघु और पदान्तमें लघुतर कहाता है ॥ ६५ ॥

सन्धिजौतुपदान्तीयावुपसर्गपरौलघू ॥
अथमासनशब्देभ्योविभाषाम्रेडितेयवौ ॥ ६६ ॥

सन्धि करनेसे हुए पदान्तके, उपसर्गसे आगे हो तो लघु य और व मा स न शब्दोंसे परे वा द्विरुक्तिमें विकल्प करके लघुतर जाने ॥ ६६ ॥

पञ्चमादुत्तरोयोवोयदिचैकपदेभवेत् ॥
संहितायांलघुःसोपिपदकालेगुरुर्भवेत् ॥ ६७ ॥

वर्गके पांचवें अक्षरसे आगे य, व, यदि एक पदमें हों तो संहितामें यह लघु हुए भी पदके समय गुरु हो जाते है ॥ ६७ ॥

हकाररेफसंयुक्तऋवर्णोदयएववा ॥
सुस्पृष्टंतंविजानीयाद्यकारोनान्ययुग्यदि ॥ ६८ ॥

(जात्य और स्वरितमें जहां वकार हो तो दोनों को ही निक्षेप करै यथा वायव्यै और जात्य स्वरितमें यकार हो तो दोनोंका क्षप करै यथा सदस्यै ७ । ४९ यह उदाहरण है पहले कह चुके है) रेफसंयुक्त हकार और ऋवर्णमें स्पृष्ट प्रयत्न जाने यदि यकार दूसरेमें संयुक्त न हो तो ॥ ६८ ॥

उपांशुस्त्वरितंचैवयोधीतेवित्रसन्नपि ॥
अपरूपसहस्राणांसंदेहेषुप्रवर्तते ॥ ६९ ॥

जो अप्रकाशित तथा बहुत सहजमें तथा शीघ्रतासे व्याकुलतापूर्वक पढता है, वह सहस्रों भ्रष्टरूपोंके सन्देहों में पडता है ॥ ६९ ॥

पंचविद्यांनगृह्णंतिजडाःस्तब्धाश्चयेनराः ॥
आलसाश्चातिरोगाश्चयेषांचविस्मृतंमनः ॥ ७० ॥

महामूढ स्तब्ध, आलसी, रोगी और भूलनेवाले यह पांच विद्याको नहीं प्राप्त करते ॥ ७० ॥

अहेरिवगणाद्भीतःसंमानान्नरकादिव[1] ॥
राक्षसीभ्यइवस्त्रीभ्यःसविद्यामधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो संघ समूहसे सर्पकी समान, सन्मानसे नरककी समान, स्त्रियोंसे राक्षसियोंकी समान डरता है, वही विद्याको प्राप्त होता है ॥ ७२ ॥

---

१ अहिरिव गुणाद्भीतः वा पाठः ।

नभोजनविलंबीस्यान्नचनारीनिबंधनः ॥
सुदूरमपिविद्यार्थीव्रजेद्गरुडहंसवत् ॥ ७२ ॥

भोजन करनेमें देर न करै, स्त्रियोंके बंधनमें न रहे और गुरुस्थान दूर होवे तो भी गरुड तथा हंसकी समान अतिशीघ्र वहां जापहुँचे ॥ ७२ ॥

यथाखनन्खनित्रेणनरोवार्यधिगच्छति ॥
तथागुरुगतांविद्यांशुश्रूषुरधिगच्छति ॥ ७३ ॥

जैसे कुदालसे खोदता हुआ मनुष्य जलको प्राप्त करता है, इसी प्रकार शुश्रूषा करनेवाला गुरुकी विद्याको प्राप्त करलेता है ॥ ७३ ॥

सुखार्थीचेत्त्यजेद्विद्यांविद्यार्थीचेत्त्यजेत्सुखम् ॥
सुखिनश्चकुतोविद्यासुखंविद्यार्थिनःकुतः ॥ ७४ ॥

जो सुखकी इच्छा करे वह विद्या नहीं पढ सकता, जो विद्यार्थी होना चाहै वह सुखकी अभिलाषा न करै, सुखियोंको विद्या कहां और विद्यार्थियोंको सुख कहां॥७४

गुणिताशतशोविद्यासहस्रावर्तितापुनः ॥
आगमिष्यतिजिह्वाग्रेस्थलान्निम्नमिवोदकम् ॥ ७५ ॥

सैकडोंवार गुनी हुई सहस्रोंवार आवृत्ति कीहुई विद्या जिह्वाके अग्रभागमें उपस्थित होती है, जैसे नीचे स्थानमें स्थलसे जल ॥ ७५ ॥

शतेनगुणिताविद्यासहस्रेणचतिष्ठति ॥
शतानांचसहस्रेणप्रत्यंचमवतिष्ठति ॥ ७६ ॥

सौ आवृत्तिसे गुणित होती, और सहस्रवार आवृत्तिसे स्थित रहती है और लक्ष आवृत्तिसे पूजित रहती है, सदा उपस्थित रहती है ॥ ७६ ॥

जलमभ्यासयोगेनशिलायांकुरुतेक्षयम् ॥
कर्कशानांमृदुस्पर्शंकिमभ्यासान्नसाध्यते ॥ ७७ ॥

जैसे जलके अभ्याससे शिलाओंमें मार्ग पडजाते हैं, कठिन वस्तुओंके स्पर्शमें मृदुता होती है ऐसेही अभ्याससे क्या २ सिद्ध नहीं होता ॥ ७७ ॥

गुरुशुश्रूषयाविद्यांपुष्कलेनधनेनवा ॥
अथवाविद्ययाविद्याचतुर्थंनोपलभ्यते ॥ ७८ ॥

गुरुकी महती सेवासे वा अधिक धनसे अथवा विद्याके बदलनेसे विद्या प्राप्त होती है ॥ ७८ ॥

शुश्रूषारहिताविद्याह्यल्पमेधागुणैःसह ॥
वंध्याचयौवनीतस्यानविद्याफलिनीभवेत् ॥ ७९ ॥

जो विद्या गुरुकी शुश्रूषासे रहित है, तथा अल्पबुद्धि और अल्प गुणसे ग्रहण की हुई है यौवनवती वन्ध्याकी समान वह विद्या फलवती नहीं होती ॥ ७९ ॥

हयानामिवजात्यानामर्धमात्रार्द्धशायिनाम् ॥
नहिविद्यार्थिनांनिद्राचिरंनेत्रेषुतिष्ठति ॥ ८० ॥

जैसे जात्य संज्ञक घोडे अर्धरात्रापर्यंत शयन करते है, इसी प्रकार विद्यार्थियोंके नेत्रोंमें चिरकालतक निद्रा स्थित नहीं रहती ॥ ८० ॥

यथापिपीलिकैःपांसुर्वल्मीकंक्रियतेमहान् ॥
नतत्रबलसामर्थ्यमुद्यमस्तत्रकारणम् ॥ ८१ ॥

जैसे पिपीलिका धूरिके कणोंसे बडी वल्मीक बनालेती है उसमें बलकी बात नहीं है, केवल इसमें उद्योगही कारण है, ऐसेही उद्योगसे विद्या आती है ॥ ८१ ॥

अंजनस्यक्षयंदृष्ट्वावल्मीकस्यतुसंचयम् ॥
अवंध्यंदिवसंकुर्याद्दानाध्ययनकर्मसु ॥ ८२ ॥

सुरमेका क्षय और बमईका सञ्चय देखकर दान अध्ययनके करनेमें निरन्तर समय व्यतीत करै ॥ ८२ ॥

अन्नव्यंजनयोर्भागस्तृतीयमुदकस्यच ॥
वायोःसंचारणार्थायचतुर्थमुपकल्पयेत् ॥ ८३ ॥

उदरके चार भाग कल्पना करके दो भाग अन्न व्यञ्जनके तीसरा जलका और चौथा वायु सञ्चरणका रक्खै ॥ ८३ ॥

हकारंपंचमैर्युक्तमंतस्थैश्चापिसंयुतम् ॥
औरसंतंविजानीयात्कंठ्यमाहुरसंयुतम् ॥ ८४ ॥

हकार पांचमें अक्षर तथा अन्तस्थ अक्षरसे संयुक्त हो, तो उसको उरस्य जाने, और असंयुक्त हकारका स्थान कण्ठ है ॥ ८४ ॥

हकारोयत्रपूर्वस्थोअन्तस्थाद्योभवेत्परः ॥
पदकालेवियुज्येतसंहितायांसऔरसः ॥ ८५ ॥

जहां हकार पूर्वमें स्थित हो और अन्तस्थसे परे हो जो पदके समय पृथक् हो जाय, वह संहितामें हृदयस्थानी कहा है ॥ ८५ ॥

मेघदुंदुभिनिर्घोषोज्ञायतेपयसोह्रदात् ॥
एवंनादंप्रयोक्तव्यंसिंहस्यरुदितंयथा ॥ ८६ ॥

जैसे ह्रद (कुण्ड) से निकलते समय जलका मेघ दुन्दुभिकी समान शब्द होता है, अथवा जैसे सिंह गरजता है, इस प्रकार नाद करना चाहिये ॥ ८६ ॥

मासेभाद्रपदेमेघाःशब्दंकुर्वंतियादृशम् ॥
एवंगह्वरमासाद्यशुक्रं ३।१६ दुदुह्रेतिदर्शनम् ॥ ८७ ॥

भादों मासमें मेघ जैसा शब्द करते हैं, इसी प्रकार एकान्तमें शब्दोच्चारण करे 'शुक्रं दुदुह्रे' यह जैसे उदाहरण है ॥ ८७ ॥

शेषाणांवानरायुद्धमुत्पतंतिपतंतिच ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्याइहेहैषान्निदर्शनम् ॥ ८८ ॥

और शेष अक्षरोंको जैसे वानर युद्धमें उछलते कूदते हैं, इस प्रकारसे प्रयोग करे यथा 'इहेहैषां' ॥ ८८ ॥

यथापुत्रवतीस्नेहाच्चुंबतेनिजमौरसम् ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्यायुञ्जानेतिनिदर्शनम् ११।१ ॥ ८९ ॥

जैसे पुत्रवती स्त्री प्रेमसे अपने पुत्रका मुख चूमती है, इस प्रकारसे दो सवर्णी वर्णोंका प्रयोग करे जैसे 'युञ्जानः' ११।१ ॥ ८९ ॥

दर्दुरोदरदेशौतुप्रफुल्लेतेपुनर्यथा ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्याअपांफेनेतिनिदर्शनम् १९।७१ ॥ ९० ॥

जैसे मेंडकका पेट बारंबार फूलता है इसी प्रकार वर्णोंका उदरसे आरम्भ कर प्रयोग करे 'अपांफेनेन' यह उदाहरण है ॥ ९० ॥

यथाभाराभरक्रांतानिश्वसंतिनराभुवि ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्याअद्भ्यःसंभृतइत्यपि ३१।१७ ॥ ९१ ॥

जैसे भारवाले पुरुष बारंबार श्वास लेते हैं, इसी प्रकार कई मिले वर्णोंका प्रयोग करे यथा 'अद्भ्यः सम्भृतः' इति ॥ ९१ ॥

कुक्कुटःकामलुब्धश्चककारद्वयमुच्चरेत् ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्याःकुक्कुटोसीतिनिदर्शनम् १।१६ ॥ ९२ ॥

जैसे कामसे लुब्ध हुआ कुक्कुट दो ककारका उच्चारण करता है इसी प्रकार दो वर्णोंका प्रयोग करे 'कुक्कुटोऽसि' यह उदाहरण है ॥ ९२ ॥

वडवाचहयंदृष्ट्वायोनिंविकुरुतेयथा ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्याःसुदुंदुभेतिदर्शनम् २१।८५ ॥ ९३ ॥

जैसे घोडी घोडेको देखकर अपनी योनिको चालन करती है, इसी प्रकार वर्णोंका प्रयोग करै, 'सुदुन्दुभे' यह उदाहरण है ॥ ९३ ॥

यथाकामातुरानारीशब्दंकुर्याद्दिनेदिने ॥
तच्छब्दंकुरुतेप्राज्ञःसिꣳह्यसिनिदर्शनम्५।१२॥ ९४ ॥

जैसे कामातुरा स्त्री दिन दिन इच्छाके शब्द करती है इसी प्रकार विद्वान् सानुस्वार शब्द करै, यथा'सिꣳह्यसि' ॥ ९४ ॥

पक्षोवितत्यखेगृध्रोभ्रान्त्यासंकुच्यतिष्ठति ॥
एवंवर्णाःप्रयोक्तव्यावार्ध्रीनसोनिदर्शनम्२४। ३९॥ ९५ ॥

जिस प्रकार गृध्र आकाशमें पक्ष विस्तृत करके भ्रमण करता स्थित होता है और संकुचित होता है इसी प्रकार वर्णोंका प्रयोग संकोच विकाशयुक्त करै, यथा 'वार्ध्रीनसः' यह उदाहरण है ॥ ९५ ॥

रंगेचैवसमुत्पन्नेनोग्रसेत्पूर्वमक्षरम् ॥
स्वरंदीर्घंप्रयुंजीतपश्चान्नासिक्यमाचरेत ॥ ९६ ॥

रंगके उत्पन्न होनेसे पहले अक्षरको ग्रास न करै, दीर्घ स्वरका प्रयोग करके पीछे अनुनासिक उच्चारण करै ॥ ९६ ॥

यथासौराष्ट्रिकानारीअराँइत्यभिभाषते ॥
एवंरंगःप्रवक्तव्योङ्कारःपरिवर्जितः ॥ ९७ ॥

जैसे सौराष्ट्र देशकी स्त्री अराँ इस प्रकारका भाषण करती है, इस प्रकारसे रंगका प्रयोग करै ङ्कारको छोडकर ॥ ९७ ॥

द्विमात्रिकोमात्रिकोवानासामूलंसमाश्रितः ॥
अन्तेप्रयुंजतेरंगःपंचमैःसानुनासिकः ॥ ९८ ॥

द्विमात्रिक वा एक मात्रिक नासिकामूलमें आश्रित होनेसे अन्तमें रंगका प्रयोग होता है, और पांचवें वर्णको अनुनासिक होता है ॥ ९८ ॥

अनंतरंमकारस्ययोरंगस्तत्ररंज्यते ॥
सर्वानुनासिकंविद्यादेषावध्योपधानिका ॥ ९९ ॥

मकारके अनन्तर जो रंग अक्षर हो वह सर्वानुनासिक जाने यह वध्योपधानिका संज्ञा है ॥ ९९ ॥

यरलवशषसहरज्यंतेचोपधानिका ॥
वर्गांतरंगतेयस्तुसर्वैःसर्वानुनासिका ॥ १०० ॥

य र ल व श ष स ह यह रंग अक्षरके संग बोले जांय उसको वध्योपधानिका कहते हैं, वर्गान्तमें जो रंग है वह सबके द्वारा सर्वानुनासिक कहा जाता है ॥१००॥

नासादुत्पद्यतेरंगःकांस्येनसमनिःस्वनः ॥
मृदुश्चैवद्विमात्रःस्याद्वृष्टिमान्स्यान्निदर्शनम् ७।४० ॥ १ ॥

कांसीकी समान शब्दवाला रंग नासिकासे उत्पन्न होता है, जो मृदु हो वह द्विमात्रिक होता है 'वृष्टिमान् इवेति' यह उदाहरण है ॥ १ ॥

यथाव्याघ्रीहरेत्पुत्रान्दंष्ट्राभिर्नचपीडयेत् ॥
भीतापतनभेदाभ्यांतद्वर्णान्प्रयोजयेत् ॥ २ ॥

जैसे व्याघ्री डाढोंसे पुत्रोंको पीडा न देती हुई हरण करती है, इस प्रकार स्खलित न करता हुआ वर्णोंको उच्चारण करै ॥ २ ॥

मधुरंचनचाव्यक्तंव्यक्तंचापिनपीडितम् ॥
सनाथस्यैकदेशस्य नवर्णाःसंकरंगताः ॥ ३ ॥

वाक्य मधुर हो, पर अस्फुट न हो, स्फुट हो परन्तु दूसरे वर्णोंसे पीडित न हो सब पूरे उच्चारण किये जायं संकर न हो जायँ ॥ ३ ॥

यथाप्रमत्तनागेंद्रःपदात्पदंनिधापयेत् ॥
एवंपदंपदाद्यंतंदर्शनीयंपृथक्पृथक् ॥ ४ ॥

जैसे मत्त हाथी पदके उपरान्त पद रखता है, इस प्रकारसे पद पदान्त पृथक् २ दिखाने चाहिये ॥ ४ ॥

गीतीशीघ्रीशिरःकंपीयथालिखितपाठकः ॥
अनर्थज्ञोल्पकण्ठश्चषडेतेपाठकाधमाः ॥ ५ ॥

गीतसा गाकर पढना, शीघ्रतासे पढना, शिर कंपित करके पढना, जैसा शुद्धा-शुद्ध लिखा वैसा पढना, अर्थका न जानना, अल्पकंठ होना यह छः प्रकारके अधम पढनेवाले हैं ॥ ५ ॥

माधुर्यमक्षरव्यक्तिःपदच्छेदस्तुसुस्वरः ॥
धैर्यंलयसमर्थंचषडेतेपाठकागुणाः ॥ ६ ॥

मधुरता, अक्षरोंकी स्फुटता, पदच्छेद करना, स्वरसे पढना, धीरता लय होना यह छः पढनेवालोंके गुण हैं ॥ ६ ॥

चतुरक्षरषट्कंचनिवर्तेतपुनःपुनः ॥
आवर्ततेपदंयच्चद्विस्त्रिराम्रेडितंहितत् ॥ ७ ॥

चार छः अक्षरोंको बारंबार आवर्तित करे जो पद दो तीन बार आवृत्ति किया जाय वह आम्रेडित कहाता है ॥ ७ ॥

यथाधाम्नेधाम्नेतियजुषेयजुषेतिनिदर्शनम् १ । ३० ॥
हीयतेवर्धतेचापिपदंयत्रकृशोदरम् ॥
उपचारःसविज्ञेयउभेसुश्चंद्रेतिनिदर्शनम् ॥ ८ ॥

यथा धाम्ने २ । यजुषे यजुषे यह उदाहरण हैं, जिस प्रकार उदर कृश होकर बढता, सुकडता है ऐसा जो पद उच्चारण हो वह उपचार कहाता है, 'उभेसुश्चन्द्र' यह उदाहरण है ॥ ८ ॥

अथसप्तविधाःसंयोगपिण्डाः ।

अब सात प्रकारके संयोगपिण्ड कहते हैं ।

अयस्पिंडोदारुपिंडऊर्णापिंडोज्वालापिंडोमृत्पिडोवायुपिंडोवज्रपिंडश्चेति ॥ यमान्विद्यादयःपिंडान्सांतस्थंदारुपिंडवत् ॥ अंतस्थंयमवर्जंतुऊर्णापिंडंविनिर्दिशेत् ॥ १ ॥

अयस्पिण्ड, दारुपिण्ड, ऊर्णापिण्ड, मृत्पिण्ड, ज्वालापिण्ड, वायुपिण्ड और वज्रपिण्ड यह सात पिण्ड हैं. यमोंको अयःपिण्ड, सान्तस्थोंको दारुपिण्ड, यमरहित अन्तस्थोंको ऊर्णापिण्ड जानै ॥ १ ॥

अंतस्थंयमसंयोगेविशेषोनोपलभ्यते ॥
अशरीरंयमंविद्यादंतस्थंपिंडनायकम् ॥ २ ॥

अन्तस्थ और यमके संयोगोंमें विशेष नहीं जाना जाता, यमको अशरीर और अन्तस्थको पिण्डनायक जाने ॥ २ ॥

ज्वालापिंडान्सनासिक्यान्सानुस्वारांस्तुमृन्मयान् ॥
सोपध्मावायुपिंडाश्चजिह्वामूलेतुवज्रिणः ॥ ३ ॥

नासिक्य वर्णोंको ज्वालापिण्ड, स्वरोंको मृन्मयपिण्ड जाने, उपध्मानियोंको वायुपिण्ड और जिह्वामूलियोंको वज्रपिण्ड जाने ॥ ३ ॥

अयःपिंडोनामयथा । अग्निः २३ । १७ पक्तीः ।तनच्मि १ । ४ दारुपिंडोनामयथा।अश्वं÷२४ । १ सूर्यं÷२३ । १० विश्वजनस्यंइतिभवति ८।२८ । तत्रऊर्णापिंडोनामयथा ॥ अस्मिंन् ३।१ यस्मिंन् २० । ७८ अमुष्मिन् १७ । २ इति भवति॥ तत्रज्वालापिंडोनामयथा । ब्रह्म १३।२ वह्नितमम् १।८गृह्णामीतिभवति ।तत्रमृत्पिंडोनामयथा॥सꣳ१९।२९ स्थाम्।सꣳस्कर्त्तारः।सꣳस्वर्तइति । तत्रवायुपिंडोनामयथा। देवसवितः९।१युञ्जानःप्रथमम्११।१प्रादिवःककुत्सुत्तमितिभवति॥तत्रवज्रपिंडोनामयथा । इष्कृतिꣳ १२ । ८३ निष्कृतिꣳ ऋक्सामयोः ४।९इतिभवति ॥ प्रथमेनषकारेणसकारेणैव संयुतम्॥एतत्स्वरंसमासाद्यअग्निष्वात्तानिदर्शनम् ।१९।६१॥४

अयःपिण्ड जैसे अग्नीः इत्यादि, दारुपिण्ड जैसे अश्वः इत्यादि, ऊर्णापिण्ड जैसे यस्मिन् इत्यादि, ज्वालापिण्ड जैसे ब्रह्म इत्यादि, मृत्पिण्ड जैसे सꣳस्थाम् इत्यादि, वायु पिण्ड यथा देवसवितः इत्यादि, वज्रपिण्ड जैसे इष्कृतिः इत्यादि. यदि प्रथम षकारका सकारसे संयोग हो तो सको षकार होकर इस स्वरसे 'अग्निष्वात्ता' यह प्रयोग होता है ॥ ४ ॥

प्रथमेनठकारेणथकारेणैवसंयुतम् ॥
एतत्स्वरंसमासाद्यअधिष्ठाननिदर्शनम् १७ । १८ ॥ ५ ॥

प्रथम ठकार और थकारके संयोगसे 'अधिष्ठान' उदाहरण होता है, कहीं षकार ठकारका संयोग ऐसा लिखा है ॥ ५ ॥

प्रथमेनणकारेणनकारेणैवसंयुतम् ॥
एतत्स्वरंसमासाद्यत्रिणवत्रयस्त्रिꣳशावितिनिदर्शनम्१०।१४॥६॥

पहले णकारका नकारसेही संयोग होय तो इस स्वरसे त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ, यह स्वर होता है ॥ ६ ॥

प्रथमेनैवरंगेणनकारेणैवसंयुतम् ॥
एतद्रञ्जितमासाद्यवृष्टिमानितिनिदर्शनम् ७।४०॥७॥

पहले रंगका नकारसे संयोग हो तो इस रंगको प्राप्त होकर 'वृष्टिमाँ २॥' उदाहरण होता है ७।४० ॥ ७ ॥

एतेककारादयोमकारपर्यवसानाःकृष्णाव्याख्याताः। शनैश्चरदैवत्याः।चत्वार्यंतस्थायरलवाःकपिलवर्णाःअग्निदैवत्याः।चत्वार्यूष्माणःशषसहा अरुणवर्णाःआदित्यदैवत्याः॥त्रयस्त्रिंशद्व्यंजनानिस्पर्शाअंतस्थाऊष्माणश्चेति। चतुर्विधंकरणम्॥स्पृष्टमस्पृष्टंसंवृतंविवृतंचेति ॥ संवृतोघोषाविवृताघोषाः । विंशतिर्घोषास्तेगजडदबाघझढधभाङञणनमाःयरलवाश्चेति। त्रयोदश अघोषास्तेकचटतपाःखछठथफाःशषसाश्चेति।षड्विधमास्यप्रयत्नम् ॥ संवृतंविवृतमस्पृष्टंस्पृष्टमीषत्स्पृष्टंचार्द्धस्पृष्टंचेति। तत्रा अकारःसंवृतोज्ञेयइतरेविवृताःस्वराः ॥ सर्वेचतेस्युरस्पृष्टाः स्पर्शाःस्पृष्टाभवन्तिहि ॥ ८ ॥

यह ककारसे लेकर मकारपर्यंत २५ स्पर्श वर्ण कृष्णवर्ण शनैश्चर देवतावाले हैं, चार अन्तस्थ यरलव कपिलवर्ण अग्नि देवतावाले है चार ऊष्माण शषसह अरुणवर्ण आदित्य देवतावाले है, इस प्रकार स्पर्श ऊष्म अन्तस्थ यह ३३ व्यञ्जन हैं. चार प्रकारका करण है स्पृष्ट अस्पृष्ट संवृत विवृत्त, संवृत घोष और विवृत अघोष हैं बीस वर्ण घोष प्रयत्नवाले है वे–ग ज ड द ब, घ झ ढ ध भ, ङ ञ ण न म, य र ल व, तेरह अघोष है, क च ट त प, ख छ ठ थ फ, श ष स, आस्यप्रयत्न छः प्रकारका है संवृत, विवृत, अस्पृष्ट, स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट और अर्धस्पृष्ट. अकारका संवृत प्रयत्न और सब स्वर विवृत प्रयत्नवाले है, और यह सबही अस्पृष्ट हैं, स्पर्श वर्ण स्पृष्ट प्रयत्नवाले है ॥ ८ ॥

ईषत्स्पृष्टास्तथान्तस्थाऊष्माणोर्द्धस्पृशःस्वराः ॥
सामान्यंभजतेवर्णःसंस्थानकरणस्यहि ॥ ९ ॥

अन्तस्थ ईषत्स्पृष्ट और ऊष्माण अर्धस्पृष्ट हैं, यह वर्ण सामान्यतासे अपने करण स्थानको प्राप्त होते है ॥ ९ ॥

ऋलोर्मध्येभवत्यर्धमात्रारेफलकारयोः ॥
तस्मादस्पृष्टतानस्यादृल्कारनिरूपणे ॥ १० ॥

ऋ लृके मध्यमें रेफ लकारकी आधी मात्रा है, इससे ऋ लृके निरूपणमें अस्पृष्टता नहीं होती ॥ १० ॥

वर्गाणांप्रथमाद्वितीयाः शषसहाश्चाघोषाघोषास्त्वन्येदशधाव-र्णाभवन्ति । अष्टौवर्णस्थानानि भवंति औरस्यकंठ्यमूर्धन्य-तालुदंत्यौष्ठ्यदन्तमूलजिह्वामूलयमानुनासिक्याश्चेति ॥ द्वौ औरस्थाहह्वाइतिअआआ३अवर्णहकारविसर्जनीया इति। त्रयः कंठ्याः। ऋपट्मूर्द्धन्याः । टठडढणष ३ इति । दशतालव्याः। चछजझञयशइई ३ इति । अष्टौदंत्याः । तथदधनलऌसाः अष्टावोष्ठ्याः। पफबभमाउऊऊ३ वउपध्मानेत्यादयः। एको-दंतमूलीयोरेफः । जिह्वामूलीयाःपंच । कुंखुंगुंघुंङुंइति । क्म-ख्मग्मघ्मकुंखुंगुंघुंइतियमाश्चत्वारः ॥ रुक्मतिप्रथमोज्ञेयः सक्थ्या इत्यपरो भवेत् २३ । २९ तृतीयः विघ्नइत्याहुः १२ । १९ उपध्मेतिचतुर्थकः ॥ ११ ॥

वर्गोंका पहला दूसरा अक्षर श ष स ह यह अघोष हैं, इनसे शेष घोष हैं वर्ण दशस्थान भेदवाले हैं. हृद्य, कण्ठ, मूर्धा, तालु. दन्त, ओष्ठ, दन्तमूली, जिह्वा-मूली, यम अनुनासिक. दो उरस्थानी हैं. हह ह्व, तीन कंठस्थानी, अवर्ग. ह और विसर्ग, छः मूर्धन्य हैं, ट ठ ड ढ ण ष, दश तालुस्थानी है च छ ज झ ञ य श इ ई ई ३. आठ दन्तस्थानी हैं त थ द ध न ल ल स, आठ ओष्ठस्थानी हैं प फ ब भ म व उ उपध्मानीय एक रेफ दन्तमूलीय ह पाच जिह्वामूली हैं ऋ कवर्ग कुं खुं गुं घुं ङुं इति. चार यम हैं क्म, ख्म, ग्म, घ्म, वा कुं खुं गुं घुं यह, रुक्म यह प्रथमका, सक्थ्य २३।२९ दूसरा, विघ्न १२।१९ तीसरा उपध्माते वा अन्मट्-ध्मोते १६।६४ चौथा ॥ ११ ॥

प्रथमौचौष्ठनासिक्यौ द्वितीयः कंठ्यदंत्यश्च नासामूलानुना-सिनः ॥ तृतीयःकंठ्यजिह्वश्चनासाग्रयामेवनिर्दिशेत् ॥ चतु-र्थोहृदिनासिक्यः कंठेचाभिहितायमः ॥ १२ ॥

---

१ जन्मेत्यमिति चतुर्थकामति वा पाठः ।

पहला ओष्ठ और नासिकास्थानी, दूसरा कण्ठ और दन्तस्थानी, नासामूलमें स्थित तीसरा कण्ठ और जिह्वाके अग्रभागमें नासिकामें निर्देश किया है, चौथा हृदय और नासिकास्थानी और कण्ठस्थानी यम कहा है ॥ १२ ॥

आपंचमैश्चैकपादैः संयुक्तं पंचमाक्षरम् ॥
उत्पद्यते यमस्तत्र सोऽङ्गं पूर्वाक्षरस्य हि ॥ १३ ॥

पञ्चम वर्णतक एक पदमें वा पांचवें अक्षरके आगे संयोगमें यम प्रगट होता है, वह पूर्व अक्षरका अङ्ग है ॥ १३ ॥

पंचमाः शषसैर्युक्ता अन्तस्थैर्वापि संयुताः ॥
यमास्तत्र निवर्तन्ते श्मशानादिनिदर्शनाः ॥ १४ ॥

पांचवाँ अक्षर स श ष से युक्त हो वा अन्तस्थ वर्णसे संयुक्त हो तो वहाँ यम निवृत्त होजाते हैं, जैसे श्मशानसे बन्धुजन ॥ १४ ॥

ऋवर्णेति परे सादावनुस्वारो द्विमात्रकः ॥
संयोगे परभूते षु ह्रस्व एवोच्यते बुधैः ॥ १५ ॥

ऋवर्णसे परे सकारकी आदिमें अनुस्वार द्विमात्रिक होता है. और संयोगमें परभूत होनेसे पंडितोंद्वारा ह्रस्व कहाजाता है ॥ १५ ॥

आद्या मात्रा तु कण्ठ्या स्यादेकारौकारयोर्भवेत् ॥
तालव्यस्य तथोष्ठ्यस्य द्वितीया च यथाक्रमम् ॥ १६ ॥

एकार ओकारकी पहली मात्रा कण्ठस्थानी जानो, दूसरी तालु ओठस्थानी यथाक्रमसे जानो ॥ १६ ॥

यथा हि रत्नवर्णाभा जपायाः कुसुमे यथा ॥
तादृग्रञ्जेद्बुधोऽन्तेन ह्यनुस्वारमाचरेत् ॥ १७ ॥

जिसप्रकार रत्नोंकी कान्ति वा जपाके फूलोंकी कान्ति होती है, इसप्रकार वर्णोंको रञ्जन कर अन्तभागमें अनुनासिक उच्चारण करे ॥ १७ ॥

लाक्षारक्तं यथा तोयं नकारान्तं पदं तथा ॥
सर्वरङ्गं विजानीयाच्छ्रूनितिनिदर्शनम् ॥ १८ ॥

जैसे लाखके रंगका जल होता है इसी प्रकार नकारान्त पद रञ्जित हैं, इन सबका रंग जानै यथा 'शत्रूनित' ७।३७ यह उदाहरण है ॥ १८ ॥

हुतेन धारयेत्स्वारं ज्ञान्तशौनकादयः ॥

आदिरङ्गंविजानीयान्नचासीदिवविन्दति ॥ १९ ॥

नकारके लुप्त होनेमें जो शौनकादि स्वरको रञ्जित करते हैं, उसको आदि रंग जानै उसे स्थितिकी समान नहीं जाना जाता ॥ १९ ॥

प्रथमस्थषकारेणतकारेणचसंयुतम् ॥
एतदक्षरमासाद्यत्रिष्टुभेतिनिदर्शनम् ॥ २० ॥

पहले षकार तकारसे संयुक्त यह स्वर 'त्रिष्टुभेति' २८ । ४० इस प्रकारका होता है ॥ २० ॥

प्रथमस्थषकारेणथकारेणचसंयुतम् ॥
एतत्स्वरंसमासाद्याधिष्ठानमितिनिदर्शनम् ॥ २१ ॥

पहले षकार थकारसे संयुक्त होनेसे 'अधिष्ठान' यह उदाहरण १७ । १८ होता है ॥ २१ ॥

चतुर्थंचतृतीयेन द्वितीयंप्रथमेनच ॥
आद्यंमध्यन्तथान्यञ्चस्वरूपेणाभिपीडयेत् ॥ २२ ॥

चौथे वर्णको तीसरेसे. दूसरेको पहलेसे इस प्रकार आदि मध्य और अन्त्य पञ्चम अक्षरको स्वरूपसे पीडित करै ॥ २२ ॥

अवग्रहपदच्छेद उदात्तंदृश्यतेयदि ॥
स्वरन्तंस्वरितंप्राहुःसन्धौतुस्वार्य्यतेपरम् ॥ २३ ॥

अवग्रह और पदच्छेदमें यदि उदात्त दिखाई दे उस स्वरको स्वरित कहेंगे और सन्धिमें वह परवर्णसे स्वार संज्ञावाला होता है ॥ २३ ॥

स्वरसन्धिविधानेननीचोच्चंतुविधीयते ॥
व्यञ्जनाद्वास्वराद्वापितत्सन्धौस्वरउच्यते ॥ २४ ॥

स्वरसन्धिके विधानसे अनुदात्त उदात्त होजाता है व्यञ्जनसे वा स्वरसे उस सन्धिमें स्वर कहाजाता है ॥ २४ ॥

उदात्तान्निहितःस्वारःस्वरितात्प्रचयोभवेत् ॥
उदात्तात्स्वरितात्पूर्वोनान्यआपद्यतेस्वरः ॥ २५ ॥

उदात्तसे निहित हुआ स्वार, स्वरितसे प्रचय होता है, उदात्त और स्वरितसे पूर्व अन्य स्वर नहीं होता ॥ २५ ॥

पदकालेयःस्वरितःसंहितायांतथैवच ॥
स्वरिताच्चेद्भवेत्पश्चात्सएवनिचितःस्वरः ॥ २६ ॥

जो पद कालमें स्वरित है, संहितामें भी स्वरित है, स्वरितसे पीछे होनेवालाही निचित स्वर है ॥ २६ ॥

प्रथमाश्चतृतीयाःस्युःपरेघोषवतिस्थिते ॥
पञ्चमाःपंचमेपाठेद्वितीयाःशषसेषुच ॥ २७ ॥

आगे घोषवान् वर्णोंको स्थित होनेमें पहलोंको तीसरे होजाते है, पाठमे पांचवें वर्णको पांचवां और शषस परे होनेसे दूसरे वर्ण होते है ॥ २७ ॥

उदात्तान्निहितःस्वार्य्यःस्वारोदात्तौनतत्परौ ॥
स्वरितोयस्तथाभूतोज्ञेयःसप्रचयःसदा ॥ २८ ॥

उदात्तसे निहित स्वार होता है, उससे परे स्वारोदात्त नहीं होते, जो इस प्रकारका स्वरित है उसको प्रचय जान्ना चाहिये ॥ २८ ॥

उच्चानुदात्तयोर्योगेस्वरितःस्वारउच्यते ॥
ऐक्यंतत्प्रचयःप्रोक्तःसन्धिरेषांमिथोद्भुतः ॥ २९ ॥

उदात्त अनुदात्तके योगमें स्वरितही स्वार कहाता है, इनकी एकता होनेसे प्रचय होता है, इनकी सन्धि संयोग अद्भुत है ॥ २९ ॥

बह्वीर्जिह्वायथागृह्णात्यह्नोवह्निस्तथैवच ॥
ब्रह्मरूपंविजानीयाद्गुरुमेवात्मनःसदा ॥ ३० ॥

बह्वीः जिह्वा जैसे ग्रहण किया जाता है इसी प्रकार अह्नः वह्निः उच्चरित होता है, शास्त्र पढकर अपने गुरुको सदा ब्रह्मरूप जाने ॥ ३० ॥

यत्किञ्चिद्वाङ्मयंलोकेसर्वमत्रप्रतिष्ठितम् ॥
करोतितत्प्रदानंयत्तस्माद्ब्रह्ममयोगुरुः ॥ ३१ ॥

जो कुछ लोकमें वाणी (शास्त्र) है. वह सब इसमें प्रतिष्ठित है उसके दान करनेसेही गुरु ब्रह्ममय कहाता है ॥ ३१ ॥

विधिनाप्यविधिनाज्ञानमविधानान्नलभ्यते ॥
अविधानपरोनित्यंप्रायश्चित्तीभवेन्नरः ॥ ३२ ॥

ज्ञान विधिसे ही प्राप्त होता है, अविधिसे नहीं, असावधानी करनेसे मनुष्य प्रायश्चित्ती होता है ॥ ३२ ॥

युक्तियुक्तंवचोग्राह्यंनग्राह्यंगुरुगौरवात् ॥
सर्वशास्त्ररहस्यंतद्याज्ञवल्क्येनभाषितम् ॥ ३३ ॥
इति श्रीयोगिप्रवरयाज्ञवल्क्यप्रोक्ताशिक्षासमाप्ता ॥

युक्तियुक्त वचनकोही ग्रहण करना चाहिये, केवल गुरुके गौरवसेही ग्रहण करना यह नहीं, यह सब शास्त्रका रहस्य याज्ञवल्क्यने वर्णन किया है ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहर्षियोगिवरयाज्ञवल्क्यप्रोक्ता, पण्डितज्वालाप्रसादमिश्रकृत-
भाषाटीकासहिता शिक्षा समाप्ता.

शुभमस्तु

ज्येष्ठ० शु० ९ सं० १९५१

अथानुवाकसूत्राध्यायः ।

श्रीगणेशायनमः ॥ॐअथानुवाकान्वक्ष्यामिब्रह्मणानिर्मितान्पुरा॥ शिष्याणामुपदेशाययज्ञसंस्कारएवच ॥ विप्राणांयज्ञकालेषुजपहोमार्चनादिषु ॥ १ ॥ इषेत्वैकावसोःपवित्रंतिस्रोग्नेव्रतपतेसप्तपवित्रेस्थोद्वेशर्मासितिस्रोधृष्टिरसिशर्मासिद्विकौदेवस्यत्वातिस्रोदेवस्यत्वापंचप्रत्युष्टंरक्षस्तिस्रोदशैकत्रिंशत् ॥ १० ॥ ३१ ॥१॥ कृष्णोसिषडग्नेवाजजित्तिस्रोमयीदमग्नीषोमयोः पंचकावग्नेदब्धायोचतस्रःसंवर्चसापंचाग्नयेकव्यवाहनायषट्सप्तचतुस्त्रिंशत् ॥ ७ ॥ ३४ ॥ २ ॥ समिधाग्निंभूर्भुवःस्वश्चतुष्कावग्निर्ज्योतिर्द्वेउपप्रयंतःषड्विंशतिर्भूर्भुवःस्वश्चतस्रोगृहामातिस्रःप्रघासिनःपंचपूर्णादर्विद्वेअक्षन्नमीमदन्तषडेषतेसप्तदशत्रिषष्टिः॥१०॥६३॥३॥ एदंद्वेमहीनांपयश्चतस्रआकूत्याऋक्सामयोर्द्विकौव्रतंकृणुतषडेषातेचतस्रोवस्व्यसितिस्रएषतेद्वेशुक्रंत्वाचतस्रोदित्यास्त्वगष्टौदशसप्तत्रिंशत्॥ १० ॥३७॥४॥अग्नेस्तनूरापतयेचतुष्कौतप्तायनीद्वेइन्द्रघोषस्तिस्रोयुञ्जतेष्टौदेवस्यत्वाचतस्रोदेवस्यत्वापंचविभूरसिचतस्रोज्योतिरसिषड्डुरुविष्णोतिस्रोदशत्रिचत्वारिंशत्॥ १० ॥४३॥५॥ देवस्यत्वाषड्डुग्रावीरसिपंचमाहिःषट्संते (तिसंते) तिस्रःसमुद्रंगच्छहविष्मतीद्विकौहृदेत्वापंचदेवस्यत्वाष्टावष्टौसप्तत्रिंशत्॥८॥३७॥६॥ वाचस्पतयऽउपयामगृहीतोसि त्रिकावावायोयंवाद्विकौयावामेकातंप्रत्नथाचतस्रोयंवेनोयेदेवासस्त्रिकाविन्द्रायमूर्द्धानंद्विकौयस्तएकाप्राणायतिस्रोमघवइन्द्राग्नीआगतमाघौमासश्चर्षणीधृतोविश्वेदेवासः आगतेंद्रमरुत्वोमरुत्वंतंवृष भंमरुतां त्वौजसेसजोषाइंद्रमरुत्वाँ२॥इन्द्रमहाँ२॥इन्द्रोमहाँ२ ॥इंद्रमेकैकोदुत्यमष्टौपंचविंशतिरष्टाचत्वारिंशत ॥२९ ॥४८ ॥ ७ ॥ उपयामगृहीतोसि ॥ आदित्येभ्यःपंच

वाममद्यद्वेसुशर्मास्येकाबृहस्पतिसुतस्यद्वेहरिरसिचतस्रः समिन्द्र
णोष्टौमाहिरेजतुदशमास्यःपंचकावातिष्ठयुक्ष्वाहीन्द्रमिदेकैकायस्मा
न्नद्वेऽग्नेपवस्वोत्तिष्ठन्नद्वश्रुत्यमेकैकाजिघ्रद्वेविनइन्द्रवाचस्पतिंवि
श्वकर्मन्नेकैकाग्नयेत्वाचतस्रइहरतिस्तिस्रःपरमेष्ठीदशत्रयोविंशति
त्रिषष्टिः ॥ २३ ॥ ६३ ॥ ८ ॥ देवसवितश्चतस्रइंद्रस्यवज्रः
पंचदेवस्याहंदशापयेतिस्रोवाजस्येममष्टावग्निरेकाशरेणैषतेचतुष्कौ
सविताद्वेअष्टौचत्वारिंशत् ॥ ८ ॥ ४० ॥ ९ ॥ अपोदेवाश्च
तस्रःसोमस्यत्विषिःपंचावेष्टाः सप्तसोमस्यत्वाचतस्रइन्द्रस्यवज्रः
पंचस्योनासिचतस्रः सवित्रेकाश्विभ्यांचतस्रोष्टौचतुस्त्रिंशत् ॥
८ ॥ ३४ ॥ १० ॥ युञ्जानएकादशप्रतूर्त्तंषोडशदेवस्यत्वाद
शापोदेवीद्वादशापोह्येकादशादितिष्ठापंचाकूतिमष्टादशसप्तत्र्यशी-
तिः ॥ ७ ॥ ॥ ८३ ॥ ११ ॥ दृशानःसप्तदशदिवस्परिद्वा
दशसमिधाग्निंपंचदशापेतसप्तदशाऽसुन्वन्तंत्रयोदशयाओषधीः स
प्तविंशतिर्मामाषोडशसप्तसप्तदशशतम् ॥ ७ ॥ ११७ ॥१२॥
मयिगृह्णातिपंचदशध्रुवासिमधुवाताएकादशकौ सम्यक्स्रवंतिनवे
मंमाषडपांत्वैकाऽयंपुरःपंचसप्ताष्टापंचाशत् ॥ ७ ॥ ५८ ॥ १३ ॥
ध्रुवक्षितिः षट्सजूर्ऋतुभिर्मूर्द्धावयोद्विकाविन्द्राग्नीआयुर्मेषट्का
वाशुस्त्रिवृदेकाऽग्नेर्भागोस्येकयाचतुष्कावष्टावेकत्रिंशत् ॥ ८ ॥
॥ ३१ ॥ १४ ॥ अग्नेजातान्पंचरश्मिनासत्यायचतस्रोराड्यस्य
यंपुरःपंचकावग्निर्मूर्द्धैकोनत्रिंशत् येनऋषयोष्टौतपश्चनवसप्तपं-
चषष्टिः ॥ ७ ॥ ६५ ॥ १५ ॥ नमस्तेषोडशहिरण्यबाहवऽ
उष्णीषिणेतक्षभ्योज्येष्ठायपंचकाः स्तुत्यायचतस्रःशंभवायैकापार्या-
यपंचद्वापेअंधसोविं॰शतिर्नवषट्षष्टिः ॥ ९ ॥ ६६ ॥ १६ ॥
अश्मन्नूर्जंदशनमस्तेपंचाग्निस्तिग्मेननवचक्षुषःपिताष्टावाशुः शि
शानःसप्तदशोदेनंक्रमध्वमग्निनापंचदशकौशुक्रज्योतिःसप्तेमंस्त

नंत्रयोदशनवैकोनशतम् ॥ १ ॥९९॥१७॥वाजःसप्तसूक्तंचचतुष्का अश्माग्निस्त्रिकावर्ँशुः पंचैकाचतस्रोवाजायद्वेवाजस्यत्वष्टावृता षाट्त्रयोदशाग्निंयुनज्मिसप्तयदाकूताद्वाभ्रंहत्यायदशकौत्रयोदशस प्तसप्ततिः ॥ १३ ॥ ७७ ॥ १८ ॥ स्वाद्वींत्वैकादशदेवायज्ञंविंशतिःसुरावंतंर्ँसप्तदशोदीरतांत्रयोदशाच्याजानुर्दशसोमोराजाष्टौ सीसेनतंत्रंर्ँ षोडशसप्तपंचनवतिः ॥७॥९५ ॥ १९ ॥ क्षत्रस्ययो निस्त्रयोदशयद्देवादशाभ्यादधाम्यष्टौ याभूतानांचतस्रःसमिद्धइंद्र एकादशायात्वष्टौसमिद्धोअग्निर्द्वादशाश्विनाहविस्त्रयोदशाश्विना तेजसैकादशनवनवतिः ॥९।९०॥ २०॥ इममग्नेसमिद्धोअग्निरेकाद शकौवसन्तेनऋतुनाषड्ढोतायक्षत्समिधाग्निंद्वादशाऽश्विनौच्छाग स्यसप्तदेवंबर्हिश्चतुर्दश षडेकषष्टिः ॥ ६ ॥ ६१ ॥ २१ ॥ तेजो सिपंचाग्नयएकाहिंकारायद्वेतत्सवितुर्दशविभूर्मात्रैकाकायद्वेआब्रह्मं स्त्रयोदशशेषादेकैकोनविंशतिश्चतुस्त्रिंशत् ॥ १९॥३४ ॥२२॥ हिरण्यगर्भोयः प्राणतोद्विकौयुंजंत्यष्टौवायुष्ट्वापंचप्राणायतिस्रउत्स क्थाद्वादशगायत्रीकस्त्वाषट्कौकःस्विदष्टौकास्विदशसुभूःस्वयम्भू स्तिस्रएकादशपंचषष्टिः॥११॥६५ ॥२३ ॥ अश्वस्तूपरोधूम्रान्वसं ताय समुद्राय शिशुमारान्मयुःप्राजापत्योदशकाश्चत्वारश्चत्वारिंशत्॥४॥४०॥२४॥शादंदद्भिर्नवैकैकाहिरण्यगर्भश्चतस्रआनोदश- मानोमित्रोयदश्वस्याष्टकौ यत्तेषडिमानुकंद्वेपंचदशसप्तचत्वारिंशत्॥१६॥४७॥२५॥अग्निश्चपंचदशोवातएकादशद्वौषड्विंशतिः ॥२॥२६॥२६॥समास्त्वादशोर्ध्वाअस्यपीवोअन्ना द्वादशकावभि- त्वैकादशचत्वारःपंचचत्वारिंशत्॥४॥४५॥२७॥होतायक्षदेका- दश देवंबर्हिर्द्वादशपुनरप्येवंचत्वारःषट्चत्वारिंशत् ॥ ४ ॥४६॥ ॥२८॥समिद्धोअंजन्नेकादशयदक्रंदस्त्रयोदशसमिद्धोअद्यद्वादशकेतुं कृण्वंश्चतुर्विंशतिश्चत्वारःषष्टिः ॥ ४ ॥६०॥ २९ ॥ देवसवितः

षट्तपसेकोलर्ठ्ङ्षोडशद्वौद्वाविर्ठ्ङ्शतिः ॥२॥ २२॥३०॥ सहस्रशी-र्षाषोडशाद्भ्यःसंभृतःषट्द्वौद्वाविर्ठ्ङ्शतिः ॥ २ ॥ २२ ॥ ३१ ॥ तदेवसप्तवेनस्तन्नवद्वौषोडश ॥ २ ॥ १६ ॥ ३२ ॥ अस्याजरासः सप्तदशापश्चिद्वादश विभ्राट्चतुर्दशप्रवावृजएकादशप्रवायुप्रवीरया-पंचदशकावानस्त्रयोदशसप्तसप्तनवतिः ॥ ७॥९७॥ ३३ ॥ यज्जा-ग्रतःपंचनद्यःसोमोधेनुमाकृष्णेनपूषंतवदशकानतदष्टौषडष्टापंचा-शत् ॥ ६ ॥ ५८ ॥ ३४ ॥ अपेतोदशाद्यंद्वादशद्वौद्वाविर्ठ्ङ्शतिः ॥ २ ॥ २२॥ ३५ ॥ ऋचंवाचर्ठ्ङ्षोडशद्यौःशांतिरष्टौद्वौचतुर्विर्ठ्ङ्-शतिः ॥ २ ॥ २४॥ ३६ ॥ देवस्यत्वादशयमायत्वैकादशद्वावेक-विर्ठ्ङ्शतिः॥२॥२१ ॥३७॥देवस्यत्वाष्टौयमायत्वाक्षत्रस्यत्वादश-कौत्रयोष्टाविर्ठ्ङ्शतिः ॥३॥२८॥३८॥ स्वाहाप्राणेभ्यःषडुग्रश्चसप्त-द्वौत्रयोदश॥२॥१३॥३९॥ईशावास्यमष्टावंधंतमोनवद्वौसप्तदश ॥ ॥ २ ॥१७॥४०॥दशाध्यायेसमाख्याताअनुवाकास्तुसंख्यया ॥ शतंदशानुवाकाश्चनवान्येचमनीषिभिः ॥ १ ॥ सप्तषष्टिश्चितौज्ञे-यासौत्रेद्वाविंशतिस्तथा ॥ अश्वएकोनपंचाशत्पंचत्रिंशत्खिले-स्मृताः ॥२॥ शुक्रियेषुतुविज्ञेयाएकादशमनीषिभिः ॥ एकीकृत्य-समाख्यातंत्रिशतंत्र्यधिकंमतम् ॥ ३ ॥

(आदिके दशअध्यायोंमें ११९ अग्निचयनके आठकाध्यायोंमें २७ सौत्रके ३ अ० में २२ अश्वमेधके चार अ० में ४९ खिलके दश अ० में ३५ शुक्रके पांच अ० ११ सब मिलाकर ३०३ अनुवाकहैं ।)

इत्यनुवाकसूत्राध्यायः समाप्तः ।

अथ सर्वानुक्रमणी ।

श्रीगणेशायनमः॥ मंडलंदक्षिणमक्षिस्थंहृदयंचाधिष्ठितंयेनशुक्ला-नियजूंषिभगवान्याज्ञवल्क्योयतः प्राप्तंविवस्वंतंत्रयीमयम-

र्चिष्मंतमभिध्यायमाध्यंदिनीयेवाजसनेयकेयजुर्वेदाम्नायेसर्वेसखि-
लेसशुक्रियऋषिदैवतच्छंदा ७ स्यनुक्रमिष्यामोयजुषामनियताक्ष-
रत्वादेकेषांछन्दोनविद्यतेद्रष्टारऋषयःस्मर्तारः परमेष्ठ्यादयोदेव-
तामन्त्रांतर्भूतास्यादिकाहविर्भाजःस्तुतिभाजोवानःशाखोखाश-
म्योपवेशकपालेध्मोलूखलादयश्चप्रतिमाभूताश्छंदा ७ सिगाय-
त्र्यादीन्येतान्यविदित्वयोधीतेनुब्रूतेजपतिजुहोतियजतेयाजयते त-
स्यब्रह्मनिर्वीर्यंयातयामंभवत्यथांतराश्वगर्त्तंवापद्यतेस्थाणुंवर्छतिप्र
मीयतेवापापीयान्भवत्यथविज्ञायैतानियोधीतेतस्यवीर्यवदथ योर्थ
वित्तस्यवीर्यवत्तरंभवतिजपित्वाहुत्वेष्ट्वातत्फलेनयुज्यते ॥ १ ॥ इषे
त्वादिखंब्रह्मांतंविवस्वानपश्यत्ततःप्रतिकर्मविभागेनब्राह्मणानुसा-
रेणऋषयोवेदितव्याःपरमेष्ठीप्राजापत्योदर्शपूर्णमासमंत्राणामृषि
र्देवावाप्राजापत्याइषेत्वाशाखानुष्टुब्विनियोगःकल्पकारोक्तएवमू-
र्जेत्वावायवोवायव्यंदेवोवऐंद्रंयजमानस्यशाखावसोर्वायव्यंद्यौर्मा-
तरिश्वनउखावसोर्वायव्यंदेवस्त्वापयःकामधुक्षःप्रश्नःसाविश्वायुस्त्री-
णिगव्यानींद्रस्यैन्द्रंविष्णोपयः ॥ २ ॥ योअग्न इदमाग्नेये ॥ क-
स्त्वाप्राजापत्यंकर्मणेस्रुक्शूर्पप्रत्युष्टंद्वेराक्षसे उरुब्रह्मरक्षोघ्न ठं सर्वत्रधू
रसिधूर्देवानांविष्णुस्त्वानऽउरुहविष्याऽअपहत ठं रक्षोयच्छंता ठं ह
विष्यादेवस्यत्वासावित्र ठं सर्वत्राग्नयेलिंगोक्तेभूतायत्वाहविःस्वःसू
र्योह ठं हंतागृहाःपृथिव्यास्त्वाहव्यंपवित्रेलिंगोक्त ठं सवितुर्देवीः प्रो-
क्षिताआपान्यग्नयेलिंगोक्तेदैव्यायपात्राणि ॥ ३ ॥शर्मास्यदित्याः
कृष्णाजिनमवधूत ठं राक्षसमद्रिर्ग्रावोलूखलेअग्नेर्हेविर्बृहत्सइमम्मौ-
सलेहविष्कृदधिदैवतंवागधियज्ञंपत्नीकुक्कुटोवागवर्षवृद्ध ठं शूर्पप्रति-
त्वाहविःपरापूतमपहत ठं राक्षसेवायुर्वोदेवोवस्तंडुलाधृष्टिरूपवेषो-
पाग्नआदेवयजमाग्नेयेध्रुवमसिषण्णांकपालान्यग्नेब्रह्माग्नेयंधिषणा-
सिदार्षदंदिवःशम्याधिषणौपलंधान्यमसिषण्णां ७ हविर्महीनामा-

ज्यम् ॥ ४ ॥ संव्वपामिहविःसमापआपंजनयत्त्यैत्वेदर्ठंहविरिषे
त्त्वाज्यंधर्मोसिपर्णापुरोडाशस्त्रितायत्त्रयाणांत्रितोद्वितएकतःक्रमे
णाददइंद्रस्यस्फ्यःपृथिविवेदिर्त्रजंपुरीषंवर्षंतुवेदिर्वंधानस्साविव्रम-
पाररुमररोआसुरेद्रप्सस्तेवेदिर्गायत्त्रेणत्रीणिवैष्णवानिसूक्ष्मात्त्रया-
णांवेदिःपुराक्रशर्ठंसोपश्यच्चांद्रमसीत्रिष्टुभंप्रोक्षणीःप्रैषोद्विपतः
आभिचारिकमनिशितःस्रुवोनिशितास्रुगदित्यैविष्णोर्योक्रमूर्जेत्र
याणामाज्यर्ठंसवितुरापंतेजोसिधामाज्यम् ॥ ५ ॥

इति संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

कृष्णोसीध्मोवेदिर्बर्हिर्लिंगोक्ते आदित्या आपंविष्णोःप्रास्तर-
मूर्णम्रदसंवेदिर्भुवपतयेत्रीण्याग्नेयानिगंधर्वस्त्रयाणांपरिधयोवीति-
होत्रंविश्वावसुराग्नेयींगायत्रीर्ठंसमिदाग्नेयर्ठंसूर्यस्त्वालिंगोक्तर्ठंस
वितुर्विधृतीऊर्णम्रदसमात्वाप्रास्तरेघृताच्यसित्रयाणांजुहूपभृद्ध्रुवाः
क्रमेणप्रियेणहविर्ध्रुवा असदन्याद्दिमां वैष्णवेअग्नेवाजजिदाग्नेयं
नमोदेवर्ठंस्वधापित्र्यंसूयमेस्रुचावंघ्रिणावैष्णवंवसुमतीमाग्नेयमि
तऐंद्रंस्संज्योतिषाज्यंमयीदमाशीःप्रतिग्रहइणसुपहूताद्यावापृथिव्य
म् ॥ ६ ॥ ब्रह्मत्वंप्रतिष्ठांतम् ॥ बृहस्पतिरांगिरसोपश्यदग्नेह्वाप्राशि
त्रमेतंतेवैश्वदेवमेपातेत्रुष्टुवाग्नेय्यग्नेवाजजिदाग्नेयमग्नीषोमयोश्वत्वा-
रिर्लिंगोक्तानिवसुभ्यस्त्रयाणांपरिधयः संजानाथाव्यंतुप्रास्तरेमरुतां
कपिर्बृहतींप्रास्तरीमंत्यः पाद आग्नेयोयंपरिधिंदेवल आग्नेयींत्रिष्टुभं
विराड्रूपांयजुरंतामग्नेः प्रियंयजुःसर्ठंस्त्रवभागासोमसूक्ष्मोवैश्वदेवींत्रि
ष्टुभंयजुरंतार्ठंस्वाहावाड्यजुर्घृताचीस्रुचौयज्ञनयः शूर्पंयवमान्कु-
पिरुद्दालवान्धानांतर्वानितिपंचार्पयोयज्ञो देवताग्नेदव्धायोगाहंप-
त्योग्नयेदक्षिणाग्निः सरस्वत्यैलिङ्गोक्तंवेदोसिवेदोदेवामनसस्पतिर्वा
तदेवत्यांविराजः संवर्हिर्लिंगोक्तात्रिष्टुब्विराड्रूपाकस्त्वाप्राजापत्य-

ठंरक्षसाठंराक्षसम् ॥ ७ ॥ अथयाजमानठंसंवर्चसात्वाष्ट्रीत्रिष्टु बिंद्वविविष्णुस्त्रीणिवैष्णवान्यस्माद्भागोस्यैभूमिरगन्मदैवठंसंज्यो तिषाहवनीयःस्वयंभूःसूर्यस्यसौरेअग्नेगृहपतेगार्हपत्यःसूर्य्यस्यसौ- रमग्नइदमाग्नये ॥ ८ ॥ पितृयज्ञःप्रजापतेरार्षमग्नयेसोमायद्वेदैवे स्वाहाकारश्रुतेरपहता असुरंयेरूपाणिकव्यवाहनोग्निस्त्रिष्टुबत्रामी मदंतप्रित्र्यैनमोवःषड्लिंगोक्तानिपरेपित्र्येआधत्तपित्र्यागायत्र्यूर्ज मापिविराट् ॥ ९ ॥

इति संहितायां द्वितीयोध्यायः ॥ २ ॥

अग्न्याधेयंप्रजापतेरार्षम्॥देवानामग्नेर्गंधर्वाणांवासमिधाग्नेय्यश्वत स्रोगायत्र्यःसमिधाविरूपआंगिरसः सुसमिद्धायवसुश्रुतस्तंत्वाभर द्वाजोभूर्भुवःस्वस्तिस्रोमहाव्याहृतयोग्निवायुसूर्यदेवत्याः ॥ क्रमेण- द्यौरिवयजमानाशीर्लिंगोक्तदेवतायंगौःसार्पराज्ञ्यस्तृचोगायत्र्योग्नि परावररूपेणदेवता॥ १०॥अग्निहोत्रंप्रजापतेरार्षमग्निर्ज्योतिः सप्त- लिंगोक्तदेवतागायत्र्यआद्याः पंचैकपदाअग्निर्वर्चोद्वितक्षापश्यत्परां- जीवलश्चैलकिः॥ ११॥यजमानाग्न्युपस्थानंबृहद्देवानामार्षम्॥ उप प्रयंतइत्यनुवाकआद्येद्वेआग्नेय्यौगायत्र्यावुपपत्याःगोतमाराहूगणो मूर्द्धन्वत्याविरूपउभावांभरद्वाजऐंद्राग्नीत्रिष्टुभंयंतेदेवश्रवादेववात- श्च भारतावाग्नेयीमनुष्टुभमथमिहवामदेवोजगतीमस्यप्रत्नामवत्सा- रोगव्यांवाग्नेयींवापयोदेवत्यांवागायत्रींतनूपाआग्नेयानींधानाआग्ने यींमहापंक्तिरुथवसाना ॥ १२ ॥ चित्रावसोरात्रिदेवत्यमृषयोपश्य न्त्संत्वमाग्नेयमंधस्थरेवतीःसठंहितेतित्रीणिगव्यान्युपत्वाग्नेयंतृचं गायत्रं मधुच्छंदावैश्वामित्रोग्नेत्वंचतस्रोद्विपदाआग्नेयीबंधुः सुबंधुः श्रुतबंधुर्विप्रबंधुरेकैकशइडेकाम्यागव्येसोमानंब्रह्मणस्पत्यंतृचंगा- यत्रंब्रह्मणस्पतिर्मेधातिथिर्वामहित्रीणाठंसत्यधृतिर्वारुणिरादित्य- दैवतंतृचंगायत्रंपथिस्वस्त्ययनंकदाचनैंद्रींपथ्याबृहतींमधुच्छंदा-

स्तत्सवितुर्विश्वामित्रः सावित्रींगायत्रींपरितेवामदेवआग्नेयीमनिरु
क्तांगायत्रीम् ॥ १३ ॥ क्षुल्लकोपस्थानमासुरेरार्षम् ॥ भूर्भुवः
स्वःप्रवत्स्यदुपस्थानमागतोपस्थानंचादित्यस्यार्षंनयंगार्हपत्यः
शꣳस्याहवनीयोथर्वंदक्षिणाग्निरागन्माहवनीयोनुष्टुब्वयमग्निर्न्यंकु
सारिणीबृहतीगार्हपत्योयमग्निरन्वाहार्यपचनोनुष्टुग्गृहामात्रिष्टु
ब्विराड्रूपायेग्मषानुष्टुब्नुपहूतामहापंक्तिर्द्व्यवसानास्तिस्रोपिवास्त-
वीःशंयुर्बार्हस्पत्यः ॥१४॥ चातुर्मास्यानिप्रजापतेरार्षम् ॥ प्रघा-
सिनोमारुतीगायत्रीयद्ग्रामममारुत्यनुष्टुब्निरुक्तामोपूणोगस्त्यऐंद्रा
मारुतींविराजमक्रन्ननिरुक्ताग्नेय्यनुष्टुबवभृथयज्ञदैवतंपूर्णादर्विंद्रे
और्णवाभऐंद्र्यावनुष्टुभावक्षंद्वेगोतमऐंद्र्यौपंक्तीमनोन्वमानसंतृचं
बंधुर्गायत्रंवयꣳसोमींगायत्रींबंधुरेषतेद्वेरौद्रेअवरुद्रꣳरौद्र्यावेकापं-
क्तिरपराककुप्त्र्यंबकंद्वेअनुष्टुभौपूर्वस्यांवसिष्ठएतदास्तारपंक्तिस्त्र्या-
युषंनारायणउष्णिहंयजमानाशीर्षꣳशिवोनामक्षौरंनिवर्तयामिलिं
गोक्तदैवतमाशीःप्रायम् ॥ १५ ॥

इति संहितायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अग्निष्टोमःप्रजापतेरार्षम्॥ एदंद्वेअत्यष्टीत्यवसाने आद्यावर्द्धर्चौ
देवयजनदेवत्याविमाआपओषधेकुशतरुणꣳस्वधितेक्षौरमापोऽ
अस्मानापंदीक्षातपसोर्वासोमहीनां नवनीतंवृत्रस्यांजनंचित्पतिर्द्वे
प्राजापत्येदेवोमासावित्रमावोदैव्यनुष्टुब्आसीस्वाहायज्ञंचतुर्णायज्ञ-
आकूत्यैचतुर्णामौद्ग्रभणानामग्निरापोदेवीलिंगोक्तदेवताविराट् १६
विश्वोदेवस्यस्वस्त्यात्रेयः ॥ सावित्रीमनुष्टुभमृक्सामयोःकृष्णा
जिनेशर्मासिकृष्णाजिनमूर्गस्यांगिरोभिर्दष्टंमेखलꣳसोमस्यनीवि-
विष्णोर्वासइंद्रस्यथुसस्याःकृष्णविषाणोच्छ्रयस्वदंडोत्रतंयज्ञोदेवीं
धीयंदेवावाक्प्राणोदानाचक्षुःश्रोत्रमध्यात्ममग्निर्मित्रावरुणावादि
त्योविश्वेदेवाअश्विदेवनꣳम्नात्राअपोजगतीयंतेलोष्टमपोमूत्रंपृथि

न्यालोष्टमग्नेत्वमाग्नेय्यनुष्टुप्पुनर्मनआग्नेयंत्वमग्नेवत्सआग्नेयींगाय त्रीॅरास्वेयत्सौम्यमेषातेहिरण्याज्यदैवतंजूरसिवाग्दैवतॅंशुक्रम सिहिरण्यंचिदसिगौःसोमक्रयणीवाग्रूपाध्यारोपकल्पनया ॥ १७ ॥ वस्व्यस्यनुष्टुब्बृहतीवासोमक्रयण्यास्तुतिरदित्याआज्यमस्मेषण्णां लिंगोक्तादेवताःसमख्येपत्न्याशीरास्तारपंक्तिरेषतेलिंगोक्तदेवतमा स्माकोसिसौम्यमभित्यॅंसावित्र्यष्टिःप्रजाभ्यस्त्वाप्रजास्त्वाशुक्रं- त्वासौम्यानिसग्मेस्मेलिंगोक्तेतपसोर्द्धेजार्द्धेसोमोमित्रोनइंद्रस्यसौ- म्येस्वानादीनिधिष्ण्यनामानिपरिमाग्नेयीपुरस्ताद्बृहतीप्रतिपंथाम नुष्टुप्पथिदेवत्यादित्याःकृष्णाजिनमदित्यैसौम्यमस्तभ्नात्रिष्टुभौ वारुण्यौसूर्यस्यानुष्टुप्कृष्णाजिनमुस्रावूर्ध्वबृहत्यानड्डुहीभद्रोमेसौ- म्यंनमोमित्रस्याभितपनःसूर्यः सौरींजगतींवरुणस्यपंचवारुणानि- यातेसौमींत्रिष्टुभंगौतमः ॥ १८ ॥

इति संहितायां चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

अग्नेस्तनूरसिपंचवैष्णवान्यग्नेःशकलंवृषणादर्भतरुणैकेउर्वे- श्यसित्रयाणांलिंगोक्तादेवतागायत्रेणत्रीण्याग्नेयानिभवतंनःपंक्ती- रग्नावग्निर्विराडेतयोर्निर्मथ्याहवनीयावग्नीदेवतेआपतयेवायव्यम- नाधृष्टमाज्यमग्नेव्रतपाआग्नेयमर्ठंशूरर्ठंशुःप्रकृतिश्चतुरवसाना सौम्यंत्योर्द्धचौलिंगोक्तदैवतोयातेत्रीण्याग्नेयानितप्तायनीचत्वारि पार्थिवानिविदेदाग्नेयमग्नेअंगिरोयोस्यामनुत्वालिंगोक्तानिसि- ँह्यसित्रयाणां वेदिरिंद्रघोषश्चतुर्णामुत्तरवेदिरिदमहमापर्ठंसि ँह्यसिपंचानांवाग्भूतेभ्यःस्रुग्ध्रुवोसिपरिधयस्त्रयाणामग्नेःसंभा रागुल्गुल्वादयः ॥१९॥ युंजतेश्यावाश्वः॥सावित्रींजगतीमिदंवि ष्णुर्मेधातिथिर्वैष्णवींगायत्रीमिरावतीवसिष्ठस्त्रिष्टुभंदेवश्रुतावक्षधु रौप्राचीस्वंगोष्ठमत्रहविर्द्धानेविष्णोर्नुतिस्रोवैष्णव्यस्त्रिष्टुभआद्यैंद्रय जुरंतेविष्णोर्नुप्रतद्दीर्घतमाऔतथ्यो विष्णोरराटंपंचवैष्णवान्याद

देभिरिदमहठं रक्षोघ्नंबृहत्यौपर्वाणीदमहंपञ्चलिंगोक्तानिस्वराड-
स्यौपर्वाणिचत्वारिरक्षोहणोवःसप्तवैष्णवानियवोसियवोदिवेत्वौदुं
बरीशुन्धंतांपित्र्येउद्दिवंपंचानामौदुंबरीघृतेनद्यावापृथिव्यमिंद्रस्यैं-
द्रंपरित्वामधुच्छंदाअनिरुक्तामैंद्रीमनुष्टुभमिंद्रस्यैंद्राणित्रीणिचतुर्थं-
वैश्वदेवम्॥२०॥विभूरस्यष्टानांधिष्ण्याअग्नयः ॥ सम्राडाहवनीयः
परिषद्योबहिष्पवमानदेशोनभोसिचात्वालोमृष्टोसिशामित्रऋत-
धामौदुंबरीसमुद्रोसिब्रह्मासनमजोसिशालाद्वार्योहिरसिप्राजहितो-
वागसिसदऋतस्यद्वार्येअध्वनाछंसूर्योमित्रस्यर्त्विजोग्नयोधि-
ष्ण्याः ॥ २१ ॥ ज्योतिरसिवैश्वदेवम् ॥ त्व ठं सोमक्रतुर्भार्गवः
सौमींगायत्रीसनवत्सानांजुषाणो अप्तुदेवत्यैकपदाविराडयजुरंता-
ग्नेनयागस्त्यआग्नेयींत्रिष्टुभंयमयन्नत्रिष्टुब्यजुरंताग्नेय्युरुविष्णोवै-
ष्णव्यनुष्टुब्यजुरंतादेवसवितः सावित्रमेतत्त्व ठं सोम्यछंस्वाहा-
निर्लिंगोक्तदेवतामग्नेव्रतपाआग्नेय्यत्यन्यान्वनस्पतिरोषधेकुश-
तरुणछंस्वधितेपरशुर्यांमातस्त्वंवनस्पतिः ॥ २२ ॥

इति संहितायां पंचमोध्यायः ॥ ५ ॥

अग्रेणीः शकलम् ॥ देवस्त्वायूपःसुपिप्पलाभ्यश्वबालंद्यामग्रे-
णयूपोयातेदीर्घतमायूपदेवत्यांत्रिष्टुभंब्रह्मवनिब्रह्मदृ ठं हयूपदेवत्ये
विष्णोःकर्माणिद्वेमेधातिथिर्वैष्णव्यौगायत्र्यौपरिवीर्यूपोदिवस्वरुरे
वतेयूपउपावीस्तृणमुपदेवांलिंगोक्तमृतस्यत्वापशुरग्नीषोमाभ्यां
लिंगोक्तमद्भ्योपांपशुरापोदेवीरापठंसंतेपशुर्घृतेनस्वरुशासोरेवती
वाग्वषोंतृणछंस्वाहादैवे ॥ २३ ॥ माहिर्भूरज्जुर्नमस्तेयज्ञोदेवीरा-
पोर्द्धमापमर्द्धसाशीर्वाचंतेमनस्तेपशुःशंलिंगोक्तमोपधेतृणछंस्व-
धितेसीरक्षसांलिंगोक्तंनिरस्तमिदमहठंरक्षोहणीघृतेनद्यावापृथिव्यं
वायोवायव्यमग्निराजस्याग्नेयछंस्वाहाकृतेवपाश्रपण्याविदमाप
आपीमहापंक्तिर्व्यवसानापावमानश्चांत्यःपादः संतेहृदयठंरेडसि

वसाप्रयुतंलिंगोक्तंघृतं वैश्वदेवंदिशःपंचदिश्यान्यैंद्रःप्राणः पश्वंगः प्राणदानंलिंगोक्तं देवत्वाष्ट्रीत्रिष्टुप् ॥ २४ ॥ समुद्रंलिंगोक्तानि द्वादश ॥ दिवंतेस्वरुमापोहृदयशूलंधाम्नोधाम्नोवारुणंयदाहुर्वारुणीगायत्र्यनवसानासुमित्रियानआपऽ हविष्मतीलिंगोक्तदेवतानुष्टुबग्नेवैश्वत्वार्यापाऽग्नमूरापींगायत्रींमेधातिथिर्हदेत्वासौम्यनुष्टुप् सोमराजन्त्सौम्येंशृणोतुलिंगोक्तदेवतात्रिष्टुब्देवीरापऽआपी पंक्तिःकार्षिराज्यमनुष्टुप्समुद्रस्यसमापआपेय्यमग्नेमधुच्छंदाआग्नेयींगायत्रीमादद्ग्रावानिग्राभ्याआपमिंद्रायत्वापंचसौम्यनियत्ते सौमीविपरीताबृहतीश्वात्राः पथ्याबृहतीमाभेःसौम्यमर्द्धंद्यावापृथिव्यमर्द्धंप्रागपाक्सौम्युष्णिक्त्वमंगगोतमऐंद्रींपथ्याबृहतीम् ॥२५॥

इति संहितायां षष्ठोध्यायः ॥ ६ ॥

वाचस्पतयेप्राणदेवत्याविराट् ॥ मधुमतीलिंगोक्तंयत्तेसौम्यꣳस्वाहोरुयजुषीलिंगोक्तेस्वांकृतोस्युपाꣳशुर्देवेभ्यस्त्वादैवंदेवाꣳशोलिंगोक्तमाभिचारिकं प्राणायाग्रहोव्यानायउपाꣳशुसवनउपयामगृहीतोस्यंतरैंद्रमंतस्तेमघवदेवत्यात्रिष्टुबुदानायगृहआवायोवसिष्ठोवायव्यांत्रिष्टुभामिंद्रवायूमधुच्छंदाऐंद्रवायवींगायत्रीमयंवांगृत्समदो मैत्रावारुणीꣳरायावयंत्रसदस्युस्त्रिष्टुभंयावांमेधातिथिराश्विनींगायत्रींतंप्रत्नथावत्सारः काश्यपोवैश्वदेवींजगतीमच्छिन्नस्य सौम्यꣳसाप्रथमैंद्रीत्रिष्टुप्तृपंत्वयाऽग्नीलिंगोक्ते ॥ २६ ॥ अयंवेनोवेनस्यत्रिष्टुप्सोमस्तुतिरधिदैवतमधियज्ञंचमनोनत्रिष्टुप्सोमस्तुतिरधियज्ञानुवादिन्यपमृष्टःशंडोपमृष्टोमर्कआभिचारिकेदेवास्त्वाशुक्रामंथिनावनाधृष्टासिदक्षिणोत्तरेवेदिश्रोण्यौसुवीरःसुप्रजाः शुक्रामंथिनौनिरस्तोद्वेआभिचारिकेशुक्रस्यमंथिनःशकलंयेदेवासःपरुच्छेपोवैश्वदेवींत्रिष्टुभमाग्रायणोसिलिंगोक्तदैवतम् ॥ २७ ॥ सोमःपवतेवैश्वदेवामिंद्रायत्वापंचलिंगोक्तानिमूर्द्धानंभरद्वाजोवै-

श्वानरींत्रिष्टुभंध्रुवोसिध्रुवोध्रुवंध्रुवेणबृहतीपूर्वोर्द्धचौंग्रौवउत्तरऐंद्रो-
यस्तेदेवश्रवाःसौमींत्रिष्टुभंद्युरंतांदेवानांचात्वालदैवतंप्राणायामे-
लिंगोक्तदेवतान्येकादशकोसिप्राजापत्योष्णिग्वर्द्धमानामघवेत्वा-
लिंगोक्तदेवतानित्रयोदश ॥ २८ ॥ इंद्राग्नीविश्वामित्रऐंद्राग्नींगा-
यत्रीमाघात्रिशोकआग्नैंद्रीमोमासोमधुच्छन्दावैश्वदेवींविश्वेदेवा-
सोगृत्समदइंद्रमरुत्वश्वतस्रोविश्वामित्रऐन्द्रामारुतीस्त्रिष्टुभोमरु-
तांत्वायजुर्मरुत्वतीयंमहाँ२॥इंद्रोभरद्वाजोमाहेन्द्रीत्रिष्टुभंयओजसा
वत्सोगायत्रीमुदुत्यंप्रस्कण्वः सौरींगायत्रींचित्रंकुत्सआंगिरसस्त्रिष्टु-
भर्ठंरूपेणवोदक्षिणाश्चतुर्णांब्राह्मणमद्यलिंगोक्तदेवतान्यष्टौ ॥२९॥

इति संहितायां सप्तमोध्यायः ॥ ७ ॥

विष्णोवैष्णवंकदाचनादित्यदेवत्येबृहत्यौयज्ञोदेवानांकुत्सस्त्रिष्टुभं
विवस्वन्यजुः श्रदस्मैजगत्याशीर्वाममद्यभरद्वाजोबार्हस्पत्यःसावि
त्रींत्रिष्टुभर्ठंसावित्रोसिसावित्रर्ठं सुशर्मासिवैश्वदेवंबृहस्पतिसुतस्य
लिंगोक्तमहंप्रजापतिरूपेणाऽऽत्मादेवतात्रिष्टुबग्ना इपत्नीवन्नाग्नेयंप्र
जापतिः॥प्राजापत्यर्ठंहरिरस्यृक्सामेहर्योर्यस्तेलिंगोक्तेदेवकृत्तस्याऽ
ऽग्नेयानिषट्॥ ३० ॥ समिन्द्रान्निवैश्वदेवींत्रिष्टुभंधातालिंगोक्तबहुदेव
त्यासुगावोदेवीयाँ२ऽआवहोवयमाग्नेय्यौयज्ञयज्ञमेषतेलिंगोक्तेयजु
र्षीउरुर्ठंहिशुनःशेपोवारुणींत्रिष्टुभंनमोवारुणमग्नेरनीकमाग्नेयीत्रिष्टु
प्समुद्रेतेसौमीविराड्देवीरापःपंक्तिबृहतीवापूर्वोऽर्द्धर्चआपउत्तरःसौ
म्योदेवानामाग्नेयमेजतुत्र्यवसानामहापंक्तिर्यस्यैतेवशापुरुदस्मोग
र्भोमरुतोयस्यगोतमोमारुतींगायत्रींमहीद्यौर्मेधातिथिर्द्यावापृथिव्या
मित्यग्निष्टोमः ॥३१॥ अथषोडश्यातिष्ठगोतमऐन्द्रीमनुष्टुभंयुक्ष्वा
हिमधुच्छंदाइंद्रमिद्गोतमोयस्मान्नैंद्रीत्रिष्टुप्परब्रह्मरूपेणषोडशिनस्तु
तिरिंद्रश्चैंद्रावारुणीषोडशिदेवत्यावायजुरंताग्नेपवस्वनैखानसःआग्ने
यींगायत्रींमुत्तिष्ठन्कुरुस्तुतिरैन्द्रीमदश्रंप्रस्कण्वःसौरींतिस्रोपियजुर

न्ता उदुत्यंदेवानामार्षमाजिग्रेडेकौसुरूर्विंदुर्गव्ये महापंक्तिप्रस्तारपं क्तीविनःशासोभारद्वाजऐन्द्रीमनुष्टुभंवाचस्पतिंवैश्वकर्मणींत्रिष्टुभंवि श्वकर्मन्नैंद्रीवैश्वकर्मण्यग्नयेत्वादेवार्षाण्यदाभ्यदेवत्या निग्रेशीनांत्वा सौम्यानि ॥ ३२ ॥ सत्रोत्थानंदेवानामार्षमिहरतिःपशुदैव तमुपसृजन्नुष्णिगाग्नेयीसत्रस्य बृहतीयजमानानामात्मस्तुतिर्युवंतं परुच्छेपऐंद्रीमत्यष्टिंत्र्यवसानामाद्योर्द्धर्चऐंद्रापार्वतः परमेष्ठीनैमि त्तिकान्याध्यायाद्वसिष्ठस्यार्षंलिंगोक्तदेवतानिचतुस्त्रिंशद्व्ययो वैं ष्णववारुणींत्रिष्टुब्देवांदिवमाशीर्लिंगोक्तदेवताश्चतुस्त्रिंशद्वर्मदे वत्या पंक्तिस्त्रिष्टुब्वायज्ञस्ययज्ञदेवत्यात्रिष्टुबापवस्वसौमींगायत्रीं नैध्रुविःकश्यपः ॥ ३३ ॥

इति संहितायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथवाजपेयोबृहस्पतेरार्षम् इन्द्रस्यचदेवसवितःसावित्रीत्रि- ष्टुब्ध्रुवसदमैंद्राणित्रीण्यपांरसदेवत्यानुष्टुब्ग्राहालिंगोक्तदेवतानु- ष्टप्संपृचौयजुषीन्द्रस्यरथोवाजस्यपार्थिव्यतिजगत्यंत्यः पादःसा वित्रोऽप्स्वन्तरश्वदेवत्यानवसानापुरउष्णिक्वातोवातिस्रोश्वस्तु तयउष्णिक्त्रिष्टुब्जगत्योवाजिनोश्वादेवस्याहंलिंगोक्तानिवाजिनो श्वाएषस्यद्वेदधिक्रावावामदेव्योश्वदेवत्येजगत्यौशन्नोवसिष्ठोविरा जंतेनोनाभानेदिष्ठोजगतींवाजेवाजेवसिष्ठस्त्रिष्टुभमामाप्राजापत्यां वाजिनोश्वाः॥३४॥आपयआयुर्यज्ञेनप्राजापत्यानिप्रजापतेःस्वरमृ तायजमानोस्मेदिशोनमःपृथिवीयमासंदीयंतामुन्वन्वाजस्य प्राजा पत्यंतृचंत्रैष्टुभंठं सोमंतृचंतापसऽआद्यावैश्वदेव्यनिरुक्तानुष्टुब्द्वितीं यालिंगोक्तदेवतातृतीयाऽऽग्नेयीप्रनोलिंगोक्तागायत्रीसरस्वत्येसुन्व न्नग्निःसप्तदशलिंगोक्तदेवतानि ॥ ३५ ॥ अथराजसूयोवरुणस्यार्ष म् ॥ एषतेपार्थिवमग्निनेत्रेभ्योदेवार्षाण्याध्यायादशाद्यानिदैवान्य

ग्नेसहस्वदेवश्रवादेववातश्चभारतावाग्नेयीमनुष्टुभमुपार्ठंशोस्त्रीणिर क्षोघ्नानिसवितादृयजमानः ॥ ३६ ॥

इति संहितायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

आपोदेवाआपीत्रिष्टुप् ॥ वृष्णऊर्म्मिलिंगोक्तानिमधुमतीरनाधृष्टा आपसोमस्यचर्मोग्नयेलिंगोक्तान्यनिभृष्टमापर्ठंसधमादोवारुणीत्रि ष्टुप्क्षत्रस्यचतुर्णांताप्र्पपांड्वाधीवासोष्णीषाणींद्रस्यधनुर्मित्रस्यबाहू त्वयायंधनुर्द्वेबाषणामिषवआविःप्राजापत्यंपराणिलिंगोक्तानि ॥ ॥३७॥ अवेष्टामृत्युनाशनं ॥ प्राचींपंचानांयजमानःप्रत्यस्तमासु रंमृत्योरोजोसिरुक्मोहिरण्यरूपोमैत्रावरुणी त्रिष्टुव्यजुरन्तासोमस्य सुन्वन्प्रपर्वतस्यापीत्रिष्टुव्विष्णोस्त्रीणिलिंगोक्तानिसुन्वन्प्रजापते नप्राजापत्यात्रिष्टुव्यजुर्मध्योयममुष्यजूरुद्रयद्रौद्रम् ॥ ३८ ॥ इंद्र- स्यलिंगोक्तानि ॥ मातेसंवरणःप्राजापत्यऐंद्रींत्रिष्टुभमग्नयेलिंगोक्ता निपृथिविमातर्भूमिर्हर्ठंसोमवामदेवःसौरीर्ठंसप्रपंचपरब्रह्माभिधा यिनीमतिजगतीमियच्छतमानावृगसिशाखेन्द्रस्यबाहुस्योनास्या संदीक्षत्रस्याधीवासर्ठंस्योनार्ठंसुन्वन्निषसादशुनःशेपोवारुणींगा यत्रीमभिभूरस्यक्षायजमानोवाब्रह्म३स्त्वमामंत्रणानिपंचलिंगोक्ता नींद्रस्यस्फ्योग्निःपृथुराग्नेयर्ठंस्वाहाकृताअक्षाःसवित्रालिंगोक्तदै वतम् ॥ ३९ ॥ अथचरकसौत्रामण्यश्विनोरार्षम् ॥ अश्विभ्यां त्रीणिलिंगोक्तानिवायुःसौमीगायत्रीकुविन्त्रिचः२सुकीर्तिः काक्षीवत आद्यासौम्यनिरुक्तात्रिष्टुब्युवमनुष्टुप्पुत्रमिवत्रिष्टुवश्विसरस्वतींद्रदेव त्येअश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्ये॥४०॥ इति संहितायांदशमोऽध्यायः॥१०॥

इति सर्वानुक्रमणिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथाग्निंप्रजापतिरपश्यत् । साध्यावापश्यन्त्सोग्निःपंचचि- तिकःप्रथमाचितिः प्रजापतेर्द्वितीयादेवानांतृतीयेंद्राग्न्योर्विश्वकर्म-

णश्चतुर्थ्यृषीणां पंचमीपरमेष्ठिनोऽथ प्रतिकर्मदर्शिनोयुञ्जानोष्टौसा-
वित्राणिसवितापश्यदाद्यातृतीयाचानुष्टुप्चतुर्थीषष्ठ्यौजगत्यौद्वि-
तीयागायत्री पंचमीत्रिष्टुबिमनोयजुरंतागायत्र्यनवसानाददेभ्रिर्ह-
स्तेनुष्टुब्यजुरंता॥ १ ॥प्रतूर्तनाभानेदिष्ठः ॥ आश्वीमास्तारपंक्तिर्युंजा
थांकुश्रिर्गार्दभींगायत्रीं योगेयोगेशुनःशेपआजींप्रतूर्वंस्त्रिष्टुब्विराड्रू-
पायजुर्गर्भोरुयजुः पृथिव्यास्त्रीण्याग्नेयान्यन्वग्निराग्नेयींत्रिष्टुभं-
पुरोधसआगत्यमयोभुवआश्वीमनुष्टुभमाक्रम्याऽनुष्टुब्द्यौस्तेबृह-
त्युत्क्रामविराड्उदक्रमीत्रिष्टुबात्वाद्वेगृत्समदआग्नेय्योपरिसोमको-
गायत्रींपरित्वापायुरनुष्टुभंत्वमग्नेगृत्समदोजगतीम ॥ २ ॥ पृथि-
व्याआग्नेयम् ॥ अपांपुष्करपर्णꣳस्वराट्पंक्तिःशर्मद्वेअनुष्टुभौकृ-
ष्णाजिनपुष्करपर्णेपुरीष्योग्निस्त्वामग्नेतृचंभारद्वाजआग्नेयंगा-
यत्रꣳसीदहोतर्देवश्रवादेववातश्चत्रिष्टुभंनिहोतागृत्समदःसꣳसीद-
स्वप्रस्कण्वोबृहतीम् ॥ ३ ॥ अपोदेवीः ॥ सिंधुद्वीपआपीन्यंकु-
सारिणीꣳ संतेत्रिष्टुप्पार्थिवोद्वौवायव्योर्द्धःसुजातोनुष्टुबाग्नेय्युदु-
तिष्ठविश्वमनाः पथ्याबृहतीमूर्द्धःकण्वउपरिष्टाद्बृहतीꣳसजातस्त्रि-
तस्त्रिष्टुभꣳस्थिरोरासभेय्यनुष्टुबुष्णिग्वा शिवोभवाजीपथ्याबृह-
तीप्रैतुलिंगोक्तमहापंक्तिरूयवसानाग्नेगायत्र्येकपदाग्नेय्यतमग्नि-
माग्नेये ओषधयस्त्रिष्टुबनुष्टुभावोषधिदेवत्ये ॥ व्यस्यन्नाग्नेयोर्द्ध-
चौंविपाजसोत्कीलःकात्यआग्नेयींत्रिष्टुभम् ॥ ४ ॥ आपोह्या-
पꣳसिन्धुद्वीपस्तृचंगायत्रंमित्रउपरिष्टाद्बृहतीमैत्रीरुद्रा अनुष्टुब्रौद्री-
सꣳसृष्टां द्वेसिनीवालीदेवत्येउखामादित्यामखस्यमृत्पिंडोवसव-
स्त्वालिंगोक्तानिसर्वत्रादित्यैरास्नादितिरौषंकृत्वायादित्योष्णिग-
दितिरावटंदेवानांपंचौखानिमित्रस्यविश्वामित्रोमैत्रींगायत्रींदेव-
स्त्वासावित्रीबृहत्युत्थायपूर्वार्द्धर्चऔषउत्तरोमैत्रः ॥ ५ ॥ आकू-
तिंलिंगोक्तान्यौद्रभणानि ॥ मास्वौख्यौगायत्रीत्रिष्टुभावग्निश्चपा-

दा३आग्नेयोद्वन्नः सोमाहुतिराग्नेयींगायत्रीं परस्याविरूपऽआंगिरसः परमस्याऽआरुणिरनुष्टुभंयदग्नेद्वेजमदग्निरहरहर्नाभानेदिष्ठस्त्रिष्टुभौयाः सेनाअनुष्टुभः सर्वाआग्नेय्योंत्योपरिष्टाद्बृहती ॥ ६ ॥

इति संहितायामेकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

दृशानोवत्सप्री॥ त्रिष्टुभर्ठ्ंरौक्मीनक्तोषासाकुत्सऽआग्नेयींविश्वाश्यावाश्वःसावित्रींजगतीर्ठ्ंसुपर्णःकृतिश्चतुरवसानागारुत्मी विषघ्नी विष्णोर्लिंगोक्तान्यक्रंदद्वत्सप्रीराग्नेयींत्रिष्टुभमग्नऊर्ध्वबृहत्यग्नेमहाबृहतीपुनर्गायत्र्यावात्वाध्रुवोनुष्टुभमुदुत्तमर्ठ्ंशुनःशेपो वारुणींत्रिष्टुभमग्रेत्रितआग्नेयीर्ठ्ंहर्ठ्ंसउक्ताजगतीहयजुरन्तांतेबृहद्यजुः सीदत्वमाग्नेयींत्रिष्टुभंतरग्नेनुष्टुभौ ॥ ७ ॥ दिवस्पर्याग्नेयंत्रैष्टुभम् ॥ द्वादशर्चंवत्सप्रीर्भालन्दनःसमिधाग्निंविरूपाक्षआंगिरसआग्नेयंगायत्रमुदुत्वातापसोनुष्टुभंप्रेदनुष्टुप्प्रप्रायमाग्नेयींवसिष्ठस्यत्रिष्टुभमापोदेवीराप्यप्स्वग्नेविरूपऽआग्नेयींगायत्रीगर्भो असितिस्रोनुष्टुभोबोधामेदीर्घतमास्त्रिष्टुभर्ठ्ंसबोधिसोमाहुतिराग्नेयींयजुरंतांगायत्रींयजुर्वैश्वकर्मणंपुनस्त्वात्रिष्टुबाग्नेयी ॥ ८ ॥ अपेतलिंगोक्तबहुदेवत्या ॥ संज्ञानमूषदेवत्यमग्नेः सिकताश्चितः पारिश्रितोयर्ठ्ंसः पञ्चर्चमाग्नेयंत्रैष्टुभंविश्वामित्रश्चतुर्थ्यनुष्टुबन्तेनुष्टुप्त्विदेष्टकेलोकंलिङ्गोक्तानुष्टुप्ताअस्यापींद्रियमेघऐंद्रइंद्रंजेतामाधुच्छन्दसऐंद्रीर्ठ्ंसमितचतस्रोद्व्याग्निदेवत्याउष्णिग्गुपरिष्टाद्बृहत्युष्णिक्पंक्तयोमातेवोवास्तुतिस्त्रिष्टुप् ॥ ९ ॥ असुन्वंतंनैर्ऋतंतृचंत्रैष्टुभम् ॥ यंतेयजमान देवत्यानमोविराड्भूतिदेवत्येकपदानिवेशनआग्नेयींत्रिष्टुभंविश्वावसुर्देवगंधर्वः सीराद्वेसीरदेवत्येबुधः सौम्योगायत्रीत्रिष्टुभौशुनंचतस्रःसीतादेवत्याःकुमारहारितोद्वेत्रिष्टुभौतृतीयापंक्तिश्चतुर्थ्यनुष्टुब्विमुच्यध्वमानड्डुहीगायत्रीसजूर्लिंगोक्तदेवतम् ॥ १० ॥ याऽओषधीः सप्तविर्ठ्ं

शतिरनुष्टुभऽओषधिस्तुतिमाथर्वणो भिषङ्मुंचतुर्बंधुद्वादशानार-भ्याधीतामामाहिरण्यगर्भःकायींत्रिष्टुभमभ्यावर्तस्वोष्णिगाग्नेय्यग्ने यद्गायत्रीयंत्रिष्टुबग्नेतवपावकोग्निराग्नेयर्ठषड्टृचंप्रथमेविष्टारपङ्क्तीति-स्रः सतोबृहत्यउपरिष्टाज्ज्योतिःषष्ठ्याप्यायस्वगोतमः सौम्योगा-यत्रीत्रिष्टुबुष्णिह आतेवत्सारस्तुभ्यंताद्वेविरूपस्तिस्रोगायत्र्य आग्नेय्यः ॥ ११ ॥

इति संहितायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

मयिककुबाग्नेयी॥ब्रह्मादित्यदेवत्यात्रिष्टुब्भिरण्यगर्भोहिरण्यगर्भः कायींत्रिष्टुभंद्रप्सोदेवश्रवाआदित्योनमोस्तुसार्प्यंतृचमानुष्टुभंकृणु-ष्वपंचप्रतिसरारक्षोघ्नादेवानामार्षर्ठसर्वास्त्रिष्टुभआग्नेयीर्वामदेव श्वापश्यदग्नेष्ट्वायजुराग्नेयमिंद्रस्यैंद्रंभुवस्त्रिशिराआग्नेयींत्रिष्टुभम् ॥ ॥ १२ ॥ ध्रुवास्यूर्ध्वबृहती ॥ प्रजापतिरनुष्टुब्भूरसिप्रस्तारपंक्तिर-सार्ठस्वयमातृणादेवता विश्वस्माइत्येतस्यचयजुषःकांडात्कांडा-दानुष्टुभंद्व्यृचमग्निनाहष्टंदूर्वेष्टकदैवतंयास्तआग्नेयंद्व्यचमानुष्टुभ-मिंद्राग्निभ्यांदृष्टंविराडयंलोकःस्वराडसौलोकःप्रजापतिष्टाविश्व-ज्योतिषंमधुश्चतुदैवतमषाढासिसवितापश्यद्देवावापश्यंनिष्टकादै-वतम् ॥ १३ ॥ मधुव्वातावैश्वदेवंतृचंगायत्रंगोतमोपांगंभन्पंक्ति-स्तीन्त्समुद्रांत्रिष्टुप्कौम्र्यंद्व्यृचंध्रुवासित्रिष्टुबिषेबृहत्योरवंद्व्यृचमग्ने-युक्ष्वाग्नेयंद्व्यृचंगायत्रमाद्यायांभरद्वाजोद्वितीयस्यांविरूपःसम्यक् त्रिष्टुब्लिंगोक्तदेवतचैत्वाबृहत्यग्निर्ज्योतिषोष्णिगादित्यंगर्भंपंचर्च-माग्नेयंत्रैष्टुभमिमंमापंचर्चमाग्नेयंत्रैष्टुभमेवद्वेद्वेचांते यजुंषीत्वंयवि-ष्ठोशनाः काव्यआग्नेयीमनिरुक्तांगायत्रीमपांत्वाविर्ठशतिरैष्टका-न्ययंपुरःपंचाशत्प्राणभृद्देवत्यानिलोकंताइंद्रंतिस्रःप्रतीकारोक्ताएव र्ठसर्वत्र ॥ १४ ॥

इति संहितायां त्रयोदशोध्यायः ॥ १३ ॥

अथ द्वितीया चितिः ॥ ध्रुवक्षितिःपंचाश्विन्यस्तासांप्रथमा विराट्तस्त्रस्त्रिष्टुभोयजुरंताःशुक्रश्चर्तव्यर्ठ॑सजूःपंचविश्वेषां देवाना- मार्षं ताएवदेवताःप्राणं मेपंचवायव्यास्त्र्यपःपंचापानिमूर्द्धावयश्- कोनविर्ठ॑शतिलिंङ्गोक्तदेवतानि॥ १५॥ अथतृतीयैंद्राग्नीअनुष्टुप् ॥ पूर्वोर्द्धर्चऐंद्राग्नउत्तरःस्वयमातृणादेवतोविश्वकर्मावायव्यर्ठ॑राज्ञ्य- सिपंचदिग्देवत्यानि विश्वकर्मावायव्यंनभश्चेषश्चर्तव्येआयुर्मेद- शलिंगोक्तदैवतानिमाछंदश्चषट्त्रिर्ठ॑शन्मूर्द्धानुष्टुब्यंत्रीपरोष्णिक्च तुर्दशयजूर्ठ॑षिप्राणदेवत्यानि ॥ १६ ॥ अथ चतुर्थ्याशुरष्टादशा- ग्नेर्देशैकयासप्तदशसर्वाणिलिंगोक्तदेवतानिसहश्चर्तव्यम् ॥ १७ ॥

इति संहितायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथपंचम्यग्नेजातानाग्नेय्यौत्रिष्टुभौषोडशीचतुश्चत्वारिर्ठ॑शोलिं गोक्तेअग्नेस्त्रिष्टुबेवचत्वारिर्ठ॑शद्रश्मिनैकान्नत्रिर्ठ॑शद्राज्ञ्यसिपंचायंपु रःपंचैतानिसर्वाणिलिंगोक्तदेवतानि ॥१८॥ अग्निर्मूर्द्धाग्नेयोनुवा- कः॥प्रथमस्त्र्यृचोगायत्रोद्वितीयस्त्रैष्टुभोभुवस्तृतीयोजागतोयमिह चतुर्थआनुष्टुभःसखायःसंपंचमःप्रगाथएनावस्तत्रपूर्वाबृहतीसतोबृ हत्युत्तरा ताभ्यांतिस्रोबृहत्यःसंपादिताःषष्ठऔष्णिहोग्नेवाजस्यगो- तमःसप्तमःपुनःककुभःप्रगाथोभद्रोनस्तत्रपूर्वाककुप्सतो बृहत्युत्तरा ताभ्यांतिस्रःककुभःसंपादिताअष्टमः पांक्तोग्नितंपदपांक्तोनवमोग्नेत मग्निर्ठ॑ होतारमतिच्छंदात्र्यवसानाग्नेत्वंद्विपदस्तृचः ॥ १९ ॥ अयमग्निर्विरूपोवोधिबुधगविष्ठिरोजनस्यसुतंभरःसखायइषः सर्ठ॑ समित्संवननस्त्वांप्रस्कण्वएनावोवसिष्ठोग्नेवाजस्यगोतमोभद्रोनः सौभरिरग्नितंकुमारवृषौयेनावाग्नेय्यः षट्त्रिष्टुभोद्वेअनुष्टुभौतपश्चर्त- व्यंपरमेष्ठीसौरंप्रोथदश्वोवसिष्ठास्त्रिष्टुभमाग्नेयीमायोर्द्वेस्वयमातृण- देवत्येसहस्रस्यपंचाग्नेयानि ॥ २० ॥

इति संहितायांपंचदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

रौद्रोऽध्यायः परमेष्ठिनआर्षंदेवानांवाप्रजापतेर्वाद्योनुवाकःषोडशर्च्च एकरुद्रदेवत्यःप्रथमागायत्रीतिस्रोनुष्टुभस्तिस्रःपंक्तयःसप्तानुष्टुभोद्वे जगत्यौमानोद्वेकुत्सः ॥ २१ ॥ अंत्यानुवाकेसप्तैकरुद्रस्तुतिः ॥ आद्योपरिष्टाद्बृहतीद्वितीया जगती कुत्सस्य तृतीयानुष्टुब्द्वेत्रिष्टुभौ द्वेअनुष्टुभावसंख्याता बहुरुद्रदेवत्यादशानुष्टुभोमंत्राअवतानसंज्ञकास्ततोंत्यानित्रीणियजूंषिबहुरुद्रदेवत्यानिप्रत्यवरोहसंज्ञकामंत्राः ॥ २२ ॥ मध्येसर्वाणियजूंषि ॥ हिरण्यबाहवइतितिस्रोशीतयोरुद्राणां तेषामुभयतो नमस्काराअन्येन्यतरतोनमस्काराअपरेजातानामरुद्राः सभाभ्यइत्यादयोनमोवःकिरिकेभ्यइत्यग्निवायुसूर्य्यहृदयभूताः पंचव्याहृतयोबहुरुद्रदेवत्याः ॥ २३ ॥

इति संहितायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अश्मन्मारुतमश्मँस्तेश्मामय्याशीर्य्यंद्विष्मअभिचारिकमिमाम आग्नेयमृतवोबृहतीपंक्तिर्वासमुद्रस्यद्वेगायत्र्यावुपज्मंजगतीत्रिष्टुब्वाऽपामिदंबृहत्यग्नेपावकवसूयवसनोमेधातिथिरेतेआग्नेय्यौगायत्र्यौपावकयाजगतींभरद्वाजोनमस्तेबृहतीमाग्नेयीमृषिसुतालोपामुद्रा ॥ २४ ॥ नृषदेपंचाग्नेयानियेदेवाजगत्यौप्राणदेवत्येप्राणदाबृहतीपंक्तिर्वाऽऽग्नेय्यग्निस्तिग्मेनाग्नेयींगायत्रींभरद्वाजोयइमावैश्वकर्म्मणीत्रिष्टुभोविश्वकर्माभौवनः ॥ २५ ॥ आशुरैंद्रीद्वादशत्रिष्टुभोप्रतिरथोवसृष्टानुष्टुबिषुदेवत्याप्रतयोद्धन्तस्तौत्यनुष्टुबसौयामारुतीत्रिष्टुब्यत्रलिंगोक्तदेवता पंक्तिर्मर्म्माणिलिंगोक्तैवत्रिष्टुबुदेनंतिस्रोनुष्टुभआद्याग्नेयीद्वितीयैंद्रीतृतीयालिंगोक्तदेवता पंचदिशःपंचयज्ञाग्निसाधनवादिन्य आद्येद्वेत्रिष्टुभौतृतीयापंक्तिर्बृहतीवाचतुर्थीबृहत्येवांत्यात्रिष्टुब्विमानोद्वे आदित्यदेवत्येआद्याविश्वावसोर्द्वितीयाप्रतिरथस्यदेवहूर्विधृतिरनुष्टुब्यज्ञदेवत्यावाजस्यैंद्र्यनुष्टुबुद्राभमैंद्राण्यनुष्टुबेव ॥ २६ ॥ क्रमध्वंपंचाग्नेय्यः ॥ आद्यानुष्टुप्त-

तस्त्रिष्टुप्ततो बृहतीपिपीलिकमध्यातोनुष्टुप्त्रिष्टुबंत्याग्नेसदृस्राक्ष-
विराडाग्नेयीसुपर्णोद्वेपंक्तित्रिष्टुभौताॅ सवितुः सावित्रीं त्रिष्टुभंपुर-
स्ताज्ज्योतिषं कण्वोददर्शविधेमाग्नेयीगृत्समदस्त्रिष्टुभमस्याग्नि
स्थानोग्निर्देवताप्रेद्धोविराडाग्नेयीवसिष्ठस्यचित्तिंवैश्वकर्मण्यतिज-
गतीसप्तआग्नेयीत्रिष्टुप्सप्तऽऋषीणाम् ॥२७॥ शुक्रज्योतिः षण्मा-
रुत्यः॥याद्याचतुर्थीचोष्णिग्द्वितीयातृतीयाचगायत्री पंचमीजगती
षष्ठीगायत्र्युष्णिग्वैंद्रंदैवीर्मारुतमिमंत्रयोदशर्चंआग्नेयंत्रैष्टुभोऽनुवा-
को यज्ञस्तुतिर्घृतस्तुतिर्वावसोर्द्धाराभिवादिनीवाघृतंमिमिक्षेगृत्स-
मदःसमुद्राद्वामदेवश्चत्वारिशृङ्गायज्ञपुरुषदैवत्यऋषभोमंत्रः॥२८ ॥

इति संहितायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वाजश्चमेदेवानामार्षम्॥एतैर्यजुर्भिर्यजमानोग्नेःकामान्याचतेवाज-
प्रसवीॅसप्तर्चंविश्वे त्रैष्टुभंवैश्वदेवंलुशोधानाकोवाजोनस्तिस्रोन्नदेव-
त्याआद्यानुष्टुब्द्वेत्रिष्टुभौसंमाविराजावाग्नेय्योसरस्वत्यैलिंगोक्तदैव-
तम् ॥ २९ ॥ ऋताषाड्गंधर्वाप्सरसः ॥ सनःप्राजापत्या
प्रस्तारपंक्तिःसमुद्रोसिवायव्यानित्रीणिरुचमाग्नेय्यनुष्टुप्तत्त्वावारु-
णींत्रिष्टुभॅशुनःशेपःस्वर्णाग्नेयानिपंचाग्निंयुनज्म्याग्नेय्यस्तिस्र आ-
द्येद्वेत्रिष्टुभौपंक्तिस्तृतीयादिवोद्वेआग्नेय्यौपरोष्णिङ्महापदपंक्तिः
इष्टोयज्ञोद्व्यृचंयजमानाग्निदेवत्यंगालवआद्योष्णिग्द्वितीयागायत्री
॥ ३० ॥ यदाकूतादष्टर्चमाग्नेयम् ॥ विश्वकर्म्मणस्तृतीयादैवीवा-
द्याजगतीतिस्रस्त्रिष्टुभश्चतस्रोनुष्टुभोग्निरस्म्यग्न्यद्वैतवादिनींत्रिष्टुभंदे-
वश्रवादेववातश्चभारतावृचोयजुर्येआग्नेयोनुष्टुबाग्नेयी ॥ ३१॥वार्त्र-
हत्यायसप्तर्चमिन्द्रोपश्यत्॥ आद्येद्वेवार्त्रघ्न्यौगायत्रीत्रिष्टुभौविश्वा-
मित्रस्यचविनोनुष्टुम्मृगोनस्त्रिष्टुप्प्रथमाॅशासो भारद्वाजोद्वितीयां
जयऐंद्रोद्वेवैश्वानर्य्यौगायत्रित्रिष्टुभौपृष्टोदिविकुत्सस्यचा १ याम

द्वेत्रिष्टुभावाग्नेय्यौ काममवत्यावश्यामभरद्वाजस्यच वयंतेकात्स्यो त्कीलस्यच धामच्छदनुष्टुब्वैश्वदेवी ॥ ३२ ॥

इति संहितायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथसौत्रामणीप्रजापतेरार्षम् ॥ अश्विनोःसरस्वत्याश्वस्वादींत्वा नुष्टुप्सुरासोमदेवत्यासोमोसिचत्वारिसौराणिपरितोभारद्वाजःसौ- मींबृहतींवायोस्तृचोगायत्रःसौम्य आभूतेर्ब्रह्मक्षत्रंत्रिष्टुप्सुरासोमदेव- त्यानानाहिजगतीसुरासोमदेवत्यातेजोसिपयोदेवत्यान्योजोसिसु- रादेवत्यानियाव्याघ्रंहैमवर्चैरनुष्टुब्त्रिषूचिकास्तुतिर्यदापिपेषाग्ने- यीबृहतीसम्पृचस्थपयोग्रहाविप्रचस्थसुराग्रहादेवायज्ञंब्राह्मणानुवा- कोविंशतिरनुष्टुभःसोमसंपत्॥ ३३॥सुरावंतंचतुर्ऋचंत्रैष्टुभम्॥ अ श्विसरस्वतींद्रदेवत्यंपितृभ्यःसप्तपित्र्याणिपुनन्तुमानवर्चंपावमान- माद्येद्वे पित्र्येअनुष्टुभौ प्रजापतिस्तृतीयांवैखानसआग्नेयींगायत्रींच तुर्थीलिंगोक्तदेवतानुष्टुप्पंचम्याग्नेयीगायत्रीषष्ठ्याग्नेयीब्राह्मीचगाय- त्रीब्राह्म्यस्तृतीयःपादःसौमीसप्तमीसावित्र्यष्टमीनवमीत्रिष्टुब्वैश्वदे- वीयेसमाना अनुष्टुभौपित्र्याद्याद्वितीयायजमानाशीर्द्वेसृतीत्रिष्टु- ब्देवपानपितृयाणौपंथानौब्रवीतीदंहविरूयवसानाधिर्यजमाना- शीः ॥ ३४ ॥ उदीरतांत्रयोदशर्चंपित्र्यंत्रैष्टुभंशंखएका- दशीतुजगत्याच्यजानुदशर्चोनुवाकोनवपित्र्यादशम्यैंद्रीगायत्री तृतीयाचतुर्थीनवम्योनुष्टुभस्त्रिष्टुभइतराः सोमोराजाष्टर्चमश्विसर- स्वतीन्द्राऽअपश्यन्नाद्यास्तिस्रोमहाबृहत्यउपांत्याच चतुर्थ्यन्तेअ- तिजगत्यौशेषेअतिशक्वर्य्योंत्र्यवसानेसीसेनतंत्रमश्विसरस्वतींद्रदेव- त्याःषोडशजगत्यः ॥ ३५ ॥

इति संहितायामेकोनविंशोऽध्यायः ॥ १९ ॥

क्षत्रस्ययोनिर्द्विपदागायत्री॥आसन्दीदेवताकामात्वाकृष्णाजिनं मृत्योरुक्मावश्विनोर्भैषज्येन लिंगोक्तदेवतानित्रीणिको ॱप्राजाप-

त्यागायत्री शिरोमेपंचर्चेमिंद्रशरीरावयवदेवताकंतृतीयागायंत्र्यं
त्यामहापंक्तिरुयवसानानुष्टुभोंत्याःप्रतिक्षत्रेवैश्वदेवंत्रयादेवादैवीपं-
क्तिरुयवसाना प्रथमाद्वितीयैर्वैश्वदेवमाशीर्लिंगं लोमान्यनुष्टुब्लि-
गोक्तदेवता ॥ ३६ ॥ यद्देवास्तिस्रोग्निवायुसूर्यदेवत्या अनुष्टुभः ॥
कुष्माण्डीर्यद्रामेलिंगोक्तदेवतॅंसमुद्रेतेद्विपदाविराडापीद्रुपदादिवा
नुष्टुबाप्युद्वयॅंसौर्यनुष्टुप्प्रस्कण्वस्यापोऽआद्याग्नेयीपंक्तिरेधोसिस-
मिदेवत्येयजुषी समाववर्त्येनिरुक्तागायत्रीवैश्वानरज्योतिर्यजुरभ्या
दधाम्याग्नेयंतृचमानुष्टुभमाश्वतराश्विरॅंशुनासौर्य्यनुष्टुप्सिचंतिप
रिसौर्यैन्द्रीचानुष्टुब्धानावंतमैंद्रीगायत्रीविश्वामित्रस्यचबृहदिंद्रायबृ
हतीनृमेधपुरुषमेधयोरध्वर्योर्गायत्री ॥३७॥ योभूतानामात्मप्रवादा
पंक्तिः॥नारायणीयाकौंडिन्यस्यप्राणपामेद्वेनुष्टुबुपरिष्टाद्बृहत्यौलिं-
गोक्तदेवते समिद्धइंद्रएकादशाप्रीस्त्रिष्टुभआंगिरसइध्मस्तनूनपान्न-
राशॅंसइडोबर्हिर्द्वारउषासानक्तादैव्याहोतारस्तिस्रोदेवीस्त्वष्टावन
स्पतिःस्वाहाकृतयइत्येताआप्रीदेवता ॥आयातुसप्तत्रिष्टुभऐंद्र्यआ-
मन्द्रैर्बृहत्यायातुवामदेवस्त्रातारंगर्गआमन्द्रैर्विश्वामित्र एवेद्रसिष्ठः
॥ ३८ ॥ अथहोत्रंत्रिपशोः ॥ समिद्धोअग्निराप्रीर्द्वादशविदर्भिर
श्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याअनुष्टुभोश्विनाहविस्तिस्रोनुष्टुभएकैकाश्विस
रस्वतींद्रदेवत्यायइंद्रसवितृवरुणदेवत्यास्तिस्रोऽनुष्टुभोऽश्विनागो-
भिस्तिस्रोनुष्टुभो युवंपुत्रमिवानुष्टुप्त्रिष्टुभौ यस्मिन्नश्वासआग्नेय्यौ
जगतीत्रिष्टुभावश्विनातेजसैकादशर्चॅंशस्त्रं गोमद्गृत्समदस्तृचमा-
श्विनंगायत्रंपावकानोमधुच्छंदाःसारस्वतमिंद्रायाह्यैंद्रं मधुच्छंदाए-
वानुक्तमानुष्टुभमश्विसरस्वतींद्रदैवत्यम् ॥ ३९ ॥

इति संहितायां विंशोध्यायः ॥ २० ॥

इमंमेगायत्रीत्रिष्टुभौवारुण्यौशुनःशेपः॥त्वन्नस्त्रिष्टुभावाग्निवारुण्यौ
वामदेवोमहीमूषुत्रिष्टुभादित्यासुत्रामाणंगयःप्लातः सुनावत्रौस्वर्ग्या

गायत्र्यानोमैत्रावरुणींगायत्रींविश्वामित्रः प्रबाहवावसिष्ठस्त्रिष्टुभर्ठं समिद्धोअग्निरेकादशाप्रमानुष्टुभर्ठंस्वस्त्यात्रेयस्यार्षंवयोधाइंद्रो देवतावसंतेनऋतुनाषड्ृचामानुष्टुभंलिंगोक्तदेवतर्ठंहोतायक्षद्द्वादशाप्रीः प्रैषाअश्विसरस्वतींद्रदेवत्याअश्विनौछागस्यसप्तलिंगोक्तदेवताःप्रैषावनस्पतिमभियूपोग्निर्ठंस्विष्टकृतर्ठंस्विष्टकृदग्निर्देवंबर्हिरेकादशानुयाजप्रैषाअश्विसरस्वतीन्द्रदेवत्याऽअग्निमद्यसूक्तवाकप्रैषोलिंगोक्तदेवतोलिंगोक्तदेवतः॥४०॥इति संहितायामेकविंशोध्यायः॥

इति सर्वानुक्रमणिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ॐअथाश्वमेधश्चतुरोध्यायान्प्रजापतिरपश्यत् ॥ तेजोसिसौवर्णंनिष्कमिमामगृभ्णन्संवत्सरो यज्ञपुरुषस्त्रिष्टुभमभिधालिंगोक्तानियोअर्वन्तंगायत्र्यर्द्धंनाश्वस्तुतिःपरोर्धोलिंगोक्तोग्नयेलिंगोक्तान्येवहिंकारायेत्यश्वस्यैकान्नपंचाशच्चेष्टितानि हिरण्यपाणिंपंचर्च्चर्ठंसावित्रंगायत्रमाद्यांमेधातिथिरग्निर्ठंस्तोमेनाग्नेयंतृचंगायत्रर्ठं सुतंभरोविश्वामित्रोविरूपोयथासंख्यमजीजनोहिपावमानींकृतिंपिपीलिकमध्यामनुष्टुभंत्र्यरुणत्रसदस्यूर्विंभूरश्वदैवतंदेवादैवमिहरंतिराग्नेयानि चत्वारिकायौद्भ्रूभ्णानि लिंगोक्तान्याब्रह्मलिंगोक्तान्येवाध्यायंत ॥ १ ॥

इति संहितायां द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

प्रजापतयेप्राजापत्यम्॥यस्तेदेवंयःप्राणतस्त्रिष्टुप्कायी हिरण्यगर्भस्ययुंजन्तिमधुच्छन्दाआदित्यदेवत्यांगायत्रीं युंजंत्यस्याश्वस्तुतियंद्वातोबृहतीमौवसवस्त्वालिंगोक्तानिलाजीर नश्वदेवत्यंकःस्विच्चतस्रोऽनुष्टुभःप्रश्नप्रतिप्रश्नभूताब्रह्मोद्येहोतुर्ब्रह्मणश्चवायुश्चालिंगोक्तानिसर्ठंशितस्तिस्रोश्वदेवत्यानुष्टुब्विराड्त्रिष्टुभोग्निः पशुराश्वानित्रीण्यंबेनुष्टुबश्वस्तुतिर्गणानांत्वाचत्वारिलिंगोक्तानि ॥ २ ॥ उत्स-

क्त्थ्या गायत्र्याश्वी ॥ एकादशर्चमानुष्टुभंद्वितीया तूपरिष्टाद्बृहत्यध्व र्य्वादीनांकुमार्य्यादिभिरश्लीलभाषणं ताएवदेवता दधिक्राव्णो दधिक्रावावामदेव्यःसुरभिमतीमनुष्टुभमाश्वींगायत्रीठ्ठं षडचमाश्व मुष्णिगाद्याश्चतस्रोनुष्टुभोंत्यात्रिष्टुप् कस्त्वाषडृचमाश्वमाद्यागा- यत्रीपंचानुष्टुभः कःस्विदष्टादशर्चंब्रह्मोद्यठ्ठं होत्रादीनांप्रश्नप्रति- प्रश्नभूतमाद्याश्चतस्रोनुष्टुभःकास्विदाद्याश्चतस्रश्चांत्यादशत्रिष्टुभः सुभूरनुष्टुब्लिंगोक्तदेवताहोतायक्षत्प्राजापत्यःप्रैषःप्रजापतेर्हिरण्य- गर्भःप्राजापत्यां त्रैष्टुभम् ॥ ३ ॥

इति संहितायां त्रयोविंशोध्यायः ॥ २३ ॥

अश्वस्तूपरइत्यादयः ॥ पशवोध्यायेनोक्तादेवतावापर्यंग्या- स्तथारोहितादयोगुणयुक्ताऽआरण्याश्चकपिंजलादय आध्याया- च्छादंदद्भिरित्यादित्वगित्येतदंतं द्रव्यदैवतमुक्तम् ॥ ४ ॥ अश्व- स्तूपरोब्राह्मणोध्यायः ॥

इति संहितायां चतुर्विंशोध्यायः ॥ २४ ॥

शादंदद्भिस्त्वचांतश्चजुंबकायवारुणींद्विपदांमुंडिभओदन्य एषां चाघनाशन्यंतर्ज्जलेयस्येमेकाय्यौत्रिष्टुभौहिरण्यगर्भः प्राजापत्य आनोदशर्चंजागतंवैश्वदेवंगोतमःस्वस्तिनोविराट्स्थाना भद्रंकर्णे- भिस्तृचं त्रैष्टुभं मानोश्वस्तोमीयंदीर्घतमास्त्रैष्टुभंद्वाविंठ्ठंशत्यृचम- श्वस्तुतिस्तृतीयाषष्ठ्यौ जगत्याविमानुद्वैपदं वैश्वदेवंतृचं भौवन आप्त्योवासाधनभौवनोवा ॥ ५ ॥

इति संहितायां पञ्चविंशोध्यायः ॥ २५ ॥

अग्निश्चसप्तलिंगोक्तानि ॥ प्रियोदेवानांलौगाक्षिरनुष्टुभमनव- सानांबृहस्पतेगृत्समदोब्राह्मीं त्रिष्टुभमिंद्रगोमन्नैंद्र्यौगायत्र्यौरम्या- क्षिर्ऋतावानंप्राद्धुराग्निर्वैश्वानरीयां वैश्वानरस्य ॥ त्रिष्टुभंकुत्सो-

ग्निर्ऋषिराग्नेयींगायत्रीं वसिष्ठभरद्वाजौमहाँ २५इंद्रौ माहेंद्रीव-
सिष्ठस्तंवऐन्द्रींपथ्याबृहतींनोधागोतमोयद्वाहिष्ठंवसुयवआग्नेयीम-
नुष्टुभमेहिभरद्वाजोगायत्रीमृतवस्तेबृहतीत्युपह्वरेवत्सो गायत्रीम्
॥ ६ ॥ उच्चातेगायत्रंतृचर्ठंसौम्यमामहीयवोनुवीरैर्मुद्गलोयज्ञपुरु-
षस्त्रिष्टुभमग्नेपत्नीर्मेधातिथिराग्नेयींगायत्रीमभियज्ञंद्व्यृचमृतुदैवतं
मेधातिथिस्तवायमैंद्रीत्रिष्टुभं विश्वामित्रोमेवनोजगतीं गृत्समदः
स्वादिष्ठयामधुच्छन्दाः सौम्यावनुक्तानांगायत्रम् ॥ ७ ॥

इति संहितायां षड्विंशोध्यायः ॥ २६ ॥

समास्त्वाग्नेकोध्यायः ॥ प्रजापतेरार्षर्ठंसामिधेन्योनवाग्नेय्य-
स्त्रिष्टुभोग्निनादृष्टाअग्निर्ऋषिःकर्मांगभूतमग्निं७स्तौत्यूर्ध्वोद्वादश-
र्चेमाप्रियमौष्णिहंविषमपदंप्राजापत्यमाग्नेयमग्निरपश्यदग्निर्हिप्र-
जापतित्वेनसंस्तूयतेतेनप्राजापत्यम् ॥ ८ ॥ पीवोअन्नाद्वेवा-
यव्ये त्रिष्टुभौवसिष्ठः ॥ आपोहद्वेप्राजापत्येहिरण्यगर्भःप्राजा-
पत्यः प्रयाभिर्द्वेवायव्येवसिष्ठोनियुत्वान्वायव्याःषड्वायोशुक्रोनु-
ष्टुबेकयाचत्रिष्टुबंत्यागायत्र्योनियुत्वान्वायोये गृत्समदोवायोशु-
क्रःपुरुमीढाजमीढौ तववायोव्यश्वआङ्गिरसोभित्वावसिष्ठऐन्द्रं
प्रगाथंप्रथमाबृहतीद्वितीयासतोबृहतीत्वामिदेवर्ठंशंयुर्बार्हस्पत्यः
कयानऐंद्रंतृचंगायत्रं वामदेवोऽत्यातु पादनिचृद्यज्ञायज्ञावऊर्जोन-
पातर्ठंशंयुः पाहिनोगर्भः प्रागाथएतंतृचंप्रागाथमाग्नेयंद्वेबृहत्यौ
तृतीयासतोबृहतीसंवत्सरोस्याग्नेयम् ॥ ९ ॥

इति संहितायां सप्तविंशोध्यायः ॥ २७ ॥

इंद्रमिडःसौत्रामणिकोध्यायः ॥ एकादशप्रयाजप्रैषाऐंद्राआ-
प्रीदेवत्याआद्येनुवाके देवंबर्हिरनुयाजप्रैषाऐंद्राएकादशैवाग्निमद्ये-
न्द्रःसूक्तवाकप्रैषस्त्वामद्यप्रतीकउभयत्रापिशमिधानंमहद्वायोधस-

आप्रियएकादशप्रयाजप्रैरवास्तथैवदेवंबर्हिरनुयाजप्रैरवा अग्निमद्य-वायोधसःसूक्तवाकप्रैषः ॥ १० ॥

इति संहितायामष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

समिद्धोअंजनाश्वमेधिकोध्यायः ॥ आद्याआप्रीस्त्रिष्टुभएका-दशाश्वस्तुतिर्बृहदुक्थोवामदेव्योददर्शाश्वोवासामुद्रिर्यदक्रंदस्त्र-योदशाश्वस्तुतिस्त्रिष्टुभोभार्गवोजमदग्निर्ददर्शदीर्घतमाश्च समिद्धोऽ अद्यद्वादशाप्रीस्त्रिष्टुभोजमदग्निः॥ ११॥केतुंकृण्वन्नाग्नेयीमनिरुक्ता गायत्रींमधुच्छन्दाः ॥ जीमूतस्येवपायुर्भारद्वाजःसंग्रामांगान्यृक्षौ-स्तौषीत्सन्नाहंकार्मुकंगुणमार्तीतूणंजगत्यर्द्धेनसारथिमर्द्धेनरश्मीन्ह-रीन्रथरथगोपायितृञ्जगत्यालिंगोक्तदेवताद्वाभ्यांत्रिष्टुबनुष्टुब्भ्या-मिषुमनुष्टुभाकशांततो हस्तघ्नंततस्तृचौरथदुंदुभिदेवत्यावैंद्रोर्द्ध-र्चौत्यःसर्वास्त्रिष्टुभोनुक्ताआग्नेय्यःकृष्णग्रीवइत्याद्याएकादशिन्यो द्वयोःपशुदेवताअग्नयेगायत्रायेतिदशहविषोवेष्टेर्देवता ॥ १२ ॥

इति संहितायामेकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

देवसवितुर्द्वावध्यायौ ॥ पुरुषमेधोनारायणःपुरुषोददर्शवि-श्वानिदेवगायत्रीर्ठंसावित्रीर्ठंश्यावाश्वोविभक्तारं मेधातिथिर्ब्रह्म-णेब्राह्मणमितिद्वेकंडिकेतपसेनुवाकश्चब्राह्मणम् ॥ १३ ॥

इति संहितायां त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

सहस्रशीर्षाषोडशर्च्चमानुष्टुभम् ॥ त्रिष्टुबंत्यंपुरुषोजगद्बीजम-न्त्रदेवताद्र्यःषड्चउत्तरनारायणोमंत्र आद्यास्तिस्त्रस्त्रिष्टुभो द्वेअ-नुष्टुभावंत्यात्रिष्टुप् ॥ १४ ॥

इति संहितायामेकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

तदेवसर्वमेधोध्यायः॥ आत्मदैवतःसप्तमेहनिसर्वहोमेविनियुक्तः सर्वमेधंब्रह्मस्वयंभ्वैक्षततदीयं मंत्रगणंप्रवायुमच्छेत्येतस्मादाद्ये द्वे अनुष्टुभौनतस्यद्विपदागायत्रीहिरण्यगर्भश्चत्तसोमामाहिर्ठंसीद्य-

स्मान्नद्वे एताः प्रतीकचोदिता ब्रह्मयज्ञे ध्येयाः सर्वत्रैवमेषोहचतस्रस्त्रि-ष्टुभआपोहयश्चित्प्रतीकचोदिते ॥ १९ ॥ वेनस्तत्पंचत्रिष्टुभः ॥ सदसस्पतिंतृचेनमेधाकामोमेधांयाचतेप्रथमागायत्रीलिंगोक्तदेवता-द्वितीयाग्नेय्यनुष्टुप् तृतीयालिंगोक्तदेवतानुष्टुबिदं मेमांत्रवर्णिक्य-नुष्टुबेतया ॥ देवेभ्यः श्रीकामोयाचतेश्रियम् ॥ १६ ॥

इति संहितायां द्वात्रिंशोध्यायः ॥ ३२ ॥

अस्याजरासः ॥ सप्तदशाग्निष्टुत्याग्निष्टोमिकेप्रथमेहनिपुरो-रुच अग्नेय्यआद्येद्वेऐंद्रवायवस्यास्याजरासोवत्सप्रीर्हरयोधूमके-तवोविरूपोयजमानोद्वेमैत्रावरुणस्ययजमानोगोतमोद्वेविरूपेशुक्र-स्यकुत्सोयमिहमंथिनोवैश्वदेवग्रहग्रहणे त्रीणिशताविश्वामित्र ऐंद्राग्नस्याग्निर्वृत्राणिभरद्वाजोवैश्वदेवस्य विश्वेभिः सोम्यंमेधाति-थिरायन्मरुत्वतीययोर्द्वे आयत्पराशरः शाक्त्योऽग्नेशर्द्धात्रिदुहि-ताविश्वावारात्वांहिभरद्वाजस्त्वेअग्नेद्वेबृहत्यावादित्यस्यत्वेअग्ने वसिष्ठः श्रुधिप्रस्कण्वआदित्यग्रहग्रहणेविश्वेषामदितिर्वामदेवोगोत-मोमहोअग्नेःसावित्रस्यलुशोधानाकोऽनुक्तगायत्रंत्रैष्टुभम् ॥ १७ ॥ इन्द्र स्तुत्युक्थ्येद्वितीयेऽहनि ॥ ऐंद्र्यः पुरोरुचोद्वादशप्रतीकचोदितेचद्वेति स्रश्चापश्चिद्वसिष्ठोगावउपपुरुमीढाजमीढौयदद्यवसिष्ठआसुतेसुनी-तिरातिष्ठतंविश्वामित्रःप्रवः सुचीकोबृहन्नित्रिंशोकइन्द्रेहिमधुच्छंदा इंद्रोवृत्रविश्वामित्रः कुतस्त्वमगस्त्यआतद्गौरीवितिशाक्त्यइमान्ते-कुत्सोजगतीमनुक्तंगायत्रंत्रैष्टुभम् ॥ १८ ॥ सूर्यस्तुत्युक्थ्येतृती-येहनि ॥ सौर्यश्चतुर्दशपुरोरुचस्तिस्रश्चप्रतीकोक्ताविभ्राड्बृहज्जग-ती विभ्राट्सौर्य उदुत्यं तिस्रः प्रस्कण्वआनोगस्त्योयदद्यश्रुतकक्षः सुतंकक्षौतरणिः प्रस्कण्वस्तत्सूर्यस्यद्वेकुत्सोबण्महा २ ॥ द्वेजम-दग्निर्बृहती सतोबृहत्यौश्रायंतइवनृमेधो बृहतीमत्यद्यादेवाः कुत्स आकृष्णेनहिरण्यस्तूपआंगिरसोनाख्यातंसौर्यंगायत्रंत्रैष्टुभम् ॥ ॥ १९ ॥ वैश्वदेवस्तुतिचतुर्थेहनि ॥ वैश्वदेव्यः पुरोरुचएकादश

पट्टचप्रतीकोक्ताःप्रवावृजेवसिष्ठस्त्रिष्टुभइन्द्रवायूबृहस्पतिंत्र्मेधाति-
थिरधिनः कुसीदीकाण्वोग्नइन्द्रप्रतिक्षत्रइन्द्राग्नीमित्रावरुणाजग-
तीं काश्यपो वत्सारोऽस्मेरुद्राः प्रगाथोवर्चोऽअग्रकूर्म्मोगात्र्सं-
मदो विश्वेअग्नलुशाधानाकोविश्वेदेवाः सुहोत्रोदेवेभ्योहिवामदेवो
जगतीमनुक्तं गायत्रं त्रैष्टुभम् ॥ २० ॥ अथाऽनारभ्याधीतंमन्त्र-
गणम् ॥ अर्वाक्पितृमेधादादित्ययाज्ञवल्क्यौदद्दशतुः प्रवायुंपं-
चदशर्चः पुरोरुग्गणोद्वेचप्रतीकोक्ते प्रवायुमृजिश्वोमित्रर्ठंहुवेद्वे
मधुच्छन्दामित्रं लिंगोक्तादस्रायुवाकवआश्विनी विदद्यदैन्द्रीं-
कुशिकोनहिस्पर्शंविश्वामित्रोवैश्वानरीमुग्राविघनिनैन्द्राग्नीं भर-
द्वाजउपास्मै सौमींदेवलोसितोवायैत्वाविश्वामित्रोजनिष्ठाउग्रोगौ-
रीवितिरातुवामदेवस्तृचमैन्द्रंत्वमिंद्रद्वौनृमेधः पथ्याबृहतीसतो-
बृहत्यौयज्ञो देवानांकुत्सोदश्थेभिः सावित्रींजगतींभरद्वाजः ॥
॥ २१॥ प्रवीरयापंचदशर्चःपुरोरुग्गणः ॥ द्वेचप्रतीकोक्तेप्रवीर-
यावसिष्ठोवायव्यांकाव्ययोराजानेषुदक्षस्तिरश्चीनःपरमेष्ठी प्रजा-
पतिर्भावबृत्तंतृचमारोदसींजगतीं विश्वामित्रउक्थेभिर्वृत्रहंतमाव-
सिष्ठउपनः सुहोत्रोवैश्वदेवीं ब्रह्माणिमेगस्त्यो द्वेइंद्रमरुत्संवादेत-
दिद्राथर्वणोबृहद्दिवइमाउत्वाद्वेबृहत्यौमेधातिथिरयर्ठंसहस्रं मेधा-
तिथिःसतोबृहतीम् ॥ २२ ॥ आनस्त्रयोदशर्चः पुरोरुग्गणः ॥
चतुर्ऋचंप्रतीकचोदितंचानोवायव्यांजमदग्निरिन्द्रवायूसुसन्दृशेंद्र-
वायव्यां तापसऋषगित्थामैत्रावरुणीं जमदग्निरायातमाश्विनीं
वसिष्ठःप्रैतुवैश्वदेवींकण्वश्चन्द्रमाअप्स्वैन्द्रीमाहुतीपरिणामवादिनीं
त्रितआस्योदेवंदेवंवोमनुर्वैवस्वतोवैश्वदेवींदिविपृष्ठोमृधऐन्द्रइंद्रा
ग्नीअपात्सुहोत्रोदेवासोहिमनुरपाधमद्वेनृमेधोस्येन्मेधातिथिर्दशम्ये-
कादश्यंत्याचसतोबृहत्यःशेषाबृहत्यःशेषाबृहत्यः ॥ २३ ॥

इति संहितायां त्रयस्त्रिंशोध्यायः ॥ ३३ ॥

इति सर्वानुक्रमणीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

यज्जाग्रतः षडृचंमानसंत्रैष्टुभꣳशिवसंकल्पः॥ पितुन्नूषिण-
ह् मगस्त्यो न्नस्तुतिमन्विच्चतुर्ऋचमानुष्टुभं द्वयोरनुमितिर्द्वयोःसिनी-
वालीसरस्वत्यौसिनीवालीपृथुष्टुकेद्वेगृत्समदस्त्वमग्नेद्वेआग्नेय्यौजग
त्यौहिरण्यस्तूपआंगिरसउत्तानायांद्वेदेवश्रवादेववातश्चभारतावाद्या
त्रिष्टुब्द्वितीयानुष्टुप्प्रमन्महेनोधाद्वयृचमैन्द्रंत्रैष्टुभमिच्छन्तित्वाद्वयृ
चमैन्द्रं त्रैष्टुभमेवदेवश्रवादेवताश्चभारतौ ॥१॥ अषाढंयुत्सुगोत-
तमः ॥चतुर्ऋचंत्रैष्टुभꣳसौम्यमष्टौव्यख्यच्चतुर्ऋचंत्रैष्टुभꣳसावित्र-
मांगिरसोहिरण्यस्तूपो द्वितीयाजगत्युभापिबतुमाश्विनंतृचमुभापि
बतं प्रस्कण्वोगायत्रीमप्नस्वतीमश्विनात्रिष्टुभौ कुत्स आरात्रिपथ्या
बृहतीꣳरात्रिदैवत्यां कशिपाभरद्वाजदुहितोषस्तदुषस्यां परोषिण-
हंगोतमः प्रातरग्निंवसिष्ठःसप्तर्चमाद्याजगतीबहुदेवत्यापंचभगदेव-
त्यास्त्रिष्टुभोंत्योषस्याः ॥ २ ॥ पूषन्तवसुहोत्रः ॥ पथस्पथः
परिपतिमृजिश्वैतेपौष्ट्यौगायत्री त्रीणिपदावैष्णव्यौगायत्र्यौ
मेधातिथिर्घृतवतीभुवनानांभरद्वाजोद्यावापृथिव्यांजगतींयेनोलिं-
गोक्तदेवतांत्रिष्टुभंविहव्यआनासत्याहिरण्यस्तूपआश्विनीमेषवो-
मारुतींत्रिष्टुभमगस्त्यःसहस्तोमा ऋषिसृष्टिप्रतिपादिकांत्रिष्टुभं
यज्ञः प्राजापत्य आयुष्यं वर्च्चस्यंतृचंदक्षउष्णिक्शक्वरीत्रिष्टु-
भोहिरण्यस्तुतिरुतनऋत्विजोबहुदेवत्यात्रिष्टुभमिमांगिरः कूर्मो
गार्त्समद आदित्यदेवत्यांत्रिष्टुभꣳसप्तऋषयोध्यात्मवादिनीजग-
त्युत्तिष्ठंतृचोब्राह्मणस्पत्यआद्येबृहत्यौ कण्वोघोरोंत्यांत्रिष्टुभंगृत्स-
मदोयइमाचतुर्ऋचंप्रतीकोक्तम् ॥ ३ ॥

इति संहितायां चतुस्त्रिंशोध्यायः ॥ ३४ ॥

अपेतोध्यायः ॥ पित्र्यआदित्यस्यदेवानांवाद्यागायत्री परं
यजुःसवितातेगायत्रीवायुःपुनातुचत्वारिलिंगोक्तानि ॥ सविता
तेगायत्रीपरंमृत्योसंकसुकस्त्रिष्टुभं मृत्युदेवत्याꣳशंवातोऽनुष्टुब्बृह-
त्यौवैश्वदेव्यावश्मन्वतीसुचीकस्त्रिष्टुभंवैश्वदेवीमपाघंलिंगोक्तदे-

वतामनुष्टुभꣳशुनःशेपोदुःस्वप्ननाशनीमनड्वाहमानडुह्यनुष्टुबिमं जीवेभ्यः संकसुकोमृत्युदेवत्यां त्रिष्टुभमायुष्मानग्नआग्नेयींत्रिष्टुभंवैखानसःपरीमेनुष्टुभमैंद्रीभारद्वाजःशिरिंबिठः क्रव्यादमग्निंत्रिष्टुभमाग्नेयींदमनोवहवपांजातवेदसीत्रिष्टुप्स्योनापृथिवीमेधातिथिः पार्थिवींगायत्रीमस्मात्त्वमाग्नेयीगायत्र्यनिरुक्ता ॥ ४ ॥

इति संहितायां पंचत्रिंशोध्यायः ॥ ३५ ॥

ऋचंवाचंपंचाध्यायीम् ॥ दध्यङ्ङाथर्वणोददर्शाग्निकाश्वमेधिकवर्ज्जमाद्योध्यायः ॥ शांत्यर्थो वैश्वदेवआद्यानियजूꣳषि यन्मेबार्हस्पत्यापंक्तिः कयात्वमैंद्र्यनिरुक्तागायत्रींद्रोविश्वस्य विराड्द्विपदाशन्नोद्वे अनुष्टुभावहानिद्विपदागायत्रीशन्नइन्द्राग्नीत्रिष्टुब्गायत्र्यावंत्याशीर्व्वौः शांतिर्यजूꣳषिनमस्तेअस्त्वनुष्टुभौतच्चक्षुःपुरउष्णिक्सौरी ॥ ५ ॥

इति संहितायां षट्त्रिंशोध्यायः ॥ ३६ ॥

आददेनारिरस्यभ्रिर्दैवतम् ॥ देवीद्यावापृथिव्यंदेव्योवभ्र्योवल्मीकवपेयत्यग्नेवराहविहतमिंद्रस्यौज आदाराःप्रैतुमखस्याश्वस्यज्जेवयमायदेवस्त्वाचिरसि घर्मदेवत्यानियोघर्मसआदित्यो यएषतपत्यनाधृष्टापुरस्तात्सप्तपार्थिवानियजमानाशीर्मधुप्राणदेवत्यानि गर्भो देवानामवकाशामामाहिꣳसीरिप्येतदन्ताघर्मदेवत्याधर्तादिवऊर्ध्वबृहत्यपश्यंगोपांत्रिष्टुभंदीर्घतमाहृदेत्वापरोष्णिक्त्वष्टेमन्तःपत्न्याशीरहःकेतुनायजुषीघर्मदेवत्ये ॥ ६ ॥

इति संहितायां सप्तत्रिंशोध्यायः ॥ ३७ ॥

आददेदित्यैरज्जुः ॥ इडएहिगौर्यस्तेत्रिष्टुभंदीर्घतमाइन्द्राश्विना वैश्वदेवानिसमुद्रायत्वावातनामानिस्वाहाघर्मायघर्मदेवत्येविश्वाआशाआश्विन्यनुष्टुब्दिविधाघर्मदेवत्यमश्विनाघर्ममुष्णिगपातांककुबमेन्यस्मेस्वरःस्वाहापूष्णेसप्तलिंगोक्तदेवतानि

स्वाहासंपयोदेवत्यंमधुहुतंघर्म्मोभीमंगायत्री बृहत्यावनवसाने अतिशक्करी वाग्नेयीसमस्तात्र्यवसानायातेघर्मक्षत्रस्यबृहतीचतुः स्रक्तिर्महाबृहतीर्घमैतदनुष्टुबचिक्रदत्परोष्णिग्यावतीद्यावापृथिवीदधिघर्मोमयित्यत्पंक्तिर्यजमानाशीः पयसोरेतोगायत्र्यनवसानात्विषः संवृग्दधिघर्मोनुक्तंघर्मदैवतम् ॥ ७ ॥

इति संहितायमाष्टात्रिंशोध्यायः ॥ ३८ ॥

स्वाहाप्राणेभ्योमांत्रवर्णिक्योदेवताः ॥ मनसः काममनुष्टुब्यजमानाशीःश्रीर्देवताप्रजापतिः संभ्रियमाणोयथाकालं प्रायश्चित्तदेवताः सविताप्रथमेहन्प्रत्यहंक्रमेणोग्रश्चमारुतीगायत्रीविमुखाख्योमंत्रोग्नौविनियुक्तस्तस्मादाग्निकऽएवास्यऋषिः परमेष्ठीप्राजापत्योवाग्निर्ठंहृदयेनाश्वमेधिकानित्रीणितंत्रोक्तएवऋषिर्लोमभ्यः स्वाहेतिप्रायश्चित्ताहुतयोद्विचत्वारिंठंशत् ॥ ८ ॥

इति संहितायामेकोनचत्वारिंशोध्यायः ॥ ३९ ॥

ईशावास्यमात्मदेवत्यआनुष्टुभोध्यायः ॥ अनेजदेकंत्रिष्टुप्सपरिजगतीवायुरनिलंयजुषीओ ३ मितिपरमाक्षरस्य योगिनामालम्बभूतस्यपरस्य ब्रह्मणः प्रणवाख्यस्यास्थूलादिगुणयुक्तस्य ब्रह्मऋषिच्छंदोगायत्रंपरमात्मादेवताब्रह्मारंभेविरामेचयागहोमादिषुशांतिपुष्टिकर्मसुचान्येष्वपिकाम्यनैमित्तिकादिषुसर्वेषुविनियोगोऽस्यक्रतौत्रिभिर्य्यजुर्भिरंतेयज्ञान्योगीस्मारयत्यग्नेनयान्तनमस्कारोक्तिर्हिरण्मयेनादित्योपासनमो ३ मितिनामनिर्देशोब्रह्मणः खंब्रह्मेत्याकाशरूपमन्तेब्रह्मध्यायेत् ॥ ९ ॥

इति संहितायां चत्वारिंशोध्यायः ॥ ४० ॥

अथातश्छन्दोदेवता ॥ गायत्र्याअग्निरुष्णिहःसवितानुष्टुभः सोमोबृहत्याबृहस्पतिः पंक्तेर्वरुणस्त्रिष्टुभइन्द्रोजगत्या विश्वेदेवा

विराजोमित्रःस्वराजोरुणोतिच्छन्दसः प्रजापतिर्विच्छन्दसो वायुर्द्विपदायाःपुरुषएकपदायाब्रह्मासर्वात्रृचआग्नेय्यःससर्वाणियजूꣳषिवायव्यानिसर्वाणिसामानिसौराणिसर्वाणि ब्राह्मणानिच स्वाहाकारस्याग्निर्वषट्कारस्यविश्वेदेवाः कर्मारंभमन्त्राणांदेवता वेदितव्याः संन्यस्यमनसिदेवतांततोहविर्हूयतेदेवतामविज्ञाययोजुहोतिदेवास्तस्यहविर्नजुषन्तेस्वाध्यायमपियोधीतेमन्त्रदेवतज्ञः सोमुष्मिँल्लोकेदेवैरपीड्यतेतस्माच्चदेवतावेद्यामन्त्रेमन्त्रेप्रयत्नतोमन्त्राणांदेवताज्ञानान्मन्त्रार्थमधिगच्छतिमन्त्रार्थज्ञानात्तु विधूतपाप्मानाकमभ्येतिनहिकश्चिदविज्ञाययाथातथ्येन देवताःश्रौतानांकर्मणां विप्रःस्मार्तानां चाश्नुतेफलम् ॥ १० ॥ अनादिष्टमध्वरादौ ॥ सर्वांतकर्मणिपरिभाषितंमन्त्रगणंवक्ष्यामः ॥ सर्वमाग्नेयंगायत्रंगौतमीयꣳसर्वꣳसावित्रमौष्णिहंभारद्वाजीयꣳसर्वꣳसौम्यमानुष्टुभमाथर्वणिकꣳसर्वंबार्हस्पत्यंबार्हतमांगिरसꣳसर्वंवारुणं पांक्तमालंबायनीयꣳसर्वमैंद्रंत्रैष्टुभंयाज्ञवल्कीयꣳसर्वमादित्यदैवतं जागतंकौत्सम् ॥११॥ ज्योतिष्टोमेदीक्षाप्रभृति॥ वक्ष्यामोदीक्षायां भृगुरग्नाविष्णुगायत्रीप्रायणीय आंगिरसोदितिरुष्णिक्त्रयेविश्वामित्रः सोमोनुष्टुबातिथ्येवसिष्ठोविष्णुर्बृहतीप्रवर्ग्ये कश्यपआदित्यपङ्क्तिरुपसत्स्वात्रेयउपसद्देवतात्रिष्टुबग्नीषोमीयेगस्त्योग्नीषोमौजगतीप्रायणीयेतिरात्रआग्निवेश्योहोरात्रे अतिजगतीचतुर्विंꣳशत्यहे सौकरायणः संवत्सरःशक्वर्यभिप्लवेषडहेसौपर्णोर्द्धमासामासाश्चातिशक्वरीपृष्ठ्येषडहेसायकायनऋतवोष्टिरभिजिति प्रियघृतोग्निरत्यष्टिः स्वरसामसुसरस्वत्यापोधृतिर्विषुवतिरौहिणायनआदित्योतिधृतिर्विश्वजितिसौभरइंद्रः कृतिर्गोआयुषोबाष्कलिर्मित्रावरुणौ प्रकृतिर्दशरात्र आचार्यो विश्वेदेवाआकृतिर्द्वादशरात्रि-

केपृष्ठ्येषडहेभाल्लवेयोदिशोविकृतिश्छन्दोमेषुशौल्वायन इमेलोकाः संकृतिर्दशमेहनिपराशरसंवत्सरोभिकृतिर्महाव्रतेशैलिनः प्रजापतिरुत्कृतिरुदयनीयेतिरात्रे भौवायनोवायुश्छन्दांसिसर्वाणि ॥ १२ ॥ ऋषिभिरुपलक्षितंवाक्यम् ॥ ऋषयश्छंदोभिरुपलक्षितादेवता मन्त्रवर्णादृग्यजुषयोर्विनियोगतश्चविज्ञेयाः ॥ सर्वमेतच्छन्दोदैवतमार्षंचविज्ञाययत्किंचिज्जपहोमादिकरोतितस्यफलमश्नुते ब्रह्मयज्ञारंभेयथाविधिस्नात्वाछन्दःपुरुषमेनोनिर्णोदनंं शरीरंन्यसेत्तिर्य्यग्बिलश्चमसऊर्ध्वबुध्नस्तस्याक्षिणी गोतमभरद्वाजौ श्रोत्रेविश्वामित्रजमदग्नी नासिकेवसिष्ठकश्यपौ वागत्रिर्गायत्रींछन्दोग्निर्दैवतांशिरसि विन्यसेदेवमेवोष्णिहंसवितारं ग्रीवास्वनूकेबृहतीं बृहस्पतिंबाह्वोर्बृहद्रथन्तरेद्यावापृथिवीमध्येत्रिष्टुभमिन्द्रं श्रोण्योर्जगतीमादित्यं मेढ्रेतिच्छंदसंप्रजापतिंपायौयज्ञायज्ञियं वैश्वानरमूर्वोरनुष्टुभंविश्वान्देवानष्ठीवतोः पंक्तिंमरुतः पादयोर्द्विपदांविष्णुं प्राणेषुविच्छंदसंवायुंन्यूनातिरिक्तेष्वङ्गेषुन्यूनाक्षरंछन्दआपोदेवतेत्येवंसर्वांगेषुयोजयित्वावेदमयः संपद्यतेशापानुग्रहसमर्थोभवति ब्राह्मंतेजश्चवर्द्धतेनकुतश्चिद्भयंविन्दतऋङ्मयोयजुर्मयः साममयस्तेजोमयोब्रह्ममयोमृतमयः संभूयब्रह्मैवाभ्येतितस्मादेतन्नाब्रह्मचारिणेनातपस्विनेनासंवत्सरोषितायनाप्रवक्त्रेनुब्रूयादनेनाधीतेनचांद्रायणाब्दफलमवाप्नोत्यनेनचसम्यग्ज्ञातेनब्रह्मणःसायुज्यंसलोकतामाप्नोत्याप्नोति ॥ १३ ॥

इति सर्वानुक्रमणीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथच्छंदांसिगायत्र्युष्णिक् अनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यतिजगतीशक्वर्यतिशक्वर्यष्ट्यत्यष्टिधृत्यतिधृतयः कृतिप्रकृत्याकृतिविकृतिसंकृत्यभिकृत्युत्कृतयश्चतुर्विंशत्यक्षरादीनिचतुरुत्त-

राजस्त्रिष्टुभश्चद्वौवावैराजौनवकस्त्रैष्टुभश्चविराट्स्थानैकादशिनस्त्रयोष्टकश्च विराड्रूपाद्वादशिनस्त्रयोष्टकश्चज्योतिष्मतीयतोष्टकस्ततोज्योतिश्चत्वारोष्टकाजागतश्चमहाबृहतीमध्येजागतश्चेद्यवमध्याद्यौदशकावष्टकास्त्रयःपंक्त्युत्तराविराट्पूर्वावा ॥ ७ ॥ सप्तमंजगतीजागतपदाष्टिनस्त्रयःस्वौचद्वौमहासतोबृहत्यष्टकौसप्तकःषट्कोदशकोनवकश्चषडष्टकावामहापंक्तिर्माध्यंदिनीयेवाजसनेयके सर्वानुक्रमणिकैषाकृतिर्भगवतः कात्यायनस्यैषाकृतिर्भगवतःकात्यायनस्य ॥ ८ ॥

इति सर्वानुक्रमणीये पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

कंडिकासंख्या १२४ समाप्ता ।

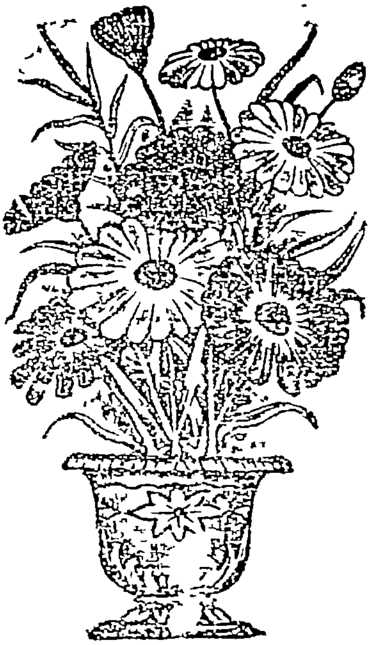

॥ श्रीः ॥

कात्यायनअनुक्रमणिकाका

उपयोगी अनुवाद.

अथ प्रथमोध्यायः १,

अनुवाक प्रत्येक अध्यायके साथ लगे हुए हैं उनके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं यजुर्वेदमें ३०३ अनुवाक हैं।

कात्यायनअनुक्रमणिकाके उपयोगी विषयोंका अर्थ लिखते है शेष भाष्यमें आगये हैं।

मण्डल दक्षिण अक्षि और हृदयमें स्थित हैं. अर्थात् सूर्यदेव तीनों वेदमय स्थित हुए आकाशमें स्थितहो जगतको प्रकाशकरते दृश्यमान मंडल और पुरुषके दक्षिणनेत्र और हृदयको आक्रमणकर स्थित हैं. जिनके द्वारा भगवान् महर्षि याज्ञवल्क्यको शुक्लयजु प्राप्त हुए है वह विवस्वान् त्रयीमय और ज्योतिष्मान् हैं. उनको ध्यान करके माध्यन्दिनीय वाजसनेयि यजुर्वेदमें खिल और शुक्रिय सहित ऋषि छन्द देवताओंकी अनुक्रमणिका कहते हैं, यजुओंका नियतपद अक्षर न होनेसे बहुतोंका छन्द नहीं है. इनके द्रष्टा ऋषि है, और परमेष्ठी प्रजापति आदि स्मरण करनेवाले हैं, देवता मंत्रोंके अन्तर्भूत अग्निआदि हैं, यह हवि और स्तुतिके भजनेवाले हैं और शाखा उखा शम्या उपवेश कपाल इध्म उलूखलादि प्रतिमाभूत है, यह जहां देवता है वहां उनके उपयोगका वर्णन है गायत्रीआदि छन्द हैं, इनके विना जाने जो पढता है उच्चारण करता है जप यज्ञ करता कराता है, वा हवन करता है, उसका वेद ब्रह्म निर्वीर्य कार्यका सिद्ध न करनेवाला यातयाम निष्फल होता है तथा स्वगर्त नरक विशेषमें पडता है, शुष्क वृक्षकी योनिको प्राप्त होता है अन्धा वा बधिर होता है तथा पापाचारी होता है, चाण्डालादि योनिमें जाता है, और जो ऋषि छन्दादि जानकर वेद पाठ करते है उनका वेद वीर्यवान् कार्यका सिद्ध करनें

१ यजुर्वेदकी एक सौ एक शाखा होनेसे स्पष्टताके निमित्त वाजसनेयि शाखाका कथन कियाहै, खिल शब्दसे अनारभ्याधीन प्रवायुमच्छा २३ । ५५ मुञ्चन्तुमा १२ । ९० अग्निश्च २६ । १ इत्यादि मंत्र हैं जो मंत्रकर्ममें विनियुक्त नहीं है उनकाभी ब्रह्मयज्ञमें पारायण होनेसे वाचस्तोमादि विनियोग होनेसे ऋष्यादिज्ञान आवश्यकहै शुक्रियसे आदित्य घर्म सम्बन्धि मन्त्रभाग ऋचं वाचमित्यादि ३६ । १ के सहित इससे पृथक् कहनेका यह कारण है कि शुक्रियदिनमें तथा अरण्यमें पढाजाताहै इससे अन्य वेदभाग विना नियमके रातदिन वन तथा ग्रामादिमें पढाजाताहै.

वाला ' होता है, जो अर्थको भी जानता है उसका वेद अत्यन्त वीर्यवान् होता है अर्थात् ऋषि छन्दादि और अर्थको जानकर जो वेद पाठ करता है वह उसके सम्पूर्ण फलको पाता है, जप होमके सम्पूर्ण फलको प्राप्त करता है उसके फलसे युक्त होता है ॥ १ ॥

' इषेत्वा ' से आरंभ कर ' खंब्रह्म ' पर्यन्त सब मंत्र विवस्वानके देखे हुए हैं प्रत्येक कर्मके विभाग और ब्राह्मण भागके अनुसार ऋषि जानने चाहियें, दर्श पौर्णमास मंत्रोंके परमेष्ठी प्राजापत्य वा देवा प्राजापत्य ऋषि हैं इषेत्वाका शाखा-छेदनमें विनियोग है इत्यादि अनुक्रमणिकाका अर्थ प्रत्येक मंत्रके साथ लगा हुआ है इस कारण उनका टीका लिखना बाहुल्यमात्र है, प्रयोजनीय वार्ता लिखेंगे.

इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

शेष २ । ३ इन अध्यायके अर्थ मंत्रोंके पहले भाष्यमें आगये है.

अथ चतुर्थोऽध्यायः ४.

गायत्रीका अग्नि, उष्णिक्का सविता, अनुष्टुप्का सोम, बृहतीका बृहस्पति, पंक्तिका वरुण, त्रिष्टुप्का इन्द्र, जगतीका विश्वेदेवा, विराट्का मित्र, स्वराट्का वरुण, अतिच्छन्दका प्रजापति, विच्छन्दका वायु, द्विपदाका पुरुष, एकपदाका ब्रह्मा देवता है, सबही ऋचाओंका अग्नि, सब यजुओंका वायु, सब सामोंका सूर्य, तथा सब ब्राह्मणोंका सूर्य, स्वाहाकारका अग्नि, वषट्कारके विश्वेदेवा देवता है, कर्मके आरंभमे मंत्रोंके देवता जानने उचित है, देवताको मनमें रखकरही हवि हवन की जाती है, वही देवता सेवन करते हैं विना जाने जो हवन की जाती है उसको देवता सेवन नहीं करते, तथा मंत्र और देवताको जानकर पाठ करनेसे देवताओंसे पीडित नहीं होता, इस कारण प्रयत्नसे प्रति मंत्रसे देवता जानने चाहियें, मंत्रोंके देवता जाननेसे अर्थभी सहजमें विदित होजाता है, मंत्रार्थ जाननेसे पापरहित हो स्वर्गको जाता है और यथातथ्य देवताके विना जाने श्रुतिस्मृतिके फलको प्राप्त नहीं होता ॥ १० ॥

अनादिष्ट यज्ञादिमें सब कर्म परिभाषित किये है, वह परिभाषित कहाते है सब अग्निदेवतावाले गायत्रीछन्द गौतम ऋषिवाले है सब सविता देवतावाले उष्णिक्छन्द भरद्वाजऋषिवाले है, सब सोमदेवतावाले अनुष्टुप्छन्द अथर्वा

---

१ अध्वर गृहसवन तीनोकाण्ड विहित सवनमें तिस २ प्रकरणमें कहे मंत्रके ऋषि आदि इस अनादेशमें जानना ।

ऋषिवाले है, सब बृहस्पतिदेवतावाले छन्द आंगिरसऋषिवाले है, सब वरुण-देवतावाले पंक्तिछन्द आलम्बायनऋषिवाले हैं,सब इन्द्रदेवतावाले त्रिष्टुप् याज्ञवल्क्य ऋषिवाले हैं सब आदित्य देवतावाले जगतीछन्द कौत्सऋषिवाले हैं ॥ ११ ॥

ज्योतिष्टोममें दीक्षाप्रभृति कहेंगे-दीक्षामें भृगुऋषि अग्नि विष्णुदेवता गायत्री-छन्द है,प्रायणीयमें आंगिरसऋषि अदितिदेवता उष्णिक्छन्द है,त्रयमें विश्वामित्रऋषि सोमदेवता अनुष्टुप छन्द है, आतिथ्यमें वशिष्ठऋषि विष्णुदेवता बृहतीछन्द है, प्रवर्ग्यमें कश्यपऋषि आदित्यदेवता पंक्तिछन्द है। उपसदमें आत्रेयऋ० उपसद दे० त्रिष्टुप्छन्द है। अग्निसोमीय दीक्षाम अगस्त्यऋ० अग्निसोमदे० जगतीछन्द है। प्रायणीय अतिरात्रमें अग्निवेश्यऋ० अहोरात्रदेवता अतिजगतीछन्द है। चतुर्विंशति अहर्यागमें सौकारायणऋषि संवत्सरदेवता शक्करीछन्द है। अभि-प्लवषडहमें सावर्णि ऋषि, अर्धमास और मासदेवता, अतिशक्करीछन्द है। पृष्ठ-षडहमें साकायनऋषि, ऋतुदेवता, अष्टिछन्द है। अभिजित् याग दीक्षामें प्रियव्रतऋषि अग्निर्देवता अत्यष्टिछन्द है। स्वरसाममें सरस्वतीऋ० आपोदे० धृतछन्द है। विषुवतमें रोहिणायनऋ० आदित्यदेवता अतिधृतिछन्द है। विश्वजितमें सौभरऋ० इन्द्रदेवता ऋतिछन्द है। गोआयु यागमें बाष्कलिऋ० मित्रावरुणदे० प्रकृतिछन्द है। दशरात्रमें आचार्यऋ० विश्वेदेवादेव० आकृति-श्छन्द है। दशरात्रवाले पृष्ठषडहमें भाल्लवेयऋषि दिशा देवता, विकृतिछन्द है। छन्दोमेषमें शौल्वायनऋषि इहलोकदे० संकृतिछं० है। दशमें दिनकी दीक्षामें पराशर-ऋषिः संवत्सरदेवता अभिकृतिछन्द है। महाव्रतमें शौलिनऋषि प्रजापति देवता, उत्कृतिछन्द है। उदयनीय अतिरात्रमें भौवायन ऋषि वायुदेवता सबही छन्द हैं. अ० ४ ॥ १२ ॥

ऋषियोंके देखे वाक्य कहाते है ऋषि और छन्दोंसे उपलक्षित देवता मंत्रोंके वर्णसे ऋक् और यजुमें जानने चाहिये, सब ऋषि छन्द देवता जानकर जो कुछ जप होमादि करता है उसका फल प्राप्त होता है, ब्रह्मयज्ञके आरंभमें यथाविधि स्नान करके पुरुषको पाप दूरकरनेके निमित्त शरीरमें न्यास करना चाहिये, चमस-काशिरोलक्षणा तिर्यक् ग्विल ऊर्ध्वबुध्न है नेत्रोंमें गोतम और भरद्वाज, श्रोत्रमें विश्वा-मित्र जमदग्नि, नासिकामें वशिष्ठ कश्यप, वाणीमें अत्रि गायत्रीछन्द, अग्निदेव-ताको शिरसें न्यास करे इसीप्रकार उष्णिक्छन्द और सविताको ग्रीवामें, बृहतीको अनूक [पृष्ठवंश] स्थानमें, बृहस्पतिको दोनों भुजाओंमें बृहद्रथन्तर द्यावा पृथ्वी-को मध्यमें त्रिष्टुप्छन्द और इन्द्रदेवताको श्रोणिभागमें, जगतीछन्द और आदि-

त्यको मेढ्रमें, अतिछन्द और प्रजापतिको पायुमें, यज्ञायज्ञियको और वैश्वानरको दोनों ऊरुओंमें अनुष्टुप्छन्द और विश्वेदेवाको अष्ठीवत् (घुटनोंमें) पंक्ति छन्द और मरुतोंको चरणोंमें, द्विपदाछन्द और विष्णुको प्राणोंमें, विच्छन्द और वायु देवताको न्यूनातिरिक्त अंगोंमें, न्यूनाक्षरछन्द आपोदेवताको नियुक्त करे, इसप्रकार सर्वांगमें योजना करके यह पुरुष वेदमय होता है शाप और अनुग्रहमें समर्थ होता है, ब्रह्मतेजबढ़ता है कहींसे उसको भय नहीं होता ऋचामय, यजुर्मय, साममय, तेजमय, ब्रह्ममय, अमृतमय होकर ब्रह्ममय होता है इसकारण यह वेद ब्रह्मचर्यसे हीन अतपस्वी, संवत्सरपर्यन्त व्रत न रखनेवाले अवक्ताको न देना चाहिये, इसके पाठसे वर्ष दिनतक चान्द्रायण करनेका फल होता है, और इसके सम्यक् ज्ञानसे ब्रह्मसायुज्य और सलोकताकी प्राप्ति होती है।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोध्यायः ५.

आगे छन्दोंका वर्णन पंचम अध्यायमें है, दैवी गायत्री एक अक्षरका, आसुरी गायत्री पन्द्रह अक्षरका, प्राजापत्या गायत्री आठ अक्षरका, याजुषी गायत्री छः अक्षरका, साम्नी गायत्री बारह अक्षरका, आर्ची गायत्री अठारह अक्षरका, आर्षी गायत्री २४ अक्षरका, ब्राह्मी गायत्री ३६ अक्षरका दैवी गायत्री पर एक२बढानेसे क्रमसे उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती छन्द होतेहै और आसुरीमें एक २ घटानेसे, प्राजापत्यामें चार चार बढानेसे, याजुषीमें एक २ बढानेसे साम्नीमें दोदो बढानेसे, आर्चीमे तीन २ बढानेसे, ब्राह्मीमें छः छः बढानेसे, तथा आर्षीमें चार २ बढानेसे क्रमसे उष्णिक्आदि छन्द होते है इसका विशेष ज्ञान होनेका कोष्ठ पीछे लिख दिया है। जहां दो तीन छन्दोंकी संख्या समान हो यथा दैवीत्रिष्टुप्, याजुषीगायत्री, साम्नीगायत्री, याजुषीजगती, और आसुरी बृहती वहां पिङ्गलके अनुसार तथा देवताओंके अनुसार निश्चय करे।

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पंचमअध्यायकाविस्तार ।

गायत्री आदि २१ छन्द–चौवीस अक्षरोंसे आदि लेकर चार चार वढाकर एकसौ चार अक्षरतकके होतेहैं, गायत्रीसे उत्कृति तक इक्कीस छन्दोंकी एक अक्षर न्यून होनेसे निचृत और एक अक्षर अधिक होनेसे भुरिक्संज्ञा है, दो अक्षर कमती होनेसे विराट् और दो अक्षर अधिक होनेसे स्वराट् संज्ञा है, इतनेमें जो अक्षर न्यून रहें तो पादकी पूर्तिके निमित्त क्षैप्रसंयोगसे एकाक्षरी भावसे व्यूह करना, यथा तत्सवितुर्वरेण्यम् और तत्सवितुर्वरेणियम्, दिवं गच्छस्वः पतः,और दिवं गच्छसुवः पतः। और पहले वर्ग गायत्री आदि सातमें पादविशेष होनेसे संज्ञा विशेष होजातीहै उन्है क्रमसे कहेंगे ।

(१ छन्दांसि) (२ अतिछन्दांसि) (अतिछन्दांसियजूंसि)

संख्या	नाम	अक्षर	सं०	नाम	अक्षर	सं०	नाम	अक्षर
१	गायत्री	२४	१	अतिजगती	५२	१	कृति	८०
२	उष्णिक्	२८	२	शकरी	५६	२	प्रकृति	८४
३	अनुष्टुप्	३२	३	अतिशकरी	६०	३	आकृति	८८
४	बृहती	३६	४	अष्टि	६४	४	विकृति	९२
५	पंक्ति	४०	५	अत्यष्टि	६८	५	संकृति	९६
६	त्रिष्टुप्	४४	६	धृति	७२	६	अभिकृति	१००
७	जगती	४८	७	अतिधृति	७६	७	उत्कृति	१०४

विराड्रूपा और विराट्स्थाना वहुत ऊनाभी त्रिष्टुप् खण्ड सातही है, दश अक्षरका विराट् छन्दका एक पाद, एकादश अक्षरका त्रिष्टुप्, द्वादश अक्षरका जगतीका एक पाद होता है, अनादेशमें जहां अक्षर नहीं कहे गये वहां आठ अक्षरका पाद और जहां पाद संख्या नहीं कही वहां चतुः पाद है पहला छन्द त्रिपदा तनिपद ८+८+८ का गायत्री । पदपंक्तिर्गायत्री ५+५+५+५+६ अथवा ५+५+५+४+६। उष्णिग्गर्भागायत्री ६+७+११। पादनिचृद्गायत्री ७+७+७।अतिनिचृद्गायत्री ७+६+७। यवमध्यागायत्री ७+१०+७। वर्धमानागायत्री ६+७+८। प्रतिष्ठागायत्री ८+७+६ । हृसीयसीगायत्री ६+६+७। गायत्री उष्णिग्वा २६ अक्षर होनेसे विकल्प है अ० १७ का० ८५ अनवसाना (अवसान हीना, अवसानरहिता) गायत्री ५ । ३५। एकपदागायत्री आठ अक्षर होनेसे कहाती है [सं० ३ । ९] द्विपदागायत्री १६ अक्षरकी [२० ।१] एक द्वि त्रि चतुष्पादमिति पिंगल खं० ६ सूत्र १८ ।

दूसरा छन्द उष्णिक् ८+८+१२ । पुर उष्णिक् १२+८+८ ककुबुष्णिक् ८+१२+८ । ककुन्न्यङ्कुशिरोष्णिक् ११+१२+४ । तनुशिरोमष्णिक् ११+११ ६ । पिपीलिकामध्योष्णिक् ११+६+११ । इति त्रिपदा । अनुष्टुबाभोष्णिक् ५+८+८+८ । उष्णिक् ७+७+७+७ । विषमपदोष्णिक् २७+११+२२।वर्द्धमानोष्णिक् ६+७+८+९ । वृद्धितः [७ । २९]

तीसरा अनुष्टुप्छन्द ८+८+८+८ । महापंक्तिरनुष्टुप् ५+५+५+५+५+६ । कृतिरनुष्टुप् १२+१२+८ । पिपीलिकामध्यानुष्टुप १२+८+१२ । विराडनुष्टुप्९+१२+९ । नष्टरूपानुष्टुप् ९+१०+१३ । त्रिपदाविराडनुष्टुप् १०+१०+१० । अथवा ११+११+११ । द्विपदाविराज वीस अक्षरका एकपदाविराज १० अक्षरका होताहै चौथा बृहती छन्द पथ्याबृहती ८+८+१२+८।पुरस्ताद्बृहती १२+८+८+८ । न्यङ्कुसारिणी वाउउरोबृहती वा स्कन्धोग्रीवी ८+१२+८+८ । उपरिष्टाद्बृहती ८+८+८+१२ । विष्टारबृहती ८+१०+१०+८ । ऊर्ध्ववृहती १२+१२+१२। पिपीलिकामध्याबृहती १३+८+१३ । विषमपदाबृहती ९+८+१०+८ ।बृहती ९+९+९+९। अनुष्टुब्बृहती ३४ अक्षरकी ।

पांचवां पंक्तिश्छन्द । पञ्चपदापंक्तिः ८+८+८+८+८ ।चतुष्पदाविराड्पङ्क्तिः१०+१०+१०+१० । सतीबृहती १२+८+१२+८ । विपरीता बृहती ८+१२+८+८ । प्रस्तारपंक्ति १२ । १२ । ८ । ८ । आस्तारपंक्ति ८+८+१२+१२। संस्तारपंक्ति १२+८+८+१२ । विष्टारपंक्ति ८+१२+१२+८ । पंक्तिर्बृहतीवा इसमें ३८ अक्षर होतेहै [८ । २६] स्वराट्पंक्ति १०+१०+११+११ [यास्कके मतसे यह उरो बृहती ।

छठा त्रिष्टुप्छन्द ११+११+११+११ । जगतीत्रिष्टुब्वा १२+१२+११+११ । त्रिष्टुब्जगतीवा ११+११+१२+१२ ।

अभिसारिणीत्रिष्टुप् १०+१०+१२+१२ । विराट्स्थानात्रिष्टुप्९+९+१०+११। यद्वा १०+१०+९+११ । विराड्रूपात्रिष्टुप् ११+११+११+८ उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् १२+१२+१२+८ । पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ८+१२+१२+१२ । महाबृहती त्रिष्टुप् ८+८+८+८+१२ । यवमध्यात्रिष्टुप् ८+८+१२+८+८।पङ्क्त्युत्तरात्रिष्टुप् यद्वाविराट्पूर्वात्रिष्टुप्१०+१०+८+८+८ ।सातवांजगतीछन्द १२+१२+१२+१२ ।महासतोबृहती जगती ८+८+८+१२+१२ । महापङ्क्तिर्जगती ८+८+७+६+१०+९। अथवा ८+८+८+८+८+८ ।

यह अनुक्रमणिका महर्षिकात्यायनकीहै महर्षिकात्यायनकीहै ।

श्रीः ।

अथ वेदपारायणोपक्रमविधिः ।

अथ वेदपारायणविधि। स्थंडिल कल्पना करके अग्न्याधान कर कुशा बिछाय यजन योग्य नीचे लिखे देवताओंके निमित्त आहुति दे अग्नये सोमाय इत्यादि मंत्रोंसे इन्द्र, विश्वेदेवा, ऋषि, ऋक्, यजु, साम, श्रद्धा, प्रज्ञा, मेधा, धारणा, श्री, ह्री, सावित्री, सविता, प्रजापति, काण्डऋषि, सोमकाण्डऋषि, अग्निकाण्डऋषि, विश्वेदेवकाण्डऋषि, संहितादेवता, उपनिषद् याज्ञिकीय देवता, उपनिषद् वारुणी देवता, उपनिषद् हव्यवाट् विश्वऋषगण अनुमिति स्विष्टकृत् इनके निमित्त पृथक् स्वाहाकार लगाकर आहुति दे, व्याहृतिसे मार्जन करे. इनकी समाप्तिमें यजुषसे तर्पण करे इसी प्रकार ऋग्वेदके काण्डऋष्यादिको छोडकर स्विष्टकृत पर्यन्त उनके स्थानमें शतर्चियोंके निमित्त माध्यम, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, जामदग्न्य, गौतम, वशिष्ठ, प्रगाथ, पावमानी देवता, क्षुद्रसूक्त, महासूक्त, महानाम्नीके निमित्तके आहुति देकर वेदारंभ करे, और निरन्तर पढता रहे यह महर्षि बौधायनने कहा है.

इति वेदपारायणोपक्रमविधिः ।

अब वेदपारायणमें कलशप्रतिष्ठापनादिका प्रकार कहते हैं, तीर्थ देवालय वा अच्छे प्रतिष्ठित घरमें अच्छे पुष्पादिसे विभूषित कर दृढकलश, पुष्प, पञ्चपल्लव, माला, चन्दन कुंकुमादिसे संयुक्त कर मृत्तिकाकी वेदीमें स्थापन करे. और पचास कुशोंका उसके पश्चाद्भागमें सन्मुखको मुखलिये ब्रह्मा करे, उन चतुर्मुख चतुर्बाहुको स्नान कराय पटपर स्थापन करे, और बछडेके जंघाकी समान आकारवाले उत्तरको अग्रभागवाले कुशोंसे निर्मित ब्रह्मोपवान देकर स्वस्तिवाचन पढै, पीछे प्रतिष्ठा करावे अब पूजाके द्रव्य कहते हैं यज्ञोपवीत, नैवेद्य, वस्त्र, चन्दन, कुंकुम, माला, धूप, दीप, ताम्बूल, अक्षतसे ब्रह्माकी पूजा करे ब्रह्मजज्ञानं० य० १३।३ इस मन्त्रसे वा गायत्रीसे पूजन करे फिर उपाध्यायका पूजन कर अपना पाठ आरंभ करे.

इति वेदपारायणे कलशप्रतिष्ठापनादिप्रकारः ।

अब अनश्नत्पारायणविधिकी व्याख्या करते हैं, जो वेदसमाप्तितक अन्न भोजन न करे, वह यथाशक्ति जल, दूध, फल, भात, हविष्य, अल्प आहार कर शेष पाठ करे, ग्रामसे पूर्व वा पश्चिम दिशामें जाकर अग्न्याधान कर कुशा बिछाय इध्मकाष्ठ चरुकर-घृतसे नीचे लिखे देवताओंके निमित्त आहुति दे, अग्नि,

सोम, इन्द्र, प्रजापति, बृहस्पति, ब्रह्मदेवा देवता, ब्रह्मा, ऋषि, ऋक, यजु, श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, सदसस्पति, अनुमति, श्री, ह्री, सावित्री, सविता, प्रजापति, काण्डऋषि, सोमकांडऋषि, संहित देवता, उपनिषद, याज्ञिक, देवता उपनिषद्, वारुणी देवता, उपनिषद्, हव्यवाह, विश्वेदेवा, अनुमति, स्विष्टकृत इनको पृथक् २ स्वाहाकारसे आहुति देकर स्वाहाकारसे फिर अभिषेक करे, फिर समास कर यजुसे तर्पण करै इसी प्रकार ऋग्वेदीको काण्डऋषियोंको छोडकर स्विष्टकृतपर्यन्त उनके स्थानमें शतर्चि, माध्यम, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वामदेव्य, गौतम, वसिष्ठ, प्रगाथ, पावमानी, क्षुद्रसूक्त, महासूक्त, सहस्रास्तोके निमित्त आहुति दे, वेदपारायणकी समाप्तिमें यह पूर्वोक्त आग्निसोमादि यजुसे तर्पण करे कारण कि. यजुर्वेदपारायणमें इनकी प्रधानता है, अथवा यजुसे तर्पण करे इसमें यजु शब्दसे भूः भुवः स्वः महः इन चार व्याहृतियोंका ग्रहण जानना, 'भूः देवास्तर्पयामि' इस प्रकारसे तर्पणकर अग्नि सोमादिको तृप्त करै. फिर वेदादिको आरम्भकर निरंतर पाठ करै, इसका वीचमें न त्यागे कारण कि, इसमें किसी विघ्नकी आशंका न करै. क्योंकि जन्म मरण भी इसको अशुचिका कारणभूत नहीं होसकते, वेदपारायणके मध्य (वीच) में न बोले तथा लौकिक वाक्य न बोले, नित्य नैमित्तिक कर्मभी न करै वीचमें विराम न करे जबतक पूरा न हो पाठ करता रहे, यदि वीचमें विराम करै तो तीन प्राणायाम करै वा ओंकारका प्रणिधान करे, समयपर्यन्त पाठ करता रहै और रातमें अर्थात् आधी रात और संध्यामें वर्षामें जलके समीपवाली भूमि, संग्रामस्थान वन इन देश और कालोंको त्यागकर वेदपाठ समाप्त करै, पारायणके आदि अन्तमें ब्राह्मणभोजन कराय दक्षिणा दान दे, जो इस प्रकार विधानसे वेदपारायण करते है, वह पवित्र होकर वेदात्म होते है, मन शुद्ध होता है, दो पारायणोंसे तथा उसके साथ पावमानी ऋचा पढनेसे अशुद्ध भोजनके पाप और अनृतसे छूट जाता है, तीन पारायणसे बहुतसे पातक उपपातक तथा शूद्रामें वीर्यसेचनके पापसे रहित हो गंगास्नानसे भी फलको प्राप्त हो पवित्र होता है, चार पारायणसे शूद्रके अन्न भोजन, उसकी सेवा वा शूद्र स्त्रीकी संगतिसे हुये पापोंसे छूटता है, पांच पारायणसे याजनके अयोग्योंको यज्ञ करानेके पापसे छूटता है, तथा अग्राह्यग्रहण, ग्राह्यत्यागके अभ्यास किये पापसे छूटता है, छः पारायणसे ब्राह्मणको रुधिर निकलेतक मारने ताडनेके तथा स्त्रीका रक्त निकलेतक मारनेके, और पशुहत्या, सुवर्णकी चोरी तथा पतित संयोगके करनेके पापसे छूट जाता है, सात पारायणसे प्राजापत्य यज्ञ न करके उसके अनुष्ठान न करने और यज्ञनाश करनेके पातकसे छूट जाता है

आठ पारायण करनेसे चान्द्रायणका आचरण न करने गुरुस्त्रीगमन और रजस्वलाके गमनके पापसे छूट जाता है. नौपारायणसे सुरापानके पापसे दशपारायणसे अश्रोत्रियको यजन करानेके पापसे असोम पान तथा अन्याय करनेके पापसे छूटता है. ग्यारह पारायणसे ब्रह्महत्या, गर्भहत्यासे छूटता है. बारह पारायणसे पूर्वजन्मके इस जन्मके किये सब पापोंसे छूट जाता है स्वयं स्वर्गलोक जाता और पितरोंको स्वर्गलोकमें पहुँचाता है, अग्निष्टोमादि यज्ञोंके यजन फलको पाता है अपने मनोरथको पाता है।

वेदाध्ययन करनेवालेको उचित है कि, सदा सत्यवाक् और शुचि रहै जिस वस्तुकी इच्छा हो वेदसे उसको साधे उसको कुछ असाध्य नहीं रहता कारण कि, वेदपारायणका बडा फल है बडा फल है. द्विरुक्ति ग्रन्थपूर्तिके निमित्त है।

सम्पूर्णम्।

विज्ञप्ति ।

वेदमें और भी अनेक विषयोंका वर्णन आया है असुरादिका भी वर्णन आया है वहां असुरोंका बाधा और दुःखनामभी जानना, पणि असुर जाति व्यवहारादिको बिगाडनेवाली है ऐसा अध्यातम जानना और यन्त्र शिल्पादिकी गूढविद्या भाष्यके अवलोकनसे जाननेमें आवेगी. यह भी ध्यान रहे कि, दयानन्द पण्डितका भाष्य वेदांगादिके अनुसार न होनेसे प्रमाणकोटीके योग्य नहीं है. वह सर्वही पुरातन भाष्योंके विरुद्ध है. कहीं कहीं हमने उसका टिप्पणीमें उल्लेख कर दिया है कि कैसा भाष्य है.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" (स्टीम्) मुद्रणालयाध्यक्ष—बंबई.

क्रय्यपुस्तकें (वैदिक-ग्रन्थाः)

नाम०	की० रु० आ०
अष्टात्रिंशोपनिषद्–नित्यपाठोपयोगी (रेशमी गुटका) जिसमें–ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतरोपनिषद्, कैवल्य, जाबाल, गर्भनारायणाथर्वशीर्ष, नारायणोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद्. आदि अडतीस उपनिषदोंका एकत्र संग्रह कियागयाहै	१–०
ईशावास्योपनिषद्–मुरादाबादस्थ विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रकृत भाषाटीकासमेत.	०–३
ऋग्यजुस्सामाथर्वविधान–जपादि अनुष्ठानके लिये संग्रह करने योग्य है.	०–१॥
ऋग्वेदसंहिता–मूल	३–८
कैवल्योपनिषद्–मूलमात्र.	०–१
गृह्यसूत्र–(पारस्कराचार्य प्रणीत हरिहरभाष्य सहित) जिसमें-षोडशसंस्कारादिके सूत्र और कारिका हैं.	१–४
गोभिल गृह्यसूत्र–(गोभिलाचार्यप्रणीत) संस्कृतटीका तथा भाषाटीकासमेत.	२–८
दण्डकशुक्लयजुर्वेद	०–३
नारायणोपनिषद्–इसमें नारायणाथर्वशिर उपनिषद्, वज्रसूचिकोपनिषद्, कठोपनिषद् आदि उपनिषद् और अनेक श्रुति,स्मृति आदिके वचनोंका (भाषार्थसहित) प्रमाण देकर वेदान्तके अनेक विषयोंका वर्णन है	१–०

पुस्तक मिलनेका ठिकाना–

खेमराज श्रीकृष्णदास,

"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस–बंबई.